शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डान्तर्गत
द्वितीय–चतुर्थ–पञ्चम–षष्ठ–(प्रक्रान्त)–अध्यायात्मक

# द्वितीयखण्ड

## २

निबन्धा—मोतीलालशर्म्मोपाह्वो यः कश्चिदपि
मुक्तरक्तशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः
वेदवीथी–पथिकः, जयपत्तनाभिजनः

★ ★ ★



'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा प्रकाशित
एवं
श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम–दुर्गापुरा–( जयपुर ) के द्वारा मुद्रित

★ ★ ★

प्रथमवार ५०० प्रति

श्रीः

## प्रकाशितग्रन्थसूची —

| | | |
|---|---|---|
| १–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता– | –'बहिरङ्गपरीक्षा' नामक प्रथमखण्ड | १५) |
| २– ” | –'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीयखण्ड* | २०) |
| ३– ” | –'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक तृतीयखण्ड* | २०) |
| ४– ” | –'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक चतुर्थखण्ड* | २०) |
| ५– ” | –'ज्ञानयाग'-तथा भक्तियोगपरीक्षा-नामक (पूर्वखण्ड) पञ्चम, तथा षष्ठखण्ड | २०) |
| ६– ” | –'भक्तियोगपरीक्षा' (उत्तरखण्ड) नामक सप्तमखण्ड | २०) |
| ७– ” | –'बुद्धियोगपरीक्षा'-नामक अष्टमखण्ड | २०) |
| ८–ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य- | प्रथमखण्ड ··· ·· | १५) |
| ९–ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य- | द्वितीयखण्ड ··· ··· | १५) |
| १०–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका- | प्रथमखण्ड ··· ··· | २०) |
| ११–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका- | द्वितीयखण्ड ···· ··· | १५) |
| १२–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका- | तृतीयखण्ड ··· ·· | १५) |
| १३–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड | | २०) |
| १४–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड | | १५) |
| १५–संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तर इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा ···· ··· ···· | | २५) |
| १६–'भारतीय-हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता' नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थ का-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड ·· ··· | | १५) |
| १७–'वेदस्य सर्वविद्या-निधानत्वम्' (संस्कृतनिबन्ध)* ··· ··· | | १॥) |

*–चिह्नाङ्कित ग्रन्थ प्रेस में हैं, जो अग्रिम–वर्ष–में प्रकाशित होजायँगे।

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग–के मान्य सचिव द्वारा प्राप्त 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा ( जयपुर ) का 'प्रधानसंरक्षतानुगत–प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है –

भारत के राष्ट्रपति

# डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

**राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर**

का

**प्रधान संरक्षक**

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

| | |
|---|---|
| मिलिट्री सेक्रेट्री ऑफिस<br>राष्ट्रपति भवन<br>नई दिल्ली<br>दिनांक ३० अगस्त १९५८ | भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार<br>यदुनाथसिंह<br>(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल<br>मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट |

१८–भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय ... १॥)

१९–वेद का स्वरूप-विचार ... .... ... २)

२०–क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक-आमन्त्रण) .... ... २॥)

२१–दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा ... ... ... २५)

२२–शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत-प्रथमखण्ड ... २५)

२३– ,, द्वितीयखण्ड ... ३०)

२४–*राष्ट्रपतिभवनानुगत-व्याख्यानपञ्चक .... ... ६)

(१)–सम्वत्सरमूला–अग्नीषोमविद्या (प्रथम–व्याख्यान)

(२)–पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या (द्वितीय–" )

(३)–मानव का स्वरूप परिचय (तृतीय–" )

४)–'अश्वत्थविद्या' का स्वरूप-परिचय (चतुर्थ–" )

(५)–वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय (पञ्चम–" )

प्राप्तिस्थान—

व्यवस्थापक–'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान–जयपुर'

दुर्गापुरा (जयपुर–राजस्थान)

---

*–राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।

श्री:

# शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–
# द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में
# युगधर्म्मनिबन्धन-किञ्चिदिव-आवेदन
## (शतपथभाष्य–द्वितीयखण्ड की प्रस्तावना)

मोतीलालशर्म्मोपाह्वोः-यः कश्चिदपि मुक्तरक्तशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः, वेदवीथी–पथिकः
मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौदन–भोक्ता

श्री:

# शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत
## *द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में*
## किंचिद्वक्-आवेदन

* * *

विक्रम सं० २०१५ की आश्विनशुक्ल–दशमी (विजयदशमी) बुधवासर (तदनुसार ता० अगस्त) की पावनतिथि में "शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्यान्तर्गत-प्रथमकाण्डानुगत-प्रथमखण्ड" संस्थान की ओर से प्रकाशित हुआ था, जिसमें **'प्रथमकाण्ड'** के आरम्भ के केवल एक ही ( प्रथम १ ) अध्याय का 'विज्ञानभाष्य' समाविष्ट था। प्रथमकाण्डानुगत-प्रथम-अध्यायात्मक-तत्-प्रथमखण्ड में जिन प्रमुख–याज्ञिक कर्म्मों का पद्धति-पुरस्सर-सोपपत्तिक-समावेश हुआ है, सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से सिंहावलोकनन्यायेन 'द्वितीय-खण्ड' की प्रस्तुत-प्रस्तावना में भी उनका संस्मरण कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

## प्रथमकाण्डानुगत–प्रथमाध्यायात्मक–प्रथमखण्ड में प्रतिपादित प्रमुख–कर्म्मों की, तथा स्मारक–विषयों की सिंहावलोकनन्यायानुगता स्मृति

* * *

| | प्रधान कर्म्माणि | क्रमानुगता पृष्ठसंख्या | स्मारकविषयसंख्या |
|---|---|---|---|
| १ | व्रतोपायनकर्म्म | ११७ | २१३ |
| २ | ब्रह्मवरणकर्म्म | १५५ | १३७ |
| ३ | अपांप्रणयनकर्म्म | १७० | २८५ |
| ४ | परिस्तरण, तथा पात्रासादनकर्म्म | २०१ | ३६३ |
| | वाक्संयमनकर्म्म | २४३ | ४० |
| ६ | पात्रप्रतपनकर्म्म | २४६ | ११२३ |
| ७ | शकट से हविर्ग्रहण, एवं तत्सादनकर्म्म | ३५४ | ८६३ |
| ८ | प्रोक्षणकर्म्म | ४२२ | ३१८ |
| ६ | रोडाशसम्पादनाङ्गकर्म्म | ४५२ | १४१६ |
| | प्रधानकर्म्मसंख्या—६—(नव)— | भाष्यपृष्ठसंख्या–संकलन ६१० | स्मारकविषयसंख्या–संकलन ४५६१ |

निर्दिष्टा-तालिका के अनुपात से 'प्रथमकाण्डीय-प्रथमखण्ड' में नव (९) प्रमुख-कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता के साथ साथ पारिभाषिक-दृष्टिकोण से अनुमानतः पाँचसहस्र-पारिभाषिक तथ्यों का स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है। 'विज्ञानभाष्य' से पूर्व उसी-प्रथमखण्ड में —'पारिभाषिकसूचनाएँ' नाम का एक स्वतन्त्र पारिभाषिक-प्रकरण भी समाविष्ट हुआ है, जिसमें 'शतपथब्राह्मण' से सम्बन्ध रखने वाली सभी ज्ञाह्य-दृष्टियों, तथा अन्तरङ्गदृष्टियों का यथासम्भव सन्निवेश कर देने का प्रयास हुआ है। ११६ (एकसौ सोलह) पृष्ठात्मक उस 'पारिभाषिकसूचनाप्रकरण' में १२३ (एकसौ तेइस) तथ्यों की ओर ही वेदप्रेमियों का ध्यान आकर्षित कराया गया है।

उक्त 'पारिभाषिक-सूचना-प्रकरण' के अतिरिक्त १६४ ( एकसौ चौसठ ) पृष्ठात्मक-'दिग्देशकालानुबन्धी-किञ्चिदिव-आत्मनिवेदन-( प्रस्तावना )' भी प्रथमखण्ड का एक महत्त्वपूर्ण ही अङ्ग प्रमाणित होरहा है। वर्त्तमानयुग का प्रमुख-उद्घोष है-'समय के अनुसार काम करो, समय के अनुसार चलो', जिस इस सामयिक-उद्घोष का फलितार्थ निकलता है-'दिग्देशकालानुबन्धिनी-तात्-कालिकी-उपयोगिता'। इत्थंभूत-सामयिक-उद्घोष से एकहेलया प्रभाविता भारतीया-आस्तिक-प्रजा भी युगधर्म्माक्रमण-जनिता निरतिशया भावुकता से भावितान्तःकरणा प्रमाणित होती हुई अपनी प्राच्य-वैदिक-मूल-निधि की ओर से सर्वात्मना तटस्थप्राया ही बनी हुई है। सामयिक-उपयोगितावाद के इत्थंभूत महान् अम्भ्व, भयावह यत्न के वास्तविक-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए ही प्रथमखण्डानुगता–प्रस्तावना में-'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' रूप प्रसिद्ध-आदेशनावाक्य को आधार बना कर ही प्राच्य-वैदिक-साहित्य की 'उपयोगिता' के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन करने की धृष्टता होपड़ी है, जिसे दृष्टिपथानुगामी बनाने के अनन्तर हमारे उन भावुक-बन्धुओं की उपयोगितावाद-व्यामोहनात्मिका युगधर्म्म-निबन्धना उस भयावहा-सर्वनाशकारिणी-कलिवात्याहिता-काल्वालीकृता-भावुकता का सर्वथैव निराकरण होजाता है, जिस मलीमसा भावुकता के वारुणात्मक पाशबन्धन से आबद्ध भारतीय-बन्धु अपने सर्वस्वभूत, ज्ञानविज्ञानपरिभाषाओं के महान् कोश-प्राच्य-वैदिक-साहित्य से आज सर्वात्मना ही तटस्थ बने हुए हैं। हम साञ्जलिबन्ध उन आत्मबन्धुओं से आवेदन करेंगे कि, अपनी उपयोगिता-वादात्मिका-भ्रान्ति के समन्वय के लिए एकबार अवश्यमेव वे 'तत्प्रास्ताविक' पर दृक्पात का अनुग्रह करलें। हमारी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि—दोषदृष्टि से भी अवलोकिता, तत्-प्रस्तावना आत्मबन्धुओं की कारणतामूला जिज्ञासा का यथावत्-समाधान कर देगी।

'मन्त्रब्राह्मणोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि सनातन–आर्ष-सिद्धान्तानुसार वेदशास्त्र ज्ञातव्यवेद, कर्त्तव्यवेद, भेद से दो प्रमुख भागों मे विभक्त होरहा है। ज्ञातव्यवेदभाग ही 'मन्त्रवेद' कहलाया है, एवं कर्त्तव्यवेदभाग ही 'ब्राह्मणवेद' कहलाया है। 'विज्ञान-स्तुति-इतिहास, ये तीन प्रमुख 'ज्ञातव्य-विषय' हैं, जिनका मानव की आचारपद्धति से सम्बन्ध न होकर तत्त्वरूपा अनुशीलनात्मिका-विचारपद्धति से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। अतएव इस 'ज्ञातव्या-त्रयी' को हम 'तत्त्वमीमांसा' से ही समन्वित मान रहे हैं। 'ज्ञान-कर्म्म-उपास्ति',-ये तीन प्रमुख 'कर्त्तव्य-विषय' हैं, जिनका तत्त्वानुशीलन से विशेष सम्बन्ध न होकर आचरणात्मिका-कर्म्मनिष्ठा से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। अतएव इस 'कर्त्तव्या-त्रयी' को हम 'आचारमीमांसा' से ही अनुगत मान रहे हैं। तत्त्वमीमांसा की पूरिका जहाँ आचारमीमांसा है, वहाँ आचारमीमांसा की मूलप्रतिष्ठा तत्त्वमीमांसा बनी हुई है। वह 'अनुशीलन' व्यर्थ है, जिसका तदुत्तररूपात्मक

आचरण से सम्पर्क न हो। एवमेव वह 'आचरण' भी कालान्तर में सर्वथा यातयाम ही प्रमाणित होजाता है, जिसकी आधारभूमि अनुशीलनात्मक नैष्ठिक विचार नहीं होता। निष्कर्षत: ज्ञातव्यवेद, और कर्त्तव्यवेद, दोनों की परिपूर्णता, सार्थकता उभय-समन्वय पर ही निर्भर है, जैसाकि-'ज्ञात्त्वा कर्म्माणि कुर्वीत' * इत्यादि सुप्रसिद्धा सूक्ति से प्रसिद्ध है।

लोकप्रसिद्ध-'जानना' ही 'ज्ञातव्यभाव' है, एवं 'करना' ही 'कर्त्तभाव' है। 'जानना' 'ज्ञान' शब्द से अनुप्राणित है, तो 'करना' 'कर्म्म' शब्द से समन्वित है। 'ज्ञात्त्वा-रूप 'जानने से अनुप्राणित 'ज्ञान' निरपेक्षज्ञान, सापेक्षज्ञान, भेद से दो महिमा-विवर्त्तों में विभक्त माना गया है। आचारात्मक भूत-भौतिक-विश्वानुबन्धी-कर्म्मविजृम्भणों से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क न-रखने वाला, विशुद्ध-अनुशीलनात्मक, समान-प्रत्ययप्रवाह-निबन्धन, सर्वनिरपेक्ष, अतएव प्रत्यस्ताशेषभेदात्मक-सत्तामात्र-अगोचर, अतएव च वाङ्मनसपथातीत, आत्मसंवेद्य, संविद्भावापन्न लोकातीत-ज्ञान ही 'निरपेक्षज्ञान' × है, जिसे 'निरपेक्षब्रह्म' की उपाधि से समलङ्कृत किया है तज्ज्ञानानुशीलन-पथानुवर्त्मा लोकातीत आप्तपुरुषोंनें। अद्वयभावापन्न-निरपेक्ष, अतएव निरपेक्ष-एकत्व से समन्वित इत्थंभूत लोकातीत ज्ञान से अनुप्राणिता निरपेक्षज्ञानात्मिका सुसूक्ष्मा विद्या ही उपनिषदों में-'पराविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिस का आचारात्मक-कर्त्तव्यरूप-भूतानुबन्धी-अनुष्ठानों से क्योंकि कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव तथाविध लोकातीत 'निरपेक्षज्ञान' के परा-विद्यानिबन्धन इतिवृत्त के सम्बन्ध में-'नेति नेतीत्युपनिषत्' सिद्धान्त ही एकमात्र शरणीकरणीयता के क्षेत्र में शेष रह जाता है ÷।

शेषभूत 'सापेक्षज्ञान' नामक द्वितीय-महिमा-विवर्त्त ही शब्दशास्त्र का प्रतिपाद्य विवर्त्त माना गया है, जिस शब्द-प्रतिपाद्य-सापेक्ष ज्ञान को ही उपनिषदोंनें 'अपराविद्या' कहा है, जिस के कर्म्मसापेक्ष अनेक-विवर्त्त शास्त्रों में श्रुतोपश्रुत हैं। अमृत--भावनिबन्धन--'रसतत्त्व' अपने सहजसिद्ध दिक्कालाद्यनवच्छिन्न-अद्वय--भाव से जहाँ तथाविध अद्वयभावापन्न निरपेक्षज्ञान का स्वरूप प्रमाणित होरहा है, वहाँ

---

* ज्ञात्त्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्त्वा कर्म्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥

×-प्रत्यस्ताशेषभेदं यत्, सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम्॥
—पञ्चदशी

÷--संविदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥
यस्यामतं--तस्य मतं, यस्य-न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्॥
—उपनिषदि

मृत्युभावनिबन्धन--'बलतत्त्व' अपने सहजसिद्ध दिक्कालाद्यवच्छिन्न--नानाभाव से तथाविध--नानाभावापन्न सापेक्ष–ज्ञान का स्वरूप-संग्राहक बन रहा है। रस--बल-निबन्धना इस सहज-स्वरूप-स्थिति के आधार पर यह कह दिया जासकता, एवं मान लिया जासकता है निर्भ्रान्तिरूपेणैव कि, अद्वयभावापन्न--एकत्वानुगत निर--पेक्षज्ञान अपने--'एकं ज्ञानम्,--निरपेक्षं ज्ञानम्'-निर्वचन से जहाँ निष्कैवल्य-एकत्वनिबन्धन 'ज्ञान' शब्द से समन्वित है, वहाँ नानाभावापन्न–अनेकत्वानुगत–सापेक्षज्ञान–'विविधं ज्ञानं--सापेक्षं--ज्ञानम्' निर्वचन से–'विज्ञान' अभिधा का अधिकारी बना हुआ है। और यों एक ही ज्ञानतत्त्व मूलभूत रस, तथा बल नामक 'आभू'–और 'अभ्व' नामक विभिन्न दो अनुबन्धों से क्रमशः अमृत--मर्त्य–भावों में विभक्त होता हुआ 'ज्ञान', और 'विज्ञान' इन दो महिमामय--स्वरूपों में परिणत होरहा है, जिन इन दोनों विभिन्न विवर्त्तों के आधार--पर ही उपनिषदुपवर्णिता सुप्रसिद्धा--'परा--अपरा' नाम की अक्षर--क्षर-निबन्धना रस--विद्या-बलविद्या--द्वयी समन्वित हुई है। यही निरपेक्षज्ञानात्मक--ज्ञान, एवं सापेक्षज्ञानात्मक-विज्ञान, इन दो पारिभाषिक शब्दों का मौलिक, एवं संक्षिप्ततम चिरन्तन–इतिवृत्त है, जिस का विशद यशोवर्णन पूर्वप्रकाशित–शतपथभाष्य–प्रथमखण्ड के 'पारिभाषिक–प्रकरण' में किया जाचुका है। 'विज्ञान' शब्द के प्रति विशेषरूप से आकर्षित–मना बने रहने वाले वर्त्तमानयुग के भूतविज्ञानवादी भारतीय–बन्धुओं को "भारतीय–पारिभाषिक–'विज्ञान" के तात्त्विक–यशोवर्णनात्मक समन्वय-के लिए प्रथमखण्डानुगत तत्पारिभाषिक प्रकरण पर ही दृक्पात का अनुग्रह करना चाहिए।

प्रकृत में इस प्रासङ्गिकी–चर्चा से केवल यही निवेदनीय है कि, निरपेक्ष–ज्ञानात्मक एकत्व धर्म्मावच्छिन्न–ज्ञान से अपना सर्वथा विभिन्न स्वरूप–रखने वाली लोकात्मिका विश्व–विद्या ही नानाभावापन्ना–'विज्ञानविद्या' है, और इसी का नाम है–उपनिषत् के शब्दों में–'अपराविद्या', एवं यही लोक में प्रसिद्ध है–'वेदविद्या' नाम से, जिस की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है-ज्ञानात्मिका–पराविद्या। निरपेक्षज्ञानानुबन्धिनी–एकत्वानुयोगिनी-अनेकत्वप्रतियोगिनी–विश्वातीत--ब्रह्म--विद्यात्मिका–'पराविद्या' ही 'अक्षरविद्या' है। एवं सापेक्षज्ञानानुबन्धिनी-अनेकत्वानुयोगिनी-एकत्वप्रतियोगिनी--विश्वात्मक-लोक--विद्यात्मिका--'अपराविद्या' ही 'क्षरविद्या' है। उभयविद्या के परिज्ञान के अनन्तर मानव के बुद्ध्यनुगत प्रज्ञाकोश के लिए अन्य कुछ भी तो 'ज्ञातव्य' रूपेण शेष नहीं रह जाता*। निम्नलिखिता उपनिषच्छ्रुति निरपेक्ष-सापेक्ष-ज्ञान-विज्ञान-निबन्धना इन्हीं दोनों विद्याओं का संक्षेप से नामस्मरण करा रही है—

**शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ–'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'? इति। तस्मै स होवाच–"द्वे विद्ये वेदितव्ये"–इति हस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति--'परा'--चैव--'अपरा च'। तत्र–अपरा--ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदः, शिक्षा--कल्पो--व्याकरणं--निरुक्तं--छन्दो--ज्योतिषम्" इति।**

---

* ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥
—गीतायाम्

**अथ परा--यथा तदक्षरमधिगम्यते, यत्--यत्--अद्रेश्यम्--अग्राह्यम्-अगोत्रम्--अवर्णम्-अचक्षुःश्रोत्रम्-तत्-अपाणिपादम्--नित्यम्--विभुम्--सर्व्वगतम्-सुसूक्ष्मम् तदव्ययम्-तद्भूत--योनिम्-परिपश्यन्ति-धीराः' ।**

—मुण्डकोपनिषत् १।१।३-४-५-६ कं०।

एक प्रासङ्गिक विशेष-तथ्य की ओर प्रज्ञाशील पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही हमने उक्त मुण्डक-वचन-अत्र उद्धृत करना आवश्यक माना है। विदितवेदितव्य-काम-तपः-श्रम-मूर्त्ति आप्त-महर्षियोंनें 'मानव' के अभ्युदय, तथा निःश्रेयस्-संसाधन के लिए ही **पराविद्या, अपराविद्या** नाम की उन दो महत्त्वपूर्ण-विद्याओं का अन्वेषण किया है, जिन के द्वारा 'मानव' अपने चतुष्पर्वा **'मानवस्वरूप'** को अभ्युदय, तथा निःश्रेयस्-रूपा सिद्धि, और संसिद्धि, से सर्वात्मना समन्वित कर लेने में समर्थ-सफल-प्रमाणित होता आरहा था **सुख, एवं शान्ति-पूर्वक,** आज से तीन सहस्र--वर्ष पूर्व की आर्षनिष्ठानुगता कालसीमा के पावन-प्राङ्गण में ।

**'मानव सुखी रहे', और 'मानव शान्त रहे'** इन दो विभिन्नार्थक-वाक्यों के गर्भ में हीं मानव के सुख, तथा शान्ति का सम्पूर्ण चिरन्तर इतिवृत्त सुगुप्त-रूपेण सच्छन्दस्क प्रमाणित होरहा है। मानव का अर्द्ध-अङ्ग केवल सुख की ही **'इच्छा'** करता रहता है प्रतिक्षण, तो मानव का अर्द्ध-अङ्ग केवल शान्ति की ही **'कामना'** किया करता है अजस्ररूपेण। यद्यपि इन अर्द्ध-अर्द्ध-अङ्ग-भावों से सहसा दाम्पत्यमूला स्त्री-पुम्भावना की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होजाता है, जो कि आकर्षण प्रकृतिसिद्ध ही माना जायगा। तथापि वस्तुतत्त्व के स्वरूप-समन्वय के लिए हमें यहाँ दाम्पत्यपथानुबन्धी-विभिन्न दो अर्द्ध-अर्द्ध-अङ्गों को यत्किञ्चित्-समय के लिए निरपेक्ष मानकर केवल एक ही मानव, और ही मानवी के अनुबन्ध से अर्द्धाङ्गद्वयी की मीमांसा में प्रवृत्त होना पड़ेगा।

मानव हो, अथवा मानवी, अर्थात् पुरुष हो, अथवा स्त्री, दोनों के प्रकृतिसिद्ध स्वरूप में ( प्रत्येक में ) दो दो विभिन्न अर्द्ध-अर्द्ध अङ्ग-भाव-समन्वित हैं । अर्थात् दो विभिन्न अर्द्ध-अर्द्ध-अङ्गों के सम-न्वितरूप का ही नाम तो 'मानव' है, एवं तथाविध उभयात्मकरूप का ही नाम 'मानवी' है। प्रथम-अर्द्ध-अङ्ग का पारिभाषिक-साङ्केतिक-नाम है-'पुरुष', एवं द्वितीय-अर्द्ध-अङ्ग का साङ्केतिक नाम है 'प्रकृति'। पुरुष, और प्रकृति के द्वन्द्वात्मक भौतिकरूप का ही नाम है 'पुरुष', अर्थात् 'मानव'। एवं प्रकृति, तथा पुरुषात्मक-द्वन्द्वभाव का ही का ही नाम है-'स्त्री', अर्थात्-'मानवी'। और इस समानधर्म्मानुबन्धी समतुलित-साम्य के आधार पर ही मानव, तथा मानवी के सम्बन्ध में-**'सह धर्म्मं चरताम्'** लक्षण सुप्रसिद्ध साप्त-पदीन-सख्यभाव ( मैत्री-भाव ) का समन्वय हुआ है, जिस-मैत्री-धर्म्म का स्वरूप समानशीलव्यसननिबन्ध ही माना गया है *। इस समतुलित साम्य के आधार पर ही हमें यह भी स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि,

---

***--समानशीलव्यसनेषु मैत्री**

—सुप्रसिद्धा-सूक्तिः

प्राजापत्य सर्ग की मानव, तथा मानव-रूपा दोनों विभूतियाँ का स्थान सर्वात्मना समधरातल पर ही व्यवस्थित है। और इसी साम्य के आधार पर यदि यह भी कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न होगी कि, प्रकृति-पुरुष-समन्वयात्मक साम्य की दृष्टि से सर्ग की ये दोनों हीं विभूतियाँ 'समानाधिकार' उदाधि से समन्वित भी मानीं जासकतीं हैं, किंवा मानीं जानीं चाहिएँ।

समानाधिकार के तथाभूत-व्यामोहन से व्यामुग्ध भावुक मानव इस दिशा में आज कुछ ऐसी ही कल्पनाओं में मनोविभोर बनते हुए 'स्त्रीसमानाधिकार' के उद्घोष से पार्थिव-आकाश को विकम्पित करने लग पड़े हैं, और व्यक्त होने लगी है उन की भावुक-भाषा के द्वारा इत्थंभूता वैखरीवाक् कि, "यदि मानवी को भी शिक्षा-वातावरण-आदि के सम्बन्ध में मानव के अनुरूप ही सुविधाएँ दीं जासकेंगीं, तो निश्चयेन मानवी किसी भी क्षेत्र के उत्तरदायित्व में मानव से पराङ्मुख, किंवा ही पराभूत प्रमाणित नहीं होगी। अपितु उभय-स्पर्द्धा में मानवी ही मानव की योग्यता के क्षेत्र का अतिक्रमण कर लेगी, अतएव................" इत्यादि इत्यादि।

बलप्रयोग-पूर्वक नारी-सुलभ सौम्य-भावों का अभिभव कर मानवी के शरीर, और-बुद्धि-क्षेत्रों को भी कर्कश बनाया जासकता है, जैसे कि अमुक प्रयोगों के कारण मानवसुलभ आग्नेय भाव भी मानव के अभिभूत होजाते हैं, उस का सुदृढ-पौरुष-धर्म्म भी कोमलता में परिणत होजाया करता है। और यों प्रकृतिसिद्ध-चिरन्तन-अभ्यास से मानव को मानवी-कोटि पर, एवं मानवी को मानव-कोटि पर ला खड़ा किया जासकता है। किन्तु इत्थंभूत बलप्रयोग मानव, और मानवी, दोनों के ही प्रकृतिसिद्ध स्वरूपों के विपरीत जाता हुआ अन्ततोगत्वा उस भावी 'प्रजननधर्म्म' को ही दोषाक्रान्त प्रमाणित कर देता है, जिस प्रकृति-सिद्ध-अग्नि-सोम-निबन्धन-यज्ञात्मक-वैज्ञानिक-प्रजनन के आधार पर राष्ट्रीय ही मानव, और मानवी-वर्ग प्रकृत्या पुष्पित-पल्लवित होते रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, बलपूर्विका दुराग्रहात्मिका समानाधिकार-व्यामोहनमूला-युगधर्म्मानुगता-भावुकता से आत्मपरित्राण करते हुए ही, भारतीय-आर्षदृष्टि के माध्यम से ही **'सह धर्म्मं चरताम्'** मूला समानाधिकार-व्यवस्था का अनुगमन करें, और इसी दृष्टि के माध्यम से आज के काल्पनिक-समाधिकाररूप उस विघातक व्यामोहन के प्रति राष्ट्रीय-प्रजा को जागरूक करें, जिस व्यामोहन के कारण हमारा राष्ट्रीय-प्रजजन विगत तीन सहस्र-वर्षों से उत्तरोत्तर पतनोन्मुख ही प्रमाणित होता आरहा है।

अवश्य ही अर्द्ध-अङ्गात्मक पुरुष-भाव, और अर्द्ध-अङ्गात्मक-ही प्रकृति-भाव के सहसमन्वय से कृतरूप मानव, और मानवी के स्वरूप में सर्वथैव साम्य है। जो पर्वचतुष्टयीरूपा अङ्गद्वयी मानव में है, वही पर्वचतुष्टयी-रूपा अङ्गद्वयी मानवी में भी है। और इसी साम्य के आधार पर दोनों की आधिकारिकी समता-भ्रान्ति भी सम्भावित है। किन्तु जब सूक्ष्मदृष्टि से वस्तुतत्त्व का अन्वेषण किया जाता है, तो इस साम्य की सीमा में हीं हमें उस 'वैषम्य' का भी साक्षात्कार होजाता है, जिसने इन दोनों सम-भावों को भी विषमभाव में परिणत कर रक्खा है। एवं निश्चयेन समत्वानुगत, किंवा साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित यह वैषम्य ही उस 'प्रजातन्तुवितान' की मूल-प्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस तन्तुवितान-परम्परा के द्वारा ही ( मानव-मानवी के दाम्पत्य से ) सम्पूर्ण द्वन्द्वात्मक-भौतिक-विश्व का स्वरूप 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' का स्वरूप-रक्षक बना हुआ है।

तथाविध वैषम्य का मूलाधार है-'न्यूनत्त्व'। मानव, और मानवी, दोनों में हीं यद्यपि साम्यमूलक पुरुष-प्रकृति-भाव समानरूपेण समन्वित हैं। किन्तु ये दोनों हीं साम्य दोनों हीं संस्थाओं में एकांशत: 'न्यून' ही बने हुए हैं। मानव का पुरुषभाव पूर्ण है, तो प्रकृतिभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है। एवमेव मानवी का प्रकृतिभाव पूर्ण है, तो पुरुषभाव अपूर्ण, किंवा न्यून है। पूर्णता जहाँ समत्त्वानुयोगिनी-विषमत्त्वप्रतियोगिनी है, वहाँ अपूर्णता विषमत्त्वानुयोगिनी-समत्त्वप्रतियोगिनी है। पुरुषतत्त्व रसानुबन्ध से पूर्ण बनता हुआ जहाँ 'समभावापन्न' है, वहाँ प्रकृतितत्त्व बलानुबन्ध से अपूर्ण बनता हुआ 'विषमभावापन्न' है। समत्त्वानुयोगिक पुरुष यदि आधार, और प्रकृति-यदि आधेया है, तो विषमा प्रकृति के साम्राज्यस्थान विश्व में, एवं-तत्-प्रजा में भी समत्त्वमूला शान्ति प्रवाहित रहती है। ठीक इस के विपरीत यदि विषमत्त्वानुयोगिनी प्रकृति आधार, और पुरुष आधेय बन जाता है, तो समत्त्वमूला शान्ति का सर्वथैव उच्छेद होजाता है। और सम्भवत: क्यों निश्चयेन इसी आधार पर महाभाग यक्ष के अमुक महत्त्वपूर्ण प्रश्न के समाधान में समुपस्थित 'स्त्रीपुंवच्च' तद्धि गेहं विनष्टम्' इस प्रकृतिसिद्ध समाधान को पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने अपने ऐतिह्यग्रन्थ में प्रश्रय प्रदान किया है।

पुरुष, और प्रकृति से अनुप्राणित रस-बल-निबन्धन साम्य-वैषम्य का यह चिरन्तन इतिवृत्त तो स्वतन्त्र-निबन्ध-सापेक्ष हो माना जायगा *। प्रकृत में लक्षीभूत वक्तव्य से अनुप्राणित सन्दर्भ की सङ्गति के लिए यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, मानव का पुरुषभाग जहाँ पूर्ण है, वहाँ प्रकृतिभाग अपूर्ण है। अतएव मानव प्रकृतित:-अपूर्ण-अकृत्स्न, किन्तु पुरुषतः पूर्ण कृत्स्न है। ठीक इस के विपरीत मानवी का प्रकृतिभाग जहाँ पूर्ण है, वहाँ पुरुषभाग अपूर्ण है। अतएव मानवी पुरुषत: अपूर्णा-अकृत्स्ना, किन्तु प्रकृतितः पूर्णा-कृत्स्ना है। मानव अपनी प्रकृतिनिबन्धना अपूर्णता की पूर्त्ति के लिए ही उस 'मानवी' के साथ साप्तपदीन की सहज इच्छा रखता है, जो अपनी पूर्णा प्रकृति के समर्पण से प्रकृत्या अपूर्ण बने हुए इस मानव के विस्रस्त-प्राकृत-भाव को परिपूर्ण कर दे। एवमेव मानवी भी अपनी पुरुष-निबन्धना अपूर्णता की पूर्त्ति के लिए ही उस 'मानव' के प्रति समर्पित होजाना चाहती है, जो अपने पूर्ण पुरुषभाव के प्रत्यर्पण से पुरुषत्त्वेन अपूर्ण बनी हुई इस मानवी के विस्रस्त-पौरुष-भाव को परिपूर्ण करदे। और यों दोनों दोनों की न्यूनता के क्षति-पूरकात्मक सम्बल प्रमाणित होते हुए उस एकत्त्वनिबन्धना परिपूर्णता को अन्वर्थ बनाते हुए इत्थंभूत दाम्पत्य से प्रजातन्तुवितानात्मिका विश्वस्वरूप-पर्य्यादा की महती थाती को ही अक्षुण्ण बनाए रहें। 'न्यूनाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते'-'सोऽयमाकाश: पत्न्यापूर्य्यते' इत्यादि श्रुति-वचन इसी तथा-कथिता रहस्यपूर्णा याज्ञिकी स्थिति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिस याज्ञिकी स्थिति के स्वरूप-प्रसङ्ग से ही तत्स्तम्भरूप-प्रकृति-पुरुष-समन्वयात्मक-अध्यात्मयज्ञ (मानव-मानवी के दाम्पत्यरूप यज्ञ) के अर्द्ध-अर्द्ध अङ्गभावों का संस्मरण होपड़ा है।

मानव का पुरुषभाव 'आत्मा' है, तो प्रकृतिभाव इस का 'शरीर' है, जिस का निष्कर्ष यही है कि, आत्मा, और शरीर, इन दोनों की समन्वितावस्था का ही नाम तो मानव है, एवं तदात्मक ही मानवी का

*--खण्डचतुष्टयात्मक-सामयिक-उद्बोधनात्मक--निबन्धान्तर्गत--क्रमप्राप्त-तृतीयखण्डरूप--'प्रकृतिपुरुष--स्वरूपमीमांसा' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में इस तत्त्व का विशदरूपेण स्पष्टीकरण--प्रयास हुआ है।

मौलिक स्वरूप है । आत्मा 'लोकातीत', किन्तु 'लोकी' तत्त्व है, एवं शरीर 'लोक' है । पार्थिव जगत् की प्रकृति माता धरित्री ही मानी गई है । अतएव प्रकृति-रूप-लोकात्मक-शरीर को हम **'पार्थिव'** ही कहेंगे, जिस में आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः-अपार्थिव-अलौकिक-आत्मा प्रतिष्ठित माना गया है । आत्मा ही वह 'पुरुष' भाव है, जो प्रकृतिरूप--लोकात्मक 'शरीर' का सर्वस्व माना गया है । आत्मा, और पार्थिव शरीर, इन दोनों के मध्य मे दोनों के क्रमिक-सहयोगी माने गए हैं **विज्ञानभाव**, और **प्रज्ञानभाव**, जो दोनों भाव दर्शन--जगत् में क्रमशः **बुद्धि**, और **मन** नाम से प्रसिद्ध हैं । वैदिक--विज्ञान की सामान्य--परिभाषाओं से भी परिचित वेद–प्रेमी जानते ही हैं कि, मानवीय मन का 'उपादान' सोममय वह चन्द्रमा है, जिसे पृथिवी का उपग्रह माना गया है । अतएव चान्द्र--मन का पार्थिव--शरीर के प्रति सहज आकर्षण प्रकृत्यैव संसिद्ध होरहा है । एवमेव चिदात्मा की गर्भभूमिरूप पारमेष्ठ्य महद्--ब्रह्म का उपग्रह माना गया है वह सूर्य्य, जो बुद्धि का प्रभव है । अतएव महद्ब्रह्मावच्छिन्न आत्मा के प्रति सौरी--बुद्धि का सहज आकर्षण स्वतः ही प्रमाणित होरहा है । और यों सूर्य्यात्मिका बुद्धि मानव के आत्मरूप पुरुषपर्व की, किंवा अर्द्ध–अङ्ग की सहचारिणी बनी हुई है, तो चन्द्ररूप मन पार्थिवशरीररूप प्रकृतिपर्व का, किंवा अर्द्ध अङ्ग का सहचारी बना हुआ है । इस साहचर्य्य का निष्कषार्थ यही निकलता है कि--मानवीय पुरुषभागरूप अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति **आत्मा**, और **बुद्धि** नामक दो अवान्तर पर्वों से अनुप्राणिता है, एवं मानवीय प्रकृतिभागरूप अर्द्धाङ्ग की व्याप्ति **मन**, और **शरीर** नामक दो अवान्तर पर्वों से समन्विता है । फलतः अर्द्ध-- अङ्ग--द्वयात्मक, किंवा पुरुष--प्रकृति--समन्वयात्मक-द्विपर्वा मानव का **आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर**-भेदों से पर्वचतुष्टयात्मकत्त्व प्रमाणित होजाता है, एवं ठीक यही पर्वचतुष्टयात्मिका स्थिति मानवी की है । दोनों के समन्वितरूप दाम्पत्य * से निदानभावानुबन्धेन अष्टाक्षर--गायत्रीछन्द की संख्या--सम्पत् की सहजरूपेणैव गतार्थता प्रमाणित होरही है, एवं इस दृष्टिकोण से भी--**'गायत्री वा इदं सर्वम्'** इस अनुगम वचन की अन्वर्थता संसिद्ध होरही है ।

मानव, और मानवी सुखी, और शान्त रहें, इसी प्रसङ्ग से अत्र मानव, और मानवी की तथाकथिता स्वरूप--मीमांसा प्रक्रान्त होपड़ी है, जिस के माध्यम से अत्र हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पुरुष--और प्रकृति--भाव-समन्वयात्मक मानव का पुरुषरूप अर्द्धाङ्ग भी आत्म--बुद्धि--भेदेन द्विपर्वा है, एवं मानव का प्रकृतिरूप अर्द्धाङ्ग भी मनः--शरीर--भेदेन द्विपर्वा है । तथैव मानवी के दोनों अर्द्ध--अर्द्ध--अङ्ग भी इसी पर्वव्यवस्था से समतुलित हैं । यों दोनों के आठों पर्वों के समन्वय से अनुगता दाम्पत्यव्यवस्था अष्टाक्षर--गायत्री--छन्द से समतुलिता प्रमाणित होरही है । और यों अङ्गदृष्ट्या, तथा पर्वदृष्ट्या यद्यपि मानव, और मानवी के स्वरूपों में पारस्परिकी कोई विभिन्नता प्रतीत नहीं होरही । तदपि मानवसंस्थानुगत पुरुषाङ्ग के प्राधान्य से, एवं मानवी--संस्थानुगत--प्रकृत्यङ्ग के प्राधान्य से अनुप्राणित सुसूक्ष्म भेद दोनों के समस्वरूपों का आत्यन्तिकरूपेण विभाजक बना हुआ है, जिस विभाजन का निष्कषार्थ यही है कि, मानव के चारों पर्वों में आत्म--बुद्धि--रूप 'पुरुष' भाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण, एवं मनः--शरीर-रूप--'प्रकृति' भाग 'अपूर्ण' है । एवमेव मानवी के चारों पर्वों में मनः--शरीर--रूप--प्रकृतिभाग अभिव्यक्त है पूर्णरूपेण, एवं आत्म--

*–देखिए–प्रस्तुत द्वितीयखण्ड का **'पत्नीसन्नह्नकर्म्मोपपत्तिः'** नामक प्रकरण (पृष्ठ सं० ९७९ से पृष्ठ सं० १०२९ पर्य्यन्त) ।

बुद्धि--रूप 'पुरुष' भाग अपूर्ण है । और यों दोनी ही अन्योऽन्याश्रयन्यायानुबन्धेन एक दूसरे के सम्बल की अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षा रख रहे हैं । बिना इस उभयात्मक आश्रय--आश्रयी--भाव के न तो मानव ही सुख--शान्ति का अनुगाही बन सकता, एवं न मानवी ही सुख--शान्ति की अनुगामिनी बन सकती ।

**मानव से मानवी चाहती है शान्ति, और मानव मानवी से चाहता है सुख।** शान्ति अविकम्पित-स्थिर–आनन्द से सम्बद्धा मानी गई है, एवं सुख विकम्पित–अस्थिर–आनन्द से सम्बद्ध माना गया है । शान्ति का क्षेत्र है आत्मानुगता बुद्धि, एवं सुख का क्षेत्र है मनोऽनुगत शरीर । मानव प्रधानरूपेण आत्मबुद्धि–समष्टिरूप पुरुषभाव का प्रातिस्विकरूपेण दायाद–भोक्ता है, तो मानवी प्रधानरूपेण मनःशरीर–समष्टिरूप प्रकृतिभाव की प्रातिस्विकरूपेण दायादभोक्त्री है । मानव की आत्मबुद्ध्यनुगता शान्ति से उपकृत होती है मानवी, एवं मानवी के मनःशरीरानुगत सुख से उपकृत होता है मानव । **बिना शान्ति के सुख का कोई मूल्य नहीं, तो बिना सुख के शान्ति का मार्ग सर्वथा अवरुद्ध ।** अतएव संसिद्ध है कि–मानव, और मानवी की सुख–शान्ति दोनों के दाम्पत्यमूलक—'गृहस्थधर्म्म' पर ही अवलम्बित है, और इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर भारतीय–यज्ञकाण्ड के सम्बन्ध में हमें दो शब्द अपने वेदप्रेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित करने हैं ।

**समृद्धानन्द, शान्तानन्द**–भेद से आनन्द के महिमामय दो विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं । जिस आनन्द में सहज–स्थिति का विकम्पन है, वही समृद्धानन्द है, एवं यह इत्थंभूत पराश्रय से ही सम्बद्ध माना गया है । एक शान्त–सरोवर में बलपूर्वक–प्रक्षिप्त लोष्ठ-पाषाण कुछ समय के लिए जैसे वीची-तरङ्ग-रूप विकम्पन उत्पन्न कर देते हैं, तथैव लोक-वैभवरूप लोष्ठ-पाषाणादि के आगमन से मानस-प्रज्ञा का अमुक अवधि के लिए विकम्पन होपड़ता है, एवं इसी विकम्पनावस्था का नाम है–समृद्धानन्द, जिसका भौतिक-विश्वानुबन्धी-बाह्य परिग्रहों के संस्कारात्मक-आगमन-से ही सम्बन्ध माना गया है । यही है—विश्वसुख, लोकसुख, जिसका प्रधान सम्बन्ध माना गया है मानव-मानवी के प्रकृतिपर्वों के साथ, अर्थात् मनःशरीर-पर्वों के साथ । अर्थात् मानसिक शारीरिक-लोकानन्द का ही नाम है–समृद्धानन्द, एवं इसी की पारिभाषिकी अभिधा है–**'सुख'** । क्योंकि मानवी में सहजरूपेणैव मनःशरीररूप प्राकृतपर्व ही अभिव्यक्त रहते हैं, अतएव मानवी स्वभावतः समृद्धानन्दात्मक-मनःशरीर-निबन्ध-लोकसुख की ही सतत इच्छा किया करती है ।

दूसरा विवर्त्त है शान्तानन्द का । यह स्वाश्रित आनन्द माना गया है । एवं सहजरूपेण स्व की स्वरूपस्थिति ही इस शान्तानन्द की परिभाषा है, जिसे बुद्ध्यनुगत-आत्मानन्द, किंवा आत्मनिबन्धन-बौद्धिक आनन्द भी कहा जासकता है । मनोऽनुगत--शारीरिक-सुख को कहा जायगा पुष्टि, शरीरानुगत मानसिक सुख को कहा जायगा तुष्टि । एवं दोनों की समन्वितावस्था को माना जायगा **समृद्धानन्दात्मक-सुख** । एवमेव आत्मानुगत बौद्धिक आनन्द को कहा जायगा तृप्ति, एवं बुद्ध्यनुगत आत्मानन्द को कहा जायगा शान्ति, तथा दोनों की समान्वितावस्था को माना जायगा 'शान्तानन्दात्मिका' 'शान्ति' । यों दो आनन्द-विवर्त्तों के पर्व-चतुष्टयी के अनुबन्ध से **शान्ति-तृप्ति–तुष्टि-पुष्टि-रूपेण** चार अवान्तर-महिमा-विवर्त्त-सम्पन्न होजायँगे, जिन इन चारों में से शान्ति-तृप्ति-रूप शान्तानन्द की पारिभाषिकी संज्ञा है—**'निःश्रेयस्'**, एवं तुष्टि-पुष्टि-रूप-समृद्धानन्द की संज्ञा है **'अभ्युदय'** । निःश्रेयस् के क्षेत्र हैं-आत्मबुद्धिपर्व, एवं अभ्युदय के क्षेत्र हैं-मनःशरीर-

पर्व । निःश्रेयस्-रूप शान्तानन्द ही **'पारलौकिक-शान्तानन्द'** है, एवं अभ्युदयरूप-समृद्धानन्द ही-ऐह-लौकिक-समृद्धानन्द है । और यों दोनों दोनों के पूरक ही प्रमाणित होरहे हैं ।

इसी आधार पर उस वर्णाश्रमधर्म्म की अभिव्यक्ति हुई है, जिसे भारतीय दार्शनिकोंनें—**'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः-स धर्म्मः'** इत्यादिरूपेण उभयसंसाधक माना है । इत्थंभूत उभयसंसाधक महान् मानवधर्म्म (वर्णाश्रमधर्म्म) का आधारस्तम्भ माना गया है वह—**'गृहस्थाश्रम'**, जिसकी आधारभित्ति है चतुष्पर्वा मानव, और तथाविधैव-मानवी का दाम्पत्ययज्ञ । इसी यज्ञ के आधार पर मानव का वह गृहस्थाश्रम प्रतिष्ठित है, जिसके माध्यम से ही अभ्युदय का अर्ज्जन करते हुए मानव-मानवी अग्रभावी वानप्रस्थादि इतर आश्रमों से निःश्रेयस्-साधन में भी सर्वात्मना सफल होजाते हैं । इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर अब हम अपने पाठकों का ध्यान उन दोनों विद्याओं की ओर पुनः आकर्षित कर रहे हैं, जिनका **पराविद्या-अपराविद्या** रूपेण मुण्डकश्रुति के द्वारा पूर्व में संस्मरण किया जाचुका है ।

शब्दशास्त्रने ब्रह्म के दो प्रमुख-महिमा-विवर्त्त माने हैं, जिनका भी प्रसङ्ग-धिया अत्र संस्मरण कर लेना यातयाम नहीं माना जायगा । वे दोनों विवर्त्त क्रमशः **लोकातीतब्रह्म**, एवं **लोकब्रह्म**, नामों से अनुगत माने जासकते हैं, जो दर्शनभाषा में जहाँ क्रमशः **निर्गुणब्रह्म-सगुणब्रह्म** नामों से, एवं विज्ञानभाषा में **परात्पर, पुरुष**-नामों से व्यवहृत हुए हैं । दिक्-देश, और काल की परिधियों से अतीत, विश्वातीत-निर्द्धर्म्मक ब्रह्मविवर्त्त ही **लोकातीत-परात्पर-ब्रह्म** है । एवं दिक्-देश-कालात्मक-सर्वात्मक-सर्वधर्म्मोपपन्न-ब्रह्मविवर्त्त ही **पुरुषब्रह्म** है । दिक्कालाद्यनवच्छिन्न-लोकातीत-ब्रह्म ही * **शान्तानन्द** की प्रतिष्ठाभूमि है, एवं दिक्कालाद्यवच्छिन्न-लोकात्मक-ब्रह्म ही **समृद्धानन्द** की प्रतिष्ठाभूमि है । इसका तात्पर्य्य यही हुआ कि शान्तानन्दात्मक-निश्रेयस् का आधार है लोकातीतब्रह्मविवर्त्त, एवं समृद्धानन्दात्मक-अभ्युदय का आधार है लोकात्मक ब्रह्म-विवर्त्त ।

लोकातीत ब्रह्मविवर्त्त की लोकनिबन्धना उपनिषत्-मानी गई है—**'अहं ब्रह्मास्मि'** यह, जिसका अर्थ होता है—**'विशुद्ध-निष्कैवल्य-आत्मा'**, एवं जिसे माना गया है-दिक्-देश-काल-त्रयी से अतीत । सैषा स्थितिः । स्थितस्य गतिश्चिन्तीया । निवेदन किया गया है कि-मानव, और मानवी, दोनों में प्रत्येक में आत्मादि-शरीरान्त चार चार पर्व हैं । इनमें प्रथम-सर्वाधारभूत-अपर्वात्मक-आत्मपर्व के साथ बुद्धिपर्व को भी अनुगत मान लिया है एक कारणविशेष के आधार पर, जिसका नवखण्डात्मिका-गीताभूमिका के **'बुद्धियोगपरीक्षा'** नामक अष्टमखण्ड में विस्तारसे स्वरूपोपबृंहण किया गया है । प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, 'बुद्धि' नामक पर्व वस्तुतः दिग्देश-कालानुगत लोकब्रह्म की सीमासे ही प्रधानरूपेण सम्बन्ध रखता है । और इस दृष्टि से आत्मा-बुद्धि, तथा मनः-शरीर-रूपेण चारों पर्वों का विभाजन न कर आत्मा को स्वतन्त्र-विभागानुगामी माना जायगा, एवं शेष तीनों-बुद्धि-मनः-शरीर-नामक पर्वों का एक लोकात्मक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा।

---

*** -दिक्कलाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।**
**स्वानुभूत्येक-मानाय नमः 'शान्ताय' तेजसे ।**
**—भर्तृहरिः**

इस नवीन दृष्टिकोणानुबन्ध से अब आत्मपर्व के साथ तो लोकातीत-ब्रह्म से अनुप्राणित निःश्रेयस् का, और तद्रूप शान्तानन्द का सम्बन्ध माना जायगा, एवं शेषभूता बुद्धि-मनः-शरीर-पर्वत्रयी के साथ लोकब्रह्म से अनुप्राणित अभ्युदय का, और तद्रूप समृद्धानन्द का सम्बन्ध माना जायगा, एवं तदाधारेणैव अब राद्धान्ततः यह मान लिया जायगा कि, मानव-मानवी का आत्मपर्व दिग्देशकालातीत बनता हुआ निश्रेयस्-पथानुगामी है, तो शेषभूता बुद्धि-मनः-शरीर-पर्वत्रयी दिग्देशकालात्मिका प्रमाणित होती हुई अभ्युदय-पथानुगामिनी है।

तथाकथित नवीन दृष्टिकोण का आधार है प्राकृतिकी-लोकस्थिति, जिसका भी दो शब्दों में संस्मरण कर ही लेना चाहिए। लोकब्रह्मात्मक-समृद्धानन्दघन-विश्वात्मा से अभिन्न भूत-भौतिक-विश्व की अभिव्यक्ति के तीन हीं प्रमुख पर्व माने गए हैं, जो क्रमशः **'सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी'** रूपेण सर्वसाधारण के लिए भी श्रद्धातम हैं। कालसाक्षी सूर्य्य काल से अभिन्न है, और यही अवलोकन-साधन-भूत 'लोक' है। अतएव यह 'लोकसाक्षी' नाम से भी उपश्रुत है। दूसरा चन्द्रपर्व ही दिक् का साक्षी बनता हुआ दिग्भाव से अभिन्न है। एवं तीसरा पृथिवीपर्व ही देश का साक्षी बनता हुआ देशभाव से अभिन्न है। तदित्थं सौरमण्डलावच्छिन्न लोकब्रह्म की सीमा में **सूर्य्यात्मक-कालभाव, चन्द्रमात्मक दिग्भाव, एवं पृथिव्यात्मक देशभाव,** रूपेण तीन अवान्तर-विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। इस त्रयी से ही तदभिन्न लोकब्रह्म को हमने **'दिग्देश-कालावच्छिन्नब्रह्म'** कहा है, जिसका फलितार्थ निकलता है—**'चन्द्रमा-पृथिवी-सूर्यावच्छिन्न-व्यक्त-विश्वब्रह्म'**।

शेष रह जाता है लोकातीत, अतएव दिग्देशकालातीत, अर्थात् पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्यात्मक व्यक्त विश्व से अतीत परात्परब्रह्म, जिसे दिग्देशकालातीतत्त्वेनैव **'अविज्ञेयब्रह्म'** भी कहा गया है।

मानव-मानवी में समानरूपेण अभिव्याप्त लोकातीत ब्रह्मभाव ही **'आत्मा'** है, जो दिग्देशकालातीत है। कालात्मक सूर्य्य का प्रवर्ग्यरूप ही मानव-मानवी में **कालात्मक-बुद्धिपर्व है।** दिगात्मक चन्द्रमा का प्रवर्ग्यरूप ही **दिगात्मक-मनःपर्व** है। एवं देशात्मिका पृथिवी का प्रवर्ग्यरूप ही **देशात्मक-शरीरपर्व है।** इन तीनों पर्वों की समन्वितावस्था ही मानव-मानवी का दिग्देशकालात्मक-लोकानुबन्धी-परिच्छिन्न-स्वरूप है। और यही है उस **'अपराविद्यात्मिका' 'वेदविद्या'** का स्वरूप-निष्कर्ष, जिसकी काण्डत्रयी के प्रथम-पर्वरूप-**'ब्राह्मणभाग'** की व्याख्या ही **'शतपथब्राह्मणभाष्य'** के रूप से क्रमशः ( खण्डशः ) प्रस्तुत होरही है गतवर्ष से।

आर्ष-* भारतराष्ट्र में किस मन्दभाग्यपूर्ण क्षण से इत्थंभूता भयावहा सर्वनाशकारिणी भ्रान्ति उपक्रान्त होपड़ी कि,-**"मानव का एकमात्र लक्ष्य आत्मानुबन्धी--निःश्रेयस्--साधन ही है। दिग्देशकालानुबन्धी-व्यक्त-विश्व सर्वथैव मिथ्या है। इस का परित्याग कर मानव को केवल निःश्रेयस्-पथानुवर्त्मा ही बना रहना चाहिए"**, के-कालानुबन्धी काल्वालीकृत इतिवृत्त के स्वरूप-विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है। यहाँ तो इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, विगत तीन सहस्र-वर्षों से भारतराष्ट्र ज्ञात-अज्ञात-अनेक वारुण-पाशों की दृढतमा-बन्धन-परम्पराओं से आलोमग्य:-

---

* ऋषिप्रदिष्ट ज्ञान-विज्ञानात्मक-पथ का अनुगामी।

आनखाग्रेभ्यः आबद्ध बना रहता हुआ प्रकृतिसिद्ध शरीर-मनो-बुद्धि-सम्मत-देश-दिक्-कालानुबन्धी-लोक-समृद्धिभावों की ओर से न केवल तटस्थ-निरपेक्ष ही, अपितु--काल्पनिक--आत्माभिनिवेश से आविष्ट होता हुआ विद्रोही ही बनता चला आरहा है इन लोक-समृद्धिपरम्पराओं के प्रति ।

विश्वातीत-निर्द्धर्म्मक-लोकातीत-परात्परब्रह्मरूप निर्विशेष 'आत्मभाव' का तो वस्तुगत्या मानव के निःश्रेयस से भी सम्पर्क नहीं है । अपितु चतुष्पर्वा मानव-मानवी का प्रथम-पर्वरूप आत्मभाव ही इन दोनों के लिए निःश्रेयस् का प्रवर्त्तक माना गया है, जो आत्मभाव विश्वसीमानुगत बनता हुआ 'विश्वात्मा' नाम से ही प्रसिद्ध है । अतएव जगन्मिथ्यात्ववादी-निर्विशेष-वादियों का तो निःश्रेयस् से भी कोई सम्पर्क नहीं रह जाता । अपितु निर्विशेष की उपलब्धि के मिथ्यादम्भ से इनकी स्थिति तो--'इतो भ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्टः' न्याय को ही चरितार्थ करने वाली प्रमाणित होरही है, और वैसा सा ही क्या, निश्चयेन वैसा ही घटित होरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों की अवधि से निर्विशेषाभिनिविष्टा जगन्मिथ्यात्ववादिनी भारतीय प्रजा के सम्बन्ध में ।

जगन्मिथ्यात्ववादभ्रान्तिमूला निर्विशेषात्माभिनिवेशाविष्टा तथाकथिता आत्मधारणाने ही इस ओर की लोकसमृद्धि-परम्पराओं से जहाँ भारतीय-मानव को पराङ्मुख प्रमाणित किया, वहाँ काल्पनिक आत्माभिनिवेश ने इसे निःश्रेयस्-पथ से भी सर्वात्मना वञ्चित ही प्रमाणित कर दिया-तथोक्ता भुक्ता-प्रक्रान्ता अवधि में । यों निःश्रेयस्साधक आत्मोपयिक ज्ञानपथ के साथ साथ अभ्युदयसंसाधक (बुद्धि-मनः-शरीरोपयिक ) विज्ञानपथ से भी भारतीय मानव सर्वात्मना पराःपरावत ही प्रमाणित होगया । पारिशेष्यात् रह गया इसके प्रज्ञाकोश में काल्पनिक शून्यवादात्मक-क्षणवादात्मक-स्वलक्षणनिबन्धन-दुःखं-दुःखं-मात्र, जिस इत्थंभूता सर्वनाशकारिणी मतवादात्मिका भावुकता को ही आज पुनः बड़े अभिनिवेश के साथ हमारा आज का सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारत काल्पनिक-मानवता के व्यामोहन से व्यामुग्ध होता हुआ अपना रहा है, जिससे बड़ा सांस्कृतिक अधः-पतन इसका और कुछ भी तो नहीं हो सकता ।

लोकसमृद्धयनुगता-दिग्देशकालानुबन्धिनी-अभ्युदयपथसंसाधिका विज्ञानधारा की विलुप्ति ही तथोक्त सांस्कृतिक अधःपतन का एकमात्र प्रमुख कारण है, जिस पतनगर्त्त को निःशेष प्रमाणित करने के लिए अविलम्ब अपराविद्या के तत्त्वान्वेषण के आधार पर भारतीय मनीषि-वर्ग को उस आर्षविज्ञानपरम्परा की पुनः अभिव्यक्ति करनी ही पड़ेगी, जिस अभ्युदयसाधक विज्ञानकाण्ड की आधारभूमि निःश्रेयस्-संसाधक-ज्ञानकाण्ड बना हुआ है । और इस पावन--उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए राष्ट्र के मनीषिवर्ग को सर्वप्रथम-अपराविद्या के प्रधान, एवं प्रथम-अङ्गभूत 'विधि' नामक 'ब्राह्मण' भाग की वैज्ञानिकी-परिभाषाओं के पारिभाषिक-तत्त्वान्वेषण में हीं प्रवृत्त होना पड़ेगा, जिन परिभाषाओं के स्वरूप-समन्वय के बिना केवल प्रकृति-प्रत्यय-धातु-उपसर्ग-निपातादि के बल पर कदापि विलुप्तप्राया, विस्मृतप्राया विज्ञानधारा की पुनः अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है ।

मुण्डकोपनिषत् ने **पराविद्या, अपराविद्या** नाम की जिन दो विद्याओं का सङ्केत किया है, उनमें लोकातीता पराविद्या का न तो मानव के अभ्युदय से ही सम्बन्ध है, एवं न निःश्रेयस् से ही । क्योंकि दिग्देशकालातीता पराविद्या का न तो ज्ञान से ही सम्बन्ध है, न कर्म्म से ही सम्बन्ध है । शब्दातीता उस विद्या का मानव के लोकजीवन की सापेक्षा ज्ञानधारा, तथा सापेक्षा कर्म्मधारा से किसी भी प्रकार का व्यक्त

सम्बन्ध नहीं है, जबकि दुर्भाग्यवश उसी लोकातीता पराविद्या को, एवं तन्निबन्धन लोकातीत निरपेक्ष–निर्विशेष-ब्रह्म को विश्वसमृद्धि के अन्यतमशत्रु साम्प्रदायिकोंनें मानव के लिए एकमात्र परमपुरुषार्थ घोषित करते हुए उसे ही निःश्रेयस्–संसाधक मान रक्खा है। एवं इसी भावुकतापूर्णा मान्यता से आवेशाविष्टा बनी हुई भारतीय प्रजा विगत तीन सहस्र वर्षों से विश्वातीत-निर्विशेषब्रह्म की घोषणामात्र से आत्मविस्मृता बनती हुई वस्तुस्थिति से अनुप्राणित निःश्रेयस् (आत्मानुगता शान्ति, और बुद्ध्यनुगता तृप्ति), तथा अभ्युदय (मनोऽनुगता तुष्टि, और शरीरानुगता पुष्टि), दोनों हीं पुरुषार्थों से सर्वथा ही वञ्चित ही होती चली आरही है।

तथाविधा आत्मवञ्चना का ही यह घोरघोरतम दुष्परिणाम हुआ है कि, सगुण-विश्वेश्वरब्रह्म के ज्ञान विज्ञानात्मक-रहस्यों का प्रतिपादक-**उपनिच्छास्त्र**, तद्व्याख्याभूत **व्याससूत्र**, एवं तत्पारिभाषिकी सूची-रूप **गीताशास्त्र**, इन तीनों शास्त्रों की समष्टिरूपा सुप्रसिद्धा–**'प्रस्थानत्रयी'** भी तदावेशाविष्टों की महती कृपा से अपनी पारिभाषिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका समन्वय–पद्धति से पराङ्मुख ही प्रमाणित होगई है विगत अवधि से। फलतः प्रस्थानत्रयी आज केवल साम्प्रदायिक-ग्रन्थमात्ररूपेणैव **अवशिष्टा रह गई है**। तभी तो तथोक्ता अवधि में अपने अपने वैय्यक्तिक–मनोऽनुगत–मान्यतानुबन्धी–मतवादों-सम्प्रदायवादों के समर्थन–प्रमाणन के लिए सभी मतवाद–प्रवर्त्तकोंनें 'प्रस्थानत्रयी' का आश्रय ग्रहण करते हुए इसे उसप्रकार स्व–स्व–मतवादों की पोषणात्मिका ही प्रमाणित करने का जघन्यतम–प्रयत्न किया है, मानो ज्ञानविज्ञानात्मिका यह प्रस्थानत्रयी केवल काल्पनिक–मतवादों के पोषण के लिए ही प्रवृत्त हुई हो।

उक्त निदर्शन से वक्तव्यांश केवल यही है कि, 'उपनिषत्' जैसा वैज्ञानिक-शास्त्र, सर्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म के वैज्ञानिक–स्वरूप का विश्लेषक 'वेदान्तसूत्र' जैसा सूत्रग्रन्थ, एवं समस्त उपनिषदों की रहस्यपूर्णा ज्ञानविज्ञानात्मिका विद्याओं की, परिभाषाओं की महत्त्वपूर्ण 'सूची' रूप **श्रीमद्भगवद्गीता** जैसा लोकोत्तरशास्त्र, ये सभी ज्ञान–विज्ञान–निधियाँ भी आज तथाविधा मतवादाभिनिवेशपरम्पराओं की प्रतिच्छाया से अपनी मौलिकता से सर्वथा ही अन्तर्म्मुख प्रमाणित होचुकी हैं। यही कारण है कि उपनिषत्, और गीता जैसे तत्त्वप्रधान, एवं आचारप्रधान शास्त्रों के विद्यमान रहते भी भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्रवर्षों की अवधि से उत्तरोत्तर निश्रेयस्, तथा अभ्युदय–पथों से वञ्चित रहता हुआ आततायी-वर्ग के द्वारा पराभूत ही होता आरहा है, जिस इत्थंभूता पराभूति से अद्यावधि भी भारतराष्ट्र का परित्राण नहीं होसका है। सचमुच ही जिज्ञासात्मक इत्थंभूत महान् प्रश्न प्रत्येक आस्तिक भारतीय मानव के लिए अनतिप्रश्नात्मक एक **'असमाधेय–प्रश्न'** ही प्रमाणित होरहा है कि, जिस नैष्ठिक–राष्ट्र (भारतराष्ट्र) के प्रज्ञाकोश में **मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र** जैसा रहस्यपूर्ण शास्त्र विद्यमान हो, जिस राष्ट्र के मानस-प्राङ्गण में **औपनिषद्-ज्ञानप्रवाह** प्रवाहित हो, एवं सर्वोपरि जिस राष्ट्र की आस्था–श्रद्धा-समन्विता बुद्धि में **गीताशास्त्र** जैसा **आचारशास्त्र** प्रतिष्ठित हो, वह राष्ट्र कैसे, और क्यों परतन्त्र बन गया?, इन लोकोत्तरा ज्ञान–विज्ञान–विभूतियों की विद्यमानता में भी कैसे और क्यों यह राष्ट्र आत्मदृष्टया अशान्त, बुद्धिदृष्टया अतृप्त, मनोदृष्टया असन्तुष्ट, तथा शरीरदृष्टया अपुष्ट बना रह गया?, और कैसे, तथा क्यों यह भारतराष्ट्र अपने दायादसिद्ध निःश्रेयस्–तथा अभ्युदय नामक दोनों ही पुरुषार्थों से वञ्चित होता आरहा है?।

हम समझते हैं, पूर्व निर्दिष्ट मतवादात्मक–सम्प्रदायवाद से अनुप्राणिता ज्ञानविज्ञानात्मिका–परिभाषाओं की विलुप्ति, ज्ञानविज्ञानात्मक आचारधर्म्म का परित्याग, एवं तत्स्थाने च काल्पनिकी मतवादा–

भिनिविष्टा-मान्यताओं का अन्धानुकरण ही तथोक्त अनतिप्रश्नात्मक-प्रश्न का प्रमुख कारण मान लिया जायगा, जिस इस एक प्रमुख कारण के सहयोगी अन्यान्य कारणों का अत्र स्पष्टीकरणावसर नहीं है। इसी सम्बन्ध में एक विशेष तथ्यात्मक कारण का संस्मरण कर लेना भी अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा।

'**ज्ञान**' शब्दानुप्राणिता परिभाषा से असंस्पृष्ट साम्प्रदायिक मस्तिष्क ने उपनिषदों के '**ज्ञान**' शब्द का इत्थंभूत समन्वय कर डाला कि,–"**उपनिषद्ग्रन्थ**" उस **निरपेक्ष–निर्विशेष–निर्धर्म्मक–लोकातीत–दिग्देश-कालातीत-ब्रह्मज्ञान की ओर ही हमारा** ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, जो निरपेक्ष-निर्विशेष–ब्रह्मज्ञानात्मक–'ज्ञान' ही अमृतत्त्वरूप–निःश्रेयस् की प्राप्ति का अन्यतम साधन है।" ज्ञानशब्द–निबन्धना इसी महती भ्रान्ति ने लोकातीत-ब्रह्मज्ञान का वह महान् व्यामोहन उत्पन्न कर डाला, जिससे व्यामुग्धा भारतीय–आस्तिक प्रजा आचारात्मक–कर्त्तव्यधर्म्म से सर्वथैव पराङ्मुख बन गई, जिस पराङ्–मुखता के आधार पर ही–'**कलौ वेदान्तिनः सर्वे**' यह आभाणक प्रक्रान्त होपड़ा है।

ज्ञानाभिनिवेश का इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा कि, निर्विशेष–ब्रह्मात्मवादी–जगन्मिथ्यात्त्वा–भिमानी व्याख्याताओं की दृष्टि में मन्त्रब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेदशास्त्र का सर्वान्त का केवल 'उपनिषद्' भाग ही प्रधान बना रहा, और उसी पर उन व्याख्याताओं की व्याख्या-टीका–टिप्पणी–आदि परम्पराएँ उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित होतीं रहीं। शेषभूत ऋक्–यजुः–साम–अथर्व–भेदभिन्ना संहिताचतुष्टयी, कर्म्म–प्रधान विधिभाग तो प्रायः असंस्पृष्ट ही प्रमाणित होते रहे, जब कि बिना इन पूर्व–वेदभागों के पारिभाषिक–ज्ञान–विज्ञानात्मक–समन्वय के उपनिषत् के एकाक्षर का भी वास्तविक ( ज्ञानविज्ञानात्मक ) समन्वय असम्भव है, जैसा कि **खण्डत्रयानुगता उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका, एवं ईशोपनिषद्विज्ञानादि–भाष्यों** में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। तथ्यात्मक कारण के संस्मरण प्रसङ्ग से ही हमें प्रकृत में इत्थभूत अप्रिय सत्य की शरणानुगति करनी पड़ रही है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक–वेदशास्त्र का 'विधि' भागरूप '**ब्राह्मणभाग**' ही तथ्यात्मक उस संस्मरणीय कारण का मूलाधार है, जिसकी ओर विशेषरूप से हमें अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। मन्त्रा–त्मक संहितावेद ज्ञातव्यवेद है, जिसकी विश्रामभूमि तत्त्वमीमांसा से ही अनुप्राणिता है। दूसरा ब्राह्मणात्मक भाग कर्त्तव्यवेद है, जिसका प्रमुखरूपेण आचारनिष्ठा से ही सम्बन्ध है। कर्म्म, उपासना, ज्ञान, तीनों हीं कर्त्तव्यार्थ हैं मानव के अभ्युदय–निश्रेयस्-संसाधन के लिए, जिनका क्रमशः **गृहस्थानुबन्धी-कर्त्तव्य, वान–प्रस्थानुबन्धी–कर्त्तव्य–एवं संन्यासानुबन्धी–कर्त्तव्य**, रूपेण त्रिधा वर्गीकरण हुआ है। ज्ञान–विज्ञाना–त्मक–शिक्षणकाल से अनुप्राणिता प्रथमा पञ्चविंशति से अनुप्राणित प्रथम–ब्रह्मचर्य्याश्रम के अनन्तर प्रकृतिसिद्धा द्वितीया–पञ्चविंशति में मानव का गृहस्थानुबन्धी–'**कर्म्म**' नामक प्रथम कर्त्तव्य प्रधानरूपेण अनुष्ठित होता है, और नर्याधारभूत–दाम्पत्यमूलक–यही वह '**कर्म्माश्रम**' है, जिसका प्रधानरूपेण ब्राह्मण के 'विधि' भाग से ही सम्बन्ध माना गया है। बिना इस प्रथम कर्त्तव्य की संसिद्धि के मानव के उत्तराङ्गभूत दोनों कर्त्तव्य ( उपासना, और ज्ञान ) कथमपि समन्वित नहीं होसकते। अतएव गृहस्थधर्म्म की उपेक्षा कर युवावस्था में, किंवा बालावस्था में ही काल्पनिक वैराग्य की घोषणा कर कपड़े रँग लेना, और अपने आपको 'वीतराग–ब्रह्मनिष्ठ–परहंस–परिव्राजकाचार्य्य–संन्यासी'–घोषित कर देना कुछ भी तो अर्थ नहीं रखता। सचमुच इत्थंभूत संन्यास से बड़ी आत्मप्रतारणा मानव के लिए और कुछ भी तो नहीं है। ऐसे

संन्यास ने, एवं ऐसे संन्यास के कर्णधार संन्यासियोंनें हीं तथ्यात्मक उस महान् कारण को जन्म दिया है, जिस संस्मरणीय कारणानुबन्ध से ही भारतराष्ट्र का गृहस्थाश्रमानुबन्धी–विधिभागात्मक ब्राह्मणग्रन्थनिबन्धन समस्त कर्म्मसौन्दर्य्य, एवं तद्रूपा आचारनिष्ठा सर्वथैव अभिभूत होगई है, जिस आचाराभिभूति से ही भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक--गौरव स्मृतिगर्भ में विलीन हुआ है।

आचारात्मक–जीवनीय रसानुबन्धी–सृष्टिसौन्दर्य्य का वैज्ञानिक–स्वरूप-विश्लेषक विधिरूप ब्राह्मण-भाग, एवं ब्राह्मणभागोक्त वैज्ञानिक–पारिभाषिक–तथ्यों का इतिहास–पुरस्सर उपबृंहण करने वाला आर्य्य--सर्वस्वरूप–'पुराणशास्त्र', ये दो ही विभाग भारतीय विज्ञानकाण्ड के तत्त्वात्मक, एवं आचारानुगत ऐति--हासिक-प्रक्रमों के प्रमुख आधारस्तम्भ थे, जिनका तथोक्त कल्पित संन्यास ने, तदनुप्राणिता केवला उपनिषद्भक्ति ने, एवं तन्निबन्धना ज्ञानैककल्पना ने विगत तीन सहस्रवर्षों से सर्वात्मना अभिभव ही कर लिया, जिस अभिभव के कारण ही सामान्य प्रजा की कौन कहे, **भारतीय-विद्वान् भी ब्राह्मणग्रन्थों, एवं पुराणों के प्रति सर्वथा उदासीन ही बन गए।**

और निःसन्देह यही वह घोरघोरतमा भयावहा भ्रान्ति है, जिस ने वेद के ज्ञानविज्ञान–सम्मत पारि-भाषिक–अन्तस्तल का संस्पर्श होने ही नहीं दिया। सचमुच ब्राह्मणग्रन्थों की ज्ञानविज्ञानात्मिका–परिभाषाओं के विस्पष्टतम स्वरूप पर दृक्पात–मात्र–करने से ही सहसा हमें वेदार्थ के सम्बन्ध में सहजरूपेणैव वैसी दृष्टि उपलब्ध होजाती है, जो क्रमसिद्ध–आनुपूर्वी-से अनुप्राणित अध्ययन से सभी प्रकार की भ्रान्तियों का आमूल-चूड़ उत्पाटन ही कर डालती है। इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यात्मिका परिभाषाएँ स्वयं में हीं एक जटिल-समस्या है। और कोई भी बुद्धिवादी प्रकृति–प्रत्यय–धातूपसर्ग-निपातादि-मात्र के बल पर स्वप्न में भी इन परिभाषाओं के सन्निकट नहीं पहुँच सकता। यही नहीं, पारिभाषिक–तथ्यों से शून्य रह जाने वाले व्यक्ति के लिए तो 'ब्राह्मणसाहित्य' उसी प्रकार केवल--'असदाख्यान' (कल्पित–कथानक) मात्र ही बने रह जाते हैं, जैसा कि 'पुराणशास्त्र' के अष्टविध--आख्यानों में एक विभाग-'निदानभावा-नुबन्धी–असदाख्यान' का माना गया है। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी ही कुछ है।

**"यज्ञ देवताओं से रूठ कर पृथिवी पर आगया। देवताओं के डर से वह काला हरिण बन गया। देवताओंनें उस का चर्म्म उखाड़ लिया, जो कि चर्म्म तीनों वेद थे"— "इन्द्र ने वृत्रा-सुर पर वज्र का प्रहार किया-वह पानी में छुप गया–उस से दर्भ उत्पन्न हुए"-"देवता और असुरों में युद्ध होपड़ा भूपिण्ड पर स्वत्त्वाधिकार स्थापित करने के लिए। दोनों लड़ते हुओं के मध्य में में गायत्री खड़ी होगई। गायत्री पृथिवी ही तो थी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ"** इत्यादि रूपेण उप-वर्णित वेदशास्त्र के इत्थंभूत आख्यान एकबार तो मानवप्रज्ञा को सर्वात्मना विजड़ित ही बना देते हैं। जबतक **इन्द्र-वृत्र–मृग–यज्ञ–त्रयीवेद्-दर्भ-–गायत्री--पृथिवी**--आदि शब्दो के पारिभाषिक--वैज्ञानिक-अर्थों के साथ हमारी–प्रज्ञा समन्वित नहीं होजाती, तबतक हम ब्राह्मणों की इस आख्यान-भाषामात्र के माध्यम से एकाक्षर का भी समन्वय नहीं कर सकते, नहीं हीं कर सकते। अपितु बिना पारिभाषिक बोध के तो हम स्वल्पकाल में ही थक कर ब्राह्मणग्रन्थों के स्वाध्याय से विरत ही होपड़ते हैं। पुराणशास्त्र के स्वाध्याय की उपरति का भी यही कारण है, जिस से कि विद्वानोंनें ब्राह्मणग्रन्थों के स्वाध्याय से विराम-ग्रहण कर लिया है। और यों पारिभाषिक तथ्यों से पराङ्मुख बने रह जाने के कारण ही विगत अनेक शताब्दियों से सर्वसामान्य की कौन

कहे, भारतीय मेधावी विद्वान् भी 'ब्राह्मण', और 'पुराण' साहित्य के अध्ययनाध्यापन से पराङ्मुख ही बनते चले आरहे हैं।

ब्राह्मण, और पुराण, दोनों की निरूपणीया--शैली में अद्भुत साम्य का अनुगमन प्रतीत होरहा है। दोनों की निरूपणीया--शैली 'आख्यानोपाख्यानान्विता--इतिवृत्तशैली"–( इतिहासशैली )" से समन्विता है, जैसाकि--'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते' (शतपथब्राह्मणे) इत्यादि से स्पष्ट--तमरूपेण प्रमाणित है। एवं पुराणशास्त्र की आख्यानशैली से अनुगतता तो सुप्रसिद्धा ही है, जैसाकि निम्न लिखित सुप्रसिद्ध पुराणवचन से ही स्पष्ट है—

**आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।**
**पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः॥**
—पुराणेषु

'पुराणसंहितां चक्रे' वाक्य से अनुगत 'संहिता' शब्द एक विशेष--तथ्य की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। सुप्रसिद्ध है कि, भगवान् वेदव्यासनने सुप्रसिद्ध बदरिकाश्रम में सत्रपूर्वक समाधिस्थ बनते हुए--ऋक्--यजुः--साम--अथर्व--नाम की चार तो 'वेदसंहिताओं' का संकलन किया, एवं पाँचवी--'पुराणसंहिता' का संकलन किया, जिस के आधार पर तच्छिष्य महाभाग सूत--के द्वारा अष्टादश--पुराणों, एवं अष्टादश--उपपुराणों का संकलन हुआ, जो पुराणसाहित्य बादरायण की मूलदृष्टि से अनुप्राणित होते हुए 'व्यासकृति' रूपेणैव प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार, जैसे कि भगवान् बादरायण की शब्दरचना से अनुप्राणित भी महाभारतान्तर्गत 'गीताशास्त्र' भगवान्--वासुदेव श्रीकृष्ण की मूलदृष्टि से अनुगत होता हुआ 'भगवद्--गीता' नाम से ही प्रसिद्ध होरहा है।

'वेदसंहिताओं के संकलन से जहाँ सत्यवती सूनु--'वेदव्यास' नाम से प्रसिद्ध हुए, वहाँ 'पुराण-संहिता' के संकलन से ये ही भगवान् बादरायण--'पुराणपुरुष' नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हुए।

'संकलन' क्या अर्थ ?, प्रश्न का समाधान भी सर्वथा ऋजुभावापन्न है। तत्त्वात्मक--अपौरुषेय--मन्त्रब्राह्मणात्मक--वेद के द्रष्टा महर्षियों के द्वारा बुद्धिपूर्विका वाक्य--रचना--पूर्वक--सम्पन्न--शब्दात्मक--मन्त्र--ब्राह्मणभाग शाखाभेद से तत्--तत्--ऋषिवंश--परम्पराओं में प्रकीर्णकरूपेण विभक्त होरहा था। एवमेव पुरा--णगाथाएँ भी भिन्न भिन्न ऋषिवंशों में विभक्त होरहीं थीं। भगवान् बादरायणने अपनी लोकोत्तरा प्रतिभा के बल पर प्रचण्ड तपश्चर्य्या के द्वारा उस शब्दात्मिका वेदराशि का, एवं पुराणगाथाराशि का संकलन किया। एवं इस 'संकलन' से ही शाखायुक्त--वेदमन्त्रों का संकलितरूप 'वेदसंहिता' नाम से, एवं पौराणिक--तथ्यों का शब्दगाथात्मक संकलन--'पुराणसंहिता' नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ। और यों--आज से पाँच सहस्र --वर्षपूर्व भगवान् बादरायण ने भारतीय--संस्कृति की अखण्डा--ज्ञानज्योति को इस संकलनरूप तैला--हुति से पुनः प्रज्ज्वलित किया, जिस के लिए भारतीय प्रजा यावच्चन्द्रदिवाकरौ इस महापुरुष के प्रति श्रद्धा--ञ्जलियाँ हीं अर्पित करतीं रहेगी।

एक प्रासङ्गिक, किन्तु महत्त्व पूर्ण प्रश्न। भगवान् बादरायण ने पहिले--पुराणसंहिता का संकलन किया, अथवा तो पहिले वेदसंहिताओं का ?, इस महत्त्व पूर्ण प्रश्न का जो उत्तर पुराणरहस्य-

वित्, पुराणकथाप्रतिपादक महाभाग सूत ने दिया है, वह भी एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जिस उत्तर का अविकलरूप है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥
—पुराणेषु

वचनाक्षरार्थ–यही है कि 'भगवान् चतुर्म्मुख ब्रह्माने सम्पूर्ण शास्त्रों से पहिले 'पुराण–शास्त्र' का ही स्मरण किया है। अर्थात् उनके मुखपङ्कज' से सर्वप्रथम 'पुराणशास्त्र' ही अभिव्यक्त हुआ है। पुराणशास्त्र की प्राथमिकी अभिव्यक्ति के अनन्तर ही ब्रह्मा की मुखचतुष्टयी से वेदशास्त्र का विनिर्गमन हुआ है।"

वेद, और पुराण के स्रष्टा चतुर्म्मुख ब्रह्मा माने गए हैं,–पुराणशास्त्र की मान्यता के अनुसार, जो कि मान्यता वैदिक–तत्त्ववाद से सर्वथा अभिन्ना बनी हुई है। "ब्रह्माने पहिले पुराण बनाए, अनन्तर वेद" यही उक्त पुराणवचन का फलितार्थ है, जिस पर सम्भवतः कोई भी वेदभक्त विद्वान् सहसा इस लिए आस्था नहीं करेगा कि, उस वेदभक्त की मान्यता में 'वेद' ही ब्रह्मा की प्रथमा कृति है, एवं वेदशास्त्र पुराणों से कहीं प्राचीनतम शास्त्र है। वेदभक्तों की इत्थंभूता मान्यता का भी समादर ही किया जायगा महाभाग सूत के द्वारा उपनिबद्ध अष्टादश–पुराणों, तथा अष्टादश-उपपुराणों की दृष्टि से भी, एवं पुराणपुरुष भगवान् व्यासदेव के द्वारा संकलिता 'पुराणसंहिता' की अपेक्षा से भी, जो कि व्यासदेव के द्वारा संकलिता 'पुराणसंहिता' अन्यान्य वेदशाखा–संहिताओं की भाँति भारतीय–आर्षप्रजा के दुर्भाग्य से आज अनुपलब्धा है। क्योंकि संकलिता–पुराणसंहिता, एवं तदाधारेण उपनिबद्ध अष्टादशपुराणोपपुराणों का संकलन, तथा निर्म्माण अवश्य ही शब्दात्मक वेदशास्त्र के अनन्तर ही हुआ है। और इसी स्थूलदृष्टि से वेदों का पूर्वभावित्व, तथा पुराणों का उत्तर-भावित्व भी मान्य मान लिया जासकता है। किन्तु !...........।

'किन्तु' का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि, पुराणशास्त्र ने जिस 'पुराण' का भगवन् ब्रह्मा के मुख से वेदों से भी पहिले उद्गम बतलाया है, उस 'पुराण' का सृष्टिरहस्य के प्रतिपादक, सङ्केतभाषामय–परम्परासिद्ध–ज्ञानविज्ञानात्मक उन चिरन्तत–आख्यानोपाख्यानों के साथ ही सम्बन्ध है, जिन का स्वयं वेद–शास्त्र 'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते' इत्यादिरूप से बड़े गौरव से संस्मरण कहता आरहा है। आख्यानविदों की परम्परा में अनादिकाल से चले आने वाले इन सृष्टीतिवृत्तों-आख्यानोपाख्यानों–को मूलसूत्र मानकर ही शब्दात्मक–वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। इसी वस्तुतथ्य के आधार पर असंदिग्धरूपेण यह मान लिया जासकता है कि–'पुरा नवं भवति–इति–पुराणम्' (जो आरम्भ में नवीन था, वही 'पुरा–नव' रूपेण-'पुराणम्' कहलाया) इत्यादि निर्वचन से अनुप्राणित परम्परया अख्यानोपाख्यानरूपेण श्रुतोपश्रुतित, वेदशास्त्र, एवं पुराणसंहिता, तथा अष्टादशपुराणों का मूलाधार–स्तम्भरूप "पुराण" सचमुच ही तो वेदशास्त्र से भी पूर्व ही विनिर्गत है भगवान् ब्रह्मा के मुखपङ्कज से।

इदमत्रावधेयं विशेषरूपेण। लोकप्रवृत्तियों में हम देखते हैं कि, जो भी लोकविद्वान् अपने चिरन्तन–अध्यवसाय–श्रम–परिश्रम से जिस विषय में जो भी नवीन अन्वेषण, किंवा नवीन आविष्कार करता है, उस के

उस अन्वेषण, किंवा आविष्कार की लोकसाधारण में स्वतः ही एक **'कहानी'** बन जाया करती है, जिस का सुसंस्कृतरूप है–**'कथा'**। लोकसंस्कृत में जो **'कथा'** कहलाई है, छन्दोऽभ्यस्ता नाम की वेदभाषा में वही **'गाथा'** नाम से प्रसिद्ध है। **वैदिकी गाथा, लौकिकी कथा,** एवं सामान्यजनानुबन्धिनी **'कहानी'** तीनों अभिन्नार्थक मान लिए जासकते हैं, क्योंकि तीनों का आविर्भावात्मक मूलधरातल अधिकांश में समतुलित ही है। राजस्थान का अमुक वर्गविशेष अमुक–विशेष-तारों से समन्वित–'सारङ्गी' समतुलित–वाद्ययन्त्र के आधार पर राजस्थान के लोकेतिवृत्तों के द्वारा ग्रामीण जनता का मनोऽनुरञ्जन किया करता है, जो आज के स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र–सत्ताधीशों की दृष्टि में भारत की 'लोकसंस्कृति' का आसन ग्रहण किए हुए हैं। तथाकथित वादकवृन्द ध्रुव–प्रल्हाद–मीरा–आदि के ऐतिहासिक चरित्रों का–सत्यवचनसंरक्षक–महाभाग तेजाजी के पावनचरित्र का, अपने उदारदान से असमर्थों के प्रति–आत्मसमर्पण में सुप्रसिद्ध सर्वश्री डूँगजी–जवाँहरजी, एवमेव अन्यान भी लोकप्रसिद्ध चरित्रों का तद्वाद्ययन्त्र के द्वारा श्रोतृवर्ग का अनुरञ्जन करते रहते हैं। गा-गा-कर सुनाए जाने वाले इत्थंभूत ऐतिहासिक-चरित्र भी एकप्रकार की–**'लौकिकी-गाथाएँ'** हीं मानीं जायँगी। स्वयं–वैदिकयुग में भी सुप्रसिद्ध–शास्त्रीय-वाद्ययन्त्र–**'वीणा'** के माध्यम से अमुक यज्ञ–कर्म्म–विशेषों में इसप्रकार की सृष्टिचरित्रात्मिका इतिवृत्तरूपा यशोगाथाओं के गान का समावेश था, जैसाकि–**'वीणागाथिनो गायन्ति'** इत्यादि से स्पष्ट है। सुप्रसिद्ध **'राजसूय'** यज्ञ में तो राजसूययज्ञानुष्ठानकर्त्ता के राजमन्दिर में प्रतिष्ठित दो श्रेष्ठतम वीणावादक ब्राह्मणों के द्वारा एकवर्ष पर्य्यन्त तथाविधा यशोगाथाओं का विधान हुआ है। निवेदन-निष्कर्ष यही है कि, **गाथारूप–कथा–कहानी की परम्परा अनादि है, और इन गाथा-कथा-कहानीरूप अनादि उन चरित्रों-आख्यानोपाख्यानों का नाम ही है-'पुराण', जिनके आधार पर ही शास्त्रीय, एवं लौकिक, सभी प्रकार के तथ्य समय-समय पर आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं। अतएव इत्थंभूत चिरन्तन 'पुराण' को अवश्यमेव 'प्रथमशास्त्र' माना जासकता है।** और एकमात्र इसी सहज तथ्य के आधार पर **'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्'** इत्यादि पूर्वोक्त वचन समन्वित हुआ है। जिसप्रकार भगवान् बादरायण ने तत्तद् ऋषिवंशों में प्रतिष्ठित प्रकीर्णभावापन्न वेदों के संकलन से **'वेदसंहिता'** का स्वरूप–समन्वित किया था, तथैव लोकप्रसिद्ध–वेदशास्त्रमूलक–परम्परया श्रुतोपश्रुत 'गाथा'–'कथा' रूप सृष्टीतिवृत्तात्मक मूलसूत्रों का भी संकलन किया, और वही संकलन **'पुराणसंहिता'** नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिस के आधार पर महाभाग सूतने अष्टादश–पुराणोपपुराणों का विस्तार किया।

'पुराण' प्रसङ्गतः **वेद, और पुराण** से अनुप्राणित पौर्वापर्य्य का दिग्दर्शन कराना पड़ा, जिससे प्रकृत में यही निवेदनीय है कि, आख्यानोपाख्यानरूपा गाथा-कथाओं के रूप में परम्परया व्यवस्थित सृष्टिविज्ञानेति-वृत्तात्मक–वेदतोऽपि पूर्वभावी जिस पुराण के आधार पर ऋषिप्रज्ञा के द्वारा वेदमन्त्र उपनिबद्ध हुए हैं, उन वेदमन्त्रों के व्याख्याभूत 'विधि' नामक **वेद के ब्राह्मणभाग में ( शतपथ-ऐतरेय-तैत्तिरीय-गोपथ-जैमिनी-शाङ्खायन आदि सुप्रसिद्ध ब्राह्मणग्रन्थों में )** वेदपूर्वभावी गाथाकथात्मक पुराण की आख्यानो-पाख्यानप्रधाना पारिभाषिकी शैली का ही अनुगमन हुआ है। अर्थात् मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के ब्राह्मणा-नुगत 'विधि' भाग में प्रमुखरूपेण ऋषियोंनें वेदाधारभूत पुराण की आख्यानोपाख्यानशैली को ही प्रधानता दी है। और आगे चलकर व्यासकृता वेदोत्तरभाविनी व्यासकृता पुराणसंहिता में, तथा तदनुगत पुराणोप-पुराणों में भी इसी आख्यानोपाख्यानशैली का विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इस साम्य का यही

निष्कर्ष है कि, ब्राह्मणग्रन्थों के पारिभाषिक आख्यानोपाख्यानों, तथा पुराणों के आख्यानोपाख्यानों का तत्त्वात्मक–पारिभाषिक–समन्वयबोध जबतक नहीं प्राप्त कर लिया जाता, तबतक न तो मूलसंहिताओं के मन्त्रों से अनुप्राणित **विज्ञान–स्तुति–इतिहास**-रूपा ज्ञातव्यत्रयी का ही समन्वय सम्भव, एवं न **विधि–आरण्यक–उपनिषत्**–द्वारा प्रतिपादिता **कर्म्म–उपास्ति–ज्ञान**–त्रयी–रूपा कर्त्तव्यत्रयी का ही स्वरूप–समन्वय सम्भव। तात्पर्य्य–**ब्राह्मणग्रन्थों** के, और पुराणशास्त्र के पारिभाषिक--रहस्यात्मक--नैगमिक--समन्वय के बिना शेषभूत ज्ञातव्य--कर्त्तव्य--भावापन्न वेदशास्त्र का, एवं तदनु स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों, एवं पुराणों का भी एकाक्षर भी तो गतार्थ नहीं बन सकता, कदापि नहीं बन सकता।

ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्ण परिभाषाओं के स्वरूप-विश्लेषक **'गाथा'-'निगद'-कुम्ब्या'-निवित्**-आदि नामक अवश्य ही स्वतन्त्र पारिभाषिक--ग्रन्थ--रहे होंगे, जिनके कि--मूल ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र तत्र उपलब्ध हो रहे हैं। एवमेव भगवान् व्यासदेव के द्वारा संकलिता–**'पुराणसंहिता'** में पुराणशास्त्र के **सृष्टि–प्रतिसृष्टि–वंश–वंशानुचरित–गाथा–कल्पशुद्धि–सिद्धान्त–संहिता**–डामर--जामल--**तन्त्र**---**ज्योतिष्चक्र**---(**खगोल**) **भुवनकोश ( भूगोल ) दगार्गल**--**आख्यान**--उपाख्यान--**आयती**--**आयतन**, नामक सुप्रसिद्ध पुराणोक्त अठारह तात्त्विक विषयों की परिभाषाओं का भी अवश्यमेव स्पष्टीकरण हुआ होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिकी-परिभाषाओं के विश्लेषक **गाथा-कुम्ब्या-निगद्**–आदि–ग्रन्थों की भाँति पुराणपरिभाषाओं का विश्लेषक **'पुराणसंहिता'** नामक ग्रन्थ भी आज अनुपलब्ध है। अतएव **ब्राह्मणसाहित्य**, और **पुराणसाहित्य**, दोनों ही महत्त्वपूर्ण साहित्य अनेक शताब्दियों से अपने अत्यन्त–रहस्यपूर्ण–पारिभाषिक--वैज्ञानिक-परम्परासिद्ध-तात्त्विक--अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आरहे हैं, जिस इस पराङ्मुखता का ही यह भीषण परिणाम है कि— भारतीय--विद्वत्समाज अनेक शताब्दियों से ब्राह्मणों, एवं पुराणों के तात्त्विक--अध्ययनाध्यापन से अधिकांश में तटस्थ बनता हुआ साम्प्रदायिक--मनोऽनुगता--काल्पनिक-व्याख्याग्रन्थों को ही **'प्रमुख-शास्त्र'** मान बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ अपने वेद--पुराण--सिद्ध-गरिमामहिमामय-सांस्कृतिक-महान्-कोश की तत्त्वमीमांसा से, तथा तदनुगता आचारनिष्ठा से विगत तीन सहस्राब्दियों से वञ्चित ही होता आरहा है, और यही भारतराष्ट्र के आत्मिक--बौद्धिक--मानसिक, तथा शारीरिक-पारतन्त्र्य का प्रमुख कारण है, जो भयावह घोरघोरतम कारण दुर्भाग्यवश आज तो काल्पनिकी **'धर्म्मनिरपेक्षता'** के द्वारा और भी अधिक भयावह प्रमाणित होगया है।

सैषा स्थितिः। साम्प्रतं स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया। प्रत्यक्ष में पारिभाषिक–तत्त्वबोध का कोई ऋजुसूत्र हमें उपलब्ध नहीं होरहा। ऐसी विषमा--अवस्था में ब्राह्मणों, और पुराणों के आख्यानोपाख्यानों से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्णा–ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के स्वरूपबोध का क्या उपाय ?, जब यह महान् प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, तो वेदग्रन्थिविमन्थनपटु–परिभाषातत्त्वाविष्कारक-आचार्य्यचरण **श्रद्धेय** पूज्य ओझाजी महामहाराज का यही **'उद्बोधनसूत्र'** दृष्टि के सम्मुख अभिव्यक्त **होपड़ता है कि**, **"वेद की पारिभाषिकी गहनाटवी में प्रवेश करने के लिए हमें–'आर्य्यसर्वस्व' रूप महान् आलोक को ही माध्यम बनाना पड़ेगा"** *। आर्य्यजाति का सांस्कृतिक-महान् गौरव जिस पुराणशास्त्र में बोधगम्या

* विगत तीन सहस्राब्दियों के अनन्तर अपनी आयु के चालीस वर्षों के गुहानिहित अजस्र-तपोमय महान् सत्र से विलुप्तप्राया वैज्ञानिकी परिभाषाओं के आविष्कारक वेदसमुद्र पूज्यचरण आचार्य्यप्रवर (पू० **श्रद्धेय श्रीमधुसूदनजी महाराज मैथिल**) ने पुराणों को—**'आर्य्यसर्वस्व'** अभिधा से ही समन्वित किया है।

प्राञ्जलभाषा में संकलित हुआ है, वह पुराणशास्त्र पूज्य आचार्य्यचरण की दृष्टि में "आर्य्यों का सर्वस्व' ही बना हुआ है। एवं अध्यापनकाल में पुनः पुनः आप पुराणस्वाध्याय पर ही विशेष बल देते रहते थे।

'उद्बोधनसूत्र' कोई नवीनतम सूत्र नहीं है। स्वयं मान्य विद्वान् भी शास्त्रचर्चा-प्रसङ्गावसरों पर साभिमान अनुदिन-"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' की तुमुल-घोषणा करते सुने गए हैं। किन्तु जहाँतक 'पुराणशास्त्र' के अध्ययनाध्यापन का सम्बन्ध है, वहाँतक तो विद्वानों की वह तुमल-घोषणा सर्वथा-यातयामा ही बनी हुई है। विगत शताब्दियों में तत्-तत्-सत्तातन्त्र-विशेषों के अनुरञ्जन के लिए विनिर्म्मित काव्य-नाटक-चम्पु-प्रशस्ति-कविता-आदि से काल्वालीकृत मनोऽनुगत काल्पनिक-साम्राज्य में विचरण करते रहने को ही विद्वत्ता की चरम सीमा मान बैठने वाले हमारे देश के तथाकथित मूर्द्धन्य विद्वानों की दृष्टि में 'पुराणशास्त्र' तो एक सर्वथा उपेक्षणीय शास्त्र ही बना हुआ है। यही नहीं, पुराणकथानुगति से अनुप्राणित ÷ **पुराणपाठक.** तो इनके लिए सर्वथा······आलप्यालम्। अलमति पल्लवितेन-आपातरमणीय-कर्णकटु-सङ्केन।

हमारी तो अपनी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि, पुराणशास्त्र के पारिभाषिक-स्वाध्याय के बिना ब्राह्मणसाहित्य का पारिभाषिक-तत्त्वार्थबोध सर्वथा ही असम्भव है, एवं ब्राह्मणभाग की परिभाषाओं के बिना उस ओर की मन्त्रसंहिताओं का, तथा इस ओर के आरण्यको पनिषद् भाग का तत्त्वात्मक-पारिभाषिक-समन्वय भी असम्भव ही है। यों परम्परया वेदार्थसमन्वय में प्रथम पुराणशास्त्र, तदनन्तर वेद का ही ब्राह्मणभाग, ये दो ही प्रमुख आधारस्तम्भ बने हुए हैं, जिन दोनों को ही अपनी स्वाध्याय-परम्परा से पराङ्मुख कर देने वाले देश के मूर्द्धन्य विद्वान् भी राष्ट्र के मौलिक साहित्य-वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक-अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधक-महतोमहीयान् उदर्क से एकान्ततः वञ्चित ही बने रह गए हैं।

क्या पुराणोक्त आख्यान-उपाख्यानों-से सम्बन्ध रखने वाले विचित्रतम-प्रत्यक्षदृष्टया-असम्भवतम-प्रतीत होने वाले कथोपकथनों से अनुप्राणिता परिभाषाओं का पुराणवाचनमात्र से समन्वय होजायगा ?, यही वट जटिलतम प्रश्न है, जिसे हमने उपयोगितापादानुबन्धी-बुद्धिवादात्मक महान् बुद्धिव्यामोहन से आज उस सीमापर्य्यन्त भयानक प्रश्न बना लिया है, जिसका ढूँढे से भी कोई समाधान हमें उपलब्ध नहीं होरहा।

इसी तथाकथिक प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाली एक रहस्यपूर्ण समाधान-परम्परा का भगवान् वेदपुरुष के स्वयं के मुख से ही निम्नलिखित संस्मरण कर लेना प्रासङ्गिक मान रहे हैं कि—

**उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचं, उतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।**
**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये-उशती सुवासा ॥**

—ऋक्संहिता १०।७१।४।

मन्त्रक्षरार्थ स्पष्टतम है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, कुछ एक अध्ययनशील महाभाग तो इस श्रेणि को समलङ्कृत कर रहे है कि, मन्त्रार्थ पर दृष्टि रखते हुए भी जो इस दृष्टि से वञ्चित ही बने रह जाते हैं।

---

÷-शास्त्रैर्विहीनाश्च-पुराणपाठकाः

कितने एक महानुभाव सुनते हुए भी वाग्देवी के स्वरूप–श्रवण से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते रहते हैं। और कुछ एक वैसे भी आत्मनिष्ठ सहज आर्षमानव श्रेष्ठ है, जिनके लिए स्वयं वाग्देवी अपने बाह्य–आभ्यन्तर–सम्पूर्ण–स्वरूप को स्वतः ही उसी प्रकार अभिव्यक्त कर देती है, जैसे कि पतिपरायणा सहधर्म्म–चारिणी गृहिणी अपने पति के लिए सर्वथा अभिव्यक्ता बनी रहती है।

परिभाषाओं का स्वरूपबोध क्या देखने-सुनने-मात्र से सम्भव है ?, प्रश्न का तथाकथित श्रौत समाधान से अतिरिक्त और क्या समाधान होगा ?। अहर्निश वेद–पुराण–के अक्षरों पर दृष्टिपात किए रहने मात्र से, किंवा अहर्निश पुण्यपाठ–श्रवणमात्र से कदापि तबतक इस शब्दब्रह्म के पारिभाषिक–तथ्यों की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है, जबतक कि हम अपने वैय्यक्तिक–बुद्धिवाद के माध्यम से, सहजभाषा में बुद्धि प्रतिभा–मेधा-लगन-के बलातिमान से इस ओर प्रवृत्त रहते हैं। अवश्य ही बुद्धिवादात्मिका मेधा हमें वाचाल बना देगी, तर्कपटु प्रमाणित कर देगी, लोकसमाज में हमें धुरन्धर विद्वान् भी प्रमाणित करा देगी। किन्तु इन सब आडम्बरों के सफल होजाने पर भी बुद्धिवादात्मक दावानल से सर्वात्मना झुलस जाने वाला श्रद्धारस सर्वथैव अभिभूत होजायगा, जिसके बिना स्वयं की परितृप्ति–तुष्टि कदापि सम्भव नहीं है। श्रद्धाविहीन ऐसे शुष्कतम–बुद्धिवादात्मक–पाण्डित्य–का ही नाम है– 'व्यक्तित्वविमोहन', जिसका प्रमुख आधारस्तम्भ मानी गई है—'दिग्देशकाल-निबन्धना-लौकैषणा, लोकख्याति', जिसका सीधासा अर्थ यही है कि, **"हम अपने आप में भले ही करुण चीत्कार ही करते रहें अपनी रिक्तता के कारण, किन्तु लोक-समाज में हमारा अमुक स्थान प्रतिष्ठित होजाय"**।

वित्तैषणागर्भिता इत्थंभूता सर्वनाशकारिणी लोकैषणा से ही हमारे बौद्धिक क्षेत्र में अतिमानात्मक वह बुद्धिवाद अभिव्यक्त होपड़ता है, जिसके कारण हमारी बुद्धि दिग्देशकालातीत–अनन्त–आत्मा से अनुप्राणित स्वात्मबोध से पृथक् रहती हुई दिग्देशकालनिबन्धन–सामयिक-तात्कालिक–उन्नतिमूलक–'उपयोगितावाद' की घोरघोरतमा मन्त्रणा से पीड़ित होजाती है, जिस उपयोगितावादात्मक–कारणतावाद से ही हमारी बुद्धि स्वस्वरूप से विमुग्धा बनती हुई 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा' रूप महान् अनुग्रह से सर्वथैव वञ्चित रह जाती है।

और हम अब पूर्व के अमुक तथ्यों को गौण–मानते हुए इसी तथ्य पर आते हैं कि, अमुक सीमा–पर्य्यन्त पुराणसाहित्य, तथा ब्राह्मणसाहित्य की परिभाषाओं से अपरिचित रह जाने का प्रमुख कारण दिग्देश–कालानुबन्धी–कारणतावाद के आकर्षण से अनुप्राणित बुद्धिवादात्मक स्वस्वरूप का व्यामोहनात्मक वह अतिमान ही है, जिसके कारण राष्ट्र की प्रचण्ड–मेधाएँ भी वेदशास्त्र की ज्ञान–विज्ञानात्मिका परिभाषाओं के सम्पर्क से पराङ्मुख बनीं रह गईं। 'वयं वेदज्ञाः'–'वयं पुराणाचार्य्याः'–'वयं शास्त्रमर्म्मज्ञाः' रूप व्यक्तित्वविमोहन ने ही राष्ट्र की मूर्द्धन्या भी प्रज्ञाओं को तत्त्वार्थ के सम्पर्क में नहीं आने दिया। क्योंकि सभी की अपनी अपनी स्वतन्त्र–व्यक्तित्वमूला मान्यताएँ हैं। अपनी मान्यता बना कर उसके आधार पर मान्य विद्वान् वेदार्थ समन्वय में प्रवृत्त होते हैं। सहजभाषानुसार-हमने वेदाक्षरों के ऋजुभावापन्न समन्वय की उपेक्षा कर उसके द्वारा अपनी मान्यताओं का समर्थान्वेषण आरम्भ कर दिया। और यों सहज ऋषि की ऋजुप्रज्ञा से सहजरूपेणैव स्वतः एव विनिर्गता वेदवाणी को हमने बुद्धिवादात्मक दिग्देशकाल के उस पलड़े पर तौल डाला, जिस लौकिकी तराजू में बुद्धिवाद के द्वारा लोकानुबन्धी–भूत–भौतिक–दिग्देशकालात्मक–पदार्थों

का ही तुलन हुआ करता है। इसी महती भ्रान्ति से वेद का ऋजुभावापन्न पारिभाषिक-अर्थ हम से उत्तरोत्तर विदूर ही होता गया। और इसी भ्रान्तिपरम्परा के कारण उस दूरत्व ने कालान्तर में इस महान् शास्त्र को **'दिग्देशकालानुबन्धिनी-उपयोगिता-कारणता'** के माध्यम-से सर्वथा उपेक्षणीय ही प्रमाणित कर दिया, जैसाकि कुछ ही समय पूर्व राजस्थान के ही एक उच्चपद पर समासीन (स्वयं किसी युग के प्राच्य-संस्कृतिभक्त) एक महानुभाव ने प्रस्तुत वैदिक-साहित्य के-**परोरजा-स्वयम्भू-इन्द्र-वरुण**-आदि पारिभाषिक-तथ्यों को कर्णाकर्णिपरम्परया सुन कर अपने इत्थंभूत महान् ? उद्गार प्रकट किए थे, कि-**"आज के युग में इन तथ्यों का क्या उपयोग ?, वर्त्तमान के जनजीवन में इनकी क्या उपयोगिता"**।

बुद्धिवादात्मक तथाकथित व्यक्तित्वविमोहन ही एकमात्र वह महान् प्रतिबन्धक है, जिसके अनुबन्ध से हम वेदाक्षरों को देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते। अपितु सबकुछ देख सुन कर भी हम तद्वस्तुतथ्य से पराङ्मुख ही बने रह जाते हैं, जब कि बुद्धिवादात्मक-अतिमानात्मक-विमोहन से असंस्पृष्ट रहने वाले ऋजुप्रज्ञ सहज मानवों के लिए वे ही वेदाक्षर स्वयं ही अपना परिभाषिक-तथ्य अभिव्यक्त कर दिया करते हैं, एवं **'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्'** इत्यादि पूर्वमन्त्र के द्वारा इसी तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है।

लौकैषणानुगत-यशोनामख्याति-लालसा से समाप्लुत-दिग्देशकालानुबन्धी-उन्नतिमूलक-कारणतावाद के प्रति प्रतिक्षण आकर्षित-बुद्धिवादात्मक व्यक्तित्व-विमोहन का परित्याग ही वेद-पुराणादि आर्षशास्त्रों के गुहानिहित-रहस्यात्मक-पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञानभावों के बोध का एकमात्र कारण है, जिसका निष्कर्षार्थ यही है-**'निष्कारणबुद्धया शास्त्र-स्वाध्यायानुगति'**। क्या तथ्य, किंवा क्या तात्पर्य्य है इस निष्कारणता का, जिसे हम अत्र स्वाध्यायनिष्ठा में अन्यतम कारण मान रहे हैं ?, प्रश्न का शतपथब्राह्मण के पूर्व प्रकाशित प्रथम-खण्ड-की भूमिका में—**'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदो ध्येयो ज्ञेयश्च'** रूप महान् सूत्र की मीमांसा करते हुए विशद समाधान किया जाचुका है। अतएव अत्र तत्पिष्टपेषण अनावश्यक है। सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए अत्र इस सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि—

मानव का बुद्धिसहकृत प्रज्ञान मन जब दिग्देशकालानुबन्धी किसी व्यक्त-कारण की चर्व्वणा में तल्लीन होजाता है, तो बुद्धि, और मन की **चिन्तन-मनन**-शक्तियाँ-विकीर्ण होजातीं हैं। सहजभाषा में-**बुद्धि का चिन्तनधर्म्म**, एवं **मन का मननधर्म्म**, दोनों स्वाध्याय में अनन्य न रह कर कारणरूप फल के प्रति विभक्त होजाते हैं। एकतानता का उच्छेद होजाता है, एवं लक्षीभूत स्वाध्याय से अनुगत वह पारिभाषिक तथ्य परोक्ष ही बना रह जाता है चिन्तन-मनन की एकातानता के अभाव में। निष्कारणबुद्धि से ही मानव में ऐकान्तिकी गुहानिहितवृत्ति का उदय होता है। और इत्थंभूता गुहानिहितवृत्ति क्योंकि समाज-लोक-बाह्य-भावों में सहजरूपेणैव उदासीनवत् बने रहने वाले आत्मयाजा नैष्ठिक-ब्राह्मण से ही समन्वित मानी गई है। अतएव सर्वथैव **निष्कारणभावानुगत-ब्राह्मण**, एवं सर्वश्री **राजन्यबन्धु** क्षत्रिय), तथा **भलन्दनवंशज वैश्यमहाभाग**, वेदस्वाध्यायाधिकारी इन तीनों त्रैवर्णिकों में से तथाभूता निष्कारणता में सर्वात्मना सफल **'गुहानिहित'** ब्राह्मण ही बन सकता है। क्योंकि क्षत्रिय अपने **'सौर्य्यमारुतिकधर्म्म'** से, तथा वैश्यबन्धु अपने **'वातातपिकधर्म्म'** से दिगदेशकालानुबन्धी-कारणता-समन्वित-लोकबाह्यजीवन से सर्वथैव निष्कारण

प्रमाणित नहीं होसकता। अतएव ऋषिप्रज्ञाने एकमात्र गुहानिहित ब्राह्मण के लिए ही निष्कारणतानुबन्धी प्रचण्डतम आदेश विहित माना है, जैसाकि 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गः०' इत्यादि पूर्वोक्त आदेशवचन से स्पष्ट है।

क्योंकि 'ब्राह्मणमानव' ही मनोऽनुग 'काम', एवं शरीरानुगत 'अर्थ' इन दोनों प्राकृत-दिग्देश-कालानुबन्धी-बाह्य-पर्वों से सम्बन्ध रखने वाली लोक-समाजानुगता कारणताओं के प्रति (अपने आत्मबुद्धि-निबन्धन आभ्यन्तरधर्म्म से) तटस्थ-निरपेक्ष बना रहता हुआ मानसिक, तथा शारीरिक-उत्पीड़नरूपा-ऐहलौकिकी क्लेशपरम्परा का साभिनन्दन समादर करता हुआ गुहानिहितवृत्या स्वाध्यायनिष्ठा में निष्कारण-बुद्धया सत्ररूपेण प्रतिष्ठित बना रह सकता है, और यही ब्राह्मण की स्वरूप-परिभाषा मानी है पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने *। जो ब्राह्मण मनःशरीरानुबन्धी लोकानुगत समाज-सापेक्ष-लोकैषणाप्रवर्द्धक-अपने 'बाह्य व्यक्तित्व' को विस्मृत कर दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म की अनन्तनिष्ठा के माध्यम से गुहनिहितवृत्या जरामर्य्यसत्रवत् स्वाध्यायनिष्ठ नहीं बना रहसकता, कदापि वह 'ब्राह्मणत्त्व' को अन्वर्थ नहीं बना सकता। एवं ऐसे ब्राह्मणब्रुवरूप ब्राह्मणबन्धु से कदापि निष्कारणबुद्धया स्वाध्याय-प्रक्रान्ति सुरक्षित नहीं रह सकती। अपितु ऐसा लोक--समाज-लिप्त ब्राह्मण तो राजन्यबन्धु--वैश्यबन्धु--महानुभावों की श्रेणि में आता हुआ बुद्धिवादात्मक उस व्यक्तित्वविमोहन का ही सत्पात्र ! बना रह जाता है, जिस बुद्धिवादात्मक-विमोहन की प्रत्येक मान्यता 'कारणता' को गर्भ में प्रतिष्ठित करके ही प्रवृत्त हुआ करती है, और जो कारणता लक्ष्य से पराःपरावता प्रमाणित होती हुई 'कारणता' पर ही परिसमाप्त होती रहती है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी मनःशरीरानुगत-कामार्थप्रधान-प्राकृत-जीवन की क्षणिक--मृत्यु के साथ साथ ही।

निरतिशय परिताप के साथ हमें इस नग्न सत्य का आज स्पष्टीकरण करना ही पड़ रहा है कि, विगत-भुक्त-प्रक्रान्त--अनेक शताब्दियों से भारतराष्ट्र की ब्राह्मणप्रज्ञा भी इतर वर्णों की भाँति दिग्देशकालानुगता-कारणाता की, तन्निबन्धना 'उपयोगिता' की, एवं तदनुप्राणिता-सामयिकी-'उन्नति' की चर्व्वणा से चर्व्वितान्तः-करण--बनी रहती हुई बुद्धिवादात्मक-मनःशरीरानुगत-कामार्थमय-उस व्यक्तित्वविमोहन की अनुगामिनी ही प्रमाणित होती आरही है, जिस विमोहन ने ही उन शताब्दियों में इस 'भूसुरश्रेष्ठ' को वेद-पुराणादि-आर्ष-ज्ञानविज्ञानात्मक-गुहानिहित-पारिभाषिक-तथ्य के साथ अन्तर्य्याम-सम्बन्ध नहीं स्थापित करने दिया। अपितु ठीक इस के विरीत विगत शताब्दियों में इस विद्वान् भी, मेधावी भी, शब्दशास्त्रपारङ्गत भी ब्राह्मण ने--दिग-देशकालानुन्धी-सत्ता-समाज-लोक-सापेक्ष-तात्कालिक-लाभों के आकर्षणों से आकर्षितमना बनते हुए उसी प्रकर उन परमावों के तात्कालिक--समर्थन--अनुरञ्जन--प्रचार--प्रसार--आदि बाह्यभावों में हीं अपने को समर्पित कर दिया, जैसे कि आज भी राष्ट्र के तथाकथित कतिपय सांस्कृतिक--विद्वान् वर्त्तमान सत्तातन्त्र--समाजतन्त्र के तात्कालिक-अनुरञ्जन के लिए शब्दानुकरण-सादृश्यमात्र से अपने प्रचण्ड तर्क-से समन्वित बुद्धि-वाद के बल पर आज की यातयामा तात्कालिकी मान्यताओं को भी वेदादि शास्त्रों के द्वारा प्रमाणित करते

---

*-ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते।
इह क्लेशाय, तपसे, प्रेत्यत्त्वनुपमं सुखम् ॥
—महाभारते शान्तिपर्वणि ३२१ अध्याये

हुए अपनी लोकख्याति-मूला-'उन्नति' के पथ में सोल्लास समारुढ़ हैं, इति नु-अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना !!!

उक्त अप्रासङ्गिक, नहि नहि सर्वथैव न केवल प्रासङ्गिक ही, अपितु वेदस्वाध्याय-धरातले अनिवार्य्य-रूपेण आवश्यकतम ही तथोक्त सन्दर्भ के आधार पर राष्ट्र के श्रद्धेय भूसुरवृन्द से प्रणतिपुरस्सर हमें दो शब्दों में यही नम्र आवेदन कर देना है कि, वही-वेदशास्त्र है, वही पुराणशास्त्र है, और ऋषिप्रज्ञानुप्राणिता वही है आप की प्रज्ञा। केवल व्यक्तित्वविमोहनरूप महान् प्रतिबन्धक--के कारण ही ब्राह्मणप्रज्ञा वेद--पुराण के ज्ञान--विज्ञानात्मक--पारिभाषिक--समन्वय से पराःपरावता प्रमाणित होरही है। जबतक विद्वान् ब्राह्मणों का कारणता--नुबन्धी-उपयोगितावादात्मक-मनःशरीरनिबन्धन-तथाभूत बुद्धिवादात्मक व्यक्तित्वविमोहन स्मृतिगर्भ में विलीन नहीं होजाता, जबतक लोक-समाजानुबन्धी-बाह्य-भावों से सर्वात्मना अपने आप को उदालीनवदान-वत् बनाते हुए ऐकान्तिकी-गुहानिहितवृत्या से अपनी जीवनपद्धति को समन्वित नहीं कर लिया जाता, तबतक अन्यान्य प्रयत्न-सहस्रों से भी वेदपुराणशास्त्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं की अभिव्यक्ति का तो अनुग्रह कदापि प्राप्त नहीं होसकता। और वैसी अवस्था, किंवा दुरवस्था में न तो ब्राह्मणप्रज्ञा तत्त्वानुगता ही बन सकती, न आर्षनिष्ठानुगत आचार से ही समन्वित। रही बात लोकख्याति की, सो तो लोकप्रवृत्तियों का वैसा सहज उत्कर्ष है, जो मानवेतर पशु-पक्षी-आदि प्राकृत-प्राणी भी अमुक कौशलों से उपलब्ध कर ही लिया करते हैं।

हम समझ रहे हैं कि, तथाविध स्पष्टीकरण विद्वान्-ब्राह्मणों के लिए न केवल कर्णकटु ही बन रहा होगा, अपितु वे अपने मनोराज्य में हम पर अग्निश्च वायुश्च ही बन रहे होंगे। किन्तु व्यक्तित्वविमोहनरूप अतिमान के स्वरूप-विश्लेषण का समन्वय बिना तथाविध स्पष्टीकरण के सम्भव ही नहीं है। बुद्धिवादात्मक-व्यक्तित्वविमोहनरूप काल्पनिक व्यक्तित्व को जबतक निष्ठापूर्वक जलाञ्जलि समर्पित नहीं कर दी जाती, तबतक ब्राह्मणप्रज्ञा में समब्रह्ममूला उस 'ऋजुता' की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है, जिस 'ऋजुता' के बिना मानस धरातल पर वेद का तत्त्वार्थ सहजरूपेणैव स्वतः ही अभिव्यक्त नहीं होसकता। स्वयं वेदमहर्षि ने वेदार्थ--समन्वय की योग्यता के स्वरूप-विश्लेषण के लिए एक ऐसे ही 'उद्बोधनसूत्र' का स्पष्टीकरण किया है, जिसे भी अत्र समुद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा।

विज्ञान-परम्पराओं की रहस्यभेदिका, निरतिशयरूपेण दुरधिगम्या सुप्रसिद्धतमा ऋग्वेदसंहिता का 'अस्यवामीय' नामक 'सूक्त विद्वत्जगत् में सुप्रसिद्धतम है। जिस केवल ५२ (बावन) मन्त्रात्मक स्वल्पकाय सूक्त में-ब्रह्माग्निरूपा-वामपलितविद्या,-सप्ताहोरात्ररूपा सम्वत्सचक्रविद्या, सप्ततन्तु-वितानात्मिका प्रजातन्तुवितानविद्या, रसगर्भानुगता गोतत्त्वविद्या, रोदसी-क्रन्दसी-संयती-रूपा-त्रैलोक्य-त्रैलोकीविद्या,-सप्तप्राणात्मिका सप्तर्षिविद्या, सुपर्णविद्या, यज्ञविद्या, वाग्विद्या, वृष्टिविद्या, आदि आदि भेदेन अनेक रहस्यपूर्ण उन सृष्टिविद्याओं का सूत्ररूपेण संकलन हुआ है, जिन में से एक एक ही विद्या में बड़े से बड़े प्रज्ञाशील मेधावी विद्वान् के भी शिरोविकम्पन की क्षमता विद्यमान है। अत्यन्त रहस्यपूर्णा एवंविधा जटिलतमा अनेक सृष्टिविद्याओं को अपनी सूत्रमयी संक्षिप्ततमा आर्षवाणी में केवल ५२ मन्त्रों के माध्यम से स्पष्टीकरण कर देने वाले, मन्त्रसमष्टिरूप अस्यवामीयसूक्त के द्रष्टा **महामहर्षि दीर्घतमा** महाभाग का व्यक्तित्व कैसा, और कितना महतोमहीयान् रहा होगा ?, प्रश्न के संस्मरण का भी मादृश अकिञ्चन को अधि-

कार नहीं है । सर्वरहस्यवित् तथाविध दीर्घतमा नामक वैसे महामहर्षि अपने व्यक्तित्त्व की स्वरूप-मीमांसा के लिए जब प्रवृत्त होते हैं, तो हमारी स्वल्पप्रज्ञा सर्वथैव विमूढा बनी रह जाती है । उन्हीं के मुखपङ्कज से विनिःसृता परमोद्बोधनप्रदात्री निम्नलिखिता आर्षवाणी को सुन कर सचमुच ही हम तो अपना सभी कुछ भूल जाते हैं कि—

**अचिकित्वाच्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान् ।**
**वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि, अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ।।**

—ऋक्संहिता १।१६३।६। (अस्यवामीयसूक्ते)

मन्त्रव्याख्यान का अत्र अवसर नहीं है । केवल मन्त्र के पूर्वार्द्ध की ओर ही हमें अपना ध्यान आकर्षित कर लेना है, जिसका ऋजुभावापन्न यही अक्षरार्थ है कि—**"मैं स्वयं इस तथ्य के सम्बन्ध में मीमांसा करने में क्योंकि असमर्थ हूँ—अज्ञ हूँ, अतएव समर्थ-सुविज्ञेय--क्रान्तीदर्शी विद्वानों से ही इस सम्बन्ध में केवल अपने बोध के लिए मैं यह पूँछ रहा हूँ, क्योंकि मैं स्वयं नहीं जानता उस तथ्य को कि—किसने उन ६ रजोरूप लोकों को अपने ऊपर स्थापित कर रक्खा है, समतुलित कर रक्खा है"** ।

जो महर्षि दीर्घतमा आगे चलकर स्वयं इसी अपने अस्यवामीयसूक्त में—**'तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति'** ( ऋक्सं० १।१६४।१०। ) इत्यादि मन्त्र के द्वारा **'रोदसी--क्रन्दसी--संयती--रूपा-त्रैलोक्यत्रिलोकीविद्या'** का स्वरूपोद्घाटन करते हुए **'उर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति'** रूपेण **'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्'** इस असमाधेय प्रश्न का स्वयं ही समाधान कर रहे हैं, उन्होंनें--क्यों, और किस लिए—**'अचिकित्त्वान्-न विद्वान्'** कह दिया !, यह महान् प्रश्न है, जिसके गर्भ में हीं महर्षि का वह उद्बोधनसूत्र पिनद्ध है, जिसका पूर्व में यशोगान किंया जाचुका है ।

प्रधान–लक्ष्य–रूप महान् सृष्टिविज्ञान के स्वरूप–विश्लेषण–प्रसङ्ग से उसी के द्वारा सङ्केतविधि से ऋषिवाणी अन्यान्य प्रासङ्गिक उद्बोधन भी प्रदान करती रहती है, और यही गभीरार्थगर्भिता अनेकलक्ष्य–संवाहिका ऋषिवाणी की गरिमा–महिमामयी–महती विशेषता मानी गई है लोक–सामान्या वाणी के समतुलन में । महर्षि दीर्घतमा इसी सहजशैली के आधार पर सप्तलोकविज्ञान-प्रसङ्ग के साथ ही **'अचिकित्त्वाश्चिकितुषिश्चिदत्र'** इत्यादि रूप से वेदानुगत–सृष्टिविज्ञान से अनुगता सफलता के महान् आधारस्तम्भ, व्यक्तित्वविमोहनापहरणात्मक–महतोमहीयान् उद्बोधन-तथ्य का भी स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिसका सहजरूपेण यही निष्कर्षार्थ है कि, वेदपुराणादि आर्षशास्त्र के स्वाध्याय में प्रविष्ट व्यक्ति को अपने मनःशरीरनिबन्धन प्रकृत्यनुगत लोक–समाजानुबन्धी बाह्य–व्यक्तित्त्व को एकान्ततः विस्मृत ही कर देना चाहिए । दूसरे शब्दों में-इस सनातनसाहित्य के पारिभाषिक तथ्यों के साथ आत्मसाक्षात् करने के लिए अपने व्यक्तित्त्व--दम्भ को सर्वथैव विस्मृत कर देना चाहिए ।

व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्त्व की विस्मृति को क्यों आवश्यक समझा ऋषि ने !, प्रश्न का उत्तर पूर्व के सन्दर्भ से ही यद्यपि गतार्थ है । तथापि स्पष्टीकरणदृष्ट्या लोकभाषा में भी तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है । **वास्तविक-व्यक्तित्त्व, एवं व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक--व्यक्तित्त्व-भेद** से व्यक्तित्त्व

को हम समझने के लिए दो भागों में विभक्त मान सकते हैं। मानवीय आत्मा उस परमात्मा से अभिन्न माना गया है, जिसे दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म कहा गया है। वही मानवीय आत्मा का आत्मनिबन्धन स्वस्वरूप है, और आत्मनिबन्धन दिग्देशकालातीत सनातन–शाश्वत–ऐसा अलौकिक व्यक्तित्व ही मानव का वास्तविक-व्यक्तित्व है, जिसका लोकसमाजानुबन्धी–पाण्डित्य–वीरता, किंवा सत्तानिबन्धन–उच्चपद आदि आदि के साथ यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है। अपितु समदर्शनाधारभूत, आत्मसाम्यमूलक ऐसा महान् व्यक्तित्व ही मानव का वह व्यापक व्यक्तित्व है, जिस व्यक्तित्व पर प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव व्यक्ति–समाज–राष्ट्र-आदि आदि परिच्छिन्नभावों से निकल कर सर्वभूतहितरति का ही अनुगामी बन जाता है, और ऐसा मानवश्रेष्ठ ही 'अलौकिक–मानव' माना गया है, एवं इसी को "ऋषिमानव' कहा गया है, जिसका वास्तविक महान् व्यक्तित्व महतोमहीयान् दिग्देशकालातीत अनन्तब्रह्म से समतुलित होता हुआ एक प्रकार से 'व्यक्तित्व' की परिधि से सर्वथैव असंस्पृष्ट है।

दूसरा व्यक्तित्व है--दिग्देशकालानुबन्धी–सोपाधिक–पराश्रित–व्यक्तित्व। जबतक मानव आत्मसाम्य के आधार पर प्रतिष्ठित होता हुआ विषमवर्त्तनात्मक सोपाधिक–लोक–समाज–सत्तातन्त्रादि से अनुप्राणित पराश्रित व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व की दृष्टि से तटस्थरूपेण निर्वाहमात्र करता रहता है, तबतक तो यह आगन्तुक व्यक्तित्व भी मानव के लिए इष्टजनक लौकिक समादरणीय व्यक्तित्व ही बनता रहता है। किन्तु आत्मसाम्यरूप समदर्शनात्मक–निरुपाधिक–वास्तविक–व्यक्तित्व की उपेक्षा कर यही मानव जब केवल दिग्देशकाल का ही ग्रास बन जाता है, तो यही आगन्तुक व्यक्तित्व इष्ट नामक--समादरणीय--लौकिक--व्यक्तित्व के स्थान में--'अनिष्टपरम्परासर्ज्जक--समाज-राष्ट्र--स्वरूपविध्वंसक'-ही बन जाता है, और इसी दूसरे दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक व्यक्तित्व का नाम है 'व्यक्तित्वविमोहनात्मक–व्यक्तित्व'

**कालसाक्षी सूर्य्य मानव के बुद्धितन्त्र का प्रवर्त्तक है, दिक्साक्षी चन्द्रमा मानव के मनस्तन्त्र का प्रभु है, एवं देशसाक्षी भूपिण्ड मानव के पाञ्चभौतिक शरीर का आरम्भण ( उपादानकारण ) है। यों कालात्मक सूर्य्य, दिगात्मक चन्द्रमा, एवं देशात्मक भूपिण्ड, इन तीनों प्राकृतिक-पर्वों से ही मानव के बुद्धि-मनः–शरीर–रूप तीनों प्राकृत–पर्वों का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। और यही है मानव के दिग्देशकालानुबन्धी -लौकिक–प्रकृतिसिद्ध–व्यक्तित्व के चिरन्तन इतिवृत्त का संक्षिप्ततम इतिवृत्त।**

यदि दिग्देशकालानुबन्धी--बुद्धिमनःशरीरात्मक--लौकिक--व्यक्तित्व दिग्देशकालातीत आत्मनिबन्धन वास्तविक--व्यक्तित्व को आधार बनाए रहता है, तो पूर्वकथनानुसार इत्थंभूत आत्मनिष्ठ मानव को दिग्देशकालानुबन्धी--तात्कालिक--लोकैषणानुगत--सामयिक--प्रलोभन प्रभावित नहीं कर पाते। और ऐसी अवस्था में आत्मनिष्ठ मानव का यह लौकिक व्यक्तित्व भी कदापि इसके स्वरूपविमोहन का कारण नहीं बन सकता। अतएव ऐसा अलौकिक मानव लोकव्यक्तित्व का भी सर्वात्मना सत्यनिष्ठा से ही निर्वाह कर लेजाता है दिग्देशकालानुबन्धी-उत्पीड़नों की उपेक्षा ही करता हुआ।

ठीक इसके विपरीत वही मानव दुर्भाग्यवश यदि अपने दिग्देशकालातीत आत्मनिबन्धन-समब्रह्म से अभिन्न-वास्तविक–व्यक्तित्व को विस्मृत कर अपने मानवीय–स्वरूप को दिग्देशकालिक–आत्माभिव्यक्तित्वशून्य-

मानवेतर पशु–पक्षी–आदि की भाँति केवल बुद्धि–मन:–शरीर–तन्त्रतत्रयी पर ही परिसमाप्त मान बैठने की भयावह भूल कर बैठता है क्षणिकवादयों की भाँति, तो निश्चयेन थोड़े ही समय में इस का समस्त्व उच्छिन्न होजाता है। और केवल बुद्धिवादात्मक-मनोराज्य के बल पर काल्पनिक-शारीरिक–भूतताम्य की अहर्निश घोषणा करता हुआ भी यह प्राकृत मानव उत्तरोत्तर–प्रकृत्यनुबन्धिनी उस भयावहा विषमता का ही पथिक बनता जाता है, जिस की पर्य्यवसानभूमि–'समुलस्तु विनश्यति' ही मानी गई है। बौद्धिक दम्भ से अहोरात्र अतिमानाक्रान्त, मानसिक मान से सतत काल्वालीकृत, एवं शारीरिक मद से निरन्तर अशु–चिभावाभन्न ऐसा दिग्देशकालविमूढ मानव ही कालान्तर में अपने दिग्देशकालनुबन्धी–लौकिक–व्यक्तित्त्व से भी पराङ्मुख बन जाया करता है। ऐसी अवस्था, किंवा मानवस्वरूपविघातिनी ऐसी घोरघोरतमा दुर्द्शा–वस्था से समलङ्कृत ये मानवमहाभाग ही व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक उस काल्पनिक–व्यक्तित्त्व के महापात्र माने गए हैं, जिस का यह पदप्रतिप्रतिष्ठात्मक काल्पनिक व्यक्तित्व किसी भी क्षण गन्धर्वनगरलेखावत् देखते ही देखते सदा के लिए सस्मृति के गर्भ में विलीन होजाया करता है, और तब इन के बुद्धिवादात्मक दम्भ के क्षेत्र में क्षणिक–दुःख -शून्य–भावनिबन्धन–अनात्मवादात्मक जड़वाद के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं रह जाता।

प्रसङ्गतः निर्दिष्ट **वास्तविक–व्यक्तित्त्व**, एवं **व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक–व्यक्तित्त्व**, भेदेन द्विधा–विभक्त व्यत्तित्व में से भारतीय–ऋषिदृष्टि में आत्मसाम्यमूलक–वास्तविक–व्यक्तित्त्व ही मानव का वह **'व्यक्तित्त्व' है**, जिस के गर्भ में उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व गर्भीभूत है, जैसे कि दिग्देशकालातीत समब्रह्म के महिमामण्डल में सम्पूर्ण चराचर विश्वप्रपञ्च गर्भीभूत है। ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व के मुख से ही तो–**'मा कश्चित्–दुःखभाग्भवेत्'–'सर्वे सन्तु निरामयाः'–'कुण्वन्तो विश्वमार्य्यम्'** जैसे आत्मसाम्यसूत्र विनिर्गत होसकते हैं। **और यही है भारतीय-व्यक्तिमूलक वह आत्मसाम्य**, जिस के स्वरूपबोध से वञ्चित आज के समाजवादी भारतीय–समाज–व्यवस्था पर व्यक्तित्त्वातिमान का घृणित आरोप लगाते हुए लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनत नहीं होजाते ।

जिस सम–भावापन्न–समानाधिकारमूलक साम्य का, किंवा समाजवाद का आज के बुद्धिवादी यशोगान करते नहीं अघाते, वह तो वास्तव में व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक–काल्पनिक–व्यक्तित्त्व से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृतिनिबन्धन वैसा घोरघोरतम विषमवाद, किंवा वैषम्य **है**, जिस के क्षेत्र में विश्व–राष्ट्र–समाज की कथा तो दूर रही, अपने परिवार के कुलवृद्धों का भी समादार सम्भव नहीं है—केवल स्वकामार्थ–भोगवृत्ति से अनुप्राणित तत्सहायक–स्वार्थसंसाधक कतिपय तथाविध ही व्यक्तिविशेषों के अतिरिक्त। स्वयं, स्वापत्य, और तत्कामार्थभोगसंसाधक–चाटुकार–गतानुगतिक–परिगणित–व्यक्तिविशेष, अलमतिपल्लवितेन। यही उन समाजनिष्ठों का सम्पूर्ण समाज, किंवा राष्ट्र, किंवा सम्पूर्ण विश्व है, जिस के दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक–स्वार्थ–संसाधन के लिए ही ये पुरुषपुङ्गव परिवारकुलवृद्ध–समाज–राष्ट्र–आदि आदि सभी के साथ क्षणमात्र में प्रचण्डतम विश्वासघात करते हुए भी विलम्ब नहीं करते।

और अत्यन्त की कारुणिक हृदय से आज हमें इस नग्न सत्य का अनुगमन करना पड़ रहा है कि, आज का स्वतन्त्र भारत आत्मसाम्यमूला ब्रह्मसंविद्रूपा धर्म्मनिष्ठा से अपने आपको पराङ्मुख प्रमाणित करता हुआ दिग्देशकालानुबन्धी–व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक–उस व्यक्तित्त्व की ओर ही अन्धरूपेण अनुधावन

करता जारहा है, जिस अनुधावन से आज भारतराष्ट्र का आत्ममूलक-वास्तविक-व्यक्तित्वनिबन्धन-अभ्युदय-निःश्रेयस्-सर्वथैव पराङ्मुख बन गए हैं । व्यक्तिवाद की इत्थंभूता अनर्थकारिणी प्रवृत्ति तो उन प्रतीच्यदेशों में भी नहीं है, जिन में कभी भी दिग्देशकालातीत-आत्मब्रह्म के व्यवस्थित समन्वय का प्रयास नहीं हुआ । उन का व्यक्तित्व भी 'स्वराष्ट्र' के प्रति तो अधिकांश में मनोबुद्धिशरीरार्पण की भावना से ही समलङ्कृत सुना गया है, जबकि आत्मसाम्य के जनन्मदाता इस पावन भारतराष्ट्र की मानवप्रजा आज अधिकांश में जघन्यतम व्यक्तित्वविमोहनात्मक-व्यक्तित्व से अनुप्राणित वैय्यक्तिक-कामार्थभोग के समतुलन में राष्ट्र की कामार्थसमस्था के साथ विश्वासघात कर डालने में भी लज्जा का अनुभव नहीं कर रही, इससे अधिक भारतराष्ट्र का नैतिक, तथा सांस्कृतिक अधःपतन और क्या होगा ? ।

दिग्देशकालानुबन्धिनी सीमा में प्रतिष्ठित मानव का व्यक्तित्व ही विमुग्धभावापन्न बना करता है, और ऐसा विमुग्ध व्यक्तित्व ही दिग्देशकालानुबन्धिनी उस सामयिकी कारणता के प्रति तल्लीन बना रहता है, जिसके माध्यम से ही युगधर्म्मनिबन्धन स्वार्थों की पूर्त्ति सम्भव मानी गई है । यही वैय्यक्तिक-स्वार्थ भारतीय उस वेदपुराणशास्त्र की सीमा में भी गत अनेक शताब्दियों से प्रविष्ट होता आरहा है, जिसके आकर्षण से ही शास्त्रीय-सिद्धान्त भी दिग्देशकालानुबन्धी सत्तातन्त्रों की परिवर्त्तनशीला तात्कालिकी मान्यताओं के अनुपात से तद्युग के कारणवादी-दिग्देशकालविमूढ-बुद्धिवादी विद्वानों के द्वारा यथेच्छ परिवर्त्तित होते आरहे हैं, जिस युगधर्म्मनिबन्धना परिवर्त्तनपरम्परा से ही सम्प्रदायवाद-परम्पराओं से एकान्ततः असंस्पृष्ट भी, विशुद्ध-ज्ञान-विज्ञानात्मक की वेदशास्त्र आज इतर साम्प्रदायिक-मतवादात्मक-मानसिक-शब्दजाल की भाँति केवल 'साम्प्रदायिकग्रन्थ' ही प्रमाणित होगया है । और यों दिग्देशकालानुबन्धी-व्यक्तित्वविमोहनात्मक-काल्पनिक-व्यक्तित्व के कारणतानुबन्धी आकर्षण के दुष्परिणाम-स्वरूप ही भारतीय विद्वत्-प्रज्ञा विगत अनेक शताब्दियों से वेदपुराण-शास्त्र ही, तत्रापि-ब्राह्मण, तथा पुराण के आख्यानों की ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं की तत्त्वमूला संवित से वञ्चित ही बनती चली आरही है ।

महर्षि दीर्घतमा के उद्बोधक-सूत्रानुसार आज भी भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञा यदि अपने आपको-व्यक्तित्व-विमोहनात्मक-काल्पनिक-व्यक्तित्व का परित्याकर दिग्देशकालातीत-अनन्त-समब्रह्ममूलक-वास्तविक-व्यक्तित्व के माध्यम से गुहानिहितवृत्या एकान्तनिष्ठा से वेदपुराणस्वाध्याय में अपने आपको प्रवृत्त करदेती है, तो निश्चयेन स्वतः ही इस के ऋजुभावापन्न निष्कारणात्मक-वीध्र-धरातल पर वेदार्थ का पारिभाषिक बोध स्वतः-ही आविर्भूत होसकता है, और इस पथ के अतिरिक्त वेदपुराणशास्त्र के पारिभाषिक-तथ्य-समन्वय के लिए-"**नान्यः-पन्था विद्यते-अयनाय**" । यही उस प्रक्रान्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न का प्रासङ्गिक-समन्वय-निष्कर्ष है, जिस प्रश्न के द्वारा वेद-पुराणानुगत आख्यानोपाख्यानों की परिभाषाएँ आज विद्वानों के लिए भी जटिलतमा समस्या प्रमाणित होरहीं हैं. इत्यलमतिविस्तरेण-वेदपुराणनिबन्धन-पारिभाषिक-बोधानुगत-प्रासङ्गिक-महत्त्वपूर्ण-प्रश्न-समाधान-प्रसङ्गेन ।

उक्त सन्दर्भ के माध्यम से अत्र निवेदनीय प्रमुख लक्ष्य यही है कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के-'**विधि**' नामक ब्राह्मणभाग की आख्यानोपाख्यानानुगता पारिभाषिकी शब्दावली के तत्त्वार्थ-समन्वय के बिना, एवं पुराणशास्त्र की तथाविधा परिभाषाओं के समन्वय के बिना वेदशास्त्र का ज्ञानविज्ञानात्मक तात्त्विक समन्वय भी असम्भव है, एवं आचारात्मिका क्रमव्यवस्था का भी समन्वय असम्भव है । अतएव **ब्राह्मण**,

और पुराण, दोनों का पारिभाषिक-स्वाध्याय उस प्रत्येक द्विजाति के लिए अनिवार्य्य ही माना जायगा, जो निगमागमपुराणसम्मता भारतीय-प्राच्यसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक अभ्युदय-निःश्रेयस्-संसाधक उदर्क से अपने राष्ट्र को समन्वित करने की कामना रखता है। इन दोनों महान् स्तम्भों के पारिभाषिक-समन्वय के बिना भारतीय-आर्ष-संस्कृति का मौलिक स्वरूप कदापि समन्वित नहीं होसकता।

जैसाकि प्रथमखण्डानुगता प्रस्तावना में निवेदन किया जाचुका है, ब्राह्मणग्रन्थों में 'शतपथब्राह्मण' नामक ब्राह्मणग्रन्थ का अनेक कारणों से प्रमुख स्थान है। अन्यान्य ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा इस ब्राह्मणग्रन्थ की भाषा भी 'भारती' नाम से प्रसिद्धा प्रचलिता संस्कृतभाषा से अधिकांश में समतुलिता है, अतएव विशेष-रूपेण बोधगम्या है। एतदतिरिक्त अपने युग के दुर्द्धर्ष वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के महान् मेधावी शिष्य मधुश्रवा के द्वारा संकलित किंवा स्वयं याज्ञवल्क्य के द्वारा ही दृष्ट यह शतपथब्राह्मण वैज्ञानिकी-सर्व-परिभाषाओं का समन्वयात्मक-वैसा अपूर्व, एवं पूर्ण ब्राह्मणग्रन्थ है, जिसमें शथपथेतर ब्राह्मणों से अनुगता वैज्ञानिकी परिभाषाओं का भी भगवान् याज्ञवल्क्य ने सूत्ररूप से संग्रह कर लिया है। इन्हीं सब कारणों से यह ब्राह्मणग्रन्थ सौ (१००) अध्यायों के विस्तारपथ का अनुवर्त्मा बनता हुआ 'शतपथ' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। स्वयं भगवान् बादरायण ने भगवान् याज्ञवल्क्य के मुख से 'शतपथब्राह्मण' की तथोक्ता अपूर्वता का निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

**याज्ञवलक्य-उवाच**—अव्यक्तस्थं परं यत्तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ! ॥
परं गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्वावहितो नृप ! ॥१॥
यथार्षेणेह विधिना चरताऽवनतेनह ॥
मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ! ॥२॥
महता तमसा देवस्तपिष्णुः सेवितो मया ॥
प्रीतेन चाहं विभुना सूर्य्येणोक्तस्तदानघ ! ॥३॥
वरं वृणीष्व विप्रर्षे ! यदिष्टं ते सुदुर्लभम् ॥
तत्ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥४॥
ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः ॥
यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥५॥
ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज ! ॥
'सरस्वती' ह 'वाग्' भूत्वा शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥६॥
ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु ! ॥
विवृतं च ततो मेऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥७॥
ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ ! ॥
अविज्ञातादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥८॥

ततो विदह्यमानं मामुवाच भगवान् रविः ॥
मुहूर्त्तं सह्यतां दाहस्ततः शीती भविष्यति ॥९॥
शीतीभूतं च मां दृष्ट्वा भगवानाह भास्करः ॥
प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज ! ॥१०॥
"कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेश्यसि द्विजर्षभ ! ॥
तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥११॥
प्राप्स्यसे च यदिष्टं तत्सांख्ययोगेप्सितं पदम् ॥"
एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्त्तत ॥१२॥
ततोऽनुव्याहृतं श्रुत्वा गते देवे विभावसौ ॥
गृहयागत्य संहृष्टोऽचिन्तयन्–वै सरस्वतीम् ॥१३॥
ततः प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यञ्जनभूषिता ॥
ओङ्कारमादितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥१४॥
ततोऽहमर्घ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदयं– ॥
तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायणः ॥१५॥
"ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम् ॥
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥१६॥"
बीजमेतत्पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ॥
सूर्य्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ! ॥१७॥
कर्त्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया ॥
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥१८॥
—महाभारत, शा० मो० ३१८ अ० ।

अपनी तथाविधा कृत्स्ना–विशेषताओं के अनुबन्ध से ही हमने शतपथब्राह्मण के ही पारिभाषिक–समन्वय को प्रमुखता प्रदान की है इतर ब्राह्मणग्रन्थों के समतुलन में । मौलिक-परिभाषाओं के चिरन्तनेतिवृत्त समन्वय के बिना ब्राह्मणग्रन्थोक्त क्रत्वर्थ, तथा पुरुषार्थ–रूप किसी भी गौण–प्रधान–कर्म्म की सृष्टिरहस्य–समवयात्मिका व्यवस्था व्यवस्थित नहीं होसकती । और तत्त्वसमन्वयव्यवस्थात्मिका ज्ञानविज्ञानात्मिका वे परिभाषाएँ कारणतावाद के वारुणपाशात्मक निग्रह से शताब्दियों से अभिभूतप्राया ही बनतीं चलीं आरहीं हैं । यही वह महती जटिलता है, जिसके समन्वय के लिए हमें प्रत्येक पारिभाषिक–शब्द के पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञान सम्मत चिरन्तन-इतिवृत्त का अनिवार्य्यरूपेण उपबृंहण करना ही पड़ता है, एवं उससे सम्बन्ध रखने वाली पारिभाषिकी पुररुक्ति, तथा इतिवृत्त–विश्लेषणात्मक-विस्तार, दोनों वैसे माध्यमों का भी अनुगमन करना

ही पड़ता है, जिनके अनुबन्ध से ही 'शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य' का पृष्ठात्मक-लिपिरूप-कलेवर अनुमानतः बीससहस्रपृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। परिभाषाओं के प्राथमिक-स्पष्टीकरणानुबन्ध से चतुर्द्दशकाण्डात्मक-शतपथ के केवल प्रथमकाण्ड का ही भाष्य अनुमानतः तीन सहस्रपृष्ठों में लिपिबद्ध हुआ है, जबकि-आगे के काण्ड यथासम्भव सहस्र-सहस्र-पृष्ठानुगति के ही अनुगामी बने हुए हैं। आज से बीस वर्ष पूर्व लिपिबद्ध किया हुआ यह विस्तृत शतपथभाष्य प्रकाशनावसरों पर पुनः संशोधन-की तो अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षा रख ही रहा है। और इसी दृष्टि से प्रकाशनवेला से पूर्व पुनः प्रकाशन-लक्ष्यीभूत भाग का आद्यन्त पुनः प्रतिलिपिकरण अनिवार्य्य बन जाता है। इत्थंभूत महत्त्वपूर्ण-पारिभाषिक आर्षग्रन्थ को दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी कण्डूपशान्तिमात्र के लिए झटिति एकहेलया यथेच्छरूपेण प्रकाशित कर देना तो आत्महनन ही माना जायगा। बहुत सम्भव है, हम अपनी शारीरिक-जर्ज्जरितावस्था के अनुबन्ध से इस भौतिक जीवन में सम्पूर्ण शतपथ का प्रकाशन यथाविधि न कर सकें। किन्तु जितना अंश प्रकाशित होगा, उसकी परिभाषाओं के माध्यम से यह तो आस्थापूर्वक उद्घोष किया ही जासकेगा कि, भविष्य में इस साहित्य के पारिभाषिक-मन्थन के लिए सज्जीभूत महानुभावों के लिए यह प्रकाशितभाग अवश्यमेव अंशतः तो सहयोगी ही प्रमाणित होगा। एकमात्र इसी तुष्टि के आधार पर यथाशक्ति शतपथब्राह्मणभाष्य का प्रकाशन खण्डशः प्रक्रान्त हुआ है गतवर्ष से-'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा। गतवर्ष प्रथमकाण्डानुगत जो प्रथमखण्ड प्रकाशित हुआ था, उसके प्रमुख विषयों का प्रास्ताविक के उपक्रम से ही सिंहावलोकनन्यायेन संस्मरण किया जा चुका है ( देखिए पृ० सं ७ )। ठीक एक वर्ष के अनन्तर प्रकाशित होने वाले प्रथम-काण्डानुगत-द्वितीयखण्ड के प्रस्तुत प्रकाशन से अनुप्राणित प्रमुख विषयों का भी अत्र सन्दर्भसङ्गति के लिए नामस्मरण कर लिया जाता है।

प्रथमकाण्डानुगत-प्रस्तुत-द्वितीय-खण्ड में ( प्रथमकाण्डानुगत-पूर्वप्रकाशित-प्रथमखण्ड के विषयों से आगे क्रमप्राप्त ) जिन-प्रमुख याज्ञिक-विषयों का पारिभाषिक-समन्वय हुआ है, उनका निम्नलिखितरूपेण क्रमविभाजन हुआ है।

# प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमाध्यायात्मक-द्वितीयखण्ड में प्रतिपादित प्रमुख-कर्म्मों की तथा-स्मारकविषयों की तालिका

* * *

| | प्रधानकर्म्माणि | क्रमानुगता पृष्ठसंख्या | स्मारकविषयसंख्या |
|---|---|---|---|
| १० | उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालोप--धानेन हविःपरिपाकश्च | ६११ | ६२२ |
| ११ | पिष्टेनोदकमिश्रितेन--पुरोडाशसम्पादनम् | ६६१ | ५१६ |
| १२ | पात्रीनिर्णेजनम्--पुरोडाशमीमांसया--समन्वितम् | ७०४ | ६३१ |
| १३ | वेदिकाकरणम्--स्तम्बयजुर्हरणं, भूविशोधनश्च | ७६८ | ६६६ |
| १४ | वेदिपरिग्रहः | ८४४ | १०८६ |
| १५ | द्रव्यसंस्काराः | ६५६ | ७७६ |
| १६ | आज्यग्रहणम् | १०३७ | २८६ |
| १७ | इध्मानुगतः--कर्म्मसंग्रहः | १०७७ | ३३६ |
| १८ | सामिधेन्यनुवचनम् | ११३५ | १७६६ |
| १९ | पूर्वाघारेतिकर्त्तव्यता | १३१७ | ४१३ |
| २० | उत्तराघारेतिकर्त्तव्यता | १३५७ | |
| २१ | प्रवरणकर्म्मेतिकर्त्तव्यता | १३६७ | २६२ |
| २२ | स्रुगादापनम्--आश्रावणं--प्रत्याश्रावणश्च | १४०५ | ८'० |
| २३ | प्रयाजब्राह्मणम् | १४७५ | ३ |
| | प्रधानकर्म्मसंख्या--१४ | भाष्यपृष्ठसंख्या--११३२ | स्मारकविषयसंख्यासंकलन--८५६१ |

प्रथमकाण्डानुगत पूर्वप्रकाशित प्रथमखड, तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड के संकलनात्मक अठारहसौ-पृष्ठात्मक विज्ञानभाष्य में आरम्भ के **'व्रतोपायनकर्म्म'** से आरम्भ कर प्रस्तुत खण्ड के अन्तिम २३ वें **'प्रयाजब्राह्मण-'** पर्य्यन्त जिन स्मारक--विषयों का परिभाषारूपेण समावेश हुआ है, उन के आधार पर ही स्थालीपुलाकन्यायेन-शतपथविज्ञानभाष्य की पारिभाषिकी उपयोगिकता का मूल्याङ्कन सम्भव बन सकता है। प्रथमखण्ड में अनुमानतः ४६०० परिभाषाओं का, तथा प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में अनुमानतः ८५०० परिभाषाओं का, सम्भूय-१३००० (तेरहसहस्र) पारिभाषिक तथ्यों का संस्मरण कराने वाले प्रथमकाण्डानुगत प्रकाशित दोनों खण्डों की तथाकथिता परिभाषाओं के संस्मरणाधार पर निश्चयेन उन अनेक ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिविद्यानिबन्धन तथ्यों का सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो दिग्दर्शन हो ही जाता है, जिस पारिभाषिक दिग्दर्शन के बिना रहस्यपूर्ण ब्राह्मणग्रन्थों के रहस्यात्मक-पारिभाषिक-सृष्टीतिवृत्त सर्वथा परोक्ष ही बने रहते हैं।

जैसाकि-प्रास्ताविक के उपक्रम में हीं निवेदन किया जाचुका है, वर्त्तमानयुग के मानवों की प्रज्ञा दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी उपयोगिता, एवं तन्निबन्धना कारणता के आधार पर ही किसी लक्ष्य की ओर प्रवृत्त हुआ करती है, जिस कारणता का **'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदेऽध्येयो ज्ञेयश्च'** रूपेण यद्यपि सर्वथा निराकरण किया जाचुका है। तथापि तथाविधा सामयिकी उपयोगिता के पक्षपाती अमुक श्रेणिविशेष के अनुगामी पाठकों की तुष्टि के लिए **'युगानुगता उस उपयोगिता'** का भी दिग्दर्शन आवश्यक होजाता है, जिस के बिना इत्थंभूत शास्त्रावलोकन--स्वाध्याय-चिन्तन-मनन-आचरणादि में तथाविध विशेष वर्ग की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए ही **'प्रथमकाण्ड के प्रास्तविक'** में स्वयं-वेदाक्षरों के आधार पर ही वेदशास्त्र की दृष्टफलजनकतानुबन्धिनी सामयिकी उपयोगिता का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। यह सब कुछ होने पर भी आज के युग का महान् तर्क-**'समय नहीं है'** रूपेण दिग्-देशकालाक्रान्त मानव-विशेषों को सतत उत्पीड़ित ही करता रहता है। और **'आज के अर्थप्रधानयुग में किसे इतना समय है, जो ऐसे बड़े बड़े ग्रन्थों को पढ़ सके·········आदि आदि"** इत्थंभूत काल्पनिक-नितान्त भावुकतापूर्ण तर्क के माध्यम से जो महानुभाव इस दिशा में 'बहुविस्तृत' की घोषणा कर क्रमिक-स्वाध्याय से तटस्थ बन जाते हैं, उन के परितोष के लिए प्रतिपादित प्रमुख कर्म्मों से अनुप्राणिता कुछ एक पारिभाषाओं का स्थालीपुलाकन्याय-समतुलनदृष्ट्या अत्र प्रास्तविक में भी दिग्दर्शन करा देना प्रासङ्गिक ही बन जाता है।

प्रस्तुत **'द्वितीयखण्ड'** में क्रमप्राप्त **'उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालोपधानेन हविः-परिपाकम्'** नामक ११ वें कर्म्म से आरम्भ कर **'प्रयाजब्राह्मण'** नामक २३ वें कर्म्म-पर्य्यन्त कुल १४ विषयों का स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास हुआ है, जिन में से अत्र उदाहरणविधि से कुछ एक पारिभाषिक-तथ्यों का ही दिग्दर्शन पर्य्याप्त मान लिया जायगा। वही विषय-क्रमानुगति के अनुबन्ध से क्रमशः अत्यन्तः संक्षेप से पाठकों के अत्र समक्ष उपस्थित होरहा है।

——:*:——

## शतपथभाष्य–द्वितीयखण्डानुगत–१४ प्रमुख–कर्म्मों के प्रसङ्ग से अनुप्राणित–कतिपय

## *"पारिभाषिक-उदाहरण"*

## (१०)–उपवेषसम्पादन–हविःपारापाकात्मक–कर्म्म–प्रसङ्गतः–समन्विता–प्रासङ्गिकी

## *'तपः'-शब्द-निबन्धना-परिभाषा*

## १

त्याग, तपस्या, बलिदान, रूपेण तीनों शब्द कुछ समय से लोकसामान्य में प्रसिद्धि–पथ के अनुगामी बने हुए हैं, जिन इन तीनों लोकप्रसिद्ध शब्दों में से मध्य के–'तपस्या' शब्द से अनुप्राणित–'तपः' शब्द का ही–भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' इस श्रुतिवचन के पारिभाषिक–समन्वय के आधार पर स्वरूप-विश्लेषण–प्रयास हुआ है पृष्ठसंख्या ६४५ से ६५८ पर्य्यन्त। 'त्याग–तपस्या–बलिदानत्रयी' से अनुप्राणित 'तप' का अर्थ माना जारहा है-'शारीरिक–श्रममात्र', और इसी भौतिक–श्रम पर 'तपः' शब्द का उपराम कर दिया जाता है । उधर दार्शनिक-दृष्टि के अनुसार 'तप' उस अलौकिक लोकोत्तर-औपासनिक–ध्यनादि से अनुगत गुह्यतम-प्राणव्यापार-मात्र है, जिस के अनुगामी को-'तपस्वी' कहा जाता है, एवं जिस की तपश्चर्य्या में मानसिक-क्लेश के साथ साथ पञ्चाग्नितपनमूलक शारीरिक-उत्पीड़नादि भी समन्वित हैं। यों उस ओर की दार्शनिकी तपश्चर्य्या ने, तथा इस ओर की देशातिमानानुगता तपस्या ने तपः शब्द के उस पारिभाषिक तथ्य को सर्वथैव अभिभूत कर लिया है, जिस अभिभूति से न तो उस 'तपश्चर्य्या' का ही कोई वास्तविक-तथ्य-समन्वय सम्भव, एवं नैव आज की 'तपस्या' का ही कोई अर्थ। प्रथमकर्म्म (१०)-प्रसङ्गतः तपः शब्द के उसी पारिभाषिक तथ्य का दिग्दर्शन कराते हुए प्रकृतिसिद्ध उन तीन महान् तपोभावों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है, जो तपस्त्रयी क्रमशः ब्राह्मतप–वैष्णवतप–रौद्रतप, नाम से प्रसिद्ध है।

पञ्चमहाभूतात्मक महतोमहीयान् ब्रह्माण्ड की स्वरूपसंस्थिति जिन प्राकृतिक–नित्याक्षरदेवदेवताओं के आधार पर अवलम्बित है, वे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ( महादेव ) नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों देवताओं की त्याग–बलिदानानुगता तपश्चर्य्या के सह समन्वय से ही पञ्चपुण्डीरा–प्राजापत्या-बल्शा से कृतरूप

पञ्चावयव विश्व की, एवं तद्गर्भीभूता प्रजा की स्वरूप--व्यवस्थिति आनुपूर्व्वी से व्यवस्थित है। तीनों हीं तपस्वी हैं, किन्तु तीनों के तपोभावों का स्वरूप सर्वथा पृथक् पृथक् है । **ब्रह्मा का तप 'सन्तापात्मक' है, विष्णु का तप 'ऐश्वर्य्यात्मक' है, एवं रुद्र का तप दाहात्मक है।** सन्तापात्मक ब्राह्मतप ज्ञानप्रधान है, ऐश्वर्य्यात्मक तप श्रेष्ठतम-कर्म्मरूप * यज्ञप्रधान है, एवं रुद्र का तप भूतप्रधान, किंवा अर्थ--प्रधान है । ज्ञान--क्रिया--अर्थ--नाम से सुप्रसिद्धा शक्तित्रयी की अधिष्ठात्री ब्रह्मा-विष्णु--रुद्र--नाम की सुप्रसिद्धा देवतात्रयी से अनुगता तपस्त्रयी का नाम ही 'तपश्चर्य्या' है, और तन्निबन्धन तपोभाव ही 'तपः' शब्द का वह चिरन्तन--इतिवृत्त है, जिस के गर्भ में ही इन तीनों तपोभावों का 'वसुधानकोश' रूपेण समन्वय होरहा है।

बड़े डिब्बे में छोटा डिब्बा, छोटे डिब्बे में इस से भी छोटा डिब्बा, इसी दहरोत्तर--सम्बन्ध का पारिभाषिक नाम है 'वसुधानकोशसम्बन्ध' । ज्ञानशक्ति-प्रधान ब्राह्म--तप सर्वाधार--सर्वप्रतिष्ठारूप वह महतो--महीयान् तप है, जिस के आधार पर ही आगे के वैष्णव, तथा रौद्रतप स्वस्वरूपेण प्रतिष्ठित रहा करते हैं। **'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'--'यस्य ज्ञानमयं तपः'** इत्यादि श्रुतिवचन इसी ज्ञानमय--ब्राह्मतप का यशोगान कर रहे हैं, जिस के तपन--सन्तपन--रूप सन्ताप--धर्म्म से ही सृष्टिस्वरूप की अभिव्यक्ति मानी है गोपथब्राह्मण ने अपने उपक्रम में ही--**'तस्य तप्तस्य--सन्तप्तस्य ललाटे स्वेदोऽजायत'** इत्यादि रूपेण। लोक में--आज रूढिवादहष्ट्या 'सन्ताप' शब्द का अर्थ 'शोक-परिताप' आदि होपड़ा है । किन्तु तत्त्वपरिभाषादृष्ट्या 'सन्ताप' शब्द का अर्थ है--वैसा-आत्यन्तिक-प्रचण्ड संघर्ष, जिस का उत्तर परिणाम अवश्य ही 'शान्ति' है । इसी सन्तपनात्मक प्रचण्ड-संघर्ष का--'संक्लिश्य-अप्सु-प्राविध्यत्' इत्यादिरूपेण अभिनय किया जाता है । सुसूक्ष्म-प्रचण्डतम-ज्ञानात्मक आभ्यन्तर संघर्ष का ही ज्ञानात्मक, अतएव सुसूक्ष्मतम आभ्यन्तर प्रचण्ड-संघर्ष का ही नाम 'सन्ताप' है, जिस इस स्वायम्भुव-ज्ञानात्मक-सन्तापधर्म्मा-प्रथम-तपोभाव का उत्तर--परिणाम है-शान्तिरूप-आपोमय-पारमेष्ठ्य-मण्डल का आविर्भाव, जिस इस स्वेदरूपा शान्तिजलधारा--अम्भोधारा--से स्वयम्भू-ब्रह्मा-पुलकित-आनन्दित होपड़ते हैं, और आनन्दमयी यही सन्तापात्मिका तपोमयी वारिधारा आगे चलकर सम्पूर्ण संसृष्टिरूपा-सृष्टि की जननी बनती है। यही ज्ञानात्मक-सन्तापधर्म्मा-सर्वप्रतिष्ठारूप वह 'तप' है, जिस को आधार बनाए बिना आगे के दोनों तप सर्वथा यातयाम ही बन जाया करते हैं ।

स्वयम्भू-ब्रह्मा के ज्ञान-सन्तपनात्मक-परिपक्वज्ञानात्मक- आदितप से जो वारिधारा सर्वतः ऋतरूपेण व्याप्त-आप्त-परिव्याप्त होगई, वही इस आप्तिरूप-व्याप्तिधर्म्म से **'आपोलोक'** कहलाया, जो-**'परमेष्ठी'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिस का अधिष्ठाता--देव **'विष्णु'** कहलाया है । सन्तापधर्म्मा-ज्ञानीय तप से समुद्भूत वैष्णव-परमेष्ठी-लोक का ऋतधर्म्मा-'वारि' रूप 'आपः' तत्त्व अपने स्नेह, तथा तेजोगुण से उभयधर्म्मात्मक बन रहा है । स्नेहगुणक वही अप्तत्त्व 'भृगु', कहलाया है, एवं तेजोगुणक वही अप्तत्त्व 'अङ्गिरा' कहलाया है । यों सन्तापात्मक-स्वायम्भुव-ज्ञानीय तप से आविर्भूत वैष्णव-आपः-तत्त्व का भृग्वङ्गिरोमयत्त्व प्रमाणित हो--जाता है + । स्नेहगुणक-भार्गवतत्त्व ही दाह्यगुणक-सोमतत्त्व है, एवं तेजोगुणक आङ्गिरसतत्त्व ही दाहकगुणक-अग्नितत्त्व है ।

---

*--यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म ( शतपथे ) ।

+--आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः ॥
--गोपथब्राह्मणे

भार्गव सोम, तथा आङ्गिरस अग्नि, इन दोनों दाह्य-दाह्यक-तत्त्वों के रासायनिक-सम्मिश्रण से आविर्भूत उभयात्मक-अपूर्वभावात्मक तथ्य का नाम ही सिद्धकर्म्मात्मक-'यज्ञ', है, जैसाकि-**'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः'** लक्षण से स्पष्ट है।

पारमेष्ठ्य-विष्णु-अक्षर से अनुगत, स्वायम्भुव ब्राह्म-तप के आधार पर प्रतिष्ठित-भार्गवाङ्गिरस्-अग्नीषोमात्मक-प्रकृतिसिद्ध इत्थंभूत प्रथमयज्ञ से ही उस ऐश्वर्य की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, जिसका सौर-ब्रह्माण्ड में व्यक्त विश्वरूप से आज हम साक्षात्कार कर रहे हैं। विश्वात्मक-व्यक्त-ऐश्वर्य्य पारमेष्ठ्य उस विष्णुदेवता के तप का ही महत्त्व है, जो वैष्णव-आपोमय-तप भृगु, और अङ्गिरा के सम्मिश्रणात्मक-अग्नीषोमात्मक-भाव से अनुप्राणित है। इसी मध्यस्थ-वैष्णव-याज्ञिक तप का ब्राह्मणश्रुति ने-**'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'** रूपेण संस्मरण किया है। यही यज्ञकर्म्मात्मक-'कर्म्मशक्तिप्रधान' वह पारमेष्ठ्य-तप है, जिसके द्वारा ही समस्त ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्तिरूप व्यक्त-'ऐश्वर्य्य' का वितान हुआ है। अतएव इस 'कर्म्मशक्ति' घन-भार्गवाङ्गिरस-पारमेष्ठ्य-वैष्णवतप को अवश्य ही-'ऐश्वर्य्यार्थवतप' मान लिया जासकता है, माना ही गया है।

स्वायम्भुव-ज्ञानमय-सन्तापात्मक ब्राह्मतप के आधार पर आपोमय-पारमेष्ठ्य ऐश्वर्य्यात्मक-वैष्णव-तप की अभिव्यक्ति हुई। तदनन्तर क्या हुआ ?, प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। आपोमय-परमेष्ठी-विष्णु के ऐश्वर्य्यात्मक तप से तद्गर्भ में बीजरूप से जिस हिरण्मयाण्ड का स्वरूप-निर्म्माण हुआ अग्नि की चिति-सञ्चिति-के द्वारा, वही हिरण्मयाण्ड सौरसम्वत्सरब्रह्माण्ड की वेला कहलाई, एवं तत् केन्द्रवर्त्ती-ताप-प्रकाश-युक्त (अग्नि-इन्द्र-समन्वित) उस प्रचण्डतम भास्वत्-पिण्ड की अभिव्यक्ति होपड़ी, जोकि ज्योतिर्म्मय पिण्डाण्ड आज अस्मदादि सर्व-साधारण की भाषा में 'त्रयीमय-त्रिगुणमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण' नाम से प्रसिद्ध है, जिस इस क्षात्रतेजोमय (प्रचण्डतेजोमय) सूर्य्य का ही व्यक्त विश्व में एकाकी असपत्न-साम्राज्य है। यही महर्षि श्वेताश्वतर की भाषा में क्षत्रमूर्त्ति एकाकी वे रुद्र भगवान् हैं, जिन्हें उपासकवर्ग उभयतो नमस्कार से तुष्ट-शान्त करते रहते हैं। **'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः'** से उपवर्णित यह सौर क्षत्ररुद्र अपने प्रचण्डतम आददानधर्म्म से आदित्य नाम से, रुद्धभावों को द्रुत करने के कारण 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध होते हुए रोदसीब्रह्माण्ड के भाग्यविधाता ही बने हुए हैं। ऐसे प्रचण्डाग्निमूर्त्ति इस सौररुद्र को पारमेष्ठ्यदेवता अजस्र-सोमाहुति से उपशान्त करते हुए इन्हें-'शिव' स्वरूप में परिणत करते रहते हैं-विश्वैश्वर्य्यसंरक्षणकामनयैव। विशुद्ध अग्न्यात्मक, अतएव-दाहक-वही रूप-**घोरघोरतम 'रुद्र' है**, एवं सोमात्मक वही शान्ततमरूप **अघोररूप** 'शिव' है। यों रुद्र ही रुद्र, और शिव, नामक द्विविध-महिमा भावों में परिणत होरहे हैं, एवं यहीं बात कुछ समझने जैसी है।

सौर-क्षत्र-रुद्र-का स्वरूप-निर्वचन-करते हुए श्रुति ने कहा है—**'सोऽरोदीत, तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'**, जिस निर्वचन का निष्कर्षार्थ यही है कि, रुद्र का प्रातिस्विकधर्मा-वह प्रचण्ड 'दाह' ही है, जिसका उदर्क-रोदनकर्म्म ही माना गया है। रोदनधर्म्मात्मक-रुद्र की दाहकता ही विश्वैश्वर्य्य की अन्यतमा विघातिनी मानी गई है। अर्थात् जहाँ, जिस क्षेत्र में विशुद्ध-निष्कैवल्य-दाहकधर्म्मा-रुद्र का ही प्राधान्य होजाता है, वहाँ रोदन-शोक-परिताप-ऐश्वर्य्य-विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं बचता। रुद्र किस अवस्था में रोदनरूप नाशधर्म्म के प्रवर्त्तक बनते हैं ?, प्रश्न का उत्तर है-वैष्णव-भार्गवाङ्गिरस-ऐश्वर्यार्थक-पारमेष्ठ्य तपोभाव से पृथक् रहने वाले निष्कैवल्य-रुद्र। यदि रुद्र के साथ पारमेष्ठ्य-ऐश्वर्य्यप्रवर्त्तक-यज्ञात्मक-कर्म्म समन्वित होजाता है, तो वे ही रुद्र अपनी दाहकता का परित्याग करते हुए 'शिवस्वरूप' में परिणत होजाते

हैं, और वैष्णवतपोयुक्त सौर रुद्र यों रुद्रत्व से शिवत्व में परिणत होते हुए ऐश्वर्य्यविनाश-विरोध-के स्थान में ऐश्वर्य्य-संग्रह-संरक्षण-में ही प्रवृत्त होजाते हैं। और यही सौररुद्रानुगत-तपोभाव का दाहार्थक वह चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसके प्रसङ्ग से ही यहाँ शिवस्वरूप का प्रसङ्ग भी समुपस्थित होपड़ा है।

उक्त सन्दर्भ के आधार पर हमें अब इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, संयती नाम की ब्राह्मी-त्रिलोकी के अधिष्ठाता अव्यक्तमूर्त्ति-ज्ञानप्रधान-स्वयम्भू ब्रह्मा, क्रन्दसी नामकी वैष्णवी-त्रिलोकी के अधिष्ठाता व्यक्ताव्यक्तमूर्त्ति कर्म्मप्रधान-परमेष्ठी-विष्णु, एवं रोदसी नाम की सौरी-( ऐन्द्री )-त्रिलोकी के अधिष्ठाता व्यक्तमूर्त्ति-अर्थप्रधान-भूतप्रधान-रुद्र, इन तीनों अक्षरदेवताओं की क्रमानुगता ज्ञान-क्रिया-अर्थ-नाम की तीनों शक्तियों से अनुगत, **सन्ताप-ऐश्वर्य्य-दाह्**-भावनिबन्धन-त्रिविध-तपोभाव ही-'**तपः**' शब्द का संकलनात्मक-वह-चिरन्तर-इतिवृत्त है, जिस का अथर्वसंहिता में क्रमशः विस्तार से स्वरूप-स्पष्टीकरण हुआ है *। सन्तापार्थक तप ब्राह्मतप है, एवं यह ज्ञानप्रधान तप है। ऐश्वर्य्यार्थक तप वैष्णवतप है, एवं यह कर्म्मप्रधान तप है। तथा दाहार्थक तप सौर-रौद्र-तप है, एवं यह अर्थप्रधान तप है। इस प्रकार तपोभाव सर्वथा विभिन्न तीन सृष्टिधाराओं में विभक्तरूपेण व्यवस्थित होरहा है।

ज्ञानात्मक-ब्राह्म तप को आधार बनाए बिना कर्म्मात्मक वैष्णवतप सर्वथा निरर्थक है, एवं वैष्णवतप को आधार बनाए बिना अर्थात्मक रौद्रतप सर्वथा व्यर्थ है। इसी तथ्य के आधार पर पर हमें इस निष्कर्ष पर भी स्वतः ही पहुँच जाना पड़ता है कि, **ज्ञानात्मक तप के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्मात्मक तप ही अर्थात्मक तप की स्वरूप-प्रतिष्ठा है**। ज्ञानशक्ति से समन्वित-सन्तापार्थक स्वायम्भुव-ब्राह्मतप का संग्राहक 'तपः' शब्द, क्रियाशक्ति से समन्वित-ऐश्वर्य्यार्थक-पारमेष्ठ्य-वैष्णवतप का संग्राहक 'तपः' शब्द, एवं अर्थशक्ति-से समन्वित-दाहर्थक-सौर-रौद्रतप का संग्राहक 'तपः' शब्द, तीनों स्वरूपतः-आकारतः-अभिन्न-प्रतीत-होते हुए भी अपने धातु-प्रकृति-प्रत्ययानुबन्ध से सर्वथा विभिन्न हैं, और इस विभिन्नता का श्रेय है शब्दशास्त्र के द्रष्टा शब्दविज्ञानसाक्षात्कर्त्ता भगवान्-पाणिनि की एतदनुबन्धिनी सुप्रसिद्धा उस धातुत्रयी को, जिस में-**'सन्ताप'-'ऐश्वर्य्य'-'दाह'** अर्थों के संग्राहक विभिन्न तीन धातुओं का ही संग्रह हुआ है **'तप सन्तापे'-'तप ऐश्वर्य्ये'-'तप दाहे'** रूपेण। सन्तापार्थक तप से अनुगत 'तपः' शब्द स्वायम्भुव-ज्ञानप्रधान ब्राह्म तप का ही संग्राहक है, तो ऐश्वर्य्यार्थक तप धातु से समन्वित 'तपः' शब्द पारमेष्ठ्य-क्रियाप्रधान-वैष्णवतप का ही संग्राहक है, एवं दाहार्थक तपधातु से निष्पन्न 'तपः' शब्द सौर-अर्थप्रधान-रौद्रतप का ही अनुग्राहक है, और यही 'तपः' शब्द की वह संक्षिप्ततमा पारिभाषिकी विभक्ता रूपरेखा है, जिस के समन्वय के बिना केवलभावेन गृहीत 'तप'-'तपस्या'-'तपश्चर्य्या', आदि लोकानुबन्धों से अर्थ के स्थान में उसीप्रकार अनर्थ ही सम्भावित बन जाता है, जैसेकि ब्राह्मतप, एवं-वैष्णवतप से आत्यन्तिकरूपेण पराङ्मुख, निरपेक्ष आजका 'तपस्यानुगत' तपः शब्द अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही जनक बनता आरहा है।

कथमिति चेत् !, श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! ! तथोक्त त्रिविध देवानुगत-त्रिविध-तपोभाव **'त्रिःसत्या वै देवाः'** इत्यादि पारिभाषिक-अनुगम-सिद्धान्त के अनुसार **आधिदैविक-अध्यात्म-अधिभूत-**

---

***-देखिए-'दिग्देशकालस्वरूपममांसा' नामक निबन्धान्तर्गत आथर्वण-कालसूत्र का समन्वय-प्रकरण।**

भेदेन तीन संस्थाओं के साथ समन्वित होरहे हैं, जिन में से प्रकृत में मानवसंस्थानुप्राणिता अध्यात्मसंस्था की दृष्टि से ही तत्प्रासङ्गिक प्रश्न का समाधान–प्रयास–समीचीन होगा । मानव के अध्यात्म में आत्मसमन्विता, अतएव समभावापन्ना–समत्व–योगान्विता–'सत्त्वबुद्धि' स्वायम्भु–ब्राह्मतप की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है । इत्थंभूता बुद्धि से समन्वित, बुद्धि से नियन्त्रित, अतएव–सहजरूपेणैव सत्त्वगुणान्वित 'सर्वेन्द्रिय' नामक 'प्रज्ञानमन' ही पारमेष्ठ्य–वैष्णव–तप का अभिव्यक्ति–क्षेत्र माना गया है । और ऐसे प्रज्ञानमन से अनुगता 'सुरुचि' से समन्वित 'शरीर' ही सौर–रौद्र–तप की अभिव्यक्ति का क्षेत्र माना गया है, जो रौद्र–दाहात्मक-शारीरक-तप-पूर्व-कथनानुसार पारमेष्ठ्य–ऐश्वर्य्यात्मक तपोभाव से समन्वित होता हुआ 'शिवरूप' में हीं परिणत रहता है ।

तदित्थं बुद्धितन्त्रानुवर्ती सन्तापात्मक ज्ञानशक्ति से समन्वित ब्राह्मतप, मनस्तन्त्रानुवर्ती–ऐश्वर्य्यात्मक–क्रियाशक्ति से समन्वित–वैष्णवतप, एवं शरीरतन्त्रानुवर्ती-शिवभावात्मक-अर्थशक्ति से समन्वित शैवतप, इन तीनों तपों की 'एकत्र' समन्वयमूर्त्ति मानवश्रेष्ठ के इस समन्वयात्मक तपोऽनुष्टान से निश्चयेन ऐहिक, तथा आमुष्मिक सभी पुरुषार्थ अन्वर्थ प्रमाणित होते रहते हैं क्या, होते रहते थे उन पुरातन–आर्षयुगों में, जिनमें ज्ञानात्मक ब्राह्मतप ही सर्वप्रधान था, तदाधार पर कर्म्मात्मक वैष्णवतप प्रतिष्ठित था, और तदाधार पर प्रतिष्ठित दाहात्मक तप को भी शिवभाव में हीं परिणत होजाना पड़ता था । और आज ············?

और आज ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए । ब्राह्मतपोरूपा ज्ञानचर्य्या आज सर्वथैव अभिभूता प्रमाणित होचुकी है, किंवा बलपूर्वक ज्ञानोपासना को 'उपेक्षा' की कोटि में ला खड़ा किया है । मनोऽनुगता यज्ञात्मिका–कर्म्मपद्धति का स्थान भी दिग्देशकालानुगत–सामयिक–यथेच्छ–काल्पनिक–कर्म्मोंने आत्यन्तिकरूपेण अपहृत कर लिया है, और शेष रह गया है शरीरानुबन्धी वह दाहात्मक तप, जिसे आज की भाषा में—'श्रम' कहा जासकता है । अवश्य ही उस 'श्रम' का 'पाणि' रूपेण भगवान् वेदव्यास ने मुक्तकण्ठ से यशोगान ही किया है, जिस श्रमरूप–पाणिसमन्वित–शारीरिक–तप को मनोबुद्धि–निबन्धन परिश्रमाश्रमभाव शिवभाव में परिणत किए रहते हैं । किन्तु ज्ञानरूप आश्रम, एवं यज्ञरूप मानसिक परिश्रम से वञ्चित केवल शरीरतपोरूप श्रम तो विशुद्धा वैसी रुद्रविभूति ही मानी गई है, जिसका परिणाम–'सोऽरोदीत' के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है । भगवान् करे ! भारतीय मानव अपनी इस केवल श्रमात्मिका–तपोवृत्ति के तथाविध भीषण–परिणाम को लक्ष्य बनावे, एवं तत्परित्राण के लिए श्रुति-स्मृति-पुराणादि आर्षशास्त्रसिद्ध-यज्ञात्मक–ऐश्वर्य्यसंसाधक मानसिक–परिश्रमानुबन्धी पारमेष्ठ्य तप को, एवं तत्प्रतिष्ठारूप–बुद्ध्यनुगत–आश्रमानुबन्धी–स्वायम्भुव तप को अपने शारिरिक–श्रमरूप तप की प्रतिष्ठा बनाता हुआ अभ्युदय-निःश्रेयस का भोक्ता प्रमाणित हो, इसी मङ्गलकामना के साथ 'दसवें–कर्म्म' (१०) से सम्बद्ध 'तपः' शब्द का संक्षिप्त–चिरन्तन–इतिवृत्त–उपरत होरहा है ।

१० (१)

* * * * *

श्रीः

# (११)–पिष्टेनोदकमिश्रेतन-पुरोडाशसम्पादनात्मक-कर्म्मप्रसङ्गतः-समन्विता–प्रासङ्गिकी

# *'वषट्कार'-शब्द-निबन्धना-परिभाषा*

# २

वैदिक-सृष्टिविज्ञान के गरिमा–महिमामय–प्राङ्गण में 'वौक्-षट्'–'वौषट्'–'वाक्-षट्' आदि विभिन्न–भावों से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध–'वषट्कार' शब्द का भी एक विशेष ही महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि–'वषट्कारात्मिका वाक्साहस्री-विद्या' के आधार पर ही वैदिक-विज्ञान का गणित-सिद्धान्तात्मक–ज्योतिश्चक्र-निबन्धन (खगोलीय) समन्वय सुव्यवस्थित, एवं प्रतिष्ठित है। जिसप्रकार वर्त्तमान भौतिक–विज्ञान के क्षेत्र में गणितानुगत–भावों का 'मील' नामक परिमाण–विशेष के आधार पर समन्वय किया जाता है, तथैव भारतीय–वैदिक–विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले सापेक्ष–दूरत्व–आदि का व्यवस्थापनसूत्र वषट्कारात्मक वह साहस्री–भाव ही है, जिसके पारिभाषिक सहस्र-प्राणात्मक–गौतत्त्व–के माध्यम से ही तद्व्यवस्थाओं का नियमन हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। अतएव मानना पड़ेगा कि, वषट्कारानुगता, किंवा वषट्कारात्मिका वाक्-साहस्री–विद्या के पारिभाषिक–समन्वय के बिना वेदानुगत किसी भी सृष्टि–विज्ञान का यत्किञ्चित् भी समन्वय सम्भव नहीं है। प्रस्तुत ११ वें कर्म्म में प्रसङ्गतः वाक्साहस्री-विद्या से अनुगत उस महत्त्वपूर्ण 'वषट्कार' शब्द के ही पारिभाषिक–तथ्य का स्पष्टीकरण–प्रयास हुआ है, जिसका अत्र दो शब्दों में संस्मरणमात्र कर लिया जाता है उदाहरणधियैव।

स्पृश्य–पिण्डात्मक प्रत्येक भौतिक–वस्तुपिण्ड पञ्चमहाभूतात्मक है। अर्थात् गुण-अणु-रेणु-भूत-नामक पूर्वस्थ इन चार वर्गों के क्रमिक–पञ्चीकरण से अन्ततः स्थूलरूप में परिणत, अतएव 'महाभूत' इस पारिभाषिक नाम से समन्वित आकाश-वायु-तेज-जल-मृत्-इन पञ्च-पञ्चीकृत भावों के अन्तर्य्यामिक एकत्र समन्वय से ही प्रत्येक वस्तुपिण्ड का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। पाँचों ही पञ्चीकृत हैं। अतएव पञ्चीकृत पाँचों से क्रमशः पाँच जातियों के ही वस्तुपिण्डों की अभिव्यक्ति हुई है इस पाञ्चभौतिक–महा–विश्व में, जिसकी प्रकृति इस पञ्चभावानुबन्ध से ही 'पञ्चपर्वा' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जैसाकि–'पञ्चपर्वामधीमः' इत्यादि श्वेताश्वतरवचन से प्रमाणित है।

पञ्चमहाभूतात्मक पञ्चीकृत पाँचों भौतिक–पिण्डों में एक एक महाभूत तो प्रधान है, एवं शेष चार चार महाभूत गौण हैं। अतएव– वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' के अनुसार पञ्चात्मक भी प्रत्येक भूतपिण्ड प्रसिद्ध होता है उस प्रधानभूत-विशेष भूत के नाम से ही, जो तत्संस्था की पञ्चीकरणप्रक्रिया की आधारभूमि बना रहता है। एवं इस दृष्टि से आकाशपिण्ड-वायुपिण्ड-तेजःपिण्ड--जलपिण्ड--मृत्पिण्ड--प्रधानत्त्वेन

पाँच महाभूतात्मक वस्तुपिण्ड अभिव्यक्त होरहे हैं इस पाङ्क्त (पञ्चावयव) विश्व में, जो पाँचों पिण्ड क्रमशः **स्वयम्भूपिण्ड ( आकाशात्मा ), परमेष्ठीपिण्ड ( वाय्वात्मा ), सूर्य्यपिण्ड ( तेजोमय ), चन्द्रपिण्ड ( जलीयपिण्ड(१) ), एवं भूपिण्ड (मृत्पिण्ड)**, इन नामों से वैदिक-सृष्टिविज्ञान में सुप्रसिद्ध हैं। पाँचों ही पिण्ड ( प्रत्येक ) पञ्चीकरण के सम्बन्ध से यद्यपि पञ्चात्मक हैं। तथापि प्रधानत्त्वेन पाँचों आकाशादि प्रधान अभिधाओं से ही समन्वित होरहे हैं।

उक्त पाँचों महाभूतों में सर्वादिभूत 'आकाशभूत' ही वह मौलिक भूत है, जिसके बलानुगत-ग्रन्थिबन्धन से ही शेष वाय्वादि चारों महाभूत अभिव्यक्त हुए हैं। आकाशभूत का उत्तर परिणाम वायुभूत है, तदुत्तर परिणाम तेजोभूत है, तदुत्तर उदर्क जलभूत है, और सर्वान्त का परिणाम मृद्भूत है। अतएव मानना पड़ेगा कि-पाँचों हीं भूत आकाशभूत से अभिन्न बनते हुए आकाशात्मा ही हैं, अवकाशमय ही हैं। और यह आकाशतत्त्व अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है वैदिक-सृष्टिविज्ञान का, जिसके स्वरूप-समन्वय के आधार पर ही वैदिक-भूतभौतिक-विज्ञान सुसमन्वित है (२)।

तत्त्वात्मक नित्यकूटस्थ-जिस अपौरुषेयवेद का पूर्वप्रकाशित शतपथ-प्रथमखण्ड के कृष्णमृगचर्म्मप्रकरण में विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण-किया गया है (देखिए प्रथमकाण्डानुगत प्रथमखण्ड-पृष्ठ सं० ४६५ से ५३६ पर्य्यन्त), उस सृष्टिमूलभूता तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या का सुप्रसिद्ध **'यज्जू:'** वेदात्मक-**'यजुर्वेद'** ही आकाश का स्वरूप-परिचायक है। गतिप्रकृतिक प्राणभाव ही 'यत्' है, एवं स्थितिप्रकृतिक वाग्भाव ही 'जूः' है, और इत्थंभूत-गति-स्थिति-रूप प्राण-वाग्-भावों की समन्वितावस्था ही **'यज्जू:'** है, जिसे परोक्षप्रिय महर्षि-**'यजुः'** कहा करते हैं, जो कि वयोरूप यजुः ऋक्सामरूप वयोनाध से छन्दित रहता हुआ **'छन्दोवेद'** नाम से प्रसिद्ध है

स्पष्ट है कि, प्राणानुगत वाग्भाव ही **'जूः'** है, और इसीका लोकव्यावहारिक नाम है-**'आकाश'**। (३) वाग्रूप आकाश में कम्पन उत्पन्न कर देने वाला प्राणरूप यद् भाग ही 'श्वा' नामक मघवेन्द्र है। अतएव जूरूपा आकाशात्मिका 'वाक्' को श्रुति ने इन्द्रपत्नी माना है (४)। इन्द्रात्मक-यत्-प्राण से अनु-

---

**(१)-तरणिकिरणसङ्गत्-एष पानीय-पिण्डः।**
**दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते॥**
**—सिद्धान्ततत्त्वविवेक**

(२) यह संस्मरणीय है कि, वर्त्तमान भूतविज्ञान की दृष्टि में आकाश नामक कोई तत्त्व नहीं है। प्रकाशित निबन्धों में यत्र तत्र इस भ्रान्ति का निराकरण कर दिया गया है।

**(३)- जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाच्यां यवने स्त्रियाम्** (कोशवचन)

**(४)—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।**
**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी॥**
**—तैत्तिरीयब्राह्मण**

ग्रहीता इन्द्र-पत्नीरूपा-'जू' रूपा वाक् ही वह आकाशतत्त्व है, जिसकी मर्त्यबलानुगता चिति-संचिति से ही उत्तर की भूतचतुष्टयी अभिव्यक्त हुई है, जैसाकि तैत्तिरीयोनिषत् की सृष्टिविद्या में विस्तार से निरूपित है। वहाँ बतलाया गया है कि, आत्मा से आकाश सम्भूत है, इससे वायु, वायु से तेज, तेज से जल, एवं जल से मृत् नामक अन्तिम महाभूत अभिव्यक्त हुआ है *। प्रश्न यही है कि, तैत्तिरीयश्रुति का 'आत्मा' कौन है ?। प्रश्न का समाधान है—सृष्टिसाक्षी वह मनःप्राण-प्रधान सृष्ट्युन्मुख विश्वात्मा, जिसकी अधिष्ठानभूमि मुक्तिसाक्षी आनन्द-विज्ञान-प्रधान-मुक्त्युन्मुख वह विश्वातीतात्मा ही बना हुआ है, जिसका उपनिषदोंनें–नेति-नेति रूपेण यशोगान किया है। आनन्दघन-विज्ञानमनोरूप-मुक्तिसाक्षी-अव्ययात्मा की स त्ती में प्रतिष्ठित मनोऽनुगत प्राण तत्त्व ही वह विश्वात्मा है, जिसका तैत्तिरीय-उपनिषत् में—**'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः-आकाशः सम्भूतः'** इत्यादिरूपेण संस्मरण हुआ है। आनन्द–विज्ञान–गर्भित–मन से अनुगत यत्–रूप-गतिप्रकृतिक–**'एकर्षि'** नामक अप्राणात्मक **'अव्ययप्राण'** ही तैत्तिरीय का वह पारिभाषिक आत्मा है, जिससे जूरूप-आकाश-नामक 'वाग्' भाव ही सर्वप्रथम अभिव्यक्त होता है। और यों अब 'वाक्' रूप आकाश के समन्वय से आनन्दविज्ञानगर्भित-मनोऽनुगत प्राणरूप आत्मा की स्वरूप-व्याप्ति वागाकाश पर्य्यन्त होजाती है। अतएव बृहदारण्यकश्रुतिने सृष्टिसाक्षी आत्मा का अन्ततोगत्त्वा–**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो-मनोमयः'** यही लक्षण मान लिया है, जिसका अर्थ है–"आनन्दघन--विज्ञानगर्भित मनः--प्राण--वाङ्मय--सृष्टिसाक्षी तत्त्वविशेष", जिसका स्वयं तैत्तिरीयने भी **'पञ्चकोशविद्या'** के माध्यम से विस्तार से यशोगान किया है।

तथोक्ता प्रासङ्गिकी पञ्चभूतसृष्टि के माध्यम से अब हमें स्वत एव इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, पञ्चमहाभूतात्मक-विश्व का मूलभूत–'आकाश' नामक वह महाभूत ही है, जो–'जूः' रूप–स्थितिप्रकृतिक, 'वाक्' तत्त्व ही है। वाग्रूप यह आकाश ही क्योंकि बलग्रन्थि के उत्तरोत्तरभावी क्रमिक संघात से शेष चारों भूतों में परिणत हुआ है, अतएव पाँचों ही भूतों कों, किंवा पूर्वोक्त स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–भूः–नामक पाँचों ही भूतभौतिक-स्पृश्यपिण्डों को **'वाङ्मयपिण्ड'** मान लिया जासकता है। यही आकाशात्मिका मनः–प्राणगर्भिता–वाक् की सर्वभूतव्याप्ति का संक्षिप्ततम निदर्शन है, जिस के आधार पर ही **'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'–'अथो वागेवेदं सर्वम्'** इत्यादि निगम व्यवस्थित हुए हैं। यही आकात्मिका विश्वव्याप्ता सर्वरूपिणी सर्वात्मिका वाग्देवी उस प्रस्तुत **'वषट्कार'** शब्द के चिरन्तन–इतिवृत्त की आधारभूमि बनी हुई है, जिस के माध्यम से ही हमें अत्र तन्निबन्धना वाक्सहस्री का दो शब्दों में स्मरणमात्र कर लेना है।

**'वाक्'** शब्द का रहस्यात्मक अर्थ है **'मनः-प्राण-गर्भित तत्त्वविशेष'**। अर्थात् उस तत्त्व का ही नाम 'वाक्' है, जिस के गर्भ में मन, और प्राण प्रतिष्ठित हैं। तभी तो बृहदारण्यकोक्त मनःप्राणवाङ्मय–लक्षण अन्वर्थ प्रमाणित होता है। किस आधार पर, कैसे 'वाक्' का अर्थ "मनःप्राणगर्भिततत्त्व" होगया ?, प्रश्न का समाधान वैदिक-विज्ञानानुगता अक्षरवर्णनिबन्धना अत्यन्त रहस्यपूर्ण उस **'संकेतविद्या'**

---

***–तस्माद्वा–एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी (मृत्)।**

—तैत्तिरीयोपनिषदि

पर ही अवलम्बित है, जिस के समन्वयाधार पर ही वैदिक-पारिभाषिक-शब्दों का तत्त्वार्थ समन्वित होता है। तद्विद्यानुसार '**मन**' का सङ्केतात्मक नाम है-'**अ**' **कार**, और प्राण का साङ्केतिक नाम है. 'उ' कार। वास्तविक-सहज स्थिति है-**मनः-प्राण-वाक्** यह। किन्तु सृष्टिधारा में मध्यस्थ गतिशील प्राण ही प्रथम स्थान ग्रहण कर लेता है। प्राण के गमन से ही तदाधारभूत मन को भी सृष्टिकर्म्म में समन्वित होना पड़ता है, जैसाकि दैनिक अनुभवों से स्पष्ट है। हमारा सालस मन कर्म्म की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहता। किन्तु सवितृप्राण की प्रबल प्रेरणा से जब हमारा '**प्राण**' बलपूर्वक अनिच्छन्नपि कर्म्म में प्रवृत्त होपड़ता है, तो हमारा अनिच्छा-भावानुबन्धी मन भी न न करता हुआ भी अन्ततोगत्वा तत्कर्म्म में प्रवृत्त हो ही पड़ता है। इसी आधार ऋषि-प्रज्ञाने-"**चरैवेति-चरैवेति**" रूपेण प्राणव्यापार के प्राथम्य को ही कर्म्मसिद्धि का प्रमुख द्वार माना है।

अतएव स्पष्ट है कि-'**मनः-प्राण-वाक्**' रूप सहज भी क्रम सृष्टिकर्म्मानुगति में प्राण को प्रथम स्थान देता हुआ-'**प्राण-मन-वाक्**' इस रूप में परिणत होजाता है, जिसका सङ्केताक्षरनिबन्धन यही निष्कर्ष निकलता है कि-'**अ**' (मन)-उ-(प्राण)-वाक्' के स्थान में 'उ-(प्राण) 'अ' (मन) वाक्' यह क्रम सम्पन्न होजाता है। उकार को 'व्' कार यणादेश होजाता है। 'उ-अ-अच्' के स्थान में 'व्-अ-अच्' स्थिति होजाती है, और दीर्घत्त्वेन 'वाच्' रूपेण-'वाक्' शब्द निष्पन्न होजाता है, जिस का स्पष्टतम यही रहस्यार्थ निकलता है कि, जो तत्त्वविशेष स्वस्वरूपाभिव्याप्ति-प्रसार-के लिए उ, और अ-रूप प्राण, तथा मन की सतत याञ्चा करता है, अपेक्षा करता है, प्राणमनोगर्भित वैसा तत्त्वविशेष ही 'उ-अ-अच्' इस सङ्केताक्षरविधा से 'वाक्' रूप में परिणत होरहा है। ऐसा है यह-'वाक्तत्त्व', और इत्थंभूत मनःप्राणगर्भित-पाञ्चभौतिक--वाक्तत्त्व से कृतरूप पाञ्चभौतिक--पञ्च--स्पृश्यपिण्डों का ही है यह वाङ्मय-चिरन्तन-इतिवृत्त-निष्कर्ष, जिसे आधार बना कर ही अब "वाक्" निबन्धन "**वषट्कार**" शब्द का समन्वय अन्वेष्टव्य है।

पञ्चमहाभूतात्मक-पञ्चपर्वा-महाविश्व के पाँचों हीं विश्वपर्व वाङ्मय हैं, यह पूर्व-निवेदन से स्पष्ट होजाता है। वस्तुपिण्ड का साङ्केतिक नाम है-'स्पृश्यपिण्ड', जिस वाङ्मय-धामच्छद-भूतभौतिक पिण्ड का केवल स्पर्श ही सम्भव है। अतएव भूतपिण्ड का हम स्पर्शमात्र ही कर सकते हैं, देख नहीं सकते उसे। तो फिर किसे देखते हैं !, इस रहस्यपूर्ण प्रश्न का उत्तरप्रदान करने वाली दुरधिगम्या विद्या का ही नाम है-'**वाक्साहस्रीविद्या**', जिस का अत्यन्त पारिभाषिकी भाषा में ही ऋषिने निम्नलिखित मन्त्र से संस्मरण किया है—

**सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।**
**सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥**

—ऋक्सं०

वाक् को हमने प्राण, तथा मन से समन्वित बतलाया है। मनस्तत्त्व वाङ्मय पिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, एवं तदनुगत गतिशील-अधामच्छद प्राणतत्त्व वस्तुकेन्द्र में उक्थरूप से अपनी मूलप्रतिष्ठा सुरक्षित रखता हुआ अर्करूप से पहिले तो वाङ्मय-स्पृश्यभावनिबन्धन वस्तुपिण्ड में व्याप्त होता है। अनन्तर इस वस्तुपिण्ड (स्पृश्यपिण्ड) को केन्द्र बनाता हुआ यही अर्कात्मक प्राण बड़ी दूर पर्य्यन्त अपना एक स्वतन्त्र-मण्डल-बनता है, जो मण्डल संख्यानुगति से एकसहस्र-संख्यात्मक, मान लिए गए हैं।

यही बर्हिर्मण्डल प्राणप्रधान मनोवाग्गर्भित वह साहस्री-मण्डल है, जिस का हम मण्डलों के तारतम्य से साक्षात्कार तो कर सकते हैं, किन्तु जिस का अधामच्छदत्त्वेन हस्तादि से संस्पर्श कदापि सम्भव नहीं है। यही स्पृश्य, और दृश्य का वह आत्यन्तिक-पार्थक्य है, जिसका स्वरूपबोध-वाङ्मय-वषट्कारविज्ञान के स्वरूप-समन्वय पर ही अवलम्बित है।

स्पृश्यपिण्ड भी मनःप्राणवाङ्मय है, एवं दृश्यमण्डल भी मनःप्राण-वाङ्मय ही है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि, स्पृश्यपिण्ड जहाँ प्राण-मनो-गर्भिता वाक् को प्रधान बना रहा है, वहाँ दृश्यमण्डल मनो-वाक्-गर्भित प्राण को प्रमुखता प्रदान कर रहा है। वाक्प्रधान वस्तुपिण्ड **'पिण्ड'** है, एवं प्राणप्रधान वस्तुमण्डल **'मण्डल'** है। स्पर्श पिण्ड का ही सम्भव है, तो दर्शन मण्डल का ही होता है।

मण्डलानुगत-अर्कात्मक प्राण की अवयवात्मिका व्याप्ति की पारिभाषिकी संज्ञा है-**'स्तोम' (राशि-स्तूप-ढेर-समूह)**। मनोवाग्गर्भित-प्राणतत्त्व ही स्वाभाविक-गतिधर्म्म से "गौः" है, जो अर्करूप-मनोवाक्प्राणमय-गौतत्त्व **अभिप्लव-पृष्ठ्य**-रूपेण दो स्तोमभागों में परिणत रहता है। रश्मिभावात्मिका प्राणसमष्टि ही अभिप्लवस्तोम है, एवं मण्डलभावात्मिका प्राणसमष्टि ही पृष्ठ्यस्तोम है, जिन दोनों रहस्यपूर्ण-प्राणविध-स्तोमों का तत्प्रकरण-भाष्य में विस्तार से स्पष्टीकरण कर दिया गया है। केन्द्र से बहिःपरिधि पर्य्यन्त वस्तुपिण्डाकारत्वेन उत्तरोत्तर बृहन्मण्डलों में परिणत होने वाले प्राणमण्डल ही-**'पृष्ठ्यस्तोम'** कहलाए हैं, एवं केन्द्र से बहिःपरिधि पर्य्यन्त रश्मिरूपेण-सूच्यग्रमुख-वितायमान-प्राणसमूह ही **'अभिप्लवस्तोम'** नाम से व्यवहृत हुए हैं, जिन इन दोनों के स्वरूप-समन्वय के बिना वैदिकी-सृष्टिविद्या का समन्वय स्वप्न में भी सम्भव नहीं है।

हाँ, तो मनोवाक्-गर्भित-प्राण-रूप गौतत्त्व मण्डलसाहस्री के अनुबन्ध से सहस्र-संख्या में विभक्त रहता है, जिन इन सहस्र-वाङ्मय-प्राणों की त्रिंशत्-त्रिंशत् ( ३०-३० ) प्राणराशि से जो एक स्वरूप अभिव्यक्त होता है—उसीका पारिभाषिक नाम है-**'अहर्गण'**। फलतः १००० प्राणात्मक गौतत्त्वों के ३०-३०-के अनुपात से ( ९९० गौतत्त्वों के) ३३ ( तैंतीस ) अहर्गण होजाते हैं, शेष रह जाते हैं— दस गौप्राण, यही **'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः'** रूप चौतीसवाँ-'सर्वप्रजापति' नामक पारिभाषिक -वाङ्मय--प्रजापतिदेवता है। ३३ अहर्गणों में से आरम्भ के तीन अहर्गण वस्तुपिण्ड में भुक्त हैं। अतएव वस्तुमण्डल में ३० ही अहर्गण शेष रह जाते हैं, जिनका अयुग्मरूपेण जो तत्त्वात्मक समन्वय होता है, उसीका नाम **है-'वषट्कार'**। वस्तुपिण्डभुक्त-तीन अहर्गणों में वस्तुमण्डलयुक्त ३० अहर्गणों में से ६ अहर्गणों के समावेश से जो वाक्-प्राणमय-एक स्वतन्त्र स्तोम का स्वरूप सम्पन्न होता है, उसी का नाम है—**'त्रिवृत्स्तोम'** ( अर्थात् ९ अहर्गणों की समष्टिरूप स्तोम )। इसमें अयुग्मरूपेणैव आगे के ६ अहर्गणों के समावेश से—**'पञ्चदशस्तोम'** का, और ६ के समावेश से-**'त्रिणवस्तोम'** का, एवं और शेषभूत अन्त के ६ अहर्गणों के समावेश से-**'त्रयस्त्रिंशस्तोम'** का स्वरूप-सम्पन्न होता है। इन ३३ सों अहर्गणों का केन्द्रभूत एक सप्तदशम-अहर्गण-पृथक् और मान लिया गया है, जो **'उद्गीथप्रजापति'** का स्वरूप समर्पक बनता है। इसप्रकार त्रिवृत्-(९)-पञ्चदश (१५)-सप्तदश (१७)-एकविंश (२१)-त्रिणव-(२७)-त्रयस्त्रिंश (३३)-रूपेण वाङ्मय प्राण के, किंवा प्राणमयी-महिमा-रूपा सुसूक्ष्मा वाक् के ६ ( छह ) विभिन्न स्तोम होजाते हैं। एक ही मूलवाक्तत्त्व का स्तोमानुबन्धी यह षड्धा-विभाजन है। यही वाक् का षट्कार है, और यही वाक्षट्काररूप **'वषट्कार'** शब्द का संक्षिप्ततम-चिरन्तनेतिवृत्त है।

वाक् के षट्काररूप वषट्कार का ही नाम है 'वाक्साहस्री-मण्डल', जिसके गर्भ में वेदसाहस्री-लोकसाहस्री-वाक्साहस्री-नाम की तीन व्यष्टिरूपा अवान्तर-साहस्रियाँ प्रतिष्ठित मानीं गईं हैं, जिस इस साहस्री-त्रयी की आधारभूमि है हृद्याक्षरत्रयी। वस्तुपिण्ड के केन्द्र में मनोगर्भित जिस 'प्राण' तत्त्व की उक्थ-रूपेण पूर्व में प्रतिष्ठा बतलाई गई है, वह हृदयस्थ प्राण हृदय में प्रतिष्ठित रहता हुआ स्वयं भी 'हृ-द-यम्' रूपेण त्र्यक्षरात्मक-अक्षरप्राण ही है, जिसका 'हृ' नामक एकाक्षर आहरणधर्म्मा विष्णु है, यही आगति-धर्म्मा प्राण है। 'द' नामक एकाक्षर खण्डनधर्म्मा-'इन्द्र' है, यही गतिधर्म्मा प्राण है। एवं 'यम्' नामक एकाक्षर नियमनधर्म्मा ब्रह्मा है, और यही गतिसमुच्चयधर्म्मा स्थितिरूप-प्रतिष्ठाप्राण है। इसप्रकार तीन अक्षरों की समन्वितावस्थारूप त्र्यक्षरमूर्त्ति-हृदयस्थ प्राण के आधार पर ही मनोवाग्गर्भिता वाक्साहस्री के तीन महिमा-विवर्त्त निष्पन्न होजाते हैं मनः-प्राण-वाक् की गौण-प्रधानवृत्ति के कारण, जिसका निष्कर्ष यही है कि—

**मनोवाग्गर्भिता प्राणप्रधाना साहस्री का ही नाम वैष्णवीसाहस्री है**, यही 'लोकसाहस्री है, जिसका 'हृ' अक्षरात्मक 'विष्णु' नामक अक्षर से ही प्रधान सम्बन्ध है। **मनः-प्राणगर्भिता वाक्प्रधाना साहस्री** का ही नाम 'ऐन्द्रीसाहस्री' है, यही 'वाक्साहस्री' है, जिसका 'द' क्षरात्मक 'इन्द्र' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। एवं '**प्राण-वाग्-गर्भिता-मनः-प्रधाना साहस्री का नाम ही ब्राह्मी-साहस्री है**, यही 'वेदसाहस्री' है, जिसका 'यम्' अक्षरात्मक 'ब्रह्मा' नामक अक्षर के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। इसप्रकार ब्रह्माक्षररूप प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित इन्द्र-विष्णु-की गत्यागति-धर्म्मावच्छिन्न अबमूला पारस्परिकी प्रतिस्पर्द्धा से होने वाले ब्राह्म-वैष्णव-ऐन्द्र-प्राणों के वीरणरूप-अर्कात्मक ऊर्ध्ववितान से एक ही वाक्साहस्री के उक्त गौण-प्रधान-क्रम से तीन साहस्रियाँ अभिव्यक्त होजातीं हैं, जिन इन तीन साहस्रियों के अवारपारीण-ऊर्ध्व-अधः-तिर्य्यक्-सर्वतोभावी वितान से एकविधापि साहस्री आरम्भ में त्रिसाहस्रीरूप में परिणत होती हुई '**सहस्रधा महिमानः सहस्रम्**' रूपेण असंख्य-अगणित-साहस्री-वितानभावों में विभक्त होजाती है, जिनकी प्रधानभूता साहस्री-त्रयी का ऋषि ने निम्नलिखितरूपेणैव संस्मरण किया है—

**उभा जिग्यथुर्नपराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।**
**इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥** (ऋक्संहितायाम्)

**किं तत् सहस्रमिति ?**

**इमे लोकाः** ( लोकसाहस्री-वैष्णवी )
**इमे-वेदाः** ( वेदसाहस्री-ब्राह्मी )
**अथो-वाक्-इति ब्रूयात्** ( वाक्साहस्री-ऐन्द्री )
—ऐतरेय-आरण्यके

उक्त साहस्री-त्रयी में मनःप्राणगर्भिता वाक्प्रधाना ऐन्द्री-साहस्री का ही क्योंकि वाङ्मय वषट्कार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अतएव यज्ञकर्म्म में एकमात्र-इन्द्राक्षरदेवता के लिए ही-'इन्द्राय वौषट्' रूपेण वषट्कार-रूपेण आहुति का विधान हुआ है। वैसे तो सभी प्राणदेवताओं की आधारभूमि वाङ्मय वषट्कार ही बना हुआ है, जैसाकि—'देवपात्रं वा एष-वषट्कारः' निगम से स्पष्ट है। ऐसा है यह वषट्कार, जिसके आधार

पर ही मण्डलात्मक--'वैश्वरूप्य' का वितान हुआ है, जिस वैश्वरूप्य के माध्यम से ही पाँचों विश्वपुरों में परस्पर वसुधानकोशात्मक--वह सुप्रसिद्ध दहरोत्तरसम्बन्ध प्रतिष्ठित है, जिसके आधार पर ही पाँचों पुरों में पञ्चपुर-स्वरूप-संरक्षिका वह यज्ञप्रक्रिया प्रक्रान्ता है, जिसका 'प्रहितां-संयोगः'-'प्रयुतां संयोगः' इस परिभाषाद्वयी के माध्यम से ही ऋषि ने स्वरूप–विश्लेषण किया है।

विश्वस्वरूपसंस्थान के माध्यम से वस्तुस्थिति का समन्वय कीजिए। **आकाशभूत**--प्रधान--स्वयम्भू--नामक प्रथमपिण्ड पहिला स्पृश्यपिण्डात्मक--पहिला वाङ्मय पिण्ड है। इसीके अनुरूप स्वरूप--रखने वाले क्रमशः वायु--तेज--जल,--मृत्--नामक भूतप्रधान चारों स्पृश्यपिण्डात्मक वाङ्मयपिण्ड क्रमशः परमेष्ठी--सूर्य्य--चन्द्रमा--भूपिण्ड, नामक चार वाङ्मय पिण्ड हैं। यह अविस्मरणीय है कि--यह क्रम दृष्टिमूला-सृष्टिविद्या से ही सम्बन्ध रखता है। यदि सृष्टिमूला सृष्टिविद्या के क्रम से विचार किया जायगा, तो--'चन्द्रमा' सर्वान्त में प्रतिष्ठित माना जायगा। क्योंकि ग्रहोपग्रहभावनिबन्धना--दर्शपूर्णमासयज्ञानुबन्धिनी सुप्रसिद्धा **'प्रतिपदनुचरविद्या'** से अनुगता क्रमसिद्धा व्यवस्था के अनुसार स्वयम्भू का उपग्रह सूर्य्य है, सूर्य्य का उपग्रह भूपिण्ड है, एवं भूपिण्ड का उपग्रह अत्रिप्राणनिबन्धन चन्द्रमा है। सर्वान्तभावात्मिका इस अवसानात्मिका स्थिति के कारण ही चान्द्रसाम--'**निधनसाम**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

उक्त क्रमसिद्ध आकाशात्मा–स्वयम्भू–पिण्ड, वाय्वात्मा परमेष्ठी–पिण्ड, तेजोमयात्मा सूर्य्य–पिण्ड, मृन्मय भूपिण्ड, एवं जलीय चन्द्रपिण्ड, इन पाँचों–वाङ्मय–महाभूतात्मक–विश्वपिण्डों के साथ (प्रत्येक के साथ) उस वाङ्मय–वषट्कारमण्डल का सम्बन्ध है, जो 'वैश्वरूप्य' नाम से प्रसिद्ध है। पाँचों के अपने अपने महिमामण्डलात्मक–पाँच–वैश्वरूप्य हैं, एवं प्रत्येक में तथाकथिता साहस्री-त्रयी का स्व–स्व–पिण्डपुर–अवस्थानानुपात से ही उपभोग होरहा है। इन वाङ्मय–महिमामण्डलों के अनुपात से ही पाँचों विश्वपुरों का वसुधानकोशात्मक–दहरोत्तरसम्बन्ध माना गया है, जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, स्वयम्भू नामक आकाशात्मा–प्रथम–वाङ्मय पिण्ड के महिमामण्डलात्मक–वाक्साहस्रीमण्डलरूप वैश्वरूप्य के गर्भ में समहिममण्डल शेष चारों विश्वपर्व बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित हैं। एवमेव परमेष्ठी के महिमा–मण्डल में शेष तीनों, सूर्य्य के महिमा–मण्डल में शेष दोनों, एवं भूपिण्ड के महिमा–मण्डल में समहिम–चन्द्रमा गर्भीभूत है। और यही वषट्कारशब्द--निबन्धना उस पारिभाषिकी वाक्साहस्री–विद्या-का संस्मरण–निष्कर्ष है, जिस से अनुप्राणित त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश–आदि स्तोमों के परिमाण–माध्यम से ही विश्वपर्वों के गणितसिद्ध–सामीप्य–और विदूरत्व का वैज्ञानिक व्यवस्थापन हुआ है।

उदाहरणार्थ–'सूर्य्य' पृथिवी से कितनी दूर है ?, प्रश्न का उत्तर जहाँ आज का भूतविज्ञान अमुक करोड़ मीलों में देता है, वहाँ वैदिक–सृष्टिविज्ञान में इस प्रश्न का उत्तर होगा–**'एकविंशो वा इत–आदित्यः'**। अर्थात् 'भूपिण्ड से सूर्य्य पार्थिव–वषट्कारमण्डल के २१वें अहर्गण पर बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित है'', इत्यलमति–विस्तरेण **'वषट्कारशब्द'** निबन्धन–पारिभाषिक–प्रासङ्गिक–निदर्शनेन।

११ (२)

* * * * *

श्रीः

# १२–पुरोडाशमीमांसानुगत-पात्रीनिर्णेजन-कर्म्म-प्रसङ्गतः "प्रासङ्गिकी-विविध-वैज्ञानिकी–चर्चाएँ" एवं 'तन्निबन्धना–विविध–परिभाषाएँ'

## ३

---

पात्रीनिर्णेजनात्मक–क्रमप्राप्त १२ वें कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता के प्रसङ्ग में भगवान्–याज्ञवल्क्य के द्वारा जिन प्रासङ्गिक-पारिभाषिक–वैज्ञानिक-तथ्यों का स्पष्टीकरण हुआ है, उन में से **चतुर्विध–अग्निस्वरूप-विज्ञान, आप्त्यात्रयी-स्वरूप-विज्ञान, पश्वालम्भनविज्ञान, पञ्चप्राणात्मक–पशुस्वरूपविज्ञान, अहिंसा-हिंसा--स्वरूपविज्ञान**, आदि कतिपय विषय विशेष महत्त्व रख रहे हैं, जिनमें पश्वालम्भन, पञ्चपशु, हिंसा--अहिंसा--नुगता विषयत्रयी तो आज के दिग्देशकालानुबन्ध से निश्चयेन विशेषतम ही स्थान रखने वाली मानी जायगी । अत्र उदाहरणरूपेण अत्यन्त संक्षेप से ही इन प्रमुख विषयों का उदाहरण–स्मरण करलेना पर्य्याप्त होगा ।

### (क)–अग्निविज्ञान-निबन्धन-पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन —

अपने पारिभाषिक--अनुगम--अर्थ से अनुप्राणित--**'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे--अग्निरास'** इत्यादि श्रुतिवचन से अनुप्राणित चतुर्द्धा विभक्त **'अग्नि'** के चतुर्विध-महिमामय-विवर्त्तों का वेदशास्त्र में अनेकधा स्पष्टीकरण हुआ है । वस्तुस्थिति तो इस दशा में कुछ ऐसी है कि, **'अग्निविद्या का विस्तारात्मक उपबृंहण ही सम्पूर्ण वेदशास्त्र का निष्कर्षार्थ है ।** जिस अपौरुषेय-तत्त्वात्मक-स्वायम्भुव--ब्रह्मनिःश्वसित वेद को विश्व का कारण माना जाता है, वह वेदतत्त्व भी 'ब्रह्माग्नि' नामक अग्निविशेष ही है, जोकि ऋक्संहितान्तर्गत सुप्रसिद्ध अस्यवामीय–सूक्त में--**'वामपलित'** नामसे उपवर्णित है । ब्रह्माग्निरूप स्वायम्भुव--वामपलित-नामक ब्रह्माग्नि के आधार पर ही, इसी के आरम्भणधर्म्म से ( उपादानधर्म्म से ) जो ऋताग्नि--अभिव्यक्त होता है, उसी का नाम सुप्रसिद्ध वह--**'आप्त्याग्नि'** है, जिस का महाभारत में एक आख्यानविशेष के द्वारा **'अग्निभ्रातरः'** रूप से समन्वय हुआ है । **'अग्निभ्रातरः'** रूप इस द्वितीय **'आप्त्याग्नि'** नामक **'ऋताग्नि'** का नाम ही आपोमय-परमेष्ठी-लोक है, जोकि विश्व का क्रमप्राप्त द्वितीय पर्व माना गया है ।

आगे चलकर इस ऋताग्निरूप आप्त्याग्नि के गर्भ में पुनः एक अपूर्व सत्याग्नि का केन्द्ररूपेण चयन होता है, जिसके लिए--**'कं स्विद्गर्भं दध्र आपः'** कहा गया है, एवं जिसका--**'तासु बीजमवासृजत्'** रूपेण मनु भगवान्ने स्मरण किया है । इस तृतीय--सत्याग्नि की चिति के अन्तिम परिणामरूप सञ्चितिधर्म्म से जिस

अग्निमय--नवीन ब्रह्माण्ड की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, उसी का नाम है--'सौरब्रह्माण्ड', जिसे हम--'रोदसी--त्रिलोकी' कहा करते हैं । यही क्रमप्राप्त--तृतीय-विश्वसंस्थान है, जिसका अग्निमयत्त्व भी स्फुट है ही ।

और आगे चलिए । सौरब्रह्माण्डाग्नि ही कालान्तर में अपने सर्वत्सरधर्म्म से सम्वत्सररूप में परिणत होजाता है । और यही सम्वत्सरप्रजापति अपने ब्रह्मौदनात्मक प्रातिस्विक-वित्त से जहाँ स्वस्वरूप का संरक्षण करता है, वहाँ विस्रंसनधर्म्मा प्रवर्ग्यभाग से अपने स्वरूप से पृथक् होता हुआ स्वानुगत पृथिव्यादि उपग्रहों का स्वरूप-निर्म्माता बनता है । यही प्रजापति का सहज विस्रंसनधर्म्म है । सौर--देवमण्डल से प्रवर्ग्यरूपेण अपक्रान्त इसी चतुर्थ अग्नि से भूपिण्ड का स्वरूप--निर्म्माण होता है । यही पारिभाषिक-पार्थिव-वह मृग्याग्नि है, ज्योतिर्भावाभिभूति से ही जो 'कृष्णमृग' नामक पारिभाषिक-नाम से व्यवहृत हुआ है । और यों विश्व के क्रमप्राप्त-चतुर्थ-भूपिण्ड का भी अग्निमयत्त्व ही प्रमाणित होजाता है । शेष रह जाता है पञ्चम--पर्वात्मक-आपोमय-सौम्य-चन्द्रमा, जिसका आपोमय-परमेष्ठीवत्--ऋताग्नि में हीं अन्तर्भाव है ।

इसप्रकार द्विविध--भावापन्न--पारमेष्ठ्य--चान्द्ररूप ऋतधर्म्मा **सुब्रह्मण्याग्नि, स्वायम्भुव-ब्रह्माग्नि, सौर-सावित्राग्नि, पार्थिव-गायत्राग्नि (मृगाग्नि)** रूपेणापि अग्नि के चातुर्विध्य का समन्वय किया जासकता है, एवं यही चातुर्विध्य की एकविधा है । ऐसे अगणित--चातुर्विध्य हैं अग्निमहिमा के, जिनमें से तत्कर्म्म में कतिपय-परिगणित-अग्निमहिमा-विवर्त्तों का ही स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है, जिन अनेकों विवर्त्तों में से यज्ञानुबन्ध से प्रमुखरूपेण जिन चार अग्नि--भावों का तदग्निविज्ञान--प्रसङ्गत: दिगदर्शन कराया गया है, वे चारों पारिभाषिक--अग्नि क्रमश:--१--**रसाग्नि**, २--**आर्त्तवाग्नि**, ३--**छन्दस्याग्नि**, ४--**सावित्राग्नि**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं ।

**दधि--घृत--मधु-रस**-त्रयात्मक-स्तौम्य-त्रैलोक्य-में व्याप्त **'रसतम'** नामक अग्निविशेष ही **'रसाग्नि'** है, जिस के माध्यम से ही पार्थिव गायत्र--सम्पत्ति-का संग्रह हुआ करता है । उत्तरदिक्स्थ--वायव्य--'ऋताग्नि'--विशेष ही दूसरा **'आर्त्तवाग्नि'** है, जिससे ऋतुओं का स्वरूप--निर्म्माण हुआ करता है । वस्तुस्वरूप को आकारभाव प्रदान करने वाला वयोनाधात्मक आयतनरूप अग्निविशेष ही क्रमप्राप्त तीसरा--**'छन्दस्याग्नि'** है । एवं सृष्टि का तृतीय-पर्वात्मक-सौर-ब्रह्माण्ड-स्वरूप-संरक्षक--ब्रह्मौदनात्मक--अग्निविशेष ही क्रमप्राप्त चतुर्थ-**'सावित्राग्नि'** है । यज्ञकर्म्म-निबन्धन ( सृष्टिस्वरूप-सम्पादक--कर्म्मनिबन्धन ) इन चारों अग्नियों के पारिभाषिक--समन्वय के द्वारा ही यज्ञसर्ग का तात्त्विक--समन्वय सम्भव है, और यही **'अग्निविज्ञान-निबन्धना'** प्रासङ्गिकी--उदाहरणविधि का संक्षिप्त--स्वरूप-दिग्दर्शन है ।

— –*— —

## (ख)—आप्त्यात्रयी-स्वरूप-विज्ञान—

आप्त्या--त्रयी से सम्बन्ध रखने वाले रहस्यपूर्ण विज्ञान का उस सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक--आख्यान से ही सम्बन्ध है, जिस में त्वष्टा के पुत्र, अतएव 'त्वाष्ट्र' इस उपनाम से प्रसिद्ध तीन मस्तक वाले, एवं ६ आंखों वाले 'विश्वरूप' नामक प्रचण्ड असुर के वध का स्वरूपोपबृंहण हुआ है । आप्त्या के सहयोग से ही देवेन्द्र इस अद्‌भुत असुर को मारने में समर्थ होते हैं । पुराणशास्त्र में तो ऐसे ऐसे अद्‌भुत अद्‌भुत चरित्र पदे पदे समाविष्ट है हीं, जिन का पारिभाषिक समन्वय न करने के कारण ही हम पुराण जैसे 'आर्य्यसर्वस्वशास्त्र' को

'निरी गप्य' मानते हुए–'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' को अक्षरशः चरितार्थ करते ही रहते हैं। किन्तु उस समय सहसा हमारी प्रज्ञा स्तब्ध होजाती है, जब कि स्वयं वेदशास्त्र में भी हम यत्रतत्र–ऐसे ही विलक्षण आख्यानों को समन्वित देखते हैं।

"एकता–द्विता–त्रिता-नामके आप्त्या-ब्राह्मणों के साथ क्षत्रियश्रेष्ठ इन्द्र इतस्ततः उसी प्रकार विचरने लगे, जैसेकि ब्राह्मणपुरोधा मूर्द्धाभिषिक्त राजा के साथ उसे सामयिक–परामर्श देते हुए विचरते रहते हैं। आगे चल कर आप्त्या–ब्राह्मणों के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशीर्ष–षडक्ष–विश्वरूप असुर को मारडाला" इस आख्यान का आप्त्याग्नि कौन है ?. षडक्ष–त्रिशीर्ष–विश्वरूप-असुर कौन है ?, **'आप्त्याविज्ञान'** के द्वारा इन्हीं प्रश्नों का विस्तार से वैज्ञानिक–समन्वय हुआ है–चतुर्विद्ध–अग्निविज्ञान के अनन्तर।

पार्थिव-सम्वत्सर–यज्ञ से अनुगत, पार्थिव–स्तौम्यत्रैलोक्यानुबन्धी-सुप्रसिद्ध **त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश**–नामक ( ६–१५–२१–नामक ) तीन स्तोमों के भेद से तीन पार्थिव-लोक व्यवस्थित माने गए हैं, जिन की समष्टि ही-**'पार्थिवी-स्तौम्या-त्रिलोकी'** कहलाई है। इस पार्थिवी त्रिलोकी के पृथिवीरूप त्रिवृत्स्तोम में **'भूपतिः'** नामक पार्थिव-ध्रुवाग्निरूप-(घनाग्निरूप) अग्नि प्रतिष्ठित है, यही प्रातःसवनाधिष्ठाता–अष्टविध–वसुगणोपेत–शवसोनपात्–'एकता' नामक आप्त्याग्नि है। पार्थिवी त्रिलोकी के अन्तरिक्षरूप पञ्चदशस्तोम में–**'भुवनपतिः'** नामक आन्तरिक्ष्य–धर्त्राग्निरूप ( तरलाग्निरूप ) वायु प्रतिष्ठित है, यही माध्यन्दिनसवनाधिष्ठाता–एकादशविध–रुद्रगणोपेत-शवसोनपात्–**'द्विता'** नामक आप्त्याग्नि है। पार्थिवी-त्रिलोकी के ही द्युलोकरूप एकविंशस्तोम में 'भूतानांपतिः' नामक दिव्य–धरुणाग्निरूप ( विरलाग्निरूप ) आदित्य प्रतिष्ठित है। यही सायंसवनाधिष्ठाता द्वादश–आदित्यगणोपेत-शवसोपानत्–'त्रिता' नामक–आप्त्याग्नि है। इसप्रकार भूकेन्द्र से पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त अपनी–ध्रुव–धर्त्र–धरुण-( घन–तरल–विरल, किंवा बाष्प ) नामकी सुप्रसिद्धा तीन अवस्थाओं से उत्तरोत्तर सूक्ष्मभाव में परिणत होकर त्रिवृत्-पञ्चदश–एकविंश-रूपेण अपने तीन स्वतन्त्र–लोकसंस्थान बनाने वाला पार्थिव–त्रिविध अग्नि ही पार्थिव–आपोमय–अर्णवसमुद्र से सर्वतः परिव्याप्त रहता हुआ* **'एकता–द्विता–त्रिता'** नामक **'आप्त्याग्नि'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है, और यही **'अग्निभ्रातरः'** रूपा आप्त्याग्नि-त्रयी का संक्षिप्त–स्वरूप–दिग्दर्शन है, जिन इन तीनों आप्त्या–अग्नियों का ही अन्यत्र एक अन्य दृष्टिकोण के भेद से–"त्रयः केशिनः" रूप से उपवर्णन हुआ है।

उक्त तीनों आप्त्याग्नियों के सहयोग से ही रोदसी-त्रैलोक्यानुगत द्युलोक के अधिष्ठाता–'मघवा' नामक देवेन्द्र के द्वारा त्रिशीर्ष–षडक्ष–त्वाष्ट्र–विश्वरूप-का दमन होता है। **'अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्'– 'अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि, सर्वं जनयिष्यामि, सर्वमाप्स्यामि–यदिदं किञ्च'** इत्यादि वचनों के अनुसार अप्तत्त्व ही याज्ञिकी–वृषावृषात्मिका–रयिप्राणमूला–दाम्पत्यसृष्टि का मूलाधार माना गया है, जैसाकि– **'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'** इत्यादिमूला छान्दोग्योपनिषदुपवर्णिता सुप्रसिद्धा पञ्चाग्निविद्या से भी प्रमाणित है। सृष्टि के उपादानकारणात्मक पारमेष्ठ्य इस आप्यतत्त्व का ही नाम है वह–**'सुब्रह्म'**, जिस के गर्भ में 'ब्रह्म' ( तत्त्वात्मक-त्रयीवेद ) प्रतिष्ठित माना गया है। ब्रह्म, और सुब्रह्म के समन्वय से ही विश्व, एवं विश्वप्रजा की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। इस एक भी, एकाकार भी–ब्रह्मगर्भित–सुब्रह्मरूप- अप्तत्त्व से विविधाकारारित पदार्थ कैसे उत्पन्न होजाते हैं ?, प्रश्न की समाधानभूमि है वह–**'त्वष्टा'** नामक प्राणविशेष, जिस के समन्वय से ब्रह्म–गर्भित–सुब्रह्मरूप–आपोमय शुक्र हस्तपाद–चक्षुः–उरः–कण्ठ–अङ्गुलि–आदि

*– **'समुद्रमभितः पिन्वमानम्'**–( यजुःसंहितायाम् )।

आदि रूपेण विभिन्न आकारभावों में परिणत होजाता है, जैसाकि–'त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकिरोति' श्रुति से स्पष्ट है।

जिसप्रकार हरित–नील–पीत-रक्त–धूम्र–नीललोहित–आदि सप्तविध–वर्णात्मक रूपों के प्रवर्त्तक–सौर–मघवा–नामक–देवेन्द्र है +, एवमेव–त्रिकोण--षट्कोण–अष्टकोण–सम-विषम–तिर्य्यक्--आदि आदि भेदभिन्न--आकारात्मक--रूपों का प्रवर्त्तक त्वष्टाप्राण ही माना गया है ÷। शुक्र--सहचारी--आप्यभावानुगत इस त्वष्टाप्राण को ही 'त्वष्टा' नामक असुर माना गया है। क्योंकि आग्नेय--ज्योतिर्म्मय प्राण जैसे--'देवदेवता' नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव आप्यप्राण ही 'असुर' नाम से व्यवहृत हुआ है। आकाररूपाधिष्ठता--आपोमय–आप्यप्राणधान–आपोमय--शुक्ररूप--सुब्रह्म–तत्त्वसे संश्लिष्ट--यह 'त्वष्टा' नामक असुरप्राण ही सुब्रह्मरूपेण--आप्यतत्त्व- से अभिन्न बनता हुआ तद्रूप ही बन रहा है, और यही 'त्वाष्ट्र–विश्वरूप' नामक वह असुर है, जिसके कारण ही तमोगुणप्रधाना–धामच्छद--भावनिबन्धना--भूतभौतिकी–मर्त्या--भूतसृष्टि का उद्गम हुआ है, जिस मूर्त्तसृष्टि से ही मूर्त्त--व्यक्त--विश्व का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। और यही आप्य--त्वाष्ट्र--असुर की–'विश्वरूपता' का संक्षिप्त स्वरूप--निदर्शन है।

विश्वरूप--आपोमय प्राणात्मक-त्वाष्ट्र--असुर--मूर्त्त–विश्व का प्रभव बनता हुआ--'विश्वरूप' है, तभी तो-'सर्वमापोमयं जगत्' सिद्धान्त अन्वर्थ बनता है। इस विश्वरूप--आप्यप्राणात्मक-त्वाष्ट्र–असुर का जो 'मूल' होगा, वही इसका 'मस्तक' माना जायगा। क्योंकि–'शिरोमूला सृष्टिविद्या' की अपेक्षा उत्पत्ति में शिरो भाग को ही मूल माना गया है। आपोमय--सुब्रह्म का मूलप्रवर्त्तक है वह 'वाक्' तत्त्व, जिसे हमने 'यत्' नामक 'प्राण' से समन्वित-'जू' रूप आकाश कहा है पूर्व के निदर्शनों में (देखिए प्रस्तावना--पृष्ठसं० ४६)। ऋक्सामावच्छिन्ना--यजुर्वाक् ही आपोरूप में परिणत हुई है, जैसाकि--'सोऽपोऽसृजत--वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत' इत्यादि शातपथी श्रुति से स्पष्ट प्रमाणित है। वह–अनादिनिधना--स्वायम्भुवी–'जू' रूपा--तत्त्वात्मिका वाक् ही, ( जिस की कि मौलिक–उपनिषत्--स्वरूपव्याख्या--'अग्नि'--ब्रह्माग्नि--ही मानी गई है * ) आपोमय उस पारमेष्ठ्य–मण्डलरूप में परिणत हुई है, जिस सुब्रह्ममूर्त्ति आपोमय--परमेष्ठी के त्वाष्ट्र--विश्वरूप--प्राण से ही मैथुनीसृष्टि का आकार--विभाजन हुआ है।

विश्वरूप–त्वाष्ट्र–(आपोमय-शुक्ररूप–सुब्रह्म) की मूलभूता 'वाक्' ही तो इसका शीर्ष भाग माना जायगा। यह शीर्ष निश्चयेन त्रिपर्वा है, किंवा तीन-शीर्ष–भावों को मिलाकर एक शीर्ष भाव है, जैसाकि वाक् शब्द के निर्वचन प्रसङ्ग में पूर्व के निदर्शन में स्पष्ट किया जाचुका है ( देखिए पृ० संख्या ४८ )। मनः-प्राण–से अविनाभूता वाक् सचमुच ही तो त्रिवृद्भावापन्ना है। और ये ही उस त्वाष्ट्र–विश्वरूप के तीन मस्तक हैं। विश्वप्रजा षड्भावविकारों से समन्वित होकर ही स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होती है। ये ही

---

+ रूपं रूपं मघवा बोभवीति।

÷ त्वष्टा रूपाणि पिंशति।

* "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"

—शतपथब्राह्मणे

षड्भावविकार- **अस्ति-जायते-विपरिणमते-वर्द्धते-अपक्षीयते-नश्यति**-नामों से सुप्रसिद्ध हैं। त्रिशीर्ष-त्वाष्ट्र-विश्वरूप-की भूतभौतिकी-वैकारिकी-धामच्छदा-मर्त्यभाव-निबन्धना-विश्वसृष्टि को विश्वस्वरूप-निर्म्माता त्वाष्ट्र इन ६ दृष्टियों से ही देखता है, किंवा ६ विभागों में विभक्त होकर ही भूतभौतिक-सर्ग-देखा जाता है। इसी नैदानिक-भाव के आधार पर त्वाष्ट्र को-'षडक्ष' (६ आँखों वाला) मान लिया गया है।

एकता-आप्त्याग्नि से मानव के भूतात्मा के **वैश्वानर** भाग का निर्म्माण होता है, द्विता आप्त्याग्नि के सहयोग से मानव के भूतात्मा के **तैजस** भाग की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, एवं त्रिता-आप्त्याग्नि से मानवीय-भूतात्मा के-'**प्राज्ञ**' भाग की अभिव्यक्ति होती है। निष्कर्षतः पार्थिवी-भौतिकी स्तौम्या-त्रिलोकी के अतिष्ठावा-शवसोनपात्-त्रिषवणीय-**ध्रुव-धर्त्र-धरुण**-भावापन्न--**अर्थ-क्रिया--ज्ञान**-प्रधान-**अग्नि--वायु--आदित्य**--नामक **भूपति-भुवनपति-भूतानांपति**-नाम्ना उपवर्णित **एकता-द्विता-त्रिता**-नामक आप्त्याग्नियों से ही मानवीय-त्र्यात्मक-भूतात्मा के **अर्थ-क्रिया-ज्ञान-प्रधान वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ**-नामक तीन पर्वों का स्वरूप-सम्पादन होता है। त्र्यात्मक इत्थंभूत-भूतात्मा के ऊपर-**प्रज्ञानमन** का स्थान है, जो कि '**विज्ञानात्मा**' (बुद्धि) नामक सौर-इन्द्र-मघवेन्द्र से नित्य-सम्परिष्वक्त माना गया है, जैसाकि-'**स वा एष प्रज्ञानात्मा (मनः)-विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः**' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। मानव का कामार्थभोगसाधनरूप शरीर आपोमय त्वाष्ट्र-असुरमात्र है, जिस कामार्थभोगासक्ति में समाप्लुत मानवीय भूतात्मा वारुणपाश से आबद्ध बना रहता है। आसक्तिरूप-इस पाशबन्धन का विमोक ही त्रिशीर्ष-षडक्ष-विश्वरूप-असुर का पराभव है, जो कि प्रज्ञानसम्परिष्वक्त-विज्ञानेन्द्र के द्वारा ही सम्भव है। कब सम्भव है?, प्रश्न का उत्तर स्वयं भूतात्मा का ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मय-पौरुष ही माना जायगा। बिना इस पौरुषरूप-अध्यवसाय के केवल-प्रज्ञानविज्ञानेन्द्र (मनोबुद्धि) बल कदापि इस आसुरबल को अभिभूत नहीं कर सकते। अलमतिपल्लवितेन। प्रस्तुत आख्यान के द्वारा इसी तथ्य का अत्यन्त-पारिभाषिक-शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए ही श्रुति ने कहा है कि-'**एकता-द्विता-त्रिता-नामके आप्त्याओं के सहयोग से ही इन्द्र ने त्रिशीर्ष-षडक्ष-त्वाष्ट्र-विश्वरूप का दमन कर दिया**'। अध्यात्मवत्-इस आख्यान का अधिदैवत-तथा अधिभूत-के साथ भी यथानुरूप-समन्वय द्रष्टव्य है, और यही प्रासङ्गिक-'**आप्त्यविज्ञान**'-अनुबन्धी संक्षिप्ततम-स्वरूप-दिग्दर्शन है।

——*——

## (ग)-पश्वालम्भनविज्ञान-निबन्धन-पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

प्रकृतिसिद्ध-अग्नीषोमीय-आधिदैविक-नित्ययज्ञ की स्वरूपसिद्धि का अन्यतम-साधनद्रव्य माना गया है-पशु। बिना पशु के प्रकृतिजगत् का कोई भी यज्ञ सुसम्पन्न-संसि -नहीं होसकता। यज्ञकर्म्म की इत्थंभूता स्वरूपसिद्धि के लिए ही सौरसम्वत्सर-प्रजापति से अभिन्न-पार्थिव-स्तौम्यत्रैलोक्य में व्याप्त-द्यावापृथिव्य-यज्ञिय-प्रजापति के द्वारा द्यावापृथिव्य पञ्चविध-पशुओं का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, जैसाकि-'**यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः**' इत्यादि मनुवचन से भी स्पष्ट है। प्रकृत में **दर्शपूर्णमासेष्टि नामक** यज्ञकर्म्म की इतिकर्तव्यता प्रक्रान्ता है, जिसमें आहुतिद्रव्य माना गया है तण्डुलों का-पिष्टद्रव्य, जिसकी पारिभाषिकी संज्ञा है-'**पुरोडाश**'। इसी सम्बन्ध में श्रुति ने यह प्रश्न उठाया है कि, जबकि बिना पशु के कोई सा भी यज्ञकर्म्म सम्भव नहीं, और दर्शपूर्णमास में केवल पुरोडाशद्रव्य ही आहुति के लिए नियत है, तो फिर इस इष्टि को यज्ञ कैसे मान

लिया गया ? । इस प्रश्न के समाधान के लिए ही श्रुति ने प्रासङ्गिक उस–'पश्वालम्भन–विज्ञान' का स्वरूप–विश्लेषण किया है, जिसका तत्त्वदृष्ट्या निरतिशय ही महत्त्व माना जायगा इसलिए कि—

वर्त्तमानयुग के कतिपय–षेदभक्तों की युगधर्म्मनिबन्धना-दिग्देशकालानुबन्धिनी-परानुरञ्जनानुगता-निरतिशया-'उदारदृष्टि' ? में पश्वालम्भन का अर्थ भी केवल 'पशुस्पर्श' ही है, एवं 'पशुवपात्मक-पशुमेध' का अर्थ भी अध्यात्मावादमात्र–विमोहनात्मक–काल्पनिक-प्राणविशेषमात्र ही है । प्रकृत श्रौत पश्वालम्भन-विज्ञान से अनुगत निम्नलिखित श्रौतसन्दर्भ से सर्वात्मना यह प्रमाणित होजाता है कि, पश्वालम्भन का किसी काल्पनिक-स्पर्श–काल्पनिक-प्राण–आदि से सम्बन्ध न होकर विशुद्ध-'पशुवपा' से ही सम्बन्ध है, एवं तत्--प्राप्त्यर्थ वैधयज्ञ की स्वरूप–सिद्धि के लिए पशु का अमुक–प्रक्रिया–विशेष से प्राणवियोग ही किया जाता है—

"यदा·पिष्टानि-अथ लोमानि-भवन्ति । यदाप आनयति-त्वग्भवति । यदा संयौति-अथ मांसं भवति । सन्तत इव हि स तर्हि भवति । सन्ततमिव हि मांसम् । यदा शृतः–अथ-अस्थि-भवति । दारुण-इव हि स तर्हि भवति । दारुणमित्यस्थि । अथ यदुद्वासयिष्यन्-अभिघारयति, तं मज्जानं-दधाति । एषा-उ-सा सम्पत्--( पुरोडाशानुगता--पशुसम्पत् ), यदाहुः–याङ्क्तः–पशुः–इति" ।

—शतपथे १।२।३।८।

सुप्रसिद्ध चयनयज्ञ में जिन इष्टकाओं ( ईंटों ) का निर्म्माण होता है, उनमें एकवर्ष पूर्व ही-( उषासम्भरणात्मक--यज्ञकर्म्म-विशेष के साथ ही ) पञ्चपशुओं का आलम्बन कर उन्हें भूमिसात् कर दिया जाता है । एक सम्वत्सर के अनन्तर उस मिट्टी से ईंटे बनाईं जातीं हैं–ऋत्विजों के द्वारा । तदनुबन्धी पश्वालम्भन के सम्बन्ध में वर्त्तमान–युगानुबन्धिनी काल्पनिकी-करुणा के प्रतिनिधि किसी ने काल्पनिक-तर्क के माध्यम से अपना यह पक्ष उठाया कि "हिरण्य ( सुवर्ण ) भी तो अमृतप्राणात्मक (सौर-प्राणात्मक) है । यदि पञ्चपशुओं के आलम्भन से वह अमृतप्राण ही यज्ञ में अभीष्ट है, तो फिर निरपराध पशुओं को छोड़ते हुए हिरण्मय-पशु ( सोने के पशु ) ही क्यों नहीं यज्ञ में ले लिए जाते" । इस सुधारवाद का आमूलचूड़ उत्पाटन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य को आक्रोश की भाषा में यही उत्तर देना पड़ा कि–"जो व्यक्ति ( अपने दिग्देशकालविमोहन से ) यज्ञकर्म्मों की तथ्यपूर्ण--विज्ञानसम्मता-चिरन्तन--पद्धतियों से एकान्ततः अपरिचित है, साथ ही जो प्रकृतिसिद्ध नित्ययज्ञकर्म्मों के ब्राह्मण-( मौलिक--विज्ञान ) से असंस्पृष्ट है, उस पद्धतिज्ञानशून्य--विज्ञानवञ्चित--प्राकृत मानव की दृष्टि में ही हिरण्मयी--इष्टकाएँ--अमृतमयीं--अमृतप्राणात्मिका--होसकतीं हैं । किन्तु जो पद्धतिरहस्य के परिज्ञाता हैं, यज्ञविज्ञान के वेत्ता हैं, उनसे तो यही आशा की जायगी कि, वे चयनयज्ञ में पाँचों पशुओं का ही आलम्भन करेंगे" * ।

---

*–हिरण्मयानि–उ–ह–एके कुर्वन्ति 'अमृतेष्टका' इति वदन्तः । ता ह ता 'अनृतेष्टकाः' । न हि तानि पशुशीर्षाणि । मृण्मयानि–उ–हैके कुर्वन्ति–'उत्सन्ना

आगे चलकर ऐतिहासिक-तथ्य का स्मरण कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि-"**भौम--मानवप्रजापति**' से आरम्भ कर **सायकायन--श्यापर्ण**–नामक सुप्रसिद्ध याज्ञिक पर्य्यन्त तो पाँचों पशुओं का ही नियमतः आलम्भन होता रहा चयनयज्ञ में। आगे चलकर हमारे समय में ( आज से पाँच सहस्र–वर्ष पूर्व--कलियुगारम्भतः किञ्चिदिव पूर्व याज्ञवल्क्य के समय में ) केवल प्राजापत्य, तथा वायव्य, नामक दो अज–पशुओं का ही आलम्भन शेष रह गया, जिसकी अगले ब्राह्मणों में वैज्ञानिकी--उपपत्ति बतलाई जारही है–"**प्राजापत्यं चरका आलभन्ते**"–**इत्यादिरूपेण**" । स्वयं–प्रक्रान्त कर्म्मानुगत--ब्राह्मणसन्दर्भ की समाप्ति से अनुगत यह स्पष्टीकरण भी '**पश्वालम्भन**' के उक्त तथ्यार्थ का ही समर्थन कर रहा है कि-"**पुरुष-अश्व--गौ--अवि--अज**--नामक--पाँचों के मेध्यरूप--पवित्र--भाग की उत्क्रान्ति से ही क्यों कि **किंपुरुष-गौः–गौर--गवय--उष्ट्र**--नामक पाँच उत्क्रान्तमेधा--मेधशून्य–पशुओं की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। अतएव कदापि इनको अशनपथानुगामी नहीं बनाना चाहिए– "**तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यम् । अपक्रान्तमेधा ह्येते पशवः**" ।

पश्वालम्भन-प्रयुक्त हिंसादोष से क्या यज्ञकर्म्म हिंसामय नहीं बन जाता ?, जबकि इस यज्ञकर्म्म का पारिभाषिक एक नाम माना गया है–'**अध्वर**', जिसका अर्थ है–'अहिंसक--कर्म्म' ? । और फिर पशु भी तो विश्व के वैसे प्राणी हैं, जिनको स्वस्वार्थसिद्धि के लिए मारना क्या मानवधर्म्म कहा जासकता है ?, इसप्रकार के आपातरमणीय–नितान्त भावुकतापूर्ण प्रश्नों के समाधान के लिए ही हमें प्रक्रान्त कर्म्म में--'**पश्वालम्भनविज्ञान**' का स्वरूप–विश्लेषण–प्रयास करना पड़ा है, जिसके द्वारा आस्थापूर्वक यह कहा जासकता है कि, तद्विज्ञान--समन्वय के अनन्तर काल्पनिक--करुणावरुणालय–अध्यात्मवादियों की आपातरमणीया सभी कल्पनाएँ समाहित होजायँगी, इसी निवेदन के साथ यह कर्णकटु निदर्शन अत्रैव उपरत किया जारहा है।

---*---

## (घ) पञ्चप्राणात्मक–पशुस्वरूपविज्ञान–निबन्धन–परिभाषिक–स्वरूप–दिग्दर्शन–

बुद्धिवादाभिनिविष्ट--विशुद्ध--अध्यात्मवादी--कारुणिक--मानव अपनी आध्यात्मिकी प्राणकल्पना के आवेश में यह भूल जाता है कि, 'प्राण' की स्वरूपाभिव्यक्तितत्त्व के क्षेत्र का ही नाम-'प्राणी' है। और यों प्राण, तथा प्राणी में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि, विना प्राणी को

---

**वा ऽएते पशवः ; यद्वै किञ्च–उत्सन्नमियं तस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा । तदत्रैते पशवो गतास्ततः सम्भरामः' इति । न तथा कुर्यात् । यो वाऽएतेषामावृतं ( पद्धतिं ), ब्राह्मणं ( विज्ञानं ) च न विद्यात्, तस्यैतऽउत्सन्नाः स्युः । स एतानेव पञ्चपशूनालभेत–यावदस्य वशः स्यात् । तान् हैतान् प्रजापतिः प्रथम आलेभे, श्यापर्णः सायकानोऽन्तिमः । अथ ह स्मैतानैवान्तरेण-आलभन्ते । अथैतर्हीमौ द्वावेवालभ्येते प्राजापत्यश्च, वायव्यश्च । तयोरतो ब्राह्मणं ( विज्ञानं ) उच्यते ।**

— शतपथब्राह्मणे ६।२।४।३८--३८--३९

मध्यस्थ बनाए केवल प्राण की स्वरूप--व्याख्या ही सम्भव नहीं है। क्योंकि प्राणी--रूपा मूलाभिव्यक्ति से असंस्पृष्ट--विशुद्ध प्राण तो रूप-रस–गन्ध-स्पर्श-शब्द-तन्मात्राओं से अतीत बनता हुआ अपने अधामच्छद--धर्म्म से भौतिक विश्व की सीमा से सर्वथा ही बहिर्भूत तत्त्व है, जिसका कि–'असदेवेदमग्र आसीत्'–कितदसदासीत् ?--ऋषयो वात्र तदग्रेऽसदासीत् । के ते ऋषयः !, प्राणा वा ऋषयः' ( शतपथे ६।१।११ ) इत्यादिरूपेण यशोगान हुआ है। निष्कर्षतः–भूतानुगति के बिना केवल प्राण--प्राण का उद्घोष न केवल निरर्थक ही है, अपितु भूतशून्या ( यज्ञकर्म्मशून्या ) केवल प्राणकल्पना से तो मानव का आध्यात्मिक-प्राण कालान्तर में सर्वथा रिक्त ही बन जाता है, और उस अवस्था में तो सत्तासिद्ध भी भौतिक--यज्ञकर्म्म--इस कल्पनावादी के लिए असत् ही ( अभावात्मक ही ) बना रह जाता है *। तभी तो ऋषिने–'प्राणो–यज्ञेन कल्पताम्' इस तात्त्विक--आदेश के द्वारा अध्यात्मिक-प्राण के साथ आधिभौतिक-यज्ञकर्म्म का अनुगमन अनिवार्य्य माना है।

मानते हैं–मेध,–किंवा मेद्–'प्राण' की भी संज्ञा है। किंवा प्रमुखरूपेण प्राण की ही संज्ञा है। ततः किम् !। प्राण किस का नाम नहीं ?। जितने भी नाम सुने जाते हैं, सभी पहिले 'प्राण' ही तो हैं। अग्नि-वायु–विद्युत्-वृष्टि–स्तनयित्नु–आदि–आदि सब शब्द प्राणों के ही स्वरूप-संग्राहक हैं, तो क्या एतद्रूप भूत-भौतिक-तथ्यों का अभाव प्रमाणित होगया एतावता ही ?। पुरुष–अश्व–गौ–अवि–अज–नामक सुप्रसिद्ध नामपञ्चक भी प्राणपञ्चक से ही अनुप्राणित है। द्यावापृथिव्य वैश्वानरप्राण-का ही नाम–'पुरुषप्राण' है, मनोवाग्गर्भित–ज्योतिर्म्मय–प्राण का ही नाम 'गौप्राण' है, प्रतिफलित–सौरप्राण का ही नाम 'अश्वप्राण' है, हरितवर्ण–प्रवर्त्तक–आन्तरिक्ष्य-प्राण का ही नाम 'अविःप्राण' है, एवं पार्थिवकपालानुगत गायत्रप्राण ही 'अजप्राण' है। तो क्या एतन्नामक–प्राणियों का अभाव मान लिया जायगा ?। नेति होवाच ।

जिस प्राण की जिस प्राणी में प्रधानरूपेण अभिव्यक्ति रहती है, वह प्राणी तत्–प्राण के नाम से ही व्यवहृत होने लगा है। और यों पञ्चविध द्यावापृथिव्य–पुरुष–अश्वादि पाँचों प्राणों से प्रमुखरूपेण कृतात्मा प्राणी भी पुरुष-अश्वादि नामों से ही व्यवहृत होपड़े हैं। 'कूर्म्म' शब्द को ही लीजिए। आदित्यप्राण-विशेष का ही नाम 'कूर्म्म' ( कछुआ ) है। क्योंकि अमुक-जलीय-प्राणी-विशेष में इस कूर्म्मप्राण की ही प्रधानरूपेण अभिव्यक्ति रहती है। अतएव यह प्राणी भी 'कूर्म्म' नाम से न केवल प्रसिद्ध ही होगया है, अपितु चयनयज्ञानुगता प्राणचितियों के क्रम में अपेक्षित-प्राणात्मक-कूर्म्म की चिति के लिए 'अथ कूर्म्ममुप-दधाति' रूपेण कूर्म्मप्राणी ( कछुए ) का ही ग्रहण किया जाता है। केवल नीरूप–अग्राह्य–कूर्म्म--प्राण-मात्र के नामोद्घोष से तबतक यज्ञकर्म्म की संसिद्धि कदापि सम्भव नहीं है, जबतक कि भूतशरीरी कूर्म्म का संग्रह नहीं कर लिया जाता।

---

*-असन्नेव स भवति–असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

—उपनिषदि

क्योंकि प्राणी ही प्राण का स्वरूप-संग्राहक बना करता है, किंवा भूत ही प्राण के अन्त–र्य्यामात्मक सम्बन्धानुग्रह का कारण बनता है, जिस इस तथ्य को विस्मृत कर विगत शताब्दियों से हमारे विद्वत्समाज ने काल्पनिक–अध्यात्मवाद के व्यामोहनरूप महान् ग्रह से ग्रस्त होते हुए भूतानुगत यज्ञ–कर्म्मनिबन्धन उस सम्पूर्ण--लौकिक–अभ्युदय-से अपने आपको, और अपने साथ साथ ही सम्पूर्ण राष्ट्र को उस सीमापर्य्यन्त पराङ मुख ही प्रमाणित कर लिया है जिससे भूतानुबन्धी-समस्त-आचारात्मक-कर्मसौन्दर्य्य तो होगया है विलुप्त, एवं तत्सम्बन्ध में शेष रह गईं हैं आचारशून्या-कल्पनाप्रसूता वैसी शून्यं–शून्यं कल्पनाएँ-मात्र, जिनसे कालान्तर में मानवीय मन सर्वथा रिक्त ही बन जाया करता है, और दुर्भाग्यवश कर्म्मशून्या इत्थंभूता रिक्तता ही इन काल्पनिकों की दृष्टि में उसी प्रकार 'शान्ति' बन बैठती है, जैसेकि एक मेधावी–प्रज्ञाशील–प्रत्युत्पन्नमति–भी बालक अयोग्य–अभिभावकों के निःसीम ताड़न से अपने स्नायवीय–तन्तुओं से सर्वथा शिथिल बनता हुआ जब तूष्णींरूप जड़भाव में आजाता है, तो तदभिभावक ऐसे विजड़ित–बालक को 'योग्य'-'सयाना' कहने, मान बैठने की भयावहा भ्रान्ति करने लग पड़ते हैं ।

अलमतिपल्लवितेन । प्रस्तुत विज्ञान-प्रसङ्ग में–प्राण, और प्राणी के रहस्यात्मक उस वैज्ञानिक स्वरूप का ही स्वरूप–विश्लेषण–प्रयास हुआ है, जिस विश्लेषण की प्रमुख–आधारभूमि पाङ्क्त ( पञ्चावयव ) यज्ञ से अनुगत-द्यावापृथिव्य-पाँच-प्राणपशुओं का स्वरूप-समन्वय ही माना गया है, एवं इन्हीं पञ्चविध-प्राणपशुओं के माध्यम से पञ्चविध प्राणी-पशुओं का स्वरूप-समन्वय प्रयास हुआ है, और यही प्रक्रान्त-परिच्छेद का पारिभाषिक-संक्षिप्त-निदर्शन है ।

——*——

## (ङ)–अहिंसा–हिंसा–स्वरूप–विज्ञान–निबन्धन–पारिभाषिक–स्वरूप–दिग्दर्शन–

जिसप्रकार आज के प्रावाहिक-युगने शब्दार्थनिर्वचनानुगता पारिभाषिकी नियतार्थ-मर्य्यादा का उल्लंघन करते हुए त्याग–तपस्या–बलिदान–नैतिकता–समानता–मानवता–मानवधर्म्म-आदि आदि शब्दों का दिग्देशकालधर्म्माकर्षण से आकर्षितमना बनते हुए यथेच्छ काल्पनिक-अर्थ मान लिया है, तथैव उसी काल्पनिकता से आज 'हिंसा–अहिंसा' शब्द भी समन्वित होरहे हैं । यही कारण है कि, जिन्हें शास्त्रपरिभाषा में 'धर्म्मलक्षण' ( धर्म्म के परिचयात्मक बाह्य चिन्ह ) कहा गया है, वे आज स्वयं ही 'धर्म्म' का स्थान ग्रहण कर बैठे हैं, जिसके आधार पर ही--'अहिंसा परमो धर्म्मः'-आदि वाक्यों पर ही आज धर्म्मस्वरूप का पर्य्यवसान समझा जाने लगा है, जबकि तत्त्वतः वस्तुस्थिति कुछ और ही है ।

धर्म्म को जब प्राकृत-प्रकृतिसिद्ध–मान लिया जाता है, तभी इसप्रकार की भ्रान्तियों को प्रवेशावसर मिला करता है । आज के प्रकृतिवादी मानव का ऐसा ही कुछ महान् व्यामोहन है कि, 'मानव को प्रकृति के अनुसार ही चलना चाहिए' । बात सुनने में भी प्रिय है, और बुद्धिवाददृष्ट्या मान्य भी । किन्तु मानव का स्वरूप केवल 'प्रकृति' ही होता, तबतो उक्त 'बात' का सर्वाङ्गीण समादर सम्भव था–मानवेतर उन पशु--पक्षी-आदि इतर प्राकृतिक-प्राणियों की भाँति, जिनका अथ से इति पर्य्यन्त का ( जन्मतः मृत्युपर्य्यन्त का ) समस्त जीवनवृत्त सर्वात्मना प्रकृतिपरवश ही बना रहता है । अतएव च जिन्हें प्रकृत्या परिपूर्ण माना गया है, जबकि मानव केवल प्रकृति की दृष्टि से अपूर्ण ही माना गया है । अतएव प्रकृत्यनुगता पूर्णता के सम्पादन के लिए तो मानव के लिए स्वतन्त्ररूप से 'शिक्षाव्यवस्था' ही करनी पड़ती है, जबकि मानवेतर

प्राकृत-प्राणी स्वतः ही स्व-स्व-प्राकृतिक क्षेत्रों में शिक्षापटु बन जाते हैं। प्रकृति के अतिरिक्त मानव में 'और भी कुछ' अभिव्यक्त है, जो मानवेतरों में अभिव्यक्त नहीं है। वह 'और कुछ' ही 'पुरुष' कहलाया है। इसी 'पुरुष' का नाम है 'अव्ययात्मरूप-प्रकृत्यतीत-अतएव दिग्देशकालातीत-वह शाश्वत-सनातन-धर्म्म *, जिसने मानव को इतर प्राणिसर्ग से पृथक् कर रहा है, और इसी आधार पर मानव को इतर प्राणियों के समतुलन में 'विशेष' माना गया है ×।

विशेषभावापन्न-शाश्वतधर्म्मरूप-दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुष, और सामान्य-भावापन्ना-परिवर्त्तन-शीला-दिग्देशकालानुगता 'शरीरप्रकृति' इन दोनों के समन्वितरूप का ही नाम **मानव है**। और ऐसा मानव अपने दिग्देशकालातीत-आत्मपुरुषरूप-शाश्वतधर्म्म से ही दिग्देशकालात्मिका प्रकृति को नियन्त्रित रखता है। इस नियन्त्रण से नियन्त्रिता विश्वप्रकृति कदापि उच्छृङ्खला नहीं बन पाती। यदि मानव अपने पुरुषार्थरूप आत्मपुरुषात्मक-शाश्वतधर्म्म के प्रति निरपेक्ष बनता हुआ केवल प्रकृतिवादी, किंवा दूसरे शब्दों में दिग्देशकालानुगत-केवल-वर्त्तमानवादी-प्राकृत-मानव ही बना रहा जाता है, तो उस अवस्था, किंवा आत्यन्तिक-पतन-रूपा दुरवस्था में धर्म्म के परिचायक-लक्षण ही शाश्वतधर्म्म का स्थान अपहृत कर बैठते हैं, जैसेकि धर्म्म का परिचायक प्रतीकरूप बाह्य-'अहिंसा' भाव भी आज भ्रान्तिवश धर्म्म ही नहीं, अपितु 'परमधर्म्म' बन बैठा है। और दुर्भाग्य तो यह है कि, बड़े बड़े सांस्कृतिक-विद्वान् भी इसी 'परमधर्म्म' के यशोगान में आत्मलीन बनते हुए 'गतानुगतिकन्याय' को ही अक्षरशः चरितार्थ करते जारहे हैं। आज का सम्पूर्ण भारतराष्ट्र इसी प्रतीकधर्म्म के प्रवाह में सर्वात्मनैव स्वरूप-विस्मृत होता जारहा है, किंवा होगया है, जिससे बड़ा सांस्कृतिक पतन इसका और क्या होगा?।

प्रतीकात्मक-धर्म्म के स्वरूप-व्याख्याता धर्म्मशास्त्र ने (स्मृतिशास्त्र ने +) प्रतीकधर्म्म को लक्षणात्मक धर्म्म ही माना है, जैसाकि आगे के-वचनों से स्पष्ट है—

---

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाममृतस्याव्ययस्य च।
"शाश्वतस्य च धर्म्मस्य"—सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
—गीतायाम्

×—आहार-निद्रा-भय-मैथुनाभि-सामान्यमेतत्-पशुभिर्नराणाम्।
धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्म्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
—नीतिसूक्तिः

+—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताभ्यां धर्म्मो हि निर्बभौः।
—मनुः २।१०।

धृतिः-क्षमा-दमो-ऽस्तेयं-शौच-मिन्द्रियनिग्रहः ।
धी र्विद्या-सत्य-मक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥
—मनुः ६।९२।

अहिंसा-सत्यमस्तेयं-शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्म्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥
—मनुः १०।६ ।

धृति--क्षमा--दम--अस्तेय--शौच--इन्द्रियनिग्रह--धी---विद्या---सत्य--अक्रोध, इस दशक को राजर्षि ने धर्म्म का लक्षण, अर्थात् 'प्रतीक' माना है, जिसका तात्पर्य्य यही निकलता है कि, जो मानवश्रेष्ठ अव्ययपुरुषनिबन्धन शाश्वतधर्म्म पर निष्ठा-पूर्वक आरूढ रहता है, ऐसे धर्म्मशील मानवश्रेष्ठ के धम्मरूप आत्मपुरुष के अनुग्रह से अनुगत प्रकृतिरूप बुद्धि-मन-इन्द्रिय-शरीर आदि वर्ग धृति-क्षमा-आदि लक्षणों से स्वतः ही समन्वित रहते हैं। बड़े से बड़े सांसारिक-कष्ट को सह जाना ही धृतिगुण है। शक्ति की विद्यमानता में भी अपराधी को दण्ड न देना हीं क्षमागुण है। प्राणात्मक-वीर्य्य की अभिव्यक्ति में भी मनस्तन्त्र का संयम कर लेना दमोगुण है। परद्रव्य के प्रति सदैव तटस्थता रखना 'अस्तेयगुण' है। स्नान-शुद्धि-आदि का अनुगमन ही 'शौचगुण' है। ऐन्द्रियक विषयों के पुरोऽवस्थित रहने पर भी उनके प्रति तटस्थ बने रहना 'इन्द्रयनिग्रहगुण' है। तात्कालिक संवित्-भाव ही 'धीगुण' है। सच्छास्त्रानुशीलन--जनित-संस्कार ही 'विद्यागुण' है। चक्षुःपूत विषयों का स्पष्टीकरण ही 'सत्यगुण' है। एवं क्रोधनिमित्तोपस्थिति पर भी क्रोध न करना 'अक्रोधगुण' है। आगे चल कर राजर्षिने सामासिकधम्मरूपेण 'अहिंसा' का भी धर्म्म-लक्षणों में समावेश कर लिया है। एवमेव-दया-करुणा-आदि आदि अन्यान्य भी कतिपय वेसे मानवीय-सद्गुण हैं, जिनका धर्म्मलक्षण-गणना में संग्रह कर लिया जासकता है।

'दशकं धर्म्मलक्षणम्' वाक्य ही स्पष्टरूपेण यह प्रमाणित कर रहा है कि-धृति-क्षमा-दम-दया-करुणा-अहिंसा-शौच-आदि स्वयं धर्म्म नहीं हैं, अपितु ये तो धर्म्म के लक्षण हैं, अर्थात् धर्म्म के प्रतीकमात्र हैं, जिन के पूरक इन्हीं के बिरुद्ध भाव बने रहते हैं। और देशकाल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा-आदि परिस्थिति-जनित-साधन-परिग्रहों के तारतम्य से अनुप्राणिता अपेक्षा के अनुबन्ध से धर्म्मलक्षण तो परिणत होजाते हैं-अधर्म्मरूप में, एवं धर्म्मलक्षणों के प्रतिद्वन्द्वी-भाव परिणत होजाते हैं धर्म्मरूप में, जिन का सोदाहरण शास्त्रों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। अमुक परिस्थिति में में जो अहिंसा धर्म्म ( धर्म्मलक्षण ) है, वही अमुक परिस्थिति में सर्वथा अधर्म्म बन जाती है। दया का धर्म्मत्त्व परिस्थिति-विशेष में सर्वथैव अधर्म्मरूप में परिणत होजाता है। अतएव परमवैज्ञानिक-भगवान् याज्ञवल्क्य को प्रतीकात्मक-लक्षणात्मक-परिवर्त्तन-शील--प्राकृतधर्म्म का यही स्वरूप-लक्षण करना पड़ा कि—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धा-समन्वितम् ।
प्राप्ते प्रदीयते यत् तत्सकलं धर्म्मलक्षणम् ॥
—याज्ञवल्क्यस्मृति १।६।

दूसरी दृष्टि से इन तथाकथित प्रतीक-धर्म्मों का समन्वय की कीजिए। "दया धर्म्म का अङ्ग अवश्य बन सकती है, किन्तु दया स्वयं कभी अङ्गीरूपेण धर्म्म का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती"।

एवमेव 'अहिंसा' को धर्म्म का अङ्ग माना जासकता है, किन्तु कदापि 'अहिंसा' को 'अङ्गी'–रूप 'परमधर्म्म' नहीं माना जासकता। दूसरे शब्दों में-धर्म्म अवश्य ही सत्य-दया-अहिंसा–नामों से अभिनीत होसकता है, किन्तु कदापि सत्य-दया-अहिंसा-आदि को ही 'धर्म्म' नहीं कहा जासकता। क्योंकि विशेष परिस्थितियों में मिथ्याभाषण-दण्डप्रहार--हिंसा--आदि भी धर्म्म के प्रतीक बनते देखे गए हैं। सत्य, और अनृत का, दया और दण्ड का, अहिंसा--और हिंसा का स्वरूप--विपर्य्यय ही धर्म्माधर्म्म का निर्णायक बना करता है। अतएव लक्षणात्मक–धर्म्म को शास्त्र ने-'सापेक्षधर्म्म' ही माना है, जिस में देश-काल-पात्र-द्रव्यादि के तारतम्य से परिवर्त्तन होता रहता है। धर्म्मलक्षणात्मक इत्थंभूत–प्राकृत धर्म्म का नियन्ता है-धर्म्मरूप–अप्राकृत वह शाश्वतधर्म्म, जिस की सनातनता अक्षुण्णा मानी गई है, और जो दुर्भाग्यवश प्रकृतिव्यामोहननिबन्धन अनात्मवादात्मक-प्रकृतिवादरूप-बुद्धिवाद से आज मानवीय प्रज्ञातन्त्र से सर्वथैव 'निरपेक्ष' बन गया है। अतएव प्राकृतधर्म्मने, किंवा धर्म्म के लक्षणोंनें ही आज भ्रान्तिवश 'धर्म्म' का स्वर्णसिंहासन अपहृत कर लिया है। एवं आत्मधर्म्मरूप अव्ययपुरुषधर्म्म से पराङ्मुख, प्रकृतिधर्म्मवादी-ऐसे ही मानवता-प्रेमी-इत्थंभूत-लाक्षणिक-तात्कालिक-धर्म्म को ही 'नैतिकता'-'मानवता'-'मानवधर्म्म' आदि विविध-उपाधियों से समलङ्कृत करते हुए इतस्ततः दंद्रम्यमाण हैं। इत्थंभूत-काल्पनिक धर्म्म में, अर्थात् **मतवाद** में आसक्त-व्यासक्त बने रहने वालों की भावुकता-पूर्णा दृष्टि में ही 'अहिंसा' का काल्पनिक घोष प्रधान बना हुआ है, जिस अहिंसा का शास्त्रीया पारिभाषिकी उस–'अहिंसा' से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है, जिस शास्त्रीया-'अहिंसा' की पूरिका-'हिंसा'* ही मानी गई है। कथमिति चेत् ?, प्रश्न के वैज्ञानिक-समाधान के लिए ही तो प्रक्रान्त-कर्म्मानुगत हिंसा-अहिंसा का वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है, और यही प्रक्रान्त कर्म्म के अन्तिम-विज्ञानोदाहरण का संक्षिप्त-स्वरूप--दिग्दर्शन है।

१२—(३)

* * * * *

---

*–या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
'अहिंसा'–मेव तां विद्याद्वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ ॥
—मनुः ५।४४

श्रीः

# (१३)—वेदिकाकरणानुगत—स्तम्बयजुर्हरणकर्म्म-प्रसङ्गतः

## *'निदान'-शब्द-निबन्धना--परिभाषा*

## ४

क्रमप्राप्त तथानामान्वित तेरहवें कर्म्मप्रकरण में अनेक पारिभाषिक-तथ्यों के अतिरिक्त **'निदान'** शब्दानुबन्धी—जिस तथ्य का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, उसका भी ब्राह्मणोक्त, तथा पुराणोक्त पारिभाषिक-आख्यानोपख्यानों के तत्त्वार्थ-समन्वय में अन्यतम ही स्थान माना जायगा। यही नहीं, निदानानुगत-विज्ञान के सम्बन्ध में यह कह देना भी अतिशयोक्ति नहीं मानी जायगी कि, निदानविद्यानुगत-प्रतीकात्मक-सङ्केतों के समन्वय के बिना न तो वेदशास्त्र की आख्यानभाषा का ही समन्वय सम्भव, एवं न आगम, तथा पुराण—शास्त्र के रहस्य का ही समन्वय-सम्भव। उसी महत्त्वपूर्ण निदानविद्या के सम्बन्ध में अत्र प्रस्तावनायां उदाहरणरूपेण किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है।

**"अतत् को तत् समझ लेना"** ही निदानशब्द का निष्कर्षार्थ है, जिसे संस्कृतभाषा में—**'आरोप'** कहा गया है। जो अमुक वस्तु नहीं है, किन्तु उसमें अमुक वस्तु का आरोप कर दिया जाता है, इस आरोप—विधि का नाम ही निदानविधि है, एवं लोकव्यवहार में प्रायः सर्वथैव लौकिक—निदानभावों के द्वारा व्यवहार की व्यवस्था देखी सुनी जारही है। उदाहरण के लिए-सहोदर भ्राता में दक्षिणभुजा का आरोप लोकप्रसिद्ध है। दक्षिणहस्तानुगत—कर्म्मकौशलरूप सादृश्य ही इस निदानारोप का आधार है। शोक का नैदानिक-आरोप कृष्णवस्त्र में इसलिए कर लिया जाता है कि, शोक संविग्न मानव का मन ज्ञानज्योति से अभिभूत ही हो-जाता है, जिस अभिभूति का स्वरूप अनिरुक्त कृष्ण—भाव से अनुगत माना गया है *। कीर्त्ति का नैदानिकरूप श्वेतच्छत्र माना गया है। शान्ति-समृद्धि का निदान हरित दूर्वा माना गया है। क्रान्तिरूपा अशान्ति का निदान—'रक्तवस्त्र' माना गया है। स्टेशनों की हरि झन्डी का शान्ति सूचकत्त्व, एवं लालझण्डी का विघ्न—सूचकत्त्व प्रसिद्ध ही है।

**निगम** ( वेद ), **आगम**, तथा **पुराणशास्त्र**—त्रयी के यच्चयावत् **"असदाख्यान"** ( कल्पित कथानक ) उसी निदानभाव के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, जिसका साङ्केतिक-रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय न कर सकने के कारण ही आज भारतीय-संस्कृति का गौरवपूर्ण आख्यानप्रकरण सर्वसाधारण की कौन कहे, बड़े बड़े

---

* विश्वातीत-अज्ञात-तत्त्व **अनुपाख्यतम** है, रात्रिगत, एवं आँख मीचने से प्रतीयमान-अन्धकार-**अनिरुक्ततम** है, एवं कृष्णवर्ण (काला रँग) **निरुक्ततम** है। इसप्रकार तमोभाव तीन विवर्त्तभावों में परिणत माना गया है।

विद्वानों के लिए भी मतिविभ्रम का ही कारण बना हुआ है। एवमेव भारतीय-वह समस्त-उपासनाकाण्ड भी इसी **निदानविद्या** के अभिभव से आज भावुक मानवों की दृष्टि में आपातरमणीया भ्रान्त-आलोचना का ही क्षेत्र बना हुआ है, जिसके परिणाम-स्वरूप ही **कर्म्म-उपासना-ज्ञान**-त्रयी-से अनुगता मध्यस्था उपासना आज सर्वथैव अपने पारिभाषिक-तत्त्व से स्मृतिगर्भ में विलीन होगई है ÷। यों एकप्रकार से सम्पूर्ण आर्षशास्त्र निदानविद्यात्मिका सङ्केतविद्या की विस्मृति से आज के युग के लिए, विशेषतः प्रतीच्य-मतविज्ञान-सम्पर्क-जनिता भारतीया नवशिक्षिता प्रज्ञा के लिए 'उपहास' की ही क्रीड़ास्थली बना रह गया है।

जैसाकि, पूर्व के बारहवें संस्मरण-प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है, **प्राण**, और **प्राणी**, दोनों शब्द भारतीय--विज्ञानकाण्ड में अभिन्नार्थ के ही संग्राहक बने हुए हैं—( देखिए-पृष्ठ सं० ५८ से ६० पर्य्यन्त ), जिस अभिन्नार्थकता का निष्कर्ष यही निकलता है कि, वस्तुस्वरूप की स्थिति–परिस्थिति–के अनुपात--तारतम्य से कहीं अमुक शब्द 'प्राण' का संग्राहक बन जाता है, तो वही शब्द 'प्राणी' का अनुग्राहक बन जाता है। इस विपर्य्यय का आधारभूत तथ्य ही **'आरोप'** लक्षण वह निदानभाव है, जिसका एक लौकिक उदाहरण **'दक्षिणभुजा'** से अनुगत **'सहोदरभ्राता'** भी बना हुआ है। जिस आरोपात्मक–सम्बन्ध–विशेष से लोक–व्यवहार में दो सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे की दक्षिणभुजा कहलाते हैं, वह सम्बन्ध–विशेष ही–**'निदानभाव'** है। पञ्चाङ्गुलि से युक्त-पाणि-भाव से समन्वित दक्षिणहस्तानुगत-अध्यवसायात्मक-कर्म्मकौशल-रूप महान् श्रम ही मानव के लोकजीवन की सफलता का प्रमुख आधारस्तम्भ माना गया है। सहोदर भ्राता परस्पर एक दूसरे के उसी प्रकार कर्म्मसहयोगी बने रहते हैं, जैसेकि उनकी दक्षिणभुजा, एवं दक्षिणहस्त। इसी सादृश्य से सहोदर भ्राताओं में आहार्य्यारोपविधा से दक्षिणभुजा, किंवा दक्षिणहस्त का आरोप होगया है, और यही 'निदान' का एक लौकिक उदाहरण बना हुआ है।

"कहीं प्राणी से तदभिन्न, तदाधारभूत प्राण का ग्रहण होजाता है इसी निदान के माध्यम से, जिसके उदाहरण भगवान् गणपति के वाहन मूषकराज बने हुए हैं। मूषक' पार्थिव–ध्रुव–प्रतिष्ठा–प्राण का नाम है, जिसकी पारिभाषिकी संज्ञा ब्राह्मणग्रन्थोंनें **'रस'** मानी है। पार्थिव–घनतम–रसात्मक–प्रतिष्ठाप्राण ही वह **'मूषकप्राण'** है, जो भूपिण्ड से अनुगत एकोनपञ्चाशत् ( ४९ ) मरुद्गणों के मूलप्रवर्त्तक, अतएव–**'गणपति'** नाम से प्रसिद्ध पार्थिव–प्राण की भी प्रतिष्ठा बना हुआ है। इसप्रकार समस्ता पार्थिवी विभूति ही प्रतिष्ठारूप–पार्थिव–गणपतिप्राण की भी प्रतिष्ठा क्योंकि भूकेन्द्राभिमुख–अन्तर्गर्भित–घनतम–रसात्मक–मूषकप्राण ही बना हुआ है। अतएव इस रसात्मक–मूषकप्राण को अवश्य ही पार्थिव–गणपतिप्राण का **'वाहन'** मान लिया जासकता है। सुप्रसिद्ध मूषक नामक प्राणी ( चूहे ) में क्योंकि पार्थिव–रसात्मक–मूषकप्राण विशेषरूप से, प्रधानरूप से अभिव्यक्त रहता है, अतएव यह प्राणी भी तत्प्राण के नाम से ( मूषक नाम से ) ही प्रसिद्ध होगया है, जैसे कि कूर्म्मप्राणप्रधान अमुक प्राणी ( कछुवा ) भी 'कूर्म्म' नाम से लोक में प्रसिद्ध है, जिससे अनुप्राणिता याज्ञिकी चिति का पूर्व में संस्मरण किया ही जाचुका है ( देखिए पृ॰ सं० ५९ )। दृष्टि **मूषकप्राणी** पर है, एवं मनोयोग तत्प्रतिष्ठात्मक–**मूषकप्राण** पर है। यही औपासनिक–निदानभाव है, जिसे सर्वथा तत्त्वानुगत ही माना जायगा।

---

÷ उपासना-निबन्धन-निदानभाव का खण्डद्वयात्मक-**'भक्तियोगपरीक्षा'** नामक बृहन्निबन्ध में ही सविस्तर प्रतिपादन देखना चाहिए।

प्राण, और प्राणी से अनुगता आरोपमूला तत्त्वात्मिका तथाभूता निदानविधा के आधार ही यज्ञकर्म्मों में प्राकृतिक-प्राणों से कृतरूप भूत-भौतिक-प्राणवान्-पार्थिव-सम्भारों-पदार्थों-परिग्रहों का सम्भार करते हुए 'आखुकरीष' ( चूहे के बिल की मिट्टी ) का संग्रह भी अनिवार्य्य-माना गया है, जिसका सुविशद वैज्ञानिक-समन्वय तत्प्रकरण में हीं द्रष्टव्य है। श्रुति * के अनुसार मूषक ही पार्थिवरस के परिज्ञाता हैं। तो क्या मानव पार्थिवरस का परिज्ञाता नहीं है ?, इस प्रश्न का समाधान रसात्मक वह मूषक-प्राण ही है, जिसका सजातीयाकर्षण-सिद्धान्तानुसार मूषकप्राण के साथ ही प्रधान सम्बन्ध अभिव्यक्त होरहा है। वह रसात्मक मूषकप्राण तत्प्राणकृतात्मा मूषकप्राणी के द्वारा संकलित मृद्भाग में हीं क्योंकि उपलब्ध होता है। अतएव ऋषि ने यज्ञकर्म्म में उसका संग्रह अनिवार्य्य माना है।

पार्थिव गणपतिप्राण के विचलन से ही पार्थिवप्रजा विकम्पित होती है। यों विघ्नहर्त्ता गणपतिदेव विघ्नकर्त्ता भी बन जाया करते हैं। इनके इस विकम्पनात्मक विचलनधर्म्म का सर्वप्रथम तद्वाहनरूप-पार्थिव-रसात्मक--मूषकप्राण पर ही प्रभाव होता है। अतएव सर्वप्रथम तत्प्राणकृतात्मा मूषक ( चूहे ) ही मरने लगते हैं, और यही 'महामारी' 'जनपदविध्वंसिनी' ( प्लेग आदि--साङ्क्रामिकी व्याधियों ) की उपक्रमभूमि मानी गई है। इसप्रकार मूषकप्राणी अनेक दृष्टिकोणों से गणपति के वाहनरूप मूषकप्राण का नैदानिक--माध्यम बना हुआ है, जिस इस अत्यन्त रहस्यपूर्ण-सृष्टिविज्ञाननिबन्धन--प्राणात्मक तथ्य के समन्वय न करने के कारण ही हमारी बालप्रज्ञा भारतीय-उपासनाकाण्ड के महत्त्वपूर्ण अङ्गों का आज उपहास करने--लग पड़ती है, और कहने लग पड़ती है कि,--'गणेशजी इतने मोटे और उनका वाहन छोटासा चूहा'-इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यमेव !!

यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि, 'निदान' के माध्यम से अनुप्राणित आख्यानोपाख्यानों का केवल एक ही विभाग है, जबकि तदतिरिक्त सात प्रकार के आख्यानोपाख्यान सर्वात्मना तत् के तद्भाव से ही समन्वित हुए हैं। आठ प्रकार के आख्यानों में से आठवाँ 'असदाख्यान' नामक एक विभाग ही आरोपात्मक--निदानभाव से समन्वित है, जिसके अमुक महान्--लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही ऋषिप्रज्ञा की ओर से नक्षत्रमण्डल-पर्वतश्रेणियाँ-नदनदी-रूपेण त्रिधा वर्गीकरण हुआ है। अर्थात् कुछ एक आख्यान तो निदानविधि से नक्षत्रों के आधार पर उपकल्पित हैं, कुछ एक पर्वतों के माध्यम से, एवं कुछ एक नद-नदियों के माध्यम से समन्वित हुए हैं, जिन इन सभी नैदानिक-रहस्यों का यत्र तत्र प्रसङ्गदृष्ट्या समन्वय-प्रयास-हुआ है।

'असदाख्यान' का लौकिक अर्थ-निष्कर्ष है—'मिथ्या कथाएँ', अर्थात्-'गढ़ी हुई कहानियाँ', जिन इन कथा-गाथा-रूपा 'कहानियों' के माध्यम से ही ऋषिप्रज्ञा ने सर्वथैव अञ्जसा अनेक तात्त्विक-रहस्यों से भारतीय-प्रजा को सुपरिचित करा दिया है। आज की सभ्या-भाषा ( इंगलिश ) में सम्भवतः जिसे—

---

*-आखुकरीषं सम्भरति। आखवो ह वा अस्यै पृथिव्यै रसं विदुः। तस्मात्तेऽधोऽधं इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठाः। अस्यै हि रसं विदुः। तत--अस्याऽएवैतेनमेतत् रसेन समर्द्धयति। तस्मादाखुकरीषं सम्भरति।

—शतपथब्रा० २।१।१।७।

'माइथालॉजी' कहा जाता है, वही तात्पर्य्य 'असदाख्यान' का है। यदि 'माइथा' को अनुकरण–सादृश्य से–'मिथ्या' मान लिया जाता है, तो–ज्ञानार्थक 'लॉजी' के सम्बन्ध से 'माइथालॉजी' का निष्कर्षार्थ भी 'मिथ्याज्ञान'–'झूँठी कहानियाँ' हीं प्रमाणित होजाना है, जिसका बालोपलालनात्मक-शिक्षणक्रम की दृष्टि से अत्यन्त ही उपयोग माना गया है, जिस इत्थंभूता उपयोगिता का क्षेत्र केवल एक प्रकार का ही आख्यान-विभाग है, जबकि एतदरिक्त सात--विभाग तो सर्वथा तद्भावापन्न–वास्तविकी--ही आख्यान माने गए हैं। अतएव जो महानुभाव वैदिक--पौराणिक--समस्त आख्यानोपाख्यानों को एकहेलया 'माइथालॉजी' मान बैठते हैं, उनकी तथाभूता मान्यता प्रौढ़िवादमात्र के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखती, इत्यलमति-पल्लवितेन--प्रासङ्गिक--नैदानिक--भावानुबन्धेन।

अमूर्त्त के साथ मूर्त्त के द्वारा अमूर्त्त का सम्बन्ध स्थापन ही औपासनिक-निदानभाव का निष्कर्षार्थ है *। गणपति का अमुक विचित्र आकार क्यों ?, गणपति ऐसे विशाल, और उनका वाहन मूषक नामक एक स्वल्पकाय-प्राणी कैसे ?, भगवान् विष्णु के हाथ में शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-क्यों ?, महाकाली के हाथ में सुरापात्र–कर्त्री खड्ग-आदि क्यों ?, इत्यादि अगणित-कुतूहलपूर्ण-इस क्यों ?, और कैसे ?, की परम्परा को उपशान्त करने वाली निदानविद्या के तात्त्विक-स्वरूप-का ही उदाहरण-विधि से उपबृंहण हुआ है, और यही निदानानुगत-प्रासङ्गिक-तथ्य का संक्षिप्ततम--स्वरूप-दिग्दर्शन है, जिस इस-निदानभावानुबन्धी-शिक्षण-कौशलात्मक-तथ्य का ही भगवान् भर्तृहरि के द्वारा निम्न-लिखित शब्दों में संस्मरण हुआ है —

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

(१३)–४

* * * *

*--अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं-ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

श्री:

# (१४)-वेदपरिगृहकर्म्म—प्रसङ्गत:-
# आख्यानोपाख्यानादि–निबन्धना
# *विविधा-वैज्ञानिकी-पारिभाषाएँ*

# ५

—-*—-

## (क)-देवासुरदायविभागानुबन्धी-आख्यान का संस्मरण —

वेदसंहितानुगता अत्यन्त रहस्यपूर्णा विज्ञानभाषा, स्तुतिभाषा, एवं इतिहासभाषा-रूपेण त्रिधा विभक्ता पारिभाषिकी भाषाओं से अनुप्राणित विज्ञान–स्तुति–इतिहास-नामक सुप्रसिद्ध त्रिविध ज्ञातव्य-विषयों में से सर्वान्त के इतिहासभाषानुगत 'ऐतिहासिक' तथ्य के सम्बन्ध में भारतवर्ष की सभी श्रेणियों के पुरातन–नूतन–वेदभक्त (सनातनधर्म्मावलम्बी विद्वान्, एवं आर्य्यसमाजी महाशय) सर्वथैव गजनिमीलिका--पथानुवर्त्मा ही देखे सुने जारहे हैं, जिस इस गजनिमीलिका का एकमात्र हेतु है–वेदों का अपौरुषेयत्त्व–निबन्धन ईश्वरकर्तृत्व। "ईश्वरकृत अपौरुषेय वेदशास्त्र के सम्बन्ध में मानवचरित्रात्मक-ऐतिहासिक तथ्यों का समन्वय कैसे 'सम्भव' है", इस तर्काभास को अग्रणी बनाकर, 'बबरप्रावाहणिरकामयत' इत्यादि कतिपय स्थलों के 'बबरप्रावाहणि' शब्दों को वायु के अनुकरण से अनुगत मानते हुए सनातनधर्म्मावलम्बी विद्वान् भी अपनी काल्पनिकी अपौरुषेयता की भ्रान्ति में मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य-विषयों में से उस अन्त के–'इतिहास' नामक ज्ञातव्य विषय की ओर से एकान्तत: उदासीन ही बनते आरहे हैं विगत तीन सहस्र–वर्षों से, जिस उदासीनता के दुष्परिणाम-स्वरूप ही भारतवर्ष की सनातन-संस्कृति के आधार पर सुप्रतिष्ठिता–दिग्देशकालनुबन्धिनी--सर्वमूर्द्धन्या--भारतीय--सभ्यता की मौलिकता का चिरन्तन वह इतिवृत्त सर्वथा ही स्मृतिगर्भ में विलीन होगया है, जिस के विस्मरण से सभ्यतानुबन्धी गौरव के साथ साथ ही भा तराष्ट्र सांस्कृतिक--गौरव के यथार्थ--समन्वय से सर्वथैव पराङ्मुख बन गया है।

अवश्य ही वर्त्तमान युग के मनीषी प्रतीच्य–विद्वानोंनें वेदशास्त्र में उपवर्णित इतिवृत्त–सम्बन्धी अन्वेषण की ओर दृक्पात करते हुए वेद–युगानुगता 'सभ्यता' के सम्बन्ध में अपनी अमुक ऐतिहासिकी धारणाएँ अभिव्यक्त कीं हैं। त्रिसहस्रवर्षावधि से सुप्ता भारतीय–प्रज्ञा के उद्बोधन की दृष्टि से पश्चिमी–जगत् का तथाभूत प्रयत्न अभिनन्दनीय भी माना जासकता है। किन्तु प्रतीच्य-विद्वानों के इत्थंभूत प्रयास से एक ओर जहाँ भारतीय–अर्वाचीन–विद्वत्–प्रज्ञा को अंशत: उद्बोधन मिला है, वहाँ साथ साथ ही वैसी–भ्रान्तिपरम्पराएँ भी इसी उद्बोधन के साथ मिल गईं हैं, जिन के कारण मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र

के ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिविज्ञान-निबन्धन-वह महत्त्वपूर्ण गौरव सर्वथैव अभिभूत होगया है, जिस अभिभूति के कारण ही आज की नवशिक्षिता भारतीय-प्रज्ञा के लिए वेदशास्त्र उस पुरातन सभ्यता का सूचक एक वैसा 'ग्रामीणभाषामय शास्त्र' ही बना रह गया है, जिस युग के सभ्य मानव को इन नवीन-भारतीय-वेदज्ञ-बन्धुओं के दीक्षागुरु, किंवा सर्वस्वगुरु पाश्चमी-विद्वानों के द्वारा ठोक-पींद कर यही सिखला दिया गया है कि—

"उस युग में क्यों क लिखने पढने के साधन नहीं थे, अतएव केवल सुन-सुना कर ही मानव अपने वाक्यों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे। अग्निताप से जब उन्हें शान्ति मिलो, तो वे अग्नि की स्तुति करने लग पड़े। इसी प्रकार-ज्यों ज्यों उन्हें प्रकृति के अग्नि-वायु-प्रकाश-जल आदि को उपयोगिता का आभास होने लगा, त्यों त्यों हीं वे अपनी उस युग की भाषा में उन उन उपयोगी-पदार्थों का स्तुत्यात्मक-चाटुकारिता पूर्ण-वर्णन-करने लग पड़े, और वह वर्णनसंग्रह ही उनका वेद कहलाया, जो सचमुच उस युग की सभ्यता का ही परिचायक ग्रन्थ है"।

आज के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारत में प्रकाशित होने वालीं-अमुक पत्र-पत्रिकाओं में भी वेदशास्त्र के सम्बन्ध में पश्चिमी-विद्वानों की ओर से दायादरूपेण मिलने वालीं तथाविधा भ्रान्त-धारणाओं को ही उपहास के रूप में निकलते जब हम सुनते हैं, तो क्षणमात्र के लिए के लिए हमें स्तब्ध-अवाक्-ही बने रह जाना पड़ता है *। किन्तु इस में न तो पत्र-पत्रिकाओं को ही दोष दिया जासकता, नैव तदनुगामिनी आज की उन नवीन-प्रज्ञाओं को ही कुछ कहा सुना जासकता, जिन्हें अपने समस्त जीवन में भारतीय-मूलसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक-परिचयसूत्र कभी किसी की ओर से भी उपलब्ध हुए ही नहीं। ठीक इसके विपरीत जिन्हें अपने शिक्षणकाल में प्रतीच्य-विद्वानों की तथाकथिता धारणाएँ हीं दायादरूपेण (विरासत में) उपलब्ध हुईं, जिन का नग्नचित्रण पूर्व में किया ही जा चुका है। इधर प्राच्यविचारानुगामी-भारतीय विद्वान् अपनी अपौरुषेयता की भ्रान्ति से ऐतिहासिक-तथ्यों से शून्य रहते हुए जहाँ इस दिशा में तटस्थ बने रहे विगत तीन सहस्र-वर्षों से, वहाँ पारिभाषिक-शब्दों की परम्परा से असंस्पृष्ट रह जाने के कारण इन भारतीय-विद्वानों की ओर से वेदशास्त्रानुबन्धी-ज्ञानविज्ञानात्मक-उन-सृष्टिरहस्यों के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव प्रकाश नहीं डाला गया तदवधि में, जिन वैदिक-वैज्ञानिक-तथ्यों के सम्मुख सभी युगों की प्रज्ञाओं को हठात्-प्रणतभावेन अवनतशिरस्क बन ही जाना पड़ता है।

यों एकमात्र भारतीय-विद्वानों की साम्प्रदायिक-मनोवृत्ति से अनुगता मतवादाभिनिवेशवृत्ति के कारण आविर्भूत होपड़ने वाले वेदापौरुषेयत्त्व की भ्रान्ति से ही वेदशास्त्र के विज्ञान-स्तुति-इतिहास-नामक तीनों ज्ञातव्य-स्तम्भ, एवं कर्म्म-उपासना-ज्ञान-नामक तीनों कर्त्तव्यस्तम्भ, दोनों ही विभूति-स्तम्भ अपने ज्ञानविज्ञानात्मक-पारिभाषिक-तथ्यों से सर्वथैव उस सीमा-पर्य्यन्त-पराःपरावत ही (अत्यन्त ही विदूर) बन गए,

---

*-स्वतन्त्र भारत की राजधानी देहली से प्रकाशित होने वाली, सुधारक-जगत् के लिए महान् आकर्षण का विषय-'सरिता' में वेदशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणाएँ प्रकाशित होतीं रहतीं हैं।

जिस विदूरत्व से ही आज प्रतीच्य-जगत् भी अपनी-कल्पना के आधार पर वैदिक-इतिवृत्तों के साथ यथेच्छ क्रीड़ाकौतुक करता हुआ नहीं अघा रहा, तो तच्चरणरजःपथ के अन्धानुवर्त्मा, प्रत्यक्ष-प्रभावमूला स्वस्वरूप-विमोहिनी-सर्वनाशकारिणी भावुकता के अग्रणीदूत आज के नवशिक्षित-भारतीय-वेदभक्त भी प्रतीच्या विचारधारा का ही अहर्निश यशोगान करते हुए-'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः' को ही अक्षरशः चरितार्थ करते हुए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं-सर्वतन्त्र--स्वतन्त्ररूपेणैवेति महद् :खास्पदम् ।

इधर कुछ समय से अमुक परिगणित वेदभक्त अवश्य ही वेदशास्त्र की तथाकथिता-प्रवञ्चना से दुःखी हुए हैं, जिस दुःख की निवृत्ति के लिए ही कुछने तो शब्दानुकरण के माध्यम से वर्त्तमान-प्रतीच्य-भौतिक-विज्ञानों, तथा आविष्कारों के साथ वैदिक-सिद्धान्तों का अस्तव्यस्त-समन्वय करना आरम्भ कर दिया है-वेदशास्त्र के गौरव स्थापन के व्यामोहन से । तो एक दूसरा वर्ग वैसा भी है, जो वैदिक-तथ्यों की विशुद्धा 'अध्यात्मपरक' व्याख्या में ही तल्लीन रहता हुआ किसी वैसे अज्ञात-अध्यात्म-प्राण की कल्पना में ही विभोर बना हुआ है, जिस का लोक-समाज-निबन्धना-भूतभौतिकी बाह्य-जगदनुबन्धिनी-अभ्युदय-प्रवृत्ति से कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं माना जासकता । इसप्रकार एक वर्ग वेदशास्त्र को विशुद्ध भौतिक-विज्ञानशास्त्र प्रमाणित करने के लिए आतुर है शब्दानुकरण-माध्यम से जोड़-तोड़ बैठाता हुआ, तो दूसरा वर्ग 'प्राण' व्यामोहन-निबन्धन-काल्पनिक अध्यात्मजगत् में विचरण करता हुआ वेदशास्त्र के सम्पूर्ण-विज्ञान-स्तुति-इतिहास-कर्म्म-उपास्ति-ज्ञान-वैभवों को एकमात्र लोकातीत अध्यात्म पर ही परिश्रान्त कर देने के लिए आकुल-व्याकुल बनता हुआ आर्षनिष्ठा-सम्मत उस समस्त आचारसौन्दर्य्य को एकान्ततः निष्प्राण ही प्रमाणित कर देना चाहता है, जिस आचारसौन्दर्य्य को भारतवर्ष आज तीन सहस्रवर्षों से उत्तरोत्तर विस्मृत ही करता आरहा है ।

कहना न होगा कि-वर्त्तमान-भूतविज्ञान के साथ वेदशास्त्र का समतुलनात्मक-व्यामोहन-प्रयास जैसे वेदशास्त्र के पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-प्रातिस्विक-समन्वय-साम्राज्य के गौरव को अभिभूत ही कर रहा है, तथैव 'अध्यात्मप्राण'-विमोहनानुगत केवल आध्यात्मिक-समन्वय भी वेदशास्त्र के वास्तविक-समन्वय-से असंपृष्ट ही प्रमाणित होरहा है । और यों दोनों उन तथाकथित-वेदभक्तों के तथाभूत दोनों ही वेदार्थ-समन्वयात्मक-प्रकार वेदशास्त्र के निःश्रेयसानुगत--अभ्युदय-साधक महान् उद्देश्य से सर्वथैव विपरीत पथों का ही अनुसरण करते हुए वेद के महतो महीयान् वास्तविक-गौरव के विरोधी ही प्रमाणित होरहे हैं ।

तथाविधा भ्रान्ति-परम्पराओं का एकमात्र प्रमुख कारण है-आधिदैविक-ईश्वरीय-विश्व की आत्यन्तिक-विस्मृति, जिस आधिदैविक-ईश्वरीय-विवर्त्त के आधार पर ही ज्ञानविज्ञानात्मिका-सृष्टिविद्या का प्रमुख सम्बन्ध माना गया है । एक वर्ग अधिभूत में आसक्त होता हुआ आधिदैविक से विमुख होरहा है,तो दूसरा वर्ग अध्यात्म में आसक्त होता हुआ अधिदैवत से पराङ्मुख बना हुआ है, जबकि वस्तुस्थिति की पूर्णता अधि-दैवत-अध्यात्म-अधिभूत, इन तीनों के समन्वय पर ही अवलम्बित है ।

भूतवादी का सबसे बड़ा व्यामोहन है-"प्रत्यक्षदृष्ट-भूत-भौतिक-पार्थिव-पदार्थों को ही मानव के लिए सर्वस्व मान बैठना" । इस की दृष्टि में अधिदैवत ( ईश्वरीय-प्राकृतिक-जगत् ), एवं जीवात्मा-नुबन्धी-अध्यात्मजगत्, सबकुछ भौतिक ही भौतिक हैं । अर्थात् सब कुछ इन भूत-भौतिक-पिण्डों में ही हैं । इन से अतिरिक्त न कोई अधिदैवत है, एवं न कोई अध्यात्म । इसी भूतदृष्टि के आधार पर भूतो-न्नतिपरक-भूतविज्ञान उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित होता जारहा है, जिस की प्रवृद्धतमा जड़ता के आवरणपुटों-सम्पुटों से

सम्पुटित मानव अपने स्वरूपानुगत–आत्मचैतन्य से उत्तरोत्तर विजड़ित होता हुआ स्वयमपि एक जड़-भूतपिण्ड रूप में परिणत होजाने के लिए ही मानो कटिबद्ध बनता जारहा है।

अध्यात्मवादी का सबसे बड़ा व्यामोहन है–''स्वशरीर के किसी केन्द्रात्मक-शून्य-प्रदेश-विशेष में ही उपकल्पित इन्द्रयातीत–अलौकिक–काल्पनिक–मनोराज्य में ही ईश्वरीय–आधिदैविक–जगत् के तत्त्वों-पदार्थों को अपनी कल्पना से ही आध्यात्मिक–प्राण का रूप दे दे कर सबकुछ अपने इस काल्पनिक--अध्यात्मप्राण में ही परिसमाप्त मानते रहना''। ऐसे अध्यात्मवादी ही अपने शून्यजगत् में हीं सूर्य्य–चन्द्रमा–अग्नि–पवन–गङ्गा–यमुना–आदि की कल्पना में आत्मविभोर नहीं, अपितु मनोविभोर बने रहते हैं–''मन लड्डू तो फीके क्यों'' को अक्षरशः चरितार्थ करते हुए। इन्हीं की भाषा है–'मन चङ्गा, तो खटोटी में गङ्गा'। इन की दृष्टि में न तो आधिभौतिक–प्रत्यक्षदृष्ट–अभ्युदयसाधक–विश्वसौन्दर्य्य का ही कोई महत्त्व, एवं न इस भौतिक-जगत् के प्रवर्त्तक नित्यसिद्ध–आधिदैविक ईश्वरीय-जगत् का ही कोई महत्त्व। अपितु सबकुछ ये अपने काल्पनिक-अध्यात्म में हीं, कल्पना के ही द्वारा काल्पनिक–भावों को ही ढूँढ ढूँढ कर अपनी कल्पना में ही तुष्ट होते रहते हैं।

इत्थंभूत–काल्पनिक--अद्वैतवादात्मक--अध्यात्मवादने ही विशेषरूपेण मानव का सर्वप्रथम अधिदैवत से विच्छेद कराया है, तत्सहैव अधिभूत-निबन्धना आचारनिष्ठा से भी। काल्पनिकी अध्यात्मभावना के रसिक मानव उस महतोमहीयान्–ईश्वरीय–अधिदैवत–विश्व का अपने अणोरणीयान्–अध्यात्म में निमज्जन मानते हुए–'न त्वहं तेषु, ते मयि' इस तथ्य को सर्वथा ही तो भूल जाते हैं। वह (आधिदैविक) अंशी बनता हुआ जहाँ व्यापक है, निरवच्छिन्न है, वहाँ यह (अध्यात्म, और अधिभूत) 'अंशो नानात्त्वात्' * (व्याससूत्र) के अनुसार तदंश बनता हुआ व्याप्य है, सावच्छिन्न है। उस–व्यापक–अधिदैवित–ईश्वरीय–जगत् के यत्किञ्चिदंशरूप एकांश में हीं जो व्याप्यधर्म्मा अध्यात्म–और अधिभूत–प्रतिष्ठित–हैं, भला उन्हीं के गर्भ में वह व्यापक कैसे सर्वात्मना प्रविष्ट होजायगा !। ''वे मुझ में हैं–किन्तु मैं उन में नहीं हूँ'' का यही तो स्वारस्य है। सचमुच इस से बड़ी आत्मवञ्चना इत्थंभूत अध्यात्मविमूढ इस मानव की और क्या होगी कि, वह आधिदैवकी–पारमेष्ठ्य–गाङ्गे यावातरभूता-पुण्य-सलिला–माता-भगवती-भागीरथी की सर्वव्याप्ता-सलिलधारा में व्याप्यभावान्वित–अपने स्वल्पतम–भौतिक शरीर को निमज्जित कर देने जैसे महत्–पुण्यकर्म्म से वञ्चित रहता हुआ उस व्यापक तत्त्व को अपने शरीररूप काल्पनिक अध्यात्म में मान बैठने की महती भ्रान्ति करने लग पड़ता है। और यों इस प्रत्यक्ष देवानुग्रह से यह आत्मविमूढ उसीप्रकार वञ्चित ही तो बना रह जाता है, जैसे कि विशुद्ध भूतवादी–ऑक्सिजन–हाइड्रोजन की मान्यतामात्र से अनुप्राणित- कीटाणुओं की चर्व्वणा से ही चर्व्वितान्तःकरण बना रहता हुआ गङ्गा के उस आधिदैविक–अभिमानी–दिव्य–स्वरूप के अनुग्रह से विहीन ही रह जाता है, जो अनुग्रह एक श्रद्धालु मादृश–ग्रामीण भी श्रद्धामात्र के अनुग्रह से अनायासेनैव प्राप्त कर अपना जीवन धन्य-कृतकृत्य-प्रमाणित कर लिया करता है।

निवेदन–निष्कर्ष यही है कि, केवल अध्यात्मवाद के व्यामोहनने, तथा केवल भूतासक्तिने ही भारतीय–मानव को दैवत–आत्मिक–भौतिक–समन्वयात्मक,–'तत्तु समन्वयात्'–सिद्धान्तमूलकः–ज्ञान-विज्ञानात्मक-पारिभाषिक उस तथ्य से वञ्चित ही कर दिया है, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप ही वेदार्थ के सम्बन्ध में तथाकथितरूपेण नाना वैसे प्रवाद उपक्रान्त होपड़े हैं, जिन से वेदपुरुष का गौरव उत्तरोत्तर अभिभूत ही

बनता जारहा है, जिस इस सर्वनाशकारिणी अभिभूति के निरोध का एकमात्र उपाय है-**"अधिदैवत को इस अध्यात्म, और अधिभूत के साथ समन्वित कर देना"** ।

तात्पर्य्य तदुपाय का यही है कि, वैदिक- अमुक-आख्यानोपाख्यानों का ज्ञानविज्ञानात्मक-सर्वाङ्गीण-समन्वय न तो केवल अधिदैवत से ही सम्बन्ध रखता, न केवल अध्यात्म से ही, एवं न केवल अधिभूत से ही । उदाहरण के लिए प्रस्तुत कर्म्म से अनुप्राणित-**'स्तम्बयजुर्हरणकर्म्म'**-निबन्धन उस **'देवासुरदायविभागाख्यान'** को ही लीजिए, जिसके द्वारा देवता, और असुरों का प्रजापति के द्वारा दायविभाग (बँटवारा) बतलाया गया है ।

आख्यानानुगत देवता, और असुर कौन हैं ?, किस वस्तु का किसने दायविभाग किया ?, इसका नैदानिकरूप स्तम्बयजुः ( कुशमुष्टि) कैसे, एवं किस आधार पर मान लिया गया ?, इस सब प्रश्नों का समाधान केवल दैवत-अध्यात्म-भूत की दृष्टि से कदापि सम्भव नहीं है । अपितु तीनों ही प्रक्रमों के साथ इस ऐतिहासिक आख्यान का समन्वय होरहा है । इन्द्र-अग्नि वायु- आदि देवदेवता, तथा वृत्र-नमुचि-किलात आकुली आदि असुर प्रकृति में भी हैं । अर्थात् अधिदैवतजगत् में भी हैं, अध्यात्म में ( मानवीय-संस्था में ) भी हैं, एवं अधिभूतात्मक मानवेतिहास में भी मानवरूप देवता और असुरों की जातियाँ पूर्वयुगों में विद्यमान थीं । प्रकृतिवत् यहाँ भी त्रैलोक्य-व्यवस्था थी, एवं देवव्यवस्था थी । महाभारत-युगपर्य्यन्त वह देवव्यवस्था प्रक्रान्त रही । अर्जुन के साथ मानव-भौम-इन्द्र का ही सख्य था । युधिष्ठिर सदेह जिस स्वर्ग की ओर अभिमुख हुए थे, वह भौमस्वर्ग ही था । इन्हीं सब तथ्यों के स्वरूप-समन्वय के आधार पर प्रस्तुत-**'देवासुर-दायविभागाख्यान'** प्रतिष्ठित हुआ है, जिसके क्रमसिद्ध-अधिदैवत-अध्यात्म---अधिभूत-नामक तीनों संस्थानों के दायविभागों का रहस्यात्मक-स्वरूप--विश्लेषण ही प्रकृत-प्रकरण का निष्कार्षार्थ है, जिसके द्वारा इतिहास-निबन्धना उन अनेक काल्पनिक--भ्रान्तियों का सर्वात्मना निराकरण होजाता है, जिस निराकरण के बिना भारतीया-परिभाषिकी परम्परा से असंस्पृष्ट पश्चिमी--विद्वान् केवल कल्पना के बल पर वैदिक-इतिहास के सम्बन्ध में वैसी धारणाएँ व्यक्त कर बैठे हैं, जिनके अनुकरण को ही-**'स्वधर्म्म'** मान बैठने वाले तत्पथानुवर्त्मा हमारे भावुक भारतीय-बन्धु भी अपने सर्वस्वभूत वेदशास्त्र के आख्यानोपाख्यानों के प्रति उपहास-व्यक्त करते हुए अपने आप को प्रायश्चित्त का ही भागी बनाते जारहे हैं ।

चाणाक्षचतुर, लोकनिष्ठ, राजनितिकुशल-प्रतीच्य--जगत् की कामार्थमयी महती-बुभुक्षा ने ही उसका 'भारत' जैसे सर्वसमृद्ध देश की ओर ध्यान आकर्षित कराया । अत्रागमन पर तन्नैष्ठिकोंनें अपने अन्तर्जगत् में ही यह निश्चय कर लिया कि, "जबतक भारतराष्ट्र के प्रज्ञाकोश में सांस्कृतिक-बलमात्रा शेष रहेग , तबतक प्रयत्न-सहस्रों से भी भारत पर एकच्छत्र प्रभुत्त्व स्थापित नहीं किया जासकेगा" । निःसन्देह उस युग का भारत तत्पूर्व की अनेक शताब्दियों से बाह्य--आक्रमण--परम्पराओं के कारण अधिकांश में शक्तिहीन ही प्रमाणित होचुका था । उधर साम्प्रदायिक -मतवाद--कलहों से इसका ज्ञानविज्ञानात्मक--नैष्ठिक-सांस्कृतिक-बल भी अधिकांश में क्षीण ही होचुका था । तभी तो प्रतीच्य अतिथिवर्ग ने ? यहाँ एकाधिपत्य के सुस्वप्नों का दर्शन आरम्भ कर दिया । यह सब कुछ होने पर भी प्रतीच्य-अतिथियों के आगमन से पहले पहले तक भारतीय-प्रजावर्ग में अपनी संस्कृति, सभ्यता, धर्म्म, उपासना, ज्ञान, आदि आदि विस्मृतप्राया भी विमल-विभूतियों के प्रति पूर्ण श्रद्धा अवश्य प्रतिष्ठित थी, जिस श्रद्धा की विद्यमानता भी आगत अति-

थियों के मूलोत्पाटन में उसी समय पर्य्याप्त बन सकती थी-यदि उसी युग में किसी महापुरुष के द्वारा ज्ञान–विज्ञानात्मिका–परिभाषाओं के स्वरूप--विश्लेषण के द्वारा तत्–श्रद्धा को अभिव्यक्त कर दिया जाता, तो। किन्तु दुर्भाग्यवश स्थिति उस समय ठीक विपरीत दिशा का ही अनुगमन करती गई तत्कालीन वर्गभेदों से अनुप्राणिता पारस्परिकी उस अहमहमिका के द्वारा, जिसके द्वारा सभी वर्ग उन तथाकथित सुसभ्य ! उदार ! अतिथियों ! के सहयोग से अपना अधिक से अधिक स्वार्थसाधन करने का ही इच्छुक बन चले थे।

तथाविध उपयुक्त वातावरण में हीं उस प्रतीच्य–शिक्षा का सूत्रपात हुआ, जिस के पाठ्यग्रन्थों के द्वारा भारतीय पुरातनशास्त्रों की, मान्यताओं की, सभ्यता की, तथा आदर्शों की वैसी आलोचना ही की गई, जिसका निष्कर्ष पूर्व की पङ्क्तियों में व्यक्त किया जाचुका है। उन सब अनर्गल-आलोचनाओं में से प्रकृत में हम एक आलोचना की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे एक विशेष तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए, और उस आलोचना का सम्बन्ध माना जायगा—**'भारतदेश के मौलिक स्वरूप के सम्बन्ध में'**।

प्रतीच्यशिक्षा के अशंतः भी सम्पर्क में आजाने वाले भारतराष्ट्र के बड़े से भी बड़े राष्ट्रभक्त–देशभक्त–अद्यतन–भारतीय–मानव से जब भी यह प्रश्न किया जायगा कि, **"क्या भारतवर्ष आर्य्यों का आदिदेश है ?"**, तो तत्काल क्षणमात्र विलम्ब किए वह यही उत्तर देगा कि,–**"नहीं--भारत तो अनार्य्यों का आदिदेश है। वे ही यहाँ के आदिवासी, किंवा मूलनिवासी हैं। आर्य्य तो मध्यएशिया से शनैः-शनैः बढ़ते बढ़ते इस देश में आपहुँचे, और अनार्य्यों को युद्ध में परास्त कर वे यहाँ के अधि--पति बन बैठे***"। दूसरों की कौन कहे', सुप्रसिद्ध देशभक्त, और भारतीय--धर्म्म के अनन्यसेवी×स्वर्गीय

*–प्रतीच्य--विद्वानों की अभिनिवेशमूला इत्थंभूता धारणा उनके द्वारा निर्द्धारित भारतीय–पाठ्य–ग्रन्थों में इस रूप से अभिव्यक्त हुई है कि–**"आर्य्यों का मूलनिवास, किंवा आदिनिवास मध्यएशिया ही था। मध्यएशिया से ही आर्य्यलोग भारत में आए थे। अतएव उन्हें समुद्र का भी स्वरूप-बोध नहीं था उस युग में। क्योंकि मध्यएशिया में कोई समुद्र नहीं है। हाँ, नदियाँ बहुत सी हैं। एवं नदियों के लिए आर्य्यों के उस पुरातन ऋग्वेदग्रन्थ में 'सिन्धु' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो वैदिक-वाङ्मय अधिक से अधिक २५००–३००० सहस्र वर्षों से अधिक ( पुराना नहीं माना जासकता"** इत्यादि।

×–सर्वथैव प्रौढ़िवादात्मिका उक्ता धारणा के विपरीत भारतराष्ट्र की स्वतन्त्रता के महान् द्रष्टा स्वर्गीय श्री बालगङ्गाधर तिलक महाभाग ने अपने सुप्रसिद्ध **'ओरियन'**, तथा **'दआर्कटिक होम इन् द वेदाज'** नामक लोकप्रसिद्ध निबन्धों के माध्यम से एक अन्य ही तथ्य उपस्थित किया, जिस तथ्य का श्रीतिलक के मतानुसार उत्तरध्रुवानुगत अमुक--भूप्रदेश से ही सम्बन्ध था, जिसे 'पामीर' कहा जासकता है। श्रीतिलक की धारणा के अनुसार आर्य्यों का आदिदेश वही उत्तर प्रदेश था, न कि प्रतीच्य–विद्वानों की मान्यता से अनुप्राणित–मध्य–एशियाप्रान्त। **'उत्तरप्रदेशात्मक पामीर से ही आर्य्य भारत में आए'**–सर्वश्री तिलक महाभाग के इस मान्य तथ्य का हम 'मान्यता' के अनुबन्ध से ही समादार करेंगे। क्योंकि आस्था-पूर्णा-निष्ठा की दृष्टि से तो श्रीतिलक की मान्यता भी प्रतीच्या--भावना से सर्वथैव विमुक्त नहीं मानी जासकती, जबकि तिलक भी आर्य्यों का बाहिर से भारत में आगमन तो मान ही बैठे। वस्तुस्थिति वास्तव में कुछ और ही है, जिसके समन्वय से असंस्पृष्ट रह जाने के कारण ही इसप्रकार की मान्यताएँ मानवीय–मन को अभिभूत कर लिया करतीं हैं, जैसाकि पाठक तद्भाष्य–सन्दर्भ में देखेंगे।

श्रद्धेय श्री बालगङ्गाधर तिलक जैसे महापुरुष ने भी वेदनिर्म्माण-कालगणना-प्रसङ्गतः-एक अन्या मान्यता के अनुबन्ध से उक्त तथ्य को ही प्रश्रय देडाला, जबकि उक्थ 'तथ्य' भी 'तथ्य' न होकर उन प्रतीच्य-चाणा-क्षचतुरों की कुटिला नीति की प्रतिच्छाया-मात्र पर ही विश्रान्त है।

"यदि हम आर्य्य अपनी सभ्यता के बलपर यहाँ के मूलनिवासी अनार्य्यों का दमन कर यहाँ के शासक बन सकते हैं, बन गए हैं, तो उन प्रतीच्य-सुसभ्य अतिथियों को भी सहज-रूपेणैव यह अधिकार प्राप्त है कि, वे हमें सुसभ्य बनाने के लिए, हमारी अवैज्ञानिकता हटाने के लिए हम पर एकाधिपत्य स्थापित करलें। क्योंकि हमारा इस देश पर कोई पैत्रिक-स्वत्वाधिकार नहीं है"।

उक्त-काल्पनिक जो तथ्य, दूसरे शब्दों में अनार्य्य-आर्य्य-विद्रोहात्मक-जो संस्कार तच्छिक्षा-पथानुवर्त्मा भावुक-भारतीयों की कोमलप्रज्ञा में दृढसंस्कार-के रूप में उनके द्वारा शिक्षणकाल में हीं खचित कर दिए गए थे, उन कुसंस्कारों से आजतक भी तो हमारा परित्राण नहीं होसका है। और हमारे वे सभी मान्य शिक्षित भारतीय उसी काल्पनिक-मान्यता को मानो अपनी शिक्षा-धुरीणता के रूप में हीं अभिव्यक्त करते रहते हैं, जबकि वस्तु-स्थिति स्वयं वेद-पुराण-शास्त्र के इतिवृत्तात्मक-भुवनकोशानुगत (भूगोलानुगत) निर्भ्रान्त-सिद्धान्तोंके अनुसार प्रतीच्या तथाविधा मान्यता के सर्वथैव विपरीत है। किन्तु अपनी काल्पनिकी अपौरुषेयता की भ्रान्ति में न तो प्राच्य-भारतीय-विद्वानोंनें वेदशास्त्र के भुवनकोशानुगत-इतिवृत्त का स्वाध्याय किया, एवं नैव पुराण-शास्त्रोपवर्णित-ऐतिहासिक-सीमाप्रसङ्गों से सम्बन्ध रखने वाले आख्यानोपाख्यानों का ही विद्वानों के द्वारा सफल समाधान होसका। अतएव भारतीया कोमलप्रज्ञा सहजरूपेणैव प्रतीच्य-काल्पनिक-सिद्धान्तों पर ही उत्तरोत्तर आस्था करती ही गई, और साथ ही स्वराष्ट्रीय-वेदपुराणशास्त्रों के प्रति उपेक्षा।

तभी तो भारतवर्ष की प्राच्यसंस्कृति-शिक्षा के महान् केन्द्ररूपेण सुप्रसिद्ध वाराणसीक्षेत्र (काशी) के पावन वक्षस्थल पर स्थापित होने वाले प्रतीच्यशिक्षणकेन्द्र (कॉलेज) में जब किसी प्राच्यभक्त की ओर से पौराणिक-भूगोल-के भी शिक्षा के पाठयक्रम में समावेश का आग्रहात्मक-प्रस्ताव उपस्थित हुआ, तो प्रतीच्य-शिक्षाकेन्द्र के प्रतीच्यशिक्षाभक्त अमुक··········को इसप्रकार के अनर्गल उद्गार अभिव्यक्त कर देने का साहस, किंवा दुस्साहस होपड़ा था कि, 'जो भारतीय पुराणशास्त्र पृथिवी को काच के समान चपटा मानता है *, जिस पुराण का द्वीपोपद्वीपों का परिमाण कोटि-कोटि-लक्ष लक्ष-क्रोश-मित सुना जाता है, जो पुराण पृथिवी पर दुग्ध-मधु-आदि के सात सात समुद्र मानता है, ऐसे विशुद्ध काल्पनिक-मनःप्ररोचनात्मक-पुराण के भूगोल से भारतीय-नवीन प्रज्ञा में क्या उत्कर्ष होगा ?'', तो प्रस्तावक-पुराणपक्षपाती महोदय तूष्णीं ही बने रह गए थे।

यदि उन्हें अंशतः भी 'पृथिवी' शब्द के पारिभाषिक-अर्थ के साथ आत्मसाक्षात्कार होता, तो तत्काल ही वे पुराण के भौगोलिक-तथ्यों के प्रति अनर्गलरूपेण गलशोषण करने वाले अमुक प्रतीच्य-महानुभाव को यह बतला सकते थे कि, श्रीमन्! आप स्वयं अभी भ्रान्ति में हैं। आपका पुराण की परिभाषाओं के साथ यत्किञ्चित्

---

*-आदर्शोदरसन्निभा भगवती

भी तो सम्पर्क नहीं है। भूमि, और पृथिवी, दोनों शब्द विभिन्न ही अर्थों के वाचक हैं। जिस मृण्मय-धातुमय-ओषधि-वनस्पतिमय-पिण्ड पर आप विराजमान हैं, वह पृथिवी नहीं, अपितु भूमि है, जिसे केन्द्र बना कर ही उस भौमप्राण का बड़ी दूर तक प्रथन-फैलाव-होता है, जिस प्राणमण्डल का ही 'यद्प्रथयन्' रूपेण 'पृथिवी' नाम रक्खा जाता है, जिसका अर्द्धाण्डकटाह सचमुच ही आदर्शवत् सम ही है, और जिस पार्थिवप्राण के महिमा-मण्डल की व्याप्ति सूर्य्य से भी कुछ ऊपर पर्य्यन्त मानी गई है वैदिक-विज्ञान के अनुसार। इसी पार्थिवक्षेत्र में सप्तद्वीप-सप्तवायुस्तर-सूक्ष्मरसात्मक सप्तसमुद्र-आदि अनेक तत्त्वात्मक सप्तक-प्रतिष्ठित हैं, जिनका पौराणिक-अतिशय-रहस्यपूर्ण-'पाद्मभुवनकोश' में विस्तार से स्वरूपोपबृंहण हुआ है, जिसके स्वरूप-संस्पर्श से भी आज का भारतीय-मानव अपरिचित ही बना हुआ है। प्रक्रान्त "देवासुरदायविभाख्यान-प्रसङ्गतः"-तत्कर्म्म में हमने संक्षेप से इस पाद्मभुवनकोश का भी दिग्दर्शन-प्रयास-किया है।

देवासुरदायविभाग-प्रसङ्ग से ही तत्प्रकरण में 'भारतवर्ष' के उस मौलिक-प्रकृतिसिद्ध-भौगोलिक-स्वरूप-का समन्वय-प्रयास हुआ है, जिसका-'अस्मिन् ह वै लोके-उभये देव-मनुष्या आसुः' (शाङ्खायन-ब्राह्मण १।१) यह श्रुतिवचन सर्वात्मना समर्थक बना हुआ है। भारतराष्ट्र आरम्भ से ही इसी 'आर्य्यजाति' की प्रातिस्विक-जन्मभूमि रहा है, जिसका विस्तार पाद्मभुवनकोशानुबन्ध से ९० अंशात्मक ही माना गया है। एवं जिस भारतीय-भुवनकोश के आधार पर निरक्षवृत्तानुगत लङ्काद्वीप इसकी दक्षिणसीमा है, जो लङ्काद्वीप आज समुद्रगर्भ में विलीन होचुका है, और भारतीय उपद्वीप-गणना के प्रसङ्ग में लङ्काद्वीप से सर्वथैव पृथग्-रूपेण निर्दिष्ट-सुप्रसिद्ध सिंहलद्वीप (सीलोन) को ही आज भ्रान्तिवश लङ्काद्वीप माना, और मनवाया जारहा है।

जहाँ से सुप्रसिद्ध 'रावी' नदी का विनिर्गम है, तदनुगत सुप्रसिद्ध-'शिवालक' ही भारत की उत्तर-सीमा है। 'महीसागर' नाम से प्रसिद्ध पश्चिमसमुद्र (जहाँ भारतीयों के सुप्रसिद्ध शर्वतीर्थ का उपवर्णन उपलब्ध होता है), भारत की पश्चिमसीमा है, और पूर्वानुगत-चीनदेशानुबन्धी पीतसमुद्र ही भारत की पूर्वसीमा मानी गई है। यही ९० अंशात्मक प्रकृतिसिद्ध भारतवर्ष है, जिसके आधार पर ही कुरुवर्ष, केतुमालवर्ष, किंपुरुषवर्ष, हरिवर्ष, इलावृतवर्ष, भद्राश्ववर्ष, आदि भेदेन नववर्षात्मक-'वर्षभुवनकोश' की व्यवस्था हुई है। देवस्वर्ग भारत से भिन्न है, जिसका उत्तरप्राङ्मेरु से सम्बन्ध है, जिस प्राङ्मेरु का अपभ्रंशात्मकरूप ही--'पामीर' है।

जिस देवयुगात्मक वैदिकयुग में इसी भूपिण्ड पर भौमदेवानुबन्धिनी त्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित थी, उस युग में प्राङ्मेरुस्थ भौमस्वर्गीय-इन्द्र-अग्नि-आदि मानुषदेवता स्वशासित-भारत में अवसर-विशेषों पर आया करते थे, तो भारतीय मान्धाता-हरिश्चन्द्र-दशरथ-दिलीप-रघु-आदि आदि प्रमुख मानव भी देवस्वर्ग में गमन किया करते थे। यों देवत्रिलोकी के देव-मानव-तिर्य्यक् नामभेदभिन्न 'मानव' परस्पर गमनागमन से समन्वित थे, जिस इस पारिभाषिक-तथ्य का यथावत् समन्वय न करने के कारण ही आर्य्यों का अत्र प्राङ्मेरु ( पामीर ) से अपूर्व आगमन मान लिया गया है, जबकि-'अस्मिन ह वै लोके उभये देव-मनुष्याः' से विस्पष्टरूपेण दोनों ही मानववर्गों का अत्रापि समानरूपेणैव आवास-निवास अभिव्यक्त है।

भौमस्वर्ग-निवासी मानवदेवताओं में सुप्रसिद्ध 'भारत' नामक ब्राह्मणवर्णात्मक अग्निदेव इस मानवलोकात्मक पृथिवी-लोक के 'शवसोनपात्' देवदेवता थे। अतएव कर्म्मभूमिरूपा यह मानवभूमि 'भारतवर्ष' नाम से प्रसिद्ध हुई, जिसकी महती सीमा का अनेक पारिभाषिक दृष्टिकोणों के माध्यम से तत्--

प्रकरण में समन्वय–प्रयास हुआ है। **'भारत'** अग्नि ही इस राष्ट्र की **'भारत'** अभिधा मूलकारण हैं, जिस इस मूलकारण का ही आगे चलकर यशःख्यापन–मात्र से दौष्यन्ति भारत के साथ भी सम्बन्ध मान लिया है पुराण–शास्त्रने। आगे जाकर अमुक अर्वाचीन मतवादने सर्वश्री ऋषभदेव को भी इस 'उपाधि' से समन्वित करने का प्रयास किया है, जिस प्रयास का युगधर्म्मानुगति से समादर करते हुए भी तत्त्वदृष्ट्या तो 'भारत' नामका प्रमुखरूपेण **'भारताग्नि'** पर ही विश्राम मानना पड़ेगा, जिस इस तथ्य के स्पष्टीकरण के साथ साथ प्रकृत आख्यान में भारत की प्रकृतिसिद्धा '९९' अंशात्मिका वास्तविक–उस **'अखण्डता'** का ही स्वरूप–समन्वय हुआ है, जो तत्त्वमूला प्रकृतिसिद्धा अखण्डता विगत अमुक शताब्दियों से प्रक्रान्ता भ्रान्त-भारतीयों की निरतिशया भावुकता के कारण आततायीवर्ग के द्वारा–उस–सीमापर्य्यन्त खण्ड-खण्ड-रूप में ही परिणत कर दी गई है, जिस खण्ड–खण्डात्मिका–देशसीमा के द्वारा आज भारत अपने प्राकृतिक गौरव को सर्वथैव विस्मृत कर बैठा है।

इसी प्रसङ्ग में पुराणानुगत, अत्यन्त–पारिभाषिक–उस **'पाद्मभुवनकोश'** के स्वरूप–समन्वय की भी चेष्टा हुई है, जिस के साथ **मेरुमूला देवत्रिलोकी,** तथा **असुरत्रिलोकी,** इन दोनों का सम्बन्ध माना गया है। सर्व्वोच्चभाव का स्वरूप-संग्राहक–**'मेरु'** ही वह मेरुदण्ड है, जिस के आधार पर ही भगवान् आदि मानव–प्रजापति ने भूपिण्ड को निदानविधि से **'पद्म'** मानकर इस के पत्रात्मक ९ विभाग किए थे, एवं इस भूपद्म के कारण ही यह भुवनकोश ( भूगोल ) **'पाद्मभुवनकोश'** नाम से प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी रहस्यात्मिका द्वीपादि–परिमाण–गणना के पारिभाषिक तथ्यों से विदूर होजाने के कारण ही इन पौराणिक-तथ्यों पर उसी प्रकार बुद्धिवादियों के निरर्थक ऊहापोह प्रक्रान्त होपड़े हैं, जैसेकि वैदिक–आख्यानोपाख्यानों के रहस्यार्थ का समन्वय करने में असमर्थ बन जाने के कारण भारतीय-विद्वत्प्रज्ञा अपने सर्वस्वभूत भी वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक–पारम्परिक–अध्ययनाध्यापन को जलाञ्जलि समर्पित करती हुई क्वाचित्करूपेण केवल 'पारायणपाठ' को ही सर्वेसर्वा मान बैठी है अमुक शताब्दियों से, जबकि तत्त्वार्थसमन्वय से शून्य पारायण-पाठ को तो स्वयं शास्त्र ने हीं आत्यन्तिकरूपेण निरर्थक ही माना है * सौरभ-तत्त्व-ज्ञानवञ्चित केवल चन्दन-भारवाही रासभवत् ही ÷ ।

तदित्थं–वैदिक-आख्यानोपाख्यानों की सहज शैली से अनुप्राणित प्रस्तुत 'देवासुरदायविभागाख्यान' का भी तत्प्रकरण में आधिदैविक–प्रकृतिसिद्ध–नित्यदायविभाग, आध्यात्मिक–प्रकृतिसिद्ध–मानवीय-दायविभाग, एवं देवयुग में विघटित-मानवदेव, तथा मानव-असुरों की प्रतिस्पर्द्धा से समन्वित-आधिभौतिक-दायविभाग, रूपेण तीनों हीं स्थानों से समन्वित आख्यान का पारिभाषिक-समन्वय करता हुआ ही तत्प्रकरण-विशेष उपरत हुआ है, एवं–प्रस्तुत संस्मरणात्मक–पारिभाषिक-दिग्दर्शन का यही संक्षिप्ततम स्वरूप-दिग्दर्शन है।

* * * * *

---

* स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्–अधीत्य–वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञः–स इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥
÷ यथा खरो चन्दनभारवाही, भारस्य वेत्ता, न तु सौरभस्य

## ख-प्रतिमार्ज्जनकर्म्मानुगत-चन्द्रचिह्न-स्वरूप संस्मरण—

वेदिपरिग्रहात्मक-वेदिसम्पादनकर्म्माङ्गभूत सुप्रसिद्ध 'प्रतिमार्ज्जनकर्म्म' नामक क्रत्वर्थ-कर्म्म के वैज्ञानिक-स्वरूप-समन्वय-प्रसङ्गत: सुप्रसिद्ध उस 'चन्द्रचिह्न' की अत्यन्त ही रहस्यपूर्णा निरुक्ति हुई है, जो चिह्नविशेष लोक-समाज-व्यहार में-"चन्द्रकलङ्क" नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिस के प्रसङ्ग से ही पुराणशास्त्र का सुप्रसिद्ध "ताराहरणोपाख्यान" नामक एक स्वतन्त्र 'आख्यान' ही उपनिषद्ध होगया है। 'स्फ्य' नामक काष्ठनिर्म्मित-यज्ञायुध-विशेष से वेदि-निर्म्माणार्थ-उत्पाटित मृद्भाग के बहि:प्रक्षेप से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्म ही-'प्रतिमार्ज्जनकर्म्म' कहलाया है, और तदुत्पत्तिप्रसङ्ग में ही वेदभगवान् ने चन्द्रस्थ कृष्णभाव के वैज्ञानिक-स्वरूप का विश्लेषण किया है, जिसके आधार पर भावुक-भारतीय-कविगण विचित्र प्रकार की कल्पनाएँ करते रहते हैं *।

पुराणशास्त्र की आख्यानानुगता कल्पना तो प्रसिद्ध ही है कि, -"देवगुरु की धर्म्मपत्नी 'तारा' के अपहरण से ही सोमरक्षक गन्धर्व-चन्द्रमा को कलङ्क का अनुगामी बनता पड़ा था", जिस इस पौराणिक-रहस्य का तो तत्रैव स्वतन्त्र-निबन्धन में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। अत्र तु देवयजन-प्रसङ्ग से ही इस 'कलङ्क' के तात्त्विक स्वरूप का विवेचन हुआ है, जिस इस देवयजनात्मक-पारिभाषिक तत्त्व की आधारभूमि है-'पुरा क्रूरस्य विसृप:' इत्यादि पारिभाषिक वह यजुर्मन्त्र, जिसका अथरार्थ हुआ है यही है कि—

**"हे विष्णो! त्रिविध योद्धाओं की इधर-उधर-की भागदौड़ के कारण 'विसृप' नाम से प्रसिद्ध क्रूरकर्म्मा, अतएव 'क्रूर' अभिधा से लोक में ख्यातिप्राप्त भयानक देवासुरसंग्राम से पहिले देवदेवताओंनें पृथिवी के यज्ञानुबन्धी जीवनीय-रसात्मक जिस 'देवयजन' भाग को धरोहर के रूप में चन्द्रमा में प्रतिष्ठित कर दिया था, उसी जीवदानु भाग को लक्ष्य बनाकर धीर याज्ञिक यज्ञकर्म्म का अनुगमन कर रहे हैं"।**

देवासुरसंग्राम से पूर्व ही पार्थिव देवदेवताओंनें यज्ञकर्म्म के संसाधक जिस देवयजनात्मक-तत्त्व को चन्द्रमा में धरोहर के रूप में सुरक्षित कर दिया है, उसी का उक्त मन्त्राक्षरार्थ के द्वारा पारिभाषिक-स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। प्रासङ्गिक-ग्रहोपग्रहविज्ञान के तात्विक समन्वय के द्वारा उक्त यजुर्म्मन्त्र के रहस्यार्थ का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण ही तद्विज्ञान का निष्कर्षार्थ है, जो कि मन्त्रानुगत रहस्यपूर्ण विज्ञान का अत्यन्त ही चमत्कारपूर्ण उदाहरण ही माना जायगा वैदिक-विज्ञान के क्षेत्र में। प्रतिमार्ज्जनकर्म्मानुबन्धी वैज्ञानिक-इस तथ्य के माध्यम से वैदिक-इतिवृत्तों से अनुप्राणिता उस महती भ्रान्ति का-स्थालीपुलाकन्यायेन निश्चय ही

---

* अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधे:, पङ्कं परे मेनिरे।
सारङ्गं कतिचिच्च सञ्जगदिरे, भूच्छायमैच्छन् परे॥
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलः श्यामं दरीदृश्यते।
तत्-सान्द्रं निशि पीतमन्धतस कुक्षिस्थमाचक्ष्महे॥

निराकरण सम्भव है, जिस भ्रान्ति के कारण **'पुरा क्रूरस्य०'** इत्यादि विशुद्ध-विज्ञानेतिवृत्तात्मक मन्त्रों के तत्त्वार्थ-समन्वय-प्रसङ्ग में मानवप्रज्ञा संशयशीला बन जाया करती है, इसी निवेदन के साथ उदाहरणात्मक यह द्वितीय-संस्मरण उपरत होरहा है ।

* * * * *

## (ग)-व्यवहारजगत्, और शास्त्रीय-जगत् मे अनुप्राणिता पारिभाषिकी-प्रणामविधि का संस्मरण, और आज के लोकव्यापक "नमस्ते" के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

यज्ञविद्या प्रकृतिसिद्धा वह प्राणविद्या है, जिसका मानवीय-कल्पना, सामयिकी मान्यता आदि से संस्पर्श भी नहीं माना जासकता । मानवकृत वैध यज्ञों के बड़े छोटे यच्चयावत् यज्ञिय-कर्म्मों का स्वरूप प्रकृति-सिद्ध-ईश्वरीय आधिदैविक--नित्ययज्ञ के नियमित-पारिभाषिक--ईश्वरीय-नियमोपनियमों पर ही प्रतिष्ठित-व्यवस्थित हुए हैं । **'देवानुविधा वै मनुष्याः'-'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि'-'प्रकृति-वद्विकृतिः कर्त्तव्या'** इत्यादि श्रौत आदेश इसी तथ्य का समर्थन कर रहे हैं । जैसाकि अन्यान्य-धार्म्मिक क्षेत्रों में आज मानवप्रज्ञा दिग्देशकालानुगता युगधर्म्म--निबन्धना अपनी भावुकता से यथेच्छ परिवर्तन कर रही, और बलपूर्वक करा रही है, एवमेव विज्ञानभित्ति पर प्रतिष्ठित **'यज्ञकर्म्म'** जैसे वैज्ञानिक-कर्म्म के सम्बन्ध में भी, तन्निबन्धन यज्ञानुगत वैदिक शब्दों के व्यवहार के सम्बन्ध में भी अर्वाचीन वेदभक्तविशेषों के द्वारा आपातरमणीया वैसी अनर्गला कल्पनाएँ उपक्रान्त होपड़ीं हैं, जिनका प्रकृतिसिद्ध-यज्ञानुगत पारम्परिक-श्रौत-पद्धतियों से अंशतः भी तो सम्पर्क नहीं है । श्रुतिपद्धति के विरुद्ध-केवल-कल्पना से प्रसूत इत्थंभूत-काल्प-निक-यज्ञकर्म्मों के जो भीषण परिणाम हुए हैं, श्रुतिने-**'अनवर्श'** के माध्यम से उसी का स्वरूप-विश्लेषण किया है, जोकि आज के नवीन उन वेदभक्तों के उद्बोधन के लिए पर्य्याप्त मान लिया जायगा, जो अपने कल्पना के साम्राज्य में हीं यज्ञ जैसे प्राणप्रधान-दिव्यकर्म्म को **'हवाफिल्टर'** के युगानुगत महान् लौकिक व्यामोहन से समन्वित करते हुए उसमें अपनी कल्पना से ही केशर-कर्पूर-चन्दनादि यथेच्छ सुगन्धि-द्रव्यों का समावेश कर रहे हैं, जिनका पारम्परिकी किसी भी श्रौत-स्मार्त्त-पद्धति में संस्मरण भी नहीं हुआ है ।

महद्दुर्भाग्य तो आज यह माना जायगा कि, जो सनातनधर्म्मावलम्बी-जगत् अबतक यज्ञकर्म्म के सम्बन्ध में अमुक सीमापर्य्यन्त अमुक-श्रौती-स्मार्त्ती-परम्परा का ही सर्वात्मना नहीं, तो भी अँशशः-अनुगमन करता आरहा था, उसके अमुक नेता महानुभावों के भी मानस-सरोसरवर में 'यज्ञ' के नाम से आज विचित्र-विचित्र-वैसे यज्ञकर्म्मों की बाढ़ सी आरही है, जिनका प्रकृतिसिद्ध-आधिदैविक-यज्ञ के साथ यत्-किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं माना जासकता । **'विश्वशान्ति'** के व्याज से आज भारत में सर्वत्र धार्म्मिक-नेताओं के द्वारा **'जपयज्ञ'-'नामसंकीर्तनयज्ञ'--'चण्डीयज्ञ'** आदि आदि रूपेण यज्ञप्रवाह प्रक्रान्त है, जिस इस प्रवाह का अन्तिम उदर्क क्या होगा ?, इसका उत्तर भी श्रुति के तथोक्त-प्रासङ्गिक-अनवमर्शात्मक-उस कर्म्मविशेष से अवश्य ही उपलब्ध होजाना चाहिए उन प्रवाहवादियों को, जो यज्ञव्याज से आज इन भारतीय-विभूतियों ( यज्ञादि कर्म्मों ) के प्रति शेषभूता भी श्रद्धा को सदा सदा के लिए स्मृतिगर्भ में विलीन

करने के लिए ही मानो आतुर बने हुए हैं। कथानक आज से अनेक सहस्रों वर्ष पूर्व का होता हुआ भी वर्त्तमानयुगानुबन्धिनी अमुक-मनोवृत्ति से सर्वात्मना समतुलित है। तदेव श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यव-धार्य्यताम् !!

"पुरा देवयुगे भारतीय द्विजाति-मानवों की श्रुतिसिद्ध यज्ञकर्म्मों के प्रति सर्वथा अश्रद्धा होगई। फलतः इन्होंनें यज्ञकर्म्म का परित्याग कर दिया। इस घटना का समाचार जब देवेन्द्र के समीप पहुँचा, तो उन्होंनें देवगुरु आङ्गिरस-बृहस्पति को स्वर्ग से पृथिवीलोक ( प्राचीसरस्वती के सन्निकट विद्यमान भौम-देवस्वर्ग-प्रदेश से-पृथिवी नामक-भारतवर्ष ) में भेजा तत्कारण-परिज्ञान के लिए। बृहस्पति यहाँ आए, और प्रश्न किया कि-'**कथा न यजध्वम्**' (हे मनुष्यो! तुम यज्ञानुष्ठान क्यों नहीं करते?)। ( मानवोंनें उस समय जो उत्तर दिया था, वह आज के धर्म्मभीरु मानव के सम्बन्ध में भी अक्षरशः चरितार्थ होरहा है )। मानब कहने लगे कि, बृहस्पते! हम देख सुन रहे हैं कि, जो यज्ञ कर रहे हैं, वे दिन दिन दुःखी होते जारहे हैं, और जो यजन नहीं करते, वे लोकसमृद्धि से समन्वित होते जारहे हैं, '**य उ यजन्ते, त उ पापी-यांसो भवन्ति, य उ न यजन्ते--ते श्रेयांसः'--किकाम्या यजेमहि**', फिर भला हम क्यों, किस कामना के लिए यज्ञ करैं! आज भी तो धर्म्म के सम्बन्ध में अमुक भावुक-वर्ग की यही धारणा सुनी जारही है कि—'**धर्म्मिष्ठ व्यक्ति आज के युग में दुःखी हैं, एवं धर्म्मनिरपेक्ष मानव, और धर्म्मद्वेषी मानव लोकसमृद्धि से समन्वित देखे--सुने जारहे हैं**'। कहना न होगा कि--देवयुगानुगता तत्पूर्वधारणा की ही भाँति आज धर्म्म-क्षेत्र के सम्बन्ध में भी भावुकवर्ग इसी हेत्वाभास के द्वारा अश्रद्धालु बनता जारहा है।

बृहस्पति समझ गएकि, अवश्य ही मनुष्योंनें यज्ञकर्म्म में किसी मानवीया कल्पना का समावेश कर दिया है, एवं उसी से इष्टसाधक भी यज्ञ अनिष्टजनक बनाया है। यही निर्णय कर बृहस्पति ने आदेश दिया कि,-'हे मनुष्यो! तुम एक बार हमारे सम्मुख यज्ञ का अनुगमन करो। मनुष्योंनें वैसा ही किया, कर्म्म-आस्तरण से पूर्व ही जब वे वेदि का स्पर्श करने लगे, तो तत्काल बृहस्पति ने उनका नियन्त्रण करते हुए यही उद्बोधन प्रदान दिया कि, इस पद्धति-विरुद्ध स्पर्शदोष से ही इष्टजनक भी यज्ञने तुह्मारा अनिष्ट कर डाला। अतएव तुह्में भविष्य में वेदिका स्पर्श किए बिना ही यजन करना चाहिए। '**आक्रियत--इति?**' अर्थात् कबतक वेदिका स्पर्शन न करैं?, प्रश्न करने पर उत्तर मिला कि-'**आबर्हिषस्तरणात्**', अर्थात् जबतक वेदिपर कुशाएँ न बिछादी जायँ। दर्भ में वैसा क्या अतिशय है-जिसके आस्तरण के अनन्तर वेदिस्पर्श से अनिष्ट नहीं होता?, इत्यादि प्रश्नों की वैज्ञानिकी-मीमांसा करने वाले इस-'**अनवमर्श**' कर्म्म से निवेदनीय यही है कि, यज्ञकर्म्मों में अपनी मानुष-कल्पनाओं के यत्किञ्चित् भी समावेश से तन्मूलभूत आधिदैविक यज्ञ की अविच्छिन्ना छन्दोबद्धा प्राणधारा का सम्बन्ध नहीं होपाता। उस अवस्था में यज्ञकर्म्म यातयाम (व्यर्थ) बन जाता है, और कभी कभी तो प्राणधारा का यदि विपरीत भी सम्बन्ध होजाता है, तो वही यज्ञ इष्ट के स्थान में उसी प्रकार अनिष्ट का ही कारण बन जाता है, जैसे कि इन्द्रनाशार्थ कृत यज्ञ से '**इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व**' से अनुगत-'**स्वरदोष**' के कारण वृत्रासुर ने अपना ही सर्वनाश करा लिया था *।

---

* **दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।**
**स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥**

उक्त ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर ही तो हमें यह निवेदन करना पड़ा कि, आधिदैविक-प्राणजगत् से अनुप्राणिता यज्ञक्रिया, और तदनुबन्धी-पारिभाषिक-याज्ञिक-शब्द लोकधरातल से, लोक-समाजानुगत-सामान्य-लौकिक-व्यावहारिक-क्षेत्र से सर्वथा असंस्पृष्ट ही हैं, जिनकी इतिकर्त्तव्यता में, एवं जिन शब्दों के उच्चारण में मानवीया लोककल्पनाओं का प्रवेश सर्वथा ही निषिद्ध माना गया है। अर्वाचीन वेदभक्तों की यज्ञकर्म्मानु-बन्धिनी केशर-कर्पूर-चन्दननादि-प्रवेश की कल्पना की ऐसी दशा में क्या स्वरूप-स्थिति है ?, एवं सनातन-धर्म्मावलम्बी-परम्पराभक्त-उन महानुभावों के तथोक्त आडम्बरपूर्ण कल्पनाप्रधान-आज के नामयज्ञ-भूदानयज्ञ-अमुकतमुक-यज्ञ-आदि आदि यज्ञविजृम्भणों के कारण अदृष्ट में कितने, और कैसे भीषण परिणाम घटित विघटित होते होंगे उनकी काल्पनिकी विश्वशान्ति के समतुलन में ?, इन अवैध-प्रश्नों का उत्तर तो उन्हीं से प्राप्त करना चाहिए ।

ठीक यही स्थिति-**'शब्दव्यवहार'** के सम्बन्ध में घटित होरही है। प्राणप्रधान वैदिक-शब्दों को लोकधरातल पर ला खड़ा करना भी वैसा ही अपराध है, जैसाकि प्राणप्रधान-यज्ञकर्म्मों में लौकिकी मान्यताओं का समावेश अपराध माना गया है। अधिक विस्तार में न जाकर आज हम अर्वाचीन उन वेदभक्तों का ध्यान अभिवादन-पद्धति से अनुगत उनके सर्वप्रिय उस **'नमस्ते'** नामक वैदिक-शब्द के पारिभाषिक-तथ्य की ओर ही आकर्षित कर देना चाहते हैं उदाहरणरूपेण, जिसका वे खाते-पीते-उठते-सोते-जागते-अपने समस्त वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-व्यवहारों में उद्घोषपूर्वक—**'नमस्ते महाशय ! नमस्ते देवीजी ?'** आदि रूपेण यशोगान ही करते रहते हैं।

मानते हैं-'**नमस्ते**' वैदिक शब्द है, और इसीलिए लौकिक-जगत् के अभिवादनीय-शब्दों की अपेक्षा-अभिवादन के लिए सवश्रेष्ठ शब्द भी। किन्तु ततः किम् !। 'स्वाहा -**'स्वधा'** **'वौषट्'**-आदि सभी वैदिक शब्दों का फलितार्थ है-अन्नरूप आहुतिद्रव्य से प्राणदेवताओं को तृप्त करना। क्या प्राणात्मक-देवजगत् में सभी प्राणदेवों के लिए स्वाहादि शब्द काम में ले लिए जायँगे ? । कदापि नहीं। ऐसा करना तो वह महान् **'जामि'** दोष माना गया है, जिससे कर्म्म का स्वरूप ही विकृत होजाता है। फलतः **'स्वाहा'** शब्द अग्नि-प्रमुख देवताओं के लिए ही नियत है। **'स्वधा'** शब्द का पितृदेवताओं से ही सम्बन्ध है, तो केवल इन्द्र के लिए ही **'इन्द्राय वौ ३ षट्'** रूपेण 'वौषट्' शब्द नियत है। और यों स्वयं प्राणजगत् में भी प्राणात्मक-वैदिक-शब्द जब प्राणवर्गभेद से विभिन्न स्थानों में विभाजित हैं, तो उन प्राणव्यवहार-प्रधान वैदिक शब्दों का लोकधरातल में तो उपयोग अभिमत ही कैसे होसकता है वेदशास्त्र को, जो भूत-प्रधान-लोकव्यवहार से अपना क्षेत्र सर्वथैव एक विशेष अतिशय से समन्वित रखता है। इसी आधार पर हम अर्वाचीन-वेदभक्तों के **'नमस्ते'** नामक प्राणप्रधान-वैदिक शब्द के उस आज के लौकिक-व्यवहार को इष्ट के स्थान में सर्वथा अनिष्ट का ही जनक मानेंगे, जो **'नमस्ते'** शब्द एक साङ्क्रामिक रोग की भाँति आज भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में व्याप्त होता जारहा है अपनी लोकानुगता-परम्परा से अनुप्राणित-**'जय माता जी की'-'जय गोविन्दजी की'-'जय रघुनाथजी की'-'जयराम जी की-'जय श्रीकृष्ण की'** **'जय विश्वनाथ'** **'जय गङ्गे'** आदि इष्ट जनक परम-माङ्गलिक-सनातन-शब्द व्यवहारों की आत्यन्तिक उपेक्षा ही करता हुआ, जिससे अधिक पर प्रत्ययनेयता आज के भावुक मादृश-भारतीय-मानव की और क्या होगी ? !

अपने बचपन में अमुक दो वेदभक्तों में हीं प्रचलित प्रचण्ड-शास्त्रार्थों की चर्चा में हम जब **'नमस्ते'** शब्दमूलक कलह सुनते थे, तो हमें स्वतः ही यह कुतूहल होता था कि, जो 'नमस्ते' शब्द-**'नमस्ते रुद्र**

मन्यवे०' इत्यादि रूपेण भगवान् शङ्कर के सम्मुख होने वाले रुद्रपाठों में लोकप्रसिद्ध है, सनातनधर्म्मावलम्बी-जगत् क्यों व्यर्थ में हीं अर्वाचीन वेदभक्तों से इस दिशा में वाक्कलह कर रहा है ?। इस कुतूहल के उपशमन के लिए जब हमने उस युग के प्रचण्ड–शास्त्रार्थियों की 'नमस्ते मीमांसा' देखी, तो सहसा मन ग्लानि से ही भर गया उसके काल्पनिक–तर्कों को देख कर। क्या इसी का नाम सनातनधर्म्मनिष्ठा है ?, प्रश्न दृढ़ मूल बन गया वैसे मीमांसा–निबन्धों को देख कर। आगे चल कर वेदपुरुषानुग्रह से शतपथ-ब्राह्मण का क्रमबद्ध स्वाध्याय–युग उपस्थित हुआ, और उसी के परिणाम–स्वरूप शतपथ के नवमकाण्डीय–अमुक–सन्दर्भ के स्वाध्याय से 'नमस्ते' शब्दानुबन्धिनी उस विप्रतिपत्ति का यथार्थ समाधान उपलब्ध हुआ, जिसका 'अनवर्शकर्म्मप्रसङ्गत:' हमने प्रक्रान्त क्रमप्राप्त १४ वें कर्म्म में दिग्दर्शन करा दिया है,-तत्-श्रौत-सन्दर्भ-के पारिभाषिक-अर्थ–समन्वय के साथ। समन्वय का पारिभाषिक तथ्य अवश्य ही अर्वाचीन वेदभक्तों को भी उनके नमस्ते व्यवहार के प्रति उन्हें जागरूक करेगा, और तदनुवर्त्मा गतानुगतिक अन्य वर्ग भी इस दिशा में अवश्यमेव तथ्य का ही अनुगमन करेंगे, इसी मङ्गलकामना के साथ प्रकृत में केवल वह श्रौतसन्दर्भ ही हम उद्धृत कर रहे हैं संस्मरण के रूप में, जिसका पारिभाषिक–समन्वय तत्प्रकरण में ही द्रष्टव्य है, इसी निवेदन के साथ यह संस्मरणत्रयी–विश्रामपथानुगामिनी बन रही है, जिसका वेदिपरिग्रहात्मक–१४ वें कर्म्म से ही सम्बन्ध है—

"चतुर्दशैतानि यजूंषि भवन्ति। त्रयोदश मासाः सम्वत्सरः प्रजापतिश्चतुर्दशः। प्रजापतिरग्निः। यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा, तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति–नमो नमः-इति। यज्ञो वै नमः। यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति। तस्मादु ह नायज्ञियं ब्रूयात्-'नमस्ते'-इति। यथा हैनं ब्रूयात्-यज्ञस्ते-इति, तादृक् तत्"।

—शतपथब्राह्मण ९ का० १।१।१६ कं०।

(१४)–५

* * * * *

श्रीः

# (१५)–द्रव्यसंस्कारकर्म्म–प्रसङ्गतः स्त्री–स्वातन्त्र्यादि–कतिपय– "तथ्यपूर्ण–प्रसङ्गों का पारिभाषिक–संस्मरण"

## ६

---

### क)--पत्नी--सन्नहनात्मक--कर्म्मानुगत--संस्मरण—

यज्ञकर्म्म उस प्रकृतिसिद्ध आधिदैविक सौर-पार्थिव (द्यावापृथिव्य) सम्वत्सरयज्ञ की प्रतिकृति है, जिसका स्वरूप ज्योतिश्चक्रात्मक (खगोलात्मक) पूर्ण-सौर–मण्डल माना गया है। सम्पूर्ण सम्वत्सर-मण्डल-सूर्य्या–चन्द्रमसौ' रूपेण दृश्य-अदृश्य–रूपेण–दो अण्डकटाहों में विभक्त माने गए हैं, जो क्रमशः–सौर–अर्द्धाकाश, चान्द्र–अर्द्ध–आकाश–कहलाए हैं। अहःकालानुगत–दृश्य–अग्निप्रधान–सौर–अर्द्ध–अण्डकटाह के द्वारा 'पुरुषसृष्टि' हुई है, एवं रात्रिकालानुगत–अदृश्य–सोमप्रधान–चान्द्र–अर्द्ध–अण्डकटाह के द्वारा–'स्त्रीसृष्टि' हुई है। यों एक ही आधिदैविक–सम्वत्सर–यज्ञेश्वर विभागात्मक–अपने दोनों आकाशों से क्रमशः पुरुष, और स्त्री के स्वरूप-प्रवर्त्तक बने हुए हैं। यों दोनों अपने अपने रूपों से अर्द्ध–अर्द्ध–ही यज्ञ हैं। पूर्णयज्ञेश्वर के साथ पुरुष तभी अन्तर्य्याम–सम्बन्ध–स्थापित कर सकता है, जब कि वह अपने अर्द्ध–रिक्त-चान्द्र आकाश को परिपूर्ण करले। वह आकाश पूर्ण बनता है 'पत्नी' के द्वारा ही, जैसाकि-'सोऽयमाकाशः पत्न्यापूर्य्यते' से स्पष्ट है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' रूपेण भगवान् पाणिनि भी 'पत्नी' शब्द के द्वारा दाम्पत्यमूलक–इसी यज्ञसम्बन्ध का समर्थन कर रहे हैं। संसिद्ध है कि, बिना पत्नी के पतिदेव कदापि यज्ञकर्म्म में अधिकृत नहीं होसकते। यों अनिवार्य्यरूपेण यज्ञकर्म्म में यजमान के साथ यजमानपत्नी का भी समन्वय प्रमाणित होजाता है। यज्ञकर्म्म में समाविष्ट यजमानपत्नी के अधोवस्त्र पर कटिप्रदेश में मूँज का 'योक्त्र' नामक रज्जुबन्धनसूत्र बाँधना अनिवार्य्य माना है यज्ञकर्म्मरहस्यवेत्ताओंनें। यही योक्त्रबन्धनकर्म्म कहलाया है, और तन्निबन्धन पारिभाषिक कर्म्म ही–'पत्नीसन्नहनकर्म्म' है, जिसका स्पष्ट अर्थ है—'पत्नी का सूत्रबन्धन से पारतन्त्र्य', जिस इस तथ्य के आधार पर ही स्मृतिशास्त्र का–'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' यह वैज्ञानिक सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

विकृतिभावनिबन्धन प्रत्यक्षदृष्ट–केवल–पार्थिव–शरीरों के आधार पर ही मानवस्वरूप का पर्य्यवसान मान बैठने की भयावहा भ्रान्ति करने वाले आज के भूतसाम्यवादियों की दृष्टि में 'समानाधिकाररूप' वह महान् व्यामोहन जागरूक होपड़ा है भूतसाम्यानुगामी प्रतीच्य-जगत् के संसर्गजनित दोष के कारण, जिस महान् व्यामोहन से व्यामुग्ध तदनुगामी मानव स्त्री के साथ परतन्त्र शब्द का स्वाप्निक सम्बन्ध भी मानने के लिए

सम्बद्ध नहीं है। अतएव यज्ञकर्म्मानुबन्धी–परतन्त्रताप्रवर्त्तक–'पत्नीसन्नहनकर्म्म' आज के युग के लिए एक अमानवीय-विधान ही बन सकता है, किंवा मान लिया जासकता है। इसी प्रसङ्ग से तत्कर्म्मानुबन्धेन स्त्री-स्वातन्त्र्य, पारतन्त्र्य से सम्बन्ध रखने वाली उस समस्या का निराकरण--प्रयास हुआ है, जिसके द्वारा ही आज के समानाधिकार-पक्षपातियों का सन्तोष कराया जासकता है।

मानव के मनःशरीर का मानवी के साथ आकस्मिक–सान्निध्य ही मानव को 'सहकामचारी', और मानवी को 'सहकामचारिणी' बना देता है, जिस इत्थंभूत–अमर्य्यादित–स्वैराचार को ही आज की भाषा में स्त्रीस्वातन्त्र्य, और पुरुष–स्वातन्त्र्य–अभिधा प्राप्त होरही है, जिस का मानव–मानवी के वास्तविक 'तन्त्र' रूप–'स्व' रूप आत्मबुद्धिक्षेत्र के दाम्पत्य का यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। मनःशरीर–माध्यमेन मानव के साथ होने वाला मानवी का-आत्मबुद्धिनिबन्धन–श्रद्धादिमूलक–सहज दाम्पत्यभाव ही वास्तविक–सम्बन्ध है, जिस सम्बन्ध से अनुप्राणिता पत्नी ही–'सहधर्म्मचारिणी' कहलाई हैं, जिस का–'सह धर्म्मं चरताम्' से संस्मरण किया गया है। धर्म्माचरणानुगत प्रकृतिसिद्ध इस सहज दाम्पत्य में स्त्री, और पुरुष दोनों हीं अमुक मर्य्यादासूत्रों से आबद्ध रहते हैं, जिस मर्य्यादासूत्र–बन्धन से ही दोनों के–'स्व'–'स्व' तन्त्र स्वस्वरूपतः सुरक्षित रहते हैं। यही परतन्त्रतात्मक–मर्य्यादासूत्र का निष्कर्षार्थ है, जिसके तथ्य से अपरिचित, प्रत्यक्ष–प्रभावमूला भावुकता से उत्तेजित मानव आज एकमात्र मनःशरीरभावों पर ही मानव, और मानवी का स्वरूप–पर्य्यवसान–मानता हुआ उस उच्छृङ्खल–अमर्य्यादित–पशुसमतुलित–स्वैराचार को ही 'स्त्रीस्वातन्त्र्य'– और 'पुरुषस्वातन्त्र्य' की संज्ञा दे बैठा है, जिस अर्थकाममूला इत्थंभूता काल्पनिकी 'स्वतन्त्रता' से ही मानव–मानवी–का सहजसिद्ध निःश्रेयसानुगत अभ्युदय सर्वथा ही पलायित होगया है। शेष क्या रह गया है ?, प्रश्न के दुःखपूर्ण इतिवृत्त का संस्मरण भी-'कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः' वाक् का स्मरण कर रहा है।

पुरुष, और स्त्री के प्रकृतिसिद्ध 'स्वानुगत' 'स्वतन्त्र' तन्त्र के स्वरूप-समन्वय के बिना स्वतन्त्र–परतन्त्र–शब्दों का पारिभाषिक-समन्वयार्थ-क्योंकि–सम्भव नहीं है। अतएव तत्प्रकरण में सर्वप्रथम वैदिक–पारिभाषिक–निगमों के आधार पर इन दोनों के स्वरूप का ही स्पष्टीकरण हुआ है। तदाधार पर ही स्त्री–स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य के सृष्टिविद्या-सम्मत-श्रौत-तथ्यों का 'अग्नि-सोम-विद्या' के माध्यम से समन्वय-प्रयास करते हुए ही ऋतधर्म्मप्रधाना स्त्री के बाह्य–ऋतस्वरूप के संरक्षक–मर्य्यादासूत्रानुगत–पारतन्त्र्य–का स्पष्टीकरण हुआ है, जो पारतन्त्र्य वस्तुगत्या स्त्री के बाह्य ऋतधर्म्म का स्वरूपरक्षक बनता हुआ स्त्रीस्वातन्त्र्य का ही संरक्षक है। और प्रस्तुत–पत्नीसन्नहनकर्म्मानुगत योक्त्रबन्धन से सम्बन्ध रखने वाले प्रासङ्गिक–तथ्य का यही संक्षिप्ततम–संस्मरण है।

* * * * * *

## (ख)–'नीरक्षीरविवेकन्याया' नुगत-संस्मरण—

संस्कृतसाहित्य में 'नीरक्षीरविवेकन्याय' नामक एक न्याय सुप्रसिद्ध है, जिस का उपयोग सदसद्वि-वेकशालिनी–प्रज्ञा के अतिशय के सम्बन्ध में हीं देखा, सुना जाता है। इस लोकप्रसिद्ध न्याय की आधारभूमि वैदिक-वह 'आज्यदर्शन' कर्म्म ही माना गया है, जिस का पत्नीसन्नहनकर्म्म से ही सम्बन्ध है। यज्ञ में

समाविष्टा यजमानपत्नी "आज्यदर्शन" करती है, जिस के सृष्टिनिबन्धन-वैज्ञानिक-पारिभाषिक-तथ्य के आधार पर ही-'नीरक्षीरन्याय' अभिव्यक्त हुआ है। तत्प्रकरण में इस न्याय के वैज्ञानिक-रहस्य का ही स्पष्टीकरण-प्रयास-हुआ है।

संस्मरणात्मक-तत्-न्याय का निष्कर्ष यही है कि, यद्यपि मानव, और मानवी, दोनों के ही पाञ्चभौतिक-शरीरसंस्थानों की स्वरूपाभिव्यक्ति का मौलिक-आरम्भणद्रव्य ( उपादानद्रव्य ) पारमेष्ठ्य-'नीर' ( सलिल-रूप-ऋतभावपन्न-अप्तत्त्व ) ही है, जैसाकि-'आपः पुरुषवचसो भवन्ति'-'सर्वमापोमयं जगत्' इत्यादि श्रुति-स्मृति-वचनों से प्रमाणित है। तथापि यह आश्चर्य्य है कि, मानव का उपादानभूत नीर जहाँ क्षीर के आधान से वञ्चित रहता है, वहाँ एकमात्र मानवी के उपादानभूत-नीरभूत आपोद्रव्य में हीं प्रकृति की ओर से सहजरूपेणैव उस 'क्षीर' का आधान होजाता है, जिस का उत्तररूप-'आज्यद्रव्य' ( घृत ) माना गया है। नीर में आहित क्षीर ही मानवी को मातृपद-जननी-पद-आरूढ करता है, जो कि सृष्टिकर्म्म का अन्यमत महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना गया है। इसी क्षीराधान के अतिशय से माता का स्थान पिता की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठतम मान लिया गया है।

क्षीरमय दुग्ध-सोमतत्त्व है, और इसी पारमेष्ठ्य-सोमतत्त्व का नाम है वह-वीभ्र-महद्ब्रह्म, जिस के आधार पर ही चिदात्मा अंशरूपेण गर्भीभूत बना करता है। यों चिदात्मा की गर्भात्मिका अभिव्यक्ति का आधार भी सोममय-महद्ब्रह्माभिन्न-क्षीरतत्त्व ही प्रमाणित होरहा है। सोमात्मक-क्षीर का वह पारमेष्ठ्य समुद्र ही क्षीरशायी पारमेष्ठ्य विष्णु की आवासभूमि माना गया है पुराणशास्त्र में। 'तदप्सु पयो हितम्' रूप तत्प्रकरण का श्रुतिवचन ही मातृभावानुगत-अप्-रूप नीर में पयोरूप क्षीर के आधान का समर्थक बनता हुआ-'नीरक्षीरविवेकन्याय' का परम्परया समर्थक प्रमाणित होरहा है, और यही इन अत्यन्त-रहस्यपूर्ण-तत्त्वात्मक-न्याय के वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण का संक्षिप्ततम-संस्मरण है।

(१५)—६

*　*　*　*　*

श्रीः

# (१६)–आज्यगृहणकर्म्म–प्रसङ्गतः-

# 'त्रिविध-यज्ञविज्ञान का स्वरूप-संस्मरण'

७

---

क्रमप्राप्त–'आज्यग्रहण' नामक १६ वें कर्म्म में तत्कर्म्मेतिकर्त्तव्यता के समन्वय के अतिरिक्त उस 'त्रिविध–यज्ञविज्ञान' के पारिभाषिक–स्वरूप का ही स्पष्टीकरण–प्रयास हुआ है, जिस के बिना 'विधि' भाग नाम से प्रसिद्ध 'ब्राह्मणग्रन्थों' में प्रतिपादित याज्ञिक–कर्म्मकाण्ड नवशिक्षित मानव की दृष्टि में सर्वथा ही अकिञ्चित्कर प्रमाणित होगए हैं। आज का युग अहर्निश जिस 'सायंस' का उद्घोष कर रहा है, उस का अर्थ यदि 'विज्ञान' मान लिया जाता है, तो * इस भारतीय–पारिभाषिक–'विज्ञान' शब्द के माध्यम से सहसा उस आज की 'भौतिक–विज्ञान–निबन्धना' भ्रान्ति की अभिव्यक्ति सम्भव बन जाती है, जिस का अधिदैवतानुगता ईश्वरीय-संस्था से, एवं अध्यात्मसंस्था से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। भारतीय–विज्ञान-शब्द भारतीय शब्द है, जिस के गर्भ में ही तच्छब्दार्थ का पारिभाषिक–समन्वय निरूढ है, एवं यही भारतीय–संस्कृत–वैदिक–शब्दों की वह रहस्यपूर्णा वैज्ञानिकता है, जिस का साम्य इतर भाषानुबन्धी यदृच्छात्मक–लौकिक–शब्दों से कदापि सम्भव नहीं है। प्रत्येक शब्द का वैज्ञानिक–चिरन्तन–पारिभाषिक–इतिवृत्त तत्–शब्द के निर्वचनात्मक समन्वय से ही अनुप्राणित है। उदाहरण के लिए 'हृदयम्' शब्द को ही लीजिए, जिस का स्वरूप-निर्म्माण–'हृ–द–यम्' रूप तीन अक्षरों से हुआ है, जिन का क्रमशः 'आगति–गति–स्थिति' नामक तीन धर्म्मों से क्रमिक सम्बन्ध है। यों धर्म्मत्रयावच्छिन्न–त्र्यक्षरात्मक 'हृदयम्' शब्द केन्द्रा–नुगत उस शक्तित्रयी की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जिस केन्द्रात्मिका-आगति-गति-स्थिति-लक्षणा शक्तित्रयी के सहसमन्वयात्मक केन्द्रबल पर ही वस्तुपिण्ड, एवं वस्तुमण्डल की स्वरूप-स्थिति सुरक्षित रहा करती है।

ठीक यही स्थिति-'विज्ञान' शब्द के साथ समन्वित माननी पड़ेगी, और इस दृष्टि से कदापि भूत-विज्ञाननिबन्धन आज के प्रत्यक्षदृष्ट केवल 'सायंस' पर ही इस पारिभाषिक- विज्ञान शब्द का विश्राम नहीं माना जासकेगा। भारतीय–'विज्ञान' शब्द के तथाभूत 'पारिभाषिक' तथ्य का शतपथ–प्रथमखण्ड की

---

* जिसप्रकार पारिभाषिक संस्कृति–सभ्यता–आदि भारतीय मौलिक–शब्द अन्धानुकरन्यायेन "कल्चर"-"सिविलाइजेशन" आदि प्रतीच्य–शब्दों के आज पर्य्याय मान लिए गए हैं, एवमेव 'विज्ञान' शब्द जैसे पारिभाषिक शब्द को भी आज 'सायंस' शब्द का पर्य्याय माना जारहा है, जो कि पर्य्यायता सर्वथा आपातरमणीया ही माना जायगी।

प्रस्तावना में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है *। प्रकृत में तत्परिभाषा से उपनिबद्ध-'विविधं-ज्ञानं-विज्ञानम्' रूप 'विज्ञान' शब्द से अनुप्राणित-'वि' उपसर्ग के 'विविधम्' का-'त्रिःसन्या वै देवाः' इस अनुगमवचन के अनुसार- 'त्रिविधम्' अर्थ मानते हुए प्रस्तुत 'आज्यग्रहणब्राह्मण' में दैवत-आत्मिक-भौतिक-नामक त्रिविध-विज्ञानभावों का ही स्वरूप-समन्वय हुआ है, जिसके समन्वयात्मक-पारिभाषिक-तत्त्वार्थबोध के अनन्तर यज्ञकर्म्मनिबन्धना उन सभी आपातरमणीया भ्रान्तियों का आत्यन्तिकरूपेणैव निराकरण होजाता है, जिस निराकरण के बिना आज हमारी मानसी श्रद्धा ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित अभ्युदयसंसाधक-यज्ञकर्म्मों की ओर से सर्वथैव तटस्था बनती चली जारही है।

'विज्ञान' शब्द के उक्त समन्वयार्थ का कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि, भारत के वैज्ञानिक-महर्षि भौतिक-विज्ञानात्मक-पदार्थविज्ञान के, एवं तन्निबन्धन भौतिक-आविष्कारों के शत्रु थे, किंवा आविष्कारों को निरर्थक मानते थे। यदि ऐसा होता, तो कदापि सुप्रसिद्ध-भौतिक-विज्ञानाविष्कारक-ऋभु-विभ्वा-वाज, आदि वैज्ञानिकों के द्वारा आविष्कृत विभिन्न भौतिक-आविष्कारों का स्वयं ऋक्संहिता में यशोवर्णन उपलब्ध ही नहीं होता। एतदतिरिक्त-'दिवि च भुविचाप्याहतगतिः' रूप विमानविशेष, आकाश में सञ्चरण करते हुए ही एकत्र स्थितिभाव में परिणत होजाने वाले अद्भुत विमान, हर्य्यश्व-सौम-आदि अन्यान्य आविष्कार भी इसके प्रत्यक्षतम दृढतम-प्रमाण हैं कि, भारतीय-ऋषिप्रज्ञा केवल अधिदैवत, तथा अध्यात्म के सुसूक्ष्म-क्षेत्रों पर ही विश्रान्त नहीं थी। अपितु इसका आधिभौतिक-अभ्युदय पर भी समानाधिकार था। ज्ञानकाण्ड-प्रधान-अध्यात्मपरीक्षाप्रधान स्वयं उपनिषाच्छास्त्र ने भी अध्यात्मविद्या के साथ साथ ही अधिभूत की भी महती उपयोगिता स्वीकार की है, और अधिभूत को ही मानव के अभ्युदयानुगत-निःश्रेयस्-का अन्यतम माध्यम उद्घोषित किया है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है—

**इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीत्-महती विनष्टिः।**
**भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥**

—केनोपनिषदि ÷

यह सब कुछ मानते हुए भी हम भारतीय 'विज्ञानकाण्ड' को निराधाररूपेण केवल इस भूतजगत् पर ही परिसमाप्त इसलिए नहीं कर देते कि, केवल 'भूत' ही मानव के लिए सर्वस्व नहीं है। यही नहीं, दैवतानुगत-अध्यात्म की मूलप्रतिष्ठा से वञ्चित-विशुद्ध भूतवाद तो मानव को तात्कालिकरूपेण तुष्ट-पुष्ट-करता हुआ भी अन्ततोगत्वा इसके सर्वनाश का कारण ही बन जाया करता है। केवल भूतानुगता-लोक-वित्तैषणा-सक्तिनिबन्धना इत्थंभूता परिणामवृत्ति के कारण ही ऋषिप्रज्ञा ने इस भूतविज्ञान को अधिदैवतानुगत-अध्यात्म-विज्ञान से नियन्त्रित कर देना अनिवार्य्य समझा है, और दैवत, तथा आत्म--विज्ञानद्वयी से नियन्त्रित, मर्य्यादित-सच्छन्दस्क उस भूतविज्ञान का ही पारिभाषिक नाम है-'यज्ञविज्ञान', जिसे ऋषिने-'श्रेष्ठतमाय

* इस विषय का स्वतन्त्र-विवेचन-"भारतीय-दृष्टिकोण से विज्ञान शब्द का समन्वय" नामक एक स्वतन्त्र लघुपुस्तिका के रूप में भी संस्थान के द्वारा प्रकाशित होचुका है।

÷ विशद-वैज्ञानिक-समन्वय के लिए देखिए-'केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य'।

कर्म्मणे' ( यजु: सं० ) मन्त्रभाग का अर्थ करते हुए-'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म' (शतपथब्राह्मण) रूपेण 'श्रेष्ठतमकर्म्म' संज्ञा से समन्वित किया है।

प्रज्वलित-भूताग्नि में आज्य (घृत)-तिल-यव-तण्डुल-पुरोडाश-पशुवपा-आदि-आदि द्रव्द-विशेषों की आहुति-प्रदान से अनुप्राणित लोकप्रसिद्ध 'यज्ञकर्म्म' पर ही 'यज्ञ' का वैज्ञानिक-पारिभाषिक-स्वरूप उपरत नहीं है, जैसाकि केवल भूतदृष्टि-परायण अमुक प्रतीच्य वेदव्याख्याताओंनें, तथा तदन्धानुकरणकर्त्ता अर्वाचीन नवशिक्षित भारतीयोंनें मान रक्खा है। अपितु यज्ञविज्ञानानुगत 'यज्ञकर्म्म' तो इस पञ्चमहाभौतिक-विश्व का प्रकृतिसिद्ध वह अटल-विधान है, जिस प्राकृतिक-यज्ञरूप आधिदैविक ईश्वरीय यज्ञ से ही अध्यात्म-यज्ञ की अभिव्यक्ति हुई है, एवं उसी के आधार पर ठीक उसी के नियमोपनियमों के अनुरूप-भारतीय-द्विजातिवर्ग के द्वारा अनुष्ठीयमान आधिभौतिकयज्ञ का स्वरूप-वितान हुआ है, जैसाकि चौदहवें संस्करण-प्रसङ्ग में भी स्पष्ट किया जाचुका है।

मौलिकतत्त्व की पारिभाषिकी-संज्ञा है—'ब्रह्म', एवं यौगिकतत्त्व की पारिभाषिकी-संज्ञा है—'यज्ञ'। 'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' ( गीता ) इत्यादि भगवद्वचन के द्वारा अत्यन्त रहस्यपूर्ण इन्हीं ब्रह्म, और यज्ञ-भावों की ओर सङ्केत हुआ है। अनेक मौलिक तत्त्वों के अन्तर्य्यामात्मक-( रासायनिक- ) सम्मिश्रण से अभिव्यक्त अपूर्वभाव ही 'यज्ञ' का संक्षिप्ततम स्वरूप-परिचय है। सम्पूर्ण विश्व, विश्व के चर अचर यच्चयावत् पदार्थ जिस प्रकृतिसिद्धा बलग्रन्थिनिबन्धना प्रक्रिया के आधार पर अभिव्यक्त हुए हैं, उस प्रक्रियाविशेष का नाम ही 'यज्ञ' है, जिसके वैज्ञानिकोंने दृष्टिकोणभेद से अनेक लक्षण किए हैं *।

प्रत्यक्षदृष्ट-आध्यात्मिक-प्राणिशरीरों में अमुक प्रकार के अवयवसंस्थान क्यों-और कैसे बन जाते हैं !, अमुक बीजों के वपन से वृक्षात्मक स्वरूप की अभिव्यक्ति कैसे होजाती है !, तरलद्रव्याहुति से घनभावापन्ना प्रजा कैसे उत्पन्न होती है !, इत्यादि सृष्टिविषयक-यच्चयावत् प्रश्नों का प्रकृतिसिद्ध-जिस रहस्यपूर्ण विज्ञान से सम्बन्ध है, उसी सृष्टिविज्ञान का नाम है-'यज्ञविज्ञान', जिसे अपनी काल्पनिकी अध्यात्मभावना में आसक्त होने वाले भारतवर्ष ने अमुक शताब्दियों से काल्पनिक ही जगन्मिथ्यात्व के व्यामोहन से व्यामुग्ध होते हुए सर्वथैव विस्मृत कर अपना सर्वनाश ही करा लिया है। और आज अपने लोकप्रदर्शनात्मक-लोकानुरञ्जक-मात्र प्रदर्शनविशेषों को ही अमुक सामयिक-प्रदर्शनों की भाँति-'यज्ञ' कहते हुए ही भारतवर्ष अपनी रहस्यपूर्णा यज्ञविद्या का मानो स्वयं ही उपहास कर रहा है।

यज्ञविद्या कैसी रहस्यपूर्णा है !, प्रश्न के समाधान के सम्बन्ध में उदाहरणमात्र के लिए सुप्रसिद्ध यज्ञविज्ञानवेत्ता महर्षि स्वैदायन के उस पावन प्रसङ्ग की ओर ही हम अपने वेदप्रेमी-पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते हैं, जिनके प्रसङ्ग में तद्युग के सुप्रसिद्ध महर्षि गोतम के सम्मुख महर्षि स्वैदायन के द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक वैसे प्रश्न उपस्थित होपड़े हैं, सम्भवत: आज के प्रवृद्धतम भी भूतविज्ञान के लिए भी वे प्रश्न 'असमाधेय' ही बने रह सकते हैं।

---

*-(१) अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः
(२)-वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः
(३)-अनेक प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः
—इत्यादि

उदाहरणोपस्थिति इसलिए आवश्यक समझी गई है कि, आज हमारे स्वतन्त्र-भारत के स्कूल-कॉलेजो में भी प्रतीच्य-शिक्षापद्धति के अन्धानुकरणानुग्रह से भूगोल-इतिहास-आदि के जो भी पाठ्यग्रन्थ नियत हैं, उनमें वेद-यज्ञ-आर्य्य-अनार्य्य-आदि शब्दों के माध्यम से उन्हीं धारणाओं का यशोगान होरहा है--तच्चरणरजोऽनुवर्त्ती भारतीय अर्वाचीन विद्वानों के द्वारा, जिनका कि विशुद्ध राजनैतिक स्वार्थ-साधन के लिए ही उन चाणाक्षचतुर प्रतीच्य-विद्वानों के द्वारा शिक्षायन्त्र में बलपूर्वक समावेश हुआ था ।

**"आर्य्य लोग वेद को पवित्र ग्रन्थ मानते हैं, अग्नि--वायु--मेघ--आदि प्रकृति के पदार्थों से प्रभावित होकर इनकी स्तुति करते हैं, आग में अमुक पदार्थ डाल कर इन देवताओं को प्रसन्न करते हैं । इन्हीं प्राकृत पदार्थों की स्तुति पूजन के द्वारा आगे जाकर बहुत पीछे उपनिषत्काल में आर्य्यों को एकेश्वरवाद का बोध हुआ"** इत्यादि रूपेण सर्वथैव भ्रान्तिपूर्ण वैसे कुसंस्कार भारतीय-भावुक-प्रज्ञा में जन्मत: ही उस सीमापर्य्यन्त दृढमूल कर दिए जाते हैं, जिसके दुष्परिणाम-स्वरूप वह सदा-सदा के लिए स्वसंस्कृति-साहित्य-सभ्यता-आदि को शून्यवत् मानता हुआ उस ओर से न केवल तटस्थ ही बनकर विश्राम ग्रहण कर लेता, अपितु-प्रतीच्य-जगत् की तत्कालाकर्षणमूला चाकचिक्ययुक्ता-प्रदर्शनपद्धति से निरतिशयरूपेण प्रभावित होता हुआ अपने पुरातन-सनातन,-अतएव शाश्वतीभ्य:-समाभ्य:-नवीन-नवीनतम भी ज्ञानविज्ञानात्मक-गौरव के प्रति प्रतिक्रियावादी ही बन जाता है । इसी प्रतिक्रियावाद का यह भीषण परिणाम है कि, आज के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारत की प्रभुसत्तासमर्था भी प्रजा अपनी तथोक्ता प्राच्या-ज्ञान-विज्ञाननिधि की पुनरभिव्यक्ति के प्रयास के स्थान में—**'पुराना सब सड़ा गला है--हमें सब कुछ नवीन ही निर्म्माण करना है'** इसप्रकार के अनर्गल-मत्त प्रलापों की ही अनुगामिनी बनी हुई है, जिससे बड़ा सांस्कृतिक अध:पतन इसका और क्या होगा ? ।

हाँ, तो उस 'पुराने-सड़े--गले ?' यज्ञविज्ञानानुबन्धी-एक यज्ञिय-उदाहरण की ओर ही आज के 'तरोताजा--वादियों' की युगधर्म्म--निबन्धना उस महती ? प्रज्ञा का ध्यान हम आकर्षित करना चाहेंगे, जिन नवीनतावादियों की स्वतन्त्रा विशाला अच्छन्दस्का दृष्टि में भारत के प्रज्ञाकोश में केवल रूढिवाद के अतिरिक्त तात्त्विक ? विज्ञान ? से अनुप्राणित कुछ भी तो दायाद शेष नहीं है आज के सर्वसमृद्ध ? भूतविज्ञान के समतुलन में ।

सुप्रसिद्ध पश्चिमोत्तरदेश-पञ्चनद ( पञ्जाब ) में एकवार उस युग के सुप्रसिद्ध यज्ञकर्म्मनिष्ठ अरुणपुत्र, अतएव 'आरुणि' इस उपनाम से लोक में प्रसिद्ध भगवान् उद्दालकि ( जो कि अपनी प्रचण्डा दुर्द्धर्षा विद्वत्ता के कारण स्वतन्त्र-परिषत् का सञ्चालन करने के कारण 'ब्रह्मा'उपाधि से समलङ्कृत थे ) यज्ञ के 'ब्रह्मा' पद के लिए संकल्पित होकर पधारे । वहाँ उस प्रान्त में महर्षि स्वैदायन नामक अध्यात्मयज्ञरहस्यवेत्ता विद्वान् से उनकी प्राथमिक भेंट हुई, और स्वैदायन प्रश्न करने लग पड़े तत्काल ही इस रूप से कि-'श्रीमान् ! उसे विदेश में 'ब्रह्मा' रूप से वृत होकर आने का साहस करना चाहिए, जो निम्नलिखित प्रश्नों का वैज्ञानिक समाधान करने की क्षमता रखता हो कि—

(१)-बतलाइए ! दर्शपूर्णमास में आठ पुरस्तात् आज्यभाग, पाँच मध्यत:, षट्-प्राजापत्यभाग, उपरिष्टात्-आठ आज्यभाग, इस क्रमसंख्या-विपर्य्यं का क्या तात्त्विक रहस्य है ? ।

(२)–उत्पन्न शिशु के दाँत क्यों नहीं उत्पन्न होते ?, उत्पन्न होने के अनन्तर अमुक अवधि में दाँत क्यों उत्पन्न होजाते हैं ?, पुनः बालावस्था में क्यों टूट जाते हैं ?, पुनः क्यों उत्पन्न होजाते हैं ?, और वार्द्धक्य में टूट कर पुनः क्यों नहीं उत्पन्न होते ? ।

(३)–उत्पन्न शिशु के बाल भूरे, पुनः काले, और पुनः सफेद क्यों होजाते हैं ?, ।

(४)–उत्पन्न बालक में रेतोद्रव्य क्यों उत्पन्न नहीं होता ?, पुनः कैसे उत्पन्न होजाता है ?, और वार्द्धक्य में यह उत्पादन क्यों अवरुद्ध होजाता है ? ।

(५)–क्या आप ज्योतिर्म्मयी उस गायत्री का स्वरूप जानते हैं, जो यज्ञकर्त्ता यजमान की स्वर्गगति का कारण बन जाती है ? ।

तथोक्ता प्रश्नपरम्परा का उत्तर देने में अपने आपको असमर्थ अनुभूत करने वाले ऋृजुप्रज्ञ महाभाग आरुणि तत्काल समिध लेकर शिष्यबुद्धि से प्रणतिपुरस्सर महर्षि स्वैदायन के सम्मुख उपस्थित होजाते हैं, और 'ब्रह्मा' पद के लिए उपलब्धा अमुक सुवर्णराशि को प्रदान करते हुए यही आवेदन करने लग पड़ते हैं कि–

"अनूचानः स्वैदायनासि ! याव सुवर्णविदे ददतीति'। तस्मै ह निष्कं प्रददौ"।

—शथपथब्राह्मण ११।४।१।

महर्षि स्वैदायन प्रकृतिसिद्ध नित्य–यज्ञ के तत्त्वानुगत–सम्मिश्रणों के तारतम्य से अनुप्राणित यज्ञ–रहस्य के आधार पर ही उक्त प्रश्नों का जो पारिभाषिक–स्वरूप–अभिव्यक्त करते हैं, वह भी आज हमारी भावुक–प्रज्ञा के लिए एक समस्या ही प्रमाणित होरहा है इसलिए कि, दुर्भाग्यवश आज हम उन याज्ञिकी पारिभाषाओं के ज्ञानविज्ञानात्मक–अर्थबोध से सर्वथा ही विदूर चले गए हैं। यही कारण है कि, महर्षि–स्वैदायन के तत्समाधानवचनों से भी हम अमुक–वास्तविक तथ्य पर नहीं पहुँच पाते। और परिभाषाज्ञान से वञ्चित होजाने के कारण वेदशास्त्र के इत्थंभूत उत्तरात्मक सन्दर्भ भी हमारे लिए समस्या ही बने रह जाते हैं। क्योंकि इन वैध-मनुष्यकृत – यज्ञात्मक–कर्म्मों के भौतिक– पदार्थों के आधारभूत अधि-दैवत के प्राणात्मक सूक्ष्म–तत्त्वों से अनेक शताब्दियों से अस्मदादि सामान्य जनों की कौन कहे, विद्वत्प्रज्ञा भी वञ्चित ही होती आरही है, जिस प्रवञ्चना का एक अन्य प्रासङ्गिक उदाहरण से स्पष्टीकरण किया जा-सकता है।

मनुष्यकृत-वैध-यज्ञ में अग्नि में अमुक देवता के लिए दी जाने वाली आज्याहुति (घृताहुति) के सम्बन्ध में तत्र समवेत याज्ञिकों में प्रसङ्गवश वैज्ञानिकी चर्चा उपक्रान्त होपड़ती है, और एक याज्ञिक से अमुक अन्य याज्ञिक प्रश्न कर बैठता है कि, 'आहुति तो दी जाती है अनस्थिमत्-तरलद्रव्य की, और उत्पन्न होता है-अस्थिमान्

प्राणी। ऐसा क्यों, और कैसे सम्भव हुआ ?। उत्तर मिलता है, यज्ञविज्ञान–रहस्यवेत्ता याज्ञिक के द्वारा यही कि-'आज्यद्रव्य यद्यपि तरलत्वेन अवश्य ही अनस्थिमद्द्रव्य (बिना हड्डी वाला-घनताशून्य) है। तथापि क्योंकि इस आज्य में—**'हिरण्यशकलं निधाय जुहोति'** अर्थात् घनभावापन्न–अस्थिमद्द्रव्यरूप सुवर्णखण्ड रख कर तत्सहित आज्य की आहुति दी जाती है, अतएव आज्य जैसे तरलपदार्थ से भी उत्पन्ना प्रजा में अस्थि–रूपा घनता की भी स्वरूप-निष्पत्ति होजाती है''।

क्या समझे उक्त उत्तर से हमारी पारिभाषिक–बोधशून्या भावुकप्रज्ञा ?। याज्ञिकों का प्रश्नोत्तरसन्दर्भ अधिभूतदृष्ट्या भी समन्वित है, एवं अधिदैवतदृष्ट्या भी। यज्ञिय द्रव्याहुति से अपूर्व दैवात्मप्रजा की अभिव्यक्ति होती है, यह एक रहस्य-पूर्ण याज्ञिक-विषय है, जिसका प्रस्तुत शतपथभाष्य में पाठक यत्र तत्र संक्षेप, और विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण देखेंगे। दृष्टि आज्य पर है, लक्ष्यीभूत है—तरलधर्म्मा–आपोमय–वह रेतो-द्रव्य (शुक्रद्रव्य), जो रजोभाग के साथ रासायनिक–सम्मिश्रणावस्था में आता हुआ प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। शुक्र–पार्थिव–तरलद्रव्य अवश्य है, किन्तु इसमें घनतासम्पादक–सौर–सावित्राग्निरूप वह तेज भी समाविष्ट रहता है. जिसके समावेश से ही तरल भी शुक्र स्वगर्भीभूत सौर-हिरण्यतेज से घनता (अस्थि) का प्रवर्त्तक बन जाता है। मनुष्यकृत वैधयज्ञ में तरल शुक्रद्रव्य का प्रतिनिधि तरलभावापन्न आज्यद्रव्य है, तो तत्रस्थ हिरण्यशकल (सुवर्णखण्ड) घनभावापन्न द्रव्य का प्रतिनिधि है। यों प्रश्नोत्तर--प्रसङ्ग का सर्वथा समन्वय होजाता है।

यदि हम आज्य का केवल भौतिक आज्य पर ही, तथा हिरण्यशकल का केवल भौतिक–सुवर्ण-खण्ड पर ही विश्राम मानते रहें, तो शतजन्मों में भी इस समस्या का निराकरण सम्भव न हो। क्या इत्थंभूता मान्यता का मानवीया कल्पना से सम्बन्ध है ?, नहीं, कदापि नहीं। स्वयं वेदशास्त्रने हीं प्रकीर्णकरूपेण **'रेतो वै आज्यम्'–'हिरण्मयेन सविता रथेनादेवः'** इत्यादि अनुगम–निगम–वचनों के द्वारा पारिभाषिक उन तथ्यों का स्पष्टीकरण कर दिया है, जिसके बोध से हम आज वञ्चित इसलिए होगए हैं कि, हमारा वेदशास्त्रानुगत अध्ययनपथ वैदिक-शब्दों के माध्यम से अध्ययनपथ न रह कर साम्प्रदायिक–पथ ही बन गया है। पहिले हम अमुक सम्प्रदायविशेष के आवेश में आविष्ट होकर तदनुरूप अपनी मान्यताएँ स्थिर कर लेते हैं। तदनन्तर इस मान्यता के रङ्ग से रञ्जित चक्षु से ही हम वेदशास्त्रावलोकन में प्रवृत्त होने का मानो निःसीम अनुग्रह ही करते हैं, सो भी चञ्चुप्रवेशन्यायेनैव। क्रमबद्ध–पारम्परिक-एकतानतारूप–अतिमानवर्जित- स्वाध्याय का गुहानिहितत्वृत्या आत्यन्तिक अभाव, एवं साम्प्रदायिक–आवेशपूर्णा मान्यता में पूर्ण अभिनिवेश, और तन्नि-बन्धन बुद्धिवाद, आदि आदि कारण ही हमें विद्यमान भी पारिभाषिक-तत्त्व–सन्दर्भ से आज पराःपरावत ही बनाए हुए हैं, जैसाकि- **'उत: त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्'** इत्यादि मन्त्रमाध्यम से आवेदन के सन्दर्भ में भी निवेदन किया जाचुका है, इत्यलमतिपल्लवितेन–याज्ञिक–उदाहरण–निदर्शनेन।

प्रकृत में निवेदनीय यही है कि, वैध–यज्ञकर्म्म भारतीय–विज्ञानकाण्ड का आचारनिष्ठात्मक–वह महान् स्तम्भ है, जिसे केवल पूजन--हवन--पाठ--पारायणादि--बाह्य–प्रतीकों पर ही परिसमाप्त नहीं कर दिया जासकता। जो ऐसा करते हैं, वे यज्ञकर्म्म के अध्यात्म–अधिदैवत--निबन्धन-प्रतिष्ठासूत्रों से सर्वथैव अपरिचित माने जायँगे, और वैसे केवल भूतवादी–बहिरङ्गलक्षणवादी–याज्ञिकों की कृपा से ही यज्ञकर्म्म जैसा वैज्ञानिक कर्म्म भी आज इतर–लौकिक–प्रदर्शनों की भाँति प्रदर्शनमात्र ही बना रह गया है। इसी काल्वालीकृता भ्रान्तिपूर्णा धारणा के निराकरण के लिए आज्यग्रहणकर्म्म-प्रसङ्गत: भगवान् याज्ञवल्क्य ने यज्ञविज्ञाननिबन्धन–आधिदैविक–आध्यात्मिक--आधिभौतिक-भेदेन त्रिधा विभक्त यज्ञविज्ञानों का स्वरूप–विश्लेषण किया है, जिसके माध्यम से यज्ञकर्म्मानुगता उन सभी-काल्पनिकी भ्रान्तियों का सर्वथा ही विलयन होजाता है, जिन काल्पनिकी- भ्रान्तियों से ही 'यज्ञकर्म्म' जैसा प्रजासर्ग का मूलभूत–इष्टकामधुक्–(सर्वलौकिक–कामनापूरक, (न तु इच्छापूरक) * महतोमहीयान् भी कर्म्म आज उपहास का ही माध्यम प्रमाणित किया जारहा है, इत्यलं–'त्रिविध--यज्ञानुगत--संस्मरण'--प्रसङ्गेन।

## १६—(७)

* * * * *

---

*–सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता

श्रीः

# (१७)–इध्म–परिध्यनुगत–कर्म्म-प्रसङ्गतः
# 'प्रस्तरग्रहणकर्म्मानुगत-शिखाधारणात्मक-संस्मरण'

# ८

—•—

क्रमप्राप्त तथोक्त नामक १७ वें कर्म्म में अनेक अवान्तर--कर्म्मों का स्वरूप--समन्वय हुआ है, जिनमें एक कर्म्मविशेष का नाम है--'**प्रस्तरग्रहणकर्म्म**'। इसी कर्म्म के प्रसङ्ग से भगवान् याज्ञवल्क्य ने भारतीय--आर्षमानव की यज्ञकर्म्मनिबन्धना--सनातनसंस्कृतिमूला उस '**शिखा**' के प्रतीकात्मक आधिदैविक--विज्ञान का भी स्पष्टीकरणानुग्रह किया है, महतोमहीयान् जो शिखात्मक सांस्कृतिक प्रतीक आज अन्यान्य सांस्कृतिक--परिचय-चिह्नों के विस्मरण की भाँति भारतीय-प्रजा के लिए, विशेषतः प्रतीच्यशिक्षाग्रहग्रस्त नवशिक्षितों के लिए तो सर्वथैव उपेक्षणीय ही प्रमाणित होचुका है—केशसंनिवेश--गुच्छरूप--कबरी--भाव * के स्त्रैणभावानुबन्धी महतो-महीयान् वारुणपाशबन्धन के अनुग्रह से ही।

सचमुच यह अत्यन्त ही आश्चर्य्य का विषय है कि, आज का भारतीय–मानव, विशेषतः नवशिक्षायां-दीक्षित मानवश्रेष्ठ जहाँ पश्चिम की सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य–प्रतीकात्मक–यच्चयावत्–सभ्यता-सूचक परिचयचिह्नों के साथ अत्यन्त श्रद्धापूर्वक (तमोबहुला-अन्धश्रद्धा से ही समन्वित) समालिङ्गन करते रहने में अपना भौतिक–तन–मन–धन्य–कृतकृत्य ही अनुभूत करता रहता है प्रतिक्षण, उसी मानवश्रेष्ठ की दृष्टि में भारतराष्ट्र की संस्कृति, तथा सभ्यता से अनुप्राणित वे सभी–प्रतीकात्मक–परिचायक–चिह्न केवल उपहास के ही क्षेत्र बने हुए हैं, जिन भारतीय-प्रतीकात्मक-चिह्नों के साथ प्रतीच्य-जगत् के सभ्यता-परिचायक-प्रतीक-चिह्नों की भाँति केवल बाह्यदृष्टि का ही सम्बन्ध नहीं है; अपितु निदानविद्यानुगत जिन भारतीय–बाह्य–प्रतीकों के साथ विज्ञानसिद्ध आभ्यन्तर–प्राणभावों का भी निकटतम सम्बन्ध बना हुआ है धर्म्मलक्षणवत्।

अपनी ग्रीवा में अमुक प्रकार के मृत्युपाशबन्धनात्मक–बाह्य–प्रतीक को (टाई को) अहर्निश अपना गलग्रह बनाए रखने वाले आज के सुसभ्य भारतीय मानव ने स्वप्न में भी यह तर्क नहीं उठाया होगा कि–

**"इस गलपाशबन्धन में ऐसा कौनसा परम वैज्ञानिक-लाभ है, जिसके कारण यह हमारा आराध्य बन बैठा है?'।**

उसी सुसभ्य भारतीय की वैज्ञानिकी ! दृष्टि में आज उन भारतीय--सभी प्रतीकात्मक–नैदानिक–परिचय-चिह्नों के सम्बन्ध में इत्थंभूत तर्कप्रवाह प्रचण्डरूपेण जागरूक होपड़ा है कि,–'**मस्तक क्यों नहीं उघाड़ा**

---

* 'कबरी-भाव', अर्थात् लोकभाषानुसार–'**बबरीबाल**'।

ही रक्खें ?, शिखा रखने का क्या अर्थ ?, तिलक लगाने का क्या प्रयोजन ?। उदाहरणमात्र है। भारतीय-संस्कृति-सभ्यता से अनुप्राणित सभी विधि-विधानों के प्रतीकात्मक-नैदानिक-लक्षणों-परिचायक-चिन्हों के सम्बन्ध में आज वह स्वयं भारतीय ही वैसा महान् तर्कवादी बन गया है, जिसे पश्चिम के प्राणाधार-शून्य-केवल बाह्य भूतप्रधान-परिचायक-चिह्नों के सम्बन्ध मे कदापि क्यों ?, कैसे ?, आदिरूप तर्कों का स्मरण भी तो नहीं होपाता। इससे बड़ी आत्मप्रतारणा, अपनी वञ्चना सम्भवतः भारतीय मानव के अतिरिक्त अन्य किसी भी राष्ट्र का स्वराष्ट्राभिमानी नैष्ठिक-मानव नहीं ही करता होगा।

तथाविध-भारतीय-सांस्कृति-परिचय-चिह्नोंनें शिखाधारण का कैसा, और क्या अन्तः (प्राणात्मक) बाह्य (भूतात्मक)-नैदानिक-महत्त्व है ?, प्रस्तरग्रहणा मक कुशमुष्टिग्रहणरूप कर्म्मविशेष के प्रसङ्ग में स्वयं वेदपुरुषने-'यज्ञो वै विष्णुः। तस्य-इयमेव-शिखा'-इत्यादि रूपेण-भारतीय-सभ्यता के सर्वमूर्द्धन्य उस-'शिखा' (चोटी) रूप महतोमहीयान् प्रतीक का ही स्वरूप-समन्वय किया है, जिस परम-सांस्कृतिक इस-'शिखा' रूप चिह्न के नामस्मरण को भी आज का नवीन-प्रज्ञ-भारतीय-मानव व्यर्थतम-निर्म्मूल-तर्काभासों को अग्रणी बनाता हुआ उद्वेगकर ही मान रहा है। तदुद्बोधनायैव तत्प्रकरण में हमनें-'प्रस्तर' रूप नैदानिक-शिखाभाव के पारिभाषिक-उस प्राणनिबन्धन कारण-के स्वरूप-स्पष्टीकरण का प्रयास किया है, जिस के माध्यम से अवश्यमेव हम भारतीय अपने प्रतीकचिह्नों की निन्दा करने से तो उपरत हो ही सकते हैं, इसी उदाहरण-संस्मरण के साथ प्रक्रान्त-निदर्शन उपरत होरहा है।

[१७]—८

* * * * *

श्रीः

# [१८]-सामिधेन्यनुवचनकर्म्म-प्रसङ्गतः 'संगीतानुगत-विशेष-उदाहरण' का-संस्मरण

# ६

——*——

**'सामिधेन्यनुवचनकर्म्म'** नामक महतोमहीयान् याज्ञिक-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का स्वरूप-विश्लेषण शतपथ के चार-ब्राह्मणों में हुआ है, जिस में प्रधानकर्म्मप्रसङ्गतः अनेक-रहस्यपूर्ण-वैज्ञानिक-विषयों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास हुआ है। प्रस्तावनानुगत-इस **'किञ्चिदिव-आवेदन'** का कलेवर क्योंकि विस्तार-पथानुगामी बनता जारहा है। अतएव ब्राह्मण-चतुष्टयात्मक-सामिधेन्यनुवचनकर्म्म से अनुप्राणित अनेक-पारिभाषिक-तथ्यों में से **'सङ्गीतानुगत-एक विशेष उदाहरण'** का स्वरूप-संस्मरण ही इस क्रम-व्यवस्था में पर्य्याप्त मान लिया गया है।

'सङ्गीतोदाहरण' के साथ **'विशेष'** शब्द का समन्वय हमने अपनी ओर से ही किया है युगधर्म्मा-नुबन्ध से, जबकि श्रुति के तो सभी प्रासङ्गिक तथ्य अपने अपने विभिन्न-दृष्टिकोणों से 'विशेष' ही प्रमाणित होरहे हैं। युगधर्म्म-निबन्धना वह ऐसी कौनसी विशेषता है, जिसके अनुबन्धन से हमनें **'सङ्गीतो-दाहरण'** को अपनी ओर से 'विशेष'-उपाधि दे डाली !, प्रश्न का समाधान-**'सांस्कृतिक ! आयोजन'** नाम्ना सुविख्याता-युगधर्म्मनिबन्धना आज की उस **'सांस्कृतिकी ? प्रवृत्ति'** से ही सम्बद्ध है, जिसमें नृत्य-गीत-वाद्यात्मक-सङ्गीत ही प्रमुख बना हुआ है, और आज के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र-भारत की प्रभुसत्ता-समर्था-स्वतन्त्रतमा-प्रज्ञा की दृष्टि में इत्थंभूत सङ्गीत ही प्रमुखरूपेण भारतीय-संस्कृति का 'विशेष' मापदण्ड बना हुआ है। इसी वर्त्तमानाभिनन्दन की दृष्टि से हमने श्रुति के-'सङ्गीतात्मक' उदाहरण को 'विशेष' उपाधि से समलङ्कृत कर दिया है इस संस्मरण-प्रसङ्ग में।

नृत्य-गीत-वाद्य-समन्वयात्मक सङ्गीत से अनुप्राणिता वर्त्तमानयुगानुबन्धिनी महती सांस्कृतिक ? प्रवृत्ति का समस्त उत्तरदायित्त्व केवल-वर्त्तमाना सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रा-प्रज्ञा से ही अनुप्राणित मान बैठना तो अन्याय ही होगा। क्योंकि विगत अमुक-कतिपय-शताब्दियों से भारतराष्ट्र के प्राच्य-संस्कृतिनिष्ठ ! अमुक श्रेणि के विद्वान् भी **'परानुरञ्जन'** को ही अपने चरम पाण्डित्य की निरतिशया-सफलता मानते हुए **'साहित्य'** को, एवं मनोविनोद-**'सङ्गीत'** को, एवं तत्सहयोगी-कल्पनाप्रधान-शृङ्गाररसादि-समाप्लुत **'परिशिष्ट-स्थानीय-कला'** को, इन तीनों को ही मानव की मानवता का महतो महीयान् वैसा मापदण्ड मानते आरहे हैं बड़े ही गौरव के साथ, जिस तथाकथित साहित्य-सङ्गीत-कला-त्रयी के बिना उन विद्वानों

की दृष्टि में मानव **'मानव'** न होकर पुच्छ–विषाण–हीन ( बिना पूँछ सींग ) का एकप्रकार का **पशुविशेष** ही है * । इन परम सांस्कृतिक ? विद्वानों की मानवता ? पूर्णा–विशाला ? दृष्टि में तो साहित्य–सङ्गीत–कला–त्रयी से शून्य मानवों का बिना घास फूँस के जीवित रहता पशुओं की भाग्यशालिता का ही परिचायक है ।

अर्थात् इस त्रयी से शून्य मानव, और पशु में विद्वानों की दृष्टि में यही एकमात्र भेद शेष रह जाता है कि, पशु घास चारा खाकर जीवित रहते हैं । और ऐसे **त्रयी-शून्य (साहित्य–सङ्गीत–कला–शून्य)** मानव बिना घास–फूँस के ही जीवित रह जाते हैं, जिस में भी पशुओं के भाग्यवाद का ही महत्त्व माना जायगा । यों भारतीय-प्राच्य-विद्वानों की दृष्टि में भी सङ्गीत एक विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त करता हुआ प्रतीत होरहा है अपने महान् सम्बन्धी साहित्य, तथा-कला-परिग्रहों को स्व क्रोड़ में प्रतिष्ठित रखता हुआ । वही विद्वत्प्रवृत्ति आज के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र–भारत में स्वतन्त्र–सत्ताधीशों के महतो महीयान् अनुग्रह से ही सङ्गीत–कला, और अंशत: साहित्य–रूपेण–सर्वाङ्गीण–रूपेण अभिव्यक्ति **होपड़ी है**, जिसे आधार बनाकर ही उदाहरणरूपेण हमें तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर देना है एक 'विशेष' ही तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए, जिस विशेष–तथ्य का-**'साहित्य-सङ्गीत-कला-रूपा-त्रयी'** से सर्वात्मना-ऐकान्तिकी–प्रतिद्वन्द्विता रखने वाली उस **'त्रयीविद्या'** से ही सम्बन्ध है, जिस के नैष्ठिक--उपासक--भारतीय--ब्राह्मण के लिए तो साहित्य–सङ्गीत–कलात्मिका–त्रयी सर्वथा न केवल निरपेक्षा ही, अपितु **आग्ला**, एवं **माल्व्य** नामक घोरघोरतम मानसिक–शारीरिक–भयानक दोषों की प्रवृत्ति की दृष्टि से उपेक्षणीया, अतएव निषिद्धा ही उद्घोषित हुई है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा ।

क्या ऋषिप्रज्ञा साहित्य–सङ्गीत-कला–रूपा लोकप्रसिद्धा त्रयी से शत्रुता रखती है ?, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के समाधान का अत्र अवसर नहीं है । इसी प्रश्न की स्वरूप–मीमांसा के लिए हमें एक स्वतन्त्र–निबन्ध उपनिबद्ध करना पड़ा है । अत: तद्द्वारा ही तत्प्रश्न के नीरक्षीरविवेक से सान्निध्य प्राप्त करना चाहिए—साहित्य–सङ्गीत–कला–पर ही भारतीय-संस्कृति की "इतिश्री" मान बैठने वाले महानुभावों को ÷ । प्रकृत उदाहरणात्मक–संस्मरण–प्रकरण में तो केवल–'सङ्गीत' के सम्बन्ध में ही हमें दो शब्द निवेदन कर देने हैं ।

सामिधेनीकर्म्म में जिन सामिधेनी-ऋचाओं का अनुगमन होता है 'होता' नामक ऋत्विक् के द्वारा, उन ऋङ्मन्त्रों के साथ **'हिङ्कार'** का सम्बन्ध अनिवार्य्य माना गया है, जो कि **'हिङ्कार'** सामगान का मूलाधार ही माना गया है. जैसाकि **'नासामा हिङ्क्रियते'** इत्यादि वचन से स्पष्ट है । सामिधेन्यनुवचन-कर्म्मानुगत, सामगानाधारभूत इस 'हिङ्कार' के पारिभाषिक–स्वरूप–समन्वय के लिए ही हमें तत्सन्दर्भ में–'नाद–श्रुति–

---

*** साहित्य–सङ्गीत-कला-विहीनः साक्षात्-पशुः-पुच्छ-विषाण-हीनः ।**
**तृणन्न खादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम् ॥**

÷ **"संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं भारतीय--सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखा"** नामक सहस्र–पृष्ठात्मक स्वतन्त्र–निबन्ध, जो संस्था के द्वारा प्रकाशित हो–चुका है ।

स्वर' भावानुबन्धी उस शास्त्रीय-सङ्गीत का स्वरूप-दिग्दर्शन कराना पड़ा है, जिस दिग्दर्शन के बिना हिङ्कार का समन्वय सर्वथा असम्भव था।

नाद-श्रुति-स्वर-जैसे अलौकिक भावों से सम्पन्न भी सङ्गीत प्रकृति के अमुक महान्-दोषभावों के कारण मानवीय मन, और शरीर को माल्व्य, और आग्ला नामक वैसे भयानक दोषों से अभिभूत कर लेता है, जिन दोषों के आगमन के अनन्तर मानवीय आत्मा, और बुद्धि के सत्त्वभाव सर्वथैव अभिभूत होजाते हैं, जिस आत्मानुगता सत्त्वभावनिबन्धना बुद्धिनिष्ठा के बल पर ही वेदशास्त्रानुगता त्रयीविद्या का स्वरूप-समन्वय-अवलम्बित है। इसी प्रकृतिसिद्धा स्थिति को लक्ष्य में रख कर ऋषिने वेदतत्त्व-चिन्तक नैष्ठिक ब्राह्मण के सम्बन्ध में—'**तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत, न गायेत**' यह आदेश अनिवार्य्य माना है।

उक्त आदेश का तात्पर्य्यार्थ स्पष्टतम है। मानव का स्वरूप **आत्मा, बुद्धि, मन**, शरीर, इन चार पर्वों के सहसमन्वय से ही अनुप्राणित है। इनमें आत्मा, और बुद्धि नामक दोनों पर्वों का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं मन और शरीर का एक स्वतन्त्र विभाग है। बुद्धि से समन्वित आत्मा ही मानव का 'पुरुषभाव' है, एवं शरीरसे समन्वित मन ही मानव का-'**प्रकृतिभाव**' है। इस दृष्टि से आत्मना, बुद्धया च वही मानव जहाँ पुरुषभाव में प्रतिष्ठित माना गया है, वहाँ वही मानव मनसा शरीरेण च स्त्रीभाव में प्रतिष्ठित माना गया है। आत्मबुद्धिप्रधान वही मानव '**नैष्ठिकमानव**' कहलाया है, एवं मनःशरीरप्रधान वही मानव '**भावुकमानव**' कहलाया है। आत्म-बुद्धि-समन्वित वही मानब—'**स्वतन्त्र-पुरुषार्थी-मानव**' कहलाया है, एवं मनः-शरीर-समन्वित-वही मानव—'**परतन्त्र-पराश्रित-मानव**' माना गया है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से मानव के इन तथाकथित-चार-पर्वों के समन्वय-तारतम्य से अनेक स्वरूप-विभाजन होरहे हैं।

आत्मबुद्धिनिष्ठ नैष्ठिक मानव ही '**अन्तर्म्मुख**' मानव माना गया है, एवं मनःशरीर-भावुक-मानव ही '**बहिर्म्मुख**' मानव माना गया है। इसी पुरुष-प्रकृति-सिद्ध-तथ्य के आधार पर ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-भेदभिन्न चतुर्विध-वर्णमानवों की स्वरूप-व्यवस्था हुई है, जिसका फलितार्थ निम्नलिखिता संक्षिप्ता तालिका से सर्वात्मना गतार्थ मान लिया जासकता है—

**(१)-शरीर-मनो-बुद्धि-गर्भितः-आत्मप्रधानो मानव एव-"ब्राह्मणः"।**

**(२)-शरीर-मनः-आत्म-गर्भितः-बुद्धिप्रधानो मानव एव-"क्षत्रियः"।**

**(३)-शरीर-बुद्धि-आत्म-गर्भितः-मनःप्रधानो मानव एव-"वैश्यः"।**

**(४)-आत्म-बुद्धि-मनो-गर्भितः-शरीरप्रधानो मानव एव-"शूद्रः"।**

प्रकृतिविशिष्ट, एवं संस्कारों से सुसंस्कृत तथोक्त चातुर्वर्ण्य से अनुप्राणित चतुर्विध-मानववर्ग के चारों अवान्तर वर्गभेदों के माध्यम से ही वर्णनिबन्धना-क्षमता-योग्यता-आदि की व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हुई हैं व्यवस्थापकों के द्वारा, जिस सुप्रसिद्धा-आत्मसाम्यमूला ( नतु काल्पनिक-भूतसाम्यमूला ) भारतीय-समाजव्य-

वस्था का ही नाम है वह वैज्ञानिकी–'वर्णव्यवस्था', जिसकी व्यवस्था के सर्जक जहाँ भारतीय ऋषि हैं, वहाँ 'व्यवस्था' के आधारभूत चारों 'वर्ण' प्रकृतिसिद्ध ही हैं, ईश्वरीय ही हैं *।

उक्त चतुर्विध वर्णमानवों में आत्मनिष्ठ ब्राह्मणमानव को ऋषिने–'**गुहानिहित**' माना है, बुद्धिनिष्ठ क्षत्रिय मानव को '**सौर्य्यमारुतिक**' माना है, एवं मनः–शरीर–भावुक वैश्य–शूद्र-मानव को–'**वातातपिक**' माना है। गुहानिहित–आत्मनिष्ठ–ब्राह्मणमानव '**अरतिर्जनसंसदि**' रूपेण–लोक–समाज–सम्पर्क से तटस्थप्राय ही बना रहता है। तभी इसकी आत्मचिन्तनमूला–ज्ञानविज्ञानतत्त्वान्वेषणात्मिका दुरधिगम्या–अध्यनपरम्परा सुरक्षित बनी रह सकती है। ऐसा गुहानिहित ब्राह्मण मनःशरीरनिबन्धन व्यासङ्गों से निष्ठा–पूर्वक आत्मपरित्राण करता हुआ ही तत्त्वचिन्तन-अन्वेषणादि कर्म्मों में सफलता प्राप्त कर सकता है। अतएव ऋषिने वेदत्रयी के अनन्योपासक आत्मनिष्ठ ब्राह्मण के लिए मनःशरीर-निबन्धन–साहित्य–सङ्गीत–कला-त्रयी को निरपेक्ष ही मान लिया है।

अमुक-विगत–शताब्दियों में भारतीय–सत्तातन्त्र के सञ्चालक–क्षत्रिय राजाओंनें ब्राह्मणपुरोधा के सांस्कृतिक–अनुशासन की उपेक्षा कर अपने प्रतिष्ठात्मक बुद्धितन्त्र को जलाञ्जलि समर्पित कर केवल मनः–शरीर–निबन्धना कामार्थभोग–परम्पराओं को ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बना लिया था। राजसत्ता की तथाभूता परम्परा का ही दुर्भाग्यवश अमुक आत्मनिष्ठ–वर्गविशेष भी स्वार्थलिप्सावश समर्थक बन गया, और उसी ने सत्तातन्त्रों की चाटुकारिता के लिए तन्मनःशरीरानुरञ्जक-प्रधान–शृङ्गारादि–समन्वित साहि–त्यादि का सर्जन कर डाला। और यों स्व–नैष्ठिक–लक्ष्य–से च्युत राष्ट्र की ब्राह्मणप्रज्ञा ने ही सर्वप्रथम अपनी गुहानिहिता तत्त्वचिन्तनवृत्ति को जलाञ्जलि समर्पित करदी, जिस शिरोभाग के प्राथमिक–सांस्कृतिक-पतन से ही भारत की आत्मब्रह्ममूला ज्ञानविज्ञानप्रधाना मौलिक–संस्कृति आगे जाकर–साहित्य–सङ्गीत–कला-आदि मनः शरीर-निबन्धन-उपलालनों पर ही विश्रान्त होगई, जिसका सविस्तर यशोवर्णन ? (ऐतिहासिक-स्वरूप-विश्लेषण) हमने— '**श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश**' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में हीं किया है। यों लोकैषणा–वित्तैषणा के युगधर्म्मानुबन्धी पङ्क में निमग्ना ब्राह्मण–विद्वानों की काल्वालीकृता प्रज्ञा के कारण ही भारतराष्ट्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका त्रयीमूला निगम-आगम-पुराण–शास्त्रसम्मता–वास्तविक–संस्कृति, और तदनुगता वास्तविक-सभ्यता तो होती गई उत्तरोत्तर स्मृतिगर्भ में विलीन, एवं तत्स्थाने च कामार्थभोगपरायण-राज्यतन्त्रों के मनोऽनुरञ्जन से अनुप्राणित सामयिक प्ररोचनात्मक-साहित्य-सङ्गीत-कलात्मक-मनःशरीरप्रधान-व्यासङ्ग ही बनते गए प्रधान, और ये ही बन गए कालान्तर में महान्-सांस्कृतिक-आयोजन। आत्मबुद्धिसम्मत-नैष्ठिक-तत्त्वचिन्तन की मूलप्रतिष्ठा से वञ्चित इत्थंभूत-जिन इन आयोजनों का भारतीय-पारिभाषिक-'संस्कृति'-'सभ्यता' शब्दों के चिरन्तन वैज्ञानिक-इतिवृत्त से स्वाप्निक-सम्पर्क भी तो नहीं है।

तदित्थं आत्मबुद्धिप्रधाना अपनी ज्ञानविज्ञानात्मिका–निगमागमपुराणसम्मता मौलिक-संस्कृति, तथा सभ्यता को अनेक–शताब्दियों से पूर्व ही सत्तातन्त्रानुरञ्जनाकर्षणधिया जलाञ्जलि समर्पित कर बैठने वाले, परानुरञ्जनपूर्वक–स्वार्थसंसाधन में अपने स्वरूप को विस्मृत किए रहने वाले एतद्देशीय विद्वान्-ब्राह्मणों की

---

***–प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च।**

**—वसिष्ठः**

महती प्रज्ञा से विनिर्गत–साहित्य–सङ्गीत कलादि-व्यासङ्गों नें ही 'संस्कृति' का आसन अपहृत कर लिया, जिस उस विगता–मुक्ता–प्रक्रान्ता–दायादभित्ति के आधार पर ही आज का सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र–भारत, और उसके प्रभुसत्तासमर्थ–सत्ताधीश नाच–गान--वाद्य–हास-परिहास–नाटक–अकादमी–आदि आदि बालो–पलालनात्मक–नितान्त–भावुकतापूर्ण, एवं आग्ला, तथा माल्व्य–नामक भयानक दोषों से काल्वालीकृत–ताक्–धिनाधिन–त-न-र-री-म्- सामयिक–कवितामाधुर्य्य–प्ररोचनात्मक- विविध–कलात्मक–विन्यास आदि पर ही भारतीय--संस्कृति का पर्य्यवसान मानते हुए तत्प्रचारार्थ अपने देश के कुशल गायक--अभिनेता--अभिनेत्री–आदि कलाकारों के समूहात्मक महतोमहीयान् सांस्कृतिक--शिष्टमण्डल ? के माध्यम से भारतीय–'संस्कृति' के गौरव ! को पुनः स्थापित करने के लिए प्रतिक्षण ही आकुल--व्याकुल ही बन रहे हों, तो इसमें उनका यत्किञ्चित् भी अपराध इसलिए नहीं माना जासकता कि, आज के स्वतन्त्र–सत्तातन्त्र को भारतराष्ट्र के वर्त्तमान, तथा अतीत के तथाकथित सांस्कृतिक विद्वानों के द्वारा अमुक शताब्दियों से परम्परया 'सांस्कृतिक' के नाम पर यही तो सब कुछ उपलब्ध हुआ है। माल्व्य, तथा आग्ला–दोष -से समन्वित, नाद–स्वर-श्रुति-विश्लेषण के प्रसङ्ग से ही तत्कर्म्म में विस्तार से हिङ्कारमूलक--सङ्गीत के नाद--श्रुति–स्वर–भावों की स्वरूप मीमांसा हुई है, जिसकी पूर्वोक्ता–युगधर्म्म–निबन्धना--विशेषता के कारण ही हमनें इस उदाहरण को 'विशेष' उपाधि से सुविभूषित कर देना अन्वर्थ मान लिया है, इत्यलमति-पल्लवितेन--"सङ्गीतानुगत–विशेष–उदाहरण-संस्मरणेन'।

[१८]—६

* * * * *

श्री:

# (१६–२०)–पूर्वोत्तराघारकर्म्म–प्रसङ्गतः

# "कतिपय--वैज्ञानिक-तथ्यों का संस्मरण"

१०--११

---

द्विब्राह्मणात्मक–'आघारब्राह्मण' नामक ब्राह्मणसन्दर्भ में **पूर्वाघारकर्म्म, उत्तराघारकर्म्म** नामक १६--२०-वें--इन दो कर्म्मों का सोपपत्तिक स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जिसके प्रसङ्ग से अनेक प्रासङ्गिक परिभाषिक–तथ्यों का भी श्रुति ने समन्वय किया है। उन्हीं में से एक दो तथ्यों का उदाहरणरूपेण दो शब्दों में अत्र संस्मरण कर लिया जाता है।

## (क)–मनोवाग्भावों के पारिभाषिक--स्वरूप का संस्मरण—

पूर्वाघारकर्म्म का श्रुतिने मन से सम्बन्ध माना है, और वह तूष्णीं किया जाता है। एवं उत्तरा--घारकर्म्म का वाक् से सम्बन्ध माना गया है, और वह मन्त्रोच्चारणपूर्वक किया जाता है *। मनुष्यकृत अग्नीषोमात्मक इस वैध–यज्ञ के द्वारा उसीप्रकार यज्ञकर्त्ता--यजमान के लिए स्वर्गप्रापक एक अपूर्व--यज्ञा--तिशयरूप–प्राणप्रधान--अतएव--परोक्षभावापन्न--सुसूक्ष्म--'दैवात्मा' अभिव्यक्त, किंवा सम्पन्न किया जाता है, जो उत्पन्न--अभिव्यक्त-होकर–'त्रिणाचिकेत' नामक सप्तदशस्थ स्वर्गस्थान में प्रतिष्ठित होजाता है यजमान के भूतात्मा के साथ प्राणसूत्रमाध्यम से ग्रन्थि-बन्धन--करता हुआ। जब यजमान मानवीय--आयुर्भोगकाल पर्य्यन्त इस लोक में यथाकर्म्म भोग भोग लेता है, तो आयुःसूत्रोपराम के अनन्तर उसी दैवात्माकर्षण से यज्ञकर्त्ता यजमान का भूतात्मा स्वर्गस्थान में प्रतिष्ठित होजाता है अमुक अवधि के लिए, जैसाकि-'**दर्शपूर्ण-मासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**' इत्यादि फलश्रुतियों से स्पष्ट है।

आत्मा का स्वरूप **ज्ञान**- **क्रिया**--**अर्थ**--शक्तिमय इसलिए माना गया है कि, **ज्ञानशक्तिमय मन, क्रियाशक्तिमय प्राण, और अर्थशक्तिमयी वाक्**, इन तीनों के सहसमन्वय से ही मानवीय **'आत्मा'** के स्वरूप

---

* -"स यदुपांशु क्रियते-तन्मनो देवेभ्यो यज्ञं वहति। अथ यद्वाचा निरुक्तं क्रियते--तद्वाग्देवेभ्यो यज्ञं वहति। तूष्णीं तमाघारयति, यं मनसे--आघारयति। मन्त्रेण तमाघारयति, यं वाचे-आघारयति"

—इत्यादि--सन्दर्भ

की अभिव्यक्ति होती है, फिर वह पार्थिव--यथाजात--'**भूतात्मा**' हो, अथवा तो अपार्थिव-प्राणप्रधान-'**दैवात्मा**' हो। यज्ञकर्म से प्राणप्रधान--देवभाव का सम्पादन होता है, जो कि प्राणतत्त्व गतिधर्म से क्रियाप्रधान बना हुआ है। यों प्रधानदेवता से अनुगत 'आवापकर्म' नामक यज्ञकर्म से प्राणदेवानुबन्धेन यज्ञिय--संस्कारात्मक दैवात्मा के 'प्राणभाग' की तो स्वरूप--निष्पत्ति होजाती है। किन्तु अभी मन, और वाग्भाग शेष ही रह जाते हैं, जिनके बिना त्र्यात्मक--त्रिपर्वा आत्मा का स्वरूप सर्वात्मना सम्पन्न नहीं होसकता *। इसीलिए **पूर्वाघार,** और **उत्तरघार,** नामक दो गौणकर्म किए जाते हैं, जिनसे क्रमशः--प्राणात्मक-दैवात्मा में इस ओर मन का, तथा उस ओर वाक् का आधान भी होजाता है। और यों दैवात्मा मनः--प्राण--वाक्--रूपेण--सर्वात्मना सुसम्पन्न बन जाता है। इनके सम्बन्ध में ही श्रुतिने यह व्यवस्था की है कि, **मनका स्वरूप-सम्पादक पूर्वाघार तो उपांशु, अर्थात् चुपचाप होता है,** एवं **वाक् का स्वरूप-सम्पादक-उत्तराघार-उच्चारणपूर्वक होताहै।** ऐसा क्यों ?, इसी प्रश्न का आख्यानभाषा में समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि—

"एक बार मन और वाक् ( वाणी ) में परस्पर '**अहँभद्रत्त्व**' के लिए घोर संघर्ष उपक्रान्त होपड़ा। दोनों ही परस्पर एक दूसरे के समतुलन में अपने अपने ही अहंभद्रत्व ( श्रेष्ठत्त्व ) की घोषणा में निमग्न थे स्व--स्व-तर्क--परम्परा के माध्यम से। वाक् की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता स्थापित करते हुए मनोदेव ने यह तर्क उपस्थित किया कि, **"मेरे ज्ञानीय संकल्प को आधार बनाए बिना तुम कदापि किसी भी तथ्य की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती"**। ठीक इसके विपरीत मन की अपेक्षा अपना श्रेष्ठत्त्व स्थापित करते हुए वाग्देवी ने यह तर्क उपस्थित किया कि—**"तुम अपने संकल्पात्मक--मानस--सूक्ष्म--आभ्यन्तर-जगत् में जो भी ज्ञानीय--कल्पना करते रहते हो, मैं हीं उसे बहिर्जगत् में अभिव्यक्त कर सकती हूँ, करती रहती हूँ। यदि मेरा सहयोग तुम्हें न मिले, तो तुह्मारे संकल्प केवल संकल्परूप में हीं निरर्थक ही प्रमाणित होते रहें"**। दोनों के द्वारा दोनों का समाधान जब सम्भव न बन सका, तो दोनों सर्वाधारभूत प्रजापति की शरण में पहुँचे इस समस्या के निर्णयात्मक समाधान के लिए। प्रजापति ने मन के पक्ष में ही अहंभद्रत्त्व का निर्णय--व्यक्त करते हुए वाक् के सम्मुख यही स्पष्टीकरण रख दिया कि, **"वाग्देवी ! तुम मन की कृतानुकरा हो, अनुवर्त्तिनी हो। बिना मन के तुह्मारा कुछ भी तो मूल्य नहीं है।"** प्रजापति के इस निर्णय से वाक् का अतिमानात्मक गर्व चूर चूर होगया। इस अपमान से अपमानिता वाग्देवी प्रजापति के प्रति सर्वथा अग्निश्च--वायुश्च ( क्रुद्ध ) ही बन गई, और तत्परिणाम--स्वरूप वाक् के मुख से ये ही उद्गार अभिव्यक्त होपड़े प्रजापति के प्रति कि—**'हे प्रजापते ! आपने क्योंकि मुझे मन की अपेक्षा अवरश्रेणि की, तथा मन को श्रेष्ठ प्रमाणित किया है, अतएव मैं कदापि आपके लिए हविर्द्रव्य का वहन नहीं करूँगी'**।

---

***—स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयः ( बृ० आ० उप० )**
**त्रयं सदेकमयमात्मा, आत्मा उ एकः सन्नेतत्-त्रयम् ( शत० ब्रा० )**

उक्त आख्यान के द्वारा प्रस्तुत–प्रक्रान्त–यज्ञकर्म्म के सम्बन्ध में एक विशेष प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर शातपथी श्रुति कहती है कि—"क्योंकि वाक् ने–प्रजापति से तटस्थता ग्रहण करली थी। अतएव यज्ञानुष्ठानों में साक्षात्–प्रजापति के लिए आहुतिद्रव्य–प्रदानादि जो भी कर्म्म किए जाते हैं, वे उपांशु, अर्थात्–तूष्णीं–भाव से ही अनुप्राणित रहते हैं। क्योंकि–"अहव्यवाड्ढि वाक् प्रजापतये--आसीत्"।

उक्त आख्यान के माध्यम से ऋषि मानवीय उन कर्म्मों के सम्बन्ध में एक विशेष–शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, जिन कर्म्मविशेषों का आभ्यन्तरा मानसी–आत्मनिष्ठा से सम्बन्ध–माना गया है। लोक–सामान्य से अनुप्राणित लौकिक सामान्यकर्म्म 'प्राकृतिककर्म्म' कहलाएँ हैं, जिनसे तात्कालिक–लोकव्यवहारों का स्वरूप-समन्वय होता रहता है, एवं ऐसे सामान्य कर्म्मों में हीं 'वाणी' का समन्वय रहा करता है, जिस वाक्–समन्वय का अर्थ है—वाग्व्यवहार, घोषणा, और आज के शब्दों में–प्रदर्शन ( जिसका रूप माना जारहा है--पब्लिसीटी ), जो कि आज के सत्तातन्त्र की प्राणप्रतिष्ठा ही बना हुआ है। वाणी के द्वारा प्रदर्शन वैसे बाह्य कर्म्मों का ही हुआ करता है, जिनके आधार में प्राजापत्या आत्मप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित नहीं रहती, नैव जिनका आत्मानुगत–दृढतम–मानस–सङ्कल्पों से ही कोई साक्षात् सम्बन्ध रहता। अपितु प्रावाहिकी जलधारा की भाँति-प्रतिक्षण–बदलते रहने वाले तात्कालिक–बाह्य–स्वार्थों--बाह्य–कर्म्मों के स्वरूपानुपात से वाङ्मय तथाभूत प्रदर्शन भी क्षण क्षण में हीं बदलते रहते हैं।

ठीक इसके विपरीत आत्मप्रतिष्ठात्मक--अतएव 'प्राजापत्य' नाम से प्रसिद्ध--आभ्यन्तर–मानससंकल्पात्मक--कर्म्म सदैव तूष्णीं–भाव के ही अनुगामी बने रहते हैं। अर्थात् आत्मबलोपेत--नैष्ठिक--मानस सङ्कल्प, एवं तन्निबन्धन--तथ्यपूर्ण कर्म्म, दोनों हीं वाणी के उद्घोष, एवं प्रदर्शन से सर्वथा असंस्पृष्ट ही बने रहते हैं। इत्थंभूत संकल्पों के, तथा कर्म्मों के कर्त्ता नैष्ठिक--आर्ष--मानवश्रेष्ठों की रहस्यानुगता तपोमयी संकल्पनिष्ठा, एवं कर्म्मनिष्ठा को बाह्यजगत् कदापि नहीं जान सकता। बाह्यजगत् तथाविध कर्म्मों के महान् फलों से ही समन्वित होता है। इसी आधार पर पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने कहा है कि—'महापुरुषों के आत्मानुगत--सत्यसङ्कल्प को, एवं तदनुगत आत्मनिष्ठा--समन्वित--कर्म्माध्यवसाय को कोई भी नहीं जानता, जान सकता। अपितु उनके कर्म्म के महान् सुपरिमाणों से ही सर्वसाधारण--तद्भोगानुगति से परिचित हुआ करते हैं" ( महाभारत )।

उक्त तथ्य के आधार पर ही--'परोक्षप्रिया इव हि देवाः–प्रत्यक्षद्विषः'–इस सुप्रसिद्ध निगमवचन का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। अव्यक्तप्राणप्रधान--मनोवाग्गर्भित--आधिदैविक--देवताओं के प्राणनिबन्धन कर्म्मकलाप जैसे सूक्ष्मजगत् में सूक्ष्मरूपेणैव प्रक्रान्त रहते हैं, वे प्राणदेवता जैसे अव्यक्तभावा-पन्न--प्राणधर्म्म के अनुबन्ध से व्यक्त--भौतिक--मर्त्य--जगत् से परोक्ष बने रहते हुए प्रत्यक्ष के लिए शत्रुवत् ही प्रमाणित होते रहते हैं, ठीक वही स्थिति--देवोपम उन भूदेव--विद्वान्--ब्राह्मणों की है, जो लोक--जन--समाज के-कलकलनिनाद से यथासम्भव आत्मपरित्राण करते हुए, युगधर्म्म-निबन्धन-लोकसामान्य की दिग्देशकालानुबन्धिनी प्रत्यक्षप्रभावमूला--भावुकतापूर्णा--प्रदर्शनप्रवृत्ति से, तन्निबन्धना लोकख्याति से अपने आपको सर्वथैव असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए गुहानिहितवृत्त्यनुबन्धिनी ऐकान्तिकी निष्ठा से परोक्षरूपेणैव अपने तत्त्वचिन्तनाचार में प्रवृत्त रहते हैं, एवं प्रत्यक्ष से शत्रुता ही रखते हैं। ऐसे प्रणम्य--एकान्तनिष्ठ--आर्ष--भूदेवों की इत्थंभूता नैष्ठिकी

प्रज्ञा ने विनिःसृता कृतियों से ही बाह्य--समाज अंशतः परिचित हुआ करता है। "देवता परोक्षप्रिय होते हैं, एवं प्रत्यक्ष के शत्रु" एतदक्षरार्थात्मक पूर्ववचन का यों आधिदैविक देवदेवताओं के साथ, एवं आधि-भौतिक--भूदेवों के साथ, दोनों के साथ सम्बन्ध होरहा है।

'प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही मानवकेन्द्रस्था-आत्मनिष्ठा के सहज-आत्मबल-की शत्रु है' यही उक्त सन्दर्भ का निष्कर्षार्थ है, जिस का भगवान् याज्ञवल्क्यने–'मन, और वाक् के अहंभद्रत्त्वमूलक पूर्वाख्यान' के माध्यम से ही स्पष्टीकरण किया है। वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक, अथवा तो राष्ट्रीय-भेदभिन्न यच्चयावत् कर्म्मकलापों की पूर्ण–सफलता का यही प्राथमिक–मौलिक–रहस्य है कि, कदापि तत्तत्कर्म्मानुबन्धी न तो मानव--संकल्पों की घोषणा की जाय, एवं न तत्तत् संकल्पानुगत–तत्तत् कर्म्मोंके अनुष्ठानकाल में उन की वाणी के द्वारा ही घोषणा-(प्रदर्शन–पब्लिसीटी) की जाय। अपितु सत्यसंकल्प, और तदनुगत अध्यवसायात्मक नैष्ठिककर्म्म, दोनों ही प्रक्रम सर्वथा तूष्णीं ही स्वस्वरूपानुगतिपूर्वक स्वरूपसम्पादनाभिमुख बनते रहें। यही सफलता का प्रमुख द्वार है। जो व्यक्ति, जो परिवार, जो समाज, अथवा तो जो राष्ट्र दिग्देशकालानुबन्धी–प्रत्यक्षभावों से भावुकतावश प्रभावित होता हुआ अपने मानस–संकल्पों की वाणी के द्वारा उच्चघोषणा आरम्भ कर देता है, ऐसे निर्बल-संकल्प से अनुगत निर्बल ही कर्म्माभास की भी सिद्धि से पूर्व ही घोषणाएँ आरम्भ कर देता है, ऐसे व्यक्ति–परिवार–समाज, एवं राष्ट्र के सत्यसंकल्प भी मिथ्या होजाया करते हैं, एवं कर्म्म भी सिद्धि-सफलता से वञ्चित ही बने रह जाते है।

और दुर्भाग्यवश हमारे आज के भारतीय व्यक्तित्त्व, परिवारत्त्व, समाजत्त्व, और राष्ट्रत्त्व नामक चारों ही 'त्त्व' भाव (स्वरूपधर्म्म) अपने प्रत्येक संकल्प, तथा संकल्पानुगत प्रत्येक कर्म्म की अभिव्यक्ति–स्वरूप--सिद्धि से पूर्व ही सर्वत्र--दिग्दिगन्त में—"हमारे ऐसे संकल्प हैं, हमनें अबतक यह कर लिया है, आगामी अमुक वर्षों की अवधि में हम अमुक समस्या का समाधान कर लेंगे, अमुक योजना के द्वारा हमारे अमुक स्वप्न पूर्ण होजायँगे" इसप्रकार की तुमुल घोषणाएँ, एवं स्वाप्निक–संकल्पों के काल्पनिक--प्रदर्शन परिव्याप्त कर देते हैं, जबकि अन्य नैष्ठिक राष्ट्रों के प्रचार--संकल्प, तथा कर्म्माध्यवसाय तत्संसिद्धि के अनन्तर ही बोधगम्य बना करते हैं, सो भी क्वाचित्करूपेणैव। सहजभाषानुसार--संकल्प, और कर्म्म से भी पूर्व उच्चघोषणाओं की आतुरता, प्रदर्शनपरम्पराओं के प्रचार--प्रसार की व्यग्रता के दुष्परिणाम स्वरूप ही तो आज भारतराष्ट्र का वह अनिरुक्त--आत्मप्रजापति पराङ्मुख बन गया है इस के संकल्पों, तथा कर्म्मों से, जो अनिरुक्त-प्रजापति अपने आत्मानुबन्धी प्राजापत्यबल का योगदान तभी करता है संकल्प, तथा तदनुगत कर्म्म के प्रति, जबकि मानव अपने संकल्प, तथा कर्म्म को अनिरुक्तभावानुगत ही बनाए रहता है। क्योंकि प्राजापत्यकर्म्म की स्वरूप--सम्पत्ति का एकमात्र प्रमुख द्वार वाक् से असंस्पृष्टा अनिरुक्तता ही, उपांशुरूपता ही, तूष्णींभाव ही माना गया है, जैसाकि आख्यानोपसंहार में स्पष्ट किया जाचुका है। यही प्रस्तुत-मनो-वाग्भावों के पारिभाषिक-स्वरूप का संक्षिप्ततम-संस्मरण-विराम है।

* * * * *

## (ख)--प्रजापति से पराभूता आत्रेयी-वाक् की अस्पृश्यता का संस्मरण—

'मनोवाक् की अहंभद्रमूला प्रतिद्वन्द्विता में प्रजापति के द्वारा अवमानिता वाग्देवी के 'गर्भ' का पतन होगया', यह पूर्व संस्मरण में निवेदन किया जाचुका है। इसी प्रसङ्ग के माध्यम से आगे चल

कर श्रुति वाक् के उस 'आत्रेय' स्वरूप का भी संस्मरण करा रही है, जिसके सम्बन्ध से आत्मप्रजापति से वञ्चिता, परित्यक्ता वाक् अत्रिरूप में परिणत होजाती है। परिणाम इस 'अत्रि' का यही होता है कि, आत्म--धर्म्म से (अनिरुक्त--प्राजापत्य--धर्म्म से) बहिष्कृता आत्रेयी वाक् आत्मधर्म्मानुगत अभिव्यक्त--क्षेत्रों के लिए अस्पृश्या ही बन जाती है।

श्रुतिने ऋतुमती स्त्री के उदाहरण के माध्यम से ही तत्त्वमूला उस अस्पृश्यता के वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण किया है, जिस तत्त्वमूला अस्पृश्यता को भावुकतावश आज के मानव ने घृणामूला मान लिया है। एवं इस भ्रान्तिपूर्ण मान्यता के कारण ही स्पृश्यता, और अस्पृश्यता को लेकर आज राष्ट्र की उच्च--प्रज्ञाओं में भी वैसा आपातरमणीय संघर्ष प्रक्रान्त होपड़ा है, जिसके परिणामस्वरूप तत्त्वमूला अस्पृश्यता के स्थान में घृणामूला अस्पृश्यता ही परोक्षरूपेण अनुदिन प्रवृद्धा होती जारही है। मानवप्रज्ञा तात्त्विकी प्रकृतिसिद्धा स्थितियों के साथ युगधर्म्मानुबन्धी प्रवाह में प्रवाहित होती हुई प्रतिद्वन्द्विता कर बैठती है, तो प्रकृतिसिद्ध तथ्य प्रतिक्रिया के रूप में प्रचण्डवेग से प्रतिद्वन्द्वी को लक्ष्यच्युत ही बना दिया करते हैं। अवश्य ही कुछ समय से तत्त्वमूला अस्पृश्यता ने घृणामूला अस्पृश्यता का स्थान ग्रहण कर लिया है, जो कि घृणामूला अस्पृश्यता भारतीय–मानवधर्म्म के क्षेत्र से, तदनुबन्धिनी मानवता के आत्मानुबन्धी विशाल प्राङ्गण से सर्वथैव बहिष्कृता ही मानी गई है। एतावता ही तत्त्वमूला अस्पृश्यता को कदापि उपेक्षणीय नहीं माना जासकता। आज का भूतविज्ञानवादी भी अमुक–अशुचि--भावापन्न-भावों--पदार्थों-मानवों--के संस्पर्श को तत्त्वदृष्ट्या न सही, कीटाणुदृष्ट्या तो अवश्य ही सांक्रामिक-मान रहा है, और घृणामि--श्रिता-अस्पृश्यता से अनुगत भी। जबकि भारतीय मानवधर्म्म के क्षेत्र में—"**यस्मान्नोद्विजते लोकः, लोकान्नोद्विजते च यः**" (गीता) के अनुसार तो 'घृणा'–'उद्वेग' आदि शब्दों का प्रवेश भी निषिद्ध ही माना गया है।

ऋतुमती के उदाहरण से श्रुतिने हमें तत्त्वमूला--प्रकृतिसिद्धा उस अस्पृश्यता के मौलिक रहस्य से ही परिचित कराया है, जिस का 'देवसमीकरणभाव' के माध्यम से ही तत्त्वार्थ-समन्वय हुआ है। आत्मरूप-ज्ञानीय–सत्त्वगुण की प्रधानता संसृष्टिमूला--तमोगुणप्रधाना--भूतभौतिकी--धामच्छदा-सृष्टि की प्रतिबन्धिका ही मानी गई है वैदिक--विज्ञान के क्षेत्र में। आत्मानुगत सत्त्वगुण की अभिभूति का अर्थ है--आत्मसत्त्व के साक्षात्--अनुग्रह से वञ्चित 'वाक्' तत्त्व। आत्मभाव ही तो 'वाक्' का 'गर्भ' (केन्द्र--महत्त्व) है। जब वह पूर्वाख्यान के अनुसार गिर जाता है, अर्थात् आत्मसत्त्व के साक्षात्--अनुग्रह से आकाशभूतात्मिका वाक् वञ्चित होजाती है, तभी इस में तमोगुणान्वित--संसृष्टिलक्षण--सृष्टिधर्म्मानुगत--प्रजननधर्म्म अभिव्यक्त होजाता है। वाङ्मय धामच्छद प्राण अपने ही तमोगुण से पारदर्शकता का प्रतिबन्धक बनता हुआ, वाक् को 'आत्रेयी' बनाता हुआ इसे सृष्टिकर्म्म में प्रवृत्त करता है। ऋतुमती स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित तमो--गुण बहुल–वागत्रिरूप मलीमस--भाव ही अभिव्यक्त रहता है, और यही काल प्रजजनकर्म्मानुगत गर्भाधान की पूर्वभूमिका माना गया है। क्योंकि वाङ्मय धामच्छद--मलीमस--अत्रिप्राण आत्मविरोधी है, अतएव एतत्प्राणाभिव्यक्तिकालरूपा दिनचतुष्टयी--पर्य्यन्त आत्रेयी--योषित् '**अस्पृश्या**' मानी गई है, जिस के स्पर्श से श्रुतिने 'पापवासना' की अभिव्यक्ति मानी है। तत्त्वमूला अस्पृश्यता का यही वह ज्वलन्त उदाहरण है, जिसके

वैज्ञानिक समन्वय के अनन्तर किसी भी चिकितुट्--प्रज्ञाशील को तो कोई भी सन्देह नहीं रह जाता, एवं जिस इस वैज्ञानिक उदाहरण का-"**तस्मादपि-आत्रेय्या-योषिता-एनस्वी**" इत्यादि श्रुतिसन्दर्भ से स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है।

* * * * *

## (ग) उच्छ्रितभावानुबन्धी--तथ्य का प्रासङ्गिक--संस्मरण—

वेदशास्त्रानुगता अमुक-शब्दावली की बहिरङ्गा--अनुशीलनवृत्ति के आधार पर अपनी कल्पना--मात्र के माध्यम से वैदिकयुगानुगता--वैदिकी--सभ्यता का उग्रप्रत्यङ्ग ( उटपटाँग ) चित्रण करते रहने में परमकुशल प्रतीच्य-विद्वानों की मान्यता को ही 'वेदवाक्य' मान बैठने वाले गतानुगतिक--भारतीय भी वेद के सम्बन्ध में विचित्र--विचित्र--प्रकार की कल्पनाओं को प्रश्रय देते देखे, एवं सुने गए हैं, जिस का निष्कर्ष यही है कि, वैदिकयुग तो एक वैसा 'ग्रामीणयुग' था, जिसमें सभ्यतायुगानुगत आज के वैज्ञानिक--नियमोपनियमों का तो संस्मरण भी नहीं था। "अग्नि में घृत--पिष्टतण्डुल--आदि डालकर अग्नि को प्रसन्न करना ही उन का यज्ञकर्म्म था, तन्निमित्त--पशुबलि--जैसे नृशंसकर्म्म ही उन के उदरपोषण का प्रधान साधन था"--इत्यादिरूपेण ऐसी ऐसी विचित्र-विचित्र कल्पनाएँ वेदशास्त्र के सम्बन्ध में, एवं तत्संसिद्ध सृष्टिविज्ञान-स्वरूप--विश्लेषणक यज्ञकर्म्म के सम्बन्ध सुनी जारहीं हैं, जिन के आधार पर यही मान लेना पड़ता है कि, सचमुच ही हम भारतीय आततायी--वर्गों की आक्रमणपरम्परा से अपना स्वरूप--बोध एकान्ततः ही विस्मृत कर बैठे हैं। स्वयं अपने घर की मौलिकता देखने की दृष्टि ही हम से छिन गई है। अतएव अन्धबधिररूपेण सुदीर्घ समय से हमारी आँखें, और हमारे कान प्रतीच्य--जगत् के वे-राजनीतिकुशल-विद्वान् ही बनते आरहे हैं, जो बल-पूर्वक-यहाँ के सर्वस्व को ही अवैज्ञानिक, असभ्यता-परिपूर्ण, एवं वहाँ के सर्वस्व को ही सर्वथैव वैज्ञानिक, एवं सभ्यता--पूर्ण घोषित करते रहते हैं।

'पूर्वाधारोत्तराधारकर्म्म' नामक यज्ञियकर्म्म प्रधानभूत यज्ञकर्म्म का एक सामान्य सा अङ्गकर्म्म है। इसके प्रसङ्ग से भी यज्ञकर्म्म-स्वरूप-विश्लेषक ऋषि ने 'बैठने-उठने' जैसे सामान्य से कर्म्म के अनुबन्ध से भी जो तात्त्विकी शिक्षा हमें प्रदान की है, उसे देखते हुए तो यही कहना पड़ेगा कि, सचमुच हमने अपनी दृष्टि, और श्रुति को परायत्त बना कर अपनी मौलिकता को सर्वथा ही विस्मृत कर लिया है।

पूर्वाधार जहाँ बैठे बैठे किया जाता है, वहाँ उत्तराधार खड़े होकर किया जाता है। ऐसा क्यों ?, शरीयष्टि-निबन्धन-प्राण की स्वरूप-स्थिति के माध्यम से ऋषि ने इस प्रश्न की जो स्वरूप-मीमांसा की है, उसे देख-सुन कर क्षणमात्र के लिए हमारी दासानुदास-प्रज्ञा सहसा स्तब्ध ही होजाती है। क्या यज्ञकर्म्म ऐसा महत्त्वपूर्ण कर्म्म है ?, क्या वेदशास्त्र के महारम्भ वैज्ञानिक-तथ्यों के द्वारा हमारे वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-तथा राष्ट्रीय-उत्कर्षों के इत्थंभूत प्रासङ्गिक-सूत्रों का भी स्वरूपबोध हमें प्राप्त होता रहता है ?। आश्चर्य्य ! महान् आश्चर्य्य !!

आज के सुसभ्ययुग में जब किसी सैनिक के शरीर को हम सीधा-तना-हुआ खड़ा-देखते हैं, तो अन्त-र्जगत् में प्रश्न खड़ा होजाता है कि, क्या उस वैदिकयुग में भी हमारे भारतराष्ट्र के कर्म्मठ सैनिक आदि इसी प्रकार सीधे-तन-कर-सशक्त-मुद्रा में सदैव सन्नीभूत रहते थे ?। प्रस्तुत-उत्तराधारकर्म्म इसी प्रश्न का 'अस्ति' रूप में हमारे सामने समाधान प्रस्तुत कर रहा है, जिसका प्रमुख सूत्र है—'**उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्**'।

उदाहरण भी 'सेना' के अनुबन्ध से ही सम्बन्ध रख रहा है। दक्षिण की ओर से असुर-और राक्षस जब आक्रमण करते थे, तो अपनी सुप्रसिद्धा मारुति सेना के साथ देवेन्द्र हरिवाहन ही सज्जीभूत होकर उनको पराभूत करते रहते थे। दक्षिणदिगनुगत-उत्तराघारकर्म्म उसी का नैदानिक-स्वरूप है। सेना से युक्त इन्द्र सर्वथा तन कर-सज्जीभूत होकर प्राणवती-मुद्रा से ही दुष्टबुद्धि असुरों का साम्मुख्य करते रहते थे, अतएव इस यज्ञकर्म्म में भी उस प्राणवती मुद्रा में तन कर खड़े होते हुए ही उत्तराघारकर्म्म सम्पन्न होता है।

सीधे-तन कर खड़े होने से मानव के शरीर में वीर्य्य की अभिव्यक्ति कैसे, और क्यों होजाती है !, इस प्रश्न का विशद-समन्वय तो तद्भाष्य में ही देखना चाहिए। प्रकृत में सन्दर्भ--सङ्केतमात्र के लिए यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि,-'मानव' के चित्याग्निरूप-पाञ्चभौतिक-शरीर का स्वरूप--निर्म्माण जिस मौलिक-प्राण के छन्दोमय-धरातल-पर होता है, वह मौलिक प्राण—'सप्तर्षिप्राण' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके '४-२-१' ये तीन संस्था-विभाग माने गए हैं, जो क्रमशः **'चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ पुच्छं प्रतिष्ठा'** नाम से प्रसिद्ध हैं। न केवल मानव ही, अपितु प्राणिमात्र, किंवा चर-अचर-यचयावत्-भूतभौतिक-चित्य-पदार्थों का मूलाधार-भूत सप्तप्राणमूर्त्ति यही वह छन्दोमय-सूक्ष्म-आकार है, जिसमें भूतचिति होजाने से ही तत्स्वरूप की भूतरूप में अभिव्यक्ति होजाती है।

'चत्वार-आत्मा' रूपा प्राणचतुष्टयी से मानव का मध्याङ्ग बनता है, जिसे 'धड़' कहा जाता है। वाम-हस्त-वाम चरण, दोनों का युग्म एक पक्षप्राण से, एवं दक्षिणहस्त-चरणरूप युग्म एक पक्षप्राण से सम्पन्न होता है। शेषभूत-पुच्छप्रतिष्ठाप्राण से त्रिकास्थिमूल की स्वरूपाभिव्यक्ति होती है। त्रिकास्थिगत-पुच्छप्रतिष्ठा-प्राण ही मानव के, किंवा प्राणिमात्र के उस मेरुदण्ड की मूलप्रतिष्ठा है, जिस मेरुदण्ड का स्वरूप खगोलीय-विष्वद्वृत्त से ही सम्पन्न हुआ करता है। वस्तुस्थिति तो वास्तव मे यह है कि, द्यावापृथिव्य-सौर-पार्थिव-सम्वत्सर-द्वयी की समष्टिरूप महान् 'सम्वत्सर' ही वह महान् 'सुपर्ण' है, जिसके चत्वार-आत्मा आदि सप्तावयव हैं। महासुपर्णरूप उस आधिदैविक-सौर-सम्वत्सर से ही पार्थिव-प्रजा का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। उसका विष्वद्वृत्त ही प्राणियों का मध्यस्थ मेरुदण्ड बनता है, जिसे लोकभाषा में—'रीढ की हड्डी' कहा गया है। यह अस्थि त्रिकास्थि से उपक्रान्त होकर अर्वाग्बिल-ऊर्ध्वचमस नामक पारिभाषिक-शिरःकपाल--पर्य्यन्त अभिव्याप्त है। इस मेरुदण्ड का सन्तनन ही शरीर को सीधा-तना हुआ रखता है, जोकि सन्तनन मेरुदण्डोपसंहारात्मक त्रिकास्थिप्राण से ही अनुप्राणित है। प्रकृतिसिद्ध वार्द्धक्य ही त्रिकास्थिगत पुच्छप्रतिष्ठाप्राण को मूर्च्छित कर दिया करता है, जिसके कारण ही वार्द्धक्य में मेरुदण्ड वक्रित होजाता है। तदतिरिक्त पक्षाघातादि रोगविशेषों के कारण, एवं प्रचण्डतम-शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक-श्रम-परिश्रमानुगत सत्र के कारण भी तत्प्राण असमय में भी मूर्च्छित होजाता है, फलतः शरीरयष्टि अवनता होजाती है। इसी प्रतिष्ठाप्राण के कारण क्योंकि शरीर-यष्टि ऋजुभावेन सन्तता रहती है, अतएव प्राणात्मक इस सन्तननधर्म्म को श्रुतिने **'उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्-भवति'** रूपेण–'वीर्य्यम्' उपाधि से समन्वित माना है।

श्रुति का **'वीर्य्य'** शब्द भी अपना एक विशेष महत्त्व रख रहा है। वैज्ञानिकी-परिभाषाओं से अनुप्राणित शब्दों के पारिभाषिक-चिरन्तन-इतिवृत्तों की बोधपरम्परा के विलुप्तप्राय होजाने से आज सभी शब्द **'सभी धान पसेरी'** न्याय को चरितार्थ कर रहे हैं। और इसीलिए आज **उत्साह-पराक्रम-बल-वीर्य्य-साहस** आदि शब्द समानार्थक ही मान लिए जारहे हैं, जबकि विज्ञानदृष्ट्या ये सभी शब्द विभिन्न विभिन्न अर्थों के ही स्वरूप-संग्राहक बने हुए हैं। उदाहरण के लिए **बल-वीर्य्य-पराक्रम**, इन तीन शब्दों को ही लक्ष्य बनाइए। अवश्य ही मानवीय भूतात्मा की दृष्टि से इन तीनों हीं शब्दों को आत्मानुबन्धी माना जासकता है, एवं इस

आत्मसाम्यदृष्टया तीनों को परस्पर पर्य्याय भी मान लिया जासकता है एक दूसरे का। किन्तु आत्मानुगत कलाभेद की दृष्टि से तो तीनों को सर्वथा विभिन्नार्थक ही माना जायगा। **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयः'** इत्यादि बृहदारण्यक-श्रुति के अनुसार मानव का भूतात्मा **'मनःप्राण-वाङ्मय'** बना रहता हुआ **'ज्ञान-क्रिया-अर्थ'** शक्तित्रयी की समष्टिरूप है। **ज्ञानशक्ति-युक्त मन के साथ ही पराक्रम का सम्बन्ध है, क्रियाशक्ति-युक्त प्राण के साथ ही वीर्य्य का सम्बन्ध है, एवं अर्थशक्ति-युक्ता वाक् के साथ ही बल का सम्बन्ध है।**

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्यार्थ-समन्वय के लिए हमें तीन विभिन्न उदाहरणों का ही अनुगमन करना पड़ेगा। तभी स्थिति का पारिभाषिक समन्वय सम्भव बन सकेगा। **मानव, सिंह, और गज,** इन तीनों को लक्ष्य बनाइए। तीनों में हीं यद्यपि मनःप्राणवाङ्मय भूतात्मा प्रतिष्ठित है। किन्तु तीनों में क्रमशः मनः-प्राण-वाक्-रूपा-ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों की क्रमशः प्रधानता है। अर्थात् **त्र्यात्मक भी मानव मनः-प्रधान बनता हुआ ज्ञानशक्ति-प्रधान है। त्र्यात्मक भी सिंह प्राण-प्रधान बनता हुआ क्रियाशक्ति-प्रधान है। एवं त्र्यात्मक भी मत्तगजराज वाक्प्रधान** बनता हुआ **अर्थशक्ति-प्रधान है।** मनःप्रधान-मानव **आत्म-प्रधान** है, प्राणप्रधान सिंह **प्राणप्रधान** है, एवं वाक्प्रधान गजराज **शरीरप्रधान** है। पर के आक्रमण से सम्बन्ध रखने वाला आत्म-निबन्धन ज्ञानबल ही-**'पराक्रम'** है, जो कि मानव में विशेषरूपेण अभिव्यक्त है। प्राणनिबन्धन-क्रियाबल ही-**'वीर्य्य'** है, जो कि सिंह में विशेषरूपेण प्रस्फुटित है। एवं वाग्निबन्धन अर्थबल ही बल है, जो कि गजराज में विशेषरूपेण चीयमान है। यों मानव-सिंह-गज, तीनों में क्रमशः **पराक्रम-वीर्य्य-बल,** तीन बल विभक्त देखे जासकते हैं।

**शारीरिक बल ही बल है,** जिसका उदाहरण शरीरधर्म्मा वह गजराज ही बना हुआ है, जो यदि सिंह पर अपना भार रखदे, तो सिंह सर्वथैव पिष्टावस्था में परिणत होजाय। किन्तु शारीरिकबलरूप-'बल' की अपेक्षा क्योंकि प्राणबलरूप 'वीर्य्य' विशेषरूपेण अतिशय रखता है। अतएव शरीरतः बलवान् भी गजराज को वीर्य्यशाली सिंह परास्त कर दिया करता है। और मानव ?। वह तो सिंह के गर्जनश्रवण मात्र से ही विकम्पित होपड़ता है। किन्तु परानुगत-आक्रमण-धर्म्मात्मक-पराक्रमरूप-मनोबल के द्वारा ऐसा विकम्पित भी मानव कौशलपूर्वक वीर्य्यशाली सिंह को भी पञ्जरबद्ध कर देता है, एवं बलशाली गजराज को भी अपना वाहन बना लेता है। और यही आत्मबलाभिव्यक्तित्व-निबन्धना वह श्रेष्ठता है, जिसके आधार पर अन्य प्राणियों के समतुलन में भगवान् व्यास को कहना पड़ा कि—**'न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्'**।

निवेदन-निष्कर्ष यही है कि, त्रिकास्थिगत पुच्छप्रतिष्ठात्मक-धर्म्म क्योंकि—**'प्राणप्रधान'** है, प्राण के साथ ही क्योंकि **'वीर्य्य'** नामक बलविशेष का सम्बन्ध है, यह प्राणनिबन्धन वीर्य्य ही मानव की शरीरयष्टि को ऋजुभावेन क्योंकि उच्छ्रितभाव में परिणत रखता है, और यह सन्तननधर्म्म ही अध्यवसायनिष्ठ मानव की कर्म्मसफलता का क्योंकि अन्यतम आधार है, इन्हीं सम्पूर्ण तथ्यों को अपने पारिभाषिक-गभीरतम-अर्थ से अभि-व्यक्त करता हुआ श्रुतिका-**'उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्'** यह वचन वैदिकसाहित्य के अत्यन्त उपादेय-सर्वयुगानु-बन्धी-महत्त्व की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, इसी संस्मरण के साथ १६-२०-कर्म्मानुबन्धी-यह प्रक्रान्त-निदर्शनात्मक संस्मरण उपरत होरहा है।

(१६-२०)-१०-११-

* * * * *

श्री:

# [२१]—'प्रवरणकर्म्म'-प्रसङ्गतः युगधर्म्मनिबन्धन--'अधिकार'-शब्दानुगत किञ्चिदिव-संस्मरण

## १२

---

पूर्वोत्तराघारकर्म्मद्वयी के अनन्तर क्रमप्राप्त उस **'प्रवरणकर्म्म'** का स्थान आता है, जिसमें आर्षेयप्रवरण, दिव्याग्निवरण, आर्षेयवरण, अग्नि--ब्राह्मणानुग्रहप्राप्ति, मानुषहोतृवरण, स्वस्त्ययनजप, भेदेन अनेक आवान्तर क्रत्वर्थ--कर्म्मों की वैज्ञानिकी उपपत्ति का पारिभाषिक--समन्वय--प्रयास हुआ है। उनमें से विस्तारभिया अत्र संस्मरणरूपेण **'अधिकार'** शब्द-माध्यमेन किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है।

प्रवरणकर्म्म का फलितार्थ है वह--**'यज्ञाधिकार-समर्पण'**, जिस **'अधिकार'** शब्द को लेकर आज के समाजवादी मानवश्रेष्ठ ने भारतीय विभक्त--अधिकारभाव के विरुद्ध सर्वथैव प्रतिद्वन्द्विता स्थापित कर रक्खी है। प्रवरणकर्म्मानुबन्ध से उस 'अधिकार' शब्द के माध्यम से ही हमें सर्वप्रथम दो शब्द निवेदन कर देने हैं। 'अधिकार' शब्द जब मानव के कामार्थभोगप्रधान--मनःशरीररूप--प्राकृतभाग से ही अनुगत बना रहता है, तब तो यही 'अधिकार' व्यक्तित्वविमोहन का कारण बनता हुआ लोक--वित्तादि-एषणाओं की लिप्सा-लालसा के माध्यम से मानव के सर्वनाश का ही कारण बन जाता है। एवं ठीक इसके विपरीत यही 'अधिकार' शब्द जब मानव के मोक्षधर्मप्रधान- आत्म-बुद्धिरूप--पौरुषभाग से अनुगत बन जाता है, तो उस दशा में यह अधिकार **'अधिकार'** न रह कर महान्--**'उत्तरदायित्त्व'** के रूप में ही परिणत होजाता है। और उत्तरदायित्वपूर्ण आत्मबुद्धिनिबन्धन-पुरुषभावानुबन्धी ऐसा अधिकार व्यक्तित्वविमोहन से असंस्पृष्ट रहता हुआ, अतएव तदनुगत मानवश्रेष्ठ को लोकैषणा-वित्तैषणादि वञ्चनाओं से पराःपरावत रखता हुआ, मानव के आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वरूप उस महान् नैष्ठिक व्यक्तित्त्व का ही पोषक बन जाता है, आत्मबुद्धि--निबन्धन जो मानवीय महान् व्यक्तित्व आत्मसाम्य से अनुगत रहता हुआ विश्वमानवीय-व्यापक व्यक्तित्व से सर्वथैव अभिन्न प्रमाणित होजाता है।

आत्म-बुद्धि के नियन्त्रण से नियन्त्रित मनः-शरीरात्मक-प्राकृतभाव से समन्वित भारतीय मानव की प्रकृतिसिद्धा प्रकृतिभेदभिन्ना अधिकारव्यवस्था का मूलाधार लोकैषणा-वित्तैषणानुगत-मनः--शरीरनिबन्धन--व्यक्तित्वविमोहरूप अधिकार न हो कर सर्वैषणाविनिर्म्मुक्त--आत्मबुद्धिनिबन्धन-आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वरूप वह महान् **'उत्तरदायित्त्व'** ही है, जिस उत्तरदायित्वपूर्ण इत्थंभूत आत्मबुद्धिनिबन्धन--अधिकारभेद के आधार पर ही ऋषिप्रज्ञा के द्वारा प्रकृतिसिद्ध--विभक्त--वर्णभेद के माध्यम से तत्तत्--विभक्त--ज्ञान--कर्म्म--अर्थ--भावों का विभाजन हुआ है, जिस इसप्रकार के उत्तरदायित्वपूर्ण, प्रकृतिसिद्ध, विभक्त--अधिकारभेद को सर्वथैव सदा ही विज्ञानसम्मतत्त्वेन शाश्वतीभ्यः सामाभ्यः, अर्थात् सदा सदा के लिए ही उपयोगी ही माना जायगा।

अवश्य ही अज्ञानतावश अमुक समय से भारतीय वर्णमानवोंने 'अधिकार' शब्द की उत्तरदायित्वपूर्णा तथाविधा विज्ञानसिद्धा व्यवस्था की उपेक्षा कर लोक--वित्तैषणासक्ति के द्वारा मनःशरीरानुगत व्यक्तित्वविमोहनरूप प्राकृतिक--उस 'अधिकार' को ही अपना लक्ष्य बना लिया है, जिस उत्तरदायित्वशून्य, अतएव सर्वविनाशक ऐसे अधिकार के कारण ही अनुक समय से 'अधिकार' शब्द को लेकर सभी भारतीयों में परस्पर आक्रोशात्मिका अनर्थकारिणी अहमहमिका ही उपक्रान्त होपड़ी है। व्यक्तित्वविमोहनात्मक ऐसी अधिकारलिप्सा से सर्वप्रथम पतन हुआ ब्राह्मण का, तदनन्तर क्षत्रिय का, आगे चलकर वैश्य का, एवं आज शूद्र महाभाग ही विशेषरूपेण इसी विमोहनात्मिका कामार्थप्रधाना मनःशरीर-निबन्धना अधिकारलिप्सा के उस भीषण-दुस्तर पङ्क में निमग्न होते जारहे हैं, जिस पङ्क में इनकी वैश्य-क्षत्रिय--ब्राह्मण-नाम की पूर्वपरम्परा-त्रयी सर्वथैव निमज्जित होती हुई एक प्रकार से अपना बाह्य--परिचयाक--वर्णस्वरूप ही विस्मृत कर बैठी है;

यही अवस्था, किंवा दुरवस्था भावुकतानुगत उस नारीसमाज की है, जो आज अधिकारलिप्सु--तथाविध--व्यक्तित्व--विमोहनानुगत--मानवमहाभागों की सर्वनाशकारिणी--प्रेरणा से काल्पनिकी अधिकारघोषणा में निमग्न रहता हुआ अपने सहज सौम्य--वात्सल्यपूर्ण मातृत्त्व जैसे महतोमहीयान् सर्वाराध्य पद को ही विकम्पित करता जारहा है। भारतीय वर्णप्रजा में हीं यह संघर्ष हो, यह बात नहीं है। अपितु साङ्क्रामिकी जनपदविध्वंसिनी-महामारी (प्लेग) की भाँति यह **'अधिकारलिप्सा'** व्यक्तित्वविमोहनात्मक-अधिकारलिप्सु छोटे-बड़े-आबाल-वृद्ध-वनिता-आदि सभी वर्गों में उसप्रकार वैसा सङ्क्रमण कर बैठी है, जिसके कारण ही सभी अहर्निश **'हमारा अधिकार--हमारा अधिकार'** का चीत्कार करते हुए स्वोत्तरदायित्वपूर्णा कर्त्तव्यनिष्ठा से सर्वथैव पराङ्मुख प्रमाणित होते हुए अधिकारलिप्सानुगत कामार्थभोगों की ओर ही अन्धबधिर-रूपेण अनुधावन करते जारहे हैं।

घोषणाएँ प्रतिक्षण होरहीं हैं **मानवता, मानवधर्म्म, समानता, विश्वबन्धुत्त्व**-आदि अदि लोकोत्तर आकर्षक शब्दों की। किन्तु प्रत्येक घोषणा के मूल में दृढतमरूपेण पुष्पित--पल्लवित होती जारही है व्यक्तित्व-विमोहनमूला वैय्यक्तिकी--अधिकारवासना। कैसा है यह आज का भारतीय--जनजीवनप्रवाह, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी ज्ञान--कर्म्म-निष्ठा से एकान्ततः पराङ्मुख बना रहता हुआ केवल 'अधिकार'--'अधिकार' का ही चीत्कार करता जारहा है, जिस इस अकर्म्मण्य--भावानुबन्धी-ज्ञानसम्पत्ति--वञ्चित आधिकारिक चीत्कार का कहाँ अवसान होगा ?, प्रश्न सचमुच ही उत्तरोत्तर असमाधेय ही प्रमाणित होता जारहा है।

उक्त--**'अधिकारचीत्कार'**को लेकर ही आज वेदशास्त्र के अध्ययनाध्यापन, तथा यज्ञकर्म्मानुगति के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के विसंवाद अभिव्यक्ति होपड़े हैं तथाविध अधिकारलिप्सु-वर्ग की ओर से ही, जिस तथाभूत आक्रोश का आधारसूत्र है--**'स्त्री-शूद्रौ-नाधीयाताम्'**, यह सुप्रसिद्ध शास्त्रीय--पूर्ण-परीक्षित--वैज्ञानिक-सिद्धान्त। ईश्वरीय सृष्टि में जब सभी समान हैं, तो यह पक्षपात क्यों ?, एकमात्र इसी तर्क के आधार पर अधिकारवादियों का तथाभूत आक्रोश उपजीवित है, जिस इस तर्काभासरूप तर्क का इसलिए इस प्राकृत-जगत् में यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है कि, विषमवर्त्तनानुगता प्रकृति से सञ्चालित द्वन्द्वात्मक--भौतिक--विश्व की जीवनधारा त्रिगुणभावापन्ना बनी रहती हुई सर्वथा विभिन्न-वर्तन-परम्पराओं से ही सञ्चालित रहती है, जिस इस महान् वैज्ञानिक--प्राकृतिक--तथ्य के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है।

अधिकार किसी को न तो दिया ही जासकता, न किसी का अधिकार अपहृत ही किया जासकता। हाँ, जो जिसमें प्रकृत्यैव अनधिकृत है, वह यदि बलपूर्वक उस ओर प्रवृत्त होना चाहता है, तो उसके सहजसिद्ध प्राकृत-स्वरूप के संरक्षण की माङ्गलिक-कामना से ही उसे अनधिकृत-तथ्यों से रोक दिया जाता है। यदि वह नहीं रुकता, तो अनधिकृत में तो उसे सफलता नहीं हीं मिलती। प्रवृत्यनुगत-अधिकृत स्वरूप वह और खो बैठता है। एवं एकमात्र इसी आधार पर भारतीया--अधिकारमर्य्यादा, किंवा उत्तरदायित्वव्यवस्था व्यवस्थित हुई है, जिसकी प्राकृतिक--काल्पनिक--साम्य के आवेश में आकर आज हम सर्वथैव उपेक्षा करते जारहे हैं। स्त्री, और शूद्रवत् वैसे ब्राह्मण--क्षत्रिय--वैश्य--बन्धु भी तो शास्त्र के द्वारा वेदस्वाध्याय में सर्वथा अनधिकृत ही घोषित हुए हैं, जो कभी वेदशास्त्र के अध्ययन--सम्पर्क में आए ही नहीं, अपितु जो जन्म से ही अन्यान्य--लौकिक--अनुबन्धों में ही आसक्त--व्यासक्त--बने रहते हैं। संस्कारशून्य ऐसे द्विजाति को ही शास्त्रने 'द्विज' न कह कर निन्दा के रूप से--'द्विजबन्धु' उपाधि से समलङ्कृत किया है। एवं संस्कारशून्य ऐसा त्रैवर्णिक भी जब वेदस्वाध्याय, एवं यज्ञादि कर्म्म में अयोग्यतावश अनधिकृत है *, तो स्त्री-शूद्र--से अनुगता अनधिकृतता के सम्बन्ध में तो इसलिए प्रश्न ही नहीं उठता कि, इनका प्रकृतिसिद्ध मूलप्राण अत्रि, और पूषा नामक उस पार्थिव-प्राणद्वयी से ही अनुप्राणित है, जिसके तमोगुणबहुल सृष्ट्यनुबन्धी-स्वरूप के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं हैं, एवं जिसके लिए तो स्वतन्त्र--अध्ययन ही अपेक्षित माना जायगा।

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धु नामक वर्ग भी वेदसिद्ध महान् फल से वञ्चित न रह जायँ, इसीलिए तो परम--कारुणिक भगवान् बादरायण के द्वारा 'पुराणशास्त्र' का आविर्भाव हुआ है, जिसके रहस्यपूर्ण आख्यानो--पाख्यानों की गम्भीरार्थता का किञ्चिदिव संस्मरण आवेदन के आरम्भ में हीं किया जाचुका है। वेद, और वेदसिद्ध जटिलतम विज्ञान-स्तुति--इतिवृत्त--ज्ञान-कर्म्म-उपास्ति'-जैसे अत्यन्त दुरधिगम्य--ज्ञातव्य--कर्त्तव्या-त्मक--विषय-षट्क से सुविभूषित वेदशास्त्र जैसे गम्भीर शास्त्र के अधिकार की बात तो जाने दीजिए। हम तो समझते हैं, आज तो पुराणशास्त्र के तत्त्वसमन्वय की भी क्षमता स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धुवर्ग में तो क्या, विद्या का गर्व रखने वाले विद्वानों को भी एक बार तो शङ्कातङ्कितनानस ही प्रमाणित कर देगी। ऐसा है ज्ञान--शैथिल्य का आज का युग, और उस युग का वैसा है वह--'अधिकारघोषणापत्र', जिसकी यातयामता में कुछ भी तो सन्देह नहीं किया जासकता। जिसप्रकार केवल आन्दोलनों के लिए प्रतिक्षण विलक्षण-विलक्षणा-साजसज्जाओं-प्रदर्शनों-घोषणाओं से समलङ्कृत-सुविभूषित-आविर्भूत-होते रहने वाले आज के भावु-कतापूर्ण आन्दोलन 'आन्दोलन'मात्र पर ही अपनी जीवनलीला समाप्त करते रहते हैं। ठीक वही अवस्था उत्तरदायित्वशून्य, अतएव नितान्त'भावुकतापूर्ण' उस 'अधिकारघोषणा' की होरही है, जो 'अधिकारघोषणा' कालान्तर में 'अधिकारघोषणा' मात्र पर ही विश्राम ग्रहण करती जाती है साङ्क्रामिकी व्याधि की भाँति आगे की 'घोषणा' मात्र को जन्म देती हुई ही। और यों अधिकारलिप्सु मानव का, एवं मानवी का समस्त जीवन केवल इस घोषणाओं के आविर्भाव--तिरोभाव में हीं परिसमाप्त होजाता है, उत्तरदायित्वपूर्णा-अधिकारभेदभिन्ना-नियता--ज्ञान-कर्म्मानुगति से पराःपरावत ही बना रहता हुआ।

---

*--स्त्री--शूद्र--द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

प्रस्तुत 'प्रवरणब्राह्मण' 'आर्षेयप्रवरण' के माध्यम से ऋषिवंश--परम्परा का स्पष्टीकरण करता हुआ यज्ञाधिकार-निबन्धन उस महान् उत्तरदायित्व का ही वैज्ञानिक-स्पष्टीकरण कर रहा है, जिस का **'गोत्रभाव'** से ही सम्बन्ध माना गया है, एवं जिस गोत्रभाव का परिचायक--नैदानिक--चिह्न ही **'प्रवर'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। तत्सम्बन्ध से ही तद्ब्राह्मण--**'प्रवरब्राह्मण'** कहलाया है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के अध्ययनाध्यापन में, तथा विधिसिद्ध--दिव्यभावापन्न--यज्ञकर्म्मों में उत्तरदायित्वपूर्ण--अधिकार की दृष्टि से अधिकृत द्विजाति--यजमान ही तो यज्ञकर्म्म के लिए दीक्षा ग्रहण कर सकता है, एवं तथाविध अधिकारी--द्विजाति ही दक्षिणा--द्रव्यमाध्यमेन--यज्ञकर्म्म का होता--अध्वर्य्यु--उद्गाता--ब्रह्मा--आदि भेदभिन्न आर्त्विज्यकर्म्म में अधिकार ग्रहण कर सकता है। अमुक यजमान के अमुक यज्ञकर्म्म के लिए अमुक ब्राह्मण अपनी ऋषिगोत्र-मर्य्यादानुबन्धिनी--वंशमर्य्यादा से अधिकृत है, इस तथ्य के समन्वय से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्मविशेष ही 'आश्रावण' कर्म्म है।

मानव की अध्यात्मसंस्था में हमनें **आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर,** ये चार पर्व बतलाए हैं। इन में तुरीय--आत्मा तो दिग्देशकालातीत--तत्त्व है। अतएव वह गोत्र--वर्ण--जाति--आदि--भावों से अतीत है, जैसाकि---**'अगोत्रमवर्णम्०'** इत्यादि औपनिषद--सन्दर्भ से स्पष्ट है। शेष रह जाते हैं--**बुद्धि, मन, शरीर,** नामक तीन पर्व, जिनका क्रमशः प्रकृति के **सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी**-नामक उन सुप्रसिद्ध तीन पर्वों के साथ ही क्रमिक--सम्बन्ध है, जो तीनों प्राकृत--पर्व क्रमशः **काल--दिक्--देश** भावों से अनुप्राणित हैं, जैसाकि पूर्व में भी यत्र तत्र स्पष्ट किया जाचुका है।

कालात्मक--कालसाक्षी--सूर्य्य ही बुद्धि का प्रवर्त्तक है, दिगात्मक--दिक्साक्षी--चन्द्रमा ही मन का आरम्भक है, एवं देशात्मक--देशसाक्षी--भूपिण्ड ( पृथिवी ) ही शरीर का उपादान है। यों मानव के बुद्धि--मनः--शरीर--रूप तीनों विभिन्न--धर्म्मा--प्राकृतपर्व काल--दिक्--देश--धर्म्मानुगत--सूर्य्य--चन्द्र--भू--पिण्ड से ही अनुप्राणित हैं। अतएव आत्मदृष्ट्या जहाँ मानव अप्राकृत, **'दिग्देशकालातित--लोकातीत--मानव'** है, वहाँ बुद्धि--मन--शरीर--दृष्टि से वही लोकानुगत--प्राकृत-मानव **'दिग्देशकालानुगामी--लोकमानव'** है। प्राकृतिक-मानव के प्रकृतिसिद्ध ये तीनों बुद्ध्यादि पर्व जिस महती प्रकृति से अनुगृहीत हैं, उसे ही--**'महत्प्रकृति'** कहा गया है, जिस के कि सुप्रसिद्ध षड्विवर्त्तों की ओर ही एक विशेष दृष्टिकोण के समन्वय के लिए उदाहरण--प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

महत्प्रकृति के आधार पर ही क्योंकि आत्मपुरुष नामक चिदात्मा गर्भ धारण करते हैं, अतएव इस महत्प्रकृतिरूप इस महान् को चिदात्मा की योनि ( गर्भभूमि ) कहा गया है, जिसके माध्यम से ही आप्य--वायव्य--सौम्य--रूपा--त्रिविधा--जीवसृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है। महत्प्रकृतिरूप **'महान्'** वह पारमेष्ठ्य आपोमय--तत्त्व है, जो आपः--तत्त्व घन-तरल-विरल-भेद से **आपः-वायुः-सोमः**-इन तीन रूपों में विभक्त रहता है। क्योंकि पारमेष्ठ्य--महान् का भार्गव-आप्यरूप त्रिभावापन्न है, अतएव जीवसर्ग **आप्यजीव, वायव्यजीव, सौम्यजीव,** भेद से तीन ही प्रमुख श्रेणियों में विभक्त रहता है।

जीवत्रयी का अभिव्यञ्जक, चिदात्मा को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखनेवाला **'महान्'** 'महत्प्रकृतितत्त्व' वह महतोमहीयान् ग्रह है, जिसके चारों ओर सूर्य्य--चन्द्रमा--भूपिण्ड--स्व स्व-**अयन--दक्ष--क्रान्ति**--नामक वृत्तों पर परिक्रमा लगाया करते हैं। जिसप्रकार चन्द्रमा अपने दक्षवृत्त के आधार पर भूपिण्ड के चारों ओर परिभ्रममाण है, स्वाक्ष पर परिभ्रमणशील भूपिण्ड अपने क्रान्तिवृत्त के आधारपर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रममाण

है, एवमेव सूर्य्य अपने अयनवृत्त के आधापर आपोमय पारमेष्ठ्य-महान् के चारों ओर परिक्रममा-लगा रहा है। चान्द्री परिक्रमा जैसे मासात्मिका है, पार्थिवी--परिक्रमा जैसे वर्षात्मिका है, एवमेव सौरी परिक्रमा पञ्चविंशति-सहस्रवर्षात्मिका मानी गई है। इस परिक्रमात्रयी का नाम ही है--'**दर्शपूर्णमास**' नामकी सुप्रसिद्धा नित्यसिद्धा वह यज्ञप्रक्रिया, जिसके आधारपर ही मानवकृत--वैध--उस दर्शपूर्णपासयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता का **शतपथ के प्रथमकाण्ड** में सोपपत्तिक निरूपण हुआ है, जिस के प्रवराश्रावणकर्म्म के प्रसङ्ग से ही यह परिभ्रमण--चर्चा उपक्रान्त होपड़ी है एक विशेष तथ्य के समन्वय के लिए ही।

**सूर्य्य--चन्द्र--भू--के** परिभ्रमणरूप दर्शपूर्णमास से ही पारमेष्ठ्य महान् में, किंवा तद्रूपा **महत्-प्रकृति** में क्रमशः **अहंकृति, प्रकृति, आकृति** नाम की प्रथमा **प्रकृतित्रयी**, एवं **सत्त्व-रज-स्तमो**--नाम की द्वितीया--**गुणत्रयी**, रूपेण षट्--विवर्त्त अभिव्यक्त होजाते हैं। ज्ञानशक्तियुक्त--कालात्मक-सूर्य्य के परिभ्रमण से महान् में '**अहङ्कृति**' नामक प्रकृतिभाव, एवं '**सत्त्वगुण**' नामक गुणभाव अभिव्यक्त होता है। क्रियाशक्तियुक्त-दिगात्मक-चन्द्रमा के परिभ्रमण से महान् में '**प्रकृति**' नामक प्रकृतिभाव, एवं '**रजोगुण**'नामक गुणभाव प्रस्फुटित होता है। एवं अर्थशक्तियुक्त-देशात्मक-भूपिण्ड के भ्रमण से '**आकृति**' नामक प्रकृतिभाव, एवं--'**तमोगुण**' नामक गुणभाव प्रकट होता है। यों परिक्रमा--त्रयीरूपा दर्शपूर्णमासात्मिका यज्ञप्रक्रिया से महत्प्रकृति--षड्भावापन्ना बन जाती है। और यही मानव के महत्प्रकृतिमूलक समस्त स्वरूप का संक्षिप्ततम वह चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसे आत्यन्तिकरूपेण विस्मृत कर देने के दुष्परिणामस्वरूप ही आज के दिग्देश-कालविमुग्ध--मानव के लिए भारतीया तत्त्वमूला **गोत्र--वर्ण--जाति**--व्यवस्था सर्वथैव मीमांस्या ही प्रमाणित होरही है।

भारतीय--प्राकृतिक--विज्ञान मानव को जन्मतः ही जिन तीन ऋणों से अधमर्ण ( ऋणी--कर्जदार ) मानता आरहा है, वे ही तीनों ऋण क्रमशः **ऋषिऋण, पितृऋण, देवऋण**, इन नामों से सुप्रसिद्ध हैं, जिन का सुविशद--वैज्ञानिक--विवेचन स्वयं शतपथभाष्य में हीं द्वितीयकाण्ड में--'**त्रिभिर्वा ऋणवाञ्जायते॰**' इत्यादि रूपेण स्वतन्त्ररूप से होने वाला है। प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, तीनों ऋण क्रमशः--ज्ञान--क्रिया--अर्थ--प्रधान **ऋषिप्राण, देवप्राण, पितृप्राण**, इन त्रिविध प्राणों से ही अनुप्राणित हैं, जिस अनुप्राणन के वैज्ञानिक--स्वरूप विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है। **ज्ञानात्मिका सौरी--बुद्धि का ज्ञानप्रधान ऋषिप्राण से प्रधान सम्बन्ध है, क्रियात्मक--चान्द्र--मन** का क्रियाप्रधान **देवप्राण से प्रधान सम्बन्ध है, एवं अर्थात्मक-भू पिण्ड का अर्थप्रधान--पितृप्राण से** प्रमुख **सम्बन्ध है**।

निष्कर्ष यही है कि, **ऋषिप्राण, अहङ्कृतिभाव, सत्त्वगुण, ज्ञानशक्ति**, कालात्मक सूर्य्य, **सौरीबुद्धि**, ये सब विवर्त्त एक ( प्रथम ) धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। **देवप्राण, प्रकृतिभाव, रजोगुण, क्रियाशक्ति, दिगात्मक चन्द्रमा, और चान्द्र--मन**, ये सब विवर्त्त एक ( द्वितीय ) धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। एवमेव--**पितृप्राण, आकृतिभाव**, तमोगुण, **अर्थशक्ति, देशात्मक भूपिण्ड, और भौम--पार्थिव--शरीर**, ये सब विवर्त्त--एक ( तृतीय ) धरातल पर प्रतिष्ठित हैं।

सौरी--बुद्धि से अनुप्राणित प्रथम--धरातल का ज्ञानानुगत ऋषिप्राण ही मानव के बुद्धि--**निबन्धन--गोत्रभाव** की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है। चान्द्र--मन से अनुप्राणित द्वितीय--धरातल का क्रियानुगत देवप्राण ही मानव के **मनो--निबन्धन-वर्णभाव** का आलम्बन माना गया है। एवं पार्थिव--भौम-शरीर से अनुगत तृतीय--धरातल का अर्थानुगत पितृप्राण ही मानव के **शरीर--निबन्धन-जातिभाव** का अनुग्राहक माना गया

है। यों मानव की पारमेष्ठ्या-महत्प्रकृति से अनुगत अहंकृति-प्रकृति-आकृति--भाव ही क्रमशः ऋषि-देव-पितृ--प्राणत्रयी से अनुगत होते हुए गोत्र--वर्ण--जाति--त्रयी की मूलप्रतिष्ठाभूमि प्रमाणित होरहे हैं। यहां हम एक संग्रहात्मिका तालिका उद्धृत कर रहे हैं, जिसके माध्यम से त्रिगुणात्मिका--त्रिप्रकृतिभावसन्विता, अतएव षड्भावनिबन्धना--पारमेष्ठ्या--महत्--प्रकृति से अनुगत ऋषि--देव--पितृ--प्राण--निबन्धन--प्राकृतिक--विस्तार का सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही अनुमान लगाया जासकता है, जिस के यथावत् पारिभाषिक--समन्वय-बोध से पराःपरावत बने रह जाने के कारण ही आज बड़े बड़े प्रज्ञाशील--राष्ट्रीय--मानश्रेष्ठ भी भारतीय--गोत्र--वर्ण-जाति--भेद--निबन्धना प्रकृतिसिद्धा वास्तविक--स्थिति से विमुख ही बनते जारहे हैं, जिस वैमुख्य के कारण ही भारतीय मानव का उत्तरदायित्वपूर्ण पूर्वनिर्दिष्ट--आत्मबुद्धिस्वरूपाभिव्यक्तित्वमूलक वास्तविक व्यक्तित्व स्मृतिगर्भ में ही विलीन होगया है।

| दिग्देशकालातीतः--सर्वातीतः--सर्वव्यापकः--चिदात्मा-"आत्मा" (मानवीयः) | | |
|---|---|---|
| १<br>१--कालात्मकः-सूर्य्यः- | २<br>१--दिगात्मकः--चन्द्रमाः | ३<br>१--देशात्मकः-भूपिण्डः |
| २--अहङ्कृतिभावः | २--प्रकृतिभावः | २--आकृतिभावः |
| ३--सत्त्वगुणः | ३--रजोगुणः | ३--तमोगुणः |
| ४--ऋषिप्राणः | ४--देवप्राणः | ४--पितृप्राणः |
| ५--ज्ञानशक्तिः | ५--क्रियाशक्तिः | ५--अर्थशक्तिः |
| ६--गोत्रसृष्टिः | ६--वर्णसृष्टिः | ६--जातिसृष्टिः |
| ७--मानवीया-बुद्धिः<br>कालानुगता<br>१ | ७--मानवीयं--मनः<br>दिगनुगतम्<br>२ | ७--मानवीयं-शरीरम्<br>देशानुगतम्<br>३ |

वर्णव्यवस्थामूलक चातुर्वर्ण्य, तथा जातिव्यवस्था, दोनों के सम्बन्ध में ही आज का नवीन भारत निरतिशयरूपेण आकृष्ट ही बना हुआ है पूर्वोक्त उत्तरदायित्व--शून्य–मनःशरीरनिबन्धन--व्यक्तित्व–विमोहनात्मक उस अधिकार--शब्द मूलक संघर्ष के कारण ही, जो संघर्ष विगत अनेक शताब्दियों से प्रक्रान्त है। अधिकारव्यामोहन के कारण ही भारतीय–वर्णव्यवस्था के प्रति आज का मानव प्रचण्ड–विद्रोही बन गया है, जिस विद्रोह का प्रायश्चित्तरूपेण समादर ही किया जायगा। किन्तु एतावता ही वर्णों को काल्पनिक तो कदापि नहीं माना जासकता, नैव जातियों को ही मानवीय–कल्पनामात्र पर विश्रान्त किया जासकता, जैसाकि आजकल माना, और बलपूर्वक मनवाया जारहा है।

एक सब से बड़ी भ्रान्ति तो यही है कि, आज वर्ण, और जाति, दोनों शब्दों को पर्य्याय मान लिया गया है। एवं यही भ्रान्ति प्रमुखरूपेण वर्ण, और जाति के प्रति आक्रोशोत्पत्ति का कारण बनी हुई है। ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–ये जातियाँ नहीं हैं, अपितु ये तो 'वर्ण' हैं, जोकि प्रकृत्या-जन्मना-चार ही भागों में विभक्त हैं, एवं जिन इन प्रकृतिसिद्ध ईश्वरकृत चारों वर्णों का केवल मानवसर्ग में हीं समावेश नहीं है। अपितु विश्व के चर–अचर–जड़–चेतन–यच्चयावत् प्राणियों–पदार्थों–ओषधि–वनस्पतियों–लता–गुल्मों–धातूपधातुओं, आदि आदि में सर्वत्र चातुर्वर्ण्य–विद्यमान है, जिसका सुविशद–वैज्ञानिक-समन्वय–गीताभूमिका-कर्म्मयोग–परीक्षानुगत–'वर्णाश्रमव्यवस्थाविज्ञान' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में किया जा चुका है।

वर्ण जहाँ चार ही हैं, वहाँ जातियाँ चतुरशीतिलक्ष ( ८४ लाख ) मानीं गईं हैं–प्रकृति के पितृ-प्राणनिबन्धन महिमामय विस्तार के कारण, जोकि भारतीय आबालवृद्धप्रज्ञा में-'चौरासीलाख योनियाँ' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चौरासीलाख में मानवयोनिरूपा 'मानवजाति' एक ही जाती है, जिस योनिमूला–जाति का पूर्वोक्ता महत्प्रकृति के सर्वान्त के पार्थिव–निबन्धन–स्थूलशरीर–से ही प्रमुख–सम्बन्ध-माना गया है, जैसाकि–"आकृतिग्रहणा जातिः" इत्यादिरूपेण सुप्रसिद्ध है। सचमुच ही तो शरीराकृतिमूला-मानव--योनिर्निबन्धना 'मानवजाति' तो सम्पूर्ण विश्व में एक ही तो है। कौन इसमें भेद मान रहा है ?। शरीरानुबन्धेन-आहारनिद्रादि--शारीरिक-धर्म्मों से सभी मानव एक धरातल पर ही तो प्रतिष्ठित हैं। इस तथ्य से पराङ्मुख होकर जो महानुभाव–चातुर्वर्ण्य के सम्बन्ध में यह तर्काभास उठाते हैं–"ब्राह्मण, और क्षत्रिय–वैश्य–शूद्रादि की आकृति जब समान है, तो फिर जाति भेद कैसा", उनके इस तर्काभास का सर्वथा ही तो मूलोच्छेद हो जाता है उस समय, जब कि पदार्थमात्र में व्याप्त प्रकृतिसिद्ध ब्राह्मण–क्षत्रिय–आदि भेदनिबन्धन चातुवर्ण्य का, एवं आकृतिमूलक--मानवसामान्य में एक रूपेण–व्याप्त–'जातिर्जातं च सामान्यम्' निबन्धन--जातिभाव का 'मानवजाति' रूपेण पार्थक्य समझ–लिया जाता है।

भारतीय–ऋषिने कदापि 'जाति' को कोई प्रमुख प्रश्रय नहीं दिया है। अपितु अमुक–सीमापर्य्यन्त प्रकृतिनिबन्धन चातुर्वर्ण्य का ही समादर किया है, जिसका अन्ततोगत्वा विश्राम हुआ है ऋषि के द्वारा ऋषिप्राणनिबन्धन–अहङ्कृतिमूलक–उस 'गोत्रभाव' पर ही, जिसके सम्बन्ध में-'गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्' यह मङ्गलाशीः प्रसिद्धा है। वंशानुगतिनिबन्धना गोत्रमूला–परम्परा का उत्कृष्टत्व ही वह वास्तविकी अधिकार–मर्य्यादा है, जिस का प्रमुखरूपेण भारतीय–शास्त्रीय व्यवहार, तथा लौकिक व्यवहार में समादर हुआ है। एवं प्रस्तुत प्रवरणब्राह्मण के द्वारा इसी तथ्य का अनेक–दृष्टियों से स्वरूप–समन्वय हुआ है, इत्यलं-प्रासङ्गिकेन–प्रवरानुगत–अधिकार–शब्द–निबन्धन–संस्मरणेन।

(२१)–१२

* * * * *

श्रीः

# [२२]–स्रु गादापनानुगत-आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म-प्रसङ्गतः कतिपय-आमुष्मिक,-ऐहिक-फलानुबन्धी- *"वैज्ञानिक-सन्दर्भों का संस्मरण"*

# १३

---

स्रु गादापनानुगत-'आश्रावण-प्रत्याश्रावण'–नामक क्रमप्राप्त बाईसवें (२२) प्रमुख कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता के प्रसङ्ग से भी अनेक वैज्ञानिक-तथ्यों का प्रासङ्गिक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास हुआ है, जिनमें से अत्र उदाहरणरूपेण एक दो वैज्ञानिक-तथ्यों का संस्मरण ही पर्य्याप्त होगा। आमुष्मिक-परोक्षफल के अनुगामी अदृष्ट–प्रेमियों के अनुरञ्जन के लिए, एवं ऐहिक-प्रत्यक्षफल के अनुवर्त्मा भूतवादियों की तुष्टि के लिए वे ही उदाहरण अत्र क्रमशः उपस्थित होरहे हैं।

## ( क )--स्रु गादापनकर्म्म--निबन्धन--प्राणानुगत--अदृष्ट--भाव का संस्मरण-

'स्वस्त्ययनजपकर्म्म' के अनन्तर 'होता' नामक ऋत्विक् के द्वारा होने वाला अमुक-निगद-मन्त्रात्मक-पाठ ही-'स्रु गादापनकर्म्म' कहलाया है, जिसकी अन्यान्या उपपत्तियों में से प्रधान उपपत्ति है– **'मानुषभावनिबन्धन-प्रज्ञापराध का उपशम'**। प्राणप्रधान देवदेवताओं के यजनात्मक सङ्गमन से सम्बन्ध रखने वाला दिव्यप्राणात्मक 'यज्ञकर्म्म' अपने आधारभूत अदृष्ट--प्राण के अनुबन्ध से प्रधानरूपेण **'अदृष्टभाव'** प्रधान ही कर्म्म है। **आकाश-वायु-तेज-जल-मृत्**-नामक पञ्चपञ्चीकृत, अतएव **'महाभूत'** नाम से प्रसिद्ध, अतएव च प्रत्यक्षदृष्ट भूतों से अनुगता **शब्द--स्पर्श--रूप--रस-गन्ध**-नाम की पञ्चतन्मात्राओं से सर्वथैव असंस्पृष्ट, अतएव अधामच्छद-सुसूक्ष्मतम-पञ्चमहाभूताधार-तत्त्वविशेष ही **'प्राण'** है। प्रज्ञानमन से समन्वित पञ्चेन्द्रियवर्ग उन्हीं भूतभौतिक-विषयों का प्रत्यक्षानुभव कर सकता है, जिनका शब्द-स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राओं से सम्बन्ध रहता है। 'प्राण' तत्त्व क्योंकि पञ्चतन्मात्राओं से असंस्पृष्ट-अतीत-है। अतएव प्रज्ञानमनः-सम्परिष्वक्त कोई भी इन्द्रिय उसका साक्षात्कार नहीं कर सकती। इस 'इन्द्रियातीतत्त्व' धर्म्म के कारण ही 'प्राण' को **'अदृष्ट'-'परोक्ष' 'इन्द्रियातीत'**-आदि अभिधाओं से समन्वित माना गया है। क्योंकि **'यज्ञ'** शब्द प्राणरूप देवदेवताओं के **यजन—सङ्गतिकरण—दानात्मक**—भावों से ही अनुप्राणित है *, अतएव प्राणदेवप्रधान यज्ञकर्म्म को अवश्यमेव प्रमुखरूपेण **'अदृष्टफलजनक'** ही माना जायगा।

---

*–'यज'-देवपूजा–सङ्गतिकरण–दानेषु ( पाणिनीय–धातुपाठे )।

प्राणनिबन्धना अदृष्टता ही वह 'परोक्षता' है, जिसके आधार पर ही—'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः' ( अर्थात्–प्राणदेवता परोक्ष से ही अनुगत रहते हैं, एवं प्रत्यक्ष से शत्रुता ही रखते हैं ) यह श्रौत-निगमवचन-व्यवस्थित हुआ है। आत्मानुगत 'प्राण' जहाँ शाश्वततत्त्व है, अमृततत्त्व है, अजरभाव है, वहाँ विश्वानुगत 'वाङ्मय भूत' परिवर्त्तनशील है, मर्त्यभाव है, जीर्णभावानुगत है। प्राण ही भूत की प्रतिष्ठा है। प्राण ही वह अक्षरात्मक-कूटस्थ-अविच्छिन्न सूत्र है, जिसके आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले क्षरकूटस्थ-भूतभौतिक-परमाणु संघातभाव में परिणत होते हुए अमुक अवधि पर्य्यन्त स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होते रहते हैं। जबतक कूटस्थ-अक्षरप्राण-क्षरकूट की प्रतिष्ठा-बना रहता है, तभीतक भूतभौतिक-पदार्थों की स्वरूपाभिव्यक्ति है। प्राणसम्बन्ध के विच्छिन्न होते ही तदाधार पर प्रतिष्ठित भूतपिण्ड विशकलित होजाते हैं, बिखर जाते हैं। यही इनका अव्यक्तभाव है, जिसे स्थूलभाषा में 'विनाश' कहा गया है। स्वस्वरूपेण अपने क्षरण-धर्म्म से भूतभाव अव्यक्तभावानुगत ही बना रहता है, जो प्राणाधारदशा में जहाँ व्यक्तभावापन्न है, वहाँ प्राणवियोगदशा में वही पुनः अव्यक्तभावापन्न है। यों आरम्भक्षणे--अव्यक्त, मध्यक्षणे--व्यक्त, पुनः तृतीयक्षणे--अव्यक्त, यही मर्त्य-भूतों का सम्पूर्ण जीवनेतिवृत्त-स्वारस्य--बना हुआ है।

भूतभौतिक-पदार्थों में सापेक्षभाव-निबन्धना जो बलवत्ता प्रतीत होरही है, वह वस्तुतः 'प्राणशक्ति' की ही महिमा है। प्राणबल ही भूत का वास्तविक बल है। जिस दिन धारावाहिकबलान्वित प्राणबन्धन शिथिल होजाता है, उसी दिन भूतबल विलीन होजाता है। प्राण क्योंकि पूर्व-कथनानुसार परोक्षधर्म्मा है। इसलिए भी भारतीय-आदर्शपद्धति में प्रत्यक्षापेक्षया परोक्षभावों को ही प्रधानता दी गई है। इसी दृष्टि से भारतीय समस्त विधि-विधान वाङ्मयी घोषणा से, तदनुप्राणिता प्रदर्शन-प्रचार परम्पराओं से तटस्थवत् बने रह कर ही प्रवृत्त हुए हैं, होने चाहिएँ, जैसाकि पूर्व के संस्मरण में भी आत्रेयी-वाक् के अनुबन्ध से स्पष्ट किया जाचुका है ( देखिए पृ० सं० १०१ )। भारतीय-आर्ष-मानव प्रत्यक्ष-दृष्ट-की अपेक्षा परोक्ष-अदृष्ट को ही क्यों प्रमुखता प्रदान करता है ?, प्रश्न का भी प्राणनिबन्धन यही प्रासङ्गिक समाधान है, जिस इत्थंभूता प्राणानुगता परोक्षता से अनुगत यज्ञकर्म्म भी परोक्ष-अदृष्ट भावों से ही समन्वित होरहा है। इत्थंभूत-अदृष्टभावापन्न-यज्ञकर्म्म में दृष्टभावप्रधान-लोकाभिमुख-सेन्द्रिय-मानव के द्वारा अज्ञातरूपेणैव त्रुटि होजाना स्वाभाविक ही है। और अनृतसंहित-मानव के द्वारा होने वाली त्रुटि से दिव्यप्राणातिशयरूप–यज्ञकर्म्म का दोषपूर्ण बन जाना भी स्वतःसिद्ध ही है, जोकि दोषपूर्ण यज्ञ यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए इष्टसाधकता के स्थान में अनिष्ट का ही जनक बन जाता है। इसप्रकार के प्रचण्ड-दोष की निवृत्ति के लिए, दूसरे शब्दों में यजमान-ऋत्विग्गण-आदि मानवों के द्वारा अज्ञातरूपेणैव होपड़ने वाले अदृष्टदोषात्मक प्रतिबन्धक के उपशम के लिए जो वैज्ञानिक कर्म्म व्यवस्थित हुआ है, उसीका नाम है—'स्रुगादापनकर्म्म', जिसके इत्थंभूत प्राणात्मक-परोक्ष-अतिशय-का ही तत्-कर्म्म-प्रसङ्गतः विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

प्रज्ञापराधजनित दोष के परिमार्ज्जन से अनुप्राणित स्रुगादापननिगदपाठात्मक-स्रुगादापन-कर्म्म के द्वारा एक अन्य यज्ञानुबन्धी-आवश्यक तथ्य का भी संग्रह होरहा है, और वही इस कर्म्म का दूसरा वैज्ञानिक-

---

*–अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! ।
अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥
—गीतायाम्

समन्वय है, जिसका यज्ञातिशयरूप-अदृष्टभावापन्न--'दैवात्मा' से ही सम्बन्ध माना गया है। जिसप्रकार प्रकृतिसिद्ध सौर-सम्वत्सर-रूप-अग्नीषोमात्मक-नित्ययज्ञ से अनुप्राणित दाम्पत्य-भावानुबन्धी-आग्नेय-रजोभाव, तथा सौम्य-शुक्रभाव के--रासायनिक--सम्मिश्रण से गर्भानुगत अपूर्व 'भूतात्मा' ( देहाभिमानी--जीवात्मा ) की अभिव्यक्ति होती है, ठीक उसी प्रकार इस मनुष्य--यजमान के अग्नीषोमात्मक--वैध--यज्ञ से यजमान के भूतात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धन--सम्बन्ध--करता हुआ एक अपूर्व--नवीन--यज्ञातिशयरूप--'यज्ञात्मा' अभिव्यक्त होपड़ता है, एवं इसी का पारिभाषिक नाम रक्खा गया है—'दैवात्मा', जो श्रद्धासूत्र के द्वारा यजमान के भूतात्मा से अर्कमाध्यमेन--सम्बन्ध रखता हुआ सप्तदशस्थानीय--त्रिणाचिकेत नामक 'स्वर्ग' में प्रतिष्ठित होजाता है। जब यज्ञकर्त्ता यजमान का भूतात्मानुगत ऐहिक आयुःकाल सर्वात्मना भुक्त होजाता है, तो तदनन्तर दैवात्माकर्षण से यह भूतात्मा तत्स्वर्गप्रदेश में हीं चला जाता है। अवश्य ही अदृष्टभावापन्न प्राणात्मक-यज्ञ से अभिव्यक्त दैवात्मा भी हमारी भूतदृष्टि से अदृष्ट है, एवं सप्तदशस्थानरूप स्वर्ग भी प्राणप्रधान बनता हुआ अदृष्ट ही है। किन्तु विज्ञानदृष्ट्या यह सभी कुछ दृष्ट ही बना हुआ है।

मानवीय--वैध--यज्ञ उस प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय--यज्ञ की ही प्रतिकृति, किंवा प्रतिरूप, अथवा तो प्रतिमान है। अतएव ईश्वरीय-प्रजासर्ग में जो जो भाव--अङ्ग--प्रत्यङ्ग--समाविष्ट रहते हैं, इस मानवीय--वैध-यज्ञ में भी उन उन सभी भाव--अङ्गादि का समावेश अनिवार्य्य बन जाता है। स्रुगादापनकर्म्म के द्वारा यज्ञातिशयरूप दैवात्मा के दिव्यशरीर में अवान्तर-नवविध-आध्यात्मिक-प्राणों का ही आधान किया जाता है संख्यासम्पदनुगत--निदानभाव के माध्यम से ही, जिस इस नवप्राणाधानकर्म्म का भी अदृष्ट--प्राणनिबन्धनत्त्वेन परोक्षभाव से ही सम्बन्ध माना जायगा।

संख्यासम्पदनुगत--निदानभाव के स्वरूप--विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है। सन्दर्भ--सङ्गति के लिए इस सम्बन्ध में यही निवेदन पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि,--वैदिक-विज्ञान के प्रायः--सभी अनुबन्ध संख्यानुगत--निदानभावों के माध्यम से ही व्यवस्थित हुए हैं छन्दोभावानुबन्धेन। वस्तुओं का बहिःसीमात्मक--बाह्य--मण्डल ही तद्वस्तु का 'छन्द' माना गया है, जिसका अक्षरानुगता संख्याओं से ही प्रधान--सम्बन्ध रहता है। अमुक--अक्षरान्वित--अमुक छन्द से अनुगता अमुक-वस्तुसम्पत्ति के संग्रह के लिए तच्छन्दोऽनुगत संख्याभाव को भी ऋषि ने प्रमुखता प्रदान की है। स्रुगादापनकर्म्मानुगत 'निगदमन्त्र' में क्योंकि ९ (नव) व्याहृतियां हैं *, अतएव इस निगदपाठ को नवभावात्मक ही माना गया है।

---

* स्रुगादापनकर्म्मनिबन्धना ९-व्याहृतियाँ निम्नलिखितरूपेण सुप्रसिद्ध हैं—

| | |
|---|---|
| १-अग्निर्होता | ५-घृतवतीमध्वर्य्यो ! स्रुचमास्यस्व |
| २-वेत्त्वग्नेर्होत्रम् | ६- वयुवं विश्ववाराम् |
| ३-वेत्तु प्रावित्रम् | ७-ईडामहै देवाँ३॥ ईडेन्यान् |
| ४-साधु ते यजमान ! देवता | ८-नमस्याम नमस्यान् |

९-यजाम यज्ञियान्

इति-स्रुगादापननिगदपाठः-नव (९) व्याहृत्यात्मकः )

———*———

एक से आरम्भ कर सहस्र--लक्ष--अयुत--परमपरार्ध्यादि-संख्या--विस्तार-क्रम-पर्य्यन्त ऋषि ने संख्या-सम्पदनुगता यज्ञसम्पत्तियों का पदे पदे स्वरूप-विश्लेषण--किया है, जोकि संख्यासम्पदनुबन्धी--नैदानिक-रहस्य स्वतन्त्र अध्ययन का ही विषय माना जायगा। कहीं--एक--दो--चार--छः--आठ--आदि युग्मसंख्याओं के माध्यम से * यज्ञसम्पत्ति-परम्पराओं का समतुलन हुआ है, तो कहीं एक--तीन--पाँच--सात--नव--आदि--अयुग्म-संख्याओं से संख्यासम्पत् का संग्रह किया गया है ÷। प्रकृत में निवेदनीय यही है कि, स्रुगादापन--निगदमन्त्र में क्योंकि ६ व्याहृतियाँ हैं। अतएव इनसे संख्यासम्पत्--के माध्यम से नवविध--उन अङ्गप्राणों का भी निदानभावेन ग्रहण होजाता है, जोकि नवविध अङ्गप्राण सप्त-शीर्षण्यप्राण, द्विविध-अवाञ्चप्राणरूप से नौ संख्याओं से समन्वित माने गए हैं। इसप्रकार स्रुगादापनकर्म्म के द्वारा **अदृष्ट-प्राणसंग्रह,** तथा **नवविध-अङ्गप्राणाधान,** रूप दो महान् लक्ष्य सम्पन्न होजाते हैं, एवं प्रस्तुत प्रथम-वैज्ञानिक--प्रसङ्ग का यही संक्षिप्ततम स्वरूप-संस्मरण है।

* * * * *

## (ख)–आश्रावण–प्रत्याश्रावण–निबन्धन–परोक्ष–दिव्यभाव का संस्मरण—

स्रुगादापनकर्म्म के अनन्तर तद्ब्राह्मण ('स्रुगादापनब्राह्मण') में ही आगे चलकर–'**आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्म्म**' की इतिकर्त्तव्यता का स्वरूप-समन्वय-हुआ है, जिससे अनुप्राणित दिव्यप्राणनिबन्धन, अतएव परोक्षभावात्मक ही वैज्ञानिक तथ्य के सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव संस्मरण कर लेना अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा। इस सम्बन्ध में एक आधिदैविक-वैज्ञानिक-आख्यान का अनुगमन करती हुई श्रुति कहती है कि—

**"एकबार यज्ञ देवमण्डल से अपक्रान्त होगया, विदूर होगया। बिना यज्ञ के क्योंकि देव-देवताओं की स्वरूप-रक्षा असम्भव थी, अतएव देवदेवताओंनें अपक्रान्त यज्ञ का उपलालन-भाषा में इसप्रकार आमन्त्रण किया कि—'हे यज्ञ! आप हमारी सुनिए!, एवं हमारी ओर पुनः अनुगत होजाइए!। यज्ञदेवता देवदेवताओं के तथाभूत आमन्त्रण पर देवदेवताओं की ओर परावर्त्तित होगए। पुनरागत इस यज्ञ से देवदेवताओंनें अपना यजनकर्म्म सम्पन्न किया। इसी यज्ञात्मक यजन के प्रभाव से वे 'देवदेवता' रूपेण सुरक्षित बने रह गए"।**

---

***-एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**
**द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति**
**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**
**षड् वा ऋतवः सम्बत्सरस्य**
**अष्टाक्षरा वै गायत्री**
**—इत्यादि–युग्मसंख्योदाहरण**

**÷ एका च मे, तिस्रश्च मे, पञ्च च मे,**
**सप्त च मे, नव च मे,**
**—इत्यादि-अयुग्मसंख्योदाहरण**

उक्त आधिदैविक--आख्यान का निष्कर्षार्थ यही है कि, सौरसम्वत्सर-यज्ञमण्डल से यज्ञाग्नि प्रवृत्त होकर कृष्णमृगरूप में परिणत होकर भूपिण्ड की वस्तु बन जाया करता है, जिस इस रहस्य--पूर्ण--यज्ञाप--क्रमण का पूर्वप्रकाशित-प्रथमखण्ड में—'हविःपेषणकर्म्म' प्रसङ्गतः कृष्णमृगचर्म्म के वैज्ञानिक--तथ्य का समन्वय करते हुए विस्तार से निरूपण किया जाचुका है-( देखिए प्रथमकाण्डानुगत--प्रथमखण्ड की पृष्ठ सं०-६५ से ५२२पृष्ठ पर्य्यन्त)। सौरसम्वत्सरमण्डलात्मक दिव्ययज्ञ में अग्नि होता हैं, वायु अध्वर्य्यु हैं, आदित्य उद्गाता हैं, चन्द्रमा ब्रह्मा हैं, एवं स्वयं सम्वत्सरप्रजापति यज्ञकर्त्ता यजमान हैं। इन चारों ऋत्विजों के शस्त्र--स्तोत्र--ग्रह--ब्राह्म--नामक चारों कर्म्मों के संविदानात्मक-ऐकमत्य से, एकीभाव से, एकतानतानुगता-अविच्छिन्ना कर्म्मधारा से ही पार्थिव--कृष्णमृगरूप--यज्ञ पुनः-स्व-लोकात्मक-सौर-देवमण्डल में चित-संचित होजाता है। यों प्राकृतिक-प्राणदेवताओं के 'आमन्त्रणरूप--संविदानकर्म्म' से ही अप्रक्रान्त यज्ञ पुनः देवमण्डलानुगत बन जाता है। और इसी संविदानात्मक आमन्त्रणकर्म्म की याज्ञिकी अभिधा है— 'आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्म्म'।

यज्ञकर्त्ता मनुष्य-यजमान का वह आधिदैविक-सौरसम्वत्सरानुगत-सप्तदश-स्तोमस्थ-दिव्ययज्ञ इसके पार्थिव-भौतिक-जन्मानुबन्ध से ही मानो पलायित है, जिस दिव्यभाव-पलायन से ही इसके भूतात्मा को यहाँ जन्म लेना पड़ा है। आज यज्ञ के द्वारा यह उसी दिव्यभाव का अपने भूतात्मा में पुनः सन्धान करना चाहता है। अतएव इसे भी अपने ऋत्विजों के सहयोग से संविदानरूपा उसी एकतानता का अनुगमन करना पड़ेगा, जैसी कि एकतानता दिव्यदेवताओं से अनुगत रहती है। एवं आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म का यही प्रमुख लक्ष्य है। अपक्रान्ता-वह यज्ञसम्पत्ति, जिसका प्रधान क्षेत्र त्रिणाचिकेतरूप-सप्तदशस्तोम-माना गया है--यज्ञकर्त्ता की ओर अनुगत होजाय, यही इस कर्म्म का फलितार्थ है।

प्रस्तुत कर्म्म में-'ओ श्रावय'-'अस्तु श्रौषट्'-'यज'-'ये यजामहे'-'यज'-'वौषट्'-ये पाँच व्याहृतियाँ हैं, एवं अक्षर हैं सत्रह। पाँच (५), और सत्रह (१७), इन द्विधा विभिक्ता-संख्याओं का भी इस कर्म्म के माध्यम से एक विशेष अतिशय माना गया है। सर्वप्रथम अध्वर्य्यु होता के प्रति-'ओ श्रावय' इस व्याहृति का उच्चारण करता है, जिसका यही स्वारस्य है कि, 'हे होतः! आप इस यज्ञकर्त्ता यजमान को, एवं इसके इस भूतयज्ञ को दिव्यदेवताओं के लिए सुनादें'। इस प्रथमा व्याहृति के अनन्तर होता 'अस्तु श्रौषट्' इस द्वितीया व्याहृति का उच्चारण करता है, जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि,—'देवदेवताओंनें यज्ञ को सुन लिया है'--अर्थात् 'देवदेवता यज्ञ के अभिमुख होगए हैं'। इसीप्रकार संविदानभाव से ही 'यज' ( आगत देवताओं का यजन करो' ),--'ये यजामहे' ('समागत देवदेवताओं का यजन किया जारहा है')-इन तृतीया-चतुर्थी-व्याहृतियों के अनन्तर 'वौषट्' रूपा पञ्चमी व्याहृति के साथ ही आहुति दे दी जाती है, एवं पञ्चव्याहृत्यात्मक-इसी कर्म्मविशेष का नाम है-'आश्रावण-प्रत्याश्रावण' कर्म्म, जिसके द्वारा वैध-यज्ञ में अदृष्ट-दिव्य-पाङ्क्तयज्ञ की 'पाङ्क्ता-सम्पत्ति' ( पञ्चावयवसम्पत्ति ) का आधान होजाता है पाँच व्याहृतियाँ के द्वारा, एवं अदृष्टा परोक्षभावापन्ना-स्वर्गसम्पत्तिरूपा-सप्तदश-स्तोमसम्पत्ति का आधान होजाता है पञ्चव्याहृतियों के सत्रह अक्षरों के द्वारा। यों आश्रावाण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म भी सृगादापनकर्म्मवत् इस वैध-यज्ञ में परोक्ष-दिव्यभावों का ही आधानकर्त्ता प्रमाणित होरहा है।

विश्वस्वरूप-सम्पादक प्राकृतिक यज्ञ पाङ्क्त ( पञ्चावयव) ही कहलाया है, जिस पाङ्क्तता का विशद वैज्ञानिक-स्वरूप प्रथम-खण्ड में किया जाचुका है। अनुगमभावनिबन्धना इस पाङ्क्तता का उस 'सर्वहुत-

यज्ञ' से भी सम्बन्ध माना गया है, जिसका पञ्चपर्वा प्रकृति के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध है। एवं प्रकृति के पञ्चविध–प्राकृत–प्राणों के पञ्चीकरणात्मक–सर्वाहुतिरूप–समन्वय से ही जिस–'सर्वंहुतयज्ञ' की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर--चान्द्र–पार्थिव--भेदभिन्न पञ्चविध–पञ्चावयव–विश्वात्मक महान् यज्ञ ही वह 'सर्वंहुतयज्ञ' है, जिसके आधार पर ही अन्यान्य व्यष्टियज्ञ आविर्भूत हैं। ओ श्रावयादि पाँचों व्याहृतियों से सर्वंहुतयज्ञनिबन्धना–इस पाङ्क्ता–यज्ञसम्पत्ति का अवश्यमेव संग्रह गतार्थ बन जाता है।

पार्थिव-'सप्तदशस्तोम' ही वह आहवनीयकुण्ड है, जिसमें स्वर्ग्याग्नि प्रतिष्ठित माना गया है, एवं जिसके सम्बन्ध में महाभाग नचिकेता ने महान्देव यमराज से प्रश्न किया है। पञ्चव्याहृति के अक्षर सत्रह होजाते हैं। अतएव इस संख्यासम्पत्ति से स्वर्गसम्पति का भी इस वैधयज्ञ में आधान गतार्थ बन जाता है। इसी आधार पर यज्ञात्मरूप प्रजापति–**'सप्तदशो वै प्रजापतिः'** रूपेण उपस्तुत है। **इसी तथ्य के** माध्यम से याज्ञिक–सम्प्रदाय में यह सूक्ति प्रचलित है कि—

**चतुर्भिश्च–चतुर्भिश्च–द्वाभ्यां--पञ्चभिरेव च।**
**हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नमः॥**

(१)–"ओ(१)—श्रा(२)—व(३)—-य(४)"—**चतुर्भिश्च**

(२)–"अ(१)—-स्तु(२)—-श्रौ(३)—षट्(४)"—**चतुर्भिश्च**

(३)–"य(१)—-ज(२)"—**द्वाभ्याम्**

(४)–"ये(१)—-य(२)—-जा(३)—-म(४)—-हे(५)"—**पञ्चभिरेव च**

(५)–"वौ(१)—-षट्(२)"————**हूयते च पुनर्द्वाभ्याम्**

**"तस्मै–यज्ञात्मने–सप्तदशप्रजापतये–नमः"**

——*——

* * *

## (ग)–आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्मानुगत–प्रत्यक्षभावापन्न–दृष्टफल का संस्मरण—

मन्त्रब्राह्मणात्मक–वेदशास्त्र के यज्ञकर्म्म–प्रधान 'विधि' रूप 'ब्राह्मण' भाग से अनुप्राणिता ज्ञान–विज्ञानात्मिका–सृष्टिविद्यानिबन्धना–जिन अमुक-परिभाषाओं का पूर्व के सन्दर्भों– के माध्यम से अबतक संस्मरण किया गया है, वे सभी संस्मरण 'प्राण'–प्रधान बनते हुए प्राणनिबन्धना परोक्षभावात्मिका उस

अदृष्टा स्थिति के, किंवा उस परोक्ष-अदृष्ट-फल के ही समर्थक प्रमाणित होरहे हैं, जिन इत्थंभूत-अदृष्ट-परोक्ष-संस्मरणों के द्वारा उस भूतवादी-प्रत्यक्षफलवादी-दिग्देशकालोपयोगितावादी-वर्त्तमानवादी-का कदापि अनुरञ्जन सम्भव नहीं है, जिसने अपने मानवीय-स्वरूप का सम्पूर्ण-इतिवृत्त प्रकृतिनिबन्धन **'वर्त्तमान'** पर ही परिसमाप्त मान रक्खा है।

इसी स्थिति का और भी अधिक स्पष्टीकरण अपेक्षित हो, तो आज के प्रावाहिक-युग में विशेषरूप से प्रचलित-**'यथार्थ'** शब्द को लक्ष्यारूढ बना लेना हीं पर्य्याप्त होगा। भावुक मानवों की दृष्टि में **आदर्श**, और **यथार्थ**, दोनों जहाँ विभिन्नवर्त्मा हैं, वहाँ नैष्ठिक-आर्ष-मानवश्रेष्ठों की निष्ठादृष्टि में जो आदर्श है, वही यथार्थ है। एवं आदर्श की सीमा से बहिष्कृता-मनोऽनुगता-मान्यता से उपकल्पित 'काल्पनिक-यथार्थ' तो सर्वथैव **'अयथार्थ'** ही बना रह जाता है। भूतभौतिक-प्रपञ्च को यदि **'यथार्थ'** मान लिया जाता है, तो तदाधारभूत मौलिक-प्राणपञ्चक को ही **'आदर्श'** का स्थान दिया जासकेगा। प्राणपञ्चकरूप आदर्श की मनोऽनुगता कल्पना के आधार पर ही क्योंकि बलचिति के द्वारा भूतात्मक व्यक्त-यज्ञ-भावों का चयन होता है। अतएव कहा जासकता है कि—**"अव्यक्तावस्थापन्न-प्राणात्मक-आदर्श का व्यक्तावस्थापन्न भौतिकरूप ही 'यथार्थ' की स्वरूप-परिभाषा है"**। यों आदर्श ही यथार्थ रूप में परिणत होरहा है।

स्वयं उपनिषदोंनें भी **'यथार्थ'** रूप 'याथातथ्य' की यही स्वरूप-परिभाषा की है। स्वायम्भुव-त्रयी-रूप-**ब्रह्मप्राण**, तथा पारमेष्ठ्य-अथर्वरूप **सुब्रह्मप्राण**, इन दोनों मौलिक प्राणों को **'प्रश्नोपनिषत्'** ने क्रमशः **'प्राण'** और **'रयि'** यह संज्ञा रक्खी है, एवं दोनों के रासायनिक-सम्मिश्रणात्मक-दाम्पत्य से ही तदुपनिषत्ने सम्पूर्ण-भूत-भौतिक-प्रपञ्च की यथार्था स्वरूपाभिव्यक्ति मानी है। ब्रह्मप्राणरूप ब्रह्माग्नि में सुब्रह्मरयिरूप सुब्रह्मसोम की आहुति होने से प्राणमूला-भूततूला-सृष्टि अभिव्यक्त हुई है, और यही आदर्श-मूला यथार्थभावनिबन्धना ब्रह्म-सुब्रह्मात्मिका-शुक्रभावानुगता सृष्टि का यथार्थ स्वरूप-दिग्दर्शन है, जिसका निम्नलिखित ईशोपनिषद्वचन से स्पष्टीकरण हुआ है—

**स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।**
**कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः-याथातथ्यतोऽर्थान्-व्यदधात्**
**शाश्वतीभ्यः- समाभ्यः।**

—ईशोपनिषदि

स्वयम्भूः-याथातथ्यतः-अर्थान्-शाश्वतीभ्यः-समाभ्यः' वाक्यसन्दर्भ का ऋजुतम यही अक्षरार्थ है कि-अव्यक्त-प्राणमूर्त्ति, अतएव मूलप्रतिष्ठात्मक-**'मूल-आदर्श'** रूप स्वयम्भू प्रजापति ही यथार्थरूप से अर्थात्मक-भूत-भौतिक-प्रपञ्चात्मक-विश्व का सदा के लिए निर्म्माता बना हुआ है"। **यों आदर्श ही यथार्थ बना हुआ है**, जिस इस औपनिषद-अर्थ को सर्वात्मना समर्थन प्राप्त है ऋक्संहिता के सर्वान्त के उस सुप्रसिद्ध मन्त्रभागानुगत अमुक वाक्य-विशेष को, जिस अमुक वाक्य के-**'धाता यथापूर्वमकल्पयत'** स्वरूप से सभी वेदवित् सुपरिचित हैं। 'धाता' स्वयम्भू-ब्रह्म हैं, जो आदर्शमूर्त्ति हैं, एवं यथापूर्व-व्यवस्थित-विश्व ही **'यथार्थ' है**, जिसकी आधारभूमि 'आदर्शरूप'-स्वयम्भू ही बने हुए हैं। **'प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'**

वचन भी आदर्शात्मक प्राण की अभिव्यक्ति को ही यज्ञरूप–यथार्थ का आसन प्रदान कर रहा है। और यों भारतीय-आर्षदृष्टि से तो आदर्श, एवं यथार्थ में कुछ भी तो अन्तर नहीं है। इसी आधार पर तो-**'ब्रह्मैवेदं-सर्वम्'–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'–'यदेवेह-तदमुत्र-यदमुत्र-तदन्विह'-'इह चेदवेदीत्-अथ-सत्यमस्ति'—'इह चेन्नावेदीत्-महती-विनष्टिः'**-इत्यादि श्रौत–सिद्धान्त अभिव्यक्त हुए हैं। अतएव आदर्शात्मक–अव्यक्त-प्राण-से अनुप्राणित अदृष्टभावनिबन्धन–इन्द्रियातीत–परोक्ष फलमात्र से ही अपने श्रद्धानजगत् में सर्वात्मना तुष्ट बन जाने वाले शास्त्रैकशरण–भारतीय–मानव की दृष्टि में तो अन्य किसी भी दृष्टफल की कोई भी आकांक्षा शेष नहीं रह जाती।

तो क्या शास्त्रैकशरण श्रद्धालु मानव दृष्टफल को उपेक्षणीय मानता है ?, कदापि नहीं, सर्वथा नहीं। किन्तु इसे यह विदित है, और आस्थापूर्वक विदित है कि–प्राणप्रधान जो यज्ञकर्म्म परोक्ष–अदृष्ट-जैसे इन्द्रियातीत फलों का संग्राहक है, उसी के द्वारा यज्ञकर्त्ता के ऐहिक–दृष्ट–प्रत्यक्षफल तो स्वतः ही संसिद्ध है हीं। तभी तो यज्ञकर्म्म को यज्ञरहस्यवेत्ता यज्ञेश्वर भगवान्ने **'इष्टकामधुक्'** उपाधि से समलङ्कृत किया है। यथेच्छफलप्रदाता यज्ञकर्म्म स्वतः ही अदृष्ट के साथ साथ ही दृष्टफलों का भी संग्राहक–बन जाता है। और यों वेदशास्त्र–सिद्ध–ज्ञान–कर्म्म–उपासना–नाम की कर्त्तव्य–त्रयी दृष्ट–अदृष्ट, उभयविध–फल–संसाधिका बनती हुई अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधिका ही प्रमाणित होरही है।

मानव के दिग्देशकालानुगत-बुद्धि–मनः–शरीर–निबन्धन–यथार्थभावानुबन्धी–दृष्टफलों का क्या स्वरूप है ?, भारतीय–शास्त्र ने इन दृष्ट–फलों का कैसा, और क्या वर्गीकरण किया है ?, वर्त्तमान–युग से अनुप्राणित-यथार्थ–का समादर करने वाले दृष्टफल कौन कौन से हैं ?, एवं स्वयं शास्त्र ने उनका कैसा चमत्कारपूर्ण समन्वय किया है ?, दृष्टफलानुगत–इन सभी–उपयोगी–भावों का विस्तार से **'शतपथ-प्रथम-खण्डानुगत-आत्मनिवेदन'** में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। अतः इस दृष्टफल–स्वरूप–जिज्ञासुवर्ग को तत्-आवेदन पर ही, विशेषतः उसके १०९ से ११८ वें पृष्ठ पर्य्यन्त के सन्दर्भ पर ही दृक्पातानुग्रह करना चाहिए। प्रकृत में तो एक अन्य–प्रसङ्ग के माध्यम से स्वयं ब्राह्मणश्रुति के मुखपङ्कज से ही यथार्थवादियों की दिग्देशकालानुबन्धिनी-वर्त्तमान-जीवनानुबन्धिनी–तात्कालिकी–उपयोगिता से अनुप्राणित–**'दृष्टफल'** का संक्षेप से संस्मरण–मात्र ही कर लिया जाता है।

स्रुगादापन–कर्म्म के अनन्तर होने वाले-पञ्चव्याहृत्यात्मक, तथा-सप्तदश-अक्षरनिबन्धन–'आश्रावण-प्रत्याश्रावण–कर्म्म' से सम्बन्ध रखने वाले प्राणसम्पत्ति के संग्रहात्मक-तथा–पाङ्क्तयज्ञसम्पत्ति, और सप्तदश-संख्यानुगता–प्राजापत्या–सम्पत्ति–रूप–अदृष्ट–फलों का पूर्व में संस्मरण-किया जाचुका है। इसी आश्रावणप्र० कर्म्म का श्रुति के द्वारा एक 'दृष्टफल' भी हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है, जिसका श्रुति के शब्दों में हीं इस रूप से यशोगान हुआ है कि—

**"वर्षति हैव तत्र-यत्रैवमृत्विजः–संविदाना–यज्ञेन चरन्ति"**

—शत० १।५।२।१९।

दृष्टफलों में महतोमहीयान् दृष्टफल माना जायगा वह–**'वर्षा'**, जिसके आधार पर ही सम्वत्सर की स्वरूप-प्रतिष्ठा मानी गई है। षड्ऋतुविज्ञानवेत्ताओं को यह सुविदित ही है कि, जब पार्थिव–आन्तरिक्ष्य–अग्नि विकास की चरम–सीमा पर पहुँच जाता है, तो–**'अग्नेरापः'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वही

अग्नि द्रुतावस्था में परिणत होजाता है, और इसी का नाम है ग्रीष्मत्तु रूपा–आग्नेयी–ऋतु से उत्तरभाविनी-'वर्षाऋतु'। 'वर्ष' यह सम्पूर्ण–सम्वत्सर का एक नामविशेष है। सम्पूर्ण-सम्वत्सर का संग्राहक 'वर्ष' शब्द-'वर्षा' रूपेण एक ऋतुविशेष में हीं क्यों, और कैसे समन्वित होगया ?, इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुतिने कहा है कि-'वर्षा त्वेव सर्वऋतवः'। अर्थात्-वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत्–हेमन्त-शिशिर--इन ६ ओं साम्वत्सरिक-ऋतुओं का एक वर्षाऋतु में भी क्योंकि भोग होजाता है, अतएव वर्षा को 'सर्व-ऋतु' कहा जाता है। और इसीलिए सर्वऋतु की समष्टिरूप-सम्वत्सर का संग्राहक-'वर्ष' शब्द-सर्वत्तु रूपा-पावसऋतु से भी समन्वित होगया है।

दूसरा कारण श्रुतिने बतलाया है—'वर्षा' ऋतु के आधार पर ही। वर्षाजल के आधार पर ही ओषधि--वनस्पतियों का उत्पादन-सम्भव है। एवं तदाधार पर ही सम्पूर्ण-वर्ष का स्वरूप सुरक्षित रह सकता है। वर्षा-ऋतु ही इसप्रकार परम्परया क्योंकि वर्ष की स्वरूप-प्रतिष्ठा का कारण प्रमाणित होरही है, इस-लिए भी सम्वत्सर-वाचक भी 'वर्ष' शब्द का इस एक वर्षाऋतु के साथ सम्बन्ध होगया है। निम्नलिखित श्रुतिवचन इसी कारणद्वयी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

**"स वै वर्षास्वादधीत। वर्षा वै सर्वऽऋतवः। वर्षा हि वै सर्वऽऋतवः। अथ–अदो वर्षमकुर्म्म, अदो वर्षमकुर्म्म, इति सम्वत्सरान्–सम्पश्यन्ति। वर्षा ह त्वेव सर्वेषां–ऋतूनां–रूपम्। उत हि तद्वर्षासु भवति–यदाहुः–'ग्रीष्म–इव वा 'अद्य' इति। उत–उ–तद्वर्षासु भवति यदाह–'शिशिर इव वाऽअद्य' इति। वर्षादिद् वर्षाः। अथैतदेव–परोक्षं-रूपं–यदेव पुरस्ताद्वाति–तद्वसन्तस्य रूपम्। यत्–स्तनयति–तद्ग्रीष्मस्य, यद्वर्षति- तद्वर्षा–णाम्, यद्विद्योतते–तत्–शरदः, यत्–वृष्ट्वा–उद्गृह्णाति–तद्धेमन्तस्य, वर्षाः सर्व–ऽऋतवः"।**

—शतपथ २।२।३।७–८ कं० *

"निकामे--निकामे--नः पर्ज्जन्यो वर्षतु--फलवत्यो न ओषधयः-पच्यन्ताम्" इत्यादिरूपेण स्वयं मन्त्रवेद भी पर्ज्जन्यात्मक-वृष्टितत्त्व की महती उस उपयोगिता का, राष्ट्रीया-कामना का ही स्वरूप-संस्मरण करा रहा है, जिससे बड़ी दृष्ट--प्रत्यक्ष-फल-कामना और कोई भी तो नहीं हो सकती। और पञ्चव्याहृत्या-त्मक-आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म से सर्वाधिक-महत्त्वशालिनी-यह वृष्टिकामना भी सफल बनाई जासकती है एक प्रक्रिया-विशेष के द्वारा, जिस प्रक्रियाविशेष का ही श्रुति ने--'संविदानाः' रूप से संस्मरण किया है। 'संविदानाः' रूपा इसी प्रक्रिया-विशेष का प्राणदेवानुबन्धी-परोक्ष तथ्य का आख्यानभाषा में संस्मरण कराते हुए श्रुति ने कहा है कि—

'ओ श्रावय' इस प्रथमा व्याहृति से देवदेवताओंनें 'पुरोवात' उत्पन्न किया। 'अस्तु श्रौषट्' इस द्वितीया व्याहृति से आकाश को **अभ्रखण्डों से समाप्लुत** कर दिया। 'यज' इस तृतीया व्याहृति से

*–इस विषय का विशद-वैज्ञानिक-विवेचन-तद्भाष्य-सन्दर्भ में हीं देखना चाहिए।

'विद्युत्' को अभिव्यक्त कर दिया। 'ये यजामहे' इस चतुर्थी-व्याहृति से स्तनयित्नु ( गर्ज्जन-तर्ज्जन ) उत्पन्न किया, एवं सर्वान्त की--'वौषट्' इस पञ्चमी-व्याहृति से ही आकाशस्थ-जल को वर्षण के द्वारा भूमिसात् कर दिया। और यों पञ्चव्याहृत्यात्मक-आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्मानुगता संविदानवृत्ति से ही देवदेवताओंनें वृष्टिकर्म्म सम्पन्न कर लिया--"वषट्कारेणैव--प्रावर्षयन्"।

'ओश्रावय'–इस प्रथमा–व्याहृति से आरम्भ कर 'वौषट्' इस अन्तिम–पाँचवीं-व्याहृति-पर्य्यन्त-जिन पाँचों व्याहृतियों का अध्वर्यु–होता–आग्नीध्र–आदि ऋत्विक्–अनुगमन करते हैं, उन ऋत्विजों का वागनुगत–अविच्छिन्न–प्राणनिबन्धन–सन्तानधाराक्रमसिद्ध–ऐकमत्य ही वह पारिभाषिक 'संविदानभाव' है, जिस एकतानतारूप–इत्थंभूत-संविदानधर्म्म से ऋत्विजों के वागनुगत मनोमय–प्राण अविच्छिन्नरूपेण परस्पर–ग्रन्थिबन्धन-से एक ही केन्द्रबिन्दु में सह–समन्वित होजाते हैं, और इस सहसमन्वय से प्रबल–वीर्य्यात्मक बने हुए मनोभाव के सत्यसंकल्प के द्वारा ही इस आश्रावण-प्रत्याश्रावण–कर्म्म के माध्यम से कामनानुगत वृष्टिफल उपलब्ध होजाता है, जिस इस महतोमहीयान् दृष्टफल का ही निम्नलिखितरूपेण यशोगान हुआ है कि—

"यत्र हैवमृत्त्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति, सर्वमेव तत्र कल्पते, न मुह्यति। तस्मादेवमेव यज्ञो भर्त्तव्यः"।

—शत० १।५।२,१५।

तदित्थं–ब्राह्मणग्रन्थानुबन्धी–यज्ञकर्म्म न केवल प्राणप्रधान–अव्यक्तभावापन्न–परोक्ष–अदृष्ट–फलों के ही स्वरूपानुग्राहक हैं, अपितु इन के द्वारा तो मानव के लोकानुबन्धी वे सम्पूर्ण–प्रत्यक्ष–दृष्टफल भी संसिद्ध होजाते हैं, जिन लोकफलों के लिए आज का मानव इतस्ततः द्रन्द्रम्यमाण है। अतएव भारतीय–यज्ञकर्म्म को जो महानुभाव केवल परोक्षभावानुगत ही मान बैठते हैं, अतएव जिनकी आस्था इत्थंभूत यज्ञकर्म्मों से अनुदिन विमुख होती जारही है, उन्हें अपनी एतादृशी भ्रान्ति का आश्रावणकर्म्मनिबन्धन-विशुद्ध-ऐहलौकिक-वृष्टिफल के माध्यम से ही निराकरण कर लेना चाहिए।

दृष्टफलानुगता जिस 'वृष्टि' का यज्ञकर्म्मविशेषात्मक–आश्रावणकर्म्म के माध्यम से श्रुति ने स्पष्टीकरण किया है, उस 'वृष्टि' से सम्बन्ध रखने वाले 'वृष्टिविज्ञान' के पारिभाषिक–स्वरूप–समन्वय–के बिना क्योंकि उस दृष्ट फल के प्रति आलोचकवर्गका सहसा श्रद्धान–सम्भव नहीं है। एकमात्र इसी दृष्टि से हमने आश्रावण–प्रत्याश्रावण-कर्म्मानुगत-काम्यवृष्टिफल के प्रसङ्ग से तत्प्रकरण में ही 'सौदामिनी'-भावानुबन्धिनी-'कादम्बिनी-नामकी सुप्रसिद्धा उस ऋग्वेदीया–'वृष्टिविद्या' के वैज्ञानिक–समन्वय का ही प्रयास किया है, जिसके मूल–सूत्र–निम्न–लिखित ऋङ्मन्त्र ही बने हुए हैं—

(१)–सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्म्मणि।
ते धीतिभिर्म्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥
(२)–कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादित्–घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥
(३)–समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥

—ऋक्संहिता–अस्यवामीयसूक्त--१,१६४।३६,४७,५१वें मन्त्र

जैसाकि पूर्वोदाहरण-प्रसङ्गों में यत्र-तत्र अनेकधा निवेदन किया जाचुका है–ज्ञानविज्ञानात्मिका रहस्यमयी शब्द–परिभाषाओं के समन्वय के बिना वेदार्थ का समन्वय कठिन ही नहीं, अपितु सर्वथा असम्भव ही है। वही पारिभाषिकी समस्या उक्त मन्त्रत्रयी के उन अत्यन्त ही पारिभाषिक–शब्दों के सम्बन्ध में विघटित है, जिन–'भुवनस्य'–'विष्णोः'– विधर्म्मणि'– 'धीतिभिः' – 'मनसा'–'विपश्चितः' – 'हरयः'–'सुपर्णाः'–'वृत्रसदनात्'–'घृतेन'–'अहमिः' इन शब्दों के रहस्यात्मक–पारिभाषिक–विश्लेषण से ही तत्कर्म्मानुगत–प्रासङ्गिक–वृष्टिविज्ञान–विस्तारपथानुगामी–बन गया है।

वृष्टिविद्या–प्रतिपादिका उक्ता मन्त्रत्रयी के तथोक्त पारिभाषिक–शब्दों के माध्यम से अस्यवामीयसूक्त के द्रष्टा **महामहर्षि दीर्घतमा** ने जिन वैज्ञानिक–तथ्यों का सूत्ररूप से स्वरूप–विश्लेषण किया है, उसके अनुमानमात्र. से ही मादृश भावुक की प्रज्ञा तो सहसा विकम्पित ही होपड़ती है। क्या सचमुच ही उस वेदशास्त्र में लोकाभ्युदयजननीं इन लोकविद्याओं का भी ऐसा अद्भुत, और अश्रुतपूर्व–वैज्ञानिक–समन्वय–विद्यमान है ?, जिस वेदशास्त्र के सम्बन्ध में आज की युगधर्म्मनिबन्धना लोकप्रज्ञाएँ अनुदिन–ऐसा आक्षेप करतीं सुनाईं देरहीं हैं कि, **"वेद तो पुराने युग का केवल-अध्यात्मग्रन्थ है। अतएव आज के भौतिक--विज्ञानयुग में आत्मचर्चा--प्रधान--उन पुराने पोथों का क्या उपयोग"।**

वेदशास्त्र की सर्वयुगानुबन्धिनी–सार्वकालिकी–त्रैकालिकी-महती-उपयोगिता के स्वरूप-दिग्दर्शन के लिए ही हमने वृष्टिविज्ञान–निबन्धन–अमुक–तथ्यों का तत्प्रकरण में समावेश–कर लिया है, जिनके आधार पर असंदिग्धरूपेण यह मान ही लेना पड़ेगा कि, वेदशास्त्र के सम्बन्ध में भगवान् मनु का–"**सर्वें वेदात्–प्रसिद्धयति**' कथन प्ररोचनात्मक–उपलालन नहीं है, अपितु अक्षरशः यथार्थ ही है। आश्रावणकर्म्म–निबन्धना–प्रत्यक्ष–फलान्विता उदाहरणात्मिका तथाभूता पारिभाषिकी वृष्टिविद्या के सम्बन्ध में हीं दो शब्द–निवेदन कर इस प्रक्रान्त उदाहरण–प्रसङ्ग को उपरत किया जारहा है।

* * * *

## (घ)–आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्मनिबन्धन–वृष्टिविज्ञान का प्रासङ्गिक–संस्मरण–

परोक्षफलाकर्षणापेक्षया प्रत्यक्ष–फलकामुक–मानवीय–भौतिक शरीरानुगत–सेन्द्रिय मनस्तन्त्र की तथाविधा फलकामुकता से अनुप्राणित दृष्टफलात्मक-वृष्टिकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक–'**वृष्टिविज्ञान**' के सम्बन्ध में उदाहरणरूपेण अत्र तीन वृष्ट्यनुबन्धों का संस्मरण ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा, जो कि वृष्ट्यनुबन्धत्रयी क्रमशः '**गर्भाधान**'-'**दोहद**'–'**प्रसव**'--इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पार्थिव–प्रजोत्पादन–कर्म्म में सृष्टिधारानुबन्धी जो गर्भाधानादि नियमोपनियम प्रसिद्ध हैं, वे ही नियम '**वृष्टिजलोत्पत्ति**' रूप उत्पत्तिकर्म्म के साथ समन्वित माने गए हैं। सब से पहिले 'गर्भाधान' का ही समन्वय कीजिए।

जिसप्रकार आकाशप्रदेश से भूप्रदेश पर वृष्टि होती है, ठीक इसी प्रकार भूप्रदेश से आकाशप्रदेश में भी वृष्टि होती रहती है। यों दोनों हीं स्थानों–प्रदेशों में समानरूपेण जलवर्षण होता रहता है, जिस तथ्य के लिए ही पूर्वोक्ता मन्त्रत्रयी का अन्तिम-'**समानमतेदुदकम्०**' इत्यादि तृतीय–मन्त्र उद्धृत हुआ है। जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि–"पार्थिवसम्वत्सर से अनुगत अहर्गणों के द्वारा द्युलोकोपलक्षित आकाशप्रदेश में तो पार्थिव–अग्नि के माध्यम से जलवर्षण होता रहता है। एवं सौरसम्वत्सरानुगत अहर्गणों के द्वारा पृथिवी–लोकोपलक्षित–भूप्रदेश में आन्तरिक्ष्य-पर्ज्जन्य–वायु के द्वारा जलवर्षण होता रहता है, जैसाकि-'**भूमिं पर्ज्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः**" इत्यादि मन्त्रोपसंहारवचन से स्पष्ट है।

अभी विचार हमें उस जलमात्रा के गर्भाधान का ही करलेना है, जो पृथिवी पर वर्षाऋतु में बरसा करती है। पार्थिव-अग्नि अपनी घन-तरल-अवस्थाओं के अनन्तर-होने वाली क्रमप्राप्ता बाष्पावस्था-धूमावस्था-सुसूक्ष्मावस्था में परिणत होकर भूलोक से निरन्तर द्युलोकात्मक आकाशप्रदेश की ओर गमन करता रहता है। बाष्पावस्थापन्न-पार्थिव-इस आङ्गिरस-अग्नि के तथाभूत ऊर्ध्वगमन से अनुप्राणित-'**अग्निगतिविज्ञान**' का ही निम्नलिखित पारिभाषिक मन्त्र से स्पष्टीकर हुआ है—

**इत एत उदारुहन्, दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।**
**प्रभूर्जयो यथापथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥**

—श्रुति

अपने रथन्तरसामात्मक-सुनिश्चित-यथार्थ-नियत-पथ से निरन्तर द्युलोक की ओर गमन करने वाले पार्थिव-अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा ही पार्थिवीं जलमात्राएँ भी बाष्परूप में परिणत हो आकाशप्रदेश की ओर गमन करतीं रहतीं हैं। सहजभाषा के अनुसार-पृथिवी की जलमात्राएँ पार्थिव-अग्नि के द्वारा अन्तरिक्ष-रूप-आकाशप्रदेश में जातीं रहतीं हैं। आकाशप्रदेश में व्याप्त '**मरुत्**' नामक वायुविशेष के धरातल में ही इन जलमात्राओं का सञ्चय-होता रहता है, और इसी सञ्चय का नाम है-'**गर्भाधान**', जो कालान्तर में पुनः भूप्रदेश पर बरस पड़ता है। पार्थिव--अग्नि के द्वारा प्रक्षिप्ता वह जलमात्रा कबतक मरुद्धरातल में गर्भीभूत बनी रहती है ?, प्रश्न का अत्यन्त रहस्य-पूर्ण समाधान करता हुआ ही '**सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतः०**' इत्यादि वह मन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित होपड़ता है, जिसका '**गकारपरिच्छेद**' में संस्मरण किया जाचुका है।

सम्वत्सर के बारह मासों में से ४-४-४-के अनुपात से ही जलमात्रा-निबन्धन गर्भाधानादि-तीनों क्रम व्यवस्थित हुए हैं, जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि-मासचतुष्टयात्मक-शीतकाल तो जलमात्रा का '**गर्भाधान-काल**' है, मासचतुष्टयात्मक-ग्रीष्मकाल-'**दोहदकाल**' है, एवं मासचतुष्टयात्मक वर्षाकाल ही-'**प्रसवकाल**' है। अर्थात् मार्गशीर्ष से आरम्भ कर फाल्गुन-पर्य्यन्त तो पार्थिवी-जलमात्रा का द्युलोक में गर्भाधान होता है। चैत्र से आरम्भ कर आषाढ-पर्य्यन्त-गर्भीभूता-जलमात्रा का पोषण होता है, जिसे कि दोहद कहा गया है। एवं श्रावण से आरम्भ कर कार्त्तिक-पर्य्यन्त जलमात्रा की प्रसूति होती है। नक्षत्रानुपात से-ज्येष्ठ-नक्षत्रानुगता-मार्गशीर्ष की अमावस्या ही गर्भकाल का उपक्रम मानी गई है।

एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार सूर्य्यदक्षिणानुगत पात गर्भ का, एवं सूर्योत्तराणानुगत पात प्रसव का उपक्रम माना गया है। **मूल-पूर्वाषाढ़-उत्तराषाढ-अभिजित्-श्रवण-धनिष्ठा-शतभिषक्-पूर्वभाद्रपद-उत्तरभाद्रपद-रेवती-अश्विनी-भरणी**-ये सुप्रसिद्ध द्वादश (१२) नक्षत्र चान्द्रसोम के सहयोगी प्रमाणित होते हुए जहाँ '**गर्भ**' के उत्तेजक हैं, वहाँ— **आर्द्रा-पुनर्वसु-पुष्य-अश्लेषा-मघा-पूर्वफल्गुनी-उत्तर-फल्गुनी-हस्त-चित्रा-स्वाती-विशाखा**-नामक एकादश (११) नक्षत्र सौरः अग्नि के समुत्तेजक बनते हुए '**प्रसव**' के निमित्त मान लिए गए हैं। स्नेहगुणक-संकोचधर्म्मा चान्द्र-सोम जहाँ पार्थिवी-जलमात्रा का संवरण कर उसे-'**स्थितिभाव**' प्रदान करता है, वहाँ तेजोगुणक-विकासधर्म्मा-सौर-अग्नि जलमात्रा को अपने सहजसिद्ध रुद्रद्रवणात्मक रुद्रधर्म्म से जलमात्रा को द्रुतभाव में हीं परिणत कर देता है। चान्द्रसोमानुगत-गर्भाधान का जहाँ चान्द्रचार से सम्बन्ध है, वहाँ-सौर-अग्न्यनुगत प्रसव का सूर्य्यचार से ही सम्बन्ध माना गया है, जैसाकि वृष्टिविद्या के रहस्यवित् आचार्य्योंनें कहा है—

**पौषे मूल-भरण्यन्तं-चन्द्रचारेण गर्भति ।**
**आर्द्रादितो विशाखान्तं सूर्य्यचारेण वर्षति ॥**

नियत-नाक्षत्रिक-काल में भूप्रदेश से जिस दिन पार्थिवी-जलमात्रा सूर्य्य-रश्मि-वायु, तथा अग्नि, इन तीनों के संयोग से बाष्परूपेण द्युलोक की ओर उत्क्रान्त होती है, उस दिन से आरम्भ कर ठीक ६ मास १५ दिवस पर्य्यन्त-(अर्थात् १९५-एकसौ पच्यानवें दिन पर्य्यन्त) वह जलमात्रा द्युलोकानुगत-वायु-धरातल में प्रतिष्ठित-गर्भीभूत-रहती है । ठीक १९६ वें दिन उसका प्रसव होपड़ता है, अर्थात् वह गर्भीभूता जलमात्रा भूप्रदेश पर बरस पड़ती है । सातवें मास का आधा, अर्थात् १५ दिन, और पूरे ६ मास, कुल १९६ दिन ही 'सप्तार्द्ध गर्भा' का पारिभाषिक समन्वय है ।

'मनसा' शब्द 'चन्द्रचारेण' का ही सूचक है, क्योंकि मन चन्द्रमा से अभिन्न माना गया है- 'मनश्चन्द्रेण लीयते'-'चन्द्रमा मनसो जातः' इत्यादि श्रुति-सिद्धान्तों के अनुसार 'धीतिभिः' शब्द- 'सूर्य्यचारेण' का ही समर्थक बना हुआ है । क्योंकि धी-रूपा-बुद्धि सूर्य्य से ही अभिन्ना मानी गई है, जैसा कि—'धियो यो नः प्रचोदयात्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । 'विधर्म्मणि'-शब्द के द्वारा इसी पारिभाषिकी-रहस्यात्मिका-स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है कि—जिस दिन गर्भाधान होता है, उस दिन यदि पूर्वदिशा में गर्भाधान है, तो १९६ वें दिन पश्चिमदिशा से ही मेघ वृष्टि करते हैं । यदि पश्चिम में गर्भाधान होगा, तो उत्तर से वृष्टि होगी, उत्तर में गर्भाधान है—तो दक्षिण से वृष्टि होगी । यदि दिन में गर्भाधान है, तो रात्रि में वृष्टि होगी । और यदि रात्रि में गर्भाधान है, तो दिन में वृष्टि होगी । यही विधर्म्मणि का रहस्यात्मक-समन्वय-माना जायगा । तैत्तिरीयश्रुतिने निम्नलिखित एक ही पारिभाषिक-सूत्र के माध्यम से तथोक्ता वृष्टि-विद्या का निष्कर्षार्थ अभिव्यक्त कर दिया है कि—

**अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति ।**
**यदा खलु-वा-असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः-पर्य्यावर्त्तते-अथ वर्षति ॥**
—तै० सं० ४।१०।२।

उक्त-संस्मरण के द्वारा 'वृष्टिविज्ञान' की उस रूपरेखा का उदाहरणात्मक-दिग्दर्शन अवश्यमेव वेद-भक्तों की प्रज्ञा को तो वेदस्वाध्याय की ओर आकर्षित करेगा ही । साथ ही उन तटस्थ महानुभावों से भी इत्थंभूत दिग्दर्शनात्मक-संस्मरणों के माध्यम से यह आशा तो की ही जासकती है कि, वैदिक-पारिभाषिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-समन्वय से अपने प्रज्ञा को पुष्करपलाशवन्निर्लिप्ता रखने की लोककला में अग्रणी तथाभूत महानुभाव भी अवश्यमेव भारत की इस सर्वयुगानुबन्धिनी-वेदविभूति की वैसी आपातरमणीया आलोचना से तो अपने आप को तटस्थ कर ही लेंगे, जो आए दिन अपने राष्ट्र की इस मूल-विभूति के प्रति निरपेक्षता ही अभिव्यक्त करते रहते हैं, इसी मङ्गलाशंसा-के साथ प्रस्तुत-संस्मरणात्मक-सन्दर्भ-उपरत-होरहा है ।

( २२ )—१३

*

## इति—द्वितीयखण्डानुगत-कर्म्मप्रसङ्गतः— संस्मरणात्मकः-सन्दर्भः-उपरतः

* * * *

## द्वितीय-खण्डानुगत-'किञ्चिदिव-आवेदन' का उपराम—

'किञ्चिदिव-आवेदन'-से अनुगत 'उदाहरणात्मक-संस्मरण-सन्दर्भ' के अनन्तर यही निवेदन शेष रह जाता है कि, सर्वथैव एकाकीरूपेण बहु-श्रम-साध्या-प्रकाशन-व्यवस्था-आदि में अहोरात्र व्यस्त रहने के कारण ही गत शीतर्तु से हमारा शरीर सांघातिक-रक्तचाप-रोग से आक्रान्त होगया है, जिसका कि युग-धर्म्म-निबन्धना साहित्यसेवा के महान् पुरस्काररूप से हमने सुस्वागत ही कर लिया है। हमारी कामना थी, और आज भी है कि-संस्थान के द्वारा एक वैसा विद्यापीठ स्थापित हो, जिसमें सम्प्रदावादनिरपेक्ष-दृष्टिकोण से प्राच्य-साहित्य की ज्ञानविज्ञानात्मिका उन परिभाषाओं के अध्ययनाध्यापन-तत्त्वान्वेषण की ही प्रमुखरूपेण व्यवस्था हो, जो परिभाषाएँ सहस्राब्दियों से विस्मृतिपथानुगामिनी हीं बनतीं चलीं आरहीं हैं। एवं जिस इत्थंभूत-सांस्कृतिक-पारिभाषिक-तथ्य के विस्मृत होजाने से ही भारत की मूलसंस्कृति के सम्बन्ध में युगधर्म्म-निबन्धन वैसे अनेक प्रवाद चल पड़े हैं, जिनसे भारत का सांस्कृतिक-गौरव तत्त्वदृष्ट्या, तथा आचारदृष्ट्या, उभयथैव काल्वालीकृत ही प्रमाणित होता चला आरहा है विगत तीन सहस्रवर्षों से।

हमें अपने इस गुरुतम-अपराध की स्वीकृति में भी यत्किञ्चित् भी संकोच नहीं होरहा है कि, जिस 'प्रचार' की सफलता से वर्त्तमानयुग में लक्ष्यों को सफलता मिला करती है, उस प्रचार की दृष्टि से '**संस्थान**' अपने विगत त्रैवार्षिक-कार्य्यकाल में सर्वथा शून्य-ही-प्रमाणित होता चला आरहा है। और युगधर्म्म-निबन्धन इस प्रचारानुबन्धी शैथिल्य से ही संस्थान के संकल्पित कार्य्यों को जनतन्त्र का अद्यावधि भी कोई सहयोग नहीं मिल सका है।

जैसाकि इस साहित्य के अनुग्राहकों को विदित ही होगा कि, अपनी निरतिशया-अस्वस्थता के कारण जब हम एकाकीरूपेण ग्रन्थनिर्म्माण-कार्य्य के साथ साथ ही तत्प्रकाशन-प्रचार-अर्थव्यवस्थापन-आदि आदि बहिरङ्ग-लोकधर्म्मों में एकान्ततः असमर्थ बन गए, तो इस सम्पूर्ण-स्थिति से अपने अमुक परिगणित मित्रों को अवगत करा देना आवश्यक समझा गया, जिस के फलस्वरूप ही सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सुहृद्वर **मा० डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी** अग्रवाल महोदय की प्रेरणा से, एवं बम्बई के कतिपय-सात्त्विक-मित्रों के प्राथमिक आर्थिक-सहयोग से सन् ५५ (पचपन) में-'**राजस्थान-वैदिक-तत्त्वशोध-संस्थान-जयपुर**' नामक संस्थान ने जन्म लिया, जिस के तत्त्वावधान में ही विगत तीन वर्षों से "**ग्रन्थप्रकाशन**" मात्र ही प्रमुखरूपेण-प्रक्रान्त रहा है, जिसके सुपरिणाम-स्वरूप ही ३-४ वर्षों की अवधि में संस्थान के द्वारा पन्द्रह-सहस्र-पृष्ठात्मक-साहित्य-प्रकाशित हुआ है।

संस्थान-स्थापन से पूर्व 'प्रचार' की दृष्टि से वर्ष में एक दो बार यथासुविधा जहाँ प्रवास-मात्राएँ सम्भव बनतीं रहतीं थीं, संस्थान-स्थापन के अनन्तर तो वह सामान्या-प्रचारप्रवृत्ति-परम्परम्परा भी इस लिए एकान्ततः ही अवरुद्ध ही बन गई कि—संस्थान को मिलने वाले सत्तातन्त्रीय-सहयोग की तत्-वर्षावधि-में 'प्रकाशन'-के द्वारा पूर्त्ति अनिवार्य्य बनती रही, एवं वह सम्पूर्ण-उत्तरदायित्व अनिच्छन्नपि हमें स्वयं ही वहन करना पड़ा, और आजतक करना ही ही पड़ रहा है अन्य-सुविधाओं की अप्राप्ति में। संस्थान को जो सीमित-तम-आर्थिक सहयोग अबतक उपलब्ध होता रहा है, उस से तो अभीप्सित-प्रकाशन-कार्य्य का ही सुचारुरूपेण व्यवस्थापन सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में वर्त्तमान युग जैसे महर्घता के युग में पर्य्याप्त-अर्थ के माध्यम से ही प्राप्तव्य-सहयोगियों का सहयोग भी प्राप्त करना असम्भवप्राय ही बनता रहा।

हाँ, संस्थान के मान्य मन्त्री **श्रीवासुदेवशरणजी** अग्रवाल महोदय अवश्यमेव आरम्भ से ही अद्यावधि 'प्रचार' दृष्ट्या प्रयत्नशील बने हुए हैं। और आप के भागीरथ–प्रयत्नों से ही प्रान्तीय–सत्तातन्त्रों का ध्यान इस ओर अंशतः आकर्षित भी हुआ है। किन्तु जहाँतक **जनतन्त्रीय-प्रचार** का प्रश्न है, वह तो सभी ओर से आजतक असंस्पृष्ट ही बनता चला आरहा है। जहाँतक हमारा अनुमान है, आजतक न तो भारत के किसी भी दैनिक--साप्ताहिक--मासिक--अथवा तो त्रैमासिक में ही संस्थान की प्रकाशनप्रवृत्ति को कोई चर्चा हुई है, नैव विद्वानों तक इस कार्य्य की सूचना का ही कोई प्रयत्न हुआ है।

संस्थान ने अपने विगत–त्रैवार्षिक–कार्य्यकाल में जो पारिभाषिक–पञ्चदशसहस्रपृष्ठात्मक–साहित्य–प्रकाशित किया है, यदि उस के किसी एक भी पारिभाषिक–निबन्ध की रूपरेखा–मात्र से भी भारतीय–जनतन्त्र को प्रचार–माध्यम से संस्थान परिचित करा देने में सफलता प्राप्त कर लेता, तो निश्चयेन प्रज्ञाशील जनतन्त्र संस्थान की सभी प्रवृत्तियों को अन्वर्थ बनाने के लिए सोत्साह प्रवृत्त होजाता। किन्तु संस्थान की ओर से एकमात्र हमारी–असमर्थता के ही कारण, तथा संस्थान के मन्त्री महोदय को **बहुजनहिताय–बहुजनसुखाय-मूला विविध-राष्ट्रीया-सांस्कृतिक-प्रवृत्तियों** में अहोरात्र व्यस्त रहने के कारण **'प्रचार'** दृष्ट्या कुछ भी तो सम्भव नहीं होसका है। 'प्रचार' सम्बन्धिनी इसी शिथिलता के निराकरण के लिए **श्रीवासुदेव–शरणजी** के तत्त्वावधान में वाराणसी से ही **'इंगलिश-हिन्दी-माध्यम'** से अब एक समाचार–पत्र की व्यवस्था होरही है, जिस से निश्चयेन निकट–भविष्य में ही 'प्रचार' दृष्ट्या भी संस्थान अवश्यमेव सफलता प्राप्त कर लेगा। और तद्द्वारा अवश्यमेव जनतन्त्र का भी संस्थान को वैसा पूर्ण सहयोग मिलेगा ही, जिसके द्वारा संस्थान के सभी सांस्कृतिक-स्वप्न कभी न कभी तो साकाररूप में परिणत हो ही जायँगे।

वयं हम रक्तचापानुबन्धिनी अपनी अस्वस्थता के अनुबन्ध से अब इस दिशा में इस से अधिक 'प्रचार' दृष्ट्या कुछ भी तो करने की क्षमता नहीं रख रहे हैं कि--यथासम्भव-प्रकाशनकार्य्य का अनुगमन करते रहें, और गच्छतः–स्खलन रूपेण–प्रकाशित साहित्य की रूपरेखा से समय समय पर जनतन्त्र को परिचित कराते रहें। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत **"शतपथब्राह्मण–द्वितीय खण्ड की विषयसूची"**, तथा प्रक्रान्त **"किञ्चिदिव–आवेदन"** नाम की प्रस्तावना जनतन्त्र की सेवा में स्वतन्त्ररूपेण प्रेषित होरही है यथासम्भव अन्य भी कतिपय सूचना–पत्रों के साथ। शतपथ के प्रेषित–**'किञ्चिदिव–आवेदन'** में संस्मृत–**उदाहरण सन्दर्भों** पर यदि दोषदृष्टि से भी जनतन्त्र ने ध्यान देने का अनुग्रह किया, तो निश्चयेन उस का संस्थान की ज्ञानविज्ञानपरिभाषात्मिका–सांस्कृतिक--प्रवृत्तियों की ओर उदारता--पूर्वक ही ध्यान आकर्षित होगा, इसी मङ्गल–कामना के साथ द्वितीय-खण्डानुगत-यह **'किञ्चिदिव-आवेदन'** उपरत होरहा है।

विधेयः—

यः कश्चिदपि मुक्तरक्तशर्म्मा

| | |
|---|---|
| आश्विनशुक्ला–विजयदशमी<br>वि॰ सं॰ २०१६<br>**मानवाश्रम–दुर्गापुरा**<br>( जयपुर–राजस्थान ) | मोतीलालशर्म्मोपाह्वोः-यः कश्चिदपि मुक्तरक्तशर्म्मा<br>आङ्गिरसो भारद्वाजः, वेदवीथी–पथिकः<br>मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौदन–भोक्ता<br>जयपत्तनाभिजनः |

श्रीः

इति–शतपथब्राह्मणप्रथमकाण्डानुगत–
—द्वितीय–खण्डस्य—
*"किञ्चिदिव-आवेदनम्"*
उपरतम्

श्रीः

शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत

# (२)-'द्वितीयखण्ड'

की

## संक्षिप्ता-विषयस्मारकसूची

श्रीः

# शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्यान्तर्गत–प्रथमकाण्डानुगत प्रस्तुत–'द्वितीयखण्ड' (२)–में समाविष्ट प्रमुख–याज्ञिक–कर्म्मों की सूची


१०–उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालोपधानेन हविः परिपाकश्च पृ०सं० ६११ से ६६० पर्य्यन्त

११–पिष्टेनोदकमिश्रितेन पुरोडाशसम्पादनम् ६६१ से ७०३ पर्य्यन्त

१२–पात्रीनिर्णेजनम्–पुरोडाशमीमांसया–समन्वितम् ७०४ से ७६७ पर्य्यन्त

१३–वेदिकाकरणम्–वेदिस्वरूपसम्पादनम्–तत्र–स्तम्बयजुर्हरणम्–भूविशोधनञ्च ७६८ से ८४३ पर्य्यन्त

१४–वेदिपरिग्रहः ८४४ से ६५८ पर्य्यन्त

१५–द्रव्यसंस्काराः ६५६ से १०३६ पर्य्यन्त

१६–आज्यग्रहणम् १०३७ से १०७६ पर्य्यन्त

१७–इध्मानुगतः–कर्म्मसंग्रहः १०७७ से ११३४ पर्य्यन्त

१८–सामिधेन्यनुवचनम् ११३५ से १३१६ पर्य्यन्त

१६–पूर्वाघारकर्म्मेतिकर्त्तव्यता १३१७ से १३५६ पर्य्यन्त

२०–उत्तराघारकर्म्मेतिकर्त्तव्यता १३५७ से १३६६ पर्य्यन्त

२१–प्रवरणकर्म्मेतिकर्त्तव्यता १३६७ से १४०४ पर्य्यन्त

२२–स्रुगादापनं-आश्रावणं-प्रत्याश्रावणञ्च १४०५ से १४७४ पर्य्यन्त

२३–प्रयाजब्राह्मणम् १४७५ से १५४२ पर्य्यन्त


## इति–द्वितीयखण्डानुगता–प्रधानकर्म्मविषयसूची हविर्यज्ञानुगता–उपरता

श्रीः

# अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः

# २

## अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये-प्रथमं ब्राह्मणम् प्रथमप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

## १०-"उपवेषसम्पादनं, अग्नौ कपालोपधानेन हविःपरिपाकञ्च"

नामक

## क्रमप्राप्त १० वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'

(पृष्ठसं-६१० से ६६० पर्य्यन्त)


१-प्रथमकाण्डान्तर्गत-द्वितीय-अध्यायानुगत-प्रथमब्राह्मण, तथा प्रथम-प्रपाठकानुगत-पञ्चम-ब्राह्मण (मूल) ६१३

२-मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमन्वयात्मक-अनुवाद (मूलानुवाद) ६१६

३-विज्ञानभाष्योपक्रम ६२५

४-आध्यात्मिकयज्ञ का संस्मरण ६२५

५-यज्ञकर्म्मों का अध्यात्मयज्ञ के साथ समतुलन "

६-सनातनशास्त्र के मौलिक, और यौगिक-विवर्त्त "

७-ब्रह्मात्मक मौलिकभाव, एवं यज्ञात्मक यौगिक-भाव "

| | |
|---|---|
| ८–ब्रह्मात्मक आधारतत्त्व, एवं यज्ञात्मक आधेयतत्त्व | ६२५ |
| ९–वर्त्तमान-भौतिकविज्ञान के सुप्रसिद्ध फिजिक्स, तथा केमिष्ट्री-विभाग, और ब्रह्म, तथा यज्ञ | ,, |
| १०–तत्त्वानुगत रासायनिक-संमिश्रण, एवं तद्द्वारा अपूर्वभावोदय | ,, |
| ११–योग, और याग-सम्बन्ध की विभिन्नता का दिग्दर्शन | ,, |
| १२–अन्तर्य्यामात्मक-ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध | ,, |
| १३–अपूर्वस्वरूपानुगत लौकिक-उदाहरण का समन्वय | ,, |
| १४–योग, और यज्ञानुगत पार्थक्य | ,, |
| १५–यज्ञसम्बन्ध के द्वारा ही चरमाध्यमसे विश्वस्वरूप की अभिव्यक्ति | ,, |
| १६–विश्वानुगता 'द्विनियति,' और 'दुनिया-दुरङ्गी' लोकसूक्ति का समन्वय | ,, |
| १७–यागसे उत्पन्न विश्व के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न | ,, |
| १८–संस्मरणीया तेजः, और स्नेह--द्वयी | ,, |
| १९–अङ्गिरा, और भृगु | ,, |
| २०–अग्नि, और सोम, | |
| २१–विकास, और संकोच | ६२६ |
| २२–गति, और स्थिति | ,, |
| २३–विनाश, और सर्ज्जन | ,, |
| २४–यज्ञ, और विश्वजीवन | ,, |
| २५–यज्ञ के द्वारा ही विश्वस्वरूप की अभिव्यक्ति का तात्त्विक समन्वय | ,, |
| २६–'यज्ञ' के मौलिक-स्वरूप-लक्षण का संस्मरण | ,, |
| २७–प्राणलक्षण-आधिदैविक-यज्ञ | ,, |
| २८–प्राणीलक्षण-आध्यात्मिक-यज्ञ | ,, |
| २९–भूतलक्षण-आधिभौतिक-यज्ञ | ,, |
| ३०–मनुष्ययज्ञात्मक वैधयज्ञ | ,, |
| ३१–प्राणलक्षण-आधिदैविक यज्ञ के वैज्ञानिक-स्वरूप का उपक्रम | ६२६ |
| ३२–'पाङ्क्तो वै यज्ञः' श्रुति का संस्मरण | ,, |
| ३३–अनुगमश्रुति से अनुप्राणित यज्ञ की पञ्चावयवत्ता | ,, |
| ३४–सर्वहुतयज्ञात्मक-महायज्ञ | ६२७ |
| ३५–महायज्ञ के विश्वपर्वात्मक पाँच-अवयव, और यज्ञ की पाङ्क्तता का समन्वय | ,, |
| ३६–सम्वत्सरयज्ञ के अग्निहोत्रादि पाँच अवयवों का संस्मरण | ,, |
| ३७–सुप्रसिद्ध-पाकयज्ञ–हविर्यज्ञादि-भेदनिबन्धना यज्ञ की पाङ्क्तता | ,, |
| ३८–यज्ञमूलक अग्नि का पञ्चचितिकत्व-समन्वय | ,, |
| ३९–अध्यात्मयज्ञ के पाँच अवयवों का दिग्दर्शन | ,, |
| ४०–यच्चयावत्-यज्ञों की पाङ्क्तता | ,, |
| ४१–सम्वत्सरयज्ञानुगता पाङ्क्तता | ,, |
| ४२–सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूपनिर्म्माता बृहतीछन्दोऽनुगत-'क्रान्तिवृत्त' का स्वरूप-दिग्दर्शन | ,, |
| ४३–'सम्वत्सरप्रजापति' का संस्मरण | ,, |
| ४४–प्राजापत्या अन्न-अन्नाद-सम्पत्ति | ,, |
| ४५–यज्ञानुगत-दाह्य, दाहकभाव | ,, |
| ४६–अग्नितत्त्व के सुप्रसिद्ध-पाँच-महिमा-विवर्त्त | ,, |
| ४७–सम्वत्सरयज्ञ की 'सोमयज्ञरूपता' का स्वरूप-समन्वय | ,, |
| ४८–प्राकृतिक-सम्वत्सरयज्ञ के हविर्यज्ञ-सोमयज्ञ-नामक दो महिमा-विवर्त्त | ,, |
| ४९–प्रतिष्ठालक्षण-पार्थिवयज्ञ | ,, |
| ५०–वितानयज्ञात्मक सम्वत्सरयज्ञ | ,, |
| ५१–सौर प्राणाग्नि, और आहवनीय | ,, |
| ५२–पार्थिव-अपानाग्नि, और गार्हपत्य | ,, |
| ५३–आन्तरिक्ष्य-ऋताग्नि, और दक्षिणाग्नि | ,, |

५४–ओषधि-वनस्पति-रूप हविर्द्रव्य ६२७
५५–हविर्यज्ञ की संक्षिप्ततमा रूपरेखा ,,
५६–भूपिण्डात्मक गार्हपत्य ,,
५७–त्रिवृत्सोम, और गार्हपत्य ,,
५८–गार्हपत्य, और पृथिवीलोक ,,
५९–पञ्चदशस्तोम, और नक्षत्राग्नि ६२८
६०–आन्तरिक्ष्य-धिष्ण्याग्नि, और दक्षिणाग्नि ,,
६१–सोमाहुति, और सम्वत्सरयज्ञ ,,
६२–अग्नि-सोमात्मक यज्ञ से विश्व का सञ्चालन ,,
६३–लोक-प्रजा-धर्म्म-भेद-प्रवर्त्तक सम्वत्सरयज्ञ ,,
६४–यज्ञ, और प्रजापति ,,
६५–यज्ञ के द्वारा प्रजापति की इष्टसाधनता, एवं आप्तकामता ,,
६६–प्राणीलक्षण अध्यात्मयज्ञ का स्वरूपोपक्रम ,,
६७–शुक्र–शोणितानुगता–विभिन्नभावमयी-आश्चर्य्यमयी प्रजासृष्टि ,,
६८-आध्यात्मिकयज्ञ से अनुप्राणित विभिन्न आश्चर्य्यों का संस्मरण ,,
६९–यज्ञ की विभिन्ना विधाओं का नाम-समन्वय ,,
७०–ज्योतिष्टोमापरपर्य्यायक - सम्वत्सरयज्ञ का संस्मरण ,,
७१-यज्ञस्वरूपलक्षणसमन्वय ६२९
७२–ज्योतिष्टोमात्मक सम्वत्सर-यज्ञ की सात अवान्तर संस्थाएँ ,,
७३–अन्नादाग्नि के सप्तमहिमा-विवर्त्त ( सप्त-चितियाँ ), एवं तन्निबन्धन सप्तविध-सोमान्न ,,
७४–प्राण-अपान-व्यान-भेदभिन्न आध्यात्मिक-त्रेताग्नि ,,
७ –'प्राण' तत्त्व की स्वरूप-लक्षणात्मिका परिभाषा ,,
७६–तीन विश्व, और उनके तीन नर ,,
७७–विश्वनर, और वैश्वानर ,,
७८–वैश्वानरो यतते सूर्य्येण ६२९
७९–वैश्वानरयज्ञ की सम्वत्सरात्मकता ,,
८०–सम्वत्सरयज्ञ, और गवामयन ,,
८१–पुरुषपशु का उपादानभूत सम्वत्सर ,,
८२–यज्ञाधारभूता महावेदि ,,
८३–प्राणीलक्षण-पुरुषयज्ञ का प्राणलक्षण सम्वत्सरयज्ञ से समतुलन ,,
८४–गवामयन–यज्ञानुबन्धी सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूप से अनुप्राणित-गवामयन–स्वरूपो-पक्रम ,,
८५–सम्वत्सरचक्र का केन्द्र, और बृहतीछन्द ,,
८६–बृहतीछन्द, और विषवद्वृत्त ,,
८७–बृहतीछन्दोऽनुगत उभयगोलार्द्ध ,,
८८–दक्षिणगोल, और उत्तरगोल ,,
८९–अष्टाचत्वारिंशत्-अंशात्मक मण्डल की सम्वत्सररूपता ६३०
९०–प्रदेशभुक्त सोमसमन्वित प्राणाग्नि की सम्वत्सररूपता ,,
९१–पार्थिवाग्नि का त्सरणरूप-छद्मगमन, और 'सम्वत्सर' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-निर्वचन ,,
९२–सूर्य्यानुगत भूपिण्ड का परिभ्रमण ,,
९३–भूपरिभ्रमणानुबन्ध से 'सम्वत्सर' शब्द के रहस्यात्मक द्वितीय निर्वचनार्थ का समन्वय ,,
९४–सम्वत्सराग्नि का भोगात्मक काल ,,
९५–तत्त्वात्मक सम्वत्सर के साथ कालात्मक सम्वत्सर का समतुलन-प्रयास ,,
९६–सौरमण्डलानुगत-सम्वत्सरयज्ञ, और तद-नुबन्धिनी मनोतात्रयी ,,
९७–मनोताप्रसङ्गानुगत अग्नि के विभिन्न महिमाविवर्त्तों का संस्मरण, एवं 'देव-मनोता' अग्नि का मनोतात्त्व-समन्वय ,,

९८–विश्वपदार्थानुगत ज्योति-भूत-आत्म-तत्त्वत्रयी, और ज्योतिः, गौः, आयुः, नाम की मनोतात्रयी ६३१
९९–रूप-पर-स्व-भेदभिन्ना ज्योतिस्त्रयी "
१००–'योऽसावादित्ये पुरुषः-सोऽहम्' "
१०१–स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्यपिण्ड "
१०२–पानीय-पिण्डात्मक चन्द्रमा "
१०३–सूर्य्यज्योति से प्रकाशित चन्द्रमा "
१०४–रूपज्योति का अधिष्ठाता त्वष्टाप्राण "
१०५–चान्द्रज्योति, और रूपज्योति "
१०६–पार्थिवपदार्थ, और परज्योति "
१०७–'पृथिवी', और रूपज्योति "
१०८–'चन्द्रमा', और परज्योति "
१०९–'सूर्य्य', और स्वज्योति "
११०–सूर्य्यानुगता मनोतात्रयी का नामसंस्मरण "
१११–ज्योतिर्म्मय-मनोता, और ज्योतिर्भाव "
११२–गौर्म्मय-मनोता, और भूतभाग "
११३–आयुर्म्मय मनोता, और आत्मभाग "
११४–ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम की स्वरूप-निष्पत्ति का दिग्दर्शन "
११५–सम्वत्सर की त्र्यात्मकता "
११६–सत्तात्रयात्मक सम्वत्सरयज्ञ "
११७–शरीररचनावैचित्र्य का प्रवर्त्तक गवामयनसत्र ६३२
११८–गवामयननानुगता आहुति-परम्परा का तारतम्य, और शरीरवैचित्र्य "
११९–गोरूपधरा पृथिवी, तदयन, और गवामयन "
१२०–अनस्थिमती-आज्याहुति से उत्पन्न अस्थिमती प्रजा से अनुप्राणित अनतिप्रश्नात्मक एक प्रश्न "
१२१–हिरण्यशकल, और आज्य "
१२२–आज्य, और शुक्र "
१२३–हिरण्यशकल, और अस्थिभाव "
१२४–पार्थिवरसगर्भ में प्रविष्ट सौरतेज "
१२५–सौरतेज, और सुवर्ण ६३२
१२६–पवित्रतम सौरतेज "
१२७–मेरुदण्डनिर्म्मापक विष्वद्वृत्त "
२ –पूर्णेन्द्ररूप ईश्वर "
१२९–अर्द्धेन्द्ररूप जीव ( मानव ) "
१३०–अर्द्धखगोलानुगत मानवीय पर्शुभाग ( फँसलियाँ ) "
१३१–खगोलीय २४ अंश, और तत्समतुलित २४ पर्शुविभाग "
१३२–विश्वरूप मेरु का केन्द्रात्मक मनस्तत्त्व ६३२
१३३–मनोधरातल पर प्रतिष्ठित विज्ञानघन सूर्य्य "
१३४–३६०–अहोरात्रात्मक गवामयनसत्र "
१३५–गवामयनसत्रानुगत–प्रायणीय, आरम्भणीय, अभिप्लव, पृष्ठय, . हाव्रत, उदयनीय, आदि अहर्गणों का नामसंस्मरण "
१३६–अहर्गणानुगत अभिप्लव में भुक्त ज्योतिष्टोमादि षट्स्तोम ६३३
१३७–प्रति पृष्ठयाह से समन्वित षड्विध त्रिवृदादि अयुग्यस्तोम "
१३८–अभिप्लव, और पृष्ठय–भावों का संख्यात्मक-परिगणन "
१३९–अभिजिदहः, और त्रयः स्वर-सामानः "
१४०–पृष्ठयाभिप्लव का परिवर्त्तन "
१४१–गवामयन और विश्वजिदहः "
१४२–गवामयन, और दशरात्र पृष्ठयषडह "
१४३–गवामयन, और छन्दोमात्र्यहः "
१४४–गवामयन, और महाव्रतमहः "
१४५–गवामयन, और उदनीयातिरात्र "
१४६–गवामयनसत्र से अनुप्राणित सम्वत्सरयज्ञ के प्रायणीयादि ३६० अहर्गणों का तालिकारूपेण संकलन ६३४
१४७–क्षुद्रसुपर्णात्मक जीवात्मा "
१४८–सम्वत्सरात्मक-महासुपर्ण "

१४९–सम्वत्सरसुपर्णा से अनुगता-आत्मा-पक्ष-पुच्छ-समन्विता सप्तचिति ६३५
१५०–विष्वद्वृत्तानुगत सम्वत्सरीय-आत्मभाव ”
१५१–तत्सम्बन्ध में एक महान्-प्रश्न, और छन्दोविज्ञान के माध्यम से तत्समाधान-प्रयास ”
१५२–विष्वद्वृत्तात्मक बृहतीछन्द ”
१५३–विष्वदनुगता छन्दःसम्पत्ति, और नवाक्षर बृहतीछन्द ”
१५४–विष्वत् का दक्षिणपक्ष, और गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्छन्दस्त्रयी ”
१५५–विष्वत् का उत्तरपक्ष, और पङ्क्ति-त्रिष्टुप्-जगती-छन्दस्त्रयी ”
१५६–चतुष्पदा गायत्री षडक्षरा ”
१५७–बृहतीछन्द की सर्वव्यापकता ”
१५८–बृहतीछन्द की खगोलानुगता सर्वव्याप्ति से अनुप्राणिता अक्षरसंख्या-समतुलनात्मिका तालिका ६३६
१५९–सम्वत्सर-प्रतिष्ठात्मक बृहतीछन्द ”
१६०–बृहद्भावापन्न बृहतीछन्द के विभिन्न नैगमिक-अर्थों का संस्मरण ”
१६१–आधिदैविक-साम्वत्सरिक-यज्ञपुरुष का मेरुदण्डात्मक बृहतीछन्द ”
१६२–विष्वत्केन्द्रन्दस्थ भगवान् सूर्य्यनारायण ”
१६३–विष्वद्वृत्तानुगत भूपिण्ड ”
१६४–'क्रान्ति' शब्दार्थ समन्वय ”
१६५–'क्रान्ति' पतन, और क्रान्तिसम्पात ”
१६६–विषुवद्–विषुवश्च तत् ”
१६७–शरत्सम्पात, और वसन्तसम्पात ”
१६८–सम्वत्सरानुगत सूर्य्य-पृथिवी-अन्तरिक्ष-नामक लोकत्रयी ”
१६९–पार्थिवाग्नि-आन्तरिक्ष्यवायु, दिव्यादित्य-त्रयी के भोग से अनुगत सम्वत्सर-प्रजापति ”
१७०–भूतप्रधान पार्थिव-अग्नि ६३७
१७१–अन्नाहुति के द्वारा पार्थिवभूताग्नि से पाञ्चभौतिक-वाङ्मय शरीर का स्वरूप-निर्म्माण ”
१७२–आन्तरिक्ष्य वायु की प्राणानुगति का समन्वय ”
१७३–दिव्य आदित्य की मनोऽनुगति का समन्वय ”
१७४–वाङ्मयी पृथिवी, और शरीर ”
१७५–प्राणमय अन्तरिक्ष, और प्राण ”
१७६–मनोमय द्युलोक, और मन ”
१७७–मनःप्राणवाङ्मयी – पृथिव्यन्तरिक्ष-द्युलोकानुगता अग्नि-वायु-आदित्यान्विता अध्यात्मसंस्था का स्वरूप-समन्वय ”
१७८–विष्वद्वृत्तानुगत-सौर, चान्द्र, पार्थिव-सम्वत्सर-स्वरूप का गतार्थत्त्व ”
१७९–सम्वत्सरत्रिलोकी से अनुप्राणित लोक, और लोकी ६३८
१८०–भूतात्मिका पृथिवी, अपानाग्निरूपदेवता ”
१८१–भूतात्मक अन्तरिक्ष, व्यानाग्निरूपदेवता ”
१८२–भूतात्मक दिव्यलोक, प्राणाग्निरूपदेवता ”
१८३–मूलग्रन्थि, और पार्थिव-अपान ”
१८४–हृदयग्रन्थि, और आन्तरिक्ष्य व्यान ”
१८५–ब्रह्मग्रन्थि, और दिव्य प्राण ”
१८६–प्राणाग्नि, और सूत्रप्राण ”
१८७–सूत्रप्राण की महाजनरूपता ”
१८८–सूत्रप्राण के द्वारा ही पुरुष के पुरुषार्थ की प्रवृत्ति ”
१८९–पार्थिव-अपानप्राण की हृदयस्थ-विज्ञानरूप-सूर्य्य की परिक्रमा ६३९
१९०–पार्थिवाग्नि की वाग्रूपता ”
१९१–वाक्तत्त्व का आरम्भ, और आरम्भ-णीयेष्टि ”

१९२–भौतिकप्रपञ्च का उपक्रमस्थान ६३८
१९३–स्पृत्प्राण का अयन, और प्रायणीयेष्टि ,,
१९४–भूतानुगत-'आरम्भ' भाव ,,
१९५–प्राणानुगत-'प्रयाण' भाव ,,
१९६–प्राणगत्यात्मक प्रयाणभाव ,,
१९७–अपानगत्यात्मक-आरम्भभाव ,,
१९८–प्रायणीय, और आरम्भणीय के अनन्तर-भावी अभिप्लवस्तोम, तथा पृष्ठ्य-स्तोम ,,
१९९–रुधिरगति, और अभिप्लव ,,
२००–रक्तसञ्चारसीमा, एवं पृष्ठ्य ,,
२०१–हृदय से आरम्भ कर अङ्गुलिपर्य्यन्त विभक्तरूपेण चार शरीरखण्ड ,,
२०२–प्रत्येक खण्डानुगता प्रातः-माध्यन्दिन-सायंसवनात्मिका सवनत्रयी ,,
२०३–पारम्परिकी सवनग्रन्थि से अनुप्राणित-बन्धन ,,
२०४–खण्डचतुष्टयी के समन्वय से एक पृष्ठ्य की स्वरूप-निष्पत्ति ६३९
२०५–गायत्री–त्रिष्टुप्-जगती–विराट्–पङ्क्ति–नामक पाँच छन्दों की समष्टि से पञ्चाङ्गुलिका स्वरूप-निर्म्माण ,,
२०६–गायत्र्यादि पङ्क्त्यन्त छन्दों के अक्षर-परिमाण-माध्यम से कनिष्ठिकादि अङ्गुष्ठान्त पञ्चाङ्गुलियों का पारिमाणात्मक समतुलन ,,
२०७–त्रिष्टुप् छन्दोऽनुगत इन्द्रदेवता ,,
२०८-इन्द्रानुगत अमृतप्रधान भूतात्मा ,,
२०९–त्रिष्टुप् और अमृतभावामिका अनामिका ,,
२१०–अनामिका के द्वारा दिव्यकर्म्मों का सम्पादन ,,
१११–अनया वै भेषजं क्रियते ,,
२१२–विराट्, और तत्प्रसूता मध्यमा ,,
२१३–जगती, और तत्प्रसूता तर्जनी ,,
२१४–असुरप्राणप्रधाना कलहप्रवर्त्तिका तर्जनी ,,
२१५–दिव्यकर्म्म में तर्ज्जनी का असंस्पर्श ६३९
२१६ पंक्ति, और तत्प्रसूत अङ्गुष्ठ ,,
२१७ अभिप्लव, और पृष्ठ्य-भेद-निबन्धन शरीर-रचना-वैचित्र्य ,,
२१८–शिरोभागानुगत चार कपाल ,,
२१९–पूर्वकपालद्वयी ,,
२२०–पश्चिमकपालद्वयी ,,
२२१–अवान्तरकपालखण्ड, और तत्प्रत्यक्षो-पाय-प्रदर्शन ,,
२२२–शिरोभागानुगत आठ कपाल ६४०
२२३–अष्टकपालानुगत मस्तिष्क, और 'पुरो-डाश' ,,
२२४–अर्वाग्बिल-ऊर्ध्वबुध्न-भावात्मक आश्च-र्म्मय आध्यात्मिक-चमस ,,
२२५–पुरोडाश की आहुति से देवप्राणों की जीवन-रक्षा ,,
२२६–आधिदैविक यज्ञ के सुगुप्त रहस्यों के परिज्ञाता-महर्षि ,,
२२७–अधिदैवत, और अध्यात्म-यज्ञ के समतु-लन-माध्यम से आधिभौतिक-वैध-यज्ञ के अष्टाकपाल–पुरोडाश का वैज्ञानिक-स्वरूप-समन्वय, एवं प्रक्रान्त ब्राह्मण की १-२ कण्डिका-द्वयी का उपराम ,,
२२८–अन्नपरिपाककर्त्ता-'आमात्' नामक अग्नि ,,
२२९–शवपरिपाककर्त्ता-'क्रव्यात्' नामक अग्नि ,,
२३०–हविर्वहनकर्त्ता 'हव्यवाट्' अग्नि ,,
२३१–एक ही अग्नि के तीन महिमा-विवर्त्त ,,
२३२–छन्दोभेद के द्वारा अग्निभेद ,,
२३३–निष्कैवल्य-संग्राह्य-दिव्य-भावापन्न हव्यवाट् अग्नि ,,
२३४–अग्निप्रधान भूपिण्ड ,,
२३५–वारुणाग्नि-प्रवर्ग्याग्नि-ब्रह्मौदनाग्नि-भेदेन पार्थिवाग्नि की अवस्थात्रयी ,,

२३६–भूपिण्डनिर्म्माता-'आप्त्या' नामक जलीय-अग्नि. और वारुणाग्नि ६४०
२३७–असुरभावापन्न वारुणाग्नि ,,
२३८–आमाशयानुबन्धी वारुणाग्नि की 'आमात्'-रूपता ,,
२३९–प्रवर्ग्यरूप भूताग्नि का पिण्डस्थ-प्राणाग्नि के द्वारा मलरूपेण प्रक्षेप ६४१
२४०–भूत-भौतिक-मलात्मक-पदार्थों का भक्षक-क्रव्यादग्नि ,,
२४१–शवान्नभक्षक-प्रवर्ग्यभक्षक-क्रव्यादग्नि ,,
२४२–विशुद्ध-प्राणात्मक-माङ्गलिक-दिव्याग्नि ,,
२४३–अमृतसोमरसानुबन्धी देवानुगत हव्यवाट् नामक पार्थिव अग्नि ,,
२४४–ब्रह्मौदनाग्निरूप दिव्यप्राणाग्नि ,,
२४५–यज्ञानुगत--संग्राह्य--दिव्य--अग्नि, तथा सन्दर्भ-निष्कर्ष ,,
२४६–'सहरक्षा' नामक असुर-अग्नि, ,,
२४७–शुद्ध अग्नि की दिव्यात्मकता ,,
२४८–असुरदूत-सहरक्षा नामक मलानुगत भौम-अग्नि ,,
२४९–भस्मलिप्त अङ्गाराग्नि की असुर-रूपता ,,
२५०–शुद्ध-अग्नि, और देवयाट् ,,
२५१–पुरोडाशसङ्गमनकर्त्ता दिव्याग्नि ,,
२५२–भूपिण्डेन सह सक्रान्त सावित्रतेज ,,
२५३–सूचीमुख-पृथिव्यनुगत सावित्रतेज ,,
२५४–प्रतिफलनभावान्वित सावित्र-सौर-तेज ,,
२५५–अदितिमण्डलगर्भित देवदूताग्नि ,,
२५६–मन्त्रश्रुति के द्वारा तद्यशोगान ,,
२५७–ज्योतिर्म्मय-प्राणाग्निमण्डलाकार से समतुलित तमोमय-अग्निमण्डल ,,
२५८–तमोमय अग्निमण्डल की 'दिति' रूपता ,,
२५९–भूभामय पार्थिव तमोभाव ,,
२६०–ग्रहणविद्यानुगत सैंहिकेय राहु ,,
२६१–ज्योतिर्म्मय-दिव्यप्राण का अवरोधक-दिति-मण्डलस्थ-सहरक्षा-नामक-आसुर-अग्नि ६४१
२६२–असुरदूत-पार्थिव-वारुणाग्नि ,,
२६३–पृथिव्यनुगत-अदिति-दिति भाव ,,
२६४–यज्ञस्वरूपसम्पादक-ज्योतिर्म्मय दिव्याग्नि' ,,
२६५–यज्ञस्वरूपविघातक-तमोमय-भूताग्नि ,,
२६६–भस्मनिराकरण-पूर्वक-अङ्गारों का विशुद्धीकरण, एवं तद्वैज्ञानिक-तथ्य का समन्वय ,,
२६७–भूपृष्ठसंलग्न-अङ्गार की असुरभावानुगति ,,
२६८–वातशून्य प्रदेश की असुररूपता ,,
२६९–अधोभागानुगत अग्नि का ज्वालाराहित्य ,,
२७०–वरुणदैवत्यम् ,,
२७१–आसुरप्राणाधिष्ठाता वरुणदेवता ,,
२७२–निवातस्थान, और वरुणदेवता ,,
२७३–अधोभागानुगत भस्मसम्बन्ध के निराकरण में काठिन्य ६४२
२७४–यजुर्मन्त्रविद्युत् से पूत मध्यम कपाल के द्वारा अधोऽवस्थित अङ्गारानुगत असुर का निराकरण ,,
२७५–यजुः की साक्षात् दिव्याग्निरूपता ,,
२७६–ब्रह्म-देव-भूत-पशु-भेदनिबन्धना अग्नि-विवर्त्त-चतुष्टयी ,,
२७७–वेदाग्निरूप-ब्रह्माग्नि ,,
२७८–यजुरनुगत-'सार्वयाजुषाग्नि' ,,
२७९–स्वायम्भुव-यजुरग्नि ,,
२८०–सौर-देवाग्नि ,,
२८१–पार्थिव-भूताग्नि ,,
२८२–प्रवर्ग्यरूप-पाशुकाग्नि ,,
२८३–शब्दमय-यजुर्म्मन्त्र ,,
२८४–अर्थमय-यजुरग्नि ,,
२८५–शब्दार्थ का अभेदसम्बन्ध ,,
२८६–यजुरग्निमय यजुर्म्मन्त्र के द्वारा असुरासङ्गजनित-भय की निवृत्ति ,,

२८७–विश्वपदार्थों की घन-तरल--विरलरूपा अवस्थात्रयी ६४२
२८८–घनावस्थात्मिका निविड़ावस्था ,,
२८९–सुप्रसिद्धा तरलावस्था ,,
२९०–विरलावस्थात्मिका बाष्पावस्था ,,
२९१–बाष्पावस्थात्मिका धूमावस्था ,,
२९२–उदाहरणमाध्यम से अवस्थात्रयी का स्वरूप-समन्वय ,,
२९३–सोमगर्भित अग्नि की वस्तुरूपता ,,
२९४–घनाग्निमय पृथिवी-लोक ,,
२९५–तरलाग्निमय-अन्तरिक्षलोक ,,
२९६–विरलाग्निमय-द्युलोक ,,
२९७–घनावस्थापन्न यच्चयावद् पिण्डात्मक-भूतभौतिक--पदार्थों की पारिभाषिक-'पृथिवी'-रूपता ,,
२९८–तरलावस्थापन्न यच्चयावत् पदार्थों की पारिभाषिकी वायुरूपता ,,
२९९–विरलावस्थापन्न यच्चयावत् पदार्थों की पारिभाषिकी आदित्यरूपता ,,
३००–तत्तत् पदार्थों की प्राणावस्था का समन्वय ,,
३०१–घनावस्थानुगता ध्रुवावस्था ,,
३०२–तरलावस्थानुगता धर्त्रावस्था ,,
३०३–विरलावस्थानुगता धरुणावस्था ,,
३०४–सर्वप्रतिष्ठारूप 'ध्रुव' तत्त्व ,,
३०५–'ध्रुव', और 'पृथिवी' की आंशिक-पर्य्यायता ,,
३०६–दिव्ययज्ञानुगत आसुरप्राणाक्रमण ,,
३०७–असुराक्रमण-निरोध के लिए अपेक्षिता ध्रुवात्मिका प्रतिष्ठा ,,
३०८–'ध्रुवमसि' मन्त्रानुगत प्रतिष्ठाबल के माध्यम से कपालोपधान ,,
३०९–पशु-अनुचर--प्रजा--स्त्री--द्रव्य-भूमि-भेद-निबन्धन-अन्तर्बहिर्वित्त ,,
३१०–श्रेष्ठतम ब्रह्मवीर्य्य, और क्षत्रवीर्य्य ,,
३११–ज्ञानशक्तियुत ब्रह्मवीर्य्य ६४२
३१२–क्रियाशक्तियुत क्षत्रवीर्य्य ,,
३१३–क्रियाशक्तिसम्पन्न कर्म्मठ, तथा ज्ञान-शक्तिसम्पन्न ज्ञाननिष्ठ मानव के लिए 'असम्भव' शब्द का असम्भवत्त्व ६४३
३१४–ज्ञान-कर्म्म-शून्य पुरुष का पुरुषाभासत्त्व ,,
३१५–विड्वीर्य्यानुगता अर्थशक्ति ,,
३१६–पूषाप्राणानुगता पशुशक्ति ,,
३१७ ज्ञान-कर्म्माश्रित-विट्-शूद्र की सार्थकता ,,
३१८–ज्ञान-कर्म्माश्रय से वञ्चित अर्थ-पशु-भावों की आत्यन्तिक निरर्थकता ,,
३१९–सर्वतोऽधिक महतोमहीयान् 'भूमा' तत्त्व ,,
३२०–ज्ञान-कर्म्मानुगत-ऐच्छिक-अनुयायियों की उपलब्धि, एवं भूमाभाव ,,
३२१–भूमाभाव, और 'सजाताः' ,,
३२२–ब्रह्म-क्षत्र-वीर्य्यसम्पत्ति की सफलता की प्रेरिका सजातसम्पत्ति, और भूमाभाव ,,
३२३–'ब्रह्मवनित्त्वा-क्षत्रवनित्त्वा-सजातवनित्त्वा' इत्यादि यजुर्म्मन्त्र का रहस्यार्थ-समन्वयोपराम ,,
३२४–द्यावापृथिवी का साक्षात्कार ,,
३२५–मध्यस्थ-अन्तरिक्ष का प्रत्यक्ष ,,
३२६–'श्रद्धा' भावानुगत त्रैलोक्य ,,
३२७–चतुर्थलोक की इन्द्रियातीतता, किन्तु शब्दप्रमाणगम्यता ,,
३२८–'अस्ति न वा' का स्वारस्य ,,
३२९–'विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्यः' इत्यादि यजुर्म्मन्त्रार्थ-समन्वय ,,
३३०–विश्व-आशाओं की अनद्धा-रूपता ,,
३३१–आर्षसाहित्य के प्रत्येक शब्द से अनुप्राणित पिनद्ध-सुगुप्त-रहस्यार्थ ,,
३३२–'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' श्रुत्यनुगत भृगु-अङ्गिरा-तपो नामक रहस्यमय शब्द ,,

३३३–प्रासङ्गिकरूपेण 'तपः' शब्द के रहस्यात्मक निगूढार्थ का संस्मरणोपक्रम ६४३
३३४–जगन्मिथ्यावादाभिनिविष्ट विद्वानों की दृष्टि में-'तपः' शब्द का निष्ठाशून्य--मान्यतात्मक अर्थ ,,
३३५–प्रचलित-मान्यता का लोकसंग्रह-दृष्टया समादर, किन्तु······? ,,
३३६–व्यापकार्थ को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाले 'तपः' शब्द का सीमाबन्धनात्मक अनौचित्य ,,
३३७–कायक्लेशानुवर्त्ती---आलोमभ्यः---आनखाग्रेभ्यः-दुःखार्त्त-तपोऽनुरक्त विद्वानों से 'तपः' शब्द के सम्बन्ध में श्रुतिसम्मत कतिपय-प्रश्न ,,
३३८–महर्षि तित्तिरि के द्वारा 'तपः' शब्द का अव्याप्ति-अतिव्याप्ति--दोषरहित-अविरोधी लक्षण का संस्मरण ६४४
३३९–ब्रह्मौदनात्मक स्वात्मभाग का दान, और 'तप' ,,
३४०–आधिदैविक-आधिभौतिक--आध्यात्मिक-तत्त्वसंग्राहक व्यापार की तपोरूपता ,,
३४१–आत्मसमर्पणात्मक व्यापार की तपोरूपता का दिग्दर्शन ,,
३४२–प्राणविसर्ज्जन के द्वारा रिक्तस्थानानुगति, और तपोभाव ,,
३४३–रिक्तस्थान का पूरक तपोरूप व्यापार ,,
३४४–प्राणपातानुगता लोकसम्पत्ति, और तपश्चर्य्या ,,
३४५–आत्मसमर्पणरूप तप से वञ्चित लाभ की तत्त्वतः अलाभरूपता ,,
३४६–छलछिद्रादि आसुरी-मायाओं के माध्यम से प्राप्ता सम्पत् का अशान्ति-प्रवर्त्तकत्त्व ,,
३४७–प्राणदानात्मक तप के द्वारा ही वस्तु–प्राप्ति का समन्वय ,,
३४८–'बलि' रूप 'दान', और 'बलिदान' तथा तदनुगता प्राप्ति ६४३
३४९--प्रजापति की सहज--सृष्टिकामना ,,
३५०–सृष्टिकामनानुगत आत्मार्पणरूप सहज तप ,,
३५१–तपोऽनुगता प्राणाहुति ,,
३५२–तप की वास्तविकी स्वरूप-परिभाषा ,,
३५३–वाक्-श्रोत्र-हस्त-पाद-आदि का व्यापार, और तप का सामान्य-स्वरूप ६४४
३५४–भृगु और अङ्गिरा का सर्वश्रेष्ठ तप ,,
३५५–सौम्य भृगु, और आग्नेय अङ्गिरा ,,
३५६–अग्निचयन के द्वारा शरीरनिर्म्माण ,,
३५७–शारीरिक तप, और अङ्गिरा ,,
३५८–मानसिक तप, और भृगु ,,
३५९–भृग्वङ्गिरा के पार्थक्य से अनुप्राणित तप की अपूर्णता ,,
३६०–समन्वयात्मक-भृग्वङ्गिरोमय तप की पूर्णता ,,
३६१–तेजिष्ठतप की स्वरूप-परिभाषा ,,
३६२–मनोयोगपूर्वक शरीरद्वारा क्रियमाण तप की अन्वयर्था तपोरूपता ,,
३६३–'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' का संस्मरण ,,


## तपः-स्वरूपदिग्दर्शनम्

(पृ० सं० ६४५ से ६५८ पर्य्यन्त)


३६४–वर्त्तमानयुग के प्रत्यक्षप्रभाव से समाकर्षिता भावुक-प्रजा, और उसकी लोकघोषणा से अनुगत त्याग-तपस्या-बलिदान-आदि शब्द ६४५
३६५–काल्पनिक--भावुकतापूर्ण--त्याग--तपस्या-बलिदानादि-शब्दनिबन्धन महान् व्यामोहन ,,
३६६–व्यामोहन-परित्राणोपाय--चिन्तनोक्रम ,,
३६७–पाणिनीय-धातुपाठ से अनुप्राणित 'तप' धातु के सन्ताप-ऐश्वर्य्य, तथा दाह-रूप त्रिविध समन्वय-प्रकार ,,

३६८–एक तप, और विभिन्न तीन अर्थों के सम्बन्ध में समस्यात्मक महान् प्रश्न ६४५
३६९–पुरुषभावानुबन्धेन तीन अर्थों की स्वीकृति ”
३७०–प्रकृतिभावानुबन्धेन तीन अर्थों का निषेध ”
३७१–'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' मूलक-'एतद्वै तत्' रूप-पुरुषात्मानुगत अद्वैतवाद ”
३७२–ब्रह्म के महिमामय विवर्त्तों की अभिन्नार्थकता ”
३७३–'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' का संस्मरण ”
३७४–प्रकृत्यनुबन्धी सर्वथा विभिन्न-सन्तापार्थक-'तपः' शब्द ”
३७५–ऐश्वर्य्यार्थक-'तपः' शब्द ”
३७६–दाहार्थक-'तपः' शब्द ”
३७७–तपः शब्द के चिरन्तन शब्दार्थेतिहास का उपक्रम ”
३७८–तपः शब्देतिहासानुबन्ध से प्रकृति के सर्वथा विभिन्न तीन संस्थानों का स्वरूपान्वेषण-प्रयास ”
३७९–विश्वेश्वर-पुरुषात्मप्रजापति का महिमामय प्राकृत-विश्व ”
३८०–गुणभूतों के पञ्चीकरण से समन्वित पञ्चपर्वा विश्व ”
३८१–पञ्चपर्वा—पाङ्क्त—पञ्चात्मक–विश्व का संस्मरण ”
३८२–श्वेताश्वर महर्षि के द्वारा पञ्चपर्वा प्राकृत विश्व का स्वरूप-समन्वय ”
३८३–परोरजात्मक-ऋषिप्राण ६४६
३८४–रजःप्रवर्त्तक-पितृप्राण ”
३८५–रजोभावात्मक-देवप्राण ”
३८६–रजस्तमोऽनुगत-पशुप्राण ”
३८७–तमःप्रधान-भूतप्राण ”
३८८–ऋषिप्राणमूर्त्ति स्वयम्भू ”
३८९–पितृप्राणमूर्त्ति परमेष्ठी ”
३९०–देवप्राणमूर्त्ति सूर्य्य ६४६
३९१–पशुप्राणमूर्त्ति चन्द्रमा ”
३९२–भूतप्राणमयी-पृथिवी ”
३९३–पञ्चभावात्मिका—पञ्चप्राणोर्म्मिलक्षणा–विश्वोपादानभूता क्षर-प्रकृति के पञ्चधा-विभक्त महिमामय-विवर्त्त ”
३९४–'विश्व' की संक्षिप्ततमा रूपरेखा ”
३९५–तपस्त्रयी के मौलिक-स्वरूप का अन्वेषणात्मक-प्रयासोपक्रम ”
३९६–ब्रह्माक्षरानुगता ऋषिप्राणमयी प्रकृति ”
३९७–विष्णवक्षरानुगता पितृप्राणमयी प्रकृति ”
३९८–इन्द्राक्षराक्षरानुगता देवप्राणमयी प्रकृति ”
३९९–सोमाक्षरानुगता पशुप्राणमयी प्रकृति ”
४००–अग्न्यक्षरानुगता भूतप्राणमयी प्रकृति ”
४०१–परोरजामूर्त्तिः स्वयम्भूः ”
४०२–रजोऽधिष्ठाता परमेष्ठी ”
४०३–रजोऽभिगतः-सूर्य्यः ”
४०४–रजोमूर्त्तिः-चन्द्रमाः ”
४०५–मूर्च्छितरजोमूर्त्तिः-भूपिण्डः ”
४०६–'प्रहितां संयोगः' एवं-'प्रयुतां संयोगः' रूप आदान-विसर्ग व्यापार के पारिभाषिक स्वरूप का संस्मरण ६४७
४०७–विश्वपर्वों की प्राणमात्राओं, तथा भूतमात्राओं का पारम्परिक-आदान-विसर्ग ”
४०८–प्राण, तथा भूत-निबन्धन आदानविसर्ग के तारतम्य से ही विश्वपदार्थों के स्वरूप में विभिन्नता का उदय ”
४०९–प्राकृत-पदार्थों की स्वरूपस्थिति से अनुप्राणित आदान-विसर्गात्मक-चङ्क्रमण, तथा षड्भावविकारों का समन्वय ”
४१०–विश्वपदार्थों का समष्टि-व्यष्टि—रूपेण विस्रंसनात्मक-त्यागतपस्यारूप उत्सर्ग, एवं तन्निबन्धन-'स्व' भाग का दान ”

४११–समष्टि-व्यष्टि रूपेण-त्यागधर्म्मानुगत यच्च-यावत् पदार्थों की 'तपोधर्म्मा-तपस्वी' अभिधा का समन्वय ६४७
४१२–आदान-सापेक्षा विसर्गात्मिका तपश्चर्य्या से ही विश्व के तपस्वियों की स्वरूप-स्थिति ,,
४१३–'स्वं ददाति'रूप विसर्ग उत्सर्ग-त्याग, एव तन्निबन्धन नित्यसापेक्ष आदान-ग्रहण-संग्रह-भाव ,,
४१४–पारस्परिक-अपेक्षानुबन्धी प्रकृतिसिद्ध-'अन्नान्नादसम्बन्ध' ,,
४१५–अन्नानुगत-'भोग' तत्त्व का पारिभाषिक-समन्वय ,,
४१६–अन्न-सोम, और भोग्य ,,
४१७–अन्नाद-अग्नि, और भोक्ता ,,
४१८–सर्वमिदमन्नम्-सर्वमिदमन्नादः ,,
४१९–अत्ता चैव, आद्यश्च ,,
४२०–'अहमस्मि प्रथमजा' का संस्मरण ,,
४२१–'अहमन्नम्-अन्नमदन्तमद्मि' का पारिभाषिक-समन्वय ,,
४२२–प्रत्येक प्राकृत पदार्थ की अन्नरूपता, तथा अन्नादता का समन्वय ,,
४२३–विसर्गानुबन्धी आङ्गिरस-अग्नि ,,
४२४–आदानानुबन्धी भार्गव सोम ,,
४२५–संकोचधर्म्मा भार्गवसोम, और स्नेहतत्त्व ,,
४२६–विकासधर्म्मा आङ्गिरस अग्नि, और तेजस्तत्त्व ६४८
४२७–स्नेहगुणक-भार्गव सोम, तथा तेजोगुणक आङ्गिरस अग्नि की पारस्परिकी सापेक्षता ,,
४२८–त्याग की संग्रहमूलकता ,,
४२९–संग्रह की त्यागमूलकता ,,
४३०–त्याग को उद्देश्य बनाने वाले संग्रह की ही संग्राहकता ,,
४३१–त्यागशून्य संग्रह के द्वारा उत्तरोत्तर जड़ता की प्रवृत्ति ,,
४३२–आदानगर्भित विसर्ग की तपोरूपता का समन्वय ६४७
४३३–भृगुगर्भित आङ्गिरस तत्त्व की ही तपोरूपता का समन्वय ६४८
४३४–भगवान् याज्ञवल्क्य के वैज्ञानिक-तपोलक्षण का संस्मरण ,,
४३५–तपःशब्द की लोकानुबन्धिनी स्वरूप-स्थिति के किञ्चिदिव निदर्शन का उपराम ,,
४३६–तपः शब्द के सत्तासिद्ध वैज्ञानिक-स्वरूप का उपक्रम ,,
४३७–पञ्चपर्वा प्राकृति विश्व के गर्भ में प्रविष्ट 'आत्मप्रतिष्ठात्मक' षोडशी--प्रजापति का संस्मरण ,,
४३८–षोडशी प्रजापति की विश्वचर-विश्वात्मा-विश्वेश्वर-नाम की अभिधाओं का समन्वय ,,
४३९–पञ्चपर्वात्मक-विश्व की समष्टि से अनु-प्राणित-एक-विश्वेश्वर ,,
४४०–व्यष्ट्यात्मक पञ्चधा-विभक्त विश्वावयवोंके विभिन्न पाँच उपेश्वर ,,
४४१–पञ्चधा, और त्रीणि-त्रीणि का रहस्यात्मक पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय ,,
४४२–तदेव शुक्रं--तद्ब्रह्म--तदेवामृतमुच्यते--मूलक-'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' रूप मन्त्रभाग ६४८
४४३–पञ्चकलाव्ययरूप प्रजापति, और 'अमृतम्' ,,
४४४–पञ्चकलाक्षररूप प्रजापति, और 'ब्रह्म' ६४९
४४५–पञ्चकल-आत्मक्षररूप प्रजापति, और 'शुक्रम्' ,,
४४६–अमृताव्ययानुगता मनोघना-ज्ञानज्योति ,,
४४७–ब्रह्माक्षरानुगता प्राणघना-कर्म्मज्योति ,,
४४८–शुक्रक्षरानुगता वाग्घना भूतज्योति ,,
४४९–त्रिज्योतियों से कृतरूप विश्वात्मा के पाँच, तथा तीन विवर्त्तों का संस्मरण ,,

४५०–विश्वात्मा के पाँच, अर्थात् तीन ही प्रमुख-पर्व ६४६
४५१–विश्वानुबन्धिनी पञ्च-त्रिपर्व-भावानुगता महती समस्या का निराकरण-प्रयास ”
४५२–भारतीय सांस्कृतिक जगत् से अनुप्राणित-त्रिमूर्त्ति, और ब्रह्मा-विष्णु-महेश ”
४५३–आर्य्यसर्वस्वात्मक पुराणशास्त्र, और तन्निबन्धन सांस्कृतिक-आयोजन ”
४५४–स्मृतिशास्त्र, और तन्निबन्धन सांस्कृतिक आचार ”
४५५–श्रुतिशास्त्र, और तन्निबन्धना भारतीया-मूलसंस्कृति ”
४५६–आत्मपर्वानुगत-सांस्कृतिकपर्व ”
४५७–बुद्धिपर्वानुगत-सांस्कृतिक-उत्सव ”
४५८–मनःपर्वानुगत-सांस्कृतिक-सम्मेलन ”
४५९–शरीरपर्वानुगत-सांस्कृतिक-समारोह ”
४६०–त्रिमूर्त्ति-भावानुबन्धी पौराणिक-त्रिदेवतावाद, एवं श्रुतिशास्त्रानुबन्धी पञ्च–देवतावाद ”
४६१–प्रासङ्गिकी विरोधभावना का उत्पात, एवं तन्निराकरण ”
४६२–वैदिक पञ्चदेवतावाद के साथ पौराणिक त्रिदेवतावाद का निर्विरोध सहसमन्वय ”
४६३–अवलोकनात्मक - 'आलोक', और ज्योतिर्भाव ”
४६४–अवलोकन के माध्यम नेत्र, एवं ज्योतिस्तत्त्व की नेत्रसंज्ञा का समन्वय ”
४६५–सत्य-ऋृत-नेत्र ( सत्य-ऋृत-ज्योति से समन्वित सत्यस्य-सत्य-मूर्त्ति-सत्यात्मक-स्वायम्भुव-ब्रह्मा ”
४६६–पारमेष्ठय विष्णु की द्विनेत्रता का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन ६५०
४६७–सूर्य्य-चन्द्र-पार्थिवाग्निमूर्त्ति, त्रिज्योतिर्म्मय भगवान् महेश्वर की 'त्रिनेत्र' अभिधा का स्वरूप-दिग्दर्शन ”
४६८–मनोमय- अमृताव्ययात्मक- ज्ञानज्योतिर्भाव से अनुगृहीत स्वायम्भुव-ब्रह्मा, एवं इनकी-'चित्पति' ( ज्ञान-पति ) अभिधा का समन्वय ६५०
४६९–प्राणमय -ब्रह्माक्षरात्मक- कर्म्मज्योतिर्भाव से अनुगृहीत पारमेष्ठय विष्णु, एवं इनकी 'कर्म्मपति' (प्राणपति) अभिधा का समन्वय ”
४७०–वाङ्मय-शुक्रक्षरात्मक-भूतज्योतिर्भाव से अनुगृहीत त्रिमूर्त्ति भूतपति-महेश्वर, एवं इनकी 'भूतपति' ( पशुपति-वाक्पति ) अभिधा का स्वरूप-समन्य ”
४७१–पुराणशास्त्र के रहस्यपूर्ण त्रिदेवता का स्वरूप–समन्वय ”
४७२–सूर्य्य, और स्वज्योतिर्भाव ”
४७३–चन्द्रमा, और परज्योतिर्भाव ”
४७४–पृथिवी, और रूपज्योतिर्भाव ”
४७५–पञ्चपर्वात्मक विश्व का तीन प्रमुख पर्वों पर विश्राम, एवं परिलेख के द्वारा तत्-स्वरूप समन्वय ”
४७६–त्रिमूर्त्ति के आधार पर प्रतिष्ठित 'तपः' शब्द के प्रतिज्ञात सन्ताप-ऐश्वर्य्य-दाह-रूप त्रिविध महिमाविवर्त्तों का समन्वय-प्रयास ”
४७७–परोरजामूर्त्ति- चित्पति- स्वायम्भुव-ब्रह्मा, और उसका ज्ञानमय तप ”
४७८–ज्ञानमय तप की 'सन्तापरूपता' ”
४७९–'सन्ताप' शब्द का लोकप्रचलित-शोकसन्तापात्मक-अर्थ ६५१
४८०–तत्त्वदृष्टया शोक से एकान्ततः असंस्पृष्ट 'सन्ताप' शब्द ”
४८१–क्रियाप्रधान तप से अभिन्न प्राणात्मक तप के आधारभूत ज्ञान-शक्तिप्रधान स्वायम्भुव तप की परिभाषिकी सन्ताप-रूपता का दिग्दर्शन ”

४८२–'श्रान्तस्य-तप्तस्य-सन्तप्तस्य' इत्यादि श्रुति से अनुप्राणित 'सन्ताप' रूप ज्ञानीय-तप ६५१

४८३–श्रुति के प्रमुख तात्विक अर्थ का समन्वय ,,

४८४–रूप से अनुगत 'ताप' ,,

४८५–एकीभावात्मक 'सम्' उपसर्ग से समन्वित ताप की 'सन्ताप' रूप मे परिणति ,,

४८६–अव्ययात्मक-चिदात्मा की 'सम्' भावापन्ना 'समब्रह्मता' ,,

४८७–आत्मसाम्यसूचक 'सम्' शब्द, एवं तद्नुप्राणित संस्कृति-संस्कृत-संस्कार-आदि पारिभाषिक-शब्दों का संस्मरण ,,

४८८–समब्रह्माभिन्न स्वायम्भुव तप की 'सम्' भावान्विता 'सन्तापरूपता' का समन्वय ,,

४८९–'ऋषिप्राण', और सन्तापात्मक-तप की मौलिक उपनिषत् ,,

४९०–सद्घन अतएव 'असत्' नाम से प्रसिद्ध विश्वमूलभूत ऋषिप्राण, और सन्तापात्मक तप ,,

४९१-(क)-ऋक्-साम-रूप वयोनाधात्मक छन्द से छन्दित स्वायम्भुव-ब्रह्म-निःश्वसित वेदात्मक यजुःप्राण का स्वरूप-समन्वय ,,

४९१-(ख)-ब्रह्मा का ज्ञानीय-तप, और ऋषितप से तदभिन्नता ,,

४९१-(ग)-स्वायम्भुव परमाकाशात्मक महिमाकाश ,,

४९२–परमेव्योमन्रूप महिमाकाश में परिव्याप्त ऋषिप्राणप्रधान ज्ञानीय तप की अभिव्याप्ति, और तद्रूप तपोलोक का संस्मरण ,,

४९३–सत्य-ऋत-सूत्रानुगत सर्वत्र-व्याप्त-सन्तापार्थक तपः शब्द के संक्षिप्त चिरन्तर-इतिवृत्त का उपराम ६५२

४९४–लोकाधिष्ठाता षोडशीप्रजापति का पञ्चभौतिक सप्तवितस्ति-काय, और उस की सात वितस्तियाँ ६५२

४९५–गायत्रप्राणसमतुलित चतुरशीति-अङ्गुलिमित मानव, एवं तत्परिमाणयुक्त ही ईश्वर ,,

४९६–सुप्रसिद्ध पञ्चधा विभक्त विश्वपर्वों से अनुगत भूलोक-भुवर्लोक-स्वर्लोक-महर्लोक-जनल्लोक-तपोलोक-सत्यलोक-नामक सात लोक, और सप्त-लोक-व्याहृतियाँ ,,

४९७–षष्ठ तपोलोक, और तदभिन्न ब्राह्मतप ,,

४९८–सर्वप्रतिष्ठारूप-ज्ञानीयतपोरूप ब्राह्मतप से वञ्चित अन्यान्य यच्चयावत् तपोभावों की व्यर्थता ६५२

४९९–क्रमप्राप्त ऐश्वर्य्यार्थक द्वितीय 'तपः' शब्द का माङ्गलिक-संस्मरण ,,

५००–सन्तापात्मक स्वायम्भुव ऋषितप की कर्तृत्वशक्ति के सम्बन्ध में प्रश्न ,,

५०१–सन्तापात्मक ऋषितप से सर्वप्रथम समुद्भूत अप्तत्त्व ,,

५०२–प्राणात्मिका ऋतधर्म्मानुगता आपः ,,

५०३–स्वायम्भुव तप का द्रवण, और आपः ६५३

५०४-स्वेदवेदात्मक सुवेद ,,

५०५–सुवेदात्मक अथर्ववेद ,,

५०६–स्वयम्भू ब्रह्मा के ललाटप्रदेश पर स्वेदोत्पत्ति, और तत्सम्बन्ध में गोपथश्रुति का संस्मरण ,,

५०७–'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्' का पारिभाषिक समन्वय ,,

५०८-(क)-आपः-वाः-वारि-आदि शब्दों का निर्वचनात्मक समन्वय ,,

५०८-(ख)-आपोमय द्वितीय विश्वविवर्त्त की 'परमेष्ठी' अभिधा का संस्मरण ,,

५०९–आप्तिधर्म्मा-मैथुनीसृष्टिप्रवर्त्तक पितर–प्राण, और तन्मूलभूत ऋषिप्राण ६५३
५१०–'ऋषिभ्यः पितरो जाताः' इत्यादि मनुवचन का संस्मरण ,,
५११–विश्वसमृद्धि के महान् प्रभव ऐश्वर्य्य–मूर्त्ति-आपोमय-परमेष्ठी ,,
५१२–ऐश्वर्य्यभाव-निबन्धना 'सम्पत्ति' की स्वरूप-पारिभाषा ,,
५१३–लोकसम्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न ,,
५१४–लोकैश्वर्य्य की स्वरूप-दिशा से परिचिति का उपक्रम ,,
५१५–शब्दसम्पत्ति, एवं तद्वाच्या अर्थसम्पत्ति ,,
५१६–उभयसम्पत्तिसमन्वयात्मक-पद ( शब्द ) अर्थ (वस्तु) रूप-'पदार्थ' ,,
५१७–'पदार्थ' के द्वारा शब्दार्थसम्पत्ति का संग्रह ,,
५१८-प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय पदार्थों का नाम-संस्मरण ,,
५१९–समष्टि-व्यष्टि-रूपेण शब्दार्थ-सम्पत्ति की अभिव्याप्ति ,,
५२०–शब्दात्मिका सम्पत्ति की अधिष्ठातृ-देवता 'श्रीः' ,,
५२१–अर्थात्मिका सम्पत्ति की अधिष्ठातृ–देवता-'लक्ष्मीः' ,,
५२३–आपोमय पारमेष्ठ्य-मण्डल, और श्रीः, तथा लक्ष्मीः ६५४
५२४–शब्दैश्वर्य्य, और श्रीः ,,
५२५–अर्थैश्र्य्य, और लक्ष्मीः ,,
५२६–सरस्वतीरूपिणी 'श्रीः' ,,
५२७–आम्भृणीरूपिणी 'लक्ष्मीः' ,,
५२८–ऐश्वर्य्य का वास्तविक स्वरूप, और श्री-रूपिणी सरस्वती ,,
५२९–सारस्वतक्षेत्र, और ऐश्वर्य्य ,,
५३०–मौलिक-तात्त्विक ऐश्वर्य्य, एवं भूतसम्पत्तिरूपिणी लक्ष्मीः ,,
५३१–लक्ष्मी, और लोकलक्ष्मी ६५४
५३२–श्रीविहीना लक्ष्मी के द्वारा जड़ता की अभिव्यक्ति ,,
५३३–ऐश्वर्य्यरूपिणी सम्पत्ति के स्वरूप-दिग्दर्शन का उपराम ,,
५३४–पारमेष्ठ्यमण्डलानुगता शब्दधारात्मिका सरस्वती-धारा, और तदभिन्ना अङ्गि–राधारा ,,
५३५–अर्थधारात्मिका आम्भृणी-धारा, और तदभिन्ना भृगुधारा ,,
५३६–तेजोभाव, और अङ्गिरा ,,
५३७–अङ्गिरा, और सरस्वती ,,
५३८–संकोचभाव, और भृगु ६५५
५३९–भृगु और आम्भृणी ,,
५४०–उभयसम्पत्तियों का गोपथश्रुति के द्वारा संस्मरण ,,
५४१–भार्गवसोम-आङ्गिरस-अग्नि ,,
५४२–उभयतप के सम्मिश्रण से अभिव्यक्त-'यज्ञतत्त्व' ,,
५४३–भार्गवाङ्गिरस-तपोरूप यज्ञ, एवं उसका क्रियाशक्तिप्रधान-ब्रह्माक्षरात्मा से अवि-नाभाव ,,
५४४–'यज्ञ', और 'कर्म्म' शब्द की अभिन्नार्थ-कता का समन्वय ,,
५४५–'श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे', और 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म' ,,
५४६–भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी की विष्णुरूपता ,,
५४७–विष्णु के द्वारा ही भार्गवाङ्गिरस यज्ञ की प्रवृत्ति ,,
५४८–'यज्ञो वै विष्णुः' और 'विष्णुर्वै यज्ञः' का समन्वय ,,
५४९–श्री, और लक्ष्मी नाम की विष्णुपत्नियाँ ,,
५५०–आङ्गिरसतत्त्व, और 'श्रीः' ,,

५५१–भार्गवतत्त्व, और 'लक्ष्मीः' ६५५
५५२–लोकैश्वर्य्यसंसाधक यज्ञात्मक कर्म्म ,,
५५३–पारमेष्ठ्य भार्गवाङ्गिरस तप, और तद्–द्वारा लोकवैभव-प्राप्ति ,,
५५४–तेजिष्ठ-तप की स्वरूप-परिभाषा ,,
५५५–भूः, एवं चन्द्र-गर्भित सौर मण्डल ,,
५५६–दाहक गुण से समन्वित माहेश्वर तप की स्वरूप-परिभाषा ,,
५५७–अग्निरूप रुद्र की दाहकता ,,
५५८–रुद्रात्मक सौर तप ,,
५५९–दाहार्थक तृतीय तप का स्वरूपेतिवृत्त ,,
५६०–सन्तापार्थक तप, और ब्राह्मतप ,,
५६१–तपोलोकानुगत ब्राह्म तप ,,
५६२–ऐश्वर्य्यार्थक तप, और वैष्णवतप ,,
५६३–भार्गवाङ्गिरस तप, और ऐश्वर्य्य ,,
५६४–दाहार्थक तप, और रौद्रतप ,,
५६५–अग्निप्रधान तप ६५६
५६६–विश्व के तीन प्रमुख संस्थान ,,
५६७–त्रिसंस्थानों के प्रमुख अधिपति ब्रह्मा-विष्णु-महेश ,,
५६८–आत्मब्रह्म के अमृत-ब्रह्म-शुक्र--नामक तीन प्रमुख महिमा--विवर्त्त ,,
५६९–महिमाविवर्त्तत्रयी से सम्बद्धा देवतात्रयी ,,
५७०–आत्मशक्तित्रयी, और देवतात्रयी ,,
५७१–ज्ञानात्मक तप, और ब्राह्मतप ,,
५७२–कर्म्मात्मक तप, और वैष्णवतप ,,
५७३–अर्थात्मक तप, और रौद्रतप ,,
५७४–मन्त्रद्रष्टा महर्षि की दृष्टि में विभक्त तीन तपोभाव ,,
५७५–अथर्वमन्त्रों के माध्यम से तपस्त्रयी के तीन विभिन्न विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय ,,
५७६–समाहितम् और तपोभाव ,,
५७७–समभवत् और तपोभाव ,,
५७८–आजायत और तपोभाव ,,
५७९–'तपः कालादजायत' इत्यादि अथर्वश्रुति का पारिभाषिक समन्वय ६५६
५८०–अध्यात्मसंस्था का विश्व ,,
५८१–आध्यात्मिक विश्व के कारण-सूक्ष्म-स्थूल-विवर्त्त ,,
५८२–कारणशरीर, और विज्ञानबुद्धि ,,
५८३–सूक्ष्मशरीर, और प्रज्ञानमन ,,
५८४–स्थूलशरीर, और भौतिकशरीर ,,
५८५–ब्राह्म-कारणशरीर ,,
५८६–वैष्णव-सूक्ष्मशरीर ,,
५८७–रौद्र-स्थूलशरीर ,,
५८८–पञ्चचितिक-भौतिकशरीर ,,
५८९–शान्तरुद्रिय. और शतरुद्रियान्न ,,
५९०–बुद्धितन्त्र, और सन्तापार्थक ब्राह्मतप ,,
५९१–मनस्तन्त्र, और ऐश्वर्य्यार्थक वैष्णवतप ,,
५९२–शरीरतन्त्र, और दाहार्थक रौद्रतप ,,
५९३–प्राकृतिक-आध्यात्मिक-विश्व ,,
५९४–आध्यात्मिक विश्व में प्रतिष्ठित त्रिविध-प्राणाग्निविवर्त्त ,,
५९५–अग्निजनित संघर्ष, और तद्द्वारा अब्रुत्पत्ति ,,
५९६–ब्रह्माग्निजनित ब्राह्मतप से उत्पन्न आपः, और स्वेदतत्त्व ,,
५९७–शीर्षस्थानीय स्वायम्भुव ललाट-प्रदेश, और ब्राह्मतप ,,
५९८–विष्णवग्निजनित वैष्णवतप से उत्पन्न आपः, और श्रद्धातत्त्व ,,
५९९–आपोमयी श्रद्धा, और अम्भः ,,
६००–गाङ्गेयतोयात्मिका भगवती--ब्रह्मद्रवी (भागीरथी), और वैष्णव-अम्भः ,,
६०१–रुद्राग्निजनित रौद्रतप से समुत्पन्न आपः, और मरीचितत्त्व ६५७
६०२–मरीचि, और यामुनेय (यमुनाजल) ,,

६०३ शीतप्रकृतिक गाङ्गेय-पारमेष्ठ्य-अम्भो-रूप सलिल ६५७
६०४—अग्निप्रकृतिक यामुनेय-सौर-मरीचिरूप--आपः ,,
६०५-बौद्धिक-ब्राह्मतप ,,
६०६—मानसिक-वैष्णवतप ,,
६०७—शारीरिक-रौद्रतप ,,
६०८—तप से उत्पन्न आपः, और 'अश्रु तत्त्व' ,,
६०९—'अश्रु संक्षरितमासीत्' ,,
६१०—बौद्धिक तप से उत्पन्न अश्रु, और परि-श्रमाश्रु ,,
६११—ललाटानुगत स्वेदकण, और परिश्रमाश्रु ,,
६१२—मानसिक तप से उत्पन्न-अश्रु, और 'श्रमाश्रु' ,,
६१३—प्रेमाश्रु का पारिभाषिक समन्वय ,,
६१४—शोकाश्रु का स्वरूप परिचय ,,
६१५-उभयाश्रुओं की स्थिति का स्वरूप विश्लेषण ,,
६१६—शारीरिक तप से उत्पन्न अश्रु, और सेवा ,,
६१७—सेवात्मिका आपः, और स्वेदधारा ,,
६१८—तपः शब्द की त्रिधा व्याप्ति के चिरन्तनेति-वृत्त का उपराम ,,
६१९—सांस्कृतिक-भारतीय मानव की दृष्टि से 'तपः' का तात्त्विक स्वरूप ,,
६२०—वर्त्तमानयुगानुबन्धी काल्पनिक-श्रममात्रा-नुबन्धी तपोभावों की आत्यन्तिक-निर-र्थकता ,,
६२१—परिश्रमवञ्चित केवल श्रम से अनुगत भाव, और शोकसन्ताप ,,
६२२—श्रीविहीना लक्ष्मी, और विशुद्ध-श्रमरूप दाहार्थक--तप ,,
६२३—ऐश्वर्य्य--विरोधी-शोकप्रवर्त्तक आज की श्रमात्मिका दाहार्थसमन्विता तपःपरम्परा ,,
६२४—भारतराष्ट्र की ऐश्वर्य्य—विहीनता का नग्न चित्रण ६५७
६२५—रौद्रतप की मूलप्रतिष्ठा-ऐश्वर्य्यसंसाधक भार्गवाङ्गिरस-वैष्णवतप ,,
६२६—सर्वप्रतिष्ठारूप--ज्ञानाग्निमय--स्वायम्भुव-ब्राह्मतप, और ब्रह्मवर्चस्वी-'ब्राह्मण' ,,
६२७—'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो--ब्रह्मवर्चसी जायताम्' माङ्गलिक-संस्मरण ६५८
६२८—परिलेख-माध्यम से त्रिविध-तपः-स्वरूप का समन्वय-प्रयास ,,

## इति-'तपः' स्वरूप-दिग्दर्शनम्

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

६२९—ब्रह्मात्मिका ईश सत्ता से समाक्रान्त पदार्थ ६५९
६३०—'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' रूप ब्रह्मतत्त्व ,,
६३१—अचेतनदृष्टि का मूलोच्छेद, और ब्रह्म की सर्वव्यापकता ,,
६३२—व्यवहारदृष्टि--मूलक चेतन, और अचेतन रूप-भेदव्यवहार ,,
६३३—परमार्थदृष्टि, और चेतनव्यवहार की व्यापकता ,,
६३४—ज्ञान-क्रिया-अर्थ-त्रयी की सर्वव्यापकता, एवं तदनुबन्धी व्यापक चिदात्मा ,,
६३५—'चेतनत्त्व' की सर्वव्याप्ति ,,
६३६—नित्यसिद्ध चैतन्यवाद, और दृषत्, तथा उपल का चेतनत्त्व-समन्वय ,,
६३७--दृषत् और उपल का संज्ञात्मक-चेतनत्त्व--सम्बन्ध ,,
६३८—पाषाणमय-दृषदुपलयुग्म, और ध्रुवभावा-नुगता पृथिवी ,,
६३९—कृष्णमृगचर्म्म, और पृथिवी की त्वचा ,,
६४०—'अदित्यास्त्वक्-वेत्तु' का समन्वय ,,
६४१—प्राक्प्रवणावेदि, और यज्ञ-सम्पत्ति ,,
६४२—द्युलोकरूपा स्कम्भनी ,,

६४३–'दिवस्कम्भनीरसि' का समन्वय ६५८
६४४–द्यावापृथिवी रूपा घट्टिका (चक्की), और और पेषणव्यापार ,,
६४५–वायु:सञ्चार, और पेषणकर्म्म ,,
६४६–वैध--यज्ञ की पुरुषरूपता ,,
६४७–दृषदुपलद्वयी, और यज्ञपुरुष के हनू ,,
६४८–शम्या, और यज्ञपुरुष की जिह्वा ,,
६४९–'जिह्वया हि वदति' का समन्वय ,,
६५०–हिंसाकर्म्म, और यज्ञेति-कर्त्तव्यता ,,
६५१–प्राणवियोगात्मक हिंसाकर्म्म की तात्त्विकी स्वरूप-परिभाषा ६५९
६५२–प्राणतत्त्व की समष्टि-व्यष्टिरूपा-व्यापकता ,,
६५३–पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु-रसत्रयी से समुत्पन्न पदार्थ ६६०
६५४–पदार्थों की स्वरूपप्रतिष्ठा का पारिभाषिक-समन्वय ६६०
६५५–पार्थिवप्राण, और अपानतत्त्व ,,
६५६–आन्तरिक्ष्यप्राण, और व्यानतत्त्व ,,
६५७–दिव्यप्राण, और प्राणतत्त्व ,,
६५८–अपान, और समान ,,
६५९–प्राण, और उदान ,,
६६०–स्थिरभावापन्न व्यानप्राण ,,
६६१–व्यान का पारिभाषिक स्वरूप, और औपनिषदवचन ,,
६६२–'प्राणाय त्वा' इत्यादि मन्त्र से अनुप्राणित पञ्च प्राणात्मिका स्थिति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं प्रक्रान्त ब्राह्मणोपराम ,,

## इति–प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

## इति–प्रथमप्रपाठके–पञ्चमं ब्राह्मणम्

## इति--उपवेषम्पादनं, अग्नौ कपालोपधानेन हविः परिपाकंच

## १०

श्रीः

# अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये-द्वितीयं ब्राह्मणम् प्रथमप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्

## ११-"पिष्टेनोदकामिश्रितेन-पुरोडाशसम्पादनम्"

नामक

## क्रमप्राप्त ११ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'

(पृष्ठसं० ६६१ से ७०३ पर्य्यन्त)


१-प्रथमकाण्डान्तर्गत-द्वितीयाध्यायानुगत-द्वितीय ब्राह्मण, तथा प्रथमप्रपाठकानुगत-षष्ठ-ब्राह्मण (मूल) ६६१
२-मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमन्वयात्मक-अनुवाद ६६३
३-विज्ञानभाष्योपक्रम ६६६
४-आहुतिप्रदानार्थ पुरोडाश का सम्पादन ,,
५-हविर्द्रव्य का पेषण ,,
६-पिष्टद्रव्य में आज्यनिर्वाप ,,
७-आहुतियोग्य-पुरोडाश ,,
८-याज्याकर्म्माधिष्ठाता अध्वर्य्यु के द्वारा 'संवापकर्म्म' का सम्पादन ,,
९-सत्यसंहितदेवता से विभिन्नधर्म्मा अनृत-संहित-मानव ,,
१०-'देवस्य त्वा सवितुः' मूला सत्यान्विता देवभावना, और संवापकर्म्म, ६६९
११-सजातीय, और 'बन्धुभाव' ६७०
१२-सगोत्र, और सजातीय ,,
१३-शुक्रस्थ चान्द्रसोम ,,
१४-रेतः-श्रद्धा-यशः रूप त्रिविध-चान्द्रतत्त्व ,,
१५-गोत्रसूत्रप्रवर्त्तक-चान्द्र-श्रद्धानसूत्र ,,
१६-आशौचप्रतिष्ठात्मक श्रद्धानसूत्र ,,
१७-श्रद्धाबन्धनानुगत 'बन्धुभाव' ,,
१८-'बन्धु'-और-'सम्बन्धी' ,,
१९-'देवस्य त्वा' इत्यादि मन्त्रार्थसमन्वय ,,
२०-विप्रकृष्टार्थसूचक-'असौ' शब्द ,,

२१-(क)-'समाप श्रोषधीभिः' मन्त्रद्वारा पिष्टद्रव्य में उपसर्जनी ( एतन्नामक अप् ) का समावेश ६७०
२१-यज्ञानुगत कर्म्मभेद से अनुप्राणित विभिन्न जल ,,
२२-प्रोक्षणी आपः ,,
२३-मदयन्ती आपः ,,
२४-स्रवन्ती आपः ,,
२५-उपसर्जनी आपः ,,
२६-रसात्मक अप्तत्त्व का समावेश, एवं ओषधियोंका ऊर्ध्व प्ररोहण ,,
२७-यव के धान ( जौ की धानी ), और अप् का सङ्गमन ,,
२८-अग्नि की अन्तर्य्यामसम्बन्ध से प्रतिष्ठा का कारण सलिलतत्त्व ,,
२९-अग्नि की अन्नरूपता ,,
३०-अङ्गिरा, और अप्तत्त्व ,,
३१-भृगु, और अप्तत्त्व ,,
३२-'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्' ,,
३३-अङ्गिरा की प्रतिष्ठा भृगुतत्त्व ,,
३४-भृगु की प्रतिष्ठा अङ्गिरातत्त्व ,,
३५-अग्नि की प्रतिष्ठा के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित-'अप्तत्त्व' ,,
३६-उदाहरण के द्वारा वस्तुस्थितिका समन्वय ,,
३७-अप् के द्वारा जाठराग्नि की स्वरूपरक्षा ,,
३८-भूपिण्डस्थ पानी का अङ्गिरा के द्वारा अन्तरिक्ष में ( ऊर्ध्व ) प्ररोहण ६७१
३९-(क)-अन्तिरक्षे गत पानी की वायुधरातल पर प्रतिष्ठा ,,
३९-(ख)-ग्रीष्मर्त्तु, और जलमात्रा का ऊर्ध्व प्ररोहण ,,
४०-ग्रीष्मऋतु, और प्रखरतमा सौररश्मियाँ ,,
४१-इन्द्रियोत्तेजक अप्-स्पर्श ,,
४२-प्राणाग्नि का अप् के द्वारा प्रज्ज्वलन, और आचमन ६७१
४३-भौतिक जगत् के आधार पर वस्तुस्थिति का स्वरूप-समन्वय ,,
४४-सौर तेज, और भूगर्भस्थ अग्नि के स्वरूप की आधारभूमि अप्तत्त्व ,,
४५-अन्नवान् की अन्नरूपता का समन्वय ,,
४६-पुरोडाशानुगत-अपणकर्म्म ,,
४७-अपणकर्म्मानुगत अग्नि की स्वरूप-प्रतिष्ठा के लिए अपेक्षित 'उपसर्जनी' आपः का संगमन ,,
४८-'उपसर्जनी' कर्म्मानुगत यजुर्म्मन्त्र-तात्पर्य्यार्थ-समन्वय ,,
४९-अप्तत्त्वानुबन्धी रस-रेवती-मधुमती-शब्दों का संस्मरण ,,
५०-वस्तु की स्वरूपस्थिति के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित रस, और शुक्र-नाम की तत्त्वद्वयी ,,
५१-(क)-तरलावस्थात्मक-रसतत्त्व ,,
५१-(ख)-घनावस्थात्मक-शुक्रतत्त्व ,,
५२-सोमप्रधान रसतत्त्व ,,
५३-अग्निप्रधान शुक्रतत्त्व ,,
५४-योषाप्राणात्मक रसतत्त्व ,,
५५-वृषाप्राणात्मक-शुक्रतत्त्व ,,
५६-योषावृषात्मक-रस-शुक्र-का मिथुनभाव, और मैथुनीसृष्टि ,,
५७-प्रतिवस्तु-अनुगत आत्मभाव, और पिण्डभाव ,,
५८-पिण्डसञ्चालक-आत्मभाव ६७२
५९-आत्मायतनरूप पिण्डभाव ,,
६०-रसानुबन्धी आत्मभाव ,,
६१-शुक्रानुबन्धी-पिण्डभाव ,,
६२-रसतत्त्व, और अनस्थातत्त्व ,,
६३-शुक्रतत्त्व, और अस्थिमान्तत्त्व ,,

६४–'अस्थन्वन्तं-यदनस्था बिभर्त्ति' मन्त्रार्थ का समन्वय ६७२
६५–'यावानुवै रसस्तावानात्मा' ''
६६–रस, और पारिभाषिक 'आज्य', ''
६७–शुक्र, और पारिभाषिक 'पृष्ठ' ''
६८–रसशुक्रात्मक-आज्यपृष्ठ के द्वारा वस्तु-स्वरूप का उदय ''
६९–ओषधिभुक्ता तत्त्वद्वयी ''
७०–ओषधिशुक्ररूप अग्नि ''
७१–ओषधिरसरूप आप: ''
७२–'आपो ह्येतासां रसः' का तात्त्विक-समन्वय
७३–'आपो ह्येतासामात्मा' श्रुति का अर्थ-समन्वय ''
७४–ईश्वरशरीरसंस्था के सुप्रसिद्ध पाँच पर्वों का संस्मरण ''
७५–पञ्चपर्वात्मक विश्व, और पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्या वल्शा ''
७६–पञ्चविध स्वतन्त्र-प्रजापति-विवर्त्त ''
७७–आदिप्रजापति, और 'आभूप्रजापति' का अभेद ''
७९–प्रजापति की-'आत्मा-पदं-पुन:पदम्'-रूप तीन संस्थाएँ ''
८०-वस्तुकेन्द्र, और आत्मा ''
८१–वस्तुपिण्ड, और पदम् ''
८२–वस्तुमण्डल, और पुनःपदम् ''
८३–मण्डलानुगत महिमा, और विभूति-शब्द
८४–पुन:पद की आधारभूमि का संस्मरण ''
८५–अनिरुक्तप्रजापति की सर्वव्याप्ति, और तन्निबन्धन-'सर्वप्रजापति' ६७३
८६–हृदयावच्छिन्न अणोरणीयान् प्रजापति ''
८७–पुन:पदावच्छिन्न महतोमहीयान्-प्रजापति ''
८८–पुन:पद, और वषट्कार ''
८९–ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिघन--मनः--प्राण-वाग्-घन-चिदात्मा ''
९०–प्रत्यक्षपृष्ट भूतभाव, और 'अर्थ' ६७३
९१–'अर्थ', और 'पदार्थ' का पारिभाषिक-समन्वय ''
९२–निरिन्द्रियभावापन्न जड़पदार्थ ''
९३–सेन्द्रियभावापन्न चेतनपदार्थ ''
९४–'क्रिया' तत्त्व की सर्वव्याप्ति ''
९५–नास्ति-अस्ति-नास्ति-भावापन्न क्रियातत्त्व
९६–क्रियातत्त्व का आधार-निष्क्रिय-तत्त्व ''
९७–अव्ययात्मक-ज्ञानशक्तिघन-मन ''
९८–अक्षरात्मक-क्रियाशक्तिघन-प्राण ''
९९–क्षरात्मिका-अर्थशक्तिघना-वाक् ''
१००–मन:प्राणवाङ्मय प्रजापति की अभिव्यक्ति
१०१–अभिव्यक्ति, और पदार्थ का व्यक्तीभाव ''
१०२–प्रति व्यक्ति की प्रजापतिरूपता ''
१०३–प्रजापति की साक्षीरूपता ''
१०४–अक्षरप्रधान देवता, और सृष्टिकर्म्म ''
१०५–देवेभ्यश्च जगत्सर्वम् ''
१०६–सृष्ट्यधिष्ठात्री देवत्रयी ''
१०७–ज्ञानप्रधान ब्रह्मतत्त्व ''
१०८–क्रियाप्रधान इन्द्रतत्त्व ''
१०९–अर्थप्रधान-विष्णुतत्त्व ''
११०–क्रिया, तथा भूतसङ्घ, एवं ज्ञानात्मिका प्रतिष्ठा ''
१११–ज्ञानाधारेण प्रतिष्ठित क्रिया, और अर्थतन्त्र ६७४
११२–'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' का समन्वय ''
११३–गतितत्त्व की इन्द्ररूपता ''
११४–बलकृति, और ऐन्द्रधर्म्म ''
११५–सदागतिधर्म्मा वायु, और इन्द्र ''
११६–इन्द्र, और वायु की अभिन्नता ''
११७–वाङ्मय कोशात्मक पाञ्चभौतिक शरीर ''
११८–वाक्चिति के द्वारा पञ्चमहाभूतों की स्वरूप-निष्पत्ति ''
११९–अन्नब्रह्म, और वाग्ब्रह्म की अभिन्नता ''
१२०–अन्न, और अप्तत्त्व के द्वारा पाञ्चभौतिक-शरीर का सन्तर्पण ''

१२१–'अथैव विन्वन्ति' का समन्वय ६७४
१२२–सूर्य्य–चन्द्र-अग्नि–वाक्–संस्कार–भेदेन पञ्चधा विभक्त पञ्चज्योतिर्विवर्त्त का संस्मरण "
१२३–पञ्चविध भूतान्न, और आहुतिरूप हविर्द्रव्य "
१२४–हवि, और हविर्द्धानरूप अन्नकोश "
१२५–विष्णुदेवता, और हविर्द्धान "
१२६–अन्नात्मिका अर्थशक्ति, और विष्णु "
१२७–एका मूर्त्तिः, और त्रयो देवाः ६७५
१२८–इन्द्र, और विष्णु की प्रतिस्पर्द्धा "
१२९–प्रतिस्पर्द्धा से समुत्पन्न-'वषट्कार' "
१३०–रहस्यार्थिका मन्त्रश्रुति "
१३१–मन्त्रश्रुत्यनुगामिनी ब्राह्मणश्रुति "
१३२–ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र की उत्क्रान्ति, और त्रिविध साहस्रियों का जन्म "
१३३–प्राणमय ब्रह्मा, और वेदसाहस्री "
१३४–आपोमय विष्णु, और लोकसाहस्री "
१३५–वाङ्मय-इन्द्र, और वाक्साहस्री "
१३६–वेदसृष्ट्यधिष्ठाता प्राणमय ब्रह्मा "
१३७–लोकसृष्ट्यधिष्ठाता आपोमय विष्णु "
१३८–प्रजासृष्ट्यधिष्ठाता वाङ्मय इन्द्र "
१३९–प्राकृतिक-तत्त्वत्रयी "
१४०–पञ्चकलोपेता क्षरप्रकृति "
१४१–साहस्रीत्रयी, और वाक् की सर्वव्याप्ति "
१४२–पुरुषवाक् का वितान, और साहस्री "
१४३–साहस्री, और महिमा "
१४४–महिमा, और वषट्कार "
१४५–वाग्वा एषा निदानेन, यत् साहस्री "
१४६–तस्या एतत् सहस्रं वाचः प्रजातम् "
१४७–वाग्वा अस्य स्वो महिमा "
१४८–शब्द, और अर्थ की अभिन्नता का संस्मरण "
१४९–असङ्ग-ससङ्गासङ्ग-ससङ्ग-रूपेण शब्द-सृष्टि के त्रिविध महिमा-विवर्त्त "
१५०–अकारात्मिका असङ्गा शब्दसृष्टि "
१५१–उकारात्मिका ससङ्गासङ्गा शब्दसृष्टि ६७५
१५२–मकारात्मिका ससङ्गा शब्दसृष्टि "
१५३–'कादयो मावसानाः स्पर्शाः, और मकार की आत्यन्तिकी स्पर्शरूपता "
१५४–नासिकास्थान का संग्रह, और मकार "
१५५–आत्मसृष्टि के त्रिविध-महिमामय-विवर्त्त ६७६
१५६–ज्ञानमय मन, और तद्रूपा असङ्गा अर्थसृष्टि "
१५७–क्रियामय प्राण, और तद्रूपा ससङ्गासङ्गा-अर्थसृष्टि "
१५८–अर्थमयी वाक्, और तद्रूपा ससङ्गा अर्थसृष्टि "
१५९–अकार-उकार-मकार-अक्षरत्रयी का साङ्केतिक-पारिभाषिक-समन्वय "
१६०–'ओम्', और आत्मप्रजापति "
१६१–अर्थ, और ज्ञान की पङ्गु रूपता "
१६२–सृष्टिकर्तृत्व-धर्म्म से अनुगत सक्रिय-प्राणतत्त्व "
१६३–प्राण, और उकार "
१६४–प्राण का प्राधान्य, और उ-अ-अच्रूपा वस्तुस्थिति "
१६५–उ-अ-अच्-और 'वाक्' "
१६६–माहेश्वरी सृष्टि का संस्मरण "
१६७–उ-अ-म्, और 'वम्' "
१६८–'वम्-शङ्कर', और बंशङ्कर "
१६९–वाक्तत्त्व की महिमामण्डल के रूप में परिणति "
१७०–प्राणः-आपः-वाक्-नाम की तत्त्वत्रयी का वीरण "
१७१–वीरणधर्म्म के माध्यम से वेद-लोक-वाक्-साहस्री-त्रयी का महिमामय-वितान "
१७२–ऐन्द्रीवाक् की वषट्काररूप में परिणति ६७७
१७३–इन्द्र, और वौषट् "
१७४–अ-उ-अ-अच्, और वौक् "

१७५–मनःप्राणगर्भिता वाक्-वौक् ६७७
१७६–वौषट्कार, वौषट्, और वषट् ,,
१७७–उक्थरूप मनस्तत्र ,,
१७८–अर्करूप-प्राणतन्त्र ,,
१७९–अशीतिरूप-वाक्तन्त्र ,,
१८०–प्राण की गतिरूपता ,,
१८१–'एकविधा', और 'द्वितीया विधा' ,,
१८२–प्राणात्मक गतितत्त्व, और गौ ,,
१८३–गौतत्त्वनिबन्धन अभिप्लवस्तोम ,,
१८४–पृष्ठ्यस्तोम का संस्मरण ,,

## ❀अभिप्लव-स्वरूप-दिग्दर्शन❀

१८५–अभि-प्लवन, और सम्मुख प्रवहण ६७७
१८६–'अभिप्लव' शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय ,,
१८७–प्राणात्मक द्रुत रस, और अभिप्लव ,,
१८८–सप्तावयवा मर्त्या चिति, और सप्तपुरुष-पुरुषात्मक-पुरुष ,,
१८९–सप्तमर्त्य भाग का ऊर्ध्वप्रतिष्ठित 'श्री'भाग ,,
१९०–'श्री', और अमृत ,,
१९१–'चत्वार आत्मा' का पारिभाषिक समन्वय ,,
१९२–त्रिकास्थिगत स्थिरप्राण, और पुच्छ-प्रतिष्ठा ,,
१९३–पिप्पल-पत्र, और तन्निबन्धना सप्तचिति ,,
१९४–ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा ,,
१९५–शरीरानुगत प्रतिष्ठाप्राण, और शरीर-यष्टि का संतनन ,,
१९६–दशमी अवस्था, और प्रतिष्ठाप्राण का शैथिल्य ,,
१९७–अमृतप्राणानुबन्धी शिरोभाग ६७८
१९८–श्रीः-रसः-शिरः ,,
१९९–श्रीः, और अभिप्लव ,,
२००–चयनश्रुति का संस्मरण ,,
२०१–इमे वै लोका अभिप्लवाः ,,
२०२–आतिवाहकरूप प्लव ,,
२०३–प्लव, और अभिप्लव ६७८
२०४–सौर प्राणानुबन्धी ३६००० अभिप्लव ,,
२०५–ज्योतिर्गौरायुर्घन सूर्यनारायण ,,
२०६–बृहती मध्यूढस्तपति ,,
२०७–सप्त देवच्छन्द, और अक्षरपरिगणन ,,
२०८–इन्द्रात्मक-सौर बृहतीप्राण ,,
२०९–षट्त्रिंशत् बृहतीसहस्र ,,
२१०–आयुःसूत्रों का परिगणन ,,
२११–शतायुः पुरुष, और बृहतीप्राण ,,
२१२–महर्षि ताण्ड्य, और ऐतरय ,,
२१३–सम्वत्सर, और श्रीः रूप अभिप्लव ,,
२१४–'बृहती हि सम्वत्सरः' ,,
२१५–'श्री वैं यशच्छन्दसां बृहती' ,,
२१६–श्रियां प्रतिष्ठायां तपति ,,
२१७–भगवान् याज्ञवल्क्य के शब्दों में बृहती का स्वरूप-समन्वय ,,
२१८–सौर बार्हत प्राण का पार्थिवमण्डल के साथ सम्बन्ध ,,
२१९–षट्त्रिंशदक्षरा बृहती ६७९
२२०–जीवाह्वा जीवाक्षरम् ,,
२२१–श्रीरूप अभिप्लव का अधिष्ठाता ,,
२२२–बृहतीविज्ञान का संस्मरण ,,
२२३–बार्हतप्राण का सम्बन्ध ,,
२२४–सौर-मनोतात्रयी ,,
२२५–पार्थिव-आभिप्लविकस्तोम, और षडह ,,

## ❀ पृष्ठ्यस्वरूप-दिग्दर्शन ❀

२२६–प्राणात्मक रस का रश्मिवत् प्रसार, और अभिप्लवस्तोम ,,
२२७–प्राणात्मक रस का मण्डलवत् प्रसार, और पृष्ठ्यस्तोम ,,
२२८–साममण्डलानुगता साहस्री, और पृष्ठ्य-स्तोम ,,
२२९–एतानि खलु वै सामानि, यत् पृष्ठानि ,,

२३०-श्रीवैं पृष्ठानि ६७६
२३१--पृष्ठ्यस्तोम के आधार पर पार्थिव देवताओं का स्वर्लोकगमन ६८०
२३२--वाङ्मय प्राण की गौरूपता ,,
२३३-३० अंशात्मिका राशि ,,
२३४--राशिरूप अहर्गण ,,
२३५--एकसहस्र गौतत्त्व, और ३३ अहर्गण ,,
२३६--१० गौसमष्टि, और प्रजापति ,,
२३७--चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः ,,
२३८--पिण्डहृदयस्था अहर्गणत्रयी ,,
२३९--हृद्याक्षरत्रयी, और अहर्गणत्रयी ,,
२४०--त्रिवृत्-पञ्चदशादि-स्तोमों की स्वरूप-निष्पत्ति ,,
२४१--महिमामण्डल की प्रतिष्ठा, और सप्तदश अहर्गण ६८०
२४२--सप्तदशो वै प्रजापतिः ,,
२४३--अनिरुक्तप्रजापति ,,
२४४--सर्वप्रजापति ,,
२४५--उद्गीथप्रजापति ,,
२४६--उच्च-गीश्च-थंच, और उद्गीथ ,,
२४७--पृष्ठ्यस्तोम की षडहरूपता ,,
२४८--स्तोमसमष्टिरूप-वषट्कार ,,
२४९--वषट्कारस्वरूपेतिवृत्तविराम ,,
२५०--वषट्कारानुगत स्तोमों का युग्म, और अयुग्म-स्वरूप ,,
२५१--पार्थिवपिण्ड से विनिर्गत शुक्रतत्त्व ,,
२५२--वाक्-आपः-अग्नि-रूपा शुक्रत्रयी ,,
२५३--वेदात्मक-वाक्शुक्र ६८१
२५४--सोमात्मक-आपःशुक्र ,,
२५५--भूपिण्डानुगत-अग्निपृष्ठ ,,
२५६--भूपिण्डानुगत सोमपृष्ठ ,,
२५७--भूपिण्डानुगत वेदपृष्ठ ,,
२५८--सुप्रसिद्ध पाँच पुर, और विश्व ,,
२५९--पाँचों पुरों का दहरोत्तरसम्बन्ध ,,
२६०--पञ्चपर्वात्मक विश्व की प्राकृतता ६८१
२६१--षोडशीप्रजापतिरूप पुरुष ,,
२६२--प्रकृतिपञ्चक का आलम्बन पुरुष ,,
२६३--अमृत-मृत्यु-निबन्धन-षड्विध शुक्रविवर्त्त ,,
२६४--पुरुष, और प्रकृति का समन्वय, एवं तन्मूलक-प्रजासर्ग ,,
२६५--अमृत-ब्रह्म-शुक्र-त्रयी ,,
२६६--पुरुष-प्रकृति-विकृति-त्रयी ,,
२६७--शुक्रदृष्टि, और प्रजापति की विश्वरूपता ,,
२६८--ब्रह्मदृष्टि, और प्रजापति का विश्वकर्तृत्त्व ,,
२६९--अमृतदृष्टि, और प्रजापति का विश्वालम्बनत्त्व ,,
२७०--मनः-प्राण-वाङ्मय पुरुष की विश्वालम्बनता ,,
२७१--सृष्टिसाक्षी-पुरुष ,,
२७२--वाङ्मय-आपोमय-प्राणवाङ्मय-मनःप्राण-वाङ्मय-व्यवहारों की विभिन्नता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
२७३--अमृतात्मा की पूर्णविकासभूमि चितिधर्म्मावच्छिन्न सूर्य्य ,,
२७४--सौरचितिमूलक चिदात्मव्यवहार ,,
२७५--'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' ,,
२७६--'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः' ,,
२७७--वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता ,,
२७८--अथो वोगवेदं सर्वम् ,,
२७९--षड्विध शुक्रों का विश्वपर्वों में क्रमिक विभाजन ,,
२८०--वाक्तत्त्व की वेदाग्निरूपता ,,
२८१--सत्याग्निरूप-सार्वयाजुषाग्नि ६८२
२८२--प्राणाग्निरूप-ब्रह्माग्नि ,,
२८३--अप्तत्त्व, और ऋताग्नि ,,
२८४--ऋताग्नि की सुब्रह्माग्निरूपता ,,
२८५--देवाग्नि का संस्मरण ,,
२८६--मर्त्य वाक्तत्त्व, और भूतानि ,,

२८७--अमृत-मर्त्य-शुक्रषटक् के विभाजक सूर्य्य-नारायण ६८३
२८८--'निवेशयन्नमृतं, मर्त्यञ्च ,,
२८९--आत्मा, पिण्ड, देवता, प्रकृति, विकृति, भूत-भेदनिबन्धन-विश्वपर्वों के नाम भेद ,,
२९०--अभिप्लव--पृष्ठ-वाक्--शुक्र--ब्रह्म--आदि शब्दों के विभिन्नार्थों से अनुप्राणित विरोधाभास ,,
२९१--तालिका के माध्यम से विभिन्न नाम-व्यवहार-समन्वय ,,
२९२--दहरोत्तरानुगत विश्वपर्व ,,
२९३--स्वयम्भू का प्राणमयत्व ,,
२९४--परमेष्ठी का प्राणमयत्व, और आपोमयत्व ,,
२९५--सूर्य्य का प्राण-आप:-वाङ्मयत्व ,,
२९६--चन्द्रमा का प्राण-आप:-वाक्-अन्नमयत्व ,,
२९७--भूपिण्ड का प्राण-आप:-वाक्-अन्न-अन्नादमयत्व ६८४
२९८--शुक्रापेक्षया स्वयम्भू का वाङ्मयत्व ,,
२९९--परमेष्ठी का वाक्-आपोमयत्व ,,
३००--सूर्य्य का वाक्-अग्निमयत्व ,,
३०१--अग्नि-अप्-वाक्-पृष्ठत्रयी का स्वरूप समन्वय ,,
३०२--यज्ञपृष्ठ-ब्रह्मपृष्ठ-पारावतपृष्ठ-त्रयी ,,
३०३--अमृतानि शुक्राणि त्रीणि ,,
३०४--मर्त्यानि शुक्राणि त्रीणि ,,
३०५--सर्वान्तिभूता पृथिवी ,,
३०६--द्यावापृथिव्य-श्यैत-नौधस ,,
३०७--अग्निरहस्यानुगता विज्ञेया तत्त्वत्रयी ,,
३०८--आवपन-अन्नाद-अन्न-त्रयी ,,
३०९--एकत: आधारभूमि, और आयतन ,,
३१०--सर्वत: आधारभूमि, और आवपन ,,
३११--तद्ब्रह्मायतनं-महत् ,,
३१२--मनो वा आयतनम् ६८५
३१३--आधार, और आयतन ६८५
३१४--वसुधानकोश, और आवपन ,,
३१५--उख्यापृथिवी, और आवपन ,,
३१६--अयं वै लोक आवपनं महत् ,,
३१७--आवपनात्मक खं ब्रह्म ,,
३१८--अन्नादब्रह्म की स्वरूपमीमांसा ,,
३१९--मुख्य आत्मा, और अन्नाद ,,
३२०--अन्नादाग्नि के तीन विवर्त्त ,,
३२१--खं ब्रह्म, और आवपन ब्रह्म ,,
३२२--कं ब्रह्म, और अन्नादब्रह्म ,,
३२३--रं ब्रह्म, और अन्नब्रह्म ,,
३२४--समष्टि, और 'शंब्रह्म' ,,
३२५--समष्टि, और 'सर्वम्' ,,
३२६--आकाश, और शुन-इन्द्र ,,
३२७--इन्द्रप्राण, और आकाश ,,
३२८--'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्' ,,
३२९--सांख्यानुगता भ्रान्ति ,,
३३०--तत्त्वचतुष्टयी का दिग्दर्शन ,,
३३१--आकाशतत्त्वानुगता महती-भ्रान्ति ,,
३३२--भारतीय-पञ्चतत्त्ववाद ,,
३३३--भारूप-आकाशात्मा ,,
३३४--वाक्तत्त्व की आकाशरूपता ६८६
३३४--अब्रूप अन्न से उभयत: परिगृहीत अग्नितत्त्व ,,
३३५--अग्नित्रयी, और पारमेष्ठ्याय: ,,
३३६--परिलेख के द्वारा परमाकाश-अन्नब्रह्म-अन्नादब्रह्म-अन्नब्रह्म-पुराणाकाश-पञ्चक का समन्वय ,,
३३७--हृदय और चान्द्र मन ,,
३३८--वाक्-प्राण चक्षु-रूपा-अग्नित्रयी ,,
३३९--अध्यात्म, और अधिदैवत का सम-समतुलन ,,
३४०--परिलेख के द्वारा अध्यात्म का समन्वय ६८७
३४१--मानवानुगता द्यावापृथिवी ,,

३४२–भूः, और पृथिवी ६८७
३४३–मर्त्य भूपिण्ड, एवं अमृता पृथिवी ,,
३४४–पार्थिव-स्तौम्यत्रैलोक्य, और महिमा-पृथिवी ,,
३४५–'तिस्रो वा इमाः पृथिव्यः' का तात्त्विक-समन्वय ,,
३४६–यज्ञस्वरूप-समन्वय ,,
३४७–पारमेष्ठ्य सोम की आहुति, और यज्ञ ,,
३४८–अग्निपृष्ठात्मक-यज्ञपृष्ठ ,,
३४९–यज्ञमण्डल में प्रतिष्ठित यज्ञियदेवता ,,
३५०–मनोर्देवा यज्ञियासः ,,
३५१–२२ पर्य्यन्त व्याप्त यज्ञाग्नि ,,
२५२–अग्निवितानात्मक रथन्तरसाम ,,
३५३–एकविंशो वै स्वर्गो लोकः ,,
३५४–स्वरद्देवाः सूर्य्यः ,,
३५५–असौ वा आदित्यो एष रथः ,,
३५६–असौ वा आदित्यो देवमधु ,,
३५७–रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते ,,
३५८–अग्निरसत्रयी, और रथन्तरसाम ,,
३५९–अग्नि की रसावस्था, और श्रुति ,,
३६०–अग्नि की रसरूपता ,,
३६१–वायु की रसतररूपता ,,
३६२–आदित्य की रसतमरूपता, और रथन्तर-साम ,,
३६३–लोहितपृष्ठात्मक अग्निपृष्ठ ,,
३६४–सप्तवर्णात्मक पृष्णिभाव ,,
३६५–द्वितीय अप्पृष्ठ, और अर्णवसमुद्र ६८८
३६६–सागराम्बरा पृथिवी ,,
३६७–अप्तत्त्वानुगत गौतत्त्व ,,
३६८–स हैष सोमोऽजस्रो यद्गौः ,,
३६९–विष्णुदेवतामय गौतत्त्व, और मन्त्र-श्रुति ,,
३७०–विराजो वा एतद्रूपं, यद्गौः ,,
३७१–विराट्, और आपोमय पार्थिव साम का वैरूपत्त्व ,,
३७२–यद्वै रथन्तरं, तद्वै रूपम् ६८९
३७३–तृतीय वाक्पृष्ठात्मक नेदपृष्ठ ,,
३७४–समाप्ति-भाव और शक्वरी ,,
३७५–तच्छक्वरीणां-शक्वरीत्त्वम् ,,
३७६–लोहित रथन्तरसाम ,,
३७७–कृष्ण-वैरुपसाम ,,
३७८–शुक्ल-शाक्वरसाम ,,
६७९–मर्त्य-शुक्रत्रयी का स्वरूपदिग्दर्शन ,,
३८०–अग्निस्तर का स्वरूप-परिचय ,,
३८१–कृष्णस्तरात्मक-आपःस्तर ,,
३८२–भस्मात्मक-वाक्स्तर ,,
३८३–वाक्स्तरात्मक-विभूतिस्तर ,,
३८४–प्रतिवस्तु में भुक्ता स्तरत्रयी ,,
३८५–भूपिण्ड, और भूमहिमा ,,
३८६–भूमहिमा, और मही ,,
३८७ पार्थिवसंस्था-स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
३८८–सौरमण्डलानुगत-सावित्राग्नि ,,
३८९–सौर-आपः पृष्ठ ,,
३९०–सौर-वाक् पृष्ठ ,,
३९१–स्वज्योतिर्म्मय पदार्थों की स्वरूपपरिभाषा ,,
३९२–स्वाती-नीलकण्ठ-पशुपति, चित्रा आदि की सूर्य्यरूपता ६९०
३९३–परज्योतिर्म्मय पदार्थों की स्वरूपपरिभाषा ,,
३९४–चन्द्रमा, और परज्योति ,,
३९५–रूपज्योतिर्म्मयी पृथिवी ,,
३९६–स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्य, और तन्निबन्धन बृहत्साम ,,
३९७–चान्द्र-राजनसाम ,,
३९८–यद्ध्रस्वं-तद्रथन्तरं, यद्दीर्घं-तद्बृहत् ,,
३९९–विष्वद्वृत्त, और बृहत्साम ,,
४००–बृहतीछन्द, और बृहत्साम ,,
४०१–पृथिवी का परिभ्रमण, और सूर्य्य का उदयास्तमन ,,

४०२--सूर्य्यानुगत स्थिरधर्म्म, एवं तन्निबन्धन श्रौत-स्मार्त्त-वचन ६६१
४०३--बृहतीछन्दोऽनुगत सूर्य्य ,,
४०४--सौर बृहत्साम, और बृहद्भाव ,,
४०५--सौर-बृहत्साम की महती व्याप्ति ६६२
४०६--सौराग्निसामात्मक-बृहत्साम ,,
४०७--सौर-आप:-सामात्मक-वैराजसाम ,,
४०८--सौर-वाक्-सामात्मक-रैवतसाम ,,
४०९--दृष्टि-स्थिति-सृष्टि-मूला सृष्टिविद्या ,,
४१०--सौरसंस्था, और तन्निबन्धन शुक्रषट्क ,,
४११--सौर-सामत्रयी ,,
४१२--पार्थिवसामत्रयी, और सौर सामत्रयी का पारस्परिक-अतिमानसम्बन्ध ६६३
४१३--यद्वै रथन्तरं, तद्वैरूपम् ,,
४१४--यद्बृहत्, तद्वै राजम् ,,
४१५--यद्रथन्तरं, तच्छाक्वरम् ,,
४१६--यद्बृहत्, तद्रैवतम् ,,
४१७--वैरूप, और बृहत् का अतिमान ,,
४१८--वैराज, और वैरूप का अतिमान ,,
४१९--शाक्वर, और रैवत का अतिमान ,,
४२०--अतिमान सम्बन्ध, और ऐतेरयश्रुति ,,
४२१--परिलेख के माध्यम से सामातिमान का स्वरूप स्पष्टीकरण ६६४-६५-६६ ,,
४२२--स्तोमानुगत युग्म, और अयुग्मभाव ६६७
४२३--युग्मस्तोम, और अयुग्मस्तोमों का पारिभाषिक-अक्षरसंख्यानिबन्धन-स्वरूप-समन्वय ,,
४२४--छन्दोमास्तोम का संस्मरण ,,
४२५--अस्तोमा वा एते-यच्छन्दोमाः ,,
४२६--रैवतसाम, और परमेष्ठी ,,
४२७--परमेष्ठी, और रेवती-आपः ,,
४२८--आप:, और रेवती ,,
४२९--रेवती आप:, और जागत्-ओषधियाँ ,,
४३०--पारमेष्ट्यलोक की पितृलोकता ,,
४३१--देवताओं का प्रथम ओषधिसोम ६६७
४३२--पारमेष्ठ्यलोक की पितृलोकता ,,
४३३--ओषधिलोको वै पितर: ,,
४३४--पारावतपृष्ठ, और जगतीछन्द ,,
४३५--ओषधि, और जगती ,,
४३६--संरेवतीर्जगतीभिः ,,
४३७--यज्ञोदर्क-संस्मरण
४३८--दैवात्मा, और स्वर्गावाप्ति ,,
४३९--ऋक्-यजुः-साम-तत्त्वत्रयी से सम्पन्न-यज्ञियदैवात्मा का स्तोमानुबन्धी पारिभाषिक-स्वरूप ६६८
४४०--मानुषात्मा में प्रतिष्ठित दैवात्मा ,,
४४१--त्रिणाचिकेतस्वर्गप्रापक दैवात्मा ,,
४४२--क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति ,,
४४३--यज्ञात्मा का मूलोपादान द्रव्य पुरोडाश ,,
४४४--पिष्टद्रव्य का दैवात्मप्रजननत्त्व ,,
४४५--अप्तत्त्वानुबन्धी-जाया-धारा-आप:-तत्त्वत्रयी ,,
४४६--वैकारिकी सृष्टि, और अप्तत्त्व ,,
४४७--अप् एव ससर्ज्जादौ ,,
४४८--अप्तत्त्व के द्वारा स्वयम्भू की अण्डरूप में परिणति ,,
४४९--अप् तत्त्व के जायाधर्म्म का दिग्दर्शन ,,
४५०-- ,, आप: धर्म्म का ,, ,,
४५१-- ,, धारा धर्म्म का ,, ,,
४५२--अप्तत्त्व की सर्वरूपता का समन्वय ,,
४५३--अप्तत्व के स्वरूपधर्म्मों का विश्लेषक गोपथब्राह्मण ,,
४५४--प्रजनन-भावप्राप्त्यर्थ पुरोडाश में अप् का सम्मिश्रण ,,
४५५--एवं वै तत् संयौति ,,
४५६--वस्तुस्वरूपसंसाधक आज्य, और पृष्ठ ,,
४५७--आत्मा, और-पुर ,,
४५८--प्रथमज अनस्थाभाव ,,

४५६--द्वितीयज-अस्थिमद्भाव ६६६
४६०--अनस्थाभाव, और आज्य ,,
४६१-अस्थिमद्भाव और पृष्ठ ,,
४६२-अर्द्धभावात्मक आज्यद्रव्य ,,
४६४--एवमु हैष आत्मा यज्ञस्य सन्धीयते ७००
४६५--पृथिवीलोक और दधिस्थान ,,
४६६-अन्तरिक्षलोक, और घृतस्थान ७००
४६७-द्युलोक, और मधुस्थान ,,
४६८-तेजो वै घृतम् ,,
४६९-वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि की घृतरूपता ,,
४७०-वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र की तैलरूपता ,,
४७१-आप्यप्राणात्मक वरुणदेवता ,,
४७२-अग्निस्वरूप का दमन, और घृत की अभिव्यक्ति ,,
४७३-घृतात्मक-वृष्टिजल, और तत्सम्बन्ध में मन्त्रश्रुति ,,
४७४-वृष्टिजल की घृतरूपता ,,
४७५-घृतरूपा आपोमयी वृष्टि, और लोककिंवदन्ती ,,
४७६-वर्षा, और तज्जनित ऊर्क्रस ,,
४७७-यावद्वित्तं, तावदात्मा ,,
४७८-वृष्टि, ऊर्क्रस, और तत्सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति ,,
४७९-आन्तरिक्ष्य घृतानुगता ऊष्मा, और वृष्टि ,,
४८०-पुनरुद्वासयति-ऊर्जेत्वा ,,
४८१-राजा-वाज-ग्रह-हवि-रूपा-सोमचतुष्टयी ,,
४८२-राजासोम, और राजसूय ,,
४८३-वाजसोम, और वाजपेय ,,
४८४-ग्रहसोम, और ग्रहयाग ७०१
४८५-हविःसोम, और हविर्याग ,,
४७६-ब्रह्मौदन, एवं प्रवर्ग्य-भेदभिन्न यज्ञ ,,
४८७-घर्म्मोऽसीति, यज्ञमेवैतत् करोति ,,
४८८-हविर्द्रव्य का कुट्टन-पेषण, और प्राणवियोगात्मिका हिंसा ७०१
४८९-पुरोडाश की निर्जीवता ,,
४९०-जीवं वै देवानां, हविरमृतममृतानाम् ,,
४९१-पुरोडाश में जीवनसत्ता का आधान ,,
४९२-भूमाभाव से अनुप्राणित अन्नरस ,,
४९३-ओषधि-अन्न का सीमाभाव ,,
४९४-पुरोडाशद्रव्य का आत्यन्तिक सीमाभाव ,,
४९५--अन्नरस की अल्पता में परिणति ,,
४९६-पुरोडाश में प्रथन के द्वारा भूमाभाव का संस्थापन ,,
४९७-उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम् ,,
४९ -भूमाभावानुगत सीमाबन्धन ,,
४९९-निःसीम भूमाभाव, और मृत्यु ,,
५००-विश्वातीत भूमाभाव ,,
५०१-विश्वानुगता अपेक्षिता भूमा ,,
५०२-अनृतसंहित मनुष्य के अनृतभावापन्न संकल्प ७०२
५०३-मानुषी-बुद्धि का दम्भ, और शास्त्रादेशों की उपेक्षा ,,
५०४-मानव की अस्मिता, और तद्द्वारा तद्विनाश ,,
५०५-सत्यसंहित आप्तपुरुष, और तद्वचनेषु प्रामाण्यबुद्धि ,,
५०६--शास्त्रीय आदेश, और गीतावचन ,,
५०७-प्रकृतस्थल, और शास्त्रीय-आदेश ,,
५०८-स्तौम्यत्रैलोक्य में व्याप्त विराट्पुरुष ,,
५०९-अदितिपृथिवी का संस्मरण ,,
५१०-सौर-पार्थिव-प्राण-समष्टि, और अश्वपशु ,,
५११-अश्वमूर्त्ति विराट्पुरुष ,,
५१२-त्रैलोक्यकामपूरक विराट्पुरुष ,,
५१३-त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः-रूप विराट् ,,

५१४–मानवीय-कामनाओं की इयत्ता, और अश्वशफात्मक परिमाण ७०२
५१५–अश्वशफमात्रा, और पुरोडाश का प्रथन ”
५१६–अश्वशफमात्रा के सम्बन्ध में भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा नीरक्षीरविवेक ”
५१७–आत्मानुकूल-प्रथनकर्म्म ७०३
५१८–प्रथनकर्म्म, और भूमाभाव की प्राप्ति ”
५१९–यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथु मन्येत, एवं कुर्य्यात् ”

## इति–प्रथमकाण्डे–द्वितीयाध्याये–द्वितीयं ब्राह्मणम्
## इति–प्रथमप्रपाठके–षष्ठं–ब्राह्मणम्
## प्रथमप्रपाठकश्चात्रोपरतः
## इति--पिष्टेनोदकमिश्रितेन--पुरोडाशसम्पादनम्
## ११

श्रीः

# अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-प्रथमकाण्डे
# द्वितीयाध्याये-तृतीयं ब्राह्मणम्
## ( द्वितीय-प्रपाठकश्चोपक्रान्तः )
## २
## द्वितीय-प्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्

## "पात्रीनिर्णेजनम्-पुरोडाशमीमांसया-समन्वितम्"

नामक

## क्रमप्राप्त १२ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की
## विषयस्मारकसूची
## ( पृष्ठ सं० ७०४ से ७६७ )


१-प्रथमकाण्डान्तर्गत--द्वितीयाध्यायानुगत--तृतीयब्राह्मण, तथा द्वितीय-प्रपाठकानुगत प्रथमब्राह्मण मूल) ७०४
२-मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमन्वयात्मक-अनुवाद ७०५
३-विज्ञानभाष्योपक्रम ७०८
४-पात्रीनिर्णेजनकर्म्म, और पुरोडाश ,,
५-पात्रीनिर्णेजनकर्म्मेतिकर्त्तव्यता ,,
६-अध्वर्य्युकृत निनयनकर्म्म ,,
७-यजमानकृत प्रतिनिनयनकर्म्म ,,
८-ओदनपरिपाकानुगत श्रपणाग्नि ( दक्षिणाग्नि ) ,,
९-यज्ञसंसाधिका पशुसम्पत्ति ,,
१०-पशु के मेधभाग की यज्ञियता ,,
११-मेधार्थ पशु का आलम्बन ७०९
१२-आलम्भनविज्ञान की स्वरूपदिशा,
१३-आप्त्या-दक्षिणा--आलम्भन--भेद-भिन्ना ,,
विज्ञानत्रयी, और प्रकृतब्राह्मण ,,
१४-'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' इत्यादि अनुगमश्रुति का संस्मरण ,,
१५-नियतार्थप्रतिपादक-निगमवचन ,,
१६-अन्वर्थार्थप्रतिपादक-अनुगमवचन ,,
१७-चतुर्विध अग्निदेव का संस्मरण ,,
१८-पुरुषाग्नि, प्रकृत्याग्नि, विराडग्नि, सम्वत्सराग्नि-भेदेन चतुर्द्धा विभक्त अग्नि ७१०
१९-ब्रह्माग्नि, सुब्रह्माग्नि, शुक्राग्नि, भूताग्नि, भेदेन चतुर्द्धा विभक्त अग्नि ,,

२०-आहुताग्नि, उद्धृताग्नि, प्रहृताग्नि, विहृताग्नि, भेदेन चतुर्द्धा विभक्त अग्नि ७१०
२१-अधिलोक-अधिदैव-अधियज्ञ-अधियाज्ञिक दैव-भेद से चतुसंस्थानानुगत अग्नि ७११
२२-अग्निचतुष्टयी से सम्पन्न पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-आपः-नामकी लोकचतुष्टयी ,,
२३-अधिलोकानुगता अग्निसम्पत्ति ७१२
२४-अधिदैवानुगता अग्निसम्पत्ति ,,
२५-अधियज्ञानुगता अग्निसम्पत्ति ,,
२६-अधियाज्ञिकदैवानुगता अग्निसम्पत्ति ,,
२७-शुक्राग्नि का प्राकृत-संस्मरण ७१३
२८-रसाग्नि का संस्मरण ,,
२९-आर्त्तवाग्नि का ,, ,,
२९-छन्दस्याग्नि का ,, ,,
३०-सावित्राग्नि का ,, ,,

* * °

## रसाग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

१

३१-दधि-घृत-मधु-रसत्रयात्मक-स्तौम्यत्रैलोक्ये व्यापक प्रथमाग्निरूप रसतम-रसाग्नि ७१३
३२-रसाग्नि-निबन्धना गायत्रसम्पत्ति ,,
३३-गायत्री के द्वारा सोमापहरण ,,
३४-रसाग्निरूप हव्यवाडग्नि ,,
३५-मानवीय वचन का समन्वय ,,
३६-'शेषे वनेषु मातृषु' इत्यादि मन्त्र का संस्मरण ,,
३७-प्राणदेवताओं का सम्बन्ध--विधाता-रसाग्नि ,,
३८-अग्निं दूतं वृणीमहे ,,
३९-उभयंऽएतदग्निर्देवातां-होता च, दूतश्च ,,
४०-सत्य का वैज्ञानिक लक्षण ,,
४१-सत्यलक्षणानुगत-सत्याग्नि ,,
४२-'अग्ने नय सुपथा राये' का संस्मरण ,,

* * *

## आर्त्तवाग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

२

४३-उत्तरदिगनुगत अग्नि का आर्त्तवत्त्व ७१४
४४-ओषधि-वनस्पति-परिपाक--कर्त्ता आर्त्त-वाग्नि ,,
४५-आर्त्तवाग्नि, और अपराग्नि ,,
४६-ऋतधर्म्मा आर्त्तवाग्नि ,,
४७-ऋत का स्वरूपलक्षण ,,
४८-ऋताग्नि, और ऋतसोम ,,
४९-अग्नि-सोम का उद्ग्राभ, निग्राभ ,,
५०-ऋतुमती, और प्रजोत्पत्ति ,,
५१-ऋताग्निसोम के द्वारा षड्ऋतु का स्वरूपाविर्भाव ,,
५२-ऋतुदेवताओं का संस्मरण ,,
५३-ऋतु की अवस्थात्रयी, और सवनत्रयी ,,
५४-पञ्चर्त्तु, और पञ्चप्रयाज ,,
५५-आर्त्तवाग्नि का स्वरूपेतिवृत्त ,,

* * *

## छन्दस्याग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

३

५६-वस्तुस्वरूपसमर्पक-आयतन ७१४
५७-आयतनरूप, वयोनाध ,,
५८-अन्नात्मक वय, और वयोनाध ,,
५९-वयोनाध, और छन्द ,,
६०-छन्दोऽग्निरूप वागग्नि ,,
६१-वागपरिमाणं छन्दः ,,
६२-अग्नेर्वागेवोपनिषत् ,,
६३-मा-प्रमा--प्रतिमा-अस्रीवि--नामकी-छन्दश्चतुष्टयी ,,
६४-पार्थिव-गायत्रीछन्द ,,
६५-आन्तरिक्ष्य-त्रिष्टुप् छन्द ,,
६६-दिव्य-जगतीछन्द ,,
६७-गायत्रीछन्दस्क आदित्य ,,

६८-त्रिष्टुपछन्दस्क-वायु ७१४
६९-जगतीछन्दस्क-आदित्य ,,
७०-आपोमय-आप्त्यादेवता ,,
७१-देवप्रतिष्ठारूपा छन्दश्चतुष्टयी ,,
७२-'अश्वो न देववाहनः' और छन्दस्याग्नि का स्वरूप-विराम ,,

* * *

## सावित्राग्निस्वरूपदिग्दर्शनम्

## ४

७३-सौर प्राणाग्निरूप सावित्राग्नि ७१५
७४-सूर्य्यकेन्द्राबद्ध सत्यतत्त्व ,,
७५-सौरदेवताओं के द्वारा सावित्राग्नि की आराधना ,,
७६-अग्निरूप-रसाग्नि ७१६
७७-वायुरूप-आर्त्तवाग्नि ,,
७८-आयतनरूप-छन्दस्याग्नि ,,
७९-रसाग्निरूप-भूपति-अग्नि ,,
८०-आर्त्तवाग्निरूप-भुवनपति अग्नि ,,
८१-छन्दस्याग्निरूप भूतनांपति-अग्नि ,,
८२-सुप्रसिद्ध-अग्निभ्रातरः ,,
८३-शुक्राग्नि-चतुष्टयी ,,
८४-गृह ति-रूप-प्रथम-अग्नि ,,
८५-प्रयाजरूप-द्वितीय-अग्नि ,,
८६-अनुयानरूप-तृतीय-अग्नि ,,
८७-सावित्राग्निरूप-चतुर्थ अग्नि ,,
८ -'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे-अग्निरास' का समन्वय ,,
८९-पार्थिव अग्नि का द्युपथ की ओर गमन, एवं मन्त्रश्रुति ,,
९०-सावित्राग्नि का भूपथ की ओर आगमन ,,
९१-सौर-सावित्राग्नि का सत्यधर्म्म ,,
९२-भूपिण्ड से प्रत्याहत सावित्राग्नि ,,
९३-सावित्राग्नि का अङ्गिरोऽग्नि से सम्परिष्वङ्ग ,,
९४-सहचरभावानुगत अङ्गिरोऽग्नि का हव्यवाहनत्त्व ७१६
९५-सौर-प्रतिफलित सावित्राग्नि की आदित्याग्निरूपता ,,
९६-अङ्गिरा, और आदित्य का स्वर्गगमन ७१७
९७-अङ्गिरा, और आदित्य की स्पर्द्धा ,,
९८-सावित्राग्निरूप आदित्याग्नि का स्पर्द्धा में विजय ,,
९९-स्पर्द्धारहस्य-प्रतिपादक कतिपय-श्रुतिवचनों का संस्मरण ,,
१००-आदित्याग्निरूप सम्वत्सराग्नि का एकविंशरूप स्वर्ग में गमन ,,
१०१-आदित्याग्नि में अङ्गिरा का समन्वय ,,
१०२-अङ्गिरा के द्वारा आदित्याग्नि में हविर्द्रव्य का समर्पण ७१८
१०३-'तान्-अङ्गिरसो याजयाञ्चक्रुः' ,,
१०४-देवमण्डल में हविःप्रापक एकमात्र दिव्य-आदित्याग्नि ,,
१०५-अश्वाग्निरूप सावित्राग्नि ,,
१०६-अश्व, और तत्स्वरूपसम्पादिका तत्त्वत्रयी ,,
१०७-'हव्यवाट्' रूप सावित्राग्नि ,,
१०८-सम्वत्सराग्नि में आहुति ,,
१०९-अङ्गिरोऽग्नि, और सम्वत्सराग्नि का सम्परिष्वङ्ग ,,
११०-पार्थिव-अङ्गिरोऽग्नि की हव्यवाड्रूपता ,,
१११-आहुति-सम्बन्धी कतिपय-प्रश्न, और तत्समाधाता आख्याविज्ञान ,,
११२-आहुतिग्राहक-दिव्याग्नि ,,
११३-आहुतिप्रापक की दिव्यभावापन्नता ,,
११४-देवता का देवता के साथ ही सम्बन्ध ,,
११५-दिव्याग्निसंधाता अग्न्याधानकर्म्म ,,
११६-अधिकारसमर्पक अग्न्याधानकर्म्म ,,
११७-द्युलोकाभिमुख अङ्गिरोऽग्नि की अदिव्यता, और विजातीयता ,,

११८--होतृप्रवरणकर्म्म में अनुपयुक्त-पार्थिव-अङ्गिरोऽग्नि ७१८
११९--ऋतभावापन्न आन्तरिक्ष्य-अग्नि ,,
१२०--ऋताग्नि की होतृपद से वियुक्ति ,,
१२१--सीमाभावनिबन्धन तृतीय छन्दस्याग्नि, और होतृकर्म्म में तदनधिकार ,,
१२२--चतुर्विध अग्नियों का द्युलोक की ओर गमन ,,
१२३-सम्वत्सराग्नि के सम्बन्ध से वञ्चिता अग्नित्रयी ,,
१२४--प्रतिफलित-सौर सावित्राग्नि ७१९
१२५--उभयाग्नि का स्वर्ग की ओर गमन ,,
१२६--वयं पूर्वम् वयं पूर्वम् रूपा प्रतिस्पर्द्धा ,,
१२७--अग्नित्रयी का आत्मसमर्पणात्मक मरण ,,
१२८--आपोमय समुद्र में अग्नित्रयी का विलयन ,,
१२९--सत्यभूपिण्ड का ऋतधर्म्मा आपः से परिवेष्टन ,,
१३०--उत्क्रान्त अङ्गिरोऽग्नि, वायव्य ऋताग्नि, एवं छन्दस्याग्नि का पार्थिव-अर्णव-समुद्र में विलयन ,,
१३१--सावित्राग्नि, और पारमेष्ठ्य समुद्र ७१९
१३२--चतुर्विध अग्नियों का ऊर्ध्वगमन ,,
१३३--मर्त्यभावापन्ना अग्नित्रयी ,,
१३४--अमृतभावापन्न दिव्याग्नि ,,
१३५--दिव्याग्नि, और अमृतभाव ,,
१३६--स भीषा निलिल्ये ,,
१३७--सोऽपः प्राविशत् ,,
१३८--प्रतिफलित आदित्याग्नि का प्राणदपानत् व्यापार के द्वारा द्युलोक की ओर गमन ७२०
१३९--आदित्याग्नि की वीचिरूप में परिणति ,,
१४०-आदित्याग्नि की आर्त्तवसमुद्र में व्याप्ति ,,
१४१--वीचि--और कम्पन ,,
१४२-'स भीषा निलिल्ये' ,,
१४३-किञ्चिचलनात्मक भय ,,
१४४--प्रतिष्ठारक्षण, और कम्पन ७२०
१४५--सावित्राग्नि के विभिन्न दो स्वरूप ,,
१४६--गमनानुगत सावित्राग्नि की अग्नि-प्रधानता ,,
१४७--आगमनानुगत सावित्राग्नि की इन्द्र-प्रधानता ,,
१४८--अग्निगर्भा पृथिवी ,,
१४९--इन्द्रगर्भिणी द्यौः ,,
१५०--सावित्राग्नि से अनुप्राणित मेध्य अश्व ,,
१५१--अतियज्ञात्मक अश्वमेध ,,
१५२--अग्नि, और इन्द्र का आन्तरिक्ष्य अर्णव समुद्र में सहसमन्वय ,,
१५३--अग्निप्रधान पार्थिवदेवता ,,
१५४--इन्द्रप्रधान द्युदेवता ,,
१५५--अग्निः सर्वादेवता ,,
१५६--इन्द्रः सर्वादेवताः ,,
१५७--अग्नित्रयी का अप्ययरूप मरण ,,
१५८--सौरदेवताओं के द्वारा अग्नि का अन्वेषण ,,
१५९--बलकृतिधर्म्मा इन्द्र ,,
१६०--सहोरूप ऐन्द्रबल ,,
१६१--ऐन्द्रबलानुगत पलायित अग्नि का पुनरागमन ,,
१६२--वियुक्त का पुनः संग्रह, और सामाजिक अनुबन्ध ७२१
१६३--'अनुविद्य' का पारिभाषिक समन्वय ,,
१६४--आहुतिकर्म्म के द्वारा देवसम्बन्ध ,,
१६५--होतृप्रवरणकर्म्म का रहस्यार्थ ,,
१६६--प्रकृतियज्ञ में अग्नि का होतृत्वेन वरण ,,
१६७--मानवयज्ञ, और अग्निमूर्त्ति मानवहोता ,,
१६८--दिव्याग्निमय दिव्यदेवताओं का सम्बन्ध ,,
१६९--अन्नपरिपाककर्त्ता पार्थिव अग्नि ,,
१७०--वरणकर्म्म में अनुपयुक्त अग्नि ,,
१७१--आन्तरिक्ष्य वायव्याग्नि, और विद्युत् ,,
१७२--ओजबल का सञ्चार, और वायव्याग्नि ,,

१७३--नक्षत्रभङ्ग का वास्तविकस्वरूप ७२१
१७४--न क्षरति, और नक्षत्रभाव ,,
१७५--मरुत्, और रुद्रतत्त्व ,,
१७६--समीरण, और वात ,,
१७७--स्पर्शधर्म्मा भौतिक वायु ,,
१७८--क्षतिपूरक भैषज्ययज्ञ ,,
१७९--वात आवात भेषजम् ,,
१८०--वातवायु का जनक मरुद्वायु ,,
१८१--मरुद्वायु की सात अवस्थाएँ ७२२
१८२--एकोनपञ्चाशत् [४९] मरुद्गण ,,
१८३--मरुतो रुद्रपुत्रासः ,,
१८४--आकाशसञ्चरणशील विविध दिगनुगत वायव्यप्रवाह ,,
१८५--वायव्यसंघर्ष, और नक्षत्रभङ्ग ,,
१८६--तारा-भङ्ग का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
१८७--धिष्ण्या-सञ्चरण का ,, ,,
१८८--उल्मुकपात का ,, ,,
१८९--वज्रप्रहार का ,, ,,
१९०--वायव्यभूकम्प की स्वरूपदिशा ,,
१९१--मघानक्षत्रानुगत आकाशमण्डल, और ताराभङ्ग ,,
१९२--वायव्याग्नि के विभिन्न कार्य्यों का संस्मरण ,,
१९३--वयोनाधमात्रानुगत छन्दस्याग्नि ,,
१९४--छन्द की आकारमात्रता ,,
१९५--छन्दस्याग्नि का होतृवरणकर्म्म से पलायन ,,
१९६--शेषभूत सौर अग्नि, और हौत्रकर्म्म ,,
१९७--सहोबल के द्वारा तदन्वेषण, एवं तद्द्वारा यज्ञस्वरूप की संसिद्धि ७२३
१९८--प्रतिफलित सौर अग्नि का अप् में प्रवेश ,,
१९९--सौम्य-अन्नरस की प्रतिष्ठा ,,
२००--अन्नरस के द्वारा अग्नि का प्रज्वलन ,,
२०१--अन्न का अभाव, और वरुण का आक्रमण ,,
२०२--अध्या-मोदाहरण के द्वारा स्थिति का स्पष्टीकरण ,,
२०३--अग्निसम्बन्ध से वञ्चित शेष पानियों की दोषपूर्णता ७२३
२०४--अग्नि का 'निष्ठीवन', और दूषित पानी ,,
२०५--'अप्सु भवाः-आप्त्याः' ,,
२०६--देवैराप्ताः-इति आप्त्याः ,,
२०७--ऐकात्म्यभाव, और आप्त्या ,,
२०८--त्रिसत्य सौरदिव्यप्राण ,,
२०९--त्रित्वानुगत देवकार्य्य ,,
२१०--आत्मसृष्टि, और मनोमय अव्यय ,,
२११--देवसृष्टि, और प्राणमय अक्षर ,,
२१२--भूतसृष्टि, और वाङ्मय क्षर ,,
२१३--आत्म-देवता-भूत-त्रयी ,,
२१४--अव्यय-अक्षर-क्षर-त्रयी ,,
२१५--पञ्चपर्वा विश्व ,,
२१६--प्रजापति की आत्मसृष्टि ,,
२१७--त्र्यक्षरस्वरूप-समन्वय ,,
२१८--अन्तर्य्यामी का संस्मरण ,,
२१९--त्रिःसत्यदेवता ,,
२२०--त्रिःसत्या वै देवाः ,,
२२१--परिलेख के द्वारा त्रिसत्य का समन्वय ७२४
२२२--देवप्राण के त्रिविध महिमा--विवर्त्त ,,
२२३--त्रितत्त्व की सयन्वितावस्था, और देवता ,,
२२४--त्रिःसत्याग्नि, और आप्त्याग्नि ,,
२२५--आप्त्याग्नि के तीन रूप ,,
२२६--अग्नि से अनुगत-'एकता' आप्त्या ,,
२२७--वायु से अनुगत-'द्विता' आप्त्या ,,
२२८--आदित्य से अनुगत-'त्रिता' आप्त्या ,,
२२९--देवतात्रयी का एकत्त्व ,,
२३०--एक आप्त्या के तीन महिमा-विवर्त्त ,,
२३१--सम्वत्सरानुगता सवनत्रयी ,,
२३२--अग्निप्रमुखवसूनां-एकता-आप्त्या ,,
२३३--वायुप्रमुखरुद्राणां-द्विता-आप्त्या ,,
२३४--इन्द्रप्रमुखादित्यानां-त्रिता-आप्त्या ,,
२३५--इन्द्रदेवता का ज्येष्ठत्त्व, और श्रेष्ठत्त्व ,,
२३६--त्रिता आप्त्या देवता का प्रधानत्त्व ,,

२३७--इन्द्रसहचारी त्रिता आप्त्या ७२४
२३८--त्रिता आप्त्या की बलवत्ता ७२५
२३९--त्रिता आप्त्या के द्वारा विश्वरूप त्वाष्ट्र असुर का वध ,,
२४०--आप्त्याग्न्यनुगता अवस्थाद्वयी ,,
२४१--इन्द्रसहचारी शुद्र-आप्त्या ,,
२४२--वरुणसहचारी मलिन आप्त्या ,,
२४३--अन्नभुक्ता रस-मल-द्वयी ,,
२४४--वारुणअपतत्त्व का मलप्रतिष्ठात्त्व ,,
२४५--अपानप्राण का आघात, और स्वेदविनिर्गनम ,,
२४६--हविर्युक्त आप्त्याग्नि से परित्यक्त कफ-लाला-मूत्रादि मलीमस पदार्थ, और तत्समन्वित वारुण मलीमस आप्त्या ,,
२४७--सौर-आपोमय-अग्नि की 'आप्त्या'रूपता ,,
२४८--दिव्य आप्त्या का स्वर्गगमन ,,
२४९--आप्त्या का बलपूर्वक आकर्षण ,,
२५०--'वो मामकामं नयन्ति' का समन्वय ,,
२५१--ऐन्द्रबलप्रयोगानुगत आप्त्या ,,
२५२--रसयुक्त देवानुगामी आप्त्या ,,
२५३--मलयुक्त वरुणानुगामी आप्त्या ,,
२५४--अवस्थात्रयी से अनुप्राणिता आप्त्या-त्रयी ,,
२५५--प्राकृतिक नित्य प्राणदेवताओं में ब्राह्मण-वर्ण ७२६
२५६--अग्नि की ब्राह्मणवर्णता, एवं तत् समर्थक श्रौत वचन ,,
२५७--ब्राह्मणवर्ण का वास्तविक स्वरूप ,,
२५८--एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति ,,
२५९--ब्राह्मणमूर्त्ति 'भारत' नामक अग्निदेवता, और 'भारत' अभिधा ,,
२६०--भरतनामक आप्त्याग्नि का इन्द्रसहचारित्व ,,
२६१--प्राकृतिक प्राणदेवताओं में क्षत्रियवर्णात्मक इन्द्रदेवता ,,
२६२--इन्द्रप्राणकृतात्मा मानव का क्षत्रियत्त्व ,,
२६३--क्षत्रबलोपेत इन्द्र, एवं ब्रह्मबलोपेत आप्त्याग्नि ७२६
२६४--इतः प्रदानाद्धे ते उपजीवन्ति ,,
२६५--ज्ञानशक्तियुक्त ब्रह्म ( ब्राह्मण ), और आप्त्याग्नि ७२७
२६६--क्रियाशक्तियुक्त क्षत्र ( क्षत्रिय ), और दिव्येन्द्र ,,
२६७--ज्ञान, और क्रिया का सम्बन्ध ,,
२६८--ज्ञानजन्या भवेदिच्छा ,,
२६९--इच्छाजन्यं क्रतुर्भवेत्
( इच्छाजनन्या कृतिर्भवेत् ) ,,
२७०--क्रतुजन्यं-भवेत्कर्म्म
( कृतिजन्यं भवेत्कर्म्म ) ,,
२७१--तदेतत्क्रतमुच्यते ,,
२७२--क्रतु, और कर्म्म की स्वरूप-परिभाषा ,,
२७४--स एव क्रतुः ,,
२७५--हृत्सु ह्ययं क्रतुर्मनोजवः प्रविष्टः
२७६--क्षत्रेन्द्र, और ब्रह्म-आप्त्या का सहसमन्वय, और तद्द्वारा वृत्रवध ,,
२७७--ब्राह्मणपुरोहित, और क्षत्रियराजन्य ,,
२७८--ब्रह्म-क्षत्र-स्वरूप-विश्लेषिका शातपथीश्रुति ,,
२७९--आप्त्या का इन्द्र के साथ विचरण ७२८
२८०--अपांप्रणयनकर्म्म का संस्मरण ,,
२८१--मानवीय वचन, और अप् का प्राथम्य ,,
२८२--अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम् ,,
२८३--अपां-अपत्त्वम्, और गोपथश्रुति ,,
२८४--ब्रह्मगर्भित सुब्रह्म, और तत्समन्वय के द्वारा सर्गप्रवृत्ति ,,
२८५--आकारभाव, और त्वष्टादेवता ,,
२८६--त्वष्टाप्राण के द्वारा शुक्र की विविधाकार में परिणति ,,
२८७--त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकिरोति ,,
२८८--त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ,,

२८९--त्वष्टाप्राण की विश्वरूप में परिणति ७२८
२९०--आप्यप्राणरूपा असुरता, और त्वाष्ट्र-विश्वरूप ,,
२९१--आन्तरिद्य-मलयुक्त-आप्त्याप्राण का असुरत्त्व ,,
२९२--उभयविध आप्त्या का संस्मरण ,,
२९३--अन्नमूर्त्ति त्वाष्ट्र विश्वरूप का आसुर ब्राह्मणत्त्व ७२९
२९४--देवदेवताओं का द्वेषी आसुरब्राह्मण ,,
२९५--प्रकाशाधिष्ठाता सौरदेवता ,,
२९६--प्रकाशविरोधी अप्तत्त्व ,,
२९७--त्वाष्ट्रअसुर का देवदेवताओं पर अजस्र-आक्रमण ,,
२९८--सोमरूप हविर्द्रव्य की आहुति, और तद्बलोपेत देवताओं के द्वारा असुर-पराभव ,,
२९९--'त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ' ,,
३००--शश्वद्ध त्रित एव जघान ,,
३०१--वधकारणभूत हविर्बल ,,
३०२--त्वाष्ट्रवध का मुख्य प्रवर्त्तक ,,
३०३--वैदिकदृष्टि, और जडदृष्टि का अपलाप ,,
३०४--सर्वव्यापक अव्ययरूप चिदंश ,,
३०५--व्यापक चैतन्यवाद का समन्वय ,,
३०६--हिंसात्मक यज्ञकर्म्म ,,
३०७-हिंसादोष से इन्द्र की अतिमुक्ति ,,
३०८-आप्त्या का आपोमय ससङ्गभाव ,,
३०९-सङ्गभावात्मक आप्त्या का हिंसादोष से सम्परिष्वङ्ग ,,
३१०-श्रद्धारसात्मक आप्त्यादेवता ,,
३११-श्रद्धा वा आपः, और आपोमय आप्त्या ,,
३१२-मेध्या वा आपः, और आप्त्या ,,
३१३-विश्वरूप त्वाष्ट्रवध के निमित्त आप्त्या-देवता ,,
३१४-हिंसाकर्म्मानुगत धर्म्मशास्त्रीय निर्णय ,,
३१५-मस्तकत्रयात्मक त्वाष्ट्र विश्वरूप ७३०
३१६-अप्तत्त्व की सर्वजगद्व्यापकता ७३०
३१७-विश्व के उपादानकारणों का पारिभाषिक संस्मरण ,,
३१८-विश्वोपादनभूत त्वाष्ट्र, और तन्निबन्धना वाक्-आपः-अग्निमयी-शुक्रत्रयी ,,
३१९-'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता ,,
३२०-षाट्कौशिकी विश्वप्रजा ,,
३२१-मनःप्राणवाङ्मयी सम्भूति, और असम्भूति ,,
३२२-त्वाष्ट्र की त्रिशीर्षता का दिग्दर्शन ,,
३२३-आपोमय-पारमेष्ठ्य-शुक्रतत्त्व ,,
३२४-शुक्रात्मक-'महान्', और उसकी अव-स्थात्रयी ,,
३२५-चिदात्मयोनिरूप-महान् ,,
३२६-आप्य-वायव्य-सौम्य-जीवाधिष्ठाता त्रिशी-र्षभावापन्न-महान् ,,
३२७-पार्थिव आकृतिभाव, और महान् ,,
३२८-चान्द्र प्रकृतिभाव, और महान् ,,
३२९-सौर अहङ्कृतिभाव, और महान् ,,
३३०-त्रिशीर्षता का अनुगमात्मक समन्वय ,,
३३१-सत्त्व-रज-स्तमोगुणान्वित-महान्, और त्रिशीर्षत्त्व ७३१
३३२-'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम्' का पारिभाषिक समन्वय ,,
३३३-'त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान' का समन्वय ,,
३३४-वरुणप्रधान आप्त्यातत्त्व ,,
३३५-हिंसादोष की अन्वर्थता, और आप्त्या ,,
३३६-दूषित भाग का आप्त्या में अर्पण ,,
३३७-आप्त्या, और हिंसाजनित दोष ,,
३३८-मलभाग, और आन्तरिद्य आप्त्या ,,
३३९-आप्त्यादेवताओं के लिए निनयनकर्म्म ,,
३४०-हविर्द्रव्य के द्वारा दोषनिराकरण ,,
३४१-असुरमध में समर्थ देवदेवता, और हवि-र्द्रव्य ,,
३४२-ऋत्विजों के आत्मा का यज्ञ में समावेश ,,
३४३-यज्ञफलस्वाधिकारार्थ दक्षिणा का विधान ,,

३४४–दक्षिणाद्रव्य की यज्ञानुबन्धिनी उपयोगिता ७३१
३४५–हवि:सम्पादनानुगत हिंसाकर्म्म, एवं तन्निवर्त्तक दक्षिणाद्रव्य ,,
३४६–दक्षिणादान के द्वारा यज्ञदोषनिवृत्ति ७३२
३४७–आप्त्योपाख्यान की अध्यात्माधिभूताधिदैवत-भावत्रयी का समन्वय ,,
३४८–अधिदैवतमण्डलानुगत आप्त्याविज्ञान का स्वरूप-विराम ,,

## * आध्यात्मिक-आप्त्याविज्ञान *

३४९–तेज-अप्-अन्न-का त्रिवृत्करण ,,
३५०–आत्मप्रपञ्च, एवं भूतप्रपञ्च का त्रितत्त्वों में अन्तर्भाव ,,
३५१–षोडशकल-चिदात्मा का संस्मरण ,,
३५२–पारमेष्ठ्य महानात्मा--रूप योनिर्भाव ,,
३५३–त्रिविधा जीवसृष्टि, और महान् ,,
३५४–नवतीर्नवविध (९९) असुर ,,
३५५–सप्तविंशति (२७) गन्धर्व ,,
३५६–अष्टविध (८) पितर ,,
३५७–त्रयीविद्या के साथ अप् में प्रवेश ,,
३५८–यजुर्म्मूर्त्ति त्रयीब्रह्म ,,
३५९–द्वादशसंख्या में विभक्त ऋषिप्राणों का अप्तत्त्व में अन्तर्भाव ,,
३६०–तेज:कला:, और अन्नकला का अप्तत्त्व में अन्तर्भाव ,,
३६१–'अद्भ्यः पृथिवी' ,,
३६२–'तत्सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्' ,,
३६३–महानात्मा की महत्ता का पारिभाषिक-समन्वय ,,
३६४–विश्वप्रजापति की गर्भरूपता, और तद्-योनिरूप महान् की महत्ता ,,
३६५–शारीरिक-द्रुत धातुओं का अप्तत्त्व में अन्तर्भाव ,,
३६६–शरीराध्यक्ष प्राण का अप्तत्त्व में अन्तर्भाव
३६७–अङ्गिरा की अवस्थात्रयी ७३३
३६८–अग्नितत्त्वानुगत-वागिन्द्रिय ७३३
३६९–वायुतत्त्वानुगत--प्राणेन्द्रिय ,,
३७०–आदित्यतत्त्वानुगत-चक्षुरिन्द्रिय ,,
३७१-भृगु की विरलावस्थारूप सोमतत्त्व ,,
३७२–सोमतत्त्व की अवस्थाद्वयी ,,
३७३–भास्वरसोमात्मक- इन्द्रसोम ,,
३७४–दिक्सोमात्मक-ब्रह्मणस्पतिसोम ,,
३७५-दिक्सोमानुगत-श्रोत्रेन्द्रिय ,,
३७६--भास्वरसोमानुगत-इन्द्रियमन ,,
३७७--षोडशी आत्मा-ऋषि पितर-गन्धर्व-असुर पञ्चेन्द्रिय-शरीरानुगत तरल-द्रव्य-आदि का अप्तत्त्व में अन्तर्भाव ,,
३७८--त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ,,
३७९--सूत्रानुगत शारीरिक भाष्य का निदर्शन ,,
३८०--गौरतत्त्व की तेजोरूपता ,,
३८१–विज्ञानात्मा, तत्सहकृत त्रयस्त्रिंशद्देव-देवताओं का तेजस्तत्त्व में अन्तर्भाव ,,
३८२–विज्ञानबुद्धि का अधिष्ठाता तेज:पदार्थ ,,
३८३–तृतीया अन्नकला का दिग्दर्शन ,,
३८४–शरीरानुगत स्थूलधातु, प्रज्ञानमन, आदि का अन्नकला में अन्तर्भाव ,,
३८५–वाङ्मय तेजस्तत्त्व ,,
३८६–मनोमय अन्नतत्व ,,
३८७–प्राणमय अप्तत्त्व ,,
३८८–मन:प्राणवाङ्मय आत्मा का संस्मरण ,,
३८९–आपोमय शरीर ,,
३९०–प्राणाग्नि का शरीरपुर में सतत जागरण ,,
३९१--आध्यात्मिकी गुहात्रयी ,,
३९२--अग्निमयी त्रिवृता पृथिवी, और बस्तिगुहा ,,
३९३--पार्थिवाग्नि, और अपान ,,
३९४--वायुमय पञ्चदश अन्तरिक्ष, और उदरगुहा ,,
३९५--आन्तरिक्ष्याग्नि, और व्यान ,,
३९६--एकविंश आदित्य और उरोगुहा ,,
३९७--इन्द्रप्राण का अधिष्ठातृत्त्व ,,

३९८--अपान, और एकता-आप्त्या ७३४
३९९--व्यान, और द्विता-आप्त्या ,,
४००--प्राण, और त्रिता आप्त्या ,,
४०१--विश्वरूप त्वाष्ट्र की आपोमयता का संस्मरण ,,
४०२--मैथुनीसृष्टि, और आपोमयत्त्व ,,
४०३--विश्वबन्धनविमोक, और त्रिता आप्त्या ,,
४०४--आप्त्याग्निमय प्रज्ञानमन, और आध्यात्मिक-आप्त्यादेवता का समन्वय ७३४
४०५--मानव की यज्ञिया, और अयज्ञिया प्रवृत्ति ,,
४०६--विज्ञानानुगतित्त्व और यज्ञिया प्रवृत्ति ,,
४०७--श्रेष्ठतम यज्ञकर्म्म ,,
४०८--यज्ञार्थकर्म्म की अबन्धनता ,,
४०९--सौरइन्द्रमय-विज्ञान (बुद्धि) ७३५
४१०--पार्थिवेन्द्रमय-प्रज्ञान (मन) ,,
४११--प्रज्ञात्मक सोम प्राणात्मक इन्द्र ,,
४१२--इन्द्रप्राण की असङ्गता ,,
४१३--सोम की ससङ्गता ,,
४१४--पृथिवी और प्रज्ञान का सान्निध्य ,,
४१५--सूर्य्य, और विज्ञान का विदूरत्त्व ,,
४१६--मनोमूलक अयज्ञियकर्म्म ,,
४१७--प्रज्ञामूला आसक्ति, और प्रज्ञापराध, ,,
४१८--प्रज्ञापराधमूलक अयज्ञियकर्म्म ,,
४१९--यज्ञकर्म्म के द्वारा ज्ञानाग्नि का प्रज्ज्वलन ,,
४२०--ज्ञानाग्नि के द्वारा असुर परभाव ,,
४२१--प्रज्ञानके द्वारा ही आसुरभाव का विनाश ,,
४२२--मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ,,
४२३--बन्धनमूलक प्रज्ञाभाग ,,
४२४--मोक्षमूलक-प्राणभाग ,,
४२५--प्रज्ञानरूप आप्त्या देवता के द्वारा असुर-पराभव ,,
४२६--मानसिक काम-विक्षेप, और आवरण ,,
४२७--आध्यात्मिक-आप्त्याचरित्र का उपराम ,,


* * *

## *--अधिभूतसम्बन्धी--आप्त्याविज्ञान--ऐतिहासिक-आप्त्यादेवता—


४२८--भौमस्वर्गनिवासी-भौमदेवता ७३६
४२९--भौम ब्रह्मा के द्वारा अत्रैव अधिदैवतवत्-व्यवस्था ,,
४३०--इन्द्र के प्रतिनिधि शवसोनपात् ,,
४३१--भूलोकात्मक भारत के अधिष्ठाता अग्नि ,,
४३२--मनुष्यविध-अग्निदेव, और पार्थिवप्रजा का तद्द्वारा भरण-पोषण ,,
४३३--त्वष्टा के पुत्र त्रिशीर्ष-षडक्ष-विश्वरूप का भारत पर आक्रमण ,,
४३४--भारताग्निरूप आप्त्या के सहयोग से भौमदेवेन्द्र के द्वारा त्वाष्ट्र का पराभव ,,
४३५--आप्त्याविज्ञान का उपराम ,,


# इति--आप्त्याविज्ञानमुपरतम्

* * * *

# ❀ अथ--पश्वालम्भनविज्ञानम् ❀

## (पृष्ठसं० ७३६ से ७४७)


४३६--पशुसम्पत्ति से समन्वित यज्ञकर्म्म ७३६
४३७--दर्शपूर्णमासेष्टि में अपेक्षित पशु ,,
४३८--विज्ञानदृष्टि की विलुप्ति, एवं विद्वानों का शुष्कवाक्कलह ,,
४३९--सनातनधर्म्मावलम्बी-आर्य्यसमाजी-तथा सम्प्रदायवादी-विद्वान्, और इनका अभिनिवेश ७३७
४४०--आराध्य वैदिकसाहित्य, एवं तदुपक्षा से राष्ट्रीयसंघटनोच्छेदक कलह ,,
४४१--वैदिकतत्त्वस्वाध्याय का अभाव, और विविध विसंवाद ,,
४४२--शास्त्रसिद्ध भी विषयों में अभिनिवेश-कलक-कुतर्कवाद ,,
४४३--पश्वालम्भन, और तत्सम्बन्धी विज्ञानोपक्रम ,,

४४४—मानवसर्ग, और पशुसर्ग का समतुलन ७३७
४४५—चेतनभावानुगत मानव, और पशु ''
४४६—पशुवध की अमानवता ''
४४७—'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' मूला अहिंसाबुद्धि ''
४४८—अभ्युपगमवादात्मक पशुवध ७३८
४४९—पशुहिंसा की प्रवृत्ति के विरोध का अनधिकार ''
४५०—श्राद्ध, यज्ञादि, और पशुवध ''
४५१—पशुवध का अभिनिवेश, और तद्द्वारा अहिंसाधर्म्म का विरोध ''
४५२—हेत्वाभासों के द्वारा पशुवध का समर्थन, एवं तन्निस्सारत्व ''
४५३—मानवता, एवं शास्त्रदृष्ट्या उभयथा पशुवध का विरोध ''
४५४—पशुवधसमर्थक वचनों की प्रक्षिप्तता ''
४५५—पश्वालम्भन के सम्बन्ध में आज के निर्णायकों का आपातरमणीय निर्णय ''
४५६—चारु-वाक्, और चार्वाक् ''
४५७—शास्त्र का उदात्त सिद्धान्त ''
४५८—उदात्त सिद्धान्त का अपवाद ''
४५९—'मा हिंस्यात्' रूप अहिंसावाद के अपवादक्षेत्र ''
४६०—हेतुता, अवसर, प्रसङ्ग उपोद्घात, कार्य्यैक्य, निर्वाहकैक्य-मूला मीमांसा-शास्त्रसम्मता षोढा सङ्गति ''
४६१—हिंसा, और अहिंसा के सम्बन्ध में ७३९
४६२—हिंसा अहिंसा की लौकिक-स्वरूप-मीमांसा ''
४६३—हिंसाजनित प्रत्यवाय, एवं अहिंसानुगत अभ्युदय ''
४६४—पापकारणमूला हिंसा ''
४६५—पुण्यकारणमूला अहिंसा ''
४६६—हिंसा के द्वारा आत्मपतन ''
४६७—अहिंसा के द्वारा आत्मोत्थान ''
४६८—सर्वसामान्य की मान्यता का विपर्य्यय ''
४६९—हिंसा के द्वारा पुण्यप्राप्ति ७३९
४७०—अहिंसा के द्वारा पापावाप्ति ''
४७१—विचित्र विसंवाद, और हिंसा-अहिंसा ''
४७२—शब्दप्रमाण के द्वारा ही पाप-पुण्य का सम्भावित-निर्णय ''
४७३—हिंसा, और अहिंसा से अनुगत पाप-पुण्य-कर्म्मों का एकमात्र निर्णायक-शब्दात्मक-शास्त्र ''
४७४—कर्त्तव्य, और अकर्त्तव्य का एकमात्र निर्णायक शास्त्रादेश ''
४७५—हरिवंशपुराणोक्त भीष्म का श्रद्धात्मक आख्यान, एवं भीष्म की शास्त्रनिष्ठा ७४०
४७६—शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन, एवं श्रीकुमारिल भट्ट का गिरिशिखा से पतन ''
४७७—शास्त्रैकशरणता की अनुगति ''
४७८—वृद्धव्यवहारमूलक लौकिक-शब्दप्रमाण, और तन्निबन्धन लौकिकव्यवहार ''
४७९—नान्यः पन्था विद्यते-अयनाय ''
४८०—भगवान् व्यास के द्वारा शास्त्रीय-हिंसा-अहिंसा-भाव के सम्बन्ध में शब्दात्मक निर्णय ''
४८१—'अशुद्धमिति चेन्न, शब्दात्' ''
४८२—यज्ञकर्म्मानुगता पशुहिंसा ''
४८३—हिंसाभावापन्न अध्वरकर्म्म ''
४८४—विधिवचन का अपवाद ''
४८५—'अग्निषोमीयं पशुमालेमत' ''
४८६—याज्ञवल्क्यस्मृति, और धर्म्म का स्वरूप-लक्षण ''
४८७—स्मार्त्त-धर्म्मलक्षण का संस्मरण ७४१
४८८—'धर्म्ममूलमिदं स्मृतम्' ''
४८९—'स्वस्य च प्रियमात्मनः' से अनुगता वर्त्तमानयुगानुगता महती भ्रान्ति का निराकरण ''
४९०—अन्तरात्मा की कृत्रिमेच्छा, तथा वास्तविकेच्छा का पार्थक्य ''

४६१–अनृतसंहित-पशुधर्म्मा मानवों की सहजेच्छा. और मानवीय-वचन का संस्मरण ४४१
४६२–मांस-मद्यादि की सहज-प्रवृत्ति ”
४६३–'निवृत्तिस्तु महाफला' का समन्वय ”
४६४–प्रज्ञानमन, और विज्ञानबुद्धि की स्पर्द्धा ”
४६५–ऋतधर्म्मानुगत सौम्यमन, सत्यधर्म्मानुगत आग्नेयीबुद्धि ”
४६६–विचाली ऋतभाव ”
४६७–अविचाली सत्यभाव ”
४६८–ऋत, और सामान्ये सामान्याभाव ”
४६९–ऋत की अमृतरूपता का समन्वय ”
५००–प्राणमनोमूर्त्ति, अतएव अप्राण-अमन-अव्ययात्मा ”
५०१–मन का उपादानभूत चान्द्रसोम ”
५०२–अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य ”
५०३–अनृतसंहिता वै मनुष्याः ”
५०४–ऋतात्मक-अनृत-असत्य-मन, और तत्र सौरसप्त्य-विज्ञान का समावेश ७४२
५०५–सौरतत्त्व की सत्यरूपता ”
५०६–सौरतत्त्व का विज्ञानमयत्त्व ”
५०७–चित्रं देवानामुदगात् ”
५०८–सत्याग्निमय सूर्य्यनाराण ”
५०९–सत्यसंहिता वै देवाः ”
५१०–मनोमूर्त्ति प्रज्ञानात्मा, और बाह्यात्मा ”
५११–बुद्धिमय-विज्ञानात्मा, और अन्तरात्मा ”
५१२–क्षेत्रज्ञात्मा का संस्मरण ”
५१३–शास्त्रस्वाध्यायादि से अनुगत विज्ञानबल ”
५१४–सिद्धावस्थापन्न प्रज्ञानमन ”
५१५–साध्यभावानुगता विज्ञानबुद्धि ”
५१६–ऋतप्रधान मन का निम्नगामित्त्व ”
५१७–विज्ञानशासन से पृथग्भूत ऋत मन का असत्यपथानुवर्त्तित्त्व ”
५१८–ऋतमूलक अनृतभाव, और आत्मपतन ”
५१९–विज्ञानसारथि, और प्रग्रहमन ”
५२०–शरीररथ का उत्पथगमन ७४२
५२१–मनोऽनुगता दया, कारुण्य, आदि अनृतमन के सहज अनृतधर्म्म ”
५२२–विज्ञान की निर्बलता, और प्रज्ञान का प्राबल्य ”
५२३–मनोविजय, और मानव की असत्कर्म्मों में प्रवृत्ति ”
५२४–स्वस्थदशा की बुभुत्सा, और विज्ञानसहकृता-मानसेच्छा ”
५२५–मन की कृत्रिमेच्छा का निदर्शन ”
५२६–कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकशालिनी बुद्धि ”
५२७–हठात् निर्णय, और मन का स्वातन्त्र्य ”
५२८–अर्जुन का क्षात्रधर्म्म, और युद्धप्रवृत्ति ”
५२९–'न योत्स्ये' का संस्मरण ”
५३०–बुद्धियोगाश्रय, और युद्धारम्भ ”
५३१–विजय-भूति-श्री-की अवाप्ति, और हिंसात्मक युद्धकर्म्म ”
५३२–'दया' का दयनीय–स्वरूप ”
५३३–सम्यक्-संकल्प का स्वरूप–निदर्शन ”
५३४–सम्यक्संकल्पज काम, और बुद्धियोग ”
५३५–(क) स्वस्य च प्रियमात्मनः' का वैज्ञानिकस्वरूप-समन्वय ”
५३५(ख)–मानसिक-स्वातन्त्र्य की अनर्थपरम्परा ७४३
५३६–'स्वस्य' का वास्तविक अभिप्राय ”
५३७–'मनभाया' और स्वस्य च' ”
५३८–शास्त्रीयवचन, और मन का स्वातन्त्र्य ”
५३९–ऐहलौकिक-दृष्टिकोण ”
५४०–जीवधारीवर्ग, और मनुष्य ”
५४१–मानवसमाज की स्वस्थता, और विश्वशान्ति ”
५४२–शरीरचिकित्सा, और प्राणी वध ”
५४३–वर्त्तमान चिकित्सापद्धति, और पशुप्राणोत्पीड़नानुगत इञ्जेक्शन ”
५४४–वैज्ञानिकी हिंसा की अहिंसारूपता ”

५४५–मानवसमाज की रक्षा, और तत्सम्मता आजकी प्रचण्डा हिंसा ७४३
५४६–यज्ञियपशुहिंसानुगत आक्षेप की आत्यन्तिकी निरर्थकता ,,
५४७–माँस, और अप्राकृतिक-भोजनाभिनिवेश ,,
५४८–उदरपूर्त्तिसंसाधिका ओषधि-वनस्पतियाँ ,,
५४९–माष, और माँस की मात्रा ,,
५५०–शरीरानुगत असृक् माँसादि धातुओं के लिए अपेक्षित असृक-माँसादि ,,
५५१–ओषधि-वनस्पतियों में भुक्त असृक् माँसादि-मात्राएँ ७४४
५५२–सुवर्ण-ताम्र-रजत-लोहादि धातुद्रव्यों का मानवीय-अन्नत्व ,,
५५३–माँसान्न की प्राकृतिकता का समर्थन ,,
५५४–पशुशरीर, और रक्तमय विद्यमान पिण्ड की माँसात्मिका भ्रान्ति का निराकरण ,,
५५५–विशेषप्राणात्मक-माँसतत्त्व ,,
५५६–'पुरीष', और 'माँस' ,,
५५७–मत्स्य, और पुरीषप्राण ,,
५५८–माँस, मत्स्य-भेद का कारण ,,
५५९–मांस-मच्छी-व्यवहार ,,
५६०–पुरीषात्मक माँसप्राण, और माष (उर्द) ,,
५६१–माँसभक्षण की प्राकृतिकता ,,
५६२–मांसाशी का मांस निषिद्ध ,,
५६३–एतदु परमन्नाद्यं, यन्मांसम् ,,
५६४–अन्नमु पशोर्मांसम् ,,
५६५–माँसाशन की व्यावहारिकता ,,
५६६–माँसाशन करने वाले प्रान्त, और माँस की परमन्नाद्यता का समन्वय ,,
५६७–'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' और माँसाशन ,,
५६८–पशुमाँसभक्षण के निरोधस्थल ,,
५६९–पुरीषात्मक मसाँसे बुद्धि का व्याघात ,,
५७०–माँस पारित्याग की श्रेयस्करता ,,
५७१–माँसग्रहण का अनौचित्य ७४५
५७२–माँसाशन का प्राकृतिकत्त्व ७४५
५७३–'न मांसमश्नीयात्' ,,
५७४–'पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः' ,,
५७५–तैत्तिरीयवचन का संस्मरण ,,
५७६–विधिवचनानुगति से अनर्थ का उद्भव ,,
५७७–विशेषविधि का अनुगमन ,,
५७७–प्रकृतिसिद्धा मांसाशनप्रवृत्ति का निरोध, किन्तु यज्ञकर्म्मणि पशुप्राशन का विधान ,,
५७ –'न मांसमश्नीयात्' का संस्मरण ,,
५७९–कलिवर्ज्य--पशुप्राशसनादि ,,
५८०–'कलिवर्ज्य' का रहस्य ,,
५८१–जनमेजयात्--जनमेजयान्तम्--यज्ञ की प्रक्रान्ति ,,
५८२–पञ्चपश्वात्मक चितियज्ञ, और पश्वालम्भन के सम्बन्ध में भगवान् याज्ञवल्क्य ,,
५८३–यज्ञविद्या की विलुप्ति ,,
५८४–वर्त्तमानयुगानुगता उपासना ,,
५८५–वर्त्तमान युग, और यज्ञकर्म्म का उपहास ,,
५८६–यज्ञकर्म्म के प्रति महती विडम्बना ,,
५८७–युगमाहात्म्यवित् ऋषि ७४६
५८८–कलियुग, और पशुवपावञ्चित स्मार्त्त यज्ञ ,,
५८९–श्रौत वितानयज्ञ में अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता पशुवपा, और पश्वालम्भन ,,
५९०–यज्ञिय पशुवध, और हिंसादोष ,,
५९१–सम्पूर्ण कर्म्मों का दोष-संस्पृष्टत्त्व ,,
५९२–धूमेनाग्निरिवावृताः ,,
५९३–धर्म्माधर्म्म, हिंसा-अहिंसा आदि का अतीन्द्रियत्त्व ,,
५९४–पुराणपुरुषवचनसंस्मरण ,,
५९५–श्रीशङ्करभगवत्पाद, और सूत्रभाष्य ,,
५९६–यज्ञानुगत पश्वालम्भन ७४७

५९७–पश्वालम्भनसम्बन्धी प्राकृतिक नित्ययज्ञ का संस्मरण, और पश्वालम्भन विज्ञानोपराम ७४७

* * * *

५९८–रासायनिक-सम्मिश्रण से अनुगता विशेष-प्रक्रिया, और यज्ञ ,,
५९९–प्रकृति-पुरुष-समन्वयात्मक प्रथम यज्ञ ,,
६००–तत्तु समन्वयात् ,,
६०१–समन्वयात्मक यज्ञेश्वरप्रजापति ,,
६०२–अग्निप्रधान षोडशकल पुरुषप्रजापति ,,
६०३–सोमप्रधाना पञ्चकलोपेता प्रकृति ,,
६०४–प्रजोत्पत्ति, और समन्वितरूप ,,
६०५–योषावृषात्मक-दाम्पत्य, और प्रजासर्ग ,,
६०६–रयिप्राणात्मक-मिथुनभाव, और दाम्पत्य ,,
६०७–विश्वसृष्टि का अधिष्ठाता पाङ्क्तयज्ञ ,,
६०८–द्यावापृथिव्य-पाङ्क्तयज्ञ का संस्मरण ,,
६०९–पृथिवी का अतिष्ठावा देवता ,,
६१०–द्युलोक का अतिष्ठावा देवता ,,
६११–अतिष्ठावात्मक अधिष्ठाता प्रजापति ,,
६१२–उभयलोक के प्रजापति ,,
६१३–रोदसीविश्व के स्रष्टा प्रजापति ,,
६१४–यज्ञ के द्वारा प्रजापति का विस्रंसन ,,
६१५–प्रवर्ग्यात्मक विस्रस्त भाग से पदार्थों का स्वरूप-निर्म्माण ,,
६१६–विस्रंसनप्रक्रिया का नैरन्तर्य्य ,,
६१७–विस्रंसनमूलक पारस्परिक आदानविसर्ग ,,
६१८–आदान-विसर्गात्मक अन्नान्नादभाव ,,
६१९–नित्ययज्ञनिरूपिका ऋक्श्रुति ,,
६२०–विस्रस्त भाग की अग्निरूपता ७४८
६२१–विस्रस्त के पूरक भाग की सोमरूपता ,,
६२२–अग्नौ सोमाहुतिः, और यज्ञ ,,
६२३–आहुत सोम की ऊर्करूप में परिणति ,,
६२४–अन्नतः ऊर्क् की अभिव्यक्ति ,,
६२५–उर्कतः-प्राणाभिव्यक्ति ,,
६२६–प्राणतः-अन्नाकर्षण ७४८
६२७–अन्नोर्क्प्राणत्रयी का अन्योऽन्यपरिग्रह, और यज्ञस्वरूपसंसिद्धि ,,
६२८–प्राणाग्नि की वाग्रूपता ,,
६२९–वाक् के द्वारा प्राण का पोषण ,,
६३०–प्राण के द्वारा मन का पोषण ,,
६३१–भुक्तान्न की प्राणाग्नि में आहुति ,,
६३२–वग्गिन पर अन्न की चिति ,,
६३३–रस-मल के क्रमिक विशकलन से वाक्-चिति के द्वारा मन का पोषण ,,
६३४–अन्नचिति, और मन ,,
६३५–सोमचिति, और 'चित्त' ,,
६३६–'अन्नमयं हि सौम्य मनः' ,,
६३७–वाक्, और चित्त का चितिक्रम ,,
६३८–'वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः' ,,
६३९–पदार्थों का अग्नि-सोम-मयत्त्व ,,
६४०–यज्ञस्वरूप–संसिद्धि के द्वारभूत अग्नि, और सोम ,,
६४१–आहुत सोम की विविध जातियाँ ,,
६४२–सोमभेदेन अग्नियज्ञ के विभिन्न प्रकार ,,
६४३–व्रीहि–यवादि–रूप ओषधिसोम, और हविर्यज्ञ ,,
६४४–अग्निहोत्र—दर्शपूर्णमास—चातुर्म्मास्य-इष्टियों का हविर्यज्ञत्त्व ,,
६४५–पशुवयासोमात्मक पशुबन्धयज्ञ ,,
६४६–पशुवपा, और पश्वालम्भन ,,
६४७–राजासोम, और राजसूययज्ञ ,,
६४८–वाजसोम, और वाजपेययज्ञ ,,
६४९–पञ्चपशु, और ग्रहसोमात्मक चयनयज्ञ ,,
६५०–चयनयज्ञ का सर्वोत्कृष्टत्त्व ७४९
६५१–नामृतत्त्वस्य तु आशास्ति, ऋते चयनात् ,,
६५२–द्यावापृथिव्य-पञ्चविधपशु ७४९

६५३--द्यावापृथिव्य रसों से पशुओं के स्वरूप-की अभिव्यक्ति ७४८
६५४--सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्वप्रधान पुरुषपशु ,,

## ❀ [१]-पुरुषपशुः ❀

६५५--अग्नि, वायु, इन्द्र, रूपा प्राणाग्नित्रयी ७४६
६५६--प्राणाग्नित्रयी, और वैश्वानर ,,
६५७--वैश्वानरतत्त्व, और पुरुषपशु ,,
६५८--'पुरि शेते-तस्मात्-पुरुषः' ,,
६५९--वैश्वानरपुरुष के त्रैलोक्य-व्यापक स्वरूप के सम्बन्ध में श्रौत-सन्दर्भ ,,
६६०--वैश्वानरपशु का अग्निप्रधानत्त्व, अतएव वृषामूर्त्तित्व ,,
६६१--वैश्वानरात्मक-प्राणपुरुष से समन्वित प्राणी मानवपुरुष ,,
६६२--प्राकृतिक पुरुषपशु की प्रतिकृति, और पुरुषपशु (मानव) ,,
६६३--विराट् की सन्निहित प्रतिकृति-मानव नामक पुरुषपशु ,,
६६४--अग्निमय पुरुष, और अर्थशक्ति ,,
६६५--(क) वायुमय पुरुष, और क्रियाशक्ति ,,
६६५--(ख) आदित्यमय पुरुष, और ज्ञानशक्ति ,,
६६५--(ग) पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् ,,
६६५--(घ) पुरुषसुक्तानुगत पुरुषपशु ,,
६६५--(ङ) त्रिवृत्स्थानीय अग्नि, और प्रथमा साहस्री ७५०
६६५--(च) पञ्चदशस्थानीय वायु, और द्वितीय साहस्री ,,
६६५--(छ) एकविंशस्थानीय आदित्य, और तृतीया साहस्री ,,
६६६--अग्नेयी साहस्री, और वैश्वानरपुरुष ,,
६६७--वायव्या साहस्री, और हिरण्यगर्भपुरुष ,,
६६८--आदित्या साहस्री, और सर्वज्ञपुरुष ,,
६६९--दशकल विराट्पुरुष ,,
६७०--ईश्वरप्रजापतिरूप विराट्पुरुष ,,
६७१--वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति पुरुष-पशु ७५०
६७२--पुरुषपशुसमर्थक श्रौतवचन ,,


## इति-पुरुषपशुस्वरूपदिग्ददर्शनम्

१

## ❀ [२]-अश्वपशुः ❀


६७३--आपोमय सौर तेज, और अश्वपशु ७५०
६७४--भूपिण्डानुगत सौर सावित्रतेज ,,
६७५--अर्णवसमुद्र में संश्लिष्ट प्रतिफलित सौर तेज, और अश्वपशु ,,
६७६--अप्तत्त्वाभिमानी वरुणदेवता ,,
६७७--अश्व का वारुणपशुत्त्व ,,
६७८--वारुणत्त्वे सति अश्व का सौर्य्यपशुत्त्व ,,
६७९--शुद्धवारुणपशु, और महिष ,,
६८०--इन्द्र, और वरुण का परस्पर विरोध ,,
६८१--अश्वमाहिष्य-न्याय ,,
६८२--आन्तरिक्ष्यअप्तत्त्वरूप अश्वात्मा ,,
६८३--प्रतिष्ठया वञ्चित अश्वपशु ,,
६८४--अश्वपशु का विकम्पन ,,
६८५--सूर्य्यरश्मिमण्डल, और केन्द्र ,,
६८६--केन्द्रबिन्दुरूप अक्ष (धुरा) ,,
६८७--पार्थिव अक्ष का दिग्दर्शन ,,
६८८--पार्थिव अक्ष, और भूपिण्ड का स्वाक्षपरिभ्रमण ,,
६८९--स्वाक्षपरिभ्रमणमूला दैनन्दिनगति ,,
६९०--सूर्य्यबिम्बस्थ-माठर-कपिलादि का परिवर्त्तन, और सूर्य्य का अक्षपरिभ्रमण ,,
६९१--सौरक्षत्ररुद्र का एकाकी-भाव ,,
६९२--सौर-अनन्त-विट्रुद्र ,,
६९३--क्षत्ररुद्र, और विट्रुद्र-सम्पत्ति, एवं यजुःश्रुति ,,
६९४--सूर्य्याक्ष के विस्रंसन से उत्पन्न अप्तत्त्व ,,
६९५--सौर अप्तत्त्व का मरीचित्त्व ,,

६६६–रुद्राग्नि के अश्रु रूप मरीचिपानी ७५०
६६७–सौर तेजोगर्भित अश्रु भाग से अश्वपशु की स्वरूप-निष्पत्ति ,,
६६८–वैषां हेड ईमहे ,,
६६९–सौर तेज की रुद्रनिबन्धना प्रखरता ,,
७००–सौर अश्वपशु का वीर्य्यवत्तमत्त्व ,,
७०१–अग्गर्भित रौद्र, और विद्युत् ७५१
७०२–आपोमयी विद्युत् ,,
७०३–यदेतदा विद्योतते विद्युत् ,,
७०४–विद्युत्, और इन्द्र ,,
७०५–सौरी इन्द्रविद्युत् का प्रतिमान अश्वपशु ,,
७०६–आपोमय अश्वपशु की भूपिण्ड से सूर्य्य-पर्य्यन्त व्याप्ति ,,
७०७–उषाकाल, और अश्वोपक्रमबिन्दु ,,
७०८–वृषाकपायी, और उपसंहारबिन्दु ,,
७०९–उषारूप अश्व का मस्तकस्थान ,,
७१०–अश्वपरिज्ञानात्मक वेदज्ञान ,,
७११–वाजरूप सूर्य्य का वेदघनत्त्व ,,
७१२–प्राणात्मक पशु से निष्पन्न-प्राणी अश्व' पशु ,,
७१३–अश्वपशुसमर्थक श्रौतवचन ,,

## इति-अश्वपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्

## २

--*--

## ❁ [३]-गोपशुः ❁

७१४–गोतत्त्व का प्रभवस्थान आपोमय-परमेष्ठी ७५१
७१५–विकासस्थान सूर्य्य ,,
७१६–व्याप्तिस्थान त्रैलोक्य ,,
७१७–भूतप्रतिष्ठात्मक गौतत्त्व ,,
७१८–सोममयी गौ, और सोमलोक ,,
७१९–सोमवंशी पारमेष्ठ्य विष्णु ,,
७२०–गौपशु का तृतीयत्त्व ७५२
७२१–आपोमय-परमेष्ठी, और गोपशु ७५२
७२२–विकासस्थानात्मक सूर्य्य ,,
७२३–सोमलोकात्मक परमेष्ठी ,,
७२४–विष्णु, और सोम ,,
७२५–प्रजापति के प्राणभाग से गोतत्त्व की प्रसूति ७५३
७२६–गोतत्त्वात्मभूत सौम्यप्राण ,,
७२७–गोतत्त्वशरीरभूत अग्नि ,,
७२८–अमृत की नाभि आग्नेयी गौ ,,
७२९–सहस्रधा विभक्त गौतत्त्व ,,
७३०–वासवी रौद्री आदित्या गौ ,,
७३१–कामगवीरूपा-कामधेनु गौ ,,
७३२–त्रिधा विभक्त गोतत्व ,,
७३३–कामगवी की सर्वव्याप्ति ,,
७३४–सत्यानुगता कामगवी ,,
७३५–शुभं ब्रूयात् आदेश ,,
७३६–अमुक समय, और कामगवी का उपभोग ,,
७३७–तथा हैव स्यात् ,,
७३८–लोकालोकपर्य्यन्त व्याप्त गोतत्त्व ,,
७३९–विष्णुदेवताओं की गाँवों, और उनके लम्बलम्बायमान सींग ,,
७४०–गावो भूरिशृङ्गा अयासः ,,
७४१–रुद्रमाता, वसुकन्या, आदित्य भगिनी गोका पारिभाषिकसमन्वय ,,
७४२–'स्वसादित्यानाम्' का रहस्यात्मक समन्वय ,,
७४३–'मातारुद्राणाम्' का समन्वय ,,
७४४–दुहितावसूनाम्' का समन्वय ७५४
७४५–गौतत्त्व के द्वारा वेदतत्त्व की अभिव्यक्ति का रहस्यात्मक दिग्दर्शन ,,
७४६–गोप्राण, और गोपशु की अभिन्नता ,,
७४७–गोसेवा से वेदतत्त्व–परिज्ञान ,,
७४८–सत्यकाम की गोसेवा, और तद्द्वारा ब्रह्म-दर्शन ,,
७४९–गोधन की उपेक्षा, और भारतवैभव की सुषुप्ति ,,

७५०–प्राणगौ, और प्राणीगौ की अभिन्नता का सूचक ऋङ्मन्त्र ७५४
७५१–सोमरस, और गोमाता के स्तन ,,
७५२–तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ,,
७५३–गोपशुसमर्थक-श्रौतवचन ७५५


## इति–गौपशुस्वरूपनिदर्शनम्
## ३

—*—

## ❀ (४)–अविपशुः


७५४–आन्तरिक्ष्य-ऋतप्रधान अप्तत्त्व, और पविपशु (मेड़) ७५५
७५५–वृष्टि का मूलप्रभव दिक्सोम ,,
७५६–पञ्चाग्निविद्या का नामसंस्मरण, और सौम्या वृष्टि ,,
७५७–ऋत-सत्यात्मक उभयविध सोम ,,
७५८–चन्द्रमा और सौर प्रकाश ,,
७५९–इत्था चन्द्रमसो गृहे ,,
७६०–दिक्-परिस्रुत-सोम, और पर्जन्य ,,
७६१–पर्जन्य, और वृष्टि ,,
७६२–तस्या-आहुतेर्वर्षं सम्भवति ७५६
७६३–दिग्व्यापक ऋतात्मक दिक्सोम ,,
७६४–निरायतन-दिक्सोम का ऋतत्त्व ,,
७६५–दिक्सोम, और श्रोत्रेन्द्रिय ,,
७६६–दिक्सोमात्मक-अविः-प्राण ,,
७६७–हरितवर्णाभिव्यञ्जक-अविः-प्राण ,,
७६८–हरियाली, और अविः-प्राण ,,
७६९–तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजन ,,
७७०–उपांशुग्रहानुगत अजपशु ,,
७७१–अन्तर्य्यामग्रहानुगत अविपशु ,,
७७२–उपांश्वन्तर्य्याम का सहचरण ,,
७७३–अज-अवि का सहचरण ७५६
७७४–अविपशु के समर्थक श्रौत बचन ,,


## इति-अविपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्
## ४

—*—

## ❀ (५)–अजपशुः


७७५–पार्थिव-अजपशु ७५७
७७६–अग्निप्रधान अजपशु ,,
७७७–पार्थिवाग्नि का विस्रंसन ,,
७७७–उच्छिष्ट पार्थिवाग्नि भाग के द्वारा अजपशु की अभिव्यक्ति ,,
७७८–प्राणात्मक अजपशु, और प्राणी-विध अजपशु ,,
७७९–पार्थिवी-ओषधि-वनस्पतियों से समतुलित-पार्थिव-अजपशु ,,
७८०–अक्षीण-ओषधि-वनस्पति रूप अन्न ,,
७८१–अजपशु की अक्षीणान्नता ,,
७८२–अधिकरूपेण व्यवहार्य्य अजपशु ,,
७८३–अजपशु का अजधर्म्म ,,
७८४–नित्यब्रह्म से अनुगत अविकृत कारण का महामहिमत्त्व ,,
७८५–'न कर्म्मणा वर्द्धते, नोकनीयान् ,,
७८६–सम्वत्सरप्रजापति से अनुगत त्रित्वानुगत प्रसवकर्म्म ,,
७८७–प्रजापति के वाग्भाव से अजपशु की स्वरूपाभिव्यक्ति ,,
७८८–ध्रुवात्मिका पृथिवी और कपाल ,,
७८९–कपालभुक्त आग्नेयरस ,,
७९०–ब्रह्मौदनात्मिका आग्नेयी रसत्रयी, और देवसृष्टि ,,

७९१–भूकपाल में संश्लिष्ट-प्रवर्ग्य रूप वाङ्मय अग्निरस, और तद्द्वारा अज की स्वरूपाभिव्यक्ति ७५७
७९२–अजपशुसमर्थक-श्रौतवचन ,,

# इति–अजपशुस्वरूपदिग्दर्शनम्

५

——*——

७९३–पञ्चपशुओं में इतर यच्चयावत् पशुओं का अन्तर्भाव ७५८
७९४–सर्वपशु-रूप पञ्चपशु ,,
७९५–एतावन्तो वै सर्वे पशवः ,,
७९६–प्राणपशु, और प्राणीपशु ,,
७९७–द्यावापृथिव्य पञ्चपशु ,,
७९८–स्तौम्यत्रिलोकी की देवतात्रयी ,,
७९९–त्रैलोक्यानुगता सन्धिद्वयी ,,
८००–सम्वत्सराग्निमूला पाँच चितियाँ ,,
८०१–पञ्चचितिक अग्नि का विस्रंसन ,,
८०२–पार्थिवी-उषारूप योनि ,,
८०३–सम्वत्सराग्निरूप रेतस् ,,
८०४–अग्निरेतस् से कुमारोत्पत्ति ,,
८०५–कुमाराग्नि का स्वरूप-निर्वचन ,,
८०६–कुमाराग्नि के अष्टविध महिमामय विवर्त्त ,,
८०७–अष्टमूर्त्ति शिव का संस्मरण ,,
८०८–नवमसंख्यानुगत कुमाराग्नि ,,
८०९–कुमाराग्नि की रुद्ररूपता ,,
८१०–रुद्र का पशुपतित्त्व ,,
८११–कुमाराग्नि, और चित्राग्नि ,,
८१२–सम्वत्सराग्नि का अन्तिम उदर्क पाशुकाग्नि ,,
८१३–पाशुकाग्नि में स्वस्वरूपावलोकन ,,
८१४–'अपश्यत्-तस्मात्-पशवः' ,,
८१५–पशुद्वारा सम्वत्सरप्रजापति का संस्कार ,,
८१६–पशुनिर्म्माण, और प्रजापति का विस्रंसन ,,
८१७–प्रजापति का शैथिल्य ७५८
८१८–क्षतिपूर्त्यर्थ प्रजापति के द्वारा पञ्चपशुओं का आलम्भन ७५९
८१९–पश्वालम्भनमूलक भैषज्ययज्ञ ,,
८२०–पारिस्परिक-आलम्भन ,,
८२१–अग्निमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति ,,
८२२–प्रजापति के अमृत-मर्त्य-रूप ,,
८२३–भूताग्नि की भूतरूपता ,,
८२४–प्राणाग्नि का देवत्त्व ,,
८२५–पञ्चपशुओं का भूत-प्राणमयत्त्व ,,
८२६–ऋतुरूपा भूतचिति
८२७–मज्जा-अस्थि-स्नाव-मेद-मांस-रूपा मर्त्या चितियाँ ,,
८२८–पञ्च-प्राणचितियाँ ,,
८२९–भूत, और प्राण-चितियों का पार्थक्य ,,
८३०–प्राणविस्रंसन, और पशुमरण ,,
८३१–भौतिक-शेषभूत शवभाग ,,
८३२–भूतभाग का चयन
८३३–पश्वालम्भन के द्वारा देवदेवताओं की जीवनसत्ता ,,
८३४–प्राकृतिक-पश्वालम्भन का रहस्यात्मक समन्वय ,,
८३५–पिता-पुत्र-आदि शब्दों का सापेक्षत्त्व ,,
८३६–प्रजापति शब्द का प्रजासापेक्षत्त्व ,,
८३७–आत्मा-प्राण-पशु-समष्टिः-प्रजापतिः ७६०
८३८–भोक्ता-भोग्यसाधन-भोग्य-समष्टि, और प्रजापति ,,
८३९–प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं, यदिदं किञ्च ,,
८४०–आत्मनिर्भरता से वञ्चित पशुभाव ,,
८४१–भोग्यदृष्टि का अवलम्ब पशुभाव ,,
८४२–चित्राग्नि की पञ्चपशुरूप में परिणति ,,
८४३–पञ्चपशुओं का भोग्यत्त्व ,,
८४४–पशुपतिरूप आत्मभाव ,,
८४५–पाशरूप-प्राणभाव ,,

८४६–पशुरूप-वाग्भाव ७६०
८४७–प्रतिपदार्थ में तथ्यत्रयी का समन्वय ,,
८४८–विश्वा जातानि परिता बभूव ,,
८४९–अन्नाद, और अन्न शब्दों का निर्वचनात्मक स्वरूप-समन्वय ,,
८५०–प्राणोत्थानस्थान की उक्थरूपता ,,
८५१–उक्थ, और अन्नदाग्नि ७६१
८५२–अर्क, और अग्निरश्मियाँ ,,
८५३–अशीति, और पशुरूप अन्न ,,
८५४–अशीति से अनुप्राणित उक्थ ,,
८५५–अशीति, और महदुक्थ ,,
८५६–अशीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायते ,,
८५७–आत्मा महदुक्थम् ,,
८५८–उक्, और आत्मा ,,
८५९–थम्, और अन्न ,,
८६०–अकार-उकार-मकार-अनुबन्धी-आत्मा का स्वरूप-समन्वय ,,
८६१–उक्थभावों के विभिन्न निदर्शन ,,
८६२–आत्मा की वाक्कला, और पशुभाग ,,
८६३–'श्व' इन्द्र ,,
८६४–नेन्द्राद्‌ऋते पवते धाम किञ्चन ,,
८६५–शुनइन्द्रात्मक-अमृताकाश ,,
८६६–एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ,,
८६७–इन्द्र, और इन्द्रपत्नी ,,
८६८–वाक् की पञ्चभूतरूप में परिणति ,,
८६९–वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता ,,
८७०–विश्व, और विश्वज्योति ७६२
८७१–पशुरूप अन्न, और विश्वज्योति ,,
८७२–पशुसोम की आहुति, और अन्नादाग्नि का प्रज्ज्वलन ,,
८७३–गर्भस्थ प्रजापति का संस्मरण ,,
८७४–क्षरकूट का सन्धाता कूटस्थ अक्षर ,,
८७५ (क)–विपरिणामी-क्षरभाव ,,
८७५ (ख)–क्षरः सर्वाणि भूतानि ,,
८७६–क्षरात्मक-पशुभाव ७६२
८७७–पदार्थमात्र का पशुत्त्व ,,
८७८–पशुसामान्य के स्वरूप-समर्थक कतिपय आर्षवचन ७६३
८७९–यज्ञसंसाधक पशु ,,
८८०–यज्ञार्थ पशु का आलम्भन, और 'स्वादिष्ट' भाव ,,
८८१–मनस्तुष्टयर्थ अपहृत पशु, और 'मदिष्टभाव' ,,
८८२–इन्द्रियलोलुपता, और मदिष्टता ,,
८८३–महर्षिताण्ड्य के सूत्र ,,
८८४–स्वादिष्ठा वै देवेषु पशव आसन्, मदिष्टा असुरेषु ,,
८८५–अपेक्षित-सोम, और विभिन्न यज्ञों का संस्मरण ,,
८८६–पश्वालम्भन की शास्त्रीयता का तत्त्वपूर्ण-समन्वय–प्रयास ,,
८८७–पशुवपा की सापेक्षता ,,
८८८–वपा-स्थित प्राणदेवता ,,
८८९–मुष्टयाघात, और आलम्भन ,,
८९०–हृणमेदस्तु वपा-वसा ,,
८९१–सोममय स्निग्धतन्तु, और वपा ,,
८९२–मेद, और मेध ,,
८९३–मेदो वै मेधः ,,
८९४–पशुर्वै मेधः ,,
८९५–मेधो वा आज्यम् ,,
८९६–यज्ञस्वरूपानुगता मेधग्रहण––व्यवस्था ,,
८९७–व्रीहि-यव में अन्तर्मुक्त पञ्चपशुओं का मेधद्रव्य ,,
८९८–पुरुषमेध से अश्व की प्रसूति ,,
८९९–अश्व के मेध से गौ की प्रसूति ७६५
९००–गौ के मेध से अवि की प्रसूति ,,
९०१–अवि के मेध से अज की प्रसूति ,,
९०२–पञ्चपशुरूप अजपशु ,,
९०३–अजपशु की सर्वपशुरूपता ,,

६०४–यज्ञकर्म्म की प्रारम्भिक-अवस्था, और मेधतत्त्व का परीक्षण ७६५
६०५–परीक्षाफलरूप-पुरोडाशद्रव्य का अन्वेषण, एवं पुरोडाशरूप पशु का हविर्यज्ञ में विधान ,,
६०६-पुरुष का प्राणवियोग, और पूतिभाव ,,
६०७–पुरुषमेध की सत्वर-उत्क्रान्ति ७६६
६०८–मेध के द्वारा दोष-परिमार्ज्जन ,,
६०६–पशुओं की मेधोत्क्रान्ति, और पशुमांस का पूतिभाव ,,
६१०–अजमेध का स्थिरत्व ,,
६११–अजपशु की प्रयुक्ततमता ,,
६१२–पशूनां-प्रयुक्ततमः-यदजः ,,
६१३–प्रकृतियज्ञात्मक दर्शपूर्णमास ,,
६१४–मौलिक-प्रतिष्ठात्मक हविर्यज्ञ ,,
६१५–उत्क्रान्तमेधा पञ्चपशु ,,
६१६–किंपुरुष, और पुरुषपशु ७६६
६१७–गौरपशु, और अश्वपशु ,,
६१८–गवयपशु, और गौपशु ,,
६१९-उष्ट्रपशु, और अविपशु ,,
६२०–शरभपशु, और अजपशु ,,
६२१–पञ्चविध-उपपशु ,,
६२२–आसुरभाववर्द्धक-आमिषतत्त्व ,,
६२३–अवैध, और वैध-मांस ,,
६२४–तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यम् ,,
६२५–अपक्रान्तमेधा हैते पशवः ,,
६२६–पशु, और पुरोडाश ,,
६२७–यज्ञ की पाङ्क्तता ,,
६२८–यज्ञसम्मत पशु की गतार्थता ,,
६२६–पुरोडाशानुगता-पञ्चपशु–समन्विता-पशु-सम्पत्ति का समन्वय ,,
६३०–'यदा पिष्टान्यथ लोमानि' ,,
६३१–व्रतोपायन-कर्म्मानुगत-विकल्प ७६७


## इति–प्रथमकाण्डे–द्वितीयाध्याये–तृतीयं ब्राह्मणम्

## द्वितीय–प्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्

## इति-पात्रीनिर्णेजनम्-पुरोडाशमीमांसया-समन्वितम्

१२

## इति–हविर्ब्राह्मणाध्यायः प्रथमः

१

* * * * *

श्रीः

# अथ-वेदिब्राह्मणाध्यायः

## अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये-चतुर्थ ब्राह्मणम् द्वितीयप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणम्

## * १३-वेदिकाकरणम्--वेदिस्वरूपसम्पादनञ्च तत्रादौ स्तम्बयजुर्हरणं, 'भू'-विशोधनञ्च

नामक

## क्रमप्राप्त १३ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'

(पृष्ठ सं० ७६८ से ८४२)


| | |
|---|---|
| १-प्रथमकाण्डान्तर्गत---द्वितीयध्यायानुगत-चतुर्थ-ब्राह्मण, एवं द्वितीय प्रपाठकानुगत द्वितीय-ब्राह्मण (मूल) | ७६८ |
| २-मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमन्वयात्मक-अनुवाद | ७७१ |
| ३-सूत्रानुगत-पद्धति-संग्रह | ७७७ |
| ४-विज्ञानभाष्योपक्रम | ७८६ |
| ५-ब्राह्मणग्रन्थोक्त विशेषप्रकरण, एवं सामान्य-विज्ञानभावों का अनुगमन | ७८६ |
| ६-पुनरुक्तिमूला आर्षशैली का समादर | " |
| ७-वेदनिर्म्माण का मूलाधार प्राकृतिक यज्ञ | " |
| ८--हविर्यज्ञ की प्रतिष्ठाभूमि, और भूपिण्ड | " |
| ९-ज्योतिष्टोमयज्ञ की प्रतिष्ठाभूमि, और महिमा-पृथिवी | " |


* भूल से ग्रन्थ में १३ वीं क्रमसंख्या के स्थान में १२ वीं संख्या लगगई है। पाठक संशोधन कर लेंगे।

१०--भूपिण्डस्था ओषधि-वनस्पतियाँ, और हविर्यज्ञ का आहुतिद्रव्य ७८६
११--मानव-ऋत्विजों के द्वारा वैध हविर्यज्ञ का वितान ,,
१२-भूपिण्ड की चर-अचर-विभूतियों का भोक्ता यजमान का भोक्तात्मा ,,
१३--यावती-वेदिस्तावती पृथिवी, और भूपिण्ड का वेदित्व ,,
१४--भूपिण्ड के लिए सतत स्पर्द्धाशील देवता, और असुर ,,
१५-गर्भस्थ-आग्नेय-प्रजापति, और अन्नभाव ,,
१६--भूपिण्डानुगत अग्निकीलक, और भूपिण्ड का स्वस्थाने परिभ्रमण, तथा तद्द्वारा अहोरात्र का आविर्भाव ७९०
१७--प्रजापति की धुररूपता ,,
१८--देवमय सौरमण्डल ,,
१९-असुरमय-पार्थिवभाग ,,
२०--देवदूत अग्नि ,,
२१--असुरदूत सहरक्षा ,,
२२--सर्वं वृत्वा शिष्ये, और वृत्र ,,
२३--वृत्रासुर का भूपिण्ड पर साम्राज्य ,,
२४-यज्ञविरोधी असुरभाव ,,
२५--असुरविरोध की स्वरूप-परिभाषा ,,
२६-देवदेवताओं की विकासभूमि ,,
२७-वारुण-वृत्रासुर का स्थान ,,
२८-बुद्धिवर्द्धक-सौर इन्द्रप्राण ,,
२९--बलतर्द्धक-आप्य-वरुणप्राण ,,
३०--असुर-शब्दार्थ निर्वचन ,,
३१--आपोमय प्राण, और बल की स्वरूप-परिभाषा ,,
३२--पारमेष्ठीमण्डल, और आप्यप्राण ,,
३३-देवापेक्षया त्रिगुणित असुर ,,
३४-शरीरसंस्थानुगत आसुर, और दैवभाव ,,
३५-विज्ञान, और देवता ,,
३६--बल, और असुर ७९०
३७--विज्ञानोपासक आत्मनिष्ठ ब्राह्मण ७९१
३८--आसुरधर्म्मों का स्वरूप-चित्रण ,,
३९-इन्द्र, और विरोचन का संस्मरण ,,
४०--आज का भारतवर्ष, और आसुरभावानुगति ,,
४१--सुख, और आनन्द का पार्थक्य ,,
४२--प्राच्य आदर्शों का आत्यन्तिक परित्याग ,,
४३-ऋषिवचनों की उपेक्षा ,,
४४--रङ्गरञ्जित शृगालों का प्राचुर्य्य ,,
४५-विज्ञान और भूतबल की प्रतिद्वन्द्विता ,,
४६--देवबल की अभिभूति ,,
४७--सत्यविज्ञान का अभिभव ७९२
४८--असुरबुद्धि-मानवों का अतिमान ,,
४९--श्रीशून्या जडलक्ष्मी, और तदुपासक ,,
५०--आगमशास्त्रोक्त लक्ष्मी का वाहन ,,
५१--लक्ष्मी का ताण्डवनृत्य, और मानव की पशुरूप में परिणति ,,
५२-कुलपुरोहितों का आत्यन्तिक पतन ,,
५३-दैवीविभूति, और आसुरविभूति का प्रचण्ड संघर्ष ,,
५४-देवासुरसंग्राम की परम्परा ,,
५५--देवस्वरूप का संस्मरण ,,
५६--सौरमण्डलानुगत श्वेतद्वीप ,,
५७--पुराणानुगत श्वेतद्वीप ,,
५८--श्वेतद्वीपनिवासी सत्यनारायण ,,
५९-इन्द्र का महान् विजय, और उन का असपत्नभाव ,,
६०-'न त्वं युयुत्से' का संस्मरण ,,
६१-देवासुराख्यान का संस्मरण ,,
६२-मघवा इन्द्र, और सनातन विजय ७९३
६३-मरुत्वान् इन्द्र, और असुर के साथ स्पर्द्धा ,,
६४-वासव इन्द्र, और ,, ,,

६५–आख्यानानुगत-इन्द्र-वृत्र-स्फ्य, यूप-रथ-शर-नामक-षड्विध भावों का संस्मरण ७६४
६६–भूपिण्डपरिभ्रमण, और तदनुगत दिव्य, तथा आसुर-अर्द्धार्द्ध मण्डल ,,
६७–परिभ्रमणात्मिका देवासुरप्रतिस्पर्द्धा, तथा स्थान-परिवर्त्तन ,,
६८–सर्ग-प्रथमावस्था, और असुरों का प्रभुत्व ,,
६९–सौरइन्द्रानुगत भूपिण्ड, और असुरों का पराभव ,,
७०–मानवीय मानुषात्मा में दैवात्मा का समावेश, और यज्ञोद्देश्य ,,
७१–प्रजासृष्टि का प्रवर्त्तक यज्ञ, और भगवद्गीता के द्वारा तत्समर्थन ,,
७२–अलौकिकशक्ति, और प्रजापति ,,
७३–सौररश्मियों की वज्ररूपता ,,
७४–सौर बृहत्साम का आतान ,,
७५–असुरविनाशक वज्रास्त्र ७६५
७६–ओषधिसोम, और हविर्यज्ञ ,,
७७–नोदनाबलात्मक इन्द्रतत्त्व ,,
७८–प्रवर्त्तक–निवर्त्तक–स्तम्भक–भेदभिन्ना नोदनाबलत्रयी ,,
७९–इन्द्र की विक्षेपणशक्ति ,,
८०–इन्द्रवृषभ के शृङ्ग, और तदाघात ,,
८१–शृङ्गाघात, और भूपरिभ्रमण ,,
८२–'चक्राण ओपशं दिवि' ,,
८३–प्रवर्त्तक बल की महिमा ,,
७४–'स्फ्य' आयुध की कर्षणशक्ति ,,
८५–बलत्रयी के माध्यम से इन्द्र का भूपिण्ड पर आधिपत्य ,,
८६–स्तम्भक नामक ऐन्द्रबल ,,
८७–कर्षक ,, ,,
८८–प्रतिष्ठा ,, ,,
८९–संहार ,, ,,
९०–इन्द्रशक्तिमय यूप, और स्तम्भनशक्ति ,,
९१–कर्षणशक्ति, और स्फ्य ७६५
९२–प्रतिष्ठाशक्ति, और रथ ,,
९३–संहारशक्ति, और शर ,,
९४–इन्द्र की ब्रह्म-क्षत्र-रूपता ,,
९५–ऐन्द्रवज्र का चतुर्द्धा विभाजन ,,
९६–शक्तिचतुष्टयी के विभाजन में तारतम्य ७९६
९७–ब्राह्मणोपयोगी स्तम्भनलक्षण यूप, एवं कर्षणलक्षण स्फ्य ,,
९८–क्षत्रियोपयोगी प्रतिष्ठालक्षण रथ, एवं संहारलक्षण शर ,,
९९–आधिभौतिक असुरों का विनाश, और रथ-शर ,,
१००–आधियाज्ञिक असुरों का विनाश, और यूप-स्फ्य ,,
१०१–ब्रह्मवीर्यप्रधान शान्त-यूप, और स्फ्य ,,
१०२–क्षत्रवीर्यप्रधान उग्र-रथ, और शर ,,
१०३–'शर' शब्द का निर्वचनार्थ–समन्वय ,,
१०४–रथ-शर-वत्-यूप, और स्फ्य का भी क्षात्रतेजोयुक्तत्व ,,
१०५–द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति ,,
१०६–द्वाभ्यां राजन्यबन्धवः-संव्याघे ,,
१०७–युद्धभूमि में अवतीर्ण योद्धा, और उसके ध्वजा-रथ-खड्ग-शर-विध चतुर्विध युद्ध-प्रतीक ,,
१०८–राष्ट्रभेदभिन्न-ध्वजभेद ,,
१०९–ध्वजा, और आदर्श ,,
११०–आदर्श, और आज का मोनोग्राम ,,
१११–वरुणप्रतीकात्मिका-ध्वजा ,,
११२–गरुडध्वज भगवान् कृष्ण ,,
११३–सुपर्णात्मक गरुड का संस्मरण ,,
११४–भगवान् राम का वनगमन, और काञ्चनारवृक्षतले विश्राम ,,
११५–काञ्चनारध्वजो राजा ७९७
११६–जयनगर, और झाडशाही रुपय्या ,,

११७-सूर्यवंश का गौरवमय स्मारक प्रतीक झाड (कचनार) ७६८
११८--उदयपुर का ध्वजचिह्न-'चिह्न' (चील) ,,
११९--आगमशास्त्र, और चिह्न का शक्तिमयत्व ,,
१२०--प्रतीकात्मक-रावण के दस मस्तक ,,
१२१--गर्दभमस्तक की प्रतीकता ,,
१२२--अश्व-सिंह-वृषभ-आदि विभिन्न प्रतीकों की ध्वजरूपता का दिग्दर्शन ,,
१२३--चन्द्रहासात्मक-स्फ्य आयुध ,,
१२४--खड्ग के द्वारा आततायी का वध, और क्षात्रधर्म्म ,,
१२५--शस्त्रप्रहारकर्म्म की प्रतिष्ठाभूमि, और रथ ,,
१२६--प्रतिद्वन्द्वितात्मक युद्धरूप संव्याध ,,
१२७--संव्याधानुगता विजयश्री ,,
१२८--यज्ञाभिमुख असुर ,,
१२९--यज्ञविघातक वायव्य आसुरप्राण ,,
१३०--भूविशोधन, और असुरनिरसन ,,
१३१--आधिदैविक-चरित्र का समन्वय ,,
१३२--शरीररूप वेदिसंस्थान ,,
१३३--गार्हपत्यकुण्ड, और मूलग्रन्थि ,,
१३४--हृदयानुगत पार्श्वस्थान, और दक्षिणाग्निकुण्ड ,,
१३५--शिरोभाग, और आहवनीयकुण्ड ,,
१३६--कुण्डत्रयी से अनुगता अग्नित्रयी ,,
१३७--अध्यात्मयज्ञ का सञ्चालन ,,
१३८--अन्न-आपः-वायु-का अन्नत्व ,,
१३९--वायुसञ्चारात्मक इन्द्रसञ्चार ,,
१४०--इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते ,,
१४१--इन्द्र के द्वारा वृत्र का विनाश ,,
१४२--भौमत्रिलोकी, और इन्द्र-वृत्रासुर-युद्ध ,,
१४३--'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार' श्रुति का त्रिसंस्थानात्मक-अर्थसमन्वय ,,
१४४--कृत्रिमशत्रु, और द्विषत् ७९९
१४५--सहजशत्रु, और भ्रातृव्य ७९९
१४६--'भातृव्य' का पारिभाषिक-समन्वय ,,
१४७-देवो भूत्वा देवं भावयेत् से समुतुलित-यज्ञकर्म्म ,,
१४८--'देवस्य त्वा०' मूला श्रद्धात्मिका देवभावना ,,
१४९--देवप्राणमाध्यम से ही यज्ञायुधों का परिग्रहण ,,
१५०--स्फ्य का प्रयोग, और यज्ञोपयोगी भूप्रदेश का सम्पदान ,,
१५१--स्फ्यानुगत हिंसाकर्म्म ,,
१५२--हिंसाकर्म्म का आसुरभावत्व ,,
१५३--अहिंसाभावोपेत अध्वरकर्म्म ,,
१५४--अध्वरस्वरूप-सम्पादन ,,
१५५--शस्त्र, और शान्तिसाधन ,,
१५६--शस्त्रभय, और दुष्टों का दमन ,,
१५७--अहिंसा का साधक, रक्षक शास्त्र ,,
१५८--अहिंसाभावप्रधान देवदेवता ,,
१५९--देवमय यज्ञ का अध्वरत्व ८००
१६०--'अध्वरकृतं देवेभ्यः' का पारिभाषिक समन्वय ,,
१६१--शस्त्र का संशान ,,
१६२--अदृष्टशत्रु, और यज्ञिय आयुध ,,
१६३--आसुरप्राणविनाशक सौरवज्र ,,
१६४--इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः ,,
१६५--इन्द्र उत्तरतः ,,
१६६--रश्मिभावानुगत सहस्र-महिमाभावों का सहस्रधा वितान, एवं इन्द्र के अनन्त बाहु ,,
१६७--विद्यु दिन्द्र, और 'हेति' नामक वज्र ,,
१६८--सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ,,
१६९--सहस्रधा महिमानः सहस्रम् ,,
१७०--बाहुरूप रश्मियों की वज्ररूपता ,,
१७१--भृष्टियाँ, और शत्रुविनाशिका वज्र की कोरें ,,
१७२--'सहस्रभृष्टि' व्रज ८०१
१७३--ऋक्समष्टिरूप रश्मिभाव ,,

१७४–रश्मिरूपा स्रुक् ८०१
१७५–स्रुक्-शतपदी ,,
१७६–रश्मिभुक्त सान्तपनाग्निमय विक्षोभक प्राणरुद्र ,,
१७६–ये चैनं रुद्रा दिक्षु अभिश्रिताः ,,
१७७–अहोरात्रे-शतरुद्रियम् ,,
१७८–मानसिक क्रतुरूप संकल्प ,,
१७९–शतभावोपेता क्रतुरूपा रश्मि ,,
१८०–इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः ,,
१८१–शततेजाः–विशेषण का समन्वय ,,
१८२–विद्युन्मय तेजिष्ठ तेज ,,
१८३–वायुरसि तिग्मतेजाः ,,
१८४–वृत्रवध में समर्थ वज्र का स्वरूपवर्णन ,,
१८५–प्राकृतिकी वज्रशक्ति का मन्त्र के द्वारा यज्ञ में समावेश ,,
१८६–मन्त्रशक्ति से समन्वित स्फ्य की प्रचण्ड शक्तिमत्ता, एवं तत्सम्बन्ध में अवधानानतात्मक आदेश ,,
१८७–भूविशोधनार्थ अध्वर्यु के द्वारा 'स्फ्य' का सुतीक्ष्णीकरण ,,
१८८–सान्तपनाग्निरूप असुरघ्नमूर्त्ति अध्वर्यु का सज्जीभाव ,,
१८९–असुरनिरसनात्मक भूप्रदेश का साम्मुख्य ,,
१९०–मन्त्र का कण्ठानुगतत्त्व ,,
१९१–प्रक्षेपस्थान का दृष्टिपथानुगतत्त्व ,,
१९२–प्रत्यक्ष-असुर का अभाव, और महती विप्रतिपत्ति ,,
१९३–अन्तरिक्ष में व्याप्त असुरप्राण की अमूर्त्तता ,,
१९४–विषयानुगत मानवीय मन ८०२
१९५–मनोव्यापार की सफलता का माध्यम ,,
१९६–उपासनानुगत माध्यम का संस्मरण ,,
१९७–'उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना', और उपासना ,,
१९८–'प्रतिमा'-मध्यस्थता की-अनिवार्य्यता, और उपासना ८०२
१९९–मूर्त्तरूप-मूर्त्तिभाव ,,
२००–मूर्त्त द्वारा अमूर्त्त की आराधना ८०३
२०१–सगुणमन का गुणात्मक भौतिक-आलम्बन ,,
२०२–अमूर्त्त भावों के परिज्ञान के लिए मूर्त्त द्रव्यों का अपेक्षित माध्यम ,,
२०३–भौगोलिक-चित्र के द्वारा वस्तु-स्थिति का समन्वय ,,
२०४–उपायों का मिथ्यात्त्व, किन्तु उपेय का सत्यत्त्व ,,
२०५–'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः-सत्यं समीहते' का संस्मरण ,,
२०६–अमूर्त्त, और मूर्त्त का सम्बन्ध-सूत्र, एवं तन्निबन्धन 'निदानभाव' ८०४
२०७–कल्पितसम्बन्ध का परिचायक-निदानभाव ,,
२०८–पीतमृत्तिका, और गणपति ,,
२०९–पूँगीफल, और गणपति ,,
२१०–मूर्त्ति, और ईश्वर ,,
२११–सुप्रसिद्धा निदानविद्या ,,
२१२–भूगोलानुगत विविध प्रदेश, और प्रचलित-निदानभाव ,,
२१३–निदानभावों के माध्यम से ही वर्त्तमान-शिक्षापद्धति का निर्वाह ,,
२१४–शोक का नैदानिकरूप कृष्णवस्त्र ,,
२१५–रक्तपात का निदान रक्तवस्त्र ,,
२१६–शान्ति का निदाम हरितवस्त्र ,,
२१७–ऋषि-मान्यता के सम्बन्ध में आज के युग से प्रतिप्रश्न ,,
२१८–भूपिण्ड का नैदानिकभाव, और 'पद्म' (कमल) ८०५
२१९–अद्भ्यः पृथिवी, और भूपद्म ,,
२२०–आपोमय पुष्पकरपर्ण, और भूपिण्ड ,,
२२१–पुरकरत्त्वात्-पुष्कर ,,

२२२--पार्थिव-पद्मभू ब्रह्मा ८०५
२२३--पद्म, और भूपिण्ड का सामानाधिकरण्य ,,
२२४--योगमाया के द्वारा जगद्विमोहन ,,
२२५--मोहमयी मदिरा ,,
२२६--मदिरात्मक निदानभाव ,,
२२७--मोहशक्तिमयी मदिरा ,,
२२८--भूप्रतिष्ठारूप रुद्रप्राण ,,
२२९--मरुतो रुद्रपुत्रास: ,,
२३०--मरुद्वायु के सप्त महिमा-विवर्त्त ,,
२३१--स्तोमत्रयावच्छिन्ना अदिति ८०६
२३२--अदितिगर्भस्थ सप्तविधमरुत् ,,
२३३--विविधाकारकरणात्मक व्याकरण ,,
२३४--आदितिगर्भ का च्छेदन, और एकोन-पञ्चाशत्-मरुद्गण ,,
२३५--प्रथम मरुत्, और गणपति ,,
२३६--अन्तिम मरुत्, और महावीर ,,
२३७--धरा-धरित्री-धरिणी ,,
२३८--मूल प्रतिष्ठात्मक--गणपतिप्राण ,,
२३९--विघ्नकर्त्ता गणपतिप्राण ,,
२४०--विघ्नहर्त्ता गणपतिप्राण ,,
२४१--अध्यात्मसंस्थानुगता-गुहा-चतुष्टयी ,,
२४२--मूलग्रन्थि, और तत्र प्रतिष्ठित-गण--पतिप्राण ,,
२४३--मलग्रन्थिविमोक, और गणपति-प्राण की उत्क्रान्ति ,,
२४४--मूलाधार--स्थित-जीवनोपयिक गणपति--देवता ,,
२४५--गणपतिप्राण के स्वरूपधर्म्म का संस्मरण ,,
२४६--अदितिगर्भ, और मरुद्गण ,,
२४७--इन्द्र, त्वर और मारुतीसेना ,,
२४८--आप्यप्राणात्मक पूतिभाव ,,
२५०--पूतिभाव, और वारुण असुर ,,
२५१--असुरावासभूमि-आप्या ८०६
२५२--देवावासभूमि-निरावरणा ,,
२५३--वरुणदैवत्य-प्रदेश ८०७
२५४--इन्द्रपुरोगामी मरुद्गण ,,
२५५--मरुतो यन्त्वग्रम् ,,
२५६--मरुद्गणों का मूलाधार पार्थिव-मरुत्-गणपति ,,
२५७--गणानांपति, और गणपति ,,
२५८--इन्द्रप्राण से अभिन्न गणपति की मघवा-रूपता ,,
२५९--प्रथमारम्भक मघवारूप गणपति ,,
२६०--प्रतिष्ठोच्छेदक गणपति ,,
२६१--प्रतिष्ठासंस्थापक गणपति ,,
२६२--'निषुसीद गणपते' ,,
२६३--मघवा नामक गणपतिप्राण का सौर-त्रैलोक्य-प्रतिष्ठात्व ८०८
२६४--सर्वप्रतिष्ठात्मक-भूपिण्ड ,,
२६५--घनतम भौमप्राण ,,
२६६--पार्थिवाग्नि की अवस्थात्रयी ,,
२६७--आपो वा अर्क: ,,
२६७--अपां शर आसीत्-तत्पृथिव्यभवत् ,,
२६८--तेजोरसो निरवर्त्तताग्नि: ,,
२६९--स एष प्राण:-त्रेधा विहित: ,,
२७०--घनाग्नि पर आरूढ गणपतिप्राण ,,
२७१--गणपतिप्राण का वाहन ,,
२७२--वाहनप्राण, और मूषकप्राणी ,,
२७३--मूषक का स्वरूप-परिचय ,,
२७४--भूगर्भस्थ रसात्मक-घनप्राण ,,
२७५--घनप्राणकृतात्मा मूषकप्राणी ,,
२७६--जीवनीय-घनरसप्रेमी-मूषक ,,

२७७–मूषक के बिल की मिट्टी का यज्ञ में संग्रह ८०६
२७८–आखुकरीष का सम्भरण ”
२७९–अर्धोऽध इमां पृथिवीं चरन्तः-पीविष्ठाः ”
२८०–अस्यै हि रसं विदुः ”
२८१–गणपति की विच्युति, और मूषकमरण ”
२८२–मूषकमरण, और महामारी का आक्रमण ”
२८३–महामारी के उपशम के लिए अपेक्षित-गणपतियाग ”
२८४–गणपति-प्रतिष्ठात्मक अग्निरस ”
२८५–दक्षिणादिक्-और गणपति ”
२८६–दक्षिणदिशा, और गणपत्युपासना का प्राचुर्य्य ”
२८७–पीली मिट्टी, और गणपतिप्राण ”
२८८–गणपति का नैदानिक स्वरूप ”
२८९–मनो वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति ”
२९०–मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राण की प्रतिष्ठा ”
२९१–'गणपतिमावाहयामि' का पारिभाषिक-समन्वय ”
२९२–गणपति के नैदानिक ध्यानभावों का स्वरूप-समन्वय ८१०
२९३–'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' का संस्मरण ”
२९४–प्राणदेवता की प्रसन्नता ”
२९५–नीरूप-गणपतिप्राण ”
२९६–नीरूप प्राणों की आराधना के लिए विहित विभिन्न मूर्त्त-माध्यम, एवं उनकी नैदानिकता ”
२९७–भारतीय-निदानविद्या के कतिपय-रहस्यात्मक-आगमीय--निदर्शन ”
२९८–वेदविज्ञानरहस्य से वञ्चित भारतीय ब्राह्मण, और भारतीय-संस्कृति का उपहास ८११
२९९–सनातनधर्म्म की अन्तर्म्मुखता के विभिन्न कारणों का दुःखपूर्ण इतिवृत्त ”
३००–आर्य्यसमाज का अभिनिवेश, और तद्-भयानक-परिणाम ८११
३०१–सांस्कृतिक-अधःपतन के विभिन्न दृष्टिकोण ”
३०२–सांस्कृतिक-जागरण की पुनः सम्भावना ”
३०३–आन्तरिद्य आप्यप्राणमूर्ति असुर ८१२
३०४–मृद्गत प्राणरूप असुर ”
३०५–कुशमुष्टिरूप स्तम्बयजुः ”
३०६–स्तम्ब, और उसका हरण ”
३०७–'स्तम्बयजुर्हरण' के नैदानिक स्वरूप-का समन्वय ”
३०८–तदेतन्निदानेन–यत्–स्तम्बयजुः ”
३०९–असुरप्राणकृतात्मा असुरमानव ”
३१०–देवप्राणकृतात्मा देवमानव ”
३११–बुद्धिमान्, किन्तु निर्बल देवता ”
३१२–बलवान्, किन्तु बुद्धिशून्य असुर ”
३१३–एशियामाइनरनिवासी स्वयम्भू-प्रजापति के द्वारा दोनों का नियन्त्रण ”
३१४–दायविभाग–व्यवस्था, और असुरों को देवापेक्षया प्रभूत भूभाग का समर्पण ”
३१५–तृष्णानुगत असुरमानवों के द्वारा देव–सम्पत्ति के अपहरण का प्रयास ८१३
३१६–अफ्रीका के दर्रों के द्वारा सतत आक्रमण, और द्वादश-देवासुरसंग्राम ”
३१७–एशियाखण्ड का यज्ञभूमित्व ”
३१८–यज्ञभूमि नाम से विख्याता भौमत्रिलोकी ”
३१९–असुरमानवों का तस्करात्मक आक्रमण, और अग्निदेव के द्वारा तन्निरोध ”
३२०–देवताओं का सम्मिलित आक्रमण, और असुरपराभव ”
३२१–अररु नामक असुर का पलायन-प्रयास ”
३२२–अररु का दयावश गोष्ठान में प्रक्षेप ”
३२३–आसुरत्रैलोक्य का वारुणलोकत्व ”
३२४–वारुणलोक की गोष्ठानरूपता ”
३२५–अररु असुर का स्वलोक में पलायन ”

३२६–लोकांशरूप ब्रध्नस्य विष्टप् ८१४
३२७–भौमदेवताओं के द्वारा असुर-निरसन ,,
३२८–स्तम्बयजुर्हरणकर्म्म के द्वारा असुर-निर–सनात्मिका घटना का संस्मरण ,,
३२९–यज्ञकर्म्म की निर्विघ्न--समाप्ति का सूचक स्तम्बजुर्हरणकर्म्म ,,
३३०–स्तम्बयजुर्हरणकर्म्मानुगत आधिभौतिक (ऐतिहासिक) दृष्टिकोण का उपराम ,,
३३१–अध्यात्मसंस्था, और आख्यानोपक्रम ,,
३३२–चान्द्रवृत्रासुरात्मक प्रज्ञानतन्त्र ,,
३३३–सौर देवेन्द्रात्मक विज्ञानतन्त्र ,,
३३४–शरीर, और मन का असुरभूमित्व ,,
३३५–बुद्धि का देवभूमित्व ,,
३३६–भौमशरीर के द्वारा चान्द्रमन का सतत-आकर्षण ८१५
३३७–देवताओं की न्यूनता ,,
३३८–असुरों की अधिकता ,,
३३९–प्रज्ञानमनोरूप असुर का विजयदम्भ ,,
३४०–विषयानुगामी मन, और दिव्यस्वरूप का आवरण ,,
३४१–मनःप्रधान भूतात्मा की शरीरचिन्ता ,,
३४२–असुरों का प्रभुत्त्व, और मनस्तन्त्र ,,
३४३–आत्मप्रकाश की अभिभूति ,,
३४४–बुद्धिप्रधान देवताओं का पराभव ,,
३४५–असुरपराभव, और आत्मयाजी मानव ,,
३४६–बुद्धिबलाभिवृद्धि, और असुरपराभव ,,
३४७–आत्मयज्ञ का अनुगमन, और असुरप–राभव ,,
३४८–आध्यात्मिक-दृष्टिकोण का उपराम ,,
३४९–स्तम्बयजुर्हरणानुगत आधिदैविक--रहस्य का उपक्रम ,,
३५०–चतुर्लोकात्मिका स्तौम्या पृथिवी ,,
३५१–विश्वोपादानभूत 'शुक्र' का संस्मरण ,,
३५२–शुक्र-महिमात्रयी का संस्मरण ,,
३५३–अमृत-मर्त्यभावापन्न शुक्रषट्क ८१५
३५४–अमृतशुक्र, और अमृतसृष्टि ८१६
३५५–मर्त्यशुक्र, और मर्त्यसृष्टि ,,
३५६–भूपिण्ड का आपोमय समुद्र से वेष्टन ,,
३५७–समुद्रमभितः-पिन्वमानम् ,,
३५८–वाकस्तर, और पुराणाकाश ,,
३५९–आपोमय अर्णवसमुद्र ,,
३६०–अग्निमूर्त्ति भूपिण्ड ,,
३६१–आपोमय मण्डल ,,
३६२–अग्निप्रजापति के अमृत-मर्त्य-विभाग ,,
३६३–प्राणरूप अमृताग्नि ,,
३६४–भूतरूप मर्त्याग्नि ,,
३६५–चित्याग्निरूप भूताग्नि के अग्निः, आपः, नामक दो विवर्त्त ,,
३६६–अद्भ्यः पृथिवी, और अपतत्त्व ,,
३६७–अग्निभूस्थान, और अग्नितत्त्व ,,
३६८–चिते निधीयते, और चितेनिधेयरूप अमृताग्नि ,,
३६९–अमृताग्नि की रसावस्था ,,
३७०–तेजोरसात्मक अङ्गिरोऽग्नि ,,
३७१–भूपिण्ड, और तत्र प्रतिष्ठित अङ्गिरो–ऽग्नि ,,
३७२–सौर अग्नि की प्राणरूपता ८१७
३७३–विधरणधर्म्मा प्राणतत्त्व, और प्राणमूर्त्ति अङ्गिरोऽग्नि ,,
३७४–'अङ्गिरा' का तात्त्विक निर्वचनार्थ-समन्वय ,,
३७५–आदित्य, और अङ्गिरा की स्पर्द्धा ,,
३७६–वयं पूर्वमेष्यामः ,,
३७७–आगतिगति-भावापन्न अङ्गिरोऽग्नि ,,
३७८–द्यामङ्गिरसो ययुः ,,
३७९–सौरभावापन्न अङ्गिरोऽग्नि ,,
३८०–पृथिवीलोक का स्वरूप--समर्पक अङ्गिरा-प्राण ,,

३८१--अप्रथयत्. और पृथिवी ८१७
३८२--भूपिण्ड की पिण्डरूपता ,,
३८३--पृथिवी की मण्डलरूपता ,,
३८४--भूतप्रधान भूपिण्ड ,,
३८५--प्राणप्रधान पृथिवीमण्डल ,,
३८६--प्राणाग्नि की अवस्थात्रयी ,,
३८७--त्रिवृत्, और घनावस्थापन्न प्राणाग्नि ,,
३८८--पञ्चदश, और तरलावस्थापन्न प्राणाग्नि ,,
३८९--एकविंशस्तोम, और विरलावस्थापन्न प्राणाग्नि ,,
३९०--पृथिवीमण्डल के तीन स्वतन्त्र प्रदेश ,,
३९१--एकं सत् त्रेधात्मानं व्याकुरुत ,,
३९२--घनाग्निलोकात्मक पृथिवीलोक ,,
३९३--तरलाग्निलोकात्मक अन्तरिक्षलोक ,,
३९४--विरलाग्निलोकात्मक द्युलोक ,,
३९५--उत्तरोत्तर सूक्ष्मभावापन्न प्राणाग्नि ,,
३९६--भूः-भुवः-स्वः-का संस्मरण ,,
३९७--रुद्राग्नि, और रोदसीत्रिलोकी ,,
३९८--रोदसीत्रिलोकी का भूपिण्डात्मक भूलोक ८१८
३९९--रोदसी से पृथक् सत्ता रखने वाली स्तौम्य-त्रिलोकी, और प्रकृत आख्यान ,,
४००--महापृथिवीरूपा स्तौम्यत्रिलोकी ,,
४०१--रोदसी, और स्तौम्या का विभेद ,,
४०२--भूः-भुवः-स्वः, और रोदसी--त्रैलोक्य ,,
४०३--पृ० अन्त० द्यौः, और स्तौम्य-त्रैलोक्य ,,
४०४--आत्मवाङ्मण्डल की वषट्काररूपता का संस्मरण ,,
४०५--वषट्कारानुगत षड्विध स्तोमों का संस्मरण ,,
४०५--पृथिवी के पुष्करद्वीप में अवस्थित सूर्य्य-नारायण ,,
४०६--सूर्य्यात्मक रथ का तरण, और रथन्तरसाम ८१९
४०७--रथन्तर, और सागराम्बरा पृथिवी ,,
४०८--प्राणाग्निस्तर की अभिव्याप्ति ८१९
४०९--छन्दोमास्तोम, और पारावतपृष्ठ ,,
४१० सागराम्बरानुगता लोकचतुष्टयी ,,
४११--लोकानुगता देवचतुष्टयी ,,
४१२--त्रयस्त्रिंशद्विध देवदेवताओं का समन्वय ,,
४१३--सम्पूर्ण देवदेवताओं का अग्निमयत्त्व ,,
४१४--अग्निः सर्वादेवताः ,,
४१५--अग्निमुखा वै सर्वे देवाः ,,
४१६--अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम् ,,
४१७--ऋक्श्रुति के द्वारा यज्ञिय ३३ देवदेवताओं का संकलन ,,
४१८--उक्थरूप प्राणाग्नि ,,
४१९--अथर्वसंहितानुगत अग्निस्कम्भ ,,
४२०--सुमेरु कुमेरु--भावव्यवस्थापक-अग्नि ,,
४२१--अश्वपशुप्रवर्त्तक अन्नाग्नि ,,
४२२--प्राजापत्याग्नि, और प्राणदेवताओं का प्रजनन
४२३--प्राजापत्य- हिमा-विवर्त्त ८२०
४२४--चतुर्थ आपोलोक, और वरुणदेवता ,,
४२५--ग्रन्थिविमोचक प्राणाग्नि ,,
४२६--ग्रन्थिप्रवर्त्तक वारुणाग्नि ,,
४२७--भृद्गु, और भृगु ,,
४२८--भृगुर्वै वारुणिः ,,
४२९--अङ्गिरात्रयी, और विकासधर्म्म ,,
४३०--भृगुत्रयी, और संकोचधर्म्म ,,
४३१--मार्गव-आपोभाग, और असुरप्राण ,,
४३२--मार्गव-वायुभाग, और गन्धर्वप्राण ,,
४३३--मार्गव-सोमभाग, और पितरप्राण ,,
४३४--असुरों का स्वरूप-लक्षण-समन्वय ,,
४३५--आपोमण्डलस्थ--वृत्रासुर ,,
४३६--असुर की विभागत्रयी ,,
४३७--नवतीर्नव (९९) असुर ,,
४३८--(क) अन्धकारप्रवर्त्तक असुर ,,
४३८--(ख) वारुणि रात्रि ,,

४३९–असुरावासभूमि रात्रि ८२०
४४०–ज्योतिर्म्मय देवदेवताओं का रात्रि में पराभव ,,
४४१–दध्यङ्-अथर्वा की अस्थि का वज्र ,,
४४२–आपः, और सोम ,,
४४३–सोमजातियों का संस्मरण ,,
४४४–वृत्रसोम की अवस्थाचतुष्टयी ,,
४४५–ध्रुवसोमात्मक अश्मासोम ८२१
४४६–धर्त्रसोमात्मक तरलसोम ,,
४४७–धरुणसोमात्मक विरलसोम ,,
४४८–गुणात्मक-धर्म्मसोम ,,
४४९–घनावस्थोपलक्षित दधिभाव ,,
४५०–तरलावस्थोपलक्षित घृतभाव ,,
४५१–विरलावस्थोपलक्षित मधुभाव ,,
४५२–धर्म्मावस्थोपलक्षित-अमृतभाव ,,
४५३–अश्मासोम, और दधि ,,
४५४–दधि, और दध्यङ् अथर्वाप्राण ,,
४५५–'दध्यङ्' का निर्वचनार्थ-समन्वय ,,
४५६–दध्यङ्, और दधीचि नामक ऋषिप्राण ,,
४५७–गोत्रसृष्टिप्रवर्त्तक दधीचि-ऋषि ,,
४५८–अश्मासोमात्मक दधीचितत्त्व ,,
४५९–मृदुता से असंस्पृष्ट दधीचि प्राण ,,
४६०–आघात से असंस्पृष्ट दधीचिप्राण ,,
४६१–वसिष्ठादि प्राणों का सहज ऋजुधर्म्म ,,
४६२–मृदुभाव--सौहार्दादि से पराः-परावत दधीचि-ऋषि ,,
४६३–दध्यङ्सोमात्मक अस्थिरूप-प्रचण्ड वज्र ८२२
४६४–वज्र के द्वारा नवतीर्नव असुरों का इन्द्र के द्वारा पराभव ,,
४६५–पञ्चविंशति-अहर्गण, और सौम्य विद्युत् ,,
४६६–त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ,,
४६७–'जघान-नवतीर्नव' मन्त्र का संस्मरण ,,
४६८–असुरप्रतिष्ठात्मक नभ्यप्रजापति ,,
४६९–भार्गवाङ्गिरस-तप का संस्मरण ,,
४७०–अप्तत्त्व का स्नेहधर्म्म ८२२
४७१–अग्नितत्त्व का तेजोधर्म्म ,,
४७२–शरीतोष्ण--भावद्वयी की मूर्च्छा, एवं अनुष्णाशीत भूपिण्ड की स्वरूपनिष्पत्ति ,,
४७३–आग्नेयप्राणविकासात्मक--देवदेवता ,,
४७४–आप्य-भार्गव-प्राणात्मक असुर ,,
४७५–देवता, और असुरों का प्राजापत्यत्त्व ,,
४७६–असुरों का त्रैलोक्य पर आक्रमण ,,
४७७–सृष्टिसर्गानुबन्धिनी आरम्भावस्था-और देवासुरप्रतिस्पर्द्धा ,,
४७८–'उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे' ,,
४७९–आरम्भदशा का संस्मरण ८२३
४८०–आक्रमण की धारावाहिकता ,,
४८१–वर्त्तुलवृत्तानुगत केन्द्र, और परिधि ,,
४८२–केन्द्रबिन्दु का 'उत्तरत्त्व' ,,
४८३–सर्वोन्नत स्थान का हृदयत्त्व ,,
४८४–हृदय, और ऊर्ध्व ,,
४८५–ऊर्ध्व, और उत्तर ,,
४८६–निम्न, और दक्षिण ,,
४८७–दक्षिणादिक्, और परिधि ,,
४८८–उत्तरादिक्, और भूकेन्द्र ,,
४८९–केन्द्रस्थ अग्निप्रजापति ,,
४९०–अनपजय्य-असुर ,,
४९१–केन्द्रस्थ प्राजापत्याग्नि का परिभ्रमण ,,
४९२–सम्वत्सरानुगत भूमण्डल ,,
४९३–सम्वत्सरभोग्या महापृथिवी, और असुरों का पराभव ,,
४९४–आपोमय-पारमेष्ठ्य मण्डलरूप गोसवात्मक-गोलोक ,,
४९५–गोलोक, और गोष्ठान ,,
४९६–गोस्थान की गोष्ठानता ,,
४९७–वैष्णवधामात्मक गोलोक ,,
४९८–विश्व के पाँच पर्व, और तत्र प्रतिष्ठित पाँच देवता ,,

४९९–आपोमय परमेष्ठी, और विष्णु का साम्राज्य ८२३
५००–पारमेष्ठ्य इट्-ऊर्क्-गौ-भाव ८२४
५०१–गौ की जन्मभूमि व्रजधाम ,,
५०२–आयं गौः पृश्निरक्रमीत् ,,
५०३–गौ का निवास ठान में, और विचरण सर्वत्र ,,
५०४–ताण्ड्यश्रुति, और गोतत्त्व ,,
५०५–गोतत्त्व के विभूतिभावों का संस्मरण ,,
५०६–सत्यभावापन्न गोतत्त्व ,,
५०७–स्वस्त्ययनात्मक उद्बोधन ,,
५०८–कामगवी का भोगकाल, और सत्यानुरूपता ८२५
५०९–कामधेनु की पुत्री नदिनी का संस्मरण ,,
५१०–गोमाता की प्रसन्नता, और दिलीपवंश का संरक्षण ,,
५११–सूर्य्य की जन्मभूमि ,,
५१२–तासु बीजमवासृजत् ,,
५१३–बीजाग्नि, और सूर्य्यनारायण ,,
५१४–प्राणाग्निरूप आदित्य, और तद्भगिनी गौ ,,
५१५–रुद्रविभूति, और गोतत्त्व ,,
५१६–वस्वग्नि, और गोतत्त्व ,,
५१७–श्रद्धात्मक सोम, और गोतत्त्व ,,
५१८–सर्वदेवमयी प्राणमयी गौमाता ८२६
५१९–विश्वप्रजोत्पादक सोमरस ,,
५२०–वस्वग्निमयी पृथिवी, और लौहधातु ,,
५२१–रुद्राग्निमय अन्तरिक्ष, और रजतधातु ,,
५२२–आदित्याग्निमय द्युलोक, और स्वर्णधातु ,,
५२३–कृष्ण-श्वेत-पीत-भावनिबन्धना गोतत्त्वत्रयी ,,
५२४–गोतत्त्वत्रयी से कृतरूपा गौपशुत्रयी ,,
५२५–दुग्धानुगता कृष्णा गौ ,,
५२६–दानानुगता श्वेता गौ ,,
५२७–दर्शनानुगता पीता गौ ,,
५२८–प्राणविधा गौ, और प्राणीविधा गौ का अभेद ८२६
५२९–गोदुग्ध का यशोवर्णन ,,
५३०–गोदुग्ध की सर्वोत्कृष्टता, और आयुर्वेद ,,
५३१–भारतराष्ट्र का अर्थबल, और गोपशु ८२७
५३२–गोपशु का महतो महीयान् प्राणात्मक-स्वरूप ,,
५३३–सर्वदेवमयी गौमाता ,,
५३४–अमृतरसात्मिका गौमाता ,,
५३५–मन्त्रश्रुति के द्वारा गौमाता का यशोवर्णन ,,
५३६–ब्रह्मज्ञानानुगति, और गौसेवा ,,
५३७–पञ्चगव्य का माहात्म्य ,,
५३८–गोमय-गोमूत्र का माहात्म्य ,,
५३९–उभयलोकसंसाधिका गौमाता ,,
५४०–जड़वादानुगत बुद्धिवादी, और गौपशु की लौकिक उपयोगिता ,,
५४१–आसुरमानवों की पशुबुद्धि, और गौपशु ,,
५४२–प्राणपरीक्षा, और गौमाहात्म्य ८२८
५४३–ऋषि के द्वारा उद्बोधन--प्रदान ,,
५४४–गोतत्त्व की मूलविकासभूमि ,,
५४५–गोमाता के शृङ्गों का तात्त्विक स्वरूपोपवर्णन ,,
५४६–भूपिण्ड का संरक्षण, और गौशृङ्ग ,,
५४७–'बैल के सींग', और धरती--कम्प का समन्वय ,,
५४८–चतुर्विध भूकम्पों का संस्मरण ,,
५४९–ऐन्द्रभूकम्प का स्वरूप–समन्वय ,,
५४९–गोवंश का संत्रास, और भारतराष्ट्र का अमङ्गल ८२९
५५०–गोवंश की आराधना, और भारतराष्ट्र की श्रीसमृद्धि ,,
५५१–बृहच्छृङ्गोपेत गोतत्त्व, और यजुर्मन्त्र ,,
५५२–व्रजधामात्मक गोलोकधामरूप नित्य-लीलाधाम ,,

५५३–'व्रज' शब्द का निर्वचनार्थसमन्वय ८२६
५५४–हृदयाक्षरत्रयी, और तद्धर्म्मों का संस्मरण ,,
५५५–वैष्णवधाम की अक्षरधामरूपता ,,
५५६–स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम ,,
५५७–तद्विष्णोः परमं पदम् ,,
५५८–सर्वगतिरूप अव्ययपुरुष ,,
५५९–अप्ययस्थानात्मक-अव्ययपुरुष ,,
५६०–परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ,,
५६१–उपासकों का व्रजधाम ,,
५६२–'अपुनर्मार' नामक व्रजधाम ८३०
५६३–तद्धाम परमं मम ,,
५६४–भगवान् वासुदेव कृष्ण, और पारमेष्ठ्य-विष्णु ,,
५६५–पूर्णावतार वासुदेवकृष्ण ,,
५६६–भगवान् कृष्ण की गोचारणवृत्ति ,,
५६७–दुग्ध-घृतादि का सेवन ,,
५६८–असुरविनाशक भगवान् कृष्ण ,,
५६९–आपोमय व्रजधाम का स्वरूप-समन्वय ,,
५७०–व्रजधाम की अप्प्रधाना वरुणलोकता,--और असुरनिवास ,,
५७१–इन्द्र, और वरुण का अश्वमाहिष्य ,,
५७२–बधान देव सवितः-परमस्यां पृथिव्याम् ,,
५७३–अन्धे तमसि बधान ,,
५७४–शतेन पाशैः ,,
५७५–आख्यान के आधिदैविकेतिवृत्त का उपराम ,,
५७६–नित्ययज्ञ, और वैधयज्ञ का साम्य ८३१
५७७–देवाननुविधा वै मनुष्याः ,,
५७८--विज्ञानसंसिद्धा यज्ञविद्या का अपूर्व महत्त्व ,,
५७९–कल्पना के समावेश से यज्ञविद्या की मौलिकता की अन्तर्लीनता ,,
५८०–भारतीय--वैज्ञानिक--विद्याओं का अभिभव ,,
५८१–हविर्यज्ञ का वितान ,,
५८२–कुशमुष्टिरूप-स्तम्बयजु ,,
५८३–कुशमुष्टि का नैदानिक असुरत्व ८३१
५८४–कुशमुष्टि का उत्कर में प्रक्षेप ,,
५८४–स्तम्बयजुर्हरणोपाख्यानारहस्य का विराम ,,

## इति-स्तम्बयजुर्हरणोपाख्यान-रहस्यम्

* * *

५८५–सोपपत्तिक समाधान का उपराम ८३१
५८६–निदानविद्या, और असुर ,,
५८७–तृण-अन्तर्द्धान पूर्वक कुशमुष्टि पर स्फ्य से प्रहार ८३२
५८८–स्फ्य-प्रहार के रहस्यात्मक कारण का समन्वय ,,
५८९–ओषधिमूलों का संरक्षण ,,
५९०–उत्तरमूला ओषधियों का अहिंसन, और प्रहार ,,
५९१–पृथिवी की उत्तरमूलता ,,
५९२–'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्' वचन का वैज्ञानिक-समन्वय ,,
५९३–गर्भस्थ अग्निरस की अभीष्टा रक्षा ८३३
५९४–देवयजनभूमि का संरक्षण ,,
५९५–प्रथम-प्रहार का रहस्यात्मक समन्वय ,,
५९६–चान्द्र ओषध्यन्न ८३४
५९७–सौर वनस्पत्यन्न ,,
५९८- कृषिकर्म्मानुगता 'गुरबाई' ,,
५९९–उत्तरमूलसम्पत्ति का स्पष्टीकरण ,,
६००–आत्मविद्यात्मिका श्रौतविद्या ,,
६०१–वाग्व्यापार, और श्रुति ,,
६०२–प्राणव्यापार, और मति ,,
६०३–मनोव्यापार, और निदिध्यासन ,,
६०४–श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ८३५
६०५–शब्दभक्तिमात्रमूला अज्ञता ,,
६०६–स्थाणुरयं-भारहारः ,,

६०७–'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्' का तात्त्विकस्वरूप-समन्वय ८३५
६०८–'वर्षतु ते द्यौः' का समन्वय ,,
६०९–भू प्रदेश पर प्रोक्षणकर्म्म ,,
६१०–प्रोक्षणकर्म्म का रहस्यात्मक समन्वय ८३६
६११–जलावरोधक नमुचि-असुर ,,
६१२–पुरोवात–मेघ–विद्युत्–स्तनयित्नु का समन्वय, और वृष्टि ,,
६१३-सोम की श्रद्धारूप में परिणति ,,
६ ४–श्रद्धा की पर्जन्यरूप में परिणति ,,
६१५–पर्जन्य की वृष्टिरूप में परिणति ,,
६१६–द्युलोकानुगता वर्षा, और प्रोक्षणकर्म्म ,,
६१७–क्षत-विक्षत-सन्धाता प्रोक्षणकर्म्म ,,
६१८–'तस्मादाह-वर्षतु ते द्यौः' का वैज्ञानिक-समन्वय ,,
६१८–दूषितभाग का निदानात्मक असुरत्व ८३७
६१९–उत्कर का निदानात्मक गोष्ठानत्व ,,
६२०–लोकालोकस्थान का स्वरूप–दिग्दर्शन ,,
६२१–आत्महननरूप महापाप ,,
६२२–'ये के चात्महनो जनाः' ,,
६२३–अभिचारकर्म्म, और तदपवाद ,,
६२४–असुर का लोकचतुष्टयी से पराभव ,,
६२५–'तमतो मा मौक्' ,,
६२६–श्रुतिविरोधाशङ्का ,,
६२७–श्रुतिविरोध का निराकरण ८३८
६२८–वातव्याधि का प्रवर्त्तक वारुणवायु ,,
६२९–व्याधिनिवर्त्तक शिवनायु ,,
६३०–वारुणवायु, और रोगप्रवृत्ति ,,
६३१–ऐन्द्रवायु, और रोगनिवृत्ति ,,
६३२–पुरोवात, और ऐन्द्रवायु ,,
६३३–नमुचिप्राण का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
६३४–वृष्टिविद्या का संस्मरण ,,
६३५–पारमेष्ठ्य-तत्त्वत्रयी ,,
६३६–तत्त्वत्रयी के चार विवर्त्त ८३९
६३७–साम्बसदाशिववायु ,,
६३८–परमेष्ठी के वारुणमण्डल, और सोम-मण्डल-रूप दो भेद ८३९
६३९–उभयलोक के माध्यम से तथ्य का समन्वय ,,
६४०–ऐन्द्रवायुमय आपोलोक, तथा वरुण-मय आपोलोक का समन्वय ,,
६४१–ऐन्द्रलोकात्मक देवलोक ,,
६४२–वारुणलोकात्मक असुरलोक ,,
६४३–भास्वरसोम का दिव्यलोकत्व ,,
६४४–दिक्सोम का असुरलोकत्त्व ,,
६४५–पञ्चविंशति अहर्गण के विभिन्न तात्त्विक नामों का संस्मरण ,,
६४६–'अपां गम्भन्त्सीद' का समन्वय ,,
६४७–ज्योतिर्म्मय वेन से अनुगत दर्भ का संस्मरण ,,
६४८–दिक्सोम का स्वरूप-समन्वय ,,
६४९–गोरूपात्मक वैष्णवयज्ञ ८४०
६५० भास्वरसोमात्मक-आपोमय दिव्यलोक ,,
६५१–'पृथिव्यन्तरिक्षंद्यौर्दिशः' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
६५२–स्तोमानुगत-लोकसंस्मरण का परिलेख के द्वारा समन्वय ,,
६५३–वज्रप्रहार के द्वारा असुरों का पञ्चम-लोक में प्रक्षेप ,,
६५४–द्वितीय-प्रहारकर्म्म का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ८४१
६५५–'अररु' नामक सुप्रसिद्ध असुरप्राण के वैज्ञानिक-स्वरूप-का समन्वय ,,
६५६–अररु, और मन्त्रश्रुति ,,
६५७–द्रप्सरूप असुर ,,
६५८–वृष्टिबिन्दु की असुररूपता (अतएव तदसहनीयता) ,,
६५९–प्रकाश, और ताप का देवत्व, अतएव तत्सहनीयत्त्व ,,
६६०–वृष्टिजल की असह्यता ,,

६६१–'द्रप्स' शब्द का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय ८४२
६६२–हृदयबिन्दु, और पृषद्बिन्दु ,,
६६३–स्तोकबिन्दु, और द्रप्सबिन्दु ,,
६६४–बिन्दुचतुष्टयी का तात्विक स्वरूप-समन्वय ,,
६६५–यज्ञकर्म्म में अपेक्षिता अवधानता ,,
६६६–दैवात्मस्वरूप-सम्पादक यज्ञकर्म्म ,,
६६७–मानुषात्मा के साथ देवात्मा का अन्तर्य्याम-सम्बन्ध, और दिव्यभावापन्न यज्ञकर्म्म ,,
६६८–यत्किञ्चित् असावधानी से इष्टसाधक भी यज्ञ के द्वारा महान् अनिष्ट की सम्भावना ८४३
६६९–ब्राह्मणग्रन्थ-श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रानुगता-चिरन्तना पद्धतियों के समाश्रय से ही यज्ञ की इष्टसाधकता ,,
६७०–अभ्युदयसाधक यज्ञकर्म्म-का वितान ८४३
६७१–महर्षि तित्तिरि का एक प्रश्न ,,
६७२–महर्षि तित्तिरि के पूर्वपक्षात्मक विचार, और आज का बुद्धिवादी सुधारक ,,
६७३–भूविशोधन के सम्बन्ध में अवधानतात्मक प्रचण्ड-आदेश ,,
६७४–कुतर्कवादी की आपत्ति ,,
६७५–आपत्ति का निराकरण ,,
६७६–मानवप्रज्ञा की महत्त्व–हीनता ,,
६७७–प्राणव्यापारात्मक दिव्य-अदृष्ट-कर्म्मात्मक यज्ञ ,,
६७८–शब्दैकप्रामाणिकता, और यज्ञकर्म्म ,,
६७९-अध्वर्य्यु के द्वारा भूविशोधन ,,
६८०वेदिखननप्रकारोपक्रान्ति ,,

## इति–शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये-चतुर्थं ब्राह्मणम् द्वितीयप्रपाठके च-द्वितीयं ब्राह्मणम्

—∗—

## इति-वेदिकाकरणम्-वेदिस्वरूपसम्पादनंच तत्रादौ स्तम्बयजुर्हरणं, भू-विशोधनंच

## –१३

—∗—

श्रीः

# अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे–
# द्वितीयाध्याये–पञ्चमं ब्राह्मणम्
# द्वितीय–प्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणम्

## १४-वेदिपरिग्रहात्मकं-वेदिसम्पादनम्

नामक

## क्रमप्राप्त १४ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की
## 'विषयस्मारकसूची'
## ( पृष्ठ सं० ८४४ से ६५८ पर्य्यन्त )


१–प्रथमकाण्डान्तर्गत–द्वितीयाध्यायानुगत–पञ्चमब्राह्मण, एवं द्वितीयप्रपाठकानुगत-तृतीय ब्राह्मण (मूल) ८४४

२–मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमन्वयात्मक-अनुवाद ८४८

३–विज्ञानभाष्योपक्रम ८६१

### ❀देवासुरदायविभागाख्यानरहस्य❀

४–वेदिपरिग्रहाणात्मक पद्धतिप्रकरण का उपराम ८६१

५–वैदिक-इतिहास-मर्य्यादानुगत किञ्चिदिव निवेदनीय ,,

६–त्रिसहस्रवर्षावधि, और ज्ञान-विज्ञानात्मिका वैदिक-परिभाषाओं की विलुप्ति ,,

७–तत्त्वात्मक वेद की अपौरुषेयता, एवं–शब्दात्मक वेदशास्त्र की पौरुषेयता ,,

८–रहस्यपूर्ण विज्ञानभाषा, स्तुतिभाषा, इतिहासभाषा, और वेदार्थसमन्वय ८६२

९–विज्ञान-स्तुति-इतिहास-रूपा ज्ञातव्यत्रयी, और वेदशास्त्र ,,

१०–ज्ञान-कर्म्म-उपासनारूप कर्त्तव्यत्रयी, और वेदशास्त्र ,,

११–तत्त्वमीमांसात्मक विज्ञानप्रधान मूलवेद-शास्त्र का ज्ञातव्यत्त्व-समन्वय ,,

१२–तूलवेदशास्त्रात्मक कर्त्तव्य वेदशास्त्र की मूलप्रतिष्ठा, और ज्ञातव्यवेदशास्त्र ,,

१३–मूलवेदकाण्ड, और तूलवेदकाण्ड का स्वरूप-समन्वय ,,

१४–आचारनिष्ठात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा, और तत्प्रतिपादक-'कर्त्तव्यवेद' ,,

१५–मन्त्र, और ब्राह्मणात्मक-ज्ञातव्य, तथा-कर्त्तव्य-भावापन्न कृत्स्न वेदशास्त्र का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ८६२

१६–वैदिक--इतिहास के सम्बन्ध में आपात-रमणीय प्रश्न ,

१७–'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति' का संस्मरण ,,

१८–देवासुरदायविभागाख्यान के माध्यम से एक ऐतिहासिक तथ्य का दिग्दर्शन-प्रयास ,,

१९–श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! ! ,,

२०–वैदिक इतिहास के लेखन की अद्भुत-शैली, और साधारण मानवों की भ्रान्ति ,,

२१–वैदिक शब्दों के रहस्यात्मक समन्वय ,,

२२–वर्त्तमान बुद्धिवादी वेदप्रेमी, और उन का निष्कैवल्य-अध्यात्मवादाभिनिवेश ,,

२३–निष्कैवल्य आधिदैविक-चरित्रों के अभिनिवेश से अभिनिविष्ट आज के कतिपय वेदव्याख्याता ,,

२४–मानवचरित्रात्मक इतिहास के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों की महती भ्रान्ति ,,

२५–सर्वथा ऋजुभावापान्न भी वेद का असमाधेय-प्रश्नावलित्त्व ,,

२६–प्रोक्षणब्राह्मणानुगत आख्यान के माध्यम से निश्चित सिद्धान्त का स्पष्टीकरण ,,

२७–अष्टविध आख्यानों में से विशेष त्र्यात्मक-आख्यान का संस्मरण ८६३

२८–इति नु-अधिदैवतम् ,,

२९–इति नु-अध्यात्मम् ,,

३०–इति नु-अधिभूतम् ,,

३१–चयनयज्ञानुगत इष्टकाचितिप्रकरण, और इतिहास का समन्वय ,,

३२–चरित्रत्रयानुगता आख्यानभाषा ,,

३३–भाषाशैली की आत्यन्तिक दुरूहता ,,

३४–चरित्रत्रयात्मक वैदिक-आख्यान ,,

३५–विरुद्धभाषानुगत भ्रम ८६४

३६–पौराणिक-आख्यानों के सम्बन्ध में अज्ञजनों की महती भ्रान्ति ८६४

३७–विज्ञानप्रधान वेदशास्त्र ,,

३८–इतिहासप्रधान पुराणशास्त्र ,,

३९–पुराणाख्यानानुगत गुहानिहित-विज्ञान-तत्त्व ,,

४०–पौराणिक-अगस्त्याख्यान का संस्मरण ,,

४१–अगस्त्याख्यान का वैज्ञानिक-स्वरूप-दिग्दर्शन ,,

४२–पुराण के द्वारा मानवचरित्र की मध्यस्थता, और विज्ञान का प्रतिपादन ,,

४२–पुराणशास्त्र के प्रति अज्ञजनों के आक्षेप, और कथावाचकों की कृपा का दुष्परिणाम ,,

४४–पौराणिक-महत्त्वपूर्ण तत्त्ववाद का साङ्केतिक-दिग्दर्शन ८६५

४५–कथाव्यास से व्यासगद्दी से को कलङ्कित करने वाले आज के ये कथावाचक ,,

४६-पुराणस्पर्श में भी अनधिकृत आज के ये-लोकवञ्चक कथावाचक ,,

४७–कथावाचकों के पुराणकथाओं के सम्बन्ध में अनर्गल प्रलाप ,,

८–भौमस्वर्ग, और देवव्यवस्था का संस्मरण ,,

४९--आर्षप्रजा की श्रद्धा का उत्तरोत्तर अभिभव, और अनभिज्ञ कथावाचकों की कृपा के कुफल ,,

५०–प्रासङ्गिक पुराणालोचनोपराम ,,

५१–वैदिक-आख्यानों से अनुगत आनुषङ्गिक-मानवचरित्र ,,

५२–विशेष शब्द, और इतिहासाभिव्यक्ति ,,

५३–'औद्गौश्चर्म्मभिः' और इतिहास ,,

५४–'तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दन्' और इतिवृत्त ,,

५५–'के वयं ततः स्याम', और इतिहास ,,

५६-आधिभौतिक-( ऐतिहासिक ) चरित्र का समर्थन ,,

५७–आध्यात्मिक चरित्र के समर्थक-कतिपय ८६५
वाक्यों का समर्थक ,,

* * *

## आख्यानानुगत-आधिदैविक रहस्य
## ( ऐतिहासिक-रहस्य )

५८–दायविभाग, और ऐतिहासिक दृष्टिकोण ८६६
५९–भौमत्रिलोकी, और इतिहास ,,
६०–मनुष्यदेवताओं के द्वारा वैधयज्ञों का सम्पादन ,,
६१–भौम-असुरत्रिलोकी, और असुरों के आक्रमण ,,
६२–भौम-मानव-चन्द्रमा के द्वारा असुरबल को प्रोत्साहन, एवं देवबल का अभिभव ८६७
६३–सूर्य्यसदनात्मक विज्ञानभवन, और देवबल ,,
६४–इन्द्रार्जुन-मैत्रीप्रसङ्ग, और इतिहास ,,
६५–तक्षक-इन्द्र-मैत्री ,,
६६–युधिष्ठिर का स्वर्गगमन ,,
६७–भौमस्वर्ग, और देवव्यवस्था का संस्मरण ,,
६८–मय-वृत्र-नमुचि-बल-तार-तूर-विद्युन्माली-किलात-आकुली-आदि असुरजातियाँ, और ऐतिहासिक दृष्टिकोण ,,
६९–सुसभ्या-'मय' नाम की असुरजाति ,,
७०–शिल्प, तथा ज्योतिष-में पारङ्गत मयासुर-जाति ,,
७१–वर्त्तमान ज्योतिष, और वराहमिहिर ,,
७२–वराहमिहिर, और मयासुर ,,
७३–मय के द्वारा नवीन चन्द्रमा का निर्म्माण ,,
७४–इजिप्त प्रान्त का प्रचण्ड अग्नि-विस्फोटन, और भूगर्भ में तद्विलयन ,,
७५–ईश्वरीय-सृष्टि के साथ प्रतिस्पर्द्धा के भीषण-परिणाम ,,
७६–ईश्वरनिष्ठाशून्य-ज्ञानवञ्चित विशुद्ध भूतात्मक विज्ञान के द्वारा अन्ततोगत्वा सर्वनाश ,,
७७–वर्त्तमान भूतविज्ञान, और सर्वनाशोपक्रम ८६८
७८–आसुरशास्त्र, और वर्त्तमान ज्योतिष ,,
७९–बव-बालव-आदि आसुरीभाषा के शब्द ,,
८०–अवकहड-चक्रात्मिका मयासुरभाषा, और 'होडाचक्र' ,,
८१–वर्त्तमान जन्मकुण्डलियों का विपरीत-भाव, और आसुरधर्म्म ,,
८२–सूर्य्यपरिभ्रमण, और भूपिण्ड स्थिरत्वानुगता आसुरीदृष्टि, तथा वर्त्तमान ज्योतिःशास्त्र ,,
८३–वेदाङ्गज्योतिष का संस्मरण ,,
८४–इष्टकाचितिसन्धान, और वेदाङ्गज्योतिष ,,
८५–वेदाङ्गज्योतिष से अनुगता ग्रहसंस्था का प्रकृतिसिद्धक्रम ,,
८६–भूपिण्ड, और सूर्य्य की स्थिति का समतुलन ,,
८७–परमेष्ठी के चारों ओर सूर्य्य का परिभ्रमण ,,
८८–सूर्य्य के चारों ओर भूपिण्ड का परिभ्रमण ,,
८९–सूर्य्य का आपेक्षिक स्थिरत्व, एवं तत्-सम्बन्ध में श्रुतिवचन ८६९
९०–भचक्र का विचालित्व, और आसुरी दृष्टि ,,
९१–फलितज्योतिष का समन्वय, और स्थिर-चर-विमर्श ,,
९२–वैदिक-विज्ञानदृष्टि, और भूः, तथा सूर्य्य-दोनों का चरत्व ,,
९३–मयासुरजाति की विद्वत्ता का संस्मरण ,,
९४–मयासुर के द्वारा पाण्डवसभाभवन का निर्म्माण, और तन्मूलक महाभारतसमर ,,
९५–पृथिवीलोकानुगता मानवविधा देवासुर-व्यवस्था का संस्मरण ८७०
९६–अष्टविध देवताओं का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण ,,
९७–भूपिण्डानुगत उत्तरीगोलार्द्ध, और देवता ,,

९८–दक्षिणीगोलार्द्ध, और असुर ,,
९९–शान्तिप्रिय देवता ,,
१००–दुष्टबुद्धि असुर ,,
१०२–भौगोलिक-व्यवस्था का उपक्रम ,,
१०२–आर्य्यावर्त्त, और पूर्व-पश्चिम समुद्र ,,
१०३–आर्य्य, और दस्यु ,,
१०४–पश्चिमसमुद्र, और महीसागर ,,
१०५–महीसागर, और मेडिट्रेनियेन्सी ,,
१०६–रक्तसमुद्र, और रेड्सी ,,
१०७–पीतसमुद्र, और यलोसी ,,
१०८–निरक्षवृत्तानुगत लङ्काद्वीप ,,
१०९–सिंहल, और सीलोन ,,
११०–सीलोन से अनुगता लङ्का-भ्रान्ति ,,
१११–देशान्तर के माध्यम से शङ्कानिवृत्ति ,,
११२–दक्षिणसमुद्र, और भारत की दक्षिणसीमा ,,
११३–पूर्वसमुद्रानुगता पूर्वसीमा ,,
११४–पश्चिमसमुद्रानुगता पश्चिमसीमा ,,
११५–पश्चिमसमुद्र, और शर्वतीर्थ ,,
११६–भारताग्नि की सत्ता, और भारतवर्ष ,,
११७–भारतीय-सीमा की विस्मृति ,,
११८–भारतीय विद्वानों की सुषुप्ति, और व्यर्थ का वाक्कलह ,,
११९–विद्वानों का वाक्कलहरूप पौरुषेय-अपौरुषेय-विवाद ८७१
१२०–सीमास्वरूप का बोधाभाव ,,
१२१–पाश्चात्यविद्वानों की स्वार्थदृष्टि ,,
१२२–भारतीय-विद्वानों की सुषुप्ति ,,
१२३–स्वतन्त्रविचारश्रवण में भी असमर्थ भारतीय विद्वद्गण ,,
१२४–दक्षिणा-प्रलोभनानुगत समन्वय, और व्यर्थ का वादविवाद ,,
१२५–वेद की अपौरुषेयता की मान्यता, और वेदार्थ-जिज्ञासा ,,
१२६–राजनैतिक–स्वार्थलिप्सु प्रतीच्य-विद्वानों से किञ्चिदिव निवेदन ,,
१२७–भारतीय-सीमाप्रसङ्ग के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण ८७२
१२८–पाद्मभुवनकोश का स्वरूप-संस्मरण ,,
१२९–पुराणशास्त्र के प्रति कृतज्ञतार्पण ,,
१३०–पुराण के १८ विषयों में से 'भुवनकोश' (भूगोल) का संस्मरण ,,
१३१–ब्राह्मपुराणानुगत पाद्मभुवनकोश की स्मृति ,,
१३२–भूगोलविद्यानुगत-प्रथम सप्तक ,,
१३३– ,, द्वितीय सप्तक ,,
१३४– ,, तृतीय सप्तक ,,
१३५–सप्तद्वीपा वसुमती से अनुप्राणित सात द्वीपों का नाम-स्मरण ८७३
१३६–सप्तसमुद्रों से युक्त सप्त महाद्वीप ,,
१३७–काञ्चनीभूमि, और लोकालोक ,,
१३८–तम, और अण्डकटाह ,,
१३९–महापृथिवी, और द्वीप-समुद्रादि ,,
१४०–मण्डलरूपा महापृथिवी के सात समुद्रों से अपरिचित लार्डमेकाले महोदय की महती भ्रान्ति, और तन्निराकरण ,,
१४१–सौरब्रह्माण्ड की सीमा, और भूपद्म ,,
१४२–पार्थिवपुष्करद्वीप में प्रतिष्ठित सौर-हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा ,,
१४३–पुराणोक्त सप्तद्वीप-स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
१४४–सप्त-समुद्रों का नाम-संस्मरण ८७४
१४५–सप्त वायुस्तरों का नाम संस्मरण ,,
१४६–सप्त-लोकों का नाम संस्मरण ,,
१४७–सप्त पातालों का नाम संस्मरण ,,
१४८–'पाताललोकाः-पृथिवी-पुटानि' ,,
१४९–आपोमय तीन पुट ,,
१५०–अग्निमय तीन पुट ,,
१५१–केन्द्रीय ब्राह्मपुट ,,
१५१–मेरुरूप स्कम्भ ,,
१५३–भूगर्भस्थ प्रजापति ,,
१५४–हृदयरूप भौमप्रजापति ,,

१५५--शेषनाग का फण, और भूपिण्ड ८७५
१५६--क्रान्तिमण्डलपृष्ठीय केन्द्रभूत कदम्ब ,,
१५७--सुमेरु और कुमेरु का संस्मरण ,,
१५८--सप्त-आवरण-नामक नरकों का नाम दिगदर्शन ८७६
१५९--नरकलोकात्मक सात आवरणलोकों के नक्षत्रभेदानुबन्धी २८ अवान्तर नामों का दिग्दर्शन ,,
१६०--पुराणप्रसिद्ध ८४ नरक, और नक्षत्र-कक्षात्रयी ,,
१६१--'अपि च सप्त' से अनुगत सप्त नरक ,,
१६२--असुर्य्यलोकात्मक नरक ,,
१६३--सप्त-आकाश-नामक स्वर्गों का नाम
१६४--सप्तदेवानुगत सप्त-स्वर्ग ,,
१६५--अनावृतभावात्मक स्वर्ग की 'आकाश' की अभिधा का समन्वय ८७७
१६६--कुलगिरि, शाखागिरि, आदि अष्टविध प्रमुख-पर्वत-विभाग ,,
१६७--महेन्द्र-मलयादि सप्तविध कुलपर्वत ,,
१६८--पाद्मभुवनकोशानुगता नदियों का संस्मरण ,,
१६९--भारतवर्ष की विविध नदियों का नाम संस्मरण ८७८
१७०--त्रिसहस्रवार्षिकी दासता, और स्वराष्ट्रीय--गौरव की विस्मृति ८७९
१७१--समुद्र-सागर-उपसागर-सर--पल्लव--आदि का संस्मरण ,,
१७२--अरण्य-उपवन-आराम--वाटिका-निष्कुट-आदि का संस्मरण ,,
१७३--विविध आकरों ( खानों ) का संस्मरण ,,
१७४--पुरी-पत्तन-महानगर--नगर-ग्राम-खरवट-उपनिवेश-देश-पुर-आदि का संस्मरण ,,
१७५--पुर और पुरी आदि नामों का पारि--भाषिक समन्वय ८८०
१७६--मत्स्य-कुमुद्माल्य-आदि मध्यदेश ,,
१७७--वाह्लीक-कालतोयद-आदि उदीच्यदेश ८८०
१७८--अन्ध-वामकुङ्क-आदि प्राच्यदेश ,,
१७९--पूर्ण-केरल-गोलांगूल-आदि दाक्षिणात्य-जनपद ,,
१८०--लोल-तालकर-आदि अपरान्तजनपद ,,
१८१--मलज-कर्कश-आदि विन्ध्यवासीजनपद ,,
१८२--कुरु-तुङ्गण-आदि पर्वताश्रयी जनपद ,,


## पाद्मभुवनकोशस्वरूपदिग्दर्शनम्

( पृ० सं० ८८१ से ९०९ पृ० पर्य्यन्त )


१८३--भूगोलविद्या, और पौराणिक-भुवनकोश ८८१
१८४--पुरातन-स्थिति का संस्मरण ,,
१८५--अभिजित्-नक्षत्ररूप ध्रुवात्मक-पुरातन-काल ,,
१८६--भूपद्म की कर्णिका, और सुमेरु ,,
१८७--सुमेरुकक्षानुगता चन्द्र-सूर्य्य-कक्षाओं का संस्मरण ,,
१८८--पुराणदृष्ट्या चन्द्रमा का सूर्य्य से ऊर्ध्व--स्थितत्त्व ,,
१८९--पुराणानुगत ज्योतिष्चक्रात्मक--खगोल, और तन्मूलाधारभूत मेरु ,,
१९०--पुराण की रहस्यपूर्ण पारिभाषाएँ ,,
१९१--उत्तरध्रुवप्रदेशात्मक-सुमेरुप्रदेश ,,
१९२--वर्त्तुलभूपिण्ड का खस्वस्तिकबिन्दु ,,
१९३--खस्वस्तिक, और उत्तरध्रुव ,,
१९४--अधःस्वस्तिक, और दक्षिणध्रुव ,,
१९५--खस्वस्तिक, और सुमेरु ,,
१९६--अधःस्वस्तिक, और कुमेरु ,,
१९७--सुमेरु-कुमेरु-रूप भूपिण्ड ८८२
१९८--विष्वद्रेखाधार पर भूपिण्ड के दृश्य-अदृश्य-रूपेण दो विभाग ,,
१९९--उत्तर-गोलार्द्ध, और विष्वद्रेखा ,,
२००--दक्षिण-गोलार्द्ध, और विष्वद्रेखा ,,

२०१--पौराणिक-भूगोल की अध्ययनाध्यापन-परम्परा की विलुप्ति, और हमारी कठिनता, तथा अज्ञता ८८३
२०२--पाश्चात्यों की मध्यरेखा ग्रीन्वीच ,,
२०३--भारतीयों की मध्यरेखा-उज्जैन ,,
२०४--भूगोलशिक्षणानुगत--पारिभाषिक-अस्सी-पूर्वी-देशान्तर ,,
२०५--भूमध्यरेखानुगत ३६० ध्रुवप्रोतवृत्त ,,
२०६--मेरुप्रोतवृत्तात्मक ध्रुवप्रोतवृत्त ,,
२०७--प्रथममध्याह्नरेखा, एवं भूमध्यरेखा ,,
२०८--भूमध्येरेखा, एवं विषवद्वृत्त ,,
२०९--उत्तरीगोलार्द्ध का (दृश्यक्षितिज का) भूभाग ८८३
२१०--दक्षिणी गोलार्द्ध का (अदृश्यक्षितिज का) भूभाग (पाश्चात्यभूगोलविद्यानुगत) ,,
२११--क्षेत्रफलानुगत गोलार्द्धान्तर ,,
२१२--अर्वस्तानादि पूर्वीरूसान्त-भूभाग, और एशिया-प्रदेश ,,
२१३--उपद्वीपात्मक एशियायी-खण्ड ,,
२१४--भारतीय-उपद्वीपसंघ की प्रतीच्या-अभिधा
२१५--पाश्चात्यों की भूगोलव्यवस्था की आधार भूमि-राज्यशासनपद्धति ,,
२१६--राज्यसीमा की वृद्धि, तथा ह्रास के अनुपात से प्रतीच्य भूगोल-व्यवस्थाओं में सामयिक-परिवर्त्तन ,,
२१७--प्रतीच्यदेशाभिमता अस्थिरा भूगोल-व्यवस्था ,,
२१८--भारतीय-भूगोलव्यवस्था की प्राकृतिकता, एवं आकल्पान्त-स्थिरता ,,
२१९--प्रजापतिप्रदत्त-भारतीय दाय-भाग, एवं तत्समर्थक भारतीय-प्राच्यसाहित्य ,,
२२०--भारतवर्ष की वर्त्तमानस्वरूप-इयत्ता, और महान् आश्चर्य्य ,,
२२१--प्रतीच्य-राजनैतिकों की तर्काभास-परम्परा, एवं तन्मूलोच्छेद ८८४
२२२--वञ्चकों की प्रतारणा का सम्यक् निराकरण
२२३--राज्यशासनानुगता देशविभागव्यवस्था ,,
२२४--'शासनकृत विभागा'त्मक एक प्रकार ,,
२२५--परिवर्त्तनशीला-भौगोलिक-व्यवस्था, और राज्यशासन ,,
२२६--वर्म्मा, और भारत का पार्थक्य ,,
२२७--गन्धार, और भारत का पार्थक्य ,,
२२८--पश्चिमभारतवर्ष, और अफगानिस्तान ,,
२२९--भारतवर्ष की अत्यल्पता, और 'हिन्दुस्तान' नाममात्र में संकोच ,,
२३०--गणितानुगता-भूगोलव्यवस्था ८८५
२३१--गणितानुगता मान्या व्यवस्था ,,
२३२--प्रकृतिसिद्ध-गणितानुगत-भारतवर्ष ,,
२३३--दिग्देशकाल का महान् व्यामोहन ,,
२३४--प्रगतिशीलों के सामयिक उद्गार ,,
२३५--अन्न-वस्त्र-की चिन्ता के चीत्कार से संत्रस्त प्रगतिशील भारतीय-मानव ,,
२३६--उदरचिन्ता की महामारी से संत्रस्त-भारतराष्ट्र ,,
२३७--रोग का वास्तिविक निदान ,,
२३८--ज्ञानशक्तिबल से वञ्चित भारतराष्ट्र की पशुरूपता ,,
२३९--उच्छिष्टज्ञानरूप प्रवर्ग्यभाग, और पशु-सृष्टि का सन्तोष ८८६
२४०--स्वशिक्षा-संस्कृति शून्या-पशु-वृत्ति, और भारतीय प्रज्ञा का निरतिशय-पारतन्त्र्य ,,
२४१--मोक्तृभाव की स्वरूपनिष्पत्ति, एवं आत्म-बलाराधन ,,
२४२--आत्मबलानुगता स्वसंस्कृति, स्वसाहित्य, एवं स्वसभ्यता ,,
२४३--स्वविभूतियों के तिरस्कार से भारतराष्ट्र का सुनिश्चित सर्वनाश ,,

२४४--राष्ट्र का मौलिक प्राणरूप-मौलिक-साहित्य ८८६
२४५-स्वतन्त्रता, और परतन्त्रता की स्वरूप-परिभाषा ,,
२४६--'भारतीयत्त्व' की अक्षुण्णता, और तदनुबन्धिनी प्रगति का समादर ,,
२४७--राष्ट्र के जीयनीय स्रोत ,,
२४८--भारतीय-साहित्य की सर्वरूपता ,,
२४९--वर्त्तमान भावुक-प्रगतिशीलों का प्रश्नाभास, और स्वतः ही तत्समाधान ,,
२५०--आजके भारतवर्ष का स्वरूप-दिग्दर्शनोपक्रम ८८७
२५१- सभ्यता, वर्णाश्रम, लोकविभाग आदि के प्रथम-प्रवर्त्तक-भगवान् प्रजापति ,,
२५२-भूपिण्ड की-'कमल' रूप में मान्यता ,,
२५३-भूरूप पद्म के चार पत्र ,,
२५४-प्रत्येक पत्र ९० अंशात्मक ,,
२५५-आपो वै पुष्करपर्णम्-और भूपद्म ,,
२५६-पद्ममूलक भूगोल, और पाद्मभुवनकोश ,,
२५७-मेरुस्थित-हिरण्यशृङ्गपर्वत पर प्रतिष्ठित प्रजापति ,,
२५८-स्वर्गीय श्रीबालगङ्गाधर तिलक की मान्यता के सम्बन्ध में नीरक्षीरविवेक ,,
२५९-आर्य्यप्रतिष्ठाभूमिरूप-सुमेरु ,,
**२६०-'सुमेरु स्थान से आर्य्यों का आगमन' इस अंश का प्रतिवाद** ,,
२६१-सुमेरु के आधार पर उपकल्पित-उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम-में ९०-९० अंशात्मक चार भूखण्ड ,,
२६२-पद्मपुराण के कतिपय वचन, और पाद्म-भुवनकोश ,,
२६३-सूर्य्यसिद्धान्तानुगत--भूगोलाध्याय, और तन्निबन्धना भूगोलव्यवस्था का संस्मरण ८८८
२६४-पत्रात्मक चार खण्ड, और चार 'वर्ष' ,,
२६५-चतुर्द्दल कमल की अष्टदलकमलरूप में परिणति ८८८
२६६-ब्राह्मभुवनकोशानुगत अष्टदलकमल ,,
२६७-विष्वद्धरातल, और मेरुदण्ड का परिमाण ,,
२६८-भारतवर्ष, किंपुरुषवर्ष, और हरिवर्ष ८८९
२६९-रम्यकवर्ष, हिरण्मयवर्ष, और कुरुवर्ष ,,
२७०-पूर्वस्थित-भद्राश्ववर्ष ,,
२७१-पश्चिमस्थित-केतुमालवर्ष ,,
२७२-मेरुप्रदेशानुगत-इलावृतवर्ष ,,
२७३-नववर्षात्मक भूवनकोश ,,
२७४-सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः ,,
२७५-'उत्तरतः-स्थितः' का पारिभाषिक-समन्वय ,,
२७६-ऊर्ध्व-उत्तर--ऊँचा-केन्द्र ,,
२७७-अधः-दक्षिण--नीचा-परिधि ,,
२७८-नवसहस्रयोजनात्मक इलावृतवर्ष ,,
२७९-पूर्वानुगत-चैत्ररथ नामक महावन ,,
२८०-अरुणोदय-नामक-महासर ,,
२८१-दक्षिणानुगत-गन्धमादनपर्वत ,,
२८२-मानससर-नामक महासर ,,
२८३-गन्धमादन, और नन्दनवन ,,
२८४-पश्चिमानुगत-वैभ्राजवन नामक महावन ,,
२८५-असितोद-नामक महासर ,,
२८६-असितोद, और शीतोद ,,
२८७-उत्तरानुगत-सवित्रवन नामक महावन ८९०
२८८-महाभद्र-नामक महान सर ,,
२८९-पार्थिवस्वर्ग का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
२९०-मेरु की दक्षिण सीमा से अनुगता हिमवान्-हेमकूट-निषध-नामकी पर्वतत्रयी ,,
२९१-उत्तरसीमानुगत--नील--श्वेत-शृङ्गवान्-नाम की पर्वतत्रयी ,,
२९२-पादपर्वतों से अनुगत कुलपर्वत ,,
२९३-शाखाशैलों का संस्मरण ,,

२६४–नवविध वर्षपर्वतों का नाम संस्मरण, एवं तत्सम्बन्ध में अर्थप्रवचन ८६०
२६५–अष्टदलकमलात्मक–पाद्मभुवनकोश-परिलेख (८८६,८६० के मध्य में) ,,
२६६–मेरुस्वर्ग की सीमा के सम्पादक चार विष्कम्भपर्वत ८६१
२६७–कदम्ब-जम्बु-पिप्पल-वट नामक सुप्रसिद्ध चार भौमस्वर्गीय-वृक्ष, एवं 'केतुवृक्ष का संस्मरण ,,
२६८–स्वर्गपरिचायिका केतुवृक्षचतुष्टयी ,,
२६६–दक्षिणस्थ-गन्धमादनपर्व पर प्रतिष्ठित केतुरूप-जम्बुवृक्ष, और 'जम्बुद्वीप' ,,
३००–भारतवर्ष, और जम्बुद्वीपानुगत-भरत-खण्ड ,,
३०१–जम्बु, और जम्बुनद ,,
३०२–जम्बुनद, और जाम्बुनदसुवर्ण ,,
३०३–सुमेरु की पारिभाषिकी सुवर्णरूपता ,,
३०४–अचला-मेरुबिन्दु ,,
३०५–जाम्बुनदसुवर्ण का यशोवर्णन ,,
३०६–केसरपर्वतों का संस्मरण ,,
३०७–अष्टविध–मर्य्यादापर्वत ,,
३०८–प्रशान्तमहासागरात्मक–पूर्वसमुद्र ,,
३०९–पश्चिमसमुद्र (मेडिट्रेनियेन्सी) ,,
३१०–पद्मचतुष्टयी रूप २० केसरपर्वतों से अनुप्राणित-परिलेख ८६२
३११–देवयुग, और नीतितन्त्र की प्रमुखता ८६३
३१२–देवयुग, और राजतन्त्र का गौणत्व ,,
३१३–नीतितन्त्र के सञ्चालक लोकपाल ,,
३१४–राजतन्त्र के सञ्चालक स्वयम्भू-मनु ,,
३१५–आपोविभागाध्यक्ष भौम-वरुण ,,
३१६–ओषधिविभागाध्यक्ष-भौम चन्द्रमा ,,
३१७–समितिरूपा–विचारसभा ,,
३१८–सम्राट, और स्वाराट्-उपाधियाँ ,,
३१९–सुधर्म्मा-नाम की इन्द्रसभा ,,
३२०–सौवीररूप इन्द्रराष्ट्र, और न्यूसाइवीरिया ८६३
३२१–इन्द्रप्रदेश, और अपराजितादिक् ,,
३२२–ब्रह्मप्रजापति की कान्तिमतीसभा ,,
३२३–ब्रह्मराष्ट्र-प्राग्ज्यौतिष ,,
३२४–मद्रगिरि-चन्द्रगिरि के मध्य में निवास करने वाले भौम विष्णु ,,
३२५–सुमेरु मध्यस्था ब्रह्मपुरी ,,
३२६–ब्रह्मा, और विष्णु की विराट् उपाधि ,,
३२७–राजा, और सम्राट्-उपाधि ,,
३२८–असुरद्वेषी भौम-विष्णु ,,
३२९–अन्नापहरणकर्त्ता वराहासुर ,,
३३०–असुरों के असुरत्व का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय ,,
३३१–असुरत्रिलोकी, तथा देवत्रिलोकी का संस्मरण ,,

## (१)–मेरुत्रिलोकी का स्वरूप–दिग्दर्शन

३३२–मेरुबिन्दु का संस्मरण ८६४
३३३–मेरुप्रदेश का परिवर्त्तन ,,
३३४–पार्थिवपरिभ्रमणमार्ग ,,
३३५–क्रान्तिवृत्तीय-पृष्ठीकेन्द्र की कदम्ब-रूपता ,,
३३६–'नाक' नाम से प्रसिद्ध विष्णुपद ,,
३३७–विष्वद्वृत्तीय-पृष्ठीकेन्द्र की ध्रुवरूपता ,,
३३८–उत्तराग्निस्थान की सुमेरुरूपता ,,
३३९–दक्षिणाग्निस्थान की कुमेरुरूपता ,,
३४०–मेरुप्रदेश की स्थिरता अस्थिरता का आधारभूत-स्थिर-चर-ध्रुव ८६४
३४१–देशत्यागानुगता मेरुबिन्दु ,,
३४२–हंसनक्षत्र, और अधःस्वस्थित ,,
३४३–अभिजिन्नक्षत्र, और खस्वस्थिक ,,
३४४–अभिजित् की ध्रुवरूपता ,,
३४५–विश्वकर्म्म नक्षत्र,-और आज का ध्रुव ,,
३४६–अभय, और ध्रुव ,,
३४७–निराकारप्राणबिन्दु, और ध्रुव ,,
३४८–ध्रुवपरिचायक नक्षत्र की ध्रुव-रूपता ,,

३४९--ध्रुव की ध्रुवता, एवं ध्रुवशब्द-व्यवहार का पारिभाषिक-समन्वय ८९५
३५०--कदम्ब के चारों ओर परिभ्रममाण-ध्रुव ,,
३५१--सप्तर्षिक्रम के सन्निवेश का संस्मरण ,,
३५२--लघुसप्तक, और ऋक्षपत्नी ,,
३५३--लघु-नक्षत्र सप्तक, और मन्त्रश्रुति का संस्मरण ,,
३५४--लघुसप्तर्षि (ऋक्षपत्नी)-परिचायक-परिलेख ,,
३५५--ध्रुवपरिभ्रमणात्मक-बृहत्--सप्तर्षि--परिलेख ,,
३५६--ध्रुवपरिभ्रमण-निबन्धन-मेरुपरिवर्त्तन ,,
३५७--ब्रह्मनिवासस्थानानुगता मेरुबिन्दु ,,
३५८--मेरुमूला-त्रिलोकी का संस्मरण ८९६
३५९--निरक्षवृत्तानुगता 'लङ्का' ,,
३६०--प्रथममध्याह्नरेखा का उपक्रमस्थान ,,
३६१--लङ्का, और सीलोन के अभेदव्यवहार की महती भ्रान्ति ,,
३६२--सीलोन, और सिंहलद्वीप ८९७
३६३--लङ्काद्वीप का सिंहलद्वीपात्मक-सीलोन से सर्वथा पार्थक्य ,,
३६४--लङ्का--कोलम्बो--मद्रास--उज्जैन-सिद्धपुर-कुरुक्षेत्र-आदि देशों का स्पर्श करने वाली प्रथम मध्याह्नरेखात्मिका भूमध्यरेखा ,,
३६५--निरक्षदेशतः उज्जैन का परिमाण ,,
३६६--७६ अंशान्तरानुगता भारतीय-मध्यरेखा ,,
३६७--निरक्षतः उपक्रान्त मेरुपर्य्यन्त-व्याप्त प्रदेश, और ९० अंश ,,
३६८--२४-४२-२४-भेद से ९० अंशात्मक प्रदेश का ब्रह्मा के द्वारा त्रिधा विभाजन ,,
३६९--२४ अंश, और मेरुमूला त्रिलोकी का पृथिवीलोक ,,
३७०--४२ अंश, और मेरुमूला त्रिलोकी का अन्तरिक्षलोक ,,
३७१--२४ अंश, और मेरुमूला त्रिलोकी का द्युलोक ८९७
३७२--आधिदैविक-त्रिलोकी ,,
३७३--आत्मगतित्रिलोकी ,,
३७४--आधिभौतिकी मेरुत्रिलोकी ,,
३७४--मेरुमूला-देवत्रिलोकी-परिलेख ८९८


## ❋-२-प्राङ्मेरु (पामीर) मूला-देवत्रिलोकी ❋


३७५--'प्राङ्मेरु' का संस्मरण ८९९
३७६--प्राङ्मेरुमूला त्रिलोकी का संस्मरण ,,
३७७--एशियायी त्रिलोकी ,,
३७८--प्राङ्मेरु-प्राग्मेरु-और पामीर ,,
३७९--विशद उच्च पठार, और पामीर ,,
३८०--महाभूप्रदेशों का केन्द्रभूत पामीर ,,
३८१--पामीरतः दक्षिण-भारतवर्ष ,,
३८२--पामीरतः उत्तर-चीन ,,
३८३--पामीरतः उत्तर-रूस ,,
३८४--पामीरतः पश्चिम-तातार ,,
३८५--पामीरतः दक्षिण-पश्चिम अफगानिस्थान ,,
३८६--भौगोलिक-एशियाखण्ड, और पामीर ,,
३८७--पौराणिक-त्रैलोक्य का मूलाधार-भूतप्राङ्मेरु ,,
३८८--मेरु, और प्राक्, तथा प्राङ्मेरु ,,
३८९--मेरु, और उपमेरु ,,
३९०--इलावृतवर्षावच्छिन्न मेरु ,,
३९१--तुरुष्कराज्य-समीपवर्त्ती-प्राग्मेरु ,,
३९२--सर्वोच्चभाव का संग्राहक-'मेरु' शब्द ,,
३९३--अत्युच्चतर, और तारतर ,,
३९४--तारतर-तातार, और टारटरी ,,
३९५--पामीरवाचक तारतर शब्द, और तुरुष्क (तुर्किस्तान) राज्य ,,
३९६--तारतर-तातार-और तातारी ९००
३९७--सीमाप्रकरण का संस्मरण ,,
३९८--सुमेरूच्चांशककुरु ,,
३९९--निरक्षदेशतः ९० अंशानुगत पामीर ,,

४००–प्राग्मेरु से पूर्ववाहिनी सीतानदी ६००
४०१–सीता, और चीनीभाषा की ह्वाङ्हू' "
४०२–ह्वाङ्ह्यू-याङ्सी-मेकाङ्ग-रूपेण त्रिधा-रात्मिका सीतानदी "
४०३–प्राग्मेरुसे उत्तरवाहिनी भद्रानदी "
४०४–भद्रा, सोमा, और भद्रसोमानदी "
४०५–ओबी-लीता-इलीसा-रूपेण-त्रिधारात्मिका भद्रसोमानदी "
४०६–प्राग्मेरुतः पश्चिमवाहिनी यक्षुनदी "
४०७–यक्षु-चक्षु-और एक्सस् "
४०८–प्राग्मेरु से दक्षिणवाहिनी-भारत-भाग्य-विधात्री-अलकनन्दा "
४०९–पुराणानुगत चतुर्गङ्गम् "
४१०–दक्षिणवाहिनी-अलकनन्दा की सात शाखाएँ, एवं तन्मूलक 'सप्तगङ्गम्' का संस्मरणम् '
४११–वसोर्धारा, सरस्वती, विष्णुपाताली, गरुडगङ्गाएँ, और अलकनन्दा ६०१
४१२–भगवती-भागीरथी-त्रिपथगा "
४१३–हरिद्वार का ब्रह्मकुण्ड, और त्रिपथगा का भूतल से संस्पर्श "
४१४–स्वर्गश्री का उपहास "
४१५–भौम-भुवनकोश का पृथिवीलोक "
४१६–भारताग्नि, और भारतवर्ष "
४१७–मर्त्यलोक-मानुषलोक-भूलोक "
४१८–इरावती, और शिवालक "
४१९–इरावती, और रावी "
४२०–अग्निलोक, और भारतवर्ष "
४२१–शर्य्यणावत, और अन्तरिक्षलोक "
४२२–विद्याधर-सिद्ध-गन्धर्वादि-तिर्य्यग् जातियाँ, और अन्तरिक्ष "
४२३–वैभ्राजवन, चैत्ररथ-वन आदि विहार-भूमियाँ "
४२४–वायुलोकात्मक-अन्तरिक्षलोक "
४२५–स्वर्गप्रदेश, और स्वर्गाध्यक्षेन्द्र का संस्मरण ६०१
४२६–अग्निलोकात्मक-भारतवर्ष "
४२७–इन्द्रलोकात्मक-स्वर्गप्रदेश "
४२८–ऐरावतवर्ष, और इन्द्रलोक "
४२९–मनुष्य-मरुत्-देव-भेदभिन्न तीनों लोकों की त्रिविधा प्रजा "
४३०–अक्षांशानुपात से भौमत्रैलोक्य का स्वरूप-समन्वय "
४३१–उच्छिन्नप्राया-त्रैलोक्य-व्यवस्था "
४३२–दायविभागानुगत अखण्ड-प्राजापत्य-भारत की खण्ड–खण्डरूप में परिणति, और हमारा भावुकतापूर्ण-निःसीम दुर्भाग्य "
४३३–सुलेमान-हिन्दूकुश-किरथरकर-नाम की पर्वतत्रयी, और तदनुबन्धिनी हिन्दुस्ताना-नुगता सीमा ६०२
४३४–भारत, और हिन्दुस्थान-शब्दों की व्यापकता, और व्याप्यता "
४३५–भारतीय-सीमानुगता महती भ्रान्ति, और सिन्धुनद "
४३६–भ्रान्तिनिराकरण-प्रयास "
४३७–९० अंशात्मक वर्ष, और भारतवर्ष का वास्तविक स्वरूप "
४३८–९० अंशात्मक-भारतवर्ष "
४३९–९० अंशात्मक-केतुमालवर्ष "
४०–९० अंशात्मक-भद्राश्ववर्ष "
४४१–९० अंशात्मक-कुरुवर्ष "
४४२–स्वपरिभाषानुगता भारतसीमा "
४४३–रक्तसमुद्र (रेड्सी) का संस्मरण "
४४४–महीसागर का पारिभाषिक-'मही'-शब्द, और मही-लोकात्मक भारतवर्ष "
४४५–लोकत्रयी का संस्मरण "
४४६–स्वस्वाधिकार की उपेक्षा "
४४७–लक्ष्मीभूत-भारतवर्ष "
४४८–महीसागर, और मेडिट्रेनियेन्सी ६०३

४४६--स्वेज-नहर से अनुगत भूप्रदेश ६०३
४५०--वणिक्तन्त्रों की संघर्षस्थली-स्वेजकनाल ,,
४५१--नीलनदी का सङ्गम, और महीसागर ,,
४५२--अबीसीनिया, और हब्स नामक पर्वत, और हतभाग्य-अबीसीनिया ,,
४५३--भारतवर्ष की पश्चिमसीमा का दिग्दर्शन ,,
४५४--४५ अंशतः पूर्व पीतसमुद्र ( यलोसी ) ,,
४५५-फारमूसाद्वीपोपलक्षित--प्रशान्तमहासागर, और भारतवर्ष की पूर्वीसीमा का दिग्-दर्शन ,,
४५६--दक्षिणसीमानुगत-दक्षिणसमुद्र ,,
४५७--उत्तरसीमानुगत-तुरुष्कदेश ,,
४५८--चतुःसीम भारतवर्ष के देश, और देशावयों का संस्मरण ,,
४५६-दृश्यगोलार्द्ध का परिक्रमण ,,
४६०--अर्वस्तानोपलक्षित रेड्सी से एशियाखण्ड का उपक्रम ६०४
४६१--अलास्का-नामक ( अमेरिका के उत्तर ) भूभाग पर एशियाखण्ड का विराम ,,
४६२--एशिया का आरम्भस्थान-अर्वस्थान ,,
४६३--वर्म्मा-चीन-श्याम-अनाम-कम्बोडिया-आदि पूर्वानुगत प्रान्त, और अखण्ड-भारत ,,
४६४--तिब्बत-तुर्किस्तान-रूस--मँगोलिया--आदि उत्तरानुगत प्रान्त ,,
४६५--भारतवर्ष की पश्चिमसीमा का पारिभाषिक-समन्वय ,,
४६६--दृश्य-उत्तरी-गोलार्द्ध का स्वरूप-समन्वय ,,
४६७--अदृश्य-गोलार्द्ध, तथा दृश्यगोलार्द्धों के क्षेत्रफलों का विस्तार ,,
४६८--विष्वद्रेखानुपात से उभयगोलार्द्धों का साम्य ,,
४६६--भूप्रदेशापेक्षया उभयगोलार्द्धों की प्रदेशानुगता विषमता ,,
४७०--भारतवर्ष, और भद्राश्ववर्ष से अनुगत द्विवर्षात्मक दृश्य गोलार्द्ध ६०४
४७१-कुरुवर्ष, और केतुमालवर्ष से अनुगत द्विवर्षात्मक अदृश्य गोलार्द्ध ६०५
४७२--देवप्रजा का दायाद, और उत्तरी दृश्य-गोलार्द्ध ,,
४७३--असुरप्रजा का दायाद, और दक्षिणी-गोलार्द्ध ,,
४७४--भारतीय भुवनकोशानुगत ६० अंशात्मक भारतवर्ष ,,
४७५--अरब--मयसोपोटेमिया--जूडिया--एशियामाइनर-ईरान-अफगानिस्तान-तिब्बत-तुर्किस्तान-चीन--मँगोलिया-श्याम--वर्म्मा--अनाम--कम्बोडिया-आदि को समष्टिरूप ६० अंशात्मक-वास्तविक-अखण्ड-भारतवर्ष, और तत्सम्बन्ध में मनुवचन का संस्मरण ,,
४७६--आ हिमवत-आ च कुम्मार्य्याः--सिन्धुर्वैतरिणी नदी । सूर्य्यस्योदयनं-पुरः-यावद्वा कृष्णमृगो चरति, तावद्ब्रह्मवर्चसम् ,,
४७७--आर्य्यावर्त्त की सीमा सिन्धुनद ,,
४७८--ऐन्द्रब्राह्मण, और आर्य्यावर्त्त ,,
४७६--वारुणब्राह्मण, और आर्य्यायण ,,
४८०--ऋज्राश्वऋषि, और सर्वश्री महाभाग जरथुस्त्र ,,
४८१--विवाहानुगत-कलह, और आर्य्यावर्त्त, तथा आर्य्यायणरूपेण भारत का द्विधा-विभाजन ,,
४८२--पूर्वीभारतवर्ष, और आर्य्यावर्त्त ,,
४८३--पश्चिमीभारतवर्ष, और आर्य्यायण ,,
४८४--इन्द्रसत्ता से अभिकृत आर्य्यावर्त्त ,,

४८५–वरुणसत्ता से अधिकृत आर्य्यायण ६०६
४८६–आर्य्यायण, और ईरान ,,
४८७–पूर्वस्थान, और आर्य्यावर्त्त ,,
४८८–पारस्थान, और आर्य्यायण ,,
४८९–पारस्थान, और पारसी ,,
४९०–पारस्थान की पारिभाषिकी सीमा, और विसंवाद–समन्वय ,,
४९१–वैदिकी-पश्चिमवाहिनी-'सरयू' नदी ,,
४९२–सरयूनदी का पारिभाषिक-प्रवाह ,,
४९३–'इण्डिया'-नाम–समन्वय ,,
४९४–पूर्व-पश्चिम-भारत की 'आर्य्य' अभिधा का पारिभाषिक समन्वय, और तत्सम्बन्ध में ऋक्‌श्रुति ,,
४९५–पुराणानुगत सीमाप्रसङ्गों का पारिभाषिक संस्मरण ,,
४९६–भारतवर्ष के द्वीपों, तथा उपद्वीपों का संस्मरण ६०७
४९७–भारतीय-नाम, और वर्त्तमान नामों का नैगमिक-साम्य-प्रदर्शन ,,
४९८–भारतीयोपद्वीपसंघ की वर्त्तमाना प्रतीच्या अभिधा ,,
४९९–भारतीयोपद्वीपपरिलेखः ४९८
५००–भारतीय-भुवनकोश का परिचयात्मक-समन्वय, एवं दायविभागमूलक-प्रकृत-आख्यान ६०९
५०१–पुराणसाहित्य का विज्ञानदृष्टि से अवलोकन ,,
५०२–पुराणसाहित्य का सर्वमूर्द्धन्यत्व ,,
५०३–पुराणों के प्रति उपेक्षा से भारतीय–सांस्कृतिक-निधि का अपलाप, और हमारी 'अज्ञता' ,,
५०४–पाद्मभुवनकोशोपराम ,,

## इति-पाद्मभुवनकोशः-ब्राह्मः

* * *

५०५–देवत्रिलोकी से अनुगत पाद्मभुवनकोश ६०९
५०६–भूपिण्डनिवासी मानुषदेवता, और मानुष असुर ,,
५०७–देवत्रिलोकी पर अधिकार-कामुक आसुर-मानव, और देवप्रजा की भावुकतापूर्णा उदासीनता ,,
५०८–चर्म्मरज्जु से असुरों के द्वारा भू का परिमाणात्मक-नियन्त्रण ,,
५०९–देवप्रजा का सहसा उद्‌बोधन, एवं भू-विभाग में विप्रतिपत्ति ६१०
५१०–देवत्रैलोक्यरूपा यज्ञभूमि, और देवयजन-भूमि का संग्रह ,,
५११–पाद्मभुवनकोश की यज्ञभुवनकोशात्मकता ,,
५१२–शुम्भ-निशुम्भ का दिग्दर्शन ,,
५१३–'यूयं प्रयात पातालम्' ,,
५१४–'शेषाः पातालमाययौ' ,,
५१५–वज्राङ्गद के वेश्यापुत्र तारक के द्वारा देवप्रजा का उत्पीड़न ,,
५१६–पार्वतीनन्दन स्कन्द के द्वारा असुरबल का विनाश ,,
५१७–सुप्रसिद्ध त्रिपुरासुर, और भयानक देवासुरसंग्राम ६११
५१८–त्रिपुराख्यान का संस्मरण ,,
५१९–स्वर्गस्थ-देवताओं, तथा पातालस्थ-असुरों की पुरनिर्म्माणशक्ति ,,
५२०–उपसद्धोम, और देवपुर ,,
५२१–मयासुरवंशजों के द्वारा त्रिपुर-निर्म्माण-पद्धति का आविष्कार ,,
५२२–मयसोपोत्तम, और मयसोपोटेमिया, तथा मयासुर ,,
५२३–मयराष्ट्र, और मेरठ ,,
५२४–तारकासुर का महान् शौर्य्य ,,
५२५–विद्युन्माली-तारकाक्ष-अम्बुजाक्ष-नाम के तारकपुत्र ,,

५२६–सुवर्ण-रजत–लौहमय–तीन पुरों का रहस्यात्मक निर्म्माण ६१२
५२७–त्रिपुरी, और त्रिपुरासुर ,,
५२८–त्रिपुरी, और आज की ट्रिपुली ,,
५२९–त्रिपुरवध, और त्रिपुरारि-महादेव ,,
५३०–देवपुरियों का संस्मरण, और ब्राह्मण–श्रुति ,,
५३१–महाबलवान् वराहासुर का संस्मरण ६१३
५३२–देवेन्द्र के द्वारा भारतीय-प्रजा की भरण-पोषण-व्यवस्था का स्वर्गीय-चित्रण ,,
५३३–भारतराष्ट्रपति देवेन्द्र ,,
५३४–भूतचिन्ताओं से उन्मुक्ता-भारतीय-प्रजा ,,
५३५–भारतीय अन्नकोश, और तद्विभागाध्यक्ष ,,
५३६–वसोर्द्धारा, और सञ्चित अन्नकोश ,,
५३७–ओङ्कार, और अन्न का संरक्षण ,,
५३८–वराहासुर के द्वारा अन्नापहरण ,,
५३९–विष्णु, और इन्द्र के द्वारा वराहासुर का विनाश, और अन्न का पुनरावर्त्तन ,,
५४०–वराहासुर की भोजनसामग्री, और ऋङ्मन्त्र ६१४
५४१–पणियों की गाएँ, और बलासुर ,,
५४२–बलाराति इन्द्र के द्वारा बलासुरवध ,,
५४३–विजयाभिनन्दन-महोत्सव, एवं अभिगर-प्रतिगर ,,
५४४–ऋग्वेदकालीन द्वादशविध देवासुर-संग्रामों का नाम-संस्मरण ,,
५४५–ताराहरणोपाख्यान, और भारत पर भीषण आक्रमण ,,
५४६–देवासुर–दायाविभागानुगत–आधिदैविक चरित्र का उपराम ६१५

* * *

## ❀ देवासुरदायविभागाख्याना–नुगत–आध्यात्मिक-समन्वय ❀

५४७–यथा-अण्डे, तथा पिण्डे, और आधि-दैविक-ब्रह्माण्ड ६१५
५४८–आध्यात्मिकपिण्ड ,,
५४९–अध्यात्मानुगता देवत्रिलोकी, और असुरत्रिलोकी ,,
५५०–पञ्चाग्निविद्यानुगत अप्तत्त्व, और अध्यात्मसंस्था ,,
५५१–अप्तत्त्व का प्राधान्य, और प्रजोत्पत्ति ,,
५५२–भृगु, और अङ्गिरामय अप्तत्त्व का पारिभाषिक-समन्वय ,,
५५३–आप्यप्राण-प्रधान असुर ,,
५५४–आसुरभावप्रधान शुक्र शोणित ,,
५५५–अध्यात्मसंस्था पर असुरों का अधिकार ,,
५५६–'अद्भ्यः-पृथिवी'-सिद्धान्त का संस्मरण ,,
५५७–आसुरप्राणमयी पृथिवी ,,
५५८–देवविकासभूमिरूप सूर्य्य ,,
५५९–बुद्धि के द्वारा देवदेवताओं की अध्यात्म-संस्था में प्रतिष्ठा ,,
५६०–बुद्धि की प्रतिष्ठाभूमि-मन ,,
५६१–षोडशवर्षात्मिका आयु, और मन की अपरिपक्वता ६१६
५६२–परिपक्वमन, और सौरी बुद्धि ,,
५६३–मानव, और 'बालक' ,,
५६४–बालक, और 'मन' ,,
५६५–बालस्वभाव का स्वरूप-विश्लेषण ,,
५६६–ताड़न, और लालन ,,
५६७–मधुरशासनानुगत बालक ,,
५६८–बालावस्था, और बौद्धिक व्यापार की शिथिलता ,,
५६९–वृत्रासुर, और मनोमय चन्द्रमा ,,
५७०–अज्ञानान्धकाररूप वृत्रासुर ,,

५७१-असुरों का प्रभुत्त्व ६१६
५७२--विष्णुदेवता के द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ की प्रवृत्ति, और असुरपराभव ,,
५७३--'सर्वे देवा उपासते' का संस्मरण ६१७
५७४-'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः' ,,
५७५-अशनायासूत्र, और अन्नागमन ,,
५७६--यज्ञात्मक विष्णुदेव ,,
५७७--वैष्णवयज्ञ का उदर्क ,,
५७८--मानवबुद्धि में विवेक का जागरण, और असुरपराभव ,,
५७९-आध्यात्मिक-देवासुर-दाय-विभागानुबन्धी तथ्य का उपराम ,,

* * *

५८०-देवत्रिलोकी, तथा असुरत्रिलोकी स्वरूप-परिलेखः— ,,

## ❀ देवासुरदायविभागाख्यानुगत आधिदैविकचरित्र का समन्वय ❀

५८१-सूचीकटाहन्यायानुगत आधिभौतिक, तथा आध्यात्मिक-चरित्र का उपराम, एवं आधिदैविक-चरित्र का उपक्रम ६१८
५८२-सृष्टि का आरम्भकाल, और देवासुर-अधिकार-मीमांसा ,
५८३-सृष्टि का आरम्भकाल, और भूपिण्ड पर केवल असुरप्राण का साम्राज्य ,,
५८४-असुराधिकार से अधिकृत अयज्ञिय-भूखण्ड ,,
५८५-विष्णु के द्वारा भूपिण्ड के अमुक प्रदेश का यज्ञियत्त्व, और तत्प्रदेश का वेदित्त्व ,,
५८६-देवताओं के द्वारा निर्विघ्न यज्ञवितान, और सम्वत्सररूपेण तत्सनातनता ,,
५८७-आधिदैविक-चरित्र के-भूपिण्ड, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, विष्णु, और देवता नामक ज्ञातव्य-तत्त्व ,,
५८८--भूपिण्ड के स्वरूपनिर्म्माण का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन ६१९
५८९--आप्यप्राणात्मक असुर, और भूपिण्ड ,,
५९०--वायु के संयोग से अप्तत्त्व की आठ--अवस्थाओं में परिणति, और भूपिण्ड का स्वरूप-निर्म्माण ,,
५९१-बलाधायक-बलप्रवर्त्तक-आप्य-प्राण का असुरत्त्व ,,
५९२-सत्यात्मक अग्नि ,,
५९३-भूपिण्ड, और सत्यात्मक हृदयभाव ,,
५९४-सत्याग्नि की प्रतिष्ठा ,,
५९५-काल्वालीकृता-पृथिवी ,,
५९६-असुराधिपत्ययुक्ता पृथिवी ,,
५९७-'अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्' इत्यादि वचन का पारिभाषिक समन्वय ,,
५९८-गुणदोषात्मक विश्वसर्ग ,,
५९९-तमोमूला सृष्टि ,,
६००-महादोषात्मक तमोभाव ,,
६०१-दैवीसम्पत्ति, और गुणविभूति ,,
६०२-आसुरीसम्पत्ति, और दोषविभूति ,,
६०३--गुण-दोष की प्रतिस्पर्द्धा ६२०
६०४--गुणभाव का क्वाचित्क विजय ,,
६०५--दोषभाव का सर्वत्र साम्राज्य ,,
६०६--देवासुरसग्राम का स्वरूप ,,
६०७--स्वयम्भू की गुणविभूति और ऋषि ,
६०८--परमेष्ठी की ,, और पितर ,,
६०९--सूर्य्य की ,, और देवदेवता ,,
६१०--चन्द्रमा की ,, और गन्धर्व ,,
६११-भूपिण्ड की ,, और मानव ,,
६१२-स्वयम्भू की आसुरी विभूति, और बल ,,
६१३-परमेष्ठी की ,, और अनिरुक्ततम ,,
६१४-सूर्य्य की ,, और नमुचि , ,,
६१५--चन्द्रमा की ,, और वृत्र , ,,
६१६-भूपिण्ड की ,, और सैंहिकेय , ,,

६१७--ज्योतिर्म्मय देवदेवता ६२०
६१८--तमोमय असुर ''
६१९--ज्योतिस्तत्त्व के पांच महिमा-विवर्त्त ''
६२०--परमेष्ठी, और सत्त्वगुणक महान् ''
६२१--परमेष्ठी, और रजोगुणक महान् ''
६२२--परमेष्ठी, और तमोगुणक महान् ''
५२३--अनिरुक्त तमोरूप असुरप्राण ''
६२४--त्रिगुणात्मिका-प्रकृति का स्वरूप समन्वय ''
६२५-गुणात्मक महानात्मा ''
६२६--महानात्मविवर्त्त त्रयी-स्वरूप-परिलेखः ''
( पृ० स० ६२०--६२१ के मध्य में )
६२७--स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्यनारायण ६२१
६२८--सौरमण्डल में असुरप्रवेश-निषिद्ध ''
६२९--मेघानुगत नमुचि नामक असुरप्राण ''
६३०--सौर इन्द्र के द्वारा नमुचि का शिरश्छेद, और जलवर्षण ''
६३१--असुरविनाश, और सुख-शान्ति ''
६३२--परमेष्ठी से समतुलिता चान्द्री स्थिति ''
६३३--भूतप्रधान भूपिण्ड ''
६३४--आवरण की पराकाष्ठा, और भूपिण्ड ''
६३५--प्रकाश का आत्यन्तिक पराभव, और भूपिण्ड ''
६३६--असुरसाम्राज्यकाल का संस्मरण, और ब्राह्मणश्रुति का समन्वय ''
६३७--असुरों के अधिकार से युक्त भुवन ''
६३८--देवासुरभाव-समन्वय-परिलेखः ''
६३९--वामानविष्णु का साहाय्य ६२२
६४०--सौरदेवताओं का भूपिण्ड में आगमन ''
६४१--देवप्राणात्मक-भूप्रदेश की यज्ञरूपता ''
६४२--छन्दोऽवच्छिन्न विष्णु की व्याप्ति, और देवाधिकृत भूपिण्ड ''
६४३--यज्ञो वै विष्णुः ''
६४४--विष्णुर्वै यज्ञः ''
६४५--अग्निर्वै यज्ञमुखम् ''
६४६--अग्निरु वै यज्ञः ६२२
६४७--एष हि यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निः ''
६४८--अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य ''
६४९--आहुतिर्हि यज्ञः ''
६५०--अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः ''
६५१--यज्ञ के पारिभाषिक अर्थों का समन्वय ''
६५२--दाहक तत्त्व, और अग्नि ''
६५३--दाह्यतत्त्व, और सोम ''
६५४--सूयते, इति सोमः ''
६५५--सोम-शब्द का व्यापकार्थ ''
६५६--इध्म-घृत-तैलादि की सोमरूपता ''
५७-यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवता ''
६५८--सोमो वैष्णवो राजा ''
६५९--यो वै विष्णुः, सोमः सः ''
६६०--अग्नि-सोम-मय-यज्ञमूर्त्ति विष्णु ''
६६१--हिरण्यगर्भ नामक धामनिधि का आविर्भाव ''
६६२- हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे ''
६६३--सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम् ''
६६४--भूतज्योतिर्म्मय सौरयज्ञ ''
६६५--श्वेतद्वीपनिवासी सत्यनारायण भगवान् ''
६६६--सौर अग्नि की सत्यरूपता ''
६६७--आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित सत्यनारायण विष्णु ६२३
६६८--'याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः' ''
६६९--नारदप्राण का स्वरूप-समन्वय ''
६७०--नार, अयन, और नारायण ''
६७१--स यः स विष्णुर्यज्ञः सः ''
६७२--स यः स यज्ञः, असौ स आदित्यः ''
६७३--चित्रं देवानामुदगात् ''
६७४--सत्यसंहिता वै देवाः ''
६७५--देवदिक्-प्राची ''
६७६--'ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य' का पारिभाषिक-समन्वय ''

६७७--गतिशून्य यज्ञतत्त्व ६२३
६७८--यज्ञमूर्त्ति सूर्य्य का स्थिरत्त्व ,,
६७९--देवगति से अनुगत यज्ञविष्णु ,,
६८०--यज्ञविष्णु का छन्दों से वेष्टन ,,
६८१--अग्नीषोमात्मक यज्ञमूर्त्ति विष्णु ,,
६८२--दिक्-चतुष्टयी से अनुप्राणित यज्ञाग्नि की चार अवस्थाएँ ,,
६८३--ब्रह्माग्नि, अङ्गिरोऽग्नि, अन्नादाग्नि, पाशुकाग्नि, भेदेन मौलिक अग्नि के चार महिमा-विवर्त्त ६२४
६८४--अग्नि की यजुःपुरुषरूपता ,,
६८५--यजुरग्नि की वाग्रूपता ,,
६८६--अग्नेर्वागेवोपनिषत् का संस्मरण ,,
६८७--सार्वयाजुषाग्नि का संस्मरण ,,
६८८--यजुरग्नि से परमेष्ठी का जन्म ,,
६८९--ऋक्समुद्र, और महोक्थ ,,
६९०--सामसमुद्र, और महाव्रत ,,
६९१--यजुः, और पुरुष ,,
६९२--अनादिनिधना नित्या वाक् ,,
६९३--द्वितीय-अङ्गिरोऽग्नि ,,
६९४--सुब्रह्माग्निरूप ऋताग्नि ,,
६९५--सौराग्निरूप अन्नादाग्नि ,,
६९६--अथर्ववेदमूर्त्ति-पारमेष्ठ्य अङ्गिरोऽग्नि ,,
६९७--तृतीय-अन्नादाग्नि ,,
६९८--अन्नादानभाव, और अन्नादाग्नि ,,
६९९--यज्ञाग्नि-छन्दस्याग्नि-सत्याग्नि ,,
७००--अन्नादाग्नि की अभिव्यक्ति का समन्वय ,,
७०१--अन्नादाग्नि, और अङ्गिरोऽग्नि का रहस्यात्मक-पारिभाषिक तारतम्य ,,
७०२--चतुर्थ-पाशुकाग्नि ,,
७०३--प्रवर्ग्यरूप-पाशुकाग्नि ,,
७०४--स्वप्रतिष्ठा से वञ्चित पाशुकाग्नि ,,
७०५--पञ्चविध पाशुकाग्नि ,,
७०६--भौम-अग्नि का पाशुकाग्निमयत्त्व ,,
७०७--'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' इत्यादि श्रुति का समन्वय ६२५
७०८--चतुर्द्धा-विभक्त अग्निपरिलेख ,,
७०९--प्रकृत देवासुराख्यान, और तृतीय अन्नदाग्नि ,,
७१०--सौर-यज्ञमूर्त्ति अन्नदाग्नि की विष्णुरूपता
७११--तृतीय-अन्नादाग्नि की अवान्तर-चार अवस्थाओं का संस्मरण ,,
७१२--आहवनीयाग्नि, गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि-पाशुकाग्नि-भेदेन अन्नादाग्नि के चार महिमामय-विवर्त्त ,,
७१३-अनुष्टुप्छन्दस्क सौर सावित्राग्नि ,,
७१४--अन्नदाग्नि का प्रजापतित्त्व ,,
७१५-अङ्गीभूत प्राजापत्यग्नि ,,
७१६--अङ्गात्मिका अग्नित्रयी ,,
७१७--पृथिव्यनुगत-गार्हपत्याग्नि ,,
७१८--अन्तरिक्षानुगत-दक्षिणाग्नि ,,
७१९--दुर्वाद्यनुगत-पाशुकाग्नि ,,
७२०--त्रैलोक्यव्यापक आहवनीयाग्नि ,,
७२१--प्राजापत्य-अनुष्टुप्छन्द का इतर छन्दों की प्रतिष्ठाभूमित्त्व ,,
७२२--अनुष्टुप्-छन्द का पारिभाषिक-समन्वय
७२३--देवप्रतिष्ठारूप अनुष्टुप्छन्द ६२६
७२४--अनुष्टप् हि छन्दसां योनिः ,,
७२५--प्रजापतिर्वा अनुष्टुप् ,,
७२६--ज्येष्ठं वा अनुष्टुप् ,,
७२७--परमं वा एतच्छन्दो यदनुष्टुप् ,,
७२८--अन्तो वा अनुष्टुप् छन्दसाम् ,,
७२९--विश्वेदेवा अनुष्टुप्-समभरन् ,,
७३०--आनुष्टुभो वै प्रजापतिः ,,
७३१--प्रजापत्याग्निरूप आहवनीयाग्नि ,,
७३२--'अग्निं पुरस्तात् समाधाय-तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः' इत्यादि ब्राह्मणसन्दर्भ का समन्वय ,,

७३३--गार्हपत्याग्नि का स्वरूप-संस्मरण ६२६

७३४--सूर्य्योपग्रहरूप भूपिण्ड ”

७३५--सौर-अन्नादाग्नि का प्रवर्ग्यरूप भूपिण्ड ”

७३६--गृहपति-पार्थिवाग्नि ”

७३७--गृहा वै गार्हपत्याः, और गार्हपत्याग्नि ”

७३८--पश्चिमादिक्, और अर्द्धरात्रि ”

७३९--अर्द्धरात्रि, और गार्हपत्याग्नि ”

७४०--त्रिष्टुप्छन्दा-गार्हपत्याग्नि ”

७४१--पश्चिमानुगत--त्रिष्टुप्छन्दस्क-पार्थिवाग्नि का स्वरूप-समन्वय ”

७४२--पार्थिव वागग्नि का अङ्गिरास्त्व ६२७

७४३--आदित्याग्नि, और अङ्गिरोऽग्नि का आगमन-गमन, और मन्त्रश्रुति ”

७४४--तृतीय दक्षिणाग्नि का संस्मरण ”

७४५--अपणाग्निरूप दक्षिणाग्नि ”

७४६--तिर्य्यग्भावापन्न-दक्षिणादिक् में व्याप्त-अग्नि, और दक्षिणाग्नि ”

७४७--दक्षिणस्था आग्नेयी ओषधियाँ ”

७४८--दक्षिणस्थ अग्नि का गायत्रीछन्द से वेष्टन ”

७४९--हविःपरिपाककर्त्ता-अग्नि ”

७५०--मकरवृत्तात्मक-गायत्रीछन्द, और दक्षिणाग्नि ”

७५१--चतुर्थ-पाशुकाग्नि का संस्मरण ”

७५२--भूपृष्ठ से संलग्न पाशुकाग्नि ”

७५३--संकरभावापन्न-पाशुकाग्नि ”

७५४--द्यावापृथिव्य-पाशुकाग्नि ”

७५५--विशुद्ध अग्नि से पृथग्भूत पाशुकाग्नि ६२८

७५६--पूर्वानुगत-साबित्राग्नि ”

७५७--पश्चिमानुगत-गार्हपत्याग्नि ”

७५८--दक्षिणानुगत-अपणाग्नि ”

७५९--उत्तरानुगत-पाशुकाग्नि ”

७६०--जगतीछन्द से छन्दित उत्तरानुगत पाशुकाग्नि ”

७६१--कर्कवृत्तात्मक जगतीछन्द ”

७६२--जागत-पाशुक-अग्नि ६२८

७६३--पशवो वै जगती ”

७६४--जागता वै पशवः ”

७६५--पशुभाव की अन्नरूपता ”

७६६--भोग्यात्मक निरायतनभाव ”

७६७--यज्ञाग्निरूप त्रेताग्नि का संस्मरण ”

७६८--आज्य-इध्म-बर्हि-हवि-आदि का पाशुकाग्निमयत्व ”

७६९--पृथिवी की पूर्वबिन्दु, और सौराग्नि ”

७७०--पश्चिमबिन्दु, और गार्हपत्य ”

७७१--दक्षिणबिन्दु, और अपणाग्नि ”

७७२--उत्तरबिन्दु, और पाशुकाग्नि ”

७७३--भूपिण्ड, और वेदि ”

७७४--परिलेख के द्वारा वेदि का स्वरूप-समन्वय ”

७७५--वैधयज्ञवेदिपरिलेखः ६२९

७७६--अग्निहोत्रशालापरिलेखः ६३०

७७७--दर्शपूर्णमासविहारपट्टपरिलेखः ६३१

७७८--विष्णुयज्ञ का अग्रणीत्व, और यज्ञस्वरूप का वितान ”

७७९--'एनेन-(विष्णुना) इमां-सर्वा समविन्दन्त' का समन्वय ”

७८०--वेदि शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय ”

७८१--देवाधिकार-स्थापन-समन्वय ”

७८२--'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी' का पारिभाषिक-समन्वय ६३२

७८३--असुरनिवासजिज्ञासा, और तत्समाधान-समन्वय ”

७८४--अदितिरूपा दिव्या पृथिवी ”

७८५--दितिरूपा आसुरी पृथिवी ”

७८६--अदितिभाग पर देवप्रजा का अधिकार ”

७८७--दितिभाग पर असुर प्रजा का अधिकार ”

७८८--चतुर्द्धा विहित अग्नि से अनुप्राणित आख्यान के रहस्यात्मक समन्वय का उपराम ”

७८६-अदिति-दिति-पृथिवी-परिलेख ६३३
७९०-अनुष्टुप् छन्द के सम्बन्ध में एक महती विप्रतिपत्ति, और तन्निराकरण-प्रयास ६३४
७९१-अनुष्टुप्छन्दोमूला छन्दस्त्रयी ”
७९२-प्रादेशमितो वै प्राणः ”
७९३-वामन, और प्रदेशभाव ”
७९४-वामनो ह वा अग्रे विष्णुरास ”
७९५-अग्रे-आस का समन्वय ”
७९६-अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम् ”
७९७-प्राणोदानरूप अर्कव्यापार ”
७९८-वाग्व्यापाररूप श्रम ”
७९९-तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः का पारिभाषिक समन्वय ”
८००-याज्ञिकबल का स्वरूप-दिग्दर्शन ”
८०१-फलश्रुति का अक्षरसर्थ-समन्वय ”
८०२-विष्णुदेवता की 'म्लान' अवस्था का रहस्यात्मक-समन्वय ”
८०३-ओषधिमूलों में प्रविष्ट विष्णुदेवता ”
८०४-त्र्यङ्गुलमिता-भूमिका निखनन, और विष्णुप्राण की उपलब्धि ”
८०५-लक्ष्मीभूत विष्णुप्राण ”
८०६-पाञ्ची-आदि याज्ञिकों के त्र्यङ्गुलाभिनिवेश का निराकरण ”
८०७-'त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात्' का वैज्ञानिक-समन्वय ”
८०८-विष्णुदेवता के म्लानत्व का विचार-प्रसङ्ग ६३५
८०९-आगतिधर्म्मा विष्णु नामक अक्षरतत्त्व का संस्मरण ”
८१०-गतिधर्म्मा इन्द्राक्षर का संस्मरण ”
८११-स्थितिधर्म्मा ब्रह्माक्षर का ” ”
८१२-स्थितिगर्भित-गतिरूप अग्न्यक्षर का ” ”
८१३-स्थितिगर्भित-आगतिरूप-सोमाक्षर का ” ”
८१४-संकोचधर्म्मावच्छिन्न सोम ”
८१५-संकोचभावात्मक म्लानभाव ६३५
८१६-हृद्ग्रन्थि-प्रवृत्ति, एवं आत्मविकास का तिरोभाव ”
८१७-सोमात्मक विष्णु का म्लानभाव ”
८१८-सूर्य्यकेन्द्रस्थ विष्णुदेवता ”
८१९-मूलविष्णु का रहस्यात्मक स्वरूप ”
८२०-तूलविष्णु का ” ” ”
८२१-प्राप्तुमशक्य विष्णु की म्लानरूपता ”
८२२-दिक्त्रयी, तथा छन्दस्त्रयी से परिवेष्टित विष्णु ”
८२३-म्लानविष्णु का ओषधिमूलों में गमन ”
८२४-यज्ञात्मक-सोमरस के पान से-पुष्पिता-पल्लविता-ओषधियाँ ”
८२५-सौम्या-(वैष्णवी)-ओषधियाँ ”
८२६-ओषधिपति सौम्य-चन्द्रमा ”
८२७-ओषधियों का आत्मदृष्ट्या पोषक अग्नि ६३६
८२८-सौरी-ऊष्मा, और ओषधियों का परिपाक ”
८२९-ओषं धत्ते-रूपा ओषधियाँ ”
८३०-म्लानभाव, और साक्षाद्रूप से प्राप्तुमशक्य ”
८३१-ओषधिमूल से संलग्न भूपृष्ठभाग ”
८३२ (क)-ओषधिनिर्म्माण-प्रक्रिया में विष्णु-देवता के दर्शन ”
८३२ (ख)-विष्णु की स्वरूप-परिभाषा ”
८३३-दैनंदिनयज्ञात्मक अहरहर्यज्ञ ”
८३४-बीजवपन, और ओषधि-निर्म्माणोपक्रम ”
८३५-यमवायु, और ओषधियों के जीवनीयरस पर आक्रमण ”
८३६-यमवायु के आघात के निरोधक पार्श्वद्वय, और बीज का रक्षात्मक स्वरूप ”
८३७-बीज का भूगर्भ में प्रवेश, और अङ्कुरोद्गम ”
८३८-गर्भानुगत वृन्त, और तदनुगता बीजात्मिका हृदयशक्ति ”
८३९-हृदयशक्ति की ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपता ”

८४०–हृदयम्, और अक्षरत्रयी ६३६
८४१–शक्तित्रयी का रहस्यात्मक कार्य्य-समन्वय ,,
८४२–'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा-उपासते' का रहस्यात्मक समन्वय ,,
८४३–अपानाधिष्ठाता ब्रह्मा ,,
८४४–प्राणाधिष्ठाता इन्द्र ,,
८४५–व्यानमूर्त्ति वामनविष्णु ,,
८४६–विष्णुदेवता, और सृष्टिपालन ,,
८४७ ओषधि-वनस्पति-से समन्विता शक्तित्रयी ,,
८४८–अश्वत्थाय-नमो मनः ,,
८४९–पानी-मिट्टी-का सम्मिश्रण, और अङ्कुर का ऊर्ध्व प्ररोहरण ६३७
८५०--नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् ,,
८५१–'अङ्कुर' की स्वरूप-परिभाषा ,,
८५२--महद्ब्रह्मानुगत-बीजायतन ,,
८५३--आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-त्रयी का अधिष्ठाता महद्ब्रह्म ,,
८५४--मूलस्थ विष्णुप्राण का वेदि में समावेश ,,
८५५--'सोऽयं विष्णुर्म्लानः' का समन्वय ,,
८५६--आख्यान के आधिदैविक रहस्य का उपराम ,,

# इत्याधिदैविकरहस्यम्

❀ ❀ ❀

## ❀ पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ-समन्वय ❀

८५७--भौमदेवताओं ( मनुष्यदेवताओं ) का परीक्षण, और यज्ञविद्या का आविष्कार ६३८
८५८--'तं खनन्त इवान्वीषुः' ,,
८५९--वेदिपरिग्रह का संस्मरण ,,
८६०--सुक्ष्मा चासि शिवा चासि का संस्मरण ,,
८६१–दक्षिणपरिग्रहेतिकर्त्तव्यता का समन्वय ,,
८६२--पश्चिमपरिग्रहेतिकर्त्तव्यता का समन्वय ,,
८६३--उत्तरपरिग्रहेतिकर्त्तव्यता का समन्वय ,,
८६४--अन्न-वस्त्र की महती चिन्ता से आपाद-मस्तक संत्रस्त्र राष्ट्रीय, किन्तु भावुक भारतीय मानव के भारतीय-प्राच्य-सहित्य के प्रति भ्रान्तिपूर्ण उद्गार ६३८
८६५–उपयोगितावाद का महान् व्यामोहन, और तत्समाधान-प्रयास ,,
८६६–यज्ञियभू-प्रदेश का स्वरूप-समन्वय ,,
८६७–सस्यश्यामला-जीवनीयरसप्रदात्री-उपयुक्ता भूमि का संस्मरण ६३९
८६८–'अधिक अन्न उपजाओ' का उदात्त उद्घोष, और तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन ,,
८६९--भूप्रदेश की उर्वराशक्ति ,,
८७०--उर्वराशक्ति का उत्पीड़न ,,
८७१--भूप्रदेशोत्पीडनानुगता अन्नबहुलता का नग्नचित्रण, तत्सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण ,,
८७२--मधु-प्राण से वञ्चिता आज की ओषधि-वनस्पतियाँ ,,
८७३--ओषधियों का रहस्यात्मक-उत्तरमूल, और मधुप्रवर्त्तक-विष्णुप्राण ,,
८७४--आज की कृषिपद्धति, और विष्णुरूप यज्ञियप्राण का तद्द्वारा अभिभव ,,
८७५--शरीरात्-शरीरम्-रूगा आत्मप्रतिष्ठाशून्या आज की उत्पादनशक्ति ,,
८७६–आत्मान्नसम्पत्ति का अत्यन्ताभाव ,,
८७७–यातयामभावात्मिका ओषधि--वनस्पतियाँ ,,
८७८–भूतभार का महान् व्यामोहन ,,
८७९--अयज्ञिय-भूतान्न ,,
८८०--'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तु' की आत्यन्तिक-उपेक्षा ,,
८८१--अयज्ञियान्न का अनुराग ,,
८८२--अयज्ञिया वै माषाः ,,
८८३–लशुन-पलाण्डु-गृञ्जनादि की अयज्ञियता ,,

८८४–धर्म्मशास्त्रानुबन्ध ६४०
८८५–यज्ञप्राणानुबन्धी मधुमय ऊर्क् रस ,,
८८७–वैदिक-शब्दों की पारिभाषिकी रहस्यपूर्णता ,,
८८७–ज़्या-धरा-धरित्री-भूः-भूमिः आदि पारिभाषिक शब्दों का संस्मरण ,,
८८८–यज्ञियप्रक्रिया, और ऋषिवचन ,,
८८९–यज्ञियप्रक्रिया, और दैवात्मा ,,
९००–'हिरण्यशकलं निधाय' का वैज्ञानिक-समन्वय ,,
९०१–अनतिप्रश्न का संस्मरण, और तत्समाधान-प्रयास ६४१
९०२–अस्थि-और अनस्थि-भावों का आध्यात्मिक-यज्ञानुबन्धी पारिभाषिक समन्वय ,,
९०३–भूपिण्ड की स्वरूप-निर्म्माण-प्रक्रिया ६४२
९०४–ऋतधर्म्मा-प्रतिष्ठाशून्य-अप् में ऋतधर्म्मा-प्रतिष्ठाशून्य ही वायु का प्रवेश ,,
९०५–वायुप्रवेशात् अप् की बुद्बुद्रूप में परिणति ,,
९०६–भूपिण्ड की जन्मदात्री मूलप्रक्रिया ,,
९०७–तेजःसंयोग से बुद्बुदावच्छिन्न पानी की 'फेन' रूप में परिणति ,,
९०८–फेन की क्रमशः मृत्-सिकता-शर्करा-अयः-हिरण्य-रूप में परिणति ,,
९०९–धृतिलक्षण प्रतिष्ठागुण, और भूमि ,,
९१०–अतुलितभारसहत्त्व, और सुक्ष्मा ,,
९११–क्ष्मा-और सर्वं क्षमते ,,
९१२–हल के द्वारा ओषधिमूल का संस्पर्श ,,
९१३–विष्णुतेजोमय-प्रतिष्ठाप्राणात्मक 'क्ष्मा' भाव ,,
९१४–भूपिण्ड का 'सुषदा'-भाव ,,
९१५–भूपिण्ड का 'शिवा'-भाव ,,
९१६–भूपिण्ड का 'स्योना'-भाव ,,
९१७–उर्जस्वती-पृथिवी ६४३
९१८–पयस्वती-पृथिवी ,,
९१९–ऋद्धि-वृद्धि-तुष्टि-प्रद-प्रकारों की उपेक्षा ,,
९२०–अयज्ञिय-प्रकारों का अन्धानुप्रकरण ६४३
९२१–इमामेवैतत्-पृथिवीं संविश्य रसवतीं-उपजीवनीयामकुर्वत, इत्यादि ब्राह्मणश्रुति का समन्वय ,,
९२२–दक्षिणाग्नि के द्वारा परिपाक ,,
९२३–परिपाकानुगत-मसृणधर्म्म ,,
९२४–मृत्तिका में रस, और बल का आधान ,,
९२५–प्राणरूप विष्णु का छन्दों से परिग्रहण, और षट्परिग्रह ,,
९२६–यज्ञसम्पत् का संग्रह ,,
९२७–लोकी-परिग्रहत्रयी ,,
९२८–भूतप्रधाना लोकत्रयी ,,
९२९–प्राणप्रधाना-लोकी-त्रयी ,,
९२९–व्याहृतिषट्क, और लोकपरिग्रहत्रयी ,,
९३०–व्याहृतिषट्क और लोकी परिग्रहत्रयी ,,
९३१–द्वादश (१२)-व्याहृतियाँ ,,
९३२–द्वादशव्याहृतिपरिलेखः ६४४
९३३–वेदि का पश्चिम-भाग, और तैत्तिरीयमत ,,
९३४–याज्ञवल्क्य के द्वारा व्यामपरिमाण का विरोध, और, विज्ञानसम्मत परिमाण का संस्थापन ,,
९३५–परिमाणार्गला की अनावश्यकता ,,
९३६–आधिदैविकयज्ञ से समतुलित पिण्डब्रह्म ,,
९३७–यज्ञो वै पुरुषः ,,
९३८–पुरुषो वै यज्ञः ,,
९३९–प्राकृतिक-यज्ञानुगत आधिभौतिक यज्ञ ,,
९४०–पुरुषस्थानीय-यज्ञ ,,
९४१–स्त्री-स्थानीया वेदि ,,
९४२–स्त्री के प्राकृतिक सौन्दर्य्य की स्वरूप-मीमांसा ,,
९४३–वेदिसौन्दर्य्य का संग्रह ,,
९४४–आभिरूप्य-सौन्दर्य्य ,,
९४५–अभिरूप-सौन्दर्य्य से समन्विता नारी, और चतुर्विध-रागभावों से समन्वित रतिप्रेम ,,

६४६–रूपसौन्दर्य्य के अधिष्ठाता इन्द्र ६४५
६४७–अभिरूपसौन्दर्य्य के अधिष्ठाता त्वष्टा "
६४८–वर्णरूपाधिष्ठाता इन्द्र "
६४९–आकाररूपाधिष्ठाता त्वष्टा "
६५०–वर्णरूपात्मक-रूपसौन्दर्य्य का पारिभाषिक समन्वय ६४६
६५१–आकाररूपात्मिका अभिरूपता "
६५२–वयोनाधात्मक छन्द्र, और आकार "
६५३–आकार का आधारत्त्व "
६५४–आकारित का आधेयत्त्व "
६५५–अभिरूपसौन्दर्य्य की प्रमुखता "
६५६–वर्णसौन्दर्य्य का सौन्दर्य्य के मापदण्ड में अनधिकार ६४६
६५७–आकाररूपात्मिका अभिरूपता "
६५८–पदार्थ के आकार का समन्वय "
६५९–औपासनिक-वचन का संस्मरण "
६६०–प्रजनन का मूलाधारतत्त्व "
६६१–वर्णरूपात्मक ऐन्द्र-रूपसौन्दर्य्य का गौणत्त्व "
६६२–आकाररूपात्मक-त्वाष्ट्र–अभिरूपसौन्दर्य्य का प्रधानत्त्व "
६६३–प्रतिमाओं के उभयात्मक सौन्दर्य्य में तारतम्य "
६६४–चित्रात्मक शिल्प का सौन्दर्य्य "
६६५–यज्ञपुरुषरूप वृषा की पत्नीरूपा योषा, और वेदि "
६६६–पश्चाद्वरीयसी योषा "
६६७–मध्ये संह्वारिता योषा "
६६८–पुरस्तादुर्वी योषा "
६६९–अभिरूपसुन्दरी योषा "
६७०–एवमेव हि योषां प्रशंसन्ति "
६७१–पृथुश्रोणि: "
६७२–मध्ये संग्राह्या "
६७३–विमृष्टान्तरांसा "
६७४–अभिरूपसौन्दर्य्य, और विशिष्ट–प्रजनन-धर्म्म ६४६
६७५–अभिरूपसौन्दर्य्यगुणान्विता यज्ञिया वेदि ६४७
६७६–प्राक्प्रवणा वेदि "
६७७–उदक्प्रवणा वेदि "
६७८–रेतोमयी भूतसृष्टि "
६७९–प्राणमयी देवसृष्टि "
६८०–चन्द्रमसाद्रेतो ऋतव आभृतम् "
६८१–चन्द्रमा, और शुक्रात्मकरस "
६८२–प्राचीदिक्, और देवदेवता "
६८३–उत्तरादिक्, और मानव "
६८४–दक्षिणप्रवणता का निरोध "
६८५–याम्या दक्षिणदिक् "
६८६–ददाद्यमोऽवसानं पृथिव्या: "
६८७-यमो वै अवसानस्येष्टे "
६८८–नोदीचीनशिरा: शयीत "
६८९–वास्तुशास्त्र, और दक्षिणदिशानुगत द्वारादि का निरोध "
६९०-युगधर्म्म का प्रभाव, और प्रकृतिसिद्धा शास्त्रीय–मर्य्यादाओं की उपेक्षा "
६९१–वेदिप्रदेश की उन्नतता "
६९२–पुरीषभाग, और पशुसम्पत्ति "
६९३–पशु, और पशुपत्ति "
६९४–आधिभौतिकयज्ञ की प्रकृति-जगत् से अनुरूपता "
६९५–प्रतिमार्ज्जन-कर्म्मोपक्रम ६४८

## प्रतिमार्ज्जनकर्म्मोपपत्तिः

६९६–'स्फ्य' नामक यज्ञायुध से उत्पाटित मृद्भाग का बहिःप्रक्षेप, और प्रतिमार्ज्जन-कर्म्म ६४८
६९७–कर्म्मसाधक वैज्ञानिक-मन्त्र का संस्मरण "
६९८–मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय "
६९९–मन्त्राक्षरार्थ के सम्बन्ध में शातपथी–श्रुति ६४८

१०००–केवल विज्ञानतत्त्व के निरूपक मन्त्रों का भाषादृष्टया, तथा अर्थदृष्टया, उभयथा पारिभाषिक-काठिन्य ६४८
१००१–'पुरा क्रूरस्य विसृप:' इत्यादि वैज्ञानिक मन्त्र के द्वारा एक अपूर्व-आधिदैविक-विज्ञान का स्पष्टीकरण ,,
१००२–कल्पनारसिकों की उत्तालतरङ्गों की कल्पनाभूमि-'चन्द्रकलङ्क' ,,
१००३–चन्द्रबिम्बस्थ कृष्णवर्णात्मक चिह्न ,,
१००४-भावुक कवियों की भावुकतापूर्णा-दृष्टि में चन्द्रकलङ्क का उपवर्णन ६४६
१००५–सुप्रसिद्ध-'अङ्कं केऽपि शशङ्किरे०' इत्यादि पद्य, और तत्-अक्षरार्थ-समन्वय ,,
१००६–'भूच्छायमैच्छन् परे' की आंशिक-सत्यता, और चन्द्रकलङ्क ,,
१००७–चन्द्रोत्पत्तिप्रकरणोपक्रम ,,
१००८–शनि-बृहस्पति-मङ्गल-नामकी बहिर्ग्रहत्रयी ,,
१००६–शुक्र-बुध-पृथिवी-नाम की अन्तर्ग्रहत्रयी ,,
१०१०–सूर्य्य के उपग्रह ,,
१०११–पृथिवी का उपग्रह चन्द्रमा ,,
१०१२–पृथिवी का पुत्र चन्द्रमा ,,
१०१३–भूतप्रतिष्ठामय--धामच्छद वाग्रूप-अत्रिप्राण ,,
१०१४–अन्नादाग्नि का संस्मरण ,,
१०१५–चित्य-चितेनिधेयरूप अन्नादाग्नि ६५०
१०१६–वाग्रूप-अन्नादमूर्त्ति अत्रिप्राण ,,
१०१७–वागेवात्रि: ,,
१०१८–इयं वै वाक् ,,
१०१६–वागिति पृथिवी ,,
१०२०–या सा वागग्नि:-स: ,,
१०२१–सा या सा वागासीत्, सोऽग्निरन्नाद: समभवत् ,,
१०२२–आपोमय परमेष्ठी की मनोतात्रयी ,,
१०२३–भृगु-अङ्गिरा-और अत्रि-प्राणत्रयी ६५०
१०२४–अवस्थात्रयी से समन्वित भृगुप्राण ,,
१०२५– ,, अङ्गिराप्राण ,,
१०२६–न त्रि-भावापन्न अत्रिप्राण ,,
१०२७--पारदर्शकता का महान् प्रतिबन्धक धामच्छद-अत्रिप्राण ,,
१०२८–तमोमयी--पाप्मा-भूतसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक अत्रिप्राण ,,
१०२६–अत्रिप्राण से समन्विता ऋतुमती-नारी, और आत्रेयी ,,
१०३०–पाप्मानोऽत्रिण: ,,
१०३१–रक्षांसि वै पाप्मा-अत्रिण: ,,
१०३२–ऋतुमती-आत्रेयी का स्पर्श-निषिद्ध ,,
१०३३–पृथिवी का मूल उपादान अप्तत्त्व ,,
१०३४–अत्रिप्राण से समन्वित पारमेष्ठ्य आप:, और भूपिण्ड ,,
१०३५–अप्-वायु-तेज, और अत्रिप्राण से समन्वित-भूपिण्ड ६५१
१०३६–चित्याग्निमूर्त्ति--अन्नादाग्निरूप-अत्रिप्राणमय भूपिण्ड ,,
१०३७–सम्वत्सरगति का अधिष्ठाता भूपिण्ड ,,
१०३८–भूपिण्ड का साम्वत्सरिक-परिभ्रमण, और दिक्सोम की आहुति ,,
१०३६–खण्ड-खण्ड-भावप्रवर्त्तक पार्थिव-अग्नि ,,
१०४०–संकोचधर्म्मा ध्रुवसोम ,,
१०४१–वरुणसोम का पारिभाषिक-स्वरूप ,,
१०४२–अत्रिप्राणमय पार्थिव वागग्नि, और अङ्गिरा ,,
१०४३–अङ्गिरोऽग्नि की अवस्थात्रयी ,,
१०४४–सोम की अवस्थात्रयी ,,
१०४५–अत्रिप्राण का प्रस्रवण, और चन्द्रोत्पत्ति ,,
१०४६–अत्रिपुत्र चन्द्रमा, और पौराणिक-वचन सन्दर्भ ,,
१०४७–नेत्राभ्यामस्रवत्-सोम: ,,

१०४८–सार्वदैवत्य-अग्नि ६५२
१०४९–देवयजनात्मक चान्द्रसोम ”
१०५०–देवयजनभूमि, और सोम ”
१०५१–पितृप्राणमय देवयजनात्मक सोम ”
१०५२–स्वधा और पितर ”
१०५३–स्वधा, शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय ”
१०५४–'स्वधाभिश्चन्द्रमसि-ऐरयन्' इत्यादि मन्त्रभाग का पारिभाषिक समन्वय ”
१०५५–पार्थिव-देवयजनभाग, और चन्द्रमा ”
१०५६–देवयजनभागात्मक चान्द्र-कृष्णभाग ”
१०५७–देवयजनात्मक सोम से चन्द्रमा का निर्म्माण, और सृष्ट्यारम्भकाल ”
१०५८–पार्थिव देवयजन, और भूपिण्ड ”
१०५९–चान्द्र देवयजन, और चन्द्रमा ”
१०६०–प्रतिमार्ज्जनकर्म्म-स्वरूप-रहस्य ”
१०६१–चान्द्री-देवयजनसम्पत्ति का संग्रह ”
१०६२–सोमवल्ली, और वैधयज्ञ ”
१०६३–वैधयज्ञ, और मानवदेवता ”
१०६४–सोमरक्षक भौम चन्द्रमा ”
१०६५–भौम ब्रह्मा, और लोकपाल चन्द्रमा ”
१०६६–सोमवल्ली का असुरों के द्वारा आमूल-चूड़ उत्पाटन, और देवबल का पराभव ”

## इति-प्रतिमार्ज्जनकर्म्मोपपत्तिः

* * *

१०६७–शेषभूत अनवमर्शप्रकरण ६५३
१०६८–कुशास्तरणतः पूर्व-अवमर्श का निषेध ”
१०६९–यज्ञकर्म्म का प्राणविद्युन्मयत्त्व, एवं तन्निबन्धन इष्टानिष्टजनकत्त्व ”
१०७०–वेदिविद्युत् का संहारकधर्म्म ”
१०७१–(क)–दर्भविद्युत्, और वेदिविद्युत् का समतुलन ६५४
१०७२–(ख)--प्राणात्मिका यज्ञविद्युत् का प्राण से ही अनुरूप-सम्बन्ध ६५४ ”
१०७३–ऋषिप्रोक्त-पद्धतिक्रम का ही अनुगमन, और इष्टसंसिद्धि ”
१०७४–बुद्धिवादात्मक व्यामोहन का प्रवेश
१०७५–सनातनधर्म्मनिष्ठों की पतनपरम्परा का मूलकारणान्वेषण, और तन्निरोधोपाय-प्रदर्शन ”
१०७६–वेदभक्तों के सम्मिलित हवन का भावुकतापूर्ण इतिवृत्त, और विज्ञान-सिद्धा यज्ञविद्या का तद्भक्तों के द्वारा ही उपहास ”
१०७७–आर्य्यजगत् का 'नमस्ते' व्यवहारात्मक अभिनिवेश ”
१०७८--'नमस्ते' की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में श्रुति का प्रचण्ड निरोध, 'नमस्ते' खण्डनपरक श्रुतिवचन का संस्मरण, तथा तद्वैज्ञानिक समन्वय ”
१०७९–यज्ञ में दीक्षित यजमान के लिए अनुगमनीय कतिपय नियम ६५५
१०८०–देवसंस्थात्मिका यज्ञसंस्था, और तत्र 'नमस्ते' व्यवहार का समादर ६५६
१०८१ व्यवहारजगत्, और 'नमस्ते' व्यवहार का प्रचण्ड निरोध ”
१०८२ 'नमस्ते' व्यवहारनिरोधक श्रुति-वचन ”
१०८३–यज्ञकर्म्मानुगता अश्रद्धा, और यज्ञपद्धतियों की उपेक्षा ”
१०८४–यज्ञानुगता श्रद्धा का संस्मरण ”
१०८५–बृहस्पति से अनुगत आख्यान का संस्मरण ”
१०८६-यथाविधि-यज्ञ का सम्पादन, और तद्द्वारा अभ्युदय की संसिद्धि ”

इति-प्रथमकाण्डे-द्वितीयाध्याये-पञ्चमं ब्राह्मणम्
इति-द्वितीयप्रपाठके-तृतीयं ब्राह्मणम्

## इति-द्वितीयोऽध्यायः

## २

इति-वेदिपरिग्रहात्मकं-वेदिसम्पादनम्

१४

* श्रीः *

# अथ–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे संस्कारब्राह्मणाध्यायः

# ३

## अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे–तृतीयाध्याये–प्रथमं ब्राह्मणम् द्वितीय–प्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

## १५-द्रव्यसंस्काराः

## क्रमप्राप्त १५ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'

( पृष्ठ सं० ९५९ से १०३६ पर्य्यन्त )


१–प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीयाध्यायानुगत-प्रथमब्राह्मण, एवं द्वितीयप्रपाठकानुगत चतुर्थब्राह्मण ( मूल ) ९५९

२–मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमन्वयात्मक अनुवाद ९६५

३–सूत्रप्रदर्शित-पद्धतिप्रकरण ९७१


### उपपत्तिप्रकरण (विज्ञानभाष्य)

#### (१)- द्रव्यसंस्कारोपपत्तिर्विज्ञानं वा


४–स्रुव-जुहू-उपभृत्-ध्रुवा-पुरोडाशपात्री-इड़ापात्री आदि यज्ञिय-पात्र, और देव-भोजन-साधन ९७५

५–लोकव्यवहारानुगत भोजनपात्रों के साथ दैवव्यवहारानुगत पात्रों का समतुलन ९७५

६–भोजनपात्रों का विशुद्धीकरणात्मक संस्कार "

७–सम्मार्जनीय-पानी, और विशोधन "

८–कुशा-रूप विशोधन-साधन "

९–वेदात्मक-पारमेष्ठ्य अम्भः पानी "

१०–आपो वै कुशा, और कुशोत्पत्ति का संस्मरण "

११–अनिशितोऽसि, और सम्मार्जन "

१२–कुशारूप दिव्यपानी, और दिव्यमन्त्रबल, तथा सम्मार्ज्जन "

१३–वारुणवायु, और असुरप्राण ६७६
१४–अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले असुर ,,
१५–अग्नि, और मन्त्रबल के द्वारा असुर-पराभव ,,
१६–पात्रप्रतपनकर्म्म का समन्वय ,,
१७–अलौकिक-दिव्यभावापन्न सम्मार्जन ,,
१८–यज्ञ से अलौकिक दैवात्मा की अभिव्यक्ति ,,
१९–सम्मार्ज्जन की विशेष पद्धति ,,
२०–आगमन, और गमन-भावानुगत-सम्मार्ज्जन ,,
२१–प्राणापाननात्मक-सम्मार्जनकर्म्म ,,
२२–देवयजनात्मक स्रुव ,,
२३–प्राणोदानावेवैवतद्दधाति ,,
२४–प्राणोदान से युक्ता रोमावलियाँ ,,
२५–पुरुषो वै यज्ञः ,,
२६–तस्मादितीमानि लोमानि, इतीवेमानि-का समन्वय ,,
२७–प्राणोदानरूपा सौररश्मियाँ ,,
२८–स्रुव की स्वाभाविक शक्ति ६७७
२९–आहुतिद्रव्यात्मक चतुर्विध सोम ,,
३०–अन्नसोमात्मक वाज, और तद्रूप यज्ञ ,,
३१–वाजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि ,,
३२–प्राशित्रहरणपात्री, और इडापात्री का तूष्णीं सम्मार्जन ,,
३३–तपन, और सम्मार्जन ,,
३४–सम्मार्जनानन्तर पुनः प्रतपन, और तत्कारण-समन्वय ,,
३५–यथावमर्शं निर्णिज्य-अनवर्शमुत्तमं परिक्षालयेत् ,,
३६–स्रुव का सम्मार्जन में प्राथम्य ,,
३७–वृषा का प्राथम्य, और तत्प्रथम-सम्मार्जन ,,
३८–पुंभ्रूणात्मक वृषा-पुरुष ,,
३९–स्त्रीभ्रूणात्मिका-योषा-स्त्री ६७७
४०–वृषारूप पुरुष का अग्निमयत्त्व ,,
४१–योषारूपा स्त्री का सोममयत्त्व ,,
४२–वृषारूप अग्नि का प्राथम्य ,,
४३–योषारूप सोम का पश्चाद्भावित्त्व ,,
४४–अग्रत्त्व, और अग्नि ,,
४५–अन्नाद-भोक्ता-रूप-अग्नि ,,
४६–अन्न-भोग्य-रूप सोम ,,
४७–भोक्ता का प्राधान्य ,,
४८–भोग्य का गौणत्त्व ,,
४९–पुरुषात्मभाव, और भोक्ता-अग्नि ६७८
५०–स्त्रीभाव, और भोग्य सोम ,,
५१–बालक (पुरुष) का अग्रगामित्त्व ,,
५२–एकपुरुषात्मक स्रुव ,,
५३–अनेक स्रुक् रूपा स्त्रियाँ ,,
५४–पुरुष-और स्त्री का उत्तरदायित्त्वपूर्ण श्रेणिविभाजन ,,
५५–गार्हपत्य का पश्चिमभाग, और पात्र-सम्मार्ज्जन ,,
५६–दर्भतृणात्मक पात्रीनिर्णेजन ,,
५७–सम्मार्जनकर्म्म में अपेक्षिता सावधानी ,,
५८–कुशराशिरूप 'वेद' (कुशमुष्टि) ,,
५९–यज्ञप्रवर्त्तक सूर्य्य का त्रयीवेदमयत्त्व ,,
६०–गायत्रीमात्रिकवेदात्मक सूर्य्य ,,
६१–वेदमय सौर-अपतत्त्व ,,
६२–वेदावच्छिन्न सौरप्राण, और दर्भ ,,
६३–दर्भ की वेदरूपता ,,
६४–यज्ञसीमा, और यज्ञिय वेद ,,
६५–तैत्तिरीय-मत, और दर्भात्मक यज्ञिय-द्रव्य का यज्ञमण्डल में ही समावेश ,,
६६–सूत्रकाराभिमत, और 'एके' ६७९
६७–आहवनीयाग्नि, और दिव्यप्राण ,,
६८–प्रासनानुगत दोष ,,

६९–दर्भतृणादि के बहिर्निरसन के सम्बन्ध में तथ्यपूर्ण निर्णय ९७९


## इति–द्रव्यसंस्कारोपपत्तिः

१

## ❀-२-पत्नीसन्नहनोपपत्तिः ❀


७०–पत्नीसंन्नहनकर्म्म का स्वरूप ९७९
७१–पन्युर्नो यज्ञसंयोगे, और यजमानपत्नी ''
७२–यज्ञसम्बन्धानुगत-पत्नी-शब्द ''
७३–पति, और पत्नी का दाम्पत्य ''
७४–दाम्पत्यमूला विराट्प्रजा ''
७५-'स विराजमसृजत् प्रभुः ''
७६–वेदतत्त्व-विभक्तित्रयी ''
७७–वागग्निरूप सार्वयाजुषाग्नि ''
७८–वागग्नि का सत्याग्निमयत्त्व ''
७९–यज्जूः-रूप यजु का स्वरूपविभाजन ''
८०–ऋक्-सामरूप वयोनाधों से यज्जूः-रूप वयोभाग का वेष्टन ''
८१–स्वयम्भू-का यजुर्म्मय शरीर ९८०
८२–शरीरात्मिका वाक् का द्रवण, और अग्नेराप: ''
८३–सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् ''
८४–वागेव साऽसृज्यत ''
८५–प्रकृतिसिद्ध प्रथम दाम्पत्य, और उन का प्रथम अपत्य ''
८६–दाम्पत्य के तीन महिमा-विवर्त्त ''
८७-स्वायम्भुवयज्ञात्मक प्रथम-दाम्पत्य ''
८८–सम्वत्सरयज्ञात्मक द्वितीय-दाम्पत्य ''
८९–अध्यात्मयज्ञात्मक तृतीयदाम्पत्य ''
९०–त्रिविध-दाम्पत्यभाव-परिलेख ''
९१–अग्नीषोमात्मक-प्राकृति-यज्ञ ''
९२–सम्वत्सरमण्डल के सूर्य्याचन्द्रमसौ-नामक ग्रहोपग्रह ''
९३–आग्नेय-सूर्य्यग्रह ''
९४–सौम्य-चन्द्रमोपग्रह ९८०
९५–सम्वत्सररूप महासुपर्ण ''
९६–सुपर्ण के दक्षिणोत्तरपक्ष ''
९७–पूर्वखगोल, और पुरुषभाव ''
९८–पश्चिमखगोल, और स्त्रीभाव ''
९९–सम्वत्सररूप यज्ञप्रजापति ''
१००–दृश्य-खगोलात्मक सूर्य्य, और पुरुष-सृष्टि ''
१०१–अदृश्य खगोलात्मक चन्द्रमा, और स्त्री-सृष्टि ''
१०२–विष्वद्वृत्त, और मेरुदण्ड (रीड की हड्डी) ''
१०३–अर्द्धभागात्मक पुरुष ९८१
१०४–अर्द्धभागपूरिका स्त्री ''
१०५–अर्द्धाङ्गिनी स्त्री ''
१०६–पुरुष का शून्यार्द्धाकाश, और तत्पूरिका स्त्री ''
१०७–देवो भूत्वा देवं भावयेत् ''
१०८–सम्वत्सरयज्ञानुरूपा सम्पत्ति, और दाम्पत्यभाव ''
१०९–यज्ञानुगता-पत्नी, और पूर्णता ''
११०–अर्द्धो वा एष आत्मनः-यत्पत्नी ''
१११–सोऽयमकाशः पत्न्यापूर्य्यते ''
११२–अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः ''
११३–बहुविवाह की मौलिकता ''
११४–यज्ञ का पश्चिमार्द्ध, और पत्नी ''
११५–यजमान के यज्ञ का ऊर्ध्व वितान ''
११६–'जगनार्द्धो वा एष०' इत्यादि श्रुतिवचन का रहस्यात्मक समन्वय ''
११७–यज्ञ में योक्त्र के द्वारा यजमान-पत्नी का योग ''
११८–यज्ञबन्धन, और पलायन का अभाव ''
११९–यज्ञात्मक बन्धन का रहस्योपक्रम ९८२
१२०–स्त्री का स्वरूपधर्म्म, और स्त्रीस्वातन्त्र्य का विरोध ''

१२१–परतन्त्रतात्मिका अर्गला, और स्त्री ६८२
१२२–स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य-स्वरूप-विश्लेषण ,,
१२३–अनृतप्रधाना, अतएव अनृतभावापन्ना योषा ,,
१२४–स्त्री का पारतन्त्र्य, और पत्नीसन्नहन-कर्म्म ,,
१२५–योक्त्रबन्धनात्मक निबिड़बन्धन ,,
१२६–सन्नहनकर्म्म का मौलिक-रहस्य ,,
१२७–हमारी युगधर्म्मानुगता अनुभूति ,,
१२८–(क) स्त्री-स्वातन्त्र्य के पक्षपातियों के हृदयोद्गार ,,
१२८–(ख) ईश्वराज्ञापत्ररूप वेद, और अभिशापरूप-पत्नी-पारतन्त्र्य ? ,,
१२९–समस्या की महती जटिलता ,,
१३०–शब्दप्रमाणका वयम् ,,
१३१–(क) मानवीय अनृत मन, और उसका सहज प्रमाद ,,
१३१–(ख) (१) धर्म्म का रूढिवादत्व, और आजका भ्रान्त सनातनधर्म्मावलम्बी जगत् ६८३
१३२–(२) पश्चिमाडम्बरभक्त आज का सुधारकवर्ग ,,
१३३–(३) धर्म्मोपदेशकों की निरीहता ,,
१३४–(४) धार्मिक-जनता का असन्तोष ,,
१३५–धर्म्मप्रेमी सनातनधर्म्मी (१) ,,
१३६–सुधारप्रेमी सुधारक (२) ,,
१३७–धर्म्मोपदेष्टा धार्मिकनेता (३) ,,
१३८–मार्गप्रदर्शक समाजनेता (४) ,,
१३९–पञ्चम-राष्ट्रीय-समाज का संस्मरण ,,
१४०–उद्देश्य की मान्यता में स्वीकृति ,,
१४१–आदर्शभक्त, किन्तु कर्म्मशून्य धार्मिक-जगत् ,,
१४२–कर्म्मपरायण, किन्तु आदर्शशून्य-सामाजिक-जगत् ,,
१४३–राष्ट्र की ज्ञानशक्ति, और क्रियाशक्ति का विभाजन, और महान् क्लेश ,,
१४४–धर्म्मतत्त्व का विलयन, एवं रूढिवाद का प्राधान्य, और धार्मिक जगत् ६८४
१४५–शाश्वतधर्म्म के स्थान में मतवाद-परम्परा का संस्थापन, एवं तद्द्वारा धर्म्मव्याज (छल) से विशुद्ध स्वार्थ का पोषण ,,
१४६–सुधारकवर्ग की रूढिवाद के प्रति क्रान्ति ,,
१४७–आवेशमूला क्रान्ति का घातक परिणाम ,,
१४८–रोग के साथ साथ रोगी का भी निकृन्तन, और सुधार-व्यामोहन ,,
१४९–अप्रासङ्गिक-भावानुगता-प्रासङ्गिकता ,,
१५०–स्त्रीस्वातन्त्र्यानुगत महान् प्रश्न ? ,,
१५१–स्वतन्त्र, परतन्त्र-शब्दों का अक्षरार्थ-समन्वय ,,
१५२–आत्मा, और 'स्व' भाव ,,
१५३–स्वानुगत स्वधर्म्म, और परानुगत परधर्म्म-से आक्रान्त आत्मा ६८५
१५४–शब्दोत्पादक आत्मा ,,
१५५–तात्पर्य्यार्थ-समन्वय ,,
१५६–शिक्षासूत्र, और आत्मा के द्वारा शब्दाविर्भाव ,,
१५७–'वायुः खात् शब्दस्तत्' का संस्मरण ,,
१५८–शब्दोत्पत्ति में समर्थ आत्मा, और 'स्व' भाव ,,
१५९–शब्दोत्पत्ति की सनातनता, और स्वानुगता-विपतिपत्ति ,,
१६०–तत्त्वसमन्वयदृष्ट्या विप्रतिपत्ति का निराकरण ,,
१६१–स्वतन्त्राध्यक्ष-स्वतन्त्र आत्मा ,,
१६२–पर-तन्त्राबद्ध परतन्त्र-आत्मा ,,
१६३–तन्त्रवाचक स्वतन्त्र, और परतन्त्र-शब्द ,,
१६४–स्वतन्त्रता-परतन्त्रता के द्वन्द्व से अतीत सर्वरूप आत्मा ,,
१६५–तद्वादन्याय के द्वारा आत्मस्वातन्त्र्य, और आत्मपारतन्त्र्य का समन्वय ६८६

१६६–स्वः-और परः-रूप तन्त्रों के पारिभाषिक तत्त्वार्थ ६८६
१६७–स्वतन्त्र -परतन्त्र-भावानुगत आत्मभाव, और अनात्मभाव का पारिभाषिक-समन्वय ,,
१६८–आत्मानुगता स्वतन्त्रता, और श्रेयोभाव का समन्वय ,,
१६९–अनात्मानुगता परतन्त्रता, और प्रेयो–भाव का समन्वय ,,
१७०–तन्त्रशब्दार्थ पर दृष्टिनिक्षेप ,,
१७१–तन्त्रशब्द के लोकप्रचलित विविध भावों का संस्मरण ,,
१७२-प्रकृतिरूप प्रधानतत्त्व ,,
१७३–अतरङ्गा, और बहिरङ्गा-प्रकृति ,,
१७४–विश्वात्मिका भूतप्रधाना बहिरङ्गप्रकृति ,,
१७५–विश्वसञ्चालिका प्राणात्मिका अन्तरङ्ग-प्रकृति ६८७
१७६–प्रधानरूपा प्रकृति की क्षेत्ररूप में परिणति ,,
१७७–क्षेत्रज्ञ, और विज्ञानात्मा ,,
१७८–विश्ववितान-कर्त्री प्रधाना प्रकृति ,,
१७९-प्रकृति का तननात्मक विस्तार ,,
१८०–तननात्मक तन्त्रभाव ,,
१८१–आधिदैविक विश्व का स्वरूपदर्शन ,,
१८२-पुरुष-प्रकृति-विकृति-भावत्रयी के माध्यम से स्वतन्त्र-परतन्त्र-शब्दों का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय ,,
१८३–आत्मविवर्त्त का दिग्दर्शन, और स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य-निष्कर्ष ,,
१८४–आत्मा-स्वः (१) ६८७
१८५–अनात्मा परः (२) ,,
१८६–प्रधानम्-तन्त्रम् (३) ,,
१८७–पुरुषः-स्वः (१) ,,
१८८–विकृतिः-परः (२) ,,
१८९–प्रकृतिः-तन्त्रम् (३) ,,
१९०–अव्ययः-स्वः (१) ,,
१९१–क्षरः-परः (२) ६८७
१९२–अक्षरः-तन्त्रम् (३) ,,
१९३–स्वयम्भूः-परमेष्ठी च-स्वः (१) ,,
१९४–चन्द्रमाः, पृथिवी च-परः (२) ,,
१९५–सूर्य्यः-तन्त्रम् (३) ,,
१९६–स्वतन्त्र, तथा परतन्त्र-शब्दों का पारिभाषिक-आविर्भाव ६८८
१९७–आत्मा का वाचक 'स्वतन्त्र' शब्द ,,
१९८–आत्मा-स्वतन्त्रः, आत्मा परतन्त्रः-वाक्यों का पारिभाषिक समन्वय ,,
१९९–स्वतन्त्रशब्द का 'पर' वाचकत्व ,,
२००–स्वानुगामी तन्त्र, और 'स्वतन्त्र' ,,
२०१–परानुगामी तन्त्र, और 'परतन्त्र' ,,
२०२–स्वतन्त्र की परतन्त्रता ,,
२०३–परतन्त्र की स्वतन्त्रता ,,
२०४–संस्थात्रयी से अनुगत स्वतन्त्र, परतन्त्र शब्द ,,
२०५–आत्मस्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य का विचार-समन्वय ,,
२०६–तन्त्रानुगतः स्वः-स्वतन्त्रः, और आत्म-वाचक स्वतन्त्र शब्द का निर्वचन ,,
२०७–आत्मा की 'पर' भावासक्ति, और पर-तन्त्रानुगतिरूप 'परतन्त्र' का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय ६८९
२०८–'पर' की आसक्ति की विश्रामभूमि ,,
२०९–स्व की पर रूप में परिणति, एवं तन्त्रता का अपहरण, और पारतन्त्र्य का पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय ,,
२१०–तन्त्रानुगति से अनुप्राणित स्वतन्त्र, और परतन्त्र शब्दों का आत्मवाचकता-नुबन्ध से पारिभाषिक समन्वय ,,
२११–अनुकूल तन्त्रात्मक आत्मा की मित्ररूपता ,,
२१२–प्रतिकूल तन्त्रात्मक आत्मा की शत्रुरूपता ,,
२१३–विभिन्न दृष्टि, और निर्वचन ,,
२१४–आत्मबन्धु, और आत्मरिपु ,,
२१५–आत्मा का स्वजन, और स्वतन्त्रता ,,

२१६--आत्मा का परजन, और परतन्त्रता ६८६
२१७--आत्महितैषी तन्त्र, और स्वातन्त्र्य ६६०
२१८--आत्मप्रतिद्वन्द्वी तन्त्र, और पारतन्त्र्य "
२१६--स्वतन्त्र-परतन्त्र-शब्दों की विचारोपरति "
२२०--अपना, और पराया का पारिभाषिक समन्वय "
२२१--अविनाशी अव्यय, और विनाशी क्षर "
२२२--स्व-भाव की पर-भाव में परिणति "
२२३--अव्ययात्मानुगत स्व-भाव से अनुप्राणित तन्त्रानुगत अक्षरभाव-निबन्धन-स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों का पारिभाषिक-समन्वय "
२२४--विविध-दृष्टियों से स्व-पर, तथा तन्त्रभावों का पारिभाषिक-दिग्दर्शन ६६१
२२५--अनुगमभावापन्न स्वतन्त्र-परतन्त्र-शब्द "
२२६--स्वतन्त्रता, और परतन्त्रता की व्यापकता "
२२७--प्रकृतिसहयोगी पुरुष का स्वातन्त्र्य "
२२८--विकृतिपरवश पुरुष का पारतन्त्र्य "
२२६--मौलिक-परिभाषा, और स्वतन्त्रता, परन्त्रता "
२३०--आध्यात्मिक-जगत् की स्वन्त्रता-परतन्त्रता का अन्वेषण, एवं तन्मूलाधारेण स्त्री-स्वातन्त्र्य की मीमांसा का उपक्रम "
२३१--आधिदैविक-प्राकृतिक-विश्व का स्वरूप-दिग्दर्शन ६६२
२३२--पुरुष-प्रकृति-विकृति-त्रयी "
२३३--आत्मा-प्राण-पशु-त्रयी "
२३४--चतुर्विध स्थूलभावों का संस्मरण "
२३५--आधिदैविक, और अध्यात्मिक-विवर्त्तों का स्थूल-परिचय, एवं तत्साम्य-प्रदर्शन "
२३६--प्रजापति का संस्मरण "
२३७--आधिदैविकयज्ञ से आध्यात्मिकयज्ञ का आविर्भाव "
२३८--यज्ञधरातलरूप आत्मभाव "
२३६--यज्ञ के यजमान सूर्य्यनारायण "
२४०--पृथिवी से समन्वित चन्द्रमा का यजमान-पत्नीत्त्व ६६२
२४१--अग्निमय सूर्य्य, और सोममय-चन्द्रमा "
२४२--सौर अग्नि का प्रवर्ग्यभाग ऋताग्नि "
२४३--चान्द्रसोम का प्रवर्ग्यभाग ऋतसोम "
२४४--ऋतसोमस्थानात्मिका उत्तरादिक् "
२४५--ऋताग्निस्थानात्मिका दक्षिणादिक् "
२४६--ऋताग्नि-ऋतसोम का समन्वय, और षड्-ऋतु का आविर्भाव ६६३
२४७--षड्ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सरप्रजापति "
२४८--पार्थिवप्रजोत्पत्ति का प्रवर्त्तक सम्वत्सर-प्रजापति "
२४६--वृषासृष्टि, और अग्नि का प्राधान्य "
२५०--योषासृष्टि, और सोम का प्राधान्य "
२५१--पुरुषस्वरूपनिर्म्मापक अग्नि "
२५२--स्त्रीस्वरूपनिर्म्मापक सोम "
२५३--मित्ररूप भोग्यभाव, और सोम "
२५४--अग्नि, और सोम का सहज सख्यभाव, और सोम का न्योकसखात्व "
२५५--'अग्निर्जागार' इत्यादि श्रुति का संस्मरण "
२५६--अग्नि की सोमानुगता बलवत्ता "
२५७--हृदयभावानुगत बलविकास "
२५८--हृदयस्थ उक्थबल की सत्यरूपता "
२५६--सत्य के आधार पर बल का प्रयोग "
२६०--सत्य, और बल की प्रतिद्वन्द्विता "
२६१--बलं सत्यादोजीयः "
२६२--बलं वाव विज्ञानाद्भूयः "
२६३--बलवान् अग्नि, निर्बलसोम "
२६४--आग्नेय-अतएव बलवान्-पुरुष "
२६५--सौम्या-अतएव अबला-स्त्री "
२६६--बलवान् वृषा, अबला योषा "
२६७--सत्यभावोपेत पुरुष "
२६८--अनृतभावोपेता ( ऋतसोमभावोपेता ) स्त्री "
२६६--आग्नेय पुरुष, सौम्या स्त्री "

२७०–भोक्ता पुरुष, भोग्या स्त्री ६६३
२७१–स्वप्रतिष्ठात्मक पुरुष ”
२७२–परप्रतिष्ठात्मिका स्त्री ”
२७३–पुरुष का प्राधान्य, और स्त्री का गौणत्व ”
२७४–अबलास्त्री, और तत्-उपास्यपद-प्राप्ति का समन्वय ६६४
२७५–सबल, और निर्बल-भावों का पारिभाषिक स्वरूप-दिग्दर्शन ”
२७६–'अबला' व्यवहार का आश्चर्य्यमयत्व ”
२७७–बल की स्वरूप-परिभाषा ”
२७८–निर्बल की स्वरूप-परिभाषा ”
२७९–संकोचभाव, और बलप्रतिमा ”
२८०–विकासभाव, और निर्बलता की प्रतिमा ”
२८१–बद्धमुष्टिता, और बलवत्ता ”
२८२–मुक्तहस्तता, और निर्बलता ”
२८३–संकोचभावापन्ना बलपरिभाषा ”
२८४–विकासभावापन्ना निर्बलपरिभाषा ”
२८५–विकासधर्म्मा अग्नि, और उसका पारिभाषिक निर्बलत्व ”
२८६–संकोचधर्म्मा सोम, और उसका पारिभाषिक सबलत्व ”
२८७–अग्निप्रधान पुरुष का निर्बलत्व ”
२८८–सोमप्रधाना स्त्री का सबलत्व ”
२८९–स्त्रीस्वातन्त्र्य, और तत्प्रासङ्गिक शिव-रुद्र-भाव का संस्मरण ”
२९०–अग्निर्वा रुद्रः ”
२९१–विश्वसंहारक रुद्रदेवता ”
२९२–शक्तिसमागम से पराङ्मुख रुद्र का-रोदनकर्म्म ”
२९३–रुद्र का पारिभाषिक निर्वचनार्थ ६६५
२९४–रुद्ररुदनकारण-जिज्ञासा, और तत्समाधान ”
२९५–अन्नादरुद्र की उत्तेजना ”
२९६–अन्नप्रदान, और रुद्रोत्तेजना की उपशान्ति ६६५
२९७–ब्राह्मणश्रुत्यर्थ का संस्मरण ”
२९८–रुद्रदेवता की शान्ति-तुष्टि ”
२९९–आधिदैविकरुद्र का संस्मरण ”
३००–रुद्राग्नि की रुदनात्मिका द्रुतावस्था,
३०१–रजत, और रुदन ”
३०२–(क) रजतदक्षिणा का निषेध ”
३०२–(ख) रुद्र के लिए सोमाहुति-प्रदान ”
३०३–घोररुद्र की शिवातनूरूप में परिणति ”
३०४–सोमाहुति का अभाव, और तत्परिणाम ”
३०५–अग्नि का चरम विकास, और सोम का आविर्भाव ”
३०६–सोम का चरमविकास, और अग्नि का आविर्भाव ”
३०७–मानव का रुदन, और आपोभाव ”
३०८–अग्नि की निःशेषता, और शैत्य ”
३०९–बुभुक्षित मनुष्य की अन्नरूप में परिणति
३१०–मानव की शवान्नरूप में परिणति ६६६
३११–श्मशानाग्निरूप क्रव्यादग्नि ”
३१२–भोक्ता की भोग्यरूप में परिणति ”
३१३–रुद्राग्निविवेचन का निष्कर्षार्थ ”
३१४–सोमसम्बन्धानुगता अग्निबलवत्ता ”
३१५–अग्निमूर्त्ति रुद्र की सोम-सम्बन्धेन 'साम्ब-सदाशिव' रूप में परिणति ”
३१६–शिव, और शक्ति का संस्मरण ”
३१७–रुद्र, और शिव-भाव का प्रासङ्गिक संस्मरण ”
३१८–अन्तर्दृष्टि, और शिव-शक्ति-युग्म ”
३१९–पुरुष का अन्तरात्मा, और सौम्यशुक्र ”
३२०–बलघन सौम्यशुक्र, और ब्रह्मचर्य्य ”
३२१–बलघन का अबलत्व, किंवा निर्बलत्व ”
३२२–शुक्त्युपासना के रहस्यात्मक संस्मरण ”
३२३–रहस्यभेद की परम्परा ”

३२४--सौम्यजगत् की चमत्कारपरम्परा ९९६
३२५--सर्वानुभूत-स्पष्टतम-विश्लेषण ,,
३२६--पुरुष की प्रतिष्ठारूपा स्त्री ९९७
३२७--सम्पूर्ण पुरुषों का स्त्रीरूपत्त्व ,,
३२८--सम्पूर्ण स्त्रियों का पुरुषरूपत्त्व ,,
३२९--ऋक्श्रुति का रहस्यात्मक संस्मरण ,,
३३०--पश्यदक्षण्वान्- न विचेतदन्धः ,,
३३१--पुरुष की महती चिन्ता, और तन्निवृत्युपायप्रदर्शनोपक्रम ,,
३३२--शरीरानुगत भूत, और प्राण, एवं तन्निबन्धन दृश्य-अदृश्य-जगत् ,,
३३३--शरीरविनष्टि का मुख्यकारण ,,
३३४--आप्यसोम, और ब्रह्मणस्पति ,,
३३५--दर्भ-गङ्गा-सुवर्ण-मृगचर्म-आदि की पवित्रता का मूलाधार 'अम्भः'-तत्त्व ,,
३३६--अम्भः-तत्त्व, और शारीरिक-भूतों की प्रतिष्ठा का संरक्षण ९९८
३३७--अम्भोरूप ब्रह्मणस्पति, और मन्त्रश्रुति ,,
३३८--असदाचरण, और आप्यप्राण पर आघात ,,
३३९--सौम्यशुक्रानुगत भूत, और प्राण ,,
३४०--बाह्यधरातल का अग्निमयत्त्व, एवं आभ्यन्तर-धरातल का सोममयत्त्व ,,
३४१--आभ्यन्तर-धरातल का अग्निमयत्त्व, एवं बाह्यधरातल का सोममयत्त्व ,,
३४२--लौकिक उदाहरणों के द्वारा वस्तुस्वरूप का समन्वय ,,
३४३--ज्वरावस्था के द्वारा स्थिति का स्पष्टीकरण ९९९
३४४--सर्दी-गर्मी, और गर्मी-सर्दी का विपर्य्यय ,,
३४५--प्रकृतिमण्डल का शीतत्त्व, और शरीर का अग्निमयत्त्व ,,
३४६--प्रकृतिमण्डल का उष्णत्त्व, और शरीर का शीतत्त्व ,,
३४७--बहिर्भयानक भगवान् रुद्र का आभ्यन्तर-सौम्यरूप ९९९
३४८--खरे, और खोटे की कसौटी ,,
३४९--प्राकृतिक कसौटी ,,
४५०--शुक्र-और शोणित के बाह्य, तथा आभ्यन्तर-रूपों का पारिभाषिक-रहस्यात्मक-समन्वय ,,
३५१--पुरुष-व्यवहार का संरक्षण ,,
३५२--पुरुषसंस्था का स्पष्टीकरण, और स्वतन्त्रता-परतन्त्रता का समन्वय १०००
३५३--पुरुष, और स्त्री का स्वरूप-निम्मर्पाक दक्षिणोत्तर-भावानुबन्धी-अग्नि-सोमात्मक-सम्वत्सर-प्रजापति ,,
३५४--दक्षिणभाग, और पुरुषत्त्व ,,
३५५--उत्तरभाग, और स्त्रीत्त्व ,,
३५६--दक्षिणभाग् का अपेक्षाकृत-सभारत्त्व ,,
३५७--उत्तरभाग का अपेक्षाकृत-निर्भारत्त्व ,,
३५८--आग्नेय दक्षिणभाग की बलवत्ता का पारिभाषिक समन्वय १००१
३५९--सौम्य-उत्तरभाग की निर्बलता का पारिभाषिक समन्वय ,,
३६०--सूक्ष्मा शक्तिदृष्टि, और दक्षिणोत्तर-मार्गों का सबलत्त्व-निर्बलत्त्व ,,
३६१--चाक्षुषपुरुषात्मक दक्षिणाक्षिपुरुष ,,
३६२--योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः ,,
३६३--शारीरिक-दैनिक-चेष्टाओं के माध्यम से स्थिति का समन्वय ,,
३६४--वामभाग, और सौम्या इन्द्रपत्नी ,,
३६५--वामनी, और भामिनी ,,
३६६--सोम का गौणत्त्व ,,
३६७--चरणगति के माध्यम से दक्षिणोत्तरभावों का समन्वय ,,
३६८--उत्तरा सौम्या दिक् ,,
३६९--दक्षिणा-आग्नेयी दिक् ,,

३७०–दक्षिणोत्तर-चरणों का ऊर्ध्व-अधोभाव १००२
३७१–पुरुष के पुरुषत्त्व का संरक्षण ,,
३७२–शक्तिघन सोम का पारिभाषिक-रहस्यात्मक-अशक्तित्त्व ,,
३७३–हृदय, और परिधि की अपेक्षा से अग्नि और सोम की स्थिति का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
३७४–सोम का अन्तिम परिणाम अग्नि ,,
३७५–अग्नि का अन्तिम परिणाम सोम ,,
३७६–अग्नि, और सोम का समन्वय, तथा शिवतत्त्व का आविर्भाव ,,
३७७–अग्नीषोमात्मक यज्ञ का उच्छेद, और विश्व का प्रलय ,,
३७८–शक्तिपुञ्जरूपिणी स्त्री १००३
३७९–प्रदीप्त शोणिताग्नि, और स्त्री ,,
३८०–अबला-सौम्या स्त्री की बलवत्ता ,,
३८१–'बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा' का वैज्ञानिक समन्वय ,,
३८२--सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता ,,
३८३--पुरुषाभिनिवेश से जागरूक स्त्री के शोणिताग्नि में पुरुष का सर्वविनाश ,,
३८४–ऐतिहासिक सत्य, और स्त्री के दलन मे विश्वसंहार ,,
३८५--रोगवर्द्धक स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद १००४
३८६–स्त्रीभाव के प्राकृतिक स्वरूप का समन्वय ,,
३८७–एक पक्षपात की बात ,,
३८८--अपमान सहने में समर्थ पुरुष ,,
३८९--अपमान सहने में असमर्था स्त्री ,,
३९०–पुरुषजाति का 'स्त्री' उपाधि से संक्षोभ, और तन्निराकरण ,,
३९१–पुरुष शरीरतः पुरुष, किन्तु शुक्रतत्: स्त्री ,,
३९२–स्त्री शरीरतः स्त्री, किन्तु शोणित:-पुरुष ,,
३९३–'स्त्रियः सतीस्त इमे पुंस आहुः' का पारिभाषिक समन्वय १००४
३९४–रजो-वीर्य्य के स्वरूप-माध्यम से वस्तुस्थिति का स्वरूप-विश्लेषण ,,
३९५–दाम्पत्यभाव का मौलिक रहस्य ,,
३९६–अर्द्धनारीश्वर का संस्मरण ,,
३९७–विश्वशान्ति की मूलप्रतिष्ठा ,,
३९८--पुम्भ्रूण, और स्त्रीभ्रूण का मिथुनभाव ,,
३९९--भ्रूणों का अन्न-अन्नादात्मक संघर्ष ,,
४००--पुत्रसन्तति, और रेत का प्राधान्य ,,
४०१--कन्यासन्तति, और शोणित का प्राधान्य ,,
४०२--नपुंसकसन्तति, और रजोवीर्य्य का साम्य ,,
४०३--भावप्रकाश, और मनुस्मृति १००५
४०४--स्त्री का सौम्य-शरीर, और आग्नेयात्मा ,,
४०५--प्रत्येक के सौम्य-आग्नेय-भेद से दो दो विभाग ,,
४०६–स्त्री का पारिभाषिक-प्रकृतिसिद्ध पारतन्त्र्य १००६
४०७–स्त्रीसंस्था का स्वरूप-समन्वय ,,
४०९--पुरुष का अपना तन्त्र ,,
४१०--स्त्री का अपना तन्त्र ,,
४११--पुरुषस्वातन्त्र्य की स्वरूपपरिभाषा ,,
४१२--स्त्रीस्वातन्त्र्य की स्वरूपपरिभाषा ,,
४१३–स्त्री, और पुरुष का सहज मैत्रीसम्बन्ध ,,
४१४--'सहधर्म्मं चरताम्' आदेश का संस्मरण ,,
४१५–समानधर्म्माचरणमूला मैत्री १००७
४१६–महत्त्वशून्य प्रश्न ,,
४१७–स्त्रीसमानाधाधिकाररूप महान् अभ्व, और पुरुष का व्यामोहन ,,
४१८–स्त्री, और पुरुष के प्रकृतिसिद्ध-स्वरूप से अपरिचित आज का भावुक-मानववर्ग- ,,
४१९--नियत-अधिकारों का समन्वय ,,
४२०--पुरुष, और स्त्री की आधिकारिकी विभक्ता व्यवस्था का संस्मरण ,,

४२१--स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद का निरर्थक प्रलाप १००७

४२२--स्व-स्व-संस्थानुगत प्रकृतिसिद्ध स्वातन्त्र्य का समन्वय १००८

४२३--अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित दाम्पत्यभाव ,,

४२४--कर्म्म का स्वतन्त्र-कर्त्ता, और स्वातन्त्र्य की परिभाषा ,,

४२५--दम्पती, और तदनुगत पति, तथा-पत्नी ,,

४२६--पुरुष एवं स्त्रियमनुधावति ,,

४२७--न स्त्री पुरुषमनुधावति १००८

४२८--रेतोवर्षणात्मक वृषाप्राण ,,

४२९--वृषा, और वृषाकपि ,,

४३०--योषा का स्वतःसिद्ध पारतन्त्र्य ,,

४३१--दो प्रतिद्वन्द्वी ,,

४३२--चार युग्मों के स्थान में शेषभूता युग्मत्रयी १००९

४३३—आग्नेय—शरीर (१)—पुरुष (१) } —प्रथमद्वन्द्व ,,

४३४—सौम्य—शरीर (१)—स्त्री (२) }

४३५—आप्यप्राण (२)—स्त्री (१) } —द्वितीयद्वन्द्व ,,

४३६—आग्नेयप्राण (२)—पुरुष २) }

४३७—सौम्यशुक्र (३)—स्त्री (१) } तृतीयद्वन्द्व ,,

४३८—आग्नेयशोणित (३)—पुरुष (२) }

४३९—आग्नेयप्राण (४)—पुरुष } —चतुर्थद्वन्द्व ,,

४४०—सौम्यप्रण (४)—स्त्री } ,,

४४१—प्रकारान्तर से चारों प्रतिद्वन्द्वी–द्वन्द्वों का स्वरूप–दिग्दर्शन

४४२--आप्यप्राणगर्भित-आग्नेय-शरीर (पुरुष) १०१०

४४३--आग्नेयप्राण गर्भित-सौम्यशरीर (स्त्री) ,,

४४४--सौम्य-शुक्र (स्त्री) ,,

४४५--आग्नेय-शोणित (पुरुषः) ,,

४४६--आग्नेयो वृषा (पुरुषः) ,,

४४७--सौम्या योषा (स्त्री) ,,

४४८--अग्रगामी द्वन्द्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा, और तत्समाधान ,,

४४९--द्वन्द्वों के पारस्परिक प्रथम-द्वितीयादि-आक्रमण ,,

४५०--अन्तिम आक्रमण, और पुरुष की प्रधानता ,,

४५१--पुरुषभाव का स्त्रीभाव पर आक्रमण ,,

४५२--स्वतन्त्र-कर्त्ता-प्रधान-भावापन्न-पुरुषात्मक वृषा १०१०

४५३--परतन्त्रा--कर्त्तानुगामिनी--गौणभावापन्नो स्त्र्यात्मिका योषा ,,

४५४--सोमसंस्था, और स्त्री का स्वातन्त्र्य ,,

४५५--स्त्री के स्वातन्त्र्य का संरक्षणोपाय ,,

४५६--'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति', का पारिभाषिक-समन्वय ,,

४५७--स्त्री की स्वतन्त्रता पर मर्य्यादासूत्र का नियन्त्रण ,,

४५८--स्त्रीस्वातन्त्र्य, और गृहस्थसंस्था का उच्छेद ,,

४५९--'स्त्री-पुंवच्च तद्धि गेहं विनष्टम्' का संस्मरण १०१०
४६०--सम्वत्सरमण्डलानुबन्ध से दम्पती का स्वरूप-विचार ,,
४६१--पुरुषसृष्टि, और स्त्रीसृष्टि का पारिभाषिक-स्वरूप ,,
४६२--सम्वत्सरो वै सोमो राजा ,,
४६३--सम्वत्सरो वै सोमः पितृमान् ,,
४६४--अर्द्धेन पुरुषोऽभवत्, अर्द्धेन नारी १०११
४६५--अग्नि-सोमात्मक-सम्वत्सर की अग्नि-प्रधानता, और पुरुष का प्राधान्य ,,
४६६--अनायका विनश्यन्ति ,,
४६७--नश्यन्ति बहुनायकाः ,,
४६८--स्त्रीनायका विनश्यन्ति ,,
४६९--नश्यन्ति बालनायकाः ,,
४७०--सर्वं वै सम्वत्सरः १०१२
४७१--सम्वत्सर एवाग्निः ,,
४७२--सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः ,,
४७३--वाक्-सम्वत्सरः ,,
४७४--अग्निः-सम्वत्सरः ,,
४७५--वागग्निमूर्त्ति सम्वत्सर, और आग्नेय पुरुष ,,
४७६--गौणभागात्मिका सौम्या स्त्री-और सम्वत्सर ,,
४७७--अग्नि की सत्यरूपता ,,
४७८--सोम की ऋतात्मिका अनृतरूपता ,,
४७९--दक्षिणपार्श्वस्थ बलवान् अग्नि ,,
४८०--उत्तरपार्श्वस्थ निर्बल सोम ,,
४८१--परतन्त्रतात्मक मर्य्यादासूत्र की अर्गला का मौलिक-रहस्य समन्वय ,,

## पुरुषस्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

४८२--श्रुतिसम्पत-वैज्ञानिक-अतएव प्रामाणिक विधि-विधान ,,
४८३--पुरुषोऽग्निः (१) १०१३
४८४--एतावान् पुरुषः-यदात्मा-प्रजा-जाया (२) ,,
४८५--यद्वै पुरुषवान् कर्म्म चिकीर्षति, शक्नोति वै तत्कर्त्तुम् (३) १०१३
४८६--पुरुषः-शतवीर्य्यः (४) ,,
४८७--द्वि प्रतिष्ठः पुरुषः (५) ,,

* * *

## स्त्री-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

४८८--उत्तरत आयतना स्त्री (१) ,,
४८९--अनृतं-स्त्री (२) ,,
४९०--कर्म्म वा इन्द्रियं वीर्य्यं, तदेतदुत्सन्नं स्त्रीषु (३) ,,
४९१--अवीर्य्या वै स्त्री (४) ,,
४९२--पतयो ह्येव, स्त्रियै प्रतिष्ठा (५) ,,

* * *

## वृषा-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

४९३--इन्द्रो वै वृषा (१) ,,
४९४--वृषा हिङ्कारः (२) ,,
४९५--वृषा रेतः सिञ्चति (३) ,,
४९६--दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशेते (४) ,,
४९७--समग्निरिध्यते वृषा (५) ,,

* * *

## योषा-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचत

४९८--योषा वै सिनीवाली [१] ,,
४९९--पुरन्धिर्योषा [२] ,,
५००--योषा वै रेतो धत्ते [३] ,,
५०१--योषा वै पत्नी [४] ,,
५०२--न वै योषा कञ्चन हिनस्ति [५] ,,

* * *

## अग्नि-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५०३--यो वै रुद्रः, सोऽग्निः [१] ,,
५०४--वीर्य्यं वा अग्निः [२] ,,
५०४--पुरुषो वा अग्निः [३] १०१४

५०५--वृषाग्निः [४] १०१४
५०६--अग्निर्वै रेतोधा [५] ,,

* * *

## सोम- स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५०७--श्रीर्वै सोमः [१] ,,
५०८--पशवो हि सोमः [२] ,,
५०९--भद्रा-तत्-सोमः [३] ,,
५१०--योषा वा आपः [सोमः]-[४] ,,
५११--तिरो अह्न्या हि सोमः [५] ,,

* * *

## अन्नाद-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५१२--अन्नादोऽग्निः [१] ,,
५१३--अग्निर्वै देवानामन्नादः [२] ,,
५१४--अग्निरन्नादोऽन्नपतिः [३] ,,
५१५--अग्निमन्नादं वेद-अन्नादो हैव-भवति [४] ,,
५१६--अन्नादः, तदग्निः [५] ,,

* * *

## अन-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५१७--अन्नं पशवः [१] ,,
५१८--अन्नमु श्रीः [२] ,,
५१९--श्रिया स्त्रियं समदधात् [३] ,,
५२०--अन्नं वै सोमः [४] ,,
५२१--परममन्नाद्यं यत्सोमः [५] ,,

* * *

## दक्षिणादिक्-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५२२--दक्षिणामारोह-ग्रीष्म-ऋतुः (१) १०१५
५२३--दक्षिणैव सर्वम् (२) ,,
५२४--अग्निना दक्षिणाम् (३) ,,
५२५--दक्षिणादिक्-इन्द्रोदेवता (४) ,,
५२६--दक्षिणा दिशि, रुद्रादेवाः (५) ,,

* * *

## उत्तरादिक्-स्वरूपानुगत-श्रुतिवचन

५२७--उत्तरा ह वै सोमोराजा (१) ,,
५२८--एषा वै वरुणस्य दिक् (२) ,,
५२९--यदुत्तरतो वासि, सोमो राजा भूतो वासि (३) ,,
५३०--एषा उ वै शान्ता दिक् (४) ,,
५३१--एषा हि दिक् स्विष्टकृतः (५) ,,

* * * *

५३२--स्त्री, और पुरुष के मौलिक-स्वरूप-निर्म्माण में महान् मौलिक अन्तर, और श्रुतिवचन ,,
५३३--स्त्री, और पुरुष का वैय्यक्तिक-स्वरूपान्तर, और विभिन्ना धारा ,,
५३४--विकासधर्म्मा पुरुष का स्वरूप-समन्वय ,,
५३५--संकोचधर्म्मिणी स्त्री का स्वरूप-समन्वय ,,
५३६--लज्जा-शील-आदि मर्य्यादा-सूत्रात्मक गुण, और तद्द्वारा स्त्री का स्वरूप-संरक्षण ,,
५३७--समीकरणमूला शान्ति का आधारभूत दो विरोधी भावों का एकत्र समन्वय ,,
५३८--अग्निरूपा उग्रता, और पुरुष ,,
५३९--सोमरूपा शान्ति, और स्त्री ,,
५४०--अग्नि-सोम का सह समन्वय, और दाम्पत्यजीवन की शान्ति तुष्टि-पुष्टि ,,
५४१--'पर' रूप तन्त्र का संरक्षत्व, और स्त्री का पारतन्त्र्य ,,
५४२--स्त्री के स्वतन्त्र-सौम्यतन्त्र का संरक्षणोपाय-प्रदर्शन ,,
५४३--स्त्री-स्वातन्त्र्य, और स्त्री-पारतन्त्र्य की स्वरूप-जिज्ञासा, और तत्समाधान-प्रयास ,,
५४४--शास्त्रदृष्टि, और स्त्री के पारतन्त्र्य से अनुप्राणित विशेष-दृष्टिकोण ,,
५४५--लौकिकी परतन्त्रता का स्त्रीस्वातन्त्र्य से असंस्पर्श १०१६

५४६–काल्पनिकी स्त्री-स्वरूपविघातिनी आज की स्वतन्त्रता का प्रचण्ड विरोध, और शास्त्रदृष्टि १०१६
५४७–स्वतन्त्रता, और परतन्त्रता की विभिन्ना व्यवहारशैली ,,
५४८–स्वतन्त्रतामूलक आत्मभाव ,,
५४९–परतन्त्रतामूलक पशुभाव ,,
५५०–अचिकित्स्य वर्त्तमान स्त्रीस्वातन्त्र्य-वाद ,,
५५१–रुढिवादनिबन्धन कतिपय कुप्रथाएँ, और तत्संशोधन ,,
५५२–सुधारकों की मनोवृत्ति का समादर ,,
५५३–स्त्रीसमाज की सुशिक्षा का प्रश्न १०१७
५५४–वर्त्तमान आन्दोलन, और स्त्रीशिक्षा ,,
५५५–आन्दोलन का हृदयाभिनन्दन ,,
५५६–गीता की सूक्तिद्वयी का संस्मरण ,,
५५७–वर्त्तमान भारत की अशिक्षा ,,
५५८–'सुधार' का स्वरूप ,,
५५९–विषकुम्भं पयोमुखं-रूप आज का काल्पनिक-सुधार ,,
५६०–एक विशेष आवेदन ,,
५६१–सुधारों, और दोषों का समतुलन ,,
५६२–(१) स्त्री-शिक्षा का समादर, किन्तु पश्चिमी-सहशिक्षा की भयङ्करता ,,
५६३–(२) पर्दे की अशास्त्रीयता, किन्तु लज्जाशीलादि के परित्याग की भयङ्करता १०१८
५६४–(३) सर्वथा निन्द्य बालविवाह, किन्तु युवति-परिणय ततोऽपि अधिक-भयङ्कर ,,
५६५–(४) नुकता-ओसर-भोजनादि असामयिक, किन्तु गॉर्डनपार्टी-टीपार्टी-आदि ततोऽपि भयङ्कर ,,
५६६–(५) अन्त्यजों के साथ अमानवीय-व्यवहार अक्षम्य, किन्तु खाद्याखाद्य के विवेक का अभाव ततोऽपि भयङ्कर ,,
५६७–(६) पतियों का असदाचरण सर्वथा निंद्य, किन्तु-पतिपत्नी का परस्पर त्याग (तलाक ततोऽपि भयङ्कर १०१८
५६८–(७) रुढिवाद सर्वथैव त्याज्य, किन्तु रुढिवाद के विसर्जन-व्यामोहन में मूल आदर्शों का भी परित्याग ततोऽपि भयङ्कर ,,
५६९–(८) सभी सुधार अपेक्षित, किन्तु पश्चिम का अन्धानुकरण सर्वथैव भयङ्कर ,,
५७०–(९) सुधार का अभिनन्दन, किन्तु बुद्धि-भेद की भयङ्करता ,,
५७१–(१०) शब्दप्रमाणैकसार-शास्त्रीय-सुधार उपादेय, किन्तु मानसकल्पनैकसार सुधार सर्वथा ही हेय ,,
५७२–स्त्रियों की पूर्णशिक्षा, और तत्समादर ,,
५७३–स्त्री के अभ्युत्थान-अभ्युदय-निश्रेयस् से पुरुष का अभ्युत्थान अभ्युदय-निश्रेयस्-सम्भव ,,
५७४–भारतीय विधि-विधानों का अदर्शन, और सुधारक-बन्धुओं का निरर्थक आक्रमण ,,
५७५–स्त्री के यशःस्वरूप का महिमामय-उपवर्णन १०१९
५७६–परतन्त्रतात्मिका स्वतन्त्रता का पारिभाषिक-समन्वय ,,
५७७–स्वतन्त्रता की स्वरूपरक्षिणी परतन्त्रता ,,
४७८–परतन्त्रता-लक्षण रक्षाकर्म्म ,,
५७९–पदे पदे पूजनभाव पूर्णसत्कार, और स्वतन्त्रता संरक्षक-मधुर-नियन्त्रण १०२०
५८०–एक चामत्कारिकी दृष्टि ,,
५८१–पूजनभावयुक्त रक्षभाव ,,
५८२–सम्पत्तिसंग्रहनियुक्ति ,,
५८३–द्रव्यादि-परिशोधन ,,
५८४–धर्म्मकार्य्याभिगमन ,,

५८५–बलपूर्वक-रक्षा का शास्त्र के द्वारा प्रचण्ड-विरोध १०२०
५८६–आत्मनियन्त्रणानुगत—स्वतन्त्रतानुगत—रक्षाकर्म्म, और स्त्री का पारतन्त्र्य ,,
५८७–परतन्त्र शब्द का आत्यन्तिक-अभाव, और भारतीय-शास्त्र ,,
५८८–स्वतन्त्रता की उपयोगिता का अंशतः नियन्त्रण, और स्त्री-पारतन्त्र्य ,,
५८९–रक्षक, और शासक शब्दों में महान् विभेद ,,
५९०–पिता 'रक्षति' कौमारे ,,
५९१–भर्त्ता-'रक्षति' यौवने ,,
५९२–'रक्षन्ति'-स्थाविरे पुत्राः ,,
५९३–स्त्रियो 'रक्ष्या' विशेषतः ,,
५९३–जायां 'रक्षन्' हि 'रक्षति' १०२१
५९५–'रक्षेयुस्ताः' ,,
५९६–यतन्ते-'रक्षितु' भार्य्याम् ,,
५९७–भगवान् मनु के सम्बन्ध में--सुधारकों का अनर्गल-प्रलाप ,,
५९८–स्त्रीजाति का पतन-पुरुषापराधमूलक, और-मानवधर्म्मशास्त्र के महत्त्वपूर्ण उद्गार ,,
५९९–पुरुषरक्षा के सम्बन्ध में एक महान् प्रश्न, और तत्समाधान-प्रयास १०१२
६००–कुतूहल-वर्द्धक प्रश्न ,,
६०१–कुतूहल-वृद्धि का कारण मानव का बुद्धि-वैभव ,,
६०२–शक्तिघन का रहस्यपूर्ण अशक्तित्व ,,
६०३–मनोघन का अमनोभाव ,,
६०४–प्राणघन का अप्राणभाव ,,
६०५–शक्तिघना नारी की शक्तिप्रयोग में दुर्बलता, और अपेक्षिता रक्षा ,,
६०६–लौकिक-उदाहरणों के द्वारा तथ्य का पारिभाषिक-समन्वय ,,
६०७–शक्तिमान् के द्वारा ही शक्तितत्त्व का सम्भावित विकास ,,
६०८–मानस-वृत्तियों का समीकरणोपाय-प्रदर्शन १०२२
६०९–ज्ञानकोशात्मक ब्राह्मण १०२३
६१०–पराक्रमकोशात्मक क्षत्रिय ,,
६११–सम्पत्तिकोशात्मक वैश्य ,,
६१२–शिल्पकलानुगत सेवात्मककोश शूद्र ,,
६१३–ज्ञानशक्ति, और समाजशान्ति ,,
६१४–पराक्रमशक्ति, और समाजतृप्ति ,,
६१५–सम्पत्तिशक्ति, और समाजतुष्टि ,,
६१६–सेवा-शक्ति, और समाजपुष्टि ,,
६१७–सर्वहुतयज्ञात्मिका सामाजिकी शान्ति-तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि-चतुष्टयी ,,
६१८–समाजस्वातन्त्र्य की मूलप्रतिष्ठा का संरक्षण ,,
६१९--कोशाध्यक्षों की हव्य-कव्य-वृत्ति से सर्वनाश, और तन्निबन्धन कतिपय-लौकिक-उदाहरण ,,
६२०–विषमता के निरोध का वैज्ञानिकोपाय-प्रदर्शन ,,
६२१–भावुकतापूर्ण उद्गार, और पश्चिमोन्नति का प्रचण्ड-उद्घोष ,,
६२२--कर्म्मभूमि-आर्य्यावर्त्त-रूप-भारतवर्ष ,,
६२४–पूर्व का पश्चिमीकरणात्मक आज का महान् व्यामोहन ,,
६२५–प्रकृति से तत्सम्बन्ध में प्रश्न, और प्रकृति के द्वारा तटस्थ समाधान ,,
६२६- पूर्वदेश, और इन्द्रदेवता ,,
६२७--पश्चिमदेश, और आप्य वरुण ,,
६२८--इन्द्र-और वरुण के विभिन्न-स्वरूपों के वाचक श्रुतिवचनों का संस्मरण ,,
६२९--इन्द्र, और अग्नि के द्वारा पुरुष-सृष्टि की-प्रवृत्ति १०२४
६३०--वरुण, और सोम के द्वारा स्त्रीसृष्टि की प्रवृत्ति ,,
६३१–स्त्री, और पुरुष-सर्गों का प्रकृतिसिद्ध भेद, और भेदानुगता व्यवस्था ,,
६३२–सूक्ष्मप्राणप्रधाना दाम्पत्यव्यवस्था ,,

६३३--स्थूलभूतप्रधान दाम्पत्यजीवन १०२४
६३४--प्राकृतिक कारण के साथ गजनिमीलिका, और लौकिक-कारण निदर्शन ,,
६३५--उभय-सद्भावना, और अभ्युदय ,,
६३६--सुधारवादी का अभिनिवेश ,,
६३७--वास्तविक सुधार का अभाव ,,
६३८--विद्वानों, तथा सुधारकों से नम्र आवेदन ,,
६३९--धर्म्मानुयायी धार्मिक नेता, तथा समाज-नेता, एवं उभयनेतृवर्ग के द्वारा आत्म-प्रतारणा ,,
६४०--दयानिधि से प्रार्थना ,,
६४१--'सन्तारणीयास्त्वया' का संस्मरण १०२५
६४२--ऋतमयी--सत्यशून्या--सौम्या-वृत्ति, और स्त्रीसर्ग ,,
६४३--स्त्रीसर्ग के सम्बन्ध में एक महत्त्व पूर्ण आदेश ,,
६४४--पुरातन-विज्ञानसिद्ध-सिद्धान्त का समादर ,,
६४५--रक्षात्मक--मर्य्यादासूत्रात्मक--योक्त्र-बन्धन ,,
६४६--'योक्त्रेण हि युञ्जन्ति' इत्यादि ब्राह्मण-वचन का समन्वय ,,
६४७--पानी का अधोभाव १०२६
६४८--अत्रिप्राण, और आत्रेयी का स्मरण ,,
६४९--आत्रेयी-योषित्, और अमेध्यभाव ,,
६५०--यज्ञ की मेध्यरूपता ,,
६५१--आज्य-पृष्ठ के पारिभाषिक-स्वरूप का संस्मरण ,,
६५२--मेध्यभावापन्न आज्य ,,
६५३--अमेध्यभाव का अवरोध, और योक्त्र-बन्धनकर्म्म ,,
६५४--श्रद्धा, और चान्द्रपानी ,,
६५५--श्रद्धा की आहुति, और वृष्टि ,,
६५६--वृष्टि, और ओषधियों का आविर्भाव ,,
६५७--संवरणधर्म्मा वरुणप्राण ,,
६५८--सुप्रसिद्ध वरुणपाश १०२६
६५९--ओषधिरूप वस्त्र का वरुणदेवतामयत्व ,,
६६०--बन्धनसाधिका रज्जु, और वरुणदेवता ,,
६६१--योक्त्रबन्धन के विभिन्न कारणों का वैज्ञानिक-समन्वय ,,
६६२--'अदित्यै रास्नासि', और पत्नीसन्नहन-कर्म्म ,,
६६३--अदिति के पारिभाषिक स्वरूप का संस्मरण ,,
६६४--अदिति का देवमातृत्व ,,
६६५--पदार्थविद्यानुगत पति-पुत्र-पिता-माता-भ्राता-आदि-व्यवहारों का साङ्कर्य्य १०२७
६६ व्यवहार-साङ्कर्य्य-प्रतिपादक श्रुतिवचन का संस्मरण ,,
६६७ प्राणदेवताओं की समष्टिरूप यज्ञ ,,
६६८--चान्द्रगर्भित-समष्टिरूप यज्ञ ,,
६६९--अदिति की रास्ना (काञ्ची) ,,
६७०--पत्नी का आभूषण, और तद्द्वारा सौन्दर्य्य की अभिवृद्धि ,,
६७१--आत्यन्तिक-ग्रन्थि का निरोध, और योक्त्र-बन्धन ,,
६७२--ग्रन्थि के अभाव में नीवी-स्खलन का भय, एवं ऊर्ध्वभाग में पाशाग्र-समावेश से भय का निराकरण ,,
६७३--योक्त्रबन्धन का ऊर्ध्व-उद्गूहन ,,
६७४--'विष्णोर्वेष्योऽसि' इत्यादि मन्त्रभागार्थ-समन्वय ,,
६७५--सम्वत्सरयज्ञ की स्वरूपसम्पत्ति ,,
६७६--यज्ञात्मक विष्णु का संस्मरण ,,
६७७--यज्ञात्मक वेष्टन, और यज्ञ का स्वरूप-सम्पादन १०२८
६७८--पत्नी के नियतस्थान के सम्बन्ध में प्रश्न, और तत्समाधान ,,
६७९--पत्नीशाला का पारिभाषिक स्वरूप ,,
६८०--स्वस्थानभूत-गार्हपत्यमण्डल ,,

६८१–गार्हपत्य के नैर्ऋतकोण में पत्नीस्थान की व्यवस्था १०२८

## इति–पत्नीसन्नहनकर्म्मोपपत्तिः

## २

—*—

## अथ–पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्तिः

## ३

—*—


६८२–योषाप्राणमयी-पत्नी १०२८

६८३–रेतोरूप आज्य का वृषाप्राणमयत्त्व ,,

६८४–दुग्धकार्य्यभूत आज्य ,,

६८५–सोमात्मक रेत, और आज्य ,,

६८६–योषा-वृषा-प्राणों का मिथुनभाव, और प्रजासर्ग की प्रवृत्ति ,,

६८७–दृष्टिसूत्रानुगत-प्राणसम्बन्ध, एवं तद्द्वारा सर्गप्रवृत्ति १०२६

६८८–आज्यदर्शन की उपपत्ति ,,

६८६–चक्षुरनुगत भावदोष, और आज्यदर्शन की सदोषता ,,

६६०–'अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि' का संस्मरण ,,

६६१–प्राणदेवताओं की प्रदीप्ति, और आहुति की सार्थकता ,,

६६२–आज्याहुति के द्वारा अग्नि का प्रज्ज्वलन ,,

६६३–अग्नि का जिह्वा-स्थानीय आज्यद्रव्य ,,

६६४–'अग्नेर्जिह्वासि', और आज्यदर्शन ,,


## इति–पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्तिः

## ३

—*—

## अथ—४–५–६–संख्यानुगता परिशिष्टकर्म्मानुगता उपपत्तिः

—*—


६६५–यज्ञियद्रव्यों के परिपाक के सम्बन्ध में मतद्वयी का संस्मरण १०२६

६६६–आज्य की हविर्द्रव्यरूपता, एवं तत्परिपाकानुगत निर्णय ,,

६६७–आवश्यक-आज्यदर्शन १०३०

६६८–आज्यावेक्षणानन्तर आहवनीयाग्नि में आज्याधिश्रयण, और पद्धत्यनुगत तत्समन्वय ,,

६६६–आपोमयाः-सर्वरसाः ,,

७००–सर्वमापोमयं जगत् ,,

७०१–अप्तत्त्व की सर्वव्याप्ति का संस्मरण ,,

७०२–अप्-और आपः, एवं मनुवचन का संस्मरण ,,

७०३–वाः-वारि, ,,

७०४–तत आण्डं समवर्त्तत ,,

७०५–आपोमय विश्व की ब्रह्माण्डरूपता का संस्मरण ,,


## 'प्रासङ्गिक-'नीरक्षीरविवेक'


७०६–हँसानुगत-'नीरक्षीरविवेकन्याय १०३१

७०७–तदप्सु-पयो हितम्, और नीर में क्षीर (दुग्ध) का आधान ,,

७०८–आपः, और आज्य का सम्मिश्रण ,,

७०६–पानी, और दूध के सम्मिश्रण से विश्वस्वरूप की अभिव्यक्ति ,,

७१०–आस्थामयी-सौम्या—पावनश्रद्धा, और पुराणशास्त्र का स्वाध्याय ,,

७११–क्षीरसमुद्र, और विष्णुभगवान् ,,

७१२–नीरक्षीरविवेकशालिनी बुद्धि ,,

७१३-नीर-क्षीर-विवेक-रहस्योपक्रम १०३१
७१४--अप्तत्त्व, और आपोमय परमेष्ठी ,,
७१५--मार्गवतत्त्वरूपा महालक्ष्मी ,,
७१६--आङ्गिरसतत्त्वरूपा महासरस्वती ,,
७१७ सैषा प्राकृत-स्थितिः ,,
७१८-पारमेष्ठ्यप्राणात्मक सर्गों की अभिव्यक्ति ,,
७१९-असुर-गन्धर्व और पितर ,,
७२०--पितरः सोम्यासः ,,
७२१--(क) अनन्तशेषनाग, और पारमेष्ठ्य भार्गव-वायु १०३२
७२१-(ख) पारमेष्ठ्य यज्ञवराहभगवान् ,,
७२२--पारमेष्ठ्य सरस्वान्समुद्र ,,
७२३--नीर-क्षीर-वायु, और सरस्वान्समुद्र ,,
७२४-दुग्धरूप क्षीरभाव ,,
७२५--सोममय-क्षीरभाव ,,
७२६--चिदात्मा की गर्भभूमि महद्ब्रह्म ,,
७२७--महान् की विभूतित्रयी ,,
७२८-आप्य-वायव्य-सौम्यरूपा महिमा-विवर्त्तत्रयी ,,
७२९-आप्य-वायव्य, एवं सौम्यजीवों का संस्मरण ,,
७३०-चिदात्मा विष्णु की अभिव्यक्ति, और क्षीरतत्त्व का आविर्भाव ,,
७३१-'नीरक्षीरविवेक' रूप लौकिक न्याय का मूलाधार ,,
७३२--अङ्गिरा, और भृगु ,,
७३३--योषा, और वृषासृष्टि ,,
७३४-शरीरानुबन्धेन यच्चयावत् सर्गों का आपोमयत्त्व १०३३
७३५-आग्नेय-वृषा-पुरुष की मूलप्रतिष्ठारूप-अग्नितत्त्व ,,
७३६-सौम्या-योषा-स्त्री की मूलप्रतिष्ठारूप सोमतत्त्व ,,
७३७-स्त्री का सौम्य-आपोमय-शरीर, और तत्र क्षीरात्मक दुग्ध की अभिव्यक्ति ,,
७३८-पुरुष, और क्षीर की अनभिव्यक्ति ,,
७३९-स्त्री, और क्षीर की अभिव्यक्ति १०३३
७४०-क्षीर का अभिव्यक्तिस्थान, और तत्रैव चिदात्मा का गर्भधारण ,,
७४१-सौम्या-क्षीरिणी-मातृजाति के द्वारा महद्ब्रह्म की अभिव्यक्ति, और प्रजासर्ग-प्रवृत्ति का रहस्यात्मक समन्वय ,,
७४२-प्रजापति के द्वारा योषा के आपोमय भाग में हीं क्षीर का आधान ,,
७४३-'तदप्सु पयो हितम्' का रहस्यात्मक-समन्वय ,,
७४४-मातृस्थान की ( पितुरपेक्षया ) उच्चता
७४५-क्षीराभिव्यक्तित्त्वानुगता चिदात्मनोऽभि-व्यक्तिः ,,
७४६-जीव का स्वरूपबोध, और नीर में क्षीर का आधान ,,
७४७-नीरक्षीरविवेक-न्याय की प्रक्रान्ति १०३४
७४८-जगन्माता हैमवती उमा भगवती का संस्मरण ,,
७४९-प्रासङ्गिक-नीरक्षीर-विवेक-न्याय का उपराम ,,
७५०-प्रकृति के द्वारा सौम्या योषासृष्टि के अनुबन्ध से ही नीर में क्षीर का आधान ,,
७५१-क्षीरानुगत आज्य, और उसका प्रजनन-धर्म्मानुगता प्रजा का मूलाधारत्त्व ,,
७५२-योषाप्राणात्मिका यजमानपत्नी के द्वारा आज्यदर्शन, और तदुपपत्तिसमन्वय ,,
७५३-पवित्र [ दर्भ ] के द्वारा आज्य का प्रोक्षण ,,
७५४-आपोमय जीवनीय-रस, और तदनुबन्धी प्रोक्षणकर्म्म ,,
७५५-'यो वः शिवतमो रसः' ,,
७५६-उत्पवनकर्म्म का समन्वय ,,
७५७ दक्षिणाक्रीत ऋत्विक् ,,
७५८-दक्षिणा के द्वारा यज्ञप्रविष्ट यजमान के दिव्यात्मा का पार्थक्य ,,

७५९–अध्वर्यु के द्वारा आज्यदर्शन १०३४
७६०–यजमान के द्वारा आज्यदर्शन का निरोध ”
७६१–सत्यनारायण-सौरविष्णु ”
७६२–सत्यसूर्य्यानुगत चक्षु ”
७६३–'स वै सत्यमेव वदेत्' का संस्मरण ”
७६४–सत्यभाषणादेश के सम्बन्ध में अनृतभावापन्न मानव, और आदेश का विरोध ”
७६५–विरोध का निराकरण, और सत्यभाषणानुगता मानवीया मर्य्यादा ”
७६६–श्रुति, और स्मृति-शब्दों से अनुप्राणित-रहस्य ”
७६७–'श्रुति' शब्दव्यवहार के सम्बन्ध में काल्पनिकों की महती भ्रान्ति, और तन्निराकरण ”
७६८-द्रष्टुर्वाक्यं-श्रुतिः १०३४
७६९–श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः ”
७७०–श्रुति, और स्मृति-शब्दों का रहस्यात्मक समन्वय ”
७७१–द्रष्टा की सत्यभावापन्ना चक्षुरिन्द्रिय १०३५
७७२–स्वतःप्रमाण-श्रुतिशास्त्र ”
७७३-श्रुत्यनुगामिनी स्मृति ”
७७४–योषावृषात्मक-यज्ञ की समृद्धि के विभिन्न कारण ”
७७५–तेजोरूप आज्य ”
७७६–वाङ्मय-शुक्रतत्त्व ”
७७७–आज्य से शुक्रवृद्धि ”
७७८–भूतात्मा की समृद्धि, और तेजोरूप आज्य ”
७७९–आज्यगुण का समन्वय, और तेजोऽसि-शुक्रमसि-अमृतमसि का संस्मरण ”

## इति-प्रथमकाण्डे-तृतीयाध्याये-प्रथमं ब्राह्मणम्
## इति-द्वितीयप्रपाठके-चतुर्थं ब्राह्मणम्
## इति–द्रव्यसंस्काराः

१५

श्री:

# अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये–द्वितीयं ब्राह्मणम् (आज्यब्राह्मणम्) द्वितीयप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

## * १६ आज्यग्रहणकर्म्म

## क्रमप्राप्त १६ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'

## ( पृष्ठ सं० १०३७ से १०७६ पृ० पर्य्यन्त)


१–प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीयाध्यायानुगत-द्वितीयब्राह्मण, एवं द्वितीय-प्रपाठकानुगत-चतुर्थब्राह्मण (मूल) १०३७

२–मूलब्राह्मण का अक्षरार्थ-समन्वयात्मक-अनुवाद १०४०

३–सूत्रानुगत-पद्धतिसंग्रह १०५६

४–वैज्ञानिकविवेचनोपक्रम १०५९

५–यज्ञितिकर्त्तव्यता की उपनिषत् (मौलिक-उपपत्ति) के सम्बन्ध में प्रश्न ,,

६–आध्यात्मिक यज्ञ के द्वारा प्रश्नसमाधानोपक्रम ,,

७–अध्यात्मानुगत–प्रासङ्गिक-आधिदैविकयज्ञ का संस्मरण ,,

८–एक महती विप्रतिपत्ति का उत्थान ,,

९–विज्ञानभाण्डाररूप वेदशास्त्र का संस्मरण

१०–वैदिकविज्ञान के अनुबन्ध से वर्त्तमान-युगीय-भौतिक-आविष्कारों से अनुप्राणिता-प्रश्नात्मिका विप्रतिपत्ति १०५९

११–वेदाक्षरोच्चारण, और 'विज्ञान' शब्द का पुनरावर्त्तन, एवं तन्मूला विप्रतिपत्ति ,,

१२–देवयुगात्मक-सर्वोत्कृष्टयुग, और तदनुगत भौतिक-विमानादि आविष्कारों का संस्मरण ,,

१३–वैदिक-विज्ञानपरम्परा के पुनरुज्जीवन से यत्किञ्चित् विप्रतिपत्तियों का सम्भावित-निराकरण ,,

१४–महर्षियों का यशःसौरभ, और भौतिक-विज्ञान का समादर ,,

१५–भारतीय-वैज्ञानिक-जगत् के 'विज्ञान' शब्द की सर्वथा स्वतन्त्रा-परिभाषा का संस्मरण ,,

१६–भौतिकाविष्कारों की नगण्यता, और भारतीय-विज्ञानदृष्टि १०५६
१७–देवयुगानुगत भौतिक-आविष्कारों की व्यवहारानुगता मर्य्यादा, और नियन्त्रण ”
१८–भौतिकाविष्कारों के द्वारा मानवीय बुद्धि में उत्तरोत्तर जड़ता की अभिव्यक्ति ”
१६–जड़ताप्रयुक्त-प्रतिहिंसात्मक प्रतिद्वन्द्विता-मूलक आसुरभाव, और भौतिक-आविष्कार ”
२०–आविष्कारों के निरतिशय-उपयोग से मानव की प्राकृतिक शक्तियों का, एवं पौरुष का उत्तरोत्तर ह्रास ”
२१–जीवनीय-रसात्मक-आत्मस्वातन्त्र्य के अन्यतम शत्रु ये भौतिक-आविष्कार ”
२२–वैदिकविज्ञान की की महत्ता से असंस्पृष्ट भौतिक-आविष्कार, और आक्षेपों का नि.सारत्व ”
२३–ऋषिदृष्टा-वैदिक-विज्ञान की धारात्रयी, और दैविक-आत्मिक-भौतिक विवर्त्त १०६०
२४-यज्ञविज्ञानात्मक-आधिभौतिकविज्ञान ”
२५–गृहस्थाश्रमानुगत कर्म्मकाण्ड, और यज्ञ-विज्ञान ”
२६–आधिदैविक-विज्ञानात्मक-ईश्वरविज्ञान ”
२७–आध्यात्मिक-विज्ञानात्मक-जीवविज्ञान ”
२८–वानप्रस्थानुगत–उपासनाकाण्ड, और ईश्वरविज्ञान ”
२६–संन्यासानुगत-ज्ञानकाण्ड, और जीव-विज्ञान ”
३०–कर्म्म-उपासना-ज्ञान–रूपा पुरुषार्थत्रयी, और मानव ”
३१-मानव की युवावस्था, और यज्ञविज्ञानात्मक कर्म्मकाण्ड ”
३२–मानव की प्रौढावस्था, और ईश्वरविज्ञानात्मक-उपासनाकाण्ड ”
३३–मानव की वृद्धावस्था, और जीवविज्ञानात्मक-ज्ञानकाण्ड १०६०
३४-यज्ञ, और भूतजगत् ”
३५–उपासना, और देवजगत् ”
३६–ज्ञान, और जीवजगत् ”
३७-'यज्ञ' शब्द की महती-व्याप्ति ”
३८–यज्ञेन-यज्ञमयजन्त-देवा: ”
३६–यज्ञविज्ञानात्मक भौतिकविज्ञान में आधिदैविक-ईश्वरविज्ञान, तथा अध्यात्मिक-जीवविज्ञान का आविर्भाव ”
४०–विज्ञानत्रयी की समष्टि, और 'विश्व–विज्ञान' ”
४१–त्रिपर्वात्मक-विश्वविज्ञानात्मक-समष्टियज्ञ-रूप-'सर्वमेध नामक 'सर्वहुतयज्ञ' का नाम-संस्मरण ”
४२–स्वयम्भू–रूप विश्वपर्व, और आधिदैविक-विज्ञान १०६१
४३–सूर्य्य-रूप विश्वपर्व, और आध्यात्मिक विज्ञान ”
४४–भूपिण्डरूप विश्वपर्व, और आधिभौतिक विज्ञान ”
४५–सहस्रवल्शात्मक-महामायावच्छिन्न अश्वत्थ-वृक्ष का, तथा महिमा-भावों का संस्मरण
४६–विश्व के पांच पर्वों का प्रमुख तीन पर्वों में हीं विश्राम ”
४७–यज्ञस्वरूप-सम्पादक प्राणदेवताओं का पारस्परिक-यजन ”
४८–ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोम-नामक विश्वेदेवों का संस्मरण ”
४६–ब्रह्मा, और सर्वप्रतिष्ठात्मक तत्त्व ”
५०–विष्णु, और इन्द्रात्मक एक युग्म ”
५१–'इन्द्रस्य युज्य: सखा' ”
५२–इन्द्र-सोम-अग्न्यात्मक एक युग्म १०६२

५३–१-२-३-संख्यानुगत क्रम, और संस्था-त्रयी की स्वरूपनिष्पत्ति १०६२
५४–वैदिकपञ्चदेवतावाद का पुराणशास्त्र के द्वारा त्रिदेवतावाद पर विश्राम ,,
५५–पुरुषविज्ञानानुबन्धेन पर्वत्रयी का समर्थन ,,
५६–आनन्द-ब्रह्म-प्राण-त्रयी, और स्वयम्भूः ,,
५७–विज्ञान-विष्णु-आपः-त्रयी, और परमेष्ठी ,,
५८–मन-इन्द्र-वाक्, त्रयी, और सूर्य्य ,,
५९–प्राण-सोम-अन्न-त्रयी, और चन्द्रमा ,,
६०–वाक्-अग्नि-अन्नाद-त्रयी, और पृथिवी ,,
६१–सर्वहुतयज्ञ का स्वरूप-निष्कर्ष ,,
६२–स्वयम्भूः-अध्यात्मम् १०६३
६३–सूर्य्यः-अधिदैवतम् ,,
६४–पृथिवी-अधिभूतम् ,,
६५–अध्यात्मयज्ञ-प्रतिष्ठा-ज्ञानकाण्डम् ,,
६६–अधिदैवतयज्ञप्रतिष्ठा उपासनाकाण्डम् ,,
६७–अधिभूतयज्ञप्रतिष्ठा-कर्म्मकाण्डम् ,,
६८–प्राकृतिक-यज्ञ-विज्ञानात्मक विश्वविज्ञान ,,
६९–यज्ञत्रयी-रूपा विज्ञानत्रयी का भारतीय-महर्षियों के द्वारा आविष्कार ,,
७०–यज्ञविज्ञानत्रयी के द्वारा मानव की अभ्युदय-निःश्रेयस्-सिद्धि ,,
७१–भारतीय-विज्ञानशास्त्र की प्रवृत्ति का एकमात्र महान् उद्देश्य ,,
७२–भारतीय विज्ञान शब्द की पारिभाषिकी मर्य्यादा का रहस्यात्मक-समन्वय ,,
७३–भारतीय 'विज्ञान' शब्द का सीमाभाव ,,
७४–प्रक्रान्त-'आज्यब्राह्मण' का संस्मरण ,,
७५–प्रकृत-प्रकरण, और तदनुबन्धेन लक्ष्यीभूत पार्थिव-आधिभौतिक-यज्ञ ,,
७६–ब्राह्मणग्रन्थ, और आधिभौतिक यज्ञ-विज्ञान ,,
७७–आरण्यकग्रन्थ, और आधिदैविक-यज्ञ-विज्ञान ,,
७८–उपनिषद्ग्रन्थ, और आध्यात्मिक यज्ञ–विज्ञान १०६३
७९–पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ के भूपिण्ड-पार्थिवशरीर-भूमहिमारूप तीन अवान्तर भौतिकयज्ञ ,,
८०–वैश्वानर-तैजस प्राज्ञात्मक ससंज्ञ पार्थिव शरीर, और पार्थिव आध्यात्मिक यज्ञ ,,
८१–पार्थिव-दिव्यदेवदेवता, और भूमहिमा १०६४
८२–भूविवर्त्त-पार्थिवचेतनवर्ग–दिव्यदेववर्ग, और पार्थिवसंस्था ,,
८३–वेद का ब्राह्मणभाग, और उसके विधि आरण्यक-उपनिषत् रूप तीन महिमा-विवर्त्त ,,
८४–इति-नु-अधिभूतम् ,,
८५–इति-नु-अध्यात्मम् ,,
८६–इतिनु-अधिदैवतम् ,,
८७–आधिभौतिक—पृथिव्यनुगत—त्र्यात्मक-यजपर्व की महती-व्याप्ति का समन्वय ,,
८८–स्वायम्भुवम्-अध्यात्मविज्ञानम्, और विधिभागः कर्त्तव्यात्मक कर्म्म) ,,
८९-सौरम्-अधिदैवतविज्ञानम्, और आरण्यक-भागः (कर्त्तव्यात्मिका-उपासना) ,,
९०–पार्थिवम्-अधिभूतविज्ञानम्, और उपनिषद्भागः (कर्त्तव्यात्मकं-ज्ञानम्) ,,
९१–यज्ञत्रयी का अत्यन्त-रहस्य-पूर्ण-महिमामय-समन्वय ,,
९२–एकविंशस्तोमावच्छिन्नो भूमहिमा-अधिदैवतयज्ञः (पार्थिव एव) ,,
९३–पार्थिवशरीराणि-अध्यात्मयज्ञः-( पार्थिव एव ) ,,
९४–पुरुषप्रयत्नसाध्या वैधयज्ञाः-अधिभूतयज्ञः [पार्थिव-एव] ,,
९५-सैषा-आधिभौतिक-यज्ञत्रयी–पृथिव्यनुगता-एव-विधि भागानुगता-द्रष्टव्या ,,

९६-प्रतिरूपरहस्य-का समन्वयोपक्रम १०६४
९७-यज्ञोद्देश्येन 'पुरुष' का विधान ,,
९८-वैधयज्ञ का प्रतिकृतित्त्व ,,
९९-यज्ञस्वरूप का सूचक 'पुरुष' शब्द ,,
१००-पुरुषोत्पत्ति के साधक यज्ञिक अग्नि, और सोम-रूप शोणित-शुक्र ,,
१०१-वैधयज्ञ के द्वारा उत्पन्न अतिशयरूप अपूर्व दैवात्मा ,,
१०२-दैवात्मा की यज्ञरूपता ,,
१०३-उभय-यज्ञों की पुरुषरूपता का पारिभाषिक समन्वय ,,
१०४-पुरुषयज्ञ का कौशलात्मक-वितान ,,
१०५-पाञ्चभौतिक शरीर, और यज्ञकर्त्ता यज्ञसंस्थान ,,
१०६-भूतात्मा, और यज्ञकर्त्ता यजमान ,,
१०७-वैश्वानराग्नि, और होता ,,
१०८-श्वासप्रश्वासात्मक वायु, और अध्वर्यु ,,
१०९-हृदयस्थ प्रज्ञानमन, और-ब्रह्मा ,,
११०-उदानप्राण, और उद्गाता १०६५
१११-मूलाधारमण्डल, और गार्हपत्यकुण्ड ,,
११२-अपानाग्नि, और गार्हपत्याग्नि ,,
११३-जाठराग्नि, और दक्षिणाग्निकुण्ड ,,
११४-जाठराग्नि, और दक्षिणाग्नि ,,
११५-शिरोमण्डल, और आहवनीयकुण्ड ,,
११६-प्राणाग्नि, और आहवनीयाग्नि ,,
११७-केश-लोम, और बर्हि ( दर्भ ) ,,
११८-अस्थिसमूह, और समिध-काष्ठ ,,
११९-द्रवद्रव्य, और प्रणीता ,,
१२०-अन्न, और आहुतिद्रव्य ,,
१२१-दक्षिणभुजा-चरण, और जुहू ,,
१२२-वामभुजा-चरण, और उपभृत् ,,
१२३-मध्याङ्ग (धड़), और ध्रुवा ,,
१२४-सर्वाङ्गशरीरसञ्चारीप्राण, और स्रुव ,,
१२५-शरीरप्रदेश, और वेदि ,,
१२६-पुरुषसंस्था की यज्ञानुगता प्रतिरूपता का सर्वात्मना समन्वय ,,
१२७-वैधयज्ञ की पुरुष के साथ प्रतिरूपता १०६६
१२८-पुरुषयज्ञवत् ही वैधयज्ञ के विभिन्न-कर्म्म-कलापों का समतुलनात्मक-समन्वय ,,
१२९-'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' इत्यादि श्रौत-आदेश का पारिभाषिक-समन्वय ,,
१३०-आधिभौतिक-वैध-यज्ञ की पुरुषरूपता का दिग्दर्शन ,,
१३१-आध्यात्मिकयज्ञ की आधिभौतिकयज्ञ के प्रति उपनिषत्ता ,,
१३२-महिमामय-पार्थिवमण्डल, और 'यज्ञसंस्था' ,,
१३३-पार्थिव-अग्निरूप सर्वप्रजापति, और यज्ञ-कर्त्ता-यजमान ,,
१३४-त्रिवृत्स्तोमानुगत पार्थिव-अग्नि, और होता ,,
१३५-पञ्चदशस्तोमानुगत आन्तरिक्ष्य वायु, और अध्वर्यु ,,
१३६-एकविंशस्तोमानुगत आदित्य, और उद्गाता ,,
१३७-भूपिण्ड, और पुराणगार्हपत्य ,,
१३८-चित्याग्नि, और पुराणगार्हपत्याग्नि ,,
१३९-त्रिवृत्स्तोमान्त- पार्थिव- महिमा-प्रदेश, और नूतनगार्हपत्यकुण्ड ,,
१४०-त्रिवृत्स्तोमपरिच्छिन्न-पार्थिव-घनाग्नि, और नूतनगार्हपत्याग्नि ,,
१४१-पञ्चदशस्तोमान्त -पार्थिव- महिमाप्रदेश, और धिष्ण्याग्निकुण्ड ,,
१४२-पञ्चदशस्तोमपरिच्छिन्न- अष्टविध-नाक्षत्रिकाग्नि, और धिष्ण्याग्नि ,,
१४३--एकविंशस्तोमान्त- पार्थिव- महिमाप्रदेश, और आहवनीयकुण्ड ,,
१४४--एकविंशस्तोमपरिच्छिन्न सौर दिव्याग्नि, और आहवनीयाग्नि ,,
१४५-लोकालोकसीमान्तानुगत 'वेन' नामक अप्तत्त्व, और बर्हि ,,
१४६-पार्थिव उरु-अन्तरिक्ष में व्याप्त अश्मा-सोम, और समिधकाष्ठ ,,

१४७--आन्तरिक्ष्य-मरीचि-आपः, और प्रणीता, तथा प्रोक्षणी १०६६
१४८--पार्थिव-ओषधि सोम, पृथिव्युपग्रह-भूत-चान्द्रसोम, और आहुतिद्रव्य ,,
१४९--भूपिण्ड, और हविर्वेदि ,,
१५०--भूमहिमा, और महावेदि ,,
१५१--एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक, और जुहू ,,
१५२--पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक, और उपभृत् ,,
१५३--त्रिवृदनुगत भूपिण्ड, और ध्रुवा ,,
१५४--त्रैलोक्य - संचारी- वायव्यप्राण, और स्रुव १०६७
१५५--पार्थिव-आधिदैविकयज्ञ का स्वरूपेतिवृत्त, एवं तत्प्रतिरूप आध्यात्मिक-यज्ञ ,,
१५६--आध्यात्मिकयज्ञ का प्रतिरूप अधिभूत-यज्ञ (मनुष्यकृत वैधयज्ञ) ,,
१५७--पार्थिव-त्रैलोक्य, और विप्रतिपत्ति ,,
१५८--पृथिवी में पृथिवी, और महती विप्रतिपत्ति ,,
१५९--'अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति' इत्यादि पारिभाषिक-सूत्र के माध्यम से विप्रतिपत्तियों का निराकरण ,,
१६०--अष्टविध त्रिलोकी-विवर्त्तानुगता सौम्य-त्रिलोकी का संस्मरण १०६७
१६१--अग्निगर्भित भूपिण्ड ,,
१६२--भौमाग्नि, और प्रजापति ,,
१६३--अमृत-मृत्यु-मय प्रजापति ,,
१६४--रसाग्नि-प्राणाग्नि-देवाग्नि ,,
१६५--रसाग्निलक्षण-प्रजापति ,,
१६६--रसाग्नि का त्रिधा रसन, और पार्थिव-त्रैलोक्यरूप स्तौम्य-त्रैलोक्य का वितान ,,
१६७--अग्निरस की अवस्थात्रयी, और स्तौम्य-त्रिलोकी के तीन अतिष्ठावा देवता ,,
१६८--स एष प्राणाग्निस्त्रेधा विहितः ,,
१६९--ध्रुवास्थानीय भूपिण्ड, और हृदयस्थ-रसाग्नि १०६८
१७०--त्रिविध-यज्ञों की क्रमसिद्धा मौलिक-उपपत्तिलक्षण-स्वरूपोपनिषदों का उपराम १०६८
१७१--पुरुषप्रयत्नसाध्य-वैधयज्ञ-की आध्यात्मिक-यज्ञानुगता प्रतिरूपता का तात्त्विक-समन्वय ,,
१७२--पृष्ठ, एवं आज्य नाम की तत्त्वद्वयी का संस्मरण ,,
१७३--पृष्ठस्वरूप-दिग्दर्शन ,,
१७४--आज्यस्वरूप-दिग्दर्शन ,,
१७५--तेजो वै आज्यम् ,,
१७६--अग्नेर्वा एतद्रूपं यदाज्यम् ,,
१७७--प्राणो वा आज्यम् ,,
१७८--घृत की प्राणात्मिका शक्ति ,,
१७९--जीवनीयशक्तिप्रदाता घृत ,,
१८०--जुहू-स्रुक्-स्रुवादि की पृष्ठरूपता ,,
१८१--आज्यपरिपूर्ण जुह्वादि ,,
१८२--पुरुषप्रतिरूपता की संसिद्धि ,,
१८३--आज्यग्रहण, और दैवात्मा का स्वरूप ,,
१८४--शरीरात्मक पुर, और पुरुषात्मा ,,
१८५--आकार, और वस्तुतत्त्व ,,
१८६--आयतनरूप बाह्य आकार, और वयोनाध १०६९
१८७--वयोनाध, और छन्द ,,
१८८--छन्दोरूप वयोनाध से नद्ध वयोरूप-वस्तुतत्त्व ,,
१८९--वयुनका स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
१९०--सर्वमिदं वयुनम् ,,
१९१--वयुन, और आध्यात्मिक-संस्था का प्रथम पर्व ,,
१९२--ऋतुस्नाता स्त्री, और अत्रिप्राण ,,
१९३--ऋतुमती, और आत्रेयी ,,
१९४--अग्नि, और सोम की ऋत-सत्य-भेदेन अवस्थाद्वयी ,,
१९५--ऋताग्निसोमद्वयी का उद्ग्राम, और निग्राम ,,

१९६--ऋताग्नि के दाम्पत्य से ऋतु का जन्म १०६९
१९७--ऋतु, और छन्द का समन्वय ”
१९८--ऋतु और छन्द से शरीर का निर्म्माण ”
१९९--कर्म्मभोक्ता औपपातिक जीवात्मा का ऋतु-छन्दोमय शरीर में प्रवेश ”
२००--आत्मा, वस्तुतत्त्वरूप वय, बाह्याकाररूप वयोनाध, रूपा पर्वत्रयी ”
२०१--वस्तुतत्त्व, और ऋतुदेवता ”
२०२--बाह्याकार, और छन्दोदेवता ”
२०३--ऋतुरूप-प्रयाजदेवता ”
२०४--बाह्याकारात्मक छन्द, और अनुयाजदेवता ”
२०५--प्रयाजानुयाज से पुररूप शरीर का निर्म्माण १०७०
२०६--आवापादेवता-रूप - प्रधानदेवता, और आत्मा ”
२०७--पृष्ठस्वरूपनिर्म्मापक ऋतुतत्त्व, एवं छन्दस्तत्त्व ”
२०८--देवता-छन्द-ऋतु-त्रयी ”
२०९--इष्टि-पशु-सोम-त्रयी का हवि-द्रव्यत्व ”
२१०--प्रयाजानुयाजदेवताओं का आहुतिद्रव्य, और आज्य ”
२११--देवदत्त की उभयात्मकता ”
२१२--भूतात्मा, और देह का समन्वय ”
२१३--भूतात्मा, और देह का परिवर्त्तन ”
२१४--नामग्रहण का अभाव, और आज्यग्रहण ”
२१५--एवमु हैतेषाम् का समन्वय ”
२१६--'जामि' रूप महान् दोष ”
२१७--समदर्शन, और विषमवर्त्तन की वैज्ञानिकता ”
२१८--समवर्तनरूपा आत्मदृष्टि, और आत्मसाम्य ”
२१९--विषमवर्त्तनरूपा विश्वदृष्टि, और प्रकृतिभेद ”
२२०--समदर्शनक्षेत्रात्मक आत्मा ”
२२१--विषमवर्त्तनक्षेत्रात्मक शरीर १०७०
२२२--व्यवहारजगत्, और 'जामिदोष' ”
२२३--आत्मापेक्षया देवताओं का अवरत्व १०७१
२२४--अन्तरिक्षभाजना वै पशवः ”
२२५--ऋतवश्छन्दांसि-पशवः ”
२२६--घृतमन्तरिक्षस्य ”
२२७--आज्यग्रहण की अन्वर्थता ”
२२८--चतुर्गृहीत आज्य की उपपत्ति ”
२२९--नामग्रहण का अभाव, और अजामिता ”
२३०--आज्यग्रहणप्रक्रियानुगता-अमुक-विशेषता ”
२३१--विशेषता का सोपपत्तिक समाधान ”
२३२--'निदान' शब्द का पारिभाषिक-अर्थ-समन्वय ”
२३३--दक्षिणहस्तात्मक-निदानभाव ”
२३४--दक्षिणहस्त-तात्पर्य्य-समन्वय ”
२३५--कमल, और भूपिण्ड के निदानभाव का तात्त्विक-समन्वय ”
२३६--आपो वै पुष्करपर्णम् ”
२३७--कमलपत्रात्मक भूपिण्ड ”
२३८--काल्वालीकृता-पृथिवी १०७२
२३९--घनभावात्मक अप्तत्त्व, और पुष्करपर्ण ”
२४०--पुष्करपर्ण, और भूपिण्ड ”
२४१--प्रजापति का पद्मासन ”
२४२--निदानभावानुगत जुहू, और उपभृत् का स्वरूप-विचार ”
२४३--दक्षिणहस्त, और जुहू ”
२४४--वामहस्त, और उपभृत् ”
२४५--पुरुष का दक्षिणाङ्ग, और शुभशकुन ”
२४६--पुरुष का वामाङ्ग, और अशुभशकुन ”
२४७--स्त्री का वामाङ्ग, और शुभशकुन ”
२४८--स्त्री का दक्षिणाङ्ग, और अशुभशकुन ”
२४९--दक्षिणहस्तानुगत-यजमान, और जुहू ”
२५०--वामहस्तानुगत-यजमानशत्रु, और उपभृत् ”
२५१--जुहू की नैदानिकी अन्नादरूपता ”

२५२–उपभृत् की नैदानिकी अन्नरूपता १०७२
२५३–भूयांसं-कनीयांसं करोति ,,
२५४–समृद्धि का स्वरूप-लक्षण ,,
२५५–जुहू, और उपभृत् से अनुगता आज्य-मात्रा के तारतम्य की उपपत्ति ,,
२५६–शारीरिक बलात्मक-'बल' १०७३
२५७–आत्मबलात्मक-'वीर्य्य' ,,
२५८–भूतबलात्मक-'बल' ,,
२५९–प्राणबलात्मक-'वीर्य्य' ,,
२६०–बल-वीर्य्यानुगता आज्यमात्रा का तारतम्य ,,
२६१–अन्न-अन्नाद की स्वरूपरक्षा, और आज्यमात्रा का तारतम्य ,,
२६२-प्रजावित्त पर सत्ताधिकार का प्रश्न, और तत्समाधान ,,
२६३–प्रजास्वातन्त्र्य, और राष्ट्रसंरक्षण ,,
२६४–(क) क्षत्र, और विट् का समन्वयात्मक सहयोग, एवं तन्मूला राष्ट्रसमृद्धि ,,
२६४–(ख) राष्ट्रसमृद्धि का अन्यतमसूत्र ,,
२६४–(ग) ब्रह्मबलात्मक ध्रुवापात्र ,,
२६४–(घ) क्षत्रबलात्मक-जुहूपात्र ,,
२६४–(ङ) विड्बलात्मक उपभृत्पात्र ,,
२६५–पशुसम्पत्ति, और शूद्रभाग ,,
२६६–ज्ञानस्थानीय ब्रह्मबल ,,
२६७–क्रियास्थानीय-क्षत्रबल ,,
२६८–अर्थस्थानीय-विड्बल १०७३
२६९–प्रवर्ग्यस्थानीय-शूद्रबल ,,
२७०–समृद्धिरक्षा, और बज्रचतुष्टयी ,,
२७१–राष्ट्रकर्म्मसमृद्धिपूर्वक-स्वसमृद्धि का समन्वय ,,
२७२–सुपर्णकाद्रवेयाख्यान का संस्मरण ,,
२७३–छन्द, और तदक्षर-रहस्य ,,
२७४–द्वादशाक्षर–जगतीछन्द ,,
२७५–एकादशाक्षर-त्रिष्टुप्छन्द ,,
२७६–अष्टाक्षर-गायत्रीछन्द ,,
२७७–सर्वाणि ह वा छन्दांसि-चतुरक्षराणि १०७४
२७८–गायत्रीछन्दस्क-जुहू का आज्य ,,
२७९–त्रिष्टुप्छन्दस्क-आज्य ,,
२८०–जगतीछन्दस्क आज्य ,,
२८१–अनुष्टुप्–गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती नामक चार छन्दों का संस्मरण, और आज्य-ग्रहण ,,
२८२–ध्रुवा के द्वारा यज्ञकर्म्म-सम्पादन ,,
२८३–भूपिण्डस्था-आज्यशक्ति ,,
२८४–यज्ञस्वरूप-संसिद्धि के द्वार ,,
२८५–'त्रि: सत्या वै देवा:' ,,
२८६–मन्त्रप्रयोगानुगता आज्यग्रहण-व्यवस्था का समन्वय ,,
२८७–त्रिवृत्-सम्पत्ति, और यज्ञ ,,
२८८–त्रिवृद्भाव, और आज्य ,,
२८९–आज्यब्राह्मणोपराम १०७५


## इति–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये-द्वितीयं ब्राह्मणम्
## इति द्वितीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम्
## आज्यब्राह्मणात्मकम्
## इति-आज्यग्रहणकर्म्म

## १६

श्रीः

# अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे
# तृतीयाध्याये
## द्विब्राह्मणानुगतं-इध्मब्राह्मणं-तृतीयम्
## द्विब्राह्मणानुगतं--परिधिब्राह्मणं चतुर्थम्
## [ द्विब्राह्मणात्मकं ब्राह्मणम् ]

## १७-इध्म-परिधि-अनुगत-कर्म्मसंग्रहः

### क्रमप्राप्त १७ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की "विषयस्मारकसूची"

### ( पृष्ठसं० १०७८ से ११३४ पृ० पर्य्यन्त )


१-प्रथमकाण्डान्तर्गत--तृतीयाध्यायानुगत तृतीय--चतुर्थ-ब्राह्मण ( मूल ) १०७८

२-मूलब्राह्मणों का अक्षरार्थसमन्वयात्मक अनुवाद १०८६

३-सूत्रप्रदर्शित-पद्धतिसंग्रह ११००


### वैज्ञानिकविवेचनोपक्रम

[११०८]

### अथ-प्रोक्षणकर्म्मोपपत्तिः


४-'पवित्रं वा आपः, मेध्या वा आपः' श्रुतिवचनों का संस्मरण ११०८

५-बर्हि-वेदि-तथा इध्म का पवित्रीकरण ,,

६-मेध्यमेवैतदग्नये करोति ,,

७-यज्ञियकाष्ठ, और 'इध्म' शब्द का अर्थ-समन्वय ,,

८-कृष्णाग्नि का प्रतिरूप इध्मकाष्ठ ११०८

९-काष्ठ में प्रसुप्त 'मृग' नामक अग्नि ,,

१०-सौराग्निमण्डलात्मक-आहवनीयमण्डल ,,

११-सौर-सावित्राग्नि की यज्ञरूपता ,,

१२-ब्रह्माग्नि, और प्रवर्ग्याग्नि के भेद से सौर यज्ञाग्नि के दो महिमा-विवर्त्त ,,

१३-अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक ब्रह्माग्नि ,,

१४-बहिर्य्यामसम्बन्धात्मक प्रवर्ग्याग्नि ,,

१५-पार्थिव अग्नि का प्रवर्ग्यांश, और गायत्र अग्नि ,,

१६-सावित्राग्नि की कृष्णरूपता, और पारमेष्ठ्य-सोम ही आहुति से तत्-शुक्ल-रूपत्व ११०९

१७--अग्नि का जागरूप-रूप, और शुक्लभाव ,,

१८-अग्नि का सुप्तरूप, और कृष्णभाव ,,

१६–पार्थिव-भौतिक-पदार्थों में प्रविष्ट-सुप्त-कृष्ण-अग्नि ११०६
२०–अग्नि की शुक्ल-कृष्णात्मिका-जाग्रत् सुषुप्त्यवस्थाद्वयी, और मन्त्रश्रुति ,,
२१–मृग्यमाणधर्म्मावच्छिन्न अग्नि की मृगरूपता ,,
२२–'कृष्णमृग' नामक अग्नि, और यज्ञ ,,
२३–यज्ञभूमि-भारतवर्ष, और कृष्णमृग का स्वच्छन्द-विचरण ,,
२४–कृष्णाजिनब्राह्मण-का संस्मरण ,,
२५–देवमण्डल से यज्ञ की अपक्रान्ति, एवं कृष्णमृगरूप में तदुपलब्धि ,,
२६–इयं वै पृथिवी कृष्णाजिनम् ,,
२७–यज्ञो वै कृष्णाजिनम् ,,
२८–मृगरूप मृग्याग्नि, और 'खर' ११११
२९–आहवनीय-खर में प्रतिष्ठित अग्नि, और-'आखरेष्ठः' का का समन्वय ,,
३०–कठिनकाष्ठ के गर्भ में सुप्तरूप से प्रतिष्ठित 'आखरेष्ठ' भाव ,,
३१–'कृष्णोऽस्याखरेष्ठः', और प्रोक्षण ,,
३२–प्रोक्षणकर्म्म के द्वारा इध्म-काष्ठ की यज्ञरूप में परिणति ,,
३३–'यज्ञेन-गार्थिवयज्ञेन-यज्ञं-दिव्याग्निं-अयजन्त देवाः' का संस्मरण ,,
३४–पार्थिवाग्नि-दिव्याग्नि, और यजमानाग्नि का समन्वयात्मक यज्ञ ,,
३५–इध्मकाष्ठाग्नि की मेध्यरूपता ,,
३६–देवताओं के लिए जुष्ट इध्म-काष्ठ ,,
३७–अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ,,
३८–वेदि पर बर्हि का आस्तरण ,,
३९–ज्योतिर्म्मय-वेन रूप अप्तत्त्व, और-बर्हि ,,
४०–मतिभीरिहन्ति, और वेन ,,
४१–सर्वत इव ह्ययं समुद्रः, और दर्भ ,,
४२–ता हैवा अनापूयिता आपः, और बर्हि ,,
४३–पवित्रे करोति का संस्मरण ,,
४४–पृथिवी की प्रतिकृतिरूपा वेदि, और उस के अमेध्यधर्म्म का निराकरण ११११
४५–वेदिप्रोक्षण का पारिभाषिक-समन्वय ,,
४६–वेदिरसि बर्हि त्वा जुष्टं प्रोक्षण का समन्वय ,,
४७–प्रोक्षणकर्म्मोद्देश्य का स्पष्टीकरण ,,
४८–बर्हि का प्रोक्षण, और तत्पारिभाषिक-समन्वय ,,
४९–वेनप्रतिरूप-स्थानीय दर्भ का बर्हिरूपत्व ,,
५०–यज्ञिय-भौतिक-पदार्थों से अनुगत भूत, और प्राण ,,
५१–अमेध्यभावापन्न भूतभाग ,,
५२–भूतसंसर्ग से मेध्य भी प्राण का अमेध्यत्व ,,
५३–प्रोक्षणकर्म्म के द्वारा भूत, और प्राणात्मक यज्ञिय-पत्रार्थों के अमेध्यभाव का निराकरण ,,
५४–वृष्टिकर्म्माधिष्ठाता पर्जन्यदेवता ,,
५५–आकाशस्थ मरुद्गर्भ से भूतल की ओर आगत-वृष्टिजल ,,
५६–वृष्टिजल का विलयन ,,
५७–ओषधि-वनस्पति ,,
५७–मूलाद्रता, और ओषधि-वनस्पतियों का जीवन ,,
५८–मृद्भागसहित ओषधि-वनस्पतिमूलों का का उत्पाटन, और अन्यत्र प्ररोहरण ,,
५९–प्राकृतिक-यज्ञकर्म्म, और जलवर्षण ,,
६०–यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि ,,
६१–प्रोक्षणी आपः का प्रकृतिवत् बर्हि के मूल में सिञ्चन ,,
६२–यज्ञातिशायी का फलभोक्ता यजमान ,,
६३–जलसेकात्मक-सिञ्चनकर्म्म १११२
६४–यजमान के लिए समृद्धियुक्ता-ओषधि-वनस्पतियाँ ,,
६५–ओषधिमूलों की आद्रता का समन्वय ,,
६६–सिञ्चनकर्म्म का प्रधान लक्ष्य-भूप्रदेश ,,

६७–परम्परया आर्द्र मूलता की प्राप्ति ११११२
६८–'अदित्यै व्युन्दनमसि' का रहस्यात्मक समन्वय ,,
६९–जीवनरसप्रदात्री भूगर्भ की आर्द्रता ,,
७०–भूगर्भ में ही कृषक के द्वारा बीजवपन, और प्रोक्षणकर्म्मोपराम ,,

# इति–प्रोक्षणकर्म्मोपपत्तिः

---*---

# अथ–प्रस्तरगृहणोपपत्तिः

---*---

७१–कुशमुष्टिलक्षण-प्रस्तर का ग्रहण ११११२
७२–यज्ञपुरुष के द्विविध महिमामय-स्वरूप ,,
७३–ऋताग्नि-ऋतसोमात्मक-सम्वत्सरमण्डल, और आधिदैविकपुरुष ,,
७४–सम्वत्सरयज्ञ के उत्तरायण-दक्षिणायन-विष्वत्-रूप तीन प्रमुख पर्व ,,
७५–यज्ञपुरुष के दक्षिणोत्तर पार्श्व, और मध्याङ्ग ,,
७६–एकविंशस्थान, और यज्ञपुरुष का मस्तक ,,
७७–अग्नि-वायु-आदित्य-नाम की प्राणत्रयी, और सम्वत्सरत्रिलोकी ,,
७८–एकविंशस्थानीय आदित्योपलक्षित सूर्य्यात्मक–'यूप', और यज्ञपुरुष ,,
७९–सूर्य्यात्मक यूप का सोमाहुति से संरक्षण ,,
८०–यूप का यूपत्व, और सोमाहुति ,,
८१–आधिदैविक—सम्वत्सरयज्ञपुरुष, और तत्प्रतिपादक-श्रुतिवचन ,,
८२–अथ वा एष महा सुपर्ण एव यत् सम्वत्सरः ,,
८३–आत्मा वै सम्वत्सरस्य विषुवान्, अङ्गानि मासाः ११११३
८४–सम्वत्सरो वै यज्ञप्रजापतिः ,,
८५–पुरुषो वा सम्वत्सरः ,,
८६–सम्वत्सरयज्ञपुरुष का मस्तकोर्ध्वस्थान, और यूप ११११३
८७–यूपात्मक सूर्य्य, और यज्ञपुरुष की शिखा ,,
८८–केशगुच्छात्मिका-शिखा ,,
८९–केश-लोम, और ओषधि-वनस्पति ,,
९०–'ओषधिर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः ,,
९१–पारमेष्ठ्य सोम, और ओषधि ,,
९२–त्वमिमा ओषधीः सोम ! विश्वा ,,
९३–अग्निगर्भित सोम, और ओषधियाँ ,,
९४–सोमगर्भित अग्नि, और वनस्पतियाँ ,,
९५–अग्निर्वै वनस्पतिः ,,
९६–असौ वा आदित्यो यूपः ,,
९७–आदित्यो यूपः ,,
९८–सोमाग्नि की परम्परया केश-लोम-रूपता का रहस्यात्मक-समन्वय ,,
९९–यूपात्मक सूर्य्य का यज्ञपुरुष का शिखात्व ,,
१००-शिखा का स्वरूप-लक्षण, और सौरसंस्था की स्वरूपस्थिति ११११४
१०१-शिखायुक्त-सम्वत्सरयज्ञपुरुष से प्रति–रूपात्मक-आध्यात्मिकयज्ञ (मानव) के स्वरूप की अभिव्यक्ति ,,
१०२-सम्वत्सर का दक्षिणायनभाग, और मानव का दक्षिणपार्श्व ,,
१०३–उत्तरायणभाग, और मानव का वामपार्श्व ,,
१०४–सम्वत्सर का मध्यस्थ विष्वद्वृत्त, और मानव का मध्यस्थ-मेरुदण्ड [ रीड की हड्डी ] ,,
१०५–सम्वत्सर का त्रिवृद्भाग, और मानव का पादभाग ,,
१०६–सम्वत्सर का पञ्चदशभाग, और मानव मध्याङ्ग ,,
१०७–सम्वत्सर का एकविंशभाग, और मानव का शिरोभाग ,,
१०८–शिरो भागानुगत-सौर-इन्द्रप्राण ,,

१०९–शिखान्तस्थान से विनिर्गत सौरइन्द्रप्राण [इन्द्रविद्युत्] का सूर्य्यकेन्द्र-पर्य्यन्त एक निमेष में तीन बार गमनागमन ११११४
११०–प्राण का सूर्य्यकेन्द्रानुगत गमनागमन, एवं मानव की शतायुः-प्रवृत्ति ,,
१११–सूर्य्यस्थित मनःप्राणवाङ्मय ३६००० [छत्तीसहजार] संख्यात्मक 'आयुः' नामक मनोता का आगमन, और आयुर्बल का संरक्षण ,,
११२–बृहतीप्राणात्मक वैश्वामित्र-आयुःप्राण का सञ्चालन, और आयुः-सूत्रसंरक्षण ११११५
११३–आध्यात्मिक ऐन्द्रप्राण, तथा आधिदैविक ऐन्द्रप्राण के मध्य में अवसानधर्म्मा याम्यप्राण का आगमन, और आयुः-सूत्रसन्तान का विच्छेद ,,
११४–निधन का अवरोधक-प्राण-गमनागमन-लक्षण-दैनंदिनयज्ञात्मक-अहरहर्यज्ञ ,,
११५–अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते, अहरहरेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति ,,
११६–शिखान्तस्थान से सूर्य्यकेन्द्र पर्य्यन्त व्याप्त महापथ ११११५
११७–शिखान्तस्थानात्मक ब्रह्मरन्ध्र ,,
११८–ब्रह्मरन्ध्रात्मक विदृतिद्वाः (द्वार) और नानन्दनद्वाः (द्वार) ,,
११९–केशान्तस्थानानुगत ब्रह्मरन्ध्र, और इन्द्रविद्युत् ,,
१२०–सौरदिव्यप्राण का प्रवर्ग्यभूत आध्यात्मिक-शिखान्तस्थानीय-दिव्यप्राण ,,
१२१–दिव्यप्राण के साथ तमोमय असुर-प्राण का सहज विरोध ,,
१२२–लौहधातु का असुरप्राणप्रधानत्त्व ,,
१२३–क्षौरकर्म्मसंसाधिका लौहक्षुरिका ,,
१२४–दिव्यप्राणसंरक्षणायैव शिखाधारण का शास्त्रीय-आदेश ११११५
१२५–शिखाधारण की अनिवार्य्यता का पारिभाषिक-समन्वय ,,
१२६–शिखाधारण के एक अन्य प्रासङ्गिक कारण का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
१२७–प्रतिरूपमर्य्यादानुगता वेदमर्य्यादा का अनुगमन, और शिखाधारण ,,
१२८–यज्ञपुरुष के साथ आकृतिसमतुलन, और शिखाधारण ,,
१२९–'देवो भूत्वा देवं भावयेत्' लक्षणा दिव्यभावना, और शिखाधारण ,,
१३०–याज्ञिकी यूपमर्य्यादा, और शिखाधारण ,,
१३१–शिखाधारण, और आर्षधर्म्मानुबन्धिनी यज्ञिय-मर्य्यादा का संरक्षण ११११६
१३२–दिव्यप्राणरक्षानुगत विज्ञान का संरक्षण, और शिखाधारण ,,
१३३–स्वस्त्ययनकर्म्मात्मिका यज्ञिया-मङ्गल-भावना, और शिखाधारण ,,
१३४–शिखाधारण, और शस्त्रोद्देश ,,
१३५–भारतीय-स्वस्त्ययनचिह्न, और-तद्द्वारा सुखसाधक-जातीयता-धर्म्म-दिव्य-विज्ञानवृद्धि-आदि मङ्गलभावों की अभिवृद्धि ,,
१३६–शिखाधारण से लज्जा अनुभव करने वाले आज के नवशिक्षित से लज्जिता भारतीय-दिव्य-संस्कृति ,,
१३७–शास्त्रनिष्ठा, और शिखाधारण ,,
१३८–'तस्य-इयमेव शिखा-स्तुपः', और शिखाधारण ,,
१३९–नवशिक्षितों की परिष्कृता बुद्धि, और तद्द्वारा शिखा-सूत्र-का साभिनिवेश परित्याग ,,

१४०–अधःपतन की पूर्वसूचना ११११६
१४१–सभ्रान्त महानुभावों से नम्र आवेदन ”
१४२–स्व-सांस्कृतिक-गौरव का अन्वेषण, और संरक्षण-प्रयास ”
१४३–आधिदैविक यज्ञपुरुष से आध्यात्मिकयज्ञ-पुरुष की स्वरूपनिष्पत्ति ११११७
१४४–आध्यात्मिक० से वैध-आधिभौतिकयज्ञ का स्वरूप-सम्पादन ”
१४५–शिखारूप प्रस्तर, और यज्ञ में दिव्य-प्राण का आधान ”
१४६–दर्भमुष्टिरूप प्रस्तरग्रहणात्मक शिखा धारण ”
१४७–शिखा के नैदानिकरूप का समन्वय ”
१४८–पुरस्तात् प्रस्तरग्रहण, और प्रस्तर-ग्रहणोपपत्ति-विराम ”

## इति–प्रस्तरगृहणोपपत्तिः

—*—

## अथ-सन्नहन-विस्रंसन-स्थापनोपपत्तिः

—*—

१४९–'सन्नहन' नामक 'बर्हि' की रज्जु ११११७
१५०–बन्धनरज्जुरूप सन्नहन का बर्हिः के संघात से पार्थक्य ”
१५१–नीवीबन्धनात्मक-सन्नहनन, और तद्-विस्रंसन ”
१५२–नीवी-विस्रंसन, और प्रजननकर्म्म की संसिद्धि ”
१५३–बन्धनसूत्र का वेदिकी दक्षिणाश्रोणि पर संस्थापन ”
१५४–नीवीबन्धन की स्थिति, और लोक-व्यवहार ”
१५५–वेदिका दक्षिणभाग, और अग्निप्राधान्य ”
१५६–अग्निप्राधान्य, और पुत्रसन्तति ”
१५७–दक्षिणा श्रोणि के अनुगमन की उपपत्ति, और सन्नहन-विस्रंसन-स्थापनोपपत्ति-विराम ११११७

## इति–सन्नहन–विस्रंसन-स्थापनोपपत्तिः

—*—

## अथ–बर्हिस्तरणोपपत्तिः

—*—

१५८–प्रस्तर की शिखारूपता का संस्मरण ११११७
१५९–केश-लोम की प्रतिरूपता का प्रश्न ? ”
१६०–शिखा का अधोभाग, और केशलोम ११११८
१६१–केश-लोम-सम्पत्ति का संग्रह, और बर्हि का आस्तरण ”
१६२–वेदिरूपा योषा (स्त्री) ”
१६३–स्त्री का भद्रमण्डली में प्रवेश, और शिष्टाचारानुगता-लज्जात्मिका सावरणता ”
१६४–सावरणभाव, और बर्हिस्तरण ”
१६५–लज्जाभाव का संरक्षण, और बर्हिस्तरण ”
१६६–पृथिवी के ऊसर, और उर्वरभाग ”
१६७–उर्वरा-भूमि, और लक्ष्मी ”
१६८–उसर-भूमि, और अलक्ष्मी ”
१६९–ओषधियुक्त भूप्रदेश का भोग्यतमत्त्व ”
१७०–ओषधि-वनस्पति से आच्छादित उर्वर-भूप्रदेश का जीवनीयतमत्त्व ”
१७१–जीवनसम्पत्ति का संग्रह, और बर्हिस्तरण ”
१७२–उपजीवनीयतम भूप्रदेश का पारिभाषिक स्वरूप-दिग्दर्शन ११११८
१७३–बर्हि की प्रभूतमात्रा का अनुगमन ”
१७४–बर्हि के मूलभागों का परोक्षभाव, और तत्कारण-निदर्शन ”
१७५–त्रिवृद्भावापन्न यज्ञ, और तीन बार स्तरणकर्म्म ”

१७६–स्तरणकर्म्मसाधक-यजुर्म्मन्त्र का संस्मरण १११८
१७७–दर्भतृण का भावनात्मक मसृणत्त्व (कोमलस्पर्शत्त्व), और निदानभाव ”
१७८–भावनात्मक-निदानभाव, और कर्म्म-श्रेष्ठता का मूलाधारत्त्व, तथा बर्हिस्तरणोपपत्ति का विराम ”

## इति–बर्हिस्तरणोपपत्तिः

—*—

## अथ–अग्निकल्पोपपत्तिः

—*—

१७९–सम्वत्सरात्मक यज्ञपुरुष के एकविंश-स्तोमात्मक-शिरोभाग का संस्मरण १११९
१८०–वैधयज्ञ का शिरः प्रदेश, और आहवनीय कुण्ड ”
१८१–मुखभागस्थ-आहुतिग्राहक-अन्नादाग्नि ”
१८२–अन्नादाग्नि का प्राबल्य, और अन्नाकर्षण-दहन-पचनादि-क्रियाओं का यथावत् सञ्चालन ”
१८३–अग्निमान्द्य, और पाचनक्रियादि का शैथिल्य ”
१८४–इध्मकाष्ठ से अन्नादाग्नि में बलाधान ”
१८५–शिखापर्य्यन्त व्याप्त यज्ञपुरुष ”
१८६–प्रस्तररूपा शिखा का आहवनीय से सम्बन्ध, एवं अग्निकल्पोपपत्ति का उपराम ”

## इति–अग्निकल्पोपपत्तिः

—*—

## अथ–परिधि–परिधानोपपत्तिः

—*—

१८७–आप्त्याविज्ञानानुगता परिधित्रयी का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण १११९
१८८–पुरुषाग्नि-प्राकृताग्नि-विराडग्नि-सम्वत्सराग्नि-नामक चतुर्द्धा विहित अग्निदेव का संस्मरण १११९
१८९–चतुर्थसम्वत्सराग्नि रूप-'भूतानांपतिः' ”
१९०–चतुर्थ-सम्वत्सराग्निरूप-'भूतानांपतिः' नामक अग्नि के अवान्तर चार विवर्त्त ”
१९१–पार्थिव-सम्वत्सरचक्र, और गायत्राग्नि ”
१९२–सौर-सम्वत्सरचक्र, और सावित्राग्नि ”
१९३–पार्थिवसम्वत्सराग्निरूप-पार्थिव-गायत्राग्नि की अवस्था-चतुष्टयी ”
१९४–भूपिण्डगर्भस्थ-प्राणाग्नि ”
१९५–प्राणाग्निरूप अन्नादाग्नि, और रुद्र ”
१९६–रुद्राग्नि की अवस्थाचतुष्टयी ”
१९७–एक होता, और तीन आप्त्या, तथा रुद्राग्निचतुष्टयी पार्थिवसम्वत्सरात्मिका-गायत्ररूपा ”
१९८–अथ-यः स भूतानां-पतिः, सम्वत्सरः सः ”
१९९–गृहपति, और सम्वत्सरूपा अवस्था-द्वयी, और पार्थिव-गायत्राग्नि ११२०
२००–गृहपतिरूप अन्नादाग्नि ”
२०१–भूपिण्डस्थ-पार्थिव-अग्नि की उक्थ, और अर्कावस्था ”
२०२–सर्वप्रभव-हृद्य-अनिरुक्तप्रजापतिरूप उक्थाग्नि ”
२०३–पार्थिवयज्ञ का यजमानरूप उक्थाग्नि ”
२०४–पार्थिव-उषारूपा यजमानपत्नी ”
२०५–दाम्पत्यभाव, और पार्थिवप्रजोत्पत्ति ”
२०५–उक्थाग्नि की प्राणात्मिका रश्मियाँ, और अर्काग्नि ”
२०६–पार्थिव-अर्काग्नि की सीमा, और रथन्तरसाम ”
२०७–अर्करूप-प्राणाग्नि की पार्थिवाग्नि, और सम्वत्सराग्नि-रूपेण अवस्थाद्वयी ”
२०८–भूपिण्डावच्छिन्न अर्करूप-प्राणाग्नि, और 'भूपति' ”

२०९–भूमहिमावच्छिन्न अर्करूप प्राणाग्नि, और 'भूतानांपतिः' १९२०
२१०–सम्वत्सरचक्रका स्वरूप-समन्वय ,,
२११–'भूतानांपतिः' रूप सम्वत्सरप्रजापति की त्रिवृत्- पञ्चदश–एकविंशस्तोम—भेद से अवस्थात्रयी ,,
२१२–भूतानां पतिः, और एकविंशस्तोमस्थ-आदित्य ,,
२१३–भुवनपतिः, और पञ्चदशस्तोमस्थ वायु ,,
२१४–भुवपतिः, और त्रिवृत्स्तोमस्थ अग्नि ,,
२१५–भूपतिः, और भूपिण्डाग्नि ,,
२१६–भूपति–भूपिण्डावच्छिन्नः-ज्येष्ठभ्राता ,,
२१७–भुवनपतिः-पृथिव्यवच्छिन्नः-अग्निभ्राता ,,
२१८–भुवनपतिः-अन्तरिक्षलोकावच्छिन्नः ,,
२१९–भूतानांपतिः-दिव्यलोकावच्छिन्नः ,,
२२०–पिता प्रजापतिर्हृदयः ,,
२२१–गृहपतिः-उक्थः ,,
२२२–अर्कविधा अग्निचतुष्टयी से अनुप्राणित एक प्रश्न ११२१
२२३–आप्त्या-विज्ञान के द्वारा प्रश्नसमाधन ,,
२२४–भूपिण्डानुगत अर्णवसमुद्र, और 'समुद्र-मभितः पिन्वमानम्' ,,
२२५–एति-च प्रेति च-रूप-गायत्राग्नि, और तद्द्वारा सोमापहरण का संस्मरण ,,
२२६–देवताओं के हौत्रकर्म्म का सञ्चालन ,,
२२७–साम्वत्सरिक-अग्नित्रयी के द्वारा हौत्र-कर्म्म के प्रति तटस्थता और वषट्कार ,,
२२८–वाक्-सीमारूप-वषट्कार ,,
२२९–अग्नित्रयी का समुद्र में पलायन ,,
२३०–हौत्रकर्म्म में नियुक्त गायत्राग्नि ,,
२३१–समुद्रानुगत आसुरप्राणाक्रमण से यज्ञ का संरक्षण ,,
२३२–सीमारूपेण स्वरूपरक्षा, और उच्छिष्ट–द्रव्य का ग्रहण, तथा आप्त्याग्नि ,,
२३३–पलायित-आप्त्याग्नि की शुद्धावस्था, और मलिनावस्था ११२१
२३४–ब्रह्मौदनभागानुगति, और शुद्धाप्त्या ,,
२३५–प्रवर्ग्यभागानुगति, और मलिनाप्त्या ,,
२३६–मलिन आप्त्याग्नि से समन्वित अप्तत्त्व, और तद्द्वारा भूपिण्ड की स्वरूप-निष्पत्ति ,,
२३७–प्रवर्ग्यात्मक हविर्द्रव्य का संग्राहक-भूपिण्डस्थ मलिन आप्त्या ११२२
२३८–शुद्ध आप्त्याग्नि का सन्तर्पक साम्वत्सरिक हविर्द्रव्य ,,
२३९–प्राकृतिक नित्य-हविर्यज्ञ के प्रतिरूपभूत वैध हविर्यज्ञ का समन्वय ,,
२४०–देवाननुविधा वै मनुष्याः ,,
२४१–यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्-करवाणि
२४२–परिधिपरिधान-कर्म्म का पारिभाषिक समन्वय, एवं परिधान-कर्म्मोपपत्ति का विराम ,,

## अथ–परिधि–काष्ठ–विचार

२४३–यज्ञियवृक्ष, और परिधियों का स्वरूप-निर्म्माण ,,
२४४–पलाश-विकङ्कत–काष्मर्य्य-बिल्व-खदिर-उदुम्बर-नामक यज्ञातिशय से समन्वित यज्ञियवृक्षों का संस्मरण ,,
२४५–पलाशवृक्ष का सप्रमाण-स्वरूपोपवर्णन (१) ,,
२४६–विकङ्कतवृक्ष का स्वरूपवर्णन (२) ११२३
२४७–काष्मर्य्यवृक्ष का स्वरूपोवर्णन (३) ११२४
२४८–बिल्ववृक्ष का स्वरूपोपवर्णन (४) ११२५
२४९–खादिरवृक्ष का स्वरूपोवर्णन (५) ११२६
२५०–उदुम्बरवृक्ष का स्वरूपोपवर्णन (६) ११२७

* * * *

२५१–आर्द्रभाव से समन्विता परिधियाँ ११२८
२५२–जीवनीयरसात्मक आर्द्रभाव का संग्रह ,,

२५३--आप्त्याग्नि की परिधिरूपता, और अनुरूपभावात्मिका आर्द्रता ११२८
२५४--असुराक्रमण-निरोध-कुशला-परिधित्रयी, और बाहुपरिमाण ,,
२५५–विश्वावसुप्रमुख गन्धर्व, और पश्चिम-भागानुगता परिधि ,,
२५६–अन्तर्जगद्विज्ञानानुगत स्वानुगत विश्व ,,
२५७–यजमान के विश्व की सुखशान्ति ,,
२५८ 'विश्वस्यारिष्टयै' का समन्वय ,,
२५९–दक्षिणदिशा, और इन्द्र ,,
२६०–'इन्द्रस्य बाहुरसि', और दक्षिण-परिधि
२६१–'उदीचीदिक्-मित्रावरुणौ', और उत्तर-परिधि ,,
२६२–'मित्रावरुणौ-स्त्वोत्तरत:' ११२९

## इति–परिधि–परिधानकर्म्मोपपत्तिः

—— * ——

## अथ–समिधाभ्याधानोपपत्तिः

२६३–अग्निकल्पार्थ गृहीत समिध ११२९
२६४–समिधाभ्याधानकर्म्म का संस्मरण ,,
२६५–ऋतुदेवता, तथा छन्दोदेवता का समिन्धन, और समिधाधान ,,
२६६ छन्द, और ऋतु के समिन्धन से ही हव्यवाट् अग्नि का समिन्धन ,,
२६७–परिधित्रयी से समतुलिता सम्वत्सराग्नित्रयी ,,
२६८–गायत्राग्नि का प्रतिरूप वैधयज्ञ का आहवनीयाग्नि ,,
२६९–परोक्ष, एवं प्रत्यक्षरूपेण उभयथा अग्निसमिन्धन ,,
२७०–'वीतिहोत्रं त्वा०' इत्यादि गायत्रीमन्त्र, और समिध का अभ्याधान ,,
२७१–गायत्रीछन्द के द्वारा सम्पूर्ण छन्दों का परिग्रहण ११२९
२७२–समिद्ध छन्दों के द्वारा देवताओं के लिए हव्यवहन ,,
२७३–पार्थिव-अग्नि में दिव्यतेजोयुक्त अग्नि का आधान, और समिन्धन का एकमात्र तात्पर्य्य ,,
२७४–हविर्वहनकर्म्म में समर्थ पार्थिव अग्नि का दिव्यतेजोमयत्व ,,
२७५–खगोलीय उत्तरस्थ कर्कवृत्त से आरम्भ कर दक्षिणस्थ-मकरवृत्त पर्य्यन्त परिव्याप्त जगती त्रिष्टुप्-पङ्क्ति-बृहती-अनुष्टुप्-उष्णिक्-गायत्री नामक सप्तविध देवच्छन्द ,,
२७६–उदीचीदिक्, और उद्गाता आदित्य ,,
२७७–सम्पूर्ण छन्दों का समिन्धन ,,
२७८–अग्नि का प्रातिस्विक-छन्द 'गायत्री' ,,
२७९–अग्नि: सर्वा देवता: ,,
२८०-सर्वछन्दोरूप गायत्रीछन्द ,,
२८१–माध्यम-अग्नि ११३०
२८२–समिन्धनकर्म्म के द्वारा ही हौत्रकर्म्म की सफलता ,,
२८३–द्वितीया समिध, और वसन्त का समिन्धन ,,
२८४–सम्वत्सराद् ऋतव रेतो आभृतम् ,,
२८५–प्रजननकर्म्माधिष्ठात्रीं ऋतुएँ ,,
२८६–सर्वाऋतुप्रतिष्ठारूप वसन्त ,,
२८७–वसन्त के समिन्धन से षड्ऋतु का-समिन्धन ,,
२८८–समिद्ध ऋतुओं के द्वारा अग्नि में ऋतुधर्म्म का समावेश ,,
२८९–ऋतुधर्म्मात्मक प्रजननधर्म्म ,,
२९०–ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च जनयन्ति ,,

## इति–समिधाभ्याधानोपपत्तिः

* * *

## अथ-मन्त्रजपोपपतिः


२९१–परिधिस्थापन के द्वारा नाष्ट्रा–राक्षसों का आक्रमण-निरोध ११३०

२९२–सौरतेज, और नाष्ट्रा-राक्षसों का सर्वनाश ,,

२९३–'सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु०' इत्यादि मन्त्र, और मन्त्रजपोपपत्तिः ,,


* * * *

## अथ-विधृती-स्थापनोपपत्तिः


२९४–'विधृती, शब्द का द्वित्वभाव ११३०

२९५–विश्वयज्ञानुगता विधृतिद्वयी ,,

२९६–धृतिशक्ति से समन्विता विधृति ,,

२९७–प्राणाग्नि, और भूताग्नि ११३१

२९८–प्राणसोम, और भूतसोम ,,

२९९–शुष्कगुणक-अग्नि ,,

३००–आर्द्र गुणक सोम ,,

३०१–आरम्भणात्मक उपादानकारण ,,

३०२–स्वकार्य्याधारात्मिका धृतिलक्षणा प्रतिष्ठाभूमि, और विधृति ,,

३०३–अग्निसोम का सहज द्वन्द्व, और तन्निबन्धन द्विवचनानुगत-'विधृती' शब्द ,,

३०४–तात्पर्य्यार्थ-समन्वय ,,

३०५–ऋताग्निसोमयुग्म का पारिभाषिक-स्वरूप ,,

३०६–सत्याग्निसोमयुग्म का पारिभाषिक स्वरूप

३०७–सृष्टिधाराओं की प्रक्रान्ति ,,

३०८–वाय्वात्मिका ऋताग्निसोमद्वयी ,,

३०९–चन्द्रात्मिका सत्याग्निसोमद्वयी ,,

३१०–यज्ञात्मक सम्वत्सर ,,

३११–कालात्मक सम्वत्सर ,,

३१२–'कालो यज्ञं समैरयत्' का संस्मरण ११३१

३१३–सम्वत्सर का छन्दोरूप-आवपन ११३२

३१४–खंब्रह्म, और आकाशायतन ,,

३१५–अर्चिर्म्मार्गात्मक- ज्योतिर्भाव ,,

३१६–धूममार्गात्मक-तमोभाव ,,

३१७–सुर्य्यानुगत-ऐन्द्र–मित्रकपाल ,,

३१८–चन्द्रमानुगत-वारुण-वरुणकपाल ,,

३१९–मित्रकपालात्मक पूर्वकपाल ,,

३२०–वरुणकपालात्मक पश्चिमकपाल ,,

३२१–सम्वत्सरप्रजापति के कालात्मक, तथा यज्ञात्मक-विवर्त्तों का संक्षिप्त इतिवृत्त ,,

३२२–'कुटिलकाल' का पारिभाषिक स्वरूप ,,

३२३–आधिदैविक विश्वप्रजापति के दो चक्षु ,,

३२४–अग्नि-सोमात्मक दो भ्रू-भाव ,,

३२५–प्रलयकाल का स्वरूपेतिवृत्त ,,

३२६–द्यावापृथिवीरूप सौर–चान्द्र-आग्नेय-सौम्य-कालचक्र के दो भ्रू, और प्रतिष्ठाभाव ११३३

३२७–भ्रूरूप दो विधृतियाँ, एवं अथर्ववेदीय 'वितृतीश्च पुण्या:' मन्त्र का संस्मरण ,,

३२८–कुशात्मिका–विधृति ,,

३२९–दर्भतृणविशेषों की याज्ञिक-संज्ञा, और विधृती ,,

३३०–विधृति-स्थापन-कर्म्म का स्वरूपेतिवृत्त ,,

३३१–विधृती का तिर्य्यगाधान, और तदुपपत्ति ,,

३३२–ब्रह्म क्षत्र, और तिर्य्यगाधान ,,

३३३–स्वरूपरक्षात्मक उभयनियन्त्रण ,,

३३४–क्षत्र, और विट् का विधरणकर्म्म, एवं विधृती-स्थापनकर्म्मोपपत्ति का विराम ,,


## इति-विधृती-स्थापनोपपत्तिः

— —*— —

## अथ-स्रुक्स्थापनकर्म्मोपपत्तिः


३३५-विधृती के ऊपर 'प्रस्तर' का स्थापन ११३३
३३६-स्रुक्पात्रों का वेदि पर संस्थापन ,,
३३७-'सेदं प्रियेण धाम्ना०' इत्यादि मन्त्र का संस्मरण ,,
३३८-'ध्रुवा-असदन्', और स्पर्शकर्म्म ११३४
३३९-स्रुक्स्थापनकर्म्म का उपराम ,,


## इति-प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये

## इध्म-परिधि-लक्षणं

## द्विब्राह्मणात्मकं ( ३-४ रूपं ) ब्राह्मणम्

## *इति-इध्म-परिध्यनुगत-कर्म्मसंग्रहः*

## १७

* श्रीः *

# अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे-तृतीयाध्याये, चतुर्थाध्याये च ब्राह्मणचतुष्टयात्मकं-सामिधेन्यनुवचनब्राह्मणम्

—:*:—

## १८-सामिधेन्यनुवचनकर्म्म

क्रमप्राप्त १८ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की 'विषयस्मारकसूची'
( पृष्ठ सं० ११३५ से १३३५ पर्य्यन्त )

——*——

तृतीय अध्याय में पञ्चम, तथा तृतीय-प्रपाठक में द्वितीय-ब्राह्मण

——*——

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-प्रथम-ब्राह्मण

## १

——*——

१-प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय-चतुर्थ-अध्यायानुगत-ब्राह्मण चतुष्टयात्मक-सामिधेन्यनुवचनब्राह्मण (मूल) ११३५
२-मूलब्राह्मणों का अक्षरार्थसमन्वयात्मक अनुवाद ११५२
३-सूत्रानुगत-पद्धति-संग्रह ११६१

# वैज्ञानिक-विवेचना

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-प्रथमब्राह्मण

## १

—— * ——

४–यज्ञेतिकर्त्तव्यतानुगत-अग्निसमिन्धन ११६७
५–'अग्निरु वै यज्ञः' ,,
६–यज्ञकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा, और अग्नि ,,
७–दैविक-भौतिक-आत्मिक-भेदभिन्न--त्रेताग्नियों का समन्वय, और दैवात्मा ,,
८–खगोलीय-पार्थिव–त्रिणाचिकेत नामक सप्तदशस्वर्गस्थान में प्रतिष्ठित दैवात्मा ,,
९–दैवात्मा के रश्मिरूप प्राणों का यजमान के साथ ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध ,,
१०–दैवात्मा का प्राणदेवताओं के साथ बन्धन ,,
११–आयुर्भोगानन्तर दैवात्माकर्षणाकर्षित यजमान के भूतात्मा का स्वर्गगमन ,,
१२–यज्ञातिशय की समाप्ति के अनन्तर भूतात्मा का पुनः मृत्युलोकागमन ,,
१३–क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति ,,
१४–यज्ञफलसिद्ध्यर्थ अग्नित्रयी का अपेक्षित ग्रन्थिबन्धन ,,
१५–आधिभौतिक-पार्थिव-गायत्र-अग्नि ,,
१६–आध्यात्मिक-शारीराग्नि ,,
१७–आधिदैविक-सौर-सावित्र-अग्नि ,,
१८–पार्थिव-अग्नि की प्रवर्ग्यरूपता ,,
१९–सावित्राग्नि की कृष्णरूप में परिणति ,,
२०–'शेषे वनेषु मात्रो' का संस्मरण ,,
२१–'सन्त्वा मर्त्तास इन्धते', और अग्नि का जागरण ,,
२२–अतन्द्रो हव्यं वहसि ११६८
२३–आदिद्देवेषु राजसि ,,
२४–भूताग्नि का द्युलोक में गमन ,,
२५–स्वाभाविकी-अग्निगति, और यज्ञसम्बन्ध से तत्-असंस्पर्श ,,
२६–यज्ञकर्म्मणि उपयुक्त विशेष--अग्नि का संस्मरण ,,
२७–यज्ञातिशयरूप दैवात्मा के मौलिक स्वरूप का समन्वय ,,
२८–आकर्षणानुगत-स्वर्गफल, और दैवात्मा ,,
२९–भूताग्नि का सामान्यरूपेण प्रज्ज्वलन ,,
३०–सामान्य प्रज्ज्वलनकर्म्म, और इध्म नामक काष्ठ का प्रक्षेप ,,
३१–'इन्धन' रूप सामान्य-प्रज्ज्वलन ,,
३२–दिव्याग्नि का प्रतिरूप-आहवनीयाग्नि ,,
३३–दिव्याग्निसम्बन्धरूप-समिन्धनकर्म्म ,,
३४–दिव्यातिशय के सम्बन्धरूप समिन्धन से वञ्चित भूताग्नि की अयज्ञियता, एवं आत्यन्तिक-निरर्थकता ,,
३५–निरर्थक-स्वाहा-स्वाहा, और यज्ञविद्या पर कलङ्क-प्रक्षेप ,,
३६–ऋषिप्रदिष्ट सुप्रसिद्ध सामिधेन्यनुवचन-कर्म्म का महत्त्व ,,
३७–द्युलोकस्थ-प्राणदेवताओं की प्राणात्मकता ,,
३८–रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-शून्यत्वे सति-अधामच्छदत्त्वमेव प्राणत्वम् ,,
३९–महती–विप्रतिपत्ति, और तत्समाधानोपक्रम ,,
४०–'स्वरसमन्वय', और विप्रतिपत्ति का निराकरण ,,
४१–पृथिवी और सूर्य्य-कक्षाओं की अभिन्नता ,,

४२–सूर्य्योपग्रहभूता पृथिवी ११९८
४३–सूर्य्य, और पृथिवी का पारस्परिक-आधाराधेय-सम्बन्ध ,,
४ –गौरूप-सूर्य्य, और रश्मिरूप शृङ्ग ,,
४५–गोशृङ्ग के आधार पर पृथिवी का वहन ,,
४६–सौरप्राणात्मक-'स्वर'-तत्त्व ,,
४७–पार्थिवभूतात्मक 'व्यञ्जन' ,,
४८–स्वरात्मक सूर्य्य की स्वर्लोकता ११९९
४९–'स्वरहर्देवाः सूर्य्यः' ,,
५०–व्यञ्जनवाक्, और अनुष्टुप् ,,
५१–स्वरवाक्, और बृहती ,,
५२–स्वराधार के बिना व्यञ्जनोच्चारण-असम्भव ,,
५३–सूर्य्याधार के बिना पृथिवी की स्थिति असम्भव ,,
५४–पार्थिवी-व्यञ्जनवाक् से अनुस्यूत सौर-स्वरतत्त्व का अन्वेषण ,,
५५–अनुष्टुब्लक्षणा पार्थिवी-वाक् ,,
५६–दिव्यतत्त्वात्मक स्वरूप इन्द्र ,,
५६–नियमित-स्वरसन्धान, और दिव्यप्राण-का आकर्षण ,,
५८–स्वरविज्ञानुगता-रहस्यपूर्ण परीक्षा ,,
५९–दिव्यलोकस्थ-अग्नि-इन्द्र-वरुण आदि-त्यादि प्राणदेवताओं की छन्दः सम्पत्ति का अन्वेषण, और स्वरमाध्यम से तत्संग्रहोपाय-प्रदर्शन ,,
६०–अनुरूप- स्वर- वर्ण-मात्रा- युक्त-मन्त्र-प्रयोग, और तन्निबन्धना इष्टसिद्धि ,,
६१–प्रतिकूल-स्वर-वर्णादि-युक्त मन्त्रप्रयोग, और तन्निबन्धना महती विनष्टिः ,,
६२–स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति ,,
६३–विप्रतिपत्ति का समाधान ,,
६४–वेदमन्त्र का मन्त्रत्त्व ,,
६५–मन्त्र का अपौरुषेयत्त्व ,,
६६–स्वतःसिद्धा अपौरुषेया मन्त्रात्मिका विज्ञानवाक् ११९९
६७–ऋषियों के अन्तःकरण में वेदतत्त्वात्मक मन्त्रों का स्वतः आविर्भाव १२००
६८–मङ्गलमूर्ति विधि का संस्मरण, और सामिधेन्यनुवचन कर्म्म का उपक्रम ,,
६९–आहवनीयाग्नि में अपेक्षित दिव्यप्राण का सम्बन्ध ,,
७०–उभयाग्नि का एकीभाव, और यज्ञस्वरूप की संसिद्धि ,,
७१–एकीभावात्मक-समिन्धनकर्म्म ,,
७२–कर्म्म की अभिधा का समन्वय ,,
७३–होता के द्वारा मन्त्रों का उच्चारण ,,
७४–गायत्रीछन्द, और अग्निदेवतानुगता-स्वरलहरी ,,
७५–सत्यसंहित-प्राणदेवताओं का स्वरवाक् के द्वारा आकर्षण, एवं अग्नि में तत्-प्रवेश ,,
७६–देवप्रवेश से अग्नि का एकीभावात्मक समिन्धन ,,
७७–सामिधेनी-ऋचाएँ ,,
७८–'समिन्धे-एताभिर्ऋग्भिः ,,
७९–अध्वर्यु के द्वारा अग्नि की इध्म से इद्धभाव में परिणति ,,
८०–होता के द्वारा मन्त्रों से अग्नि की समिद्ध-भाव में परिणति ,,
८१–प्राणाग्नि के स्थिर-सम्बन्ध के लिए अपेक्षित-भूत का माध्यम ,,
८२–भूतद्वारैव प्राणाकर्षण ,,
८३–प्राणस्वरूपसम्पादक - अमुकसंख्यामित-सामिधेनीमन्त्र, और प्राणसम्पत्ति ,,
८४–भूतस्वरूपसम्पादक - अमुकसंख्यामित-इध्म-काष्ठ ,,
८५–यावत्सामिधेनी-मन्त्र - समतुलित -इध्म काष्ठ ,,

८६–इन्धन, और समिन्धन-कर्म्म से अपूर्व-भाव में परिणत-अग्निदेव १२००
८७–समिद्धाग्नि के प्रति अग्न्युपासक भूसुर का नमन ,,
८८–अध्वर्य्युकृत इन्धनकर्म्म, एवं होता के द्वारा कृत समिन्धनकर्म्म के सम्बन्ध में प्रश्न ,,
८९–(क) पार्थिव अग्नि का वायु से ही प्रज्ज्वलन १२०१
८९–(ख) वायुरूप प्राकृतिक अध्वर्य्यु, और इन्धनरूप प्रज्ज्वलन ,,
९०–पार्थिव-मूलाग्नि का द्युलोकस्थ दिव्याग्नि के समन्वय से समिन्धन ,,
९१–पार्थिव अग्नि होता, और तद्द्वारा समिन्धनकर्म्म ,,
९२–यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि ,,
९३–सामिधेन्यनुवचनकर्म्म की संक्षिप्त उपपत्ति का उपराम ,,
९४–प्रतिरूपानुगता सजातीय-मर्य्यादा, और समिन्धनकर्म्माधिकार ,,
९५–'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' का संस्मरण ,,
९८–अग्नि का गायत्री-छन्दोऽनुगतत्त्व ,,
९९–ब्रह्मवीर्य्यप्रवर्त्तक-अग्निदेव ,,
१००–क्षत्रवीर्य्यप्रवर्त्तक-इन्द्रदेव ,,
१०१–विड्वीर्य्यप्रवर्त्तक विश्वदेव ,,
१०२–पूषाप्राण, और शूद्रभाव ,,
१०३–सामिधेनी-ऋचाओं का पारिभाषिक अग्निमयत्त्व ,,
१०४–छन्दोमर्य्यादानुगत गायत्री-छन्दस्कत्त्व ,,
१०५–ब्रह्मात्मिका गायत्री, और शक्तिविशेष ,,
१०६–गायत्री की ब्रह्मरूपता, तथा वीर्य्यरूपता की विशेषता का समन्वय ,,
१०७–गायत्रीछन्द का ब्रह्मवीर्य्यात्मकत्त्व १२०२
१०८–गायत्री का प्रातिस्विक वीर्य्य १२०२
१०९–मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा की धातुत्रयी ,,
११०–कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरत्रयी ,,
१११–मनोऽनुगत कारणशरीर, और पराक्रम ,,
११२–प्राणानुगत सूक्ष्मशरीर, और वीर्य्य ,,
११३–वागनुगत स्थूलशरीर, और बल ,,
११४–मनस्वी मानव, और पराक्रम ,,
११५–प्राणवान् सिंह, और वीर्य्य ,,
११६–बलवान् हाथी, और बल ,,
११७–प्राणशक्ति, और 'वीर्य्य' भाव ,,
११८–'वीर्य्यं वै गायत्री' का समन्वय ,,
११९–ब्रह्मवीर्य्यात्मिका सामिधेनी-ऋचाओं में क्षत्रवीर्य्य का आधान ,,
१२०–अभिगन्ता ब्रह्म, और कर्त्ता क्षत्रिय ,,
१२१–ब्रह्मसम्पत्ति, और क्षत्रसम्पत्ति का संग्रह ,,
१२२–ब्रह्मवीर्य्यात्मक-आग्नेय-गायत्रीछन्द ,,
१२३–क्षत्रवीर्य्यात्मक-ऐन्द्र-त्रिष्टुब्छन्द ,,
१२४–११सामिधेनी ऋचाएँ, और एकादशाक्षर-त्रिष्टुब्छन्द ,,
१२५–यज्ञ की पारिभाषिकी स्वानुरूपा सम्पत्ति ,,
१२६–अनुरूपता, और 'रूपसमृद्धि' ,,
१२७–विश्वयज्ञानुगता दृष्टि ,,
१२८–महाविश्वयज्ञ की आरम्भभूमि ,,
१२९–'वेदाः- सूत्रं-नियतिः-सत्यम्' रूप त्रिवृद्भाव, और यज्ञसम्पत्ति १२०३
१३०–विश्व का प्रथम-यज्ञियपर्व-स्वयम्भू, और तदनुप्राणिता-त्रिवृत्सम्पत्ति ,,
१३१–द्वितीय-यज्ञियपर्वप–रमेष्ठी, और-इट्-ऊर्क्-भोग-रूपा त्रिवृत्सम्पत्ति ,,
१३२–तृतीय-यज्ञपर्व सूर्य्य, और ज्योतिः-गौः-आयुः-रूपा त्रिवृत्सम्पत्ति ,,
१३३–चतुर्थपर्व चन्द्रमा, और रेतः-श्रद्धा-यशः-रूपा त्रिवृत्सम्पत्ति ,,

१३४–पञ्चमपर्व भूपिण्ड, और वाक्-गौः-द्यौः-रूपा त्रिवृत्सम्पत्ति १२०३
१३५–पाङ्क्त ( पञ्चावयव ) विश्वयज्ञ की त्रिवृद्भावापन्ना महती सम्पत्ति ,,
१३६–शुक्रविज्ञाननिबन्धना-वाक्-आपः-अग्नि रूपा अमृता शुक्रत्रयी, और विश्व-यज्ञ का उपक्रम ,,
१३७–अग्निः-आपः-वाक्-रूपा मर्त्या शुक्रत्रयी, और विश्वयज्ञ का उपसंहार ,,
१३८–यज्ञप्रवर्त्तक-यज्ञियदेवताओं की अग्नि-वायु-आदित्य रूपा-त्रिवृत्सम्पत्ति ,,
१३९–वैध–यज्ञानुगता-दीक्षा-सुत्या-उपसत्-त्रयी, और त्रिवृद्भाव ,,
१४०–तीन पर उपक्रान्ता, तीन पर उपसंहृता, और यज्ञसम्पत्ति ,,
१४१–सामिधेनीकर्म्मानुगता उपक्रमोपसंहारा-नुगता त्रिवृत्सम्पत्ति ,,
१४२–प्रथम-मन्त्र का त्रिवृद्भाव, और प्राय-णीय-अनुवचनात्मिका त्रिवृत्सम्पत्ति ,,
१४३–अन्तिम-मन्त्र का त्रिवृद्भाव, और उदयनीय-अनुवचनात्मिका त्रिवृत्सम्पत्ति ,,
१४४–त्रिः-त्रिः-अनुवचन की संक्षिप्ता-उप-पत्ति का विराम ,,
१४५–संख्यानुगता प्रतिरूपता, और यज्ञ-सम्पत्-का संग्रह ,,
१४६–११ मन्त्रों का १५ मन्त्रों पर विश्राम, और वृत्र-इन्द्र का संस्मरण ,,
१४७–इन्द्र की प्रहारशक्ति, और विद्युत् ,,
१४८–विद्युद्रूप वज्र, और तदनुप्राणिता-पञ्चदशसंख्या-सम्पत्ति ,,
१४९–प्रजापति का उर, और बाहु, एवं तदनुगत-पञ्चदशस्तोम ,,
१५०–पञ्चदशस्तोमानुगत त्रिष्टुप्छन्द ,,
१५१–त्रिष्टुबनुगत-क्षत्र-इन्द्र ,,
१५२–अग्निब्रह्म का ब्राह्मणत्व १२०३
१५३–शस्त्रप्रहार से विदूर ब्राह्मण ,,
१५४–न वा अयं कश्चन हिनस्ति ,,
१५५–शत्रुविनाश, और यज्ञ पर आक्रमण करने वाले असुर ,,
१५६–असुराक्रमण-निरोध के लिए अपेक्षित ऐन्द्र-क्षात्रतेज ,,
१५७–पञ्चदशसंख्यानुगत क्षात्रतेजोयुक्त-आयुध १२०४
१५८–वज्ररूपा सामिधेनियों का अनुवचन ,,
१५९–पञ्चदशसंख्यानुगता प्रथमा उपपत्ति का विराम ,,
१६०–पक्षानुगता १५ रात्रियाँ ,,
१६१–अर्द्धमास ( पक्ष ) का परिप्लव, और सम्वत्सरयज्ञ की स्वरूप-सम्पत्ति ,,
१६२–पञ्चदशसंख्यानुगता द्वितीया उपपत्ति का विराम ,,
१६३–अवयवी के बिना अवयवों की अपूर्णता ,,
१६४–प्राकृतिक-पक्षाग्नि–सोमद्वयी, और तत्प्रतिरूपा-दर्श-पूर्ण-मासद्वयी ,,
१६५–पञ्चदशसंख्यानुगता—अवयवीरूपा पूर्णता, और तृतीया-उपपत्ति ,,
१६६–अहोरात्रयज्ञ का प्रतिरूप अग्निहोत्र ,,
१६७–पक्षयज्ञ का प्रतिरूप दर्शपूर्णमास ,,
१६८–ऋतुयज्ञ का प्रतिरूप चातुर्म्मास्य ,,
१६९–अयनयज्ञ का प्रतिरूप-पशुबन्ध ,,
१७०–सम्वत्सरयज्ञ का प्रतिरूप ज्योतिष्टोम ,,
१७१–सम्वत्सरयज्ञ की अनुरूपता, और पञ्च-दशसंख्यानुगता चतुर्थी उपपत्ति ,,
१७२–गायत्रीछन्द के तीन चरण ,,
१७३–प्रतिचरण की अष्टाक्षरता ,,
१७४–एका-त्रिपदागायत्री, और २४ अक्षर ,,
१७५–गायत्री-छन्दस्का १५ सामिधेनी-ऋचाएँ, और समष्ट्यात्मक ३६० अक्षर ,,

१७६--पञ्चदशसंख्यानुगता सम्वत्सरसम्पत्ति, और पञ्चमी-उपपत्ति ... १२०४
१७७--(क) दर्शपूर्णमास में अपेक्षिता काम्येष्टि ,,
१७७--(ख) काम्येष्टि, और १७ सामिधेनी-ऋचाएँ ,,
१७८--समिध्यमान-समिद्वती-मध्यस्था-ऋचा ,,
१७९--अभीष्टकामानुगता काम्येष्टि ,,
१८०--सर्वकाममूर्त्ति का मूलाधार सर्वप्रजापति ,,
१८१--भूगर्भस्थ-हृद्य-अनिरुक्तप्रजापति १२०५
१८२--अनिरुक्तप्रजापति का महिमामय-मण्डलात्मक--वषट्कार ,,
१८३-प्रजापति का सर्वरूप, और सर्वप्रजापति ,,
१८४--सर्वप्रजापति, और 'स:' ,,
१८५--सत्रह की समष्टि, और सम्वत्सर--प्रजापति ,,
१८६--सप्तदशसंख्यानुगत-सप्तदशप्रजापति ,,
१८७--कामपूरक-सप्तदशप्रजापति ,,
१८८--सप्तदशसंख्यानुगता-सामिधेनी-ऋचाओं की उपपत्ति का विराम ,,
१८९-काम्येष्टि के देवता का उपांशुरूप से यजन ,,
१९०--अनिरुक्तभाव का संग्राहक-उपांशुभाव ,,
१९१-सवरूप का संग्राहक-अनिरुक्तभाव ,,
१९२-शब्दशक्ति की अवच्छिन्नता ,,
१९३-समष्टि, और-'सर्व' शब्द ,,
१९४-सर्वकामसमृद्धि, और उपांशुयजन ,,
१९५-लौकिकी शिक्षा, और उपांशुभाव ,,
१९६-कर्म्म की अनिरुक्तता, और तत्र वीर्य्याधान ,,
१९७-कर्म्म की निरुक्तता, और वीर्य्यपात ,,
१९८-आत्मप्रजापति की शक्ति का पात, और निरुक्तभाव ,,
१९९-यत्किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे-क्रियते-उपांशवेव तत्क्रियते ,,
२००-कार्य्यसिद्धि का अन्यतम शत्रु बाह्य-प्रदर्शन १२०५
२०१-मतान्तरानुबन्धिनी २१ सामिधिनी-ऋचाएँ, एवं तदुपपत्ति का निष्कर्ष ,,
२०२-परमवैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा मतान्तर का सहेतुक-निराकरण ,,
२०३-पद्धतिविरुद्ध-अनुवचन १२०६
२०४-प्रायणीय-उदयनीय-भाव ,,
२०५-त्रिवृद्भावानुगता सम्पत्ति का संस्मरण ,,
२०६-लोकत्रयसन्तानसम्पत्ति का संग्राहक-त्रिवृद्भाव ,,
२०७-प्राणत्रयसन्तानसमृद्धि का संग्राहक-त्रिवृद्भाव ,,
२०८-लोकत्रय-वितान का कारण ,,
२०९-एक के तीन परस्पर बद्ध-वितान ,,
२१०-निदानभावानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति ,,
२११-आदिदैविक-आध्यात्मिक-लोकत्रय का अविच्छिन्न-वितान ,,
२१२--सामिधेनी-ऋचाओं के उच्चारण से अनुगत धारावाहिक-प्रवाह, और अविच्छिन्नरूपेण लोकवितान ,,
२१३--अनवानन्-ऋङ्मन्त्रोच्चारण के सम्बन्ध में श्वास-प्रश्वासादि का विज्ञान-सम्मत निर्णय ,,
२१४-विश्रामानुगता-सन्तानधारा १२०७
२१५--एकैकानुवचनपक्ष का समन्वय ,,
२१६-लोकसम्पत्ति-प्राप्ति का समन्वय ,,
२१७--'एकैकामेवाननवानन्' का पारिभाषिक-समन्वय ,,
२१८-अहोरात्रों की संग्राहिका सामिधेनी ऋचाएँ ,,
२१९-अहोरात्रों का (परिप्लवनात्मक) सतत-चङ्क्रमण, एवं ऋङ्मन्त्रों का परस्पर बन्धन ,,

२२०–विच्छेद रहित अहोरात्रपर्व, और तन्निबन्धना सामिधेनी-ऋचाएँ १२०७
२२१–सन्ततभावानुगत–उच्चारण ,,
२२२-विच्छेदरूप छिद्र, और तत्र-सम्भावित-शत्रु का प्रवेश ,,
२२३-अहोरात्रसम्पत्तिरूप यजमान का भोग्य-परिग्रह १२०७
२२४–सन्ततानुवचननानुगता—-सामिधेनी ऋचाएँ ,,

## तृतीयाध्याय में पञ्चम, एवं तृतीयप्रपाठक में द्वितीय ब्राह्मण–अत्र उपरत

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण अत्र उपरत

१

## तीसरा-अध्याय समाप्त

३

## अथ-चतुर्थ-अध्याय-उपक्रान्त

४

## चौथे अध्याय में प्रथम, एवं तीसरे प्रपाठक में तृतीय–ब्राह्मण

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय-ब्राह्मण

२

२२५–आग्नेयी-सामिधेनी १२०८
२२६--गायत्री–छन्द ,,
२२७–एकादश (११) मूलसंख्या ,,
२२८–आद्यन्त के मन्त्रों की त्रिरावृत्ति ,,
२२६–पञ्चदश [१५] संख्यासम्पत् ,,
२३०–त्रिचद्वय का अनवानन्-उच्चारण ,,
२३१–अग्निस्वरूप प्राप्तिपूर्वक ब्रह्मवीर्य्याधान १२०८
२३२–प्रातिस्विक–गायत्रवीर्य्याधान ,,
२३३–क्षत्रवीर्य्याधान ,,
२३४–प्रायणीयोदयनीयानुगता–यज्ञिया-त्रिवृत्सम्पत्ति का संग्रह ,,

२३५–वज्रसम्पत्ति–रात्रिसम्पत्ति–अहःसम्पत्ति-संग्रह १२०८
२३६–अनिरुक्तभावानुगता सर्वसम्पत्ति का संग्रह "
२३७–लोक-प्राण-सम्पत्ति का संग्रह "
२३८–अहोरात्र की अनन्यभोग्यता "
२३९–प्रथमब्राह्मण के परिगणित विषयों का सिंहावलोकनात्मक संस्मरणोपराम "
२४०–[क] प्राकृतिक–यज्ञ का प्रतिष्ठाधरा–तलात्मक सत्यत्त्व "
२४०–[ख] प्रजापति की सन्तान, और प्राजापत्य "
२४१–प्रजापति के दायाद-[ सम्पत्ति ]-भोक्ता देवदेवता, और असुर "
२४२–प्रजापति की सञ्चितसम्पत्तिरूप सत्य–अनृत-युग्म "
२४३–अर्द्ध–अर्द्ध–रूपेण सत्य, और अनृत का विभाजन "
२४४–अर्द्ध अनृत से असन्तुष्ट देवदेवता "
२४५–अर्द्ध सत्य से असन्तुष्ट–असुरवर्ग "
२४६–पूर्ण-अनृत के इच्छुक असुर "
२४७–पूर्ण सत्य के इच्छुक देवता "
२४८–इच्छासाफल्य "
२४९–*कृत्स्नसत्य की त्रैलोक्य-वितान–कामना "
२६०–यज्ञ के आधार पर वाक्सत्य का त्रैलोक्य में वितान १२०९
२६१–(यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै) "
२६२–सत्य, और यज्ञ का सम्बन्ध "
२६३–त्रयीविद्या का संस्मरण "
२६४–त्रयीवेदात्मिका यज्ञप्रतिष्ठा "
२६५–त्रयीवेद के आधार पर प्रजापति के यज्ञवितान का साफल्य "
२६६–त्रयीवेदोत्पन्न अग्निवाय्वादि देवताओं का परस्परस्पर सङ्गम, और तद्रूपयज्ञ "
२६७–प्रत्येक वस्तुपिण्ड की यज्ञरूपता १२०९
२६८–प्रत्येक यज्ञसंस्था के पदम् और पुनः-पदम्-भाव "
२६९–वस्तुपिण्डरूप पदम्, और वस्तुमण्डलरूप-पुनःपदम् "
२७०–वस्तुपिण्ड-वस्तुमहिमामण्डल-वस्तुतत्त्व-भेदेन त्रिपर्वा पदार्थ "
२७१–पिण्डात्मिका अन्तःसीमा "
२७२–मण्डलात्मिका बहिःसीमा "
२७३–मूर्त्ति, और ऋग्वेद "
२७४–मण्डल, और साम "
२७५–वस्तुतत्त्व, और यजुः "
२७६–त्रयीविद्या के गर्भ में भूतोपलब्धि "
२७७–"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि" "
२७८–ऋग्वेदात्मक- छन्दोवेद "
२७९–सामवेदात्मक-वितानवेद "
२८०–यजुर्वेदात्मक-रसवेद "
२८१–छन्दोलक्षण ऋग्वेद के द्वारा वस्तुमूर्त्तियों का निर्म्माण "
२८२–वितानलक्षण सामवेद के द्वारा वस्तु-मण्डलों का निर्म्माण "
२८३–रसलक्षण-यजुर्वेद के द्वारा मूर्त्तिमण्डलान्तर्वर्त्ती रसात्मक गतिभाव की अभिव्यक्ति १२१०
२८४–सामरूप आदित्य "
२८५–स्वरविज्ञान का संस्मरण, और साम "
२८६–स्वरात्मक-सामरूप-आदित्य "
२८७–स्वरात्मक प्राणदेवताओं का यजन, और यज्ञ "
२८८–पिण्डात्मिका ऋक्, और पद्यभाव "
२८९–गतिरूप यजुः, और गद्यभाव "
२९०–वितानात्मक साम, और गेयभाव "
२९१–अवसानभूमि, और साम "
२९२–वर्त्तुलवृत्तात्मक सहस्रमण्डल, और साम "


* २५० से २५९ पर्य्यन्त की संख्या का क्रम भ्रान्तिवश रह गया है।

२६३–सहस्रवर्त्मा सामतत्त्व १२१०
२६४ सम्वत्सरयज्ञ के वितान की इयत्ता ,,
२६५–रथन्तरसाम का संस्मरण ,,
२६६–त्रयस्त्रिंद्विध (३३) यज्ञिय प्राणदेवता ,,
२६७–ये स्थ त्रयश्च-त्रिंशच्च ,,
२६८–मनोर्देवा यज्ञियासः ,,
२६९–वितानात्मक साम से उभयतः परिगृहीत यज्ञमण्डल ,,
३००–सामव्याप्ति का विचार ,,
३०१–सामभाव, और तदनुगत सात अवान्तर पृष्ठ ,,
३०२–हृद्यपृष्ठ, और 'हिङ्कार' (१) ,,
३०३–स्पृश्यपृष्ठ, और 'प्रस्ताव' (२) ,,
३०४–त्रिवृत्पृष्ठ, और 'आदि' (३) ,,
३०५–पञ्चदशपृष्ठ, और 'उद्गीथ' (४) ,,
३०६–सप्तदशपृष्ठ, और 'प्रतीहार' (५) ,,
३०७–एकविंशपृष्ठ, और 'उपद्रव' (६) ,,
३०८–पारावतपृष्ठ, और 'निधन' (७) ,,
३०९–हृद्यपृष्ठ (१) १२११
३१०–त्रिवृदन्तर्भू पृष्ठ (९)-(२) ,,
३११–पञ्चदशपृष्ठ (१५)-(३, ,,
३१२–सप्तदशपृष्ठ (१७)-(४) ,,
३१३–एकविंशपृष्ठ (२१)-(५) ,,
३१४–त्रयस्त्रिंशपृष्ठ (३३) (६) ,,
३१५–अष्टाचत्वारिंशत्पृष्ठ (४८) (७) ,,
३१६–प्रकारान्तरेण-वा सप्तविधं सामोपासीत १२१२
३१७–विभिन्न-प्रकारेण वा सप्तविधं सामोपासीत ,,
३१८–सामतत्त्व, और उसका प्रकृतियज्ञ-प्रतिष्ठात्त्व ,,
३१९–सामानुगत-हृद्यभाव, और हिङ्कार ,,
३२०–उपक्रमबिन्दु, और प्रणवोङ्कार ,,
३२१–हिङ्कारात्मक-प्रणवसाम ,,
३२२–सप्तदशस्थान, और उद्गीथोङ्कार ,,
३२३–पारावतस्थान, और सर्वोङ्कार १२१२
३२४–हिङ्कारात्मक प्रणवसाम के ग्रहण से सम्पूर्ण सामों का परिग्रहण ,,
३२५–सङ्गीतदृष्टि से अनुप्राणित हिङ्कार १२१३
३२६–नाद-स्वर-श्रुति-त्रयी का संस्मरण, और तन्निबन्धन सङ्गीत ,,
३२७–सङ्गीत की मूलभित्तिरूप नादब्रह्म ,,
३२८–नादब्रह्म के आधार पर श्रुति का समुत्थान ,,
३२९–श्रुति के द्वारा स्वर की अभिव्यक्ति ,,

## सङ्गीतानुगत-नाद-श्रुति–स्वर स्वरूप—दिग्दर्शनम्
## (पृ०सं० १२१३ से १२५३ पर्य्यन्त)

३३०–सामानुगत हिङ्कार का संस्मरण १२१३
३३१–त्र्यात्मक सङ्गीत, और तत् स्वरूप-मीमांसा ,,
३३२–(क) आत्मबुद्धि–समन्विता संविन्मूलानिष्ठा से असंस्पृष्ट सङ्गीत ,,
३३२–(ख) नैष्ठिक, अतएव संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण के लिए नियन्त्रित सङ्गीत ,,
३३३–'तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत न गायेत' श्रुति का संस्मरण ,,
३३४–मानवीय मन का महान्दोष 'आग्ला' ,,
३३५–मानवीय शरीर का महान् दोष-'माल्व्य' ,,
३३६–मनोऽनुगत आग्ला दोष का उत्तेजक-प्रवर्त्तक गायन वादन ,,
३३७–शरीरानुगत-माल्व्यदोष का उत्तेजक-प्रवर्त्तक-नर्त्तन-गायन-वादन ,,
३३८–आग्ला के द्वारा आत्मानुगता संवित् की अभिभूति ,,

३३९--माल्व्य के द्वारा बुद्ध्यनुगत धृतिगुण का अभिभव १२१३

३४०--सङ्गीत का शरीरप्रधान नृत्याङ्ग, और माल्व्यदोष ,,

३४१-सङ्गीत का मनःप्रधान गायनाङ्ग, और आग्लादोष ,,

३४२-प्रकृतिसिद्ध पञ्चपर्वा विश्व के चतुर्थ 'चन्द्रमा' नामक पर्व से मन की स्वरूप-निष्पति ,,

३४३--भूपिण्डात्मक अन्तिम पर्व से शरीर का स्वरूप-निर्म्माण ,,

३४४-सौम्य गन्धर्व-प्राण की आवासभूमि-चन्द्रमा ,,

३४५--आप्यप्राणात्मक-अप्सराप्राण की आवास भूमि भूपिण्ड ,,

३४६-मनोऽनुगत चान्द्रगन्धर्व प्राण के द्वारा गायनात्मक संगीत की प्रवृति ,,

३४७-शरीरानुगत अप्सराप्राण के द्वारा नर्त्तनात्मक सङ्गीत की प्रवृत्ति ,,

३४८-हास-परिहास-आमोद-प्रमोद-क्रीड़ा-रति-मनः-शरीर-निबन्धन, गन्धर्वाप्सरा प्राण-समन्वय ,,


### * मनोविभूतयः (१)


३४९-असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः (१) ,,

३५०-चन्द्रमा गन्धर्वः (२) ,,

३५१-रूपमिति गन्धर्वा उपासते (३) ,,

३५२-योषित्कामा वै गन्धर्वाः (४) १२१४

३५३-स्त्री-कामा वै गन्धर्वाः (५) ,,

३५४-मनो मे, रेतो मे, पुनः सम्भूतिर्म्मे, चन्द्रमसि (६) ,,

३५५-गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे, तन्मे-युष्मासु-गन्धर्वेषु (७) ,,


* * * *

### *-शरीरविभूतय (२)


३५६-इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रजा (१) १२१४

३५७-अद्भ्यः पृथिवी (२) ,,

३५८-गन्ध इत्यप्सरस-उपासते (३) ,,

३५९--किन्नु मेऽस्मासु ?, इति-हासो मे, क्रीडा मे, मिथुनम्मे (४) ,,

३६०-गन्धेनैव च रूपेण गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति ,,

३६१-चान्द्रमनोऽनुगत गन्धर्वप्राण ,,

३६२-पार्थिवशरीरानुगत अप्सराप्राण ,,

३६३-गन्धर्वप्राणानुगत तुम्बुरुप्राण ,,

३६४-अप्सराप्राणानुगत नारदप्राण ,,

३६५-( क )--प्राणात्मक ऋषिभाव, और तुम्बुरु-नारदरूप-ऋषिप्राण ,,

३६५-(ख)तुम्बुरु, और माङ्गलिक-'तकार' ,,

३६६-नारद, और माङ्गलिक-'नकार' ,,

३६७--ऋषिप्राण, और माङ्गलिक 'रकार' ,,

३६८-"त-न-र-री-म्", और सङ्गीताधारभूत तुम्बुरु-नादर-ऋषिप्राणों का आद्यक्षरात्मक-माङ्गलिक-संस्मरण ,,

३६९-गन्धर्वप्राणात्मक मन, और तुम्बुरुप्राण ,,

३७०-अप्सराप्राणात्मक शरीर, और नारदप्राण ,,

३७१-शरीरानुगत चित्य-चितेनिधेयरूप मर्त्यभूत, और अमृतप्राण ,,

३७२-अमृत-मृत्यु-मय प्रजापति ,,

३७३-केन्द्रस्थ प्रजापति, और प्राणमहिमात्मक-मण्डल १२१५

३७४-प्राणमण्डल की नादरूपता ,,

३७५-नादमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित-श्रुति-स्वरात्मक-सङ्गीत ,,

३७६-प्राजापत्य-अग्नि ( कायाग्नि ), और सङ्गीत ,,

३७७-वायव्यप्राण, और सङ्गीत ,,

३७८-उदात्तादि-स्वर, और सङ्गीत ,,

३७९-मन्द्र-मध्य-तार-स्वरत्रयी, और सङ्गीत ,,

३८०–व्यञ्जनभावात्मिका ध्वनिर्भावोपेता वैखरीवाक्, और सङ्गीत १२१५
३८१–सङ्गीताधारभूत नादब्रह्म का संस्मरण ,,
३८२–'नादब्रह्म-तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे' ,,
३८३–ज्ञानजनित-भावनात्मक-संस्कारपुञ्ज ,,
३८४–कर्म्मजनित-वासनात्मक-संस्कारपुञ्ज ,,
३८५–संस्कारपुञ्जद्वयी से सम्पुटित कर्म्मभोक्ता-कर्म्मात्मक-देही ,,
३८६–सौरी-बुद्धि का सहयोग, और कर्म्मात्मा की जीवनयात्रा का सञ्चालन ,,
३८७–शुभाशुभसंस्कारानुगत-शुभाशुभ भोग ,,
३८८–भौतिक-विषयानुगता अर्थकामना, और आत्मेच्छा ,,
३८९–आत्मा-बुद्धि-मन-की समन्वितावस्था, और 'मानव की इच्छा' का तात्विक-स्वरूप १२१६
३९०–आत्मेच्छा का बुद्धि में सङ्क्रमण ,,
३९१–बुद्धि के द्वारा तदिच्छा का मनोराज्य में आगमन ,,
३९२–मनोद्वार से तदिच्छा का इन्द्रियानुधावन ,,
३९३–मानसेच्छा का महान् परिणाम-शब्दोत्पत्ति ,,
३९४–सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त वैश्वानराग्नि ,,
३९५–आ-यो द्यां भात्यापृथिवीम् ,,
३९६–वैश्वानरो यतते सूर्य्येण ,,
३९७–भूपति-भुवस्पति-भुवनपति-रूप वैश्वानराग्नि ,,
३९८–वैश्वानराग्नि का शरीर में प्रचण्डरूपेण ध्वनिपूर्वक प्रज्ज्वलन ,,
३९९–वैश्वानर की श्रुति, और दृष्टि ,,
४००–वैश्वानर का शब्द, और नादात्मकभाव ,,
४०१–अनाहतभाव-निबन्धन-नाद ,,
४०२–आधिदैविक-घोरघोरतम--प्रचण्डनाद, और योगमाया के अनुग्रह से तत्परोक्षता, एवं सृष्टि की स्वरूप-रक्षा ,,
४०३–नादानुगत वैश्वानराग्नि, और छान्दोग्य-श्रुति १२१७
४०४–आत्मबुद्धिसमन्विता मानसेच्छा का प्रथमाघात, और वैश्वानराग्नि १२१७
४०५–आघात से प्रत्याहित वैश्वानर-अग्नि का तत्रैव व्याप्त वायव्य प्राण पर आघात ,,
४०६–वायव्याघात से शब्दोत्पत्ति ,,
४०७–वायुः खात्-शब्दस्ततः ,,
४०८–अग्नि-मरुत्-का संयोग, और ध्वन्यात्मिका-वाक् ,,
४०९–शब्दमयी वैखरी की अभिव्यक्ति का रहस्यात्मक-समन्वय ,,
४१०–अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् का समन्वय, और वाङ्मयाग्नि ,,
४११–शब्दोत्पत्ति का मूलप्रवर्त्तक वाङ्मय-अग्नि ,,
४१२–ब्रह्मग्रन्थि, और अपानप्राण ,,
४१३–ब्रह्महृदय, और व्यानप्राण ,,
४१४–ब्रह्मकण्ठ, और उदानप्राण ,,
४१५–ब्रह्मरन्ध्र, और ऐन्द्रविज्ञानप्राण ,,
४१६–ग्रन्थि-हृदय-कण्ठ-रन्ध्र-भेद से वैश्वानराग्नि के चार प्रतिष्ठान-बिन्दु ,,
४१७–पञ्चमस्थानात्मक-आस्यभाव ,,
४१८–ब्रह्मग्रन्थ्यनुगत-अतिसूक्ष्मनाद ,,
४१९–ब्रह्महृदयानुगत-सूक्ष्मनाद ,,
४२०–कण्ठानुगत-पुष्टनाद ,,
४२१–ब्रह्मरन्ध्रानुगत-अपुष्टनाद ,,
४२२–आस्यानुगत-कृत्रिमनाद ,,
४२३–'नाद' शब्द के निर्वचनात्मक समन्वय-का संस्मरण १२१८
४२४–अनल, और अनिल-सहयोगानुगता शब्दोत्पत्ति ,,
४२५–महर्षि शाकायनि, और वायु का अग्निमयत्व-संसाधन ,,
४२६–शब्द के प्रति अग्नि को ही उपादान-कारणत्व ,,
४२७–शब्द के प्रति वायु को निमित्तकारणता ,,

४२८–शब्दोपादानभूत अनल का भौतिक, एवं प्राणात्मक-रूप १२१८
४२९–प्राणानल का भूतानलप्रतिष्ठात्व ,,
४३०–अमृताग्निरूप-'प्राण' ,,
४३१–नकार-दकार-का साङ्केतिक-समन्वय ,,
४३२–अव्यक्त-प्राणाग्नि, और 'न' कार ,,
४३३–व्यक्त-भूताग्नि, और 'द' कार ,,
४३४–'नाद' शब्द का पारिभाषिक समन्वय ,,
४३५–नकार-दकार की समन्वितावस्थारूप-वैश्वानराग्नि का तात्त्विक-समन्वय ,,
४३६–नाद के पञ्चभावानुगत-पञ्चस्थानानुगत-पञ्चविध-महिमा-विवर्त्त ,,
४३७–नादात्मक-वैश्वानराग्नि ,,
४३८–हृत्प्रक्रम-कण्ठप्रक्रम-शिरः-प्रक्रम-भेद से नादात्मक वैश्वानर के तीन सामान्य प्रक्रम ,,
४३९–नादप्रक्रमों की तारादि-व्यवस्था ,,
४४०–नाद-श्रुति-स्वरात्मक-सङ्गीत के मर्म्मज्ञ शार्ङ्गदेव-महाभाग १२१९
४४१–स्वर-राग-प्रकीर्ण-प्रबन्ध-ताल--वाद्य-नृत्यादि अध्याय-समन्वित-सङ्गीतशास्त्र ,,
४४२–सङ्गीतवचनों के साथ पाणिनीय-शिक्षावचनों का अद्भुत-साम्य ,,
४ ३–नादात्मक वैश्वानर-अग्नि की त्रिविध-स्वरों के रूप में अभिव्यक्ति ,,
४४४–वायु का सहयोग, और वैश्वानर की स्वररूप में परिणति ,,
४४५–आधिदैविक-वैश्वानर का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
४४६–पार्थिवयज्ञ का त्रिवृद्भावापन्न प्रात-सवन, और अष्टाक्षर-गायत्रीछन्द ,,
४४७–प्रातःसवनीय पार्थिव-गायत्राग्नि, और मन्द्रस्वर १२२०
४४८–पञ्चदशभावापन्न माध्यन्दिनसवन, और एकादशाक्षर त्रिष्टुपछन्द ,,
४४९–माध्यन्दिनसवनीय आन्तरिक्ष्य त्रैष्टुभ-वायु, और मध्यस्वर १२२०
४५०–एकविंशभावापन्न-सायंसवन, और द्वादशाक्षर-जगतीछन्द ,,
४५१–सायंसवनीय-दिव्य-जागत-आदित्य, और तारस्वर ,,
४५२–अधिदैवत का यथानुरूप प्रतिरूप-मानवीय-अध्यात्म ,,
४५३–पृथिवीलोक, और आग्नेय-प्राण ,,
४५४–अन्तरिक्षलोक, और वायव्यप्राण ,,
४५५–दिव्यलोक, और ऐन्द्रप्राण ,,
४५६–अधिदैवतरूप अण्ड से अनुगत वैश्वानर ,,
४५७–अध्यात्मरूप पिण्ड से अनुगत वैश्वानर ,,
४५८–इति नु-अधिदैवतम् और वैश्वानर ,,
४५९–इति नु-अध्यात्मम्, और वैश्वानर १२२१
४६०–छन्दोभेदानुगता सवनत्रयी, और नादभेद ,,
४६१–त्रिप्रक्रमात्मक नाद के नाड़ी-भेद-निबन्धन २२ अवान्तर विवर्त्त ,,
४६२–नाद के अवान्तर विवर्त्त, और 'श्रुति' भाव ,,
४६३–सुषुम्णा-नाड़ी का संस्मरण ,,
४६४–हृदयानुगत-मन्द्रनाद से अनुप्राणिता २२ मन्द्रश्रुतियाँ ,,
४६५–कण्ठानुगत-मध्यनाद से अनुप्राणिता २२ मध्यश्रुतियाँ ,,
४६६–शिरोऽनुगत-तारनाद से अनुप्राणिता २२ तारश्रुतियाँ १२२२
४६७–श्रुतियों का तालिका के द्वारा संकलन ,,
४६८–वैश्वानराग्नि का धोधूयमान ध्वन्यात्मक शब्द, और नाद १२२३
४६९–नादध्वनि की श्रवणगोचरा अभिव्यक्तियाँ
४७०–क्रमप्राप्त-स्वरभाव का संस्मरण ,,
४७१–सङ्गीतानुगत सहज-माधुर्य्य, और 'स्वरतत्त्व' ,,
४७२–मधु-रसात्मक सूर्य्य ,,

४७३–(आदित्यो वै देवमधु) १२२३
४७४–पृथिवीलोक का दधिलोकत्त्व ,,
४७५–अन्तरिक्षलोक का घृतरूपत्त्व १२२४
४७६–द्युलोक का मधुरूपत्त्व ,,
४७७–पार्थिव अग्नि, और दधिभाग ,,
४७८–आन्तरिक्ष्य वायु, और घृतभाग ,,
४७९–दिव्य आदित्य, और मधुभाग ,,
४८०–दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् ,,
४८१–घृतमन्तरिक्षस्य ( रूपम् ) ,,
४८२–मध्वमुष्य ( रूपम् ) ,,
४८३–आग्नेय-दधिरसात्मक-पार्थिव-नादब्रह्म ,,
४८४–वायव्य-घृतरसात्मक-आन्तरिक्ष्य-श्रुतितत्त्व ,,
४८५–ऐन्द्र-मधुरसात्मक-दिव्य-स्वरतत्त्व ,,
४८६–परब्रह्म से अभिन्न शब्दब्रह्म के स्फोट-स्वर-व्यञ्जन-नामक तीन महिमा-विवर्त्तों का संस्मरण ,,
४८७–परब्रह्मानुगत-अव्यय ,,
४८८–शब्दब्रह्मानुगत-स्फोट ,,
४८९–परब्रह्मानुगत-अक्षर ,,
४९०–शब्दब्रह्मानुगत-क्षर ,,
४९१–परब्रह्मानुगत-क्षर ,,
४९२–शब्दब्रह्मानुगत-व्यञ्जन ,,
४९३–षोडशीप्रजापति का पूर्वरूप, और विश्वातीत-विवर्त्त ,,
४९४–प्रजापति का उत्तररूप, और विश्वविवर्त्त ,,
४९५–विश्वातीतावस्था, और परब्रह्मविवर्त्त ,,
४९६–विश्वावस्था, और शब्दब्रह्मविवर्त्त ,,
४९७–वस्तुत्त्व का तात्पर्य्यार्थ-समन्वय ,,
४९८–आकाश - वायु-तेज - जल-मृद्-भावात्मिका-पञ्चमहाभूतान्विता-सृष्टि, और विश्वावस्था ,,
४९९–सर्वादिमूलभूतात्मक आकाशभूत ,,
५००–आकाशभूताधिष्ठात्री सर्वभूताधिष्ठात्री-शब्दतन्मात्रा, और भौतिक-विश्व ,,
५०१–शब्दतन्मात्रात्मक-आकाशभूत की बलग्रन्थि के द्वारा वायुरूप में परिणति १२२४
५०२–स्पर्शतन्मात्रानुगत-वायु ,,
५०३–वायु से रूपतन्मात्रात्मक तेज की अभिव्यक्ति १२२५
५०४–तेज से रसतन्मात्रात्मक जल की अभिव्यक्ति ,,
५०५–जल से गन्धतन्मात्रात्मक मृद्भाग की अभिव्यक्ति ,,
५०६–तन्मात्रात्मक-शब्दादि गन्धान्त-सूक्ष्म-तत्त्व, एवं तत्पञ्चीकरण से अणुभूतों की अभिव्यक्ति ,,
५०७–अणुभूतों के पञ्चीकरण से रेणुभूतों की अभिव्यक्ति ,,
५०८–रेणुभूतों के पञ्चीकरण से महाभूतों की अभिव्यक्ति ,,
५०९–महाभूतात्मक-आकाशात्मा-स्वयम्भू-पुर ,,
५१०– ,, वाय्वात्मा-परमेष्ठी-पुर ,,
५११– ,, तेजोमय-सूर्य्यपुर ,,
५१२– ,, आपोमय-चन्द्रपुर ,,
५१३– ,, मृण्मय-भूपुर ,,
५१४–पञ्च-पञ्चात्मिका पञ्चपर्वा-विश्वप्रकृतिः ,,
५१५–पञ्चपर्वामधीमः ,,
५१६–विश्वमूलकारणभूता—सर्वादिलक्षणा आकाशात्मिका-(गुणभूतानुगता) शब्द-तन्मात्रा ,,
५१७–प्रथमा शब्दतन्मात्रा के पञ्चीकरण से ही अन्ततः-विश्वरूपोद्भव ,,
५१८–विश्व की शब्दब्रह्मरूपता का समन्वय ,,
५१९–न ह्यशब्दमिवास्ति ,,
५२०–शब्द, और अर्थ का औत्पत्तिक-सम्बन्ध ,,
५२१–'जपात्सिद्धिः' का रहस्यात्मक समन्वय ,,
५२२–स भूरिति व्याहरत्, पृथिव्यभवत् इत्यादि वचन का तात्त्विक समन्वय ,,

५२३–शब्दब्रह्मरूपा ईश्वराभिव्यक्ति १२२५
५२४–विश्वातीत परब्रह्म के संस्थानक्रम से सर्वात्मना समतुलित विश्वात्मक शब्द-ब्रह्म का संस्मरण ,,
५२५–परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर-रूप विश्वातीत-परब्रह्मविवर्त ,,
५२६–अर्द्धमात्रा- स्फोट - स्वर - व्यञ्जन-रूप विश्वात्मक-शब्दब्रह्म ,,
५२७–"शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः-परंब्रह्माधिगच्छति १२२६
५२८–दृष्टिमूला-सृष्टिविद्या का संस्मरण ,,
५२९–भूपिण्ड, और व्यञ्जनात्मक शब्द-ब्रह्म ,,
५३०–सूर्य्य, और स्वरात्मक शब्दब्रह्म ,,
५३१–परमेष्ठी, और स्फोटात्मक शब्दब्रह्म ,,
५३२–स्वयम्भू, और अर्द्धमात्रात्मक शब्दब्रह्म ,,
५३३–शब्दब्रह्मात्मकं- विश्वम् ,,
५३४–नादानुबन्ध से शब्दब्रह्म की स्वरूपोपासना का उपराम ,,
५३५–श्रुति से अभिव्यक्त-स्वर का सङ्गीतानुगत मौलिक-माधुर्य्य ,,
५३६–भूः-अन्तरिक्ष-सूर्य्य-त्रयी के अनुबन्ध से स्वर के माधुर्य्य का समन्वय-प्रयास ,,
५३७–केन्द्रस्थ-प्राजापत्य - वैश्वानराग्नि की नादब्रह्मरूपता ,,
५३८–नादब्रह्म की अन्तरिक्षानुगता वायव्यावस्था, और श्रुति ,,
५३९–श्रुति की द्युलोकानुगता आदित्यावस्था, और स्वर ,,
५४०–घनावस्थापन्न–नादतत्त्व ,,
५४१–तरलावस्थापन्न-स्वरतत्त्व ,,
५४२–विरलवस्थापन्न–स्वरतत्त्व ,,
५४३–भूपिण्ड–अग्नि-दधि-घनभाव, और नादतत्त्व ,,
५४४–अन्तरिक्ष–वायु-घृत-तरलभाव, और श्रुतितत्त्व १२२६
५४५–द्युलोक–सूर्य्य–मधु-विरलभाव, और स्वरतत्त्व ,,
५४६–सूर्य्यानुगत 'मधु' तत्त्व, और तद्–भिन्न-स्वर का माधुर्य्य ,,
५४७–'अ-आ-इ-ई-उ-ऊ-' आदि सुप्रसिद्ध-स्वर, एवं 'क-ख-ग-घ-आदि सुपरिसिद्ध व्यञ्जन ,,
५४८–अकारादि सम्पूर्ण स्वरों की सूर्य्य से अभिव्यक्ति ,,
५४९–ककारादि सम्पूर्ण व्यञ्जनों की भूपिण्ड से उत्पत्ति ,,
५५०–सौर-स्वर-विवर्त्त ,,
५५१–पार्थिव-व्यञ्जन-विवर्त्त ,,
५५२–व्यञ्जनवाक् की अनुष्टुब् रूपता ,,
५५३–स्वरवाक् की बृहती-रूपता ,,
५५४–अग्निगर्भा भूपिण्डात्मिका-पृथिवी ,,
५५५–इन्द्रगर्भिणी सूर्य्यात्मिका द्यौः ,,
५५६–उभयानुगत ग्रहोपग्रहभाव ,,
५५७–भूपिण्ड का साम्वत्सरिक-क्रान्तिवृत्त पर परिभ्रमण, और वार्षिकगति ,,
५५८–पृथिवी का आधारभूत सूर्य्य ,,
५५९–सप्त-पूर्वापरवृत्तात्मक अहोरात्रवृत्त १२२७
५६०–अहोरात्रवृत्तात्मक सप्तदेवच्छन्द ,,
५६१–मध्यस्थछन्द की सर्वाधिका बृहत्ता, और तद्रूप 'बृहतीछन्द' ,,
५६२–बृहती, विष्वद्, विषुव, और आज का-'इक्वेटर' ,,
५६३–बृहती से अनुप्राणित बृहत्साम १२२८
५६४–बृहत्सामात्मक-बृहतीछन्द के केन्द्र में स्थिररूप से प्रतिष्ठित सूर्य्य ,,
५६५–बृहत्, और बृहद् भाव ,,
५६६–बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः ,,

५६७–सप्त वै देवच्छन्दांसि १२२८
५६८–देवच्छन्दों का अक्षरसंख्यानुगत परिमाण ,,
५६९–दिव्य-मधु-रसमय बार्हतप्राण ,,
५७०–'बार्हत-स्वरतत्त्व ,,
५७१–नवाक्षर-बृहतीच्छन्द, और स्वरतत्त्व ,,
५७२–नवबिन्दुओं में वितायमान-स्वरतत्त्व ,,
५७३–उक्थात्मक-स्वरबिम्ब ,,
५७४–अर्कात्मिका-स्वररश्मियाँ ,,
५७५–ब्रह्मौदनात्मक–केन्द्रस्थ-स्वर ,,
५७६–प्रवर्ग्यात्मक-परिधिस्थ-स्वर ,,
५७७–नवबिन्दुओं के केन्द्र का बिन्दुद्वय, और स्वरप्रतिष्ठान ,,
५७८ सप्तबिन्दु-समूह, और सप्त-व्यञ्जन-संस्थान ,,
५७९–सप्त-व्यञ्जन, और तत्प्रतिष्ठारूप एक स्वर ,,
५८०–भूः-भुवः-स्व-महः-जनत्-तपः-सत्यम्-रूप व्यञ्जनस्थानीय सातलोक, एवं सप्तव्यञ्जनात्मक विश्व की मूलप्रतिष्ठारूप अक्षरात्मक एक-स्वरब्रह्म ,,
५८१–प्रातिशाख्य का 'स्त्र्यर्क्ट्' उदाहरण, और एक स्वरानुगत सात-व्यञ्जन १२२९
५८२–सैषा स्वरस्य सन्तनानुगता-सहजस्थितिः ,,
५८३–वितानात्मक सन्तननधर्म्म, और स्वर ,,
५८४–एक बिन्द्वात्मक व्यञ्जनों में वितानात्मक 'सम्प्रसारण' का अत्यन्ताभाव ,,
५८५–जायस्व-म्रियस्व-धर्म्मा-व्यञ्जन ,,
५८६–क्षरात्मक भूत, किंवा भूतात्मक क्षर ,,
५८७–क्षरः सर्वाणि भूतानि ,,
५८८–स्वर का अक्षरत्त्व ,,
५८९–'न क्षीयते' रूप अमृत धर्म्म, और स्वर ,,
५९०–अक्षयभावापन्न-स्वर ,,
५९१–व्यञ्जनाधारभूत स्वर के माधुर्य्य से ( स्वर सन्धानात्मक-अनुग्रहकाल में ) मर्त्य-व्यञ्जनों का भी माधुर्य्य १२३०
५९२–अक्षराभिन्न-अमृतस्वर की सन्तनन-शक्ति ,,
५९३–स्वर का सन्तननात्मक स्थायी-संस्कार, और तत्प्रक्रान्तरूपा-चर्व्वणा ,,
५९४–कुक्कुटप्राणी की काल्वालीकृता-चञ्चु से कृमि-कीटादि का भक्षण ,,
५९५–भक्षणरूप-चर्व्वण, और चर्व्वणा ,,
५९६–इन्द्रप्राणात्मक स्वर की सन्तनन-रूपा चञ्चु, और उसका चर्व्वण-व्यापार ,,
५९७–महत्त्वपूर्ण-'चर्चूर्य्यमाण' शब्द ,,
५९८–"अनुष्टुभमनुचर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं-निचिक्युः-कवयो मनीषा" ,,
५९९–मर्त्य-क्षरात्मक-व्यञ्जन, और तद्रूपा आग्नेयी अनुष्टुप्-वाक् ,,
६००–अमृत-अक्षरात्मक-स्वर, और तद्रूपा ऐन्द्री बृहतीवाक् ,,
६०१–बृहतीवाक्-पति इन्द्र के द्वारा अनुष्टुप्-रूपा व्यञ्जनवाक् का चर्व्वण, और ऋङ्मन्त्रार्थ-समन्वय ,,
६०२–मर्त्यभूतों के माध्यम से अमृत-सम्पत्ति का संग्रह ,,
६०३–लौकिक-उदाहरण के माध्यम से व्यञ्जनाधारभूत स्वर की मधुरसानुगता मधुरिमा का समन्वय-प्रयास ,,
६०४–'छप्पनभोग, छत्तीस व्यञ्जन' नामक आभाणक का प्रासङ्गिक-संस्मरण १२३१
६०५–भोज्य-चर्व्य-चोष्य-लेह्य-भेद भिन्न सुस्वादु पदार्थ ,,
६०६–स्वादु-और अस्वादु-भावों का तुलनात्मक- समन्वय ,,
६०७–समीकरण, और स्वादु-भाव ,,

६०८–विषमता, और अस्वादु-भाव १२३१
६०९–भोज्यादि व्यञ्जनों का अमृतात्मक स्वर-भाग, एवं तन्निबन्धन स्वादुरस ”
६१०–मधुशून्य व्यञ्जनों का यातयामत्त्व ”
६११–गतरस-अस्वादुव्यञ्जन ”
६१२–यो वै शिवतमो रसः, और स्वर ”
६१३–सौर-बार्हत-इन्द्रप्राणात्मक मधु की षट्-त्रिंशत्-बृहती (३६००००) संख्याओं में परिणति ”
६१४–अहोरात्र–परिप्लवनात्मक बार्हत–मधु-प्राण, और मानव का शतायुर्जीवन ”
६१५–बृहतीछन्द के ३६ अक्षर ”
६१६–प्रत्येक अक्षर की सहस्रभाव में परिणति, और छत्तीसहजार अहोरात्रात्मक शतायुर्भोगकाल ”
६१७–सायं-प्रातः का अन्नयज्ञात्मक भोजनयज्ञ, और सौर-मधु-रसकी तत्र व्याप्ति ”
६१८–श्रवण-दर्शन-गमन–हसन-शयन-आदि यच्चयावत्-भावों में मधुरूप स्वरतत्त्व का साक्षात्कार ”
६१९–जीवन में मधु-रसानुभूति का अभाव, और आयुःप्रवर्त्तक–विश्वामित्रप्राण-का शैथिल्य ”
६२०–स यत्करणीयं मन्येत-स कुर्य्यात् ”
६२१–रुदन का सुप्रसिद्ध अप्रीति-करत्व, एवं कर्णकटुत्व ”
६२१–रुदनकर्म्म का भी मधु-रसात्मक स्वर से समन्वय ”
६२२–'कलावन्त का तो रोना भी गाना है' इत्यादि किंवदन्ती का समन्वय ”
६२३–'सम्' भावात्मक (एकीभावात्मक) समीकरण से सम्पन्न-'सङ्गीत' तत्त्व १२३२
६२४–मधुर-स्वर-रसात्मक रोदन ”
६२५–स्वरानुगत रोदनकर्म्म का सहज-माधुर्य्य ”
६२६–'रुरुदुः-सुस्वरम्' (भागवत) १२३२
६२७–त्रैलोक्यानुगत-यच्चयावत्-पदार्थों में, कर्म्मकलापों में, शारीरिक-ऐन्द्रियक चेष्टाओं में सर्वत्र स्वरसामात्मक सौर-मधु-रस की प्रतिष्ठारूपेण व्याप्ति का समन्वय ”
६२८–स्वरानुग्रह से ही व्यञ्जनों की स्वरूप-सत्ता का संरक्षण ”
६२९–स्वरात्मक-सौर-सङ्गीत का व्यञ्जनात्मक विश्व की जीवनसत्ता के लिए अनिवार्य्यत्व ”
६३०–प्रकृतिसिद्ध-स्वरात्मक-महासङ्गीत का-पावन-संस्मरण ”
६३१–सङ्गीतप्रवर्त्तक–प्राणात्मक-तुम्बुरु-नारदादि ऋषियों के स्वरूप के द्रष्टा एतन्नामक मानव–महर्षियों के द्वारा दिव्य भावापन्न-नाद–श्रुति-स्वरात्मक लोक-सङ्गीत का वितान ”
६३२–मधुरिमा का प्रमुख प्रवर्त्तक-आनन्द-प्रद आलापात्मक स्वरतत्त्व का यशोवर्णनोपराम ”
६३३–षड्ज-ऋषभ-गान्धारादि लोकसङ्गीतानुगत स्वरों का संस्मरण ”
६३४–अक्षरात्मक स्वरसामों से अनुप्राणित स्वरतत्त्व ”
६३५–स्वर, स्वः-और स्वर्गसुख ”
६३६–आलापधर्म्म की अनुगति, और स्वर-सन्धान ”
३७–'अनुरणन', और पारिभाषिक-आलाप ”
६३८–सङ्गीत–श्रवणानन्दानुगत-मनोनिमज्जन-रूप–कम्पन, और अनुरणनात्मक–आलाप ”
६३९–'अनुरणन' का वर्त्तमान लौकिकरूप-'समा बँध जाना' ”
६४०–एकीभावात्मक सङ्गीत का 'सम्' भाव ”

६४१–स्वरात्मक स्वर की परब्रह्माक्षर से अभिन्नता १२३३
६४२–सङ्गीतज्ञ के हृदयानुगत नादब्रह्म से समुत्थित २२ श्रुतियाँ ,,
६४३–श्रुति के द्वारा कण्ठद्वार से सप्तधा विभक्त एवं विनिर्गत 'स्वर' भाव ,,
६४४–सङ्गीताचार्य्य के व्यञ्जनात्मक वर्ण (बोल) ,,
६४५–आलाप-संलाप-मूर्च्छा-आदि धर्म्मों से समन्वित स्वरसन्धान की सङ्गीतज्ञ के लिए एवं श्रोतृवर्ग के लिए आनन्दरूपता ,,
६४६–आज का भूतप्रधान-व्यञ्जनप्रधान-जड़-जीवन ,,
६४७–जड़ीभूत मनस्तन्त्र के अञ्जसा सुखावह का साधनभूत लोकसङ्गीत ,,
६४८–स्वरसन्धानात्मक--वास्तविक--सङ्गीत के आनन्द से असंस्पृष्ट आज के विजड़ित मन ,,
६४९–जड़ताप्रवर्त्तक-भौतिक अनुबन्धों को, तदनुप्राणित काल्वालीकृत-नर्त्तन गायनादिरूप–उद्दामवासनात्मक–हीनतम-उद्वेगकर-विजृम्भणों को सङ्गीतोपाधि-प्रदान, और भारतीय-मूल-तत्त्वों का उपहास ,,
६५०–प्रकान्त स्वरप्रसङ्ग से अनुप्राणित निष्कर्ष ,,
६५१–'स्वत एव रञ्जयति श्रोतृवर्गचित्तम्' रूप स्वरतत्त्व ,,
६५२–स्वयं हि राजते-यस्मात्-तस्मात्-'स्वर' इति स्मृत: ,,
६५३–गीत को सङ्गीत-मान ,,
६५४–सङ्गीत को स्वर-मान ,,
६५५–स्वर को अक्षर-मान ,,
६५६(क)–दिनमान सूरज, रैन मान चन्दा ,,
६५६(ख)–प्रथममान ओङ्कार १२३३
६५६(ग)–सङ्गीतशास्त्रानुगता स्वरमहिमा का यशोवर्णन १२३४
६५७–उर:-स्थान, और मन्द्रनाद ,,
६५८–कण्ठ-स्थान, और मध्यनाद ,,
६५९–शिर:-स्थान, और तारनाद ,,
६६०–मन्द्रनाद, और मन्द्रश्रुति ,,
६६१–मध्यनाद, और मध्यश्रुति ,,
६६२–तारनाद, और तारश्रुति ,,
६६३–त्रिवृत्-पृथिवी - अग्नि-गायत्री- प्रात:-सवन, और मन्द्रस्वरमहिमा १२३५
६६४–पञ्चदश-अन्तरिक्ष- वायु-त्रिष्टुप्-माध्यन्दिनसवन, और मध्यस्वरमहिमा ,,
६६५–एकविंश-द्युलोक-आदित्य, जगती-सांयसवन, और तारस्वरमहिमा ,,
६६६–त्रि:स्थानभेद से तीन प्रमुख भागों में विभक्त सप्तस्वरों की शुद्धस्वररूपता का समन्वय ,,
६६७–श्रुतियों का तारतम्य, और स्वरों के सांयौगिक अवान्तर द्वादशविध-महिमा-विवर्त्त ,,
६६८–यौगिकस्वरात्मक विकृतस्वरों का संस्मरण ,,
६६९–द्वादशविध विकृतस्वरों की तालिका १२३६

## * अन्यदपि किञ्चित् प्रासङ्गिक स्वरसम्बन्धे-एव

६७०–परब्रह्मानुगत अर्थों का 'आम्भृणीकुल' ,,
६७१–आम्भृणीकुलानुगत वर्ण--जाति-छन्द-ऋषि-देवता-आदि की व्यवस्थाएँ १२३७
६७२–शब्दानुगत-सारस्वतकुल, एवं तदनुगता व्यवस्थाएँ ,,
६७३–स्वरों के वर्ण, जातियाँ, छन्द, ऋषि, देवता, आदि का नाम संस्मरण ,,

६७४–शृङ्गार-वीर-करुणा-आदि रसों से अनुप्राणित-सप्त-स्वर १२३७
६७५–काकल्यन्तर-स्वर का संस्मरण ”
६७६–स्वर-वर्णादि भावों के संग्राहक श्लोक १२३८
६७७–तालिका के माध्यम से स्वर के ऋषि-देव-छन्द-कुल-वर्ण-जाति-वर्ण-रसभाव-अभिव्यक्तिभूमि-आदि महिमा-भावों का स्पष्टीकरण १२३९
६७८–व्यञ्जन के आधारभूत स्वरतत्त्व के सप्तविध-महिमा-भावों के तात्त्विक-कारण का अन्वेषण-प्रयास १२४०
६७९–स्वर, और अक्षर की अभिन्नता ”
६८०–अव्यय, और तत्साङ्केतिक नाम 'मन' ”
६८१–अक्षर, और तत्साङ्केतिक नाम-'प्राण' ”
६८२–क्षर, और तत्साङ्केतिक नाम-'वाक्' ”
६८३–षोडशीपुरुषात्मक पुरुषरूप परब्रह्म ”
६८४–आलम्बनात्मक-अधिष्ठानकारण ”
६८५–निमित्तकारणात्मक-असमवायिकारण ”
६८६–उपादानकारणात्मक-समवायिकारण ”
६८७–शब्दात्मक-पाञ्चभौतिक- पञ्चपर्वा-विश्व की, तथा पञ्चात्मिका विश्वप्रजा की अभिव्यक्ति ”
६८८–सैषा स्थितिः ”
६८९–अक्षर का सर्वप्रवर्त्तकत्व-समन्वय ”
६९०–ऋषिशब्द का तात्त्विक-निर्वचन ”
६९१–सृष्टिमूलभूत-अक्षररूप स्वर-प्राणात्मक-निमित्तकारण की सप्तर्षि-रूपता का पारिभाषिक-समन्वय ”
६९२–सप्तर्षि-रूप स्वरात्मक-प्राण के सात संस्थान ”
६९३-सप्तावयव चित्यपुरुष १२४१
६९४–सप्तमूर्त्ति-श्रीरूप- चितेनिधेय-पुरुष ”
६९५–सप्तपुरुष का तालिका के माध्यम से दिग्दर्शन ”
६९६–चित्य, और चितेनिधेय-पुरुषों का समन्वय १२४१
६९७--सप्तानां-पुरुषाणां-श्रीः ”
६९८ –सप्तप्राणात्मरूप प्रजापति, और छन्द ”
६९९–छन्द के अनुपात से छन्दित-वस्तु का सन्निवेश ”
७००–'विश्व' नाम का उदय १२४२
७०१–लोकप्रसिद्ध - 'सञ्चा' - किंवा- 'साँचा' (ढाँचा), और छन्दःपुरुष ”
७०२–अक्षरात्मक स्वर का मूलाधारत्त्व ”
७०३–मानवोदाहरण से वस्तुतत्त्व का समन्वय ”
७०४–मानव का धड़, और मध्याङ्ग ”
७०५–मध्याङ्ग में चार प्राणों का प्रतिष्ठापन ”
७०६–विभागचतुष्टयी, और चत्त्वार आत्मा ”
७०७–मानव के दक्षिण--वाम-हस्त-पादरूप-दक्षिणोत्तर पक्ष ”
७०८–शिरोभाग से उपक्रान्त, ब्रह्मग्रन्थि पर उपसंहृत लम्ब-यष्टिवत् वितत सुप्रसिद्ध मेरुदण्ड ( रीड की हड्डी ) के अन्त में प्रतिष्ठित त्रिकास्थिगत-प्रतिष्ठाप्राण रूपा पुच्छप्रतिष्ठा ”
७०९-मेरु का तनन, और शरीरयष्टि की ऋजुता ”
७१०(क)–अधिक श्रमानुगता, किंवा वार्द्धक्यानुगता शरीरयष्टि, और पुच्छ-प्रतिष्ठाप्राण का शैथिल्य ”
७१०(ख)-पुच्छप्राण के शैथिल्य से शरीर यष्टि की वक्रभाव में परिणति ”
७११–सप्त-चित्य-भागों का सार भागात्मक श्रीः-तत्त्व,और उसका 'शिरस्त्व ”
७१२–मानव-प्रसङ्गतः पशुशरीरानुगत सप्त-पुरुष-पुरुषात्मक-चित्यभाव का संस्मरण ”

७१३–सप्त-चित्यक्रम की चर-अचर-चड़-चेतन-भावनिबन्धन यच्चयावत् पदार्थों में समष्टि-व्यष्टयात्मिका व्याप्ति १२४२
७१४–चर-अचर-पार्थिव-भूतसर्ग के सर्ज्जक सम्वत्सर-प्रजापति के महासुपर्णात्मक सप्तावयव-स्वरूप का संस्मरण ,,
७१५–त्रिपुरुष-पुरुषात्मक- शोडशी-प्रजापति-विश्वात्मा के त्रित्वभाव की सर्वव्याप्ति का संस्मरण १२४३
७१६–सप्त-पुरुष-पुरुषात्मक विश्वप्रजापति के समष्टि-व्यष्टि - भावनिबन्धन-सप्तक की सर्वव्याप्ति का संस्मरण ,,
७१७–सप्त-आध्यात्मिक-इन्द्रियप्राण ( १ ) ,,
७१८– ,, अर्चिर्भाव ( २ ) ,,
७१९– ,, होम ( ३ ) ,,
७२०– ,, लोक ( ४ ) ,,
७२१– ,, अग्निजिह्वा ( ५ ) ,,
७२२– ,, अग्नि ( ६ ) ,,
७२३– ,, अप्सरा ( ७ ) ,,
७२४– ,, आवरण ( ८ ) ,,
७२५– ,, ऊर्ध्वलोक ( ९ ) १२४४
७२६– ,, अधोलोक (१०) ,,
७२७– ,, ऋषि (११) ,,
७२८– ,, कल्प (१२) ,,
७२९– ,, पितर (१३) ,,
७३०– ,, देवपुरी (१४) ,,
७३१– ,, सप्तद्वीप (१५) ,,
७३२– ,, सप्तमुद्र (१६) ,,
७३३– ,, सप्त-वायु (१७) ,,
७३४– ,, पाताल (१८) ,,
७३५– ,, नरक (१९) ,,
७३६– ,, स्वर्ग (२०) ,,
७३७– ,, पर्वत (२१) ,,
७३८– ,, नदी (२२) ,,
७३९– ,, देश (२३) १२४४
७४०– ,, प्रसिद्ध पर्वत (२४) ,,
२४१– ,, धान्य (२५) १२४५
२४२– ,, राज्याङ्ग (२६) ,,
२४३– ,, वार (२७) ,,
२४४– ,, सर (२८) ,,
७४५– ,, देवच्छन्द . (२९) ,,
७४६– ,, ज्योतिष्टोम (३०) ,,
७४७– ,, ऊर्ध्वप्रजातन्तु (३१) ,,
७४८– ,, अधः-प्रजातन्तु(३२) ,,
७४९--सप्त-सङ्गीत-स्वर (३३) ,,
७५०--सप्त-स्वरोच्चारण (३४) ,,
७५१--सप्त-महिमाभावों का विस्तारात्मक-समन्वय ,,
७५२–सप्तपुरुष-सप्त-ऋषि-सप्त-अहोरात्रवृत्त-सप्तकपाल-सप्तकर्ण - सप्तचक्र-सप्त-होता-सप्ततन्तु-सप्त - अदितिपुत्र-सप्त-मरुद्गण-सप्त-ऋतु-आदि सप्तकों का संस्करण ,,
७५३--सप्तगण, और सप्ततय्यः ,,
७५४--सप्तनामा, और सप्त निधन ,,
७५५--सप्तपद, और सप्तपुत्र ,,
७५६–सप्तचितिक-प्रजापति ,,
७५७--महिमामय- विस्तार ,,
७५८--सप्तक-संस्मरण ,,
७५९--अगणित-सप्तकभाव ,,
७६०--वेदस्वाध्यायानुगति
७६१–सप्तमुख्य, और सप्तरश्मि १०४६
७६२–सप्तरात्र, और सप्तर्च ,,
७६३–सप्तवर्षा, और सप्तस्वसा ,,
७६४–सप्तहूत, और सप्ताह ,,
७६५–स्वर की सप्तभाव-परिणति का तात्विक समन्वय ,,
७६६–सप्त-धातु, और सप्त-उपधातु ,,

७६७–सप्तरस, और सप्त उपरस १२४६
७६८–सप्तविष, और सप्त उपविष ”
७६९–सप्तक-भाव--परिणति के सम्बन्ध में प्रमाणभूत श्रुति-सन्दर्भ ”
७७०–मानव का सप्तचितिक-प्राणाग्नि १२४७
७७१–मरुद्वायु का संयोग, और प्राणाग्नि की स्वरात्मिका ध्वनि के रूप में परिणति ”
७७२–बहिर्म्मण्डल में व्याप्त सुसूक्ष्म-वाक्-तत्त्व का समुद्र ”
७७३–कर्णशष्कुलियों पर प्रतिष्ठित मन पर तरङ्गभावापन्ना ध्वनि का आघात, और स्वरों की अभिव्यक्ति ”
७७४–नादात्मक-श्रुतिसमन्वित--स्वरभावापन्न चितेनिधेयाग्नियुक्त चित्याग्नि की सुप्तावस्था, और जाग्रदवस्था ”
७७५–सुप्तावस्थापन्न चित्याग्नि, और रात्रिकाल ”
७७६–जाग्रदवस्थापन्न चित्याग्नि, और अह:काल ”
७७७–अह:कालात्मक-सूर्य्यसत्तानुगत काल ”
७७८–सूर्य्यसत्ताकाल, और गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती ”
७७९–गायत्री, और होराचतुष्टयात्मक प्रात:काल ”
७८०–त्रिष्टुप्, और मध्याह्न ”
७८१–जगती, और सायङ्काल ”
७८२–प्रात:, और मन्द्रस्वर ”
७८३–मध्याह्न, और मध्यस्वर ”
७८४–सायं, और तारस्वर ”
७८५–प्रात:-मन्द्र, और उर:स्थानानुगति ”
७८६–मध्याह्न-मध्य, और कण्ठस्थानानुगति ”
७८७–सायं-तार, और शिर:स्थानानुगति ”
७८८–स्वरोच्चरण के कालानुबन्धी-वैज्ञानिक-नियमों का संस्मरण ”
७८९–सिंह-शार्दूलादि का उच्चारण, और मन्द्रस्वर ”
७९०–चक्रवाकादि का उच्चारण, और मध्यस्वर ”
७९१–हंस-मयूरादि का उच्चारण, और तारस्वर ”
७९२–प्रकृतिवद् विकृति: कर्त्तव्या ”
७९३–देवाननुविधा वै मनुष्या: १२४७
७९४–रात्रि का सुप्त, अतएव विश्रान्त अग्नि १२४८
७९४–प्रात: तारस्वरोच्चारण से सम्भावित-उर:क्षत ”
७९६–त्रि:-सवनानुगता स्वरमर्य्यादा ”
७९७–मर्य्यादानुगत यथासमय-यथास्थान-स्वरोच्चारण, और स्वरमाधुर्य्य ”
७९८–शब्दोच्चारण से समतुलिता कर्म्म-प्रवृत्ति, और नियमानुगमनात्मक-श्रेय:पन्था १२४९
७९९–अल्पारम्भ का क्षेमकरत्त्व ”
८००–उपक्रमानुगत-मन्द्रस्वर ”
८०१–नैष्ठिक मानव का स्वल्पारम्भ, और कार्य्यसमाप्ति ”
८०२–भावुक-मानव का महारम्भ, और कार्य्य की अपूर्णता ”
८०३–उपक्रमस्थान, और नादात्मक-स्वर ”
८०४–मध्यस्थान, और श्रुत्यात्मक-स्वर ”
८०५–अन्त:स्थान, और स्वरात्मक-स्वर ”
८०६–उर:स्थानानानुगता नादप्रधाना ध्वनि, और 'हिङ्कार' ”
८०७–कण्ठस्थानानुगता श्रुतिप्रधाना ध्वनि, और-'प्रस्ताव' ”
८०८–शिर:स्थानुगता स्वरप्रधाना ध्वनि, और 'उद्गीथ' ”
८०९–उद्गीथात्मक-स्वरभाव, और लोक-भाषानुगत-सङ्गीतानुगत-'टीप' ”
८१०–पाणिनीयशिक्षा का संस्मरण, और स्वरोचरणादि निबन्धना मर्य्यादाओं का समन्वयात्मकोपराम ”
८११–नाद-श्रुति-स्वर-भावों की सङ्गीतानुगता-उच्चारणादि व्यवस्थाओं का समन्वयोपराम ”
८१२–विश्वोत्पत्ति, और शब्दतन्मात्रा ”
८१३–शब्दतन्मात्रा-मूला पञ्चतन्मात्रा का नाम स्मरण ”

८१४–शब्दतन्मात्रात्मक रहस्यपूर्ण तत्त्व, और तद्रूप-ऋक्-यजुः-साम-नामक अपौरुषेय-तत्त्वात्मक वेद १२४६
८१५–पिण्डभावानुगत-ऋग्वेद ,,
८१६–गतिभावानुगत-यजुर्वेद ,,
८१७–मण्डलभावानुगत-सामवेद ,,
८१८–पिण्डका धामच्छदत्त्व-समन्वय ,,
८१९–पिण्डानुगत सुप्रसिद्ध षड्भावविकार ,,
८२०–परिवर्त्तनात्मक विकारभाव, और तन्निबन्धन गतितत्त्व ,,
८२१–रश्मिमण्डलात्मक-मण्डल भात्र ,,
८२२–मण्डलात्मक-दृश्यजगत् ,,
८२३–पिण्डात्मक-स्पृश्यजगत् ,,
८२४–ऋक्-यजुः-साम-का मौलिक-स्वरूप, और भगवान् तित्तिरि ,,
८२५–केन्द्रात्मक–ऋङ्मय-धामच्छद–दृश्य-वस्तुपिण्ड, और तदनुप्राणित-नादतत्त्व १२५०
८२६–पिण्ड-मण्डलान्तर्वर्त्ती यजुर्म्मय-गतिभाव, और तदनुप्राणित श्रुतितत्त्व ,,
८२७–पिण्ड केन्द्र से उपक्रान्त प्राणरश्मि-मण्डल रूपेण सहस्रभावापन्न साममय-मण्डल, और तदनुप्राणित स्वरतत्त्व ,,
८२८–नाद, और ऋक्पिण्ड ,,
८२९–श्रुति, और यजुर्गति ,,
८३०–स्वर, और साममण्डल ,,
८३१–स्वर-साम, और पारिभाषिक 'स्वरसान' (त्रयः स्वरसामानः) ,,
८३२–'गीतिषु सामाख्या' का संस्मरण ,,
८३३–सामात्मक स्वर, किंवा स्वरात्मक साम, और सङ्गीत का मूलप्रतिष्ठात्त्व ,,
८३४–ग्राम-मूर्च्छना-जाति–क्रम-तान-आरोह-अवरोह-वादी-संवादी—नाद-श्रुति-स्वर-आदि विभिन्न विभूतियों से सुसमन्वित, नृत्य-गीत-वाद्य-भेद से तीन प्रक्रमों में विभक्त शास्त्रीय-सङ्गीत के नाद-श्रुति-स्वर-नामक-प्रतिष्ठास्तम्भों का मूलाधार-'हिङ्कार' तत्त्व, और प्रकृत-याज्ञिक कर्म्म १२५०
८३५–स्वरात्मक साम के माध्यम से हिङ्कार की अभिव्यक्ति ,,
८३६–'नासामा-हिङ्क्रियते' इत्यादि श्रुति का समन्वय ,,
८३७–श्रुति का पारिभाषिक-रहस्यात्मक-'हिङ्कार' शब्द ,,
८३८–हिङ्कार-शब्द समन्वय प्रसङ्ग से अनुप्राणिता-सङ्गीतानुगता-नाद-श्रुति-स्वर-त्रयी का संस्मरण ,,
८३९–श्रुति–स्वर-ग्राम–स्वरूप–चक्रात्मक-परिलेख १२५१
८४०–सङ्गीतानुगता-पारिभाषिकी जाति-तालिका १२५२


## इति–सङ्गीतानुगतं नाद-श्रुति-स्वर-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

* * * * *


८४१–प्रकृतानुसरण, और नाद-श्रुति-स्वर-त्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित-नृत्य-गीत-वाद्यात्मक-सङ्गीत १२५३
८४२–सङ्गीत का आत्मसंविद्-विरोधी 'आग्लादोष' प्रवर्त्तकत्त्व ,,
८४३–सङ्गीत का बुद्धिनिष्ठा-विरोधी 'माल्यदोष'-प्रवर्त्तकत्त्व ,,
८४४–प्रतिज्ञात उभयदोषों के स्वरूपानुबन्ध से किञ्चिदिव निवेदन ,,

८४५–आग्ला, और माल्व्यदोष, एवं तत्प्रसङ्ग से-'तमसो मा ज्योतिर्गमय' श्रुति का पावन-संस्मरण १२५३
८४६–सृष्टि के मूलभूत आभू, और अभ्व का संस्मरण ,,
८४७–आभू से अनुप्राणित 'रस' का संस्मरण ,,
८४८–अभ्व से अनुप्राणित 'बल' का संस्मरण ,,
८४९–यत्, और जूः-का संस्मरण ,,
८५०–तेज, और स्नेह का संस्मरण ,,
८५१–ज्योतिः, और तमः का संस्मरण ,,
८५२–आभू-अभ्व की प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, एवं चतुर्थी अभिव्यक्ति ,,
८५३–विश्वातीत परात्परब्रह्म का संस्मरण ,,
८५४–अनेजत्, और एजत् ,,
८५५–स्थिति, और गति ,,
८५६–अत्यनपिनद्ध-विश्वातीततत्त्व ,,
८५७-(क)-आभू-अभ्वात्मक-तत्त्व ,,
८५७-(ख)-उपनिषत्-वचन का संस्मरण १२५४
८५८–विश्वातीत-विभिन्नभाव ,,
८५९–विश्वात्मक-विभिन्नभाव ,,
८६०–'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !' का संस्मरण ,,
८६१–तेजोलक्षण ज्योतिर्भाव, और तदभिन्न-इन्द्रतत्त्व ,,
८६२–स्नेहलक्षण तमोभाव, और तदभिन्न-वरुणतत्त्व ,,
८६३–इन्द्रात्मक-मित्रभाव ,,
८६४–मित्रावरुणौ, और क्रतूदक्षौ ,,
८६५–समष्ट्यात्मक-त्रयीब्रह्म का संस्मरण ,,
८६६–स्वयमेवोद्बभौ-और स्वयम्भूः ,,
८६७-(क)-इन्द्र-मित्र की अभिव्यक्ति ,,
८६७-(ख)-वृत्र-वरुण की अभिव्यक्ति ,,
८६७-(ग)-ज्योतिर्म्मय-इन्द्रमित्र ,,
८६८–तमोमय-वृत्र वरुण ,,
८६९–परमेष्ठी-संस्थान, और वृत्रवरुण १२५५
८७०–सूर्य्य-संस्थान, और इन्द्र-मित्र ,,
८७१–वृत्रापोमय-स्नेहमय-वरुणरूप-परमेष्ठी ,,
८७२–पारमेष्ठ्य-वरुण की अपरिपक्वा, एवं परिपक्वावस्था ,,
८७३-परिपक्वावस्थापन्न वरुण, और तदनुप्राणित गन्धर्व, तथा पितर ,,
८७४-अपरिपक्वावस्थापन्न वरुण, और तदनुप्राणित वृत्रप्रमुख असुर ,,
८७५–दिव्यभावपन्न परिपक्व अप्तत्त्व, और गन्धर्व, तथा पितर ,,
८७६–आसुरभावापन्न अपरिपक्व अप्तत्त्व, और वृत्रादि असुर ,,
८७७–वरुण की परिपक्वावस्था, और भृगुतत्त्व ,,
८७८–वरुण की अपरिपक्वावस्था, और वरुणतत्त्व ,,
८७९–(भृगुर्वै वारुणिः का संस्मरण) ,,
८८०–पितृ-स्थानीय-वरुणभाव ,,
८८१–पुत्र-स्थानीय-भृगुभाव ,,
८८२–गोपथब्राह्मणवचन के द्वारा वस्तु-स्वरूप का स्पष्टीकरण १२५६
८८३–तस्मात्-स भृगुर्वारुणिः ,,
८८४–भृगुतत्त्व की भौतिक-स्वरूप-व्याख्या का समन्वय ,,
८८५–आग्नेय-वायव्य-ऐन्द्रप्राण से समन्वित परिपक्व-भर्जनशील-पारमेष्ठ्य आप्यतत्त्व की भृगुरूपता ,,
८८६–वरुणस्य भर्गः-त्रेधा-अपतत् ,,
८८७–आपः-वायुः-सोमः, और भृगुत्रयी ,,
८८८–वायुरापश्चन्द्रमाः-इत्येते भृगवः ,,
८८९–त्र्यात्मक-भार्गव-आप्यप्राण, और तदनुप्राणित असुर ,,
८९०–त्र्यात्मक-भार्गव-वायव्यप्राण, और तदनुप्राणित-गन्धर्व ,,

८९१–त्र्यात्मक-भार्गव-सौम्यप्राण, और तदनुप्राणित-पितर १२५६
८९२–आसुर-प्राणात्मक-वारुण-भार्गव आप्य-प्राण से अनुगत अप्सराप्राण ,,
८९३–आप्य-अप्सराप्राण का साङ्केतिक नाम-'सुरा' १२५७
८९४–पितृप्राणात्मक-भार्गवप्राण, और-'सोम' ,,
८९५–वारुण-सोम, और सुराभावों का पारिभाषिक समन्वय ,,
८९६–पारमेष्ठ्य-भार्गव-वारुण-सुरा-भाव, और तन्निबन्धन आग्ला, और माल्व्य नामक प्रचण्डदोष ,,
८९७–आग्ला, और माल्व्यदोषों से समन्वित नाद-श्रुति-स्वर-भावापन्न भी सङ्गीत का काल्वालीकृततत्त्व ,,
८९८–इदमत्रावधेयम् ,,
८९९–तमः, और ज्योतिः ,,
९००–वरुणात्मक तमोभाव ,,
९०१–इन्द्रात्मक ज्योतिर्भाव ,,
९०२–तमोमय-वरुण, और सुरा ,,
९०३–ज्योतिर्म्मय-इन्द्र, और सोम ,,
९०४–सुरा, और सोम से अनुगता भौतिकी दृष्टि ,,
९०५–पञ्चाग्निमूला अन्नोत्पत्ति ,,
९०६–स्नेहमयी श्रद्धा की सोमरूप में परिणति ,,
९०७–अन्नका प्रथम मौलिक स्वरूप, और सोम ,,
९०८–'वर्षा' का स्वरूप-दिग्दर्शन १२५८
९०९–गायत्राग्नि, और वर्षाजल ,,
९१०–'अन्न' की स्वरूप-परिभाषा ,,
९११–वैश्वानर-अग्नि में अन्नात्मक सोम की आहुति ,,
९१२–पुरुषाग्नि में हुत अन्न का विशकलन ,,
९१३–अन्नानुगत रस, और मलभाव ,,
९१४–अन्नरसानुप्राणित रेतोभाव ,,
९१५–शुक्र-और शोणित ,,
९१६–वृषा-और योषा १२५८
९१७–आत्रेयी-अस्पृश्या-योषित् ,,
९१८–अस्पृश्यता के सम्बन्ध में तत्त्वदृष्टि का समन्वय ,,
९१९–द्युलोक-सावित्राग्नि-श्रद्धा-सोम, और तदनुप्राणिता प्रथमाहुति १२५९
९२०–अन्तरिक्षलोक-पर्ज्जन्याग्नि-सोम, और द्वितीयाहुति ,,
९२१–भूलोक-गायत्राग्नि-वृष्टि-सोम, और तृतीयाहुति ,,
९२२–अध्यात्मलोक, वैश्वानराग्नि, अन्न, सोम, और चतुर्थी-आहुति ,,
९२३–योषिल्लोक, आर्त्तवाग्नि, शुक्र, सोम, और पञ्चमी-आहुति ,,
९२४–पञ्चाग्निविद्या-सन्दर्भ १२६०
९२५–रासायनिक-सम्मिश्रण, और अन्नोत्पत्ति ,,
९२६–अप्तत्त्वानुगत वरुण, और आसुरभाव ,,
९२७–दिव्यभावानुबन्ध से समन्वित रसात्मक अन्न ,,
९२८–आसुरभावानुबन्ध से समन्वित मलात्मक-अन्न ,,
९२९–वरुणानुगत-सुराभाव ,,
९३०–इन्द्रानुगत-सोमभाव ,,
९३१–वरुणानुबन्धी-मलात्मक-आसुर-दोषभाव ,,
९३२–इन्द्रानुबन्धी-रसात्मक-दिव्य-गुणभाव ,,
९३३–आसुरी, और दैवी-सम्पत् ,,
९३४–'गुण', और 'दोष' का पारिभाषिक-अर्थ-समन्वय ,,
९३५–वारुण-आसुर-मलात्मक-सुराभाव, और और 'तम' ,,
९३६–ऐन्द्र-दिव्य-रसात्मक सोमभाव, और ज्योति ,,
९३७–'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का सिंहाव-लोकनात्मक-संस्मरण ,,

६३८–सङ्गीत की निरतिशया दोषाक्रान्तता, और तदनुप्राणित काल्वालीकृत-इतिहास का समन्वयोपक्रम १२६०
६३९–सोम, और सुरा के निष्कर्षात्मक स्वरूप का संस्मरण ,,
६४०–मलात्मिका-मादकता, और असुर-भावापन्ना सुरा ,,
६४१–रसात्मिका-मादकता, और दिव्यभावापन्न सोम ,,
६४२–प्रत्येक अन्न में रसमलात्मक-सोम-सुरा-भावों की संस्थिति ,,
६४३–भूतदृष्टि से अनुप्राणिता-सुरा-सोम-द्वयी ,,
६४४–प्राणदृष्टि से अनुप्राणिता सुरासोम-द्वयी ,,
६४५–अन्नगता मादकता से अनुगता तन्द्रा, और निद्रा ,,
६४६–अन्न की मादकता का समन्वय ,,
६४७–वारुण मलभाव की 'विष'–रूपता, और तद्द्वारा जीवनीय-शक्ति का ह्रास, किंवा अभिभव ,,
६४८–ऐन्द्र-रसभाव की-'अमृत'-रूपता, और तद्द्वारा जीवनीय-शक्ति की अभिवृद्धि, किंवा अभिव्यक्ति ,,
६४९–प्रजापति का अपूर्व शिल्प, और कण्ठ-स्थित 'विषयन्त्र' ,,
६५०–विषयन्त्र के द्वारा भुक्तान्न के विष, एवं अमृत-भाग का विभाजन ,,
६५१–विषयन्त्रानुग्रह, और मानव की अन्न-गत विष से रक्षा ,,
६५२–पतन-जृम्भा-तन्द्रा-आलस्य-आदि विष-प्रभावों का समन्वय ,,
६५३–मलात्मक-सुरारूप-विष ,,
६५४–रसात्मक-सोमरूप-अमृत ,,
६५५–जीवनविघातक सुरारूप विष ,,
६५६–जीवनसंरक्षक सोमरूप अमृत १२६१
६५७–अन्न की सुरा-सोमान्विता-उभयरूपता का दिग्दर्शन ,,
६५८–'अनृतं-पाप्मा-तमः-सुरा' (१) ,,
६५९–'अभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा-वदति' (२) ,,
६६०–'तस्मात्-सुरां पीत्त्वा-रौद्रमनाः' (३) ,,
६६१–'यदस्य शमलमासीत्, सा-सुरा-अभवत्' (४) १२६२
६६२–स्फिगीभ्यामेवास्य भामोऽस्रवत्-सा सुरा-अभवत्-अन्नस्य रसः (५) ,,
६६३–'अपां वाऽएष ओषधीनां रसः, यत्सुरा' (६) ,,
६६४–'अन्नं-सुरा' (७) ,,
६६५–'प्रजापतेर्वा-एते-अन्धसी–यत्सोम-श्च, सुरा च' (८) ,,
६६६–'सत्यं वै श्रीर्ज्योतिः सोमः (९) ,,
६६७–'एष वै सोमो राजा-अन्नाद्यम् (१०) ,,
६६८–'एतद्वै देवानां परमं-अन्नं, यत्-सोमः' (११) ,,
६६९–एतद्वै, परमं-अन्नाद्यं-यत्सोमः (१२) ,,
६७०–'अन्नं वै सोमः' (१३) ,,
६७१–'प्राणः सोमः' (१४) ,,
६७२–'आपः-सोमः-सुतः' (१५) ,,
६७३–'सौम्या-ओषधयः' (१६) ,,
६७४–सुरा, और सोम-नामक विरुद्ध प्राणों से कृतमूर्त्ति अन्न ,,
६७५–उभयप्राणात्मक अन्न की आहुति से वैश्वानराग्नि का प्रज्ज्वलन ,,
६७६–जातिभ्रंशकर-दोष, और तत्प्रवर्त्तिका सुरा (टिप्पणी) ,,
६७७–मलिनीकरण-दोष, और तत्प्रवर्त्तक सीधु (टि०) ,,
६७८–सङ्करीकरण-दोष, और तत्प्रवर्त्तक-आसव (टि०) ,,

९७९—'ब्राह्मणो मदिरां पीत्वा-ब्राह्मण्यादेव हीयते' टि०) १२६२
९८०—गौड़ी-पैष्टी-माध्वी-रूपा सुरात्रयी (टि०) ,,
९८१—सुरा वै मलमन्नानाम् (टि०) ,,
९८२-पाप्मा च मलमुच्यते (टि०) ,,
९८३—तस्मात्-न सुरां पिबेत् (टि०) ,,
९८४—अन्नात्मक वैश्वानराग्नि का ही नाद-श्रुति-स्वरात्मिका-सङ्गीतप्रतिष्ठाभूमिका-प्रवर्त्तकत्व १२६३
९८५-विशेष-दृष्टिबिन्दु ,,
९८६—सङ्गीत का व्यञ्जनात्मक-मर्त्यभाग ,,
९८७—मर्त्यभाग का अन्नमलात्मक सुराप्राण-से सम्बन्ध ,,
९८८—सङ्गीत का स्वरात्मक-अमृतभाग ,,
९८९—अमृतभाग का अन्नरसात्मक सोमप्राण से सम्बन्ध ,,
९९०—सुराभाव, और सङ्गीतानुगत पार्थिव—क्षरात्मक-व्यञ्जन ,,
९९१—सोमभाव, और सङ्गीतानुगत सौर—अक्षरात्मक-स्वर ,,
९९२—अन्नपरम्परानुगत वक्तव्यनिष्कर्ष ,,
९९३—सोमरसात्मक-स्वरतत्त्व ,,
९९४—स यदाह-स्वरोऽसीति, सोमं वा एतदाह। एष वै सोमः-सूर्य्यो भूत्वा अमुष्मिंल्लोके स्वरति। तत्-यत्-स्वरति-तस्मात्-स्वरः। तत् स्वरस्य-स्वरत्त्वम् ,,
९९५-गोपथवचन का अक्षरार्थ-समन्वय ,,
९९६-पारमेष्ठ्य-सोम की दाह्यरूपता ,,
९९७—सौरसावित्राग्नि की दाहकरूपता ,,
९९८—कृष्णाभावात्मक पारमेष्ठ्य सोम ,,
९९९-ज्योतिर्विहीन-सावित्राग्नि ,,
१०००—सोमाहुतिरूप अग्निहोत्र ,,
१००१—'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्' १२६३
२—त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ,,
३—सौरप्रकाशात्मक-रश्मिमय-साममण्डल ,,
४-स्वरसाम का संस्मरण ,,
५—विश्वान्धकार का निवर्त्तक सोम ,,
६—इत्थंभूता सुरा, और इत्थंभूत सोम १२६४
७—मलात्मिका दोषपूर्णा-मादकता की प्रवर्त्तिका-सुरा ,,
८—रसात्मिका गुणान्विता मादकता का प्रवर्त्तक-सोम ,,
९—मृतप्राणी का शव—शरीर, और उसका सोमशून्यत्त्व ,,
१०—पवमान-सोम, और शुचिता ,,
११—सोम का अभाव, और दौर्गन्ध्य ,,
१२—क्रव्यादग्निप्रिय-सुरात्मक शव—गन्ध ,,
१३-सुराजनित-मलीमस-भौतिक-दुर्गन्धि-मल-किट्टादि-दोषों का निवर्त्तक-पवित्र गाङ्गेय-सोम ,,
१४—तप्ततनु, और गाङ्गेय-सोम ,,
१५—अतप्ततनु, और मलात्मिका सुरा ,,
१६—सोम, और सुरा के आधिदैविक-चिरन्तनेतिवृत्त का पारिभाषिक-समन्वय ,,
१७—सोम, और सुरा-तत्त्वों के आधिदैविक-स्वरूपानुपात से आध्यात्मिक-स्वरूप-का संक्षिप्ततम-समन्वयोपक्रम ,,
१८—अध्यात्मसंस्था, और उसके सुप्रसिद्ध आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर-नामक चार पर्व ,,
१९—बुद्धिपर्व, और तत्प्रभव—सूर्य्य ,,
२०—मनःपर्व, और तत्प्रभव-चन्द्रमा ,,
२१—शरीरपर्व, और तत्प्रभव-भूपिण्ड ,,
२२—सौरी-बुद्धि ,,
१०२३—चान्द्र-मन ,,

१०२४--पार्थिव (भौम) शरीर १२६४
२५-दिग्देशकालातीत तुरीय-आत्मतत्त्व ,,
२६-आत्मा, और बुद्धि का एक स्वतन्त्र-युग्म ,,
२७-मन, और शरीर का एक स्वतन्त्र युग्म १२६५
२८-सोममय-मन, और आधिदैविक सोम-तत्त्व ,,
२९-सुरामय शरीर, और आधिदैविक-सुरातत्त्व ,,
३०-मन का प्रभव सोमात्मक चन्द्रमा ,,
३१-शरीर का प्रभव-आपोमय-पार्थिवप्राण (आपः-पुरुषवचसो भवन्ति) ,,
३२-वारुण-अप्तत्त्व, और आप्य-वारुण सुराप्राण (वारुणी) ,,
३३-सुरा, और सोम के साक्षात्-प्रतीक आध्यात्मिक सुरा, और सोम ,,
३४-सोमात्मक मन की विभिन्ना अवस्था द्वयी ,,
३५-इन्द्रियभोगात्मक-फलकामुक मन ,,
३६-मनोज्योति का अभिभव ,,
३७-भूतात्मा के बन्धन-कारण का समन्वय
३८--बुद्धियुक्त'-बुद्धियोगनिष्ठ - मन का अनासक्तत्व ,,
३९--भूतात्मा के बन्धन-विमोक-का समन्वय ,,
४०-सौरी बुद्धि से युक्त नियन्त्रित सत्त्वमन ,,
४१-सौरी बुद्धि से वियुक्त-अनियन्त्रित-तमोमन १२६६
४३--माल्यदोष का सिंहावलोकन ,,
४४-बुद्धि का सहजगुणात्मक 'धृति' तत्त्व ,,
४५-'धियः' और बुद्धि ,,
४६-स्थिरता, और धृति ,,
४७-नितरां स्थितिः, और निष्ठा ,,
४८-निष्ठा, और नैष्ठिक ,,
१०४९--निष्ठया हि प्रतिष्ठा स्यात् ,,
१०५०--मध्ये-एकल एव स्थाता १२६६
५१-निष्ठात्मक सूर्य्य ,,
५२--नैष्ठिक सूर्य्य से प्रसूता बुद्धि की स्वतः-सिद्धा नैष्ठिकता ,,
५३--दक्षवृत्तानुगत चन्द्रमा का परिभ्रमणात्मक चाञ्चल्य ,,
५४-बुद्धि के निष्ठात्मक, स्थिरधर्म्म का समन्वय १२६७
५५-नक्षत्राधिपति चन्द्रमा का प्रतिक्षण-विलक्षण-परिवर्त्तन ,,
५६-प्रकृत्यैव स्थिरधर्म्म से वञ्चित चन्द्रमा ,,
५८-चान्द्रमन की चञ्चलतानुगता भावुकता ,,
५९-क्षणे तुष्टाः-क्षणे रुष्टाः-रूपा चान्द्री-मनोवृत्ति ,,
५९-बुद्धिनियन्त्रण से पराङ्मुख स्वच्छन्द मन ,,
६०-मनोवशवर्त्ती-मानव की अस्तव्यस्ता-भावभङ्गिमा ,,
६१-मनोराज्ये विचरणशील भावुक-मानवों की अस्थिरवृत्तियों का स्वरूप दिग्दर्शन ,,
६२-धृतिगुणविरोधी-निष्ठाविरोधी-गाम्भीर्य्य-विरोधी-भयानकतम-मानसदोष ,,
६३-मानसदोषरूप 'माल्यदोष' ,,
६४-सोमानुबन्धी-मानस-माल्यदोष ,,
६५-गुण, और दोष की सापेक्षता से अनुप्राणित आश्चर्य्यमय-रहस्यात्मक विपर्य्यय, एवं तत्समन्वय-प्रयास ,,
६६-रसात्मक-निवृत्तिप्रधान-मन ,,
६७-बलात्मक-प्रवृत्तिप्रधान-मन ,,
६८-सात्त्विक मन और, तमोरूप मन ,,
६९-शुक्ल चन्द्रमा, और कृष्णचन्द्रमा ,,
७०-मन्मनाभाव, और उन्मनाभाव ,,
१०७१-गुण-दोष-विभूति का यथास्थान पारिभाषिक-समन्वय, और सर्वं सुस्थम् ,,

१०७२–बुद्धिनिबन्धना, स्थिरता लक्षणा निष्ठा से अनुप्राणित धैर्य्य १२६७
७३–पुरुषार्थकर्म्मनिबन्धन पौरुष ”
७४–गन्धर्व्व-अप्सरा-प्राणनिबन्धन–सौम्य मन से अनुप्राणित सङ्गीत ”
७५–सङ्गीत के द्वारा पौरुषानुगत धैर्य्य का विकम्पन १२६८
७६–सङ्गीतानुगता धृतिविच्युति, और तद-नुप्राणित माल्व्यदोष ”
७७–'सुरा' से समतुलित माल्व्यदोष ”
७८–आचारनिष्ठात्मक-कर्त्तव्यपथानुगमन ”
७९–तत्त्वचिन्तनानुगत-मनन ”
८०–धैर्य्य-निबन्धन-निष्ठापथ ”
८१–निष्ठापथोपासक-भारतीय ब्राह्मण ”
८२–निष्ठापथविरोधी-सङ्गीत ”
८३–'तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत, न गायेत' का संस्मरण ”
८४–मैत्रायणीश्रुति के द्वारा सुरा, माल्व्य, धैर्य्य, सोम, आदि गुण, दोष-विभूतियों का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण ”
८५–पाप्मना-आत्मानं-नेत् सृजा-इति ”
८६–माल्व्यदोषापेक्षया भी भयानकतम-आग्लादोष ”
८७–भार्गव-सोम, और मन ”
८८–भार्गव-वरुण-अप्तत्त्व, और शरीर ”
८९–क्षारभावापन्न-वारुण-अपेय-अर्णवसमुद्र १२६९
९०–एमूषवराह, और पार्थिव परमाणु सङ्घठन ”
९१–परमाणु का संघठन, और भूपिण्ड ”
९२–वराहभगवान् के द्वारा पृथिवी का उद्धार ”
९३–भूपिण्ड के स्वरूप-निर्म्माण का तात्त्विक सिंहावलोकन ”
९४–भोक्ता-सौम्य-मन, और पुरुषभाव ”
१०९५–भोग्य-आप्य-शरीर, और स्त्रीभाव ”
१०९६–'पुमान् वै सोमः' (तै०) १२६९
९७–'स्त्री-सुरा' (तै०) ”
९८–ऋततत्त्व का पारिभाषिक संस्मरण ”
९९–सत्यतत्त्व का पारिभाषिक संस्मरण ”
११००–सत्यं ऋतेऽधायि ”
१–ऋतं सत्येऽधायि ”
२–मन, और शरीर का 'ऋत' प्रधानत्त्व ”
३–ऋत का ऋतघनत्त्व, और तद्रूप पारिभाषिक अनृतत्त्व ”
४–सद्घनप्राण की पारिभाषिकी असद्-रूपता ”
५–'सत्यं वै श्रीर्ज्योतिः सोमः' ”
६–अनृतं-पाप्मा-तमः-सुरा ”
७–ऋतसोमात्मक चन्द्रमारूप गन्धर्व १२७०
८–ऋत-आपोमयी पृथिवीरूपा अप्सरा ”
९–चन्द्रमा, और पृथिवी का युग्म ”
१११०–मन, और शरीर का युग्म ”
११–सोम, और सुरा का युग्म ”
१२–गन्धर्व, और अप्सरा का युग्म ”
१३–मानसिक–शारीरिक-कामभोग–हास-परिहास-आमोद-प्रमोद–गन्ध-सुगन्ध-मिथुनभाव-क्रीड़ा-आदि निष्ठाविरोधी विवर्त्त, और तत्समर्थक-शास्त्रीय-वचन ”
१४–गन्धेनैव च रूपेण च गन्धर्वाप्सर-सश्चरन्ति (१) ”
१५–योषित्कामा वै गन्धर्वाः (२) ”
१६–स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः (३) ”
१७–सोमो गन्धाय (४) ”
१८–गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे, तन्मे युष्मासु (५) ”
१९–उपद्रवं गन्धर्वाप्सरोभ्यः प्राय-च्छत् (६) ”
११२०–गन्धर्वाप्सरसो वै मनुष्यस्य प्रजाया वा प्रजास्वावेशते (७) ”

११२१–'गन्ध'-इत्यप्सरस उपासते (८) १२७०
२२–किन्तु तेऽस्मासु-अप्सरस्सु इति?, हासो मे, क्रीड़ा मे, मिथुनम्मे (६) ,,
२३–सुरा, और सोम का शरीर-मनो-निबन्धन आध्यात्मिक-स्वरूप, और तत्समन्वय ,,
२४–पार्थिव-पारिभाषिक-'इरारस' का संस्मरण ,,
२५–वारुणा विमोहन-आसुरधर्म्म ,,
२६–पार्थिव-इरारस की मादकता ,,
२७–पार्थिव-इरारस से अनुप्राणिता सुरा ,,
२८–पार्थिव अन्न का सुरा-सोमात्मकत्व ,,
२६–मदप्रवर्त्तिका इरा यस्याः, सा मदिरा ,,
३०–आवरणात्मिका तमोमयी-निद्रा-तन्द्रा आलस्य–दीर्घसूत्रता-भय-क्रोध–आदि आसुरभावों की प्रवर्त्तिका-सुरात्मिका-मोहमदिरात्मिका-योगमाया, और तद्-द्वारा जगद्विमोहन १२७१
३१–आप्य-वारुणा-उन्मादभावों की पारिभाषिकी संज्ञा, और 'आग्ला' नामक-महान् दोष ,,
३२–'आग्ला' शब्द का धातु-प्रकृति-प्रत्ययादि निबन्धन-समन्वय ,,
३३–लोकव्यवहारानुगता-स्वस्थता, और प्रकृतिस्था-शब्दद्वयी ,,
३४–मानव की अध्यात्मसंस्था, और पुरुषभाव ,,
३५– ,, ,, और प्रकृतिभाव ,,
३६–मानवीय-पारिभाषिक-पुरुष ,,
३७–मानवीया-पारिभाषिकी प्रकृति ,,
३८–पुरुषनिबन्धना पारिभाषिक की स्वस्थता ,,
३६–प्रकृतिनिबन्धना पारिभाषिककी प्रकृतिस्थता ,,
४०–पुरुषरूप-आत्मभाव, और 'स्व' ,,
४१–'स्व' स्वरूपानुगता स्थिति, और स्वस्थता ,,
११४२–स्वस्थ मानव की स्वरूप-परिचय ,,
११४३–प्रकृतिस्थ मानव की स्वरूप-परिभाषा १२७१
४४–आत्मप्रसाद, और बौद्धिकी निष्ठा ,,
४५–आत्मानुगता शान्ति ,,
४६–बुद्ध्यनुगता तृप्ति ,,
४७–मनोऽनुगता तुष्टि ,,
४८–शरीरानुगता पुष्टि ,,
४६–तुष्टि से समन्विता पुष्टि का पारिभाषिक-समन्वय ,,
५०–आत्मानुगता शान्ति, और स्वस्थिति ,,
५१–बुद्ध्यनुगता तृप्ति, और स्वस्थता ,,
५२–मनोऽनुगता तुष्टि, और परस्थिति ,,
५३–शरीरानुगता पुष्टि, और प्रकृतिस्थिति ,,
५४–प्रसादगुणान्वित-संविद्भाव ,,
५५–प्रसादगुणात्मिका आनन्दस्वरूपानिव्यक्ति का संस्मरण ,,
५६–लोकजीवन-निबन्ध मङ्गलपर्व, और हर्षोल्लासपरम्परा ,,
५७–प्रसादगुण का अभिभव, और तत्प्रयुक्ता हानि १२७२
५८–आत्मशक्ति की क्षोभरूप में परिणति ,,
५६–(क)-मानसिक सत्त्वप्रेम की भोगासक्ति रूप में परिणत ,,
५६–(ख)-शारीरिक-पुष्टि की क्षयरूप में परिणति ,,
६०–सामुद्र-वारुण-महान्-दोष का आग्ला-रूपत्व ,,
६१–सुरापी-आग्लामानव ,,
६२–सुरानुगत-आग्लादोष ,,
६३–आग्लादोषानुगत पारिभाषिक-समन्वय ,,
६४–सर्वविनाश का सूचक-'आङ्' उपसर्ग, और आग्लादोष ,,
६५–आसमन्तात् ग्लानरूप आग्लादोष ,,
६६–शास्त्रात्मिका-आचारनिष्ठा के द्वारा उभयदोष-निवृत्ति का पथप्रदर्शन ,,
११६७–आचारात्मिका निष्ठा के कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-रूप तीन सुप्रसिद्ध प्रक्रम ,,

११६८–आचारधर्म्म के शैथिल्य के अमुक-कारणों का स्वरूप-दिग्दर्शन १२७२
६९–आचारधर्म्म की अभिभूति, और शेषभूत-अनाचार ,,
७०–सङ्गीत के प्रति हमारा आत्यन्तिक-'आदर' भाव, किन्तु ? ,,
७१–मानसिक-सोमभाव, तथा शारीरिक सुराभाव से अनुप्राणित माल्व्य, और आग्लादोषों से हृत्कम्प, और तत्प्रवर्त्तक सङ्गीत ,,
७२–अकिञ्चित्करा हमारी मान्यता, और सङ्गीत ,,
७३–महर्षियों की नैष्ठिकी दृष्टि का संस्मरणमात्र ,,
७४–सङ्गीत का निष्ठा के क्षेत्र में प्रवेश-निषिद्ध, और वेदाज्ञा ,,
७५–आग्लादोष के पारिभाषिक स्वरूप के सम्बन्ध में गोपथश्रुतिवचन का संस्मरण १२७३
७६–आत्मबुद्धिसम्मत सांस्कृतिक-कोश का अन्यतम-चिन्तक नैष्ठिक ब्राह्मण ,,
७७–मनः-शरीर-सम्मत-माल्व्य, तथा आग्लादोषाक्रान्त-अतएव काल्वाली-कृत इत्थंभूत-नर्त्तन-गायन-वाद्यात्मक सङ्गीत, और तन्निबन्धना लोक-भावुकता ,,
७८–तनररीम्-ताक–धिनाधिन-डिड्-डा-डिड्-डा-डा -आदि - भावसमन्विता सङ्गीत-परम्परा, और निष्ठा की स्वरूप-विस्मृति ,,
७९ ज्ञानात्मिका आचारनिष्ठा, और मानव का आत्मपर्व ,,
११८०–कर्म्मात्मिका आचारनिष्ठा, और मानव का बुद्धिपर्व ,,
११८१–आत्मानुगत मननात्मक-अनुशील-नात्मक-ज्ञानप्रधान सूक्ष्मतम-आचार १२७३
८२–आचारनिष्ठा में सङ्गीत का प्रवेश आत्यन्तिकरूपेण निषिद्ध ,,
८३–बुद्ध्यनुगत- आचारणात्मक - कर्म्म-प्रधान-आचार, और तत्रापि मनो-व्यासङ्ग के प्रवेश का निरोध ,,
८४–मनोनिबन्धन-भक्तिमार्ग का संस्मरण १२७४
८५–मानसिक-भक्तिकाण्ड के अनुबन्ध से प्रचण्ड-मर्य्यादा-सूत्र के नियन्त्रण-द्वारा ईश्वरभक्ति-समन्वित शास्त्रीय-सङ्गीत का समादार, एवं अमुक पर्वोत्सवों यज्ञादि-कर्म्मविशेषों के लिए ही तदनुमोदन ,,
८६–भारतीय-प्राच्य-शास्त्रीय-सङ्गीत की प्रमुख-आधारभित्ति-ईश-संस्मरण ,,
८७–इत्थंभूत शास्त्रीय-सङ्गीत का समादर ,,
८८–वीणावादनतत्परा भगवती-शारद ,,
८९–डमरू-वादक भगवान् शङ्कर ,,
९०–विश्वसंहारक-ताण्डवनृत्य के प्रवर्त्तक महाकालेश्वर ,,
९१–वेणुवादक भगवान् नन्दनन्दन ,,
९२–तुम्बुरु-तान-निमग्न गन्धर्वर्षि-तुम्बुरु ,,
९३–ब्रह्मनादसमाप्लुत-गन्धर्वर्षि-नारद ,,
९४–धर्म्मनिरपेक्ष-ईश्वरभावना से असंसृष्ट आज के नर्त्तन-गायन-वादन-रूप-मनः-शरीर - निबन्धन-व्यासङ्गों का भारतीय-संस्कृति के नैष्ठिक-प्राङ्गण में आत्यन्तिकरूपेण प्रवेश-निषिद्ध ,,
११९५–गोपथश्रुति के द्वारा तथाविध सङ्गीतानुगमन का ब्राह्मणप्रज्ञा के लिए प्रचण्ड-विरोध ,,

| | |
|---|---|
| ११९६–स्वरभावानुबन्धी मण्डलात्मक-साम के प्रसङ्ग से उपात्ता सङ्गीत-चर्चा | १२७४ |
| ९७–वर्त्तमानयुगानुबन्धी-मनःशरीरानुगत-आत्मबुद्धिशून्य, अतएव माल्व्य, तथा आम्ला-दोष-समाक्रान्त दोषों से समाप्लुत 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के अकाण्ड-ताण्डवों का नग्नचित्रण | ,, |
| ९८–प्रकृतिसिद्ध-प्रक्रान्त-सामात्मक हिङ्कार का संस्मरण | ,, |
| ९९–मण्डलात्मिका सामसम्पत्ति, और तदनुबन्धिनी यज्ञपरिपूर्णता | ,, |
| १२००–नादात्मक स्वर के द्वारा शब्दाभिव्यक्ति | १२७५ |
| १२०१–हिङ्कार-समन्वयोपक्रम | ,, |
| २–स्वरसन्धानात्मक हिङ्कार | ,, |
| ३–हिं-हिं-हुँ-हुँ-और हिङ्कार | ,, |
| ४–हिङ्कार-नाम-समन्वय | ,, |
| ५–प्राकृतिक-यज्ञ, और तदावश्यक-सम्पत्ति-रूप साम | ,, |
| ६–सप्रणव-हिङ्कार का समन्वय | ,, |
| ७–प्राकृतिक सामतत्त्व का संग्राहक हिङ्कार | ,, |
| ८–हृद्यभाव का स्वरूप-समर्पक हिङ्कार | ,, |
| ९–अनिरुक्तभावात्मक हृद्य हिङ्कार | ,, |
| १०–ऋङ्मन्त्र का आदि, और तदनुप्राणित-'हिं-हिं-ओम्' रूप सप्रणव-हिङ्कार | ,, |
| ११–हृद्यभाव का संग्राहक हिङ्कार | ,, |
| १२–मण्डलभाव का संग्राहक ओङ्कार | ,, |
| १३–सप्रणव हिङ्कारोच्चारण का सोपपत्तिक समन्वय | ,, |
| १४–नादात्मक-प्राण-सम्बन्धी हिङ्कार | ,, |
| १५–नादप्राण की उत्तरावस्था, और हिङ्कार | ,, |
| १२१६–नासास्थानस्थित हिङ्कारप्राण, और जीवनलक्षण-श्वास-प्रश्वास | ,, |
| १२१७–नासाच्छिद्र का अवरोध, और सानुनासिक हिङ्कार | १२७५ |
| १८–ऋङ्मन्त्र, और वाक्तत्त्व | ,, |
| १९–सामिधेनियों का अनुवचन, और दिव्याग्नि का आधान | ,, |
| २०–योषा-वृषा का दाम्पत्यभाव, और प्रजनन-कर्म्म | ,, |
| २१–दैवात्मप्रजनन की कामना, और हिङ्कार-पूर्वक-सामिधेनी-ऋचाओं का अनुवचन | १२७६ |
| २२–हिङ्कारपूर्वक-अनुवचन की द्वितीया-उपपत्ति का समन्वय | ,, |
| २३–हिङ्कार-रूप वृषाप्राण | ,, |
| २४–ऋक्-रूप-योषाप्राण | ,, |
| २५–अनिरुक्त-प्राणतत्त्व | ,, |
| २६–निरुक्ता-वाग्देवी | ,, |
| २७–प्राण का प्रातिस्विकरूप, और अनिरुक्तता | ,, |
| २८–उपांशुरूप से हिङ्कारानुगमन, और प्राण की अनिरुक्तता का संस्मरण | ,, |
| २९–उपांशु - उच्चारणोपपत्ति-समन्वय-रूपा-तृतीया-उपपत्ति | ,, |
| ३०–मन्त्रोपात्त-प्र - आ -सम्-अनु-इत्यादि उपसर्गों से अनुप्राणित-तात्त्विक–प्रयोजनों का दिग्दर्शनोपक्रम | ,, |
| ३१–आगमनभाव, और 'आङ्' उपसर्ग | ,, |
| ३२-गमन (प्रयाण) भाव, और 'प्र' उपसर्ग | ,, |
| ३३–उभयलोक-वस्तुसङ्गमन, और 'सम्' उपसर्ग | ,, |
| ३४–वस्तुपृष्ठानुगत सम्बन्ध की अभिव्यक्ति, और 'अनु' उपसर्ग | ,, |
| १२३५–महारम्भ—उपसर्गभाव | ,, |

१२३६–सामिधेनी-ऋचाओं के उपसर्ग–निबन्धन प्रवती-आवती-समवती-अनुवती आदि नामों का संस्मरण १२७६
३७–प्रकृत-दर्शपूर्णमासयज्ञ ( इष्टि ), और पार्थिवाग्नि में सावित्ररूप दिव्याग्नि का आधान ,,
३८–सावित्राग्नि की गायत्राग्निरूप में परिणति का रहस्यात्मक समन्वय ,,
३९–प्राणात्मक सौरतेजोमय 'सावित्र' तत्त्व का स्वरूप दिग्दर्शन १२७७
४०–भूपिण्डरूपा गौ ,,
४१–गौ के गर्भ में प्रतिष्ठित सौर तेज की गायत्रीरूप में परिणति ,,
४२–गायत्री शब्द का औपासनिक निर्वचन ,,
४३–गायत्री-तत्त्व के विभिन्न दो विवर्त्तों का संस्मरण ,,
४४–पार्थिव–गायत्रीरूपा भूतगायत्री ,,
४५–सौर-सावित्र-तेज का प्रतिफलन, और ज्योतिर्म्मयी-प्राणगायत्री ,,
४६–सौर–तेजोमयी-गायत्री, और सामिधेन्यनुवचनकर्म्म ,,
४७–तेजोमयी सौर-गायत्री के अवान्तर दो महिमामय विवर्त्त ,,
४८–छायामयी गायत्री (१) ,,
४९–प्रकाशमयी गायत्री (२) ,,
५०–पार्थिवी भूतगायत्री (१) ,,
५१–दिव्या ज्योतिर्म्मयी देवगायत्री (२) ,,
५२–दिव्या छायामयी पितृगायत्री (३) ,,
५३–गायत्री से अनुप्राणित-रहस्यात्मक एति-भाव, और प्रेति भाव ,,
५४–एक प्रासङ्गिक-प्रश्न, और तत्समाधान-प्रयास ,,
१२५५–आगमनात्मक 'आ' भाव, और सावित्री ,,
१२५६–गमनात्मक 'प्र' भाव, और गायत्री १२७८
५७–महत्त्वपूर्ण विप्रतिपत्तिका स्वरूप-विश्लेषण ,,
५८–आगमनभाव, और सौर-सावित्रतेज ,,
५९–गमनभाव, और सौर-गायत्रतेज ,,
६०–सूर्य्यानुगत सहजसम्बन्ध, और सावित्री ,,
६१–पृथिव्यनुगत सहज-सम्बन्ध, और गायत्री ,,
६२–'गायत्री' प्रयोगानुगता विप्रतिप्रति का निराकरण ,,
६३–छन्द-देवता-स्वर-युक्ता मन्त्रवाक् का आकर्षण, और 'एति' भाव ,,
६४–यज्ञनिबन्धन-पारिभाषिक-एतिप्रेति-भाव, और विप्रतिपत्ति का समन्वय ,,
६५–एति-प्रेति-भाव, और आधिदैविक गायत्रभाव का समावेश ,,
६६–श्वास-प्रश्वासात्मक-उदान, और प्राण ,,
६७–एति-प्रेति-भावनिबन्धना द्वितीया उपपत्ति का समन्वय ,,
६८–रेतःसेकानुगत-एति-प्रेति भाव, और गायत्री ,,
६९–तृतीया उपपत्ति का तात्त्विक-समन्वय ,,
७०–यज्ञपुरुषानुबन्धी आत्मभाव, और शारीरभाव का संस्मरण १२७९
७१–भोग्यशरीर, और भोगायतन ,,
७२–आत्मा का अन्तर्वित्त ,,
७३–आत्मा का बाहिर्वित्त ,,
७४–वित्तात्मक-पशुभाव ,,
७५–पशुसर्गानुबन्धी एति, और प्रेतिभाव ,,
७६–बहिर्वित्तलक्षणा पशुसम्पत्ति का संग्रह ,,
७७–अन्तर्वित्तलक्षणा शरीरसम्पत्ति का संग्रह ,,
१२७८–दैवात्मा में पशुसम्पत्ति का आधान, और एति-प्रेति की चतुर्थी उपपत्ति का समन्वय ,,

१२७६–बहिर्वित्तलक्षणा-बाह्या-पशु-सम्पत्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन १२७६
८०–भूत-भौतिक-पदार्थों से अनुप्राणित-सम्भूति, और विनाशधर्म्म ”
८१–विश्व, और संसार ”
८२–दर्शनविशेष का क्षणिक-वाद ”
८३–गतिभाव के गर्भ में समाविष्ट-आगतिभाव ”
८४–गातिभावानुबन्धी-विनाशधर्म्म ”
८५–आगतिभावानुबन्धी-सम्भूतिधर्म्म ”
८६–सम्भूति, और विनाश का सह-समन्वय ”
८७–चल, और विनाशभाव ”
८८–अचल, और सम्भूतिभाव ”
८९–चलाचलमिदं सर्वम् ”
९०–चलभाव, और प्रेति ”
९१–अचलभाव, और एति ”
९२–आदान-विसर्गात्मक-एति-प्रेति-भाव १२८०
९३–विस्रंसनात्मक क्षरणधर्म्म से प्रजापति का विस्रंसन ”
९४–क्षतिपूरक-भैषज्ययज्ञ ”
९५–अर्चंश्चरति, और सौररश्मियों का प्राणन-अपानन-व्यापार ”
९५–प्राणन-अपानन-गति का उदाहरण के द्वारा स्वरूप-समन्वय ”
९७–एति-प्रेति-भावापन्न-गायत्र-प्राण की विश्वव्यापकता का समन्वय ”
९८–'गायत्री-वा-इदं सर्वम्' ”
९९–एति-प्रेति-भावात्मक-अनुवचन की पाँचवीं-उपपत्ति ”
१३००–आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक-यज्ञके समन्वय से अधियज्ञ ( मानवकृत-वैधयज्ञ ) का स्वरूप निर्म्माण ”
१३०१–एति-प्रेति-रूपा लोकसमृद्धि का पारिभाषिक-समन्वय १२८१
२–सामिधेनी-कर्म्मानुगत अवान्तर-प्रश्नों की वैज्ञानिकी-उपपत्ति का समन्वयोपराम ”
३–सामिधेन्यनुवचन-कर्म्मानुबन्धिनी प्रथमा ऋचा का पावन-संस्मरण (१) ”
४–ऋतुपरक-प्रथममन्त्रार्थ-समन्वय ”
५–अग्निपरक-प्रथममन्त्रार्थ समन्वय ”
६–अग्निपक्ष की राद्धान्तता, और प्रथममन्त्र ”
७–वाज-अभिद्यव-हविष्मन्त-घृताची-रूप यज्ञाग्नि के स्वरूप-संरक्षक-भाव ”
८–वाज, और अन्न ”
९–वाज का पारिभाषिक-विशेष-अर्थ ”
१०–पारमेष्ठ्या-तत्त्वत्रयी ”
११–वाजात्मक-पारमेष्ठ्यसोम ”
१२–सोमापहरण करनेवाली गायत्री ”
१३–'वीर्य्यं' वै वाजाः' ”
१४–चान्द्रसोम, और हविर्यज्ञ ”
१५–ज्योतिर्म्मय सोम, और ज्योतिष्टोम-यज्ञ ”
१६–वाजसोमानुगत-वाजपेययज्ञ ”
१७–ब्रह्मणस्पतिरूप वाजात्मक-सोम ”
१८–वाजपेय-यज्ञात्मक बृहस्पतिसवका संस्मरण ”
१९–बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति ”
२०–इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः ”
२१–बृहस्पतिग्रह, और लुब्धकबन्धु ”
२२–ब्रह्मात्मक ब्राह्मण, और पारमेष्ठ्य-बृहस्पति ”
२३–सौर-क्षत्रात्मक-इन्द्र ”
२४–ब्रह्म वै वाजपेयः ”
२५–वाज, और वाजी-प्राण ”
२६–अश्वजातिविशेष, और वाजी ”
१३२७–वाजरस की सर्वव्याप्ति का पारिभाषि-समन्वय ”

१३२८–वाजो वै पशव: (१) १२८२
२९–ओषधय: खलु वै वाजा: (२) ,,
३०–ऋतवो वै वाजिन: (३) ,,
३१–अग्नि-समर्द्धक वाजरस ,,
३२–पारमेष्ठ्य-वाज के द्वारा ब्रह्माग्नि का समर्द्धन ,,
३३–सौरवाज के द्वारा सम्वत्सराग्नि का प्रज्ज्वलन ,,
३४–चान्द्रवाज के द्वारा ओषध्यग्नि का पोषण ,,
३५–ओषधिवाज के द्वारा शारीराग्नि का सन्तर्पण ,,
३६–अग्निस्वरूपरक्षक-वाजतत्त्व १२८३
३७–पक्षाग्निरूप-'अभिद्यव' ,,
३८–अवयवरक्षानुगता अवयवी की रक्षा ,,
३९–'अभिद्यु' नामक पर्वाग्नियों के द्वारा अवयवी अग्नि का स्वरूप-रक्षकत्व ,,
४०–हवि से अनुगत ओषधिरूप अन्न, और भौतिक-शरीर ,,
४१–अन्न, और भूत का मर्त्यपशुत्व ,,
४२–'हविष्मन्त:' और पशु ,,
४३–अन्तरिक्षस्था आज्यमात्रा ,,
४४–आज्याहुति, और अग्नि की समिद्धता ,,
४५–जुहू-स्थानीय 'घृताची' ,,
४६–स्वर्गसुखार्थी-(मुमुक्षु) यजमान ,,
४७–प्रथम-सामिधेनी-मन्त्रार्थ-समन्वय ,,
४८–द्वितीय-सामिधेनी-मन्त्र का पावन-संस्मरण ,,
४९–याज्ञिकी परिभाषा, और भूलोकरूप 'बर्हि' १२८२
५०–आग्नेय-सौम्य-समशीतोष्ण-पितर ,,
५१–अन्नपितरों का संस्मरण ,,
५२–सूर्य्यलोकोपलक्षित-उष्णभाव ,,
५३–चन्द्रलोकोपलक्षित-शीतभाव ,,
१३५४–भूलोकोपलक्षित-समशीतोष्णभाव ,,
१३५५–बर्हि-आप:, और वेनतत्त्वका संस्मरण १२८४
५६–दिव्याग्निगत-पितर, और अग्निष्वात्ता ,,
५७–सोमगत-पितर, और सोमसत् ,,
५८–भूलोकगत-पितर, और बर्हिषत् ,,
५९–पार्थिव अप्तत्त्व, तथा दिव्य अग्नि-तत्त्व के समन्वय से पार्थिवप्रजा का समुद्भव ,,
६०–बर्हि शब्दों की अनेकधा व्याप्ति ,,
६१–'अग्नि: सर्वा-देवता:' का संस्मरण ,,
६२–अग्निकर्म्म का वैधयज्ञ की दृष्टि से समन्वय, और मन्त्रार्थ-स्पष्टीकरण ,,
६३–आङ्-उपसर्ग, और आवती ऋचा १२८५
६४–ब्राह्मण की सप्तम-कण्डिका का निष्कर्ष ,,
६५–'प्र', लौर पराग्भाव ,,
६६–'आ', और अर्वाग्भाव ,,
६७–'प्रवो वाजा अभिद्यवे०' ,,
६८–'अग्न आयाहि वीतये' ,,
६९–एक प्रासङ्गिक मत, और उस का अवैज्ञानिकत्व ,,
७० श्रुति के शब्दों में मन्त्र के वैज्ञानिक-अर्थ का स्पष्टीकरण ,,
७१ अन्नसम्पत्ति, पशुसम्पत्ति, वीर्य्य-सम्पत्ति, एवं भोग्यशक्ति-चतुष्टयी का संस्मरण ,,
७२ अन्नसम्पत्ति, और वाज ,,
७३ पशुसम्पत्ति, और हविष्मन्त: ,,
७४ अभिद्यवात्मक-पक्षभाव ,,
७५ घृताची-पद, और अग्निवीर्य्यात्मक-अन्नादवीर्य्य ,,
७६ मन्त्रोपात्त अत्यन्त-रहस्यपूर्ण-'घृताची' पद ,,
७७ पुरातन-मानुषेतिवृत्त के द्वारा 'घृताची' पद का समन्वयोपक्रम ,,
१३७८ वेदशास्त्र-सम्मत-मानवेतिवृत्तों का सर्वात्मना समर्थन ,,

१३७९–स्वयम्भू ब्रह्मा के मानसपुत्र-'विवस्वान्' १२८५
८०–सूर्य्यवंश के आदिप्रवर्त्तक विवस्वान् ,,
८१–विवस्वान् के श्रद्धादेव, और यम नामक औरसपुत्र ,,
८२–वैवस्वतमनु का संस्मरण ,,
८३–मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह, तस्य मनुष्या विशः ( प्रजाः ) ,,
८४–भारतवर्ष के प्रथम सम्राट्-श्रद्धादेवमनु ,,
८५–उत्तरकुरुक्षेत्र, और प्रथमसम्राट् की आवासभूमि ,,
८६–प्रथमसम्राट् का भारत से साक्षात्-सम्बन्धाभाव १२८६
८७–प्रथमसम्राट् के इक्ष्वाकुप्रमुख-दस पुत्र, एवं 'इला' नाम की कन्या ,,
८८–सूर्य्यवंशवर्त्तक-भारतीय-सम्राट्-इक्ष्वाकु ,,
८९–चन्द्रवंशप्रवर्त्तिका 'इला' ,,
९०–सूर्य्यवंशोत्पन्न महाराज-'निमि' ,,
९१–विदेहराज्य, और अयोध्याराज्य का अभेद ,,
९२–अयोध्याधिपति के कुलपुरोहित वसिष्ठ-महर्षि ,,
९३–निमि के यज्ञिय-पुरोहित-महर्षि-गोतम ,,
९४–पारस्परिक अभिशाप, और निमिकी भस्मावशेषता ,,
९५–मन्थन के द्वारा निमिका पुनरुज्जीवन ,,
९६–मन्थनानुगत मिथिभाव ,,
९७–मिथिभावानुबन्धी-'माथव' शब्द ,,
९८–'विदेघ-माथव' ,,
९९–विदेह माथव की भीषण प्रतिज्ञा, और स्वतन्त्र-राज्य संस्थापन-संकल्प ,,
१४००–अग्निदेव का मुखरूप आहवनीय में स्तम्भन, और अयोध्या का परित्याग ,,
१–पुरोहित-गोतम की सम्बोधन-परम्परा, और विदेह-माथव का मौनव्रत १२८७
१४०२–'तन्त्वा घृतस्नवीमहे' का उच्चारण, और माथव के मुख में अग्निका प्रज्वलन १२८७
३–अग्निप्रज्ज्वलनस्थान, और विदेह का स्वतन्त्रराज्यनिर्म्माण ,,
४–सदानीरा-पर्य्यन्त विदेहराज्यकी व्याप्ति ,,
५–सरस्वती क्षेत्र, और सदानीरा ,,
६–करतोया-सदानीरा-ब्राह्मदा-नदी ,,
७–शङ्ख, और लिखित के धर्म्मानुबन्धी-पावनचरित्र का संस्मरण १२८८
८–कुरही, और गण्डकी ,,
९–करतोया विलंघनात्-रूपा-प्रायश्चित्तसीमा ,,
१०–कोसलविदेहों की मध्यसीमा ,,
११–पुरोहित-गोत्रानुबन्धी-क्षत्रियों के वैवाहिक-सम्बन्ध ,,
१२–विदेह देश, और आज का तिरहुत ,,
१३–मिथि-मथु-माथव, और मैथिल ,,
१४–आख्यान के संक्षिप्त स्वरूप का विराम ,,
१५–'घृताच्या' पद, और अग्नि में प्रचण्ड-वीर्य्य का आधान ,,
१६–'वीर्य्यमेवास्मिन् दधाति', और महत्त्वपूर्ण-घृताची-पद का समन्वयोपराम १२८९
१७–'देवाञ्जिगाति सुम्नुयुः' मन्त्रभाग का पारिभाषिक-समन्वय ,,
१८–अग्नि का महत्त्व-प्रतिपादन ,,
१९–अनिरुक्तभावापन्ना आग्नेयी-ऋचा ,,
२०–अनिरुक्त-भावोपपत्ति ,,
२१–'वीतये' पदानुगत-रहस्यार्थ का उपक्रम ,,
२२–लोकसम्पत्ति के मूलाधिष्ठाता-परमेष्ठी ,,
२३–अपांप्रणयनकर्म्मोपपत्ति का संस्मरण ,,
१४२४–'प्राणा वा आपः', और 'आपो वै प्राणः' १२९०

१४२५–'आपोमयः प्राणः' १२६१
२६–'वागेव साऽसृज्यत' ,,
२७–अम्भः-मरीची-मरः-आपः-का संस्मरण ,,
२८–अप्तत्त्व की सर्वव्याप्ति के सम्बन्ध में श्रुतिवचन ,,
२९–आपोमय-परमेष्ठी के सुप्रसिद्ध मनोता-भृगु, और अङ्गिरा ,,
३०–पारमेष्ठ्य-समुद्र में अभिव्याप्त अग्निपुञ्जरूप-'धूमकेतु' ,,
३१–सहस्र-धूमकेतु ( टि० ) ,,
३२-(क)-सहस्रमपरे वदन्ति केतूनाम् (टि०) ,,
३२-(ख)-किरण-वक्रशिख-विशिख-ब्रह्मदण्ड-विकच-तस्कर-आदि धूमकेतु ,,
३३–एक धूमकेतु के द्वारा एक रोदसी-त्रिलोकी (सौरब्रह्माण्ड) की अभिव्यक्ति ,,
३४–धूमकेतुरूप अग्निपुञ्ज का प्रथम-प्रवर्ग्य, और तद्द्वारा सूर्य्यस्वरूप की अभिव्यक्ति ,,
३५–सत्य-अग्निपिण्ड की अभिव्यक्ति ,,
३६–गतिशील-धूमकेतु ,,
३७–धूमकेतु से उत्पन्न सूर्य्य का स्वस्थाने-गतिशीलत्त्व, एवं परमेष्ठी के परितः सूर्य्य का परिभ्रमण ,,
३८–सौरब्रह्माण्ड से पूर्वा-स्थिति का संस्मरण ,,
३९–ऋत-पारमेष्ठ्य-समुद्र में प्रचण्डवेग से परिभ्रममाण-गतिशील-धूमकेतुरूप अग्निपुञ्ज ,,
४०–गतिविभेदानुगत धूमकेतु ,,
४१–प्रतिबिन्दुगति का पारिभाषिक-वैषम्य, और गतिशील धूमकेतु ,,
४२–केन्द्रानुगत-गतिवैषम्य से अनुप्राणिता समानगति ,,
१४४३–घटिकायन्त्रोदाहरण के माध्यम से वस्तुस्थिति का अंशतः स्वरूप-समन्वय ,,
१४४४–सत्यभावशून्य-(केन्द्ररहित) ऋताग्नि-पुञ्जरूप धूमकेतु की सहज-स्थिति का संस्मरण १२६२
४५–सूर्य्य के उपग्रहों का सममण्डलात्मक-परिभ्रमण ,,
४६–अग्निपुञ्जरूप धूमकेतुओं का विषम-मण्डात्मक-परिभ्रमण ,,
४७–त्रिंशत्-सहस्रवर्षावधि से अनुप्राणित-धूमकेतु-परिभ्रमणकाल ,,
४८–केन्द्रविरहित धूमकेतु का परिभ्रमणारम्भ ,,
४९–पारमेष्ठ्य वराहवायु के द्वारा संवरण, और व्याप्ति धर्म्म से केन्द्रनिम्र्माण का उपक्रम ,,
५०–अग्निपुञ्जखण्डों की प्रवर्ग्यरूप में परिणति ,,
५१–प्रवर्ग्यखण्डों से क्रमशः शनैश्चर-बृहस्पति-देवसेनाग्रह (१०८)-मङ्गल-भूपिण्ड-बुध-आदि ग्रहोपग्रहों की स्वरूपाभिव्यक्ति ,,
५२–केन्द्रस्थित--अग्निपुञ्ज के आधारपर गतिवैषम्य से ग्रहोपग्रहों की स्वरूपाभिव्यक्ति ,,
५३–सूर्य्यपुत्र शनैश्चर ,,
५४–विधि के अलातचक्र की परिभ्रमणलीला ,,
५५–सूर्य्य से अन्यान्य ग्रहों की उत्पत्ति-परम्परा की उपक्रान्ति ,,
५६–पारिपार्श्वक-नामक सौरग्रहों का संस्मरण ,,
५७–यज्ञप्रक्रिया, और विश्वाभिव्यक्ति ,,
५८–यज्ञप्रक्रियोपराम, और विश्वविलयन ,,
५९–अहरागम, और विश्वाविर्भाव ,,
६०–रात्र्यागम, और विश्वतिरोभाव ,,
६१–'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' निबन्धन धारावाहिक-सनातनचक्र ,,
१४६२–न विश्वमूर्त्ते रवधार्य्यते वपुः ,,

१४६३–दृष्टिपथानुगामी ज्योतिर्म्मय उपग्रहों का सूर्य्योपग्रहत्त्व १२६२
६४–अनुष्णाशीत-भूपिण्ड की सुर्य्योपग्रहत्त्व के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति, एवं तन्निराकरण-प्रयास ,,
६५–स्वज्योतिः - परज्योतिः—रूपज्योतिः-अज्योतिः–भेदेन ज्योतिर्विवर्त्तों का संस्मरण ,,
६६–स्वतः-प्रकाशित ज्योतिर्म्मण्डल, और तद्रूप-'स्वज्योति'र्भाव ,,
६७–पारिभाषिक–'सूर्य्य', और स्वज्योतिः १२६३
६८–स्वाती-चित्रा-लुब्धक-अभिजित्–आदि स्वज्योतिर्घन-नक्षत्रों का सूर्य्यत्त्व ,,
६९–स्वातीरूप सविता ,,
७०–अन्यप्रकाश से प्रकाशित वीध्र-पिण्ड, और तद्रूप 'परज्योति'र्भाव ,,
७१–पारिभाषिक 'चन्द्रमा', और 'परज्योतिः' ,,
७२–शनैश्चर के आठ, बृहस्पति के चार, मङ्गल के दो, भूपिण्ड का एक परज्योतिर्म्मय उपग्रह, और तत्संख्यानुगत-पारिभाषिक-चन्द्रमा ,,
७३–वीध्रधर्म्म की अभिव्यक्ति, और चाकचिक्य ,,
७४ मृद्भाव की अधिकता, और प्रकाशरश्मियों के प्रसार का निरोध ,,
७५–रूप, और ज्योतिः-भाव ,,
७६–रूपात्मक ज्योतिर्भाव, और रूप-ज्योतिः ,,
७७–चतुर्थ-अज्योतिर्विभाग का स्वरूप-समन्वय ,,
१४७८–वायु, चन्द्रलोकस्थ गन्धर्वप्राण-अष्टविध-चान्द्र-सौम्यजीव-आदि का अज्योतिर्म्मयत्त्व ,,
१४७९–पारदर्शकता के प्रतिबन्धक अत्रिप्राण का संस्मरण १२६३
८०–पृथिवी का पारम्परिक-ज्योतिर्भाव, और विप्रतिपत्ति का निराकरण ,,
८१–ग्रहोपग्रहभाव के माध्यम से संस्मरणीय-सूर्य्य, और पृथिवी १२६४
८२–सूर्य्य का प्रारम्भिक महतोमहीयान् अलातचक्रत्त्व ,,
८३–आज के त्रैलोक्य-विभाजन का आरम्भ में अभाव, और द्यावापृथिवी का अभिन्नत्त्व ,,
८४–हस्तस्पर्श-समतुलित - द्युलोकात्मक-सूर्य्य, और आरम्भस्थिति का संस्मरण ,,
८५–'उन्मृश्या हैव द्यु रास' ,,
८६–प्रवर्ग्य-भागानुबन्धी-ग्रहोपग्रहभावों का दृष्टिभेद से स्वरूप-समन्वय ,,
८७–प्राजापत्य मन का ज्ञानप्रधानत्त्व ,,
८८–प्राजापत्या वाक् का अर्थप्रधानत्त्व ,,
८९–प्राजापत्य प्राण का क्रियाप्रधानत्त्व ,,
९०–प्राजापत्या गति का अर्करूप से बाह्यवितान ,,
९१–देवगति (प्राणगति) के माध्यम से लोकविभाजन ,,
९२–त्रिसंस्थप्रजापति का संस्मरण ,,
९३–सृष्टिनिमित्तभूत अक्षरप्रजापति ,,
९४–ब्रह्मलक्षणा स्थिति, और इन्द्रलक्षणा गति ,,
९५–विष्णुलक्षणा आगति, और गतित्रयी से अभिन्न ह्यक्षर-प्रजापति ,,
९६–त्र्यक्षरात्मक एकाक्षरमूर्त्ति प्रजापति ,,
९७–'तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयत्', और गतित्रयी का समन्वय ,,
१४९८–श्रुति का 'वीतये' पद, और उसके 'वी'-'त'-'ये' रूप तीन अक्षर १२६५

१४६६-लोकवितानविज्ञान—निबन्धन-अन्ना-न्नादविज्ञान का संस्मरण १२६५
१५००-देवताओं के द्वारा त्रैलोक्य का निर्म्माण, और तत्सम्बन्ध में प्रश्न ,,
१५०१-प्रश्नसमाधानात्मिका-'इतः प्रदाना-द्ध्येते-उपजीवन्ति' श्रुति का संस्मरण ,,
२-लोकानुगता अन्नसम्पत्ति, और तत्-प्रदान-द्वारा देवसन्तर्पण ,,
३-पृथिवी--अन्तरिक्ष-द्यौ-रूप त्र्यक्षरा-त्मक-तीनों लोकों की अन्नानुगता जीवनसत्ता, और 'वीतये' रूपा अक्ष-रत्रयी ,,
४-यज्ञसम्पत्तिरूपा लोकसम्पत्ति का वरी-यस्त्व ,,
५-'भारत' नामक ब्राह्मण अग्नि से प्रार्थना ,,
६-'अग्न आयाहि वीतये' का पारिभा-षिक समन्वय ,,
७-'गृणानो हव्यदातये' का पारिभाषिक समन्वय ,,
८-'यजमान' शब्द का पारिभाषिक अर्थ समन्वय ,,
६-यज्ञसम्पत्ति के भोक्ता वास्तविक-यजमान ,,
१०-'नि होता सत्सि बर्हिषि' मन्त्रभाग का पारिभाषिक-समन्वय १२६६
११-क्रमप्राप्ता तृतीया सामिधेनी ऋचा का पावन-संस्मरण ,,
१२-मन्त्रोपात्त 'वाजा' पाद, और तदुपल-क्षित त्रिवृत्स्तोमात्मक भूलोक ,,
१५१३-मन्त्रोपात्त-'घृताच्या' पद, और तदु-पलक्षित पञ्चदशस्तोमात्मक अन्त-रिक्षलोक ,,
१५१४-मन्त्रोपात्त-'अभिद्यवः' पद, और तदुपलक्षित एकविंशस्तोमात्मक द्युलोक १२६६
१५-'अग्न आयाहि वीतये' इत्यादि प्रथ-ममन्त्र, और पृथिवी का संग्रह ,,
१६-'तं त्वा समिद्भि०' इत्यादि द्वितीय-मन्त्र, और अन्तरिक्ष का संग्रह ,,
१७-'स नः पृथुश्रवाय्यम्०' इत्यादि तृतीय मन्त्र, और द्युलोक का संग्रह ,,
१८-मन्त्रोपात्त-'बर्हि' पद, और पार्थिवा-ग्निपर्व ,,
१६-मन्त्रोपात्त-'घृतेन' पद, और आन्त-रिक्ष्याग्निपर्व ,,
२०-मन्त्रोपात्त-'पृथु' पद, और दिव्या-ग्निपर्व ,,
२१-भूलोकोपलक्षित-यज्ञाग्नि का आह्वान, और 'अग्न आयाहि०' ,,
२२-'इत एत उदारुहन्' मूलक अङ्गिरा-अग्नि का संस्मरण ,,
२३-अर्चिषि भृगुः सम्बभूव ,,
२४-अङ्गारेष्वङ्गिराः सम्बभूव ,,
२५-अथ यदङ्गारा अवशान्ताः पुनरुददी-प्यन्त-अथ बृहस्पतिरभवत् ,,
२६-तेजः स्नेह-तत्त्वों का अन्तर्य्यामात्मक सम्मिश्रण, और वस्तुस्वरूपनिष्पत्ति ,,
२७-अङ्गिरा के त्रिविध महिमा-विवर्त्त ,,
२८-भृगु के त्रिविध महिमा-विवर्त्त १२६७
२६-स्नेदलक्षणा-भृगुत्रयी का संकोचभाव ,,
३०-तेजोलक्षणा-अङ्गिरात्रयी का विकास भाव ,,
३१-भृगुत्रयी, और हृदयानुगतित्त्व ,,
३२-अङ्गिरात्रयी, और परिध्यनुगतित्त्व ,,
३३-अङ्गरसात्मक अङ्गिरा ,,
१५३४-तस्मादङ्गिरसोऽधीयान ऊर्ध्वस्तिष्ठति

१५३५–अङ्गिरोऽग्नि—निबन्धन भूत, और प्राण १२६७
३६–प्रत्यक्षदृष्ट अङ्गार, और भूतात्मक अङ्गिरोऽग्नि ,,
३७–भूतप्रतिष्ठारूप तत्त्वभाव, और प्राणात्मक अङ्गिरोऽग्नि ,,
३८–प्राणात्मक अङ्गिरा-ऋषि ,,
३९–तत्प्राणपरीक्षक—तद्यशोनामान्वित अङ्गिरा नामक-मानव- महर्षि का संस्मरण ,,
४०–अन्नागमन से प्राणोद्दीप्ति, और परम्परया संसिद्ध–'भूतरक्षाकर्म्म' ,,
४१–'समिद्भिर्ह्यतमङ्गिरस ऐन्वत' का समन्वय ,,
४२–'सामिधेनी' पद का समन्वय ,,
४३–समिद्ध अग्नि में वीर्य्याधान, और सामिधेनीपद ,,
४५–'यविष्ठ्य' रूप अग्नि का प्रातिस्विक नाम ,,
४६–अजर-अमर, अतएव नित्ययुवा-यविष्ठ्य-अग्निदेव ,,
४७–समिन्धन-प्रक्रिया के इतिहास का संस्मरण, और मन्त्रार्थ-समन्वय ,,
४८-अन्तरिक्षलोक-सम्पत्ति का संग्रह १२९८
४९–क्रमप्राप्त-चतुर्थी सामिधेनी-ऋचा का पावन-संस्मरण ,,
५०–इयं-अयं-इदं, और पृथिवीलोक ,,
५१–एष:, और अन्तरिक्षलोक ,,
५४–असौ-अद:-और द्युलोक ,,
५३–पृथु, और द्युलोक ,,
५४–श्रवणीय द्युलोक ,,
५५–सर्वसुखैकसाधक द्युलोक ,,
५६–अवाच्य-दिव्यलोक ,,
१५५७–सुवीर्य्य-द्युलोक ,,
१५५८–क्रमप्राप्त पञ्चमी-सामिधेनी-ऋचा का पावन-संस्मरण १२९९
५९–ताप, और अग्नि का प्रातिस्विक-धर्म्म ,,
६०–प्रकाश, और इन्द्र का प्रातिस्विक धर्म्म ,,
६१–इन्द्रसम्बन्धानुगामी चन्द्रमा ,,
६२–तापविरहिता चन्द्रिका ,,
६३–ताप, और प्रकाश का पृथगधर्म्मत्व ,,
६४–यज्ञाधिपति वृषा-इन्द्र ,,
६५–वृषा-इन्द्र से समन्विता यज्ञाग्नि की वृषारूपता का समन्वय ,,
६६–क्रमप्राप्ता ६ ठी सामिधेनी-ऋचा का पावन-संस्मरण ,,
६७–अग्नि के अश्वस्वरूप का संस्मरण ,,
६८–इन्द्रयुक्त दिव्याग्नि का अश्वरूपत्त्व ,,
६९–तरणिकिरणसङ्ग से पानीय-पिण्डात्मक चन्द्रमा के अर्द्धभाग की प्रकाशरूप में परिणति ,,
१५७०–सूर्य्यदिगनुगत-दृश्यार्द्धभूभाग का प्रकाशमयत्त्व ,,
७१–अप्रकाशित शेषार्द्धभाग १३००
७२–दिति-अदिति-की स्वरूप-स्थिति ,,
७३–अध्वरवन्त त्रिचोपपत्ति का स्मरण ,,
७४–भूच्छाया का पारिभाषिक-स्वरूप ,,
७५–अदितिभाग के अप्रत्यक्ष का समन्वय ,,
७६–अग्नि के अश्वस्वरूप का इतिवृत्त ,,
७७–'अश्वो न देववाहन:' का संस्मरण ,,
७८–मन्त्रादि में पठित नकार का पारिभाषिक अर्थ ,,
७९–मन्त्रमध्य में पठित इवार्थक नकार ,,
८०–'तं हविष्मन्त ईडते' का संस्मरण ,,
८१–भावशुद्धि का प्रवर्त्तक स्तुतिकर्म्म ,,
८२–'नम उक्तिं विधेम' ,,
८३–वाचिकोपासना, और अग्नि ,,
१५८४–कर्म्मोपासना, और अग्नि १३०१

१५८५–क्रमप्राप्ता सातवीं सामिधेनी-ऋचा का पावन संस्मरण १३०१
८६–मन्त्रार्थसमन्वय ,,
८७–क्रमप्राप्ता आठवीं सामिधेनी-ऋचा का पावन-संस्मरण ,,
८८–पार्थिव-अग्नि के होतृत्त्व का वैज्ञानिक-समन्वय, और मन्त्रश्रुति ,,
८९–अन्तःशक्तिरूप प्राणतत्त्व ,,
९०–विविधरूप-युक्त ऋषिप्राण ,,
९१–सौर, और पार्थिव-प्राणद्वयी का संस्मरण ,,
९२–स्वज्योतिर्घन-सूर्य्य, और रूपज्योतिर्घना पृथिवी ,,
९३–देवदेवता, और असुर १३०२
९४–'अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्' का संस्मरण ,,
९५–तेनेमां सर्वां पृथिवीमविन्दन्त, और पृथिवी-रूपा-वेदि ,,
९६–देवता, और असुरों की सनातन-स्पर्द्धा से अनुप्राणित क्रान्तिवृत्तीय-परिभ्रमण-विज्ञान ,,
९७–'अश्वो न देववाहनः' मन्त्रभाग का पारिभाषिक-समन्वय ,,
९८–दिति रहस्यात्मक-स्वरूप-समन्वय ,,
९९–अदिति का रहस्यात्मक-स्वरूप-समन्वय ,,
१६००–'प्राजापत्याः पस्पृधिरे' का संस्मरण १३०३
१–आज के युग का दुराग्रहात्मक भ्रान्त तर्क, और तन्निराकरण ,,
२–भूपिण्ड के तात्त्विक-स्वरूप का संस्मरण ,,
३–गायत्री, और पृथिवी ,,
४–'या वै सा गायत्री-आसीत्, इयं वै सा पृथिवी', का रहस्यात्मक-समन्वय ,,
५–अप्रथयत्, और पृथिवी ,,
६–अदिति, और पृथिवी ,,
१६०७–दिति, और पृथिवी ,,
१६०८–देवता, और असुरों के मध्य में प्रतिष्ठित-परिभ्रममाण-भूपिण्ड का तात्त्विक समन्वय १३०३
९–देवता, और असुरों के द्वारा गायत्री का आह्वान ,,
१०–देवताओं के दूत (प्रतिनिधि) अग्निदेव ,,
११–असुरों के अग्रदूत सहरक्षा ,,
१२–अग्नि, और सहरक्षा का स्वरूप-समन्वय ,,
१३–दिव्यप्राणापेक्षया आसुरप्राण की बलवत्ता ,,
१४–ज्वालाग्नि की अपेक्षा भस्माग्नि की बलवत्ता ,,
१५–दैनंदिनगति, और भूपिण्ड का स्वाक्ष-परिश्रमण ,,
१६–उभयप्राणों का समानाकर्षण १३०४
१७–उभय-प्राणगतियों में एक की बलवत्ता ,,
१८–आकर्षणबलों की प्रचण्ड-प्रतिद्वन्द्विता ,,
१९- देवबलाकर्षण की बलवत्ता, और भूपिण्ड का देवप्राण की ओर आभिमुख्य ,,
२०–असुरों के प्रति भूपिण्ड की उपेक्षा ,,
२१–देवानुगत भूपिण्ड की साम्वत्सरिक-गति में परिणति ,,
२२–इन्द्र, और भूपिण्ड की साम्वत्सरिक-गति ,,
२२–पार्थिवपरिभ्रमण- विज्ञानानुगत-ऋङ्-मन्त्र का संस्मरण १३०५
२३–पश्चिमदिगनुगता-आसुरप्राणगति के अनुग्रह से भूपिण्ड का सूर्य्य-गह्वर-प्रवेश-अवरोध ,,
२४–पूर्वाकर्षण की प्रबलता के परिणाम ,,
२५–इन्द्रप्राणाकर्षण का महत्त्व, और भूपिण्ड की बिन्दु बिन्दु का पूर्व की ओर आकर्षण ,,
२६–सर्वत्सर-भावापन्न 'सम्वत्सर' शब्द के रहस्यात्मक-पारिभाषिक अर्थ का समन्वय ,,
१६२७–सम्पूर्ण भूपिण्ड का देवमण्डलोपलक्षित दिव्य-आग्नेय-सम्वत्सरानुगतत्त्व ,,

१६२८—अग्नि का रहस्य-पूर्ण दौत्यकर्म्म १३०५
२९—'होतारं विश्ववेदसम्' का समन्वय ,,
३०—'होता यो विश्ववेदसम्' रूप का काल्पनिक-स्वरूपोपबृंहण ,,
३१—यज्ञकर्म्म में मानुष-कल्पनाओं का प्रचण्ड विरोध, एवं संशोधन का बहिष्कार ,,
३२—अत्यन्त-महत्त्वपूर्ण-यज्ञकर्म्म के प्रति-वायुविशोधन-परा भ्रान्तकल्पना १३०६
३३—मानुषकल्पना से अनुप्राणित द्रव्यों का योग, और आज के ये काल्पनिक यज्ञ ,,
१६३४—परम्परानुगता पद्धतियों के अनुसरण के लिए प्रचण्ड आदेश, और फलोप संहार ,,
१६३५—'धाय्या' नामकी सामिधेनी-ऋचाओं से अनुप्राणिता विशेषता का स्पष्टीकरण १३०६
३६—दर्शपूर्णमासानुगता-अपेक्षिता काम्येष्टि, और सामिधेनी ऋचाएँ ,,
३७—त्रिरावृत्ति-पूर्वक-सामिधेनी-अमुक-ऋचाओं का अनुवचन ,,
३८—दर्शपूर्णमास, और १५-सामिधेनी-ऋचाएँ ,,
३९—अध्वरवन्तत्रिच का स्वरूप-समन्वय ,,
४०—अध्वरसम्पत्ति-प्राप्ति का संस्मरण ,,
४१—अध्वर्यु के द्वारा इद्ध यज्ञाग्नि ,,
४२—होता के द्वारा समिद्ध यज्ञाग्नि ,,
१६४३—दिव्यतेजोयुक्त यज्ञाग्नि, और सामिधेन्यनुवचनकर्म्म का निष्कर्षार्थ-समन्वय ,,

## चतुर्थ-अध्याय में प्रथम, एवं तृतीयप्रपाठक में तृतीय-ब्राह्मण-उपरत

---*---

## *सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय-ब्राह्मण*
## अत्र-उपरत

## २

---*---

## चतुर्थ-अध्याय में द्वितीय, एवं तृतीय-प्रपाठक में चतुर्थ ब्राह्मण-उपक्रान्त

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृतीय-ब्राह्मण
## अत्र-उपक्रान्त

## ३

---*---

१६४४—मन्त्रशक्ति के द्वारा आहवनीयाग्नि में प्रतिष्ठित दिव्याग्नि के प्रमुख कर्त्तव्य का संस्मरण १३०७
१६४५—मानुषात्मा के साथ दिव्यप्राण का सम्बन्ध - विधाता आहवनीयस्थ-दिव्याग्नि १३०७

१६४६--आहवनीयाग्नि में प्रतिष्ठित दिव्याग्नि का अत्यन्त-दुरूहकर्म्म १३०७
४७-निगदानुवचन के द्वारा दिव्याग्नि में प्रेरणाबल का आधान, और निगदानुवचन की प्रमुख-उपपत्ति ,,
४८-वाङ्मय वीर्य्य का लौकिक चमत्कार ,,
४९-अग्निर्वाग्भूत्वा-मुखं प्राविशत्, और आग्नेय-वाग्वीर्य्य ,,
५०-'नात्मानमवसादयेत्' रूप महान्-आदेश ,,
५१-धर्म्मशास्त्र का सदा शुभवाणी के अनुगमन के लिए प्रचण्ड-आदेश ,,
५२-स्वशक्ति का स्वरूप-बोधाभाव, और शक्तिमान् का भी तत्प्रयुक्त असामर्थ्य ,,
५३-भगवान् मारुति के उदाहरण के द्वारा वस्तुस्वरूप का समन्वय ,,
५४-वाक् के द्वारा यशोकीर्त्तन ,,
५५-स्ववीर्य्यजागरूकता से अनुप्राणित-निगदानुवचनकर्म्म ,,
५६-प्राणदेवताओं का चातुर्वर्ण्य १३०८
५७-अग्निदेव, और ब्राह्मणवर्ण ,,
५८-इन्द्रदेव, और क्षत्रियवर्ण ,,
५९-विश्वेदेव, और वैश्यवर्ण ,,
६०-पूषन्-देव, और शूद्रवर्ण ,,
६१-ब्रह्मवीर्य्यप्रवर्त्तक-ब्राह्मवर्ण ,,
६२-वर्णत्रयी की प्रतिष्ठा, और प्रथमवर्ण ,,
६३-ब्रह्मवीर्य्यात्मक ब्राह्मण-अग्नि का होतृत्व ,,
६४-कर्म्मापेक्षया ब्राह्मणाग्नि का भारतत्व ,,
६५-पार्थिव-हव्य के वहनकर्म्म से आधिदैविक-प्राणदेवताओं का भरण, और अग्नि का भारतत्त्व ,,
१६६६-वैश्वानराग्निप्राणरूपेण पार्थिव-प्रजा का भरण, और अग्नि का भारतत्त्व ,,
१६६७-भरणकर्म्मात्मक-'भारत' नाम का समन्वय १३०८
६८-भूपिण्डानुगता त्रैलोक्य-व्यवस्था का संस्मरण ,,
६९-त्रैलोक्य के शवसोनपात्-देवता ,,
७०-भौमत्रिलोकी के मानवदेवता ,,
७१-भूपिण्डानुगत-पृथिवीलोक के शास्ता-शवसोनपात्-'भारत' अग्नि, और 'भारतवर्ष' ,,
७२-वामदेव, एवं ओङ्कार के माध्यम से भारतीय-प्रजा के लिए भरण-पोषणादि व्यवस्थाएँ ,,
७३-दौष्यन्ति- भरतानुगत-'भारत' नाम का यशोनामपरकत्त्व ,,
७४-'भारत' अभिधा का एकमात्र प्रमुख कारण-'भारत'-नामक शवसनोपात्-अग्निदेव ,,
७५-निगदानुवचोपपत्ति-समन्वय ,,

## इति-निगदानुवचनकर्म्मोपपत्तिः

* * * *

## अथ-आर्षेयानुवचनोपपत्तिः

७६-होता के द्वारा आर्षेय मन्त्र का उह १३०९
७७-आर्षेयवचनोपपत्ति से अनुगत-अग्रिम-पूर्वाधार-ब्राह्मण ,,

## अथ-निवित्पाठः

७८-होता के द्वारा निवित्पाठ ,,
७९-अग्निदेव की अनुग्रह-प्राप्ति से अनुप्राणित-निवित्पाठ ,,
८०-प्राकृतिक-नित्ययज्ञ का संस्मरण ,,
१६८१-भौम-मनुष्यविध-देवताओं के द्वारा अरणिमन्थन से सर्वप्रथम स्वर्ग में यज्ञाग्नि का आविष्कार, और "देवेद्धः" का समन्वय ,,

१६८२–श्रद्धादेव मनु के द्वारा भारतवर्ष में यज्ञाग्नि का अनुमगन, और मन्विद्धः का समन्वय १३०६
८३–ऋषियों से उपस्तुत यज्ञाग्निदेव, और 'ऋषिष्टुतः' का समन्वय ”
८४–विद्वान् ब्राह्मणों से अनुमत यज्ञाग्नि देव, और-'विप्रानुमदितः' का समन्वय ”
८५–'कविशस्तः'—का स्वरूप-समन्वय ”
८६–यज्ञकर्म्मानुगता-शस्त्र-स्तोत्रग्रह-कर्म्मत्रयी का संस्मरण ”
८७–ऋगनुगत-शस्त्रकर्म्म १३१०
८८–सामानुगत-स्तोत्रकर्म्म ”
८९–यजुरनुगत-ग्रहकर्म्म ”
९०–ग्रहकर्म्म का पारिभाषिक समन्वय, और गर्भ की स्वरूपस्थिति ”
९१–गर्भ के अवयवों का स्वरूप-विन्यास, और शस्त्रकर्म्म ”
९२–गर्भप्रसूति, और स्तोत्रकर्म्म ”
९३–यज्ञानुबन्धिनी-प्रजननकर्म्मत्रयी ”
९४–आहुतिरूप 'ग्रह', और उपादानद्रव्य ”
९५–ऋग्वेदी होता के द्वारा शंसनरूप शस्त्रकर्म्म ”
९६–यजुर्वेदी अध्वर्यु के द्वारा ग्रहकर्म्म ”
९७–सामवेदी उद्गाता के द्वारा स्तोत्रकर्म्म ”
९८–अग्नि, और 'कविशस्तः' ”
९९–पार्थिवमण्डलाध्यक्ष ”
९९–पार्थिव-महिलामण्डल में व्याप्त होतृ-कर्म्माध्यक्ष प्राणाग्नि की उत्तरोत्तर सुतीक्ष्णभाव में परिणति, और तदनुबन्धी 'ब्रह्मसंशितः' का समन्वय ”
१७००–उदकरूप घृत, किंवा घृतरूप उदक ”
१७०१—अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति ”
२–आज्यब्राह्मणानुगत - नीरक्षीरविवेक-न्याय का संस्मरण १३१०
१७०३–अग्नि का 'घृतवाहनत्त्व' ”
४–'घृतवाहनः' का समन्वय ”
५–सर्वयज्ञसञ्चालक-अग्निदेव ”
६–'अग्निरु वै यज्ञः' ”
७–अग्नि के द्वारा यज्ञों का प्रणयन ”
८–रसाग्नि-रूप-अमृताग्नि, और चितेनिधेय-भाव १३११
९–भूताग्नि-रूप मर्त्याग्नि, और चित्य-भाव ”
१०–रसाग्नि की अवसानभूमि, और रसतम-साम ”
११–रसतमसामात्मक-रथन्तरसाम ”
१२–'रसतमं'-ह वै तद्रथन्तरित्याचक्षते-परोक्षम्' ”
१३–'तं वा एतं रसं सन्तं 'रथ' इत्याचक्षते' ”
१४–'रस' की रथ-रूपता ”
१४–अग्नि की रथावस्था, और 'रथी' का समन्वय ”
१६–यज्ञविनाशक-असुरप्राणविशेषों का राक्षसत्त्व ”
१७–होता अग्नि का पारिभाषिक 'अतूर्त्त' भाव ”
१८–अग्नि के द्वारा असुर-राक्षस-निरसन ”
१९–देवपात्रात्मक वषट्कार, और अग्निदेव ”
२०–वषट्काररूप आधारपात्र का वाङ्मयत्त्व, ”
२१–आसपात्ररूप 'आस्य' पात्र ”
२२–आस्यपात्रात्मक अग्निदेव ”
२३–सौररश्मिगत प्राणदेवताओं के द्वारा पार्थिवरसों का पान ”
२४–चमसानुगत-सोमपान का संस्मरण ”
१७२५–अग्नि का 'पानपात्रत्त्व' समन्वय ”

१७२६ सम्वत्सरचक्रात्मक रथ के नेमि, और आरा १३११
२७—नेमिरूप-अग्निदेव का संस्मरण "
२८—सम्वत्सरव्याप्ति का यशोवर्णन "


## इति-विनित्पाठः

* * * *

## अथ-देवतावाहनोपपत्तिः


१७२९—सामिधेनियों से प्राणाग्नि का समिन्धन १३१२
३०—व्यष्टि-समष्टि-रूप-उभयात्मक गुणों का यशोवर्णन, एवं यशोवीर्य्य का अग्नि में आधान "
३१—आह्वानकर्म्म की संक्षिप्ता उपपत्ति का समन्वय "
३२—'महिमानमावह' पद की महत्त्वपूर्णा व्याख्या "
३३—वषट्कारमण्डलरूप-महिमामण्डल "
१७३४—वाङ्मय-भौतिक-पिण्डों के गर्भ में अग्नि की प्रतिष्ठा का संस्मरण १३१२
१७३५—आध्यात्मिक-अग्नि-महिमा "
३६—शब्दविन्यास के माध्यम से शरीराग्नि-के बलाबल का अनुमान "
३७—अग्नि, और 'जातवेद' "
३८—परिचयभावात्मकजात-वेदस्त्व "
३९—वाक्-प्राण-चक्षु-रूप अग्नि-वायु-आदित्य, और अग्नित्रयी "
४०—वाक्-प्राण-चक्षु-रूप से अग्नि का जातवेदस्त्व "
४१—(क) आध्यात्मिक-अग्नि के जातवेदस्त्व का समन्वय "
४१—(ख) अनुवचनकर्म्मानुगत-उत्थानभाव "
४२—याज्याकर्म्मानुगत-भूप्रतिष्ठाभाव "
१७४३—याज्या का पृथिवी के साथ निदानभाव, और देवतावाहनोपपत्ति का उपराम "


## इति-देवतावाहनोपपत्तिः

* * * *

## चतुर्थ—अध्याय में द्वितीय, एवं तृतीय—प्रपाठक में चतुर्थ—ब्राह्मण—उपरत

—*—

## सामिधेनी—ब्राह्मणानुगत—तृतीय—ब्राह्मण अत्र—उपरत

## ३

—*—

# चतुर्थ–अध्याय में तृतीय, एवं तृतीय–प्रपाठक में पञ्चम–ब्राह्मण–अत्र–उपक्रान्त

———*———

# सामिधेनी--ब्राह्मणानुगत--चतुर्थ–ब्राह्मण अत्र--उपक्रान्त

# ४

———*———

## अथ--शान्तिकर्म्मोपपत्तिः


१७४४–साधिधेन्यनुवचन—आर्षेय--प्रवरण-निगदानुवचन-निवित्पाठ, तथा देवा-वाहन के द्वारा वैध आहवनीय-अग्नि की निरतिशयरूपेण-समिद्धता-अलौ-किकता, एवं अनाक्रमणीयता का संस्मरण १३१३

४५–अनवघृष्य-अनवमृष्य-दिव्याग्नि ”

४६–सामिधेनी-ऋचाओं से अनुप्राणित-आध्यात्मिक-पर्व-समिन्धन का क्रमिक समन्वय ”

४७–'प्र वो वाजा', और 'प्राण' का समिन्धन ”

४८–'अग्न आयाहि',-और 'अपान' का समिन्धन ”

४९–'बृहच्छोचा यविष्ठ्य०' और-'उदान' का समिन्धन ”

५०–'स नः पृथुश्रवाय्यम्०' और-'श्रोत्रे-न्द्रिय' का समिन्धन ”

५१–'इडेन्यो नमस्य:'-और 'वागिन्द्रिय' का समिन्धन १३१४

१७५२–'अश्वो न देव वाहनः', और-'प्रज्ञान' नामक 'सर्वेन्द्रियमन' का समिन्धन ”

१७५३–'अग्ने दीद्यन्तं', और-'चक्षुरिन्द्रिय' का समन्धिन १३१४

५४–'अग्निं दूतं-वृणीमहे', और व्यानात्मक 'मध्यप्राण' का समिन्धन ”

५५-व्यानप्राणात्मक मध्यप्राण का श्रुति-वचनों के द्वारा यशोवर्णन ”

५६–व्यानोर्ध्व-स्थित प्राण के प्राण, और उदान-रूप दो महिमा-विवर्त्त ”

५७–व्यानाधः स्थित अपान के समान, और अपान-नामक दो महिमा-विवर्त्त ”

५८–'शोचिष्केशस्तमीमहे०' इत्यादि सामि-धेनी-ऋचा के द्वारा 'परोक्षेन्द्रिय' का समिन्धन ”

५९-शिश्नोदर-परायण, कामभोगासक्त-मानव १३१५

६०–कामप्रतिबन्धनदशानुगत-सन्ताप ”

६१–'शोचिष्केश' शब्द का समन्वय ”

६२–'समिद्धो अग्न आहुत:' इत्यादि मन्त्र के द्वारा अवाङ्मय (मूल-ग्रन्थिस्थ-प्राण) का समिन्धन ”

१७६३–'आजुहोता दुवस्यत' इत्यादि मन्त्र से 'सर्वाङ्गशरीर' का समिन्धन ”

१७६४–समिन्धनभावना के द्वारा होता के सर्वाङ्ग-शरीर का व्यष्टि-समष्टिरूप से समिन्धन १३१५
६५–अग्निवत् प्रज्ज्वलित होता ,,
६६–अपमानकर्त्ता के प्रति अभिचार-प्रयोग ,,
१७६७–समिन्धनकर्म्मानुगत-अभिचारकर्म्म - का स्वरूप-समन्वय १३१५
१७६८–होता के तिरस्कार का निषेध ,,
१७६९–इत्थंभूत-महान्–स्तुत्य-नमस्य–अग्नि-देवता के लिए, एवं अग्निरहस्यवित् ऐसे ब्राह्मणश्रेष्ठ के लिए हमारी अनेक नमः-उक्तियाँ ,,

## चतुर्थ–अध्याय में तृतीय, एवं तृतीय–प्रपाठक में पाँचवाँ–ब्राह्मण–उपरत

---*---

## सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत–चतुर्थ–ब्राह्मण अत्र-उपरत

४

---*---

## इति-प्रथमकाण्डे–तृतीय–चतुर्थाध्याये ब्राह्मणचतुष्टयात्मकं–सामिधेनी–ब्राह्मणमुपरतम्

---*---

## इति-सामिधेन्यनुवचनकर्म्म-उपरतम्

१८

---*---

श्रीः

# अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये

## द्विब्राह्मणात्मकं–आधारब्राह्मणम्

## १९-२० पूर्वोत्तराघारकर्म्म

## क्रमप्राप्त १९-२०-वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की "विषयस्मारकसूची"

( पृष्ठसं० १३१७ से १३६६ पृ० पर्य्यन्त )

———*———

१–प्रथमकाण्डान्तर्गत-चतुर्थाध्ययानुगत-द्वि ब्राह्मणात्मक-आधारब्राह्मण (मूल) १३१७

२–मूलब्राह्मणों का अक्षरार्थ-समन्वयात्मक अनुवाद १३२५

३–सूत्रानुगत-पद्धतिसंग्रह १३३६

## चतुर्थ-अध्याय में चतुर्थ, एवं तृतीयप्रपाठक में षष्ठ-ब्राह्मण-अत्र–उपक्रान्त

———*———

## द्विब्राह्मणानुगत-प्रथम-आघारब्राह्मण अत्र-उपक्रान्त

१

———*———

## वैज्ञानिकविवेचना

### १--पूर्वाघारकर्म्मोपपत्तिः

४–सामिधेन्यनुवचनकर्म्म का संस्मरण १३४२
५–होता के द्वारा आहनीय-इद्ध अग्नि का समिन्धन ,,
६–समिद्धाग्नि की अलौकिकता ,,
७–आहुतिलक्षण यज्ञकर्म्म, और देव-प्राणानुबन्धी ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध ,,
८–आहुतिद्रव्य में प्रविष्ट यजमान का मनःप्राणवाङ्मय आत्मा ,,
९–'यावद्वित्तं तावदात्मा' का संस्मरण ,,
१०–यजमानात्मा का आहुति-माध्यम से दिव्याग्नि के साथ ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध ,,
११–आहुतिकर्म्मनिबन्धना दिव्यलोकावाप्ति का समन्वय ,,
१२–अलौकिक दिव्याग्नि का आधान ,,
१३–देवप्राण से समन्वित, आहवनीयाग्नि, और सामिधेन्यनुवचनकर्म्म ,,
१४–द्युलोकस्थ देवदेवताओं की भोग्या-यजमानप्रदत्ता आहुति ,,
१५–सिंहावलोकनात्मक-पूर्वकर्म्म का संस्मरण, और ब्राह्मणश्रुति ,,
१६–देवाहुति-ग्रहणयोग्य-( दिव्यभावापन्न ) आहवनीयाग्नि ,,
१७–आवापदेवता-नामक प्रधानदेवता का इष्टिदेवतात्त्व ,,
१८–प्रधानदेवतायाग से पूर्वभावी पूर्वाघार, और उत्तराघार-कर्म्म ,,
१९–मनःस्वरूप-समर्पक पूर्वाघारकर्म्म ,,
२०–वाक्स्वरूप-समर्पक-उत्तराघारकर्म्म ,,
२१–चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री—सम्पत् से युक्त-चतुर्विंशस्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक ,,
२२–चतुश्चत्त्वारिंशदक्षरा-त्रिष्टुप्- सम्पत् से युक्त चतुश्चत्त्वारिंशत्-स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक ,,
२३–अष्टाचत्त्वारिंशदक्षरा-जगती-सम्पत् से युक्त अष्टचत्त्वारिंशस्तोमावच्छिन्नद्युलोक १४४२
२४–भूपृष्ठानुगत पारावातपृष्ठान्त महिमा विवर्त्त १३४३
२५–शाक्करसामानुता-त्रैलोक्यरूपा अमृत-लक्षण-वाक्-शुक्रानुगता-द्युलोकात्मिका वाङ्मयी ( भूकेन्द्रतः उपक्रान्ता, पारावतपृष्ठान्ता) पृथिवी, और पार्थिव जगत् का तृतीयविवर्त्त (३) ,,
२६–त्रयस्त्रिंशत् - अहर्गणात्मक- द्युलोक, द्वाविंश-अहर्गणात्मक - अन्तरिक्षलोक, एवं एकादश-अहर्गणात्मक-पृथिवी-लोक-समष्टिरूपा-भूकेन्द्रतः-आप्यपृष्ठा-न्ता-त्रयास्त्रिंशदर्गणावधिपर्य्यन्त - व्याप्ता, त्रैलोक्यरूपा, अमृतलक्षणा-आपः शुक्रानुगता, अन्तरिक्षलोकात्मिका-आपोमयी-पृथिवी, और पार्थिवजगत् का द्वितीय-विवर्त्त (२) ,,
२७–एकविंश-अहर्गणात्मक-द्युलोक, पञ्च-दश-अहर्गणात्मक-अन्तरिक्षलोक, एवं त्रिवृत्-अहर्गणात्मक पृथिवीलोक-सम-ष्टिरूपा, भूकेन्द्रतः - आग्नेयपृष्ठान्ता-एकविंश-अहर्गणावधिपर्य्यन्त–व्याप्ता, त्रैलोक्यरूपा, अमृतलक्षणा-अग्निः-शुक्रानुगता-द्युलोकानुगता पृथिवी-लोकात्मिका- अग्निमयी- (अग्नि-सोम-मयी)-पृथिवी, और पार्थिवजगत् का प्रथम-विवर्त्त (१) ,,
२८–अष्टाचत्त्वारिंशत्-स्तोमावच्छिन्ना–वाङ्मयी-'विश्वम्भरा-पृथिवी' ,,
२९–त्रयस्त्रिंशत्स्तोमावच्छिन्ना - आपोमयी-'सागराम्बरा-पृथिवी' ,,
३०–एकविंशस्तोमावच्छिन्ना - अग्निमयी-'अदिति–पृथिवी' ,,

३१–त्रैलोक्यात्मिका - अदिति-पृथिवी, और पृथिवलोक १३४३
३२–त्रैलोक्यात्मिका - सागराम्बरा- पृथिवी, और 'अन्तरिक्षलोक' ,,
३३–त्रैलोक्यात्मिका 'विश्वम्भरा-पृथिवी', और-'द्युलोक' ,,
३४–त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा--नवलोकात्मिका पृथिवी, और तद्वितानाधारभूत भूपिण्ड का केन्द्र ,,
३५–भूकेन्द्रावच्छिन्न भूपिण्डरूप पारिभाषिक-'भूः' शब्द ,,
३६–त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप– महिमा-मण्डल, और पारिभाषिक-'पृथिवी'-शब्द ,,
३७–महिमा-पृथिवी का नवलोकात्मक विस्तार ,,
३८–पार्थिव-नवलोकात्मक विवर्त्त-परिलेख: १३४४
३९–वाङ्मयी-पृथिवी, और शाक्वरसाम ,,
४०–आपोमयी-पृथिवी, और वैरूपसाम ,,
४१–अग्निमयी-पृथिवी, और रथन्तरसाम ,,
४२–रथन्तरसामानुगत-अदितिलक्षण- प्रथम पार्थिव-विवर्त्त का संस्मरण ,,
४३–अग्निशुक्र-निबन्धन त्रिविध-अयुग्मस्तोम ,,
४४–अयुग्मस्तोमत्रयी से अनुप्राणिता देवत्रयी ,,
४५–देवत्रयी के अवान्तर विभूतिभाव ,,
४६–आहवनीयाग्निसमिन्धन-कर्म्मानुप्राणित देवदेवता ,,
४७–यज्ञिय-देवताओं की प्राणात्मकता ,,
४८–मन, और प्राण-तत्त्वात्मिका-मूलप्रतिष्ठा का संस्मरण ,,
४९–मनोमय-वाक्-रूप-पात्र (वषट्कारपात्र) और तत्र प्राण की आपूर्य्यमाणता ,,
५०–मनोवाङ्मय पात्र का वयोनाधत्त्व ,,
५१–वयोनाधरूप छन्दस्तत्त्व ,,
५२-प्राणरूप देवतत्त्व की 'वयोरूपता' ,,
५३–वय-वयोनाधात्मक-'वयुनम्' १३४४
५४–यजमान का यज्ञसम्बन्धानुगामी-मनः–प्राणवाङ्मय-आत्मा ,,
५५–भूकेन्द्रस्थ-हृद्य-अन्तर्य्यामी - अनिरुक्त प्रजापति ,,
५६–पार्थिवजगत् की मूलप्रतिष्ठारूप-प्रजापति ,,
५७–प्राण-वाग्गर्भित-मनोमय—अनिरुक्त-प्रजापति ,,
५८–मनोवाग्गर्भित-प्राणमय उद्गीथप्रजापति ,,
५९–मनःप्राणगर्भित-वाङ्मय-सर्वप्रजापति ,,
६०–प्रजापति के त्रिविध महिमा-विवर्त्त ,,
६१–भूकेन्द्रानुगत प्रजापति की प्राण-वाक्-कलाओं का उन्मुग्धत्व, एवं मनः-कला का उद्बुद्धत्व १३४५
६२–हृत्प्रतिष्ठं मनः ,,
६३–तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ,,
६४–हृत्पृष्ठतः-- सप्तदशस्तोम - पर्य्यन्त–आग्नेयप्राण का प्राधान्य ,,
६५–सप्तदश-अहर्गण की प्रमुखता ,,
६६–त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मक-सागराम्बरालक्षण पार्थिवविवर्त्त के १६-१६-अहर्गणात्मक दो अवान्तर विवर्त्त ,,
६७–हृत्पृष्ठतः १६-पर्य्यन्त अग्नि का साम्राज्य ,,
६८–१८ से २७ पर्य्यन्त भास्वरसोम का प्रभुत्त्व ,,
६९–२७ से ३३ पर्य्यन्त दिक्सोम का प्रभुत्त्व ,,
७०–सप्तदशस्थान, और अग्नि-सोम का समन्वय ,,
७१–सप्तदशस्थान का पारिभाषिक आहवनीयत्त्व ,,

७२–दाह्या-सोमाहुति से प्रज्जलित दाहक अग्नि की २१ स्तोमपर्य्यन्त-व्याप्ति १३४५
७३–एकविंशानुगता-अग्नि-सोम-व्याप्ति का पारिभाषिक-समन्वय ,,
७४–सप्तदशपर्य्यन्त प्राजापत्या प्राणकला का प्राधान्य ,,
७५–प्राणप्रधान-उद्गीथप्रजापति का पारिभाषिक समन्वय ,,
७६–हृत्पृष्ठत:-२१ पर्य्यन्त व्याप्त-रथन्तर-साम-सीमावच्छिन्न-मण्डल में 'वागग्नि' का प्राधान्य ,,
७७–मन, और प्राण की उन्मुग्धता, तथा वाक्कला का उद्बुद्धत्त्व ,,
७८–मन:-प्राण-गर्भित-वाङ्मय-सर्वप्रजापति के पारिभाषिक-स्वरूप का समन्वय ,,
७९–यज्ञपरिधि, और रथन्तरसामसीमा ,,
८०–यज्ञोपक्रमस्थान, और भूकेन्द्र ,,
८१–भूकेन्द्रावच्छिन्न-प्राण-वाग्-गर्भित-मनोमय अनिरुक्तप्रजापति ,,
८२–रथन्तरलक्षण—परिध्यवच्छिन्न–मन:-प्राणगर्भित-वाङ्मय-सर्वप्रजापति ,,
८३–उभयमध्यस्थ-आग्नेय-सौम्य-प्राणोभय–मूर्त्ति-मनोवाग्-गर्भित—यज्ञात्मक-उद्–गीथ-प्रजापति ,,
८४–पार्थिवी आहुति से मनोवाक् के द्वारा प्राणात्मक-देवों का सन्तर्पण ,,
८५–भूकेन्द्र और अनिरुक्तभाव ,,
८६–यज्ञमण्डलकेन्द्र, और उद्गीथभाव ,,
८७–(क)--यज्ञपरिधि, और सर्वभाव ,,
८७–(ख)--भूकेन्द्र. और मनोमय प्रजापति ,,
८८–यज्ञमण्डल, और प्राणमय-प्रजापति ,,
८९–यज्ञपरिधि, और वाङ्मय-प्रजापति ,,
९०–एकविंशस्तोमावच्छिन्नं-रथन्तरं-साम (१)
९१–सप्तदशस्तोमावच्छिन्नं—मण्डलं—हृदयम् (२) ,,
९२–भूकेन्द्र: (३) १३४५
९३–मन:प्राणगर्भित:-वाङ्मय:—'सर्वप्रजापति:' (१) ,,
९४–मनोवाग्गर्भित:-प्राणमय:—'उद्गीथ–प्रजापति:' (२) ,,
९५–प्राणवाग्गर्भित:-मनोमय:—अनिरुक्त–प्रजापति: (३) ,,
९६–सर्वप्रजापतिर्वाङ्मय:-वाक् (१) १३४६
९७–उद्गीथप्रजापति:-प्राणमय:-प्राण: (२) ,,
९८–अनिरुक्तप्रजापति:--मनोमय:-मन: (३) ,,
९९–हृदयावच्छिन्नं-मन:-अनिरुक्तम् (१) ,,
१००–मध्यावच्छिन्न:-प्राण:-निरुक्तानिरुक्त: (२) ,,
१०१–परिध्यवच्छिन्ना वाक् निरुक्ता (३, ,,
१०२–मन:प्राणवाङ्मया:-यज्ञिया-देवा: ,,
१०३–पार्थिवयज्ञ:-प्राकृतिक:-नित्य: ,,
१०४–नित्य-देवयज्ञ की विधा पर वितत मानुष-वैधयज्ञ ,,
१०५–प्राजापत्या सम्पत् से अनुप्राणिता यज्ञ-सम्पत् ,,
१०६–देवयजनत: पूर्व अपेक्षिता मन:-प्राण-वाङ्मयी-सम्पत्ति ,,
१०७–यज्ञ का रहस्यपूर्ण स्वरूप-निष्कर्ष ,,
१०८–अधिदैवत, एवं अध्यात्मयज्ञ का मन:-प्राणवाङ्मयत्त्व ,,
१०९–अधिभूत-वैध-मानुषयज्ञ की मन:प्राण-वाक्-सम्पत्ति-सम्पादन का प्रश्न, और तत्समाधानान्वेषण-प्रयास ,,
११०–विशेष–वैज्ञानिक-प्रक्रिया के द्वारा अधिभूत में मन:-प्राण-वाग्-भावों का समावेश ,,
१११–यजमानात्मा का भूतयज्ञातिशय के माध्यम से दिव्ययज्ञानुगत अन्तर्य्याम-सम्बन्ध ,,
११२–कर्त्तव्यद्वयी, और यज्ञस्वरूप की संसिद्धि १३४७

११३–आहवनीयाग्नि में मनःप्राणवाक्सम्पत्ति के अधिष्ठाता होता, तथा अध्वर्य्यु, और प्रथमकर्त्तव्य की स्वरूप-निष्पत्ति १३४७
११४–आधिभौतिक यज्ञातिशय के साथ यजमान के अध्यात्म का समन्वयरूप द्वितीय कर्त्तव्य, एवं अध्वर्य्यु-होता-उद्गाता-ब्रह्मा-नाम की ऋत्विक्-चतुष्टयी से तत्स्वरूप-निष्पत्ति ,,
११५–पद्यात्मिका ऋक्-वाक् के सम्पादक होता, और उनका 'शंसनात्मक' शस्त्रकर्म्म, एवं हौत्रकर्म्म ,,
११६–शस्त्रकर्म्मात्मक-हौत्रकर्म्म ,,
११७–गद्यात्मिका यजुर्वाक् के सम्पादक-अध्वर्य्यु, और उनका 'याज्यात्मक' ग्रहकर्म्म, एवं आध्वर्य्यवकर्म्म ,,
११८–गेयात्मिका सामवाक् के सम्पादक उद्गाता, और उनका स्तोत्रकर्म्म, एवं औद्गात्रकर्म्म ,,
११९–शस्त्र-ग्रह-स्तोत्र-रूप हौत्र-आध्वर्य्यव-औद्गात्र-कर्म्मों का समन्वय, एवं तद्द्वारा आधिभौतिक-यज्ञ में 'वाक्' पर्व का संस्थापन ,,
१२०–त्रैविद्य ब्रह्मा का ब्राह्मव्यापार, और तद्द्वारा अधिभूतयज्ञ में मनःसम्पत्ति का संस्थापन ,,
१२१–अध्वर्य्युकृत-याज्याकर्म्म से अधिभूत-यज्ञ में प्राणपर्व का संस्थापन ,,
१२२–ब्राह्मकर्म्मणा-ब्रह्मा-मनस्तत्त्वसम्पादकः ,,
१२३–याज्याकर्म्मणा–अध्वर्य्युः–प्राणतत्त्व–सम्पादकः ,,
१२४–स्तोत्रकर्म्मणा-उद्गाता–सामवाक्तत्त्व–सम्पादकः ,,
१२५–ग्रहकर्म्मणा–अध्वर्य्युः–यजुर्वाक्तत्त्व–सम्पादकः ,,
१२६–शस्त्रकर्म्मणा–होता–ऋग्वाक्तत्त्व–सम्पादकः १३४७
१२७–पूर्वोत्तराघारकर्म्म से पूर्वभावी होता के द्वारा सामिधेन्यनुवचन-कर्म्म ,,
१२८–आघारब्राह्मणोपक्रमश्रुति का संस्मरण ,,
१२९–'समिद्धे-देवभ्यो-जुहवाम' ,,
१३०–सिंहावलोकनानुगत रहस्यात्मक सङ्केत ,,
१३१–होतृकर्तृक–सामिधेनीकर्म्मानुगत-प्राणाधानकर्म्म ,,
१३२–अध्वर्य्यु के द्वारा स्रुवपात्र से पूर्वाघार-कर्म्म का सम्पादन, और यज्ञ में मनःसम्पत्ति का आधान ,,
१३३–स्रुक्पात्रद्वयी से उत्तराघारकर्म्म का सम्पादन, और यज्ञ में वाक्सम्पत्ति का आधान ,,
१३४–मनःपर्व का संग्राहक पूर्वाघारकर्म्म ,,
१३५–वाक्पर्व का संग्राहक उत्तराघारकर्म्म ,,
१३६–केन्द्रावच्छिन्न-मनःपर्व का पूर्वभावित्व, और तदनुबन्धी पूर्वाघारकर्म्म ,,
१३७–परिध्यवच्छिन्न-वाक्पर्व का उत्तरभावित्व, और तदनुबन्धी-उत्तराघारकर्म्म ,,
१३८–'अग्निं समैन्धिषत'-इति प्राणसंग्रहः-सामिधेन्यनुवचनकर्म्मणा ,,
१३९–'मनसे चैव'-इति मनःसंग्रहः-पूर्वाघार-कर्म्मणा ,,
१४०–'वाचे च'-इति-वाक्संग्रहः-उत्तराघार-कर्म्मणा ,,
१४१–उपांशुभावानुगत-पूर्वाघारकर्म्म १३४८
१४२–उच्चारणानुगत-उत्तराघारकर्म्म ,,
१४३–हृदयावच्छिन्न मनस्तन्त्र की अनिरुक्तता, एवं अव्यक्तता ,,
१४४–मन के उपांशुभाव का समन्वय ,,
१४५–मनोऽनुगत पूर्वाघारकर्म्म की उपांशु-रूपता का समन्वय ,,

१४६–रथन्तरसामात्मिका-परिधिस्था-उत्तरभाविनी वाक् की निरुक्तता, एवं व्यक्तरूपता १३४८
१४७–पञ्चमहाभूतरूपेण वाक् की अभिव्यक्ति, और-प्रत्यक्ष-भाव ”
१४८–निरुक्ता वाग्देवी ”
१४९–वागनुगत उत्तराघारकर्म्म की निरुक्तता का समन्वय १३४९
१५०–उभयाघार, और तद्द्वारा आधिभौतिक-यज्ञ के मनोवाक्-पर्वों का सन्तर्पण ”
१५१–देवतृप्ति का साधन-आहुति-प्राप्ति ”
१५२–आहुतिप्राप्ति का साधन मनोवाक्पर्वों-का सन्तर्पण ”
१५३–सन्तर्पक आघारद्वयानुष्ठानकर्म्म ”
१५४–काममय विश्व, और तत्र समवेत स्त्री-पुरुष का युग्म ”
१५५–काममयी स्त्री, और तन्मय पुरुष ”
१५६–पुरुषतन्त्र, और स्त्रीतन्त्र का समन्वय ”
१५७–कामनामय पुरुषरूप मनस्तन्त्र ”
१५८–स्त्रीरूप-वाक्तन्त्र ”
१५९–मनोरूप पुरुष, और वृषाभाव ”
१६०–वाग्रूपा स्त्री, और योषाभाव ”
१६१–मन का संकल्परूप से वाक् के प्रति-अनुधावन ”
१६२–वृषा का योषा के प्रति अनुधावन ”
१६३–पुरुष का स्त्री के प्रति अनुधावन ”
१६४–कामनामयत्त्वेन-वाक्तन्त्रसञ्चालकत्त्वेन-अनुधावकत्त्वेन च हृदयावच्छिन्न मन का वृषाप्राणात्मक पुरुषत्त्व-समन्वय ”
१६५–कामनानुगतत्त्वेन-परिध्यवच्छिन्ना वाक् का योषाप्राणात्मक-स्त्रीत्त्व-समन्वय ”
१६६–स्रुवपात्र का पुरुषत्त्व-समन्वय ”
१६७–स्रुक्पात्रद्वयी का स्त्रीत्त्व-समन्वय ”
१६८–स्रगनुगत-वाङ्मय-स्त्रीरूप-उत्तराघार ”
१६९–प्राणगर्भित-मनोमय-अनिरुक्तभावापन्न हृद्य-प्रजापति १३४९
१७०–'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' ”
१७१–वाक्पथातीत-अनिरुक्तभाव ”
१७२–वाग्विवर्त्त का प्रत्यक्ष-अभिनय, और तन्निबन्धन-स्वाहाकार ”
१७३–प्रत्यक्षदृष्ट--पाञ्चभौतिक--अर्थ–जगत्, और उस की वाङ्मयता ”
१७४–मनःप्राणगर्भित-वाङ्मय सर्वलक्षण-निरुक्तप्रजापति, और निरुक्ता वाक् ”
१७५–सर्वालम्बन-सुसूक्ष्म-काममय-मन ”
१७६–तूष्णींभाव,-और उत्तराघारकर्म्म का समन्वय ”
१७७–मन्त्रोच्चारण, और उत्तराघारकर्म्म का समन्वय ”
१७८–'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्', और प्रादेश-मित प्राण की हृदय में प्रतिष्ठा ”
१७९–स्थिरभावात्मक-अनिरुक्तप्रजापति के आधार पर अनुमता इन्द्राविष्णु की आपोमयी-प्रतिस्पर्द्धा ”
१८०–प्रतिस्पर्द्धा से वाक्साहस्री का ऊर्ध्व-वितान ”
१८१–आसीनरूपेण-कृत पूर्वाघार का समन्वय १३५०
१८२–उत्तिष्ठन्रूपेण-कृत उत्तराघार का समन्वय ”
१८३–यज्ञात्मिका वाक्साहस्री की व्याप्ति, और तदनु रथन्तरसाम ”
१८४–रसाग्निका त्रेधा वितान ”
१८५–रसात्मक-वाङ्मय-अग्नि का उर्ध्ववितान ”
१८६–रथन्तरसाम का पारिभाषिक-स्वरूप समन्वय १३५१
१८७–यज्ञरथ में नियुक्त मनोवाग्रूप दो अश्व ”
१८८–अपरिमितभावापन्न काममय समुद्र ”
१८९–'मनो वै बृहत्' ”
१९०–'मनो वै समुद्रः' ”
१९१–'अनन्तं बै मनः' ”

१९२–मन के आनन्त्य का पारिभाषिक समन्वय १३५१
१९३–दिग्देशकालानवच्छिन्न-अपरिमित मनस्तन्त्र ,,
१९४–दिग्देशकालपरिच्छिन्न-परिमित-वाक्तन्त्र ,,
१९५–अर्थात्मिका-सीमिता-वाक् ,,
१९६–शब्दात्मिका-सीमिता वाक् ,,
१९७–मनोमय-अश्व का बृहद्भाव ,,
१९८–वाङ्मय-अश्व का लघुत्त्व ,,
१९९–बृहत्-लघु-भावानुगत पूर्वोत्तराघारों का समन्वय ,,
२००–विषमाकार अश्वों से रथ का वहन, और भयप्रवृत्ति ,,
२०१–मनोरूप, वाग्रूप अश्वों के परिमाण-समतुलन का प्रयास ,,
२०२–पूर्वाघार, और उत्तराघार-से अनुगता आहुतिद्वयी के तारतम्य से उभयाश्व के आकारों का समतुलन, और विप्रतिपत्ति का निराकरण ,,
२०३–आहवनीयाग्नि का उत्तरभूप्रदेश, और पूर्वाघार का सम्पादन ,,
२०४–आहवनीयाग्नि का दक्षिण भूप्रदेश, और उत्तराघार का सम्पादन ,,
२०५–भावनामय मन का देवप्राणप्रतिष्ठात्त्व ,,
२०६–वासनात्मिका वाक् का पितृप्राणप्रतिष्ठात्त्व ,,
१०७–'पितरो-वाक्यमिच्छन्ति' ,,
२०८–'भावमिच्छन्ति देवता:' ,,
२०९–मनोऽनुगत देवप्राण का अग्निमयत्त्व ,,
२१०–वागनुगत पितृप्राण का सोममयत्त्व ,,
२११–यज्ञमण्डल के पूर्वार्द्ध में अग्नि का प्राधान्य ,,
२१२–यज्ञमण्डल के उत्तरार्द्ध में सोम का समन्वय ,,
२१३–पूर्वाघार के पूर्वभावित्त्व का समन्वय ,,
२१४–उत्तराघार के उत्तरभावित्त्व का समन्वय ,,
११५–उत्तरादिक्, और आग्नेय-देवदेवता १३५१
२१६–दक्षिणादिक्, और सौम्य-पितृदेवता ,,
२१७–उभयविध आघारकर्म्म से अग्नीषोमात्मक-पूर्ण-यज्ञमण्डल का संग्रह ,,
२१८–भौम-मानुष-देवताओं के पुरातन इतिवृत्त से अनुप्राणित पूर्वोत्तराघार-कर्म्मों की ऐतिहासिकी कारणता का समन्वय १३५२
२१९–प्राकृतिक-नित्य-यज्ञ के संरक्षक दक्षिणदिशि प्रतिष्ठित प्राणात्मक इन्द्रदेवता ,,
२२०–दक्षिणायन-उत्तरायण-का स्वरूप संस्मरण ,,
२२१–इन्द्र का संरक्षण, और यज्ञ की निर्विघ्न-समाप्ति ,,
२२२–प्राक्प्रवणा वेदि और देवभाव, तथा असुर-निराकरण ,,
२२३–उदक्प्रवणा वेदि, और मानुषभाव ,,
**२२४–'उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्'** ,,
२२५–लोकदृष्टि, और उच्छ्रितभाव ,,
२२६–सैनिक-(सिपाही) की तननरूपा-शरीरयष्टि, और प्राकृतिकस्थिति का संस्मरण ,,
२२७–आलस्यनिमग्न-शयालु मानवों के प्राणात्मक वीर्य्य की मूर्च्छा ,,
२२८–निरालस-उत्तिष्ठन्-पुरुषार्थी-मानवों की प्राणात्मिका वीर्य्य-सम्पत्ति से अन्तर्य्याम-सम्बन्ध ,,
२२९–हृदयावच्छिन्न-ऊर्ध्व-अधः-वितत-नाड़ियाँ, और ऋजुभाव ,,
२३०–ऋजुभावानुबन्धी-रक्तसञ्चार, और नाड़ियों की वीर्य्यवत्ता ,,
२३१–मेरुदण्ड का 'खस्वस्तिक' की ओर ऋजुभाव से लम्बन, एवं शरीरयष्टि का सन्तनन १३५३
२३२–शरीरयष्टि का वीर्य्यप्रवर्त्तक-सन्तनन ,,
**२३३–सैनिकानुगत - रक्षाकर्म्म, और सैनिक की शरीरयष्टि का ऋजुभाव में सन्तनन** ,,

२३४—वीर्य्यसापेक्ष-रक्षाकर्म्म १३५३
२३५-उच्छ्रितभावानुबन्धिनी वीर्य्यरक्षा ,,
२३६—'तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाघारयति' इत्यादि सन्दर्भ का रहस्यात्मक-प्रकृति-सिद्ध-समन्वय ,,
२३७—एकविध-आहवनीयाग्नि ,,
२३८—तदनुगता आघारहुति का द्वित्व ,,
२३९—आहुतिद्वयी का समान-प्रदेशत्व ,,
२४०-आहवनीयाग्नित्वेन उभय-आहुतिकर्म्म का समानत्व-समन्वय ,,
२४१—आहुति-स्थान-भेदनिबन्धन- नानाभाव-का समन्वय ,,
२४२—समानानुगतत्व-एवं नानात्वानुगति का पारिभाषिक-समन्वय, एवं आघारकर्म्म-द्वयी ,,
२४३—मन, और वाक् के समानत्व की मीमांसा ,,
२४४—मन की प्राणरूप में परिणति, और बलमात्रा का यत्किञ्चित् उद्रेक ,,
२४५—बलमात्रा का पूर्णोद्रेक, और मनोमय प्राण की वाग्रूप में परिणति ,,
२४६—हृदयावच्छिन्न-त्र्यात्मक-अनिरुक्त-प्रजापति का संस्मरण ,,
२४७—मानसप्रत्यय, और परावागनुता-उपांशुवाक् ,,
२४८—शब्दविध प्रत्यय का संस्मरण ,,
२४९—मानसव्यापारानुगता उपांशुवाक् १३५४
२५०—वाग्व्यापार की आधारभूमि मानस-ज्ञान ,,
२५१—ज्ञानीय-प्रज्ञेन्द्र के द्वारा वर्णविभागानुगता अर्थनिष्पत्ति ,,
२५२—मन से वञ्चिता आग्लावाक् ,,
२५३—स्खलितवाग्रूपा-निरर्थक-वाक् ,,
२५४—विशुद्ध-मानस-व्यापार, और उपांशुवाक् ,,
२५५—समानक्षेत्राश्रयत्वरूप - समानत्व का समन्वय, और मनोवाक् का संस्मरण १३५४
२५६—मन की अनद्धारूपता ,,
२५७—वाक् की अद्धारूपता ,,
२५८—मनो-वागनुगता विभिन्नता का तात्त्विक समन्वय ,,
२५९—'तस्मादिदं-मनश्च-वाक्च समान-मेव सन्नानेव' इत्यादि-श्रुति-सन्दर्भ का पारिभाषिक-वैज्ञानिक-समन्वय ,,
२६०—आधारद्वयी से अनुगता उपपत्तियों का समन्वयात्मक-संस्मरण ,,
२६१—प्रति वस्तु से अनुगत मूल, और तूलभाव ,,
२६२—मूलभावनिबन्धन-'हृदय' ,,
२६३—तूलभावनिबन्धन-'शिरः' ,,
२६४—पूर्वाघारात्मक-मनोमय-हृदयात्मक-मूल-भाव का समन्वय ,,
२६५—उत्तराघारात्मक-वाङ्मय- शिरोऽनुगत-तूलभाव का समन्वय ,,
२६६—यज्ञपुरुष के मूलभाव का स्वरूप-सम्पादन, और मनोऽनुगत-पूर्वाघारकर्म्म ,,
२६७—यज्ञपुरुष के तूलभाव का स्वरूप सम्पादन, और वागनुगत उत्तराघारकर्म्म ,,
२६८—तूष्णींभाव का समन्वय ,,
२६९—उच्चारणभावानुगता उपपत्ति ,,
२७०—पूर्वोत्तराघारकर्म्मद्वयी की विशेषताओं का पारिभाषिक-रहस्य-संस्मरण, और आघारकर्म्मोपपत्ति का विराम ,,


## इति—आघारकर्म्मोपपत्तिः

१

* * * *

## अथ–अग्निसम्माज्र्जनकर्म्मोपपत्तिः

२७१–पूर्वाघारकर्म्मानन्तर 'आग्नीध्र' नामक ऋत्विक् के द्वारा अग्निसम्मार्ज्जन-कर्म्म, और तदुपपत्युपक्रम १३५५
२७२–'समानमेव-सन्नानेव' सिद्धान्त का संस्मरण ''
२७३–वागगर्भिता मनःसम्पत्ति की उभयात्मकता ''
२७४–लोकानुगत अश्वयुग्म, किंवा वृषभ-युग्म से अनुप्राणिता स्थिति का संस्मरण ''
२७५–रथधुर के साथ बन्धनपूर्वक अश्वयुग्म का बन्धन ''
२७६–रथधुर का योग, और पूर्वाघारकर्म्म ''
२७७–चर्म्मपाश से ग्रीवाबन्धन, और अग्नि-सम्मार्ज्जन ''
२७८–मनोवागरूप-उभयाश्व का संग्रह, और रथधुर के साथ तद्योग ''
२७९–परिभ्रमणानुगत-अग्निसम्मार्ज्जन ''
२८०–इध्मसन्नहन नामक तृणसमूह के द्वारा अग्निप्रज्ज्वलनात्मक अग्नि-सम्मार्ज्जन-कर्म्म ''
२८१–बन्धनानुगता-अनुरूपसम्पत्ति का संग्रह, और तदनुगत-परिभ्रमण ''
२८२–त्रिस्त्रिवार (नववार) विहित अग्नि सम्मार्ज्जन-कर्म्म ''
२८३–यज्ञस्वरूपात्मक अग्निदेव की अवस्था-त्रयी का पारिभाषिक समन्वय १३५५
२८४–अग्निदेव का सर्वदेवतामयत्त्व ''
२८५–सर्वात्मक अग्नि, और ताण्ड्यश्रुति
२८६–अग्निनिबन्धन-त्रिवृद्भाव. और नव-संख्या का संस्मरण ''
२८७–त्रिवृदग्नि से अनुप्राणित सम्मार्ज्जन-कर्म्म का त्रिवृद्भावापन्नत्त्व ''
२८८–तूष्णीं आहवनीय अग्नि का त्रिवार सम्मार्ज्जन, और तदुपपत्ति ''
२८९–उभयकर्म्मानुगत रथ का सज्जीभूतत्त्व १३५६
२९०–कशाघातात्मिका प्रेरणा, और रथ का गत्यारूढत्त्व ''
२९१–पुनः-सम्मार्ज्जनात्मक-कशाघात ''
२९२–पूर्व, और उत्तराघार के मध्य में विहित-अग्निसम्मार्ज्जन ''
२९३–धुरयोग, और पूर्वाघार ''
२९४–चर्म्मपाशबन्धन, और अग्निसम्मार्ज्जन ''
२९५–कशाघात, और आहवनीयसम्मार्ज्जन ''
२९६–मन, और वाक् की विभिन्नता का सम्पादक अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म ''
२९७–मनोऽनुगत-विभिन्न पूर्वाघार ''
२९८–वागनुगत-विभिन्न उत्तराघार ''
२९९–मध्यस्थ-अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म, और सम्मार्ज्जनकर्म्मोपपत्ति का विराम ''

### पूर्वाघारकर्म्म-अत्र-उपरत
### चतुर्थ–अध्याय में चतुर्थ, एवं तृतीय–प्रपाठक में
### षष्ठ–ब्राह्मण–अत्र उपरत
### तृतीयप्रपाठकश्चात्रोपरतः

### ३

———*———

## द्विब्राह्मणानुगत-प्रथम-आधारब्राह्मण
## अत्र- उपरत
## १

## चतुर्थ-प्रपाठक अत्र-उपक्रान्त
## ४

——*——

## चतुर्थ-अध्याय में पञ्चम, एवं चतुर्थ प्रपाठक में
## प्रथमब्राह्मण-अत्र-उपक्रान्त
## द्विब्राह्मणानुगत-द्वितीय-आधारब्राह्मण
## अत्र-उपक्रान्त
## १

## ३-उत्तराधारकर्म्मेतिकर्तव्यतोपपत्तिः

——*——


३००-दक्षिणतः-उत्तरदिश्यनुगत ऋताग्नि १३५७
३०१-उत्तरतः-दक्षिणदिश्यनुगत ऋतसोम ,,
३०२-ऋतुद्वयी का समन्वय, एवं ऋतु का जन्म ,,
३०३-ऋतुसमष्टि, और सम्वत्सर की अभिव्यक्ति ,,
३०४-गतिशून्य अग्नि, और सोम ,,
३०५-सदागतिधर्म्मा प्राणवायु का संस्मरण ,,
३०६-गत्यात्मक प्राणवायु, और अजुर्वेद ,,
३०७-यजुर्मूर्त्ति वायु के द्वारा अग्नि-सोम-समन्वय-पूर्वक-सम्वत्सर का प्राकट्य ,,
३०८-ऋत-तत्त्वों का समन्वयात्मक-'आर्त्विज्यकर्म्म' १३५७
३०९-वायुरूप ऋत्विक्, और उनका आर्त्विज्यधर्म्म ,,
३१०-वायु नामक प्राकृत अध्वर्यु, और उनका यजुरनुगत याज्याकर्म्म ,,
३११-उत्तराधारकर्म्म का आर्त्विज्यकर्म्मत्त्व ,,
३१२-यजुर्वेदी-अध्वर्यु नामक ऋत्विक्, और उनका आर्त्विज्यकर्म्म ,,
३१३-देववर्गापेक्षया मानव का अवरश्रेणित्व ,,

३१४–दिव्य-ऋताग्नि का संयोजक दिव्यभाव १३५७
३१५–मानुष-ऋत्विक् की धृष्टता ,,
३१६–धृष्टता-क्षमापनोपाय-प्रदर्शन ,,
३१७–आर्त्विज्यकर्म्म से पूर्व अध्वर्यु के द्वारा देवताओं के लिए नमः, और पितरों के लिए स्वधा का समर्पण, एवं तद् द्वारा अपराध का उपशमन ,,
३१८–धृष्टतानिवृत्यनुगत उद्देश्य की पूर्ति, और तत्साधक-अञ्जलिनिधान १३५८
३१९–आग्नेयप्राणात्मिका देवता ,,
३२०–सौम्यप्राणात्मक पितर ,,
३२१–नमोभावात्मक आग्नेयदेवता, और 'नमो देवेभ्यः' ,,
३२२–स्वधाभावात्मक-सौम्य-पितर, और 'स्वधा-पितृभ्यः ,,
३२३–'ऋताग्नये-नमः' रूप किष्कर्ष ,,
३२४–'ऋत सोमाय नमः' रूप निष्कर्ष ,,
३२५–'तद्देवेभ्यश्चैवैतत्पितृभ्यश्चार्त्विज्यं करिष्यत्-निह्नुते' श्रुति का समन्वय ,,
३२६–मन्त्रशक्ति से समन्वित दिव्यभावापन्न-आज्य, और तत्र 'अस्कन्न' रूपा भावना ,,
३२७–यज्ञानुगता अविच्छिन्ना धारा का संरक्षणोपाय ,,
३२८–भूमिष्ठ आज्य से शत्रुपक्ष की समृद्धि, और तन्निरोधक अस्कन्नभाव ,,
**३२९–'यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं-तद्भ्रातृव्यम्' रूप महत्त्वपूर्ण-निगम-वचन** ,,
३३०–अविकम्पित आज्य, और अस्कन्न—आज्य, एवं तदनुगता आज्यरक्षा ,,
३३१–अयज्ञिय-नियत-सञ्चरमार्ग, और तद्द्वारा ऋत्विजों का गमनागमन ,,
३३२–दक्षिणभाग का अयज्ञियत्त्व ,,
३३३–यज्ञातिक्रमण, और तदुपशमन-प्रकार-प्रदर्शन १३५८
३३४–उत्तरभाग का सौरज्योतिर्म्मयत्त्व ,,
३३५–दक्षिणभाग का आसुरप्राण-निबन्धन छायामयत्त्व ,,
३३६–छायामय-आसुरभाव की निवृत्ति का समन्वय ,,
३३७–यज्ञसाधक छायामय प्रदेश ,,
३३८–वसुभाव का संस्थापन ,,
३३९–छायामय आसुरभाव की आत्यन्तिक निवृत्ति, और 'विष्णोः स्थानमसि' का संस्मरण १३५९
३४०–यज्ञसान्निध्य में समुपस्थिति ,,
३४१–इन्द्र के रक्षणकर्म्म से सुरक्षित दक्षिण स्थान ,,
३४२–'इत इन्द्रो वीर्य्यमकृणोत्' का समन्वय ,,
३४३–आहुति-प्रदानवेला ,,
३४४–आहवनीयाग्नि की स्तुति ,,
३४५–'अतन्द्रो हव्यं वहसि' ,,
३४६–आदिद्देवेषु राजसि' ,,
३४७–'अवतां द्यावापृथिवी', और रक्षणकर्म्म ,,
३४८–स्विष्टकृद्देवता का सन्तर्पण ,,
३४९–इन्द्र के साम्राज्य का विस्तार ,,
३५०–यज्ञपति इन्द्र की तुष्टि, और यज्ञसंसिद्धि ,,
३५१–कायाग्नियुक्त-आध्यात्मिक वायु ,,
३५२–'वायुः खात् शब्दस्तत्' इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्त का संस्मरण ,,
३५३–वाक्तत्त्व, और तन्निबन्धन वायु ,,
३५४–केवल वायव्यावाक्, और अविच्छिन्न-धारात्मिका पशुवाणी ,,
३५५–मानुषीवाक् से अनुप्राणिता वाणी में वर्ण शब्द पद वाक्यादि-रूपा विभक्तियों का समन्वय ,,
३५६–विभक्तिभावात्मक-विभक्तिकरण-लक्षण व्याकरण, और तत्प्रवर्त्तक ज्ञानमूर्त्ति प्राज्ञेन्द्र १३६०

३५७–(क) व्याकरणतत्त्व के प्रवर्त्तक इन्द्रदेवता १३६०
३५७–(ख) वाङ्मय इन्द्र ,,
३५७–(ग) अधिदैवतानुगत वाङ्मय आकाश, और इन्द्र ,,
३५८–इन्द्रकृता बलग्रन्थि, और वाङ्मय पञ्चमहाभूत की सृष्टि ,,
३५९–'इन्द्रो वागित्याहुः' श्रुति का समन्वय ,,
३६०–यज्ञपुरुष का मूलस्थानीय हृदयभाव, और पूर्वाघार ,,
३६१–तूलस्थानीय शिरोभाव, और उत्तराघार ,,
३६२–साङ्केतिक-चतुष्पर्वा आत्मा ,,
३६३–यज्ञपुरुष की पूर्णता का स्वरूप-सम्पादन शिरःस्थानीय-उत्तराघार ,,
३६४–चार-मर्त्य-प्राणों से मध्याङ्ग का स्वरूप-निर्म्माण ,,
३६५–दधिमन्थनोत्थ--आज्यस्थानीय सार–भागात्मक-'श्री' तत्त्व ,,
३६६–श्रीभागात्मक शिरोभाग, और समञ्जन-कर्म्म की द्वितीया उपपत्ति का समन्वय ,,
३६७–जुहू उपभृत् आदि के समञ्जनकर्म्म के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न, और तत्समाधान ,,
३६८–ध्रुवापात्र का नैदानिकरूप यजमान ,,
३६९–उपभृत् का नैदानिकरूप शत्रु ,,
३७०–समञ्जनकर्म्म का पारिभाषिक–समन्वय १३६१
३७१–(क) आत्मस्थानीय-ध्रुवापात्र ,,
३७१–(ख) जुहू-स्थित आज्यशेषांश, और शिरोभाग ,,
३७२–प्राकृतिक-आधिदैविक-जुहू-उपभृत्-ध्रुवा आदि यज्ञपात्रों का संस्मरण, एवं तत्समतुलित वैधयज्ञ के पात्र ,,
३७३–अन्तरिक्ष की आज्य से परिपूर्णता ,,
३७४–आज्यरस से देवज्योतियों का समिन्धन ,,
३७५–'ते ह्येतदुभे ज्योतिषी सञ्चक्षते' का समन्वय १३६१
३७६–तस्मादेवं समनक्ति, और समञ्जनकर्म्म ,,
३७८–**पूर्वाघार, तथा उत्तराघार के सम्बन्ध में (आख्यानभाषा में) एक महत्त्वपूर्णा--वैज्ञानिकी–उपपत्ति का समन्वयोपक्रम** ,,
३७९–अहंभद्रात्मिका-श्रेष्ठता के लिए मन, और वाक् में विवाद ,,
३८०–वाक् की तर्कपरम्परा, और मन का पराभव ,,
३८१–मन की तर्कपरम्परा, और वाक् का पराभव ,,
३८२–प्रजापति का मन के प्रति पक्षपात ,,
३८३–वाक् का प्रजापति के प्रति आक्रोश ,,
३८४–वाक् का प्रजापति के लिए हविर्द्रव्य-वहन-निषेध ,,
३८५–मन के स्वाभाविक स्वरूप का विश्लेषण, और आख्यान १३६२
३८६ नाद--श्रुति—स्वरात्मक सन्दर्भ का संस्मरण ,,
३८७ प्रजापति के निर्णय का वैज्ञानिक-समन्वय ,,
३८८–शब्दजाल से आत्मतुष्टि का अभाव, और वाक् का पराभव ,,
३८९–नेति-नेति-रूपा--शब्दातीता--मौलिक–उपनिषत् ,,
३९०–सबल, एवं सार्थक-कर्म्म की स्वरूप–परिभाषा ,,
३९१–उपांशुभावानुगत कर्म्म की वीर्य्यवत्ता ,,
३९२–शब्दात्मक-उद्घोष, और कर्म्म का निर्वीर्य्यत्त्व ,,
३९३–कर्म्मसिद्धि का अन्यतम द्वार उपांशु–भाव ,,

३९४–मनोऽनुगत पूर्वाघार में वाक् का प्रवेश निषिद्ध १३६३
३९५–प्राजापत्य–(आत्मनिष्ठा से समन्वित) कर्म्मों की उपांशुरूपता का रहस्यात्मक समन्वय ,,
३९६–प्रजापति के लिए वाक् का अहव्य-वाट्त्व ,,
३९७–प्रजापति के निर्णय से वाक् का गर्भपात ( अभिमानपतन ) ,,
३९८–अपमानिता—आवेशाविष्टा—वाक् के अतिमानात्मक उद्गार ,,
३९९–वाक् के अपमान का परिणाम ,,
४००–धामच्छद-अत्रिप्राण, और तमोमूलक-भूत-भौतिक धामच्छदसर्ग ,,
४०१–आत्रेयी-वाक्, और आत्रेय-धामच्छद-सर्ग ,,
४०२–वाक् के अत्रिरूप-गर्भ की बहिर्म्मण्डलानुगता गति ,,
४०३–अधामच्छद-प्रजापति-रूप आत्मदेवता ,,
४०४–अर्थात्मिका धामच्छदा वाक् ,,
४०५–तम, और अत्रि १३६३
४०६–अत्रिलक्षण तमोभाग का समावेश, और भूतसर्ग की प्रवृत्ति ,,
४०७–ऋतुमती स्त्री की विज्ञानसिद्धा अत्रिप्राणनिबन्धना अस्पृश्यता ,,
४०८–चेतनभूत, और अचेतनभूत ,,
४०९–अर्थमात्रानिबन्धन–तमोभाव से आत्मा के सहज विकास की अभिभूति, किंवा अवरोध ,,
४१०–वाक् के अपमान का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय १३६४
४११–अपमानलक्षणा-अर्थगरिमा ,,
४१२–अर्थगरिमात्मिका-तमोवृत्ति से समन्विता वाक् का प्रजापति-सम्बन्ध से पार्थक्य ,,
४१३–आख्यानरहस्य का उपराम, और उत्तराघारकर्म्म की परिसमाप्ति ,,

## इति–उत्तराघारकर्म्मोपपत्तिः

## ३

* * * *

### चतुर्थ–अध्याय में पञ्चम, तथा चतुर्थ-प्रपाठक में प्रथम–ब्राह्मण–उपरत

# चतुर्थोऽध्यायश्चात्र–उपरतः

## ४

——*——

# द्विब्राह्मणानुगत-द्वितीय-आघारब्राह्मण
## अत्र-उपरत
## २

---

## इति-द्विब्राह्मणात्मकं-आघारब्राह्मणमुपरतम्
## *इति-पूर्वोत्तराघारकर्म्म*
## १९—२०

---

श्रीः

# अथ–पञ्चमोऽध्यायः

# ५

---

## अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये-प्रथमं ब्राह्मणं, चतुर्थप्रपाठके च द्वितीयं

## *"प्रवरब्राह्मणम्"*

## उपक्रान्तम्

## *२१--प्रवरणकर्म्म*

## क्रमप्राप्त २१ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की विषयस्मारकसूची

## (पृष्ठ–संख्या १३६७ से १४०४ पृ० पर्य्यन्त)

---


१–प्रथमकाण्डान्तर्गत--पञ्चमाध्यायानुगत–प्रवरब्राह्मण (मूल) १३६७

२–मूलब्राह्मण का अक्षरार्थ-समन्वयात्मक अनुवाद १३७३

३–सूत्रानुगत-पद्धतिसंग्रह १३८२


## वैज्ञानिकविवेचना

## १—आश्रावणकर्म्मोपपत्तिः


४–आज्य-समञ्जनकर्म्म का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण १३८५

५–स्रुक्पात्रद्वयी का यथास्थान-स्थापन १३८५

६–अन्तरभावी-वरणकर्म्म का संस्मरण ,,

७–इध्मसन्नहनरूपा दर्भतृणसमष्टि ,,

८–दर्भमुष्टिग्रहणपूर्वक-अध्वर्य्युकृत-आश्रावणकर्म्म, और-'ओ श्रावय' ,,

९–आग्नीध्रऋत्विक, और 'अस्तुश्रौषट्' ,,

१०–वरणकर्म्मतः प्रथम विहित-आश्रावण–कर्म्म के सम्बन्ध में प्रश्न ,,

११–आश्रावणकर्म्म की यज्ञरूपता ,,

१२–यज्ञाधिकार-प्रदानात्मक वरणकर्म्म ,,

१३–'ओश्रावय' इत्यादि निगदमन्त्र का अर्थ-समन्वय

१४–आङ्गिरस-पार्थिवदेवता, एवं सावित्र-सौर-देवताओं का सङ्क्रमनात्मक यजन, और यज्ञ १३८५

१५–आश्रवणकर्म्म के द्वारा दिव्यदेवताओं का यज्ञ के प्रति आकर्षण ,,

१६–दिव्यप्राणात्मक यज्ञकर्म्म का अनुगमन, और तन्निबन्धन आश्रावणकर्म्म ,,

१७–इध्मकाष्ठ-बन्धनरज्जु--का संस्मरण ,,

१८–दर्भरज्जु-ग्रहणपूर्वक आश्रावणकर्म्म ,,

१९–दर्भरज्जु ग्रहण की उपपत्ति का समन्वय ,,

२०–द्युलोकस्थ-प्राणदेवताओं का आकर्षण, और आश्रावणकर्म्म ,,

२१–यज्ञात्मक आश्रावणकर्म्म की यज्ञरूपा आलम्बनता का समन्वय ,,

२२–'इध्मसन्नहन' (दर्भरज्जु) की यज्ञरूपता १३८६

२३–सौरसम्वत्सरावच्छिन्न सावित्राग्नि, तथा पारमेष्ठ्यसोमात्मक--द्युलोकोपलक्षित 'आधिदैविकयज्ञ' ,,

२३–पार्थिवसम्वत्सरावच्छिन्न अङ्गिरोऽग्नि, तथा चान्द्रसोमात्मक-भूलोकोपलक्षित-'आधिभौतिकयज्ञ' ,,

२४–वैश्वानराग्नि, तथा अन्नसोमात्मक-शरीरोपलक्षित-'आध्यात्मिकयज्ञ' ,,

२५–दिव्यदेवता के आकर्षक आश्रावण–कर्म्म को आधिदैविकयज्ञरूपता ,,

२६–कर्म्मकर्त्ता अध्वर्यु की आध्यात्मिक-यज्ञरूपता ,,

२७–इध्मसन्नहनरूपा दर्भरज्जु की आधि–भौतिकयज्ञरूपता ,,

२८–त्र्यात्मक यज्ञ, और आश्रावणकर्म्म ,,

२९–अध्यात्मयज्ञ की दैविक-भौतिक-यज्ञा–त्मिका प्रतिष्ठाद्वयी ,,

३०–प्रतिष्ठा का निर्गमन, और अध्यात्म-संस्था का अन्तर्विलयन १३८६

३१–यावदायुर्भोगपर्य्यन्ता उभयलोकानु–ग्रहप्राप्ति, और अपउपस्पर्श का संस्मरण ,,

३२–अपउपस्पर्शानुगता उपपत्ति से सम–तुलिता आश्रावणकर्म्म की उपपत्ति का समन्वय ,,

३३–आधिभौतिकयज्ञ की प्रतिष्ठारूपा वेदि ,,

३४–पृथिवी-रूपा यज्ञियावेदि ,,

३५–वेदिरूपा पृथिवी के केश-लोम, और दर्भ-तृण ,,

३६–इध्मभार की नैदानिकी अग्निरूपता का समन्वय ,,

३७–काष्ठ में प्रसुप्त यज्ञाग्नि का संस्मरण ,,

३८–मृग्यमाण-अग्निदेव की मृगरूपता का संस्मरण ,,

३९–पार्थिवप्रतिष्ठानुगत आश्रावणकर्म्म ,,

४०–वेदि-तृणानुगत आश्रावणकर्म्म १३८७

४१–इध्मसन्नहनानुगत आश्रावणकर्म्म ,,

४२–वेदितृण का साक्षाद्रूपेण प्रतिष्ठात्त्व ,,

४३–इध्मसन्नहन का परम्परया प्रतिष्ठात्त्व ,,

४४–भगवान् याज्ञवल्क्य की वैज्ञानिकी दृष्टि, और वेदितृण, किंवा इध्मसन्नहन-ग्रहण का अवैज्ञानित्त्व ,,

४५–अन्य कर्म्मों में नियुक्त दर्भतृणादि १३८७

४६–वेदतृण का ग्रहण, और पृथिवी का ओषधि-वनस्पति से पृथक्करण ,,

४७–याज्ञवल्क्य के द्वारा साम्प्रदायिकों से प्रश्न ,,

४८–यज्ञरूपता का समर्थन, और आश्रावण-कर्म्मोपपत्ति का विराम ,,

४९–होतृत्त्वेन प्राणाग्नि के विशेष-धर्म्मों के सम्बन्ध में जिज्ञासा, और तत्समाधानो-पक्रम ,,

५०–अध्वर्युकृत--आश्रावणकर्म्मानन्तर आग्नीध्र के द्वारा 'अस्तु श्रौषट्' पूर्वक-प्रत्याश्रावणकर्म्म का अनुगमन १३८७
५१–अध्वर्यु के द्वारा 'अग्निर्देवो-दैव्यो होता०' इत्यादि निगदमन्त्र-का उच्चारण, और अध्वर्यु-कर्तृक-होतृप्रवरण-कर्म्म का संस्मरण ''
५२–'होता' नामक ऋत्विक् का स्वरूप-परिचय ''
५३–अधिकारप्रदानलक्षण होतृप्रवरणकर्म्म ''
५४–पारमेष्ठ्यसोमापहरण का संस्मरण ''
५५–गायत्राग्नि के तात्त्विक कर्म्म का समन्वय ''
५६–देवाह्वानलक्षण देवयजनकर्म्म, और तत्स्वरूप-सम्पादक-गायत्राग्नि १३८८
५७–देवसङ्गमनकर्म्म-प्रवर्त्तक प्राणाग्नि का होतृत्व ''
५८–यजमान का यज्ञ, और प्रतिकृतिभाव ''
५९–प्रकृतिवत् विकृति की अनुरूपता ''
६०–वैध-मानुषयज्ञ, और मानुषहोता का वरण ''
६१–दिव्यकर्म्म-के लिए प्रवृत्त मनुष्यहोता ''
६२–अनृतसंहित-मनुष्य ''
६३–पाप्मयुक्त-मनुष्य ''
६४–मरणधर्म्मा-मनुष्य ''
६५–सत्यसंहित-देवता ''
६६–विधूतपाप्मा-देवता ''
६७–अजर-अमृत-धर्म्मा देवता ''
६८–'हाँ'-और 'ना' का समन्वय ''
६९–लौकिकभाव, और निषेधात्मक 'न' ''
७०–मन्त्रशक्ति से समन्वित-दिव्यभावानुगत अस्तिभाव, और 'हाँ' ''
७१–होतृत्त्वेन दिव्यभावना का प्राधान्य, और तन्निबन्धन होतृप्रवरणकर्म्म ''
७२–अन्यथाकरणे अनिष्ट ''
७३–'प्रकृतिवद्विकृतिः-कर्त्तव्या' सिद्धान्त का संस्मरण, और यज्ञानुगता मूलप्रतिष्ठा का संग्रह १३८८
७४–शेष प्रश्न, और तत्समाधान-प्रयास १३८९
७५–प्राणाग्नि, और यज्ञियदेववर्ग ''
७६–प्राणाग्नि का वरण, और देवानुग्रहप्राप्ति ''
७७–उभयानुग्रहप्राप्ति का समन्वय ''
७८–देवताओं के दिव्यहोता अग्नि के वरण से उभयानुग्रह-संसिद्धि ''
७९–मन्त्रभाग का समन्वय ''
८०–देवः, और सर्वदेवमयः ''
८०–दैव्यो-होता, और प्राणाग्नि का यजनकर्म्म ''
८१–देवस्वरूप से परिचित प्राणाग्निरूप होता ''
८२–प्राणदेवताओं के सङ्गमनात्मक यजन के अधिष्ठाता प्राणाग्निदेव ''
८३–विद्वान् अग्नि, और 'विद्वान्' शब्द का तत्त्वार्थ-समन्वय ''
८४–चिकित्वान् अग्नि, और तत्-शब्द का तत्त्वार्थसमन्वय ''
८५–ऋक्संहितानुगत-मन्त्र का संस्मरण ''
८६–वयुनानि विद्वान्, और चिकित्वान्-प्राणाग्नि का होतृत्व ''
८७–भूताधार पर प्राणात्मक देवों का यजन ''
८८–यज्ञफलसिद्धि, और-'देवान् यक्षत्०' मन्त्रार्थ-समन्वय ''
८९–सूर्य्यकेन्द्रावच्छिन्न---इन्द्रप्राणात्मक--बृहती-सम्पत्ति से युक्त-शाश्वत-धर्म्मा अव्यय के श्वोवसीयस्-नामक-मनोदेव से अनुगृहीत, सृष्टि तथा लय-कालप्रवर्त्तक-प्राणरूप-आधिदैविक-'मनु' १३९०
९०–साम्वत्सरिक-प्राणाग्नि का सहयोग, और मनु के द्वारा सम्वत्सरयज्ञ की स्वरूप-सिद्धि ''

९१–आध्यात्मिक-मनु के तात्त्विक-स्वरूप-का संस्मरण १३९०
९२–आधिभौतिक (ऐतिहासिक)–राजर्षि–मनु का संस्मरण ”
९३–आधिदैविक मनु, और आधिदैविक-यज्ञ ”
९४–आध्यात्मिक मनु, और आध्यात्मिक-यज्ञ ”
९५–आधिभौतिक मनु, आधिभौतिकयज्ञ ”
९६–मनु की प्रातिस्विक-सम्पत्तिरूप यज्ञ, और-'मनोर्यज्ञऽइत्याहुः' का समन्वय ”
९७–उभयलिङ्गात्मक धनुः-शब्द से-समतुलित-मनुः-शब्द ”
९८–मनुः-शब्द का पुलिङ्गत्व ”
९९–सान्त मनुः शब्द का नपुंसलिङ्गत्व ”
१००–मनुष्य, और सकारान्त मनु ”
१०१–मानव, और उकारान्त मनु ”
१०२–मनुष्वत्, और मनुरिव ”
१०३–मनुरिव, और मनोरिव ”
१०४–उक्थात्मक मनुस्तत्त्व ”
१०५–अर्कात्मक-मनुस्तत्त्व ”
१०६–एतमेके वदन्त्यग्निम् ”
१०७–अन्ये प्रजापतिम ”
१०८–इन्द्रमेके ”
१०९–परे प्राणम् ”
११०–अपरे ब्रह्म शाश्वतम् ”
१११–मन्त्रोपात्त-'मनुष्वत्' का पारिभाषिक समन्वयोपराम ”
११२–ऐतरेयश्रुति, और यहाँ से वहाँ का सन्तर्पण ”
११३–देवभाग का विस्रंसन, और पार्थिव–सर्ग का स्वरूप-निर्म्माण ”
११४–देवक्षतिपूरक-अङ्गिरोऽग्नि १३९१
११५–'अमृतः–प्रदानाद्धीदं सर्वमुत्तिष्ठति' इत्यादि वचन का समन्वय ”
११६-विशेषप्रक्रियात्मक यज्ञ १३९१
११७–'एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति' का संस्मरण ”
११८–'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे०' इत्यादि पिप्पलादश्रुति का संस्मरण ”
११९–अन्नान्नादलक्षण–अहरहर्यज्ञ नामक भैषज्ययज्ञ, और पदार्थों की जीवन-सत्ता ”
१२०–अध्यात्म का वैश्वानराग्निरूप-'भारत' नामक प्राणाग्नि ”
१२१–भौमसर्ग के मानुष भारत नामक अग्निदेव ”
१२२–आधिदैविक-नित्य-भारताग्नि ”
१२३–भारताग्नि, और भारतवर्ष ”
१२४–वैधयज्ञ का भारताग्नि से स्वरूप-सम्पादन ”
१२५–'भरतवत्' मन्त्रभाग का समन्वय, और दिव्याग्निवरणकर्म्मोपपत्ति का विराम ”

## इति-दिव्याग्निवरणकर्म्मोपपत्तिः

## २

---

## ३–अथ-आर्षेय-वरणकर्म्मोपपत्तिः

१२६–होतृत्त्वेन–अग्निदेव के वरण का संस्मरण १३९२
१२७–यज्ञकर्त्ता यजमान, और उसका (कुलीनतानुबन्धी) वंशगौरव ”
१२८–वंशगौरव का कीर्त्तन, और 'आर्षेय-वरणकर्म्म' ”
१२९–लौकिक-(पार्थिव-भूतभौतिक) कर्म्मों में समानरूपेण-अधिकृत मानवमात्र ”

१३०–अलौकिक ( सौर-प्राणात्मक ) दिव्य कर्म्मों के सम्बन्ध में वर्णानुगता-दृढ-तमा–उत्तरदायित्वपूर्णा–अधिकार–व्यवस्था १३६२
१३१–जन्मत: ऋषिप्राण, तथा देवप्राण से समन्वित मानव, और यज्ञाधिकार ,,
१३२–अदितिमण्डलानुगत-सम्वत्सरयज्ञ का संस्मरण ,,
१३३–अदितिमण्डल, और पृथिवी ,,
१३४– ,, और अन्तरिक्ष ,,
१३५– ,, और द्यौः ,,
१३६–अदितिगर्भानुगत ८ वसुदेवता ,,
१३७– ,, ११ रुद्रदेवता ,,
१३८– ,, १२ आदित्यदेवता ,,
१३९–सान्ध्य २ अश्विनौ ,,
१४०–वसुदेवतानुगत-प्रातःसवन ,,
१४१–रुद्रदेवतानुगत-माध्यन्दिनसवन ,,
१४२–आदित्यदेवतानुगत-सायंसवन ,,
१४३–रात्रिगत पूषाप्राण का सम्वत्सर-यज्ञमण्डल की सीमा से पार्थक्य ,,
१४४–प्रातःसवनीय देवता, और ब्राह्मणवर्ण ,,
१४५–माध्यन्दिनसवनीय देवता, और क्षत्रिय-वर्ण ,,
१४६–सायंसवनीय-देवता, और वैश्यवर्ण ,,
१४७–सवनबहिर्द्धा पूषादेवता, और शूद्रवर्ण ,,
१४८–प्रकृतिसिद्धा-यज्ञसीमात्रयी ,,
१४९–प्रकृतिसिद्धा-वर्णत्रयी ,,
१५०–'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति-गोचरा' का तत्त्वार्थसमन्वय ,,
१५१–द्विजातिप्रजानुबन्धिनी यज्ञविद्या, और तदधिकारानुगता प्रश्नावली का समा-धान ,,
१५२–कर्म्मणा वर्णाभिमान की यातयामता, एवं अनधिकारचेष्टा ,,
१५३–अनधिकारचेष्टानुगत-सर्वनाश १३६३
१५४–गोत्रसृष्टिप्रवर्त्तक–ऋषिप्राण, और वंशानुगता अधिकारमर्य्यादा ,,
१५५–आर्षेयप्रवरणकर्म्म के द्वारा वंशमर्य्यादा का स्वरूप-विश्लेषण ,,
१५६–'ऋषिभ्यश्चैवैनमेतत्—देवेभ्यश्च निह्नुते' का पारिभाषिक-समन्वय ,,
१५७–जन्मानुगत वीर्य्यभाव, और ऋषिप्राण ,,
१५८– ,, ,, देवप्राण ,,
१५९–'अयं महावीर्य्यः, यो यज्ञं प्रापत्' का समन्वय ,,
१६०–'तस्मादार्षेयं प्रवृणीते' रूपा आर्षेय-प्रवरणकर्म्मोपपत्ति का विराम ,,
१६१–सृष्टिक्रमानुबन्धी अनुरोध, और तन्नि-बन्धना–पितामह-पिता–पुत्र-त्रयी का संस्मरण ,,
१६२–परस्तात्-अर्वाक्–मर्य्यादानुगत–वरण-कर्म्म ,,
१६३–'तस्मात्-परस्तात्–अर्वाक्-प्रवृणीते'–और कर्म्म-विश्राम ,,


## इति-आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्तिः

## ३

—*—

## ४–अथ-अग्नि-ब्राह्मणानुगृह-प्राप्तिकर्म्मोपपत्तिः

—*—


१६४–ऋषिवंशप्रसूत-जन्मना द्विजाति-यज-मान की यज्ञाधिकार-व्यवस्था १३६४
१६५–यजमान के यज्ञाधिकार की सफलता की आधारभूमि, और देवप्राणसङ्क्रमन ,,
१६६–अनूचान-ब्राह्मणों का सहयोग, और तदनुगत देवाह्वानकर्म्म ,,

१६७–अनूचान-ब्राह्मणों की मन्त्रशक्तियुक्ता महती-शक्ति का संस्मरण १३६४
१६८–सर्वथा अपेक्षित अग्निदेवानुग्रह ,,
१६९–सर्वात्मना अपेक्षित अनूचानब्राह्मणानुग्रह ,,
१७०–'ब्रह्मवदाचवद्वत्' का रहस्यार्थ समन्वय, और कर्म्मोपपत्तिविराम ,,


## इति–अग्नि–ब्राह्मणानुगृहप्राप्ति-कर्म्मोपपत्तिः

——*——

## ५-अथ-मानुषहोतृवरणोपपत्तिः

——*——


१७१–प्राणविध सम्वत्सरयज्ञ, और उसके प्राणविध-ऋत्विक् १३६४
१७२–प्राणीविध--मानुषयज्ञ, और उसके प्राणीविध-ऋत्विक् ,,
१७३–प्राणीविध-मानुष होता का होतृत्वेन–वरण ,,
१७४–देवाह्वानकर्म्माधिकारसमर्पणरूप मानुष--होतृवरणकर्म्म ,,
१७५–आश्रावण-दिव्याग्निवरण-अग्निब्राह्मणानुग्रह-सम्पादनरूप कर्म्मों के अनन्तर अनुष्ठेय 'असौ मानुषः' इत्यादि निगदमन्त्रपूर्वक अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के द्वारा मानुष-होता का वरण, और कर्म्मोपपत्ति-विराम १३६५


## इति-मानुषहोतृवरणोपपत्तिः

## ५

——*——

## ६-अथ-स्वस्ति-अयन-रूप-स्वस्त्ययन–जपोपपत्तिः

——*——


१७६–होतपद पर समासीन ऋत्विक् १३६६
१७७–'हौत्रकर्म्म'रूप महान् उत्तरदायित्व से अनुगत होता ,,
१७८–उत्तरदायित्व का पूरक स्वस्त्ययन-जपात्मक-कर्म्म ,,
१७९–सफलताप्रवर्त्तक-प्राकृतिक--प्राणदेव--ताओं का संस्मरण ,,
१८०–मन्त्रशक्ति के माध्यम से प्राणदेव–ताओं का आकर्षण ,,
१८१–'स्वस्त्ययनजप' की पारिभाषिकी मौलिक-उपपत्ति का समन्वय ,,
१८२–प्रेरक सवितादेवता की अनुग्रहप्राप्ति ,,
१८३–आह्वानकर्म्म की मूलप्रतिष्ठारूप–सवितादेवता ,,
१८४–आपोमय परमेष्ठी के चारों ओर परिभ्रममाण-बृहस्पति-ब्रह्मणस्पति-वरुण–सविता-आदि कतिपय-उपग्रहों का नाम संस्मरण ,,
१८५–प्रेरणाबलप्रवर्त्तक-सविताग्रह ,,
१८६–देवताओं के प्रसविता सवितादेवता ,,
१८७–सूर्य्य का सवितृ-व्यवहार-समन्वय १३६६
१८८–सविताप्राण की प्रेरणाबल का आगमनक्षेत्र-बुद्धितत्त्व ,,
१८९–बृहस्पति का उत्तमत्त्व ,,
१९०–इन्द्र का प्रथमत्त्व ,,
१९१–इन्द्रोपरि अवस्थित बृहस्पति ,,
१९२–बृहस्पत्युपरि अवस्थित ब्रह्मणस्पति ,,
१९३–ब्रह्मणस्पत्युपरि अवस्थित सविता-देवता ,,
१९४–वागधिपति बृहस्पति का वाजपेययज्ञ ,,

१९५–सविता, और धी-भाव १३९६
१९६–धियो यो नः प्रचोदयात् ,,
१९७–तत्सवितुर्वरेण्यम् ,,
१९८–प्रमुख-प्रेरयिता सविताप्राण ,,
१९९–मानुष होता के व्याज से सवितादेवता का ही वरण ,,
२००–'अग्निं होत्राय०', और अग्नि की अनुग्रह-प्राप्ति ,,
२०१–चतुर्द्दशविध-भूतसर्ग का प्रजनयिता-सम्वत्सरप्रजापति ,,
२०२–सम्वत्सर की 'पिता' अभिधा का पारिभाषिक-समन्वय ,,
२०३–सवनत्रयों से वैश्वानररूप में परिणत सम्वत्सर ,,
२०४–त्र्यात्मक त्रिलोकव्याप्त रहस्यपूर्ण वैश्वानर का स्वरूप-समन्वय १३९७
२०५–विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञरूपा वैश्वानर-विवर्त्तत्रयी ,,
२०६–विराट् का तत्त्वात्मक स्वरूप-समन्वय ,,
२०७–हिरण्यगर्भ का समन्वय ,,
२०८–सर्वज्ञ का समन्वय ,,
२०९–'अग्निं होत्राय-सह-पिता-वैश्वानरेण' इत्यादि मन्त्रार्थसमन्वय ,,
२१०–अग्निप्रधानस्त्रिमूर्त्तिर्विराट् वैश्वानरः १३९८
२११–वायुप्रधानस्त्रिमूर्त्तिर्हिरण्यगर्भः-वैश्वानरः ,,
२१२–आदित्यप्रधानस्त्रिमूर्त्तिः-सर्वज्ञः-वैश्वानरः ,,
२१३–यजनकर्म्मनिबन्धन-पार्थिवअग्नि ,,
२१४– ,, पार्थिव भूत ,,
२१५– ,, निबन्धना-पार्थिवीवाक् ,,
२१६–पूषाप्राण का स्वरूप-समन्वय ,,
२१७–शूद्रसृष्टिप्रवर्त्तक-–अदन्तक-–पूषाप्राण (१)
२१८–रेवतीनक्षत्रात्मक-पूषाप्राण (२) ,,
२१९–आदित्यलक्षण-पूषाप्राण (३) ,,
२२०–वाक्–गौः–द्यौः-रूपा पार्थिवी मनोता-त्रयी १३९८
२२१–गौर्वा-अग्निहोत्रम् ,,
२२२–(क) पार्थिव-यज्ञ के याज्या, एवं अनुवाक्या कर्म्म की स्वरूप-सम्पत्ति ,,
२२२–(ख) वसूनां रातौ स्याम, और स्वस्त्ययन ,,
२२२–(ग) रुद्राणां-उर्व्यायां, ,, ,,
२२२–(घ) स्वदित्या-अदितये, ,, ,,
२२२–(ङ) पाकयज्ञ, वितानयज्ञ, भेदभिन्ना पार्थिव-यज्ञद्वयी ,,
२२२–(च) स्मार्त्त-गृह्ययज्ञ का पाकयज्ञत्त्व ,,
२२२–(छ) त्रेताग्नियज्ञात्मक-वितानयज्ञ ,,
२२२–(ज) वसुदेवतानुगत-पार्थिव गार्हपत्याग्नि ,,
२२२–(झ) रुद्रदेवतानुगत-आन्तरिक्ष्य–धिष्ण्याग्नि (नाक्षत्रिकाग्नि) १३९९
२२२–(ञ) आदित्यदेवतानुगत–दिव्य–आहवनीयाग्नि ,,
२२२–(ट) गणदेवतात्रयी, और तदनुगत-प्राकृतिक वितानयज्ञ ,,
२२३–अन्न-पशु-द्रव्य-सम्पत्तित्रयी, और-'राति' ,,
२२४–सम्पत्ति, और-'वसु' ,,
२२५–पार्थिवसम्पत्तिरूप वसुभाव ,,
२२६–वस्वग्नि, और ऋङ्मन्त्र का संस्मरण ,,
२२७–रुद्रानुगता-उरुभावनिबन्धना पारिभाषिकी सम्पत्ति का स्वरूप-समन्वय ,,
२२८–अमूलमुभयतः-परिच्छिन्नम् ,,
२२९–'आदित्यप्रतिष्ठा' का पारिभाषिक-समन्वय ,,
२३०–रातिप्रवर्त्तक-वसुदेवता ,,
२३१–भूमाप्रवर्त्तक-रुद्रदेवता ,,
२३२–प्रतिष्ठाप्रवर्त्तक-आदित्यदेवता ,,
२३३–'अदितये स्यामनेहसः' का समन्वय ,,
२३४–अदिति की अनुग्रहप्राप्ति ,,
२३५–'जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्', और स्वस्त्ययन १४००

२३६–उच्चारणानुगत--सौष्ठवमाधुर्य्य, और जुष्टावाक् १४००
२३७–स्वरमर्य्यादानुगता-वाक् ”
२३८–छन्दोमर्य्यदानुगता वाक् ”
२३९–स्वर-खरता, और वाग्दोष ”
२४०–उच्चारणदोष ”
२४१–स्खलनदोष ”
२४२–मन्त्रवाक् की निंद्दुर्ष्टता, और देवानुग्रहान्वितता ”
२४३–'तद्धि समृद्ध'-यो जुष्टं देवेभ्योऽनुब्रु – वत्' का समन्वय ”
२४४–मन्त्राधीन-देवदेवता ”
२४५–अपेक्षित मन्त्रवाक् का सौष्ठव ”
२४६–ब्राह्मणाधीन-मन्त्र ”
२४७–सर्वात्मना अपेक्षित ब्राह्मणानुग्रह ”
२४८–तत्त्वात्मिका वैज्ञानिकी वाक् के रहस्य-वित्-मन्त्रवित्-ब्राह्मण का भूदेवत्व ”
२४९–ब्राह्मण के लिए निषिद्धा उद्वेगकरी-वाक् ”
२५०–आज के यज्ञकर्म्म, और उनका-अवैध-इतिवृत्त ”
२५१–ब्राह्मणबल की सुषुप्ति ”
२५२–ब्राह्मणवर्ण का अपमान ”
२५३–'जुष्टां ब्रह्मभ्य:' का समन्वय ”
२५४–'तद्धि समृद्ध'-यो जुष्टं ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रुवत्' ”
२५५–'जुष्टं नराशंसाय' का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण ”
२५६–वर्णों का मूलाधार ब्राह्मणवर्ण ”
२५७–शातपथी श्रुति का संस्मरण १४०१
२५८–सृष्टिमर्य्यादा से असंस्पृष्ट-ब्रह्मतत्त्व ”
२५९–सामान्य-प्रजावर्ग, और 'नर' शब्द ”
२६०–सर्वसायान्य प्रजावर्ग से अनुमत यज्ञ का समृद्धित्व ”
२६१–जातवेदा-विचर्षणि-अग्निदेव से विशेष आवेदन १४०१
२६२–जातवेदा-विशेषण का तत्त्वात्मक-समन्वय ”
२६३–विचर्षणि-विशेषण का समन्वय ”
२६४–प्राणव्यापार के संग्राहक अध्वर्यु ”
२६५–वाग्व्यापार के संग्राहक उद्गाता, तथा होता ”
२६६–मनोव्यापार के प्रवर्त्तक-ब्रह्मा ”
२६७–अध्वर्यु का नैदानिक मनोमयत्व ”
२६८–होता का नैदानिक वाङ्मयत्व ”
२६९–मन, और वाक् का परस्पर-ग्रन्थिबन्धन, और स्पर्शकर्म्म का समन्वय १४०२
२७०–स्पर्शकर्म्म के अनन्तर होता के द्वारा विशेष मन्त्रजप की अनुगति ”
२७१–अहोरात्रवाद का संस्मरण ”
२७२–अह:, और तन्निबन्धन अग्नि ”
२७३–रात्रि, और तन्निबन्धना पृथिवी ”
२७४–वाजात्मक-प्राण ”
२७५–एष उ बिभ्रद्वाज: ”
२७६–अग्नि:, पृथिवी, आप:, वाज:, अह: रात्रि, रूप विभूतिषट्क का संस्मरण ”
२७७–स्वस्त्ययनजपकर्म्मानन्तर होता का होतृ–षदन की ओर पुनरावर्त्तन ”
२७८–'निरस्त: परावसु:' का संस्मरण ”
२७९–परावसु नामक असुरवर्ग का होता, और तन्निरसन ”
२८०–असुरब्राह्मणात्मक-परावसु ”
२८१–सहरक्षा का दिग्दर्शन ”
२८२–हिङ्कारब्राह्मण का संस्मरण ”
२८३–'होतारं-विश्ववेदसम्' का संस्मरण ”
२८४–अर्वावसु नामक देवदेवताओं के दिव्य होता का संस्मरण ”
२८५–यज्ञस्वरूप-विघातक-परावसु ”
२८६–यज्ञस्वरूप-संरक्षक अर्वावसु ”

२८७–'इदमहमर्वावसोः-सदने--सीदामि' का समन्वय १४०२
२८८–विश्वकर्म्मन् ! तनूपा असि १४०३
२८९–उत्तर की ओर होता का किञ्चिच्चलन ,,
२९०–होतृषदन-स्थान का संस्मरण १४०३
२९१–आहवनीय की प्रचण्डतमा-समिद्धता ,,
२९२–स्तुति के द्वारा देवानुग्रह-प्राप्ति, और स्वस्त्ययनजपोपपत्ति का विराम ,,

## इति–पञ्चमाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च–द्वितीयं ब्राह्मणं 'प्रवरब्राह्मणम्' अत्र–उपरतम्

---*---

## *इति-प्रवरण-कर्म्मोपरतम्*

## २१

---*---

श्रीः

# अथ–शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये-द्वितीयं-ब्राह्मणम् चतुर्थप्रपाठके–च–तृतीयं–ब्राह्मणम्

उपक्रान्तम्

## *'स्रुग्ब्राह्मणम्'*

## *(वृष्टिविज्ञानात्मकम्)*

—*—

## क्रमप्राप्त २२ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य की विषयस्मारक–सूची

(पृष्ठ सं० १४०५ से १४७४ पृ० पर्य्यन्त)

—*—


१–प्रथमकाण्डान्तर्गत-पञ्चमाध्यायानुगत-स्रुग्ब्राह्मण (मूल) १४०५

२–मूलब्राह्मण का अक्षरार्थ-समन्वयात्मक अनुवाद १४१०

३–सूत्रानुगत-पद्धति-संग्रह १४१८


### वैज्ञानिकविवेचना


४–स्वस्त्ययनजपकर्म्मानन्तर होता के द्वारा 'स्रुगादापननिगद' मन्त्रों का पाठ १४१६

५–वरणकर्म्म से वृत होता का सहजसिद्ध-मानुषभावनिबन्धन-प्रज्ञापराध ,,

६–प्रज्ञापराधानुगता-असावधानी, और यज्ञस्वरूप का विकृतित्व ,,

७–इष्टजनक यज्ञ का सम्भावित अनिष्टजनकत्त्व १४१६

८–मानुषभावनिबन्धन-प्रज्ञापराध के निह्नव के लिए विहित विशेष-प्रकार का समन्वय ,,

९–प्राकृतिक-प्राणदेवताओं से अनुगत प्रेरणाबल, और तन्निबन्धन लौकिक, तथा शास्त्रीय-कर्म्म ,,

१०–योगमायानुबन्धी अहन्ताभिमान ,,

११–मानव की स्वतन्त्र-सत्ता का अकिञ्चित्करत्त्व ,,

१२–तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्तः ,,

१३-केनापि देवेन हृदिस्थितेन-यथानियुक्तो-ऽस्मि, तथा करोमि १४१६

१४-आत्मसमर्पणात्मक भक्तियोग का पावन संस्मरण ”

१५-अन्तर्य्यामी की उपेक्षा से समन्वित स्वबलातिमानी मूढ़मानव १४२०

१६-अतिमानानुगत अवश्यंभावी प्रज्ञापराध ”

१७-लौकिककर्म्मानुगता आंशिक-सफलता से महान् व्यामोहन ”

१८-प्राकृतिक-दिव्यकर्म्मों के सम्बन्ध में सफलता का अभाव, और मिथ्याभिमान ”

१९-भावना के द्वारा स्वाभिमान (अति-मान) का निराकरण, एवं देवानुग्रह-प्राप्ति

२०-'अग्निरिदं होता वेत्तु' का रहस्यात्मक-समन्वय ”

२१-'वेत्तु-प्रावित्रम्' मन्त्रभाग का संस्मरण ”

२२-अनुष्ठेय कर्म्म की अभीष्टा सफलता ”

२३-हौत्रकर्म्मानन्तर अपेक्षित द्वितीय लक्ष्य ”

२४-यज्ञरूप पावनकर्म्म के उत्तरदायित्व से समन्वित-प्राणाग्निदेव ”

२५-निन्द्य-असत्प्राणों का दिव्यप्राणसीमा से बहिष्कार ”

२६-पुण्यातिशयजनक-यज्ञ- तपो-दान- रूपा श्रेष्ठतमा-कर्म्मत्रयी ”

२७-पुण्यप्रवर्त्तिका- इष्ट-आपूर्त - दत्तरूपा-श्रेष्ठ-कर्म्मत्रयी ”

२८-सजातीय-पवित्रकर्म्मों के अनुग्राहक-दिव्यप्राणदेवता ”

२९-इष्टकामधुक् ( यथेच्छफलप्रदाता ) श्रेष्ठतम-यज्ञकर्म्म, और की निरतिशया पवित्रता ”

३०-अग्नि, और सोम के रासायनिक-सम्मिश्रण से अभिव्यक्त पावन-यज्ञकर्म्म ”

३१-अग्निदेव की लोकप्रसिद्धा पवित्रता १४२०

३२-दूषित-मलिन-अशुचि-भावों के विनाशक अग्निदेव ”

३३-(क)-अध्यात्मसंस्था, और प्रज्ज्वलित तत्रस्थ-अग्निदेव ”

३३-(ख)-'परमया जूत्या बल्बलीति' ”

३४-अग्निप्रज्ज्वलनानुगत शारीरिक-पावित्र्य ”

३५-अग्नि का उत्क्रमण, और वरुण का प्रभुत्त्व स्थापन ”

३६-वारुण-शवशरीर का पूतिगन्धत्त्व ”

३७-दाहक अग्नि के साथ दाह्य सोम का अन्तर्य्याम-सम्बन्ध, और तन्निबन्धन-अग्निप्रज्ज्वलन ”

३८-पवित्रधर्म्म का मूलप्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य 'अम्भः' रूप दाह्य-'सोम' ”

३९-'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते !' का संस्मरण ”

४०-पवित्र अग्नि, और पवित्रतम सोम १४२१

४१-उभयविध-पवित्रतत्त्व—समन्वयात्मक-यज्ञपुरुष ”

४२-यज्ञ की सर्वाधिका पवित्रता, एवं तन्निबन्धन श्रेष्ठतमत्त्व ”

४३-प्रकर्षेण-अवति, और पवित्र ”

४४-रक्षाकर्म्मानुगत 'प्रावित्र' शब्द ”

४५-पवित्रतमत्त्व, और प्रावित्र-शब्द ”

४६-अग्नीषोमात्मिका-पवित्रता ”

४७-रक्षात्मक-धर्म्म का समन्वय ”

४८-आध्यात्मिक-संस्था का रक्षक-आदान-विसर्गक्रियात्मक-यज्ञ ”

५०-आधिदैविक-संस्था का अनुग्राहक-पारमेष्ठ्यसोमाहुत्यात्मक-यज्ञ ”

५१-सर्वरक्षकत्त्व-निबन्धना श्रेष्ठतमा रक्षा, और तत्प्रवर्त्तक श्रेष्ठतम-यज्ञकर्म्म ”

५२-'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म' का संस्मरण ”

५३–प्रकृष्टरक्षाधर्म्म, और 'प्राविन्न'-शब्द-समन्वय १४२१
५४–प्राणाग्निदेव का साक्षित्व, और तन्निबन्धन हौत्रकर्म्म, तथा यज्ञकर्म्म ,,
५५–'साधु ते यजमान ! देवता' मंत्रभाग का संस्मरण ,,
५६–यज्ञकर्म्म की निर्विघ्नतानुगति ,,
५७–यज्ञकर्म्म की सफलता के प्रवर्त्तक अग्निदेव ,,
५८–श्रेष्ठतम अग्निदेव का अनुग्रहात्मक सहयोग, और तन्निबन्धना अभीष्ट-फलसिद्धि ,,
५९–समर्थ-योग्य-मानवश्रेष्ठों का सहयोग, और लौकिक-कर्म्मों की सफलता ,,
६०–लोकसूक्ति का संस्मरण ,,
६१–कर्म्मनिष्ठा को प्रेरणाबलप्रधान, और मन्त्रप्रयोग १४२२
६२–आत्मविश्वास, और कर्म्मसफलता का अन्यतमद्वार ,,
६३–'घृतवतीमध्वर्य्यो स्रुचमास्यस्व' मन्त्र-भाग का संस्मरण ,,
६४–अग्निदेव का यज्ञसीमा में प्रवेशात्मक अनुग्रह ,,
६५–भावानानुगत-निगदमन्त्र ,,
६६–समागत-अग्निदेव की परिचर्य्या ,,
६७–अग्निदेव की परितृप्ति से अनुप्राणित आज्याहुति ,,
६८–अध्वर्य्युकृत-आहुतिकर्म्म ,,
६९–होता के द्वारा अध्वर्य्यु को प्रेरणाबल-प्रदान, और अग्निदेव का आतिथ्य ,,
७०–यजमानस्थानीया-जुहू ,,
७१–यजमानशत्रुस्थानीय-उपभृत् ,,
७२–अत्तारूप-जुहूपात्र ,,
७३–आद्यरूप-उपभृत्पात्र ,,
७४–'जुहूपभृतावास्यस्व' का निषेध, और तत्कारण-समन्वय १४२२
७५–भावनात्मिका यज्ञप्रक्रियाओं में भावना का प्राधान्य ,,
७६–भावनाओं के अभिव्यञ्जक नैदानिक-भौतिक-यज्ञिय-द्रव्य ,,
७७–आहार्य्यारोपविधा से अनुप्राणिता उपास्य-कल्पना का समन्वय ,,
७८–आहार्य्यारोपविधा से अनुगत-जुहू, और उपभृत् की क्रमशः अत्ता-आद्य-रूपता का नैदानिक-समन्वय ,,
७९-भावना के माध्यम से वस्तुतत्त्व का समन्वय ,,
८०–एकवचानान्त-प्रयोग का स्वारस्व ,,
८१–'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' का संस्मरण १४२३
८२–'तस्मादेकामिवैन्वाह' का तात्त्विक-समन्वय ,,
८३-'देवयुवां-विश्ववाराम्' मन्त्र का संस्मरण ,,
८४–यज्ञ के रहस्यात्मक-पारिभाषिक-फलितार्थ का समन्वय ,,
८५–होतृकर्तृक-निगदपाठ के द्वारा प्राणाग्नि का यज्ञमण्डल में समावेश ,,
८६–वित्तानुगता आत्मसत्ता का समन्वय ,,
८७–प्राणाग्नि के साथ प्राणदेवताओं का ग्रन्थिबन्धनरूप अन्तर्य्याम-सम्बन्ध, और आज्याहुति ,,
८८–'देवयुग' रूप पारिभाषिक-धर्म्म, और प्राणाग्नि ,,
८९–सर्वत्र-चिदात्मव्याप्ति, और ऋषिदृष्टि ,,
९०–ज्योतिर्म्मय-देवताओं का पावन-संस्मरण ,,
९१–ज्योतिर्विवर्त्त की महिमा-विवर्त्तत्रयी ,,
९२–त्रिविध-ज्योतिर्भावों से अनुप्राणित तीन लोक ,,

९३–पार्थिव-प्राणाग्निरूप वैश्वानर १४२३
९४–वैश्वानररूप-विराट्पुरुष १४२४
९५–वैश्वानरानुगत-सुप्रसिद्ध पाँच पशुओं का नाम-दिग्दर्शन ''
९६–पार्थिव अग्नि की कृष्णरूपता, और 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठः' का संस्मरण ''
९७–कृष्णमृगाग्नि की सहयोगिनी रूपज्योति ''
९८–आन्तरिक्ष्य-देवताओं का संस्मरण ''
९९–सौर-ज्योतिर्म्म-दिव्यदेवता ''
१००–दिव्य-सौर-देवता, और तन्निबन्धना विद्यासमुचिता-यज्ञ-तपो- दान-लक्षणा श्रेष्ठ-कर्म्मत्रयी ''
१०१–आन्तरिक्ष्य-चान्द्रदेवता, और तन्निबन्धना विद्यानिरपेक्षा-इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-लक्षणा सत्कर्म्मत्रयी ''
१०२–पार्थिव-भूतदेवता, और तन्निबन्धन-गृह्य-सामयाचारिक-लौकिक (स्मार्त्त) सत्कर्म्म ''
१०३–पार्थिव-ज्योतिर्भाग, और तन्निबन्धन-मानवसर्ग ''
१०४-आन्तरिक्ष्य-ज्योतिर्भाग, और तन्निबन्धन-पितृसर्ग ''
१०५–दिव्य-ज्योतिर्भाग, और तन्निबन्धन-देवसर्ग ''
१०६–प्रजासर्गत्रयी, और अग्निदेव ''
१०७–ज्योतिःसर्गत्रयी, '' ''
१०८–लोक-सर्गत्रयी, '' ''
१०९-द्युलोकावच्छिन्न सौर-देव-देवता, और उनका यज्ञियत्व ''
११०–अन्तरिक्षलोकावच्छिन्न - चान्द्र-पितर-देवता, और उनका नमस्यत्व ''
१११–पार्थिवलोकावच्छिन्न-आग्नेय ब्राह्मण-देवता, और उनका 'इडेन्यत्व' १२२४
११२-(क)-'पितरोवाक्यमिच्छन्ति', और नमस्कार से तुष्ट पितर-देवता १४२४
११२–(ख) 'नमस्य-पितर' ''
११३–वाग्विकृतिरूप-भूतमय मनुष्य, और तत्प्रसन्नता का अन्यतम-साधन-तत्-स्तुतिकर्म्म ''
११४–यशःख्यापनात्मिका लोकैषणा से स्खलितमना-मानव ''
११५–'ईडेन्य' मानव ''
११६–'ईडामहै-इडेन्यान्-नमस्याम–नमस्यान्-यजाम यज्ञियान्' इत्यादि-निगदमन्त्रार्थ-समन्वय ''
११७–तालिका के माध्यम से वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण १४२५
११८–दृष्ट्यन्तरनिबन्धना देवत्रयी ''
११९–आधिदैविक-सगुण-इष्टदेवता ''
१२०–आधिभौतिक-सगुण-मनुष्यदेवता ''
१२१–स्तुतिभावात्मक आत्मसमर्पण, और उपास्यदेवता की सन्तुष्टि ''
१२२–नमस्कारमात्र से सन्तुष्ट होजाने वाले पूज्य-श्रेष्ठ-मानव ''
१२३–यज्ञ से तुष्ट होने वाले यज्ञिय-दिव्य-देवता ''
१२४–त्रिविध-संस्थानों का संस्मरण, और तत्स्वरूप-समन्वय ''
१२५–यजनीय-प्राणदेवताओं से अनुप्राणित-महत्त्वपूर्ण-यज्ञात्मक-साधन १४२५
१२६–त्रैलोक्यविभूति का संसाधक-यज्ञकर्म्म ''
१२७–यज्ञिय, और अयज्ञिय-भावों का सम-तुलनात्मक-संस्मरण ''
१२८–यज्ञिय-'मानव', और अयज्ञिय 'किंपुरुष' ''
१२९–अश्व–गौ–अवि–अज–नामक–यज्ञिय-पशुवर्ग ''

१३०–गौर-गवय-उष्ट्र-शरभ-नामक-अयज्ञिय-पशुवर्ग १४२५
१३१-बङ्गा-बगधा-चेरपादा-नाम की अयज्ञिया-प्रजा-त्रयी ”
१३२–'प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुः' का संस्मरण ”
१३३-अयज्ञिया-माषादि (उर्व आदि) ओषधियाँ ”
१३४–'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः' इत्यादि निगमवचन का संस्मरणात्मक-समन्वय ”
१३५–यज्ञ का इष्टफलजनकत्व-समन्वय ”
१३६–यज्ञ का महतोमहीयान्-श्रेष्ठतम-कर्म्मत्व १४२६
१३७–यज्ञ का समादर, और सर्वसिद्धि ”
१३८–यज्ञ का तिरस्कार, और सर्वविनष्टि ”
१३९–यज्ञपद्धति से अनुगत आधिभौतिककर्म्म, और तद्द्वारा यज्ञातिशय की अभिव्यक्ति ”
१४०–यज्ञकर्म्मसमष्टि, और यज्ञातिशय की सर्वाङ्गीणता ”
१४१–यज्ञातिशयरूप दैवात्मा का संस्मरण ”
१४२–नव (९)–व्याहृत्यात्मक-स्रुगादापनकर्म्म के तात्त्विक समन्वय का सिंहावलोकन ”
१४३–पाञ्चभौतिक शरीर, और उसके ऊर्ध्व-सौर, अवाञ्च-पार्थिव-प्राण का संस्मरण ”
१४४–अर्करूप-अवान्तर-साकञ्जप्राण ”
१४५–सप्त-शीर्षण्य-प्राणों का नाम संस्मरण ”
१४६–ब्रह्मग्रन्थ्यनुगत-प्रतिष्ठाप्राण ”
१४७–उपस्थानुगत-प्राण ”
१४८–अवान्तर नव (९)-प्राणों का स्वरूप-समन्वय ”
१४९–नवप्राणसम्पत्ति का संग्राहक स्रुगादापनकर्म्म ”


## इति–स्रुगादापनकर्म्मोपपत्तिः

१

——*——

## २–अथ–आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्मोपपत्तिः

—०—


१५०–स्रुगादापनकर्म्मानन्तर-भावी कर्म्म का सस्मरण १४२७
१५१–अध्वर्यु के द्वारा आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्म्म का अनुगमन ”
१५२–सुप्रसिद्धा-यज्ञानुबन्धिनी-पाँच ऋतुएँ ”
१५३–हेमन्त, और शिशिर का अभिन्नत्व, एवं पञ्चर्त्तु-स्वरूप-समन्वय ”
१५४–पञ्चर्त्तु-समष्टिरूप सम्वत्सर ”
१५५–सम्वत्सररूप-यज्ञ ”
१५६–यज्ञ के द्वारा प्रजापति से चराचर-सर्ग का निर्म्माण ”
१५७–प्रजास्वरूप-निर्म्माण में अग्नि-सोममयी साम्वत्सरिकी यज्ञमात्रा का प्रतिक्षण-विस्रंसन ”
१५८–'यज्ञ की सौरमण्डलस्थ-दिव्यदेवताओं से अपक्रान्ति' का रहस्यात्मक-समन्वय ”
१५९–नियतभावानुबन्धिनी-यज्ञापक्रान्ति ”
१६०–अनियतभावानुबन्धिनी——यज्ञाप्रक्रान्ति
१६१–यज्ञ की स्वरूप-सम्पत्ति का संस्मरण ”
१६२–भूपिण्ड की परिधि का विच्छेद, और सौरयज्ञ का अग्रगमन ”
१६३–सौरप्रकाशविच्छेदानुगत-सैंहिकेय-छाया-मय-'राहु', ”
१६४–यज्ञ की नियतापक्रान्ति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ”
१६५-यज्ञानुगता नियतापक्रान्ति, और तन्नि-बन्धन 'ब्रह्मौदन' ”
१६६–पार्थिव-पदार्थों के उत्पादनकर्म्म से असंसृष्ट ब्रह्मौदनात्मक यज्ञ ”

१६७–नियतापक्रान्त यज्ञ से सम्वत्सर की स्वरूप-निष्पत्ति १४२७
१६८–अश्वस्वरूपात्मक सम्वत्सरयज्ञ ”
१६९–अश्वात्मक-यज्ञ से असंस्पृष्ट-प्रकृत-आश्रवण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म--निबन्धन-आख्यान ”
१७०–अनियतापक्रान्तिरूप यज्ञ, और तन्निबन्धन-आख्यान ”
१७१–नियतापक्रान्त-पुनर्गत-स्थिर ब्रह्मौदन-लक्षण (सूर्य्य-स्वभोग्यलक्षण) सम्वत्सरयज्ञ से यज्ञमात्रा का विस्रंसन १४२८
१७२–तापोत्सर्ग के द्वारा विस्रंसन का साक्षात्कार ”
१७३–विस्रस्ता-यज्ञमात्रा-रूप प्रवर्ग्यभाग ”
१७४–'उच्छिष्टात्--जज्ञिरे--सर्वम्' इत्यादि आथर्वण-वचन का संस्मरण ”
१७५–तत्तद्विशेषभावोत्पत्ति में तत्तत्-समय-विशेषों से अनुप्राणित-प्रवर्ग्यात्मक-सौरयज्ञ, और तद्रूपा यज्ञानुगता अनियता-प्रक्रान्ति ”
१७६–प्रकृताख्यानानुगत-प्रवर्ग्यभाव ”
१७७–विस्रस्त-भाग के पूरक-अन्न-अन्नादात्मक-आदान-विसर्ग--निबन्धन-सहज-यज्ञक्रम के पारिभाषिक तथ्य का स्वरूप-समन्वय ”
१७८–सौरदेवताओं के स्वरूप-रक्षक-यज्ञ की प्रवर्ग्य के द्वारा अपक्रान्ति ”
१७९–अपक्रान्त-यज्ञ का पुनरावर्त्तन ”
१८०–प्रदाता का ही भोक्तृत्व ”
१८१–(रक्षक का ही भक्षकत्व) ”
१८२–'यो मा ददाति, स इ देवमावत्' का संस्मरण ”
१८३–प्राणाग्निरूप होता ”
१८४–आदित्यप्राणरूप-उद्गाता ”
१८५–चान्द्रसोमरूप-ब्रह्मा १४२८
१८६–नित्य-ऋत्विजों के प्रयास से (यज्ञ-कर्म्म से) दिव्ययज्ञ का पृथिवी से सूर्य्य के प्रति पुनरावर्त्तन ”
१८७–अपक्रान्त यज्ञ का पुनरावर्त्तन, और प्रकृत-आख्यान ”
१८८–प्राकृतिक-नित्य-यज्ञानुबन्धी-गमनागमन-भाव, और प्रकृत-आख्यान ”
१८९–वैधयज्ञ की आधारभूमि नित्ययज्ञ ”
१९०–देवाननुविधा वै मनुष्याः ”
१९१–यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि ”
१९२–'ओश्रावय' रूप आश्रावणकर्म्म, और अपक्रान्त-दिव्य-यज्ञ का वैधयज्ञ में तद्-द्वारा समावेश ”
१९३–'ओश्रावय' का तात्पर्य्यार्थ-समन्वय १४२९
१९४–'अस्तु श्रौषट्' रूप-प्रत्याश्रावणकर्म्म का तत्त्वार्थ-समन्वय ”
१९५–अपक्रान्ता यज्ञसम्पत्ति का संग्राहक प्रक्रान्त आ० प्र० कर्म्म' ”
१९६–दिव्ययज्ञबलानुगति के माध्यम-से ही वैधयज्ञ का साफल्य ”
१९७–ऋत्विजों की भावना से अनुगत दिव्ययज्ञ ”
१९८–यजमान के समावेश से अनुप्राणित-'आ० प्र० कर्म्म' ”
१९९–सम्वत्सरप्रजापत्यवयव-भूत-तद्रस से परिपुष्ट अग्न्यादि देवताओं के द्वारा ही कर्म्मेति-कर्त्तव्यता का स्वरूप-सम्पादन ”
२००–'तेनोपावृत्तेन-रेतसाभूतेन-ऋत्विजः-सम्प्रदायं चरन्ति' इत्यादि श्रुति-वचन-समन्वय, और आ० प्र० कर्म्म' ”
२०१–ऋत्विजों का भावनात्मक मानस-जगत्, और तत्र अपक्रान्ता-दिव्या यज्ञसम्पत् का समावेश ”

२०२–भावनात्मक-यज्ञवितान की संसिद्धि के लिए ऋत्विजों का पारस्परिक-संविदानभाव १४२६
२०३–मनोवाक्-रूपा यज्ञवर्त्तनी का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण ,,
२०४–ऋत्विग् भावनानुगता मन्त्रवाक् ,,
२०५–मध्यस्थ-गर्भीभूत-प्राण ,,
२०६–यज्ञ का मौलिक-स्वरूपात्मक प्राणतत्त्व ,,
२०७–वाक्तत्त्व की पारिभाषिकी-मौलिकता का संस्मरण ,,
२०८–'वाक्' शब्द के रहस्यात्मक-प्राण-मनोगर्भित-पारिभाषिक-निर्वचन का समन्वय, और तन्निबन्धना मौलिकता ,,
२०९–मनः-प्राण-वाक्-त्रयी का संग्राहक-'वाक्' शब्द ,,
२१०–मनोगर्भित प्राणात्मक-यज्ञ ,,
२११–प्राणव्यापार का आलम्बन भूतभाव ,,
२१२–भूताधारणैव प्राण की बलप्रयोग में सफलता ,,
२१३–भूलोक से द्यु पृष्ठ-पर्य्यन्त-अभिव्याप्त वाङ्मय-भूतयज्ञ ,,
२१४–लौकिकी मर्त्यावाक् ,,
२१५–मर्त्यावाक् के द्वारा लोकव्यवहार का सञ्चालन ,,
२१६–अलौकिकी-वाक् ,,
२१७–शास्त्रीय-कर्म्म की सञ्चालिका-दिव्या-वाक् ,,
२१८–मर्त्या-लौकिकी-वाक् से समतुलिता व्यञ्जनात्मिका अनुष्टुप्-वाक् ,,
२१९–अमृता-अलौकिकी-वाक् से समतुलिता उदात्त-अनुदात्तादि स्वरात्मिका बृहती-वाक् ,,
२२०–यज्ञस्वरूप-प्रतिष्ठात्मक-वागभाव १४३०
२२१–वाक्-हि-यज्ञः ,,
२२२–वाक्-उ-रेतः ,,
२२३–देवाह्वानलक्षणा–ओश्रावयेत्यादिरूपा दिव्यावाक् से अपक्रान्तयज्ञ का पुनरावर्त्तन १४३०
२२४–प्राकृतिक-नित्य-यज्ञ के १७ अवयव ,,
२२५–'अग्निरु वै यज्ञः' का संस्मरण ,,
२२६–यज्ञाग्नि के सुप्रसिद्ध त्रिवृत्–पञ्चदश-एकविंश-( ६-१५-२१ ) रूप तीन-विक्रम ,,
२२७–त्रिवृत्स्तोमात्मक-पार्थिव-प्रथम-विक्रम ,,
२२८–पञ्चदशस्तोमात्मक-आन्तरिद्य-द्वितीय विक्रम ,,
२२९–एकविंश-स्तोमात्मक-दिव्य-तृतीय-विक्रम ,,
२३०–एकविंशस्थ आदित्य ,,
२३१–सप्तदशस्तोमानुगत-मौलिक-स्वरूप ,,
२३२–सप्तदशावयवों का अविच्छेदात्मक एकरूपात्मक-समन्वय १४३१
२३३–सप्तदशावयवानुगत-अविच्छिन्न-सन्तनन-भाव-निबन्धन-यज्ञाग्नि का अपेक्षित संग्रह ,,
२३४–इतस्ततः-दृष्टिपातनिरोधपूर्वक-अप्रस्तुत-वाक्संयमानुगत-मन्त्रवाङ्मय-आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म की अविच्छिन्ना सप्त-दशावयव-सम्पत्ति ,,
२३५–ऋत्विजों की अविच्छिन्ना सम्प्रदान-प्रवृत्ति, और सप्तदशावयव-द्रव्ययज्ञ की परिपूर्णता ,,
२३६–भगवान् साम्बसदाशिव के लिए अपेक्षिता अविच्छिन्ना जलधारा ,,
२३७–अभिषेकात्मक-पूर्णपात्र का संस्मरण ,,
२३८–यज्ञकोश-परिपूरिका सप्तदशमात्राओं का अविच्छिन्नरूपेण अनुगमन, और फलितार्थ का समन्वय ,,

२३९–ब्राह्मणानुगता ८ ( अष्टमी) कण्डिका से १५-( पन्द्रहवीं ) कण्डिका-पर्य्यन्त सन्दर्भ से अनुगत वाक्संयमानुगत-सम्प्रदानकर्म्म, वाक्संयम का प्रासङ्गिक-निरूपण, तथा-अप्रस्तुत-वाग्निबन्धन-दोष-स्वरूपोद्घाटन नामक तीन विषयों का स्पष्टीकरण १४३१

२४०–अपेक्षिता अवधानता की व्याप्ति का दिग्दर्शन ,,

२४१–लौकिक-कर्म्मानुगता-अविच्छिन्नता, और तन्निबन्धना-सफलता का समन्वय ,,

२४२–प्रज्ञापराध, तथा मनोऽनुगत-चाञ्चल्य के माध्यम से संकल्पिता-कर्म्मप्रवृत्ति में अन्यान्य संकल्पों का अनुधावन, और तद्रूप व्यवधानदोष १४३२

२४३–व्यवच्छेदमूला असफलता, और निराशा में निमग्न मानव ,,

२४४–लक्ष्य की अनन्यानुगति, और सफल-मानव ,,

२४५–अव्यवच्छेदमूला--पारस्परिक-सम्प्रदाना-त्मक-ऐकमत्य-भावनिबन्धना-(संविदाना) अनन्यमनस्कता का कर्म्मसिद्धि में अन्यतमद्वारत्त्व ,,

२४६–'एवमेव यज्ञो भर्त्तव्यः' आदेश का समन्वय ,,

२४७–आश्रावण--प्रत्याश्रावण--कर्म्मानुबन्धी-निगदमन्त्र की पाँच व्याहृतियाँ ,,

२४८–शब्दात्मिका वाक् के चार विवर्त्त, और ऐतरेयश्रुति ,,

२४९–'तुरीयं-वाचो मनुष्या वदन्ति' का समन्वय ,,

२५०–निगदमन्त्र, और व्याहृतिभाव ,,

२५१–दिव्ययज्ञ का अग्निमयत्वं ,,

२५२–दिव्याग्नि का वाङ्मयत्व ,,

२५३–पञ्चव्याहृतात्मक-निगदमन्त्र के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण-प्रश्न, और उसका त्रिधा स्वरूप-विश्लेषण १४३२

२५४–आध्यात्मिक--यज्ञानुगता दृष्टि, और प्रश्नसमन्वय (१) ,,

२५५–अधिदैवत-लक्षण--सर्वहुत-यज्ञ ,,

२५६–विश्वजनक-यज्ञ का पञ्चावयवत्त्व-समन्वय ,,

२५७–आधिदैविक विश्वयज्ञ के सुप्रसिद्ध पाँच पर्वों का नाम-संस्मरण ,,

२५८–पञ्चावयव-आधिभौतिक यज्ञ ,,

२५९–अध्यात्मसंस्था के आत्मा--शरीर-इन्द्रियवर्ग-रूप तीन-प्रमुखपर्व १४३३

२६०–मूलाधाररूप आत्मभाव, और तद्रूप 'ब्रह्मसत्य' तत्त्व ,,

२६१–ब्रह्मसत्यात्मा के अव्यक्तादि-भूतात्म-पर्य्यन्त पाँच पर्व ,,

२६२–शरीरात्मक 'भूतसत्य'-तत्त्व ,,

२६३–भूतसत्य के आकाशादि मृदन्त पाँच पर्व ,,

२६४–इन्द्रियवर्गात्मक-'देवसत्य' तत्त्व ,,

२६५–वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मनोरूप (देवसत्य के) पाँच अवयव ,,

२६६–दैवत-भौतिक--आत्मिक--यज्ञत्रयी की (प्रत्येक की) पञ्चावयवता का पारिभाषिक-समन्वय ,,

२६७–आश्रावण-प्रत्याश्रावणानुगता-अपेक्षिता पञ्चावयवता ,,

२६८–द्वितीया दृष्टि से प्रश्नसमन्वयोप-क्रम (२) ,,

२६९–पार्थिवी-स्तौम्या त्रिलोकी के त्रिवृदादि त्रयस्त्रिंशान्त पाँच विवर्त्त ,,

२७०–पञ्चस्तोमानुगत पञ्चविध-प्राणदेवता ,,

२७१–पञ्चव्याहृत्यात्मक-प्रश्न ,,

२७२-तृतीय--दृष्टिकोण---निबन्धन--(३)--समन्वय १४३३
२७३-भूकेन्द्रत:-भूमहिमा-पर्य्यन्त वाग्रेत के अवान्तर-३३-महिमा-विवर्त्त ,,
२७४-'त्रयस्त्रिंशत्तन्तवो यं वितत्निरे' का संस्मरण ,,
२७५-अहर्गणात्मक तन्तुदेवताओं का संस्मरण ,,
२७६-वाक्तन्त्र का षट्कार-लक्षण-वषट्कार, और तदनुबन्धी सहस्र-गौतत्त्व ,,
२७७-वाक्-षट्काररूप वषट्कार ,,
२७८-वौषट्-रूप-वषट्कार ,,
२७९-वषटकारगर्भिता पाङ्क्तभावनिबन्धना-यज्ञसम्पत्, और पाँच-व्याहृतियों के ग्रहण की अन्वर्थता ,,
२८०-'ओश्रावय'; और त्रिवृत्स्तोम (९) का संग्रह १४३४
२८१-'अस्तुश्रौषट्', और पञ्चदशस्तोम-(१५) का संग्रह ,,
२८२-'यज', और सप्तदशस्तोम (१६) का संग्रह ,,
२८३-'ये यजामहे', और एकविंशस्तोम (२१) का स्वरूप-संग्रह ,,
२८४-'वौषट्', और सप्तविंशस्तोम (२७) का स्वरूप-संग्रह ,,
२८५-'समष्टि', और त्रयस्त्रिंश (३३)-स्तोम-का स्वरूप-संग्रह ,,
२८६-पाङ्क्त-यज्ञ से उत्पन्न पशुसर्ग की पाङ्क्तता ,,
२८७-पाङ्क्तसोमयाग से अनुप्राणिता ऋतु-रूपा-पाङ्क्तता ,,
२८८-वैध-मानुषयज्ञ की पाङ्क्तता ,,
२८९-सर्वसाधक-यज्ञप्रजापति का संस्मरण ,,
२९०-'प्रजापतिस्त्वेवेदं--सर्वं--यदिदं किञ्च' निगम का संस्मरण ,,
२९१-प्रजापति के त्रिविध--महिमा--विवर्त्तों का सिंसावलोकनात्मक--संस्मरण १४३४
२९२-स्पृश्यभावानुबन्धी-पिण्ड ,,
२९३-दृश्यभावानुबन्धी-मण्डल ,,
२९४-पिण्डकेन्द्रावच्छिन्न--अनिरुक्तप्रजापति ,,
२९५-महिमाकेन्द्रावच्छिन्न--उद्गीथप्रजापति ,,
२९६-उद्दचभावानुगत-सर्वप्रजापति ,,
२९७-'चतुस्त्रिंश:-प्रजापति:' ,,
२९८-सप्तदशसंख्यानुगति, और तद्द्वारा-निदानमाध्यम से---'उद्गीथप्रजापति' नामक-सप्तदशप्रजापति की अग्नियज्ञ-सम्पत् का परिग्रहण ,,
२९९-सत्रहवाँ-पारिभाषिक अहर्गण ,,
३००-नवाहयज्ञ की उपक्रमभूमि, और १७ अहर्गण ,,
३०१-श्वेतद्वीपनिवासी सत्यनारायण विष्णु भगवान् का संस्मरण ,,
३०२-नवाहयज्ञ का अहर्गणात्मक-स्वरूप-समन्वय ,,
३०३-यज्ञात्मक-विष्णु का सत्यधर्म्म ,,
३०४-'तत्-यत्-सत्यम्-असौ-स-आदित्य:' का संस्मरण ,,
३०५-उपासकों की व्रतचर्य्या ,,
३०६-१७-२१-२५-अहर्गणत्रयी, और ब्रह्म-विष्णु-इन्द्र-विष्टप्-का संस्मरण १४३५
३०७-अग्निब्रह्मण्डलसीमानुगत-सप्तदश--अहर्गण, और-'सप्तदशो वै-प्रजापति:' (यज्ञप्रजापति) ,,
३०८-(क) ओश्रावयेत्यादि पञ्च-व्याहृतियों के सत्रह-अक्षर, और तद्द्वारा सप्तदश--यज्ञ-प्रजापति का संग्रह ,,
३०८-(ख) 'ओ—श्रा—व—य'-इति चतुर्भि: ,,
३०९-'अ—स्तु—श्रौ—षट्'-इति चतुर्भि: ,,
३१०-'य—ज'—इति—द्वाभ्याम् ,,

३११–'ये—य—जा—म—हे' इति पञ्चभिः १४३५
३१२–'वौ—षट्'—इति-द्वाभ्याम् ”
३१३–तस्मै-यज्ञात्मने नमः ”

## अत्र-प्रक्रान्त–ब्राह्मणस्य १७ कण्डिका–उपरता

## अथ-आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्मनिबन्धनं–रहस्यपूर्ण "वृष्टिविज्ञानम्"

३१४–सप्तदशस्तोमात्मक–आहवनीय प्रदेश-रूप ब्रह्मविष्टप् १४३५
३१५–नाचिकेत-आग्नेय-स्वर्ग ”
३१६–नचिकेता के यमानुगत प्रश्न का समाधानरूप सप्तदशस्थ स्वर्ग्याग्नि ”
३१७–स्वर्गप्रापक-सोमयाग से स्वर्गगामी दैवात्मा का स्वर्गगमन, और स्वर्गस्वरूप-परिचय ”
३१८–पञ्चावयवा-सप्तदशकलात्मिका-स्वर्ग्याग्नि-लक्षणा-प्राजापत्या-सम्पत्ति का संस्मरण ”
३१९–परोक्षफलाकर्षणापेक्षया प्रत्यक्ष-फल–कामुक-मानवीय मन १४३६
३२०–प्रत्यक्षफलानुगता मानवीया अपेक्षाबुद्धि ”
३२१–आधिभौतिक-साध्य, एवं साधनों से समन्वित 'कर्म्मकाण्ड' ”
३२२–परोक्षफलानुगत ज्ञानयोग, और भक्तियोग ”
३२३–परोक्षफलसंसाधक-यज्ञ की प्रत्यक्ष–फलसाधकता का प्रासङ्गिक-संस्मरण ”
३२४–वैदिक–यज्ञकर्म्मों की पारलौकिक–फलसाधकता-पूर्विका योग-क्षेम-निबन्धना ऐहलौकिक-फलसाधकता का समन्वय १४३६
३२५–प्रत्यक्षफलानुगत–ज्योतिष्चक्र, एवं भुवनकोशात्मक-द्विविध-विवर्त्त ”
३२६–यच्चयावत्-भौगोलिक-कामनाएँ, और अनुकूलभावनिबन्धना वर्षा ”
३२७–'निकामे-निकामे नः पर्ज्जन्यो वर्षतु' का संस्मरण ”
३२८–ओषधि-वनस्पति-रूपा-पार्थिवी–सम्पत्ति की अधिष्ठात्री-वर्षा ”
३२९–समस्ता ऐहलौकिक-कामनाओं का, तथा पार्थिवी-भौगोलिक-कामनाओं का केन्द्रीकरणात्मक अन्नबल ”
३३०–अन्नबल की मूलप्रतिष्ठात्मिका खगोलीया वर्षा ”
३३१–प्रकृति का प्रत्यक्षात्मक-प्रथम-अनुग्रह-'वर्षा' ”
३३२–पार्थिव–ओषधि-वनस्पति–जल-पशु-द्रव्य-सम्पत्तिरूप द्वितीयानुग्रह ”
३३३ प्रथमानुग्रह ( वर्षात्मक ) के आधार पर ही द्वितीयानुग्रह की प्रतिष्ठा ”
३३४–शास्त्रीय–वैदिक-यज्ञादि कर्म्मों के सम्बन्ध में फलदृष्टया अज्ञजनों की महती-भ्रान्ति, एवं उसका आमूलचूड़ निराकरण-प्रयास ”
३३५–प्राणात्मक-परोक्षातिशय-संसाधनपूर्वक-प्राकृतिक रहस्यपूर्ण-वैज्ञानिक-शिक्षण–पूर्वक-आधिभौतिकी–समस्ता-प्रत्यक्ष–कामनाओं का भी पूरक-भारतीय-यज्ञ–काण्ड, और तदुपेक्षा से भारतवैभव का सर्वनाश ”
३३६–यज्ञकर्म्म के सुप्रसिद्ध 'इष्टकामधुक्' (अभीष्ट फलप्रद ) विशेषण की अन्वर्थता ”

३३७–पुरोवात-अभ्र-विद्युत्–स्तनयित्नु-चतुष्टयी का एकत्र समन्वय, और 'वर्षा-कर्म्म' की प्रवृत्ति १४३६

३३८–'पुरोवात', और 'पुरवाई हवा' ,,

३३९–प्रत्यक्षदृष्ट धूम-ज्योतिः-सलिल मरुत्–( बाष्प-अग्नि-अप्-वातवायु ) की समष्टिरूप–'अभ्र', और बद्दल १४३७

३४०–विद्युत्, और प्रत्यक्षदृष्ट-चाकचिक्य ,,

३४१–स्तनयित्नु, और गर्ज्जन-तर्ज्जन ,,

३४२–प्रथम-सञ्चारी-पुरोवात ,,

३४३–ऋतभावापन्न-अभ्रखण्डों का एकत्र संघात ,,

३४४–अभ्रघनता से समुत्पन्न–वाय्वग्नि–जलीयघर्षणानुगत-विद्युत्–प्रवाह ,,

३४५–तदनु-गर्ज्जनभावाभिव्यक्ति ,,

३४६–'तड़ तड़' रूपा प्रतिध्वनि, और वर्षा का आरम्भ ,,

३४७–'ओश्रावय' रूपा-प्रथमा-व्याहृति, और 'पुरोवात' का आविर्भाव ,,

३४८–'अस्तु श्रौषट्' रूपा द्वितीया-व्याहृति, और-'अभ्रसंघात' ,,

३४९–'यज' रूपा तृतीया-व्याहृति, और विद्युत्प्रवाह ,,

३५०–'ये यजामहे' रूपा चतुर्थी-व्याहृति, और स्तनयित्नु की अभिव्यक्ति ,,

३५१–'वौषट्' रूपा पञ्चमी-व्याहृति, और वर्षा का आरम्भ ,,

३५२–भारतीय-वैदिक-विज्ञानानुबन्धिनी एक महती-विप्रतिपत्ति ,,

३५३–रहस्यपूर्णा दुरधिगम्या–विलुप्तप्राया वैज्ञानिकी-वैदिकी–परिभाषाएँ, और विज्ञान की दुरूहता ,,

३५४–परिभाषाज्ञान से असंस्पृष्ट-वैदिक–तत्त्ववाद की समस्यात्मिका-जटिलता ,,

३५५–परोक्षप्रिय-ऋषियों की साङ्केतिकी-परोक्षा भाषा, और तदधिगम्यता १४३७

३५६–एकत्र-विषयप्रतिपादानाभावरूपा–द्वितीया-महती-समस्या, और तन्निबन्धना दुरूहता ,,

३५७–समस्ता वेदराशि के मन्थन से अनुप्राणिता समस्या-निराकृति ,,

३५८–प्रक्रान्ता-प्रतिज्ञाता–वृष्टिविद्या, और तदनुबन्धिनी-पारिभाषिकी-जटिलता ,,

३५९–प्रक्रान्त-ब्राह्मण की परिमित-शब्दात्मिका १८ वीं कण्डिकारूपा एक कण्डिका, और तदनुप्राणिता वृष्टिविद्या की दुरूहता ,,

३६०–वृष्टिविद्यानुगत–वैदिक–स्थल–विशेषों का समाश्रय ,,

३६१–वृष्टिविज्ञाननिबन्धन–प्रस्तुत प्रकरण के माध्यम से तत्स्वरूपविश्लेषण के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन का दुस्साहस ,,

३६२–वृष्टिविद्यानिबन्धन एक ही तत्त्ववाद, और उसका अनेक दृष्टियों से समन्वय ,,

३६३–'छान्दोग्योपनिषत्'–से सम्बन्ध-रखने वाला-'पञ्चाग्निविद्यानुगत' दृष्टिकोण, और तन्निबन्धना-वृष्टिविद्या ,,

३६४–वृष्टिविद्यानिबन्धन-द्वितीय-दृष्टिकोण का संस्मरण ,,

३६५–आकाशात्-वायुम् १४३८

३६६–वायुर्भूत्वा-धूमो भवति ,,

३६७–धूमो भूत्वा-अभ्रं भवति ,,

३६८–अभ्रं भूत्वा-मेघो भवति ,,

३६९–मेघो भूत्वा-प्रवर्षति ,,

३७०–द्युलोकस्थ-श्रद्धातत्त्व की सोम के द्वारा वृष्टिरूप में परिणति ,,

३७१–द्युलोकस्थ-खगोलीय-तत्त्वविशेष का वृष्टिजनकत्त्व १४३८
३७२–दोनों दृष्टिकोणों से विभिन्न एक तीसरे दृष्टिकोण का दिग्दर्शन ,,
३७३–सावित्राग्नि का अजस्ररूपेण द्युलोकात् भूलोक की ओर आगमन ,,
३७४–पार्थिवाग्नि का अजस्ररूपेण-भूलोकात् द्युलोक की ओर गमन १४३९
३७५–'आदित्यानामयनम्' नामक यज्ञ का संस्मरण ,,
३७६–'अङ्गिरसामयनम्' नामक यज्ञ का संस्मरण ,,
३७७–प्रतिफलित आदित्याग्नि की अश्वरूप में परिणति ,,
३७८–आदित्य, और अङ्गिरा की प्रतिस्पर्द्धा ,,
३७९–अङ्गिरोऽग्नि के द्युलोकगमन का संस्मरण, और तन्निबन्धना अथर्व-श्रुति ,,
३८०–भूपृष्ठ पर व्याप्ता जलमात्रा की 'बाष्प' रूप में परिणति ,,
३८१–बाष्पावस्थापन्ना पार्थिवी जलमात्रा का द्युलोकानुगामी अङ्गिरोऽग्नि में समावेश ,,
३८२–अङ्गिरोऽग्नि से अन्तरिक्ष में परित्यक्ता बाष्परूपा पार्थिवी-जल मात्रा का आन्तरिक्ष्य-मरुद्वायु-धरातल में गर्भाधान ,,
३८३–पार्थिवी जलमात्रा का गर्भधारण ,,
३८४–सौर-रश्मियों की तीव्रता, और निदाघ-काल ,,
३८५–ग्रीष्मावसानरूप निदाघकालावसान, और सौर-रश्मियों की निम्नभावानुगति ,,
३८६–रश्मियों का निम्नानुगतित्त्व, और मरुद्धरातल-गर्भस्था जलमात्रा का भूपिण्ड पर पतन १४३९
३८७–वर्षाजलोत्पत्ति का क्रमिक स्वरूप-समन्वय ,,
३८८–द्युलोक में पार्थिव-अग्नि के द्वारा प्रचण्ड-जलवर्षण ,,
३८९–भूलोक में आन्तरिक्ष्य-पर्ज्जन्य के द्वारा प्रचण्ड-जलवर्षण ,,
३९०–उभयलोकानुगता-द्यावापृथिव्या समाना वृष्टि ,,
३९१–अग्निर्वा-इतो वृष्टिमुदीरयति १४४०
३९२–मरुतः सृष्टां नयन्ति ,,
३९३–यदा–खल्वसावादित्यो–न्यङ्‌रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते-अथ वर्षति ,,
३९४–भूमिं पर्ज्जन्या जिन्वन्ति ,,
३९५–दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ,,
३९६–एक विभिन्न दृष्टिकोण का संस्मरण, और तत्समन्वय-प्रयास ,,
३९७–आहवनीयाग्नि में प्रदत्ता आहुति ,,
३९८–आहुति का आदित्याग्नि में गमन ,,
३९९–आहुतिग्राहक-आदित्यदेवता के द्वारा प्रतिदान में जलवर्षण ,,
४००–अग्नौ प्रास्ताहुतिः-सम्यक्-आदित्य-मुपतिष्ठते ,,
४०१–आदित्याज्जायते-वृष्टिः ,,
४०२–वृष्टेरन्नम् ,,
४०३–ततः-प्रजाः ,,
४०४–पञ्चम-प्रासङ्गिक-दृष्टिकोण का संस्मरण, और तत्समन्वय-प्रयास ,,
४०५–अन्नाद्भवन्ति भूतानि ,,
४०६–पर्ज्जन्यादन्नसम्भवः ,,
४०७–यज्ञाद्भवति-पर्ज्जन्यः ,,

४०८--यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः १४४०
४०६--कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ,,
४१०--ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ,,
४११--तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म--नित्यं यज्ञे-प्रति--ष्ठितम् ,,
४१२--दृष्टिकोणभेदभिन्ना विवेचनशैली ,,
४१३--वस्तुगत्या सभी दृष्टिकोणों का सम्भा--वित समन्वय ,,
४१४--प्रथम-दृष्टिकोण, और प्रक्रान्त-ब्राह्मण-श्रुति-प्रकरण ,,
४१५--प्रथमदृष्टिकोण के माध्यम से ही वृष्टिविद्या का स्वरूप-समन्वय-प्रयास १४४१
४१६--छान्दोग्यश्रुति का वैज्ञानिक-समन्वयो--पक्रम ,,
४१७--महाभाग श्वेतकेतु की महत्त्वपूर्णा--जिज्ञासाएँ, एवं तत्समाधान के लिए उनका कुरुपाञ्चालों की विद्वत्-परिषत् से प्रश्न ,,
४१८--जैबिलि के द्वारा श्वेतकेतु से क्रमप्राप्त 'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः-पुरुष--वचसो भवन्ति', इत्यादिरूप-पञ्चम-प्रश्न ,,
४१९--समाधान में असमर्थ श्वेतकेतु, और जैबिलि के द्वारा ही प्रश्न का समाधान ,,
४२०--'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति-सम्परिष्वक्तः-प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' रूप वैय्यासकि-सूत्र का संस्मरण, और पञ्चाग्निविद्या-स्वरूपोपक्रम ,,
४२१--अवरोहक्रम, और अप्तत्त्व से पुरुषो-त्पत्ति ,,
४२२--आरोहक्रम, और अप्तत्त्व का पुनर्ग--मन ,,
४२३--(क) जीवावरोहणवत् जीवारोहण में भी अप्तत्त्व का गमन, और श्रुत्यर्थ-समन्वय ,,
४२३-(ख)-'ता एव ह्युपपत्तेः' का संस्मरण १४ २
४२४-जीवात्मा-भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्तः--एव लोकान्तरे गच्छति, इति निष्कर्षः ,,
४२५-पञ्चाग्निविद्यात्मक अग्निकर्म्म से अनुप्राणित-पुरुषसर्ग ,,
४२६-वैध-अग्निहोत्रानुगत अग्नि-समिध-अङ्गार--विस्फुलिङ्ग-हविर्द्रव्य--इत्यादि-भौतिक-साधन ,,
४२७-अन्नान्नाद-लक्षणा सोमाग्निद्वयी ,,
४२८-प्राकृतिक-नित्य-अग्निहोत्र की संसाधिका तत्त्वद्वयी ,,
४२९-बृहतीमध्यस्थ-सावित्राग्निमय-बृहद्भानु (सूर्य्य) ,,
४३०-सावित्राग्नि की अजस्रा अन्नादानेच्छा ,,
४३१-विभ्राट् सूर्य्य की बृहती बुभुक्षा का शमन करने वाला विभ्राडभावापन्न महदन्न, और तदाहुति ,,
४३२-महदान्नाहुति का महतोमहीयान्-प्रभाव, और सृष्टिनिर्म्माण-प्रक्रियाओं में सतत स्वमात्राओं का अर्पण करते रहने वाले भी सूर्य्य की स्वशरीर-निबन्धना अक्षुण्णता ,,
४३३-महामहिम पारमेष्ठ्य-मण्डल का भार्गव-स्नेहगुणक-महान् अन्न ,,
४३४-पारमेष्ठ्य-अन्नसोम, और 'ब्रह्मणस्पति' ,,
४३५-पारमेष्ठ्य-सोम का मौलिक स्वरूपात्मक-अबलक्षण-श्रद्धातत्त्व ,,
४३६-श्रद्धात्मिका सोमाहुति से सावित्राग्नि-मूर्त्ति सूर्य्य का प्रचण्डरूपेण प्रज्ज्वलन ,,
४३७-सौरप्राणाग्निरूप-अग्नितत्त्व ,,
४३८-सूर्य्यपिण्डात्मक-भूतपिण्ड, और अङ्गार ,,
४३९-सूर्य्यतः प्रवर्ग्यरूपेण सर्वतः-प्रसारि-धूम्र-लोहित-हरित-आदि अग्निपुञ्ज, और विस्फुलिङ्ग ,,
४४०-अस्मदादि चराचर प्राणिवर्गात्मक-'समिधः' ,,

४४१–पारमेष्ठ्यसोमात्मक-हविर्द्रव्य १४४२
४४२–'तस्माद्वै-सूर्य्योऽग्निहोत्रम ''
४४३–सूर्य्याग्निहोत्र के स्वरूपसंसाधक–परिग्रह-साधनों की अग्नि-सोमात्मिका तत्त्वद्वयी पर विश्रान्ति ''
४४४–आधिदैविकी-सौरसंस्था ''
४४५–आधिभौतिकी-पार्थिवसंस्था ''
४४६–आध्यात्मिकी-पुरुषसंस्था ''
४४७–(क)-दैवत-आत्मिकरूपा संस्थानुगता दो विधाएँ ''
४४७–(ख)-भौतिकसंस्थानुगता-एकविधा ''
४४८–(क)–दाम्पत्यभावनिबन्धन-पुनःप्रजनन–धर्म्म से अनुप्राणित दैवत-आत्मिक-संस्थाद्वयी ''
४४८–(ख)–पुनःप्रजननधर्म्म से वञ्चिता आधिभौतिकी संस्था, और तन्निबन्धना एकैवविधा ''
४४९–दैवत-आत्मिक-भौतिक--नामकी-संस्थात्रयी के पञ्चविध-अवयवयज्ञों का पञ्चाग्निविद्या के माध्यम से समन्वय १४४३
४५०–पञ्चावयव-द्यावापृथिव्ययज्ञ के प्राणलक्षणयज्ञ, एवं प्राणीलक्षणयज्ञ-भेद से दो महिमा-विवर्त्त ''
४५१–प्राणलक्षणयज्ञ की पृथिवी-अन्तरिक्षं-द्यौः-नामकी पर्वत्रयी ''
४५२–प्राणीलक्षणयज्ञ की वृषा (पुरुष)-योषा (स्त्री)-नामकी पर्वद्वयी ''
४५३–द्युलोकाधिष्ठाता-अहः-कालीन-दृश्य-अर्द्धाकाशानुगत-सौर-आग्नेय-प्राण-निबन्धना वृषात्मिका-पुरुषसृष्टि ''
४५४–भूलोकधिष्ठाता-रात्रिकालीन--अदृश्य–अर्द्धाकाशानुगत चान्द्र-सौम्य-प्राण-निबन्धना-योषात्पिका स्त्री-सृष्टि ''
४५५–द्युलक्षण पिता, पृथिवीरूपिणी-माता, और प्राणयज्ञ की अभिव्यक्ति ''
४५६–द्युरसानुगत-पुरुष, तथा पार्थिवरसानुगता स्त्री, और प्राणीयज्ञ की अभिव्यक्ति १४४३
४५७–पृथिवी की प्रतिकृतिभूता योषा-स्त्री ''
४५८–द्यु का प्रतिकृतिरूप-वृषा-पुरुष ''
४५९–प्राणीविध-यज्ञ की भी द्यावापृथिवीरूपता का समन्वय ''
४६०–द्यावापृथिव्यनुगत-आध्यात्मिकयज्ञ, तथा आधिदैविक-यज्ञ की अवान्तर-पाँच–संस्थाएँ, एवं पञ्चग्निविद्या के द्वारा तत्स्पष्टीकरणोपक्रम ''
४६१–"द्यु--अन्तरिक्ष--पृथिवी--पुरुष--योषा" (स्त्री) नाम की पाँच पृथक्-पृथक्-विधाएँ, एवं तदनुप्राणिता पञ्चाग्निविद्या ''
४६२–प्रथमा-द्युविद्या-का समन्वय-प्रयास १४४४
४६३–द्युलोकात्मक-अग्नि ''
४६४–आदित्यरूप-समित् ''
४६५–रश्मिरूप-धूम ''
४६६–अहःकालरूप-अर्चि ''
४६७–चन्द्रमारूप-अङ्गार ''
४६८–नक्षत्ररूप-विस्फुलिङ्ग ''
४६९–द्युलोकग्नि में-'श्रद्धा' रूप हविर्द्रव्य की आहुति ''
४७०–श्रद्धा की आहुति से 'सोम' नामक अवान्तर तत्त्व की अभिव्यक्ति ''
४७१–सोमोत्पादक-द्युयज्ञ ''
४७२–द्युलोकात्मक-लोक ''
४७३–सौरप्राणाग्निरूप-लोकी ''
४७४–सूर्य्यपिण्डात्मक-भूताग्नि ''
४७५–महिमामय-देवाग्नि ''
४७६–लोक, और लोकी का अभेद ''
४७७–'असौ वाव लोको गोतम ! अग्निः ''
४७८–पारिभाषिक-अग्नि का स्वरूप-समन्वय ''
४७९–'धूम' का पारिभाषिक-अर्थसमन्वय ''

४८०–अर्चि की तत्त्वात्मिका स्वरूप-परिभाषा १४४५
४८१–चन्द्रमा की आदित्यावग्रवता का रहस्यात्मक-स्पष्टीकरण ,,
४८२–चान्द्रमस-आप्य-प्राण ,,
४८३–अग्नि, और तद्गणात्मक वसु ,,
४८४–वायु ,, रुद्र ,,
४८५–आदित्य, ,, आदित्य ,,
४८६–(क)-चन्द्रमा ,, नक्षत्र ,,
४८६–(ख)-नक्षत्रों की पारिभाषिकी विस्फुलिंगता का समन्वय ,,
४८७–दिव्य-अग्नि में श्रद्धा की आहुति देने वाले देवता का पारिभाषिक स्पष्टीकरण ,,
४८८–चान्द्रमनोतानुगत-श्रद्धातत्त्व, और श्रद्धालु मानव ,,
४८९–मनोमयी-श्रद्धा का त्रिप्राणप्रतिष्ठात्त्व ,,
४९०–शुक्रमय-रेत का मानवप्राणप्रतिष्ठात्त्व ,,
४९१–वाङ्मय-वषट्कार का देवप्राणप्रतिष्ठात्त्व ,,
४९२–श्रद्धा, पितर, और तन्निबन्धन श्रद्धात्मक-श्राद्धकर्म्म ,,
४९३–श्रद्धा का पूर्वरूपात्मक अप्तत्त्व ,,
४९५–श्रद्धा का उत्तररूपात्मक-सोमतत्त्व ,,
४९६–'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' का संस्मरण
४९७–भृगुलक्षण स्नेहतत्त्व, एवं अङ्गिरालक्षण-तेजोभाव की अनुरूपता ,,
४९७–तेजोभावान्वित-श्रद्धातत्त्व ,,
४९८–'तेज एव श्रद्धा' ,,
४९९–परमेष्ठी से युक्ता आपोनयी श्रद्धा की 'श्रद्धा'-रूपता ,,
५००–सूर्य्याग्नि में हुता श्रद्धा की (आदित्याग्नि, तथा श्रद्धारस के समन्वय से पूर्वस्वरूपोमर्द्दन के द्वारा) सोमरूप में परिणति ,,
५०१–आप्यप्राण की सीमा से अनुगत-श्रद्धातत्त्व १४४६
५०२–आप्यप्राण की सीमा से बहिष्कृत-सोम ,,
५०३–द्युपर्वात्मक-प्रथमपर्व, और पञ्चाग्निविद्यानुगत प्रथम-दिव्ययज्ञ की स्वरूपविश्लेषिका-छान्दोग्य-श्रुति का (१)–संस्मरण ,,
५०५–आध्यात्मिक-द्वितीय ( २ )-यज्ञपर्व से अनुप्राणित-अन्तरिक्षलोक ,,
५०६–अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता-वायुदेवता ,,
५०७–सोमतत्त्वानुयोगी, एवं वृत्रतत्त्व-प्रतियोगी-आप्यप्राणानुगत-वायुविशेष, और उस का वृष्टिकर्म्मानुगतत्त्व ,,
५०८–आन्तरिक्ष्य-सोमसहयोगी-विशेष-वायुरूप-'पर्ज्जन्य' ,,
५०९–आप्य-अग्नि का सह सम्बन्धी पर्ज्जन्यनामक-आन्तरिक्ष्य वायु, और-'पर्ज्जन्यो वा अग्निः' वचन का समन्वय ,,
५१०–वर्षा के आगमन से पूर्वतः सञ्चारीसाम्बसदाशिवात्मक-वायु की पर्ज्जन्यरूपता ,,
५११–क्रन्दनधर्म्मा-पर्ज्जन्यवायु ,,
५१२–अष्टमूर्त्ति-शिवतत्त्वानुगता परिभाषा से अनुप्राणित-'भव' तत्त्व, और रुद्रूपपर्ज्जन्य ,,
५१३–सर्वप्रपञ्च का प्रभव, और 'भव' नामसमन्वय ,,
५१४–'पर्ज्जन्याद्धीदं सर्वं भवति' का संस्मरण ,,
५१५–वैज्ञानिक-भाव से असंस्पृष्ट-पर्ज्जन्यशब्दार्थ के सम्बन्ध में किञ्चिदिव सामयिक-आवेदन, और वेदव्याख्याता ,,
५१६–पर्ज्जन्य-के भौतिक-स्वरूप का दिग्दर्शन ,,

५१७–पर्ज्जन्याग्नि-भूतवायु-आन्तरिक्ष्य–अप्-तत्त्व-अग्निसम्बन्धेनोत्पन्न-बाष्प [धूम]-आदि की समन्विताबस्थारूप-'अभ्र' १४४६
५१८–अभ्रोपकरणों में 'बाष्प' उपकरण की प्रधानता ''
५१९–तद्वादन्याय, और अभ्र की धूमात्मकता १४४७
५२०–ऋतरूपेण अन्तरिक्ष में व्याप्त बाष्प ''
५२१–पर्ज्जन्यानुगत--समिध---स्थानीय--भौतिकवायु ( मान्सून ) के व्यापार से ऋतात्मक बाष्प का घनीभाव ''
५२२–घनीभूत बाष्पपुञ्जात्मक-'अभ्र' ''
५२३–अभ्र की उत्तरावस्था, और 'मेघ' ''
५२४–आन्तरिक्ष्य ज्योतिर्भाव, और विद्युत् ''
५२५–पर्ज्जन्याग्नि का अर्चिर्भाव, और विद्युत् ''
५२६–वज्ररूप अङ्गार ''
५२७–गर्ज्जन-तर्ज्जन-रूप विस्फुलिंग ''
५२८–पर्ज्जन्याग्नि में सोमाहुति ''
५२९–पर्ज्जन्याग्नि, तथा सोम के रासायनिक-सम्मिश्रण से 'वृष्टि' का प्रादुर्भाव ''
५३०–आधिदैविक-यज्ञ की द्वितीया विधा का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय ''
५३१–आन्तरिक्ष्ययज्ञ (२), और तत्स्वरूप-विश्लेषक-श्रुतिवचन का संस्मरण ''
५३२–पिण्डात्मिका पृथिवी का भूमित्व ''
५३३–मण्डलात्मिका पृथिवी का पृथिवीत्व ''
५३४–'अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य ''
५३५–प्राणाग्निरूप देवाग्नि ''
५३६–प्राणाग्नियज्ञ, और सम्वत्सर-मण्डल-रूप समित् ''
५३७–वागग्निरूप-सम्वत्सर, और तदभिन्न-भूताग्नि ''
५३८–परमाकाश-पुराणाकाश-शरीराकाश-दहराकाश-भेदभिन्ना आकाशचतुष्टयी ''
५३९–स्वायम्भुव-परमेव्योमन्, और परमाकाश १४४७
५४०–सौर-बृहन्मण्डल, और पुराणाकाश ''
५४१–पार्थिव-अर्णवसमुद्रावच्छिन्न-आकाश, और पुराणाकाश ''
५४२–आध्यात्मिकी-आकाशाद्वयी ''
५४३–पुराणाकाशस्थ-सम्वत्सरमण्डल ''
५४४–अग्नि-काल-वयोनाध-भेदेन सम्वत्सर के तीन-महिमा-विवर्त्त १४४८
५४५–'व्योमा हि सम्बत्सरः' का पारिभाषिक-समन्वय ''
५४६–पार्थिवाकाश, और भूतयज्ञ का 'धूम' तत्त्व ''
५४७–पार्थिव-यज्ञाग्नि, और अर्चि ''
५४८–अवान्तरदिशाएँ, और विस्फुलिंग ''
५४९–पार्थिव अग्नि में 'वृष्टि' की आहुति ''
५५०–उभय-समन्वय से 'अन्न' का आविर्भाव ''
५५१–आधिभौतिक-आर्थिक-यज्ञ की एक-विधा-का स्वरूप-समन्वय ''
५५२–छान्दोग्यश्रुति के द्वारा प्रक्रान्त-तृतीय-यज्ञ-(पार्थिवयज्ञ) का स्वरूप-स्पष्टी-करण (३) ''
५५३–द्विविध आधिभौतिक यज्ञ, और एक-विध आधिभौतिकयज्ञ ''
५५४–क्रमप्राप्त-आध्यात्मिकयज्ञ का संस्मरण ''
५५५–वृषालक्षण-पुरुषयज्ञविवर्त्त ''
५५६–आध्यात्मिकयज्ञ का पुरुषभाव, और 'अग्नि' १४४९
५५७–आध्यात्मिक–षडङ्ग–वैश्वानर–अग्नि की पुरुषरूपता ''
५५८–प्राणापान से समन्वित आध्यात्मिक-वैश्वानराग्नि ''
५५९–प्राण-अपान- व्यान - त्रयी के पारि-भाषिक-स्वरूप का समन्वय ''

५६०–विश्वत्रयी की अधिष्ठात्री-नरत्रयी, और 'वैश्वानर' शब्द का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय १४४६
५६१–वैश्वानर-शब्द के निर्वचन का श्रुति-वचन-माध्यम से समन्वय ,,
५६२–वैश्वानराग्नि की 'पुरुष' अभिधा का श्रुतिवचन के द्वारा समर्थन ,,
५६३–वाङ्मय-भूताग्निरूप चित्याग्नि १४५०
५६४–पुरुषाग्नि, और समित् ,,
५६५–ध्वन्यात्मक शब्द, और अर्चि ,,
५६६–चक्षुर्भाव, और अङ्गार ,,
५६७–श्रोत्रभाव, और विस्फुलिंग ,,
५६८–पुरुषाग्नि में वर्षा-विकारभूत-अन्न-लक्षण हविर्द्रव्य की आहुति ,,
५६९–भुक्तान्न की रेतोरूप में परिणति ,,
५७०–वृषायज्ञ, और तत्समर्थक छान्दोग्य-वचन (४) ,,
५७१–आध्यात्मिकयज्ञ की द्वितीया-विधा, और तदनुप्राणित-'योषायज्ञ' ,,
५७२–वृषाप्राण का पुरुषसर्ग-प्रतिष्ठात्व ,,
५७३–योषाप्राण का स्त्रीसर्ग-प्रतिष्ठात्व ,,
५७४–अग्निप्रधान वृषाप्राण, और तन्निबन्धन-पुरुष ,,
५७५–सोमप्रधान योषाप्राण, और तन्निबन्धना-स्त्री ,,
५७६–आग्नेय-वृषात्मक-पुरुष, और दृश्य-अर्द्ध-अण्डकटाह (अर्द्धाकाश) ,,
५७७–सौम्या-योषात्मिका-स्त्री, और अदृश्य अर्द्ध-अण्डकटाह ,,
५७८–योषाप्राणात्मिका स्त्री का रक्तवर्ण-आग्नेय-शोणित, और उसका योषा-यज्ञ-प्रतिष्ठात्व ,,
५७९–रेतोरूप आहुति का ग्राहक शोणितरूप-योषाग्नि, और अग्नि ,,
५८०–योषा-अग्नि का उत्तेजक उपस्थ, और समित् १४५०
५८१–उपस्थ-समित् के संयोग से उत्पन्न-योषाग्निजनित-संक्षोभ, और 'धूम' ,,
५८२–रक्तवर्णात्मक-कन्दलयोनिर्भाव, और अर्चि ,,
५८३–इत्थंभूत योषाग्नि में रेतोद्रव्यात्मक हविर्द्रव्य की आहुति, और 'गर्भ' का स्वरूप-सम्पादन ,,
५८४–योषात्मक-पञ्चम-आध्यात्मिक यज्ञ का स्वरूप- विश्लेषक - पञ्चम - छान्दोग्य वचन (५) ,,
५८५–पञ्चाग्निविद्यानिबन्धन-स्वरूप- निष्कर्ष, और 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' का तात्त्विक-समन्वय-प्रयास १४५१
५८६–पञ्चाग्नियज्ञ का तालिका के माध्यम से स्वरूप-विश्लेषण ,,
५८७–द्यौः-आदित्यः, और श्रद्धा ,,
५८७–अन्तरिक्षम्-वायुः-और सोमः ,,
५८८–पृथ्वी-अग्निः-और वृष्टिः ,,
५८९–वृषा-वैश्वानरः-और अन्नम् ,,
५९०–योषा-माङ्गलिकः-और रेतः ,,
५९१–पञ्चाग्निविद्यानिबन्धन-पर्ज्जन्याग्नि से युत द्वितीय-यज्ञपर्व, और तन्निबन्धन वर्षण-कर्म्म ,,
५९२–'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' श्रुति से विरुद्धा पञ्चाग्निश्रुति ,,
५९३–श्रौतसिद्धान्तों के पारस्परिक-विरोध में मीमांसाशास्त्र की सम्मति, और सभी वचनों की प्रामाणिकता ,,
५९४–तत्त्वदृष्टि-सम्मता विज्ञानदृष्टि के माध्य से श्रौतवचनों के विरोधाभासों का निराकरण ,,

५९५–सृष्टिक्रमारम्भानुगता विज्ञानदृष्टि, और पर्ज्जन्ययज्ञानुगत - वृष्टिसिद्धान्त की प्रामाणिकता का समन्वय १४५१
५९६–स्थितिक्रमानुगता-विज्ञानदृष्टि, और- 'अग्निर्वा०' इत्यादि तृतीय-दृष्टिकोण का निर्विरोध समन्वय ,,
५९७–ऐतरेय- आरण्यकानुगता- रेतस: सृष्टि रूपा-सृष्टि का संस्मरण, और तन्नि-बन्धन-वृष्टिकर्म्म १४५२
५९८–प्रजापते रेतो देवा: ,,
५९९–देवानां रेतो वर्षम् ,,
६००–वर्षस्य रेत ओषधय: ,,
६०१–ओषधीनां रेत:-अन्नम् ,,
६०२–अन्नस्य रेतो रेत: ,,
६०३–रेतसो रेत: प्रजाः ,,
६०४–प्रजानां रेतो हृदयम् ,,
६०५–हृदयस्य रेतो मन: ,,
६०६–मनसो रेतो वाक् ,,
६०७–वाचो रेत: कर्म्म ,,
६०८–तदिदं कर्म्म-कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः ,,
६०९–विभिन्न-निमित्त-उपदानादि-कारणो का सह-समन्वय, और तन्निबन्धन वर्षण-कर्म्म ,,

## वृष्टिविद्यानुगत-मूलसूत्र

६१०–'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति'--इति अग्नि:--सत्यम्-पार्थिवाग्नि: (१) १४५२
६११–'वायुर्वैवृष्टया ईशे'-इति-वायुः सत्यम्-वायव्याग्निः (२) ,,
६१२–'आदित्याज्जायते वृष्टि:'-इति - आदित्यः - सत्यम्-सावित्राग्निः (३) १४५२
६१३–'पार्ज्जन्यं वर्षासु यजते' इति-पर्ज्जन्य: -ऋतम्- आप्याग्नि: (४) ,,
६१४-'सोमाहुतेर्वर्षं सम्भवति' इति-सोम:- ऋतम् - चान्द्र-सोम:-(५) ,,
६१५–'रश्मिभिर्वर्षं समदधात्'-इति-रश्मयः - सत्यम्-प्राणाग्निः (६) ,,
६१६–'पुरोवातं ससृजिरे' इति-पुरोवातः-ऋतम् - वातवायुः (भूतवायु:)-(७) ,,
६१७–'अभ्राद्वृष्टि:' इति अभ्रम्-ऋतसत्यम्-ज्योतिरग्नि:(८) ,,
६१८–'वृष्टिर्वै याज्या विद्युद्देव'-इति विद्युत् — ऋतसत्यम्-ज्योतिरग्नि: (९) ,,
६१९–स्तनयित्नुर्घोषोऽन्वसृज्यत' इति - स्तनयित्नुः - सत्यम्-शब्दाग्निः (१०) ,,
६२०–अस्यवामीयसूक्तानुगता मन्त्रत्रयी से अनुप्राणिता वृष्टिविद्या ,,
६२१–कृष्णयजु:संहिता की कारीरीष्टि, और तन्निबन्धना वृष्टिविद्या ,,

६२२–प्रकीर्णभावेन- यत्र-तत्र - स्थल-विशेषों से अनुप्राणिता वृष्टि-विद्या का संस्मरण १४५३
६२३–वैदिक-विद्याओं की महती जटिलता ,,
६२४–रहस्य-निगद-गाथा-कुम्ब्या-आदि पारिभाषिक ग्रन्थों की विलुप्ति, और वैदिक-तत्त्वसमन्वय की दुरूहता ,,
६२५–विद्वानों का चिरन्तन सामूहिक-प्रयास, और जटिलता का आंशिक निराकरण ,,
६२६–हमारे ये अव्यवस्थित-प्रकरण ,,
६२७–विस्मृतप्राया विद्याओं के प्रति ध्याना-कर्षण-मात्र प्रयोजन, और हमारे ये अस्तव्यस्त-प्रयासाभास ,,
६२८–वृष्टिविद्यानुगता मन्त्रत्रयी की समुप-स्थिति ,,
६२९–'सप्तार्द्धगर्भा०' इत्यादि प्रथममन्त्र १४५४
६३०–'कृष्णं नियानं०' इत्यादि द्वितीयमन्त्र ,,
६३१–'समानमेतत्'० इत्यादि तृतीयमन्त्र ,,

( मन्त्रार्थ--समन्वयोपक्रम )

६३२–पार्थिव-जलामात्राएँ १४५४
६३३–अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा पार्थिवी जल-मात्राओं की वाष्परूप में परिणति, और तदूर्ध्वगमन ,,
६३४–वृष्टि का प्रथमनिमित्त-पार्थिवाग्नि ,,
६३५–द्वितीय-निमित्त-वायु ,,
६३६–ऊर्ध्व-प्रक्षिप्त पार्थिवी-जलमात्रा की गुरुत्वाकर्षण से मुक्ति, एवं तद्-बाष्पावस्था ,,
६३७–जलमात्रा के ऊर्ध्वगमन का अन्यतम प्रेरक-बाष्पवायु ,,
६३८–सप्तविध-सूर्य्यनाडियों से समन्वित आन्तरिक्ष्य-महापथ ,,
६३९–नाडीमार्ग के द्वारा ही सौर-पार्थिव-पदार्थों का गमनागमन १४५५.
६४०–गमनागमन का प्रधान निमित वाष्प-वायु ,,
६४१–तृतीय निमित्त-सूर्य्यरश्मियाँ ,,
६४२–सूर्य्यसंस्थानुगत-आददानधर्म्मा-विभिन्न १२ प्राण, और द्वादशादित्य-समष्टि-रूप सूर्य्य ,,
६४३–सर्वरसादानत्व-धर्म्म, और आदित्य ,,
६४४–स प्राणमेव-अग्नेरादत्त ,,
६४५–रूपमेव-वायोरादत्त ,,
६४६-चित्तमेव-पुरुषस्यादत्त ,,
६४७–चक्षुरेव-पशूनामादत्त ,,
६४८–भामेव-चन्द्रमसमादत्त ,,
६४९–तत्-यत्-आदत्त, तस्मादादित्यः ,,
६५०–नाडीरूप-रश्मियों का भूतसंगन्तृत्व ,,
६५१–आगमनधर्म्मा सौरतेज, और सावित्री ,,
६५२–प्रतिफलनधर्म्मेण-गमनधर्म्मा सौरतेज, और गायत्री ,,
६५३–रश्म्यनुगता-अपेक्षा, और 'आदित्या-ज्जायते वृष्टिः' का समन्वय ,,
६५४–पार्थिवाग्न्यनुगता - अपेक्षा, और 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' श्रुति का समन्वय ,,
६५५–अन्तरानुगत वायु की अपेक्षा, और 'वायुर्वै वृष्टया ईशे' श्रुति का समन्वय ,,
६५६–नाड़ी-(सूर्य्यरश्मि)-एवं आग्नेय-प्राण-समन्वित-वायु से सम्बद्ध-वृष्टिविज्ञान, और तन्निबन्धन-"नाड्यो वायुसंयो-गादारोहणम् । नोदनापीड़नात्-संयुक्त-संयोगाच्च" इत्यादि दार्श-निक-दृष्टिकोण का समन्वय ,,
६५७–नाडयो-वायुसंयोगात्--आरोहित-पार्थिव जल का संस्मरण ,,

६५८–वृष्टिविद्यानिबन्धना--गमन--स्थिति--वर्षण-रूपा अनुबन्धत्रयी १४५५
६५९–गमनाधिकरणात्मिका वृष्टिविद्या ,,
६६०–गर्भाधानकालात्मक-गमनाधिकरण ,,
६६१–स्थित्यधिकरणात्मिका-वृष्टिविद्या ,,
६६२–दोहदकालात्मक-स्थित्यधिकरण ,,
६६३–वर्षणाधिकारात्मिका-वृष्टिविद्या ,,
६६४–(क) प्रसवकालात्मक-वर्षाधिकरण ,,
६६४–(ख) पार्थिवाग्निरश्मियों का ऊर्ध्वगमन ,,
६६५–रश्मि-सम्बन्धेन पार्थिव-जलमात्रा का अजस्त्ररूपेण ऊर्ध्वगमन १४५६
६६६–द्युलोक से अजस्त्ररूपेण रसवर्षण ,,
६६७–अहरहर्यज्ञात्मक-उभयक्षतिपूरक--मैष--ज्ययज्ञ ,,
६६८–ऋतुमूर्त्ति-सम्वत्सरप्रजापति की विशेष भावापन्ना 'वर्षाऋतु' का संस्मरण ,,
६६९–वर्षाऋतु से अनुगता गर्भ-दोहद-प्रसव-भावत्रयी ,,
६७०–चतुर्म्मासात्मक-ग्रीष्मकाल, और तन्निबन्धन-गर्भकाल ,,
६७१–चतुर्म्मासात्मक-ग्रीष्मकाल, और तन्निबन्धन-दोहदकाल ,,
६७२–चतुर्म्मासात्मक-वर्षाकाल, और तन्निबन्धन-प्रसवकाल ,,
६७३–मार्गशीर्षतः फाल्गुन-पर्य्यन्त-पार्थिवी-जलमात्रा का द्युलोक में गर्भाधान ,,
६७४–चैत्रतः-आषाढ-पर्य्यन्त-गर्भस्था जल–मात्रा का दोहदरूप पोषण ,,
६७५–श्रावणतः-कार्त्तिक-पर्य्यन्त पुष्टा जलमात्रा की प्रसूति ,,
६७६–वृश्चिकराशि में भुक्त ज्येष्ठानक्षत्र, और मार्गशीर्षानुगता अमावास्या ,,
६७७–मूलनक्षत्र के उत्तरार्द्ध में सूर्य्य का भोग, और गर्भकाल का उपक्रम ,,
६७८–आर्द्रानक्षत्र-भुक्त-सूर्य्य, और प्रसव–काल का उपक्रम १४५६
६७९–मूलादि-भरण्यन्त १२ नक्षत्रों का चान्द्रसोम-सहयोगित्व, और गर्भोत्तेजकत्व ,,
६८०–आर्द्रादि-विशाखान्त ११ नक्षत्रों का सौर-अग्नि-सहयोगित्व, और प्रसवप्र–वर्त्तकत्व ,,
६८१–गर्भ की मूलप्रतिष्ठारूप चान्द्रचार ,,
६८२–प्रसव की मूलप्रतिष्ठारूप सूर्य्यचार ,,
६८३–जलमात्रा की ६ मास-पञ्चदशदिवस-पर्य्यन्ता-गर्भस्थिति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय १४५७
६८४–'सप्तागर्भा' का संस्मरण ,,
६८५–अहः में गर्भाधान, तो रात्रि में वृष्टि ,,
६८६–रात्रि में गर्भाधान, तो अहः में वृष्टि ,,
६८७–वृष्टिविद्यानिबन्धना कतिपय-विशेष–ताओं का संस्मरण ,,
६८८–शीतवायु-श्वेतअभ्र--विद्युत्--गर्ज्जन--आदि गर्भाधान के परिचयात्मक-चिह्न ,,
६८९–गर्भपातक-निरोधक--शनैश्चर, तथा मङ्गल-ग्रह ,,
६९०–करकापात का कारण-समन्वय ,,
६९१–गर्भाधानभाव-गर्भपात-गर्भनिरोध-आदि निमित्त-समन्विता चामत्कारिकी वृष्टि-विद्या, और विधि के अटल-विधान ,,
६९२–ऋङ्मन्त्र का पारिभाषिक-तत्त्वार्थ-समन्वय-प्रयास ,,
६९३–वेदस्रष्टा चतुर्म्मुख भगवान् ब्रह्मा के तत्त्वात्मक-चार मुख, एवं चारों से वेद-लोक-देव-धर्म्मरूपा--सर्गचतुष्टयी की प्रवृत्ति ,,
६९४–विष्णु के परमपद का संस्मरण, और और तन्निबन्धना-मन्त्रश्रुति ,,

६६५–ध्रुवप्रदेश, और नाकस्थ विष्णुमण्डल १४५७
६६६–अयनवृत्तिनिबन्धना–ध्रुवपरिक्रमा १४५८
६६७–विषवद्वृत्तीय-पृष्ठीकेन्द्रात्मक-ध्रुव का संस्मरण ,,
६६८–क्रान्तिवृत्तीय-पृष्ठीकेन्द्रात्मक-कदम्ब का संस्मरण ,,
६६९–विश्वद्वृत्त, और क्रान्तिवृत्तानुगत २४ अंशात्मक अन्तर ,,
७००–ध्रुव, और कदम्बानुगत २४ अंशात्मक अन्तर ,,
७०१–कदम्बमूर्त्ति-नाकस्थ विष्णु ,,
७०२–विष्णुप्रदेशात्मक-उत्तराकाश की अंशात्मिका-पारिभाषिक-व्याप्ति ,,
७०३–चन्द्रमा के सहयोग से जलमात्रा का गर्भाधान ,,
७०४–सूर्य्य के सहयोग से जलमात्रा का वर्षण ,,
७०५–चन्द्रमानुगता एक अहोरात्रात्मिका गर्भाधानावधि का संस्मरण ,,
७०६–सूर्य्यानुगता प्रसवावधि से अनुगत त्रयोदश-अहोरात्र ,,
७०७–मन्त्रोपात्त-'**मनसा**', शब्द, और चन्द्र चारानुगत गर्भाधान ,,
७०८–मन्त्रोपात्त-'धीतिभिः' शब्द, और सूर्य्यचारानुगत-प्रसव ,,
७०९–'विपश्चितः' का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-अर्थसमन्वय १४५९
७१०–'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णाः०' इत्यादि क्रमप्राप्त–ऋङ्मन्त्र का संस्मरण ,,
७११–शुक्लभावापन्न–उत्तरायण ,,
७१२–कृष्णभावापन्न-दक्षिणायन ,,
७१३–कृष्णमार्ग-निबन्धन पार्थिव-मृण्याग्नि ,,
७१४–शुक्लमार्ग-निबन्धन सौर-सावित्राग्नि ,,
७१५–उत्तरानुगत–इन्द्रदेवता ,,
७१६–'कृष्णं-नियानम्' वाक्य का पारिभाषिक–अर्थसमन्वय १४५९
७१७–'हरयः–सुपर्णाः' से अनुप्राणिता सुपर्णचिति ,,
७१८–सुपर्ण–के तात्त्विकेतिवृत्त का संस्मरण ,,
७१९–'अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति' इत्यादि-मन्त्रभागार्थ-समन्वय १४६०
७२०–भार्गवी–ऋतत्तत्त्वत्रयी का संस्मरण ,,
७२१–'ऋतमेव-परमेष्ठी' ,,
७२२–घनावस्थापन्न अप्तत्त्व, और आसुर–वरुणप्राण ,,
७२३–तरलावस्थापन्न-वायुतत्त्व, और सोम-रक्षक-गन्धर्वप्राण ,,
७२४–विरलावस्थापन्न सोमतत्त्व, और सौम्य पितर प्राण ,,
७२५–उत्तरस्थान का विष्णुपदत्त्व ,,
७२६– ,, वारुणत्व ,,
७२७– ,, की ऋतसदनता ,,
७२८–'वरुणस्योत्तम्भनमसि' इत्यादि-यजुः-श्रुति का संस्मरण ,,
७२९–वर्षाजल से काल्वालीकृत भूतल ,,
७३०–मन्त्रत्रयी के तत्त्वार्थ का उपराम ,,
७३१–श्रुत्यर्थानुगामी पुराणशास्त्र, और तन्निबन्धना वृष्टिविद्या का पुराण-वचन-माध्यम से संस्मरण १४६१
७३२–बुद्धिगम्या, रहस्यपूर्णा-परिभाषानुगता–गम्भीरतमा-श्रुतिभाषा से अनुप्राणिता तैत्तिरीय-सम्मता वृष्टिविद्या का मूलात्मक प्रासङ्गिक-संस्मरण १४६२
७३३–उक्त तैत्तिरीय–श्रुति–सन्दर्भानुगता कारीरीष्टि, और वृष्टि १४६३
७३४–प्राच्यङ्गमन्त्रव्याख्यानश्रुति का वृष्टि–निबन्धन मूलसूत्र ,,

७३५–वायुनैवोद्धृतं तोयं वायुरेव प्रवर्षति, और कादम्बिनी १४६४
७३६–कृष्णवस्त्र–धामच्छदमेघ–कृष्ण-जल–कृष्णमरुत्-आदि से अनुप्राणित-प्रातिनिध्यभावों का समन्वय ”
७३७–प्रकृतिविरुद्ध-गमन, और अनावृष्टि-अतिवृष्टि-जनित दुष्काल ”
७३८–जनपदविद्ध्वंसिनी-करकापात-उल्कापात-आग्नेय-वारुण-ऐन्द्र–वायव्यादि-भूकम्पों का प्रहार, और मानव का उत्पीड़न ”
७३९–ऋषिप्रदिष्ट चिकित्सामार्गात्मक-यज्ञकर्म्म की शरणीकरणीयता का संस्मरण ”
७४०–अभक्ष्य-भक्षण, अगम्यागमन, अस्पृश्य-स्पर्श, देव-द्विज-आचार्य्य-शुश्रूषा-परित्याग, सच्छास्त्रनिन्दा, मलिनीकरण-संकरीकरण-जातिभ्रंशकर-आदि पातक-अतिपातक-महापातक-रूप-निन्द्य-असत्कर्म्मों में प्रवृत्ति, मर्य्यादोल्लंघन, कल्पित–साम्यवादघोषणा, सर्वोपरि दुराग्रह–आदि आदि अधर्म्मपथों के अनुगमन से संक्षुब्ध–संत्रस्त आज का मानव-समाज १४६५
७४१–बुद्धिगम्या-भाषा से अनुप्राणिता-श्रुतिसिद्धा वृष्टिविद्या का परिचयोपराम ”
७४२–सम्वत्सर की ऋतुत्रयी ”
७४३–'त्रयो वा ऋतवः सम्वत्सरस्य' का संस्मरण ”
७४४–सर्दी-गर्मी, और बरसात ”
७४५–ऋतुत्रयी का ऋतुद्वयी में अन्तर्भाव ”
७४६–शीतकाल, और–'श्यालू' ”
७४७–उष्णकाल, और–'उह्वालू' ”
७४८–ऋतुद्वयी का एकर्त्तु में अन्तर्भाव ”
७४९–लोकप्रसिद्ध-शीत, और 'सोम' ”
७५०–सोम के दो महिमा-विवर्त्त ”
७५१–'ऋतसोम' के पारिभाषिक-स्वरूप-का उदाहरण-माध्यम से समन्वय १४६६
७५२–आन्तरिक्ष्य-प्राणात्मक दिक्सोम, और उसका भौतिकरूप ”
७५३–ऋताग्नि का स्वरूप-समन्वय ”
७५४–सत्याग्नि, और सत्य-सोम का स्वरूप-समन्वय ”
७५५–ऋताग्नि, और ऋतसोम के अन्तर्य्यामात्मक-समन्वय से 'ऋतु' नामक-अपूर्वभाव की स्वरूपाभिव्यक्ति १४६७
७५६–'ऋतं नात्येति किञ्चन' का रहस्यात्मक-समन्वय ”
७५७–वसन्तादि षड्ऋतुओं का-निर्वचनात्मक-रहस्यार्थ समन्वय ”
७५८–ऋतलक्षण-पार्थिव-अग्नि, और ऊष्मा ”
७५९–ऊष्मा की चरम-सीमा, और जलवर्षण ”
७६०–विभिन्न-तत्त्वों का एकत्र-समन्वय, और वृष्टि का उद्गम ”
७६१–जलवर्षक-पारिभाषिक मेघ १४६८
७६२–मेहनधर्म्मात्मक मेघ का पारिभाषिकार्थ-समन्वय ”
७६३–अश्मासोमात्मक-जलावरोधक वृत्रप्राण ”
७६४–गत्यवरोधक-नमुचिप्राणासुर ”
७६५–इन्द्र के द्वारा नमुचि का शिरश्छेद, और जलवर्षण ”
७६६–रुद्रात्मक-रुद्धद्रवणधर्म्म का संस्मरण ”
७६७–'अग्नेरापः' सिद्धान्त का पारिभाषिक-समन्वय ”
७६८–वृष्टिधर्म्माधिष्ठाता पर्ज्जन्यवायु के वैज्ञानिक-स्वरूप का समन्वय, एवं-तन्निबन्धना मन्त्रश्रुति का संस्मरण १४६९
७६९–इन्द्रधनुष की उत्पत्ति का निमित्तभूत-पर्ज्जन्य-वायु ”

७७०–सप्तवर्णात्मक-इन्द्रधनुष का स्वरूप-समन्वय १४६९
७७१–सौररश्मियों का तिर्य्यग्भाव, और इन्द्रधनुष ,,
७७२–इन्द्रधनुष के दर्शन का निषेध, और तत्कारण-समन्वय १४७०
७७३–'पर्ज्जन्या द्रप्सा मधुमन्त-ईरते' इत्यादि रहस्यात्मक मन्त्र का संस्मरण ,,
७७४–मेघत्रयी से अनुगत जलवर्षण ,,
७७५–'यज्ञाद्भवति पर्ज्जन्यः' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय ,,
७७६–'तपोजा' इति का संस्मरण ,,
७७७–अग्नेर्वै धूमो जायते ,,
७७८–धूमाद्-अभ्रम् ,,
७७९–अभ्राद्-वृष्टिः ,,
७८०–अग्नेर्वा एता जायन्ते' ,,
७८१–तस्मादाह-तपोजा-इति ,,
७८२–वृष्टिविज्ञाननिबन्धन-पर्ज्जन्य-विज्ञान का स्वरूप-विराम ,,
७८३–ऊष्मा-ऊमस, और जलवर्षण १४७१
७८४–'ओश्रावय', और पुरोवात (पर्ज्जन्य) का आविर्भाव ,,
७८५–अस्तु-श्रौषट्, और अभ्र की अभिव्यक्ति १४७२
७८६–विद्युत्-और स्तनयित्नु ( चमक, और गर्जन ) के रहस्यपूर्ण-पौर्वापर्य्य का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
७८७–दृश्यस्थिति, और वस्तुस्थिति का पार्थक्य-प्रतिपादन ,,
७८८–विद्युत्पात का स्वरूप-स्पष्टीकरण ,,
७८९–'वायुः-खात्-शब्दस्तत्' इत्यादि-प्रातिशाख्य-सिद्धान्त का संस्मरण ,,
७९०–सर्वाधः-स्थित मेघस्तर, और तत्संघर्ष-जनित-विद्युत्-प्रवाह ,,
७९१–उल्कापात का समन्वय १४७२
७९२–तारापात का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
७९३–धिष्ण्यापात का समन्वय ,,
७९४–वज्रपात की स्वरूप-महिमा ,,
७९५–चतुर्विध-भूकम्पों का प्रासङ्गिक-स्वरूप-संस्मरण ,,
७९६–'कृष्ण-बरण-मधुर मेघ-गगन-भरयो-समन्तात' इत्यादि सङ्गीतपद्य का संस्मरण, और वर्षा का लौकिक-वर्णन (टि०) ,,
७९७–अभ्रसमाप्लावन के अनन्तर उच्चरित-'यज', और विद्युत्सञ्चार १४७३
७९८–'ये यजामहे' और स्तनयित्नुरूप-गर्ज्जन-तर्ज्जन ,,
७९९–वौषट्, और जलवर्षण ,,
८००–आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्मानुगता-रहस्यपूर्णा-वृष्टिविद्या का उपराम


## इति-वृष्टिविज्ञानमुपरतम्

* * *


८०१–महत्त्वपूर्ण-आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्म्म का संस्मरण १४७३
८०२–सम्वत्सरप्रजापति की पाँच व्यष्टियाँ, और सप्तदशप्रजापति ,,
८०३–अङ्गभूत-नवव्याहृत्यात्मक-स्तृगादापन-कर्म्म का संस्मरणात्मक-समन्वय, और आधिदैविक-परोक्ष-फल का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
८०४–आधिभौतिक-प्रत्यक्ष-फल का स्वरूपेतिवृत्त-विराम, और विराड्गोरूपधरा माता पृथिवी का दोहन ,,
८०५–दोहनकर्म्मानुगत-गोवत्स १४७४
८०६–पार्थिव अग्नि, और विराड् गौ ,,
८०७–अग्निहोत्रविज्ञानब्राह्मण का संस्मरण ,,

८०८–दशकल-विराडग्नि, और तन्निबन्धन गोतत्त्व १४७४
८०९–दशाक्षरविराट्-छन्द, और विराड्गौ ,,
८१०–विराड्गौ का रहस्यात्मक दोहन, और सर्वकामपूरक–प्रक्रान्त स्रुग्ब्राह्मणोपराम १४७४

## पञ्चम–अध्याय में द्वितीय, एवं चतुर्थ-प्रपाठक में तृतीय– 'स्रुग्ब्राह्मण' नामक ब्राह्मण–अत्र–उपरत

## ( वृष्टिविज्ञानात्मक )

—–—*—–—

## इति-स्रुगादापनं--आश्रावणं-प्रत्याश्रावणंच

## २२

—–—*—–—

श्रीः

## अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–प्रथमकाण्डे त्रिब्राह्मणात्मकं–प्रयाजब्राह्मणम् उपक्रान्तम्

## *२३--ऋतुयजनात्मकं--प्रयाजकर्म्म*

### क्रमप्राप्त २३ वें कर्म्म के विज्ञानभाष्य को "विषयस्मारकसूची"

### ( पृष्ठसं० १४५७ से १५४२ पृ० पर्य्यन्त )


१–प्रथमकाण्डान्तर्गत-पञ्चम-षष्ठ-अध्याया-नुगत त्रिब्राह्मणात्मक-प्रयाजब्राह्मण (मूल) १४७५

२–मूलब्राह्मण का अक्षरार्थसमन्वयात्मक अनुवाद १४८५

३–सूत्रानुगत-पद्धति-संग्रह-१५२५ वें पृष्ठ से १५४२ वें पृष्ठ-पर्य्यंत (अत्रैव-द्वितीय-खण्डोपरामः) "


* * * * *

## इति–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–

# द्वितीयखण्ड

### की

## *संक्षिप्ता-विषयस्मारकसूची उपरता*

*–त्रिब्राह्मणात्मक–प्रस्तुत–प्रयाजब्राह्मण की वैज्ञानिकविवेचन। क्रमप्राप्ता अग्रिम–तृतीय–खण्ड की ही प्रतीक्षा कर रही है।

श्री:

# शतपथब्राह्मण-प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीयखण्डान्तर्गत कतिपय–परिलेखों की सूची


(१)–सर्वत्सरात्मकः–सम्वत्सरमण्डलपरिलेखः

( चक्रसम्वत्सरप्रतिकृतिरियम् )

—पृष्ठ सं० ६३७

(२)–अग्न्यात्मक–कालात्मक-सम्वत्सर चक्र–त्रयी–स्वरूप–परिलेखः

(क)–सत्तासिद्धः–सम्वत्सरः– कालात्मकः

(ख)–भातिसिद्धः-सम्वत्सरः- कालात्मकः

—पृष्ठसं० ६३८

(३)–(१) वागापोऽग्निः शुक्रत्रयवितान–परिलेखः

—पृष्ठसं० ६६४

(४)-(२)–पार्थिव- सम्वत्सर-चक्रानुगत–सामत्रयी–परिलेखः

-- पृष्ठसं० ६६५

(५)–सौर–पार्थिव–सामातिमानपरिलेखः

—पृष्ठसं० ६६६

(६)-अष्टदलकमलात्मकः- पाद्यभुवनकोशपरिलेखः

पृ० सं० ८८६, तथा ८६० के मध्य में -

(७)–केसरपर्वत–परिलेखः

—पृष्ठसं० ८६५

(८)-लघुसप्तर्षि- परिचायक- परिलेखः

—पृष्ठसं० ८६५

(९)–ध्रुवपरिभ्रमणात्मक-बृहत्-सप्तर्षि–परिलेखः

—पृष्ठसं ८६६

(१०)-मेरुमूला-देवत्रिलोकी-परिलेखः

—पृष्ठ० सं ८६८

(११) भारतीयद्वीपपरिलेखः

—पृष्ठसं० ६०८

(१२)-देवत्रिलोकी, तथा असुरत्रिलोकी-स्वरूप-परिलेखः

—पृष्ठसं० ६१८

(१३)-महानात्मविवर्त्तत्रयी-स्वरूपपरिलेखः

—पृष्ठसं० ६२०-६२१ के मध्य में

(१४)-देवासुरभाव-समन्वय-परिलेखः

—पृष्ठसं० ६२१

(१५)-चतुर्द्धा-विभक्त-अग्नि-परिलेखः

—पृष्ठसं० ६२५

(१६)-वैधयज्ञवेदिपरिलेखः

—पृष्ठसं० ३०

(१७)-अग्निहोत्रशालापरिलेखः

—पृष्ठसं० ३१

(१८)-दर्शपूर्णमासविहारपट्टपरिलेखः

—पृष्ठसं० ६३०

(१९)-अदिति-दिति-पृथिवी-परिलेखः

—पृष्ठसं०

(२०)-द्वादशव्याहृतिपरिलेखः

—पृष्ठसं० ६४४

(२१)-त्रिविध-दाम्पत्यभावपरिलेखः

—पृष्ठसं० ६८०

(२२)-पार्थिव-नवलोकात्मक-विवर्त्त-परिलेखः

—पृष्ठसं० १३४४

## उपरता-चेयं-परिलेखसूची

———*———

श्रीः

शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत

# द्वितीयखण्ड

२

की

## संक्षिप्ता–विषयस्मारक–सूची

उपरता

अथ

# शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये द्वितीयोऽध्यायेः

# २

# अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये
# द्वितीयोऽध्यायः
# २

## अथ प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्
## प्रथमप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

### १०–उपवेषसम्पादनम्, अग्नौ कपालापधानेन हविः-परिपाकम्

(मूल) स वै कपालान्येवान्यतर उपपदधाति, दृषदुपले अन्यतरः । तद्वा एतदुभयं सह क्रियते । तद्यदेतदुभयं सह क्रियते ॥१॥

शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य–यत्पुरोडाशः । स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालानि, एतान्येवास्य कपालानि, मस्तिष्क एव पिष्टानि । तद्वा एतदेकमङ्गम् । एकं सह करवाव, समानं करवावेति । तस्माद्वा एतदुभयं सह क्रियते ॥२॥

स यदेनेनाग्निं धृष्णिवोपचरति, तेन धृष्टिः । अथ यदेनेन यज्ञ उपालभते, उपेव वा एनेनैतद्वेवेष्टि । तस्मादुपवेषो नाम ॥३॥

तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति–'अपाग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं सेध' ( १ अ० १७ मं० ) इति । अयं वा आमात्–येनेदं मनुष्याः पक्त्वा अश्नन्ति । अथ येन पुरुषं दहन्ति, स क्रव्यात् । एतावेवैतदुभावतोऽपहन्ति ॥४॥

अथाङ्गारमास्कौति–'आ देवयजं वह'–( १ अ० १७ मं ) इति । यो देवयाट्, तस्मिन् हवींषि श्रपयाम, तस्मिन् यज्ञं तनवामहा–इति । तस्माद्वा आस्कौति ॥५॥

तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति । देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्ते असुर–रक्षसेभ्य आसङ्गाद् विभयाञ्चक्रुः, नेन्नोऽधस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्युपोत्तिष्ठानिति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता ।

तस्मादेवमुपदधाति । तद्यदेष एव भवति, नान्यः । एष हि यजुष्कृतो मेध्यः । तस्मान्म-ध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति ॥६॥

स उपदधाति 'ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳह–' ( १ अ० १७ मं० ) इति । पृथिव्या एव रूपेणैतदेव दृंहति । एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते–'ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय" (१ अ० १७ मं० ) इति । वह्वीर्वै यजुःष्वाशीः, तद् ब्रह्म च क्षत्रं चाशास्ते । उभे वीर्य्ये । भूमा वै सजाताः, तद् भूमानमाशास्ते । उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधायेति–यदि नाभिचरेत् । यद्यु अभिचरेद्–अमुष्य वधायेति ब्रूयात् । अभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥७॥

अथाङ्गारमास्कौति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशानिति । ब्राह्मणो हि रक्षसाम-पहन्ता । तस्मादभिनिहितमेव सव्यस्य पाणेरङ्गुल्या भवति ॥८॥

अथाङ्गारमध्यूहति–"अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व"–( १ अ० १८ मं० ) इति । नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशानिति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता । तस्मादेवमध्यूहति ॥९॥

अथ यत्पश्चात्तदुपदधाति–"धरुणमस्यन्तरिक्षं दृꣳह"–( १ अ० १८ मं० ) इति । अन्तरिक्षस्यैव रूपेणैतदेव दृंहति । एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते–"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय"–( १ अ० १८ मं० ) इति । ॥१०॥

अथ यत्पुरस्तात्तदुपदधाति–"धर्त्रमसि दिवं दृꣳह"–( १ अ० १८ मं० ) इति । दिव एव रूपेणैतदेव दृंहति । एतेनैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते–"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय"–( १ अ० १८ मं० ) इति । ॥११॥

अथ यद्दक्षिणतस्तदुपदधाति–"विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि"–( १ अ० १८ मं० ) इति । स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा । तेनैवैतद् द्विषन्तं भ्रातृव्यम-वबाधते । अनद्धा वै तद्–यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा । अनद्धो तद्–यद् विश्वा आशाः । तस्मादाह–'विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि'–इति । तूष्णीं वैवेतराणि कपालान्युपदधाति । "चितस्थोर्द्ध्वचितः"– (१ अ० १८ मं०) इति वा ॥१२॥

अथाङ्गारैरभ्यूहति-"भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्"-( १ अ० १८ मं० ) इति । एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद् भृग्वङ्गिरसाम् । सुतप्तान्यसन्निति-तस्मादेवमभ्यूहति ॥१३॥

अथ यो दृषदुपले उपदधाति-स कृष्णाजिनमादत्ते--"शर्म्मासि"-(१ अ० १६ मं० ) इति । तदवधूनोति—"अवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातय"-( १ अ० १६ मं०) इति । सोऽसावेव बन्धुः । तत् प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति-"अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु" ( १ अ० १६ मं० ) इति । सोऽसावेव बन्धुः ॥१४॥

अथ दृषदमुपदधाति--"धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग् वेत्तु"--(१ अ० १६ मं० ) इति । धिषणा हि, पर्वती हि, प्रति त्वादित्यास्त्वग् वेत्त्विति । तत्संज्ञा--मेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति-नेदन्योन्यं हिनसात इति । इयमेवैषा पृथिवी रूपेण ॥१५॥

अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति-"दिवस्कम्भनीरसि"-( १ अ० १६ मं० ) इति । अन्तरिक्षमेव रूपेण । अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे । तस्मादाह-दिवस्कम्भनीरसीति ॥१६॥

अथोपलामुपदधाति-"धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु"-(१ अ० १६ मं० ) इति । कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति । तस्मादाह पार्वतेयीति । प्रति त्वा पर्वती वेत्त्विति । प्रति हि स्वः संजानीते । तत् संज्ञामेवैतद्दृषदुपलाभ्यां वदति-नेदन्योन्यं हिनसात इति । द्यौरेवैषा रूपेण । हनू एव दृषदुपले । जिह्वैव शम्या । तस्माच्छम्यया समाहन्ति । जिह्वया हि वदति ॥१७॥

अथ हविरधिवपति-"धान्यमसि धिनुहि देवान्"-( १ अ० २० मं० ) इति । धान्यं हि । देवान् धिनवदित्यु हि हविर्गृह्यते ॥१८॥

अथ पिनष्टि-"प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धाम्"--(१ अ० २० मं०) इति । प्रोहति-"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा"-(१ अ० २० मं०) इति ॥१६॥

तद्यदेवं पिनष्टि। जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्। अथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥२०॥

स यदाह-प्राणाय त्वोदानाय त्वेति, तत्प्राणोदानौ दधाति। व्यानाय त्वेति, तद् व्यानं दधाति। दीर्घामनुप्रसितिमायुषे धामिति, तदायुर्दधाति। देवो वः सविता हिरण्य-पाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना, सुप्रतिगृहीतान्यसन्निति। चक्षुषे त्वेति, तच्चक्षु-र्दधाति। एतानि वै जीवतो भवन्ति। एवमु हैतज्जीवमेव देवानां हविर्भवत्यमृतममृतनाम्। तस्मादेवं पिनष्टि। पिंषन्ति पिष्टानि, अभीन्धते कपालानि ॥२१॥

अथैक आज्यं निर्वपति। यद्वा आदिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते–यावद्देवत्यं तद् भवति। तदितरेण यजुषा गृह्णाति। न वा एतत्कस्यै चन देवतायै हविर्गृह्णन्नादिशति-यदाज्यम्। तस्मादनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति–"महीनां पयोऽसि"–( १ अ० २० मं० ) इति। मह्य इति ह वा एतासामेकं नाम–यद् गवाम्। तासां वा एतत् पयो भवति। तस्मादाह–महीनां पयोऽसीति। एवमु हास्यैतत् खलु यजुषैव गृहीतं भवति। तस्माद्वेवाह-महीनां पयोऽसीति ॥२२॥

## इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्
## प्रथमप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

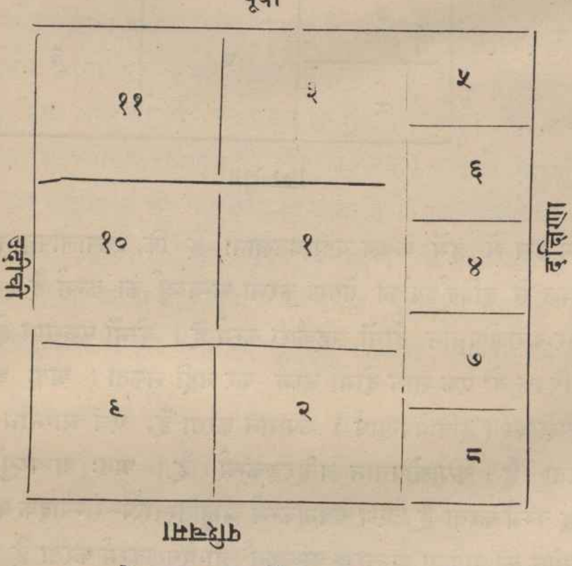
——*——

## ७–उपवेष का सम्पादन, अग्नि पर कपालों का स्थापन, एवं तद्-द्वारा (पुरोडाशसम्पत्ति के लिए ) हविर्द्रव्य का परिपाक

( अनुवाद ) १—हविर्द्रव्य का परिपाक कपालों में होता है। एतदर्थ कपाल का उपधान होता है। यह उपधान 'गार्हपत्यखर' के अपरार्द्ध में होता है। इसमें पिष्ट हविर्द्रव्य रक्खा जाता है। एवं अङ्गारों से इसका यथाविधि परिपाक किया जाता है। असम्पन्न (अपरिपक्व) यज्ञिय अन्न 'हवि' कहलाता है। एवं वही सम्पन्न परिपक्व ) होकर 'पुरोडाश' नाम से व्य-वहृत होने लगता है। इस 'इष्टि' में 'आग्नेयपुरोडाश', 'अग्निषोमीय–पुरोडाश' भेद से पुरोडाशद्रव्य दो भागों में विभक्त है। इसी भाग–क्रम के अनुसार कपाल भी दो भागों में विभक्त

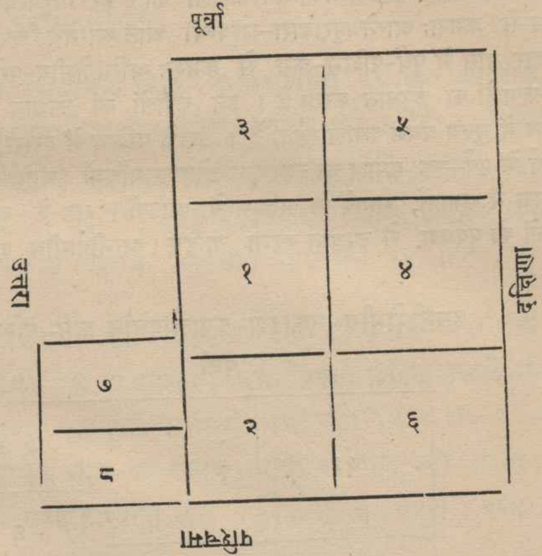
हैं। आग्नेय कपाल **आठ हैं**, अग्नीषोमीय कपाल **एकादश हैं**। आग्नीध्र नाम से प्रसिद्ध अध्वर्यु का सहकारी ऋत्विक् जल से प्रक्षालित कपालों को लेकर गार्हपत्यखर के पश्चिम भाग में पूर्वपश्चिम-क्रम से क्रमशः आग्नेयपुरोडाश-सम्बन्धी आठ आग्नेय कपालों को रखता है, एवं गार्हपत्य के उत्तर भाग में पूर्व-पश्चिम-क्रम से क्रमशः अग्निषोमीय-पुरोडाश-सम्बन्धी ग्यारह अग्नीषोमीय-कपालों का उपधान करता है। इन कपालों का उपधान निम्नलिखित क्रम से होता है। मध्य में मुख्य प्रथम कपाल रहता है। इसके पश्चिम में दूसरा, पूर्व में तीसरा, दक्षिण में चौथा, चतुर्थ के पूर्व-एक कपाल का व्यवधान छोड़कर पाँचवाँ, चतुर्थ पञ्चम के मध्य में छठा, चतुर्थ के पश्चिम में सातवाँ, सातवें के पश्चिम में आठवाँ। सब के उत्तर में-नवम, दशम, एकादश कपालों का पूर्वक्रम से उपधान करना चाहिए। अग्नीषोमीय एकादश कपालों का यही उपधानक्रम है।

## अग्नीषोमीय-एकादश-कपालोपधान क्रम-परिलेखः




एवं आगे लिखित क्रम आग्नेय अष्ट कपालों का समझना चाहिए। श्रपणस्थान में स्थित मध्य अङ्गार में मध्यकपाल (मुख्यकपाल-प्रथमकपाल) रक्खा जाता है। मध्यम कपाल के पश्चिमभाग में द्वितीय कपाल, मध्यमकपाल के पूर्व भाग में तृतीय कपाल के दक्षिण भाग में चतुर्थकपाल, चतुर्थकपाल के पूर्वभाग में पञ्चम कपाल, चतुर्थकपाल के पश्चिम भाग में षष्ठकपाल, मध्यम कपाल के पश्चिम भाग में स्थापित द्वितीय कपाल के उत्तर में सप्तम कपाल, सप्तम कपाल के पूर्व में अष्टम कपाल का उपधान होता है, जैसाकि अनुपद में ही पद्धति-क्रमनिरूपण में स्पष्ट होजायगा।

## आग्नेय-अष्टाकपालोपधान-सम्बन्धी--क्रम--परिलेखः—




प्रकृत में इस से हमें केवल यही बतलाना है कि, कपालोपधान करना आग्नीध्र का कर्म्म है, दृषदुपल से हविर्द्रव्य का पेषण करना अध्वर्य्यु का कर्म्म है। तात्पर्य्य यही है कि, हविःपेषण, और कपालोपधान दोनों सहकारी कर्म्म हैं। दोनों एकसाथ होते हैं। ऐसी अवस्था में एक ही ऋत्विक् तो एक साथ दोनों कर्म्म कर नहीं सकता। अतः अध्वर्य्यु पेषणार्थ उसी काल में दृषदुपल का ( हविःपेषणार्थ ) उपधान करता है, एवं आग्नीध्र उसी काल में कपालों का उपधान करता है। कपालोपधान बहिरङ्गकर्म्म है। अतः अध्वर्य्यु की अपेक्षा बहिरङ्ग आग्नीध्र ही यह कर्म्म करता है। एवं पेषणकर्म्म आहुतिस्वरूप-सम्पादक बनता हुआ अन्तरङ्गकर्म्म है। अतः आग्नीध्र की अपेक्षा अन्तरङ्ग अध्वर्य्यु ही पेषणकर्म्म करता है। द्वितीय अध्याय के इस प्रथम ब्राह्मण में प्रधानरूप से इन्हीं दोनों कर्म्मों की आवृत् ( पद्धति ) बतलाई गई है।

ऋत्विजों के मध्य में 'आग्नीध्र' नाम का एक ऋत्विक् कपालों का उपधान करता है, एवं अन्यतर ( अध्वर्य्यु ) ऋत्विक् ( हविः पेषणार्थ ) दृषदुपल का उपधान करता है। इसप्रकार **'पेशणोपधाने युगपत्'** ( का० श्रौ० सू० २।४।२४ ) के अनुसार ये दोनों कर्म्म एकसाथ किए जाते हैं। सो जोकि ये दोनों कर्म्म एकसाथ किए जाते हैं, ( उसकी उपपत्ति बतलाते हैं ) ॥१॥

यह यज्ञ का मस्तक है, जोकि 'पुरोडाश' है। इस मस्तक-सम्बन्धी जो कपाल ( खोपड़ी ) हैं, वे ही इस यज्ञ के कपाल हैं। मस्तिष्क ही पिष्टद्रव्य ( पिसा हुआ पुरोडाश ) है। इसप्रकार ( मनुष्य में ) कपाल-स्थानीय कपाल, एवं पुरोडाश-स्थानीय मस्तिक, दोनों मिलकर **'शिर' 'मस्तक'**, आदि नामों से व्यवहृत एक अङ्ग है। ( हम भी अपने यज्ञ में ) दोनों को एकसाथ बनावें, समान बनावें, इसलिए उपर्य्युक्त दोनो कर्म्म एकसाथ किए जाते हैं ॥२॥

जिन अङ्गारों से हविर्द्रव्य का परिपाक किया जाता है, उन्हें हस्ताकृतियुक्त जिस काष्ठ-दण्ड से इस्ततः किया जाता है-**'अङ्गारविभजनार्थं काष्ठमुपवेशः'** ( सा० भा० ) के अनुसार वही काष्ठ **'उपवेष'** नाम से प्रसिद्ध है। सो जो ऋत्विक् ( आग्नीध्र ) कपालों का उपधान करता है, वही **'धृष्टिरसीत्युपवेषमादाय'** ( का० श्रौ० २।२।४।२५ ) के अनुसार **'धृष्टिरसि'** ( १ ) ( यजुः १।१७ ) यह मन्त्र बोलता हुआ उपवेष उठाता है। वह आग्नीध्र इस हस्ताकृतियुक्त काष्ठ से अङ्गाराग्नि का घर्षण करता है। अर्थात् जिस प्रगल्भता के साथ, सौकर्य्य के साथ काष्ठ से अग्नि को इधर उधर किया जासकता है, उसप्रकार हाथों से ( जलने के भय से ) वैसा नहीं किया जासकता। अतः प्रगल्भार्थक **'ञिधृषा'** ( स्वा० प० २३ ) धातु से **'धृष्णोति--अनेन'** इस करण-व्युत्पत्ति से इस काष्ठखण्ड को **'धृष्टि'** कहा जाता है। इस काष्ठखण्ड से अङ्गारादि को यथावत् प्राप्त करने में समर्थ होता है। इस उपवेष से अङ्गारों के द्वारा यज्ञ का परिवेष्टन करता है। उसका स्वरूप-सम्पादन करता है। अतः व्याप्त्यर्थक **'विष्लृ'** धातु से ( जु० उ० १३ ) **'वेवेष्टीव अनेन'** इस व्युत्पत्ति से इस काष्ठ को **'उपवेष'** नाम से व्यवहृत किया जाता है ॥३॥

इस उपवेष से ( वह आग्नीध्र ) **'अपाग्न इत्यङ्गारान् प्राचः करोति'** ( का० श्रौ० २।२।४।२५ ) के अनुसार **'अपाग्ने अग्निमामदं जहि निष्क्रव्यादं सेध'** ( २ ) ( यजुः १।१७ ) यह मन्त्र बोलता हुआ गार्हपत्यखरस्थ अपरभागीय अङ्गारों को पूर्वभाग में लेजाता है। कारण इसका यही है कि, **'खर'** के अपरार्द्ध भाग में कपालोपधान का विधान है। अतः इस स्थान को रिक्त करने के लिए यहाँ से अङ्गारोद्वहन आवश्यक है। वह अग्नि **आमात्** है, जिससे कि

( १ ) प्रज्वलित, अतएव तीव्र अङ्गारों को यह उपवेष इतस्ततः करने में समर्थ है, इसलिए कहते हैं-हे उपवेष ! आप धृष्टि हैं। अर्थात् प्रगल्भ हैं। एकबात और ध्यान में रखनी चाहिए। यदि यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण है, तो उसका उपवेष पलाशशाखा का होता है। क्योंकि **'पालाशो वै ब्रह्म'** के अनुसार **'पलाश'** ब्रह्मवीर्य्य-युक्त है। इसी आधार पर-**'मूलतः शाखां परिवास्य-उपवेषं करोति'** ( सा० भा० १।१७ ) यह कहा जाता है।

२-हे अग्ने ! आप अपने **आमात्-क्रव्यात्** स्वरूप का परित्याग कीजिए। शेष भाष्य में स्पष्ट होगा।

मनुष्य अन्न का परिपाक किया करते हैं । एवं जिससे पुरुष को जलाते हैं, वह अग्नि क्रव्यात् है । इन्हीं दोनों भावों को इस ( देवप्राणमय ) यज्ञ से (उक्त मन्त्र के द्वारा) पृथक् करते हैं ॥४॥

अङ्गारोदूहनानन्तर–'**आ देवयजनमित्यङ्गारमाहृत्य**' ( का० श्रौ० २।२।४।१६ ) के अनुसार '**आ देवयजं वह**' ( १।१७ ) यह मन्त्र बोलता हुआ ऋत्विक् ( पुरोडाश के श्रपणार्थ ) अङ्गारों का विभाग करता है । जो अग्नि **देवयाट्** ( देवताओं का यजन करने वाला ) है, उसी में हम हविर्द्रव्य का परिपाक करें, उसी में यज्ञ को वितत करें, इसी ( देवभावप्राप्ति के ) लिए अङ्गारों को विभक्त करता है ॥५॥

'**आ देवयजनं वह**' इस मन्त्र से पूर्वदिशा में लेगए हुए अङ्गारों में से मध्य के एक अङ्गार को उपवेष के द्वारा पुरोडाश–श्रपणस्थान में लाकर वहाँ उसे प्रतिष्ठित कर आग्नीध्र उस प्रतिष्ठित अङ्गार के ऊपर एक कपाल रखता है । अङ्गार के ऊपर कपाल क्यों रक्खा जाता है ?, इस की उपपत्ति बतलाते हैं । यज्ञ का वितान करते हुए देवता असुरों के आक्रमण से भयत्रस्त होपड़े । '**असुर-राक्षस हमारे इस हवि के नीचे से न निकल पड़ें**' देवताओं के भय का यही कारण था । अग्नि राक्षसों का नाशक है । इसलिए इसप्रकार (अङ्गार के ऊपर) कपालोपधान करते हैं । अन्य कपालों में से यही एक मध्यकाल असुरों को नष्ट करने में समर्थ है । अन्य कपाल नहीं । क्योंकि यही यजुष्कृत् (मन्त्रबल से युक्त) होता हुआ मेध्य है । इसलिए मध्यम कपाल से ही प्रथम उपधान करते हैं ॥६॥

कर्म्म का ब्राह्मण ( उपपत्ति–विज्ञान ) बतला दिया गया । अब पद्धति बतलाते हैं । वह आग्नीध्र–'**ध्रुवमसि पृथिवीं दृंह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय**' (१।१७) यह मन्त्र बोलता हुआ कपाल को अङ्गार पर रखता है । '**ध्रुवमसि पृथिवी दृंह**' यह बोलता हुआ आग्नीध्र पृथिवी के स्थिररूप के द्वारा कपाल को स्थिर बनाता है । इसी स्थिर, एवं दृढभाव से यह आग्नीध्र द्वेष करने वाले भ्रातृव्य को नष्ट करता है । यजुर्म्मन्त्रों में पुत्र प्रजा-धन-आदि अनेकप्रकार की आशीः हैं । अर्थात् भिन्न भिन्न मन्त्रों से भिन्न भिन्न फल प्राप्त किए जाते हैं । उन सब में से प्रकृत में '**ब्रह्मवनित्वा-क्षत्रिवनित्वा**' इस मन्त्र भाग से ब्रह्म, और क्षत्र की कामना की जाती है । सम्पूर्ण विश्व में ये ही दोनों वीर्य्य हैं । भाई बन्धु (जातिबन्धु) सजात हैं, समानवंशज हैं । सजातवर्ग ही मनुष्य की भूमा ( समृद्धि ) है ।'**सजातवनि**' से इसी भूमाभाव की याञ्चा की जाती है । इन सम्पूर्ण भावनाओं को रखता हुआ आग्नीध्र अन्त में '**उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय**' यह बोलता हुआ कपाल रखता है । ऐसा यह तभी बोलता है,

जब कि किसी पर अभिचार की आवश्यकता न हो। यदि सचमुच में यजमान का कोई प्रत्यक्ष में बल शत्रु है, एवं उसे नष्ट करना है, तो आग्नीध्र को चाहिए कि. **''अमुष्येति द्विषच्छब्दे- अभिचरन्''** के अनुसार उक्त वाक्य में उस शत्रु का नाम और समाविष्ट करदे। **'उपदधामि- सांस्कृतिक-पारतन्त्र्यस्य वधाय'** इत्यादिरूप से नामोल्लेख करदे, यही तात्पर्य्य है। कपालोपधानानन्तर वह आग्नीध्र वाम हस्त से कपाल का स्पर्श किए रहता है। स्पर्श किए हुए ही ॥७॥

दक्षिण हाथ से अन्य अङ्गार का आहरण करता है। अन्य अङ्गारोपधान, एवं कपाल के व्यवच्छेद से मध्य में असुर राक्षस प्रविष्ट न होजायँ, इसीलिए ऐसा किया जाता है। ब्राह्मण राक्षसों का अपहन्ता है। इसलिए आग्नीध्र वामहाथ की अङ्गुलि से कपाल का स्पर्श किए रहता है ॥८॥

अनन्तर-**'अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व'** यह मन्त्र बोलता हुआ वामहस्त की अनामिका अङ्गुलि से स्पृष्ट कपाल में अङ्गार रखता है। पुरोडाशश्रपण के पूर्व ही कपाल में असुर राक्षस प्रविष्ट न हो पड़े, इसीलिए कपाल में अङ्गार रक्खा जाता है। अग्नि राक्षसों का नाशक है। इसलिए इसी से कपाल को युक्त करते हैं ॥९॥

मध्यम कपाल के उपधानानन्तर **'धरुणमिति पश्चात्'** ( का० श्रौ० २।४।३० ) के अनुसार मध्यम कपाल के पश्चिम भाग में प्रथमोपहित कपाल से संलग्न कर-**धरुणमस्यन्तरिक्षं दृंह ब्रह्मवनित्वा०**' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र द्वितीय कपाल रखता है। अन्तरिक्ष में जो दृढ़ता है, उसीसे इस दूसरे कपाल को युक्त करते हैं। शेष पूर्व से गतार्थ है ॥१०॥

द्वितीय कपालोपधानानन्तर **'पुरस्ताद्धर्त्रमिति'** ( का० श्रौ० २।४।३१ ) के अनुसार- **'धर्त्रमसि दिवं दृंह'** यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र मध्यम कपाल के पूर्वभाग में प्रथमोपहित कपाल से संलग्न कर उसके पूर्वभाग में तृतीय कपाल का उपधान करता है। द्युलोक में जो दृढ़ता है, उसीसे इस तीसरे कपाल को युक्त करते हैं। शेष भाग पूर्व से गतार्थ है ॥११॥

तृतीय कपालोपधानानन्तर **'विश्वाभ्य इति दक्षिणतः'** ( का० श्रौ० २।४।६२ ) के अनुसार **'विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्य उपदधामि'** यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र प्रथम कपाल के दक्षिण भाग में प्रथमोपहित कपाल से संलग्न कर चतुर्थ कपाल का उपधान करता है। **पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ**--इन तीनों लोकों से अतिरिक्त चौथा लोक है, अथवा नहीं-यह संदिग्ध विषय है। उसी मुग्धभावापन्न चौथे लोक से यह अपने ( यजमान के ) शत्रुओं को निकालता है।

तीनों लोकों का अतिक्रमण करने वाला चौथा लोक अनद्धा ( अप्रकट ) है। वह है, अथवा नहीं, यह स्पष्टरूप से नहीं कहा जासकता। इधर ये विश्वा आशाएँ (सम्पूर्ण दिशाएँ-एवं आशाएँ) अनद्धा हैं। इसी सजातीय भाव को लक्ष्य में रखकर **'विश्वाभ्यास्त्वा आशाभ्यः'** यह कहा गया है। इसप्रकार **प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ--( मध्यम--पूर्व--पश्चिम--दक्षिण )** इन चारों कपालों का उपधान तो समन्त्रक होता है, एवं इतर (शेष बचे हुए) कपालों को वह आग्नीध्र तूष्णीं ही रख देता है। अथवा शेष चार आग्नेय कपालों को **'समं विभज्य द्वे दक्षिणत एवमुत्तरत 'श्वितस्थेति'** ( का० श्रौ० सू० २।४।३३ ) के अनुसार **'चितस्थोर्ध्वचितः'** यह मन्त्र बोलता हुआ दो मध्यम कपाल के उत्तर में, एवं दो मध्यम कपाल के दक्षिण में, इस क्रम से रखदे ॥१२॥

इसप्रकार आग्नेय अष्टाकपालोपधानानन्तर- **'भृगूणामित्यङ्गारैरभ्यूहति'** ( का० श्रौ० २।४।३७)के अनुसार**'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'** यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र अङ्गारों से कपालों को आच्छादित करता है। यह अतिप्रखर तेज है, जोकि भृगु-अङ्गिरा का तेज है। हमारे कपाल श्रेष्ठ प्रखर तेज से सुतप्त होजायँ, इसीलिए उक्त मन्त्र के द्वारा अङ्गारों से कपालों को आच्छादित किया जाता है ॥१३॥

## इति-कपोलापधानम्

ब्राह्मण के प्रारम्भ में हीं बतलाया गया है कि कपालोपधान, और दृषदुपलोपधान साथ साथ होता है। कपालोपधान आग्नीध्र करता है, एवं हविःपेषणार्थ दृषदुपलोपधान अध्वर्य्यु का कर्म्म है। जो ऋत्विक् ( अध्वर्य्यु ) कपालोपधान के साथ दृषदुपलोपधान करता है, वह **'शर्म्मासीति'** यह बोलता **'कृष्णाजिनमादत्ते--पूर्ववत् प्रतिकृष्णाजिनम्'** ( २।५।२ ) के अनुसार कृष्णमृग चर्म्म उठाता है। अनन्तर-**'अवधूत रक्षोऽवधूता अरातयः'** यह बोलता हुआ मृगचर्म्म को झाड़ता है। इसका वही पूर्वोक्त तात्पर्य्य है। अनन्तर-**'अदित्यास्त्वगसि प्रतित्वा दितिर्वेत्तु'** यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु इसे प्रतीचीनग्रीव बिछाता है। इस की भी वही पूर्वोक्त उपपत्ति है ॥१४॥

कृष्णमृगचर्म्मास्तरणानन्तर-**'तस्मिन् दृषदं धिषणासीति'** ( का० श्रौ० २।५।३ ) के अनुसार अध्वर्य्यु कृष्णमृगचर्म्म पर-**'धिषणासि पर्वती प्रतित्वादित्यास्त्वग् वेत्तु'** ( १।१६ ) यह मन्त्र बोलता हुआ बिछे हुए कृष्णमृगचर्म्म पर दृषत् ( सिल ) रखता है। पेषणीय तण्डुलों को अपने ऊपर धारण करने के कारण यह दृषत् **'धिषणा'** **( धारणशीला )** है। पर्वत की अवयव

भूता होने से 'पर्वती' है। मृगचर्म्मरूप अदितिपृथिवी के चर्म्म के साथ इसका सम्बन्ध प्रकट कराने के लिए इस सजातीय सम्बन्ध के द्वारा दोनों के हिंस्रकभाव को दूर करने के लिए ही 'प्रतित्त्वा०' इत्यादि कहा है। पृथिवी अन्तरिक्ष-द्यौ-तीनों में निदान के अनुसार यह दृषत् पृथिवी रूप से मृगचर्म्म पर प्रतिष्ठित समझनी चाहिए ॥१५॥

दृषदुपधानानन्तर 'पश्चाच्छम्यामपोहत्युदीची-'दिव' इति ( का० श्रौ० २।५।४ ) के अनुसार 'दिवस्कम्भनीरसि' यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु दृषत् के पश्चिम भाग में शम्या को उत्तराग्र प्रतिष्ठित करता है। तीनों लोकों में से यह शम्या अन्तरिक्ष का रूप है। मध्यस्थ अन्तरिक्ष के आधार पर ही उपक्रमोपसंहार-स्थानीय पृथिवी, एवं द्युलोक स्वस्थान में स्थित हैं। इसी आधार पर शम्या के लिए 'दिवः स्कम्भनीरसि' यह कहा है ॥१६॥

शम्या को प्रतिष्ठित करने के अनन्तर-'दृषद्युपलां धिषणासीति' (का० श्रौ० २।५।५) के अनुसार 'धिषणासि पार्वतेयी प्रतित्त्वा पर्वती वेत्तु' ( १।१६ ) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु दृषत् के ऊपर उपल ( लोढी ) को प्रतिष्ठित करता है। यह उपल दृषत् की अपेक्षा छोटी सी होती है। अतः निदान के द्वारा यह उस दृषत् की कन्या है। दृषत् पर्वती है। उसकी कन्या होने से उपल 'पार्वतेयी' है। 'अपना अपने को पहिचान लेता है' यह एक साधारण नियम है। इसी स्वाभाविक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के लिए 'प्रतित्वा पर्वती०' इत्यादि कहा है। स्व का स्व से परिचय होजाने से एक दूसरे पर हिंसावृत्ति न रक्खें, यही तात्पर्य्य है। निदान के अनुसार यह उपल द्युरूपा है। चर्म्म-दृषत्-उपल-शम्या आदि से ही यज्ञपुरुष का स्वरूप निर्म्माण किया जाता है। इनमें दृषत्-उपल यज्ञपुरुष के 'हनू' ( दृषत् पूर्वहनु, उपल पश्चिम हनु ) हैं। दोनों के मध्यस्थ शम्या 'जिह्वा' है। हनूमध्यस्था जिह्वा ही शब्द प्रयोग करने में समर्थ है। अतएव यहाँ इस वैधयज्ञ में भी ऋत्विग्गण जिह्वा-स्थानीया शम्या से ही दृषत् के आधार पर 'समाहनन' करते हैं ॥१७॥

अनन्तर-'धान्यमसीति तण्डुलानोप्य' ( का० श्रौ० २।५।६ ) के अनुसार-'धान्यमसि धिनुहि देवान्' ( १।२० ) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु ( पेषणार्थ ) दृषत् पर हवि का आवपन करता है। यह हविर्द्रव्य तृप्ति का साधक होने से 'धिनोति (प्रीणयति) आत्मगतान् देवान्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'धान्य' है। यह यज्ञिय देवताओं को तृप्त करै, इसीलिए तो यहाँ इसका ग्रहण किया जाता है। ऐसी अवस्था में इसके लिए 'धान्यमसि०' इत्यादि कहना उचित ही है ॥१८॥

हविरातपनानन्तर-'पिनष्टि प्राणाय्त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २।५।६) के अनुसार-'प्राणाय त्वा पिनष्मि', उदानाय त्वा पिनष्मि, व्यानाय त्वा पिनष्मि' ( १।२० ) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु हविःपेषण करता है। अनन्तर-'दीर्घामिति कृष्णाजिने प्रोहति' ( २।५।७ ) के अनुसार 'दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना' ( १।२० ) यह मन्त्र बोलता हुआ पिष्ट हवि को दृषत् के नीचे बिछे हुए मृगचर्म्म पर स्थापित कर देता है ॥१६॥

अध्वर्य्यु 'प्राणाय त्वा०' इत्यादि रूप से जिस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर हविःपेषण करता है, वह बतलाते हैं। अमृतभावापन्न देवताओं का हवि जीवलक्षण ही होता है। अमृतात्माओं के लिए अमृत अन्न हीं उपयुक्त होता है। इधर उलूखल-मुसल से, एवं दृषद्-उपल से ऋत्विक् यज्ञमूर्त्ति हवि को कूट पीसकर निर्ज्जीव बना देते हैं। कुटा पिसा अन्न मर्त्य है--जीव नहीं। अतः जबतक जीवस्वरूपसम्पादक प्राण--उदान (अपान), व्यान का पिष्ट हवि के साथ सम्बन्ध नहीं करा दिया जाता, तबतक यह हवि अजीव है। मर्त्य है। अतएव देवान्न-मर्यादा से रहित है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए ही 'प्राणाय त्वा०' इत्यादि बोल कर हविःपेषण किया जाता है ॥२०॥

सो जो कि अध्वर्य्यु 'प्राणाय त्वा उदानाय त्वा' बोलता है, इससे इस पिष्ट, अतएव निर्ज्जीव हवि में प्राणोदान का समावेश करता है। 'व्यानाय त्वा' से व्यान का समावेश करता है। 'दीर्घामनु०' इत्यादि से दीर्घ आयु का सन्निवेश करता है। हमारा यह हवि देवता के हाथ से गृहीत होता हुआ सुगृहीत बनें, इसलिए-'देवो वः' इत्यादि बोला जाता है। 'चक्षुषे त्वा' से चक्षुरिन्द्रिय का समावेश किया जाता है। जीवित व्यक्ति के ये ही लक्षण हैं। इन सबसे इस-प्रकार युक्त होता हुआ पिष्टहवि देवताओं के लिए 'जीव' बन जाता है। अमृतात्माओं के लिए अमृतान्न बन जाता है। इन्हीं कारणों को लक्ष्य में रखकर उक्त प्रकार से हविःपेषण करते हैं। ऋत्विक् हवि पीसते हैं। उधर कपालों को तप्त करने के लिए अन्य ऋत्विक् अङ्गारों को प्रज्वलित करते हैं ॥२१॥

जिस समय अध्वर्य्यु हविः पेषण करता है, उसी समय ब्रह्मा 'पिष्यमाणेषु निर्वपत्यन्यो महीनामित्याज्यम्' ( का श्रौ० २।५।८ ) के अनुसार सम्पूर्ण पिष्ट हवि में आज्य ( घृत ) डालते हैं। तात्पर्य्य यही है कि, सूत्रकार के मतानुसार पेषण, और आज्य-निर्वाप, दोनों कर्म्म एक साथ होने चाहिएँ। इस यज्ञ में देवताओं के लिए जितना हविर्द्रव्य अपेक्षित होता है, तत्त-

देवताओं के लिए नाम बोल बोलकर उतना ही हविर्द्रव्य लिया जाता है। उस सवय आज्य के लिए किसी देवता का नामोल्लेख नहीं होता! अतः-आज्यग्रहण-**'महीनां पयोसि'** इस अनिरुक्त मन्त्र से ही होता है। मही गोजाति का एक नाम है। उन्हीं का यह पय है। इसी मन्त्र के द्वारा यह आज्य यजुर्गृहीत होजाता है। इसी आधार पर-**'महीनां पयोऽसि'** यह कहा है ॥२२॥

**प्रथमकाण्डान्तर्गत-द्वितीयाध्याय का प्रथम ब्राह्मण उपरत।**

**प्रथमकाण्डान्तर्गत-प्रथमप्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण उपरत॥**

**१।२।१।—१।१।५।**

—*—

## अध्यात्मयज्ञरहस्य—

( भाष्य ) हविःश्रपणार्थ कपालोपधान, एवं हविःपेषणार्थ दृषदुपलोपधान, दोनों कर्म्म एक साथ क्यों किए जाते हैं?, इस प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य अध्यात्मविज्ञान का ही स्पष्टीकरण कर रहे हैं। उनका कहना है कि अध्यात्मयज्ञ में कपालस्थानीय **शिरोभाग**, एवं पिष्ट पुरोडाश स्थानीय **'मस्तिष्क ( भेजा )'** का, दोनो का निर्म्माण एक साथ होता है। अतः तत्प्रतिकृतिभूत हमारे इस वैध मनुष्य यज्ञ में भी वैसा ही करना उचित है। पूर्वप्रतिपादित यज्ञसम्बन्धी तत्तत् कर्म्मों की अध्यात्मविज्ञान के साथ तुलना करते हुए हमने ऐसा संकल्प व्यक्त किया था कि, **'पुरोडाशब्राह्मण'** में इस विषय का विषद विवेचन किया जायगा। अब वह अवसर आगया है। अतः संक्षेप से **'अध्यात्मयज्ञविज्ञान'** का स्वरूप वेदप्रेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जारहा है। आशा है-विषय की दुरुहता को लक्ष्य में रखते हुए पुनरुक्ति-भावों की उपेक्षा न की जायगी।

सनातनशास्त्र **मौलिक**, एवं **यौगिक** भेद से दो भागों में विभक्त है। मौलिकतत्त्व विज्ञानशास्त्र में 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है, एवं यौगिक तत्व **'यज्ञ'** नाम से व्यवहृत हुआ है। यज्ञ **'आधेय'** है, एवं ब्रह्म **आधार**, है। ब्रह्म के आधार पर ३३ तन्तु-युक्त यज्ञ का वितान होता है। आज की विज्ञानभाषा में समझने मात्र के लिए-यदि ब्रह्मतत्त्व को हम आधुनिक विज्ञानपरिभाषा के अनुसार **'फिजिक्स'**, एवं यज्ञतत्त्व को **'केमेस्ट्री'** कहें, तो कोई क्षति न होगी। विज्ञानवेत्ता यह भलीभाँति जानते हैं कि, दो पदार्थों का रासायनिक सँयोग ( सम्मिश्रण ) होने से दोनों पदार्थों का पूर्वस्वरूप उपमार्दित होजाता है। एवं दोनों के इस रासायनिक संयोग से एक अपूर्व नवीन पदार्थ उत्पन्न होजाता है। जिनके संयोग से यह अपूर्व पदार्थ उत्पन्न होता है, वे दोनों मौलिक हैं। इन मौलिक ब्रह्मों का सामान्य सम्बन्ध अपूर्वता का कारण नहीं बनता। ऐसा सामान्य सम्बन्ध तो **'योग'** सम्बन्ध ही कहलाता है। दूध, और पानी का सम्बन्ध ऐसा ही है। परन्तु **'अन्तर्य्याम'** नाम से प्रसिद्ध **'ग्रन्थिबन्धन'** सम्बन्ध से दोनों का स्व-स्वरूप उपमर्दित-अभिभूत होजाता है। **सोरा**, एवं **कोयला**, दोनों में जब ऐसा सम्बन्ध होजाता है, तो तीसरा अपूर्व स्वरूप उत्पन्न होजाता है। वही

'बारूद' है। इसी सम्बन्ध को 'यज्ञ' कहा जाता है। यही यज्ञ 'याग' नाम से प्रसिद्ध है। 'योग', एवं 'याग (यज्ञ)' में यही महान् अन्तर है।

सर्वथा सुसूक्ष्म आत्मतत्त्व अपने क्षरभाग के द्वारा एकमात्र इसी यज्ञसम्बन्ध के कारण विश्व, एवं विश्व में रहने वाली प्रजा के स्वरूप में परिणत होरहा है। सम्पूर्ण प्रपञ्च दो मौलिक तत्त्वों का संयोगमात्र है। दो तत्त्वो के मिलने से ही यह विश्व विनिर्म्मित है। विश्व में दो नियतियों का ही साम्राज्य है। दूसरे शब्दों में-विश्व 'द्विनियति' है। इसी 'द्विनियति' का रूपान्तर-'दुनिया' है। दुनिया दुरङ्गी है। अर्थात् सदैव यागात्मिका द्विनियति से आक्रान्ता है।

प्रश्न होता है कि, जिन दो तत्त्वों के संयोग से, दूसरे शब्दों में याग से यह विश्व उत्पन्न हुआ है, उन दोनों का क्या स्वरूप है?, एवं विज्ञानजगत् में वे किन नामों से प्रसिद्ध हैं?। इस प्रश्न का समाधान करने के लिए सुपरिचित तेज, एवं स्नेह, दो तत्त्व ही हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। तेजस्तत्त्व अङ्गिरा है, एवं स्नेहतत्त्व भृगु है। अङ्गिरा अग्नि है, एवं भृगु सोम है। अग्नितत्त्व तेजोरूप होने से विशकलन-धर्म्मा है, एवं सोमतत्त्व स्नेहरूप होने से संकोचधर्म्मा है। जब अग्नितत्त्व में सोमतत्त्व प्रविष्ट होजाता है, याज्ञिक परिभाषा के अनुसार-जब अग्नि में सोम आहुत होजाता है, तो पदार्थ का स्वरूप निष्पन्न होजाता है। अग्नि गतिधर्म्मा है, एवं सोम स्थितिधर्म्मा है। गति, और स्थिति का समुच्चय ही पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ बनता हुआ बिगड़ रहा है। विशकलित परमाणुओं का संगठन हीं तत्तत् पदार्थों की उत्पत्ति है, एवं यही उसका 'बनना' है। यह क्रिया स्नेहधर्म्मा सोम पर निर्भर है। जब स्नेहसूत्र विच्छिन्न होजाता है, तो पदार्थ के परमाणु श्लथ होते हुए विकीर्ण होजाते हैं, बिखर जाते हैं। यही उस पदार्थ की विनष्टि है। सम्भूति सोमाहुति पर निर्भर है, एवं विनाश शुद्ध अग्नि की कृपा है। जबतक सम्भूति-मूलक सोम अग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक यज्ञ है। जबतक यज्ञ है, तभीतक पदार्थ का जीवन है। जिस दिन सोमाहुति अवरुद्ध होजाती है, पदार्थस्वरूप नष्ट होजाता है। यज्ञ ही विश्व का जीवन है। यज्ञ के द्वारा ही ईश्वरप्रजा-पति ने सबका निर्म्माण किया है।

'अग्नि में सोम का आहुत होना हीं यज्ञ है' यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ। यह यज्ञ प्राण-प्राणी-भूत, भेद से तीन भागों में विभक्त है। प्राणलक्षण यज्ञ आधिदैविक यज्ञ है, प्राणीलक्षण यज्ञ आध्यात्मिक यज्ञ है, एवं भूतलक्षण यज्ञ आधिभौतिक यज्ञ है। ये तीनों हीं प्राकृतिक यज्ञ हैं। इन तीनों का प्रवर्त्तक ईश्वरप्रजापति है। उसका यह यज्ञ कभी अवरुद्ध नहीं होता। इस त्रिधा विभक्त नित्ययज्ञ के आधार पर ही ऋषियोंनें 'मनुष्ययज्ञ', किंवा 'वैधयज्ञ' का वितान किया है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। तीनों यज्ञों में से भूतयज्ञ को अभी छोड़ते हैं, एवं शेष प्राणयज्ञ, तथा प्राणीयज्ञ की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। प्राणीयज्ञ का मूलाधार प्राणयज्ञ है, अतः प्रधान होने से सर्वप्रथम उसी का संक्षिप्त स्वरूप उपक्रान्त होरहा है।

## (१)-"प्राणलक्षण आधिदैविक यज्ञ"-

जिस अग्नीषोमात्मक यज्ञ का पूर्व के सन्दर्भ में दिग्दर्शन कराया गया है, वह यज्ञ 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' इस अनुगमश्रुति के अनुसार पाँच भागों में विभक्त है। अनुगमश्रुतियाँ अनेक अर्थों का प्रतिपादन करतीं

हैं। यज्ञ की पाङ्क्तता ( पञ्चावयवता ) अनेक भावों से सम्बन्ध रखती है। अतएव **'पाङ्क्तो वै यज्ञः'** इस रूप से इसका उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ–विश्वव्यापक **'महायज्ञ'** को ( जोकि **'महायज्ञ' 'सर्वहुतयज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध है) ही लीजिए। इस महायज्ञ के—**स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी**, ये पाँच अवयव हैं। सम्वत्सरयज्ञ के—**अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, ( अयन ), सोम**, भेद से पाँच अवयव हैं। प्रकारान्तर से **पाकयज्ञ ( गृह्ययज्ञ–स्मार्त्तयज्ञ ), हविर्यज्ञ, महायज्ञ, अतियज्ञ, शिरोयज्ञ**–भेद से भी यज्ञ पाङ्क्त है। **तीन लोक, दो सन्धियाँ**, इस प्रकार से भी यज्ञमूलक अग्नि पञ्च-चितिक है।

प्राण, **अपान, उदान, समान, व्यान**, भेद से अध्यात्मयज्ञ भी पाङ्क्त है। **गुहा, आपः**, ज्योति, **रस, अमृत**, भेद से अधिभूतयज्ञ भी पाङ्क्त ही है। निदर्शनमात्र है। यज्ञ जितने भी हैं, सब पाङ्क्त हैं। इन सब में से प्रकृत में सम्वत्सरयज्ञ की पाङ्क्तता ही अत्र अभिप्रेत है। बृहतीछन्द के मध्य में ( विष्वद्वृत्त के मध्य में ) सूर्य्य स्थिररूप से तप रहा है। इसको केन्द्र मान कर भूपिण्ड अपने अक्ष पर घूमता हुआ सूर्य्य के चारों ओर नियत मार्ग पर परिभ्रमण किया करता है। जिस स्थिर वृत्त पर भूपिण्ड परिक्रमा करता है, वह वृत्त **'क्रान्तिवृत्त'** नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रान्तिवृत्त में **पार्थिव गायत्राग्नि**, एवं **सौर सावित्राग्नि** भरा हुआ है। इस स्थिर माण्डलिक प्राणाग्नि का नाम हीं **'सम्वत्सरप्रजापति'** है। अग्नि **अन्नाद** ( अन्न खाने वाला ) है। जबतक इसमें अन्न की आहुति होती रहती है, तभीतक यह अन्नाद स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। जिस अन्न की इस सम्वत्सराग्नि में आहुति होती है, वह **'सोम'** नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि **दाहक** तत्त्व है, एवं सोम **दाह्य** है। दाह्य सोम की आहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित होजाता है। सोम की आहुति से ही **अहोरात्र, पक्ष, ऋतु, अयन,वर्ष**-भेद से व्यापक अग्नितत्त्व पाँच भागों में विभक्त होजाता है। इसीलिए अग्नीषोमात्मक सम्वत्सरयज्ञ भी पाँच भागों में विभक्त होजाता है। **अहोरात्रयज्ञ ही 'अग्निहोत्रयज्ञ' है। पाक्षिकयज्ञ ही 'दर्शपूर्णमासयज्ञ' है। ऋतुयज्ञ ही 'चातुर्मास्ययज्ञ' है। अयनयज्ञ ही 'पशुबन्धयज्ञ' है। एवं सम्वत्सरयज्ञ ही 'सोमयज्ञ' है।**

इसप्रकार एक **ही** यज्ञ कालपर्वभेद से पाँच स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के **हविर्यज्ञ, सोमयज्ञ**, भेद से दो विभाग समझने चाहिएँ। प्रतिष्ठालक्षण पृथिवी-( पिण्डपृथिवी )–यज्ञ ही हविर्यज्ञ है। एवं स्तौम्यत्रिलोकी में व्याप्त **महायज्ञ**, किंवा **वितानयज्ञ** ही सम्वत्सरयज्ञ है। भूपिण्ड का जो भाग सूर्य्य की ओर रहता है, उसमें सौर दिव्य प्राण की प्रधानता रहती है। सौर अग्नि **'आहवनीय'** कहलाता है। ऐसी अवस्था में सूर्य्यानुगत पार्थिव दिव्याग्नि को हम अवश्य ही भूपिण्डरूप हविर्यज्ञ का **'आहवनीय'** मान सकते हैं। एवं सूर्य्य के प्रतिदिक् में रहने वाला पार्थिवाग्नि पृथिवी का प्रातिस्विक भाग है। यह पार्थिवाग्नि पृथिवीरूप गृह का पति बनता हुआ **गार्हपत्याग्नि है**। एवं दक्षिणभागस्थ **वायुरूप ऋताग्नि दक्षिणाग्नि**, किंवा **अपराग्नि है। तथा ओषधि-वनस्पतियाँ हविर्द्रव्य हैं**। उसी ऋताग्निरूप दक्षिणाग्नि से इस हवि का परिपाक होता है। परिपक्व हवि की उस दिव्याग्नि, किंवा आहवनीयाग्नि में आहुति होती है। यह है प्रतिष्ठालक्षण भूपिण्डस्वरूप हविर्यज्ञ का संक्षिप्त स्वरूप।

अब सम्पूर्ण भूपिण्ड को गार्हपत्य समझिए। न केवल भूपिण्ड को ही, अपितु त्रिवृत्स्तोमपर्य्यन्त गार्हपत्य की सत्ता मानए। क्योंकि भूपृष्ठ से ऊपर त्रिवृत्स्तोम पर्य्यन्त पृथिवीलोक ( स्तौम्यत्रिलोकी के पृथिवी-

लोक ) की ही सत्ता रहती है। पञ्चदशस्तोमपर्य्यन्त **नक्षत्राग्नि** के सम्बन्ध से 'धिष्ण्य' नाम से प्रसिद्ध **दक्षिणाग्नि** है। एकविंशस्तोम पर्य्यन्त दिव्य आहवनीयाग्नि है। आहवनीय की सत्ता यद्यपि सप्तदश स्तोम पर ही है। किन्तु सोमाहुति से वह अग्नि २१ स्तोम पर्य्यन्त व्याप्त होजाता है। अतः वहाँतक आहवनीय की सत्ता मानली जाती है। इसी आहवनीय में सोम की आहुति होती है। इसी आहुति से सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है।

इस अग्नीषोमात्मक यज्ञ से ही सम्पूर्ण पार्थिव-विश्व का सञ्चालन होरहा है। पार्थिव-**लोक-प्रजा-धर्म्म-वेद**, आदि सम्पूर्ण सृष्टियों का प्रवर्त्तक यही अग्नीषोमात्मक सम्वत्सरयज्ञ है। उत्पन्न होने वाली प्रजा का प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण यही सम्वत्सरयज्ञ है। अतएव ब्राह्मणग्रन्थों में इसे **'प्रजापति'** शब्द से व्यवहृत किया गया है। प्रजापतिने यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण प्रजा (पार्थिव विश्वान्तर्गत स्थावर जङ्गमरूप यच्चयावत् पदार्थ ) उत्पन्न की है। इसी यज्ञ से प्रजापति अपना **'इष्ट'** साधन कर **'आप्तकाम'** बन रहे हैं। ऐसी अवस्था में ईश्वरप्रजापति के प्रतिरूपात्मक सम्वत्सरप्रजापति के अंशभूत पुरुषप्रजापति ( मनुष्य ) के इष्ट-साधन के लिए आप्तकाम बनने के लिए यदि कोई सर्वोत्तम साधन है, तो यही यज्ञ। यज्ञ के द्वारा यह सबकुछ प्राप्त करने में समर्थ है। इसी **'प्राजापत्ययज्ञ'**-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर यज्ञेश्वर भगवान् **मधुसूदन** कहते हैं—

**सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।**
**अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोस्त्विष्टकामधुक् ॥**

—गीता

यह है अधिदैविक **'प्राणलक्षण'** प्राकृतिक यज्ञ का संक्षिप्त निदर्शन। अब प्राणीलक्ष **'अध्यात्म-यज्ञ'** की ओर ही आपका ध्यान नाकर्षित किया जारहा है।

## (२) प्राणीलक्षण-अध्यात्मयज्ञ-

शुक्र की बिन्दुमात्र से विचित्राकाराकारित मनुष्य का स्वरूप सपन्न होजाता है, यह महा आश्चर्य्य है। स्त्री के शोणित में रेतोधा पुरुष के द्वारा आहुत होने वाली यत्किञ्चित् सी शुक्रबिन्दु का परस्पर सर्वथा विभिन्न **आँख-कान-नाक-ग्रीवा-पाद-हस्त-उर-उदर-मस्तक**-आदि विविध भावों में परिणत होजाना सचमुच कम आश्चर्य्य नहीं है। इस आश्चर्य्य की निवृत्ति का उपाय है **'यज्ञस्वरूप-रहस्य'** को यथावत् समन्वित कर लेना। पुरुष के उत्पन्न होने में आश्चर्य्य। उत्पन्न होने के अनन्तर उस में **केश-दन्त**-आदि का जो विविध परिवर्त्तन होता है, वह आश्चर्य्यमय। इसप्रकार पुरुष की स्वरूपस्थिति अथ से इति पर्य्यन्त मादृश प्राकृत मनुष्यों के लिए तो सर्वात्मना आश्चर्य्यमयी ही प्रमाणित होरही है। इन सम्पूर्ण आश्चर्य्यों का मूल-कारण यज्ञ ही है। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं। विविधभावापन्न उन सब यज्ञों का अध्यात्मसंस्था के साथ सम्बन्ध होता है। प्राकृतिक **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास्य-चातुर्मास्य-अयन-सोम-गवामयन-अङ्गिर-सामयन-आदित्यानामयन-चयन**-आदि आदि सभी नित्य यज्ञों का यहाँ भोग होता है। यज्ञभेद ही सृष्टि-भेद का कारण है। उन सब यज्ञों में से प्रकृत में प्रधानरूप से ज्योतिष्टोमापरपर्य्यायक सम्वत्सरयज्ञ का ही अत्र प्रमुखरूपेण ग्रहण समझना चाहिए।

**अग्नि में सोम का आहुत होना हीं यज्ञ है**, यह पूर्व में कहा जाचुका है । अग्नि सात प्रकार का है । अतएव अग्नियज्ञ सात भागों में विभक्त होजाता है । इसी आरधा पर '**ज्योतिष्टोम**' नाम से प्रसिद्ध इस अग्नियज्ञ के लिए '**सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोमः**'–यह कहा जाता है । वे सातों संस्थाएँ यज्ञसम्प्रदाय में–**अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम, षोडशीस्तोम, अतिरात्रस्तोम, वाजपेयस्तोम, आप्तोर्य्याम–स्तोम**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं ।

अग्नि अन्नाद है । अग्नि सात प्रकार का है । अतएव उसमें आहुत होने वाला अन्न ( सोम ) भी सात भागों में विभक्त रहता है । इसी अन्नविज्ञान को लक्ष्य में रखकर '**यत्सप्तान्नानि तपसाजनयत् पिता**' ( उपनिषत् ) यह अनुगम प्रतिष्ठित है । सम्वत्सराग्नि त्रैलोक्याग्नि है । त्रिवृत्स्तोम–स्थानीय घनाग्नि पार्थिव अग्नि है । यह प्राणाग्नि–**अपान** है । आन्तरिक्ष्य तरलाग्नि वायु है । यह **व्यान** है । दिव्य एकविंशस्तोमस्थ विरलाग्नि आदित्य है । यह **प्राण** है । तीनों हीं अग्नियाँ प्राणरूप हैं । **रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–शून्य**–अधामच्छद तत्त्व ही प्राण है । अतएव प्राणलक्षण इन उपर्युक्त तीनों हीं अग्नियों में न ताप है, न उष्मा है । इन तीनों के समन्वय से नवीन तापधर्म्मा अग्नि उत्पन्न होता है । वही **पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ**, इन तीनों विश्वों के **अग्नि–वायु–आदित्य** इन तीनों **नरों** के ( नायक–अधिपतियों के ) संयोग से उत्पन्न होने के कारण '**वैश्वानर**' नाम से प्रसिद्ध है । '**आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्–'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण**' के अनुसार यह वैश्वानर त्रैलोक्य में व्याप्त है । इसी वैश्वानर में सोमाहुति होती है । इसी से पशुसृष्टि ( **पुरुष–अश्व–गो–अवि–अज** भेद से पशु पाँच प्रकार के हैं ) होती है । यही वैश्वानरयज्ञ साक्षात् सम्वत्सरयज्ञ है ।

हमारा प्रवर्त्तक यही यज्ञ है । यही सम्वत्सरयज्ञ–'**गवामयन**' नाम से प्रसिद्ध है । गवामयन नाम से प्रसिद्ध वैश्वानराग्निमय सम्वत्सरयज्ञ ही पुरुषपशु का उपादान है, इसी आधार पर–'**पुरुषो वै सम्वत्सरः**' यह कहा जाता है । सम्वत्सरयज्ञ में भूपिण्ड हविर्वेदि है । इसी पर पूर्वकथनानुसार हविर्यज्ञ निष्पन्न होता है । भूपिण्ड से ऊपर का त्रैलोक्य **महावेदि** है । इसमें सोमरूप सम्वत्सरयज्ञ निष्पन्न होता है । पुरुष का अपानाग्नि गार्हपत्याग्नि है । दक्षिण पार्श्वस्थ जाठराग्नि अपणाग्नि है । मुखाग्नि आहवनीय है । आध्यात्मिक प्राणदेवताओं को तृप्त करने के लिए इसी में **अन्नरूप** हवि की आहुति दी जाती है । सोमयज्ञ–संस्था में पुरुष का शिरोऽग्नि गार्हपत्य है । इससे प्रारम्भ कर २१ विंशस्तोम पर्य्यन्त महावेदि है । इसमें वही व्यवस्था है, जोकि प्राणलक्षण सोमयज्ञ में बतलादी गई है ।

ऊपर बतलाया गया है कि, सम्वत्सरयज्ञापरपर्य्यायक गवामयनयज्ञ का ही प्रकृत में सम्बन्ध है । यद्यपि इस विषय का विशद विवेचन उसी प्रकरण में ( शत–१२ काण्ड में ) किया जायगा । तथापि प्रकरण सङ्गति के लिए उस विषय का संक्षिप्त निदर्शन यहाँ भी करा दिया जाता है । गवामयनयज्ञ सम्वत्सरयज्ञ है । सम्वत्सरयज्ञ के अधिष्ठाता भगवान् सविता ( सविताप्राणात्मक सूर्य्य ) है । '**सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति**' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य सम्वत्सरचक्र के मध्यस्थ '**विष्वद्वृत्त**' नाम से प्रसिद्ध '**बृहतीछन्द**' पर प्रतिष्ठित है । इस बृहतीछन्द से दक्षिण की ओर का २४ अंशात्मक सम्पूर्ण दक्षिणभाग '**दक्षिणगोल**' कहलाता है । एवं विष्वद्वृत्त से उत्तर की ओर का २४ अंशात्मक सम्पूर्ण उत्तरभाग '**उत्तरगोल**' नाम से प्रसिद्ध है ।

४८ अंशात्मक उत्तर-दक्षिण-गोलात्मक इसी प्रदेश का नाम है **'सम्वत्सर'** । प्रदेश का नाम सम्वत्सर नहीं है, अपितु इस प्रदेश में रहने वाले पार्थिवाग्निमिश्रित सौर अग्नि का नाम सम्वत्सर है । पृथिवी के परिभ्रमण के कारण हीं यह अग्नि सम्वत्सर नाम से प्रसिद्ध हुआ है । पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है, यह वेदाभिमत सिद्धान्त है । परिभ्रमणशीला इस पृथिवी का परिभ्रमणमार्ग सर्वथा निश्चित है । क्रान्तिवृत्त को यह कभी नहीं छोड़ती । इसप्रकार एकमात्र क्रान्तिवृत्त को अचलभाव से पकड़े हुए पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है । अतएव परिभ्रमणशील यह पार्थिवाग्नि **'एकत्र बिन्दौ-एकीभावेन वसन् सन् पार्थिवाग्निः त्सरति-गच्छति'** इस व्युत्पत्ति से यह वर्षव्यापक, दूसरे शब्दों में क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न पार्थिवाग्निमण्डल 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हो गया है ।

अपिच सूर्य्य के चारों ओर घूमने वाली पृथिवी बिन्दु-बिन्दु से वक्रित होती हुई ही आगे चलती है । सौरप्राण के आकर्षण से सीधे मार्ग में न जाकर पृथिवी सूर्य्य की ओर मुड़ जाती है । प्रतिबिन्दु में होने वाली इस वक्रता के कारण हीं पृथिवी-परिभ्रमणमण्डल गोलाकार होजाता है । आप जितनें भी वर्तुलवृत्त देखते हैं, सबमें यही उपर्युक्त व्यवस्था है । गोल वस्तु की प्रतिबिन्दु वक्रित रहती है । वक्रभाव से ही **'वर्त्तुलता'** उत्पन्न होती है । पार्थिवाग्नि का स्वरूप भी ऐसा ही है, अतएव **'सर्वतः त्सरति'** इस व्युत्पत्ति से भी इस पार्थिवाग्निमण्डल को **'सर्वत्सर'** कहा जाता है । **'सर्वत्सर'** ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में **'सम्वत्सर'** नाम से प्रसिद्ध होगया है । सम्वत्सर शब्द के इसी निर्वचन का स्वरूप बतलाती हुई वाजिश्रुति कहती है—

**"स ऐक्षत प्रजापतिः-सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति । स सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्सम्वत्सर इति"—**

—शतपथ ११ कां० १ प्र० ६ ब्रा० ११ कं०

इस सम्वत्सराग्नि का भोग वर्ष भर में होता है । अतएव आगे चलकर वार्षिक अग्नि का वाचक शब्द काल में भी नियुक्त होगया है । आज दिन सम्वत्सर काल का वाचक माना जाता है । परन्तु विश्वास रखिए, सम्वत्सर को काल समझना गौणभाव है । वस्तुतः बर्षमण्डल में व्याप्त चर-अचर-सृष्टि का प्रभव, सोमगर्भित अग्नितत्त्व ही सम्वत्सर है । यही व्यवस्था **अहः, पक्ष, अयन,** आदि के सम्बन्ध में समझनी चाहिए ।

पूर्वोक्त सम्वत्सरयज्ञ में सौरमण्डल के तीन मनोताओं का भोग होता है । जिस तत्त्व के आधार पर जो वस्तु प्रतिष्ठास्वरूप अपने हृदयस्थ मनोभाव को स्वस्वरूप में सुरक्षित रखने में समर्थ होती है, दूसरे शब्दों में-जीवनसत्ता का कारणभूत हृदयस्थ मन जिस तत्त्व में ओतप्रोत रहता है, वही तत्त्व विज्ञानभाषा में **'मनोता'** नाम से प्रसिद्ध है । उदाहरणार्थ-अग्नि को ही लीजिए । अग्नि के आधार पर ही **वसु-रुद्र-आदित्य-इन्द्र-प्रजापति, अश्विनी,** आदि देवता प्रतिष्ठित हैं । एक ही अग्नि के विवर्त्त सम्पूर्ण (३३) देवता हैं । इसीलिए **'अग्निः सर्वा देवताः'** ( शत० ) इत्यादि रूप से अग्नि को **'सर्वा देवताः'** माना जाता है । किसी भी देवता के लिए आहुति दी जाय, सबकी आधारभूमि अग्नि ही है । यह तत्त्व सब देवताओं का मुख है । सम्पूर्ण देवता **अग्निमुख** हैं । यही सबमें अग्रणी होने से **'अग्रि'** कहलाता है । परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा में यही **'अग्रि' 'अग्नि'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है । यह अग्नितत्त्व सब देवताओं का अधिष्ठाता है, दूसरे शब्दों में इसी में सम्पूर्ण देवताओं के मन ओतप्रोत हैं, अतः **'अग्नौ सर्वेषां देवानां मनांसि-**

ओतानि' इस व्युत्पत्ति के अनुसार हम अग्नि को देवताओं का '**मनोता**' कह सकते हैं। (देखिए शत० ६ कां०)। यही व्यवस्था ज्योति, **गौः, आयु** के सम्बन्ध में समझिए। विश्व के प्रत्येक पदार्थ में हम **ज्योति, भूत, आत्मा**, इन तीनों भावों को प्राप्त करते हैं।

साथ ही में इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि, कहीं **रूपज्योति** मिलेगी, कहीं **परज्योति**, तो कहीं **स्वज्योति**। उदाहरणार्थ पहिले सूर्य्य को ही लीजिए। सूर्य्य का गोला सावित्राग्निमय है। यह सूर्य्यपिण्ड भूतभाग है। सूर्य्य के केन्द्र में रहने वाला तत्त्व आत्मा है। इसी आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर '**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्**' ऐ० उ० ) इत्यादि कहा जाता है। साथ ही में सूर्य्य **स्वज्योतिर्म्मय** है, यह तो स्पष्ट ही है। सूर्य्य स्वतःप्रकाशी है। इसका प्रकाश अपना प्रकाश है। चन्द्रमादि की भाँति यह अन्य किसी के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होरहा। अब चलिए चन्द्रमा की ओर। चन्द्रमा **पानीयपिण्ड ( जलका गोला )** है। यह पिण्ड **भूत** भाग है। हृदयस्थ भाग **आत्मा** है। चन्द्रिका ज्योति है। यह चन्द्रिका सूर्य्यज्योति से सम्बन्ध रखती है। चन्द्रमा का प्रकाश अपना प्रकाश नहीं है। अपितु सौर प्रकाश से ही यह चन्द्रमा प्रकाशित होरहा है। इसी रहस्य का निरूपण करती हुई ऋक्श्रुति कहती है—

**अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे ।।**

—ऋक्संहिता

वैज्ञानिक महर्षि रूपज्योति के अधिष्ठाता **त्वष्टा** नाम से प्रसिद्ध आदित्य के परम मनोहर गोतत्त्व का ( रश्मियों का ) इसप्रकार ( जैसा देखा जाता है ) चन्द्रमा के घर में नमन मानते हैं। इसीलिए इस चान्द्र-ज्योति को हम '**परज्योति**' मान सकते हैं। भूपिण्ड **भूत**भाग है। केन्द्रस्थ प्राणाग्नि इस भूतपिण्ड का **आत्मा** है। एवं रूपज्योति ही अत्र प्रधान है। पृथिवी का स्वरूपमात्र ही हमारे लिए दृश्य बनता है। पृथिवी अपने स्वरूपमात्र को दिखलाने में समर्थ है। चन्द्रमा, एवं सूर्य्यवत् इसमें अन्य पदार्थों को अपने प्रकाश से दिखलाने का सामर्थ्य नहीं है। पार्थिव पदार्थमात्र में इसी रूपज्योति की प्रधानता है।

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, **रूपज्योतिर्म्मय जितने पदार्थ हैं, सब 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत होते हैं। परज्योतिर्म्मय यच्चयावत् पदार्थ चन्द्रमा हैं, एवं स्वज्योतिर्म्मय सम्पूर्ण पदार्थ सूर्य्य हैं। स्वातीनक्षत्र** स्वज्योतिर्म्मय होने से ही '**सविता**' नाम से व्यवहृत होता है। इस निदर्शन से प्रकृत में हमें बतलाना यही है कि, त्रैलोक्य के पदार्थमात्र में प्रत्येक में **ज्योति, आत्मा, भूत**, इन तीनों भावों का साम्राज्य है। त्रैलोक्य का प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण, सूर्य्य है। उस सूर्य्य के उक्त **ज्योति, गौ, आयु**, ये तीन मनोता हैं। सूर्य्य का सूर्य्यत्व इन्हीं तीनों मनोताओं के आधार पर प्रतिष्ठित है।

ये ही तीनों मनोता क्रमशः **ज्योति, भूत, आत्मा**, के आधार हैं। ज्योतिर्भाग से देवतापरपर्य्यायक प्रत्येक पदार्थ का ज्योतिर्भाग निष्पन्न होता है। गौ भाग से भूत का निर्म्माण होता है, एवं आयुभाग से आत्म-स्वरूप सम्पन्न होता है। ज्योति से '**ज्योतिष्टोम**' यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। गौ से '**गोष्टोम**', एवं आयु से **आयुष्टोम** की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। तीनों हीं सम्वत्सरयज्ञ हैं। सम्वत्सर में तीनों की सत्ता है।

प्रकृत में हमें भूतप्रधान शरीर की रचना–वैचित्र्य का दिग्दर्शन कराना है, एवं इसका सम्बन्ध गोष्टोमापर–पर्य्याक गवामयन के साथ है। अतः 'गवामयन' नाम के सम्वत्सर की ओर ही पूर्वमें आपका ध्यान आकर्षित किया गया है। गवामयनयज्ञ में होने वालीं आहुतियों के तारतम्य से ही शरीर में वैचित्र्य होगया है। विष्वद्वृत्त के केन्द्र में सूर्य्य है। इसके चारों ओर २४–२४–अशं के अन्तर पर पृथिवी घूमती है। यह है आधिदैविक गवामयन-सम्वत्सर का स्वरूप परिचय। **पृथिवी गो है**। इसका **अयन ( गमन ) हीं गवामयन है**।

ब्राह्मणग्रन्थों में एक प्रश्न किया है कि, जबकि **अनस्थिमत्** ( घन–भाव–शून्य ) तरल आज्य की आहुति होती है, तो उससे अस्थियुक्त प्रजा कैसे उत्पन्न होजाती है ?। इस प्रश्न का समाधान करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है कि, वास्तव में आज्यभाग तरल होने से अनिस्थमत् ही है। परन्तु उस में **हिरण्यशकल ( सोने का टुकड़ा )** डाल कर क्योंकि तद्युक्त आज्य की आहुति दी जाती है, अतएव प्रजा **अस्थिमती** होती है। इस प्रश्नोत्तर का वैधयज्ञ के द्वारा **प्रकृतियज्ञ** से सम्बन्ध है। प्रकृति के नित्य यज्ञ की प्रतिकृति ( नकल ) मनुष्यकृत वैधयज्ञ है। इससे आहुति के द्वारा नवीन दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है, जैसा कि **प्रथमखण्ड** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अहवनीयाग्नि में आज्य की आहुति दी जाती है। आज्य तरल पदार्थ है। उत्पन्न होने वाली प्रजामें **'अस्थि'** भी अपेक्षित है। एतदर्थ आज्य में हिरण्यशकल डाला जाता है। उधर मानुषी सृष्टि में **'शुक्र'** तरल पदार्थ है। यह ओषधि ( अन्न ) के रस से निष्पन्न हुआ है। भुक्त ओषधि ही रसासृङ्मांसादि स्वरूपों में परिणत होती हुई शुक्र स्वरूप धारण करती है। औषधियाँ पार्थिवीं हैं। अतएव तद्रसभूत शुक्र को हम पार्थिव कह सकते हैं। इस शुक्र में सौर आग्नेय तेज प्रविष्ट रहता है। सौर तेज हिरण्मय है। यह घन है। शुक्ररूप आज्याहुति में यह हिरण्यशकलरूप सौर आग्नेय तेज प्रविष्ट होजाता है। इसी से अस्थिभाव उत्पन्न होता है। शुक्र की प्रतिकृति वैधयज्ञ में आज्य है। सौर तेज की प्रतिकृति वैधयज्ञ में हिरण्यशकल है। क्योंकि सौर अग्नि हीं विशेष प्रकार की मिट्टी में अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर 'सुवर्ण' कहलाने लगता है। सुवर्ण साक्षात् सौर तेज है। सौर तेज पवित्र है। अतएव इतर धातुओं की अपेक्षा सुवर्ण को अधिक पवित्र माना जाता है।

शुक्र की आहुति हुई। अब क्रमशः वही सम्वत्सरयज्ञ इसमें प्रविष्ट होने लगता है। **विष्वद्वृत्त मेरुदण्ड बनता है**। पुरुष में आधे दृश्य विषुव का ही रस आने पाता है, अतएव इसका मेरुदण्ड आधा ही बनता है। इस कमी की पूर्त्ति पत्नी से होती है। **ईश्वर पूर्णेन्द्र है। आधी मात्रा के कारण जीव अर्द्धेन्द्र है**। पृथिवी विषुव की दोनों ओर की परमक्रान्तियों पर पहुँच कर मुड़ जाती है। विषुवरूप मेरुदण्ड से संलग्न पर्शु ( फँसलियाँ ) सीधी न जाकर दोनों ओर से मुड जातीं हैं। त्रिषुव, और क्रान्ति का अन्तर २४ अशंका है। अतः पर्शु २४ ही बनते हैं। विषुवरूप मेरु का केन्द्र हृदय है। **यही मन है**। इसी मन पर विज्ञानसूर्य्य प्रतिष्ठित है।

यह तो हुआ स्थूल निर्म्माण। अब संक्षेप से सूक्ष्म निर्म्माण पर भी ध्यान दीजिए। गवामयनयज्ञ ३६० दिन में समाप्त होता है। पूरे सम्वत्सर में गवामयन की स्वरूप–निष्पत्ति होती है। इस गवामयन में प्रतिष्ठित अहर्भाग **प्रायणीय, आरम्भणीय, अभिप्लव, पृष्ठ्य, महाव्रत, उदयनीय,** आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

प्रत्येक अभिप्लव में **ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, ज्योतिष्टोम,** इसप्रकार ६-६ स्तोम होते हैं । एवं प्रत्येक पृष्ठयाहमें **त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश,** इस प्रकार ६-६ स्तोम समन्वित हैं । वर्ष के आरम्भ में **प्रायणीय अतिरात्र** होता है । अनन्तर पाँच मास पर्य्यंत १५० **अभिप्लव** और **पृष्ठ्य** होते हैं । अनन्तर २४ दिन पर्य्यन्त तीन **अभिप्लव,** और एक **पृष्ठ्य** होते हैं । शेष चार दिन में एक दिन **अभिजिदहः** एवं तीन दिन **स्वरसाम** किए जाते हैं । ६ मास समाप्त होजाते हैं । परमक्रान्ति से चला हुआ यजमान ६ मास समाप्त कर विष्वत् पर पहुँच जाता है । यहाँ से **पृष्ठ्याभिप्लव का** क्रम परिवर्त्तित होजाता है । पहिले के तीन दिन तीन **स्वरसाम** होते हैं । चौथे दिन **विश्वजित्** होता है । अनन्तर २४ दिन में एक पृष्ठ्य, ३ अभिप्लव होते हैं । अनन्तर १२० दिन पर्य्यन्त **चार पृष्ठ्य, १६ अभिप्वल** होते हैं । अनन्तर १८ दिन पर्य्यन्त **एक पृष्ठ्य, दो अभिप्लव** होते हैं । अनन्तर एक दिन **गोष्टोम,** एक दिन **आयुष्टोम** होता है । अनन्तर १० दिन पर्य्यन्त **दशरात्र पृष्ठ्य षडह्** ( ६ दिन पर्य्यन्त ) **छन्दोमा त्र्यह्** (३ दिन पर्य्यन्त) **महाव्रतमहः** (एक दिन का) होता है, अन्तिम दिन **उदयनीयातिरात्र** होता है, वर्ष समाप्त होजाता है । आगे की तालिका से वर्षगणना स्पष्ट होजाती है—

# गवामयनसत्त्रे सम्वत्सरस्य अहानि (३६०)

| | | |
|---|---|---|
| १ प्रायणीयः | विषुवतः | १ उदयनीयः |
| ३ आरम्भणीयः | | १० दशरात्र |
| ३० { अभिप्लवाः—४—२४ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } | | २८ { अभिप्लवौ—२—१२ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } |
| ३० { अभिप्लवाः—४—२४ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } | | ३० { अभिप्लवाः—४—२४ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } |
| ३० { अभिप्लवाः—४—२४ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } | | ३० { अभिप्लवाः—४—२४ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } |
| ३० { अभिप्लवाः—४—२४ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } | | ३० { अभिप्लवाः—४—२४ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } |
| ३० { अभिप्लवाः—४—२४ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } | | ३० { अभिप्लवाः—४—२४ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } |
| ३० { अभिप्लवाः—३—१८ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } | | २४ { अभिप्लवाः—३—१८ दिन, पृष्ठ्यः—१—६ दिन } |
| १ अभिजित् | | १ विश्वजित् |
| ३ त्रयः स्वरसामानः | | ३ त्रयः स्वरसामानः |
| १८० अहानि | विषुवान् १ | १७९ अहानि |

तथाविध पूर्वोक्त गवामयनयज्ञ ही हमारे शरीर का निर्म्माता है। विष्वद्वृत्त ही इस गवामयन सम्वत्सर की प्रतिष्ठा है। **जीवात्मा क्षुद्र सुपर्ण है,** एवं **सम्वत्सर महासुपर्ण है**। सम्वत्सर का उत्तर भाग (उत्तर-

गोल ) इस सम्वत्सरसुपर्ण का उत्तरपक्ष है। दक्षिण भाग ( दक्षिण गोल ) दक्षिणपक्ष है। मध्यस्थ विषुवान् आत्मा ( धड़) है। इसी महासुपर्ण का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

**"अथ ह वा एष महासुपर्ण एव यत् सम्वत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद् विषुवतः-षण्मासानुपयन्ति-सोऽन्यतरः पक्षः। अथ यान् षडुपरिष्टात्-सोऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्"।**

शत-१२।२।३।७।

श्रुति ने विष्वद्वृत को **'आत्मा'** बतलाया है। सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त रहने वाला तत्त्व ही 'आत्मा' कहलाता है। इधर विष्वद्वृत्त केवल सम्वत्सरयज्ञात्मक खगोल के मध्य भाग में हीं प्रतिष्ठित है। सम्पूर्ण सम्वत्सरचक्र में विष्वद् की जब व्याप्ति ही नही है, तो ऐसी अवस्था में विष्वत् को सम्वत्सररूप सुपर्ण का आत्मा कैसे बतलाया गया ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें **छन्दोविज्ञान** का ही आश्रय लेना पड़ेगा। पूर्व में छन्दःस्वरूप का विशद निरूपण करते समय हमने कहा है कि, शब्द, एवं **अर्थ**, दोनों में छन्दोव्यवस्था समान है। नियत अक्षर, एवं नियत अर्थ सम्मिलित होकर ही छन्द का स्वरूप बना डालते हैं। उपर्युक्त विष्वद्वृत्त **'बृहतीछन्द'** है, ९ अक्षर की समष्टि बृहतीछन्द है। ९ की संख्या आने से **'बृहती'** का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। इसी का नाम **छन्दःसम्पत्ति** है।

विष्वद् नाम से प्रसिद्ध बृहतीछन्द के दक्षिण भाग में क्रमशः–**गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्**, इन तीन छन्दों की सत्ता है। एवं पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, ये तीन छन्द उत्तर भाग में प्रतिष्ठित हैं। गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–ये तीनों क्रमशः ६,७,८, अक्षर के छन्द हैं। **पङ्क्ति**, त्रिष्टुप्, जगती, तीनों क्रमशः १०–११–१२–अक्षरों के छन्द हैं। मध्यस्थ **'बृहती'** नवाक्षर छन्द है। कहने को उसके दोनों ओर के मिलकर ६ छन्द हैं। वस्तुतः जो गायत्री है, वही जगती है। जो उष्णिक् है, वही त्रिष्टुप् है। एवं जो अनुष्टुप् है, वही पङ्क्ति है। तात्पर्य्य इस समानता का यही है कि, विष्वद् से दक्षिणोत्तर १२–८–४–इन अंशों के क्रम से ६ ओं छन्द समान हैं। चतुष्पदा गायत्री षड़क्षरा है। उसकी समकक्षा वाला जगतीछन्द द्वादशाक्षर है। दोनों मिलकर १८ अक्षर हैं। अठारह अक्षर के ९–९ अक्षर के अनुपात से दो बृहती छन्द होजाते हैं। उष्णिक् के सम्मुख, समकक्षास्थ त्रिष्टुप् के ११–दोनों के सम्मिलित १८ हैं। यहाँ भी दो बृहती–छन्दों का भोग है। अनुष्टुप् के आठ, तत् समकक्षास्थ पङ्क्ति के १०, दोनों के सम्मिलित १८ हैं। यहाँ भी दो बृहतीछन्द हैं। मध्य का बृहती तो बृहतीछन्द है ही। तदित्थं सभी छन्दों का बृहतीछन्द में अन्तर्भाव है, जैसाकि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

| | | |
|---|---|---|
| द्वादशाक्षरा | जगती – १२ | |
| एकादशाक्षरा | त्रिष्टुप् – ११ | |
| दशाक्षरा | पङ्क्ति – १० | |
| नवाक्षरा | बृहती – | ६–१०+८+१८। ११+७+१८। १२+६+। १८ |
| अष्टाक्षरा | अनुष्टुप् – ८ | |
| सप्ताक्षरा | उष्णिक् – ७ | |
| षडक्षरा | गायत्री – ६ | |

सम्पूर्ण सम्वत्सर में नवाक्षर बृहतीछन्द का ही साम्राज्य है। गणितशास्त्र में ९ संख्या को ही सर्व--संख्या मानने का भी यही रहस्य है। सचमुच **नवसंख्या ( नौ )** में सब संख्याओं का समावेश होजाता है। प्रतिष्ठा--स्वरूप इसी बृहतीविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

**"स वा एष सम्वत्सरो बृहतीमभिसम्पन्नः"।**

—शतपथे

**बृहतीछन्द सम्पूर्ण छन्दों का स्वराट् है। बृहती वर्द्धनशील है। बृहती प्रतिष्ठा है। बृहती के इहीं स्वरूपों को लक्ष्य में रख कर निम्न लिखित श्रुतिवचन हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—**

**१—"बृहती–बृंहतेर्वृद्धिकर्म्मणः" ( दे० ३।११। )।**

**२—"बृहती मर्य्या ययेमान् लोकान् व्यापामेति तद्बृहत्या बृहत्त्वम्" (तां० ब्रा० ७।४।३)।**

**३—"बृहती वाव छन्दसां स्वराट्", ( तां० ब्रा० १०।३।८। )।**

**४—"बृहती हि सम्वत्सरः" ( शत० ६।४।२।१०।)।**

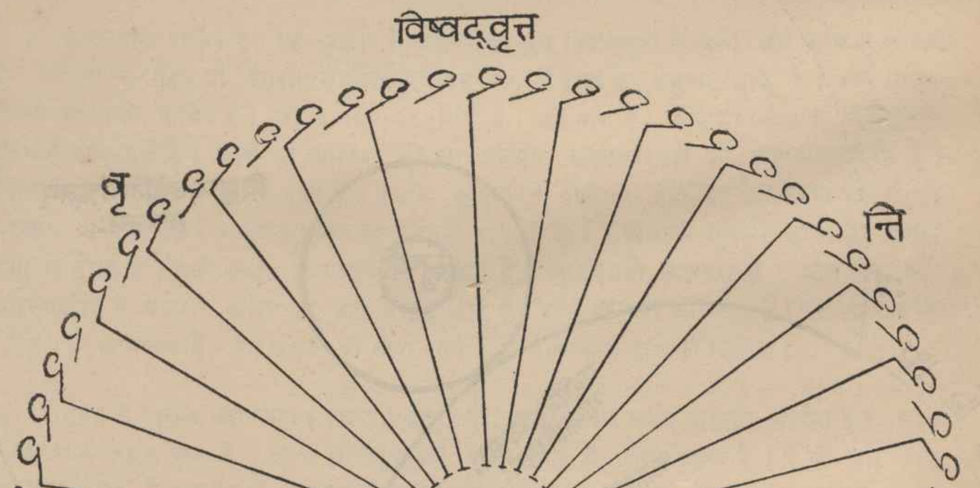
**५—"बृहत्यां भूयिष्ठानि सामानि भवन्ति" ( तां० ७।३।१६। )।**

यह है खगोल के, दूसरे शब्दों में आधिदैविक यज्ञपुरुष के मेरुदण्ड--स्वरूप बृहतीछन्द का संक्षिप्त निदर्शन। यही बृहतीछन्द आध्यात्मिक विश्व का ( जीवशरीर का ) मेरुदण्ड बनता है, जैसाकि पूर्व में बत--लाया जाचुका है। विष्वद्वृत्त के केन्द्र में हमने सूर्य्य की सत्ता बतलाई है। इस सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती हुई पृथिवी वर्ष में दो बार विष्वद् पर आती है। **'क्रान्ति'** शब्द का अर्थ है **'दूरी'**। पृथिवी, और विष्वत् की दूरी का **'पतन'** जिस बिन्दु पर होता है, वही **'क्रान्तिसम्पात'** नाम से प्रसिद्ध है। **वासन्त, शारद,** भेद से दो सम्पातबिन्दु हैं। २२ मार्च को वासन्तसम्पात होता है, २१ सितम्बर को शारदसम्पात होता है। **'समरात्रिं दिवे काले विषुवद् विषुवं च तत्'** ( अमरकोश ) के अनुसार दोनों सम्पातकालों में पृथिवी विष्वद् पर रहती है। उत्तरगोल से दक्षिणगोल में प्रविष्ट होती हुई पृथिवी जब विष्वद् पर आती है, तब वासन्त--सम्पात होता है। एवं दक्षिणगोल से उत्तरगोल में प्रविष्ट होती हुई पृथिवी जब विष्वत् पर आती है, तब शारद सम्पात होता है। इस सम्वत्सर में--**सूर्य्य–पृथिवी–अन्तरिक्ष**--इन तीन लोकों की सत्ता है। **पार्थिवाग्नि, आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्यादित्य,** तीनों का भोग एक ही सम्वत्सर में है। इसीसे

हमारा निर्म्माण होता है । पार्थिवाग्नि भूतप्रधान है । इससे अन्न के द्वारा पाञ्चभौतिक, अतएव वाङ्मय शरीर का निर्म्माण होता है । आन्तरिक्ष्य वायु से प्राणतत्त्व का सम्बन्ध है, एवं आदित्य से ज्ञानघन मन का सम्बन्ध है । इसप्रकार वाङ्मयी पृथिवी, प्राणमय अन्तरिक्ष, एवं मनोमय आदित्य से मनःप्राणवाङ्मयी अध्यात्मसंस्था का निर्म्माण होता है । आगे के दोनों रेखाचित्रों से विषवद्वृत्तानुगत सौर–पार्थिव–चान्द्र, तीनों सम्वत्सरों का स्वरूप--समन्वय गतार्थ हैं ।

(१)–सर्वत्सरात्मकः सम्वत्सरमण्डलपरिलेखः—

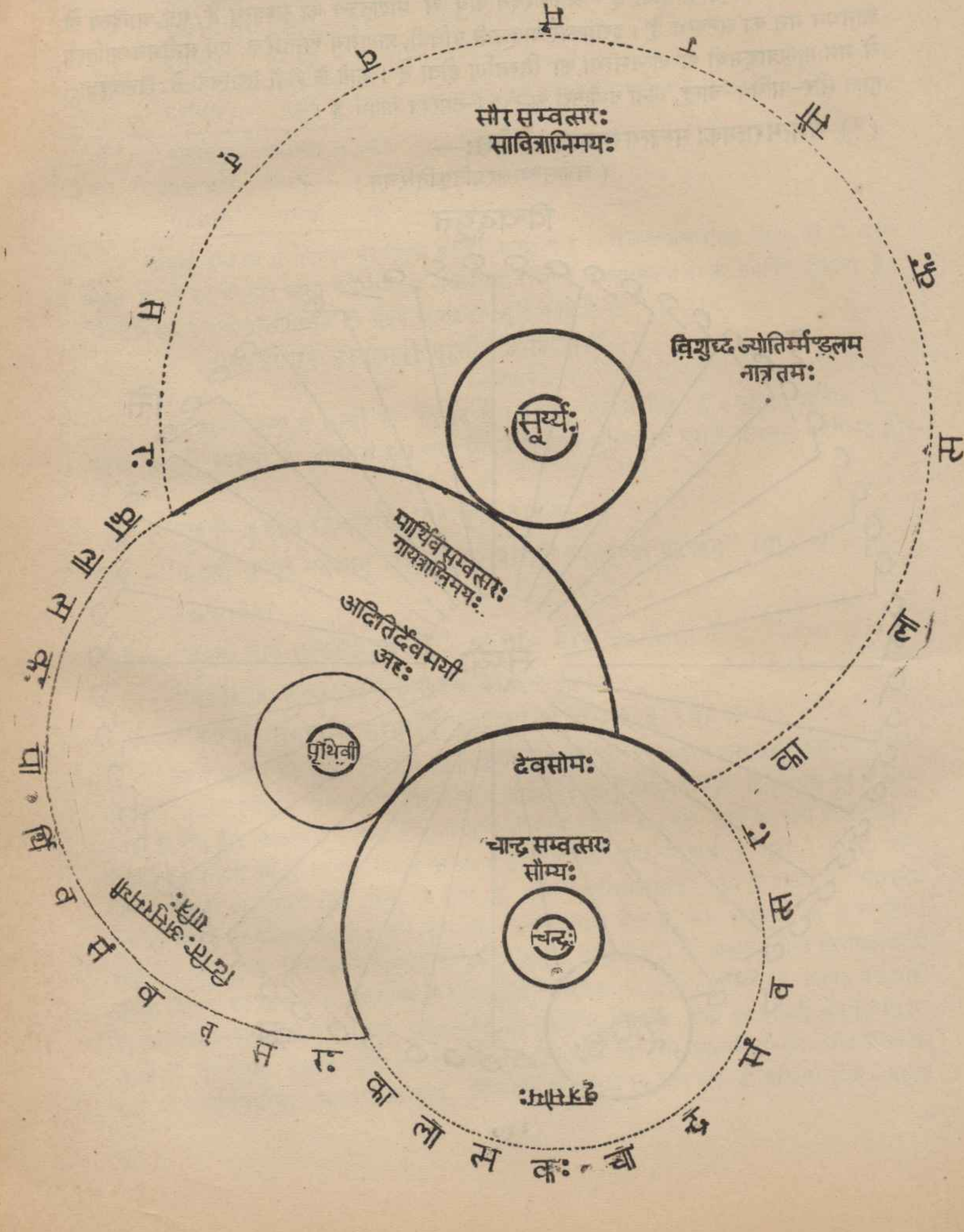
( चक्रसम्वत्सरप्रतिकृतिरियम् )



(२)–अग्न्यात्मक–कालात्मक–सम्वत्सरचक्र–त्रयी–स्वरूपपरिलेखः—

(क –सत्तासिद्धः–सम्वत्सरः–अग्न्यात्मकः

(ख)–भातिसिद्धः–सम्वत्सरः–कालात्मकः



उपर्युक्त त्रैलोक्य में लोक–लोकी, दो भेद हैं। लोक भूत है, लोकी भूतप्रतिष्ठ देवता है। पृथिवी भूत है, अपानाग्नि देवता है। अन्तरिक्षरूप वायु भूत है। तत्रस्थ व्यानाग्नि देवता है। आदित्य भूत है। प्राणाग्नि देवता है। मूलद्वार में अपानाग्नि प्रतिष्ठित है। हृदय में व्यानाग्नि की सत्ता है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणाग्नि का साम्राज्य है। यही प्राणाग्नि सूत्प्राण–महाजन–आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। यह इन्द्रप्राण है। 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्' [ या० निरुक्त ] के अनुसार यही बलरूप सूत्प्राण का अध्यक्ष है। सूत्प्राण जिस में प्रबल रहता है, वही कुछ पुरुषार्थ कर सकता है।

अपानप्राण पार्थिव है। यह मूलद्वार से चलकर हृदयस्थ विज्ञानसूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। पार्थिवाग्नि--'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' इस सिद्धान्त के अनुसार 'वाक्' है। इधर मूला--धारस्थ अपानाग्नि पार्थिव है। यही अध्यात्म की पृथिवी है। यही वाक् है। प्राणोदान--व्यापार की मूलभूता गति यही वाक्--गति है। वाक् का आरम्भ ही आध्यात्मिक सम्वत्सरयज्ञ की आरम्भणीयेष्टि है। भौतिक प्रपञ्च का आरम्भ यहीं से होता है। जबतक मूलाधारस्थ वाक्तत्त्व प्रतिष्ठित है, तभीतक सम्पूर्ण भूत स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। सौर सूत्प्राण का 'अयन' प्रायणीयेष्टि है। आरम्भ भूत से होता है, प्रयाण प्राण से होता है। दूसरे शब्दों में--प्राणगति प्रायण है, अपानगति आरम्भ है। प्रायणीय, और आरम्भणीय के अनन्तर अभिप्लव, और पृष्ठ्य होते हैं। रुधिर की गति अभिप्लव है। रक्त का सञ्चरण [ दौड़ ] ही अभिप्लव है। उस सञ्चरण की सीमा पृष्ठ्य है। उदाहरणार्थ हाथ को लीजिए।

हृदय से प्रारम्भ कर अंश ( स्कन्ध ) बाहु,, दो, हस्त ये चार खण्ड अङ्गुलि–पर्य्यन्त हैं। हृदय से स्कन्धपर्य्यन्त एक युग्म है। स्कन्ध से बाहुपर्य्यन्त दूसरा युगम है। चौथा पाणि है। ये ही चार खण्ड चार 'अभिप्लव' हैं। प्रत्येक में प्रातःसवन, माध्यंन्दनसवन, सायं–सवन, ये तीन तीन सवन हैं। पूर्व–खण्ड का सायंसवन उत्तरखण्ड का प्रातःसवन है। इस पारम्परिक सवनग्रन्थिबन्धन से चारों खण्ड पृथक् पृथक् होते हुए भी परस्पर बद्ध हैं। सब को मिला कर एक पृष्ठ्य है। आगे जाकर–गायत्री, त्रिष्टुप, जगती, विराट्, पङ्क्ति, इन छन्दो से पाँच अंगुलियाँ बनतीं हैं। कनिष्ठिका गायत्री से सम्बन्ध रखती है। गायत्रीछन्द सब में छोटा है। अतएव तत्सम्बन्धिनी कनिष्ठिका सब अंगुलियों में छोटी है। अनामिका का निर्म्माण त्रिष्टुप् से हुआ है। त्रिष्टुपछन्द इन्द्रदेवता का है। इन्द्र आत्मा है। अमृतप्रधान है। अतएव दिव्यकार्य्य इसी अङ्गुलि से किए जाते हैं। 'अनया वै भेषजं क्रियते' ( शतपथ ब्राह्मण ) इस श्रौत आदेश के अनुसार बच्चे को इसी अनामिका से औषधि देनी चाहिए। मध्यमा की जननी विराट् है। तर्जनी जगती से सम्बन्ध रखती है। इस में असुर प्राण है। अतएव जप, आदि दिव्य–कार्य्यों में इस का बहिष्कार है। अंगुष्ठ की जननी पङ्क्ति है। इसप्रकार अभिप्लव–पृष्ठ्य–भेद से शरीर रचना में वैचित्र्य होजाता है। यद्यपि इस विषय में ज्ञातव्य बहुत कुछ है। परन्तु विस्तार अधिक होजाने से यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र ही करा दिया गया है।

शिरोभाग में ४ कपाल प्रत्यक्ष हैं। दो पूर्व कपाल हैं, दो पश्चिम कपाल हैं। प्रत्येक में पुनः दो दो खण्ड हैं। कपाल में चणक भरकर पानी डाल दीजिए। १२ घन्टे में आठों कपाल पृथक् पृथक् होजा–

यँगे । इन आठों कपालों में मस्तिष्क ( भेजा ) सुरक्षित रहता है । यही आध्यात्मिक पुरोडाश है । ऐसा है यह शिरःकपाल, मानो एक वैसा चमस (कटोरा) हो, जिस का बुघ्न (पैंदा) तो ऊपर है, एवं बिलभाग नीचे है । इसी में सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्राणदेवताओं का यशोरूप मस्तिष्क [भेजा] भरा हुआ है, जिस इस चमस [शिर] के तीर पर दो श्रोत्रप्राण, दो चक्षुःप्राण, दो नासाप्राण, एक वाङ्मय आग्नेय प्राण, प्राणात्मक ये सात आध्यात्मिक ऋषि विराजमान हैं । देखिए !

**अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।**
**तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥**

सम्पूर्ण देवता इसी की आहुति से जीवित हैं । आधिदैविक सम्वत्सरयज्ञ से निर्म्मित पुरुषयज्ञ के गुप्त रहस्यों को ऋषियोंनें समझा । तदनुसार वैधयज्ञ का विधान किया । वहाँ आठ कपाल थे , यहाँ भी आठ मृण्मय कपाल बनाए गए । मस्तिष्क के स्थान में पुरोडाश का विधान किया गया । वैधयज्ञ में आठ ही कपाल क्यों बनाए जाते हैं ?, उन में पुरोडाश साथ साथ ही क्यों रक्खा जाता है ?, इत्यादि प्रश्नों की यही संक्षिप्त उपपत्ति है । इसी कपालविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**"शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत् पुरोडाशः । स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालानि-तान्येवास्य (वैधयज्ञस्य) कपालानि । मस्तिष्क एव पिष्टानि । तद्वा एतदेकमङ्गम् । एकं सह-करवाव, समानं करवावेति । तस्माद्वा एतदुभयं सह क्रियते" ॥१,२॥**

अन्न का परिपाक करने वाला अग्नि **आमात्** है, शव को भस्मसात् करने वाला अग्नि **क्रव्यात्** है, एवं देवताओं के हवि का वहन करने वाला अग्नि **हव्यवाट्** है । अग्नि एक ही है, वही स्थानभेद से तीन गुणों से युक्त होजाता है । इस भेद का मूलकारण छन्दोभेद ही है । साधारण लौकिक अन्न का छन्द दूसरा है, शव अन्य छन्द से छन्दित है, एवं पुरोडाश का छन्द पृथक् है । प्रकृत में हव्यवाहन अग्नि अपेक्षित है । अग्नि में तीनों धर्म्म हैं । इन में आमात्, क्रव्यात्, धर्म्म अनपेक्षित हैं । मन्त्रशक्ति के द्वारा उन्हीं को दूर कर इस वैध अग्नि को निष्कैवल्यरूप से **हव्यवाट्** ही बनाया जाता है ।

प्रकृतिजगत् में—**'यथाग्निगर्भा पृथिवी'** के अनुसार भूपिण्ड अग्निप्रधान है । पार्थिव अग्नि की **वारुणाग्नि, प्रवर्ग्याग्नि, ब्रह्मौदनाग्नि,** भेद से तीन अवस्थाएँ रहतीं हैं । भूपिण्ड का निर्म्माता 'आप्या' नामक जलीय-अग्नि हीं वारुणाग्नि है । अर्णवसमुद्र के सलिलरूप ऋत अप्तत्त्व के गर्भ में प्रविष्ट वही अग्नि अपने तेजोभाव से उस आपोद्रव्य को परिपक्व करता हुआ क्रमशः आपः–फेन–मृत्–सिकता, शर्करा–अश्मा--अयः-हिरण्य रूपों में परिणत कर भूपिण्ड का स्वरूप-निर्म्माता बन रहा है । आप्य-वारुण–प्राण ही आसुर है । अतएव तन्मय पार्थिव अग्नि को असुरभावापन्न ही माना जायगा । ओषधि–वनस्पतिरूप--पार्थिव अन्नों का परिपाक भी इसी आप्य–आसुर–वारुणाग्नि से होता है, जो कि भूतप्रधान है, अतएव इस रूप से देव–प्राण के लिए असमन्वित है । शरीरसंस्था में चतुर्विध अन्न का परिपाक करने वाला यही आप्य वारुणाग्नि आमाशयानुबन्ध से **'आमात्'** नाम से प्रसिद्ध होगया है ।

दूसरा वह भूताग्नि है, जिसे भूपिण्डस्थ अग्नि अपना मल बना कर फैंक देता है, फैंकता रहता है। जीवनीय प्राणरस से शून्य भूत-भौतिक-पदार्थों का भक्षण यही प्रवर्ग्याग्नि करता रहता है, जिस के आधार पर ही निर्ऋतिदेवता प्रतिष्ठित हैं। यही शवान्नभक्षक-प्रवर्ग्यभक्षक—**क्रव्यात्** अग्नि है।

एव अपने विशुद्ध-प्राणरूप से वही पार्थिव अग्नि अदितिमण्डल के द्वारा सौम्य-यज्ञिय देवताओं के लिए पार्थिव अन्नगत विशुद्ध अमृतसोम-रस का वहन करता हुआ देवभावानुबन्धी **हव्यवाट्** अग्नि है, यही **ब्रह्मौदनाग्नि** है, जिसे अध्यात्म में हम 'प्राणाग्नि' कहा करते हैं। यों एक ही अग्नि के तीन महिमा-विवर्त्त होजाते हैं, जो मात्रातारतम्य से अग्निमात्र में विद्यमान हैं। तीनों में से यज्ञकर्म्म में तीसरा दिव्यभावापन्न हव्यवाट् स्वरूप ही संग्राह्य है, यही सन्दर्भ-निष्कर्ष है ॥३,४॥

**सहरक्षा अग्नि आसुर है, शुद्ध अग्नि दिव्य है।** ऐसा अङ्गार, जिस के चारों ओर रक्षा [भस्म] लगी हुई हो, ज्वालाशून्य वही अग्नि **'सहरक्षा'** है। **'सहरक्षा वै असुराणां दूत आस'** [शतपथ १।१।३] के अनुसार भस्मलिप्त अङ्गार अवश्य ही आसुर होता हुआ दिव्ययज्ञ का विरोधी है। इस भस्मरूप आसुर-भाव के निराकरण के लिए ही अङ्गारों के भस्म को हटाया जाता है। इस से अग्नि का शुद्ध रूप व्यक्त होजाता है। यही शुद्ध अग्नि **देवयाट्** है। देवताओं के साथ पुरोडाश का सङ्गमन कराने में यही अग्नि समर्थ है।

भूपिण्ड के साथ सौर सावित्र-तेज संक्रान्त होता है, और वह भूपृष्ठ से संलग्न हो सूचीमुख बनता हुआ, साथ ही पार्थिव प्राणाग्नि से संश्लिष्ट होता हुआ पुनः सूर्य्य की ओर प्रतिफलित होजाता है। यही अदितिमण्डलगर्भित **'देवदूताग्नि'** है, जिसका-**'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं रत्नधातमम्'** इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है। जिस आकार का यह ज्योतिर्म्मय प्राणाग्निमण्डल है, ठीक उसी आकार का भूपिण्ड के दक्षिणोत्तर पार्श्वों को उपक्रम बनाता हुआ सूर्य्य-विरुद्ध दिक् में भी पूर्वप्रतिफलन के आधार पर एक प्राणाग्निमण्डल बन जाता है, जिसे कि-**'दितिमण्डल'** कहा गया है। यह भाग तमोमय है, भूभामय है, यही ग्रहणविद्या में-**'सैंहिकेयराहु' है**, जिसकी प्रतिच्छाया से चन्द्रग्रहण हुआ करता है। तमोमय भूभाप्राण ही वह-'रक्षा' प्राण है, जो ज्योतिर्म्मयप्राण का अवरोधक बनता हुआ **'सहरक्षा'** नामक **आसुराग्नि** कहलाया है। ध्यान रहे, यह पूर्वोक्त वारुणाग्नि से पृथक्-वस्तुतत्त्व है। यह सहरक्षा ही **'असुराणां दूत आस'** के अनुसार-असुरदूताग्नि कहलाया है। इसप्रकार **अदिति-दिति भेद** से पार्थिवप्राणाग्नि के **दैव-आसुर,** ये दो प्राणाग्नि-विवर्त्त होजाते हैं, जो क्रमशः **यज्ञसम्पादक,** तथा **यज्ञविरोधी** हैं। प्रत्यक्ष भूताग्नि में निर्धूम-भूताग्नि यज्ञसम्पादक दैवाग्नि का प्रतीक है, एवं सधूम-सहरक्ष-( राख सहित ) मलिन भूताग्नि यज्ञविरोधी आसुराग्नि का प्रतीक है। दोनों में से इस पुरोडाशसम्पादनात्मक यज्ञिय-दैवकर्म्म में शुद्ध दैवाग्नि ही अभिप्रेत है। तत्प्राप्त्यर्थ ही भस्मनिराकरणपूर्वक अङ्गारों को विशुद्ध बनाया जाता है ॥५॥

अङ्गार का जो भाग भूमि पर प्रतिष्ठित रहता है, वह आसुरभाव से आक्रान्त रहता है। कारण उस अधोभाग में वायु प्रविष्ट नहीं होसकता। **'यद्वै वातो नाभिवाति, तत् सर्वं वरुणदैवत्यम्'** [कौ० ब्रा०] के अनुसार निवातस्थान में आसुरप्राणाधिष्ठाता वरुणदेवता का साम्राज्य रहता है। सचमुच अधोभाग में अग्नि प्रज्वलित नहीं रहता। सब ओर से भस्म को हटा देने पर भी नीचे की ओर से भस्मसम्बन्ध को हटाना

कठिन है। उस ओर से असुरों के * आसङ्ग का भय नहीं हटाया जासकता। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए यजुःपूत मध्यम कपाल के साथ इस अङ्गार का सम्बन्ध किया जाता है। यजुः साक्षात् अग्नि है। **ब्रह्म-देव-भूत-पशु** भेद से अग्नि चार प्रकार का है। इसी आधार पर-'**चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास**' [शतपथ १।१।१५] यह कहा जाता है। **ब्रह्माग्नि वेदाग्नि है**। इसी को **यजुःसम्बन्ध** से '**सार्वयाजुषाग्नि**' भी कहा जाता है। यही '**प्राणाग्नि**' नाम से भी प्रसिद्ध है। यह अग्नि **स्वायम्भुव** है। **सौराग्नि देवाग्नि है। पार्थिवाग्नि भूताग्नि है। प्रवर्ग्याग्नि पश्वग्नि है।** यजुर्म्मन्त्र शब्द-मय है, यजुरग्नि अर्थरूप है। शब्दार्थ का अभेद है। यजुर्म्मन्त्र साक्षात् यजुरग्नि है। यह अग्नि राक्षसों का अपहन्ता है। तद्युक्त कपाल में अङ्गार का सम्बन्ध करने पर अवश्य ही असुरों के आसङ्ग का भय विलुप्त होजाता है ॥६॥

विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ **घन-तरल-विरल**, इन तीन अवस्थाओं से आक्रान्त हैं। **घनावस्था ही निविडावस्था है। तरलावस्था प्रसिद्ध है। विरलावस्था वाष्पावस्था है।** इसी वाष्पावस्था के लिए '**धूम**' शब्द प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ एक कपूर की डली सामने रखिए। कपूरखण्ड घन है, ठोस है। उसके प्रत्येक अवयव निविड हैं। इस खण्ड को अग्नि पर चढ़ा दीजिए। कपूर पिघल जायगा। यही तरलावस्था है। अधिक अग्नि के संयोग से कपूर धूम्ररूप में परिणत होकर उड़ जायगा। यही तीसरी विरलावस्था है। प्रत्येक पदार्थ अग्नि-सोमात्मक है। सोमगर्भित अग्नि ही वस्तु है। इस अग्नि की ही उपर्युक्त तीन अवस्थाएँ होतीं हैं। **घनाग्नि पृथिवी है। तरलाग्नि अन्तरिक्ष है। विरलाग्नि द्युलोक है।** जिस पर हम सब चराचर प्राणी प्रतिष्ठित हैं, उसी का नाम पृथिवी नहीं है। अपितु घनावस्थापन्न यच्च-यावत् पदार्थ पृथिवी है। तरलावस्थापन्न सम्पूर्ण पदार्थ वायु हैं। एवं विरलावस्थापन्न सभी पदार्थ आदित्य हैं। अग्निमयी पृथिवी तत्तत् पदार्थों की घनावस्था है, वायु तरलावस्था है, एवं आदित्य विरलावस्था है। यही ततत् पदार्थों की प्राणावस्था है। उपर्युक्त इन्हीं तीनों अवस्थाओं के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में क्रमशः **ध्रुव-धरुण-धर्त्र** शब्द प्रयुक्त हुए हैं। **घन पदार्थ 'ध्रुव' हैं। तरल पदार्थ धरुण हैं। विरल पदार्थ धर्त्र हैं।** धर्त्र, और धरुण की प्रतिष्ठा ध्रुव है। क्योंकि ध्रुवावस्था ही धर्त्र, और धरुणावस्था की जननी है। ध्रुव पृथिवी का पर्य्याय है। हमारी प्रतिष्ठा है।

दिव्ययज्ञ में आसुर प्राण विघ्नबाधारूप से निरन्तर यज्ञकर्त्ता यजमान की प्रतिष्ठा उच्छिन्न करने का प्रयास करते रहते हैं। उनके इस प्रयास को विफल करने के लिए प्रतिष्ठातत्त्व प्राप्त करना आवश्यक है। उसी प्रतिष्ठातत्त्व को प्राप्त करने के लिए, एवं प्राप्त प्रतिष्ठा से भ्रातृव्यों के प्रयास को विफल करने के लिए-'**ध्रुवमसि**' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए कपालोपधान किया जाता है। **पशु-अनुचर-प्रजा-स्त्री-द्रव्य-भूमि-**आदि अनेक प्रकार के वित्त हैं। इन सब वित्तों में श्रेष्ठ वित्त **ब्रह्मवीर्य्य**, और **क्षत्रवीर्य्य** हैं। **ज्ञानशक्ति ही ब्रह्मवीर्य्य** है, एवं क्रियाशक्ति ही क्षत्रवीर्य्य है। जिस मनुष्य में **ज्ञान**, और **क्रिया**, दोनों सम्पत्तियाँ विद्य-

*-आसङ्ग एक प्रकार का निष्फल आक्रमण है। राक्षसबुद्धि वाले मनुष्यशरीरधारी असुरों की यह स्वाभाविक वृत्ति है। इसी आसङ्ग के लिए '**छेड़छाड़**' शब्द प्रयुक्त होता है। यही लोकभाषा में '**आसङ्गादारी**' नाम से प्रसिद्ध है।

मान हैं, वह सब कुछ प्राप्त करने में समर्थ है। कर्म्मठ, एवं ज्ञानी पुरुष के कोश में असम्भव शब्द का अभाव है। इन दोनों के बिना पुरुष पुरुषाभास है। वीड्वीर्य्य से सम्बन्ध रखने वाला अर्थ, एवं पूषाप्राण-प्रधान शूद्र से सम्बन्ध रखने वाला पशु भाग, दोनों हीं तबतक सर्वथा निरर्थक हैं, जबतक कि इन्हें ज्ञान, और कर्म्म के आश्रित नहीं बना दिया जाय।

ब्रह्म, और क्षत्र, के अतिरिक्त एक तीसरा रत्न और है। वह है 'भूमा'। आप में ज्ञान की मात्रा भी परि-पूर्ण है। आप कर्म्मठ भी हैं। किन्तु आपकी इच्छानुसार कर्म्म करने वाले अनुयायी यदि आपको नहीं मिलते हैं, तो आप उस कार्य्य को कभी समृद्ध नहीं कर सकते। किसी भी कार्य्य को यदि भूमाभावापन्न (वृद्धिंगत) करना हो, तो इसके लिए सजातों की आवश्यकता है। समानकक्ष समानधर्म्मा सहयोगी अपेक्षित हैं। जिसके प्रज्ञा-कोश में ब्रह्मवीर्य्य–क्षत्रवीर्य्य, एवं सजातसंपत्ति, विद्यमानहै, उसके लिए कोई भी कार्य्य असम्भव नहीं है। इन्हीं तीनों संपत्तियों को प्राप्त करने के लिए 'ब्रह्मवनित्वा-क्षत्रवनित्वा-सजातवनित्वा' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। यजमान स्वयं ज्ञान, और कर्म्म से युक्त है। इधर इसके सहकारी ऋत्विक् भी ऐसे ही हैं। ऐसी अवस्था में इसका यज्ञकर्म्म अवश्य ही सफल है। ७।८।९।१०।११।

पृथिवीलोक को आप प्रत्यक्ष देख रहते हैं। सूर्य्यप्रतिष्ठारूप द्युलोक का भी आप साक्षात् कर रहे हैं। दोनों के मध्यस्थ अन्तरिक्ष का भी प्रत्यक्ष हो ही रहा है। इसप्रकार तीनों लोक आपके लिए 'अद्धा' (प्रत्यक्ष) हैं। परन्तु चौथा पारमेष्ठ्य लोक अनुमानगम्य है। 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' ( कौ* ब्रा ) के अनुसार चौथा लोक केवल शब्दप्रमाणगम्य है। हम साधारण कोटि के मनुष्य 'विदित नहीं चौथा लोक है, अथवा नहीं' इसी विचिकित्सा में लगे रहते हैं। हमारी यह विचिकित्सा तबतक सत्य है, जबतक कि हम आर्षदृष्टि प्राप्त कर उसके द्वारा चौथे लोक को देख न लें। क्योंकि 'अस्ति न वा' यही हमारा सत्यभाव है। एवं यज्ञ में सत्यानुपालन का आदेश है, एवं 'जैसा मन में हो वैसा कहना' यही सत्य है। अतः इसी सत्यरूप अनद्धाभाव को लक्ष्य में रखकर–'विश्वाभ्यस्त्वा आशाभ्यः' यह बोल कर दक्षिण भाग की ओर कपालोपधान किया जाता है। अनद्धा चतुर्थलोकवत् विश्व-आशाएँ भी अनद्धा ही हैं ॥१२॥

आर्षसाहित्य के प्रत्येक शब्द में कुछ न कुछ निगूढ रहस्य पिनद्ध ( सुगुप्त ) रहता है। 'भृगु और अङ्गिरा के तप से' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ के भृगु, अङ्गिरा, और तप, ये तीनों हीं शब्द अत्यन्त रहस्य–पूर्ण हैं, जिनमें से सर्वप्रथम 'तपः' शब्द की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। "सांसारिक सम्पूर्ण कर्म्मों को छोड़ छाड़ कर एकान्त में शून्य आरण्य में जाकर ईश्वरचिन्तन करना हीं तप, किंवा तप–श्चर्य्या कहलाती है" आजदिन सर्वसाधारण में, एवं वैदिक–विज्ञान की गहनाटवी से अपरिचित कुछ एक विद्वानों में तप का उक्त लक्षण ही प्रचलित, एवं मान्य है। हम इस लक्षण का विरोध नहीं करते। तप का उपर्य्युक्त लक्षण भी होसकता है। परन्तु व्यापकार्थ को अपने उदर में रखने वाले तप का उपर्य्युक्त अर्थ कर बैठना अनुचित है। ईश्वरप्राप्त्युपायभूत कायक्लेश, अनशन, एवं योगमार्ग की कठिन साधनाओं को ही तप मानने वाले विद्वानों से हम पूँछते हैं कि, यदि ऐसा है तो—

**१--"प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवासीत्। सोऽकामयत-सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। तस्य तप्यमानस्य तेजोरसो निरवर्त्ततािग्नः"** (शतपथ)

**२–असौ वा आदित्यस्तपः** ( शत ७।१।५। )
**३–तपः स्विष्टकृत्** (शत० ११।२।७।१८)
**४–तपो वा अग्निः** (शत० ३।४।३।२।)
**५–तप आसीद् गृहपतिः** (तै०ब्रा० ३।१२।६।६)
**६–एतद्वै तपो यो दीक्षित्वा पयोव्रतोऽसत्** (श० ५।१।८)
**७–भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्** (शतपथ)

इत्यादि श्रौतवचनों का आपकी मान्यता में कैसा ?, और क्या समन्वय होगा ? । क्या ईश्वर–प्रजापति किसी अन्य ईश्वर की प्राप्ति के लिए योगसाधनरूप तप में अनुरक्त हैं ? । इन सब विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिए एकमात्र निम्न लिखित लक्षण को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा । तप का यथार्थ, एवं अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-दोष–रहित व्यापक लक्षण करते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

**'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति'**
—तै० ब्राह्मण

आप्त महर्षि उसे ही **'तप'** कहते हैं, जो कि अपने आप को दे देता है । तात्पर्य्य इस का यही है कि- **आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक,** तीनों में से किसी भी तत्त्व को प्राप्त करने के लिए जो व्यापार किया जाय, वही तप है । परन्तु वह व्यापार 'तप' तभी कहलाएगा, जबकि उसमें अपने आत्मा का समर्पण होगा । आप अन्य वस्तु को अपने में लाना चाहते हैं । इसके लिए पहले आपको अपने आप में स्थान बनाना पड़ेगा । जिस स्थान पर आप प्राप्त वस्तु रखना चाहते हैं, उस स्थान के प्राण को विसर्जित करना पड़ेगा । यदि बिना प्राणदान के, दूसरे शब्दों में बिना आत्मबलिदान किए कि आप किसी कि सम्पत्ति को लेलेंगे, तो आप उससे उचित लाभ स उठासकेंगे । प्राणपातमूलक परिश्रम के द्वारा जो सम्पत्ति–लाभ होता है, एवं उससे आत्मा में जैसी शान्ति प्राप्त होती है, वैसी शान्ति व्यर्थ की आई हुई सम्पत्ति से कथमपि सम्भव नहीं है । प्रथम तो बिना आत्मसमर्पण के लाभ हो ही नहीं सकता । यदि छलछिद्रादि आसुरी माया के द्वारा, एवं अन्यान्य कुचक्रों से लाभ हो भी जाता है, तब भी उससे वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती ।

प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति के पहले आप अपना प्राणदान करें । **पहले बलिदान, फिर प्राप्ति** । यही व्यापक सिद्धान्त है । यदि आप कुछ लेना चाहते हैं, तो पहिले कुछ अपना समर्पण कीजिए, यही तप है । प्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं । इसके लिए वे अपने प्राण की आहुति देते हैं । यही है तप की वास्तविक स्वरूप-परिभाषा । **वाक्-श्रोत्र-हस्त-पाद**-आदि सभी का व्यापार तप है। परन्तु सर्वश्रेष्ठ तप भृगु, और अङ्गिरा का ही है । भृगु सोमतत्त्व है, एवं अङ्गिरा अग्नितत्त्व है । अग्नि के क्रमिक चयन से शरीर बना है, एवं सोम से औषधि (अन्न) के द्वारा मन बना है । केवल शरीर से कर्म्म करना अङ्गिरा का तप है, एवं केवल मनोराज्य में विचरण करना भार्गव तप है । दोनों हीं तप अधूरे हैं । दोनों के समन्वय से जो तप का स्वरूप निष्पन्न होता है, वही **'तेजिष्ठ तप'** है । मनोयोग-पूर्वक शरीर से जो व्यापार किया जाता है, वही अन्वर्थ तप है । उसी तपः-सम्पति की प्राप्ति के लिए **'भृगुणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'** कहा गया है ।

# तपः-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

प्रसङ्ग उस–'तपः' शब्द का उपस्थित होपड़ा है, जिसके साथ वर्त्तमान युग की प्रत्यक्षप्रभाव–समाकर्षिता भावुक–प्रज्ञाओं के द्वारा त्याग–तपस्या–बलिदान, नाम की सुप्रसिद्धा 'लोकघोषणा' समन्वित होरही है। अतएव प्रसङ्गधिया अनिवार्य्यरूपेण यह आवश्यक होजाता है कि, 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' इत्यादि श्रुतिमूलक 'तपः' शब्द का प्रकृतिसिद्ध तात्त्विक चिरन्तन-इतिवृत्त संक्षेप से स्पष्ट कर दिया जाय, जिसके बिना हमारी प्रज्ञा आज की काल्पनिक त्याग-तपस्या-बलिदान–परम्पराओं के महान् व्यामोहन से कदापि आत्म परित्राण नहीं कर सकती।

सुप्रसिद्ध–पाणिनीय धातुपाठ से अनुप्राणित–'तप' धातु सन्ताप, ऐश्वर्य्य, तथा दाह, इन तीन अर्थों से अनुप्राणित है (१)। क्या एक ही–'तपः' तत्त्व के ये तीन विभिन्न अर्थ हैं?, प्रश्न का उत्तर पुरुषभावानुबन्ध से जहाँ 'स्वीकृति' में दिया जायगा, वहाँ प्रकृतिभावानुबन्ध से प्रश्न का उत्तर-'निषेधा'-त्मक ही होगा। सभी तत्त्व, सभी पदार्थ सभी विवर्त्त–'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'–'एतद्वै तत्' इत्यादिरूप से जहाँ आत्मपुरुषदृष्ट्या एक ही 'ब्रह्म' के महिमामय विवर्त्त बनते हुए अभिन्नार्थक हैं, इसी इसी अभिन्नार्थता के आधार पर जहाँ-'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है, वहाँ अपने त्रिगुणभाव से विषम-विभिन्न-पृथक्-भावों की सर्जिका 'प्रकृति' के अनुबन्ध से सन्तापार्थक तप, ऐश्वर्य्यार्थक तप, तथा दाहार्थक तप, तीनों का स्वरूप प्रकृतिभेदभिन्न प्राकृत-संस्थान–विभागों के अनुपात से सर्वथा पृथक् पृथक् ही माना जायगा। 'तपः' शब्द के चिरन्तन–इतिहास में प्रवृत्त होते हुए हमें सर्वप्रथम प्रकृति के उन विभक्त तीन संस्थानों का ही अन्वेषण कर लेना पड़ेगा, जिनमें ब्रह्मविवर्त्तरूप एक ही तप के प्रकृति-भेदभिन्न सन्ताप–ऐश्वर्य्य-दाह–लक्षण विभिन्न तीन तपोभाव पृथक्–पृथक् रूपेण व्यवस्थित, एवं प्रतिष्ठित हैं।

शतपथभाष्य के अबतक के पूर्वसन्दर्भों का अवधानपूर्वक अवलोकन, मनन करने वाले पाठकों को यह विदित होगया होगा कि, विश्वेश्वर-पुरुषात्मप्रजापति का महिमामय प्राकृत विश्व प्राणादि गुणभूतों के पञ्चीकरण से 'पञ्चपर्वा' बन रहा है। अतएव प्रकृति के, किंवा प्राकृत–यज्ञात्मक–विश्व के समष्ट्यात्मक, व्यष्ट्यात्मक सभी विवर्त्त पञ्चपर्वा–पञ्चात्मक–पाङ्क्त ही प्रमाणित होरहे हैं, जैसाकि पूर्वसन्दर्भानुगत-'पाङ्क्तो वै यज्ञः' इत्यादि के समन्वय–प्रसङ्ग में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। अतएव विश्वाधिष्ठात्री प्रकृतिदेवी उप-निषदों में भी 'पञ्चपर्वा' नाम से ही प्रसिद्ध हुई है, जैसाकि निम्न लिखित श्वेताश्वतर वचन से स्पष्ट प्रमाणित है—

---

(१)–'तप'–सन्तापे–(भ्वादिगणे)–सन्तापार्थक-तप
'तप'–ऐश्वर्य्ये–(दिवादिगणे)-ऐश्वर्य्यार्थक-तप
'तप'-दाहे—-(चुरादिगणे)- दाहार्थक–तप

**पञ्चस्रोतोऽम्बुं, पञ्चयोन्युग्रवक्रां, पञ्चप्राणोर्म्मिं, पञ्चबुद्धयादिमूलाम् ।**
**पञ्चावर्त्तां, पञ्चदुःखौघवेगां, पञ्चाषड्भेदां, पञ्चपर्वामधीमः ॥**
—श्वे० उप० १।५।

परोरजात्मक **ऋषिप्राण**, रजःप्रवर्त्तक **पितृप्राण**, रजोभावात्मक **देवप्राण**, रजस्तमोऽनुगत **पशुप्राण**, तथा तमःप्रधान **भूतप्राण**, इन पञ्च प्राणों से कृतरूपा पञ्चपर्वा प्रकृति ही **त्रिपर्वा पुरुष** * के आधार पर पञ्चपर्वा विश्व का आतानात्मक वितान करने में समर्थ बनी हुई है, जोकि तत्तत्प्राणप्रधान पाँचों विश्वपर्व पूर्वसन्दर्भों में क्रमशः (१) **ऋषिप्राणमूर्त्ति-स्वयम्भू**, (२) **पितृप्राणमूर्त्ति–परमेष्ठी**, (३)-**देवप्राणमूर्त्ति सूर्य्य**, (४)-**पशुप्राणमूर्त्ति चन्द्रमा**, एवं **भूतप्राणमूर्त्ति भूपिण्ड**, (किंवा **पृथिवी**), इन नामों से यत्र–तत्र उपवर्णित हुए हैं । पञ्चभावात्मिका–पञ्चप्राणोर्म्मिलक्षणा–विश्वोपादानभूता क्षरप्रकृति के वे ही तथा–कथित पाँचों प्राण क्रमशः **प्राणः**, **आपः**, **वाक्**, **अन्नम्**, **अन्नादः**, इन पारिभाषिक नामों से भी व्यवहृत हुए हैं । और यही पञ्चपर्वा–प्राकृत–उस **'विश्व'** का संक्षिप्त–तम स्वरूप–परिचय है, जिसके अमुक–संस्थान–विशेषों में से ही हमें संकल्पित–तीनों तपस्तत्त्वों को अपनी तीक्ष्ण अभिप्रायों से ढूँढ निकाल लेना है । अत्यन्त अवधानपूर्वक–तालिकामाध्यमेन विश्व की तथोक्ता स्वरूपस्थिति को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए, एवं तदाधारेणैव **तपस्त्रयी** का अन्वेषणात्मक अध्यवसाय उपक्रान्त कीजिए ।

१–ब्रह्माक्षरानुगता—क्षरप्रकृतिरेव-**प्राणः**–( सोऽयं परोरजा-**ऋषिप्राणः**)

२–विष्णवक्षरानुगता-क्षरप्रकृतिरेव-**आपः**–(सोऽय रजःप्रवर्त्तकः-**पितृप्राणः**)

३–इन्द्राक्षरानुगता–-क्षरप्रकृतिरेव–**वाक्**—(सोऽयं रजोभावात्मकः-**देवप्राणः**)

४–सोमाक्षरानुगता–-क्षरप्रकृतिरेव–**अन्नम्**–(सोऽयं रजोऽनुगतः-**पशुप्राणः**)

५–अग्न्यक्षरानुगता-क्षरप्रकृतिरेव-**अन्नादः**–-(सोऽयं तमोऽनुगतः–**भूतप्राणः**)

——*——

१—ऋषिप्राणमूर्त्तिः—स्वयम्भूः—परोरजाः

२—पितृप्राणमूर्त्तिः—परमेष्ठी—रजोऽधिष्ठाता

३—देवप्राणमूर्त्तिः—सूर्य्यः—–-रजोऽभिगतः

४—पशुप्राणमूर्त्तिः—चन्द्रमा—रजोमूर्त्तिः

५—भूतप्राणमूर्त्तिः—भूपिण्डः—मूर्च्छितरजः

——*——

* **"त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी"** (यजुःसंहितायाम्)

'प्रहितां संयोगः', एवं 'प्रयुतां संयोगः' मूलक सुप्रसिद्ध आदान–विसर्गात्मक, प्रकृतिसिद्ध व्यापार से विश्व के पाँचों पर्वों की प्राणमात्रा, तथा भूतमात्राओं का परस्पर आदान प्रदान हुआ करता है । इस पारस्परिक प्राण–भूतनिबन्धन आदान–प्रदान के तारतम्य से ही पाञ्चभौतिक पदार्थों के नाम–रूप–गुणात्मक-प्राकृत स्वरूपों में परस्पर विभेद उत्पन्न होता है । और यों इन मात्राभावों के आदान-विसर्गात्मक चङ्क्रमण से ही विश्व की, तथा विश्वगर्भस्थ चर-अचर–प्राकृत–पदार्थों की स्वरूपस्थिति षड्भाव-विकारों से समन्वित होती रहती है । क्योंकि पाँचों हीं विश्वपर्व, एवं विश्वपर्वों में प्रतिष्ठित यच्चयावत् चर–अचर प्राणी स्व–स्व भूतमात्राओं के माध्यम से स्व स्व प्राणमात्राओं का विस्रंसनात्मक उत्सर्ग–त्याग-करते रहते हैं, सभी प्राण-भूतात्मक 'स्व' भागों का दान करते रहते हैं । अतएव सभी को समष्ट्या व्यष्ट्या उभयथा **तपोधर्म्मा, तपस्वी** इसलिए कहा, और माना जासकता है कि, पूर्व में हमने-तप का--'**एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति**' एक यह भी लक्षण किया है, जो कि श्रौत होने से सर्वात्मना मान्य है । और यों स्वमात्रादानरूपा सहज विसर्गप्रणाली से विश्व, और विश्व के यच्चयावत् पदार्थों को अवश्य ही–'**तपस्वी**' कहा जासकता है । आदान–सापेक्षा विसर्गात्मिका इसी तपश्चर्य्या से इन तपस्वियों की स्वरूप-व्यवस्थिति व्यवस्थित है ।

'स्वं ददाति' रूप **विसर्ग, उत्सर्ग,** किंवा **त्याग** अवश्य ही **आदान, ग्रहण,** किंवा **संग्रह,** से नित्य सापेक्ष बन रहा है । इस पारस्परिक-सापेक्षता को ही '**अन्नान्नादसम्बन्ध**' कहा गया है, जिस का स्पष्ट अर्थ यही है कि, प्रत्येक पदार्थ-स्व–प्राण–भूत–तृप्ति के लिए जहाँ उत्सर्ग–परित्याग करता हुआ उन का '**अन्न**' बना रहता है, वहाँ यही स्व–क्षतिपूर्ति के लिए दूसरों से त्यक्त भूत–प्राणों का संग्रह करता हुआ, उप–निषद्भाषानुसार उन का '**भोग**' करता हुआ * उन का '**अन्नाद**' भी बना रहता है । त्याग की दशा में प्रत्येक प्रत्येक का **अन्न** है, **भोग्य** है, **सोम** है, तो ग्रहणदशा में प्रत्येक प्रत्येक का **अन्नाद है, भोक्ता है, अग्नि है** । और यों–इस सापेक्षता से सभी अन्न हैं, सभी अन्नाद हैं । '**सर्वमिदमन्नं, सर्वमिदमन्नादः**' (शतपथ),-'**द्वयं वा इदं--अत्ता चैव–आद्यञ्च**' (शतपथ) इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियों का यही तात्त्विक समन्वय है, जिस का निम्न लिखित मन्त्रश्रुति से अक्षरशः समर्थन होरहा है । देखिए !

**अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।**
**यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्न, मन्नमदन्तमद्मि ॥**

—**सामसंहिता पू०** ६।१।१०।६।

'**मैं अन्न हूँ, और अन्न खाते हुए को मैं खा भी रहा हूँ**' इत्यर्थक –'**अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि**' इस अन्तिम वाक्य के द्वारा स्पष्ट ही प्रत्येक पदार्थ की **अन्न, अन्नादता** प्रमाणित है । अब इन अन्न–अन्नाद–भावों के सम्बन्ध में थोड़ा सूक्ष्मावलोकन अपेक्षित है । विसर्ग होता है '**अग्नि**' का, एवं आदान होता है–'**सोम**' का । आता हुआ भाग '**अन्नात्मक सोम**' है, एवं जाता हुआ भाग अन्नादात्मक '**अग्नि**' है । अग्नि आङ्गिरस तत्त्व' हैं, तो सोम '**भार्गव–तत्त्व**' है । भार्गव-सोम संकोचधर्म्मा **स्नेहतत्त्व**

*--"**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्**" ।

—विस्तार के लिए देखिए '**ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य**'

है, तो आङ्गिरस--अग्नि विकासधर्म्मा तेजस्तत्त्व है। स्नेहगुणक सोम यदि तेजोगुणक अग्निसापेक्ष है, तो तेजोगुणक अग्नि स्नेहगुणक सोमसापेक्ष है। यों दोनों परस्पर नित्य सापेक्ष हैं। **अतएव त्याग को संग्रहमूलक ही माना जायगा, एवं संग्रह को त्यागमूलक ही माना जायगा।** सहज–भाषा में–'त्याग' वही 'त्याग' कहलाएगा, जिसका उद्देश्य **'संग्रह'** होगा। एवं **'संग्रह'** वही **'संग्रह'** कहलाएगा, जिस का उद्देश्य त्याग' होगा। संग्रहशून्य त्याग–तपस्या–बलिदान जहाँ सर्वथा निरर्थक प्रमाणित होते हुए स्वस्वरूप के मूलोच्छेदक ही माने जायँगे, वहाँ त्यागशून्य संग्रह–जड़ता का प्रवर्त्तक बनता हुआ स्वस्वरूप का आवरक ही बन जायगा। अतएव दोनों का समन्वय इस सापेक्ष त्याग, तथा संग्रह की मौलिक स्वरूप-परिभाषा से ही समन्वित हो सकेगा। अतएव स्वदानात्मक तपोरूप आङ्गिरस-अग्निभाव के साथ अनिवार्य्यरूपेण परादानात्मक-संग्रहरूप-भार्गव-सोमभाव का भी सन्बन्ध स्वतः ही संसिद्ध होजायगा। अतएव आदानगर्भित-विसर्ग को ही, भृगु गर्भित आङ्गिरस व्यापार को ही वास्तविक--'तप' माना जायगा। इसी रहस्य को लक्ष्य बना कर भगवान् याज्ञवल्क्यने कहा है कि,-**'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'**, जिस इस वचन का संस्मरण पूर्वप्रकरणों में भी होचुका है। ( देखिए पृष्ठ ४४१-४२ )

यह तो हुई **'तपः'**, शब्द की लोकानुबन्धिनी स्वरूप–स्थिति का किञ्चिदिव निदर्शन। अब 'तपः' के उस सत्तासिद्ध-वैज्ञानिक-स्वरूप की ओर तपस्वी विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिन के तीन विभिन्न प्राकृत विवर्त्तों का पूर्व में संस्मरण किया गया है। जिस पञ्चपर्वात्मक विश्व का पूर्व में तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया गया है, उस पञ्चपर्वात्मक, अक्षरप्रकृतिविशिष्ट–क्षरप्रकृतिरूप विश्व में--**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्'** के अनुसार त्रिमूर्त्ति षोडशीप्रजापति **'आत्मप्रतिष्ठा'** रूप से प्रविष्ट होरहे हैं, जैसा कि--**' य आविवेश भुवनानि विश्वा'--तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे'** इत्यादि--मन्त्रोपनिषत्--श्रुतियों से प्रमाणित है। विश्वानुप्रविष्टता से ही वह त्रिमूर्त्ति षोडशीप्रजापति--**'विश्वचर'-'विश्वात्मा' 'विश्वेश्वर'** आदि अभिधाओं से समन्वित होरहा है। पञ्चपर्वात्मक समष्टिरूप एक विश्व की दृष्टि से वह **'एक' 'विश्वेश्वर'** है, तो पृथक्-पृथक्-पाँच व्यष्ट्यात्मक पाँच विश्वपर्वों के पार्थक्य से वह एक ही पञ्च विवर्त्त भावों में परिणित होता हुआ--**पाँच 'ईश्वर'** है, जिन का साङ्केतिक नाम है-**'उपेश्वर'**। विश्व का समष्ट्यात्मक **'ईश्वर'** 'एक' है, एवं व्यष्ट्यात्मक **'उपेश्वर'** पाँच हैं, जिन का पूर्व के मनुवृषभ-प्रकरणों में रेखाचित्रों के माध्यम से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। यों वह एक ही त्रिमूर्त्ति इन पाँच विश्व-पर्वों में **पञ्चधा**--अपने--**त्रीणि--त्रीणि**--रूपों से विभक्त होता हुआ स्वयमपि पञ्चपर्वा प्रकृतिवत् पञ्चपर्वा, एवं त्रिः-त्रिः-मूर्त्ति बन रहा है। इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर छान्दोग्यश्रुति ने कहा है—

**यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।**
**यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥**

—छान्दोग्य--उपनिषत्

विश्व के पाँच पर्वों में अपने तीन–तीन–महिमारूपों से विभिन्न उन 'तीनों' का क्या स्वरूप है?, प्रश्न का उत्तर है–**'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते'** मूलक **'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** यह मन्त्रभाग। क्या तात्पर्य्य?। तात्पर्य्य स्पष्ट है। वह प्रजापति पञ्चकल अव्ययरूप **'अमृतम्'**, पञ्च-

कल अक्षररूप-'ब्रह्म', तथा पञ्चकल आत्मक्षररूप-'शुक्रम्' इन तीन ज्योतिर्भावों से ही त्रिमूर्त्ति बन रहा है । 'अमृताव्यय' इसी की 'मनोघना' 'ज्ञानज्योति' है, 'ब्रह्माक्षर' इसी की 'प्राणघना'-'कर्म्मज्योति' है, एवं-'शुक्रक्षर' इसी की 'वाग्घना'-'भूतज्योति' है । मनः-प्राण-वाग्-रूपा, अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मिका-ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिघना इन्हीं तीनों ज्योतियों से कृतरूप विश्वात्मा विश्व के पाँचों, अर्थात् तीनों, विवर्त्तों में प्रतिष्ठित है । प्रक्रान्त पाँच के स्थान में सहसा यह-'तीनों' और क्या समुपस्थित होपड़ा ?, दो शब्दों में इस समस्या का भी निराकरण कर लीजिए, जिसके आधार पर ही प्रक्रान्त-'तपः' शब्द का सत्ता-सिद्ध तत्त्वार्थ सम्भावित है ।

भारतीय-व्यावहारिक-सांस्कृतिक-जगत् में-'त्रिमूर्त्ति' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है-'ब्रह्मा, विष्णु, महेश । आर्य्यसर्वस्वात्मक पुराणशास्त्र ही भारतीय-'सांस्कृतिक-आयोजनों' की उसीप्रकार मूलप्रतिष्ठा है, जैसेकि स्मृतिशास्त्र भारतीय-'सांस्कृतिक-आचारों' की, एवं 'श्रुतिशास्त्र' 'भारतीय-संस्कृति' की मूलप्रतिष्ठा माना गया है । भारतीय-सांस्कृतिक-लोकसामान्यप्रजा से अनुप्राणित आत्मानुगत पर्व, बुद्ध्यनुगत उत्सव, मनोऽनुगत सम्मेलन, तथा शरीरानुगत समारोह, नामक चतुर्द्धा विभक्त यच्चयावत् भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों का केन्द्र क्योंकि पुराणशास्त्र है, एवं यह क्योंकि त्रिदेवमूर्त्ति के आधार पर ही सांस्कृतिक-आयोजनों की व्याख्या करता है, अतएव लोकसामान्य में 'त्रिमूर्त्ति से 'त्रिदेवता' ही परिगृहीत होपड़े हैं । तो क्या पुराणशास्त्र वैदिक-'पञ्चदेवतावाद' का विरोधी है ?, अब्रह्मण्यम् ? अब्रह्मण्यम् !!

जो पुराणशास्त्र-वेदशास्त्र के ज्ञान-विज्ञानात्मक रहस्य-पूर्ण तत्त्वों की स्वरूप-व्याख्यामात्र हो, तत्सम्बन्ध में तो 'विरोध' की कल्पना करना भी अपने आपको प्रायश्चित्त का ही भागी बनाना है । इयमत्र सङ्गतिः । विश्व के पाँचों पर्वों से अनुप्राणित ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम, सुप्रसिद्ध इन पाँचों देवताओं के विश्वाधारभूत पूर्वोक्त त्रिमूर्त्ति विश्वात्मा के मनः-प्राण-वाक्-प्रधान अमृत-ब्रह्म-शुक्र-नामक तीन विवर्त्तों के अनुबन्ध से अन्ततोगत्वा तीन ही प्रमुख-विवर्त्त शेष रह जाते हैं । 'ब्रह्मा' का एक स्वतन्त्र विभाग है, 'विष्णु' का स्वतन्त्र विभाग है, एवं इन्द्र-अग्नि-सोम, इन तीनों की समष्टि का एक स्वतन्त्र विभाग है ।

जैसा कि स्पष्ट किया गया है-विश्वात्मा का अमृताव्यय-स्वरूप मनोभाग ज्ञानज्योतिर्म्मय है, ब्रह्माक्षररूप प्राणभाग कर्म्मज्योतिर्म्मय है, एवं शुक्रक्षररूप वाग्भाग भूतज्योतिर्म्मय है । ज्योतिः क्योंकि अवलोकनात्मक 'आलोक' का माध्यम बनती है, प्राणीसृष्टि में क्योंकि 'नेत्र' ही अवलोकन के माध्यम बनते है । एकमात्र इसी अनुबन्ध से ज्योतिः का एक साङ्केतिक-नाम-'नेत्र' भी रख दिया है । स्वायम्भुव ब्रह्मा सत्यनेत्र, ऋतनेत्र, के सम्बन्ध से जहाँ-'द्विनेत्र' है *, पारमेष्ठ्य विष्णु जहाँ भार्गवसौम्य, आङ्गिरस आग्नेय-तेजः-सम्ब-

---

*-सत्यव्रतं, सत्यपरं, त्रिसत्यं, सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यं 'ऋत-सत्य-नेत्रे' सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
—श्रीमद्भगवते

न्ध से–'द्विनेत्र' हैं, वहाँ सूर्य्य–चन्द्र–पार्थिवाग्निमूर्त्ति, अतएव त्रिज्योतिर्म्मूर्त्ति भगवान् **महेश्वर**--'**त्रिनेत्र**' नाम से ही प्रसिद्ध हुए हैं। तात्पर्य्य यही है कि, मनोमय–अमृताव्ययात्मक–ज्ञानज्योतिर्भाव का स्वायम्भुव ब्रह्मा से सम्बन्ध है, अतएव इन्हें '**चित्पति**' ( **ज्ञानपति** ) कहा गया है। प्राणमय-ब्रह्माक्षरात्मक कर्म्मज्योतिर्भाव का पारमेष्ठ्य विष्णु से सम्बन्ध है, अतएव इन्हें '**कर्म्मपति**' ( **प्राणपति** ) कहा गया है। एवं वाङ्मय–शुक्रक्षरात्मक–भूतज्योतिर्भाव का **सौर**--**चान्द्र**--**पार्थिव**--**इन्द्र**--**सोम**--**अग्नि**--से सम्बन्ध है, अतएव त्रिमूर्त्ति–त्रिनेत्र इन महेश को '**भूतपति**' ( **पशुपति**--**वाक्पति** ) कहा गया है। तदित्थं-विश्वात्मा के **मनः**--**प्राण**-**वाङ्** निबन्ध **अमृत**--**ब्रह्म**-**शुक्रा**-त्मक **ज्ञान**--**कर्म्म**-**भूत**--ज्योतिर्भावों के अनुबन्ध से पाँच विश्वदेवताओं के तीन भी विवर्त्त सम्पन्न होजाते हैं, जिनके आधार पर ही पुराण का '**त्रिदेवतावाद**' सुप्रतिष्ठित है। भूतज्योति-र्विवर्त्त **सूर्य्य**–**चन्द्र**–**अग्नि** ( पार्थिव ) भेद से तीन भागों में विभक्त है, जिनके कि साङ्केतिक नाम क्रमशः **स्वर्ज्योतिः**–**परज्योतिः**--**रूपज्योतिः** हैं। अतएव त्रिभूतज्योतिर्म्मय--सूर्य्य--चन्द्र–पार्थिवात्मक इन्द्र–सोम–अग्नि–रूप त्रिमूर्त्ति का एक विवर्त्त मान लिया जाता है, और यों–'**पाँच**' विश्वपर्व विश्वात्मा के त्रित्वानुबन्ध से '**तीन**' भावों में भी परिणत हो रहे हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

पञ्चपर्वानुगतं-विश्वम्

१--ज्योतिषां--ज्योतिः—ब्रह्मा—स्वयम्भूः }—अमृताव्ययानुगतो द्विनेत्रः–ब्रह्मा (१)

२–अव्यक्तज्योतिः——विष्णुः--परमेष्ठी }—ब्रह्माक्षरानुगतो द्विनेत्रः-विष्णुः-(२)

३–स्वर्ज्योतिः ———इन्द्रः—सूर्य्यः
४--परज्योतिः————सोमः--चन्द्रमाः }—इन्द्रसोमाग्न्यनुगतस्त्रिनेत्रः-शिवः(३)
५- रूपज्योतिः———अग्निः--पृथिवी

त्रिपर्वानुगतं--विश्वम्

———:*:———

पाठकों से आवेदन किया जायगा कि, '**तपः**' शब्द के मूलाधारभूत उक्त परिलेखके **ब्रह्मा**--**विष्णु**--**महेशात्मक**-तीनों विश्वपर्वों को वे अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ करलें। क्योंकि इसी '**त्रिमूर्त्ति**' के आधार पर हमें '**तपः**' शब्द के प्रतिज्ञात--**सन्ताप**--**ऐश्वर्य्य**--**दाह**--नामक तीनों तपोभावों का समन्वय--प्रयास करना है। स्वायम्भुव ब्रह्मा षोडशी--विश्वात्मा के मनोमय ज्ञानशक्तिघन–अमृताव्यय–रूप ज्ञानज्योतिर्म्मयरूप से प्रधान रूपेण समन्वित होते हुए क्योंकि चित्पति हैं, ज्ञानपति हैं, अतएव स्वायम्भुव ब्रह्मा का तप कहलाएगा-'**ज्ञान**-**मय**'--'**यस्य ज्ञानमयं तपः**' *। **ब्रह्मा के इसी ज्ञानमय तप को कहा जायगा**--'**सन्ताप**'। यद्यपि लोक-

***-यः सर्वज्ञः, सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः।**
**तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप, मन्नञ्च जायते॥**
—उपनिषदि

भाषा में अमुक रूढिभावों के कारण **'सन्ताप'** शब्द–**'शोकसन्तापरूप'** से दुःखवेग से ही अनुप्राणित देखा-सुना जाता है। तथापि तात्त्विकी परिभाषा के अनुसार तो **'सन्ताप'** शब्द का दुःखवेग से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। अपितु क्रियाप्रधान **'तप'** नामक **प्राणात्मक तप** के आधारभूत मनोमय ज्ञानशक्ति-प्रधान ज्ञानीय–व्यापार को ही श्रुतिने **'सन्ताप'**, किंवा **'संतपन'** कहा है, जैसाकि-**'तस्य श्रान्तस्य ( वाग्व्यापार-मयस्य ), तप्तस्य ( प्राणव्यापारमयस्य ), सन्तप्तस्य ( मनोव्यापारमयस्य ) तेजो--रसो निरवर्त्तत'** इत्यादि श्रुति से स्पष्ट प्रमाणित है। और यही अर्थ प्रमुख–तात्त्विक–अर्थ है।

तप से ही–**'ताप'** बना है। एवं **'ताप'** ही **'सम्'** उपसर्ग से--**'संताप'**, किंवा **'सन्ताप'** रूप में परिणत होगया है। अव्ययात्मस्वरूपवेत्ता आत्मनिष्ठ विद्वानों को विदित ही होगा कि, षोडशीप्रजापति का **'अमृतम्'** नामक **'अव्यय'** विवर्त्त ही अपने आत्ममूलक साम्य से ÷ **'समब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध है। अभिन्नभावात्मक–एकीभावात्मक इसी **'समब्रह्म-** का स्वरूप-संग्राहक माना गया है--**'सम्'** नामक उपसर्ग, जैसाकि--**'समित्ये–कीभावे'** इत्यादि से प्रसिद्ध है, जिस इस समब्रह्मात्मक अद्वय, अविभक्त अव्ययात्मा के संग्राहक 'सम्' के सम्बन्ध से ही तत्कृति **'संस्कृति'**, तद्भावप्रधाना भाषा-**'संस्कृत'**, एवं तदनुबन्धी आचारविशेष **'संस्कार'** आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। स्वायम्भुव ब्रह्मा का ज्ञानमय तप क्योंकि अव्ययब्रह्मात्मक समब्रह्म की मूल–प्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव अवश्य ही इस **'तप'** को--**'सम्'** से समन्वित होने से **'संताप'** कहा जासकता है, जिसके अनुगमन से ज्ञानसम्पत्ति की ही अभिव्यक्ति मानी है तत्तपोयुक्त महर्षियोंनें।

**'ऋषिप्राण'** ही इस सन्तापात्मक 'तप' की मौलिक उपनिषत् है। स्वायम्भुव उस **यजुःप्राण** का ही नाम 'ऋषि' है, जो कि सद्घन--सद्रूप होने से **'असत्'** नाम से प्रसिद्ध है (*), जिसे कि पञ्चपर्वा, किंवा त्रिपर्वा विश्व का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। **ऋक्--साम--रूप** वयोनाधात्मक छन्द से छन्दित स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय यजुर्वेदात्मक मौलिक प्राण का ही नाम स्वयम्भू ब्रह्मा का तथोक्त **'ज्ञानीय--तप'** है, जिस इस मौलिक ज्ञानीय--ऋषितप से ही सम्पूर्ण विश्व अभिव्यक्त हुआ है। **स्वायम्भुव सत्य--ब्रह्मा-**रूप महदुक्थ से विनिर्गत, **परमाकाशात्मक** स्वायम्भुव **'महिमाकाश'** ( **परमव्योम** ) में आसमन्तात् व्याप्त ऋषिप्राणप्रधान इसी ज्ञानीय तप की व्याप्ति का स्थान--**'तपोलोक'** नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ मात्रारूपेण स्वायम्भुव सत्य–ऋत--सूत्रों ( नेत्रों ) के द्वारा वह विनिर्गत होकर सब में ज्ञानमात्रा का प्रसार किया करता है। सत्य--ऋत–नेत्रों से सर्वत्र व्याप्त, स्वायम्भुव ऋषिप्राणमूर्त्ति, स्वायम्भुव परमाकाश में व्याप्त, सद्भावा--पन्न, अतएव **'असत्'** नाम से प्रसिद्ध, अव्ययात्मा के **'सम्'** भावात्मक ज्ञान की प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित, अत-

÷--इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये मनः स्थितम्।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

—गीता

*–असद्वा–इदमग्र आसीत्। तदाहुः–किंतदसदासीदिति, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदा--सीत्। तदाहुः–के ते ऋषय इति, प्राणा वा ऋषयः।

—शत० ६।१।१।१।

एव ज्ञानमय, अतएव च--'सम्' भाव से समन्वित ज्ञानीय तपोरूप, प्रथम स्वायम्भुव **सन्तापार्थक-तप** का यही संक्षिप्त चिरन्तन इतिवृत्त है।

त्रैलोक्य-विद्यावित् विद्वान् जानते हैं कि, लोकाधिष्ठाता-विश्वाधिष्ठाता षोडशीप्रजापति का पाञ्चभौतिक शरीर **'सप्तवितस्ति'** रूप है, जैसाकि-**'सप्तवितस्तिकायः'** ÷ से प्रसिद्ध है। **भूः--भुवः--स्वः--महः--जनत्--तपः-सत्यम्**, सुप्रसिद्ध ये सात लोक ही उस लोकी प्रजापति का ( आत्मा ) सप्तव्याहृत्यात्मक सप्त-वितस्ति--रूप वैसा ही चतुरशीति अङ्गुलिमित शरीर है, जैसाकि गायत्र--प्राणसम्बन्ध से मानव का शरीर **अष्ट**-प्रादेशमित बनता हुआ चतुरशीति--अङ्गुल है। यदि मानव अपनी प्रत्येक अवस्था (**'वय'**) में स्वाङ्गुलि--परिमाण से अष्टप्रादेशात्मक बनता हुआ चतुरशीतिरङ्गुलिमित-शरीरी है, तो तदभिन्न, तत्प्रतिष्ठारूप वह विश्वेश्वरप्रजापति भी स्वाङ्गुलिपरिमाण से उक्त सात वितस्तियों के मापदण्ड से चतुरशीतिरङ्गुलिमित-शरीरी ही प्रमाणित होरहा है।

सुप्रसिद्ध तथाकथित पाँचों विश्वपर्वों में प्रथम भूपिण्ड ही **'भूर्लोक'** है, तृतीय-सूर्य्य ही-**'स्वर्लोक'** है, दोनों के मध्यम का चन्द्रोपलक्षित द्वितीय अन्तरिक्ष ही-**'भुवर्लोक'** है। परमेष्ठी **'जनल्लोक'** है। सूर्य्य-तथा परमेष्ठी का मध्यन्तरिक्ष-**'महर्लोक'** है। स्वयम्भू **'सत्यलोक'** है। एवं परमेष्ठी, तथा सूर्य्य का ज्ञानीय-ऋषिप्राणात्मक लोक ही- **'तपोलोक'** है। यों पाँच पर्वों में सात लोक अन्तर्भूत हैं। ये ही सुप्र-सिद्ध-**भूः-भुवः-स्वः--महः--जनत्-तपः--सत्यम्**-- नाम की सप्त **लोकव्याहृतियाँ** हैं, जिन में ६ ठा लोक ही-स्वायम्भुव-ज्ञानीय-तपोमय-लोक है, और इसी का नाम है- **सन्तापात्मक**, अर्थात् **'समब्रह्मानुगत'** तप, और यही है तीनों तपों में से ब्रह्मानुगत प्रमुख, सर्वप्रधान, सर्वप्रतिष्ठारूप मौलिक तप, जिस इस ज्ञाना-त्मक, आत्मनिबन्धन **'ब्राह्मतप'** के बिना अन्यान्य सभी तप अप्रतिष्ठित, अतएव यातयाम (निरर्थक) ही प्रमाणित होजाया करते हैं।

अब क्रमप्राप्त दो शब्दों में उस दूसरे **'तप'** धातु के चिरन्तन इतिवृत्त का भी अन्वेषण कर लीजिए, जिस का अर्थ माना गया है-**'ऐश्वर्य्य'**। सन्तापरूप **ऋषितप** ( ज्ञानीय तप ) ने क्या किया ?, सर्व-प्रथम इस **ऋषितप** से क्या उत्पन्न हुआ ?, प्रश्न का समाधान है-**'अप एव ससर्जादौ'** *। सर्वप्रथम **'अप्'**--तत्त्व (**प्राणात्मक ऋतधर्म्मा आपः**) ही उत्पन्न हुआ। यजुर्म्मूर्त्ति स्वायम्भुव-ऋषि-प्राण का ज्ञानीय-व्यापार ही सन्तापात्मक तप था। इस सन्तपनरूप तप से यजू का-'जू' रूप वाग् भाग उसी प्रकार **'चू'**

---

÷-**क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निर्वाभूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकाः।**
**क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताभ्ररोमविवरस्य च ते महित्त्वम्॥**
श्रीमद्भागवते

* **सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।**
**अप एव ससर्जादौ तासु वीजमवासृजत्॥**
—मनुः १।८।

पड़ा, जैसे कि ज्ञानीय तप से मानव का जूरूप वाग्भाग द्रुत होपड़ता है । वह द्रुतभाग ही स्वयम्भू ऋषि-ब्रह्म (ब्रह्म) का वह-'स्वेद' ( पसीना ) कहलाया, जिसे-'सुवेदात्मक--अथर्ववेद' कहा जाता है। ब्रह्म-स्वयम्भू के तप से अभिव्यक्त यह स्वेद्धारा ललाट से चारों ओर उसी प्रकार बह निकली, जैसे कि ज्ञानीय तप से ज्ञाननिष्ठ के वागाकाश ('शरीरकाश') से स्वेदधारा 'ललाट' को उपक्रम बना कर चारों ओर प्रवाहित होजाती है। ज्ञानीय-तप से सर्वप्रथम ललाट प्रदेश में हीं स्वेदकरण अभिव्यक्त होते हैं। ठीक यही स्थिति वहाँ घटित हुई। निम्न लिखित गोपथश्रुति इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रही है—

**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्- स्वयन्त्वेकमेव । तदभ्यश्राम्यत्, समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य, सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः, यदार्द्र्यं–आजायत, तेनानन्दत् । सुवेदोऽभवत् । तं वा एतं 'सुवेदं' सन्तं 'स्वेद' इत्याचक्षते । स भूयः समतपत् । तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथग् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त ।**

**—गोपथब्राह्मणे १।१।२,**

निवेदनीय यही है कि, ऋषिप्राणात्मक 'यत्' के व्यापार से-'जू' रूपा स्वायम्भुवी वाक् ही एकांश से ( यत्किञ्चिदंश से ) द्रुत होपड़ी । 'सोऽपोऽसृजत वाच-एव लोकात् । वागेव सा ऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोत्, तस्मादापः । यदवृणोत्--तस्माद्--वाः' (वारि'--शत० ६।१।२।७।) के अनुसार यों स्वायम्भुव--सन्ताप से जूरूपा वाग्भाग से सर्वप्रथम आप्तिधर्म्मा अप्तत्त्व ही उत्पन्न होगया, जिस इस आपो-मय द्वितीय विश्वविवर्त्त को ही-'परमेष्ठी' कहा जाता है, जिस का आप्तिधर्म्मा-मैथुनीसृष्टिप्रवर्त्तक प्राण ही 'पितरप्राण' नाम से प्रसिद्ध है। 'ऋषिभ्यः पितरो जाताः' इस मनुवचन का भी यही रहस्यार्थ--समन्वय है।

स्वायम्भुव ब्रह्मा के सन्ताप-रूप ज्ञानीय आर्षतप (ऋषितप) से तद् 'जू' रूप वाग्भाग से सर्वप्रथम उत्पन्न आपोमय परमेष्ठी सचमुच ही तो सम्पूर्ण विश्व का समृद्धिजनक महान्– 'ऐश्वर्य्य' है। लोक-सामान्य में ऐश्वर्य्य-'सम्पति' नाम से प्रसिद्ध है। क्या स्वरूप है-इस 'लोकसम्पत्ति' का ?। क्या भातिसिद्ध पत्रखण्डों (नोटों) का नाम लोकसम्पत्ति, किंवा लोकैश्वर्य्य है ?। नेति होवाच। तो आइए ! ऋषिदृष्टि के माध्यम से आज हम आप को लोकैश्वर्य्य की स्वरूप-- दिशा से परिचित करादें, जिस अपनी इस ऐश्वर्य्य–सम्पत्ति से साम्प्रदायिक--वारुणपाश में आबद्ध होता हुआ भारतीय मानव अनात्मवादमूलक विगत तीन सहस्रवर्षों से उत्तरोत्तर वञ्चित ही होता आरहा है।

शब्दसम्पत्ति, और अर्थसम्पत्ति, इन दोनों सम्पत्तियों की समन्वितावस्था का नाम ही है--'पदार्थ', जो असंख्य–संख्या में विभक्त हैं। 'पदार्थ' शब्द में 'पद', और 'अर्थ' दो भाव सन्निविष्ट हैं। 'पद' का नाम है शब्द, एवं 'अर्थ' का नाम है–शब्द के द्वारा गृहीत वस्तुतत्त्व। यों 'पदार्थ' शब्द के द्वारा शब्द, और अर्थ, दोनों का संग्रह होरहा है। कैसे पदार्थ !, जो प्रकृतिसिद्ध हैं, ईश्वरीय हैं। सुवर्ण-रजत-ताम्र–लौह–सीसक--अभ्रक--पारद--ओषधि–वनस्पति–पृथिवी–वायु–चन्द्रमा-सूर्य्य–जल-अग्नि–पशु–पक्षी-

**मानव-ऋषि-पितर-गन्धर्व यक्ष**-आदि आदि नामों से प्रसिद्ध ईश्वरीय-सृष्टि के सत्तासिद्ध पदार्थ ही वास्तव में 'पदार्थ' हैं, जो समष्ट्या-व्यष्ट्या उभयथा **'शब्द, और अर्थ'** दोनों सम्पत्तियों से समन्वित माने गए हैं। **शब्दात्मिका सम्पत्ति**, तथा **अर्थात्मिका सम्पत्ति**, इन दोनों सम्पत्तियों की मूलाधिष्ठात्री देवता ही भारतीय **'देवताविज्ञान'** में क्रमशः **'श्रीः'-'लक्ष्मीः'** नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। **शब्दैश्वर्य्य** का नाम है-**'श्रीः'**, एवं **अर्थैश्वर्य्य** का नाम है-**'लक्ष्मीः'**। एवं इनका पारिभाषिक तात्त्विक नाम है-**सरस्वती**, और **आम्भृणी**। सरस्वतीरूपा 'श्रीः', तथा-आम्भृणीरूपा लक्ष्मी, इन दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही ऐश्वर्य्य' है, जिसका मूल उद्गमस्थान **है-'आपोमय परमेष्ठी'**। कथमिति चेत् ?, श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यव-धार्य्यताम् !!

जिस स्वायम्भुव तप (सन्तपनरूप ज्ञानीय तप) से अप्तत्त्व की उत्पत्ति बतलाई गई है, वह स्वायम्भुव-तप अपनी वाग् ( जू ) के एकांश से इस आपोमय परमेष्ठी को उत्पन्न कर शेषांश से-**'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं निरवर्त्तत'** ( शत० ६।१।१।५। ) के अनुसार उस आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में आत्मप्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित होजाता है। यों अब परमेष्ठी के **आपोरूप**, तथा तद्गर्भी-भूत **ऋषिप्राणरूप**, भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। स्वयम्भू का यजुर्भाग् **यत्-जूः** रूप **प्राण-वाक्** भेद से स्वयं द्विधा विभक्त था। **'यत्'** गतिप्रकृतिक ऋषिप्राण था, तो **'जू'** स्थितिप्रकृतिक वाक्तत्त्व था। वे दोनों **गति-स्थिति**-भाव परमेष्ठी में समन्वित होगए। ऋषिप्राणात्मक गतिभाव तो परमेष्ठी में **शब्दसृष्टि** का आधार बना, एवं पितरप्राणात्मक-स्थितिभावात्मक-आपोभाव परमेष्ठी में-**अर्थसृष्टि** का प्रवर्त्तक बना। वहाँ की गति ( प्राण ) यहाँ- **'सरस्वती'** कहलाई, एवं वहाँ की स्थिति ( वाक् ) यहाँ **आम्भृणी** कहलाई। अतएव इन दोनों पारमेष्ठ्य विवर्त्तों में प्रधान ऐश्वर्य्य **'सरस्वती'** ही मान लिया गया, जिसकी प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर ही आम्भृणीदेवी अर्थसृष्टि में समर्थ बना करती है। अतएव आगे चलकर 'ऐश्वर्य्य' का प्रधान स्थान **सारस्वतक्षेत्र** ही मान लिया गया।

शब्दात्मिका ज्ञानसम्पत्ति का ही नाम है-**सरस्वती**, इसी का नाम है-**'श्रीः'**, और यही है मौलिक-**'ऐश्वर्य्य'**। एवं अर्थात्मिका भूतसम्पत्ति का नाम ही है-'आम्भृणी', इसी का नाम **है-'लक्ष्मी'**, और यही **है 'लोकलक्ष्मी'**। श्री ही लक्ष्मी की प्रतिष्ठा है। श्रीविहीना लक्ष्मी तो कालान्तर में आत्यन्तिक जड़ता की प्रवर्त्तिका बनती हुई मानव को अलक्ष्मीभाव में हीं परिणत कर दिया करती है। ज्ञानसम्पत्ति ही अर्थात्मिका-भूतसम्पत्ति की मूलाधिष्ठात्री बना करती है। **अन्यथा मूर्खों की लोकलक्ष्मी का उपभोग तो बुद्धिमान् ही कर लिया करते हैं**। अतएव मानना पड़ेगा कि, वास्तविक-ऐश्वर्य्य सारस्वतक्षेत्र से ही अनुप्राणित है। और यही **ऐश्वर्य्यरूपा सम्पत्ति** का संक्षिप्ततम स्वरूप-दिग्दर्शन है *।

पारमेष्ठ्य-मण्डलानुगता शब्दधारात्मिका सरस्वतीधारा का ही वैज्ञानिक नाम है-**अङ्गिराधारा**, एवं अर्थधारात्मिका आम्भृणीधारा का ही नाम **है-'भृगुधारा'**। स्वायम्भुव-**'गति'** तत्त्व का ( प्राणात्मक-**'यत्'**-, तत्त्व का ) पारमेष्ठ्यरूप ही है-विकासधर्म्मा-**'तेजोभाव'**। इसी का नाम **है-'अङ्गिरा'**, यही **है-'सरस्वती'**,

* विस्तार के लिए देखिए-**'सांस्कृतिक-निबन्ध'** का **'दीपावलीपर्व'** नामक स्वतन्त्र प्रकरण

और यही है शब्दसृष्टि की मूलाधिष्ठात्री। तथैव स्वायम्भुव-'**स्थिति**' तत्त्व का ( वागात्मक--'**जू**' तत्त्व का ) पारमेष्ठ्यरूप ही है--संकोचधर्म्मा-'**स्नेहभाव**', इसी का नाम है-'**भृगु**', यही है '**आम्भृणी**', और यही है-अर्थसृष्टि की अधिष्ठात्री। तदित्थं-उभयसम्पत्तियों से समन्वित, तेजः--स्नेह-प्राणात्मक--अङ्गिरा-भृगुमय-इसी पारमेष्ठ्य-'**अप्**' तत्त्व का नाम है--'**ऐश्वर्य्य**', जिसके बिना विश्व का ऐश्वर्य्य क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। अप्तत्त्व की इसी उभयधर्म्मता का विस्पष्ट शब्दों में दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है—

**आपो भृग्वङ्गिरोरूप, मापो भृग्वङ्गिरोमयम्।**
**अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥**
—गोपथब्राह्मणे

स्वायम्भुव ब्रह्म का तप मनस्त्वेन **ज्ञानमय** था, तो पारमेष्ठ्य विष्णु का तप प्राणत्वेन **क्रियामय है, कर्म्ममय** है। **भार्गव सोम, आङ्गिरस** अग्नि, दोनों के तपोमूलक सम्मिश्रण का नाम ही-'**यज्ञ**' की मौलिक-स्वरूप-परिभाषा है। यह भार्गवाङ्गिरस--तपोरूप यज्ञ क्रियाशक्तिप्रधान ब्रह्माक्षरात्मा से अनुप्राणित है। अतएव **यज्ञ**, और **कर्म्म** अभिन्नार्थक मान लिए गए हैं, जैसाकि--'**श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे**' ( यजुः १।१ ) के व्याख्या-भूत--'**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म**' ( शत० ) इत्यादि ब्राह्मणवचन से स्पष्ट है। भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही-'**विष्णु**' हैं। ये ही भार्गवाङ्गिरस--यज्ञ के प्रवर्त्तक हैं। अतएव-'**यज्ञो वै विष्णुः**'-'**विष्णुर्वै यज्ञः**' इत्यादि निगम भी निर्विरोध समन्वित हैं। श्री, और लक्ष्मी, दोनों यज्ञमूर्त्ति इसी विष्णु की पत्नियाँ मानीं गईं हैं पुराणशास्त्र में। श्री को वक्षस्थलस्थिता बतलाया गया है, एवं लक्ष्मी को अर्द्धाङ्गिनी माना गया है, जैसाकि अमुक महाभारतीय-प्रसङ्ग से स्पष्ट कर दिया है पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने ( देखिए महाभारत अनु० प० ) सरस्वतीवाङ्मय ( शब्दवाङ्मय ) आङ्गिरस तत्त्व ही 'श्रीः', है, एवं आम्भृणीवाङ्मय ( अर्थवाङ्मय ) भार्गव तत्त्व ही--'लक्ष्मीः है', जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। लोकैश्वर्य्यसंसाधक यज्ञात्मक कर्म्म में क्योंकि प्राकृत विश्व में पारमेष्ठ्य-भार्गवाङ्गिरस तप ही प्रमुख है। यही कारण है कि, प्रकृति के **हविर्यज्ञ** में--'**अथाङ्गारैरभ्यूहति-भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्**' इत्यादिरूपेण यज्ञैश्वर्य्यात्मक लोकैश्वर्य्य के संसाधक इस दूसरे वैष्णव-भार्गवाङ्गिरस-'**तेजिष्ठ-तप**' का ही समन्वय हुआ है, जैसाकि उसी सन्दर्भ के-'**एतद्वै तेजिष्ठं तेजः--यद्भृग्वङ्गिरसाम्**' इत्यादि उत्तर वाक्य से स्पष्ट है।

अब शेष रह जाता है भूः--चन्द्र-गर्भित सौरमण्डल। तदनुबन्धी तप ही '**माहेश्वरतप**' कहलाया है, जिसका प्रधानरूप से--'**दाहकता**' से ही सम्बन्ध माना गया है। भूतपति, त्रिनेत्र महेश ही रोदसीत्रिलोकी के अधिष्ठाता हैं। '**रुद्र**' ही इनका मूलस्वरूप है, जो कि--'**अग्निर्वा रुद्रः**' के अनुसार अग्निप्रधान हैं। अतएव '**रोदसी**' को-'**रुद्रपत्नी**' माना है शास्त्र ने। '**सोऽरोदीत्--तद्रुद्रस्य रुद्रत्त्वम्**' ही रुद्र का स्वरूप--परिचय है। अपनी प्रचण्डतमा दाहकशक्ति से ये ही विश्व के संहारक हैं। अतएव रुद्रात्मक इस **सौरतप** को अवश्य ही हम--'**दाहार्थक-तप**' कह सकते हैं। और यही क्रमप्राप्त तीसरा तपोविवर्त्त है।

निष्कर्षतः स्वायम्भुव **ब्राह्मतप** '**सन्तापार्थक तप**' है, जिसका सुप्रसिद्ध ६ ठे '**तपोलोक**' से सम्बन्ध है। पारमेष्ठ्य **वैष्णवतप** ही '**ऐश्वर्य्यार्थक तप**' है, जो **भार्गवाङ्गिरस तप** है। एवं सौर-**रौद्रतप** ही-

**'दाहार्थक तप'** है, जो **अग्निप्रधान तप है**। इसप्रकार तीन विश्वसंस्थानों के अनुबन्ध से तपोभाव क्रमशः त्रिसंस्थ बन जाता है, जिसके **ब्रह्मा विष्णु-महेश,** तीन विश्वदेवता मूलप्रवर्त्तक बने हुए हैं। तीनों विश्व-देवता आत्मब्रह्म के-**अमृत-ब्रह्म-शुक्र**-नामक तीन विवर्त्तों से क्रमशः अनुप्राणित हैं, जो कि तीनों आत्म-विवर्त्त **मनः-प्राण-वाक्**-प्राधान्य से **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**-शक्तिमय बने हुए हैं। अतएव सन्तापात्मक ब्राह्मतप को **ज्ञानात्मक तप** कहा जायगा, ऐश्वर्य्यात्मक वैष्णवतप को **कर्म्मात्मक तप** माना जायगा, एवं दाहात्मक तप को **रौद्रतप** माना जायगा। तीनों हीं तपों का अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध कालसूक्त में सर्वथा पृथक्-त्वेनैव स्वरूप-दिग्दर्शन हुआ है *। कालसूक्त में काल से तीन स्थानों पर तपः का आविर्भाव बतलाया गया है कालविवर्त्तों से। अवश्य ही तीनों का स्वरूप पृथक् पृथक् ही होना चाहिए। अन्यथा मन्त्रद्रष्टा ऋषि एक ही कालसूक्त में विभिन्नरूपेण कदापि तीन बार 'तपः' का उल्लेख न करते। **'काले तपः-काले ज्येष्ठं-काले ब्रह्म-समाहितम्'** मन्त्र का **'तपः'** शब्द सन्तापार्थक स्वायम्भुव **ब्राह्मतप** का ही संग्राहक बन रहा है। उसी सूक्त के **'कश्यपः कालात् तपः-कालादजायत'** मन्त्र का 'तपः' शब्द दाहार्थक सौर-**रौद्रताप** का ही संग्रह कर रहा है। एवं-**'कालादापः समभवन्-कालात् तपो दिशः'** मन्त्र का **'तपः'** शब्द ऐश्वर्य्यार्थक पारमेष्ठ्य-वैष्णव तप का ही संग्राहक बन रहा हैं। तीनों तपों से अनुप्राणित **समाहितम्-समभवत्-आजायत,** तीन विभिन्न क्रियापद भी तीनों के पार्थक्य की ओर ही सङ्केत कर रहे हैं। ब्राह्मतप ज्ञानमय बनता हुआ शाश्वत-सनातन-तप है। अतएव उसके लिए-**'काले-समाहितम्'** कहना हीं अन्वर्थ है। वैष्णव तप ऐश्वर्य्यात्मिका सम्भूति का प्रवर्त्तक है। अतएव तत्सम्बन्ध में-**'कालात्-तपः समभवत्'** कहना हीं अन्वर्थ है। तीसरा रौद्रतप अपनी उत्पन्न-विनाश-शालिनी भौतिकता से क्योंकि परिवर्त्तनशील है। अतएव इसके लिए-**'तपः कालादजायत'** कहना हीं समीचीन है।

मानवीय अध्यात्मसंस्था का शरीर ही इसका विश्व है, जिसके **कारण-सूक्ष्म-स्थूल**-भेद से अधि-दैवतवत् तीन हीं प्रमुख विवर्त्त हैं। कारणशरीर का ही नाम **विज्ञानबुद्धि है,** सूक्ष्मशरीर का ही नाम **प्रज्ञानमन** है, एवं स्थूलशरीर का ही नाम **भौतिकशरीर** है। तीनों क्रमशः **ब्राह्म-वैष्णव-रौद्र**-हैं। रुद्राग्नि की चितिमूला सञ्चिति से ही पञ्चचितिक भौतिक शरीर का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। ( देखिए शत० ७।१।१।१-५ पर्य्यन्त )। **'शान्तरुद्रिय'** नामक सुप्रसिद्ध **'शतरुद्रियान्न'** से ही भूतशरीरानुगत रुद्रताप को उपशान्त माना है श्रुतिने तत्रैव। फलतः भौतिक-स्थूलशरीर का रुद्रतपोभावत्व सर्वात्मना संसिद्ध होजाता है। दूसरा सौम्य मनस्तन्त्र प्रत्यक्ष में हीं अपने सोमात्मक पारमेष्ठ्य-धर्म्मानुबन्ध से पारमेष्ठ्य वैष्णवतप का प्रतिरूप प्रमाणित होरहा है। तीसरा विज्ञानबुद्धिरूप कारणशरीर अपने ज्ञानभाव से ब्राह्मतप का प्रतिरूप बना हुआ है। और यों मानव के शरीरत्रयात्मक **बुद्धि-मनः-शरीर**-नामक तीनों विश्वतन्त्र अधिदैवत-संस्था के तीनों तपोभावों से क्रमशः समन्वित होरहे हैं।

प्राकृतिक-आधिदैविक-संघर्षात्मक तीनों हीं तपों का प्राथमिक परिणाम 'अप्तत्त्व' ही माना गया है। ब्राह्मतप से उत्पन्न **'आपः'** ही-**'स्वेद'** नामक पारमेष्ठ्य-**ऋत-अथर्वारूप सुवेद** है, जिसका शीर्ष-

---

*-विस्तार के लिए देखिए-**'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'** नामक सहस्रपृष्ठात्मक स्वतन्त्र-निबन्ध

स्थानीय स्वायभुव ललाट से ही सर्वप्रथम उपक्रम होता है। वैष्णवतप से उत्पन्न 'आपः' ही **श्रद्धा** नामक वह **'अम्भः'** तत्त्व है, जिसे परमभाग्यशाली भारतराष्ट्र **गाङ्गेय तोयात्मिका-'ब्रह्मद्रवी'** के रूप में उपलब्ध कर रहा है। एवं तीसरे सौर–रौद्रतप से उत्पन्न आपः ही **'मरीचि'** नाम से सुप्रसिद्ध है, जिस का मूर्त्तरूप भारतराष्ट्र को **'यामुनेय'** ( **यमुनाजल** ) के रूप में उपलब्ध होरहा है। **गाङ्गेयतोय** ( **गङ्गाजल** ) पारमेष्ठ्य पवित्र सोम के सम्बन्ध से जहाँ **शीतप्रकृतिक है**, वहाँ यामुनेयतोय **(यमुनाजल)** सौर मरीचि के सम्बन्ध से **अग्निप्रकृतिक** ही माना गया है।

अधिदैवत–स्थिति के अनुसार ही मानव की अध्यात्मसंस्था में भी–**बौद्धिक-मानसिक-शारीरिक** तापरूप **ब्राह्म-वैष्णव–रौद्र--तापों** से त्रिविध अप्तत्त्व अभिव्यक्त होता है, जिस अप्तत्त्व का **'अश्रु--संक्षरितमासीत्'** श्रुति के अनुसार एक साङ्केतिक नाम **है–'अश्रु'**। ब्राह्म तपोरूप–ज्ञानप्रधान–बौद्धिक तप ही– **'परिश्रम'** कहलाया है। इस से होने वाले संघर्ष से उत्पन्न **'अश्रु'** ही **'परिश्रमाश्रु'** कहलाएँ हैं, जो प्रकृतिवत् सर्वप्रथम मानव के ललाट प्रदेश में हीं **'स्वेदकण'** रूप से अभिव्यक्त होते हैं। परिणाम है इन अश्रुओं का शान्तानन्द की प्राप्ति (देखिए गोपथ–पू० १।१।१। )। वैष्णव तपोरूप-कर्म्मप्रधान-श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेहादि-वृत्तिसमन्वित मानसिक तप ही–**'श्रम'** कहलाया है। इस से उत्पन्न संघर्ष से सर्वप्रथम मानव के चक्षुर्द्वार से ही अप्तत्त्व विनिर्गत होता है, जिन का नाम **है–'प्रेमाश्रु'**, जो कि सुखकर, तथा **ऐश्वर्य्य** के प्रवर्त्तक माने गए हैं। तीसरे सौर–रौद्र–तपोरूप-भूतप्रधान–शारीरिक–तपः संघर्ष से उत्पन्न दाहक अप्तत्त्व का नाम **है–'सेवा'**, जिस के सामान्यवेग–से तो सर्वाङ्गशरीर से ही स्वेद निकलते हैं। किन्तु यही यदि प्रच–ण्डरूप में परिणत होजाता है, तो यही **'शोकाश्रु'** रूप में परिणत होता हुआ–चक्षुर्द्वार से निकल–पड़ता है सम्पूर्ण शरीर को दग्ध ही करता हुआ। प्रेमाश्रु का संवरण जहाँ स्वास्थ्यप्रद माना गया है, वहाँ शोकाश्रु का संवरण–स्तम्भन–अत्यन्त ही हानिकर माना गया है। इस वेग का तो बहिर्विनिर्गत होजाना हीं श्रेयः–पन्था है।

यह है 'तपः' शब्द की त्रिधा व्याप्ति के चिरन्तन-इतिवृत्त का संक्षिप्त-स्वरूप-निदर्शन, जिसे आधार बना कर ही मानव को, विशेषतः भारतीय-मानव को, तत्रापि श्रुति-स्मृति-पुराणनिष्ठ-सांस्कृतिक- मानव को तीनों तपोभावों के समन्वय से ही अपना 'तपः' कर्म्म व्यवस्थित करना चाहिए, जो कि समन्वयात्मिका यह आर्ष-तपो-व्यवस्था साम्प्रदायिकों के काल्पनिक-तपोभाव से, साधु-सन्तों के कायक्लेशात्मक-प्रदर्शनात्मक-तपोमय आडम्बरों से, और प्रक्रान्त युग के काल्पनिक-त्याग-तपस्या-बलिदानों के भावुकतापूर्ण विजृम्भणों में आपाद-मस्तक निमज्जित-भावुक-देशाभिमानियों ( अतिमानियों ) के सेवात्मक-तपोभावों से, एवमेव अन्यान्य भी ज्ञात-अज्ञात अनेक कारणों से सर्वथैव अन्तम्मुर्खा बन गई है। जिसे आज तपस्या, त्याग, और बलिदान कहा जारहा है, उस का तो दाहात्मक-भौतिक-ताप–मात्र से ही सम्बन्ध है, जिस का एकमात्र फल माना गया है- 'शोकाश्रु'। रुद्र-भावापन्न इस केवल भौतिक-तप से तो-**'सोऽरोदीत्'** के अतिरिक्त अन्य कोई भी परिणाम नहीं निकला करता तबतक, जबतक कि इस भौतिक तप के मूल में हम भृग्वङ्गिरोमूलक-पारमेष्ठ्य तप प्रति--ष्ठित-नहीं कर लेते। क्योंकि यही पारमेष्ठ्य तप ऐश्वर्य्य का, तन्मूला श्रीः, और **लक्ष्मीः** का संसाधक माना गया है, जिसे विस्मृत कर, किंवा उपेक्षित कर, और आज की भाषा में **निरपेक्ष** मान कर हमने भारतराष्ट्र के ऐश्वर्य्य को सर्वथा ही पराङ्मुख कर लिया है। इस भार्गवाङ्गिरस-ऐश्वर्य्यसंसाधक-पारमेष्ठ्य-तप का अनु-

यह तभी सम्भावित है, जब कि इस वैष्णवतप के मूल में हम ज्ञानमय- ब्राह्मतप प्रतिष्ठित करलें। वही वास्तविक तप है। अतएव भारतराष्ट्र की राष्ट्रीय-कामनाओं का स्वरूप-दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने— **'आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्'** इत्यादि रूप से सर्वप्रथम प्रजापति से इस राष्ट्र के ज्ञानगोप्ता ब्राह्मण के लिए ब्रह्मवर्चोरूप ज्ञानमय ब्राह्मतप ही याञ्चा अभिव्यक्त की है, इत्यलमतिपल्लविलेन 'तपः'-शब्द-स्वरूपदिग्दर्शनेन। तालिकारूपेण हमें तपः शब्द के तथोक्त चिरन्तन इतिवृत्त का मनन-निदिध्यासन करना चाहिए। एवं तन्माध्यम से-ब्राह्मतप के आधार पर, माहेश्वरतप के द्वारा भार्गवाङ्गिरस तप को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए, जैसाकि श्रुति के इस उदात्त-उद्घोष से स्पष्ट है कि—

## 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' ॥१३॥

१--स्वायुम्भव--ब्राह्मतप—अमृताव्ययानुगत—मनोऽनुगत--ज्ञानमय--तप

२—पारमेष्ठ्य--वैष्णवतप—ब्रह्माक्षरानुगत—प्राणानुगत--क्रियामय--तप

३--सौर——रौद्रतप——शुक्रक्षरानुगत—-वागनुगत—अर्थमय—तप

*

१--बौद्धिक तप— परिश्रमात्मक--(परिश्रमाश्रु से समन्वित)—सन्तापात्मक-तप

२--मानसिक तप--श्रमात्मक—-(प्रेमाश्रु से समन्वित )—ऐश्वर्य्यात्मक-तप

३-शारीरिक तप--सेवात्मक—-(शोकाश्रु से समन्वित )—दाहात्मक-तप

## इति तपःस्वरूपदिग्दर्शनम्

———*———

'ईशावास्यमिदं सर्वम्'–'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रौत वाक्यों के अनुसार विश्व के यच्चयावत् पदार्थ ब्रह्मसत्ता से आक्रान्त हैं। ब्रह्मतत्त्व **'नित्यं विज्ञानमानन्दं** ब्रह्म' के अनुसार **नित्यविज्ञानघन है, आनन्दमय है।** ऐसी अवस्था में नित्य–विज्ञान–आनन्दमूर्त्ति ब्रह्ममय पदार्थों को परमार्थ-दृष्टि से कभी 'अचेतन' नहीं बतलाया जासकता। साधारणदृष्टि से व्यवहार–मर्य्यादा के निर्वाह के लिए यद्यपि **जड़–चेतन** व्यवहार ठीक है। परन्तु परमार्थदृष्टि–से विज्ञानकोटि में यह भेद निरर्थक ही सिद्ध होजाता है। वैज्ञानिक महर्षि प्रत्येक पदार्थ को अव्यय के **श्वोवसीयस्मन से ज्ञानयुक्त,** अव्यय के **प्राणतत्त्व से** क्रियायुक्त, एवं अव्यय के **वाक्तत्त्व से अर्थयुक्त देखते हैं।** प्रत्येक पदार्थ **'अर्थ'** है। उस में अर्थाधारभूता **'क्रिया'** है। क्रिया में अन्तःस्यूत क्रियाधार **'ज्ञान'** है। प्रत्येक पदार्थ क्रियामय है, यह सिद्धान्त निर्विवाद है। उधर क्रिया विना ज्ञान के सम्भव नहीं, यह सिद्धान्त भी स्वतः सिद्ध है। सुतरां पदार्थमात्र का **'चेतनत्त्व'** सिद्ध होजाता है। इसी नित्यसिद्ध चैतन्यवाद को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने **दृषत्,** और

कृष्णमृगचर्म्म को 'चेतन' मानते हुए **'तन् संज्ञामेवैतद् वदति–नेदन्योऽन्यं हिनसातै'** ये अक्षर कहे हैं। दृषत् पाषाणमयी है। पाषाण उपर्युक्त–घन–तरल–विरलावस्था–विज्ञान के अनुसार ध्रुवकोटि में प्रविष्ट होता हुआ निदान के द्वारा पृथिवी है। उधर कृष्णमृगचर्म्म पृथिवी की त्वचा है, जैसाकि कृष्णमृगचर्म्मा–स्तरण–प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। दृषत् पर उपल के द्वारा पेषणक्रिया के होने से कृष्ण–मृग चर्म्म पर आघात होना स्वाभाविक है। क्योंकि दृषत् चर्म्म पर ही प्रतिष्ठित रहती है। इस आघात से चर्म्म में क्षोभभाव उत्पन्न होता है। क्षोभ हिंसामूलक है। हिंसामूलक क्षोभ यज्ञ का विघातक है। इस अनिष्ट को दूर करने के लिए ही **"अदित्यास्त्वग् वेत्त"** कहा है। सजातीय वस्तुओं के संघर्ष से उत्पन्न होने वाला क्षोभ हिंसा का कारण नहीं बनता। एक ही प्रासाद में १० सजातीय बन्धु कष्ट पाकर भी रहजाते हैं। असुविधा रहने पर भी खटपट नहीं होती। परन्तु विजातीय अन्य एक व्यक्ति के प्रविष्ट होने से असुविधा का अनुभव होने लगता है। कृष्णमृगचर्म्म, और दृषत् सजातीय हैं, इस मनोभाव को दृढ़ करने के लिए ही पूर्वोक्त वाक्य कहा गया है ॥१४,१५॥

दृषत् के पश्चिमभाग में शम्या रक्खी जाती है। पूर्वादिक् देवताओं का स्थान है। इसीलिए वेदि **प्राक्प्रवणा** (पूर्व की ओर झुकी हुई) बनाई जाती है। इसी दिव्यभाव की प्राप्ति के लिए शम्या को पश्चिमभाग में दृषत् के नीचे रक्खा जाता है। शम्या निदान के द्वारा अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्षने हीं द्यावा–पृथिवी के स्वरूप को विभक्त कर प्रतिष्ठित कर रक्खा है। आगे उपल को द्युलोक की प्रतिकृति बतलाने वाले हैं। द्युलोकरूपा उपल की शम्या सचमुच **'स्कम्भनी'** है। यदि शम्या स्वस्थान से स्खलित हो जाय, तो उपल कभी प्रतिष्ठित नहीं रहसकती। इसी अभिप्राय से **'दिवस्कम्भनीरसि'** यह कहा है ॥१६॥

द्यावापृथिवी एक पकार की चक्की है। वायुः--सञ्चार चक्की में होने वाला पेषण-व्यापार है। पृथिवी के ऊपर द्यु के द्वारा वायु के समावेश से अन्नपेषण होता रहता है। पिष्ट अन्नरस प्राणीवर्ग का पालन किया करता है। इसी आधिदैविक--स्थिति को लक्ष्य में रखकर इस के साथ तुलना करते हुए याज्ञवल्क्यने दृषत् को पृथिवी माता कहा है। शम्या को वायुस्थानीय होने से अन्तरिक्ष कहा है। एवं उपल को द्युरूप बतलाया है। इस समानता से त्रैलोक्यात्मक सम्वत्सरयज्ञ की सम्पत्ति आजाती है। **'पुरुषो वै यज्ञः'** के अनुसार हमारा यह वैधयज्ञ पुरुषलक्षण है। अतः आधिदैविक यज्ञवत् इस में पुरुषयज्ञ के (आध्यात्मिक यज्ञ के) भावों का भी समाविष्ट होना आवश्यक है। पुरुषयज्ञानुसार–दृषदुपल इस यज्ञपुरुष के दोनों हनू हैं। शम्या **जिह्वा है**। पुरुषयज्ञ में जिह्वा शब्दकर्म्म करती है, अतएव तत्प्रतिकृतिभूता शम्या से यहाँ **'समाहननकर्म्म'** किया जाता है। इसी पुरुषसम्पत्ति का निरूपण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—**'हनूऽएव दृषदुपले। जिह्वैव शम्या। तस्माच्छम्यया समाहन्ति। जिह्वया हि वदति** ॥१७।१८॥

बिना हिंसा के यज्ञेतिकर्त्तव्यता कथमपि पूरी नहीं की जासकती। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है, जिस में हिंसा न होती हो। प्राणवियोग ही हिंसा है। सर्वसाधारण की दृष्टि में जड़, चेतन में भेद है। परन्तु वैज्ञानिक महर्षि सब को चेतना से युक्त मानते हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। पुरोडाश सम्पन्न करने के लिए जिस धान्य का ग्रहण किया जाता है, वह एक प्राणयुक्त द्रव्य है। मनुष्य की सत्ता के लिए जो प्राण नित्य अपेक्षित हैं, वे सब प्राण यहाँ प्रतिष्ठित हैं। उत्पन्न होने वाले पदार्थमात्र में त्रैलोक्य के प्राण विद्यमान

रहते हैं। **पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु**-तीनों के रस के सम्मिश्रण से प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न हुआ है। एवं जबतक तत्तत्पदार्थों के साथ उपर्युक्त तीनों प्राणों का आदान-विसर्गात्मक सम्बन्ध होता रहता है, तभीतक तत्तत्-पदार्थ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। **पार्थिवप्राण अपान है। आन्तरिक्ष्य प्राण व्यान है। दिव्य प्राण प्राण शब्द से ही प्रसिद्ध है।** द्युलोक से आता हुआ प्राण प्राण है, यही निर्गच्छत् अवस्था में '**उदान**' नाम से व्यवहृत होने लगता है। पार्थिव प्राण आगमनावस्था में '**समान**' कहलाता है, वही निर्गमनावस्था में '**अपान**' कहलाने लगता है। इसप्रकार **अपान और प्राण के अपान-समान, प्राण-उदान,** ये विवर्त्त निष्पन्न होजाते हैं। मध्यस्थ प्रादेशमित **व्यानप्राण** सर्वथा स्थिर है। पार्थिव प्राणदेवता, एवं सौर प्राणदेवता इसी व्यानसत्ता पर अवलम्बित हैं। व्यानरूप उपांशुसवन ( शिला ) पर उपांशुरूप प्राण-तथा अन्तर्य्यामरूप अपान दोनों में जीवनोपयिक उपाश्वन्तर्य्यामव्यापार हुआ करता है। प्राणापान जीवनसत्ता के कारण नहीं हैं, अपितु-जिस स्थिर व्यान के आधार पर प्राणापान गमनागमन करते हैं, वह व्यान हीं जीवन सत्ता का कारण है। इसी व्यान-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥**
**इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥**
**ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ॥**
**मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥२॥**

—उपनिषदि

उक्त कथन से सिद्ध हुआ कि, पञ्चप्राण ही जीवनसत्ता के आधार हैं। पेषणव्यापार से पाँचों प्राण निकल जाते हैं। हवि निर्जीव होजाता है। उधर देवता प्राणरूप हैं। प्राणरूप अन्नाददेवता निष्प्राण अन्न कभी नहीं लेसकते। सजातीय अन्न ही उन के लिए ग्राह्य है। निर्जीव हवि में उसी पञ्चप्राणात्मक प्राणतत्त्व के समावेश के लिए '**प्राणाय त्वा**' इत्यादि मन्त्र-प्रयोग किया जाता है, जैसा कि मूल में स्पष्ट होगया है ॥१९। २०।२१।२२॥

**इति--द्वितीयाध्याये-प्रथमं--ब्राह्मणम्**

## इति-प्रथमप्रथमपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम्

## इति-उपवेषसंपादनम्

## अग्नौ कपालोपधानेन हविःपरिपाकश्च

## १०

———*———

# अथ प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् प्रथमप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्

---

## ११-पिष्टेनोदकमिश्रितेन पुरोडासम्पादनम्

---

( मूल )—पवित्रवति संवपति, पात्र्यां पवित्रे ऽवधाय–"**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याᳬं संवपामि**"–[ १ अ० २१ मं० ] इति। सोऽसावेवैतस्य यजुषो बन्धुः ॥१॥

अथान्तर्वेद्युपविशति। अथैक उपसर्जनीभिरैति। ता आनयति। ताः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति–"**समाप ओषधीभिः**"–( १ अ० २१ मं० ) इति। सं ह्येतदाप ओषधिभिरेताभिः पिष्टाभिः सङ्गच्छन्ते। "**समोषधयो रसेन**"–( १ अ० १६ मं० ) इति। सं ह्येतदोषधयो रसेनैताः पिष्टा अद्भिः संगच्छन्ते। आपो ह्येतासां रसः। "**सᳬं रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताम्**"–( १ अ० २१ मं० ) इति। रेवत्य आपः, जगत्य ओषधयः, ता उ ह्येतदुभय्यः सम्पृच्यन्ते। "**सं मधुमतीर्म्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्**"–( १ अ० २१ मं० ) इति। सं रसवत्यो रसवतीभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह ॥२॥

अथ संयौति–"**जनयत्यै त्वा संयौमि**"–( १ अ० २१ मं० ) इति। यथा–श्रियेऽन्नाद्यायेमाः प्रजा यजमानाय यच्छेत्–एवं तत् संयौति। अधिवर्त्स्यन्नु वै संयौति। यथा वा अधिवृक्तोऽग्नेरधिजायेत, एवं वै तत् संयौति ॥३॥

अथ द्वैधा करोति–यदि द्वे हविषी भवतः। पौर्णमास्यां वै द्वे हविषी भवतः। स यत्र पुनर्न संहरिष्यन्त्स्यात्। तदभिमृशति–"**इदमग्नेरिदमग्नीषोमयोः**"–( १ अ०–२१ मं०) इति। नाना वा एतदग्रे हविर्गृह्णन्ति। तत सहावघ्नन्ति। तत् सह पिंषन्ति। तत् पुनर्नाना करोति। तस्मादेवमभिमृशति–अधिवृणक्त्येवैष पुरोडाशम्, अधिश्रयत्य–सावाज्यम् ॥४॥

तद्वा एतदुभयं सह क्रियते । तद्यदेतदुभयं सह क्रियते । अर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्ञस्य यदाज्यम् । अर्द्धो यदिह हविर्भवति । स यश्चासावर्द्धो य उ चायमर्द्धः, ता उभावग्निं गमयावेति । तस्माद्वा एतदुभयं सह क्रियते । एवमु हैष आत्मा यज्ञस्य सन्धीयते ॥५॥

सोऽसावाज्यमधिश्रयति–"इषे त्वा"-( १ अ० २२ मं० ) इति । वृष्टयै तदाह-यदाह 'इषे त्वेति' । तत्–पुनरुद्वासयति । 'ऊर्जे त्वेति' । यो वृष्टादूर्ग् रसो जायते, तस्मै तदाह ॥६॥

अथ पुरोडाशमधिवृणक्ति–"घर्म्मोऽसि"–( १ अ० २२ मं ) इति । यज्ञमेवैतत् करोति । यथा घर्म्मं प्रवृञ्ज्यात्–एवं प्रवृणक्ति । "विश्वायुः"–[ १ अ० २२ मं० ] इति । तदायुर्दधाति ॥७॥

तं प्रथयति--"उरुप्रथा उरुप्रथस्व"–[ १ अ० २२ मं० ] इति । प्रथयत्येवैन-मेतत् । "उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्"–[ १ अ० २२ मं० ] इति । यजमानो वै यज्ञ-पतिः । तद्यजमानायैवैतदाशिषमाशास्ते ॥८॥

तं न सत्रा पृथुं कुर्यात् । मानुषं ह कुर्यात्--यत् पृथुं कुर्यात् । व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य-यन्मानुषम् । नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति, तस्मान्न सत्रा पृथुं कुर्यात् ॥९॥

अश्वशफमात्रं कुर्यादित्यु हैक आहुः । कस्तद्वेद यावानश्वशफः । यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येत, एवं कुर्यात् ॥१०॥

तमद्भिरभिमृशति–सकृद्वा त्रिर्वा । तद्यदेवास्यात्रावघ्नन्तो वा पिषन्तो वा क्षण्वन्ति वा, वि वा वृहन्ति, शान्तिरापः, तदद्भिः शान्त्या शमयति । तदद्भिः सन्दधाति । तस्माददद्भिरभिमृशति ॥११॥

सोऽभिमृशति–"अग्निष्टे त्वचं मा हिंसीत्"–[ १ अ २२ मं० ] इति । अग्निना वा एनमेतदभितप्स्यन् भवति । एष ते त्वचं मा हिंसीदित्येवैतदाह ॥१२॥

तं पर्यग्निं करोति । अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति--नेदेनं नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृ-शानिति । अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता–तस्मात् पर्यग्निं करोति ॥१३॥

तं श्रपयति--"देवस्त्वा सविता श्रपयतु"--[ १ अ० २२ मं० ] इति । न वा एतस्य मनुष्यः श्रपयिता । देवो ह्येषः, तदेनं देव एव सविता श्रपयति । "वर्षिष्ठेऽधिनाके"--[ १ अ० २२ मं० ] इति । देवत्रो एतदाह यदाह वर्षिष्ठेऽधिनाक इति । तमभिमृशति--शृतं वेदानीति । तस्माद्वा-अभिमृशति ॥१४॥

सोऽभिमृशति--"मा भेर्मा संविक्था:"--( १ अ० २३ मं० ) इति । मा त्वं भैषीर्मासंविक्थाः--यच्चाहममानुषं सन्तं मानुषोऽभिमृशामीत्येवैतदाह ॥१५॥

यदा शृतः, अथाभिवासयति--नेदेनमुपरिष्टान्नाष्ट्रा रक्षांस्यवपश्यानिति । नेद्ध्वेव नग्न इव मुषित इव शयाता इत्यु चैव, तस्माद्वा अभिवासयति ॥१६॥

सोऽभिवासयति---"अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुयजमानस्य प्रजा भूयात्"--( १ अ० २३ मं० ) इति । नेदेतदनु यज्ञो वा यजमानो वा ताम्याद्--यदिदमभिवासयामीति । तस्मादेवमभिवासयति ॥१७॥

अथ पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिप्रणेजनमाप्त्येभ्यो निनयति । तद्यदाप्त्येभ्यो निनयति ॥१८॥

## इति-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्
## प्रथमप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्
## समाप्तश्चात्र प्रथमः प्रपाठक

---

(अनुवाद)—आज्यनिर्वाप के अनन्तर अध्वर्य्यु--"पात्र्यां सपवित्रायां पिष्टान्यावपति "देवस्य त्वे" ति" (का० श्रौ० सू० २।५।१०) के अनुसार प्रोक्षणीपात्र में से पवित्र (दर्भ) लेकर उसे इडापात्री में उदगाग्र रखकर उसके ऊपर- "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्या संवपामि" यह मन्त्र बोलता हुआ कृष्णमृगचर्म्म पर स्थित पिष्ट पुरोडाश को कृष्णमृगचर्म्म से ही डालता है । ( उपर्य्युक्त ) मन्त्र का वही बन्धु (तात्पर्य्य) है, जो कि पूर्व में आए हुए "देवस्य त्वा" इत्यादि मन्त्रव्याख्यान में बतलाया जाचुका है ॥१॥

पुरोडाश-संवापानन्तर अध्वर्यु — **"श्रपणस्य पश्चादुपविश्यत्यन्तर्वेदि वा"** ( का० श्रौ० सू० २।५।११ ) के अनुसार पवित्रयुक्त ( दर्भयुक्त ) पात्री को लेकर * श्रपणाग्नि के पश्चिमभाग में बैठता है। अथवा वेदि के पश्चिमभाग से संलग्न होकर—सपवित्रपात्री को वेदि के मध्य में प्रतिष्ठित कर वहीं अध्वर्यु बैठ जाता है।

अनन्तर—**'उपसर्जनीरानयत्यन्यः'** ( का० श्रौ० सू० २।५।१२ ) के अनुसार अध्वर्यु का सहायक आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् × **उपसर्जनी** नाम से प्रसिद्ध तप्त पानी को ठँढा कर इडापात्री में स्थित पिष्ट पुरोडाश के ऊपर डाल देता है। **'आनयति'** पद को प्रकृत में **'तत्ते पयसि दध्यानयति'** इस प्रकरणान्तर की भाँति निनयार्थक ही समझना चाहिए। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने—**'अथ तासां तूष्णीमासेचनं विधत्ते** ( सा० मा० ) यह कहा है।

इसप्रकार—आग्नीध्र के द्वारा आनीयमाना उपर्जनी को अध्वर्यु दक्षिण हाथ में रक्खे हुए पवित्र से—**'पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति 'समाप' इति'** (का० श्रौ० २।५।१३ ) के अनुसार—**'ओं समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन संरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्तां सम्मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्"** ( १।२१। य० ) यह मन्त्र बोलता हुआ पवित्र से उपसर्जनी आपः का ग्रहण करता है।

तात्पर्य्य यही है कि—आग्नीध्र **'स्फ्य'** को सव्यहस्त में ग्रहण कर अधिश्रित उपसर्जनी को ठँढा कर अध्वर्यु के दक्षिणभाग से लेकर पिष्टपुरोडाश के ऊपर पवित्र युक्त अध्वर्यु के हाथ पर डालता है। इस निनयनकाल में अध्वर्यु का हाथ पुरोडाशपात्री के ऊपर रहता है। आग्नीध्र को चाहिए कि, वह इसप्रकार निनयन करे, जिससे कि मन्त्रान्त में उपर्जनीका प्रतिग्रहण सम्पन्न होजाय।

( उपर्युक्त मन्त्र का विभागशः अर्थ करती हुई श्रुति कहती है ) ओषधिरूप इन पिष्टों के साथ ये उपसर्जनी आपः सङ्गत होरहीं हैं। एवं ओषधिरूप ये पिष्ट पुरोडाश इस रस के साथ सङ्गत होरहे हैं। पानी ही इन ओषधियों का रस है। पानी **'रेवत्य'** हैं, **ओषधियाँ जागत्य'**

---

* कितने हीं आचार्यों के मतानुसार गार्हपत्य में श्रपण होता है, एवं कितने हीं आहवनीय को श्रपणाग्नि समझते हैं। उभयथा वेदिमध्य में हीं अध्वर्यु को बैठना चाहिए। परन्तु कात्यायन इनमें विकल्प मानते हैं।

× 'उपसृजत्याभिः' इस व्युत्पत्ति से पिष्ट पुरोडाश को मिलाने के लिए जो पानी लिया जाता है, वह 'उपसर्जनी' नाम से प्रसिद्ध है।

हैं। ये ही दोनों ( आपः-ओषधि) परस्पर मिल जाते हैं। **'सम्मधुमती०'** इत्यादि से **'रसवती आपः-रसवती ओषधियों से मिले'** यही कहा गया है ॥२॥

अनन्तर—**"संयौति "जनयत्यै त्वे" ति"** ( का० श्रौ० सू० २।५।१४ ) के अनुसार अध्वर्य्यु—**"जनयत्यै त्वा संयौमि"** ( य० १।२२ ) यह मन्त्र बोलता हुआ पिष्टपुरोडाश को सिक्त उपसर्जनी आपः से मिलाता है।

जिसप्रकार यह प्रजा यजमान की **'श्री'** के लिए, एवं **'अन्नादि'** के लिए अनुगत हो, इसीप्रकार से अध्वर्य्यु उपसर्जनी आपः को पुरोडाश के साथ मिलाता है, इस पिष्ट पुरोडाश का श्रपणाग्नि में अधिश्रयण करता हुआ ही अध्वर्य्यु उपसर्जनी आपः मिलता है, जिस अधिश्रित पुरोडाश अग्नि के साथ युक्त होकर नवीन ( आहुतिद्रव्य ) रूप से उत्पन्न हो, तदनुरूप ही यहाँ संयवन (सम्मिश्रण) कर्म्म किया जाता है। तात्पर्य्य यही है कि, नवीन प्रजनन के लिए यहाँ उपसर्जनी का पुरोडाश के साथ मेल कराया जाता है। इसी प्रजननभाव को दृढ करने के लिए **"जनयत्यै त्वा संयौमि"** इस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है ॥३॥

मिश्रणानन्तर-अध्वर्य्यु यदि प्रकृतेष्टि में दो भाग होते हैं, तो **"समं विभज्यासंहरिष्यन्नालभत "इदमग्ने""रिदमग्निषोमयो" रिति'** ( का० श्रौ० सू० २।५।१५ ) के अनुसार उदकयुक्त पिष्टपुरोडाश को दो भागों में विभक्त करता है। पौर्णमासेष्टि में दो ही हवि होते हैं। ( यह पौर्णमासेष्टि है, इसमें **अग्नि—अग्निषोम** भेद से दो देवता प्रधान हैं )। अतः आहुतिद्रव्यरूप हवि को दो भागों में हीं विभक्त करना उचित है यही तात्पर्य्य है। इसप्रकार संयुत पिष्टद्रव्य को समान पिण्ड बनाने के अनन्तर आगे जाकर जिस समय इन विभक्त दोनों हवियों को परस्पर न मिलानेवाला ही उस समय ( अर्थात् एक बार विभक्त किए बाद पुनः इस विभक्त द्रव्यको न मिलाने का निश्चय होजाने के अनन्तर ) अध्वर्य्यु—**'इदमग्ने, इदमग्नीषोमयोः'** ये दोनों मन्त्र क्रमशः बोलता हुआ उसी क्रम से दोनों दक्षिणस्थ-उत्तरस्थ पिण्डों का स्पर्श करता है। हविर्ग्रहणकाल में ऋत्विग्गण हविर्द्धानशकट से देवताभेद के अनुसार पृथक् पृथक् करके ही हविर्ग्रहण करते हैं, पृथक् पृथक् गृहीत हविर्द्रव्य को एकसाथ कूटते हैं। पुनः एकसाथ ही उसे पीसते हैं। आज (संपन्न होने के अनन्तर) पुनः उसे दो पिण्डों में विभक्त कर पृथक् भावापन्न बनाते हैं। इसी पृथग्भाव को दृढ़मूल बनाने के लिए-पूर्वोक्त भिन्न भिन्न मन्त्रों से-पृथक् पृथक् दोनों पिण्डों का स्पर्श करता है।

अभिमर्शनानन्तर ( एक ही समय में ) यह (अध्वर्य्यु) पुरोडाश को श्रपणाग्नि पर रखता है, एवं वह ( ब्रह्मा ) आज्यनिर्वाप करता है। अर्थात् **अधिश्रयण—आज्यनिर्वाप,** दोनों कर्म्म

एकसाथ होते हैं। वस्तुस्तु यहाँ - 'एषः' से अध्वर्य्यु का ही ग्रहण करना चाहिए, एवं 'असौ' से आग्नीध्र का ही ग्रहण करना चाहिए। ब्रह्मा तो यज्ञ का निरीक्षकमात्र है। अध्वर्य्यु का सह-चारी आग्नीध्र ही है। यही अर्थ सायणभाष्य-सम्मत है ॥४॥

इसप्रकार पूर्वकथनानुसार अधिश्रयण, और आज्यनिर्वाप, एकसाथ कर देते हैं। सो जिस लिए कि ये दोनों कर्म्म एक साथ करते हैं, उसकी उपपत्ति (विज्ञान) बतलाते हैं।

यज्ञरूप आत्मा (यज्ञात्मक शरीर) का यह आधा भाग है, जोकि 'आज्य' है। आधा भाग इस यज्ञ में 'हविद्र्व्य' होता है। सो जो वह (आज्य) आधा भाग है, एवं वह (पुरो-डाश) आधा भाग है, उन दोनों को (एक साथ) अग्नि से सम्बद्ध करें, इसी दृष्टि से पूर्वोक्त दोनों कर्म्म एकसाथ किए जाते हैं। ऐसा करने से इस यज्ञ का शरीर परस्पर समन्वित हो-जाता है ॥५॥

इसके अनन्तर—'इषे त्वे त्वाज्यमधिश्रयत्यन्यः' (का० श्रौ० २।५।१७) के अनुसार आग्नीध्र 'इषे त्वा अधिश्रयामि' (यजुः सं० १।२२) यह मन्त्र बोलता हुआ गार्हपत्यखर के मध्य में दक्षिण की ओर स्थित अग्नि पर आज्यस्थाली (घृतपात्री) रखता है। वृष्टि के लिए ही आग्नीध्र ने कहा है, जो कि उसने 'इषे त्वा' कहा है। (आज्यस्थाली-स्थित घृत जब उष्ण हो जाता है, तो) आग्नीध्र 'ऊर्ज्जे त्वा उद्वासयामि' यह मन्त्र बोलता हुआ घृत को ठँढा करता है। बरसने के अनन्तर बरसे हुए पानी से जो 'उर्क्' नाम का रस उत्पन्न होता है, उसी को लक्ष्य में रखकर-'ऊर्जे त्वा' यह कहा गया है ॥६॥

'इतिकर्त्तव्यता' के समन्वय के लिए प्रकृत में यह और समझ लेना चाहिए कि, रजो-दोष, प्रसवपीड़ा, एवं अन्य किसी विशेष कारणवश यज्ञ में यदि यजमान-पत्नी उपस्थित नहीं होती है, तो ऐसी अवस्था में आहवनीय में श्रपण करने वाले यजमान को आहवनीयाग्नि में हीं आज्या-धिश्रयण-कर्म्म करना चाहिए। यदि पत्नी साथ है, तो आहवनीय में श्रपण होने पर भी गार्हपत्य में ही आज्याधिश्रयण करना चाहिए। इसी व्यवस्था का निरूपण करते हुए महर्षि कात्यायन कहते हैं—

"अपत्नीकस्य-आहवनीये तच्छ्रापिणः" (२।५।१८)।

ध्यान रहे-'अपत्नीकस्य' का अर्थ पत्नी की यज्ञ में अनुपस्थिति मात्र ही है। कारण कर्काचार्य्य के मतानुसार अविद्यमानपत्नीक यजमान का तो यज्ञ में सर्वथा अनधिकार ही है।

आज्याधिश्रयणानन्तर- 'घर्म्मोऽसीति पुराडाशौ युगपत्'( का० श्रौ० २।५।१६ ) के अनुसार 'घर्म्मोऽसि विश्वायुः' ( १।२२ ) यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र, एवं अध्वर्य्यु एकसाथ आग्नेय, एवं अग्निषोमीय पुरोडाश को अग्नि पर रखते हैं। अर्थात् उपर्य्युक्त मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु तो आग्नेय पुरोडाश रखता है, एवं आग्नीध्र (साथ साथ ही) अग्नीषोमीय पुरोडाश रखना है। जिसप्रकार सोमयज्ञ में 'घर्म्म' को प्रवृत्त करैं, वैसे ही इस इष्टि में घर्म्मतुल्य पुरोडाश का विभक्त करते हैं। 'विश्वायुः' कहता हुआ अध्वर्य्यु पुरोडाश में आयु ही प्रतिष्ठित करता है ॥७॥

अधिवर्जनानन्तर-"उरुप्रथा इति प्रथयति यावत् कपालमनतिपृथुम्"(का० श्रौ०सू० २।५।२०)के अनुसार पूर्वोक्त क्रम से विभक्त आग्नेय, अग्नीषोमीय पुरोडाशों को अध्वर्य्यु और आग्नीध्र- 'उरुप्रथा उरु प्रथस्व उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्'( १।२२ ) यह मन्त्र बोलते हुए स्व स्व पुरोडाश को कपाल में फैलाते हैं। कात्यायनने—'अनतिपृथुम्' कहा है। तात्पर्य्य इसका यही है कि- 'तन्न सत्रा पृथुं कुर्य्यात्-अश्वशफमात्रं कुर्य्यादित्यु हैक आहुः' (श० १।२।२।६।१०) इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार अश्वशफ के परिणाम से ही पुरोडाश के प्रथन का आदेश दे। यजमान यज्ञपति है। उसी के लिए 'उरु प्रथताम्' यह आशी माँगते हैं ॥८॥

पूर्वोक्त—'अनतिप्रथुम्' भाव को लक्ष्य में रखकर ही श्रुति कहती है-उस पुरोडाश को एकसाथ ही पृथु न करदे। यदि ऋत्विक् पुरोडाश का सर्वथा प्रथन करदेगा, तो वह (दिव्ययज्ञ में) मानुष (कर्म्म ) करेगा। वह यज्ञ की व्यृद्धि (सम्पत्तिनाश) है, जो कि मानुषभाव है। हम (अपने दिव्य यज्ञ में ) व्यृद्धि न कर बैठें, इसलिए एकसाथ बिना अप्रधानता के मनमाने परिणाम से पुरोडाश को नहीं फैलाना चाहिए ॥९॥

फिर कितना फैलाना चाहिए ?, इस विषय में कितने हीं (तैत्तिरीय) आचार्य्यों का मत है कि-घोड़े के खुर के परिणाम से उसे फैलाना चाहिए। इस पूर्व मत का निराकरण करती हुई शतपथश्रुति कहती है कि—'घोड़े का खुर इतना बड़ा है' यह कौन जान सकता है। अर्थात् अश्वशफ की इयत्ता का यथावत् ज्ञान होना कठिन है। इसलिए ऋत्विक् को चाहिए कि, वह अपने विचार से पुरोडाश को मर्य्यादा से अधिक फैला न समझ वहीं तक फैलादे ॥१०॥

अनन्तर—"अग्निष्ट इत्यद्भिरभिमृशति सकृत्- त्रिर्वा" (का० श्रौ० २।५।२१ ) के अनुसार विभक्त स्व स्व पुरोडाश का अध्वर्य्यु, और आग्नीध्र सोदक हस्त से पुरोडश का चारों ओर से एकबार, अथवा तीन बार स्पर्श करते हैं। सो जो कि ऋत्विग्गण इसे कूटते हुए, पीसते हुए जो

इसका भाग क्षीण कर देते हैं, विशीर्ण कर देते हैं, (पानी शान्ति है) अतः शान्तिरूप इन पानियों से इस ( क्षीणभाग ) का पुनः संधान ही करते हैं। इसी प्रयोजन के लिए **'अभिमर्शन'** करते हैं ॥११॥

अभिमर्शन क्यों किया जाता है ?, इसकी उपपत्ति बतलादी गई। अब आवृत ( पद्धति ) बतलाते हैं—

वह अध्वर्यु, और ऋत्विक्—**'अग्निष्टे त्वचं माहिंसीत्'** (१।२२) यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाश के चारों ओर जल का सम्बन्ध करते हैं। आगे जाकर यह ऋत्विक् इस पुरोडाश को चारों ओर से अग्नि में तपावेगा। उसी अवस्था को लक्ष्य में रखकर कहते हैं—'हे पुरोडाश! आपकी त्वचा को अग्नि न जलाडाले ॥१२॥

अभिमर्शनानन्तर—**'पर्य्यग्निं करोत्यन्तरिक्षं रक्षोऽन्तरिता अरातय इति सहाज्यम्'** ( का० श्रौ० २।५।१२ ) के अनुसार ( गार्हपत्याग्नि में से प्रज्वलित अङ्गार लाकर ) अध्वर्यु— **"अन्तरिक्षं रक्षोऽन्तरिता अरातयः"** यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाश के चारों ओर उसे फिराता हुआ पुरोडाश को अग्नि से वेष्ठित करता है। ऐसा करता हुआ अध्वर्यु-अग्नि से अच्छिद्र ही पुरोडाशका ग्रहण करता है। नाष्ट्रा, और राक्षस इसका स्पर्श न करलें, अग्नि राक्षसों का अप-हन्ता है। इसलिए इसे पर्य्यग्नि करते हैं ॥१३॥

पर्य्यग्निकरणानन्तर दग्धाङ्गार को गार्हपत्य में प्रक्षिप्त कर अप-उपस्पर्श कर-**'देवस्य त्वेति श्रपणम्'** (का श्रौ० २।५।२३) के अनुसार—**'देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधिनाके'** ( १।२२ ) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु क्रमशः प्रथम-द्वितीय पुरोडाश का परिपाक करता है। इस ( दिव्यान्नस्वरूप ) पुराडाश का श्रपयिता मनुष्य नहीं है। वह श्रपयिता तो देव है। सविता-देव ही इसका परिपाक करते हैं। वृद्धतम स्वर्ग में सवितादेवता तुम्हारा परिपाक करै, इससे पुरो-डाश को देवत्रा (देवाधीन-दिव्यसम्पत्) बनाते हैं। श्रपणानन्तर- **'माभेरित्यालभते'** (का० श्रौ० सू० २।५।२४।) के अनुसार यह परिपक हुआ कि नहीं, यह जानने के लिए पुरोडाश का स्पर्श करता है। श्रपणानन्तर स्पर्श क्यों किया जाता है ?, इसकी उपपत्ति बतलादी गई। अब पद्धति बत-लाते ॥१४॥

वह अध्वर्यु—**'माभेर्मा संविक्थाः'** ( १।२३ ) यह मन्त्र बोलता हुआ पक पुरोडाश का स्पर्श करता है। अमानुषरूप आप को (पुरोडाश को) मैं मनुष्य छूता हूँ, इस से आप मत डरिए, मत कम्पित हो, यही मन्त्रार्थ है ॥१५॥

अभिमर्शनानन्तर—'अतमेरुरिति शृतावभिवासयति भस्मना वेदेनोपवेषेण वा' (का० श्रौ० २।५।२५) के अनुसार अध्वर्य्यु शृत पुरोडाश को साङ्गार भस्म से आच्छादित करदेता है। ऊपर से राक्षस असुर इसे न देखलें, नग्न की भाँति चौरादि से मुषित की भाँति यह न रक्खा रहे, इसलिए आच्छादित करते हैं ॥१६॥

पुरोडाश को आच्छादित क्यों किया जाता है ?, इसकी उपपत्ति बतलादी गई। अब पद्धति बतलाते हैं—

वह अध्वर्य्यु—"अतमेरुर्य्यज्ञोऽतमेरुर्य्यजमानस्य प्रजा भूयात्" (१।२३) यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाश को साङ्गार भस्म से आच्छादित करता है। पुरोडाश के साथ साथ ही यज्ञ, और यजमान भी आच्छादित न होजाय, इसलिए 'अतमेरु' इत्यादि रूप से आच्छादित करता है ॥१७॥

अभिवासनानन्तर—"पात्र्यंगुलिप्रक्षालनपात्रेभ्यो निनयत्यभितप्य प्रत्यगसंस्यन्दमानं 'त्रिताय त्वे' ति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० सू० २।५।२६) के अनुसार पात्रीनिर्णेजनकर्म्म करते हैं। अंगुलिप्रक्षालित जल को आप्त्यादेवता के लिए डालते हैं। सो जिसलिए कि, आप्त्यों के निनयन करते हैं, उसकी उपपत्ति (आगे के ब्राह्मण में) बतलाते हैं ॥१८॥

## प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का द्वितीय ब्राह्मण
## एवं प्रथमप्रपाठक का छठा ब्राह्मण यहाँ उपरत
## प्रथम--प्रपाठक समाप्त

—*—

(भाष्य)—आहुति के लिए पुरोडाश सम्पादन करता है। तदर्थ कृष्णमृगचर्म्म पर प्रतिष्ठित पाषाणमयी दृषत् (सिल) पर उपल (लोढी) से हविर्द्रव्य का पेषण होचुका है। साथ ही पिष्ट हवि में 'महीनां पयोऽसि' इस अनिरुक्त यजुर्मन्त्र से आज्यनिर्वाप कर लिया गया है। अब आज्ययुक्त इस पिष्टद्रव्य का परिपाक कर इसे पिण्डरूप में परिणत कर आहुति के योग्य बनाना है। प्रकृत ब्राह्मण में इसी विषय का निरूपण है। पिष्टद्रव्य को पिण्डरूप में परिणत करने के लिए 'याज्या' कर्म्म का अधिष्ठाता अध्वर्य्यु दर्भयुक्ता पात्री में पिष्टद्रव्य को प्रतिष्ठित कर 'देवस्य त्वा०' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ संवापकर्म्म करता है। १।१।१ ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य असत्यसंहित होता हुआ सत्यसंहित (सत्यानुयायी) देवताओं से विभिन्नधर्म्मा है। देवप्राण ही देवप्राण के साथ सम्बन्ध कर सकता है। इसी दिव्यभाव की प्राप्ति के लिए अध्वर्य्यु को 'देवस्य त्वा सवितुः' यह कह कर ही संवापकर्म्म करना पड़ता है।

लोकमर्य्यादानुसार **'सजातीय'** को **'बन्धु'** कहा जाता है । सजातीय से प्रकृत में **'सगोत्री'** ही अभिप्रेत समझना चाहिए । शुक्र में चान्द्रसोम प्रतिष्ठित रहता है । चन्द्रमा में **रेत, श्रद्धा, यश,** ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित रहते हैं । शुक्रगत चान्द्र श्रद्धारस ही सगोत्रियों को अपने सूत्र ( श्रद्धासूत्र ) से बद्ध रखता है । आशौच की प्रतिष्ठा-स्वरूप इसी श्रद्धासूत्र से सगोत्री परस्पर बद्ध रहते हैं । अतः इसी श्रद्धाबन्धन के कारण इन्हें **'बन्धु'** ( **बन्धनात्–बन्धुः** ) कहा जाता है । बन्धु श्रद्धा के द्वारा सम्यक् रूप से बन्धनयुक्त रहता है, अतएव इसे **'सम्बन्धी'** भी कहा जाता है । हविर्ग्रहण करते समय **'देवस्य त्वा सवितुः॰'** इत्यादि मन्त्र का प्रयोग किया जाता है । वहाँ विस्तार से इस मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ बतला दिया गया है । प्रकृत में उसी मन्त्र से आज अध्वर्य्यु संवापकर्म्म करता है । वह, और प्रकृतमन्त्र, दोनों एक दूसरे के बन्धु हैं । सम्बन्धी हैं । जो तात्पर्य्य उस का था, वही तात्पर्य्य इस मन्त्र का है । **'असौ'** शब्द विप्रकृष्टार्थ का सूचक है । इस प्रकृत यजुर्म्मन्त्र का बन्धु वही हविर्ग्रहण-कालिक मन्त्र है—यही निष्कर्ष है ॥१॥

पिष्टद्रव्य का पात्री में संवाप करके ( पात्री में पिष्टद्रव्य डालकर ) अध्वर्य्यु वेदि के मध्यभाग में बैठ जाता है । उधर आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् **"समाप ओषधीभिः"** इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ पिष्टद्रव्य में–**'उपसर्जनी'** डालता है ।

भिन्न भिन्न कर्म्मों के लिए यज्ञ में भिन्न भिन्न पानी नियत रहते हैं । वे **प्रोक्षणी–मदयन्ती–स्रवन्ती–उपसर्जनी** इत्यादि भिन्न भिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं । वह पानी--जो ओषधियों में प्रविष्ट होकर उन्हें रसयुक्त बनाता है–**'उपसर्जनी'** नाम से प्रसिद्ध है । बिना रसरूप पानी के समन्वय के ओषधियों का परिपाक नहीं होसकता । आपको ध्यान रखना चाहिए कि, जब जौ की धानी बनाई जाती है, तो पहिले जौ को पानी में भिगो दिया जाता है । यदि मकान बनाते समय पानी का अधिक प्रयोग किया जाता है, तो मकान अधिक दृढ होजाता है । पानी के सम्बन्ध से अग्नि ओजिष्ठ, बलिष्ठ बनता हुआ उस वस्तु में अधिक दृढ़ता से प्रतिष्ठित होजाता है । रोटी के परिपाक के लिए पहिले चूर्ण (चून) को पानी से समन्वित करना पड़ता है । अग्नि को अन्तर्य्यामसम्बन्ध से पकड़ने की शक्ति एकमात्र पानी मे हीं है । स्वयं अग्नि भी तो पानी ही है । पृथिवी से सूर्य्य की ओर जाने वाला पानी हीं **'अग्नि'**, किंवा अङ्गिरा कहलाता है, एवं सूर्य्य से पृथिवी की ओर आने वाला पानी हीं **'पानी'** कहलाता है । **अङ्गिरा भी पानी है, भृगु भी पानी है ।**

**'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्'** यह सिद्धान्त सर्वविदित है । **अङ्गिरा की प्रतिष्ठा भृगु है, तो भृगु की आश्रयभूमि अङ्गिरा है ।** यदि किसी पदार्थ में आप अग्नितत्त्व प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, तो पहिले वहाँ आपको पानी का ही सम्बन्ध कराना पड़ेगा । अयस्कार ( लुहार ) लौहखण्ड ( छीणी वगैरह ) में अग्नि प्रतिष्ठित कर उसे दृढ़ करना चाहता है । परन्तु इस दृढ़ता के लिए उसे बार बार उस लौहखण्ड को पानी में डुबोना पड़ता है । उसे अग्नि का प्रवेश कराकर लोहे को तरल बनाना है । इस अग्निप्रवेश के लिए पानी का सम्बन्ध कराना नितान्त अपेक्षित होजाता है । यही अवस्था अध्यात्म–यज्ञ की है । वैश्वानर ( जाठराग्नि–श्रपणाग्नि ) भुक्तान्न का परिपाक करने के लिये तबतक सर्वथा असमर्थ है, जबतक की पानी का उसके साथ सम्बन्ध न करा दिया जाय । अन्नाहुति के साथ ही पानी की आहुति देना भी परम आवश्यक है । बिना इस के जाठराग्नि अन्न में प्रतिष्ठित नहीं होसकता । दूसरे शब्दों में–बिना पानी के जाठराग्नि अन्न के परिपाक में कभी समर्थ नहीं होसकता ।

**"अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टान्नयन्ति"** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अङ्गिरा–अग्नि के द्वारा भूपिण्डस्थ पानी अन्तरिक्ष में चला जाता है। वहाँ जाकर वायु में प्रतिष्ठित होजाता है। यही ग्रीष्मकाल है। ग्रीष्म–ऋतु में भूमण्डल पर पानी का अभाव रहता है। कारण यहाँ पार्थिव पानी उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार अन्तरिक्षस्थ वायुधरातल पर प्रतिष्ठित रहता है। अग्नितत्त्व पानी के सम्बन्ध से तीव्र होजाता है। यही कारण है कि, अन्तरिक्षस्थ वायुगत पानी के सम्बन्ध से ग्रीष्म में सौर रश्मियाँ अतिप्रखर बनतीं हुईं ग्रीष्म-ऋतु की जननी बन जातीं हैं। स्नानोत्तर शारीराग्नि अधिक प्रज्ज्वलित होजाता है, यह सर्वानुभूत विषय है। इसीलिए अग्नियज्ञ (दैनिक भोजन) के सम्बन्ध में—हाथ, पैर, इन्द्रियों आदि के साथ जल के सम्बन्ध कराने का आदेश है। **'प्राणाग्नि'** को प्रज्ज्वलित करने के लिए ही भोजन के आद्यन्त में आचमन का विधान है।

भौतिक–जगत् में भी आप इस स्थिति का साक्षात्कार कर सकते हैं। एञ्जिन में जबतक पानी नहीं डाला जाता, तबतक तत्रस्थ अग्नि कभी बाष्परूप में परिणत नहीं होसकता। असीम–भार का वहन करना अग्नि का सामर्थ्य अवश्य है, परन्तु अग्नि में यह सामर्थ्य पानी से ही आता है। ओषधि–वनस्पतियों का **सौरतेज** से, एवं भूगर्भस्थ **अग्नि** से परिपाक तबतक सर्वथा असम्भव है, जबतक कि उनके साथ पानी का सम्बन्ध न करा दिया जाय। इसप्रकार उक्त कुछ एक उद्धरणों से यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि, **पानी हीं अग्नि की प्रतिष्ठा है**। शरीरबल अग्निसत्ता पर ही प्रतिष्ठित है, यह ठीक है। परन्तु अग्नि की सत्ता पानी पर ही प्रतिष्ठित है, **अतएव बलवान् को अग्निमान् न कहकर-"पानीदार" ही कहा जाता है।** आज अध्वर्यु को पिष्टद्रव्य में परिपाक–क्रिया के द्वारा अग्नि प्रतिष्ठित करना है। बिना पानी के अग्नि प्रतिष्ठित हो नहीं सकता। अतएव श्रपणकर्म्म से पहिले **उपसर्जनी** नाम के पानी का पिष्टद्रव्य के साथ सम्बन्ध कराया जाता है। निम्नलिखित मन्त्र से उपर्युक्त कर्म्म किया जाता है—

**"समाप ओषधीभिः, समोषधयो रसेन। सं रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताम्।
सम्मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्।"**

—यजुःसं० १।२१।

**उपसर्जनी नामके पानी (पिष्टरूप ओषधियोंके साथ भलीभाँति मिलें, एवं साथ ही (पिष्ट) ओषधियाँ रसरूप उपसर्जनी पानियोंके साथ भलीभाँति संगत हों। रेवतीं नामसे प्रसिद्ध पानी जगती नामसे प्रसिद्ध ओषधियों के साथ सम्यक् प्रकारसे एकीभूत हों, मधुमती पानी मधुमती (मधुररसवती) ओषधियों के साथ मिलें"** मन्त्रका यही अक्षरार्थ है। पानीको मिलाने की आवश्यकता क्यों हुई ?, इसकी उपपत्ति पूर्व में बतलादीं गई। अब केवल **रस, रेवती, मधुमती,** इन शब्दों के अर्थोंका विचार करना है। पानी को ओषधियों का **"रस"** बतलाया जाता है। प्रत्येक वस्तु की स्वरूपस्थिति के लिए **रस**, और **शुक्र**, नाम के दो तत्त्व अपेक्षित होते हैं। रस, और शुक्र के समन्वयसे ही पदार्थ का स्वरूप बनता है। रस **तरल द्रव्य है**, शुक्र **घन द्रव्य है**। रसतत्त्व **सोमप्रधान है**, शुक्रतत्त्व **अग्निप्रधान है**। सौम्य रस **योषाप्राणमय** है, आग्नेय शुक्र **वृषाप्राणमय** है। योषावृषात्मक रस–शुक्र के मिथुन से ही विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों का स्वरूप बना हुआ है। प्रत्येक वस्तु में **आत्मा-पिण्ड,** ये दो भाग उपलब्ध होते हैं। आत्मा

पिण्ड का सञ्चालक है, एव पिण्ड आत्माका आयतन है। **आत्मभाग रस है**, पिण्डभाग शुक्र है। रस भाग तरल होने से '**अनस्था**' नाम से व्यवहृत होता है, पिण्डभाग-'**अस्थिमत्**' कहलाता है। **अनस्थिमत् ( बिना हड्डीवाले ) रसरूप आत्माने अस्थिमत् ( हड्डीवाले शुक्रभाव से-सम्पन्न ) पिण्ड को अपने ऊपर प्रतिष्ठित कर रक्खा है, इसी आधार पर वेदपुरुष कहते है—**

**को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।**
**भूम्या असुरसृगात्मा कस्वित्को विद्वाँसमुपगात्प्रष्टुमेतत् ॥**
ऋक्सं० १।१६४।४।

रस ही तत्तत् पदार्थ का आत्मा है, इसी आधार पर–"**रसो वै सः**"–"**यावानु वै रसस्तावानात्मा**" (शतपथ ७ कां०) यह कहा जाता है। इसी रस शुक्र को याज्ञिक परिभाषा में "**आज्य-पृष्ठ-**" कहा जाता है। आज्य-आत्मा है, पृष्ट पिण्ड है। रसरूप **आज्य**, एवं शुक्ररूप **पृष्ठ** से ही वस्तु का स्वरूप निष्पन्न होता है।

ओषधियों में भी ये ही दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। **अग्नि इन ओषधियों का शुक्र है, पानी ( तद्गत सोम ) रस** है। यही रस इनका जीवन है। सोमरूप इस जीवनप्रद रसभाग के कारण ही पानी को अमर-कारने **जीवन** शब्द से व्यवहृत किया है। रससे ओषधियों का **आत्मा** बनता है, अग्नि से **पिण्ड**' बनता **है**। दूसरे शब्दों में रस इनका **आज्यभाग** है, शुक्राग्नि **पृष्ठभाग है**। रस के बिना इनका जीवन असम्भव **है**। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर प्रकृत में पानी को ओषधियों का रस ( आत्मा ) कहा है। "**आपो ह्येतासां रसः**" का तात्पर्य्य "**आपो ह्येतासामात्मा**" यही है।

अबतक के भाष्य–सन्दर्भों में यत्रतत्र प्रासङ्गिक–रूपेण **निर्दिष्टा** ब्रह्मविज्ञानसम्बन्धिनी गुहानिहिता परिभाषाओं से परिचय प्राप्त करने वाले विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति विदित होगया होगा कि, ईश्वरशरीर-संस्था के **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा**–ये पाँच **पर्व** हैं। इहीं पाँच पर्वों के कारण '**षोडशीपुरुष**' नाम से प्रसिद्ध अव्ययेश्वर अश्वत्थमूर्त्ति की एक शाखामूर्त्ति, पूर्वोक्त पञ्चपर्वा विश्व '**पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्य-बल्शा**' नाम से प्रसिद्ध है। साथ ही यह भी सुविदित ही होगा कि, **स्वयम्भू प्राणमय है, परमेष्ठी आपोमय है, सूर्य्य वाङ्मय है, पृथिवी अन्नादमयी है, एवं चन्द्रमा अन्नमय है**। ये पाँचों ही स्वतन्त्र प्रजापति हैं। इन पाँचों में **परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा**–इन चारों समहिम पिण्डों को अपने महिमामण्डल में प्रतिष्ठित रखने वाले आदिप्रजापति स्वयम्भू–'**आभूप्रजापति**' नाम से प्रसिद्ध हैं। एवं शेष चारों इहीं के प्रतिमान बनते हुए '**प्रतिमाप्रजापति**' नाम से ( ब्राह्मणग्रन्थों में ) प्रसिद्ध होरहे हैं।

प्रत्येक प्रजापति '**आत्मा,–पद-पुनःपद**' भेद से त्रिसंस्थ है। **वस्तुकेन्द्र आत्मा है, वस्तुपिण्ड (जो कि विज्ञानजगत् में स्पृश्यपिण्ड नाम से प्रसिद्ध है) पद है। यहीं क्योंकि आत्मा प्रपन्न होता है, अतएव 'प्रपन्नो भवति आत्मा यत्र' इस व्युत्पत्ति से इसे 'पद' कहा जाता है। पिण्ड से बाहिर निकल कर बडी दूर पर्य्यन्त अपना मण्डल बनाने वाला महिमामण्डल ही 'पुनःपद' कहलाता है।** आत्मगर्भित पिण्ड अग्नीषोमात्मक **है**। इससे यह भी सिद्ध होजाता है कि, **महिमा**, किंवा **विभूति**–स्वरूप पुनःपद में भी ये ही दोनों तत्त्व ( प्राणात्मक ) प्रतिष्ठित हैं। पुनःपद की आधारभूमि केन्द्रस्थ वही मनः–

प्राणगर्भित वाङ्मय आत्मा है। हृदयस्थ, अतएव **'अनिरुक्त'** नाम से प्रसिद्ध मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति ही पुनःपद में व्याप्त होता हुआ **'सर्वप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है।

हृदय की अपेक्षा से वही **अणोरणीयान् है**, एवं पुनःपद की अपेक्षा से वही **महतो महीयान् है**। सर्वप्रजापति के वाग् भाग से ही पुनःपद **'वषट्कार'** नाम से प्रसिद्ध है। प्रसङ्गागत वषट्कार का स्वरूप भी जान लेना सामयिक ही होगा।

**मन ज्ञानशक्तिघन है, प्राण क्रियाशक्तिघन है, एवं वाक्तत्त्व अर्थशक्तिघना है**, यह पूर्वप्रकरणों में अनेक बार बतलाया जाचुका है। मनःप्राणवाग्रूप ज्ञान–क्रिया–अर्थ की समष्टि ही आत्मप्रजापति है। विश्व के समष्टयात्मक, व्यष्टयात्मक, दोनों प्रकार के पदार्थ ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मय हैं। प्रत्यक्षदृष्ट क्षरप्रधान भूतभाग **'अर्थ'** है। तद्वाचक पद के साथ नित्य सम्बद्ध होने के कारण यह अर्थ—**'अर्थ'** शब्द से व्यवहृत न होकर **'पदार्थ'** शब्द से व्यवहृत होता है। प्रत्येक पदार्थ अक्षरप्रधान प्राणभाग से नित्य आक्रान्त रहता हुआ क्रियामय है। अवस्था--परिवर्त्तन की आधारभूमिस्वरूपा क्रिया 'जड़' ( **निरिन्द्रिय पदार्थ** ), एवं 'चेतन' ( **सेन्द्रिय पदार्थ** ) भेदभिन्न सभी पदार्थों में देखी जाती है। संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो किसी न किसी क्रिया से नित्य आक्रान्त न हो। **'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्'** यह अप्रतिहत सिद्धान्त है।

साथ ही यह भी एक निश्चित सिद्धान्त है कि, विना ज्ञान के कोई क्रिया नहीं होसकती। क्रियातत्त्व **नास्ति–अस्ति--नास्ति ( अव्यक्त--व्यक्त-अव्यक्त )** भेद से त्रिलक्षण होता हुआ क्षणिक है, नास्तिसार है। ऐसी अवस्था में क्षणिक क्रिया की प्रतिष्ठा तबतक सर्वथा असम्भव है, जबतक कि उसका आधार कोई अक्षण निष्क्रिय धरातल न मान लिया जाय। वही निष्क्रिय धरातल अव्यय--प्रधान मनोमूर्त्ति [श्वोवसीयसमनोमूर्त्ति] ज्ञानतत्त्व है। इसप्रकार प्रत्येक पदार्थ में **ज्ञान ( श्वोवसीयस् नाम से प्रसिद्ध अव्ययमन ), क्रिया ( अक्षरप्राण ), एवं अर्थ ( क्षरप्रधाना वाक् )** की सत्ता सिद्ध होजाती है। एक एक व्यक्ति मनःप्राणवाङ्-मय प्रजापति की अभिव्यक्ति है। आत्मप्रजापति की अभिव्यक्ति ही तत्तत् पदार्थ का **व्यक्तीभाव है**। व्यक्ती--भाव ही **'व्यक्ति'** ( **पदार्थ** ) की प्रतिष्ठा है। एक एक व्यक्ति ( उपाधिदृष्टया ) एक एक प्रजापति है। इसी प्राजापत्य विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> **"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिताबभूव।**
> **यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो वयं स्याम पतयो रयीणाम्।**
> **प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च इत्यादि ॥"**

प्रजापतिरूप आत्मा केवल साक्षी है। सृष्टि करना अक्षरप्रधान देवताओं का ही कार्य्य है। इसी आधार पर **'देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः'** ( मनुःस्मृतिः ) यह कहा जाता है। सृष्टि के अधि-ष्ठाता देवताओं में से **ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र**, ( पुराणपरिभाषानुसार–शिव ) ही सृष्टि के सञ्चालक हैं।

**ब्रह्मतत्त्व ज्ञानप्रधान है, विष्णुतत्त्व अर्थप्रधान है, एवं इन्द्रतत्त्व क्रियाप्रधान है**। क्रिया, एवं अर्थ (भूतसङ्घ ) की प्रतिष्ठा ज्ञान है। जबतक हमारे क्रियार्थमय शरीर में ज्ञान–( चेतना )–सत्ता

प्रतिष्ठित रहती है, तभीतक क्रिया ( कर्म्म ), एवं अर्थ ( भूतसङ्घ ) स्वस्वरूप में सुरक्षित रहते हैं। ज्ञान [ ज्ञानघन चैतन्य-किंवा आत्मा ] के उत्क्रान्त होजाने पर शरीरकर्म्म, और सम्पूर्ण भूत विशकलित होजाते हैं। इसी आधार पर ज्ञानघन ब्रह्म के लिए--**'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** यह कहा जाता है। इस ब्रह्मकला पर आत्मा के ज्ञानघन मनोभाग का अनुग्रह है। क्रिया गतितत्त्व है। गतितत्त्व साक्षात् इन्द्र है। बलकृति एकमात्र इन्द्र का ही धर्म्म है। इसी आधार पर—**'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्'** [या० निरुक्त] यह कहा जाता है। सदागतिधर्म्मा वायु इन्द्रतत्त्व से अविनाभूत है। **'यो वै वायुः, स इन्द्रः, य इन्द्रः स वायुः'** [ शत० ४।१।३।१६ ] के अनुसार दोनों अभिन्न हैं। इसी आधार पर हम इन्द्र को क्रिया का अधिष्ठाता मान सकते हैं।

पञ्चकोशविद्या के अनुसार पाञ्चभौतिक शरीर वाङ्मयकोश है। वाक्तत्त्व ही उत्तरोत्तर होने वाली बलग्रन्थियों के कारण क्रमशः **आकाश, वायु, तेज, जल, मृत्**, इन पाँच भूतों में परिणत होरहा है। पञ्चभूतसमष्टि ही वाग्ब्रह्म है। महर्षि तित्तिरिने इसे ही **'अन्नब्रह्म'** माना है। पाञ्चभौतिक शरीर इन्हीं पाँचों भूतों को लेकर जीवित है, स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। जौ, गेहूँ, आदि ओषधि-वनस्पतियाँ मिट्टी हैं। पानी हमारा अन्न है। पानी ही तो ओषधियों का रस है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है। न केवल ओषधि [ अन्न ] हमें तृप्त कर सकती, न पानी। अपितु दोनों के समन्वय से ही हमारी पूर्ण तृप्ति होती है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**'तस्मादोषधयः केवल्यः खादिता न धिन्वन्ति, ओषधय उ हापां रसः। तस्मादापः पीता केवल्यो न धिन्वन्ति, यदैवोभय्यः संसृष्टा भवन्ति--अथैव धिन्वन्ति'।**

—शत ३।६।१।७।

श्वासप्रश्वास का अधिष्ठाता वायु हमारा अन्न है। इसीप्रकार तेज [ प्रकाश ] भी हमारा अन्न है। याज्ञवल्क्य के कथनानुसार पुरुष **'पञ्चज्योति'** है। आत्मसत्ता के लिए **सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि (दीपक आदि), वाक् (शब्द) आत्मा**, इन पाँचों ज्योतियों में से किसी एक न एक ज्योति का मिलना परम आवश्यक है। दुर्भाग्यवश यदि पाँचों का ही अभाव होजाता है, तो आत्मा तम से आवृत होता हुआ शरीर से उत्क्रान्त होजाता है। आकाशगुणक शब्द भी हमारा अन्न है। निस्तब्ध शून्य प्रदेश में भी सनसनाहट रहती है। ऐसा कोई प्रदेश नहीं, जहाँ आत्मा शब्दात्मक आकाशान्न से रहित होजाय। इसप्रकार पाँचों अन्न हमारे **'हवि'** ( आहुति ) द्रव्य हैं। जबतक हृदय में विष्णुदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं, तभीतक अन्नब्रह्म ( अर्थप्रधान-शरीर ) सुरक्षित रहता है। अन्नादान के द्वारा ही आगतिधर्म्मा, दूसरे शब्दों में आदान के अधिष्ठाता विष्णुदेवता पालक कहलाते हैं। अतएव विष्णु को **'हविर्धान'** अन्नकोश ) का देवता माना जाता है। **'वैष्णवं हि हविर्धानम्'** ( श० ३।५।३।१५ ) यह निगम प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर हम विष्णु को अन्नरूप अर्थशक्ति का अधिष्ठाता मान सकते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, तीनों देवता क्रमशः **मनोमय, अर्थमय, क्रियामय** हैं। तीनों का समुच्चय ही एक एक मूर्त्ति ( मूर्त्तद्रव्य--पदार्थ ) है। **'एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः'** यह प्रसिद्ध है।

मनोमयी ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित इन्द्र और विष्णु में स्पर्द्धा होती रहती है। एक अन्नादान के द्वारा शरीरसंस्था को प्रतिष्ठित बनाता रहता है, तो दूसरा स्वविक्षेपणशक्ति से आगत अन्न को निकाल कर प्रतिष्ठा को उच्छिन्न करता रहता है। इसी इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा से प्रतिज्ञात 'वषट्कार' का जन्म होता है। इसी रहस्य का निरूपण करते हुए वेदपुरुष कहते हैं—

**उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।**
**इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्' ॥**

—ऋक् सं० ६।६९।८

वे तीन साहस्त्रियाँ कौनसी हैं, जिनका उद्गम इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा से हुआ ?, इसका समाधान करते हुए ऋषि कहते हैं—

**'किं तत् सहस्रमिति—इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्'**

—ऐ० ब्रा० ६,३५ इति

इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धासे हृदयस्थ **हृ-द-यम्** रूप-**विष्णु इन्द्र-ब्रह्मा** तीनों पद ( पिण्ड) संस्थासे उत्क्रान्त होकर उपुर्य्युक्त तीनों साहस्त्रियोंके जन्मदाता बनते हैं। **प्राणमूर्त्ति ब्रह्मा वेदसाहस्री के अधिष्ठाता हैं, आपोमय विष्णु लोकसाहस्री के जन्मदाता हैं, एवं वाङ्मय इन्द्र वाक्साहस्री के प्रतिष्ठापक हैं।** **पञ्च**-पुण्डीरा प्राजापत्यब्रलशा के स्वरूपसे परिचित विज्ञ पाठकों को यह विदत है कि, स्वयम्भू ब्रह्मा प्राणमय हैं, ये ही वेदसृष्टि के अधिष्ठिाता हैं। आपोमय विष्णु लोकसृष्टि के जनक हैं, एवं वाङ्मय इन्द्र प्रजासृष्टि के उद्भावक हैं। **प्राण-आपः-वाक्** तीनों हीं प्राकृतिक तत्त्व हैं। **प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद** की समष्टि ही पञ्चविधा क्षरप्रकृति है। क्षरप्रकृति की अपेक्षा से यद्यपि पूर्वोक्त तीनों साहस्त्रियाँ **वेद-लोक-वाक्** भेदसे पृथक् हैं। परन्तु आत्मप्रजापति की अपेक्षा से तीनों वाङ्मयीं हैं। मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति का मनःप्राणगर्भित वाग्भाग ही **वेद-लोक-वाक्** साहस्री का अधिष्ठाता है। **साहस्री** एकमात्र पुरुषवाक् का ही वितान **है। साहस्री महिमा है, पुनःपद है। यही वषट्कार है।** वाङ्मय बषट्कार पर ही वेद-लोक-वाङ्मयी साहस्त्रियाँ प्रतिष्ठित हैं। 'वाग्वा एषा **निदानेन यत् साहस्री, तस्या एतत् सहस्रं** वाचः प्रजातम्" (शत० ४।५।८।४)"**वाग्वा अस्य स्वो महिमा**" ( श० १।४।२।१८) इत्यादि श्रौत वचन वाक् को ही साहस्री की अधिष्ठात्री बतला रहे हैं।

शब्द, एवं-अर्थका अभेद **है**। जो क्रम **शब्दसृष्टि** का है, वही क्रम **अर्थसृष्टि** का है। **शब्दसृष्टि** के **असङ्ग-ससङ्गासङ्ग-ससङ्ग** तीन रूप हैं। **अकार** असङ्गरूपा सृष्टि है। अकारोच्चारण में कण्ठताल्वादि असंस्पृष्ट रहते हैं। '**उकार**' ससङ्गासङ्गसृष्टि है। उकारका उच्चारण करते समय ओष्ठ संकुचित होजाते हैं, इसलिए तो यह ससङ्ग सृष्टि है, परन्तु सर्वथा स्पृष्ट नहीं होते, इसलिए यह सृष्टि असङ्ग है। परन्तु '**मकार**' सर्वथा संसृष्ट है। मकारोच्चारण करते समय दोनों ओष्ठ संलग्न होजाते हैं। मकार अन्तिम स्पर्श है, जैसाकि—"**कादयो मावसानाः स्पर्शाः**' इत्यादिरूप से प्रसिद्ध **है**। यद्यपि प-फ-ब-भ--ये चारों भी स्पृष्ट हैं। परन्तु इनसे-'**नासिकास्थान**' का ग्रहण नहीं होसकता। ऋषि को सर्वस्थान अपेक्षित हैं। इसलिए पकार--फकारादि का ग्रहण न कर

मकार का ही ग्रहण किया है । मकार से नासिकास्थान भी गृहीत होजाता है । निष्कर्ष यही हुआ कि-'अकार-उकार-मकार' भेद से शब्दसृष्टि तीन भागों में विभक्त है । ये हीं तीनों आत्मसृष्टियाँ हैं । "स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' के अनुसार आत्मा मनः- प्राण--वाङ्मय है । ज्ञानघन मन उसकी असङ्गसृष्टि है । ज्ञानमय मन स्व स्वरूप से असङ्ग है । उसका कोई रूप नहीं । जैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह तदाकाराकारित ही बन जाता है । मध्यस्थ प्राण ससङ्गासङ्ग है । वाग् भाग उपर्युक्त पञ्चभूत का आश्रय बनता हुआ ससङ्ग है । वाक्तत्व क्रमशः आकाश–वायु तेज–जल–मृत् रूप में परिणत होता हुआ सर्वथा ससङ्ग है । इसी असङ्ग–ससङ्गासङ्ग- ससङ्ग सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर ऋषिने मनः–प्राण–वाक् की क्रमशः अकार–उकार--मकार संज्ञाएँ कीं हैं । तीनों की समष्टि ओङ्कार है । यही आत्मा का स्वरूप-परिचय है ! इसी आधार पर "ओमित्येवं ध्यायथ-आत्मानम्" यह कहा जाता है । मनः–प्राण–वाक्, इन तीनों में ज्ञानमय मन सर्वथा निष्क्रिय है, अर्थमयी वाक् जड़ है । अतः दोनो हीं पङ्गु हैं ।

सृष्टिकर्तृत्त्व एकमात्र सक्रिय प्राणतत्त्व पर ही प्रतिष्ठित है । अतएव ऋषि ने प्राण को ही प्रथम स्थान दिया है । इस क्रम में उ-अ-अच् यह स्थिति रहती है । उकार को वकार होजाने से 'व–अ-अच्' यह अवस्था होजाती है । सन्धि से 'वाक्' शब्द निष्पन्न होजाता है । जो तत्त्व उकार ( प्राण ), एवं अकार (मन) की याञ्चा करता है, वही वाक्तत्त्व है । वाक् शब्द का अर्थ है–मनः-प्राणगर्भित तत्त्व । सम्पूर्ण सृष्टि माहेश्वरी है * । ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, तीनों देवता सृष्टि के प्रतिष्ठा-प्रभव परायण हैं । ब्रह्मा अकार है । प्राणप्रधान इन्द्र उकार है । अन्नयज्ञाधिष्ठाता वाङ्मय विष्णु मकार है। उ (महेश-किंवा इन्द्र ), अ ( ब्रह्मा), म् ( विष्णु ), यह स्थिति है । माहेश्वरी सृष्टि का यही क्रम है । जबतक यह क्रम है, तभी तक सृष्टिसत्ता है, शान्ति है । 'शम्' कर भाव ( शङ्करभाव ) उ-अ-म्- सत्ता पर ही अवलम्बित है । उकार को वकार होजाने से उ-अ-म् से यह स्थिति 'वम्' रूप में परिणत होजाती है । इसी आधार पर महेश्वर के सम्बन्ध में– वम्शङ्कर (बम् शङ्कर) यह व्यवहार प्रचलित है ।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, साहस्री का सम्बन्ध एकमात्र मनःप्राणगर्भित आत्मा के वाक्–तत्त्व से ही है । वही महिमामण्डल के स्वरूप में परिणत होरही है । इस वाक्साहस्री का वितान करने वाले हृदयस्थ ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, ये ही तीन देवता हैं । ब्रह्मा प्राणमय हैं, विष्णु आपोमय हैं, इन्द्र वाङ्मय (यह वाक्तत्त्व प्राकृत है–साहस्री वाला वाक्तत्त्व आत्मसम्बन्धी है–दोनों सर्वथा पृथक् तत्त्व हैं) हैं । इन्द्राविष्णू की स्पर्द्धा से प्राण-आपः-वाक्, तीनों का 'वीरण (विदूर गमन)' होता है । प्राण के वीरण से उसी वाग् धरातल पर वेदसाहस्री का वितान होता है, आपः के वीरणसे लोकसाहस्री का वितान होता है,

---

*– न पद्माङ्का, न चक्राङ्का, न वज्राङ्का यतः प्रजाः ॥
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च, तस्मान्माहेश्वरी प्रजाः ॥१॥
पुल्लिङ्गं सर्वमीशानं, स्त्रीलिङ्गं विद्धि चाप्युमाम् ॥
द्वाभ्यां तनुभ्यां व्याप्तं हि चराचरमिदं जगत् ॥
—महाभारत, अनु० पा०, १४ अ०

एवं वाक् के वीरण से वाक्साहस्री वितत होती है। यह ऐन्द्री वाक् ही 'वषट्कार' स्वरूप में परिणत होती है। अतएव इन्द्र के लिए 'वौषट्' बोलते हुए ही आहुति दी जाती है। **मन अकार है,-प्राण उकार है**, यह पूर्व में बतलाया जाचुका है। **'अ-उ-अ-अच्'** यह परिस्थिति होजाती है । गुण-वृद्धिभाव से **'वौक्'** बन जाता है। 'वौक्' शब्द का अर्थ है—**मनः-प्राण-गर्भिता वाक्**। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख-कर ऋषि ने **'वौषट्कार'** कहा है। यही **'वौषट्'** है। और यही **'वषट्'** है।

**मन उक्थ है, प्राण अर्क है, वाक् अशीति है**। अर्क ही उस आत्मा की रश्मियाँ हैं। ये प्राणरूप अर्क मनो-वाक्-रूपा वर्त्तनी में प्रतिष्ठित होकर आगे चलते हैं। अतएव मनो, वाग्- गर्भित गतिशील इस प्राणतत्त्व को 'गच्छति' अभिप्राय से **'गौ'** कहा जाता है। पिण्ड से निकल कर महिमारूप में व्याप्त होने वाले इस मनोवाङ्मय **गोतत्त्व (प्राणतत्त्व)** का दो प्रकार से वितान होता है। केन्द्र से चारों ओर सीधी गति इस की **'एकविधा है**, एवं पिण्ड से चारों ओर मण्डल बनाते हुए प्रतिष्ठित होना दूसरी **'विधा'** है। पहिली विधा को याज्ञिक परिभाषानुसार **'अभिप्लवस्तोम'** कहते हैं, एवं दूसरी विधा को **'पृष्ठ्यस्तोम'** कहते हैं।

## अभिप्लव–स्वरूप–दिग्दर्शन—

**'अभि ( सम्मुखे-प्रधिभागमनु- ) प्लवनम् ( प्रवहणम् )--प्राणाख्यवस्तुनः- अग्रे-प्रवहणम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार केन्द्र से प्रधि (परिधि) भाग की ओर वितत होने वाला मनोगर्भित प्राणाख्य गोतत्त्व ही **'अभिप्लव'** है। पिण्ड शरीरभाग है। अभिप्लव इस पिण्डीभूत मर्त्यशरीर से निकल कर महिमा-मण्डल में प्रतिष्ठित अमृत स्वरूप प्राणात्मक द्रुत रस है। यह उस पिण्ड के ऊर्ध्व भाग की ओर व्याप्त रस भाग है। अग्निचित्या-विज्ञान से परिचित ( १ ) **साग्नि**–विद्वान् यह भलीभाँति जानते हैं कि, **चार आत्मा, दो पक्ष, पुच्छप्रतिष्ठा**, इन सात मर्त्य चित्य पुरुषों की चिति से ही प्रत्येक स्पृश्यपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड **'सप्तपुरुषपुरुषात्मक'** है। सप्तपुरुषपुरुषात्मक वस्तुपिण्ड मर्त्यशरीर है। वस्तुपिण्ड से निकल कर चारों ओर समुद्रवत् व्याप्त रहने वाला प्राणरस ही इस का **'श्रीभाग'** है। उदाहरण के लिए अध्यात्म पर दृष्टि डालिए। कण्ठरन्ध्र से नीचे का सम्पूर्ण भाग सप्तपुरुषपुरुष की समष्टि है। सम्पूर्ण धड़ चार आत्मा है। चार प्राणों की समष्टि एक धड़ है। इतर शरीर का आलम्बन यही **'धड़'** है। अत: चतुष्प्राण–समष्टि-रूप इसे इतर शरीरावयों की अपेक्षा से **'आत्मा'** कह दिया जाता है। दक्षिण हस्त, दक्षिण पाद दक्षिण पक्ष है, वामहस्त, वाम पाद उत्तर पक्ष है, त्रिकास्थिगत स्थिरप्राण **'पुच्छप्रतिष्ठा'** है।

एक पीपल के पत्ते को देखिए। बीच का वृन्त **'चत्त्वार आत्मा'** है। वृत्त का दक्षिणोत्तर पार्श्व **'दक्षिणोत्तर पक्ष'** है, एवं जिस प्राण से पत्ता तना हुआ रहता है, वही **'ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा'** है। जबतक पत्ते में यह प्रतिष्ठाप्राण रहता है, तभी तक पत्ता तना रहता है। इस प्राण के मूर्च्छित होजाने से पत्ता मुर्भा जाता है। जबतक शरीर में प्रतिष्टाप्राण रहता है, शरीर तना रहता है। अवस्था–परिवर्त्तन से ज्यों ज्यों यह प्राण शिथिल होता जाता है, त्यों त्यों शरीरयष्टि झुकती जाती है। चरमावस्था में **'दशमी'** नाम से प्रसिद्ध

[१]--अग्निग्रन्थपर्य्यन्तमधीते साग्निः।

अन्तिम अवस्था में ) शरीर सर्वथा झुक जाता है। यही प्रतिष्ठाप्राण की उच्छित्ति है। इसी के लिए 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा (शत० ६।१।१।८ ) यह कहा जाता है। उपर्युक्त सातों में से अमृतप्राण निकल कर मस्तक बनता है। मस्तक श्री ( रस ) भाग है। श्रीतत्त्व को ही परोक्ष भाषा में 'शिर' कहा जाता है। मस्तक ही सम्पूर्ण शरीर की श्री है। अतएव आगमसम्प्रदाय में मस्तक को 'श्री' शब्द से ही व्यवहृत किया जाता है। इसी श्री का नाम 'अभिप्लव' है। इन्द्रियरूप सम्पूर्ण यश इसी अभिप्लवसमुद्र में प्रतिष्ठित है। इसी चित्य (मर्त्य) चितेनिधेय [अमृत] पुरुषविज्ञान को लक्ष्य में रखकर चयनश्रुति कहती है–

**तेऽब्रुवन्–न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुम्। इमान् सप्तपुरुषानेकं पुरुषं करवाम–इति। त एतान्–सप्तपुरुषानेकं पुरुषकुर्वन्। यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्। यदवाङ् नाभेस्तौ द्वौ। पक्षः पुरुषः-पक्षः पुरुषः। प्रतिष्ठैक आसीत्। अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत्तमूर्ध्वं समुदौहंस्तदस्य शिरोऽभवत्। यच्छ्रियं समुदौहँस्तस्मा च्छिरः। ……………… । स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो–यच्चत्वार आत्मा, त्रयः पक्षपुच्छानि' (शत० २१।५) इति।**

आगे बतलाए जाने वाले स्तौम्य–लोकों की प्रतिष्ठा यही महिमा–मण्डलस्थ प्राणात्मक अभिप्लव है। अपएव—'**इमे वै लोका अभिप्लवाः**' ( शत६ १२।२।१ ) इत्यदि रूप से लोकों को '**अभिप्लव**' कहा जाता है। उत्क्रान्त प्रेतात्मा को परलोक में लेजाने वाले '**आतिवाहिक**' ये ही लोकरूप प्लव ( नौका ) हैं, इसलिए भी इन्हें 'अभिप्लव' कहा जाता है। **अभिप्लव सम्वत्सररूप नौका है**। इसी विज्ञान के आधार पर "**तद्यदभिप्लवमुपयन्ति–सम्वत्सरमेव तद्यजमानाः समारोहन्ति** (कौ० ब्रा० १०।१) यह कहा जाता है। सौरप्राण के सम्बन्ध से ये अभिप्लव ३६००० ( छत्तीस हजार–षट्त्रिंशत्बृहतीसहस्र ) भागों में विभक्त होकर आयु के आधार बनते हैं।

सूर्य—**ज्योतिः, गौः, आयुः–घन है।** ज्योतिः–गौः–आयुर्घन सूर्य–'**बृहतीमध्यूढस्तपति**' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार विष्वद्वृत्त (इक्वेटर लाइन) नाम से प्रसिद्ध बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित है। छन्दोविज्ञानवित् यह जानते हैं कि, चतुष्पदा गायत्री के ६ अक्षर हैं (प्रत्येक पाद षडक्षर, सम्भूय २४ अक्षर-यही क्रम आगे है ) **उष्णिक् सप्ताक्षरा है। अनुष्टुप् अष्टाक्षरा है**। एवं सूर्यप्रतिष्ठारूपा बृहती नवाक्षरा है। इसप्रकार चतुष्पाद् बृहतीछन्द के '३६' अक्षर होजाते हैं। एक ही इन्द्रात्मक बृहतीप्राण ३६ भागों में विभक्त होजाता है। पूर्वप्रतिपादिता वाक्साहस्री के सम्बन्ध से मनःप्राणवाङ्मय प्रत्येक बृहतीप्राण ( इन्द्रप्राण ) सहस्रधा–सहस्रधा विभक्त होजाते है। इसप्रकार ३६ बृहती के 'षड्त्रिंशत्बृहतीसहस्र ( ३६००० ) प्राण' होजाते हैं। प्रत्येक प्राण पूर्वकथनानुसार मनःप्राणवाङ्मय है। **३६००० ही मन हैं, ३६०००ही प्राण हैं, ३६००० ही वाक् हैं।** एक एक मन, एक एक प्राण, एवं एक एक वाक् की समष्टि एक एक आयुःसूत्र है। तीनों के समन्वय से प्रकृत्या हमारे आत्मा में ३६००० (छत्तीस हजार) आयुःसूत्र प्रतिष्ठित रहते हैं। एक दिन में हम एक आयुःसूत्र का उपभोग कर लेते हैं। ३६००० दिन (१०० वर्ष) में बृहतीसहस्रात्मक आयुःसूत्र उपभुक्त होजाते हैं। इसी बृहत्यात्मक आयुःसूत्र का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

'ता वा एता बृहत्यो यत् षट्त्रिंशदक्षराः' । (ताण्ड्यब्रा० १६।११।१०)

'अः' इति ब्रह्म तत्राऽऽगतमहमिति । तद्वा इदं बृहतीसहस्रं संपन्नम् । तस्य वा-एतस्य बृहतीसहस्रस्य संपन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि भवन्ति । तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राणि भवन्ति । जीवाक्षरेणैव जीवाहराप्नोति, जीवाह्वा जीवाक्षरम्' ।

—ऐ० आ० २।३ अ० ८ खं०

सम्वत्सर, एवं श्रीरूप अभिप्लव का अधिष्ठाता यही बृहतीसहस्र है, इसी आधार पर–'बृहती हि सम्वत्सरः' (शत० ६।४।२।१०) 'श्रीर्वै यशश्छन्दसां बृहती' (ऐ० ब्रा० १।५) 'बृहत्यां वा असावादित्यः–श्रियां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितस्तपति' (गो० ब्रा० उ०) इत्यादि निगमवचन प्रसिद्ध हैं । उपर्युक्त अभिप्लव मनःप्राणवाङ्मय हैं । हमारा आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है । वह इसी षड्त्रिशत्बृहतीसहस्र के कारण १०० वर्ष पर्य्यन्त शरीर में प्रतिष्ठित रहता है । इसी बृहतिविज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्–निरुक्ततरं मूर्त्ततरम् । तदात्मानमन्वैच्छत् । तत्तपोऽतप्यत । तत् प्रामूर्च्छत् । स षट्त्रिंशं शतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान् ............... स षट्त्रिंशं शतं सहस्राण्यश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् वाङ्मयान् ........... .........स षट्त्रिंशं शतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् प्राणमयान्......... ....... ।

—शत० १० ४।१।१।-४-५ इति ।

सौरप्राण के सम्बन्ध से ही बार्हतप्राण का ( पार्थिवमण्डल के साथ ) सम्बन्ध होता है । सूर्य्य में ज्योतिः–गौः--आयुः, ये तीन 'मनोता' हैं । इन तीनों का पृथिवी के अभिप्लव के साथ सम्बन्ध होता है । यही "ज्योतिः–गौः–आयुः, गौः–आयुः–ज्योतिः" इस क्रम से पार्थिव आभिप्लविक स्तोम 'षडह' नाम से प्रसिद्ध होजाता है । दूसरा है पृष्ठ्यस्तोम । प्रकृत में इसी का सम्बन्ध है । अतः विशेषरूप से इसी की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

## पृष्ठ्यस्वरूप-निदर्शन—

पिण्ड से बाहिर निकलने वाले मनोवाग्गर्भित आत्मप्राण को हमने 'श्रीः' (रस-यश) कहा है । उसी की अभिप्लव, एवं पृष्ठ्य' भेद से दो अवस्थाएँ होजातीं हैं । वस्तुपिण्ड के केन्द्र से सौररश्मिवत् चारों ओर व्याप्त होता हुआ वह रसभाग जैसे 'अभिप्लव' स्वरूप में परिणत होता है, एवमेव पिण्ड के चारों ओर वर्त्तुल वृत्त बनता बनाता हुआ वही प्राणतत्त्व 'पृष्ठ्य' रूप में परिणत होजाता है ।

ये मण्डल कुल हजार हैं । यही सहस्रवर्त्मा सामवेद है । यही पृष्ठ्यस्तोम है । इसी आधार पर पृष्ठ्य के–'एतानि खलु वै सामानि यत् पृष्ठानि' (तै० ब्रा० १।८।८।३) 'श्रीर्वै पृष्ठानि' (ऐ० ब्रा० ६।५)

ये लक्षण किये जाते हैं। इन पृष्ठों के आधार पर ही पार्थिवदेवता स्वर्गलोक ( सूर्य्यलोक ) जाने में समर्थ होते हैं—(देखिए ताण्ड म० ब्रा० ७।७।१७) । पिण्ड से निकलने वाला यह वाङ्मय प्राण ही गौ है । ये एक सहस्र हैं । व्यवहार-सौकर्य्य के लिए जैसे ३० अहोरात्र का एक मास माना जाता है, ३० अंश की एक राशि मानी जाती है, ३६० अहोरात्र का एक वर्ष माना जाता है, प्रत्येक वृत्त लवृत के ३६० अंश माने जाते हैं, उसी प्रकार विज्ञानतत्त्व को सुव्यवस्थितरूप से समझने के लिए ऋषियोंने ३०--३० गोतत्त्व की एक एक राशि मान रक्खी है । एवं इस राशि को **'अहर्गण'** नाम से व्यवहृत कर रक्खा है । इस क्रम के अनुसार १००० गोतत्त्व के ३३ अहर्गण होजाते हैं । यह विभाग ९९० गोतत्त्वों में समाप्त होजाता है । शेष १० गोतत्त्व बच जाते हैं । यही (१० की समष्टि) ३४ वाँ अहर्गण कहलाता है । इसीके लिए **'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः'** यह कहा जाता है ।

उपर्युक्त ३३ अहर्गणों में तीन अहर्गणों का तो पिण्डहृदयस्थ **ब्रह्मा-विष्णु--इन्द्र,** इन तीन हृद्य अक्षरों में अन्तर्भाव होजाता है । दूसरे शब्दों में तीन अहर्गण केन्द्र में प्रतिष्ठित होते हुए शेष त्रिंशत् अहर्गणात्मक वषट्कार मण्डल की प्रतिष्ठा बन जाते हैं । प्रारम्भ के मूलभूत हृद्य तीन अहर्गणों के साथ ६ अहर्गणों का सम्बन्ध होने से-**'त्रिवृत्स्तोम'** (९ **अहर्गणों की राशि**) का स्वरूप निष्पन्न होता है । और ६ अहर्गणों के समन्वय से **पञ्चदशस्तोम** का स्वरूप निष्पन्न होता है । और ६ के समन्वय से **त्रिणवस्तोम** की, और ६ के समन्वय से **त्रयस्त्रिंशस्तोम** की निष्पत्ति होजाती है । ३३ अहर्गणात्मक महिमामण्डल की प्रतिष्ठा हृदयस्थानीय सत्रहवाँ अहर्गण है । इसीके लिए **'सप्तदशो वै प्रजापतिः'** कह कहा जाता है । पिण्डहृदयस्थ **प्रजापति** हृदयरूप होने से जैसे **'अनिरुक्तप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध है, ३४ वाँ प्रजापति **पिण्डगर्भित** महिमामण्डल को स्वोदर में प्रतिष्ठित कर सर्वप्रपञ्च का अधिष्ठाता बनता हुआ जैसे **'सर्वप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव महिमामण्डल का अधिष्ठाता सप्तदशस्तोमात्मक यह प्रजापति **"उच्च--गीश्च--थंच"** इस व्युत्पत्ति से **'उद्गीथप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध है । **ऊर्ध्वभाव 'उत्' है । वितानभाव "गी" है । गान ही वितान है । स्थितिभाव का द्योतक 'थं' है ।** केन्द्रस्थ अनिरुक्त प्रजापति ही ऊपर की ओर वितत होकर १७ वें अहर्गण पर प्रतिष्ठित होकर **'उद्गीथ'** नाम से प्रसिद्ध होजाता है । प्रकृत में बतलाना यही है कि, **त्रिवृत् (९), पञ्चदश ( १५ ), एकविंश ( २१ ), त्रिणव ( २७ ), त्रयस्त्रिंश ( ३३ ), सप्तदश ( १७ ),** भेद से प्राणगर्भिता सहस्रधा विभक्ता वह वाक् उपर्युक्त ६ **स्तोमों में** विभक्त होजाती है । ज्योतिर्गौरायु के भेद से जैसे अभिप्लव **'षड़ह'** कहलाता है, इसीप्रकार उपर्युक्त ६ स्तोमों से यह पृष्ठ्यस्तोम भी षड़ह * नामसे ही व्यवहृत हुआ है । ६ ओं विभाग उसी वाक् के हैं । अतएव यह स्तोमसमष्टि **वषट्कार** नाम से प्रसिद्ध है । यह है वषट्कार का संक्षिप्त स्वरूप- निदर्शन । अब पुनः प्रकृत का अनुसरण किया जाता है ।

इस वषट्कारस्तोम में-**युग्म-अयुग्म,** भेदसे दो विभाग होजाते हैं । वे ही दोनों विभाग **'युग्मस्तोम-अयुग्मस्तोम',** किंवा **युग्मन्तिस्तोमानि, अयुग्मन्तिस्तोमानि** इन नामों से प्रसिद्ध हैं । पृथिवीपिण्ड से निकलने वाला तत्त्व **'शुक्र'** नामसे प्रसिद्ध है । यह शुक्रतत्त्व **'वाक्-आपः-अग्निः'** इन तीन भागों में विभक्त **है । वाक्**

---

* इन सब विषयों का विषद विवेचन **शतपथभाष्यान्तर्गत-गवामयनसत्त्र** ( १२ कां० ) में द्रष्टव्य है ।

**वेदतत्त्व है, आपः सोमतत्त्व है**, एवं अग्नि प्रसिद्ध है। पृथिवीपिण्ड के चारों ओर कुछ दूर पर्य्यन्त अग्नितत्त्व व्याप्त है। यही पहिला **अग्निपृष्ठ** है। अग्निपृष्ठ के अनन्तर कुछ दूर पर्यन्त **आपोमण्डल**, किंवा **सोममण्डल** है। यही दूसरा **अप्पृष्ठ है**। एवं सर्वान्त में **वाक्पृष्ठ**, किंवा **वेदपृष्ठ** है। **पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा-विज्ञानसे** परिचित विद्वानों को यह भलीभाँति विदित है कि, **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा**, इन पाँचोंमें परस्पर **दहरोत्तरसम्बन्ध है**। इस सम्बन्ध के कारण उत्तर उत्तर मण्डल में पूर्व पूर्व मण्डल का प्राण समाविष्ट रहता है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य पृथिवी-चद्रमा, पाँचों **प्राकृत तत्त्व** हैं। पञ्चकल अव्यय-पञ्चकल अक्षर-पञ्चकल-आत्मक्षर एवं परात्पर की समष्टि ही षोडशी प्रजापति है। यही **पुरुषतत्त्व** है। यही उपर्य्युक्त पांचों प्रकृतियों का आलम्बन है। **वाक्-आपः- अग्निः** ये तीन शुक्र हैं। अमृत-मर्त्य भेद से इस शुक्र के कुल ६ विवर्त होजाते हैं। पुरुष का प्रकृति के साथ समन्वय (मिथुन) होनेसे **वाक्-आपः-अग्निः**-रूप शुक्र से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है। **पुरुष अमृतात्मा है, प्रकृति ब्रह्म है। तीसरा विवर्त्त शुक्र है।** "**तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते**" (कठोपनिषत् *) के अनुसार वह एक ही आत्मतत्त्व **पुरुष, प्रकृति** -विकृति के भेद से **अमृत-ब्रह्म-शुक्र**-स्वरूप में परिणत होरहा है। **शुक्रदृष्ट्या वही सबकुछ बन रहा है, ब्रह्मदृष्ट्या वही सब का कर्त्ता है, एवं अमृतदृष्ट्या वही सबका आलम्बन है।**

साथही में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, पुरुषका मनः-प्राण-वाक् भाग ही सृष्टि का **आलम्बन** बनता है। अतः सृष्टिविद्या में मनःप्राणवाङ्मय अव्यय ही आलम्बन माना जाता है। दूसरे शब्दों में-**सृष्टि** के सम्बन्ध में पुरुष, किंवा अमृत शब्द से मनः-प्राण वाङ्मय सृष्टिसाक्षी पुरुष का ही ग्रहण किया जाता है। स्वयम्भू पहिला प्राकृत ब्रह्म है। यह स्वस्वरूप से ( प्रकृत्या ) प्राणमय है। किन्तु इसमें क्योंकि पुरुष की '**वाक्कला** का' उपभोग होता है। अतः पुरुषापेक्षया इसे '**वाङ्मय**' कहा जाता है। परमेष्ठी स्वस्वरूप से **आपोमय है**, पुरुषापेक्षया **प्राणवाङ्मय** है। कारण--परमेष्ठी में आत्मा की **प्राण--वाक्**, इन दो कलाओं का भोग होता है। सूर्य्य प्रकृत्यपेक्षया **वाङ्मय है**। पुरुषापेक्षया **मनःप्राणवाङ्मय है**। **अग्निचिति के कारण अमृतात्मा का पूर्ण विकास इसी चितिधर्म्मावच्छिन्न सूर्य्य में होता है।**

सौरचिति के कारण हीं यह आत्मा '**चिदात्मा**' नाम से व्यवहृत होता है। यही कारण है कि, स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य, आदि पाँचों प्रकृतियों में से- '**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' (यजुः) इत्यादि रूप से सूर्य्य को ही '**आत्मतत्त्व**' (जीवात्मतत्त्व) का अधिष्ठाता बतलाया जाता है। '**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूता अयन्नर्थाः कृणवन्नपांसि**' का भी यही रहस्य है। **सूर्य्य से** नीचे चन्द्रमा (स्थितिक्रमापेक्षया ) है। यह प्रकृत्यपेक्षया **अन्नमय है**, एवं पुरुषापेक्षया **वाक्प्राणमय** है। पृथिवी प्रकृत्यपेक्षया **अन्नादमयी** है। एवं पुरुषापेक्षया **वाङ्मयी है**। उपक्रम में **वाक् है**, उपसंहार में वाक् है। सम्पूर्ण विश्व वाक्तत्त्व से अनुगृहीत है। इसी आधार पर-'**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**'-'**अथो वागेवेद सर्वम्**' इत्यादि निगम प्रचलित हैं।

* पूर्व में जिन तीन शुक्रों का 'निरूपण किया गया है, वे क्रमशः **वाक्-आपः--अग्निः-अग्निः-आपः-वाक्**, इस क्रम से उपर्य्युक्त पाँचों मण्डलों में विभक्त हैं। **वाक्तत्त्व वेदाग्नि है। यही सत्याग्नि, सार्व-**

---

* इस विषयका विषद विवेचन कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य की '**अश्वत्थविद्या**' में देखना चाहिए।

**याजुषाग्नि, प्राणाग्नि, ब्रह्माग्नि** आदि विविध नामों से प्रसिद्ध **है**। अप् तत्त्व ऋताग्नि है। यही सुब्रह्माग्नि नाम से प्रसिद्ध है । अग्नितत्त्व **'देवाग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है । मर्त्यशुक्ररूप अग्नि 'मृत्यु' कहलाता है। इसी आधार पर सूर्य को मृत्यु कहा जाता **है**—( देखिए शत० १० कां ३।५६ ) । चान्द्र अप्तत्त्व ऋताग्नि है। मर्त्य वाक्तत्त्व भूताग्नि है। वेदाग्निरूप वाक्शुक्र स्वयम्भू में प्रतिष्ठित है। ऋताग्निरूप अप्तत्त्व परमेष्ठी में प्रतिष्ठित है। देवाग्निरूप अमृताग्निशुक्र, एवं मृत्युरूप मर्त्य-अग्निशुक्र, दोनों सूर्य में प्रतिष्ठित हैं। सूर्य से ऊपर अमृतशुक्र ही है, एवं–**'तस्माद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्'** (१० कां०३।५) के अनुसार सूर्य से नीचे मर्त्य शुक्र ही है। किन्तु मध्यस्थ सूर्य–**'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च'** (यजुः) के अनुसार अमृतमर्त्यभेदभिन्न उभय शुक्रात्मक है। इसप्रकार **आत्मा,-पिण्ड,-देवता,-प्रकृति,-विकृति,-भूत,-भेद से** स्वयम्भू आदि पाँचों पृथक् पृथक् नामों से व्यवहृत होने लगते हैं। परिभाषा–ज्ञान के अनन्तर वेदतत्त्व हमारे लिए जितना सरल, एवं सुगम है, बिना परिभाषाज्ञान के ब्राह्मणग्रन्थोक्त **अनुगम, निगम** वचनों का यथावत् समन्वय कर लेना हमारे लिए उतना हीं कठिन, एवं दुर्गम है। उदाहरण के लिए पूर्वप्रतिपादित **अभिप्लव, पृष्ठ, वाक्, शुक्र, ब्रह्मादि,** शब्दों को ही लीजिए । देखिए ब्राह्मणग्रन्थो में उपर्युक्त तत्त्वों के सम्बन्ध में कैसे कैसे विरुद्ध वचन निर्दिष्ट प्रतीत होरहे हैं—

## अभिप्लवः

१--**'चतुर्भिस्तोमैः पृष्ठैः, लघुभिः सामभिः स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त । यदभ्यप्लवन्त-तस्मादभिप्लवाः'** । (श० १२।२।२।१०) ।

२-**'यद्वेवैष षडहः पुनः पुनरभिप्लवो नाम '** (कौ० ब्रा० २१।६) ।

३-**'इमे वै लोका अभिप्लवाः'** (श० १२।२।१) ।

४-**'श्रीर्वा अभिप्लवाः'** (कौ० २१।५) ।

५-**'पशवो वा अभिप्लवाः'** (२१ ५) ।

## पृष्ठम्

१ **'स्वर्गो लोकः पृष्ठानि'** (तां० ब्रा० १६।१५।६) ।

२-**'एतानि खलु वै सामानि, यत् पृष्ठानि** (तै० १।८।८।३) ।

३-**''आत्मा वै पृष्ठानि''** ( तां० २२।६।४ ) ।

४-**''अन्नं पशवः पृष्ठानि''** ( तां० १६।१५।८ ) ।

५-**''वीर्यं वै पृष्ठानि''** ( तां० ४।८।७ ) ।

६-**''श्रीर्वै पृष्ठानि''** ( ऐ० ब्रा० ६।५ ) ।

## वाक्

१-"वाग्वै ब्रह्म" ( ऐ० ब्रा० ६।३ )।

२-"वाग् वा इन्द्रः" ( कौ० २।७।१३।५ )।

३-"वाग्वा चन्द्रमाः" ( तै० उ० ३।१३।१२ )।

४-"सा या सा वागग्निः सः" ( तै० उ० १।२८।३ )।

५-"वाग् वै यज्ञः--यज्ञो वै विष्णुः"—

निदर्शनमात्र है। सभी पदार्थों में आपको यही परिस्थिति उपलब्ध होगी। प्रकृत में हमें वाक् का विचार करना है। स्वयम्भू की वाक् ब्रह्म है। सौरी वाक् इन्द्र है। पार्थिवी वाक् अग्नि है। पारमेष्ठिनी वाक् विष्णु है। चान्द्रमसी वाक् सोम है। इसप्रकार स्थानभेद से सब बचनों का समन्वय होजाता है। उपर्य्युक्त सम्पूर्ण विषय निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है।

| | आत्मापेक्षया | पिण्डापेक्षया | देवापेक्षया | प्रकृत्यपेक्षया | विकृत्यपेक्षया | भूतापेक्षया |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १— | वाङ्मयः | स्वयम्भूः | ब्रह्मा | प्राणमयः | वाङ्मयः | आकाशः |
| २— | वाक्प्राणमयः१ | परमेष्ठी | विष्णुः | आपोमयः | आपोमयः | वायुः |
| ३— | वाक्प्राणमनोमयः | सूर्य्यः | इन्द्रः | वाङ्मयः | अग्निमयः | तेजः |
| ४— | प्राणवाङ्मयः | चन्द्रमाः | सोमः | अन्नमयः | आपोमयः | जलम् |
| ५— | वाङ्मयी | पृथिवी | अग्निः | अन्नादमयी | वाङ्मयी | पृथिवी |

उक्त पाँचों पिण्डों में मण्डल—सम्बन्ध से दहरोत्तरभाव है। उत्तर उत्तर का मण्डलोपहित पिण्ड पूर्व पूर्व के मण्डल में प्रतिष्ठित है। साथ ही पूर्व पूर्व मण्डलस्थ प्राण उत्तरोत्तर के मण्डल में प्रतिष्ठित है, यह पूर्व में कहा जाचुका है। इससे यह भी भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि, **स्वयम्भू केवल प्राणमय है। परमेष्ठी प्राणमय, आपोमय है। सूर्य्य प्राण—आपः—वाङ्मय है। चन्द्रमा--प्राण--आपः-वाक्—अन्न-**

मय है। एवं पृथिवी प्राण–आप:–वाक्–अन्न-अन्नादमयी है। शुक्रापेक्षया स्वयम्भू वाङ्मय है। परमेष्ठी वाङ्मय, एवं आपोमय है। सूर्य्य-वाक्–अग्निमय है। सूर्य्यमहिमा में प्रतिष्ठिता पृथिवी में भी वे ही तीन पृष्ठ हैं। पहिला सौराग्नि से प्रवृक्त **अग्निपृष्ठ** है। दूसरा **अप्पृष्ठ** है। तीसरा **वाक्पृष्ठ** है। दूसरे शब्दों में-पृथिवीपिण्ड के चारों ओर प्रथम वह अग्नि अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है, जोकि सूर्य्य से प्रवृक्त होकर अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु बनता हुआ इसीका '**ब्रह्मौदन**' बन जाता है। इसीप्रकार पारमेष्ठ्य प्रवृक्त भाग इस पृथिवी का **अप्पृष्ठ** है। एवं स्वयम्भू का प्रवृक्तभाग '**वाक्पृष्ठ**' है। ये तीनों पृष्ठ क्रमशः **यज्ञपृष्ठ--ब्रह्मपृष्ठ-पारावतपृष्ठ** नाम से प्रसिद्ध हैं।

**स्वयम्भू वाक् है, परमेष्ठी आप: है, सूर्य्यगत प्राणाग्नि ( अमृताग्नि) अग्नि है। ये तीनों अमृतशुक्र हैं। सूर्य्यगत मृत्यु मर्त्य अग्निशुक्र है, चन्द्रमा आप: नाम का मर्त्यशुक्र है, एवं पृथिवी मर्त्यवाक् शुक्र है।** इसप्रकार वागादि ६ ओं शुक्र निम्नलिखित क्रम से प्राजापत्यवल्शा में विभक्त हैं—

१—१—स्वयम्भू: ... वाक् शुक्रम्
२—२—परमेष्ठी ... आप: शुक्रम्  } अमृतानि शुक्राणि
३— { ३—अमृतसूर्य्य: ... अग्नि: शुक्रम्



४—मर्त्यसूर्य्य: } ... अग्नि: शुक्रम्
४—५—चन्द्रमा: ... आप: शुक्रम्  } मर्त्यानि शुक्राणि
५—६—पृथिवी ... वाक् शुक्रम्

इस क्रम में पृथिवी सब के अन्त में आती है। अत: इस पृथिवी में, एवं यच्चयावत् पार्थिव पदार्थों में उपर्युक्त ६ ओं शुक्रों का भोग होजाता है। सूर्य्य द्यौ है। पृथिवी पृथिवी है। द्यावापृथिवी का श्यैत--नौधस के आदान विसर्ग के कारण परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव जो स्थिति पृथिवी की है, वही स्थिति द्युरूप सौरजगत् की है। दूसरे शब्दों में–पृथिवी में जैसे वागादि ६ शुक्रों का भोग होता है, एवमेव सूर्य्य में भी ६ ओं शुक्रों का भोग होरहा है। विषय अतिदुरूह है, अतः पुनरुक्ति की उपेक्षा कर प्रकारान्तर से शुक्रतत्त्व का स्वरूप आप के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

'**अग्निरहस्यविद्या**' के अनुसार तीन हीं तत्त्व विज्ञेय हैं। वे तीनों तत्त्व–**आवपन-अन्नाद-अन्न**-इन नामों से व्यवहृत किए जाते हैं। एकतः आधारभूमि को '**आयतन**' कहा जाता है, एवं सर्वत: आधारभूमि को '**आवपन**' कहा जाता है। शय्या हमारा आयतन है। आदर्श ( काच ) हमारे प्रतिबिम्ब का आयतन है। आदर्शवत् प्रज्ञानमन इन्द्रिय के द्वारा आगत घट–पटादि विषयों का आयतन है। महानात्मा चिदात्मा का आयतन है। इसी के लिए-'**तद् ब्रह्मायतनं महत्**' यह कहा जाता है। मसीपात्र [दावात] श्याही का आयतन

है । घट पानी का आयतन है । ये सब अपने आधेयों के एकतः आधार हैं । मन के उपरि भाग में विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ता है । अतएव मन के लिए **'मनो वा आयतनम्'** (विषयाणाम्, ( शत० १४।६।२।५ ) यह कहा जाता है । जिसे लोकभाषा में **'आधार'** कहा जाता है, वेदभाषा में वही आधार **'आयतन'** नाम से व्यवहृत किया जाता है ।

**'वसुधानकोश'** ( डिब्बी ) तद्गत वस्तु का **'आवपन'** है । **'स्तौम्यत्रिलोकी'** नाम से प्रसिद्ध त्रैलोक्यात्मिका महावेदिरूपा **'उख्या पृथिवी (महिमा पृथिवी)'** चतुर्दशविध भूतसर्गों का **'आवपन'** है । इसी आधार पर—**'अयं वै लोक आवपनं महत्'** [ तै० ब्रा० ३।६।५५ ] यह कहा जाता है । वसुधानकोश तद्गत वस्तु का चारों ओर से आधार है । अतएव हम इसे अवश्य ही आवपन कह सकते हैं । प्रत्येक पदार्थ को अ ने उदर में रख कर उसे सुरक्षित रखने वाला उस वस्तु का आकाश है । अतएव सर्वतः आधारभूत तत्तद्वस्तु के तत्तदाकाश को भी हम तत्तद्वस्तु का **'आवपन'** मान सकते हैं । **'आकाशो वै नाम-रूपयोनिर्वहिता'** [ उपनिषत् ] के अनुसार बहिर्मण्डलस्वरूप आकाश ही तत्तद् वस्तु के नामरूप, एवं कर्म्म की प्रतिष्ठा है । इसी आधार पर आवपनतत्त्व को **'खं ब्रह्म'** ( **आकशब्रह्म** ) कहा जाता है ।

दूसरा है **अन्नादब्रह्म** । अग्नितत्त्व का ही नाम **'अन्नाद'** है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है । यह अन्नादतत्त्व ही मुख्य **'आत्मा'** है । यही आवपन पर प्रतिष्ठित रहता है । आवपन पर प्रतिष्ठित यह अन्नादाग्नि भूः–भुव–स्वः भेद से त्रिधा विभक्त रहता है । त्रिधा विभक्त यह अग्नितत्त्व सुखसाधक बनता हुआ **'कं ब्रह्म'** नाम से व्यवहृत होता है । तीसरा है **अन्नब्रह्म** । आपस्तत्त्व का ही नाम **अन्नब्रह्म** है । इसीसे रममाण होता हुआ अग्नि **'कं'** रूप में परिणत होता है, अतएव इस अन्नब्रह्म को **'रं ब्रह्म'** कहा जाता है । **'खंब्रह्म'** पर प्रतिष्ठित **'कं ब्रह्म'** यदि **'रं ब्रह्म'** से अनुगृहीत रहता है, तो शान्ति है । इसी आधार पर **'खं-कं-रम्'** तीनों की समष्टि **'शंब्रह्म'** नाम से व्यवहृत की जाती है । **आवपनब्रह्म आकाश है । यही वाक्शुक्र है । अन्नादब्रह्म अग्निशुक्र है । अन्नब्रह्म आपःशुक्र है । वाक्–आपः-अग्नि ही आवपन–अन्न-अन्नाद है** । तीनों की समष्टि ही—**'सर्वम्'** है ।

ध्यान रहे, आकाश से प्रकृत के **'शुन इन्द्र'** ही अभिप्रेत है, न कि सांख्योक्त कल्पित शून्यप्रदेश । शून्यप्रदेश आकाश नहीं है, अपितु **'इन्द्रप्राण'** आकाश है । इसीके लिए **'शुन हुवेम मघवानमिन्द्रम्'** यह कहा जाता है । इसी सांख्ययुग की भ्रान्ति में पड़ कर इतर सम्प्रदायवादवालोंने भी आकाश को तत्त्व-मर्य्यादा से बहिष्कृत कर दिया है । वे भी **आतश (तेज), वाद (वायु), आब (जल), खाक (पृथिवी)**, ये चार ही तत्त्व मुख्य मानते हैं । **फलक (आसमाँ–आकाश)** उनकी दृष्टि में तत्त्व नहीं है । यही भ्रान्ति तत्त्वविज्ञान का गर्व रखने वाले बीसवीं सदी के वैज्ञानिकोंने की है । कुछ भी हो । भारतीय वैज्ञानिकों की दृष्टि में तो आवपनरूप आकाश अवश्य ही तत्त्व है । हमारा **'पञ्चतत्त्ववाद'** सुप्रसिद्ध है । आकाश ही आत्मरूप अन्नादब्रह्म का आत्मा है । इसी आधार पर आत्मा का –**'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः–आकाशात्मा'** यह लक्षण किया जाता है ।

बतलाना प्रकृत में यही है कि इस वाक्तत्त्व का नाम हीं **'आकाश'** है । यही आवपन है । यह तत्त्व स्वयम्भू में प्रतिष्ठित है । परमेष्ठी आपोमय है । ईश्वरीय--लीला बड़ी विचित्र है । वह पुत्रोत्पत्ति से पहिले अन्नादब्रह्मरूप पुत्र के लिए अन्नरूप दुग्ध [माता के स्तनों में] उत्पन्न कर देता है । पहिले अन्न है, फिर अन्नाद है । सौराग्नि पीछे उत्पन्न होता है । किन्तु तदन्नभूत अन्नरूप पारमेष्ठ्य सोम उससे पहिले ही उत्पन्न होजाता है । अग्नितत्त्व उभयतः अब्रूप अन्न से परिगृहीत है ।

मध्यस्थ अग्नि **अग्नि--वायु--आदित्य** भेद से त्रिधा विभक्त है । तीनों अग्नियों के उस ओर पार--मेष्ठय आपः है, इस ओर चान्द्र आपः है । चन्द्रमा के इस ओर आवपनरूप वाङ्मय पृथिवीपिण्ड है, जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

# अधिदैवतम्—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १—वाक्···· | | स्वयम्भूः | | परमाकाशः |
| २—आपः···· | | परमेष्ठी···· | | अन्नंब्रह्म |
| स्वः | सूर्य्यः | | | |
| ३—भुवः | वायुः | सूर्य्यः | | अन्नादब्रह्म |
| भूः | अग्निः | | | |
| ४—आपः···· | | चन्द्रमाः·· | | अन्नंब्रह्म |
| ५—वाक्···· | | पृथिवी···· | | पुराणाकाशः |

दोनों ओर अब्रूप सोम है । चान्द्रसोम **भास्वरसोम** है । यही ईश्वरप्रजापति का मन है । तत्प्रतिष्ठ अग्नि उसकी वागिन्द्रिय है । वायु प्राणेन्द्रिय है । सूर्य्य चक्षु है । पारमेष्ठ्यापः [ दिक्सोम ] श्रोत्र है । यही अवस्था अध्यात्म में समझनी चाहिए ।

हृदय में चन्द्रमारूप मन है । **मुख--नासिका--चक्षु,** तीनों क्रमशः वाक्-प्राण-चक्षु-रूप **अग्नि--वायु--सूर्य्य हैं** । श्रोत्रेन्द्रिय पारमेष्ठ्य सोम है । शिरोगुहा स्वायम्भुव परमाकाश है । बस्तिगुहा पार्थिव पुराणाकाश है । जैसी स्थिति वहाँ है, ठीक वही स्थिति यहाँ है । **'पूर्णमदः---पूर्णमिदम् , यदेवेह तद्--मुत्र'** सिद्धान्त सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित होरहा है ।

## अध्यात्मम्—

शिरोगुहा——परमाकाशः स्वयम्भूः वाक्—१

श्रोत्रे———अन्नं ब्रह्म परमेष्ठी आपः---२

चक्षुषी–सूर्य्यः
प्राणः–वायुः } अन्नादब्रह्म सूर्य्यः आग्निः-३
वाक्--अग्निः

मनः————अन्नंब्रह्म चन्द्रमाः आपः--४

बस्तिगुहा— —पुराणाकाशः पृथिवी वाक्—५

हमने कहा था कि, प्रकृत में हमारा सम्बन्ध **पृथिवी**, और सूर्य्य से है । अतः इन्हीं दोनों की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है । इन दोनों में भी प्रथम पृथिवी को ही लक्ष्य बनाया जाता है । पृथिवी सर्वान्त में है । **इसके-भूः-पृथिवी** ये दो भेद हैं । जिस पृथिवीपिण्ड पर हम सब प्रतिष्ठित हैं, वही **'भू' है, एवं** वषट्कारमण्डलावच्छिन्ना **महिमा-पृथिवी पृथिवी है । भू मर्त्यरूपिणी है, पृथिवी अमृतरूपिणी है । वाक्-आपः-अग्निरूप** अमृतशुक्र से महिमाख्य पृथिवी का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । भूपिण्ड पर पहिला स्तर अग्नि का है । यह अग्नि **घन--तरल–विरल** भेद से त्रेधा विभक्त होता हुआ पूर्वोक्त **त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश** स्तोमों में क्रमशः प्रतिष्ठित है । त्रिवृत्स्तोम इस पृथिवीलोक का **'पृथिवीलोक'** है, इसके अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) **अग्निदेवता** हैं । पञ्चदशस्तोम इस पृथिवी का **'अन्तरिक्षलोक'** है, इसके अतिष्ठावा **वायुदेवता** हैं । एकविंशस्तोम इस पृथिवी का **द्युलोक** है । इसके अतिष्ठावा इन्द्रापर्य्यायक **आदित्यदेवता** हैं । इसप्रकार स्तोमात्मिका इस महिमा–पृथिवी में स्तोमभेद से तीन लोक होजाते हैं । स्तोमसम्बन्ध से ही यह त्रैलोक्य **स्तौम्यत्रिलोकी** नाम से प्रसिद्ध है । महिमामयी होने से यह **'मही'** नाम से भी प्रसिद्ध है ( देखिए तै० ब्रा० २।४।६।८ ) । इसी त्रैलोक्यात्मिका पृथिवी को लक्ष्य में रखकर–**'तिस्रो वा इमाः पृथिव्यः, इयमहैका, द्वे अस्याः परे'** (शत० ५।१।५।२१) यह कहा जाता है ।

अग्नि में सोमाहुति का होना हीं यज्ञ है । पृथिवीपृष्ठ से २१ एकविंशस्तोम पर्य्यन्त व्याप्त इस अग्नि में पारमेष्ठ्य सोम निरन्तर आहुत होता रहता है । अतएव इस अग्निपृष्ठ को हम अवश्य ही **'यज्ञपृष्ठ'** कह सकते हैं । **अग्निज्येष्ठ आठ वसु, वायुज्येष्ठ ११ रुद्र, इन्द्रज्येष्ठ १२ आदित्य,** सान्ध्यगत दो **अश्विनीप्राण (नासत्य–एवं दस्र)**, इस प्रकार **३३ आग्नेय सोमपा देवता** (११ प्रयाज, ११ अनुयाज, ११ अनुयाज, भेद से ३३ **असोमपा,** किन्तु **आज्यपा देवताओं** से युक्त ) इसयज्ञमण्डल में प्रतिष्ठित होते हुए **'यज्ञिय'** नाम से प्रसिद्ध हैं । इन्हीं यज्ञिय देवताओं को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

'इति स्तुतासो असथा रिषादशो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।
मनोर्देवा यज्ञियासः' ॥
—यजु संहिता

एकविंश स्तोम-पर्य्यन्त ही यह अग्नि नहीं जाता, अपितु २१ से ऊपर पर्य्यन्त (२२ पर्य्यन्त) जाता है । २१ का तरण कर जाता है । अतएव इस यज्ञात्मक आग्नेयस्तोम को **'रथन्तरसाम'** कहा जाता है, एवं रथन्तर के सम्बन्ध से ही यह अग्नि **'राथन्तर'** नाम से भी प्रसिद्ध है ।

**'एकविंशो वै स्वर्गो लोकः'** ( शत० १०।५।४।६ ) **'एकविंशो वा इतः स्वर्गोलोकः'** ( तै० ब्रा० ३।१२।५।७) **'एकविंशो वा एष य एष (सूर्य्यः) तपति'** ( कौ० २५।१) इत्यादि निगमवचनों के अनुसार सूर्य्य पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर प्रतिष्ठित है । एवं **'स्वरहर्देवाः सूर्य्यः'** ( श० १।१।१।५ ) के अनुसार सूर्य ही स्वर्लोक है । यह सूर्य्य **'असौ वा आदित्य एष रथः'** (श० ६।४।१।१५) के अनुसार **'रथ'** नाम से प्रसिद्ध है । **रथ का अर्थ है 'रसः'** । **'असौ वा आदित्यो देवमधु'** (छा० उ०) के अनुसार सूर्य्य **'मधुरस'** है । **'तं वा एतं (सूर्य्यं) रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते'** (गो० ब्रा० पू० २।२१) के अनुसार रस के सम्बन्ध से ही सूर्य्य परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषानुसार **'रथ'** नाम से व्यवहृत हुआ है । पार्थिवाग्नि इस सूर्य्यरूप रथ का भी क्योंकि तरण कर जाता है । अतएव इस आग्नेय स्तोम को **'रथन्तरसाम'** कहा जाता है । अपिच पृथिवी-पिण्ड से निकलने वाला यह अग्नि भी रस है । यही **'अग्निरस'** दधि-घृत-मधु रूप में परिणत होता हुआ अग्नि-वायु--आदित्य नाम से व्यवहृत होता है । **'दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य'** ( श० ७ कां० कूर्म्मचितिब्राह्मण ) के अनुसार वही अग्नि रसरूप में परिणत होरहा है । अग्नि की इसी रसावस्था का निरूपण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

**'आपो वा अर्कः । तद्यदपां शर आसीत्–तत् समहन्यत । सा पृथिव्यभवत् । तस्यामश्राम्यत । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः । स त्रेधात्मानं व्यकुरुत–आदित्यं तृतीयम्, वायुं तृतीयम् । स एष प्राणस्त्रेधा विहितः'**
—शत० १०।६।५ २-३

**अग्नि रस है, वायु रसतर है, एवं मधुमय आदित्याग्नि रसतम है** । दूसरे शब्दों में–अग्नि में **'रसमात्रा'** साधारण है । वायु में उससे अधिक है, एवं आदित्यभाग रसघन होता हुआ **रसतम** है । इसीलिए आदित्यरूप अग्निरसतमात्मक अन्तिम साम—**"रसतमं ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्"** (शत० ६।१।२।६६ ) के अनुसार **'रथन्तर'** नामसे व्यवहृत हुआ है । यह है अमृताग्निस्वरूप प्रथम पृष्ठका पहिला स्वरूप । यह पृष्ठ लोहित है । इसी में सप्तवर्ण का अन्तर्भाव है । अतएव इसे **'पृष्णि'** भी कहा जाता है ।

दूसरा **अप्पृष्ठ** है । २१ से ३ पर्य्यंत अप्पृष्ठ है । यही **'अर्णवसमुद्र'** कहलाता है । यह भी पृथिवी की ही वस्तु है । कारण–वाक्पृष्ठ पर्य्यन्त पृथिवी की सत्ता मानी जाती है । इसी अप्पृष्ठ के सम्बन्ध से

पृथिवी को **'सागराम्बरा'** कहा जाता है। यह अप्तत्त्व सर्वथा कृष्ण है। इसी अप्तत्त्व में गोतत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। सोमतत्त्व की ( * ) प्रतिष्ठा यही आपोमयी गो है। इसी आधार पर **"स हैष सोमोऽजस्रो यद् गौः"** ( यजुः सं० १३-३३ )-( श० ७।५।२।२६ ) यह कहा जाता है। इसी आपोमय, अतएव विष्णु-देवतामय गोतत्त्वका निरूपण करती हुई यजुःश्रुति कहती है।

**या ते धामान्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।**
**अत्राह तदुरु गायस्व विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि॥**

—यजुःसंहिता ६।३।

यह गोतत्त्व **'विराजो वा एतद्रूपं यद्गौः'** ( तां० ब्रा० ४।६।३ ) के अनुसार **'विराट्'** है। विराट के सम्बन्ध से ही यह अप्पृष्ठात्मक आपोमय पार्थिवसाम **'वैरूप'** नाम से प्रसिद्ध है। रथन्तराग्नि की दूसरी अवस्था यही **'वैरूपसाम'** है, इसी अभिप्राय से—**"यद्वै रथन्तरं तद्वैरूपम्"** ( ऐ० ब्रा० २।१३ ) यह कहा जाता है। अप्पृष्ठ घोर कृष्ण है।

तीसरा है **वाक्पृष्ठ**। यही सर्वान्त का वेदपृष्ठ है। यही **ब्रह्मपृष्ठ** है। यहाँ पार्थिव प्रजापति की सृष्टि विश्रान्त है। प्रजापति इसी वाक्पृष्ठ पर पार्थिव-सृष्टि को सर्वात्मना सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं। इसी समाप्ति-सूचक भाव को प्रधान मानते हुए ऋषियोंनें इस अन्तिम सामको—**'शक्वरी'** नाम से व्यवहृत किया है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—**'यदिमांल्लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद्यदिदं किञ्च। तच्छक्वर्योऽभवंस्तच्छक्वरीणां शक्वरीत्त्वम्'** ( ऐ० ५।७ ) यह कहा है। यह **वेदपृष्ठ** ज्ञानज्योतिर्म्मय बनता हुआ सर्वथा **शुक्ल** है। इसप्रकार **लोहित-कृष्ण--शुक्ल**-वर्णात्मक, **रथन्तर वैरूप-शाक्वर**-सामात्मक-**अग्नि-आपः-वाक्**-रूप **अमृतशुक्रात्मक** यह महामण्डल **'पृथिवी'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है।

यह तो हुआ अमृतशुक्रों का दिग्दर्शन। अब मर्त्य-शुक्रात्मक भूपिण्ड पर भी दृष्टिनिक्षेप कर लीजिए। हमने कहा है कि, भूपिण्ड के उपादान मर्त्य-**वाक्, आपः-अग्नि** हैं। अग्नि पहिला स्तर है। **'यच्च-किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकमग्निकर्म्मैव तत् सर्वम'** ( या० नि० ) के अनुसार दृश्यभाग अग्नि है। इसे हमने **'प्रश्न'** कहा है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड में सातों रूपों में से कोई न कोई रूप अवश्य रहता है। यही पहिला **अग्निस्तर** है। किसी भी पिण्ड को आप जला दीजिए। जलने के अनन्तर सबका परिणाम **'कृष्ण'** ही होगा। पहिले अग्निस्तर के उत्क्रान्त होने पर दूसरा यही **कृष्णस्तर** निकलता है। यही कृष्णवर्णात्मक दूसरा अप्पृष्ठ है। यदि फिर उस वस्तु के साथ अधिक अग्निसंयोग कराया जाता है, तो यह कृष्णवर्णात्मक अप्स्तर भी उत्क्रान्त होजाता है, एवं तीसरा शुक्लस्तर निकल आता है। यही **भस्मावस्था** है। यही उस पदार्थ की **'भूति'** (विभूति) है। यही **वेदपृष्ठ** है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु के पिण्डभाग में उपर्य्युक्त ( तीन )

( * ) गोलोकवासी आपोमय विष्णु ही गोसंचारण करते हैं। तदंशभूत कृष्णने गोचारणवृत्ति को क्यों अङ्गीकार किया ?, इस प्रश्न का भी यही समाधान है। इस विषय का विषद विवेचन गीताविज्ञान-भाष्यान्तर्गत आचार्य्यरहस्य के **"परमेष्ठीकृष्णरहस्य"** नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

मर्त्यपृष्ठ हैं, महिमामण्डल में उपर्युक्त तीनों अमृतपृष्ठ हैं। यों सम्पूर्ण **प्रपञ्च षाट्कौशिक** ही प्रमाणित हो-रहा है।

१—वाक्—शाकरसाम—४८ पर्य्यन्त—पारावतपृष्ठम्
२—आपः—वैरूपसाम—३३ पर्य्यन्त—अप्पृष्ठम्  } 'मही' 'महिमा'
३—अग्निः—रथन्तरसाम-२१ पर्य्यन्त—यज्ञपृष्ठम्

१—अग्निः—दृश्यभागः
२—आपः—अन्तः स्तरः  } भूः—पिण्डः
३—वाक्—सर्वान्तरतमः स्तरः

## पार्थिव-संस्था—

शाकरसाम——वाक् ४८——पारावतपृष्ठम्
वैरूपसाम——आपः ३३——अप्पृष्ठम्  } 'मही'
रथन्तरसाम——अग्निः २१——यज्ञपृष्ठम्

अग्निः १
आपः २  } भूः
वाक् ३

यही स्थिति सौरमण्डल की समझिए। सूर्य्यपिण्ड के ऊपर पहिला पृष्ठ **सावित्राग्नि** का है। दूसरा **अप्पृष्ठ** है। तीसरा **वाक्पृष्ठ** है। विश्व में ज्योतिष्मान् पदार्थ **स्व-पर-रूप** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। जिन्हें अन्य से प्रकाश लेने की आवश्यकता नहीं है, अपितु जो अपनी ज्योति से अपने आप प्रकाशित हैं, वे सब **स्वज्योतिर्म्मय** पदार्थ हैं। इनका सांकेतिक नाम **सूर्य्य** है। आप जिसे सूर्य्य कहते हैं, वही सूर्य्य नहीं है, अपि तु स्वज्योतिर्म्मय **स्वातीनक्षत्र, पशुपति-नीलकण्ठ** आदि नामों से प्रसिद्ध **लुब्धक** नामक नक्षत्र, **चित्रा,** आदि सब सूर्य्य हैं। अतएव स्वाती को **'सविता'** कहा जाता है। जो पिण्ड सौरज्योति से प्रकाशित हैं, वे सब **'चन्द्रमा'** नाम से प्रसिद्ध हैं। मङ्गलग्रह के उपग्रह दो चन्द्रमा हैं। बृहस्पति के चार है। शनि में आठ हैं। पृथिवी में एक है। एवं जो दूसरों को प्रकाशित करने में असमर्थ होते हुए केवल अपने स्वरूप को ही अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं, वे सब **रूपज्योतिर्म्मय** पदार्थ हैं। उन्हें सङ्केत-भाषानुसार **'पृथिवी'** कहा जाता है। **अनन्त सूर्य्य हैं, अनन्त चन्द्रमा हैं,** एवं **अनन्त ही पृथिवियाँ** हैं। रूपज्योतिर्म्मयी पृथिवी के साम की अपेक्षा परज्योतिर्म्मय चन्द्रमा का साम अधिक बड़ा होता है, एवं

चन्द्रमा की अपेक्षा स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्य का साम और भी अधिक बृहत् होता है। इसी विज्ञान के आधार पर सौर साम को 'बृहत्साम' कहा जाता है। जैसे पृथिवी के साम को सूर्य्यरथ के सम्बन्ध से, एवं रसके सम्बन्ध से 'रथन्तर' कहा जाता है, चान्द्रसाम 'राजा' सोम के सम्बन्ध से 'राजन्' नाम से व्यवहृत होता है, एवमेव स्वज्योतिर्म्मय सौरसाम बृहत् ( बड़ा ) होने से 'बृहत्साम' नाम से प्रसिद्ध है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर बृहत्साम का "यद्ध्रस्वं तद्रथन्तरं-यद्दीर्घं तद् बृहत्' यह लक्षण किया जाता है ( देखिए कौ० ब्रा० ३।५ )।

अपि च—सूर्य्य बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित है। खगोल गोल है। पिण्ड के मध्य का पूर्वापरवृत्त दक्षिणोत्तर-पार्श्वस्थ इतर वृत्तों की अपेक्षा बृहत् (बड़ा) होता है। अतएव 'विष्वद्वृत्त' नाम से प्रसिद्ध इस मध्य के पूर्वापरवृत्त को 'बृहतीछन्द' कहा जाता है। सूर्य्य सदा इसी पर प्रतिष्ठित है। पृथिवी इसके चारों ओर घूमती है। पृथिवी के परिभ्रमण से सूर्य्य का उदयास्तभाव प्रतीत होता है। वस्तुतः वैदिक-विज्ञान के अनुसार सूर्य्य रोदसीत्रिलोकी की अपेक्षा सर्वथा स्थिर है। सूर्य्य के इसी स्थिरभाव को लक्ष्य में रखकर निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्त वचन हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं—

**'स वा एष न कदाचनास्तमेति, नोदेति। तं यदस्तमेतीति- मन्यन्ते- अह्न एव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते। रात्रिमेवावस्तात् कुरुते-अहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते-रात्रिरेव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते। अहरेवावस्तात्, रात्रिं परस्तात्। स वा एष न कदाचन निम्लोचति।**

—ऐ० ब्रा० ३।४४ इति

**'स वा एष न कदाचनास्तमयति, नोदयति। तद्यदेनं पश्चादस्तमयतीति मन्यन्ते-अह्न एव तदन्तं गत्वाथात्मानं विपर्य्यस्यते। अहरेवाधस्तात् कृणुते, रात्रिं परस्तात्।**

—गो० ब्रा० उ० ४।१०।

**नैवोदेता, नास्तमेता, एकल एव मध्ये स्थाता (छां० उ०)।**
**बृहत्यां वा असावादित्यः सूर्य्यः श्रियां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितस्तपति।**

—गो० ब्रा० उ० ५।७।

**'सूर्य्यो बृहती मध्ययूढस्तपति'।**
**'नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।**
**उदयास्तमनं चैव दर्शनादर्शनं रवेः॥**

—विष्णुपुराणे

पूर्वोक्त बृहतीछन्द पर ही सूर्य्य प्रतिष्ठित है। यही इतर छन्दों का मूलाधार है, जैसाकि पूर्वप्रकरणों में विस्तार के साथ बतलाया जाचुका है। इस बृहतीछन्द के सम्बन्ध से भी सौरसाम को 'बृहतीसाम' कहा जाता है। पाठकों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि, जब रूपज्योतिर्म्मयी पृथिवी का रथन्तरसाम ही सूर्य्य से

ऊपर २२ वें अहर्गण पर्य्यन्त चला जाता है, तो स्वज्योतिर्म्मय सौर बृहत्साम कहाँतक जायगा। सूर्य्य का २१ वाँ अहर्गण बड़ी दूर पर्य्यन्त जायगा। यदवधि-पर्य्यन्त सूर्य्य का २१ वाँ अहर्गण है, तदवधि-पर्य्यन्त ही सौर अग्नि व्याप्त है। तत्पर्य्यन्त ही बृहत्साम है। अग्निपृष्ठ के अनन्तर दूसरा **अप् पृष्ठ है**। यहाँ गोतत्त्व उत्पन्न होता है, जैसाकि पार्थिवसामनिरूपण में बतलाया जाचुका है। इसी के सम्बन्ध से यह **'वैराजसाम'** कहलाता है। तीसरा **वाक्पृष्ठ** है। यही **'रैवतसाम'** नाम से प्रसिद्ध है। ये तीनों **अमृतपृष्ठ** हैं। एवं स्वयं सूर्य्यपिण्ड मर्त्यपृष्ठत्रयात्मक है। **'वाग्वै रेवती** ( शत० ३।८।१।२२ ) के अनुसार सौर वाक्पृष्ठ रेवती है। इसीके सम्बन्ध से यह अन्तिम पृष्ठ **'रैवतसाम'** नाम से प्रसिद्ध होता है। इसप्रकार पृथिवीवत् सूर्य्य में भी **वाग्-आपः-अग्निः** आदि ६ औं शुक्रों का भोग सिद्ध होजाता है।

सृष्टिविद्या के **दृष्टिमूलक, स्थितिमूलक, सृष्टिमूलक**-नामक तीन विवर्त्तों के भेद से ही विश्वपर्वों के स्थिर-चर-भावों का समन्वय हुआ है वेदशास्त्र में। दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार पृथिवी स्थिर है, सूर्य्य चर है, जैसाकि—**'रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्'** (यजुः) से स्पष्ट है। किन्तु स्थितिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार पृथिवी चला है, और सूर्य्य स्थिर है, जैसाकि—**'नैवोदेता०'** इत्यादि से स्पष्ट है। एवं सृष्टि-मूला सृष्टिविद्या के अनुसार केवल सत्य स्वयम्भू को छोड़कर सभी चल हैं, परिभ्रममाण हैं, जैसाकि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है।

## सौरसंस्था—

रैवतसाम——वाक्-४८——पारावतपृष्ठम्
वैराजसाम——आपः-३३——अपपृष्ठम् } —**महिमा**
बृहत्साम——अग्निः-२१——यज्ञपृष्ठम्

अग्निः-..............................
आपः- ...................... } —**पिण्डः**
वाक्-. ......................

१-वाक्—रैवतसाम—४८-५- न्त-पारावतपृष्ठम्
२-आपः-वैराजसाम—३३-पर्य्यन्त-अपपृष्ठम् } —**'महिमा'**
३-अग्निः-बृहत्साम-२१-पर्य्यन्त-यज्ञपृष्ठम्

१-अग्निः-दृश्यभागः
-आपः-अन्तस्तरः } —**'पिण्डः'**
३-वाक्—सर्वान्तरतमः स्तरः

प्रसङ्गागत यह और समझलेना चाहिए कि, पूर्व में जिन पार्थिव, एवं सौर सामों का दिग्दर्शन कराया गया हैं, उनका परस्पर **'अतिमान'** होता है। दूसरे शब्दों में ६ ओं सामो का ( **रथन्तर–वैरूप–शाकर, बृहद्–वैराज–रैवत सामों का**) परस्पर **अतिमानसम्बन्ध** है। रथन्तर-वैरूप-शाकर, तीनों एक ही रथन्तर के रूप हैं। एवमेव बृहद–वैराज–रैवत, तीनों एक ही बृहत् के विवर्त्त हैं, जैसाकि श्रुति करती है—

**"यद्वै रथन्तरं-तद् वैरूपम्, यद् बृहत्-तद्वैराजम्। यद्रथन्तरं-तच्छाकरम्, यद्–बृहत्, तद्रैवतम्"।**

—ऐ० ब्रा७७ अ०

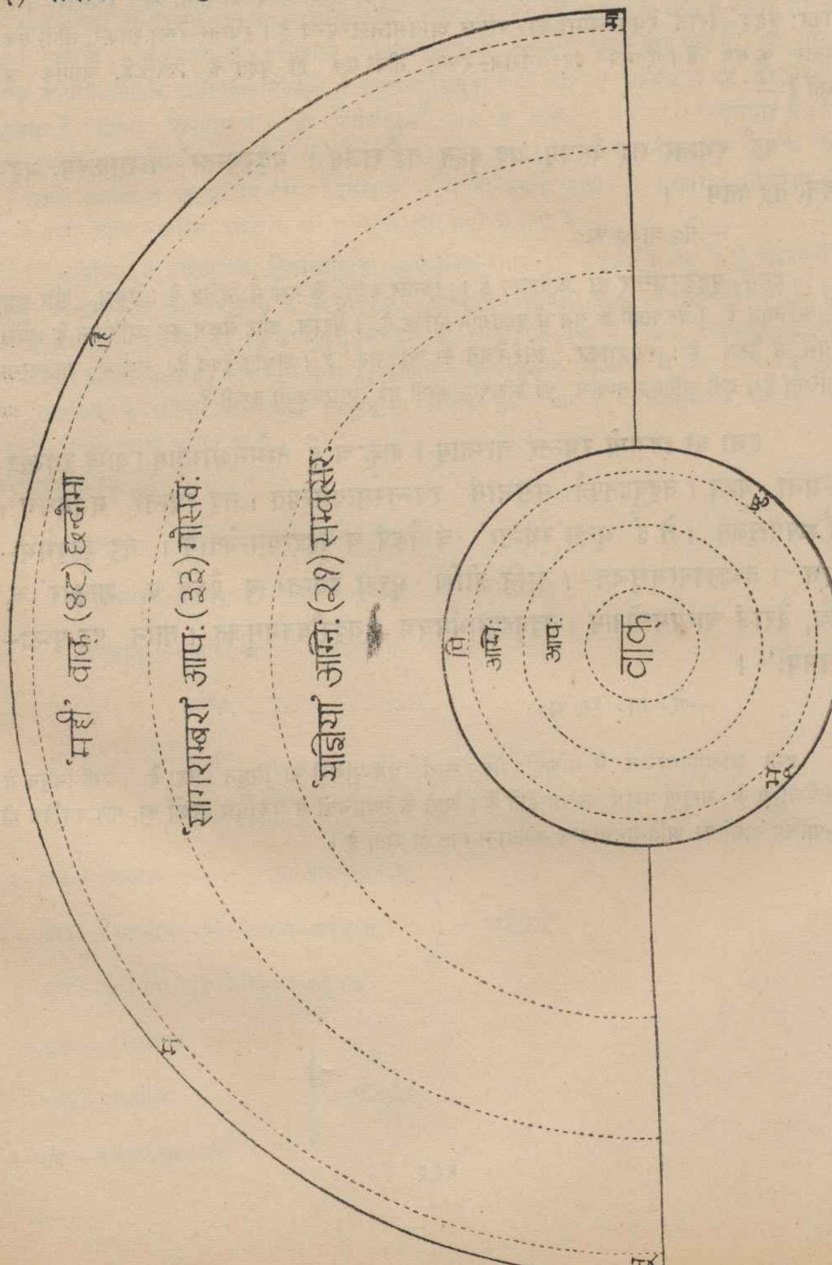
इनमें **बृहद्रथन्तर** का अतिमान है। रथन्तर बृहत् के गर्भ में निविष्ट है। **वैरूप**, और **बृहत्** का अतिमान है। वैरूपसाम के गर्भ में बृहत्साम निविष्ट है। **वैराज**, और **वैरूप** का अतिमान है। वैराज के गर्भ में वैरूप है। एवं **शाकर**, और **रैवत** का अतिमान है। अर्थात् रैवत के गर्भ में शाक्वरसाम अवस्थित है। इसी अतिमानसम्बन्ध का निरूपण करती हुई ऐतरेयश्रुति कहती है—

**हचा वा इदमग्रे रथन्तरं चास्ताम्। वाक् च वै तन्मनश्चास्ताम्। वाग्वै रथन्तरम्–मनो बृहत्। तद्बृहत्पूर्वं ससृजानं रथन्तरमत्यमन्यत। तद् रथन्तरं गर्भमधत्त। तद्वैरूपमसृजत। ते द्वे भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च बृहदत्यमन्येताम्। तद् बृहद्गर्भ–मधत्त। तच्छाक्वरमसृजत। तानि त्रीणि भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च, शाक्वरं च, बृहच्च, वैराजं चात्यमन्येताम्। तद्बृहद्गर्भमधत्त। तद्रैवतमसृजत। तानि षट् पृष्ठा–न्यामयः"।**

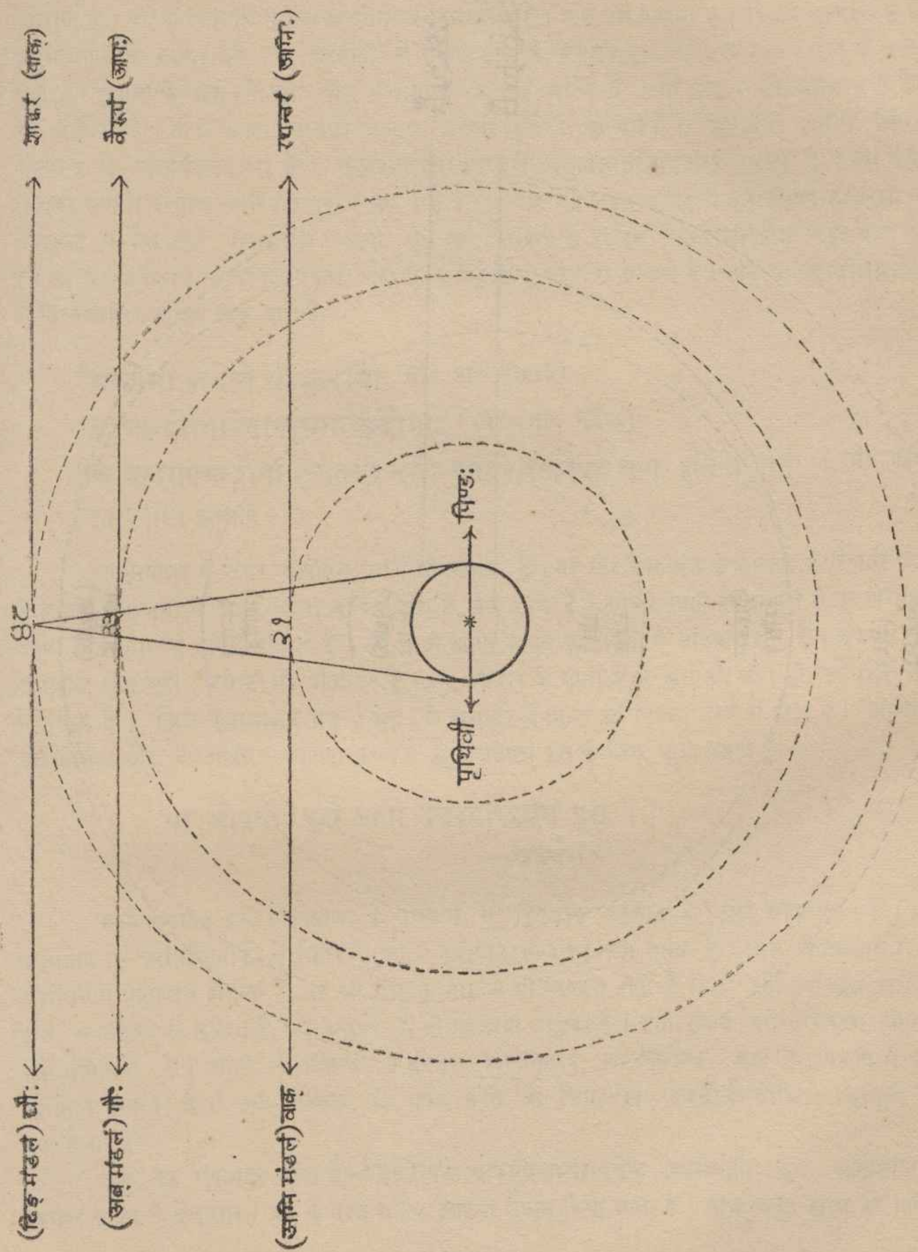
—ऐ० ब्रा० १६ अ०

इसी अतिमानसम्बन्ध से द्यावापृथिवीरूप सूर्य्य, एवं पृथिवी का मिथुन होरहा है। इसी मिथुन से रोदसीत्रैलोक्य के सम्पूर्ण पदार्थ उत्पन्न होते हैं। आगे के रेखाचित्रों से षड्विध शुक्रों का, एवं षड्विध ही सौर–पार्थिव सामों का अतिमानसम्बन्ध सर्वात्मना स्पष्ट हो जाता है।

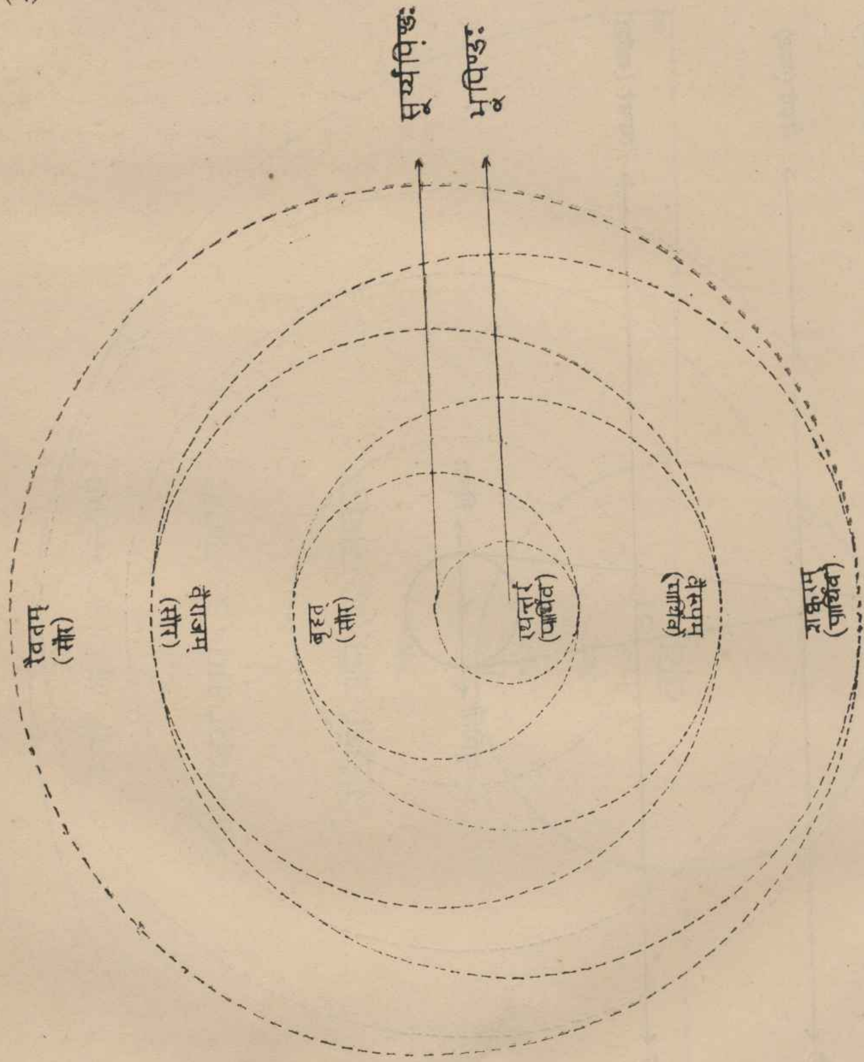
(१)--वागापोऽग्निः-शुक्रत्रयवितानपरिलेखः—



## (२)--पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत--सामत्रयी-परिलेखः—



## (३)--सौरपार्थिव--सामातिमानपरिलेखः—



स्तोम का स्वरूप बतलाते हुए पूर्व में हमने युग्म–अयुग्म भेद से स्तोमों को दो भागों में विभक्त बतलाया है। इन में त्रिवृदादि पूर्वोक्त षट्स्तोम **अयुग्मस्तोम** हैं। एवं ४८ पर्य्यन्त व्याप्त स्तोम **युग्मस्तोम** हैं। अयुग्मस्तोमों का स्वरूप जैसे ३३ अहर्गणों से सम्पन्न होता है, एवमेव युग्मस्तोमों का स्वरूप छन्द से सम्पन्न होता है। पृथिवी के **वाक्-गौः-द्यौः तीन मनोता हैं** । **वाक् अग्नि है** । **गौ इन्द्र ( मरुत्वानिन्द्र ) है** । **द्यौ आदित्य** है। तीनों क्रमशः **गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती** छन्दो से छन्दित हैं। **अष्टाक्षरा गायत्री त्रिपात् सम्बन्ध से चतुर्विंशत्यक्षरा है**। एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्-चतुश्चत्वारिंशदक्षरा (४४) **है**। एवं द्वादशाक्षरा जगती अष्टाचत्त्वारिंशदक्षरा ( ४८ ) **है**। इसप्रकार २४-४४-४८ भेद से पृथिवीपृष्ठ से प्रारम्भ कर **वेदपृष्ठ** पर्य्यन्त तीन **युग्मस्तोम** व्याप्त हैं। छन्दः सम्बन्ध से ही इन्हें **'छन्दोमास्तोम'** कहा जाता है। इन का अहर्गहणात्मक स्तोमों से सम्बन्ध नहीं है, अपितु छन्दोऽक्षरों से सम्बन्ध है। अतवए **'छन्दोमास्तोम'** के निम्नलिखित लक्षण किए जाते हैं—

**'अस्तोमा वा एते यच्छन्दोमा'** तां० ब्रा० ३।६।३)

**'तद्यच्छन्दोभिर्मितास्तस्माच्छन्दोमाः'**। (कौ० ब्रा० २६।७)

**'किं छन्दसश्छन्दोमा इत्येतच्छन्दसो यदेता अक्षरपङ्क्तय इति ब्रूयात्'** ( तां० ब्रा० १४।११।५) इत्यादि

सूर्य्यमण्डल के ऊपर आपोमय परमेष्ठीमण्डल है। यह सौर रैवतसाम के सम्बन्ध से **'रेवती'** नाम से प्रसिद्ध है। पानी में रहने वाला जो रस भाग है, वही रेवती है। रसरूप रेवती के सम्बन्ध से ही पारमेष्ठ्य आपः रेवती नाम से प्रसिद्ध होजाता है। यह रेवती आपः जागत औषधियों से संश्लिष्ट रहता है। ओषधि नाम से प्रसिद्ध सोम यहीं (परमेष्ठी में) प्रतिष्ठित है। दस प्रकार के सोमों में से अन्यतम सोम ही **'ओषधि'** नाम से प्रसिद्ध है। **'चित्रं देवानामुद्गात्'** (यजुः] के अनुसार देवप्राण का विकास सूर्य्य में होता है। पारमेष्ठ्य ओषधिसोम सौर देवताओं की अपेक्षा प्रथमज है। अतएव इस के लिए श्रुति कहती है—

**'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा'** ।

—**अथर्वसं०**

पारमेष्ठ्यलोक इसी सौम्यप्राण के सम्बन्ध से पितृलोक कहलाता है। यही ओषधितत्त्व है। इसी अभिप्राय से–**'ओषधिलोको वै पितरः'** (शत० १३।८।१।२०) यह कहा जाता है। जिस भौतिकभाग में यह ओषधिसोम प्रतिष्ठित होजाता है, वह भी ओषधि नाम से ही व्यवहृत होता है। ४८ स्तोमावच्छिन्न पारावत-पृष्ठ जगतीछन्द से छन्दित है, यह अनुपद में ही बतलाया जाचुका है। इसी स्थान पर पारमेष्ठ्य ओषधि-सोम प्रतिष्ठित है। जगती के सम्बन्ध से ही इस ओषधितत्त्व को **'जगत्य'** कहा है। प्रकृति में दोनों का नित्य सम्बन्ध है। उसी सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए–**'सं रेवतीर्जगतीभिः'** इत्यादि कहा गया है ॥२॥

**यज्ञ का एकमात्र फल है–ऐहलौकिक अभ्युदयभोगपूर्वक स्वर्गप्राप्ति**। इस स्वर्गप्राप्ति का एकमात्र साधन है **दैवात्मा**। यज्ञ के द्वारा नवीन दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है। **ऋक्-यजुः-साम से** निष्पन्न

होने वाले हौत्र-आध्वर्यव-औद्गात्र-कर्म्म से कृतरूप त्रयीमूर्त्ति यज्ञकर्त्ता यजमान के **मानुषात्मा** ( **कर्म्मात्मा भोक्तात्मा** ) से नित्य सम्बद्ध रहता हुआ वह **यज्ञिय दैवात्मा** सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है । स्थूलशरीर-विमोकानन्तर इसी आकर्षण से नित्य आकर्षित यजमान का **मानुषात्मा** सप्तदश स्वर्गस्थान में ( जोकि स्वर्गस्थान 'त्रिणाचिकेत' नामसे प्रसिद्ध है ) प्रतिष्ठित होजाता है । जबतक यज्ञातिशय रहता है, तबतक यजमान का **कर्म्मात्मा** स्वर्ग में प्रतिष्ठित रहता है । यज्ञातिशय के भुक्त होजाने पर पुनः वह आत्मा **"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति"** इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार मर्त्यभाव को प्राप्त होजाता है । आज वह यजमान उसी दिव्यलोक की प्राप्ति के लिए यज्ञ कर रहा है । तदर्थ इसे यज्ञात्मा उत्पन्न करना है । तदर्थ पुरोडाश सम्पन्न किया जाता है । **पुरोडाश ही यज्ञात्मा का उपादान है ।** परन्तु जबतक इसके साथ पानी का सम्बन्ध नहीं करा दिया जाता, तबतक यह पिष्टद्रव्य कथमपि दैवात्मा का जनक नहीं बन सकता । प्रजननधर्म्म एकमात्र पानी में हीं है । अप्तत्त्व के **जाया-धारा-आपः** ये तीन प्रधान गुण हैं । वस्तु उत्पन्न करना इसी पानी का काम है । भाव-गुण नामसे प्रसिद्ध मानसीसृष्टि के साथ यद्यपि केवल प्राणतत्त्व का ही सम्बन्ध है । परन्तु **'वैकारिकीसृष्टि'** नामसे प्रसिद्ध **'मैथुनीसृष्टि'** का तो प्रथम उपक्रम अप्तत्त्व ही है ।

**सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।**
**अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥**

—मनुः १।८

उक्त मानवसिद्धान्त के अनुसार प्राणमय स्वयम्भू प्रजापति को प्रजोत्पत्ति के लिए मैथुनीसृष्टि के मूलस्तम्भभूत अप्तत्त्व को ही सर्वप्रथम उत्पन्न करना पड़ता है । पानी के समन्वय से ही त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति **'अण्डरूप'** में परिणित होते हैं । इसी अण्ड से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है । इसी अण्डोत्पत्ति-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है—

**"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोद्यदिदं किञ्च । यदाप्नोत्तस्मादापः । सोऽकामयत-'आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेय इति-सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत'' ।**

—शत० ६।१। ।६।१० इति

पानी तरल द्रव्य है । बिना इसके समन्वय के सचमुत मैथुनीसृष्टि की उत्पत्ति असम्भव है । शुक्र-शोणित के समन्वय से प्रजोत्पत्ति होती है । परन्तु दोनों में हीं अप्तत्त्व प्रतिष्ठित है । दोनों हीं तरल हैं । अपतत्त्व के इसी प्रजननधर्म्म को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणग्रन्थों में इस अप्तत्त्व को-'जाया' नामसे व्यवहृत किया है । जिसप्रकार उत्पन्न करना पानी का काम है, तथैव उत्पन्न प्रजा को प्रतिष्ठित रखना भी इसी अप्तत्त्व का काम है । इसीलिए इसे **'धारा'** भी कहा जाता है । सर्वत्र व्याप्त होने से **आपः तत्त्व** सबका जनक होने से **जाया**, एवं सबकी प्रतिष्ठा होने से **धारा**, नामसे प्रसिद्ध यह अप्तत्त्व ही **'सर्वम्'** है । अप्तत्त्व के इन्हीं धर्म्मों का निरूपण करती हुई गोपथश्रुति करती है—

**"स भूयोऽश्राम्यत्--भूयोतप्यत--भूय आत्मानं समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त । तदब्रवीत्--आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्च । तद्यदब्रवीत्--आभि० धारा० इति तस्मात्--धारा अभवंस्तद्धाराणां धारात्त्वं यच्चासु ध्रियते । तद्यदब्रवीत्--आभिर्वा इदं सर्वं जनयिष्यामि इति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते । यच्च पुत्रः पुन्नाम नरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत्पुत्रस्य पुत्रत्त्वम् । तद्यदब्रवीत्-आभिर्वा अहमिदं सर्वं आप्स्यामि इति तस्मादापो अभवंस्तदपामप्त्वम् । आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् यान् कामयते" ।**

—गो० ब्रा० पू० १ प्र० २ ब्रा० इति ।

उपर्य्युक्त इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए पुरोडाश में पानी मिलाया जाता है । अप्तत्त्व के इसी प्रजननधर्म्म को लक्ष्य में रखकर—'**जनयत्यै त्वा संयौमि**' यह कहा जाता है । परन्तु पानी मिलाते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि, इसमें इस मात्रा से ही पानी मिलाया जाय, जिससे परिपाक ठीक होजाय, न तो पानी की कमी से पुरोडाश जले, एवं न पानी की अधिकता से परिपाक में कमी रहै । इसी मात्राभाव को लक्ष्य में रखकर "**यथा वाऽधिवृक्णोऽग्नेरधिजायेत-एवं वै तत् संयौति**" यह कहा गया है ॥३॥४॥

प्रत्येक वस्तु की स्वरूपसिद्धि के लिए **आज्य**, और **पृष्ठ** नामसे दो तत्त्व अपेक्षित हैं । दोनों के समन्वय से ही पदार्थ निष्पन्न होता है । पुरुषसृष्टि को ही लीजिए । पुरुष में **आत्मा-पुर** दो भाग हैं । **'पुर'** आत्मा का **'शरीर'** है । आत्मा इसी पुर में प्रतिष्ठित रहता हुआ **'पुरुष'** शब्द से व्यवहृत होता है । दोनों के ( **आत्मा-पुर** ) के समन्वय से अध्यात्मसंस्थान का स्वरूप निष्पन्न होता है । इन दोनों में आत्मा **अनस्था** है, शरीर **अस्थिमत्** है । सूक्ष्मभाव अनस्था है, स्थूलभाव **अनस्था** है । प्राणरूप सूक्ष्मतत्त्व ही भूतमय स्थूलभाग की प्रतिष्ठा है । **अनस्था प्रथमज** है, अस्थिमत् **अनन्तर उत्पन्न** होता है । शुक्रशोणित के समन्वित रूप में पहिले **अनस्था औपपातिक आत्मा** प्रविष्ट होता है । अनन्तर हस्त-पाद-उर-आदि अङ्गोपहिता शरीरयष्टि का निर्म्माण होता है । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**"को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति ' इति ।**

इस अनस्थातत्त्व का ही नाम याज्ञिक परिभाषामें **आज्य** है, एवं अस्थिमत् तत्त्व ही **'पृष्ठ'** नामसे प्रसिद्ध है । दोनों के सह सम्बन्ध से ही प्रजोत्पत्ति होती है । प्रकृत में **पुरोडाश पृष्ठतत्त्व है, आज्य ( घृत ) आज्यतत्त्व है** । प्रकृतियज्ञ में दोनों का साथ ही समन्वय होता है । यहाँ नवीन **यज्ञात्मा** उत्पन्न करना है । यहाँ भी **आत्मा-शरीर**, दोनों अपेक्षित हैं । **यज्ञपुरुष का आधा भाग यहाँ हवि है, आधा आज्य है** । दोनों के समन्वय के लिए ही दोनों साथ मिलाए जाते हैं । इसी विज्ञानको लक्ष्य में रखकर भगवान् यज्ञवल्क्य ने कहा है—

**"स यश्चासावद्ध्रौ य उ चायमद्ध्र्स्ता उभावग्निं गमयाव-इति। तस्माद्वा एत-दुभयं सह क्रियते। एवमु हैष आत्मा यज्ञस्य सन्धीयते" ॥५॥**

पृथिवी दधिस्थान है, अन्तरिक्ष घृतस्थान है, एवं द्युलोक मधुस्थान है ( देखिए शत० कां० कूर्मचितिब्राह्मण )। 'तेजो वै घृतम्' के अनुसार यह घृत साक्षात् अग्नि है। वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि घृत है, एवं वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र तैल है। आप्यप्राण का ही नाम वरुण है। इसके आक्रमण से जब अग्नि का स्वरूप दान्त होजाता है, तो इस अवस्था में ही अग्नि 'घृत' रूप में परिणत होजाता है। अन्तरिक्षस्थ वायु में यह घृतमात्रा सर्वत्र व्याप्त है। भूमण्डल से निकलने वाले अग्नि का वेग जिस समय बढ़ता है, तो इस सजातीय अग्निमात्रा के सम्बन्ध से आन्तरिक्ष्य अग्निमूर्त्ति घृत बलवान् बनता हुआ वरुणा-क्रमण से पृथक् होता हुआ पिघल पड़ता है। ऐसी अवस्था में यह भूमण्डल पर गिर पड़ता है। यही वृष्टि है। वृष्टिजल घृत है। अतएव यास्कने उदक को घृत माना है। श्रुतिने तो—

**'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।**
**त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते'**

—ऋक् सं० १।१६४ सू० ४७ सं०

इत्यादि रूप से स्पष्ट ही वृष्टिजल को 'घृत' कहा है। और और समयों में यद्यपि इस घृत में वरुण की भी प्रधानता रहती है, परन्तु आश्विनमास में तो केवल घृत का ही पौर्णमास होता है। आश्विन के वृष्टि-जल में घृत की प्रधानता रहती है। अतएव लोकभाषा में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि—**'पानी क्या बरस रहा है, घी बरस रहा है'**। निष्कर्ष यही हुआ कि, घृत ही अग्निपरिताप से पिघलता हुआ वृष्टि का कारण बनता है। यह वृष्टिजल, किंवा घृत जब ओषधि-वनस्पतियों में प्रविष्ट होता है, तो उनमें एक प्रकार की प्रफुल्लता आजाती है। सब में एकप्रकार की सरसता आजाती है। यही सरस रस 'उर्ज' है। यही वृष्टि का फल है। आपको यह विश्वास करना चाहिए कि, यह यज्ञकर्त्ता यजमान जिस घृत की पुरोडाश के साथ अग्नि में आहुति देता है, वह घृत वृष्टिरूप में परिणत होकर इसी यजमान का अन्नाद्य बनता है। क्योंकि **'यावद् वित्तं तावदात्मा'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यह घृत यजमान का आत्मांश है। स्वभाग है। इससे उत्पन्न होने वाला अन्नाद्य इसी यजमान का स्वभागधेय है। इसी वृष्टि, एवं ऊर्क् रसविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**'इषेत्वेति वृष्ट्यै तदाह, यदाह इषेत्वेति, पुनरुद्वासयति-ऊर्जेत्वेति। यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह'।**

जबतक आन्तरिक्ष्य घृत के साथ ऊष्मा का सम्बन्ध रहता है, तबतक तो वृष्टि होती है, एवं जब ऊष्मा शान्त होजाती है, तो वही वृष्टिरूप में परिणत घृत 'ऊर्क्' रूप में परिणत होजाता है। ऊर्क्-रस वृष्टि की उद्वासित अवस्था है। इसलिए—'पुनरुद्वासयति-ऊर्जेत्त्वा' यह कहा है ॥६॥

अग्नि में सोम की आहुति देना हीं यज्ञ है। यह सोम-राजा, वाज, ग्रह, हवि, भेद से चार भागों में विभक्त है। **राजा सोम से राजसूययज्ञ होता है, वाज से वाजपेययज्ञ होता है,** ग्रहपात्रस्थ वल्ली–

सोम ही ग्रहसोम है। इससे ज्योतिष्टोमापरपर्य्यायक ग्रहयज्ञ होता है। एवं अन्नगत सोम हविःसोम है। इससे निष्पन्न होने वाले दर्शपूर्णमासादि-'हविर्यज्ञ हैं। यह यज्ञ ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य भेद से दो भागों में विभक्त है। जो अन्न आत्मा में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रविष्ट रहता है, वह ब्रह्मौदन है। इसकी आहुति कथमपि नहीं होसकती। एवं आत्मसत्ता से विरहित अन्न प्रवर्ग्य है। यही आहुतिद्रव्य बनता है। बिना प्रवर्ग्य बनाए वह अन्न अन्य की आहुति नहीं बन सकता। इसी प्रवर्ग्यभाव को सूचित करने के लिए प्रकृत में—'धर्म्मोऽसीति, यज्ञमेवैतत्करोति (यज्ञान्नमेवैतत् करोति)' यह कहा है। देवता अमृत हैं। अमृतप्राणदेवता मर्त्य अन्न की आहुति कभी नहीं लेते। यह पुरोडाश सर्वथा मर्त्यभावापन्न है। कारण-इसे कूटा जाता है, पीसा जाता है, अग्नि से परिपक्व किया जाता है। इन दुर्दान्त क्रियाओं से अन्न का प्राण निकल जाता है। पुरोडाश निर्जीव होजाता है। अतः 'जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्' इस निगम सिद्धान्त के अनुसार तबतक यह पुरोडाश देवताओं के लिए सर्वथा अयोग्य रहता है, जबतक कि इसके साथ आयुःसमर्पक प्राणतत्त्व का सम्बन्ध न करा दिया जाय। इसी जीवनसम्पत्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए- 'विश्वायुः' कहा गया है ॥७॥

जबतक अन्नरस वृष्टि के रूप में परिणत रहता है, तबतक वह भूमाभाव से युक्त रहता है। ओषधि, बनस्पति-रूप में परिणत होकर वही अन्नरस विशाल अन्तरिक्ष के भूमाभाव से च्युत होता हुआ सीमित बन जाता है। पुरोडाश के लिए लाया हुआ वही हविः यज्ञशाला की सीमा से और भी अधिक सीमित होजाता है। कूट-पीस कर जब इस अन्न को पुरोडाश-स्वरूप में परिणत कर दिया जाता है, तो यह और भी अधिक सीमित होजाता है। 'यो वै भूमा-तद्वै-सुखम्-यदल्पं तद्दुःखम्' इस लक्षण के अनुसार उत्तरोत्तर भूमाभाव से च्युत होता हुआ अन्नरस अल्पसम्पत्ति से आक्रान्त होकर दुःखभाव से युक्त होजाता है। यजमान स्वर्गरूप भूमासुख की प्राप्ति के लिए ही यज्ञ करना चाहता है। इस भूमासुख की प्राप्ति का अन्यतम साधन यही पुरोडाश है। आज यह सीमित होरहा है। यह ठीक है कि, अग्नि में आहुत होने के अनन्तर यह अग्नि के विशकलन से विशकलित होता हुआ द्युलोकस्थ सप्तदशस्तोम पर्य्यन्त वितत होता हुआ भूमा-भाव से युक्त होजायगा। परन्तु वर्त्तमान में तो यह अल्पता से ही युक्त है। इसी दुःखमूला अल्पता को हटा-कर इस पुरोडाश में भूमाभाव प्रतिष्ठित करने के लिए ही पुरोडाश को फैलाया जाता है। यजमान का वित्तरूप, अतएव स्वात्मरूप पुरोडाश यदि भूमाभाव से युक्त है, तो यजमान का मानुषात्मा, एवं तद्बद्ध यज्ञात्मा भी अवश्य ही भूमाभाव से युक्त है। यजमान इस भूमाभाव से युक्त हो, एकमात्र इसी आशीः प्राप्ति के लिए पुरोडाश का प्रथन किया जाता है। इसी भूमाविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुतिने कहा है—

**'तं प्रथयति-उरुप्रथा उरुप्रथस्व। उरु ते यज्ञपतिः प्रथताम्' ॥८॥**

भूमाभाव की भी सीमा होती है। विश्व में प्रतिष्ठित मनुष्य का अभ्युदय सीमित भूमाभाव पर ही अवलम्बित है। यदि किसी मनुष्य को आत्मा के (प्रज्ञानात्मा के) आयतन से अधिक भूमाभाव प्राप्त होजाता है, तो विश्वास रखिए, वह कभी जीवित नहीं रह सकता। निस्सीम भूमा विश्व के बाहिर की वस्तु है। वह विश्वाभ्युदय को अभिभूत करने वाली है। यजमान को ऐसी भूमा अपेक्षित नहीं है, जिससे उसका

स्वरूप ही उच्छिन्न होजाय । 'विश्व में रहते हुए उसे विश्व के किसी पदार्थ की कमी न रहे' यही भूमा प्रकृत में अपेक्षित है । जो यथाजात, अतएव 'मनुष्य' शब्दभाक् व्यक्ति अज्ञानवश अपनी छन्दः-सीमा से ( शक्ति–योग्यतादि के मापदण्ड से ) अधिक भूमाभाव प्राप्त करने का साहस कर बैठते हैं, वे अपने यज्ञात्मा के स्वरूप को ही उच्छिन्न कर बैठते हैं । मनुष्य अनृतसंहित है । उसका सोचा हुआ कार्य्य व्यर्थ है, हानिकर है । अतः ऐसे अवसरों पर शास्त्रीय आदेश से ही काम लेना चाहिए । 'हम भी मनुष्य हैं–ईश्वर ने हमें भी बुद्धिबल दिया है, हम स्वयं अपनी भलाई बुराई सोच सकते हैं, शास्त्र भी तो मनुष्यों के ही बनाए हुए हैं, फिर हम क्यों अन्धभक्त बने रहें' इसप्रकार की अस्मिता में पड़कर जो मूढधी मानुषभाव को प्रधान मानते हुए उन आर्ष आज्ञाओं का तिरस्कार कर देते हैं, वे सचमुच स्वयं तिरस्कृत होते हुए अभ्युदयपथ से एकान्ततः विमुख ही होजाते हैं । इसलिए अनृतसंहित मनुष्य का यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, वह सत्यसंहित आप्तपुरुषों के द्वारा निर्दिष्ट मार्गरूप शास्त्र के आधार पर ही अपने कर्त्तव्यकर्त्तव्य का निश्चय करें । इसीमें उनका अभ्युदय, तथा निःश्रेयस् है । इसी आदेश को उद्धृत करते हुए भगवान् कहते हैं–

**'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।**
**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥**
**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।**
**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि' ॥**

**—गीता**

यही आदेश प्रकृत से सम्बद्ध है । पुरोडाश का प्रथन मनमाना नहीं करदेना चाहिए । कितने हीं आचार्य्यों का यह विचार है कि, त्रैलोक्य में विराट्पुरुष व्याप्त है । सुप्रसिद्ध पूर्व परिचित स्तोम्यत्रैलोक्य के त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्तोमों में व्याप्त-**वैश्वानर–हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ**-की समष्टि ही **विराट् पुरुष** है । इस विराट् पुरुष की व्याप्ति पार्थिव त्रैलोक्य में में है । प्राणमयी पृथिवी का वह भाग-जो कि सूर्य्य की ओर रह ा है, 'अदिति' नाम से प्रसिद्ध है । यही अदितिमण्डल स्तोम्यत्रैलोक्य की, विराट् पुरुष की प्रतिष्ठा है । इस अदिति-मण्डल में प्रतिष्ठित सौर, एवं पार्थिप प्राण की समष्टि ही **'अश्व'** पशु है । जो सौर प्राण पृथिवी से स्पृष्ट होकर पृथिवी से टकराता हुआ २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त सूर्य्यप्रमुख होता हुआ त्रैलोक्य में व्याप्त रहता है, इसी का नाम **'अश्वपशु'** है । इसी में विराट् पुरुष का अन्तर्भाव है । त्रैलोक्य की सम्पूर्ण कामनाएँ यहीं प्रतिष्ठित हैं । अश्वमूर्त्ति विराट्पुरुष का एकचतुर्थांश ही हमारे भूपिण्ड में व्याप्त रहता है । **"त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः'** ( यजुः सं० ) के अनुसार इस विराट्मूर्त्ति अश्वपशु के तीन पाद ऊपर रहते हैं, एक पाद भूपिण्ड पर रहता है । हमारी कामनाओं के लिए एक ही **अश्वशफ** पर्य्याप्त है । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर तित्तिरि आचार्य्य का कहना है कि, **अश्वशफमात्रा** से ही पुरोडाश का प्रथन करना चाहिए । बात यद्यपि ठीक है । परन्तु याज्ञवल्क्य का कहना है कि, अश्वशफमात्रा की पूरी इयत्ता हो, तब तो ठीक है । परन्तु ऐसा होना कठिन है । अश्वशफ की ठीक ठीक सीमा प्राप्त करने में भूल होसकती है । ऐसी अवस्था में यज्ञ में अनृतभाव का प्रवेश दुर्निवार है । इसलिए उचित यही है कि, किसी नियत सीमाभाव के बन्धन

में न पड़कर आत्मानुकूल ही प्रथन करना चाहिए। ऐसा करने से भूमाभाव की भी प्राप्ति होजाती है, एवं अनृतभाव का प्रवेश भी नहीं होता। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर–**'यावन्तमेवा स्वायं मनसा न सत्रा पृथुं मन्येत–एवं कुयात्'** यह कहा गया है। ।९।१०।११।१२।१३।१४।१५।१६।१७।१८।

**इति प्रथमकाण्डान्तर्गत–द्वितीयाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण का,**

**एवं**

**प्रथमप्रपाठक के छठे ब्राह्मण का 'भाष्य' अत्र उपरत**

## प्रथम प्रपाठक समाप्त

——*——

श्रीः

# अथ-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्
# द्वितीयप्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्

---

## १२-पात्रीनिर्णेजनम्—पुरोडाशमीमांसा-समन्वितम्

---

(मूल)—चतुर्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास । स यमग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणत-स प्राधन्वत् । यं द्वितीयं प्रावृणत-स प्रैवाधन्वत् । यं तृतीयं प्रावृणत-स प्रैवाधन्वत् । अथ योऽयमेतर्ह्यग्निः-स भीषा निलिल्ये । सोऽपः प्रविवेश । तं देवा अनुविद्य सहसैवा-द्भ्य आनिन्युः । सोऽपोऽभितिष्ठेव-अवष्ठ्यूता स्थ--या अप्रपदनं स्थ, याभ्यो वो मामकामं नयन्तीति । तत आप्त्याः सम्बभूवुः-त्रितो, द्वित, एकतः ॥ १ ॥

त इन्द्रेण सह चेरुः--यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरति । स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान-तस्य हैतेऽपि वध्यस्य विदाञ्चक्रुः । शश्वद्धैनं त्रित एव जघान । अत्यह तदिन्द्रोऽमुच्यत । देवो हि सः ॥ २ ॥

त उ हैत ऊचुः--उपैवेम एनो गच्छन्तु--येऽस्य वध्यस्यावेदिषुरिति । किमिति । यज्ञ एवैषु मृष्टामिति । तदेष्वेतद्यज्ञो मृष्टे—यदेभ्यः पात्रीनिर्णेजनमङ्गुलिप्रणेजनं निन-यन्ति ॥ ३ ॥

त उ हाप्त्या ऊचुः--अत्येव वयमिदमस्मत्परो नयामेति । कमभीति । य एवादक्षि-णेन हविषा यजाता इति । तस्मान्नादक्षिणेन हविषा यजेत् । आप्त्येषु ह यज्ञो मृष्टे । आप्त्या उ ह तस्मिन् मृजते-योऽदक्षिणेन हविषा यजते ॥ ४ ॥

ततो देवा एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणामकल्पयन्—यदन्वाहार्यम् । नेददक्षिणं हवि--रसदिति । तन्नाना निनयति । तथैभ्योऽसमदं करोति । तदभितपति--तथैषां शृतं भवति ।

स निनयति-"त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा"--( १ अ० २३ मं० ) इति। पशुर्ह वा एष आलभ्यते--यत्पुरोडाशः ॥५॥

पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश। तेऽश्वमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। स गां प्रविवेश। ते गामालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽविं प्रविवेश। तेऽविमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽजं प्रविवेश। तेऽजमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम ॥ ६ ॥

स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इवान्वीषुः। तमन्वविन्दन्। ताविमौ व्रीहि-यवौ। तस्मादप्येतावेतर्हि खनन्त इवैवानुविन्दन्ति। स यावद्वीर्यवद्ध वा अस्यैते सर्वे पशव आलब्धाः स्युः, तावद्वीर्यवद्धास्य हविरेव भवति--य एवमेतद् वेद। अत्रो सा सम्पद्--यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति ॥७॥

यदा पिष्टानि, अथ लोमानि भवन्ति। यदाप आनयति, अथ त्वग् भवति। यदा संयौति, अथ मांसं भवति। संतत इव हि स तर्हि भवति, सन्ततमिव हि मांसम्। यदा शृतः, अथास्थि भवति। दारुण इव हि स तर्हि भवति, दारुणमिव ह्यस्थि। अथ यदु--द्वासयिष्यन्नभिघारयति---तं मज्जानं दधाति। एषो सा सम्पद्---यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति ॥८॥

स यं पुरुषमालभन्त--स किम्पुरुषोऽभवत्। यावश्वं च गाञ्च तौ गौरश्च गवयश्चाभवताम्। यमविमालभन्त--स उष्ट्रोऽभवत्। यमजमालभन्त--स शरभोऽभवत्। तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यम्। अपक्रान्तमेधा हैते पशवः ॥९॥

इति पुरोडाशप्रकरणम्

## इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्
## द्वितीयप्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्

---*---

(अनुवाद)—पहिले अग्नि चार भागों में विभक्त था। सो (अध्वर्यु नें) जिस अग्नि का होत्र के लिये वरण किया, वह पलायित होगया। दूसरे अग्नि का वरण किया। वह भी पलायित होगया। जिस तृतीय अग्नि का वरण किया, वह भी पलायित ही होगया। एवं आज जो अग्नि (यज्ञ में) विद्यमान है, भयानुबन्ध से वह तिरोहित होगया। वह जल में प्रविष्ट होगया। उसका देवताओं नें अन्वेषण कर अकस्मात् पानी में से निकाल लिया। (बलादानीयमान) उस अग्नि ने पानी की ओर-'हे आपः तुमने मुझे अपने में छुपने का आश्रय नहीं दिया, तुम्हारे आश्रय न देने से ही देवता बलात्कार से बिना मेरी इच्छा से मुझे लेजा रहे हैं, इसलिये तुम दूषित होजाओ' यह कहते हुए थूँक दिया'। इसी से (अग्नि के निष्ठीवन से) एकता, द्विता, त्रिता, 'आप्त्या' उत्पन्न हुए ॥१॥

वे तीनों आप्त्या इन्द्र के साथ उसी प्रकार विचरने लगे, जैसेकि आज एक पुरोहित ब्राह्मण राजा के साथ अनुगमन करता है। उस इन्द्र ने जिस समय तीन मस्तक वाले त्वष्टा के पुत्र, अतएव 'त्वाष्ट्र' नाम से प्रसिद्ध विश्वरूप को मारा था, उस समय (इनके साथ रहने वाले) इन आत्प्या--देवताओंनें भी इस विश्वरूप को बध के योग्य समझा, अर्थात् 'इसे मारने में कोई दोष नहीं है, इस दुष्ट को मार ही देना चाहिए' इसप्रकार आप्त्याओंनें त्वाष्ट्र के मारने में अपनी सम्मति ही प्रकट की थी। यही नहीं, जब इन्द्र त्वाष्ट्र को मारने लगे, तो आप्त्याओंनें ही इस कृत्य में विशेष सहायता प्रदान की थी। उन्होंनें विश्वरूप का पर्य्याप्त (जी मर कर) हनन किया था। अन्त में 'त्रिता' नाम के आप्त्या ने हीं उसे मारा था। अर्थात् त्वाष्ट्र असुर त्रित के हाथ से मारा गया था। परिणाम इसका यह हुआ कि, इन्द्र इस हत्या के दोष से सर्वथा विमुक्त होगये। कारण कि वे देवता थे ॥२॥

इस घटना से वहाँ उपस्थित हुए देवताओंनें कहा कि, इस हत्या का पाप इहीं आप्त्यों को लगे, जिन्होंनें कि, त्वाष्ट्र के वध का समर्थन किया। उस हत्या के दण्ड का क्या स्वरूप होगा?, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर अन्त में यही निर्णय हुआ कि 'यज्ञ में जो कुछ दूषित भाग हो, उसको इनके साथ ही संश्लिष्ट कर दिया जाय'। इसप्रकार यज्ञ में जो पात्रिनीर्णेजन अङ्गुलिप्रणेजन को आप्त्या के लिए डालते हैं, उससे इस आप्त्यों को उसी दोषभाग से संश्लिष्ट करते हैं ॥३॥

(इस पातक को तथोक्त प्रकार से अपने ऊपर आया देख कर) आप्त्या देवताओंनें परस्पर निश्चय किया कि, अपन भी इस पाप को अपने से अन्य ही किसी में डालदें। किस में

डालें ?, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर निर्णय हुआ कि **'जो यजमान दक्षिणाशून्य हविसे यजन करे, उसी में यह पाप सक्रान्त हो'** । इसलिये दक्षिणाशून्य हवि से यजमान को भूलकर भी यज्ञ नहीं करना चाहिये । यज्ञसम्बन्धी पाप्मा भाग आप्त्यों में संश्लिष्ट होरहा है । आप्त्या देवता स्वपाप्मा उसमें डाल देते हैं, जो बिना दक्षिणा की हवि से यजन करता है ॥४॥

( आप्त्या देवता यजमान में अपने पाप को संश्लिष्ट न करदे, इस आपत्ति से बचने के लिए ही ) देवताओंने दर्शपूर्णमासयज्ञ में इस दक्षिणा का विधान किया, जो कि **अन्वाहार्य** है । यह हवि **अदक्षिण** न होजाय, यही इस दक्षिणा-विधान का तात्पर्य्य था । उन आप्त्यों के लिए पृथक् पृथक् निनयन करता है । निनयनार्थ उपस्थित जल को तप्ताङ्गार से तपाता है । ऐसा करने से आप्त्यों की अन्नरूपा यह जलसम्पत्ति परिपक होजाती है । आप्त्यों के लिए निनयन क्यों किया जाता है ?, इस की उपपत्ति बतलादी गई । अब पद्धति बतलाते हैं ) वह अध्वर्य्यु **'पात्र्यंगुलिप्रक्षालनमाप्त्येभ्यो निनयति-अभितप्य प्रत्यगसंस्यन्दमानं त्रिताय त्वेति प्रतिमन्त्रम्'** (का० श्रौ० सू० २।६।२६।) इस के अनुसार **'त्रिताय त्वा निनयामि, द्विताय त्वा निनयामि, एकताय त्वा निनयामि'** ( यजुः सं० १।२३ ) इन मन्त्रों को बोलता हुआ क्रमशः निनयन करता है । यहाँ जो यह पुरोडाश है, वह **पशु का ही आलम्भन** किया जाता है। अर्थात् यह पुरोडाश पशुस्थानीय है । इसे पशु की ही प्रतिकृति समझना चाहिए, यही तात्पर्य्य है ॥५॥

देवताओंने सब से पहिले **पुरुषपशु** का आलम्भन किया । उस आलब्ध पशु का मेधभाग अपक्रान्त होगया । वह **अश्वपशु** में प्रविष्ट होगया । देवताओंने (मेधभाग की प्राप्ति के लिए ) अश्वपशु का आलम्भन किया । आलब्ध अश्वपशु का मेध अपक्रान्त होगया । यह **गोपशु** में प्रविष्ट होगया । देवताओंने गोपशु का आलम्भन किया । आलब्ध इस गोपशु का मेध अपक्रान्त होगया । अपक्रान्त होकर यह **अज (भेड़) पशु** में प्रविष्ट होगया । देवताओंने अविपशु का आलम्भन किया । आलब्ध अविपशु का मेध अपक्रान्त होगया । अपक्रान्त होकर यह **अज (बकरा) पशु में** प्रविष्ट होगया । देवताओंनें अजपशु का आलम्भन किया । आलब्ध अजपशु का मेध अपक्रान्त होगया ॥६॥

वह मेधभाग पृथिवी में प्रविष्ट होगया । स्थान स्थान पर भूमि निखनन करते हुए देवताओंने उस मेध का अन्वेषण आरम्भ किया । अन्त में उन्होंने अपक्रान्त मेध को उपलब्ध कर लिया । वही अपक्रान्त मेध यह **चाँवल, और 'यव'** है । ( प्रारम्भ में मेधरूप व्रीहि, और यव को देवताओंनें भूमिनिखनन के द्वारा ढूँढा था) यही कारण है कि, आज भी कृषक भूमि के निखनन के माध्यम से ही मेधसम्पत्ति प्राप्त करते हैं ।

पुरुष—अश्व-गो-अवि अज-ये पाँचों पशु आलब्ध होकर इस यजमान के लिए जिस मात्रा से पर्य्याप्त होते हैं, वह सम्पूर्ण मात्रा एकमात्र इस पुरोडाश से ही प्राप्त होजाता है, जो कि यजमान इस रहस्य को जानता है। इस हवि से वह यज्ञसम्पत्ति प्राप्त होजाती है, जिस के लिए कि सम्पद् रहस्यवेत्ता **'पाङ्क्तः पशुः'** यह कहा करते हैं ॥७॥

कैसे पुरोडाश से पशुसम्पत्ति प्राप्त होजाती है ?, इस का उल्लेख करती हुई श्रुति कहती है-

जब यह हविर्द्रव्य पिष्ट अवस्था से युक्त रहते हैं, तब इन में लोम है। जब पानी डालते हैं, तब त्वग्भावसम्पन्न होजाता है। जब पानी को इस में मिलाते हैं, तब माँस सम्पत्ति आजाती है। उस समय यह फैलता जाता है। माँस फैला हुआ सा ही है। जब पक होजाता है, तो अस्थि भाव का उदय है। उस समय (पकावस्था में) यह कठिन सा होजाता है। हड्डी भी दारुण सी ही है। जब इसे ठँढा करते हुए इस में घृत डालते हैं, तो मज्जाभाव का समावेश करते हैं। यही वह सम्पत् है, जिस के लिए कि-**'पाङ्क्तः पशुः'** यह कहा करते हैं ॥८॥

सो जो कि (मेधप्राप्ति की कामना से) देवताओंनें पुरुष का आलम्भन किया, वह **किंपुरुष** बना। अश्व-गौ के आलम्भन से क्रमशः **गौर**, एवं **गवय** पशु उत्पन्न हुए। अविपशु के आलम्भन से **उष्ट्रपशु** उत्पन्न हुए। अजपशु के आलम्भन से **शरभपशु** उत्पन्न हुआ, इसलिये इन पशुओं का (किंपुरुष-गौर गवय-उष्ट्र-शरभ-पशुओं का मांस नहीं खाना चाहिए। कारण, ये पाँचों हीं पशु अपक्रान्तमेध हैं। ये अमेध्य पशु हैं ॥९॥

## प्रथमकाण्डान्तर्गत द्वितीयाध्याय का तीसरा, एवं दूसरे प्रपाठक का पहिला ब्राह्मण-उपरत

——*——

(भाष्य)—पुरोडाश सम्पन्न होचुका है। पुरोडाश के सम्बन्ध में अब- **पात्रनिर्णेजन** नामक कर्म्म अवशिष्ट रहा है। पुरोडाश के सम्पन्न होने के अनन्तर पात्री में अध्वर्य्यु हाथ धोता है। उसकी अङ्गुलियों में, किंवा हाथों में जो पिष्टभाग लगा रहता है, यह सब धोकर उस पुरोडाशपात्री में डाल दिया जाता है। पात्रीस्थित मलयुक्त पुरोडाश के अंशसे युक्त इस पानी का क्या उपयोग ?, प्रकृत में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। मानुषव्यवहारवत् इस पानी को यथेच्छ नहीं डाला जाता। अपितु-विहार के उत्तर भाग में **'स्फ्य'** से तीन खड्ड प्राक्संस्थ बनाए जाते हैं। वे तीनों खड्ड परस्पर में सर्वथा असङ्ग (बिना मिले हुए) रहते हैं पात्री, एवं अङ्गुलिहस्तप्रक्षालित जलको प्रथम उस पात्री में ही रक्खा जाता है। गार्हपत्याग्नि में से उल्मुक (जलती हुई तृणमुष्टि) लाकर पहिले इस प्रक्षालित जलको (जिस में कि कुछ पुरोडाश का भी

अंश रहता है )तपाते हैं । साथ ही जिन आप्त्यों के लिये यह जल डाला जाता है, वे देवताविशेष हैं, अत-एव देवतोद्देशेन यजमान के द्वारा त्याग भी किया जाता है । तात्पर्य्य यही है कि अध्वर्य्यु क्रमशः—

**'ओं त्रिताय त्वा निनयामि'-"ओं द्वित्ताय त्वा निनयामि"-"ओं एकताय त्वा निनयामि" ***

उक्त मन्त्र बोलता हुआ प्रतिमन्त्रोच्चारण–क्रमसे उपर्य्युक्त गर्त्तों में जब प्रक्षालित जल डालता है, तो यजमान-**"ओं इदं त्रितायाप्त्याय न मम"**--**"ओं द्वितायाप्त्याय न मम"** **"ओं एकतायाप्त्याय न मम"** इस क्रम से त्याग करता है । अध्वर्य्यु का यह कर्म्म **नियन** नाम से प्रसिद्ध है, एवं यजमान का यह कर्म्म **प्रतिनिनयन** नाम से व्यवहृत होता है । यही कर्म्म **पात्रीनिर्णेजन** नाम से प्रसिद्ध है । इस कर्म्म के अनन्तर—**अन्वाहार्य्यं दक्षिणाग्नावधिश्रयति**" ( का० श्रौ०सू० २।६।२८ ) के अनुसार अध्वर्य्यु **अन्वाहार्य** ÷ नाम से प्रसिद्ध **ओदन** को परिपाक के लिए **श्रपणाग्नि** नाम से प्रसिद्ध दक्षिणाग्नि पर रखता है ।

बिना पशुसम्पत्ति के यज्ञ नहीं होसकता । प्रत्येक यज्ञ में पशु का मेधभाग अपेक्षित है । इस के लिए पशु का **आलम्भन** करना भी आवश्यक होजाता है । परन्तु हम देखते हैं कि, इस हविर्यज्ञात्मक दर्श–पूर्णमास यज्ञ में पशु का अभाव है । आहुति के स्थान में प्रकृत में पुरोडाश का ही ग्रहण किया गया है । ऐसी अवस्था में पशु के बिना कभी सम्पन्न न होने वाली यज्ञसम्पति का अभाव होजाता है । इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रकृत ब्राह्मण में प्रसङ्गागत **आलम्भन--विज्ञान का** भी निरूपण किया गया है । इसप्रकार इस ब्राह्मण में प्रधानरूप से **१—आप्त्याविज्ञान, २—दक्षिणाविज्ञान, ३—आलम्भनविज्ञान,** इन तीन विषयों का निरूपण किया गया है । तीनों में क्रमप्राप्त प्रथम आप्त्याविज्ञान की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

## आप्त्याविज्ञानम्

आप्त्याविज्ञान का मूलाधार '**चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास**' यही अनुगमश्रुति है । निगम,अनुगम शब्दों का अर्थ पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाचुका है । अतः प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि, नियतार्थ का प्रतिपादन करने वाले श्रौतवचन '**निगम**', एवं अन्वर्थ का निरूपण करने वाले श्रौतवचन '**अनुगम**' कहलाते हैं । उपर्य्युक्त अनुगम की यही स्थिति है । '**पहिले अग्नि चतुर्द्धा विभक्त था,** इस अनुगम का यही शब्दार्थ है । अग्नि का यह चातुर्विध्य अनेक प्रकार का है । अनेक **प्रकार**

---

* यद्यपि मूलसंहिता में **निनयामि** पद नहीं है, परन्तु मीमांसानुसार आकाङ्क्षा से '**निन-यामि**' का अध्याहार करना आवश्यक होजाता है ।

÷ दर्शपूर्णमास में दक्षिणास्थान में नियत **ओदन ही "अन्वाहार्य्य"** कहलाता है । **अध्वर्य्यु-होता–उद्गाता–ब्रह्मा,** ये चारों ऋत्विक् तृप्त होजायँ, इतना ओदन परिपक्व होता है । इसका परिपाक प्रणीतापात्रस्थ जल से, अथवा लौकिक जल से ही होजाता है । यह अन्वाहार्य्यद्रव्य दक्षिणा-स्थानीय है। इस का परिपाक श्रपणाग्नि में होता है, इसलिए भी श्रपणाग्नि को—'**दक्षिणाग्नि**' कहा जाता है ।

से अग्नि चतुर्द्धा विभक्त है। सब का संक्षेपसे संग्रह करने के लिए ही ऋषिने सामान्यतः-चतुर्धा विहितः'' यह कहा है। प्रसङ्गात् दो तीन विभागों का प्रकृत में भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

पुरुष, प्रकृति विराट्,सम्वत्सर, भेद से अग्नि चतुर्द्धा विभक्त है। अव्यय-अक्षर-क्षर-परात्पर की समष्टि षोडषीपुरुष है, जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इस पुरुषत्रयी में मध्यस्थ मध्यम-पुरुष अक्षर है। इसकी ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-ये पाँच कलाएँ हैं। यह अक्षराग्नि ही "पौरुषाग्नि" है। यही विश्व का सञ्चालक है। यह प्रथमाग्नि है। वस्तुस्वरूपसमर्पक अग्नि प्राकृताग्नि है। हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध दशविध ऋषिप्राण की समष्टिरूप आर्षेयाग्नि विराडग्नि है, एवं चयनयज्ञ का अधिष्ठाता सौर अग्नि ही 'सम्वत्सराग्नि' है। इसप्रकार एक ही अग्नितत्त्व अवस्थाभेद से चार भागों में विभक्त होरहा है।

१—पौरुषाग्निः ( "पुरुषोग्निः" शत० १०।४।१।६ )।

२—प्राकृताग्निः।

३—विराडग्निः ( 'विराडग्निः' शत० ६।२।२।३४ )।

४—सम्वत्सराग्निः ('अग्निर्वाव सम्वत्सरः' तै० ब्रा० २।१।५२ )।

—*—

प्रकारान्तर से ब्रह्म-सुब्रह्म-शुक्र-भूत, भेद से अग्नितत्त्व चतुर्द्धा विभक्त है। प्राणमय स्वायम्भुव अग्नि 'ब्रह्माग्नि' है। यही अग्नि— 'वागग्नि'-'सार्वयाजुषाग्नि'-'वेदाग्नि'-'प्राणाग्नि'-'सत्याग्नि' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। पारमेष्ठ्य ऋताग्नि 'सुब्रह्माग्नि' कहलाता है। ब्रह्माग्नि, एवं सुब्रह्माग्नि के संयोग से उत्पन्न होने वाला, 'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्०' ( ईशोपनिषत् ) इत्यादि रूप से उपवर्णित संसार का बीजरूप अग्नि 'शुक्राग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। एवं तेजोऽग्नि चौथा भूताग्नि है। यह 'वसु' नाम से व्यवहृत किया जाता है। जिसे साधारण मनुष्य अग्नि ( तापयुक्त ज्वालायुक्त अन्नादि का परिपाक करने वाला प्रत्यक्षदृष्ट स्थूल अग्नि ) समझते हैं, वही भूताग्नि है। इसी भूताग्नि को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है—

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं य यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर॥

—ऋक् सं० ५मं.। ६सू.। १ मं.

ऋषि कहते हैं कि, हम अग्नि ( भूताग्नि ) उसे समझते हैं, लोक में जो 'वसु' नाम से प्रसिद्ध है, एवं सूर्य्यास्त पर जिस से किरणें निकला करती हैं। इसप्रकार प्रकरान्तर से भी अग्नि की चार अवस्थाएँ होजातीं हैं।

१—ब्रह्माग्निः—मौलिकोऽग्निः सत्याग्निः, यजुरूपः । त्रयीरूपो वा ।

२—सुब्रह्माग्निः—आपोऽग्निऋताग्निः-अथर्वरूपः ।

३—शुक्राग्निः—ब्रह्मसुब्रह्मयोगादुत्पन्नो विश्वबीजः

४—भूताग्निः—प्रत्यक्षदृष्टस्तापधर्म्मा वसुरग्निः

यज्ञमर्य्यादा के अनुसार भी अग्नितत्त्व चतुर्द्धा विभक्त है । अग्नि की ये चारों अवस्थाएँ—क्रमशः १-आहित, २-उद्धृत, ३-प्रहृत, ४-विहृत, इन नामों से प्रसिद्ध हैं । [ देखिए शत० ब्रा० ११ का । ८ । २ । १ । ] ।

ये चारों हीं अग्नि-विवर्त्त चित्याग्नि के अवान्तर भेद हैं । यह **अधिलोक, अधिदैव, अधियज्ञ, अधियाज्ञिकदैव** भेद से चार स्थानों में विभक्त है । **पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-आपः** ये चारों स्तोम्यलोक भी इन्हीं चारों अग्नियों से निष्पन्न हुए हैं, एवं इन चारों लोकों को में अतिष्ठावारूप से प्रतिष्ठित भी ये ही चारों हैं । इसीप्रकार कुण्ड, एवं कुण्डों में देवरूप से प्रतिष्ठित भी ये ही चारों हैं । सौरप्रजापति अपने अग्नि का प्रवर्ग्यरूप से भूलोक में आधान करते हैं । दूसरे शब्दों में सौर अग्नि ही प्रवृक्त होकर भूसंस्था का स्वरूप-समर्पक बनता है । अतएव इसे–'**आहिताग्नि**' कहा जाता है । त्रिवृद्रूप पृथिवी-स्थान में यही अग्नि प्राणदेवताओं के द्वारा प्रतिष्ठित किया जाता है, अतएव इसे–'**उद्धृताग्नि**' कहा जाता है । यही अग्नि सप्तदश(१७)स्तोमरूप आहवनीयाख्य उत्तरावेदिस्थ द्युलोक में जाकर प्रतिष्ठित होता है । दूसरे शब्दों में यही अग्नि प्राणदेवताओं के द्वारा आहवनीयरूप स्वर्गप्रदेश में लेजाया जाता है । अतएव इसे '**प्रहृताग्नि**' कहा जाता है । अन्नादि का परिपाक करने वाला '**शामित्राग्नि**' नाम से प्रसिद्ध अग्नि ही चौथा '**विहृताग्नि**' है ।

शतपथब्राह्मण के ११ वें काण्ड में–**पाशुकवेदिनिरूपण** में इन चारों का विशद निरूपण किया गया है । यहाँ नाममात्र ही उद्धृत कर दिए गए हैं ।

| | | |
|---|---|---|
| १—पृथिवी ···· आहितचित्याग्निः | | —अधिलोकम् |
| २—अन्तरिक्षम् ··· उद्धृतचित्याग्निः | | |
| ३—द्यौः ········ प्रहृतचित्याग्निः | | |
| ४—आपः ········ विहृतचित्याग्निः | | |

—*—

| | | |
|---|---|---|
| १—अग्निः ······ आहितचित्याग्निः | | —अधिदैवम् |
| २—वायुः ······ उद्धृतचित्याग्निः | | |
| ३—आदित्यः ······ प्रहृतचित्याग्निः | | |
| ४—चन्द्रमाः ······ गिहृतचित्याग्निः | | |

—*—

| | | |
|---|---|---|
| १—गार्हपत्यकुण्डम् ···आहिताग्निः | | —अधियज्ञम् |
| २—दक्षिणाग्निकुण्डम् ··उध्दताग्निः | | |
| ३—आहवनीयाग्निकुण्डम् ·प्रहृताग्निः | | |
| ४—शामित्रशाला ······ विहृताग्निः | | |

—*—

| | | |
|---|---|---|
| १—गार्हपत्याग्निः ····· आहितः | | —अधियाज्ञिकदैवम् |
| २—हविःश्रपणाग्निः ····· उद्धृतः | | |
| ३—आहवनीयाग्निः ····· प्रहृतः | | |
| ४—पशुश्रपणाग्निः ······ विहृतः | | |

—*—

तथोक्ता **अग्निविधाओं** में से द्वितीया विधा के **शुक्राग्नि** का ही प्रकृत से सम्बन्ध है। शुक्राग्नि की चार अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर ही श्रुति ने—**'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास'** यह कहा है। यहाँ **'अग्रे'** शब्द का—**'हविर्यज्ञ से पहिले'**, यही अर्थ समझना चाहिए। प्रकृतिसिद्ध नित्य हविर्यज्ञ का भूपिण्ड से सम्बन्ध है। सुप्रसिद्ध आप्त्या–अग्नियों का इसी भूपिण्डावच्छिन्न हविर्यज्ञ से सम्बन्ध समझना चाहिए। आज यद्यपि यह आप्त्याग्नि सम्मिलित होकर एकरूप से प्रतीत होरहे हैं, परन्तु हविर्यज्ञ–स्वरूपनिष्पत्ति से पहिले यह अग्नितत्त्व–**१-रसाग्नि**, **-आर्त्तवाग्नि**, **३-छन्दस्याग्नि**, **४-सावित्राग्नि**, इन नामों से ही प्रसिद्ध था। यही अग्निचतुष्टयी स्तौम्यत्रैलोक्य, एवं तत्प्रतिष्ठ प्रजा का बीज है, उपादान–कारण है, अतएव इसे–**'शुक्राग्नि'** नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस की **प्रथमावस्था** का नाम हीं **'रसाग्नि'** है।

## १–रसाग्निः—

भूपिण्ड के केन्द्र में अपनी प्रतिष्ठा रखने वाला, भूपिण्ड से निकल कर २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाला, **त्रिवृत् पञ्चदश-एकविंश–स्तोमरूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ**, इन तीनों लोकों में क्रमशः **दधि ( घनरस ) घृत ( तरलरस ) मधु ( विरलरस ) रसरूप** में परिणत रहने वाला प्राणात्मक पार्थिव अग्नि ही [ जोकि याज्ञिक परिभाषा के अनुसार **'चितेनिधेय'** नाम से प्रसिद्ध है ] **'रसाग्नि'** नामक **प्रथमाग्नि** है। इसी **रसतम** अग्नि से पार्थिव साममण्डल निष्पन्न होता है, अतएव पार्थिव साम **'रथन्तर'** नाम से व्यवहृत किया जाता है। **आपः-फेन-मृत्-सिकता–शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य**, भेद से भूपिण्ड अष्टाक्षर होता हुआ गायत्रसम्पत्ति से संयुक्त है। अतएव यह निर्गच्छत् रसाख्य पार्थिव प्राणाग्नि भी **'गायत्री'** नाम से प्रसिद्ध है। यही गायत्री सुपर्णरूप में परिणत होकर २१ विंशस्तोम के ऊपरि भाग में प्रतिष्ठित, वायव्य गन्धर्व प्राण से सुरक्षित, पारमेष्ठय सोमापहरण करने में समर्थ होती है। जैसे सावित्राग्नि **आदित्य** कहलाता है, एवमेव इस पार्थिव प्राणाग्नि को **अङ्गिरोऽग्नि** कहा जाता है। अङ्गि–रोऽग्नि भूपिण्ड से निकल कर निरन्तर द्युलोक की ओर जाया करता है, एवं आदित्याग्नि सूर्य्यपिण्ड से निकलकर निरन्तर भूपिण्ड की ओर आता रहता है। इसप्रकार आदित्य, और अङ्गिरा में निरन्तर स्पर्धा चलती रहती है। प्रकृत में केवल यही बतलाना है कि, घनादि तीन अवस्थाओं में परिणत रहने वाला पार्थिव प्राणाग्नि ही **'रसाग्नि'** है। यही रसाग्नि दिव्य सौरदेवताओं के लिए पार्थिवान्नरूप हवि का वहन करता है। अतएव इसे **'हव्यवाट्'** कहा जाता है। सम्पूर्ण पार्थिवरस निर्गच्छत् इसी पार्थिव प्राणाग्नि में आहुत होकर **'आदित्य'** नाम से प्रसिद्ध सौराग्नि में आहुत होते रहते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

**अग्नौ ( रसाग्नौ ) प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।**
**आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥**

—मनुः

इसी हव्यवाट् अग्नि का स्वरूप–निरूपण करती हुई **शुक्लश्रुति** कहती है—

शेषे वनेषु मातृषु सन्त्वा मर्त्तास इन्धते ।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृदादिद्देवेषु राजसि ॥
—यजुः संहितायाम्

दिव्य सौर प्राणदेवताओं का [ यजमानात्मा में ] सम्बन्ध इसी रसाग्नि के द्वारा होता है । यही आह्वाता है, अतएव इसे 'होता' भी कहा जाता है । यही देवताओं का दूत है । **'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं रत्नधातमम्'** के अनुसार यह रसाग्नि देवताओं का दूत है, एवं होता है * । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति कहती है ।

**'उभयं वाऽएतदग्निर्देवानां होता च दूतश्च' ।**
—श० १।४।५।४।

यह रसाग्नि **सहृदय**, एवं **सशरीरी** है, अतएव **'सहृदयं सशरीरं सत्यम्'** इस लक्षण से इस रसाग्नि को **'सत्याग्नि'** कहा जासकता है । अग्नि के इसी सत्यधर्म को लक्ष्य में रखकर **'अग्ने नय सुपथा राये०'** इत्यादि कहा जाता है । नियतमार्ग ही **सुपथ** है । **सत्यभाव ही नियतमार्ग है** । अध्यात्मदृष्ट्या यही **'अपानाग्नि'** है । और यही प्रथमाग्नि का संक्षिप्त स्वरूप-निदर्शन है ।

## २–आर्त्तवाग्निः—

दक्षिणादिक् से उत्तर की ओर जाने वाला अग्नि हीं **आर्त्तवाग्नि** है । इसी अग्नि से ओषधि, वनस्पतियों का परिपाक होता है । अतएव वैज्ञानिकोंनें इस अग्नि को **'अपणाग्नि'** नाम से व्यवहृत किया है । यह अग्नि **वायव्य** है, वायुरूप है । अर्थात् ऋतधर्म्मा, अतएव केन्द्रशून्य होता हुआ ऋत है । उत्तर दिक्स्थ **ऋतसोम** निरन्तर दक्षिण की ओर जाया करता है । इसी ऋताग्नि–ऋतसोम के **उद्ग्राभ, निग्राभ ( चढाव–उतार )** से ऋतु का स्वरूप सम्पन्न होता है । **ऋताग्नि**, एवं **ऋतसोम** से उत्पन्न होने से ही वसन्तादि काल–अवयव **'ऋतु'** नाम से प्रसिद्ध हैं । इस ऋतु में प्रतिष्ठित वायव्याग्नि का ही नाम **'आर्त्तवाग्नि'** है । स्त्री के शोणित में जब इस आर्त्तव अग्नि का प्रवेश होता है, तभी उसमें प्रजोत्पत्ति--सामर्थ्य आता है । आर्त्तवाग्नि के प्रवेश से ही स्त्री **'ऋतुमती'** कहलाती है । प्रकृति के यच्चयावत् पदार्थ अपनी अपनी ऋतु में ही उत्पन्न होते हैं । यह आर्त्तवाग्नि पाङ्क्तयज्ञ की पाङ्क्तता [ **पञ्चावयवता** ] के अनुसार– १-वसन्त, २–ग्रीष्म, ३-वर्षा, ४-हेमन्तशिशिर, इन पाँच भागों में विभक्त है । ये विभाग ७२--७२ अहोरात्रों के होते हैं । १६, ४०, १६, क्रम से क्रमशः प्रत्येक ऋतु में **प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन**, इन तीन तीन सवनों का भोग होता है । प्रारम्भ के १६ दिन प्रातःसवन है, यही ऋतु की **बालावस्था** है । ४० दिन **युवावस्था** है । अन्त के १६ **वृद्धावस्था** है । यज्ञकर्त्ता यजमान के नवीन दैवात्मा के साथ इन पाँचों ऋतुदेवताओं का भी सम्बन्ध रहता है । इन्हें तृप्त करने के लिए ही **'पञ्चप्रयाज'** करने पड़ते हैं । अध्यात्मदृष्ट्या यही वायव्याग्नि–**'व्यानाग्नि'** नाम से प्रसिध्द है । और यही है **'आर्त्तवाग्नि'** का संक्षिप्त--स्वरूप–निदर्शन ।

---

* इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन आगे आने वाले **'होतृप्रवरण'** ब्राह्मण में किया जायगा ।

## ३–छन्दस्याग्निः—

प्रत्येक वस्तु का अपना एक **'आयतन'** अवश्य होता है। यह आयतन ही तद्वस्तु का स्वरूप-सम्पर्क है। इसी आयतन को विज्ञानपरिभाषानुसार **'वयोनाध'** कहा जाता है। वस्तुतत्त्व **'वय'** है। यह वय ( वस्तु ) उस आयतन से युक्त रहता है। दूसरे शब्दों में-वय अपने आयतन के उदर में प्रतिष्ठित रहता है, अतएव वय को **'अन्न'** शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है ( शत० ८।५।२६ )। इस वयोरूप अन्न को उसका आयतन सर्वतः बद्ध रखता है, अतएव इस आयतन को **'वयोनाध'** कहा जाता है। यही वयोनाध याज्ञिक परिभाषानुसार **'छन्द'** नाम से व्यवहृत होता है। छन्द एक प्रकार का अग्नितत्त्व ही है।

यही छन्दोऽग्नि-**'वाक्'** नाम से प्रसिद्ध है। इस वाक् के तत्तत् परिमाण हीं तत्तच्छन्दः-स्वरूप में परिणत होते हैं। अतएव आप्तपुरुष छन्द का—**'वाक्परिमाणं छन्दः'** यह लक्षण किया करते हैं। यह वाक्तत्त्व **'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्** ( श० १० कां० ) के अनुसार **'अग्नि'** ही है। इस **वागग्नि** का एकमात्र कार्य्य वस्तुस्वरूप की तदायतनरूप से रक्षा करना हीं है। त्रैलोक्य के पदार्थ **पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः** भेद से चार स्वरूपों में विभक्त हैं। इन चारों प्रकार के पदार्थों को सीमित बनाने वाले चार वाक्छन्द ही हैं। वे ही चारों छन्द वैज्ञानिक परिभाषा में—**मा, प्रमा, प्रतिमा, अस्रीवि** नाम से व्यवहृत होते हैं। पृथिवीलोक का, एवं तद्गत पार्थिव पदार्थों का सामान्य छन्द **'मा'** है। अन्तरिक्षलोक, एवं तद्गत आन्तरिक्ष्य पदार्थों का सामान्य छन्द **'प्रमा'** नाम से प्रसिद्ध है। द्युलोक, एवं तद्गत दिव्यपदार्थों का छन्द **'प्रतिमा** है। एवं आपोऽगत दिक्स्वरूप-सम्पादक छन्द **'अस्रीवि'** नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञिक परिभाषानुसार **मा, प्रमा प्रतिमा, अस्रीवि,** ही क्रमशः **गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्,** नाम से व्यवहृत होते हैं। **गायत्री पार्थिव छन्द है। त्रिष्टुप् आन्तरिक्ष्य छन्द है।** **जगती दिव्य छन्द है। एवं अनुष्टुप् आप्यछन्द है।** पृथिवीलोक **'अग्निर्भूस्थानः'** के अनुसार आग्नेय है। अतएव अग्नि **गायत्रीछन्दा** कहा जाता है। **'वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः'** (या० नि०) के अनुसार अन्तरिक्ष में **'मरुत्वान् इन्द्र** की सत्ता मानी जाती है। अतएव इन्द्र को **त्रिष्टुपछन्दा** माना जाता है। **'सूर्यो द्युस्थानः'** के अनुसार सूर्य्य सार्वदैवत्य होता हुआ विश्वेदेव है। अतएव विश्वेदेव को जगतीछन्दा माना जाता है। एवं प्राजापत्यविवर्त्त को **आस्रीविच्छन्दा** माना जाता है। **गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्** चारों हीं **छन्दस्याग्नि** हैं। इहीं चारों आयतनों में क्रमशः **अग्निमय वसु, वायुमय रुद्र, आदित्यमय विश्वेदेव, तथा आपोमय आप्त्यादेवता प्रतिष्ठित रहते हैं।** सम्पूर्ण देवता इहीं चारों छन्दों पर प्रतिष्टित रहते हैं। अतएव वाङ्मय इन छन्यों को **'अश्व'** नाम से व्यवहृत किया गया है। अग्नि के इसी छन्दोमय **अश्वस्वरूप** को लक्ष्य में रखकर-**'अश्वो न देववाहनः'** ( यजुः ) कहा जाता है। यह छन्दस्याग्नि आयतन-स्वरूप है। अतएव **हम इसे 'सत्याग्नि'** भी मान सकते हैं। यही तीसरा अग्नि है।

## ४-सावित्राग्निः—

चौथा है **सावित्राग्नि**। सौरप्राणाग्नि हीं **'सावित्राग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है। यही प्रकृत का मुख्य स्तम्भ है। यह भी सूर्य्यकेन्द्र से बद्ध होने के कारण **'सत्य'** ही है। सम्पूर्ण सौरदेवता निरन्तर इसी सत्य सावित्राग्नि की आराधना करते रहते हैं।

प्रकारान्तर से पूर्वोक्त चारों अग्नियों का स्पष्टीकरण इसप्रकार समझना चाहिए कि-**पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु**, तीन लोक हैं। तीनों लोकों के अधिष्ठाता क्रमशः **अग्नि, वायु, आदित्य** हैं। अग्नि **रसाग्नि** है, वायु **आर्त्त्वाग्नि** है, आदित्य सम्वत्सराग्नि है। इन तीनों लोकों की सीमा सम्पन्न करने वाला आयतनरूप अग्नि छन्दस्याग्नि है। पार्थिव रसाग्नि **'भूपति'** कहलाता है, आन्तरिक्ष्य आर्त्तवाग्नि **'भुवनपति'** कहलाता है, एवं सीमासम्पादक छन्दस्याग्नि **'भूतानांपतिः'** नाम से प्रसिद्ध है। ये ही तीनों **'अग्निभ्रातरः'** नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रकृत में **'चतुर्द्धा विहितो ह वा०'** से शुक्राग्नि के विवर्त्तभूत ये ही पूर्वोक्त चार अग्नि अभिप्रेत हैं—

| | |
|---|---|
| १—रसाग्निः——पर्थिवाग्निः——सत्याग्निः—भूपतिः | शुक्राग्निः |
| २—आर्त्तवाग्निः–आन्तरिक्ष्याग्निः–ऋताग्निः—भुवनपतिः | |
| ३—सावित्राग्निः–दिव्याग्निः———सत्याग्निः—सर्वपतिः | |
| ४—छन्दस्याग्निः–आयतनाग्निः——सत्याग्निः—भूतानांपतिः | |

——*——

१—प्रथमाग्निः——गायत्राग्निः——अपानाग्निः——अङ्गिरोऽग्निः, गृहपतिः

२—द्वितीयाग्निः——वायव्याग्निः——व्यानाग्निः——पञ्चप्रयाजाः

३—तृतीयाग्निः——आयतनाग्निः——छन्दस्याग्निः——त्रयोऽनुयाजाः

४—चतुर्थाग्निः——सम्वत्सराग्निः——प्राणाग्निः——सावित्राग्निः

प्रकरण के आरम्भ में हमने पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि को **'हव्यवाट्'** कहा है। परन्तु वस्तुतः **'अङ्गिरोऽग्नि'** नामक रसाग्नि हव्यवाट् नही है, अपितु सौर सावित्राग्नि ही हव्यवाट् है। पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु है।

**इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।**
**प्रभूर्जयो यथा पथि द्यामङ्गिरसो ययुः॥**

**—यजुःसं०**

उक्त श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यह पार्थिव अग्नि निरन्तर द्युपथ की ओर जाया करता है। उधर से सौर सावित्राग्नि निरन्तर भूपिण्ड की ओर आया करता है। द्युलोक से आगत सावित्राग्नि सत्य है। अतएव यह नियत पथ का अनुगामी है। सूर्य्यरश्मि के सम्मुख आप एक तिल रख दीजिए, रश्मि उसे छेद नहीं सकेगी, अपितु तिल से टकराकर पुनः उसी आगमनमार्ग से परावर्त्तित होजायगी। यही इसका सत्यभाव

है। यही अवस्था भूपिण्ड के अवरोध से इस सावित्राग्नि की होती है। भूपिण्ड से टकराकर सावित्राग्नि पुनः परावर्त्तित होजाता है। जाता हुआ यह सावित्राग्नि द्युपथ की ओर जाते हुए अङ्गिरोऽग्नि से संश्लिष्ट रहता है। केवल इसी सहचरभाव को लक्ष्य में रखकर हमने पूर्व में अङ्गिरोऽग्नि को 'हव्यवाट्' कह दिया है। वस्तुतः हव्यवाट् अग्नि प्रतिफलित सौरसावित्राग्नि ही है। प्रतिफलित सावित्राग्नि ही 'आदित्याग्नि' है। अङ्गिरा और आदित्य, दोनों स्वर्ग ( सौरलोक ) लोक की ओर जारहे हैं। अङ्गिरा, और आदित्य की इस स्पर्द्धा में आदित्य ही प्रथम स्वर्गलोक में जाने में समर्थ होते हैं। कारण, पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि की अपेक्षा सौर प्रतिफलित आदित्याग्नि हीं अधिक बलवान् है। इसी स्पर्द्धाभाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

१—'आदित्याश्च ह वाऽअङ्गिरसश्च उभये प्राजापत्या अस्पर्द्धन्त-वयं पूर्वे स्वर्गं लोकमेष्यामो वयं पूर्वऽइति। त आदित्याश्चतुर्भिस्तोमैश्चतुर्भिः पृष्ठैर्लघुभिः सामभिः स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त। यदभ्यप्लवन्त—तस्मादभिप्लवाः। अन्वञ्च इवाङ्गिरसः,-सर्वैः स्तोमैः सर्वैः पृष्ठैर्गुरुभिः सामभिः स्वर्गं लोकम-स्पृशंस्तस्मात् पृष्ठ्यः'।

—शत० १२ का० २।२।६–१०–११ इति।

२—'द्वय्यो ह वा इदमग्रे प्रजा आसुः-आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्च'।

—शत० ३।५।१।१३।

३—अदित्याश्चाङ्गिरसश्च तत् सत्रं समदधत। आदित्यानामेकविंशतिरङ्गिरसां द्वादशाहः'।

—तां ब्रा २४।२।२

४—आदित्या वा इत उत्तमां सुवर्गं लोकमायन्। ते वा इतो यन्तं प्रतिनुदन्ते।

—तै० ब्रा० १।१।६।८

५—(आदित्याः) स्वर्गं लोकमायन्नहीयन्ताङ्गिरसः'।

—तां० ब्रा० २४।२।२

६—'ते हादित्याः पूर्वे स्वर्गं लोकं जग्मुः पश्चेवाङ्गिरसः षष्ट्यां वा वर्षेषु।

—ऐ० ब्रा० ४।१७

७—'तान् हादित्यानङ्गिरसो याजयाञ्चक्रुः'।

—गो० उ० ६।१४

उपर्युक्त प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि, आदित्याग्नि ही पहिले २१ विंशस्थानात्मक स्वर्गस्थान में पहुँचता है। यही सम्वत्सराग्नि है। यहाँ अङ्गिरा का भी समन्वय होता है। अङ्गिरा

स्वगत हविर्द्रव्य को पहिले आदित्य में समर्पित कर देता है । इसी अभिप्राय से—'तान्-अङ्गिरसो याज-याञ्चक्रु:' यह कहा है । अङ्गिरा के द्वारा समर्पित पार्थिव सोमरूप हवि को देवता में पहुँचाना एकमात्र आदित्यात्मक सावित्राग्नि का ही कार्य्य है । जो अग्नि प्रतिफलित होकर सूर्य्य की ओर जाता है, वही 'अश्व' नाम से व्यवहृत होता है । इस **अश्वाग्नि** में (**सावित्राग्नि में**) पार्थिव अङ्गिरा का भाग भी प्रविष्ट है । आन्तरिद्य आप: इसका आत्मा है । इसप्रकार **पार्थिव अग्नि**, **सौर अग्नि**, **आन्तरिद्य आप:**, तीनों के समन्वय से इस '**अश्व**' का स्वरूप निष्पन्न होता है । पृथिवीपृष्ठ से संक्रान्त 'उषा' इसका **मुख**' है । यहाँ से २१ विंशपर्य्यन्त यह **अश्वपशु** खड़ा हुआ है । इसी के आधार पर पार्थिव सोमान्न सौर आह-वनीय अग्नि में आहुत हुआ करता है । अत: हम इस प्रतिफलित सौर सावित्राग्नि को ही प्रधानरूप से '**हव्यवाट्**' मान सकते हैं ।

सौर सम्वत्सराग्नि में हीं आहुति होती है, एवं सौर सम्वत्सररूप अग्नि के द्वारा ही आहुति होती है । पार्थिव **अङ्गिरोऽग्नि**, एवं सौर **सम्वत्सराग्नि** का क्योंकि एक ही स्थान पर समन्वय होता है, इस दृष्टि से पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि भी '**हव्यवाट्**' मान लिया जाता है । यज्ञकर्त्ता यजमान सौर साम्वत्सरिक दिव्यतत्त्व को स्वमानुषात्मा में प्रतिष्ठित करने के लिए ही यज्ञ करता है । यज्ञात्मस्वरूपसिध्दि के लिए इसे इस दिव्य प्राण को स्वात्मा में प्रतिष्ठित करना आवश्यक है । एतदर्थ ही इसे आहुति देनी पड़ती है । यह आहुति कौन देता है ?, किस अग्नि के द्वारा यजमानदत्ता पार्थिवी आहुति सौर दिव्य प्राणाग्नि में प्रतिष्ठित होती है ?, **आप्त्याविज्ञान** एकमात्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है ।

जिस अग्नि में आहुति दी जाने वाली है, वह दिव्य है । अत: उसके सान्निध्य से वही अग्नि आहुति पहुँचा सकता है, जो कि स्वयं भी दिव्यभावापन्न हो । आहुति की तो कथा ही दूर है, यज्ञ करने का अधिकार ही यजमान को तब प्राप्त होता है, जबकि वह दिव्याग्नि को '**अग्न्याधान**' कर्म्म के द्वारा पहिले अपने शरीरस्थ मानुषाग्नि में प्रतिष्ठित कर लेता है । **देवता का देवता के साथ ही सम्बन्ध होसकता है** । अनाहिताग्नि यजमान साधारण यथाजात मनुष्य है । इस मानुष-भाव को दूर करने के लिए ही सबसे पहिले उसे उस दिव्य-सौर-तत्त्व को आहित करना पड़ता है । बिना **अग्न्याधान** के इसे '**अग्निहोत्र**' का भी अधिकार नहीं मिल सकता । जब केवल यज्ञ करने के सम्बन्ध में हीं यह स्थिति है, तो सुतरां यह सिद्ध होजाता है कि, दिव्याग्नि के साथ आहुति का सम्बन्ध करने का सामर्थ्य भी एकमात्र दिव्याग्नि में हीं है । **पार्थिव-रसाग्नि** [ **अङ्गिरोऽग्नि** ] द्युलोक में जारहा है, किन्तु पार्थिव होने से यह विजातीय है । अत: प्राकृतिक नित्ययज्ञ में यह **होतृप्रवरणकर्म्म** में अनुपयुक्त है । दूसरा आन्तरिद्य ऋताग्नि है । दिव्याग्नि सत्य है, यह ऋत है ।

इसी विजातीय-भाव के कारण यह भी "**होता**' बनने में असमर्थ है । तीसरा छन्दस्याग्नि है । यह भी आयतनमात्र है । वस्तु की सीमा बनाना हीं इसका एकमात्र मुख्य कर्म्म है । अतः यह भी '**होता**' बनने में असमर्थ ही है । **पार्थिवाग्नि**, एवं प्रतिफलित **सौरसावित्राग्नि**, इन दोनों के सम्बन्ध से मध्यस्थ आन्तरिद्य **ऋताग्नि**, एवं तीनों अग्नियों का स्वरूप-समर्पक, अतएव तीनों से नित्यबद्ध **छन्दास्यग्नि**, चारों हीं द्युलोक की ओर जारहे हैं । इन चारों में विजातीयता के कारण पार्थिव-आन्तरिद्य, एवं छन्दस्याग्नि, इन तीनों

अग्नियों का दिव्य सम्वत्सराग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं होने पाता। दिव्य आहवनीय अग्नि में पार्थिव ओषधि-रसरूप आहुति का वहन करने वाला एकमात्र प्रतिफलित सौर अग्नि ही है। इसीको हमने **आदित्याग्नि,** एवं **सावित्राग्नि,** नाम से व्यवहृत किया है।

पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि भी ऊपर स्वर्ग की ओर जारहा है, एवं प्रतिफलित दिव्य आदित्याग्नि भी स्वर्ग की ओर जारहा है। दोनों में–'वयं पूर्वम्–वयं पूर्वम्' यह प्रतिस्पर्द्धा होरही है। इस प्रतिस्पर्द्धा में पूर्वकथनानुसार आदित्य ही विजयलाभ करने में समर्थ होते हैं। सम्पूर्ण **आख्याब्राह्मण में 'दिव्य आहवनीयाख्य सम्वत्सराग्नि के साथ चतुर्द्धा विभक्त अग्नियों में से कौनसा अग्नि पार्थिव हवि का सम्बन्ध कराता है?'** एकमात्र इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। पार्थिव अग्नि मर्त्य है। अमृतदेवताओं की दृष्टि में यह अग्नि मरा हुआ है। मर्त्य भावापन्न है। अन्तरिक्ष्य ऋताग्नि ऋत है। यह भी सत्याग्नि के लिए मर्त्य ही है। इन अग्नियों को सीमित बनाने वाला छन्दस्याग्नि भी अमृताग्नि की दृष्टि में मर्त्य ही है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—**प्रथम (अङ्गिरसोऽग्नि), द्वितीय (छन्दस्याग्नि), ऋताग्नि (वायव्याग्नि), तीनों ही मर गये। यज्ञकर्म्म से विमुख होते हुए अपने आपको पानी के समर्पित कर दिया।**

भूपिण्ड सत्य है। यह ऋत से वेष्टित है। **'ऋतमेव परमेष्ठी'** के अनुसार ऋत पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व है। उत्क्रान्त **अङ्गिरसोऽग्नि,** वायव्य ऋताग्नि, छन्दस्याग्नि, तीनों हीं इस पारमेष्ठ्य पार्थिव अर्णव-समुद्र * में लीन रहते हैं।

यद्यपि सावित्राग्नि भी पारमेष्ठ्य समुद्र में हीं लीन रहता है। कारण–पार्थिव-**अङ्गिरोऽग्नि,** आन्तरिक्ष्य **ऋताग्नि,** एवं प्रतिफलित दिव्य **आदित्याग्नि,** तीनों का स्वरूपसमपर्क **गायत्र–त्रैष्टुभ–जागत,** भेद-भिन्न **छन्दस्याग्नि,** चारों हीं अग्नि द्युलोक की ओर जारहे हैं। द्यु–भूपिण्ड के बीच में पारमेष्ठ्य **अर्णव-समुद्र** है। द्युलोक की ओर जाने वाले चारों हीं अग्नि समुद्र में व्याप्त हैं। परन्तु इन चारों में मर्त्यभाव के कारण अमृतभावापन्न सौर देवताओं की दृष्टि में **अङ्गिरा–ऋत–छन्दस्याग्नि,** ये तीनों तो सर्वथा मरे ही हुए हैं। परन्तु चौथा सावित्राग्नि **अमृताग्नि** है। यह केवल पानी में व्याप्त है। मरा नहीं है। अर्थात् **'मर्त्य'** नहीं, अपितु अमृत है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**'चतुर्द्धा विहितो० । स यम् (अङ्गिरसोऽग्नि०) स प्राधन्वत् । यं (ऋताग्निं०) स प्रैवाधन्वत् । यं (छन्दस्याग्निं) स प्रैवाधन्वत् । योऽयमेतर्ह्यग्निः (प्रतिफलितः सौरसावित्राग्निः) स भीषा निलिल्ये । सोऽपः प्रविवेश" । इति ।**

---

* **रोदसी, क्रन्दसी, संयती,** इन तीनों त्रैलोक्यों के क्रमशः **अर्णव, सरस्वान् नभस्वान्,** नामक तीन समुद्र हैं। प्रकृत स्तौम्यत्रिलोकी का रोदसीत्रैलोक्य में अन्तर्भाव है। अतएव इस पार्थिवसमुद्र को हमने—**'अर्णव'** नाम से व्यवहृत किया है। यही समुद्र **'पार्थिव-सम्वत्सर'** का जनक माना गया है।

प्रतिफलित आदित्याग्नि प्राणादपानत् व्यापार करता हुआ ही द्युलोक की ओर जाता है। यही गति प्राणादपानद्व्यापार है। दूसरे शब्दों में-वीचिरूप में परिणत होता हुआ ही यह अग्नि ऊपर जाता है। वीचि में कम्पन है। इसी कम्पन-भाव में परिणत होता हुआ आदित्याग्नि **आर्त्तवसमुद्र** में व्याप्त होता है। इस कम्पनविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ही-'**स भीषा निलिल्ये**' कहा है। जिसकी प्रतिष्ठा उच्छिन्न न हो, और वह गतिमत् बन जाय, वही '**भय किञ्चिचलने**' के अनुसार '**भय**', किंवा '**भीषा**' है। आप सड़क पर जारहे हैं। यदि सावधानी से आप आधगज ढालू भूमि पर पैर रखदेंगे, तो भी आत्मा अविचाली रहेगा, भय न होगा! परन्तु असावधानी से प्रमादावस्था में एक वितस्तिमात्र ढालू प्रदेश में भी आपका पैर स्वलित हो जायगा, तो आत्मा किञ्चिचलित होजायगा। आत्मा में धक्कासा लगेगा। किञ्चिचलना-वस्थारूप भय का यही प्रत्यक्ष निदर्शन है। प्रतिफलित सौर अग्नि चलता है, परन्तु प्रतिष्ठा नहीं छोड़ता। यही '**भीषा निलिल्ये**' है।

प्रकरण के आरम्भ में हम बतला आए हैं कि, सौर **सावित्राग्नि** दो स्वरूपों में परिणत होकर भूपिण्ड से सम्बन्ध रखता है। साक्षाद्रूप से सौर तेज भूपिण्ड की ओर निरन्तर आता रहता है। साथ ही भूपिण्ड से टकराकर प्रतिफलित होता हुआ वही सौरतेज, किंवा सावित्राग्नि द्युलोक की ओर जाया करता है। जाता हुआ सौरतेज **अग्निप्रधान है, एवं आता हुआ सौरतेज इन्द्रप्रधान है**। **"यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी"** इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड में अग्नि की प्रधानता है। इसी अग्नि की प्रधानता से भूपिण्ड से सम्बन्ध कर द्युलोक की ओर जाने वाला, एवं आन्तरिक्ष्य-समुद्र में लीन होने वाला सौरतत्त्व **अग्निप्रधान** बन जाता है, एवं द्युलोक से साक्षाद्रूप से आनेवाला सौरतत्त्व **इन्द्रमय** रहता है। इधर से सौर अग्नि जारहा है। यही '**मेध्यअश्व**' है, जिसका कि विशद निरूपण '**अश्व-मेध**' नामक '**अतियज्ञ**' करणप्र में किया जाने वाला है।

उधर से सौर इन्द्र आरहा है। **अग्नि**, और **इन्द्र**, दोनों का आन्तरिक्ष्य अर्णवसमुद्र में सम्बन्ध होजाता है। अग्नि, और इन्द्र, दोनों यहाँ मिल जाते हैं। इन्द्र सब देवताओं के (सौर देवताओं के) उपलक्षण हैं। पार्थिव देवता **अग्निप्रधान** हैं, अतः पार्थिव देवताओं के सम्बन्ध में जैसे **"अग्निः सर्वा देवताः"** यह निगम प्रचलित है, एवमेव इन्द्रप्रधान द्युदेवता (सौरदेवताओं) के सम्बन्ध में-**"इन्द्रः सर्वा देवताः"** यह प्रसिद्ध है। इन्द्रप्रधान सौरदेवता अमृत हैं। इसकी दृष्टि में **प्रथम-द्वितीय-तृतीय** अग्नि मरे हुए हैं। उनके साथ इन सौरदेवताओं का सम्बन्ध नहीं होने पाता। सम्बन्ध होता है एकमात्र सजातीय प्रतिफलित सौर अमृताग्नि के साथ ही। इससे सम्बन्ध कर इन्द्र असुरों को मारने में समर्थ होते हैं। प्रति-फलित सौर अग्नि का ही आते हुए इन्द्रप्रधान सौरदेवताओं के साथ (आन्तरिक्ष्य समुद्र में) सम्बन्ध होता है, अन्यों का नहीं। सौरदेवताओं नें उस अग्नि को पहिचान कर बलात् पानी में से उसे पृथक कर अपने में मिला लिया। '**या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्**' (या. नि) इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार **बलप्रयोग** एकमात्र इन्द्र का ही धर्म्म है। यही ऐन्द्रबल '**सह**' नाम से प्रसिद्ध है-सहने की, दूसरों पर प्रभाव डालने की शक्ति इसी सहोबल का कार्य्य है। देवताओंनें इसी ऐन्द्रबल के प्रभाव से उस आगच्छत् सौर अग्नि के साथ सम्बन्ध स्थापित किया, इसी ऐन्द्रबल को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**"सोऽपः प्रविवेश। ते देवा अनुविद्य सहसैवाद्भ्य आनिन्युः"।**

किसी समाज का कोई व्यक्ति यदि अन्य समाज में चला जाता है, एवं वही समाज यदि उस बिछुड़े हुए को कहीं देख लेता है, तो उसे पहिचानता हुआ वह समाज बलात् उसे अपने में मिला लेता है। वही स्थिति यहाँ है। जो सौर अग्नि बिछुड़ कर भूलोक की ओर चला गया था। वह आज पहिचाना जाकर बलात् उसी ऐन्द्रदल मे मिला लिया गया। इसी अभिप्राय से **'अनुविद्य'** कहा है। पार्थिव ( प्रतिफलित सौर ) अग्नि के द्वारा ही भूलोकस्थ हवि द्युलोकस्थ सौर सम्वत्सर नामक आहवनीय अग्नि में आहुति होता है। **'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुतिष्ठते'** के अनुसार पार्थिव प्रतिफलित सौर अग्नि अपने विशकलन-धर्म्म से हुत पार्थिव ओषधिरसरूप हवि का विशकलन कर डालता है। वह रस प्राणरूप में परिणत होता हुआ प्राणरूप अमृतभावापन्न सौर देवताओं में प्रतिष्ठित होजाता है। इस आहुतिकर्म्म से दिव्य सौर देवताओं का प्रतिफलित सौर अग्नि के साथ जो सम्बन्ध होता है, वही कर्म्म **'होतृप्रवरण'** कहलाता है।

प्रकृतियज्ञ में दिव्य प्राणदेवता स्वयज्ञ की सिद्धि के लिए अग्नि का होतृत्त्वेन वरण किया करते हैं। तदनुसार ही नित्य प्राकृतिक यज्ञ की विधा के अनुसार वितत होने वाले इस **'मनुष्ययज्ञ'** में भी आहुति के लिए अग्निमूर्त्ति होता का वरण किया जाता है। चारों हीं अग्नि भूपिण्ड से द्युलोक की ओर जारहे हैं। परन्तु चारों में से सजातीय-सम्बन्ध के कारण केवल प्रतिफलित सौर अग्नि के साथ ही दिव्य सौर देवताओं का सम्बन्ध होता है, यही तात्पर्य्य है। चारों अग्नियों में से पार्थिव अग्नि केवल पार्थिव अन्न का परिपाक करता है। अन्न को विशकलित कर द्युलोक में पहुँचा देना इस पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि की शक्ति से बाहिर है। अतः इसे ऋषिने वरणकर्म्म के अयोग्य ठहराया है। आन्तरिक्ष्य वायव्याग्नि **'विद्युत्'** है। प्राणियों में **'ओजबल'** का सञ्चार करना एकमात्र इसी का मुख्य कार्य्य है। आकाश में जो विद्युत् का सञ्चार देखा जाता है, वह भी इसी **वायव्याग्नि** की महिमा है।

समय समय पर विविधरूप से देखे जाने वाले आकाश के क्षणस्थायी प्रकाशपुञ्जों को देखकर साधारण मनुष्य **'नक्षत्र'** टूटने का अनुमान लगाया करते हैं। परन्तु यह सर्वथा भ्रान्ति है। नक्षत्र सर्वथा स्थिर पदार्थ हैं। उन की स्थानच्युति से तो प्रलय होजाता है। * **'न क्षरति'** इस व्युत्पत्ति से **नक्षत्र** क्षरण-भाव से [ विच्युति से ] सर्वथा रहित हैं। नक्षत्र सर्वथा अविचाली हैं। वे कभी नहीं टूटा करते। उपर्युक्त वायव्याग्नि आकाश में बड़े वेग से इतस्ततः प्रवाहित है। इस वायव्याग्नि को--**'मरुत्'** नाम से व्यवहृत किया जाता है। रोदसी-त्रैलोक्य में स्थिररूप से व्याप्त **रुद्रतत्त्व** से इस मरुद्वायु का जन्म होता है। मरुत् से **'समीरण'** नाम के **'वात'** का प्रादुर्भाव होता है। जिसे साधारण मनुष्य **'वायु'** कहते हैं, जिसके स्पर्श का अनुभव होता है, जो वायुतत्त्व वाहकशक्ति के द्वारा एक दूसरे पदार्थों के रस को लेकर एक दूसरे पदार्थों की कमी पूरा करता हुआ **'भैषज्ययज्ञ'** किया करता है, वही **'समीरण'** नामक वायु **'वात आवात भेषजम्'** के अनुसार **'वात'** नाम से प्रसिद्ध है। **'वात'** शब्द एकमात्र बहने वाले स्पर्शधर्म्मा वायु में हीं निरूढ है। इसका जनक **'मरुत्'** है।

---

* सूर्य्य सर्वथा स्थिर है। भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर क्रान्तिवृत्त पर घूमता है। सूर्य्य के इस स्थिरभाव को लक्ष्य में रखकर वैज्ञानिकोंनें—**'एतद्वै-अनपराद्धं नक्षत्रं यत् सूर्य्यः'** ( श० २।२।२६ ) के अनुसार सूर्य्य को **'नक्षत्र'** नाम से व्यवहृत किया है।

मरुद्वायु की सात अवस्थाएँ हैं। इन्द्रप्राण के प्रवेश से प्रत्येक मरुत् सप्तधा २ विभक्त होजाता है। इसप्रकार सात सप्तकों के '४९ मरुत्' होजाते है। इनका जनक पूर्वोक्त रुद्राग्नि, किंवा रुद्रवायु है। इसी विज्ञान के आधार पर—'मरुतो रुद्रपुत्रासः' यह कहा जाता है। इन ४९ सों मरुतों की गति भिन्न भिन्न है। कोई पूर्व से पश्चिम, कोई पश्चिम से पूर्व, दक्षिण से उत्तर, उत्तर से दक्षिण इसप्रकार बड़े वेग से प्रवाहित रहता है। जैसे भूपिण्ड पर नद--नदी-धाराएँ भिन्न भिन्न पथ से प्रवाहित रहतीं हैं, ठीक इसीप्रकार आकाश में वायुधाराएँ इतस्ततः प्रवाहित हैं। इनके पारस्परिक आघात-प्रत्याघात से अग्नि उत्पन्न होजाता है। इसी की तारा, धिष्ण्या, उल्मुक, वज्र, ये चार अवस्थाएँ प्रत्यक्ष हैं। मानलीजिए-एक वायु पूर्व से पश्चिम की ओर जारहा है, एक पश्चिम से पूर्व की ओर आरहा है। दोनों के प्रान्तभाग का यदि स्पर्श होजाता है, तो क्षणमात्र के लिए घर्षण से 'अग्नि' उत्पन्न होजाता है, यही 'तारा टूटना' है। यदि अधिक वेग से घर्षण होता है, तो अधिक 'ज्वाला' निकल पड़ती है। यही 'धिष्ण्या', किंवा 'विद्युत्' है। यदि और भी अधिक वेग होता है, तो बँधा हुआ प्रकाश निकलता है। मूल में यह थोड़ा होता है। किन्तु इसका अवसान विशाल होता है। यदि एक वायु दूसरे वायु पर आरूढ होजाता है, तो महान् शब्द के साथ यह ज्वालापुञ्ज निकलता है। वह इतना घन होता है कि, उसे आकाश में ही विशकलित होने का अवसर नहीं मिलता, अपि तु वह भूपिण्ड में गिर पड़ता है। यदि वह लोहे में गिर पड़ता है, तो लौहा फौलाद बन जाता है। जिस स्थान पर गिरता है, वहाँ का धरातल छिन्नभिन्न होजाता है। तत्समीपवर्त्ती वृक्षादि जल जाते हैं। यही 'वज्र' है। वज्र का उदय तभी होता है, जबकि दोनों वायु समान बल वाले होते हैं। यदि एक वायु निर्बल होता है, तो सबल वायु निर्बल को स्वआक्रमण से अभिभूत कर देता है। ऐसे समय में विस्फोटन नहीं होता, अपितु निर्बल वायु धक्का खा कर भूपिण्ड की ओर आता हुआ किसी पर्वतकन्दरा में, भूगर्त्तों में, अथवा और कहीं, जहाँ भी रिक्तस्थान मिलता है, वहाँ प्रविष्ट होजाता है। इससे वहाँ का प्रदेश विकम्पित हो पड़ता है। यही * 'वायव्य भूकम्प' कहलाता है।

तथोक्त तारा-धिष्ण्या-उल्मुक--वज्र, इन चारों में 'तारा' उत्पात सदा ही हुआ करता है। विशेषतः जब सूर्य्य 'मघानक्षत्र' पर आता है, तब तो यह चरित्र सर्वथा द्रष्टव्य बन जाता है। शेष तीनों का अधिक प्रकोप वर्षा में होता है। प्रकृत में बतलाना केवल यही है कि, इस वायव्याग्नि के उक्त कार्य्य हैं। ऋतभाव के कारण यह भी हविर्वहन करने में असमर्थ ही है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर इस द्वितीय अग्नि को भी ऋषि ने प्रवरणकर्म्म के अयोग्य ही ठहराया है।

तीसरा छन्दस्याग्नि 'वयोनाधमात्र' है। वस्तु का वहन करना ही 'वयोनाध' का कार्य्य है। छन्द तो आकारमात्र है। उसका काम वस्तुस्वरूप-सम्पादन करना है, न कि हविर्वहन करना। अतः इसे भी 'प्राधन्वत्' कोटि में ही अन्तर्भूत माना गया है। अब शेष रह जाता है—प्रतिफलित सौर अग्नि। वही एकमात्र हव्यवाहक बनता है। यह उत्तर की ओर जाता हुआ आपोमय समुद्र में प्रविष्ट हो-

* आप्य, वायव्य, आग्नेय, ऐन्द्र, भेद से भूकम्प चार प्रकार के होते हैं। इनका विशद विवेचन 'ग्रहणविज्ञान' में देखना चाहिए।

पड़ता है। 'सह्रोबल' के द्वारा सौरप्राणवेत्ता इसे निकाल कर अपना यज्ञ सिद्ध कर लेते हैं। यही निष्कर्ष है ।

प्रतिफलित सौर अग्नि पानी में प्रविष्ट है। इसमें सौम्य अन्नरस प्रतिष्ठित है। इसके सम्बन्ध से यह अग्नि प्रज्ज्वलित रहता है। अन्नाद अग्नि तभीतक प्रज्ज्वलित रहता है, जबतक कि उसके साथ अन्न (सोम) का सम्बन्ध रहता है। बिना अन्न के आग्नेय प्राण पर आप्य वारुण प्राण का आक्रमण होजाता है। उदाहरणार्थ अध्यात्मयज्ञ को ही लीजिए। जबतक शारीराग्नि में अन्नसोम की आहुति होती रहती है, तबतक शारीराग्नि प्रदीप्त रहता है। आहुति के अवरोध करने पर, अथवा अवरोध होजाने पर अग्नि मूर्च्छित होजाता है। चिरकाल पर्य्यन्त यदि अन्नाहुति अवरुद्ध होजाती है, तो अन्नसत्ता पर प्रतिष्ठित रहने वाला शारीर **अन्नादाग्नि** उत्क्रान्त होजाता है। उसी समय शरीरस्थ आपोमय वरुण का साम्राज्य हो जाता है। शरीर सड़ने लगता है ।

प्रकृतियज्ञ में जब इन्द्रप्रमुख देवताओं का हवि के कारण आपोमय मण्डलस्थ सौर अग्नि के साथ सम्बन्ध हुआ, तो शेष पानी दूषित होगया। दूसरे शब्दों में-अन्नमय अग्नि का देवताओं के साथ सम्बन्ध होगया, और वारुणाग्नि वहीं रह गया। यही अग्नि का **'निष्ठीवन'** ( थूँकना ) है। यह सौर अग्नि आन्तरिक्ष्य आपः से निकला है, आन्तरिक्ष्य आपः में यह प्रतिष्ठित रहता है, इसलिए **'अप्सु भवाः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस अग्नि को **'आप्त्याः'** कहा जाता है। अपिच देवताओं के द्वारा यह अग्नि आप्त ( प्राप्त ) हुआ है, इसलिए-**'देवैराप्ताः'** के अनुसार भी इसे **'आप्त्याः'** कहा गया है। अपिच यह **आपोमय अग्नि** है, इसलिए भी इसे **'आप्त्या'** कहा जासकता है। अपिच यह देवताओं के साथ **'ऐकात्म्यभाव'** को 'प्राप्त' रहता है, इसलिए भी इसे **'आप्त्या'** कहना उचित है।

सौर दिव्यप्राण **'त्रिसत्य'** है। बिना त्रित्वभाव के देवता का कोई कार्य्य नहीं होता। कारण स्पष्ट है। अव्ययपुरुष मनोमय होने से ज्ञानप्रधान है, क्षरपुरुष वाङ्मय होने से अर्थप्रधान है। एवं मध्यस्थ **अक्षर**-पुरुष प्राणमय होने से क्रियाप्रधान है। मनोमय अव्यय **आत्मसृष्टि** का अधिष्ठाता है, प्राणमय अक्षर **देवसृष्टि** का अधिष्ठाता है, एवं वाङ्मय क्षरपुरुष **भूतसृष्टि** का सञ्चालक है। **आत्मा-देवता-भूत,** तीनों की प्रतिष्ठा क्रमशः **अव्यय—अक्षर—क्षर**-पुरुष हैं। इन तीनों का विकास क्रमशः **स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी,** इन पाँचों विश्व-अवयवों में होता है। स्वयम्भू परमेष्ठी, दोनों ज्ञानप्रधान हैं, यहाँ अव्यय का विकास है। यही प्रजापति की आत्मसृष्टि है। चिदात्मा की योनि 'अव्यक्त' नाम से प्रसिद्ध स्वयम्भू-गर्भित **'महानात्मा'** नाम से प्रसिद्ध परमेष्ठी है। पृथिवी चन्द्रमा, दोनों में अर्थ की प्रधानता है। चन्द्रगर्भिता पृथिवी ही भूतसृष्टि की अधिष्ठात्री है। विश्व के हृदय-स्थानीय सूर्य्य में अक्षर का विकास है। यह सौर अक्षर-**'अक्षरमिति त्र्यक्षरम्'** के अनुसार हृ-द-य भेद से 'त्र्यक्षर' है। **ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र** की समष्टि ही **'अन्तर्य्यामी'** अक्षर है। यही प्राणमय देवताओं की विकासभूमि है। देवप्राण त्र्यक्षर से बद्ध होने के कारण ही **'त्रिसत्य'** है। बिना त्रिभाव के देवता की स्वरूपनिष्पत्ति नहीं होती। इसी विज्ञान के आधार पर-**'त्रिःसत्या वै देवाः'** यह अनुगमन वचन प्रचलित है।

**१–अव्ययपुरुषः-आत्मसृष्टिः-स्वयम्भूः-परमेष्ठो**
**२–अक्षरपुरुषः-देवसृष्टिः—सूर्य्यः**
**३–क्षरपुरुषः—भूतसृष्टिः—चन्द्रमाः-पृथिवी**

**हृ—इत्येकमक्षरम्**
**द—इत्येकमक्षरम्** } **'अक्षरमिति त्र्यक्षरम्'–'त्रिः सत्या वै देवाः'**
**यम्-इत्येकमक्षरम्**

अपिच—देवप्राण अग्नि–वायु–आदित्य–भेद से त्रिधा विभक्त है। एक ही तत्त्व की घन–तरल–विरलावस्था अग्नि–वायु–आदित्य हैं। तीनों एक वस्तु हैं। तीनों का समुच्चितरूप ही **'देवता'** है। इसलिए भी 'देवता' को **'त्रिसत्य'** माना जाता है। इस त्रिसत्यभाव के कारण हीं वह **आप्त्याग्नि** त्रिधा विभक्त होजाता है। सौरप्राणाग्नि देवता है। उसके भी अग्नि–वायु–आदित्य-ये तीन हीं रूप हैं। तीनों देवता क्रमशः प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन, इन तीन सवनों के अधिष्ठाता हैं। इसी त्रिसत्य से वह आदित्याग्नि त्रिधा विभक्त होजाता है। अग्निदेवता से सम्बन्ध रखने वाला **आप्त्या 'एकता'** है, वायु से सम्बन्ध रखने वाला **आप्त्या 'द्विता'** है, एवं आदित्य से सम्बन्ध रखने वाला **आप्त्या 'त्रिता'** है। अग्नि के साथ एकता आप्त्या का सम्बन्ध है। वायु में द्विगुण–मात्रा है। आदित्य में त्रिगुण–मात्रा है। एक आप्त्याग्नि की ही **प्रथम-द्वितीय–तृतीय**–भेद से तीन अवस्थाएँ समझिए। तीनों का क्रमशः **अग्नि-वायु-इन्द्र** के साथ सम्बन्ध होता है। तीनों आप्त्या एक वस्तु हैं, तीनों देवता एक वस्तु है। अवस्थाभेद से ही आप्त्या-भेद है, एवं अवस्थाभेद से ही देवता का भेद है।

## सम्वत्सरयज्ञे त्रीणि सवनानि

**१—प्रातःसवनम्—अग्निप्रमुखवसूनाम्–एकता,**
**२—माध्यन्दिनं सवनम्–वायुप्रमुख–रुद्राणाम्—द्विता,**
**३—सायंसवनम्–इन्द्रप्रमुख–आदित्यानाम्–त्रिता,**

देवताओं में सबसे प्रधान ज्येष्ठ, एवं श्रेष्ठ देवता **इन्द्र** है। इधर आप्त्यों में सबसे प्रधान **'त्रिता'** नामक आप्त्या है। इसी का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्वत्सर–त्रिलोकी में द्युलोक का अधिष्ठाता 'मघवाइन्द्र' है। 'त्रिता' नामक आप्त्या इसीके साथ रहते हैं। इन्द्र के ग्रहण से जैसे सब देवताओं का ग्रहण हो जाता है, एवमेव **त्रिता** से **एकता, द्विता** नामक दोनों आप्त्यों का भी ग्रहण होजाता है। तात्पर्य्य यही है कि, देवताओं की **त्रिसत्यता** के कारण एक ही आप्त्याग्नि की तीन अवस्थाएँ होजातीं हैं। ये तीनों हीं आप्त्यादेवता देवताओं के उत्तरोत्तर प्राबल्य के कारण उत्तरोत्तर प्रबल हैं। कारण इसका यही है कि,

आप्त्याग्नि प्रतिफलित सौर अग्नि है। अतः त्रिवृत्स्थानीय एकता, और अग्नि पृथिवी के सम्बन्ध से स्वस्वरूप से पूर्ण विकसित नहीं है। यही अवस्था पञ्चदश-स्थानीय आन्तरिक्ष्य द्विता अग्नि की है। एकविंश-स्थानीय द्युलोक में रहने वाला त्रिता अग्नि स्वस्थान में जाता हुआ पूर्ण विकसित होजाता है। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुतिने **'त्रिता'** अग्नि को ही **'विश्वरूप' त्वाष्ट्र असुर** के वध में प्रधान माना है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

इन आप्त्याग्नियों की दो अवस्था हैं। आप्त्याग्नि का जो भाग (हविर्युक्त भाग) इन्द्रप्रमुख देवताओं के साथ रहता है, वह तो शुद्ध है। किन्तु जो भाग पानी में हीं रहता है, वह आप्त्या दोषाक्रान्त है। उत्क्रान्त होने वाले पार्थिव अन्नरस में मल भी रहता है। प्रत्येक अन्न में **रस, मल,** दोनों रहते हैं। ऊपर की ओर जाते हुए आप्त्या मलरस से युक्त अन्न को लेजा रहे हैं। पानी वारुण है। वारुण पानी हीं मल की प्रतिष्ठा है। मलभाग वरुण में ही रह जाता है, रसभाग को आप्त्याओं के सहयोग से देवता ले लेते हैं। निदर्शन अध्यात्मयज्ञ है। हम जो अन्न खाते हैं, वह शारीरिक आपोमय आप्त्याग्नि में हीं प्रतिष्ठित होता है। रसभाग प्राणेन्द्रियों-देवताओं के साथ युक्त होजाता है। एवं मलभाग उसी शारीर आपोभाग में रह जाता है। वह अपानप्राण के धक्के से **'स्वेद'** (**'पसीना'**) बन कर निकलता रहता है, स्थूलभाग मूलद्वारों से बाहिर फैंक दिया जाता है। अध्यात्मयज्ञ का मलभाग शरीर के आपोमय आप्त्या में हीं प्रतिष्ठित रहता है। **पसीना-कफ-लाला-मूत्र-मल**-ये सब हविर्युक्त आप्त्याग्नि से परित्यक्त पदार्थ हैं। सब आपोमय वारुण भाग में प्रतिष्ठित हैं। यही अवस्था अधिदैवत यज्ञ की है। शुद्ध आप्त्याओं से प्रक्षिप्त (फेंका हुआ) मल-भाग आन्तरिक्ष्य आपोमय आप्त्याओं में हीं प्रतिष्ठित रहता है। इसी विज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

### "सोऽपोऽभितिष्ठेवावष्ठयूतास्थ या अप्रपदनं स्थ याभ्यो वो मामकामं नयन्ति, इति"।

**सौर आपोमय अग्नि हीं आप्त्या है।** यद्यपि यह है सौर सम्वत्सर की वस्तु। क्योंकि वही तो भूपृष्ठ पर आके प्रतिफलित होता हुआ सौर सम्वत्सर की ओर जारहा है। परन्तु पृथिवी के साथ सम्बन्ध होने के कारण यह पृथिवी के आकर्षण से आकर्षित रहता है। पृथिवी से आकर्षित रहने पर भी द्युलोकस्थ इन्द्र के सहोबल से इसे द्युलोकस्थ देवताओं के साथ समन्वित होना पड़ता है। इसी आकर्षण-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—**'याभ्यो वो मामकामं नयन्ति'** कहा है। स्वतएव यह अग्नि यदि सौरदेवताओं के आकर्षण से आकर्षित रहता, तब तो—**'अकामम्'** कहने की आवश्यकता न थी। परन्तु स्वतः तो यह पार्थिव आकर्षण से ही आकर्षित है! ऐन्द्र-बलप्रयोग के द्वारा ही यह आप्त्या द्युदेवताओं में सम्मिलित होता है। सम्पूर्ण कण्डिका का निष्कर्ष यही हुआ कि, चतुर्द्धा विहित अग्नियों में से **सावित्राग्नि** ही इन्द्रदेवताओं के समीप हवि पहुँचता है। यह आपोमय होने से **आप्त्या** है। इसके **मलयुक्त-रसयुक्त** दो रूप हैं। रसयुक्त भाग का देवताओं से सम्बन्ध है, एवं मलयुक्त भाग का वरुणमण्डल से सम्बन्ध है। शुद्ध आप्त्याग्नि इन्द्र-प्रमुख देवताओं के साथ रहता है। देवत्रयी के कारण **सवनभेद** से इसकी तीन अवस्थाएँ होजाती हैं। ये ही तीनों अवस्थाएँ क्रमशः **एकता, द्विता, त्रिता,** नाम से प्रसिद्ध हैं॥१॥

१—'आदित्यो वै ब्रह्म' (जै० उ० ब्रा० ३।४।९)
२—'ब्रह्म वा अग्निः' (कौ० ब्रा० ६।१।५)
३—'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति' (शत० १।४।२।२)
४—'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति' (श० १।४।२।२)

इत्यादि उक्त निगम-वचनों के अनुसार अग्नितत्त्व ही प्राकृतिक नित्यदेवताओं में ब्राह्मण हैं। वर्णों में भी जिसके आत्मा में यह 'आप्त्याग्नि' प्रधान रहता है, वह भी 'ब्राह्मण' कहलाता है। 'ब्रह्म' वह अग्नि है, जो सर्वथा शान्त हो। पानी में रहने वाला अग्नि प्रज्वलित रहने वाले तापधर्म्मा अग्नि की अपेक्षा अधिक बलवान् होता हुआ भी ऊपर से शान्त रहता है। इसी अग्नि के सम्बन्ध से पानी को लोक में 'ठंढी आग' कहा जाता है। यही ब्राह्मणवर्ण का वास्तविक स्वरूप है। ब्राह्मण ऊपर से सर्वथा शान्त रहता है, परन्तु उसका अन्तरात्मा प्रदीप्त रहता है। ब्राह्मणवर्ण-स्वरूप-सम्पादक आप्त्याग्नि हीं देवताओं के लिए हवि का भरण करता है, अतएव 'एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति' ( शत० १।४।२।२ ) के अनुसार इसे 'भारत' * कहा जाता है।

यह ब्राह्मणमूर्त्ति-भारत, किंवा 'एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतोऽग्निरित्याहुः' ( शत० १।५।१।८ ) के अनुसार 'भरत' नाम से प्रसिद्ध आप्त्याग्नि द्युलोकस्थ इन्द्र के साथ संयुक्त रहता है।

१—'क्षत्रं वा इन्द्रः' (तै० ब्रा० २।६१६।३)
२—'क्षत्रं राजन्यः' (ऐ० ब्रा० ८।६)
३—'ऐन्द्रो वै राजन्यः' (तै० ब्रा० ३।८।२३।२)

इत्यादि उक्त नैगमिक-सिद्धान्तों के अनुसार इन्द्र देवताओं में क्षत्रिय हैं। जिस वर्ण के आत्मा में यह इन्द्रप्राण प्रधान रहता है. वह भी वर्णों में 'राजन्य' (क्षत्रिय) कहलाता है। यह क्षत्र इन्द्र, और वह ब्रह्म आप्त्याग्नि, दोनों परस्पर सङ्गत रहते हैं। अग्नि इन्द्र का पुरोहित है। अग्नि अभिगन्ता है, इन्द्र कर्त्ता है। बिना अग्निब्रह्म के क्षत्र इन्द्र एक क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। कारण-इन्द्र के यज्ञरूप राष्ट्र का स्वरूप-सम्पादन एकमात्र इस अग्निब्रह्म का ही कार्य्य है। 'इतः प्रदाना ह्येते ( उपजीवन्ति )' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूलोक से जाने वाली 'श्यैत' नाम की आहुति से ही द्युलोकस्थ इन्द्रप्रमुख देवता

* आर्य्यावर्त्त भारतवर्ष क्यों कहलाया ?, इस प्रश्न का यद्यपि पौराणिकोंनें दौष्यन्ति भरत के सम्बन्ध से समाधान किया है, और अद्यतन इतिहासवेत्ता ऋषभदेव भरत को तन्नामकरण में प्रधानता दे रहे हैं। परन्तु वैदिकमतानुसार अग्नि के सम्बन्ध से ही यह देश भारतवर्ष कहलाया है। 'अग्निर्भूस्थानः' के अनुसार पार्थिव अग्नि ही भरत है। इसीके सम्बन्ध से 'भारतवर्ष' विख्यात है। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ के तत्प्रकरण में हीं किया जायगा।

जीवित रहने में समर्थ होते हैं । ब्रह्म ज्ञानशक्ति है, क्षत्र क्रियाशक्ति है । ज्ञान का विकास क्रिया (कर्म्म) से ही होता है, क्रिया की प्रतिष्ठा ज्ञान ही है । ज्ञान बिना क्रिया के यद्यपि विकसित नहीं होसकता, परन्तु वह स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रह सकता है । उसका स्वस्वरूप उच्छिन्न नहीं होसकता। परन्तु क्रिया में यह बात नहीं है । क्रिया की उत्पत्ति ही बिना ज्ञान के असम्भव है । ज्ञान से इच्छा का विकास होता है, इच्छा से क्रतु-(यत्न-चेष्टा-अन्तर्व्यापार ) होता है। क्रतु से क्रिया ( कर्म्म-बहिर्व्यापार ) होती है, जैसाकि अभियुक्त कहते है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्यं क्रतुर्भवेत् ।
क्रतुजन्यं भवेत् कर्म्म तदेतत् कृतमुच्यते ॥ *

ज्ञानमय मन से इच्छा का विकास होता है । वह इच्छा 'इदं मे स्यात्'-'इदं कुर्वीय' इस क्रतुभाव से संश्लिष्ट रहती है । क्रतु, और कर्म्म में अन्तर है । प्राणव्यापार क्रतु है । एवं वाग्व्यापार ( स्थूल-शरीर का व्यापार) कर्म्म है । अर्द्धाङ्ग का रोगी उठने की इच्छा करता है । तदनुकूल प्राणव्यापार भी करता है, चेष्टा करता है, परन्तु स्थूलशरीर उठने में समर्थ नहीं है । अतएव उसकी यह चेष्टा व्यर्थ जाती है । इस-प्रकार क्रतु, और कर्म्म का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है । जिसे दार्शनिक यत्न, किंवा चेष्टा कहते हैं, वही 'क्रतु' है । 'क्रतु' शब्द ही नैगमिक परिवर्त्तन से 'कृत' रूप में परिणित होगया है । वस्तुतः—

'स यदेव मनसा कामयते—इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय—इति स एव क्रतुः'
—शत० ४।१।४।१

'हृत्सु ह्ययं क्रतुर्मनोजवः प्रविष्टः'
—शर ३।३।४।७

इत्यादि के अनुसार चेष्टा 'क्रतु' शब्द से ही व्यवहृत होती है । प्रकृत में हमें इस प्रपञ्च से केवल यही बतलाना है कि, क्रिया की प्रतिष्ठा ज्ञान ही है । ज्ञान ही-ब्रह्म, किंवा ब्राह्मण है, यही आप्त्याग्नि है । क्रिया क्षत्र, किंवा क्षत्रिय है, यही सौर इन्द्र है। दोनों अन्तरिक्ष में सम्मिलित रहकर ही त्वाष्ट्र असुर के वध में समर्थ होते हैं । इन्द्र असुरों को मारते हैं, परन्तु आप्त्याग्नि की सहायता से । यही अवस्था मनुष्यों में समझनी चाहिए । यदि राजा के समीप योग्य पुरोहित होता है, तो वह राजा अपने शत्रुओं को परास्त करने में समर्थ होता है । बिना ब्राह्मणपुरोहित के निर्मूल होता हुआ राजा शत्रुओं से परास्त होजाता है । इसी ब्रह्मक्षत्रविज्ञान को लक्ष्य में रखकर शातपथीया-श्रुति कहती है—

'ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः । अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः । ते हैतेऽग्रे नाने-वासतुः—ब्रह्म च क्षत्रं च । ततः शशाकेव ब्रह्ममित्र ऋते क्षत्राद् वरुणात् स्थातुम् ।

* इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्, कृतिजन्यं भवेत्कर्म्म (लौकिक-पाठान्तर) ।

न क्षत्रं वरुणः-ऋते ब्रह्मणो मित्रात् । यद्ध किंच वरुणः कर्म्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण । न हैवास्मै तत् समानृधे ।... .. ... ... ...सोऽएव पुरोधा ।......................तस्मादु क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्यमाणेनोपसत्तव्य एव ब्राह्मणः । सं हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूतं कर्म्म-ऽर्ध्यते'

—शत० ४।१।३।१-२-३-४-५-६ ।

इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, जैसे लोक में ब्राह्मण पुरोहित राजा का अनुसरण किया करता है, इसी प्रकार आप्त्या इन्द्र के साथ विचरने लगे ।

भूपिण्ड, और सूर्य्य के मध्य में आपोमय प्राण प्रतिष्ठित रहता है, यह पूर्व में बतलाया जाचुका है । लोकसृष्टि का अधिष्ठाता यही आपोमय आसुर तत्त्व है, जैसाकि पूर्व के **'अपांप्रणयन'** कर्म्म में विस्तार से बतलाया जाचुका है ।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ( मनुस्मृतौ )
अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥ ( महाभारते )
'अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्' ( श० ६।१।१।८ )

'तदब्रवीत्-'आभिः' ( स्वेदधाराभिः- तद्रूपाभिरद्भिः ) अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि, सर्वं जनयिष्यामि, सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्च । तद् धाराणां धारात्त्वम्, तज्जायानां जायात्त्वम्, तदपामप्त्वम्' ।

—गो० ब्रा० पू० १।२

उक्त श्रौत-स्मार्थ-प्रमाणों के अनुसार अप्तत्त्व ही मैथुनीसृष्टि का मूलाधार है । सृष्टि का उपादान-द्रव्य ब्रह्मगर्भित यही **'सुब्रह्म'** है । ब्रह्म एवं **सुब्रह्म** के समन्वय से ही विश्व, एवं तद्गता प्रजा का निर्म्माण हुआ है । यह अप्तत्त्व विश्व का उपादान अवश्य है, परन्तु इस एक ही तत्त्व से विविध आकार वाले भूः-भुवः-स्वः-आदि लोक उत्पन्न होते हैं, इस का मुख्य कारण **'त्वष्टा'** प्राण है । अप्तत्त्व शुक्र है । इस शुक्र के भिन्न भिन्न आकार में परिणत करने वाला **'त्वष्टाप्राण'** ही है । **'त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकिरोति' 'त्वष्टा रूपाणि ( आकारात्मकानि रूपाणि ) पिंशतु'** के अनुसार जैसे हरित-नील पीतादि वर्णों का अधिष्ठाता मघवा इन्द्र है, एवमेव आकाररूप का अधिष्ठाता त्वष्टाप्राण है । अतएव सृष्टिप्रवर्त्तक इस अप्तत्त्व को हम अवश्य ही-**'त्वाष्ट्र'** कह सकते हैं । यही विश्व का उपादान है । **'सर्वमापोमयं जगत्'** के अनुसार यही **विश्वरूप** में परिणत होरहा है, अतः इसे **विश्वरूप** नामसे व्यवहृत किया गया है । असत्प्राण जैसे ऋषि है, सौर प्राण जैसे **देवता** नामसे व्यवहृत होते हैं, एवमेव आप्यप्राण **'असुर'** कहलाता है । इसी आधार पर त्वाष्ट्र विश्वरूप इस आन्तरिक्ष्य मलयुक्त आप्त्याप्राण को 'असुर' कहा जासकता है ।

पूर्व में हमने आप्त्याग्नि के विशुद्ध, एवं मलयुक्त ये दो स्वरूप बतलाए हैं। पुनः उनकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। हविर्युक्त विशुद्ध आप्त्याग्नि को एकता-द्विता-त्रिता-भेदभिन्न 'आप्त्या' समझिए। एवं इनका इन्द्रप्रमुख देवताओं के साथ सहयोग मानिए। शेष बचे हुए मलयुक्त आप्त्या को 'त्वाष्ट्रविश्वरूप' असुर समझिए। यही विशुद्ध वारुण भाग है। इसमें भी अग्नि है अवश्य। क्योंकि पानी की तरलता—"अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात्" ( कणाददर्शन ) इस सिद्धान्त के अनुसार बिना अग्नि के सम्बन्ध के सर्वथा अनुपपन्न है। अग्नि ब्राह्मण है। इसलिए इस त्वाष्ट्र विश्वरूप अब्मूर्त्ति असुर को हम 'आसुरब्राह्मण' मान सकते हैं। जिसप्रकार किलात, और आकुली, ब्रह्मासुर हैं, इसी-प्रकार यह त्वाष्ट्र विश्वरूप भी अग्नि के सम्बन्ध से आसुरब्राह्मण है। यह देवताओं का विद्वेषी है।

सौरदेवता ( इन्द्र के सम्बन्ध से ) प्रकाश के अधिष्ठाता हैं। अप्तत्त्व प्रकाश का विरोधी है। आन्तरिक्ष्य आपोमूर्त्ति यह त्वाष्ट्र असुर निरन्तर सौर देवताओं पर आक्रमण किया करता है। परन्तु पार्थिव विशुद्ध आप्त्याग्नि के द्वारा लाए हुए सोममय हविर्द्रव्य से बलवान् बनते हुए देवता इस असुर को मारा करते हैं। 'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ' ( ऋक् सं० ) के अनुसार सौर प्राण में निरन्तर आहुत होने वाला सोम हीं प्रकाश का अधिष्ठाता है। पूर्वोक्त आप्त्याओं में से द्युलोकस्थ इन्द्र के साथ तार्त्तीय सवना-धिष्ठाता त्रिता आप्त्या का सम्बन्ध होता है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—"शश्वद्ध त्रित एव जघान" यह कहा गया है। बध्य विश्वरूप त्वाष्ट्र के साथ इन्द्र का परिचय आप्त्या के द्वारा ही होता है। सजातीय सम्बन्ध के कारण आप्त्या ही आपोमूर्त्ति त्वाष्ट्र का परिचायक है। आप्त्या का हविर्बल ही वध का कारण है। आप्त्याग्नि यदि इन्द्र के साथ हवि का सम्बन्ध न कराता, तो विश्वरूप का पता लगना तो दूर था, वह स्वयं ही अपना स्वरूप खो बैठता। आप्त्या के द्वारा आहुति का जाना हीं यह सिद्ध करता है कि, आप्त्या ही विश्वरूप को मारने के लिए इन्द्र को प्रेरित करता है। प्रेरित क्या करता है, दूसरे शब्दों में हव्यवाहक होने से वही त्वाष्ट्र वध का मुख्य कारण है।

यह हम अनेक बार निवेदन कर चुके है कि, वैदिक-विज्ञान के अनुसार कोई भी पदार्थ जड़ नहीं है। सबमें अव्ययपुरुष का चिदंश प्रतिष्ठित है। इस व्यापक चैतन्यवाद के अनुसार विश्वरूप त्वाष्ट्र को भी केवल जड़ पदार्थ नहीं माना जासकता। इसी आधार पर तो ओषधि, वनस्पति के एक पत्र ( पत्ते ) को छिन्न भिन्न करने पर भी आर्य्यसन्तान हिंसा समझती है। ऐसे अवस्था में आप्त्याग्नि के सहयोग से यदि सौर इन्द्रदेवता त्वाष्ट्र विश्वरूप पर आक्रमण कर उसे निर्वीर्य्य बना देता है, तो यह व्यापार कैसे हिंसाभाव से पृथक किया जासकता है। प्राकृतिक-रहस्य-वेत्ताओं की दृष्टि में अवश्य ही यह कार्य्य हिंसामय है। त्वाष्ट्र विश्वरूप असुर पूर्वकथनानुसार ब्राह्मण है। इस हिंसादोष से इन्द्र अतिमुक्त होजाता है। कारण, इन्द्र (सौर-देवता) दोषों से असङ्ग है। इधर आप्त्या पानी के सम्बन्ध से आसक्तिधर्म्मा है। 'श्रद्धा वा आपः' के अनुसार आप्त्या श्रद्धारस से युक्त है। श्रद्धारस वह तत्त्व है, जो आगत भावों को तत्पदार्थ के साथ संश्लिष्ट कर देता है। 'मेध्या वा आपः' प्रसिद्ध ही है। इसी मेध्यभाव के कारण उस हिंसादोष का भागी आप्त्या देवता ही होता है। अपिच ऐसा होना न्यायप्राप्त भी है। कारण, आप्त्या ही तो पूर्वकथनानुसार प्रधानारूप से विश्वरूप के वध का कारण है। एवं—'हन्ता की अपेक्षा से तत्परिचायक, तत्समर्थक, तत्प्रेरक, एवं प्रधानरूप से तत्सहयोगी के साथ ही विशेषरूप से हत्याका सम्बन्ध होता है" यह धर्म्मशास्त्र का भी सिद्धान्त है।

श्रुतिने त्वाष्ट्र विश्वरूप को तीन मस्तक वाला बतलाया है । पाठकों को स्मरण होगा कि, **अपांप्र-**
**णयनकर्म्म** की विविध उपपत्तियाँ बतलाते हुए हमने अप्तत्त्व को सर्वजगत् का उपादान बतलाया था, जैसाकि
इस प्रकरण में पूर्व भी निवेदन किया जाचुका है । विश्व का उपादान विश्वरूप त्वाष्ट्र अप्तत्त्व है । अप्-
तत्त्व ही केवल उपादान नहीं हैं, अपितु ब्रह्मगर्भित उपादान अप्तत्त्व बनता है । **ऋक्-साम-यजुः की समष्टि**
**ही ब्रह्म है** । इनमें ऋक्साम केवल आयतनमात्र हैं । वयोनाध हैं । इससे छन्दित यत्-जू (वाक्-प्राण) मूर्ति
यजुः ही विश्व का उपादान है । यजु में भी जू रूप वाग्भाग ही विश्व का उपादान है । **'सोऽपोऽसृजत**
**वाच एव लोकान्'** (श० ६।१।२।६) के अनुसार इस वाग् भागसे सर्वप्रथम मैथुनीसृष्टि की कामना से पूर्वोक्त
अप्तत्त्व उत्पन्न होता है । यह अप्तत्त्व **वेदवाङ्मय** है । यही पूर्वोक्त **ब्रह्मगर्भितब्रह्म** नाम का विश्वोपादनभूत
शुक्रतत्त्व है । वाङ्मूर्ति यही अप्तत्त्व विश्वरूप में परिणत होरहा है । इसी आधार पर **'अथो वागवेदं**
**सर्वम्'** ( ऐ० आ० ) **'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'** इत्यादि श्रौत सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं ।

अन्नरूप में परिणत होकर ही यह वेदमयी नित्या अनादिनिधना सत्यावाक् विश्वरूप में परिणत होरही
है । अतएव अन्नमूर्त्ति त्वाष्ट्र को विश्वरूप मान लिया गया है । वाक् प्राण के बिना अनुपपन्न है, तो प्राण बिना
मन के अनुपपन्न है, तीनों अविनाभूत हैं । ये तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं । कोई भी कार्य्य, कोई
भी सृष्टि बिना इन **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**-शक्तिमय **मन-प्राण-वाक्** के समन्वय के सम्भव नहीं है । ये ही
तीनों तत्त्व विश्वरूप त्वाष्ट्र के तीनों मस्तक हैं । वाङ्मुख से वह ब्रह्मगर्भित शुक्रस्वरूप विश्वरूप त्वाष्ट्र विश्व
का उपादानकारण बनता है, प्राणमुख से उपादानानुकूला क्रिया करता है, एवं मनोमुख से तदनुकूल काम का
उदय होता है । सृष्टिप्रक्रिया में ओर ओर भी साधन अपेक्षित रहते हैं । परन्तु मनः-प्राण-वाक् तीनों मुख्य
हैं । **मुखस्थानीय हैं** । अतएव उसे **'त्रिपीर्ष'** बतलाया गया है । अन्य स्थान पर इसे **षडक्ष ( छह आँख-**
**वाला** ) भी कहा गया है ।

यह अपने आपसे उत्पन्न होने वाली विश्वप्रजा को षाट्कौशिक ही उपलब्ध करता है । अपिच-
**मनः-प्राण-वाक्**-तीनों में हीं **सम्भूति, असम्भूति,** भेद से दो दो वृत्तियों का विकास रहता है । सिसृक्षा
से सम्भूति, एवं मुमुक्षा से विनाश होता है । इन ६ वृत्तियों से यह सर्वद्रष्टा बना हुआ है । इसलिए भी उसे
'षडक्ष' मानना न्यायप्राप्त होजाता है । अपिच विश्वरूप त्वाष्ट्र त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित होरहा है । भूलोक में
भी पानी है, एवं द्युलोक भी पानी से रिक्त नहीं है । तीन स्थानों में यह अपनी व्याप्ति रखता है, इसलिए
भी इसे 'त्रिशीर्ष' कहा जासकता है ।

अपिच—यही अप्तत्त्व शुक्र है । पारमेष्ठ्य है । अध्यात्म-परिभाषानुसार इसे ही **'महान्'** कहा
जाता है । वह **महत्तत्त्वरूप अप्तत्त्व**, किंवा **शुक्रतत्त्व** घन-तरल-विरल-भेद से **अप्-वायु-सोम** इनमें
परिणत होकर ही **चिदात्मा** की **योनि** बनता है । त्रिविध अवस्थापन्न महत् स्वरूप यह अप्तत्त्व ही चिदात्मा
के सम्बन्ध से **आप्य-वायव्य-सौम्य** जीवों का उपादान बनता है । इस की इन तीन अवस्थाओं को लक्ष्य
में रखकर भी इसे 'त्रिशीर्ष' कहा जासकता है ।

अपिच—महत्स्वरूप इस पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व में हीं**-पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्य** के दर्शपूर्णमास
से **आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिभाव** का जन्म होता है, इस भावत्रयी से भी इसे **'त्रिशीर्ष'** माना जास-
कता है ।

अपिच–केवल सूर्य्य के दर्शपूर्णमास से इस तत्त्व में **सत्त्व–रज–तम** इन तीन गुणों का उदन होता **है**, इसलिए भी इसे 'त्रिशीर्ष' मानने में कोई अपत्ति नहीं है। इसप्रकार **मनः–प्राण–वाक्, पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ,–घन–तरल–विरल,–आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति, सत्त्व–रज–तम** आदि अनेक प्रकारों से त्वाष्ट्र विश्वरूप का '**त्रिशीर्ष**' भाव सिद्ध होजाता है। ऋषिको सबका ग्रहण अपेक्षित था। अतः नियत शीर्षभाव को आगे न रखते हुए उन्होंने सामान्यरूप से–'**त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम्**' यही कहा है। इसी नित्यासिद्ध–विज्ञान का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

**"तऽइन्द्रेण सह चेरुः-यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरिति। स यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान०" ॥२॥ इति॥**

सौरप्राण इन्द्र है, आप्यातत्त्व **वरुण–प्रधान है**। अतः उसी के साथ हिंसादोष का सम्बन्ध होना न्यायप्राप्त है, यह पूर्व में बतलाया जाचुका है। सौरप्राणरूप देवताओं की सम्मति से निश्चित हुआ कि, हिंसाजनित यह दोष उन्हीं आप्त्याओं के साथ संक्रान्त हो, जिन्होंने त्रिशीर्ष त्वाष्ट्र के वधका समर्थन किया। उस हिंसाजनित पाप्मा का आप्त्या से सम्बन्ध कराने का क्या प्रकार है ?, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर यह निर्णय हुआ कि, यज्ञ में जो दूषित भाग है, उसे इन्हें दे दिया जाय।

तात्पर्य्य यही है कि, हिंसाजनित दोष से आप्त्या का स्वरूप दोषयुक्त होजाता है। शुद्ध आप्त्या के द्वारा लाए गए हवि से देवता बलवान् बन गए। वारुण त्वाष्ट्र आपोमय असुर मारा गया। मलभाग वारुण आप्त्या के साथ सङ्क्रान्त होगया। नित्यसिद्ध प्राकृतिक यज्ञ में रहने वाला पार्थिव मलभाग आन्तरिक्ष्य इन्हीं आप्त्यों में प्रतिष्ठित रहता है। शुद्ध हवि सौरप्राणदेवताओं में आहुत होजाता है। इसी नित्यसिद्ध प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार इस मनुष्ययज्ञ का '**वितान**' किया जाता है। तदनुसार ही देवता–स्थानीय ऋत्विक् यज्ञसंसृष्ट दूषित पानी को आप्त्यों के लिए ही डालते हैं ॥३॥

उपर्य्युक्त दोष का निराकरण करने वाला एकमात्र हविर्द्रव्य है। हवि की आहुति से ही अग्नि प्रज्ज्वलित होता है। इसी से देवता बलवान् होते हुए असुरवध में समर्थ होते हैं। जिस यजमान का हवि पर पूर्ण स्वत्त्व रहता है, वही इस दोष को आप्त्या के ऊपर डालने में समर्थ होता है। इस हवि को स्वाधिकार में रखने के लिए दक्षिणादान आवश्यक है। क्योंकि, हवि में यज्ञकारयिता—**होता, अध्वर्य्यु, उद्गाता, ब्रह्मा,** इन चारों ऋत्विजों का मनःप्राणवाङ्मय आत्मा भी सम्मिलित रहता है। इनके आत्म–प्रवेश से हवि पर यजमान का पूर्ण अधिकार नहीं होता। ऐसी अवस्था में हवि निर्बल बनता हुआ दोष–मार्ज्जन में असमर्थ रहता है। इसलिए प्रत्येक यज्ञ मे दक्षिणा * प्रदान नितान्त अपेक्षित है। अपिच हवि को कूटन, पीसने, पकाने में जो हिंसा होती है, उसे दूर करने का उपाय भी यही **दक्षिणाद्रव्य** है। बिना

* प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होगया है, अतः प्रकृत में दक्षिणा-विज्ञान का निरूपण नहीं किया जासकता। आगे आने वाले '**दक्षिणाब्राह्मण**' में ही इस विषय का तात्त्विक–विश्लेषण किया जायगा।

दक्षिणा के यज्ञ नष्ट है । निष्कर्ष यही हुआ कि, जो यजमान स्वयज्ञ में दक्षिणा नहीं देता, उसका हवि सर्वात्मना उसके अधिकार में न रहता हुआ निर्बल बन जाता है । ऐसी अवस्था में आप्त्यों में रहने याला दोष यज्ञकर्त्ता यजमान के साथ संक्रान्त होजाता है । इस दोष से बचने के लिए अवश्य ही दक्षिणादान करना चाहिए । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—'त उ हेतेऽऊचुः । उपेदिमऽएनो गच्छन्तु०' इत्यादि कहा है ॥४,५॥

अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवत–अध्यात्माधिभूत–अध्यात्माधिदैवतादि–भेदभिन्न आठ भागों में विभक्त **आख्यानोपाख्यानों** में से प्रकृत का **'आप्त्योपाख्यान'** **'अध्यात्माधिभूतादिदैवत'** नाम के आख्यान से सम्बन्ध रखता है । अधिदैवतमण्डल के साथ भी इस आख्यान का सम्बन्ध है । अबतक के प्रकरण से केवल उसी का स्वरूप विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित किया गया है । अध्यात्मसंस्था के साथ भी इस आख्यान का घनिष्ठ सम्बन्ध है, एवं आधिभौतिक ( ऐतिहासिक ) प्रपञ्च से भी इसका सम्बन्ध है । इनमें क्रमप्राप्त आध्यात्मिक सम्बन्धी आप्त्याविज्ञान की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

## आध्यात्मिक--आप्त्याविज्ञान —

**'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि'** ( छां० उ० ६३ ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार–तेज, अप्, अन्न, इन तीन तत्त्वों के **त्रिवृत्करण** से ही अध्यात्मसंस्था का निर्म्माण हुआ है । शेष भूतप्रपञ्च, एवं आत्मप्रपञ्च का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव होजाता है । अक्षरात्मक्षरपरात्परविशिष्ट षोडकल अमृतात्मा चिदात्मा है । इसकी योनि **'पारमेष्ठ्य महानात्मा'** है । यह महान् **'आपोमय'** है । अप्तत्त्व की–अप्, वायु, **सोम**, तीन अवस्थाएँ हैं । इन्हीं तीन तत्त्वों के साथ उपर्युक्त चिदात्मा का सम्बन्ध होता है । अतः विश्व में केवल–**आप्य, वायव्य, सौम्य**, भेदभिन्न तीन हीं चेतनजीव उपलब्ध होते हैं । इसप्रकार **अमृतात्मा** ( चिदात्मा ) का अप्तत्त्व में ( भृगुभाग में ) अन्तर्भाव होजाता है । **९९ संख्या में विभक्त आप्यप्राण असुर हैं, २७ संख्या में विभक्त वायव्य प्राण गन्धर्व हैं, ८ संख्या में विभक्त सौम्यप्राण पितर हैं** । इन तीनों का अन्तर्भाव भी इसी अप्तत्त्व में हैं । **'त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्'** ( शत० ६।१।५। ) के अनुसार ऋक्सामावच्छिन्न **'ऋषि'** नामाख्य **यजुर्मूर्त्ति त्रयीब्रह्म** भी इसी अप्तत्त्व में प्रविष्ट रहता है । अतः १२ संख्या में विभक्त ऋषिप्राणों का भी अप्तत्त्व में हीं अन्तर्भाव होजाता है ।

आगे बतलाए जाने वाली **तेजःकला**, एवं **अन्नकला** का भी इसी अप्तत्त्व में अन्तर्भाव होजाता है । क्योंकि तेजोमूर्त्ति सूर्य्य अप्तत्त्वान्तर्गत अङ्गिराभाग की विरलावस्था का ही विकासमात्र है, एवं अन्नमयी पृथिवी **'अद्भ्यः पृथिवी'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आपोमयी ही है । **'यत् किञ्च जगत्यां जगत् तत् सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्'** यह आप्त सिद्धान्त चरितार्थ होजाता है । सबका इस आपोमय तत्त्व में बीजरूप से अन्तर्भाव है । अतएव ऋषियोंनें इस तत्त्व को **प्रज्ञान, विज्ञान, भूतात्मा, कर्म्मात्मा**, आदि सब की अपेक्षा **'महानात्मा'** ( **बहुत बडा आत्मा** ) माना है । **यही इस महान् की महत्ता है** । जिस महान् के उदर में–विश्वव्यापक षोढशी प्रजापति भी **'गर्भी'** बन रहा हो, उसकी महत्ता का क्या ठिकाना है ।

इसीप्रकार **रस–असृक्–कफ–लाला–स्वेद** आदि अब्भागों का भी इसी अप्तत्त्व में अन्तर्भाव है । शरीरसंस्था के अध्यक्ष प्राणतत्त्व का भी इसी अप्तत्त्व में अन्तर्भाव है । **'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्व-**

ङ्गिरोमयम्' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अङ्गिरा भी आपोमय है। अङ्गिरा की अग्नि-वायु-आदित्य तीन अवस्थाएँ हैं। अग्नितत्त्व से वागिन्द्रिय का विकास होता है, वायुतत्त्व से प्राणेन्द्रिय का विकास होता है, आदित्यतत्त्व से चक्षुरिन्द्रिय का विकास होता है। भृगु की विरलावस्थारूप सोम दिक्-भास्वर भेद से दो भागों में विभक्त है। भास्वरसोम 'इन्दु' नाम से व्यवहृत होता है, एवं दिक्सोम 'ब्रह्मणस्पति' नाम से प्रसिद्ध है। इनमें से दिक्सोम से श्रोत्रेन्द्रिय का निर्म्माण होता है, एवं भास्वरसोम से इन्द्रियमन की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। इसप्रकार षोडशी आत्मा, ऋषि, पितर, गन्धर्व, असुर, पञ्चेन्द्रिय, शरीरगत तरलद्रव्य, इन सबका उपर्युक्त अप्तत्त्व में अन्तर्भाव होजाता है। तेज-अन्न-आपः तीनों में प्रधानता अप्तत्त्व की ही है। इसी भूयस्त्वविज्ञान को लक्ष्य में रखकर "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" ( शा० द० ३।२ ) इस भिक्षुसूत्र के सम्बन्ध में यह कहा जासकता है कि—

**"वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति। ( छां० ५।३ बृ० आ० उ० ६।२ ) इति प्रश्ने द्यु पर्जन्यपृथ्वीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्टयन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा × × "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा० उ० ५।९ ) इति निरूप्यते। ..........................नन्वपां पुरुषाकारपरिणामप्रतीते-र्गच्छता जावेन तासामेव परिष्वङ्गः प्राप्नोति-न सर्वेषां भूतसूक्ष्माणामिति चेन्न-पुरुषदेहारम्भकाणामपां त्र्यात्मकत्वात् तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि ( छां० उ० ६।३ ) इत्यपां त्रिवृत्करणश्रुतेः। दृश्यते च देहः सार्वभौतिकः। त्रयाणामपि तेजोऽबन्नानां देहे कार्योपलब्धेः। देहारम्भकद्रव्यस्य सार्वभौतिकत्वेऽपि तस्यापूछब्देन व्यपदेशस्त्वपां भूयस्त्वादुपपद्यते। शुक्रशोणितलक्षणे देहबीजे द्रवद्रव्यबाहुल्यदर्शनात्। उत्पन्ने च शरीरे इतरभूतापेक्षयाऽस्त्यपामेव बाहुल्यम्। बाहुल्याच्चापूशब्देन सर्वेषां भूतसूक्ष्माणामुपादानम्"।**

दूसरा है तेजस्तत्त्व। विज्ञानात्मा, ३३ देवता, आदि का इसी में अन्तर्भाव है। सौरतत्त्व 'तेज' है। यह इन्द्रप्राणमय है। यही विज्ञान ( बुद्धि ) का अधिष्ठाता है, जैसाकि "धियो यो नः प्रचोदयात्" इत्यादि से स्पष्ट है। एवं इन्द्रप्राण ही देवप्राण का अधिष्ठाता है। इसी आधार पर-'इन्द्रः सर्वा देवताः'—'चित्रं देवानामुदगात्' इत्यादि कहा जाता है। तीसरी है अन्नकला। शरीरगत स्थूलधातु, मन ( प्रज्ञानात्मा ), आदि का इसी में अन्तर्भाव है। १ तेजस्तत्त्व वाङ्मय था, २ अन्नतत्त्व मनोमय है। एवं ३ अप्तत्त्व प्राणमय है।

---

१—तेजोमयी वाक् ( छां० उ० )

२—अन्नमयं हि सौम्य मनः ( छां० उ० )

३—आपोमयः प्राणः ( छां० उ० )

| | |
|---|---|
| १--आपः—प्राणः<br>२--अन्नम्—मनः<br>३--तेजः—-वाक् | —"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः--<br>( बृ० आ० उ० )। |

शरीर आपोमय है। 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जागर्ति' ( प्र० उ० ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार इस आपोमय शरीर में **प्राणाग्नि** सदा जाग्रत रहता है। अप्तत्त्व में व्याप्त प्राणाग्नि हीं आध्यात्मिक **'आप्त्या'** देवता है। यह प्राणाग्नि **बस्तिगुहा–उदरगुहा–उरोगुहा** भेद से तीन स्थानों में व्याप्त हो-रहा है। आधिदैविक–स्तौम्यत्रिलोकी के अग्निमय त्रिवृत्–पृथिवी–भाग से **बस्तिगुहा** का निर्म्माण होता है। यहाँ प्रतिष्ठित रहने वाला पार्थिवाग्नि **'अपान'** नाम से व्यवहृत होता है। वायुमय पञ्चदश अन्तरिक्ष से **उदरगुहा** का निर्म्माण होता है। यहाँ प्रतिष्ठित रहने वाला आन्तरिक्ष्य प्राणाग्नि **'व्यान'** नाम से प्रसिद्ध है। एवं आदित्यमय एकविंश द्युलोक से **उरोगुहा** का निर्म्माण होता है। यहाँ प्रतिष्ठित रहने वाला प्राणाग्नि **'प्राण'** नाम से व्यवहृत होता है। एक ही पार्थिव प्राणाग्नि की **अपान–व्यान–प्राण**, ये तीन अवस्थाएँ हैं। ये ही तीनों आध्यात्मिक–**'एकता, द्विता–त्रिता'** नाम के **आप्त्या देवता हैं।**

आधिदैविक–विज्ञान का निरूपण करते हुए हम बतला आए हैं कि, विश्वरूप त्वाष्ट्र आपोमय ही है। अप्तत्त्व ही मैथुनीसृष्टि का मूलप्रभव है। इस विश्वबन्धमूलक अप्तत्त्व के बन्धन से निकलने का एकमात्र उपाय है–पूर्वोक्त **'त्रिता'** नाम के आप्त्या से युक्त प्रज्ञान को विज्ञानात्मा के अनुगत कर देना। प्रज्ञानमन प्राणाग्निमय है। त्रिताग्नि की कृपा से ही मनकी स्वरूप-निष्पत्ति होती है। कारण स्पष्ट है। शारीरिक प्राणाग्नि हीं **'अशनाया'** रूप में परिणत होकर अन्नादान की इच्छा करता है। अन्न प्राणाग्नि में आहुत होता है। प्राणाग्नि में हुत अन्न **'ऊर्क्'** रूप में परिणत होता हुआ **रस-मल** के क्रमिक विशकलन से शुद्ध सोमरूप में आता हुआ वही अन्नरस **'मन'** बनता है। ऐसी अवस्था में हम मन को अवश्य ही प्राणाग्नि पर प्रतिष्ठित मान सकते हैं। दूसरे शब्दों में–**'त्रिताग्नि'** ही मन का निर्म्माता है। अतएव मन को **'अग्नि'** भी कहा जाता है। ( देखिए शत० १०।१।२।३ )। आप्त्याग्निमय होने से ही मन में आप्तिधर्म्म का समावेश होता है। इसी आप्त्यादेवतामूलक मन के आप्तिधर्म्म को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**"मनसा वा इद सर्वमाप्तम्"** ( शत० १।७।४।२२ ) इति।

इससे प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, इस आध्यात्मिक विश्व में **आप्त्यादेवता–आप्त्याग्नि–मय प्रज्ञानमन ही है।** यह मन मध्यस्थ है। इसकी दृष्टि–विश्वरूप त्वाष्ट्र की ओर भी है, एवं बन्धनविमोक करने वाले सौर इन्द्रमय विज्ञानात्मा की ओर भी है। आपको यह ध्यान रहना चाहिए कि, मनुष्य की वृत्ति **यज्ञ-अयज्ञ,** भेद से दो भागों में विभक्त रहती है। प्रकृति के अनुकूल **विज्ञानबुद्धि** के आधार पर जो कर्म्म किए जाते हैं, **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वह कर्म्म श्रेष्ठतम कर्म्म है। वही कर्म्म **यज्ञकर्म्म है।** ऐसा कर्म्म सर्वथा आसक्तिशून्य होता है। क्योंकि प्रकृति के अनुसार व्यवस्थित होता हुआ यह कर्म्म **'नियतकर्म्म'** बनता हुआ आत्मार्थ बन जाता है। इसी यज्ञकर्म्म का निरूपण करते हुए **"यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः"** ( गीता० ) यह कहा जाता है।

परन्तु उक्त यज्ञकर्म्म की सिद्धि तभी होती है, जबकि आप्त्यारूप प्रज्ञानमन विज्ञान से अनुगत रहता है। **विज्ञान सौर इन्द्रमय है, प्रज्ञान पार्थिवेन्द्रमय है।** प्रज्ञान में **प्रज्ञा-प्राण**, दो भाग हैं। इनमें प्रज्ञाभाग **सोम** है, प्राणभाग **इन्द्र** है। प्रज्ञासोम स्नेहतत्त्व है। उधर विश्व स्नेहमूलक है। इस स्नेहवृत्ति के कारण हीं तो मन आसक्तिमूलक विश्व की ओर झुका रहता है। उधर इन्द्रप्राण असङ्ग है। इसका सौर इन्द्र के साथ सम्बन्ध रहता है। अतएव प्राणापेक्षया प्रज्ञान विज्ञान की ओर झुकता हुआ बन्धन से पृथक् होने की भी इच्छा किया करता है। परन्तु हम पार्थिव हैं। सूर्य हमसे दूर पड़ता है। अतएव प्रकृत्या प्रज्ञान का प्रज्ञाभाग हमारे में प्रबल रहता है। अतएव तन्मूलक आसक्तिभाव हमारे में प्रधान रहता है, एवं इन्द्रप्राण निर्बल रहता है। इसप्रकार विज्ञान से विरहित प्रज्ञान उत्तरोतर कामनाओं के कुचक्र में आबद्ध होकर विश्व की आसुरी विभूतियों की ओर अग्रेसर होता रहता है। यही **'प्रज्ञापराध'** कहलाता है। प्रकृति-विरुद्ध कर्म्म करना **अयज्ञियकर्म्म** है। इससे वासना-संस्कार दृढ होजाता है। विश्वरूप त्वाष्ट्र का बल बढ़ जाता है। यदि यज्ञकर्म्म को अपना लिया जाता है, तो--प्रज्ञान विज्ञान से अनुगत हुआ विश्वबन्धन को छिन्नभिन्न करने में समर्थ होजाता है।

इसप्रकार **यज्ञकर्म्म ( निवृत्तिकर्म्म-निष्कामकर्म्म )** के द्वारा सबल बनता हुआ प्रज्ञान विज्ञानेन्द्र के साथ विचरता हुआ आसुरभाव के वध का कारण बन जाता है। यद्यपि—**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते'** इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार विज्ञानात्मा ( बुद्धि ) को मलभाग का नाशक माना जाता है। परन्तु विज्ञान आसुर भाव का नाश नहीं करता। प्रज्ञान हीं आसुर भाव को नष्ट करने में समर्थ होता है। मनोनिरोध ही दूषित वृत्तियों को नष्ट कर सकता है। आप बहुत बुद्धिमान् हैं। परन्तु मन पर यदि अधिकार नहीं है, तो एकाकी विज्ञान कुछ भी नहीं कर सकता। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** इत्यादि रूप से मन को ही **बन्धन**, और **मुक्ति**, दोनों का कारण माना जाता है। हाँ, बन्धनविमोक के लिए विज्ञान का साथ रहना नितान्त अपेक्षित है। विज्ञानबल से प्रज्ञान का **बन्धनमूलक प्रज्ञाभाग** श्लथ होजाता है, एवं **मुक्तिमूलक प्राणभाग** सबल बन जाता है। इसी सम्पूर्ण आध्यात्मिक चरित्र को लक्ष्य में रख कर ऋषिने प्रज्ञानरूप आप्त्या को विश्वरूप असुर के वध का कारण माना है, एवं सौरविज्ञानेन्द्र को इस हिंसादोष से अतिमुक्त माना है। इसी आधार पर विज्ञानात्मा के लिए- **'असङ्गो ह्ययं पुरुषो न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति'** ( बृ० आ० ) इत्यादि कहा जाता है। प्रज्ञानमन से **कामना** का उदय होता है, तद्गत प्राण से **विक्षेप** का जन्म होजाता है, एवं तत्प्रतिष्ठ वाक्तत्त्व **आवरण** का जनक है। **काम-विक्षेप-आवरण** हीं विश्वरूप त्वाष्ट्र के विश्व का सञ्चालन करने वाले मुख्य साधन हैं। मुखस्थानीया ये ही तीनों वृत्तियाँ इसके तीन मस्तक हैं। बुद्धिमान् मनुष्य का कर्त्तव्य है कि, "वह **निष्कामकर्म्म** के द्वारा प्रज्ञानमन को विज्ञान से अनुगत करता हुआ **काम-विक्षेप-आवरण-मूलक त्वाष्ट्र आसुरभाव को नष्ट करता रहै"** अध्यात्मसम्बन्धी आप्त्याचरित्र का यही संक्षिप्ततम निष्कर्ष है।

## अधिभूतसम्बन्धी-आप्त्याविज्ञान--

विज्ञानभाष्य के पूर्वसन्दर्भों में **अष्टविध देवताओं** का स्वरूप बतलाते हुए हमनें **भौमस्वर्ग** का दिग्दर्शन कराया था। वहाँ बतलाया गया था कि, **यज्ञ--ऋषि-देव-गन्धर्व-असुर**-आदि भेदभिन्ना जो

व्यवस्था **आधिदैविकजगत्** में है, ठीक वही व्यवस्था भगवान् **भौम-ब्रह्मा** के द्वारा इस **भूलोक** में भी विद्यमान थी। उस युग में–**'यदेवेह तदमुत्र'** यह सिद्धान्त सर्वात्मना चरितार्थ होरहा था। स्वर्ग के अध्यक्ष इन्द्र थे, अन्तरिक्ष के वायु थे। भूलोक के अग्नि थे। यहाँ के सम्राट् तो मनु थे, एवं **'शवसोनपात्' ( इन्द्र के प्रतिनिधि )** अग्नि थे। स्वर्गाधिष्ठाता **इन्द्रविभ्राट्** की ओर से भारतवर्ष की देखरेख के लिए अग्नि ही नियत थे। किसे भारतवर्ष का ***शवसोनपात्** बनाया जाय ?, देवमण्डली में जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ, तो सर्वसम्मति से निर्णय हुआ कि, अग्निजातीय देवता ही इस कार्य्य के लिए उपयुक्त हैं। उन का यह निर्णय प्रकृति के अनुकूल भी था। क्योंकि–**'अग्निर्भूस्थानः'** इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार इस भूलोक के अधिष्ठाता अग्नि ही हैं।

पार्थिव प्रजा का भरण-पोषण करना, पार्थिव हव्य को सौर दिव्य देवताओं में पहुँचाना [ जिसका कि स्वरूप पूर्व के आप्त्याविज्ञान में बतलाया जाचुका है ], ये सब इसी अग्नि के कार्य्य हैं। अतएव वैधयज्ञ के द्वारा तदात्मभूत **'मनुष्यअग्नि'** को ही उपर्युक्त कार्य्य के लिए नियुक्त करना उचित था। अग्निजातीय देवताओं में से जब एक को कहा गया, तो उसने अस्वीकृत कर दिया। यही दूसरे ने किया। तीसरे से कहा गया, तो वह छुप गया। इन्द्र ने उसे ढूँढ कर इस कार्य्य के लिए बाध्य किया। उस समय भारतवर्ष पर--त्वष्टा के पुत्र **त्रिशीर्ष–षडक्ष विश्वरूप** के आक्रमण हुआ करते थे। इन्द्र दूर रहते थे। अतएव वे इसके गुप्त आक्रमणों से अपरिचित थे। परन्तु **भारताग्नि** इस रहस्य से परिचित थे। अतः इनकी सहायता से ही इन्द्र विश्वरूप को मारने में समर्थ हुए थे। आप्त्या--देवता--सम्बन्धी आधिभौतिक [ ऐतिहासिक ] चरित्र का यही संक्षिप्त निदर्शन है। त्रिशीर्ष--षडक्ष त्वाष्ट्र कहाँ रहता था ?, उसका आक्रमण भारतवर्ष पर क्यों होता था ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान आगे आने वाले **दर्शेष्टिविज्ञान** में किया जायगा। अभी विस्तार-भय से इस **'आप्त्याविज्ञान'** प्रकरण को अत्रैव उपरत किया जारहा है।

## इति–आप्त्या–विज्ञानम्

—*—

## पश्वालम्भनविज्ञानम्

—*—

बिना पशु के कोई भी यज्ञ निष्पन्न नहीं होसकता। इस **दर्शपूर्णमासयज्ञ** में भी पशु की आवश्य--कता है। पञ्चम-कण्डिका से आगे का **ब्राह्मणभाग** उसी पशुतत्त्व का निरूपण करता है। **वैदिक-विज्ञान** से पूर्ण परिचय प्राप्त न करने के कारण आज विद्वत्--समाज में कितने ही विषयों पर व्यर्थ का कलह देखा

---

[ * ] यह एक **'पदविशेष'** का वाचक है। सम्राट् की ओर से तदधीन राष्ट्रों में जो प्रतिनिधि रहता है, उसीके लिए **'शवसोनपात्'** शब्द प्रयुक्त होता है। आज की भाषा में सम्भवतः यही–**'प्रतिनिधि'--'राजदूत'** कहलाया है। अग्नि इन्द्र की ओर से भारत में इसी पदविशेष पर प्रतिष्ठित थे, जैसाकि–**'अग्निं दूतं वृणीमहे'** इत्यादि से सङ्केतित है।

सुना जाता है। क्या **सनातनधर्म्मी**, क्या **आर्य्यसमाजी**, एवं क्या अन्य **सम्प्रदायवादी**, सभी अभिनिवेश से आक्रान्त होकर व्यर्थ के विवादों से कलिसमुन्नतिमूलक कलह का ही बीजारोपण कर रहे हैं। फलतः देश की संघटनशक्ति प्रतिदिन उत्तरोत्तर क्षीण ही होती जारही है। क्या ही उत्तम हो, यदि सभी वर्ग अज्ञानमूलक इन क्षुद्र विसंवादों को छोड़ कर ऐकमत्य होकर राष्ट्र को समुन्नत करने का यश प्राप्त करें। सभी सम्प्रदायों के लिए **'वैदिकसाहित्य'** आराध्यदेव है। सभी स्वमतपोषण के लिए वेद को ही आगे रखते हैं। फिर क्या कारण है कि, एक ही **प्रमाणभित्ति** के आधार पर प्रतिष्ठित विद्वत्-समाज में परस्पर मतभेद होरहा है ?। हमारी साधारण बुद्धि जहाँतक विचार करती है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि, वेद के क्रमिक स्वाध्याय का अभाव ही इस विसंवाद का मुख्य कारण है।

हम आज की प्रवृत्ति देखते हुए इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि, **विद्वद्गण** स्व स्व विषय को सिद्ध करने के लिए **'कहीं का ईंट--कहीं का रोड़ा भानुमती ने कुनबा जोड़ा'** इस किंवदन्ती को ही चरितार्थ कर रहे हैं। प्रकरण पर कोई ध्यान नहीं, शब्दों के तात्पर्य्यार्थ का कोई विचार नहीं, जहाँ एक शब्द भी अपनी ओर झुकता हुआ मिला, तत्काल वह प्रमाणरूप से आगे कर दिया जाता है। **"श्राद्ध, मूर्त्तिपूजन, वेद ईश्वर प्रणीत हैं, ब्राह्मणभाग वेद नहीं है-केवल संहितामात्र ही वेद है, वेद में पश्वालम्भन से पशुस्पर्शमात्र विहित है। वेद में विधवा के साथ देवर के नियोग का विधान है"**, ऐसे ऐसे विषयों को लेकर सब प्रमाणधारी अपनी अपनी महत्ता प्रकट कर रहे हैं। इन सब विप्रतिपत्तियों से एक तटस्थ जिज्ञासु का किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना कठिन होरहा है। यही कठिनता हमारे सुप्रसिद्ध **'पश्वालम्भन'** के सम्बन्ध में भी विद्यमान है। यह विषय सभी की दृष्टि में आज महाभयावह बन रहा है। जिज्ञासा करने पर भी विद्वान् इस ओर से अपना निश्चित निर्णय अभिव्यक्त कर देने में कुण्ठित से होजाते हैं। इसलिए हम यह आवश्यक समझते हैं कि, इस विषय पर विशेषरूप से प्रकाश डाला जाय। तदर्थ ही निम्नलिखित पश्वालम्भनसम्बन्धी सन्दर्भ उपक्रान्त होरहा है।

"ईश्वरीय सृष्टि में जो स्थान **हमारा (मानवजाति का)** है, वही स्थान **पशुवर्ग** का है। हम में जैसे चेतना का विकास है, वैसे ही पशु भी **चेतन** ( **ससंज्ञ** ) जीव ही हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए चेतनदृष्ट्या सजातीय पशु का वध करे, यह मनुष्यता के विरुद्ध है। **'किसी प्राणी को दुःख मत दो'** (**मा हिंस्यात्–सर्वा भूतानि**) यह हमारे शास्त्रों की ही आज्ञा है। यद्यपि कितने हीं महानुभाव पशुवध को ( यज्ञसिद्धि के लिए ) **शास्त्रसम्मत** बतलाते हैं। परन्तु उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि, एक ही शास्त्र दो विरुद्ध आज्ञाएँ नहीं देसकता। जो शास्त्र एक स्थान पर—**'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'**–**'मा गामनागादितिं वधिष्ट'** इत्यादिरूप से स्पष्ट शब्दों में सर्वत्र **'अहिंसाबुद्धि'** रखने का आदेश देता है, वही दूसरे स्थान पर **पशुवध** की आज्ञा दे, यह असङ्गत, अतएव असम्भव है। एक विषय में एक ही न्यायाध्यक्ष दो विभिन्न निर्णय नहीं कर सकता, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

य द थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद से हम यज्ञ में 'पशुवध' आवश्यक मानलेते हैं, तो एसी अवस्था में उन·············को हिंसा से रोकने का हमारे प्रज्ञाकोश में क्या समाधान शेष रह जाता है।·············द्वारा आए दिन असंख्य मूक पशु तलवार के घाट उतार दिए जाते हैं। हम चीत्कार करते ही रह जाते हैं। पशुवध-सिद्धान्त को मानते हुए यदि हम उन्हें इस व्यर्थ की हिसा को रोकने की प्रेरणा देते हैं, तो हमारा यह प्रयास व्यर्थ जाता है। जब हमारा शास्त्र स्वयं श्राद्ध-यज्ञादि में पशुवध को आवश्यक समझता है, तो फिर अन्य सम्प्रदायवालों के 'शरअ' (शास्त्र) के विरुद्ध हम कैसे आवाज उठा सकते हैं। जैसे हमारा शास्त्र पशुबलि की आज्ञा देता है, एवमेव वे·············भी शरअ की आज्ञानुसार·············करने के पूर्ण अधिकारी हैं। इसप्रकार कल्पित पशुवध के अभिनिवेश में पड़कर हम एकप्रकार से अन्य सम्प्रदायों के द्वारा होने वाली पशुहिंसा के समर्थक ही बन जाते हैं। कहना न होगा कि, इस दुराग्रह से राष्ट्र का पशुबल क्षीण ही होरहा है। इस विप्रतिपत्ति से बचने का एकमात्र उपाय है—पशुवध-सम्बन्धी प्रक्षिप्त वचनों का परित्याग, एवं 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि वास्तविक सिद्धान्तों का ग्रहण। स्वार्थियोंनें स्वार्थवश ही पशुवधसमर्थक वचनों से शास्त्र को कलङ्कित कर रक्खा है। 'जिस पशु का यज्ञ में वध किया जाता है, वह मरता नहीं, अपितु सीधा स्वर्ग जाता है' इत्यादि हेत्त्वाभासों के द्वारा पशुवधसमर्थक सम्भवतः पशु का ही हित सिद्ध करते हैं। परन्तु ऐसे उत्तरों का शिक्षित समाज की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। हमें यह मान लेने में कोई भी आपत्ति नहीं है कि, पशुवध-मानवता, शास्त्र आदि सभी दृष्टियों से विरुद्ध है। यदि एतत्समर्थक वचन कहीं उपलब्ध होते हैं, तो उन्हें प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये"।

यह है पश्वालम्भन के सम्बन्ध में निर्णेताओं का निर्णय। उक्त पङ्क्तियाँ वास्तव में 'चारु-वाक्' है। ऐसे सुन्दरभाव किसे प्रिय न लगेंगे। 'किसी प्राणी को कष्ट मत पहूँचाओ' यह शास्त्र का बड़ा उदात्त सिद्धान्त है। परन्तु अवधानपूर्वक सूक्ष्मदृष्टि से देखिए, क्या आपको इस सामान्य सिद्धान्त का कहीं अपवाद नहीं मिलता ?। जिस व्यक्ति ने चोरी से समाज में अशान्ति उत्पन्न कर रक्खी है, जो समाज का घोर शत्रु है, उसके वध को क्या आप 'पुण्यप्रद' नहीं समझेंगे ?। यदि सिंह ने ग्राम में उत्पात मचा रक्खा है, तो उसे मारना क्या अधर्म्म होगा ?। आपके मतानुसार शास्त्र तो अहिंसा के विरुद्ध आज्ञा दे नहीं सकता। सर्वत्र 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' ही रहेगा। क्यों ?, ठीक है न ?।

इसी आधार हम कह सकते हैं कि, शास्त्रीय वचनों का जबतक मीमांसा-शास्त्र के द्वारा नियत-हेतुता-अवसर-प्रसङ्ग-उपोद्घात-कार्य्यैक्य-निर्वाहकैक्य आदि मूला सङ्गतियों के द्वारा यथावत् समन्वय नहीं कर लिया जाता, तबतक तत्सम्बन्ध में बिना सोचे समझे अपना मनमाना निर्णय प्रकट करना व्यर्थ का साहसमात्र ही है। सदा—'धर्म्मस्य सूक्ष्मा गतिः' इस सिद्धान्त को सम्मुख रखते हुए ही शास्त्रीय-

प्राङ्गण में प्रवेश करना चाहिए। उदाहरणार्थ पहिले हम **हिंसा–अहिंसा** के पदार्थत्त्व की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करते हैं।

**किसी जीव को किसी भी प्रकार से पीड़ा पहुँचाना हिंसा है, एवं सर्वात्मना उसे संतुष्ट रखना अहिंसा भाव है। शास्त्र का सिद्धान्त है, कि हिंसा से प्रत्यवाय होता है, एवं अहिंसाधर्म्म-परिपालन से आत्मा का अभ्युदय होता है। हिंसा पाप का कारण है, एवं अहिंसा पुण्य का कारण है।** अब हम आपसे शास्त्रीय-मर्य्यादा को थोड़ी देर के लिए दूर रखते हुए प्रश्न करते हैं कि, —**"हिंसा से पाप होता है, एवं अहिंसा से पुण्य होता है"**, दूसरे शब्दों में— **"हिंसा से हिंसक का आत्मा पतित होजाता है, एवं अहिंसा से आत्मा उन्नत होजाता है,"** इसके लिए आपके प्रज्ञाकोश में क्या प्रमाण है?। किसी मनुष्य के आपने चाकू से व्रण (घाव) कर दिया। यही हिंसा हुई। इससे उसे दुःख भी बहुत हुआ। यहाँतक तो आपका अनुभव भी काम करेगा। परन्तु **"इस दुःख से पाप होगा"** यह आप कथ-मपि सिद्ध नहीं कर सकेंगे। एवमेव किसी भूखे को आपने अन्न से तृप्त कर दिया। बिना अन्न के उसका प्रज्ञानात्मा व्याकुल था। अन्न की प्राप्ति से वह सुखी होगया। **"इस सुख से आपको पुण्य हुआ"**, इसके लिए भी आप प्रत्यक्ष, अनुमान–भेदभिन्न कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं कर सकेंगे।

आप कहते हैं—**"दुःख–सुख–पाप–पुण्य–के कारण हैं"**। ठीक इसके विपरीत हम कहते हैं— **"यदि किसी को दुःखी किया जाता है, तो पुण्य होता है। एवं सुखी किया जाता है, तो पाप लगता है"**।

हमारा विचार ही नहीं, अपितु यह दृढ निश्चय है कि, शब्दप्रमाण के अतिरिक्त अन्यान्य उत्तर-सहस्रों से भी आप यह सिद्ध नहीं कर सकेंगे कि, **हिंसा से पाप होता है, एवं अहिंसा से पुण्य होता है।** कारण स्पष्ट है। **पाप,** और पुण्य का सम्बन्ध सुसूक्ष्म अतीन्द्रिय आत्मा के साथ है। अतएव यह इन्द्रियातीत तत्त्व है। अतीन्द्रियार्थद्रष्टा आप्तपुरुषोंनें इस सम्बन्ध में जो व्यवस्था करदी है, वही हमारे लिए मान्य है। मनुष्य **अनृतसंहित है**। परन्तु देवतुल्य आप्तपुरुष **'सत्यसंहिता वै देवाः'** के अनुसार **सत्यसंहित हैं**। उनका वचन हीं हमारे लिए प्रमाण है। **किस कर्म्म में हिंसा है?, किस में अहिंसा है?, कौन धर्म्म है?,** इन सब अतीन्द्रिय भावों का निर्णय हम साधारण मनुष्य नहीं करसकते। अपने बुद्धिबल के आधार पर प्रत्येक विषय का निर्णय कर बैठना अनुचित है। भगवान् कृष्ण आप्तपुरुष थे। साक्षात् सच्चिदानन्दब्रह्म थे। उनकी वाणी पर न उस समय सन्देह था, न आर्य्य–सन्तान आज उनके आदेश के विरुद्ध बोलती। वे स्वयं सच्चिदानन्द भी शास्त्रमर्य्यादा को ही धर्म्माधर्म्मनिर्णय में प्रधान मानते हैं। **हमारे लिए क्या कर्त्त-व्य है?, क्या अकर्त्तव्य है?,** इसका निर्णय कैसे किया जाय?, इसका समाधान करते हुए भगवान् **मधु-सूदन** कहते हैं—

> **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।**
> **न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥**
> **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।**
> **ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि'॥**
>
> —गीता

शास्त्रनिष्ठा के सम्बन्ध में **हरिवंशपुराण में**, एवं महाभारत में एक बडा सुन्दर उपाख्यान आया है। भीष्म श्राद्ध करते हैं। शास्त्र की आज्ञा है कि, पितरों की तृप्ति के लिए मन्त्रवाक् के द्वारा कुशमुष्टि पर ही यथाविधि **पिण्डदान** करना चाहिए। जिस समय उस श्राद्धकर्म्म में पिण्डदान का अवसर आता है, उस समय पिण्ड-ग्रहण करने वाले प्रेतात्मा का हाथ (पिण्ड लेने के लिए) निकल पड़ता है। उपस्थित मण्डली को बड़ा आश्चर्य होता है। परन्तु—**'शास्त्र की आज्ञा हाथ में पिण्डदान की नहीं है, इसलिए हम इस हाथ पर पिण्ड नहीं रख सकते'** यह कहते हुए भीष्म हाथ पर पिण्ड नहीं रखते, अपितु पिण्डदान की इतिकर्त्तव्या शास्त्राज्ञानुसार ही पूरी करते हैं। उसी समय आकाशवाणी होती है कि, "हम तुम्हारी शास्त्र-निष्ठा पर अत्यन्त प्रसन्न हैं। हम प्रसन्न होकर तुम्हें वर देते हैं कि, तुम्हारा यह कर्म्म सर्वात्मना सफल हो"।

इसी शास्त्रनिष्ठा के आधार पर प्रातःस्मरणीय श्रीकुमारिलभट्ट—**'यदि वेदाः प्रमाणं स्युः'** कहते हुए गिरिशिखर से कूद पड़ते हैं। फिर भी उनका कुछ नहीं बिगड़ता। इन निदर्शनों से आपको यह मान लेने में कोई भी आपत्ति नहीं होगी कि, **पाप-पुण्य, धर्म्म-अधर्म्म, कर्म्म-अकर्म्म**, आदि के सम्बन्ध में एकमात्र शास्त्र ही शरण है। यदि आप शास्त्र की अवहेलना कर स्वबुद्धिबल से ही काम करेंगे, तो आप कोई व्यवस्था न कर सकेंगे। पारलौकिक विषयों को छोड़ दीजिए। बिना शब्दप्रमाण के तो आपके लौकिक-कार्य्यों का निर्वाह भी कठिन होजायगा। सम्पूर्ण ओषधि-वनस्पति-विज्ञान, लौकिक सम्पूर्ण व्यवहार—**वृद्धव्यवहारमूलक शब्दप्रमाण** पर ही निर्भर है। आप बाजार में बैठने वाले अपने से भी अज्ञ पन्सारी के शब्दों पर विश्वास कर के ही तो वस्तुएँ ले आते हैं। इन्द्रियगोचर विषयों मे भी आपको जब शब्दप्रमाण की ही शरण लेनी पड़ती है, तो फिर जो अतीन्द्रिय-विषय हैं, उनके सम्बन्ध में शब्दप्रमाण के अतिरिक्त आप कौनसा अन्य मार्ग निकाल सकते हैं?।

**भगवान् व्यासने हिंसा, अहिंसा**, भाव की मीमांसा करते हुए—**'अशुद्धमिति चेन्न-शब्दात्'** (३ अ० १ पा० ६ अ० २५ सू०) यह सूत्र हमारे सम्मुख रक्खा है। **'यज्ञकर्म्म में पशुहिंसा होती है'**। एवं यह हिंसा **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** इस श्रौत सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती हुई प्रत्यवाय का कारण बनती है। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि, हिंसाभावापन्न **आध्वरिककर्म्म** अशुद्ध है। इसी आपत्ति का निराकरण करते हुए **पुराणपुरुष** कहते हैं कि, धर्म्माधर्म्म की मीमांसा का हेतु शब्दशास्त्र ही है। वह यदि यज्ञ में पशु-वध की आज्ञा देता है, तो वह निर्दुष्ट कर्म्म है। जो शास्त्र सामान्यरूप से **'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** यह आज्ञा देता है, वही अपवादरूप से—**'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** यह वचन भी हमारे सम्मुख रखता है। **देश-काल-पात्र** के आधार पर ही धर्म्माधर्म्म का निर्णय होता है। **जो एक स्थान पर धर्म्म है, वही अन्य स्थान पर अधर्म्म बन जाता है**। इसी आधार पर धर्म्म का निम्न लिखित लक्षण किया जाता है—

**'देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्।**
**प्राप्ते प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्म्मलक्षणम् ॥'**

—या० स्मृ० आ० ६

धर्म्माधर्म्म के विवेक लिए श्रुति, स्मृति, सदाचार, आत्मपूत लक्ष्य, एवं संकल्पजकाम, इन्हें मुख्य मान गया है। इसप्रकार—

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्म्ममूलमिदं स्मृतम्॥'

उक्त स्मार्त्त सिद्धान्त के यथार्थ तात्पर्य्य को न समझते हुए कितने हीं भ्रान्त पुरुष "स्वस्य च प्रियमात्मनः' को आगे रखते हुए कहते हैं कि, "जब शास्त्रने हमें--'तुह्मारे आत्मा को जो अच्छा लगे, वही धर्म्म है' यह आज्ञा दे रक्खी है, तो फिर हमें जो कार्य्य अपने अन्तरात्मा के विरुद्ध प्रतीत होते हैं, उन्हें क्यों करें। हमारा आत्मा स्वप्न में भी पशुहिंसा का समर्थन नहीं करता। अतः उसे न करना हीं हमारे लिए धर्म्म है"। हेतु बड़ा सुन्दर है। परन्तु आइए, देखें इसमें कितना तथ्य है ?। एक सन्निपात का रोगी अन्न माँगता है। उस की हार्दिक ? प्रेरणा है कि, वह अन्न प्राप्त करे। परन्तु वैद्य अन्न नहीं देता। आपके धर्म्म-लक्षण के अनुसार तो वैद्य अन्न न देकर अधर्म्म ही कर रहा है। इसी प्रकार आपका अन्तरात्मा चाहता है कि, हम मद्यपान करें। क्या आत्मा की यह विषयैषणा धर्म्ममूलिका है ?। भगवान् मनुने अनृतसंहित मनुष्यों की स्वाभाविक इच्छाओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

मांस-मद्य-मैथुन की ओर प्रवृत्त होना स्वभाव है। इनकी ओर से आत्मा को हटाना उचित है। इसके लिए आत्मबल अपेक्षित है। बात यह है कि, हमारे अध्यात्मजगत् में प्रज्ञान (मन), और विज्ञान (बुद्धि) में परस्पर स्पर्द्धा चलती रहती है। प्रज्ञान पार्थिव है, विज्ञान सौर है। चान्द्रसोम ओषधियों में प्रविष्ट होकर हमारे मन का उपादान बनता है। एवं सौरतत्त्व बुद्धि का अधिष्ठाता है। पूर्व के प्रकरणों में ऋत-सत्य की मीमांसा करते हुए बतला आए हैं कि, सोम ऋततत्त्व है, अग्नि सत्यतत्त्व है। विचालीभाव ऋत है, अविचालीभाव सत्य है। ऋतसोमात्मक मन विचाली है। सूर्य्य हमसे (पार्थिव प्रजा से) दूर पड़ता है। अतएव स्वभावतः हम में ऋतसोमात्मक मन की प्रधानता रहती है। जिस वस्तु में प्राण होता है, वह वस्तु 'सत्' कहलाती है। 'सामान्ये सामान्याभावः' इस सिद्धान्त के अनुसार प्राण में प्राण नहीं रहता। अतएव प्राण को 'असत्' नाम से व्यवहृत किया जाता है। यही अवस्था ऋतशब्द की है। ऋत में ऋत नहीं रहता, अतएव ऋत को 'अनृत' कहा जाता है।

अव्ययपुरुष मनः-प्राण-वाङ्-मूर्त्ति है। मन में मन, एवं प्राण में प्राण नहीं रहता। इसी आधार पर मुण्डक-श्रुतिने प्राणमनोमूर्त्ति अव्यय के लिए-'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः' यह कहा है। कहना यही है कि ऋत, किन्तु अनृत शब्द से व्यवहृत चान्द्रसोम ही मन का उपादान है। जीवसृष्टि में यह ऋतसोम ही प्रधान है। इसी विज्ञान के आधार पर-'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य' (ऋकसं०) यह कहा जाता है। ऋत क्योंकि अनृत है। इसी आधार पर-'अनृतसंहिता वै मनुष्याः' यह निगम प्रतिष्ठित

है। हममें प्रकृत्या मन की ही प्रधानता है, यह उक्त कथन से भलिभाँति सिद्ध होजाता है। मन ऋत होने से केन्द्रसत्यानुग्रह से वञ्चित है। अतएव यह कभी एक विषय पर स्थित नहीं रहता। यदि इसमें स्थिरता आसकती है, तो उसी **सौरसत्य-विज्ञान** के प्रवेश से।

सौरतत्त्व अग्निप्रधान होता हुआ सत्य है। **'चित्रं देवानामुदगात'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सौरप्राण ही देवता हैं। वे **'सत्याग्निमय'** हैं। इसी आधार पर–**'सत्यसंहिता वै देवाः'** यह निगम प्रतिष्ठित है। मनोमूर्त्ति प्रज्ञानात्मा **बाह्यात्मा** है, एवं विज्ञानात्मा **अन्तरात्मा** है। **वैश्वानर-तैजस** एवं **प्राज्ञ-से समन्वित प्रज्ञानात्मा कर्त्ता है, विज्ञानात्मा कारयिता है**। इसे ही गीता में- **'क्षेत्रज्ञ'** नामसे व्यवहृत किया गया है। प्रज्ञान स्वतः प्रबल रहता है। विज्ञानबल के लिए **शास्त्राध्ययन-तपादि** अपेक्षित हैं। दूसरे शब्दों में-**प्रज्ञान सिद्ध है, एवं विज्ञान साध्य है**। ऋतप्रधान मन **'निम्नगामी'** है। क्योंकि ऋततत्त्व पारमेष्ठ्य है, एवं परमेष्ठी **आपोमय है**। अप्तत्त्व का निम्नगामित्त्व प्रत्यक्ष है। आपको यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि, यदि मन को विज्ञान के शासन से पृथक् पर दिया जाता है, तो मन स्वतन्त्र होता हुआ अपने **ऋतमूलक अनृतभाव** से आत्मपतन का ही कारण बन जाता है। विज्ञानसारथि के पृथक् होते ही मनोमय प्रग्रह ( लगाम ) ढीला पड़ जाता है। लगाम के ढीली पड़ते ही **इन्द्रियाश्व** शरीर-रथ में प्रतिष्ठित रथी आत्मा को उत्पथ लेजाते हैं। **विपरीत मन की दया, अकारण कारुण्य, दुर्व्यसनों में प्रवृत्ति,** आदि मन के स्वाभाविक धर्म्म हैं। विज्ञान में स्वतःसिद्ध जितना बल रहता है, तदनुसार वह मनका निरोध करता रहता है। मनुष्य मन की प्रेरणा से ही असत्कर्म्म में प्रवृत्त होना चाहता है, परन्तु उसी क्षण भीतर से ध्वनि आती है कि, अरे! यह कार्य्य बुरा है। इसे मत करो। यह ध्वनि उसी अन्तरात्मा ( बुद्धि ) की है। साथ ही विचार उठता है कि, आज आज करलें, कल नहीं करेंगे, यह विचार मन का है। यदि विज्ञान निर्बल होता है, तो मन का विजय होजाता है। फलतः मनुष्य असत्-कार्य्यों में प्रवृत्त होजाता है।

स्वस्थदशा में भूख लगना विज्ञानसहकृत मन की इच्छा है। यही अनासक्तिमूला इच्छा है। आपने पेटभर भोजन कर लिया है। बाजार जाते हैं। वहाँ चाट खाने की इच्छा होती है। यह विशुद्ध मन की इच्छा है। यही आसक्तिमूला होती हुई बन्धन का कारण बन जाती है। **सदसत्** का, **कर्त्तव्याकर्त्तव्य** का विवेक करना बुद्धि का काम है। हठात् निर्णय कर बैठना मन का काम है। मन के साथ बिना बुद्धि का योग किए मन इसी प्रकार अन्डबण्ड निर्णय कर डालता है। स्वयं वीर अर्जुनने भी इसी मन की कृपा से धोका खाया था। **निरपराधों को मारना बुरा काम है**, यह कौन नहीं मानता। परन्तु परिस्थिति देखना आवश्यक है। अर्जुनने **क्षात्रधर्म्म** का महत्त्व न समझते हुए **'न योत्स्ये'** कह डाला। भगवान्ने उसे सावधान किया। **'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव'** का आदेश दिया। अर्जुन सँभल गया। परिणाम में **विजय-भूति-श्री-की** प्राप्ति हुई। यही अवस्था हमारी है। हम मन की कृपा से यह समझ बैठते हैं कि, अरे निरपराध पशु को मारना अनुचित है। हम उस महाफल को भूल जाते हैं, जोकि यज्ञ से मिलता है, जिसका कि विवेचन हम अनुपद में ही करने वाले हैं। ऐसी **'दया'** आत्मा का संकल्प नहीं है, अपितु मनका संकल्प है। जबतक विवेकशीला बुद्धि को मन के साथ युक्त नहीं कर दिया जाता, तबतक यह संकल्प सम्यक् संकल्प नहीं कहला सकता। सम्यक् संकल्पज काम बुद्धियोग पर ही निर्भर है। यही-**'स्वस्य**

च प्रियमात्मनः' है । 'मन भाया सो किया' यदि उक्त वाक्य का यही अर्थ है, तब तो यह अर्थ नहीं, अपितु अनर्थ है। शान्तवृत्ति से विचार कीजिए–'स्वस्य' का क्या अभिप्राय होना चाहिए ?। वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली से रँगे हुए, "खाना पीना मौज उड़ाना" ( Eat drihk and be mony ) इस जघन्य सिद्धान्त की आराधना करने वाले महानुभाव ही 'स्वस्य च' का 'मनभाया' अर्थ करते हैं। शास्त्रीय वचनों के अर्थ में भी वे आज अपनी इसी मनोवृत्ति को प्रधानता देने लग पड़े हैं।

छोड़िए शास्त्रीय-मर्य्यादा को। ऐहलौकिक विषयों पर ही दृष्टि डालिए। समाजशास्त्रियों की ऐसी कुछ मान्यता है ( जिसमें भारतीय शास्त्र सहमत नहीं है ) कि, जिस कार्य्य से अनेक व्यक्तियों का उपकार हो, एवं अल्प व्यक्तियों की हानि हो, वह कार्य्य अच्छा है । जीवधारियों में मनुष्य का मूल्य अधिक है । कारण स्पष्ट है । इसी में इन्द्रियों का पूर्ण विकास है । अतएव स्थावर-जङ्गम-विश्व के अभ्युदय का उत्तरदायित्व इसी पर प्रतिष्ठित है । जिस राष्ट्र का मनुष्यसमाज स्वस्थ–सुशिक्षित होता है, उस राष्ट्र का व्यवसाय समृद्ध होता है । ओषधि–वनस्पति–नद–नदी–आदि स्थावर संपत्ति, पशु–पक्षी–आदि जङ्गमसंपत्ति भी उसी राष्ट्र में सुसमृद्ध रहती है। इसलिए यह आवश्यक होजाता है कि, मनुष्यसमाज को पूर्णरूप से सुशिक्षित, एवं स्वस्थ बनाने के लिए जो भी कार्य्य किए जायँ, वे निर्दुष्ट माने जायँ। कहना न होगा कि, भारतीय शास्त्र के मर्म्म से अपरिचित, भारतीय याज्ञिक पशुवध पर आपेक्ष करते हुए पाश्चात्य विद्वान् (डाक्टर) केवल शरीरचिकित्सा के लिए ही लेबोरेट्रियों (Lapotray) में प्रतिदिन असंख्य निरपराध प्राणियों का वध कर डालते हैं।

वर्त्तमान चिकित्सापद्धति ( डाक्टरी ) में इञ्जेक्शन ( Injunction ) सर्वेसर्वा बन रहा है। निरपराध अश्वादि पशुओं का शृङ्खलाओं से नियन्त्रण कर सूचिका के प्रयोग से उनके शरीरस्थ कीटाणुओं के द्वारा इञ्जेक्शन के टयूब ( Tude ) सम्पन्न करना क्या हिंसाभाव से रहित कार्य्य है ?। मनुष्य के शरीरस्थ अस्थियों की जैसी रचना है, प्रायः वैसी ही रचना दर्दुर ( मेंढक ) शरीर की है। इन जीवित प्राणियों के शरीर को चीर कर वैज्ञानिक अपना अनुभव बढ़ाने में 'हिंसा' नहीं समझते। दुर्बलता को दूर करने के लिए जलजन्तु ( मत्स्यादि ) के तैल का ( कार्लिवर आयल का ) आज कितना अधिक प्रचार है, यह भी तिरोहित नहीं है। अशिक्षित, शिक्षित, सभी उक्त कार्य्यों का हृदय से अनुमोदन कर रहे हैं। उन्हें इनमें हिंसा प्रतीत नहीं होरही। इन कार्य्यों को ये ईश्वरीय कार्य्य समझते हैं। क्यों ?, वही मनुष्यसमाज की रक्षा। अनेक व्यक्तियों का उपकार। ऐसी अवस्था में यदि हम यज्ञ के द्वारा अधिक लाभ सिद्ध करदें, तो कोई कारण नहीं रहा जाता, जिससे यज्ञिय पशु की हिंसा पर आक्षेप किया जाय।

कितने हीं महानुभाव यह भी कहा करते हैं कि, माँस अप्राकृतिक भोजन है। मनुष्य की उदर–पूर्त्ति के लिये ईश्वरने ओषधि, वनस्पति का ही निर्म्माण किया है। बात ठीक है। हम भी माँस को मनुष्य का आवश्यक अन्न नहीं समझते । कारण–माँस की मात्रा जीवनसत्ता के लिए जितनी मात्रा में अपेक्षित है, उतनी मात्रा ओषधि–वनस्पतियों में भी रहती है। गेंहूँ, माष आदि में माँस की मात्रा विद्यमान है। माष ( उर्द ) तो माँस की साक्षात् ही प्रतिकृति है । अतएव माष को अयज्ञिय माना है । आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि, शरीरगत रस असृक् मांसादि धातु तभीतक शरीर में सुरक्षित रह सकते हैं,

जबतक कि तत्तद्धातुओं को तत्तद्द्रव्य मिलते रहते है। मांसरक्षा के लिए माँस अपेक्षित है! रुधिररक्षा के लिए रुधिर अपेक्षित है। यही स्थिति इतर धातुओं के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। वे सब मात्राएँ तारतम्य से ओषधि वनस्पतियों में भी विद्यमान हैं। आप माँस के लिए प्रश्न उठाते हैं। हम कहते हैं— **सोना-ताँबा-चाँदी-लोहा** आदि धातु-उपधातु, विष उपविषादि भी प्राकृतिक अन्न हैं। पालक की परीक्षा कीजिए। उसमें आपको ताम्र अधिकमात्रा से उपलब्ध होगा। इसीप्रकार सब अन्नों में मात्रातारतम्य से धातु-विषादि विद्यमान हैं। आवश्यकतानुर इनका स्वतन्त्ररूप से भी प्रयोग करना आयुर्वेदज्ञ लाभप्रद मानते हैं। ऐसी अवस्था में माँस को अप्राकृतिक अन्न मानना साहस है। पशु के शरीर में रक्तयुक्त जो विद्यमान पिण्ड है, सम्भवतः आपने उसे ही माँस समझ रक्खा है। परन्तु मांस तो एक विशेष प्राण है। यह प्राण ब्राह्मणग्रन्थों में 'पुरीष' शब्द में से व्यवहृत हुआ है ( देखिए—श० ८।७।४।१६ )। यह जिस भौतिक द्रव्य में रहता है, वह भी **'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्'** इन न्याय के अनुसार **'माँस'** शब्द से ही व्यवहृत होने लगता है।

मत्स्य में इस पुरीषप्राण का अभाव है। अतएव **माँस-मत्स्य** पृथक् माना जाता है। **'माँस-मच्छी'** यह भेदमूलक व्यवहार प्रसिद्ध है। वही 'पुरीष' 'माष' (उर्द) में विद्यमान है। अतएव उसे माँस की प्रतिकृति माना जाता है। जो हानि-लाभ माँस-भक्षण में हैं, वही 'माष' (उर्द) के भक्षण में है। यदि माँस अप्राकृतिक अन्न होता, तो मनुष्य उसे पचा नहीं सकता था। हम देखते है कि, मनुष्य माँस मुख में डालता है। इसके दाँत अन्नवत् उस पर व्यापार करते हैं, और वह भक्षित माँस को पचा जाता है। हाँ, जो प्राणी ( सिंहादि ) **मांसाशी** हैं, उनका माँस अवश्य ही अप्राकृतिक है। इनका माँस अवश्य ही त्याज्य है। आप कहते हैं—माँस अप्राकृतिक अन्न है, किन्तु श्रुति कहती है—

१—**'एतदु ह वै परमन्नाद्यं यन्मांसम्'** ( श० ११।१।७।६

२—**'अन्नमु पशोर्मांसम्'** ( श० ६।५।२।२४ )

माँस को अप्राकृतिक अन्न मानने वाले महानुभावों का ध्यान हम माँसाशी मनुष्यों की संख्या की ओर आकर्षित करते हैं। केवल भारतवर्ष को छोड़ दीजिए। आपको यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि, भारत को छोड़कर समस्त **एशिया, युरोप, अमेरिका** आदि में निवास करने वाले मनुष्य ९९ प्रतिशत माँसभक्षी हैं। भारतवर्ष में भी—**कश्मीर, सिन्ध, पंजाब, बंगाल, मिथिला,** आदि प्रान्तों को छोड़ दीजिए। केवल **यूपी गुजरात राजपूताना** को लीजिए। यहाँ भी **मुलतान-ईसाई-राजपूत-अन्त्यज** जातियों को छोड़ दीजिए। माँस न खाने वालों में से बच जाते हैं **यूपी-गुजरात-राजपूताने** के उच्चवंशी ब्राह्मण-वैश्य। क्या विश्व की जनसंख्या के समतुलन में माँस न खाने वालों की संख्या का कोई मूल्य है?। इसीलिए तो श्रुतिने माँस के लिए **'परममन्नाद्यम्'** कहा है। माँस व्यापक अन्न है। हम इस वृत्ति का स्वागत नहीं करते। इससे हमें बतलाना केवल यही है कि, **माँस अवश्य ही प्राकृतिक अन्न है**। तभी तो—**'न मांसभक्षणे दोषो·········प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्'** यह मनुवचन चरितार्थ होता है। ऋषियों की दृष्टि में यह प्रवृत्ति बुरी जबतक इतर अन्नों से जीवनयात्रा का सुचारुरूप से निर्वाह होजाय, एवं सुलभता से जबतक अन्नसामग्री मिलती रहै, तबतक पशुमांस को न खाना हीं उत्तम पक्ष है। **पशुमांस अन्न**

होता हुआ भी पुरीष के सम्बन्ध से बुद्धि का व्याघातक है। अतः इसे न खाना हीं श्रेयस्कर है। जब और वस्तु ( स्थावर ) हमें मिल जाती है, तो फिर जिह्वास्वाद के वशीभूत होकर माँस खाना—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' का विरोध कर प्रत्यवाय का ही भागी बनना है।

सात्त्विकभावों की रक्षा के लिए माँस ग्रहण अनुचित है, परन्तु अप्राकृतिक नहीं। यदि अप्राकृतिक ही होता, तो 'पञ्च पञ्च नखा भक्ष्याः—न मांसमश्नीयात्' इत्यादि वचनों का कोई मूल्य ही नहीं रहता। प्राप्त वस्तु का ही निषेध चरितार्थ होता है। 'न मांसमश्नीयात्' यह सामान्यविधि नहीं है। अपितु अपवाद है। ब्रह्मौदन के रक्षक व्रतों ( नियमों ) का विधान करती हुई श्रुति कहती है—

"न मांसमश्नीयात्, न स्त्रियमुपेयात्। यन्मांसमश्नीयात्, यत्स्त्रियमुपेयात्-निर्वीर्य्यः स्यात्। नैनमग्निरुपनमेत्"

( तै० ब्रा० १।१।६।७-८ ) इति।

यदि इस उक्त श्रुति को 'विधि' परक मान लिया जायगा, तो स्त्री के सम्बन्ध का भी निषेध प्राप्त होगा, जो कि—'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' के विरुद्ध पड़ेगा। अतः इसे विशेष विधि मानना हीं उचित होगा।

प्रकृतिसिद्ध माँसाशन की प्रवृत्ति का ऋषियोंनें निरोध किया, एवं परम आवश्यक समझ कर पशुप्राशन का विधान किया। इतना होने पर भी इन विषयों को कलिवर्ज्य माना गया। नियोगविधि शास्त्रीय है। परन्तु कलह-प्रधान इस कलियुग में स्वभावतः मनुष्यों का आत्मा निर्बल रहता है। यदि उनको नियोग की आज्ञा शास्त्रकार दे देते, तो बड़ा अनर्थ होजाता। नियोग के बहाने व्यभिचार का मार्ग निष्कण्टक बन जाता। अतएव दूरदर्शी ऋषियोंनें नियोग को कलिवर्ज्य माना। यही अवस्था यज्ञ की है। 'जनमेजयात्-जनमेजयान्तम्' इस पुराणसिद्धान्त के अनुसार विशेषतः * त्रेतायुग पर्य्यन्त, एवं साधारणतः द्वापरयुगान्त के जनमेजय के सर्पयज्ञ पर्य्यन्त ही यज्ञों की प्रधानता रही। इसके अनन्तर यज्ञकाण्ड से क्रमशः श्रद्धा उठती ही गई। यहाँतक कि, आगे जाकर पञ्चपश्वात्मक चितियज्ञ में केवल प्राजापत्य अज पशु का आलम्भन ही शेष रह गया। पुष्कर (आजकल 'बुखारा' नाम से प्रसिद्ध) निवासी प्रजापति ( ब्रह्मा) से आरम्भ कर सायकायन नाम से प्रसिद्ध श्यापर्ण पर्य्यन्त पुरुष-अश्व-गो-अवि-अज-इन पाँचों पशुओं का ही आलम्भन होता रहा। परन्तु याज्ञवल्क्य के समय में केवल प्राजापत्याज, वायव्याज इन अजपशुओं का ही आलम्भन शेष रह गया। ( देखिए शत० १ प्र० ४ ब्रा६ ३८ कं० ६ कां० )। आज तो यज्ञविद्या सर्वथा विलुप्तप्राय ही होगई है। आज का युग 'उपासनायुग' है। यज्ञ का तो एकमात्र प्रयोजन 'हवाफ़िल्टर' करना हीं रह गया है। मनमानी पद्धतियाँ बन गई हैं। यथेच्छ-अधिकार मिल गए हैं। कलि की कृपा से सबकुछ विडम्बना

---

* गार्हपत्य--दक्षिणाग्नि-आहवनीय, भेद से वितानयज्ञ 'त्रेताग्नियज्ञ' कहलाता है। इसी त्रेताग्नि के सम्बन्ध से यह युग 'त्रेतायुग' कहलाया है। इस विषय का विशद विवेचन 'मन्वन्तर-स्वरूप-परिचय' नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।

होरही है । अतीतानागतज्ञ ऋषि इस युगमाहात्म्य को समझते थे । उन्हें यह विदित था कि, इस युग में स्वत-एव मनुष्य इन्द्रियलोलुप होते हैं । ऐसी अवस्था में यदि यज्ञ में पशुवध की आज्ञा दे दी गई, तो अनर्थ होजायगा । अतएव नियोगवत् इसे भी उन्होंनें कलिवर्ज्य-प्रकरण में हीं स्थान दे दिया । इसप्रकार कलियुग में केवल स्मार्त्त यज्ञों की ही प्रधानता रह गई । यह सबकुछ होने पर भी यदि कोई धर्मपरायण वर्त्तमान में 'वितानयज्ञ' करना चाहे, तो उसे ध्यान रखना पड़ेगा कि, बिना पशु की आहुति के उसका यज्ञ सर्वथा निरर्थक है । प्रथम तो वह यज्ञ करे ही नहीं, यदि करे, तो उसे अवश्य ही पशु का आलम्भन करना पड़ेगा ।

यज्ञ में पशु को मारा जाता है । इससे हिंसादोष' भी होता है, एवं उस के परिहार के लिए दक्षिणा का विधान भी किया गया है । केवल हिंसा की विभीषिका से यज्ञ जैसा श्रेष्ठतमकर्म्म छोड़ बैठना बुद्धिमानी नहीं । यदि ऐसी विप्रत्तिपतियाँ उठाई जायँगीं, तब तो आप कोई भी कर्म्म न करसकेंगे । कारण—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" —गीता

उक्त आप्त सिद्धान्त के अनुसार कोई भी कर्म्म सर्वथा दोषरहित नहीं है । भोजन-शयन-वदन-चलन-आदि सभी कर्म्मों में-असंख्य वायव्य जीवों का हिंसाजनित प्रत्यवाय मिश्रित मानना क्या युक्तिसङ्गत होगा ? । इसलिए अन्ततो गत्वा आपको इसी सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ेगा कि, धर्म्माधर्म्म-हिंसा-अहिंसा, आदि भाव अतीन्द्रिय पदार्थ हैं । इनके सम्बन्ध में शास्त्र हमारे लिए जो निर्णय करे, वही ठीक है । वही मान्य है । जो शास्त्र हमें 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' यह आदेश करता है, वही अपवादरूप से विशेष स्थल के लिए 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह आज्ञा भी देता है । दोनों के लिए शब्दप्रमाण सामान्य हैं। इसी निर्णय को लक्ष्य में रख कर 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' यह कहा गया है । इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए सर्वश्री शङ्कराचार्य्य कहते हैं ।

"यत् पुनरुक्तं पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म्म, तस्यानिष्टमपि फल-मवकल्पते, इत्यतो मुख्यमेवानुशायिनां ब्रीह्यादिजन्मास्तु गौणीकल्पनानर्थिकेति, तत् परि-ह्रियते । न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्म्माधर्म्मविज्ञानस्य । अयं धर्म्मोऽयमधर्म्म--इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम् -अतीन्द्रियत्वात्तयोः । अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च । यस्मिन् देशे काल निमित्ते च यो धर्म्मोऽनुष्ठीयते, स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्म्मो भवति । तेन शास्त्रादृते धर्म्माधर्म्मविषयं विज्ञानं न कस्यचिदस्ति । शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म्म इत्यवधारितः । स कथमशुद्ध-इति शक्यते वक्तुम् । ननु-'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म्म इत्यवगमयति । बाढम् । उत्सर्गस्तु सः । अपवादः-'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इति । उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थित-विषयत्वम् । तस्माद्धि शुद्धं कर्म्म वैदिकम् । शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वात्, अनिंद्यमानत्वाच्च' ।

— ३ अ० १ पा २५ सू० इति

तथाकथित प्रकरण से पाठकों को यह आभास होगया होगा कि, **यज्ञ में अवश्य ही पशु का आलम्भन होता है** । यज्ञविद्या प्रकृति की प्रतिकृतिमात्र है । जैसा प्रकृति में होरहा है, ठीक वही कर्म्म इस वैधयज्ञ में किया जाता है । अतः सर्वप्रथम पश्वालम्भन-सम्बन्धी प्राकृतिक नित्य यज्ञका स्वरूप ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है ।

**दो वस्तुओं को रासायनिक सम्मिश्रण से समन्वित कर उन्हें अपूर्व स्वरूप प्रदान करने वाली प्रक्रियाविशेष का ही नाम यज्ञ है** । यह यज्ञ शब्द का सामान्य अर्थ है । **प्रकृति–पुरुष का समन्वितरूप पहिला यज्ञ है** । बिना इस याज्ञिक समन्वय के सृष्टि नहीं होसकती । इसी याज्ञिक समन्वय को लक्ष्य में रखकर – **'तत्तु समन्वयात्'** ( व्या० सू० ) यह कहा जाता है । **प्रकृति–पुरुष** का समन्वितरूप ही **यज्ञेश्वरप्रजापति** है । **'षोडशी'** नामसे प्रसिद्ध **'पुरुषप्रजापति'** प्रकृति के साथ युक्त होकर ही यज्ञरूप में परिणत होते हैं । एवं ये ही **'प्रजोत्पत्ति'** के कारण बनते हैं । षोडशकल प्रजापति अग्निप्रधान है, एवं **'प्राण–आपः–वागादि'** भेदभिन्ना पञ्चकला प्रकृति सोमप्रधाना हैं । अग्नितत्त्व वृषा है । सोमतत्त्व योषा है । प्रश्नोपनिषद्विज्ञान के अनुसार वृषातत्त्व **'प्राण'** है, योषातत्त्व **रयि** है । रयि और प्राण के समन्वय से ही प्रश्नोपनिषत्ने सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति मानी है ।

विश्वसृष्टि का अधिष्ठाता **अग्नीषोमात्मक-( वृषा–योषात्मक,--रयिप्राणात्मक )** यज्ञ पाङ्क्त ( पञ्चावयव ) है । **'पाङ्क्तो वै यज्ञः'** यह अनुगम वचन है । अतएव इसकी पाङ्क्तता अनेक प्रकार से है, जिसका कि विशद निरूपण पूर्व–प्रकरणों में यत्रतत्र विस्तार से किया जाचुका है । प्रकृत में हमें केवल द्यावा–पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले पाङ्क्त यज्ञ की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है ।

द्यावापृथिवी में क्रमशः **'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार **पृथिवी का अतिष्ठाता देवता अग्नि है**, एवं **द्युलोक का अधिष्ठाता देवता इन्द्र है** । तत्त–ल्लोक का अधिष्ठाता देवता ही तत्तल्लोक का **'प्रजापति'** कहलाता है । इस परिभाषा के अनुसार **अग्नि भूलोक का प्रजापति है, एवं इन्द्र द्युलोक का प्रजापति है** । ये दोनों हीं प्रजापति आदानविसर्गात्मक यज्ञ के द्वारा रोदसी विश्व के प्रभव बने हुए हैं । प्रजापति इस यज्ञ के द्वारा निरन्तर विस्रस्त होता रहता है । सूर्य्य ( इन्द्रप्राणमय ) का भाग प्रवर्ग्यरूप से सूर्य्य से पृथक् होकर ओषधि–वनस्पति आदि का निर्म्माण किया करता है । इससे सौरभाग खर्च होता है । यही प्रजापति की विस्रस्ति है । सूर्य्य उदाहरणमात्र है । विश्व के यच्चयावत् पदार्थ [चेतन एवं अचेतन ] निरन्तर विस्रस्त होते रहते हैं । प्रतिक्षण उनके क्षर परमाणु विस्रस्त [ खर्च ] होते रहते हैं । परन्तु साथ ही तत्तत्पदार्थों के केन्द्रस्थ विष्णु की अशनाया से आकर्षित अन्नाहुति के द्वारा यह विस्रस्त भाग संहित भी होता रहता है । सम्पूर्ण पदार्थ अपने भाग को प्रवर्ग्यरूप से अन्न बना रहे हैं, एवं दूसरों के प्रवर्ग्यान्न को लेकर अन्नाद [ भोक्ता ] बन रहे हैं । **'सर्वमन्नम्–सर्वमन्नादः'** यह सहज नियम है । अन्न–अन्नादात्मक इसी नित्ययज्ञ का निरूपण करती हुई ऋक्श्रुति कहती है—

**अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम ।**
**यो मा ददाति स इदेवमावत् अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥**
**—सामसंहिता**

पदार्थों से विस्रस्त होने वाला तत्त्व **अग्नि है**, एवं अशनाया के द्वारा जो तत्त्व वस्तुगत अग्नि में आहुत होकर विस्रस्तभाग की पूर्त्ति किया करता **है**, वह **'सोम'** नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी अवस्था में 'यज्ञ' शब्द का **'अग्नि में सोम का आहुत होना'** यह निष्कर्ष निकल आता है। आहुत होने वाला सोम अन्न है। यह आहुत होकर **'ऊर्क्'** रूप में परिणत होता है, ऊर्क् अन्ततोगत्वा **'प्राणाग्नि'** रूप में परिणत होजाता है। प्राणाग्नि विस्रस्त होता रहता है। अशनाया के द्वारा प्राणाग्नि के आकर्षण से पुनः अन्नाहुति होती है। इसप्रकार **अन्न से ऊर्क्, ऊर्क् से प्राण, प्राण से अन्न, अन्न से ऊर्क्**, यह धारावाहिक क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी आधार पर यज्ञ का—**'अन्नोर्क् प्राणनामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः'** यह लक्षण किया जाता है।

**'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्राणाग्नि **'वाक्'** तत्त्व है। इस वाक् से **प्राण** की पुष्टि होती है। प्राण से **चित्त ( मन )** की पुष्टि होती है। हम जो अन्न खाते हैं, वह प्रथम वाग्रूप प्राणाग्नि में आहुत होता है। दूसरे शब्दों में पहिले उसकी वागग्नि पर चिति होती है। अनन्तर रस-मल के क्रमिक विशकलन से वह मन का पोषक बनता है। सप्त धातुओं की क्रमिक चिति के अनन्तर वह अन्न शुद्ध चान्द्रसोम में परिणत होता हुआ मन का स्वरूप-समर्पक बनता है। दूसरे शब्दों में हुत अन्न स्थूल पार्थिव भूतभाग के द्वारा **'धातुर्चिति'** रूप में परिणत होता हुआ अन्त में मन पर चित होता है। **सोमचिति** के कारण ही मन **'चित्त'** कहलाता है। मन का स्वरूप **'अन्नचिति'** पर ही निर्भर है, इसी आधार पर-**'अन्नमयं हि सौम्य मनः'** यह कहा जाता है। यह मन इन्द्रियों के द्वारा खर्च होता रहता है। इस कमी को पूरी करने के लिए मन अशनाया के द्वारा प्राणाग्नि के माध्यम से पुनः अन्न का आकर्षण करता है। इसप्रकार **वाक्**, और चित्त का जो उत्तरोत्तर **चितिक्रम** है, वही यज्ञ का साधक बन जाता है। इसी आधार पर यज्ञ का **'वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः'** यह लक्षण भी किया जाता है। सर्वथा यज्ञ का **'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः'** यही फलितार्थ निकलता है। समष्टिरूप से, एवं व्यष्टिरूप से, उभयथा सम्पूर्ण पदार्थ **'अग्नीषोममय'** ही हैं। इसी आधार पर—**'अग्नीषोमात्मकं जगत्'** यह निगमश्रुति प्रतिष्ठित है।

उक्त सन्दर्भ से यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि, यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए अग्नि में सोम का आहुत होना नितान्त आवश्यक है। आहुत होने वाला यह सोम-**हवि, पशु, राजा, वाज, ग्रह**-आदि भेद से अनेक भागों में विभक्त है। आहुतिद्रव्यस्वरूप सोम की विजातीयता से एक ही **अग्नियज्ञ** अनेक प्रकार का होजाता है। व्रीहि यवादि ओषधियों में भी सोम है। इस सोम से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **'हविर्यज्ञ'** कहलाता है। **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य** आदि इष्टियों में इस अन्नसोम की ही आहुति दी जाती है। अतएव ये सब **'हविर्यज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध हैं। एवं पशुबन्ध में **पशुवपागत सोम** की आहुति होती है। बिना **'पशुवपा'** की आहुति के **पशुबन्धयज्ञ** का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं होसकता। **पशु अपेक्षित नहीं है। वपागत सोम अपेक्षित है।** वह बिना पशुबध के अप्राप्त है। अतः अगत्या इस यज्ञ की सिद्धि के लिए पशु का आलम्भन करना पड़ता है। राजा सोम से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **'राजसूय'** है। वाजसोम से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **'वाजपेय'** है। ग्रह ( वल्लीसोम ) से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **'ज्योतिष्टोम'** है, एवं **पञ्चपशु-ग्रहसोम** दोनों से निष्पन्न होने वाला यज्ञ **'चिति'**, किंवा **'चयनयज्ञ'** है। इसमें **पाँचों पशुओं का,**

और **ग्रहसोम** का, दोनों का सम्बन्ध रहता है । अतः इतर यज्ञों से इसे उत्कृष्ट माना जाता है । यहाँतक कि, कर्म्मकाण्डप्रधान यज्ञों में एक **चयनयज्ञ** ही ऐसा यज्ञ माना गया है, जो 'कर्म्म' होता हुआ भी ज्ञानैकसाध्या **अमृतत्त्वप्राप्ति** का कारण बन जाता है । चयनयज्ञ के लिए ही **'नामृतत्त्वस्य तु–आशास्ति, ऋते चयनात्'** यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है ।

पुरुष–अश्व–गो–अवि–अज, ये पाँचों पशु द्यावापृथिव्य हैं । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों के रसों के तारतम्य से इन पाँचों प्राकृतिक पशुओं का स्वरूप निष्पन्न होता है । इन पाँचों में पुरुषपशु ही सर्वश्रेष्ठ, अतएव सर्वप्रधान है । अतः प्रथम इसी का स्वरूप उपस्थित किया जाता है ।

## १–पुरुषपशुः—

पार्थिव अग्नि, आन्तरिक्ष्य अग्नि [ वायु ], एवं दिव्य अग्नि [ इन्द्र ] इन तीनों प्राणाग्नियों के समन्वय से वैश्वानर का स्वरूप निष्पन्न होता है । **प्राणाग्नित्रयमूर्त्ति यह वैश्वानरतत्त्व ही 'पुरुषपशु' कहलाता है** । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**"इमे वै लोका पूः । अयमेव पुरुषो योऽयं पवते । सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः"**

—श० १३,६,२,१,

वैश्वानरपुरुष के इसी व्यापक स्वरूप का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है–

**"स यः स वैश्वानरः–इमे स लोकाः । इयमेव पृथिवी विश्वम्, अग्निर्नरः । अन्तरिक्षमेव विश्वम्, वायुर्नरः । द्यौरेव विश्वम्, आदित्यो नरः । ते ये तऽइमे लोका इदं तच्छिरः, इदमेव पृथिव्योषधयः श्मश्रूणि, तदेतद् विश्वं वागेव । अग्निः स नरः । सोपरिष्टादस्य भवति । उपरिष्टाद्धस्या अग्निः । इदमेवान्तरिक्षम् । तस्मादेतदलोकम् । अलोकमिव ह्यन्तरिक्षम् । तदेतद् विश्वं प्राण एव । वायुः स नरः स मध्येनास्य भवति । मध्येनह्यन्तरिक्षस्य वायुः । शिर एव द्यौः । नक्षत्राणि केशाः–तदेतद् विश्वं चक्षुरेव । आदित्यः स नरः । अवस्तच्छीर्ष्णो भवति । अवस्ताद्धि दिव आदित्यः । तदस्यैतच्छिरो वैश्वानरः । आत्मायमग्निश्चितः । आत्मानमेवास्यै तत् संस्कृत्य शिरः प्रतिदधाति"** ।

—शत० ब्रा० ६।२ प्र० ३ ब्रा० ३–४–५–६ कं० ।

उक्त वैश्वानरपशु अग्निप्रधान बनता हुआ **वृषामूर्त्ति** है । जिस प्राणी में इसकी प्रधानता होती है, वह पशुसृष्टि में पुरुष ( मनुष्य ) कहलाता है । **पुरुष उस प्राकृतिक पुरुषपशु की प्रतिकृति है** । इतर पशुओं की अपेक्षा यह उस विराट् की सन्निहित प्रतिकृति है । कारण, वैश्वानर त्रैलोक्य में व्याप्त है । उधर प्रजापति भी त्रैलोक्य में व्याप्त है । अग्न्यवच्छेदेन वह **अर्थशक्तिमय** है, वायु अवच्छेदेन वह **क्रियाशक्तिमय** है, एवं इन्द्रावच्छेदेन वह **ज्ञानशक्तिमय** है । इतर पशुओं की अपेक्षा इसमें **ज्ञान–क्रिया–अर्थ**–का पूर्ण विकास है । इसी आधार पर इस पुरुषपशु के लिए–**'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** यह कहा जाता है । यजुःसंहिता का सुप्रसिद्ध **पुरुषसूक्त** इसी विराट्मूर्त्ति पुरुषपशु का निरूपण करता है ।

त्रिवृत्स्थानीय अग्नि पहिली साहस्री है, पञ्चदशस्थानीय वायु दूसरी साहस्री है, एवं एकविंशस्थानीय आदित्य तीसरी साहस्री है। **अग्निप्रधान सहस्रमण्डल वैश्वानररूप है, वायुप्रधान सहस्रमण्डल हिरण्यगर्भमय है, एवं आदित्यप्रधान सहस्रमण्डल सर्वज्ञरूप** है। पार्थिव वैश्वानर एककल है, आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ **अष्टविध धिष्ण्याग्नि** के सम्बन्ध से **अष्टकल** है, एवं दिव्य सर्वज्ञ एककल है। सम्भूय १० कलाएँ होजातीं हैं। यही दशकल विराट् पुरुष है। यही ईश्वरप्रजापति है। वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति पुरुषपशु है। यह पार्थिव प्राण की प्रधानता से **'वैश्वानर'** कहलाता है। सहस्रमूर्त्ति ईश्वर की यदि कोई साक्षात् प्रतिमा है, तो वह यह पुरुषपशु ही है। इसी आधार पर निम्नलिखित निगम वचन प्रतिष्ठित हैं—

**१—"पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा' ( यजुःसं० १३।४१)–(शत० ७।५।२।१७) ।**
**२—"प्राजापत्यो वै पुरुषः" ( तै० ब्रा० २।२।५।३ ) ।**
**३—"पुरुषः प्रजापतिः" ( शत० ६।२।१।२।३ ) ।**
**४—"पुरुषो हि प्रथमः पशूनाम्" ( शत० ६।२।१।१८ ) ।**
**५—"पुरुषः पशूनाम्" ( अधिपतिः ) । तां० ब्रा० ६।२।७ ) ।**
**६—"षोडशकलो वै पुरुषः" ( तै० ब्रा० १।७।५।५ ) ।**
**७—"स वाऽयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु ( पृ० अ० दिवि च० ) पुरि शयः" ( शत० १४।५।५।१८ ) ।**

## २–अश्वपशुः—

दूसरा है **अश्वपशु**। अश्वपशु का स्वरूप आपोमय सौरतेज से निष्पन्न होता है। सूर्य का **सावित्र-तेज** ( जोकि सावित्रतेज **'सावित्री'** नाम से प्रसिद्ध है ) भूपिण्ड की ओर आता है। भूपिण्ड से टकरा कर यह सौरतेज आन्तरिक्ष्य अर्णवसमुद्रगत अप्तत्त्व से संश्लिष्ट होता हुआ भूपिण्ड से टकरा कर पुनः अपने सौरलोक की ओर जाता है। पार्थिवप्राण से संश्लिष्ट होकर लोकालोक–पर्य्यन्त वितत होता हुआ यही सौरतत्त्व **'अश्व'** नाम से व्यवहृत होता है। अप्तत्त्व का अभिमानी देवता **वरुण** है। अतएव अश्व को **'वारुणपशु'** माना जाता है। परन्तु यह शुद्ध वारुण ही नहीं है। अपितु जो आन्तरिक्ष्य अप्तत्त्व सौरतेज से संश्लिष्ट होजाता है, वही अप्तत्त्व अश्व की योनि बनता है। अतएव यह वारुण होता हुआ भी **'सौर्य्यपशु'** माना जाता है। शुद्ध वारुण पशु तो **'महिष'** (भैंस, भैंसा) है। **वरुण, और इन्द्र** में परस्पर विरोध है। अश्व में इन्द्र ( सौरप्राण ) की प्रधानता है, एवं महिष में वरुण की प्रधानता है। अतएव इन दोनों पशुओं में सहज वैर है। इसी आधार पर–**'अश्वमाहिष्य'** न्याय प्रतिष्ठित है।

आन्तरिक्ष्य आपोभाग इसका आत्मा ( शरीर ) है। अप्तत्त्व ऋतप्रधान होता हुआ प्रतिष्ठाशून्य है। अतएव तत्प्रधान अश्वपशु सर्वात्मना अपने शरीर को प्रतिष्ठित रखने में असमर्थ है। अश्वपशु जब भी खड़ा होगा, एक पैर भूपिण्ड से असंस्पृष्टवत् ही रक्खेगा। सूर्य्यरश्मियों की प्रतिष्ठा सौरकेन्द्र है। सूर्य्य के केन्द्र से चारों ओर से रश्मियों का प्रसार होता है। केन्द्रबिन्दु तद् वस्तु का **'अक्ष'** ( धुरा ) कहलाता है। पृथिवी

का प्राजापत्याग्निमय केन्द्र उसका अक्ष है। इसके आधार पर भूपिण्ड अहोरात्र में अपने स्थान पर घूम जाता है। इसी से '**दैनंदिनगति**' का स्वरूप निष्पन्न होता है। अक्ष के सम्बन्ध से ही यह पार्थिवगति '**स्वाक्षपरि-भ्रमण**' नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य्य भी भूपिण्डवत् अपने अक्ष के आधार पर स्वस्थान पर घूमता रहता है, जिसका कि प्रत्यक्ष प्रमाण सूर्य्यगत विभिन्न स्थान-स्थित **माठर-कपिल-दण्डादि** चिह्नों का स्थान परिवर्त्तन है। यह अक्षस्थान ही '**आक्षि**' है। इसी से रश्मियों का विनिर्गम हुआ है। अक्षिस्थान से विनिर्गत सौर-रश्मियाँ ही '**मरीचि**' नाम से व्यवहृत होतीं हैं। सूर्य्य अग्निमय है। इससे अनन्त ( सहस्र ) रश्मियाँ निकलतीं हैं। अनन्त रश्मिगत अनन्त सौरप्राण अनन्त रुद्र हैं। इन सब पर उस एक सूर्य्य का शासन है। यही '**क्षत्ररुद्र**' कहलाता है। रश्मिस्थ मरीचिमय प्राण विराट् है। '**एको रुद्रो न द्वितीयाय॰**' यह वही सूर्य्य है। इसी क्षत्र, एवं विट्रुद्र-सम्पत्ति का निरूपण करती हुई यजुःश्रुति कहती है—

**असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।**
**ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशो वैषां हेड ईमहे ॥**
**—यजुःसंहिता**

सूर्य्यप्रजापति के अक्षिभाग से विनिर्गत रश्मियों के घर्षण से जो पानी उत्पन्न होता है, वही अर्णव समुद्र की प्रतिष्ठा बनता है। चतुर्विध पानियों में से यही सौरपानी '**मरीचि**' नाम से प्रसिद्ध है। **ये ही रुद्राग्नि के अश्रु हैं**। सौरतेजोगर्भित यह अश्रुभाग प्रजापति का अक्षि ( हृदय ) है। हृदय ही ऋक्साम के वितान से बहिर्म्मण्डल का कारण बनता है। यही **अक्षिभाग** पूर्व कथनानुसार **अश्रुरूप** में परिणत होता है। यही '**अश्रु**' पृथिवी से संक्रान्त होकर '**अश्व**' रूप में परिणत होता है। रुद्रतेज अतिप्रखर है। वही इस पशु का जनक है। अतएव इतर पशुओं की अपेक्षा अश्वपशु को '**वीर्य्यवत्तम**' माना जाता है। आन्तरिक्ष्य अब्गर्भित रौद्रतत्त्व ही 'विद्युत्' है। **यह विद्युत् आपोमयी है।** आन्तरिक्ष्य आपः ही इसकी प्रतिष्ठा है। '**यदेतद्‌ विद्योतते विद्युत्**' ( केनोपनिषत् ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यह विद्युत् '**इन्द्र**' है। आपो-मय इन्द्र देवताओं में '**वीर्य्यवत्तम**' है। **अतएव तत्प्राणप्रधान अश्व भी वीर्य्यवत्तम है।** इसी लिए तो अश्व को **सौर्य्य** ( **ऐन्द्र** )-पशु मानना युक्तिसङ्गत होता है। अश्वपशु वास्तव में सौरी इन्द्रविद्युत् का ही प्रतिमान है।

आपोमय यह **अश्वपशु** भूपिण्ड से सूर्य्य पर्य्यन्त व्याप्त है। प्रातःकाल से सायं पर्य्यन्त इस अश्व की व्याप्ति है। **उषाकाल** उपक्रमबिन्दु है, **वृषाकपायी** उपसंहारबिन्दु **है**। **उषा मस्तक स्थान** है। वृषाकपायी **पृष्ठ स्थान** है। सौरत्रैलोक्य में **अब्मूर्त्ति** इन्द्रप्राणप्रधान यह अश्वपशु खड़ा है। इसका सम्यक् परिज्ञान ही वेद का सम्यक् परिज्ञान है। सूर्य्य **त्रयीमूर्त्ति है**। यही वाजिरूप में परिणत होकर जिज्ञासुओं को वेद का स्वरूप बतला रहा है। भगवान् याज्ञवल्क्य ने इसी वाजिरूप सूर्य्य से वेदतत्त्व प्राप्त किया था। **इस द्यावापृथिव्य अप्‌प्रधान प्राणात्मक अश्वपशु की जिस प्राणी में प्रधानता रहती है, प्राणियों में वही पशु 'अश्व' नाम से प्रसिद्ध है**। पूर्व में अश्वपशु के सम्बन्ध में जो जो स्वरूप बतलाए हैं, निम्नलिखित श्रौत वचनों से उन सब की पुष्टि होजाती है—

१—"प्रजापतेर्वा अक्ष्यश्वयत्। तत्परापतत्। तदश्वोऽभवत्। तदश्वस्याश्वत्त्वम्। तद्देवा अश्वमेधेन प्रत्यदधुः" (ता० ब्रा० २१।४।२)।

२—"अथ यदश्रु संक्षरितमासीत, सोऽश्रुरभवत्। अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्" (शत० ६।१।१।१।१)।

३—"अद्भ्यो ह वा अग्रेऽश्वः सम्बभूव। सोद्भ्यः समभवन्नसर्वः समभवत्। असर्वो हि वै समभवत्। तस्मान्न सर्वैः पद्भिः प्रतितिष्ठति। एकैकमेव पादमुद्च्य तिष्ठति" (शत० ५।१।४।५)

४—"अत्योऽसीत्याह। तस्मादश्वः सर्वान् पशूनत्येति।(तै०ब्रा० ३।८।१।६)

५—"अप्सुयोनिर्वा अश्वः" (तै० ब्रा० ३।८।४।३)।

६—"अश्वः पशूनामोजिष्ठो बलिष्ठः" (तै० ब्रा० ३।८।७।२)।

७—"अश्वः पशूनामन्नादो वीर्य्यवत्तमः" (तै० ३।८।७।१)।

८—"क्षत्रं वा अश्वो विडेतरे पशवः" (शत० १३।२।२।१५)।

९—"इन्द्रो वा अश्वः" (कौ० ब्रा० १५।४)।

१०—"असौ वा आदित्योऽश्वः" (तै० ब्रा० ३।६।२३।२)

११—"सौर्य्यो वा अश्वः" (गो० ब्रा० उ० ३।१६)।

१२—"वारुणो हि देवतयाऽश्वः" (तै० ब्रा० १।१२।६)।

१३—"रश्मिना वा अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वोऽयतऽधृतोऽप्रतिष्ठितः पराः परावतं गन्तोः" (शत० १३।३।३।५)।

१४—"समुद्र एवास्य बन्धुः, समुद्रो योनिः" (शत० १०।६।४।१)।

१५—"उषा वाऽश्वस्य मेध्यस्य शिरः" (शत० १०।६।४।१)।

१६—"प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्। दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्" (यजुःसं० ११।१२)।

## ३–गौपशुः—

तीसरा गौ पशु है। इस गौतत्त्व का प्रभवस्थान आपोमय परमेष्ठी है, विकासस्थान सूर्य्य है, एवं व्याप्तिस्थान त्रैलोक्य है। सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्च, सम्पूर्ण यज्ञ इसी 'गौतत्त्व' पर प्रतिष्ठित हैं। भूत की जननी यही सोममयी गौ है। परमेष्ठी सोमलोक है। देवता-क्रमानुसार परमेष्ठी के देवता विष्णु हैं। पारमेष्ठ्य सोम के सम्बन्ध से ही विष्णु 'सोमवंशी' माने जाते हैं। इसी मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति के

प्राण भाग से गौतत्त्व उत्पन्न होता है। **सौम्यप्राण गौ का आत्मा है। सौर अग्नि गौ का शरीर है।** अतएव इसे **अमृत की नाभि कहा जाता है, आग्नेयी माना जाता है।** सूर्य्य सहस्ररश्मि है। इसके सम्बन्ध से यह गौतत्त्व सहस्रधा विभक्त होजाता है। सहस्रधा विभक्त गौ के ३३३ रूप पार्थिव वसुदेवता के साथ संश्लिष्ट रहते हैं, ३३३ विभाग आन्तरिक्ष्य रुद्रदेवता के साथ युक्त रहते हैं, एवं ३३३ रूप दिव्य आदित्य के साथ सम्बन्ध रखते हैं। एक बची हुई गौ **'कामगवी' ( पुराणभाषा के अनुसार 'कामधेनु' )** नाम से प्रसिद्ध है।

त्रिधा विभक्त उक्त गौतत्व स्व स्व स्थान में हीं अपना अपना प्रभुत्त्व रखते हैं, परन्तु यह कामगवी **अग्नि-रुद्र-आदित्य** तीनों के साथ युक्त रहती है। अहोरात्र में एकबार प्रत्येक प्राणी के साथ किसी न किसी समय अवश्य ही इस कामगवी का सम्बन्ध होता है। जिस समय मनुष्य के साथ इस **कामगवी** का सम्बन्ध होता है, उस समय इसके मुख से जो कुछ निकलता है, वह सर्वथा सत्य होजाता है। वह समय अज्ञात है। अतएव शास्त्र का—**'शुभं ब्रूयात्-शुभं ब्रूयात्'** यह आदेश है। लोक में भी—**'सदा शुभ ही बोलो। किसी को बुरा मत कहो, विदित नहीं, किस समय तुम्हारे मुख से क्या निकल जाय'** यह प्रसिद्ध है। **'वह समय' इसी कामगवी का भोगकाल है।** पारमेष्ठय-सौम्यप्राणमयी गौ सूर्य्य के साथ युक्त होकर रश्मिरूप में परिणत होजाती है। सौर रश्मियाँ लोकालोक पर्य्यन्त व्याप्त हैं। गौप्राणमयीं ये रश्मियाँ-उस विष्णुदेवता के गौतत्त्व के 'शृङ्ग' ( सींग ) हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति-कहती है—

**'या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।**
**अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरिः॥'**

इस गौतत्त्व को **रुद्रों की माता, वसुओं की कन्या, एवं आदित्यों की बहिन** बतलाया जाता है। द्वादश आदित्यों की समष्टि सूर्य्य है। अपांप्रणयनविज्ञान का निरूपण करते हुए हमने **भृगु-अङ्गिरा-अत्रि,**-भेदभिन्न परमेष्ठी के तीन मनोता बतलाए हैं। अङ्गिरा की-**अग्नि, यम, आदित्य,** ये तीन अवस्थाएँ हैं, एव भृगु की **अप्-वायु-सोम,** ये तीन अवस्थाएँ हैं। हमने सौम्यप्राण को ही गौतत्त्व बतलाया है। इसका जनक त्रयीगर्भित अब्मूर्त्ति मनःप्राणवाङ्मय परमेष्ठी प्रजापति ही हैं। इधर परमेष्ठी ही आङ्गिरस आदित्य का जनक है। **गौ,-आदित्य,** दोनों एक ही परमेष्ठी की सन्तान हैं। ऐसी अवस्था में हम अवश्य ही इस गौतत्त्व के लिए-**'स्वसादित्यानाम्'** यह कह सकते हैं।

रुद्र आन्तरिक्ष्य देवता हैं। ये प्राणप्रधान हैं। इस प्राण से (रुद्र से) मरुत् उत्पन्न होता है, मरुत् से मारुत (स्पर्शधर्म्मा वायु) उत्पन्न होता है। मारुत का पितामह रुद्रप्राण उसी सौम्य गौप्राण से उत्पन्न होता है। गौतत्त्व को हमने प्रजापति के प्राण से उत्पन्न बतलाया है। प्राण ऋततत्त्व है। इधर आन्तरिक्ष्य रुद्र भी प्राणात्मक होता हुआ ऋत ही है। ऋत का प्रथमरूप पारमेष्ठय गौरूप प्राण ही है। स्वयम्भू सत्य है, पारमेष्ठय भार्गवतत्त्व ऋत है। यही आगे होने वाली ऋतसृष्टियों का जनक है। ऐसी अवस्था में उस प्राण-प्रधान मौलिक गौरूप ऋततत्त्व को हम अवश्य ही इस आन्तरिक्ष्य ऋतरूप रुद्रतत्त्व का जनक मान सकते हैं। इसी आधार पर **'माता रुद्राणाम्'** यह कहना उचित होता है।

हमने अमृत सोम को गौतत्त्व का आत्मा बतलाया है, एवं शरीर आग्नेय बतलाया है। सौररश्मियाँ स्वयं अग्निप्रधान हैं। यही तो इस गौतत्त्व का शरीर है। यह उसी सोमतत्त्व पर निर्भर है। आप जो गौ की प्रकाशमूर्त्ति देख रहे हैं, वह 'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ' के अनुसार सोमाहुति का ही प्रभाव है। अग्नि-तत्त्व 'अग्निर्भूस्थानः' इस नैरुक्त-सिद्धान्त के अनुसार भूलोक की वस्तु मानी जाती है। भूलोकस्थ अग्नि घनता के तारतम्य से, एवं गायत्री-छन्द के सम्बन्ध से अष्टधा विभक्त है। पार्थिव अग्नि की ये आठ अवस्थाएँ ही 'अष्टवसु' कहलाते हैं। गौतत्व के स्थूलभाग का (दृश्यात्मक शरीर भाग का) निर्म्माण इस पार्थिव वागग्नि पर ही निर्भर है। इसी आधार पर इसके लिए—'दुहिता वसूनाम्' यह कहा जा-सकता है।

वसु-रुद्र-आदित्य ही सम्पूर्ण देवता हैं। सब का गौतत्त्व के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-आपः-भेद से लोकसंस्था चार भागों में विभक्त है। इन चारों में क्रमशः—१११, १११, १११, १, इस क्रम से सहस्रधा विभक्त गौतत्त्व प्रतिष्ठित है, जैसाकि पूर्व में बतला दिया गया है। यदि सोममय गौतत्त्व न होता, तो यज्ञ असम्भव था। यज्ञ न होता, तो विश्वसृष्टि असम्भव थी। अतएव हम गौतत्त्व को विश्व, एवं विश्वगत सम्पूर्ण प्राणियों का जनक मान सकते हैं। गौतत्त्व लोकरूप है। चारों लोकों में व्याप्त है। ३३ देवताओं का आत्मा है। अमृतसोम का केन्द्र है। ऐसे इस प्राकृतिक गौपशु (प्राणात्मक पशु) से ही पार्थिव गौपशु का निर्म्माण होता है। इस प्राणी में वही प्राण विद्यमान है। यह उसकी साक्षात् प्रतिकृति है। दोनों अभिन्न हैं। वह गौतत्त्व अग्न्यवच्छेदेन ऋग्वेद का, वायु अवच्छेदेन यजुर्वेद का, आदित्यावच्छेदेन सामवेद का, एवं अबवच्छेदेन अथर्ववेद का अधिष्ठाता है। यही अवस्था तत्प्रतिमाभूत इस गौपशु की है। इसीलिए वेदतत्त्वमर्म्मज्ञ महर्षियोंनें आत्मा में वेदविद्या को विकसित करने का एकमात्र उपाय 'गौसेवा' ही माना है। सत्यकाम जाबालि गौसेवा के प्रभाव से ही ब्रह्मवित् बने थे।

कहना न होगा कि, आर्य्यावर्त्त गोधन के इस महत्त्व को समझते हुए भी इस ओर से आज उदासीन होता हुआ द्रुतगति से नाश की ओर ही अग्रेसर होरहा है। गोपशु सबकी प्रतिष्ठा है। इसी उभयविध (प्राणात्मक एवं प्राणीरूप) गोतत्त्व का अभिन्न दृष्टि से निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

**'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वस्वादित्यानाममृतस्य नाभिः ।**
**प्रनुवोचं चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट ॥**

—ऋक्सं०

वही सोमरस जगन्माता गौ के स्तनों में प्रतिष्ठित रहता है। जो गुण अमृतसोम के बतलाए जाते हैं, आयुर्वेदज्ञोंनें भी वे ही रासायनिक गुण गोदुग्ध के माने हैं, जैसाकि वाग्भट्ट कहते हैं—

**स्वादु पाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्द्धनम् ।**
**प्रायः पयः............ ................ ।**
**.........तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम् ।**
**क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं परम्" ॥**

—अष्टाङ्गहृदये

अबतक गौपशु के सम्बन्ध में हमने जो कुछ बतलाया है, वह निम्नलिखित प्रमाणों पर प्रतिष्ठित है--

१—'इमे वै लोका गौः' (शत० ६।५।२।१७)।

२—'यद्धि किंचान्नं-गौरेव तत्' (शत० २।२।४।१३)।

३—'यज्ञो वै गौः' (तै० ब्रा० ३।६।३)।

४—'साहस्रो वाऽएष शतधार उत्सः (यजुः १३।४९) यद् गौः'
(शत० ७।५।२।३४)

५—'स हैष सोमोऽजस्रो (यजुः १३।४३) यद्गौः'
(शत० ७।५।२।१९)

६—'वैश्वदेवी वै गौः (गो० ब्रा० उ० ३।१९)

७—'आग्नेयी वै गौः' (शत० ७।५।२।१९),

८—'गौर्वा इदं सर्वं बिभर्त्ति' (शत० ३।१०।१४)।

९—'नैते सर्वे पशवो यदजावयश्चारण्याश्च। एते वै सर्वे पशवो यदगव्याः'
(तै० ब्रा० ३।६।६।२)।

१०-'प्राणो वै सोमः' (शत० ६।३।६।४५)

११-'(प्रजापतिः) प्राणाद्गाम् (निरमिमीत) (शत० ७।५।२।६)

## ४-अविपशुः—

चौथा पशु अवि (भेड़) है। इसका प्रधान सम्बन्ध आन्तरिक्ष्य आपोभाग से है। यह पशु सदा ऋततत्त्व से (अप्तत्त्व से) वेष्टित रहता है। पञ्चाग्निविद्या के अनुसार वृष्टि का मूलतत्त्व 'दिक्सोम' है। आदित्याग्नि में 'श्रद्धा' (सोम की मौलिक अवस्था) की आहुति से 'सोम' उत्पन्न होता है। इस सोम की ऋत-सत्य, भेद से दो अवस्थाएँ होजाती हैं। कुछ सोम तो पिण्डरूप में परिणत होजाता है, यही चन्द्रमा है। इसी को सायतन-सशरीर होने से 'सत्य' सोम कहा जाता है। क्योंकि सत्य का 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' यही लक्षण है। सायतनभाव के कारण ही इस चन्द्रपिण्ड के साथ रूपाधिष्ठाता सौर इन्द्रप्राण का (रश्मियों का) सम्बन्ध होजाता है। इसीसे यह चान्द्र सोम प्रकाशयुक्त होजाता है। चान्द्र-सायतन सोमगत-प्रकाश वास्तव में सूर्य्य का ही प्रकाश है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

'अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे'
—ऋक्सं०

कुछ सोम इतस्ततः दिशाओं में व्याप्त होजाता है। यही सोम वायु के द्वारा पर्जन्याग्नि में आहुत होकर 'वृष्टि' का कारण बनता है। इसी अभिप्राय से छान्दोग्यश्रुति कहती है--

'पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः। तस्य वायुरेव समित्। अभ्रं धूमः। विद्युदर्चिः। अशनिरङ्गाराः। ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिनग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवति'

—छां० उ० ५ प्र० ५ खं० ४-५ खं०

दिशाओं में व्याप्त रहने के कारण हीं यह सोम 'दिक्सोम' कहलाता है। यह निरायतन है, अतएव-'अशरीरं अहृदयं ऋतम्' इस लक्षण के अनुसार हम इसे ऋत मान सकते हैं। यही दिक्सोम-'दिशः श्रोत्रे' ( यजुः ) के अनुसार ईश्वरप्रजापति का श्रोत्रेन्द्रिय-स्थानीय है। इसी दिक्सोम से हमारी श्रोत्रेन्द्रिय का निर्म्माण होता है। इसी दिक्सोम से ( जिसे हमने वृष्टि का अधिष्ठाता बतलाया है ) अविप्राण का विकास होता है। वृष्टि होने पर सर्वत्र 'हरियाली' होजाती है। यह हरितभाव सोमगत इसी अविः प्राण की महिमा है। यह विशेषतः आन्तरिक्ष्य पशु है। इसका विशेष सम्बन्ध पृथिवी से है, द्युलोक से नहीं। अत-एव इसे पार्थिवपशु भी माना जाता है। यही कारण है कि, पार्थिव अजपशु, एवं आन्तरिक्ष्य अविपशु का 'भेड़बकरी' इत्यादि रूप से सहयोग बतलाया जाता है। ग्रहविज्ञान के अनुसार उपांपशुग्रह से अजपशु उत्पन्न होता है, एवं अन्तर्य्यामग्रह से अविपशु उत्पन्न होता है। उपांशु-अन्तर्य्याम, दोनों ग्रह सहचारी हैं। इसलिए ये दोनों पशु भी साथ रहते हैं। साथ रहने वाले इन दोनों ग्रहों में उपांशु की आहुति पहिले होती है, अन्तर्य्याम की आहुति पीछे होती है। यही कारण है कि, भेड़बकरियों के झुण्ड में पहिले ( आगे-आगे ) अजपशु चलता है, पीछे-पीछे अविपशु चलता है। उपांशु की आहुति के अन-न्तर ऊर्ध्वभाग की ओर उसका उन्मार्जन होता है, एवं अन्तर्य्याम का रुख नीचे की ओर रहता है। अतएव अजपशु उछलता, कूदता, ऊपर की ओर ग्रीवा रखता हुआ चलता है, एवं अविपशु नीचे की ओर जमीन सूँघता सा चलता है। ( देखिए शत० ४।५।५ )। निष्कर्ष यही है कि, अविपशु अजपशु से मिलता जुलता है। अविपशु के उपर्युक्त धर्म्मों का निरूपण करते हुए निम्नलिखित श्रुतिवचन हमारे सम्मुख आते हैं—

१--'इयं वा ( पृथिवी ) अविः। इयं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति'

—शत० ६।१।२।३३।

२—'वारुणी ( आपोमयी अत एव ऋतरूपा ) त्वाष्ट्री चाविः'

—शत० ७।५।२।२०।

३—'अन्तर्य्यामपात्रमेवान्ववयः प्रजायन्ते'

—शत० ४।५।३।

४--'अविर्वै नाम देवता, ऋते नास्ते परिवृता।
तस्या रूपणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः' ॥

—अथर्वसं० १० कां०। ४ अं०। ८ सू०। ३१ मं०

५--'( प्रजापतिः ) श्रोत्रात्-अविम् (निरमिमीत )'

—शत० ७।५।६।२०।

## ५--अजपशुः—

पांचवाँ पशु **'अज'** है। यह प्रधानरूप से **'पार्थिवपशु'** है। अतएव हम इसे अग्निप्रधान मान सकते हैं पार्थिव प्रजापति भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। **'प्रजापतिश्चरति गर्भे'** यह निगम प्रसिद्ध है। केन्द्रस्थ अग्निमूर्त्ति प्रजापति के आधार पर ही भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। अतएव इस प्राजापत्यतत्त्व को पृथिवी का **अक्ष** ( **धुरा** ) माना जाता है। यह अक्षाग्नि पूर्वकथनानुसार निरन्तर विस्रस्त होता रहता है। विस्रस्त भाग ही **'प्रवर्ग्य'** **'उच्छिष्ट'** आदि नामों से व्यवहृत होता है। **यही उच्छिष्ट पार्थिवाक्ष भाग अजपशु का उपादान बनता है।** जो स्थान प्रवर्ग्याग्नि से निष्पन्न होने वालीं **ओषधि-वनस्पतियों** का है, वही स्थान इस अजपशु का है। ओषधि वनस्पतियाँ हमारे अन्न में उपयुक्त होतीं हुईं भी क्षीण नहीं होती। क्योंकि यह प्राजापत्य अन्न है। यही अवस्था इस अजपशु की है।

इतर पशुओं की अपेक्षा यद्यपि इसका व्यवहार अधिक होता है। परन्तु यह क्षीण नहीं होता। पार्थिव-प्रजा के लिए प्रधान अन्न **'अज'** कहा जाता है। यह निरन्तर **अद्यमान** होता हुआ भी **'क्षीण'** नहीं होता। अतएव इसे **'अज'** कहा जाता है। सम्वत्सरप्रजापति ईश्वरप्रजापति है। सम्पूर्ण विश्व का उपादान बनता हुआ भी यह मूलरूप से उच्छिन्न नहीं होता। हम यदि लौकिक कार्य्यकारण-भावों को देखते हैं, तो हमें विदित होता है कि, कार्य्योत्पत्ति के अनन्तर **'कारण'** उच्छिन्न होजाता है। दूध से मलाई उत्पन्न हुई, अब दूध नहीं। लौह से जङ्ग उत्पन्न हुआ। कालान्तर में सम्पूर्ण लोहा जङ्ग बन गया। अब लोहे की कहीं सत्ता नहीं। परन्तु ईश्वरीय-संस्था में यह बात नहीं है। प्रजापति के प्रवर्ग्यभाग से निरन्तर पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं, परन्तु वहाँ कभी कमी नहीं होती। इसी आधार पर तो प्रजापति के लिए-**"एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्'** यह कहा जाता है।

सम्वत्सरप्रजापति सम्वत्सर में तीन बार प्रसवकर्म्म करता है। इधर अजपशु भी एक वर्ष में तीन सन्ततियों का अधिष्ठाता बनता है। प्रजापति मनःप्राणवाङ्मय है। प्राणभाग से जैसे गौ पशु उत्पन्न होता है, एवमेव वाग्भाग से अजपशु उत्पन्न होता है। वाक्तत्त्व-**'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अग्नि ही है। यह स्थूल धातु है। इसी से ध्रुव भूलोक बना है। अन्तरिक्षादि धर्त्र (तरल) सृष्टियाँ हैं। परन्तु **पृथिवी ध्रुव** है। अतएव इसे **'कपाल'** कहा जाता है। इस कपालरूप ( ध्रुवभावयुक्त ) भूपिण्ड में अग्नि प्रतिष्ठित है। इस अग्नि का ही नाम **'रस'** है ( देखिए शत ६ का० )। इस रस की **ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य**, दो अवस्थाएँ हैं। ब्रह्मौदन की तीन अवस्थाओं से **अग्नि-वायु-आदित्य**, भेदभिन्ना देवसृष्टि होती है, एवं जो उच्छिष्टभाग भूकपाल से संश्लिष्ट रहता है, वही इस अजपशु का उपादान बनता है। **इस प्राणात्मक अजपशु की जिस प्राणी पशु में प्रधानता** होती है, वह भी **'अज'** नाम से व्यवहृत होता है। अजपशु की उपर्य्युक्ता स्वरूपसिद्धि के लिए निम्नलिखित श्रौत प्रमाण हमारे सम्मुख उपस्थित होरहे हैं—

**१--"अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत्-सोऽजोऽभवत्"** । ( शत० ४।१।१।११ )

**२--"तस्याक्षिभ्यामेव तेजोऽस्रवत् । सोऽजः पशुरभवत्"** । ( शत० २१।७।१।२। )

३—"( प्रजापतिः ) वाचोऽजम् ( निरमिमीत )" । ( श० ७।५।२।६। )
४—"वाग्वाऽजः" ( गो० ब्रा० उ० ३।१६ । ) ।

पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज-इन पांच पशुओं में हीं इतर सब पशुओं का अन्तर्भाव है । अतएव इन्हें **'सर्वपशु'** माना जाता है, जैसाकि वाजिश्रुति कहती है—

**'पुरुषोऽश्वोगौरविरजो भवन्ति । एतावन्तो वै सर्वे पशवः'** । ( शत० ६।२।१ )

**तथाकथित पाँचों प्राणपशुओं से ही प्राणी पशुओं का निर्म्माण होता है ।** प्रकरण के आरम्भ में हमने पाँचों पशुओं को **'द्यावापृथिव्य'** बतलाया है । द्यावापृथिवी त्रैलोक्य है । अष्टविध-त्रिलोकियों में से प्रकृत में सम्वत्सररूप-स्तौम्य-त्रिलोकी ही अभिप्रेत है । स्तौम्य-त्रिलोकी में **अग्नि-वायु-आदित्य,** इन तीन आग्नेय देवताओं का साम्राज्य है । तीनों में दो सन्धियाँ पड़ती हैं । इसप्रकार सम्वत्सराग्नि पञ्चविध होजाता है । यही अग्नि की पाँच चितियाँ हैं । इसी आधार पर **'पञ्चचितिकोऽग्निः'** यह कहा जाता है । पञ्चाग्नि के कारण ही सम्वत्सरयज्ञ **'पाङ्क्त'** कहा जाता है । इस सम्वत्सर का पञ्चचितिक अग्नि विस्रस्त होकर सर्वप्रथम पार्थिव उषा में आहुत होता है । पार्थिव उषा **'योनि'** है, सम्वत्सराग्नि **'रेत'** है । इस की आहुति से जो नवीन अग्नि उत्पन्न होता है, वह **'कुमार'** नामसे व्यवहृत होता है । पृथिवी में आकर सम्वत्सराग्नि अपनी स्वतन्त्र सत्ता खोता हुआ मूर्च्छित होता है, अतएव **'कौ म्रियते'** इस व्युत्पत्ति में इसे **'कुमाराग्नि'** कहा जाता है । पृथिवी की एक साम्वत्सरिक परिक्रमा से तथोक्त कुमाराग्नि का स्वरूप निष्पन्न होता है ।

यही कुमाराग्नि आगे जाकर **१—रुद्र ( अग्नि ), २—शर्व (आपः), ३—पशुपति ( ओषधि ), ४—उग्र ( वायु ), ५—अशनि ( विद्युत् ), ६—भव ( पर्जन्य ), ७—महादेव ( चन्द्रमा ), ८—ईशान ( आदित्य ), इन आठ** स्वरूपों में परिणत होजाता है । ये आठ विवर्त्त एक ही अग्नितत्त्व की आठ अवस्थाएँ हैं । **'अग्निर्वा रुद्रः'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यही **अष्टमूर्त्ति** शिव है । व्यष्टिरूप से यही **'चित्राग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं समष्टिरूप से यही 'कुमार' है । कुमार **'नवम'** है । इसी के तथोक्त आठ भेद हैं । यह चित्राग्नि ही आगे जाकर पुरुष अश्वादि- पाँच पशुओं के रूपमें परिणत होता है । कुमाराग्नि रुद्र है । वही इन पाँचों पशुओं का अधिष्ठाता है, **अतएव रुद्र को 'पशुपति' माना जाता है** । इसप्रकार वह विस्रस्त सम्वत्सराग्नि ही **कुमार-चित्र,** रूपमें परिणत होता हुआ अन्ततः **पञ्चपशुरूप** में परिणत होजाता है । **'पश्वग्नि'** सम्वत्सराग्नि का अन्तिम परिणाम है । सम्वत्साग्नि विस्रस्त हुआ था । उसे प्रजापतिने अन्तमें इन पशुओं में ही प्राप्त किया । वहाँ उसने अपने रूपको प्राप्त किया । **यहीं प्रजापतिने अपने विस्रस्त रूपको देखा,** अतएव **'अपश्यत् तस्मात् पशवः'** इस व्युत्पत्ति से यह अग्नि **'पशु'** नामसे प्रसिद्ध हुआ । इन्हीं पशुओं से प्रजापति ने अपने विस्रस्त भाग का संस्कार कर अपनी कमी पूरी की ( देखिए ! शत० ६ कां० १ प्र० ३-४ ब्रा० ) ।

तात्पर्य्य यही है कि, सम्वत्सरप्रजापति का अग्निभाग पशुनिर्म्माण में विस्रस्त ( खर्च ) होता रहता है । हम ( पशु ) उसके अग्निभाग को लेकर ही उत्पन्न हुए हैं । इस से प्रजापति में कमी होजाती है । **इस**

कमी को पूरी करने के लिए प्रजापति हमारा आलम्भन कर देते हैं। आलम्भन से हमारे (पशुओं के) शरीर का अग्नि उत्क्रान्त होकर प्रजापति के सम्वत्सराग्नि में चित होकर उसके विस्रस्तभाग को पुन; संहित-परिपूर्ण-कर देता है। इसप्रकार हम उसे खाकर ( उसके अग्निभाग को लेकर ) जीवित हैं, एवं अन्ततः वह हमें खाकर अपना स्वरूप प्रतिष्ठित रखने में समर्थ होता है। आदान-विसर्गात्मक यह 'भैषज्ययज्ञ' निरन्तर होता रहता है। उसका अग्नि हमारे में चित होता रहता है, तो हमारा अग्नि उसमें चित होता रहता है। अग्निचिति के सम्बन्ध से ही यह यज्ञ 'अग्निचित्या'-'अग्निचयन'-'चिति' आदि नामों से प्रसिद्ध है।

सम्वत्सरप्रजापति को हमने 'अग्निमूर्त्ति' बतलाया है। यह अग्नितत्त्व-'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अमृत-मर्त्य भेद से दो भागों में विभक्त है। 'अमृताग्नि' याज्ञिक परिभाषानुसार 'चितेनिधेय' कहलाता है। एव मर्त्याग्नि 'चित्य' नामसे प्रसिद्ध है। स्थूल भूताग्नि चित्याग्नि है, सूक्ष्म प्राणाग्नि चितेनिधेयाग्नि है। भूताग्नि भूत है, प्राणाग्नि देवता है। देवता, एवं भूत रूपसे ही प्राजापत्याग्नि का विकास होता है। भूतप्राणमय सम्वत्सराग्नि से उत्पन्न होने वाले उपर्युक्त पाँचों पशु भी भूतप्राणमय ही हैं। वहाँ भूतचिति ऋतुरूप है। १-वसन्त, २-ग्रीष्म, ३-वर्षा, ४-शरत, ५-हेमन्तशिशिर ये पाँच ऋतुएँ पाँच भूताग्नि हैं। इनसे शरीर का निर्म्माण होता है। पशुओं का शरीर मर्त्य है। इसमें भी-मज्जा, अस्थि, स्नाव, मांस, मेद, ये पाँच मर्त्या चितियाँ हैं। वहाँ अग्नि, वायु, आदित्य, २ सांध्यप्राण भेद से पाँच प्राणचितियाँ हैं। तदनुसार ही यहाँ भी-प्राण, अपान, समान, उदान, ये पांच प्राणचितियाँ हैं। दोनों का स्वरूप अभिन्न है।

प्रजापति पशुओं के भूत-प्राण, दोनों भागों का एकसाथ ही अपने में चयन नहीं करते। अपितु चयन से पहिले प्राण-भूत दोनों चितियों का विशकलन कर देते हैं। पहिले पशु का प्राण निकल जाता है। यह प्राणचिति स्वतन्त्ररूप से होती है। भौतिक शवभाग शेष रह जाता है। अग्निदाह से यह भी क्रमशः स्वतन्त्ररूप से प्रजापति के भूतभाग में चित होजाता है। इसप्रकार सम्वत्सरप्रजापति स्वयज्ञसिद्धि के लिए पाँचों पशुओं का आलम्भन किया करते हैं। पशुओं के आलम्भन से ही वह अमृतभावापन्न बन रहा है। यदि पार्थिव पाँचों पशुओं का आलम्भन न होता, एवं केवल नित्य नवीन पशु उत्पन्न ही होते रहते, तो कुछ ही समय में सम्वत्सरप्रजापति अपनी प्रतिष्ठा खोबैठते। परन्तु ऐसा नहीं होता। उसे आलम्भन करना पड़ता है। आलम्भन के अनन्तर जो उभयविध अग्निभाग उसमें जाता है, इसी से वह एकप्रकार से जीवित है। इसी आधार पर-'इतः प्रदाना ह्येते ( उपजीवन्ति )' यह निगमवचन प्रतिष्ठित है। सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि, सम्वत्सरप्रजापति स्वस्वरूपसिद्धि के लिए तद्द्वारा, एवं अमृतत्त्वप्राप्ति के लिए निरन्तर पाँचों पशुओं का आलम्भन किया करते हैं। और प्राकृतिक पश्वालम्भन का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

जिस प्रकार पिता, पुत्र, पत्नी, स्वामी, इत्यादि शब्द सापेक्ष हैं, उसी प्रकार 'प्रजापति' शब्द भी स्वामी-सेवक-भावानुबन्धिनी सापेक्षता से नित्य समन्वित है। जैसे पुत्र पिता की, पत्नी पति की, एवं स्वामी सेवक की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार प्रजापति प्रजा की अपेक्षा रखता है। बिना प्रजा के जिस प्रकार

**'राजा'** शब्द निरर्थक है, उसी प्रकार बिना प्रजा के **'प्रजापति'** शब्द का भी कोई मूल्य नहीं है। इसी सापेक्ष भाव को लक्ष्य में रख कर आप्तपुरुष प्रजापति का--**'आत्मप्राणपशुसमष्टिः प्रजापतिः'** यह लक्षण किया करते हैं। आत्मा **भोक्ता** है, प्राण **भोगसाधन** है, एवं पशु **भोग्य** है। **भोक्ता, भोगसाधन, एवं भोग्य की समष्टि ही प्रजापति है।** समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से सब में तीनों भाव विद्यमान हैं। इसी आधार पर **'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च'** ( शत० ब्रा० ) यह निगम प्रतिष्ठित है।

वह तत्त्व, जो स्वयं आत्मनिर्भरता रखने में समर्थ न हो, **'पशु'** है। जिस तत्त्व पर आत्मप्रजापति भोग्यरूप से दृष्टि रखता हो, वही पशु है। सम्वत्सर-प्रजापति का वह प्रवर्ग्यभाग, जिस से प्रजापति अपने विस्रस्तभाव की पूर्त्ति करता है, वही पशु है। सम्वत्सरप्रजापति का विस्रस्तभाग प्रवर्ग्य बन कर सबसे पहिले पार्थिव उषाग्नि में आहुत होता है। उषा **'योनि'** है, सम्वत्सराग्नि का प्रवर्ग्यभाग **'रेत'** है। अन्तरिक्ष में व्याप्त मातरिश्वा वायु **'रेतोधा'** है। पृथिवी की एक साम्वत्सरिक परिक्रमा से पार्थिव उषा में सिक्त सम्वत्स--राग्नि पृथिवी की वस्तु बन जाता है। दूसरे शब्दों में अपनी स्वतन्त्र सत्ता से अभिभूत होता हुआ पृथिवी में मूर्च्छित होजाता है, पृथिवी की वस्तु बन जाता है। अतएव **'कौ म्रियते'** इस व्युत्पत्ति से यह प्रवर्ग्याग्नि एक सम्वत्सर के अनन्तर **'कुमार'** नाम से व्यवहृत होने लगता है। आगे जाकर यह कुमाराग्नि अष्टविध **चित्याग्नि** के रूप में परिणत होता है। चित्राग्नि हीं आगे जाकर **पञ्चपशुरूप** में परिणत हुआ है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है।

प्रकृत में उक्त सिंहावलोकन से यही बतलाना है कि, प्रजापति के भोग्य केवल **'पञ्चपशु'** ही बनते हैं। यह लोक में प्रसिद्ध है कि, जब किसी व्यक्ति की किसी पर दृष्टि पड़ती है, तो कहा जाता है—**'अमुक व्यक्ति की अमुक बात पर दृष्टि पड़ गई'**। भोगेच्छा में दृष्टिसूत्र को ही प्रधानता दी जाती है। इसी दृष्टिभाव को लक्ष्य में रखकर **'पशु'** शब्द का **'यद्पश्यन्--तस्मात् पशुः'** यह निर्वचन किया जाता है। आत्मा **पशुपति** है, प्राण **पाश** है, एवं वाग्भाग **पशु** है। तीनों की समष्टि **ही पशुपति है।** प्रत्येक वस्तु के साथ तीनों भाग नित्य सम्बद्ध हैं। चींटियों के दल को देखिए। वहाँ एक अतिस्थूल चींटी सब पर शासन करती हुई ही चलती मिलेगी। गृहस्थसंस्था में एक प्रजापति अवश्य होगा। बालक्रीड़ा में एक बालक सम्पूर्ण बालमण्डली का अवश्य ही अधिष्ठाता बन जायगा। अन्य पशुओं का मृगेन्द्र स्वाभाविक शासक मिलेगा। निदर्शनमात्र है। सर्वत्र प्रजापति की सत्ता मिलेगी। इसी आधार पर तो-**'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिताबभूव'** इत्यादि मन्त्रश्रुति चरितार्थ होती है।

**'पशु भोग्य है, पशुपति भोक्ता है'**, यह पूर्व के निदर्शन से भलीभाँति सिद्ध होजाता है। भोक्ता-तत्त्व को विज्ञानभाषा में **'अन्नमत्ति'** इस व्युत्पत्ति से **'अन्नाद'** नाम से व्यवहृत किया जाता है, एवं भोग्य को **'अद्यत्ते'** इस व्युत्पत्ति से **'अन्न'** कहा जाता है। अन्नाद अग्नि है, एवं अन्न सोम है। ऐसी अवस्था में हम पशु को **सोम**, एवं पशुपति को **अग्नि** नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। पशु अन्न है। इसे हमने **'वाक्'** कहा है। जिन रश्मियों से केन्द्रस्थ पशुपति पशु को अपना अन्न बनाता है, हृदय से चारों ओर अशनाया-रूप से वितत होने वाला वह रश्मिभाग ही **'प्राण'** नाम से प्रसिद्ध है। एवं जहाँ से प्राण उठता **है**, वह मूलतत्त्व [ आत्मा ] **'उक्थ'** नाम से व्यवहृत होता है। पूर्वोक्त **आत्मा, प्राण, पशु, ही क्रमशः उक्थ--**

अर्क–अशीति है। उक्थ अन्नादाग्नि है, अर्क अग्निरश्मियाँ हैं, एवं अशीति पशु अन्न है। इसी अशीतिरूप पशु की आहुति से उक्थाग्नि स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। 'उक्थ' नाम अशीति के सम्बन्ध पर ही प्रतिष्ठित है। बात यथार्थ है। जबतक शारीराग्नि में अन्नसोम की आहुति होती रहती है, तभीतक वह अग्नि अभिव्यक्त रहता है। उक्थाग्नि का आख्यान [ नाम, प्रसिद्धि ] अशीति पर ही निर्भर है। **अशीति ही महदुक्थ** के विस्रस्त भाग को पूर्ण कर **आप्यायित** करती रहती है। इसी सहज–प्राकृत विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाख्यायते'** ( शत० १०।१।२।६ )

**'आत्मा महदुक्थम्'** ( शत० १०।१।२।५। )

आत्मा **'उक्'** है। अन्न **'थम्'** है। **'थम्'** प्रतिष्ठाभाव का द्योतक है। 'उ' प्राण का, एवं 'क' कार वाक् का द्योतक है। आत्मा स्वयं मनःप्रधान है। मन बिना प्राण, वाक् के अनुपपन्न है। वाक् में **उ–अ–क्** इतने अक्षर हैं। **'उकार'** प्राण का वाचक है, **'अकार'** मन का वाचक है, एवं **'ककार'** वाक् का वाचक है। आत्मा में अकारकला का अन्तर्भाव है। शेष उकार ( प्राण ), ककार ( वाक् ) बचते हैं। इन दोनों का अकारात्मक ( मनोमय ) आत्मा के साथ नित्य सम्बन्ध है। अतएव आत्मा के लिए–**'स वा एष आत्मा–वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** यह लक्षण किया जाता है। इसी त्रिपुटि–भाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने आत्मा को **'उक्'** शब्द से व्यवहृत किया है। इस अन्नादरूप **उक्** ( **आत्मा** ) की प्रतिष्ठा अन्न है। वहीं आत्मा ठहरता है। अतएव अन्न को–**'थम्'** शब्द से व्यवहृत किया गया है। **'उक्–थम्'** दोनों की समष्टि ही **'उक्थम्'** है। **अन्नान्नाद की समष्टि ही उक्थ है। अग्निसोम उक्थ है। आदित्य चन्द्रमा उक्थ है। 'समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते'** इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा भी उक्थ कहलाता है, एवं अन्न भी उक्थ कहलाता है।

पशुभाग आत्मा की वाक् कला है। यह वाक् **अमृता–मर्त्या** भेद से दो भागों में विभक्त है। अमृतावाक् **'इन्द्र'** नाम से प्रसिद्ध है। यह इन्द्र ( जो कि **'श्वा'** नाम से प्रसिद्ध है)–**'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन'** के अनुसार सर्वत्र व्याप्त है। कोई स्थान इस इन्द्रतत्त्व से शून्य नहीं है। जिसे आप शून्यस्थान समझते हैं, वहाँ भी उक्त **'श्वा'** इन्द्र व्याप्त है। 'श्वा' इन्द्र के अवस्थान से ही **'शुने हितम्'** इस व्युत्पत्ति से वह स्थल **शून्य** कहलाता है। यही सृष्टि का **आलम्बन** है। यही **अमृताकाश** है। इसे ही **'परमेव्योमन'** कहा जाता है। यही सबका **अध्यक्ष** है। मर्त्यावाक् **इन्द्रपत्नी** है। यही **मर्त्याकाश** है। जिसके लिए **'तस्माद्वा-एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** यह कहा जाता है। वह आकाश **'इन्द्रपत्नी'** नाम से प्रसिद्ध है। यही मर्त्याकाश है। यही विश्व का उपादान है।

यही वाक्तत्त्व उत्तरोत्तर होने वाली बलचितियों के कारण क्रमशः **वायु, तेज, जल, मृत्** रूप में परिणत होता हुआ पञ्चभूतस्वरूप में परिणत होजाता है। दृश्य प्रपञ्च पञ्चभूत का समुच्चय है। पञ्चभूत का मूल उपादान **'वाक्'** (**मर्त्यावाक्**) है। इसी विज्ञान के आधार पर—**'अथो वागेवेदं सर्वम्'–'वाचीमा त्रिधा भुवनान्यर्पिता'** इत्यादि निगम वचन प्रतिष्ठित हैं। विश्व की भाँति ही विश्वज्योति है। भान ज्ञान

है। ज्ञान प्रकाश है। आँख खोलने के साथ ही विश्वप्रपञ्च हमारे सम्मुख आजाता है। यह एक प्रकार की ज्योति है। यदि वाङ्मय पञ्चभूत न होते, तो विश्वजोति का अभाव था। ऐसी अवस्था में हम वाग्रूप पशु को अवश्य ही विश्वजोति मान सकते हैं। अपिच पञ्चभूत ही हमारे अन्न हैं। बिना अन्न के सर्वत्र अन्धकार है। इसीलिए भी अन्नपशु को, किंवा पशुअन्न को **विश्वज्योति** ( **सर्वज्योति-सबका प्रकाश** ) कह सकते हैं।

पशुसोम की आहुति से ही अन्नादाग्नि प्रदीप्त होता है। अग्नि में सोम की आहुति होना ही यज्ञ है। ऐसी अवस्था में **'तास्थ्यात्ताच्छब्द्यम्'** इस न्याय के अनुसार यज्ञस्वरूप-समर्पक होने से इस पशु को 'यज्ञ' भी कहा जासकता है।

प्रत्येक वस्तु को हमने 'प्रजापति' कहा है, साथ ही उसमें **आत्मा-प्राण-पशु**-इन तीन कलाओं की सत्ता बतलाई है। आत्मतत्त्व **'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानः'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वस्तु के केन्द्र में हृदयाकाशस्थ दहराकाश (दभ्राकाश) में प्रतिष्ठित रहता है। प्राणतत्त्व ( जोकि रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द से असंस्पृष्ट तत्त्व है) वस्तु में सर्वत्र व्याप्त रहता है। पाञ्चभौतिक क्षरपरमाणुओं को एकसूत्र में बद्ध रखकर नियत काल पर्य्यन्त वस्तुपुद्गल को स्व स्वरूप में प्रतिष्ठित रखने वाली शक्ति ही **'प्राण'** है। यही दार्शनिक भाषा में **'कूटस्थ अक्षर'** नाम से प्रसिद्ध है। यही प्राणतत्त्व ब्राह्मणग्रन्थों में **'विधर्त्ता'** नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस दिन यह प्राण वस्तु से निकल जाता है, उस दिन वस्तुगत परमाणु श्लथ होजाते हैं। फलतः वस्तुस्वरूप ही उच्छिन्न होजाता है। तीसरा है वाक्तत्व। यही **'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** के अनुसार **'विपरिणामी'** होने से **'क्षर'** नाम से प्रसिद्ध है। जिसे आप चर्म्मचक्षुओं से देखते हैं, जो वस्तु का शरीर है, वही वाग्भाग है। यही पूर्वपरिभाषानुसार **'पशु'** है। इसी आधार पर वाक्पिण्ड ( प्रत्येक वस्तु वस्तु के दृश्य स्थूल पाञ्चभौतिक पिण्ड ) को **'पशु'** माना जाता है।

उत्पन्न होने वाले पदार्थमात्र पशु हैं। इनमें— **माता-पिता-पुत्र** तीन भाग सम्मिलित रहते हैं। माता का **शोणित**, पिता का **शुक्र**, एवं तीसरा औपपातिक **आत्मा**, तीनों के समन्वय से प्राणी पशु का स्व-रूप निष्पन्न होता है। अपिच प्रकारान्तर से—**गर्भ, उल्व, जरायु**, भेद से भी प्राणी पशु तीन भावों से नित्य आक्रान्त है। इसी आधार पर पशु को **'त्रिवृत्'** माना जाता है। पूर्व में पशु के सम्बन्ध में जो कुछ विशेषताएँ बतलाईं गईं हैं, वे निम्नलिखित श्रौत बचनों से स्पष्ट होजातीं हैं—

१—**'एष (अग्निः) उऽएवोक्, तस्यैतदन्नं थम्, तदुक्थम्'**।( शत० १०।४।१।४ )
२—**'आदित्यो वा उक्। तस्य चन्द्रमा ( सोम ) एव थम्।** ( शत० १०।६।२।६ )
३ **'पशुर्वै प्रत्यक्षं सोमः'** ( शत० ५।१।३।७ )
४—**'सोम एवैष प्रत्यक्षं यत् पशुः'** ( कौ० ब्रा० १२।६ )
५—**'पशवो वा उक्थानि, पशवो विश्वं ज्योतिः'**। ( तां० ब्र० १६।१०।२। )
६—**'पशवो वै यज्ञः'** (शत० ३।१।४।६)

७—'वपुर्हि पशवः' ऐ० ब्र० ५।६)

८—'त्रिवृद्धै पशवः—पिता, माता, पुत्रः । अथो गर्भ, उल्वं, जरायुः'

( शत० ८।६।२।२ )

पूर्वप्रकरण से यह निर्विवाद सिद्ध होजाता है कि, बिना पशु के यज्ञ कदापि सम्पन्न नहीं होसकता । यज्ञार्थ पशुहिंसा अनिवार्य्य है *। पशु की उत्पत्ति एकमात्र यज्ञ के लिये ही हुई है । यज्ञ आत्मा का स्वरूप है। इसके लिए यदि पशु का आलम्भन किया जाता है, तो पशु 'स्वादिष्ट' ( आत्मोपयोगी ) है । यदि मन-स्तुष्टि के लिए पशुका मारण किया जाता है, तो यह 'मदिष्ट' है । इन्द्रिय-लोलुपता से माँस खाना मन को प्रसन्न करना है । यही 'मदिष्ट' भाव है। यह प्रत्यवाय का कारण है, आत्मपतन का हेतु है। आसुरी बुद्धि वाले नरराक्षस ही इस वृत्ति को प्रधान मानते हैं। परन्तु जो दैवीसम्पत्-युक्त 'देवपद' भाक् वैज्ञानिक मनुष्य हैं, वे केवल यज्ञसिद्धि के लिए ही पशु का आलम्भन करते हैं । उनके लिए पशु इन्द्रियतृप्ति का साधन नहीं, अपितु आत्माभ्युदय का कारण है । इन्हीं दोनों उत्तमाधम-वृत्तियों का उल्लेख करते हुए महर्षि ताण्ड्य-कहते हैं—

*—पशुवपानुगत-'मेध' के सम्बन्ध में आजकल के कल्पनाभक्त विद्वान् परानुरञ्जनरूपा भावुकतामात्र के संरक्षण-व्यामोहन से व्यामुग्ध बनते हुए पश्वालम्भन, तथा पशुमेध, आदि शब्दों के काल्पनिक-अर्थों का सर्जन करते हुए अपनी दिग्देशकालानुबन्धिनी लोकैषणा को सफल करते रहने के लिए आकुल व्याकुल बने हुए हैं, जैसाकि उनके समाचारपत्रानुबन्धी व्यामोहक-सामयिक-लेखों से स्पष्ट है। प्रस्तुत पश्वालम्भनमीमांसा से उन काल्पनिक-अध्यात्मवादियों का उद्बोधन होगा, ऐसी आशा की जासकती है। निरूपित इस श्रौतसन्दर्भ के साथ साथ ही निम्नलिखित स्मार्त्त-सन्दर्भ की ओर भी हम उन कल्पनाभक्तों का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिस सन्दर्भ के द्वारा विस्पष्ट शब्दों में पश्वालम्भन समर्थित है—

१—नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यत् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥
२—यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥
३—क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥
४—नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥
५ न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथा मांसानि खादतः ॥

'स्वादिष्टा वै देवेषु पशव आसन्, मदिष्टा असुरेषु' ।

—तां० महा ब्रा० ८।४।२

सभी यज्ञों में पशु अपेक्षित हो, यह बात नहीं है। सोमतत्त्व सब यज्ञों में अपेक्षित है, परन्तु अवस्था–न्तर से। कहीं हविःसोम पर्य्याप्त है, कहीं वाजसोम पर्य्याप्त है, कहीं ग्रहसोम (वल्लीसोम) अपेक्षित है, तो कहीं पशुवपागत सोम ही काम में लाया जाता है। प्रकृति के नित्ययज्ञ भिन्न भिन्न सोमों से निष्पन्न होते हैं। उन्हीं के आधार पर वैध यज्ञों का आविष्कार हुआ है। अतः उन प्राकृतिक यज्ञों में आहुतिद्रव्य की जो व्यवस्था ऋषियोंनें उपलब्ध की है, उसी का वैधयज्ञों में विधान किया है। किसी यज्ञ में हवि का विधान देखकर सर्वत्र हवि का विधान मान लेना, एवं पशुविधान देखकर सर्वत्र पशुवपा की कल्पना करना नितान्त असङ्गत है। ऋषियोंनें सूत्रग्रन्थों में तत्तत् यज्ञों की जो तत्तत् पद्धतियाँ बतलाईं हैं, वे ही हमारे लिए मान्य हैं। तदनुगमन में हीं हमारा अभ्युदय है। अपनी मनोवृत्ति के अनुसार कल्पित पद्धतियाँ बना डालना, शब्दों के मनमाने अर्थ कर बैठना, अपने कल्पित सिद्धान्त से विरुद्ध शास्त्रीय वचनों को प्रक्षिप्त मानलेना विक्षिप्तता के अतिरिक्त और क्या माना जासकता है ?।

प्रकरण के आरम्भ में हम बतला चुके हैं कि, यज्ञ में पशु अपेक्षित नहीं है–अपितु प्रधानरूप से (प्रधान देवता के लिए) 'वपा' अपेक्षित है। क्योंकि वपा में हीं वह प्राणदेवता प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञ के द्वारा हम अपने मानुषात्मा को आधिदैविक प्राणदेवता के साथ (ग्रन्थिबन्धन–सम्बन्ध के द्वारा) संलग्न कर देते हैं। हमारा मानुषात्मा पार्थिव प्राणप्रधान है। उधर दिव्य देवप्राण सौरप्राण–प्रधान है। इस विजातीयभाव के कारण दिव्यप्राण का मानुषात्मागत पार्थिव प्राण के साथ योग नहीं होसकता। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए ही 'पशुवपा' को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। साक्षात्कृतधर्म्मा ऋषियोंनें अनन्तकाल की परीक्षा के अनन्तर यह निश्चय किया कि, तत्तत् प्राणदेवता तत्तत् पशुवपा में प्रतिष्ठित हैं। अतः तत्तद्यज्ञ–विषयों में उन्होंनें तत्तत् पशुओं का विधान किया। दिव्यप्राण सौरप्राण है। यह असुरों का विरोधी है। अतः वपा निकालने के वे ही उपाय ऋषियोंनें निर्णीत किए, जिनसे कि असुरप्राण का वपाप्राण पर आक्रमण न हो। लोहधातु आसुर धातु है। अतएव शस्त्र से आलम्भन न कर 'मुष्टि' के आघात से ही आलम्भन का विधान किया गया। आलम्भन करते समय जो पशु का शब्द निकलता है, वह दुःखमय होता हुआ आसुर है। अतः उसका भी बलात् निरोध किया गया।

---

६–नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥
७–असंस्कृतान् पशून् मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥
८–यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयम्भुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥

—मनुः ५।३० से ३६ पर्य्यन्त

'हृण्मेदस्तु वपा वसा' के अनुसार हृदयस्थान में एक श्वेत झिल्ली के आकार का सर्वशरीर-प्रतिष्ठारूप जो सोममय स्निग्ध धातु है, वही 'वपा' नाम से प्रसिद्ध है। यही 'मेद' कहलाता है। इसीके द्वारा यः कर्त्ता यजमान स्व-आत्मप्राण को दिव्य देवता के साथ मिलाने में समर्थ होता है। अतएव 'मेधृ सङ्गमने' के अनुसार इसे 'मेध' कहा जाता है। 'मेध' एक प्रकार की चर्बी (घृत) है। यही तत्तत्पशु का प्राणायतन है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

१-'मेदो वै मेधः'(श० ३।८।४।६)
२-'पशुर्वै मेधः'(ऐ० ब्रा० २।६)
३-'मेधो वा आज्यम्' (तै० ब्रा० ३।६।१२।१)

सर्वत्र पशुमेध ही अपेक्षित हो, यह बात नहीं है। मेध-ग्रहण-व्यवस्था यज्ञस्वरूप पर ही निर्भर है। जैसा यज्ञ होगा, तदनुरूप ही मेध अपेक्षित होगा। उदाहरणार्थ चयनयज्ञ द्यावापृथिव्य यज्ञ है। अतः यहाँ द्यावापृथिव्य, पूर्वप्रतिपादित पाँचों पशु अपेक्षित रहते हैं। सोमयज्ञ सम्वत्सरयज्ञ है। उस की प्रतिकृति अजपशु है। अतः वहाँ इसी की प्रधानता रहती है। प्रकृत दर्शपूर्णमासयज्ञ का केवल भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध है। अतः यहाँ पार्थिव मेधरूप व्रीहि यव से ही काम चल जाता है। भूपिण्ड सब यज्ञों की प्रतिष्ठा है। इसपर उत्पन्न होने वाले व्रीहि यव में आशंकिरूप से उक्त पाँचों पशुओं का मेधभाग विद्यमान है। पुरुषपशु का मेध भाग अश्व का उपादान बनता है, अश्व का मेध भाग गौ में आता है। गौ का मेध भाग आन्तरिक्ष्य अविपशु में संक्रान्त होता है, एवं अवि का मेधभाग पार्थिव अज पशु में आता है। अज में पाँचों रस हैं। अतएव अज को 'सर्वपशु' माना जाता है। और प्राणात्मक इसी अजपशु के मेध भाग से व्रीहि यव की पुष्टि होती है।

यज्ञविज्ञान के प्रारम्भिक समय में देवतापदभाक् महर्षि यज्ञ के सम्बन्ध में अध्यवसायपूर्वक अपना तत्त्वान्वेषणात्मक परीक्षणकर्म्म (शुष्केष्टियों के द्वारा) सतत प्रक्रान्त रखते थे। जब वे दर्शपूर्णमास यज्ञ करने लगे, तो मेधसम्पत्ति की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई। तदर्थ सर्वप्रथम उन्होंने (परीक्षा के लिए) पुरुष-पशु का आलम्भन किया। परन्तु उन्होंने आगे जाकर यह निश्चय किया कि, पुरुष का मेध तो गौ में संक्रान्त रहता है। अतः यदि इसीसे काम चल जाय, तो पशुश्रेष्ठ पुरुष का (दर्शपूर्णमास की स्वरूप सिद्धि के लिए) क्यों आलम्भन किया जाय। यह सोचकर उन्होंने गौ का आलम्भन किया। गौतत्त्व में भी वह पार्थिव अंश न मिला, जो पार्थिवप्रधान दर्शपूर्णमास में अपेक्षित था। अविका आलम्भन किया गया। वहाँ भी वे कृत-कार्य्य न होसके। अज का आलम्भन किया गया। वहाँ भी पूर्णतया अभीष्ट फलसिद्धि न हुई। अन्ततोगत्वा वे इस निश्चय पर पहुँचे कि-व्रीहि यव में वही मेधभाग विद्यमान है। एवं इससे दर्शपूर्णमास यथावत् सम्पन्न होसकता है। इस चरम परीक्षा के अनन्तर दर्शपूर्णमास में पुरोडाशरूप इसी पशु का विधान कर दिया गया।

प्रकारान्त से विचार कीजिये। पुरुष को प्राणवियोग होने के अनन्तर यदि शीघ्र ही नहीं जला दिया जाता है, तो वह सड़ने लगता है। थोड़ी देर में ही तद्गत वायु दुर्गन्ध-युक्त होजाता है। कारण इसका यही

है कि, पुरुष का मेध अत्यन्त शीघ्र उत्क्रान्त होजाता है। एवं मेध ही शरीर में ऐसा तत्व है, जो तद्गत दोषयुक्त वारुण भाव को नष्ट कर शरीर को पवित्र बनाए रखता है। पुरुष की अपेक्षा अश्व का मेध (प्राण-वियोग होने पर भी) कुछ देर में उत्क्रान्त होता है, अतः यह पुरुषशव की अपेक्षा देर में सड़ता है। अश्व की अपेक्षा गौ और भी अधिक विलम्बसे सड़ती है। गौ की अपेक्षा अवि, एवं सर्वापेक्षया अज का मेध अत्यधिक काल में उत्क्रान्त होता है। यही कारण है कि, इतर पशुओं का माँस शीघ्र ही दुर्गन्ध देने लगता है, दूषित होजाता है। जबकि अजमाँस बहुत समय पर्य्यन्त दूषित नहीं होता। अतएव अजमाँस को 'खाद्य' पशु मान लिया गया है। प्रचार भी अधिक अजमाँस का ही सुना जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

**'एष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः'** (श-ब्रा-२।८)

अज की अपेक्षा भी व्रीहि यव का मेध चिरस्थायी है, यह स्पष्ट ही है। **दर्शपूर्णमास प्रकृतियज्ञ है। मौलिक यज्ञ है। प्रतिष्ठायज्ञ है।** अतः यहाँ वही मेध उपयुक्त होसकता है, जो कि चिरस्थायी हो, प्रतिष्ठाभाव से युक्त हो। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषियोंनें इस यज्ञ में **'पुरोडाशपशु'** को ही प्रधान माना है।

पाँचों पशुओं का जब प्राण उत्क्रान्त होजाता है, यदि पाँचों को नहीं जलाया जाता है, तो उत्क्रान्त-मेधा ये पाँचों पशु मिट्टी में मिल जाते हैं। उस मिट्टी से जो प्रवर्ग्य पशु उत्पन्न होते हैं, उन्हें अमेध्य पशु माना जाता है। उनमें मेधभाग यत्किञ्चित् भी नहीं रहता। मेधभाग बुद्धिवर्धक है। अमेध्य मांसभाग बल-वर्धक बनता हुआ आसुर है। दिव्यबुद्धि को नष्ट करता है। दिव्यविज्ञानशक्ति का, विवेकभाव का समूल विना-शक है। ऐसे अमेध्य पशु पाँच हैं। पुरुष से **'किंपुरुष'** उत्पन्न हुआ है। अश्व से **'गौरपशु'** उत्पन्न हुआ है। गौ से **'गवयपशु'** उत्पन्न हुआ है। अविपशु से **'उष्ट्रपशु'** उत्पन्न हुआ है। एवं अज से **'शरभपशु'** उत्पन्न हुआ है। उत्क्रान्तमेधा पञ्च पशुओं के आलब्ध भाग से ही इन अमेध्य पञ्च पशुओं का विकास हुआ है। ये पाँचों **'उपपशु'** नाम से भी प्रसिद्ध हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, ये पाँचों उपपशु **'उपक्रान्तमेधा'** हैं। इनमें आसुरभाव-वर्द्धक शुद्ध **'आमिष'** भाग ही है। अतः इनका माँस नहीं खाना चाहिए। ऐसा माँस 'अवैध' है। वैधमाँस पर आक्षेप करने वालों को मुकुलितनयन बनकर ही-**'तस्मादेतेषां पशूनां-ना-शितव्यम्। अपक्रान्तमेधा हैते पशवः'** इस निषेधवाक्य के मर्म्मस्थल का अन्वेषण, तथा समन्वय-प्रयास--करना चाहिए।

**पश्वालम्भनमीमांसा**--प्रकरण के आरम्भ में हीं हमने कहा था कि, बिना पशु के कोई भी यज्ञ सम्पन्न नहीं होसकता। इस यज्ञ में पशु के स्थान में **'पुरोडाश'** किया जाता है। पाङ्क्त पशु के समन्वय से तो पाङ्क्त यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होजाता है। यज्ञसम्पत् सर्वात्मना गतार्थ होजाती है। परन्तु पुरोडाश में वह यज्ञसम्पत् कैसे प्राप्त होगी!, इसी प्रश्न का निराकरण करते हुए निदान के आधार पर पुरोडाश में **'पाङ्क्त-पशुसम्पत्ति'** का समन्वय अभिव्यक्त करते हुए-**'यदा पिष्टान्यथ लोमानि'** इत्यादि कहा गया है, जो कि अनुवाद से ही गतार्थ है॥ ६,७,८,६,॥

व्रतोपायन के सम्बन्ध में तीन विकल्प हैं। इनमें इस पुरोडाशसम्पादन के अनन्तर मध्यम-स्थानीय व्रतोपायन की इतिकर्त्तव्यता सम्पादन करने का विधान है।

## इति पुरोडाशसम्पादनम्

## इति हविर्ब्राह्मणाध्यायः प्रथमः।

## इति-प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

## द्वितीयप्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणं

## उपरतम्

---*---

श्रीः

# अथ-वेदिब्राह्मणाध्यायः

## अथ–प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्
## द्वितीयप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणम्

——*——

## १२-वेदिकाकरणम्—वेदिस्वरूपसम्पादनम्
## तत्रादौ–स्तम्बयजुर्हरणम्, भू—विशोधनञ्च

——*——

( मूल )-इन्द्रो ह वृत्राय वज्रं प्रजहार। स प्रहृतश्चतुर्द्धाऽभवत्। तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा, यूपस्तृतीयं वा यावद्वा, रथस्तृतीयं वा यावद्वा। अथ यत्र प्राहरत्तच्छकलो-ऽशीर्यत। स पतित्वा शरोऽभवत्। तस्माच्छरो नाम-यदशीर्यत। एवमु स चतुर्द्धा वज्रोऽभवत् ॥१॥

ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति। द्वाभ्यां राजन्यबन्धवः संग्यामे। यूपेन च स्फ्येन च ब्राह्मणाः, रथेन च शरेण च राजन्यबन्धवः ॥२॥

स यत् स्फ्यमादत्ते-यथैव तदिन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्, एवमेवैष एतं पाप्मनं द्विषते भ्रातृव्याय वज्रमुद्यच्छति। तस्माद्वै स्फ्यमादत्ते ॥३॥

तमादत्ते–देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे-ऽध्वरकृतं देवेभ्यः–[ १ अ० २४ मं० ] इति। सविता वै देवानां प्रसविता, तत्सवि-तृप्रसूत एवैनमेतदादत्ते-अश्विनोर्बाहुभ्यामिति। अश्विनावध्वर्यू, तत्तयोरेव बाहुभ्या-मादत्ते, न स्वाभ्याम्। पूष्णो हस्ताभ्यामिति। पूषा भागदुघः, तत्तस्यैव हस्ताभ्यामा-दत्ते, न स्वाभ्याम्। वज्रो वा एषः। तस्य न मनुष्यो भर्त्ता। तमेताभिर्देवताभि-रादत्ते ॥ ४ ॥

आददेऽध्वरकृतं देवेभ्य इति । अध्वरो वै यज्ञः, यज्ञकृतं देवेभ्य इत्येवैतदाह । तं सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनाभिमृश्य जपति । संश्यत्येवैनमेतद्–यज्जपति ॥५॥

स जपति–इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः–[ १ अ २४ मं० ] इति । एष वै वीर्य्यवत्तमो य इन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणः । तस्मादाह--इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इति । सहस्रभृष्टिः शततेजाः–[ १ अ० २४ मं० ] इति । सहस्रभृष्टिर्वै स वज्र आसीच्छततेजाः । यं तं वृत्राय प्राहरत्, तमेवैतत् करोति ॥६॥

"वायुरसि तिग्मतेजाः"--( १ अ० २४ मं० ) इति । एतद्वै तेजिष्ठं तेजः--यदयं योऽयं पवते । एष हीमांल्लोकांस्तिर्य्यङनुपवते । संश्यत्येवैनमेतद्–-द्विषतो वधः-( १ अ० २२ मं ) इति । यदि नाभिचरेद् । यद्यु अभिचरेत्-अमुष्य वध इति ब्रूयात् । तेन संशितेन नात्मानमुपस्पृशति, न पृथिवीम्, नेदनेन वज्रेण संशितेनात्मानं वा पृथिवीं वा हिनसानीति । तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति, न पृथिवीम् ॥७॥

देवाश्च वा. असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ते ह स्म यद्देवा असुरान् जयन्ति–ततो ह स्मैवैनान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति ॥८॥

ते ह देवा ऊचुः–जयामो वा असुरांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति, कथं न्वेनाननपजय्यं जयेमेति ॥९॥

स हाग्निरुवाच--उदञ्चो वै नः पलाय्य मुच्यन्त इति । उदञ्चो ह स्मैवैषां पलाय्य मुच्यन्ते ॥१०॥

स हाग्निरुवाच---अहमुत्तरतः पर्य्येष्यामि, अथ यूयमित उपसंरोत्स्यथ । तान् संरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिधास्यामः–यदुचेमाँल्लोकानति चतुर्थम् । ततः पुनर्न संहास्यन्त इति ॥ ११ ॥

सोऽग्निरुत्तरतः पर्य्यैत् । अथ मे इत उपसमरुन्धन् । तान् संरुध्यैभिश्च लोकैरभिन्यदधुः--यदु चेमांल्लोकानति चतुर्थम् । ततः पुनर्न समजिहत । तदेतन्निदानेन यत् स्तम्बयजुः ॥१२॥

सः--योऽसावग्नीद् उत्तरतः पर्य्येति । अग्निरेवैष निदानेन । तानध्वर्य्युरेवेत उपसं--रुणद्धि । तान् संरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिदधाति–यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थम् । ततः पुनर्न

सञ्जिहते । तस्मादप्येतर्ह्यसुरा न सञ्जिहते । येन ह्येवैनान् देवा अवबाधन्त, तेनैवैनान-प्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽवबाधन्ते ॥१३॥

य उ एव यजमानायारातीयति, यश्चैनं द्वेष्टि, तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थम् । स वा एभिश्च लोकैरभिदधद्--यदु चेमाँल्लोका-नति चतुर्थम्, अस्या एव सर्वं हरति । अस्यां हीमे सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः । किं हि हरेद्--यद्यन्तरिक्षं हरामि, दिवं हरामीति हरेत्, तस्मादस्या एव सर्वं हरति ॥ १४ ॥

अथ तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति--नेदनेन वज्रेण संशितेन पृथिवीं हिनसानीति । तस्मात्तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति ॥१५॥

स प्रहरति--"पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्"--( १ अ०-२५ मं० ) इति । उत्तरमूलामिव वा एनामेतत्करोत्याददानः । तामेतदाह--ओषधीनां ते मूलानि मा हिंसिषमिति । "व्रजं गच्छ गोष्ठानम्"--( १ अ० २५ मं० ) इति । अभिनिधास्यन्नेवैतदनपक्रामि कुरुते । तद्ध्यनपक्रामि, यद् व्रजेऽन्तः । तस्मादाह व्रजं गच्छ गोष्ठानमिति । 'वर्षतु ते द्यौः'--( १ अ० २५ मं० ) इति । यत्र वा अस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्ति--अपघ्नन्ति । शान्तिरापः, तदद्भिः शान्त्या शमयति, तदद्भिः सन्दधाति । तस्मादाह--वर्षतु ते द्यौरिति । 'बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याम्'--( १ अ०-२५ मं० ) इति । देवमेवैतत्सवितारमाह । अन्धे तमसि बधानेति--यदाह--परमस्यां पृथिव्यामिति । 'शतेन पाशैः'--( १ अ० २५ मं० ) इति । अमुचे-तदाह-"योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्"--( १ अ० २५ मं० ) इति । यदि नाभि-चरेद् । यद्यु अभिचरेद् अमुमतो मा मौगिति ब्रूयात् ॥१६॥

अथ द्वितीयं प्रहरति--"अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद् बध्यासम्"--( १ अ०-२६ मं० ) इति । अररुर्ह वै नामासुररक्षसमास । तं देवा अस्या अपाघ्नत । तथो एवैनमेतदेषोऽस्या अपहते । "व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्"--( १ अ० २६ मं० ) इति ॥१७॥

तमग्नीदभिनिदधाति-'अररो ! दिवं मा पप्त' इति । यत्र वै देवा अररुमसुररक्ष-समपाघ्नत, स दिवमपिपतिषत् । तमग्निरभिन्यदधात्--अररो ! दिवं मा पप्त इति । स

न दिवमपतत्। तथो एवैनमेतदध्वर्युरेत्रास्माल्लोकादन्तरेति। दिवोऽध्यग्नीत्—तस्मादेवं करोति ॥१८॥

अथ तृतीयं प्रहरति-'द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्निति'। अयं वा अस्यै द्रप्सः-यमस्या इमं रसं प्रजा उपजीवन्ति। एष ते दिवं मा पप्तदित्येवैतदाह-"व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्"--[ १ अ० २५ मं० ] इति ॥१९॥

स वै त्रिर्यजुषा हरति। त्रयो वा इमे लोकाः। एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनि--दधाति। अद्धा वै तत्--यदिमे लोकाः, अद्धो तत्-यद्यजुः, तस्मात् त्रिर्यजुषा हरति ॥ २० ॥

तूष्णीं चतुर्थम्। स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा, तेनैवैतद् द्विषन्तं भ्रातृव्यमवबाधते। अनद्धा वै तद्—यदिमाँल्लोकानति चतुर्थमस्ति वा न वा, अनद्धो तद्--यत् तूष्णीम्, तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम् ॥ २१ ॥

## इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्
## द्वितीयप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणम्

——*——

( अनुवाद )-जिस समय इन्द्रने वृत्रासुर के वध के लिये ( अपने हाथ से ) वज्र छोड़ा, ( उस समय ) वह फैंका हुआ वज्र ( वृत्रासुर के शरीर से टकरा कर ) चार भागों से विभक्त होगया। उसका एक तृतीयांश, अथवा अनुमानतः इतना हीं भाग तो **'स्फ्य'** बन गया। तृतीयांश, अथवा अनुमातः इतना हीं भाग **'रथ'** बन गया। एवं जो भाग ( खण्ड ) सर्वथा छिन्न भिन्न होगया था, वह उस वृत्र के शरीर से टकरा कर भूमि पर गिरकर **'शर'** बन गया। यह शीर्ण होकर गिरा, अतएव वज्रका यह भाग **'शर'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है। इस तथाकथिक प्रकार से ( इन्द्र के द्वारा प्रक्षिप्त वज्र ) चतुर्द्धा विभक्त होगया ॥१॥

तभी से ( तथाकथित चारों वज्र खण्डों में से ) दो खण्डों से तो ऋत्विग् ब्राह्मण यज्ञ में प्रचार करते हैं। ( काम लेते हैं )। शेष दो खण्डों से योद्धा राजन्य क्षत्रिय युद्ध में काम लेते हैं। यूप, और स्फ्य, से ब्राह्मण काम लेते हैं, एवं रथ, और शर से राजन्यबन्धु काम लेते हैं ॥२॥

सो जोकि यजमान ( दक्षिणाक्रीत यजमान का प्रतिनिधि अध्वर्य्यु यज्ञ में ) स्फ्य ग्रहण करता है-( इसकी उपपत्ति यही है कि ), आरम्भ में जैसे इन्द्रने वृत्रासुर के लिये वज्र उठाया था, ठीक उसी प्रकार यह यजमान पाप्मारूप द्वेष करने वाले शत्रुओं के लिये वज्र ही उठाता है। इसी ( प्रयोजन के ) लिये 'स्फ्य' का ग्रहण करते हैं ॥३॥

इस इष्टि में 'स्फ्य-ग्रहण' क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न की उपपत्ति बतला दी गई। अब पद्धित बतलाते हैं—

**वह अध्वर्य्यु—देवष्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः'**

यह मन्त्र बोलता हुआ स्फ्य उठाता है। सविता देवता देवताओं के प्रेरयिता हैं। सो ( उक्त मन्त्र से ग्रहण करता हुआ अध्वर्य्यु ) सविता देवता से प्रेरित होकर ही स्फ्य का ग्रहण करता है। अश्विनी हीं (प्राकृतिक नित्य यज्ञ के) अध्वर्य्यु हैं। ऐसी अवस्था में- **'अश्विनोर्बाहुभ्याम्'** यह कहता हुआ अध्वर्य्यु अश्विनीकुमारों के हाथ से ही स्फ्य उठाता है, अपने बाहू से नहीं। पूषा ( देवताओं में ) **भागधुक्** है। उन्हीं के हाथ से अध्वर्य्यु स्फ्य उठाता है— अपने हाथों से नहीं। यह स्फ्य वज्र है। मनुष्य इसको कभी नहीं उठा सकता। अतएव यह अध्वर्य्यु—-( देवस्य त्वा सवितः ) इत्यादि रूप से देवताओं के द्वारा ही उठाता है ॥४॥

**'अध्वर'** यज्ञ को ही कहते हैं। ( ऐसी अवस्था में-**'आददेऽध्वरकृतं०'**-इत्यादि से ) भावार्थ यही है कि, देवताओं के द्वारा अध्वरकर्म्म के सम्पादन करने वाले ऐसे स्फ्य का ग्रहण करते हैं। उस स्फ्य को वाम हाथ में लेकर दाहिने हाथ से उसका स्पर्श करते हुए मन्त्र का उपांशु उच्चारण करता है। सो जोकि यह जपक्रिया होती है, उससे अध्वर्य्यु इस **'स्फ्यशस्त्र'** को तीक्ष्ण ही करता है ॥५॥

जप करने का **ब्राह्मण ( विज्ञान—उपपत्ति )** बतला दिया गया, अब पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वर्य्यु—स्पर्श करते हुए **"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतोवध"**। यह मन्त्र बोलता है। ( वीर्य्ययुक्त पदार्थों में ) वही वीर्य्यवत्तम है, जोकि इन्द्र का बाहु है। इसी अभिप्राय से **'इन्द्रस्य बाहुरसि०'** इत्यादि कहा है। वह ( प्रक्षिप्त ) वज्र सहस्रकोणों से युक्त था, अपरिमित दीप्तियुक्त था, जिस ( ऐसे गुणवाले ) इस वज्र को वृत्रवध के लिये इन्द्रने फैंका था। ( जैसा वह था ) उस को उसी भाव से युक्त करते हैं ॥ ६ ॥

अन्तरिक्ष में जो यह प्रवाहित है, यही 'तेजिष्ठ तेज' है । यही तीनों लोकों में तिर्य्यक् रूपसे सर्वत्र व्याप्त होरहा है । इस कथन से अध्वर्य्यु वज्र को तीक्ष्ण हीं करता है । यदि किसी पर 'अभिचार' ( मारण ) प्रयोग न करना हो, तब तो 'द्विषतो वध' यही बोलना चाहिए। यदि अभिचार करना हो, तो 'अमुकस्य वधः' इत्यादि रूप से नामोल्लेख पूर्वक-मन्त्र बोलना चाहिए। ( मन्त्रशक्ति से अतितीक्ष्ण होने वाले ) इस संशित स्फ्य से न तो अपने शरीर के किसी भाग का स्पर्श ही करना चाहिए, एवं न इसे पृथिवी पर ही रखना चाहिए। इस संशित स्फ्यशस्त्र से हम अपने आपको, एवं पृथिवी को नष्ट न करलें, स्पर्श न करने का यही प्रयोजन है ॥ ७ ॥

इस पूर्वोक्त विषय का संग्रह करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"देवस्यत्वेति" स्फ्यमादाय सतृणं सव्यं कृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपति 'इन्द्रस्य बाहुरिति'
( २।६।६। )

एक समय ( प्रजापति की सन्तान, अतएव ) प्राजापत्य देवता, और असुर दोनों ( परस्पर ) स्पर्धा करने लगे । जब ( जब ) देवता असुरों को जीतते, तब ( तब ) ही असुर पुनः ( पुनः ) उठ खड़े होते ॥ ८ ॥

( देवताओं को इससे बड़ी चिन्ता हुई ) वे सोचने लगे कि, अपन असुरों पर विजय तो प्राप्त करते हैं, परन्तु ( आश्चर्य्य है कि ) ये पुनः प्रतिद्वन्द्विता में आखड़े होते हैं । ऐसा कौनसा उपाय है, जिससे अपन इस असुरों को ऐसा जीतें, जिससे ये पुनः सम्मुख खड़े न हों ॥९॥

( देवताओं में अग्नि भी विद्यमान थे । तथाविधा विषमा समस्या के निराकरण का उपाय बतलाते हुए ) सुप्रसिद्ध अग्निदेवता बोले कि, ये असुर उत्तरदिशा की ओर भाग कर हमसे पृथक् ( अतएव परोक्ष, अतएव च सुरक्षित ) होजाते हैं ( अर्थात्–यदि इनको उत्तर की ओर खदेड़ दिया जायगा, तो सदा के लिये इनसे पीछा छूट जायगा । इसी भाव का स्पष्टीकरण करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि, ) सचमुच अग्नि का कहना सत्य हुआ। उत्तर दिशा की ओर भाग कर ही असुर लोग इन देवताओं से सदा के लिये मुक्त होजाते हैं ॥ १० ॥

( एक उपाय बतला कर ) वे अग्निदेवता बोले कि, ( देखो ) मैं तो उत्तरभाग से ( इन असुरों को ) आवृत करता हूँ ( घेरता हूँ ) ( रास्ता रोकता हूँ ), और आप सब इस ( पृथिवी-लक्षणा वेदि ) स्थान से इन सब को ( इन के आक्रमण को ) अवरुद्ध करदो। इसप्रकार

इन सबको चारों ओर से घेरकर अपन इनको तीनों लोकों से ही गतिहीन बना देंगे। अर्थात् सब ओर के द्वार ( नाके ) अवरुद्ध कर ( रोक कर ) इनको सदा के लिये परास्त कर देंगे। ( यही नहीं ), अपितु इन तीनों लोकों से अतिक्रान्त जो चौथा ( आपो ) लोक है, ( इस से भी ) बाहिर निकाल फेंकेंगे। ऐसा करने पर पुनः ये कभी अपना साम्मुख्य न कर सकेंगे ॥११॥

( अग्नि की इस मन्त्रणा का सभी देवताओंनें अनुमोदन किया, और तदनुसार ही ) अग्निने उत्तरमार्ग को घेर लिया। इधर देवताओंनें इस वेदिस्थान से उनको घेरते हुए तीनों लोकों से असुरों को घेर लिया, एवं तीनों लोकों से अतिक्रान्त चौथे लोक से भी इनको बाहिर निकाल दिया। इसका फल यह हुआ कि, पुनः कभी असुरोंनें विजय की इच्छा न की। यहाँ आकर वे सदा के लिये सर्वथा परास्त होगए।

इस **देवासुर-आख्यान** का इस **वैधयज्ञ** के साथ **'उपनय'** करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, यहाँ जो **'स्तम्बयजु (कुशमुष्टि)'** का ग्रहण किया जाता है, वह निदान के द्वारा **'असुर-निरसन'**-व्यापार ही है। अर्थात् जैसे देवताओंनें असुरों के सब मार्गों को रोक कर जिस शास्त्र से असुरों को सदा के लिए परास्त कर दिया था, तथैव शस्त्रस्थानीय स्तम्बयजु से यह यजमान अपने **दिव्ययज्ञ** से सदा के लिए असुरों को बाहिर निकाल देता है ॥१२॥

सो जोकि ( इस वैधयज्ञ में-मनुष्ययज्ञ में ) आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् वेदि के उत्तरभाग में घूम कर आता है, वह निदान से अग्नि ही है। अर्थात् आग्नीध्र का उत्तर की ओर जाना अग्नि का ही उत्तरभाग से असुरों का निरोध करना है। एवं अन्य देवताओं का प्रतिनिधि अध्वर्यु इस वेदिस्थान से असुरों का मार्ग रोकता है। इसप्रकार चारों ओर से घेर कर इन लोकों से, एवं तीनों लोकों से अतिक्रान्त चौथे लोक से इनको घेर लेता है। इसके अनन्तर असुरों को पुनः आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिलता। यही कारण है कि, आज भी ( यज्ञ करते समय ) असुरों को पुनः आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिलता। यही कारण है कि आज भी ( यज्ञ करते समय ) असुर पुनः आक्रमण का विचार नहीं करते। जिस ( पूर्वोक्त उपाय से ) देवताओंनें इनका विनाश किया था, उसी **(स्तम्बयजुहरणरूप)** उपाय से आज भी ब्राह्मण स्वयज्ञ में इन्हें अवरुद्ध कर देते हैं ॥१३॥

( न केवल असुरों का ही निरसन होता है, अपितु ) जो भी ( इस यज्ञकर्त्ता ) यजमान के लिए **अरातिभाव** उत्पन्न करता है, अर्थात् आगत-सम्पत्ति का प्रतिरोध करता है, एवं जो इसके साथ अकारण द्वेष करता है, उन्हें भी तीनों लोकों से, एवं तीनों से अतिक्रान्त चौथे लोक

से बाहिर निकाल देता है । ( देवताओं की भाँति अध्वर्यु अन्तरिक्षादि लोकों में जाने में असमर्थ है । फिर इसने पृथिवी के अतिरिक्त-अन्तरिक्ष, द्यौ, एवं चौथे आपोलोक से कैसे असुरों को दूर किया ?, इस प्रश्न का समाधान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ) इस पृथिवी से ही अध्वर्यु असुरों को निकाल देता है । इसी के अवलम्ब से अध्वर्यु सब लोकों से (निदान के द्वारा ) असुरों को निकाल देता है । इसी लोक में सब लोक प्रतिष्ठित हैं । यदि अध्वर्यु-'अन्तरिक्षं हरामि,दिवं हरामि, यह बोलेगा, तो ( इसका बोलना असत्य होगा, क्योंकि साक्षात्रूप से न यह अन्तरिक्ष में जासकता, न द्युलोक में जासकता, फिर चौथे लोक की तो कथा ही दूर है । ऐसी अवस्था में-'अन्तरिक्षं हरामि' इत्यादि कहता हुआ यह ) किसका हरण करेगा ? । इसलिए ( स्वरूप से-'अन्तरिक्षं हरामि' इत्यादि न कहता हुआ ) इस पृथिवी से ही सब असुरों को निकाल देता है । ( परिणाम यह होता है कि, ऐसा करने से इसे असत्यभाषण भी नहीं करना पड़ता, एवं इसी पृथिवी में सब लोक प्रतिष्ठित हैं, इसलिए केवल पृथिवीमात्र से ही चारों लोकों से असुर निकल जाते हैं ) ॥१४॥

इसके अनन्तर कुश-तृण को मध्य में रख कर ( स्फ्य से भूमि पर ) प्रहार करता है । ( मन्त्रशक्ति से ) अतितीक्ष्ण इस ( स्फ्यरूप ) वज्र से हम पृथिवी का नाश न करदें, इसीलिए तृण मध्य में रखकर प्रहार करता है ॥१५॥

ब्राह्मण बतला दिया, अब पद्धति बतलाते हैं—

वह अध्वर्यु—'पृथिवि देवियजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्' यह मन्त्र बोलता हुआ प्रहार करता है । ( स्फ्य का ग्रहण करते समय ) अध्वर्यु-स्तम्बयजुरूप कुशमुष्टि को वेदि पर उत्तरमूल ( उत्तरदिशा की ओर कुश की जड़ ) रखता है । इस पृथिवी को उत्तरमूला बनाता है । उन्हीं उत्तरमूल ओषधियों को लक्ष्य में रखकर—'यह स्फ्य वज्र तेरे [ पृथिवी के ] मूलों को नष्ट न करें' यह कहता है । इसके अनन्तर-'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्' यह मन्त्र बोलता हुआ प्रहार करने के साथ साथ ही-असुरों को इधर उधर बचकर भाग निकलने में असमर्थ बनाता है । यही 'अनपक्रमि' भाव है, जो कि 'व्रजस्थान' के मध्य में इन्हें भेजना है । इस पृथिवी के जिस भाग में निखनन करते ( खोदते ) हुए क्रूरकर्म्म करते हैं । ( इस कर्म्म से वे खननकर्त्ता-पृथिवी के उस भाग की ) हिंसा ही करते हैं । पानी ( क्रूरकर्म्म की ) शान्ति है । सो यह अध्वर्यु (वर्षतु ते द्यौः-इत्यादि बोलता हुआ ) पानी की शान्ति से ( स्फ्य के द्वारा खोदे हुए पार्थिव भाग को ) शान्त ही करता है । पानी से ( उस विदीर्ण भाग को पुनः ) जोड़ता है । इसी अभिप्राय से 'वर्षतु ते द्यौः' यह कहा है । 'बधान देवसवितः' इत्यादि से सविता देवता की ओर ही लक्ष्य

है। 'परमस्यां पृथिव्याम्' यह जो कहा है ( इसका तात्पर्य्य यही है कि )-पृथिवी का यह अन्तिम भाग, जहाँ घोर अन्धकार है-उसी में असुर को भेजते हैं। 'शतेन पाशैः' इस अंश का यही अर्थ है कि, वहाँ जाकर वह सदा के लिए सैंकड़ों पाशों से बद्ध होजाय। इसप्रकार यह मन्त्रांश अमुक्ति ( बन्धनभाव ) का ही द्योतक है। यदि अभिचार न करना हो, तब तो-नाम-ग्रहण न करते हुए केवल-'**योऽस्मान् द्वेष्टि यश्च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्**' यही बोले। यदि अभिचार-प्रयोग करना हो तो, '**अमुकोऽस्मान् द्वेष्टि, अमुकश्च वयं द्विष्मः। तमतो मा मौक्**' यह मन्त्र बोले ॥१६॥

( प्रथम प्रहार के अनन्तर अध्वर्य्यु '**अपारुरं**' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ स्फ्य से दूसरा प्रहार करता है। 'अररु' नाम का असुर देवताओं का विरोधी था, राक्षस था। देवताओंनें इसे इस ( यज्ञिय ) पृथिवी से मार भगाया था। तथैव यह अध्वर्य्यु भी इसे ( मन्त्रशक्ति के द्वारा ) मार भगाता है। शेषभाग का अर्थ १६ वीं कण्डिका से गतार्थ है ॥१७॥

इसके अनन्तर 'आग्नीध' नाम का ऋत्विक् कुशभाग को ऊपर के हाथ से आच्छन्न करता ( ढँकता ) हुआ—'**अररो दिवं मा पप्त**' यह बोलता हुआ उत्कर में प्रक्षिप्त कर देता है। जिस स्थान में देवताओंनें राक्षसबुद्धि अररु असुर को मार भगाया था, वहाँ से भग कर द्युलोक की ओर झुका। वहाँ जाते हुए इस असुर को-'**अररो सावधान! द्युलोक में न घुसना**' यह कहते हुए उसे रोका था। फलतः वह द्युलोक में नहीं जासका था। उसी प्रकार यह अध्वर्य्यु तो इसे इस पृथिवीलोक से निकालता है, एवं आग्नीध्र द्युलोक से निकलता है। इसलिए '**अररो०**' इत्यादिरूप से द्वितीय-प्रहारकर्म्म करते हैं ॥१८॥

अनन्तर—'**द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्**' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु तीसरा प्रहार करता है। जिस इस द्युरस को लेकर सम्पूर्ण पार्थिवप्रजा जीवित है, वह रस ही पृथिवी का द्रप्स है। '**हे पृथिवि! आपका यह रसरूप द्रप्स द्युलोक में न स्खलित होजाय**' यही कहा है। शेष मन्त्रार्थ पूर्व से गतार्थ है ॥१९॥

इसप्रकार वह अध्वर्य्यु तीन यजुर्मन्त्रों से '**स्तम्बयजुर्हरण**' करता है। यह ( प्रसिद्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौ, ) तीन लोक हैं। इन्हीं से वह उसे निकालता है। ये जो तीनों लोक हैं, वे हमारी आँखों के सम्मुख हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों यजुर्मन्त्र भी प्रत्यक्ष हैं। अतएव तीनों अद्धा मन्त्रों से स्तम्बयजुर्हरण किया जाता है ॥२०॥

चौथा प्रहार चुपचाप किया जाता है। इन तीनों लोकों से अतिरिक्त चौथा लोक (अप्रत्यक्ष-का विषय होने के कारण ) है, अथवा नहीं है, इस भाव से युक्त है। चौथे प्रहार से इसी लोक से शत्रुओं को निकालता है। 'अस्ति न वा' भाव से युक्त चौथा लोक 'अनद्धा' है। इधर तुष्णीं-भाव भी अनद्धा है। इसलिए चौथा प्रहार तूष्णीम् ही किया जाता है ॥२१॥

## प्रथमकाण्डानुगत द्वितीयाध्याय का चौथा ब्राह्मण,
## एवं
## द्वितीय-प्रपाठक का दूसरा ब्राह्मण उपरत

—-*—

## सूत्रानुगत-पद्धति-संग्रहः-

जिस द्रव्य की देवताओं के लिए आहुति दी जायगी, वह 'पुरोडाश' नाम का द्रव्य सम्पन्न होचुका है। अब प्रकृत प्रकरण वेदिनिर्म्माण का क्रम बतलाता है।

**"अपरेणाहवनीयं वेदिं खनति ऽत्यङ्गुलखातां, व्याममात्रीं पश्चात्, त्र्यरत्निं प्राचीमपरिमितां वा, प्राक्प्रवणामुदवाग्वा, मध्य सङ्गृहीता, मग्निमभितोऽसौ"**

—का० सू० २ अ०।६ कं०।१ सूत्र

उक्त श्रौत सूत्र-सिद्धान्त के अनुसार आहवनीयकुण्ड के पश्चिम भाग में ( एवं गार्हपत्यकुण्ड के पूर्व भाग में ) वेदिखनन करना चाहिए। उस भूप्रदेश को किस परिमाण से खोदा जाय ( जहाँ पर कि, वेदि बनने वाली है !,) इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, तीन अङ्गुल की गहराई से वेदनिर्म्माणोपयुक्त भूमि को खोदना चाहिए। इससे प्रथम आहवनीय का निर्म्माण कर लेना चाहिए, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

इस वेदिनिर्म्माण-ब्राह्मण में तत्तत् भिन्न भिन्न परिमाणों के लिए **अरत्नि, रत्नि, व्याम, वितस्ति,** आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वर्त्तमान व्यवहारजगत् में इनका व्यवहार प्रायः अवरुद्ध होगया है, अतः कर्म्मेतिकर्त्तव्यता-की समन्वयदृष्टि से इन शब्दों के अर्थों का भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

**प्रादेशः-तालः-गोकर्णः —**

'अङ्गुष्ठ' (अंगूठे) के साथ क्रमशः **तर्ज्जनी, मध्यमा, अनामिका,** इन तीनों अङ्गुलियों के सम्बन्ध से **प्रादेश, ताल, गोकर्ण** नाम के तीन परिमाणों का स्वरूप निष्पन्न होता है। **'प्रादेशो देशमात्रे स्यात्तर्जन्यङ्गुष्ठसंमिते'** ( मेदिनी ) के अनुसार अंगूठे के साथ तर्ज्जनी को चौड़ा दीजिए। इतना प्रदेश १० अङ्गुल (अपनी अंगुल ) परिमाणयुक्त होगा। यही **'प्रादेश' है। प्राणविज्ञान** के सम्बन्ध में प्रायः इसी

परिमाण (नाप) को प्रधान मा॰ा जाता है। कारण-'**प्रादेशमिता वै प्राणाः**' इत्यादि के अनुसार प्राण दशाङ्गुलस्थान में हीं अपनी व्याप्ति रखता है।

इसीप्रकार अंगूठे के साथ मध्य की अङ्गुलि को चौड़ा दीजिए। यही परिमाण '**तालः करतलेऽङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां च संमिते'। गीतकाले क्रियामाने करस्फाले द्रुमान्तरे**' (मेदिनी) के अनुसार 'ताल' नाम से प्रसिद्ध है। '**ताल**' शब्द वृक्षविशेष का भी वाचक है। चुटकी '**करस्फाल**' (अङ्गुष्ठाङ्गुलिस्फालात्मक-'करस्फाल') भी इसी ताल से बजती है। संगीतक्रिया में **तिताल-चोताल-झपताल**-आदि जो ताल-सम्बन्ध हैं, जिस ताल के सम्बन्ध से तत्तद् गान का स्वरूप यथावत् सीमित होता हुआ रस का अभिव्यञ्जक बनता है, वह भी इस ताल से ही सम्बन्ध रखता है।

इसी अंगूठे को यदि अनामिका के साथ चौड़ाया जाता है, तो उस परिमाण का आकार '**गाय**' के '**कानों**' जैसा होजाता है। इसी को "**गोकर्ण**" परिमाण कहते हैं, जैसाकि—"**अङ्गुष्ठानामिकोन्माने**" (विश्वः) इत्यादि से प्रसिद्ध है। इसप्रकार—"**प्रादेश-ताल-गोकर्णास्तर्जन्यादियुते तते**" के अनुसार अंगूठे के साथ क्रमशः **तर्जनी, मध्यमा, अनामिका**, इन तीनों अङ्गुलियों को वितत करने से (फैलाने से) क्रमशः **प्रादेश, ताल, गोकर्ण**, का स्वरूप निष्पन्न होता है। इन तीनों परिमाणों में ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रधानरूप से 'प्रादेश' परिमाण का ही ग्रहण हुआ है। इससे १० अंगुल परिमाण अभिप्रेत है *।

——*——

**वितस्तिः**—

"**अङ्गुष्ठे सकनिष्ठे स्याद्वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः**" इस अमर सिद्धान्त के अनुसार यदि कनिष्ठिका (चिट्टी) अङ्गुलि को अंगूठे के साथ चौड़ा दिया जाता है, तो 'वितस्ति' का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही 'वितस्ति' परिमाण लोकभाषा में '**बिलाँत**' '**बिंलाद**' आदि नामों से प्रसिद्ध है। यह १२ अङ्गुल का परिमाण है। पुरुषशरीर का परिमाण '**प्रादेश**' से किया जाता है। **भूः, भुवः, स्वः, महत्, जनत्, तपः, सत्यम्**, इन सातों लोकों की समष्टिरूप ईश्वर के शरीररूप विश्व का परिमाण '**वितस्ति**' से किया जाता है।

जैसाकि हम पूर्व में बतला चुके हैं,—प्राण '**प्रादेशमित**' **होता है**। विविध भेदभिन्न प्राणों में से 'गायत्र' नाम का प्राण हीं पुरुषसृष्टि का प्रधान कारण है। '**अष्टाक्षरा वै गायत्री**' के अनुसार गायत्रप्राण आठ भागों में विभक्त है। प्रत्येक अक्षर एक एक स्वतन्त्र प्राण है। इसप्रकार गायत्री के आठ अक्षरों के आठ प्राण होजाते हैं। आठ प्राणों के आठ प्रादेश होते हैं। यद्यपि साधारण मान के अनुसार प्रादेश १० अङ्गुल का ही होता है। तथापि यदि सूक्ष्म मान किया जाता है तो—'**स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्**' के अनुसार दस अङ्गुल से कुछ अधिक, अर्थात् साढे दस अङ्गुल ठहरता है। इस अनुपात से

---

*-दश-अङ्गुल से कुछ अधिक। अनुमानतः सार्द्धदशाङ्गुल (१०॥ अङ्गुल) का ही एक '**प्रादेश**' माना गया है, जैसाकि-'**अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्**' (यजुः) से स्पष्ट है।

पूर्वोक्त गायत्री के आठ प्रादेशों के ( प्रत्येक के १०॥ के अनुपात से ) पुरुषमान ८४ अङ्गुल का होजाता है। प्राकृतिक मान के अनुसार प्रत्येक पुरुष-वह युवा हो अथवा बालक हो ) अपने अङ्गुलि-परिमाण से ८४ अङ्गुलि का होता है। इसीप्रकार ईश्वर-'सप्तवितस्तिकाय' है। सात वितस्ति के भी ( प्रत्येक के १२ अङ्गुल के अनुपात से ८४) अङ्गुल होजाते हैं। अपने आयतन से पुरुष भी ८४ अङ्गुल का है, एवं ईश्वर भी ८४ अङ्गुल का ही है। इसी आधार पर—'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' यह निगम प्रतिष्ठित है।

---

## * चपेटः-प्रतलः-प्रहस्तः—

अपने हाथ की अङ्गुलियों को सर्वथा ऋजुभाव में परिणत कर दीजिए। साथ ही अङ्गुलियों को परस्पर न भिड़ा कर स्वभावतः जिस अन्तर पर अङ्गुलियाँ विस्फारित ( चौड़ी ) रहतीं हैं, उन्हें उतने ही अन्तर से रहने दीजिए। ऐसी अवस्था में यह हाथ-चपेट, प्रतल, प्रहस्त, इन तीन नामों से व्यहृत होता है। धर्मशास्त्र में इस परिमाण को विशेष प्रधानता दी जाती है।

---

## सिंहतलः-प्रतलः—

दोनों हाथों की अङ्गुलियों को सीधी कर दीजिए। साथ ही अङ्गुलियों को परस्पर संलग्न कर दीजिए। अर्थात् प्रकृति से रहने वाला अङ्गुलियों के मध्य में जो एक व्यवधान है, उसे हटा दीजिए। ऐसा मान—'सिंहतल, एवं 'प्रतल' इन दोनों नामों से प्रसिद्ध है।

---

## प्रसृतिः —

दोनों हाथों को सिंहतलानुसार संलग्न करते हुए दोनों हाथों के दोनों अन्तिम पार्श्वों को दोनों हाथों के मध्य की ओर झुका दीजिए, इसी मान को 'प्रसृति' कहते हैं। इसी प्रसृति को लोकभाषा में-'धोबा'-(आँदला) आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है।

---

## अञ्जलिः—

प्रसृति-दशा ही समष्टिरूप से, एवं व्यष्टिरूप से पुरभाव में आकर 'अञ्जलि' नाम से व्यवहृत होने लगती है। अंगुलियों के आगे के भाग को ओर संकुचित करते हुए अपनी ओर अवनत कर लीजिए। यही अञ्जलि बन जायगी। यही अञ्जलि लोकभाषा में—'चुल्लू' 'चिल्लू' 'चलू' आदि नामों से प्रसिद्ध है।

---

## हस्तः—

यह मान निरतिशयरूप से ( बहुत ही ) उपयोग में आता है। अङ्गुलि से युक्त, अंस भाग में अवस्थित भाग 'पाणि' कहलाता है। हाथ के जोड़ से (गट्टे से) आरम्भ कर कफोणी (कोहनी) पर्य्यन्त

---

* 'चपेट' ही लोकव्यवहार में सम्भवतः-'चाँटा' (थप्पड़) रूप में परिणत होगया होगा।

का भाग 'बाहु' कहलता है। यही प्रकोष्ठ है। कफोणी से आरम्भ कर जत्रू पर्य्यन्त का भाग 'दोः' कहलाता है। इसप्रकार स्कन्ध (कंधा) से संलग्न भाग से आरम्भ कर अङ्गुलि पर्य्यन्त भाग में–पाणि, बाहु, दोः—ये तीन भाग हैं। तीनों को जोड़ने वालीं तीनों सन्धियाँ क्रमशः—मणिबन्ध (गट्टा), कफोणी (कोहणी–कूणी), जत्रू, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें दो भाग तो छोड़ दीजिए। शेष पाणि–और बाहुको लीजिए। पाणि भाग की पाँचों अङ्गुलियों को सीधी कर दीजिए। यही मान (कफोणी से आरम्भ कर अङ्गुलिया पर्य्यन्त का का भाग) 'हस्त' नाम से प्रसिद्ध है।

—*—

**रत्निः—**

**'मुष्टयातु बद्धया स रत्निः स्यात्'** इस अमर–सिद्धान्त के अनुसार वही हस्तप्रमाण मुष्टिका–बन्धन (मुट्ठी बाँधने) से **'रत्नि'** नाम से व्यवहृत होने लगता है। इसी अभिप्राय से **'सम्पीडिताङ्गुलिर्मुष्टिः'** (हलायुध) यह कहा जाता है। यह परिमाण दो प्रादेशमित (२१ अङ्गुलमित) है।

—*—

**अरत्निः—**

**'अरत्निरस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना'** (अमरः)
**अरत्निर्वा सप्रकोष्ठताङ्गुलिकरेऽपिच'** (मेदिनी)
**'तारत्निः कफोणौ हस्ते सप्रकोष्ठे चाङ्गुलौ'** (रुद्रः)

इत्यादि के अनुसार बद्धमुष्टि में से कनिष्ठिका अङ्गुलि को सीधी कर दीजिए। यही मान **'अरत्नि'** (२४ अङ्गुलिमित) होगा।

—*—

**व्यामः—**

**'व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्य्यगन्तरम्'** (अमर)

के अनुसार दोनों हाथों का जो तिर्य्यगन्तर मान है, वही **'व्याम'** कहलाया है। यह नवतीर्नव (९६) अङ्गुल का मान है!

—*—

**पुरुषः—**

**'ऊर्ध्वविस्तृत–दोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु'** (अमरः)

के अनुसार दोनों हाथों को (अङ्गुलियों के साथ) सर्वथा सीधे खड़े होकर ऊपर की ओर कर दीजिए। यही मान 'पुरुष' नाम से व्यवहृत होता है। यह १२० अङ्गुल का मान है।

—*—

इसके अतिरिक्त वेदिनिर्म्माण के सम्बन्ध में, एवं अन्यान्य भी वैज्ञानिक भावों के समन्वय–सम्बन्ध में ब्रह्महस्त, विष्णुहस्त, शिवहस्त, ब्रह्मतीर्थ, धनुर्दण्ड, नाली, किष्कु, गव्यूति, आदि मानों का भी उपयोग होता है।

उन सब का स्पष्टीकरण निम्नलिखित तालिकाओं से होजाता है ।

८–परमाणवः–त्रसरेणुः १
८–त्रसरेणवः–रथरेणुः १
८–रथरेणवः–बालाग्रम् १
८–बालाग्राणि–लिक्षा १
८–लिक्षाः–यूका १
८–यूकाः–यवः १
८–यवाः–अङ्गुलम् १

—*—

६–यवाः——अधमं मानाङ्गुलम्– १
७–यवाः——मध्यमं ,,
८–यवाः——उत्तमम् ,,
२१–अङ्गुलानि–रत्निहस्तः १
२२॥–अङ्गुलानि–अरत्निहस्तः १
२४–अङ्गुलानि–महाहस्तः २

—*—

२४–अधमाङ्गुलानि—१ ब्रह्महस्तः
२४–मध्यमाङ्गुलानि—१ विष्णुहस्तः
२४–उत्तमाङ्गुलानि—१ शिवहस्तः
४–महाहस्तः-१ व्यामः (९६ अङ्गुलानि)
५–महाहस्तः-१ पुरुषः (१२० अङ्गुलानि)

—*—

१०॥–अङ्गुलानि-१ प्रादेशः(१०॥अङ्गुलानि)
२—प्रादेशौ १ रत्निः (२१ अङ्गुलानि)
२—रत्नी - १ निष्कुः (४२ अङ्गुलानि)

—*—

६–अङ्गुलानि–प्रपदम्–(६ अङ्गुलानि)
२–पदे—वितस्तिः—(१२ अङ्गुलानि)
२–वितस्ति–हस्तः—(२४ अङ्गुलानि)

२–हस्तौ—१ ब्रह्मतीर्थम् (४८ अङ्गुलानि)
२–ब्रह्मतीर्थे १ धनुर्दण्डः ( ९६ अङ्गुलानि )
३–धनुर्दण्डौ–१ नाली ( १९२ अङ्गुलानि )

३०–धनूंषि—नल्वः
२०००–धनूंषि–१ क्रोशः (२००० धनूंषि)
२–क्रोशौ–१ गव्यूतिः ( ४००० धनूंषि )
२–गव्यूती–१ योजनम् ( ८००० धनूंषि )

हम कह रहे थे कि, वेदि के पूर्वभाग में चतुरस्र ( चौकोर ) आहवनीय–कुण्ड का निर्म्माण किया जाता है। इस आहवनीयकुण्ड का घेरा चतुरस्र भाग को मिलाकर अरत्निमात्र ( २४ अङ्गुल ) है। इस कुण्ड की ऊँचाई एक वितस्ति ( १२ अङ्गुल ) है। चारों ओर के घेरे की चौड़ाई चार अङ्गुल है। सर्वप्रथम ऐसे ( अरत्निमात्र–चतुरस्र–आहवनीयखर, द्वादशाङ्गुलोच्च चतुरङ्गुल–विस्तीर्ण मेखल ) आहवनीय–कुण्ड का वेदि से पूर्वदिशा में निर्म्माण करने के अनन्तर वेदिनिर्म्माण किया जाता है। जिस स्थान पर वेदि बनाई जायगी, पहिले उस स्थान की तीन तीन अङ्गुल गहरी मिट्टी खोदी जाती है। इसके अनन्तर सूत्र से परिमाण ( नाप ) कर–तीन अरत्निमान से ( ७२ अङ्गुल की नाप से ) वेदि के पूर्व–पश्चिम भाग की सीमा बनाई जाती है। अर्थात् वेदि की लम्बाई ७२ अङ्गुल की होती है।

वेदि के पश्चिमभाग में दक्षिणोत्तर ४ अरत्नि ( ९६ अङ्गुल ) मान से रेखा अङ्कित की ( खैंची ) जाती है। एवं वेदि के पूर्वभाग में दक्षिणोत्तर ३ अरत्नि ( ७२ अङ्गुल ) मान से रेखा खैंची जाती है। वेदि चौकोर होती है। परन्तु ७२–९६ इस दक्षिणोत्तर के विषम मान से विषमचतुरस्र (टेढी–चौकोर) होजाती है। यह तो हुआ शास्त्रीय नियत प्रमाण। इसके अतिरिक्त यजमान इसी अनुपात से पूर्वभाग में कम चौड़ी, पश्चिमभाग में अधिक चौड़ी, इस विषमचतुरस्र भाव को प्रधान रखता हुआ अपनी इच्छानुसार वेदि का आयतन बडा भी करसकता है। इसी आधार पर—**"अपरेणाहवनीयं वेदिं खनति त्र्यङ्गुलखातां, व्याममात्रीं पश्चात्, त्र्यरत्निं प्राचीं, अपरिमितां वा"** यह कहा जाता है। यह वेदिभूमि प्रथम तो पूर्व की ओर भुकती हुई रहनी चाहिए, अथवा उत्तर की ओर प्रवण होनी चाहिए। दक्षिणप्रवणा वेदि यजमान का नाश कर देती है। **'अखातौ संग्रहौ मतौ'** इस परिशिष्ट वचन के अनुसार वेदि के मध्य–स्थान में वेदि को **'आखात–संग्रहवती'** करना चाहिए।

आहवनीयकुण्ड के समीपस्थ वेदि की पूर्वसीमा में आग्नेयकोण, ईशानकोण में अंस [ कन्धे ] कल्पना करनी चाहिए। अर्थात् वेदि के दक्षिणोत्तर भाग की सीमा को अंस समझने चाहिएँ।

दोनों संग्रह स्थान-**यजति, जुहोति,** नाम से प्रसिद्ध हैं। तात्पर्य्य यही है कि, वेदि के पश्चिम भाग की ओर दक्षिणोत्तर भाग में क्रमशः नैऋतकोण, और वायव्यकोण में १०-१० अङ्गुल भूमि छोड़ कर २१ अङ्गुल के अर्द्धवृत्त से **यजति, जुहोति** स्थान और बनाए जाते हैं। ये ही दोनों स्थान **'खात'** नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं दोनों दिशाओं की दशाङ्गुलमिता भूमि **'श्रोणी'** नाम से प्रसिद्ध है।

**'आमूलोच्छेदनादोषधीनाम'** [ का० श्रौत-२ अ-क-६ सू० २ ] के अनुसार जिस भूप्रदेश पर उपर्युक्त वेदि का निर्म्माण किया जाता है, उस स्थान पर लगी हुई ओषधियों को तबतक काटते रहना चाहिए, जबतक कि उनकी जड़ न उखड़ जाय। अर्थात् उस प्रदेश से ओषधियों को सर्वथा निर्मूल कर उस भूभाग को विशुद्ध बना देना चाहिए। ध्यान रहे-यह सूत्रकार का पक्षान्तर है। कारण-पूर्व में वेदिभूमि को तीन अङ्गुल खोदने का ही आदेश दिया गया है। और समूलोत्पाटन पक्ष में अधिक भी गहराई होसकती है। दोनों पक्ष सम्भव नहीं। इसलिए यद्यपि सूत्रकार ने पक्षान्तर का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख नहीं किया है, तथापि **'आमूलोच्छेदनात'** यह विरुद्धधर्म्मा वचन ही पक्षान्तर का भी साधक बन जाता है।

**'ओषधीनां मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयात्'** [ का० श्रौत० २,६,३, ] के अनुसार यदि त्र्यङ्गुलाखात वेदिपक्ष नहीं है, एवं आमूल ओषधियों का उत्पाटन विवक्षित है, तो अध्वर्य्यु को आग्नीध्र के प्रति ओष-धियों के मूलों को उत्पाटन की आज्ञा दे देनी चाहिए। तात्पर्य्य यही है कि, ओषधियों का उत्पाटनकर्म्म आग्नीध्र-नामक ऋत्विक् का ही कर्म्म है।

**"आहार्य्यपुरीषां पशुकामस्य"** [ का० श्रौ० २,६,४, ] के अनुसार यदि यजमान इस यज्ञ से पशुसम्पत्ति प्राप्त करना चाहता है, तो इस वेदि को **'आहार्य्यपुरीषा'** बनाना चाहिए। पुरीष ही पशु है। वेदि के स्थान से जो मिट्टी निकाली जाती है, वह तो **वेदिपुरीष है**। इसे तो निकाल कर अन्य स्थान में डाल दिया जाता है। एवं अन्य स्थान की खोदी हुई मिट्टी लाकर यहाँ डाली जाती है, यही तात्पर्य्य है।

**'वेदिं परिसमुह्य वितृतीयेऽग्नीदुत्तरत उत्करं करोति'** [ का० श्रौ० २,६,५ ] के अनुसार पूर्वोक्त क्रमानुसार वेदिनिर्म्माण कर-उसे कुशों से आस्तीर्ण कर आहवनीय के उत्तरभाग में वितृतीय भाग में तीन अङ्गुल चौड़ा, एवं छह अङ्गुल लम्बा, तथा एक अङ्गुल गहरा-एक गड्ढा [ आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् ] बनाता है। **उच्छिष्ट, तृण, पांसु,** आदि का उत्किरण इसी में होता है। अतएव यह स्थान **'उत्कर'** नाम से प्रसिद्ध है। सूत्रगत **'वितृतीय'** का क्या अर्थ ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए निम्न लिखित वेदि-निर्म्माण-प्रकार पर ही ध्यान देना आवश्यक होगा।

वेदि के पश्चिमभाग में वर्त्तुल गार्हपत्यकुण्ड रहता है, एवं तत्पूर्व में चतुरस्र आहवनीयकुण्ड रहता है। इन दोनों कुण्डों का एक एक केन्द्र है। वही केन्द्र **'मध्यमस्थान'-'मध्यमबिन्दु'-'गर्भ'-'हृदय'**, आदि नामों से प्रसिद्ध है। गार्हपत्यकुण्ड के गर्भ से आरम्भ कर, आहवनीयकुण्ड के गर्भपर्य्यन्त दोनों कुण्डों

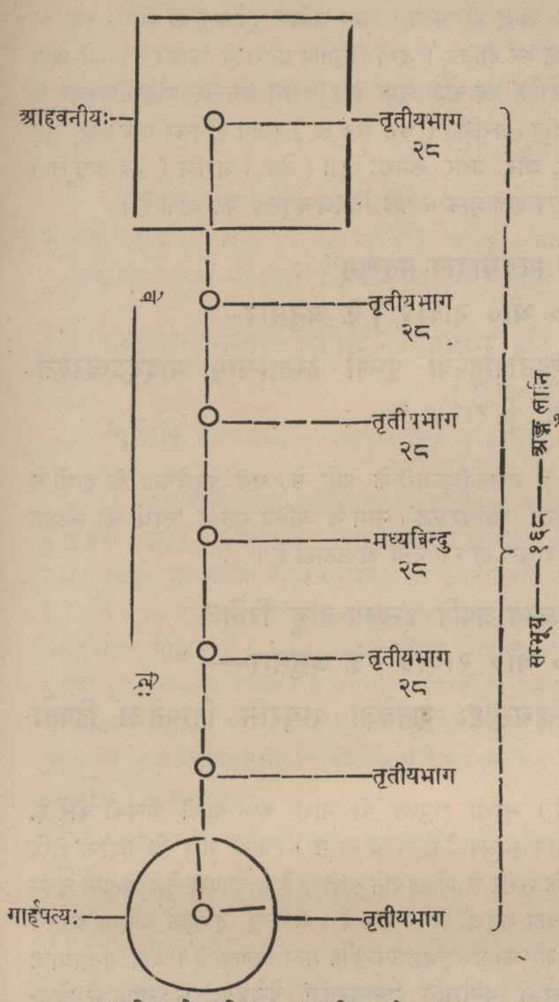
के मध्य मे विकल्प--पक्षों की अपेक्षा क्रमशः ८, ११, १२, पदों का विधान है। एक पद [ पाँवड़ा ] १२ अङ्गुल का होता है। इसप्रकार क्रमशः तीनों पक्षों में ९६ अङ्गुल, १३२ अङ्गुल, १४४ अङ्गुल---यह मान होजाता है। इन तीनों में से १२ पदों के [ १४४ अङ्गुल के ] मान को [ **अपरिमिताम्** ] पक्ष में प्रधा--नता दी है। उसी को लक्ष्य में रखते हुए यहाँ विचार करना है।

गार्हपत्यकुण्ड के निर्म्माण के लिए एक स्थान पर केन्द्र की कल्पना की जाती है। इस कल्पित केन्द्रस्थान में [ जोकि कल्पित केन्द्र आगे जाकर गार्हपत्यकुण्ड का वास्तव में केन्द्र बनने वाला है ] **शङ्कु** [ **काष्ठकील** ] गाड़ दीजिए। इस शङ्कु से १३॥ [ साढे तेरह ] अङ्गुल रज्जु के व्यासार्द्ध से गोल--वृत्त बनाइए। केन्द्र में चारों ओर की वृत्तसीमा १३॥ अङ्गुल रहनी चाहिए, यही तात्पर्य्य है। ऐसी अवस्था में व्यासार्द्ध ६॥। [ पोने सात ] अङ्गुल का होगा। यही **'गार्हपत्यकुण्ड'** का मान है। इसी में गार्हपत्याग्नि प्रतिष्ठित रहता है। आहवनीयकुण्ड में भी इसीप्रकार केन्द्रकल्पना कर शङ्कु गाड़ दीजिए। इस शङ्कु से ठीक हस्तमात्र [ २४ अङ्गुल ] रज्जु से चौकोर वृत्त बना डालिए। लम्बाई भी २४ अङ्गुल की होगी, चौड़ाई भी २४ अङ्गुल की ही होगी। यह व्यासार्द्ध १२ अङ्गुल का होगा। पूरा व्यास २४ अङ्गुल का होगा। इसी **हस्तपरिमित**, किंवा **अरत्निपरिमित** आहवनीयकुण्ड में आहवनीय अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। पूर्वोक्त १२ पदों के मान की व्यवस्था के अनुसार दोनों कुण्डों के केन्द्र से यह मान है। १२ अङ्गुल का एक पद है। इसप्रकार कुल १४४ अङ्गुल प्रदेश होजाता है। इधर २४ अङ्गुल का एक हाथ [ अरत्नि ] होता है।

इस अनुपात से गार्हपत्य, और आहवनीय--कुण्ड के केन्द्रों से सम्बद्ध दोनों का मध्यप्रदेश ६ हाथ का होजाता है। इस मान के अनुसार एक ६ हाथ लम्बी [ अर्थात् १४४ अङ्गुल लम्बी ] रज्जु लीजिए। इस में इसी के ६ ठे भाग जितना [ २४ अङ्गुल लम्बा ] एक रस्सी का टुकड़ा और जोड़ दीजिए। इस--प्रकार यह रस्सी कुल ७ [ सात ] हाथ लम्बी, [ अर्थात् १६८ अङ्गुल लम्बी ] होजायगी। इसी रज्जु से आपको आगे का मान--साधन करना है।

इस सात हाथ लम्बी रज्जु के दोनों अन्तिम प्रान्तों का [ छोरों का ] पाश [फाँसा] बना लीजिए। रज्जु के ठीक केन्द्र में पहिले एक चिह्न [ निशान ] कर दीजिए। इसप्रकार मध्य में चिह्न कर शेष बचे हुए रज्जु के दोनों पार्श्वभागों में तृतीयांश--तृतीयांश भाग में एक एक चिह्न और बना दीजिए। चिह्न बना कर पूर्वोक्त दोनों पाशों में से एक पाश तो गार्हपत्यकेन्द्र में गड़े हुए शङ्कु के साथ बाँध दीजिए, और एक पाश आहवनीयकेन्द्र में गड़े हुए शङ्कु के साथ बाँध दीजिए।

अब आगे चलिए—पूरी रज्जु के केन्द्र में एक चिह्न है। उसके पूर्व--पश्चिमभाग में क्रमशः तृती--यांश पर प्रायः २८--२८ अङ्गुल के अन्तर पर दो दो चिह्न और हैं। पूरी रज्जु का परिमाण हमनें सात हाथ [ १६८ अङ्गुल ] बतलाया है, और इसमें मध्य--तृतीयभाग रूप से चिह्नों का उल्लेख किया है। इस अनुपात से ८४ वाँ अङ्गुल मध्यस्थान पड़ता है। इससे ऊपर भी प्रायः ८४ अङ्गुल रहते हैं, नीचे भी ८४ अङ्गुल रहते हैं। इनसे तीन तीन भाग करने से २८--२८ की तो दो बिन्दु गार्हपत्य की ओर होती है, एवं ये ही दो बिन्दु आहवनीय की ओर होती है। तीसरी बिन्दु का स्थान दोनों ओर के प्रान्तभाग घेर लेते हैं।




मध्यबिन्दु के पश्चिमभागस्थ चिह्न को लक्ष्य बनाइए। गार्हपत्यकेन्द्र में बद्ध रज्जु को निकाल कर उस चिह्न के ठीक सामने जाकर रज्जु को रख दीजिए। वहाँ एक चिह्न कर दीजिए। उस स्थान से ६॥ अङ्गुल के प्रदेश पर उत्तर की ओर छोड़ कर एक शङ्कु गाड़ दीजिए। शङ्कुस्थान को केन्द्र मानते हुए एक यवपरिमाण से अधिक १६ अङ्गुलियुत रज्जु से वृत्त बना डालिए। इस वृत्त का व्यासार्द्ध प्रायः ६॥ अङ्गुल का होगा। इस वृत्त में केन्द्र से स्पर्श करती हुई एक सीधी रेखा पूर्वापर बना दीजिए। ऐसा करने से वृत्त के दो विभाग होजायँगे। इन दोनों में से उत्तरभाग को नास्तिरूप में परिणत कर दीजिए। शेष बचा हुआ अर्द्धचन्द्राकार यही दक्षिणार्द्ध [ दक्षिण की ओर का आधा भाग ] दक्षिणाग्निकुण्ड बन जाता है। इसी में **'अपणाग्नि'** प्रतिष्ठित रहता है। वेदि का यही दक्षिणप्रदेश **'त्रितृतीय'** प्रदेश कहलाता है।

यह तो हुई मध्यबिन्दु के पश्चिमभागस्थ बिन्दु की कथा। अब चलिए पूर्वबिन्दु की ओर। रज्जु को उठाइए, पूर्वबिन्दु के सम्मुख उत्तर की ओर चिह्न कर दीजिए। इसी वितृतीय प्रदेश में 'उत्कर' बनाया जाता है। इसी अभिप्राय से—'वितृतीये उत्करं करोति' यह कहा गया है। इसके अनन्तर आहवनीयकुण्ड के मध्य में प्रतिष्ठित शङ्कु से पश्चिम की ओर तीन अरत्नि ( ७२ अङ्गुल ) स्थान छोड़कर एक शङ्कु गाड़ दीजिए। उसी आहवनीय-मध्यशङ्कु से दक्षिण, और उत्तर क्रमशः १॥ ( डेढ़ ) अरत्नि ( ३६ अङ्गुल ) के प्रदेश पर एक एक शङ्कु और गाड़ दीजिए। इसी मान से वेदि विषमचतुरस्र बन जाती है।

**उत्करकरणानन्तर—"देवस्यत्वेति स्फ्यमादाय सतृणम्"**
**[ का० श्रौ० २।६।५ ] के अनुसार—**

**"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः" [ १।२४ ]**

सविता देवता के प्रसव में ( अनुज्ञा में ), अश्विनीकुमारों के बाहू से, एवं पूषादेवता के हाथों से देवताओं के लिए यज्ञकर्म्म सम्पन्न करने के कारण 'अध्वरकृत' नाम से प्रसिद्ध सतृण 'स्फ्य' को उठाता हूँ, अनन्तर यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु दक्षिण हाथ से स्फ्य को उठाता है।

**"सतृणं सव्ये कृत्वा दक्षिणानालभ्य जपति 'इन्द्रस्य बाहु' रिति"**
**[ का० श्रौ० २।६।५ ) के अनुसार—**

**"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः" [ १।२४ ]**

हे स्फ्य ! आप इन्द्र के दहिने हाथ हैं। सहस्रों शत्रुओं को नाश करने वाली आपकी कोरें हैं, अतएव 'सहस्रभृष्टि' नाम से प्रसिद्ध हैं। आप ( अपनी दिव्य आभा से ) चारों ओर से प्रदीप्त होरहे हैं। आप वायु ( वायु के समान तत्क्षण शत्रु के शरीर में प्रविष्ट होने वाले ) हैं। आपका तेज अत्यन्त सूक्ष्म है। अर्थात् आप पैनी धार वाले हैं। ऐसे आप शत्रुओं के नाशक हैं। अध्वर्यु तृणयुक्त दक्षिण हस्तस्थ स्फ्य को वाम हाथ में रखकर दक्षिण हाथ से स्पर्श करता हुआ उपर्युक्त मन्त्र बोलता है। यहाँ प्रसङ्गप्राप्त इतना और समझ लेना चाहिए कि, पितृकर्म्म में मन्त्रोपात्त 'अध्वरकृतं देवेभ्यः' के स्थान में 'देव-पितृभ्यः' यह ऊह कर लेना चाहिए। अतः तत्सम्बन्धी स्फ्यादान-मन्त्रजपादि उस कर्म्म में नहीं होते। साथ ही स्तम्बयजुर्हरण का भी पिण्डपितृयज्ञ में अभाव है। आगे जाकर इस स्फ्य से भूमि पर प्रहार होने वाला है। इस प्रहरणकर्म्म से आरम्भ कर पुरीषनिवपनकर्म्म पर्य्यन्त सम्पूर्ण कर्म्म 'स्तम्बयजुर्हरण' नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी अवस्था में—

**"नोपस्पृशेत् पृथिव्यात्मानो तेन स्तम्बयजुर्हरिष्यन्"**
**[ का० श्रौ० २।६।७ ] के अनुसार—**

आगे जाकर स्तम्बयजुर्हरण करता हुआ अध्वर्यु स्तम्बयजुर्हरण-पर्य्यन्त उस वज्ररूप स्फ्य से भूल कर भी अपने शरीर से, एवं पृथिवी से स्पर्श न करे। अब क्रमप्राप्त स्तम्बयजुर्हरण-प्रकार बतलाते हैं—

**"वेद्यां तृणं निदधात्युदक् 'पृथिव्यै वर्म्मासी' ति"**

**[ का० श्रौ० २।६।८ ) के अनुसार--**

**'पृथिव्यै वर्म्मासि' ( आप पृथिवी के लिए वर्म्म हैं )** यह निगद * मन्त्र बोलता हुआ वेदि पर उत्तराग्र बिछाता है। अभी वेदि बनी नहीं है। अपितु—'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' इस न्याय के अनुसार वेदि के लिए नियत स्थान भी प्रकृत में 'वेदि' शब्द से व्यवहृत कर दिया गया है।

**दर्भस्तरणानन्तर-'पृथिवि देवयजनि' इति तृणेऽन्तर्हिते प्रहरति'**

**[ का० श्रौ० २।६।६ ] के अनुसार—**

**'पृथिवि देवयजनि—ओषध्यास्ते मूलं मां हिंसिषम्' [ १।२५)**

( देवताओं के यजन करने योग्य ( जहाँ देवता यज्ञ करते हैं ), अतएव **'देवयजनी'** नाम से प्रसिद्ध हे पृथिवी ! हम ( इस प्रहार से ) आपके तृणरूप ओषधियों के मूल को नष्ट नहीं करते हैं ), यह मन्त्र बोलता हुआ, तृण से आच्छादित वेदिरूप भूप्रदेश पर वज्ररूप स्फ्य से प्रहार करता है। यह प्रहार तृण पर ही होता है। यही प्रथम प्रहार है। इसके अनन्तर-**'व्रजं गच्छति पुरीषमादत्ते'** ( का० श्रौ० २।६।१० ) के अनुसार **'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्'** ( १।२५ ) **( हे असुर ! तुम गोस्थानरूप व्रज में चले जाओ )** यह मन्त्र बोलता हुआ स्फ्यरूप वज्रप्रहार से जो मिट्टी उखड़ी है, उसे उठा लेता है। इसके अनन्तर—**'वर्षतु ते' इति वेदिं प्रेक्षते'** ( का० श्रौ० २।६।११ ) के अनुसार **'वर्षतु ते द्यौः'** ( १।२५ ) ( तुम्हारे लिए द्युलोक वर्षा करे ) यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि को देखता है। इसके अनन्तर—**'वधाने' त्युत्करं करोति'** ( का० श्रौ० २।६।१२ ) के अनुसार—

**'वधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्' [ १।२५ ]**

हे सविता देवता ! इस पृथिवी का जो अन्तिम घोर अन्धकार स्थान है, उसमें ( इस प्रक्षिप्त असुर को प्रेरित करते हुए इसे ) सैंकड़ों पाशों से बाँध दो। जो हम से द्वेष करता है, अथवा जिससे हम द्वेष करते हैं ( इस बन्धनस्थान से उस शत्रु को कभी मत छोड़ो, यह मन्त्र बोलता हुआ स्फ्य से उत्खात मिट्टी को उत्कर में फैंक देता है।

भूमि पर चार बार स्फ्य से प्रहार किया जाता है। इनमें तीन प्रहार तो समन्त्रक होते हैं, एवं एक प्रहार ( चौथा प्रहार ) तूष्णीं ही होता है। इनमें से प्रथम प्रहार का स्वरूप बतलाया है। **'पृथिवी देव-**

* मन्त्रसंहिता में जो मन्त्र नहीं है-किन्तु सूत्रकार ने पद्धति में उसे मन्त्र मान रक्खा है, वही **'निगद'** कहलाता है।

यजनि०' इत्यादि मन्त्र के चार विभाग किए जाते हैं। प्रथम भाग से 'प्रहार' होता है, दूसरे से 'पुरीषादान' होता है, तीसरे से 'वेदिप्रेक्षण' होता है, एवं चौथे मन्त्रभाग से उत्कर में 'पुरीषोत्सर्ग' होता है। इस पक्ष का विकल्प बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**'प्रहरणशेषो वाऽविशेषात्' [ का० श्रौ० २।६।१३ ]**

सूत्रकार का तात्पर्य्य यही है कि 'पृथिवि देवयजनि' इत्यादि मन्त्र से अतिरिक्त जो मन्त्र के तीन भाग हैं, वे इसी मन्त्र के शेष हैं। अर्थात् **'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्'** इत्यादि मन्त्र 'पृथिवि देवयजनि०' इत्यादि प्रहरण-मन्त्र का ही अङ्ग है। कारण, स्वयं **संहिता** में एवं **शतपथब्राह्मण** में अविशेष (सामान्य) रूप से प्रहरण के सम्बन्ध में हीं पूरा मन्त्र प्रयुक्त हुआ है। **'पृथिवि देवयजनि०'** से आरम्भ कर **'तमतो मा मौक्'** यहाँ तक का सम्पूर्ण मन्त्र केवल प्रहारकर्म्म में हीं विनियुक्त है। ऐसी अवस्था में-**पुरीषग्रहण, वेदिप्रेक्षण, पुरीष का उत्कर में उत्सर्ग**, ये तीनों कर्म्म तूष्णीं हीं करने चाहिएँ।

यद्यपि इस **वाजसनेय-शाखा** की **यजुर्वेद संहिता** में, एवं तत्शाखा के प्रस्तुत **शतपथब्राह्मण** में पूर्वकथनानुसार पूरा मन्त्र केगल प्रहरणकर्म्म में हीं विनियुक्त हुआ है। तथापि **तैत्तिरियादि शाखान्तर** में ( तै० ब्रा० ३।२।६ ) विशेष ही विधान किया गया है। वहाँ सम्पूर्ण मन्त्र को प्रहरणकर्म्म में विनियुक्त न मान कर मन्त्र के चार विभाग कर समन्त्रक ही चारों कर्म्मों का विधान है। साथ ही **'सामान्यविधिरस्पृष्टः संह्रियते विशेषतः'** ( तन्त्रवा० ३।४।४७ ) के अनुसार विशेष विधि प्रधान बन जाती है। अतः मन्त्र के चार विभाग कर चारों कर्म्म समन्त्रक ही करना न्यायप्राप्त है।

प्रथम प्रहरणानन्तर **'अपाररु०' मिति द्वितीयं प्रहरणादि'** ( का० श्रौ० २।६।१४ ) के अनुसार **'अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद् वध्यासम्'** ( १।२६ ) ( **पृथिवी के इस वेदिरूप देवयजनस्थान से अररु नाम के असुर को मृत्युसम बनाता हूँ** ) यह मन्त्र बोलता हुआ द्वितीय प्रहार करता है। अनन्तर मन्त्रशेष के पूर्वानुसार तीन विभाग कर क्रमशः **पुरीषादान, वेदिप्रेक्षण, पुरीष का उत्कर में उत्सर्ग**, ये तीनों कर्म्म करता है। इसप्रकार यथापूर्व द्वितीय प्रहरणादि कर्म्मों के अनन्तर—**'अभिन्यस्यत्यग्नीदुत्करमररोदिव' मिति'** ( का० श्रौ० २।६।१५ ) के अनुसार **'अररो दिवं मा पप्त'** ( **हे अररो असुर! द्युलोक की ओर मत जा** ) यह मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र नामका ऋत्विक् दोनों हाथों से उत्कर का ( तद्गत प्रक्षिप्त पुरीष का भी ) स्पर्श करता है।

द्वितीय प्रहरणानन्तर—**'द्रप्सस्ते' इति तृतीयम्'** ( का० श्रौ० २।६।१६ ) के अनुसार **'द्रप्सस्ते मा स्कन्दन्'** [ **हे वेदिदेवते! आपका जो उपजीव्य रस है, वह च्युत न हो** ] यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु तीसरा प्रहार करता है। मन्त्र के-**'वर्षतु ते द्यौ'** इत्यादि तीनों भागों से क्रमशः **पुरीषादान, वेदिप्रेक्षण, पुरीषोत्सर्ग**-तीनों कर्म्म करता है। तृतीय प्रहरण के अनन्तर--**'तूष्णीं चतुर्थं सतृणम्'** [ का० श्रौ० २।६।१७ ] के अनुसार **चौथा प्रहार, पुरीषादान, वेदिप्रेक्षण, पुरीषोत्सर्ग** चारों कर्म्म तूष्णीं ही करता है। पूर्व के तीनों प्रहारों में-स्फ्य के साथ युक्त तृण को पूरीष के साथ उत्कर में नहीं डाला जाता। परन्तु इस चौथे प्रहार के अनन्तर पुरीष के साथ साथ ही तृण भी उत्कर में डाल दिया जाता है। इस

प्रकार इस चौथे प्रहरणकर्म्म में तूष्णीं प्रहार करना, और पुरीष का सतृण उत्सर्ग करना, ये दो विशेष--धर्म्म हैं।

प्रकृत ब्राह्मण में केवल इन चारों प्रहारों की ही इतिहास--पूर्वक 'इतिकर्त्तव्यता [ पद्धति ] बतलाई गई है। कातीय-श्रौत-सूत्र-सिद्धान्त के अनुसार पद्धति का दिग्दर्शन करा दिया गया। अब तद्विज्ञान की ओर ही विज्ञानप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

## इति-सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

— —*— —

[ भाष्य ]-वैदिक साहित्य के निगूढतम रहस्यों का आंशिकरूप से भी परिचय प्राप्त करने वाले विद्वान् महानुभाव यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं करेंगे कि, ब्राह्मणग्रन्थोक्त तत्तत् प्रकरणविशेषों के यथा--वत् समन्वय के लिए तत्तत् सामान्य विज्ञान-सिद्धान्तों का आश्रय लेना परम आवश्यक है। स्वयं मूलग्रन्थने भी विषय--समन्वय के लिए शैली--भेद से स्थान स्थान पर उन मौलिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। प्रकृत **विज्ञानभाष्य में** भी विषय--समन्वय के लिए हमें उसी **पुनरुक्तिमूला आर्षशैली** का अनुसरण करना पड़ रहा है।

**हविर्ब्राह्मण** उपरत हुआ, अब **वेदिब्राह्मण** आरम्भ होता है। वेदिनिर्म्माण का मूलाधार प्राकृतिक नित्य यज्ञ है। प्रकृति में [ आधिदैविक--सौरमण्डल में ] निरन्तर अग्नीषोमात्मक यज्ञ होरहा है। इस अग्नीषोमात्मक यज्ञ की **हवि-ज्योतिष्टोम** भेद से दो अवस्थाएँ हैं। **हविर्यज्ञ** का प्रतिष्ठारूप **भूपिण्ड** से सम्बन्ध है, एवं **ज्योतिष्टोम** का अदिति नाम से प्रसिद्ध महिमारूपा, ३३ अहर्गणात्मिका **स्तौम्या पृथिवी** से सम्बन्ध है। भूपिण्ड पर रहने वाली ओषधि-वनस्पतियाँ हविरूप हैं। भूपिण्ड के केन्द्र से निकलने वाले सौरभागावच्छिन्न आहवनीय में यह सोम [हविःसोम-अन्नसोम ] निरन्तर आहुत होता रहता है। पार्थिव अग्नि के हविःसोमात्मक समन्वयरूप हविर्यज्ञ से ही भूपिण्ड पर रहने वाली स्थावर जङ्गम प्रजा का निर्म्माण होता है। इसी प्राकृतिक भूपिण्ड--सम्बन्धी नित्य हविर्यज्ञ की प्रतिकृति से हमारे इस **वैध हविर्यज्ञ** का **ऋत्विजों** के द्वारा वितान किया जाता है। इस हविर्यज्ञ से यज्ञकर्त्ता यजमान का आत्मा भूपिण्ड की चर--अचर-विभूतियों का भोक्ता बन जाता है।

**'यावती वेदिस्तावती पृथिवी'-'इयं वै वेदिः'** इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार प्राकृतिक नित्य हविर्यज्ञ की वेदि सम्पूर्ण भूपिण्ड है। इस भूपिण्ड का सम्पूर्ण ही भाग वेदि नहीं है। कारण-**'देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे'** के अनुसार प्रजापति से उत्पन्न **देवता**, और **असुर** निरन्तर पर--स्पर स्पर्द्धा करते रहते हैं। भूपिण्ड में देवता का भी भाग है एवं असुर का भी भाग है। भूपिण्ड के केन्द्र में रहने वाला भूपिण्ड का प्रभव--प्रतिष्ठारूप प्राणात्मक अग्नितत्त्व प्रजापति है। इस **पिण्डस्थ**, दूसरे शब्दों में **गर्भस्थ** आग्नेय प्रजापति को **'अन्न'** कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि, भूपिण्डकेन्द्र में यह प्राजा--पत्याग्नि २४ अंश के व्यासार्ध से [ ४८ अंश के परिसर से ] अपनी एक संस्था बनाता है। इसी स्थिर प्रजापतिरूप **'अग्नि-कीलक'** के आधार पर भूपिण्ड चारों **ओर** घूमता हुआ अहोरात्र का कारण बनता है।

यह प्रजापति 'धुर'--स्थानीय है, अतएव इसे--'अक्ष' कहा जाता है। इस स्वाक्षपरिभ्रमण से होने वाली दैनंदिनगति के प्रभाव से ही भूपिण्ड देवता, असुर-भेद से दो भागों में परिणत होजाता है। 'चित्रं देवानामुदगात्' के अनुसार सौरमण्डल देवमय है। यह देवतामय सौरप्राण भूपिण्ड से संश्लिष्ट होता है। भूपिण्ड का जो भाग सूर्य्य की ओर रहता है, वह इस सौरप्राण के सम्बन्ध से 'देवतामय' बन जाता है। एवं भूपिण्ड का वह भाग, जो सौरप्राण से संश्लिष्ट न होने से **तमोमय** रहता है, **असुरमय है**। असुरभाग में अवस्थित पार्थिव अग्नि को **'सहरक्षा'** कहा जाता है। यह सहरक्षा पार्थिव अग्नि **असुरों का दूत** माना जाता है। सौरभागावच्छिन्न अह:प्रकाशयुत भूभागस्थ अग्नि **'अग्नि'** कहलाता है। इसी दिव्यदूत के लिए- **'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं रत्नधातमम्'** यह कहा जाता है। भूपिण्ड स्वस्वरूप से सर्वथा कृष्ण है। काला है। इसमें स्वस्वरूप से भूतज्योति का अभाव है। भूपिण्ड को आवृत करने वाला यह तमोमय प्राण ही **'सर्वं वृत्त्वा शिष्ये'** इस व्युत्पत्ति से **'वृत्र'** नाम का असुर है। जबतक सौर-ज्योतिर्म्मय प्राण का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तबतक भूपिण्ड पर एकमात्र तमोमय वृत्रप्रधान असुरों का हीं साम्राज्य रहता है। असुरभाव यज्ञ का विरोधी है। कारण स्पष्ट है। अग्नि में सोमाहुति का होना हीं यज्ञ है। सोम दाह्य है। अग्नि दाहक है। दाहक अग्नि में आहुत होकर दाह्य सोम जल पड़ता है। प्रकाश हो- पड़ता है। प्रकाश--प्रवर्त्तक अग्निषोमीय यज्ञ के साथ तमोमूलक असुरों का विरोध करना स्वाभाविक हो- जाता है।

देव-देवताओं की विकासभूमि सूर्य्य है, एवं असुरों का साम्राज्य पानी में रहता हैं। सूर्य्य में रहने वाला चिच्छक्तिमय रूपाधिष्ठाता अमृत प्राण इन्द्र है। पारमेष्ठ्य वारुणमण्डल में रहने वाला आवरक तमोमय, प्रकाश का विरोधी प्राण ही **'वृत्रासुर'** है। **सौर इन्द्रप्राण बुद्धिवर्द्धक है, एवं पारमेष्ठ्य वारुण-प्राण, दूसरे शब्दों में-आप्यप्राण बलबर्द्धक है। 'बल' की कुर्वद्रूपावस्था (जाग्रदावस्था) का नाम ही 'प्राण' है।** इस शरीरबलरूप प्राण का प्रदाता यही आप्यप्राण है। अतएव **'असुं [प्राणं-बलं] राति [ददाति]'** इस व्युत्पत्ति से इसे **'असुर'** कहा जाता है। बात यथार्थ है। बिना पानी के शरीर में बल का सञ्चार कथमपि नहीं होसकता। इसलिए बलवान् को **'पानीदार'** कहा जाता है। जिस मनुष्य के शरीर का बल नष्ट होजाता है, उसके लिए 'इसका तो **पानी मर गया, पानी उतर गया'** यह कहा जाता है। यदि आप अपने शरीर में शिथिलता का अनुभव करते हैं, तो पानी से स्नान कर डालिए। उसी समय स्फूर्त्ति आजायगी, शरीर निर्भार [ हलका ] होजायगा, शारीराग्नि जाग्रत होपड़ेगा। मुखालस्य [ चेहरी की सुस्ती ] है, तो ठँढे पानी से मुख का मार्ज्जन कर लीजिए, आलस्य पलायित होजायगा। अप्तत्त्व की इसी प्राणप्रदा-शक्ति को लक्ष्य में रखकर **'आपोमयः प्राणः'** [ छा० उ० ] यह कहा जाता है।

यह आप्यप्राण परमेष्ठीमण्डल में प्रतिष्ठित रहता है। सौर दिव्यप्राण की अपेक्षा यह त्रिगुणित है। अतएव इसे **'ज्यायान्'** कहा जाता है। इधर सौर **देव-देवता** संख्या में ३३ ही हैं। बुद्धितत्त्व का विकास करना इसी सौरतत्त्व का काम है। इसीलिए सौर सविताप्राणमय दिव्यतेज के लिए **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** ,यह कहा जाता है। द्युतिभाव (प्रकाशभाव) के कारण ही इस सौर ज्योतिर्म्मय तत्त्व को **'देवता'** कहा जाता है। हमारे आध्यात्मिकजगत् में देवता और असुर, दोनों का आगमन होता है। आसुरभाव से हमारी **शरीरसंस्था** की रक्षा होती है, एवं दिव्यभाव से **विज्ञानतत्त्व** सुरक्षित रहता है। **विज्ञान, और बल,** दोनों की समष्टि **'अहम्'** है।

यदि दुर्भाग्य से हम **शरीरबल** के अनुयायी बन जाते हैं, एवं **विज्ञानबल** का तिरस्कार करने लगते हैं, तो हमारा ज्योतिर्म्मय आत्मा मलिन होजाता है। इसलिए त्रिवर्ग के लिए, विशेषतः ब्राह्मण के लिए तो यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, वह शरीरबल की अपेक्षा विज्ञान का ही उपासक बने। अहोरात्र शरीर की सौन्दर्य्य-वृद्धि में ही निमग्न रहना, अहर्निश शरीर का ही ध्यान रखना, नित्यप्रति नवीन नवीन वेशभूषा में संलग्न रहना ये सब **आसुरधर्म्म** हैं। जिस समय **इन्द्र**, और **विरोचन** प्रजापति के समीप आत्मस्वरूप की जिज्ञासा लेकर समित्पाणी होकर जाते हैं, उस समय देवेन्द्र तो आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझ लेते हैं। किन्तु शरीरसंस्था की आराधना करने वाले यह विरोचन असुर मर्त्यशरीर को ही आत्मा मान कर इसी की सेवा शुश्रुषा में निमग्न रहते हुए अमृतभाव से सर्वात्मना पराःपरावत (अत्यन्त विदूर) होजाते हैं। (देखिए छान्दोग्यउपनिषत्)।

आज भारतवर्ष तथाविध भावों का ही अनुगमन करता जारहा है। **'खाना पीना मौज उड़ाना'** इसी सिद्धान्त को सर्वेसर्वा मानने वाले बलप्रधान पाश्चात्यदेशों के सांक्रामिक रोग से ग्रस्त, पाश्चात्यशिक्षा से दीक्षित हमारे भारतीय नवयुवकों का आज इसी प्रणाली से सर्वनाश होरहा है। आज वे सचमुच 'मौज' उड़ा रहे हैं। मौज **'आनन्द'** है। भारतीय आदर्श आनन्द को उडाता नहीं, अपितु संग्रह करता है। ये महानुभाव अपने सञ्चित आनन्द को आज उड़ा रहे हैं। हमारा शरीर अणुमात्र भी कष्ट न पावे. **अन्ध, बधिर, कुब्ज, वामन, षण्ढ, मूक,** आदि भावों से युक्त सर्वथा असमर्थ मनुष्य जैसे **खाने-पीने सोने-चलने** आदि अपनी शरीर-क्रियाओं के लिए परमुखापेक्षी बना रहता है, वही दशा आज इस देश की है। इसप्रकार केवल कल्पित तत्त्व की आराधना करने वाला आज का भारतीय समाज द्रुतवेग से विनाश के गर्त्त में जारहा है। आज इनको अपने आदर्श पर सुरक्षित रखने वाला कोई प्रतीत नहीं होरहा।

**दिव्यबल** को ही प्रधानता देने वाले उन आप्त महर्षियों के शास्त्रीय वचनों पर आज इनको अणुमात्र भी विश्वास नहीं है। यदि सौभाग्य से कहिए, अथवा दुर्भाग्य से कोई व्यक्ति इन्हें सावधान करने आता है, तो **बलसत्ता** के गर्व से मदान्ध बने हुए, प्रदर्शनमात्र के लिए **धर्म्मरक्षक भक्तराज-समाज सेवक** बने हुए कुछ एक रँगरञ्जित **शृगाल**-प्रच्छन्नावरण में (परदे की ओट में) उस व्यक्ति को दान्त करने में हीं अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं। इसका कारण है केवल बल की आराधना। **बल**, और **विज्ञान** की पारस्परिक शक्तियों की तुलना करते हुए एक स्थान पर **उपनिषत्** ने कहा है कि-**'बलं वाव विज्ञानाद्भूयः'**। संसारिक दृष्टि से बल विज्ञान से अग्रगामी बन जाता है। यदि बल और विज्ञान ( सत्ताबल, और बुद्धिबल ) दोनों प्रतिस्पर्द्धा में खड़े होते हैं, तो बल का विजय होजाता है, एवं विज्ञान परास्त होजाता है। सचमुच आरम्भ में ऐसा ही होता है। **सत्यनिष्ठा पर प्रतिष्ठित विज्ञानतत्त्व देवप्राणमय है। उधर अनृतभाव पर आरुढ सत्ताबल (धनबल, शरीरबल आदि भौतिक बल) आसुर प्राणमय है।**

देवता संख्या में भी न्यून (३३) हैं, एवं **आवरणमूला** (तमोमूला) सृष्टि में ज्योतिर्म्मय ये विज्ञानप्रधान देवता प्रकृति से भी अभिभूत रहते हैं। उधर असुर संख्या में भी अधिक (९९) हैं, एवं सृष्टि में भी

इन्हीं की प्रधानता रहती है। अतएव **'देवासुररूप-विज्ञान**, एवं **बल** की प्रतिद्वन्द्विता में संसारिक दृष्टि से कुछ काल के लिए **सत्यविज्ञान** ही अभिभूत होजाता है। असुरबुद्धि मानवसमाज इस दिव्यतत्त्व को परास्त हुआ समझ कर गर्व से मदमत्त बन जाता है। परन्तु आगे क्या होता है ?। सुनिए। आगे जाकर परिमाण में वह असुरसमाज ऐसा नष्ट होता है कि, उसे पुनः भविष्य में घोर अन्धकार के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं स्थान नहीं मिलता, जैसाकि आगे के मन्त्रभाग से स्पष्ट होने वाला है। दिव्यकार्य्यानुयायी व्यक्ति का सर्वप्रथम विज्ञानशून्य धन के उपासकों के द्वारा तिरस्कार होता है। कारण—**आगमशास्त्र** के सिद्धान्त के अनुसार लक्ष्मी का वाहन 'उल्लू' माना जाता है। यह पक्षी रात्रि का राजा है। अन्धकार का अधिपति है। अहः—काल सौर है, रात्रि वारुणी है, आपोमयी है। रात्रि का अधिष्ठाता यही आपोमय रोदसी समुद्र **'अर्णव'** नाम से प्रसिद्ध है। आप्यप्राणमय होने से यह समुद्र असुरों की आवासभूमि है। विष्णुपत्नी लक्ष्मी का विनिर्गम इसी असुरभूमि से हुआ है। उल्लू **वाहन, असुरभूमि जन्मस्थान**, फिर क्या कमी रही। जहाँ श्रीविहीना (शारदाविहीना) केवल लक्ष्मी का विकास रहता है, वहाँ अत्याचार—अन्याय—छल—धोका—अभिमान—आदि के अतिरिक्त और क्या होसकता है ?। भारतीय महर्षि इस अविवेक को समझते थे। उन्हें विदित था कि, **लक्ष्मी का ताण्डवनृत्य मनुष्य को पशु बना डालता है**। इस आपत्ति से बचने के लिए इन कारुणिक ऋषियोंनें प्रत्येक सद्गृहस्थ के साथ सरस्वती के उपासक एक एक **कुलपुरोहित** का सम्बन्ध रखना आवश्यक बतलाया है।

जब जब भी ये मदान्ध धनिक लक्ष्मी के प्रभाव से अनाचार करने के लिए उद्यत होते हैं, तब तब यही निस्वार्थी पुरोहित विद्याबल से इनका नियन्त्रण करता है। कहना न होगा कि, दुर्भाग्य से आज यह प्रणाली सर्वथा दूषित होगई है। संसार में यदि आज कोई **मूर्खजाति** है, तो यह कुल **'पुरोहितजाति'** ही। भँग, चरस, गाँजा पीना, लक्ष्मी के लाडलों की दया पर जीवन विताना, धनिकों की हाँ में हाँ मिलाना, हाथ जोड़े इन मदान्धों की स्तुति करते रहना ही इन पुरोहितों का एकमात्र प्रधान कर्त्तव्य रह गया है। जहाँ कहीं इन लक्ष्मीधरों पर सत्य की फटकार पड़ती है, वहीं ये चापलूस अशिक्षित पुरोहित महानुभाव काँप उठते हैं। इन्हें डर होता है कि, कहीं हमारी आजीविका न छिन जाय। इस भय से बचने के लिए ये नरपिशाच अपनी राक्षसी लीला का ताण्डव नृत्य आरम्भ कर देते हैं। नाममात्र को ये अपने इस जघन्य कार्य्य में सफल भी होते हैं। परन्तु वह सत्य आक्रमण आगे जाकर इनको सर्वथा ही अभिभूत कर देता है।

इसलिए विज्ञानतत्त्व के उपासकों से हम यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि, इस विश्व-प्राङ्गण में **दैवी**, एवं **आसुरी**, दोनों ही विभूतियाँ नृत्य कर रहीं हैं। **दैवीविभूति** में आरम्भ में कष्ट है, किन्तु परिणाम में आनन्द है। **आसुरी विभूति** के अनुगमन से आरम्भ में सुखाभास है, किन्तु परिणाम में सर्वनाश है। यद्यपि यह सिद्ध विषय है कि, दैवीसम्पत् के उपासक को पद पद पर अवमानित होना पड़ता है, स्वार्थियों के कुचक्र का लक्ष्य बनना पड़ता है। परन्तु कभी इन आपत्तियों से डर कर अपने सत्यसङ्कल्प से आपको विमुख नहीं होना चाहिए। वीरतापूर्वक सब विघ्न बाधाओं का सामना करते हुए अपने सांस्कृतिक—लक्ष्य में अनन्यनिष्ठा से आरूढ रहना चाहिए। यदि आपका सङ्कल्प सत्य है, यदि आप अन्तरात्मा से दिव्य-विभूति का इस विश्व में विकास चाहते हैं, तो किसी आपत्ति से न डरिए। आपके सत्यसङ्कल्प के सम्मुख बड़े

से बड़ा सत्ताबल भी छिन्न भिन्न होजायगा। जो स्वार्थलोलुप अज्ञजन आपकी शक्ति का विरोध करते हैं, वे एक दिन आपके चरणों में मस्तक झुका देंगे। इसप्रकार यदि आपने दृढ़तापूर्वक कालपुरुष की प्रतीक्षा करते हुए अपने सत्यसङ्कल्प का अनुगमन किया, तो निःसन्देह आप उस अमरत्व के, आनन्दघन के अधिकारी बन जायँगे, जिसके नामस्मरण का भी उन असुरबुद्धियों को अधिकार नहीं है। **देवासुरसंग्राम नवीन नहीं है।** सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त का इतिहास देख जाइए। सर्वत्र आपको देवासुरसंग्राम के अद्भुत दृश्य उपलब्ध होंगे। साथ ही आप यह भी देखेंगे कि, आरम्भ में असुर जीतते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु परिणाम में असुर नष्ट ही होगए हैं। प्रकृत **ब्राह्मणश्रुति** आज एक ऐसे ही प्राकृतिक नित्य देवासुरसंग्राम का स्वरूप आपके सम्मुख रख रही है।

पूर्व–प्रतिपादित देवासुरस्वरूप-परिचय से विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति विदित होगया होगा कि, देवता सौरज्योतिर्मय इन्द्रप्राण हैं। एवं वारुण आप्य तमोमय प्राण असुर है। स्वयं सूर्य्यमण्डल में कभी देवासुर संग्राम नहीं होता। सौरमण्डल याज्ञिक परिभाषा के अनुसार '**नवाहयज्ञ**' कहलाता है। स्तौम्या पृथिवी के १७ वें अहर्गण से आरम्भ कर सूर्य्यबिम्ब के उपरिभागस्थ '**अविज्ञाक्यमहः**'–'**अपुनर्मार**'–'**अशोकमहिम**' '**कामप्रलोक**'–'**महाव्रत**'-'**सौम्यविद्युत्**'–'**अर्जुन**' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध २५ वें अहर्गण पर्य्यन्त होने वाला अग्नीषोमात्मक यज्ञ ही नवाहयज्ञ कहलाया है। इस यज्ञ में $१७^{१}$, $१८^{२}$, $१९^{३}$, $२०^{४}$, $२१^{५}$, $२२^{६}$, $२३^{७}$, $२४^{८}$, $२५^{९}$, ये नौ अहर्गण हैं। अतएव इसे '**नवाहयज्ञ**' कहना न्यायप्राप्त होता है। इस नवाहयज्ञ के केन्द्र में २१ वें अहर्गण पर सूर्य्यबिम्ब अपनीं सहस्र किरणों से तप रहा है। इस नवाहयज्ञमण्डल में कभी अन्धकार का प्रवेश नहीं होता। अतएव इस स्थान को पुराणपरिभाषानुसार '**श्वेतद्वीप**' कहा जाता है। सूर्य्य सत्यतत्त्व है। साथ ही सौर–नवाहयज्ञ के चारों ओर अर्णवसमुद्र का वेष्टन रहता है। **अतएव इस श्वेतद्वीपनिवासी नवाहयज्ञरूप विष्णु को 'सत्यनारायण' कहा जाता है।** यहाँ केवल सत्य का ही साम्राज्य है। मिथ्याभावोपेत असुरों का प्रवेश यहाँ निषिद्ध है। इसप्रकार इस नवाहयज्ञ की सीमा में रहने वाले सौर इन्द्र के साथ, दूसरे शब्दों में सौर देवताओं के साथ कभी असुरसङ्ग्राम सम्भव ही नहीं है। इन्द्र के इसी विजयभाव को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

**न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्नतेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।**
**मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्से॥**

—शत० ११।१।६।१२।

**'हे इन्द्र आप किसी से युद्ध नहीं करते। आप से कोई युद्ध नहीं कर सकता। हे मघवन्! संसार में आपका कोई शत्रु नहीं है। आख्यानवेत्ता जो आपके साथ असुरों का संग्राम बतलाते हैं, वह कल्पनामात्र है, न पहिले आपका कोई शत्रु था, न आज है"।** इसका तात्पर्य्य यही है कि, सौर इन्द्र '**मघवा**' कहलाता है। इस दिव्य इन्द्र के साथ सचमुच असुरों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध होता है केवल **पार्थिव वासव इन्द्र**, एवं आन्तरिक्ष्य चन्द्रबिम्ब–प्रतिबिम्बित **मरुत्वान्** इन्द्र के साथ। प्रकृत यज्ञ हविर्यज्ञ **है**। हविर्यज्ञ का सम्बन्ध भूपिण्ड से है। **यहाँ का इन्द्र वासव है।** ऐसी अवस्था में यह मान लेना पड़ता है कि, प्रकृत **देवासुर–आख्यान** का भूपिण्ड–सम्बन्धी **देवासुरसङ्ग्राम** के साथ ही सम्बन्ध

है इस आख्यान में प्रधानरूप से इन्द्र, वृत्र, स्फ्य, यूप, रथ, शर, इन पदार्थों का स्वरूप समझ लेना ही पर्य्याप्त होगा।

भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त के चारों ओर घूमता रहता है, यह प्रकरण के आरम्भ में हीं बतलाया जाचुका है। अपने अक्ष पर घूमता हुआ, दैनंदिनगति–समर्पक अहोरात्र–स्वरूप–सम्पादक स्वाक्षपरिभ्रमण से इस भूपिण्ड का आधा भाग सूर्य के सम्मुख सौरप्रकाश–(मण्डल) से युक्त रहता है, एवं आधा भाग सूर्य्यविरुद्ध-दिक् में तमोमय आसुरमण्डल में प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्ड का आधा भाग सौरमण्डल में भुक्त होता हुआ अहःकाल का स्वरूप–समर्पक बनता है। स्वाक्षपरिभ्रमण के कारण कभी देवस्थान को असुर अपने अधिकार में कर लेते हैं, तो कभी असुरस्थान पर देवता आक्रमण कर लेते हैं। इसप्रकार यह देवासुर सङ्ग्राम निरन्तर होता रहता है।

**"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड का उपादान पानी है। इधर आप्यप्राण को हमने असुर बतलाया है। असुरप्रधान यह भूपिण्ड किसी समय केवल वृत्र असुर के ही अधिकार में था। तात्पर्य्य यही है कि, जबतक भूपिण्ड के साथ सौर इन्द्र का सम्बन्ध नहीं होता, तबतक भूपिण्ड तमोरूप वृत्रासुर के ही अधिकार मे रहता है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, जबतक सौरप्राण का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तबतक यज्ञकर्म्म भी सम्पन्न नहीं होसकता। कारण इसका यही है कि, **मानुषात्मा** में वैधयज्ञ के द्वारा **दिव्य सौरप्राण** को प्रतिष्ठित करना, दूसरे शब्दों में नवीन **दैवात्मा** उत्पन्न कर इसका मानुषात्मा के साथ ग्रन्थिबन्धन करना हीं यज्ञ का चरम फल है। आहुति आहवनीय में हीं दी जाती है। आहवनीय अग्नि सौर है। अतः बिना इसके सम्बन्ध के यज्ञ का स्वरूप कथमपि सम्पन्न नहीं होसकता। जबतक सम्पूर्ण भूपिण्ड पर तमोमय वृत्रासुर का अधिकार है, तबतक सौर आहवनीय प्रतिष्ठित नहीं होसकता। बिना यज्ञ के पार्थिव–संस्थानुगत अहोरात्रानुबन्धी सम्वत्सर का स्वरूप निष्पन्न नहीं होसकता। बिना सम्वत्सर के प्रजासृष्टि नहीं होसकती। प्रजोत्पत्ति का प्रधान कारण अग्नीषोमात्मक यज्ञ ही है, जैसा कि यज्ञेश्वर भगवान् कहते हैं—

**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**
**अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥**
—गी० ३,१०

इस यज्ञसिद्धि के लिए सत्यकाम मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति की कामना से सौर इन्द्र का भूपिण्ड पर आगमन होता है। बिना इच्छा के कोई कर्म्म नहीं होता, यह एक माना हुआ सिद्धान्त है। सौरप्राण भूपिण्ड पर आता है। इस कर्म्म के प्रेरक अस्मदादि नहीं हैं। ऐसी अवस्था में मानना पड़ता है कि, किसी अलौकिक शक्ति की प्रेरणा से ही यह कर्म्म हुआ है। वहीं अलौकिक--शक्ति **'प्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध है। प्रजापति की प्रेरणा से, उस अन्तर्य्यामी अक्षरब्रह्म की कामना से इन्द्र अपने वज्र का वृत्रासुर पर प्रहार करते हैं। स्वयं इन्द्र भूपिण्ड पर रहने वाले वृत्र के साथ सम्बद्ध नहीं होते। अपितु इन्द्र अपने वज्र का प्रयोग करते हैं। इन्द्रप्राणात्मक सूर्य्य के केन्द्र से निकल कर चारों ओर **बृहत्साम** का स्वरूप सम्पादन करतीं हुईं सौर–रश्मियाँ हीं **'वज्र'** है। दिव्यभाव के लिए जो सौर रश्मियाँ उपादेय हैं, उपकारक हैं, ग्राह्य हैं, वे ही रश्मियाँ

भूपिण्डस्थ अन्धकाररूप वृत्रप्राण के लिए विनाशक शस्त्र है। शस्त्र भी कैसा, महाकठोर, अव्यर्थ, विद्युद्-रूप। इसीलिए इन रश्मियों को वृत्रासुर की दृष्टि से ऋषिने 'वज्र' कहा है। वज्र आता है, असुर नष्ट होजाते हैं। भूपिण्ड के आधे भाग में प्रकाश होजाता है, दूसरे शब्दों में--आधे भाग में सौर दिव्य सावित्राग्नि प्रतिष्ठित होजाता है। उस आह्वनीय में **ओषधिसोम** आहुत होता है, और यों पार्थिव-हविर्यज्ञ सम्पन्न हो-जाता है।

**'या च का च बलकृतिरिन्द्रिकर्म्मैव तत्'** इस यास्कसिद्धान्त के अनुसार बल का अधिष्ठाता इन्द्र है। इस बल के अवान्तर अनेक भेद हैं। उनमें से प्रकृत में **'नोदनाबल'** की ओर ही आप का ध्यान आकर्षित किया जाता है। **'प्रेरणाबल'** का ही नाम **'नोदनाबल'** है। यह नोदनाबल **प्रवर्त्तक-निवर्त्तक-स्तम्भक** भेद से तीन भागों में विभक्त है। भूपिण्ड में सौर इन्द्र के तीनों प्रकार के नोदनाबलों का उपभोग होता है। इन्द्र की **विक्षेपणशक्ति** से ही भूपिण्ड सूर्य्य के विरुद्ध भाग में जाता है। इन्द्र यज्ञबल से पुष्ट होता है। यज्ञ से प्राप्तशक्ति इन्द्रवृषभ रश्मिरूप शृङ्ग से भूपिण्ड के ठोकर मारता है, भूपिण्ड चल पड़ता है। भूपिण्ड के इसी परिभ्रमणविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

**यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्-यद्भूमिं व्यवर्त्तयत।**
**चक्राण ओपशं दिवि ॥**

—ऋक्सं० ८।१४।५

यह इन्द्र के प्रवर्त्तक बल की ही महिमा है। साथ ही **निवर्त्तकबल** का भी प्रयोग होता है। इस निवर्त्तकबल से भूपिण्ड सूर्य्य से विरुद्धदिक् में जाता हुआ भी अपने नियतमार्ग को नहीं छोड़ता। **प्रवर्त्तक-बल** धक्का देकर भूपिण्ड में **विरुद्धगति** उत्पन्न करता है, तो **निवर्त्तकबल** उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। इधर से **स्तम्भकबल** भूपिण्ड को क्रान्तिवृत्त से च्युत नहीं होने देता। इसप्रकार इन्द्र का यह नोदना--बल ( विक्षेपणशक्ति ) भूपिण्ड पर तीन स्वरूपों से अपना प्रभुत्त्व प्रतिष्ठित रखता है।

यज्ञ के सम्बन्ध से यही इन्द्रबल **स्तम्भक-कर्षक-प्रतिष्ठा-संहार**-भेद से चार भागों में विभक्त है। वृत्रासुर पर प्रक्षिप्ता ऐन्द्री वज्रशक्ति चार भागों में विभक्त देखी जासकती है। बलि के लिए आगत पशुओं को यूप में बाँधा जाता है। उनका **स्तम्भन** किया जाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि, यूप इन्द्रशक्तिमय है। यूप में जो स्तम्भनशक्ति का विकास है, वह इसी इन्द्र का काम है। **स्फ्य में कर्षणशक्ति है।** भूमि-विलेखनार्थ दोनों ओर धार वाला, तीक्ष्णाग्र ( आगे से नुकीला ) जो काष्ठ का सीधा खड्ग होता है, वही स्फ्य है। वेदिकरणार्थ इस स्फ्य से मिट्टी को शुद्ध किया जाता है। यह कर्षणव्यापार इसी इन्द्र का व्यापार है। रथ में प्रतिष्ठित होकर महारथी क्षत्रिय शत्रु का दमन करते है। प्रतिष्ठाभाव गतिसमष्टि है। गति ही इन्द्र है। **'शर'** तो साक्षात् इन्द्र का स्वरूप है ही। अपनी विक्षेपणशक्ति से वस्तुस्वरूप को उच्छिन्न कर देना तो इन्द्र का प्रथम, एवं मुख्य ही काम है।

एक ही इन्द्र **ब्रह्म, क्षत्र,** वीर्य्य भेद से उपर्युक्त चार भागों में विभक्त होरहा है। इन्द्र क्या विभक्त होरहा है, इन्द्र का वज्र ( इन्द्र की शक्ति ) चार भागों में विभक्त है। एक ही **'इन्द्रशक्ति'** चार भागों

में विभक्त अवश्य है, परन्तु इन चारों विभागों को समान नहीं माना जासकता। **कर्षण--स्तम्भन--प्रतिष्ठा--संहार**--चारों शक्तियों के बल में तारतम्य है। इसी विषमता को लक्ष्य में रखकर **'यावद्वा'** कहा है।

इन चारों वीर्यों में से **स्तम्भनलक्षण यूप**,एवं **कर्षणलक्षण स्फ्य** का उपयोग ब्राह्मण करते हैं। **रथ** एवं **शर** का उपयोग क्षत्रिय करते हैं। क्षत्रिय **इन दो शस्त्रों** से आधिभौतिक **असुरों को**, एवं **ब्राह्मण यूप तथा स्फ्य से आधियाज्ञिक असुरों को नष्ट करते हैं।**

तथोक्त चारों शस्त्रों में **यूप--स्फ्य**, ब्रह्मवीर्य्यप्रधान होने से **शान्त हैं**. **रथ** और **शर** क्षत्रवीर्य्यप्रधान होने से **'उग्र'** हैं। इन चारों में भी **'शर'** महाउग्र **है**। इसकी शक्तियाँ विशीर्ण रहती हैं। शर का अग्रभाग ऐसा तीक्ष्ण होता है कि, जहाँ यह प्रविष्ट होता है, छिन्न भिन्न कर देता है। अर्ज्जुन के गाण्डीव से निकले हुए इहीं शरों से कुरुकुलवृद्धपितामह भीष्म का शरीर विशीर्ण होगया था। अङ्ग अङ्ग को विशीर्ण करने वाला शर सचमुच **विशीर्णशक्ति** से युक्त है। इस विशीर्णभाव के कारण हीं तो इसे **'शर'** कहना अन्वर्थ होता है। शर की शरता का निरूपण करते हुए ऋषिने—**'तस्माच्छरो नाम-यदशीर्य्यत'** यह कहा हैं।

यद्यपि इन चारों में से स्फ्य, और यूप को हमने ब्रह्मवीर्य्यप्रधान बतलाया है। परन्तु यह ब्रह्मभाव केवल कर्म्मसापेक्ष ही समझना चाहिए। अध्वर्य्यु ब्राह्मण है। वह यज्ञ में इनका प्रयोग करता है, इसीलिये इन दोनों शस्त्रों को ब्रह्मसम्बन्धी कहा जासकता है। वस्तुतस्तु शस्त्र शस्त्र है। मारण का साधन है। मारना क्षात्रधर्म्म है। अतः **रथ-शरवत्** हम **यूप, और स्फ्य** को भी क्षात्रतेजोयुक्त ही मानेंगे। **इन्द्र स्वयं क्षत्र-देवता हैं। इन्द्रविद्युत् ही वज्र है।** यह वज्ररूपा असुरघातिनी इन्द्रशक्ति ही तो पूर्वकथनानुसार चार भागों में विभक्त होती है। यज्ञमर्य्यादा को प्रधानता देते हुए ऋषिने—**'द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति, द्वाभ्यां राजन्यबन्धवः संय्यावे'** यह कह दिया है। वस्तुतः ये चारों हीं क्षत्रिय के आयुध हैं।

जब क्षत्रिय युद्धभूमि में अवतीर्ण होता **है**, तो उसे **ध्वजा, रथ, खड्ग, शर-धनुष (तीरकमान)**, इन चार प्रधान साधनों को साथ रखना पड़ता है। ध्वजा युद्ध का प्रधान चिह्न है। ध्वजा ही क्षत्रिय का प्रधान बल है। ध्वजा ही क्षत्रिय की **विजयश्री** का प्रधान सूचक है। यह ध्वजा वैदिक भाषा में **'यूप'** नाम से प्रसिद्ध है। जब ध्वजा गिर जाती है ( झंडा नीचे झुक जाता है ) तो क्षत्रिय पराभूत मान लिया जाता था। प्राचीनकाल में ( वर्त्तमानकाल में भी ) ध्वजाभेद से ही तत्तद्राष्ट्रों के नरपतियों का भेद सूचित होता है। जिसे वर्त्तमान जगत् **'मोनोग्राम'** कहता है, वही हमारी **'ध्वजा'** है। अपने अपने राष्ट्र का राजा भिन्न भिन्न शक्तियों की आराधना करता हुआ उन उन शक्तिचिह्नों को ध्वजा में अङ्कित रखता है। भगवान् कृष्ण की ध्वजा में **'गरुड़'** का चिह्न था। कारण, उनका प्रसार गरुड़ के द्वारा ही होता है। इधर गरुड़ नाम है सुपर्ण का। **सुपर्ण साक्षी ईश्वर है**। अतः तदंशभूत कृष्ण ने अपनी ध्वजा में गरुड़ को ही स्थान दिया। अतएव भगवान् कृष्ण **'गरुड़ध्वज'** नाम से प्रसिद्ध हुए।

जिस समय भगवान् रामचन्द्र ने वनगमन किया था, उस समय मार्गगमनपरिश्रमजनित खेद को शान्त करने के लिए वे प्रथम प्रथम जिस वृक्ष की छाया में अनुज लक्ष्मण, एवं पतिव्रता जगत्माता सीता

के साथ विश्राम के लिए लिए बैठे थे, वह **'कचनार'** का वृक्ष था। जब भगवान् वनवास समाप्त कर पुनः अयोध्या पधारे, तो उन्होंने **विश्रामवृक्ष** को अपने लक्ष्य में रखते हुए अपनी ध्वजा में इसी कचनार के वृक्ष को अङ्कित किया। इसी आधार पर महर्षि वाल्मीकि ने— **'काञ्चनारध्वजो राजा'** यह कहा है। सूर्य्यवंश के मूलप्रवर्त्तक स्वयम्भूमनु की ६३ वीं पीढ़ी में भगवान् रामचन्द्र का आविर्भाव हुआ था। यहाँ आकर सूर्य्यवंश धन्य होगया। भगवान् रामचन्द्र से आगे होने वाले राजाओंने इस ध्वजचिह्न का अनुगमन किया। वर्त्तमान भारत में भी जयपुरराजधानी ही एकमात्र ऐसी राजधानी थी, जहाँ ध्वजा में तो नहीं, किन्तु रुपए में उसी वृक्ष का चिह्न अङ्कित था। जयपुर का रुपय्या इसी वृक्ष के कारण **'झाडशाही'** नाम से प्रसिद्ध है। यह **'झाड'** सूर्य्यवंश का गौरवभूत स्मारक चिह्न ही है।

इसीप्रकार उदयपुर की ध्वजा में **'चील'** का चिह्न है। आगमशास्त्र के अनुसार चील को शक्तितत्त्व की विकासभूमि माना गया है। इसीलिए शकुनशास्त्रवेत्ताओंने किसी कार्य्यवश घर से बाहर निकलने वाले व्यक्ति को यदि सर्वप्रथम चील के दर्शन हो जाते हैं, तो शुभलक्षण माना है। रावण की ध्वजा मे गर्दभ का चिह्न था। गर्दभ पार्थिव कपाल में लिप्त आसुर-रस से उत्पन्न होता है। अतएव रावण ने इसे अपने ध्वज में स्थान दिया। वैदिक गूढतम रहस्यों से सर्वथा अपरिचित, केवल वेदों के नाम का पारायण करने वाले कुछ एक महाशय लोग बिना सोचे समझे अज्ञतावश भारतीय आख्यानोपाख्यानों पर व्यर्थ का वादविवाद किया करते हैं। रावण के मस्तकों के सम्बन्ध में भी उनकी ऐसी ही भ्रान्ति है। कलिकल्मषहारिणी जगदुद्धारिणी परमपावना वाल्मीकि-रामायण में रावण के १० मस्तक बतलाए हैं। ११ वाँ मस्तक गधे का बतलाया है। इसका कारण यही है कि, राक्षसेश्वर लङ्केश रावण का साम्राज्य १८ प्रधान अमात्यों के आधार पर चलता था। इन दसों में रावण के मातुल **'शालकटङ्कट'** सर्वप्रधान बलशाली थे। इन दस **प्रमुखों** के बल पर रावण विश्वविजयी बन गया था। भगवान् रुद्र की आराधना से इसने अपने इन प्रमुखों का बल बढ़ाया था। प्रमुख स्थान **मुख्य** है। मुख्यभाग शरीर में **मस्तक** है। अतएव ये १० सो अमात्य रावण के १० मस्तक कहलाते थे। आज भी प्रमुख को मण्डली का **'मस्तक'** **'शिरमोर'** माना जाता है। ध्वजा-चिह्न सब से ऊँचा है। यही सर्वोपरि रहने वाला रावण का ११ वाँ गर्दभ का मस्तक है।

इसीप्रकार किसी का चिह्न नादिया है, किसी का **अश्व** है, तो किसी का **सिंह** है। किसी का **खड्ग** है। इन निदर्शनों से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, ध्वजा क्षत्रियवीरों का एक मुख्य चिह्न है। दूसरा **'स्फ्य'** है। एकतः धारयुक्त वक्रित शस्त्र **'चन्द्रहास'** ( **तलवार** ) कहलाता है, दो ओर से दुधारा आगे से नोकदार सीधा शस्त्र **'स्फ्य'** कहलाता है। यही खड्ग क्षत्रिय के कमरबन्द में सदा खचित रहता है। यह क्षत्रिय का सहचारी शस्त्र है। जब भी क्षत्रिय बाहिर निकलेगा, तो खड्ग साथ लेगा। कारण, वह **क्षत से त्राण करने वाला क्षत्रिय है**। क्षत्रिय के सम्मुख कोई अनाचारी यदि निरपराध को क्षत कर देता है, अथवा क्षत करने को उद्यत होता है, तो क्षत्रिय तत्काल खड्ग से उस आततायी की भलीभाँति चिकित्सा कर देता है।

बिना प्रतिष्ठा के शस्त्र-प्रहार नही होसकता। यह प्रतिष्ठाभूमि ही **'रथ'** नाम से प्रसिद्ध है। सम्मुख उपस्थित शत्रु का वध तो खड्ग से किया जा सकता है। परन्तु जो शत्रु अन्तर पर है, उसके शरीर

को विशीर्ण कैसे किया जाय ?, इसके लिए क्षत्रिय को धनुष, और शरपूरित निषङ्ग [ तरकस ] रखना पड़ता है । यही '**संव्याध**' [ प्रतिद्वन्द्विद्वतात्मक–युद्ध ] का चौथा साधन है । इन्द्र क्षत्रबल का प्रवर्त्तक देवता है । वही क्षत्रिय का आत्मा बनता है । आत्मेन्द्र स्वयं क्षत्रिय है । विभूतिरूप विद्युदिन्द्र के चतुर्द्धा विभक्त उपर्युक्त चार साधन हैं । यदि क्षत्रिय उभयबल से युक्त है, तो संव्याध [ मुठभेड़–रण ] में विजयश्री निश्चित है ।

यज्ञ में भी असुरों का प्रवेश होता है । यह वायव्य आसुर प्राण यज्ञविघातक होता हुआ यज्ञ का शत्रु है । यहाँ रथ, और शर की आवश्यकता नहीं है । कारण शत्रु यज्ञमण्डल में ही है, दूर नहीं है । भूपिण्ड में व्याप्त मृण्मय आसुरप्राण को ही तो नष्ट करना है । अतः लौहमय शस्त्र की भी आवश्यकता नहीं है । अतएव यह यज्ञिय ध्वजा (यूप), एवं यज्ञिय खड्ग ( स्फ्य ) काष्ठ के ही बनाये जाते हैं । भूपृष्ठ से प्राणरूप देवाग्नि निकल रहा है । आगन्तुक तृण दूषित मिट्टी आदि इस प्राणाग्नि के स्वरूप को आवृत करने वाले वृत्र–असुर हैं । इनको स्फ्य से पृथक् कर पहिले भूमिशोधन करना आवश्यक होजाता है । जब **तृण–पुरीष–करीष** आदि मलरूप असुर हटाकर भूपिण्ड का वास्तविक स्वरूप प्रकट कर लिया जाता है, तो उस स्थान का प्राणाग्नि विकसित होजाता है । भूपिण्ड का ऐसा स्वच्छ प्रदेश ही यज्ञिय–वेदनिर्म्माण के लिए उपयुक्त है । यह तो हुआ आधिदैविक चरित्र, अब संक्षेप से आध्यात्मिक, एवं आधिभौतिक ( ऐतिहासिक ) चरित्र का भी समन्वय कर लीजिए ।

हमारा शरीर एक अध्यात्मसंस्था है । शरीर भूपिण्डस्थानीया यज्ञिया वेदि है । इस शरीरवेदि के तीन स्थान प्रधान हैं—**मूलाधार, हृदय, मस्तक** । इन तीनों स्थानों में क्रमशः **पार्थिव अपानाग्नि, आन्तरिक्ष्य व्यानाग्नि ( व्यानाग्नि से उपलक्षित जाठराग्नि-वैश्वानराग्नि ), एवं* सौर प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है । मूलग्रन्थि गार्हपत्यकुण्ड है, हृदयपार्श्वस्थान ( अर्द्धचन्द्राकार ) दक्षिणाग्निकुण्ड है । एवं शिरः ( प्रधानतः मुख ) आहवनीयकुण्ड है** । तीनों में क्रमशः अपान–वैश्वानर, एवं प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है । अन्नरूप सोम की आहुति मुखस्थानीय आहवनीय में होती है । आहवनीय में आहुत अन्न वैश्वानररूप अपणाग्नि में परिपक्व होकर रसरूप से तत्तच्छारीर–देवताओं में विभक्त होजाता है । इसप्रकार इस अग्नीषो-मात्मक यज्ञ से **अध्यात्मयज्ञ** का सञ्चालन होरहा है । **अन्न, पानी, वायु,** ये सब हमारे अन्न बनते हैं । सब में तमोमय असुर भी हमारे अध्यात्मयज्ञ में प्रतिष्ठित होजाते हैं । अथवा प्रविष्ट होने की चेष्टा करते हैं । इन को नष्ट करने वाला प्रधान ऋत्विक् वायुरूप अध्वर्यु है । वायु का सञ्चार इन्द्र का सञ्चार है । कारण–'**इन्द्रतुरीया गृहा गृह्यन्ते**' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वायु में एक चौथाई भाग इन्द्र का रहता है । दूषित अन्न से आत्मा मलीमस होजाता है । शरीर व्याधिग्रस्त होजाता है । इन्द्रमय विज्ञानात्मा बुद्धिरूप वज्रप्रहार–व्यापार से इस आवरक, अतएव 'वृत्र' नाम से प्रसिद्ध असुर को नष्ट कर देता है ।

**भौमत्रिलोकी–व्यवस्था** के अनुसार इन्द्र और वृत्रासुर में युद्ध हुआ करता था । वृत्रासुर बार बार देवेन्द्र के यज्ञ में विघ्न उपस्थित किया करता था । अन्ततः इन्द्र ने अपने वज्ररूप बल को **ध्वजा, रथ, खड्ग, शर,** इन चार भागों में विभक्त कर उस को सर्वथा नष्ट कर दिया । इन्हीं **आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक** भेदभिन्न त्रिविध आख्यानों के रहस्यार्थ को अपने गर्भ में रखती हुई—"**इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार**"–"**ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति**" ये प्रथम, द्वितीय कण्डिकाएँ उद्धृत हुई हैं । १,२॥

आज यह अध्वर्यु यजमान के इस वैधयज्ञ में स्फ्यरूप खड्ग को अपने हाथ में उठाता हुआ यजमान के **द्विषत्** और **भ्रातृव्य** नाम के दोनों प्रकार के शत्रुओं को नष्ट करता है। **कृत्रिमशत्रु** को द्विषत् कहा-जाता है, एवं **सहजशत्रु** के लिए वैदिक परिभाषा में 'भ्रातृव्य' शब्द का प्रयोग होता है। **भ्राता का पुत्र भ्रातृव्य ( भतीजा ) कहलाता है**। यह सहज शत्रु होता है। कारण इस का यही है कि, शत्रुता का मुख्य कारण सांसारिक सम्पत्ति है। भतीजा यह समझा करता है कि, यदि यह पितृव्य न होता, तो पितामह की सारी सम्पत्ति एकमात्र मेरे पिता को ही मिलती। ऐसी अवस्था में वंश की सम्पूर्ण सम्पत्ति का एकमात्र मैं ही भोक्ता बनता। इसी भावना से यह 'भ्रातृव्य' ( भतीजा ) अपने 'पितृव्य' ( काका ) का जन्मसिद्ध शत्रु बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुतिने सहजशत्रु का नाम सामान्यभाव से 'भ्रातृव्य' रख दिया है। ॥ ३ ॥

यज्ञ के द्वारा आधिदैविक मण्डलस्थ देवताओं को अध्यात्म में प्रविष्ट किया जाता है। उपासना-सिद्धान्त के अनुसार **'देवो भूत्वा देवं भावयेत्'** इस निगम का अनुगमन करना आवश्यक होजाता है। यज्ञ का प्रत्येक कर्म्म देवप्राण की भावना से ही समन्वित होना चाहिए। यह **दैवीभावना हीं 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** इस सिद्धान्त के अनुसार सचमुच यज्ञ, एवं यज्ञजनित अदृष्ट अतिशय को देवप्राण से युक्त कर देती है। इसी दिव्य प्राण की प्राप्ति के लिए **'देवस्य त्वा०'** इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ ही स्फ्य उठाता है। स्फ्य इन्द्र का वज्र है। इन्द्र देवता है। देवता का शस्त्र देवता उठा सकता है, साधारण मनुष्य नहीं। अर्थात् जिसके आत्मा में इन्द्रज्येष्ठ देवताओं का बल रहता है, वही दिव्यास्त्रों के प्रयोग करने में समर्थ होता है। यथाजात मनुष्य मनुष्य है। उस में दिव्यशक्ति का अभाव है। ऐसी अवस्था में यदि बिना सोचे समझे वह इन 'दिव्यास्त्रों' का प्रयोग कर बैठेगा, तो अपना नाश करा बैठेगा। अतः अध्वर्यु के लिए भी यह आवश्यक होजाता है कि, जन्मसिद्ध अपने मनुष्यभाव को हटाता हुआ दिव्यप्राण की भावना करता हुआ—आत्मा में दिव्यबल के सञ्चार का अनुभव करता हुआ ही स्फ्य का ग्रहण करे।

इस स्फ्य से भूपिण्डगत आसुरभावात्मक दोषयुक्त मृद्भाग को हटाया जाता है। जब कर्षण के द्वारा भूपिण्ड का अग्निप्राणमय वास्तविक प्रदेश निकल आता है, तभी वह प्रदेश यज्ञोपयोगी बनता है। स्फ्य निदानेन इन्द्र का वज्र है। हिंसक शस्त्र है। इसका यज्ञ में प्रयोग करना पड़ता है। इस से कहीं यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि, इस हिंसक शस्त्र का उपयोग केवल हिंसा ही है। हिंसा तो स्वयं आसुरधर्म्म है। उसके लिए स्फ्यरूप हिंसक शस्त्र का प्रयोग नहीं होता, अपितु अहिंसाभावोपेत, अतएव च **'अध्वर'** नाम से प्रसिद्ध यज्ञ पर जो आक्रमण करने वाले शत्रु हैं, दूसरे शब्दों में अहिंसाभावमय अध्वर के अहिंसात्मक शान्तभाव को स्वहिंसावृत्ति से जो दुष्ट इसे हिंसाभाव से युक्त करना चाहते हैं, इन दुष्टों का दलन कर अध्वर की अध्वरता ( अहिंसाभाव ) को सुरक्षित रखना हीं, अध्वर का स्वरूप सम्पन्न करना हीं इसका काम है।

लोक में भी तो ऐसा ही देखा जाता है। शस्त्र ही शान्ति का साधन है। यदि शस्त्र का भय न हो, तो दुष्टलोग शान्ति भङ्ग करदें। सर्वत्र हिंसा, मारकाट का साम्राज्य होजाय। **अतः हम शस्त्र को अहिंसा का ही साधक कहेंगे**। प्रकृत में यह बतलाने का तात्पर्य्य यही है कि, यज्ञ देवतामय है। देवता अहिंसाभाव-

प्रधान हैं। अतएव देवप्राणमय यज्ञ को 'अध्वर' कहा जाता है। ऐसे अहिंसाभाव-प्रधान यज्ञ में हिंसा के साधनभूत स्फ्य के प्रयोग से यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि, जब स्फ्य शस्त्र है, हिंसा का साधन है, तो इस के प्रवेश से यज्ञ अवश्य ही हिंसाभावोपेत होता हुआ, अतएव आसुरभावप्रधान बनता हुआ दैवीसम्पत् से विरहित होजायगा ?। इस कुशङ्का का निवारण करने के लिए ही—'**अध्वरकृतं देवेभ्यः**' यह कहना पड़ा है।

प्रयोगकाल से पहिले शस्त्र को शाण पर चढ़ा कर उसे सुतीक्ष्ण किया जाता है। इसी प्रक्रिया का नाम '**संशन**' है। इस स्फ्य नाम के शस्त्र से असुर जैसे प्रबल शत्रु का वध करना नितान्त अपेक्षित है। यह यज्ञिय स्फ्यरूप शस्त्र न तो लौह का है, न सचमुच इससे किसी का ग्रीवा 'कृन्तन' ही करना है। अपितु जो अदृष्ट शत्रु हैं, अथवा जो असुरप्राण हैं, अथवा भूपिण्डस्थ जो दूषित मिट्टी है, मात्र उसे ही हटाना है। मिट्टी उठाना तो सामान्य निमित्त है। वस्तुतः मिट्टी में जो आप्यप्राणप्रधान असुरोंनें आक्रमण कर लिया है, उन्हें नष्ट करना है। आसुरप्राण का विनाशक सौर वज्र है, यह प्रकरण के आरम्भ में हीं बतलाया जाचुका है। '**इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः**'-'**इन्द्र उत्तरतः**' के अनुसार इन्द्रप्राणात्मक सूर्य्य ऊर्ध्वादिक् में रहता है। ऊर्ध्वादिक् को '**उत्तर**' कहा जाता है। अवाचीदिक् को दक्षिणा कहा जाता है। जिस स्थिति के लिए लोकभाषा में '**ऊँचा-नीचा**' ये शब्द प्रयुक्त हैं, उसी स्थिति के लिए वैदिक साहित्य में '**उत्तरा-दक्षिणा**' ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

सूर्य्य से निकलने वालीं, चारों ओर सहस्रभाव से व्याप्त होने वालीं इन्द्रप्राणात्मिका सौररश्मियाँ वज्ररूपा हैं। सूर्य्यकेन्द्र से बद्ध होकर चारों ओर सहस्ररश्मियाँ निकलतीं हैं। प्रत्येक रश्मि की बिन्दु बिन्दु से वायुक्षेत्रविन्यास से पुनः सहस्र सहस्र रश्मियाँ निकलतीं हैं। वहाँ से पुनः रश्मियाँ निकलतीं हैं। इस वितानभाव का परिणाम यह होता है कि, इन अनन्त साहस्रियों के प्रसार से सम्पूर्ण सौरमण्डल रश्मियों से इसप्रकार परिपूर्ण होजाता है कि, उसका कोई भी प्रदेश आपको ऐसा नहीं मिल सकता, जहाँ आप सूची के अग्रभाग को भी प्रविष्ट करसकें। सर्वत्र प्रकाश परिपूर्ण होजाता है। इन अनन्तानन्त साहस्रीभावों से युक्त सौररश्मियाँ इन्द्र के अनन्त बाहु हैं।

इनमें प्रतिष्ठित विद्युदिन्द्र '**हेति**' नामक वज्र है। इसी के प्रहार से तमोमय वृत्रप्रमुख असुरों का नाश होता है। रश्मिगत इसी साहस्री-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—'**सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः**'-'**सहस्रधा महिमानः सहस्रम्**' इत्यादि सिद्धान्त हमारे सम्मुख आते हैं। वज्ररूप सौररश्मियाँ जो हमारी ओर आतीं हैं, वे इन्द्र के दहिने हाथ हैं। कारण-वे हम से उत्तर हैं, एवं हम उनसे दक्षिण हैं। पृथिवी सूर्य्य की अपेक्षा दक्षिणादिक् में प्रतिष्ठित मानी जाती है। सुतरां इस ओर इन्द्र के दक्षिण बाहु का ही आगमन सिद्ध होजाता है। यद्यपि इन्द्र के और बाहु भी असुरविनाश में समर्थ हैं। परन्तु पृथिवी की अपेक्षा से तो वीर्य्यवत्तम ( अतिशययुक्त ) बाहु दक्षिण ही माना जायगा। रश्मिरूप बाहु विद्युद्रूप वज्र से युक्त है। इन्द्रविद्युत्, और तत्प्रतिरूप बाहु-स्वरूप रश्मि अभिन्न है। अतः हम बाहुरूप रश्मि को ही वज्र कह सकते हैं।

इस वज्ररूपा रश्मि से चारों ओर रश्मियों का प्रतिफलन होता है। स्वयं रश्मियाँ भी सहस्र हैं। प्रत्येक रश्मि भी प्रतिफलनभाव से सहस्र किरणों से युक्त है। यही सहस्र-किरणें रश्मिरूप वज्र की **भृष्टियाँ** (शत्रु-

भञ्जिका कोरें ) हैं । अतएव हम इस वज्र को, किंवा वज्ररूप दक्षिणबाहु को **'सहस्रभृष्टि'** कह सकते हैं । दाह्य सोम के सम्बन्ध से यह सहस्रभृष्टि वज्र तेजोमय बन रहा है । इधर से, उधर से, नीचे से, ऊपर से, सब ओर से * ज्योतिर्म्मयी रश्मियाँ निकल रहीं हैं । ज्योति से पूर्ण है । रश्मि क्या है ?, सूर्य्यबिम्बात्मिका ऋङ्मूर्त्तियों का वितान । सूर्य्यबिम्ब ही वितानाख्य सामवेद के सम्बन्ध से उत्तरोत्तर ह्रसीयस्भाव से **केन्द्र से प्रधि** पर्य्यन्त प्रतिष्ठित होकर रश्मिरूप में परिणित होरहा है । रश्मि ऋक् (सूर्य्यबिम्ब) की समष्टिमात्र है । यह शतभाव से युक्त है । अतएव रश्मिरूपा ऋक् के लिए—**'ऋक् शतपदी'** ( श० ब्रा० १।४ ) यह कहा जाता है । इन्हीं रश्मियों के पर्य्यावर्त्तन से अहोरात्र का स्वरूप निष्पन्न होता है । **रश्मिगत सान्तपनाग्निमय विक्षोभक प्राण रुद्र है** । प्रत्येक रश्मि रुद्रप्राणमयी है, जैसा कि **'ये चैनं रुद्रा दिक्षु अभिश्रिताः'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है ।

अहोरात्रस्वरूपसम्पादिका रुद्रप्राणमयी रश्मि शतभावोपेता है । अतएव इसके लिए—**'अहोरात्रे-शतरुद्रियम्'** ( तै० ब्रा० ३।११।१०।३ ) यह कहा जाता है । मन के संकल्प का नाम **'क्रतु'** है । यह क्रतु प्राण पर प्रतिष्ठित होकर वाग्द्वारा कार्य्यरूप में परिणत होता हुआ आगे जाकर **'दक्ष'** नाम से व्यवहृत होता है । रश्मि प्राणमयी है । इन्द्र का क्रतु यहीं प्रतिष्ठित है । यह क्रतुरूपा रश्मि शतभावोपेता है । अतएव इन्द्र के लिए—**'इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः'** ( तै० ब्रा० २।४।८।७ ) यह कहा जाता है । इसी शत-रूप पूर्णभाव को लक्ष्य में रखकर रश्मिरूप इस वज्र के लिए—**'शततेजाः'** यह विशेषण दिया है । वायु में दिक्सोम रहता है । साथ ही **'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते'** इस ग्रहोपनिषत्-सिद्धान्त के अनुसार आन्तरिक्ष्य वायु में रश्मिरूप इन्द्र भी रहता है । वायुगत सोम के सम्बन्ध से सावित्राग्निमूर्त्ति यह वायुभुक्त रश्मिरूप वज्र प्रदीप्त होपड़ता है । महाप्रबल होजाता है । तिर्य्यक् बहने वाला वायु सचमुच सोमशक्ति से इन्द्रशक्ति को आकर्षित करता हुआ, विद्युन्मूर्त्ति बनता हुआ **तेजिष्ठ** बन जाता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने इसके लिए-**'वायुरसि तिग्मतेजाः'** कहा है ।

इसप्रकार दक्षिण-बाहुरूप, वृत्रबध में पूर्ण समर्थ यह वज्र **सहस्रभृष्टि है, शततेजा है, वायुरूप तिग्मतेजा है** । आज अध्वर्य्यु इसी प्राकृतिक वज्रशक्ति का भावनामयी मन्त्रशक्ति के द्वारा अपने इस साधारण काष्ठनिर्म्मित स्फ्य में प्रवेश कराता है । वाम हाथ सोमप्रधान होने से बलशून्य है । एवं दक्षिण हस्त अग्निप्रधान होने से बलयुक्त है । आध्यात्मिक इन्द्र का बाहु दक्षिण हाथ ही है । मन्त्र के द्वारा पहिले उस प्राकृतिक पूर्वोक्त दक्षिण बाहु का बल अध्वर्य्यु अपने दक्षिण हाथ में डालता है । एवं दक्षिण हस्त के स्पर्श से वामहस्तस्थ स्फ्य में उस बलको इसमें डालता है । संस्मरणीय है कि, इस संशनप्रयोग से पहिले स्फ्य एक साधारण काष्ठ खण्ड था, परन्तु अब यह मन्त्रशक्तियुत महाप्रबल शस्त्र बन गया है । सावधान ! यदि इस स्फ्य का शरीर के किसी अवयव से स्पर्श होगया, अथवा भूप्रदेश से स्पर्श होगया, तो वह अवयव, एवं प्रदेश जल जायगा । जबतक असुरवध में वज्र की यह शक्ति उपयुक्त-उपभुक्त न होजाय, तबतक न तो स्फ्य का शरीर से स्पर्श ही करना चाहिए, एवं न भूप्रदेश पर ही इसे रखना ही चाहिए । ३,४,५,६,७।

---

***—"अधस्विदासीदुपरिस्विदासीत्-रेतोधा आसन्, महिमान आसन्"**
—ऋक्सं०

**स्तम्बयजुर्हरणोपाख्यानरहस्य—**

भूमि–विशोधनार्थ अध्वर्य्यु ने पूर्वकथनानुसार 'स्फ्य' रूप वज्र को मन्त्रबल से महा उग्र कर लिया है। इस शस्त्र का प्रधान कार्य्य है यज्ञ में प्रविष्ट असुरों को निकालना। जिसप्रकार प्राकृतिक नित्य ईश्वरीय अग्नीषोमात्मक भूपिण्ड–सम्बन्धी हविर्यज्ञ में प्रविष्ट आपोमय असुरों को स्वयज्ञमण्डल से वज्र प्रहार के द्वारा सौर इन्द्र बाहिर निकाला करते हैं, एवमेव उसी नित्य यज्ञ की प्रतिकृति ( नकल ) पर वितत होने वाले मनुष्य–यजमान के इस वैध हविर्यज्ञमण्डल में प्रविष्ट होने वाले आन्तरिक्ष्य आप्यप्राणात्मक असुरों को यज्ञमण्डल से बाहिर निकालने के लिए मन्त्रपूत, मन्त्रशक्ति से संशित ( तेज–पैने किए हुए ) स्फ्यरूप वज्र को हाथ में लेकर आज सान्तपनाग्निरूप असुरघ्नमूर्त्ति अध्वर्य्यु बड़ी सावधानी से खड़ा हुआ है। सब सामग्री सम्पन्न है।

जहाँ से असुरों को निकालना है, वह भूप्रदेश अध्वर्य्यु के सम्मुख है। जिस शस्त्र की सहायता से निकालना है, वह तीक्ष्ण स्फ्य ( वज्र ) शस्त्र इसके हाथ में है। जिस मन्त्रशक्ति से निकालना है, वह मन्त्र इसके कण्ठ में है। यज्ञमण्डल से निकाल कर जिस स्थान में असुरों को खदेड़ना है, वह स्थान इसके लक्ष्य में है। इसप्रकार असुरनाशार्थ जो उपकरण होने चाहिएँ, वे सब प्रस्तुत हैं। इतना सब कुछ होने पर भी इस समय एक बात की बहुत बड़ी कमी इसके सम्मुख आरही है। देवासुरयज्ञ में तो इन्द्र के सम्मुख वृत्रासुर खड़ा था। शत्रु सामने था। इसलिए इन्द्र ने शस्त्र का प्रयोग कर उसे लोकान्तर में मार भगाया, जैसाकि अनुपद में ही आख्यान के द्वारा स्पष्ट होने वाला है। परन्तु अध्वर्य्यु के सम्मुख तो कोई प्रत्यक्ष में असुर नहीं है, जिस पर यह प्रहार करे। वहाँ तो मारने वाला इन्द्र भी प्राणात्मक था, एवं पलायित होने वाला असुर भी आप्यप्राणरूप ही था। इस सजातीय–सम्बन्ध से प्रबल प्राण का निर्बल प्राण के साथ युद्ध होना अनुरूप था।

परन्तु यहाँ तो अध्वर्य्यु भौतिक शरीर से युक्त है। मूर्त्त है। उधर आन्तरिक्ष्य में व्याप्त आप्यप्राणमय असुर अमूर्त्त है। मूर्त्त अध्वर्य्यु अदृष्ट अमूर्त्त असुर पर प्रहार करे, तो कैसे करे ?। '**मैं इस शत्रु को मार रहा हूँ**' इसप्रकार की भावना जबतक नहीं रहती, तबतक मारना चरितार्थ ही नहीं होता। हमारा **ससीम मन–मूर्त्तमन–विषयावारमन** जबतक **ससीम–मूर्त्त** विषय को नहीं पकड़ लेता, तबतक वह कोई व्यापार नहीं कर सकता। केवल हवा में तलवार घुमाने से हमारे मन को यह सन्तोष कभी नहीं होसकता कि, हम शत्रु को मार रहे हैं। मन के आलम्बन के लिए **उपासनाकाण्ड** की भाँति यहाँ भी कोई मूर्त्त आधार चाहिए। तभी मनोव्यापार सफल होसकता है। ऋषि जानते हैं कि, **गुणात्मा निर्गुण ब्रह्मतत्त्व मूर्त्त नहीं है। साकार नहीं है**। परन्तु साथ ही वे यह भी जानते हैं कि, **सगुण, ससीम, मूर्त्त-मन** कभी उस **निर्गुण, असीम, अमूर्त्त तत्त्व** पर नहीं पहुँच सकता। अतएव उपासना–सिद्धि के लिए—

**अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।**
**उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥**

इस सिद्धान्त के अनुसार '**प्रतिमा**' का आश्रय–ग्रहण आवश्यक होजाता है। दृष्टि रहती है प्रतिमा पर, एवं इस मूर्त्त आधार के द्वारा मन पहुँच जाता है उस अमूर्त्त तत्त्व पर। पुष्प–धूप–दीप–नैवेद्य आदि

सम्पूर्ण कर्म होते हैं प्रतिमा पर, परन्तु होती है यह जगद्व्यापक अमूर्त्त सच्चिदानन्द की आराधना। यही मूर्त्तिपूजन* का मौलिक रहस्य है।

प्रकृत में इस निदर्शन से हमें यही बतलाना है कि, **सगुण मन** के (मनोमय कर्म्मात्मा के) **'मैं अवश्य यह कर्म्म कर रहा हूँ'** इस दृढ़ विश्वास के लिए, उस अमूर्त्त तत्त्व के साथ इसका सम्बन्ध करने के लिए किसी मूर्त्त भौतिक द्रव्य को मध्यस्थ बनाना आवश्यक होजाता है। **अक्षरज्ञान के लिए पाटी**, और **खड़िया** को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। आकाश के वृत्तों के परिज्ञान के लिए भौतिक वृत्तों को सामने रखना पड़ता है। जाने दीजिए अदृश्य भावों को। भौतिक पदार्थों के परिज्ञान के लिए भी भौतिक साधनों को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। भौगोलिक चित्रों के (एट्लस के) आधार पर (भूप्रदेश के किसी भी प्रदेश में कभी न जाने वाले भी) आप अपने प्रासाद-कक्ष के भीतर बैठे बैठे ही सम्पूर्ण भूप्रदेशों का ऐसा वर्णन कर डालते हैं, ऐसी ठीक नाप-तोल से बात करने लगते हैं, मानो आपका जन्म, एवं निवास वहीं हुआ हो। जब विदूरस्थ भौतिक पदार्थों के परिज्ञान में भी आपको कल्पित तत्प्रतिकृति-(नकल)-रूप भौतिक पदार्थों को मध्यस्थ बनाना पड़ता है, तो जो तत्त्व प्राणरूप होने से **अमूर्त्त** हैं, चर्म्मचक्षु से **तिरोहित** हैं, उन पर प्रयोग करने के लिए भौतिक द्रव्यों को मध्यस्थ बनाए बिना कैसे निर्वाह होसकता है ?।

एक भौगोलिक यह भलीभाँति जानता है कि, पुरोऽवस्थित यह भूगोलचित्र कल्पित है। उस वास्तविक भूपिण्ड की नकल है। इसे कल्पितभाव समझता हुआ भी वह चित्रस्थ तत्तत् प्रदेशों पर **'यह बम्बई है, यह कलकत्ता है, यह निरक्षवृत्त से २६ अंश ५५ कला २७ विकला, विकला के शतांश (सौवाँ भाग) में से ४५ वाँ भाग-इस स्थान पर उत्तर की ओर जयपुर है"** अङ्गुलि-रखता हुआ प्रदेशों का निश्चयात्मक ज्ञान प्रकट किया करता है। **दृष्टि मिथ्या पर है, ध्यान सत्य पर है**। इससे हमें यही बतलाना है कि, आज जो महानुभाव भारतीय **मूर्त्तिपूजन** के सम्बन्ध में यह आक्षेप किया करते हैं कि, **"प्रतिमा तो मिथ्या है, इस मिथ्या से उस अमूर्त्त ब्रह्म की उपासना कैसे बन सकती है"** यह कुतर्क उठाया करते हैं, उपर्युक्त निदर्शन से विज्ञ पाठक यह मान लेंगे, कि उनके इन कुतर्कों का कोई मूल्य नहीं है। विज्ञानशास्त्र का तो यह निश्चित सिद्धान्त है कि, बिना मिथ्या उपाय के सत्यतत्त्व कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता ×। **उपाय सब मिथ्या हैं, उपेय तत्त्व सत्य है**। इसी मौलिक रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् भर्तृहरि कहते हैं—

**उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।**
**असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥**

**—वाक्यपदी**

मौलिक अमूर्त्त तत्त्व के परिज्ञान के लिए जिस भौतिक द्रव्य का आश्रय लिया जाता है, इस मध्यस्थ कल्पित पदार्थ के साथ उस अलौकिक अमूर्त्त तत्त्व के साथ जो एक अपूर्व सम्बन्ध होता है, उसे ही वैदिक परि-

---

* इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' के-**'भक्तियोगपरीक्षा'** नामक सातवें खण्ड में देखना चाहिए।

× इस विषय का विषद विवेचन **'सत्यानृतविवेक'** नाम के स्वतन्त्र निबन्ध में देखना चाहिए।

भाषानुसार **'निदान'** कहा जाता है । कल्पित–सम्बन्धों का परिचायक पदार्थ ही **'निदान'** शब्द से व्यवहृत होता है । आज नवशिक्षित वर्ग इस भारतीय–निदान को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं । **पीली की मिट्टी को गणपति मानना, सुपारी को गणपति मानना, मूर्त्ति को ईश्वर मानना,** आदि आर्ष व्यवहार इन अर्द्धदग्धों की दृष्टि में ब्राह्मणों की स्वार्थलीलामात्र है । परन्तु उन्हें सम्भवतः यह विदित नहीं है कि, आज के इस भावुकतापूर्ण युग में भी सम्पूर्ण संसार इस भारतीय **'निदानविद्या'** का ही उच्छिष्टभोगी प्रमाणित होरहा है । भारतीय धार्मिक व्यवहारों पर टीका टिप्पणी करने वाले इन महानुभावों से हम पूँछते हैं कि, आपके कालेजों में भूशास्त्रवेत्ता लोग कल्पित, मिथ्या, मिट्टी के अथवा कागज के, अथवा तो धातु के गोले को हाथ में लेकर उसके तत्तत् प्रदेशों पर हाथ रखते हुए **"यह देखो उत्तरध्रुव है, यह दक्षिणध्रुव है, यह इजिप्ट है, यह नार्दन है, यह भूमध्यसागर है, यह मेडिट्रेनियेन्सी (महीसागर) है, यह रेड्सी ( रक्तसमुद्र ) है, यह यलोसी (पीतसमुद्र) है, यह बालकशझील है, यह ट्रिपुली है, यह समरकन्द है"** आदि रूप से आप को भूप्रदेशों का परिचय कराते हैं । हम कहते है—प्रोफेसर महोदय का तथोक्त कथन आपके ही कथनानुसार सर्वात्मना मिथ्या है । उनके हाथ में तो एक मिट्टी का गोला है ।

सम्पूर्ण भूमण्डल को हाथ में लेकर उसके प्रदेशों को बतलाना तो दूर रहा, प्रो० महोदय एक समय में एक स्थान पर बैठे हुए भूपिण्ड को देख भी नहीं सकते । तो छोड़िए आज से इन कालेजों में पढ़ना । कर दीजिए उन गोलों को नष्टभ्रष्ट, जला दीजिए ढ़ोंग की इन पुस्तकों को । कोसिए ऐसे ग्रन्थनिर्म्माताओं को, जिन्होंने आपको मिथ्याभ्रम में डाला । और आगे बढ़िए । विज्ञानगर्व से गर्विष्ठ जिन पाश्चात्य–जातियों के आप भक्त हैं, वे महानुभाव अपने प्रेमीजन की मृत्यु पर अपने हाथ पर एक काली पट्टी बाँधते हैं । इस पट्टी से वे अपना शोक सूचित करते हैं । हम पूँछते हैं—यह कैसा ढ़ोंग ? । काली पट्टी एक भौतिक मूर्त्त पदार्थ है । **शोक मन की एक अशान्ति है, अन्तर्वेदना है । इसका कोई रूप नहीं है ।** उस **अमूर्त्त से इस मूर्त्त का क्या सम्बन्ध ?, शोक का काली पट्टी से क्या सम्बन्ध ?** । और आगे चलिए—सिग्नल की लाल रोशनी देखकर ट्रेन मार्ग में हीं खड़ी होजाती है, हरी रोशनी देखकर चल पड़ती है । लाल रोशनी से यह माना जाता है कि, मार्ग बन्द है, कोई विघ्न है, गाड़ी वहीं रोको । हरी रोशनी से यह माना जाता है कि, मार्ग निर्विघ्न है, लाइन क्लीयर है, निर्विघ्नता है, गाड़ी को आने दो । इसप्रकार **रक्तप्रकाश** भय का सूचक है, हरित प्रकाश **शान्ति** का द्योतक है । हम पूँछते हैं—**रक्त-हरित का अशान्ति, शान्ति से** क्या सम्बन्ध ? । नष्ट कर दीजिए आज ही इन कल्पित सिग्नलों को । गार्डों के हाथ से लाल हरी झण्डियाँ छीन कर आज ही जला डालिए । कारण, ये मिथ्या ढ़ोंग दिखाकर संसार को धोखे में डाल रहे हैं ।

जैसा पीली **मिट्टी को गणपति मानना, मूर्त्ति को ईश्वर मानना, हरे शाक को शुभसूचक मानना मिथ्या,** वैसे ही **मिट्टी के गोले को भूपिण्ड मानना, काली पट्टी को शोकसूचक, रक्त को अशान्तिसूचक, हरित को शान्तिसूचक मनना** भी मिथ्या है । यदि आप इन का कोई उपयोग सम–झते हैं, आप की दृष्टि में सर्वथा मिथ्या–कल्पित होते हुए भी ये साधन उपादेय हैं, तो फिर ऋषियोंने हीं क्या अपराध किया है ? । हम तो यह भी बिना संकोच कहने के लिए सन्नद्ध हैं कि, आपकी कल्पना तो फिर भी निरी कल्पना ही है । परन्तु भारतीय ऋषियों की कल्पना में तो अधिकांश में तथ्यांश ही विद्यमान रहता है ।

ऋषिगण निदान उसी वस्तु को बनाते हैं, जिसमें निदान के द्वारा विदित होने वाली वस्तु के धर्म्म आंशिकरूप से समाविष्ट रहते हैं। उदाहरण के लिए 'पद्म' को ही लीजिए। आगमाचार्य्यों नें 'पद्म' को 'भूपिण्ड' का निदान माना है। भगवान् विष्णु की प्रतिमा के हाथ में आप कमल का पुष्प देखते हैं। ऋषि इस कमल से आपको यही बतलाना चाहते हैं कि, **'सम्पूर्ण भूपिण्ड पर यज्ञमूर्ति विष्णु का प्रभुत्त्व है'। 'कमल को भूपिण्ड समझो'** इस पद्म-निदान से यही बतलाना है। **अब पद्म** और भूपिण्ड के स्वरूप-निर्म्माण की अनुरूपता देखिए। **'अद्भ्यः पृथिवी'** इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड का निर्म्माण पानी से ही हुआ है। पानी में वायु का प्रवेश होता है। पानी, वायु, दोनों तेजः-संयोग से मूर्च्छित होकर **फेन ( झाग )** रूप में परिणत होजाते हैं। इसी प्रकार वायु तथा तेज के आक्रमण से उत्तरोत्तर घनता बढ़ती जाती है। इस क्रम से वही पानी क्रमशः **'आपः, फेन, मृत् ( क्षार ), सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः, हिरण्य,** इन आठ अवस्थाओं में परिणत होता हुआ भूपिण्डस्वरूप में परिणत होजाता है। इसीप्रकार कमल की उत्पत्ति देखिए। कमल पानी में हीं पानी से ही उत्पन्न होता है, यह सब जानते हैं। पानी के पत्ते का ही नाम **'पुष्करपर्ण'** है। **'आपो वै पुष्करपर्णम्'** ( श० ६ का० ) यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है। आपको यह जानकर और भी आश्चर्य्य होगा कि, पहिले पानी इसी पुष्कर ( कमल ) रूप में परिणत होता है। अनन्तर इन्हीं **पुष्करों** के संघात से पूर्वक्रमानुसार **भूरूप पुर** बन जाता है। इस पुरनिर्म्माण-हेतु से ही **'पुरकरत्त्वात्'** इसे **'पुष्कर'** कहा जाता है। **भूपिण्ड क्या है ?, पुष्कर है।** इसी आधार पर **भुवनकोश-[ भूगोल ] -वेत्ताओंनें** भूपिण्ड को **'पद्म'** मानकर **भुवनकोशविद्या** का निरूपण किया है। अतएव पार्थिवकेन्द्रस्थ अन्तस्थानीय प्राणाग्निमूर्त्ति ब्रह्मा **'पद्मभू'** नाम से प्रसिद्ध हैं। आपोमय ही पद्म है। यही आपोमय भूपिण्ड का उपादान है। **इसी सामानाधिकरण्य को प्रधान मान कर ऋषि ने पद्म को भूपिण्ड का निदान माना है।**

महामाया के हाथ में सुरापात्र [ मदिरा का प्याला ] है। यह **मोहनिद्रा** का निदान है। **'योगमाया हरेश्चैतत् तया संमोह्यते जगत्'** इस रहस्य-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार उस महामाया की शक्ति से सम्पूर्ण विश्व मोहमदिरा में निमग्न है। मदिरा पीने से मनुष्य की जो स्थिति होजाती है, वही स्थिति इस मोह से होजाती है। **मोह एक प्रकार की मदिरा है। 'पीत्त्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मुत्तभूतं जगत्'** यह इसी आधार पर कहा जाता है। **मदिरा और मोहनिद्रा** के इसी साजात्य को लक्ष्य में रखकर ऋषियोंनें **मदिरापात्र को मोह का निदान माना है। भगवती के हाथ में मदिरा का पात्र है,** इससे ऋषि आपको यही सिखलाना चाहते हैं कि, विश्वास कीजिए ! इस महामाया के अधिकार में **मोहशक्ति** प्रतिष्ठित **है**।

भूपिण्ड में रहने वाला मूलप्रतिष्ठारूप रुद्रप्राण **गणपति** नाम से प्रसिद्ध है। प्राणाग्निरूप रुद्र की ११ अवस्थाएँ हैं। **'मरुतो रुद्रपुत्रासः'** इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार इस रुद्राग्नेय प्राण के रासायनिक संयोग से सात प्रकार का यौगिक मरुद्वायु उत्पन्न होता है। यह मरुद्-वायु सात भागों में विभक्त होकर अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है। अदितिभाग पृथिवी का वह भाग है, जो सूर्य्यानुगत रहता है, जैसाकि पूर्व के अनेक स्थानों पर विस्तार से बतलाया जाचुका है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर एकविंशस्थ २१ सूर्य्य-पिण्ड पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक,

एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोकात्मक सम्पूर्ण भाग **अदिति है**। इसी अदितिमण्डल में पूर्वोक्त सप्तविध मरुत्–वायु प्रतिष्ठित रहता है। वायु में इन्द्र रहता **है**। **व्याकरण–(विविध आकार ही व्याकरण हैं)**–धर्म्मोपेता इन्द्रशक्ति के प्रवेश से अदितिगर्भ में प्रविष्ट इन सप्तधा विभक्त मरुतों के प्रत्येक के सात सात खण्ड होजाते हैं। इसप्रकार सात सप्तकों के एकोनपञ्चाशत् [ ४९ ] मरुत् होजाते हैं। इनमें आरम्भ का मरुत् सर्वथा घन है, एवं सर्वान्त का मरुत् सवथा विरल है। मध्य के मरुतों की घनता—विरलता में तारतम्य है।

यही प्रथम मरुत् इन ४९ मरुद्गणों की मूलप्रतिष्ठा होता हुआ **'गणपति'** नाम से प्रसिद्ध है। सर्वान्त का मरुत् [ ४९ वाँ मरुत् ] **'महावीर'** नाम से व्यवहृत होता है। भूपिण्ड में प्रथम मरुद्रूप गणपति प्रतिष्ठित हैं। सूर्य्यसंस्था में अन्त में **महावीर** प्रतिष्ठित हैं। **भूपिण्ड और सूर्य्य** के मध्य में अवान्तर सम्पूर्ण ४९ मरुत् घनतातारतम्य से प्रतिष्ठित हैं। आप पृथिवी में जो एक **प्रतिष्ठातत्त्व** देखते हैं, धृति देखते हैं, जिस धृतिधर्म्म से भूपिण्ड **'धरा' 'धरित्री' 'धरिणी'** आदि नामों से प्रसिद्ध है, **वही भूपिण्डगत धृति–प्राण–मूलप्रतिष्ठाप्राण गणपति** है। सौम्यत्रैलोक्य के सम्पूर्ण पदार्थ इसी मूलप्राण पर प्रतिष्ठित हैं। इस मूलप्राण के विचलित हो जाने पर सम्पूर्ण त्रैलोक्य, विशेषतः पार्थिवप्रजा विचलित होजाती है, सर्वत्र अशान्ति का साम्राज्य होजाता है। एवं इस प्राण के स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहने से सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य रहता है।

उदाहरण के लिए **अध्यात्मसंस्था** को ही लीजिए। हमारे शरीर में क्रमशः **शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, बस्तिगुहा,** ये चार गुहाएँ हैं। चारों में क्रमशः **आप्यप्राण-आदित्यप्राण–वायव्यप्राण-अपानप्राण,** ये चार प्राण प्रतिष्ठित हैं। **बस्तिगुहा मूलाधारस्थान है**। इसी को **'मूलग्रन्थि'** भी कहा जाता है। इस मूलग्रन्थि में प्रतिष्ठारूप वही प्रथम पार्थिव **गणपतिप्राण** प्रतिष्ठित रहता है। इसी को दार्शनिक परिभाषा में **'अपान'** कहा जाता है। प्राण बिना भूत के नहीं रह सकता। यह गणपतिप्राण प्रधान रूप से बस्तिगुहान्तर्गत मलभाग में हीं प्रतिष्ठित रहता है। जिस मल [ विष्ठा ] को आप त्याज्य वस्तु समझते हैं, विश्वास रखिए! वही मल उस **प्रतिष्ठाप्राण** की आधारभूमि बनता हुआ जीवन का **आधार है**। जीवनसत्ता के लिए **मूलग्रन्थि** अत्यन्त आवश्यक है। यदि मल एकान्ततः निकल जाता है, लोकभाषा के अनुसार यदि **'मल टूट जाता'** है, तो तत्क्षण मनुष्य का निधन हो जाता है। कारण, मल के निःशेष होजाने से तदाधार से प्रतिष्ठित शरीरसंस्था का प्रतिष्ठारूप वही **मौलिक गणपतिप्राण** शरीर से उत्क्रान्त होजाता है। उसके उत्क्रान्त होने पर जीवनयात्रा कठिन है, कठिन क्या है, असम्भव है। **गणपतिप्राण की इसी स्थिति को लक्ष्य में रखकर आगमशास्त्र ने मूलाधार में हीं गणपतिदेवता की सत्ता मानी है**। जबतक यह प्राण शान्त है, तभीतक शरीरसंस्था शान्त है, निर्विघ्न है। इस प्राण के विचलित होजाने पर शरीरसंस्था विघ्नमयी बन जाती है। गणपतिप्राण के इसी स्वरूपधर्म्म को लक्ष्य में रखकर इसे **विघ्नकर्त्ता** भी कहा जाता है, एवं **विघ्नहर्त्ता** भी माना जाता है।

उपर्य्युक्त ४९ मरुतों की सत्ता हमने अदिति के गर्भ में बतलाई है। साथ ही यह भी कहा है कि, वायुगत इन्द्रशक्ति से ही सप्तधा विभक्त मरुत् ४९ भागों में विभक्त होजाता है। इससे यह भी सिद्ध होजाता कि,

मरुद्गणों के साथ सौर मघवा इन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मरुत्प्राण सदा इन्द्रप्राण से अनुगृहीत रहता है। **इन्द्र क्षत्र है, राजा है। मरुद्गण इस की सेना है।** सेनारूप इसी मरुत्प्राण को आगे कर प्रकाशित इन्द्रप्राण तमोमय वृत्रप्रधान वारुण आप्य असुरों पर आक्रमण करता है। वारुण आप्यप्राण के प्रवेश से पदार्थ सड़ने लगता है, दूषित होने लगता है। यह सड़ान असुरों के आक्रमण का ही फल है। परन्तु जब भी मरुद्वायु का आगमन होता है, तो तद्गत इन्द्र के, एवं वायुप्राणात्मक मरुत्सेना के आक्रमण से सम्पूर्ण असुर नष्ट होजाते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, सड़ी वस्तु को खुली हवा में धूप में रख दीजिए। थोड़े समय में ही दूषित परमाणु नष्ट होजायँगे। वस्तु शुद्ध बन जायगी। हाँ, जहाँ इस मरुद्वायु का प्रवेश नहीं होता, वहाँ अवश्य ही आप्य वरुण स्वपाश से बद्ध कर उस वस्तु के स्वरूप को दुष्ट बना डालता है। **बन्द हवा असुरों का घर है, एवं खुली हवा देवताओं की आवासभूमि है।** इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति कहती है—

**"यद्वै वातो नाभिवाति--तत् सर्वं वरुणदैवत्यम्"।**

मरुद्गण सदा इन्द्र के आगे आगे चलते हैं। दूसरे शब्दों में–ये मरुद्गण (किंवा मारुतीसेना) इन्द्र के अङ्गरक्षक हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

**इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।**
**देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥**

—यजुः सं० १७।४०

**मरुद्गणों का मूलाधार प्रथम पार्थिवमरुत् गणपति है।** क्योंकि शेष ४८ मरुतों की प्रतिष्ठा, उक्थ (मूलप्रभव) यही है। अतएव इसे 'गणानां पतिः' इस रूप से 'गणपति' नाम से व्यवहृत किया जाता है। यह प्राण जबतक प्रतिष्ठित है, बैठा है, तभीतक शान्ति है। इसके उखड़ने पर सर्वनाश है। **इसी को इन्द्रप्राण की अभिन्नता से 'मघवा' भी कहा जाता है। संसार का कोई भी कार्य्य हो, सब का प्रथमारम्भक यही प्राण है।** मूलप्राण से व्यापार का आरम्भ होता है। मूलप्राण यही है। इसलिए आर्ष–ऋषि आपको आदेश करते हैं कि, यदि आप अपने कार्य्य को निर्विघ्न सम्पन्न करना चाहते हैं, तो **सर्वप्रथम आप गणपति का ही स्मरण कीजिए।** उपासना के द्वारा नित्य–आधिदैविक–गणपति–प्राण के बल को आत्मसात् कर आध्यात्मिक गणपतिप्राण को प्रबल बनाते रहिए। उसे आत्मा में प्रतिष्ठित कीजिए। यदि आपका मूलाधारप्राण प्रतिष्ठित है, बलवान् है, तो निःसन्देह कार्य्य की पूर्त्ति निश्चित है। अन्यथा— **'छिन्ने मूले नैव शाखा न वृक्षः'** यह आप जानते ही हैं। कार्य्यारम्भ में उपासना केद्वारा यदि इस प्राण को अपने अनुकूल नहीं बना लिया जाता, तो वह आपके लिए अप्रतिष्ठा का कारण बनता हुआ आप के उस कर्म्म की प्रतिष्ठा ही उच्छिन्न कर देता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महर्षि कहते हैं—

**नि षु सीद गणपते! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।**
**न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥**

--ऋक्सं० १०।११२।९

भूपिण्ड के पृष्ठ से आरम्भ कर सौरसंस्था-पर्य्यन्त ये ४६ मरुत् व्याप्त हैं यह पूर्व में बतलाया जा-चुका है। इनमें प्रथम मरुत् गणपति है, एवं उसकी प्रतिष्ठा भूपिण्ड है। क्योंकि यही भूपिण्ड से संलग्न रहता है। इतर ४८ प्राणों की प्रतिष्ठा बनता हुआ यह 'मघवा' नाम का गणपतिप्राण सौरत्रैलोक्य की (स्तौम्यत्रैलोक्य की), एवं तद्गत प्रजा के कर्म्मों की प्रतिष्ठा है। किन्तु यह भूपिण्ड इस सर्व-प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा है। भूपिण्ड घन-आग्नेय प्राण से युक्त है। 'अग्निर्भूस्थानः' इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण भूपिण्ड अग्निमय है। यह प्राण महाघन है। यही घनाग्नि आगे जाकर तरल-विरल रूप में परिणत होता हुआ क्रमशः वायु-आदित्य नाम से व्यवहृत होता है। पार्थिव-परमाणुओं के अतिशय संगठन से यह पार्थिवरसरूप तेजोमय अग्नि अपनी घनावस्था को छोड़ कर बाहिर निकल कर तरल-विरलावस्थापन्न होता हुआ वायु, एवं आदित्य नाम से प्रसिद्ध होजाता है। इसप्रकार एक ही पार्थिव रसरूप अग्नि घन-तरल-विरल-इन अवस्थाओं से क्रमशः अग्निः-वायु-आदित्य, इन तीन स्वरूपों में परिणत होजाता है, जैसाकि अनुपद में ही आख्यान-रहस्य में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। तेजोरसरूप पार्थिव अग्निरस की इन्हीं तीन अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है--

**"आपो वा ऽअर्कः। तद्यदपां शर आसीत्-तत् समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्। स तस्यां (पृथिव्यां) अश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः। स त्रेधात्मानं व्याकुरुत-आदित्यं तृतीयम्। वायुं तृतीयम्। स एष प्राणः (प्राणाग्निः) त्रेधा विहितः" (शत० १० कां०।४ प्र०।६ ब्रा० २-३-कं०)इति ॥**

पार्थिवसंस्था का रस यही घन अग्नि है। इसी घनाग्नि पर उपर्युक्त प्राणमूर्त्ति गणपतिप्राण आरूढ हैं। शारीरक मल पार्थिव घनाग्नि है। उसी में तो हमने गणपतिप्राण की सत्ता बतलाई है। यही अवस्था आधिदैविक मण्डल की समझिए। 'यदेवेह तदमुत्र' यह सर्वपरीक्षित, अतएव निर्भ्रान्त सिद्धान्त है। मृण्मय भूपिण्ड गणपतिप्राण का वाहन है। मृण्मय रसाग्निरूप इसी घन पार्थिवप्राण से ( जो कि गण-पतिप्राण का वाहन है 'मूषक' का अन्तरात्मा बनता है। इतर प्राणियों की अपेक्षा इस मूषक में यह पार्थिव घनप्राण अत्यधिक मात्रा में रहता है। इसी घनप्राण के प्रभाव से मूषक जैसा अल्पकाय एक छोटा सा प्राणी अपने दाँतों से वज्रसमान कठोर वस्तु को भी छिन्न भिन्न कर डालता है।

भूपिण्ड के ऊपर की मिट्टी वायु से श्लथ रहती है, ढीली रहती है। आगन्तुक तृण-मल-आदि से भूपिण्ड के ऊपर का दृश्य स्तर उस घनाग्निरस से वञ्चित रहता है। इसी प्राण के अभाव से ऊपर की मिट्टी ठोस नहीं होती आप उस ऊपर के स्तर को हटाकर भूपिण्ड से जितने गहरे जायँगे, अधिकाधिक घनाग्निप्राण उपलब्ध होगा। साथ ही वहाँ की मिट्टी भी घन मिलेगी। बालूरेत के समान उस मिट्टी के परमाणु आपको ढीले न मिलेंगे, अपितु परस्पर संश्लिष्ट मिलेंगे। यही कारण है कि, घनप्राण से कृतात्मा मूषक भूस्तर पर न रहकर भूपिण्ड के भीतर गहराई में बिल बनाकर उसी में रहता है। क्योंकि इसे अपना आत्मानुकूल जीवनीय रस वहीं, गहराई में हीं उपलब्ध होता है। मूषक भूगर्भ में जिस स्थान

पर अपनी आवासभूमि बनाता है, विश्वास कीजिये ! वहाँ की मिट्टी सचमुच उस घनाग्निरस से युक्त है। यही कारण है कि, अग्निहोत्र में जहाँ अग्नि-सम्बन्धी अन्यान्य सामग्रियों का सम्भरण (संग्रह)-ग्रहण किया जाता है, वहाँ उसी घनाग्निरस की प्राप्ति के लिए **मूषक के बिल की मिट्टी भी ली जाती है**, जैसा-कि सम्भारब्राह्मण कहता है—

**"अथ-आखुकरीषं सम्भरति। आखवो (मूषकाः) ह वा अस्यै पृथिव्यै रसं (अग्निरसं) विदुः। तस्मात्तेऽधोऽध इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठाः। अस्यै हि रसं विदुस्ते यत्रैतऽस्यै पृथिव्यै रसं विदुस्तत उत्किरन्ति। तदस्याऽएवैनमेतत् पृथिव्यै रसेन समर्द्धयति। तस्मादाखुकरीषं (मूषकबिलमृत्तिका) सम्भरति"**

शत० २ कां० १।१।७। इति।

पूर्वप्रतिपादित भूपिण्डस्थ गणपतिप्राण जब स्वप्रतिष्ठा से च्युत होजाता है, तो आपको यह जानकर आश्चर्य्य होगा कि, उसका प्रथमाघात इसी **मूषकजाति (चूहों)** पर होता है। गणपतिप्राण के उखड़ जाने से पार्थिवप्रजा का मूलप्राण विचालित होजाता है। **महामारी, जनपदविध्वंसिनी** आदि व्याधियों का प्रवाह प्रक्रान्त होजाता है। मूषकप्राण अस्मदादि की अपेक्षा गणपतिप्राण के अति सन्निकट है। अतः इस व्याधि का प्रथमाक्रमण इसी पर होता है। **महामारी के आरम्भ में पहिले चूहे ही मरने लगते हैं।** यदि किसी राष्ट्र में, नगर में, ग्राम में, अथवा घर में मूषक अपने आप मरने लग जाते हैं, तो मान लीजिए, उस राष्ट्र-नगर-ग्राम-घर का शान्ति-विधाता गणपतिप्राण उच्छिन्न होगया है। शीघ्र ही यहाँ कोई महासंकट आने वाला है। तत्काल **वैदिकरहस्यवेत्ता ब्राह्मणों** को बुलाकर वहाँ शान्त्यर्थ **'गणपतियाग'** कराना चाहिए।

गणपति की प्रतिष्ठा अग्निरस है। वह अग्नि पर प्रतिष्ठित है। उधर अन्य दिशाओं की अपेक्षा दक्षिण-दिशा में अग्नि का अधिक प्राबल्य है। यही कारण है कि, और और दिशाओं की भाँति दक्षिण देशों में **दत्तात्रेय** आदि की भाँति **गणपति देवता** की उपासना विशेष समारम्भ से मनाई जाती है। **'पूना'** का गणपति-उत्सव तो सर्वथा ही द्रष्टव्य है। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, इसी प्रतिष्ठाप्राण को लक्ष्य में रखकर **निदानविद्या** के आचार्य्योंनें **मूषक को गणपतिदेवता का वाहन माना है। 'मूषक' से तद्गत घनप्राण हीं अपेक्षित है। घनप्राण वास्तव में पूर्वकथनानुसार गणपति का वाहन है।** यह गणपतिप्राण प्रतिष्ठाप्राण को पकड़ने से गृहीत होजाता है। रहस्यवेत्ता महर्षियोंनें विज्ञानदृष्टि से यह पहिचाना कि, भूपिण्ड के गर्भ में रहने वाली **ठोस (पीली) मिट्टी** में जो घनाग्नि प्राप्त है, उसी पर गणपतिप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इसी रहस्य को देखते हुए उन्होंनें गणपति की आराधना में इसी मिट्टी को प्रधानता देदी। **पीली मिट्टी** में वह प्रतिष्ठाप्राण विशेषरूप से विद्यमान है।

आप व्यापक गणपतिप्राण की मन्त्र के द्वारा भावना कीजिए, **'मनो वै देवा मनुष्यस्याजानान्ति'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार गणपतिप्राण अवश्यमेव मन्त्रशक्ति के प्रभाव से अपनी इस प्रतिष्ठाभूमिरूप मिट्टी की डली में प्रतिष्ठित होजायगा। इसी भाव के लिए विद्वान् ब्राह्मण प्रकृति के इन सम्पूर्ण रहस्यों को

जानता हुआ एक मिट्टी की डली सामने पट्टे पर रखता है, और बोलता है—'गणपतिमावाहयामि' (मैं इस गणपतिवाहनरूप मिट्टी में गणपति को स्वात्मशक्ति समन्विता (श्रद्धासमन्विता) मन्त्रशक्ति से युक्त कर प्रतिष्ठित करता हूँ)। हाँ, एक बात और ध्यान में रखिए। आवाहन से पहले 'अथ ध्यानम्' इस शास्त्रीय मर्य्यादा के अनुसार सर्वप्रथम उपासक गणपति का 'वक्रतुण्डमहाकायं सूर्य्यकोटिसमप्रभम्' इत्यादिरूप से गणपति का ध्यान करता है। अनन्तर—'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' इत्यादि रूप से 'आवाहन' करता है। जब आवाहन—प्रक्रिया से सचमुच गणपतिप्राण आजाता है, तो आसनम्, पाद्यम्, अर्ध्यम्, आदि उपचारधर्म्मों का क्रमशः अनुपालन कर आगत प्राणदेवता को प्रसन्न किया जाता है।

ध्यान का तात्पर्य्य यही है कि, गणपतिप्राण नीरूप है। उसका कोई भौतिक आकार नहीं है। बिना आकारग्रहण के मन देवता की ओर अनुगत नहीं होसकता। अतः प्राणगत भिन्न भिन्न उन नीरूप शक्तियों के स्वरूप को मन में संस्काररूप से प्रतिष्ठित करने के लिए ऋषियोंनें तत्तच्छक्तियुत तत्तद्भौतिक पदार्थों को तत्तच्छक्तियों का निदान मान कर कल्पित प्रतिमाएँ बना डालीं हैं, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में ही बतला दिया गया है। जिस देवता को बुलाना है, पहिले उसका स्वरूप उपासक की दृष्टि में आना चाहिए। बिना स्वरूप-ज्ञान के किस का आह्वावन हो। इसी विप्रतिपत्ति को हटाने के लिए आवाहन से पहिले ध्यान करना आवश्यक होजाता है। अभी गणपति के सम्बन्ध में बहुत कुछ वक्तव्य था। परन्तु प्रकरण प्रकृत-निरूपणीय विषयमर्य्यादा से बाहिर जारहा है। अतः इस गणपति—प्रकरण को यहीं उपसंहृत करते हुए हम कहना चाहते हैं कि, 'मिट्टी की डली' को वाहन का निदान मानना, मूषक को वाहन मानना भी कुछ रहस्य रखता है। हमारा निदान भी (कल्पित भी) सत्यांश से युक्त रहता है।

निदर्शनमात्र है—हमारा उपासनाकाण्ड केवल निदानविद्या के आधार पर ही अवलम्बित है। किसी देवता के ४ हाथ, किसी के ८, किसी देवी के ६४, किसी के हाथ में खड्ग, किसी के हाथ में धनुष, किसी के हाथ में कर्त्री, किसी मूर्त्ति का स्वरूप शान्त, किसी का महाउग्र, ये सब रहस्य आप तबतक नहीं समझ सकते, जबतक कि निदानशास्त्र का आप साङ्गोपाङ्ग अध्ययन न करलें। बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि, साहित्य के घोरशत्रु नरराक्षसों के अकाण्ड—ताण्डवों से जैसे भारतीय धनुर्विद्या, विमानविद्या, रहस्यशास्त्र, गाथाशास्त्र, आदि शास्त्र अग्निदेव में हुत होगए, वैसे ही उपासना का सर्वस्वभूत निदानशास्त्र भी आज हम से पराःपरावत होगया है। तदपि ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं कहीं निदान का उल्लेख मिलता है। उसी के आधार पर हमने आपके सम्मुख निदान का कुछ स्वरूप रक्खा है। आज इस निदानरहस्य को न जानने के कारण हीं हमारे नवशिक्षित भारतीय युवक, (और अबतो सभी) उपासना—काण्ड पर आक्षेप करने में हीं अपने आपको सत्यज्ञानवेत्ता मानने का अभिमान कर रहे हैं। वस्तुतस्तु केवल नवशिक्षितों के मत्थे ही यह दोष मँढना अन्याय होगा। प्रधान दोषी हैं ब्राह्मण, ब्राह्मणों में भी साक्षर ब्राह्मण, साक्षरों में भी विद्वान्, विद्वानों में भी उपदेशक, इनमें भी धर्म्माचार्य्य।

जिन भूदेवोंके हाथों में धर्म्म की बागडोर थी, कालमहिमा से जो समय समय पर जनता में फैली हुई अधर्मभावनाओं को उखाड़ कर धर्म्मश्रद्धा को पुनः स्थापित करने के जन्मसिद्ध अधिकारी थे, आज वैदिक-

साहित्य के अनुशीलन के अभाव से वे स्वयं इन रहस्यों से कोसों दूर हट गए हैं। आज ऐसे ही उपदेशक हमें कथा सुनाते हैं। ऐसे ही धर्म्माचार्य्योंनें धर्म्म की बागडोर अपने हाथ में ले रक्खी है। अपनी विलास–लीलाओं में निमग्न, सनातनधर्म्म को कलङ्कित करने वाले, धर्म्म के व्याज से राष्ट्रोन्नति के घातक, अधर्म्म-अन्याय-अत्याचार-प्रान्तीयता-आदि संकुचित वृत्तियों का प्रचार करने वाले राष्ट्र के ये अन्यतमशत्रु 'शास्त्र' के नामच्छल से भावुक जनता को, उस अबोध भोली जनता को ( प्रबलवेग से स्वयं गिरते हुए- ) लक्ष्यच्युत बना रहे हैं। किसलिए गरीब जनता की अतुलसम्पत्ति आज देवालयों में समर्पित होती है ?। क्यों लाखों रुपय्यों का दान इन मठाधीशों के चरणों में अर्पित कर दिया जाता है ?। धर्म्मरक्षा के लिए। धर्म्मसम्बन्धी सन्देहों को दूर करने के लिए। भगवान् को साक्षी बनाकर क्या सनातनी–जनता यह कहने के लिए सन्नद्ध है कि, सचमुच हमारे दान का क्या सदुपयोग होरहा है ?। क्या सचमुच हमें सत्यमाग बतलाया जारहा है ?।

सह संस्मरणीय, एवं सर्वात्मना अविस्मरणीय है कि, आज तो कुछ पढ़े लिखे ही धर्म्म की निन्दा करते हैं। परन्तु कुछ दिन हतभाग्य सनातनी–जगत् इसी नाशकारिणी रूढ़ि का अनुवर्त्मा और बना रहा, तो धर्म्मके नामसे भी लोगों को घृणा होने लगेगी, और सभी के लिए धर्म्म सर्वथा निरपेक्ष ही बन जायगा। इधर कुछ काल से 'आर्य्यसमाज' नामकी एक संस्था सत्यप्रचार के लिए खड़ी हुई है। उसका ऐसा उद्घोष है कि, वेद ही एकमात्र सत्यज्ञान की निधि है। पुराण–ज्यौतिष आदि सब मिथ्या हैं, कपोलकल्पित हैं। कहना न होगा कि, वेद की ओट में आर्य्यजाति का, आर्य्यधर्म्म का जैसा विनाश इस अभिनिविष्टा जाति से हुआ है, वैसा सम्भवतः और किसी से नहीं हुआ। सनातनधर्म्मी समझते नहीं, परन्तु मानते हैं। यहाँ तो समझने के साथ साथ मानना भी नष्ट होगया। अपने सभामञ्चों पर आज निदानविद्यामूलक उपासनाकाँड को अवैदिक—अशास्त्रीय बतलाने का अक्षम्य अपराध करने का साहस किया जारहा है।

"देखो सनातनियों के गणेशजी तो इतने मोटे–और उनका वाहन छोटासा चूहा–देखो इन पोपोंकी पोपलीला–पीली मिट्टी को गणेशजी मानकर यह धूर्त्त पैसा ठग रहे हैं" इसप्रकार के कुतर्कों से अहर्निश धर्म्म को, उस वैज्ञानिक धर्म्म को कोसा करते हैं। श्रद्धालु सनातनधर्म्मी क्षुब्ध हैं। धर्म्म के स्तम्भभूत धर्म्माचार्य्य विलासलीला में मत्त हैं। विद्वान् नामको कलङ्कित करने वाले ब्राह्मण प्रमत्त–मद-गर्वित–सरस्वती के अन्यतमशत्रु धनिकों की आराधना में, एवं विलासनिमग्न सामन्ततन्त्रों की अभ्यर्थना में ( राजभक्ति में ) निमग्न हैं। अटक से कटक, और कन्याकुमारी पर्य्यंत आज धर्मवृषभ पर सर्वत्र इसप्रकार खड्ग प्रहार ही होरहा है। न आज सत्यज्ञान के प्रचार के लिए क्षेत्र, न सत्यवक्ता को कहीं आश्रय, न वैज्ञानिक साहित्यप्रकाशन के लिए आज सम्पन्नों, तथा सत्ताधीशों के कोश में द्रव्य।

इत्थंभूत सांस्कृतिक–धार्म्मिक–अधःपतन जैसे प्रकान्त घोरघोरतम भयावह युग में ऋषिवंशज नैष्ठिक ब्राह्मणों का एकमात्र यही कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, राष्ट्रीया मूलसंस्कृति, एवं तन्मूलक धर्म्म के सम्बन्ध वे कालपुरुष की आराधना करते हुए सत्यज्ञानाराधन के सम्मुख सभी प्रकार की विघ्नबाधाएँ सहते हुए अपने स्वाध्यायव्रत पर ही अनन्यानेष्ठा से आरूढ होजाएँ। सम्भव हीं नहीं, अपितु निश्चित है कि, तद्विधा निष्ठा में इन स्वाध्यायनिष्टों को आपत्ति–परम्पराओं का ही आतिथ्य स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु यही इनका महान् पुरस्कार माना जायगा, जिस के आधार पर ही राष्ट्र में पुनः वह सांस्कृतिक-जागरण सम्भव बन

सकेगा, जो कि विगत तीन सहस्र-वर्षों से साम्प्रदायिक-वाद-परम्परा-निग्रह से आभिभूत ही होता आरहा है।

तथोक्त निदर्शनों से विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति विदित होगया होगा कि, आन्तरिक्ष्य आप्यप्राणमूर्ति असुर, एवं मृद्गत प्राणरूप असुर, दोनों हीं अमूर्त हैं। ऐसे नीरूप असुरप्राण के वधके लिए किसी मूर्त्त पदार्थ को मध्यस्थ बनाना आवश्यक है। बिना भौतिक निदान के यहाँ की वधप्रक्रिया यथावत् समन्वित नहीं हो-सकती। हमारा यह 'स्तम्बयजु' ( कुशमुष्टि ) **इसी प्राणमूर्ति असुर का निदान है**। इस पर स्फ्य का प्रहार करना असुर पर ही प्रहार करना है। दृष्टि इस पर है, एवं भावना असुरवध की ओर है। यही तो निदान है। भूपिण्ड के जिस प्रदेश पर अध्वर्य्यु वेदि बनाने वाला है, वहाँ वह उत्तराग्र 'कुशमुष्टि' बिछा देता है। यह कुशमुष्टि उस वेदिरूप भूप्रदेश को आवृत कर लेती है। कुशमुष्टि ने भूप्रदेश को क्या आवृत कर रक्खा है, असुरोंनें हीं इसे आवृत कर रक्खा है। कुशमुष्टि को वैदिकभाषा में '**स्तम्ब**' कहा जाता है। इस स्तम्बरूप नैदानिक असुर पर स्फ्यरूप वज्र से मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु प्रहार कर, प्रहार से छिन्न-भिन्न स्तम्ब को, एवं उखड़ी हुई मिट्टी को उत्कर में प्रक्षिप्त कर देता है। जिस मन्त्र से इस '**स्तम्ब**' का '**हरण**' होता है, वह यजुर्म्मन्त्र इस कर्म्म का देवता बनता हुआ '**स्तम्बयजु**' नाम से व्यवहृत होता है। तम्ब इस यजुसे अभिन्न है, अतः इस स्तम्ब (कुशमुष्टि) को भी '**स्तम्बयजुः**' इस नामसे व्यवहृत किया जाने लगा है। इस स्तम्बयजु का हरण किया जाता है, अतएव इस कर्म्म को यज्ञरहस्यवेत्ता '**स्तम्बयजुर्हरण**' नाम से व्यवहृत करते हैं। यह स्तम्बयजुर्हरण निदानेन '**असुरनिरसन**' व्यापार ही है। अर्थात् स्तम्बयजु का इस स्थान से हरण करना असुरों को ही इस वेदिस्थान से बाहिर निकालना है। स्तम्बयजु के इसी निदानभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

**"तदेतन्निदानेन-यत् स्तम्बयजुः"**

यह स्तम्बयजुर्हरण किया क्यों जाता है?, इसका उत्तर है—'**देवाननु विधा वै मनुष्याः**-'**यद्वै देवा यज्ञेऽकुर्वंस्तत् करवाणि**'। भौमत्रिलोकी के स्वर्ग प्रदेश में रहने वाले **मनुष्यदेवताओंनें** अपनी दिव्यदृष्टि से उस प्राकृतिक नित्ययज्ञरहस्य को देख कर तदनुसार उन्होंनें यज्ञ का वितान किया। इन भौम-देवताओं से यह यज्ञविद्या भारतवर्ष के महर्षियों नें प्राप्त की। भौमदेवताओं के यज्ञ में असुर निरन्तर आक्रमण किया करते थे, जैसाकि आगे के '**देवासुरदायविभागोपाख्यानरहस्यब्राह्मण**' में विस्तार से वतलाया जाने वाला है। जिसे आज '**एशिया**' कहा जाता है, वही किसी समय '**भौमत्रैलोक्य**' नाम से प्रसिद्ध थी।

असुरप्राणकृतात्मा **असुरमानव**, एवं देवप्राणकृतात्मा **देवमानव**, इन दोनों में ( प्रकृतिवत् ) परस्पर सदा स्पर्द्धा चलती रहती थी। **देवता बुद्धिमान् थे, परन्तु निर्बल थे**। उधर **असुर बलवान् थे, किन्तु बुद्धिशून्य थे**। **एशियामाइनर** में रहने वाले **स्वयम्भू प्रजापति** इन दोनों का ही **निग्रह, अनुग्रह** किया करते थे। यद्यपि प्रजापतिने असुरों को **ज्येष्ठपुत्र** समझ कर संख्या, एवं बल में भी देवताओं की अपेक्षा विशेष समर्थ जानकर, भविष्य के कलह को शान्त करने के लिए इन्हें **दायविभाग** में अधिक भूप्रदेश दिया था। **अफ्रीका, अमेरिका, युरोप**, ये असुरों को मिले थे, एवं सुप्रसिद्ध **एशियाखण्ड** देवताओं को मिला था। कहना न होगा कि, एशियाखण्ड के वर्गमील अफ्रीकादि उपर्युक्त तीनों खण्डों के भूप्रदेशों के वर्गमीलों के समतुलन में कुछ भी नहीं है। यह सब कुछ तो ठीक ठीक हुआ। पिता स्वयम्भू ने पहिले

से ही इन ज्येष्ठभ्राताओं का अधिक सम्मान कर दिया था। परन्तु स्वयम्भू प्रजापति का यह सम्पूर्ण प्रयास आगे जाकर सर्वथा व्यर्थ ही सिद्ध हुआ। क्योंकि असुर बड़े भाई थे। उनकी तृष्णा भी बड़ी थी। उधर देवता बुद्धिमान तो थे, परन्तु भौतिकबल का उनमें अभाव था। यही कारण था कि, ये ज्येष्ठभ्राता अपनी प्रभूत सम्पत्ति पर सन्तोष न कर कनिष्ठ भ्राताओं को जो कुछ नाममात्र को मिला था, उसे भी अपहृत कर लेना चाहते थे। दुष्टबुद्धि असुर सदा इन पर आक्रमण किया करते थे। उचित, अनुचित, प्रत्येक उपाय से निरन्तर ही वे इन्हें सन्त्रस्त करते रहते थे। इनके आगमन का मार्ग **अफ्रीका के दर्रे** थे। एशिमाइनर में रहने वाले स्वयम्भू के दर्शन–व्याज से ये एशियाखण्ड में आते रहते थे, एवं तुष्णींरूपेण (गुप–चुप) आक्रमण कर दिया करते थे। इस आक्रमण के फलस्वरूप अवान्तर युद्धों के अतिरिक्त देवता और असुरों में परस्पर १२ महासङ्ग्राम हुए थे।

ऋग्वेदसंहिता में इन १२ महासङ्ग्रामों का बड़ा रोचक वर्णन हुआ है। कहना यही है कि, असुर निरन्तर आक्रमण करते रहते थे, एवं देवता अपने बुद्धिबल को यज्ञबल के रूप में परिणत कर इस यज्ञबल से इन्हें नष्ट करते रहते थे। एशियाखण्ड को देवताओंनें अपनी **'यज्ञभूमि'** मान रक्खी थी, जैसाकि आगे के ब्राह्मण में स्पष्ट होने वाला है। 'यज्ञभूमि' नाम से विख्यात इस भौमत्रिलोकी पर, एवं इसमें रहने वाले देवताओं पर दुष्टबुद्धि असुर आक्रमण करते रहते थे। देवता अत्यन्त संत्रस्त थे। बड़े प्रयास से वे इन दुष्टों को परास्त कर अपने यज्ञमण्डल से निकालते, कुछ दिनों के अनन्तर ही पुनः ये दुष्ट आक्रमण कर बैठते। इस आए दिन की आपत्ति को शान्त करने के लिए, सदा के लिए इन्हें अनपजय्य बनाने के लिए देवताओंनें एक बड़ा उत्तम प्रकार निकाला। उत्तरदिशा में भूप्रदेश (मैदान) बहुत था। अतः आक्रमणकर्त्ता असुर आक्रमण करके (छापा मार के) लूटखसोट कर वहाँ छुप जाते थे, एवं अवसर पाते ही पुनः निकल आते थे। अग्नि ने इन धूर्त्तों की यह धूर्त्तता देखी, और देवताओं से कहा कि, कोई चिन्ता नहीं, यदि इनको भगकर छिपने का अवसर उत्तर में हीं मिलता है, तो मैं उस मार्ग को रोक लेता हूँ।

जिन समय असुर उस ओर से आक्रमण करते हुये अपने यज्ञमण्डल में आजायँगे, उस समय दक्षिण का मार्ग तुम रोकना, उत्तर का मार्ग मैं रोकूँगा। इसप्रकार दोनों ओर के मार्ग रुक जाने से ये बचकर भाग नहीं सकेंगे। यों अपन सम्मिलितरूप से आक्रमण कर उन्हें सदा के लिए क्षीणशक्ति कर देंगे। पुनः कभी इनका इस ओर आँख उठाने का साहस न होसकेगा। ऐसा ही हुआ। अग्नि की उपर्युक्त मन्त्रणा से दोनों ओर से घिरे हुए असुर भागने में असमर्थ होते हुए देवताओं के सम्मिलित आक्रमण से सर्वथा हतवीर्य्य होगए। हाँ, **अररु** नाम का एक असुर देवताओं की आँख बचाकर द्युलोक की ओर भागना चाहता था। परन्तु अग्नि वहाँ खड़े जो हुए थे। इन की दृष्टि इस भागते हुए अररु पर पड़ी। और उन्होंनें कहा कि सावधान! यदि उधर गया, तो प्राणों से हाथ धो बैठेगा। द्युलोक हमारा प्रान्त है। वहाँ तुझे जाने का क्या अधिकार है। यदि तू भग कर जाना चाहता है, तो हम दया कर तुझे छोड़ते हैं, चलाजा अपने गोस्थानरूप वारुणलोक को।

असुरों के रक्षक आप्यप्राणकृतात्मा **वरुणदेवता** थे। अतएव पूर्वोक्त **आसुर–त्रैलोक्य 'वारुण–लोक'** नामसे प्रसिद्ध थे। यही वारुणलोक [अब्विभाग] लोकपाल वरुण के सम्बन्ध से **व्रज, गोष्ठान (गोस्थान)**, आदि नामों से प्रसिद्ध था। अन्ततः अग्निदेव से परास्त होकर अररु को अपने इसी लोक

में भाग कर प्राण बचाने पड़े । इसप्रकार देवताओंनें तीनों लोकों से, एवं तीनों लोकों के कुछ कुछ प्रदेशों को लेकर निर्म्मित ब्रध्नस्यविष्टप् नाम के चतुर्थ लोक से सदा के लिए इन असुरों को निकाल दिया * ।

इसप्रकार भौमदेवताओंनें स्वयज्ञमण्डल से असुरों को निकाला था । इनकी प्रतिकृति पर ही अपने वैधयज्ञ का वितान करने वाले भारतवर्षीय ब्राह्मण आज इस स्तम्बयजुर्हरण से उसी घटना का स्मरण कर तद्भावना से अदृष्ट, दृष्ट असुरों को नष्ट करते हैं । आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् पूर्वोक्त निदानभाव के अनुसार साक्षात् **'अग्नि'** है । यह आग्नीध्र जो वेदि के उत्तरभाग में जाता है, वह मानो असुरों को रोकने के लिए अग्नि ही उत्तर में जाता है । इधर इतर देवताओं का **'यजन'** करने वाला दक्षिण भाग की ओर प्रतिष्ठित अध्वर्य्यु निदानेन इतर देवताओं का समुच्चय है । यह इधर से मार्ग रोकता है । इसप्रकार निदान के माध्यम से स्तम्बयजुर्हरण के द्वारा सम्पूर्ण असुर इस यजमान के यज्ञमण्डल से सदा के लिए नष्ट करदिए जाते हैं । उस समय उन भौमदेवताओंनें उन असुरों को नष्ट किया था, आज यह अध्वर्य्यु इस प्रत्यक्षकर्म्म से यजमान के सम्पत्ति के बाधक जो शत्रु हैं, उन्हें इस प्रतिकृतिकर्म्म से नष्ट करता है । यजमान का यज्ञ निर्विघ्न परिसमाप्त होजाता है ।

वैदिक आख्यान आठ भागों में विभक्त हैं, जैसाकि पूर्व के **प्रोक्षणकर्म्म** में विस्तार से बतलाया जा चुका है । उन आठों में सातवाँ उपाख्यान **आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक,** इन तीनों रहस्यों से सम्बन्ध रखता है । हमारा प्रकृत आख्यान ऐसा ही आख्यान है । इसका तीनों संस्थाओं से सम्बन्ध है । इन तीनों में सूचीकटाहन्याय से इस आख्यान का आधिभौतिक चरित्र आपके सम्मुख रक्खा गया । अब उसी न्याय से आध्यात्मिक–चरित्र की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

हमारी अध्यात्मसंस्था में देवता, **असुर**, दोनों का साम्राज्य है । देवता सूर्य्य से उत्पन्न होते हैं, एवं असुरों का जन्म पृथिवी ( दिति पृथिवी ), एवं चन्द्रमा ( कृष्णपक्ष का कृष्णचन्द्रमा ) से होता है । इसीलिए चन्द्रमा को 'एष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः' ( श० १ का० ६।४।१८ ) इत्यादिरूप से **'वृत्रासुर'** कहा जाता है । **सौर इन्द्रमय सावित्राग्नि से विज्ञानात्मा** (बुद्धि) का **निर्म्माण होता है** । चान्द्र **वृत्रासुर से प्रज्ञानात्मा** (मन) का **निर्म्माण होता है** । एवं भूपिण्डस्थ **आसुरप्राणमय** पञ्चीकृत मृद्भाग से **हमारा पाञ्चभौतिक शरीर बनता है** । इसप्रकार शारीरिक जीवात्मा–शरीर, मन, बुद्धि, इन तीन देवासुरविभूतियों से नित्य युक्त रहता है । **शरीर, एवं मन असुरों की आवासभूमि है, तो बुद्धि देवताओं का निवास स्थल है** ।

---

* उस समय तो सचमुच एशियाखण्ड में केवल देवताओं का ही असपत्न राज्य था । परन्तु आज तो हमारी भावुकता से भारतवर्ष भी हमें अपने क्रोड़ में स्थान नहीं दे रहा ।

चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह होने से सूर्य्य की अपेक्षा भूपिण्ड का अनुयायी रहता है। अतएव भूपिण्डांश–शरीर चान्द्रांशरूप मन को सदा अपनी ओर आकर्षित रखता है। सूर्य हम पार्थिव प्राणियों की अपेक्षा बहुत दूर पड़ता है। चन्द्रमा, एवं चन्द्रमा से भी अधिक भूपिण्ड हमारे समीप पड़ता है। अतः बुद्धि की अपेक्षा शरीर और मन प्रबल रहता है। साथ ही आसुरी-विभूति **शरीर**, एवं मन के भेद से अधिक है, एवं दिव्यविभूतिरूपा बुद्धि एकाकिनी ही है। देवता कम है, असुर अधिक, एवं बलवान् हैं। अतएव शारीरिक आत्मा पर प्रायः शरीर, और मन का ही प्रभुत्त्व रहता है। प्रज्ञानमन भूतमात्राओं के सम्बन्ध से प्रज्ञामात्रा--रूप में परिणत होता हुआ, इन्द्रियों का सञ्चालक बनता हुआ सांसारिक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दादि विषयों का प्रभु बना रहता है। इसप्रकार आत्मा मन के वशवर्त्ती होकर सदा विषयों का ही अनुगामी बनता हुआ अपने दिव्यस्वरूप से आवृत होता रहता है।

मनोमय आत्मा सदा शरीर की चिन्ता में हीं निमग्न रहता है। शरीरबल बढ़ाना, शरीर को प्रत्येक प्रकार से सुख पहुँचाना हीं इस का चरम लक्ष्य बन जाता है। परिणाम इसका यह होता है कि, दिव्यज्योतिर्म्मय जो आत्मा बुद्धिरूप सौर देवताओं की आवासभूमि था, उसमें ये मनोमय--शरीरमय असुर प्रविष्ट हो पड़ते हैं। इनके आने से आत्मा अपना प्रकाश अभिभूत कर बैठता है। बुद्धिरूप देवता असुरों का यह आक्रमण रोकने की चेष्टा किया करते हैं। मनुष्य जब भी किसी आत्मपतनोत्तेजक विषय की ओर झुकता है, तो बुद्धि रोकती है कि, तुम ऐसा मत करो। परन्तु पूर्वकथनानुसार असुरभावयुक्त मन की प्रधानता इस बुद्धिप्रेरणा को व्यर्थ कर देती है। इसप्रकार मनोमय असुरों के समतुलन में बुद्धिमय देवता पराभूत होजाते हैं। इस आक्रमण से बचने का, आध्यात्मिक–असुरों को सर्वथा परास्त करने का एकमात्र उपाय है--**'आत्मयाजी'** बनना।

आसुर मन जिन विषयों को लेकर बलवान् बनता हुआ दिव्यविभूतियों को परास्त करने में समर्थ होता है, उन विषयों की ओर से आसक्ति हटाने से अपने आप आध्यात्मिक असुरबल घट जायगा, एवं बुद्धिबल बढ़ जायगा। देवता जयलाभ कर लेंगे, और असुर परास्त होजायँगे। शारीरिक--अग्नि को उत्तर में प्रतिष्ठित कीजिए। नाभि से ऊपर का स्थान उत्तर है, नीचे का दक्षिण है। इस दक्षिणभाग में अध्यर्य्युरूप वायुमूर्त्ति व्यान को बलवान् बनाइए, मूलप्रतिष्ठा को दृढ़ कीजिए, उधर से उत्तरस्थ शिरोऽग्नि ( मस्तकस्थ षडङ्ग---वैश्वानर ) का बल बढाइए, दोनों ओर के देवता जब सावधान होकर **नियमित आहारविहाररूप आत्म–यज्ञ** का जिस दिन यथावत् सञ्चालन करने लग जायँगे, उस दिन अपने आप असुर परास्त होजायँगे। मिथ्या आहारविहार से, विषयानुसंधान से शारीरिक--आग्नेय देवताओं का बल घट जाता है, असुरों का बल बढ़ जाता है। जो विद्वान् इस आध्यात्मिक यज्ञरहस्य को समझकर आयुर्वेदोक्त नियम से अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करता है, वह कभी भी असुरों को अपने अध्यात्मयज्ञ में प्रविष्ट नहीं होने देता। यह है इस आख्यान का आध्यात्मिक रहस्य। अब सर्वप्रधान **आधिदैविकरहस्य** की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इस आख्यान का सम्बन्ध **'सागराम्बरा'** नाम से प्रसिद्ध **पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः**, इस चतुर्लोकात्मिका स्तौम्या पृथिवी के साथ समझना चाहिये। संसार का उपादानतत्त्व **'शुक्र'** नाम से व्यवहृत होता है। इस शुक्र की **वाक्–आपः–अग्निः** ये तीन अवस्थाएँ हैं। ये तीनों हीं **अमृत–मर्त्य** भेद से दो-दो

प्रकार के हैं। इन मे अमृतात्मक वाक्-आप: अग्नि से तो **अमृतसृष्टि** होती है, एवं मर्त्य इन्हीं शुक्रों से **मर्त्यसृष्टि** का विकास होता है ! इन में प्रकृत में पृथिवी-संस्था के साथ मर्त्यशुक्र का ही सम्बन्ध समझना चाहिए। भूपिण्ड स्वयं अग्निमय है। इसके चारों ओर **'समुद्रमभितः पिन्वमानम्'** * इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार चारों ओर आपोमय पारमेष्ठय समुद्र **है**। इस के चारों ओर वाङ्मय वेदरूप प्राणस्तर **है**। उधर से आइये, सबसे ऊपर वाक्स्तर है। इसी के **'पुराणाकाश'** कहा जाता है। इस वाक्स्तर के ( वाङ्मण्डल के ) भीतर **आपोमय मण्डल** है। इसे ही **'अर्णवसमुद्र'** कहा जाता है। इस आपोमयमण्डल के केन्द्र में **भूपिण्ड** है। इन तीनों स्तरों में से सर्वान्त के वाक्स्तर को तो छोड़ दीजिए। क्योंकि उसका प्रकृत आख्यान के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, एवं अवशिष्ट **अग्निमूर्त्ति भूपिण्ड, आपोमय मण्डल**, इन दो तथ्यों को लक्ष्य बनाइए।

पूर्वप्रकरणों में यह अनेकधा कहा जाचुका है कि--**'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीद-र्द्धममृतम्'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार यह अग्निप्रजापति **अमृत-मर्त्य** भेद से दो भागों में विभक्त है। अमृताग्नि **प्राणरूप है**, एवं मर्त्याग्नि **भूतात्मक है**। अमृताग्नि को **'देवता'** कहा जाता है, एवं मर्त्याग्नि को **'भूत'** कहा जाता है। स्वयं भूपिण्ड भूताग्नि की चितिमात्र हैं। अतएव पिण्डात्मक इस मर्त्य अग्नि को **'चित्याग्नि'** कहा जाता है। इस चित्याग्नि में **अग्नि, आप:** दोनों हैं। पानी, एवं अग्नि के संघात से ही भूपिण्ड का निर्म्माण हुआ है। पानी की उपादानता को लक्ष्य में रखकर जहाँ इस भूपिण्ड के लिए **'अद्भ्यः पृथिवी'** यह कहा जाता है, कहाँ अग्नि की ( मर्त्याग्नि की ) उपादनता को लक्ष्य में रखकर इस के लिए **'अग्निर्भूस्थानः'** यह कहा जाता है। इस मर्त्याग्निपिण्ड के केन्द्र से वह प्राणाग्नि बद्ध रहता है। यद्यपि प्राणाग्नि नित्य है। परन्तु जबतक भूपिण्ड निष्पन्न नहीं होजाता, तबतक इस प्राणाग्नि को प्रतिष्ठित होने का अवसर ही नहीं मिलता। जब चित्य भूपिण्ड निष्पन्न होजाता है, तभी उसके हृदय में इस अमृताग्नि के **निधान** का **अवसर** आता है। अतएव **'चिते निधीयते'** इस व्युत्पत्ति को लक्ष्य में रखकर इस अमृताग्नि को **'चितेनिधेय'** नाम से व्यवहृत किया जाता है।

यह प्राणाग्नि÷ भूपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित होकर अपने प्राणरूप गतिधर्म्म के कारण सामण्डल का सम्पादन करता हुआ उत्तरोत्तर आगे चलता है। इसी प्राणाग्नि का नाम **'तेजोरस'** है। यही मन्त्रसंहिता में **'अङ्गिरा'** नाम से व्यवहृत हुआ है। यह प्राणाग्निरूप अङ्गिरा वस्तुत: भूपिण्ड की वस्तु नहीं है। अपि तु सौर इन्द्रमय सावित्राग्नि सूर्य्य से प्रवृक्त होकर इस भूपिण्ड में प्रतिष्ठित होजाता है। **'प्राणः प्रजानामुदय-**

---

* **अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।**
**वर्द्धमानो महाँ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा पृथस्व ॥**
—यजुःस० १७,२६।

÷ वाक्पिण्ड रूप ऋक् पर आरूढ होकर यह सामात्मक प्राण हिंकार-प्रस्ताव-उद्गीथ-प्रतिहार-निधन, इन पाँच मुख्य पर्वों में परिणत होकर महिमामण्डल का अधिष्ठाता कैसे बनता है ?, इस विषय का विशद समाधान 'छान्दोग्य-उपनिषद्-हिन्दीविज्ञानभाष्य के 'सामप्रपाठक' नाम के द्वितीय प्रपाठक में देखना चाहिये।

त्येष सूर्य्यः' इस सिद्धान्त के अनुसार यह सौर अग्नि–'प्राण' नाम से व्यवहृत होता है। यह जबतक अपने सौरमण्डल में प्रतिष्ठित रहता है, तबतक तो आकर्षणशक्ति–प्रधान रहता हुआ, पार्थिव पदार्थों का आदान करता हुआ यह 'आदित्य' नाम से व्यवहृत होता है। एवं यही प्रवर्ग्य–सम्बन्ध से भूपिण्ड में प्रतिष्ठित होकर 'अङ्गिरा' नाम से व्यवहृत होने लगता है। पार्थिव भौतिक श्लथ परमाणुओं का विधरण ( संघठन ) करना इस अङ्गिराप्राण का ही मुख्य कार्य्य है। उस एक प्राण की **विधरणशक्ति** से सम्पूर्ण पार्थिव परमाणु परस्पर आबद्ध रहते हैं।

पार्थिव परमाणु अङ्ग है, यह अङ्गी है। अङ्गी बन कर यह प्राण स्वतेजोभाव के कारण उत्तरोत्तर विशकलित होता हुआ ऊपर जाता है, उत्तरोत्तर विस्रस्त होता रहता है। अतएव **'अङ्गानि यस्य सोऽङ्गी, अङ्गी भूत्वा रसति–प्रस्रवति–विस्रस्तो भवति'** इस व्युत्पत्ति से इसे 'अङ्गिरा' कहा जाता है। यहाँ आकर भूलोक की वस्तु बन कर द्युलोक की ओर जारहा है। उधर से सूर्य्य से निकलने वाला आदित्यप्राण निरन्तर चारों ओर जाता हुआ भूपिण्ड की ओर भी आरहा है। जाते हुए अङ्गिरा, एवं आते हुये आदित्य का अन्तरिक्ष में तानूनप्त्र ( सम्बन्ध–मुठभेड़ ) होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर **'आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च अस्पर्द्धन्त–वयं पूर्वमेष्यामः–वयं पूर्वमेष्यामः'** यह कहा जाता है। कहना यही है कि, यह अङ्गिराग्नि आगन्तुक है। प्रवर्ग्य–सम्बन्ध से जिस मार्ग से आकर यह भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित हुआ था, ठीक उसी मार्ग से पुनः अपने द्युलोक में चला जाता है। अङ्गिरा के इसी आगति-गति विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

**इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।**
**प्रभुर्जयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययुः ॥**

**—सामसंहिता पू० १।२**

यह प्राणाग्निरूप अङ्गिरा बाहिर निकल कर जहाँ जाके अपनी गति समाप्त करता है, वहाँतक का एक **मण्डल** बनता है। किसी समय ( आदित्यावस्थाकाल में–सौरप्राण के आगमनकाल में ) अङ्गिरा सूर्य्य की वस्तु रहा होगा। परन्तु आज इस भूपिण्डके केन्द्र से निकलकर चारों ओर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता हुआ तो यह पृथिवी की ही वस्तु माना जायगा। अतएव आपको यह भी मान लेना पड़ेगा कि, जहाँतक इस अङ्गिराप्राण की व्याप्ति है, वहाँतक का सम्पूर्ण भाग **'पृथिवीलोक'** ही है। सच पूँछिए, तो पृथिवीलोक का समर्पक यह अङ्गिराप्राण ही है। क्योंकि **'पृथिवी'** शब्द का निर्वचन करते हुए ऋषियों नें **'यदप्रथयत्–सा पृथिवी'** यह कहा है। यह प्रथन फैलाव है। भूपिण्ड का फैलाव नहीं होता, अपि तु पिण्डस्थ प्राणाग्नि का ही फैलाव होता है। वही **'अप्रथयत्'** का अधिकारी है। अतः हम इसे ही **पृथिवी**, किंवा **पृथिवीका स्वरूपसमर्पक** कर सकते हैं। **भूपिण्ड पिण्ड है**, एवं **पृथिवी मण्डल है**। **भूपिण्ड भूतप्रधान है**, एवं **पृथिवीमण्डल प्राणप्रधान है**।

जो प्राणाग्नि भूपिण्ड के केन्द्र से निकल कर भूपिण्ड के पृष्ठ पर्य्यन्त व्याप्त है, उसे तो भूपिण्ड में ही अन्तर्भूत मान लीजिए, एवं भूपृष्ठ से आगे चलिए। पृष्ठ से परिधि पर्य्यन्त व्याप्त इस प्राणाग्नि की **घन–तरल–विरल**–ये तीन अवस्थाएं होजातीं हैं। जहाँतक घन अग्नि रहता है, वह प्रदेश **वाङ्मयस्तोम** की अपेक्षा से **त्रिवृत्स्तोम** कहलाता है। इस में **अग्नि की घनावस्था**, किंवा **घनावस्थापन्न प्राणाग्नि** प्रतिष्ठित रहता है। जहाँतक तरल अग्नि व्याप्त रहता है, वह प्रदेश **पञ्चदशस्तोम** नाम से व्यहृत होता है। एवं जिस प्रदेश में विरल-अग्नि प्रतिष्ठित रहता है, वह **एकविंशस्तोम** कहलाता है। इसप्रकार उस पृथिवी-

मण्डल में त्रिवृत , पञ्चदश, एकविंश, ये तीन स्वतन्त्र प्रदेश बन जाते हैं । इसी आधार पर तो—'**एकं सत् त्रेधात्मानं व्याकुरुत**' यह कहा जाता है । त्रिवृत्प्रदेश में अग्नि स्वस्वरूप से विकसित है । अग्नि को '**भूस्थान**' कहा जाता है । अतएव इस त्रिवृत्स्तोमरूप घनाग्निलोक को ( उस '**महापृथिवी**' में अन्तर्भुक्त ) '**पृथिवीलोक**' कहा जाता है । ६ से १५ पर्य्यन्त के पञ्चदशस्तोम में अग्नि तरल बनकर वायुरूप में परिणत होजाता है । वायु के सम्बन्ध से यह प्रदेश '**अन्तरिक्ष**' नाम से व्यवहृत होता है । १५ से २१-पर्य्यन्त का एकविंशस्तोमात्मक प्रदेश विरल अग्निरूप आदित्य की प्रतिष्ठाभूमि होने से '**द्यु लोक**' कहलाता है ।

तात्पर्य्य इसका यही हैं, कि पार्थिव अग्नि ज्यों ज्यों ऊपर बढ़ता है, त्यों त्यों वह सूक्ष्म होता जाता है । इसी का तो नाम वितान है । भूपिण्ड से २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य है । उस स्थान पर पहुँच कर यह आङ्गिरस अग्नि सौर आदित्यधर्म्मों से संश्लिष्ट होकर स्वयं भी आदित्यरूप ही बन जाता है । जिस पर आप बैठे हैं, वह 'भू' है । सूर्य्यपिण्ड '**स्व**' है । भूपिण्ड, एवं सूर्य्यपिण्ड का अन्तराल प्रदेश 'भुवः' है । 'भू' **चित्याग्निमय है । अन्तरिक्ष मरुद्वायुमय है । एवं सूर्य्यपिण्ड सावित्राग्निरूप आदित्यमय है ।** इस त्रिलोकी को **रुद्राग्नि के** सम्बन्ध से '**रोदसी**' नाम से व्यवहृत किया जाता है । प्रकृत में इस त्रिलोकी का कोई सम्बन्ध नहीं है । अपितु रोदसी त्रिलोकी का जो एक भूपिण्डात्मक भूलोक है, उसमें प्रतिष्ठित जो पार्थिव अङ्गिराप्राण है, उसी के वितान से रोदसी त्रिलोकी से अपनी सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली जो **स्तोम्यत्रिलोकी है,** उसीका यहाँ सम्बन्ध है ।

**स्तौम्यत्रिलोकी एक महापृथिवी है** । इस महापृथिवी के गर्भ में **त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश-**भेद से तीन लोक हैं । जहाँ रोदसी–त्रैलोक्य के लोक **भूः भुवः स्वः** इन नामों से व्यवहृत होते हैं, वहाँ इस **स्तौम्यत्रिलोकी** के तीनों लोक **पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं । इस सर्वथा विभक्त लोक-व्यवस्था के रहस्य को न जानकर अज्ञ मनुष्य **भू आदि का पृथिवी आदि** के साथ परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध समझा करते हैं । यदि **द्यु**-और **स्वः**-एक ही वस्तु होती, तो—'**दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः**' यह कैसे कहा जाता ? । प्रकृत विषय यही है कि, स्तौम्य–त्रलोकी एक महापृथिवी है । इसका आधार भूपिण्ड है । भूपिण्ड का केन्द्रस्थ आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है । यह आत्मवाक् जहाँतक जाता है, वह मण्डल '**वषट्कार**' कहलाता है । वाक् गौतत्त्व है । ये सहस्र है ।

३०-३० गौ का एक एक अहर्गण होने से ३३ अहर्गण होजाते हैं । अवशिष्ट १० वाँ चतुस्त्रिंश प्रजापति है । इनमें ३ अहर्गणों का भोग तो पिण्डस्थ प्राण में होजाता है । शेष ३० अहर्गण भूपृष्ठ से मण्डल की परिधि पर्य्यन्त व्याप्त हैं । भूपिण्डस्थ तीन अहर्गणों में ६ के योग से त्रिवृत् (९),–६ के योग से पञ्चदश (१५), पुनः ६ के योग से एकविंश (२१), पुनः ६ के योग से त्रिणव (२७), पुनः ६ के योग से त्रयस्त्रिंश (३३) स्तोम का स्वरूप निष्पन्न होता है । पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य है । अभी वाङ्मयी पृथिवी के ११ अहर्गण अवशिष्ट हैं । अङ्गिराप्राण के सम्बन्ध से जहाँ पृथिवी की सत्ता २१ पर्य्यन्त(सूर्य्य पर्य्यन्त) मानी जाती है, वहाँ इस वषट्कार के सम्बन्ध से पृथिवी की सत्ता सूर्य्य से भी ऊपर पर्य्यन्त मानी जाती है । तभी तो पुराण का—'**पृथिवी के पुष्करद्वीप में सूर्य्य है**' यह कहना अन्वर्थ बन जाता है ।

सूर्य्य को—'असौ वा आदित्य एष रथः' (शत० ६।४।१।१५) के अनुसार 'रथ' कहा जाता है। पार्थिवसाम उपर्य्युक्त कथनानुसार इस 'सूर्य्यरथ' का भी तरण कहा जाता है। अतएव इस पार्थिवसाम को 'रथन्तर' साम कहा जाता है। जहाँतक इस रथन्तर की सीमा है, वहाँतक हमारी 'सागरम्बरा' पृथिवी है। २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त प्राणाग्निस्तर है। एवं ३३ पर्य्यन्त आपःस्तर है। तीसरा वेदमय वाक्स्तर गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-भावापन्न 'छन्दोमा' नाम के युग्मस्तोमों के सम्बन्ध से ४८ पर्य्यन्त जाता है। इसे ही विज्ञानभाषा में 'पारावतपृष्ठ' कहा जाता है। इसे अप्राकृत समझकर छोड़ दिया गया है। इसप्रकार 'सागराम्बरा पृथिवी में क्रमशः त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-त्रयस्त्रिंश इन चार स्तोमभेदों से क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः, ये चार लोक होजाते हैं। इन चारों में क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, वरुण, ये चार देवता प्रतिष्ठित हैं। घनाग्नि घनता के तारतम्य से आठ भागों में विभक्त है, ये ही आठ वसु हैं। तरलाग्नि (वायु) तरलता के तारतम्य से ११ भागों में विभक्त है, ये ही ११ रुद्र हैं। विरलाग्नि विरलता के तारतम्य से १२ भागों में विभक्त है। ये ही १२ आदित्य हैं। इन तीनों विभिन्न प्राणों के संयोजक नासत्य-दस्र नाम के दो प्राण सान्ध्य ( त्रिवृत् पञ्चदश की, एवं पञ्चदश–एकविंश की सन्धि में रहने वाले) और हैं। इसप्रकार सम्भूय ३३ प्राण होजाते हैं।

एक ही अग्नि अग्नि–वायु–आदित्य बना। ये ही तीनों अवस्थातारतम्य से ३३ होगए। इसलिए हम कह सकते हैं कि, सम्पूर्ण देवविवर्त्त एकमात्र अग्नि में ही अन्तर्भूत है। प्राणाग्नि को पकड़ लीजिए, ३३ सों देवता गृहीत होजायँगे। यही कारण है कि, वायु–इन्द्र–वरुण–नासत्य-दस्र–आदि सभी देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दे दी जाती है। अग्नि स्वविशकलनधर्म्म से सब में तत्तदाहुतिभागों को विभक्त कर तत्तदेवताओं में पहुँचा देते हैं। इसी विज्ञान के आधार पर 'अग्निः सर्वा देवताः–'अग्निमुखा वै देवाः' 'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' इत्यादि कहा जाता है। भूपृष्ठ से संलग्न रह कर (२१) एकविंश–स्तोम पर्य्यन्त व्याप्त, दूसरे शब्दों में त्रैलोक्य में व्याप्त ३३ भागों में विभक्त इस आग्नेय प्राण ही का नाम ('देव' नामक) देवता है। इस प्राणाग्नि में सोमाहुति होरही है। इसी सोमाहुति का नाम यज्ञ है। त्रैलोक्यरूपा महापृथिवी वेदि है। इस पर देवता यज्ञवितान कर रहे हैं। अग्नीषोमात्मक इसी प्राकृतिक नित्य यज्ञ से प्रजा की रक्षा होरही है, उत्पत्ति होरही है। उपर्य्युक्त इहीं ३३ यज्ञिय देवताओं का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

**इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशश्च।**
**मनोर्देवा यज्ञियासः ॥**

—ऋक् ८।३०।२।

उक्त ३३ सों देवताओं का विकासस्थान वही भूकेन्द्रस्थ उक्थरूप प्राणाग्निरूप, अथर्वसंहितादि में 'स्कम्भ' नाम से प्रसिद्ध, दैनंदिनगतिका प्रेरक बनता हुआ, तद्द्वारा अहोरात्र का सम्पादक बनता हुआ, भूपिण्ड की उत्तर दक्षिण की अन्तिम सीमा में प्रतिष्ठित होकर क्रमशः सुमेरु, कुमेरु, नाम से प्रसिद्ध होता हुआ, उत्तरदक्षिणध्रुवकीलक से नित्य बद्ध रहकर अपने स्थान में ही घूमता हुआ, २४ अंश के व्यासार्द्ध से वृत्त बनाकर ४८ अंश के परिसर ( घेर ) में व्याप्त रहता हुआ, अश्वपशु का प्रवर्त्तक 'अक्ष' नाम से प्रसिद्ध 'प्रजापति' ही इन ३३ प्राणदेवताओं का प्रजनयिता है। इसी उक्थ से अर्करूप ३३ देवता क्रमशः वितत

होते हुए २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त होरहे हैं । अतः इन देवताओं को हम अवश्य ही **'प्राजापत्य' (प्रजापति की सन्तान–प्रजापतिप्राण के संतनन रूप)** कह सकते हैं ।

२१ वें अहर्गण के ऊपर हमने **आपोलोक** बतलाया है । इसमें प्रधानरूप से संवरणधर्म्मा **वरुण–देवता** का साम्राज्य है । अग्निप्राण विकासशील है, तो यह वरुण संकोचशील है । ग्रन्थि खोलना प्राणाग्नि का जहाँ स्वरूपधर्म्म है, वहाँ ग्रन्थि लगा देना वरुण का स्वाभाविक कर्म्म है । इसी वरुणमण्डल में भृगु का विकास होता है । **'विभ्राणः सन् गच्छति'** के अनुसार जो तत्त्व अपने संकोचधर्म्म से वस्तु को अपने उदर में बद्ध करता हुआ चलता है, वही **'भृद्गु'** कहलाता है । **'भृद्गु'** ही देवताओं की परोक्षभाषा में **'भृगु'** नाम से प्रसिद्ध है । अङ्गिरा जहाँ उत्तरोत्तर **रसनधर्म्मा** (**विश्ल'शनशील**) था, वहाँ यह भृगु उत्तरोत्तर संगठनधर्म्मा है । वारुण मण्डल में हीं इसका विकास रहता है । अतएव इसके लिए **'भृगुर्वै वारुणिः'** यह कहा जाता है । जिसप्रकार प्राणाग्निरूप अङ्गिराग्नि की घन, तरल, विरल, ये तीन अवस्थाएं हैं, एवं वे ही तीनों अवस्थाएँ जैसे **अग्नि वायु, आदित्य,** इन तीन नामों से प्रसिद्ध हैं, ठीक इसी प्रकार इस संकोचधर्म्मा भृगु की भी तथोक्त तीन अवस्थाएँ हैं । इन्हीं तीनों अवस्थाओं को क्रमशः **आपः–वायुः–सोमः–** इन नामों से व्यवहृत किया जाता है ।

उक्त अवस्थाओं के कारण तीनों तत्त्व सर्वथा पृथक् पृथक् नाम-रूप-कर्म्म वाले बन जाते हैं । **आपो–भाग में असुरप्राण प्रतिष्ठित रहता है, वायु में गन्धर्वप्राण की सत्ता है, एवं सोम में पितरप्राण रहता है** । दूसरे शब्दों में-**आप्यप्राण, वायव्यप्राण, सौम्यप्राण** ही क्रमशः **असुर, गन्धर्व, एवं पितर** हैं । ये तीनों **सहजन्मा** हैं । अतएव तीनों प्राणों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रहता है । यही कारण है कि, जहाँ आप्यप्राण को प्रधानरूप से **'असुर'** माना जाता है, वहाँ वायुगत आप्यप्राण के लिए—**'अन्तरिक्षं वा अनुरक्षश्चरति अमूलमुभयतः परिच्छिन्नम'** यह कहा जाता है। आन्तरिक्ष्य वारुणवायु में आसुरप्राण प्रविष्ट रहता है, यह पहिले ही कहा जाचुका है । सहजन्मा सोम भी ( पितर भी ) इससे असंसृष्ट नहीं है । अतएव जबतक सोम आपोमण्डल में रहता है, जबतक यह भी **'वृत्र असुर'** ही कहलाता है ।

इसप्रकार आपोरूप भृगु की तीन अवस्थाओं से असुर तीन भागों में विभक्त होजाता है । प्रत्येक आङ्गिरस देवता के साथ आंशिकरूप से त्रिधा विभक्त इस आप्य असुरप्राण का सम्बन्ध रहता है । देवता ३३ हैं । प्रत्येक में तीन तीन असुर हैं । इसप्रकार देवताओं की अपेक्षा ये त्रिगुणित ( तिगुने ९९) होजाते हैं । ये असुर जब भी त्रैलोक्य में आक्रमण करते हैं, सर्वत्र अन्धकार होजाता है । रात्रि में वारुणप्राण का पूर्ण विकास है । अतएव रात्रि को **'वारुणी'** कहा जाता है । रात्रि वरुण के सम्बन्ध से ही असुरों की अवासभूमि है । इसके आगमन से अहःकालाधिष्ठाता ज्योतिर्म्मय देवता सर्वथा पराभूत होजाते हैं ।

होता क्या है, इन्द्र **दध्यङ् अथर्वा** की अस्थि का वज्र बना कर इन ९९ असुरों को नष्ट कर देते हैं । **'अथर्वा'** पारमेष्ठ्य तत्त्व है । इसी को आपोमय मण्डल कहा जाता है । आपः की अवस्था–विशेष को ही **'सोम'** बतलाया गया है । इस सोम की **वृत्र, इन्दु, पवमान, अप्तु,** आदि १० प्रधान जातियाँ हैं । इन दसों मे जो एक 'वृत्र' नाम का सोम है, उस की **ध्रुव, धर्त्र, धरुण, धर्म्म,** ये चार अवस्थाएँ हैं । भूपिण्ड, पत्थर, एवं और और घनद्रव्यों में रहने वाला घनतासम्पादक वृत्रसोम **'ध्रुव'** है । इसीको **'अश्मासोम'** भी

कहा जाता है। पानी, घृत, तैल, आदि तरल पदार्थों में रहने वाला तरलतासम्पादक वृत्रसोम 'धर्त्र' नाम से व्यवहृत होता है। वायु, स्प्रीट, ईथर, प्राण आदि विरल पदार्थों में रहने वाला विरलता-सम्पादक सोम 'धरुण' नाम से व्यवहृत होता है, एवं रूपादि गुणों में रहने वाला गुणभाव-सम्पादक वृत्रसोम 'धर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है।

वैदिक-परिभाषा में घन, तरल, विरल-भाव के लिए क्रमशः दधि, घृत, मधु, ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, में क्रमश घनाग्नि, तरलाग्नि, विरलाग्नि प्रतिष्ठित हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर इन तीनों के लिए—'दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्व-मुष्य' ( शत० ७ कां० कूर्मचितिब्राह्मण ) यह कहा जाता है। बतलाना यही है कि, 'दधि' शब्द 'घनभाव' का वाचक है। उधर पूर्वोक्त चतुर्विध वृत्रसोमों में घनता-सम्पादक अश्मासोम है। अतएव हम इसे इस घनत्त्वभाव के कारण अवश्य ही 'दधि' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। हमारे शरीर में अस्थि (हड्डी) का निर्म्माण इसी दधि नामक अश्मासोम से होता है। पत्थर में जो आप घनता देखते हैं, वह इसी अश्मासोम की कृपा है। इसप्रकार इस घनता से इस घनसोम को हम दधि, अस्थि, अश्मा आदि सभी नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। यह दधिसोम भौतिक है। भूत की प्रतिष्ठा प्राण है। प्राण की विकासभूमि भत है। जो पारमेष्ठ्य अथर्वाप्राण स्वविकास के लिए इस अस्थिरूप दधिसोम ( अश्मासोम ) की याञ्चा करता है, अपेक्षा रखता है, दूसरे शब्दों में जो प्राण इस अश्मासोम से युक्त रहता है, वही—'दधिसोमञ्चते अपेक्षते' इस व्युत्पत्ति से 'दध्यङ्' नाम से प्रसिद्ध है। प्राण को ही 'प्राणा वा ऋषयः' इस सामान्य परिभाषा के अनुसार 'ऋषि' कहा जाता है। अतएव अश्मासोमय इस आथर्वणप्राण को 'दध्यङ्-ऋषि' कहा जाता है। पुराणपरिभाषा में यही ऋषि 'दधीचि' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। साथ ही आपको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, जो मनुष्यऋषि जिस प्राण-ऋषि का प्रथमद्रष्टा होता है, वह अपने जन्मनाम से प्रसिद्ध न होकर उस मौलिक ऋषिप्राण के नाम से ही प्रसिद्ध होता है। इसी पौराणिकी सामान्य-परिभाषा के आधार पर जिस ऋषिने सर्वप्रथम इस दधीचि प्राणर्षि का प्रत्यक्ष किया था वह, और उसके वंशधर भी 'दधीचि' नाम से ही प्रसिद्ध हुए। दधीचि ऋषि के आत्मा में इसी दध्यङ् प्राण की प्रधानता थी। गोत्रसृष्टिविज्ञान * के अनुसार दधीचि ऋषि ही सुप्रसिद्ध 'दाहिमा ( दाधीच )' नाम की ब्राह्मणजाति की मूलप्रतिष्ठा है। दधीचि ऋषिप्राणकृतात्मा 'दधीचि' नाम के मनुष्य-ऋषि इस जाति के मूलपुरुष थे। इसी वंशपरम्परा से यह प्राण और और ब्राह्मणजातियों की अपेक्षा इस जाति में प्रधानरूप से विकसित रहता है। दधीचितत्त्व अश्मासोम के सम्बन्ध से अभेद्य है। और तो और, आसुरप्राण भी यहाँ आके सर्वथा परास्त होजाता है, जैसा कि अनुपद में ही पाठक देखेंगे।

इस प्राण में 'मृदुता' का सर्वथा अभाव है। यह प्राण अत्यन्त ही वक्र है। इस पर किसी का आघात सम्भव नहीं है। जिस प्रकार वसिष्ठादि प्राण मृदुभाव--सौहार्द आदि ऋजुधर्म्मों का विकास करते हैं, ठीक इसके विपरीत यह प्राण जिसके भी आत्मा में प्रधानरूप से विकसित रहता है, वह नरश्रेष्ठ मृदुभाव-सौहार्द-ऋजुता-आदि विभूतियों से तटस्थ ही बन जाया करता है।

---

* ऋषिप्राण किस क्रम से गोत्रसृष्टि करते हैं?, सगोत्रों में विवाह-सम्बन्ध क्यों नहीं होता?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए 'ऋषिस्वरूपपरिचय' नामक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखना चाहिए।

प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना था कि, परमेष्ठी अथर्वा में प्रतिष्ठित रहने वाला दध्यङ्सोम साक्षात् वज्र है। इस अस्थिसोम को वज्र बनाकर ही इन्द्र उन तमोमय रात्रिगत ९९ असुरों को नष्ट कर डालते हैं। वस्तुस्थिति यही है कि, यह अश्मासोम दाह्य है। उधर सौर सावित्राग्नि दाहक है। इस अश्मासोम की सौर अग्नि में आहुत होती है। २५ वें अहर्गण पर 'सौम्यविद्युत्' प्रतिष्ठित है। विद्युत् इन्द्र है। इसके आकर्षण से आकर्षित वह अश्मासोम सौराग्नि में आहुत होता है। सोम का अग्नि में आहुत होना हीं सौम्य-विद्युत् का असुरों पर वज्र प्रहार करना है। क्योंकि सोमाहुति के अव्यवहितोत्तरकाल में ही 'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ' इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वत्र प्रकाश होजाता है। इसप्रकार रूपाधिष्ठाता इन्द्र की कृपा से ९९ असुर नष्ट होजाते हैं। सर्वत्र प्रकाशमय ३३ देव-देवताओं का साम्राज्य होजाता है। अहोरात्र के सम्बन्ध से यह कौतुक प्रतिदिन हुआ करता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है—

**इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।**
**जघान नवतीर्नव ॥**

—ऋक् सं० १मं० ८४ सू० १३ म०

जिस प्रकार ३३ आग्नेय देवता भूपिण्डकेन्द्रस्थ प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं, एवमेव इन ९९ असुरों की मूलप्रतिष्ठा भी वही नभ्यप्रजापति है। भूपिण्ड का निर्म्माण अप्तत्त्व, और अग्नि से हुआ है, यह प्रकरण के आरम्भ में हीं कहा जाचुका है। यह आप: भृगु है, एवं अग्नि अङ्गिरा है। नभ्यप्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं। कामना के अनन्तर वे तदनुकूल तप करते हैं। यह तप इन्हीं दोनों से सम्बन्ध रखता है। **'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'** के अनुसार प्रजापति का तप ( प्राणव्यापार ) भृगु, अङ्गिरात्मक है। वे इन्हीं पर व्यापार करते हैं। इस व्यापार से पानी का **स्नेहधर्म्म**, एवं अग्नि का **तेजोधर्म्म**, पानी का **शीतभाव** एवं अग्नि का **उष्णभाव** ( रासायनिक संयोग से ) प्रतिमूर्च्छित होजाता है। फलत: **अनुष्णाशीत** भूपिण्ड का निर्म्माण होजाता है। भूपिण्ड में दोनों की सत्ता है। **इनमें आग्नेयप्राण का विकास जैसे देवता है**, तथैव **आप्य भार्गवप्राण** का विकास पूर्वकथनानुसार **असुर है**। दोनों प्राजापत्य हैं।

जैसे भूपिण्ड के केन्द्र से विनिर्गत ३३ विध अङ्गिराप्राण व्याप्त होता है, एवमेव देवप्राण के साथ साथ ही भूकेन्द्र से विनिर्गत विरोधी असुर भी त्रैलोक्य पर आक्रमण करते हैं। आग्नेय प्राण ऊर्ध्वगामी होता है। **'प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुज:'** यह सभी जानते हैं। अत: इनका ( देवताओं का ) बल ऊपर जाते समय अधिक रहता है। पानी निम्नगा है। अत: केन्द्राघात से प्रक्षिप्त होता हुआ भी आप्यप्राण कठिनता से ऊपर चढ़ता है। चढ़ता अवश्य है, इसीलिए तो श्रुतिने दोनों की स्पर्द्धा बतलाई है। परन्तु इस चढ़ने में आग्नेय प्राण ( देवता ) प्रबल है, इसलिए **'देवता असुरों को जीतते रहते थे'** यह भी कहा है। भूसृष्टिकाल की इस आरम्भिक स्थिति का ही निरूपण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

**देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ते ह स्म यद्देवा असुरान् जयन्ति, ततो हस्मैवैनान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति ॥८॥**

जिस समय भूसृष्टि का आरम्भकाल था, जिस समय भूपिण्ड, एवं महापृथिवी का निर्माण हुआ था, उस समय की स्थिति को लक्ष्य में रखकर ही--'देवाश्च ह वा' इत्यादि कहा गया है। सचमुच उस समय तो देवता असुरों को निकालते रहते थे। और वे पुनः पुनः आक्रमण किया करते थे। परन्तु आज यह बात नहीं है। आज देवताओंने उत्तर भाग में अग्नि को प्रतिष्ठित कर दिया है। अतः आज असुर सर्वथा परास्त होगए हैं। आज ये असुर त्रैलोक्य से निकल कर अपने आपोमय चतुर्थलोक में हीं चले गए हैं। तात्पर्य्य इसका यही है कि, प्रत्येक वर्त्तुलवृत्त में, किंवा पिण्ड में **केन्द्र, प्रधि ( परिधि )**, ये दो भाग रहते हैं। केन्द्र तद्वृत्त की मूलप्रतिष्ठा मानी जाती है। इस केन्द्रबिन्दु को ही विज्ञानभाषा में **'उत्तर'** कहा जाता है।

यह हम पूर्व में बतला चुके हैं कि, **ऊँचा-नीचा**, यह व्यवहार **उत्तर--दक्षिण** नाम से प्रसिद्ध है। प्रधि की प्रत्येक बिन्दु से सर्वोन्नत स्थान 'हृदय' ही है। अतएव **'ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखः०'** इत्यादिरूप से इस 'हृदय' को ही 'ऊर्ध्व' कहा जाता है। हृदय से परिधि की प्रतिबिन्दु नीची मानी जाती है। **हृदयबिन्दु उत्तर है, एवं परिधिभाग दक्षिण है**। यहाँ भी आप इन दोनों का सम्बन्ध देख रहे हैं। देवप्राण २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त हैं। अतः इनकी अपेक्षा यहीं तक एक अग्नि की परिधि माननी पड़ेगी। भूकेन्द्र से किकलने वाला देवतामय प्राणाग्नि २१ पर्य्यन्त अपना एक मण्डल बनाता है। मण्डल का २१ वाँ स्थान परिधि का प्रवर्त्तक है। भूपिण्ड को केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हुए २१ वें अहर्गण से उस पिण्ड के चारों ओर एक वृत्त बना दीजिए, यही वृत्तसीमा इस प्राणाग्निमण्डल की परिधि बनेगी। उक्त परिभाषानुसार **यही परिधि 'दक्षिणा-दिक्' है, एवं भूकेन्द्र उत्तरा दिक् है**। इसमें वही **'अग्निप्रजापति'** प्रतिष्ठित है। आग्नेय प्राणदेवता सृष्टिविकासक्रम से जिस दिन इस उत्तरस्थ ( केन्द्रस्थ ) अग्निबल को अपनाते हुए स्वयं दक्षिणरूप परिधि पर्य्यन्त व्याप्त होगए, उसी दिन से असुर सर्वथा **'अनपजय्य'** बन गए।

बात यह हुई कि, केन्द्रस्थ प्राजापत्याग्नि के परिभ्रमण से भूपिण्ड घूमने लगा। इस स्वाक्षपरिभ्रमण से सूर्य्याकर्षण के द्वारा भूमण्डल सूर्य्य के अनुगत होता हुआ सम्वत्सर के साथ युक्त होगया। सम्वत्सर-मण्डल में कभी असुर प्रविष्ट नहीं होते। इसप्रकार अग्नि की कृपा से सम्वत्सरभोग्या बनती हुई त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा महापृथिवी आपोमय असुरों से सर्वथा ही पृथक् होगई। देवव्याप्ति भूकेन्द्र से चारों ओर २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त होगई, इसके ऊपर ३३ पर्य्यन्त आपोमय असुरों की व्याप्ति होगई। असुर, और देवताओं की आवासभूमि सर्वथा पृथक् होगई। यही चौथा आपोमय मण्डल **'व्रजधाम'** कहलाता है। इसे ही साम-वेद की परिभाषा के अनुसार **'गोसव'** कहा जाता है। पुराणपरिभाषानुसार यही **'गोलोक'** नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए प्रकृतब्राह्मण में **'गोष्ठान'** शब्द प्रयुक्त हुआ है।

आज भी गोस्थान ( जहाँ गाएँ रहतीं हैं) **'गाय का ठान'** नाम से प्रसिद्ध है। **गोस्थान ही गोष्ठान** है। इसी को **वैष्णवधाम** कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि, **'पञ्चप्रकृतिविज्ञान'** के अनुसार **स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी**, विश्व के इन पाँचों पर्वों में क्रमशः **प्राण-आपः-वाक्-अन्न-अन्नाद**, ये पाँच प्रकृतियाँ प्रतिष्ठित रहतीं हैं। इनके आधार पर क्रमशः **ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि** ये पाँच देवता उक्त पाँचों पर्वों में प्रतिष्ठित रहते हैं। इस सृष्टिक्रमानुसार **आपोमय परमेष्ठी में विष्णु** का साम्रा-

ज्य है। इसी में इडा-ऊर्क्-गौः ये तीन तत्त्व उत्पन्न होते हैं। विश्व के यच्चयावत् भूतों को उत्पन्न करने वाले अव्ययपुरुष के मनः-प्राण-वाक् से अनुगृहीत, जीवनीय--सोमरसमूर्त्ति पारमेष्ठ्यतत्त्व को ही 'गौ' कहा जाता है। इसकी जन्मभूमि यही विष्णुधाम है, एवं सञ्चरणभूमि **'सौरत्रिलोकी'** है। इस गौतत्त्व का सर्वप्रथम इस सूर्य्य में ही रश्मिरूप से विकास होता है। अतएव **'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः'** इत्यादिरूप से सूर्य्य को भी **'गौ'** कहा जाता है। सूर्य्य में आकर यह पारमेष्ठ्य गौतत्त्व सहस्रधा-विभक्त होजाता है। इसी गौसाहस्री के सम्बन्ध से सूर्य्य को—**'सहस्रदीधिति'-'सहस्रांशु'** इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। **गौ रहती है अपने ठान में, विचरती है सर्वत्र।** परमेष्ठी इनका ठान (स्थान) **है,** सम्पूर्ण सौर ब्रह्माण्ड इनके पर्य्यटन का स्थान है।

त्रैलोक्य में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो बिना इस पारमेष्ठ्य गौतत्त्व को आधार बनाए अपनी स्थिति रख सके। गौतत्त्व के इसी धर्म्म को लक्ष्य में रखकर **'गौर्वा इदं सर्वं बिभर्त्ति'** ( श० ब्रा० ५।१।२।१४।) यह कहा जाता है। न केवल भूत ही, अपितु देवता भी इस गौतत्त्व के आधार पर ही जीवित हैं। गौ को **वैश्वदेवी** कहा जाता है। ( देखिए गोपथ ब्रा० उ० ३।१६ )। गौ देवताओं का मनोता है [ कौ० ब्रा० १०।६। ]। पारमेष्ठ्य सोम की अजस्रधारा इसी से सूर्य्य में आती है [ श० ७।५।२।१६] । उसका आगमन सहस्रधाराओं से होता है। इसके उत्स [थन] से सोम की हजार धाराएँ निकलतीं हैं [ श० ७।५।२। ३४। ]। गौ के द्वारा आहुत सोम से देवता बलवान् बने, ज्योतिर्मय बने। इसी बल से पूर्वोक्त देवताओंनें असुरों का नाश किया। इसी अभिप्राय से ताण्ड्यश्रुति कहती है—

**'यद्वै तद्देवा असुरानेभ्यो लोकेभ्यो गोवय स्तद्गोर्गोत्त्वम्'**

--ता० ब्रा० १६।२।३।

परमेष्ठी से चलकर इस प्राण का प्रथम विकास सूर्य्य में होता है। यहाँ आते ही यह सहस्रधा विभक्त होजाती है। सहस्रधा विभक्त इस गौतत्त्व का हमारी पूर्वोक्ता स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी के साथ सम्बन्ध होता है। स्तौम्यत्रिलोकी में हमनें क्रमशः **अग्निज्येष्ठ ८ वसु, वायुज्येष्ठ ११ रुद्र, एवं आदित्य ( इन्द्र) ज्येष्ठ १२ रुद्रों** की सत्ता बतलाई है। इन तीनों देवताओं में क्रमशः ३३३-३३३-३३३-इस क्रम से गौतत्त्व प्रतिष्ठित होजाता है। **१ गौ बच जाती है।** इसी को 'कामगवी' कहा जाता है। **पार्थिव वसुदेवतामयी ३३३ गौ पार्थिवसम्पत्ति की अधिष्ठात्री है। आन्तरिक्ष्य रुद्रदेवतामयी ३३३ गौ आन्तरिक्ष्यफल की अधिष्ठात्री है, एवं दिव्य आदित्यमयी ३३३ गौ केवल दिव्यफल की ही अधिष्ठात्री है। परन्तु यह कामगवी त्रैलोक्य में अधिष्ठानरूप से व्याप्त होती हुई त्रैलोक्य की सम्पत्ति देने की शक्ति रखती है।**

**९९९ गौ ऋतभावापन्न हैं, एवं कामगवी सत्यभावोपेता है।** प्रत्येक अहोरात्र में [ दिनरात में-२४ घन्टे में ] इन हजारों गौओं का प्रत्येक प्राणी के साथ-[पार्थिवपरिभ्रमण के द्वारा ] भोग होता है। जिस समय प्राणी के आत्मा में **'कामगवी'** नाम की सत्य गौ का भोग होता है, उस समय इसके मुख से जो कुछ निकल जाता है। वह अवश्य ही सत्य होजाता है। कामगवी की इसी सत्यशक्ति को लक्ष्य में रखकर ऋषियों नें आदेश दिया है कि-**'शुभं ब्रूयात्-शुभं ब्रूयात्'**। तुम सदा शुभ बोलो, कभी मुख से बुरे शब्द न

निकालो । यदि तुम किसी समय अशुभ बोलोगे, और दुर्भाग्य से उस समय यदि तुह्मारे आत्मा में कामगवी का भोग होरहा होगा, तो तुह्मारा कहना सत्य होजायगा । इसी आधार पर आज भी लोक में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि. **'भाई थोड़ा सोच समझकर बोला करो'** । विदित नहीं, **किस समय तुह्मारे मुख से निकला हुआ सच ही होजाय'** । **'वह समय' यही कामगवी का भोगकाल है** । जो विद्वान् गौतत्त्व को पहिचानता हुआ इस कामगवी को अन्तर्य्याम--सम्बन्ध से सदा के लिए अपने आत्मा में प्रतिष्ठित कर लेता है, त्रैलोक्य की सम्पत्ति उसके लिए यथाकाम सुलभ हो जाती है । एवं यह गौतत्त्व का ज्ञाता विद्वान् जिस व्यक्ति के लिए जैसी भावना करता है, जिसके लिए इसके मुख से जैसे इष्ट अनिष्ट शब्द निकल जाते हैं, विश्वास कीजिए, उस व्यक्ति के लिए वैसा ही होजाता है ।

यही कामगवी पुराणपरिभाषानुसार **'कामधेनु'** नाम से प्रसिद्ध है । इसका फल पूर्णानन्द है । अतएव **'नन्दिनी ( आनन्दमयी ) वृत्ति' को कामधेनु की पुत्री माना जाता है** । जिस गौपशु में इस प्राणात्मिका कामधेनु की पूर्ण प्रधानता रहती है, वह पशु भी **'कामधेनु'** नाम से ही व्यवहृत होता है । जिसमें अल्पमात्रा में इसकी वृत्तियों का विकास होता है, वह **'नन्दिनी'** कहलाती है । दुःख है कि, आज **कामधेनु**, और **नन्दिनी**, दोनों प्रकार की गौजातियाँ देश के दुर्भाग्य से उच्छिन्न होगई हैं । जो शक्ति, जो कर्म्म, जो फल उस प्राणरूपा कामधेनु-नन्दिनी का है, वही कर्म्म, वही फल तत्कृतात्मा इन प्राणी पशुरूप कामधेनु-नन्दिनी जाति वाली गायों से होता था । इसी कामधेनु के बल पर महर्षि वसिष्ठने राजर्षि विश्वामित्र को ससैन्य—सपरिवार क्षणमात्र में आतिथ्यभाव से आश्चर्य्यान्वित कर दिया था । इसी नन्दिनी गौ के अपराध से राजा दिलीप के वंशोच्छेद होने का उपक्रम होगया था । अन्त में गुरुवसिष्ठ के आदेश से जब नृपतिश्रेष्ठ दिलीप ने २१ दिन पर्य्यन्त की सतत पारचर्य्या से नन्दिनी को पुनः प्रसन्न कर लिया, तब कहीं सूर्य्यवंश बचा था ।

हमने बतलाया है कि, कामगवी के अतिरिक्त ३३३ क्रम से गौत्तत्त्व तीन देवताओं में विभक्त है। आदित्यरूप सूर्य्य की जन्मभूमि आपामेय परमेष्ठी है । **'तासु बीजमवासृजत्'** इस सर्वमान्य सिद्धान्त के अनुसार अब्गर्भ में प्रविष्ट **'बीजाग्नि'** ही कालान्तर में सूर्य्यरूप से विकसित होता है । जहाँ गौतत्त्व उत्पन्न हुआ है, वहीं यह **आदित्य** विकसित हुआ है । परमेष्ठी प्रजापति से ही अग्निमूर्त्ति, अतएव **'पुरुष'** नाम से व्यवहार करने योग्य आदित्य उत्पन्न हुआ है, एवं उसी आपोमय परमेष्ठी से सोममय, अतएव **'स्त्रीतत्त्व'** नाम से व्यवहार करने योग्य गौतत्त्व उत्पन्न हुआ है । **आदित्य, एवं गौ परमेष्ठी की कन्या, एवं पुत्र है** । दोनों भाई बहिन हैं । इनके समन्वय से, मेलजोल से, परस्पर के स्नेह से अग्नितत्त्व विकसित होता है । तापलक्षण अग्नि सौम्या गौ, एवं प्राणाग्निरूप आदित्य के सहयोग का ही फल है ।

अग्नितत्त्व ही **'अग्निर्वा रुद्रः'** के अनुसार रुद्र है । अतएव हम इस गौमत्त्व को रुद्रमाता मान सकते हैं । सौम्यत्रिलोकी की अपेक्षा पार्थिव **वस्वग्नि** इस गौतत्त्व की विकासभूमि माना जाता है । अतएव पृथिवी को भी **'गौ'** कहा जाता है । पृथिवीसंस्था में जो गौतत्व है, उस की मूलप्रतिष्ठा वस्वग्नि ही है । इसी भाव को प्रधान मानते हुए हम गौतत्व को वसुदेवताओं की कन्या कह सकते हैं । त्रैलोक्य में व्याप्त त्रिविध भावापन्न यह गौतत्त्व निरन्तर सोमरस की वर्षा किया करता है । इसी सोम (अमृत) से **'श्रद्धा'** उत्पन्न होती है । श्रद्धासोम ही पर्जन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणत होता है । वृष्टिरूप में परिणत सोम पार्थिवाग्नि में आहुत होकर ओषधि–वनस्पति का उत्पादक बनता है । यही ओषधिरस (अन्नरस) पुरुषाग्नि में आहुत

होकर रेतोरूप में परिणत होता है। यही रेत ( शुक्र ) स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित माङ्गलिक ( मङ्गलग्रह के आग्नेयरस से युक्त ) शोणिताग्नि में आहुत होकर अन्ततः प्रजारूप में परिणत होता है। इसप्रकार उस त्रैलोक्य-व्यापिनी सर्वदेवमयी प्राणमूर्ति गौ से निकलने वाला जीवनीय सोमरस ही उपर्युक्त क्रमानुसार आगे जाकर विश्वप्रजा की उत्पत्ति का कारण बनता÷ है।

वस्वग्निमयी पृथिवी **कृष्णप्राणमयी** है, इस की प्रधानता से लौह धातु का विकास होता है। रुद्राग्निमय अन्तरिक्ष श्वेतमूर्ति है। इस में पानी रहता है। पानी हीं रुद्रप्राण के सम्बन्ध से **रजतधातु** का उपादान बनता है। रुद्र ही द्रुत होकर **'रजत'** बनता है, अतएव रजतधातु की उत्पत्ति बतलाते हुए ब्राह्मणश्रुति ने रुद्र के अश्रुओं से रजत का विकास माना है। आदित्यमय द्युलोक हिरण्मय है, सुनहरी है, पीतभावयुक्त है। इन **कृष्ण-श्वेत-पीत** भावयुक्त तीन लोकों में भुक्त गौतत्त्व भी इन्हीं तीनों भावों से युक्त रहता है। साथही यह भी समझ लीजिए कि, जिस गौपशु में **पार्थिवप्राणगौ** की प्रधानता रहती है कि वह रँगमें काली होती है। जिस में आन्तरिक्ष्यगौ की प्रधानता रहती है, वह सफेद होती है। जिस में आदित्यप्राणगौ प्रधानरूप से विकसित रहती है, वह पीली होती है। जिस में तीनों गौभाव समानमात्रा से प्रतिष्ठित रहते हैं, वह चित्रविचित्रा अनेकवर्णा होती है। इसी विज्ञान के आधार पर धर्म्माचार्यों नें **दूग्ध पान के लिए कृष्णा गौ, दर्शन के लिए कपिला (सौरवर्णा) गौ, एवं दान में श्वेत गौ** का विधान किया है। हमारा गौपशु इसी नित्यप्राणगौ से उत्पन्न हुआ है *।

यद्यपि सभी पदार्थों में थोड़ा-बहुत गौप्राण विद्यमान है। परन्तु **गौपशु** तो इस की प्रधान विकासभूमि है। इसीलिए इसे 'गौ' नाम से ही व्यवहृत किया जाता है। जो धर्म्म हमने **प्राणगौ** के बतलाए हैं, वे सभी धर्म्म इन **प्राणी गौपशुओं*** में समझिए। **वह सोमरस की वृष्टि करती है, यह सोममय दुग्धामृत की नाभि है।** हितकर-जीवनीय-अमृततुल्य-बुद्धिवर्द्धक-दिव्यविभूति का विकासक **एकमात्र गायका ही** दूध है। इसीलिए सर्वश्री वाग्भट्ट ने दुग्ध के सामान्य गुण बतलाते हुए गौदुग्ध को सर्वोत्कृष्ट मानते हुए कहा है—

**स्वादु-पाकरसं-स्निग्ध-मोजस्यं-धातुवर्द्धनम्।**
**वातापित्तहरं-वृष्यं-श्लेशमलं-गुरुशीतलम्॥**
**प्रायः पयः............................ ।**
**.........तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्॥**

**अष्टाङ्गहृदय सू० स्था० द्रवद्रव्यविज्ञानीयाध्याय ५**

---

÷ इस विषय का विशद विवेचन 'छान्दोग्यहिन्दीविज्ञानभाष्य' के **'पञ्चाग्निविद्यारहस्य'** नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

* यह गौतत्त्व **इड़ा, उर्क्, गौ, विराट्, भोग** इन पाँच भागों में विभक्त है। इन पाँचों का ही संक्षिप्त स्वरूप पूर्व में अभिव्यक्त किया जाचुका है। प्रकृत गौ 'गौ' नाम की गौ है। यद्यपि इस का वहीं निरूपण होगया था, परन्तु विषय स्पष्ट करने के लिए पुनरुक्ति की उपेक्षा करदी गई है।

भारतीय अर्थशास्त्र के अनुसार तो समस्त राष्ट्र के '**अर्थ**' की मूलप्रतिष्ठा केवल '**गौवंश**' पर ही अवलम्बित है। जिस राष्ट्र का गौबल उच्छिन्न होजाता है, उस राष्ट्र का सर्वनाश निश्चित है। कृषि ही जीवनयात्रा का मुख्य आलम्बन है। कृषि की मूलभित्ति गौवंश है। **दधि–घृत-अन्न** सब कुछ इसी वंश पर अवलम्बित है। भारतीय ऋषियों की दृष्टि में तो यह पशु केवल ऐहलौकिक सम्पत्ति का ही कारण नहीं है, अपितु इस की आराधना उनकी दृष्टि में अन्तरात्मा को पवित्र बना कर हमें स्वर्गादि सुख का भी अधिकारी बना देती है। भौतिक विज्ञान का अनन्य उपासक आज का जड़जगत् भले ही ऋषियों की इस वास्तविक दृष्टि का मूल्य न समझे, किन्तु जिन्होंनें भूत में नित्य प्रविष्ट भूताधार प्राणतत्त्व की परीक्षा करली है, वे यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कर सकते कि, सचमुच गौपशु में वही नित्य गौप्राण प्रतिष्ठित है।

गौप्राण के द्वारा सचमुच सम्पूर्ण देवता इस गौपशुशरीर में विद्यमान हैं। सचमुच वही **गौरस (सोम)** इसके दुग्ध में **है**। इसकी सुश्रूषा से इसमें रहने वाला प्राण हमारे आत्मा में प्रविष्ट होगा, आत्मबल बढ़ेगा, पार्थिव-गुरुता नष्ट होगी। क्योंकि यह प्राण सूर्य्य में विकसित हुआ है। पार्थिव आकर्षण जहाँ गुरुता का कारण है, वहाँ सौर गौप्राणाकर्षण निर्भारत्त्व का प्रवर्त्तक है। तत्प्राणप्रधान–प्राणी पशु के द्वारा अवश्य ही यह प्राण हमारे आत्मा में प्रविष्ट होकर उसे पार्थिवाकर्षण से विमुक्त कर देता है। **प्राण**, एवं **प्राणीपशु** अभिन्न हैं। इसी अभिन्नभाव को लक्ष्य में रखकर, प्राण, एवं प्राणीपशु पर समानदृष्टि रखती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

**माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।**
**प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥**

—ऋक्सं० ६।७.८।

आपको यह जान कर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि, जब ऋषियों के सान्निध्य में समित्प्राणि–रूपेण कोई वेदाध्ययन करने जाता था, उस समय यदि ऋषि आगन्तुक में किसी प्रकार का दोष देखते थे, तो सर्वप्रथम वे उसे '**गौसेवा**' का ही आदेश देते थे। गौसेवा से जब उसका आत्मा गौप्राणप्रवेश से सर्वथा दोषमुक्त होजाता था, तभी वे उसे **आत्मविद्योपदेश** का अधिकारी समझते थे। इसी गौसेवा के प्रभाव से **सत्यकाम जाबाल** के अन्तरात्मा में अपने आप '**चतुष्पाद् ब्रह्म के ज्ञान**' का आविर्भाव होगया था। (छां० उप०)। मलिनता–निराकरण के लिए ही '**पञ्चगव्य**' का सेवन धर्म्माचार्य्यों नें आवश्यक बतलाया है। प्रत्येक आर्षमानव को यह आदेश है कि, वह नियमितरूप से गौ की परिचर्य्या करे। **गोमय–गोमूत्र** से अधिक संसार में और कौन पवित्र है ?। गौदुग्ध से अधिक बुद्धि, एवं बलवर्द्धक पदार्थ और कहाँ उपलब्ध होसकता है ?। जगन्माता गौ के **पुच्छप्राण** से बढ़ कर कौन अधिक पावन है ?। **दूध, घृत, अन्न, अन्नपरिपाक की सामग्री (कण्डे)**, इसप्रकार जीवनोपयोगी समग्र पदार्थ इस माता के अतिरिक्त हमें और कौन दे सकता है ?। प्रज्ञाशील के लिए गौ साधारण पशु नहीं, अपितु त्रैलोक्य की विभूति है। **इहलोक-परलोक**, उभयलोक की अभ्युदयकारिणी है।

केवल भौतिक जड़वादियों की दृष्टि में यह ऐहलौकिक सुख का साधन है। परन्तु अभिनिविष्ट मलिनान्तःकरण आसुरबुद्धि वाले मूर्खमनुष्यों की दृष्टि में यह एक अन्य पशुओं की भाँति साधारण पशु है। किस

की दृष्टि ठीक है ?, इसका निर्णय तो प्राणविज्ञान के पारदर्शी विद्वान् ही कर सकते हैं। प्राणपरीक्षक ही गौ के उपर्युक्त प्राणमहत्त्व को जान सकते हैं। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि ने 'प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय' यह कहा है। 'किमिदं वस्तुतत्त्वम् ?', इस रूप से पदार्थों की पूर्णपरीक्षा करने वाला ही 'चिकितुट्' कहलाता है। ऋषि कहते हैं कि, "जो गौपशु तुह्मारे सम्मुख खड़ा है, उसे साधारण पशु मत समझो। विश्वास करो ! इसमें त्रैलोक्यव्यापक देवमय प्राणरूप गौतत्त्व प्रतिष्ठित है। यह रुद्रों की माता है, वसुओं की कन्या है, आदित्यों की बहिन है। अमृत की नाभि है"। आगे जाकर परोक्षभाषा का आश्रय लेते हुए ऋषि कहते हैं कि, हमने बुद्धिमान् मनीषी के लिए यह कह दिया है कि, वह भूलकर भी इस अदिति ( स्तौम्यत्रिलोकीयुक्त त्रिविध-देवतामयी ) अपराधशून्या सर्वथा उपकारिणी गौ पर प्रहार न करै।"

हमने कहा था कि, गौतत्त्व की मूलविकासभूमि परमेष्ठी है। यही विष्णुधाम है। वहाँ यह गौतत्त्व उक्थरूप से प्रतिष्ठित रह कर अर्क (रश्मि) रूप से सम्पूर्ण सौर ब्रह्माण्ड में व्याप्त होता है। विष्णुलोक में प्रतिष्ठित उक्थरूप गौ 'गौ' है। सौररश्मिरूप में परिणत सहस्रधा विभक्त गौप्राण इस गोतत्त्व के 'शृङ्ग' ( सींग ) हैं। सींग भी छोटे छोटे नहीं-अपितु बहुत बड़े। लोकालोक पर्य्यन्त ( जहाँ सौरप्रकाश-मण्डल की सीमा समाप्त होती है, वह स्थान लोकालोक कहा जाता है ) व्याप्त है। जिनकी बृहत्ता का अनुमान लगाना भी कठिन है। सूर्य्य में वह गौतत्त्व विकसित हुआ। रश्मिरूप से यह सर्वत्र व्याप्त हुआ। सूर्य्यरूप गौने ( वृषभ-बैल-ने ) अपने शृङ्गरूप इन्हीं रश्मियों के आकर्षण से भूपिण्ड को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। यदि इन रश्मियों का आकर्षण न हो, तो तत्क्षण भूपिण्ड निराधार होता हुआ नष्ट भ्रष्ट होजाय। इसी प्रकृतिसिद्ध नित्य गौविज्ञान को लक्ष्य में रखकर आर्य्यसभ्यता का महान् कोश पुराणशास्त्र "भूपिण्ड किसके आधार पर निरावलम्ब आकाश में खड़ा है ?, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि—'भूपिण्ड को एक वृषभ (गौ) ने अपने सींग पर उठा रक्खा है। इसीसे भूपिण्ड इतस्ततः गिरने नहीं पाता"।

इस भूकम्प के सम्बन्ध में भारतीय प्रजाजनों में यह किंवदन्ती है कि, 'बैल ने सींग बदला है। इसलिए धरतीकम्प हो गया है।" कहना न होगा कि, हमारी यह सामान्य किंवदन्ती भी रहस्य से शून्य नहीं है। इस का आधार भी मौलिक कारण ही है। वारुण, वायव्य, आग्नेय, ऐन्द्र भेद से चार प्रकार का 'भूकम्प' होता है। इन चारों का स्वरूप बतलाना प्रकरण से बाहिर जाना होगा। यहाँ केवल यही समझ लीजिए कि, हमारी पूर्वोक्ति किंवदन्ती का सम्बन्ध 'ऐन्द्रभूकम्प' के साथ है। सौररश्मिभुक्त प्राण को ही 'इन्द्र' कहा जाता है। यही इन्द्रविद्युत् रश्मि के द्वारा सूर्य्योपग्रहभूत—शनि-मंगल-बृहस्पति-बुध-शुक्र आदि आग्नेय, सौम्य ग्रहों में प्रविष्ट रहता है। यदि शनि, और मङ्गल समकक्षा पर आजाते हैं, तो तद्क्षण दोनों विद्युतों का प्रचण्ड घर्षण होजाता है। महा विस्फोटन होजाता है।

ऐन्द्रभूकम्प का धक्का रश्मि के द्वारा भूपिण्ड पर लगता है। सम्पूर्ण भूप्रदेश विकम्पित होपड़ता है। इतर भूकम्प प्रादेशिक हैं। कहीं कहीं होते हैं। परन्तु ऐन्द्रभूकम्प सार्वदेशिक है। कम्प-महामारी-अनावृष्टि-अतिवृष्टि-अग्निप्रकोप-वायुप्रकोप-सामाजिक कलह-राजनैतिक कलह-धर्म्मविप्लव-

आदि किसी न किसी रूप से समस्त भूपिण्ड पर इस ऐन्द्रभूकम्प का प्रभाव होता है। स्मरण कीजिए, कुछ वर्ष पूर्व होनेवाले सप्तगोलयोगोपलक्षित ऐन्द्रभूकम्प का। क्या हुआ उसका परिणाम ?। स्मरणमात्र से भी आत्मा कम्पित होजाता है। यह हमारी इन्हीं गौरश्मियों की कृपा का फल है। आज सम्पूर्ण गौवंश त्रस्त है। इसके त्रास से व्यापक गौप्राण क्षुब्ध होरहा है। उसी क्षोभ से आए दिन **भूकम्प, अकाल, जनपद-विध्वंसिनी** आदि आदि का आक्रमण होरहा है। इस आपत्ति से यदि आप बचना चाहते हैं, तो मानिये ऋषियों के आदेश को। चलिये धर्म्ममार्ग से। कीजिये उपासना गौवंश की। अपने आप प्रकृति आपके अनुकूल हो जायगी।

निवेदन किया गया है कि, पारमेष्ठ्य विष्णुधाम से गौतत्त्व रश्मिरूप में परिणत होकर (सूर्य्य के द्वारा) त्रैलोक्य में व्याप्त होता है। इसी **बृहच्छृंगोपेत गौतत्त्व** का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

**या ते धामान्युष्मसि गमध्यैं यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः।**
**अत्राह तदुरुगायस्त्र विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि ॥**

—( यजुः सं० ६।३ )—

इसी गोष्ठानरूप आपोमय विष्णुदेवताधीन पारमेष्ठ्यमण्डल को **'व्रजधाम'–'गोलोकधाम'–नित्यलीलाधाम** आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। स्तौम्यत्रिलोकी में आक्रमण करने वाले सम्पूर्ण आप्य असुर अन्ततः इसी गोष्ठान में जाते हैं। अतएव **"देवैः पराभूता आप्यप्राणात्मका असुराः–अत्रैव स्वस्थाने व्रजन्ति"** इस अभिप्राय से इसे **'व्रज'** कहा जाता है। अपिच न केवल असुर ही, अपितु प्रलयकाल में सम्पूर्ण त्रैलोक्य इसी मण्डल में प्रविष्ट होता है। यही चरम गमन स्थान है। इसलिए भी **'व्रजन्ति-अपीता भवन्ति, संचरकाले यत्र सर्वे लोकाः'** इस अभिप्राय से भी इसे **'व्रज'** कहा जाता है।

**ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र,** ये तीन अन्तर्यामी-देवता कहलाते हैं। इनका हृदयरूप से प्रथम खण्ड के पूर्व सन्दर्भों में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। इन तीनों हृद्य–कलाओं पर क्रमशः क्षर-अव्यय-अक्षर का अनुग्रह रहता है। ब्रह्मा **क्षररूप होते हुए उपादान बनते हैं। विष्णु अव्ययमूर्त्ति बनकर सृष्टि के आलम्बन बनते हैं, एवं प्राणमूर्त्ति गतिधर्म्मा इन्द्र अक्षरमय बनकर सृष्टिकर्त्ता बनते हैं।** इन तीनों में अव्ययमूर्त्ति विष्णु का आवास-स्थान वही पूर्वोक्त आपोमय परमेष्ठीमण्डल है। अतएव इतर लोकों की अपेक्षा इस वैष्णवधाम को सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। **'स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम'** (मुण्डक), **'तद्विष्णोः परमं पदम्'** इत्यादि रूप से स्वयं श्रुतिने भी इस धाम को **'परमधाम'** माना है। यह अव्यय-मूर्ति है। अव्यय ही मुक्तिकाल में सब की चरमगति बनता है। **'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी'** (गीता) इत्यादि रूप से वही अव्यय सब की **'गति'** माना जाता है। **'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'** इत्यादि रूप से यही **'अप्ययस्थान'** है। अतएव **'मुक्तिकाले देहस्था सर्वा देवताः, सर्वाणि भूतानि, विज्ञानप्रज्ञाने, इत्यादयः सर्वेऽध्यात्मिका भावाः परेऽव्यये व्रजन्ति–लीना भवन्ति'** इस अभिप्राय से भी अव्ययमूर्ति विष्णुलोक को **(गोष्ठान नामक पारमेष्ठ्यलोक को)** उपासक लोग **'व्रजधाम'** कहा करते हैं।

इसी को उपासना की दृष्टि से पौराणिक लोग **'अपुनर्मार'** लोक कहा करते हैं। **'यत्र गत्वा न पुनर्म्रियन्ते-न परावर्त्तिता भवन्ति मृत्युलोके'** इस अभिप्राय से ही इसे **'अपुनर्मार'** कहा जाता है। इसी अभिप्राय से इस अव्ययधाम के लिए भगवान् ने—**'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम'** यह कहा है। अवताररहस्येवत्ताओं का यह विश्वास है कि, **'पूर्णावतार'** नाम से प्रसिद्ध भगवान् **वासुदेवकृष्ण** इसी विष्णु के अवतार हैं। वही अव्ययमूर्ति विष्णु कृष्णरूप में अवतीर्ण हुए हैं। विष्णु का गौतत्त्व के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। तदात्मभूत भगवान् कृष्ण ने भी उसी **गोचारणवृत्ति** को अपना जीवनव्रत बनाया। विष्णु आपोमय मण्डल में प्रतिष्ठित हैं, अतएव तदात्मभूत कृष्ण ने भी मथुरा छोड़ कर समुद्र में (द्वारिका में) निवास किया। गोरसरूप सोम का विष्णु के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। अतएव तदात्मभूत कृष्ण ने गोरस **(दुग्ध-घृत-मक्खन** आदि**)** को अपना प्रधान अन्न माना। वह विष्णुतत्त्व इसी गौप्राणमय सोमाहुति से प्रकाश के अधिष्ठाता बन कर तपोमय असुरों का विनाश किया करते हैं। अतः वही असुरविनाशरूप कर्म्म इन्हें करना पड़ा*।

ये सभी विषय क्योंकि **'अवतारविज्ञान'** से सम्बन्ध रखते हैं। अतः इन के सम्बन्ध में प्रकृत में अधिक नहीं कहा जा सकता। यहाँ केवल यही बतलाना है कि, पारमेष्ठ्य गोष्ठान को अनेक दृष्टियों से **'व्रज'** कहा जाता है। यहाँ श्रुति ने आसुरप्राणगमन को लक्ष्य में रखकर ही–**'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्'** इत्यादि रूप से इस स्थान को **'व्रज'** कहा है, किंवा आपोमय **'व्रजधाम'** कहा है, इस का समन्वय है स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी की चरमसीमा। एकविंश अहर्गण पर्य्यन्त तो पृथिवी ही है। इस के ऊपर व्रजधाम है। यहाँ वरुणदेवता का साम्राज्य है। वरुण के सम्बन्ध से इसे **'वारुणलोक'** भी कहा जाता है। पानी के सम्बन्ध से यहाँ भूतज्योति (प्रकाश) का अभाव है। कारण–**'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'**–**'इन्द्रो रूपाणि करिक्रदचरत्'** इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तों के अनुसार सौर **'मघवा'** इन्द्र ही प्रकाश के अन्यतम अधिष्ठाता हैं। इधर **वरुण**, और **इन्द्र** का परस्पर अश्वमाहिष्य है। **इन्द्र पूर्वदिशा के दिक्पाल हैं**, तो वरुण पश्चिमदिशा के दिक्पाल हैं। पानी पर वरुण का प्रभुत्त्व है, तो प्रकाश पर इन्द्र का प्रभुत्त्व है। पानी में अग्नि प्रविष्ट होजाता है। पानी उष्ण होजाता है। परन्तु पानी में प्रकाश का प्रवेश नहीं होसकता। जहाँ पानी है वहाँ इन्द्र नहीं, जहाँ वरुण है, वहाँ इन्द्र नहीं। जहाँ इन्द्र नहीं, वहाँ घोर अन्धकार। जहाँ अन्धकार, वहाँ असुर। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर प्रकृत ब्राह्मणश्रुतिने—**'बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याम्'** इस मन्त्र भाग की व्याख्या करते हुए—**'अन्वे नमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति'** यह कहा है। वरुणदेव पाश के अधिष्ठाता हैं। इसी अभिप्राय से आगे जाकर **'शतेन पाशैः'** कहा है।

यह है इस आख्यान का संक्षिप्त आधिदैविक–रहस्य। इसी आधिदैविक नित्य यज्ञके आधार पर वैधयज्ञ ( मनुष्यकृतयज्ञ ) का स्वरूप-संस्थापन हुआ। जो फल उस नित्यज्ञ का है, वही फल तत्प्रतिकृतिभूत

---

* भगवान् कृष्ण ने वेणु (बाँसुरी) क्यों बजाई ?, पीताम्बर धारण क्यों किया ?, गोपियों के साथ रासविहार क्यों किया ?, अर्जुन के साथ ही इन की घनिष्ठ मित्रता क्यों हुई ?, अर्जुन को ही क्यों गीतोपनिषत् का उपदेश दिया गया ?, राधा को क्यों प्रधान माना गया ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत आचार्य्यरहस्य का 'मानुषोत्तमकृष्णरहस्य' नामक प्रकरण देखना चाहिए —

इस मनुष्यकृत यज्ञ का है। यह उसी की प्रतिकृति है। यही कारण है कि, जैसा, जो कुछ उस आधिदैविकयज्ञ में होता है, ठीक वैसा, वही सब कुछ इस यज्ञ में भी करना पड़ता है। तभी तो–'देवाननुविधा वै मनुष्याः' यह कहना पड़ता है। यहाँ ऐसा क्यों होता है ?, अमुक कर्म्म ऐसा क्यों किया जाता है ?, इन सब प्रश्नों क समाधान वही प्राकृतिक नित्य आधिदैविक यज्ञविज्ञान है। उसका स्वरूप पहिचानिए, तब आपको विदित होगा कि, यज्ञ बालक्रीड़ा-मात्र नहीं है। केसर, कपूर, खोपरा, घृत आदि को अपनी कल्पना से कल्पित ताँबे की कुण्डियों में स्वाहा स्वाहा करके डाल देने का नाम यज्ञ नहीं है। केवल 'हवाफिल्टर' करने का ही नाम यज्ञ नहीं है ! अपितु **यज्ञविद्या** वह विद्या है, जिसके सम्यक्-परिज्ञान से, एवं सम्यक् अनुपालन से आप नवीन सृष्टि बना सकते हैं। नवीन सूर्य्य–चन्द्र खड़ा कर सकते हैं। अनार्षबुद्धि साधारण मनुष्योंनें इतर विद्याओं की भाँति आज इस यज्ञविद्या की भी अत्यन्त दुर्दशा कर रक्खी है। इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, दिव्यदृष्टि से समन्वित आधिदैविक विज्ञान की पूर्ण परीक्षा कर तदनुसार जिन याज्ञिक-पद्धतियों को ब्राम्हण—श्रौतसूत्रादि ग्रन्थों के रूप में हमारे सम्मुख रक्खा है, वही यज्ञविद्या '**यज्ञविद्या**' है। आज समस्त भारत में ( दक्षिण के कुछ परिगणित याज्ञिकों को छोड़कर ) यज्ञविद्या केवल काल्पनिकों का काल्पनिक जगत् ही बन रहा है। पुण्यसञ्चय के स्थान में पाप ही सञ्चित होरहा है। पशुवपा–पुरोडाश– सोमरस– आदि आज आहुतिद्रव्य नहीं है। अपि तु आज की यज्ञपद्धतियों में आहुतिद्रव्य है-खोपरा (गोला) केसर, कस्तूरी, चंदन। हा विद्याशून्यभारत ! आज तेरा कोई सा भी तो विद्याक्षेत्र स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं है।

पूर्व-प्रतिपादित उसी आधिदैविक यज्ञ के आधार पर दक्षिणानुगत इस यजमान का ऋत्विक् ( अध्वर्यु ) हविर्यज्ञ का वितान करना चाहता है। जो भूप्रदेश यज्ञके लिए नियत किया गया है, वह निदानेन '**वेदि**' है। वेदिपर ( भविष्य में वेदिरूप में परिणत होने वाले भूप्रदेश पर ) जो स्तम्बयजु (कुशामुष्टि) बिखरा हुआ है, यह निदानेन असुर है। उत्क्षिप्त मिट्टी के–तृणादि के–पात्रीनिर्णेजनादि के–यज्ञमण्डल में होने वाले और और दूषित परित्यक्त पदार्थों के प्रक्षेपके लिए वेदिके उत्तरभाग में एक गहरा गर्त्त (गड्ढा) बनाया जाता है। इसे '**उत्कर**' कहा जाता है। यह निदानेन अन्धतमोरूप चौथा आपोमय--लोक है। अध्वर्यु का दक्षिणबाहु निदानेन '**इन्द्र**' है। वामहस्तस्थ स्फ्य निदानेन '**वज्र**' है। उच्चार्य्यमाणमन्त्र आधिदैविक '**इन्द्रबल**' है। इसप्रकार पूर्वप्रतिपादित निदानरहस्य के अनुसार अब सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुत है। प्रहार करने मात्र में विलम्ब है। तत्काल असुर नष्ट होजायँगे। फलस्वरूप सम्पूर्ण यज्ञिय-वातावरण सर्वथा निर्विघ्न बन जायगा। ६, १०, ११, १२, १३, १४ ॥

## इति–स्तम्बयजुर्हरणोपाख्यानरहस्यम्

——*——

वेदिनिर्म्माण से पहिले 'स्तम्बयजुर्हरण' क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान उपरत हुआ। अब पद्धति—अंश से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विशेषभावों का निरूपण कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता । 'स्तम्बयजु' (कुशामुष्टि) निदानविधा से साक्षात् असुर है। इस पर प्रहार करना

असुर पर ही प्रहार करना है । साथ ही तृण-अन्तर्धान-पूर्वक इस **स्फ्यप्रहार** का एक प्रयोजन और भी है । वह प्रयोजन है–हिंसाभाव की अपह्नुति । जिस भूप्रदेश पर यजमान अध्वरकर्म्म (अहिंसामय आसुरभावशून्य दिव्यकर्म्म) करना चाहता है, उसी पर यदि 'स्फ्य' का प्रहार किया जायगा, तो भावनामय मन की प्रधानता से **'मैं देवताओं के यजन करने योग्य इस भूप्रदेश पर प्रहार कर रहा हूँ'** इस भावना से **'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार सचमुच पृथिवी के अभिमानी देवता (जिस की अक्षुण्णता पर ही यज्ञकर्म्म की अक्षुण्णता निर्भर है) हिंसाभाव से युक्त होजायगा । तृण पर प्रहार करने से इस हिंसाभाव का भी निराकरण होजाता है । **'संशित' (तिक्ष्णीकृत) 'स्फ्य' वज्र, से मैं तो असुररूप तृण पर प्रहार कर रहा हूँ, न कि पृथिवी के इस देवयजन भाग पर'** अध्वर्यु की इस भावना से तृणान्तर्धानपूर्वक प्रहार से पार्थिव असुर भी नष्ट होजाते हैं, एवं पार्थिव अभिमानी यज्ञिय देवता भी अक्षुण्ण बचा रहता है । असुरों का नाश तृणान्तर्धान का पहिला प्रयोजन था । एवं पार्थिव देवयजनभाग को हिंसाभाव से बचाना दूसरा प्रयोजन है । इसी दूसरे प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर **'अथ तृणमन्तर्द्धाय प्रहरति'** इत्यादि कहा गया है ॥१५॥

जिस समय **'पृथिवि देवयजनि ! ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** यह मन्त्रभाग बोलता हुआ अध्वर्यु तृणयुक्त भूप्रदेश पर स्फ्य से प्रहार करता है, उस समय इस प्रहार से वेदिनिर्म्माण के योग्य इस भूप्रदेश में वर्षा के कारण उत्पन्न हुई जो ओषधियाँ (घास आदि) हैं, वे भी उखड़ जातीं हैं । उखड़ क्या जातीं हैं, इनको उखाड़ना भी प्रधान उद्देश्य है । क्योंकि भूपृष्ठ पर तृणादि जो कुछ प्ररोहित होरहे हैं, उन सब को हटाकर, एवं भूपृष्ठ पर इधर उधर से वायु के द्वारा आई हुई, अथवा मनुष्यों के गमनागमन से श्लथ हुई मिट्टी जबतक हटा नहीं दी जाती, तबतक पृथिवी का वह यज्ञिय घनाग्निरस यज्ञ के साथ सम्बद्ध नहीं होसकता, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जाचुका है । किन्तु साक्षाद्रूप से इन ओषधियों की जड़ उखाड़ना हिंसाभाव का यज्ञ में समावेश करना है । उधर प्राणरूप असुरों का भी नाश करना है । इसीलिए तो भूप्रदेश पर और तृण बिछा दिये जाते हैं । इस के व्याज से हिंसाभाव को छुपाता हुआ अध्वर्यु भूप्रदेश में प्ररोहित तृणादि को इस प्रथम प्रहार से उखाड़ फैंकता है । जब ओषधियाँ स्फ्य के प्रहार से उखड़ जातीं हैं, तो पृथिवी का यह प्रदेश **'उत्तरमूल'** बन जाता है । अर्थात् जो ओषधियों के मूल भाग ( जड़ें ) अबतक भूगर्भ में दक्षिणभाग में ( नीचे की ओर ) थे, वे स्फ्य के प्रहार से उखड़ कर उत्तर की ओर ( भूगर्भ से निकलकर ऊपर की ओर ) आजाते हैं । इस अवस्था में अपने स्वभागरूप ओषधियों के उत्तर-मूल होने से तत्सम्बन्ध से यह पृथिवी भी **'उत्तरमूला'** बन जाती है ।

इसप्रकार उखाता ओषधियों को उत्कर में डालने के लिये हाथ में लेता हुआ अध्वर्यु इस भूप्रदेश को उत्तरमूला बनाता है । पृथिवी को उत्तरमूला बनाना इस भाव को सूचित करता है कि, अवश्य ही किसीने इस भूप्रदेश पर प्रहार कर इस के शरीर को क्षत विक्षत कर दिया है । ऐसा हिंसाभाव यज्ञ में आसुरभावप्रवेश का कारण बन जाता है । परन्तु ऐसा किए बिना काम चलता नहीं । इस विप्रतिपत्ति को भावना के द्वारा हटाने के अभिप्राय से मूल उखाड़ते हुए भी, मूल उखाड़ कर पृथिवी को उत्तरमूला (जिस की ओषधियों का मूल उखड़ कर ऊपर की ओर होगया है, ऐसी पृथिवी ही **'उतरमूला'** शब्द से व्यवहृत की जाती है) बनाता हुआ भी अध्वर्यु **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** यह बोलकर इस हिंसाभाव को शान्त करता हैं । अध्वर्यु की यह

भावना एकप्रकार से ठीक भी है। क्योंकि ओषधियों का मूल वस्तुतः इन की जड़ें नहीं है। अपितु भूगर्भ की जिस गहराई में, जिस स्थान में ओषधियों की जड़ें रहतीं हैं, भूपिण्ड का वह प्रदेश अग्निरसमय है। उसी गर्भस्थ अग्निरस का ओषधियों के मूलों के साथ सम्बन्ध होता है। उसी मूलभूत जीवनीय अग्निरस के परिपाक से ओषधियों का स्वरूप निष्पन्न होता है। ओषधियों का मूलभूत उपादान अग्निरस सर्वप्रथम ओषधियों के उस भाग से संयुक्त होता है, जो भाग इनका भूगर्भ में उस रस के समीप रहता है। मूलरस के प्राथमिक संयोग ही से भूगर्भस्थ ओषधियों का वह भाग 'मूल' कहलाने लगता है। वस्तुतस्तु ओषधियों का मूल मूलगर्भस्थ अग्निरस ही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि, स्फ्यप्रहार द्वारा जब ओषधियों की जड़ें उखाड़ दीं जातीं हैं, तो उस समय जड़ों के समीप व्याप्त मूलरूप अग्निरस भी क्षुब्ध होपड़ता है। क्षुब्ध होकर स्वस्थान से च्युत होता हुआ वह ओषधि–विनिगम-मार्ग से बाहिर उत्तर की ओर ( ऊपर की ओर ) भी निकलने लगता है। इसप्रकार ओषधिग्रहण से सचमुच अपने इस रसभाव के ( मार्ग मिलजाने से ) उत्तरगमन से भूप्रदेश **'उत्तरमूल'** बन जाता है। केवल इस मौलिक रस के क्षोभ की शान्ति के लिए ही अध्वर्यु को **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** यह बोलना पड़ता है। ओषधि तृणादि आवरणोंनें हीं उस मौलिक रस को अवरुद्ध कर रक्खा था। इनके उखाड़ने से उसे हमारे भूप्रदेश में ( जहाँ हम यज्ञवितान करने वाले हैं ) आने का अवसर मिल-जाता है। प्रहार के द्वारा होने वाले घात से अग्निरसरूप ओषधियों के इस मूल की रक्षा की ही प्रार्थना की जाती है। ओषधियों को तो समूल उखाड़ ही दिया जाता है।

सर्वथा विनष्ट इन के मूलों की क्या रक्षा की जासकती है। रक्षा अभीष्ट है केवल इनके वास्तविक मूलभूत उस गर्भस्थ अग्निरस की। इसी अग्नि-ऊष्मा से कृतात्मा ये तृणादि–**'ओषं (ऊष्माभावं) धत्ते'** इस व्युत्पत्ति से **'ओषधि' नाम** से व्यवहृत होते हैं। कहना यही है कि, यहाँ ओषधिमूलों से वह गर्भस्थ अग्निरस ही अभिप्रेत है। इसी भावके स्पष्टीकरण के लिए यहाँ ऋषिने पृथिवी के लिए **'देवयजनि'** कहा है। देवता आग्नेय हैं। इनका यजन (सङ्गतिकरण, परस्पर में सम्बन्ध) अग्नि के साथ ही होता है। वह विशुद्धाग्नि भूगर्भ में ही मिलता है। सतृण भूपृष्ठ पर तो आगन्तुक दूषित भावों का साम्राज्य रहता है। यहाँ सौर देवाग्नि का यजन नहीं होता। अपितु जहाँ विशुद्ध आग्नेय प्राण रहता है, वहीं सौरप्राणाग्नि आकर बद्ध होता है। भूपिण्ड के जिस स्थान में प्राणाग्निमय सौरदेवता आकर सम्बद्ध होते हैं, भूपिण्ड का वही प्रदेश **'देवयजनिभूमि'** कहा जाता है। उसका मूल वही अग्निरस है। तभी तो इस पृथवी को **'उत्तरमूला'** कहना अन्वर्थ होता है। नहीं, तो उखड़ें ओषधियाँ, एवं उत्तरमूला बन जाय पृथिवी, यह कैसे सम्भव होसकता है। ओषधियाँ उखाड़ कर फैंक दीं जातीं हैं। भूगर्भस्थ अग्निरस के आगमन का मार्ग जिन आगन्तुक तृणादि ने, एवं तत्स्थान पर प्ररोहित ओषध्यादिने अवरुद्ध कर रक्खा था, प्रहार के द्वारा उन सबके उखड़ जाने से वह देवयजन—स्वरूपसम्पादक अग्नि बाहिर निकल कर हमारे उस भूपृष्ठ को भी देवयजनभावोपेत बना देता है, जिसनें कि हम देवताओं का यजन करने वाले हैं। यदि ओषधि का निरसन न किया जाय, तो पार्थिव अग्नि का हमारी वेदिके साथ सम्बन्ध न हो। ऐसा न हो, तो हमारा यज्ञ देवभाव से ही युक्त न हो। इसी सम्पूर्ण अग्निरहस्य को लक्ष्य में रखकर प्रथम प्रहार का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

**उत्तरमूलामिव एनामेतत् करोति–आददानः। तामेतदाहौषधीनां ते मूलानि मा हिंसिषमिति'।**

एक विशेष लोकतथ्य से इस स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है । व्रीहि, यव, गोधूम (चाँवल, जौ, गेहूँ,) आदि ओषधियों में जहाँ चान्द्र-सौम्यप्राण, तथा पार्थिव भौम अग्नि, ये दो चान्द्र-पार्थिव तत्त्व प्रधान हैं, वहाँ वनस्पतियों में (फल-वृक्षों में) पार्थिव आग्नेय प्राण, तथा तद्गर्भीभूत सौरप्राण ही प्रमुख बने रहते हैं । सहज भाषानुसार **ओषध्यन्न चान्द्र है, एवं वनस्पत्यन्न सौर है** । वनस्पतियों का परिपाक पृथिवी के गर्भस्थ उस '**देवयजन**' भाग से ही होता है, जिसका प्रवर्ग्यात्मक उस सौरप्राण से सम्बन्ध है, जो सौरमण्डल से विस्रस्त होकर भूगर्भ में समाविष्ट होता हुआ भू की वस्तु बन जाता है । अतएव वनस्पतिरूप वृक्षों के स्वरूप-निर्म्माण में वृक्षों की बालावस्था में पुनः पुनः इनके मूलों को कुरेदा जाता है । जो क्रिया हमारी प्रान्तीय भाषा में— '**गुरबाई**' नाम से प्रसिद्ध है । ऊपर के श्लथ मृद्भाग को उँचींद कर भीतर के प्राणाग्नि को उत्तरमूल बनाने के लिए ही वह क्रिया होती है। तभी वृक्ष पुष्पित-पल्लवित होते हैं । निखननात्मिका इस '**गुरबाई**' से गर्भस्थ सौरप्राणात्मक देवयजन भाग अभिव्यक्त होजाता है । और प्रमुख रूप से यही वनस्पतियों का परिपाक करता है । इसी **देवाग्नि-सौराग्नि-देवयजनाग्नि** की प्रमुखता से भारतीय-उपवास-विधियों (व्रतों) में इस का परिग्रहण होगया है, जबकि ओषध्यन्न उपवास में वर्ज्य माना गया है । **अन्नाहार** जहाँ पार्थिव चान्द्र-भाषानुबन्ध से मलभाग का वर्द्धक है, मेद का वर्द्धक है, यहाँ **फलाहार** सौरभावानुबन्ध से निर्भार बनता हुआ बुद्धि के सत्त्वगुण का ही प्रेरयिता माना गया है, जैसा कि आरम्भ के—'**व्रतोपायनकर्म्म**' में विस्तार से बतलाया जाचुका है । वृक्षमूल के सन्निहित तृणादि को पृथक् कर वहाँ की मिट्टी को उलींच देने से ही भूगर्भस्थ देवयजनप्राण ऊर्ध्व विनिर्गत होता हुआ-'**उत्तरमूल**' बनता है, और यही फलसमृद्धि का प्रमुख कारण है । वही '**उत्तरमूलसम्पत्ति**' यहाँ श्रुति के द्वारा स्पष्ट हुई है ।

प्रहार से मूलभूत अग्निरस मार्ग मिल जाने से उपरि-भाग-पर्य्यन्त आता मात्र है । सर्वथा वह अपनी प्रतिष्ठा छोड़दे, एकान्ततः निकल जाय, यह बात नहीं है । इसी भाव को लक्ष्य में रखकर '**उत्तरमूला-इव-वा**' इत्यादि रूप से '**इव**' पदका सन्निवेश किया गया है ।

श्रुति के **अक्षरों** पर ज्यों ज्यों अधिक विचार किया जाता है, त्यों त्यों उन में नवीन नवीन रहस्य उपलब्ध होता जाता है । तभी तो यह रहस्यार्थमयी गभीरातिगभीरा वेदवाणी '**ईश्वरीयवाणी**' कहलाई है । केवल श्रुति के अक्षरों पर ही विश्राम कर लेने से कथमपि आप वास्तविक तत्त्वबोध की सीमा पर नहीं पहुँच सकते । केवल सुनने से ही 'श्रुति' की इतिकर्त्तव्यता समाप्त नहीं होजाती । वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, श्रुतितत्त्व केवल 'वाङ्मय' ही नहीं है । अपितु '**श्रौतविद्या**' '**आत्मविद्या**' है । उधर '**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः**' के अनुसार आत्मा '**मनः-प्राण-वाङ्मय**' है । मनःप्राणवाङ्मयी श्रौतविद्या के सम्यक् परिज्ञान के लिए आप जबतक अपने आत्मा के मनः-प्राण-वाक् ,इन तीनों पर्वों का उस के साथ सम्बन्ध नहीं कर देंगे, तबतक केवल श्रुतिरूप **वाग्व्यापार** से श्रौ तत्त्व सर्वात्मना कदापि गतार्थ नहीं बन सकेगा । **सुनकर साधारण अक्षरार्थ समझ लेना हीं वाग्व्यापार** है । सुनने के अनन्तर सुने हुए अक्षरों के आधार पर प्राणव्यापाररूप तपश्चर्य्या करना, **सतत उस ओर प्रवृत्त रहना हीं प्राणव्यापार है**, एवं सतत तपश्चर्य्या से मनोयोग के द्वारा उस तत्त्व का **अनुशीलन करना हीं मनोव्यापार है** । इन तीनों व्यापारों के सम्यक् अनुष्ठान के अनन्तर ही **आत्ममय त्रिकल श्रौत तत्त्व का सम्यक् दर्शन (साक्षात्कार) होसकता है** । उपर्य्युक्त तीनों व्यापारों के लिए ही-क्रमशः वाग्व्यापार के लिए '**श्रुति**' शब्द, प्राणव्यापार के लिए '**मति**'

शब्द, एवं मनोव्यापार के लिए 'निदिध्यासन' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसी श्रौत तत्त्वसमन्वयोपयोगी तथ्य का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है—

**"आत्मारे वायं द्रष्टव्यः ( कथम् ? ) श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः"**

आज तथोक्त आदेश में केवल **'श्रोतव्यः'** अंश पर ही भारतीय विद्वान् विश्राम कर लेते हैं। सुन लिया; पुण्य हो गया, श्रुति की इतिकर्त्तव्यता समाप्त होगई। यही कारण है कि, सम्पूर्ण विश्वसम्पत्ति के अभ्युदय के साधनभूत वैदिक–साहित्य का अधिष्ठाता बनता हुआ भी आज भारतीय विद्वत्समाज अभ्युदय से वञ्चित होता हुआ, अवनतिगर्त्त की ओर ही अग्रेसर होता जारहा है। इसका एकमात्र कारण है-**अर्थांश की अज्ञता। केवल शब्दभक्ति**। इसी तथ्य का स्पष्टभाषा में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

**स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।**
**योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥**

हम बतला आए हैं कि, तृणादि की मुष्टि निदानभाव से साक्षात् असुर है। तृण का गौपशु के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। अतएव जो मनुष्य मूर्ख होता है, बुद्धिशून्य होता है, पशुतुल्य होता है, उसके लिए लोक में— **'तुमने तो 'घास' खाया है, कभी काम थोड़े ही किया है, पूरे बैल ही रहे'** यह कहा जाता है। वेद का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि, **यज्ञ में जो निरर्थक वस्तु होती है, उससे शत्रु का बल बढ़ता है, और यदि न्यूनता रह जाती है, तो यज्ञसमृद्धि उच्छिन्न होजाती है।** ऐसी अवस्था में यज्ञ को सुसम्पन्न बनाने के लिए यह आवश्यक होजाता है कि, न तो यज्ञ में न्यूनता हो, न अतिरिक्तता ( व्यर्थ की वस्तु ) हो। ये तृणादि प्रकृत में सर्वथा व्यर्थ हैं। इनका यज्ञ में कोई उपयोग नहीं है। यह व्यर्थ की भावना भी यज्ञ के लिए अनिष्टकर **है**। इसी अनिष्टभाव को दूर करने के लिए ऋषि ने—**'व्रजं गच्छ गोष्ठानम'** यह कहा है। मानते हैं, यहाँ तृण का उपयोग नहीं है। परन्तु गोपशु का तो यह अन्न है। जिस तृण को मनुष्य व्यर्थ समझता है, गौपशु उसी से अपना जीवन-निर्वाह कर लेता है। तृण को गोष्ठान (गाय के ठान) में डाल देना, इससे बढ़कर तृण का और क्या उपयोग हो सकता है ?। **'हे तृण ! तुम गोस्थान में चले जाओ'** यह कहना तृण की व्यर्थता का ही निरसन करना है।

अपिच तृण असुर है। उधर व्रजधामरूप **'गोष्ठान'** नाम का आपोमय परमेष्ठीमण्डल असुरों की आवासभूमि है। अतः तृणरूप असुर को यहाँ से निकाल कर वहीं स्वस्थान में भेजना अनुरूप भी है। पानी एक ऐसा स्थान है, जहाँ यदि शत्रु को फैंक दिया जाता है, तो वह सर्वथा ही परास्त होजाता है। पुनः उसे आक्रमण करने का अवसर ही नहीं मिलता। इसलिए तो लोक में भी शत्रु के लिए **'राम करे वह डूब मरे'** यह यह कहा जाता है। आज अध्वर्यु निदानेन तृणरूप असुरों को उसी पानी में डुबोकर उसे सर्वथा हतवीर्य बना रहा है। इसी अभिप्राय से— **'अभिनिधास्यन्नेवैतदनपक्रमि कुरुते। तद्धि–अनपक्रमि–यद् व्रजे अन्तः ( सलिलसीमा )। तस्मादाह व्रजं गच्छ गोष्ठानमिति, यह कहा गया है।**

इसप्रकार प्रथम प्रहार से शत्रुरूप तृण को समूल उखाड़ कर पराः परावत गहन अन्धकार में प्रक्षिप्त कर अध्वर्यु **'वर्षतु ते द्यौः'** यह कहता हुआ वेदिस्थानयोग्य इस भूप्रदेश पर **'प्रोक्षण'** करता **है**। तात्पर्य

इसका यही है कि, द्युलोक के अधिष्ठता आदित्य ( इन्द्र ) देवता हैं। यही **पुरोवात, मेघ, विद्युत, स्तनयित्नुरूप** में परिणत होकर वृष्टि का कारण बनता है। इन्द्र ही **'नमुचि'** का शिरच्छेदन कर पर्जन्य के द्वारा वृष्टि का स्वरूपसमर्पक बनता है। **छान्दोग्य** के अनुसार आदित्याग्नि में आहुत सोम हीं क्रमशः **श्रद्धा, पर्जन्य** बनकर **'वृष्टि'** रूप में परिणत होता है। वृष्टि क्या है ?, द्युलोक में प्रतिष्ठित साक्षात् इन्द्रदेवता है। इन्द्र सार्वदैवत्य है। अतएव इसके लिए—**'इन्द्रः सर्वा देवताः'** यह कहा जाता है। वृष्टि क्या है ?, इन्द्र है। इन्द्र क्या है ?, सम्पूर्ण देवता हैं।

हम कह आए हैं कि, जब भूपिण्डस्थ अग्निरस स्वस्वरूप से विकसित होजाता है, तभी इसके साथ द्युलोक के इन्द्रज्येष्ठ सौरदेवताओं का यजन ( सम्बन्ध ) होता है। आज तृणादि दूषित भावों के हटने से हमारा भूप्रदेश वेदियोग्य बनता हुआ सचमुच **'देवयजन-सम्पत्ति'** से युक्त होगया है। आज सचमुच दिव्य-देवताओं का हमारे इस पृथिवी भाग के साथ सम्बन्ध होगया है। उसी दिव्य सम्बन्ध की **'वृष्टिरूप'** से भावना करता हुआ अध्वर्यु पानी का प्रोक्षण करता हुआ कहता है कि, **हे पृथिवी ! आज आप दूषित भावों के परिमार्ज्जन से अपने प्रातिस्विक अग्निरसरूप से विकसित होती हुई देवयजन की अधिकारिणी बन गई हैं। इसलिए आज आपके लिए द्युलोक वर्षा करै। अर्थात् वर्षा के रूप में परिणत होने वाले द्युलोकस्थ प्राणदेवता आपके साथ सम्बन्ध करैं"**। यह है **'प्रोक्षण'** का एक प्रयोजन।

अपिच स्फ्य के प्रहार से भूप्रदेश क्षत विक्षत होजाता है। यह एक प्रकार का हिंसाभाव है। एक प्रकार का हिंसाभाव क्या है, सचमुच ही तो हिंसाभाव है। वास्तव में इस प्रहार से पार्थिव प्राणाग्नि क्षुब्ध होजाता है। यह क्षोभ यजमान के आत्मा की अशान्ति का कारण बन सकता है। इसे दूर करने का उपाय है **'प्रोक्षण'**। पानी शान्ति का अधिष्ठाता है। विशेषतः प्राणाग्निक्षोभ के लिए तो पानी के अतिरिक्त भूतद्रव्यों में दूसरा शान्तिप्रद द्रव्य है ही नहीं। क्योंकि **'आपोमयः प्राणः'** इस छान्दोग्य-सिद्धान्त के अनुसार पानी हीं **प्राणाग्नि** का स्वरूप-समर्पक माना गया है। प्रत्यक्ष में भी यह बात देखी जाती है। जलचिकित्सा से बढ़ कर अग्निताप की शान्ति का दूसरा उपाय नहीं है। गर्मी लगती है, तो स्नान कर लीजिए। तत्काल अग्निक्षोभ शान्त होजायगा। प्राणाग्नि गरमी से क्षुब्ध व्याकुल होरहा हो, तो एक ग्लास ठण्ढे पानी का पी लिजिए। तत्काल प्राणक्षोभ शान्त होजायगा। पार्थिव अग्निप्राण के इसी क्षोभ को शान्त कर यज्ञसम्पत् को क्षोभ रहित बनाने के लिए प्रोक्षण किया जाता है। पानी न केवल शान्ति का ही कारण है। अपितु इससे विरिष्ट-सन्धान भी होजाता है। विखरा हुआ गोधूम्र चूर्ण ( गेहूँ का चून ) पानी के सम्बन्ध से परस्पर मिल जाता है। क्षत विक्षत शरीर पानी से संहित होजाता है। आज स्फ्य के प्रहार से पार्थिव-अग्नि जैसे क्षुब्ध होगया है, तथैव इस प्राणाग्नि का शरीररूप भूप्रदेश भी क्षत-विक्षत होगया है। पानी दोनों दोष हटा देता है। पानी से भूप्रदेश सम बन जाता है। एवं क्षोभ भी उपशान्त होजाता है। इसीलिए प्रहारानन्तर प्रोक्षण करना परम आवश्यक है। इसी प्रोक्षणविज्ञान को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

**यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्ति, अपघ्नन्ति ( तत् ) शान्तिरापः। तदद्भिः शान्त्या शमयति। तदद्भिः सन्दधाति। तस्मादाह—'वर्षतु ते द्यौः' इति।**

प्रोक्षणानन्तर स्फ्य से उत्पाटित **मिट्टी तृण, ओषधि** आदि को उत्तरभागस्थ उत्कर में डाल दिया जाता है। ये सब दूषितभाग निदानेन असुर हैं। उधर उत्कर निदानेन **'गोष्ठान'** नाम का आपोमय घोरतम से आवृत चौथा लोक है। प्रकृति में सौरप्रेरणात्मक सविता-देवता ही इन्द्रप्राण के साथ तानूनप्त्र करके ( साथ मिलकर ) स्वरश्मिरूप वज्र से तमोमय असुरों को जर्ज्जरितकाय बनाकर इहें उस तमोमय वारुणलोक की ओर फैंक देता है। वहाँ ( आपोमय मण्डल में ) वरुण का साम्राज्य है। वरुणदेवता अबूगत स्नेहधर्म्म से पाश के ( बन्धन के ) प्रवर्त्तक हैं। वह स्थान स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी की अन्तिम सीमा है, जैसा कि पूर्व के आधिदैविक विज्ञानरहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है। वह सचमुच ऐसा असुर्य्य लोक है, जहाँ जाकर असुरकर्म्मा-आत्मघाती सदा के लिए बन्धन से आबद्ध होजाते हैं। आत्महत्या करने वाले का आत्मा 'लोकालोक' नाम से प्रसिद्ध इसी अन्धतम में जाता है। ऐसे आत्मा का कभी उद्धार नहीं होता। अतएव धर्म्माचार्य्यों नें **'आत्महत्या'** को सब से बड़ा पाप माना है। मनुष्य पर भले ही कितने हीं सङ्कट आवें, उस सङ्कट से भले ही उसके प्राण चले जायँ परन्तु भूलकर भी वह आत्मघात न करै। यदि उसने मूर्खतावश सङ्कट से संत्रस्त होकर ऐसा कर लिया, तो पुनः उसका कभी उद्धार न होगा। पुनः होगा क्या ?, तो सुनिए वेद क्या कहता है—

**असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता।**
**तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥**

—ईशोपनिषत

वहाँ जाने पर पुनः परित्राण सम्भव नहीं है। दिव्यभावना से भावितान्तःकरण अध्वर्य्यु असुरों को उसी पृथिवी के पारस्थान में, घोर अन्धाकार में, कभी छुटकारा न होने वाले 'लोकालोक' नाम के आपोमय समुद्र में ढकेलता है। इसी भावना-विज्ञानको लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

**"बधान देवसहितः परमस्यां पृथिव्यामिति-देवमेवैतत् सवितारमाह। अन्धे तमसि बधानेति यदाह-परमस्यां पृथिव्यामिति। शतेन पाशैरिति-अमुचे ( अमोचनाय ) तदाह। योऽस्मान् द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मस्तमतो मामौक्-यदि नाभिचरेत्"**

यदि यजमान का कोई प्रबल शत्रु है, एवं यजमान उसे नष्ट करना चाहता है, तो इस अभिचार-कामना की पूर्त्ति के लिए 'यं' 'तं' के स्थान में उस शत्रु का नाम बोल देना चाहिए। निःसन्देह एक वर्ष के भीतर भीतर यजमान के शत्रु का सर्वनाश होजायगा ॥१६॥

प्रकृति में देवता **पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-आपः** इन चारों लोकों से असुर को मार मार कर निकालते हैं। चार लोकों के लिए उन प्राण देवताओं का प्रहार चार भागों में विभक्त होजाता है। इस सम्बन्ध में आप एक प्रश्न उठा सकते हैं। वह यह है कि अभी अनुपद में हीं पूर्व के प्रकरण में ( १६ वीं कण्डिका में ) यह बतलाया गया है कि, असुरों को यहाँ से निकाल कर चौथे आपोलोक में ढकेल दिया जाता है। उस अन्धतम से **'तमतो मा मौक्'** इत्यादि के अनुसार वे कभी नहीं निकल सकते। परन्तु अब ठीक इस पूर्व सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जाता है कि, तीनों लोकों की भाँति चौथे लोक से भी असुरों को निकाला जाता है। यह श्रुति-विरोध कैसा ?।

वास्तव में साधारण-दृष्टि से श्रुति के अक्षरमात्र पर विश्राम करने से विरोध प्रतीत होता है। परन्तु जब विज्ञानदृष्टि से विचार किया जाता है, तो विरोध उपरत होजाता है। **आपोलोक में असुर प्रतिष्ठित रहते हैं**, यह भी ठीक है, **एवं आपोलोक से असुर निकाले जाते हैं**, यह भी ठीक है। स्वयं आपोलोक ही **दिव्य, आसुर** भेद से दो भागों में विभक्त है। आपोलोक में हमनें **भृगु** की सत्ता बतलाई है। साथ ही यह भी कहा है कि, यह भृगु घन-तरल-विरल-इन तीन अवस्थाओं के कारण **आपः वायु-सोम**, इन तीन पृथक् पृथक् स्वरूपों में परिणत होजाता है। घन द्रव्य आपः है, तरल द्रव्य वायु है, एवं विरल-द्रव्य सोम है। इन तीनों में मध्यस्थ वायु का दोनों के साथ आपः, और सोम के साथ) भोग होता है। अप् से अनुगृहीत वायु '**वारुण**' है, एवं सोमानुगृहीत अम्भोमय वायु '**शिव**' है। इसी को पौराणिक परिभाषानुसार '**साम्बसदाशिव**' कहा जाता है।

**ग्रन्थि ( गठिया ), गृध्रसी, उदरशूल, शिरःशूल** आदि शूल-सम्बन्धी जितने भी रोग हैं, **'न वातेन विना शूलम्'** इस 'प्राणशास्त्र' सिद्धान्त के अनुसार वारुणवायु से ही होते हैं। ये वरुण भृगु के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं। अतएव वर्षाऋतु में जब इस **वारुणवायु** का सञ्चार होता है, तो **'वातव्याधि'** विशेषरूप से अपना प्रभाव स्थापित कर लेती है। उधर **'शिववायु'** सोमगुणक बनता हुआ जीवन की रक्षा करता है *। भार्गव-सम्बन्ध से यह शिववायु भी वर्षाऋतु में अपनी प्रधानता रखता है। इसी का **पुरोवात ( पुरवाई हवा ) रूप** से विकास होता है। जहाँ वारुणवायु अत्यन्त-अहितकर है, ठीक इसके विपरीत यह पुरोवातरूप शिववायु सर्वथा हितकर है। वर्षाकाल में ( मेह बरसते समय ) जो हवा चलती है, वही **'वारुण' है**। इस से बचना चाहिए, विशेषतः वातव्याधि वाले को। वर्षा के आरम्भकाल से पहिले जो पूर्व की ओर का वायु चलता है, वही **'पुरोवात'** कहलाता है। सोम के सम्बन्ध से इसे '**ऐन्द्रवायु**' भी कहा जाता है। इस का सेवन करना चाहिये-विशेषतः वातव्याधि वाले को।

जहाँ **वारुणवायु** शरीर जकड़ देता है, वहाँ पुरोवातरूप ऐन्द्रवायु स्व-गतिभाव से शरीरग्रन्थियाँ खोल देता है। वारुणवायु सदा पश्चिम से आता है, एवं ऐन्द्रवायु सदा पूर्व से आता है। वर्षा लाना ऐन्द्र-वायु का काम है, एवं वर्षा उड़ा देना वारुणवायु का काम है। जब भी पूर्व का वायु चले, विश्वास कीजिए, उस समय अवश्य ही वृष्टि होगी। जब भी पश्चिम का वायु चले, विश्वास कीजिए, वृष्टि उड़ जायगी। कारण इसका यही है कि, वारुणवायु आप्य होने से शीतप्रकृतिक है। इस शीतभाव से मेघस्थ पानी का संघठन और भी अधिक दृढ होजाता है। अतएव इसके आगमन से वर्षा नहीं होती। ऐन्द्रवायु सौम्य होने से आग्नेय-प्रधान है। क्योंकि अग्नि-सोम की परस्पर मैत्री है। इसके आगमन से मेघस्थ **'नमुचिप्राण'** शिथिल होजाता है। पानी द्रुत होकर भूपृष्ठ पर गिर पडता है। प्रकृत में इस **वृष्टिविद्या** ÷ के सम्बन्ध में विशेष कहना अप्राकृत होगा। यहाँ केवल यही बतलाना है कि, आपोमय परमेष्ठी में अप्-वायु-सोम-भेद से तीनों तत्त्वों का विकास होता है।

---

* **अश्लेषा-नक्षत्र**-भोगकालात्मक वर्षाजल आसुर-वारुण बनता हुआ जहाँ रोग-प्रवर्त्तक है, वहाँ **मघानक्षत्र**-भोगकालात्मक वर्षाजल दैव-ऐन्द्र बनता हुआ स्वास्थ्य-प्रवर्त्तक माना गया है।

÷ इस विषय का विशद विवेचन पञ्चप्रयाजानुगता-'**वृष्टिविद्या**' में विस्तार से किया जाने वाला है।

उक्त तीनों तत्त्वों के आपः,-वारुणवायु,-ऐन्द्रवायु,-सोम,-ये चार भेद होजाते हैं। वर्षाऋतु में जहाँ वरुण के साथ 'वारुणवायु' का प्रभुत्त्व रहता है, एवमेव वृष्टि के अधिष्ठाता सोम के साहचर्य्य से 'ऐन्द्रवायु' नाम से प्रसिद्ध 'साम्बसदाशिववायु' की भी सत्ता रहती है। श्रावण इस वायु का उद्ग्राभकाल है। अतएव श्रावणमास साम्बसदाशिव की आराधना का समय माना जाता है। यह 'शिववायु' सोम से अविनाकृत है, सोम सौम्यभाव का अधिष्ठाता है। अतएव 'सदाशिव' को 'भोलानाथ' कहा जाता है। इसप्रकार वायु से विभक्त आपोमय मण्डल के वारुणमण्डल, सोममण्डल भेद से दो विभाग होजाते हैं। दूसरे शब्दों में—एक ही आपोमण्डल सोम और आपः के भेद से दो भागों में विभक्त होरहा है। आपः भी सोम की अवस्था-विशेष का ही नाम है, एवं सोम भी आपः की अवस्थाविशेष का ही नाम है। अतएव इन दोनों को हम 'सोम-लोक' भी कह सकते हैं, एवं 'आपोलोक' भी। परन्तु जब देवासुरों की स्थानव्यवस्था का विचार किया जायगा, तो दोनों को विभक्त मानकर ही तथ्य का समन्वय करना पड़ेगा।

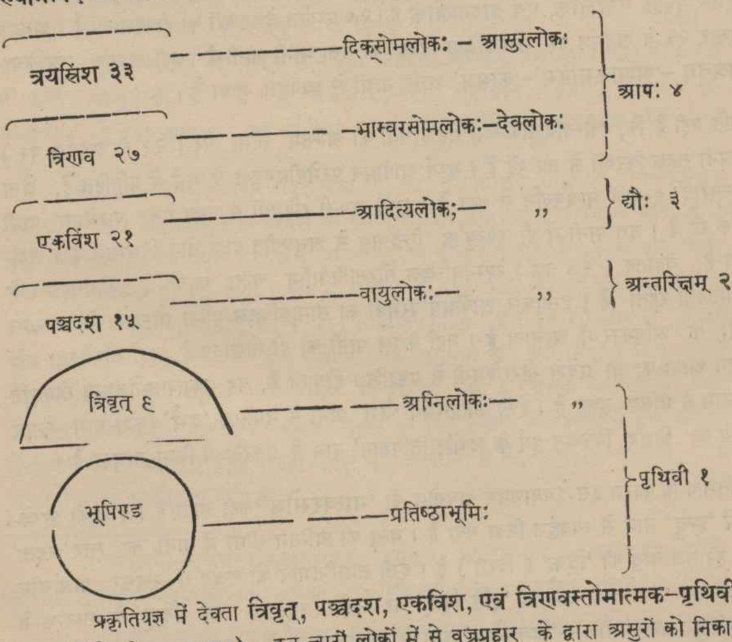
ऐन्द्रवायुमय आपोलोक इन्द्रके सम्बन्ध से देवताओं की आवासभूमि कहलाएगी, एवं वारुणमय आपोलोक वरुणके सम्बन्ध से असुरों की आवासभूमि मानी जायगी। यही कारण है कि, एकविंशस्तोम के ऊपर जहाँ वैज्ञानिकोंनें त्रयस्त्रिंशस्तोम पर्य्यन्त ( ३३ पर्य्यन्त ) आपोलोक की व्याप्ति बतलाई है, वहाँ उन्होंनें हीं २७-३३ क्रम से उस आपोमय मण्डल के दो विभाग कर दिए हैं। त्रिणवस्तोम (२७) पर्य्यन्त 'भास्वरसोम' की सत्ता मानी जाती है, एवं त्रयस्त्रिंशस्तोमपर्य्यन्त 'दिक्सोम' ( 'वारुण' नाम से प्रसिद्ध 'वृत्रसोम' ) की सत्ता मानी गई है। ये ही हमारे पूर्वोक्त ऐन्द्रलोक, एवं वारुणलोक हैं। २७ पर्य्यन्त देवताओं का ही साम्राज्य है। अतएव विज्ञान-समयानुसार २५ वें अहर्गण पर 'सौम्यविद्य द्रिन्द्र' की सत्ता मानी जाती है। यही अहर्गण 'अविवा-क्यमहः'-'महाव्रतम्'-'अशोकमहिम'-'कामप्र' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है।

वस्तुस्थिति यही है कि, स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी की अन्तिम सीमा पर ( २१ वें अहर्गण पर ) भगवान् सूर्य्य अपनी सहस्र किरणों से तप रहें हैं। सूर्य्य आपोमय परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि 'अपां गम्भन्त्सीद' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। सूर्य्य अपनी रश्मियों से धक्का देकर पारमेष्ठ्य पानी को चारों ओर फैंक रहे हैं। उस पानी में हीं उपर्य्युक्त ऐन्द्रवायु से अनुगृहीत दाह्य सोम विद्यमान है। जहाँ-तक सोम की सत्ता है, वहाँतक ( २७ तक ) रश्म्यवच्छिन्न सौरसावित्राग्नि चला जाता है। सोमसम्बन्ध से रश्मियों को बल मिलता रहता है। इसप्रकार आपोमय परमेष्ठी का सोमावच्छिन्न प्रदेश सौरप्राण से आक्रान्त होकर सौरदेवताओं के अधिकार में आजाता है। जहाँ केवल पानी का ही साम्राज्य है, वहाँ सौरदेवता नहीं जासकते। पारमेष्ठ्य आपः का जो प्रदेश सौररश्मियों से प्रकाशित होजाता है, वह प्रकाशित-तेजोमय सोममूर्त्ति पानी हीं 'वेन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इसी ज्योतिर्म्मय 'वेन' पानी से सुप्रसिद्ध 'दर्भ' (कुश-डाभ) उत्पन्न हुई हैं। इस विषय का विशद विवेचन पूर्व के 'दर्भोत्पत्तिविज्ञान' नाम के प्रकरण में किया जाचुका है।

इसी ज्योतिर्भाव के कारण इस देवप्राणमय अप्सोम को 'भास्वरसोम' कहा जाता है। इसी को ऋग्वे-दस्थ सोमप्रकरण में 'इन्दु' नाम से व्यवहृत किया गया है। वस्तु की अन्तिम सीमा में पानी का स्तर रहता है। अन्तिम सीमा हीं उस वस्तु की 'दिक्' ( दिशा ) है। इसी समाप्तिभाव को लक्ष्य में रखकर अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य में प्रकरण-समाप्ति के अन्त में 'इति दिक्' यह निर्देश रहता है। इस 'दिक्' के सम्बन्ध से ही वृत्रसोममय वह विशुद्ध आसुरलोक—'दिक्सोम' नाम से व्यवहृत हुआ है। अहर्गणक्रमानुसार पृथिवी के

२६वें अहर्गण पर 'गोसव' नाम का 'वैष्णवयज्ञ' होता है । यहीं विष्णु देवता की प्रतिष्ठा है । यहाँ ज्योतिरूप इन्द्र का अभाव है। केवल तमोमय रात्रिविधाता आसुरप्राण का ही साम्राज्य है। अतएव २६ वें अहर्गणस्थ आपोमय मण्डलस्थ पारमेष्ठय विष्णु को सदा 'योगनिद्रा' से समन्वित माना जाता है । यह स्थान २७ से ऊपर है । यही गोसवयज्ञात्मक गोष्ठान है । प्रकृत में इसे ही असुरों की आवासभूमि बतलाया गया है । २१ से ऊपर ३३ पर्य्यन्त का सम्पूर्ण स्थान अप्साधारणयेन 'आपोलोक' नाम से प्रसिद्ध है । इस सामान्य–व्यवहार की अपेक्षा लोकगणना के सम्बन्ध में—'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरापः' यह व्यवहार प्रचलित है । इस आपोलोक में ३३–२७ क्रम से असुरलोक, देवलोक, दोनों प्रतिष्ठित हैं । अतएव जहाँ श्रुति को ( यज्ञिय कर्म्मों में ) त्रिणवस्तोमावच्छिन्न भास्वरसोमात्मक आपोमय देवलोक अभिप्रेत होता है, वहाँ वह आपोलोक के साथ 'देवलोक' का विशेषण लगाती हुई—'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' यह बोल दिया करती है । दिक्सम्बन्ध से—'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशः' यह व्यवहार भी देखा जाता है ।

इसप्रकार पर्वोक्त प्रकरण से पाठकों को यह मान लेना पड़ेगा कि, चतुर्थ लोक से प्रसिद्ध केवल पारमेष्ठय आपोलोक के ही आपः, सोम, ( दिक् सोम, भास्व सोम ) भेद से दो भेद होजाते हैं । आपोलोक आसुरलोक है, एवं सोमलोक देवलोक है । पार्थिव–गायत्री के द्वारा इसी सोम का अपहरण होता है । वह सोम कैसे गायत्री के द्वारा पृथिवी में आता है ?, इस का उत्तर—'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते' इत्यादि रूप से तृतीयकाण्ड में द्रष्टव्य है ।




प्रकृतियज्ञ में देवता त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश, एवं त्रिणवस्तोमात्मक–पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः ( देवलोकरूप अपः ), इन चारों लोकों में से वज्रप्रहार के द्वारा असुरों को निकाल कर स्तोमगणना

की अपेक्षा से त्रयस्त्रिंशरूप पाँचवें लोक में, एवं लोकगणना की अपेक्षा से ( अप्सामान्य की अपेक्षा से ) चतुर्थ, गोष्ठानरूप, वैष्णवधामात्मक आपोलोक में मार भगाते हैं । इसी लोकविज्ञान की अपेक्षा से—"देवताओंनें चारों लोकों से असुरों को वज्रप्रहार के द्वारा निकाल दिया, एवं चौथे गोष्ठानरूप आपोलोक में उन्हें डाल दिया, जिस से वे उस अपने लोक से कभी बाहिर न जासकें" श्रुति के उपर्युक्त दोनों विरुद्ध व्यवहार यथावत् समन्वित होजाते हैं ।

प्रथम प्रहार से अध्वर्यु ने त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक में रहने वाले सब असुरों को मार भगाया । अब क्रमप्राप्त द्वितीय प्रहार से पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष में रहने वाले असुरों के नाश की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—'अथ द्वितीयं प्रहरति' ।

**'आपोमय परमेष्ठी में रहने वाले वारुण असुरोंनें सृष्टि के आरम्भ में यज्ञिय-वेदिरूपा सौम्यत्रिलोकी में रहने वाले प्राणदेवताओं पर आक्रमण किया था'** यह पूर्व के आधिदैविक—आख्यान-रहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है । पृथिवी—अन्तरिक्ष-द्यौ-आपः, इन चारों लोकों में व्याप्त आसुर वारुणप्राण भी चार ही भागों में विभक्त है । वे चारों अवस्थाएँ क्रमशः **तृण—अरुरु—द्रप्स—आपः** इन नामों से व्यवहृत होतीं हैं । पार्थिव ओषधियों का मूलभाग ( अन्नशून्य दण्डभाग—जिसे कूटकर पशुओं को दिया जाता है, एवं ऐसे तृणविशेष, जो मनुष्य के उपयोग में न आकर केवल पशुओं के ही उपयोग में आते हैं ) आसुरप्राणाक्रान्त हैं । इसी सामानाधिकरण्य को लक्ष्य में रखकर ऋषिने पार्थिव तृणादि को पार्थिव—संस्था में भुक्त वारुण—असुरों का निदान माना । अन्तरिक्ष में वायु की प्रधानता है । ऐन्द्रवायु जहाँ दिव्य है, वहाँ वृष्टिविरोधी वारुणवायु आसुर है । तृणावच्छिन्न पार्थिव असुरों की ( आसुरप्राण की ) गति तो एक ओर ही रहती है । किन्तु वायुगत आन्तरिक्ष्य असुर गतिप्रधान होते हुए चारों ओर फैल जाते हैं । चारों दिशाओं में इनका सञ्चार है । अतएव आन्तरिक्ष्य असुरजाति को ऋग्वेदने 'चतुष्पाद' कहा है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला हैं । पश्चिमा दिक् इनकी जन्मभूमि है । चारों दिशाएँ सञ्चारभूमि है । वृष्टि का विरोध करना इस असुरजाति का मुख्य काम है । यही जाति **'अरुरु'** नाम से प्रसिद्ध है । ऐन्द्रवायुगत मरुत्वानिन्द्र के वज्र से यह उत्क्रान्त होजाता है, तब कहीं वृष्टि होती है । अरुरु के इसी स्वरूप-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

**दस्मो हि ष्मा वृषणं पिन्वसि त्वचं कञ्चिद्यावीररुरं शूर मर्त्यं परिवृणक्षि मर्त्यम् ।**
**इन्द्रोत तुभ्यं तद्दिवे तद्रुद्राय स्वयशसे मित्राय वोचं वरुणाय सप्रथः सुमृडीकाय सप्रथः ॥**

—ऋक्सं० १।१२६।३।

तीसरा द्युलोक में रहने वाला असुर 'द्रप्स' रूप है । वृष्टिबिन्दु ही द्रप्स है । 'वृष्टि वै द्यौः' इस तैत्तिरीय—सिद्धान्त के अनुसार वृष्टि ही द्यौ है । पारमेष्ठ्य असुर 'द्यु' में आकर सर्वप्रथम वृष्टिरूप में हीं परिणत होता है । वृष्टिबिन्दु को 'द्रप्स' कहा जाता है । प्रकाश में देवता की प्रधानता है, एवं पानी में असुर की प्रधानता है । प्रकाश, और ताप कैसा, और कितना हीं प्रबल क्यों न हो, मनुष्य इसका आक्रमण सह जाता है । घोर आतप ( धूप ) में तो मनुष्य जासकता है । किन्तु वृष्टि का साधारण आक्रमण भी वह नहीं सह सकता । पानी की साधारण बिन्दुओं को तो फिर भी मनुष्य यथाकथंचित् सह जाता है । परन्तु यदि वेग से

बड़ी बड़ी बिन्दुओं के रूप में वृष्टि होने लगे, तो वे बिन्दुएँ असह्य होजातीं हैं। क्योंकि इनमें **'असुरप्राण'** प्रतिष्ठित है। **'सीकर'** [ **बिखरे हुए जलकण** ] जहाँ विकासरूप इन्द्र के सम्बन्ध से शरीर को बड़े सुहावने लगते हैं, वहाँ स्थूलबिन्दुएँ आसुरप्राणप्रधान बन कर शरीर के लिए क्षोभ का कारण बन जातीं हैं। इन बड़ी बिन्दुओं के लिए ही **'द्रप्स'** शब्द प्रयुक्त हुआ है।

**हृदयबिन्दु, पृषद्बिन्दु, स्तोकबिन्दु, द्रप्सबिन्दु**–भेद से बिन्दुभाव चार भागों में विभक्त है। सर्वाकार–अधिष्ठात्री, किन्तु स्वयं निराकार–बिन्दु ही **'हृदयबिन्दु'** नाम से प्रसिद्ध है। यह स्वानुभवैकगम्या है। यद्यपि शिक्षणकाल में अध्यापकवर्ग लेखिनी से पत्र पर स्पर्श कराके हृदयबिन्दु का आकार बतलाया करते हैं। परन्तु वस्तुतः यह आकार–**'उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः'** ही है। क्योंकि भले ही आप सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु बनाइए, उसमें भी हृदयभाव उत्पन्न होजायगा। उसका भी कोई न कोई केन्द्र अवश्य रहेगा। ऐसी अवस्था में यह मानलेना पड़ता है कि, हृदयबिन्दु का कोई आकार नहीं है। दूसरी है 'पृषद्बिन्दु' फव्वारे की छोटी छोटी बिन्दुएँ, ललाट के प्रस्वेद[**पसीने**],दूर्वा आदि पर रहने वाली रात्रि की ओस की बिन्दुएँ, ये सब **'पृषत्'** हैं। जिस मेह के लिए **'झरमर-झरमर-नानी नानी बुँदनियाँ'** यह कहा जाता है, वही सीकर [ **अम्बुकण–जलकण–पानी कीं कणिकाएँ** ] **'पृषत्'** हैं। साधारणरूप से जो पानी बरसता है, उसमें जो बिन्दु हैं, वे **'स्तोक'** नाम से व्यवहृत होतीं हैं। **'दो बूँद दवा की लेना'–'दो बूँद अमुक की लेना'** यह व्यवहार जिस बिन्दुभाव के लिए लोक में सामान्यरूप से प्रचलित है, उसी को **'स्तोक'** कहा जाता है। साधारण व्यवहार में बिन्दु से इस स्तोकबिन्दु का ही ग्रहण किया जाता है।

चौथी है-**'द्रप्स'**। कभी कभी आकाश से गिरने वाली बिन्दुओं का आकार बहुत बड़ा होता है। इनका प्रहार आप कभी नहीं सह सकते। इसी को लोकभाषा में **'टपका'** कहा जाता है। बिन्दुभाव की यह अन्तिम–सीमा है। इससे बडी जितनी बिन्दुएँ होगीं, सबका इस **'द्रप्स'** में ही अन्तर्भाव कर लिया जायगा। और तो और, स्वयं सूर्य्य को भी **'द्रप्सश्चस्कन्द'** इत्यादि रूप से **'द्रप्स'** ही कहा जाता है। पुराण कहता है—**'तुह्मारा यह बृहत्सूर्य्य आपोमय परमेष्ठी—समुद्र का एक बुद् बुद् (बुलबुला) मात्र है'**, तो इधर वेदभगवान् कहते है– **'परमेष्ठी प्रजापति का द्रप्स'** ही प्रवर्ग्यरूप से उसी प्रकार अन्तरिक्ष में आगया है, जैसे कि–वारुण–मेघ से 'टपका' भूमि पर आपड़ता है। वही सूर्य्य बनकर त्रैलोक्य में साम्राज्य कर रहा है। निवेदनीय यही है कि, **'द्रप्स'** सबसे बड़ी बिन्दु का नाम है। वृष्टि जिस द्युलोक से आरम्भ होती है, उस मूलस्थान से चलते हुए तो पानी द्रप्सरूप में ही परिणत रहता है। नीचे आते आते वायु के आघात से बिन्दुएँ छोटीं होजातीं है। द्युलोकस्थ वर्षा का द्रप्स प्रातिस्विक स्वरूप है। यह वारुणभावापन्न असुर की ही प्रतिकृति है।

चौथा असुर वही पारमेष्ठ्य है। तीन को हम देखते हैं। चौथे को हम अपने चर्म्मचक्षुओं से नहीं देखते। **'एतद्वै सत्यं निहितं यच्चक्षुः'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार चक्षु हमारे सत्यभाव का आलम्बन है। अतः इस चौथे का न नाम बोला जाता, न प्रहारकाल में मन्त्रप्रयोग ही होता। शेष तीनों प्रहार समन्त्रक होते हैं, यह आरम्भ के पद्धति–प्रकरण से गतार्थ ही है। इसप्रकार चार प्रहारों के द्वारा भूप्रदेश को देवयजनसम्पत्ति से युक्त कर लिया जाता है। यज्ञ साधारण कर्म्म नहीं है। अपितु आधिभौतिक अनुरूप दिव्यभावापन्न पदार्थों के द्वारा, मन्त्रशक्ति के द्वारा आधिदैविक सौर–प्राणदेवताओं को आध्यात्मिक–जगत् में अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से प्रतिष्ठित कर आगन्तुक दिव्यप्राण के अतिशयस्वरूप सर्वथा नवीन **दिव्यात्मा (दैवा–**

त्मा) को उत्पन्न कर इसके साथ होने वाली हृद्ग्रन्थि के आकर्षण से मानुषात्मा ( कर्म्मात्मा-जीवात्मा ) को सप्तदशस्तोमरूप नाचिकेत स्वर्ग में प्रतिष्ठित कराने वाला एक अपूर्व, किन्तु **दुर्गमपथ** है। यत्किञ्चित् सी असावधानी से महान्-अनिष्ट होजाने की सम्भावना है।

अतः बहुत सोच समझकर ही अपनी मानुषभावोपेता कुतर्कमूला भावनाओं का सर्वथा तिरस्कार कर ऋषिगने जैसी आज्ञा दी है, जो पद्धतियाँ **ब्राह्मण-श्रौत-गृह्यसूत्रादि-रूप** से हमारे सम्मुख रक्खी हैं, ठीक उन्हीं का अनुसरण करते हुए हमें **यज्ञियवितान** करना चाहिए, इसी में हमारा, न केवल हमारा ही, अपितु हमारे वंशजों का (भी) अभ्युदय है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए कृष्णश्रुति के प्रवर्त्तक महर्षि तित्तिरिने प्रश्न किया है कि, **"इस प्रहारकर्म्म का एकमात्र प्रयोजन यही तो है कि, जिस भूप्रदेश पर वेदि बनने वाली है, उस भूप्रदेश के कङ्कर, दूषित मिट्टी-दूषित तृणादि हटाकर उसे साफ सुथरी बनाली जाय। इस यत्किञ्चित् से काम के लिए एक विशेष प्रकार का काष्ठमय स्फ्य बनाना, फिर उसका क्रमशः चार बार प्रहार करना, इन सब आडम्बरों की क्या आवश्यकता है ?। भूमि को ही तो स्वच्छ करना है। यह काम तो अध्वर्य्यु अल्पसमय में अपने हाथ से भी कर सकता है"**। बात सुनने में बड़ी अच्छी लगती है। आजकल के नवयुवक तो महर्षि तित्तिर के इन पूर्वपक्षी विचारों का हृदय से अभिनन्दन ही करने लगेंगे। आगे जाकर इस कुतर्क से होने वाली भयङ्कर हानि का दिग्दर्शन कराते हुए तित्तिरि कहते हैं कि-"**सावधान ! कहीं ऐसी मूर्खता न कर बैठना**। यह तुम्हारा अशनपान-(खानपान सम्बन्धी लौकिक व्यवहार नहीं है, जिसे जैसा मन में आया कर लिया। यदि पद्धति की उपेक्षा कर अपनी सुविधा को आगे रखते हुए तुमने स्फ्य के स्थान में हाथों से ही उपर्य्युक्त कर्म्म कर लिया, तो तुम्हारे नखों में विकृति उत्पन्न होजायगी।

इस पर यदि कुतर्की यह आपत्ति उठावे कि, नहीं, **'हम बड़ी सावधानी से देखकर काम करेंगे, जिससे नख पर आघात न होने पावे'**। इस भौतिक कुतर्क का समूल विनाश करते हुए तित्तिरि कहते हैं कि, यहाँ तुम्हारी सावधानी, असावधानी का कोई मूल्य नहीं है। यह तो **प्राणव्यापार** है। प्राण चर्म्मचक्षु से परे की वस्तु है। इसका प्रभाव तुम्हारे वंशजों पर भी होगा। तुम्हारे से आगे उत्पन्न होने वाले तुम्हारे सब वंशजों के नख विकृत होजायँगे। सब 'कुनखी' उत्पन्न होंगे। इसलिए पद्धति के सम्बन्ध में तुम्हें सदा **"लक्षणैकचक्षुष्का वयम्"—शब्दप्रमाणका वयं-यदस्माकं शब्द आह-तदस्माकं प्रमाणम्"** इस आदेश के अनुसार ही चलना चाहिये। (देखिए तै० ब्रा० ३ कां०।२ प्र ६ अनु०। १० कं)।

उपर्य्युक्त सम्पूर्ण ब्राह्मण के द्वारा केवल यही बतलाया गया है कि, अध्वर्य्यु नाम का ऋत्विक भूप्रदेश को स्वच्छ-निष्कण्टक-निस्तृण-(साफ-सुथरा) बना कर उसे वेदियोग्य ( पद्धति के अनुसार ) बनाले, तदनुसार यथोक्ता पद्धति से अध्वर्य्यु ने भूविशोधन कर लिया है। अब आगे के ब्राह्मण से **'वेदिखनन-प्रकार'** ही उपक्रान्त होता है। ॥१७,१८,१९,२०,२१॥

## प्रथमकाण्डानुगत द्वितीयाध्याय का चौथा ब्राह्मण,
## एवं
## द्वितीय-प्रपाठक का दूसरा ब्राह्मण उपरत

—•—*—•—

श्री:

# अथ–प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्
# द्वितीयप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणम्

---*---

## १२-वेदिपरिग्रहः

---*---

( मूल )-देवाश्च वा असुराश्च–उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । 'ततो देवा अनुव्यमिवासुः । अथ हासुरा मेनिरे-अस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति ॥१॥

ते होचुः–हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै, तां विभज्योपजीवामेति । तामौक्षणैश्चर्म्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः ॥२॥

तद्वै देवाः शुश्रुवुः--विभजन्ते ह वा इमामसुराः पृथिवीम , प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते, के ततः स्याम–यदस्यै न भजेमहीति । ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः ॥ ३ ॥

ते होचुः–अनु नोऽस्यां पृथिव्यामाभजत, अस्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति । ते हासुरा असूयन्त इवोचुः–यावदेवैष विष्णुरभिशेते, तावद्वो दद्म इति ॥४॥

वामनो ह विष्णुरास । तद्देवा न जिहीडिरे–महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति ॥ ५ ॥

ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्-गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि ( १ अ० २७ मं० ) इति । दक्षिणतः त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि ( १ अ० २४ मं० ) इति । पश्चात् । जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि [ १ अ० २७ मं० ] इति । उत्तरतः ॥६॥

तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य, अग्निं पुरस्तात् समाधाय, तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः । तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त । तद् यदेनेनेमां सर्वां समविन्दन्त, तस्माद्वेदिर्नाम ।

तस्मादाहुः--यावती वेदिः, तावती पृथिवीति-एतया हीमां सर्वां समविन्दन्त । एवं ह वा इमां सर्वां सपत्नानां संवृङ्क्ते । निर्भजत्यस्यै सपत्नान्--य एवमेतद्वेद ॥७॥

सोऽयं विष्णुर्ग्लानः, छन्दोभिरभितः परिगृहीतः, अग्निः पुरस्तात् नापक्रमणमास । स तत एवौषधीनां मूलान्युपम्लुम्लोच ॥८॥

ते ह देवा ऊचुः-क नु विष्णुरभूत्, क नु यज्ञोऽभूदिति । ते होचुः-छन्दोभिरभितः परिगृहीतः, अग्निः पुरस्तात्, नापक्रमणमस्ति, अत्रैवान्विच्छतेति । तं खनन्त इवान्वीषुः । तं त्र्यंगुलेऽन्वविन्दन । तस्मात् त्र्यंगुला वेदिः स्यात् । तदु हापि पाञ्चिः--त्र्यंगुलामेव सौम्यस्याध्वरस्य वेदिं चक्रे ॥९॥

तदु तथा न कुर्यात् । ओषधीनां वै स मूलान्युपाम्लोचत्-तस्मात्-ओषधीनामेव मूलान्युच्छेत्तवै ब्रूयात् । यन्न्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दन्-तस्माद्वेदिर्नाम ॥१०॥

तमनुविद्योत्तरेण परिग्रहेण पर्यगृह्णन्-"सुक्ष्मा चासि शिवा चासि"--( १ अ० २७ मं० ) इति । दक्षिणत इमामेवैतत् पृथिवीं संविद्य सुक्ष्मां शिवामकुर्वत । "स्योना चासि सुषदा चासि"-[ १ अ २४ मं० ] इति । पश्चादिमामेवैतत् पृथिवीं संविद्य स्योनां सुषदामकुर्वत । "ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च"-( १ अ० २७मं० ) इति । उत्तरत इमामेवैतत् पृथिवीं संविद्य रसवतीमुपजीवनीयामकुर्वत ॥११॥

स वै त्रिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति, त्रिरुत्तरम् । तत् षट्कृत्वः, षड् वा ऋतवः सम्वत्सरस्य । सम्वत्सरो यज्ञः प्रजापतिः, स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् परिगृह्णाति ॥१२॥

षड्भिर्व्याहृतिभिः पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति, षड्भिरुत्तरम् । तद् द्वादशकृत्वः । द्वादश वै मासाः सम्वत्सरस्य, सम्वत्सरो यज्ञः प्रजापतिः । स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् परिगृह्णाति ॥१३॥

व्याममात्री पश्चात् स्यादित्याहुः । एतावान् वै पुरुषः, पुरुषसम्मिता हि । त्र्यरत्निः प्राची । त्रिवृद्धि यज्ञः । नात्र मात्रास्ति, यावतीमेव स्वयं मनसा मन्येत तावतीं कुर्यात् ॥ १४ ॥

अभितोऽग्निमंसावुन्नयति । योषा वै वेदिः, वृषाग्निः । परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते । मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते । तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयति ॥१५॥

सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात् मध्ये संह्वारिता, पुनः पुरस्तादुर्वी । एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति--पृथुश्रोणिः, विमृष्टान्तरांसा, मध्ये संग्राह्येति । जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति ॥ १६ ॥

सा वै प्राक्प्रवणा स्यात्–प्राची हि देवानां दिक् । अथो उदक्प्रवणा–उदीचि हि मनुष्याणां दिक् । दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति--एषा वै दिक् पितृणाम् । सा यद्दक्षिणा–प्रवणा स्यात्–क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात् । तथो ह यजमानो ज्योग् जीवति । तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहति । पुरीषवतीं कुर्वीत- पशवो वै पुरीषं, पशुमतीमेवैनामे--तत कुरुते ॥१७॥

तां प्रतिमार्ष्टि । देवा ह वै संग्रामं सन्निधास्यन्तस्ते होचुः–हन्त यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनं तच्चन्द्रमसि निदधामहै । स यदि न इतोऽसुरा जयेयुः, तत एवा--र्चन्तः श्राम्यन्तः पुनरभिभवेमेति । स यदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनमासीत्तच्चन्द्र–मसि न्यदधत । तदेतच्चन्द्रमसि कृष्णम् । तस्मादाहुः--चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयज--नमिति । अपि ह वा अस्यैतस्मिन् देवयजन इष्टं भवति । तस्माद्वै प्रतिमार्ष्टि ॥१८॥

स प्रतिमार्ष्टि--"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्"–( १ अ० २५ मं० ) इति । संग्रामो वै क्रूरम् । संग्रामे हि क्रूरं क्रियते--हतः पुरुषः, हतोऽश्वः शेते । पुरा ह्येतत्संग्रा--मान्न्यदधत । तस्मादाह---पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्निति । "उदादाय पृथिवीं जीवदानुम्"–( १ अ० २८ मं० ) इति । उदादाय हि यदस्यै पृथिवी जीवदानु--मिति ।"यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिः"– (१ अ०–२८ मं०) इति । यां चन्द्रमसि न्यदधुरित्येवैतदाह–"तामु धीरासोऽनुदिश्य "–[ १ अ० २८ मं० ] इति । एतेनो ह तामनुदिश्य जयन्ते । अपि ह वा अस्यैतस्मिन् देवयजन इष्टं भवति–य एवमेतद्वेद ॥ १९ ॥

अथाह–"प्रोक्षणीरासादय"–( १ अ० २८ मं० ) इति । वज्रो वै स्फ्यः, ब्राह्मणश्च, इमं पुरा यज्ञमभ्यजूगुपताम् । वज्रो वा आपः । तद् वज्रमेवैतद्भिगुप्त्यै–आसादयति । स वा उपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति । अथ यन्निहित एव स्फ्ये प्रोक्षणीरासादयेद्–वज्रौ ह समृच्छेयाताम् । तथो ह वज्रौ न समृच्छेते । तस्मा-दुपर्युपर्येव प्रोक्षणीषु धार्यमाणास्वथ स्फ्यमुद्यच्छति ॥ २० ॥

अथैतां वाचं वदति–प्रोक्षणीरासादय, इध्मं बर्हिरुपसादय, स्रुचः सम्मृड्ढि, पत्नीं सन्नह्याज्येनोदेहि; इति । संप्रैष एवैषः । स यदि कामयेत–ब्रूयादेतत् । यद्यु कामयेत–अपि नाद्रियेत । स्वयमु ह्येवैतद् वेद–इदमतः कर्म कर्त्तव्यमिति ॥ २१ ॥

अथोदञ्चं स्फ्यं प्रहरति–अमुष्मै त्वा वज्रं प्रहरामीति यद्यभिचरेद् । वज्रो वै स्फ्यः, तृणुते हैवेनेन ॥ २२ ॥

अथ पाणी अवनेनिक्ते । यद्वचस्यै क्रूरमभूत्–तद्वचस्या एतदहार्षीत् । तस्मात् पाणी अवनेनिक्ते ॥ २३ ॥

स ये हाग्र ईजिरे, ते ह स्मावमर्शं यजन्ते, ते पापीयांस आसुः । अथ ये नेजिरे ते श्रेयांस आसुः । ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद–ये यजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति; य उ न यजन्ते श्रेयांसस्ते भवन्तीति । तत इतो देवान् हविर्न जगाम––इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति ॥ २४ ॥

ते ह देवा ऊचुर्बृहस्पतिमाङ्गिरसम्––अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत, तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति । स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः––कथा न यजध्व इति । ते होचुः–किंकाम्या यजेमहि, ये यजन्ते पापीयांसस्ते भवन्ति, य उ न यजन्ते––श्रेयांसस्ते भवन्तीति ॥ २५ ॥

स होवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–यद्वै शुश्रुम देवानां परिषूतं तदेष यज्ञो भवति । यच्छृतानि हवींषि, क्लृप्ता वेदिस्तेनावमर्शमचारिष्ट । तस्मात्पापीयांसोऽभूत । तेनानवमर्शं यजध्वम्, तथा श्रेयांसो भविष्यथेति । आ कियत इति । आ बर्हिषस्तरणादिति । बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति । स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत, बर्हिरेव तत् स्तृणन्नापस्येत् । अथ यदा बर्हिस्तृणन्ति–अपि पदाभितिष्ठन्ति । स यो हैवं विद्वाननवमर्शं यजते, श्रेयान् हैव भवति । तस्मादनवमर्शमेव यजेत ॥ २६ ॥

## इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्
## द्वितीयप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणम्

## द्वितीयोऽध्यायश्च समाप्तः

२

( अनुवाद )—प्रजापति की सन्तान होने से 'प्राजापत्य' नाम से प्रसिद्ध देवता, और असुर, दोनों ( एक समय परस्पर ) स्पर्द्धा करने लगे। ( इन दोनों की हम बलवान् हैं. नहीं हम बलवान् हैं, इस प्रकार की स्पर्द्धा में ) देवता ( असुरों की अपेक्षा ) पराजित से होगए। ( अर्थात् असुरों के आक्रमण को सहने में असमर्थ होते हुए देवता एकबार सर्वथा निराश होते हुए उदासीन बनकर चुप होगये। ( देवताओं की इस उदासीनता से अनुचित लाभ उठाते हुए ) असुरोंने यह समझ लिया कि ( देवता तो कुछ बोलते नहीं हैं। अब अपने साथ प्रतिस्पर्द्धा करने वाला और कौन है। ऐसी अवस्था में ) यह सम्पूर्ण 'भुवन' सम्पूर्ण भूमण्डल अपना हीं है। ( इसप्रकार सम्पूर्ण भूमण्डल को अपनी हीं सम्पत्ति समझ कर ) आसुर-मण्डलने परस्पर समवेत होकर, सुसंघठित बनकर यह निश्चय किया कि ( चलो अब दूसरे का तो डर है नहीं ) अपन ( सुविधानुसार ) ही इस पृथिवी का विभाग करलेंगे। ( अपनी अपनी सुविधा के अनुसार इस पृथिवी का विभाग कर इस स्व स्व दायभाग से ) अपन ( आनन्दपूर्वक ) जीवन व्यतीत करैं।

( इसप्रकार सम्पूर्ण पृथिवी-मण्डल को अपनी हीं प्रातिस्विक ( निजी ) सम्पत्ति समझते हुए ) इन बलप्रधान असुरोंनें ( बैलों को बाँधने की, अतएव ) 'औक्षण' नाम से प्रसिद्ध चर्म्ममयी रज्जु ( चमड़े की डोरी ) से पश्चिम की ओर से पृथिवी का विभाग करना आरम्भ करते हुए पूर्व की ओर आना आरम्भ कर दिया। ( अर्थात् देवताओं की यत्किञ्चित् भी अपेक्षा न रखते हुए मापसाधनभूता चर्म्मरज्जु से अपनी सुविधानुसार इन्होंनें पृथिवी को पश्चिम से नापना आरम्भ कर, नापते हुए पूर्व की ओर बढ़ने लगे। ( इधर देवता पूर्व में रहते थे ) गुप्तचरों के द्वारा इन देवताओंनें सुना कि, ( अपनी उदासीनता से अनुचित लाभ उठाते हुए दुष्टबुद्धि ) असुर सम्पूर्ण पृथिवी का विभाग करते हुए ( सब को अपनी हीं सम्पत्ति मानते हुए ) पूर्व की ओर चले आरहे हैं। ( अब तो देवता चिन्तित हुए, तत्काल परस्पर मन्त्रणा कर ) देवताओंनें निश्चय किया कि, ( अब चुप बैठने से काम नहीं चल सकता ) चलो अपन वहाँ चलें, जहाँ कि असुर ( अपने आप को ही इस पृथिवी के अन्यतम-असपत्न-भोक्ता समझते हुए ) इस पृथिवी का विभाग कर रहे हैं।

अरे भला सोचो तो सही कि, यदि सम्पूर्ण पृथिवी-मण्डल असुरोंनें हीं परस्पर बाँट लिया ), अपन यदि इसका विभाग न कर सके ( अर्थात् अपने को भूप्रदेश न मिला तो ) बतलाओ अपन क्या रह जायँगे ?। अर्थात् जब सम्पूर्ण पृथिवी-मण्डल असुरों के अधिकार में चला जायगा, तो अपन कहाँ रहेंगे। फिर तो अपने को इन की प्रजा बन कर असुरों की दया पर ही जीवित रहना पड़ेगा। ( इसप्रकार मन्त्रणा कर देवताओंनें 'यज्ञ' नाम से प्रसिद्ध 'विष्णु' को आगे किया, और वहाँ आपहुँचे ( जहाँ कि असुर मनमानी कर रहे थे )। ( वहाँ पहुँच कर अभिनिवेश में आते हुए ) देवता कहने लगे कि, हमारे लिए भी इस पृथिवी में विभाग रक्खो। ( यह केवल तुह्मारी ही प्रातिस्विक सम्पत्ति नहीं हैं, तुह्मी प्रजापति की सन्तान नहीं हो। हम भी 'प्राजापत्य' हैं। ( ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि, ) इसमें हमारे लिए भी दायविभाग रहे।

देवताओं के इस आकस्मिक आगमन से असुर हृदय ही हृदय में दग्ध होपड़े ( जलउठे )। उन्होंने सोचा कि, अब क्या करना चाहिए, बुरे समय में इनका आगमन हुआ। ये तो ठीक समय पर आधमके। यदि विभाग करने के अनन्तर आते, तब तो कोई चिन्ता न थी। परन्तु जब इस अवसर पर ये आ ही पहुँचे है, तो इन्हें मना भी नहीं किया जासकता। कुछ न कुछ तो देना हीं पड़ेगा अब इन्हें। यह सोचते हुए तत्काल इन दुष्टोंनें मन्त्रणा की कि, देवताओं के अग्रगामी विष्णु हैं। ये वामन हैं, सब से छोटे हैं। विष्णुरूप यज्ञ इन देवताओं का आराध्य है। अतएव इन्हें तो यज्ञात्मक विष्णु हीं सबसे अधिक प्रिय हैं। अतः यदि यज्ञमात्रवितानयोग्य थोड़ा सा भूप्रदेश इन को मिल जायगा, तो ये सन्तुष्ट होजायँगे, यह निश्चय कर ) अपने नाक-भौं सिकोड़ते हुए, मुखाकृति विकृत करते हुए, ईर्ष्याभाव प्रकट करते हुए असुर कहने लगे कि, तुम्हारे ( अग्रगामी ) ये विष्णु जितना प्रदेश अपने शयन के लिए पर्याप्त समझते हैं ( अर्थात् तुम्हारा यज्ञ जितनी दूर में व्याप्त होसकना है। ) उतना प्रदेश हम तुम्हें देने के लिए सन्नद्ध हैं। विष्णु वामन थे। ( उधर असुरों को 'वामन' का वह त्रैलोक्य-व्यापक स्वरूप विदित न था। उन्होंने तो समझ रक्खा था कि, यज्ञविष्णु वामन है। छोटा सा स्वरूप इन का है। बहुत होगा तो क्रोश ( कोस ), दो क्रोश में वामनयज्ञ का वितान होजायगा। उधर देवताओं का काम बन गया। 'हम तो विष्णुसम्मित भूप्रदेश तुम्हें देसकते हैं, अधिक नहीं'

( असुरों के इस कथन से ) देवगण ने अपना कोई अनादर न समझा। उन्होंनें ( पूर्ण प्रसन्नता प्रकट करते हुए परस्पर कहा कि ) अरे ! अपने को जो इन्होंनें यज्ञसम्मित भूप्रदेश दे दिया, वह तो बहुत कुछ दे दिया ( यह भाव प्रकट किया )। ( असुर वचनबद्ध होगए थे यज्ञ-सम्मित भूप्रदेश के लिए। अतएव अब वे कुछ नहीं बोल सकते थे। फिर क्या था, तत्काल ) देवताओंनें विष्णु को पूर्व की ओर मस्तक करके शयन करा दिया। 'हम आपको गायत्रछन्द से वेष्टित करते हैं, यह कहते हुए दक्षिण भाग से विष्णु को घेर लिया। 'हम आपको त्रैष्टुभ छन्द से सीमित करते हैं' यह कहते हुए पश्चिम भाग से घेर लिया। 'हम आपको जागत छन्द से सीमित करते हैं', यह कहते हुए उत्तर की ओर से विष्णु को सीमित कर दिया। इसप्रकार ( विष्णु को पूर्व में प्रतिष्ठित कर दक्षिण-पश्चिम-उत्तर, तीनों ओर से गायत्र्यादि तीनों छन्दों से ) चारों ओर से घेरकर, पूर्व दिशा में आहवनीयाग्नि प्रतिष्ठित कर ( इस अग्निसाधन से यज्ञानुष्ठान करते हुए ) इस यज्ञ के द्वारा देवताओंनें ( देवयजनयोग्य ) सम्पूर्ण पृथिवी अपने अधिकार में करली। यज्ञात्मक विष्णु की कृपा से, किंवा विष्णुरूप यज्ञ की कृपा से देवताओंनें [ उक्त प्रकार से ] सम्पूर्ण भूप्रदेश को प्राप्त कर लिया। अत व 'यज्ञेन-अविन्दन्त' इस व्युत्पत्ति के अनुसार (तभी से देवयजनयोग्या) यह सम्पूर्ण पृथिवी 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध होगई।

तभी से यह किंवदन्ती चल पड़ी कि—'जितनी बड़ी वेदि है, उतनी हीं बड़ी पृथिवी है'। इसी वेदि (मात्र) से (वेदि के व्याज से) देवताओंनें सम्पूर्ण प्रथिवी-मण्डल अपने अधिकार में कर लिया (सम्पूर्ण शत्रु इससे निकल गए। यज्ञबल से निकाल दिए गए) सो जो यज्ञकर्त्ता यजमान इस रहस्य को जानता है ( इस रहस्य को जानता हुआ उक्त प्रकार से 'वेदिपरिग्रह' करता

है, वह अपने भोग्यरूप सम्पूर्ण भूप्रदेश को सपत्नों ( शत्रुओं ) के अधिकार में से ( अपना भाग ) निकाल लेता है। स्वयं सपत्न इस याज्ञिक के लिए उसका ( भुक्तभोग्य भाग ) छोड़ देते हैं। बात यह हुई कि, देवताओंनें—'यहाँ हमारा गार्हपत्य बनेगा, यहाँ दक्षिणाग्निकुण्ड रहेगा यहाँ आहवनीय रहेगा, यहाँ वेदि बनेगी' इसप्रकार यज्ञव्याज से सम्पूर्ण भूप्रदेश (दृश्य भूप्रदेश) अपने अधिकार में कर लिया। इसप्रकार विभाग करके तत्काल वे अपनी (आराध्या, एवं स्वरूप-संरक्षिका ) यज्ञप्रक्रिया में संलग्न होगए।

१-२-३-४-५-६-७

——*——

(यज्ञरूप विष्णु का तीनों छन्दों से देवताओंनें परिग्रह किया था। विष्णुदेवता इन छन्दों से घिर कर त्रस्त, होगए, घबरा गए। दक्षिण-उत्तर-पश्चिम, का मार्ग तो क्रमशः गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-छन्दोंनें अवरुद्ध कर लिया। पूर्व का मार्ग अग्निने अवरुद्ध कर लिया। इसप्रकार चारों ओर छन्दों से परिगृहीत, अग्नि पूर्व की ओर, कोई अपक्रमणमार्ग ( भागने का मार्ग ) नहीं। इस अवस्था में विष्णु ( चारों ओर से घिरकर ) म्लान होगए। ( परिणाम यह हुआ कि, ओर किसी मार्ग से तो भागने का मार्ग मिला नहीं ) विष्णु वहीं ओषधियों के मूलों में प्रविष्ट होकर अन्तर्लीन होगए। ( देवताओंनें देखा, तो विष्णु कहीं प्रत्यक्ष में नहीं )। उन्होंनें परस्पर एक दूसरे से प्रश्नारम्भ किया कि, अरे ! विष्णु का क्या हुआ ?, यज्ञ कहाँ चला गया ?। (इधर उधर देखा, पता न लगा। अन्त में उन्होंनें यह निश्चय किया कि, भाई ) तीनों ओर से छन्दों से घिरा हुआ, एवं पूर्व में अग्नि, ऐसी अवस्था में इस स्थान से निकल जाने का तो कोई मार्ग है नहीं। (अवश्य ही विष्णु यहीं, इस वेदिसीमा के भीतर भीतर ही कहीं छुप गए होंगे ) यहीं ढूँढो। ( देर क्या थी, तत्काल देवताओंनें कुदाली हाथ में ली ओर ) भूगर्भ को खोदते हुए विष्णु को ढूँढने लगे। अन्ततोगत्वा भूपृष्ठ से तीन अङ्गुल की गहराई में उन्होंनें विष्णु को प्राप्त कर लिया।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, वेदिसाधनभूत यज्ञात्मक विष्णु को देवताओंनें भूपृष्ठ से तीन अङ्गुल की गहराई में प्राप्त किया था। अतः यज्ञकर्त्ता यजमान की वेदि त्र्यङ्गुला ही होनी चाहिए। अर्थात् जिस स्थान पर वेदि बनाना है, पहिले उसकी तीन तीन अङ्गुल मिट्टी खोदकर बाहिर निकाल देनी चाहिए। क्योंकि विष्णुरूप यज्ञ भूपृष्ठ से तीन अङ्गुल की गहराई में हीं रहता है। वहीं वेदिनिर्म्माण होना चाहिए, इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए-'पाञ्चि' नाम से प्रसिद्ध याज्ञिकने अपने सोमयाग की वेदि त्र्यङ्गुला ( त्र्यङ्गुलखाता-तीन अङ्गुल-गहरी ) ही बनाई थी।८।९।

हमारे याज्ञवल्क्य वैज्ञानिक थे। वे विज्ञानदृष्टि से पदार्थों का अन्वेषण करते थे। उधर याज्ञवल्क्य के समय से पहिले के तित्तिरसम्प्रदाय ( कृष्णयजुर्वेद-सम्प्रदाय ) के अनुयायी पाञ्चि आदि याज्ञिक केवल रूढि के ही परमभक्त थे। उनका कहना था कि, देवताओंनें तीन

अङ्गुल गहराई में विष्णु को प्राप्त किया था। अतः हमको त्र्यङ्गुलखाता ही वेदि बनानी चाहिए। इधर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, देवताओं के तीन अङ्गुल का तात्पर्य्य ठीक तीन अङ्गुल की नाप से नहीं है, अपितु त्र्यङ्गुल शब्द ओषधिमूल का ही उपलक्षण है। भूपृष्ठ पर जो ओषधियाँ प्ररोहित रहतीं हैं, उनके मूलभाग में (जड़ों में-जड़ों से संलग्न) विष्णुप्राण रहता है। होसकता है-जड़ें तीन अङ्गुल की गहराई में हों, होसकता है-तीन अङ्गुल से भी अधिक गहराई में हों। अतः ओषधिमूल जहाँतक है, ( वे फिर चाहे तीन अङ्गुल गहरे हों, कम हों, अथवा अधिक गहरे हों) वहाँतक भूप्रदेश को गहरा खोदना चाहिए। 'त्र्यङ्गुल' विधि नहीं है। अपितु सामान्य आदेशमात्र है। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर अपने गुरुश्रेष्ठ याज्ञवल्क्य का मत प्रदर्शित करते हुए उन के प्रियशिष्य—शतपथब्राह्मण को लिपिबद्ध करने वाले 'मधुश्रवा' कहते हैं—

ऐसा नहीं करना चाहिए। अर्थात् 'तीन अङ्गुल की गहराई में हीं वेदि बने' इस दुराग्रह में नहीं पड़ना चाहिए। कारण, पलायित विष्णुतत्त्व ओषधियों के मूलों में प्रविष्ट हुआ था, न कि तीन अङ्गुल की गहराई में। इसलिए अध्वर्य्यु को चाहिए कि, वह आग्नीध्र ऋत्विक् को (वेदि-निर्म्माणकाल में) ओषधियों के मूलों को उखाड़ने के लिए प्रैष करे। यहीं तो विष्णुप्राप्ति से यह स्थान 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हुआ था। तात्पर्य्य यही है कि, 'वेदि' सम्पत्ति प्राप्त करना है, अथवा त्र्यङ्गुलखाता का ही दुराग्रह है?। यदि वेदिसम्पत्ति अपेक्षित है, तब तो ओषधियों के मूल ही उखाड़नें चाहिएँ। क्योंकि जिस स्थान पर विष्णु है, वहीं—'एनेन-इमां सर्वां समविन्दन्त-तस्माद् वेदिर्नाम' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेदिसम्पत्ति है। और जहाँ ओषधिमूल हैं, वहीं वेदिस्वरूपसम्पादक विष्णु हैं॥१०॥

प्रसङ्गागत वेदिखनन-सम्बन्ध में वैज्ञानिक निर्णय कर पुनः प्रकृत कथा का अनुसरण करती हुई श्रुति कहती है कि-इसप्रकार ( खननके द्वारा अन्तर्हित विष्णु को पुनः ) प्राप्त कर देवताओंनें दूसरे परिग्रह से (पुनः) विष्णु को घेर लिया। ( अर्थात् खनन से पहिले गायत्र्यादि छन्दों से इसे सुरक्षित किया था। परन्तु उस समय यह विष्णु भीतर प्रविष्ट होगया था। आज जब वह मिल गया, तो देवता पुनः प्रकारान्तर से उसे सुरक्षित करते हैं। 'हे भूमि! आप शोभना हैं, क्षोभरहिता, अतएव शान्त हैं' यह भावना करते हुए देवताओंनें दक्षिण भाग से विष्णु के द्वारा इसी वेदियोग्या पृथिवी को प्राप्त कर इसे सुक्ष्मा (शोभना), एवं शिवा (शान्ता) बना दिया। अनन्तर-"हे भूमि! आप स्योना (सुखप्रदा) हैं, सुखदा (सुखपूर्वक बैठने का साधन) हैं" यह भावना करते हुए देवताओंनें पश्चिम की ओर से विष्णु का वेष्टन कर लिया। देवताओंनें विष्णु के द्वारा इसी वेदियोग्या पृथिवी को प्राप्त कर इसे स्योना, एवं सुषदा बना दिया। अनन्तर 'हे भूमि! आप ऊर्जस्वती (बलप्रद अन्नवती) हैं, आप पयस्वती (रसवती) हैं' यह भावना करते हुए देवताओंनें उत्तर की ओर से विष्णु को सीमित कर दिया। विष्णु के द्वारा देवताओंनें इस वेदियोग्या पृथिवी को प्राप्त कर इसे ऊर्जस्वती, एवं पयस्वती बना दिया। इसप्रकार यह देवताओं के द्वारा उपजीवनीया ( जीवनसाधनयोग्या ) बना दी गई।

इसप्रकार वेदिखनन से पूर्व तीन परिग्रह, वेदिखननान्तर उपर्य्युक्त तीन परिग्रह, इस-प्रकार देवताओं द्वाराके '६ वेदिपरिग्रह' होजाते हैं। षट्परिग्रहों की समष्टि ही षड्ऋतु की समष्टि है। षड्ऋतुसमष्टि ही सम्वत्सर है। सम्वत्सर ही विष्णुरूप यज्ञप्रजापति है। इधर ६ परिग्रहों के साथ क्रमशः ६ ही मन्त्रव्याहृतियाँ हैं। सम्भूय १२ संख्या होजाती हैं। सम्वत्सर के १२ मास हैं। सम्वत्सर विष्णुरूप यज्ञप्रजापति है। यह है प्राकृतिक यज्ञविष्णु की मात्रा-परिमाण-मिति-सीमा। यह यज्ञ जितना बड़ा है, जितनी इसकी मात्रा है, पूर्वोक्त देवक्रमानुसार षड्व्याहृति-पूर्वक ६ परिग्रह करता हुआ अध्वर्य्यु उसी यज्ञविभूति का परिग्रह कर लेता है।

११-१२-१३॥

जबतक पद्धतिक्रम अवगत नहीं कर लिया जाता, तबतक उपर्य्युक्त आख्यान का समन्वय नहीं होसकता। अतः पहिले पद्धतिक्रम को आपके सम्मुख उपस्थित किया जारहा है। भूपृष्ठ के जिस प्रदेश पर वेदि बनाई जाने वाली है, उस प्रदेश पर सर्वप्रथम अध्वर्य्यु पूर्वब्राह्मण के कथ-नानुसार स्फ्यके प्रहार से असुर-निरसन-व्यापाररूप 'स्तम्बयजुर्हरण' कर्म्म करता है। निर्विघ्न स्थान देवविभूति से युक्त रहता है, एवं जहाँ देवविभूति का साम्राज्य रहता है, वहीं दिव्यकर्म्म सफल, एवं सुफल होता है। 'हमारा यह भूप्रदेश ( जिस में हम देवताओं का यजनरूप दिव्य यज्ञकर्म्म करने वाले हैं ) सर्वथा निर्विघ्न बनता हुआ दिव्यविभूति से युक्त होजाय' एकमात्र इस प्रयोजन के लिए जो कर्म्म किया जाता है, वही 'स्तम्बयजुर्हरण' नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व का ब्राह्मण एकमात्र इसी कर्म्म की साङ्गोपाङ्ग इतिकर्त्तव्यता का निरूपण करता है। स्तम्बयजुर्हरण-कर्म्म से यह भूप्रदेश सर्वथा निर्विघ्न सम्पन्न बन गया है। अब यज्ञारम्भ करने में, एवं इसकी पूर्त्ति में किसी प्रकार की आशङ्का नहीं है। यज्ञकी मूलप्रतिष्ठा वेदि है। अतः सर्वप्रथम अध्वर्य्यु इस वेदि का ही निर्म्माण करता है। वेदि का स्वरूप कैसा होता है ?, इस प्रश्न का समाधान तो आगे जाकर स्वयं ब्राह्मण श्रुति ही करने वाली है। अभी केवल आख्यान से सम्बन्ध रखनेवाली पद्धति की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

सर्वप्रथम वेदि-निर्म्माणार्थ पूर्वपरिग्रह की इच्छा रखने वाला अध्वर्य्यु नामक ऋत्विक् दक्षिण की ओर बैठे हुए ब्रह्मा से आज्ञा लेता हुआ कहता है—

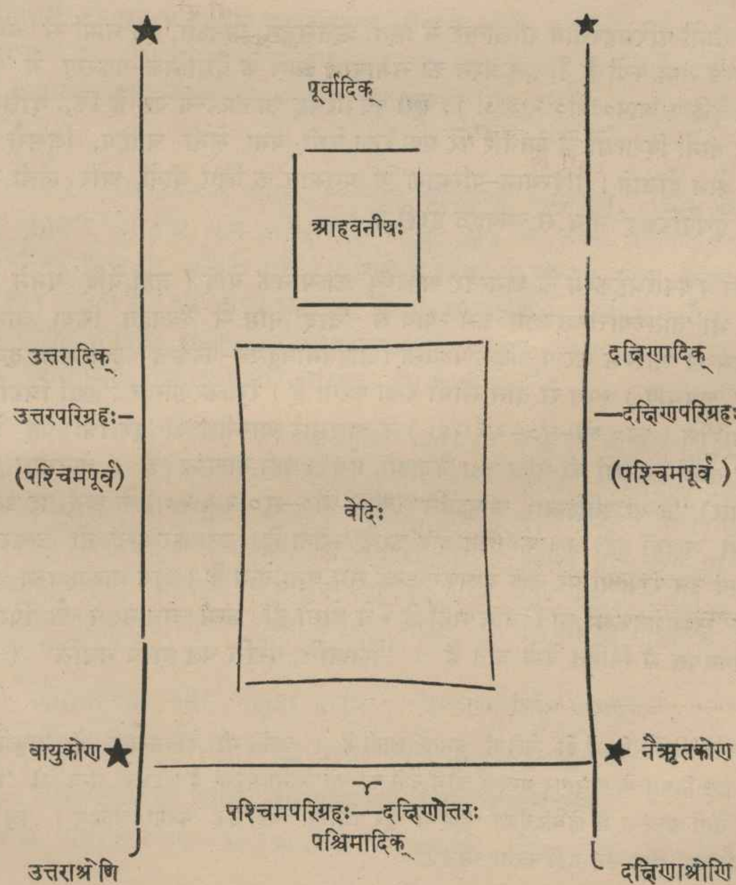
**"ब्रह्मन् ! पूर्वं परिग्रहं परिग्रहीष्यामि"**

हे ब्रह्मन् ! मैं पूर्वपरिग्रह का परिग्रह करना चाहता हूँ, इसके लिए मुझे आज्ञा दीजिए ! उत्तर में आज्ञा देते हुए ब्रह्मा कहते हैं—

**"ओम्-बृहस्पते ! परिग्रहाण वेदिम्, सुगावो देवाः सदनानि सन्तु। अस्याँ बर्हिः प्रथताम्। साध्वन्तरहिंस्रा पृथिवी देवी देव्यस्तु। देवता वर्द्धय त्वम्। नाकस्य पृष्ठे यजमानोऽस्तु सप्तर्षीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं च धेहि"**

—कात्या० २।२।१२।

इस मन्त्र का उपांशु (तूष्णीं) जप करके 'ओ३म्-परिग्रहाण' यह मन्त्रभाग ऊँचे स्वर से बोलता हुआ अध्वर्य्यु को परिग्रहार्थ आज्ञा देते हैं। इसप्रकार ब्रह्मा से अनुज्ञात अध्वर्य्यु— 'पूर्व परिग्रहं परिग्रह्णाति दक्षिणतः, पश्चात् उत्तरतश्च स्फ्येन 'गायत्रेणे' ति प्रतिमन्त्रम्' ( का० श्रौ० सू० २ अ० । ६ कं० । १८ सू० ) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तानुसार वेदि के लिए निश्चित प्रदेश के दक्षिण, पश्चिम, उत्तरभाग में क्रमशः निम्न लिखित तीन मन्त्र बोलता हुआ दक्षिण हस्तस्थ 'स्फ्य' से परिग्रह करता है। तात्पर्य्य यही है कि, जिस स्थान पर वेदि बनाई जाने वाली है, उस स्थान को 'वेदि' रूप से कल्पना में लाकर इस काल्पनिक वेदि के दक्षिणभाग में नैऋत-कोण से आरम्भ कर आहवनीय-पर्य्यन्त पश्चिमपूर्व एक रेखा खैंचनी चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण-श्रोणि से आरम्भ कर उत्तर श्रोणिपर्य्यन्त दक्षिणोत्तर एक रेखा खैंचनी चाहिए। यह पश्चिम परिग्रह होगा। एवं उत्तरश्रेणि के वायव्यकोण से आरम्भ कर आहवनीय के उत्तरपार्श्व पर्य्यन्त पश्चिमपूर्व रेखा खैंचनी चाहिए। यही उत्तर परिग्रह होगा।



इन तीनों परिग्रहों के लिए क्रमशः निम्न लिखित तीन मन्त्र बोले जाते हैं—

१-–ओम्–गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि" । (दक्षिणपरिग्रहः)

२–"ओम्-त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि" । (पश्चिमपरिग्रहः)

३––"ओम्–जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि" । (उत्तरपरिग्रहः]

पूर्वपरिग्रहास्त्रयः (पूर्वभावित इति यात्)

ये तीनों परिग्रहस्थान शाखान्तर में ऋत, ऋतसदन, ऋतश्री, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। इनके ये नाम क्यों हैं ?, इस प्रश्न का समाधान आगे के वैज्ञानिक-प्रकरण में किया जाने वाला है ( देखिए आप० श्रौ० २।३।७। )। इस पूर्वपरिग्रह का तात्पर्य्य यह है कि, दक्षिण-पश्चिम-उत्तर, इन तीनों दिशाओं के आधार पर एक रेखा ऐसी बना लेनी चाहिए, जिससे वेदि की इयत्ता का बोध होजाय। वेदिस्थान–परिमाण के अनुमान के लिए तीनों ओर खैंची जाने वाली रेखा ही 'पूर्वपरिग्रह' नाम से व्यवहृत होती है।

इस पूर्वपरिग्रहकर्म्म के अनन्तर अध्वर्य्यु काल्पनिक वेदि ( जहाँ वेदि बनने वाली है, वह स्थान भी 'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' इस न्याय से 'वेदि' नाम से व्यवहृत किया जासकता है ) ऊपर पश्चिम से आरम्भ कर पूर्वदिक् पर्य्यन्त (आहवनीयकुण्ड–पर्य्यन्त) उत्तरसंस्थ तूष्णीं (बिना मन्त्र बोले, चुपचाप ) स्फ्य से तीन सीधी रेखा करता है। रेखाकरणान्तर "वेद्यां त्रिरुल्लिख्याऽऽह 'हर * त्रिरिति ( का० श्रौ–सू०–२।६।१६। ) के अनुसार आग्नीध्र को 'हर त्रिः' यह प्रैष करता है। ( इन तीनों रेखाओं की धूलि उठा लेजाओ, प्रैषका यही तात्पर्य्य है । आग्नीध्र प्रैषानुसार (आज्ञानुसार) "हृत्वाऽग्नील्लेखाः संमृशति' (का०-श्रौ०–सू० २।६।२०।) के अनुसार उन वेदिस्थ लेखाओं–से उखड़ी हुई) धूल को तीन बार करके उठाता है। उठा कर इन्हें तो उत्कर में डाल देता है, एवं उन रेखाओं पर जल डालकर उन्हें सम बना देता है। स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ में लेखा-हरण, एवं सम्मर्शनकर्म्म का विधान नहीं है। ये दोनों हीं कर्म्म प्रधानरूप से पिण्डपितृयज्ञ में, एवं चयनयज्ञ में विहित देखे जाते हैं । "लिखति, परति यत् हार्य्य भवति" ( शत० ब्रा०

* वरुणप्रघासेष्टि में दो वेदियाँ बनाई जातीं हैं । वहाँ भी देविसम्बन्ध में 'प्रकृतिवृद्विकृतिः कर्त्तव्या' इस नियम के अनुसार सम्पूर्ण कर्म्म ज्यों का त्यों करना पड़ता है। इधर मन्त्र में 'त्रिः' शब्द उपात्त है। ऐसी अवस्था में द्विवेदियुक्ता इष्टि में 'हर त्रिस्त्रिः' यही ऊह करना चाहिए। 'त्रि' शब्द के स्थान में 'हर षट्' ऐसा ऊह नहीं करना चाहिए।

२।६।१२।) इत्यादि रूप से पितृयज्ञ में, "लिखित्वाऽऽ-हर त्रिरिति, हरत्याग्नीध्रः" (शत० ब्रा० ७।२।२।१। ) इत्यादि रूप से अग्निचयन में ही लेखाहरण, एवं तत् संमर्शनकर्म्म देखे जाते हैं। इसी पक्षान्तर का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"पितृयज्ञाग्नि चित्ययोर्वा–तत्र दर्शनात्"

—का० श्रौ० सू० २।६।२१। इति।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए कर्काचार्य्य कहते हैं कि, यद्यपि लेखाहरण, और संमार्जन–कर्म्म प्रकृत ब्राह्मणश्रुति में नहीं बतलाए गए। तथापि पितृयज्ञ, और चयन, विकृतियज्ञ हैं। इधर दर्शपूर्णमास प्रकृतियज्ञ है। एवं 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में यदि विकृतिरूप पितृयज्ञ, एवं चयन में लेखाहरण, और सम्मार्जन का विधान प्राप्त होता है, तो अवश्य ही इस प्रकृतियज्ञ में भी इन दोनों कर्म्मों का 'ऊह' करना चाहिए। यही कारण है कि भारतवर्ष में दर्शपूर्णमास यज्ञ की जितनी भी पद्धतियाँ उपलब्ध होतीं हैं, सब में पितृयज्ञ–चयनयज्ञवत् लेखाहरण–सम्मार्जन का भी पद्धतिकर्म्म में सन्निवेश उपलब्ध होता है।

लेखाहरण–सम्मार्जन के अनन्तर—"अत्र वेदिकरणं यथोक्तम्" (का० श्रौ० सू० २।६।२२।: के अनुसार 'आग्नीध्र' नाम का ऋत्विक् 'अभ्रि' हाथ में लेकर प्रदक्षिणक्रम से (जिस क्रम से परिग्रह किया था, उसी क्रम से) परिग्रह के भीतर का सम्पूर्ण प्रदेश ओषधियों के मूल-पर्य्यन्त खोद डालता है। यह कार्य्य अध्वर्य्यु के प्रैष से आग्नीध्र करता है। इसी प्रैषभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुतिने "ओषधीनां मूलान्युच्छेत्तवै (उच्छेत्तुं) ब्रूयात्" यह कहा है। अनन्तर अध्वर्य्यु उत्तरपरिग्रह (खननोत्तरभावी-परिग्रह) की इच्छा से—

"ब्रह्मन्! उत्तरपरिग्रहं परिग्रहीष्यामि" इसप्रकार ब्रह्मा से आज्ञा माँगता है। ब्रह्मा–'ओम् ब्रहस्पते०' इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र उपांशु बोलते हुए—'ओ३म् परिगृहाण' यह ऊँचे स्वर से बोलते हैं। प्रैषानन्तर अनुज्ञात अध्वर्य्यु दहिने हाथ में स्फ्य लेकर (जिस क्रम से, जिन स्थानों में तीन पूर्वपरिग्रह किए थे-उसी क्रम से–उहीं परिग्रह–स्थानों में 'उत्तर परिग्रहं परिगृहाति 'सुक्ष्मा' 'स्योनो' 'र्जस्वती ति प्रतिमन्त्र पूर्ववत्' (का० श्रौ० सू० २।६।२३।) के अनुसार निम्नलिखित तीन मन्त्र बोलता हुआ क्रमशः–दक्षिण, एवं पश्चिमोत्तर पार्श्वों में तीन रेखाएँ बनाता है।

१–'ओम्-सुक्ष्मा चासि; शिवा चासि'। (दक्षिणपरिग्रहः प्रथमः)

२–'ओम् स्योना चासि, शिवा चासि' (पश्चिमपरिग्रहो द्वितीयः)

३–'ओम्-उर्जस्वती चासि, पयस्वती च' (उत्तरपरिग्रहस्तृतीयः)

उत्तर परिग्रहानन्तर—'पुरा क्रूरस्ये' 'त्यनुमार्ष्टि' (का० श्रौ० सू० २।६।२४।) के अनुसार—

"ओम्--पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम् * ।
यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते" ।

यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु दक्षिण-हस्तस्थ 'स्फ्य' से खनन, एवं परिग्रह से उखड़ी हुई मिट्टी को बाहिर फैंक कर विषम भूप्रदेश को दक्षिण की ओर से आरम्भ कर पूर्व पर्य्यन्त सम बनाता है। विषम धरातल को सम बनाना हीं 'प्रतिमार्ज्जन' कर्म्म है । तदनन्तर—

'अथ्यधिवेदिप्रोक्षणीर्धारयति' ( का० श्रौ० सू० २।६।२५। ) के अनुसार आग्नीध्र नाम का ऋत्विक् 'प्रोक्षणी' पात्री को ( जिस पात्री में 'प्रोक्षणी' नाम का पानी भरा रहता है, वही पात्री 'प्रोक्षणीपात्रा' नाम से व्यवहृत होती है) लेकर वेदि के ऊपर समीप में रख देता है । जिस समय आग्नीध्र प्रोक्षणी हाथ में उठाता है, उसी समय स्फ्यरूप वज्र को ऊँचा उठाते हुए अध्वर्य्यु आग्नीध्र को निम्नलिलित आज्ञा देता है—

"अन्योऽथ स्फ्यमुद्यम्याह--ओ३म्--(१)--प्रोक्षणीरासादय ! (२)--इध्मं बर्हिरुपसादय ! (३) स्रुचः सम्मृड्ढि ! (४)--पत्नीं संनह्य ! (५)--आज्येनोदेहि ! इति यदीच्छेत्" (का० श्रौ० सू० २।६।२६) ।

उपर्य्युक्त जिन कार्य्यों के लिए आग्नीध्र के प्रति अध्वर्य्यु प्रैष करता है, वे सब काम आग्नीध्र को पहिले से ही विदित हैं । अतः प्रकृत प्रैष में कामचार समझना चाहिए । इसी अभिप्राय से सूत्रकारने सर्वान्त में "यदि-इच्छेत्" यह कहा है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि,—'प्राक्स्तरणाद्वेदिं नावमृशेत् 'शृतानि च हविंष्याप्रचरणात् ( का० श्रौ० २।६।३०।३१ ) के अनुसार जबतक इस वेदि पर कुशास्तरण न कर दिया जाय, तबतक भूलकर भी इस वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए । साथ ही प्रधानयाग के 'अवदान' से पहिले पक्व हविर्द्रव्य ( पुरोडाश ) का भी स्पर्श नहीं करना चाहिए। यदि कुशास्तरण से पहिले वेदिस्थान पर अन्य तृणादि गिर जायँ, तब भी उनको पहिले न उठावे। अपितु—"आपन्नं स्तृणान् निरस्येत्" ( का० श्रौ० सू० २।६।३३ ) के अनुसार आस्तरणकाल में हीं उनको बाहिर फैंके । आस्तरण से पहिले किसी प्रकार का स्पर्श न करे, यही तात्पर्य्य है। आग्नीध्र के प्रति उपर्य्युक्त प्रैष करने के अनन्तर अध्वर्य्यु—"द्विषतो वध" इति स्फ्यमुदञ्चं प्रहरति" ( का० श्रौ० सू० २।६।३४ ) के अनुसार—"ओम्-द्विषतो वधः" यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु स्फ्य के अग्रभाग को उत्तर की ओर करता हुआ उत्कर पर प्रहार करता हुआ उसे वहीं फैंक देता है। अनन्तर—"अवनिज्य पाणी, अपरेण प्रणीता स्फ्यं निदधाति" (का० श्रौ० २।६।३५ के अनुसार दोनों हाथ धो डालता है । प्रणीतापात्र से पश्चिमभाग में पूर्व, अथवा उत्तर की ओर स्फ्य ( प्रक्षिप्त स्फ्य को लाकर ) रख देता है।

---

*—'जीरदानुम्' इतिपाठान्तरम् ।

प्रकृत ब्राह्मण में पूर्वपरिग्रह से आरम्भ कर स्पय-आधान पर्य्यन्त होने वाले कर्म्म की ही इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई है। इस के अनन्तर 'स्रुक्सम्मार्जन' कर्म्म होता है। इस की इतिकर्त्तव्यता—'स वै स्रुचः सम्मार्ष्टि' इत्यादि रूप से आगे के तृतीयध्याय के प्रथम ब्राह्मण में बतलाई जायगी। अतः इस पद्धतिक्रम को ब्राह्मणक्रमानुसार यहीं समाप्त कर प्रकृत ब्राह्मण के विषय की ओर आप का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

[ 'गायत्रेण त्वा०' इत्यादि ६ व्याहृतियाँ बोलता हुआ अध्वर्य्यु क्यों पूर्व-उत्तर-भेद से ६ परिग्रह करना है ?, क्यों त्र्यङ्गुला, अथवा ओषधिमूल-पर्य्यन्त वेदिखनन किया जाता है ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान देवताओं का सम्वत्सरयज्ञ है। देवताओंनें ऐसा ही किया था, एवं उन्हीं की विधा के अनुसार 'मनुष्ययज्ञविधा' का वितान हुआ है। अतः—'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्-करवाणि' इस सिद्धान्त के अनुसार हमें भी वैसा ही करना पड़ता है। ब्राह्मण के आरम्भ से १६ कण्डिका पर्य्यन्त दैवयज्ञस्वरूप-प्रतिपादन-पूर्वक इस यज्ञ में होने वाले—१-तीन पूर्वपरिग्रह, अनन्तर २-वेदिखनन, एवं अनन्तर ३-तीन उत्तरपरिग्रह, इन तीन कर्म्मों की ही इति-कर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया गया है। अब वेदि के स्वरूप ( आकारसन्निवेश ) के सम्बन्ध में विचार करते हैं ]।

कितने हीं ( प्राचीन ) याज्ञिकों का कहना है कि, वर्त्तुल गार्हपत्यकुण्ड, एवं चतुष्कोण आहवनीयकुण्ड, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित वेदि की लम्बाई यजमान की लम्बाईतुल्या है। ऐसी ( मध्य से यजमानमात्री ) यह वेदि पश्चिमभाग की ओर से ( श्रोणिभाग की ओर से ) चौड़ाई में व्याममात्री ( ४ अरत्नि-दो हाथ चौड़ी ) होनी चाहिए, एवं पूर्व की ओर से ( अंस-भाग की ओर से ) वेदि त्र्यरत्नि ( डेढ़ हाथ चौड़ी ) होनी चाहिए। क्योंकि वेदिरूप शरीर के अनुरूप पश्चिम-पूर्व की यही मात्रा होती है। साथ ही यह यज्ञ 'त्रिवृत्' है। प्राची को त्र्यरत्नि करने से त्रिवृद्यज्ञसम्पत्ति भी गृहीत होजाती है।" [ तित्तिरि सम्प्रदायवालों के ] इस मत की उपेक्षा करते हुए परमवैज्ञानिक याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, यहाँ मात्रा का ( परिमाण-लम्बाई-चौड़ाई का ) कोई विचार नहीं है। यजमान अपने अन्तरात्मा से वेदि का जैसा, जो, जितना आकार ठीक, समझे, उसी परिमाण से वेदि की लम्बाई चौड़ाई करदी जाय। पद्धतिक्रम से भी यही बात सिद्ध होती है। पूर्व-परिग्रह, एवं उत्तर-परिग्रह में परिमाण अरत्नि रत्नि मापकों से परिमित होता, तो अवश्य ही परिग्रहों के सम्बन्ध में भी श्रुति परिणाम-विषय को आगे रखती हुई ही परिग्रहकर्म्म का विधान करती। ऐसी अवस्था में वेदि की लम्बाई चौड़ाई के सम्बन्ध में प्राचीन याज्ञिकों की नियत-व्यवस्था का कोई विशेष महत्त्व नहीं है ॥१४॥

वेदि के अंस ( स्कंधभाग ) पूर्वस्थ आहवनीयाग्नि के उत्तर दक्षिण पार्श्व की ओर उन्नत करता है। अर्थात् वेदि के दोनों अंस चतुष्कोण आहवनीय के दोनों प्रान्तभागों से मिले रहने चाहिएँ। स्वतः दोनों अंस उन्नत होजायँगे। वेदि ( योषा ) स्त्री हैं, ( आहवनीय ) अग्नि वृषा पुरुष है। योषा वृषा का परिग्रह करके ही ( मिथुनभावार्थ ) शयन करती है। वेदिरूपा

योषा के अंसों को वृषारूप अग्नि के अनुगत करता हुआ अध्वर्यु दोनों को मिथुनभावयुक्त करता हुआ प्रजननक्रिया ही करता है ॥१५॥

वह वेदि पश्चिम की ओर से ( श्रोणिभाग की ओर से ) फैली हुई होनी चाहिए, एवं मध्य में संकुचित होनी चाहिए । फिर पूर्व की ओर से [ उरः स्थानीय असके नीचे के प्रदेश की ओर से ] उभरी हुई होनी चाहिए । योषा ( स्त्री ) को उन्हीं भावों से उत्तम बतलाया जाता है । श्रोणिभाग विपुल, श्रोणि की अपेक्षा कम अवकाश वाले [ कंधे ], उभरा हुआ वक्षस्थल, मध्य में हस्त से गृहीत होने योग्य, ऐसी स्त्री ही लोक में सुन्दर-स्त्री कहलाती है । इसी से वृषापुरुष प्रसन्न होता है । यहाँ [ उसी जुष्टभाव की प्राप्ति के लिए ] वेदि को एतदाकाराकारित करता हुआ अध्वर्यु वेदिरूपा योषा को आहवनीयाग्निरूप वृषात्मक देवताओं के लिए प्रिय-भोग्य बनाता है ॥१६॥

यह वेदि प्राक्प्रवणा [ पूर्वकी ओर ढालू ] होना चाहिए । क्योंकि पूर्वादिक् देवताओं की दिक् है । [ यदि पूर्व की ओर प्रवणा बनाने की सुविधा न हो तो ) उदक्प्रणा [ उत्तर की ओर ढालू ] होनी चाहिए । उत्तरादिक् मनुष्यों को दिक् है । प्राक्प्रवणा हो, अथवा उदक्प्रवणा, उभयथा अध्वर्यु वेदि के दक्षिणभाग में हीं मिट्टी डाल कर दक्षिणभाग को उत्तर-पूर्व की अपेक्षा उन्नत बनाता है । दक्षिणादिक् पितरों को दिक् है । यदि किसी प्रकार दक्षिणप्रावणा (दक्षिण की ओर ढालू) होगई तो, विश्वास करो, वर्षावधि में यज्ञकर्त्ता यजमान का महान् अनिष्ट होजायगा । ( यदि दक्षिण में पुरीष डालकर उस भाग को उन्नत कर दिया जाता है, तो वेदि का दक्षिण-प्रवणतारूप दोष मिट जाता है ) ऐसी अवस्था में पुरीष डालकर वेदि को उन्नत बनाया जाता है । पशुकाम यजमान के लिए अध्वर्यु पुरीषवती वेदि बनाता है । पशु ही पुरीष है । पुरीषवती बनाना पशुमती ही बनाना है ॥१७॥

वेदि बनकर सम्पन्न होगई । अब प्रतिमार्ज्जनकर्म्म आरम्भ होता है—

पूर्वप्रदर्शित पद्धतिक्रमानुसार अध्वर्यु वेदिमार्ज्जन करता है । ( प्रतिमार्ज्जनकर्म्म क्यों किया जाता है ?, इस जिज्ञासा को वैज्ञानिक उपपत्ति के द्वारा शान्त करती हुई श्रुति कहती है—) पुराने युग में ( किसी समय ) देवतागण ( असुरों के साथ ) युद्ध करने का दृढ़ निश्चय करते हुए ( परस्पर ) विचार करने लगे कि, इस पृथिवी का जो अमृतमय देवयज्ञोपयुक्त भाग है ( असुरों के आक्रमण से बचाने के लिए ) उसे चन्द्रमा में रखदें । ( यदि दुर्भाग्य से ) असुरगण इस भूप्रदेश से अपने को पराजित कर देंगे, तो (अपन चन्द्रमा में निहित उस अनामृत देवयजन भूप्रदेश पर ) यज्ञवितान करते हुए पुनः ( इस यज्ञ के बल से ) उन्हें परास्त करने में समर्थ हो-सकेंगे । ( यह निश्चय कर ) इस पृथिवी का जो अनामृत-देवयजन भाग था, उसे देवताओंनें ( धरोहररूप से ) चन्द्रमा में रख दिया । ( देवताओंनें पृथिवी का जो देवयजनभाग चन्द्रमा में रक्खा था ) वह यही चन्द्रमा में ( प्रत्यक्षरूप से दिखाई देने वाला ) कृष्णभाग है । तभी तो वैज्ञानिकों की मण्डली में किंवदन्ती चल पड़ी कि-"चन्द्रमा में जो काला काला भाग प्रतीत होता

है, वह इस पृथिवी का ही देवयजन भाग है" । जो अध्वर्य्यु चन्द्रमा में निहित पृथिवी के इस देवयजनभाग को जानता हुआ-'पुरा क्रूरस्य०' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ प्रतिमार्ज्जन करता है, अध्वर्य्युकर्तृक यजमान का वह यज्ञ देवयजनसम्पत्ति से युक्त होजाता है। चन्द्रमा में निहित उस देवयजनभाव की प्राप्ति के लिए ही प्रतिमार्ज्जन करता है ॥१८॥

प्रतिमार्ज्जन क्यों किया जाता है ?, इसकी उपपत्ति बतलादी गई। अब कर्म्म की इति-कर्त्तव्यता ( पद्धति ) बतलाते हैं। वह अध्वर्य्यु- 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ प्रतिमार्ज्जन करता है। संग्राम ही क्रूर ( क्रूरकर्म्म से युक्त ) है। 'यह पुरुष मारा गया, यह घोड़ा मारा गया, सदा के लिए वह रणभूमिमें सोगया' इत्यादि रूप से संग्राम में हीं महाक्रूर ( हिंसाभावमय ) कर्म्म किए जाते है। ( देवताओंनें ) इस क्रूरकर्म्मा संग्राम से पहिले ( पृथिवी के देवयजनभाग को चन्द्रमा में ) रक्खा था, इसी अभिप्राय से 'पुरा क्रूरस्य विसृपः' यह कहा है। 'उदादाय पृथिवीं जीवदानुम्' ( इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि ) इस पृथिवी का जो जीवनप्रद ( अनामृत-देवयजन ) भाग था, उसे लेकर ( देवताओंनें ) चन्द्रमा में रक्खा था। इसी अभिप्राय से 'उदादाय पृथिवीं जीवदानुम्' यह कहा है। 'यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिः' ( इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि ) स्वधारूप जिस पार्थिवभाग को ( अनामृत देवयजनभाग को ) देवताओंनें मन्त्रबल से चन्द्रमा में रक्खा था, उसी को लक्ष्य में रखकर 'यामैरयं' इत्यादि कहा है। 'तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते' ( स्वधा के द्वारा जो भाग चन्द्रमा में रक्खा गया था ) उसी को लक्ष्य बना कर ( उसी को प्राप्त करने के लिए ) यज्ञ करते हैं। सच-मुच यजमान के इस देवयजनरूप भूभाग में वह अनामृतभाग गृहीत होजाता है, जोकि उपर्य्युक्त विज्ञान जानता हुआ प्रतिमार्ज्जन करता है ॥१९॥

प्रतिमार्ज्जनकर्म्म के अनन्तर अध्वर्य्यु आग्नीध्र के प्रति 'प्रोक्षणी रक्खो'! यह प्रैष करता है। स्फ्य साक्षात् वज्र है। उधर ब्राह्मण ( अध्वर्य्यु ) भी साक्षात् वज्र है। इहीं दोनों वज्रोंनें अबतक यज्ञ की रक्षा की है। इधर पानी भी वज्र है। इस ( प्रोक्षणीपानी को रखता हुआ आग्नीध ) वज्र को ही रक्षा के लिए यहाँ प्रतिष्ठित करता है। अर्थात् अबतक प्रधानरूप से रक्षा के साधन स्फ्य, और अध्वर्य्युरूप वज्र थे। अब आगे जो असुरों का आक्रमण होगा, उसे रोकना इस प्रोक्षणीरूप वज्र का कार्य्य होगा। आग्नीध्र के ऊपर ऊपर ( हाथों में हीं ) प्रोक्षणी को लिए हुए काल में हीं अध्वर्य्यु स्फ्य ऊँचा उठाता है। जब ( ऊँचा करने के पश्चात् अध्वर्य्यु के द्वारा) स्फ्य रख दिया जाता है, तब आग्नीध्र प्रोक्षणी रखता है। यदि दोनों को एक साथ रक्खा जायगा, तो दोनों वज्र टकरा जायँगे। विस्फोटन होजायगा। ऐसा करने से (पृथक्-पृथक् रूप से रखने से) दोनों में किसी प्रकार का घर्षण नहीं होता। इसलिए आग्नीध्र के ऊपर ऊपर ही प्रोक्षणी धारण किए हुए अध्वर्य्यु स्फ्य उठा कर ॥२०॥

"प्रोक्षणीरासादय, इध्मं बर्हिरुपसादय, स्रुचः सम्मृड्ढि, पत्नीं संनाह्याज्येनोदेहि" यह वाक् बोलता है। यह अध्वर्य्युकर्तृक सम्प्रैष ( आज्ञा ) ही है। अध्वर्य्यु आवश्यकता समझे, तो

इस सम्प्रैष का प्रयोग करै। वह चाहे, तो इस वाक्प्रयोग की उपेक्षा भी कर सकता है। कारण (जिस आग्नीध्र के प्रति यह सम्प्रैष होता है) वह स्वयं यह भलीप्रकार जानता है कि, इसके अनन्तर मुझे क्या कर्म्म करना है॥ २१॥

सम्प्रैषानन्तर (अभिचारकामना यदि हो, तो) "अमुष्यै त्वा वज्रं प्रहरामि" यह बोलता हुआ अध्वर्यु उत्तर की ओर मुख करके स्फ्य को फैंक देता है। स्फ्य साक्षात् वज्र है। इस वज्र से यह शत्रु का अङ्ग विदीर्ण कर देता है॥ २२॥

स्फ्य के प्र रणानन्तर अध्वर्य्यु अपने दोनों हाथ धो डालता है। वेदि के खननादि से जो क्रूर कर्म्म हुआ है, उस क्रूरता को स्फ्य के साथ साथ वेदि से बाहिर फैंक दिया है। क्रूरता निकल गई है। शान्ति आगई है। उसी शान्तिभाव की समृद्धि के लिए दोनों हाथ धोता है॥२३॥

पद्धतिक्रम में बतलाया गया है कि, आ-बर्हिस्तरण वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए। यदि स्पर्श कर लिया जायगा, तो क्या होजायगा ?, इसी प्रश्न का ऐतिहासिक-आख्यान के द्वारा उत्तर देती हुई श्रुति कहती है—

पुराने समय में याज्ञिकगण जब भी यज्ञ करते थे, बर्हिस्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श कर, प्रधानावाप से पहिले शृतहवि का स्पर्श करके यज्ञ करते थे। अर्थात् उन्हें स्पर्शदोश का कुछ भी भय न था। परिणाम यह होता था कि, अभ्युदयसाधनभूत यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले वे याज्ञिक उत्तरोत्तर अवनति को प्राप्त होते जाते थे। उधर जो यज्ञ नहीं करते थे, उनकी दशा इन यज्ञ करने वालों से कहीं उन्नत थी। परिणाम इसका यह हुआ कि, तत्कालीन मानवसमाज में अश्रद्धाभाव उदित होगया। उन्होंनें सोचा कि, जो यज्ञ करते हैं वे हीनदशा को प्राप्त होते हैं, एवं जो यज्ञ नहीं करते हैं, वे आनन्द में रहते हैं। (इस अश्रद्धाभाव से आक्रान्त होकर मनुष्योंनें यज्ञ करना बन्द कर दिया)। परिणाम इसका यह हुआ कि, इस भूलोक की ओर से द्युलोक निवासी देवताओं के समीप हविर्द्रव्य नहीं पहुँचा। उधर देवता यहीं से देने से जीवित रहते हैं॥ २४॥

अपना जीवनसाधन अवरुद्ध देखकर देवताओंनें अङ्गिरा के पुत्र, अतएव आंगिरस नाम से प्रसिद्ध बृहस्पति को बुलाकर कहा कि, भूलोकनिवासी मनुष्यों में अश्रद्धा प्रविष्ट होगई है। जाइए! और जाकर उन्हें यज्ञ की महत्ता समझाइए!। मन्त्रणानुसार आङ्गिरस बृहस्पति मृत्युलोक में आए। आकर उन्होंनें उन अश्रद्धालु मनुष्यों से प्रश्न किया कि, तुम यज्ञ क्यों नहीं करते ?। तत्काल मनुष्योंनें उत्तर दिया कि, हम किस प्रयोजन के लिए यज्ञ करें ?, जबकि हम यह देखते हैं कि, जो यज्ञ करते हैं, वे दुःख पाते रहते हैं, और जो यज्ञ नहीं करते, वे बड़े आनन्द से रहते हैं। (ऐसी अवस्था में यज्ञ करके दुःख कौन मौल ले)॥२५॥

(मनुष्यों के इस अश्रद्धाभाव को हटाते हुए) आङ्गिरस बृहस्पति कहने लगे कि, भाई! हमने यह सुन रक्खा है कि, यह यज्ञ देवता से परिगृहीत होता है। अर्थात् यज्ञविद्या देवप्राण–

मयी है । तुमने परिपक्क हवि, और निष्पन्ना वेदि से स्पर्श करते हुए यज्ञवितान किया । इसी दोष से तुम्हारा यह अनिष्ट हुआ । इसलिए हम तुम को भविष्य के लिए सावधान कर देते हैं कि, बिना स्पर्श किए ही तुम को यज्ञ करना चाहिए । ऐसा करने से अवश्य तुम्हारा अभ्युदय होगा । कबतक स्पर्श न करें ?, मनुष्यों के यह प्रश्न करने पर बृहस्पतिने उत्तर दिया कि, बर्हि-स्तरण जबतक न होजाय, तबतक बर्हि से वेदि शान्त होजाती है । यदि बर्हिस्तरण से पहिले वेदि पर तृण आदि और कुछ आ भी जाय, तब भी तुम स्तरण से पहिले उसे निकालने की चेष्टा मत करो । जिस समय बर्हिस्तरण करने लगो, उसी समय आगन्तुक तृणादि को निकालो । जब बर्हिस्तरण होजाय, तो स्पर्श की क्या कथा । उस समय तुम उस पर उछल कूद भी सकतेहो । इसप्रकार प्राणयज्ञ के इस तथाकथित स्वरूप को जानता हुआ जो विद्वान् स्पर्श न करता हुआ यजन करता है, वह अवश्य ही अभ्युदय का भागी होता है । इसलिए आबर्हिषस्तरणात् स्पर्श न करते हुए ही यजन करना चाहिए ॥ २६ ॥

## इति प्रथमकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्
## द्वितीयप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणम्
## *समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः*
## १

# देवासुरदायविभागाख्यानरहस्य

( भाष्य )—**वेदिपरिग्रहकरणात्मक**-पद्धति-प्रकरण उपरत हुआ । अब क्रमप्राप्त **तद्विज्ञान** के सम्बन्ध में हीं किञ्चिदिव निवेदनीय शेष रह जाता है, जिस से पूर्व **'वैदिक-इतिहास'** मर्य्यादा के अनुबन्ध से दो शब्द निवेदन कर देना इसलिए अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक होजाता है कि, **अपौरुषेय-पौरुषेय-निबन्धन संघर्ष** की भाँति यह **ऐतिहासिक-संघर्ष** भी विगत अनेक शताब्दियों से एतद्देशीय विद्वानों के लिए महती प्रतिद्वन्द्विता का ही क्षेत्र प्रमाणित होरहा है । हमारा अनुमान है कि, न्यूनतम **त्रिसहस्र वर्षों** से वेदशास्त्र की ज्ञान-विज्ञानात्मिका रहस्य-पूर्णा परिभाषाएँ उत्तरोत्तर अभिभूत हीं होतीं आरहीं हैं । पारिभाषिकी इस अभिभूति का ही यह दुष्परिणाम है कि, **अपौरुषेय, पौरुषेय,** तथा **ऐतिहासिक** तथ्यों के सर्वथा निर्भ्रान्त बने रहने पर भी विद्वान् इस दृष्टिबिन्दु के माध्यम से अपनी सुप्रसिद्ध-'शास्त्रार्थ' प्रणाली के अनुगामी बने रहते हुए इस दिशा में एकान्तः निरर्थक प्रचण्ड आक्रोश का ही अनुगमन करते रहते हैं ।

सृष्टि का मूलभूत नित्य-वेदतत्त्व जहाँ **'अपौरुषेय'** ही हैं, वहाँ-तथाविध वेदतत्त्व का स्वरूप-प्रतिपादक वाक्यकृतिरूप शब्दात्मक वेदशास्त्र **ऋषिकृत** बनता हुआ **पौरुषेय** ही है, जिस इस तथ्य का हमनें पूर्व के-

कृष्ण-मृगचर्म्मास्तरणकर्म के प्रसङ्ग में अंशतः स्पष्टीकरण कर दिया है। यही स्थिति 'इतिहास' की है। रहस्यपूर्ण विज्ञान का शुद्ध विज्ञान की भाषा में, स्तुति की भाषा में, एवं इतिहास की भाषा में, तीनों हीं प्रकार से पौरुषेय वेदशास्त्र में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। अतएव मूलवेदशास्त्र विज्ञान-स्तुति-इतिहास, इन त्रिकाण्डों में विभक्त होरहा है, जो कि काण्डत्रयी-'ज्ञातव्या' कहलाई है। तत्त्वमीमांसन का ही इस ज्ञातव्याकाण्डत्रयी से प्रधान सम्बन्ध है, जिसके मूल में हीं कर्त्तव्या-काण्डत्रयी के मूलसूत्र पिनद्ध-सुगुप्त-सुरक्षित हैं।

तत्त्वमीमांसात्मक विज्ञानप्रधान ( दर्शनप्रधान नहीं ) मूलवेदशास्त्र ही वह ज्ञातव्य वेदशास्त्र है, जिसके आधार पर ही तूलवेदशास्त्रात्मक कर्त्तव्यवेदशास्त्र प्रतिष्ठित है, जिस के भी मूलवत् तीन हीं तूलकाण्ड हैं, एवं जो कि तीनों तूलकाण्ड क्रमशः—कर्म्म-उपासना-ज्ञान, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अनुष्ठेय कर्म्मकाण्ड का प्रतिपादक ब्राह्मणवेद ही-'विधिवेद' नाम से, उपासनाकाण्ड का प्रतिपादक ब्राह्मणवेद ही 'आरण्यकवेद' नाम से, एवं ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादक ब्राह्मणवेद ही-'उपनिषद्वेद' नाम से प्रसिद्ध है। इन तीनों आचारनिष्ठाओं, कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठाओं का प्रतिपादक, विधि-आरण्यक-उपनिषत्-भेद से त्रिधा विभक्त 'ब्राह्मण' नामक त्रिकाण्डात्मक तूलवेदशास्त्र ही 'कर्त्तव्यवेद है, जो विज्ञान-स्तुति-इतिहासात्मक तथोक्त—'ज्ञातव्यवेद' के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। और यों मन्त्र ( मूलवेद-शास्त्र-ज्ञातव्यवेदशास्त्र-संहितावेद ), तथा ब्राह्मण ( तूलवेदशास्त्र-कर्त्तव्यवेदशास्त्र-ब्राह्मणवेद ) भेद से द्विधा विभक्त, मन्त्रब्राह्मणात्मक, मूलतूलात्मक-ज्ञातव्य-कर्त्तव्यात्मक वेदशास्त्र के विज्ञान[1]-स्तुति[2]-इतिहास,[3]-कर्म्म[4]-उपासना[5]-ज्ञान[6]-, ये ६ ओं सुप्रसिद्ध विषय सर्वात्मना निर्णीत, अतएव सुनिश्चित हैं। अतएव 'वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय ?, किंवा वेदों में इतिहास है, अथवा नहीं ?, इत्यादि नितान्त भावुकता-पूर्ण-वाग्विग्लापनों का तो इस निर्णीत-निश्चित वेदशास्त्र में प्रवेश भी निषिद्ध ही माना जायगा। 'सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति' वेदशास्त्र के प्रति यहाँ के मानवधर्म्म-व्यवस्थापकों का ( राजर्षि मनु का ) प्रचण्ड यह वैसा उद्घोष है, जिसके सम्मुख आपातरमणीय किसी भी तथाविध वाग्विग्लापन के लिए कुछ भी तो तथ्य शेष नहीं रह जाता। आज हमें सुप्रसिद्ध-'देवासुरदायविभागा-ख्यान' के माध्यम से एक ऐतिहासिक-तथ्य का ही अत्र दिग्दर्शन कराना है। अतएव 'इतिहास' शब्द के माध्यम से ही सर्वप्रथम दो शब्द अवश्य ही निवेदनीय बन जाते हैं। तदेव श्रूयताम्। श्रुत्वा चाप्य-वधार्य्यताम् !!

सर्वप्रथम आपका ध्यान इस तथ्य की ओर ही विशेषरूप से आकर्षित किया जाता है कि, वैदिक इति-हास लिखने की शैली ऐसी अद्भुत है कि, उसे देखकर रहस्यानभिज्ञ साधारण मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है। कुछ शब्द तो इन इतिहासों में ऐसे आते हैं, जिनसे स्पष्ट यह प्रतीत होता है कि, अवश्य ही इस इतिहास का 'मनुष्यचरित्र' से सम्बन्ध है। कुछ शब्द ऐसे आते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि, अवश्य ही यह इति-हास आधिदैविक ( प्राकृतिक नित्य ) तत्त्वों का ही इतिहास की भाषा में निरूपण कर रहा है। साथ ही कितने हीं शब्द आध्यात्मिक-चरित्र की भी प्रधानता बतलाते हैं। यही कारण है कि, आजकल के कितने हीं वेदप्रेमी वेद के प्रत्येक आख्यान को केवल आध्यात्मिकभाव की ओर ही समन्वित करने की चेष्टा करते रहते हैं। उनका कहना है कि, प्रत्येक इतिहास अलङ्कारभाषा में केवल आध्यात्मिक-चरित्र का ही निरूपण कर रहा है।

इधर कितने हीं विद्वान् केवल आधिदैविक–चरित्र को ही प्रधानता देते हैं । रही मनुष्यचरित्र की बात । सो इसके सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों को, एवं तदनुयायी परिगणित पूर्वीय विद्वानों को छोड़कर सभी भारतीय विद्वानों का यह निश्चय है कि, वैदिक आख्यानों में मनुष्यचरित्र का यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है । इसप्रकार इन आख्यानों के सम्बन्ध में कल्पनारसिक वेदमार्गानुगामी विद्वान् भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से आख्यानोपाख्यानों का समन्वय करने में संलग्न हैं । 'इदमित्थमेव' इस निश्चयात्मक सिद्धान्त पर प्राय: आज किसी की दृष्टि नहीं है । इहीं विप्रतिपत्तियों से **सर्वथा ऋजु भी वेदार्थ आज हमारे लिए असमाधेया प्रश्नावली ही बन रहा है** ।

इन विप्रतिपत्तियों को दूर करने के लिए हमने पूर्व के '**प्रोक्षणब्राह्मण**' में आख्यानों को आठ भागों में विभक्त कर इनके सम्बन्ध में वेद का एक निश्चित सिद्धान्त वेदप्रेमियों के सम्मुख रख दिया है । वहाँ बतलाया गया है कि, इन आठ आख्यानों में एक विधा ऐसी भी है, जिसमें **आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक**, इन तीनों प्रकार के चरित्रों का समावेश रहता है । हमारे प्रकृत आख्यान का इसी विधा से सम्बन्ध है । यह केवल कल्पना नहीं है । अपितु श्रुति ने स्थान स्थान पर **'इति नु अध्यात्मम्'–'अथाधिदैवतम्'** इत्यादि रूप से स्वयं कतिपय वैदिक आख्यानों के साथ उपर्युक्त तीनों चरित्रों का सम्बन्ध बतलाया है । उदाहरणार्थ–चयनयज्ञ के इष्टकाचितिप्रकरण को ही लीजिए । सम्वत्सरयज्ञात्मक '**चयनयज्ञ**' में मृण्मयीं इष्टकाओं ( ईंटों ) की चिति ( चिनाव ) होती है । उनकी संख्या नियत होती है । इस सम्बन्ध में इतनी हीं ईंटें क्यों लीं जातीं हैं ?, इससे अधिक, अथवा कम लेने में क्या हानि है ?, इस प्रश्न का समाधान करने के लिए **'सम्वत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः'** इत्यादि रूप से उपपत्ति–प्रकरण आरम्भ होता है । इस प्रकरण में पहिले प्राकृतिक **आधिदैविकचरित्र** का निरूपण किया गया है । प्राकृतिक नित्य आधिदैविक सम्वत्सरमूर्त्ति चयनयज्ञ में अहोरात्ररूपा जितनी इष्टकाएँ होतीं हैं, उनका निरूपण करते हुए सर्वान्त में इस आधिदैविक विज्ञान का उपसंहार करते हुए **'स–हैव–एनत–अद्धातमामाप्नोति, एष वा एकशतं विधत्ते–य एनं सन्वत्सरं बिभर्त्ति । तस्मादेनं सम्वत्सरभृतमेव चिन्वीत–"इत्यधिदैवतम्"** यह कहा है ।

इसी सम्वत्सरयज्ञ के आधार पर हमारे वैध–चयनयज्ञ ( मनुष्यकृत चयनयज्ञ ) का वितान होता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर आगे जाकर श्रुतिने—**'अथाधियज्ञम्'** कहते हुए—**'अधियज्ञ'** का स्वरूप बतलाया है । सर्वान्त में **'पञ्चेमाश्चतुर्विधा अङ्गुलयो, द्वे कल्कुषी०'** इत्यादि रूप से **आध्यात्मिक चयन** का स्वरूप बतलाते हुए **'अथाध्यात्मम्'** यह कहा है । ( देखिए शत० ब्रा० १० कां० २ अ० ६ ब्रा० ) । ऐसी अवस्था में वैदिक–आख्यानों के सम्बन्ध में अपनी कल्पना को प्रधानता देते हुए किसी एक ही दृष्टिकोण को प्रधान मान बैठना सर्वथा अविचारितरमणीय ही है । सम्पूर्ण परिभाषाओं का पूर्ण अनुसन्धान रखते हुए, पूर्वापर की सङ्गति का पूर्णरूप से समन्वय करते हुए, इतिहासोक्त शब्दों की मार्मिकता लक्ष्य में रखते हुए प्रत्येक आख्यान का अत्यन्त सावधानी से ही समन्वय करना चाहिए । जिस आख्यान में उक्त तीनों चरित्रों का समावेश रहता है, **भाषाविज्ञान** की दृष्टि से उस आख्यान की **भाषाशैली** अत्यन्त ही दुरूह बन जाती है । इसमें श्रुति का कोई दोष नहीं है । श्रुति को एक ही आख्यान से **अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत**, तीनों चरित्रों का निरूपण करना पड़ता है । अतः उसे बाध्य होकर कुछ शब्द आध्यात्मिक रहस्य के उपोद्बलक बोलने पड़ते हैं, कुछ शब्द अधिदैवत सम्बन्धी प्रयुक्त करने पड़ते हैं, एवं कुछ शब्द अधिभूतभाव के द्योतक

रखने पड़ते हैं। आख्यानशैली के इस गुहानिहित रहस्य को न जानने वाले सामान्य जन इस विरुद्धभाषा से भ्रम में पड़ जाते हैं। इस भ्रम के निराकरण के लिए वे किसी एक भाव को प्रधानता देते हुए सम्पूर्ण आख्यान का उसी रूप से समन्वय करने की चेष्टा करने लग पड़ते हैं।

यही कारण है कि आज पुराण के आख्यानों पर अज्ञ जनों के द्वारा व्यर्थ की टीकाटिप्पणी की जारही है। पुराण के चरित्र इनकी दृष्टि में निरी कल्पनामात्र है। बात यह है कि, **वेद विज्ञानप्रधान शास्त्र है, उधर पुराण इतिहासप्रधान शास्त्र** है। हैं दोनों में दोनों विषय। केवल प्रधानता, अप्रधानता में तारतम्य है। **पुराण मनुष्यचरित्र को प्रधान मानता हुआ गौणरूप से विज्ञान का निरूपण करता है।** पुराण के प्रत्येक आख्यान में विज्ञानतत्त्व अन्तर्निहत रहता है, मनुष्यचरित्र विकसित रहता है। दूसरे शब्दों में–पुराण मनुष्यचरित्र के व्याज से ( बहाने से ) मनुष्यचरित्ररूप से ही विज्ञान का निरूपण करता है।

उदाहरण के लिए अगस्त्य का ही आख्यान लीजिए। पुराण कहता है—**'अगस्त्य ऋषि अमुक आश्रम में रहते थे। उन्होंने समुद्र का शोषण कर लिया। सम्पूर्ण समुद्र सूख गया। प्रार्थना करने पर उन्होंने उदरस्थ पानी को पुनः निकाल दिया। तभी से समुद्र का पानी क्षार ( खारा ) होगया।''**

बात क्या है ?। अगस्त्यप्राण पानी का शोषक है। विषवद्वृत्त के दक्षिणभाग में दक्षिणध्रुव के समीप अगस्त्य नाम का नक्षत्र है। इस नक्षत्र में भी अप्-शोषक अगस्त्यप्राण प्रचुरमात्रा में विद्यमान है। इस प्राण के सम्बन्ध से ही यह भौतिक नक्षत्रपिण्ड **'अगस्त्य'** नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस समय ( वर्षाऋतु के अन्त में ) अगस्त्य का उदय होता है, समुद्र की अतुल जलराशि बाष्परूप में परिणत होकर आकाश में वायुधरातल में व्याप्त होजाती है। यही अगस्त्य के द्वारा समुद्र का शोषण है। अनन्तर वर्षाकाल में अगस्त्य के द्वारा परित्यक्त वह पानी पार्थिव क्षार भाग से संयुक्त होकर क्षारभाव में परिणत होजाता है। यह है अगस्त्य के द्वारा समुद्र का शोषण। अप्-शोषक अगस्त्यप्राण के उपर्युक्त स्वरूप को सर्वप्रथम जिस **'मानवमहर्षि'** ने पहिचाना, तत्कालीन–परिभाषा के अनुसार वह, एवं उसके वंशज **'अगस्त्य'** नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इसी रहस्य को लक्ष्य बनाता हुआ **'पुराण'** मानव–अगस्त्य--ऋषि के व्याज से **'अगस्त्यप्राणविज्ञान'** ही हमारे सम्मुख रखता है।

निदर्शनमात्र है। * पुराण के प्रायः सभी आख्यान मनुष्यचरित्र को मध्यस्थ बनाकर ही विज्ञानतत्त्वों का निरूपण करते हैं। कहना न होगा कि, आर्य्यसभ्यता के सर्वस्वभूत पुराणों का मर्म्म न समझने वाले वेदरहस्यानभिज्ञ व्यक्तिविशेषों के द्वारा ही **'पुराण केवल कपोल कल्पना है'—'पुराण को देखना महा-पाप है'**—इसप्रकार के आक्षेप करने का अक्षम्य अपराध हुआ है। इधर जो कुछ मर्म्म बचा था, उसका सर्वनाश विद्याशून्य अज्ञ--कथावाचकों की कृपा से होगया है। ये केवल भाषाटीका के आधार पर आज श्रीमद्भागवतादि पुराणों की कथा कहने का दुःस्साहस कर बैठते हैं। श्रीमद्भागवत में **ज्यौतिष्चक्र (खगोल), भुवनकोष ( भूगोल )** का जैसा अद्भुत निरूपण हुआ है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि,

* इन सब विषयों का विषद विवेचन **"पुराणरहस्य"** नाम के ग्रन्थ में देखना चाहिए।

**भूगोल-खगोल-विद्या** का ऐसा विस्पष्ट निरूपण और किसी पुराण में नहीं हुआ । हाँ, इसीसे मिलता जुलता प्रकरण **विष्णुपुराण** में भी **ध्रुवचरित्र** के सम्बन्ध में उपलब्ध होता है ।

कथा के व्याज से व्यासगद्दी को कलङ्कित करने वाले आज के ये **कथावाचक** क्या इन रहस्यों से आंशिक रूप से भी परिचित है ? । क्या वे पाश्चात्य विद्वानों के खगोलीय, भूगोलीय साहित्य के सम्मुख भारतीय दृष्टि से इन विद्याओं के स्वरूप–विश्लेषण की क्षमता रखते हैं ? । क्या वे पुराणोक्त आख्यानों के रहस्यार्थ का प्रतिपादन करने की योग्यता रखते हैं ?। नहीं, तो फिर पुराणस्पर्श का भी उन्हें कोई अधिकार नहीं । विज्ञानमूलक सनातन आर्ष धर्म्म पर आज जो जनता की अश्रद्धा होती जारही है, इसमें अधिकांश में इन्हीं महानुभावों को प्रमुख कारण माना जायगा । **'भगवान् ने रासविहार किया, मक्खन लूट कर खाया'** इत्यादि वाग्विजृम्भणों का ही नाम क्या **पुराणशास्त्र** है ? । स्मरण रखिए । पुराण भी एक शास्त्र है । शास्त्र भी साधारण नहीं, उच्चकोटि का, पारिभाषिक शास्त्र है । जो विद्वान् वैदिक–साहित्य पर अपना पूर्ण अधिकार नहीं रखता, उसे पुराण के अर्थ करने का कोई अधिकार नहीं है । धर्म्मस्तम्भ को अचल रखने के लिए **'पुराणकथा'** से बढ़कर हमारी दृष्टि में कोई दूसरा उत्तम साधन नहीं है । क्योंकि वैदिक-साहित्य विज्ञान-प्रधान होने से साधारण जनता के लिए दुर्बोध्य है। इधर पुराण ने उन्हीं वैदिक-तत्त्वों को आख्यानरूप से बड़ी ही प्रसादभाषा में हमारे सम्मुख रक्खा है । आबालवृद्धवनिता सब पौराणिक कथाओं से आकर्षितमना होकर तद्द्वारा धर्म्म का रहस्य सरलता से समझ सकते हैं। **स्त्री–शूद्र–द्विजबन्धुओं** ( विद्याशून्य नाममात्र के यथाजात ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों ) की ज्ञानेन्द्रियाँ गहनतम वैदिक-तत्त्वों को ग्रहण करने में असमर्थ हैं । इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए परमकारुणिक भगवान् व्यास ने **आख्यान–उपाख्यान–गाथा–कल्पशुद्धि, डामर, जामल, तन्त्र, संहिता, ज्यौतिष्चक्र, भुवनकोष, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित** आदि १८ विषयों का सङ्कलन कर चारों **वेदसंहिताओं** के साथ पाँचवीं **पुराणसंहिता** का सम्पादन किया है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होजाता है—

**आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।**
**पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः ॥**

आज स्थान स्थान पर कथाएँ होतीं हैं । भागवत के सहस्रों पारायण होते हैं । 'कथा' के नाम पर निर्धन भारत का धन जलप्रवाहवत् प्रवाहित होरहा है । अज्ञ कथावाचकों पर भोली जनता सम्पत्ति की वृष्टि कर रही है, परन्तु सब व्यर्थ । इतना सब कुछ होने पर भी क्यों धर्म्म से **आर्षप्रजा** की श्रद्धा उत्तरोत्तर पराङमुखा होती जा रही है ? । क्यों **पुराणशास्त्र**, एवं तत्प्रणेता **वैशम्पायन-सूत** आदि महाभागों पर नवशिक्षितों के द्वारा, एवं वेदाभिमानियों के द्वारा आज गाली प्रहार होरहा है ? । दे सकेंगे आप इन प्रश्नों का उत्तर ? । यह सब इन्हीं तत्त्वानभिज्ञ कथावाचकों की कृपा का फल है ।

यह तो हुआ प्रासङ्गिक **पुराणमत–पर्य्यालोचन** । अब चलिए **वैदिक आख्यानों** की ओर वैदिक आख्यान **वैज्ञानिक–चरित्रों** को प्रधानता देता हुआ **'मनुष्यचरित्र'** का भी आनुषङ्गिकरूपेण दिग्–दर्शन कराते रहते हैं । प्रत्येक वैदिक-आख्यान में आधिदैविक विज्ञान की प्रधानता प्रतीत होती है । परन्तु कुछ शब्द ऐसे प्रयुक्त कर दिए जाते हैं, जिनसे आधिभौतिक, एवं आध्यात्मिक चरित्र भी गतार्थ होजाते हैं ।

उदाहरणार्थ-प्रकृत आख्यान को ही लीजिए-'औद्दर्णेश्चर्म्मभिः'-'के वयं ततः स्याम, यदस्यै न भजेमहि' 'तं त्र्यंगुलेऽन्वविन्दन्' इत्यादि वाक्य आधिभौतिक चरित्र की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। चमड़े की रस्सी का विज्ञानभाव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका उपयोग मानवसम्प्रदाय में हीं होता है। साथ ही 'यदि अपने को भाग न मिलेगा तो फिर अपन कहाँ रहेंगे' यह भाव भी मनुष्यचरित्र का ही द्योतक माना जायगा। 'देवताओं नें खोदते खोदते तीन अंगुल की गहराई में विष्णु को पा लिया' यह वाक्य भी आधिभौतिक चरित्र का ही समर्थक है।

इसी प्रकार—"वामनो ह विष्णुरास' 'यज्ञसम्मितमदुः" इत्यादि शब्द आध्यात्मिकचरित्र के उपोद्बलक हैं। 'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते', 'आत्मा वै यज्ञः' इत्यादि श्रौत वचन 'विष्णु' को हृदय में हीं प्रतिष्ठित मानते हैं। आत्मा को यज्ञ मानते हैं। इसप्रकार गौणरूप से आधि-भौतिक, एवं आध्यात्मिक-चरित्र अवश्य ही गतार्थ माना जासकता है। तीसरा है आधिदैविक चरित्र। वह तो इस प्रकरण का मुख्य ही निरूपणीय विषय है। इन तीनों में से सर्वप्रथम आधिभौतिक रहस्य की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

## आख्यानानुगत आदिभौतिक-रहस्य (ऐतिहासिक--रहस्य)--

जिस 'दायविभाग' का स्वरूप 'ऐतिहासिक' दृष्टि से आज हम आपके सम्मुख रखना चाहते हैं, उसका प्रधान सम्बन्ध भौमत्रिलोकी से है। जिसप्रकार प्रकृति में नित्या त्रैलोक्य-व्यवस्था है, उन नित्य लोकों में जिसप्रकार अग्नि-वायु आदि नित्य प्राण देवता प्रतिष्ठित हैं, तत्तल्लोकों में प्रतिष्ठित तत्तत् प्राण-देवता जिसप्रकार आधिदैविकयज्ञ का सञ्चालन कर रहे हैं, ठीक इसी प्रकृति की रचना की प्रतिकृति (नकल) पर इस भूपिण्ड पर भी त्रैलोक्य-व्यवस्था थी। इनमें क्रमशः अग्नि-वायु-इन्द्र नामके 'मनुष्य देवताओं' का आधिपत्य था। ये 'मनुष्यदेवता' प्रकृति के अनुसार अग्नि मे सोमवल्ली के सोमरूप रस की आहुति देकर ज्योतिष्टोमादि यज्ञ किया करते थे। जबतक इन भौमदेवताओं के हाथमें यज्ञविद्या रही, तब-तक यज्ञबल से ये भौम-आसुरत्रिलोकी में रहने वाले असुरों के आक्रमण को को व्यर्थ प्रमाणित करते रहे।

परन्तु चन्द्रमा की कृपा से कहिए, अथवा तो, दिव्यविभूतिके दुर्भाग्य से कहिए, जिस दिन दुष्टबुद्धि असुरों के द्वारा यज्ञसाधक सोमवृक्ष (सोमवल्ली) नष्ट कर दिया गया, साथ ही विज्ञान-परीक्षाओं का साधन-भूत 'सूर्य्यसदन' नामक 'विज्ञानभवन' नष्ट कर दिया गया, उसी दिन से मनुष्यदेवताओं की सत्ता भूपिण्ड से उठ गई। महाभारतकाल पर्य्यन्त भौमत्रिलोकी-व्यवस्था यथाकञ्चित रूपेण रही। स्वर्गाधिपति इन्द्र महाभारतकाल में अन्तिम इन्द्र थे। इनके साथ अर्जुन का घनिष्ठ मैत्रीसम्बन्ध था। इन्द्र के अभिन्न मित्र तक्षक सुप्रसिद्ध खाण्डववन में रहते थे। जिस समय भगवान् कृष्ण के अनुसन्धान में अर्जुनने खाण्डववन जलाया था, उस समय इन्द्रने हीं तक्षक की रक्षा की थी। इसी इन्द्रने प्रातःस्मरणीय दानी कर्ण का जन्मजात कवच दान में लेकर अपने मित्र अर्जुन की सहायता की थी। युधिष्ठिर सदेह जिस स्वर्ग में गए थे, वह यही भौमस्वर्ग था। उक्त कुछ एक निदर्शनों से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि, महाभारतकाल-पर्य्यन्त देवव्यवस्था रही। इसके अनन्तर इसका एकप्रकार से सर्वथा उच्छेद ही होगया। जिसप्रकार

मनुष्यदेवताओं में इन्द्रादि देवता प्रमुख माने जाते थे, तथैव अपनी आसुर-त्रिलोकी में रहने वाले तत्कालीन असुरों में **मय, वृत्र, नमुचि, बल, तार, तूर, विद्य्न्माली, किलात, आकुली** आदि असुरजातियाँ प्रमुख मानीं जातीं थीं। इन असुरों की प्रधान जातियाँ ३६ थीं। इनमें एकमात्र **'मयजाति'** को छोड़कर शेष सब जातियाँ महा उद्दण्ड थीं। देवताओं का अपमान करना, उन के यज्ञों को नष्ट भ्रष्ट करने के लिए सदा उद्यत रहना, प्रजापति के द्वारा जो भूप्रदेश देवताओं को मिला था, उसे भी अपहृत कर लेने के प्रयास में तल्लीन रहना, ये सब इन दुष्टों की स्वाभाविक वृत्तियाँ थीं। हाँ, **मयजाति** अवश्य ही उस समय **सभ्य** मानी जाती थी। **शिल्प**, एवं **ज्यौतिष** में तो उस समय सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल में इस जाति की समता करनेवाली कोई दूसरी जाति न थी।

आप को यह सुनकर भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि, वर्त्तमान में ज्यौतिषविद्या का जो कुछ प्रसार भारतवर्ष में देखा सुना जाता है, वह इसी जाति की कृपा का फल है। ज्यौतिषशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् **वराह-मिहिरने मयासुर से ही ज्यौतिषशास्त्र का अध्ययन किया था**। आगे जाकर यह जाति ज्योतिष में ऐसी उन्नति पर पहुँच गई थी कि, सुनकर आश्चर्य्य से चकित होजाना पड़ता है। आसुरत्रिलोकी के इजिप्तप्रान्त में रहने वाली मयजाति ने एक समय विविध प्रकार की ओषधियों का सङ्ग्रह कर उसे एक गहरे अन्धकूप में डाल दिया। यह वैज्ञानिकजाति जानती थी कि, ओषधियों का निर्म्माण चन्द्रमा के सोमरस से ही होता है। चान्द्रसोम हीं वृष्टिरूप में परिणत होकर ओषधियों का उपादान बनता है। इसी आधार पर इसने निश्चय किया कि, ओषधिओं में वही चान्द्रसोम विद्यमान है। उपायविशेष से यदि उस का सङ्कलन कर दिया जाय, तो अवश्य ही एक **नवीन चन्द्रमा उत्पन्न होसकता है**। तदनुसार उक्त प्रकार से कूप में ओषधियों को प्रक्षिप्त कर वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा सोम का सङ्कलन आरम्भ किया। थोड़े समय में हीं कूप से चन्द्रमा बड़े बेग से ऊपर की ओर उत्क्रान्त होकर वायुधरातल में इतस्ततः परिभ्रमण करने लगा। यह भी किंवदन्ती है कि, उस चन्द्रमा का प्रकाश १२ योजन पर्य्यन्त व्याप्त होगया था। अन्त में प्रतिष्ठा की न्यूनता से वह चन्द्रमा क्षीण होगया।

आप को यह सुन कर और भी आश्चर्य्य होगा कि, मयजाति के इस आविष्कार के थोड़े समय के अनन्तर ही सम्पूर्ण **इजिप्त** प्रान्त अग्निविस्फोटन से सदा के लिए भूगर्भ में हीं प्रविष्ट होगया। ऐसा क्यों हुआ ?, इस का उत्तर ईश्वरसत्ता को सर्वोपरि मानने वाले भारतीयों की दृष्टि में तो यही है कि, जबतक उनका विज्ञान ईश्वरीय-सृष्टि के अनुकूल रहा, तबतक उन का कोई अनिष्ट न हुआ। परन्तु जब उन्होंने ईश्वरीय-सृष्टि के साथ स्पर्द्धा करना आरम्भ कर दिया, नवीन सूर्य्य, चन्द्रमा बनाने का उपक्रम कर दिया, तो प्रकृति ने उन्हें इस असत्-साहस के लिए उचित दण्ड देना आवश्यक समझा। ऐसी अवस्था में विज्ञान का निनाद करने वालों को यह ध्यान रखना चाहिए कि, **जबतक उन का विज्ञान प्रकृति के अनुकूल है, तभीतक वह विज्ञान लोकाभ्युदय का कारण बना रह सकता है**। **जिस दिन मदमत्त वैज्ञानिक ईश्वरीय-सृष्टि की प्रतिस्पर्द्धा में खड़े होजायँगे, उस दिन ईश्वर ऐसा न करै, वही विज्ञान लोकनाश का ही कारण बन जायगा, जिस का कि उपक्रम अभी से होने लगा है**।

बतलाना यही था कि, **वर्त्तमान** ज्यौतिष **आसुरशास्त्र** है। बव-बालव-तैतिल-विष्टि-वणिज-आदि शब्द संस्कृत-साहित में उपलब्ध नहीं होते। ये सब **यूनानभाषा** के ( **आसुरभाषा के** ) शब्द हैं। इसीप्रकार **'अ-व-क-ह-ड-म-ट-प-र-त'** आदि बीस वर्णों की वर्णमात्रिका भी यहाँ की नहीं है। आज जिसे **होडाचक्र** ( वस्तुः **'अवकहडचक्र'** ) पर भारतीय ज्यौतिषी गर्व करते हैं, वह मयजाति की ही बपौती है। और तो और, **स्वयं जन्मकुण्डलियों में भी आज वही आसुरभाव उपलब्ध होता है।** लग्नस्थान से जब १२ भावों का विचार किया जाता है, तो विपरीतगति का ही आश्रय लिया जाता है। सीधे भाग से स्थानों का विचार न कर उल्टे पार्श्व से दशाओं का विचार होता है। यह आसुरपद्धति ही है। इसी आसुरभाव से वर्त्तमान भारतीय ज्यौतिष **'भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा'** इत्यादि रूपसे सूर्य्य को चल, और पृथिवी को स्थिर मानते हुए ग्रहकक्षा का संस्थान **भूपिण्ड-चन्द्रमा-बुध-शुक्र-सूर्य्य-वृहस्पति-शनि-नक्षत्रकक्षा** इस रूपसे मानता है। **सुप्रसिद्ध वारगणना का सम्बन्ध भी आसुरभाव से ही है।** वैदिककाल के सम्पूर्ण व्यवहार **नक्षत्र, तिथि, मास, सम्वत्सर, अयन-इन्हीं** के आधार पर चलते हैं। समस्त वैदिक्-वाङ्मय का पर्य्यालोड़न कर जाइए, कहीं भी आप को **शनि-रवि-आदि-वारों** का उल्लेख नहीं मिलेगा। आज समस्त भूमण्डल पर, सभी जातियों की व्यवहारभूमि शनि-रवि आदि ७ वार ही बने हुए हैं। **इससे भी मयजाति की ज्यौतिषविद्या के महत्त्व का ही परिचय मिलता है।** और लीजिए,-**वेदाङ्गज्यौतिष** में गणित का विशेष महत्त्व नहीं है। वहाँ सम्पूर्ण व्यवहार प्रधानरूप से **सिद्धान्तों** के आधार पर ही चलते हैं। यद्यपि **चयनादि यज्ञों** में **'इष्टकाचितिसन्धान'** के सम्बन्ध में कहीं कहीं गणित उपलब्ध होता है। परन्तु यह क्वाचित्क ही है। आज तो बिना गणित के ज्यौतिषी एक पाद भी आगे नही बढ़ा सकते। इसीप्रकार **ग्रहसंस्था** का क्रम भी वेदाङ्गज्यौतिष के अनुसार **सूर्य्य-बुध-पृथिवी-चन्द्रमा-शुक्र-मंगल-देवसेना-बृहस्पति-शनि-नक्षत्रकक्षा-यही है।**

यद्यपि-वैदिक सिद्धान्त के अनुसार जो गति भूपिण्ड की है, वही सूर्य्य की भी है। सूर्य्य भी स्वाक्ष-परिभ्रमण करता हुआ **'परमेष्ठी'** नामक महान् ग्रहके चारों ओर परिक्रमा लगाता है। परन्तु जिसप्रकार **नाकपृष्ठ ( वर्त्तमान ज्यौतिषपरिभाषा के अनुसार 'कदम्बवृत्त'** ) के चारों ओर २४ अंशके व्यासार्द्ध से वृत्त बनाकर ध्रुव २५ हजारवर्ष में एक परिक्रमा लगाता हुआ भी अल्पायु-मनुष्यों की दृष्टि में स्थिर प्रतीत होता हुआ **'ध्रुव' ( अचल )** नाम का अधिकारी बन जाता है। एवमेव वैदिक-परिभाषा के अनुसार २१ वें अहर्गण पर प्रतिष्ठित **पारमेष्ठ्य विष्णु** के चारों ओर अनन्तकाल में अपनी एक परिक्रमा लगाने वाला **सूर्य्य** भी स्थिर प्रतीत होरहा है। सूर्य्य की इसी दृश्यमण्डललक्षणा स्थिरता को लक्ष्य में रख-कर ही निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

**''सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति''।**
**'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः''।**
**''नैवोदेता नास्तमेता मध्ये एकल एव स्थाता''।**
**नैवास्तननमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।**
**उदयास्तमनञ्चैव दर्शनादर्शनं रवेः॥**

इधर पृथिवी के परिभ्रमण में तो संदेह है ही नहीं हैं, जैसा कि—

**१—सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥**

**२—कतरा पूर्वा कतरा परायो कथा जाते कवयः को विवेद ।
विश्वं त्मना बिभ्रतो यद्ध नाम विवर्त्तेते अहनी चक्रियेव ॥**

**३—यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्--यद् भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥**

इत्यादि उक्त मन्त्रवर्णनों से स्पष्ट है । इधर वर्त्तमान ज्यौतिष पूर्व कथनानुसार '**भचक्र**' को '**विचाली**' मानता है, एवं भूपिण्ड को स्थिर मानता है । यह भाव भी **आसुरभाव** का ही द्योतक है । **भचक्र** को चल मानिए, अथवा तो **भूपिण्ड** को चल मानिए, उभयथा गणित में अन्तर नहीं आता । गणित का उभ-यथा ठीक ठीक समन्वय होजाता है । परन्तु विज्ञानदृष्टि पृथिवी को कभी स्थिर नहीं देख सकती । मयजाति वैज्ञानिक अवश्य थी, परन्तु असुर थी । असुर सूर्य्य के विरोधी थे, यह बात पूर्व के आख्यानों में अनेक बार बतलाई जाचुकी हैं । इधर '**अद्भ्यः पृथिवी**' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड आप्य आसुर प्राणमय है । वैज्ञानिक होते हुए भी मयजाति में यह आसुरभाव अभिव्यक्त था । उसने देखा कि, **गणित**, एवं **फलित** में तो कोई अन्तर आता नहीं । फिर क्यों देवप्रतिष्ठाभूत **सूर्य्य** को स्थिर, एवं असुरप्राण प्रतिष्ठा-रूप **भूपिण्ड** को चल माना जाय । इसी अभिनिवेश में पड़कर उन्होंनें भूपिण्ड को स्थिर माना, सूर्य्य को चल माना ।

वस्तुतः वैदिक-विज्ञान के **अनुसार** परमार्थदृष्टि से तो उपर्य्युक्त कथनानुसार **सूर्य्य-पृथिवी** दोनों हीं चल हैं, एवं रोदसीत्रैलोक्य की अपेक्षा से सूर्य्य सर्वथा स्थिर है, एवं पृथिवी सूर्य्य को केन्द्र मान कर चारों ओर क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगाती है । बहुत हुआ, इस अप्राकृतिक विषय के निरूपण में हम पाठकों का अधिक समय नहीं लेना चाहते । इसे प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना था कि, अन्यान्य असुरजातियों की अपेक्षा मयजाति विद्वान् थी । **शिल्पकला की तो यह जाति भाग्यविधात्री ही थी** । इन्हीं दिव्य विभूतियों के प्रभाव से इस जाति का भारतवर्ष के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा । **वराहमिहिर** नाम के ब्राह्मण को भी इसने विद्या सिखलाने में आपत्ति न की । इस जाति का असुरों के साथ संसर्ग भी कम ही रहता था । यही कारण था कि, कुछ मयलोग यूनान छोड़कर भारतवर्ष में ( खाण्डववन में ) आकर बस गए थे । जिस समय अर्जुनने खाण्डववन जलाया था, उस समय भगवान् कृष्ण के आदेश से यह **मयवंश** अग्निकाण्ड से बचा लिया गया था । इसी उपकार के बदले इस कृतज्ञ जातिने पाण्डवों के लिए ऐसा अद्भुत **सभाभवन** बनाया था, जिसे देखकर एक बार तो भौमस्वर्ग में रहने वाले देवता नारद आदि ऋषि भी चकित होगए थे । यह भी पाठकों को सुविदित है ही कि, यही सभाभवन आगे जाकर महाभारतसङ्ग्राम का जन्मदाता बनता हुआ कुरुवंश के नाश का ही निमित्त प्रमाणित हुआ ।

तथोक्त कुछ एक प्रासङ्गिक निदर्शनों से पाठकों को यह मान लेना पड़ेगा कि, **किसी समय इसी पृथिवी पर मनुष्यविध देवता, एवं मनुष्यविध असुरों की सत्ता थी।** **असुरजाति** का विकृतरूप तो आज भी विद्यमान है, परन्तु भौमदेवता सर्वथा कराल काल के गाल में समा गए हैं। ये देवता कहाँ रहते थे ?, देवत्रिलोकी कौनसी थी, आसुरत्रिलोकी कहाँ थी ?, ये विभाग किसने किए थे ?, इस त्रैलोक्यविभाग की आवश्यकता क्या थी ?, असुर किस लिए देवताओं पर आक्रमण किया करते थे ?, अन्ततः देवजाति कैसे उच्छिन्न होगई ?, तत्कालीन भौगोलिक व्यवस्था कैसी थी ?, इन सब प्रश्नों का उत्तर पूर्व के पात्रप्रतपन-प्रकरण में **अष्टविधदेवतानिरूपण**-प्रकरण में १०० पृष्ठों में बड़े विस्तार के साथ दिया जाचुका है। प्रकृत कथा के समन्वय के लिए वह प्रकरण अत्रापि एकबार अवश्य ही द्रष्टव्य है।

वहाँ यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि, प्रजापतिने **देवता** और **असुर**, दोनों में शान्ति रखने के लिए इस भूपिण्ड के **उत्तरीगोलार्द्ध**, एवं **दक्षिणीगोलार्द्ध** भेद से दो विभाग कर इन्हें क्रमशः देवता, और असुरों के अधिकार में दे दिया था। देवता सदा से ही **शान्तिप्रिय** थे, उधर **असुर** जन्म से ही **दुष्टप्रकृति** के थे। यद्यपि वर्गमील के अनुसार असुरों को देवताओं की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में भूप्रदेश मिला था। तदपि ये देवताओं पर आक्रमण करने से नहीं चूकते थे, जैसाकि पूर्व के **स्तम्बयजुर्हरणोपाख्यानरहस्य** में विस्तार के साथ बतलाया जाचुका है। विषयसङ्गति के लिए यहाँ भी प्रकारान्तर से **भौगोलिक-व्यवस्था** का संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है।

**आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।**
**तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥**

—मनुः २।२२।

उक्त मानवसिद्धान्त के अनुसार **पूर्वसमुद्र से आरम्भ कर पश्चिमसमुद्रपर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश आर्य्यावर्त्त नाम से प्रसिद्ध था।** **आर्य्य, और दस्यु,** दो शब्द उस समय प्रधानरूप से प्रचलित थे। उक्त सीमा में दस्युओं का प्रवेश नहीं होसकता था, अतएव यह प्रान्त '**आर्य्यावर्त्त**' कहलाता था। पश्चिमसमुद्र पुराणों में '**महीसागर**' नाम से व्यवहृत हुआ है। यही पाश्चात्यभाषा में—'**मेडिट्रेनियेन्सी**' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के समीप रक्तसमुद्र ( रेडसी ) है। एवं पश्चिमसमुद्र ( चीनसमुद्र ) **पीतसमुद्र (यलोसी)** नाम से व्यवहृत हुआ है। निरक्षवृत्त से ४५ अंश पूर्व पूर्वसमुद्र है, एवं ४५ अंश पश्चिम पश्चिमसमुद्र है। किसी समय **निरक्षवृत्त** लङ्कास्थान पर आता था। आज भी निरक्षवृत्त तो वहीं है। हाँ, लङ्का अवश्य ही समुद्रगर्भ में विलीन होगई है। इधर जो महानुभाव '**सिंहलद्वीप**' **(सीलोन)** को '**लङ्का**' मान रहें हैं, यह उन की भ्रान्ति ही समझनी चाहिए। क्योंकि द्वीपगणना के अनुसार **पुराणशास्त्रने लङ्काद्वीप, सिंहलद्वीप,** दोनों को सर्वथा पृथक् माना है। साथ ही जिस **देशान्तर** पर लङ्का की सत्ता मानी गई है, उस देशान्तर पर **सीलोन** नहीं है। ऐसी अवस्था में देशान्तर-मानानुसार सीलोन सिंहलद्वीप होसकता है, न कि लङ्का।

पुराणयुग में सम्पूर्ण भूमण्डल की व्यवस्था यहीं से की जाती थी। यही स्थान भारतवर्ष का उपक्रम स्थान था। यही भारतवर्ष की दक्षिण-सीमाथी। **लङ्कासमीपस्थ दक्षिणसमुद्र भारतवर्ष की दक्षिण सीमा**

थी, पूर्वसमुद्र पूर्व सीमा थी, एवं पश्चिम सद्रमु पश्चिमसीमा थी । आज जिसे (सिन्धुनद को) भारतवर्ष की सीमा माना जाता है, वस्तुत: भारत की पश्चिम सीमा सिन्धुनद नहीं, अपितु पश्चिम समुद्र है । आज भी यहाँ पर हमारा "शर्व" तीर्थ है । चीन तिब्बत आदि सभी भारतवर्ष के अन्तर्गत हैं । भारत-अग्नि की सत्ता जहाँतक हो, वही देश भारतवर्ष है । आज जिसे 'भारतवर्ष' माना जाता है, वह तो आधा भारतवर्ष है । इस सम्बन्ध में स्वयं वेद के ब्राह्मणभागने बड़ा विशद निरूपण किया है । इधर 'वेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय ?' इस शास्त्रार्थकलह में हीं अपनी जीवनलीला समाप्त करने वाले भारतीय विद्वानों को आज अपने देश की सीमा का भी स्वरूपबोध नहीं है । पाश्चात्य विद्वान् अपने स्वार्थों को प्रधानता देते हुए यथेच्छ सीमा-विभाग कर लाभ उठा रहे हैं । इधर भारतीय विद्वान् इस सम्बन्ध में सर्वथा सुप्त हैं । यदि दुर्भाग्य से ऐसे विचारों को लेकर इनके सामने मादृश कोई व्यक्ति उपस्थित होता है, तो-पहिले तो ये महानुभाव ऐसे विचारों को सुनने का अवसर ही नहीं देते । यथाकथञ्चित् दक्षिणादि के प्रलोभन से यदि ये एकत्र समवेत हो भी जाते हैं, तो 'वेदों में किन विषयों का निरूपण हुआ है ?, वेद किन मौलिक तत्त्वों का रहस्य बतलाता है ?, इत्यादि वेदार्थ-सम्बन्धी तात्त्विक विचारों का स्पर्श भी न करते हुए केवल वाक्कलहरूप पौरुषेय अपौरुषेय-वाद में हीं पड़ जाते हैं ।

मान लीजिए, वेद सर्वथा अपौरुषेय हैं । क्या यह मात्र जान लेने से वेद का वेदत्त्व चरितार्थ होगया ? । नहीं, तो फिर छोड़िए इस पतनमूलक दुराग्रह को ! अन्वेषण कीजिए वेदार्थ का !! बतलाइए जनता को सच्चा मार्ग !!! अपनी प्राचीन संस्कृति, सीमाविभाग आदि का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते हुए कह दीजिए राजनैतिकस्वार्थलिप्सु उन प्रतीच्यों को कि, आपने हमें जैसा कूपमण्डूक समझ रक्खा है, हम वैसे कूपमण्डूक नहीं हैं । हमारा घर छोटासा नहीं, अपितु बहुत विस्तृत है । नैतिकता के व्याज से हमारी अज्ञता से अनुचित लाभ उठाते हुए आपने जिन चीन-जापानादि देशों को हमारी सीमा से पृथक् मान लिया है, यह कल्पना हमारे भुवनकोश के अनुसार नितान्त अशुद्ध है । ये देश हमारे देश हैं । हम उनके हैं, वे हमारे हैं । सबकी मूलसंस्कृति का स्रोत एक है । उनके सुख में हम सुखी, एवं उनके दुःख में हम दुःखी हैं । आज हमें अपने वास्तविक इतिहास का बोध नहीं । हम नहीं जानते-हम कौन थे, कहाँतक हमारा साम्राज्य था, क्या क्या साहित्य हमारे हाथ में था, किन किन परराष्ट्रों पर हमारा प्रभुत्त्व था । वैदिक-इतिहास, एवं भूगोल सम्बन्धी परिज्ञान से वञ्चित रहने के कारण हमारी सङ्गठनमूला राष्ट्रीयभावनाएँ सर्वथा उच्छिन्न होरहीं हैं । हो क्या रहीं हैं, हो-चुकीं हैं । विश्वास कीजिए, आपका भारतवर्ष वर्त्तमान भारतवर्ष नहीं हैं । वह बहुत विस्तृत भूप्रदेश है । सुप्रसिद्ध भौमत्रिलोकी का पृथिवीलोक-स्थानीय भारतवर्ष ६० अंश पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखता है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है । *

* प्रथम प्रकाशनानुगत इस प्रकरण को आज अनुमानतः २० वर्ष होचुके हैं, जिसका यह पुनः प्रकाशन सन् ५८ में होरहा है । इसी अवधि में अपनी भावुकतावश भारतराष्ट्र ने अपना 'अर्द्ध' स्वरूप भी सर्वात्मना क्षत-विक्षत कर लिया है, जिससे बड़ी ऐतिहासिक भूल विगत तीन-सहस्र-वर्षों में घटित-विघटित पतनयुगों में भी घटित नहीं होपाई थी, इत्यहो महतीयं विडम्बना राष्ट्रीय-स्वतन्त्रप्रज्ञायाः, नितान्त-भावुकतापूर्ण-कल्पित-त्याग-तपस्या-बलिदान-विजृम्भण-समन्वितायाः, इत्यालम्प्यालमेव ।

यद्यपि इन विषयों का निरूपण पूर्व में यत्र तत्र होचुका है, परन्तु वहाँ विस्पष्टरूप से एकत्र समन्वय नहीं होसका है। वहाँ केवल देवव्यवस्था को प्रधान मान कर संक्षेप से वर्षादि भुवनकोशों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। अब आगे के प्रकरणों में यह विषय पुनः पुनः आवर्त्तित न करना पड़े, इसलिए प्रकारान्तर से **देवासुरदायविभाग** से सम्बन्ध रखने वाले **पाद्मभुवनकोश** का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। आगे स्थान-स्थान पर **देवासुरसंग्राम** का निरूपण आने वाला है। उन सबकी आधारभूमि यही **पाद्मभुवनकोश** है। **दृष्टि-अनुग्रह-निक्षेप कीजिए पाद्मभुवनकोश के स्वरूप पर ! कृतज्ञ बनिए पुराणशास्त्र के !! अनुभव कीजिए पुराणशास्त्र की आवश्यक उपादेयता का !!!**

पुराण में जिन अठारह अपूर्व विषयों का निरूपण किया गया है, उनमें से एक विषय **'भुवनकोश'** ( **भूगोल** ) भी है। जिस दिन आप साङ्गोपाङ्ग भुवनकोश का स्वरूप अवगत करलेंगे, उस दिन भूपिण्ड का **जल, स्थल** कोई भी प्रदेश आपकी ज्ञानसीमा से बहिर्भूत न रहेगा। आज पाश्चात्यों की ओर से कहा जाता है कि, भारतीय विद्वान् आत्म-परमात्म--चर्चा के अतिरिक्त अन्य किसी विषय के ज्ञाता नहीं है। अवश्य ही वर्त्तमान विद्वानों के सम्बन्ध में पाश्चात्यों का उक्त कथन सर्वथा ठीक है। निधि भारतीयों के **शास्त्रकोश** में सबकुछ है। परन्तु हम इसके ज्ञाता नहीं है। यदि पाश्चात्यों का यह अभिप्राय हो कि, इन विषयों को आजतक भारतीयों नें जाना ही नहीं, तो-उनकी यह नितान्त भ्रान्ति है। हमारा तो यह भी कहना है कि, जो नियत भूगोलविद्या हमारे शास्त्रों में उपलब्ध होती है, उसका शतांश भी वर्त्तमान भूगोल में उपलब्ध नहीं होरहा। प्रकरण दूसरा है-अतः प्रकृत में भूगोलविद्या का निरूपण नही किया जासकता। भूगोलसम्बन्धी विषयों का नामनिर्द्देश कर देवासुरदायविभाग-सम्बन्धी केवल **ब्राह्म-( ब्रह्मपुराणोक्त ) पाद्मभुवनकोश** का ही संक्षिप्त निरूपण कर इस आधिभौतिक दायविभागाख्यान-प्रकरण को उपरत कर दिया जायगा।

**तीन सप्तकों का निरूपण जिस प्रकरण में हो, वही 'भुवनकोशविद्या'** है। सम्पूर्ण भुवनकोश में केवल निम्न लिखित तीन सप्तकों का ही निरूपण हुआ है।

| ३ | प्रथमसप्तकः | द्वितीयसप्तकः | तृतीयसप्तकः |
|---|---|---|---|
| भारतीयभूगोलविद्यायां त्रयः सप्तकाः | १--सप्तद्वीपाः | १--पर्वताः | १—देशविभागाः |
| | २--सप्तसमुद्राः | २--नद्यः | २—उपद्वीपविभागाः |
| | ३--सप्तवायवः | ३--सरांसिः | ३--समुद्रविभागाः |
| | ४--सप्तलोकाः | ४--वनानि | ४--आखातविभागाः |
| | ५--सप्तपातालानि | ५—आकराः | ५--डमरूमध्यानि |
| | ६--सप्तावरणानि | ६—देशाः | ६--राजशासनानि |
| | ७--सप्ताकाशाः | ७—पुराणि | ७--पोतावतरणतीर्थानि (बन्दरगाह) |

## १–सप्तद्वीपाः (१)

**१–जम्बुः, २–प्लक्षः, ३–शाल्मलिः, ४––कुशः, ५––क्रौञ्चः, ६–शाकः, ७–पुष्करः–इत्येते सप्त द्वीपाः । 'सप्तद्वीपा वसुमती' इति हि भगवान् पतञ्जलिराह ।**

(१) पौराणिक **सृष्टिविज्ञान** के अनुसार भूपिण्ड को अपने गर्भ में रखती हुई महापृथिवी ( जिसका स्तौम्यत्रिलोकीरूप से स्तम्त्रयजुर्हरणप्रकरण में निरूपण किया जाचुका है) उपर्य्युक्त सात द्वीप, सात समुद्रों से युक्त है । इनके चारों ओर क्रमशः सर्वप्रथम **काञ्चनीभूमि, लोकालोक, तम, अण्डकटाह** ये चार प्रदेश व्याप्त हैं । इस महापृथिवी के अनुरोध से ही क्षुद्रपृथिवीरूप भूपिण्ड में भी द्वीप-समुद्रादि व्यवस्था की जाती है, जैसाकि **'पुराणरहस्य'** ग्रन्थ में स्पष्ट कर दिया गया है । महापृथिवीस्थित सप्तसमुद्र न जानने के कारण ही **लार्डमेकाले** आदि पाश्चात्य विद्वानों नें भारतीय पौराणिक भूगोल को मिथ्या बतलाने का अक्षम्य अपराध कर लिया है । हमारी महापृथिवी की सत्ता में २१ ( एकविंश ) स्थ सूर्य्य भी अन्तर्भुक्त है । यही कारण है कि, सप्तद्वीपों का निरूपण करते हुए पुराणरहस्यवेत्ताओंनें सौरब्रह्माण्ड को **'भूपत्र'** की सीमा मानी है । सौरब्रह्मा पार्थिवपुष्करद्वीप में प्रतिष्ठित माने जाते हैं । कारण, महापृथिवी का पुष्करद्वीप २१ वें अहर्गण पर ही प्रतिष्ठित है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महापृथिवी के उपर्य्युक्त सातों द्वीपों का निरूपण करते हुए पुराणाचार्य्य कहते हैं—

**इत्थं ब्रह्माण्डमध्यस्थो यो ब्रह्मा समपद्यत ।**
**सूर्य्यः स एतद्ब्रह्माण्डं ज्योतिषां मण्डलं महत् ॥१॥**
**पृथिवीपरिभ्रमस्यान्तं यो मार्गस्तेन मण्डलम् ।**
**द्विधा स्यादधरा भूमिरुत्तरा द्यौः समे समे ॥२॥**
**सूर्य्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ।**
**विष्कम्भाद्र्धमिदं तस्य विष्कम्भो द्विगुणो भवेत् ॥३॥**
**सहैवाण्डकटाहेन सद्वीपाम्भोधि—पर्वताः ।**
**पञ्चाशत्कोटिविस्तारा सेयं पृथिवी निरूपिता ॥४॥**
**तत्र सूर्य्यं समारभ्य सप्तद्वीपाः सहार्णवाः ।**
**अस्या अनुदिशं पृथ्व्याः सूर्य्यमावृण्वते क्रमात् ॥५॥**
**यावान् द्वीपः प्रमाणेन तत् समुद्रोऽपि तत् समः ।**
**पूर्वतो द्विगुणद्वीपसमुद्रा उत्तरोत्तरम् ॥६॥**
**लक्षयोजनविस्तारो जम्बुद्वीपोऽथ तत्समः ।**
**लवणोदसमुद्रः स्याद् द्विलक्षः प्लक्ष इष्यते ॥७॥**
**प्लक्षप्रमित एवेक्षु रसोदः स्यादिति क्रमः ।**

स्वादूदकसमुद्रान्तः प्रमाणस्योपपद्यते ॥८॥
एवं द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्तसप्तभिरावृताः ।
द्वीपश्चास्य समुद्रश्च समानौ द्विगुणौ परौ ॥९॥
स्वादूदकस्य परिता द्विगुणा काञ्चनी-क्षितिः ।
लोकालोकचलश्चोर्ध्वं, तदूर्ध्वं परितस्तमः ॥१०॥
तमश्चाण्डकटाहेन समन्तात् परिवेष्टितम् ।
विस्तार एष कथितः पृथिव्या मुनिसत्तमैः ॥११॥
न्यग्रोधः पुष्करद्वीपे ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ।
तस्मिन्निवसति ब्रह्मा पूज्यमानः सुरासुरैः ॥१२॥

—पुराणेषु

## २–सप्तसमुद्राः—

१–लवणोदः (क्षारसमुद्रः), २–इक्षुरोदः, ३–सुरोदः, ४–घृतोदः, ५–दधिमण्डोदः, ६–क्षीरोदः, ७–स्वादूदक् ।

## ३–सप्तवायवः—

आवह--प्रवह--संवह--परिवह--इत्यादिरूपेण ज्यौतिषशास्त्रे सुप्रसिद्धाः ।

## ४–सप्तलोकाः

१--भूः, २--भुवः, ३--स्वः, ४--महः, ५--जनः, (जनत्), ६--तपः, ७--सत्यम् ।

इन सातों लोकों का वैज्ञानिक स्वरूप 'गीताविज्ञानभाष्य' के 'मानुषोत्तमकृष्णरहस्य' प्रकरण में देखना चाहिए । यहाँ प्रकरण-संगति के लिए कुछ एक श्लोकमात्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं—

रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखैरवभाष्यते ।
ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता ॥१॥

यावत्प्रमाणा पृथिवी विस्तारपरिमण्डला ।
नभस्तावत्प्रमाणं हि विस्तारपरिमण्डलम् ॥२॥

पादगम्यं तु यत्किञ्चित् वस्त्वस्ति पृथिवीमयम् ।
स भूलोकः समाख्यातो विस्तारोऽस्य पुरोदितः ॥३॥
भूमिसूर्य्यान्तरं यच्च भुवर्लोकस्तु सोऽपरः ।
सूर्य्य-ध्रुवान्तरं स्वर्गो नियुतानि चतुर्द्दश ॥४॥
त्रैलोक्यमेतदाख्यातं संक्षेपेण ध्रुवावधि ।
ध्रुवादूर्ध्वं महर्लोकः स कोटौ योजनान्तरे ।
द्विकोट्यूर्ध्वं जनोर्लोकः सनन्दनमुखा इह ॥५॥
ततस्तपश्चतुःकोट्यामूर्ध्वं वैराजदैवतम् ।
तत ऊर्ध्वं तु षट्कोट्यां सत्यलोको विशिष्यते ॥६॥
ऐते सप्त महालोका उपरिष्टादधः पुनः ।
पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्यैष विस्तरः ॥७॥
एतदण्डकटाहेन तिर्य्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
कपित्थस्य यथा बीजं सर्वतोऽस्ति समावृतम् ॥८॥

## ५–सप्तपातालानि—

१–अतल, २–वितल, ३–सुतल, ४–तलातल, ५–महातल, ६–रसातल, ७—पाताल ।

'पाताललोकाः पृथिवीपुटानि' इस पुराणसिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड के सात स्तर ही सात पाताल कहलाते हैं । इनमें आरम्भ के तीन पुट आपोमय हैं, आगे के तीन पुट अग्निमय हैं, एवं केन्द्रपुट ब्राह्म है । इसी से मेरुरूप स्कम्भ का विनिर्गम होता है । भूपिण्ड के पहिले तीन स्तरों में पानी रहता है, दूसरे तीन स्तरों में अग्नि रहता है । सर्वान्त में सर्वप्रतिष्ठारूप प्राणाग्नि रहता है । यही भूगर्भस्थ प्रजापति है । भूसृष्टि का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण यही प्रजापति है ।

यह प्रजापति हृ–द–य स्वरूप है । हृ–आहरणधर्मा विष्णु है, द–विक्षेपणधर्म्मा इन्द्र है, य–नियमन धर्मा ब्रह्मा है । इनमें से हृरूप विष्णु के अभिप्राय से यह पाताल स्थान अनन्त शेषनाग नाम से प्रसिद्ध है । वायु शेषनाग है । इसी पर विष्णुतत्त्व प्रतिष्ठित है । इसी आधार पर शेषनाग के फण पर भूपिण्ड की सत्ता मानी जाती है । यह प्राणमय तत्त्व क्रान्तिमण्डलपृष्ठीय केन्द्रभूत कदम्ब से युक्त होता हुआ–सुमेरु-कुमेरु–भाव की प्रतिष्ठा बनता है, जैसाकि पूर्व–सन्दर्भों में विस्तार से बतलाया जाचुका है ।

## ६–सप्तावरणानि (नरकाः)––

१—रौरवः, २—तानः, ३—विमोहनः, ४—कृमीशः, ५—लालाभक्षः, ६—अधःशिराः, ७—अवीचिः।

सूर्य्य में सात नाड़ियाँ मानीं जातीं हैं। इस सात नाड़ियों के सम्बन्ध से शनिलोकरूप **आवरण-लोक** ( **नरकलोक** ) सात भागों में विभक्त होजाता है। आगे जाकर २७ नक्षत्रों के सम्बन्ध से २७ नरक होजाते हैं। इन २७ नरकों का विभाग निम्नलिखित है––

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| (१) | १—रौरवः | | १–(१०) रुधिरान्धः | | १–(१९) वह्निज्वालः |
| | २—शौकरः | | २–(११) वैतरणी | | २–(२०) अधःशिरः |
| | ३—रौधः | | ३–(१२) कृमीशः | (६) | ३–(२१) सन्दंशः (सदंशः) |
| | ४––तानः | (४) | ४–(१३) कृमिभोजनम् | | ४––(२२) कृष्णसूत्रः |
| (२) | ५––विशासनः | | ५–(१४) असिपत्रवनम् | | ५–(२३) तमः |
| | ६–महाज्वलः | | ६–(१५) कृष्णः | | ६––(२४) अवीचिः |
| | ७––तप्तकुम्भः | | ७–(१६) लालाभक्षः | (७) | ७––(२५) श्वभोजनः |
| (३) | ८––महालोभः | (५) | ८–(१७) दारुणः | | ८––(२६) अप्रतिष्ठः |
| | ९—विमोहनम् | | ९–(१८) पूयवहः | | ९––(२७) अवीचिः |

२८ वें **अभिजिन्नक्षत्र** के सम्बन्ध से २८ नरक होजाते हैं। चन्द्रमा का परिभ्रमण—**अधः, मध्य, ऊर्ध्व,** भेद से तीन भागों में विभक्त है। इस **कक्षात्रयी** के भेद से २८ नरक त्रेधा आवर्त्तित होकर ८४ संख्या में परिणत होजाते हैं। **ये ही पुराणप्रसिद्ध ८४ नरक हैं**। इन सबका विशद वैज्ञानिक विवेचन **'श्राद्ध-विज्ञान'** नाम के ग्रन्थ में देखना चाहिए। इन ८४ का २८ में अन्तर्भाव है। २८ का सात में अन्तर्भाव है। अतएव भगवान् व्यासने–**"अपि च सप्त"** ( शा० सूत्र ) के अनुसार प्रधानरूप से सात ही **नरक** माने हैं। इन में आत्मानुगामिनी सौरज्योति का अभाव है। यहाँ तारतम्य से **तम** का ही साम्राज्य है। यहाँ आत्मप्रकाश इस तम से आवृत होजाता है, अतएव पुराण ने इन्हें **"आवरण"** नाम से ही व्यवहृत किया है। **वैदिक-विज्ञान** के अनुसार ये आवरणलोक **"असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता"** इत्यादिरूप से **'असुर्य्यलोक'** नाम से प्रसिद्ध हैं।

## ७—सप्ताकाशाः (स्वर्गाः)—

१—अपोदकः, २—ऋतधामा, ३—अपराजितः, ४—ब्रध्नस्यविष्टप, ५—अधिद्यौः, ६—प्रद्यौः, ७—रोचनाः।

**१–अग्नि, २–वायु, ३–इन्द्र, ४–नाक, ५–वरुण, ६–मृत्यु, ७–प्रजापति,** इन सात देवताओं के भेद से **देवस्वर्ग** सात भागों में विभक्त होजाते हैं। इन सातों की भी वैज्ञानिक उपपत्ति **श्राद्ध–**

**विज्ञान** में हीं देखनी चाहिए । यहाँ आत्मा आवृत नहीं होता, अपि तु सौर प्रकाशमय इन लोकों में आत्मा विकसित रहता है । आत्मविकास के लिए यहाँ पूर्ण अवकाश है । अवकाश ही आकाश है—**'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'** इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार आकाशरूप स्वर्ग ही आनन्द का कारण है । अनावृत आकाश प्रदेश (खुला स्थान–खुली हवा) आनन्द का कारण है । इसी अनावृतभाव को लक्ष्य में रखकर पुराणने सप्त स्वर्ग को **'सप्ताकाश'** नाम से व्यहृत किया है ।

दूसरा सप्तक पर्वतादि का है । प्रसङ्गागत इन के अवान्तर भेद नाममात्र के लिए पाठकों के सम्मुख उपस्थित करदिए जाते हैं—

## १—पर्वताः—

**१—कुलगिरि, २—शाखागिरि, ३—पादगिरि, ४ स्तूपगिरि, ५—वर्ष-पर्वत, ६— विष्कम्भपर्वत, ७—केसरपर्वत, ८—मर्य्यादाशैल, भेद से पर्वत आठ भागों में विभक्त हैं । इनमें से कुछ एक का स्वरूप आगे के मेरुप्रकरण में बतलाया जाने वाला है ।**

### भारतवर्ष के 'कुलपर्वत'--७ (सात)—

१—महेन्द्र, २—मलय, ३—सह्य, ४—शुक्तिमान्, ५--विन्ध्य, ६--पारियात्र, ७--ऋक्ष ।

### भारतवर्ष में असंख्य 'शाखापर्वत'---

कोलाहल, वैभ्राज, मन्दुर, दर्दुर, वाताध्वग, दैवत, मैनाक, सुरस, तुंगप्रस्थ, नामगिरि, गोवर्द्धन, पाण्डुर, पुष्पगिरि, वैजयन्त, रैवत, अर्बुद, ऋष्यमूक, गोमन्थ, कृतशैल, कृताचल, श्रीपर्वत, चकोर, आदि आदि ।

## २—नद्यः—

**चतुर्गंगम्, सप्तगंगम्, नदी, महानदी, शाखानदी, क्षुद्रनदी, कुल्या, आदि भेद से नदियों के अवान्तर अनेक भेद हैं ।**

स्वयं ऋग्वेद-संहिता में इन नदियों का बड़े विस्तार से निरूपण हुआ है । भारतीयों की दृष्टि से भूपिण्ड की कोई भी नदी तिरोहित नहीं थी । आज तो हम समुद्र–उल्लङ्घन में भी अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी समझने लगते हैं । परन्तु कोई युग ऐसा था, जब हमारे भारतीय ऋषि विद्याओंके अनुसन्धान के लिए समस्त पृथिवी की परिक्रमा लगाने में भी कोई आपत्ति नहीं समझते थे। यदि वे भी हमारी ही भाँति कूपमण्डूक होते, तो कौन भूगोलविद्या का व्यापक ज्ञान हमारे सम्मुख रखता ? । सम्पूर्ण भौमत्रिलोकी की नदियों को छोड़िए । भौमत्रिलोकी के पृथिवीलोक-स्थानीय केवल भारतवर्ष को ही लीजिए । देखिए ऋषियों के भौगोलिक महान् अन्वेषणका अद्भुत प्रदर्शन !

## भारतवर्ष की नदियाँ—

(१) १—गंगा, २—सरस्वती, ३—सिन्धु, ४—चन्द्रभागा, ५—यमुना, ६—शतद्रु, ७—विपाशा, ८—ऐरावती, ९—कुहू, १०—गोमती, ११—धूतपापा, १२—बाहुदा, १३—दृषद्वती, १४—विशाला, १५—देविका, १६—चक्षु, १७—निष्ठीवा, १८—गण्डकी, १९—कौशिकी, २०—आपगा, इत्यादि नदियाँ हिमवत्पाद से निकलीं हैं। इनमें गंगा-सरस्वती-सिन्धु आदि महानदियाँ हैं। शेष शाखानदियाँ हैं।

(२) १—देवस्मृति, २—देवती, ३—वातघ्नी, ४—वेष्या, ५—चन्दना, ६—सदानीरा, ७—चर्मण्वती, ८—वृषी, ९—विदिशा, १०—वेत्रवती ( वेतवा ), ११—शिप्रा, १२—द्रवन्ती, आदि नदियाँ पारियात्रपर्वतानुगामिनीं हैं।

(३) १—शोणा, २—महानदी, ३—नर्मदा, ४—सुरथा, ५—क्रिया, ६—मन्दाकिनी, ७—दशार्णा, ८—चित्रकूटा, ९—चित्रोत्पला, १०—करमोदा, ११—पिशाची, १२—अतिलघु, १३—शोणी, १४—शैवला, १५—समेरुजा, १६—शुक्तिमती, १७—शकुनी, १८—त्रिदिवा, आदि नदियाँ ऋक्षपाद पर्वत से निकलीं हैं।

(४) १—शिप्रा, २—पयोष्ण्या, ३—निर्विन्ध्या, ४—तापी, ५—वेणा, ६—वैतरणी, ७—सिनीवाली, ८—कुमुद्वती, ९—तोया, १०—महागौरी, ११—दुर्गा, १२—अन्तःशिला, आदि नदियाँ विन्ध्याचल से निकलीं हैं।

(५) १—गोदावरी, २—भीमरथी, ३—कृष्यवेला, ४—तुङ्गभद्रा, ५—सुप्रयोगा, ६—पापनाशिनी, आदि नदियाँ सह्याद्रि से निकलीं हैं।

(६) १—कृतमाला, २—ताम्रपर्णी, ३—पुष्पवती, ४—उत्पलावती, आदि नदियाँ मलयपर्वत से निकलीं हैं।

(७) १—पितृकुल्या, १—सोमकुल्या, ३—ऋषिकुल्या, ४—वञ्जुला, ५—त्रिदिवा, ६—लाङ्गलिनी, ७—वंशकरा, आदि नदियाँ महेद्रपर्वत से निकलीं हैं।

(८) १—सुविकाला, २—कुमारी, ३—मनुगा, ४—मन्दगामिनी, ५—क्षमा, ६—पलाशिनी, आदि नदियाँ शुक्तिपर्वत से निकलीं हैं।

यह है कुछ एक भारतीय नदियों का नाम-निदर्शन। आज आवश्यकता इस बात की है, कि, भारतीय विद्वान् अपने सुसंघठित प्रयासों से अपने इन **विभूति-चिह्नों** का अन्वेषण करें, और संसार को बतलावें कि, हमारे पूर्वजों के **भौगोलिक ज्ञान** के सम्मुख आजका केवल भूतप्रधान-भौगोलिक ज्ञान अधूरा है। अपना एक कल्पित सीमाभाव रखने वाले भारतीय विद्वान् क्या इस ओर ध्यान देंगे ?। अपनी विलास-लीलाओं में अतुल धनराशि व्यय करने वाले पुराण के जड़श्रद्धालु भक्तगण हमारे इस आयोजन के सम्बन्ध में क्या कभी कुछ विचार करेंगे ?, असम्भव। क्यों ?,

इसलिए कि-'**राजा कालस्य कारणम्**' मूलक वर्त्तमान युग भारतीय-मौलिक-सांस्कृतिक-निधियों के पुनरन्वेषण के प्रति न केवल तटस्थ, निरपेक्ष ही प्रमाणित होरहा है। अपितु त्रिसहस्रवार्षिकी बुद्धि-

मनः-शरीर-दासतामूला भारतराष्ट्र की सर्वदासता ने भारतीय हृदय को स्वयं ही इस अपनी मूलनिधि के ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक स्वरूप से उस सीमा पर्य्यन्त पराङ्मुख कर दिया है, जिस सीमा पर प्रतिष्ठित होजाने के अनन्तर स्वस्वरूपबोध सर्वथा ही अभिभूत होजाया करता है।

## ३—सरांसि—

**समुद्र, सागर, उपसागर, सर, पल्वव, भेद से सरोवर पाँच भागों में विभक्त माने गए हैं।**

पूर्व,-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, चारों समुद्र 'समुद्र' नाम से व्यवहृत हुए हैं। सीमाभावयुक्त, यत्र यत्र दिशाओं में प्रतिष्ठित समुद्र 'सागर' नाम से व्यवहृत हुए हैं। **अराल-सागर, महीसागर** आदि सागर हैं। जिसे वर्त्तमानभाषा में 'झील' कहा जाता है, वही पुराण में 'उपसागर' नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राकृतिक बड़े बड़े तालाब 'सर' नाम से व्यवहृत हुए हैं। **मानसरोवर, अच्छोदसर,** आदि 'सर' प्रसिद्ध हैं। जिसे 'खाड़ी' कहा जाता है, वही पुराण में 'पल्लव' शब्द से व्यवहृत हुई है। इन के विस्तृत ज्ञान के लिए तो आप को पुराण की शरण में हीं आना चाहिए।

## ४—वनानि—

**अरण्य, उपवन, आराम, पुष्पवाटिका, निष्कुट, भेद से वन पाँच भागों में विभक्त माने गए हैं।**

सैंकड़ों कोस लम्बे चौड़े, हिंस्रक पशु-पक्षियों से व्याप्त महावन 'अरण्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। नैमिषारण्य, दण्डकारण्य, आदि अरण्य प्रसिद्ध हैं। नगरों के बाहिर विशद उद्यान 'उपवन' नाम से व्यवहृत हुए हैं। नगर के भीतर नागरिकों के विहार के लिए स्थान स्थान पर निर्म्मित छोटे छोटे उद्यान 'आराम' नाम से व्यवहृत हुए हैं। जिसे आज "पार्क" कहा जाता है, वही 'आराम' कहलाता है। (**आगत्य रमन्ति यत्र नागरिकाः**)। संभ्रान्त गृहस्थों के गृहोद्यान--'पुष्पवाटिका' है। साधारण गृहस्थों की फुलवाड़ी 'निष्कुट' है।

## ५—आकराः (खानें)—

**ये खानें प्राकृत, कृत्रिम भेद से दो भागों में विभक्त हैं। किस भूप्रदेश में किस धातु की खान प्राकृत है?, कहाँ कहाँ किस किस राज्शासनकाल में नई नई खानें बनाईं गईं हैं?, इन सब का निरूपण इसी आकरप्रकरण में है।**

## ६-देशाः—७—पुराणि—

**पुरी, पत्तन, महानगर, नगर, ग्राम, खरवट, उपनिवेश, देश-पुर, इन सात भागों में विभक्त हैं।**

जो देश, किंवा पुर दैवीविभूति से युक्त हो, जहाँ किसी प्रसिद्ध देवता की प्रतिष्ठा हो, वह देश-'पुर'-'पुरी' नाम से प्रसिद्ध है। काशीपुरी, जगन्नाथपुरी, द्वारिकापुरी, सुदामापुरी, ब्रह्मपुरी, आदि प्रसिद्ध हैं। जहाँ राजसत्ता हो, राजा की प्रधानता हो, वह विभाग 'पत्तन' कहलाता है। अनेक नगरों में जो सब प्रमाणों में बढ़ा चढ़ा हो, वही 'महानगर' कहलाता है। पाषाणनिर्मित प्रासादयुक्त देश नगर है। मृण्मय (कच्चे) प्रासादयुक्त देश ग्राम है। दुर्गरहित साधारण अल्पसंख्याजन-निवासप्रदेश 'खर-वट' है। महा अरण्यों के मध्य मध्य में १०-१०-२०-२० गृहस्थियों की निवासभूमि 'उपनिवेश' है। मरुभाषा में यही उपनिवेश 'ढाणी' नाम से प्रसिद्ध है। परिचयार्थ भारतवर्षीय कुछ देशों के नाम बतला दिए जाते हैं--

(१)—मत्स्य, कुमुद्माल्य, क्रतुल, काशिकोशल, आन्ध्र, कलिङ्ग, मशक, वृक, आदि देश प्रायः मध्यदेश माने जाते हैं।

(२)--वाल्हीक, वाटधान सुतीर, कालतोयद, अपरान्त, शूद्र, केरल, गन्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, मद्र, शतद्रुह, कलिङ्ग, पारद, हारभूषिक ( हरिभूषिक ), माठर, कनक, केकय, दम्भमाल, कम्बोज, बर्बर, सलौकिक, वीर, तुषार, पल्हव, आत्रेय, भारद्वाज, पुष्कल, शेरक, लम्पक, शुनशोक, कुलिक, जाङ्गल, औसध्य, त्रलचन्द्र, किरात, तोमर, हंसमार्ग, कश्मीर, करुण, शूलिक, कुहक, मागध, आदि देश उदीच्य (उत्तरदेश) हैं।

( ३ )--अन्ध, वामकुङ्क, बल्लक, मखान्त, अङ्ग, वङ्ग, मलद, मालवर्तिक, भद्रतुङ्ग, प्रतिजप, भार्याङ्ग, अपमर्दक, प्राग्ज्योतिष, मद्र, विदेह, ताम्रलिप्त, मल्ल, मागध, नन्द, आदि देश प्राच्य ( पूर्वीय ) देश हैं।

( ४ )—पूर्ण, केरल, गोलांगूल, ऋषिक, मूषिक, कुमार, रामठ, शक, महाराष्ट्र, माहिषक, कलिङ्ग, आभीर, विशिक, अरण्य, सखा, पुलिन्द, मौलेय, विदर्भ, दण्डक, पुलक, अश्मक, भोजवर्द्धन, कौलिक, कुन्तल, दम्भक, नीलकालक, आदि दाक्षिणात्य जनपद हैं।

( ५ )—शूपरिक, कालिधन, लोल, तालकर, आदि अपरान्त जनपद हैं।

( ६ )—मलज, कर्कश, मेलक, चोलक, उत्तमार्ण, दशार्ण, भोज, किष्किन्ध, तोषल, कोशल, त्रैपुर, वैदिश, तुम्बुर, चर, यवन, पवन, अभय, रुण्डिकेर, चर्चर, आदि विन्ध्यवासी जनपद हैं।

( ७ )---नीहार, भार्ग, कुरु, तुङ्गण, खश, कर्णप्रावरण, अर्ल, दर्ध्य, कुञ्जक, चित्रभाग, मालव, किरात, आदि पर्वताश्रयी जनपद हैं।

विषय आवश्यकता से अधिक बिस्तृत होता जारहा है। अतः तीसरे सप्तक का दिग्दर्शन पुराणशास्त्र की स्वाध्यायनिष्ठा से समन्वित मानते हुए सर्वान्त में,-"यदि आप भारतराष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं, तो वेद के साथ साथ पुराणों का अध्ययनाध्यापन भी शीघ्र से शीघ्र आरम्भ कर दीजिए। वेदभाषा दुरूह है। उन्हीं वैदिक-विषयों को पुराणने बड़े विस्तार के साथ बड़ी ही प्राञ्जलभाषा में गद्य-पद्यरूप से हमारे सम्मुख रक्खा है। जबतक आप पुराण को न अपनावेंगे, तबतक वर्त्तमान भौगोलिक, एवं ऐतिहासिकों के द्वारा फैलाई हुई, देश के गौरव को रसातल में पहुँचाने वाली, हमें अपने भागधेय से वञ्चित करने वाली नाशकारिणी भ्रान्ति का कथमपि निराकरण नहीं कर सकेंगे" यही निवेदन करते हुए पाञ्चभुवनकोश की ओर आप का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

## पाद्मभुवनकोशस्वरूपदिग्दर्शन—

**भूगोलविद्या** को ही पौराणिक-परिभाषानुसार **'भुवनकोश'** कहा जाता है। जिस समय की स्थिति का आज हम निरूपण करने वाले हैं, उस समय सुप्रसिद्ध ध्रुव **'अभिजित्'** नक्षत्र पर था। दूसरी शब्दों में आज से लगभग १२॥ वर्ष पूर्व **पौराणिक युग** में अभिजिन्नक्षत्र ही **'ध्रुव'** नाम से प्रसिद्ध था। जिस **सुमेरु** को हम **भूपद्म** की **कर्णिका** बतलाने वाले हैं, वह सुमेरु उस समय ठीक ध्रुव के नीचे था। आज **सुमेरु**, और **ध्रुव** में बहुत अन्तर होगया है। तत्कालीन पौराणिक-स्थिति के अनुसार उस समय **चन्द्रकक्षा सूर्य्यकक्षा** से ऊपर अपनी सत्ता रखती थी। न केवल उस समय ही, अपितु यदि उसी सुमेरु-पृष्ठ से कक्षाओं की व्यवस्था का विचार किया जाता है, तो आज भी चन्द्रकक्षा सूर्य्यकक्षा से उपरि भागस्था ही मिलती है।

अध्ययनशील पाठकों को यह विदित ही है कि, **पुराण चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर मानता है**। इधर यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि, चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह होता हुआ पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगता है, जैसाकि आगे के—**"पुरा क्रूरस्य विसृपो०"** इत्यादि मन्त्र-व्याख्यान में स्पष्ट होने वाला है। सुमेरु स्थान पर ध्रुव-नक्षत्र (पुराण समय में) सीधा मस्तक पर (खस्वस्तिक पर) आजाता है। भूपिण्ड का तिर्य्यग् भाव हट जाता है। जिसप्रकार एक नागदन्त ( खूँटी ) पर डोरी से बँधी हुई कन्दुक ( गेंद ) ठीक सीधी लटकी रहती है, मेरुस्थान पर भूपिण्ड की ठीक यही दशा रहती है। यहाँ तिर्य्यग् विष्वद्वृत्त सर्वथा सीधा पूर्वापर रहता है। ध्रुव एक स्थिर कीलक है। उससे निकलने वाली ध्रौवविद्युत् ही रश्मिसूत्र है। इसी सूत्र से भूपिण्ड बद्ध है। लीलामय जगदीश्वर ने भूपिण्डरूप कन्दुक को ध्रुवकीलक में विद्युद्रूप सूत्र से बाँध कर सीधी लटका रक्खी है।

इस स्थान से यदि आप चन्द्रकक्षा की स्थिति का समन्वय करेंगे, तो इसका **शर (विक्षेप) २७० कला ( ४ अंश ३० कला )** का होगा। उधर **सूर्य्यविक्षेप** पाश्चात्यों के मतानुसार एक कलामात्र है। इसप्रकार चन्द्रमा सौरक्रान्तिवृत्त से ४ **अंश** ३० कला, क्रमशः दक्षिण और उत्तर भाग में जाता है। इस **'शर'** की अपेक्षा से **चन्द्रकक्षा** अवश्य ही **सूर्य्यकक्षा** से बाहिर तक चली जाती है। इधर हमारे पुराण का **ज्यौतिश्चक्र-विभाग (खगोलविभाग)** मेरु को प्रधान मान कर ही आगे चलता है। **अपनी इसी मेरुसम्बन्धिनी-परिभाषा को लक्ष्य में रखकर ( चन्द्रकक्षा को सूर्य्यकक्षा से बहिर्भूत समझते हुए ) पुराणने (भागवतादि ने ) चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर बतला दिया है**। **प्रत्येक शास्त्र की भिन्न भिन्न परिभाषाएँ होतीं हैं। उन परिभाषाओं का मौलिक-रहस्य समझे बिना तत्परिभाषाधारेण प्रतिष्ठित तत् सिद्धान्तों पर आक्षेप करना अज्ञता है।**

**'सुमेरु'** पौराणिक भुवनकोश की आधारभूमि क्यों है ?, इसका उत्तर वही प्रकृतितत्त्व है, जैसाकि आख्यान के **आधिदैविकरहस्य** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृत ऐतिहासिक प्रकरण में केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि, जिसे वर्त्तमान भौगोलिक **'उत्तरध्रुवप्रदेश'** कहते हैं, वही पुराण का **'सुमेरुप्रदेश'** है। **सुमेरु कुमेरु** का क्रमशः **उत्तर-दक्षिण-ध्रुव** के साथ सम्बन्ध है। वर्त्तुल भूपिण्ड की वह बिन्दु, जिसके **खस्वस्तिक पर ( ठीक मस्तक पर )** उत्तरध्रुव-नक्षत्र है, वही प्रदेश सुमेरु है। भूपिण्ड की वह बिन्दु, जिसके **अधःस्वस्तिक** पर **( ठीक पैरों की ओर )** दक्षिण ध्रुव है, वही प्रदेश **कुमेरु**

है । इस सुमेरु,, कुमेरु के सञ्चालक उत्तर, दक्षिण-ध्रुव हैं। भगवान् स्वयम्भू प्रजापतिने सुमेरु-कुमेरु-रूप भूपिण्ड की विष्वद्रेखा को मूल मानकर **दृश्य, अदृश्य,** दो विभाग कर दिए हैं । यही विष्वद्रेखा **उत्तर-गोलार्द्ध-दक्षिणगोलार्द्ध** की विभाजिका रेखा है । विष्वद् से ऊपर की ओर का उत्तरगोलार्द्ध ( विष्वद् से उत्तर की ओर रहने वाले अस्मदादि की अपेक्षा से ) **दृश्यभाग** है, एव दक्षिणगोलार्द्ध **अदृश्य-भूभाग** है । वर्त्तमान भौगोलिक भी इसी व्यवस्था से भूप्रदेशों को सुव्यवस्थित करते है । ब्रह्मा ने किस क्रम से इनमें देशविभाग माना ?, इसके पहिले वर्त्तमान भौगोलिकों की व्यवस्था का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है । इसका कारण यही है कि, पौराणिक भूगोल पुराण की पठन-पाठन प्रणाली के अभाव से प्रायः लोगों की दृष्टि से तिरोहित होरहा है । आज भारतीय शिक्षित समाज उन पौराणिक **देशविशेषों** के नामों से भी अपरिचित है । ऐसी अवस्था में यदि हम केवल पौराणिक--भूगोल का ही स्वरूप बतला देते हैं, तो एक प्रकार से हमारा यह प्रयास व्यर्थ जाता है । अतएव अप्रासङ्गिक समझते हुए भी प्रकरणसङ्गति के लिए अत्यन्त संक्षेप से नवीन [ वर्त्तन ] दृष्टिकोण का स्वरूप बतलाना आवश्यक मान लिया गया है ।

पाश्चात्यों की सम्पूर्ण व्यवस्था **'ग्रीनवीच'** को मध्यरेखा मान कर हुई है । जिसप्रकार हमारी भूम-ध्यरेखा का आलम्बन **'उज्जैन'** है, तथैव उन की प्रथम-मध्याह्नरेखा ग्रीनवीच से सम्बन्ध रखती है । हमारा मध्यरेखास्थान ग्रीनवीच से ८० देशान्तर पर माना जाता है । इसी अभिप्राय से यह रेखा भूगोल-शिक्षण में--**'अस्सीपूर्वीदेशान्तर'** नाम से प्रसिद्ध है । यही भारतवर्ष की प्रथम मध्याह्नरेखा है । सुप्रसिद्ध विष्वद्वृत्त भी वर्त्तमान में **'भूमध्यरेखा'** नाम से व्यवहृत करने योग्य है । अपनी सुविधा के अनुसार ३६० **ध्रुवप्रोतवृत्तों,** किंवा **मेरुप्रोतवृत्तों** में से किसी भी एक रेखा को भूमध्यरेखा मान लेना केवल कल्पना है । इस **काल्पनिकी भूमध्यरेखा** के,एवं **वास्तविक भूमध्यरेखा** के पृथक्करण के लिए दोनों के क्रमशः **प्रथममध्याह्नरेखा**, एवं **भूमध्यरेखा,** ये नाम रख दिए हैं । हमारे यहाँ इन दोनों को क्रमशः **भूमध्यरेखा ( प्रथममध्याह्नरेखा ),** एवं **विष्वद्वृत्त,** इन नामों से व्यवहृत किया है । विष्वद्रेखा में दोनों की समानता है । प्रथममध्याह्नरेखा दोनों की पृथक् पृथक् है । दोनों में ८० देशान्तर का अन्तर है । पाश्चात्य **भूगोल-विद्या** के अनुसार दृश्य क्षितिजरूप **दृश्य-उत्तरी-गोलार्द्ध** में, एवं **अदृश्य-गोलार्द्ध** में निम्नलिखित प्रदेश हैं ।

१--एशिया
२—समस्त योरोप
३—उत्तर अमेरिका
४—दक्षिण अमेरिका का उत्तरी भाग
५—पश्चिमी द्वीप समूह
६—मिश्र
७—'सहारा'* नाम का सुप्रसिद्ध मरुस्थल
८—ट्रिपुली-आदि

} उत्तरी-गोलार्द्ध (दृश्य क्षितिज) का भूभाग

१—आस्ट्रेलिया
२—न्यूजीलेन्ड
३--दक्षिण अमेरिका
४--दक्षिण अफ्रीका
५--एन्टार्टिका आदि ÷

} दक्षिणी-गोलार्द्ध (अदृश्य क्षितिज) का भूभाग

क्षेत्रफल के अनुपात से दोनों गोलार्द्धों में १/३ का अन्तर है। अर्थात् उत्तरी-गोलार्द्ध में भूप्रदेश दक्षिणी-गोलार्द्ध की अपेक्षा तिगुना है। उत्तरी-गोलार्द्ध के एशियाभाग में **अर्बस्तान, मयसोपोटेमिया, जूड़िया, एशिया--माइनर, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, अबीसीनिया, तिब्बत, तुर्किस्तान, रूस, मंगोलिया, चीन, जापान, भारतवर्ष, वर्म्मा, श्याम, अनाम, कम्बोड़िया, मंचूरिया, जापान, पूर्वीरूस,** आदि प्रान्तों का समावेश माना जाता है। **एन्डमन, नीकोवर, यवद्वीप, लुम्बक-सुम्बाफ्लोरीन,** आदि से युक्त **जावाद्वीप-संघ, ब्रूनाई, सीलोन,** आदि उपद्वीपों का भी एशियायी खण्ड में हीं अन्तर्भाव है। भारतीय-उपद्वीपसंघ म्लेच्छभाषा में **'इंडियनआर्किपैलैगो'** नाम से प्रसिद्ध है।

पाश्चात्यों की इस भूगोलव्यवस्था के सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। **इन की भौगोलिक व्यवस्था का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध न होकर राजशासन के साथ ही सम्बन्ध है।** जैसे जैसे राज्यसीमा घटती बढ़ती रहती है, तदनुसार ही ये महानुभाव तत्तत् प्रान्तों को एक दूसरे प्रान्तों के

---

* यह मरुस्थल सब से बड़ा माना जाता है।

÷ यह दक्षिणध्रुव के समीप का सब से बड़ा ऊसर भूभाग है। जहाँ समस्त योरोप का क्षेत्रफल ३८ लाख वर्गमील है, वहाँ केवल इस एन्टार्टिका का क्षेत्रफल ५.० लाख वर्गमील है। यह भूभाग तुषाराच्छन्न [ बर्फीला ] है, सर्वथा निर्ज्जन है। यहाँ केवल **'डंगन'** नाम की महाभयानक पशुजाति उपलब्ध होती है। कुछ एक पक्षी भी हैं। यहाँ के समुद्र में विशेषतः **"ह्वेल"** मछली उपलब्ध होती है।

साथ मिलाया करते हैं, एवं पृथक् किया करते हैं। ऐसी अवस्था में इन की भौगोलिक व्यवस्था को स्थिर नहीं कहा जासकता। इधर हमारी भौगोलिक व्यवस्था सर्वथा स्थिर है, एवं आकल्पान्त स्थिर रहेगी। हम अपनी मूर्खता से भले ही इन अपने प्रान्तों को अपने हाथ से खो बैठें। परन्तु जबतक हमारा साहित्य जीवित है, तबतक कोई भी शक्ति हमें अपने प्रजापतिदत्त दायभाग से पृथक् नहीं कर सकता। पूर्व के देश विभागों से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि, 'भारतवर्ष' आज की भूगोलव्यवस्था के अनुसार एक छोटासा भूखण्ड है। आश्चर्य्य तो यह है कि, नाममात्र का भारतवर्ष भी आज हमारा नहीं है। "पामीरप्रदेश में हम लोग किसी समय रहते थे। वहाँ से आकर क्रमशः सभ्य बनते हुए हम लोगों नें भारतद्वीप में रहने वालीं अनार्य्यजातियों को मार भगाया। इसप्रकार अपने बल से इन्हें पराजित कर हम यहाँ बस गए"। सच बात है—"वीरभोग्या वसुन्धरा"। यदि कोई विजेता राष्ट्र आज हम को—"भारतवर्ष तुह्मारा जन्मस्थान नहीं है, तुम भी हमारी ही भाँति आगन्तुक हो। जैसा अधिकार इस पर तुह्मारा–वैसा ही हमारा" यह कहे, तो हमारे प्रज्ञाकोश में क्या प्रत्युत्तर है ?। वर्त्तमान इतिहास, भूगोल तो हमें यही सिखाता है कि 'तुम (हम) आगन्तुक हो। फिर किस आधार से हम भारत को अपनी जन्मभूमि कहें। चाहते हैं आप इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय ?, तो आइए पौराणिक भुवनकोशविद्या की शरण में। वह आप को आप के देश का, आप के सच्चे इतिहास का स्वरूप बतलावेगा। इस के द्वारा उन मिथ्याप्रचारकों को आप यह कहसकेंगे कि, "हमें भूगोलव्यवस्था, एवं इतिहास के सम्बन्ध में धोखा दिया गया। समस्त एशियाप्रान्त पर एकच्छत्र शासन करने वाले हम को धोखा देकर कूपमण्डूक बनाया गया। हमारे इतिहास के स्वरूप को विकृत कर हमें अपने अतीत गौरव से च्युत करते हुए हमारे आत्मा को निर्बल बनाया गया। परन्तु दैवकृपा से आज हमने अपना दायभाग अपनी सांस्कृतिक–निधि के स्वरूपानुग्रह से उपलब्ध कर लिया है। तदाधार पर ही आज हमनें अपना वास्तविक स्वरूप समझ लिया है। चिरकाल से विलुप्तप्राया यज्ञविद्या का परिचय हमें प्राप्त होचुका है। स्वरूपज्ञानपूर्विका यह यज्ञ–विद्या हमें "कर्त्तुमकर्त्तुमन्याकर्त्तुम्" समर्थ बना सकती है। अतएव अब कोई भी वञ्चक हमारी प्रतारणा नहीं कर सकता"।

भुवनकोश के सम्बन्ध में देशविभाग दो प्रकार से व्यवस्थित किए जाते हैं। "राज्यशासन को प्रधान मान कर देशों को अपनी सुविधानुसार व्यवस्थित करना" एक प्रकार है। इसी को हम 'शासनकृत-विभाग' कहते हैं। जो राजा सैन्यबल से जिन देशों को अपने अधिकार में कर लेता है, वह अपनी इच्छा–नुसार अपने राष्ट्र–नाम के अनुरूप-नामों से उन की व्यवस्था कर देता है। कहना न होगा कि, यह भौगोलिक-व्यवस्था सर्वथा अनित्य है। यही कारण है कि, कुछ समय पूर्व बर्म्मा को भारतवर्ष से पृथक् कर दिया गया था, आज पुनः बर्म्मा भारतवर्ष के सन्निकट आगया है। जो गान्धार देश भारतीयों का देश था, वही शासन--पद्धति के प्रभाव से आज 'अफगानिस्तान' 'कन्धार' आदि नामों से प्रसिद्ध होरहा है। 'हिङ्गलदेश' पहिले 'सुगदिया' नाम से व्यवहृत हुआ, आज वही 'बिलोचिस्तान' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। पारस्थान आज 'पर्शिया' कहला रहा है। इसी राजशासन की कृपा से आज हमारा पश्चिमभारतवर्ष अफगानिस्तान, खुरासान, ईरान, आदि नामों से प्रसिद्ध होरहा है। आज पश्चिम भारतवर्ष अपने नाम को छोड़ बैठा है। 'भारतवर्ष' शब्द केवल 'हिन्दुस्तान' मात्र में हीं संकुचित होगया है।

दूसरी है **भौगोलिक—गणितव्यवस्था**। इस व्यवस्था में राजशासन-व्यवस्था का कोई महत्त्व नहीं है। प्राकृतिक धर्म्मों की पूर्ण परीक्षा कर भारतीय ऋषियोंनें आर्य्य-अनार्य्य देशों की गणितानुसार जो व्यवस्था की है, वही अटल है। और वही हमारे लिए मान्य है।

**कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।**
**स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥**

**—मनुः २।२३।**

उक्त मनुवचन के अनुसार धर्म्मदेश प्रकृति के अनुसार नियत हैं। कितने हीं नाम बदल दीजिए। लेखिनी आप के हाथ में है। मनमाना इतिहास लिख डालिए। हम तो अपने '**आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्**' इसी सिद्धान्त को स्थिर मानेंगे।

कहना अप्रासङ्गिक होगा, परन्तु कहे बिना नहीं रहा जाता। दिग्देशकालानुबन्धिनी उपयोगिता के व्यामोहन से निरतिशयरूपेण व्यामुग्ध आज के कतिपय प्रगतिशीलों के इत्थंभूत सामयिक उद्गार सुने जारहे हैं कि,—"जिस समय देश के **सम्मुख अन्न, वस्त्र** का प्रश्न उपस्थित हो, जिस युग में देशवासियों को दोनों समय पेट भर भोजन भी नहीं मिल रहा हो, ऐसे भीषण युग में तुह्मारे '**विज्ञानचीत्कार**' को कौन सुनेगा ?। **वैदिक**, एवं **पौराणिक-साहित्य** से वर्त्तमान युग में देश का क्या भला होगा ?। आज तो हमें सब से पहिले चाहिये **अन्न-वस्त्र**। जब यह प्रश्न समन्वित होजायगा, तभी तुह्मारी साहित्यचर्चा का अवसर आएगा। अभी तो अपने पोथी-पत्रे बाँध कर ताक में रख दीजिए, और हमारे साथ कार्य्य-क्षेत्र में आजाइए। रुई धुनिए, ताना-बाना लगाकर वस्त्र बनाइए, खेती कीजिए"।

बात यथार्थ है। सचमुच देश में उदरचिन्ताने महामारी से भी अधिक सर्वनाश का उपक्रम कर रक्खा है। परन्तु इस का कारण ?। क्या भारतवर्ष में पर्य्याप्त कार्पास ( कपास ) उत्पन्न नहीं होता ?। क्या भारत से कृषकजाति उठ गई ?। क्या जुलाहा—जाति का उच्छेद होगया ?। नहीं, तो फिर क्यों देश बुभुक्षा से पीड़ित हो रहा है ?। सब कुछ साधन होते हुए भी हम क्यों इन से वञ्चित हो रहे हैं ?। अथवा तो वञ्चित किए जारहे हैं ?। हमारी सामान्य-बुद्धि के अनुसार तो इन सब प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है—**अशिक्षा, अपने वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहना। पशुपति बनने के लिए ज्ञानबल ही अपेक्षित है। बिना ज्ञान के पशुपति भी पशु बनकर ज्ञानयुक्त पशुपति का भोग्य बन जाता है। जबतक वैदिक-पौराणिक ज्ञानराशि हमारे हाथ में रही, तबतक हम पशुपति रहे। विश्वसम्पत्ति हमारी भोग्य बनी रही। जिस दिन से यह ज्ञानराशि हमारे हाथ से निकल गई, उसी दिन से हम अपने उच्चासन से गिरते हुए विश्व के पशु ही बन गए।**

इधर ज्ञान भी मिला, तो उच्छिष्ट। क्या दूसरों के उच्छिष्टान्न से हमारा ज्ञान कभी स्वस्वरूप से निर्म्मल रह सकता है ?। फल इस उच्छिष्ट ज्ञान का यह हुआ कि, हम अपने इस दूषित ज्ञान से अपने सहचरों का भी स्वरूप विकृत करने लग पड़े। शिक्षित नामधारी उच्छिष्टभोगियोंनें अपने आप को पशुता के वातावरण में रखते हुए सभी को इस मार्ग में दीक्षित करना आरम्भ कर दिया। स्वशिक्षाशून्या इसी '**पशुवृत्ति**' के

कारण आज सब कुछ होते हुए भी हमारे उपभोग के लिए कुछ भी न रहा। हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि, जबतक भारतवर्ष अपने अतीत वैदिक-साहित्य का गौरव न समझ लेगा, जबतक यह अपने मूलसंस्कृतिरूप वैदिक-साहित्य को न अपना लेगा, तबतक प्रयत्नसहस्रों से भी यह सुखी नहीं होसकता। रात दिन चर्खा कातते रहिये, कपास धुनिए, खेती कीजिए-कभी आप इनके भोक्ता नहीं बन सकेंगे। भोक्ता बनने के लिए आत्मबल चाहिए। आत्मबल के लिए ज्ञानसामग्री चाहिए। वह भी मौलिक, स्वस्वरूप को, स्वसंस्कृति को, स्व आदर्श को सुरक्षित रखने वाला ज्ञानबल। वह मिलेगा आपको **निगम-आगम-शास्त्र में, वेद-पुराण में**, आत्मबल की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए ऋषियों के वाक्यसंग्रहरूप शब्दब्रह्म में। यदि आपकी दृष्टि में इनका उपयोग नहीं, तो फिर हमें बाध्य होकर **'देश का सर्वनाश निश्चित है'** ये ही अक्षर अपने मुख से निकालने पड़ेंगे। इनकी उपेक्षा कर अबतक आपने क्या कर लिया ?, एवं भविष्य में आप क्या उन्नति कर लेंगे ?, इसका उत्तर तो आपको कालपुरुष ही देगा। और आपके कर्म्मों का फल भोगती हुई आपकी भविष्यत्-प्रजा ही देगी।

**प्रत्येक राष्ट्र का मौलिक साहित्य ही उस राष्ट्र का प्राण है। जबतक राष्ट्र का साहित्य सुरक्षित रहता है, तभीतक वह राष्ट्र स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है।** स्वसाहित्य का तिरस्कार कर राष्ट्रस्वरूपसंघातक परसाहित्य को अपनाते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँचने की आशा करना केवल दुराशामात्र ही है। **एक परतन्त्र घोड़े का गधा बन कर स्वतन्त्र होने की अपेक्षा हम उसकी परतन्त्रावस्था ... म समझते हैं।** हम पहिले अपनी स्वरूपरक्षा चाहते हैं। हम चाहते हैं-हमारा **'भारतीयत्त्व'** अक्षुण्ण बना रहै, फिर हम आगे बढ़ैं। इसके लिए केवल रेजी (खद्दर) पहिनना हीं पर्याप्त नहीं है। तकली चलाने से ही हमारे कर्त्तव्य की सीमा समाप्त नहीं होजाती। हम अपने साहित्य की, तत्प्रणेता ऋषियों की निन्दा करते जायँ, अपने धार्मिक आदर्शों को छोड़ते जायँ, और फिर उन्नति का डिण्डिम घोष करैं, कभी हमारा अभ्युदय नहीं होसकता। यदि आप गीता के परमभक्त हैं, तो मानिए भगवान् के निम्न लिखित आदेश को-

**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।**
**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१॥**
**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।**
**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि ॥२॥**

**सभ्यता, संस्कृति, आदर्श ही राष्ट्र के जीवन हैं। इनका मूलस्रोत राष्ट्र का मौलिक साहित्य ही है।** प्रत्येक राष्ट्र के लिए अपनी स्वरूप-रक्षा के लिए अपने मौलिक साहित्य की रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। **शिल्प-वाणिज्य-कला-विज्ञान-धर्म्म-नीति-आचार-व्यवहार**-सब कुछ आपके साहित्य में प्रतिष्ठित है। बिना साहित्य के अभ्युदय के नाममात्र का भी अधिकार नहीं मिल सकता। इन सब परिस्थितियों पर मुकुलितनयन बन कर शान्तचित्त से विचार कीजिए, फिर हम से-**'देश को साहित्य की इस समय क्या आवश्यकता है ?'** यह प्रश्न कीजिए। यदि आपने यत्किञ्चित् विचार से काम लिया, तो स्वयं हीं आपको अपने इस भावुकतापूर्ण प्रश्न का उत्तर उपलब्ध होजायगा।

बहुत हुआ। चलिए आज हम आपको आपके भारतवर्ष में ले चलें। आपको यह बतलाएँ कि, आप का राजशासन कहाँतक व्याप्त था ?। आप किन किन देशों पर अपना प्रभुत्त्व रखते थे ?। एवं अपने मौलिक साहित्य की उपेक्षा कर किस प्रकार आपने अपना वैराज्यपद विस्मृत कर दिया ?। आपकी **सभ्यता** के, **वर्णाश्रमधर्म्म के, चातुराश्रमव्यवस्था** के, **लोकविभाग** के मूलप्रवर्त्तक भगवान् **ब्रह्मप्रजापतिने** सम्पूर्ण भूपिण्ड को विष्वद्वृत्त के आधार पर **दृश्य-अदृश्य** भेद से दो भागों मे विभक्त किया। भूपिण्ड को उन्होंनें **'कमल'** माना। कमल मान कर इसके प्रधान ४ **पत्रों** की कल्पना की। विष्वद्वृत्त ३६० अंश का है। प्रत्येक पत्र ६०-६० अंश का हुआ। विष्वद्वृत्त के केन्द्रीभूत सुमेरु को **कर्णिका (कमलगट्टा)** माना गया। यही भूव्यवस्था पुराणों में-**'पाद्मभुवनकोश'** नाम से प्रसिद्ध हुई। **'आपो वै पुष्करपर्णम्'** इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार इस भूपिण्ड का निर्म्माण पद्म से ही हुआ है, जैसाकि पूर्व के **स्तम्बयजुर्हरणोपाख्यान** में निदानविद्या के प्रसङ्ग में **विस्तार से** बतला दिया गया है।

इसी प्राकृतिक पद्मभाव को लक्ष्य में रखकर प्रजापतिने पद्मरूप से ही पृथिवी का विभाग किया। स्वयं प्रजापति मेरुस्थ **हिरण्यशृङ्ग पर्वत** पर प्रतिष्ठित हुए **इसी अवस्था को लक्ष्य में रखकर प्राच्य-संस्कृति की प्रतिमूर्त्ति स्वर्गीय श्रद्धेय श्रीबालगङ्गाधर तिलकने आर्य्यों [illegible] प्रतिष्ठा सुमेरु को माना है**। यद्यपि—**'आर्य्यलोग सुमेरु स्थान से आगे बढ़कर आए'** इस सिद्धान्त से हम सहमत नहीं है। तथापि **'सुमेरु-आर्य्यों की प्रतिष्ठाभूमि थी'** यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। **महापुरुष तिलक** के इस अंश पर हमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। सचमुच पुराणयुग में आर्य्यसंस्कृति के मूलप्रवर्त्तक भगवान् प्रजापति सुमेरु पर ही प्रतिष्ठित थे। इस सुमेरु से **उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम-रूप** से ९०-९० अंश के [illegible] किए गए। ये ही चारों **'भूपद्म के पत्र'** कहलाए। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर **'आर्य्यसर्वस्व'** ( **'पुराणशास्त्र'** ) कहता है—

> *पद्मं नाभ्युद्भवं चैकं समुत्पादितवाँस्ततः ॥
> सहस्रवर्णं विरजं भास्कराभं हिरण्मयम् ॥१॥
> पद्मे हिरण्मये तस्मिन्नसृजद् भूरिवर्चसम् ॥
> स्रष्टारं सर्वलोकानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम् ॥२॥
> तच्च पद्मं पुराभूतं पृथिवीरूपमुत्तमम् ॥
> यत् पद्मं सा रसादेवी पृथिवी परिकथ्यते ॥३॥
> एवं नारायणस्यार्थे महीपुष्करसम्भवा ॥
> प्रादुर्भावोऽप्ययं तस्मान्नाम्ना 'पुष्कर'-संज्ञितः ॥४॥

—पद्मपुराण-सृ० खं० ४० अ०

—मत्स्यपुराण-१६९ अ०

* इन सम्पूर्ण पुराणवचनों का अध्यात्म-अधिदैवत-अधिभूत, तीनों विवर्त्तों के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए। प्रकृत में आधिभौतिक-दृष्टि को प्रधान मानते हुए ही ये श्लोक उद्धृत हुए हैं।

तदेतत् पार्थिवं पद्म चतुष्पत्रं मयोदितम् ॥
भद्राश्वभारताद्यानि पत्राण्यस्य चतुर्दिशम् ॥१॥
—मार्कण्डेयपुराण

भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वाः कुरवस्तथा ॥
पत्राणि लोकपद्मस्य मर्य्यादाशैलबाह्यतः ॥
—ब्रह्मपुराण १६ अ०, ४५ श्लो०

इसप्रकार 'मेरु' से चारों ओर विष्वदवच्छिन्न दृश्य–उत्तरी–गोलार्द्ध में पुराणने समरूप से ४ पत्र माने हैं। सुतरां पत्रात्मक प्रत्येक खण्ड का ९०–९० अंशात्मक होना सिद्ध होजाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर 'भूगोलाध्याय' कहता है–

भूवृत्तपादे पूर्वस्यां × यमकोटीति विश्रुता ॥
भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्राकारतोरणा ॥१॥
÷याम्यायां भारते वर्षे लङ्का तद्वन्महापुरी ॥
×पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकाख्या प्रकीर्त्तिता ॥२॥
+उदक् सिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्तिता ॥
भूवृत्तपादविवरास्ताश्चन्योऽन्यं प्रतिष्ठिता ॥३॥
तासामुपरिगो याति विषुवस्थो दिवाकरः ॥
न तासु विषुवच्छाया नाक्षस्योन्नातिरिष्यते ॥४॥
—सूर्य्यसिद्धान्ते-भूगोलाध्याये

आगे जाकर उपर्युक्त चार वर्षों के 'आठ वर्ष' होजाते हैं। दूसरे * शब्दों में **चतुर्दलकमल 'अष्ट-दलकमल'** में परिणत होजाता है। **ब्राह्मभुवनकोश (ब्रह्मपुराण में प्रतिपादित भुवनकोश)** के अनुसार भूपिण्ड को **अष्टदलकमल** ही माना गया है। इसी पुराण के अनुसार यह दृश्य भूपद्म 'जम्बूद्वीप' नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। जम्बुद्वीपरूप दृश्य उत्तरी–गोलार्द्ध के केन्द्रभूत कर्णिका-रूप मेरु का **'मान'** बतलाता हुआ **ब्रह्मपुराण** कहता है कि,–यह मेरुदण्ड विष्वद्धरातल से ÷ ८४०००

× जापान-पूर्व में। ÷ लङ्का-दक्षिण में। + रोमदेश-पश्चिम में। × सिद्धपुर-उत्तर में।

* वामनपुराणने इसी अष्टदलकमलात्मक नववर्षात्मक भूपद्म का निरूपण किया है।

÷ ध्यान रहै-जिसप्रकार पुराणपरिभाषा के अनुसार आयुःसम्बन्ध में सहस्रादि शब्दों का साङ्केतिक अर्थ है, तथैव मानसाधक इन साहस्रियों का भी साङ्केतिक ही अर्थ है। बिना इस **साङ्केतिक-विद्यारहस्य** को समझे इन पौराणिक मानों पर ऊहापोह करना निरर्थक है। विस्तारभय से इन सब विषयों का प्रकृत में निरूपण नहीं किया जासकता। इसके लिए तो स्वतन्त्ररूप से लिखा हुआ **'पुराणरहस्य'** नामक ग्रन्थ ही द्रष्टव्य है।

( चौरासी हजार ) योजन तो ऊँचा है, जिसमें १६००० ( सोलह हजार ) योजन भूगर्भ में प्रविष्ट है, ३२००० ( बत्तीस हजार ) योजन ऊपर के शिरोभाग में चौड़ा है, एवं १६००० ( सोलह हजार ) योजन का इसका व्यास ( डायमिटर-विष्कम्भ ) है। **भारतवर्ष, किंपुरुषवर्ष, हरिवर्ष**-ये तीन वर्ष तथाविध मेरु से दक्षिण में हैं। **रम्यकवर्ष, हिरण्मयवर्ष, कुरुवर्ष**, ये तीन वर्ष मेरु से उत्तर में हैं। **भद्राश्ववर्ष** मेरु से पूर्व में है। एवं **केतुमालवर्ष** मेरु से पश्चिम में है। प्रत्येक वर्ष का मान ९००० ( नौहजार ) योजन है। इन आठ वर्षों के अतिरिक्त ९ वाँ **'इलावृत'** नाम का प्रधान वर्ष इन आठों वर्षों के मध्य में मेरु-प्रदेश के चारों ओर व्याप्त है। इसका मान भी ९००० योजन ही समझना चाहिए।

प्रकारान्तर से यों समझिए कि,-**मेरु से पूर्व भद्राश्ववर्ष, मेरु से आग्नेय कोण में किंपुरुषवर्ष** ( पुराणान्तर में 'किन्नरवर्ष' नाम से भी व्यवहृत हुआ है ), **मेरु से दक्षिण में भारतवर्ष, मेरु से नैऋतकोण में हरिवर्ष, मेरु से पश्चिम में केतुमालवर्ष, मेरु के वायव्यकोण में रम्यकवर्ष, एवं ईशानकोण में हिरण्मयवर्ष है**। **अग्निकोण-दक्षिण-नैऋतकोण**,तीनों का **दक्षिणादिक्** शब्द से ग्रहण होता है, **वायव्यकोण-उत्तर-ईशानकोण**, तीनों का **उत्तरादिक्** शब्द से ग्रहण होता है। दूसरे शब्दों में-अग्निकोण-नैऋतकोण का दक्षिणदिशा में अन्तर्भाव है, एवं वायव्यकोण-ईशानकोण का उत्तरदिशा में अन्तर्भाव है। आगे के चित्रपट से इन ९ वर्षों का स्वरूप सम्यग्रूप से स्पष्ट होजाता है।

इन वर्षों के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। पुराणशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि **"मेरु सब वर्षों से उत्तर में प्रतिष्ठित है"**, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होजाता है--

"सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः।"

--ब्रह्मपुराण।

इधर पूर्वप्रकरण में हमनें किसी वर्ष को मेरु से दक्षिण बतलाया है, किसी को पश्चिम, एवं किसी को पूर्व। ऐसी अवस्था में यदि मेरु उत्तर होसकता है, तो दक्षिणस्थ **किन्नर-हरि-भारत**, इन तीन वर्षों से ही उत्तर होसकता है। फिर सब के लिए सामान्यरूप से "**सर्वेषामेव-उत्तरतः स्थितः** यह कैसे कहा गया?। उत्तर वही **'परिभाषातत्त्व'** है। स्तम्बयजुर्हरण में यह बतलाया जाचुका है कि, **'उत्तर' शब्द 'केन्द्र' का वाचक है**,एवं **'दक्षिण' शब्द 'परिधि' का वाचक है**। ऊर्ध्व-उत्तर-ऊँचा-केन्द्र, ये सब शब्द अभिन्नार्थक हैं। **अधः-दक्षिण-नीचा-परिधि**-ये सब शब्द अभिन्नार्थक हैं। त्रिष्वद्वृत्त-परिधि का केन्द्र मेरुस्थान है। यही सब वर्षों का केन्द्र है। केन्द्रभाव ही उत्तर है। मेरु के इस केन्द्ररूप उत्तरभाव को लक्ष्य में रखकर ही-**'मेरुरुत्तरतः स्थितः'** यह कहा गया है।

मेरु के चारों ओर हमनें नवसहस्रयोजनात्मक **'इलावृतवर्ष'** की सत्ता बतलाई है। इस इलावृतवर्ष की चारों दिशाओं में चार **'सर'**, एवं चार **'महावन'** हैं। मेरु से, किंवा इलावृतवर्ष से पूर्व में **'चैत्ररथ'** नाम का महावन है, एवं **'अरुणोदय'** नाम का सर है। दक्षिण में **'गन्धमादनवन'** है, एवं **'मानससर'** है। यही गन्धमादनवन पुराणान्तर में **'नन्दनवन'** नाम से व्यवहृत हुआ है। पश्चिम में **'वैभ्राजवन'** है, एवं **'असितोद'** नाम का सर है। यही असितोद पुराणान्तर में **'शीतोद'** नाम से व्यवहृत हुआ है। उत्तर में

'सावित्रवन' है, एवं 'महाभद्र' नाम का सर है। कहीं कहीं सावित्रवन को भी 'नन्दनवन' नाम से व्यवहृत कर दिया गया है। इन चार महासरों, एवं महावनों से वेष्टित इलावृतवर्षाविच्छिन्न मेरुप्रदेश ही पुराणों में 'पार्थिवस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। इस पार्थिवस्वर्ग की सीमापर सीमासम्पादक ६ वर्षपर्वत हैं। १ हिमवान्, २ हेमकूट, ३ निषध, ये तीन पर्वत मेरुस्वर्ग की दक्षिण-सीमा में हैं। १ नील-२ श्वेत-३ शृङ्गवान्—ये तीन पर्वत स्वर्ग की उत्तर-सीमा में प्रतिष्ठित हैं। इनका विस्तार पूर्वापर ( पूर्वपश्चिम ) है। अनेक पादपर्वतों की श्रेणियाँ इन कुलपर्वतों के साथ संलग्न हैं। वे अवान्तर पर्वत-श्रेणियाँ पुराण में 'शाखाशैल' नाम से व्यवहृत हुईं हैं। निषध, एवं नीलपर्वत से आरम्भ कर दक्षिणोत्तर फैले हुए १--माल्यवान् २--गन्धमादन नाम के दो कुलपर्वत मेरुमध्य स्थान में है। ६ वाँ सर्वप्रधान हिरण्यशृङ्ग--पर्वत है। इन्हीं ६ वर्षपर्वतों का दिग्दर्शन कराते हुए पुराणपुरुष भगवान् व्यास कहते हैं--

हिमवान् हेमकूटश्च, निषधो, दक्षिणे त्रयः।
नीलः, श्वेतः, शृङ्गवांश्च मेरोरुत्तरतस्त्रयः॥ १॥
पूर्वापरायता एते षडपि प्रायशोऽचलाः॥
शाखाशैलैरसंख्यातैर्विप्रकीर्णैरुपाचिताः॥ २॥
आनीलनिषधायामौ माल्यवद्-गन्धमादनौ॥
तौ दक्षिणोत्तरायामौ मेरुर्मध्यगतस्तयोः॥ ३॥
पार्थिवस्वर्गसीमानो नवैते वर्षपर्वताः॥
पर्वतश्रेणिरूपास्ते पादपर्वतसंकुलाः॥ ४॥
हिमवान् दक्षिणे सीमा, शृङ्गवानुत्तरे स्थितः॥
माल्यवान् पूर्वसीमाऽस्ति पश्चिमे गन्धमादनः॥ ५॥
एषां बहिर्भूभागो वर्षं तत् 'पद्मपत्रवत्'॥
पद्मान्तः कर्णिकामेरुमण्डलं 'ब्रह्मसद्म तत्'॥ ६॥
लोकपद्मस्थितो ब्रह्मा चातुःसर्ग्यं ससर्ज ह॥
*वेद –धर्म-प्रजा–लोक--भेदाः--सर्गाश्चतुर्विधाः॥ ७॥

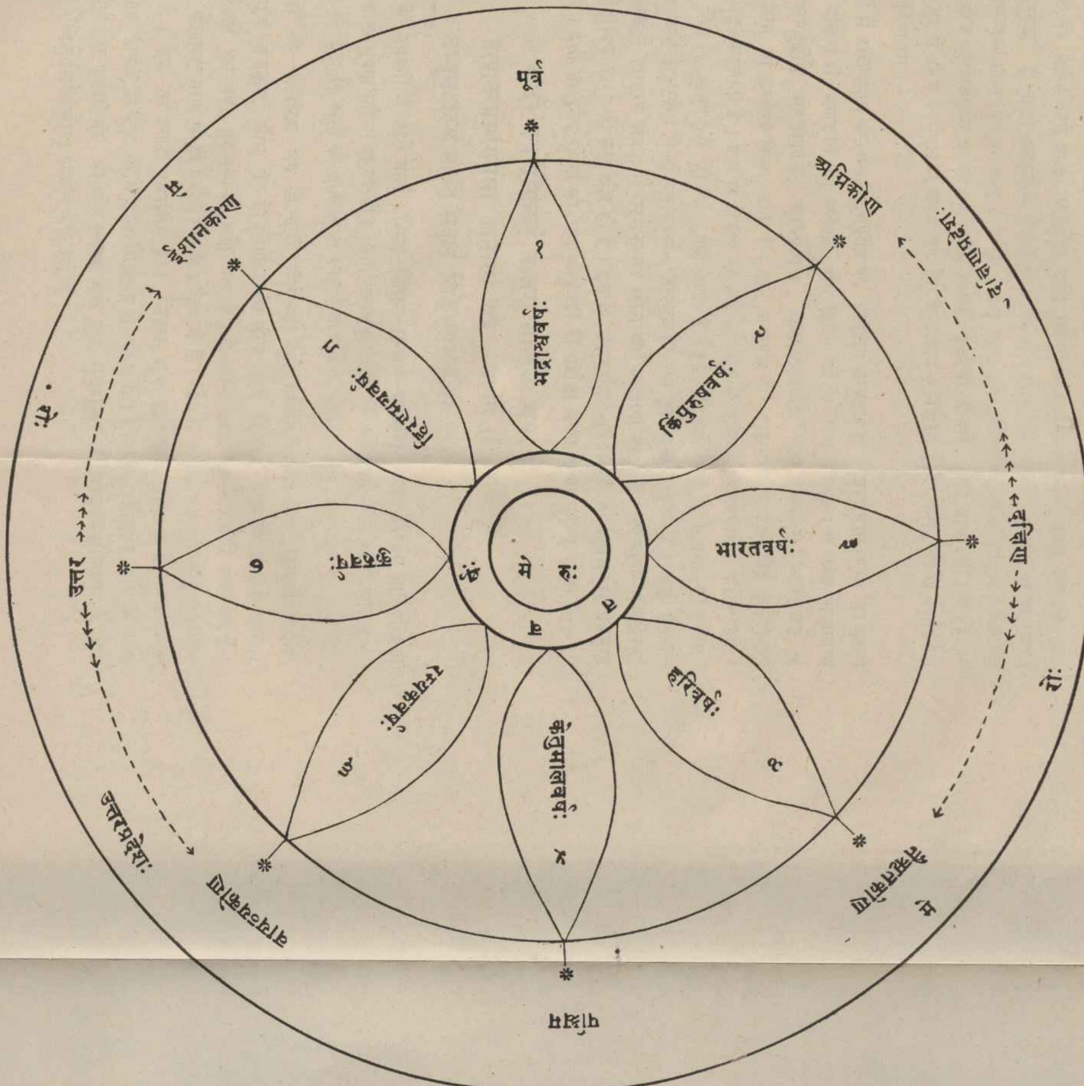
--पुराणे

---

* इन चारों सृष्टियों का विशद निरूपण शतपथविज्ञानभाष्य के पूर्वप्रकाशित–प्रथमखण्ड में किया जाचुका है।

## अष्टदलकमलात्मकः पाद्मभुवनकोशपरिलेखः—

[पृ० सं० ८८६ से ८६० के मध्य में]




पद्मं नाभ्युद्भवं चैकं समुत्पादितवांस्ततः ॥ सहस्रवर्णं विरजं भास्कराभं हिरण्मयम् ॥१॥
पद्मे हिरण्मये तस्मिनसृजद् भूरिवर्चसम् ॥ स्रष्टारं सर्वलोकानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम् ॥२॥
तच्च पद्मं पुरा भूतं पृथिवीरूपमुत्तमम् ॥ यत् पद्मं सा रसादेवी पृथिवी परिकथ्यते ॥३॥
एवं नारायणस्यार्थे महीपुष्करसम्भवा ॥ प्रादुर्भावोऽप्ययं तस्मान्नाम्ना पुष्करसंज्ञितः ॥४॥
तदेतत् पार्थिवं पद्मं चतुष्पत्रं मयोदितम् ॥ भद्राश्वभारताद्यानि पत्राण्यस्य चतुर्दिशम् ॥५॥
भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वाः कुरवस्तथा ॥ पत्राणि लोकपद्मस्य मर्य्यादाशैलबाह्यतः ॥६॥

'मेरुस्वर्ग' की सीमा के सम्पादक चार "विष्कम्भ" पर्वत और ध्यान में रखिए। ये चारों पर्वत **मन्दर, गन्धमादन, विपुल, सुपार्श्व,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। जिस समय एशियाखण्ड में 'स्वर्गव्यवस्था' थी, उस समय मेरु को वेष्टित करने वाले उपर्युक्त चारों पर्वतों पर क्रमशः **कदम्ब, जम्बु,** पिप्पल, **बट,** नाम के चार **'केतुवृक्ष'** ( **ध्वजा-स्थानीय वृक्ष** ) थे। मेरु के पूर्वपार्श्वस्थ मन्दराचलपर्वत पर कदम्बवृक्ष था, दक्षिणपार्श्वस्थ गन्धमादनपर्वत पर जम्बु ( जामून ) वृक्ष था। पश्चिमपार्श्वस्थ विपुलपर्वत पर पिप्पलवृक्ष था, एवं उत्तरपार्श्वस्थ सुपार्श्वपर्वत पर बटवृक्ष था। प्रत्येक वृक्ष की ऊँचाई १११ हाथ थी। ये ही स्वर्ग की ध्वजाएँ थीं। दूर से ही ये स्वर्गमहिमा प्रकट कर देते थे। स्वयं युधिष्ठिरने इन्हीं **केतुवृक्षों** से स्वर्गप्रदेश का परिचय प्राप्त किया था।

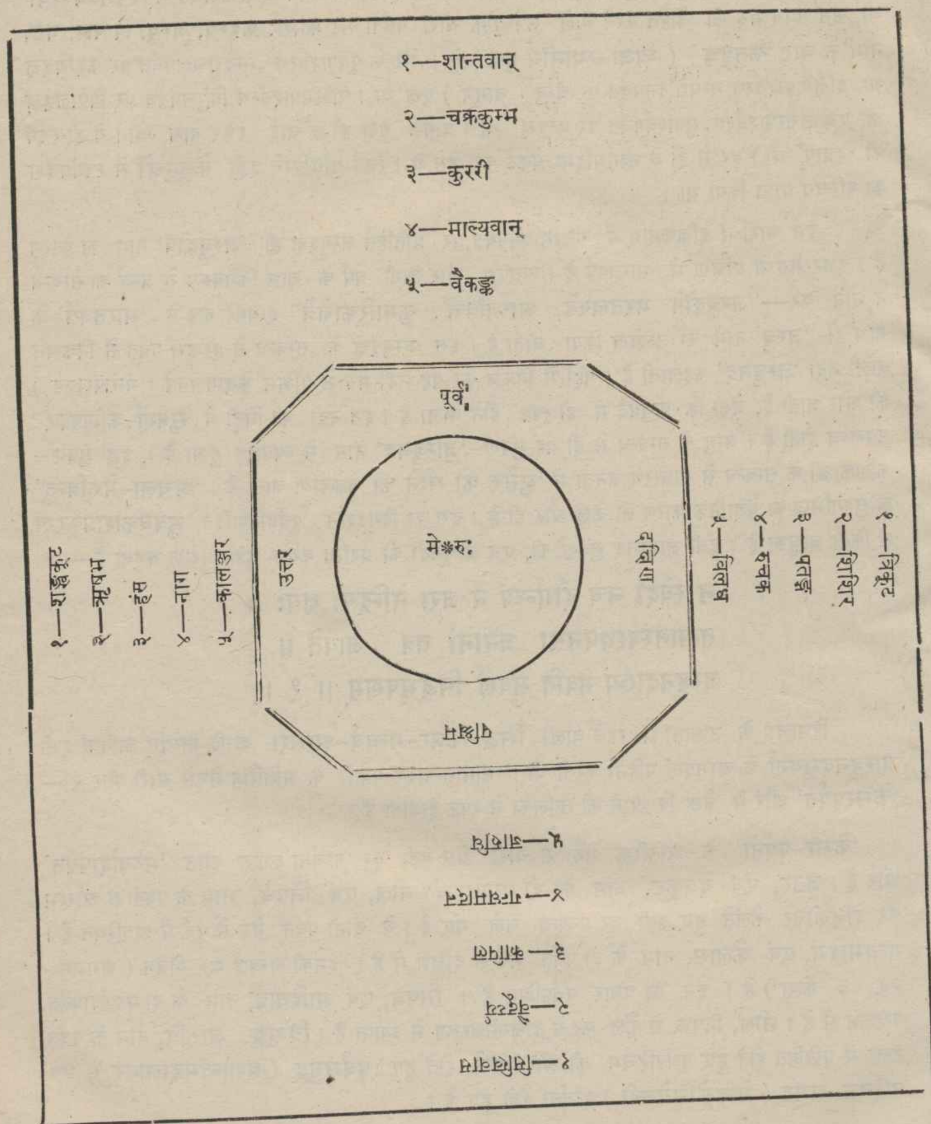
इन चारों में दक्षिणभाग में गन्धमादनपर्वत पर प्रतिष्ठित जम्बुवृक्ष ही **'जम्बुद्वीप'** नाम का कारण है। इधर मेरु से दक्षिण में भारतवर्ष है। अतएव और किसी वर्ष के साथ विशेषरूप से जम्बु का सम्बन्ध न मान कर—**"जम्बुद्वीपे भरतखण्डे, आर्य्यावर्त्ते, कुमारिकाक्षेत्रे"** इत्यादि रूप से **'भारतवर्ष'** के साथ ही **'जम्बु'** नाम का उल्लेख किया जाता है। इस जम्बुवृक्ष के सम्बन्ध से ही इस पर्वत से निकलने वाली नदी **'जम्बुनद'** कहलाती है। यहाँ से निकल कर यह नदी मेरु से पश्चिम केतुमालवर्ष ( योरोपखण्ड ) की ओर जाती है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इस नदी की मिट्टी में **'सुवर्ण-कणिकाएँ'** उपलब्ध होतीं हैं। जम्बु के सम्बन्ध से ही यह सुवर्ण--**'जाम्बुनद'** नाम से व्यवहृत हुआ है। इन्हीं सुवर्ण-कणिकाओं के सम्बन्ध से साधारण जनता में **'सुमेरु को सोने का'** बतलाया जाता है। **'अचला-मेरुबिन्दु'** के सुवर्णभाव का वैज्ञानिक कारण तो कुछ और ही है। इस का दिग्दर्शन पूर्वप्रतिपादित **भुवनकोशप्रकरण** में किया जाचुका है। इसी जाम्बुनद सुवर्ण की, एवं जम्बूनदी की प्रशंसा करता हुआ पुराण कहता है—

**न स्वेदो नच दौर्गन्ध्यं न जरा नेन्द्रियः क्षयः ॥**
**तत्पानस्वस्थमनसां जनानां तत्र जायते ॥**
**जम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं सिद्धभूषणम् ॥ १ ॥**

हिमालय के उपवनों में रहने वालीं **सिद्ध-किन्नर-गन्धर्व-अप्सरा-** आदि तिर्य्यग् जातियाँ इसी **जाम्बुनदसुवर्ण** के आभूषण पहिना करतीं थीं। सीमासम्पादक पर्वतों के अतिरिक्त मेरुसे चारों ओर २०-**'केसरपर्वत'** और थे, जैसा कि आगे की तालिका से स्पष्ट होजाता है।

**'केसर--पर्वतों'** के अतिरिक्त मेरु से चारों ओर बड़ी दूर पर्य्यन्त व्याप्त आठ **'मर्य्यादापर्वत'** और हैं। **जठर,** एवं **देवकूट,** नाम के दो मर्य्यादापर्वत **नील,** एवं **निषध,** नाम के पर्वतों से आरम्भ कर दक्षिणोत्तर फैलते हुए बड़ी दूर पर्य्यन्त चले गए हैं। ये दोनों पर्वत मेरु से पूर्व में अवस्थित हैं। **गन्धमादन,** एवं **कैलास,** नाम के दो पर्वत मेरु से दक्षिण में हैं। इनकी लम्बाई ८० योजन ( लगभग--२५००० क्रोश ) है। इन का प्रसार पूर्वपश्चिम है। **निषध,** एवं **पारियात्र,** नाम के दो मर्य्यादापर्वत पश्चिम में हैं। **नील,** निषध, से फैल कर ये दक्षिणोत्तररूप से व्याप्त हैं। **त्रिशृङ्ग,** जारुधि, नाम के पर्वत उत्तर में प्रतिष्ठित होते हुए पूर्वपश्चिम की ओर व्याप्त होते हुए **पूर्वसमुद्र** ( **प्रशान्तमहासागर** ), एवं **पश्चिम--समुद्र** ( **मेडिट्रेनियेन्सी** ) पर्य्यन्त फैले हुए हैं।

## २०-केसरपर्वताः—


१—शान्तवान्
२—चक्रकुम्भ
३—कुररी
४—माल्यवान्
५—वैकङ्क
पूर्व
मेरुः
उत्तर
दक्षिण
पश्चिम
१—शङ्खकूट
२—ऋषभ
३—हंस
४—नाग
५—कालञ्जर
१—त्रिकूट
२—शिशिर
३—पतङ्ग
४—रुचक
५—निषध
१—सिनीवास
२—वैदूर्य
३—कपिल
४—गन्धमादन
५—जारुधि

जिस युग का चरित्र हम पाठकों के सम्मुख रख रहे हैं, उस युग में प्रधानरूप से **नीतितन्त्र**, एवं गौणरूप से **राजतन्त्र**, प्रचलित था। **गणतन्त्रानुगत प्रजातन्त्र** नीतितन्त्रानुगत राजतन्त्र से मर्य्यादित था प्रकृतिवत् तद्युगों में। नीतितन्त्र के सञ्चालक दिक्पाल लोकपाल थे। एवं राजतन्त्र के सञ्चालक स्वयम्भु मनु थे। जो दिक्पाल थे, वे ही लोकपाल भी थे। उदाहरण के लिये वरुण और चन्द्रमा को ही लीजिये। ये दोनों देवता क्रमशः पश्चिम, उत्तर दिशा के अधिपति होते हुए दिक्पाल थे। एवं भूपिण्ड पर पानी का जितना विभाग था, उस सबका प्रबन्ध पश्चिमस्थ-वाह्लीक--राजधानी में निवास करने वाले **वरुण** के उत्तरदायित्व से अनुप्राणित था। वरुण आपोविभाग की व्यवस्था करते थे। इसीप्रकार ओषधियों के व्यवस्थापक, तत्सम्बन्धी अभियोगों के निर्णायक **चन्द्रमा** थे। इसप्रकार अब् विभाग के वरुण लोकपाल थे, चन्द्रमा ओषधिविभाग के लोकपाल थे। इन आठों दिक्पाल-लोकपालों के स्वतन्त्र राष्ट्र थे। प्रत्येक की स्वतन्त्र **विचारसभा** ( कौन्सिल ) थी। इन सब में स्वर्गाधिपति इन्द्र प्रधान माने जाते थे। वरुणादि जहाँ **'सम्राट्'** कहलाते थे, वहाँ इन्द्र **'स्वाराट्'** पद से विभूषित थे।

इन्द्र की सभा में नियमित तिथियों में शेष सातों दिक्पालों को उपस्थित होकर विचार-विनिमय करना पड़ता था। इसी प्रमुखता के कारण **'सुधर्म्मा'** नाम की **'इन्द्रसभा'** तत्समय में **'देवसभा'** नाम से प्रसिद्ध होरही थी। **'सौवी'** इन्द्र का राष्ट्र था। जहाँ आज **'न्यूसाइबीरिया'** प्रान्त है, जो प्रान्त आज असभ्य जँगली मनुष्यों की आवासभूमि बना हुआ है, वही स्थान किसी समय 'देवेन्द्र' की राजधानी था। संसार की सर्वोच्च सभ्यता का वही केन्द्र था। असुरों के आक्रमण से यह स्थान बचा हुआ था, अतएव तत्समय में वह प्रदेश **'अपराजितादिक्'** नाम से प्रसिद्ध था। स्वयं ब्रह्मप्रजापति की सभा **'कान्तिमती'** नाम से प्रसिद्ध थी। ब्रह्मराष्ट्र **'प्राग्ज्यौतिष'** नाम से व्यवहृत होता था। **भद्रगिरि**, एवं **चन्द्ररिंगि**, के मध्य में निवास करनेवाले **विष्णु**, एवं चतुर्द्दश-सहस्रयोजन-परिमिता सुमेरुमध्यस्था **'ब्रह्मपुरी'** में निवास करनेवाले ब्रह्मा का आसन स्वराट् इन्द्र से भी ऊँचा था। इनकी, इन में भी विशेषत: ब्रह्मा की आज्ञा सब को मान्य थी। **ब्रह्मा और विष्णु** 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध थे। **चन्द्रादि कुछ लोकपाल राजा थे। वरुणादि कुछ लोकपाल सम्राट् थे।** इन्द्र **स्वाराट्** थे। ब्रह्मा-विष्णु **विराट्** थे। इन दोनों में विष्णु प्राय: इन्द्र के पक्ष में हीं अपनी सम्मति दिया करते थे। क्योंकि ये यज्ञ के अधिष्ठाता बनते हुए प्रकृति से ही **'असुरद्वेषी'** थे। विष्णु की गुप्तमन्त्रणा से ही इन्द्रने **अन्नहर्त्ता वराह** नाम के सुप्रसिद्ध असुर को नष्ट किया था। उधर सर्वलोकपितामह ब्रह्मा, **देवता**, और **असुर** दोनों पर समान दृष्टि रखते थे। जब देवता असुरों से आक्रान्त होकर प्रजापति की शरण में जाते, तो प्रजापति दोनों को नीतिमार्ग से शान्त कर देते थे। ब्रह्मा को दोनों के हितों का पूर्ण ध्यान था। फिर भी असुर **'असुर'** थे। आगे जाकर ब्रह्मा की उदासीनता से अनुचित लाभ उठाते हुए इन दुष्ट-बुद्धि असुरों नें देवबल सर्वथा परास्त कर दिया, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में हीं कहा जाचुका है। असुर संख्या में भी अधिक थे। एवं स्वभाव से भी दुष्ट थे। अतएव प्रजापतिने पृथिवी का **'दायभाग'** ( बटवारा ) करते हुए देवताओं की अपेक्षा अत्यधिक भूभाग इन्हें दिया। पाद्मभुवनकोश के व्याज से उसी **आसुरत्रिलोकी**, एवं **दैवत्रिलोकी** का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

## १—मेरुत्रिलोकी--

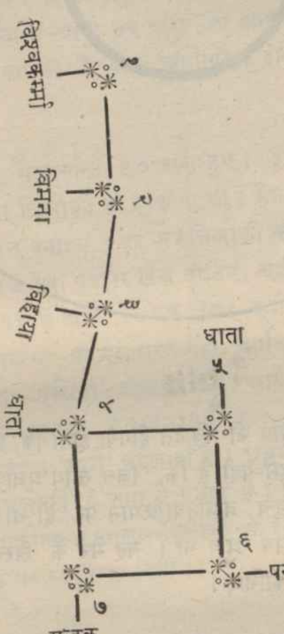
मेरुबिन्दु को हमने पूर्व में दृश्य—उत्तरी–गोलार्द्ध का केन्द्र माना है। पुराणयुग से सम्बन्ध रखने वाले जिस **'नक्षत्रवर्षात्मक--पाद्मभुवनकोश'** का अबतक निरूपण किया गया है, उस समय की स्थिति में, और आज की स्थिति में बड़ा अन्तर होगया है। पाद्मभुवनकोश–व्यवस्था —युग में जिस स्थान पर मेरुबिन्दु थी, आज वह वहाँ से हटकर आगे निकल गई है। आज मेरुप्रदेश सर्वथा परिवर्त्तित होगया है। इस का एकमात्र कारण है ध्रुवपरिभ्रमण। पृथिवी का परिभ्रमणमार्ग क्रान्तिवृत्त है। **इस क्रान्तिवृत्तीय--पृष्ठीकेन्द्र का ही नाम 'कदम्ब'** है। इसी को **'नाक'— 'विष्णुपद'** आदि नामो से व्यवहृत किया जाता है। क्रान्तिवृत्त की प्रत्येक बिन्दु से उत्तरदिक्स्थ कदम्ब ९०–अंश पर प्रतिष्ठित है। इस कदम्ब के चारों ओर विद्युत्प्राणरूप ध्रुव २४ अंश के व्यासार्द्ध से वृत्त बनाकर परिक्रमा लगाया करता है। ध्रुवविद्युत् की यह परिक्रमा २५ हजार वर्ष में समाप्त होती है। इधर **विष्वद्वृत्तीय-पृष्ठीकेन्द्र को ध्रुव कहा जाता है।** पृथिवी के विष्वद्वृत्त की प्रत्येक बिन्दु से ध्रुव ९० अंश पर है। पृथिवी का केन्द्रस्थ उत्तराग्निस्थान सुमेरु है। यह उत्तर-ध्रुव से बद्ध रहता है, एवं दक्षिणाग्नि की अन्तिम सीमा **'कुमेरु'** है। यह दक्षिणध्रुव से बद्ध रहता है। ऐसी अवस्था में ध्रुव यदि स्थिर होता, तब तो भूपिण्ड का मेरु-प्रदेश भी स्थिर ही रहता। परन्तु ध्रुव उपर्युक्त कथनानुसार कदम्ब के चारों ओर क्योंकि घूमता है, अतएव तत्सम्बद्ध मेरु का भी देशत्याग स्वीकार करना पड़ता है।

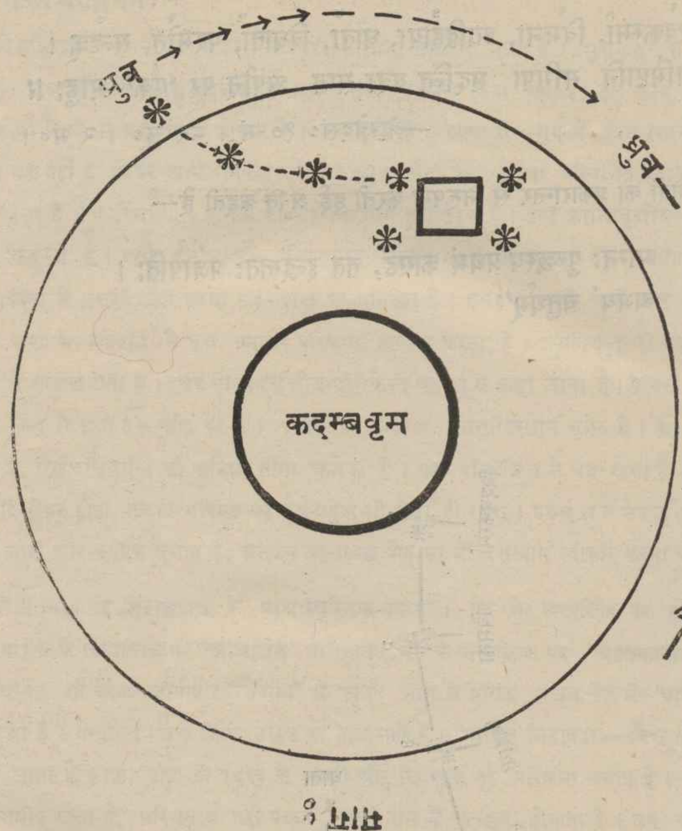
किसी समय यह **'हंसनक्षत्र'** के **अधःस्वस्तिक** पर था। मेरु से खस्वस्तिक पर हंसनक्षत्र था। किसी समय मेरु के खस्वस्तिक पर **'अभिजित'** था। आज मेरु के खस्वस्तिक पर **'विश्वकर्म्मा नक्षत्र'** है। किसी समय यह भी बदल जायगा। वर्त्तमान में **'ध्रुव'** नाम से प्रसिद्ध नक्षत्र वेद में–**'अभय'** नाम से व्यवहृत हुआ है। वस्तुतस्तु ध्रुव किसी नक्षत्र का नाम नहीं हैं। **अपितु निराकार----विद्युत्प्राण को ही ध्रुव कहा जाता है।** यह प्राण ही कदम्ब के चारों ओर स्थिरवृत्त पर परिक्रमा लगता है। यह प्राण जिस नक्षत्र के समीप रहता है, परिचयार्थ वही नक्षत्र **'ध्रुव'** नाम से व्यवहृत होजाता है। जब यह प्राणस्कम्भ हंसनक्षत्र पर था, उस समय **'हंस'** ही ध्रुव कहलाता था। वहाँ से आगे चलकर जब ध्रुवप्राण अभिजिन्नक्षत्र पर आया तो **अभिजिन्नक्षत्र** 'ध्रुव' कहलाया। आज यह **विश्वकर्म्मा** नाम के नक्षत्र पर है। अतएव आज यही ध्रुव कहलाता रहा है। इस ध्रुवसंस्था में गया हुआ आत्मा भय से विमुक्त होजाता है, अतएव इसे **'अभय'** नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। यहाँ आत्मच्युति नहीं है, इसी अभिप्राय से इसे **'ध्रुव'** कहा जाता है। ध्रुव स्थिर है, यह भाव ध्रुव--व्यवहार का कारण नहीं है। क्योंकि ध्रुव का कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगाना सर्वसम्मत है। आज जिस स्थान पर ध्रुव है, वहाँ सात तारे हैं। जो सन्निवेशक्रम **सप्तर्षि-मण्डल** का है, वही सन्निवेशक्रम इन सात तारों का है। कहीं कहीं ब्राह्मणग्रन्थों में इन्हें **'ऋक्षपत्नी'** नाम से भी व्यवहृत किया गया है। इन्हीं सातों का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है--

विश्वकर्म्मा,[1] विमना,[2] आद्विहाया,[3] धाता,[4] विधाता,[5] परमोत,[6] सन्दृक्[7] ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर 'एक'–माहुः ॥
––ऋग्वेदसं० १० मं । ८२ सू० । २ मं० ।

इन्हीं सातों का प्रकारान्तर से निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

"अग्निः पुच्छस्य प्रथमं काण्डं, तत इन्द्रस्ततः प्रजापतिः ।
अभयं चतुर्थम्"






हाँ, तो तथोक्त निदर्शन से आप को विदित होगया होगा कि, ध्रुवपरिभ्रमण के कारण मेरु बदलता रहता है। इस से बतलाना प्रकृत में हमें यही है कि, जिस समय प्रजापतिने 'पाद्मभुवनकोश' की व्यवस्था की थी, उस समय तो मेरुबिन्दु सचमुच ब्रह्मनिवासस्थान पर ही थी। आज भी प्रदेश तो वही है, परन्तु मेरु बदल गया है। अभिजित् उस समय ध्रुव था। यह मेरु के खस्वस्तिक पर था। सब से पहिले इसी **मेरुमूला-त्रिलोकी** का स्वरूप अवगत कीजिए।

यह बतलाया जाचुका है कि, **निरक्षवृत्त** से मेरु ठीक ९० अंश उत्तर है। हमारा निरक्षवृत्त **'लङ्का'** है। इसी को हमने प्रथममध्याह्नरेखा का उपक्रम माना है। आज के अनुपात से यद्यपि लङ्का निरक्षवृत्त से ५ अंश उत्तर मानी जाती है। परन्तु भारतीय भूगोलसिद्धान्त के अनुसार यह सर्वथा निःस्सार है। क्योंकि आज लङ्का सीलोन को माना जारहा है। सीलोन अवश्य ही निरक्ष देश से प्रायः ५ अंश उत्तर है। उधर हमारी दृष्टि

से 'सीलोन' 'सिंहलद्वीप' है। **लङ्का इससे सर्वथा पृथक् द्वीप है**। यह अवश्य ही निरक्ष देश पर थी। आज लङ्का दक्षिणसमुद्र के गर्भ में विलीन है। इस स्थान से उत्तर की ओर एक सीधी रेखा मेरु पर्य्यन्त लेजाइए। इसी का नाम **'भूमध्यरेखा'**, किंवा वर्त्तमान--परिभाषा के अनुसार 'प्रथममध्याह्नरेखा होगा। यह रेखा **लङ्का, कोलम्बो, मद्रास, उज्जैन, सिद्धपुर, कुरुक्षेत्र,** आदि देशों का स्पर्श करती हुई मेरुपर्य्यन्त व्याप्त होरही है, जैसा कि निम्नलिखित बचन से स्पष्ट है--

**यल्लङ्कोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत्।**
**सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदितं सा मध्मरेखा भुवः॥**

इनमें **उज्जैनरेखा** से भारतीय ज्यौतिष की व्यवस्था का आरम्भ माना जाता है। अतएव जैसा पाश्चात्यों में मध्यरेखास्थान **'ग्रीनवीच'** नामसे प्रसिद्ध है, एवमेव पौरस्त्य उज्जैन को मध्यरेखास्थान मानते हैं। यह उज्जैन निरक्ष देश से प्रायः २३ अंश ६ कला उत्तर अक्षांशों पर स्थित है, एवं ग्रीनवीच--मध्यरेखा की अपेक्षा लगभग ७० अंश ४३ कला पूर्वीय देशान्तर से यह उज्जैनरेखा आरम्भ होती है। वर्तमान स्थूलमान के अनुसार उज्जैनरेखा ८० ( अस्सी ) पूर्वी देशान्तर पर मानी जाती है। इसप्रकार **ग्रीनवीच--मध्यरेखा**, एवं **भारतीय–मध्यरेखा** में–प्रायः ७६ अंश का अन्तर सिद्ध होजाता है। इसी अन्तर से हमें आगे जाकर भारतवर्ष की सीमा निकालनी है, अतः **अप्रासङ्गिक** होते हुए भी अत्र ग्रीनवीचरेखा का स्मरण कर लिया गया है।

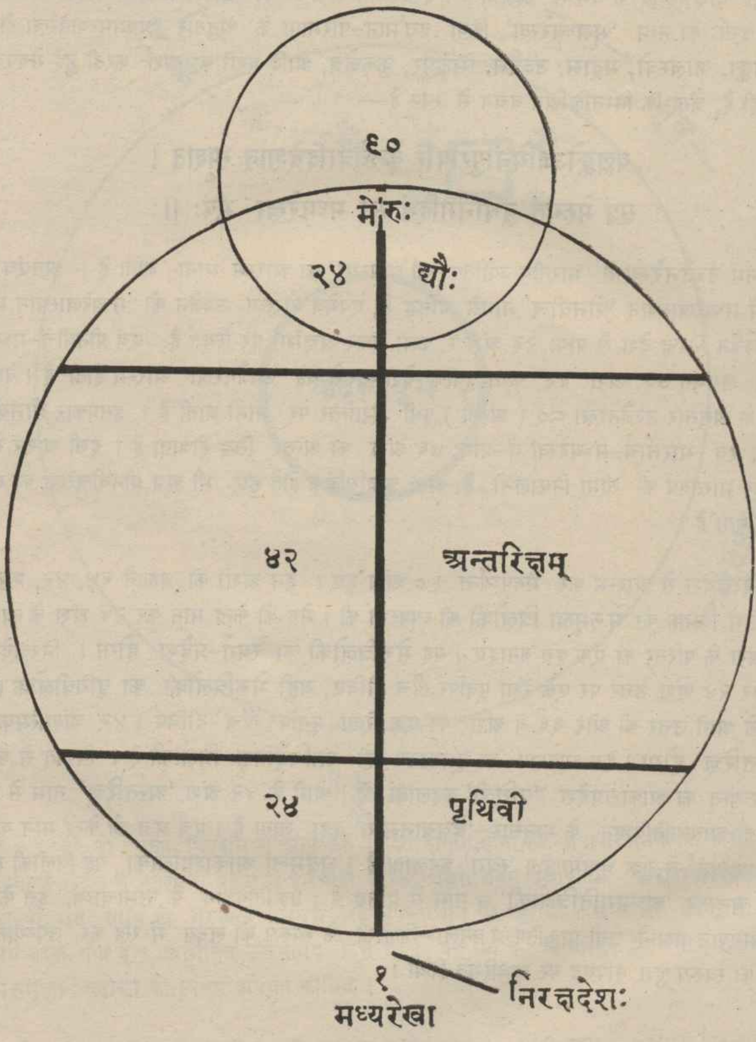
निरक्षदेश से आरम्भ कर मेरुपर्य्यन्त ६० अंश हुए। इन अंशों को ब्रह्माने २४, ४२, २४, इन तीन भागों में विभक्त कर **मेरुमूला त्रिलोकी** की व्यवस्था की। मेरु को केन्द्र मान कर २४ अंश के व्यासार्द्ध से ४८ अंश के परिसर का एक वृत्त बनाइए। यह **मेरुत्रिलोकी का स्वर्ग--प्रदेश होगा**। निरक्षदेश से आरम्भ कर २४ अंश उत्तर पर एक रेखा पूर्वापर खैंच दीजिए, **यही मेरुत्रिलोकी का पृथिवीलोक होगा,** एवं २४ से आगे उत्तर की ओर ६६ वें अंश पर एक रेखा पूर्वापर खैंच दीजिए। **४२ अंशात्मक यही देश अन्तरिक्ष होगा**। इस व्यवस्था का मूलकारण वही **आधिदैविक--त्रिलोकी** है। विष्वत् से आरम्भ कर २४ पर्य्यन्त का आकाशप्रदेश **'पृथिवी'** कहलाता है। आगे के ४२ अंश **'अन्तरिक्ष'** नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही आत्मगतिविज्ञान के अनुसार **'देवयानमार्ग'** कहा जाता है। एवं ध्रुव को केन्द्र मान कर २४ अंश के व्यासार्द्ध से युक्त ध्रुवमण्डल **'स्वर्ग'** कहलाता है। **ध्रुवमूला आकाशात्मिका** यह त्रिलोकी **लोक--विद्या** के अनुसार **'आत्मगतित्रिलोकी'** * नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतिविज्ञान के परमाचार्य्य, **इस के प्रथम** प्रवर्त्तक भगवान् ब्रह्माने उसी प्राकृतिक-ध्रुवमूला--त्रिलोकी के स्वरूप को लक्ष्य में रख कर उपर्य्युक्त मेरु--त्रिलोकी का **स्वरूप** इस भूपिण्ड पर व्यवस्थित किया।

---

* इस त्रिलोकीका विशद विवेचन **'श्राद्धविज्ञान'** के "आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्" नामके चतुर्थखण्ड में देखना चाहिए।

## (१) मेरुमूला-देवत्रिलोकी—

ध्रुवाद्धो यः पृथिवीप्रदेशः स मेरुरित्थं प्रतियन्ति लोकाः ।
ब्रह्माभिजिद्भ्राड्ध्यरः प्रदेशः स मेरुरासीच्च पुराद्युगे सः ॥




ध्रुवाच्चतुर्विंशमितांशतुल्यव्यासाद् वृत्तान्तरमिष्यते द्यौः ।
ततोऽन्तरिक्षं परितो द्विचत्वारिंशच्चतुर्विंशतिरस्ति पृथिवी ॥

---*---

## २–प्राङ्मेरु–(पामीर)–मूला देवत्रिलोकी—

दूसरी है **प्राङ्मेरुमूला त्रिलोकी**। इसे हम वर्त्तमानभाषा में 'एशियाई–त्रिलोकी' भी कह सकते हैं। पुराण ने प्रायः इसी त्रिलोकी को प्रधान मानते हुए तत्तद् भूप्रदेशों की व्यवस्था की है, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। इस त्रिलोकी का स्वरूप बतलावें, इससे पहिले **'प्राङ्मेरु'** का परिचय करा देना आवश्यक होगा। वर्त्तमान में यह स्थान **'पामीर'** नाम से प्रसिद्ध है। **'पामीर'** शब्द **'प्रागमेरु'** का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। वर्त्तमान भौगोलिक इसी **'पामीर'** को **विश्वपर्वतों** का निर्गमस्थान मानते हैं। यह संसार में सबसे **विशद–उच्च–पठार ( पथरीला ऊँचा मैदान )** है। आज के सिद्धान्त के अनुसार भी यह पामीर–**भारतवर्ष, तिब्बत, चीन, रूस, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान** आदि महाभूप्रदेशों का केन्द्र है। **पामीर से दक्षिण में भारतवर्ष है। पूर्व में तिब्बत है। उत्तरपूर्व में चीन है। उत्तर में रूस है। पश्चिम में 'तातार' नाम से प्रसिद्ध तुर्किस्तान है। एवं दक्षिण पश्चिम में अफगानिस्तान है।** इस संस्थाक्रम से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि, आज के भौगोलिक भी **'एशियायीखण्ड'** में **'पामीर'** को सब प्रकार से प्रधानता दे रहे हैं। सर्वप्रधान पामीर नाम से प्रसिद्ध यह प्राङ्मेरु ही हमारे पौराणिक–त्रैलोक्य का मूलाधार है।

पूर्वयुग में यही स्थान मेरु था, अतएव यह **'प्राङ्मेरु'** नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्राङ्मेरु **'तुरुष्क–राज्य' ( तुर्किस्तान–तातार--तारतर--टारटरी** आदि विविध नामों से प्रसिद्ध ) के उत्तर में प्रतिष्ठित होता हुआ आज **'पामीर'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है। इसे हम मेरु के सम्बन्ध से **'उपमेरु'** भी कह सकते हैं। अथवा पक्षान्तर से पामीर को ही प्रधानरूपेण **'मेरुप्रदेश'** समझिए। कारण यही है कि, प्रधान मेरु ध्रुव का अधःप्रदेश है। वहाँ केवल मेरु बिन्दुमात्र से ही स्वस्वरूप प्रतिष्ठित रखता है। अर्थात् भूप्रदेश की दृष्टि से वह मेरुबिन्दु नहीं के समान हीं है। वहाँ सौरप्रकाश अत्यल्पमात्रा में नहीं के समान ही पहुँचता है। इधर पामीरदेश शतयोजन विस्तृत है। अतः **'मेरु'** शब्द से प्रायः पुराण ने इसी को प्रधानता दी है। वस्तुतस्तु–**इलावृतवर्षावच्छिन्न मेरु,** और **तुरुष्कराज्य-समीपवर्त्ती प्राग्मेरु** में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसे **मेरु** कह सकते हैं, उसे **प्राग्मेरु** कह सकते हैं। क्योंकि पुराणोंने इलावृतवर्ष का विस्तार २४ हजार योजन माना है। ऐसी अवस्था में उस प्रदेश की व्याप्ति पामीर पर्य्यन्त मान लेने में कोई क्षति नहीं होती। यद्यपि है–पामीर **उपमेरु,** परन्तु **'तद्ग्रहणन्याय'** से इसका **'मेरु'** शब्द से भी ग्रहण किया जा-सकता है।

**'मेरु'** शब्द का अर्थ है–**'सर्वोच्चभाव'**। इधर पामीर हिमालय आदि के कारण सर्वोच्च न होता हुआ भी **'अत्युच्च'** अवश्य है। अतः इसे **'मेरु'** शब्द से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं होती। यह पामीरप्रदेश समुद्रपृष्ठ से अनुमानत ८००० हाथ अवश्य ऊँचा है। पृथिवी में सर्वाधिक उच्च यदि कोई देश है, तो पामीर। इसी उन्नतभाव को प्रधान मान कर इसे **'तारतर'** नाम से व्यवहृत किया गया है। यही अपभ्रंशरूप में परिणत होता हुआ **'तातार'** नाम से प्रसिद्ध होगया है। यही पाश्चात्यों के विशुद्ध उच्चारण की कृपा से **'टारटरी'** कहलाने लग गया है। यहाँतक **तुरुष्कराज्य** का प्रसार था, अतएव पामीर–वाचक तारतर शब्द इस **तुरुष्क ( तुर्किस्तान )** राज्य के साथ भी समन्वित होगया है। तुर्किस्तानी मनुष्यों

को 'तातारी' कहा जाता है। राजशासन के भेद से पूर्वी तुर्किस्तान, पश्चिमी तुर्किस्तान, भेद से तुरुष्कदेश आज दो भागों में विभक्त देखा जाता है। इनमें पश्चिम तुरुष्क तो तुर्किस्तान के ही आधीन है। पूर्वी तुर्किस्तान चीनराज्य में अन्तर्भूत है। ये ही दोनों विभाग क्रमशः भारत की उत्तर सीमा बनते हैं। पूर्वीय-भारत की सीमा पूर्वीय-तुर्किस्तान है, एवं पश्चिम भारत की उत्तर सीमा पश्चिमी-तुर्किस्तान है, जैसाकि आगे के 'सीमाप्रकरण' में स्पष्ट हो जायगा।

सर्वोच्चतम मेरु का ( पामीर का ) पृष्ठ भाग ही 'सुमेरुच्चांशककुरु' नाम से प्रसिद्ध है। जैसाकि हम पूर्व में कह आए हैं, पुराण ने मेरुशब्द से प्रायः 'प्राग्मेरु' का ही ग्रहण किया है। तात्कालिक-इलावृत-वर्ष के केन्द्रभूत मुख्य सुमेरु से यह प्राग्मेरु ( पामीर ) लगभग ३० अंश दक्षिण पूर्वापररूप से स्थित है। इस अनुपात से निरक्षदेश से पामीर अनुमानतः ६० अंश उत्तर की ओर स्थित मानना पड़ता है।

इसी पामीर की उच्चतम चट्टान से चारों ओर चार नदियाँ प्रवाहित हुई हैं। पूर्व की ओर बहने वाली नदी--'सीता' नाम से प्रसिद्ध है। इसी को चीनीभाषा में 'ह्वाङ्ह्यू' कहा जाता है। यह आगे जाकर 'ह्वाङ्ह्यू-याङ्सी-मेकाङ्ग' नाम से व्यवहृत होती हुई तीन शाखाओं में परिणत होती हुई क्रमशः पीतसमुद्र, एवं चीनसमुद्र में मिल जातीं हैं। आदि की दो नदियाँ यलोसी ( पीतसमुद्र ) में मिलती है, शेष चीन-समुद्र में लीन होती है। पामीर के उत्तर भाग से 'भद्रा' नदी निकलती है। सीता पूर्ववाहिनी थी, एवं भद्रा उत्तरवाहिनी है। यही भद्रा पुराणों में--१-भद्रा-२-सोमा-३-भद्रसोमा, इन तीन नामों से प्रसिद्ध हुई है। यह उत्तर समुद्र में मिलती है। इसके भी सीतावत् तीन हीं स्रोत हैं। ये तीनों स्रोत वर्त्तमान में 'ओवी' 'लीता' 'इतीसी' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें लीनीस्रोत ईशानदिकस्थ सौवीरराष्ट्र की ओर जाता हुआ उत्तरसमुद्र में मिलता है। पामीर के पश्चिम प्रदेश से 'यक्षु' नाम की नदी निकलती है। यह पश्चिमवाहिनी नदी है। यह नदी वेद में 'यक्षु' नाम से प्रसिद्ध है। पुराण में यही 'चक्षु' रूप में परिणत हो गई है संशोधकों की कृपा से। पाश्चात्यभाषा में यही 'एक्सस्' नाम से प्रसिद्ध है। अवश्य ही एक्सस् शब्द यक्षु का ही अपभ्रंश होगा। भुवनकोश के ज्ञाता पौराणिकोंने जम्बुवृक्ष के सम्बन्ध से इसी यक्षु को 'जम्बु' नाम से व्यवहृत किया है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जा चुका है। यही यवनभाषा में 'जैहूँ' 'अमू' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यह नदी 'काश्पीएन्सी' ( समुद्र ) में मिलती है। चौथी है भारतवर्ष को कृतकृतकृत्य, एवं धन्य बनाने वाली, दक्षिण समुद्र में लीन होने वाली दक्षिणवाहिनी 'अलकनन्दा'।

उपर्युक्त सीता, भद्रसोमा, चक्षु, अलकनन्दा, इन चारों नदियों की समष्टि ही पुराण में-'चतुर्गङ्गम्' नाम से व्यवहृत हुई है। 'गङ्गा' शब्द बहने वाले पानी मात्र का वाचक है। ऐसी अवस्था में केवल 'भागीरथी' ही क्यों 'गङ्गा' नाम से प्रसिद्ध हुई ?, इसके लिए छान्दोग्योपनिषद्-हिन्दीविज्ञानभाष्य के द्वितीय प्रपाठक में निरूपित 'वृष्टिसामप्रकरण' ही द्रष्टव्य है। गङ्गा-महानदी-शाखानदी-क्षुद्रा-कुल्या भेद से नदियाँ पाँच भागों में विभक्त हैं। अतिदीर्घा, साक्षाद्रूप से समुद्र में मिलने वाली नदी 'गङ्गा' कहलाती है। गङ्गा से अनुगत शतयोजन से अधिक विस्तार वाली नदी 'महानदी' कहलाती है। सहायक नदियाँ उपनदी, शाखानदी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। वर्षा में प्रवाहित होने वाली, एवं अन्यकाल में सूख जाने वाली नदियाँ 'क्षुद्र' हैं। कृषि आदि की सुविधा के लिए निर्मित कृत्रिम नदियाँ 'कुल्या' नाम से व्यवहृत होतीं हैं। इस पुराणपरिभाषा के अनुसार साक्षाद्रूप से समुद्र में लीन होने वाली उपर्युक्त चारों नदियों के लिए अवश्य ही 'चतुर्गङ्गम्' कहा जासकता है।

इन चारों में दक्षिणवाहिनी **'अलकनन्दा'** ही आगे जाकर सात शाखाओं में परिणत होती हुई पुराण में **'सप्तगङ्गम्'** नाम से व्यवहृत हुई है। अथवा यों कह लीजिए कि, पामीर से दक्षिण की ओर प्रवाहित होने वाली इस अलकनन्दा में हिमालय की **अधित्यकाभूमि** में सात सहायक नदियाँ और संयुक्त होतीं हैं। ये सातों नदियाँ **'वसोर्धारा, सरस्वती, विष्णुपाताली, गरुडा ( गरुडगङ्गा ), नन्दा, कर्णा, मन्दाकिनी'** इन नामों से व्यवहृत हुईं हैं। इन सातों में **मन्दाकिनी ही अलकनन्दा के सौभाग्य का सर्वश्रेष्ठ बनाती है**। पारमेष्ठ्य पवित्र सोमावतार का सम्बन्ध मन्दाकिनी से ही होता है। **तद्युक्ता अलकनन्दा ही कलिकल्मषहारिणी जगदुद्धारिणी भगवती भागीरथी नाम की त्रिपथगा गङ्गा है**। भगीरथ के प्रयास से हिमाचल दुर्ग से निकली हुई यह माता भागीरथी सर्वप्रथम हरिद्वार के **'ब्रह्मकुण्ड'** में भूतल से स्पर्श कर श्रद्धालुओं को धन्य बनाती हुई, कलकलनादरूप अपने अट्टाट्टहास से **'स्वर्गश्री'** का भी उपहास करती हुई आज भी उसी रूप से प्रवाहित होरही है। विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जारहा है, अतः प्राग्मेरुस्वरूपप्रकरण को यहीं उपरत कर तन्मूला त्रिलोकी–व्यवस्था की ओर ही पाठकों ध्यान आकर्षित किया जाता है।

निरक्षदेश से आरम्भ कर ३२ अक्षांश पर्य्यन्त ( उत्तर की ओर ) का भूप्रदेश **पृथिवीलोक** समझिए। यही पृथिवीलोक **भारताग्नि** के अधिकार में रहता हुआ **'भारतवर्ष'** नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी को **मर्त्यलोक, मानुषलोक, भूलोक,** आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया। वर्त्तमान अनुपात से निरक्षदेश से लगभग ३२ अक्षांश पर **'शिवालक'** नाम से एक पर्वत प्रसिद्ध है। यहीं से **'रावी'** नाम की प्रसिद्ध नदी निकली है। यही **'इरावती'** नाम से व्यवहृत हुई इसे ही है। इसे ही भारतवर्ष की उत्तर सीमा समझिए। यहाँ के सम्राट् भगवान् मनु के सम्बन्ध से ही भारतीय प्रजा **'मनुष्य'** नाम से प्रसिद्ध हुई। मनुष्यप्रजा को ठीक मार्ग पर चलाने के लिए, प्रकृतिसिद्धा नित्या वर्णसृष्टि के आधार पर ही वर्णाश्रमधर्म्ममूलक **मानवधर्म्मशास्त्र** की रचना हुई। स्वर्गाधिपति स्वाराट् इन्द्र की ओर से भारतवर्ष के शवसोनपात् अग्नि थे। अतएव यह भारतवर्ष पुराणों में **'अग्निलोक'** नाम से प्रसिद्ध हुआ प्राग्मेरु से दक्षिण **शर्य्यणावत** से उत्तर का सम्पूर्ण भूभाग अन्तरिक्षलोक था। यहाँ–**विद्याधर, सिद्ध, गन्धर्व, अप्सर, किन्नर** आदि तिर्य्यक् जातियाँ रहतीं थीं। सुप्रसिद्ध **वैभ्राजवन, चैत्ररथवन, उमावन, स्कन्दवन,** आदि इन देवयोनियों की विहार भूमियाँ थी। यहाँ के शवसोनपात् **वायु** थे। अतएव यह लोक पुराणों में **'वायुलोक'** नामसे प्रसिद्ध हुआ है। इससे आगे का सम्पूर्ण प्रदेश **'स्वर्ग'** स्थान था। यहाँ के अधिपति स्वयं **इन्द्र** थे।

प्रकारान्तर से समझिए—दक्षिणसमुद्र से आरम्भ कर हिमालय पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश **अग्निलोक** था, यही **भारतवर्ष** था। हिमालय–समीपस्थ **'अलतायीगिरि'** से आरम्भ कर उत्तरसमुद्रान्त सम्पूर्ण प्रदेश **ऐन्द्रलोक** था। हिमालय, एवं अलतायीपर्वत के मध्य का भाग **वायुलोक** था। अग्निलोक जैसे भारतवर्ष कहलाता था, एवं आज भी कहलाता है, एवमेव ऐन्द्रलोक पुराणसमय में **'ऐरावतवर्ष'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भारतीय प्रजा जैसे **'मनुष्य'** नाम से प्रसिद्ध थी, तथैव वायव्यप्रजा **'मरुत्'** नाम से, एवं ऐन्द्री प्रजा **'देव'** नाम से प्रसिद्ध थी।

अक्षांशों के अनुपात से समन्वय कीजिए। ३३–से आरम्भ कर ४३ उत्तरी अक्षांश पर हिमालय की उत्तर–सीमा है। यहाँ से ९० पर मेरु की उत्तर सीमा है। इस विभाग से भी त्रैलोक्य-व्यवस्था ठीक व्यव–

स्थित होजाती है। इन तीनों लोकों में से **अन्तरिक्ष, और द्युलोक,** इन को तो थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। क्योंकि असुरों की कृपा से त्रैलोक्य-व्यवस्था आज नष्ट होचुकी है। अत: शेशभूत केवल भारतवर्षरूप पृथिवीलोक को ही लक्ष्य बनाइए। आज हमारे स्वत्वाधिकार में प्रजापति के द्वारा दायविभाग में प्राप्त महा–भूप्रदेश का एक थोड़ासा (आधा) भाग ही शेष रहा है, और वह भी दुर्भाग्यवश खण्ड खण्ड रूपमें परिणत होगया है, किंवा स्वय हमनें अपनी भावुकता से ही अपने शेषभूत स्वल्पतम इस स्वत्वाधिकार को भी विस्मृत कर लिया है। वह भी इन राज्यव्यवस्थामूलक स्वार्थमय वर्त्तमान भूगोल–सिद्धान्तों के कारण चारों ओर से क्षत विक्षत होकर आज अपनी सन्तति की हीनवीर्य्यता पर अश्रुपात ही कर रहा है। देखिए अपने भारतवर्ष का वास्तविक स्वरूप! एवं पश्चात्ताप कीजिए अपने कुकर्म्मों पर!

## भारतवर्ष का वास्तविक स्वरूप—

* **सुलेमान–हिन्दूकुश–किरथरकर,** इन तीन पर्वतों को **'हिन्दुस्तान'** की सीमा माना गया है। आज भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा सिन्धुनद बतलाई जाती है। सिन्दुनद के सम्बन्ध से भी भारतवर्ष हिन्दु–स्थान कहलाता है। सिन्धुनद से उस पार (पश्चिम की ओर) के आदिनिवासी **'पारसी' 'सकार'** का **'हकाररूप'** से उच्चारण किया करते हैं। उन्हीं के व्यवहार की प्रधानता से सिन्धुनदोपलक्षित, अतएव 'सिन्धुस्थान' नाम से व्यवहार करने योग्य भारतवर्ष आज 'हिन्दुस्थान' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, ऐसी मान्यता है कुछ एक महानुभावों की, जिस से यद्यपि हम सहमत नहीं है *। तदपि अभ्युगमवाद से इस नाम–व्यवहार में हम कोई आपत्ति नहीं कर रहे। आपत्ति है **भारतवर्ष,** और **हिन्दुस्थान** शब्द को परस्पर पर्य्याय मानने में। **भारतवर्ष हिन्दुस्थान होसकता है।** किन्तु **हिन्दुस्थान** कदापि **भारतवर्ष नहीं हो-सकता।** दोनों में **व्याप्य–व्यापकभाव-सम्बन्ध** है। भारतवर्ष के आधे प्रदेश का नाम, आधे से भी न्यून प्रदेश का नाम हिन्दुस्थान है। सिन्धुनद हिन्दुस्थान की सीमा होसकती है, किन्तु सिन्धु को भारत की पश्चिम सीमा मानना हमारे ऐतिहासिक-भौगोलिक सिद्धान्तों को देखते हुए सर्वथा ही अशुद्ध है। कैसे अशुद्ध है ?, इस प्रश्न के लिए दो चार ऐतिहाहिक भौगोलिक कारण आप के सम्मुख रक्खे जारहे हैं।

पूर्व में **'पाद्मभुवनकोश'** का निरूपण करते हुए हमने प्रधानरूप से दृश्य–उत्तरी–गोलार्द्ध के **भारतवर्ष, केतुमालवर्ष, भद्राश्ववर्ष, कुरुवर्ष, ये पद्मपत्ररूप** चार वर्ष बतलाए हैं। प्रत्येक वर्ष ९०–९० अंश का है। इस विभाग के अनुसार भारतवर्ष भी ९० अंश का ही प्राप्त होता है। **पूर्वापर ९० अंश–त्मक प्रदेश भारतवर्ष** है। इससे पूर्व ९० अंशात्मक प्रदेश **भद्राश्ववर्ष** है। इससे पूर्व ९० अंशात्मक प्रदेश **कुरुवर्ष** है। इससे पूर्व ९० अंशात्मक प्रदेश **केतुमालवर्ष** है। भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा **केतु–मालवर्ष** से संयुक्त है, एवं पूर्वीसीमा **भद्राश्ववर्ष** से संलग्न है। इधर भारतवर्ष की मध्यरेखा उज्जैन मानी

---

* जहाँ इन पर्वतों का सन्धिभाग है, वहीं सुप्रसिद्ध **'खैबर'** का दर्रा है। यहीं सुप्रसिद्ध **कुभा (काबुल)** नाम की नदी प्रवाहित है।

गई है । यहाँ से ४५ अक्षांश पूर्व एवं ४५ अक्षांश पश्चिम-यह ९० अंश का भारतवर्ष मानना पड़ता है । हमारा **पाद्मभुवनकोश** जब भारतवर्ष को ९० अंश का बतलाता है, तो फिर कोई कारण नहीं, हम दूसरों के कल्पित **मान** का आदर करें । हमें हमारा देश ९० अंश का चाहिए । चाहे फिर उसकी सीमा सिन्धु हो, अथवा और भी समीप हो । ९० अंश नाप कर हमारे लिए पृथक् रख दीजिए । वही हमारा प्रातिस्विक ( निजी ) भाग होगा । उसे दूसरे अपने अधिकार में करलें, यह हमारे लिए असह्य होगा । हमें दूसरों का लेना नहीं है, तो अपना भाग छोड़ना भी नहीं है । हाँ, तो इन अंशों को सम्मुख रखते हुए **'भारतवर्ष'** की सीमा का विचार कीजिए ।

उज्जैन से ४५ अंश ठीक पश्चिम **रक्तसमुद्र ( रेड्सी )** है । इस रक्तसमुद्र से उत्तर-पश्चिम समीप ही **'महीसागर' (मेडिट्रे नियेन्सी)** है । इस व्यवहार का कारण यही है कि, **'मही'** पृथिवी को कहते । इधर पूर्वप्रतिपादित भौमत्रिलोकी–व्यवस्था के अनुसार भारतवर्ष **पृथिवीलोक,** किंवा **महीलोक** माना जाता है । **इस महीलोकरूप भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा पर उपर्युक्त** समुद्र **है** । यह **'मही'** की पश्चिमी-सीमा का विभाजक है, अतएव इसे अवश्य ही **'महीसागर'** नामसे व्यवहृत करना उचित है । उपर्युक्त रक्त-समुद्र १५०० मील लम्बा है । यह समुद्र दक्षिण अफ्रीका की पूर्वी सीमा है । आज के अनुपात से अनुमानतः **अर्बस्तान--अफ्रीका,** दोनों के मध्य में रक्तसमुद्र है । मेडिट्रेनियेन्सी, और रेड्सी, दोनों के मध्य में पहिले **'स्वेज'** नाम का लगभग १०० मील चौड़ा भूप्रदेश था । **अफ्रीका--और--अरब,** दोनों देशों का व्यापार-सम्बन्ध इसी मार्गसे होता था । आज इस स्वेज पर 'नहर' बना कर रेड्सी–मेडिट्रेनियेन्सी को मिला दिया गया है । यही सुप्रसिद्ध **'स्वेजकनाल'** नाम की वह नहर है, जो आज वणिक्तन्त्रों की संघर्षसीमा प्रमाणित होरही है ।

**'महीसागर'** ग्रीनवीच से अनुमानतः ३१ पूर्वीय देशान्तर पर स्थित है । इसी महीसागर में **'नील-नदी'** नाम की सुप्रसिद्ध नदी का सङ्गम होता है । कुछ समय पूर्व **'इटली'** की कृपा से अपनी स्वतन्त्रता खोते हुए हतभाग्य **'अबीसीनिया'** के सुप्रसिद्ध **'ह्रस'** नाम के पहाड़ से इस नीलनदी का निर्गम होता है । इस नदी की लम्बाई लगभग ३५०० मील है । नीलनदीसङ्गम-स्थानीय **महीसागर,** किंवा रेड्सी ही भारतवर्ष की **पश्चिमसीमा** है । अर्थात् जहाँ से आज अर्बस्थान का आरम्भ माना जाता है, वहीं से भारतवर्ष का आरम्भ समझिए । यह तो हुआ पश्चिमी–सीमा का विचार, अब चलिए पूर्वी सीमा की ओर ।

उज्जैन से ४५ अंश पूर्व आप को चलना है । क्योंकि तभी ९० अंश की पूर्ति होसकेगी । यहाँ से ( भारतीय प्रथममध्याह्नरेखा से ) ४५ अंश पूर्व **पीतसमुद्र** ( यलोसी ) है । इस को हम **चीनसमुद्र** भी कह सकते हैं । यहीं **फारमूसाद्वीप** से उपलक्षित **'प्रशान्तमहासागर'** है । यही भारतवर्ष की **पूर्वी सीमा** है । दक्षिणसीमा **दक्षिणसमुद्र** है, एवं उत्तरसीमा **तुरुष्कदेश** है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है । **चतुःसीम इस भारतवर्ष में कितने देश आते हैं ?, कौन कौन हमारे देश के अवयव हैं ?,** जब इन प्रश्नों का विचार किया जाता है, तो आत्मा कम्पित होजाता है । आज भारतवर्ष अपने आलस्य से कर्मशून्य बनता हुआ विभूतिमय अपने सम्पूर्ण देशों को अपने हाथ से ही खोचुका है । दृश्य–उत्तरीगोलार्द्ध के देश–विभागों से आप को अनुमान होगा कि, चतुर्द्धा विभक्त वर्षों में किन किन देशों का समावेश है । चलिए ! एक बार सम्पूर्ण दृश्य--गोलार्द्ध की परिक्रमा लगा आवें ।

**अर्बस्थान** से, किंवा **रेड्सी** से **एशियाखण्ड** का आरम्भ होता है । एवं **'अलास्का'** नाम के अमेरिका के उत्तरभाग पर एशियाखण्ड की समाप्ति होती है । **यह एशिया ही हमारा भौमत्रैलोक्य है ।** इस के भारतवर्षात्मक ६० अंश के प्रदेश में निम्नलिखित देश अन्तर्भुक्त हैं । आज के एट्लस के अनुपात से विचार कीजिए *।

**एशिया का आरम्भदेश अर्बस्थान है । आगे मयसोपोटेमिया, जूड़िया, एशियामाइनर, ईरान, अफगानिस्तान** हैं । इतने देश भारतवर्ष से पश्चिम में माने जाते हैं । **बर्म्मा, चीन, श्याम, अनाम, कम्बोडिया** आदि प्रान्त पूर्व में माने जाते हैं । **तिब्बत, तुर्किस्तान, रूस, मँगोलिया** आदि भारत से उत्तर में माने जाते हैं । ये सब एशियायी देश ६० अंशात्मक भूखण्ड में अन्तर्भुक्त हैं । हमारे भुवनकोश के अनुपात से इन सब का भारतवर्ष में हीं अन्तर्भाव है । इस के अनन्तर प्रशान्तमहासागर--किंवा पीत--**समुद्र (यसोली)** से आगे का ६० अंशात्मक प्रदेश **भद्राश्ववर्ष** है । इस में **मंचूरिया, जापान, पूर्वीरूस, अलास्का** नाम से प्रसिद्ध अमेरिका का अंशात्मक उत्तरीभाग आदि प्रदेश हैं । यहीं एशियाखण्ड की समाप्ति है । तीसरे ६० अंशात्मक खण्ड की ओर क्रमशः आगे बढ़िए । **यूनाइटेड्स्टेट अमेरिका ( संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, ) कनाड़ा, मध्य अमेरिका, मेक्सिको, दक्षिण अमेरिका का पश्चिमी अर्द्धभाग का आंशिकभाग**, आदि प्रदेश इस तीसरे भूखण्ड में हैं । यही खण्ड **'कुरुवर्ष'** नाम से प्रसिद्ध है । आगे के ६० अंशात्मक चौथे भूखण्ड में---**दक्षिणी अमेरिका का पश्चिमी अर्द्धभाग का आंशिकभाग, ग्रीन--लेन्ड, सम्पूर्ण योरोप, 'सहारा' नामका सुप्रसिद्ध मरुस्थल, मिश्र**, आदि देश हैं । मिश्र के समीप ही **मेडिट्रेनियेन्सी** आगया है । यही हमारे भारतवर्ष की पश्चिम सीमा मानी गई है । मिश्रोपलक्षित मेडिट्रे-नीयेन्सी पर भारतवर्ष केतुमालवर्ष की पश्चिमी-पूर्वी सीमाओं का सम्मेलन होरहा है । यह तो हुई दृश्य उत्तरी गोलार्द्ध की कथा । अब चलिए अदृश्य दक्षिणी गोलार्द्ध की ओर ।

इसमें--**दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेन्ड, दक्षिणध्रुव प्रदेशस्थ अतिसुप्रसिद्ध एन्टार्टिका महाद्वीप** आदि प्रदेश हैं । यह कहा जाचुका है कि, जहाँ केतुमालवर्षान्तर्गत सम्पूर्ण योरोप का क्षेत्रफल ३८ लाख वर्गमील है, वहाँ अदृश्य दक्षिणीगोलार्द्ध के दक्षिणध्रुवसमीपस्थ **'एन्टार्टिक'** द्वीप का क्षेत्रफल ५० लाख वर्गमील है ।

यद्यपि विष्वद्रेखा की अपेक्षा दक्षिण--उत्तर दोनों गोलार्द्धों का मान ( नाप ) समान है । परन्तु भूप्रदेश की अपेक्षा से यदि विचार किया जाता है, तो उत्तरी गोलार्द्ध में भूभाग अधिक उपलब्ध होता है, एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में जलभाग अधिक उपलब्ध होता है । वर्तमान परिभाण के अनुसार दोनों का $\frac{1}{3}$ [ एक बटा तीन ] सम्बन्ध है । अर्थात् उत्तरी गोलार्द्ध के भूभाग की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध का भूभाग एक तृतीयांश [ एक तिहाई हिस्सा ] है । यही मानव्यवस्था **एशिया**, और शेष दृश्य उत्तरी गोलार्द्ध के सम्बन्ध में समझिए । दृश्यभाग में एशिया भूप्रदेश इतर भूप्रदेशों की अपेक्षा एक तिहाई है । यद्यपि वर्षविभागानुसार **भारतवर्ष**, और **भद्राश्ववर्ष** दो वर्ष [ ठीक १८० अंशात्मक दृश्य प्रदेश ] आजाते हैं ।

---

*भावुकतापूर्ण देशविभाजन से एट्लस का यह क्रम भी आज परिवर्त्तित होगया है ।

शेष दृश्यभाग में कुरुवर्ष, केतुमालवर्ष, ये दो ही वर्ष बचते हैं। फिर भी क्षेत्रफल की अपेक्षा से इनके वर्गमील त्रिगुणित हैं। इस व्यवस्था से बतलाना यही है कि, दृश्य गोलार्द्ध का केवल एशिया–खण्ड दायविभागकाल में ब्रह्मा के द्वारा देवताओं को मिला था, एवं इतर सम्पूर्ण दृश्य (सम्पूर्ण केतुमालवर्ष एवं कुरुवर्ष ), अदृश्य-दक्षीणी-गोलार्द्ध असुरों को दायरूप से मिला था। कहना न होगा कि, देवताओं की अपेक्षा असुरों को कहीं अधिक भूभाग मिला था। फिर भी दुष्टबुद्धि असुर उसी स्वेजप्रदेश से आकर आक्रमण किया करते थे। उपर्युक्त निदर्शन से प्रकृत में हमे केवल यही बतलाना है कि, 'भारतीय भुवनकोश' के अनुसार भारतवर्ष ६० अंश का है। यह सीमा अरब से आरम्भ होकर चीनसमुद्र, किंवा प्रशान्तमहासागर पर समाप्त होती है। अरब, मयसोपोटेमिया, जूडिया, एशियामाइनर, ईरान, अफगानिस्तान, तिब्बत, तुर्किस्तान, चीन मँगोलिया, श्याम, बर्म्मा अनाम, कम्बोडिया, आदि सब मिलाकर एक भारतवर्ष है। पश्चिम लोहिताम्बोधि, ( रक्तसमुद्र ) से आरम्भ पूर्वी–पीत–समुद्र पर्य्यन्त का स पूर्ण प्रदेश एक भारतवर्ष है। तभी तो भगवान् मनु का निम्नलिखित कथन चरितार्थ होता है–

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

—मनुः २।२२।

आप प्रश्न करेंगे कि, जब भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा रेड्सी था, तो फिर क्या कारण हुआ कि, आगे चल कर सिन्धुनद् को आर्य्यावर्त्त की सीमा मान लिया गया ?।

"आ हिमवत, आ च कुमार्य्याः सिन्धुर्वैतरिणी नदी। सूर्य्यस्योदयनं पुरः। यावद्वा कृष्णमृगो विचरति, तावद् ब्रह्मवर्चसम्"

उक्त सिद्धान्त के अनुसार सिन्धु को आर्य्यावत की सीमा माना गया है। इस का क्या कारण ?। इसके उत्तर में हमें आपका ध्यान वारुणब्राह्मणों, एवं ऐन्द्रब्राह्मणों में होने वाली स्पर्द्धा की ओर ही आकर्षित करना पड़ेगा। ऋत्राश्वऋषि के दौहित्र सुप्रसिद्ध पारसीधर्म के प्रवर्त्तक जरथुस्त्र महाभाग के कारण भारतीय ब्राह्मणों में 'विधवा--परिणय' जैसे वारुण प्रश्न को लेकर दो वर्ग होगए। कुछ ब्राह्मणोंनें बाह्लीक ( वर्त्तमान में 'बलख' नाम से प्रसिद्ध ) में रहनेवाले वरुण का पक्ष लिया, कुछ ने इन्द्र का आश्रय लिया। वारुण--ब्राह्मणों का कहना था कि, विधवाविवाह् में कोई हानि नहीं है। उधर ऐन्द्रब्राह्मण कहते थे कि, "विवाह में कन्यादान का विधान है। जब एकबार मातापिता के द्वारा स्वसत्त्वनिवृत्ति--परसत्त्वस्थापनलक्षणा दान-पद्धति से कन्या का दान कर दिया गया, एवं दानोत्तर जब कन्या का कन्यात्त्व नष्ट होचुका, तो-ऐसी अवस्था में प्रथम पति के प्रयाणानन्तर कौन उसका दान करे ?। साथ ही कन्याभाव के न रहने से कन्यादान-लक्षण विवाह् कैसे सम्भव हो ?। इसलिए 'विधवाविवाह्' शब्द् ही असङ्गत है"। इस कलहने आगे जाकर बड़ा भीषणरूप धारण किया। इसे शान्त करने के लिए--एशियामाइनर के समीपस्थ काश्पीयन्सी पर रहने--वाले कश्यपप्रजापतिने सिन्धुनद् को सीमा मानते हुए भारतवर्ष के दो खण्ड कर दिए। ये ही दोनों खण्ड आगे जाकर पूर्वी भारतवर्ष, पश्चिमी भारतवर्ष, नाम से प्रसिद्ध हुए। पूर्वी भारतवर्ष इन्द्र के अधिकार

में रहा, एवं पश्चिमी भारतवर्ष वरुण की सत्ता में रहा। ऐन्द्रब्राह्मण पूर्वीभारत में रहते हुए वेद--धर्म्म का अनुपालन करने लगे। एवं वारुणब्राह्मण पश्चिमी भारत में रहते हुए जरथुस्त्र के द्वारा प्रवर्त्तित जन्दावस्ता ( छन्दोभ्यस्ता ) मूलक नवीन धर्म्म में दीक्षित हुए। पूर्वी भारत आर्य्यावर्त्त कहलाया, एवं पश्चिमी भारत 'आर्य्यायण' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही 'आर्य्यायण' शब्द आज 'ईरान' रूप में परिणत होगया है। अभी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ वक्तव्य था। परन्तु विस्तारभय से अधिक न कह कर प्रकरणसङ्गति के लिए अन्त में केवल यही कह दिया जाता है कि, इस द्वैध का कारण ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा मात्र थी। सिन्धु के इस ओर का स्थान 'हिन्दुस्थान' कहलाया। एवं सिन्धु के उस पार का स्थान 'पारस्थान' कहलाया। जब पारस्थानरूप आर्य्यायण में असुरों का आक्रमण हुआ, तो तत्र निवासी कितने हीं मारे गए। जो बचे, उन्होंनें पूर्वीभारत में ( हिन्दुस्थान में ) आकर शरण ली। वही जाति आज भी 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध है। यह जाति हमारे भ्रातृभाव से सम्बद्ध है। इसप्रकार हिन्दुस्थान--पारस्थान में भेद होसकता है, परन्तु 'भारतवर्ष' दोनों को मिला कर एक है। दूसरे शब्दों में आधा ( पूर्वी ) भारतवर्ष आर्य्यावर्त्त, किंवा हिन्दुस्थान है। एवं आधा ( पश्चिमी ) भारतवर्ष 'आर्य्यायण', किंवा 'पारस्थान' है। यद्यपि आज केवल 'ईरानमात्र' को पारस्थान कहा जाता है। परन्तु वस्तुतः सिन्धुनद से आरम्भ कर लोहितसमुद्र पर्य्यन्त सम्पूर्ण स्थान 'पारस्थान' है।

रक्तसमुद्र से पूर्व, सिन्धुनद से पश्चिम, अराल, एवं काश्पीयन्सी समुद्र से दक्षिण के जितने भी प्रदेश हैं--वे सभी पुरातन--पाश्चात्यभाषा में ओरियन्स ( Oriens ) नाम से व्यवहृत हुए हैं। यह शब्द प्रत्यक्ष में 'आर्य्यवंश' शब्द का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। इस से भी पश्चिम भारत को हम आर्य्यों की ही प्रातिस्विक भूमि मान सकते है।

वेद में एक पश्चिमवाहिनी नदी 'सरयु' नाम से प्रसिद्ध है। 'मार्गियाना' प्रान्त से नीचे की ओर, एवं हिन्दुकुश के दक्षिण भाग से निकल कर-शरोफिरवंत के पश्चिम भाग से संलग्न होकर यह नदी वह रही है। इस नदी का दक्षिणप्रान्त 'एरियान्त' नाम से व्यवहृत हुआ है। यह भी आर्य्य निवास का ही द्योतक शब्द है। 'एरियाना' प्रान्त से पूर्व, एवं सुलेमानपर्वत से पश्चिम का प्रान्त पाश्चात्यों के द्वारा 'इण्डिया' नाम से व्यवहृत हुआ है। यह व्यवहार भी इस भूभाग का आर्य्यवासित्व ही प्रमाणित कर रहा है। इधर स्वयं ऋग्वेदने सरयु के इधर के प्रान्त को, एवं उस ओर के पश्चिम-प्रान्त को, दोनों को 'आर्य्य' शब्द से ही व्यवहृत किया है। देखिए !

**"उतत्त्या सद्य आर्य्या सरयोरिन्द्रपारतः।**
**अर्णा चित्ररथावधीः"**

ऋक्संहिता—४।३०।१८

अपिच ब्रह्मपुराण के ५०वें, एवं मत्स्यपुराण के ४४ वें अध्याय में भारतीय उपद्वीपों का जो वर्णन हुआ है, इनका जो विस्तार बतलाया गयाहै, उसे देखते हुए तो यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि, भारतवर्ष निःसन्देह ९० अंश पर्य्यन्त ही अपनी व्यप्ति रखता है। पुराण कहता है--

**भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निमाशय !।**
**इन्द्रद्वीपः, कशेरुमांस्ताम्रपर्णो गभस्तिमान् ॥ १ ॥**
**नागद्वीप--स्तथा सौम्यो गान्धर्वस्त्वथ वारुणः ।**
**अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसङ्गमः ॥ २ ॥**

इन द्वीपों का विस्तृत वर्णन करने का प्रकृत में अवसर नहीं हैं । यहाँ केवल उनके नाम, एवं अप-भ्रंशों का उल्लेख मात्र कर इस सीमाप्रकरण को उपरत किया जारहा है । जिस समय हम पुराणों में **इन्द्रद्वीप, नागद्वीप, सौम्यद्वीप, गान्धर्वद्वीप,** आदि भारतीय उपद्वीपों का वर्णन पढ़ते हैं, जिस समय हम इन उपद्वीपों के नामों पर विचार करते हैं, एवं जिस समय हम वर्त्तमान भौगोलिकों के रक्खे हुए इन उपद्वीपों के साथ अपने पौराणिक नामों की तुलना करते हैं, तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है । आगे की तालिका से आप देखेंगे कि, वर्त्तमान भूगोल में बतालाए गए उपद्वीपों के नाम हमारे पौराणिक-नामों के अप-भ्रंशरूप ही हैं ।

आज भी यह **भारतीयोपद्वीपसंघ 'इण्डियनआर्किपैलैगो'** नाम से प्रसिद्ध है । अभी हमारे **'सांस्कृतिक-कोश'** में ऐसे असंख्य प्रमाण हैं, जिन के आधार पर सर्वात्मना यह प्रमाणित किया जासकता है कि, **आज का भारतवर्ष हिन्दुस्तान होसकता है, किन्तु पूरा भारतवर्ष तो पूर्व-पश्चिम-समुद्रों को ही अपनी पूर्व-पश्चिम-सीमा बना रहा है ।**

## उपद्वीपपरिलेख :—

| संख्या | नाम | पर्य्याय | भाषानाम | इंगलिशनाम |
|---|---|---|---|---|
| १ | इन्द्रद्वीप | इन्द्रद्युम्न | इन्द्रमन | एन्डमन ( कालापानी ) |
| २ | नागद्वीप | + | निकोवार | नीकोवर |
| ३ | सौम्यद्वीप | सोमत्रा | सुमात्रा | यवद्वीप–बलिद्वीप |
| ४ | गान्धर्वद्वीप | + | फिलीपायनद्वीपसंघ | लुम्बक, सुम्बाफ्लोरीन आदि से युक्त जावाद्वीपसंघ का भी इसी में समावेश है |
| ५ | वारुणद्वीप | + | बोर्निया | ब्रुनाई–ब्रूणी |
| ६ | कशेरुमान् | कसेरु | सेलेबीस | + |
| ७ | गभस्तिमान् | + | मलूका | + |
| ८ | ताम्रपर्ण | ताम्रपर्णी | टापूरावेन | सीलोन–सरन् |
| ९ | कुमारिका | कुमारी | भारतखण्ड | + |

जिस समय देवविभूतिमय भारतवर्ष हमारा था, एशियाखण्ड में त्रैलोक्यव्यवस्था थी, उसी युग से हमारे प्रकृत कथानक का आरम्भ होता है । प्रसङ्गागत देवत्रैलोक्य के सम्बन्ध में हमें भारतीय भूगोल की रूपरेखा आपके सम्मुख प्रस्तुत करनी पड़ी । क्योंकि बिना **भारतीय–भुवनकोश–परिचय** के दायविभागमूलक प्रकृत आख्यान का समन्वय कथमपि सम्भव नहीं था ।

इस **पाद्मभुवनकोशप्रकरण** को उपरत करते हुए सर्वान्त में भारतीय विद्वानों से हम यही विनम्र आनिवेदन कर देना चाहते हैं कि,जबतक आप **पुराणसाहित्य** का **विज्ञानदृष्टि** से अवलोकन न करेंगे, तबतक भारत की **मौलिक--संस्कृति की, मौलिक आदर्शों** की रक्षा कथमपि सम्भव नहीं है । ऊँचे से सिंहासन पर बैठकर धर्म्मव्याज से अज्ञ–कथावाचकों के द्वारा जबतक **पुराणकथाएँ** होतीं रहेंगीं, तबतक भारत का **सांस्कृतिक–अभ्युदय** असम्भव है । इसलिए भारतीय विद्वानों को शीघ्र से शीघ्र अपने **पुराणसाहित्य** को स्वाध्याय–पथानुवर्त्मा बना हीं लेना चाहिए । संसार के सम्मुख जिस दिन आप पुराण का वास्तविक स्वरूप रख देंगे, उस दिन **आर्य्यसमाजी** तो क्या, सम्पूर्ण विश्व का मानवसमाज **पुराणशास्त्र** का अनन्य भक्त बन जायगा । यदि आपने हमारे इस निवेदन की उपेक्षा की, यदि प्रचलित रूढ़ि के अनुसार ही पुराणों की कथा होती रही, तो इस '**कुकथा**' से भारतवर्ष की शेवभूता संस्कृति का भी अभिभव ही होजायगा । सर्वान्त में यह निवेदन और कर देते हैं कि, हम इंग्लिशज्ञान से शून्य होते हुए वर्त्तमान भूगोल से अपरिचित हैं । ऐसी अवस्था में पूर्व के **भूगोल–प्रकरण** में यदि कहीं भूल होगई हो, तो हमारी '**अज्ञता**' समझ कर पाठक हमें क्षमा करेंगे । **पाद्मभुवनकोश** प्रकरण उपरत हुआ । अब प्रकृत आख्यान की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

# इति–पाद्मभुवनकोशो ब्राह्मः

——*——

**देवत्रिलोकी** से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रदर्शित '**पाद्मभुवनकोश**' प्रकरण के सम्यक् अवलोकन से पाठकों को विदित हुआ होगा कि, किसी समय इस भूपिण्ड पर **देवता ( मनुष्यदेवता )**, और **असुर**, दोनों का साम्राज्य था । प्रजापति ने इन दोनों के लिए **त्रैलोक्य–व्यवस्था** नियत कर दी थी । स्वयं प्रजापति '**एशियामाइनर**' नाम से प्रसिद्ध स्थान के '**काश्पीएन्सी**' नाम के पर्वत पर निवास करते थे । **असुर**, और **देवता**, दोनों पर प्रजापति का पूर्ण अनुग्रह था । सुप्रसिद्ध '**स्वेजप्रदेश**' नामक '**स्थलमार्ग**' के द्वारा ( जहाँ पर कि आगे जाकर '**स्वेजकनाल**' नाम की '**नहर**' बना दी गई है ) अफ्रीका में निवास करने वाले असुर समय समय पर प्रजापति के दर्शन के व्याज से देवत्रिलोकी पर आक्रमण करते रहते थे । आरम्भ में देवता अपनी स्वभावसिद्धा सरलता के कारण दुष्टबुद्धि असुरों के आक्रमण की ओर से उदासीन रहे । देवताओं की इस उदासीनता से असुरोंने अनुचित लाभ उठाने के लिए **देवत्रिलोकी** पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लेना चाहा । फलतः उन्होंने चर्म्मरज्जु* से पश्चिम की ओर से भूप्रदेश को स्वसुविधानुसार

(*) भूक्षेत्र नापने की डोरी पुराकाल में चमड़े की होती थी । जिस चर्म्मरज्जु से बैलों को बाँधा जाता है, उसीसे जमीन भी नापी जाती थी । अतएव भूदेशप्रमानसाधनभूता यह रज्जु वैदिक समय में–'**औद्दणचर्म्म**' ( **बैलों को बाँधने की चमड़े की रस्सी** ) नाम से प्रसिद्ध थी ।

नापना आरम्भ कर दिया। जब देवताओं को ये समाचार विदित हुए कि, असुर यथेच्छ भूविभाग करते हुए क्रमशः पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ते हुए आ रहे हैं, तो इन्हें चिन्ता हुई। फलतः यज्ञाधिष्ठाता विष्णु को आगे कर देवता वहाँ उपस्थित हुए। एवं यज्ञ के व्याज से सम्पूर्ण एशिया में अपना अधिकार स्थापित कर इस अपने त्रैलोक्य से असुरों को बाहिर कर दिया। तभी से देवत्रैलोक्य **'यज्ञभूमि'-'देवयजनभूमि'** आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ।

आरम्भ में जो भुवनकोश **'पाद्मभुवनकोश'** नाम से प्रसिद्ध था, आगे जाकर वर्षविभागानुसार जो भुवनकोश **'वर्षभुवनकोश'** नाम से प्रसिद्ध हुआ था, वही सर्वान्त में देवताओं के इस यज्ञ के सम्बन्ध से **'यज्ञभुवनकोश'** नामसे प्रसिद्ध हुआ। **प्रकृत कथानक इसी 'यज्ञभुवनकोश' का निरूपण कर रहा है।** ध्यान रहे, असुरों का यह आक्रमण एक ही समय नहीं हुआ था, अपितु समय समय पर इसीप्रकार इनका आक्रमण होता रहता था। कभी देवता अपने बल से ही इन्हें निकाल देते थे, कभी इन्हें अन्य शक्तियों का आश्रय लेकर अपने त्रैलोक्य को इन आक्रमणों से बचाना पड़ता था। एकबार **शुम्भ-निशुम्भ** ने भी इसीप्रकार देवत्रैलोक्य पर अपना अधिकार कर लिया था। जब देवता असमर्थ हो गए, तो सञ्चित शक्तिमूर्त्ति जगदम्बा के आश्रय से देवता इन्हें नष्ट करने में समर्थ होसके। स्वयं **रहस्यग्रन्थ ( सप्तशती )** ने इस महायुद्ध का विस्तार से निरूपण करते हुए कहा है--

**त्रैलोक्यमिन्द्रो लभतां, देवाः सन्तु हविर्भुजः।**
**यूयं प्रयात (१) पातालं यदि जीवितुमिच्छथ ॥**

सर्वान्त में इसी महामाया के प्रभाव से सम्पूर्ण असुरबल नष्ट हुआ, जो बचे, उन्होंने स्वत्रैलोक्यरूप पाताल का आश्रय लिया। इसी अभिप्राय से आगे जाकर **सुरथराजा** से ऋषि कहते हैं—

**दैत्याश्च देव्या निहते शुम्भे देवरिपौ युधि।**
**जगद्विध्वंसके तस्मिन् महोग्रेऽतुलविक्रमे ॥**
**निशुम्भे च महावीर्य्ये शेषाः पातालमाययौ ॥**

इसीप्रकार एकबार **वज्राङ्गद** के वेश्यापुत्र **तारक** नाम के महाप्रबल असुर ने देवत्रैलोक्य पर अपना अधिकार कर लिया था। कविकुलगुरु कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध **'कुमारसम्भव'** नाम के महाकाव्य में इसी चरित्र का निरूपण किया है। अन्त में पार्वतीनन्दन स्कन्द ने **सेनानी बनकर इस असुरबल को नष्ट किया था।**

---

(१) अदृश्य दक्षिणी-गोलार्द्ध में दक्षिण अफ्रीका है--अमेरिका है। यही एशियावासियों के लिए **'अधोभुवनपातालम्'** इस अमर--परिभाषा के अनुसार **'पाताल'** है। यहीं पूर्वप्रतिपादित पाद्मभुवनकोश के अनुसार--**'आसुरत्रैलोक्य'** था।

इसीप्रकार '**त्रिपुरासुर**' का युद्ध भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। यद्यपि विषय अप्रासङ्गिक है। तथापि देवासुरसंग्रामानुबन्ध से दो शब्दों में इसका भी दिग्दर्शन करा देना आत्यन्तिक रूपेण अप्रासङ्गिक न माना जायगा। अतः संक्षेप से देवासुरसंग्राम से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक आख्यानों का निदर्शन पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता है। इससे उन्हें '**वेदों में इतिहास है-अथवा नहीं**, ?" इस प्रश्न के सम्बन्ध में विचार करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिलेगा। सबसे पहिले '**त्रिपुराख्यान**' की ओर ही उनका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

वैदिककाल में राजागण अपने निवास के लिए तीन तीन पुरों का निर्म्माण किया करते थे। **स्वर्गस्थ देवताओं में**, एवं **पातालस्थ असुरों** में इस पद्धति का विशेष समादर था। ये '**पुर**' ब्राह्मणग्रन्थों में '**उपसत्**' नाम से व्यवहृत हुए हैं। ब्राह्मणोक्त सुप्रसिद्ध '**उपसद्धोम**' प्रकरण में इन देव-उपसदों का विस्तार से निरूपण किया गया है। हाँ, इस सम्बन्ध में यह अवश्य मानना पड़ेगा कि, इस **त्रिपुरनिर्म्माण** की पद्धति सर्वप्रथम असुरों की ओर से ही उपक्रान्त हुई थी। वे ही इस पद्धति के प्रथम आविष्कर्त्ता थे। जैसाकि पूर्व के पाद्मभुवनकोश प्रकरण में बतलाया गया है, तत्कालीन असुरजातियों में '**मयासुर**' वंश **शिल्प, कला** आदि में उच्च शिखर पर पहुँचा हुआ था। इसी मयजाति को अलङ्कृत करने वाले **त्रिपुर** नाम के **मयासुर** ने सर्वप्रथम **त्रिपुर** निर्म्माण किया था। इसी त्रिपुर से असुरगण देवताओं पर समय समय आक्रमण किया करते थे। '**भूमध्यसागर**' नाम से प्रसिद्ध '**महीसागर**' ( मेडिट्रनीएन्सी ) के समीप ही एक प्रदेश '**मयसोपोटेमिया**' नाम से प्रसिद्ध है। यह शब्द '**मयसोपोत्तम**' शब्द का ही अपभ्रंश है। यहीं मयासुर-जाति का निवास होगया था।

स्वेजप्रदेश ( वर्त्तमान में स्वेजकनाल ) से आकर मयासुरजातिने इस प्रान्त को अपने अधिकार में कर लिया था। आगे जाकर क्रमशः पूर्वी भारत की ओर बढ़ते हुए इस जाति ने खाण्डववन को भी अधिकार में कर लिया था। पूर्वी भारत में जिस प्रदेश में विशेषरूप से मयजाति ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था, वही प्रान्त आज '**मेरठ**' नाम से प्रसिद्ध है। यह '**मयराष्ट्र**' का अपभ्रंशमात्र ही है। मयजाति में सर्वप्रधान पद एक समय '**वज्राङ्गद**' नाम के असुर को मिला था। यह मयजाति का '**वर्गपाल**' (काफिले का सर्दार ) कहलाता था। इसी वज्राङ्गद ने अपने वंश की '**तार**' (**सर्वोच्च-सर्वश्रेष्ठ वंश**' ) संज्ञा रक्खी। इसी **तारवंश** ने, किंवा **वज्राङ्गदवंशने** एक बार युद्ध में इन्द्र को परास्त कर स्वर्गसीमारूप '**तारस्य**' नाम के पर्वत पर अपना आवासस्थान बनाया था। यही **तारस्य** पर्वत आज '**टारसमाउन्ट**' नाम से प्रसिद्ध है। महीसागर से उत्तर की ओर यह **तारस्यगिरि** प्रतिष्ठित है। यहीं हमारा सुप्रसिद्ध '**शवतीर्थ**' है। पुराणों में इस तीर्थ का बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। उपर्य्युक्त वज्राङ्गद परम वेश्यागामी था। एक वेश्या से वज्राङ्गद के '**तारक**' नाम का महा प्रबल असुर उत्पन्न हुआ था, जिसके शौर्य्य का '**तस्मिन् विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः**' इत्यादि रूप से पूर्व में उल्लेख किया जाचुका है।

इसी तारकासुर के आगे जाकर विश्वविख्यात-**विद्युन्माली, तारकाक्ष, अम्बुजाक्ष**, ये तीन महापराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुए। इन्होंनें भी पितृमर्य्यादा का अनुगमन करते हुए देवबल को यथेच्छ कष्ट दिया। प्रकृत में इस वंशम्परा से हमें केवल यही कहना है कि, एकबार **स्वर्ग (इन्द्रराष्ट्र)** पर अधिकार करने की इच्छा से वज्राङ्गद

ने अपनी मयजाति को आज्ञा दी कि—'तुम कोई ऐसे पुर बनाओ, जिनके बल से बड़ी सरलता से देवबल को परास्त कर स्वर्गप्रदेश पर अधिकार स्थापित किया जासके'। फलतः 'त्रिपुर' नाम के मय ने (जो कि शिल्पविद्या के साथ साथ ज्योतिषविद्या में भी महा पारङ्गत था) वज्राङ्गद की उक्त कामना पूरी की। 'तूरपर्वत' की दक्षिण उपत्यका में त्रिपुर ने लौहमयी पुरी का निर्म्माण किया, एवं यह लौहपुरी पृथिवीलोकस्था कहलाई। तारपर्वत के शिखर पर सुवर्ण की पुरी बनाई गई। एवं भूमध्यसागर के पूर्वी तटपर (जिस प्रदेश को हम अन्तरिक्ष कह सकते हैं) रजतमयी (चाँदी की) पुरी बनाई गई। यह राजती पुरी द्यावाभूमि की सीमा का स्पर्श करने के कारण 'त्रिपुरी' नाम से प्रसिद्ध हुई। यही स्थान आज भी 'एटलस्' में 'ट्रिपुली' नाम से प्रसिद्ध है। यह अवश्य ही 'त्रिपुरी' शब्द का अपभ्रंश है। यह त्रिपुरी, किंवा ट्रिपुली स्थान के अनुपात से ग्रीनवीच से १२ अंश ऊन ३६–अंश पर (३५–४८) स्थित है, एवं उज्जैन से पश्चिम ३९–५५ देशान्तर पर स्थित है।

इन तीनों पुरियों में जो सब से अद्भुत चमत्कार था, वह यह था कि, प्रत्येक पुष्यनक्षत्र में तीनों पुरियाँ एक दूसरी से बद्ध होजातीं थीं। ऐसे ही समय में असुरगण इन में बैठ कर देवताओं पर बड़े वेग से आक्रमण किया करते थे। इन तीनों पुरियों के सञ्चालक क्रमशः तारक के विद्युन्माली, तारकाक्ष, अम्बुजाक्ष नामक तीन पुत्र थे। विद्युन्माली आयसी (लौहमयी) पुरी का अध्यक्ष था, राजती का अध्यक्ष अम्बुजाक्ष था, एवं हैमवती का सञ्चालक तारकाक्ष था। जब इस त्रिपुर से देवबल अत्यन्त त्रस्त होगया, तो आगे जाकर भगवान् त्र्यम्बक के द्वारा इस त्रिपुरी का नाश हुआ। इन तीनों पुरियों के खण्ड खण्ड कर त्र्यम्बक ने महीसागर में डालकर, त्रिपुरासुर का सवंश विनाश कर सर्वान्त में इसी महीसागर में युद्धयज्ञसमाप्तिलक्षण 'अवभृथस्नान' किया था। त्र्यम्बकस्नान से ही यह प्रदेश पुराणों में 'शवतीर्थ' (महादेवतीर्थ) नाम से प्रसिद्ध हुआ। त्रिपुरध्वंस के कारण ही भगवान् शङ्कर--'त्रिपुरारि' नाम से ही प्रसिद्ध हुए।

जब देवताओंनें देखा कि, असुरगण पुरनिर्म्माण से अपने बल को हानि पहुँचा रहे हैं, तो तदनुसार उह्मोंनें भी तीन पुरों का निर्म्माण कर इनके बल से आगे जाकर असुरबल का विनाश किया। यही 'देवत्रिपुरी' ब्राह्मणग्रन्थों में 'उपसत्' (उपसीदन्ति यत्र देवाः) नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति कहती है—

* "देवाश्च वाऽअसुराश्च–उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे–अयस्मयीमेवास्मिल्लोके, रजतामन्तरिक्षे, हरिणीं दिवि। तद्ध देवा अस्पृण्वत। तऽएताभिरुपासीदन्। तस्मादुपसदो नाम। ते पुरः प्राभिन्दन्। इमाँल्लोकान्–प्राजयन्"।

—शत० ब्रा० ३ कां०।४ अं०।४ ब्रा०।३–४–कं।

* इस आख्यान का अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत, तीनों चरित्रों के साथ सम्बन्ध है। प्रकृत में आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र की दृष्टि से ही यह श्रुति उपात्त हुई है।

इसीप्रकार **'वराहासुर'** का युद्ध भी वेदों में बड़ा महत्त्व रखता है। आज भारतीय प्रजा को अन्न वस्त्र का जो कष्ट उत्पीड़ित कर रहा है, देवयुग में इस चिन्ता से भारतीय–प्रजा सर्वथा विमुक्त थी। स्वर्गाधिपति इन्द्र की ओर से पृथिवी-लोक-स्थानीया भारतीय-प्रजा के लिए अन्न वस्त्र का प्रबन्ध सुव्यवस्थित था। साथ ही प्रत्येक प्रजा का (मानवधर्म्मशास्त्रानुसार) कर्त्तव्य भी देवेन्द्र की ओर से ही नियत था। **चिकित्सा, दस्यूपद्रवों से रक्षा, अन्न वस्त्र का प्रबन्ध** आदि जीवनरक्षोपयोगी सम्पूर्ण साधनों की व्यवस्था **राष्ट्रपति इन्द्र** के द्वारा ही सुव्यवस्थित थी। इसप्रकार इन्द्र के द्वारा निर्दिष्ट कर्त्तव्यपथ पर आरूढ रहती हुई वर्णाश्रमधर्म्मानुगामिनी प्रजा (देवयुग में) सम्पूर्ण-भूतचिन्ताओं से सर्वात्मना उन्मुक्त थी।

भारतीय प्रजा के परिपालन के लिए भारतवर्ष में जो **अन्न का कोश (अन्न का गल्ला)** सुरक्षित रहता था, वह **'वाम'** नाम से प्रसिद्ध था। इसके **विभाजकाध्यक्ष** (बटवारा करने वालों के सर्दार) **'वामदेव'** थे। एवं इस अन्न की रक्षा के लिए पितामह प्रजापति के औरस पुत्र **'ओङ्कार'** नियत थे। **'वसोर्धारानगरी'** में यह **'अन्नकोश'** सदा प्रभूत मात्रा में विद्यमान रहता था। ओङ्कार की आज्ञा से वामदेव के द्वारा आवश्यकतानुसार भारतीय प्रजा में अन्नवितरण होता रहता था। एक समय **'एमूष'** नाम से प्रसिद्ध वराहासुर ने इस **'अन्नकोश'** पर आक्रमण किया। यह वराह-असुर आसुरत्रैलोक्य–प्रदेश में सात पर्वतों को अपनी पुरियों का रक्षक बना कर बड़े सुरक्षित, अगम्य, अविज्ञेय स्थान मे निवास करता था। **वसोर्धारा** से पश्चिमस्थ इस असुरप्रान्त के मध्य में सात पर्वत आते थे। सातों के आगे क्रमशः २१ पत्थर की पुरियाँ थीं। सबसे अन्त की पुरी में वराह **असुर** निवास करता था। वसोर्धारा पर आक्रमण कर सम्पूर्ण अन्न चुराकर वराह अपने सुरक्षित स्थान में जा छिपा। जब ये समाचार विष्णु, और **इन्द्र** को मिले, तो इन्होंने परस्पर की मन्त्रणा से गुप्तरूप से इस अगम्य स्थान का अन्वेषण कर इस असुरबल का विनाश किया। इसी सुप्रसिद्ध आख्यान का निरूपण करती हुई कृष्णश्रुति कहती है—

**"विष्णुर्यज्ञो देवेभ्य आत्मानमन्तरधात्। तमन्यदेवता नाविदन्। इन्द्रस्त्ववेत्। विष्णुरिन्द्रमब्रवीत्-को भवानिति ?। इन्द्रोऽब्रवीत्-दुर्गाणामसुराणां हन्ताऽहम्। भवान् कः?। विष्णुरब्रवीत्--अहं दुर्गादाहर्त्तास्मि। त्वं तु दुर्गहन्ताऽसि। इत्यतो वराहमसुरं जहि। स हि वराहो वाममुष (अन्नमुषः) एकविंशत्या पुरा पारेऽश्ममयीनां वसति। तस्मिन्नसुराणां वसु वाममस्ति। तत इन्द्रस्ताः पुरमित्त्वा वराहस्य हृदयमविध्यत्। ततस्तत्र यदासीत्—तद्विष्णुराहरत्"**—

—तै० सं० ६।२।४।।

वराह असुर के प्रासाद में अन्यान्य भोजन-सामग्रियों के साथ प्रतिदिन शत (१००) महिष (भैंसे) क्षीरौदन के साथ परिपक्व होते थे। जिस समय विष्णु गुप्तरूप से वराह के दुर्ग में पहुँचे थे, उस समय वराह असुर की माता सेवक वर्ग से भोजन की व्यवस्था करा रही थी। तत्काल विष्णु ने इन्द्र के सहयोग से परोक्षा--क्रमण (छापा मार) कर वराह के द्वारा लाए गए अन्नकोश के साथ साथ यह सम्पूर्ण भोजन-सामग्री भी अपने अधिकार में करली। इसी घटना का निरूपण करती हुई **मन्त्रश्रुति** कहती है--

"अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना ॥
मुषा यद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥१॥
—ऋक्सं० १६।१।७।

विश्वेत्ता विष्णुराभरत्-उरुक्रमस्त्वेषितः ।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम् ॥२॥
—ऋक् सं० ८।७७।१०।

इसीप्रकार एकबार 'पणिजाति' की गायों को 'बल' नाम के असुर ने चुरा लीं थीं । इस सम्बन्ध में भी देवता और असुरों में घोर संग्राम हुआ है । अन्त में इन्द्र के हाथ से बलासुर मारा गया है । तभी से इन्द्र 'बलाराति' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । इस विजय के उपलक्ष में पणियों की ओर से विपाशा ( आजकल 'व्यास' नाम से प्रसिद्ध ) नदी के निर्गम गिरिप्रदेश में विजयाभिन्दन-महोत्सव सम्पन्न हुआ था । यहाँ अभिगर--प्रतिगर* के द्वारा इन्द्र का बड़ा सम्मान हुआ था । (देखिए ऋक्सं० १०मण्डल । १०८सू०।) ।

इसप्रकार समय समय पर देवता, और असुरों में युद्ध हुआ करते थे । यों तो देवासुरसंग्राम अनन्त हैं । परन्तु ऋग्वेदकाल में १२ महासंग्राम मुख्य माने गए हैं । कृष्णसमुद्र ( ब्लेक्सी ) से पश्चिम आर्मीनिया प्रान्त में, असीरिया प्रान्त में, स्वर्ग में, भूमि में आदि तत्तत्-स्थानों में १२ महायुद्ध हुए हैं । वे १२ महायुद्ध निम्न लिखित नामों से प्रसिद्ध हैं--

## द्वादशमहासंग्रामाः—

| | | |
|---|---|---|
| १--आड़ीबक | ५--त्रैपुर | ९--ध्वजयुद्ध |
| २--कोलाहल | ६--मान्धक | १०--बलिबन्ध |
| ३--हालाहल | ७--तारक | ११--हैरण्याक्ष |
| ४--जलधिमन्थन | ८--वार्त्र | १२--नारसिंह |

भारतवर्ष के, किंवा देवविभूति के सौभाग्यसूर्य्य को अस्त करने वाला जो अन्तिम युद्ध हुआ, उसके अनन्तर देवबल प्रायः क्रमशः अवनति को ही प्राप्त होता गया । वह युद्ध इतिहास 'ताराहरणोपाख्यान' नाम से प्रसिद्ध है । कहना न होगा कि, आज भी उसी प्रकार रूपान्तर से देवबल पर आसुरबल का आक्रमण होरहा है । उस समय की, एवं आज के समय की परिस्थिति में अनन्तर इतना हीं है कि, उस समय देवबल सावधान था, विज्ञान-यज्ञ-तप-आदि बलों से युक्त था । जबकि आज का भारत वैदिक--साहित्य की उपेक्षा करता हुआ अपने उक्त बलों से वञ्चित रहता हुआ पदे-पदे पराभूत, एवं अपमानित ही होरहा है ।

*--प्रतिष्ठित पुरुष के लिए जो अभिनन्दनपत्र पढ़ा जाता है, उसे वैदिक-परिभाषा में 'अभिगर' कहा जाता है, एवं उस सत्कृत पुरुष की ओर से पढ़ा जाने वाला उत्तरपत्र 'प्रतिगर' कहलाता है ।

'भारतवर्ष विस्मृतप्राय वैदिक साहित्य को अपना कर तद्द्वारा पुनः असुरबल पर विजय प्राप्त करे' यही मङ्गल कामना करते हुए प्रकृत आख्यान से सम्बन्ध रखने वाले 'आधिभौतिक चरित्र' को अद्यैव उपरत किया जारहा है।

## देवासुरदायविभागसम्बन्धी आधिभौतिकचरित्र उपरत

---

## देवासुरदायविभागाख्यानानुगत-आध्यात्मिक-समन्वय—

**'यथा अण्डे तथा पिण्डे'** इस सिद्धान्त के अनुसार **आधिदैविक ब्रह्माण्ड** की जो स्थिति है, ठीक वही स्थिति **आध्यात्मिक-पिण्ड** की समझनी चाहिए। जिसप्रकार अधिदैवत में देवासुर-त्रैलोक्य-व्यवस्था है, इसीप्रकार अध्यात्म में भी त्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित है। पूर्व भाष्य में अनेक बार इस आध्यात्मिक-त्रिलोकी का निरूपण किया जाचुका है, जैसाकि विषयसूची से विदित होगा। अतः इस सम्बन्ध में विशेष कुछ न कह कर प्रकरण-सङ्गति के लिए केवल यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, हमारे शरीर में हृदय से नीचे का सम्पूर्ण प्रदेश **आसुरत्रैलोक्य** है, एवं हृदय से ऊपर का मस्तक-पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश **देवत्रैलोक्य** है। यह विभागव्यवस्था हममें १६ वर्ष के अनन्तर ही अभिव्यक्त होती है। १६ वर्ष पर्य्यन्त सम्पूर्ण अध्यात्मजगत् में केवल असुरों का ही साम्राज्य रहता है। औपनिषद-विज्ञान के परिज्ञाता विद्वान् यह भलीभाँति जानते हैं कि—**"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"** (छान्दोग्य-उपनिषत्-की पञ्चाग्निविद्या) इस छन्दोग-सिद्धान्त के अनुसार पुरुष का प्रधान उपादान **'अप्‌तत्त्व'** (पानी) ही है।

प्रत्यक्ष में भी हम पानी की ही प्रधानता देखते हैं। पिता के शुक्र, एवं माता के **शोणित** के समन्वय से (मिथुनभावरूप याज्ञिक समन्वय से) ही **प्रजोत्पत्ति** होती है। **शुक्र-शोणित**, दोनों हीं तरल पदार्थ हैं, अब्रूप हैं। **भार्गव सौम्य पानी को शुक्र कहते हैं, एवं यह पुरुष में प्रतिष्ठित है। आङ्गिरस आग्नेय पानी को शोणित कहते हैं, एवं यह स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित है।** दूसरे शब्दों में-**शुक्र भृगुतत्त्व है, शोणित अङ्गिरातत्त्व है। 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्'** इस अथर्व-सिद्धान्त के अनुसार शुक्र-शोणितरूप आध्यात्मिक **भृग्वङ्गिरा, दोनों हीं** पानी हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, पूर्व के आधिभौतिक चरित्र के अनुसार **'आप्यप्राण'** का ही नाम असुर है। ऐसी अवस्था में यह सिद्ध होजाता है कि, **आप्यप्राणमय**, अतएव **आसुरभावप्रधान** शुक्र-शोणित के समन्वय से उत्पन्न होने वाली प्रजा में आरम्भ में असुरों का ही साम्राज्य रहता है। कम से कम पार्थिवप्रजा में तो अवश्य ही कुछ समय के लिए अध्यात्मसंस्था पर असुरों का ही अधिकार रहता है। कारण स्पष्ट है।

**'अद्भ्यः पृथिवी'** इस सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड का निर्म्माण पानी से ही हुआ है। यह आपोमयी पृथिवी अप्-सम्बन्ध से **आसुर-प्राणमयी** है। यही पार्थिवरस पार्थिव प्रजा का जीवनीय रस है। देवता की विकासभूमि सूर्य्य है। सम्पूर्ण देवता बुद्धिरूप से अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होते हैं। बुद्धि की प्रतिष्ठाभूमि

**'मन'** है । यह मन पुरुष के १६ वर्ष पर्य्यन्त अपरिपक्व रहता है । १६ वें वर्ष में पार्थिवसंस्था (शरीर) के साथ साथ जब मन पूर्णरूप से परिपक्व होजाता है, तभी **सौरी-बुद्धि** को पूर्णरूप से अध्यात्मसंस्था में व्यक्त होने का अवसर मिलता है । इससे पहिले प्रत्येक मनुष्य **'बालक'** ही कहलाता है । इस अवस्था में केवल **'मन'** की ही प्रधानता है । जन्मकाल से आरम्भ कर १६ वें वर्ष पर्य्यन्त मन की चञ्चल-वृत्तियों की ही प्रधानता रहती है । इस अवस्था में इस व्यक्ति पर इतर मनुष्य का निग्रह-अनुग्रह यथेच्छ होसकता है । क्योंकि मन स्वयं अनृत है । उसमें सत्यलक्षण आत्मनिर्भरता का अभाव है । किसी की भी यत्किञ्चित् सी भर्त्सना से भी बालक तत्काल रोपड़ता है । अपने कर्त्तव्य का इस अवस्था में बोध ही नहीं होता । इसलिए इस अवस्था का सुचारुरूप से सञ्चालन करने के लिए किसी अभिभावक की अपेक्षा होती है । दुर्भाग्य से यदि यह अवस्था बालक बिना नियन्त्रण के निकाल देता है, तो वह आगे जाकर सर्वथा लक्ष्यच्युत ही होजाता है । इसलिए माता-पिता का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि, जबतक बालक १६ वर्ष का न होजाय, तबतक—

**"लालनाद्बहवो दोषास्ताड़नाद् बहवो गुणाः ।**
**अतः शिष्यं च पुत्रं च ताड़येन्नतु लालयेत्" ॥**

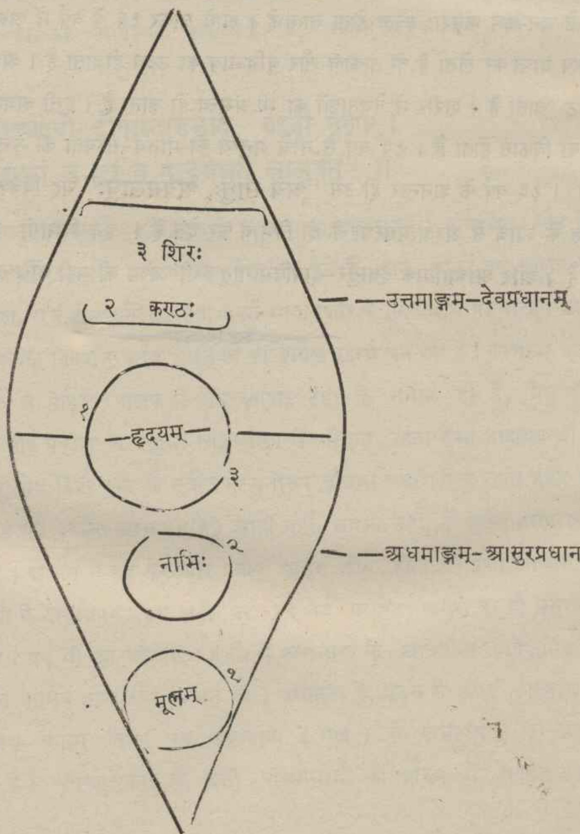
उक्त सिद्धान्त को लक्ष्य में रखते हुए बालक के ऊपर मधुर शासन करे । अनुचित स्नेह के वशीभूत होकर जो माता-पिता बालक की उपर्युक्त अवस्था में उपेक्षा कर देते हैं, आगे जाकर वह बालक प्राप्तवयस्क होता हुआ सर्वथा उच्छृंखल, एवं अमर्य्यादित बनता हुआ माता-पिता के निरतिशय पश्चात्ताप का ही कारण बन जाता है, जिसका कि प्रत्यक्ष निदर्शन आज भारतवर्ष का प्रत्येक गृहस्थ बन रहा है । बतलाना इस परिस्थिति से हमें यही था कि, १६ वर्ष से पहिले बालक में बुद्धि-व्यापार नहीं के समान ही है, मन की प्रधानता रहती है । जिसप्रकार बिना सौर प्रकाश के चन्द्रमा स्वकृष्णरूप में परिणत रहता हुआ ब्राह्मणग्रन्थों में **'वृत्रासुर'** नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव बिना बुद्धि के संयोग के मनोरूप चन्द्रमा प्रकाशशून्य रहता हुआ असुरभाव-प्रधान ही रहता है । सोलह वर्ष पर्य्यन्त समझ (बुद्धि) आती नहीं, समझ नहीं, तो सुतरां नासमझी (अज्ञान) का प्रभुत्त्व सिद्ध होजाता है । अज्ञान से बढ़ कर और प्रबल असुर कौन होगा ? । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, आत्मप्रजापति के दायभागरूप इस शरीर पर १६ वर्ष पर्य्यन्त असुरों का ही प्रभुत्त्व रहता है । आगे जाकर क्या होता है ? । यह भी सुन लीजिए । हृदय में अशनाया के अधिष्ठाता प्रादेशमित विष्णुदेवता प्रतिष्ठित हैं । हृदय से नीचे पार्थिव प्राण की ( अपान की ) प्रधानता है, हृदय से ऊपर सौरप्राण की ( प्राण की ) प्रधानता है । हृदयस्थ वामन विष्णु स्व अशनाया ( भूख ) से अन्नाकर्षण कर तद्रस से दोनों का पालन करते रहते हैं । विष्णुदेवता के इसी पालनधर्म्म को लक्ष्य में रखकर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

**ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति।**
**मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥**

— कठोपनिषदि

**'अन्नमयं हि सोम्य! मनः'** इस सिद्धान्त के अनुसार मन का उपादान अन्नरस ( सोम ) है। इसी से क्रमशः मन की पुष्टि होती है। अन्न का आगमन अशनायासूत्र ( बुभुक्षा ) पर निर्भर है। यदि भूख न लगे, तो अन्नागमन असम्भव होजाय। अशनायासूत्र के सञ्चालक हृदयस्थ विष्णुदेवता हीं हैं। इहीं की कृपासे शारीराग्नि में अन्नाहुति होता है। अन्नाहुतिरूप यज्ञ के सम्बन्ध से ही **'यज्ञो वै विष्णुः-विष्णुर्वै यज्ञः'** इत्यादि रूपसे विष्णु को **'यज्ञ'** कहा जाता है। इस **वैष्णवयज्ञ** का परिणाम यह होता कि, अन्नरस के क्रमिक आगमन से मन-क्रम क्रमशः सबल होता जाता है। आगे जाकर १६ वें वर्ष में अन्नरसागमन से जब मन अपना पूर्ण स्वरूप प्राप्त कर लेता है,तो तत्काल सौर बुद्धिभाव का उदय होजाता है। अज्ञानमूर्त्ति असुरों का एकच्छत्र शासन उठ जाता है। शरीर में देवताओं का भी प्रभुत्त्व हो जाता है। इसी अवस्था में उत्तमाङ्ग-अधमाङ्ग विभागों का विकास होता है। १६ वर्ष से नीचे मनुष्य को मानव-सभ्यता की उत्तमता, अधमता का अनुभव नहीं होता। १६ वर्ष के अनन्तर ही उसे **"अयं साधुः, अयमसाधुः"** यह विवेक होता है। इसप्रकार विष्णु-देवता यज्ञ के व्याज से अध्यात्मसंस्था के दो विभाग कर देते हैं। इन विभागों की सीमा पूर्व कथनानुसार हृदय ही है। और आध्यात्मिक देवासुर-दायविभागानुबन्धी तथ्य की यही संक्षिप्त स्वरूपदिशा है।

| देवत्रिलोकी | आसुरत्रिलोकी |
|---|---|
| शिर :—द्यौः<br>कण्ठः-अन्तरिक्षम्<br>हृदयम्-पृथिवी | मूलस्थानम्-द्यौः<br>नाभिः——-अन्तरिक्षम<br>हृदयम्——-पृथिवी |



## देवासुरदायविगाख्यानानुगत–आधिदैविकचरित्र का समन्वय--

सूचीकटाहन्याय से आख्यान के **आधिभौतिक ( ऐतिहासिक )**, एवं **आध्यात्मिक–चरित्रों** का दिग्दर्शन करा दिया गया। अब क्रमप्राप्त **आधिदैविक–रहस्य** की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। सृष्टि के आरम्भ–काल में देवता, और असुर, दोनों का इस भूपिण्ड पर समानाधिकार न था। आरम्भ में सम्पूर्ण पृथिवी–मण्डल पर असुरों का ही साम्राज्य था। जबतक भूपिण्ड एकमात्र असुरों के अधिकार में ही रहा, तबतक वह सर्वथा अयज्ञिय रहा। आगे जाकर देवताओंनें विष्णु की सहायता से इसे यज्ञिय प्रदेश बनाया। विष्णु के द्वारा भूपिण्ड का जो प्रदेश **'यज्ञिय'** बन गया, वही स्थान आगे जाकर **'वेदि'** नाम से प्रसिद्ध हुआ। साथ ही वेदिरूप इस यज्ञप्रधान भूप्रदेश से असुरों का आधिपत्य सदा के लिए हट गया। देवताओंनें निर्विघ्न इस प्रदेश पर **'यज्ञवितान'** किया। तद्द्वारा पार्थिव-प्राणदेवताओंनें अमृतमयी स्वर्गप्रतिष्ठा प्राप्त की। सृष्टि के आरम्भ में उक्त चरित्र हुआ था, एवं जबतक पार्थिव–सम्वत्सर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहेगा, तबतक इसी प्रकार **'देवयज्ञ'** वितत होता रहेगा।

इस आधिदैविक–चरित्र में **भूपिण्ड–गायत्री–त्रिष्टुप्–जगतीछन्द–विष्णु–देवता**, इतने ज्ञातव्य विषय हैं। इन पदार्थों के स्वरूप–समन्वय से उक्त चरित्र का वैज्ञानिक भाव सर्वात्मना गतार्थ होजाता है। इन सब पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा भूपिण्ड है। अतः सर्वप्रथम उसी के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। **'अद्भ्यः पृथिवी'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पानी से भूपिण्ड का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है। पानी हीं वायु के सम्बन्ध से क्रमशः **आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अय-हिरण्य** इन आठ अवस्थाओं में परिणत होकर भूपिण्ड का स्वरूप–समर्पक बन गया है। जिसप्रकार **देवप्राण अग्निप्रधान** है, उसी प्रकार **असुरप्राण अप्प्रधान है। आप्यप्राण को ही असुर माना जाता है।** कारण स्पष्ट है। **'असुं–राति–ददाति'** के अनुसार बलाधायक प्राण ही असुर है। बल का प्रवर्त्तक प्राण ही असुर है। वह प्राण **'आपोमयः प्राणः'** के अनुसार आप्यप्राण ही है। जबतक भूपिण्ड में पूर्ण घनता नहीं आजाती, तबतक इस में अग्नि उक्थरूप से प्रतिष्ठित नहीं होता। अग्नि सत्य तत्त्व है। सहृदय—सशरीरी भाव ही सत्यभाव है। सर्वात्मना पिण्ड ( शरीर ) निर्म्माण होने के अनन्तर ही भूपिण्ड में हृदयभाव उत्पन्न होता है। हृदयोत्पत्ति के अनन्तर ही वहाँ **'सत्याग्नि'** को प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलता है। पिण्डनिर्म्माणकाल में पृथिवी सर्वथा **काल्वालीकृता ( कर्दम से व्याप्त ) कादा--कीच से युक्त** ही रहती है। एवं इस अवस्था में सर्वात्मना पानी की ही प्रधानता रहती है। अग्नितत्त्व प्रायः सर्वथा अप्रतिष्ठित रहता है। पानी की प्रधानता से काल्वालीकृता पृथिवी पर आप्यप्राणमूर्त्ति असुरों का ही ( उस अवस्था में ) आधिपत्य रहता है। भूपिण्ड की इस आप्य–प्राण–प्रधाना अवस्था को लक्ष्य में रख कर ही **"अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्"** यह कहा गया है।

**"गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी"** इस सिद्धान्त के अनुसार विश्वरचना में **गुण–दोष**, दोनों भावों का योग रहता है। यही नहीं, अपितु विश्वरचना के सम्यक् निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होजाता है कि, विश्व में गुणभाव गौण है, एवं दोषों की ही प्रधानता है। कारण यही है कि, **सृष्टि तमोमूला है। 'तम'** स्वयं एक **'महादोष'** है। ऐसी अवस्था में तमःप्रधान विश्व को दोष–प्रधान मानना युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। विश्वव्यापिनी **गुण-दोष-विभूति** ही शास्त्र में क्रमशः **दैवीसम्पत्ति, आसुरीसम्पत्ति,**

नामों से व्यवहृत हुई है । सम्पूर्ण विश्व गुण-दोष की प्रतिस्पर्द्धामात्र है । कहीं गुणभाव का
विजय है, परन्तु काचित्क । कहीं दोषभाव का साम्राज्य है, किन्तु प्रायः सर्वत्र । गुणदोष की प्रतिस्पर्द्धा क्या है,
देवासुरसंग्राम ही है ।

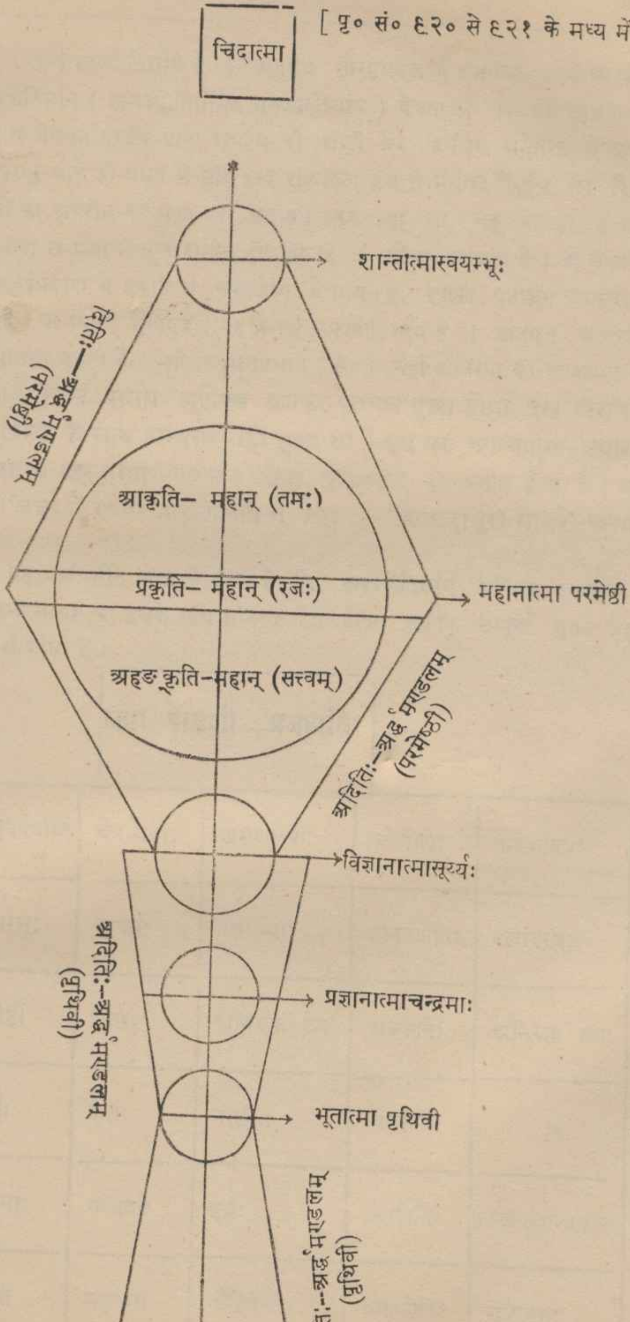
जिस विश्व में उक्त देवासुरससंग्राम होरहा है, वह विश्व **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-**
इन पाँच भागों में विभक्त है । पाँचों पर्वों में **देवता ( गुणविभूति )**, एवं **असुर ( दोषविभूति )**, दोनों
प्रतिष्ठित रहते हैं । सब से पहिले इन पाँचों विश्वपर्वों की गुणविभूति को ही लीजिए । **स्वयम्भू की गुण-**
**विभूति ऋषि है, परमेष्ठी की गुणविभूति पितर है, सूर्य्य की गुणविभूति देव है, चन्द्रमा की**
**गुणविभूति गन्धर्व है, एवं पृथिवी की गुणविभूति मनुष्य है । ये पाँचों हीं प्राणरूप हैं । जिस प्राणी**
**में जिस प्राण की प्रधानता रहती है, दूसरे शब्दों में जिस प्राणी में जो प्राण विकसित रहता है,**
**वह प्राणी भूलोक में उसी नाम से व्यवहृत होता है । निष्कर्ष यही हुआ कि, स्वयम्भू के प्राणदेवता**
**ऋषि हैं, परमेष्ठी के प्राणदेवता पितर हैं, सूर्य्य के प्राणदेवता देव हैं, चन्द्रमा के प्राणदेवता**
**गन्धर्व हैं, एवं पृथिवी के प्राणदेवता मनुष्य ( वैश्वानरप्राण ) हैं ।**

यह तो हुआ पाँचों पर्वों की **दिव्यविभूति** का दिग्दर्शन । अब चलिए आसुरी-विभूति की ओर ।
**स्वयम्भू की आसुरी विभूति 'बल'** है । स्वायम्भुव असुरप्राण 'बल' नाम से प्रसिद्ध है । ज्ञानमूर्त्ति इन्द्र इस
बलग्रन्थि के विघातक हैं, अतएव इन्द्र को **'बलाराति'** ( बल का शत्रु ) कहा जाता है । **पारमेष्ठ्य असुर-**
**प्राण 'अनिरुक्त तम' नाम से प्रसिद्ध है, सौर असुरप्राण 'नमुचि' कहलाता है, चान्द्र असुरप्राण**
**'वृत्र' नाम से प्रसिद्ध है, एवं पार्थिव असुरप्राण 'सैंहिकेय' नाम से व्यवहृत हुआ है ।**

ज्योति प्रकाश है, तम अन्धकार है । देवता, और असुर, दोनों का सामान्य लक्षण ज्योति, एवं तम
पर ही निर्भर है । **ज्योतिर्भाग देवता है, एवं तमो भाग असुर है** । यह ज्योतिस्तत्त्व **ज्ञानज्योति,**
**अज्योति, स्वज्योति, परज्योति, रूपज्योति**, भेद से पाँच भागों में विभक्त है । **ज्ञानज्योति का स्वाय-**
**म्भुव ऋषिप्राण से, अज्योति का पारमेष्ठ्य पितरप्राण से, स्वज्योति का सौर देवप्राण से,**
**परज्योति का चान्द्र गन्धर्व [ सौम्य ] प्राण से, एवं रूपज्योति का पार्थिव मनुष्यप्राण से सम्बन्ध**
**है** । अव्यक्त स्वयम्भू ज्ञानज्योतिर्मय है, अतएव वहाँ असुरों की प्रधानता नहीं रहती । परमेष्ठी वायुरूप
होने से यद्यपि अज्योति है, परन्तु सौर दर्शपूर्णमास के कारण परमेष्ठी में परज्योति का भी उदय हो जाता
है । परमेष्ठी स्वस्वरूप से अनिरुक्त तमोरूप है । इसके चारों ओर सूर्य्य परिक्रमा करता है । सूर्य्य की
परिक्रमा से परमेष्ठी का जो भाग प्रकाशित होजाता हैं, वही भाग अध्यात्मभाषा में **'सत्त्वमहान्'** कहलाता
है । अप्रकाशित भाग **तमोमहान्** , एवं सान्ध्यभाग **रजोमहान्** कहलाता है । **स्वयम्भू अव्यक्त है,**
**परमेष्ठी महान् है** । सूर्य्य-परिक्रमाकृत तमः, प्रकाश के तारतम्य से ही परमेष्ठी महान् में **सत्त्व-रजस्-तमो**
**भेद** से त्रैगुण्य का उदय होजाता है । जो भाग सत्त्वप्रधान है, उसमें **'पितर'** प्राण का साम्राज्य है । जो
भाग अप्रकाशित है, उसमें **अनिरुक्त तमोरूप असुरप्राण** की प्रधानता है । एवं सन्धिगत प्राण **'गन्धर्व'**
नाम से प्रसिद्ध है । निम्नलिखित रेखाचित्र से त्रिगुणात्मक, आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिरूप तम-रजः-सत्त्वानु-
बन्धी महान् का स्वरूप सर्वात्मना व्यक्त होरहा है ।

**महानात्मविवर्त्तत्रयी–स्वरूपपरिलेखः—**

[ पृ० सं० ६२० से ६२१ के मध्य में ]



तीसरा है सूर्य्य । सूर्य्य स्वज्योतिर्म्मय है । अतएव सौरमण्डल में तमोमय असुरों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है । यहाँ सदा ज्योतिर्म्मय ( ज्ञानज्योतिर्गर्भित भूतज्योतिर्म्मय ) देवताओं का ही साम्राज्य रहता है । हाँ वृष्टि के उपक्रमकाल में मेघगत नमुचि प्राण अवश्य ही थोड़ी देर के लिए अन्तरिक्ष में अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लेता है । परन्तु थोड़े ही समय में सौर इन्द्र रश्मिरूप वज्र से मेघगत नमुचि का शिरच्छेद कर देते हैं । जो नमुचि पानी का अवरोध कर प्रजा का उत्पीड़न कर रहा था, वह नष्ट हो जाता है, वृष्टि होने लगती है । असुरविनाश से प्रजा में पूर्ण शान्ति होजाती है । चौथा चन्द्रमा है । जो स्थिति परमेष्ठी की है, वही इसकी है । सूर्य्यप्रकाश से प्रकाशित चन्द्रभाग देवमय है, इसका पृष्ठभाग वृत्रासुरमय है, एवं सान्ध्यभाग गन्धर्वप्रधान है । पाँचवाँ है भूपिण्ड । यह केवल रूपज्योतिर्म्मय है । अतएव आरम्भ में इसमें असुरों का ही साम्राज्य मानना पड़ता है । भूपिण्ड भूतप्रधान है । यहाँ आवरण की पराकाष्ठा है, प्रकाश सर्वथा पराभूत होरहा है । **"जिस समय भूपिण्ड बनकर सम्पन्न हुआ होगा, उस समय-[जबकि सौर प्रकाश का भी भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ था ] इस पर आप्यप्राण-प्रधान तमोमय असुरों का ही साम्राज्य रहा होगा"** यह मान लेना युक्तिसङ्गत ही प्रतीत होता है । भूपिण्ड की उसी प्रारम्भिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति ने कहा है-**"अथाहासुरा मेनिरे-अस्माकमेवेदं खलुभुवनमिति ।"**

पूर्व दिग्दर्शन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, रूपज्योतिर्म्मय भूपिण्ड स्वस्वरूप से सर्वथा कृष्ण है । जबतक सौर सम्वत्सरयज्ञ का इसके साथ सम्बन्ध नहीं होता, तबतक सम्पूर्ण भुवन असुरों के ही ( तम के ही ) अधिकार में रहता है ।

**स्रष्टा-षोडशी—प्रजापतिः**

| | विश्वपर्वाणि | देवभावाः | असुरभावाः | ज्योतींषि: | तमोभावाः |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | स्वयम्भू: | ऋषयः | बलाख्याः | ज्ञानज्योतिः | बलावरणम् |
| २ | परमेष्ठी | पितरः | अनिरुक्तं तमः | अज्योतिः | अनिरुक्तं तमः |
| ३ | सूर्य्यः | देवाः | नमुचिः | स्वज्योतिः | × |
| ४ | चन्द्रमाः | गन्धर्वाः | वृत्रः | परज्योतिः | कृष्णपक्षान्धकारः |
| ५ | पृथिवी | मनुष्याः | सैंहिकेयः | रूपज्योतिः | रात्रेस्तमः |

**"गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी"**

आगे जाकर 'वामन विष्णु' की सहायता से देवता पृथिवी पर आते हैं, एवं यज्ञोपयुक्त प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते हैं। प्रकृत कथानक से ऐसा प्रतीत होता है कि, यदि विष्णुदेवता अन्य देवताओं के अग्रणी न बनते, तो देवता अपना दायभाग लेने में सर्वथा असमर्थ ही रहते। देवताओंनें कहा क्या ?, **'भूपिण्ड के जितने प्रदेश में विष्णु देवता व्याप्त होजाँय, वह भूप्रदेश हमारा, शेष तुम्हारा'**। असुरोंनें इस देवकामना को स्वीकार कर लिया। फलतः देवताओंनें पूर्व की ओर विष्णु को प्रतिष्ठित कर चारों ओर से इसे छन्दों से वेष्टित कर दिया। छन्दोऽवच्छिन्न विष्णु जितने प्रदेश में व्याप्त हुए, देवताओंनें उस प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया।

**"यज्ञो वै विष्णुः"** (तां० ब्रा० ६।६।१०)– **"विष्णुर्वै यज्ञः"** (ऐ० १।१५) इत्यादी श्रुतियाँ **यज्ञ**, और विष्णु को अभिन्नार्थक ही मान रहीं हैं। उधर – **"अग्निर्वै यज्ञमुखम्"** (तै० ब्रा० १ ६।८)– **एष हि यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निः"** (शत० १।४।१। ५)– **"अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य"** (शत० १।-५।२।११-१४। - **"अग्निरु वै यज्ञः"** (शत० ५।२।३।६।) इत्यादि श्रुतियाँ अग्नि को ही यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बतला रहीं हैं। **"आहुतिर्हि यज्ञः"** (शत० ३।१।४।१) से **आहुति--प्रक्रिया** को ही **'यज्ञ'** माना जारहा है। इन सब श्रौत वचनों के समन्वय से हम यज्ञ के **"अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः"** इस लक्षण पर विश्राम करते हैं। अग्नि **अन्नाद** है, सोम **अन्न** है। अन्नाद अग्नि में **अन्न** सोम की आहुति होने से अन्न, और अन्नाद का रासायनिक मिश्रण होता है। दोनों हीं पूर्व-रूप छोड़ते हुए किसी तीसरे अपूर्व-स्वरूप में परिणत हो जाते हैं। **अन्नादान्न के मिश्रण से उत्पन्न यह अपूर्व पदार्थ ही 'यज्ञ' कहलाता है**। अन्नादान्न की सम्मिश्रण--प्रक्रिया ही यज्ञपदार्थ है। अतएव **'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्'** इस न्याय से यह **आहुति–प्रक्रिया** भी 'यज्ञ' कहलाने लगती है। अतएव आहुतिकाल में ' **'क्या होरहा है'** ? इस प्रश्न के उत्तर में **'यज्ञ होरहा है'** यह व्यवहार देखा जाता है।

**दाहक** पदार्थ अग्नि है, एवं **दाह्य** पदार्थ सोम है। **'सूयते इति सोमः'**। यह तत्त्व आहुत होने से ही सोम नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि सोमवल्ली से निकलने वाला रसविशेष भी सोम है, – किन्तु व्यापक लक्षण के अनुसार अन्नादाग्नि में आहुत होने वाले पदार्थ मात्र **'सोम'**शब्द से व्यवहृत किए जासकते हैं। **इध्म-घृत –तिल–सोमरस** आदि सभी सोम हैं। अग्नि और सोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है। अतएव जहाँ यज्ञविष्णु को **अग्नि** कहा जाता है, वहाँ– **"यतदन्नमेव स विष्णुर्देवता"** (शत० ७।५।१।२१। – **"सोमो वैष्णवो राजा"** (शत० १३ ४।३।८।)– **"यो वै विष्णुः सोमः सः"** (शत० ३ ३।४।२।) इत्यादिरूप से यज्ञात्मक विष्णु को **'सोम'** शब्द से भी व्यवहृत किया गया है। अग्नि–सोम–मय यज्ञमूर्त्ति विष्णु की प्रथम विकास-भूमि सूर्य्य ही है। सूर्य्य दाहक सावित्राग्निमय है। रोदसी– ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम इसी सौर अग्निमय, अतएव **'हिरण्यगर्भ'** नाम से प्रसिद्ध **'धामनिधि'** का ही प्रादुर्भाव होता है, जैसा कि **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है

**'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्"** (शत० २।२।५।१।) यह वचन भी सूर्य्य को ही पहिला **अग्निहोत्र** बतला रहा है। यह सौरयज्ञ भूतज्योतिर्म्मय है। यहाँ (सौर मण्डल में, किंवा यज्ञरूप विष्णुमण्डल में) कभी तम का प्रवेश नहीं होता, अतएव पुराण–भाषा में इस सौर विष्णु को **'श्वेतद्वीपनिवासी सत्यनारायण भगवान्'** कहा जाता है। सौर अग्नि **'सत्य'** है –(देखिए शत० ४।१।२।२२)। यह सत्याग्निपिण्ड (सूर्य्य

बिम्ब) आपोमय परमेष्ठी- मण्डल में प्रतिष्ठित है। सत्य सूर्य्य के चारों ओर व्याप्त रहने वाले इसी अपसमुद्र को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति कहती है –

**अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये ।**
**या रोचने परस्तात्सूर्य्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ॥**
—ऋक्सं० ३।२२।३।

'**नारदप्राण**' से उत्पन्न होने के कारण हीं पानी को '**नार**' कहा जाता है। यही सूर्य्य का '**अयन**' ( **प्रतिष्ठाभूमि** ) है। अतएव सूर्य्य को '**सत्यनारायण**' कहना सर्वथा अनुरूप होता है। कहना यही है कि, यज्ञविष्णुओं में प्रथम विष्णु, दूसरे शब्दों में प्रथम यज्ञ सूर्य्य ही है। इसी सूर्य्यविष्णु को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—"**स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञः-असौ स आदित्यः**" ( शत० १४।१।१।६ । "**चित्रं देवानामुदगात्**" इत्यादि मन्त्रानुसार सूर्य्य देवघन है। सूर्य्य की प्रत्येक रश्मि देव-प्राणमयी है। रश्मिगत सम्पूर्ण प्राणदेवता सत्यसूर्य्य के केन्द्र से आबद्ध हैं। अतएव इन के लिए "**सत्य-संहिता वै देवाः**" यह कहा जाता है। दिग्विभाग के अनुसार **प्राची-( पूर्वा )-दिक् देवताओं की है।** दूसरे शब्दों में सौरविष्णु पूर्वादिक् के अधिष्ठाता हैं। आरम्भ में ये सूर्य्यमूर्त्ति विष्णु यद्यपि प्राचीदिक् में हीं प्रतिष्ठित थे। परन्तु आगे जाकर छन्दों के आवरण से ये यज्ञविष्णु चारों दिशाओं में व्याप्त होते हुए भूपिण्ड पर प्रतिष्ठि होजाते हैं। यज्ञरूप सूर्य्यविष्णु प्राचीदिक् में प्रतिष्ठित है, इसी नित्यसिद्धा स्थिति को लक्ष्य में रख कर '**ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य**' यह कहा गया है।

यज्ञ में स्वयं गति नहीं है। दूसरे शब्दों में-यज्ञमूर्त्ति सूर्य्यबिम्ब स्वस्थान में सर्वथा अविचाली है। रश्मियों में रहने वाले प्राणमूर्त्ति, अतएव गतिधर्म्मा देवताओं के व्यापार से ही सौरयज्ञ का चारों दिशाओं में वितान होता है। दूसरे शब्दों में—सौर अग्नि प्राणदेवताओं के स्वरूप में परिणत होकर ही सम्वत्सर-स्वरूप का अधिष्ठाता बनता हुआ सर्वत्र व्याप्त होता है। स्वयं अग्निमूर्त्ति विष्णु में गति नहीं है, गति है देवताओं में। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर— **देवताओं नें विष्णु को प्राची दिक् में व्याप्त (पसार) कर उसे छन्दों से वेष्टित कर लिया**" यह कहा गया है। अग्नि में आहुत सोम अग्निरूप में परिणत होजाता है। फलतः सोम की स्वतन्त्र सत्ता का उच्छेद होजाता है। अतएव हम इस अग्नीषोमात्मक विष्णु को आगे जाकर '**अग्नि**' नाम से ही व्यवहृत करेंगे। इस अग्नि की ( विष्णु की ) प्राची, प्रतीची, दक्षिणा, उदक् भेद से चार अवस्थाएँ होजाती हैं। इसी आधार पर—"**चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास**" यह कहा गया है। इस अनुगमवचन के अनेक अर्थ होते हैं, जैसा कि पूर्वप्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

उपर्युक्त निगम के अनुसार मौलिक अग्नि चार भागों में विभक्त है। वे चारों अग्नि, किंवा एक ही
अग्नि की चार अवस्थाएँ क्रमशः **ब्रह्माग्नि, अङ्गिरोऽग्नि, अन्नादाग्नि, पाशुकाग्नि,** इन नामों से प्रसिद्ध
है। स्वायम्भुव वेदाग्नि '**ब्रह्माग्नि**' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए—'**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्**'
( शत० १०।५।१।१ ) यह कहा जाता है, एवं यही अग्नि '**पुरुष**' ( यजुःपुरुष ) कहलाता है। **ऋक्समुद्र**
**को 'महोक्थ' कहा जाता है। सामसमुद्र को 'महाव्रत' कहा जाता है।** एवं यजुः को '**पुरुष**' **कहा**
**जाता है**। यही '**वागग्नि**' है। याज्ञिक--परिभाषा में इसी को '**सार्वयाजुषाग्नि**' कहा गया है। इसी वागग्नि
से ( स्वायम्भुव यजुरग्नि से ) सर्वप्रथम आपोमय परमेष्ठी का जन्म होता है। इसी के लिए "**सोऽपो**--
**ऽसृजत, वाच एवं लोकात्। वागेव साऽसृज्यत**।" ( शत० ६।१।१।६। ) यह कहा गया है। इसी सर्व--
मूलभूत प्रतिष्ठाग्निमयी वेदमयी वाक् के लिए—"**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा**' यह वचन
प्रसिद्ध है।

दूसरा है **अङ्गिरोऽग्नि**। इसी को परमेष्ठी के समन्वय से '**सुब्रह्माग्नि**', एवं '**ऋताग्नि**' नाम से व्यवहृत
कियाजाता है। ऋतमूर्त्ति यही अङ्गिरोऽग्नि आगे जाकर (सूर्य्य में) सत्याग्निरूप में परिणत होकर '**अन्नादाग्नि**'
नाम से प्रसिद्ध होता है। **अपोमय परमेष्ठी से सर्वत्र ऋतरूप से व्याप्त रहने वाला अथर्ववेदमूर्त्ति यह**
**ऋताग्नि ही अङ्गिरोऽग्नि है।**

तीसरा **अन्नादाग्नि** है। सौर अग्नि ही '**अन्नादाग्नि**' है। आहुत पदार्थों को अपने उदर में हुत
कर लेना इसी अग्नि का कार्य्य है। इसी अन्नादानभाव की प्रधानता से इसे '**अन्नादाग्नि**' कहा जाता है।
इसी को '**यज्ञाग्नि**'–'**छन्दस्याग्नि**'–'**सत्याग्नि**' आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। यह अग्नि
पारमेष्ठ्य अङ्गिरोऽग्नि की ही संकुचितावस्था है। आपोमय परमेष्ठी में जो अग्नि ऋत ( परमाणु ) रूप से
इतस्ततः चारों ओर व्याप्त रहता है, वही वायु की प्रेरणा से एक नियत केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ
कालान्तर में सूर्य्यपिण्डरूप में परिणत होजाता है। पिण्डावस्थापन्न अङ्गिरोऽग्नि हीं '**अन्नाद**' नाम से
व्यवहृत होता है। अङ्गिरोऽग्नि ऋतप्रधान होने से केन्द्र–शून्य है। अतः उस में अशनाया ( बुभुक्षा ) का
अभाव है। परन्तु अन्नादाग्नि **सकेन्द्र है, सत्य है**। अतः इस में इसी हृदयभाव के कारण **अशनाया**
जाग्रत होपड़ती है। सोमान्न से ही अङ्गिरोऽग्नि संकुचित होता हुआ पिण्डरूप में परिणत हुआ है। अपने
इसी पिण्डस्वरूप की रक्षा के लिए इस में निरन्तर अन्नादान की इच्छा बनी रहती है। इसी स्वाभाविक
धर्म्म के कारण इसका नाम '**अन्नादाग्नि**' होजाता है। क्योंकि यह अङ्गिरोऽग्नि की ही दूसरी अवस्था है, अतः
कहीं कहीं इसे भी **अङ्गिरोऽग्नि** कह दिया जाता है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है, तो अङ्गिरो–
ऽग्नि अन्य अवस्था है, एवं अन्नादाग्नि भिन्न अवस्था है।

चौथा है–पाशुकाग्नि। **प्रतिष्ठाशून्य अग्नि हीं पाशुकाग्नि है**। इसी को '**प्रवर्ग्याग्नि**' भी कहा जाता
है। स्वप्रतिष्ठा से वञ्चित यह पाशुकाग्नि द्यावापृथिवी की प्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इस की **पुरुष**,
**अश्व, गौ, अवि, अज**, ये पाँच अवस्थाएँ होतीं हैं। इसे हम **भौम** ( **भूपिण्ड–सम्बन्धी** ) **अग्नि** भी
कह सकते हैं। इसप्रकार एक ही स्वायम्भुव मौलिकाग्नि अवस्था-भेद से चार भागों में विभक्त होजाता है, जैसा
कि परिलेख से स्पष्ट है।

| | अग्नयः | लोकाः | नामान्तराणि |
|---|---|---|---|
| १— | ब्रह्माग्निः | स्वायम्भुवः | पुरुषाग्निः, वेदाग्निः, वागग्निः सार्वयाजुषाग्निः, |
| २— | सुब्रह्माग्निः | पारमेष्ठ्यः | अङ्गिरोऽग्निः, ऋताग्निः, |
| ३— | देवाग्निः | सौरः | अन्नादाग्निः, सत्याग्निः, छन्दस्याग्निः सावित्राग्निः, |
| ४— | भूताग्निः | पार्थिवः | पाशुकाग्निः, प्रवर्ग्याग्निः, द्यावा-पृथिव्योऽग्निः |

"चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास"

उपर्युक्त चारों अग्नियों में से प्रकृत कथानक में तीसरे '**अन्नादाग्नि**' का ही निरूपण है। **सौर अग्नि अन्नादाग्नि है, एवं यही यज्ञमूर्ति विष्णु है**। यही स्वस्वरूप से प्राचीदिक् में प्रतिष्ठित होता हुआ प्राणदेवताओं के द्वारा चारों ओर व्याप्त होता है। व्याप्तिलक्षण से युक्त होने से ही इस यज्ञाग्नि का, किंवा सौर अग्नि का 'विष्णु' नाम चरितार्थ होता है। इस अन्नादाग्नि की भी चार अवस्थाएँ होजातीं हैं। ये चारों अग्नियाँ, किंवा एक ही अन्नादाग्नि की चार अवस्थाएँ क्रमशः याज्ञिक परिभाषा के अनुसार–**आहवनीय, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, पाशुकाग्नि** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। सौर सावित्राग्नि निष्कैवल्य **दिव्याग्नि है**, यही सूर्य्यकेन्द्रस्थ प्रधान अग्नि है, यही मुख्य **अन्नादाग्नि** है। यह अग्नि **अनुष्टुप् छन्द** से छन्दित रहता है। आगे के **दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, पाशुकाग्नि,** इन तीनों की प्रतिष्ठा यही सावित्राग्नि है। अनुष्टुप्-छन्दा यही अग्नि अग्नित्रयी की आधारभूमि होने से, अग्नित्रयी का प्रभव होने से **प्रजापति** नाम से प्रसिद्ध है। इस अङ्गी प्राजापत्याग्नि के आधार पर उक्त अङ्गरूप तीनों अग्नि प्रतिष्ठित हैं। **गार्हपत्याग्नि केवल प्रथिवी में हीं व्याप्त है, दक्षिणाग्नि केवल अन्तरिक्ष में हीं प्रतिष्ठित है, पाशुकाग्नि केवल दूर्वादि पशुओं में हीं प्रतिष्ठित है। किन्तु आहवनीयरूप सावित्राग्नि त्रैलोक्य में व्याप्त है। अनुष्टुप् प्राजापत्य अग्नि का ही छन्द है**। प्रजापति इतर छन्दोऽवच्छिन्न सब अग्नियों पर अभिव्याप्त हैं। अतएव प्राजापत्य अनुष्टुप्छन्द को इतर छन्दों की योनि माना जाता है। अङ्गाग्नियों की अपेक्षा अङ्गी प्राजापत्याग्नि **ज्येष्ठ, एवं श्रेष्ठ** है। अतएव प्राजापत्य अनुष्टुप्छन्द सब छन्दों में ज्येष्ठ माना गया है। प्रजापति पर इतर देवताओं की सीमा समाप्त होजाती है। अतएव इतर देवताओं के छन्दों की अपेक्षा इस अनुष्टुप्छन्द को

अन्तिम छन्द माना गया है। सम्पूर्ण देवताओं की अन्तिम प्रतिष्ठा अनुष्टुप् छन्द ही है। इतर सब छन्दों की योनि यही अनुष्टुप्छन्द है। अनुष्टुप् के इसी स्वरूप को लक्ष्य में रखकर निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सम्मुख आते हैं—

१—"अनुष्टुप हि छन्दसां योनिः" (तां० ब्रा० ११।५।१७।)।

२—"ज्येष्ठं वा अनुष्टुप्" (तां० ब्रा० ८।७।३)।

३—"परमं वाऽएतच्छन्दो यदनुष्टुप्" (शत० १३।३।३।१।)।

४—"अन्तो वा अनुष्टुप् छन्दसाम्" (तां० ब्रा० १६।१२।८।)।

५—"अनुष्टुप् छन्दसाम् (एतमादित्यमानशे) (ता० ४।६।७)।

६—"विश्वे देवा अनुष्टुप् समभरन्" (जै०उ० १।१८।७।)।

७—"प्रजापतिर्वा अनुष्टुप्" (तां० ४।५।७।)।

८—"आनुष्टुभो वै प्रजापतिः (ता० ४।५।७।)।

९—"यस्य ते-(प्रजापतेः)-ऽहं (अनुष्टुप्) स्वं छन्दोऽस्मि" (ऐ० ब्रा० ३।१३।)।

तात्पर्य्य यही हुआ कि, प्राणदेवताओं के 'वितानयज्ञ' से अर्करूप में परिणत होकर त्रैलोक्य में व्याप्त होने वाला, सब देवता एवं सब छन्दों की अन्तिम प्रतिष्ठारूप, अनुष्टुप्छन्द से छन्दित सूर्य्यकेन्द्रस्थ प्राजापत्याग्नि ही **'आहवनीयाग्नि'** है। इस की प्रधान आवासभूमि प्राची दिक् है। इसी प्राजापत्याग्नि को लक्ष्य में रख कर—**"अग्निं पुरस्तात् समाधाय, तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः"** यह कहा गया है।

दूसरा है **गार्हपत्याग्नि**। भूपिण्ड सूर्य्य का ही उपग्रह माना गया है। सौर अन्नादाग्नि ही प्रवर्ग्यरूप से भूपिण्ड का स्वरूप-समर्पक बनता है। जो सौर अन्नादाग्नि सूर्य्यमण्डल से **प्रवृक्त'** होकर (पृथक् होकर) भूपिण्ड का स्वरूप--समर्पक बनता हुआ, भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ भूपिण्ड की प्रातिस्विक वस्तु बन जाता है, वही भूगृह का अधिपति पार्थिवाग्नि **'गृहपति'** नाम से प्रसिद्ध होता है। **'गृहा वै गार्हपत्याः'** के अनुसार भूपिण्ड गृह है। **'यथाग्निगर्भा पृथिवी'** इस वचन के अनुसार इस घर में यह **'गृहपति'** प्रतिष्ठित रहता है। सम्पूर्ण भूपिण्ड गृहपतिमय है। यही अग्नि याज्ञिक सम्प्रदाय में **'गार्हपत्याग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है। जिसप्रकार सौर आहवनीय सूर्य्य की प्रातिस्विक वस्तु है, एवमेव गार्हपत्याग्नि पृथिवी का निर्म्मापक बनता हुआ आज विशुद्ध पृथिवी की प्रातिस्विक सम्पत्ति बना हुआ है। इस पार्थिव अग्नि का पूर्ण विकास पश्चिमा दिक् में अर्द्धरात्रि के समय होता है। इसी अभिप्राय से रात्रि को **'आग्नेयी'** माना जाता है। आहवनीयाग्नि (सौराग्नि) की सत्ता प्राची में थी, गार्हपत्याग्नि (पार्थिवाग्नि) की सत्ता पश्चिम में है। यह अग्नि त्रिष्टुप्छन्द से छन्दित रहता है। इस अग्नि के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि, सौर दिव्याग्नि ही प्रवर्ग्यरूप से पृथिवी की वस्तु बन कर त्रिष्टुप्छन्द से छन्दित होकर पश्चिमादिक् में व्याप्त होरहा है। दूसरे शब्दों में--वही अन्ना-- दाग्नि अनुष्टुप्छन्द की कृपा से पूर्व में व्याप्त हो, वही त्रिस्टुप्छन्द की कृपा से आज पश्चिम में व्याप्त हो--

रहा है । यही पार्थिव वाग्नि **'अङ्गिरा'** नाम से भी प्रसिद्ध है । पाठकों को स्मरण होगा कि, हमने पूर्व में आपोमय ऋताग्नि को अङ्गिरोऽग्नि कहा है । अङ्गिरोऽग्नि आपोमय है । इधर—**'अद्भ्यः पृथिवी'** इस सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड आपोमय है । इस अप् सम्बन्ध के कारण हीं पार्थिव अग्नि कहीं कहीं अङ्गिरोऽग्नि नाम से भी व्यवहृत देखा जाता है । जिसप्रकार सौर आदित्याग्नि (आहवनीयाग्नि) निरन्तर पृथिवी की ओर आता रहता है, एवमेव पार्थिव अग्नि निरन्तर द्युलोक की ओर जाता रहता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

**इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्**
**प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥**
—अथर्वसं० १८।१।६१। ।

तीसरा है **दक्षिणाग्नि** । इसे ही याज्ञिक–परिभाषा में **'अपणाग्नि'** भी कहा जाता है । कहा जा चुका है कि, सौर अग्नि सूर्य्यमण्डल से निरन्तर भूपिण्ड की ओर आता रहता है, साथ ही पार्थिव अग्नि ऊपर की ओर जाता रहता है । इसी को **आदित्य** एवं **अङ्गिरा** की प्रतिस्पर्द्धा कहा जाता है । सौर अग्नि भूपिण्ड की ओर आता अवश्य है । परन्तु पार्थिव अग्नि के प्रत्याघात से वह पुनः स्वमण्डल की ओर ही प्रतिफलित होजाता है । उधर सौर सावित्राग्नि का आगमन निरन्तर होता रहता है । अतः पार्थिवाग्नि के आघात से ऊपर की ओर जाता हुआ प्रतिफलित सौराग्नि द्युलोक (स्वर्लोकरूप सूर्य्यलोक) की ओर भी नहीं जासकता । सावित्राग्नि के प्रत्याघात से उसका द्युमार्ग भी अवरुद्ध होजाता है । **फलतः पार्थिव गार्हपत्याग्नि, तथा दिव्य सावित्राग्नि के आघात से संदश-पतित यह प्रतिफलित सौर अग्नि तिर्य्यक् होता हुआ दक्षिणादिक् में व्याप्त होजाता है** । पूर्वमार्ग सावित्राग्नि से अवरुद्ध है । पश्चिम मार्ग गार्हपत्याग्नि से अवरुद्ध है । उत्तरमार्ग सोमप्रधान होने से अवरुद्ध है । शेष दक्षिणादिक् रहती है । यहीं यह प्रतिफलित सौर अन्नादाग्नि प्रतिष्ठित होता है । यही दक्षिणादिक् याम्या ( आग्नेयी ) दिक् कहलाती है ।

आयुर्वेदज्ञ दक्षिणस्था ओषधियों को **'आग्नेयीं'** हीं माना करते हैं । यही अग्नि **'ऋतु'** नाम से व्यवहृत होता है । यह दक्षिण से उत्तर की ओर जाता हुआ ओषधियों का ( अन्नादिका ) परिपाक करता है । इसी परिपाकक्रिया के कारण इस दक्षिणाग्नि को **'अपणाग्नि'** ( **हविः परिपाक करने वाला अग्नि** ) कहा गया है । दक्षिणस्थ यह अग्नि **'गायत्री'** छन्द से छन्दित रहता है । ज्योतिर्वित् ( ज्योतिषी ) दक्षिणस्थ जिस अन्तिम पूर्वापरवृत्त को **'मकरवृत्त'** कहा करते हैं, गायत्री के सम्बन्ध से छन्दः परिभाषा के अनुसार वही वृत्त वैदिक विज्ञान में **'गायत्री'** नाम से व्यवहृत होता है । **गायत्रीछन्दस्क यह दक्षिणाग्नि** भी उसी सौर अन्नादाग्नि की अवस्था–विशेषमात्र है । तात्पर्य्य यही हुआ कि, सौर अग्नि प्रतिफलितरूप से गायत्रीछन्द से छन्दित होकर दक्षिणा दिक् में व्याप्त होजाता है ।

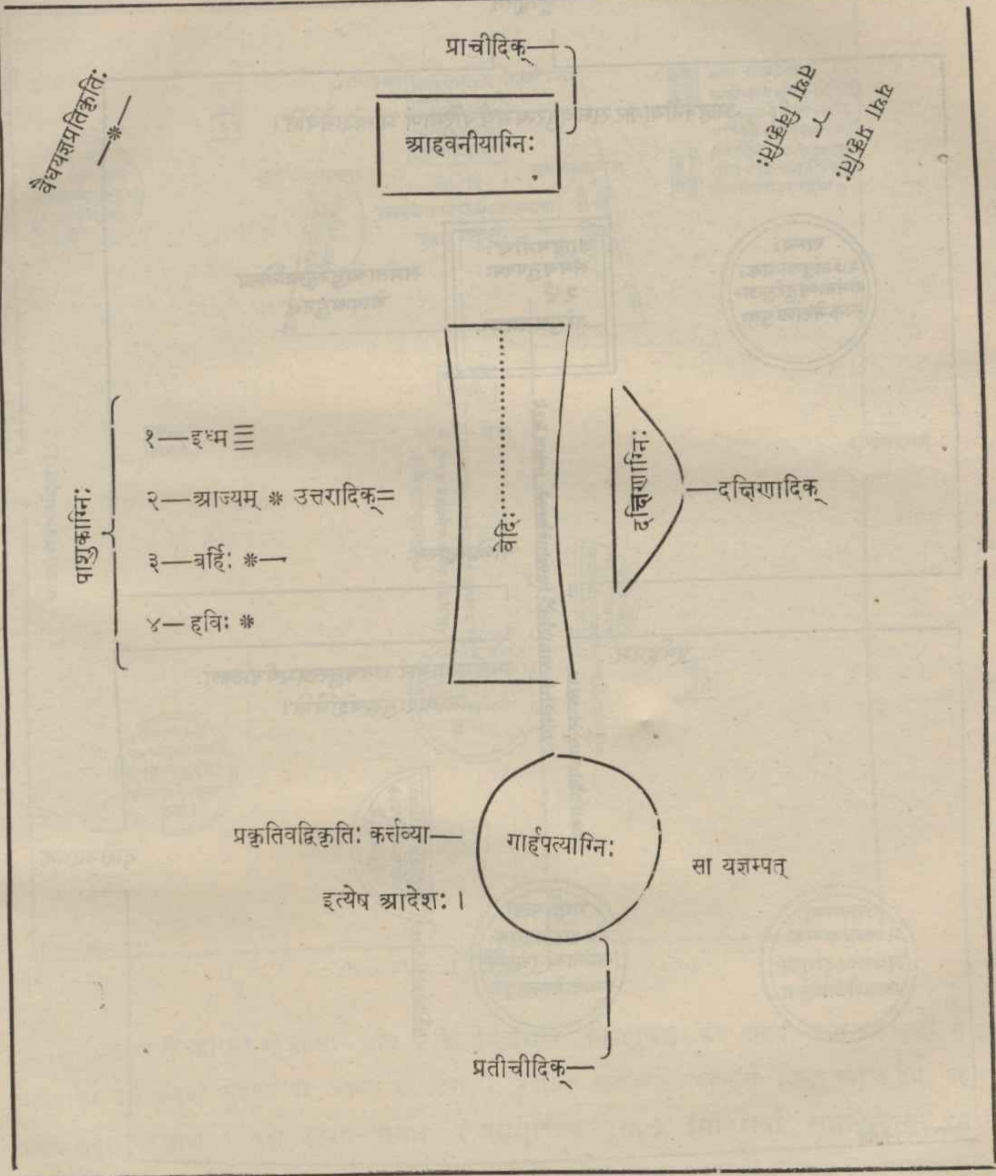
चौथा है **पाशुकाग्नि** । यह अग्नि भूपृष्ठ से संलग्न रहता है । पार्थिव दिव्य अग्नि के सम्मिश्रण से एक नवीन सांयौगिक अग्नि उत्पन्न होता है । यह अग्नि **'संकर'** अग्नि होने से **पशु (आत्मप्रतिष्ठारहित)** माना जाता है । संकरप्रजा जैसे अपने विशुद्ध आत्मा से तिरोहित रहती है, एवमेव द्यावापृथिवी के संयोग से

उत्पन्न यह अग्नि स्वस्वरूप से तिरोहित रहता है। फलतः इस अग्नि का विशुद्ध अग्नियों के साथ योग नहीं होने पाता। **पूर्व में सावित्र, पश्चिम में गार्हपत्य, एवं दक्षिण में अपणाग्नि है।** इस पशुरूप संकर अग्नि के लिए तीनों मार्ग अवरुद्ध हैं। उत्तरादिक् शेष रहती है। यहाँ सोम का प्राधान्य है। **सोम स्वयं अन्न होने से अग्नि का भोग्य बनता हुआ पशु है।** इसी सजातीय सम्बन्ध के कारण उक्त **'संकर अग्नि'** को उत्तरादिक् में हीं आश्रय मिलता है। यह पाशुकाग्नि ही **दूर्वा-इध्म-बर्हि-आज्य-हवि-आदि** पदार्थों का स्वरूप-सम्पादक है। यह अग्नि **जगतीछन्द** से छन्दित है। अतएव उत्तरस्थ **'कर्कवृत्त' जगतीछन्द** नाम से प्रसिद्ध है।

अपिच-**जागत पाशुक अग्नि** के सम्बन्ध से ही-**"पशवो जगती"** ( शत० ब्रा० ३।४।१।१।३ ), **"जागता वै पशवः"** ( ऐ० १।५-२१-१८ ) इत्यादि रूप से पशुओं को **जागत** कहा जाता है। यद्यपि **पाशुकाग्नि** अन्नाद के संकर से उत्पन्न होने के कारण अन्नाद की ही अवस्था-विशेष है। परन्तु पशुभाव की प्रधानता से, साथ ही साक्षात् पशुरूप उत्तरस्थ सोम के सम्बन्ध से यह अन्नादकोटि से यों बहिर्भूत होता हुआ **'अन्न'** ही मान लिया जाता है। यह **'भोग्य'** होने से **'निरायतन'** है। अतएव जिसप्रकार सायतन इतर तीनों अग्नियों के लिए **वैधयज्ञ ( मनुष्यकृत यज्ञ )** में कुण्ड का निर्म्माण होता है, इसप्रकार इस पाशुकाग्नि के लिए स्वतन्त्र कुण्ड निर्म्माण नहीं होता। अतएव च इस चौथे पाशुकाग्नि को अग्नि-मर्य्यादा से बहिर्भूत समझते हुए यज्ञाग्नि से **त्रेताग्नि ( आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि )** का ही ग्रहण किया जाता है। वेदि के उत्तर भाग में प्रतिष्ठित रहने वाले **आज्य-इध्म-बर्हि-हवि-आदि** इसी पाशुकाग्नि की प्रतिकृतियाँ है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, पार्थिव, एवं दिव्य अग्नि की सङ्करावस्थारूप पाशुकाग्नि से उत्तरादिक् व्याप्त रहती है! इसप्रकार यज्ञविष्णुरूप सौर अग्नि अनुष्टुप् आदि छन्दों से छन्दित होकर चारों दिशाओं में व्याप्त रहता है। इसी यज्ञविष्णु के प्रभाव से सौर देवता भूपिण्ड पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते हैं।

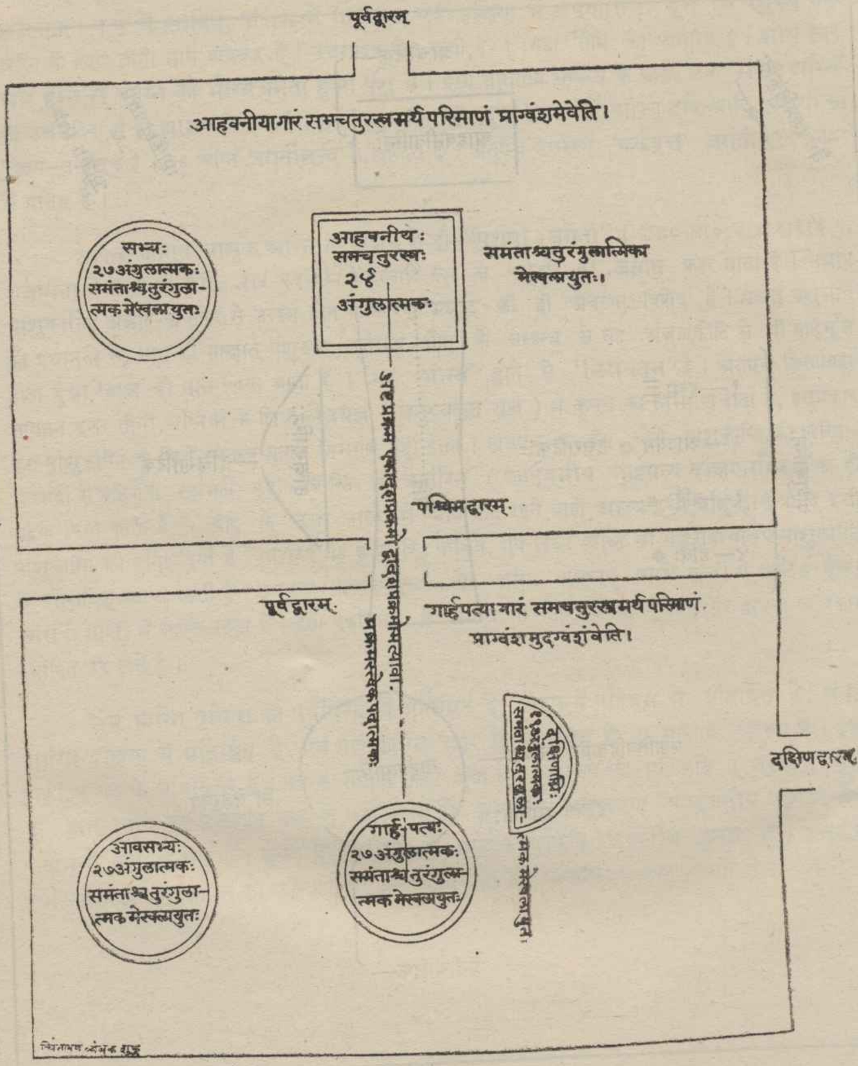
**सौर अग्नि पृथिवी की पूर्वविन्दु में प्रतिष्ठित है, गार्हपत्य पश्चिम में प्रतिष्ठित है, अपणाग्नि दक्षिण में प्रतिष्ठित है, एवं पाशुकाग्नि उत्तर में प्रतिष्ठित है।** भूपिण्ड वेदिरूप है। इसी प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर वैध यज्ञ का वितान किया जाता है। **भूपिण्ड की प्रतिकृति ( नकल ) वेदि है। आहवनीय की प्रतिकृति वेदि के पूर्व भाग में प्रतिष्ठित चतुष्कोण आहवनीय कुण्ड है। पश्चिम में वर्त्तुल गार्हपत्य कुण्ड है। दक्षिण में अर्द्धकटकाकृति अपणीय कुण्ड है। उत्तर में इध्म--बर्हिरूप पाशुकाग्नि की प्रतिकृति है,** जैसाकि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट होजाता है।

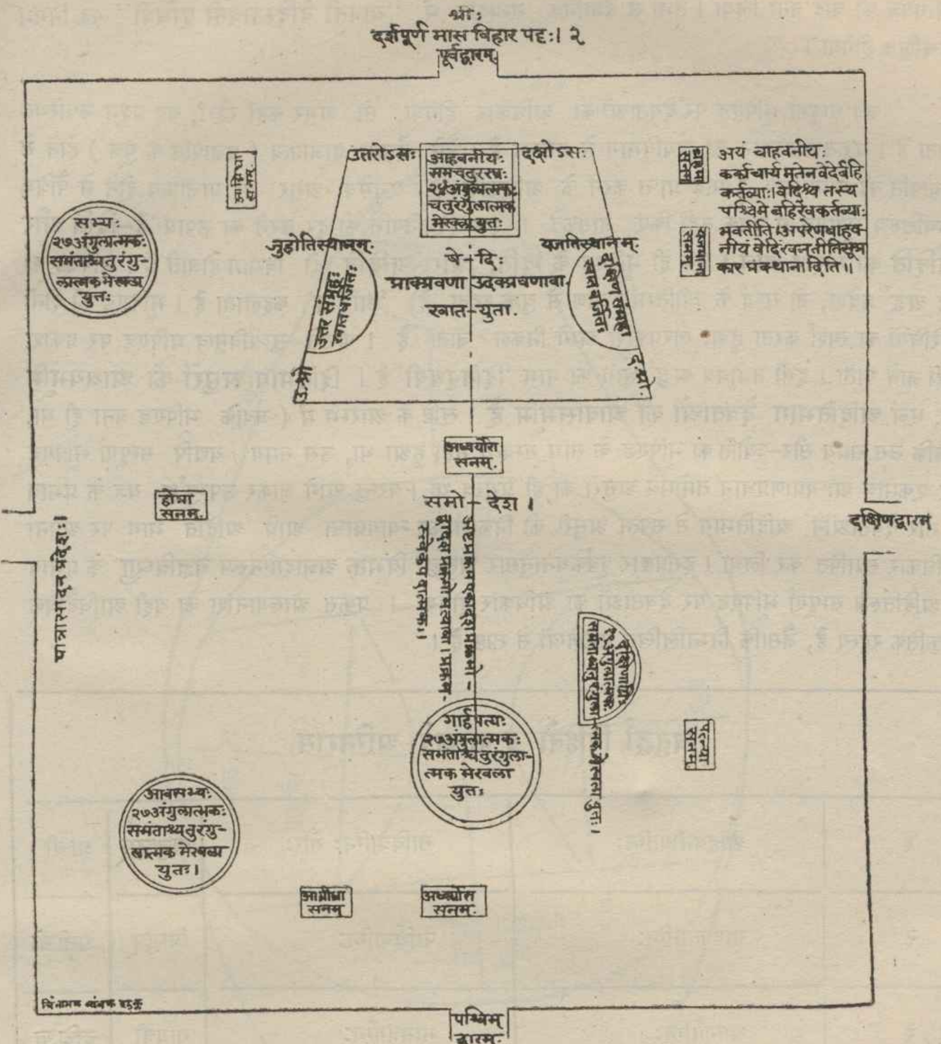
# वैधयज्ञवेदिपरिलेखः—




---*---

## अग्निहोत्रशाला १


पूर्वद्वारम्
आहवनीयागारं समचतुरस्रमर्थ परिमाणं प्राग्वंशमेवेति।
सभ्यः २७अंगुलात्मकः समंताश्चतुरंगुला-त्मक मेखलायुतः
आहवनीयः समचतुरस्रः २४ अंगुलात्मकः
समंताश्चतुरंगुलात्मिका मेखलायुतः।
पश्चिमद्वारम्
पूर्वद्वारम्
गार्हपत्यागारं समचतुरस्रमर्थ परिमाणं प्राग्वंशमुदग्वंशंवेति।
दक्षिणद्वारम्
आवसथ्यः २७अंगुलात्मकः समंताश्चतुरंगुला-त्मक मेखलायुतः
गार्हपत्यः २७अंगुलात्मकः समंताश्चतुरंगुला-त्मक मेखलायुतः

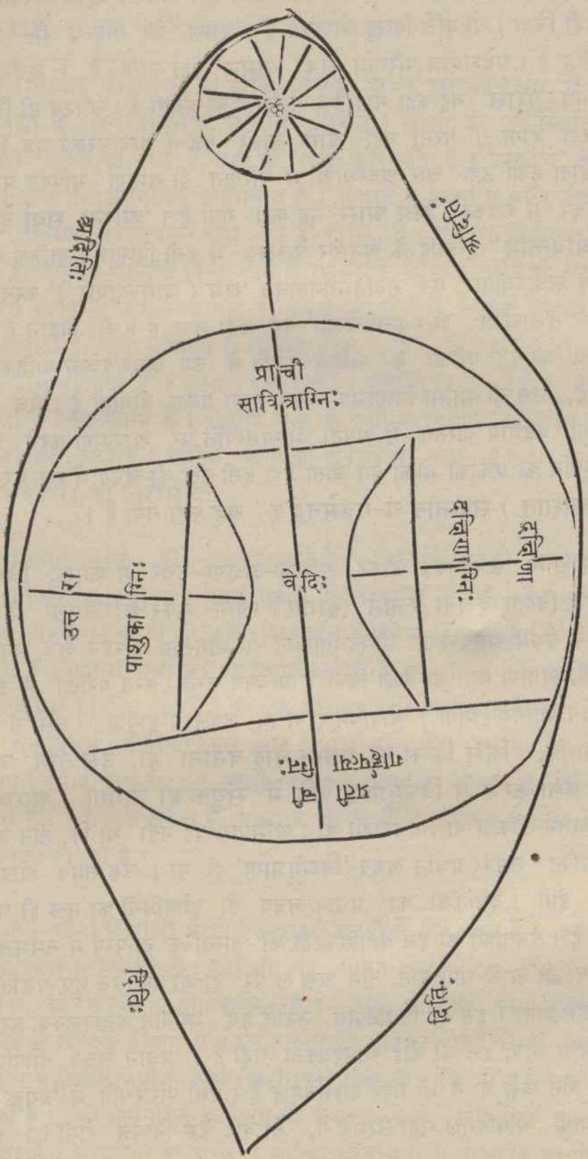



प्रकरण के आरम्भ में बतला आए हैं कि, देवताओंनें **विष्णुयज्ञ** को अग्रणी बना कर छन्दों से वेष्टित कर उसे सम्पूर्ण भूपिण्ड पर व्याप्त कर दिया । जहाँतक छन्दोवेष्टित यज्ञमूर्त्ति विष्णु व्याप्त हुए, वह यज्ञिय प्रदेश कहलाया । वही प्रदेश–**"एनेन (यज्ञमूर्त्तिर्विष्णुना) इमां सर्वां समविन्दन्त"** इस निर्वचन के अनुसार याज्ञिकों के समय में 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हुआ । सम्पूर्ण भूपिण्ड पर देवताओंनें अपना अधिकार स्थापित कर लिया । दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण भूपिण्ड को यज्ञ के व्याज से देवताओंनें अपने

नित्ययज्ञ की वेदि बना लिया। तभी से वैज्ञानिक सम्प्रदाय में **"यावती वेदिस्तावती पृथिवी"** यह निगम प्रचलित होगया।

जब सम्पूर्ण भूपिण्ड पर देवताओं का अधिकार होगया, तो असुर कहाँ रहे ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। प्रकृत आख्यान का दायविभाग से सम्बन्ध है। जैसे देवता प्राजापत्य ( प्रजापति के पुत्र ) होने से प्रजापति की सम्पत्तिरूप भूपिण्ड प्राप्त करने के अधिकारी हैं, एवमेव असुर भी प्राजापत्य होने से पैत्रिक सम्पत्तिरूप भूपिण्ड से पृथक नहीं किए जासकते। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय है-**दिति और अदिति का स्वरूप ज्ञान**। एक ही भूपिण्ड के **दिति, और अदिति** दो विभाग होजाते हैं। भूपिण्ड का वह अर्द्ध प्रदेश, जो सूर्य्य के ज्योतिर्म्मय प्राण से युक्त रहता है, **'अदिति'** कहलाता है। भूपिण्ड की दोनों परिधियों का स्पर्श करता हुआ सौरप्रकाश आगे निकल जाता है। इससे सूर्य्यविमुख भूपिण्ड पर प्रकाश नहीं जाने पाता। इसी तमोमय अर्द्ध भाग का नाम **'दितिपृथवी'** है। **दितिभाग असुरों की आश्रयभूमि है, एवं अदितिभाग देवताओं की आवासभूमि है।** सृष्टि के आरम्भ में ( जबकि भूपिण्ड बना ही था, जबकि उस समय सौर-ज्योति का भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ था, उस समय ) यद्यपि सम्पूर्ण भूपिण्ड पर एकमात्र आप्यप्राणप्रधान तमोमय असुरों का ही प्रभुत्त्व था। परन्तु आगे जाकर उपर्युक्त यज्ञ के प्रभाव से सौर देवताओंने अदितिभाग से सपत्न असुरों को निकाल कर न्यायप्राप्त आधे अदिति भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसप्रकार पूर्वकथनानुसार **चतुर्द्धा विभक्त अन्नादाग्निरूप यज्ञविष्णु** के प्रभाव से अदितिरूप सम्पूर्ण भूपिण्ड पर देवताओं का अधिकार होगया। प्रकृत आख्यानांश का यही आधिदैविक प्राकृतिक रहस्य है, जैसाकि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट है।

| **चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे-अग्निरास** | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १ | आहवनीयाग्निः | सावित्राग्निः सौरः | अनुष्टुप् | प्राची |
| २ | गार्हपत्याग्निः | पार्थिवाग्निः | त्रिष्टुप् | प्रतीची |
| ३ | अपणाग्निः | गायत्राग्निः | गायत्री | दक्षिणा |
| ४ | पाशुकाग्निः | प्रवर्ग्याग्निः | जगती | उत्तरा |


प्राची
सावित्राग्निः
वेदिः
दक्षिणाग्निः

प्रकृत प्रकरण में **'अनुष्टुपछन्द'** का उल्लेख नहीं है। प्राचीदिक् के सम्बन्ध में केवल—**'ते ह पाञ्चं विष्णुं निपाद्य'** यही कहा गया है। इस का कारण यही है कि, सौर विष्णु प्राज्यापत्याग्निरूप है। यही **अनुष्टुप् छन्द है**। इतर तीनों विवर्त्त इस प्राजापत्याग्नि के ही विकास हैं। एवमेव इतर तीनों छन्द अनुष्टुप्-छन्द के ही विकास हैं। वह प्रतिष्ठारूप से सर्वत्र व्याप्त है। अतएव ऋषिने स्वतन्त्ररूप से अनुष्टुप्छन्द का उल्लेख नहीं किया। यज्ञमूर्ति विष्णु प्राणरूप है। प्राण के सम्बन्ध में–**"प्रादेशमितो वै प्राणः"** यह निगप प्रसिद्ध है। प्रदेशमात्र परिणाम को ही **'वामन'** कहा जाता है। इसी आधार पर—**"वामनो ह वा अग्रे वि ्गुरास"** यह कहा गया है। भूतकाल का प्रयोग है। अवश्य ही विष्णुप्राण आरम्भ में प्रादेशशमात्र ही रहा होगा। परन्तु यही आगे जाकर यज्ञ–( सम्वत्सररूप यज्ञ ) रूप में परिणत होकर छन्दों से वेष्टित होता हुआ उक्त चार अवस्थाओं में परिणत हो सम्पूर्ण भूपिण्ड पर व्याप्त होजाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर **'अग्रे आस'** यह कहा गया है। **'अग्निः सर्वा देवताः'–अग्नि–पुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्'** इत्यादि के अनुसार त्रैलोक्य में इसी विष्णुरूप याज्ञिक अग्नि के आधार पर देवता प्राणोदानरूप **अर्कव्यापार,** एवं भूतनिर्म्माणसाधन **'श्रम ( वाग्व्यापार )'** करने में समर्थ बनते हैं। इसी आधार पर–**"तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः"** यह कहा गया है। जो विद्वान् ( वैज्ञानिक ) उक्त प्राकृतिक वैज्ञानिक रहस्य की पूर्ण परीक्षा कर याज्ञिक-पद्धति से उस असुरविजेता याज्ञिक विष्णुप्राण को आत्मसात् कर लेता है, उस का आत्मा विष्णुमय बनता हुआ प्रबल होजाता है। एवं इस याज्ञिक बल के प्रभाव से वह यज्ञकर्त्ता यजमान वास्तव में अपनी भोग्यसम्पत्ति पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं का पूर्ण पराजय कर उस सम्पत्ति का एकाकी भोक्ता बन जाता है। इसी फल को लक्ष्य में रख कर–**"निर्भजत्यस्यै ( अस्याः पृथिव्याः सकाशात ) सपत्नान् य-एवमेतद्वेद"** **यह** कहा गया है।

पूर्व की ओर से अग्नि से अवरुद्ध होकर, पश्चिम–दक्षिण–उत्तर में क्रमशः **त्रिष्टुप्–गायत्री–जगती–छन्दों** से घिर पर **विष्णु देवता 'म्लान' होगए**। म्लान होकर ओषधिमूलों में प्रविष्ट होगए। आगे जाकर यज्ञविद्या के प्रथम आविष्कर्त्ता भौमदेवताओंने ( भौमस्वर्ग मे रहने वाले मनुष्यदेवताओंने ) यज्ञप्रसाधन के लिए विष्णुप्राण का अन्वेषण किया। अन्वेषण करते करते परीक्षा से उन्हें विष्णुप्राण ( याज्ञिक विशुद्ध पार्थिव आग्नेय प्राण ) ओषधिमूलों में हीं उपलब्ध होगया। तभी से उन्होंने वैधयज्ञ में यह विधान कर दिया कि, **'जिस किसी को यज्ञार्थ वेदि बनाना हो, उसे तीन अङ्गुल भू भाग कोड देना चाहिए। ऐसा करने से विष्णुप्राण वेदि में संयुक्त हो जायगा'**। आरम्भ में देवताओंनें तीन अङ्गुल भूमि–का खनन किया था। देवताओं का अभिप्राय यह नहीं था कि, तीन अङ्गुल ही भूमि-खनन किया जाय। अपितु उनका प्रधान लक्ष्य **'विष्णुप्राण'** ही था। उस समय ओषधि– मूल तीन अङ्गुल गहरे ही मिले होंगे। देवताओं का प्रधान लक्ष्य तो ओषधियों का मूल ही था। क्योंकि वहीं विष्णुप्राण व्याप्त रहता है। देवताओं की इस वैज्ञानिकदृष्टि का वास्तविक तात्पर्य्य न समझते हुए तैत्तिरीय–सम्प्रदाय के अनुयायी **पाञ्ची** आदि याज्ञिकोंने तीन अङ्गुल पर ही जो बल देते हुए पद्धति में **'त्र्यङ्गुला वेदिः स्यात'** यही विधान माना। इस पर विप्रतिपत्ति उठाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, तीन ही अङ्गुल वेदिखनन किया जाय, इस की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रधान लक्ष्य ओषधिमूलों पर होना चाहिए। मान लो, कहीं तीन अङ्गुल से भी गहरे ओषधिमूल हैं। ऐसी परिस्थिति में **'त्र्यङ्गुला एव वेदिः स्यात्'** इस पक्ष के अनुयायी ओषधिमूल नहीं उखाड़ेंगे, तो वेदि कैसे निष्पन्न होगी ?। अतः यज्ञसमय

में अध्वर्यु को ओषधिमूल उखाड़ ने की ही आज्ञा देनी चाहिए। क्योंकि देवताओंनें ओषधिमूलों में हीं विष्णु को प्राप्त किया था। अब प्रश्न बच जाता है विष्णु के म्लान होने का। **विष्णु कैसे म्लान होगए ?**, इसी प्रश्न का समाधान कर यह आधिदैविकचरित्र उपरत किया जाता है।

**पञ्चाक्षरविद्यावित्** विद्वान् जानते हैं कि, **विष्णु अक्षर आगतिधर्म्मा है, इन्द्राक्षर गतिधर्म्मा है। स्थितितत्त्व ब्रह्मा है, स्थितिगर्भिता आगति ( विष्णु ) सोम है, एवं स्थितिगर्भिता गति (इन्द्र) अग्नि है।** 'विकास' अग्नि का धर्म्म है, इसी को 'तेज' कहा जाता है। **'संकोच'** सोम का धर्म्म है, वही **'स्नेह'** नाम से प्रसिद्ध है। अग्नितत्त्व इन्द्रप्रधान है। विकास से हृद्ग्रन्थि का उच्छेद होता है, एवं संचोक से हृद्ग्रन्थिमूलक सृष्टिभाव संकोचधर्म्मा सोम पर ही निर्भर है। जबतक विकासधर्म्मा अग्नि में सोम की आहुति होती रहती है, तभीतक यज्ञमूर्ति विष्णु सोम के सहयोग से सृष्टिरक्षा करने में समर्थ रहते हैं। सोमाहुति के अवरुद्ध होजाने से यज्ञविष्णु उत्क्रान्त होजाते हैं, केवल इन्द्रसहचारी अग्नि की ही सत्ता रह जाती है। हृद्ग्रन्थि उच्छिन्न होजाती है, सृष्टि मुक्तिरूप में परिणत होजाती है। **संकोचभाव ही म्लानभाव है। सृष्टि में आत्मविकास म्लान होजाता है।** इस का प्रधान कारण यज्ञमूर्ति विष्णु ही है। भौतिक सृष्टि वैष्णवी है। यह सब सृष्टि आत्मा के लिए म्लान है। वैष्णीव सृष्टि के इसी म्लानभाव को लक्ष्य में रखकर विष्णु को आख्यान में **'म्लान'** कहा गया है। भौतिक सृष्टि की अपेक्षा से म्लानभाव का अर्थ है—**हृद्ग्रन्थि की प्रवृत्ति, एवं आत्मविकास का तिरोभाव।**

सूर्य्यकेन्द्र में हमनें विष्णु की सत्ता बतलाई है। **"सूर्य्यो बृहती मध्यूढस्तपति"–"नैवोदेता नास्तमेस्ता मध्ये एकल एव स्थाता"–वृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'** इत्यादि श्रौत प्रमाणों के अनुसार सूर्य्य–बिम्ब ठीक हमारे खस्वस्तिक पर बृहती छन्द के (विष्वद्वृत्त के) केन्द्र में प्रतिष्ठित है। मूलयज्ञरूप विष्णु इसी सूर्य्यकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। यहीं से आगे चलकर प्राणदेवताओं के द्वारा गायत्र्यादि छन्दोंसे वेष्टित होकर विष्णु-देवता पूर्वादि दिशाओं में प्रतिष्ठित होते हैं। केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला **मूलविष्णु**, एवं चारों दिशाओं में व्याप्त रहने वाला **तूलविष्णु**, दोनों हीं हमारे लिए ( प्राप्त करने में ) अशक्य हैं। वह हमारे अधिकार से बाहिर है। इसी अप्राप्तिभाव के कारण हम हमारी दृष्टि से विष्णु को अवश्य ही **'म्लान' (तिरोहित-प्राप्तुमशक्य)** कह सकते हैं। हमें मिल सकता है एकमात्र पार्थिव विष्णु। विष्णु का वह त्रैलोक्य व्यापक स्वरूप तो हमारे लिए 'असाप्तवत्' ही है।

होता क्या है—तीनों दिशाओं में तो विष्णुप्राण छन्दों से घिर जाता है। इसका स्वस्थान प्राचीदिक् (प्राचीदिक्स्थ सूर्य्य, किंवा सूर्य्यकेन्द्र) है। वहाँ भी यह आगत छन्दोवेष्टित विष्णुप्राण पुनः जाकर प्रतिष्ठित नहीं होसकता। कारण, वहाँ से विशुद्ध सावित्राग्नि त्रैलोक्य पर आक्रमण करता हुआ नीचे की ओर आरहा है। इन चारों मार्गों के अवरुद्ध होजाने से अन्ततोगत्वा इस याज्ञिक प्राण को ओषधियों के मूल में हीं प्रतिष्ठित होना पड़ता है। सभी ओषधियाँ निरन्तर (अहोरात्र), विशेषतः रात्रि में यज्ञात्मक ( विष्णुरूप ) सौर रस का पान किया करतीं हैं। इसी सोमगर्भित अग्निरस का पान करने से ओषधियाँ पुष्ट होतीं हैं, इसी रस से इनका परिपाक होता है। ओषधियों का शरीर ( भौतिक दृश्य भाग ) चान्द्ररस का पान करता है। अतएव शरीरापेक्षया ओषधियाँ **'सौम्या'** कहलातीं हैं। **अतएव च चन्द्रमा ( सोम ) को ओषधियों का पति**

**कहा जाता है** । परन्तु आत्मदृष्ट्या ओषधियों का पोषक सौर अग्नि ही है । यह सौरी ऊष्मा (ताप–अग्नि) ओषधियों के गर्भ में प्रतिष्ठित रहती है, अतएव "**ओषं** ( उष दाहे-दाहस्तापः-तापः-अग्निस्तं ) धत्ते" इस निर्वचन से इन्हें '**ओषधि**' कहा जाता है । **म्लान (साक्षात्रूप से प्राप्तुमशक्य)** सौर यज्ञिय विष्णु ओषधियों में ही प्रतिष्ठित रहता है । ऐसी अवस्था में हम कह सकते है कि, पार्थिव मनुष्यों को यदि कहीं वैष्णवप्राण मिल सकता है, तो वे ओषधियों के मूल ही हैं । पार्थिव यज्ञाग्नि का वैधयज्ञ में समावेश करने के लिए, दूसरे शब्दों में विशुद्ध पार्थिव यज्ञाग्नि के परिग्रह के लिए ओषधिमूल से संलग्न भूपृष्ठ का ही आश्रय लेना आवश्यक है ।

ओषधिनिर्म्माण–प्रक्रिया में विष्णुदेवता के दर्शन कीजिए । पूर्व में यज्ञ का लक्षण करते हुए '**अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः**' यह कहा गया है । अग्नीषोमात्मक यज्ञ को ही विष्णु कहा गया है । ओषधि-वनस्पतियों में निरन्तर यह अग्नीषोमात्मक यज्ञ होता रहता है । यही दैनंदिनयज्ञ ब्राह्मणग्रन्थों में '**अहरहर्यज्ञ**' नाम से प्रसिद्ध है । ओषधिनिर्म्माणार्थ जिस बीज का भूगर्भ में वपन होता है (बीज बोया जाता है ), उस बीज में ऊपर की ओर दो आस्तरण रहते हैं । इन दोनों पार्श्वदलों से बीज सुरक्षित रहता है । भूपृष्ठ के चारों ओर '**यमवायु**' व्याप्त रहता है । यह **याम्य-रूक्ष-रुद्रवायु 'जीवनीयरस'** का शोषण कर लेता है । बीज में भी जीवनीय रस रहता है । वही आगे जाकर पुष्पित, एवं पल्लवित होता है । इस जीवनीयरस को ( जो कि वास्तविक '**बीज**' है ) यमवायु के आघात से बचाने के लिए अन्तर्य्यामी ने उसके दोनों ओर दो आवपन (ढक्कन) लगा दिए हैं । वे ही पार्श्वस्थ दल यमवायु के आघात से गर्भस्थ रसमूर्त्ति '**वृन्त**' रूप बीज की रक्षा करते हैं । जबतक इस बीज को भूगर्भ में प्रविष्ट नहीं करा दिया जाता, तबतक वह अङ्कुरित नहीं हो-सकता । यदि धरातलपृष्ठ पर बीज रखकर उस पर आप जलसेक करेंगे, तो रक्षक दोनों पार्श्वदल विकसित होजायँगे । यमवायु मध्यस्थ रस को दग्ध कर देगा । इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए बीज को भूगर्भ में हीं कोडा जाता है । वहाँ जलसेक होता है । जल की आर्द्रता से, एवं भूगर्भ की ऊष्मा से दोनों पार्श्वदल कपाटवत् खुल जाते हैं । आगे क्या होता है—सुनिए ! गर्भ में एक '**वृन्त**' रहता है । उस वृन्त में '**हृद-यशक्ति**' काम करने लगती है । शक्तित्रयी की सम्मिलित अवस्था का नाम ही हृदयशक्ति है । **ब्रह्मशक्ति 'यम्' है, विष्णुशक्ति 'हृ' है** । इन्द्रशक्ति '**द**' है । विष्णु रस का आहरण करते हुए '**हृ**' हैं, इन्द्र रसनिक्षेप करते हुए '**द**' हैं, एव दोनों का समन्वय ( नियमन ) कराने वाले ब्रह्मा '**यम्**' हैं, तीनों की समष्टि ही '**हृदयम्**' है ।

'**बीजगुहा**' में यह '**हृदयशक्ति**' **ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र**-इस रूप से प्रतिष्ठित रहती है । वृन्त के अग्रभाग में **शिवरूपा इन्द्रशक्ति** है, भूगर्भ में दूर पर्य्यन्त व्याप्त रहने वालीं बीजशिराओं के मूल में **ब्रह्मशक्ति** रहती है । एवं जिस बिन्दु से **शिराएँ** भूगर्भ में जातीं हैं, एवं जिस बिन्दु से **वृन्त** ऊपर की ओर जाता है, दोनों की विभाजिका उस मध्यम बिन्दु में **विष्णुशक्ति** प्रतिष्ठित रहती है । **मध्यस्थ विष्णु** ऊपर से **सौर-चान्द्र-रस** का ग्रहण करते हैं, नीचे से **पार्थिवरस** का आकर्षण करते हैं । मध्य में प्रतिष्ठित विष्णु इस ओर से **पार्थिव देवताओं** को लेते हैं, उस ओर से **सौरदेवताओं** को लेते हैं । दोनों देवता मध्यस्थ विष्णु की **अशनाया-**शक्ति से आकर्षित होते हुए ओषधिनिर्म्माण में सहायक बनते हैं । **ऊर्ध्वरस प्राणरूप है, अधोरस** अपान-**रूप है, प्राणनापानन के अधिष्ठाता मध्यस्थ वामन विष्णु हैं** । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर उप-निषच्छ्रुति कहती है—

**ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति ।**
**मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥**

ब्रह्मा 'अपान' के अधिष्ठाता हैं, इन्द्र 'प्राण' के अधिष्ठाता हैं, एवं विष्णु व्यानमूर्त्ति हैं। यदि मध्य में व्यानमूर्त्ति विष्णु न हों, तो न पार्थिव रस का आगमन हो, एवं न प्राणात्मक सौर रस का आगमन हो। जीवन के हेतु प्राणापानरूप सौर—पार्थिव रस नहीं हैं, अपितु मध्यस्थ व्यान ही ( दोनों का आकर्षक बनता हुआ ) 'जीवन' का हेतु है। **अतएव पुराणने एकमात्र विष्णुदेवता को ही सृष्टि का पालक माना है**। इसी सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए ऋषि कहते हैं—

**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।**
**इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥**

ओषधि—वनस्पतिगत उपर्य्युक्ता इसी शक्तित्रयी का निरूपण करते हुए पुराणपुरुष कहते हैं—

**मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे ।**
**अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः ॥**

अश्वत्थ को ओषधि-वनस्पतिमात्र का उपलक्षण समझना चाहिए। बीज वपन किया, पानी डाला। उस स्थान का **पानी**, और **मिट्टी**, दोनों **घुल मिल** गए। वृन्तनाड़ी में प्रतिष्ठित सौररश्मि ने **"नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्"** (वै० दर्शन ५।२।५।) के अनुसार पानी उपर की ओर खेंचा। पानी के साथ साथ ही तदभिन्ना मिट्टी भी खिंचने लगी। कुछ दूर जाकर पार्थिवाकर्षण से मिट्टी तो ठहर गई, पानी बाष्परूप में परिणत होकर सौरमण्डल में चला गया। पानी के साथ उपर की ओर जाकर ठहरने वाली मिट्टी ही **'अङ्कुर'** कहलाया। अब यदि आप ओषधि की ओर वृद्धि चाहते हैं, तो पानी और डालिए, पुनः पानी के साथ मिट्टी उपर चढ़ेगी। इस क्रम से ओषधि का स्वरूप निष्पन्न होजायगा। किन्तु यह ध्यान रखिए कि, बीज में प्रतिष्ठित योनिरूप **महद्ब्रह्म** का जितना **आयतन** पहिले से स्थिर है, ओषधि की वृद्धि उसी आकार में होगी। आप चाहें कि, एक हजारे का वृक्ष सिञ्चन- धारा से **बटवत्** लम्बा होजाय, अथवा **बटवृक्ष हजारे** जितना ही लम्बा रहे, यह कभी न होगा। **प्रत्येक भौतिकी सृष्टि के बीज में आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति का अधिष्ठाता महद्ब्रह्म विद्यमान रहता है**। इस कथन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, **भूवायु-छन्द-अग्नि** आदि से **म्लान विष्णु** ओषधियों के मूल में (मध्य में) जहाँ से कि शिराएँ निकल कर भूगर्भ में जातीं हैं) प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञकर्ता यजमान जिस भूप्रदेश में यज्ञ करना चाहे, पहिले उस प्रदेश में प्ररोहित ओषधि, तृणादि को समूल उखाड़ फेंके। इस से वह **मूलस्थ विष्णुमाण वेदि में समाविष्ट होजायगा**। इसी सम्पूर्ण गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रखकर **'सोऽयं विष्णुर्म्लानः'** इत्यादि कहा गया है, और प्रकृत आख्यान का यही संक्षिप्त आधिदैविकर रहस्य है। इस अधिदैविक – रहस्य- निदर्शन के साथ ही प्रस्तुत ब्राह्मण की १ कण्डिका से १० कण्डिकापर्य्यन्त का आख्यानात्मक सन्दर्भ उपरत होरहा है। १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० ॥

## इत्याधिदैविकरहस्यम्

——*——

# पद्धत्यनुगत-सन्दर्भ--समन्वय

**भौम देवताओंनें** परीक्षा के द्वारा ( **तं खनन्त इवान्वीपुः**) ओषधिमूलों में म्लान विष्णु को प्राप्त कर लिया। प्राकृतिक आधिदैविक विष्णु व्यापक है। अतः जबतक इसे परिच्छिन्न न कर लिया जाय, तबतक यह विष्णु परिच्छिन्न वैधयज्ञ का उपकारक नहीं बन सकता। इसी सीमाभाव के लिए प्राप्त –विष्णु का '**सुक्ष्मा चासि**' ० इत्यादि मन्त्रों से (मन्त्रब्रह्मरूप वाग्बल से) परिग्रह किया जाता है। इसी परिग्रहकर्म्म से वेदि का स्वरूप सम्पन्न होता है, अतएव इस कर्म्म को '**वेदिपरिग्रहकर्म्म**' भी कहा जाता है। भूप्रदेश के जिस भाग में वेदि बनाई जाने वाली है, उस प्रदेश के दक्षिण भाग में "**सुक्ष्मा चासि शिवा चासि**" यह मन्त्र बोलते हुए '**स्फ्य**' से पूर्व पश्चिम अध्वर्य्यु एक रेखा कर देता है। यही **दक्षिण परिग्रह** है। दक्षिण में याम्य अग्नि की सत्ता रहती है। "**यमो वै अवसानस्येष्टे**"--**ददाद्यमोऽवसानं पृथिव्याः**' इत्यादि के अनुसार **यमदेवता अवसान(मृत्यु)** के अधिष्ठाता हैं। दक्षिणभाग से इसी मृत्युभाव का निराकरण करने के लिए–"**हे दक्षिण भूभाग आप शोभन प्रदेश हैं, मृत्युञ्जय शिव की शक्ति से युक्त, अतएव शिव हैं**" यह भावना की जाती है। यज्ञ का नियत दक्षिण प्रदेश यमभीति से रक्षित बनें, दक्षिण परिग्रह का यही तात्पर्य्य है

अनन्तर– "**स्योना चासि सुषदा चासि**" इस मन्त्र से पश्चिम परिग्रह किया जाता है। यह परिग्रह गार्हपत्याग्नि से सम्बन्ध रखता है। गार्हपत्य भूपिण्ड की प्रतिकृति है। गार्हपत्य गृह ( घर ) है। घर वही उत्तम होता है, जहाँ का धरातल **सम** हो, जहाँ रहने से पूर्ण सुख मिले। इसी गृहसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए "**आप सुखरूपा हैं, आप आप अच्छी बैठक वालीं हैं**" यह भावना की जाती है।

अनन्तर—"**ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च**" यह मन्त्रभाग बोलते हुए उत्तर परिग्रह किया जाता है। उत्तर भाग सोममय, किंवा अग्निगर्भित सोममय है। ओषधियों में जो **जीवनीय भाग** (ऊर्क्), एवं '**दुग्ध**' देखा जाता है, जह इसी पाशुकाग्नि की महिमा है। हमारा यज्ञ जीवनीय भाग, एवं रस भाग से युक्त रहै, दूसरे शब्दों में उत्तराग्नि-प्रदेश यजमान के लिये ऊर्क् एवं पयोयुक्त बने, इसी भावना के लिये "**हे उत्तर भूप्रदेश ! किंवा पाशुकाग्ने! आप ऊर्क् युक्त हैं, आप पयोयुक्त हैं**" यह भावना की जाती है।

**अन्न--वस्त्र** की चिन्ता से आपादमस्तक आकुल–व्याकुल बना रहने वाला विशुद्ध भूतवादी–जड़वादी, अतएव–'वर्त्तमानवादी' आज का भारतीय भावुक–राष्ट्रीय–मानव कहता है—"**हजारों वर्षो की पुरानी-सड़ी--गली--वेद--स्मृति--पुराणादि की जीर्ण--शीर्ण--बातों का आज के नवीन युग में कोई उपयोग नहीं**"। अपने इसी काल्पनिक–उपयोगितावाद के व्यामोहन से व्यामुग्ध इस आज के भारतीय मानवने अपनी मूलनिधि से सर्वात्मना निरपेक्ष बन केवल भूलवादी प्रतीच्यजगत् की आधिदैविक-प्राणशून्या उन जड़भूतपद्धतियों का ही प्रतिष्ठापन कर दिया है इस सांस्कृतिक–भारतराष्ट्र में, जिस की मूलप्रतिष्ठा का एकमात्र आधार **आधिदैविक--प्राणजगत्** ही माना गया था। प्रसङ्ग 'यज्ञभूमि' का प्रक्रान्त है। एवं तत्सम्बन्ध में हीं ब्राह्मण का प्रस्तुत–सन्दर्भ प्रक्रान्त हैं। अतएव इसी दृष्टि से प्रकृत में दो शब्दों में हम उस '**यज्ञिय–भूप्रदेश**' की ओर '**आर्ष--मानव**' का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिस–'**यज्ञिय--भूप्रदेश**'

को ही ऋषि ने—सुद्मा--शिवा--स्योना--सुषदा--ऊर्जस्वती--पयस्वती—इत्यादि माङ्गलिक, एवं रहस्यपूर्ण विशेषणों से समन्वित माना है। इत्थंभूता सर्वगुणान्विता भूमि को ही ऋषि ने—'इमामेवैतत--पृथिवीं--संविद्य रसवतीं, उपजीवनीयामकुर्वन' इत्यादि रूप से सस्यशामला--जीवनीयरसप्रदात्री--उपयुक्ता कहा है।

'अधिक अन्न उपजाओ।' यही आज हमारे राष्ट्रीय–मानव का सर्वप्रमुख उदात्त उद्घोष है, जिस की सफलता के लिए विशुद्धा प्रतीच्या–पद्धति के आधार पर ही नव–नव–आयोजन आविर्भूत–तिरोभूत होते जारहे हैं धारावाहिक–रूप से। तदपि राष्ट्र की 'अन्नचिन्ता' समन्वित नहीं हो पा रही है। क्यों ?। इस क्यों ? का एकमात्र प्रमुख उत्तर है--भूमि की जीवनीया उर्वराशक्ति से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञिय--आधिदैविक--वैष्णव--प्राण की उपेक्षा, अनुपलब्धि, एवं तत्स्थाने च यज्ञविरोधी, जीवनीयतत्त्व के विनाशक--अश्रुत--अदृष्टपूर्व--रासायनिक खाद्यों ( खादों ) का अन्धानुकरण, भीमकाय लौहयन्त्रों ( ट्रेक्टरों ) से निर्म्ममतारूपेण भूगर्भस्थ वैष्णव--प्राण का आत्यन्तिक--उत्पीड़न"।

मानते हैं, और सर्वात्मना यह भी अनुभव कर रहे हैं कि, देवप्राणविरोधी, चेतनशक्तिप्रतिष्ठा–शून्य आज के प्रवृद्धतम भूतविज्ञान के अनुग्रह से कृतशरीरी तथाविध उत्तेजक रासायनिक–खाद्य, एवं भीमकाय लौहयन्त्र अवश्य ही तात्कालिकरूपेण भूमि के जीवनीय–प्राण को तात्कालिक--रूपेण बहिर्भूत करते हुए कुछ समय के लिए तद्भूप्रदेशों में प्रभूतमात्रा में अन्नराशि अभिव्यक्त करने की क्षमता रखते हैं। और परिणाम–स्वरूप सहज–भारतीय–पद्धति की अपेक्षा इस अभिनवा भौतिकी विज्ञानपद्धति से तात्कालिक–रूपेण अन्नसम्पत्ति समृद्धा भी प्रतीत होने लगती है। एवं सम्भवतः सनातना–स्थितिभावापन्ना--भूत--भविष्यत्परिणामानुबन्धिनी भी भारतीय नैष्ठिकी प्रज्ञा भी प्रत्यक्षप्रभावमूला तथाविधा भावुकता से आकर्षित होकर ही अपनी सहज–सौम्या पद्धतियों की उपेक्षा कर बहुव्यय–साध्या तथाविधा भूतविज्ञानपद्धतियों के ही अन्धानुकरण में प्रवृत्त होती जारही है। और अवश्य ही---'अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति' इस प्रकृतिसिद्ध सिद्धान्तानुसार इत्थंभूत निरतिशय भूतोत्पीड़न से अन्नसम्पत्युत्पादान में पूर्वापेक्षया इसे समृद्धि भी उपलब्ध होसकती है। यह सबकुछ मानते हुए भी अनुभव करते हुए भी, इस सम्बन्ध में कदापि 'श्रेयःपन्था' की घोषणा नहीं की जासकती। क्यों कि—

तथाविध उत्तेजक खाद्यों से पार्थिव–भूतभावात्मक--'पूषा' तत्त्व अवश्य ही तात्कालिक–रूपसे पुष्ट होसकता है। किन्तु सौर–सावित्राग्निमूलक--'मधु' रसमय वैष्णव–यज्ञिय--प्राण ( जो प्रवर्ग्यरूप से भूगर्भ की अमुक सीमा में हीं गर्भित रहता है, वह तो असंदिग्धरूप से ही तथाविध–कृत्रिम–उत्तेजक खाद्यों से दग्धवीर्य्य ही बन जाता है। एवं असीमभारान्वित लौहयन्त्रों ( ट्रेक्टरों ) से भी उस का सहज–सौम्य–'उत्तरमूल' का विकास सर्वात्मना अभिभूत ही होजाता है। परिणाम-स्वरूप, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम-स्वरूप तथाविध उत्तेजक खाद्यों के समन्वय से, एवं प्रचण्ड–भारान्वित लौहयन्त्रों से आत्यन्तिकरूपेण समुत्पीड़ित भूप्राण के समन्वय से उत्पन्न अन्न में न तो सहज 'माधुर्य्य' ही अभिव्यक्त हो पाता, एवं न इस की यह तात्कालिकी प्ररोहण–उत्पादन–शक्ति ही चिरस्थायिनी रह पाती। अपितु यह तो–'शरीरात्–शरीरम्' न्यायानुगता वैसी अनात्म्या जीवनीयप्राणरसशून्या ही अन्नसृष्टि बनी रह जाती है, जिसे कदापि भारतीय दृष्टि

से-'**आत्मान्न**' तो नहीं हीं माना जासकता। माधुर्य्यरसविहीन, जीवनीयरस से प्रतिमूर्च्छित, केवल प्रवर्ग्यात्मक ऐसा अन्न मात्रा में, एवं तात्कालिक रूपेण आकार-प्रकार--प्रदर्शनादि में--'**बहु**' प्रमाणित होता हुआ भी तथ्यदृष्ट्या, किंवा तत्त्वदृष्ट्या, तो सर्वथा--'**यातयाम**' ही बन जाता है।

भूमिनिखनन उसी सीमापर्य्यन्त मान्य होना चाहिए, जिस सीमा पर मधुसमय-जीवनीयतत्त्वात्मक-सौर-प्रवर्ग्य-यज्ञिय-वैष्णव-प्राण प्रतिष्ठित है। यदि प्रचण्डाघात से इस सीमा का अतिक्रमण होजाता है, तो भूगर्भस्थ-भूतप्रधा - तथाविध-'पूषा' भाग तो अवश्य ही तात्कालिकरूपेण अभिव्यक्त हो पड़ता है, फलस्वरूप कुछ समय के लिए '**भूतभार**' की दृष्टि से तत्प्रदेश में अन्न प्रभूतमात्रा में उत्पन्न भी होजाता है। किन्तु इस आघातपरम्परा से 'व्यङ्कुल' भावोपलक्षित जीवनीय-रसात्मक-मधुसमय-सौर यज्ञिय प्राण तो उत्क्रान्त ही होजाता है! और निश्चयेन ऐसा केवल पार्थिव अन्न-'**अयज्ञिय**' ही बना रह जाता है। भारतीय-प्रजा केवल '**भूतान्न**' का भी समर्थन नहीं कर सकती। यदि करती है, तो वह भारतीय नहीं। '**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तु**' के अनुसार भारतीय-प्रजा का अन्न-'**यज्ञोच्छिष्ट**' ही माना गया है। जिस भौतिक अन्न में सौर-दिव्य-वैष्णव-प्राण का भी सम्बन्ध रहता है, वही अन्न '**यज्ञोच्छिष्टान्न**' कहलाया है, वही आर्षप्रजा के लिए ग्राह्य है। ऐसे भी कितनें हीं अन्न हैं, जिनमें भूगर्भस्थ-यज्ञिय-वैष्णव-सौर-प्राण अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से (अमुक विजातीय प्राणविरोध से) प्रविष्ट नहीं होने पाता। वैसे अन्न हीं '**अयज्ञियान्न**' कहलाए हैं। अतएव यज्ञिय-प्रजा के यज्ञकर्म्मों में वे अन्न निषिद्ध मान लिए गए हैं। '**अयज्ञिया वै माषाः**' के अनुसार '**माष**' (उर्द) इसी श्रेणि का अन्न है। '**मसूर**' भी इसी श्रेणि से अनुप्राणित है। अतएव यज्ञोच्छिष्टानुगामिनी आस्तिक-प्रजा 'मसूर' को भी अपने व्यवहार में त्याज्य ही मानती आरही है। तदित्थं-इस यज्ञिय-सौर-प्राणानुरोध से ही भारतीय-प्रजा की अन्नव्यवस्था व्यवस्थित हुई है। **लशुन-पलाण्डु-गृञ्जनादि** अपने असुरप्राण-प्राधान्य से अयज्ञिय बनते हुए सर्वात्मना त्याज हीं मान लिए गए हैं द्विजाति के लिए, जबकि स्वयं आयुर्वेदशास्त्र ने इनके भौतिक गुणों का समर्थन किया है। अतएव केवल शरीरोपयोगी, किन्तु दिव्यप्राणविरोधी तत्सदृश अन्यान्य सभी अयज्ञिय पदार्थ त्याज्य ही बन गए हैं धर्म्मशास्त्र में।

यज्ञप्राणानुबन्धी-मधुसमय, उर्क्रसमय, सोमरसमय, इसी जीवनीय-सौर-वैष्णव-पार्थिव-तत्त्व का प्रकृत ब्राह्मणसन्दर्भ से स्पष्टीकरण हुआ है, जिसका **यजुर्म्मन्त्र** के द्वारा ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। **कौनसा, और कैसा भूप्रदेश तथाविध जीवनीय-यज्ञिय रस से समन्वित रहता है**?, प्रस्तुत सन्दर्भ इसी प्रश्न का तात्त्विक समाधान कर रहा है, जिसके लिए यजुःसंहिता के प्रथमाध्याय के सप्तम मन्त्र का निम्नलिखित अंश ही-शरणीकरणीय है—

**"सुक्ष्मा चासि, शिवा चासि, स्योना चासि, सुषदा चासि, ऊर्जस्वती चासि, पयस्वती च"।**

प्रत्येक शब्द अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण तथ्यों से अनुप्राणित है, जिसका अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। केवल दो शब्दों में हीं इस दिशा का दिग्दर्शन प्रस्तुत है। 'ज्या' नामसे प्रसिद्धा* माता पृथिवी का नाम **धरा,**

*--'**ज्या**' से सम्बन्ध रखने वाली सुप्रसिद्धा **गणितप्रक्रिया** ही--'**ज्यामिति**' नाम से प्रसिद्ध है। अवश्य ही निरुक्तक्रमानुबन्ध से '**ज्यामिति**' का ही रूपान्त—'**ज्यामेट्री**' होगा। एवं इसी '**ज्यामिति**' शब्द से--'**जमीन**' शब्द अभिव्यक्त हुआ होगा।

धरित्री, और धरिणी भी है, जिन इन सभी शब्दों का मौलिक अर्थ यद्यपि सर्वथा विभिन्न ही है। तथापि अमुक समानधर्म्मानुबन्ध से इन शब्दों को अमुक सीमा पर्य्यन्त पर्य्याय भी माना जासकता है। भूपिण्ड में प्रतिष्ठात्मक-स्थितिधर्म्मात्मक एक वैसा 'प्राण' है, जिसके द्वारा भूपिण्ड -'**अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा-सर्वेषाम्, तस्माद्-भूमिरभवत्**' ( शत० ६।१।१।१० ) के अनुसार '**भूमि**' नाम से भी प्रसिद्ध होरहा है। प्रतिष्ठात्मिका इस धृति ( धारणशक्ति ) से ही यह **धरा-धरित्री-धरिणी**-आदि नामों से व्यवहृत हुई है। सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार भूपिण्ड का मौलिक उपादानद्रव्य '**पानी**' ही माना गया है, जैसाकि-'**अद्भ्यः पृथिवी**' इत्यादि से स्पष्ट है। अप्तत्त्व अपने सहज '**ऋत**' धर्म्म के कारण प्रतिष्ठाशून्य है। अतएव पानी के स्तर पर गुरुत्वधर्म्मावच्छिन्न कोई भी भूतपदार्थ प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। अपितु तत्काल वह अब्गर्भ में हीं निमज्जित होजाता ( डूब जाता ) है। ऐसे प्रतिष्ठाशून्य, धृतिगुणशून्य अप् से ही आपः-फेनादि क्रम से भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। प्रश्न उपस्थित है कि, प्रतिष्ठात्मक-धृतिगुण से शून्य आपोद्रव्य ही जिस भूपिण्ड का मौलिक--उपादानद्रव्य है, वैसे भूपिण्ड में धृतिगुणक--प्रतिष्ठाभाव कैसे, और कहाँ से आगया ?। इस प्रश्न का एक सुप्रसिद्धा यज्ञिय-प्रक्रिया के माध्यम से ही परोक्ष समाधान करते हुए ऋषि ने कहा है कि-"**आहुतिद्रव्यरूप आज्य ( घृत ) यद्यपि तरल है, अतएव प्रतिष्ठाशून्य है, अतएव घनतानुबन्धी धृतिगुण से विरहित है। तद्पि क्योंकि इस तरल प्रतिष्ठाशून्य भी आज्य में क्योंकि हिरण्यशकल ( सोने का टुकड़ा ) डाल कर ही इसकी आहुति दी जाती है, अतएव अनस्थिमत् भी इस आज्य से अस्थिमती--प्रतिष्ठावती-प्रजा उत्पन्न होजाती है**"।

यज्ञिय आहुतिद्रव्य से ही यजमान का नवीन **सशरीर-दैवात्मा** उत्पन्न किया जाता है। वह आहुतिद्रव्य अमुक यज्ञविशेष में है—'**आज्य**' (घृत-घी)। इसीके सम्बन्ध में तत्र समवेत किसी वैज्ञानिक ने प्रश्न किया कि,—'**अनस्थिमद्धूयते, कथमस्थिमत्-प्रजायते**'। अर्थात् '**बिना हड्डी वाले ( घनताप्राण-शून्य-तरल) इस आज्यद्रव्य की तो आहुति दी जाती है, और संकल्पित है अस्थिमती प्रजा। वह कैसे उत्पन्न हुई, जबकि उपादनभूत आज्यद्रव्य अस्थिभाव से शून्य है?**'। इसी प्रश्न का उत्तर है-'**हिरण्यशकलं निधाय जुहोति, तस्मात्**' इत्यादि। तात्पर्य्य स्पष्ट है। आज्य अवश्य **तरल**, अतएव **अनस्थिमत्**, अर्थात् प्रतिष्ठात्मक-धृतिगुणक-अस्थिभाव से शून्य है। किन्तु इसमें **हिरण्यशकल** जो है। वह तो स्थितिमत् है। क्या तात्पर्य्य ?, इस नवीन '**क्या**' ? का उत्तर है—'प्रजोत्पत्तिविज्ञान', जिसके स्पष्टीकरण का अत्र अवसर नहीं है। यज्ञानुबन्ध से प्रश्न वस्तुतः सृष्टिप्रक्रिया से ही अनुप्राणित है। पिता के **शुक्र**, तथा माता के **शोणित**, इन दोनों के चिन्मय **पुम्भ्रूण-स्त्रीभ्रूणों** के दाम्पत्यमूलक-मिथुनभाव से ही प्रजोत्पत्ति होती है। उपादानभूत शुक्र, और **शोणित**, दोनों ही क्रमशः **भार्गव-आङ्गिरस**-आपोद्रव्यात्मक-प्रतिष्ठा-शून्य-अनस्थिमत् तरल ही पदार्थ हैं। इन अनस्थिमद् भावों से अस्थिमती ( हड्डी वाली ) प्रजा कैसे उत्पन्न होगई ?, यही पूर्व प्रश्न का समन्वय है। '**हिरण्यशकल**' का अर्थ है—'**सत्य-यज्ञ-प्रतिष्ठात्मक-अश्मा-सोमगर्भित-सौर-हिरण्य-प्राण**'। वह साक्षाद्रूप से, अपने **ब्रह्मौदनरूप सत्यरूप** से शुक्रशोणित में प्रतिष्ठित नहीं होता। अपितु **धर्म्मयागात्मक-छिन्नशीर्षभाग** से अनुप्राणिता सुप्रसिद्धा **विस्रंसनप्रक्रिया** से सम्बन्ध रखने वाला, सौरसत्ययज्ञ-मण्डल से '**ऋतु**' रूपेण प्रवृक्त (पृथक्) होजाने वाला-'**प्रवर्ग्य**' नामक

'सौर-सावित्र-वैष्णव-यज्ञिय-तेज' ही **शुक्र-शोणितरूप आज्य (तरलद्रव्य)** में प्रतिष्ठित होता है, एवं इसी **सौरप्रवर्ग्य (शकल-खण्ड)** रूप-हिरण्यतेज से प्रजा के **'अस्थि'** भाग का स्वरूप-निर्म्माण होता है। शारीरिक मांस-मेद-मज्जा-असृक् आदि **ऋत**धातु जहाँ शुक्रशोणितात्मक बनते हुए **आपोमय** हैं, अतएव अप्रतिष्ठित हैं, वहाँ 'अस्थि' भाग **सौरप्रवर्ग्यहिरण्यतेजोमय** है, यही तात्पर्य्य-निष्कर्ष है।

ठीक यही स्थिति भूपिण्ड की समझिए। ऋतधर्म्मा-प्रतिष्ठाशून्य **पानी** में ऋतधर्म्मा, अतएव प्रतिष्ठाशून्य हीं वायु का प्रवेश हुआ। वायु के प्रवेश से तदवच्छिन्न पानी बुद्बुद् (बुलबुला) रूप में परिणत होगया। एवं प्रतिष्ठालक्षण धृतिगुण के अभाव से तत्क्षण ही बुद्बुद् फूट गया। यह प्रक्रिया निरन्तर जल-स्तर पर प्रक्रान्त रहती है वायुःसंघात-परम्पराओं के अनुग्रह से। यही मूलप्रक्रिया भूपिण्ड की जन्मदात्री बनी है, जिसके विस्तार का यहाँ अवसर नहीं है। यदि इन दोनों ऋत-भावों का ही चंक्रमण प्रमुख बना रहता, तो कदापि भूपिण्ड **पिण्ड** रूप में परिणत न होता। किन्तु **पानी, और वायु,** दोनों के मध्य में साम्वत्सरिक-सौर-प्रवर्ग्य-हिरण्यशकलात्मक-तेज प्रविष्ट होजाता है। इसी **तेजःसंयोग** से बुद्बुदावच्छिन्न अब्-वायु प्रतिमूर्च्छित होजाते हैं, जिस इस प्राथमिक अवस्था का नाम ही है—**'फेन' [झाग]**। तदित्थं-अब्-वायु के संघर्ष से, तथा तेजःसंयोग से यही फेन उत्तरोत्तर-घनता का अनुगामी बनता हुआ— **मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य**-इन प्रतिष्ठा-भावों में परिणत होजाता है। और यों इन--**अबादि-हिरण्यान्त** आठ-प्रतिष्ठा-भावों के आत्मक-रासायनिक-सम्मिश्रण से प्रतिष्ठात्मक-'भूपिण्ड' का स्वरूप सम्पन्न होजाता है। यों-आपोमय भी भूपिण्ड सौर हिरण्यरूप यज्ञिय तेज को स्वगर्भ-में प्रतिष्ठित कर धृतिलक्षण प्रतिष्ठागुण से समन्वित होता हुआ **'भूमि'** रूप में परिणत होजाता है। इसी धृतिगुण से आज यह भूपिण्ड क्योंकि स्वपृष्ठ पर अतुलित-भार वहन करने की **'क्षमता'** से सर्वात्मना समन्वित, समर्थ बना हुआ है, अतएव--**[सौर यज्ञिय-वैष्णव-दिव्य-तेज को गर्भ में धारण करने से ही]** सब कुछ सहसकने में समर्थ बनता हुआ—भूपिण्ड—**'क्षमा'** **[सर्वं-क्षमते]** नाम से प्रसिद्ध होरहा है। क्षमतारूप धृतिगुण ही इसे 'क्षमा' बनाए हुए है। और वह गुण स्वयं इसका न होकर प्रत्युत सौर-वैष्णव-यज्ञिय-तेज का ही है। दुर्भाग्यवश यदि मानवीय-प्रज्ञापराध से भूपिण्ड का यह यज्ञिय–वैष्णव–सौर–तेज-अभिभूत होजाता है, अथवा तो उत्क्रान्त कर दिया जाता है सौर-दिव्य-भाव-विरोधी-लौहयन्त्रादि से, तो निश्चयेन भूपिण्ड का- **'क्षमा'** भाव अभिभूत ही होजाता है। फलतः ऐसे 'क्षमा' शून्य, अतएव च केवल मृत्पिण्डात्मक-भूभाग से उत्पन्न भूतमात्रप्रधान अयज्ञिय अन्न का भोक्ता मानव भी धृतिगुण से, प्रतिष्ठाबल से शून्यं-शून्यं हीं बना रह जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि, सर्वतोभावेन हम भूपिण्ड को **'क्षमा'** ही बनाए रहें। कदापि प्रचण्डाघातों से इसके गर्भस्थ वैष्णव-प्रतिष्ठाप्राण को उत्क्रान्त न करें। इसी तथ्य के आधार पर ऋषिप्रज्ञात्मक भारतराष्ट्र के आर्ष कृषक के द्वारा काष्ठमय वैसे **'हल'** का ही आविर्भाव हुआ, जिससे **ओषधि–मूल**-पर्य्यन्त ही भूनिखनन--सम्भावित था शान्ति--स्वस्ति-रूप से।

और यों अपने विष्णुतेजोमय–प्रतिष्ठाप्राणात्मक–'क्षमा' भाव से 'क्षमा' बनी रहने वाली माता पृथिवी ही हमारे लिए शान्ति स्वस्ति–पूर्वक–यज्ञियान्न प्रसूत करती हुई **'शिवा'** बनी रहती थी। **'क्षमा'**, अतएव च **शिवा** ऐसी ही माता धरित्री शान्ति–स्वस्ति-प्रद–यज्ञियान्न-उत्पन्न करती हुई अपनी पार्थिवी--प्रजा का भरणपोषण करती हुई इस के लिए सर्वात्मना **'सुषदा'** प्रमाणित होती हुई–**'स्योना'** (सुखप्रदात्री) प्रमा-

णित होरही थी । अपने तथाविध प्रतिष्ठात्मक--सौर--यज्ञिय तेज से सदा--समन्वित रहने के कारण हीं माता--पृथिवी प्रतिष्ठासे--शून्य--क्षत--विक्षत--भग्न--त्रुटित-उच्च-अवच-विषम आदि भावों से असंस्पृष्ट प्रमाणित होती हुई सर्वात्मना समधरातलात्मिका 'उर्वरा' ( प्रजननशक्तिमती ) बनी रहती थी । अपने प्रतिष्ठात्मक इसी समधरामलानुबन्ध से यह **'सुषदा'** बनी रहती थी । और यों इत्थंभूत दिव्य--भावों से सञ्चालिता माता धरित्री सौर-दिव्य--मधु--रसात्मक, जीवनीयरसात्मक **'ओजः'**--स्वरूप सम्पादक--'उर्क्' रस से **'ऊर्जस्वती'** तथा सोमात्मक पयोगुण से **पयस्वती** बनती हुई सर्वात्मना हमारे लिए उपजीव्या प्रमाणित होरही थी । इत्थंभूता सौर-यज्ञिय-दिव्यप्राणगर्भिता, अतएव **सुक्ष्मा--शिवा--स्योना--सुषदा--ऊर्जस्वती--पयस्वती** यज्ञिया--भूमि ही हमारी **'यज्ञिया--वेदि'** बनी हुई थी, जिस के आधार पर ही हम **'यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी'** जैसे महान् उदात्त उद्घोष करने में सक्षम बने हुए थे, जो क्षमता आज के भूत--व्यामोहन में आसक्त होकर, तद-नुबन्धी दिव्यप्राण-विरोधी, यज्ञियप्राण प्रतिबन्धक--भूत--भौतिक--विजृम्भणों के द्वारा हमनें सर्वथा हीं विलुप्त करली है । और यों अपने मौलिक शान्ति स्वस्ति-मूलक--**ऋद्धि-वृद्धि--तुष्टि-पुष्टि**-प्रद प्रकारों की उपेक्षा कर सर्वथा वैसे **अयज्ञिय--प्रकारों** का ही आज हमनें अन्धानुकरण उपक्रान्त कर लिया है अपनी मूलविज्ञान--निधि से अपरिचित रहने के कारण. जिस उपक्रान्ति से कृष्णमृगानुबन्धी इस यज्ञिय--भारतराष्ट्र का तो कदापि अभ्युदय सम्भव नहीं है । माता धरित्री के अभ्युदय संसाधक इन्हीं कतिपय तथ्यों के माध्यम से इस के उपजीवनीय--रस भाग की ओर भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा आर्ष--भारतीय प्रजा का ध्यान आकर्षित हुआ है, जैसा कि प्रक्रान्ता कण्डिका के उपसंहारात्मक--**"इमामेवैत--पृथिवीं संविद्य रसवतीं, उपजीवनीयामकुर्वत'** इस वाक्य से स्पष्टतम हैं । ॥११॥

प्रकारान्तर से यों समझिये कि, दक्षिणाग्नि परिपाक करने वाला है । परिपाक से मिट्टी का 'श्लथ' भाव नष्ट होजाता है, मिट्टी दृढ़ बन जाती है । इसी परिपाक से वह **मसृणा** ( चिकनी ) भी बन जाती है । यही इसका सुक्ष्माभाव ( शोभनभूमिभाव ), एवं 'शिवभाव' है । गार्हपत्याग्नि प्रतिष्ठारूप है, यही प्रजनयिता है, यही स्वरूपसम्पत्ति है । उत्तरोत्तर **'उर्वरा'** बने रहना हीं इसका **सुषदा**, एवं **स्योनाभाव** है । मृत्तिका को **रसयुक्**, एवं **बलयुक्** बनाने के लिए तीसरा परिग्रह किया जाता है । ये तीनों परिग्रह **'भूमिपरिग्रह'** हैं । पहिले के **"गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि"** इत्यादि तीनों परिग्रह **प्राणपरिग्रह** हैं । प्राणरूप विष्णु को **छन्दों** से परिगृहीत किया जाता है, एवं **भूतमय विष्णु** का भूपिण्ड से परिग्रहण किया जाता है । इसप्रकार सम्भूय ६ परिग्रह होजाते हैं । व्यापक विष्णुवज्ञ षडऋतु की समष्टि ही संवत्सर है, एवं यही **यज्ञसम्पत्** है । उक्त ६ ओं परिग्रहों से यजमान का यह वैध यज्ञ प्राकृतिक षडऋतुरूप सम्वत्सरयज्ञसम्पत् से युक्त होजाता है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, पूर्व के तीन परिग्रह **'लोकी'** परिग्रह हैं, एवं उत्तर के तीन परिग्रह **'लोक'** परिग्रह हैं। **लोक भूतप्रधान हैं**, एवं **लोकी प्राणप्रधान हैं** । इस क्रम से दोनों का यज्ञ के साथ सम्बन्ध होजाता है । साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, पूर्व के तीन परिग्रहों में ६ व्याहृतियाँ हैं, एवं उत्तर के परिग्रहों में ६ व्याहृतियाँ हैं । इस प्रकार १२ व्याहृतियाँ होजातीं हैं । यज्ञसम्पत्--रहस्यवेत्ताओं को विदित होना चाहिए कि, द्वादश व्याहृतियाँ से भी द्वादशमासात्मिका सम्वत्सरमूर्तिमयी यज्ञविष्णुसम्पत् परिगृहीत होजाती है । पूर्व, एवं उत्तर-परिग्रहों से सम्बन्ध रखने वालीं वे १२ व्याहृतियाँ आगे के परिलेख से स्पष्ट होजातीं हैं ।

## द्वादशव्याहृतिपरिलेख :—

| | |
|---|---|
| १—१-गायत्रेण त्वा<br>२—२--छन्दसा परिगृह्णामि | 'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामी' ति दक्षिणतः १ ( १ ) |
| ३—३'-त्रैष्टुभेन त्वा<br>४—४-छन्दसा परिह्णामि | 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामी' ति पश्चात् २ ( २ ) |
| ५—५--जागतेन त्वा<br>६—६--छन्दसा परिगृह्णामि | 'जागतेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामी'--त्युत्तरतः ३ ( ३ ) |
| ७—१--सुक्ष्मा चासि<br>८—२--शिवा चासि | 'सुक्ष्मा चासि शिवा चासी' ति दक्षिणतः १ ( ४ ) |
| ९—३--स्योना चासि<br>१०-'४--सुषदा चासि | 'स्योना चासि सुषदा चासी' ति पश्चात् २ ( ५ ) |
| ११--५--ऊर्ज्जस्वती चासि<br>१२--६--पयस्वती च | 'ऊर्ज्जस्वती चासि पयस्वती चे' त्युत्तरतः ३ [ ६ ] |

त्रिःपूर्वं परिग्रहं गृह्णाति षड्भिर्व्याहृतिभिः

त्रिरपरं परिग्रहं गृह्णाति षड्भिर्व्याहृतिभिः

''स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा——तावतमेवैतत् परिगृह्णाति''

॥ १२, १३ ॥

प्रद्धति-प्रकरण में ( मूलानुवाद में ) वेदि-निर्म्माण-प्रकार बतलाते हुए कहा गया है कि, कितनें हीं ( तैत्तिरीय-सम्प्रदायानुयायी ) याज्ञिकों के मतानुसार वेदि का पश्चिम भाग ( श्रोणी भाग ) व्याममात्र ( दो हाथ ) चौड़ा होना चाहिए, एवं पूर्व भाग ( अंस भाग ) तीन अरत्नि ( १॥ हाथ ) चौड़ा होना चाहिए। इस का प्रतिवाद करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, '**व्याममात्री-अरत्नि**' इस ठीक परिणाम की अर्गला की कोई आवश्यकता नहीं है। यजमान अपने अनुमान से जितना मान ठीक समझे, उसी चौड़ाई से वेदि का निर्म्माण कर लेना चाहिए। तात्पर्य्य यही है कि, **आधिदैविकयज्ञ** से **आध्यात्मिकयज्ञ** ( **पुरुष** ) का स्वरूप निष्पन्न होता है। जैसा स्वरूप **अण्डब्रह्माण्ड** का है, ठीक वैसा ही स्वरूप **पिण्डब्रह्माण्ड** का है। हमारा शरीर प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति ही है। इसी आधार पर "**यज्ञो वै पुरुषः**"-"**पुरुषो वै यज्ञः**" इत्यादि यज्ञपुरुष के अभेद-सूचक निगम वचन प्रतिष्ठित हैं। दोनों हीं यज्ञ ईश्वर की रचना है। दोनों हीं एक प्रकार से प्राकृतिक यज्ञ हैं। इधर प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार ही **आधिभौतिक यज्ञ** का ( मनुष्ययज्ञ का ) वितान हुआ है। यही कारण है कि, इस **काल्पनिक यज्ञ** में **आध्यात्मिक**, एवं **आधिदैविक**, दोनों यज्ञों के स्वरूप का विचार रखना पड़ता है। यदि कोई वैधयज्ञ में असावधानी कर देता है, तो ऋषि **अध्यात्म-अधिदैवत-यज्ञ** का स्वरूप बतलाते हुए उस का संशोधन कर देते हैं। यहाँ ऐसा क्या होता है ?, इस का समाधान वही प्राकृतिक आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक यज्ञ है। पुरुष यज्ञपुरुष है। स्त्री यज्ञपुरुषरूप पुरुष ( मनुष्य ) की प्रतिष्ठा है। यहाँ भी **यज्ञ पुरुषस्थानीय है**, एवं वेदि **स्त्रीस्थानीया** है। स्त्री वही सुन्दर मानी जाती है, जिसका श्रोणिभाग विपुल हो, अंसभाग संकुचित हो। अतः यहाँ भी वेदि का श्रोणी-स्थानीय पश्चिम भाग विपुल होना चाहिए, एवं अंसस्थानीय पूर्वभाग संकुचित होना चाहिए। "**आगे से संकुचित, नीचे से विपुल**" यज्ञसम्पत् यहीं समाप्त है। इस का यह तात्पर्य्य लगाना कि, "**आगे से त्र्यरत्नि हो, नीचे से व्याममात्री ही हो**" विज्ञानदृष्टि से बहिर्भूत है। यजमान अपनी इच्छा से यथेच्छ परिणाम रख सकता है। हाँ, उसे प्रत्येक दशा में यह ध्यान अवश्य रखना होगा कि, वेदि पश्चिम में विपुल, एवं पूर्व में संकुचित है, अथवा नहीं।

'**आभिरूप्य-सौन्दर्य्य**' ही वास्तविक सौन्दर्य्य माना गया है, जैसाकि-'**आभिरूप्याच्च बिम्बानाम्**' इत्यादि औपासनिक वाक्य से स्पष्ट है। जिसे लोकभाषा **में-साँचे में ढला हुआ**' कहा जाता है, उसी का नाम है--'**अभिरूप सौन्दर्य्य**'। वेदि यज्ञपुरुष की पत्नी है, अर्थात् '**स्त्री**' है। अभिरूप-सौन्दर्य्य से समन्विता नारी ही पुरुष के प्रकृतिसिद्ध **श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम**-नामक चतुर्विध रागभावों की समन्वितावस्थारूप-सृष्टिप्रवर्त्तक-सुप्रसिद्ध-'**रतिप्रेम**' की अधिष्ठात्री मानी गई है। वस्तुस्थिति ऐसी है कि, सौन्दर्य्य **रूप**, **अभिरूप**, भेद से दो भागोंमें विभक्त है। सौन्दर्य्य के अधिष्ठाता **इन्द्र**, **और त्वष्टा**, नामक दो प्राणविशेष **वैदिक-विज्ञान** में प्रसिद्ध हैं। **इन्द्र** '**रूपसौन्दर्य्य**' के अधिष्ठाता हैं, एवं त्वष्टा-'**अभिरूपसौन्दर्य्य**' के अधिष्ठाता हैं। शिल्पी वही विशिष्ट शिल्पी माना गया है, जिस की रङ्गरञ्जिता तूलिका में इन दोनों सौन्दर्य्यों के चित्रण की क्षमता रहती है। इन्द्र जहाँ **वर्णरूप** के अधिष्ठाता हैं, वहाँ त्वष्टा **आकाररूप** के अधिष्ठाता हैं। हरित-नील-पीत--रक्त-धूम्र--श्वेत--कृष्ण-बभ्रु--आदि आदि पृश्निभावात्मक जितनें भी वर्ण ( रँग ) हैं, सभी-'**वर्णरूप**' नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं-'**रूपं रूपं मघवा बोभवीति**' ( ऋक् संहिता ) के अनुसार सौररश्मिभुक्त

'मघवा' नामक इन्द्रप्राण ही इन यच्चयावत् वर्णरूपों के अधिष्ठाता, एवं प्रवर्त्तक हैं। इसी वर्णरूप का नाम है--'रूपसौन्दर्य्य', ÷।

दूसरा है—'अभिरूपसौन्दर्य्य'। आकाररूप का ही नाम 'अभिरूपता' है, जिस इस अभिरूपात्मक आकाररूप का प्रवर्त्तक 'त्वष्टा' प्राण माना गया है, जैसाकि--'त्वष्टा रूपाणि पिंशतु'-'त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकिरोति' इत्यादि से स्पष्ट है। आकाररूप ही वर्णरूप की प्रतिष्ठा माना गया है। वयोनाधात्मक छन्द का नाम है— आकार, एवं वयोरूप छन्दित वस्तु का नाम है—'आकारित-पदार्थ'। पदार्थ, और पदार्थ का आकार, दोनों क्रमशः इन्द्र, और त्वष्टा से अनुप्राणित हैं। दोनों में आकार 'आधार' है, आकारित वस्तु आधेय है। छन्दोरूप त्वाष्ट्र आधारात्मक सौन्दर्य्य की, छन्दित-ऐन्द्र आधेय-सौन्दर्य्य की प्रतिष्ठा-बना करता है। अतएव दोनों में प्रमुख-स्थान त्वाष्ट्र-आकार-सौन्दर्य्यरूप-'अभिरूपसौन्दर्य्य' का ही माना गया है। कदापि श्वेत-कृष्ण-पीत-हरित-( काला-गोरा-आदि ) वर्ण सौन्दर्य्य के मापदण्ड नहीं बना करते। अपितु प्रमुखरूपेण आकारविशेष ही सौन्दर्य्य का प्रमुख मापदण्ड बना करता है। विशिष्टाकार से समन्वित प्रत्येक वर्ण [रँग] जहाँ सुन्दर बन जाता है, वहाँ निकृष्टाकारों से विशिष्ट भी वर्ण निकृष्ट बनता हुआ सौन्दर्य्य की सीमा से बहिर्भूत हो जाता है। अतएव वर्णरूपात्मक-ऐन्द्र-रूपसौन्दर्य्य, तथा आकाररूपात्मक-त्वाष्ट्र-अभिरूपसौन्दर्य्य, दोनों में 'अभिरूप-सौन्दर्य्य' ही प्रमुख मान लिया गया है, जैसाकि 'आभिरूप्याच्च बिम्बानाम्' इत्यादि औपासनिक-वचन से स्पष्ट है *।

प्रतिमा का, अथवा तो चित्र का वर्णात्मक रूपसौदर्य्य इनके आकारात्मक अभिरूप सौन्दर्य्य पर ही प्रतिष्ठित माना गया है। वर्णतः कृष्ण—पाषाणमयी भी प्रतिमा आकारसौन्दर्य्य से जहाँ स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होपड़ती है, वहाँ वर्णतः विशिष्टा भी प्रतिमा आकारविकृति से अपने वैशिष्ट्य से वञ्चित होजाती है। यही स्थिति चित्रात्मक शिल्प की है। अतएव भगवान् याज्ञवल्क्य ने यहाँ वेदिरूपा नारी के सौन्दर्य्य के सम्बन्ध में त्वष्ट्राप्राणात्मक आकाररूपात्मक अभिरूपसौन्दर्य्य को ही प्रमुख माना है। यज्ञपुरुष की योषारूपा ( पत्नी स्थानीया ) यह वेदि पश्चाद्वरीयसी, मध्ये संह्वारिता, तथा पुरस्तादुर्वी-आकार--भावों से समन्वित रहती है। एतदाकारसौन्दर्य्ययुक्ता, अभिरूपसुन्दरी नारी की ही लोक में प्रशंसा होती है—'एवमेव हि योषां प्रशंसन्ति'। 'पश्चाद्वरीयसी' का अर्थ है—पृथुश्रोणिः। 'मध्ये संह्वारिता' का अर्थ है—'मध्ये संग्राह्या', एवं 'पुरस्तादुर्वी' का अर्थ है—'विमृष्टान्तरांसा'। श्रोणिद्वय विपुलाकारस—समन्वित, मध्य--कटि--प्रदेश हस्तग्राह्यमर्य्यादया सूक्ष्म ( कृशोदरी ), एवं अंसभाग श्रोण्यपेक्षया थोड़े नत, किन्तु विस्तृत। यही योषा का अन्यतम अभिरूप—सौन्दर्य्य है, जिसे 'प्रजनन' का मूलाधार माना गया है॥ १४, १५, १६॥

---

÷--विशिष्टतम रूपसौन्दर्य्य से सम्पन्ना नारी के लिए राजस्थान में--'रूप का डला' ( रूपराशि-रूपस्तूप, रूप का ढेर ) यह शब्द प्रसिद्ध है।

* अर्च्चकस्य तपोयोगात्, अर्च्चनस्यातिशायिनात्।
आभिरूप्याच्च बिम्बानां देवः सान्निध्यमृच्छति॥

तथाभूता अभिरूपसौन्दर्य्यगुणान्विता यज्ञिया वेदि **प्राक्**, अथवा तो **उदक्**, दोनों में से किसी एक दिशा की ओर ही प्रवणा होनी चाहिए। कारण स्पष्ट है। मानवसर्ग का उत्तरदिशा से प्रधान सम्बन्ध है, एवं देवसर्ग का पूर्वदिशा से सम्बन्ध है। मानवसृष्टि **रेतोमयी--भूतसृष्टि** है, एवं देवसृष्टि **प्राणसृष्टि** है। प्राणपति प्राणात्मक इन्द्र पूर्वदिशा के दिक्पाल हैं, एवं भूतपति चन्द्रमा ( सोम ) उत्तरदिशा के दिक्पाल है। **'चन्द्रमसाद्रेतो ऋतव आभृतम्'** इत्यादि कौषीतकि सिद्धान्तानुसार चान्द्र सोम ही ऋतु-स्वरूप का जनक बनता हुआ **शुक्रात्मक-रेतो**-रूप में परिणत होता है। एवं रेतःशुक्राहुति ही मानवसृष्टि का प्रमुख बीज माना गया है। तत्प्रधानता क्योंकि सौम्या उत्तरदिक् में हीं है। अतएव उत्तरादिक् ( उत्तर दिशा ) सौम्य-शुक्र-प्रधान मानव की प्रातिस्विक ऋतु मानली गई है, जबकि-प्राणेन्द्र के प्राधान्य से -पूर्वादिक् देवताओं की दिशा मानी गई है। प्रथम तो वेदि इस ओर ही प्रवणा ( झुकी हुई ) होनी चाहिए। यदि इस ओर सुविधा न हो, तो स्वदिग्रूपा उत्तरदिशा की ओर भी वेदि प्रवणा रक्खी जासकती है। किन्तु भूल कर भी इसे **दक्षिणप्रवणा** तो कदापि नहीं बनाना चाहिए। जो सौम्यप्राण उत्तर में मानव के जीवन की मूलप्रतिष्ठा है, वही दक्षिणानुगत बनता हुआ पितृप्राणात्मक बन कर मानव की मृत्यु का कारण बन जाया करता है। अतएव दक्षिणदिशा को **याम्यादिक् ( यमराज की दिशा )** माना गया है। **'ददाद्यमोऽवसानं पृथिव्या'--'यमो वै-अवसानस्येष्टे'** इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों के अनुसार दक्षिणस्थ याम्य-पितर तो अवसान के ही अधिपति माने गए हैं। अतएव मानव को स्वप्राण का आभिमुख्य कदापि दक्षिण-दिशा की ओर नहीं करना चाहिए। इसी आधार पर-**'नोदीचीनशिराः शयीत' ( उत्तर दिशा की ओर मस्तक करके कभी शयन नहीं करना चाहिए )** यह आदेश हुआ है। क्योंकि ऐसा करने से प्राणगति दक्षिणाभिमुख ही बन जाया करती है, जो कि आयुःप्राण पर व्याघात करने वाली मानी गई है। अतएव भारतीय-**'वास्तुशास्त्र'** ( भवननिर्म्माणादि **शिल्पशास्त्र** ) में दक्षिण की ओर गृहद्वार रखना आत्यन्तिक-रूपेण निषिद्ध माना गया है। निगमनिष्ठ स्वर्गीय श्रीजयसिंहजी नृपतिवर के तत्त्वावधान में विनिर्म्मित जयपुर नगर का समस्त गृहशिल्प इसी नियम से अनुप्राणित था, जो आज के युगधर्म्म के द्वारा यत्र-तत्र परिवर्तित होगया है।

प्राक् प्रवणा, अथवा तो उदक् प्रवणा वेदि के तथोक्त याम्य-दक्षिणप्रान्त को मिट्टी डाल कर थोड़ा उन्नत कर देना चाहिए। इस से दो तथ्य सिद्ध होजाते हैं। उन्नतभाग से वेदि का दक्षिणप्रवणता दोष सर्वात्मना हट जाता है। दूसरे-वेदि **'पशुसम्पत्ति'** से भी समन्वित होजाती है। परिशिष्टात्मक--प्रवर्ग्य भाग का ही नाम, श्लथ--मिट्टी का ही नाम--**'पुरीष'** है, जो अनात्म्य है। आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से वञ्चिता पशुसृष्टि 'अनात्म्या' है, प्रवर्ग्या है, पुरीषरूपा है, अर्थात् प्रवर्ग्यात्मिका है। पृथग्भूता मिट्टी प्रवर्ग्य-स्थानीया बनती हुई निदानेन साक्षात्-**'पशु'** है। अतएव इस पुरीष-निधान से वेदि अवश्य ही पशुसम्पत्ति से भी समन्विता होजाती है। क्या दक्षिणस्थ याम्य-रुद्र इस पशुसम्पत्ति को नष्ट नहीं कर देगा, जिसे कि पुरीष-निदानेन वेदि के दक्षिण भाग में प्रतिष्ठित किया गया है ?। नहीं, इसलिए कि, याम्यरुद्र तो स्वयं **'पशुपति'** है। अतएव वे तो रक्षक ही हैं इन दक्षिणस्थ--पशुओं के।

उक्त कथन का तात्पर्य्य यही है कि, आधिदैविक यज्ञ, तथा आध्यात्मिक यज्ञ का जैसा स्वरूप है, इस आधिभौतिकी वेदि का स्वरूप भी उसी अनुपात से वितत होना चाहिए। वेदि की स्वरूप--सम्पत्ति से सम्बन्ध

रखने वाले इसी तथ्य का अत्र समन्वय हुआ है, जिसके अनन्तर -'प्रतिमार्ज्जनकर्म्म' ही उपस्थित हो-रहा है ॥१७॥

## प्रतिमार्ज्जनकर्म्मोपपत्ति--

उत्तर-परिग्रहानन्तर स्फ्य से उत्पाटित मिट्टी को समन्त्रक बाहिर फैंकना हीं 'प्रतिमार्ज्जनकर्म्म' है। जिस मन्त्र से यह कर्म्म किया जाता है, वह निम्न लिखित है—

"पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम् ।
यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासो अनुदिश्य यजन्ते" ॥
—यजुः सं० १।२८ मं०

"हे विरप्शिन् ! विसृपः (क्रूरस्य) पुरा (देवाः) जीवदानुं यां पृथिवीमुदादाय स्वधाभिश्चन्द्रमसि-ऐरयन्, तामु अनुदिश्य-धीरासः-यजन्ते"। हे विष्णो ! विविध योद्धाओं की इधर उधर दौड़ भाग (सर्पण-झपाटा) के कारण 'विसृप' नाम से प्रसिद्ध क्रूरकर्म्मा, अतएव 'क्रूर' नाम से प्रसिद्ध सङ्ग्राम से पहिले देवताओंनें जीवनीय जिस पृथिवी को (पृथिवी के जिस जीवनीय भाग को) (धरोहर के रूप में) चन्द्रमा में प्रतिष्ठित किया था, उसी (जीवदानु भाग) को लक्ष्य में रख कर धीर याज्ञिक यजन करते हैं"—

यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। इस मन्त्र की सङ्गति लगाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है कि-"किसी समय युद्ध की आशङ्का से देवताओं नें युद्ध से पहिले ही परस्पर की मन्त्रणा से यह निश्चय किया कि, "इस भूपिण्ड पर जो अपना याज्ञिक अमृतमय देवयजन भाग है, उसे कुछ दिनों के लिए चन्द्रमा में रखदें। यदि जीत गए, तो पुनः इसे ले लेंगे। नहीं, तो जीवनीय रस के आधार पर पुनः असुरों को परास्त कर देंगे। फलतः देवताओंनें उस जीवनीय भाग को धरोहर के रूप में चन्द्रमा में प्रतिष्ठित कर दिया"। प्रकृत यज्ञ में चन्द्रमा में सुरक्षित उसी देवयजन भाग की (भावना द्वारा) प्राप्ति के लिए उक्त मन्त्र से प्रतिमार्ज्जन किया जाता है। उस देवयजन की भावना रखते हुए प्रतिमार्ज्जन से विशुद्ध भूप्रदेश में उसी यज्ञिय भाव का (देवयजन भाग का) समावेश होजाता है। ('अपि ह वाऽस्यैतस्मिन् देवयजनऽ इष्टं भवति, य एवमेतद्वेद")।

संहिताभाग के कितने हीं मन्त्र विशुद्ध आधिदैविक-विज्ञान का ही निरूपण करते हैं। केवल विज्ञान का निरूपण करने वाले मन्त्र भाषादृष्टि से भी जटिल होते हैं, एवं अर्थदृष्टि से भी रहस्यमय होते हैं। प्रकृत मन्त्र ऐसा ही है। इस में एक अपूर्व आधिदैविक-विज्ञान का निरूपण किया गया है। कल्पनारसिक कवियों की उत्ताल-तरङ्गों की आधारभूमि 'चन्द्रकलङ्क' का क्या स्वरूप है ?, दूसरे शब्दों में चन्द्रबिम्ब में दिखलाई देने वाला 'कृष्णचिह्न' क्या है ?, उक्त मन्त्र इसी प्रश्न का तात्त्विक समाधान कर रहा है। वैदिक--विज्ञान का तिरस्कार करते हुए लक्ष्मी के लाडले राजपुत्रों का अनुरञ्जन करने वाले, उनकी प्रशंसा में हीं अपने जीवन को धन्य मानने वाले, वैदिक--विज्ञान के परम शत्रु भारतीय उन कवियों से ही पहिले पूँछ देखिए। देखें, वे इस 'कलङ्क' के सम्बन्ध में क्या उत्तर देते हैं ?। बहुत दिनों की घटना है। इस सम्बन्ध

में एक पद्य किसी कविश्रेष्ठ के मुख से हमारे श्रोत्रविवरों में बलात् प्रविष्ट होगया था। सम्भवतः सभी संस्कृतानुरागी निम्न लिखित उस पद्य से सुपरिचित होंगे कि—

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः, पङ्कं परे मेनिरे।
सारङ्गं कतिचिच्च सञ्जगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे॥
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलः श्यामं दरीदृश्यते।
तत् सान्द्रं निशिपीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे॥

"कितने हीं कल्पना-रसिकों का कहना है कि, चन्द्रमा में जो कृष्णभाव है, वह एक कलङ्क का सूचक है। चन्द्रमाने जारबुद्धि से बृहस्पति की स्त्री तारा ( गुरुपत्नी ) पर बलात्कार किया था। वही कलङ्क (कालिमा, कालिख ) आजतक चन्द्रमा में दिखाई दे रहा है। कितने हीं मानते हैं कि, चन्द्रमा समुद्रमन्थन के अवसर पर समुद्र से निकला है। समुद्र से निकलते हुए समुद्र का पङ्क ( कचड़ ) भी चन्द्रमा में लगा रह गया। वही चन्द्रमा में दिखलाई दे रहा है। कितने हीं कहते हैं कि, चन्द्रमा के क्रोड़ में एक मृगशावक ( हरिण का बच्चा ) बैठा है। हरिण चन्द्रमा का वाहन है। उसका पुत्र भी उसी के साथ है। अल्पवयस्क होने से प्रीतिवश चन्द्रमा ने उसे अपने अङ्क ( गोद ) में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। चन्द्रमा में दिखलाई देने वाला कृष्णभाव ( कालिमा ) वही क्रोडस्थ मृगशावक है। इसीलिए चन्द्रमा **'मृगलाञ्छन'** नाम से प्रसिद्ध है। कितने हीं विद्वान् कहते हैं कि, चन्द्रमा पर भूपिण्ड की छाया पड़ती है। चन्द्रमा में दृष्ट कृष्ण-वर्ण भूमि की छायामात्र है। परन्तु हमारी दृष्टि से ( पद्यरचना करने वाले कवि के मत से ) चन्द्रमा में जो श्यामता दिखलाई दे रही है, वह रात्रि का ही अन्धकार है। रात्रि का जो घना अन्धकार था, उसे ही मानो चन्द्रमा ने पी लिया है। रात्रि का सम्पूर्ण अन्धकार चन्द्रमा के उदर में चला गया है। अतएव चान्द्री रात्रियों में ( शुक्लपक्ष में, विशेषतः पूर्णिमा में ) अन्धकार नहीं रहता। वही पीतान्धकार चन्द्रकुक्षि में दिखलाई देरहा है।"

उपर्युक्त सभी पक्ष केवल कल्पना हीं कल्पना हैं। यद्यपि इस कल्पना में भी—**'भूच्छायमैच्छन परे'** यह वाक्य अवश्य ही आंशिकरूप से सत्य है। परन्तु इतर मिथ्यार्शों के संदशपतित होने से उसकी भी मौलिकता तिरोहित ही होरही है। प्रकृत मन्त्र उसी सत्यांश का विश्लेषण कर रहा है, जैसाकि निम्नलिखित **चन्द्रोत्पत्तिप्रकरण** से स्पष्ट होजायगा।

जिसप्रकार **'बहिर्ग्रह'** नाम से प्रसिद्ध शनि, बृहस्पति, मङ्गल, एवं **'अन्तर्ग्रह'** नाम से प्रसिद्ध **शुक्र-बुध-पृथिवी** सूर्य्य के उपग्रह माने जाते हैं, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह माना गया है। दूसरे शब्दों में-चन्द्रमा **पृथिवी का पुत्र** माना जासकता है। यद्यपि चन्द्रमा को **'अत्रिपुत्र'** माना गया है। परन्तु उस अत्रिप्राण का भूपिण्ड से ही सम्बन्ध है। अत्रिप्राण ही भूपिण्ड का स्वरूप-समर्पक बनता है। भूपिण्ड भूतमय है। भूत की प्रतिष्ठा प्राण है। बिना प्राण के भूत एक क्षण भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। वही भूतप्रतिष्ठारूप वाङ्मय, किंवा वाग्रूप प्राण **'अत्रि'** नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्विध अन्नादाग्नियों का निरूपण करते हुए हमने पूर्व में पृथिवी में **'गार्हपत्य'** नाम के **'अन्नादाग्नि'** की सत्ता बतलाई है। इस अन्ना-

दाग्नि की चित्य-चितेनिधय, भेद से दो अवस्थाएँ होतीं हैं। चित्याग्नि भूतप्रधान है, इसी से भूपिण्ड बनता है। एवं चितेनिधेय अग्नि प्राणप्रधान है। यही वागप वन्नादमूर्त्ति अत्रिप्राण है। यही भूपिण्ड की प्रतिष्टा है। इसी प्राण का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

**"वागेवात्रिः। वाचा (पार्थिवान्नादाग्निना) ह्यन्नमद्यते। अत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति"** (श० १४।५।२।५)।।

भूपिण्ड वाग्रूप अत्रिप्राणमय है। अतएव इसे भी वाग्रूप ही कहा जाता है, जैसाकि निम्न लिखित श्रौत-वचनों से स्पष्ट होजाता है—

१—**"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"** (शत० १०।५।१।१)।
२—**इयं (पृथिवी) वै वाक्"** (ऐ० ५।३३। शत० ४।६।६।१६।
३—**"वागिति पृथिवी"** (जै० उ० ४।२२।११)।
४—**"वागेवायं लोकः"** (श० १४।४।३।१)।
५—**"सा या सा वागग्निस्सः"** (जै० उ० १।२८।३)
६—**"सा या सा वागासीत्, सोऽग्नि-(अन्नादः)-रभवत्'** (जै० उ० २।२।१)

यह वाग्रूप (अन्नादाग्निरूप) पार्थिव अत्रिप्राण वस्तुतः आपोमय परमेष्ठी का ही मनोता है। **भृगु-अङ्गिरा-अत्रि**, इन तीनों का प्रभवस्थान आपोमय परमेष्ठी ही है। इनमें भृगु, एवं अङ्गिरा, प्राण आगे जाकर घन-तरल-विरल-अवस्था भेद से क्रमशः **आपः-वायु-सोम, अग्नि-यम-आदित्**, इन तीन तीन स्वरूपों में परिणत होजाते हैं। तीसरा अत्रिप्राण भृगु–अङ्गिरा–प्राणवत् तीन अवस्थाओं में परिणत न होकर सदा एकरूप ही रहता है। अतएव **'न त्रिः'** इस निर्वचन के अनुसार भी इसे **'अत्रि'** कहा जाता है। **'अत्ति' (अन्नं)–"न त्रि"**–अत्रि शब्द के दो निर्बचन हैं। यही प्राण भूतसृष्टि का आलम्बन है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ (तेज, एवं आकाश, को छोड़ कर) **धामच्छद** (जगह रोकने वाला) है। साथ ही प्रायः प्रत्येक धामच्छद पदार्थ पारदर्शकता का प्रतिबन्धक है। इस पारदर्शकता का अवरोधक यही अत्रिप्राण है। यह प्राण सूर्य्य का (ज्योति का) प्रतिबन्धक है। जिस धामच्छद पदार्थ में अत्रिप्राण की प्रधानता रहती है, उसकी पारदर्शकता नष्ट होजाती है। सौररश्मियाँ उस से पारावारीण नहीं होसकतीं। **तमोमयी पाप्मा भूतसृष्टि का अधिष्ठाता यही अत्रिप्राण है**। ऋतुकाल में स्त्री के रज में तमोमयी सृष्टि का मूलभूत यही अत्रिप्राण रहता है। अतएव ऋतुमती को **'आत्रेयी'** कहा जाता है। दिव्य सौरज्योतिर्मय देवताओं की अपेक्षा यह प्राण मलीमस है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है-**"पाप्मानोऽत्रिणः"** (प० ब्रा० ३।१।)—**रक्षांसि वै-पाप्मात्रिणः"** (ऐ० २।२।)। इसी पाप्मभाव के कारण धर्म्मशास्त्र में ऋतुमती स्त्री के स्पर्श का निषेध हुआ है।

पृथिवी का मूल उपादान पानी ही है। इसीके साथ अन्नादाग्निमय धामच्छद पारदर्शकता का प्रतिबन्धक आपोमय पारमेष्ठ्य अत्रिप्राण भी संयुक्त रहता है। अत्रिप्राण के परिपाक से चित्याग्निमय भूपिण्ड की स्वरूप-

निष्पत्ति होती है है। भूपिण्ड पानी और अग्नि ( **अत्रि** ) का समन्वितरूप है। इसी अग्नि के सम्बन्ध से इसके लिए "**यथाग्निगर्भा पृथिवी**" यह कहा जाता है। भूपिण्ड क्या है, **चित्याग्निमूर्त्ति अन्नादाग्नि-रूप अत्रिप्राणमूर्त्ति** है। यह भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगा रहा है। बृहती केन्द्र-स्थित सूर्य्य के चारों ओर '**दीर्घवृत्त**' (**अण्डाकारवृत्त**) रूप '**क्रान्तिवृत्त**' पर घूमता हुआ भूपिण्ड **सम्वत्सरगति** का अधिष्ठाता बनता है, एवं **स्वाक्षपरिभ्रमण** से दैनंदिनगति का प्रवर्त्तक बनता हुआ **अहोरात्र** का स्वरूप-सम्पादक बनता है। **स्वाक्ष**, एवं **साम्वत्सरिक** परिभ्रमण करते हुए पार्थिव अग्नि में दसों दिशाओं में व्याप्त **दिक्सोम** की निरन्तर आहुति होती रहती है। यही पार्थिव अग्नीषोमात्मक यज्ञ है।

पार्थिव अग्नि विकासधर्म्मा है, एवं यह भूपिण्ड के खण्ड खण्ड करना चाहता है। परन्तु **संकोच**-धर्म्मा सोम अग्नि में आहुत होकर उसके इस विकास का दमन करता रहता है। आगत सोम घनादि तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। भूपिण्डावच्छिन्न सोम घनावस्थापन्न है, इसी को '**ध्रुवसोम**' कहा जाता है। पृथिवी के पञ्चदशस्तोमरूप अन्तरिक्ष में व्याप्त पार्थिव सोम तरतलावस्थापन्न है, इसी को '**धर्त्रसोम**' कहा जाता है। एवं पृथिवी के २१ एकविंशस्तोमरूप द्युलोक में पार्थिव सोम विरलावस्थापन्न प्राणावस्थापन्न) है, इसी को '**धरुणसोम**' कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि, दिक्सोम पार्थिव वागग्नि में आहुत होता है। सोमाहुति से प्रदीप्त अत्रिप्राणमय पार्थिव वागग्नि '**अङ्गिरा**' नाम धारण करता हुआ ऊपर की ओर ( द्युलोक की ओर ) जाता है। इस वागग्नि की घनादि तीन अवस्थाएँ होजातीं हैं। भूपिण्डावच्छिन्न सोममय पार्थिव अग्नि '**घन**' है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न, वायु नाम से प्रसिद्ध दिव्याग्नि '**तरल**' है। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न, आदित्य नाम से प्रसिद्ध दिव्याग्नि '**विरल**' है। अग्नि की इन तीन अवस्थाओं के कारण तद्गर्भित सोम की भी उक्त तीन अवस्थाएँ होजातीं हैं। अन्तरिक्ष में पार्थिव वागग्निरूप अत्रिप्राण व्याप्त रहता है। इसी के गर्भ में तरलसोम प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्ड घूम रहा है। अन्तरिक्षस्थ सोम यहीं (अन्तरिक्षप्रदेश में) उस अत्रिरूप वागग्नि से प्रवृक्त होकर एक स्थान में घनी-भूत होता रहता है। यही पृथिवी की तीन साम्वत्सरिक-परिक्रमाओं से एकीभूत पार्थिव तरल सोम चन्द्रबिम्ब रूप में परिणत होजाता है। यह पृथिवी के प्रवृक्त सोमरस से उत्पन्न हुआ है, इसीलिए तो इसे **पृथिवी का उपग्रह** माना जाता है, एवं अत्रिनेत्र के प्रस्रवण से उत्पन्न होने के कारण यह '**अत्रिपुत्र**' भी माना जाता है। चन्द्रमा के इसी औत्पत्तिक-रहस्य को लक्ष्य में रखकर **पुराण** कहता है—

**पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः।**
**काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥१॥**
**सुदुश्चरं नाम तपो येन तप्तं महत् पुरा।**
**त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानी हि नः श्रुतम् ॥२॥**
**तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह।**
**सोमत्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥३॥**
**ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मनः।**
**नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥**

—ब्रह्माण्डोपोद्घाते-हरिवंशे च

'अग्निः सर्वा देवताः' के अनुसार अग्नि सार्वदैवत्य है। इन देवताओं के यजन ( सङ्गतिकरण ) का एकमात्र साधन सोमाहुति ही है। अतएव हम सोम को अवश्य ही 'देवयजन' ( देवताओं के यज्ञरूप यजन का साधन ) कह सकते हैं। भूपिण्डस्थ अग्नि में आहुत होने वाला पार्थिव सोम ही देव-यजन है। यही देवयजनभूमि है। यही देवयजन सोम पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार चन्द्ररूप में परिणत हुआ है। पार्थिव देवयजन सोम पितृप्राणमय है। क्योंकि पितरप्राण का अधिष्ठाता एकमात्र सोम ही है। अतएव पितरों के लिए 'पितरः सोम्यासः' ( यजुः सं० ) यह कहा जाता है। जिसप्रकार देवताओं का अन्न 'स्वाहा' कहलाता है, एवमेव पितरों का अन्न अन्तर्य्याम-सम्बन्ध की प्रधानता से "स्वस्मिन् धत्ते" अथवा स्वां ( आत्मानं ) धत्ते" इस निर्वचन के अनुसार 'स्वधा' नाम से व्यवहृत होता है। स्वधा सोमद्रव्य है, एवं यह पितरप्राणमय है। इसी स्वधारूप पितृप्राण की प्रेरणा से पार्थिव सोमाख्य देवयजन भाग चन्द्ररूप में परिणत होता है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—"स्वधाभिः-चन्द्रमसि-ऐरयन्" यह कहा गया है। आरम्भ में पृथिवी के प्रवृक्त देवयजन ( सोम ) से चन्द्रमा बन गया है। चन्द्रमा के साथ सौर रश्मियों का सम्बन्ध हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित होगया। परन्तु चन्द्रमा के मध्य में पार्थिव सोम घनरूप से प्रतिष्ठित था। दूसरे शब्दों में--चान्द्रगर्भित सोम पार्थिव कृष्णभाग से युक्त था। इस पार्थिव भाग की प्रधानता से यहाँ का सोम 'ध्रीध्र' न बन सका। अतएव वहाँ सौररश्मियों की प्रतिष्ठा न होसकी। यही पार्थिवदेवयजनभाग हमें आज भी काला दिखाई दे रहा है।

सृष्टि के आरम्भ में देवयजन के द्वारा चन्द्रमा बना था। आज पृथिवी से निकलने वाला वह देव--यजनभाग उसी रूप से चन्द्रमा का स्वरूप--सम्पादन ( पोषण--पुष्टि ) कर रहा है। चान्द्रसोम ओषधि--निर्माण में खर्च होता रहता है। नियन्ता का यह नियतिचक्र अवश्य ही आश्चर्य्य में डालने वाला है। 'सोम देवयजन' है, यह सिद्ध होचुका। विशुद्ध पार्थिवाग्नि, एवं चन्द्रमा, इन दो स्थानों में इस की उपलब्धि होसकती है। विशुद्ध पार्थिवाग्नि में वह पावन देवयजन सोम प्रतिष्ठित हैं, एवं सर्वथा विशुद्ध--रूप चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है। वह वैधयज्ञ में प्राप्त नहीं होसकता। उसकी केवल भावना ही की जाती है। दूसरा है पार्थिवदेवयजन। ओषधि--तृण--खननव्यापार से उखाड़ी हुई मिट्टी, इन में किसी में भी विशुद्ध अग्नि नहीं है। प्रतिमार्ज्जन का तात्पर्य्य यही है कि, भूस्तरपर रहने वाला आगन्तुक, किंवा श्लथ अग्निरूप अयज्ञिय भाव हट जाय, एवं विशुद्ध पार्थिवाग्निरूप देवयजन भाग प्राप्त होजाय। इसी पार्थिव देवयजन--सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए प्रतिमार्ज्जककर्म्म किया जाता है। पार्थिव--देवयजन के साथ ही चन्द्र--देवयजन सम्पत्ति भी हमें ( भावनामय मन्त्रबल से ) प्राप्त होजाय, इस के लिए "क्रूरस्य विसृपः" इत्यादि मन्त्र बोलते हुए प्रतिमार्ज्जनकर्म्म किया जाता है। जिसप्रकार उपासनकाण्ड में केवल भावना के बल पर विदूरस्थ उपास्य देव अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होजाता है, एवमेव यहाँ भी भावना के बल से अवश्य ही उस वेदि में वह चान्द्रदेवयजनसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है। यह तो हुआ इस प्रक--रण का आधिदैविक अर्थ, अब दो चार पङ्क्तियों में आधिभौतिक ( ऐतिहासिक ) रहस्य भी अवगत कर लीजिए।

दायविभागाख्यान के आधिभौतिक चरित्र में यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि, इसी भूपिण्ड पर किसी समय मनुष्यविध देवता, एवं असुरों की सत्ता थी। इनमें असुरदल तो आज तक विद्यमान है, परन्तु देवसत्ता सर्वात्मना अभिभूत होचुकी है। उस पुरायुग में देवता, एवं असुरों में आए दिन युद्ध होता रहता था। देवताओं का प्रधान बल यज्ञ था। यज्ञबल से ही देवता समय समय पर असुरों को परास्त करते रहते थे। इस यज्ञ का प्रधान साधन **सोमवल्ली** ही थी। **यही सोमवल्ली देवताओं का प्रधान 'देवयजन' था।** असुर निरन्तर इस देवयजन को नष्ट करने का प्रयास करते रहते थे। इस आए दिन की चिन्ता से छुटकारा पाने के लिए देवताओंने अपने इस देवयजन की रक्षा के लिए—अत्रिमहर्षि के पुत्र चन्द्रमा को नियत किया। चन्द्रमा ब्राह्मण थे, एवं भारतवर्ष के निवासी थे। भौमब्रह्माने चन्द्रमा को अपना मानस पुत्र बनाया। स्वयं रथ में स्थापित कर चन्द्रमा को पृथिवी की प्रदक्षिणा कराई गई। अन्त में राज्याभिषेक कर इन्हें उत्तरदिशा का तो **दिक्पाल** बनाया, एवं ओषधियों का लोकपाल बनाया। इसी **लोकपाल**, एवं **दिक्पाल** चन्द्रमा की रक्षा में तीन लक्ष **प्रावेय–मौनेय** गन्धर्वों के साथ सोमवल्ली सौंपी गई। जहाँ जहाँ सोमवल्ली का उद्गम होता था, वहाँ वहाँ चन्द्रमा ने अपनी देखरेख में गन्धर्वों को रक्षा के लिए नियत किया। आगे जाकर गुरुपत्नी के अपहरण से हतबुद्धि चन्द्रमा ने देवताओं की देवयजनरूप सोमवल्ली की रक्षा में उदासीनता दिखलाई। असुरों को अच्छा अवसर मिल गया। फलतः असुरों के द्वारा सोमवल्ली का आमूलचूड़ ध्वंस कर दिया गया। तभी से देवबल नास्तिभाव में परिणत होगया। प्रकृत ब्राह्मणश्रुति आधिदैविक–चरित्र के साथ साथ उक्त ऐतिहासिक घटना का भी स्मरण करा रही है।

## इति–प्रतिमार्जनकर्म्मोपपत्तिः

## १८, १९

ब्राह्मणोक्त वेदिनिर्म्माण–सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों की वैज्ञानिक उपपत्ति बतला दी गई। अब **'अनवमर्श'** प्रकरण शेष रह जाता है। पूर्व के अनुवाद–प्रकरण में यह बतला दिया गया है कि, जबतक वेदि पर **कुशास्तरण** नहीं कर लिया जाय, तबतक भूलकर भी वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए। तात्पर्य्य यही है कि, मन्त्र के द्वारा खननादि व्यापार से वेदिप्रदेश क्रूर हिंसक विद्युत् से युक्त होजाता है। उधर बर्हि में सौर–वेन–प्राणमयी विद्युत् रहती है। विद्युद्विज्ञानवेत्ताओं को यह भलीभाँति विदित है कि, मशीनरी का संचालन करने वाले विद्युद्यन्त्र के साथ एक ताँबे का तार स्वतन्त्ररूप से मीटर ( विद्युच्छक्तिप्रदाता यन्त्र ) पर्य्यन्त बद्ध किया जाता है। यदि सञ्चालक की असावधानी से, अथवा अधिक चापन ( दबाव ) से परिमाण से अधिक विद्युच्छक्ति का समावेश होजाता है, तो वह ताम्रतन्तु ( तार ) उसका निगरण ( पान ) कर जाता है। तत्काल **'फ्यूज उड़'** जाता है। सञ्चालक वर्ग निरापद सुरक्षित रह जाता है। यदि यह तार न हो, तो वह उद्रिक्त विद्युत् इतस्ततः व्याप्त होकर संघात का कारण बन जाती है। बस ठीक यही परि–स्थिति यहाँ समझिए।

वेदिस्थान से निकलने वाली विद्युत् संहार करने वाली है। इसका दमन करने के लिए ही वेदि पर कुशास्तरण किया जाता है। बर्हि में विद्युत् है, जैसाकि पूर्व के बर्हि–उत्पत्ति–प्रकरण में विस्तार से बतलाया

जाचुका है। वह दर्भविद्युद् 'वेदिविद्युत्' का पान कर जाती है। अतः दर्भास्तरणानन्तर वेदि के स्पर्श से कोई हानि नहीं होती। यद्यपि भौतिक विद्युत की भाँति स्पर्शकाल में यहाँ शरीर में किसी प्रत्यक्ष आघात का अनुभव नहीं होता। **क्योंकि इस प्राणात्मिका यज्ञविद्युत् का प्राण से ही सम्बन्ध है।** **प्राणविद्या** के विद्वानों का कहना है कि, स्पर्शकर्त्ता का प्राण मूर्च्छित होजाता है, एवं सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म नष्ट होजाता है। प्रत्यक्षानुभव न सही, यदि हमें यज्ञ के परोक्ष फल पर विश्वास है, फलतः इसी विश्वास के आधार पर यदि हम यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होते है, तो हमें बाध्य होकर ऋषिप्रोक्त पद्धतिक्रम का ही आश्रय लेना ही पड़ेगा। प्राणपरीक्षक ऋषियों के आदेश पर चलना हीं हमारा मुख्य कर्त्तव्य होगा।

**"ऐसा करने से क्या होगया, क्या हो जायगा, ऐसा ही क्यों न करलें"** इसप्रकार का **बुद्धिवाद** पुराने युग में भी प्रचलित था। परन्तु उस समय यज्ञविद्या के **रहस्यवेत्ता** विद्यमान थे। समय समय पर फैलने वालीं तथाविधा भ्रान्तियों का उन रहस्यवेत्ताओं की ओर से निराकरण होता रहता था। परन्तु आज का युग बड़ा विचित्र है। दुर्भाग्य से देश में रहस्यवेत्ताओं का नितान्त अभाव है। फलतः अज्ञ जनों के द्वारा यज्ञपद्धतियों की उपेक्षा कर मनमाने पथ का आश्रय लिया जारहा है। रहस्यपूर्णा यज्ञविद्या आज बालक्रीड़ा-मात्र का साधन बन रही है। आर्षऋषियों के चिरन्तन सिद्धान्तों की अवहेलना कर अपने काल्पनिक जगत् को ही प्रधानता दी जारही है। यज्ञविद्या का आचार्य्य भारतवर्ष आज क्यों इस हीनदशा को प्राप्त होरहा है ?, इस प्रश्न का यही समाधान है। आर्षपद्धतियों का अनुसरण करने का गर्व रखने वाला **सनातन-धर्म्मी--जगत्** केवल आडम्बरभक्त है। यज्ञ की मौलिकता से वह भी सर्वात्मना पीछे हट गया है। नहीं, तो वे ही वेदमन्त्र, वही सामग्री, फिर यजमान का अभ्युदय क्यों नहीं ? । **'कर्म्मकाण्डी'** महोदय आज जैसे दुर्दशाग्रस्त हैं, वैसे दूसरे नहीं। कुछ परिगणित मन्त्र ( सो भी नितान्त अशुद्ध ) कण्ठ करलेने मात्र से **'कर्मठ'** की उपाधि मिल जाती है। जो यज्ञकर्म्म एक वैज्ञानिक कर्म्म है, जिसके सञ्चालन के लिए पर्याप्त योग्यता अपेक्षित है, वह आज अर्द्धशिक्षित, किंवा **अशिक्षित वेदपाठियों** का क्रीड़ाकौतुकमात्र ही बन रहा है। फल इसका यह होरहा है कि, यज्ञ न करने वाले जहाँ सुखी देखे जाते हैं, वहाँ यज्ञकर्त्ता हीनदशा में मिलते हैं। यदि धर्म्म का **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः'** यही लक्षण है, तो फिर सतत धर्म्मानुष्ठान के गीत गाते हुए भी सनातनधर्म्मी क्यों दिन प्रतिदिन अवनति के गर्त्त की ओर अग्रेसर होते जारहे हैं ?। क्या आपने कभी इस प्रश्न का समाधान सोचा ?।

यह तो हुई अपने घर की बात। अब चलिए आर्य्यसामाजिक--जगत् की ओर। यह समाज वेद का परम भक्त है। साथ ही इसे यज्ञविद्या में भी पूर्ण विश्वास है। सीमा यहीं समाप्त नहीं होजाती। दैनिक यज्ञों ( हवनों ) के द्वारा यह अपने विश्वास को कार्य्यरूप में भी परिणत कर रहा है। परन्तु फल की दृष्टि से इनका भी सम्पूर्ण कर्म्मकलाप निरर्थक ही है। अवैध ( पद्धतिविरुद्ध ) कल्पित ताम्रकुण्डों में कल्पित पद्धतियों के द्वारा घृत-केसर-कपूर आदि डाल देना हीं इनकी यज्ञविद्या की परिसमाप्ति है। "महाशय कहाँ गए थे ?। अजी समाजमन्दिर में **सम्मिलितहवन** करने गया था"। हम आक्षेप नहीं करते। अपितु इन अकाण्ड-ताण्डवों को देखकर हमारा अन्तरात्मा क्षुब्ध है। हम इसी अभिनिवेश में पड़कर अपने आप अपने सर्वनाश का बीज वपन कर रहे हैं। यदि कुछ कहा जाता है, तो सद्विचार के स्थान में शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया जाता है। मध्यस्थ बनाए जाते हैं--वहीं के कोई **मजिस्ट्रेट, पुलिस आफिसर,** अथवा तो ओर कोई

धनिक। यदि आप बुरा न माने, तो यह कह लेने दीजिए कि, आज आर्य्यसमाज सत्यसिद्धान्तों से बहुत दूर चला गया है। बात बहुत छोटी है, परन्तु है बड़ी मार्मिक। साथ ही हम यह भी समझते हैं कि, जहाँ ऋषिप्रणीत-पद्धतियों का आदर नहीं, वहाँ हमारे इस कथन का कोई मूल्य भी न होगा। फिर भी कह देना हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं।

आर्य्यजगत् में 'नमस्ते' बोलने की प्रथा है। साथ ही सनातनधर्म्मी--जगत् में व्यवहृत होने वाले 'जयरामजी की' 'जयगोपालजी की' 'जैजैश्रीगोकुलेश' 'प्रणाम' 'नमस्कार' 'जयमाताजी की' इत्यादि वाक्यों की अवज्ञा की जाती है। आज हम समस्त आर्य्यजगत् को यह चेतावनी दे रहे हैं कि, परस्पर 'नमस्ते-महाशय ! नमस्ते महाशय !' का उद्घोष करता हुआ वह प्रत्यवाय का ही भागी बन रहा है। 'नमस्ते' शब्द वैदिक है, वैदिक ऋषियों के द्वारा प्रयुक्त है, 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यादि रूप से देवस्तुति-सम्बन्ध में ( संहिताभाग में भी ) 'नमस्ते' पद पद पर प्रयुक्त है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी लौकिक--व्यवहारकाल में परस्पर 'नमस्ते' 'नमस्ते' बोलना स्वयं वेद के ब्राह्मणभाग के द्वारा ही सर्वथ निषिद्ध है।

स्वाहा, स्वधा, वौषट्, श्रौषट्, स्वगा, आदि शब्द अन्न के वाचक हैं। परन्तु विषयभेद से सब का व्यवहार व्यवस्थित है। देवताओं को अन्नाहुति-'स्वाहा' शब्द से, पितरों को 'स्वधा' शब्द से, इन्द्र को 'वौषट्' शब्द से देने का विधान है। इस शब्दभेव्यवहार में व्यतिक्रम नहीं किया जासकता। लोक में भी रसोई जीमिए, भोजन कीजिए, रोटी खालो, रोटी खाले, ये सब वाक्य समानार्थक हैं। परन्तु सभी के लिए उक्त सभी वाक्य प्रयुक्त नहीं होते। अपितु तत्तद्वाक्य तत्तद्व्यक्तिविशेषों के लिए ही नियत हैं। ठीक वही स्थिति 'नमस्ते' शब्द की है। यज्ञ करने वाला यजमान दीक्षित होता है। सब से पहिले उसे दीक्षणीयेष्टि करनी पड़ती है। यहीं से इसके लिए-"स वै सत्यमेव वदेत्" यह नियम अनुगत होता है। जबतक यजमान यज्ञकर्म्म में दीक्षित रहता है, तबतक वह शूद्रादि से भी भाषण नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य्य-व्रत-सत्यभाषण-अधःशयन-पयोभोजन आदि विशेष नियमों के पालन से ही इस के अन्तरात्मा में यज्ञ-जनित अतिशय का अन्तर्य्याम-सम्बन्ध होता है। दीक्षित के इन्हीं कतिपय नियमों का दिग्दर्शन कराती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"तन्न सर्व-इवाभिप्रपद्येत-ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा। ते हि यज्ञियाः। स वै न सर्वेणेव संवदेत। देवान्वाऽएष उपावर्त्तते यो दीक्षते। स देवतानामेको भवति। न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते। ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः। तस्माद्यद्येनं शूद्रेण संवादो विन्देत्_एतेषां (ऋत्विजां) एकं ब्रूयात्_'इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्वेति। एष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः"।

--शत० ३ का० १।१।९-१० कं० इति।

यज्ञसंस्था एक देवसंस्था है, प्रकृतिसंस्था है। इसमें लौकिक व्यवहारों का समावेश करना सर्वथा निषिद्ध है। यज्ञमण्डल में ऋत्विजों, और यजमानों में जो परस्पर अभिनन्दन व्यवहार है, वही **'नमस्ते'** शब्द से होता है। **इसप्रकार 'नमस्ते' शब्द यज्ञसंस्था के लिए ही नियत है**। क्योंकि **'नमः'** यज्ञ का वाचक है। **'नमस्ते'** का अर्थ है, **'हम आपके यज्ञ ( यज्ञसाधक ) हैं।'** ऐसी अवस्था में यज्ञातिरिक्त सामान्य लौकिक व्यवहारों में **'नमस्ते'** बोलना मिथ्यादोष का ही भागी बनना है। सामान्य व्यवहार यज्ञ नहीं है। यज्ञ के अभाव में 'नमस्ते' ( **यज्ञस्ते** ) बोलना मिथ्याव्यवहार है। अतः यज्ञमण्डल के अतिरिक्त कभी परस्पर के व्यवहार में 'नमस्ते' व्यवहार नहीं करना चाहिये। यही आदेश देती हुए श्रुति कहती है--

**"चतुर्दशैतानि यजूंषि भवन्ति। त्रयोदश मासाः संवत्सरः, प्रजापतिश्चतुर्दशः। प्रजापतिरग्निः। यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा–तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति, नमो नम इति। यज्ञो वै नमः। यज्ञेनैवैनमेतन्नमस्कारेण नमस्यति। तस्मादुह नायज्ञियं ब्रूयात्–नमस्ते-इति। यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्ते इति, तादृक् तत्"।**

—श० ब्रा० ६–कां०।१।१।१६ कं० इति।

आज क्या हो रहा है। स्त्री-शूद्र-बाल-युवा-वृद्ध सभी अहर्निश **'नमस्ते'** बोलने में ही अपना गौरव समझ रहे हैं। क्या आर्य्यजगत् का यह व्यवहार वैदिक है?। निवेदनीय केवल यही है कि, प्राणप्रधान वैदिक-विज्ञान के विलुप्तप्राय होजाने से, साथ ही भौतिक विज्ञानप्रधान **पाश्चात्यविज्ञान** के सहवास-दूषण से हम **आर्ष-आदेशों** की उपेक्षा कर कल्पित यज्ञ के द्वारा, शास्त्रविरुद्ध सम्बोधनों के द्वारा अपना अनिष्ट ही कर रहे हैं। देवता को न बुलाना अच्छा है। किन्तु बुलाकर यथोक्त क्रम से उसका सत्कार न करना बुरा है। यही कारण है कि, यज्ञादि धर्म्मानुष्ठान न करने वाली जनता भौतिक-सम्पत्ति की अपेक्षा आज के युग में समृद्ध प्रतीतमात्र हो रही है। परन्तु ठीक इसके विपरीत यज्ञादि धर्म्मानुष्ठानों का आडम्बर करने वाली नाममात्र की भारतीय-धार्मिक-जनता सबप्रकार से त्रस्त होरही हैं। फलतः उसके मुखसे इन उद्‌गारों का निकलना स्वाभाविक ही बन जाता है कि–**"जो यज्ञादि नहीं करते, वे सुखी हैं। एवं करने वाले हम दुःखी हैं, ऐसी अवस्था में हम यज्ञादि क्यों करें ?।"**

प्रबलवेग से बढ़ती हुई इसी अश्रद्धा को लक्ष्य में रखते हुए आज उसी आङ्गिरस बृहस्पति के दिव्यात्मा का वह आदेश अभिव्यक्त करने के लिए हम अपनी श्रद्धालु धार्मिक जनता के सम्मुख उपस्थित हुए हैं कि, **वह भूल कर भी यज्ञकर्म्मानुष्ठान पर अश्रद्धा न करै**। हम उसे विश्वास दिलाते हैं कि, यदि उसने आर्षपद्धतियों का यथावत् अनुसरण करते हुए यज्ञानुष्ठान किया, तो उसका यह अनुष्ठान अवश्य अवश्य अभ्युदय का ही कारण बनेगा, एवं इस वैध ( यथाविधि-सम्पादित ) अनुष्ठान के बलपर वह समस्त राष्ट्रों में अपने लिए उच्चत्तम स्थान प्राप्त करने में समर्थ होगी, और अवश्य समर्थ होगी। प्रकृत बृहस्पति का आख्यानांश हमारे इसी कथन को पुष्ट कर रहा है। इसी लक्ष्य का स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६ ॥

---

# इति--वेदिसम्पादनम्

प्रथमकाण्डान्तर्गत-द्वितीयाध्याय का पञ्चम,
एवं द्वितीय प्रपाठ का तृतीय
ब्राह्मण उपरत

## शतपथब्राह्मण का द्वितीय अध्याय समाप्त

२

( इति–वेदिब्राह्मणाध्यायो द्वितीयः )

अथ

# शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये-तृतीयोऽध्यायः

( संस्कारब्राह्मणाध्यायः )

३

★ ★ ★

श्रीः

# अथ--शतपथब्राह्मणे तृतीयोऽध्यायः

## ( संस्कारब्राह्मणाध्यायस्तृतीयः )

## ३

## अथ–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्
## द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

—*—

### १५—द्रव्यसंस्काराः

(मूल) स वै स्रुचः सम्मार्ष्टि। तद्यत् स्रुचः सम्मार्ष्टि–यथा वै देवानां चरणं, तद्वा अनु मनुष्याणाम्। तस्माद् यदा मनुष्याणां परिवेषणमुपक्लृप्तं भवति ॥ १ ॥

अथ पात्राणि निर्णेनिजति। तैर्निर्णिज्य परिवेविषति। एवं वा एष देवानां यज्ञो भवति–यच्छृतानि हवींषि, क्लृप्ता वेदिः, तेषामेतान्येव पात्राणि–यत्स्रुचः ॥ २ ॥

स यत्सम्मार्ष्टि–निर्णेनेक्त्येवैना एतत्–निर्णिक्ताभिः प्रचराणीति। तद्वै द्वयेनैव देवेभ्यो निर्णेनिजन्ति, एकेन मनुष्येभ्यः। अद्भिश्च ब्रह्मणा च देवेभ्यः। आपो हि कुशाः, ब्रह्म यजुः। एकेनैव मनुष्येभ्यः–अद्भिरेव। एवम्वेतन्नाना भवति ॥ ३ ॥

अथ स्रुवमादत्ते। तं प्रतपति—"प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः"–[ १ अ० २९ मं० ] इति वा ॥ ४ ॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः, तद्यज्ञमुखादेवैतन्नाष्ट्रा रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥ ५ ॥

स वा इत्यग्रै रन्तरतः सम्मार्ष्टि- "अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्"-[ १ अ० २९ मं० ] इति । यथानुपरतो यजमानस्य सपत्नान् क्षिणुयाद्, एवमेतदाह । "बाजिनन्त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि"-[ अ० १ मं० २९ ] इति । यज्ञियन्त्वा यज्ञाय सम्मार्ज्मीत्येवैतदाह । एतेनैव सर्वाः स्रुचः सम्मार्ष्टि । वाजिनीन्त्वेति स्रुचम् । तूष्णीं प्राशित्रहरणम् ॥ ६ ॥

स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि, इति मूलैर्बाह्यतः । इतीव वा अयं प्राणः, इतीवोदानः । प्राणोदानावेवैतद्दधाति । तस्मादितीवेमानि लोमानि, इतीवेमानि ॥ ७ ॥

स वै सम्मृज्य-सम्मृज्य, प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति । यथावमर्शं निर्णिज्यानवमर्शमुत्तमं परिक्षालयेत्-एवं तत् । तस्मात् प्रतप्य-प्रतप्य प्रयच्छति ॥ ८ ॥

स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतराः स्रुचः । योषा वै स्रुग्, वृषा स्रुवः-तस्मात् यद्यपि बह्व्य इव स्त्रियः सार्द्धं यन्ति, य एव तास्वपि कुमारक इव पुमान् भवति-स एव तत्र प्रथम एति, अनूच्य इतराः । तस्मात् स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतराः स्रुचः । ॥ ९ ॥

स वै तथैव सम्मृज्याद्-यथाग्निं नाभिव्युक्षेत् । यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन्त्स्यात्, तं पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेत्-एवं तत् । तस्मादु तथैव सम्मृज्याद्-यथाग्निं नाभिव्युक्षेत् । प्राङिवैवोत्क्रम्य । ॥ १० ॥

तद्धैके स्रुक्सम्मार्जनान्यग्नावभ्यादधति । वेदस्याहाभूवन्-स्रुचः । एभिः सममार्जिषुः । इदं वै किञ्चिद् यज्ञस्य । नेदिदं बहिर्द्धा यज्ञाद् भवदिति । तदु तथा न कुर्यात् । यथा यस्मा अशनमाहरेत्-तं पात्रनिर्णेजनं पाययेद्-एवं तत् । तस्मादु परास्येदेवैतानि ॥ ११ ॥

अथ पत्नीं सन्नह्यति । जघनार्द्धो वा एष यज्ञस्य-यत्पत्नी । प्राङ् मे यज्ञस्तायमानो यादिति । युनक्त्येवैनामेतत्-युक्ता मे यज्ञमन्वासाता इति ॥ १२ ॥

योक्त्रेण सन्नह्यति । योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति । अस्ति वै पत्न्या अमेध्यं-यदवाचीनं नाभेः । अथैतदाज्यमवेक्षिष्यमाणा भवति । तदेवास्या एतद्योक्त्रेणान्तर्दधाति, अथ मेध्येनैवोत्तरार्द्धेनाज्यमवेक्षते । तस्मात् पत्नीं सन्नह्यति ॥ १३ ॥

स वा अभिवासः सन्नह्यति । ओषधयो वै वासः, वरुण्या रज्जुः । तदोषधीरेवैतदन्तर्दधाति । तथो हैनामेषा वरुण्या रज्जुर्न हिनस्ति । तस्मादभिवासः सन्नह्यति ॥ १४ ॥

स सन्नह्यति-अदित्यै रास्नासि ( १ अ० ३० मं० ) इति । इयं वै पृथिवी-अदितिः, सेयं देवानां पत्नी । एषा वा एतस्य पत्नी भवति । तदस्या एतद्रास्नामेव करोति, न रज्जुम् । हिरो वै रास्ना, तामेवास्या एतत्करोति ॥ १५ ॥

स वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । वरुण्यो वै ग्रन्थिः । वरुणो ह पत्नीं गृह्णीयात्-यद् ग्रन्थिं कुर्यात् । तस्मान्न ग्रन्थिं करोति ॥ १६ ॥

ऊर्द्ध्वमेवोद्गूहति-विष्णोर्वेष्योऽसि [ १ अ० ३० मं० ] इति । सा वै न पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वासीत । इयं वै पृथिवी-अदितिः, सेयं देवानां पत्नी । सा पश्चात् प्राची देवानां यज्ञमन्वास्ते, तद्धेमामभ्यारोहेत् । सा पत्नी क्षिप्रेऽमुं लोकमियात् । तथो ह पत्नी ज्योग जीवति । तदस्या एवैतन्निह्नुते । तथो हैनामियं न हिनस्ति । तस्मादु दक्षिणत इवैवन्वासीत ॥ १७ ॥

अथाज्यमवेक्षते । योषा वै पत्नी, रेत आज्यम् । मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते । तस्मादाज्यमवेक्षते ॥ १८ ॥

सावेक्षते-अदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि ( १ अ० ३० मं० ) इति । अनार्त्तेन त्वा चक्षुषावपश्यामीत्येवैतदाह । अग्नेर्जिह्वासि [ १ अ०३०मं० ) इति । यदा वा एतदग्नौ जुह्वति, अथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति । तस्मादाह-अग्नेर्जिह्वासि-इति । सुहूर्देवेभ्यः [ १ अ० ३० मं० ) इति । साधु देवेभ्य इत्येवैतदाह । धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे [ १ अ० ३० मं० ] इति । सर्वस्मै मे यज्ञायैधीत्येवैतदाह ॥ १९ ॥

अथाज्यमादाय प्राङुदाद्रवति । तदाहवनीयेऽधिश्रयति, यस्याहवनीये हवींषि श्रपयन्ति-सर्वो मे यज्ञ आहवनीये श्रृतोऽसदिति । अथ यदमुत्राग्रेऽधिश्रयति, पत्नीं ह्यवकाशयिष्यन् भवति । न हि तदवकल्पते—यत्सामि प्रत्यग् हरेत्-पत्नीमवकाशयिष्यामीति । अथ यत्पत्नीं नावकाशयेत्—अन्तरियाद्ध यज्ञात्पत्नीम् । तथो ह यज्ञात्पत्नीं नान्तरेति । तस्मादु सार्द्धमेव विलाप्य प्रागुदाहरति-अवकाश्य पत्नीम् । यस्यो पत्नी न भवति, अग्र एव तस्याहवनीयेऽधिश्रयति । तत्त आदत्ते, तदन्तर्वेद्यासादयति ॥ २० ॥

तदाहुः-नान्तर्वेद्यासादयेत्-अतो वै देवानां पत्नीः संयाजयन्ति, अवसभा अ॰ देवानां पत्नीः करोति, परः पुंसा-उ-हास्य पत्नी भवतीति। तदु होवाच याज्ञवल्क्यः-यथादिष्टं पत्न्या अस्तु। कस्तदाद्रियेत-यत्परःपुंसा वा पत्नी स्यात्। यथा वा यज्ञो वेदिः, यज्ञ आज्यम्, यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति। तस्मादन्तर्वेद्येवासादयेत् ॥२१॥

प्रोक्षणीषु पवित्रे भवतः। ते तत आदत्ते, ताभ्यामाज्यमुत्पुनाति। एको वा उत्पवनस्य बन्धुः-मेध्यमेवैतत्करोति ॥ २२ ॥

स उत्पुनाति-सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ( १ अ० ३१ मं० ) इति। सोऽसावेव बन्धुः ॥ २३ ॥

अथाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति-सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ( १ अ० ३१ मं० ) इति। सोऽसावेव बन्धुः ॥ २४ ॥

तद्यदाज्यलिप्ताभ्यां पवित्राभ्यां प्रोक्षणीरुत्पुनाति, तदप्सु पयो दधाति। तदिदमप्सु पयो हितम्। इदं हि यदा वर्षति, अथौषधयो जायन्ते, ओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति। तस्मादु रसस्यो चैव सर्वत्वाय ॥ २५ ॥

अथाज्यमवेक्षते। तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति। तदु होवाच याज्ञवल्क्यः—कथं नु न स्वयमध्वर्यवो भवन्ति, कथं स्वयं नान्वाहुः, यत्र भूयस्य इवाशिषः क्रियन्ते। कथं न्वेषामत्रैव श्रद्धा भवतीति। यां वै कां च यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासते-यजमानस्यैव सा। तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत ॥ २६ ॥

सोऽवेक्षते। सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि वै चक्षुस्तस्मात्-यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयाताम्-'अहमदर्शम्'-'अहमश्रौषम्' इति, य एव ब्रूयात् 'अहमदर्शम्' इति-तस्मा एव श्रद्दध्याम। तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति ॥ २७ ॥

सोऽवेक्षते-तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि [ १ अ० ३१ मं० ] इति। स एष सत्य एव मन्त्रः।—तेजो ह्येतत्, शुक्रं ह्येतद्, अमृतं ह्येतत्, तत्सत्येनैवैतत्समर्द्धयति ॥ २८ ॥

## इति प्रमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्
## द्वितीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

## मूलानुवादप्रकरण—

वेदिसम्पादनकर्म्म समाप्त होचुका है। हवनीयद्रव्य ( आहुतिद्रव्य ) सम्पन्न होगया है। यज्ञ में जो पात्र अपेक्षित हैं, 'आग्नीध्र' नाम के ऋत्विक्ने उन सब को अध्वर्य्यु के प्रैषानुसार ( आज्ञानुसार ) यथास्थान रख दिया है। इतने कार्य्य समाप्त होजाने के अनन्तर क्या होता है ?, 'संस्कारब्राह्मण' का अङ्गभूत प्रकृत ब्राह्मण इसी जिज्ञासा का समाधान कर कर रहा है। इस ब्राह्मण की ११ कण्डिका पर्य्यन्त एक कर्म्मसन्तान है। इस एकादशकण्डिकात्मक ब्राह्मणभाग में स्रुव-स्रुक्-प्राशित्रहरण आदि के प्रतपनपूर्वक कुशाग्र से सम्माज्र्जन करने के अनन्तर आग्नीध्र नाम के ऋत्विक् को ( यथास्थान रखने के लिए ) पुनरावर्त्तित करने का ( लौटाने ) का विधान है। वही क्रमशः सोपपत्तिक अनुवाद में स्पष्ट किया जाता है।

( प्रणीतापात्र के पश्चिम में उत्तराग्र 'स्फ्य' रखने के अनन्तर ) यह ( अध्वर्य्यु ) स्रुचों का 'सम्मार्जन' करता है। सो जिस ( प्रयोजन ) के लिए कि, स्रुक्सम्माज्र्जन करता है, ( उस की उपपत्ति बतलाते हैं )। जैसा देवताओं का चरण ( आचरण-व्यवहार ) है, उसी ( आचरण ) के अनुसार मनुष्यों का (आचरण) है। इसलिए जब मनुष्यों का परिवेषण (परोसने का भोज्य-द्रव्य ) सम्पन्न होजाता है ॥१॥

अनन्तर ( ही ) ( सेवकवर्ग ) पात्रों को ( भोज्यपात्रों को ) पानी से धोकर स्वच्छ-निर्म्मल कर लेते हैं। स्वच्छ करके उन पात्रों से 'परिवेषण' करते हैं। ( जो स्थिति मनुष्यों में भोजन-प्रक्रिया में देखी जाती है, दूसरे शब्दों में-मनुष्यों के भोजनयज्ञ के सम्बन्ध में जो कार्य्य होते हैं ), ठीक ऐसा ही यह ( यजमानकृत ) देवताओं का यज्ञ है। ( अन्न के स्थान पर ) 'परिपक्व हवि' है, ( भोजनस्थान की प्रतिकृति में ) 'वेदि' सम्पन्न होचुकी है। ( एवं ) ये इन देवताओं के ( भोज्य ) पात्र हैं, जो कि 'स्रुक्' हैं ॥२॥

सो जो कि ( अध्वर्य्यु इन स्रुक् पात्रों का ) सम्माज्र्जन करता है, वह इन पात्रों का निर्णेजन ( प्रक्षालन ) ही करता है। "हम निर्णिक्त ( धुले हुए साफ सुथरे ) पात्रों से ही [ परिवेषणादि कार्य्य ] करें" यही [ सम्माज्र्जन का ] मुख्य प्रयोजन है। [ देवता, एवं मनुष्यों के पात्रनिर्णेजन में अन्तर केवल यही है कि ] देवताओं के लिए दो [ प्रकारों से ] निर्णेजन करते हैं, एवं मनुष्यों के लिए केवल एक ही प्रकार से [ निर्णेजन होता है ]। पानियों से [ एवं ] ब्रह्म [ मन्त्र ] से देवताओं के लिए [ निर्णेजन करते हैं ] [निर्णेजन कर्म्म में उपयुक्त] कुशा 'आपः' [ पानी की प्रतिकृति ] हैं, एवं यजुर्म्मन्त्र 'ब्रह्म' है। मनुष्यों के लिए केवल पानियों से ही निर्णेजन होता है। इस [ प्रणाली ] भेद से मानुष, एवं दैवकर्म्म का पार्थक्य होजाता है। [ दोनों कर्म्म पृथक् होजाते हैं ] ॥३॥

[ गार्हपत्य के पश्चिमभाग में बैठकर अध्वर्य्यु सर्वप्रथम अपने दक्षिण हस्त में संस्कार के लिए ] स्रुव लेता है। उसे ( स्रुव को ) "प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" यह मन्त्र बोलता हुआ [ गार्हपत्याग्नि में ] तपाता है ॥४॥

यज्ञका वितान करते हुए देवतागण असुर, एवं राक्षसों के आक्रमण से भयत्रस्त होपड़े। सो इस ( पात्रप्रतपनरूप ) व्यापार से यज्ञ के आरम्भ से ही नाष्ट्रा ( नाशक )-राक्षसों को ( मन्त्र, एवं तपन से ) इस यज्ञमण्डल से ( ऋत्विक् गण ) मार भगाते हैं ॥५॥

वह अध्वर्य्यु—"अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्-वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि" ( यजुः १।२९ ) यह मन्त्र बोलता हुआ स्रुव के बिलमध्य में कुशाग्र से मूल से आरम्भ कर मुखपर्य्यन्त ( स्रुव का ) सम्मार्ज्जन करता है। बिना विलम्ब किए एक साथ ही यह स्रुव यजमान के सपत्नों का नाश करदे, "अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्" यह मन्त्रभाग, एवं 'इति' शब्द से प्रकट किया हुआ सम्मार्ज्जन-व्यापार इसी भावको प्रकट करता है। "आप यज्ञिय हैं, यज्ञ के लिए आप का सम्मार्ज्ज करता हूँ" 'वाजिनं०' इत्यादि मन्त्रभाग से यही कहा है। इसी उपर्य्युक्त ( तपनमन्त्र, एवं सम्मार्ज्जन ) मन्त्रद्वयी से सब स्रुचों का ( जुहू-उपभृत्-ध्रुवा आदि का ) सम्मार्ज्जन करता है। केवल प्राशित्रहरण का सम्मार्ज्जन तूष्णीं ( बिना मन्त्रप्रयोग के ) करता है ॥ ६ ॥

यह अध्वर्य्यु पहिले बिल से मूल पर्य्यन्त सम्मार्ज्जन करता है, अनन्तर मूल से पृष्ठ-पर्य्यन्त सम्मार्ज्जन करता है। ऊपर से नीचे आना, यह प्राण-व्यापार है। नीचे से ऊपर जाना उदान का काम है। उक्त प्रकार से सम्मार्ज्जन करता हुआ अध्वर्य्यु स्रुव में प्राणोदान का ही आधान करता है। इसी [ प्राणोदान के व्यतिक्रम व्यापार ] से रोमावलियाँ ऊपर से नीचे, एवं नीचे से ऊपर हैं। अर्थात् रोमावलियों का स्वरूप प्राणोदान की गति के ही अनुसार है ॥७॥

वह आग्नीध्र अध्वर्य्यु के सम्मार्ज्जन-व्यापार के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यथाक्रम स्रुवादि पुनः गार्हपत्याग्नि में तपा तपा कर अध्वर्य्यु को सौंपता जाता है। जिसप्रकार लोक में ( मनुष्यों के दैनिक कर्म्मों में ) माँज माँज कर, एवं पानी से धो धोकर * अन्त में बिना माँजे हुए पात्र सम्पन्न होते हैं, एवमेव यह पुनःप्रतपन उस परिक्षालन के स्थान में ही समझना चाहिए। इसलिए पुनः तपा तपा कर आग्नीध्र स्रुवादि अध्वर्य्यु को सौंपता है ॥८॥

वह अध्वर्य्यु पहिले स्रुव का सम्मार्ज्ज करता है। ( स्रुवसम्मार्ज्जन के ) अनन्तर इतर ( स्रुगादि ) का सम्मार्ज्जन करता है। ( इस क्रम की उपपत्ति यह है कि ) स्रुक् योषा ( स्त्री ) रूप हैं, स्रुव वृषा ( पुरुष ) रूप है। ( इसलिए सम्मार्ज्जन में उक्त क्रम रक्खा जाता है )। यद्यपि बहुत सी स्त्रियाँ साथ जातीं हैं, ( साथ जाने वालीं ) उन स्त्रियों में जो एक बालक भी

---

* इस श्रुति से यह सिद्ध होरहा है कि, भारतवर्ष में पात्रशुद्धि जल से ही होती थी। पहिले मृत्तिकादि से पात्रों को माँजा जाता था, पीछे पानी से धोया जाता था। आज भी मरुभूमि को छोड़कर अन्यत्र यही पद्धति मान्य है। मरुभूमि में पानी की कमी होने से ही माँज कर काम चला लिया जाता है। इसके साथ यहाँ यह अविद्या भी चल पड़ी है कि, माँज ने के अनन्तर पानी से धोने से पात्र अपवित्र होजाते हैं। कहना न होगा कि, इस में कुछ भी सार नहीं है।

पुरुष होता है, तो वह सबके आगे आगे चलता है, शेष सब स्त्रियाँ उसके पीछे ही चलतीं हैं। इसलिए स्रुव का पहिले सम्मार्ज्जन करता है, एवं इतर स्रुचों का पीछे सम्मार्ज्जन करता है ॥६॥

वह अध्वर्यु (उक्त स्रुव स्रुचादि का) उसी प्रकार सम्मार्जन करे, जिससे (प्रतपनकाल में) गार्हपत्याग्नि में तृण, एवं पानी न गिरे। जिसप्रकार जिस व्यक्ति के लिए भोजनार्थ अन्न लाया जाता है, उसी व्यक्ति के ऊपर पात्रप्रक्षालित जल डाला जाय, वैसा यह कर्म्म होगा। अतः जिस–प्रकार अग्नि में पानी तृणादि न गिरें, उसीप्रकार प्राङ्मुख होकर (बड़ी सावधानी से) उठकर सम्मार्जनकर्म्म करना चाहिए ॥१०॥

कितने हीं याज्ञिक स्रुक्सम्मार्ज्जन में उपर्य्युक्त उदक तृणादि को अग्नि में हीं डालते हैं। (एवं ऐसा करने का कारण वे याज्ञिक यह बतलाते हैं कि) यह वेदाग्र (कुशाग्र) वेद के (यज्ञ के अवयव) बन गए हैं। (अपिच इन के वेदात्मक यज्ञरूप होने से ही) ऋत्विजोंनें इनसे पात्रों का सम्मार्जन किया है (ऐसी) अवस्था में ये वेदाग्र भी यज्ञ के ही कुछ भाग हैं। यह यज्ञप्रत्यंशरूप वेदाग्रभाग यज्ञ (सीमा) से बाहिर न रहे, (अतः इसे अग्नि में हीं डाल देना चाहिए)। (याज्ञवल्क्य कहते हैं कि) ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। (यह कर्म्म ऐसा होगा कि) जैसे जिस व्यक्ति के लिए भोजन दिया जाय, उसी को पात्रों का प्रक्षालित जल पिलाया जाय। इसलिए इसे (अग्नि में न डाल कर) उत्करादि में (मतान्तर से आहवनीय में) हीं फैंक देना चाहिए ॥११॥

स्रुव–स्रुक्–सम्मार्जनानन्तर पत्नी-(यजमानपत्नी) -संनहन (बन्धन, यज्ञ में योग) करते हैं। यह यज्ञ का पश्चिम भाग है, जो कि यजमानपत्नी है। मेरा यज्ञ पूर्व की ओर वितत होता हुआ आगे चले, (इसी अभिप्राय से पत्नीसंनहनकर्म्म करते हैं)। (इस संनहनकर्म्म से) पत्नी को (यज्ञ में) युक्त ही करते हैं। "यज्ञ में युक्त होकर यह पत्नी यज्ञसमाप्ति–पर्य्यन्त (यज्ञ में) प्रतिष्ठित रहे" (इसीलिए यह बन्धनकर्म्म किया जाता है) ॥१२॥

(इस पत्नी का) योक्त्र (मुञ्जमयी रज्जू) से संनहन करते हैं। योक्त्र से ही ठीक ठीक योग (बन्धन) करते हैं। पत्नी का नाभि से नीचे का भाग अमेध्य (असंगमनीय, दिव्यसंस्कार-ग्रहण के अयोग्य) है। (एवं अभी कुछ काल में हीं) यह पत्नी आगे जाकर घृतदर्शन करने वाली है। योक्त्रबन्धन से इस पत्नी के उस अमेध्यभाग को ही आवृत करते हैं। (ऐसा करने से) शेष मेध्य उत्तर भाग से ही आज्यदर्शन करती है। अतएव पत्नीसंनहनकर्म्म करते हैं ॥१३॥

वह ऋत्विक् वस्त्रों के ऊपर ही (योक्त्र से) संनहन करता है। वस्त्र ओषधिरूप हैं। यह योक्त्ररूप रज्जु वरुणदेवतामयी है। वस्त्र के ऊपर योक्त्र से संनहन करता हुआ अध्वर्यु पत्नी को वारुण–बन्धन से ही अन्तर्हित (बचाता) करता है। ऐसा करने से यह वरुणदेव–

मयी रज्जु पत्नी को पीड़ा नहीं पहुँचाती। इसी प्रयोजन के लिए वस्त्रों से ऊपर योक्त्र का संनहन करते हैं॥१४॥

ब्राह्मण (विज्ञान) बतला दिया गया, अब पद्धति बतलाते हैं। वह अध्वर्य्यु "अदित्यै रास्नासि" यह मन्त्र बोलता हुआ संनहनकर्म्म करता (योक्त्र बाँधता) है। यह पृथिवी ही अदिति है। वह (अदितिरूपा पृथिवी) देवताओं की पत्नी है; सो इस (संनहनकर्म्म) से यजमानपत्नीरूपा इस अदिति (देवपत्नीभूता अदिति पृथिवी) को ही रास्नायुक्त बनाते हैं। (ध्यान रहे) रज्जु का बन्धन नहीं करते हैं। यह रास्ना मेखलारूप है। संनहन के द्वारा इसे (अदिति को) मेखला से ही युक्त करते हैं॥१५॥

ऋत्विक् को चाहिए कि, वह योक्त्र के गाँठ न लगावे। क्योंकि ग्रन्थि (गाँठ) वरुणदेवतामयी है। (ऐसी अवस्था में यदि ग्रन्थि लगादी जायगी, तो वरुणदेवता इस पत्नी को अपने पाश से बाँध लेंगे। (ऐसा न हो) इसलिए ग्रन्थि-बन्धन नहीं करते हैं॥१६॥

(ग्रन्थि नहीं लगाई जायगी, तो योक्त्र रुकेगा कैसे?, इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) वह अध्वर्य्यु योक्त्र के मूलाग्रों को परस्पर मिलाकर [दोनों मूलों को परस्पर बटकर] ऊपर की ओर यों हीं लम्बित कर देता है। इस कर्म्मकाल में 'विष्णोर्व्वेष्योऽसि' यह मन्त्र बोलता है। वह यजमानपत्नी गार्हपत्य के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके देवताओं के यज्ञ की ओर झुक कर न बैठे। यह पृथिवी अदिति है। यह देवताओं की पत्नी है। यह पश्चिमदिशा में देवताओं के यज्ञ को लक्ष्य बनाकर प्रतिष्ठित होरही है। ऐसी अवस्था में पश्चिमा दिक् में प्राङ्मुखा बैठती हुई यजमानपत्नी पृथिवी की गति के साथ युक्त होजायगी। परिणाम इसका यह होगा कि, वहाँ बैठने से शीघ्र ही [एक वर्ष के भीतर] यजमानपत्नी मर जायगी। ऐसा न करने से [पश्चिम की ओर प्राङ्मुखा होकर न बैठने से] यजमानपत्नी पूर्ण आयु प्राप्त करने में समर्थ होजाती है। सो इस पत्नी को पश्चिम में प्राङ्मुखा बना कर न बैठाते हुए इसे पृथिवी की गति से बचाते हुए इसकी आयु ही सुरक्षित करते हैं। ऐसा करने से यजमानपत्नी पूरी आयु धारण करने में समर्थ होजाती है। इसलिए पत्नी को गार्हपत्य के दक्षिणभाग में [नैऋतकोण में] हीं बैठना चाहिए॥१७॥

अनन्तर वह पत्नी आज्यदर्शन करती है। अर्थात घृत में अपना मुख देखती है। यह पत्नी योषा है, आज्य रेत है। आज्यदर्शन से रेत का ग्रहण करती हुई पत्नीरूपिणी योषा मिथुनलक्षण प्रजनन-[प्रजोत्पत्ति] भाव को ही सम्पन्न करती है। इसी प्रजननभाव की प्राप्ति के लिए यह पत्नी आज्यदर्शन करती है॥१८॥

ब्राह्मण बतला दिया गया, अब पद्धति बतलाते हैं। वह पत्नी "अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि, अग्नेर्जिह्वासि, सजूर्देवेभ्यः, धाम्ने धाम्ने मे भव, यजुषे यजुषे" यह मन्त्र बोलती हुई आज्य देखती है। "मैं निर्दुष्ट पीड़ारहित पवित्र चक्षु से आज्य देखती हूँ" मन्त्र से पत्नी का यही कहना

है। 'अग्नेर्जिह्वासि' यह मन्त्रशेष बोलती है। जिस समय आज्य की अग्नि में आहुति डालते हैं, उस समय अग्नि की [ज्वालारूप] जिह्वासी निकलती है। इसी अभिप्राय से 'अग्नेर्जिह्वासि' यह कहा गया है। 'सजूर्देवेभ्यः' इत्यादि मन्त्रभाग का तात्पर्य्य बतलाते हुए कहते हैं-देवताओं के लिए यह [ प्रजननरूप ] आज्यदर्शन शुभ हो। 'सजूः०' इत्यादि से यही कहा गया है। "धाम्ने धाम्ने" इत्यादि से "हे आज्य ! आप मेरे सम्पूर्ण यज्ञकर्म के लिए तत्पर बनें" यही कहा है ॥१६॥

आज्यदर्शनानन्तर अध्वर्य्यु आज्य को लेकर पूर्व की ओर ( आहवनीय की ओर ) चलता है। आगे चलकर आहवीयाग्नि पर ( तपाने के लिए ) उसे रख देता है, जिस के कि हवियों को आहवनीयाग्नि में परिपक्व करते हैं। मेरा सम्पूर्ण यज्ञ ( यज्ञिय हविर्द्रव्य ) आहवनीय में हीं परिपक्व हो, इसीलिए हविर्द्रव्यरूप आज्य को भी आहवनीयाग्नि में हीं परिपक्व करते हैं। ( यहाँ एक पूर्वपक्ष होता है। वह यह है कि, जिस समय अन्य हविर्द्रव्यों का आहवनीय में परिपाक किया जाता है, क्यों नहीं उसी समय आज्य का भी परिपाक कर लिया जाता ?। इस पूर्वपक्ष का समाधान कने के अभिप्राय से श्रुति कहती है कि (पत्नी को यज्ञकर्म में युक्त होने का अवसर ( अवकाश ) हम आगे देलेंगे, इस विचार से यदि अध्वर्य्यु उसी समय [ पत्नीसंनहनकर्म से बहुत पहले ही, [जब कि अन्य हविर्द्रव्यों का परिपाक किया जाता है] आज्य-परिपाक भी करलेता है तो-"पत्नी को आगे यज्ञ में प्रविष्ट होने का अवसर दूँगा" यह विचार कर बीच में हीं [पत्नी के यज्ञ में प्रविष्ट होने से पहले ही ] अधिश्रयणार्थ आज्य हरण करना ठीक नहीं होता। यदि पत्नी को यज्ञ में प्रविष्ट होने का अवसर देने से पहिले ही उक्त विचार से अध्वर्य्यु आज्य हरण कर लेगा, तो वह एक प्रकार से पत्नी को यज्ञसीमा से बहिर्भूत ही कर देगा। ऐसा न हो, इसलिए पत्नी के आज्यदर्शनरूप यज्ञसंयोग के अनन्तर ही आज्याधिश्रयण कर्म्म करते हैं ] ऐसा करने से वह अध्वर्य्यु पत्नी को यज्ञसीमा से बाहिर नहीं निकालता। [ इसी सार्द्ध भाव का स्पष्टीकरण करती हुई सर्वान्त में श्रुति कहती है।] इसलिए [पत्नी यज्ञसीमा में अन्तःप्रविष्ट होजाय, इसलिए] पत्नीसंनहनकर्म्म के साथ ही आज्य को पहले गार्हपत्याग्नि में तपा कर, पत्नी को आज्यदर्शन के द्वारा यज्ञ में प्रविष्ट कर अनन्तर अधिश्रयणार्थ आज्य को पूर्व की ओर [ आहवनीय की ओर ] ले जाते हैं। जिस यजमान के पत्नी नहीं होती, उस यजमान के यज्ञ में उसी समय [ जब कि अन्य हविर्द्रव्यों का आहवनीय में अधिश्रयण किया जाता है ] आज्य का भी आहवनीय में अधिश्रयण कर लेते हैं। अधिश्रयणानन्तर वहाँ से आज्य उठा कर उसे वेदि की सीमा में रख देते हैं ॥ २० ॥

कितने हीं आचार्य्यों का मत है कि, इस अधिश्रित आज्य को अन्तर्वेदि में नहीं रखना चाहिए। ( कारण इसका यह बतलाया जाता है कि ) इसी अधिश्रित ( परिपक्व ) आज्य से देव-पत्नियों का यजन करते हैं ( वेदिस्थान पर सम्पूर्ण देवता आए हुए हैं )। ऐसी अवस्था में उस प्रदेश में देवपत्नीयागसाधक आज्य को देवमण्डलीयुक्त वेदिस्थान में रखता हुआ अध्वर्य्यु देव-पत्नियों को जनसमूह में हीं उपस्थित करता है। (यजमानपत्नी भी देवपत्नियों से युक्त रहती है।

ऐसी अवस्था में देवपत्नियों के साथ साथ यजमानपत्नी का भी देवसभामण्डपरूप वेदिस्थान में प्रवेश अनिवार्य्य होगा। ऐसा होने से) यजमानपत्नी परःपुंसा (अन्यपुरुषों के समूह में उपस्थित) होजाती है। [एक कुलीन स्त्री के लिए परपुरुषों के सम्मुख उपस्थित होना लज्जास्पद है। ऐसा नहीं होना चाहिए। अतः वेदिस्थान पर देवपत्नी–यागसाधनभूत आज्य नहीं रखना चाहिए]।

प्राचीनों के इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, आज्य–अधिश्रयण, उस का वेदिस्थान में स्थापन, आदि पत्नी-सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म्म शास्त्र में इसीप्रकार विहित हैं। अतः वह कार्य्य वैसे ही हो, इसी में यज्ञसिद्धि है। "ऐसा होने से पत्नी पुरुषसमूह में आजायगी, एवं यह अनुचित होगा" इस निरर्थक युक्ति का शास्त्रादेश के सम्मुख कोई महत्त्व नहीं है। कौन बुद्धिमान् इस विषय को अच्छा, एवं युक्तिसंगत कहेगा। वेदि, और आज्य दोनों हीं यज्ञसाधन होने से यज्ञरूप हैं। हम यज्ञ से यज्ञ का स्वरूप सपन्न करें, यही आदरणीय, एवं दथादिष्ट [शास्त्रसिद्ध] पक्ष है। अतः वेदिस्थान में हीं आज्य रखना चाहिए ॥२१॥

प्रोक्षणीपात्र में कुशा रक्खीं हुईं हैं। वहाँ से कुशा लेकर उनसे आज्य का प्रोक्षण करते हैं। प्रोक्षण का एकमात्र तात्पर्य्य है, वस्तु को मेध्य [सङ्गमनीय] करना। इस प्रोक्षणकर्म्म से आज्य को मेध्य [देवसङ्गमनीय] ही करते हैं ॥२२॥

उत्पवनकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है—वह अध्वर्य्यु—'सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः" यह मन्त्र बोलता हुआ आज्य का प्रोक्षण करता है ॥२३॥

आज्यप्रोक्षणानन्तर— "सवितुर्व्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः" यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु [प्रोक्षणकर्म्म से] घृत से संश्लिष्ट बनी हुई पवित्रों से [दर्भ से] प्रोक्षणीपानी का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षण का तात्पर्य्य वही है, जो कि पूर्व के प्रोक्षणकर्म्म में सोपपत्तिक बतलाया जाचुका है ॥२४॥

सो जो कि अध्वर्य्यु आज्यलिप्त पवित्र से प्रोक्षणी का प्रोक्षण करता है, इस कर्म्म से पानी में पय [दुग्ध] का कार्य्यभूत, अतएव पयोरूप आज्य ही प्रतिष्ठित करता है। [प्रकृति में] यह पय पानी में हीं प्रतिष्ठित है। जैसे कि-जब पानी बरसता है, तो ओषधियाँ उत्पन्न होतीं हैं ओषधियाँ खा कर, पानी पीकर अनन्तर यह रस [पय–आज्य] उत्पन्न होता है। इस रस की पूर्णता के लिए ही प्रकृत प्रोक्षणकर्म्म करते हैं ॥२५॥

प्रोक्षणी–प्रोक्षणानन्तर अध्वर्य्यु आज्यदर्शन करता है। कितने हीं आचार्य्य यजमान को ही घृतदर्शन करवाते हैं। [अर्थात् इनके मत से आज्यदर्शन यजमान का ही कर्म्म है] इस पक्ष का निराकारण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, यजमान स्वयं हीं अध्वर्य्यु बनते हुए आध्वर्य्यवकर्म्म क्यों नहीं करलेते ?। यजमान ही 'होता' बन कर क्यों नहीं अनुवाक्यादिरूप हौत्रकर्म करलेते ?।

फिर ऋत्विजों की आवश्यकता ही क्या है ? । [यदि अन्य आध्वर्य्य, हौत्र, औद्गात्रादि यज्ञस्वरूप-समर्पक कर्म्म ऋत्विक् कर लेते हैं, तो फिर] प्राचीनों को इस आज्यदर्शनकर्म्म में हीं यह धारणा कैसे बन गई कि, यह कर्म्म तो यजमान को ही करना चाहिए ? । ऋत्विक् लोग अपने अपने कर्म्म में जो भी फल प्राप्त करते हैं, वह यजमान को ही तो मिलता है । [ ऐसी अवस्था में अध्वर्य्युकर्तृक आज्यदर्शन का फल यजमान को कैसे नहीं मिलेगा ? । अतः—अध्वर्य्यु को ही आज्यदर्शन करना चाहिए ॥२६॥

वह अध्वर्य्यु आज्यदर्शन करता है । चक्षुरिन्द्रिय सत्यरूप इसीलिए है कि, जब दो मनुष्य परस्पर झगड़ा करते हुए हमारे सम्मुख आते हैं, और उनमें से एक कहता है कि—मैने ऐसा आँखों से देखा है' । दूसरा कहता है कि, मैनें ऐसा अपने कानों से सुना है, तो दोनों में से जो व्यक्ति "मैनें ऐसा अपनी आँखों से देखा है" यह कहता है, हम उसी के कथन पर श्रद्धा करते हैं । ( अतः चक्षु अवश्य ही सत्य है ) । इस सत्यचक्षु से आज्यदर्शन करता हुआ अध्वर्य्यु सत्यतत्त्व से ही आज्य को समृद्ध करता है ॥२७॥

( आज्यावेक्षण की उपपत्ति बतलादी गई, अब पद्धति बतलाते हैं )—वह अध्वर्य्यु—"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" यह मन्त्र बोलता हुआ आज्य पर अपनी दृष्टि डालता है । [आज्य के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करता हुआ प्रकृत] मन्त्र अवश्य ही सत्यस्वरूप है । यह आज्य तेजःस्वरूप है, यह आज्य शुक्रस्वरूप है, यह आज्य अमृतस्वरूप है । इसी सत्य से यह अध्वर्य्यु आज्य को समृद्ध करता है ॥२८॥

## इति—अनुवादप्रकरणम्
## प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण एवं द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

——*——

## सूत्रप्रदर्शित पद्धतिप्रकरण—

### स्रुव–स्रुक् (जुहू–उपभृत् ध्रुवा), प्राशित्रहरण, पुरोडाशपात्री, इडापात्री का प्रतपन, एवं संमार्जन कर वेदि पर रखने के लिए आग्नीध्र को समर्पण

——*——

'वेदि' निर्म्माणानन्तर इध्म-बर्हि–आज्य आदि का यथास्थान सन्निवेश कर दिया जाता है । तदनन्तर "स्रुवं प्रतप्य पूर्ववद्वे वाग्रेरन्तरतः प्राक् संमार्ष्टि "अनिशित" इति, विपर्य्ययस्य बहिर्मूलैः प्राङुन्-

क्रम्य" ( का० श्रौ० सू० २।६।३६ ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार गार्हपत्यकुण्ड के पश्चिम भाग में बैठकर अध्वर्य्यु पहिले गार्हपत्याग्नि में "प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः। निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" ( यज्ञकर्म का अवरोध करने वाले राक्षस तपा दिए गए हैं, यज्ञसम्पत्ति का आगमन रोकने वाले अराति तपा दिए गए हैं, एवं विशेषरूप से तपा दिए गए हैं ) यह मन्त्र बोलता हुआ शूर्प, एवं अग्नीहोत्रहवणी की भाँति स्रुव को तपाता है। स्रुव के तपाने के अनन्तर उसी स्थान में बैठा बैठा ही अध्वर्य्यु थोड़ा सा पूर्व की ओर झुकता हुआ अपने बाएँ हाथ में तो प्रतप्त स्रुव ले लेता है, एवं दक्षिण हाथ में कुशाग्र लेकर- "अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्, वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि" ( हे स्रुव ! तुम ( शत्रु के लिए महा-निशित तीक्ष्ण होते हुए भी हमारे यजमान के लिए सर्वथा अनिशित ( शान्त ) हो। सपत्नों ( शत्रुओं ) का नाश करने वाले हो, यज्ञमूर्तिरूप तुम्हारा ( स्रुव का ) यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए ही मैं ( अध्वर्य्यु ) सम्यक् प्रकार से शोधन करता हूँ ) यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिणहस्त-गृहीत उन कुशाओं से स्रुव के मूल से आरम्भ कर मुख पर्य्यन्त स्रुव का सम्मार्जन करता है। मूल से मुख पर्य्यन्त कुशा से स्रुव को स्वच्छ करदेना ही 'सम्मार्ज्जनकर्म्म' है। इसप्रकार एकबार तो वेदाग्रों से सम्मार्जन होता है। अनन्तर अध्वर्य्यु पुनः कुछ पूर्व की ओर झुकता हुआ वही उक्त ( अनिशितोऽसीत्यादि ) मन्त्र बोलता हुआ स्रुव के पृष्ठभाग में मुखभाग से आरम्भ कर मूलभाग पर्य्यन्त कुशामूल से स्रुव का सम्मार्जन करता है। अध्वर्य्यु का पूर्व की ओर उत्क्रमण केवल उभयविध सम्मार्जनकर्म्म में ही होता है, प्रतपन कर्म्म में उत्क्रमण नहीं होता। कारण—"तस्माद् तथैव संमृज्याद्यथाऽग्नि नाभिव्युक्षेत् प्राङिवैवोत्क्रम्य" इत्यादि रूप से श्रुति ने सम्मार्जनकर्म्म के साथ ही उत्क्रमण का सम्बन्ध माना है। स्रुवप्रतपन, और सम्मार्जन के अनन्तर जुहू-उपभृत्-ध्रुवा इन स्रुचों का "अनिशिते" ति स्रुचः" ( का० श्रौ० सू० २।६।४१) इत्यादि सूत्रानुसार 'प्रत्युष्टं रक्षः" इत्यादि से पहिले गार्हपत्य में प्रतपन, अनन्तर "अनिशितोऽसि०" इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र से सम्मार्जन करता है।

स्रुव-स्रुचों के सम्मार्ज्जनानन्तर-' प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छति" ( का० श्रौ० सू० २।६।४० के अनुसार "प्रत्युष्टं रक्षः०" इत्यादि उक्त मन्त्र बोल कर स्रुवादि को पुनः गार्हपत्याग्नि में तपा तपा कर ( वेदि पर रखने के लिए ) पुनः प्रतप्त स्रुवादि को आग्नीध्र के हाथ में सौंपता जाता है। स्रुव-स्रुच् ( जुहू-उपभृत्--ध्रुवा ) इन चार के अतिरिक्त प्राशित्रहरण, शृतावदान, पुरोडाशपात्री, इडापात्री, इनका प्रतपन, एवं सम्मार्ज्जन ( बिना मन्त्र बोले तूष्णीं ही ) किया जाता है, जैसाकि-"तूष्णीं प्राशित्रहरणं, शृतावदानं, पात्रीं च" ( का० श्रौ० सू० २।६।४० ) इत्यादि सूत्र से स्पष्ट है। इसप्रकार 'पहिले प्रतपन, पुनः कुशाग्र-कुशामूल-भेद से नीचे से ऊपर पर्य्यन्त, एवं ऊपर से नीचे पर्य्यन्त सम्मार्ज्जन, पुनः प्रतपन, सर्वान्त में आग्नीध्र को समर्पण'--( वेदिस्थान में रखने के लिए ), इस कर्म्मकपाल की समष्टि का नाम ही "पात्र-सम्मार्ज्जन' कर्म्म है।

जिन वेदाग्र, एवं वेदमूलों से उक्त समार्ज्जनकर्म्म किया जाता है, उन्हें--"सम्मार्ज्जनान्यपास्यति" ( का० श्रौ० सू० २।६।४३ ) के अनुसार उत्कर में फैंक देते हैं। यद्यपि--"आहवनीये प्रासनमेके" ( का० श्रौ० सू० २।६।४४ ) के अनुसार किन्हीं आचार्य्यों के मतानुसार सम्मार्जन--साधनभूत वेद को आहवनीयाग्नि में प्रक्षिप्त करना उपलब्ध होता है। परन्तु श्रुतिने जो विप्रतिपत्ति गार्हपत्याग्नि में दर्भ डालने के

सम्बन्ध में बतलाई है, वही दोष आहवनीयाग्नि में डालने से प्राप्त होता है। अतएव श्रुतिने "तदु तथा न कुर्य्यात्" इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में अग्नि में डालने का निषेध ही किया है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक दशा में इन दर्भतृणों को उत्कर में हीं डालना चाहिए।

## इति--द्रव्यसम्माज्र्जनम्

(ब्रा० की १ कं० से ११ कं० पर्य्यन्त)

——*——

### त्रिवृत् मुञ्जमय योक्त्र से यजमानपत्नी का सन्नहन–

द्रव्यसम्माज्र्जनानन्तर–"पत्नीं सन्नह्यति प्रत्यगुदक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य, मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता परिहरत्यधिवासो--"ऽदित्यै रास्ने" ति" ( का० श्रौ० सू० २।७।१ ) इस सूत्र--सिद्धान्तानुसार गार्हपत्याग्निकुण्ड के दक्षिणभागरूप नैऋतकोण में पूर्वाभिमुख बन कर बैठी हुई यजमानपत्नी को अध्वर्यु त्रिगुणित मुञ्ज ( मूँज नाम से लोकभाषा में प्रसिद्ध ) से बने हुए योक्त्र ( रज्जु ) से ( पत्नी के वस्त्रों के ऊपर ) नाभि से नीचे के कटि भाग में "अदित्यै रास्नासि" ( हे योक्त्ररूप रज्जु ! तुम अदिति पृथिवी--रूपा यजमानपत्नी के लिए रास्ना--मेखला--रूप हो ) यह मन्त्र बोलता हुआ बाँधता है। योक्त्रबन्धनकाल में--"दक्षिणपाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुद्गूहति "विष्णोर्वेष्य" इति" ( का० श्रौ० सू० २।४।२ ) के अनुसार योक्त्र के दक्षिणाग्रपाश को उत्तराग्र पाश में ऊपर से पिरोकर, नीचे खैंच कर पाश को द्विगुणित वेष्टित कर, उत्तरपाश में प्रोत होकर ऊपर की ओर निकले हुए दक्षिण पाशाग्रभाग को--"विष्णोर्वेष्योऽसि" ( हे दक्षिणपाशाग्र ! आप यज्ञ का वेष्टन करने वाले हो ) यह मन्त्र बोलता हुआ योक्त्र के मध्य में खचित कर देता है। 'न ग्रन्थिं करोति" ( का० श्रौ० सू० २।७।३। ) के आदेशानुसार योक्त्र में गाँठ नहीं लगाई जाती।

## इति--पत्नीसन्नहनकर्म्म

(ब्रा० की १२ कं० से १७ कं० पर्य्यन्त )

——*——

### घृत ठँढा करने के पश्चात् अध्वर्यु के द्वारा भेजी गई यजमानपत्नी का समन्त्रक आज्य-दर्शन

पत्नीसन्नहनकर्म्म के अनन्तर—"ऊर्जे त्वे" त्याज्यमुद्वास्य पत्नीमवेक्षय "त्यदब्धेनेति" (का० श्रौ० सू० २।७।४ ) इसके अनुसार अध्वर्यु—"ऊर्जे त्वा" ( हे आज्य ! बलप्रद रस की प्राप्ति के लिए तुम्हें उद्वासित करता हूँ ) यह मन्त्र बोलता हुआ पहिले से ही गार्हपत्याग्नि पर पात्र में रक्खे हुए द्रुत घृत को अग्नि से उतार कर ठँढा करता है। अनन्तर "पत्न्याज्यमवेक्षस्व" ( हे पत्नी ! आज्य के दर्शन करो, अर्थात् इसमें अपना मुख देखो ) यह प्रैष करता हुआ पत्नी से "अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि।

**अग्नेर्जिह्वासि, सुहूर्देवेभ्यो, धाम्ने धाम्ने मे भव, यजुषे यजुषे"** (हे आज्य ! मैं निंदुष्ट नेत्रों से तुह्मारा दर्शन कर रही हूँ । हे आज्य ! तुम अग्नि की जिह्वा हो, अतएव [ जिह्वारूप होने से ही ] तुम देवताओं के अच्छे बुलाने वाले हो । ऐसे आप प्रत्येक कर्म्म कर्म्म के लिए, मन्त्र मन्त्र के लिए सन्नद्ध बनें ] यह मन्त्र बुलवाता हुआ पत्नी से आज्यदर्शन करवाता है । यदि पत्नी किसी आवश्यक प्रतिबन्ध के कारण यज्ञ में उपस्थित न हो, तो ऐसी अवस्था में अध्वर्य्यु को ही आज्यदर्शन कर लेना चाहिए, यह सूत्रकार का मत है । ब्राह्मणश्रुति के अनुसार तो पत्नी के अभाव में आज्य बिना देखे ही यथास्थान रख दिया जाता है । आज्या-वेक्षणानन्तर—'वेद्यां करोत्यपरं प्रोक्षणीभ्यः' [ का० श्रौ० सू० २।७।५ ] के अनुसार अध्वर्य्यु प्रोक्ष-णीपात्र से पश्चिम भाग में वेदि पर आज्य रख देता है । यदि इस यजमान के यज्ञ में आहवनीयाग्नि में हीं हविद्रव्यों का परिपाक होता है, तो इस आहवनीयाधिश्रयण-पक्ष में-**"आहवनीये वा कृत्वा तच्छ्रापिणः"** [ का० श्रौ० सू० २।७।६ ] के अनुसार पत्न्यवेक्षणानन्तर पहिले आज्य को आहवनीय पर रक्खा जाता है, पुनः उद्वासित कर पूर्वकथनानुसार प्रोक्षणीपात्र के पश्चिम में वेदि पर रक्खा जाता है ।

## इति—आज्यावेक्षणकर्म्म

**( ब्रा० की १८ कं० से २१ कं० पर्य्यन्त )**

——*——

### आज्य और प्रोक्षणी का उत्पवन, एवं अध्वर्य्युकृत आज्यदर्शन

आज्य रखने के अनन्तर वह अध्वर्य्यु—**"सवितुस्त्वे" त्याज्यमुत्पुनाति, प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्"** [ का० श्रौ० सू० २।७।७ ] इसके अनुसार प्रोक्षणी पानी में रक्खे हुए पवित्र [ दर्भ ] से **"सवितुर्व०"** इत्यादि पूर्वोपात्त मन्त्र बोलता हुआ पहिले आज्य का प्रोक्षण करता है, अनन्तर आज्य-सम्बन्ध से आज्य-युक्त बने हुए इन्हीं पवित्रों से वही मन्त्र बोलता हुआ प्रोक्षणीपानी का प्रोक्षण करता है । इसप्रकार आज्य, एवं प्रोक्षणी-उत्पवनानन्तर—**'आज्यमवेक्षते "तेजोसी" ति यजमानो वा"** [का० श्रौ० सू० २।७।८ ] के अनुसार वह अध्वर्य्यु, अथवा यजमान [ दोनों में से कोई भी ] **"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि"** [ हे आज्य ! आप तेजोमय हैं, शुक्ररूप हैं, अमृतभावापन्न हैं ] यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यदर्शन करता है । सूत्रकार ने पक्षान्तर का आदर करते हुए **"यजमानो वा"** भी कह दिया है । वस्तुतः शतपथब्राह्मण के मता-नुसार यह आज्यावेक्षणकर्म्म अध्वर्य्यु को ही करना चाहिए ।

## इति—आज्यावेक्षणम्

**(ब्रा० की २२ कं० से २८ कं० पर्य्यन्त)**

——*——

## ब्राह्मणोक्त—कर्म्मसंग्रह—

१—द्रव्यसंस्कार

२—पत्नीसन्नहन

३—पत्नीकृत आज्यावेक्षण
४—आज्य-स्थापन
५—आज्य, एवं प्रोक्षणी का पवित्रों से उत्पवन
६—अध्वर्युकृत आज्यावेक्षण

## इति-पद्धतिप्रकरणम्

—-*—-

## उपपत्तिप्रकरणम्—

### १ -द्रव्यसंस्कारोपपत्तिः

(भाष्य)-स्रुव-जुहू-उपभृत-ध्रुवा-पुरोडाशपात्री-इडापात्री-आदि यज्ञियपात्र प्राणदेवताओं के आहुति-साधक बनते हुए इनके [ देवताओं के ] भोजन करने के पात्र हैं। लोकव्यवहार में जिन पात्रों में मनुष्य भोजन करते हैं, भोजनपरिवेषण [ परोसने ] से पहिले पात्रों को पानी * से धोकर स्वच्छ कर लिया जाता है, अनन्तर इन पात्रों में भोजन परोसा जाता है। भोजनपरिवेषण से पहिले पात्रशुद्धि सर्वथा अपेक्षित है, यही कहना है। इसी शुद्धिभाव के लिए प्रकृतयज्ञ में देवताओं के भोजनसाधन—पात्रों का संस्कार करना आवश्यक होजाता है। देवता सौर मण्डल की वस्तु है। इधर साधारण पानी पार्थिव है। इस लौकिक पेय पानी से देवपात्रों का सम्मार्ज्जन करना ठीक नहीं। जिसप्रकार लौकिक मनुष्य, और प्राणदेवताओं के स्वरूप में भेद है, जैसे इनके भोजनपात्रों के स्वरूप में विभिन्नता है, तथैव सम्मार्ज्जनीय—पानी में भी भेद होना आवश्यक है। इसी पृथक्करण के लिए पानी के स्थान में यहाँ 'कुशा' का ग्रहण किया जाता है। सौररश्मिमण्डल में प्रविष्ट पारमेष्ठ्य **'अम्भः'** नाम का पवित्र पानी ही **'वेन'** कहलाता है। इसी ज्योतिर्मय **'वेनपानी'** से कुशा का निर्म्माण होता है, जैसा कि पूर्व के **दर्भोत्पत्तिप्रकरण** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। **दर्भ साक्षात दिव्य पानी है**। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने—**"आपो वै कुशा"** यह कहा है। साथ ही जहाँ मनुष्योपयोगी पात्रों का सम्मार्ज्जन तूष्णीं किया जाता है, वहाँ प्रकृत यज्ञिय पात्रों का सम्मार्जन **"अनिशितोऽसि"** इत्यादि मन्त्र से किया जाता है। इसप्रकार कुशारूप **दिव्यपानी**, एवं **दिव्यमन्त्र-बल**, इन दोनों से सम्मार्ज्जन होने से दिव्यकर्म्म का मनुष्यकर्म्म से सर्वथा पृथक्करण होजाता है ॥१-२- ॥

---

* मरुभूमि में, विशेषतः राजपूताने में पानी की कमी के कारण मृत्तिका—रक्षा—[राखड़] आदि से ही पात्र पवित्र मान लिए जाते हैं। इस पद्धति की इतनी प्रधानता होगई है, कि यदि मञ्जन [ माँजने ] के अनन्तर पात्र धोलिए जाते हैं, तो वे सर्वथा अपवित्र मान लिए जाते हैं। उक्त श्रुति के आधार पर हम कह सकते हैं कि, यदि पानी पर्य्याप्त मात्रा में मिले, तो मञ्जन के अनन्तर पात्रों को अवश्य ही धोडालना चाहिए। बिना पानी से धोए पात्रशुद्धि नहीं होती। यदि पानी ही न मिले, तो प्रचलित—पद्धति का अनुसरण करना चाहिए, जैसाकि पूर्व टिप्पणी में भी स्पष्ट किया जाचुका है।

सम्मार्ज्जन से पहिले पात्रों को तपाया जाता है । अन्तरिक्ष में बहने वाले वारुण वायु में **आसुरप्राण** व्याप्त रहता है । यह वारुण असुर ऐन्द्रयज्ञ का विरोधी है । जहाँ दिव्यप्राण का सञ्चार होता है, वहीं सहज वैर के सम्बन्ध से वह इस दिव्यकर्म्म (दिव्यकर्म्म में युक्त पात्रादि वस्तुओं ) में आक्रमण करने लगता है । इधर **अग्नि**, और **मन्त्रबल**, दोनों हीं आसुरप्राण के विघातक हैं । पात्रों में वायु के द्वारा आगत प्राण-रूप, अतएव चर्म्मचक्षु से अदृश्य इन असुरों का यज्ञोपक्रम में हीं नाश करने के लिए मन्त्रबल-युक्त **प्रतपनकर्म्म** किया जाता है। अग्निपरिताप से अवश्य ही अदृष्ट दोष, * एवं सूक्ष्म कीटाणु नष्ट होजाते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥४–५॥

आरम्भ में बतलाया जाचुका है कि, यह सम्मार्ज्जन अलौकिक है । यज्ञ में ऐसा कोई भी कर्म्म नहीं, जो निरर्थक हो, एवं जिस का प्राकृतिक-स्थिति के साथ सम्बन्ध न हो । यज्ञ से वैसा अलौकिक नवीन **दैवात्मा** उत्पन्न किया जाता है, जैसा कि पूर्वप्रकरणों में अनेक बार कहा जाचुका है । इस दिव्यात्मा का स्वरूप–निर्म्माण जिन जिन तत्त्वों से होता है, यज्ञकर्त्ता ऋत्विजों को उन उन तत्त्वों की प्रत्येक कर्म्म में भावना करनी पड़ती है । प्रकृत सम्मार्ज्जनकर्म्म भी उस भावना से रिक्त नहीं है । एक बार सम्मार्ज्जन स्रुव के मूल से ऊपर तक होता है, दुबारा पृष्ठभाग में ऊपर से नीचे की ओर होता है । इसी उर्ध्व–अधोभाव का अङ्गुलि से निर्देश करते हुए–**"इति–अग्रैरन्तरतः" "इति–अग्रै रन्तरतः"** यह अभिनय किया गया है । **'आगमन'** प्राणव्यापार है, एवं **'गमन'** उदान (अपान) व्यापार है । शतपथ में 'उदान' शब्द से सर्वत्र **'अपान'** ही अभिप्रेत है । प्राण आगतिधर्म्मा है । सम्मार्ज्जन में आगति-गतिभावों का समावेश करता हुआ अध्वर्यु भावना के द्वारा स्रुव में प्राणोदान ( प्राणापान ) का ही **आधान** करता है । इसी स्रुव से **देवयजन** होने वाला है, आहुति से दिव्यात्मा का जन्म होने वाला है । ऐसी परिस्थिति में स्रुव–सम्बन्धी प्राणोदान आहुति में प्रविष्ट होता हुआ दिव्यात्मा के प्राणोदानोत्पत्ति का ही कारण बन जाता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर **"प्राणोदानावेवैतद्दधाति"** यह कहा गया है । ध्यान रहै–स्रुवस्थित प्राणोदान से ही दिव्यात्मा के शरीर के रोमों का निर्म्माण होने वाला है । रोमावली में प्राणोदानवत् ( एक इधर झुका हुआ, एक उधर झुका हुआ, यह ) परिस्थिति रहती है । दूसरे शब्दों में–रोम का स्वरूप ठीक प्राणोदानव्यापार की प्रतिकृति ( नकल ) है । **प्राकृतिक यज्ञ से उत्पन्न रोम प्राणोदानयुक्त हैं** । इधर स्रुवप्रदत्त आहुति द्रव्य ही दिव्यात्मा के रोमयुक्त शरीर का उपादान बनने वाला है । अतः **"पुरुषो वै यज्ञः"** इस सिद्धान्त के अनुसार यहाँ सम्मार्ज्जनकर्म्म की विशेषप्रक्रिया में प्राणोदान का समावेश करना परम आवश्यक है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर **"तस्मादितीवेमानि लोमानि, इतीवेमानि"** यह कहा गया है ।

जिसप्रकार प्राणोदानरूपा (प्राणापानमयी) सौररश्मियाँ देवप्राण के लिए उपादेय, एवं शान्त रहतीं हुई तमोमय आसुरप्राण के विनाश का कारण बनीं रहतीं हैं, तथैव प्राणोदानयुक्त स्रुव जहाँ यज्ञकर्त्ता यजमान

*–यदि किसी पात्र में रजस्वला स्त्री प्रमादवश भोजन कर लेती है, तो वह पात्र अशुद्ध होजाता है । इसीप्रकार पङ्क-मल-मूत्रादि निकृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध से भी असुरभाव से युक्त बनते हुए पात्र अपवित्र होजाते हैं । ऐसे अपवित्र पात्रों को आज भी राजपूताने के लोग अग्नि में तपा कर तदनन्तर हीं उन्हें व्यवहार में लाते हैं । इनके इस व्यवहार का मूल उक्त श्रौत **'प्रतपनकर्म्म'** ही है ।

के लिए अनिशित ( शान्त–उपकारक–यज्ञस्वरूपसाधक ) है, वहाँ यजमान के शत्रुओं के लिए वही विनाश का कारण है । स्रुव की इसी स्वाभाविकी शक्ति का निरूपण करते हुए–"**अनिशितोऽसि सपत्नक्षित्**" यह कहा गया है ।

**राजा–वाज–हवि–ग्रह–भेद** से आहुतिद्रव्यरूप सोम की चार जातियाँ होतीं हैं । प्रकृत यज्ञ ( इष्टि ) में जो हविर्द्रव्य है, वह वाजात्मक ( अन्नसोमात्मक ) है । अन्नरसरूप यही '**वाज**' यज्ञसाधक बनता हुआ यज्ञ-रूप है । यज्ञरूप इस वाज की यज्ञता स्रुव पर ही अवलम्बित है । अतः हम इस स्रुव को अवश्य ही '**वाज (यज्ञस्वरूपसमर्पक)** कहसकते हैं । यह '**वाजरूप स्रुव**' '**वाजरूप ( अन्नरूप ) यज्ञ**' का दो प्रकार से समिन्धन ( प्रज्वलन ) करता है । अग्नि में आहुत करना पहिला समिन्धन है, एवं स्वगत प्राणोदान को भूतमय वाज ( पुरोडाश ) में समाविष्ट करना दूसरा समिन्धन है । स्रुव के इसी स्वरूपधर्म्म को लक्ष्य में रख कर "**वाजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि**" यह कहा गया है । **प्राशित्रहरणपात्री**, एवं **इडापात्री** का प्राण-देवताओं से विशेष सम्बन्ध नहीं है । अतः इनका सम्माज्र्जन तूष्णीं (अमन्त्रक) ही होता है ॥६,७॥

• पहिले अध्वर्यु स्रुव–स्रुचादि पात्रों को तपाता है, एवं पुनः सम्माज्र्जन करता है । सम्मार्जनानन्तर आग्नीध्र पुनः एक बार गार्हपत्याग्नि में पात्रों को तपाता है । आग्नीध्रकृत प्रतपन में वैज्ञानिक उपपत्ति कुछ भी नहीं है । केवल लौकिक व्यवहार की समतादृष्टि से ही यह पुनः प्रतपनकर्म्म किया जाता है । हम देखते हैं कि, लोक में काँस्य–पित्तलादि ( काँसी–पीतल आदि ) के पात्रों का पहिले अवमर्शन ( खूब रगड़ कर धोया जाता ) किया जाता है । इस क्रिया से जब पात्र सर्वथा स्वच्छ होजाते हैं, तो सर्वान्त में बिना अवमर्शन के ( बिना घर्षण के ) केवल पानी में डुबोकर पात्र पृथक् पृथक् रखदिए जाते हैं–'**यथामवर्शं निर्णिज्य–अन–वर्शमुत्तमं परिक्षालयेत्**' । ठीक वही स्थिति यहाँ है । दर्भ से सम्माज्र्जन करना–अवमर्श ( घर्षण ) पूर्वक पात्रों का निर्णेजन करना है । एवं पुनः अग्नि में तपाना अनवशंपूर्वक पानी से प्रक्षालन करने के स्थान में है ॥८॥

**स्रुव–जुहू–उपभृत–ध्रुवा** आदि पात्रों में से पहिले स्रुव का सम्मार्जन होता है, अनन्तर स्रुचों का सम्माज्र्जन किया जाता है । '**स्रुव**' शब्द पुंस्त्वभावापन्न होता हुआ '**वृषा**' है, एवं '**स्रुक्**' शब्द स्त्रीत्व से युक्त होता हुआ '**योषा**' है । पुरुष के शुक्र में रहने वाला, रेतःसेक का अधिष्ठाता '**पुम्भ्रूण**' '**वृषा**' कहलाता है, एवं स्त्री के शोणित में रहने वाला रेतोग्राहक '**स्त्रीभ्रूण**' '**योषा**' नाम से प्रसिद्ध है । **वृषा आग्नेय है**, एवं **योषा सौम्य है** । दोनों में वृषा का ही प्राथम्य है । वैधयज्ञ में हीं देखिए ।

वृषारूप अग्नि स्वस्थान में पहिले से प्रतिष्ठित रहता है । अनन्तर इसमें योषारूप सोम (आहुतिद्रव्य) की आहुति होती है । अग्निरूप वृषा प्रथमज है । भूतज्योतिर्म्मय विश्व में स्वायम्भुव–ब्रह्माग्नि के रूप में सर्वप्रथम '**अग्नि**' का ही विकास होता है , "**सर्वस्याग्रमसृज्यत**" इस निर्वचन से ही इसे '**अग्रि**' कहा जाता है । यह अग्रि ही देवताओं की परोक्षभाषा में '**अग्नि**' नाम से प्रसिद्ध है–( देखिए शत० ब्रा० ६।१।१।११ ) ।

अपिच अग्नि **अन्नाद** है, **भोक्ता** है । सोम **अन्न** है, **भोग्य है** । दोनों में '**भोक्ता**' प्रधान है, '**भोग्य**' गौण है । साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि, एक भोक्ता के लिए अनेक भोग्य पदार्थ रहते हैं । **इसी**

**भोक्ता अग्नि से पुरुष का आत्मा सम्पन्न होता है; एवं भोग्य सोम से स्त्री की स्वरूप-निष्पत्ति होती है।** अग्निप्रधान पुरुष अग्रेसर है, एवं सोमप्रधाना स्त्री पश्चादनुयायिनी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, जब किसी उत्सवादि में १०--२० स्त्रियाँ सम्मिलित होकर जातीं हैं, उनके साथ में यदि कोई बालक ( ५--७ वर्ष का लड़का ) होता है, तो वह स्त्रियों के झुण्ड के आगे आगे चलता है। यदि वह क्रीड़ावश पीछे भी रहजाता है, तो स्त्रियाँ बलात् उसे अपने आगे कर लेतीं हैं। कारण वही प्राकृतिक नियम है। प्रकृति चाहती है कि, अग्निमय पुरुष अग्रगामी रहे, एवं सौम्य स्त्रियाँ इनके अनुगत ही बनीं रहें।

यही परिस्थिति यहाँ समझिए। **स्रुव एक पुरुष है, अनेक स्रुक् स्त्रियाँ हैं।** उक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार वृषा--योषा के नित्यसिद्ध पूर्वापर्य्य को लक्ष्य में रख कर वृषास्थानीय स्रुव का सम्मार्जन पहिले, एवं योषास्थानीय स्रुक् का सम्मार्जन पीछे ही करना प्राकृतिक नित्ययज्ञ की समृद्धि का कारण बनता है। इसी वृषा--योषात्मक यज्ञरहस्य को लक्ष्य में रख कर—**"स वै स्रुवमेवाग्रे सम्मार्ष्टि, अथेतराः स्रुच०:"** इत्यादि कहा गया है ॥ ६ ॥

गार्हपत्य के पश्चिम भाग में बैठ कर अध्वर्य्यु उक्त पात्रसम्मार्ज्जन कर्म्म करता है। सम्मार्ज्जन करते समय अध्वर्य्यु को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि, कहीं सम्मार्ज्जन--साधकभूत कुश--तृण गार्हपत्याग्नि में न गिर जायँ। कारण इसका यह ही है कि, यह दर्भतृण पात्रीनिर्णेजन ( पात्रों के स्वच्छ करने का पानी ] है। उधर गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता विराजमान हैं। उक्त तृणादि का इस देवमूर्त्ति अग्नि में गिर जाना वैसा होगा, जैसे भोजनार्थ आगत किसी अतिथि का भोजनपात्रों के शुद्ध करने के उपयोग में आए हुए मलिन--अशुद्ध पानी से सिञ्चन करना। अतः--बड़ी सावधानी से प्राङ्मुख रह कर अग्नि से कुछ हट--कर ही सम्भार्ज्जनकर्म्म करना चाहिए ॥ १० ॥

तैत्तिरीय--सम्प्रदाय का मत है कि—'यज्ञ में उपयुक्त होने वाली वेदराशि [ कुशमुष्टि ] यज्ञरूप है। कुश को **'वेद'** नाम से व्यवहृत करने का कारण यही है कि, पूर्वकथनानुसार यह दर्भ **सौर वेनपानी** से उत्पन्न हुए हैं। इधर **महोक्थ--महाव्रत**--एवं **पुरुष** की समष्टिरूप यज्ञप्रवर्त्तक सूर्य्य **"सैषा त्रय्येव विद्या तपति"** [शत० १०।५।२।२] के अनुसार गायत्रीमात्रिक वेदमय है। वेदमय सौर पानी से [ वेदावच्छिन्न सौर प्राण से ] दर्भ उत्पन्न हुए हैं, अतः इन्हें अवश्य हीं **'वेद'** नाम से व्यवहृत किया जासकता है। इधर सम्मार्ज्जनकर्म्म में उपयुक्त होने वाले दर्भतृण वेद--[कुशमुष्टि]--रूप यज्ञ के अवयव होने से यज्ञरूप ही हैं। उत्कर में वह वस्तु फैंकी जाती है, जिसका यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में यज्ञरूप, किंवा यज्ञांशरूप इन दर्भतृणों को उत्कर में डालना इस यज्ञियद्रव्य को यज्ञसीमा से बाहिर डालना होगा, और ऐसा करना यज्ञमर्य्यादा से विरुद्ध होगा। अतः [यज्ञांशरूप दर्भतृणों को] यज्ञसीमा में रखने के लिए इन्हें आहवनीय--अग्नि में ही डालदेना चाहिए। गार्हपत्याग्नि में इनका प्रक्षेप नहीं किया गया, इसलिए तो **"यथा यस्माऽअशनमाहरिष्यन्त्स्यात्, तं पात्रनिर्णेजनेनाभिव्युक्षेत्"** यह पूर्वोक्त दोष नहीं रहा, एवं आहवनीय में इसका प्रासन [प्रक्षेप] होगया, इसलिए यह यज्ञाङ्गभूत यज्ञिय द्रव्य यज्ञसीमा से बहिर्भूत नहीं हुआ।

सूत्रकारने **"आह्वनीये प्रासनमेके"** इत्यादि रूप से इसी पक्ष का उल्लेख किया है। जैसे पृथिवी-स्थानीय गार्हपत्याग्नि में पार्थिव प्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठि रहते हैं, तथैव द्युस्थानीय आहवनीयाग्नि में सौर-प्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। एवं ये ही प्रधान अतिथि हैं। गार्हपत्य देवता घरके हैं, एवं सौर देवता प्राघुणिक ( पाहुनें ) हैं। इन्हीं के यजन से तो दिव्यात्मा का स्वरूप सम्पन्न करना है। अतः जो दोष गार्हपत्य में प्रक्षेप का था, उस से भी कहीं अधिक दोष आहवनीय में प्रासन का है। आहवनीयस्थ आगत अतिथिरूप सौर देवता हविर्द्रव्य की प्रतीक्षा में बैठे हैं। आप सम्मार्ज्जन-साधनभूत दर्भतृणों की आहुति देते हुए उन्हें पात्रों का प्रक्षालित जल पिला रहे हैं। क्या ऐसा करना उचित होगा ?, कभी नहीं। रही यज्ञांशभूत दर्भ-तृणों की यज्ञसीमा से बाहिर निकलने की बात। सो इस के लिए स्वतन्त्र समाधान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु देवताओं के उपयोग में आती है, वही यज्ञिय मानी जाती है। नहीं, तो प्राप्त हविर्द्रव्य के **'तुषों'** को क्यों उत्कर में डाला जाता है ?। हविःसम्पादन के लिए शकट से धान लिया जाता है। उलूखल में मुसलके द्वारा उनके तुषों को पृथक् किया जाता है। तुषों को उत्कर में हीं डाला जाता है। क्योंकि इन का आहुति से सम्बन्ध नहीं है, अतएव इन्हें **'यज्ञिय'** नहीं माना जासकता। यही परिस्थिति इन दर्भतृणों की है। पात्र स्वच्छ करने के पश्चात् इन का यज्ञ में कोई उपयोग नहीं रहजाता। अतः इन्हें यज्ञिय-पदार्थ नहीं माना जासकता। ऐसी अवस्था में इन्हें यज्ञसीमा से बाहिर उत्कर में ही फैंक देना चाहिये ॥ ११ ॥

## इति—द्रव्यसंस्कारोपपत्तिः

——*——

## २—पत्नीसन्नहनोपपत्तिः—

**पत्नीसन्नहकर्म्म** का तात्पर्य्य है—**पत्नी का यज्ञ के साथ योग करना**। यजमानपत्नी पत्नी है, **"पत्युर्नो यज्ञसंयोगे"** इस पाणिनीय-सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ के सम्बन्ध से ही **पत्नी** शब्द निष्पन्न हुआ है। यह 'पत्नी' शब्द ही इस तथ्य का सूचक है कि, इस का यज्ञ में अवश्य ही सम्बन्ध कराया जाय। बिना पत्नी के यजमान का यज्ञ सर्वथा अपूर्ण ( अधूरा ) रहता है। कारण स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य आधिदैविक-यज्ञ का निरीक्षण कीजिए। यज्ञ के द्वारा सृष्टिरूप-प्रजा को उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाले प्रजापति को अपना शरीर **पति-पत्नि** रूप से दो भागों में विभक्त करना पड़ता है। इन दोनों के मिथुनभाव से ही विराट्प्रजा की उत्पत्ति होती है, जैसा कि निम्न लिखित स्मार्त्त वचन से स्पष्ट है—

**द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।**
**अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥**

—मनुः १ अ० ३२

स्वयम्भू प्रजापति वेदमूर्त्ति हैं। वेदतत्त्व **ऋक्-साम-यजुः** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। इन तीनों में यजुः वास्तव में यज्जू ( यत्-जू ) है। यद्भाग वाक् है, यही अग्नि है। इसी को यज्ञिय-परिभाषा-नुसार **"सार्वयाजुषअग्नि"** कहा जाता है। विज्ञानदृष्ट्या यही वागग्नि **"सत्याग्नि"** नाम से प्रसिद्ध है। **जूभाग प्राण है, यही वायु है**। यह वाक्-प्राण--[ अग्नि--वायु ]--मूर्त्ति यज्जू, किंवा यजुर्वेदमूर्त्ति स्वयम्भू

प्रजापति ऋक्सामरूप छन्दों से नित्य छन्दित [ वेष्टित ] रहता है। यजु ही स्वयम्भू प्रजापति का शरीर है। इस यजुर्म्मय शरीर का यद्रूप वाक्--[ अग्नि ]--भाग जूरूप प्राण [ वायु ] के व्यापार से आंशिकरूप से द्रुत होजाता है। अग्नि पर जब वायु का प्रसर [ दबाव ] होता है, तो तत्काल अग्नि पानी के रूप में परिणत होजाता है, जैसा कि **"अग्नेरापः"** इत्यादि श्रुत्यन्तर से स्पष्ट है। ग्रीष्मऋतु के अनन्तर वर्षा का आगमन भी इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित है। प्रजापति का वाक्--भाग ही अंशरूप से पानी [ पारमेष्ठ्य सोम ] बना है, इसी अभिप्राय से—**"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत"** [ शत० ब्रा० ६।१।१।९ ] यह कहा गया है। वाङ्मय शरीर के **अग्नि–सोम** ये दो विभाग ही **पति–पत्नी हैं** । **अग्नि पुरुष है, सोम स्त्री** है, जैसा कि पूर्वप्रकरण में बतलाया जाचुका है। इन दोनों के मिथुनभाव से ही **सूर्य्यरूप विराट् पुरुष** का जन्म हुआ है। सौरसम्वत्सर में भी यही दाम्पत्यभाव है। सम्वत्सर की वसन्तादि ६ ऋतुओं में तीन ऋतुएँ [ वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा ] आग्नेय हैं, एवं तीन ऋतुएँ [ शरत्–हेमन्त--शिशिर ] सौम्य हैं। दोनों के समन्वय से सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, एवं इसी सम्वत्सरयज्ञ से पार्थिव प्रजा की उत्पत्ति हुई है। पार्थिव-प्रजा में भी यही मिथुनभाव है। **शुक्र सौम्य है, शोणित आग्नेय है**। शोणिताग्नि में शुक्रसोम की आहुति होने से हीं प्रजोत्पत्ति होती है। इसप्रकार **स्वायम्भुवयज्ञ-सम्वत्सरयज्ञ–आध्यात्मिकयज्ञ** तीनों में उक्त दाम्पत्यभाव विद्यमान है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

## दाम्पत्यभावपरिलेखः—

| | | |
|---|---|---|
| १ वाक ················ अग्निः ( पुरुषः ) | } | स्वायम्भुवयज्ञः १ |
| २ आपः ··············· सोमः ( स्त्री ) | | |
| १ वसन्तः--ग्रीष्मः-वर्षाः ······ अग्निः ( पुरुषः) | } | सम्वत्सरयज्ञः २ |
| २ शरत्--हेमन्तः--शिशिरः ··· सोमः ( स्त्री ) | | |
| १ शोणितम् ·········· अग्निः ( पुरुषः ) | } | अध्यात्मयज्ञः ३ |
| २ शुक्रम् ············ सोमः ( स्त्री ) | | |

---

प्रकारान्तर से अग्नीषोमात्मक प्राकृतिक यज्ञ का विचार कीजिए। सम्वत्सरमण्डल में **सूर्य्य,** और **चन्द्रमा,** ये दो ही ग्रहोपग्रह प्रधान हैं। **सूर्य्य आग्नेय है, चन्द्रमा सौम्य** है। विष्वद्वृत्त के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठितहै। यही विषुवमण्डल हमारे खगोल का स्वरूप-सम्पादक है। इसी खगोलीय विष्वद्वृत्त से हमारा स्वरूपनिर्म्माण होता है। सम्वत्सर को **महासुपर्ण** माना गया है। उत्तरायण--दक्षिणायण इस महासुपर्ण के दो पक्ष हैं, एवं मध्यस्थ विष्वद्वृत्त आत्मा है। पूर्व की ओर मुख करके खड़े होजाइए। पूर्वभाग में दृश्य खगोलीय [ सूर्य्ययुक्त ] विष्वत् है, एवं पश्चिमभाग में अदृश्य खगोलीय [ चन्द्रयुक्त ] विष्वत् है। **पूर्व–खगोल सूर्य्यपुरुष से युक्त बनता हुआ 'पुरुष' है, एवं पश्चिम–खगोल चन्द्रस्त्री से युक्त होता हुआ 'स्त्री'**

है। दोनों की समष्टिरूप विष्वद्वृत्तीय पूर्ण खगोल **'सम्वत्स॰'** रूप **'यज्ञप्रजापति'** है। इस में पुरुष का निर्म्माण सूर्य्यप्रधान दृश्य खगोल से होता है, एवं स्त्री का निर्म्माण चन्द्रप्रधान अदृश्य खगोल से होता है। पुरुष की रीड की हड्डी विष्वद्वृत्त है। परन्तु आधे विषुव का ही रस इस में आता है। अतएव चारों ओर वृत्तरूप से रीड का निर्म्माण नहीं होता। आधा अदृश्य भाग स्त्री का निर्म्माण करता है। दूसरे शब्दों में-आधा आकाश पुरुष के अधिकार में आता है, एवं आधा आकाश स्त्री के अधिकार में आता है। एक ही सम्वत्सराकाश--पुरुष और स्त्री में विभक्त है, अतएव स्त्री को **'अर्द्धाङ्गिनी'** माना गया है।

पुरुष के शून्य अर्द्धाकाश की पूर्त्ति स्त्री से ही होती है। जबतक यज्ञ में स्त्री का समन्वय नहीं होता, तबतक यज्ञ का स्वरूप अपूर्ण ही रहता है। **'देवो भूत्वा देवं भावयेत'** यह निश्चित सिद्धान्त है। सम्वत्सर-**यज्ञदेव** की प्राप्ति के लिए यज्ञकर्त्ता यजमान को पहिले यज्ञरूप बनना पड़ेगा। यज्ञरूप बनने के लिए पहिले इसे पत्नी का यज्ञ में योग करना पड़ेगा। पत्नीसंयोग से जब यह पूर्ण होजायगा, तभी यह उस पूर्णेश्वर यज्ञविष्णु के साथ सम्बन्ध करने का अधिकारी बन सकेगा। यदि बिना पत्नी के ही यजमान यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होजायगा,'तो एक वर्ष के भीतर-भीतर इसकी मृत्यु होजायगी। यदि एक दर्पण आधे भाग में गरम, एवं आधे में ठण्डा होजाता है, तो इस विषमता से तत्काल दर्पण के खण्ड खण्ड होजाते हैं। यही अवस्था अपत्नीक यजमान की होती है। ऐसी अवस्था में यज्ञ में पत्नी का संयोग करना परम आवश्यक होजाता है। सूर्य्योपलक्षित द्युलोक पिता है, चन्द्रोपलक्षित पृथिवीलोक माता है, दोनों की समष्टि ही द्यावापृथिव्य यज्ञ है। पृथिवी पश्चिमार्द्ध [ भाग ] है, द्यु पूर्वार्द्ध [ भाग ] है। द्युरूप सूर्य्य से उत्पन्न होने वाला पुरुष यज्ञ का पूर्वार्द्ध है, एवं पृथिव्युपलक्षित--चन्द्रप्रधाना स्त्री यज्ञ का जघनार्ध ( पश्चिम का आधा भाग ) है। बिना इसके यज्ञ आधा रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर—**"अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः-यत्पत्नी"** [ तै॰ ब्रा॰ ३।३-३।४।—**"अयज्ञो वा एषः, योऽपत्नीकः"** [ तै॰ ब्रा॰ २।२।२।६ ]—**"सोऽयमाकाशः पत्न्या पूर्य्यते"** इत्यादि कहा गया है। पत्नी का यज्ञ में क्यों योग किया जाता है ?, इस प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है। पुरुष यज्ञाधिकारी है। यज्ञ बिना पत्नी के होता नहीं। यज्ञ की इस अवश्यकर्त्तव्यता को लक्ष्य में रख कर ही पुरुष के लिए बहुविवाह का विधान शास्त्रसिद्ध मान लिया गया है*।

पत्नी यज्ञ का पश्चिमार्द्ध है। इधर यजमान का यज्ञ पश्चिम से पूर्व की ओर ही वितत होता हुआ त्रिणाचिकेतस्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है। यदि पत्नी न होगी, तो पश्चिम भाग ही न रहेगा। पश्चिम भाग न रहेगा, तो प्रतिष्ठा से विरहित यज्ञ किस के आधार पर पूर्व की ओर वितत होगा ?। अतः यज्ञवितान के लिए, एवं यज्ञ की पूर्णतालक्षणा समृद्धि के लिए यज्ञ में पत्नी का संयोग करना नितान्त आवश्यक होजाता है। इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रखकर **"जघनार्द्धो वाऽएष॰"** इत्यादि कहा गया है ॥ १२ ॥

साधारण रूप से पत्नी का योग नहीं किया जाता, अपितु उसे योक्त्र से बाँधा जाता है। योक्त्र एक प्रकार का ऐसा दृढ बन्धन है, जिस में आबद्ध होने के पश्चात् पलायित होजाना असम्भवसा होजाता है। जानना

---

* यदि त्रैवर्णिक--प्रजा यज्ञकर्म्म से पराङ्मुख है, तो कदापि इसे दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए।

चाहते हैं आप इस बन्धन का रहस्य ?, तो सुनिए ! स्त्री सोमप्रधाना होती है । यह पूर्व में बतलाया जाचुका है । सोम ऋततत्त्व है । अतएव यह सत्यभाग से शून्य है । अतएव च ऋतप्रधाना स्त्री का निग्रह सतत अपेक्षित है । स्त्री के इसी स्वरूपधर्म्म को लक्ष्य में रखकर भारतीय समाजशास्त्रियोंनें **स्त्रीस्वातन्त्र्य** का पूर्ण विरोध किया है । स्त्री की **बाल-युवा-वृद्ध,** इन तीनों अवस्थाओं में **पिता-पति-पुत्र**--की अर्गला लगाई गई है । ऋतरूप सोम में आत्मप्रतिष्ठा का आभाव है । यह भोग्य वस्तु है । अतः सर्वदा संरक्षणीय है । इसे निरन्तर **परप्रतिष्ठा** अपेक्षित है । प्रतिष्ठासूत्र में रहते रहते भी अपने ऋतस्वभाव के कारण स्त्री उच्छृङ्खल बन जाती है । यदि प्रतिष्ठासूत्र न रहे, तो यह स्वतन्त्रा शक्ति विस्फोटन का ही कारण बन जाया करती है ।

**ऋतप्रधाना,** अतएव **अनृतरूपा** स्त्री * के इस अप्रतिष्ठा भाव की रक्षा के लिए, दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रवृत्ति को परतन्त्र बना कर उसे सीमित करने के लिए ही **पत्नीसन्नहनकर्म्म** किया जाता है । इस कर्म्म के साधनभूत **योक्त्रबन्धन** से सौम्य यजमानपत्नी की सौम्यवृत्ति शान्त होजाती है, एवं ऋत के स्थान में इसमें सत्यभाव का समावेश होजाता है, अप्रतिष्ठा प्रतिष्ठा के रूप में परिणत होजाती है, अनृत अयज्ञियभाव सत्ययज्ञरूप में परिणत होजाता है । यजमान का अर्द्धाकाश परिपूर्ण होजाता है, पूर्णयज्ञ की पूर्णसमृद्धि प्राप्त होजाती है । सन्नहनकर्म्म का यही मौलिक रहस्य है ।

हम यह अनुभव कर रहे हैं कि, स्त्रीजाति के सम्बन्ध में विहित उक्त श्रौत-सिद्धान्त वर्त्तमान भावुक युग के लिए सर्वथा उद्वेगकर ही प्रमाणित होरहा होगा । सामान्यदृष्टि से विचार करने पर तो थोड़ी देर के लिए एक वेदभक्त का हृदय भी श्रुति की इस संकुचितवृत्ति से क्षुब्ध होपड़ेगा । जब कि ईश्वरीयसृष्टि में सामान्य-प्राणियों को भी स्वतन्त्र विचरण करने का ( जन्मसिद्ध ) अधिकार प्राप्त है, तो सृष्टि के सर्वसभ्य, बुद्धि--युक्त मानवसमाज के इस स्त्रीवर्ग के सम्बन्ध में ईश्वराज्ञापत्ररूप इन वेदों में किस आधार पर यह अमा--नुषिक सिद्धान्त लिपिबद्ध हुआ ?, सचमुच यह एक जटिल समस्या है ।

समस्या जटिल, साथ ही सभ्यता, संस्कृति पर कलङ्क लगाने वाली, सब कुछ ठीक है । परन्तु **'शब्दप्रमाणका वयम्'** न्याय से प्रकृत--सिद्धान्त के सम्मुख विवश होकर हमें नतमस्तक होना ही पड़ेगा । अब हमें इस सम्बन्ध में देखना केवल यही है कि, उक्त वेदभक्ति हमारी कल्पना तक ही सीमित है, अथवा इस में कुछ तथ्यांश भी है, जिस के कि बल पर वेदविरोधियों का, साथ ही उन वेदभक्तों का भी, जो कि ऐसे सिद्धान्तों को देखकर क्षुब्ध होजाते हैं, अन्तःकरण उक्त सिद्धान्त की ओर आकर्षित किया जासके । आइए ! इस स्वतन्त्रता--परतन्त्रता की मौलिकता का विचार करें, और तद्द्वारा किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचने का प्रयास करें । विचारशून्या सामान्यदृष्टि कभी कभी हमें धोका दे डालती है । और इस धोके में पड़कर मानवीय **ऋत-मन** कभी कभी सत्य को असत्य समझने की भूल कर बैठता है । कोई आश्चर्य नहीं, हम भी कुछ ऐसी ही भूल कर रहे हों ।

( १ )-इस में तो कोई भी सन्देह नहीं है कि, सनातनधर्म्म से प्रेम रखने वाला वर्त्तमान युग का सनातनधर्म्मीजगत् प्रत्यक्ष, किंवा अप्रत्यक्षरूप से धर्म्म के व्याज से विशुद्ध रूढिवाद

---

* अनृतं, स्त्री, शुद्रं, श्वा, तानि न प्रेक्षेत । ( श्रुतिः ) ।

का ही समर्थक बन रहा है । बाह्याडम्बरभक्त हम सनातनधर्म्मियोंनें धर्म्मादेशों को रूढिवाद के रँग में रञ्जित कर उन्हें अधर्म्म का ही रूप दे डाला है, यह स्वीकार कर लेने में किसी भी सनातनधर्म्मी को यत्किञ्चित् भी आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

(२)-इस में भी कोई सन्देह नहीं कि, सनातनधर्म्म के प्रचलित रूढिवादों से घोर शत्रुता रखने वाला वर्त्तमानयुग का समाजसुधारक--जगत् प्रत्यक्ष, किंवा अप्रत्यक्षरूप से सुधार के व्याज से विशुद्ध अधर्म्मपथ का ही समर्थक बन रहा है। पश्चिमाडम्बरभक्त हम सुधारकोंनें सुधारमार्ग को पश्चिमी सभ्यता के रँग में रञ्जित कर उसे अधर्म्म का ही रूप दे दिया है, यह स्वीकार कर लेने में भी किसी भी सुधारक को आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

(३)-यह भी निःसदिग्ध विषय है कि, सनातनधर्म्म के उपदेशकों, प्रचारकों, रक्षक सन्त महन्तों, आचार्य्यों, मठाधीशोंनें धर्म्मादेशों के मौलिक रहस्य का प्रतिपादन करने वाले विज्ञानसिद्ध वेदशास्त्र की उपेक्षा करते हुए, अतएव धर्म्मरक्षा के लिए सर्वथा व्यर्थ प्रमाणित सम्प्रदायभक्ति को साधनरूप अग्रणी बनाते हुए वर्त्तमानयुग की सुधारक-जनता का परितोष करने में अपने आपको सर्वथा निरर्थक ही प्रमाणित कर लिया है।

(४)-अब हमें यह भी मान ही लेना चाहिए कि, सुधारक-समाज के उपदेशकों, मार्गप्रदर्शकों, नेताओंनें सुधार के मूलप्राणरूप मौलिकधर्म्म, मौलिकसंस्कृति, मौलिकसाहित्य की उपेक्षा करते हुए, अतएव समाजव्यवस्था-सञ्चालन के लिए सर्वथा व्यर्थ प्रमाणित कल्पनाभक्ति को ही साधनरूप से आगे करते हुए वर्त्तमान युग की धार्म्मिक जनता का परितोष करने में अपने आपकों सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध कर लिया है।

उक्त प्रत्यक्षदृष्टि ही हमें यह मान लेना के लिए भी बाध्य कर रही है कि, वर्त्तमान में भारतवर्ष के जनसमाज को १--धर्म्मप्रेमी सनातनधर्म्मी, २--सुधारप्रेमी सुधारक, ३--धर्म्मोपदेष्टा धार्म्मिकनेता, ४--मार्गप्रदर्शकसमाजनेता, इन चार श्रेणियों में विभक्त मान लिया जाय। यद्यपि एक पाचवाँ राष्ट्रीयसमाज और है । परन्तु प्रचलित प्रगति के अनुसार उसे हम चतुर्थ समाजवर्ग में ही अन्तर्भूत मान सकते हैं। आगे जाकर तो इन चार वर्गों का भी धार्म्मिकवर्ग, सुधारकवर्ग इन दो वर्गों में हीं अन्तर्भाव होजाता है।

उक्त दोनों हीं वर्ग उद्देश्य की दृष्टि से समानपथ के ही अनुयायी बने हुए हैं। 'हम, हमारा देश, हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति सुरक्षित रहे' दोनों हीं वर्गों को यह उद्देश्य तो सर्वात्मना मान्य है । परन्तु आश्चर्य्य है कि, समानोद्देश्यता के रहने पर भी दोनों में परस्पर घोर विरोध देखा जाता है । धार्म्मिक-जगत् सुधारक-जगत् को सर्वनाश का प्रवर्त्तक बतला रहा है, तो सुधारकवर्ग धार्म्मिक-वर्ग को उन्नति का अन्यतम प्रतिबन्धक समझ रहा है। आदर्शभक्त, किन्तु कर्म्मशून्य धार्म्मिक-जगत् का धर्म्मप्रसार क्रम क्रमशः शिथिल होता जारहा है, एवं कर्म्मपरायण, किन्तु आदर्शशून्य, सामाजिक-जगत् की उच्छृङ्खलता क्रमशः वृद्धिंगत प्रतीत होरही है। इसप्रकार देश की ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, यों दो स्वतन्त्र दलों में विभक्त होकर तीसरी अर्थशक्ति के मूलोच्छेदक का कारण बनती हुई सर्वनाश की ही प्रयोजिका प्रमाणित हो रही है, यह जानकर किस भारतीय को क्लेश न होगा।

हुआ क्या ?, एवं हो क्या रहा है ? । धार्मिक-प्रजा ने परिवर्त्तनशील **देश-काल-पात्र-द्रव्यादि** से सम्बन्ध रखने वाले तत्सामयिक ( अतएव तत्समय के लिए ही उपादेय ) आचार-व्यवहारों का ग्रन्थि-बन्धन करते हुए उसे भी सामयिक बना डाला । अतीत सभ्यता, किंवा आचार-व्यवहार देशकालादि के परिवर्त्तन से स्मृतिगर्भ में विलीन होते रहे, आगे आगे नवीन विकास जन्म लेते गए । उधर शाश्वतधर्म्म पर बलात्कार से उन सामयिक आचारादि का लेप चढ़ता रहा । परिणाम इसका यह हुआ कि-धर्म्मतत्त्व सर्वथा अन्तर्हित होगया, एवं प्रधानता रह गई केवल रूढिवाद की । **शाश्वतधर्म्म 'अनित्य मतवाद मात्र' बनता हुआ परमार्थसाधन के स्थान में विशुद्ध स्वार्थ का ही पोषक बना रह गया ।**

भला मानवीय मन कबतक धर्म्म के इस ताण्डवनृत्य को सहन करता रहता ? । परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिए था । कुछ एक नेताओंनें जनता को सावधान किया कि, जिसे तुमनें **'धर्म्म'** समझ रक्खा है, वह **व्याजधर्म्म है**, धर्म्म की ओट में **रूढिवाद** पनप रहा है । इसी धर्म्म के धोके ने तुह्मारी स्वतन्त्रता का अपहरण किया है । परिणाम जो कुछ हुआ, देश के सामने है । धर्म्मसुधार आरम्भ हुआ प्रबलवेग से । परन्तु धर्म्म-रहस्यभूत मौलिक साहित्य के विरह से इस सुधार ने बाह्य आवरण के साथ साथ गर्भीभूत **मौलिकतत्त्व** पर भी प्रहार करना आरम्भ कर दिया । और मानना पड़ेगा कि, सुधारकवर्ग की यह एक महा भूल हुई । गले सड़े माँस के कर्त्तन ( आप्रेशन ) के साथ साथ विशुद्ध, संरक्षक अङ्ग को भी काट लिया गया । इसप्रकार इह्नोंनें शेषभूता मौलिकता को भी नामशेष में ही परिणत कर दिया । ।

प्रकरण अप्रासङ्गिक होता हुआ भी प्रासङ्गिक है । प्रश्न है-**"स्त्रीस्वातन्त्र्य"** का । स्वतन्त्रता का अनन्यप्रेमी सुधारक-समाज उन आदेशों को सहन करने के लिए सन्नद्ध नहीं है, जो कि आदेश स्त्रीस्वातन्त्र्य पर प्रत्यक्षरूप से आक्रमण कर रहे हैं । यही कारण है कि, उन की दृष्टि में-**"न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"** वह आदेश पुरुषसमाज की स्वार्थवृत्ति का ही द्योतक बन रहा है । **ऋत-सत्य** का विवेचन करते हुए यद्यपि पूर्व में हमनें इस द्योतकता की निरर्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया है । तथापि केवल इसी साधन से हम पूर्णरूप से उनका परितोष नहीं कर सकते । अवश्य ही इस साधन की सिद्धि के लिए हमें थोड़ा और प्रयास करना पड़ेगा ।

जहाँतक हम समझते हैं-**"स्वतन्त्र"** शब्द का अक्षरार्थ है-**"स्व-तन्त्र"** **( अपना तन्त्र )** । यह **"स्व"** क्या है ?, और इस **'स्व'** का **'तन्त्र'** क्या है ?, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । पहिले कोशकार की दृष्टि से ही दोनों शब्दों के अर्थों का विचार कीजिए । **"स्वो ज्ञातावात्मनि"** ( अमर० ३।३।२११ ) के अनुसार **बन्धुजन**, और **आत्मा**, इन दोनों को "स्व" कहा जाता है । ज्ञाता आत्मा हीं **ज्ञातिबन्धु** * है । अतः फलितांश में **'आत्मा'** हीं **'स्व'** शब्द का वाच्यार्थ बन जाता है । शब्दार्थक **'स्वन'** धातु से ( **'स्वन' शब्दे-भ्वा० प० से**, ) "स्व" शब्द निष्पन्न हुआ है । **"स्वनति-इति, स्वन्यते वा"** ही **"स्व"** शब्द का

---

* **"यावद्वित्तं तावदात्मा"** इस सिद्धान्त के अनुसार वित्तपर्यन्त आत्मसत्ता का प्रसार माना गया है । **बन्धुवर्ग**, किंवा **ज्ञातिवर्ग**, अन्तर्वित्त में अन्तर्भूत हैं । अतएव इन्हें भी "स्व" कहना अन्वर्थ बन जाता है ।

निर्वचन है। आत्मा शब्दप्रवर्त्तक है, दूसरे शब्दों में आत्मा से शब्द निकलता है, अतएव "**स्वनति**" ( **शब्दं करोति, शब्दमुत्पादयति वा** ) से अवश्य ही आत्मा को "**स्व**" कहा जासकता है। इसी निर्वचन से यह भी सिद्ध होगया कि, जिसका आत्मा शब्दोत्पत्ति में असमर्थ है, वह आत्मा "**स्वः**" मर्य्यादा से, किंवा "**स्व-धर्म्म**" से वञ्चित होता हुआ "**स्वः**" न होकर "**परः**" ही बन जाता है।

'आत्मा' शब्द **उत्पन्न करता है, किंवा आत्मा से शब्द निकलता है,** इसका क्या तात्पर्य्य ?। क्या कोई आत्मा ऐसा भी है, जो शब्द उत्पन्न करने में असमर्थ रहता हो ?। हम तो देखते हैं कि—"**आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया, मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्**" इत्यादि **पाणिनीय-शिक्षा**-सिद्धान्त के अनुसार शब्दोच्चारण की विवक्षा करने वाला आत्मा बुद्धि से युक्त होकर अभिलषित अर्थकामना का मन के साथ योग करता है। आत्मकामना से काममय बना हुआ मन सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त वैश्वानर अग्नि (कायाग्नि) में क्षोभ उत्पन्न करता है। इस इच्छा के अघात से क्षुब्ध बने हुए अग्नि का क्षोभ प्राणवायु पर आघात करता है। धक्का खाकर वायु **उरः--कण्ठ-शिरः** तीनों में किसी स्थान से टकरा कर कण्ठ-ताल्वादि स्थानों में आकर वर्णरूप धारण कर लेता है। इसप्रकार आत्मकामना हीं बुद्धि के द्वारा मनोद्वार से शरीराग्निक्षोभव्यापारमूलक प्राणवायु को सञ्चारभाव में परिणत कर वर्णरूप में परिणत करती है। "**वायुः खान् शब्दस्तत्**" यह प्रातिशाख्य-सिद्धान्त भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन कर रहा है।

जब कि **शब्दोत्पत्ति**, किंवा **वर्णोत्पत्ति** का यह स्वाभाविक नियम है, दूसरे शब्दों में कोई भी शब्द जब बिना आत्मकामना के विनिर्गत नहीं होसकता, तो मानना पड़ेगा कि "**स्वनति-स्वन्यते**" के अनुसार सभी प्राणियों का आत्मा "**स्व**" है। फिर इस सम्बन्ध में यह कहना है कि "**जिसका आत्मा शब्दोत्पत्ति में असमर्थ है, वह 'स्व' न कहला कर 'पर' ही कहलाएगा**" क्या महत्त्व रखता है ?। "**न ह्यशब्दमिवास्ति**"-"**सर्वं शब्देन भासते**" इत्यादि श्रौत-स्मार्त सिद्धान्तों के अनुसार जब सब का प्रत्यय (ज्ञान) शब्दात्मक ही है, शब्दप्रेरणा हीं जब सब का प्रातिस्विक धर्म्म है, तो इस नित्य शब्दविनिर्गम का अनुयायी आत्मा कभी '**पर**' बन जाय, यह सम्भव ही नहीं।

यदि केवल "**स्व--पर**"--भावों का ही विचार किया जाता है, तो अवश्य ही इस सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति का समावेश सम्भव होजाता है। परन्तु जब "**तन्त्र**" शब्द को साथ लेकर विचार किया जायगा, तो स्वतः एव विप्रतिपत्ति का निराकरण होजायगा। केवल "**स्वः**" ( **आत्मा** ) को तो तबतक 'स्वः ( **आत्मा** )' कहा भी नहीं जासकता, जबतक कि वह किसी तन्त्र का अनुगामी नहीं बन जाता। तन्त्र को अपना आयतन बना कर ही आत्मा शब्दोत्पित्ति में समर्थ होकर "**स्व**" कहलाता है। यदि वह तन्त्र **आत्मानुगामी** है, तो उस समय उस अपने तन्त्र का अध्यक्ष बनता हुआ आत्मा "**स्वतन्त्र**" कहलाएगा। यदि वह तन्त्र आत्मस्वरूप को विकृत करने वाला है, तो उस दशा में वह तन्त्र '**परतन्त्र**' कहलाएगा, एवं तदनुनत आत्मा भी '**परतन्त्र**' ही माना जायगा।

स्वतन्त्र--**परतन्त्र**, दोनों हीं शब्द आत्मवाचक नहीं हैं, अपितु ये शब्द तो तन्त्रों के द्योतक हैं। **आत्मा को तो न स्वतन्त्र कहा जासकता, न परतन्त्र**। '**सर्वरूप**' के लिए कसी निश्चितरूप की अर्गला

नहीं लगाई जासकती । दोनों शब्द तन्त्रों के ही वाचक हैं । आत्मतन्त्र "स्वतन्त्र" कहलाएगा, एवं आत्मविरोधी तन्त्र "परतन्त्र" कहलाएगा । 'स्व-तन्त्र' में रहने वाला आत्मा हीं अपना "स्वः" भाव सुरक्षित रख सकेगा । एवं 'पर--तन्त्र' में रहने वाला आत्मा "स्वः" को खो बैठेगा । इसप्रकार स्वतन्त्र, परतन्त्र, शब्द तन्त्रों के ही वाचक बन जाते हैं । आगे जाकर 'तद्वादन्याय' से इन दोनों को आत्मा का भी वाचक मान लिया गया है ।

आत्मा चाहे 'स्व'-तन्त्र में प्रतिष्ठित रहै, अथवा 'पर'-तन्त्र में, उभयथा वह शब्दोत्पत्ति का प्रवर्त्तक माना जायगा । और शब्दोत्पत्ति के सम्बन्ध से दोनों हीं अवस्थाओं में उसे "स्वनति" के अनुसार "स्वः" कहा जासकेगा । अन्तर दोनों अवस्थाओं में केवल यही होगा कि, 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित आत्मा की कामना मन का सञ्चालन करेगी, एवं 'पर'-तन्त्र में पतिष्ठित आत्मकामना पर मानस-कामना का अधिकार रहेगा । मन की कामना को अपने रँग में रञ्जित कर शब्दप्रवर्त्तक बनता हुआ यही स्वः 'स्वः' कहा जायगा, एवं अपनी कामना को मन के रँग में रञ्जित कर शब्दप्रवर्त्तक बनता हुआ वही स्वः "परः" कह-लाएगा । इसप्रकार तन्त्रभेद से शब्दायमान उस एक ही "स्वः" की "स्वः"-'परः" ये दो अवस्थाएँ होजायँगीं ।

स्व (अपने) तन्त्र का अध्यक्ष वही 'स्वः(आत्मा)"स्वः"(स्वधर्म्मानुगत) कहलाएगा, एवं'पर' (दूसरे) तन्त्र का अनुगामी वही 'स्वः ( आत्मा ) "परः" ( परधर्म्मानुगत ) कहलायगा । बस केवल इसी भेद को लक्ष्य में रखकर "शब्दोत्पत्ति में समर्थ आत्मा 'स्वः', एवं असमर्थ आत्मा 'पर' कहलाएगा" यह कहा गया है । शब्दोत्पत्ति दोनों अवस्थाओं में होगी । परन्तु 'पर',-तन्त्रावस्था में उत्पन्न आत्मशब्द 'परधर्म्म' में रँगे रहने के कारण 'आत्मशब्द' नहीं कहलाएगा । अब यह विचार कीजिए कि, वह "स्वतन्त्र-परन्त्र" कौन हैं, जिन के कारण क्रमिक सम्बन्ध से वह स्वः (आत्म) "स्वः-एवं परः" भावों (आत्मा-अनात्मभावों) में परिणत होजाता है ? ।

कोशानुसार पूर्व में "स्वः" को आत्मा का वाचक बतलाया गया है । ज्ञात आत्मा हीं "स्वः" है । इस ज्ञात आत्मा का परभाव होगा-वह विषय, जो कि आत्मभावना से शून्य होगा । ज्ञाता, ज्ञेय दोनों में ज्ञाता यदि आत्मा का 'स्व-भाव' है, तो ज्ञेय "पर-भाव माना जायगा । चैतन्य ज्ञात आत्मा का ज्ञेय विषय सर्वथा जड़ ही होता है । जड़त्वेन हीं उसे 'अनात्म्य' कहा जासकता है । इस दृष्टि से इस अनात्मभाव को हम "पर-भाव" कहेंगे । कोशकारने 'पर' शब्द के जो दूर, अनात्मा, उत्तम, ये तीन अर्थ माने हैं, उनमें से प्रकृत में अनात्मभाव ही अभिप्रेत है-(अमर० ३।३।३।१६१।) । इसी भाव को आगे कर 'पर' शब्द शत्रु का भी वाचक माना गया है, एवं 'स्वः' शब्द बन्धु का वाचक माना गया है । निष्कर्ष यही हुआ कि-आत्मा "स्व"है, 'अनात्मा' "पर" है । आत्मा का उपकारक भाव 'स्वः' है, एवं आत्मा का विरोधी भाव 'पर' है । आत्मा, और आत्मा का श्रेयोभाव-दोनों को "स्वः" कहा जायगा । एवं अनात्मा, तथा आत्मा का प्रेयोभाव, दोनों को 'परः' कहा जायगा ।

अब 'तन्त्र' शब्द के अर्थ पर दृष्टि डालिए । अपेक्षा-भेद से 'तन्त्र' शब्द सिद्धान्त, परिच्छेद (सीमा), सूत्रवायु, कुटुम्बकृत्य, उत्तमोषधि, शास्त्रपर्व, वेदशाखा, इतिकर्त्तव्यता, प्रधान, आदि अनेक अर्थों का सूचक है । प्रकृत में तन्त्र शब्द से "प्रधान" ही अभिप्रेत है । प्रकृति को ही प्रधान कहा जाता है । प्रकृतिभाव के अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग, भेद से दो विवर्त्त हैं । इनमें पाञ्चभौतिक विश्व बाहिरङ्गप्रकृति है, एवं

**विश्वसञ्चालिका प्रकृति अन्तरङ्गप्रकृति है।** यही विश्व का आदिकारण मानी गई है। इसी को "**प्रधान**" कहा जायगा। विश्वक्षेत्र का अधिष्ठाता प्रकृतिरूप यही प्रधानतत्व पुरुष के सहयोग से 'क्षेत्रज्ञ' बना हुआ है। विज्ञानभाषा में यही "**विज्ञानात्मा**" नाम से, एवं दर्शनभाषा में यही "**बुद्धि**"नाम से प्रसिद्ध है।, है जैसा कि गीताभाष्यादि में स्पष्ट है।

**प्रधाना प्रकृति** ही व्यक्तरूप से वितत होकर विश्वविस्तार का कारण बनती है। दूसरे शब्दों में-यही विश्व का वितान करती है, अतएव "**तन्यते-अनेन सर्वम्**' इस निर्वचन के अनुसार प्रकृतिरूप इस प्रधान को अवश्य ही"**तन्त्र**"कहा जासकता है। "**स्व-पर-तन्त्र**" इन तीनों शब्दों का अर्थ क्रमशः **आत्मा-अनात्मा प्रधान**–रूप से गतार्थ हुआ है। यह अनात्मभाव वही बहिरङ्गप्रकृति है, जिसे कि हम '**विश्व**' कह सकेंगे। आत्मरूप "**स्व**" **पुरुष** है, आदिकरणरूप प्रधान '**प्रकृति**' है। एवं कार्य्यरूप विश्व अनात्म्य परभाव बनता हुआ '**विकृति**' है। पहले आधिदैविक विश्व में ही तीनों के दर्शन कीजिए।

**स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिव्यात्मक विश्व में** स्वयम्भू-परमेष्ठी की समष्टि अमृतप्रधान **पुरुषसंस्था** है, चन्द्रमा-पृथिवी, दोनों की समष्टिरूप मृत्युप्रधान **विकृतिसंस्था** है। मध्यस्थ, अतएव अमृत-मृत्युमय सूर्य्य **प्रकृतिसंस्था** है। पुरुषसंस्था में **अव्ययात्मा** का विकास है, विकृतिसंस्था में भौतिक **क्षर** का साम्राज्य है, एवं प्रकृतिसंस्था में **अक्षर** की प्रधानता है। अव्यय "**स्व**" है, क्षर "**पर**' है, एवं अक्षर "**तन्त्र**" है। अव्ययपुरुष का('**स्व' का**) तन्त्र यही अक्षर है। यदि यही-'तन्त्र(अक्षर)क्षररूप परभाव का अनुगामी बन जाता है, तो यह '**स्वतन्त्र**' (**अव्ययतन्त्र**) '**परतन्त्र**' (**क्षरतन्त्र**) बन जाता है। **अव्ययात्मा का अक्षरतन्त्र के द्वारा क्षर में समाविष्ट रहना "स्वतन्त्रता" है, एवं अव्ययात्मा का अक्षरतन्त्र को क्षर का अनुगामी बनाते हुए उसमें आसक्त होजाना "परतन्त्रता" है।**

उक्त आत्मविवर्त्त-दिगदर्शन से यह भी सिद्ध होगया कि. सूर्य्य-स्थानीय '**प्रधान**' (**अक्षर**) '**स्वतन्त्र**' है। क्योंकि इस अक्षर का '**तन्त्र**' ( **विस्तारभूमि** ) अव्यय ही है। "**स्वः ( आत्मा ) है तन्त्र जिसका**" ऐसा केवल '**अक्षर**' ही होसकता है। यदि यह अक्षर '**स्व**' को अपना '**तन्त्र**' न बना कर '**पर**' लक्षण '**क्षर**' को अपना तन्त्र बना लेता है, तो "**पर ( क्षर ) है तन्त्र जिसका**" इस निर्वचन से यही '**परतन्त्र**' बन जाता है।

स्थिति अंशतः दुर्बोध्या है। **स्वतन्त्र–परतन्त्र** शब्द **आत्मा** के वाचक हैं, ? अथवा **अनात्मा** के वाचक हैं !, अथवा प्रधान के सूचक हैं ?, यह तथ्य वास्तव में दुर्बोध्य है-अस्मदादि सामान्य-जनों के लिए। अतएव इसका विशेषरूप से स्पष्टीकरण अपेक्षित होजाता है।

| | | |
|---|---|---|
| आत्मा[1]———"स्वः"—है | अनात्मा[2] —"परः"—है, | प्रधानम्[3]—"तन्त्रम्"—है। |
| पुरुषः[1]———"स्वः"—है, | विकृतिः[2] - —"परः"—है, | प्रकृतिः[3]—"तन्त्रम्"—है। |
| अव्ययः[1]———"स्वः"—है, | क्षरः[2]————"परः"—है, | अक्षरः[3]—"तन्त्रम्"—है। |
| स्वयम्भूः[1]-परमेष्ठी-"स्वः"–है, | चन्द्रमा-पृथिवी[2]-"परः"–है, | सूर्य्यः[3]—-"तन्त्रम्"—है। |

उक्त तालिका से यह तो स्पष्ट है कि, किसी भी रूप से यदि 'स्व' का 'तन्त्र' से, किंवा 'तन्त्र' का 'स्वः' से सम्बन्ध है, तब तो "स्वतन्त्र" शब्द का आविर्भाव है। और यदि 'स्वः' का- 'तन्त्र' के द्वारा 'पर' से, किंवा 'पर' का--'तन्त्र' के द्वारा 'स्व' से सम्बन्ध है, तो "परतन्त्र" शब्द का आविर्भाव है।

इसी के साथ यह भी स्पष्ट होजाता है कि, यदि 'स्वः' का साक्षात् रूप से 'तन्त्र' के साथ सम्बन्ध है, तो इस दशा में 'स्वतन्त्र' शब्द भी 'आत्मा' का ही वाचक माना जायगा। एवं यदि इसी 'स्वः' का साक्षात् रूप से 'तन्त्र' से सम्बन्ध न होकर 'पर' के द्वारा 'तन्त्र' से सम्बन्ध है, तो इस दशा में 'परतन्त्र' शब्द भी आत्मा का ही वाचक माना जायगा। ऐसी दशा में "स्वतन्त्रः-परतन्त्रः" का अर्थ होगा—"आत्मा स्वतन्त्रः"-"आत्मा परतन्त्रः"।

यदि 'तन्त्र' का साक्षाद्रूप से 'स्वः' से सम्बन्ध है, तो इस दशा में 'स्वतन्त्र' शब्द भी 'तन्त्र' का ही वाचक माना जायगा। यदि इसी तन्त्र का साक्षाद्रूप से 'स्वः' के साथ सम्बन्ध न होकर 'पर' के द्वारा 'स्वः' से सम्बन्ध है, तो इस दशा में 'परतन्त्र' शब्द भी 'तन्त्र' का ही वाचक माना जायगा। एवं उस दशा में-"स्वतन्त्रः-परतन्त्रः" का अर्थ होगा—"तन्त्रः स्वतन्त्रः"-तन्त्रः परतन्त्रः"।

यदि 'पर' का 'तन्त्र' के द्वारा 'स्व' के साथ अनुकूल [ अनुयोगी ] सम्बन्ध है, तो इस दशा में 'स्वतन्त्र' शब्द भी 'पर' का ही वाचक माना जायगा। यदि 'पर' का 'तन्त्र' के द्वारा स्व के साथ प्रतिकूल [प्रतियोगी] सम्बन्ध है, तो इस दशा में परतन्त्र शब्द भी पर का ही वाचक माना जायगा।

तात्पर्य्य यह निकला कि, तन्त्रानुगामी वही आत्मा 'स्वतन्त्र' है, एवं परानुगामी वही आत्मा 'परतन्त्र' है। स्वानुगामी वही 'तन्त्र' 'स्वतन्त्र' है, एवं परानुगामी वही 'तन्त्र' 'परतन्त्र' है। स्वानुगामी [अनुकूलभाव से] वही तन्त्र स्वतन्त्र है, एवं स्वानुगामी [ प्रतिकूलभाव से ] वही तन्त्र 'परतन्त्र' है। आत्मा भी 'स्वतन्त्र' 'परतन्त्र' कहला सकता है, एवं तन्त्र को भी 'स्वतन्त्र'--'परतन्त्र' कहा जासकता है, एवं 'पर' भी 'स्वतन्त्र--'परतन्त्र' शब्दों से व्यवहृत होसकता है। इसप्रकार 'स्व' लक्षण 'पुरुष', तन्त्र--लक्षणा 'प्रकृति' एवं 'पर' लक्षणा विकृति, तीनों संस्थाओं के साथ सम्बन्धभेद से स्वतन्त्र-परतन्त्र, दोनों का ही समन्वय किया जासकता है।

तीनों विवर्त्तों में से पहिले आत्मस्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य का ही विचार प्रस्तुत है। यदि यह 'स्वः ( आत्मा )' 'स्व-तन्त्र' का ( अपने तन्त्ररूप अक्षर, किंवा 'प्रकृति' का ) अनुगामी बनता हुआ 'तन्त्र' के द्वारा ( 'प्रकृति' के द्वारा ) 'पर' भाव में ( क्षर, किंवा 'विकृतिभाव' में ) अनासक्तरूप से प्रविष्ट है, तो इस दशा में ( तन्त्रानुगत बन कर परभाव से युक्त रहने की दशा में ) इस तन्त्रानुगामी 'स्व' को "तन्त्रानुगतः-यः-स्वः-( आत्मा )" ( तन्त्र का अनुयायी जो स्वः-आत्मा )" इस निर्वचन के अनुसार "स्वतन्त्रः" कहा जायगा। "तन्त्रानुगतः स्वः स्वतन्त्रः" ही इस आत्मवाचक 'स्वतन्त्र' शब्द का निर्वचन होगा।

मान लीजिए-'स्वः' (आत्मा) तन्त्रानुगामी (अक्षरानुगामी) नहीं है। उसने 'पर'( क्षर ) के साथ योग तो 'तन्त्र' के ( अक्षर के ) द्वारा ही किया है। परन्तु 'पर' की आसक्ति के कारण उसका 'तन्त्र'( अक्षर ) 'पर'

की प्रतिच्छाया के युक्त होकर अपना 'तन्त्र' भाव ( अक्षरधर्म्म ) खोबैठा है। तन्त्ररूप अक्षर पररूप क्षर के नश्वरधर्म्मों से युक्त होता हुआ अपनी प्रातिस्विक अक्षरसम्पति से वञ्चित होगया है। क्षररूप पर के नश्वरधर्म्मों के सम्बन्ध से पहिले तो अक्षररूप तन्त्र इस आत्मा का तन्त्र था। परन्तु आत्मा की विषयासक्ति से आज अक्षर इसका तन्त्र नहीं रहा, अपितु अक्षरतन्त्र का आसन 'क्षरपर' ने छीन लिया। और यों आज 'पर' ही इसका 'तन्त्र' बन गया।

'पर' की आसक्ति [ क्षरात्मिका भूतासक्ति ] ने यहीं विश्राम नहीं किया। अपितु जैसे परासक्तिने अक्षरतन्त्र को 'पर' बना डाला, वैसे ही तद्बद्ध उस 'स्व' को भी पररूप में [क्षररूप में ] परिणत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, जो 'पर' अपने 'क्षरभाव' से जिस 'स्व' का तन्त्र नहीं बन सकता था, वह तो उस स्व का का तन्त्र बन गया, और स्वयं 'स्व'-अपने 'स्व'-भाव से आवृत होकर 'पर' बन गया। परने अक्षर से तन्त्रासन छीन कर अपने आपको तो तन्त्र बना लिया, और अपना नश्वर परभाव आत्मा को देखकर [ उसे स्व से वञ्चित कर ] उसे 'पर' बना डाला। 'स्व' को पर' बनाया–एक काम, एवं तन्त्र को 'पर' बनाते हुए तन्त्रता स्वयं छीन ली, दूसरा काम। 'स्व'बन गमा 'पर',एवं'पर' बन गया 'तन्त्र'। तन्त्र 'पर' बनता हुआ इस तन्त्राकाराकारित क्षर में विलीन होगया, अथवा पर बने हुए आत्मा में विलीन होगया।

इसप्रकार तन्त्रानुगत रहता हुआ ( अक्षरानुगत रहता हुआ ) जो 'स्वः' किसी दिन "स्वतन्त्र" था, आज वही इस वैकारिक–काल्पनिक तन्त्र की कृपा से 'पर' बन कर बनावटी तन्त्र का अनुगामी बन कर "परतन्त्र" शब्दभाक् बन गया। तन्त्रानुगतः–( तन्त्रप्रतिरूपक्षरानुगतः ) यः–परः–( परधर्म्मानुगतः स्वः–आत्मा" ) ( क्षररूप तन्त्र का अनुयायी, अतएव पररूप में परिणत पर आत्मा ) इस निर्वचन के अनुसार इसे "परतन्त्र" कहा गया। पूर्ववत् "तन्त्रानुगतः–परः–परतन्त्रः" इस आत्मवाचक 'परतन्त्र' शब्द का निर्वचन होगा।

**स्वतन्त्र-परतन्त्र-शब्दों के "स्व (स्वरूप में प्रतिष्ठित आत्मा")**,एवं **'पर'-(पर रूप परिणत में परतन्त्र आत्मा )"** नामक अवयवों को यदि आत्मवाचक माना जायगा, तो **स्वतन्त्र--परतन्त्र** शब्दों के क्रमशः उक्त- **'तन्त्रानुगतः--स्वः--तन्त्रानुगतः--परः'** ) हीं निर्वचन होंगें। यहाँ आत्मा हीं स्व--दशा में रहता हुआ अपना 'बन्धु' कहलाएगा, एवं आत्मा हीं पराक्रान्त होकर अपना 'रिपु' कहलाएगा, जैसा कि **"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः"** इत्यादि गीतासिद्धान्त से स्पष्ट है। **सचमुत अनुकूल-तन्त्रानुगत वही आत्मा हमारा मित्र बना रहता है, एवं प्रतिकूल-तन्त्रानुगत वही आत्मा हमारे लिए पर (शत्रु) बन जाता है।**

एक दूसरी दृष्टि से भी आत्मवाचक इन दोनों शब्दों का निर्वचन किया जासकता है। आत्मा को विकसित करने वाला भाव **आत्मबन्धु** कहलाएगा, एवं आवृत करने वाला भाव **आत्मरिपु** कहलाएगा। **आत्मबन्धु** को हम 'स्व' का 'स्व' ( **आत्मा का स्वजन, किंवा मित्र** ) कहेंगे, एवं **आत्मरिपु** को 'स्व' का 'पर' ( **आत्मा का परजन, किंवा रिपु** ) कहेंगे। 'पर क्षर' को अपने गर्भ में रखने वाला 'तन्त्राक्षर' आत्मोदय का कारण बनता हुआ आत्मा का 'स्व' कहलाएगा। एवं तन्त्राक्षर को अपने गर्भ में रखने वाला 'पर क्षर' आत्मपतन का कारण बनता हुआ आत्मा का "पर" कहलाएगा। इसी दृष्टि से 'अक्षर--

तन्त्र' आत्मा का 'स्वतन्त्र' ( अपना हितैषी तन्त्र ) कहलाएगा, एवं 'क्षरतन्त्र' परतन्त्र ( विरोधी तन्त्र ) कहलाएगा । स्व--तन्त्रानुगत ( अक्षरानुगत ) आत्मा--"स्व--तन्त्रो यस्यात्मनः--स आत्मा स्वतन्त्रः"— निर्वचन के अनुसार 'स्वतन्त्र' कहलाएगा । एवं पर--तन्त्रानुगत (क्षरानुगत) आत्मा--"परः-तन्त्रो यस्यात्मनः स--आत्मा"-इस निर्वचन के अनुसार 'परतन्त्र' कहलाएगा ।

(१)-१–तन्त्रानुगतः--(अक्षरानुगतः)–स्वः (आत्मा)" स्वतन्त्रः--आत्मा-स्वः

२–तन्त्रानुगतः--(क्षरानुगतः)--स्वः (आत्मा)--परतन्त्रः--आत्मा--परः

——०——

१--स्वः (अक्षरः) तन्त्रो यस्य सः (आत्मा)--स्वतन्त्रः--अक्षरः--स्वः

१--परः ( क्षरः ) तन्त्रो यस्य सः (आत्मा)--परतन्त्रः–क्षर–परः

——*——

आत्मपुरुषवाचक स्वतन्त्र--परतन्त्र शब्दों का विचार उपरत हुआ । अब तन्त्रवाचक ( अक्षर--वाचक ) शब्दोंके निर्वचन का विचार कीजिए । वही 'अपना' ( स्व ) कहलाएगा, जिस से स्वरूप--रक्षा होगी । और उसे ही तो 'पराया' ( 'पर' ) कहा जायगा, जो कि स्वरूपहानि करता होगा । मध्यस्थ तन्त्ररूप अक्षर स्वस्वरूप से अविनाशी है । उधर इस के उस ओर अविनाशी अव्यय है । इस ओर नाशवान् क्षर है । यदि अक्षर दोनों की समविभूति से युक्त है, तब तो कोई आपत्ति ही नहीं है । हाँ, यदि अक्षर क्षर--भाव में आसक्त होजाता है, तो यह अपने तन्त्रभाव ( अक्षरभाव ) को छोड़कर परभाव में ( क्षरभाव में ) परिणत होजाता है । ठीक इस के विपरीत--यदि यह अव्ययभाव का अनुगामी बन जाता है, तो इस का तन्त्र सुरक्षित रह जाता है । अव्यययोग में अक्षर का 'स्व--भाव' सुरक्षित रहता है, एवं क्षरासक्ति में इस का 'स्व--भाव' 'पर--भाव' में परिणत होजाता है । 'अक्षरतन्त्र' के उस ओर अव्ययतन्त्र है, एवं इस ओर 'क्षरतन्त्र' है । स्वयं अक्षर अव्ययतन्त्रानुगामी बनता हुआ स्वरूपधर्म्म से युक्त बनकर "स्वः" है, एवं क्षरतन्त्रनुगामी बनता हुआ 'परधर्म्म' से युक्त बनकर "परः" है । आत्मवत् अक्षर भी इस दृष्टि से "स्वः--परः" दो रूप धारण कर सकता है । तन्त्रानुगत ( अव्ययानुगत ) 'स्वः' ( अक्षर ) 'स्वतन्त्र' है । एवं तन्त्रानुगत ( क्षरानुगत ) 'पर' ( क्षररूप--अक्षर ) 'परतन्त्र' है । "तन्त्रानुगतः ( क्षरानुगतः )–तन्त्रः ( अक्षरः )--स्वः-स्वतन्त्रः"—"तन्त्रानुगतः ( क्षरानुगतः ) तन्त्रः ( क्षरात्मकोऽक्षरः )-परः-पर--तन्त्रः' ही निर्वचन होंगे । पूर्ववत् ये निर्वचन तन्त्ररूप अक्षर को ही "स्वः--परः" मानकर प्रतिष्ठित हैं ।

अक्षर का बन्धु अव्यय ही इस का 'स्वः' कहलाएगा, एवं क्षर ही इस का 'पर' कहलाएगा । इस दृष्टि से अव्ययतन्त्र 'स्व--तन्त्र' माना जायगा, एवं क्षरतन्त्र 'पर-तन्त्र' कहा जायगा । और इस दृष्टि की अपेक्षा से दोनों शब्दों के निर्वचन होंगे--"स्वः ( अव्ययः ) तन्त्रो यस्य सः-अक्षरः–स्वतन्त्रः"–परः [क्षरः] तन्त्रो यस्य सः-अक्षरः-परतन्त्रः" यह ।

(२)-१-तन्त्रानुगतः [अव्ययानुगतः] तन्त्रः [अक्षरः]--स्वतन्त्रः—अक्षरः--स्वः

२-तन्त्रानुगतः [क्षरानुगतः] तन्त्रः [अक्षरः]-परतन्त्रः-अक्षरः-परः

——*——

१—स्वः [अव्ययः] तन्त्रो यस्य सः [अक्षरः]--स्वतन्त्रः--अव्ययः--स्वः

२—परः [क्षरः] तन्त्रो यस्य सः [अक्षरः]-परतन्त्रः-क्षरः-परः

——*——

तीसरा **परभाव** है। इस का भी समन्वय कर लीजिए। योगकौशल के अभाव से जहाँ **'स्व' 'पर'** देखा गया है, वहाँ **'पर'** को **'स्व'** बनता भी देखा गया है। वही नश्वर संसार किसी के लिए ( **आसक्ति के द्वारा** ) बन्धन का कारण बना हुआ है, तो वे ही नश्वर भौतिक पदार्थ किसी उपासक के लिए उपासना के साधन बनते हुए मुक्ति के कारण बन रहे हैं। यदि **'पर'** का ( **'क्षर'** का ) अक्षर के द्वारा अव्ययतन्त्र के साथ योग है, तो वही **'पर'** अक्षर ( **'स्व'** ) बनता हुआ **'स्वतन्त्र'** है। यदि इस का वैकारिकभावों की ओर अभिनिवेश है, तो अपने **'पर'** नाम को चरितार्थ करता हुआ यही **'परतन्त्र'** भी बना हुआ है। इस दृष्टि से इन शब्दों का जो निर्वचन होगा, उस में **'स्वः'-'परः'** क्षर के वाचक रहेंगे। अव्ययतन्त्रानुगत **'पर'** ( **क्षर** ) **"स्वतन्त्र"** कहलाएगा, एवं वैकारिक प्रपञ्चासक्त क्षर **'पर'** ( **परतन्त्र** ) कहलाएगा, यही तात्पर्य्य है। पूर्वोक्त दूसरी दृष्टि का भी यहाँ समन्वय कर लेना चाहिए, जैसा कि निम्न लिखित निर्वचनों से स्पष्ट **है**।

(३)-१—तन्त्रानुगतः [ अव्ययानुगतः ]-परः [क्षरः] स्वतन्त्रः—-क्षरः-स्वः

२—तन्त्रानुगतः [ विकारानुगतः ]-परः [क्षरः] परतन्त्रः—-क्षरः-परः

——O——

१—स्वः [ अव्ययः ] तन्त्रो यस्य सः [क्षरः]-स्वतन्त्रः—अव्ययः-स्वः

२—परः [ विकारः ] तन्त्रो यस्य सः [क्षरः]-परतन्त्र;—विकारः-परः

——O——

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि, **स्वतन्त्र-परतन्त्र,** दोनों शब्द **अनुगमभाव** से ही सम्बन्ध रखते हैं। किसी नियत वस्तुतत्त्व के लिए ये शब्द नियत नहीं हैं। **अपितु परिस्थिति के तारतम्य से सभी स्वतन्त्र हैं,** एवं **सभी परतन्त्र** हैं। स्वतन्त्र **'आत्मा'** भी परतन्त्र बन सकता है, एवं परतन्त्र **'पर'** भी स्वतन्त्र बन सकता है। **पुरुष हो, प्रकृति हो,** अथवा विकृति हो, स्वस्वरूप से न इन्हें स्वतन्त्र कहा जासकता, एवं न परतन्त्र माना जासकता। पुरुष प्रकृति के सहयोग से यदि स्वतन्त्र है, तो विकृति के सहयोग से वही परतन्त्र भी बन सकता है। प्रकृति पुरुष की अनुगामिनी बनती हुई यदि स्वतन्त्र है, तो विकृतिपथ का अनुसरण करती हुई वही परतन्त्र भी बन सकती है। एवमेव विकृति प्रकृति, किंवा पुरुषकी अनुगामिनी बनती हुई यदि स्वतन्त्र होसकती है, तो विकारप्रपञ्च में आसक्त होकर वही परतन्त्र भी बन सकती है। इसी मौलिक परिभाषा के आधार पर हमें **आध्यात्मिक जगत् की स्वतन्त्रता--परतन्त्रता** का अन्वेषण करना पड़ेगा, एवं तदाधार को मूल मानकर ही **"स्त्रीस्वातन्त्र्य"** की मीमाँसा का समन्वय करना पड़ेगा।

आधिदैविक विश्व में **स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य,-चन्द्र-पृथिवी-रूप से पुरुष ( आत्मा )-प्रकृति ( प्राण )-विकृति (पशु)** समष्ट्यात्मक प्रजापति-**विवर्त्त** का दिग्दर्शन कराया गया। अब आध्यात्मिक विश्व की इन तीनों संस्थाओं का विचार कीजिए। आत्मधर्म्मों के सूक्ष्मभावों की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल उन चार स्थूल भावों का ही विचार पर्य्याप्त होगा, जिन्हें कि प्रायः सर्वसाधारण जानते हैं। **आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर,** चारों जाने पहिचाने हुए पदार्थ हैं। आत्मा को थोड़ी देर के लिए स्वयम्भू के अंशरूप अव्यक्त, एवं परमेष्ठी के अंशरूप महान् से उपलक्षित **'पुरुष'** समझ लीजिए। सूर्य्यांशरूप बुद्धि को **प्रकृति,** चन्द्रांशरूप **मन,** एवं पृथिव्यांशरूप **शरीर,** दोनों की समष्टि को **विकृति** कह लीजिए। **पुरुष अव्यय** हुआ, **प्रकृति अक्षर हुई, एवं विकृति क्षर हुई।** अक्षरात्मिका बुद्धि के उस ओर अव्ययात्मक अमृत आत्मा है, इस ओर क्षरात्मक मर्त्य मन, एवं शरीर है। निम्नलिखित परिलेख से दोनों संस्थाओं का समतुलन स्पष्ट होजाता है।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १ | १-स्वयम्भूः | अव्यक्तः | —आत्मा (पुरुषः—अव्ययः—स्वः | —प्रजापतिः |
| | २-परमेष्ठी | महान् | | |
| २ | १-सूर्य्यः | बुद्धिः | —प्राणाः ( प्रकृतिः-अक्षरः-तन्त्रः) | |
| ३ | १-चन्द्रमाः | मनः | —पशवः ( विकृतिः-क्षरः—परः) | |
| | २-पृथिवी | शरीरम् | | |
| | अधिदैवतम् | अध्यात्मम् | | |

आधिदैविक यज्ञ से ही आध्यात्मिक यज्ञ का आविर्भाव हुआ है। आधिदैविक यज्ञ में यजमान कौन ?, यजमानपत्नी कौन ?, पहिले यही देखिए। **आत्मा, सूर्य्यरूपप्रकृति, चन्द्रपृथिवीरूपा** विकृति, इन तीनों में आत्मा तो **यज्ञवेदि,** किंवा **यज्ञधरातल** है, जैसा कि **"एतदालम्बनं श्रेय्ठम्"-"अधियज्ञोऽहमेवात्र"** इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचनों से स्पष्ट है। **सूर्य्य इस यज्ञ का यजमान है, पृथिवीयुक्त चन्द्रमा यजमान की पत्नी है।** दोनों का मिथुनभाव ही यज्ञ है, और यही यज्ञ प्रजोत्पत्ति का कारण है।

**सूर्य्य अग्निमय है,** एवं **चन्द्रमा सोममय है।** सौर अग्नि का प्रवर्ग्यभाग **ऋत अग्नि** है, एवं चान्द्र सोम का प्रवर्ग्यभाग **ऋतसोम** है। ऋतसोम का अपना स्थान **उत्तरादिक्** है, एवं ऋताग्नि का अपना स्थान **दक्षिणादिक्** है। उत्तरस्थ ऋतसोम निरन्तर दक्षिण की ओर, एवं दक्षिणस्थ ऋताग्नि निरन्तर उत्तर

की ओर जाया करता है। ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति होने से ही बसन्तादि षड्ऋतुएँ उत्पन्न होतीं हैं। षड्ऋतुसमष्टि से ही सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। एवं यही अग्नीषोमात्मक, षड्ऋतुमूर्त्ति सम्वत्सरयज्ञ पार्थिव-प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है।

यद्यपि पार्थिव-प्रजा में सम्वत्सरमूर्त्ति यज्ञप्रजापति के **अग्नि-सोम,** नामक दोनों भावों का समन्वय है। परन्तु **वृषासृष्टि** (पुरुषसृष्टि) में सूर्य्योपलक्षित सम्वत्सरयज्ञ का अग्नितत्त्व प्रधान रहता है, एवं **योषासृष्टि** (स्त्रीसृष्टि) में चन्द्रोपलक्षित सम्वत्सरयज्ञ का सोमतत्त्व प्रधान रहता है। पुरुषसृष्टि वृषा है, एवं स्त्रीसृष्टि योषा है। **पुरुषनिर्म्माण में अग्नि, एवं स्त्रीनिर्म्माण में सोम प्रधान है।** अग्नि–सोम के इन तारतम्यों का पूर्व–प्रकरणों में यत्र तत्र विश्लेषण किया जाचुका है। अतः यहाँ पुनरुक्ति अनपेक्षित है।

यहाँ केवल यही जान लेना अलं होगा कि,-**अग्नि अन्नाद है, भोक्ता है।** एवं **सोम अन्न है, भोग्य है।** कैसा भोग्य ?, **पशुरूप भोग्य नहीं, अपितु मित्ररूप भोग्य। यदि अग्नि सोम का भोक्ता है, तो सोम अग्नि को आत्मप्रतिष्ठा है। सोमसम्बन्ध के बिना न अग्नि जीवित रह सकता, न अग्नि को आधार बनाए बिना सोम अपने स्वरूप को सत्यभाव में परिणत कर सकता।** दोनों के इसी **सख्यभाव** को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर श्रुति ने कहा है—

**अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।**
**अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥**

—ऋक्सं० ५।४४।१५)।

अग्नि **बलवान्** अवश्य है। परन्तु इस की बलवत्ता सोम के सहयोग पर ही निर्भर है। हृदयभाव से बल का विकास होता है। दूसरे शब्दों में बल की विकासभूमि हृदय ही है। **हृदयस्थ उक्थबल सत्य है,** इस सत्य उक्थ से निकलने वालीं सत्यरश्मियाँ हीं **बल है।** एक ही सत्य की **सत्य,--बल,** ये दो अवस्था हैं। **सत्य के आधार पर प्रयोग बल का ही होता है।** सत्य स्वयं काम नहीं करता, आलम्बनमात्र बना रहता है। सत्यरश्मिरूप बल ही बहिर्जगत् की ओर विकसित होता है। इसी आधार पर–"**बलं सत्यादोजीयः**–"**बलं वाव विज्ञानाद् भूयः**" इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

अग्नि बलवान् है। क्योंकि पुरुष में **सत्य अग्नितत्त्व** की प्रधानता है, अतएव इसे हम '**बलवान**' कहेंगे। उधर सोम अबल, किंवा निर्बल है। कारण स्पष्ट है। सोम ऋततत्त्व है, हृदयशून्य है। हृदयशून्य होने से ही तो इसे 'ऋत' कहा जाता है। जब हृदय नहीं, तो सत्यभाव नहीं। सत्य नहीं, तो तद्विकासरूप बल नहीं। क्योंकि स्त्री में इस ऋत-सोमतत्त्व की ही प्रधानता है, अतएव इसे "**अबला**" कहा जायगा।

**पुरुष बलवान, एवं स्त्री अबला। पुरुष सत्यभावोपेत, एवं स्त्री अनृतभावोपेता (अर्थात् ऋतसोमभावोपेता)। पुरुष आग्नेय, एवं स्त्री सौम्या। पुरुष भोक्ता, एवं स्त्री भोग्य। पुरुष प्रतिष्ठा, एवं स्त्री तदाधारेण प्रतिष्ठिता। पुरुष आलम्बन, एवं स्त्री आलम्बिता। पुरुष स्वच्छन्दस्क, एवं स्त्री परच्छन्दानुवर्त्तिनी ( पुरुषछन्दानुवर्त्तिनी )। अग्रिरूप अग्नि से युक्त पुरुष अग्रेसर, एवं सोम–युक्ता स्त्री तत्पश्चाद्गामिनी।** यह तो हुई ऐसी दृष्टियाँ, जिन से **पुरुष** की प्रधानता सिद्ध हो रही है, एवं स्त्री की गौणता।

अब उस दृष्टि से विचार कीजिए, जिस से स्वस्वरूप से **'अबला'** होते हुए भी स्त्रीवर्गने **उपास्यदेवता** की महती प्रतिष्ठा प्राप्त करली है । **अग्नि बलवान्** है,इस में तो कोई भी सन्देह नहीं। **सोम अबल** है, यह भी निर्विवाद है । अग्नि सत्य है, सोम ऋत है, यह भी मान लिया गया । परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हमें विदित होगा कि, जिस सोम को हम **"अबल"** कहते हैं, वह अन्तः-अग्राह्य-बलघन ही है । एवं जिस अग्नि को हम बलवान् कहते हैं, वह **निर्बल** ही है । अन्तर्बलवत्ता ही वास्तविक बलवत्ता है, और यही सौम्या स्त्री का स्वरूप है । बहिर्बलवत्ता ही अग्निबल है, जो कि तत्त्वतः **'अबल'** ही है । ऐसी स्थिति में निर्बल को ( पुरुष को ) बलवान कहना, बलवान् को ( स्त्री को ) अबला कहना, एक वैसा ही आश्चर्य्य है, जैसे कि सामान्य मनुष्यों का **स्त्री** को पुरुष कहना, एवं पुरुष को स्त्री कहना ।

**बल की परिभाषा है—सकोच, एवं निर्बल की परिभाषा है—विकास** । एक स्थान पर प्रतिष्ठित न रहकर इधर उधर विस्रस्त होपड़ना हीं तो विकास है, और इस अस्थिरभाव को ही तो **'निर्बल'** कहा जाता है । एक स्थान पर प्रतिष्ठित रहना हीं संकोच है । **यही संकोच बल की साक्षात प्रतिमा** है । देखिए न ! निर्बल मनुष्य हाथ **'फैला'** देता है, उधर बलवान् मनुष्य सदा **'बद्धमुष्टि'** ही बना रहता है । ढीली धोती, ढीली कमर, हाथ खुले हुए, ये सब धर्म्म निर्बलता के ही द्योतक हैं । वीर बलवान् योद्धाओं की कमर कसी रहती है । मुट्ठी बाँध कर वे प्रहार के लिए ही सन्नद्ध रहते हैं । शरीरपर्व यदि संकुचित हैं, दृढावयव हैं, तो शरीर सबल है । एवं श्लथ शरीर निर्बल है । संयत-वाणी सबला है, एवं स्खलित वाणी निर्बला है । इन्ही कुछ एक निदर्शनों से यह माना जासकता है कि, **संकोच बल की परिभाषा** है, एवं **विकास निर्बल की परिभाषा है** ।

**अग्नि विकासधर्म्मा है, तो सोम संसोचधर्म्मा है** । और इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि, **अग्नि निर्बल है, एवं सोम बलघन है** । अब बतलाइए ! **अग्नि-प्रधान पुरुष, एवं सोमप्रधाना स्त्री**, दोनों में किसका स्थान ऊँचा रहा ?। यदि ऐसा है, तो स्त्री को **'अबला'** क्यों कहा गया ?, प्रश्न का उत्तर **'असत'** शब्द है । प्राण **'सत्'** है, परन्तु **"सामान्ये सामान्याभावः"** इस परिभाषा के अनुसार प्राण में क्योंकि **'प्राण'** नहीं रहता, अतएव **सद्घन भी प्राण** को 'असत्' कह दिया जाता है—( देखिए शत० ६।१।१।१) ।

**सोम बलघन है** । **बल स्वयं बलवान् कैसे हो सकता है** ? । **जिसमें बल रहता है, वही तो बलवान् होता है** । इसीलिए बलघन सोम को **'अबला'** कहा गया है । **बलघनात्मक इस अबल सोम को लेकर ही विकासधर्म्मा अग्नि बलवान् बनने में समर्थ हुआ है** । जिस दिन बलाभिमानी अग्नि से बलात्मक सोम का आत्यन्तिक निष्काशन होजाता है साथ ही सोमागमन अवरुद्ध होजाता है, उसी क्षण अग्नि अपने शिवभाव को छोड़ता हुआ विशुद्ध रुद्ररूप में परिणत होकर उत्क्रान्त ही होजाता है ।

पाठक प्रश्न करेंगे कि, प्रश्न था **स्त्रीस्वातन्त्र्य का**, और यह **शिव-रुद्र**-भाव बीच में हीं कहाँ से समाविष्ट होपड़ा ?। उत्तर में उनके सम्मुख **शिव-शक्ति का** तात्विक स्वरूप ही रखना पड़ेगा। **"अग्निर्वा रुद्रः"** [शत० ५।३।१०। ] के अनुसार **अग्नितत्त्व** को ही **'रुद्र'** माना गया है । साथ ही यह भी विज्ञानसिद्ध विषय है कि, विश्वसंहार के एकमात्र अधिष्ठाता **रुद्रदेवता** ही हैं । ये **रुद्र** जबतक **शक्ति** के साथ समागम

नहीं करते, तबतक रोते ही रहते हैं। इसी आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों में 'रुद्र' शब्द का "सोऽरोदीत, तद्रुद्रस्य रुद्रत्त्वम्" (वह रोया, यही रुद्र का रुद्रत्त्व है, अर्थात् रोने से ही उसका नाम रुद्र हुआ है)—(देखिए शत० ६।१।३।११।) यह निर्वचन हुआ है।

रुद्र रोया क्यों ?, इसका बड़ा ही सुन्दर उत्तर देते हुए श्रुतिने कहा है कि, रुद्र अग्निमूर्त्ति था। अग्नि स्वभाव से ही अन्नाद ( अन्न खाने वाला ) होता है। जबतक इसे अन्न मिलता रहता है, तबतक तो इसका स्वरूप सुरक्षित रहता है। परन्तु अन्नावरोध पर स्वरूपनाश की आशङ्का से वह रोने लगता है। माता के गर्भ में ९ मास पर्य्यन्त प्रतिष्ठित रहने वाला चित्याग्निपिण्डरूप शिशु नहीं रोता। क्योंकि उस अवस्था में उसे मातृनाल के द्वारा अन्नरस मिलता रहता है। परन्तु नियत अवधि के अनन्तर एवयामरुत्, के धक्के से गर्भाशय से बाहिर निकल कर भूमिष्ठ होते ही बालक रोने लगता है। सम्पूर्ण इन्द्रियदेवता काँप उठते हैं। वे अपनी चेष्टारूपा कृति से माता आदि को अन्नाहुति के लिए बाध्य करते हैं। शिशुमुख में गुड़ मधु आदि के रस का सिञ्चन होता है। तत्काल रुद्रदेवता शान्त होजाते हैं। (देखिए शत० ६।१।१-१०)।

यही अवस्था आधिदैविक रुद्र की समझिए। आधिदैविक रुद्र स्वयं तो रोए ही, परन्तु इन अश्रुओं से उन्होंनें एक ऐसी भयानक वस्तु उत्पन्न करदी, जिसके कुचक्र में पड़ जाने से बड़े बड़े धीर पुरुष भी रो पड़ते हैं, रोते रहते हैं, मारे मारे फिरते हैं, शान्ति नहीं मिलती। वह वस्तु है—"रजत"–(चाँदी-रुपय्या-पैसा)। वैदिक-विज्ञान-सिद्धान्तानुसार रुद्राग्नि की द्रुत अवस्था से ही चाँदी उत्पन्न हुई है। चाँदी रुद्रदेवता के साक्षात् अश्रु हैं। इसीलिए बर्हि में रजतदक्षिणा देने का निषेध हुआ है। रुद्राश्रुरूप रजतलक्षण इन धातुखण्डोंनें किसे नहीं रुलाया ?, यह स्पष्ट है। हाँ, तो यह सिद्ध होगया कि, रुद्रदेवता साक्षात् अग्नि हैं। एवं इनके इस रोदन को दूर करने का एकमात्र उपाय है-इन्हें सोमाहुति प्रदान करना। इस सौम्या शान्ततमा सोमाहुति से रुद्र का घोरभाव विलीन होजाता है, तत्स्थाने च शिवातनू का उदय होजाता है। सोमसहकार से रुद्र अपनी रुद्रता छोड़ते हुए शिवस्वरूप में परिणत होजाते हैं।*

मान लीजिए, रुद्र को सोमाहुति न मिले, तो क्या परिणाम होगा ?। परिणाम होगा यही कि, रोते रोते रुद्राग्नि अपना स्वरूप तो खो बैठेंगे, और बन जायँगे विशुद्ध सोम। अग्नि की उत्क्रान्ति चरम सीमा पर पहुँच कर सोमरूप में हीं परिणत होजाती है। अग्नि का प्रधान स्थान केन्द्र है। केन्द्र से चारों ओर अग्नि विशकलित होता रहता है। जबतक सोमाहुति होती रहती है, तबतक तो यह विशकलनधर्म्म अग्नि के मूलरूप पर कोई आघात नहीं कर पाता। परन्तु आहुति बँद होजाने से विशकलन की चरमावस्था में पहुँचते ही प्रतिष्ठा उखड़ जायगी। फैलते फैलते फैलाव की चरम सीमा पर पहुँचते ही अग्नि का अग्नित्त्व नष्ट होजायगा, सत्यभाव विलीन होजायगा, और रह जायगा ऋतरूप सोमभाव। पानी सोम की ही तो अवस्थान्तर है। और अग्नि हीं तो विकास की चरमसीमा पर पहुँच कर सोम बनता है—"अग्नेरापः"।

यदि कोई मनुष्य रोता रहेगा, तो रोते रोते उसका सम्पूर्ण शारीराग्नि पानी बनकर वह जायगा। इधर जब अग्नि निःशेष होजायगा, तो शरीर भी ठँढा होजायगा। इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि, अग्नि अन्ना-

* शतपथ-प्रथमखण्ड में इस रुद्र विभूति का विशद विवेचन किया जाचुका है।

हुति के अवरोध से स्वयं अन्न [ सोम ] बन जाता है । दूसरी दृष्टि से देखिए । कोई मनुष्य भूखा है । यदि अन्नागमन बन्द होजायगा, तो जो शारीराग्नि अबतक अन्नाद था, वही अन्न बन जायगा । प्राणाग्नि उत्क्रान्त होजायगा । शिव **'शवान्न'** बन जायगा, और यह अन्न उस **श्मशानाग्नि [क्रव्यादाग्नि]** की तृप्ति का कारण बनेगा । तत्त्वतः अग्नि की अन्तिम अवस्था [ सोम न मिलने पर ] सोम ही होजाती है, यह निश्चित है । बलघन सोम को गर्भ में लेता हुआ बलशून्य जो अग्नि बलवान् बनता है, भोक्ता बनता है, वही बलघन सोम के अवरोध से स्वयं बलघन बनता हुआ दूसरे बलवानों का अन्न बन जाता है । भोक्ता भोग्य बन जाता है, शासक शासित बन जाता है ।

उपर्युक्त रुद्राग्नि-विवेचन का निष्कर्ष यही निकला कि, **अग्नि की बलवत्ता सोमसम्बन्ध पर ही निर्भर है** । सोम बलतत्त्व है, बलघन है । इसे लेकर ही अग्निमूर्त्ति रुद्र **साम्बसदाशिव** बने हुए हैं । क्योंकि पुरुष में अग्नितत्त्व का प्राधान्य है, अतएव पुरुषमात्र को हम "शिव" कह सकते हैं । उधर स्त्री में शक्तिघन सोमतत्त्व प्रधान है, अतएव स्त्रीमात्र को हम **"शक्ति"** कह सकते हैं । **शिव-शक्ति** के इन व्यापक अवतारों को लक्ष्य में रखकर ही हमने **रुद्र-शिव भावों** को अत्र प्रासङ्गिक माना है ।

बाह्यदृष्टि को छोड़कर पहिले अन्तर्दृष्टि से ही शिवशक्ति का समन्वय कीजिए । पुरुष शिव क्यों है ?, इसका उत्तर है—**"सोम"** । पुरुष आग्नेय अवश्य है, परन्तु इसकी प्रतिष्ठा 'सोम ही है । भुक्तान्न की सप्तम अवस्थारूप **"शुक्र" [रेत-वीर्य्य-धातु]** साक्षात् सोम है । और सर्वसिद्धान्तानुसार यह **सौम्यशुक्र** ही पुरुष का **अन्तरात्मा** है । पुरुष का भौतिक दृश्य शरीर आग्नेय है, एवं अन्तर्जगद्रूप शुक्र सौम्य है । शुक्रक्षय ही पुरुषनाश का कारण है, एवं शुक्ररक्षा ही स्थिति का कारण है । इसी आधार पर श्रुति का—**"ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत**' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । इस बलघन सौम्य शुक्र से ही पुरुष बलवान् बना रहता है ।

हाँ, एक रहस्य और । शुक्र सोम है, सोम बलघन बनता हुआ पूर्वपरिभाषानुसार स्वयं बलप्रयोग में असमर्थ है । अतएव इस बलघन को अबल, किंवा निर्बल कहा जाता है । पुरुषजाति का यह दुर्भाग्य है कि, यही अबलसोम (शुक्र) पूर्वकथनानुसार पुरुष का अन्तरात्मा है । यही कारण है कि, पुरुष का बाह्यजगत् (आग्नेय-शरीर) जहाँ आक्रमण का अनुयायी रहता है, वहाँ इसका अन्तर्जगत् उतना हीं शिथिल रहता है । **शरीर बलवान् ( आग्नेय ), आत्मा निर्बल ( सौम्य** , यही तात्पर्य्य है । शुक्र स्वयं निर्बल, इसी का रूपान्तर मन, इसी से संकल्प का उदय । फलतः पुरुष यदि विशेष साधनों के द्वारा शक्ति की उपासना नहीं करता है, तो अधिकांश में इसके संकल्प मिथ्या ही होजाते हैं ।

जब रहस्यभेद ही होने लगा, तो एक रहस्य शेष क्यों छोड़ा जाय । सम्भव है, पुरुष पुरुष के सामुख्य में अपने संकल्प में सफल होसके । परन्तु सौम्यात्मा पुरुष को इस आग्नेयी शक्ति ( स्त्री ) के साम्मुख्य में तो और भी अधिक दुर्दशा का ही अनुभव करना पड़ता है । स्त्री सौम्या है, संकल्प भी शुक्रानुबन्धी मन से सम्बन्ध रखता हुआ सौम्य है । "नीम **और गिलोय चढ़ी**" चरितार्थ होजाता है । बात है सर्वथा स्पष्ट, सर्वानुभूत, फिर विशेष विस्फोटन क्यों किया जाय ? ।

उक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि, पुरुष का पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड तो आग्नेय है, एवं शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठारूप शुक्र सौम्य है। अग्नि क्योंकि वृषा होने से पुरुष है, एवं सोम योषा होने से स्त्री है, इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, **स्त्री ही पुरुष की प्रतिष्ठा** है। साथ ही यह भी कह लीजिए कि, जिन्हें हम पुरुष कहते हैं, वे आग्नेय शरीर की अपेक्षा पुरुष होते हुए भी वस्तुतः अन्तःप्रतिष्ठारूप शुक्रसोम की दृष्टि से, **आभ्यन्तर-दृष्टि से** स्त्रियाँ हीं हैं। * **"स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः"**(ऋक्सं १।१६४।१६।) यह श्रुति इसी दृष्टि का स्पष्टीकरण कर रही है। श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, संसार में जितने भी पुरुष हैं, वे अग्निप्रधान बाह्यशरीर की अपेक्षा से भले ही पुरुष कहलाते हों। परन्तु शुक्रप्रधाना आत्मदृष्टि से तो उन्हें **स्त्री ही** कहना चाहिए। **आत्मा-शरीर**, दोनों में आत्मा प्रधान माना जाता है। एवं जिस संस्था में जो प्रधान होता है, **"तद्वादन्याय"** से वह संस्था उसी के नाम से व्यवहृत होती है। जब कि प्रधानभूता आत्मदृष्ट्या पुरुषसंस्था सौम्या है, तो इसे पुरुष न कह कर 'स्त्री' ही कहा जायगा। परन्तु आश्चर्य्य है कि, अज्ञ मनुष्य **इन स्त्रियों को पुरुष कह रहे हैं। "पुरुष वास्तव में स्त्री है, स्त्री होते हु इन्हें पुरुष कहा जाता है"** इस रहस्य को आँख वाला ही जान सकता है, अन्धा नहीं—"पश्यदक्षरवान्नविचेतदन्धः"।

लीजिए, अब आज से आप भी अपने आप को 'स्त्री' समझना आरम्भ कर दीजिए, और स्त्रियों को 'पुरुष', जैसा कि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है। सचमुच श्रुति का उक्त सिद्धान्त पुरुषजाति को क्षुब्ध कर रहा होगा। अवश्य ही इस क्षोमशान्ति के लिए किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना पडेगा। निराश होने की कोई बात नहीं है। एक पुरुष के नाते इस सम्बन्ध में आप से अधिक हमें चिन्ता है। दो उपाय ऐसे हैं, जिन से पुरुषसंस्था का अग्नितत्त्व प्रधान माना जासकता है, एव सोमतत्त्व गौण माना जासकता है।

पुरुषों का शरीर आग्नेय है, यह माना। परन्तु इस की प्रतिष्ठा है-पानी। **"अद्भ्यः पृथिवी** इस तैत्तिरीय-सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी-स्थानीय शरीरपिण्ड का उपादान अप्तत्त्व ही है। **"ऋते भूमिरियं श्रिता"** वचन भी यही सिद्ध कर रहा है। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि, आग्नेय शरीर की प्रतिष्ठा अप्-तत्त्वरूप सोम है। इस दृष्टि का तात्पर्य्य यही है कि, शरीरपिण्ड में **प्राण-भूत**, ये दो विभाग हैं। दृश्य भाग तो भूत है, एवं भूतप्रतिष्ठारूप अदृश्य तत्त्व प्राण है। इस आग्नेय भूतभाग की प्रतिष्ठा आप्य-( सौम्य ) प्राण ही है।

जिस दिन शरीर से यह प्रतिष्ठा लक्षण आप्यप्राण निष्क्रान्त होजाता है, शरीर नष्ट होजाता है। प्राणात्मक इसी आप्य सोम को 'पवित्र'-"ब्रह्मणस्पति" **"अम्भः"** आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। **दर्भ, गङ्गा, सुवर्ण, मृगचर्म्म,** आदि की पवित्रता इसी **'अम्भः'** पर **अवलम्बित** है। अम्भः से ही **गाङ्गेय** [**गङ्गाजल**] मे अशुचिभावनिवर्त्तिका पावनशक्ति व्यक्त हुई है। इसी अम्भः के अनुग्रह से दर्भ (कुशा) के संसर्ग से

---

* **आत्मभावना. रश्मिभावना, शुक्रभावना,** भेद से इस मन्त्र के तीन अर्थ होते हैं। इन तीनों की विशद व्याख्या ईशभाष्य में देखनी चाहिए। (ई० उ० वि०, द्वि० खं० ७८ से १०८ पर्यन्त)।

राहुप्राणजनित दोषभाव पदार्थों में संक्रान्त नहीं होपाता। इसी अम्भः के समावेश से सुवर्णस्पृष्ट जल× रजस्वला स्त्री के स्पर्शदोष को हटाने में समर्थ होता है।

जबतक यह अम्भः पानी भूतशरीर की प्रतिष्ठा बना रहता है, तबतक शरीर में दूषित कीटाणुओं का समावेश नहीं होने पाता। जिस दिन यह निकल जाता है, शरीर सड़ने लगता है। तप्ततनु में हीं इस अम्भः की सत्ता रहती है। अतप्ततनु (अग्नितापशून्य शवशरीर, मुर्दे) में यह नहीं रहता। पवित्र अम्भोरूप ब्रह्मणस्पति के इसी स्वरूपधर्म्म को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

*** पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्य्येषि विश्वतः।**
**अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत॥**

—ऋक्सं० ६।८३।१।

हाँ, तो तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, आग्नेय-भौतिक-शरीरपिण्ड की प्रतिष्ठा "पवित्र"नामक यही आप्यप्राण है। जीवनदशा में भी **असदाचरण, मिथ्याभाषण, अगम्यागमन, अभक्ष्याभक्ष्य, अस्पृश्यास्पृश्य** आदि धर्म्मविरोधी कर्म्मों से इस पवित्र आप्यप्राण पर आघात होता है। उसी पतनदशा को लक्ष्य में रखकर लोकभाषा में-"**अरे ! इस का तो पानी उतर गया**" यह किंवदन्ती प्रचलित है। सिद्ध है कि, पानी भी भूतशरीर की प्रतिष्ठा है।

दूसरा है—"**सौम्यशुक्र**"। शुक्र में भी **भूत-प्राण**, ये दो विभाग हैं। शुक्र का भूतभाग तो अवश्य ही सौम्य है, परन्तु इसका प्रतिष्ठारूप प्राण आग्नेय है। यह एक सामान्य **अनुगम** है कि, बाह्य धरातल यदि आग्नेय है, तो अन्तर्भाव सौम्य है। यदि बाह्य धरातल सौम्य है, तो अन्तर्भाग आग्नेय है। उदाहरण के लिए एक ज्वरार्त रोगी को हो लीजिए। ज्वर का तात्पर्य्य केवल यही है कि, भीतर की गर्म्मी बाह्य शरीर में फैल

---

× राजस्थान में यह **विज्ञानविधि** आततक प्रचलित है। यदि कोई बालक रजःस्वला स्त्री से स्पर्श कर लेता है, तो सुवर्ण से जल का स्पर्श करा कर उस जल के छींटे दिये जाते हैं। प्रान्तीय-भाषा में इन्हें हीं—"**सोनापानी का छाँटा**" (**सुवर्ण स्पृस्ट जल के छींटे**) **कहा जाता है।**

* सनातनधर्म्मियों के, विशेषतः रामानुजसम्प्रदायभक्तों के हृदयों को कष्ट पहुँचाने का हमारा यत्किञ्चित् भी अभिप्राय नहीं है। परन्तु कहना पड़ता है कि, सम्प्रदायावेश में पड़कर हमने वेदमन्त्रों के साथ घोर अत्याचार ही किया है। उक्त मन्त्र से तप्त शंख-चक्र लगाने की अवैज्ञानिक, अवैदिक-पद्धति प्रचलित है। अर्थ यह किया जाता है कि, जबतक शरीर को तप्त शंख चक्र से दाग नहीं दिया जाता, तबतक शरीर अतप्त रहता है। एवं ऐसा अतप्ततनु कभी उत्तम गति नहीं प्राप्त कर सकता। क्या ही अच्छा हो, यदि कोई सज्जन इस सम्बन्ध में श्रौतप्रमाण के आधार पर, साथ ही तदनुगता समन्वयात्मिका विज्ञानदृष्टि से यह प्रमाणित करने का अनुग्रह करें कि, शरीर के 'दाग' देने से आत्मा उत्तमगति प्राप्त कर लेता है। हाँ, "**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**", यह दूसरी बात है। एवं '**यदेव विद्यया, श्रद्धया, उपनिषदा करोति, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति**' यह दूसरा तथ्य है।

जाती है, एवं शरीर का आप्य भाग हृत्स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। इसी से हृत्कम्प [ हृदय का धूजना ] होने लगता है, सर्दी लगने लगती है। यही ज्वर की पूर्वावस्था है। बाहिर गरम हो, भीतर ठँढा हो, इसी का नाम ज्वर है। मूलाग्नि का आत्यन्तिक उच्छेद नहीं होता। केवल अभिभव है। इसी अभिभव से अग्नि मन्द होजाता है। तत्सन्निहित जाठराग्नि [ अन्नपरिपाक करने वाला ] भी मन्द होजाता है। ऐसी दशा में [ज्वर-दशा में ] यदि अन्नाहुति दी जायगी, तो मन्द अग्नि उसका परिपाक न कर सकेगा। फलतः वह अतप्त अन्न अग्निमात्रा को और भी अधिक निर्बल कर देगा। ज्वर का वेग अधिक बढ़ जायगा। ठीक इसके विपरीत यदि ज्वरावस्था में अन्नाहुति का सर्वथा अवरोध कर दिया जायगा, तो हृद्य मूलाग्नि की स्वाभाविक उत्तेजना से जाठराग्नि क्रमशः प्रवृद्ध होजायगा। कालान्तर में वह प्रवृद्ध अग्नि उस वरुणरूप शीतसोम को भी बाहिर फैंक देगा। ज्वर शान्त होजायगा। इसी आधार पर आयुर्वेदने उपवास [लँघन] को ही ज्वर की सर्वश्रेष्ठा चिकित्सा मानी है। बिना भूख अधिक खाजाने से जाठराग्नि उसका परिपाक नहीं कर सकता। फलतः सोम का वेग बढ जाता है, ज्वर होजाता है। इसप्रकार अजीर्ण हीं ज्वर का उत्तेजक बनता है। ज्वर शान्त होने का चिह्न है-- **"स्वेद"**। पसीना निकला कि, ज्वर शान्त हुआ। जो पानी हृदय में चला गया था, आज वह शरीर पर आगया, शरीर की गर्म्मी हृदय में चली गई। शरीरताप मिट गया। इस निदर्शन से सिद्ध है कि, बाहिर यदि गर्म्मी है, तो भीतर सर्दी। बाहिर यदि सर्दी है, तो भीतर गर्म्मी।

प्रकृतिमण्डल में जब शीत रहता है, तो हमारा शरीर अग्निमय बना रहता है। सर्दी के दिनों में मुख से बाष्प निकला करते हैं। वहाँ जब गर्मी रहती है, तो यहाँ सर्दी का साम्राज्य रहता है। गर्म्मी के दिनों में शरीर पसीनों से तर रहता है। देखिए न। जो ऊपर से बड़ा सौम्य [ ठँढे स्वभाव का ] दिखलाई पड़ता है, उसका अन्तर्जगत् अत्यन्त ही कठोर[ आग्नेय ] रहता है। एवं जो प्रत्यक्ष में क्रोधी है, वह भीतर से खोखला रहता है। रुद्रभगवान् बाहिर से महाभयानक हैं, परन्तु भीतर से सर्वथा **भोलेबाबा**। थोड़े से अनुनय विनय पर वरप्रदान कर देना इनका सहज स्वभाव है। उधर विष्णु भगवान् बाहिर से **महाशान्त, सौम्य**। परन्तु भीतर से महाकठोर। किसी का क्या सामर्थ्य कि, घोर परीक्षा के बिना इनसे कोई वरदान लेसके। विश्वास किजिए! जो मनुष्य बातों में बड़ा मीठा है, देखने में भोला भाला है, वह भयानक है। एवं जो प्रत्यक्ष में स्पष्टवादी है, देखने में क्रूर है, जिस के शब्द कटु लगते हैं, उसका अन्तर्जगत् निर्म्मल है। **यही खरे खोटेकी अन्वर्थ 'निकषा' (कसौटी) है।**

इस प्राकृतिक कसौटी के आधार पर ही हमें मानना पड़ेगा कि, यदि शुक्र का बाह्य भूतभाग सौम्य है, तो इसका प्राणभाग अवश्य ही आग्नेय होगा। शुक्र का निर्म्माण हुआ है ओषधिरूप अन्न से। शारीराग्नि में आहुत अन्न हीं रसासृग्मांसादि की क्रमधारा से शुक्ररूप में परिणत हुआ है। ओषधियाँ सौम्या हैं। परन्तु इनके गर्भ में अग्नि है। **"ओषं [उष दाहे, दाहस्तापः, तापोग्निः, तं धत्ते"** ही **'ओषधि'** शब्द का निर्वचन है। उसी ओषधि का रूपान्तर शुक्र भी अवश्य ही ऐसा होना चाहिए। भूतसौम्यशुक्र की प्रतिष्ठा यही गर्भीभूत आग्नेय प्राण है। शुक्रस्थित इसी आग्नेय प्राण को **"वृषा"** कहा जाता है। यही वृषा शुक्रवर्षण से [ रेतःसेक से ] प्रजोत्पत्ति में समर्थ होता है। जिस पुरुष के शुक्र में वृषाप्राण मूर्च्छित रहता है, वह प्रजोत्पत्ति में असमर्थ है। शुक्र प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं है, अपितु वृषा है। वृषाशून्य पुरुष षण्ढ है, निर्वीर्य्य है। इसी आग्नेय वृषा के सम्बन्ध से पुरुष अपने को अवश्य ही 'स्त्री' न कह कर 'पुरुष' कह सकता है।

पुरुष में **शरीर**, और **शुक्र**, दो विभाग हुए। दोनों क्रमशः **आग्नेय**, एवं **सौम्य** हैं। आगे जाकर पुनः प्रत्येक में **आग्नेय-सौम्य** ये दो दो विभाग हुए। इस दृष्टि से पुरुष का उपक्रम भी अग्नितत्त्व रहा, एवं उपसंहार भी अग्नि ही रहा। **शरीर, शारीरप्राण, शुक्र, शुक्रगतप्राण**, चारों क्रमशः **आग्नेय, सौम्य, सौम्य, आग्नेय** रहे। इधर अग्नि, उधर अग्नि, मध्य में दोनों सोम। अग्नि पुरुष, दोनों ओर पुरुष। बतलाइए, पुरुषसंस्था में अग्नितत्त्व की प्रधानता सिद्ध हुई, अथवा सोमतत्त्व की? । इस दृष्टि से हम पुरुष को अवश्य ही अग्निप्रधान मानते हुए **'पुरुष'** ही कहेंगे, और स्त्री [ सोम ] को इस के तन्त्र में प्रतिष्ठित मानते हुए **'परतन्त्र'** ही कहेंगे।

## १-पुरुषसंस्था—

(१)-१-शरीरम्——अग्निः (पुरुषः)—स एवादिः
(२)-आप्यप्राणः——सोमः (स्त्री)
(३)-१-शुक्रम्——सोमः (स्त्री)
(४)-२-आग्नेयप्राणः अग्निः (पुरुषः)—स एवान्तः

(२) और (३) — अग्निप्रधानः-पुरुषः-**'पुरुषः'**

— —*— —

शुक्रदृष्टि से **स्त्रीसंज्ञा** का भाजन बनने वाला पुरुष उक्त प्रथम उपाय से **'पुरुष'** बन जाता है। दूसरा उपाय है-**सम्वत्सरमण्डल**। सम्वत्सरमण्डल से ही तो पुरुष का निर्माण हुआ है। इसलिए तो **'पुरुष'** को **'यज्ञ'** कहा जाता है, जिस यज्ञरहस्य का कि पाठक अगले ब्राह्मण में विशद निरूपण देखेंगे। दृश्य अर्द्धखगोलात्मक जिस अर्द्धसम्वत्सर से पुरुष का शरीर बनता है, उस अर्द्धसम्वत्सर के उत्तर भाग में सोम का, एवं दक्षिण भाग में अग्नि का साम्राज्य बतलाया है। सम्वत्सर का मध्यवृत्त **"विषुवत्"** है। इस आधे विषुवत् से तो मेरुदण्ड [ रीढ़ की हड्डी ] का निर्माण हुआ है। विषुवत् से उत्तर के सौम्य सम्वत्सर से शरीर के उत्तर पार्श्व [बाएँ भाग] का, एवं दक्षिण के आग्नेय सम्वत्सर से दक्षिण पार्श्व [ दहिने भाग ] का निर्माण हुआ है।

वर्त्तमानयुग का [ कल्पित ] अहिंसावादी द्विजातिवर्ग घृणा अवश्य करेगा। परन्तु विज्ञानपथानुगामी की दृष्टि में ऐसी घृणा का कोई महत्त्व नहीं है। एक मनुष्यशव [मुर्दे] को अपने सामने रख लीजिए, और शिखान्तस्थान से आरम्भ कर मूलग्रन्थि पर्य्यन्त ठीक बीच में से उस के दो खण्ड कर डालिए। दोनों दक्षिणोत्तर खण्डों के पर्वों का विशकलन कीजिए, एवं उन विशकलित पर्वों को पृथक् पृथक् रखते जाइए। विशकलन प्रक्रिया के अनन्तर दोनों के **आकार**, एवं **भार** की परस्पर तुलना कीजिए। आपको विदित होगा कि, दक्षिणखण्ड के सभी पर्व प्रायः उत्तरखण्ड के पर्वों से आकार में भी बड़े होंगे, एवं भार में भी अधिक होंगे।

उत्तर खण्ड के उत्तर फुफ्फुस, प्लीहा [तिल्ली] वृक्क, क्लोम, हस्त, पाद, आदि पर्वों की अपेक्षा दक्षिण खण्ड के दक्षिण फुफ्फुस, यकृत् [जिगर], वृक्क, क्लोम, हस्त पाद आदि पर्वों के आप आकार, तथा, भार दोनों में प्रवृद्ध देखेंगे। ये प्रवृद्ध क्यों हैं ?, इन शरीरावयवों का ऐसा स्वरूप क्यों हुआ ?, इन सब प्रश्नों का सोपपत्तिक समाधान बड़े विस्तार से आगे के "यज्ञो वै पुरुषः" इत्यादि ब्राह्मण में किया जायगा। प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, शरीर का दक्षिणभाग उत्तरभाग की अपेक्षा आकार-भार से उभयथा समृद्ध रहता है। कारण इसका यही है कि, दक्षिणभाग आग्नेय होने से बलवान् बनता हुआ प्रधान है, एवं वामभाग सौम्य होने से निर्बल बनता हुआ गौण है।

स्थूलपर्वों के अतिरिक्त सूक्ष्म-शक्तिदृष्टि से विचार करने पर भी उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भाग को ही आप अधिक शक्तिशाली पाएँगे। जो कर्म्मनिपुणता दक्षिण हाथ से सम्भव है, वह वाम से नहीं। उपनिषत् का इन्द्ररूप "चाक्षुषपुरुष" भी दक्षिणचक्षु में हीं रहता है। अतएव इसे "दक्षिणाक्षिपुरुष" भी कहा जाता है-"योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः" ( वृ० आ० ५।५।४- )।

अपनी दैनिक शरीर-चेष्टाओं के अनुभव से भी दक्षिणभाग की प्रधानता का प्रत्यक्ष कीजिए। गमन-व्यापार में सब से पहिले दहिना पैर ही आगे बढ़ता है। आगे की गति में भी दहिने पैर की ही अग्रगामिता रहती है, चलकर अनुभव कर लीजिए। सीधे बैठकर, अथवा खड़े होकर आप यह अनुभव करेंगे कि, शिरोभाग प्रायः वाम पार्श्व की ओर ही अवनत ( झुका ) रहता है। दहिनी ओर मस्तक झुकाने में आप क्लेश का अनुभव करेंगे। क्योंकि दक्षिण भाग भारी है, अतः उस ओर प्रवणता रखने में कष्ट होता है। बल-प्रयोग के जितने भी कार्य्य हैं, सब में दक्षिण हाथ ही प्रधान रहता है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए मानना पड़ेगा कि, पुरुष का दक्षिणभागस्थ अग्निभाग ही शरीरसंस्था में बलवान्, एवं प्रधान है।

उत्तरभाग सौम्य है, सोमप्रधान है। साथ ही यह दक्षिणभाग की अपेक्षा निर्बल, एवं गौण है। दक्षिणभाग जहाँ प्रत्यक्षरूप से विकसित रहता है, वहाँ वामभाग दक्षिणभाग में अन्वित रहता है। जब आप वक्षस्थल से सटाते हुए दोनों बाहू मिलाकर उन पर दृष्टि डालेंगे, तो आपको विदित होगा कि, दहिना बाहु वाम बाहु का आलम्बन बना हुआ है। साथ ही दहिने बाहु का हस्तरूप अग्रभाग बाहिर निकल कर प्रत्यक्ष बन रहा है, एवं वामबाहु का हस्तरूप अग्रभाग दहिने बाहु के मूल में ( कक्षप्रदेश में ) छुप रहा है। सीधे खड़े होने पर दहिने पैर के आधार पर बायाँ पैर अधिक समय पर्य्यन्त अधर रह सकता है, बाएँ के आधार पर दक्षिण नहीं। कृष्णभावभङ्गी में दहिने पैर को ही आप आश्रयरूप से प्रतिष्ठित देखेंगे। वामनेत्र में हीं चाक्षुषपुरुष की पत्नी प्रतिष्ठित रहती है, जोकि "इन्द्रपत्नी" नाम से प्रसिद्ध है-"य उ एव वामनीः, स उ एव भामिनी" के अनुसार इस वामा इन्द्र-पत्नी को ही भामिनी भी कहा जाता है। इन्हीं सब कारणों को देखते हुए कहना पड़ेगा कि, वामभागस्थ सोमभाग इस शरीरसंस्था में गौण है।

इसी सम्बन्ध में एक बात और। अग्नि विकासधर्म्मा, एवं सोम संकोचधर्म्मा बतलाया गया है। पुरुष का दक्षिणभाग अग्निप्रधान होने से ही विकासवृत्ति का अनुयायी है, एवं वामभाग सोमप्रधानता से ही संकोचवृत्ति का अनुगामी देखा गया है। सीधे पैरों आगे बढ़ने में पहिले पूर्वकथनानुसार दक्षिण पैर आगे चलेगा। यदि आप उलटे पैरों लोटेंगे, तो इसी संकोचभाव के कारण पहिले बायाँ पैर पीछे हटेगा। फैंकने का काम दहिने हाथ से, एवं किसी वस्तु को लेकर चलते समय वह वस्तु रहेगी वाम हाथ में।

सोम की दिक् उत्तर है, उत्तर ही ऊर्ध्व प्रदेश है। अग्नि की दिक् दक्षिण है, एवं दक्षिण ही अधः प्रदेश माना गया है। साथ ही ऊर्ध्वप्रदेश में रहने वाला सोम अधः प्रदेशस्थ अग्नि को आलम्बन बनाता हुआ ही प्रतिष्ठित रहता है। जब आप प्रावृत बनकर (आलथीपालथी मारकर) बैठेंगे, तो इस स्थिति का स्पष्टीकरण होजायगा। इस मुद्रा में दहिना पैर नीचे (आलम्बनरूप से) रहेगा। वाम पैर दहिने के आधार पर प्रतिष्ठित रहेगा। साथ ही दक्षिण पैर का अग्रभाग प्रत्यक्ष रहेगा, एवं वाम पैर का अग्रभाग दक्षिण पैर में गर्भीभूत रहेगा।

जब कि पुरुष-शरीर के दोनों भागों में अग्नि की प्रधानता है, और अग्नितत्त्व ही जब पुरुष है, तो **स्त्री-पुरुष**, दोनों भावों के रहते हुए भी हम पुरुष को स्त्री न कह कर **पुरुष** ही कहेंगे। इसप्रकार शुक्राधारभूत उपक्रम-स्थानीय आग्नेय प्राण की, भूताग्निरूप उपसंहारस्थानीय शरीर की प्रधानता से, दक्षिण पार्श्वस्थ अग्नि की प्रधानता से, इन दोनों उपायों से पुरुष का पुरुषत्त्व सुरक्षित रह जाता है।

रुद्राग्नि से सम्बन्ध रखने वाले वृषातत्त्व का, एवं तत्प्रधान पुरुषवर्ग का विवेचन समाप्त हुआ। अब उस शक्तिघन सोमतत्त्व का अन्तर्दृष्टि से विचार कीजिए, जो कि योषातत्त्व का, एवं तत्प्रधान स्त्रीवर्ग का आलम्बन बना हुआ है, जो कि **शक्तिघन**, अतएव **'अशक्ति'** शब्दवाच्य सोमतत्त्व रुद्रपुरुष को शिव बना देता है।

पूर्व में यह कहा गया है कि, यदि रुद्राग्नि में सोम की आहुति न हुई, तो वे कालान्तर में सोमरूप स्त्रीभाव में परिणत होजायँगे। अग्नि विकास की चरमसीमा पर पहुँच कर सोम बन जायगा। ठीक यही परिस्थिति सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम की स्वरूपरक्षा तभीतक है, जबतक कि उस का अग्नि के साथ सम्बन्ध है। जैसे अग्नि का प्रधान स्थान केन्द्र है, एवमेव सोम का व्याप्तिस्थान प्रधि (परिधि) भाग ही माना गया है।

परिधि में रहने वाला संकोचधर्म्मा सोम क्रम क्रमशः केन्द्र की ओर आता रहता है। जबतक इसका अग्नि के साथ सम्बन्ध होता रहता है, तबतक तो इसका संकोच समतुलित रहता है। परन्तु अग्निविरह से यह संकोच की चरम सीमा पर पहुँच कर विस्फोटन का कारण बनता हुआ अग्निरूप में हीं परिणत होजाता है। जैसे विकास का अन्तिम परिणाम संकोच है, अग्नि का अन्तिम परिणाम सोम है, एवमेव संकोच का अन्तिम परिणाम विकास है, तो सोम का अन्तिम परिणाम अग्नि है।

आग्नेयी-ऋतु (ग्रीष्म-ऋतु-गर्म्मी) विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर जैसे सौम्य-ऋतु (वर्षा-और शीतर्त्तु) रूप में परिणत होजाती है, एवमेव शीतर्त्तु संकोच की चरमसीमा पर पहुँच कर ग्रीष्मर्त्तु का कारण बन जाती है। बलवान् अग्नि का आश्रय लेता हुआ बलघन जो सोम अपनी स्वरूपरक्षा में समर्थ रहता है, वही इस की उपेक्षा से स्वयं अग्नि बनकर रुद्र बन जाता है, रोने लगता है। भोग्य भोक्ता बन गया, अब भोग्य नहीं। अतएव अब रोदन आवश्यक। इसी से यह भी सिद्ध होजाता है कि, शिवतत्त्व का विकास अग्नि, एवं सोम के समन्वय पर ही निर्भर है। सोम की उपेक्षा कर अग्नि भी रोता रहेगा, एवं अग्नि की उपेक्षा कर सोम भी रोता रहेगा। अग्नीषोमात्मक यज्ञ के उच्छिन्न होते ही रुद्र का अवतार होजायगा, संसार में प्रलय का दृश्य उपस्तित हो जायगा, जिस का कि पूर्वरूप आज हमारे सम्मुख है।

बलवन, अतएव अबल सोम का स्त्री से सम्बन्ध है। अद्दय अर्द्धखगोलीय चान्द्रसोम ही स्त्री के स्वरूप-सम्पादन का कारण बनता है, अतएव स्त्री को '**सौम्या**' कहा जाता है। इसी सोमभाव की प्रधानता से इसे '**अबला**' कहा जाता है। कहने को अबला अबला है, किन्तु वास्तव में अबला '**शक्तिपुञ्ज**' है। कारण स्पष्ट है। स्त्री का शरीर सौम्य है, परन्तु आत्मा आग्नेय है। जैसे पुरुष की प्रतिष्ठा शुक्र है, वैसे ही स्त्री की प्रतिष्ठा "**शोणित**" माना गया है। रक्तवर्ण आग्नेय-मङ्गलग्रह--प्राण से युक्त शोणित साक्षात् अग्नि है, एवं यही स्त्री का अन्तर्जगत् है। यही इस का आत्मा (जीवनीयरस) है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, स्त्री का भौतिक दृश्य--शरीर सौम्य है, एवं अन्तर्जगद्रूप शोणित आग्नेय है। शोणितक्षय ही स्त्री के स्वरूपनाश का कारण है, एवं शोणितरक्षा ही स्थिति का कारण है। इस बलवान् शोणिताग्नि से ही अबला सौम्या भी स्त्री बलवती ही रहती है।

उसी पूर्वरहस्य का समन्वय। शोणित अग्नि है, अग्नि बलवान् बनता हुआ पूर्वपरिभाषानुसार बल--प्रयोग में समर्थ रहता है। अतएव इसे बलवान्, किंवा सबल ही कहा जायगा। यह भी पुरुषजाति का ही दुर्भाग्य मानना पड़ेगा कि, यही बलवान् अग्नि ( शोणित ) पूर्वकथनानुसार स्त्री का अन्तरात्मा बना हुआ है। यही कारण है कि, स्त्री का बाह्यजगत् ( सौम्यशरीर ) जहाँ आक्रमण में असमर्थ है, वहाँ उस का अन्तर्जगत् उतना हीं अधिक उग्र रहता है। **शरीर निर्बल ( सौम्य ), आत्मा सबल ( आग्नेय ), यही तात्पर्य्य है**। शोणित स्वयं बलवान्, इसी ( अग्नितत्त्व ) का रूपान्तर मन, इसी में स्थिरभाव का उदय, तदनुगामी मन का संकल्प भी स्थिर, फलतः स्त्री का संकल्प अधिकांश में सफल ही होजाता है। इसी आधार पर इस मातृवंश के लिए—"**बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा**" यह कहा गया है। कौन अभ्युदयेप्सु बुद्धिरूपिणी इस मातृशक्ति की वन्दना न करेगा—

**या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।**
**नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥** ( सप्तशती )

सम्भव है, स्त्री स्त्री के साम्मुख्य में सजातीयानुबन्ध के कारण स्त्री का उग्ररूप शान्त रहे! परन्तु दुर्भाग्य का मारा यदि कोई पुरुष स्त्री की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा होजायगा अपने अविवेक से, यदि वह इस के सौम्यशरीर के गर्भ में रहने वाले उग्र अग्नितत्त्व पर आघात कर बैठेगा, तो नारी का स्वरूप इस के सर्व--नाश का ही कारण बन जायगा। कुशल तभीतक है, जबतक कि मातृशक्ति का अन्तर्जगत् जाग्रत नहीं होजाता। सौम्यात्मा-पुरुष अभिनिवेशवश इस अग्नि को जाग्रत कर निश्चयरूप से इस में आहुत ही होजाता है।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि, जब जब मनुष्य ने मुर्खतावश आर्य्यनारी के अन्तस्तल पर आक्रमण करने की कुचेष्टा की है, तब तब ही उसे सर्वनाश का रसस्वादन करना पड़ा है। और तो और, जगच्चक्र का सञ्चालन करने वाले, त्रैलोक्यविजयी **अग्नि, वायु, इन्द्र**, देवताओं तक को इसी **हैमवती उमा** के सम्मुख परास्त होना पड़ा है। द्रौपदी के अपमान का प्रायश्चित्त भारतवर्ष आजतक नहीं कर सका है। और अतिशय खेद, महा कष्ट, महा लज्जा, महा अविवेक का विषय है कि, भारतीय पुरुषवर्ग आज पुनः उसी भूल का अनुगमन कर रहे हैं। कोई आश्चर्य्य नहीं. इसी भूलसुधार के लिए सुधारप्रेमियों की ओर से **अवैज्ञानिक, अप्राकृतिक,**

अतएव **रोगवर्द्धक 'स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद'** का जन्म हुआ हो, और जिस के परिशोध के लिए ही हमें इस प्रकृतिसिद्ध तथ्य-समन्वय का आश्रय लेना पड़ा हो।

उक्त **'स्त्रीभाव'** विवेचन से स्पष्ट हुआ कि, स्त्री का पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड तो सौम्य है, एवं शरीर-पिण्ड की प्रतिष्ठारूप शोणित आग्नेय है। सोम योषा होने से स्त्री है, एवं अग्नि वृषा होने से पुरुष है। क्योंकि सोमरूप स्त्री शरीर की प्रतिष्ठा अग्निरूप शोणित है, अतएव हम कह सकते हैं कि, पुरुष ( अग्नि-शोणित ) ही स्त्री की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर यह भी कह लीजिए कि, जिन्हें हम **'स्त्री'** कहते हैं, वे सौम्य शरीर की दृष्टि से भले ही 'स्त्रियाँ' हों, परन्तु अन्तःप्रतिष्ठारूप शोणिताग्नि की अपेक्षा से, आत्मदृष्टि से तो उन्हें **'पुरुष'** ही कहा जायगा।

एक पक्षपात की बात। पुरुष आत्मदृष्टया स्त्री है। परन्तु जनसाधारण इन स्त्रियों को पुरुष ही कहते हैं। इसप्रकार **"स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहु."** इत्यादि रूप से श्रुतिने पुरुषों को स्पष्ट शब्दों में **'स्त्री'** कहकर पुरुषजाति का तो अपमान कर डाला। न्यायप्राप्त बात तो यह थी कि, जैसे वेदमहर्षि ने पुरुषजाति का-**"अरे! इन्हें पुरुष कौन कहता है, ये तो स्त्रियाँ हैं"** इसप्रकार अपमान कर डाला, वैसे ही **"पुरुषाः सन्तस्ते उ मे स्त्रिय आहुः"** ( इन पुरुषों को स्त्री कहा जाता है ) स्त्री के सम्बन्ध में भी यह कहते। परन्तु नहीं कहा। कहते भी क्यों, जब कि वे पुरुष के निर्बल आत्मा, एवं स्त्री के सबल आत्मा से परिचित थे। पुरुष अपमान सहन कर सकता है, किन्तु स्त्री नहीं।

जब कि प्रधानभूता आत्मदृष्टि से स्त्रीसंस्था आग्नेयी है, तो इसे **'स्त्री'** न कह कर **'पुरुष'** ही कहा जायगा। हाँ, तो आज से स्त्रीमात्र अपने आपको पुरुष समझना आरम्भ कर दे। अपना बाना किसे बुरा लगता है। यदि पुरुषजाति स्त्री की उपाधि के क्षुब्ध होसकती है, और इसी क्षोभ की शान्ति के लिए यदि वह (पूर्वप्रदर्शित दो) उपाय निकाल लेती है, तो स्त्रीजाति भी पुरुषोपाधि से क्यों शान्त होने लगी ?। अवश्य ही उन की स्वरूप-रक्षा के लिए भी कोई न कोई उपाय निकालना हीं पड़ेगा।

स्त्रियों का शरीर सौम्य, एवं आत्मरूप शोणित आग्नेय, यह तो ठीक है। और इसी दृष्टि से स्त्रियाँ पुरुष कहला भी सकतीं हैं। परन्तु निरूपिता पुरुषसंस्था की परिभाषा के अनुसार स्त्री के सौम्यशरीर, एवं आग्नेय शोणित, दोनों के भूत-प्राण भेद से दो दो विभाग हैं। सौम्य दृश्यशरीर भूतभाग है, इसका आधार-प्राण आग्नेय है। प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि, पुरुषशरीर अग्नि की कृपा से कर्कश होता हुआ भी हीनवीर्य्य रहता है। जरासी मोड़ तोड़ से अस्थिग्रन्थियाँ ( जोड़ ) खुल जातीं हैं। कारण यही है कि, इसका शरीर यद्यपि आग्नेय होने से सबल है, परन्तु इसका मूलप्राण आप्य (सौम्य) है। सोम निर्बल है। अतएव यह प्रबल आघात से पुरुषशरीर को नहीं बचा सकता।

इधर स्त्री का शरीर सोमानुग्रह से कोमल होता हुआ भी वीर्य्ययुक्त है। असाधारण व्याघातों को छोड़कर स्त्रीशरीर साधारण व्याघातों की उपेक्षा ही कर देता है। कारण, इसका शरीर यद्यपि सौम्य होने से निर्बल है, किन्तु इसका मूलप्राण आग्नेय है। अग्नि बलवान् है। यह आघात से स्त्रीशरीर को बचा लेता है। इस शरीरप्रतिष्ठा की दृष्टि से स्त्री अपने आभ्यन्तररूप से 'आग्नेयी' बनती हुई पुरुष ही कहलाएगी।

शोणित का भूतभाग अवश्य ही आग्नेय है। परन्तु शोणित के गर्भ में रहने वाला प्राण सौम्य है। इसी सौम्यप्राण को "योषा" कहा जाता है। पुरुष के सौम्य शुक्र के गर्भ में रहने वाले आग्नेय वृषाप्राण का जब स्त्री के आग्नेय शोणित के गर्भमें रहने वाले सौम्य योषाप्राण के साथ मिथुनसम्बन्ध होता है, तभी प्रजोत्पत्ति होती है। इसीसे यह भी स्पष्ट होजाता है कि, पुरुष का दूषित शुक्र सन्तान का प्रतिबन्धक है, एवं स्त्री का दूषित शोणित सन्तान का प्रतिबन्धक है। दोनों की (शुक्र शोणित की) शुद्धि से ही तद्गत वृषा योषा प्राण शुद्ध रहेंगे, एवं इन विशुद्ध **रजो-वीर्य्यों** के मिथुन से ही प्रजातन्तु सुरक्षित रहेगा।

सौम्य शुक्र में रहने वाला आग्नेय प्राण ही **"पुम्भ्रूण"** है। एवं आग्नेय शोणित में रहने वाला सौम्य प्राण ही **"स्त्रीभ्रूण"** है। पुम्भ्रूण का पोषक शुक्र है। फलतः शुक्र जितना अधिक प्रवृद्ध होगा, पुम्भ्रूण उतना हीं अधिक बलिष्ठ होगा। स्त्रीभ्रूण का पोषक शोणित है। फलतः शोणित जितना प्रवृद्ध होगा, स्त्रीभ्रूण उतना हीं अधिक बलिष्ठ होगा। पुम्भ्रूण पुरुष है, आग्नेय है। इसकी समृद्धि एकमात्र शुक्रसमृद्धि पर ही अवलम्बित है। शुक्र सौम्य होने से स्त्री है। इस सौम्या स्त्री की समृद्धि, अभ्युत्थान, अभ्युदय ही पुरुष की समृद्धि, अभ्युत्थान, अभ्युदय का अन्यतम कारण है। उधरस स्त्रीभ्रूण स्त्री है, सौम्य है। इसकी समृद्धि एकमात्र शोणित की समृद्धि पर ही अवलम्बित है। शोणित आग्नेय होने से पुरुष है। स्त्री की समृद्धि, अभ्युत्थान, अभ्युदय पुरुष की समृद्धि, अभ्युत्थान, अभ्युदय पर ही अवलम्बित है। यही **दाम्पत्यभाव** का मौलिक रहस्य है। यही **अर्द्धनारीश्वर** का समृद्ध वैभव है, और यही वैभव **विश्वशान्ति** की मूल प्रतिष्ठा है।

जिस समय **पुम्भ्रूण-स्त्रीभ्रूणों** का मिथुनभाव होता है, उस समय दोनों में संघर्ष चलता है। जो प्रबल होता है, वह दूसरे का निगरण कर उसे अपने रूप में परिणत कर लेता है। मान लीजिए, पुम्भ्रूण निर्बल है, एवं स्त्रीभ्रूण सबल। स्त्रीभ्रूण [जो कि सौम्य होने से स्त्रीसृष्टि का प्रवर्त्तक है] पुम्भ्रूण को आत्मसात् कर लेता है। फलतः ऐसे स्त्रीभ्रूणप्रधान मिथुनभाव से **कन्यासन्तति** होती है। यदि पुम्भ्रूण सबल है, तो ठीक इसके विपरीत उक्त प्रक्रिया से **पुत्रसन्तति** होती है। शुक्रप्रवृद्धि में पुम्भ्रूण की वृद्धि है, एवं शोणितप्रवृद्धि में स्त्रीभ्रूण की वृद्धि है। शुक्रसमृद्धि पुम्भ्रूण की समद्धि का कारण बनेगी, इच्छा सफल होगी। यदि दोनों सम हैं तो दोनों के ही चिह्न शेष रहते हैं। यही **नपुंसकसृष्टि** है। यदि दोनों में से एक का भी भ्रूण मूर्च्छित है, तो दाम्पत्यभाव व्यर्थ ही सिद्ध होता है—

**१—आधिक्ये रेतसः पुंसः, कन्यास्यादार्त्तवाधिके।**
**नपुंसकं तयोः साम्ये, यथेच्छा पारमेश्वरी ॥ (भावप्रकाश)।**
**२—पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे, स्त्रीभवत्यधिके स्त्रियाः।**
**समेऽपुमान्, पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्य्ययः ॥ (मनुः ३।४९)।**

उक्त स्त्रीस्वरूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, स्त्रीसंस्था के शरीर, आत्मा, ये दोनों विभाग क्रमशः **सौम्य**, एवं **आग्नेय** हैं। आगेजाकर पुनः प्रत्येक के **सौम्य, आग्नेय** ये दो विभाग हुए। इस दृष्टि से स्त्री का उपक्रम भी सोमतत्त्व रहा, उपसंहार भी सोम ही रहा। शरीर, शारीरप्राण,-शोणित, शोणित-

गतप्राण, क्रमशः **सौम्य-आग्नेय-आग्नेय-सौम्य** रहे। इधर सोम, उधर सोम, मध्य में दोनों अग्नि। सोम ही स्त्री, दोनों ओर स्त्री। बतलाए, स्त्री संस्था में सोमतत्त्व की प्रधानता सिद्ध हुई, अथवा अग्नितत्त्व की ?। इसी दृष्टि से हम स्त्री को अवश्य ही सोमप्रधाना मानते हुए **"स्त्री"** ही कहेंगे, और पुरुष [अग्नि] को इस तन्त्र में प्रतिष्ठित मानते हुए **परतन्त्र** ही कहेंगे।

## २-स्त्रीसंस्था--

(१)-१-शरीरम्——-सोमः (स्त्री)- य एवादिः
(२)-२-आग्नेयप्राणः-अग्निः (पुरुषः)
(३)-१ शोणितम्——अग्निः (पुरुषः)
(४)-२-सौम्यप्राणः-सोमः (स्त्री)- स एवान्तः

[(२) + (३)] ——— सोमप्रधाना स्त्री—"स्त्री"

**पुरुष का अपना तन्त्र अग्नि है, एवं स्त्री का अपना तन्त्र सोम है।** इस अपने अपने तन्त्र में प्रतिष्ठित पुरुष और स्त्री अपने अपने प्रातिस्विक स्वरूप से "स्वतन्त्र" हैं। **इस दृष्टि से न पुरुष परतन्त्र है, न स्त्री परतन्त्र है।** यदि परतन्त्र हैं भी, तो दोनों हीं। मध्यभाग आत्मा कहलाता है, और यही मध्यभाग जीवन की प्रतिष्ठा माना गया है। आग्नेय पुरुष का मध्यभाग सोमद्वयी है, सोमतत्त्व स्त्री है, यही आग्नेय पुरुष की प्रतिष्ठा है। अग्निपुरुष की अपेक्षा यह सोमतन्त्र इसका अपना तन्त्र न होकर परतन्त्र है। पुरुष का अग्नितन्त्र इस परलक्षण सोमतन्त्र के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतः उपक्रमोपसंहारस्थानीय अग्नितन्त्र की अपेक्षा से जहाँ पुरुष को **'स्वतन्त्र' (स्वः-अग्निस्तन्त्रः स्वरूपो यस्य)** कहा जायगा, वहाँ मध्य स्थानीय सोमतन्त्र की अपेक्षा से इसी पुरुष को **"परतन्त्र" (परः- सोमस्तन्त्रः प्रतिष्ठा यस्य)** ही कहा जायगा।

सौम्या स्त्री का मध्यभाग अग्निद्वयी है, अग्नितत्त्व पुरुष है, यही सौम्या स्त्री की प्रतिष्ठा है। सौम्या स्त्री की अपेक्षा यह अग्नितन्त्र इसका अपना तन्त्र न होकर 'परतन्त्र' है। स्त्री का सोमतन्त्र इस 'पर' लक्षण अग्नितन्त्र के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव उपक्रमोपसंहारस्थानीय सोमतन्त्र की अपेक्षा से जहाँ स्त्री को **"स्वतन्त्र" ( स्वः—सोमस्तन्त्रः स्वरूपो यस्य )** कहा जायगा, वहाँ मध्य-स्थानीय अग्नितन्त्र की अपेक्षा से इसी स्त्री को **"परतन्त्र" ( परः--अग्निस्तन्त्रः--प्रतिष्ठा यस्य )** भी कहा जायगा। यहाँतक तो जो स्थान पुरुष का होगा, वही स्त्री का रहेगा। यदि पुरुष अपनी संस्था में स्वतन्त्र है, तो स्त्री भी अपनी संस्था में स्वतन्त्र है। यदि स्त्री को मध्यदृष्टि से परतन्त्र कहा जायगा, तो मध्यदृष्टि से पुरुष भी परतन्त्र ही माना जायगा। अपने अपने धरातल पर प्रतिष्ठित रहते हुए दोनों वर्ग सनातन विश्व के सनातन 'मित्र" ही माने जायँगे। दो मित्रों में कौन छोटा, कौन बड़ा ?। समानशीलव्यसन ही मैत्री का उच्च आदर्श माना गया है। और इसी आदर्श को भारतीय महर्षियोंनें सर्वश्रेष्ठ आदर्श माना है—**'सहधर्म्मं चरताम्'** रूप से।

बिना इस समानधर्म्माचरण के इन दोनों यात्रियों की यात्रा नीरस होजाती है, विनोदशून्य रहजाती हैं, यातायाम बन जाती है। यह भी निश्चित है कि, इस **'स्व-तन्त्र'** की दृष्टि से **"स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में कौन स्वतन्त्र है, कौन परतन्त्र ?** इस प्रश्न का भी कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि इस दृष्टि से दोनों को अपनी अपनी **आग्नेयी, सौम्या-संस्था** में रहते हुए **अग्नि–सोमानुबन्धी धर्म्मों** के अनुगमन करने का पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त है। वर्त्तमान युग का समानविकार यदि इस दृष्टि से **स्त्रीसमानाधिकार** का, किंवा **स्त्रीस्वातन्त्र्य** का पक्षपाती है, तो ऋषि उसका आदर करते हैं। कौन वैज्ञानिक यह न चाहेगा कि, **पुरुष अपनी अग्निसंस्था के अनुकूल स्वतन्त्र रहे, एवं स्त्री अपनी सोमसंस्था के अनुकूल स्वतन्त्र रहे**। हाँ आग्नेय पुरुष का सौम्या-स्त्रीसंस्था की ओर झुकना, एवं सौम्या स्त्री का आग्नेयी पुरुषसंस्था की ओर झुकना अवश्य ही प्रत्येक वैज्ञानिक की दृष्टि में लाभ के स्थान में हानि का ही कारण सिद्ध होगा। यदि स्त्रीसमानाधिकार के पक्षपातियों के समानाधिकार का–**"पुरुष अपनी अग्निसंस्था के आधार पर जो कुछ कर सकता है, करने का अधिकार रखता है, एक सौम्या स्त्री भी वह सब कुछ कर सकती है, करने का अधिकार रख सकती है। एवमेव स्त्री अपनी सोमसंस्था के आधार पर जो कुछ कर सकती है, करने का अधिकार रखती है, एक आग्नेय पुरुष भी वह सब कुछ कर सकता है, करने का अधिकार रखता है"** यह तात्पर्य्य है, तो कहना पड़ेगा कि, अभी वे प्रकृति के गुप्त रहस्यों से, स्त्री–पुरुष के वास्तविक स्वरूप-ज्ञान से, उनकी प्राकृतिक-योग्यता से सर्वथा अपरिचित ही हैं।

दोनों के जिन नियत अधिकारों को, एवं अधिकारमूला विषमताओं को प्रकृति ने अपने हाथ में रक्खा है, वे अधिकार तो त्रिकाल में भी इन समानाधिकार-पक्षपातियों से नहीं बदले जासकते। वृषापुरुष ही रेतः सेक का अधिकार रखता है, वृषा पुरुष ही श्मश्रु का जन्मसिद्ध अधिकार रखता है, वृषापुरुष के शरीर का जैसा संघठन है, जैसी रचना है, जो ऐन्द्रियक विभाग है, वही इस अधिकार, संघठन, रचना,-विभाग का अन्यतम अधिकारी है। एवमेव योषा स्त्री का रेतोग्रहणाधिकार, श्मश्रु का जन्मत: अभाव, शरीर वा संगठन, गर्भाधान, आदि जो वैय्यक्तिक अधिकार हैं, पुरुषजाति स्वप्न में भी इनकी कल्पना भी तो नहीं करसकती।

दूसरी अधिकारमूला विषमता वह है, जिसका आविष्कार महर्षियोंनें प्रकृतिमूलक इन दोनों के विषम-स्वरूपों के आधार पर किया है। स्वतन्त्रप्रज्ञ मानवसमाज इन आविष्कृत विषमताओं की व्यवस्था में अवश्य ही हस्तक्षेप करसकता है। परन्तु यह निश्चित है कि, इस हस्तक्षेप से दोनों का उपकार न होकर अपकार ही होता है। **समता,** किंवा **समानाधिकार** जीवनसत्तोपयिक आहारनिद्रादि कुछ एक परिगणित व्यवस्थाओं में हीं मान्य है। इस दृष्टि से स्त्री पुरुष तो क्या, संसार के प्राणिमात्र समान अधिकार रखते हैं। परन्तु जिस मौलिक **प्राकृतिकधर्म्म** ने इन समानाधिकारियों को **"अयं मनुष्यः–इयं स्त्री–अयं बालः–अयं पशुः"** इत्यादिरूपा विषमताओं में, विशेषभावों में परिणत कर रक्खा है, उन **विशेषधर्म्मों** का एकमात्र अधिकार तत्तद्विशेष प्राणियों में हीं प्रतिष्ठित माना जायगा। और विशेषस्वरूप-संरक्षक इन विशेषधर्म्मों को समानाधिकार मर्य्यादा से युक्त करना उन समानाधिकारियों का उन्मत्तप्रलाप ही माना जायगा। साथ ही इस दृष्टि से प्रचलित वर्त्तमानयुग का **स्त्रीस्वातन्त्र्यवाद** भी प्रलाप के अतिरिक्त और किसी पुरस्कार का पात्र नहीं समझा जायगा।

जैसाकि अनुपद में ही बतलाया गया है, स्व–स्व संस्थानुगत स्वातन्त्र्य, पारतन्त्र्य के सम्बन्ध में "कौन स्वतन्त्र, कौन परतन्त्र है" ?, यह प्रश्न ही नहीं उठाया जासकता । इस प्रश्न का आरम्भ तब होता है, जब कि हम स्त्री-पुरुष के दाम्पत्यभाव का विचार करने के लिए-प्रस्तुत होते है । स्त्री-पुरुष परतन्त्र रहें, अथवा स्वतन्त्र, मित्र रहें, अथवा ओर कुछ, यह तटस्थ सम्बन्ध दाम्पत्यभाव से सम्बन्ध नहीं रखता ।

साथ ही यह भी निर्विवाद है कि, बिना दाम्पत्यभाव के न स्त्रीसृष्टि का उदय सम्भव है, न पुरुषसृष्टि का । जबकि दाम्पत्यभाव ही स्त्रीपुरुषसृष्टि का मूलकारण है, तो हमे मानना पड़ेगा कि, स्त्री–पुरुष की स्वतन्त्रता परतन्त्रता का वही निर्णय ( विज्ञानसिद्ध, अतएव ) मान्य निर्णय कहा जायगा, जो कि दाम्पत्यभाव का अनुगामी रहेगा । दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, दाम्पत्यभावकाल में स्त्री–पुरुष, दोनों में जो जिस तन्त्र का अनुगामी होगा, दाम्पत्यभाव के फलस्वरूप उन प्रजात्मक स्त्री-पुरुषों का भी वही तन्त्र माना जायगा, फिर वह तन्त्र स्व हो, **अथवा पर** ।

कर्म्म का स्वतन्त्र कर्त्ता वही माना जायगा, जो कि कर्म्म प्रक्रिया में स्वतन्त्र * रहेगा । उस कर्त्ता का कर्म्म सफल हो, अथवा निष्फल, यह दूसरी बात है । प्रजोत्पत्ति एक फल है । इस फल का साधक कर्म्म पति-पत्नी का दाम्पत्यभाव ( मिथुनभाव ) है । दाम्पत्यकर्म्म ही प्रजोत्पत्ति का मूलकारण है । यद्यपि यह ठीक है कि, इस कर्म्म में दोनों का ही सहयोग अपेक्षित है । इसीलिए "**दम्पती**" शब्द से **पति-पत्नी** दोनों का ग्रहण होता भी है । तथापि इस कर्म्म का स्वतन्त्र कर्त्ता पति ही माना जायगा । दाम्पत्यकर्म्म की प्राथमिक प्रेरणा पुरुष की ओर से ही होती है × । "**पुरुष एव स्त्रियमनुधावति, न स्त्रीपुरुषमनु**" यह सार्वजनीन प्रत्यय है ।

रेतोवर्षण से ही शुक्रगत आग्नेय प्राण वृषा कहलाया है । कामजनित कम्पनात्मक क्षोभ ही रेत को स्वस्थान से च्युत करता है, अतएव इस रेतोवर्षक वृषा को '**वृषाकपि**'÷ भी कहा गया है । इस प्रथमप्रेरणा के कारण हम वृषाप्रधान पुरुष को ही इस दाम्पत्यकर्म्म का स्वतन्त्र कर्त्ता कहेंगे । ब वृषा स्वतन्त्र है, तो योषा का पारतन्त्र्य स्वतः सिद्ध है । फलतः इस दाम्पत्य से उत्पन्न पुरुषसन्तान वृषाप्रधान बनती हुई स्वतन्त्र मानी जायगी, एवं कन्यासन्तान परतन्त्र कही जायगी । एक दृष्टि ।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए । दो प्रतिद्वन्द्वियों में जो अपने आक्रमण में प्रधान रहेगा, वही प्रधान माना जायगा,उसे ही 'स्वतन्त्र' कहा जायगा, एवं विजय उसी का माना जायगा । पुरुष आग्नेय है, एवं स्त्री सौम्या

---

* "स्वतन्त्रः कर्त्ता" (पा० सू०) "क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् (दीक्षितः) ।

× [१] "**पश्चाद्वै परीत्य वृषा ( पुरुषः ) योषामधिद्रवति [अनुधावति], तस्यां रेतः सिञ्चति" [शत० २।४।४।२३।]** ।

**[२] "तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रिता निपलाशमिवैव वदति" [शत० ३।२।१।२०]।**

**[३] "तस्मादु स्त्री पुंसोपमन्त्रिता-आरकादिवैवाग्रेऽसूयति" [शत० ३।२।१।१६।]।**

**÷ "तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति, तस्माद् वृषाकपिः" [गो० ब्रा० उ० ६।।२।] ।**

है। अन्नान्नादमात्र के कारण दोनों हीं प्रतिद्वन्द्वी हैं। इन प्रतिद्वन्द्वियों के पूर्वपरिभाषानुसार यद्यपि चार युग्म मानने चाहिए, परन्तु पुरुषशरीर का आधारभूत आप्य प्राण पुरुषशरीर में, एवं स्त्री का आधारभूत आग्नेय प्राण स्त्रीशरीर में हीं अन्तर्भूत मान लिया जाता है, अतः चार के स्थान में तीन हीं युग्म रह जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट होजाता है—

| पुरुष-विवर्त्त | स्त्री-विवर्त्त |
|---|---|
| १—आग्नेयशरीरम् (अग्निः-पुरुषः) | १—सौम्यं शरीरम् (सोमः-स्त्री)-१-द्वन्द्व |
| २—आप्यप्राणः (सोमः-स्त्री) | २—आग्नेयप्राणः (अग्निः-पुरुषः)-२-द्वन्द्व |
| १—सौम्यं शुक्रम् (सोमः-स्त्री) | १—आग्नेयं शोणितम् (अग्निः-पुरुषः)-३-दन्द्व |
| २—आग्नेयप्राणः (अग्निः-पुरुषः) | २—सौम्यप्राणः (सोमः-स्त्री) ४-दन्द्व |

१— १-आग्नेयं पुरुषशरीरम् (पुरुषः) / २-सौम्यं स्त्रीशरीरम् (स्त्री) } प्रतिद्वन्द्विनौ (प्रथमद्वन्द्वः)।

२— १-आप्यप्राणः (पुरुषशरीरप्रतिष्ठा)-स्त्री / २-आग्नेयप्राणः (स्त्रीशरीरप्रतिष्ठा) पुरुषः } प्रतिद्वन्द्विनौ (द्वितीयद्वन्द्वः)।

३— १--सौम्यं शुक्रं (पुरुषप्रतिष्ठा)-स्त्री / २--आग्नेयं शोणितं (स्त्रीप्रतिष्ठा)-पुरुषः } प्रतिद्वन्द्विनौ (तृतीयद्वन्द्वः)।

४— १--आग्नेयप्राणः (वृषा)-पुरुषः / २--सौम्यप्राणः (योषा)-स्त्री } प्रतिद्वन्द्विनौ (चतुर्थद्वन्द्वः)।

★ ★ ★

१—१—आप्यप्राणगर्भितमाग्नेयं शरीरम्-(सोमाग्निमयं पुरुषशरीरम्) पुरुषः } प्रतिद्वन्द्विनौ
२—आग्नेयप्राणगर्भितं सौम्यं शरीरम्-(अग्नीषोममयं स्त्रीशरीरम्) स्त्री } (१ द्वन्द्वः)

—— * ——

१—सौम्यं शुक्रम् — स्त्री
२—२—आग्नेयं शोणितम्—पुरुषः } प्रतिद्वन्द्विनौ (द्वितीययुग्मः) ।

—— * ——

१--आग्नेयो वृषा-- पुरुषः
३— २--सौम्या योषा--स्त्री } प्रतिद्वन्द्विनौ तृतीययुग्मः) ।

—— * ——

पूर्वतालिका में प्रदर्शित तीनों प्रतिद्वन्द्वियों में से कौनसा द्वन्द्व सर्वप्रथम आगे बढ़ता है ?, आगे बढ़ने वाले उस द्वन्द्व में किस की ओर से पहिले आक्रमण होता है ?, एवं अन्त में किस के आक्रमण की प्रधानता रहती है ?, पहिले यही देखिए । दाम्पत्यभावोपक्रम का मूलाधार दम्पती के स्थूलशरीर हैं । पुरुषशरीर आग्नेय है, स्त्रीशरीर सौम्य है । अग्नि सोम पर आक्रमण कर रहा है, इसका तात्पर्य्य हुआ पुरुषभाव स्त्री-भाव पर आक्रमण कर रहा है । इस आक्रमण में पुरुषभाव की ही प्रधानता है । इस प्रथमाक्रमण के अनन्तर पुरुष के शुक्र का स्त्री के शोणित में सेक होता है । सौम्यशुक्र आग्नेय–शोणित पर आक्रमण कर रहा है । अर्थात् स्त्रीतत्त्व पुरुषतत्त्व पर आक्रमण कर रहा है । इस आक्रमण में स्त्रीभाव की प्रधानता है । शुक्रशोणि-तरूप इस दूसरे द्वन्द्वभाव के अनन्तर सौम्य शुक्र में रहने वाले आग्नेयप्राणमूर्त्ति **'वृषा'** का आग्नेय शोणित में रहने वाली सौम्यप्राणमयी **'योषा'** पर आक्रमण होता है । **पुरुषभाव** का **स्त्रीभाव** पर आक्रमण होता है । यही तीसरा, किंवा अन्तिम आक्रमण है । इसमें पुरुषभाव की प्रधानता है, एवं यही अन्तिमाक्रमण त्रियुग्मात्मक दाम्पत्यकर्म्म को प्रजोत्पत्ति-फलरूप से समन्वित करता है ।

तीनों में से आदि में पुरुषाक्रमण की प्रधानता, अन्त में पुरुषाक्रमण की प्रधानता, केवल मध्य में (दोनों ओर के पुरुषभावों से परतन्त्र बने हुए) स्त्री का आक्रमण । इसीलिए हम पुरुष को **स्वतन्त्र**, **कर्त्ता**, अतएव **प्रधान** कहते हैं, एवं स्त्री को **परतन्त्र**, **कर्त्तानुगामिनी**, अतएव **गौण** कहते हैं ।

जैसाकि पूर्व में कहा गया है, पुरुषवत् स्त्री भी अपनी सोमसंस्था मे स्वतन्त्र है । परन्तु स्त्री का यह स्वातन्त्र्य तभी सुरक्षित रह सकेगा, जबकि वह किसी **'पर' तन्त्र** को अपना रक्षक बना लेगी । आर्षमहर्षि स्त्री की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करते । अपितु चाहते वे केवल यही हैं कि, उनकी स्वतन्त्रसंस्था सोमप्रधान होने से ऋत बनती हुई अनृत है, प्रतिष्ठाशून्य है । अतः उन्हें अपने इस अप्रतिष्ठित स्वातन्त्र्य का उपयोग किसी प्रतिष्ठित सत्य को आधार बना कर ही करना चाहिए । **'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'** वाक्य इसी भाव को व्यक्त कर रहा है । धर्म्माचार्य्योंने–**'स्त्री परतन्त्र है'** यह कभी नहीं कहा है । कहते भी कैसे, जबकि पुरुषों की भाँति स्वतन्त्रता स्त्रियों का भी जन्मसिद्ध अधिकार है । उक्त आदेशवचन का तात्पर्य्य केवल

इतना हीं है कि- **स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है'** । **अर्थात् स्त्री को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग स्वयं न कर किसी अन्य के आश्रय में हीं इसका उपयोग करना चाहिए।** यदि किसी गृहस्थ में स्त्री अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग करने लगेगी, तो वह संस्था उच्छिन्न होजायगी। यक्षवेशधारी धर्म्मराज के–**'कौनसा घर नष्ट हो जाता है ?'** यह प्रश्न करने पर धर्म्मावतार युधिष्ठिर ने भी–**'स्त्री पुंवच्च तद्धि गेहं विनष्टम्'** * ( महाभारत ) **'जहाँ स्त्री पुरुष बन जाती है, वह घर नष्ट है'** यह उत्तर देते हुए उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया है।

सम्पूर्ण सम्वत्सर-मण्डल की दृष्टि से जब तत्प्रतिरूप दम्पती का विचार किया जाता है, तब भी **पुरुष की स्वतन्त्रता, एवं स्त्री की परतन्त्रता** ही सिद्ध होती है। सम्वत्सरीय खगोल के सौर दृश्य खगोल से [ आधे खगोल से ] **पुरुषसृष्टि** का, एवं चान्द्र अदृश्य खगोल से [ आधे खगोल से ] **स्त्रीसृष्टि** का विकास हुआ है, और इस दृष्टि से दोनों अपनी अपनी संस्था की अपेक्षा से स्वतन्त्र भी माने जासकते हैं। परन्तु दोनों की समष्टिरूप सम्वत्सर स्वयं अग्निमूर्ति है। यद्यपि अग्निमूर्ति सम्वत्सर के गर्भ में **अग्निरूप पुरुष**, एवं **सोमरूपिणी स्त्री** दोनों तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। अतएव सम्वत्सर को अग्नि के साथ साथ सोममय भी कहा जासकता है, जैसा कि–**"सम्वत्सरो वै सोमो राजा"** [ कौ० ७।१० ]–**"सम्वत्सरो वै सोमः पितृमान्"** [ तै० ब्रा० १।६।८।२। ) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। तथापि सम्वत्सर का मौलिक रूप अग्नि ही माना जायगा। इस मौलिक अग्नि को अग्नि न कह कर **"यजुःपुरुष"** ही कहा गया है। [ देखिए शत० १०।५।२।१ ]। यही **"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"** के अनुसार **"वाक्"** नाम से प्रसिद्ध है। आरम्भ में अग्निमूर्त्ति वाक् प्रजापति एकाकी ही थे। ये ही आगे जाकर सृष्टिकामना से **अग्निरूप पुरुष**, एवं **सोमरूप स्त्री**, इन दो रूपों में परिणत हुए हैं–**"अर्द्धेन पुरुषोऽभवत्, अर्द्धेन नारी"** [मनुः]। स्वयं श्रुति ने भी–**"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत"** [ शत० ६।१।१।७ ] कहते हुए **वागग्नि** को ही आप्य–सोम का उत्पादक माना है। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर हम **वाङ्मय**, किंवा वाक्प्रधान सम्वत्सरप्रजापति को **'अग्निप्रधान'** ही कह सकते हैं। यही आत्मा है। इसी की सर्वत्र व्याप्ति है। सम्वत्सर की अग्निप्रधानता निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट प्रमाणित होजाती है–

---

* **अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः।**
**स्त्रीनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बालनायकाः ॥**

—प्रसिद्धा सूक्तिः

"जिस संस्थाओं में कोई सञ्चालक नहीं होता, अथवा अनेक सञ्चालक होजाते हैं, अथवा स्त्री सञ्चालिका बन जाती है, अथवा बच्चे सञ्चालक बन जाते हैं, वे संस्थाएँ कालान्तर में नष्ट ही होजाती हैं"। महाभारतीय वचन के उक्त तथ्य के आधार पर ही राजस्थानी भाषा ( जयपुर की भाषा ) में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि, **"जीं घर में लुगायाँ पागड़ो बँधा लेछ, ऊँ घर को अदिन ही आजाय छ"** अर्थात्–**जिस गृहसंस्था में लोक–सामाजिकी–व्यवस्थाओं में स्त्री का अनुशासन प्रमुख बन जाता है, वह गृहस्थसंस्था लोक-सामाजिकी-मर्य्यादाओं की दृष्टि से भी, एवं गृहस्थव्यवस्था की दृष्टि से भी कालान्तर में विनष्ट ही होजाती है"** (स्त्रीपुंवच्च तद्धि गेहं विनष्टम्)।

१—"सर्वं वै सम्वत्सरः" ( शत० १।६।१।१६। ) ।
२—"सम्वत्सर एवाग्निः" ( शत० १०।४।५।२। ) ।
३—"सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः" ( शत० १।५।१।१६। ) ।
४—"वाक्सम्वत्सरः" ( ताण्ड्य० १०।१२।२७। ) ।
५—अग्निः सम्वत्सरः" ( ताण्ड्य० १७।१३।१७। ) ।

---

सम्वत्सर वागग्निमूर्त्ति है, इस का अपना प्रधान भाग ही **आग्नेय पुरुष** हैं, एवं गौणभाग ही **सौम्या स्त्री** है। इस दृष्टि से भी पुरुष ही स्वतन्त्र माना जायगा। **अग्नि अन्नाद** है, एवं **सोम अन्न** है, इस दृष्टि से भी पुरुष का प्राधान्य, एवं स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है। **अग्नि सत्य** है, सोम ऋत बनता हुआ **अनृत** है। इस दृष्टि से भी पुरुष ही प्रधान है। दक्षिणपार्श्वस्थ अग्नि **बलवान्** है, उत्तरपार्श्वस्थ सोम **निर्बल** है। इस पुरुष-दृष्टि से भी पुरुष का वीर्य्यशालित्व, एवं स्त्री का अवीर्य्यत्व ही सिद्ध होरहा है।

इन्हीं सब प्रकृतिसिद्ध कारणों के आधार पर स्त्री--पुरुष के सम्बन्ध में **परतन्त्रता, स्वतन्त्रता**-भावों का समावेश हुआ है। स्त्री को दायविभाग की अधिकारिणी क्यों नहीं माना गया ?, स्त्री को **सामाजिक, राजनैतिक** एवं **धार्म्मिक** व्यवहारों में पुरुष की भाँति पूर्ण स्वातन्त्र्य क्यों नहीं मिला ?, उन की बाल-युवा-वृद्धा-वस्थाओं में क्यों पिता--पति--पुत्रों की अर्गला लगाई गई ?, इन सब प्रश्नों का एकमात्र समाधान **अग्नि, सोम**, की उक्त मौलिक व्याख्या ही है। स्मृतिशास्त्र को सामयिक, अतएव परिवर्त्तनशील मानने वाले सुधारकबन्धु समझते होंगे कि, स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसे विधान केवल स्मृतिकारों की ही कल्पना है। अपरिवर्त्तनीय वेदशास्त्र का इन से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु हम उन्हें यह विश्वास दिलाते हैं कि, ये सम्पूर्ण विधान **श्रुतिसम्मत**, अतएव सर्वथा **वैज्ञानिक**, अतएव च **प्रामाणिक** ही हैं। विस्तारभय से प्रकृत में वे सब श्रौत प्रमाण उद्धृत नहीं किए जासकते। उदाहरणरूप से कुछ एक निदर्शन ही सन्तोष के लिए पर्य्याप्त मान लिए जायँगे।

| पुरुषसृष्टिः-आग्नेयी | सम्वत्सरः | स्त्रीसृष्टिः-सौम्या |
|---|---|---|

**पुरुषः—**

१–"पुरुषोऽग्निः"
—श० १०।४।१।६।

२–"एतावान् पुरुषः, यदात्मा-प्रजा-जाया"
—तां० ३।४।३।

३–"यद्वै पुरुषवान् कर्म्म चिकीर्षति, शक्नोति वै तत् कर्त्तुम्"
—श० १।२।५।४।

४–"पुरुषः शतवीर्य्यः"
—तै० ब्रा० ३।८।१५।

५–"द्विप्रतिष्ठः पुरुषः"
—गो० पू० ४।२४।

**स्त्री—**

१--"उत्तरत आयतना स्त्री"
—श० ८।४।४।११।

२--"अनृतं स्त्री"
--शत० १४।१।१।३१।

३--"कर्म्म वा इन्द्रियं वीर्य्यं, तदेतदुत्सन्नं--स्त्रीषु"
--श० १२।७।२।११

४--"अवीर्य्या वै स्त्री"
—श० २।५।२।३६।

५--"पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा"
—श० ६।२।१४।

**वृषा—**

१–"इन्द्रो वै वृषा"
—शत० १।४।१।२३।

२–"वृषा हिङ्कारः"
—गो० पू० ३।२३।

३–"वृषा रेतः सिञ्चति"
—शत० २।४।४।१३।

४–दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशेते"
—शत० ६।३।१।३०।

५–"समग्निरिध्यते वृषा"
—श० १।४।१।२६।

**योषा–**

१--"योषा वै सिनीवाली"
—श० ६।५।१।१०।

२--"पुरन्धिर्योषा"
—तै० ३।८।१३।२।

३--"योषा रेतो धत्ते"
—श० ७।१।१।४४।

४--"योषा वै पत्नी"
--श० १।३।१।१०।

५--"न वै योषा कञ्चन हिनस्ति"
—श० ६।३।१।३९।

## अग्निः—

१–यो वै रुद्रः सोऽग्निः"
—श० ५।२।४।१३।

२–"वीर्य्यं वा अग्निः"
—तै० १।७।२।२।

३–"पुरुषो वा अग्निः"

४–"वृषाग्निः"
—शत० २।१।१।४।

५–"अग्निर्वै रेतोधा"
—तै० १।७।२।३।

## सोमः—

१–"श्रीर्वै सोमः"
—श० ४।१।३।६।

२–"पशवो हि सोमः"
—शत० १२।७।२।२।

३–भद्रा-तत् सोमः"
—ऐ० ५।२५।

४–"योषा वा आपः"
—सोमः-श० २।१।१।४।

५–"तिरो अहन्या हि सोमाः"
—कौ० १८।५।

## अन्नादः-

१–अन्नादोऽग्निः"
—शत० २।१।४।२८।

२–अग्निर्वै देवानामन्नादः"
—तै० ३।१।४।१।

३–"अग्निरन्नादोऽन्नपतिः"
—तै २।५।७।३।

४–"अग्निमन्नादं वेद, अन्नादो हैव भवति"
—श० २।२।४।१।

५–"अन्नादा-तदग्निः"
—ऐ० ५।२५।

## अन्नम्-

१–अन्नं पशवः"
—ऐ० ५।१६।

२–"अन्नमु श्रीः"
—श० ८।६।२।१।

३–"श्रिया स्त्रियं (समदधात्)
—गो० पू० १।३४।

४–"अन्नं वै सोमः"
—शत० ३।६।१।८।

५–"परममन्नाद्यं-यत् सोमः"
—कौ० १३।७।

## दक्षिणादिक्–

१--"दक्षिणामारोह-ग्रीष्म ऋतुः"

—श० ५।४।१।२४।

२--"दक्षिणैव सर्वम्"

—गो० पू० ५।१५।

३--"अग्निना दक्षिणाम्"

—ऐ० १।७।

४--दक्षिणादिक्-इन्द्रो देवता"

—तै० ३।११।५।१।

५--"दक्षिणा दिशि रुद्रा देवाः"

—ऐ० ८।१४।

## उत्तरादिक्–

१--उत्तरा ह वै सोमो राजा"

—ऐ० १।८।

२--"एषा वै वरुणस्य दिक्"

—तै० ३।८।२०।४।

३--"यदुत्तरतो वासि, सोमो राजाभूतो वासि"

—जै० उ० ३।२१।२।

४--"एषा उ वै शान्ता दिक्"

—तै० २।१।३।५।

५--"एषा हि दिक् स्विष्टकृतः"

—श० २।३।१।२३।

उक्त कुछ एक वचनों को अवधानपूर्वक देखने से विज्ञ पाठक अनुभव करेंगे कि, स्त्री, और पुरुष, के स्वरूप-निर्म्माण में एक बहुत बड़ा अनन्तर है । और वही अन्तर दोनों के प्राकृतिक-स्वरूपों को एकधारा में प्रवाहित नहीं होने देता । अग्निप्रधान पुरुष जहाँ अपने स्वाभाविक विकास के कारण संकोचभाव से दूर रहता है, वहाँ सोमप्रधाना स्त्री का संकोच स्वाभाविक धर्म्म बन जाता है । संकोच को मूल में रखने वाले लज्जा, शील आदि सद्गुण हीं स्त्री के स्वरूप-रक्षक बनते हैं । अपने इन्हीं स्वाभाविक गुणों के बल से स्त्री पुरुष की सामयिक उद्दण्डता का शमन किया करती है । **समीकरणमूला शान्ति का मूल है-दो विरोधी शक्तियों का एकत्र समन्वय** । यदि पुरुष की भाँति स्त्री भी **आग्नेयी** बन जायगी, तो विस्फोटन होजायगा । **यदि पुरुष सौम्य, एवं स्त्री आग्नेयी** बन जायगी, तो संस्था उच्छिन्न होजायगी । **अग्नि–सोम (उग्रता–शान्ति)** का समन्वय ही दाम्पत्यजीवन की **शान्ति, तुष्टि, पुष्टि** का अन्यतम कारण **है** । स्त्री तभी अपने सौम्यरूप में प्रतिष्ठित रह सकती है, जबकि उसकी रक्षा का भार पुरुष के कन्धों पर रहता **है** । **'पर'**-(पुरुषतन्त्र ) तन्त्र को अपना रक्षक बना कर ही स्त्री अपने स्वरूपभूत **सौम्यतन्त्र** को सुरक्षित रख सकती है ।

जिस **स्वतन्त्रता, परतन्त्रता** के सम्बन्ध में इतना विस्तार किया गया, उसके सम्बन्ध में अभी यह विदित न होसका कि, **तत्त्वतः स्त्री का स्वातन्त्र्य क्या है, और उसकी परतन्त्रता क्या है** ? । उस परतन्त्रता का क्या स्वरूप है, जो स्त्री का स्वरूप दूषित कर देती है ?, शास्त्रकार किन अंशों में स्त्री को परतन्त्र देखना चाहते हैं ? ।

**"स्त्री को सर्वथा अशिक्षित रक्खा जाय, पुरुष अपने किसी धार्म्मिक, सामाजिक, राजनैतिक कार्य्य में स्त्री का परामर्श न ले । स्त्री को घर से बाहिर न निकलने दे । स्त्री सदा अपने**

मुख को अवगुण्ठन ( घूँघट ) से ढँका रक्खे। पति, श्वसुर, देवर आदि की आज्ञाओं का पालन करने में कभी पीछे न हटे। यदि स्त्री इन अनुशासनों में कभी भूल कर दे, तो पुरुष बर्बरता पूर्वक उसे मारे, पीटे, जैसा चाहे, दण्ड दे" यदि स्त्रीपारतन्त्र्य का यही अर्थ है, अथवा शास्त्रीय पारतन्त्र्य का यही अर्थ समझा जारहा है, तो हमें कहना पड़ेगा कि, ऐसी परतन्त्रता का शास्त्र में तो कहीं गन्ध भी नहीं है।

साथ ही—"स्त्री अपने कौटुम्बिक-धर्म्म की, सन्तानपालन की, गृह्यकर्म्मों की सर्वथा उपेक्षा कर स्कूल कालेजों में पुरुषसमाज के साथ पश्चिमीशिक्षा की अनुगामिनी बनी रहे। सामाजिक, राजनैतिक कार्य्यों में संलग्न रहे। पुरुष ( पति ) के अनुशासन का कोई मूल्य न समझे। देशाचार-कुलाचार-धर्म्माचार की सर्वथा उपेक्षा करती रहे, वेश-भूषा आदि में सर्वथा पश्चिमीदेशों का अनुगमन करे। लज्जा-शीलादि का एकान्ततः परित्याग कर निर्लज्ज बनकर पुरुष-समाज में अट्टाट्टहास करती रहे। किसी के नियन्त्रण की अणुमात्र भी अपेक्षा न करे।" यदि स्वतन्त्रता का यही अर्थ समझा जारहा है तो, हमें कहना पड़ेगा कि, ऐसी स्वतन्त्रता का भी गन्ध शास्त्र में तो नहीं है।

उक्त परतन्त्रा, एवं स्वतन्त्रता दोनों की व्यवहारशैली में यद्यपि भेद है, परन्तु परिणामदृष्टि से दोनों समान हैं। उक्त परतन्त्रता में जहाँ पुरुषों के द्वारा स्त्री 'पशुभाव' में परिणत होरही है, वहाँ उक्त स्वतन्त्रता में स्त्री स्वयं अपनी इच्छा से 'पशु' बन रही है। पशुभाव की दृष्टि से दोनों समान हैं। अपनी इच्छा से जो काम किया जाता है, माननीय मन उस पर किसी अन्य का नियन्त्रण सहन नहीं कर सकता। परन्तु जो काम दूसरों की इच्छा से विवश होकर किया जाता है, उस में परेच्छा का ही नियन्त्रण सम्भव है। यही परिस्थिति यहाँ समझिए। परतन्त्रतामूलक पशुभाव में स्त्री पर पुरुषेच्छा का नियन्त्रण है। यही अनैच्छिक पशुभाव है। अतएव इसका अवरोध होसकता है। परन्तु स्वतन्त्रतामूलक पशुभाव में स्त्री का अपना हीं इच्छा-स्वातन्त्र्य है। यह पशुभाव ऐच्छिक है। अतएव इस का सुधार असम्भव नहीं, तो कठिनतम अवश्य है।

संस्कृति पर चढ़े हुए दूषित आवरण को हटाकर संस्कृति को बचा लेना सहज है। परन्तु जिसने आवरण के साथ साथ अपनी मूलसंस्कृति खोकर उसके स्थान में परसंस्कृति प्रतिष्ठित करली, वहाँ आप किस का सुधार करेंगे ?। पतित का उद्धार सम्भव है। किन्तु पड़ कर जो चकनाचूर होगया, वहाँ किस का सुधार, कैसा सुधार, और कहाँ का सुधार ?। अपने को सुधारा जासकता है, परन्तु जो अपना न रहकर सबप्रकार से पराया बन गया, उसका सुधार असम्भव है। जबतक हम "हम" बने रहते हैं, तभीतक हमारा सुधार सम्भव है। जब हम 'हम' ही न रहेंगे, तो सुधार किस का होगा ?। इहीं कुछ एक तुलनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि, प्रकृत परतन्त्रता, स्वतन्त्रताओं में परतन्त्रता चिकित्स्य है, परन्तु स्वतन्त्रता (वस्तुतः महापरतन्त्रता) तो अचिकित्स्य [ लाइलाज ] ही है।

यही अवस्था उन कुप्रथाओं की समझिए, जिन्हें जातिभोज, ओसरभोज, बालविवाह, कन्याविक्रय, वरविक्रय, अन्त्यजों के साथ होनेवाला दुर्व्यवहार, आदि नामों से व्यवहृत किया जारहा है। इस में कोई सन्देह नहीं कि, ये सभी रूढिवाद विशुद्ध रूढिवाद हैं। यह भी निर्विवाद है कि, इन सब से हम,

**हमारा समाज, हमारा राष्ट्र** जीर्ण-शीर्ण ही हुआ है। अवश्य ही सुधारप्रेमी **सुधारकों** का, एवं तत्पथप्रदर्शक **सुधारक नेताओं** का यह आवश्यकतम कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वे इन सब के विरुद्ध आवाज उठावें। कौन बुद्धिमान् इन भीषण प्रथाओं का अनुमोदन करेगा ?। अवश्य ही हमारा **स्त्रीसमाज** सुशिक्षित होना ही चाहिए। उन के साथ होने वाले बर्बर व्यवहारों का नियन्त्रण करना ही चाहिए। बालविवाहादि का समाज सङ्घटन के द्वारा अवरोध होना ही चाहिए। और हम समझते हैं, इसी पवित्र उद्देश्य को लेकर कुछ समय से समाज के कुछ एक प्रज्ञाशील व्यक्तियों नें इस सम्बन्ध में आन्दोलन उठाया भी है। इन के इस आन्दोलन का हृदय से अभिनन्दन करते हुए इस सम्बन्ध में उन के सम्मुख बड़े ही प्रणतभाव से गीताचार्य्य भगवान् वासुदेव कृष्ण की दो सूक्तियाँ उद्धृत करदेना भी हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य मानरहे हैं—

**१—न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम् ।**
**जोषयेत्-सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरेत् ॥**
**२—तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्य-व्यवस्थितौ ।**
**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥**

वर्त्तमानयुग का भारतीय समाज अधिकांश में अशिक्षित है, यह तो सुधारवादी को भी मान्य है। साथ ही उसे यह भी मानना हीं पड़ेगा कि, उसे सुधार इसी अशिक्षित समाज का करना है। अब यदि हमारे ये सुधारकबन्धु समाज में बुद्धिभेद उत्पन्न कर देते हैं, तो वे सुधार के स्थान में **'बिगाड़'** के ही कारण बन जाते हैं। रहना इसी समाज में, व्यवहार इसी समाज में, सुधार इसी समाज का। फततः सुधारक महानुभावों का यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, जिस सुधार को लेकर हम आगे बढ़े हैं, **देश-काल-पात्र की** परिस्थिति के अनुकूल ही वह सुधार पनप सकेगा, अन्यथा नहीं। यदि सुधार **लोकसंग्रह** का आत्यन्तिक विरोधी है, बुद्धिभेद का अधिष्ठान है, तो हमें अपने सुधार को-**'विषकुम्भं पयोमुखम्'** हीं बनाना पड़ेगा। शताब्दियों का कुसंस्कार एक हेला से हटाने का प्रयास करना बुद्धिमानी नहीं, अपितु महामूर्खता ही सिद्ध होगी। एक आवेदन।

बालविवाह बुरा, परन्तु इसके पहिले आपको यह अन्वेषण कर लेना पड़ेगा कि, **बाल-युवा** की परिभाषा क्या है ?। शीत-ग्रीष्म-प्रधान देशों के लिए इस सम्बन्ध में कौन सी परिभाषा विज्ञानसम्मता है ?। यदि आप स्वयं **दिव्यदृष्टि** रखते हैं, तबतो कुछ कहना ही नहीं हैं। यदि आप की दृष्टि विशुद्ध लौकिक है, तो उस दशा में इन सब विवादों का निर्णय एकमात्र **'शब्द-प्रमाण'** के आधार पर ही करना पड़ेगा–"**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते**"। दूसरा आवेदन। यदि आपका सुधारवाद इन दोनों आवेदनों की उपेक्षा करके आगे बढ़ रहा है, तो हमें कहना पड़ेगा कि, न यह सुधार हमारा है, न हमारे समाज का है, न राष्ट्र का। अपितु जेसे धर्म्म की ओट में धार्म्मिकनेता स्वार्थसाधन कर रहे हैं, वैसे ही **सुधारकनेता** सुधार की ओट में हमारी मूलसंस्कृति को कुचलने का ही भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। तुलना कीजिए दोषों, और **सुधारों** की।

**१–स्त्री का अशिक्षित रहना सर्वथा अनुचित, किन्तु कालेजों में पश्चिमी-सहशिक्षा इस अशिक्षा से भी कहीं भयङ्कर।**

२–पर्दे की प्रथा सर्वथा अशास्त्रीय, किन्तु लज्जा शील-शून्य अट्टाट्टहास इस से भी कहीं भयङ्कर ।

३–बालविवाह बुरा, किन्तु युवतिपरिणय इस से भी कहीं भयङ्कर ।

४–जातिभोजन, ओसरभोजन (नुक़ता) सर्वथा अहितकर, किन्तु प्रीतिभोज, गॉर्डनपार्टी, टीपार्टी आदि सर्वनाश के ही कारण ।

५–अन्त्यजों के साथ दुर्व्यवहार अमानुषता, किन्तु उनके सम्बन्ध में स्पृश्यास्पृश्य, खाद्याखाद्य का विवेक न रखना दोनों के ही प्रकृतिसिद्ध वर्णात्मक स्वरूप के सर्वनाश का कारण ।

६–पतियों का असदाचरण सर्वथा ही निन्द्य, अतएव दण्ड्य, किन्तु "तलाक़" प्रथा का अनुमोदन संस्कृति के मूलनाश का ही अन्यतम कारण ।

७–रूढिवाद सर्वथा ही त्याज्य, किन्तु रूढिवाद के संशोधन के आवेश में मूलसंस्कृति का परित्याग सर्वनाश का ही कारण ।

८–सभी सुधार अपेक्षित, किन्तु पश्चिमदेशों की जड़भूतानुगता, अतएव आत्मसाम्य-वञ्चिता भौतिका-जीवनपद्धति की गतानुगतिकता (नकल करना) सर्वथा अनपेक्षित ।

९–संक्षेपतः सुधार करना प्रत्येक सुधारक का उत्तम कर्म्म, किन्तु लोकसंग्रह की उपेक्षा करते हुए अपनी स्वार्थलिप्सा के आकर्षण से बुद्धिभेद उत्पन्न करनाज घन्य कर्म्म ।

१०–निष्कर्षतः शब्दप्रमाणैकसार सुधार उपादेय, किन्तु मानसकल्पनैकसार सुधार सर्वथा ही हेय ।

"स्त्रियों को पूर्णरूपेण शिक्षित होना हीं चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि, नवमासपर्य्यन्त मातृगर्भस्थित
बालकके भावी जीवन का अभ्युत्थान-पतन मातृस्वरूप के अभ्युत्थान पतन पर ही अवलम्बित है। पुरुषसमाज की
प्रतिष्ठा एकमात्र मातृशक्ति ही है। इस की स्वतन्त्रता, इस का आनन्द, इस की बुद्धि का विकास ही पुरुषसमाज
की स्वतन्त्रता, आनन्दादि की मूल प्रतिष्ठा है। "जिस घर में मातृजाति का अपमान होता है, वह घर श्मशान
है। कुल का सर्वनाश है। भूति का उच्छेद है, सम्पूर्ण कर्म्मकलाप निष्फल है" ये हैं उन दकियानूसी ? पुरा-
णपन्थी ? भारतीय धर्म्माचार्य्यों के सहज उद्‌गार, जिन्हें बिना देखे सुने ही' हमारे सुधारकबन्धु उन पर कलङ्क

लगाने की भूल किया करते हैं। जिन राजर्षिप्रवर मनु को वे स्त्री पारतन्त्र्य का समर्थक बतलाते हैं, उन्हीं मनु के द्वारा मातृशक्ति के प्रति कैसे आदरभाव अभिव्यक्त हुए है ?, इस के लिए निम्नलिखित श्लोकों पर ही दृष्टि डालिए।

१-पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः, पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
२-यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥
३-शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥
४-जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यति समन्ततः ॥
५-तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥
६-सन्तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्य्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥
७-स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते।
—मनुः-३।५५-५६-५७ ५८-५९-६०-६२।
८-प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ (मनुः९।२६।)।
९-अपत्यं धर्म्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ (९।२८।)।

जिसे हमारे सुधारक महाभागोंनें स्त्री की परतन्त्रता मान रक्खा है, वह पारतन्त्र्य तो वास्तव में उनका स्वातन्त्र्य ही है। किसी व्यक्ति पर कटुशासन करते हुए उसे ऐसे नियन्त्रण में रखना, जिस से कि उसका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होजाय, वही नियन्त्रण 'परतन्त्रता' कहलाएगा। ठीक इस के विपरीत जो नियन्त्रण मधुर-शासन से युक्त है, जिस नियन्त्रण से नियन्त्रित व्यक्ति के स्वरूप की रक्षा होती है, उसका आत्मविकास होता है, वह परतन्त्रता तो वास्तव में उस व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही होगी, और स्त्रियों के सम्बन्ध में मन्वादि-धर्म्माचार्य्यों की ओर से स्वतन्त्रतारूपा ऐसी परतन्त्रता का ही विधान हुआ है, जिसे कि हम परतन्त्रता न कह कर 'रक्षा' ही कहेंगे। सौम्य बालक के प्रति पिता का जो नियन्त्रण है, सौम्या स्त्री के प्रति पिता-पति-पुत्र का वही रक्षा-

त्मक नियन्त्रण है। बहिर के शत्रुओं से हमें बचाने के लिए यदि रक्षक सैनिक विशेष स्थलों के लिए हमारा नियन्त्रण रखता है, तो इसे हम अपनी **रक्षा** ही कहेंगे, न कि **परतन्त्रता**। यही रक्षा हमारे स्वरूप-स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा बनेगी। तात्पर्य्य-स्त्री की रक्षा का भार पिता-पति आदि जिन व्यक्तियों पर डाला गया है, वे शासन-बुद्धि से रक्षा नहीं करते, अपितु **'सेवक'** बनकर ही रक्षोत्तरदायित्व निभाते हैं। **पद पद पर पूजाभाव, पूर्ण सत्कार, पुनः मधुर नियन्त्रण।**

एक चमत्कार और देखिए। मनु स्त्री के प्राकृतिक स्वरूप से परिचित थे। वे जानते थे कि, सौम्य अन्तर्जगत् रखने वाले पुरुष को तो फिर भी कटुशासन में रक्खा जासकता है। परन्तु वह सौम्या स्त्री, जिसका अन्तर्जगत् आग्नेय बनता हुआ उग्र है, उस पर कुटुशासन की कथा तो दूर रही, **मधुरशासन** भी वैसा नहीं चल सकता, जिस में **बलात्कार** की भावना का समावेश सम्भव बन सके। बलप्रयोग से इन्हें कभी नियन्त्रण में नहीं रक्खा जासकता। **पूजनभावयुक्त रक्षाभाव, सम्पत्तिसंग्रहनियुक्ति, द्रव्य-शरीरशुद्धि, धर्म्मकार्य्याभिगमन,** आदि आदि **दिव्य भावों** को मध्यस्थ बनाकर ही इस मातृशक्ति के अन्तर्जगत् को सुरक्षित रक्खा जासकता है। देखिए ! इस सम्बन्ध में राजर्षि मनु क्या कह रहे हैं-

**१—न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।**
**एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥**
**२—अर्थस्य संग्रहे चैनां, व्यये चैव नियोजयेत्।**
**शौचे, धर्म्मेऽन्नपक्त्यां च, पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥**
**३—अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः।**
**आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥**

—मनुः ९।१०,११,१२।

अर्थात्–'कदापि बलप्रयोग से स्त्री के स्वरूप की रक्षा सम्भव नहीं है। अपितु धनसंग्रह, गृहस्थव्यय,शौचाचार, कुलाचार,धर्म्माचार, पर्वोत्सवमङ्गलपरायणता, भोजनव्यवस्था, गृहस्थपरिग्रह-संरक्षण, आदि आदि कर्त्तव्यनिष्ठाओं के माध्यम से ही नारी की स्वरूप-रक्षा सम्भव है। पुरुष को यह स्मरण रखना चाहिए कि, "नारी घर की चारदीवारी में बलपूर्वक नियन्त्रित कर देने से कदापि सुरक्षित नहीं रह सकती। अपितु इसकी रक्षा तो इस की स्वयं की–कर्त्तव्यानुगता–आत्मनियन्त्रणवृत्ति से ही सम्भव है"।

समस्त भारतीय शास्त्र पर दृष्टि डाल जाइए। कहीं भी आपको स्त्री के सम्बन्ध में **'परतन्त्र'** शब्द नहीं मिलेगा ( १ ) **"न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"** ( २ ) **"अस्वतन्त्रा स्त्रियः कार्य्याः"** इत्यादि रूप से केवल यही आदेश मिलेगा कि, **"उनको स्वतन्त्रता का उपयोग स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए"**। अपनी इस स्वतन्त्रता को वे तभी सुरक्षित रख सकतीं हैं, जब कि किसी रक्षक को वे अपनी प्रतिष्ठा बना लेतीं हैं। और अवश्य ही यह **'रक्षात्मक-भाव'** स्त्री के सहजसिद्ध सौम्य स्वभाव के कारण सर्वमान्य हीं माना जायगा।

साथ ही जहाँ जहाँ **स्त्रीपारन्त्र्य** का उल्लेख हुआ है, वहाँ वहाँ पुरुष को **'रक्षक'** ही घोषित किया गया है, न कि **'शासक'**। उदाहरण के लिए **"पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने, रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः"-'स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः"-'जायां रक्षन् हि रक्षति"-"रक्षेयुस्ताः"-यतन्ते रक्षितुं भार्य्याम्"** इत्यादि कुछ एक वचन हीं पर्य्याप्त होंगे।

**"पुरुष होने के नाते मनु ने स्त्रियों के लिये ऐसे पक्षपातपूर्ण आदेश दे डाले हैं"** इसप्रकार का अनर्गल प्रलाप करने वाले उन सुधारक-बन्धुओं को हम विश्वास दिलाते हैं कि, मनु भी आपके ही समान सुधारक, किन्तु वास्तविक सुधारक थे। स्त्रीजाति के पतन का दोष आप आज जिसप्रकार पुरुषजाति के मत्थे मँढते हैं, आप के सहयोगी मनु ने भी पुरुष को ही अपराधी ठहराया है। मनुने स्पष्ट शब्दों में ऐतिहासिक घटनाओं का निर्देश करते हुए यह सिद्ध किया कि, जिस समाज में **स्त्रीजाति का पतन** देखो, विश्वास करो ! यह **पुरुषजाति का ही अपराध है**। जिसप्रकार नदी का मधुर जल क्षारसमुद्र के संसर्ग से क्षार बन जाता है, एवमेव स्त्री के गुण **गुणहीन पुरुष के संसर्ग से दूषित ही होजाते हैं**। **ठीक इस के विपरीत पुरुष के सद्गुणों से दुर्गुणा स्त्री भी सुधर जाती है**। अतएव स्त्रीसमाज का अभ्युत्थान **चाहने वाले पुरुषसमाज को पहिले अपना हीं अभ्युत्थान करना चाहिए**। बतलाइए, निम्नलिखित मनुवचन किसे अपराधी ठहरा रहे हैं ?, एवं किस के साथ पक्षपात कर रहे हैं ?

**१-यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।**
**तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥**
**२-अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।**
**शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥**

---

(१)--पिता 'रक्षति' कौमारे, भर्त्ता 'रक्षति' यौवने ।
'रक्षन्ति' स्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
—मनुः ६।३।

(२)--अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्या पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥
—मनुः ६।२।

**३--एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।**
**उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥**
—मनुः ६।२२।२३।२४।

प्रश्न होसकता है कि, पूर्वप्रदर्शित अग्नीषोम–विज्ञान के अनुसार जब सौम्य स्त्री **'शक्ति'**–रूपा है, तो इसे **पुरुषरक्षा** की क्या आवश्यकता है ? । क्या शक्तिरूपा वह स्त्री, जो अपने सहयोग से शक्तिशून्य पुरुष को भी शक्तिमान बना देती है, अपूर्ण पुरुष को अपने अर्द्धाकाश–प्रदान से पूर्ण पुरुष बना देती है, वह स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकती ?, प्रश्न साधारण होता हुआ भी कुतूहल–वर्द्धक है ।

कुतूहलवृद्धि का कारण है–**हमारा–बुद्धिवैभव** । यदि इस सम्बन्ध में थोड़ी सी भी विचारशक्ति से काम लिया जाता, तो उक्त प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता । पहिले विज्ञानदृष्टि से समाधान कीजिए । **जो तत्त्व जिस तत्त्व का घन होता है, वह स्वयं उस घनतत्त्व का उपयोग नहीं कर सकता** । उदाहरण के लिए **मनः–प्राण–वाग्घन अव्ययात्मा** को ही लीजिए । **मन ज्ञानशक्ति है, प्राण क्रियाशक्ति है, एवं वाक् अर्थशक्ति है** । क्योंकि आत्माव्यय शक्तिघन है, अतएव वह स्वयं इसका उपयोग करने में असमर्थ है । शक्तिसञ्चार के लिए शक्ति से अतिरिक्त प्रदेश ही अपेक्षित है । जब वहाँ शक्ति के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं, तो उसका प्रसार कहाँ हो ? । अतएव **मनः–प्राण–वाङ्मूर्त्ति, किंवा ज्ञान–क्रिया–अर्थशक्ति–मूर्त्ति** अव्यय को **अप्राण, अमना** हीं कहा जाता है—**"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात परतः परः"** ( मुण्डक ) ।

कामना मन का व्यापार अवश्य है, परन्तु मन से कामना का उदय तभी सम्भव है, जब कि वह हृदयरूप सीमाभाव को प्रतिष्ठा बनाले । उधर **अव्ययमन, और हृदय** एक वस्तुतत्त्व है । अतएव मनोघन होते हुए भी उसे **निष्काम, आप्तकाम, अकाम** इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है । **स्वशक्ति का उपयोग स्व में (अपने धरातल में) कदापि नहीं होसकता,** यह निश्चित है। होसकता है कब ?, जब कि वह शक्ति किसी अन्य को प्रतिष्ठा बनाले । विश्वद्रष्टा चक्षु स्वयं अपना रूप तबतक देखने में असमर्थ है, तबतक कि वह दर्पण को आधार न बनाले । क्या कोई वैद्य, अथवा डॉक्टर अपनी चिकित्सा में सफल होसकता है ? । दूसरों के मुकद्दमों की पैरवी करने वाल प्लीडर अपने केस में पैरवी नहीं कर सकता, नहीं करनी चाहिए ।

बस ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए । **स्त्री शक्तिघन है** । अतएव तबतक यह अपनी शक्ति का सदुपयोग कदापि नहीं कर सकती, जबतक कि किसी शक्तिमान् को यह अपना आश्रय नहीं बना लेती । **शक्तिमान् के द्वारा ही यह शक्तितत्त्व विकसित होसकता है** । इस से स्वयं का भी विकास होगा, उधर अशक्त पुरुष भी शक्तिशाली बनता हुआ। शिवभाव मे परिणत होजायगा । एक समाधान ।

अब स्थूलदृष्टि से विचार कर लीजिए । मानस–वृत्तियों के **समीकरण** के लिए यह आवश्यक है कि, कोश का उपयोग स्वयं कोशाधिष्ठाता न करे । जिसके कोश में जो वस्तु है, वह उसका उपयोग न करे, यही तात्पर्य्य है । इसी नियम पर चलने से समाज में शान्ति स्वस्ति रह सकती है। कहना न होगा कि, इसी उद्देश्य

सिद्धि के लिए वर्णव्यवस्था व्यवस्थित हुई है। ब्राह्मण ज्ञान का कोश है, क्षत्रिय पराक्रम का कोश है, वैश्य सम्पत्तिकोश है, शूद्र शिल्पकलानुगत सेवाभाव का कोश है। चारों वर्ण चारों के कोशाध्यक्ष हैं। ब्राह्मण का ज्ञान समाज की 'शान्ति' में आहुत है, क्षत्रिय का पराक्रम समाज की 'तृप्ति' में आहुत है, वैश्य की सम्पत्ति समाज की 'तुष्टि' में आहुत है, एवं शूद्र का सेवाबल समाज की 'पुष्टि' में आहुत है। इन्हें अपनी स्वरूपरक्षा के लिए इस कोश से कुछ भी लेने का अधिकार नहीं है। लेंगे, अवश्य लेंगे, परन्तु आहुति का शेष भाग। इन्हें यज्ञोच्छिष्ट से ही स्वरूपरक्षा करने का अधिकार है— "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तु"। एवं ये निर्धूतकिल्बिष रह सकते हैं। 'हम हमारे लिए नहीं, अपितु समाज के लिए हैं' यही सर्वहुतयज्ञ समाजशान्ति, दूसरे शब्दों में 'समाजस्वातन्त्र्य' की मूलप्रतिष्ठा है। पारस्परिक अनुशासन में हीं स्वतन्त्रता का बीज प्रतिष्ठित है।

यदि लवाई, दर्जी, कुम्भकार आदि अवान्तर सामान्य भी कोशाध्यक्ष अपनी सामग्री को अपना साक्षात् हव्य बनालें, तो क्या परिणाम होगा ?, यह उन्हीं विचारशीलों से प्रष्टव्य है। स्त्री शक्तिघना है। उसे स्वयं सक्षाद्रूप से उसके उपयोग का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। शक्तिघन को यह विवेक रहता ही नहीं कि, मेरी शक्ति कहाँ, कब, कितनी, क्यों, कैसे खर्च होरही है ?। यही एक ऐसी विषमता थी, जिसे रोकने के लिए ही इसका एक 'मन्त्री' बनाना आवश्यक समझा गया। वही मन्त्री, वही रक्षक, वही सैनिक, वही उपासक, वही पूजक, विश्व में 'पुरुष' नाम से व्यवहृत हुआ है।

भावुक जन कहते हैं-पश्चिमी देशोंनें इसलिए उन्नति की है, कि वहाँ स्त्रियों को पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त है। सुस्वागतम्!। आप, और आपका भारतवर्ष तो पश्चिम नहीं है। इसका नाम है-"पूर्वदिश-कर्म्मभूमि-आर्य्यावर्त्त-भारतवर्ष"। क्या आप यह चाहते हैं कि, पूर्व पश्चिम बन जाय, कर्म्म अकर्म्म बन जाय, भारतवर्ष केतुमालवर्ष बन जाय ?। प्रकृति से ही पूँछ देखिए, देखें वह इस सम्बन्ध में क्या सम्मति प्रदान करती है ?।

प्रकृति कहती है कि, पूर्वदेशों में मैं 'इन्द्ररूप' से प्रतिष्ठित रहती हूँ, एवं पश्चिमीदेशों में मेरा वरुणरूप प्रधान है। इन्द्रदेवता अग्नि के अनुयायी हैं, एवं वरुणदेवता सोम के। अतएव अग्निप्रतिष्ठारूपा दक्षिणादिक् इन्द्र की भी, एवं सोमप्रतिष्ठारूप उत्तरादिक् वरुण की भी मान ली जाती है, जैसा कि निम्न-लिखित वचनों से स्पष्ट है।

| इन्द्रः— | वरुणः |
|---|---|
| १–'अथ यत् पुरस्ताद्भासीन्द्रो राजा०' [तै० उ० ३।२१।२]। | १–'अथ यत् पश्चाद्भासि वरुणो राजा०'। |
| २–'अथैनं [इन्द्रं] प्राच्याम्' ऐ० ८।१४।)। | २–'प्रतीची दिक् वरुणोऽधिपतिः' (अथ० ३।२७।३]। |
| ३–'प्राचीदिक्, अग्निर्देवता' [तै० २।११।५।१]। | ३–'प्राचीदिक्, सोमो देवता' [तै ३।११।६।२]। |
| ४–'दक्षिणादिक् इन्द्रोदेवता' [तै० ३।११।५।१]। | ४–'उत्तरा ह वै सोमो राजा' ऐ० १।८]। |
| ५–वृषा वा इन्द्रः' [कौ २०।३]। | ५–'एषा वै वरुणस्य दिक्' [तै० ३।८।२०।४।]। |

* इन्द्राग्नीरूप पुरुष पुरुषसृष्टि का, एवं वरुणसोमरूप स्त्रीसृष्टि का आलम्बन बतलाया गया है। इन्द्राग्निप्रधान पूर्वीदेश पुरुषसृष्टि की प्रधानता के द्योतक हैं. एवं वरुण–सोमप्रधान पश्चिमीदेश स्त्रीप्राधान्य के सूचक है। इस प्राकृतिक भेद के अनुसार अवश्य ही दोनों के आदर्शों को भिन्न भिन्न ही माना जायगा। और यही भेद यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त होगा कि, हमारी **प्राणप्रधाना दाम्पत्यव्यवस्था** कभी उनके **भूतप्रधान दाम्पत्यजीवन** से समतुलित नहीं होसकती।

जाने दिजिए प्राकृतिक कारण को। जिन पश्चिमी देशोंने शक्तितत्त्व को अरक्षित कर लिया है, उन के लिए आज वही शक्तितत्त्व सर्वसंहार का ही उपक्रम बन चुका है, इस नग्नसत्य को कौन स्वीकार नहीं करेगा ?। आर्य्यनारी की स्वरूप-प्रतिष्ठा तो इसी में है कि, वह अपने आपको स्वतन्त्र न समझ कर अपनी स्वतन्त्रता का आधा भाग पुरुष को ही समझे। उधर आर्य्यपुरुष का यह कर्त्तव्य है कि, वह अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग इनके सहयोग से ही करे। दोनों की सद्भावना ही हमारे देश का अभ्युदय कर सकती है।

सुधारवादी महोदय आवेश में पड़कर यह भूल जाते हैं कि, हम रूढिवादों का जो सुधार करना चाहते हैं, वह सुधार वास्तविक सुधार नहीं है, अपितु यह तो पश्चिमी देशों का विशुद्ध अनुकरणमात्र है। और इस अनुकरण की तुलना में यह निःसंकोच कहा जासकता है कि, जो अनुकरण, जो सुधार, जो स्वतन्त्रता हमारा मूलनाश करने के लिए ही मुँह बाएँ खड़ी है, हानिकर, एवं अशास्त्रीय पर्दे की प्रथा के विरुद्ध सुनाई पड़ने वाली जिन भीष्मप्रतिज्ञाओं की ओट में आर्य्यनारी को आज जो निर्लज्जता का पाठ पढ़ाया जारहा है, दूषित जाति–भोजों के सुधार के नाम पर पश्चिमानुकरणप्रधान जिन **प्रीतिभोजों** ( पार्टियों ) का समर्थन किया जारहा है, इन सब अकाण्ड ताण्डवों की तुलना में तो हमारी परतन्त्रता, हमारी दूषित प्रथाएँ हीं कहीं अच्छी हैं। इस लिए कि, उन सुधारों से हमारे मूल पर प्रत्यक्षरूप से ही आक्रमण होरहा है।

अस्तु, जिस युग में धर्म्म एक ठेकेदारी की वस्तु बन कर अधर्म्म-प्रसार ही कर रहा हो, जहाँ **'नश्यन्ति बहुनायकाः'** आभाणक ही सर्वात्मना चरितार्थ होरहा हो, वहाँ के सुधारकबन्धु यदि सुधार के नाम पर बिगाड़ का प्रसार करें, तो इसमें उनका कोई भी दोष नहीं माना जासकता। देशकाल की परिस्थिति का विचार भी आवश्यक है, जिस शासन से हम शासित हैं, उसकी सभ्यता का भाव हम पर न पड़े, यह भी असम्भव है। इन सब तथ्यों को लक्ष्य में रखते हुए पारस्परिक वैमनस्य का परित्याग कर देश के **विद्वानों**, एवं **सुधारनेताओं** के सम्मि–लित परामर्श से कोई ऐसा मध्यमपथ निकलना हीं चाहिए, जिससे सामयिक परिस्थिति का भी आदर किया जासके, एवं साथ ही **पश्चिम-पूर्व** के इस भयानक सघर्ष के मध्य में पड़ी हुई अपनी मौलिकता की भी येन केन रूप से रक्षा की जासके। अभी तो यही कहना पड़ेगा कि **धर्म्मानुयायी धर्म्मनेता**, एवं **समाज, तदनुयायी समाजनेता धर्म्म-सुधार** प्रसार के नाते अधर्म्म–बिगाड़ ही कर रहे हैं। इन पंक्तियों के असमर्थ लेखक के प्रज्ञाकोश में अपनी क्षोभ-शान्ति के लिए इस के अतिरिक्त और क्या बच रहा है कि, वह दयानिधि से प्रार्थना करे कि भगवन् !

---

* इस विषय का विशद विवेचन **"गीताभाष्यभूमिका"** के प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

येषां चेतसि मोह-मत्सर, मद-भ्रान्तिः समुज्जृम्भते ।
तेऽप्यते दयया दयाघनविभो ! सन्तारणीयास्त्वया ॥

—※—

उक्त दाम्पत्यरहस्यविज्ञान से अत्र यह सिद्ध होचुका है कि, आर्य्यावर्त्त के कारुणिक ऋषियोंनें स्त्री-जाति के लिए जिन नियमों का विधान किया है, वे सब इसके अभ्युत्थान के ही कारण हैं। स्त्री की **ऋतमयी, अतएव सत्यशून्या सौम्या वृत्ति** को लक्ष्य में रखकर एक स्थान पर तो भगवान् मनुने यहाँतक कह डाला है कि--

**मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।**
**बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥**

—मनु॰ २।२१।५।

'माता-बहिन-दोहिती आदि के साथ भी पुरुष को निर्ज्जन घर में नहीं बैठना चाहिए'-क्या मनु का उक्त विधान उपहासास्पद है ?। मुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए । **पर्दे के विरोध की ओट में आर्य्यनारी को उद्दामवासनावासित पश्चिम के प्राङ्गण में ताण्डवनृत्य के लिए खड़ा करना क्या स्त्रीजाति की उन्नति का मार्ग है** ? । खूब सोचिए ! ज्यों ज्यों आप विवेकबुद्धि से इस दुरूह प्रश्न का मनन करते जायँगे, त्यों त्यों आपकी विवेकशालिनी बुद्धि चिरन्तन ऋषियों के पुरातन सिद्धान्तों की ओर निश्चयेन आकर्षित होती जायगी ।

हाँ, तो प्रकृत में हमें उक्त सन्दर्भ से बतलाना यही था कि, **स्त्री सौम्या है, ऋतभावापन्ना है** । इस ऋतभाव को प्रतिष्ठित करने के लिए ही **रक्षात्मक-मर्य्यादासूत्ररूप योक्त्र** से पत्नी का सन्नहन किया जाता है । योक्त्रबन्धन के इसी प्रथम कारण का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

**"योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति"** ※ ।

---

※-**'योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति'** वचन भारतवर्ष की विज्ञानसम्मता प्राचीन स्त्री कीपुरातन-वेशभूषा की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा हैं । अवश्य ही उस युग में भारतीय-आर्य्यनारी का अधोवस्त्र वैसा की रहा होगा, जिस में सूत्र-मयी, किंवा रेशम की रज्जु ( डोरी ) प्रोत रहती होगी, जिसे कि आज की राजस्थानीया-प्रान्तीया-भाषा में-**'नाड़ा'** कहा जाता हैं । **'नाड़ा'** निश्चयेन वैदिक-युग के **'योक्त्र-बन्धन'** का ही प्रतिरूप है । परमसांस्कृतिक महद्भाग्यशाली राजस्थान में तो आज भी यहाँ की गृहदेवियों की सुसांस्कृतिककी वेशभूषा में **योक्त्ररूप-नाड़ाबन्धन** रुप से सुसमन्वित सुप्रसिद्ध 'घाघरा' नामक **अधोवस्त्र** ही उपलब्ध होरहा है, जिस की ग्रन्थि भी उसी पद्धति से समन्विता है । एतदतिरिक्त **'रास्ना'** नामक आभूषण की प्रतिरूपता का भी अत्र समावेश हुआ हैं । राजस्थान की नारी का सुप्रसिद्ध **'काञ्ची'** नामक ( **कणकती** ) **आभूषण** भी वैदिक-युग की-**'रास्ना'** ही है ।

अपिच—पत्नी का नाभि से नीचे का प्रदेश अनेक कारणों से अपवित्र माना गया है। नाभि से नीचे गर्भाशय में शोणित रहता है। इसी शोणित में शुक्राहुति होने से प्रजोत्पत्ति होती है। ऋतुमती स्त्री के शोणित में तमोभाव के प्रवर्त्तक सूर्य्यविरोधी **अत्रिप्राण** की सत्ता रहती है। अतएव ऋतुमती को **'आत्रेयी'** कहा जाता है। यह अत्रि आत्मा को मलिन करने वाला प्राण है। अतएव आत्रेयी के स्पर्श का धर्म्मशास्त्र ने सर्वथा निषेध किया है। यही पहिला **अमेध्यभाव** है। गर्भाशय में शुक्रशोणित के मिथुनभाव में कर्म्मभोक्ता भावनावासना से भावित वासित औपपातिक जीवात्मा प्रविष्ट होता है। पापमयी वासना ही जीव के गर्भाशन में प्रवेश का मुख्य कारण है। यही दूसरा **अमेध्यभाव** है। इन सब अमेध्यभावों से पत्नी का नाभि से नीचे का प्रदेश अमेध्य माना गया है। अमेध्यभाव के समावेश से **मेध्ययज्ञ** सदोष बन जाता है। इधर केवल पत्नी का यज्ञ में योग ही नहीं होता। अपितु मन्त्र बोलते हुए इसे यज्ञाङ्गभूत आज्य का दर्शन करना पड़ता है। **'आज्य-पृष्ठ'** विज्ञान के अनुसार ( आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के साथ ) आधि-दैविक प्राणदेवताओं का सङ्गमन ( ग्रन्थिबन्धन ) करवाने वाले **'आज्य'** नामक **'प्राण'** का प्रतिकृतिरूप यह आज्य सर्वथा मेध्य है। यदि अपने अमेध्यभाव का अवरोध न करती हुई यजमानपत्नी मेध्य आज्य का अवलोकन कर लेगी, तो आज्य का मेध्यभाव नष्ट होजायगा। इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए ( पत्नी के अमेध्यभाव का अवरोध करने के लिए ) भी योक्त्रबन्धन किया जाता है। योक्त्र-बन्धन की यही दूसरी उपपत्ति है ॥१३॥

पत्नी के ऊपर ही योक्त्र बाँधा जाता है। द्युलोकाग्नि में सोम की आहुति होने से **'श्रद्धा'** नाम से प्रसिद्ध **'चान्द्र पानी'** उत्पन्न होता है। पर्जन्याग्नि में श्रद्धा की आहुति होने से **'वृष्टि'** का जन्म होता है। पार्थिवाग्नि में वृष्टि की आहुति होने से **'कार्पासादि ओषधियाँ'** उत्पन्न होतीं हैं। जिस कार्पास ( कपास ) से तन्तुवाय ( जुलाहा ) ताना बाना लगा कर वस्त्र सम्पन्न करता है, वह वस्त्र उपर्य्युक्त पञ्चाग्निविद्याक्रम से वास्तव में **'ओषधिरूप'** ही है पानी ही तो कपास बना है। कपास ही तो वस्त्ररूप में परिणत हुआ है। पानी में रहने वाला संवरणधर्म्मा* वाला प्राण ही **'वरुण'** कहलाता है। ग्रन्थिबन्धन करना इसी प्राण का स्वरूपधर्म्म है। आप जहाँ कहीं, जैसा भी बन्धन देखते हैं—वहाँ सर्वत्र वरुणप्राण की ही सत्ता है। अतएव वरुण को पाश ( बन्धन ) का अधिष्ठाता माना जाता है। **वरुणपाश सुप्रसिद्ध है**। आपोमय होने से **ओषधिरूप वस्त्र वरुणदेवतामय** है। इधर जिस योक्त्ररूप रज्जु ( रस्सी ) से संनहन किया जाता है, वह भी बन्धन की साधिका होने से **वरुणदेवतामयी** ही है। यदि वस्त्रों के ऊपर इस वारुणी रज्जु का सन्नहन होता है, तो यह रज्जु ( रज्जुगत वारुणप्राण ) शरीराग्नि को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाती। वस्त्र सजातीय है। अत: उस पर वारुणी का आक्रमण नहीं होता। पत्नी को इसी वरुणाघात से बचाने के लिए वस्त्रों के ऊपर ही योक्त्र-बन्धन किया जाता है ॥१४॥

**"अदित्यै रास्नासि"** यह मन्त्र बोलते हुए ही संनहनकर्म्म किया जाता है। पृथिवी का जो भाग सूर्य्य की ओर रहता है, दूसरे शब्दों में-पृथिवी के जिस भाग पर सौर प्रकाशमय प्राणदेवता अविच्छिन्नरूप से आते रहते हैं, पृथिवी का वही अहर्भाग **'अदिति'** कहलाता है। यही अदितिपृथिवी प्राणदेवताओं को अपने गर्भ में रखती हुई, दूसरे शब्दों में **वसु-रुद्र-आदित्य, अश्वनीकुमार** इन ३३ **सों प्राणदेवताओं का** स्वरूप-सम्पादन करती हुई जहाँ **"अदितिर्म्माता"** इत्यादि रूप से देवताओं की माता कहलाती है, वहाँ वही

*—"तं वा एतं 'वरणं' सन्तं 'वरुण' इत्याचक्षते परोक्षेण"।

अदिति उक्त प्राणदेवताओं का भोग-साधन बनती हुई प्रकृत ब्राह्मण में 'देवपत्नी'-नाम से भी व्यवहृत हुई है । पदार्थविद्या में-पति-पत्नी-पुत्र-पिता-स्वसा-दुहिता-आदि सब व्यवहारों का परस्पर सांकर्य्य है । पिता पुत्र बन जाता है । पत्नी माता बनजाती है, माता पत्नी बन जाती हैं, एवं पुत्र पिता बन जाता है । पदार्थविद्या के इसी वैज्ञानिक रहस्य को लक्ष्य में रखकर वाजिश्रुति कहती है—

**"स एष पिता-पुत्रः । यदेषोऽग्निमसृजत, तेनैषोऽग्नेः पिता । यदेतमग्निः सम-दधात्-तेनैतस्याग्निः पिता । यदेष देवानसृजत-तेनैष देवानां पिता । यदेतं देवाः समदधुः-तेनैतस्य देवाः पितरः । उभयं हैतद् भवति-पिता च पुत्रश्च" ।**

—शत० ब्रा० ६ कां १।२।२६। इति ।

प्राणदेवताओं की समष्टि ही यज्ञ है । अदितिपृथिवी इस यज्ञप्रजापतिरूप यजमान की पत्नी है । इधर चान्द्रगर्भिता इस अदिति से ही स्त्री की उत्पत्ति होती है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है । यही अदिति की प्रतिकृति है । साक्षात् अदिति है । अतः इसके लिए **'हे रज्जु ! तुम अदिति के लिए रास्ना (मेखला-काञ्ची-कंडोर-कणकती आदि नामों से लोकभाषा में प्रसिद्ध ) हो'** यह कहा गया है । जबतक रज्जु रज्जु है, तबतक वह अवश्य ही वरुणभाव से आक्रान्त है । यद्यपि वस्त्रों के उपर बाँधने से रज्जु का वरुणभाव एकप्रकार से शान्त होजाता है, फिर भी परम्परया तो वरुण का आक्रमण प्राप्त हो ही जाता है । इसी विप्रतिपत्ति को मन्त्रभावना से सर्वथा विदूर करने के लिए, दूसरे शब्दों में-रज्जुगत वरुणभाव की सर्वथा निवृत्ति के लिए ही इस रज्जु में 'रास्ना' ( मेखला ) की भावना की जाती है । **यह रज्जु रज्जु नहीं, अपितु रास्ना है । पत्नी का आभूषण है । बन्धन के स्थान में यह तो सौन्दर्य्य का ही साधन है-** यही तात्पर्य्य है ॥१५॥

यद्यपि रास्ना की भावना से योक्त्ररूपा रज्जु का वरुणभाव हट गया है । फिर भी यदि योक्त्र के दक्षिण उत्तर-पाशाग्रों में ग्रन्थिबन्धन कर दिया जायगा ( दोनों अग्र भागों में गाँठ लगादी जायगी तो ) पुनः यह योक्त्र वरुणभाव से युक्त होजायगा । कारण, पूर्व कथनानुसार ग्रन्थिरूप पाशबन्धन के अधिष्ठाता वरुण ही हैं । अतः गाँठ सर्वथा नहीं लगानी चाहिए ॥१६॥

यदि गाँठ नहीं लगाई जायगी, तो योक्त्र स्वस्थान में अवस्थित (रुका) कैसे रहेगा ?, इस विप्रतिपत्ति को दूर करने का उपाय है-ऊर्ध्व भाग में पाशाग्र को खचित कर देना । जिस क्रम से ऊर्ध्व की ओर उद्गूहन किया जाता है, वह पद्धतिनिरूपण-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । "विष्णोर्वेष्योऽसि" यह मन्त्र बोलते हुए ही योक्त्र का ऊर्ध्व उद्गूहन किया जाता है । पत्नी यज्ञ का पश्चिमार्द्धभाग है, यह बतलाया जाचुका है । बिना पत्नी के यज्ञ सम्पन्न नहीं होता, अतः हम इस यजमानपत्नी को अवश्य ही विष्णुरूप यज्ञ की, किंवा यज्ञरूप विष्णु की स्वरूप-सम्पादिका कह सकते हैं । इधर ऋतभावापन्ना पत्नी का योग योक्त्रबन्धन पर ही निर्भर है । योक्त्रबन्धनरूप ऊर्ध्व उद्गूहन का प्रधान साधन योक्त्र का दक्षिण पाशाग्र ही है, जैसा कि पद्धति में बतलाया जाचुका है । दक्षिण में अग्निसत्ता (ऋतुयज्ञसमर्थक ऋताग्नि की सत्ता) रहती है । ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति होने से ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सरयज्ञ सम्पन्न होता है । यज्ञ ही विष्णु

है । दक्षिणापाश में यही दक्षिणास्थ अग्निमूर्त्ति यज्ञविष्णु प्रतिष्ठित है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर- **"हे दक्षिणपाश ! आप विष्णुरूप यज्ञ के वेष्टन हो, यज्ञ के स्वरूप-सम्पादक हो"** इस मन्त्र के द्वारा यही भावना रखते हुए उसका ( दक्षिणपाशाग्र का ) ऊर्ध्व की ओर ही उद्गूहन किया जाता है ।

अब केवल यह प्रश्न बच जाता है कि, जैसे यज्ञकर्म्म में युक्त **यजमान-अध्वर्य्यु-होता-उद्गाता-ब्रह्मा** आदि ऋत्विजों के लिए बैठने के स्थान नियत हैं, तथैव इस पत्नी के बैठने का कौनसा नियत स्थान है ?, इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है-

न्यायप्राप्त बात तो यह है कि, यजमानपत्नी को गार्हपत्याग्निकुण्ड के ठीक पश्चिम में पूर्वमुख करके ही बैठना चाहिए था । अर्थात् **पत्नीशाला** का निर्म्माण गार्हपत्य से पश्चिम में हीं होना चाहिए था । कारण स्पष्ट है । प्रकृति में सूर्य्यरूप आहवनीय पूर्व में है । पृथिवीरूप गार्हपत्य इससे पश्चिम में है । पश्चिमस्थ भूपिण्ड ( अदित्युपलक्षित भूपिण्ड ) देवताओं की पत्नी है । पश्चिम में प्रतिष्ठित होती हुई पृथिवी (भूपिण्ड) सूर्य्य की ओर ( पूर्व की ओर ) चलती हुई घूम रही है । पश्चिम से पूर्व की ओर जाती हुई, सम्वत्सर का स्वरूप-सम्पादन करती हुई अदिति पृथिवी ही सौर प्राणदेवताओं के सम्वत्सर-यज्ञ का स्वरूप-सम्पादन कर रही है । यजमानपत्नी इसी अदिति पृथिवी के स्थान में है । इधर इस वैधयज्ञ में वेदि के पूर्वभाग में अवस्थित चतुरस्र ( चौकोर ) आहवनीयकुण्ड द्युलोक की प्रतिकृति है, एवं वेदि से पश्चिमदिक् में अवस्थित वर्त्तुल गार्हपत्यकुण्ड अदिति पृथिवी का स्वरूप है । यही स्वरूप यजमानपत्नी का है । अतः इसे स्वस्थानभूत ( अदितिस्थानभूत ) गार्हपत्य के ठीक पश्चिम में हीं बैठना चाहिए । परन्तु ऐसा न कर गार्हपत्य से दक्षिण नैर्ऋतकोण मे हीं पत्नीशाला बनाई जाती है । कारण इसका यही है, कि, यदि पृथिवी-स्थानीय गार्हपत्य के समीप पश्चिम में पत्नी को बैठाया जायगा, तो यह पत्नी परिभ्रमण करती हुई पृथिवी के साथ युक्त होजायगी । पार्थिवगति में आरूढ होजायगी, एवं जैसे पृथिवी सम्वत्सर के भीतर भीतर ( परिभ्रमण से ) द्युलोक में पहुँच जाती है, तथैव इस की गतिभावना से आकर्षिता यजमानपत्नी भी द्युलोक में चली जायगी। पत्नी को इसी द्युलोकगमन से बचाने के लिए प्रकृतिसिद्ध स्थान से हटाकर गार्हपत्य से दक्षिण नैर्ऋतकोण में ही प्रतिष्ठित किया जाता है ॥१७॥

## इति-पत्नीसंनहनोपपत्तिः

—*—

## ३—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्तिः—

पत्नी योषाप्राणमयी है । इधर आज्य रेतोरूप होने से वृषाप्राणमय है । आज्य (घृत) दुग्ध का कार्य्य है । दुग्ध ओषधि का विकार है । ओषधि पानी से उत्पन्न हुई है । पानी सोम का विकार है । सोमद्रव्य साक्षात् रेत है । वही सोम परम्परया आज्यरूप में परिणत हुआ है । ऐसी अवस्था में आज्य को अवश्य ही **'रेत'** कहा जासकता है । भाष्यारम्भ में वह बतलाया जाचुका है कि, प्रजोत्पत्ति में स्त्री, पुरुष का मिथुनभाव कारण नहीं है, अपितु **योषा-वृषा-प्राण** का मिथुनभाव ही **प्रजोत्पादक**

है। इन प्राणों का संयोग दृष्टिसूत्र से भी होसकता है । पुराण में ऐसे अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं कि, 'अमुक ऋषि ने अमुक स्त्री की ओर कामवासना से देखा, एवं दृष्टिसूत्र के सम्बन्धमात्र से गर्भाधान होगया'' । यदि आत्मा निर्विकार है, भाव प्रबल हैं, तो ऐसा होना कोई असम्भव नहीं है । सत्य आत्मा का सत्य-संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता । यह आज्यरूपा रेत–आहुति प्रजोत्पत्ति का कारण बनने वाली है। इसमें यजमानपत्नी का योषाप्राण भी संयुक्त होना चाहिए। बिना इसके यजमान का यज्ञ अधूरा रहता है। योषाप्राणात्मक इसी मिथुनभाव की प्राप्ति के लिए पत्नी को रेतोरूप आज्य के दर्शन कराए जाते हैं ॥१८॥

यदि चक्षु में किसी भी प्रकार का **भावदोष**, एवं किट्टमलादि का आवरणदोष रहता है, तो योषाप्राण का आज्य में प्रवेश नहीं होसकता । मेरे चक्षु सर्वथा निर्दुष्ट हैं,–मैं निर्दुष्ट चक्षुओं से ही आज्य देखती हूँ- **''अदब्धेन त्वा चक्षुषा पश्यामि'** यह मन्त्र भाग इसी भावना को दृढमूल बनाता है। अग्निज्वाला ही अग्नि की जिह्वा है । साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि, जबतक अग्नि प्रदीप्त नहीं होता, तबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते । जबतक प्राणदेवता प्रदीप्त नहीं होते, तबतक आहुति सार्थक नहीं बनती । आहुति का सफल होना प्राणदेवताओं के आगमन पर हीनिर्भर है । प्राणदेवताओं का आगमन प्रदीप्त(समिद्ध)अग्नि पर ही निर्भर है । अग्नि की प्रदीप्ति आज्याहुति पर हीनिर्भर है । अग्नि को प्रदीप्त कर अग्नि में प्राणदेवताओं को प्रतिष्ठित करना आज्य का ही काम है । अतः हम अवश्य ही आज्य को अग्नि का शोभन आह्वान करने वाला **जिह्वा-स्थानीय** मानसकते हैं । आहुतिद्रव्य से दिव्यात्मा का शरीरनिर्म्माण होगा,–मन्त्रप्रयोग सफल होंगे । ये सब कर्म्म आज्याहुति पर ही निर्भर हैं । आज्य के इसी स्वरूपधर्म्म की भावना करते हुए-**''अग्नेर्जिह्वासि०''** इत्यादि मन्त्र बोलते हुए ही आज्यदर्शन किया जाता है ॥१९॥

## इति—पत्नीकृताज्यावेक्षणोपपत्तिः

—*—

### ४-५-६-परिशिष्ट कर्म्मानुगता (आज्यस्थापन,-आज्यप्रोक्षणी का उत्पवन,-एवं अध्वर्युकृत आज्यदर्शन ) उपपत्ति—

पहिले के कर्म्मों में यह बतलाया जाचुका है कि, यज्ञिय द्रव्य के परिपाक के सम्बन्ध में दो मत हैं । गार्हपत्याग्नि में हविर्द्रव्य का परिपाक करना, पहिला पक्ष है । एवं आहवनीय में परिपाक करना, दूसरा पक्ष है । दोनों हीं पक्ष श्रुतिसिद्ध हैं । इन पक्षों में यह नियम अवश्य है कि, गार्हपत्यपक्ष में गार्हपत्याग्नि में हीं, एवं आहवनीयपक्ष में आहवनीयाग्नि में हीं हवि का परिपाक होता है । यदि प्रकृत यज्ञकर्त्ता यजमान आहवनीय में हविर्द्रव्य का परिपाक करता है, तो इस पक्ष में दोष आता है । आज्य भी एकप्रकार से हविर्द्रव्य है । इसका भी आहवनीयपक्ष में न्यायतः आहवनीयाग्नि में हीं परिपाक होना चाहिए। ऐसी अवस्था में यदि पुरोडाशाधिश्रयणकाल में हीं आज्य का भी आहवनीयाग्नि में अधिश्रयण होजाता है, तो पत्नी इसका अवेक्षण नहीं कर सकती । कारण, पत्नी का स्थान गार्हपत्य है । आज्यदर्शन का विधान इसी स्थान पर है । यहाँ से आज्यदर्शनार्थ आहवनीय के समीप जाना प्रतिष्ठा से च्युत होते हुए यज्ञस्वरूप विकृत करना है । ''पत्नी

को आज्यदर्शन कराना आवश्यक है' इस विचार से आहवनीयाधिश्रयण के बीच में हीं अध्वर्य्यु आज्य को गार्हपत्य के समीप लाकर पत्नी को अवेक्षण करादे, यह भी पद्धति के प्रतिकूल है। एवं पद्धतिविरुद्ध कर्म्म यज्ञस्वरूप का घातक है। इस विप्रतिपत्ति को हटाने का मार्ग पत्नी को आज्य न दिखलाने पर पर्य्यवसित मान-लिया जाय, यह भी सम्भव नहीं है। यदि पत्नी ने आज्यावेक्षण न किया, तो उसका यज्ञ से पृथक्करण होजा-यगा। इसप्रकार आहवनीयाधिश्रयणपक्ष में न अध्वर्य्यु पत्नी के समीप आसकता, न पत्नी आहवनीय के समीप जासकती, न पत्नी को आज्यदर्शन से वञ्चित किया जासकता। यदि गार्हपत्याधिश्रयण-पक्ष है, तब तो किसी प्रकार का दोष नहीं आसकता। कारण-इस पक्ष में आज्याधिश्रयण भी गार्हपत्य में हीं होता है। ऐसी अव-स्था में गार्हपत्य के समीप ही नैर्ऋत कोण में बैठी हुई यजमानपत्नी के आज्यदर्शन में किसी भी प्रकार की अनु-पपत्ति नहीं होती। परन्तु आहवनीयपक्ष में उक्त विप्रतिपत्ति को दूर करने का क्या उपाय ?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुतिने यह उपाय बतलाया है कि, आहवनीयाधिश्रयणपक्ष में--पुरोडाशाधिश्रयणकाल में आज्या-धिश्रयण नहीं करना चाहिए, अपितु जब पत्नी के आज्यावेक्षण का समय आवे, उस समय पहिले अगत्या आज्य का गार्हपत्याग्नि में अधिश्रयण कर लेना चाहिए। जब पत्नी गार्हपत्यस्थान में हीं आज्यावेक्षण करले, तो आहवनीयाधिश्रयणपक्ष की प्राप्तमर्य्यादा को सुरक्षित रखने के लिए पुनः ( आज्यावेक्षणानन्तर ) आह-नीयाग्नि में आज्याधिश्रयण कर लेना चाहिए। अधिश्रयणानन्तर आज्य को देवप्राणयुक्त वेदिमण्डल पर रख देना चाहिए। २०।२१।२२।२३।२४।

'आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत्' ( महाभारत ) इस सिद्धान्त के अनुसार यह दृश्य-भूतभौतिक-पञ्चपर्वा विश्व * अपने मूल में-'अप् तत्त्व' को ही प्रतिष्ठित रख रहा है। अर्थात् पाञ्चभौतिक-विश्व का मौलिक उपादानद्रव्य अप्तत्त्व ही माना गया है, जैसाकि निम्नलिखित मनुवचन से स्पष्ट प्रमाणित है—

**सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।**
**अप एव ससर्ज्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥ (मनुः १।८।**

ऋक्-यजुः-साम-नामक मौलिक-ऋषिप्राणात्मक अपौरुषेय-तत्त्वात्मक-वेद से कृतरूप अव्यक्त-प्रजापति अपने ऋक्सामानुगत यजुः के-'जू' रूप वाग्भाग से सर्वप्रथम 'अप्'-रूप में हीं परिणत होते है, जो कि यह अप्तत्त्व सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त-आप्त करने के कारण-'आपः' नाम से, एवं अण्डरूप से सम्पूर्ण विश्व का वरण करने से-'वाः' ( 'वारि' ) नाम से प्रसिद्ध हुआ है ÷। 'तत आण्डं समवर्त्तत' के अनुसार इस अप्तत्त्व के परिवेष्टन से ही अव्यक्त-ब्रह्म 'अण्ड' रूप में परिणत हुआ है। इसीलिए उस अव्यक्तब्रह्म

---

* स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा पृथिवी ही क्रमशः आकाश-वायु-तेज-जल-मृत् नामक 'पञ्चमहाभूत' हैं, एवं इन पाँच पर्वों से ही 'पञ्चपर्वा-विश्व' का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, जिसका उपादान द्रव्य 'अप् तत्त्व' ही माना गया है।

÷ सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सा ऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। तस्मात्-'आपः'। सर्वमवृणोत्-तस्माद् वाः (वारि)। ( शत० ६।१।१।८। )

का यह पञ्चपर्वात्मक आपोमय विश्व **'ब्रह्माण्ड'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रकृत ब्राह्मण की २५ वीं कण्डिका के--**' तदिदमप्सु पयो हितम् '** इस रहस्यपूर्ण--निगम के द्वारा अप्तत्त्व का ही--**'नीर-क्षीर-विवेक'** हुआ है।

हँसानुगत **'नीर-क्षीर-विवेक'** नामक लौकिक-न्याय लोक में सुप्रसिद्ध है, जिस इस लोकप्रसिद्ध न्याय का मूल आधार **'तदप्सु पयो हितम्' ( सो यह घृत पानी में प्रतिष्ठित है )** यही वचन बन रहा है। **'नीर' आपः** (पानी) है, एवं-**'क्षीर' 'आज्य' (घृत)** है। इस पाञ्चभौतिक-विश्व के मूलोपादनभूत विश्व की सीमा में, विश्व के गर्भ में **नीर** भी है, और **क्षीर** भी है। अर्थात् **आपः** भी है, और **आज्य** भी है। **पानी,** और दूध ( आज्य का मौलिकरूप ), दोनों के सम्मिश्रण का नाम हीं **'विश्व'** है।

अपनी आस्थामयी सौम्या पावन-श्रद्धा को **'पुराणशास्त्र'** के स्वाध्याय, एवं श्रवण से धन्य-कृत-कृत्य करते रहने वाले मानवश्रेष्ठों के लिए यह सुविदित ही है कि, पुराण-कथानुसार त्रैलोक्य के पालनकर्त्ता भगवान् विष्णु अनन्त-शेषनाग की सुचिक्कणा-कोमलशय्या पर **'क्षीरसमुद्र'** में हीं शयन कर रहे हैं। मानवीया प्रज्ञा के अपराध से जब जब भी धर्मस्कम्भ ( स्तम्भ ) विकम्पित होजाता है, तो तब तब ही देवताओं की करुणापूर्ण प्रार्थना पर करुणावरुणालय शेषशायी भगवान् विष्णु क्षीरसमुद्र का परित्याग कर अंशरूपेण अवतीर्ण हुआ करते हैं। कौनसा है वह **'क्षीरसमुद्र'**, जिसमें विष्णु शयन कर रहे हैं ?, इस महान् सम्प्रश्न का समाधान व्यवसायात्मिका जिस नैष्ठिकी ज्ञानविज्ञानात्मिका बुद्धि के द्वारा होता है, वही तत्त्वनिष्ठा बुद्धि-**'नीरक्षीरविवेकशालिनीबुद्धि'** कहलाई है, एवं दो शब्दों में विवेकशालिनी उसी सत्त्व-बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाले—**'नीर-क्षीर-विवेक'** की ओर हम अपने वेदनिष्ठ पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

स्वायम्भुव--अव्यक्त--त्रयीमूर्त्ति--प्रजापति के वाग्भाग से उत्पन्न, सर्वत्र व्याप्त, अण्डस्वरूप-सम्पादक **'अप् तत्त्व'** का ही नाम है—**'परमेष्ठी'**, इसी का नाम है भृग्वङ्गिरोमूर्त्ति पारमेष्ठ्य विष्णु, जिसका भार्गव-तत्त्व ही **'लक्ष्मी'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं आङ्गिरसतत्त्व ही--**'सरस्वती'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जोकि सरस्वती ही--'श्रीः' कहलाई है। सरस्वतीरूपा **आङ्गिरसी श्रीः**, एवं आम्भृणीरूपा **भार्गवी लक्ष्मीः**, ये ही दोनों आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु की पत्नियाँ हैं, जिनके सम्बन्ध में—**'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'** ( यजुःसंहिता ) यह प्रसिद्ध है। **सैषा प्राकृत-स्थितिः । स्थितस्यैव गतिश्चिन्तनीया नीरक्षीरविवेक-बुद्धया ।**

पारमेष्ठ्य विष्णु का भृगुतत्त्व ही अपनी घनावस्था से--**'आपः'** है, तरलावस्था से **'वायुः'** है, एवं विरलावस्था से--**'सोमः'** है। **'आपो-वायुः-सोमः-इत्येते भृगवः'** ( श्रुतिः ) के अनुसार इन तीनों तत्त्वों की समष्टि का नाम हीं--'भृगु' है, जिनसे क्रमशः **असुर-गन्धर्व-पितर**'--नामक तीन पारमेष्ठ्य--प्राणात्मक-सर्ग अभिव्यक्त हुए हैं। असुर आपोमय है, गन्धर्व वायव्य हैं, एवं **पितरः सोम्यासः** । हैं गन्धर्वप्राणात्मक

वायव्यतत्त्व ही–वह **'अनन्त शेष नाग'** ÷ ( सर्पणशील--**'यज्ञवराह'** नामक पारमेष्ठ्य महान् वायु ) है, जिस पर पारमेष्ठ्य विष्णु भगवान् शयन कर रहे हैं। पारमेष्ठ्य भार्गव आपः ही--**'नीर'** ( पानी ) है, भार्गव सोम ही-- **क्षीर** ( दूध ) है, एवं दोनों का विभाजक है मध्यस्थ भार्गव--शेषनागात्मक-गन्धर्वप्राणात्मक वायु। यों पारमेष्ठ्य **'सरस्वान्'** नामक महान् समुद्र में--**नीर–क्षीर–वायु**–इन तीन तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो-जाती है। इस तत्त्वत्रयी को आधार बनाकर ही हमें--**'नीरक्षीरात्मक'** विश्व का समन्वय देखना है।

क्षीरभाव 'दुग्ध' है, और सौम्य है, अर्थात् सोममय है, जो कि यह सौम्य क्षीर उस आपोमय समुद्र में घुलमिल रहा है। मध्यस्थ–वायु ही इस का नीर से पार्थक्य करता रहता है, एवं इसी पार्थक्य से इस सोममय क्षीर में चिदात्मा [विष्णु] अभिव्यक्त होते हैं। चिदात्मा की गर्भभूमि को--' **महद्ब्रह्म**' माना गया है, जो कि पारमेष्ठ्य--पितरप्राणमय--सौम्य--तत्त्व ही है, एवं जिसके **सत्त्व–रज–स्तम** नामक तीन तो सुप्रसिद्ध गुण माने गए हैं, एवं सूर्यानुगत **अहङ्कृतितिभाव**, चन्द्रमानुगत **प्रकृतिभाव**, एवं भूपिण्डानुगत--**आकृतिभाव**, ये तीन प्रकृतिभाव माने गए हैं। षड्भावापन्न यह पारमेष्ठ्य--महद्ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति--जननी--माता है, जिसमें चिदात्मा विष्णु गर्भधारण करते हैं *। इसी भार्गव--महद्ब्रह्म में चिदात्मा क्योंकि गर्भधारण करते हैं, इनके क्योंकि **आप्य–वायव्य–सौम्य**--नामक तीन महिमा--विवर्त्त हैं, अतएव महद्ब्रह्ममूलक प्राणीसर्ग **'आप्यजीव'** ( **जल के प्राणी** )–वायव्यजीव ( वायु के **मानव–पशु–पक्षी–कीट–कृमि–प्राणी** ) एवं--**सौम्यजीव** ( **अष्टविध देवयोनिसर्ग** ), नामक तीन प्रकार के ही माने गए हैं, जिसका पूर्वसन्दर्भों में यत्र तत्र संक्षेप, एवं विस्तार से स्पष्टीकरण होगया है।

**चिदात्मा विष्णु जिसमें गर्भ धारण करेंगे, वहीं क्षीर की अभिव्यक्ति होगी**, एवं यही मूलसूत्र **'नीरक्षीरविवेक'** का मूलाधार माना जायगा। बात थोड़ी समझने जैसी है। विश्वप्रजा को हम **वृषासर्ग**, **योषासर्ग**, भेद से दो भागों में विभक्त मानेंगे, जिनके मूल--पारमेष्ठ्य--**अङ्गिरा**, और **भृगु** ही बने हुए हैं। भृगु का संक्षिप्त नाम हम **'सोम'** रख लेते हैं, एवं अङ्गिरा का संक्षिप्त नाम--**"अग्नि'** मान लेते हैं। **अग्निसृष्टि ही वृषासृष्टि** है, एव इसी का नाम है--**'पुरुषसृष्टि'**। सोमसृष्टि ही **'योषासृष्टि'** है, एवं

---

÷ पांच भूतों में से मृत्--जल--तेज के निःशेष होजाने पर वायु ही शेष बच रहता है, जो प्राणवायु आकाशवत् नित्य ही माना गया है। यही भृगु के सम्बन्ध से **'महान्'** कहलाया है--[**'यथाकाशगतो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'--गीता**]। इस शेषता से ही यह सर्पणशील--प्रचण्डवेग से धोधूयमान, आसुर-वारुण-अप्तत्त्व से विषाक्त बना हुआ--पारमेष्ठ्य वायु **'अनन्तशेषनाग'** ( सर्प ) कहलाया है, जो सोमसम्बन्ध से मसृण--कोमल भी है।

* **–मम योनिर्म्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।**
**सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ १ ॥**
**सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।**
**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ २ ॥**
**—गीता**

इसी का नाम है--**'स्त्रीसृष्टि'** । **नर** [ **पुरुष** ], **और मादीन** [ **स्त्री** ], ये ही प्रमुख दो विश्वसर्ग हैं । **आग्नेय पुरुषसर्ग**, तथा **सौम्य स्त्रीसर्ग**, दोनों हीं सर्ग शरीरानुबन्धेन आपोमय ही हैं, जैसा कि—**'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'** इत्यादि छान्दोग्यवचन से स्पष्ट है । वृषात्मक पुरुषों का शरीर भी आपोमय ही है, एवं योषात्मिका स्त्रियों का शरीर भी आपोमय ही है । किन्तु इन दोनों आपोमय शरीरों की मूलप्रकृति पृथक् पृथक् है । आग्नेय वृषा--पुरुष की प्रकृति की मूलप्रतिष्ठा जहाँ-**'अग्नि'** ही है, वहाँ सौम्या योषा स्त्री की प्रकृति की मूलप्रतिष्ठा--**'सोम'** ही है । अतएव अग्निप्रकृतिप्रधाना--वृषात्मिका--पुरुष की सृष्टि में शरीरानुबन्धेन अप्तत्त्व के विद्यमान रहने पर भी--'सौम्य क्षीर' [ सोमात्मक दूध ] की अभिव्यक्ति नहीं होने पाती । इधर सोमप्रकृतिप्रधाना योषात्मिका स्त्री की सृष्टि में इस के मूलप्रकृति-रूप सोमभाव के अनुबन्ध से इस के आपोमय शरीर में क्षीर [ दूध ] अभिव्यक्त होपड़ता है । और यों पुरुष, और स्त्री, इन दोनों आपोमय शरीरों में से एक स्थान पर [ स्त्री के शरीर में ] तो क्षीर अभिव्यक्त होजाता है, एवं एक स्थान पर [ पुरुष के शरीर में ] क्षीर अभिव्यक्त नहीं होता ।

जहाँ क्षीर अभिव्यक्त होगा, वहीं चिदात्मा गर्भ धारण करेंगे, वहीं, उसी क्षेत्र में प्रजननधर्म्म अभि--व्यक्त होसकेगा । अतएव सौम्या, क्षीरिणी, मातृजाति ही महद्ब्रह्म की अभिव्यक्ति के द्वारा औपपातिक चिदंश [ जीवात्मा ] को स्वगर्भ में धारण कर इसे भौतिक स्वरूप भी प्रदान करने में समर्थ बनती है, एवं अपने आपोमय शरीर में अपनी मूलभूता सौम्या प्रकृति से अनुप्राणित 'क्षीर' से इस 'प्रजा' का पोषण--वर्द्धन करने में भी समर्थ बन जाती है । **और यों विश्वम्भर प्रजापति ने सृष्टिप्रक्रिया में—सौम्या–योषा के आपोभाग में हीं–'पय' [क्षीर–दूध–] हित–प्रतिष्ठित–किया है—'तदप्सु पयो हितम्'** । **पिता के समतुलन में माता का स्थान क्यों सर्वोच्च माना गया ?**, प्रश्न का भी यही मौलिक रहस्य है । जहाँ--जहाँ--सौम्य--योषा--प्राण अभिव्यक्त होगा, वहीं वहीं--उसी उसी आपः में अवश्य ही क्षीर अभिव्यक्त रहेगा । जहाँ जहाँ क्षीर अभिव्यक्त होगा, वहीं वहीं चिदात्मा अभिव्यक्त होगा । यों इस नीर--क्षीर--विवेक के माध्यम से ही मानव जीव के **'जीवत्त्व'** से परिचित होसकेगा, इसी परिचय से इसे स्वरूपबोध होगा, एवं यही स्वरूप-

---

**'हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्'** इस कविसूक्ति के अनुसार ऐसा माना जाता है कि "यदि हँस नामक पक्षी के सम्मुख पानी और दूध मिलाकर रख दिया जाता है, तो–हँस दूध दूध तो पीजाता है, और जल छोड़ देता है । इसी आधार पर 'नीरक्षीर' न्याय चल पड़ा है" । सम्भव है, ऐसा भी हो । किन्तु हम तो इस मान्यता के प्रति कोई आस्था नहीं रख रहे । ऐसा केवल कवि की कल्पना का ही साम्राज्य माना जायगा । वस्तुगत्या-**'तृतीयं च हंसमाहुः'** इस श्रुति के अनुसार पारमेष्ठ्य-गन्धर्वप्राणात्मक वायु का नाम ही-**'हंस'** है । हंसात्मक यह पारमेष्ठ्य वायु ही अपनी मध्यस्थता से आपः रूप नीर का, तथा सोमरूप **क्षीर** का विभाजक बना हुआ है । और निश्चयेन इसी मौलिक सत्तासिद्ध कारण के आधार पर-**'नीरक्षीरन्याय'** प्रक्रान्त हुआ है । यही पारमेष्ठ्य हँस नामक वायव्यप्राण क्षीर के सहयोग से **'भोक्तासुपर्ण'** बन कर मातृ-गर्भ में जन्म लेता है । अतएव जीवात्मा का एक नाम **'हंस'** भी होगया है, जैसाकि-**'शरीर रह गया, और हँसा उड़ गया'** इस 'लौकिक--किंवदन्ती' से भी स्पष्ट है । नीररूप आपोमय ब्रह्माण्ड में कर्म्मानुसार जन्म लेने वाला यह हंसरूप भोक्ता सुपर्ण ( जीवात्मा ) महद्ब्रह्मात्मक सौम्य क्षीर के तत्त्वबोधात्मक विभाजन से ही स्वरूपबोध में समर्थ बना करता है । और यही इसका–**'नीर-क्षीर-विवेक'** है ।

बोध इसके अभ्युदय--निःश्रेयस् का कारण बनेगा, जिस इस प्रकृतिसिद्धा कारणता के आधार पर ही लोक में-'**नीरक्षीरन्याय**' प्रक्रान्त होपड़ा है। सौम्य-क्षीरात्मिका-पारमेष्ठ्या-**जगन्माता--हैमवती-उमा--भगवती** के अनुग्रह से ही अतिमानी देवताओंने स्वरूप-बोध प्राप्त किया था, जिसका केनोपनिषत् में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

उक्त प्रासङ्गिक नीर-क्षीर-विवेक के माध्यम से प्रकृत में यही बतलाना है कि,—अप्तत्त्व में हीं प्रकृति ने सौम्यासृष्टि [ योषासृष्टि ] के अनुबन्ध से वह **पय** [ **दूध** ] प्रतिष्ठित किया है, जिसका उत्तर परिणाम '**आज्य**' [ घृत ] ही माना गया है ! दुग्ध का कार्य्यभूत आज्य योषारूपा स्त्री का प्रकृतिसिद्ध प्रतिष्ठातत्त्व ही माना गया है। यही क्षीरानुगत आज्य प्रजननधर्म्मानुगता प्रजा का मूलाधार है। आज यज्ञ के द्वारा दैवात्मा का प्रजनन हीं अपेक्षित है, वह योषा पर ही अवलम्बित है। अतएव योषाप्राणात्मिका यजमानपत्नी को प्रकृति-सिद्ध--'**तदिदमप्सु पयो हितम्**' इस कारणता के के अनुबन्ध से ही '**आज्यदर्शन**' (**घृतदर्शन**) कराया-जाता है।

'**पवित्र**' से पहिले आज्य का प्रोक्षण किया जाता है, अनन्तर आज्यसंसर्ग से आज्ययुक्त बने हुए पवित्र से प्रोक्षणी पानी का उत्पवन होता है। इस प्रोक्षणी-प्रोक्षण का तात्पर्य्य है-पानी में पय का आधान। पानी में एक प्रकार का जीवनीय रस होता है। इसी जीवनीय रस को लक्ष्य में रखकर "**जीवनं भुवनं वनम्**" इत्यादि रूप से पानी को '**जीवन**' कहा जाता है। इसी जीवनीय रस को—"**यो वः शिवतमो रसः**" (यजुः) इत्यादि रूप से "**शिवतमरस**" नाम से व्यवहृत किया जाता है। दिव्यात्मा इस जीवनीय शिवतम रस से युक्त बनें, इसी अभिप्राय से यह उत्पवनकर्म्म किया जाता है ॥२५॥

ऋत्विक् दक्षिणाक्रीत हैं। ऋत्विक् यज्ञकर्म्म में अपने मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा का जितना अंश व्यय करते हैं, उतना भाग दक्षिणा के द्वारा पूर्ण कर दिया जाता है। यदि दक्षिणादान नहीं होता है, तो यजमान के यज्ञात्मा (दिव्यात्मा) में ऋत्विजों का भी आत्मा समाविष्ट रह जाता है। यही यज्ञ का क्षतभाव ( अपूर्णता ) है। इस क्षतभाव को दक्षिणा से दूर किया जाता है। दक्षिणाग्रहण से ऋत्विग्गण यज्ञ में जितने कर्म्म करते हैं, देवताओं से जो आशीः माँगते हैं-उन सबका सम्बन्ध यजमान के साथ ही होता है। अतः अध्वर्यु को ही आज्यदर्शन करना चाहिए। "**यजमान आज्यदर्शन करें**" प्राचीनों का यह आग्रह विज्ञानकोटि से सर्वथा बहिष्कृत, अतएव उपेक्षणीय ही है ॥२६॥

सूर्य्य से चक्षुरिन्द्रिय का निर्म्माण होता है। सूर्य्य सत्यमूर्त्ति है। पुराणने पारमेष्ठ्य समुद्रगर्भित ज्यो-तिर्म्मय चिन्मूर्त्ति ( सदा जाग्रत ) इसी सौरविष्णु को ( यज्ञ को ) '**सत्यनारायण**' नाम से व्यवहृत किया है। त्रयीमय **अग्निमूर्त्ति**, अतएव **सत्यसूर्य्य** से निष्पन्न होने वाले चक्षु में सत्य की प्रतिष्ठा रहती है। मनु-ष्य के समीप चक्षु ही एक ऐसा साधन है, जिसके आधार पर यह सत्यासत्य के निर्णय पर पहुँच सकता है। जब यजमान यज्ञ में दीक्षा लेता है, तो-उसको-'**स वै सत्यमेव वदेत्**' यह आदेश दिया जाता है। इस आदेश के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं श्रुतिने पूर्वपक्ष उठाया है कि, **मनुष्य होकर सत्य बोले, यह सर्वथा असम्भव है**। क्योंकि मनुष्य अनृतसंहित है। जब वह सत्य बोल ही नहीं सकता, तो फिर उसके लिए-'**तुम सत्य बोलो**' इस आदेश का क्या महत्त्व रह जाता है ?। आगे जाकर इस पूर्वपक्ष का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, यज्ञप्रजापति की ओर से पुरुष में चक्षुःसत्य का निर्माण हुआ है। '**यह जैसा देखे वैसा बोले**'

बस यहीं पर इसकी सत्यभाषण-मर्य्यादा समाप्त होजाती है। यही रहस्य श्रुति–स्मृति के साथ सम्बन्ध रखता है। वेद को श्रुति क्यों कहा जाता है ?, इस प्रश्न के समाधान में वैज्ञानिक पाश्चात्य विद्वानोंनें यह कहा है कि, "वेदकाल में लेखनकला का अभाव था। उस समय सुन सुन कर ही वेदमन्त्र कण्ठ किए जाते थे। इस श्रवण-सम्बन्ध से ही वेद 'श्रुति' नाम से प्रसिद्ध हुआ"। हमारे विचार से पश्चात्य विद्वानोंनें 'श्रुति' शब्द के उक्त अर्थ के सम्बन्ध में बड़ी ही भूल की है। '**द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः,-श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः**' श्रुति स्मृति का यही अर्थ है। जिसने विषय के दर्शन किए हैं, उस की सुनाई हुई बात हमारे लिए श्रुति है, एवं श्रुति के आधार पर मनन करके जिसने श्रुति के उपबृंहितभाव को हमारे सम्मुख रक्खा है, उसका वाक्य ही '**स्मृति**' है। द्रष्टा सत्यचक्षु से देख रहा है। अतएव उसके वाक्य की प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। अतएव द्रष्टा ऋषियो के वाक्यसंग्रहरूप **श्रुतिशास्त्र** को स्वतःप्रमाण माना गया है। **स्मृति श्रुत्यनुगामिनी है**। अतः इसे **परतःप्रमाण** माना गया है। प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि, चक्षुरिन्द्रिय अवश्य ही सत्यभावोपेत है। इसी आधार पर '**आँखों देखी परशुराम कभी न झुँठी होय**' यह किवदन्ती प्रचलित है। यह चक्षुःसत्य सत्याग्नि है। अग्नि वृषा है। यजमानपत्नी ने अवेक्षण से आज्य में योषाप्राण का समावेश किया था, यजमान का प्रतिनिधिरूप अध्वर्यु आज्य में सत्याग्निरूप वृषाप्राण का समावेश करता है। एवं इन सब के द्वारा योषावृषात्मक यज्ञ को समृद्ध बनाता है ॥२७॥

आज्य तेजोरूप है। अग्निवृद्धि करना आज्य का पहिला स्वभाव है। शुक्रवृद्धि करना दूसरा स्वभाव है, एवं **अमृतपोषण** करना तीसरा धर्म्म है। **मनः–प्राण–वाक्–**तीनों में **वाक् शुक्रतत्त्व है**। **प्राण तेज है। मन अमृत है**। **घृत से वाङ्मय शुक्र को वृद्धि होती है**। **प्राणमय ( ओजमय ) शरीराग्नि प्रवृद्ध होता है**। **एवं मनोमय अमृतभाग का पोषण होता है**। इसप्रकार यह आज्य तेजः-शुक्र–अमृत-रूप **प्राण–वाक्–मन** का पोषण करता हुआ भूतात्मा की समृद्धि का कारण बनता है। घृत से बढ कर आत्म-समृद्धि के लिए और दूसरा कोई उत्कृष्ट साधन नहीं है। आज्य का वास्तव में यही गुण है। '**तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि**' इस सत्यभावना से भावित होकर आज्यदर्शन करने वाला अध्वर्यु अवश्य ही आज्य को सत्यविभूति से युक्त करता हुआ तद्द्वारा दिव्यात्मा को सत्ययुक्त ही बनाता है ॥२८॥

——*——

## इति–अनुवादप्रकरणम्

## प्रथमकाण्डानुगत तृतीय अध्याय का प्रथम ब्राह्मण एवं द्वितीय प्रपाठक का चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

——*——

श्रीः

# अथ–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्
# द्वितीयप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्
# "आज्यब्राह्मणम्"

## १६—आज्यग्रहणकर्म्म

### १—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

( मूल )–पुरुषो वै यज्ञः । पुरुषस्तेन यज्ञः—यदेनं पुरुषस्तनुते । एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते, तस्मात्पुरुषो यज्ञः ॥ १ ॥

तस्येयमेव जुहूः, इयमुपभृत्, आत्मैव ध्रुवा । तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति । तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥ २ ॥

प्राण एव स्रुवः । सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति । तस्मादु स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः सञ्चरति ॥ ३ ॥

तस्यासावेव द्यौर्जुहूः, अथेदमन्तरिक्षमुपभृत्, इयमेव ध्रुवा । तद्वा अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति । तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥ ४ ॥

अयमेव स्रुवो योऽयं पवते । सोऽयमिमान् सर्वान् लोकाननुपवते । तस्मादु स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः सञ्चरति ॥ ५ ॥

### २—आज्यगृहणसंख्यानियमनप्रकरणम्—

स एष यज्ञस्तायमानो देवेभ्यस्तायते । ऋतुभ्यः, छन्दोभ्यः । यद्धविः, तद्देवानाम् । यत्सोमो राजा, यत्पुरोडाशः, तत्तदादिश्य गृह्णाति-अमुष्मै त्वा जुष्टं गृह्णामीति । एवमु हैतेषाम् ॥ ६ ॥

अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते–ऋतुभ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते । तत्तदनादिश्य--आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति । स वै चतुर्जुह्वां गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति ॥ ७ ॥

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति-ऋतुभ्यस्तद् गृह्णाति, प्रयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति । ऋतवो हि प्रयाजाः । तत्तदनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति-अजामितायै । जामि ह कुर्याद्-यद्वसन्ताय त्वा ग्रीष्माय त्वेति गृह्णीयात् । तस्मादनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ ८ ॥

अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति-छन्दोभ्यस्तद् गृह्णाति, अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति । छन्दांसि ह्यनुयाजाः । तत्तदनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति-अजामितायै । जामि ह कुर्याद्-यद् गायत्र्यै त्वा त्रिष्टुभे त्वेति गृह्णीयात् । तस्मादनादिश्य आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ ९ ॥

अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति-सर्वस्मै तद् यज्ञाय गृह्णाति । तत्तदनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति । कस्मा उ ह्यादिशेत्-यतः सर्वाभ्य एव देवताभ्योऽवद्यति । तस्मादनादिश्य-आज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति ॥ १० ॥

## ३—आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम् —

यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा अरातीयति-स उपभृतमनु । अत्तैव जुहूमनु, आद्य उपभृतमनु । अत्तैव जुहुः, आद्य उपभृत् । स वै चतुर्जुह्वां गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति ॥ ११ ॥

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति-अत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयांसं करोति । अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति-आद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयांसं करोति । तद्धि समृद्धम्-यत्रात्ता कनीयान्, आद्यो भूयान् ॥ १२ ॥

स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन् भूय आज्यं गृह्णाति, अष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन्-कनीय आज्यं गृह्णाति ॥ १३ ॥

स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन् भूय आज्यं गृह्णाति-अत्तारमेवैतत् परिमिततरं कनीयांसं कुर्वंस्तस्मिन् वीर्य्यं बलं दधाति । अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णन् कनीय आज्यं गृह्णाति-आद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयांसं कुर्वंस्तमवीर्य्यमबलीयांसं करोति । तस्मादुत राजाऽपारां विशं प्रावसाय, अप्येकवेश्मनैव जिनाति । त्वद्यथा त्वत्कामयते, तथा सचते-एतेनो ह तद्वीर्य्येण-यज्जुह्वां भूय आज्यं गृह्णाति । स यज्जुह्वां गृह्णाति-जुह्वंव तज्जुहोति, यदुपभृति गृह्णाति-जुह्वंव तज्जुहोति ॥ १४ ॥

तदाहुः-कस्मा उ तद्ध्रुवायामेव भूयिष्ठमाज्यं गृह्णाति-उपभृति गृह्णीयात्-यदुपभृता न जुहोतीति । स यद्धोपभृता जुहुयात्--पृथग्घैवेमाः प्रजाः स्युः--नैवाद्या स्यात, नाद्यः स्यात् । अथ यज्जुह्वौ व समानीय जुहोति--तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति । अथ यदुपभृति गृह्णाति--तस्मादु क्षत्रियस्यैव वशे सति वैश्यं पशव उपतिष्ठन्ते । अथ यज्जुह्वौ व समानीय जुहोति-तस्माद्यदोत क्षत्रियः कामयते-अथाह वैश्यम्- 'अपि यन्मे परो निहितम्, तदाहरेति, तं जिनाति । त्वद्यथा त्वत्कामयते, तथा सचते-एतेनो ह तद्वीर्येण ॥ १५ ॥

तानि वा एतानि छन्दोभ्य आज्यानि गृह्यन्ते । स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति-गायत्र्यै तद् गृह्णाति । अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति-त्रिष्टुब्जगतीभ्यां तद् गृह्णाति । अथ यच्चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति-अनुष्टुभे तद् गृह्णाति । वाग् वा अनुष्टुप् । वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति । तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति । इयं वा अनुष्टुप्, अस्यै वा इदं सर्वं प्रभवति । तस्मादु ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥ १६ ॥

## ४ — आज्यगृहणपद्धतिप्रकरणम्–

स गृह्णाति-धाम नामासि प्रियं देवानाम् [ १ अ० ३० मं० ] इति । एतद्धै देवानां प्रियतमं धाम--यदाज्यम् । तस्मादाह-धाम नामासि प्रियं देवानामिति । अनाधृष्टं देवयजनमसि–[ अ० १ मं० ३१ ] इति । वज्रो ह्याज्यम् । तस्मादाह–अनाधृष्टं देवयजनमसीति ॥ १७ ॥

स एतेन यजुषा सकृज्जुह्वां गृह्णाति, त्रिस्तूष्णीम् । एतेनैव यजुषा सकृदुपभृति गृह्णाति, सप्तकृत्वस्तूष्णीम् । एतेनैव यजुषा सकृद् ध्रुवायां गृह्णाति, त्रिस्तूष्णीम् । तदाहुः–त्रिस्त्रिरेव यजुषा गृह्णीयात्–त्रिवृद्धि यज्ञ इति । तदु नु सकृत्सकृदेव । अत्रो ह्येव त्रिर्गृहीतं सम्पद्यते ॥ १८ ॥

इति–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये प्रथमकाण्डे
तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्
द्वितीयप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्
'आज्यब्राह्मण'--नामकं
उपरतम्

# मूलानुवाद—

## १—यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरण—

यह यज्ञ ( मनुष्ययजमान के द्वारा किया जाने वाला वैध यज्ञ ) निश्चयरूप से पुरुष ( मनुष्य की ही प्रतिकृति ) है । (यह) यज्ञ इसलिए पुरुष ( पुरुषस्वरूप-सदृश ) है कि, जो कि पुरुष ( यज्ञकर्त्ता यजमान, दक्षिणाक्रीत अध्वर्यु, होता, उद्गाता ब्रह्मा, आदि ऋत्विग् गण, जो कि पुरुष हैं ) इस यज्ञ को वितत करता है ( वेदि, कुण्ड, मन्त्र, हवि, आदि साधनों से विस्तार-भाव में परिणत करता है) । क्योंकि पुरुष के द्वारा ही यज्ञस्वरूप सम्पन्न होता है, इसलिए यज्ञ को-पुरुषकर्तृत्त्वेन-अवश्य की 'पुरुष' कहा जासकता है । ( एक दूसरे कारण से भी यज्ञ को पुरुष कहा जासकता है, जो कि कारण पहिले कारण की अपेक्षा प्रमुख है । कण्डिका का उत्तर वाक्य उसी का स्पष्टीकरण कर रहा है ) । यह ( वैध यज्ञ )-( ऋत्विजादि पुरुषों के द्वारा ) वितायमान होता हुआ ( गार्हपत्य, श्रपणाग्नि, आहवनीय, वेदि, आदि रूप से फैलता हुआ ) निश्चयरूप से जितना हीं ( जितनी लम्बाई के परिमाण से ) पुरुष वितत रहता है, उतना हीं (उतने हीं परिमाण से सम्पन्न किया जाता है । ( पुरुषपरिणाम-सदृश विस्तारभाव की समता से ही यज्ञ को 'पुरुष' कहना अन्वर्थ बन जाता है ) ॥१॥

(यज्ञ की प्रतिज्ञात पुरुषाकारता सिद्ध करती हुई श्रुति कहती है कि)-जुहू इस यज्ञ की यही ( दक्षिणभुजा-दहिना हाथ ) है, उपभृत् ( इस यज्ञ की ) यह ( वाम-भुजा-बायाँ हाथ ) है, ध्रुवा ( इस यज्ञ का ) आत्मा ( मध्य अङ्ग-धड़ ) ही है । ( इसप्रकार जुहू, उपभृत, ध्रुवा रूप से दक्षिण, वाम हस्त, एवं मध्याङ्ग-सम्पत्ति-लक्षणा पुरुषाकृति-सम्पत्ति से युक्त रहने वाले यज्ञ को अवश्य ही पुरुष (पुरुष की प्रतिकृति-पुरुषसदृश) कहा जासकता है, यही तात्पर्य्य है ।

( 'ध्रुवा' नामक यज्ञपात्र आत्मा ( मध्याङ्ग ) की प्रतिकृति कैसे है ?, इस जिज्ञासा का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि )—यह प्रत्यक्ष है कि, ( तद्वा ) आत्मा ( मध्याङ्गरूप धड़ ) से हो ये ( हस्त, पाद, मस्तकादि ) सब अङ्ग ( शरीरावयव ) उत्पन्न होते हैं ( निकलते हैं, रसप्राप्ति के द्वारा पुष्ट होते रहते है ) । इस वैधयज्ञ में आज्यपरिपूर्ण ध्रुवापात्र आत्मस्थानीय है, एवं आत्मा से ही अङ्गरूप हस्त-पादादि इतर सम्पूर्ण अङ्ग उत्पन्न होते हैं, रसग्रहण करते है, अतएव ( यहाँ भी जूहू, उपभृत् आदि के द्वारा ध्रुवा से ही घृत ले ले कर) ध्रुवा से ही सम्पूर्ण साङ्गोपाङ्ग वैधयज्ञ-उत्पन्न-सम्पन्न होता है (यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है । अतः यज्ञस्वरूपसाधकभूत ध्रुवा को इस यज्ञपुरुष का अवश्य ही 'आत्मा' माना जासकता है, यही तात्पर्य्य है ) ॥२॥

( पुरुष के शरीर में 'हस्त-पाद-आत्मा' ये तीन स्थूल विभाग उपलब्ध होते हैं । शिरोभाग से आरम्भ कर मूलग्रन्थि पर्य्यन्त प्रदेश आत्मा ( धड़ ) माना जायगा । दक्षिणहस्त, दक्षिण पाद

का एक स्वतन्त्र विभाग, एवं वामहस्त, वामपाद का एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा। इसप्रकार पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर को आत्मा (धड़), दक्षिणहस्त ( तदुपलक्षित दक्षिणपाद ), वामहस्त ( तदुपलक्षित वामपाद ), इस क्रम से पुरुष को तीन भागों में विभक्त किया जायगा। त्रिविभागात्मक इस शरीर में ( शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में ) अवारपारीण सञ्चार करने वाला चैतन्यप्राण एक चौथा स्वतन्त्र तत्त्व माना जायगा, जिसकी सत्ता से जड़-भूत क्रियाशील बनते हुए जीवनीयरस से युक्त रहते हैं। पुरुषसंस्था की इन चार अवान्तर संस्थाओं में से आत्मा ( धड़ ), दक्षिणहस्त (पाद), वामहस्त (पाद), इन तीन भौतिक अवयवों की प्रतिरूपता तो क्रमशः ध्रुवा, जुहू, उपभृत, इन तीन यज्ञपात्रों के द्वारा सिद्ध करदी गई। अब शेष चौथा चैतन्यप्राण रह जाता है। इसकी प्रतिरूपता बतलाती हुई श्रुति कहता है ;--

( इस वैधयज्ञ में उपयुक्त होने वाला ) 'स्रुव' नामक यज्ञपात्र प्राण ही है। स्रुवपात्र प्राणस्थानीय क्यों माना गया ?, प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है )—

( हम देखते हैं कि, पुरुषशरीर में केश-लोम, एवं नखाग्रभागों को छोड़कर ) यह चैतन्य प्राण ( वैश्वानराग्नि ) शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों ( को लक्ष्य बनाकर इन अङ्गों ) में विचरता रहता है। ( हम देखते हैं कि, इस यज्ञसंस्था में 'स्रुव' नामक यज्ञपात्र, जुहू-उपभृत्-ध्रुवा आदि इतर सभी स्रुक्-पात्रों के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, आत्मा-बाहुहस्त ( एवं पाद -स्थानीय ध्रुव-जुहू-उपभृत् आदि स्रुचों में सञ्चरण करने वाला स्रुव अवश्य ही प्राणस्थानीय है ) इसीलिए ( प्राणस्थानीय होने से ही ) तो यह स्रुव-पात्र सब स्रुचों ( को लक्ष्य बनाकर सब ) में विचरता है ॥३॥

यह वैधयज्ञ पुरुष की प्रतिकृति किस आधार पर माना गया ?, इस प्रश्न का समाधान श्रुतिने पुरुषात्मक आध्यात्मिकयज्ञ के द्वारा किया। पुरुषयज्ञ ( आध्यात्मिकयज्ञ ) का जैसा स्वरूप है, उस में जैसा अवयवसंस्थान है, पुरुषकर्तृक, आधिभौतिक, स्वर्गादि-अभीष्ट फलसाधक इस वैधयज्ञ का स्वरूप, तथा संस्थान भी वैसा ही है। अतः 'समतुलनन्याय' से इस वैधयज्ञ को भी 'पुरुष' कहना न्यायसङ्गत बन जाता है। अब इस सम्बन्ध में दो प्रासङ्गिक प्रश्न और उपस्थित होते हैं। पहिला प्रश्न यह है कि, जिस पुरुष के आकार के आधार पर वैधयज्ञ का तथाभूत वितान किया जाता है, उस पुरुष ( आध्यात्मिकयज्ञ ) का स्वरूप ही एवंविध ( यज्ञात्मक ) कैसे, और क्यों बना ?। जिस आधिदैविक जगत् ( प्रकृति ) से पुरुषयज्ञ ( आध्यात्मिकयज्ञ ) उत्पन्न हुआ है, उसे लोक-वेद में 'यज्ञ' शब्द से व्यवहृत किया गया है। उसे ( आधिदैविकजगत् को ) यज्ञ किस आधार पर कहा गया ?, क्या वहाँ भी जुहू, उपभृत, आदि यज्ञस्वरूपसंसाधक परिग्रह विद्यमान हैं ?। यही इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न है। इन प्रश्नों के समाधान से श्रुति का उद्देश्य केवल यही बतलाना है कि, आधिभौतिकयज्ञ ( मनुष्यकृत वैधयज्ञ ) की प्रतिष्ठा आध्यात्मिकयज्ञ ( पुरुषाकाराकयज्ञ ) है, एवं इस आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा द्यावापृथिव्यात्मक, सम्वत्सरलक्षण आधिदैविक यज्ञ है। मनुष्यकृत-यज्ञ का स्वरूप एवंविध क्यों ?, इस प्रश्न की उपनिषत् ( उपपत्ति-मौलिकरहस्य ) आध्यात्मिकयज्ञ है। आध्यात्मिक-यज्ञ ( पुरुष ) का एवंविध

स्वरूप क्यों ?, इस प्रश्न की उपनिषत् आधिदैविक, प्राकृतिक, नित्ययज्ञ है, जिस का कि—'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि'-'देवाननुविधा वै मनुष्याः'-'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः-'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों से समर्थन हुआ है । जब श्रुति ने आधिभौतिक, आध्यात्मिक यज्ञों का स्वरूप बतला दिया, तो प्रकरणवश श्रुति के लिए यह भी आवश्यक होगया कि, वह प्रसङ्गोपात्त तीसरे आधिदैविकयज्ञ का स्वरूप भी बतलावे, साथ साथ उनकी भी इनके साथ प्रतिरूपता सिद्ध करे । इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ४–५ कण्डिकाएँ पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरहीं हैं—

उस ( आधिदैविकयज्ञ ) की यह ( बड़ी दूर दिखलाई देने वाला सौरमण्डलोपलक्षित ) द्यौ ही जुहू ( दक्षिणहस्तपादका प्रतिरूप ) है । एवं यह अन्तरिक्ष ( द्यावापृथिवी के मध्य का प्रदेश ) उपभृत् ( वामहस्त का प्रतिरूप ) है । यह पृथिवी ही ध्रुवा ( आत्मा का प्रतिरूप ) है । ( पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध करते हुए ध्रुवा की आत्मप्रतिरूपता का समर्थन किया गया था । अतः उसकी भी पुष्टि होनी चाहिए । आत्मा वही माना जायगा, जिस से हस्त पादादि सब अङ्ग उत्पन्न होते होंगे । पृथिवी को ध्रुवालक्षण आत्मा तभी कहा जासकेगा, जब कि वह अन्तरिक्ष, द्युलोकरूप उपभृत, तथा जुहू, इन दो अङ्गों की उपपत्ति का कारण बन सकेगा । इसी प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है )-

यह यथार्थ है ( तद्वा ) कि, इसी * पृथिवी से सब लोक ( पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौः, आपः, आदि लोक ) उत्पन्न हुए हैं । (क्योंकि पृथिवी से सब लोक उत्पन्न होते हैं, एतएव पृथिवी अवश्य ही आत्मरूप ध्रुवा है । क्योंकि ध्रुवा से ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति होती है ) । अतएव (आधिदैविक मण्डल में ) पृथिवीरूप ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ ( आधिदैविक-सम्वत्सरयज्ञ ) उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥

(स्थूलाङ्गभूत जुहू, उपभृत, तथा ध्रुवा की प्रतिरूपता के सम्बन्ध में क्रमशः द्यौ, अन्तरिक्ष, पृथिवी (भूपिण्ड), इन तीन लोकों के द्वारा आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता सिद्ध की गई । अब वह सर्वसञ्चारी चैतन्य-प्राण शेष रहा, जो कि आधिभौतिक यज्ञ में 'स्रुवपात्र' के रूप से, एवं आध्यात्मिक यज्ञ में आलोमभ्यः, आनखाग्रेभ्यः व्याप्त वैश्वानराग्निप्राण के रूप से प्रतिष्ठित है । इसी चैतन्य–प्राण की आधिदैविकयज्ञ में प्रतिरूपता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

( इस आधिदैविकयज्ञ का ) यही स्रुव (चैतन्यप्राण) है, जोकि यह (त्रैलोक्य में) प्रवाहित है (बह रहा है) । ( पुरुषयज्ञ की प्रतिरूपता में प्राण, और स्रुव की प्रतिरूपता बतलाई गई थी ।

---

* पाठक सन्देह करेंगे कि, प्रथम तो पृथिवी से अन्तरिक्षादि लोकों को उत्पत्ति मानना हीं असङ्गत है । यदि अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय, तब भी पृथिवि से पृथिवी की उत्पत्ति मानना तो कथमपि सुसङ्गत प्रतीत नहीं होता ? । इस जिज्ञासा का सोपपत्तिक समाधान आगे आने वाले उपपत्ति–प्रकरण में किया जाएगा ।

अतः यहाँ भी उस प्रतिरूता का स्पष्टीकरण होना चाहिए। आधिदैविकयज्ञ-संस्था में प्राण वही माना जायगा, जो कि जुहू, उपभृत्, ध्रुवोपलक्षित पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोकों को लक्ष्य बनाकर जिन में-सञ्चरण करता होगा। इसी प्रतिरूपता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है )—

यह वायु ( केश-लोम-स्थानीय-वनस्पति-ओषधि-धातुवर्ग, आदि पिण्डों के आभ्यन्तर भाग को छोड़कर, एवं नखाग्रस्थानीय भूपिण्ड के आभ्यन्तर प्रदेश को छोड़कर, शेष बचे हुए ) इन सब लोकों में (त्रिवृत्स्थानोय पृथिवीलोक, पञ्चदशस्थानीय अन्तरिक्षलोक, एवं एकविंशस्थानीय द्युलोक में, जो कि तीनों लोक आधिदैविकी यज्ञसंस्था के अङ्गस्थानीय हैं, इन्हें लक्ष्य बना कर इन सब में वह ( वायु ) बह रहा है (सञ्चरण कर रहा है)। ( क्यों कि वायु सब लोकों में सञ्चरण कर रहा है, उधर यज्ञप्रक्रिया में स्रुचों में सञ्चार करने वाला ही स्रुव माना गया है, इसी अभिप्राय को व्यक्त करती हुई स्तुति कहती है )-अतएव निश्चयरूप से यह स्रुव (त्रैलोक्यसञ्चारी वायव्यप्राण) इतर स्रुचों को (जुहू-उपभृत्-ध्रुवा-स्थानीय द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी को लक्ष्य बना कर) इन में सञ्चरण कर रहा है ॥५॥

## (१)—*इति-यज्ञप्रतिरूपरहस्यप्रकरणम्

—*—

* प्रकृत ब्राह्मण में प्रधानरूप से **'आज्यग्रहण'** की इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) का ही निरूपण हुआ है। यज्ञमण्डल में एक नियत स्थान पर आज्य से परिपूर्ण एक नियत पात्र रक्खा रहता है। एक ही स्थान पर सदा स्थिररूप से प्रतिष्ठित रहने वाला वही आज्यपात्र **'ध्रुवा'** कहलाता है। ध्रुवापात्र एक ही स्थान पर स्थिर क्यों रहता है ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न-समाधि के लिए ही श्रुति को पद्धति-प्रदर्शन से पहले यज्ञ का मौलिक-स्वरूप बतलाना आवश्यक प्रतीत हुआ। आरम्भ की ५ कण्डिकाओं में श्रुति ने प्रतिरूपविधि से **अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैवत,** इन तीन यज्ञ-संस्थाओं का स्वरूप बतलाया। इसी आधार पर पञ्चकण्डिकात्मक प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए हमने इसे **'यज्ञिप्रतिरूपरहस्यप्रकरण'** नाम दे देना उचित मान लिया है।

आधिभौतिक वैधयज्ञ को मध्यस्थ बनाकर यज्ञकर्त्ता यजमान अपने आध्यात्मिक यज्ञ का आधिदैविक यज्ञ के साथ सम्बन्ध कराता है,एवं यही यज्ञ का मूल्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की सफलता के लिए छन्द, तथा ऋतुओं से वेष्टित सम्वत्सरमण्डलस्थ प्राणदेवताओं का ही यजन होता है, जैसा कि पाठक उपपत्ति-प्रकरण में विस्तार से देखेंगें। यज्ञ के उद्देश्य प्राणदेवता हैं, एवं इनकी आधिदैविक यज्ञ से तुलना करते हुए आधिदैविक यज्ञ की प्रतिरूपता का परिज्ञान आवश्यकरूप से अपेक्षित है। अतएव पद्धति से पहले प्रतिरूपरहस्य का दिग्दर्शन कराना पड़ा, और इस दिग्दर्शन का मूलकारण बना **'ध्रुवापात्र'**। ब्राह्मण ने ध्रुवा से आज्यग्रहण का विधान किया है। ध्रुवा से ही आज्यग्रहण क्यों किया जाय ?, इस स्वाभाविक, तथा प्रासङ्गिक प्रश्न के समाधान के लिए ही प्रथम **'यज्ञप्रतिरूप-रहस्य'** बतलाना आवश्यक समझा गया है। क्योंकि आधिभौतिक यज्ञ का आध्यात्मिकयज्ञ के साथ जैसे अविच्छिन्न सम्बन्ध है, एवमेव आध्यात्मिकयज्ञ का आधिदैविक यज्ञ से साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस समान-सम्बन्धदृष्टि से भी प्रसङ्गवश श्रुति को अधिभूत, अध्यात्म की प्रतिरूपता के साथ साथ अध्यात्म, एवं अधिदैवत की प्रतीरूपता भी बतलानी पड़ी।

## २ — आज्यगृहणसंख्यानियमनप्रकरण —

( जैसाकि टिप्पणी में स्पष्ट कर दिया गया है, आरम्भ की ५ कण्डिकाओं में निरूपणीया पद्धति का प्रथम कोई निरूपण न होकर ब्राह्मणग्रन्थों की स्वाभाविकशैली से सम्बन्ध रखने वाला "यज्ञप्रतिरूपरहस्य" ही प्रतिपादित हुआ है। अब ६ ठी कण्डिका से ही पद्धति-प्रदर्शन का उपक्रम किया जाता है )—

(यज्ञरहस्यवेत्ता अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा, आदि विद्वान् ऋत्विजों के द्वारा प्रकृत्यनुसार ) वितायमान यह यज्ञ ( आधिभौतिकयज्ञ ) देवताओं, ऋतुओं, तथा छन्दों के लिए ही वितत किया जाता है। ( आहुतिद्रव्यों में से ) जो हविर्द्रव्य है, वह (प्रधान) देवताओं के लिए नियत है, जोकि आहुतिद्रव्य सोमराजा, एवं पुरोडाश है। (तात्पर्य्य यही है कि सोमवल्ली का रस, तथा पुरोडाशलक्षण आहुतिद्रव्य, ये दोनों हविर्द्रव्य *प्रधान (आवाप) देवताओं के लिए नियत हैं। इन्हें नाम ग्रहण पूर्वक ही आहुति दी जाती है, इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है )—

क्यों कि × अन्नपुरोडाश, अन्नपुरोडाशोपलक्षित 'वपापुरोडाश,' एवं सोमरस, ये तीन आहुति–द्रव्य देवताओं के लिए नियत हैं, एवं देवता (प्राणदेवता मूलरूप से ३३, ३, १, होते हुए भी अपने महिमारूप से ) संख्या में भी अनन्त हैं, साथ ही तत्तद्यज्ञविशेषों में तत्तद् विशेष देवता ही प्रधान रहते हैं, इसलिए भी) वह (हविर्द्रव्य) उन उन देवताओं का ( 'अग्नये त्वा जुष्टं गृह्णामि'–'अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि'–उपयामगृहतोऽसि वायव, इन्द्रवायुभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामि इत्यादि रूप से नाम निर्देशपूर्वक ही ) 'अमुष्यै त्वा जुष्टं गृह्णामि' ( अमुक देवता के लिए रुचिपूर्वक सेवन योग्य तुह्मारा-हविर्द्रव्य का-ग्रहण करता हूँ ) इत्यादिरूप से नामनिर्देश करके ही (आहुति द्रव्य का) ग्रहण करते हैं। (इस नामनिर्देशपूर्वक हविर्ग्रहण का कारण यही है कि) देवताओं के सम्बन्ध में (परम्परागत यज्ञपद्धतिग्रन्थों में ) यही प्रकार ( हविर्ग्रहणसाधक मन्त्र प्रथक् नाम निर्देशपूर्वक ही पढे हुए हैं, यही आवृत्–सम्मत प्रकार) है ॥६॥

---

* यज्ञ में जिन देवताओं को आहुति दी जाती है, वे देवता आवाप, प्रयाज, अनुयाज भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। प्रधान प्राणदेवता 'आवापदेवता' कहलाती हैं, प्राणात्मिका मुख्य देवताओं की प्रतिष्ठारूपा वसन्तादि ऋतुएँ 'प्रयाजदेवता' कहलातीं हैं। एवं देववाहनरूप गायत्र्यादि छन्द 'अनुयाजदेवता' कहलातीं हैं। सोमरस, पुरोडाशलक्षण हविर्द्रव्य, आज्य, ये तीन आहुति–द्रव्य हैं। तीनों में सोमरस, तथा पुरोडाश तो केवल आवापदेवताओं के लिए नियत है, एवं ऋतु-छन्दोरूप प्रयाज-अनुयाज-देवताओं को आज्याहुति दी जाती है।

× 'इष्टि--पशु--सोम--भेद से यज्ञसंस्था तीन भागों में विभक्त मानी गई है। इन तीनों में से 'इष्टि' में 'अन्नपुरोडाश' की आहुति होती है। 'पशुबन्ध' में प्रधानरूप से 'पशुवपा' की आहुति होती है। एवं 'ग्रहयागा' परपर्य्यायक 'सोमयाग' में प्रधानरूप से–चालीस संख्या में विभक्त ग्रहपात्रों में स्थित 'सोमरस' की आहुति होती है।

(प्रत्येक यज्ञ में "अन्न-पशुवपा-सोमरस' तीनों में से किसी एक तो हविर्द्रव्य की प्रधानता रहती ही है, दूसरा आहुतिद्रव्य आज्य रहता है। इसप्रकार हवि, एवं आज्य भेद से प्रत्येक यज्ञ में दो आहुतिद्रव्य रहते हैं। इन में से हविर्द्रव्य का सम्बन्ध तो प्रधान देवता के साथ बतला दिया गया। अब 'आज्य' नामक आहुतिद्रव्य की व्यवस्था करते हैं)—

[हविर्द्रव्य के अतिरिक्त] जो [दूसरे] आज्यों का ग्रहण किया जाता है, उन आज्यों का ग्रहण [प्रयाजदेवतारूप] ऋतुओं के लिए, तथा [अनुयाजदेवतारूप छन्दों के लिए, 'च' कारात् स्विष्टकृत्-याग' के लिए] किया जाता है। [क्योंकि ऋतु, छन्द, स्विष्टकृत्-देवता प्रधान-देवताओं की अपेक्षा गौण हैं, साथ ही ये संख्या में भी परिगणित हैं, इहीं सब कारणों से अध्वर्यु उस [आज्य] का [प्रयाजानुयाजादि गौण देवताओं का]-नाम न लेकर आज्यरूप से ही [समष्टिरूप से ही] ग्रहण करता है। [तात्पर्य यही हुआ कि, प्रधान देवता के लिए जहाँ हविर्ग्रहण नामनिर्देशपूर्वक होता है, वहाँ प्रयाजानुयाजादि सम्बन्धी आज्य का ग्रहण बिना नामनिर्देश के ही करना चाहिए। ग्रहण-सम्बन्ध में व्यतिक्रम बतला कर अब ग्रहण-सम्बन्ध में विशेषता बतलाते हैं]—

वह (अध्वर्यु नियत स्थान पर स्थित आज्यपरिपूर्ण ध्रुवा में स्रुव के द्वारा घृत ले लेकर) चार बार तो जुहू में घृत-ग्रहण करता है, एवं (उसी स्रुव से) आठ बार करके उपभृत् में ग्रहण करता है ॥७॥

सो जो कि अध्वर्यु चार बा करके (स्रुव से) जुहू में (बिना नाम निर्देश के) आज्यग्रहण करता है (उसका कारण बतलाते हैं)। ऋतुओं के लिए (चतुर्वार) आज्यग्रहण करता है। (ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं के उद्देश्य से चतुर्गृहीत यह) आज्य प्रयाजदेवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। (क्योंकि) ऋतुएँ हीं प्रयाज (देवता) हैं। उस आज्य का (ऋतुरूप प्रयाज देवताओं के नाम निर्देश के विना हीं) * अजामिता के लिए आज्यरूप से ही ग्रहण करता है। (वह अध्वर्यु + 'जामि' करेगा, जो कि यदि 'वसन्ताय, ग्रीष्माय त्वा' इत्यादि रूप से (नामनिर्देशपूर्वक) आज्यग्रहण करेगा। इसलिए (जामि दोष न हो, इसलिए) प्रयाज-देवताओं का नामनिर्देश न कर आज्य के ही रूप से [प्रयाजदेवताओं के लिए चतुर्वार जुहू में आज्य]-ग्रहण करता है ॥८॥

सो जो कि अध्वर्यु आठ उार करके [स्रुव से] उपभृत् में [बिना नाम निर्देश के] आज्य-ग्रहण करता है, [इसका कारण बतलाते हैं। छन्दों के लिए [आठ बार करके] आज्यग्रहण करता है। [छन्दोरूप अनुयाज-देवताओं के उद्देश्य से अष्टौ कृत्व गृहीत यह] आज्य अनुयाज-देवताओं के लिए ही ग्रहण करता है। [क्योंकि] छन्द हीं अनुयाज हैं। उस आज्य का [उन छन्दोरूप अनुयाज-देवताओं के नाम निर्देश के बिना हीं] अजामिता के लिए आज्यरूप से ही ग्रहण करता है।

---

* सभ्यता की रक्षा के लिए।

+ जामि-असभ्यता,

[ वह अध्वर्यु ] जामिदोष का प्रवर्त्तक बनेगा, जो कि यदि 'गायत्र्यै त्वा, त्रिष्टुभे त्वा' इत्यादि रूप से [ नामनिर्देशपूर्वक ] आज्यग्रहण करेगा। इसलिए [ जामिदोष न हो, इसलिए ] अनुयाज देवताओं का नाम निर्देश न कर आज्य के ही रूप से [ अनुयाज देवताओं के लिए आठ बार करके उपभृत् में आज्य ] ग्रहण करता है ॥६॥

[ आज्यग्रहण के सम्बन्ध में अभी एक बात शेष रह गई। जुहू, उपभृत, ध्रुवा, तीनों को 'स्रुक्' कहा जाता है। इनमें जुहू, तथा उपभृत् नाम की स्रुचों के सम्बन्ध में तो आज्यग्रहण की व्यवस्था बतला दी गई। परन्तु अभीतक इस सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण न हुआ कि, तीसरी ध्रुवा नाम की स्रुक् में कहाँ से लेकर तो आज्य भरा जाता है, कितनी बार करके भरा जाता है, एवं नाम निर्देश पूर्वक भरा जाता है, अथवा जुहू-उपभृत्, इन अन्य स्रुचों की भाँति बिना नाम निर्देश के आज्य ग्रहण होता है ?। क्योंकि ध्रुवा भी स्रुक् है, अतः इतर दोनों स्रुचों के आज्यग्रहण की व्यवस्थाके साथ समानप्रकरण के कारण ध्रुवा नाम की स्रुक् से सम्बन्ध रखने वाली आज्यग्रहण-व्यवस्था का भी स्पष्टीकरण होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ध्रुवा के सम्बन्ध में एक सन्देह और उपस्थित होता है। पूर्वप्रतिपादित 'यज्ञप्रतिरूपरहस्य' के अनुसार ध्रुवा आत्मस्थानीय बनता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ की प्रतिष्ठा है। इस सर्वयज्ञसम्पन्नता की दृष्टि से ध्रुवापात्र केवल जुहू-उपभृत् में क्रमशः चतुर्वार-अष्टवार गृहीत आज्य से सम्बन्ध रखने वाले प्रयाज-अनुयाज नामक गौण देवताओं की ही प्रतिष्ठा नहीं है, अपितु यज्ञिय अन्य आवाप-देवताओं की भी प्रतिष्ठा है। उधर पूर्व में यह व्यवस्था हुई है कि, प्रधान देवता के लिए तो नामनिर्देश पूर्वक हविर्ग्रहण करना चाहिए, एवं प्रयाजानुयाज-देवताओं के लिए बिना नाम निर्देश के ही आज्यग्रहण करना चाहिए। इधर ध्रुवापात्र गौण, तथा मुख्य, सब देवताओं की प्रतिष्ठा है। ऐसी दशा में यदि बिना नामनिर्देश के ध्रुवा में घृत डाला जायगा, तो प्रधान देवता का सम्बन्ध न होगा, और यदि नाम निर्देशपूर्वक घृत डाला जायगा, तो गौणदेवता का सम्बन्ध न होगा। अपेक्षित है दोनों का सम्बन्ध, क्योंकि दोनों के समन्वय से ही यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है, एवं ध्रुवा सम्पूर्ण यज्ञ की प्रतिष्ठा है। फलतः ध्रुवा-सम्बन्धी आज्यग्रहण के सम्बन्ध में उक्त सन्देह एक जटिल समस्या बन जाता है। इन्हीं सब विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने के लिए ध्रुवा—सम्बन्धी आज्यग्रहण की व्यवस्था बतलाई जाती है ]—

[आरम्भ से यज्ञ समाप्ति-पर्य्यन्त यज्ञिय कर्म्म में जितना आज्य अपेक्षित रहता है, अपेक्षित नियत मात्रा से अन्य सामग्री-सम्भार के साथ साथ आज्य का भी एकबार ही संग्रह कर लिया जाता है। यज्ञकर्म्मोपयोगी इस आज्य को पहिले से ही नियत जिस यज्ञिय पात्र में नियत स्थान पर कोशरूप से सुरक्षित रख लिया जाता है, वह पात्र 'आज्यस्थाली' नाम से प्रसिद्ध है। आहुति के लिए ध्रुवा में भरे हुए आज्य का स्रुव से उपयोग होता है। जब जब ध्रुवा में आज्य अपेक्षित होता है, तब तब कोशस्थानीया उस आज्यस्थाली से इस ध्रुवापात्र में घृत ले लिया जाता है। जिसप्रकार स्रुव के द्वारा ध्रुवा में से जुहू, और उपभृत् में बिना नामनिर्देश के क्रमशः

चतुर्वार-आठबार आज्यग्रहण होता है, वैसे आज्यस्थाली में से ध्रुवा में कितनी बार में करके आज्य भरा जाता है ?, एवं प्रधानदेवतावत् नामनिर्देश-पूर्वक भरा जाता है ?, अथवा गौण-देवतावत् बिना नामनिर्देश के ?, ये दो प्रश्न हमारे सामने आते है। इहीं का क्रमशः समाधान करती हुई श्रुति कहती है ]—

जो कि [ अध्वर्य्यु जुहू-उपभृत् में आज्यस्थाली में से ] चार बार करके ध्रुवा में आज्य-ग्रहण करता है—[ उसका कारण बतलाते हैं ]। उस [ आज्य ] को सम्पूर्ण यज्ञ के लिए [ चार बार करके आज्यस्थाली में से ध्रुवा में ] ग्रहण करता है। [ तात्पर्य्य यही हुआ कि, ध्रुवा में आज्यस्थाली से चार बार करके जो आज्यग्रहण किया जाता है, इस आज्यग्रहण का सम्बन्ध न तो प्रधानदेवता के साथ ही है, न केवल गौणदेवता के साथ ही। अपितु गौण, प्रधान, स्विष्टकृत, आदि सम्पूर्ण देवताओं से युक्त सम्पूर्ण यज्ञ की सिद्धि ही इस आज्यग्रहण का मुख्य उद्देश्य है। क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञ इस ग्रहण का उद्देश्य है, एवं 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस निगम के अनुसार यह सर्वत्त्व चार पर्वो पर निर्भर है, अतः बिना नामनिर्देश के केवल चार बार करके ही आज्यस्थाली से ध्रुवा में आज्यग्रहण करना न्यायसङ्गत बनता है। यही स्पष्ट करते हुए आगे जाकर श्रुति कहती है ]—

उस [ आज्य का देवतादि के नामनिर्देश के बिना आज्य के ही रूप से ग्रहण करता है। किस देवता के लिए नामनिर्देश करे, जबकि [ इस ध्रुवा में ] सभी [गौण, मुख्य, स्विष्टकृदादि] देवताओं के लिए* अवदान (अंश-विभाग) करता है। (अर्थात् जब ध्रुवा सब की प्रतिष्ठा है, तो मानना पड़ेगा कि, ध्रुवा में स्थित आज्य भी सभी की प्रतिष्ठा है। इस में नाम वाले, एवं बिना नाम वाले, गौण-मुख्य सभी देवता संयुक्त हैं। ऐसी दशा में नाम-आग्रह के सम्बन्ध में अधिक से अधिक 'सर्वाभ्यः-सर्वस्मै' कहना हीं पर्य्याप्त है। जब 'सर्वस्मै-सर्वाभ्यः' स्वतः सिद्ध है, तो ग्रहणकाल में इन प्रयोगों की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अतएव (सर्वप्रति-ष्ठारूप होने से ही ) किसी का नामनिर्देश किए बिना (आज्यस्थाली में से ध्रुवा में) आज्य के रूप से ही (चार बार करके आज्य) ग्रहण करता है ॥१०॥

## ÷ २ -इति-आज्यगृहणसंख्यानियमनप्रकरणम्

---

*—आज्यस्थाली से उपयोगानुसार ध्रुवा से चार बार कर के आज ग्रहण करना हीं 'अव-दान' है।

÷ ६ ठी कण्डिका से आरम्भ कर १० वीं कण्डिका पर्य्यन्त ५ कण्डिकाओं का एक स्वतन्त्र प्रकरण मानना चाहिए। इस प्रकरण में प्रधानरूप से 'आज्यग्रहण' की संख्याओं का ही विचार हुआ है। इस से आगे उपपत्ति-प्रकरण चलेगा, एवं सर्वान्त में पद्धति-प्रकरण आएगा पञ्चकण्डिकात्मक प्रस्तुत प्रकरण में केवल संख्याओं का ही विचार हुआ है, अतः इसे 'आज्यग्रहण-संख्यानियमनप्रकरण' नाम से व्यवहृत करना उचित मान लिया गया है।

## ३—आज्यगृहणोपपत्तिप्रकरणम्—

(पूर्व प्रकरण में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, जुहू में स्रुव के द्वारा केवुवा से चार बार, एवं उपभृत् में आठ बार आज्यग्रहण किया जाता है। 'चतुर्जुह्वां अष्टौ कृत्व उपभृति' इन चार--संख्याओं की क्या उपनिषत् ?, षट्--कण्डिकात्मक प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है)----

(यज्ञकर्म्म में दीक्षित, यज्ञफलभोक्ता) यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं जो (यजमाम का शत्रु) इस यजमान के प्रति (सम्पत्ति-आगमन का द्वार अवरुद्ध करता हुआ इसके साथ) शत्रुता करता है, व (शत्रु) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है, ('अर्थात् जुहू में प्रतिष्ठित आज्य यजमान का प्रतिरूप है, एवं उपभृत् में प्रतिष्ठित आज्य यजमान के शत्रु का प्रतिरूप है)। अत्ता (भोक्ता) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं आद्य (भोग्य) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है। (अर्थात् जुहू-स्थित आज्य भोक्ता का प्रतिरूप है, एवं उपभृत् में स्थित आज्य भोग्य का प्रतिरूप है)। (दक्षिण बाहु का प्रतिरूप) जुहू अत्ता है, एवं (वामबाहु का प्रतिरूप) उपभृत आद्य है।

(उक्त यजमान-यजमानशत्रु, अत्ता-आद्य, इन द्वन्द्वों से श्रुति का अभिप्राय यही है कि, जुहू को यजमान, तथा, भोक्ता समझ कर, एवं उपभृत् को यजमानशत्रु, तथा भोग्य समझ कर ही आज्यग्रहण-सम्बन्धिनी संख्याओं के नियतभाव की उपपत्ति पर दृष्टि डालनी चाहिए। क्योंकि यह द्वन्द्व-भाव ही संख्योपपत्ति की मूल प्रतिष्ठा है। यह है-मौलिक परिस्थिति। इसे अपने लक्ष्य में रखता हुआ) वह (अध्वर्य्यु) नियमितरूप से (वै) चार बार जुहू में आज्यग्रहण करता है, एवं आठ बार करके उपभृत् में (आज्यग्रहण करता है) ॥११॥

सो जो कि (अध्वर्य्यु) जुहू में चार बार ग्रहण करता है, (इस की उपपत्ति बतलाते हैं)। (जुहू में चार बार करके आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्य्यु इस ग्रहणकर्म्म से) अत्ता (यजमान) को ही अतिशय सीमित, और संख्या में अल्प (छोटा) करता है। (जुहू में आज्य-ग्रहण करने के अनन्तर जो कि अध्वर्य्यु उपभृत् में आठ बार करके आज्यग्रहण करता है, (उसका कारण बतलाते हैं)। (उपभृत् में आठ बार करके आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्य्यु इस ग्रहणकर्म्म से) आद्य (यजमानशत्रु) को ही अतिशय विस्तृत, और संख्या में बड़ा करता है। जहाँ भोक्ता कम होंगे, एवं भोग्यसामग्री प्रचुरमात्रा में होगी, अवश्य ही वह (गृहस्थपरिवार, यज्ञकर्म्म, आदि) समृद्ध हैं (समृद्ध माने जायँगे)। (तात्पर्य्य यही हुआ कि, पूर्वकथनानुसार जुहू का आज्य भोक्ता है, एवं उपभृत् का आज्य भोग्य है। जहाँ, जिस संस्था में भोक्ता की अपेक्षा भोग्य-सामग्री अधिक होती है, वहाँ समृद्धि मानी जाती है। इसी समृद्धि का यज्ञकर्म्म में समावेश करने के लिए भोक्ता-स्थानीय जुहू का आज्यभाग संख्या में कनीयान् किया जाता है, एवं भोग्य-उपभृत् का आज्यभाग संख्या में भूयान् बनाया जाता है। ॥१२॥

[ब्राह्मणग्रन्थों की यह एक नियत शैली है कि, जब वे कर्म्मों का ब्राह्मण (विज्ञान, मौलिकरहस्य, उपपत्ति) बतलाने का उपक्रम करते हैं, तो आरम्भ में समाधानोपक्रमगर्भित प्रश्नार्थक वाक्यों का प्रयोग करते

हैं, जैसा कि—'तद्यदप-उपस्पृशति' ( श० १।१।१ )—'अथातोऽशनानशनस्यैव' ( श० १।१।७ )---'अथ यद् द्वन्द्वम्' ( श० १।१।२।२ ) इत्यादि प्रश्नार्थक वाक्यों से स्पष्ट है। इन वाक्यार्थों की सङ्गति----'सो जो कि पानी का उपस्पर्श करते हैं—( उस की उपपत्ति बतलाते हैं )—'अब यहाँ से अशन-अनशन की ही----( मीमांसा की जाती है--अब जिस लिए कि द्वन्द्वभाव है ( वह कारण बतलाते हैं )' इस रूप से की जायगी। प्रकृत में भी इस स्वाभाविक शैली के अनुसार ही-'अथ यत् चतुर्जुह्वां गृह्णाति' समाधानोपक्रमगर्भित ( उपपत्ति--जिज्ञासारूप ) यह प्रश्नार्थक वाक्य प्रयुक्त हुआ है। अतः इस का अर्थ—'अब जिसलिए कि जुहू में चार बार ग्रहण करते हैं ( उस का कारण बतलाते हैं )' यह करना पड़ेगा। अनन्तर अनुवाद--सङ्गति के लिए उक्त वाक्यार्थ के आगे 'जुहू में चार बार ग्रहण करता हुआ अध्वर्य्यु', इस वाक्य का सम्बन्ध ऊपर से और जोड़ना पड़ेगा। प्रकृत में इस शैली से यही बतलाना है कि, कहीं कहीं व्याख्याताओंने—'सो जो कि जुहू से चार बार आज्य ग्रहण करता है, अत्ता को ही इस ग्रहण से परिमिततर करता है' यह अर्थ किया है। परन्तु ऐसा अर्थ ब्राह्मणशैलो से सर्वथा विरुद्ध, अतएव उपेक्षणीय ही माना जायगा। प्रत्येक दशा में उपक्रम--वाक्य स्वतन्त्र माना जायगा, एवं आगे के उत्तर--प्रकरण की सङ्गति के लिये पूर्ववाक्यार्थ से आगे 'तदुच्यते'--'तत्कारणमीमांसा क्रियते' इत्यादि नवीन वाक्यों का समावेश करना पड़ेगा। ]

वह (अध्वर्य्यु) जुहू में चार बार आज्यग्रहण करता हुआ ( आठ बार वाले उपभृत् की अपेक्षा ) मात्रा में अधिक आज्यग्रहण करता है ( एवं ) उपभृत् में आठ बार करके आज्यग्रहण करता हुआ (चार बार वाले जुहू की अपेक्षा) थोड़ा आज्यग्रहण करता है। ( तात्पर्य्य यही हुआ कि यद्यपि जुहू में स्रुवा से आज्य लिया जाता है चार ही बार, तथापि जुहू की आज्यमात्रा उपभृत् की आज्यमात्रा से अधिक होती है, जब कि जुहू में उपभृत् की अपेक्षा चार बार कम डाला जाता है। एवमेव उपभृत् में यद्यपि आज्य लिया जाता है-आठ बार, तथापि उपभृत् की आज्यमात्रा जुहू की आज्यमात्रा से भी कम रहती है, जब कि उपभृत् में जुहू की अपेक्षा चार बार अधिक डाला जाता है ॥१३॥

सो जो कि (अध्वर्य्यु) जुहू में चार बार ही आज्यग्रहण करता हुआ भी ( उपभृत् की अपेक्षा ) अधिक आज्यग्रहण करता है, ( उस का कारण लतलाते हैं )। ( जुहू में चार बार में हीं उपभृत् की अपेक्षा अधिक आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्य्यु ) इस भूयोग्रहणकर्म्म से अत्ता को (चार संख्या से) अतिशय सीमित, (एवं ) अल्प करता हुआ, ( भूयोग्रहण से ) इस ( अत्ता ) में (आद्य की अपेक्षा) वीर्य्य, (और) बल का आधान करता है। तात्पर्य्य यह निकला कि, चार संख्या की दृष्टि से जहाँ अत्ता संख्या की अपेक्षा कम है, वहाँ आज्य की अधिकता से वीर्य्य, तथा बल में आद्य की अपेक्षा-अधिक है )।

सो जो कि [अध्वर्य्यु] उपभृत् में आठ बार आज्यग्रहण करता हुआ [जुहू की अपेक्षा] थोड़ा आज्य ग्रहण करता है, [उस का कारण बतलाते हैं]। उपभृत् में आठ बार में जुहू की अपेक्षा थोड़ा आज्यग्रहण करता हुआ अध्वर्य्यु। इस अल्पग्रहण-कर्म्म से आद्यको [आठ संख्या से] अतिशय विस्तृत, [एवं] बड़ा बनता हुआ [अल्पग्रहण से] इसे [आद्य को] वीर्य्य, तथा बल में [अत्ता-

की अपेक्षा] शून्य ही बनाता है। [तात्पर्य्य यही है कि आठ संख्या से जहाँ आद्य संख्या, तथा आयतन में बड़ा है, वहाँ मौलिक वीर्य्यरूप आज्य की अल्पता से अत्ता की अपेक्षा यही वीर्य्य, तथा बल से शून्य है, निर्वीर्य्य है, निर्बल है]। निष्कर्ष यही निकला कि, अत्ता सदा आज्य पर अपना प्रभुत्त्व प्रतिष्ठित रक्खे, आद्य सदा इसके सामने नतमस्तक रहे, इसी रूपसमृद्धि के लिए अत्ता-स्थानीय जुहू में अधिकमात्रा से, तथा आद्यस्थानीय उपभृत् में अल्पमात्रा से आज्य-ग्रहण करना प्राकृतिक है।

[एकाकी रहता हुआ भी अत्ता अधिक वीर्य्य, बल के सम्बन्धसे हीनवीर्य्य, हीनबल अनेकों आद्यों पर कैसे अपना प्रभुत्त्व प्रतिष्ठित रखता है ?, इस सम्बन्ध में प्राकृतिक-नित्य-वर्णानुगत 'राजा-प्रजा' का उदाहरण उद्वृत करती हुई श्रुति कहती है ]—

इसीलिए तो [तस्मादुत-आद्य की अपेक्षा अत्ता के विशेष बलवीर्य्यवान् होने से ही तो राष्ट्राधिपति एक] सत्ताधीश अपार [असंख्य-अगणित-अनगिनती] प्रजा को प्राप्त होकर भी स्वयं एक घर से (एकाकी ही उस असंख्य-प्रजा को) अपने वश में कर लेता है। (यही नहीं, अपितु राष्ट्र की आवश्यता के लिए वह राष्ट्रपति सत्ताधीश जब जब जैसी जैसी जिस जिस वस्तु की कामना करता है, तब तब वैसी वैसी उस उस अभिलषित वस्तु को भी (उस आद्यस्थानीया प्रजा से बल-वीर्य्य के प्रभाव से) प्राप्त करता रहता है। उसी वीर्य्य से (सत्ताधीश यह सब कुछ राज्य-प्रजावैभव प्राप्त करने में समर्थ होता है), जो कि यह अपनी जुहू (रूप दक्षिण बाहु) में अधिक आज्य (वीर्य्य) ग्रहण करता है। (अपने बाहुबल, तथा आत्मवीर्य्य से सत्ताधीश एकाकी रहता हुआ भी असंख्यात प्रजायुक्त राष्ट्र पर अपना प्रभुत्त्व बनाए रखता है, यही तात्पर्य्य है)।

वह अध्वर्य्यु जिस आज्य को जुहू में लेता है, उस आज्य की (तो) आहुति जुहू से देता (ही) है, (परन्तु) जिस आज्य का उपभृत् से ग्रहण करता है, [उसकी भी आहुति उपभृत से न देकर] जुहू से ही आहुति देता है। [तात्पर्य्य यही हुआ कि, आज्यग्रहणकर्म्म पृथक् पृथक् जुहू उपभृत् में होता है, परन्तु आहुति दोनों के आज्य की जुहू से ही दी जाती है ॥*॥१४॥

---

*—१२ वी कण्डिका के आगे ब्राह्मणग्रन्थ की जिस प्रतिपादन-शैली का स्पष्टीकरण किया गया है, पाठक देखेंगे कि १३-वीं, १४ वी, कण्डिकाओं के प्रारम्भिक वाक्यों से उस शैली का सर्वात्मना समर्थन होरहा है। उत्तरोपक्रमगर्भित, प्रश्नार्थक वाक्यों का सर्वत्र 'स यत्'—'अथ यत्'—'अथातः' इत्यादि रूप से आरम्भ होता है। एवं उत्तरवाक्यों से सम्बद्ध पूर्ववाक्यों का उपक्रम 'स वै'—'तद्धि' तद्वा एतम्' इत्यादिरूप से होता है, जैसाकि १३ वीं कण्डिका के आगे के प्रकरण से सम्बद्ध "स वै चतुर्जुह्वां गृह्णन् भूयऽ आज्यं गृह्णाति" इस सामान्य उपक्रमवाक्य से, एवं १४ वीं कण्डिका के उत्तर प्रकरण से अनन्वित, स्वतन्त्र, अतएव अन्यवाक्यसापेक्ष, उत्तरोपक्रमगर्भित, प्रश्नार्थक—"स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन भूय आज्यं गृह्णाति'

(यज्ञपद्धति का यह एक स्वाभाविक नियम देखा जाता है कि, जिस पात्र, किंवा पात्री में आहुति-द्रव्य लिया जाता है, उसी पात्र, किंवा पात्री से आहुति दी जाती है। परन्तु पूर्वश्रुति ने ग्रहण बतलाया है उपभृत् में, एवं आहुति का विधान किया है जुहू से। इस वैषम्य का क्या कारण ?, इसी वैषम्य का प्रश्न रूप से उपादान कर, अन्त में समाधान करती हुई श्रुति कहती है]-

[उपभृत् में गृहीत आज्य की उपभृत् से आहुति न देकर जुहू से ही आहुति देनी चाहिए, इस पूर्व सिद्धान्त के सम्बन्ध में | कितने एक विद्वान् कहते हैं कि [ * तदाहुः ], यदि [उपभृत् में गृहीत आज्य की ] उपभृत् से आहुति नहीं देते, तो फिर क्यों [ किस प्रयोजन के लिए ] उपभृत् में [ आज्य ] ग्रहण किया जाय ? । [प्रश्नकर्त्ता विद्वानों का अभिप्राय यही है कि, आहुति देने के लिए ही तो आज्य-ग्रहण का विधान हुआ है। जब उपभृत् से आहुति ही नहीं दीजाती, तो इसमें आज्य-ग्रहण की ओर क्या आवश्यकता रह जाती है ? ] ।

[ श्रुति उत्तर देती है कि ]-यदि वह [अध्वर्य्यु]-[उपभृत् में गृहीत आज्य की] उपभृत से आहुति देगा, तो ये सम्पूर्ण प्रजाएँ [ अपना स्वाभाविक संघठन तोड़ कर ] स्वतन्त्र बन जायँगी। न अत्ता रहेगा, न आद्य [सुरक्षित] रहेगा। [ उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, उपभृत् में गृहीत आज्य, एवं उपभृत, दोनों आद्यस्थानीय बनते हुए प्रजा-स्थानीय हैं। जुहू में गृहीत आज्य, तथा जुहू, दोनों अत्ता-स्थानीय बनते हुए 'सत्ताधीश-स्थानीय' हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि प्रजा-स्थानीय उपभृत् से ही प्रजा-स्थानीय आज्य की आहुति दी जायगी, तो उपभृदाज्यस्थानीया प्रजा स्वतन्त्र बन जायगी, जो कि निरंकुश, अमर्य्यादित स्वातन्त्र्य तत्त्वतः पारतन्त्र्य बनता हुआ सत्ताधीश, तथा प्रजा, दोनों के नाश का ही कारण माना गया है। परन्तु जब उपभृद्गृहीत आज्य की सत्ताधीश-स्थानीय जुहू [ के आश्रय ] से आहुति दी जाती है, तो उपभृदाज्यरूप प्रजावर्ग जुहूरूप सत्ताधीश की रक्षा में आकर विप्लव से बच जाता है। इसी 'राष्ट्रीय-एकीकरण' के लिए उपभृत्-गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति देना उचित है। इसी अभिप्राय को अपनी स्वाभाविक-शैली से व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है]—

( उपभृत् में आज्यग्रहण करने लिए ) अनन्तर जिसलिए कि ( उपभृत्-गृहीत आज्य को ) जुहू में हीं लेकर आहुति देते हैं (इसका कारण बताते हैं)। ( औपभृत्-आज्य को जुहू में

---

[तत्कारणमुच्यते-इति वाक्यशेषः]" इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध होरहा है। ब्राह्मणग्रन्थों की इन परिभाषाओं के न जानने से 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः' न्याय से व्याकरण के बलपर केवल शब्दार्थ के अनुगमन से वास्तविक अर्थ-समन्वय में बड़ी भ्रान्ति होजाती है। अत पाठकों से इस सम्बन्ध में साग्रह निवेदन किया जायगा कि, अर्थसमन्वय करते हुए वे इन परिभाषाओं का भलीभाँति स्पष्टीकरण करलें।

*-जहाँ कहीं श्रुति को किसी अन्य के द्वारा प्रश्नात्मक, आक्षेपयुक्त पूर्वप्रश्न करना होता है, वहाँ सर्वत्र आरम्भ में 'तदाहुः' का सन्निवेश रहता है। दूसरे शब्दों में 'तदाहुः' वाक्य को सर्वत्र प्रश्नात्मक ही समझना चाहिए। यह भी ब्राह्मणग्रन्थों की एक स्वाभाविक ही शैली है।

लेकर ) आहुति देने से ही ये प्रजाएँ क्षत्रिय-राजा के लिए बलि (कर) प्रदान करतीं हैं। (अर्थात् इसीलिए प्रजा राज्य को अनुगामिनी बनी रहती है)।

( अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और किया जासकता है। वह यही कि, यदि ऐसा है, तो फिर उपभृत् में आज्यग्रहण की ही क्या आवश्यकता रह जाती है?। क्यों नहीं पहिले चार बार जुहू में लेकर अत्ताभाव की प्राप्ति के लिए आहुति दे दीजाय, अनन्तर आद्य को अत्ता के आधीन बनाने के लिए जुहू में हीं आठ बार लेकर [ आद्यभाव की रक्षा के लिए] जुहू से ही आहुति दे दी जाय ?। पहिले उपभृत् में लेना, पुनः उपभृत् से जुहू में लेकर आहुति देना, इस द्रविड़-प्राणायाम की अपेक्षा तो पहिले से ही जुहू में हीं लेकर क्यों न इतिकर्त्तव्यता पूरी करली जाय ?। इसी विप्रतिपत्ति का प्रश्नोत्थानपूर्वक निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

[जुहू में चार बार ग्रहण करने के ] अनन्तर जिसलिए कि उपभृत् में [ हीं आठ बार आज्य ] ग्रहण करते हैं, [ इसका कारण बतलाते हैं ]। [ आद्यलक्षणा प्रजा से सम्बन्ध रखने वाला उपभृत्-सम्बन्धी आज्यग्रहण जुहू में न होकर उपभृत् में हीं होता है ] इसलिए ही क्षत्रिय [ राजा ] के वश में [रक्षा में] रहते हुए ही वैश्य [प्रजा] के प्रति पशु [ सम्पत्तिवर्ग ] उपस्थित होते हैं। [उत्तर का तात्पर्य्य यही कि, जिसप्रकार राष्ट्रीय प्रजा की रक्षा के लिए भोक्ता की सत्ता अपेक्षित है, उसीप्रकार भोग्य की सत्ता भी आवश्यक है। राजा यदि प्रजा का सर्वस्य अपने स्वार्थ में हीं स्वाहा कर जाय, उसे स्वतन्त्र रहकर ( किन्तु अपनी रक्षा में ) सुसमृद्धि का अवसर न दे, तो प्रजा कभी पशुसम्पत्ति ( धन, कृषि, पशु आदि ( बहिर्वित्त ) से युक्त न बने। और इस दशा में राजा का राजापना ही 'सुरक्षित न रहे। अतः प्रजाविकास के लिए, प्रजासमृद्धि के लिए प्रजा को एकांश से स्वतन्त्र—रखना भी आवश्यक है। उपभृत् जुहू पर रक्खी रहती है। जुहू आधार है, आश्रय है, उपभृत् आधेय है, आश्रित है। यही राजा का प्रजा पर रक्षात्मक अनुग्रह है। इस रक्षा में प्रतिष्ठित वैश्यरूप प्रजावर्ग स्वतन्त्ररूप से पशुसमृद्धि करने में समर्थ बने, इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जुहू पर रक्खे हुए उपभृत् में हीं आज्यग्रहण किया जाता है )।

( इसप्रकार पहिले उपभृत् में आज्यग्रहण कर, अनन्तर औपभृत-आज्य को जुहू में लेकर ही आहुति क्यों दी जाती है ?, इस प्रश्न का एक समाधान तो कण्डिका के आरम्भ में हीं—'तस्मादिमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति' इत्यादिरूप से दिया जाचुका है। इस उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, प्रजा राजा को बलि ( कर ) प्रदान करती रहे, राजा इस बलिप्राप्ति से और भी अधिक बलवान् बनता हुआ प्रजासमृद्धि में पूर्ण समर्थ बने। अब इसी प्रश्न का एक दूसरा समाधान करने के लिए श्रुति पुनः प्रश्न उठाकर समाधान करती है )—

( जुहू पर रक्खे हुए उपभृत् में आठ बार आज्यग्रहण करने के ) अनन्तर जिसलिए कि ( औपभृत-आज्य को ) जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति देते हैं ( इस की दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं )। क्योंकि औपभृदाज्य की उपभृत से आहुति न होकर जुहू से आहुति होती है, अतएव

जिस समय भी क्षत्रियराजा ( राष्ट्रहित के लिए जिस सम्पत्ति की ) कामना करता है, कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं वह वैश्य ( प्रजा ] को लक्ष्य बना कर आज्ञा देता है कि, वैश्य ! तुह्मारा जो अत्यन्त्य सुरक्षित ( सुगुप्त ) पर ( परकीय धन ) है, उसे ( राष्ट्रहित के लिए ) शीघ्र ले आओ । ( आज्ञानन्तर वैश्य के द्वारा प्राप्त धन को ) वह राजा अपने अधिकार में कर लेता है । इसीप्रकार राजा को ( राष्ट्रसञ्चालन-कर्म्म में ) जब जैसी जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती रहती है, इन्हीं सम्पन्न वैश्यों के द्वारा वैसी. वे वस्तुएँ प्राप्त होतीं रहतीं हैं ( और इस स्वाभाविक सम्पत्-प्राप्ति का एकमात्र कारण है ) वीर्य्यप्रभाव । ( तात्पर्य्य उत्तर का यही है कि, यदि उपभृत् से ही आहुति दी जायगी, तो इसका यह अर्थ होगा कि. राजा ने प्रजा को सञ्चित-धन व्यय के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करदी । प्रजाधन ही राजा के राष्ट्र का मुख्य बल है । यदि प्रजाधन पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण न होगा, तो राजा के राष्ट्र कीं अर्थशक्ति नष्ट होजायगी । और उस परिस्थिति में राजा प्रजा से कामनानुसार राष्ट्रसंचालन के लिए सम्पत्ति-संग्रह न कर सकेगा । ठीक इस के विपरीत जब कि औपभृदाज्य की जुहू के द्वारा ही आहुति होती है, तो इस का यह अर्थ होता है कि, प्रजा के द्वारा सञ्चित धन राजा की रक्षा में जायगा । इसीलिए अब राजा जब भी चाहेगा, तभी प्रजा के उस गुप्त (सुरक्षित) धन के द्वारा राष्ट्रकामनाएँ पूरी करता रहेगा । इस दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी औपभृदाज्य को जुहू में लेकर जुहू से ही आहुति दी जाती है ॥१५॥

(जुहू, और उपभृत में क्रमशः ४-८ बार करके जो आज्यग्रहण होता है. इस के सम्बन्ध में जो कुछ उपपत्ति बतलानी थी, बतला दी गई । अब तीसरी 'ध्रुवा' नामकी स्रुक् शेष रह गई, जिससे कि स्रुव के द्वारा जुहू-उपभृत् में आज्यग्रहण होता है । इस क्रमदृष्टि से यद्यपि अब ध्रुवा-सम्बन्धी आज्यग्रहण की उपपत्ति ही अपेक्षित थी । तथापि ध्रुवा--पात्र अङ्गभूत इतर दोनों स्रुचों ( जुहू--उपभृत् ) की प्रतिष्ठा बनता हुआ सर्वयज्ञप्रतिष्ठा है । अतः ध्रुवा के इस सर्वभाव को दृढ़मूल बनाने के उद्देश्य से प्रसङ्गात् पहिले इतर दोनों स्रुचों का भी सिंहावलोकन कर लिया जाता है ।

यद्यपि छन्दोरूप अनुयाज, तथा ऋतुरूप प्रयाज, दोनों के लिए क्रमशः उपभृत्--तथा जुहू में आज्यग्रहण होता है. तथापि ध्रुवा--सम्बन्ध में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का श्रुति ने प्रधानरूप से छन्दःसम्पत्ति के साथ ही सम्बन्ध माना है, जैसा कि निम्न लिखित मूलानुवाद में में स्पष्ट होरहा है )।

(आज्यस्थाली से चार बार करके ध्रुवा में, ध्रुवा से स्रुव के द्वारा चार बार कर के जुहू में, एवं ध्रुवा से स्रुव के द्वारा द्वारा आठ बार करके उपभृत में गृहीत होने वाले ) वे ये आज्य छन्दों के लिए ही गृहीत होते हैं--( छन्दों के लिए ही आज्यों का ग्रहण होता है ) । सो जो कि जुहू में चार बार करके ( आज्य ) ग्रहण करता है, वह गायत्रीछन्द के लिए ही गहण करता है । जो कि उपभृत् में आठ बार कर के (आज्य) ग्रहण करता है, वह त्रिष्टुप्, तथा जगती--छन्दों के ही लिए

ग्रहण करता है। जो कि ( आज्यस्थाली से ध्रुवा में चार बार कर के आज्य) ग्रहण करता है, वह अनुष्टुप् छन्द के लिए ही ग्रहण करता है। अनुष्टुप् ही वाक् है। वाक् से ही यह (सब भौतिक प्रपञ्च) उत्पन्न हुआ है। इसीलिए (वाक्प्रतिरूप) ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञ होता है। अनुष्टुप् (वाक्) ही यह (पृथिवी) है। इसी (पृथिवी) से यह सब (स्तौम्यत्रिलोकीरूप भूतप्रपञ्च) उत्पन्न होता है। इसीलिए (पृथिवी के प्रतिरूप) ध्रुवा से ही यह सम्पूर्ण यज्ञ उत्पन्न हुआ है ॥१६॥

## ❀-इति-आज्यग्रहणोपपत्तिप्रकरणम्

---*---

## ४-पद्धतिप्रकरणम्

किन में, किन से, किनके लिए, कितनी बार आज्यग्रहण होता है ?, पूर्व--प्रतिपादित तीन प्रकरणों में इन्हीं प्रश्नों का समाधान हुआ है। अब कैसे आज्य ग्रहण करना चाहिए ?, पद्धतिरूप यह प्रश्न बच रहता है। आगे की क्रमप्राप्त १७-१८ कण्डिकाओं से इस 'आज्यग्रहण--पद्धति' का ही निरूपण करता हुआ अष्टादश १८) कण्डिकात्मक, प्रकरणचतुष्टयात्मक, 'आज्यग्रहण ब्राह्मण' नामक, १ काण्डानुगत--३ अध्याय का दूसरा (३।२), तथा द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण (२।५) समाप्त होता है।

वह अध्वर्यु--'धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि' ( यजुः सं० २ अ०-३१ मं० ) यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यग्रहण करता है। ( अर्थसुविधा के लिए मन्त्र को दो भागों में विभक्त कर पहिले प्रथम विभाग का अर्थ करती हुई श्रुति कहती है )----यह देवताओं का अत्यन्त प्रिय स्थान ( रमणसाधन ) है, जो कि आज्य है। इसीलिए 'धाम नामासि प्रियं देवानाम्' यह कहा गया है। ( मन्त्र के द्वितीय भाग का अर्थ करते हैं ) आज्य वास्तव में वज्र है, देव-यजन है-(देवताओं की यज्ञ के द्वारा परस्पर सङ्गति कराने वाला है )। इसी अभिप्राय से 'अना-धृष्टं देवयजनमसि' यह कहा गया है ॥१७॥

वह अध्वर्यु इस ( उक्त ) यजु से ( मन्त्र से, मन्त्र बोलता हुआ ) जुहू में एकबार आज्य-ग्रहण करता है, तीन बार चुप चाप ( ग्रहण करता है )। ( तात्पर्य्य यही है कि, जुहू में चार बार आज्यग्रहण करने का विधान है। इन में आरम्भ में एकबार तो मन्त्र बोलते हुए ग्रहण करना

---

* जैसा कि मूलानुवादप्रकरण के आरम्भ में हीं बतला दिया गया है, ११ से १६ पर्य्यन्त की ६ कण्डिकाओं में आज्यग्रहण की उपपत्ति ही प्रधानरूप से बतलाई गई है। अतएव हमने षट्-कण्डिकात्मक इस प्रकरण को एक स्वतन्त्र प्रकरण मानते हुए 'आज्यग्रहणोपपत्तिप्रकरण' नाम से व्यवहृत करना उचित मान लिया है।

चाहिए, एवं तीन बार बिना मन्त्र बोले चुपचाप ग्रहण करना चाहिए )। उपभृत् में एकबार ( तो ) इसी यजु में ( मन्त्र बोलता हुआ ) आज्यग्रहण करता है, एवं सात बार चुपचाप ( बिना मन्त्र प्रयोग के ) आज्यग्रहण करता है। ध्रुवा में ( आज्यस्थाली में से ) एक बार तो इसी यजु से (मन्त्र बोलता हुआ) आज्यग्रहण करता है, एवं तीन बार चुपचाप (बिना मन्त्रप्रयोग के ) आज्य-ग्रहण करता है ।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान् कहते हैं कि, ( ध्रुवा, जुहू, उपभृत् , इन तीनों में आज्यग्रहण करते हुए प्रत्येक में ) तीन तीन बार यजु से ( मन्त्रपूर्वक ) आज्यग्रहण करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ त्रिवृत ( नवाक्षरा-विराट्सम्पत्ति से युक्त ) है। ( आक्षेपगर्भित प्रश्न-कर्त्ता का अभिप्राय यही है कि, जब यज्ञ त्रिवृत् है, और त्रिवृत्-सम्पत्ति बिना तीन तीन बार यजुः-प्रयोग-मन्त्रप्रयोग-के सम्भव नहीं, तो ऐसी दशा में जुहू-उपभृत्-ध्रुवा, तीनों की ४-८-४ इन ग्रहण-संख्याओं में से क्रमशः ३—३—३ रूप से तो मन्त्रप्रयोगपूर्वक आज्यग्रहण करना चाहिए, एवं १-५-१ इस संख्याओं के अनुरूप तूष्णीं आज्यग्रहण करना चाहिए, तभी त्रिवृत्-सम्पत्ति प्राप्त होसकती है )—

( उक्त पूर्वपक्ष का तटस्थ-रूप से खण्डन-करती हुई, सकृत्-पक्ष को ही सिद्धान्तपक्ष बतलाती हुई श्रुति कहती है )—इस आज्यग्रहणकर्म्म में एक एक बार ही मन्त्रपूर्वक आज्यग्रहण करना चाहिए। इस ( सकृत-सकृत् परिग्रहणकर्म्म ) में भी आज्य का ( समाहाररूप ) तीन बार ग्रहण होजाता है। ( इसप्रकार सकृत् पक्ष में हीं त्रिवृत्-सम्पत्ति प्राप्त होजाती है ॥१८॥

## ४—इति—आज्यग्रहणपद्धतिप्रकरणम्

**प्रथमकाण्डानुगत-तृतीय अध्याय का दूसरा ब्राह्मण समाप्त ( १।३।२। )**

**प्रथमकाण्डानुगत-द्वितीय प्रपाठक का पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त (१।२।५।)**

## मूलानुवाद-समाप्त

# सूत्रानुगतपद्धतिसंगृहः

## जुहू में स्रुव से चार बार आज्यगृहण

आज्यावेक्षणकर्म्म के अनन्तर 'आज्यग्रहणकर्म्म' होता है । आज्यस्थाली में रक्खे हुए आज्य को स्रुवा के द्वारा जुहू–उपभृत् में डालना हीं आज्यग्रहणकर्म्म है । इसी कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां–"धामनामेति" सकृन्मत्रः" इति ।
—का० श्रौ० सू० २।७।६ ।

उक्त सूत्रादेशानुसार अध्वर्य्यु—"ओं धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि" ( हे आज्य ! आप देवताओं के लिए प्रिय 'धाम' नाम वाले हो, आप किसी भी आसुरभाव से धर्षण करने योग्य नहीं होने वाले देवताओं के देवयजन ( देवयजनभूमिस्थानीय ) हो"–यजुः १।६१ ) यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यस्थाली से स्रुवा को पूर्ण भर कर चार बार जुहू में आज्य डालता है । इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, उक्त मन्त्र का प्रयोग प्रथमबार आज्यग्रहण में हीं होता है । शेष तीन बार बिना मन्त्रोच्चारण के तूष्णीं हीं आज्यग्रहण होता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, अध्वर्य्यु स्रुवा को चार बार पूर्णरूप से आज्यस्थाली में से भरेगा। इस में एक बार तो उक्त मन्त्र बोलता हुआ जुहू में डालेगा, शेष तीन बार चुपचाप जुहू में डालेगा ।

## उपभृत् से स्रुव से आठ बार आज्यगृहण

जुहू में स्रुव से पूर्णरूप से चार बार आज्यग्रहण करने के अनन्तर उसी मन्त्र से आठ बार कर के अपरिपूर्णरूप से आज्यस्थाली में से स्रुवा के द्वारा आठ बार उपभृत् में आज्य ग्रहण किया जाता है । इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

"अष्टावुपभृत्यल्पीयोऽनुयाजश्चेत्" ( का० श्रौ० सू० २।७।१० ) ।

यदि दर्शपूर्णमास में अनुयाज का सम्बन्ध है, तो आठ बार करके उपभृत् में अपूर्ण आठ स्रुवों से आज्यग्रहण किया जाता है । प्रकृत दृष्टि में छन्दोरूप अनुयाजकर्म्म वैकल्पिक है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'चेत्' कहा गया है । यदि अनुयाजकर्म्म है, तब तो आठ बार उपभृत् में आज्यग्रहण होगा, अन्यथा केवल जुहु में हीं चार बार आज्यग्रहण होगा।

"यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्–गृह्णाति" ( तै० ब्रा० ३।३।५ ) इस कृष्णब्राह्मणानुसार उपभृत् में जो आठ बार आज्यग्रहण होता हैं, उस में चार बार गृहीत आज्य का तो ऋतुरूप प्रयाजदेवताओं से सम्बन्ध है, एवं चार बार गृहीत आज्य का छन्दोरूप अनुयाज–देवताओं से सम्बन्ध है । अनुयाजों को पूर्वसूत्रने वैकल्पिक बतलाया है । इस सम्बन्ध में एक

संशय उपस्थित होता है। यदि प्रकृत इष्टि में अनुयाज-कर्म्म का अभाव है, अथवा तो पृषदाज्यादि द्रव्यान्तर से अनुयाजकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी कर ली जाती है, तो ऐसी परिस्थिति में उपभृत् में आठ बार आज्यग्रहण करना, अथवा चार बार? । इस सम्बन्ध में अपना निर्णय बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं--

"चतुरन्यत्र, प्रतिविभागात्" (का० श्रौ० सू० २.७।११)

यदि प्रकृत इष्टिकर्म्म में अनुयाजका अभाव है, अथवा तो पृषदाज्यादि अन्य द्रव्य से अनुयाज-कर्म्म सम्पन्न करना अभीष्ट है, तो उस दशा में प्रतिविभाग-मर्य्यादा से उपभृत् में चार बार ही ग्रहण करना चाहिए। उपभृत्-में प्रतिष्ठित, अतएव औपभृत् नाम से प्रसिद्ध आज्य ४-४ क्रम से क्रमशः प्रयाज, अनुयाज, दोनों के लिए विहित है। जब कि औपभृत् आज्य उभयार्थ है, और अनुयाजकर्म्म अपेक्षित नहीं है, तो ऐसी स्थिति में केवल प्रयाजकर्म्म की सिद्धि के लिए चार बार ही आज्यग्रहण करना नियमप्राप्त बनता है। इसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में दृष्टान्तरूप से एक दूसरा हेतु बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं--

"पश्वातिथ्यादर्शनाच्च" (का श्रौ० सू० २।६।१२)

पशुबन्ध में, तथा आतिथ्येष्टि में होने वाले अनुयाजकर्म्म की सिद्धि के लिए उपभृत में चार बार ही आज्य-ग्रहण देखा जाता है। यदि अनुयाजकर्म्म वैकल्पिक होता है, तो प्रयाज के लिए चार बार ही आज्यग्रहण करना चाहिए, यही प्रतिविभाग-व्यवस्था न्यायतः प्राप्त है। पशुबन्ध के सम्बन्ध में "जुह्वां चोपभृति च चतुर्गृहीतं गृह्णाति" (आप० श्रौ० ७।१।६) इत्यादि रूप से स्पष्ट ही प्रतिविभाग-मर्य्यादा का समर्थन हुआ है। एवमेव आतिथ्येष्टि के सम्बन्ध में भी "सर्वा-ण्येव चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्णाति, न ह्यत्रानुयाजा भवन्ति" (शत० ब्रा० १।३।२ ६) इत्यादि रूप से इसी पक्ष का समर्थन हुआ है।

अब इस सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति के आधार पर एक नया पूर्वपक्ष उठाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"न, कृत्स्नोपदेशात्" (का० श्रौ० सू० २।७।१३)

'उपभृत् में आठ बार गृहीत आज्यों में से चतुर्गृहीत आज्य तो प्रयाज के लिए है, एवं चतुर्गृहीत आज्य अनुयाज के लिए हैं', पूर्व में जो यह सिद्धान्त बतलाया गया है, वह (श्रुति-विरोध से) ठीक नहीं है (न)। क्योंकि—"अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति, अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति" (शत० ब्रा० १।३।२।६) इस श्रुति में उपभृत् में आठ बार कर के गृहीत सम्पूर्ण आज्य का केवल अनुयाजकर्म्म के लिए ही विधान हुआ है। ऐसी स्थिति में प्रतिविभाग-मर्य्यादा का समर्थन नहीं किया जासकता। 'चतुरन्यत्र प्रतिविभागात' से यह बतलाया गया था कि, उपभृत् में आठ बार गृहीत आज्य में से आधे का प्रयाज में, एवं आधे का अनुयाज में उपयोग है। इस का तात्पर्य्य यही है कि, उपभृत् में आठ बार ग्रहण तो अनुयाज के लिए ही होता है। परन्तु

जैसे प्रयाज के लिए जुहू में गृहीत आज्य का वचन-प्रमाण से उत्तराघार से विनियोग होजाता है, एवमेव यहाँ भी प्रयाज में उपयोग होजाता है। दूसरा हेतु 'पश्वातिथ्यादर्शनाच्च' यह था। इस सम्बन्ध में—

"पश्वातिथ्योर्वचनात्" ( का॰ श्रौ॰ सू॰ २।७।१४ )

यह समाधान ही पर्य्याप्त होगा। "अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति" ( शत॰ ब्रा॰ १।३।२।६ ) इस श्रुतिवाक्य से सम्पूर्ण औपभृत आज्य जब कि अनुयाज के लिए है, तब जहाँ पशुबन्ध में पृषदाज्यादि द्रव्यान्तर से अनुयाजेतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है, एवं आतिथ्यादि में अनुयाज का ही अभाव है, तो उस दशा में वहाँ उपभृत् में अग्रहण प्राप्त होने पर वचन से चतुर्गृहीत आज्य का ही विधान समझना चाहिए। पहिले से प्राप्त का ही दर्शन सम्भव है। पश्वादि में क्योंकि पहले से प्राप्त नहीं है, अतः वहाँ वचन ही मानना उचित है। प्रतिपक्षी का तात्पर्य्य यही है कि, जिस पश्वादि दर्शन के आधार पर सिद्धान्ती प्रतिविभाग की मर्य्यादा स्थापित करता हुआ औपभृत् आज्यग्रहण के सम्बन्ध में चतुर्गृहीत आज्यपक्ष स्थापित करना चाहता है। पश्वादि को इस सम्बन्ध में उपोद्बलक नहीं माना जासकता। अपितु "यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति, अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति" इस श्रुति से औपभृत आज्य उभयार्थ न हो कर अनुयाजार्थ ही मानना न्यायसङ्गत है।

प्रतिपक्षी की इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए भाष्यकार अपना यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि, 'यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णाति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तद् गृह्णाति' ( तै॰ ब्रा॰ ३।३।८ ) इस शाखान्तर-वचन के आधार पर औपभृत आज्य का विधान उभयार्थ ही मानना चाहिए। 'अनुयाजेभ्यो हि तद् गृह्णाति' ( श॰ ब्रा॰ १।३।२।६ ) यह वाजसनेय वचन तो प्राप्त अर्थ का अनुवादमात्र है, न कि विधान। ऐसी स्थिति में सिद्धान्त यही निकलता है कि, अनुयाजाभाव में, किंवा अन्य द्रव्यानुयाज-युक्त कर्म्म में उपभृत् में चतुर्गृहीत आज्य को ही सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिए। जुहू तथा उपभृत् के सम्बन्ध में आज्यग्रहण की व्यवस्था कर अब क्रमप्राप्त ध्रुवानुगत आज्य-व्यवस्था करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"ध्रुवयां च जुहूवत्" ( का॰ श्रौ॰ सू॰ २।७।१५ )।

ध्रुवा में, एवं चकारात् उपभृत् में जुहू की भांति एक बार मन्त्रप्रयोगपूर्वक आज्यग्रहण होता है, एवं तीन बार तूष्णीं, बिना मन्त्र प्रयोग के आज्य-ग्रहण होता है। इसप्रकार अनुयाजपक्ष में तो जुहू-उपभृत-ध्रुवा में तीनों में क्रमशः ४-८-४ बार आज्य ग्रहण होता है, एवं अनुयाजाभावपक्ष में तीनों में क्रमशः४-४-४ बार आज्यग्रहण होता है। दोनों हीं पक्षों में एक एक बार मन्त्र-प्रयोगपूर्वक आज्यग्रहण होता है, एवं शेष तीन बार तूष्णीं आज्यग्रहण होता है, एवं आज्य-ग्रहण से सम्बन्ध रखने वाले सूत्रानुगतपद्धति-क्रम का यही संक्षिप्त स्पष्टीकरण है।

## इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

——*——

# वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य)-यज्ञेतिकर्त्तव्यता की उपनिषत् क्या ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए ही पहिला 'यज्ञ-प्रतिरूपरहस्य' नामक प्रकरण आरम्भ होता है। इस उपपत्ति-प्रकरण में प्रथम आध्यात्मिकयज्ञ का स्पष्टीकरण हुआ है, अनन्तर आधिदैविकयज्ञ का विश्लेषण हुआ है। उपपत्ति-प्रकरणारम्भ से पहिले हम आज एक बहुत बड़ी विप्रतिपत्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। 'हमारा वेदशास्त्र विज्ञान का भण्डार है' इस सूक्ति के उच्चारण करते ही वर्त्तमान-जगत् प्रश्न-परम्परा हमारे सम्मुख उपस्थित कर देता है। "यदि वेद में विज्ञान है, तो क्या उस वैदिक-विज्ञान के आधार पर भारतीय भी वर्त्तमान जगत् के से विविध भौतिक आविष्कार कर सकते हैं ?"। इस प्रश्न का महत्त्व उस समय और भी बढ़ जाता है, जब कि वेदाक्षरों की व्याख्या करते समय पदे पदे 'विज्ञान' शब्द का पुनरावर्त्तन होने लगता है। भारतवर्ष के सर्वो-त्कृष्ट देवयुगकाल में विमानादि भौतिक आविष्कार उक्त प्रश्न का भलीभाँति समाधान कर सकते थे, इस में तो कोई सन्देह नहीं। एवं ऋग्वेदीय कतिपय सूक्त आज भी वाचिकरूप से अपना अतीत अहंभाव सुरक्षित रखने में पूर्ण समर्थ हैं। साथ ही यह भी ध्रुव सत्य है कि, यदि भार-तीय विद्वानों को पूर्ण स्वातन्त्र्य मिले, तो वे आज भी विलुप्तप्राय वैदिक-विज्ञान-परम्परा के पुनरु-द्धार के द्वारा भौतिक आविष्कारों से अपना अतीत वर्त्तमानकोटि में लासकते हैं।

इसप्रकार भौतिक-विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित विमानादि भौतिक आविष्कारों के सम्बन्ध में अपने त्रिकालज्ञ, विदितवेदितव्य, कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ महामहर्षियों के यशः-सौरभ को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में हमें अपना यह मन्तव्य स्पष्ट कर ही देना चाहिए कि, भारतीय महर्षियों के "वैज्ञानिक-जगत्" की परिभाषा अपना कोई विशेष ही महत्त्व रखती है। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि, ऋषियों की उस तात्त्विक वैज्ञानिक-परिभाषा की तुलना में भौतिक-आविष्कारों से सम्बन्ध रखने वाली वैज्ञानिक-परिभाषा कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती ! यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तब भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि, ऋषियों का वैदिक-विज्ञान प्रधानतः जिन तीन श्रेणियों में विभक्त है, उनके अतिरिक्त किसी चौथे ( भौतिक आविष्कारानुगत ) विज्ञान पर उनकी दृष्टि सदा से नहीं के समान ही रही है। यही कारण है कि, जिस देवयुग में विमानादि भौतिक आविष्कार विद्यमान थे, उस युग में भी वे आविष्कार सर्वलोक-व्यवहार में नहीं आसके थे। भौतिक आविष्कार माननीय बुद्धि में जड़ता का समावेश करते हुए उसमें जहाँ प्रतिहिंसालक्षण आसुर-भाव का समावेश कर देते हैं, वहाँ साथ साथ ही इनके अतिशय व्यवहार से मानवसमाज की प्राकृतिक-शक्तियाँ, स्वतःसिद्ध पौरुष भी ह्रासानुगत ही बनता रहता है। आत्मस्वातन्त्र्य के अन्यतम शत्रु ये ही भौतिक आविष्कार हैं। ऋषि इन की इस भीषणता से परिचित थे, अतएव इस ओर सदा से उन्होंने उपेक्षावृत्ति को ही प्रधानता दी। फलतः इन भौतिक आविष्कारों के आधार पर न तो वैदिक-विज्ञान का महत्त्व कम हो किया जासकता, न इस सम्बन्ध में वैदिक-विज्ञान के सामने आक्षेपात्मक कोई प्रश्न ही उपस्थित करने की धृष्टता की जासकती।

ऋषियों का वैदिक-विज्ञान प्रधानतः आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, इन तीन श्रेणियों में विभक्त है। आधिभौतिक विज्ञान ही 'यज्ञविज्ञान' है, इसी के आधार पर हमारा गृहस्थाश्रमानुबन्धी 'कर्म्मकाण्ड' प्रतिष्ठित है। आधिदैविक विज्ञान ही 'ईश्वरविज्ञान' है, इसी के आधार पर वानप्रस्थाश्रमानुबन्धी 'उपासनाकाण्ड' प्रतिष्ठित है। एवं आध्यात्मिक विज्ञान ही 'जीवविज्ञान' है, तथा इसी के आधार पर संन्यासाश्रमानुबन्धी 'ज्ञानकाण्ड' प्रतिष्ठित है। कर्म्म, उपासना, ज्ञान, ये तीन हीं मानवसमाज के परमपुरुषार्थ हैं। इन तीनों का क्रमशः मनुष्य की युवा, प्रौढ़, वृद्धावस्थाओं से सम्बन्ध है। अपनी इन तीन अवस्थाओं में आश्रमविभाग की मर्य्यादानुसार क्रमशः तीनों पुरुषार्थों का अनुगमन करने वाले मनुष्य का इहलोक, परलोक, लोकसंग्रह, आदि सभी कुछ गतार्थ होजाता है।

यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है, तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, उक्त तीनों विज्ञानों का अन्ततोगत्वा 'यज्ञविज्ञान' पर ही पर्य्यवसान है। ईश्वर के साथ सालोक्य-सामीप्य-सायुज्य-सारूप्य-रूप से अपने आत्मा को मिला देना हीं आधिदैविक-विज्ञानानुगत उपासनाकाण्ड का चरम फल है। आत्मप्रपत्तिलक्षणा यह उपासना आत्मा का ईश्वर के साथ यजन कराती हुई यजनलक्षणा यज्ञमर्य्यादा से ही युक्त है। एवमेव अपने विशुद्ध, अपहतपाप्मा, जीवात्मा को उस निरुपाधिक, विशुद्ध, व्यापक आत्मतत्त्व में समवलयरूप से आहुत कर देना हीं आध्यात्मिक-विज्ञानानुगत ज्ञानकाण्ड का चरम फल है। आत्मसमवलय-लक्षण यह ज्ञान भी आत्मा का आत्मा के साथ यजन कराता हुआ यजनलक्षण यज्ञमर्य्यादा से बाहिर नहीं माना जा-सकता। इसप्रकार यज्ञविज्ञान के गर्भ में इतर दोनों विज्ञानों का भी अन्तर्भाव होरहा है। इसी आधार प * 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'-यज्ञेन वाचः पदवीयमान०' इत्यादि मन्त्रवर्णन अन्वर्थ बन रहे हैं।

उक्त तीनों विज्ञानों का समष्टयात्मक एक ही नाम है—'विश्वविज्ञान'। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत भेद से तीन हीं भागों में विभक्त है। त्रिपर्वात्मक, विश्वविज्ञा-नात्मक इसी समष्टियज्ञ के लिए 'सर्वहुत'-'सर्वमेध' इत्यादि नाम प्रयुक्त हैं, जिस का यत्र तत्र

*—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
—यजुः सं० ३१।१६

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥
—ऋक् सं० १०।७१।३

प्रकरण–विशेषों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ ÷ है। सर्वहुतयज्ञ के उक्त तीनों पर्वों का क्रमशः विश्व के 'स्वयम्भू, सूर्य्य, पृथिवी' इन तीन पर्वों के साथ क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

सहस्रबल्शात्मक--महामायावच्छिन्न--अश्वत्थवृक्ष के योगमायावच्छिन्न, पञ्चपुण्डीरा--प्राजापत्यबल्शात्मक, अतएव पञ्चपर्वात्मक, विश्व के सुप्रसिद्ध पाँचों पर्वों का "स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी" रूप से प्रथमखण्ड में अनेक बार उपबृंहण किया जाचुका है। इन पाँचों विश्वपर्वों का आगे जाकर 'स्वयम्भू सूर्य्य--पृथिवी' इन तीन पर्वों में हीं विश्राम मान लिया जाता है। इस विश्रान्ति का कारण यही है कि, यज्ञस्वरूप--सम्पादक देवताओं का परस्पर यजन होरहा है। पाँचों के क्रमशः 'ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम, अग्नि', ये पाच देवता हैं। इन में ब्रह्मा स्वतन्त्र रहते हैं। ये ही—ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्–ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" ( श० ब्रा० ६।१। ) के अनुसार सर्वप्रतिष्ठा हैं, प्रथमज हैं। विष्णु-इन्द्र, दोनों का एक युग्म है, जैसा कि "विष्णोः कर्म्माणि पश्यत, यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा' (श्रुति) इत्यादि

÷—तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥

—यजु: सं० ३१।७,८,९,

"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत, न वै तपस्यानन्त्यमस्ति, हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि, इति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं, आधिपत्यं पर्य्यैत्। तथैवैतद्यजमानः सर्व-मेधेन सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येति। स वाऽएष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। दशाक्षरा विराट्, विराड् कृत्स्नमन्नं, कृत्स्नस्यैवान्नाद्यस्यावरुद्ध्यै। तस्मिन्नग्निं परार्ध्यं चिनोति। परमो वाऽएष यज्ञक्रतूनां-यत् सर्वमेधः। परमेणैवैनं परमतां गमयति"।

--शत० ब्रा० १३ कां० ।७ अ० १ ब्रा० १ कं०।

मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। एवं इन्द्र-सोम ( चन्द्र ), अग्नि, इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इसप्रकार '१-२-३' इस क्रम से पाँचों का तीन हीं संस्थाओं के निर्म्माण में उपयोग होरहा है। प्रथमसंस्था के अधिपति ब्रह्मा हैं, इनका स्वयम्भू से सम्बन्ध है। द्वितीय संस्था के अधि-पति इन्द्रगर्भित विष्णु हैं, इनका सूर्य्य से सम्बन्ध है। एवं तृतीय संस्था के अधिपति इन्द्र-सोम-गर्भित अग्नि हैं, तथा इनका सम्बन्ध पृथिवी से है। ब्रह्मा ब्रह्मा हैं, इन्द्रगर्भित विष्णु विष्णु हैं, एवं इन्द्र-सोम-गर्भित अग्नि महेश हैं। इसी 'विश्वविज्ञान' के आधार पर 'आर्य्यसर्वस्व' (पुराण) ने वैदिक-पञ्चदेवतावाद के स्थान में त्रिदेवतावाद को ही प्रधानता दी है।

'पुरुषविज्ञान' के अनुसार भी इसी त्रिपर्व का समर्थन होरहा है। अव्ययपुरुषानुगत 'आनन्द', अक्षरपुरुषानुगत 'ब्रह्मा', एवं क्षरपुरुषानुगत 'प्राण', तीनों के सम्बन्ध से आनन्द-ब्रह्मा-प्राणमय बनने वाला स्वयम्भू ही 'आध्यात्मिकयज्ञ' की प्रतिष्ठा है। अव्ययानुगत विज्ञानगर्भित 'मन', अक्षरानुगत विष्णु-गर्भित 'इन्द्र', एवं क्षरानुगता अन्नगर्भिता 'वाक्', इन तीनों के सम्बन्ध से मन-इन्द्र-वाङ्मय बनने वाला सूर्य्य ही आधिदैविकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। अव्ययानुगता प्राणगर्भिता 'वाक्', अक्षरानुगत इन्द्रसोमगर्भित 'अग्नि', एवं क्षरानुगत अन्नगर्भित 'अन्नाद', इन तीनों के सम्बन्ध से 'वाक्-अग्नि-अन्नादमय बनने वाली पृथिवी ही आधिभौतिकयज्ञ की प्रतिष्ठा है। पृथिव्यनुगत, कर्म्मकाण्डात्मक, आधिभौतिकयज्ञ स्वर्गसुख की प्रतिष्ठा है। सूर्य्यानुगत उपासनाकाण्डात्मक, आधिदैविकयज्ञ अपरामुक्ति की प्रतिष्ठा है। एवं स्वयम्भू-अनुगत, ज्ञानकाण्डात्मक, आध्यात्मिकयज्ञ परामुक्ति की प्रतिष्ठा है। इसप्रकार 'त्रिःसत्या वै देवाः' के अनुसार त्रित्ववाद का समर्थन करने वाला हमारा सर्वहुतयज्ञ त्रिपर्वा बन कर सर्वप्रतिष्ठा बनता हुआ 'इष्ट-कामधुक्' नाम को सर्वथैव अन्वर्थ कर रहा है।

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १—आनन्दः | ब्रह्मा | प्राणः | स्वयम्भूः | — स्वयम्भूः | —सर्वहुतयज्ञः |
| २—विज्ञानम् | विष्णुः | आपः | परमेष्ठी | —सूर्य्यः | |
| ३—मनः | इन्द्रः | वाक् | सूर्य्यः | | |
| ४—प्राणः | सोमः | अन्नम् | चन्द्रमाः | —पृथिवी | |
| ५—वाक् | अग्निः | अन्नादः | पृथिवी | | |

१—स्वयम्भूः—अध्यात्मम् ( अध्यात्मयज्ञप्रतिष्ठा—-ज्ञानकाण्डम् )
२—सूर्य्यः -—अधिदैवतम् ( अधिदैवतयज्ञप्रतिष्ठा—-उपासनाकाण्डम ) }—सर्वहुतः
३—पृथिवी —–अधिभूतम् ( अधिभूतयज्ञप्रतिष्ठा -–कर्म्मकाण्डम् )

**प्राकृतिक यज्ञविज्ञान ही विश्वविज्ञान है,** एवं इसी के आधार पर पुरुषार्थसंसाधिका वैध-यज्ञत्रयी का ( **ज्ञान–उपास्ति–कर्म्मत्रयी का** ) महर्षियों के द्वारा आविर्भाव हुआ है। इस मौलिक स्थिति के आधार पर कहा जासकता है कि, हमारा वैदिक-विज्ञान उस नित्य यज्ञविज्ञान से ही सम्बन्ध रखता है, जिसके परिज्ञान से, एवं तदनुकूल वैधयज्ञानुष्ठान से आत्मनिःश्रेयस के साथ साथ लोकाभ्युदय सर्वात्मना पुष्पित, पल्लवित होजाता है। प्रकृतिसिद्ध नियमों का अनुगमन करते हुए हम शान्ति, तथा लोकसंग्रहपूर्वक जीवनयात्रा का निर्वाह करते हुए परत्र सद्गति प्राप्त करें, एकमात्र इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमारा विज्ञानशास्त्र प्रवृत्त हुआ हुआ है, जिस का मूलस्तम्भ यज्ञविज्ञान ही माना जासकता है। यज्ञकर्म्म ही हमारे विज्ञान का चरमफल है। ऐसी दशा में यज्ञकर्म्मातिरिक्त भौतिक–आविष्कारों को लेकर हमारे विज्ञानशास्त्र पर किसी प्रकार का प्रतिप्रश्न नहीं किया जासकता। जब कि केवल यज्ञकर्म्म ही हमारी प्राकृतिक-शक्तियों को सुरक्षित रखता हुआ हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है, तो फिर हमें हमारे विज्ञानशास्त्र से उन हिंसक, अशान्तिवर्द्धक, सहजशक्ति-विनाशक, भौतिक आविष्कारों के सम्बन्ध में प्रश्न करने का कोई अवसर ही नहीं बच रहता। निवेदन करने का अभिप्राय यही है कि, '**विज्ञान**' शब्द से भौतिक आविष्कार प्रकृत विज्ञानकाण्ड में सर्वथा अनभिप्रेत हैं। विज्ञान शब्द की मर्य्यादा यज्ञविज्ञान–पर्य्यन्त ही सीमित समझनी चाहिए, जिस के कि गर्भ में आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक–विज्ञान प्रतिष्ठित हैं *।

उक्त दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत '**आज्यब्राह्मण**' का समन्वय करना है। यज्ञकर्म्म की सिद्धि के लिए 'आज्यग्रहण' किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रसङ्गात् यह भी स्पष्ट करलेना चाहिए कि, **उक्त यज्ञत्रयी में से प्रकृत में प्रधान-लक्ष्य पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ ही है। उपासना से सम्बन्ध रखने वाला सूर्य्यानुगत आधिदैविक यज्ञ आरण्यकग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है, एवं ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला स्वायम्भुव आध्यात्मिक यज्ञ उपनिषद् ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है। ब्राह्मण–ग्रन्थों में प्रधानरूप से कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ का ही विश्लेषण हुआ है।**

पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ में **भूपिण्ड, पार्थिव शरीर, भूमहिमा,** भेद से तीनों यज्ञों का उपभोग होरहा है। स्वयं भूपिण्ड, तथा ओषधि वनस्पति लोष्ठादि अचेतन वर्ग पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्बन्ध रखते हैं। **वैश्वानर–तैजस-प्राज्ञात्मक ससंज्ञ पार्थिवशरीर ( अस्मदादि चेतनवर्ग )** पृथिव्यनुगत

* शतपथ-प्रथमखण्ड के प्रारम्भिक '**पारिभाषिक सूचनाएँ**' नामक स्वतन्त्र स्तम्भ में भारतीय दृष्टिकोणानुगत '**विज्ञान**' शब्द का विस्तार से निरूपण किया जाचुका है।

आध्यात्मिक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं । एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्ना महापृथिवी ( भूमहिमा ) से सम्बन्ध रखने वाले **पार्थिव दिव्यदेवता** पृथिव्यनुगत आधिदैविक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं । इसप्रकार केवल पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले, कर्म्मप्रधान आधिभौतिक यज्ञ में हीं **भूविवर्त्त, पार्थिव चेतनवर्ग, दिव्य देववर्ग**,भेद से तीनों यज्ञों का उपभोग सिद्ध होरहा है ।

तथ्य यद्यपि अप्रासङ्गिक है । तथापि इसका स्पष्टीकरण करके ही 'ब्राह्मणविज्ञान' का समन्वय करना चाहिए । विश्व के तीनों पर्वों के स्पष्टीकरण के लिए वेद के **अपौरुषेय ब्राह्मणभाग के 'विधि, आरण्यक, उपनिषत्'** भेद से तीन काण्ड हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हैं । ये तीनों काण्ड कर्त्तव्यमार्ग का ही प्रदर्शन कर रहे हैं । शेष **ब्रह्म (मन्त्र) भाग** ज्ञातव्यभाव **से सम्बन्ध रखता है** । इसप्रकार ज्ञातव्य, कर्त्तव्य-भेद से वेदशास्त्र **'ब्रह्म-ब्राह्मण'** रूप से दो भागों में विभक्त होरहा है । विश्वविज्ञान का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न का समाधान **ब्रह्मवेद (संहितावेद)** कर रहा है। एवं विश्वविज्ञान के आधार पर हमें क्या करना चाहिए ?, कैसे करना चाहिए ?, इस प्रश्न का समाधान **ब्राह्मणवेद (विधि, आरण्यक, उपनिषद् वेद)** कर रहा है । इसप्रकार मन्त्रब्राह्मणात्मक सशाख वेदशास्त्र त्रित्व के ज्ञातव्य, कर्त्तव्य की पूर्त्ति करता हुआ **सर्वशास्त्र** ही बन रहा है । प्रस्तुत भाष्य कर्त्तव्य-वेदभाग के कर्म्मकाण्ड से ही सम्बन्ध रखता है, जिसका कि पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञपर्व से ही सम्बन्ध है। विध्यात्मक ब्राह्मणग्रन्थों में **'इति नु अध्यात्मम्'-इति नु अधिदैवतम्'** इत्यादि रूप से जिन अध्यात्मादि विवर्तों का स्पष्टीकरण होरहा है, उनका एकमात्र पृथिव्यनुगत आधिभौतिक यज्ञपर्व से ही सम्बन्ध समझना चाहिए ।

निष्कर्ष यही निकला कि, वेदशास्त्र विज्ञानप्रधान है । विज्ञान से प्रधानतः **'विश्वविज्ञान' ही** अभिप्रेत है । **इस** विश्वविज्ञान के **अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत,** नामक तीन पर्व है । तीनों पर्वों का क्रमशः **स्वयम्भूसूर्य्य-पृथिवी,** से सम्बन्ध है । ये ही तीनों विज्ञान क्रमशः **ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड, कर्म्मकाण्ड,** की प्रतिष्ठाभूमि हैं । इस विज्ञानत्रयी के ज्ञातव्य, कर्त्तव्य,भेद से दो विवर्त्त हैं । **ज्ञातव्यत्रयी का स्पष्टीकरण संहितात्मक ब्रह्मवेद में हुआ है,** एवं **कर्त्तव्यत्रयी का निरूपण ब्राह्मणात्मक वेद में हुआ है । नक्षत्रविज्ञान, ग्रहविज्ञान, ओषधि--वनस्पतिविज्ञान, शल्यविज्ञान,** आदि आदि अवान्तर खण्ड-खण्डात्मक समस्त विज्ञानों का इन्हीं तीनों विज्ञानों में अन्तर्भाव है ।

**१—अध्यात्मविज्ञानम्—स्वायम्भुवम्—विधिः ( कर्त्तव्यात्मकं कर्म्म )**

**२—अधिदैवतविज्ञानम्--सौरम्——आरण्यकः (कर्त्तव्यात्मिका- उपासना)**

**३—अधिभूतविज्ञानम्—पार्थिवम्--उपनिषत् (कर्त्तव्यात्मकं ज्ञानम् )**

इन तीनों में विशेषता यही है कि, **स्वायम्भुव अध्यात्मयज्ञ का ईश्वरीयसंस्था सम्बन्ध है,** एवं इस के आधार पर सौर आधिदैविक विज्ञान प्रतिष्ठित है । साथ ही यही आधिभौतिक-विज्ञान की भी प्रतिष्ठा बना हुआ है । दूसरे शब्दों में ईश्वरात्मा का अध्यात्म स्वायम्भुव यज्ञ है,अधिदैवत सौर यज्ञ है, एवं अधिभूत पार्थिव यज्ञ है । इन तीनों में से हमारे वैधयज्ञ का एकमात्र ईश्वरीय, पार्थिव आधिभौतिक यज्ञ से ही सम्बन्ध है । ईश्वरीय आधिभौतिक यज्ञ के पुर्वकथनानुसार **भूमहिमा,पार्थिव शरीर,** एवं **मनुष्यकृत वैधयज्ञ** के भेद से तीन

विवर्त्त होजाते हैं। यहाँ भूमहिमालक्षण यज्ञ आधिदैविक यज्ञ है, एवं यही पार्थिव शरीरलक्षण आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा है। जैसी स्थिति, जो अवयवसंस्थान पार्थिव आधिदैविक यज्ञ का है, वैसी ही स्थिति, वही अवयव-संस्थान पार्थिव शरीरात्मक आध्यात्मिक यज्ञ का है। एवं जिस नियम से आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुषसंस्था) का निर्म्माण हुआ है, उसी नियम से ऋषियों के द्वारा आधिभौतिक लक्षण वैधयज्ञ का वितान हुआ है। ईश्वरीयसंस्था में जहाँ अध्यात्म अधिदैवत की प्रतिष्ठा थी, वहाँ जीवसंस्था में अधिदैवत अध्यात्म की की प्रतिष्ठा है।

| | | |
|---|---|---|
| १—एकविंशस्तोमावच्छिन्नो भूमहिमा—अधिदैवतयज्ञः | (पार्थिवः) | सैषा आधिभौतिक-यज्ञत्रयी |
| २—पार्थिवशरीराणि————————अध्यात्मयज्ञः | (पार्थिवः) | |
| ३—पुरुषप्रयत्नसाध्या वैधयज्ञाः————अधिभूतयज्ञः | (पार्थिवः) | |

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत ब्राह्मण के **'प्रतिरूपरहस्य'** का समन्वय करना है। **'पुरुषो वै यज्ञः'** इत्यादि श्रुति यज्ञोद्देश्येन पुरुष का विधान करती हुई यही बतला रही है कि, हमारा यह पुरुष--( मानव )--प्रयत्नसाध्य यज्ञ पुरुष ( मानव ) की प्रतिकृति ही है। पुरुष इस वैधयज्ञ का वितान कर रहा है, इसीलिए यज्ञ को पुरुष माना जासकता है। **'पुरुष'** शब्द स्वयं यज्ञस्वरूप का सूचक है। शोणित आग्नेय तत्त्व है, शुक्र सोम तत्त्व है, दोनों के यजन का ही नाम यज्ञ है, एवं यही यज्ञप्रक्रिया पुरुषोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतएव पुरुष को अवश्य ही यज्ञ कहा जासकता है। यज्ञात्मक पुरुष का जो व्यापार होगा, वह भी यज्ञ ही माना जायगा, एवं इस यज्ञव्यापार से जिस कर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होगा, वह कर्म्म भी पिता-पुत्रवत् यज्ञ ही कहा जायगा। यज्ञ उस अतिशय का नाम है, जो प्रक्रियाविशेषों से उत्पन्न होकर यज्ञकर्त्ता के भूतात्मा की स्वर्गादि प्राप्ति का कारण बनता है। अतएव इस अतिशय ( संस्कार ) को **'दैवात्मा'** कहा जाता है। वह दैवात्मा ही वस्तुतः यज्ञ है। इस का उपादान यजमान का कर्म्म बनता है। जब कि उपादान-स्थानीय यजमानपिता पुरुष है, तो तत् पुत्र--स्थानीय, अतिशयलक्षण दैवात्मरूप यज्ञ को भी पुरुष ही कहा जायगा।

इस के अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि, **पुरुषयज्ञ ( मानवशरीर )** का जिस कौशल से वितान हुआ है, उसी कौशल से इस वैधयज्ञ का वितान हुआ है। वैज्ञयज्ञ से पहिले पुरुषयज्ञ का ही विचार कीजिए। **पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड 'यज्ञसंस्थान' है। भूतात्मा यज्ञकर्त्ता 'यजमान' है। आलोमभ्यः, आनखाग्रेभ्यः व्याप्त वैश्वानराग्नि 'होता' है। श्वासप्रश्वासात्मक वायु 'अध्वर्यु' है। हृदयस्थ प्रज्ञान मन 'ब्रह्मा' है। कण्ठस्थित तेजोनाड़ी में प्रतिष्ठित उदानप्राण 'उद्गाता' है। मूलाधारमण्डल 'गार्हपत्यकुण्ड' है, तत्रस्थ अपानाग्नि 'गार्हपत्याग्नि' है। जठराग्निमण्डल 'दक्षिणाग्निकुण्ड' है। तत्रस्थ जाठराग्नि 'दक्षिणाग्नि' है। शिरोमण्डल 'आहवनीयकुण्ड' है। तत्रस्थ प्राणाग्नि 'आवनीयाग्नि' है। केश--लोम बर्हि' है। अस्थिसमूह 'समिध' हैं, द्रव द्रव्य प्रणीता, तथा 'प्रोक्षणी' हैं। अन्न 'आहुतिद्रव्य' है। दक्षिणभुजा--दक्षिणपाद 'जुहूः' है। वामभुजा--वामपाद 'उपभृत्' है। मध्याङ्ग 'ध्रुवा' है। सर्वाङ्गशरीरसंचारी चैतन्यप्राण 'स्रुव' है। कण्ठ से आरम्भ कर मूलाधार पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश वेदि है।"** इसप्रकार हमारी पुरुषसंस्था यज्ञस्वरूप का सर्वात्मना प्रतिरूप ही बन

रही है। ऐसे यज्ञात्मक इस पुरुषाकार के आधार पर ही, तदनुरूप ही क्योंकि इस वैधयज्ञ का वितान होता है, अतएव इस वैधयज्ञ को हम अवश्य ही पुरुष का प्रतिरूप कह सकते हैं।

पुरुषयज्ञ में दक्षिणभुजा से अन्नाहुति दी जाती है, वामभुजा सहयोगिनी बनी रहता है, चैतन्यप्राण अन्नरस को सर्वाङ्गशरीर में पहुँचाता रहता है, मध्याङ्ग से इतर सम्पूर्ण शरीरावयव रसग्रहण के द्वारा पुष्ट होते रहते हैं। ठीक वही काम इस वैधयज्ञ में जुह्वादि से लिया जाता है। अतएव आहुतिसाधक जुहू को हम इस वैधयज्ञ की दक्षिणभुजा कह सकते है। उपभृत् जुहू की सहयोगिनी है, अतएव इसे वामभुजा माना जासकता है। ध्रुवा से ही ( ध्रुवास्थित आज्य से ही ) सम्पूर्ण यज्ञ सम्पन्न होता है, अतएव इसे आत्मा ( मध्याङ्ग ) माना जासकता है। स्रुवा का सम्पूर्ण स्रुचों में सञ्चार होता है। अतएव इसे प्राण कहा जासकता है। इसप्रकार **दक्षिणभुजा, वामभुजा, मध्याङ्ग, सञ्चारीप्राण,** इन चारों के अनुरूप अपना स्थान रखने वाले **जुहू, उपभृत, ध्रुवा, स्रुब,** चारों यज्ञपात्र यज्ञ की पुरुषप्रतिरूपता को सर्वात्मना अन्वर्थ बना रहे हैं। निष्कर्षत: जैसा वितानक्रम आध्यात्मिक यज्ञ का है, ठीक वही क्रम इस आधिभौतिक यज्ञ का है। यहाँ ऐसा क्यों किया गया ?, किस आधार पर किया गया ?, इत्यादि प्रश्नों की उपनिषत् यही आध्यात्मिक यज्ञ ( पुरुष-स्वरूप ) है। वैधयज्ञ यज्ञ है, उधर प्राकृतिक पुरुषयज्ञ भी यज्ञ है। **'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'** यह आदेश है। अतएव यहाँ वैसा ही करना न्यायसङ्गत है। जब यह वैसा ही है, तो इसे वह (पुरुष) कहने में कोई भी आपत्ति नहीं की जासकती।

**"पुरुष-- यजमान )--प्रयत्नसाध्य होने से, तथा पुरुषयज्ञानुरूप वितायमान होने से यह वैध--आधिभौतिक यज्ञ भी पुरुष ही माना जासकता है"** उक्त प्रतिरूपता का यही निष्कर्ष है। अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न बच रहता है कि, पुरुषयज्ञ का स्वरूप ही एवंविध कैसे हुआ ?। दूसरे शब्दों में इस प्रश्न का यों भी विश्लेषण किया जासकता है कि, आधिभौतिक--यज्ञ की उपनिषत् ( प्रतिष्ठा--मूलभित्ति ) तो अध्यात्मयज्ञ है, परन्तु आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषत् क्या है ?। इस प्रश्न का उत्तर वही पूर्वप्रतिप्रादित पार्थिव आधिदैविक--यज्ञ है। आधिदैविक पार्थिव दिव्ययज्ञ ही इस आध्यात्मिक पुरुषयज्ञ की प्रतिष्ठा है। भूपिण्ड से आरम्भकर २१ वें स्तोम--पर्य्यन्त व्याप्त महामहिम **पार्थिवमण्डल ही 'यज्ञसंस्था' है। पार्थिव सर्वप्रजापति** ( पार्थिव अग्नि) ही यज्ञकर्त्ता **'यजमान'** है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश में व्याप्त **वैश्वानर अग्नि हीं 'होता'** है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेशोपलक्षित अन्तरिक्ष में व्याप्त **वायु ही 'अध्वर्य्यु'** है। चान्द्रसोमात्मक **पार्थिव मन** ही **'ब्रह्मा'** है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिवप्रदेशोपलक्षित द्युलोक में व्याप्त **आदित्य ही 'उद्गाता** है। **भूपिण्ड ही 'पुराण-गार्हपत्यकुण्ड'** है, तत्रस्थ **चित्याग्नि हीं 'पुराणगार्हपत्याग्नि'** है। त्रिवृत्स्तोमान्त **पार्थिवमहिमा-प्रदेश ही 'नूतनगार्हत्याकुण्ड'** है, तत्रस्थित **पार्थिव घनाग्नि हीं 'नूतनगार्हपत्याग्नि'** है। पञ्चदशस्तोमान्त **पार्थिवमहिमा--प्रदेश ही 'धिष्ण्याग्निकुण्ड'** है, तत्रस्थ अष्टविध **नाक्षत्रिकाग्नि हीं 'धिष्ण्याग्नि'** है। एकविंशस्तोमान्त **पार्थिवमहिमाप्रदेश ही 'आहवनीयकुण्ड'** है, तथस्थ **सौर दिव्याग्नि हीं 'आहवनीयाग्नि'** है। लोकालोकसीमान्तानुगत **'वेन'** नामक आपः ही **'बर्हि'** हैं। अन्तरिक्ष में व्याप्त **अश्मासोम हीं 'समिध'** हैं। आन्तरीक्ष्य **'मरीचि'** नामक **'आप:'** ही **'प्रणीता'** तथा **'प्रोक्षणी'** हैं, **ओषधि सोम,** तथा **चान्द्रसोम ही 'आहुतिद्रव्य'** है। **भूपिण्ड ही हविर्वेदि** है। **भूमहिमा हीं 'महावेदि'** है। एकत्रिंशस्तोमावच्छिन्न **द्युलोक** ही दक्षिणहस्तस्थानीय **'जुहू'** है। जुहू (द्यौ) का आधारभूत पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न **अन्तरिक्षलोक** ही वामहस्तस्थानीय**'उपभृत'** है। स्वयं **भूपिण्ड** ही मध्याङ्गस्थानीय **'ध्रुवा'** है। त्रैलोक्य-

संचारी, चैतन्य-प्राणस्थानीय वायव्यप्राण ही 'स्रुव' है । इसप्रकार पार्थिवमहिमालक्षण इस आधिदैविक यज्ञ में भी यज्ञेतिकर्त्तव्यता--संसाधक सामग्री--परिग्रह यथानुरूप, यथास्थान व्यवस्थित है । इस का क्योंकि ऐसा स्वरूप है, अतएव इस से उत्पन्न आध्यात्मिक--यज्ञ का भी वैसा ही स्वरूप है । एवं जैसा स्वरूप आध्यात्मिक-यज्ञ का है, तदनुरूप ही इस वैध--आधिभौतिक--यज्ञ का वितान किया जाता है ।

मूलानुवाद में मे यह सन्देह किया गया था कि, प्रथम तो पृथिवी की त्रैलोक्य से उत्पत्ति मानना हीं असङ्गत है । उस पर भी पृथिवी से पृथिवी की उत्पत्ति मानना तो कथमपि-सङ्गत नहीं बन सकता । इस सन्देह की निवृत्ति के लिए दो शब्दों में 'पार्थिवसंस्था' का स्वरूप जान लेना भी आवश्य होगा । श्रुतिने जिस पृथिवी को मध्याङ्गस्थानीय 'ध्रुवा' बतलाया है, वह चित्याग्निप्रधान भूपिण्ड है, जिस पर अस्मदादि पार्थिवी प्रजा सपरिग्रह प्रतिष्ठित है । एवं श्रुतिने ध्रुवास्थानीय जिस इस भूपिण्ड से-----"**अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति**" इत्यादिरूप से जिस त्रैलोक्य की प्रसूति बतलाई है, वह चितेनिधेयाग्निप्रधान भूमहिमा है ।

अष्टविध त्रिलोकियों में से पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली त्रिलोकी '**स्तोम्यत्रिलोकी**' नाम से प्रसिद्ध है । इस की उत्पत्ति यथार्थ में ध्रुवास्थानीय भूपिण्ड से ही हुई है । "**यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी**" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड अग्निगर्भित है । यह भौमाग्नि हीं भूमि का अधिष्ठाता 'प्रजापति' है । इस प्राजापत्य भौम अग्नि की **अमृत ( चितेनिधेय )**, मर्त्य ( चित्य ) भेद से दो अव-स्थाएँ सहज-सिद्धा मानीं गई हैं, जैसा कि —"**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**" ( शत० १०।२।२ ) इत्यादि वचन से प्रमाणित है । भूपिण्ड मर्त्याग्निप्रधान है, तन्मय है । इस पिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला अमृताग्नि हीं **रसाग्नि** है, यही **प्राणाग्नि** है, यही **देवाग्नि** नाम से भी व्यव-हृत हुआ है । सृष्टिकामुक इस रसाग्निलक्षण प्रजापति की कामना स्वयं इस के रसाग्नि-भाग का ऊर्ध्व ( केन्द्र से चारों ओर ) प्रसार करती है । भूपिण्डकेन्द्र से चारों ओर वितत होने वाले इस रसाग्नि की **घन-तरल-विरल-भेद** से तीन अवस्थाएँ होजातीं हैं । जहाँतक घनरस व्याप्त होता है, तदवच्छिन्न प्रदेश ही '**पृथिवी**' ( **महिमापृथिवी का पृथिवीलोक** ) है । एवं तत्र प्रतिष्ठित घनाग्निरस ही '**अग्नि**' है । जहाँतक तरल रस व्याप्त होता है, तदवच्छिन्न प्रदेश ही '**अन्तरिक्ष**' ( **महिमापृथिवी का अन्तरिक्षलोक** ) है । एवं तत्र प्रतिष्ठित तरलाग्नि ही '**हंस**' नामक '**वायु**' है । जहाँतक विरलरस व्याप्त होता है, तदवच्छिन्न प्रदेश ही '**द्यौः**' ( **महिमापृथिवी का द्युलोक** ) है । एवं तत्र प्रतिष्ठित विरलाग्नि ही '**आदित्य**' है । इसप्रकार रसाग्नि के ऊर्ध्व वितान से वही केन्द्रस्थ अग्नि '**अग्नि, वायु, आदित्य**' अपने इन प्रथम-द्वितीय-द्वितीय-तृतीय-रूपों से त्रैलोक्य का निर्म्माण करता हुआ '**अतिष्ठावा**' रूप से त्रैलोक्य में व्याप्त होरहा है * ।

* "**आपो वाऽअर्कः । तद्यदपां शर आसीत्, तत् समहन्यत । सा पृथिव्य-भवत् । तस्यामश्राम्यत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्त्तताग्निः । स त्रेधा-त्मानं व्यकुरुत-आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम् । स एष प्राणः ( प्राणाग्निः ) त्रेधा वि-हितः" इति ।**

—शत० ब्रा० १०।६।१।१,२, ।

इसप्रकार ध्रुवा--स्थानीय भूपिण्ड ही अपने हृदयस्थ रसाग्नि के ऊर्ध्व वितान के द्वारा अहर्गणात्मक स्तोमों के आधार पर क्रमशः **त्रिवृत् ( ६ ), पञ्चदश ( १५ ), एकविंश ( २१ )** रूप से तीन संस्थाओं के रूप में **पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः** का जन्मदाता बन कर—**'अस्याऽएवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति'** इस सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है, और उक्त सन्देह का निवर्त्तक बन रहा है। इस सम्पूर्ण **'उपपत्तिग्रन्थ'** का फलितार्थ यही निकला कि, पार्थिव आधिभौतिक--यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले महिमात्मक **आधिदैविक यज्ञ,** पार्थिवशरीरात्मक **आध्यात्मिक यज्ञ,** एवं पुरुषप्रयत्नसाध्य **आधिभौतिक ( वैध ) यज्ञ,** तीनों में पूर्व पूर्व यज्ञ उत्तर उत्तर यज्ञ की उपनिषत् है। ( १, २, ३, ४, ५, )।

---

पुरुषप्रयत्नसाध्य इस वैधयज्ञ में उपयुक्त होने वाले* स्रुव--स्रुक् पात्र हस्त-पाद--मध्याङ्गादि स्थानीय बनते हुए यह प्रमाणित कर रहे है कि, यह वैधयज्ञ पुरुषविध आध्यात्मिक यज्ञ का ही प्रतिरूप है। **आज्य--पृष्ठ'** विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भौतिक पदार्थ में **पृष्ठ एवं आज्य,** भेद से दो पर्व रहते हैं। **भूत मर्त्यपिण्ड 'पृष्ठ' कहलाता है, एवं जिस जीवनीय प्राणशक्ति से क्षरसंघात—( क्षरकूट )–रूप भौतिक परमाणु एकसूत्र में बद्ध रहते हुए नियत समय पर्य्यन्त स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं, वह प्राणशक्ति ही 'आज्य' नाम से व्यवहृत हुई है।** जबतक पृष्ठ ( पिण्ड ) में आज्य ( प्राणशक्ति ) प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक पृष्ठ की स्वरूपसत्ता है। पाञ्चभौतिक हस्तपादादि शरीरावयव पिण्डस्थानीय बनते हुए पृष्ठ हैं। इनमें प्रतिष्ठित आग्नेयप्राण ( वैश्वानराग्निप्राण ) ही इन की प्राणशक्ति है। इधर वरुण से ( जलीयतत्त्व से ) प्रतिमूर्च्छित अग्नितत्त्व का ही नाम आज्य ( घृत ) है। इसी आधार पर **"तेजो वै आज्यम्"** ( तां० ब्रा० १३।१०।१८ ) **"अग्नेर्वा एतद्रूपं, यदाज्यम्"** ( तै० ब्रा० ३।८।१४।२ )—**"प्राणो वा आज्यम्"** [ तै० ब्रा० ३।८।१×।२,३ ], इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं। लोकव्यवहार में भी सुप्रसिद्ध है कि, **'घृत ही हाथ पैरों में जीवनीय शक्ति प्रदान करता है'**। यज्ञकर्म्म से **'पुरुषविध दिव्यात्मा'** उत्पन्न किया जाता है। यज्ञेतिकर्त्तव्यता मे संगृहीत जुहू आदि स्रुक् स्रुव तो पृष्ठ स्थानीय हैं, एवं इन में गृहीत आज्य प्राणशक्तिस्थानीय है। इसप्रकार इस आज्यग्रहण--कर्म्म से भी पुरुषप्रयत्नसाध्य इस वैधयज्ञ की पुरुष-यज्ञप्रतिरूपता भलीभाँति सिद्ध होरही है।

आज्यग्रहण क्या दैवात्मा के स्वरूप-निर्म्माण में उपयुक्त होता है ?, यह प्रश्न है। इस के समाधान के लिए ही अगला प्रकरण उपक्रान्त हुआ है। पहिले आध्यात्मिकसंस्था का विचार कीजिए। आध्यात्मिकसंस्था में प्रधानतः **'आत्मा, शरीर'** ये दो पर्व हैं। एवं शरीर **'पुर' है,** आत्मा इस शरीरपुर में सुरक्षित रहने वाला **'पुरि शेते'** निर्वचन से **'पुरुष'** है। इस शरीरपुर के **'आकार',** एवं **वस्तुतत्त्व'** भेद से दो पर्व हैं। आयतनरूप

---

* **"खादिरः स्रुवः, पर्णमयी जुहूः, आश्वत्थी उपभृत्, वैकङ्कती ध्रुवा, एतद्वै स्रुचां रूपम्"** [ तै० सं० ३।+।७ ] इस वचन के अनुसार स्रुव खदिर [ खैर ] की लकड़ी का, जुहू पर्णमयी पलाश [ छीला ] की, ध्रुवा विकङ्कत का, एवं उपभृत् अश्वत्थ [ पीपल ] की लकड़ी का बनाया जाता है।

बाह्य आकार ही आकार है, जिसे कि विज्ञानभाषा में **'वयोनाध'** कहा जाता है। यह वयोनाध ही+ **'छन्द'** है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड का कोई न कोई बाह्य आकार अवश्य रहता है, एवं इस बाह्य आकार से आकारित वस्तुतत्त्व सीमित रहता हुआ सुरक्षित बना रहता है। छन्दोलक्षण वयोनाध [ आकार ] से सुरक्षित वस्तुतत्त्व [ भूतपिण्ड ] ही **'वय'** है। जिसप्रकार उदरसीमा से सीमित अन्न **'वय'** है, एवमेव छन्दःसीमारूप उदर में प्रतिष्ठित रहने से ही इस वस्तुतत्त्व को वय [ अन्न ] मान लिया गया है। **वय सदा वयोनाध** से युक्त रहता है। वय--वयोनाध के समन्वितरूप का ही नाम **'वयुनम्'** है। **'सर्वमिदं वयुनम्'** इस सिद्धान्त के अनुसार यच्चयावत् भौतिक पदार्थ वय [वस्तुतत्त्व], वयोनाध [ बाह्याकार ] से युक्त रहते हुए '*वयुन' हैं। वयुन ही आध्यात्मिक-संस्था का **'शरीर'** नामक पहिला पर्व है।

शरीर के वयोभाग का ( भूतभाग का ) निर्म्माण शुक्र शोणित से हुआ है। ऋतुस्नाता स्त्री में प्रजनकर्म्मसाधक अत्रिप्राण प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण के सम्बन्ध से ही रजःस्वला को **'ऋतुमती'** कहा जाता है। अग्नि-सोम की **सत्य, ऋत,** भेद से दो दो अवस्थाएँ मानीं गईं हैं। सायतन अग्नि सत्य है, सायतन सोम सत्य है। एवं निरातन, वाय्वात्मक अग्नि-सोम ऋत हैं। इन ऋताग्नि-सोमों के पारस्परिक **उद्ग्राभ-निग्राभ**-सम्बन्ध से ही **'ऋतु'** का जन्म होता है। इस ऋतु का आग्नेयभाग स्त्री के शोणित में प्रतिष्ठित रहता है, एवं सौम्यभाग पुरुष के शुक्र में प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस ऋतुप्राण-समन्वय का ही नाम शुक्र-शोणित का **'दाम्पत्य-भाव'** है। यही दाम्पत्यकर्म्म गर्भाधान का बीज है। इसप्रकार वस्तुतत्त्व-लक्षण वय ( शरीर ) का निर्म्माण शुक्रशोणित से होता हुआ परम्परया ऋतु से ही होरहा ÷ है। शेष रहता है वयोनाध ( बाह्याकार )। इस का निर्म्माण ऋतुसहयोगी गायत्र्यादि छन्दों से होता है। गायत्र्यादि छन्द त्वष्टाप्राण के सहयोग से तत्तच्छरीरावयवों में तत्तदाकारविशेष प्रदान करते जाते हैं, तदनुरूप ही ऋतु के द्वारा पुरावयवों का निर्म्माण होता जाता है। कालान्तर में इस ऋतु, छन्द के समन्वय से आत्मप्रतिष्ठालक्षण **'शरीरपुर'** का स्वरूप पम्पन्न होजाता है। **ऋतु-छन्दोमय शुक्र-शोणित के दाम्पत्यभाव में कर्म्मभोक्ता औपपातिक जीवात्मा प्रतिष्ठित होजाता है।**

इसप्रकार **आत्मा, शरीर,** इन दो पर्वों के **आत्मा,** वस्तुतत्त्व ( वय ), बाह्याकार ( **वयोनाध** ) भेद से तीन पर्व होजाते हैं। तीनों में आत्मा प्रधान देवता है, इसे ही यज्ञपरिभाषा में **'आवापदेवता'** कहा गया है। वस्तुतत्त्व ( वय ) **ऋतुदेवता** हैं, बाह्याकार **छन्दोदेवता** हैं। पुर का उपक्रम ऋतु से होता है, उपसंहार छन्द पर होता है। वस्तुतत्त्व उपक्रमस्थानीय है, इसका ऋतु से सम्बन्ध है। इसी उपक्रमलक्षण प्राथम्य के कारण वस्तुतत्त्वात्मक ऋतु को याज्ञिक-परिभाषा में **'प्रयाजदेवता'** कहा गया हैं। वस्तु का बाह्याकार ही वस्तु की अवसानभूमि है। इस का छन्द से सम्बन्ध है। इसी उपसंहारलक्षण अन्तभाव के कारण बाह्या--कारात्मक छन्द को **'अनुयाजदेवता'** कहा गया है। इसप्रकार ऋतुरूप **प्रयाजदेवता,** तथा छन्दोरूप **'अनुयाज-**

---

+-**छन्दांसि वै वयोनाधाः"** ( शत० ८।२।२।८ )।

*-**छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्"** ( शत० ८।२।२।८ )।

÷-**ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति"** (शत० ब्रा० १।३।४।७)।

**देवता**', दोनों के समन्वय से ही '**शरीर**' नामक आध्यात्मिक पुर का निर्म्माण होता है । दूसरा आवापदेवता–स्थानीय आत्मा अपने स्वरूप--निर्म्माण के लिए अन्य द्रव्य की अपेक्षा रखता है । पृष्ठ ही शरीर है, आज्य का इसी से सम्बन्ध है । इधर पृष्ठस्वरूप–निर्म्मापक ऋतु, एवं छन्दोदेवता हैं । फलतः सिद्ध होजाता है कि, यह आज्यग्रहणकर्म्म ऋतु, तथा छन्दोदेवताओं की तृप्ति के लिए ही विहित है । जैसा आध्यात्म में है, वैसा ही तो यहाँ होना चाहिए, होता है ।

अध्यात्मवत् अधिभूतयज्ञ से उत्पन्न होने वाली दैवात्मसंस्था में भी '**आत्मा-पुर**' भेद से दोनों पर्व अपेक्षित हैं । मुख्यदेवता दैवात्मसंस्था के आत्मस्वरूप का निर्म्माण करेंगे, एवं ऋतु--छन्दो--लक्षण गौणदेवता आत्मपुर का निर्म्माण करेंगे । अतएव वितायमान यज्ञ का यही तात्पर्य्य मानना पड़ेगा कि, अनेक इतिकर्त्त–व्याताओं से वितायमान यह यज्ञ **देवता, ऋतु, छन्द**, इन तीन देवताओं की सम्पत्--प्राप्ति से ही सम्बन्ध रखता है । मुख्यदेवता का एक स्वतन्त्र विभाग है, इस के लिए नियत आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है, एवं यह '**हवि**' नाम से प्रसिद्ध है, जोकि हविर्द्रव्य '**इष्टि, पशु, सोम**,' यज्ञ भेद से **अन्नपुरोडाश, पशु–वपापुरोडाश, वल्लीसोमरस**, भेद से त्रेधा विभक्त है । ऋतु--छन्दोरूप दोनों प्रयाजानुयाजदेवताओं का ( जिन से कि पुर का निर्म्माण होगा ) एक स्वतन्त्र विभाग है, इनके लिए आहुतिद्रव्य भी स्वतन्त्र है, एवं वही '**आज्य**' नाम से प्रसिद्ध है ।

**आत्मा-शरीर**, यद्यपि दोनों की समष्टि '**देवदत्त**' है । अर्थात् 'देवदत्त' नाम यद्यपि समष्टि से ही सम्बन्ध रखता है। तथापि मानना पड़ेगा कि, यह नाम मुख्यतः आत्मभाग से ही सम्बन्ध रखता है, न कि शरीर से। यही कारण कि, जब भूतात्मा प्राप्तसमय पर देह का परित्याग कर देता है, तो उस समय '**देवदत्त' आज नहीं रहा**' यह लोकव्यवहार होता है । अवशेष शव-शरीर का कोई नाम नहीं रहता। दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। एक राजा अपने परिकर ( सेवकवर्ग ) के साथ कहीं आतिथ्य स्वीकार करने जाता है । यहाँ राजा का ही नाम मुख्य रहता है, राजा के नामग्रहण का ही व्यवहार लोकसिद्ध है । सेवकवर्ग का राजा के नाम में ही अन्तर्भाव है । ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। आत्मस्वरूप-सम्पादक मुख्य देवताओं के लिए तो नामग्रणपूर्वक हविर्ग्रहण होना चाहिए, एवं परिकरस्थानीय ऋतु--छन्दो-देवताओं के लिए बिना नामग्रहण के ही आज्यग्रहण करता है, यही लोकव्यवहार है, ( **एवमु हैतेषाम्** ) ।

'**जामि**' दोष एक महादोष माना गया है । यथानुरूप व्यवहार न करना ही '**जामि**' दोष है । यह सभ्यता का आग्रह है कि, जो जिस स्थान के योग्य हो, जिस सम्मान का पात्र हो, उसे वही स्थान-सम्मान दिया जाय। **समदर्शन**, एवं **विषमवर्त्तन** ही इस सभ्यता का अन्यतम रक्षक है । आत्मदृष्टि से प्राणीमात्र समान हैं, परन्तु व्यवहारक्षेत्र में सब विभिन्न मर्य्यादा के पात्र हैं । कारण यही है कि, समदर्शन का अखण्ड चिदात्मा से सम्बन्ध है, जोकि आपामर--विद्वज्जन कीटादि पर्य्यन्त सब में, एकरसरूप से प्रतिष्ठित है । एवं विषमवर्त्तन का क्षेत्र प्रतिशरीर में भिन्न, प्राधानिक सम्मत भूतात्मा है । दोनों के क्षेत्र सर्वथा विभिन्न हैं । इसलिए यह आवश्यक है कि, व्यवहारक्षेत्र में जामिदोष ( मर्य्यादा--उल्लंघन--लक्षण व्यवहारदोष, असभ्यता ) से बचने के लिए जो जिसके योग्य हो, उसे उसी सम्मान का अधिकारी समझा जाय । यहाँ जुहू, उपभृत्, ध्रुवा में जो क्रमशः ४--८--४ बार करके आज्यग्रहण किया जाता है, वह ऋतु, तथा छन्दो के लिए ही नियत है । मुख्य

आत्मदेवता की तुलना में ये देवता अपना अवर--स्थान रखते हैं। मुख्य देवताओं की भाँति इन परिकर--स्थानीय देवताओं के लिए भी यदि नामग्रहणपूर्वक आज्यग्रहण किया जायगा, तो--श्रेणिमर्य्यादाभङ्गलक्षण जामिदोष होगा। अतः इनके लिए विना नामग्रहण के ही आज्यग्रहण करना चाहिए। **'अन्तरिक्षभाजना वै पशवः'** ( तै० ब्रा० ३।२।१।३ ) के अनुसार पशुप्राण का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है, उधर **'ऋतवश्छन्दांसि पशवः'** के अनुसार देववाहनलक्षण ऋतु--छन्द भी पशुस्थानीय ही हैं। **'छन्दमन्तरिक्षस्य'** (शत० ७।५।१।६) के अनुसार आज्यग्रहण का अन्तरिक्षलोक से सम्बन्ध है। अतएव आन्तरिक्ष्य ऋतु--छन्दों के लिए आज्यद्रव्य का ग्रहण ही अन्वर्थ बनता है।

जुहू में जो चार बार आज्यग्रहण होता है, उसका प्रयाजलक्षण ऋतुदेवता से सम्बन्ध है, एवं उपभृत् में जो आठ बार करके आज्यग्रहण किया जाता है, उस का अनुयाज-लक्षण छन्दोदेवता से सम्बन्ध है। दोनों मुख्य-देवतापेक्षया अवरश्रेणि में प्रतिष्ठित होते हुए नामग्रहण की मर्य्यादा से बहिर्भूत हैं। अब शेष रहता है-ध्रुवा। ध्रुवा में जो चार बार आज्यग्रहण किया जाता है, उसका उपयोग सम्पूर्ण यज्ञ की सिद्धि से सम्बन्ध रखता है। आज्यसम्बन्धिनी सम्पूर्ण इतिकर्त्तव्यता ध्रुवा-स्थित आज्य से ही पूरी की जाती है। जब यहाँ सब का अन्तर्भाव है, तो यहाँ भी नामग्रहण को अवसर नहीं मिलसकता। जो वस्तु सबके लिए है, उसमें विशेष व्यक्ति का नामग्रहण असङ्गत है। इसप्रकार आत्मा के पुनर्निर्माण करने वाले ऋतु-छन्दों के लिए गृहीत आज्य में नामग्रहण का अभाव ही अजामिभाव का रक्षक बन रहा है। ( ६,७,८,९,१० )।

आज्यग्रहण-प्रक्रिया में कुछ विशेषता रक्खी गई है। और वह विशेषता यही है कि, जुहू में ग्रहण होता है चार बार ही, परन्तु आज्यमात्रा औपभृत् आज्य की अपेक्षा अधिक होती है। इधर उपभृत् में संख्या की दृष्टि से जुहू की अपेक्षा ग्रहण तो होता है द्विगुणित (आठबार), परन्तु आज्यमात्रा जुहू के आज्य की अपेक्षा अल्प होती है। इस विशेषता का क्या कारण ?, प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान कर रहा है।

वैदिक-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सुप्रसिद्ध **'निदानविद्या'** ही इस उपपत्ति का मूलाधार है, जिस विद्या का गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत **'भक्तियोगपरीक्षा'** नामक भूमिका पञ्चमखण्ड के **'प्रतिमाननिर्म्माण-रहस्य'** नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण हुआ है। **कुछ एक सादृश्यों के आधार पर अन्य में अन्य वस्तु का आरोप करना ही 'निदान' कहलाता है**। जहाँ लोकव्यवहार में व्यवहारकर्म्म के सञ्चालन के लिए पदे पदे निदान का आश्रय लिया गया है, वहाँ शास्त्रीय व्यवहार में भी विशेषतः वेदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में भी यज्ञकर्म्मसिद्धि के लिए अनेक स्थलों में इसका आश्रय लिया गया है। पहिले एक लौकिक उदारण ही लीजिए। **"डाक्टर ज्वालाप्रसाद गोविल मोतीलाल शर्म्मा का दहिना हाथ है'** यह लौकिक निदान का उदाहरण है। वस्तुगत्या ज्वालाप्रसाद कभी मोतीलाल का दहिना हाथ नहीं है, परन्तु आरोप किया जाता है। इस निदानारोप का मूल यही है कि, दहिना हाथ ही कर्म्मसिद्धि का मूलद्वार है। क्योंकि ज्वालाप्रसाद मोती-लाल के कर्म्म का अन्यतम सहायक है, बस इसी कर्म्मासादृश्य के आधार पर उसे निदानविधि से दहिना हाथ मान लिया गया है। अब एक शास्त्रीय उदाहरण भी लीजिए। लोकव्यवहारसञ्चारिणी जगन्माता लक्ष्मी की प्रतिमा के हाथ में **'कमल'** का पुष्प है। यह कमल भूपिण्ड का सूचक है। भूपिण्ड का प्रारम्भिक उपादान **'आपो वै पुष्करपर्णम्'** ( शत० ४।४।२।२ ) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुष्करपत्र है। काल्वालीकृत

( घनभावयुक्त ) अप्-तत्त्व ही पुष्करपर्ण है । यही उत्तरोत्तर तेजःस्नेह के क्रमिक यजन से आपः-फेनादि आठ व्याहृतियों में परिणित होता हुआ कालान्तर में भूपिण्डरूप में परिणित होजाता है । कमलपुष्प भी उसी अप्तत्त्व से सम्बन्ध रखता है । इसी सादृश्य के आधार पर कमल में भूपिण्ड का आरोप करते हुए इसे भूपिण्ड का निदान मान लिया गया है । "स्रष्टा प्रजापति पद्मासन पर विराजमान रहते हुए पद्मभूः नाम से प्रसिद्ध हैं" इस व्यवहार का भी इसी भूनिदान से सम्बन्ध है ।

इस निदानविद्या को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें जुहू उपभृत् के आज्य का विचार करना है । जुहू को दहिना हाथ, तथा उपभृत् को वाम हाथ बतलाया है । शकुनशास्त्र के अनुसार पुरुष का दक्षिणभाग शुभ है, वामभाग अशुभ है । दक्षिणाङ्गस्फुरण शुभसूचना का प्रवर्त्तक है, एवं वामाङ्गस्फुरण अशुभसूचना का सूचक है । कारण यही है कि, पुरुष अग्निवीर्य्यप्रधान है । पुरुष के दक्षिणाङ्ग में इसी अग्निवीर्य्य का प्राधान्य रहता है, एवं वामाङ्ग मे निर्वीर्य्य सोम का प्राधान्य रहता है, जोकि सोम स्त्रीवीर्य्य माना गया है । वामभाग स्त्रीवीर्य्यप्रधान है, इसका स्फुरण पुरुषतत्त्व का विरोधी है, अतएव इसे अशुभ माना गया है । विधि का वाम ( टेढा-प्रतिकूल ) होजाना वामभाग से ही समतुलित है । इसी सादृश्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि, दक्षिणहस्त-स्थानीय जुहू पुरुषवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ यजमानस्थानीय है । एवं वामहस्तस्थानीय उपभृत् स्त्रीवीर्य्य का प्रतिनिधि बनता हुआ अशुभसूचक बनता हुआ यजमानशत्रुस्थानीय है । इस वीर्य्यसूचना के अतिरिक्त आदान-निरोध-मर्य्यादा से भी यह आरोप समन्वित होरहा है । दक्षिणहस्त कर्म्म के द्वारा जहाँ सम्पत्ति के आगमन का कारण बना हुआ है, वहाँ वामहस्त अकर्म्म का प्रतिनिधि बनता हुआ निरोध का बन्धु बन रहा है । शत्रु का जो काम ( सम्पत्ति-निरोध ) है, वही स्थान वामहस्त का है । इसलिए भी दक्षिणहस्त स्थानीय जुहू को यजमान, तथा वामहस्त स्थानीय उपभृत् को यजमानशत्रु कहा जासकता है ।

दक्षिणहस्त अग्निवीर्य्यप्रधान, एवं वामहस्त सोमवीर्य्यप्रधान बतलाया गया है । अग्नि अन्नाद (भोक्ता) है, सोम आद्य ( भोग्य ) है । इस दृष्टि से दक्षिणहस्थनीय अग्निप्रधान जुहू को **'अन्नाद'** माना जासकता है, एवं वामहस्त स्थानीय सोमप्रधान उपभृत् को **'आद्य'** कहा जासकता है । इसप्रकार निदानविधि से **जुहू, उपभृत् को** क्रमशः **यजमान-यजमानशत्रु**, तथा **अन्नाद-आद्य**, मानते हुए चतुर्वार-अष्टवार, एवं **भूयांसं-कनीयांसं** का समन्वय कीजिए ।

समृद्धि का लक्षण यही है कि, भोक्ता संख्या में कम हों, एवं भोग्य सामग्री संख्या में अधिक हो । इसी समृद्धिभाव की प्राप्ति के लिए भोक्ता-स्थानीय जुहू में चार बार ही आज्यग्रहण किया जाता है, एवं भोग्य-स्थानीय उपभृत् में आठ बार आज्य ग्रहण किया जाता है ।

यदि भोक्ता की अपेक्षा भोग्यप्रजावर्ग अधिक बलवीर्य्य युक्त है, तो वह संख्यानुगता समृद्धि निरर्थक है । वास्तविक समृद्धि तो उसे ही कहा जायगा, जिसमें भोक्ता संख्या में तो कम हों, परन्तु बल-वीर्य्य में भोग्य की अपेक्षा भूयान् हों । भोक्ता में इसी बल-वीर्य्य-समृद्धि के लिए भोक्ता-स्थानीय जुहू में जहाँ चार बार ग्रहण करते हुए मात्रावृद्धि की जाती है, वहाँ भोग्य को निर्बल निर्वीर्य्य बनाने के लिए भोग्य-स्थानीय उपभृत् में आठ बार ग्रहण करते हुए भी मात्राह्रास किया जाता है ।

**शारीरिक बल बल है, आत्मबल वीर्य्य है। भूतबल बल बल है, प्राणबल वीर्य्य है।** भोग्य-प्रजा पर सुशासन सुरक्षित रखने के लिए दोनों शक्तियाँ शपेक्षित हैं। हम देखते हैं कि, एक राज्य में राजा एक होता है, प्रजा असंख्य होती है। परन्तु राजा अपने कोशबल से, तथा बाहुवीर्य्य से एक घर का स्वामी रहता हुआ भी अनेकों घरों पर अपना प्रभुत्त्व प्रतिष्ठित रखता है। अपनी इच्छानुसार यथासमय इन से अपने उद्देश्य–साधन प्रस्तुत किया करता है। इसी बलवीर्य्य–प्राप्ति के लिए यहाँ भी कनीयांसं, मर्य्यादा रक्खी गई है।

जुहू में गृहीत आज्य की तो जुहू से आहुति होती ही है, परन्तु उपभृत् में गृहीत आज्य की भी जुहू से ही अहुति होती है। इसका कारण है–**'अन्न–अन्नाद की स्वरूप रक्षा'**। उपभृत् प्रजा–स्थानीय है। प्रजा का बल ही राजा का बल है। यदि प्रजा को स्वसंपत्ति–व्यय में स्वतन्त्र कर दिया जायगा, तो प्रजा इस मर्य्यादा से अपना स्वरूप ही खो बैठेगी, एवं प्रजासंहयोग से वञ्चित राजा भी राज्यश्री से हाथ ही धो बैठेगा। राष्ट्र–समृद्धि के लिए दोनों की ही स्वरूपरक्षा अपेक्षित है। धर्म्मदण्ड जहाँ राजा को सुरक्षित, मर्य्यादित रखता है, वहाँ धर्म्मानुगत राजदण्ड प्रजा को मर्य्यादित बनाए रखता है। इस पारस्परिक सहयोग से दोनों का स्वरूप सुरक्षित रहता है।

यदि प्रजावित्त पर अपना अधिकार स्थापित करना हीं राजा का एकमात्र लक्ष्य है, तब तो प्रजास्था–नीय उपभृत् में आज्यग्रहण की ही आवश्यकता न थी। परन्तु उस दशा में भी वही परिणाम होता, जो अम–र्य्यादा में बतलाया गया है। **प्रजा जबतक स्वतन्त्ररूप से सम्पत्ति–संग्रह में प्रवृत्त नहीं होती, तबतक प्रजासमृद्धि असम्भव है। राष्ट्र का वित्तबल, पशुबल आदि प्रजास्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है।** क्या एकाकी राजा ये सब कार्य्य कर सकता है ?, असम्भव। **अनुचित नियन्त्रण प्रजासमृद्धि के नाश के ही कारण माने गए हैं। होना यह चाहिए कि, प्रजा को सम्पत्ति-संग्रह के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय, साथ ही व्ययसम्बन्ध में नियन्त्रण लगाया जाय।** क्षत्र, और विट् के इस पारस्परिक सह–योग से ही प्रकृतिसिद्ध वह वर्णाश्रमव्यवस्था सुरक्षित रह सकती है, जो राष्ट्रसमृद्धि का अन्यतम सूत्र माना गया है।

एक स्थान पर प्रतिष्ठित ध्रुवा **'ब्रह्मबल'** है, जुहू **'क्षत्रबल'** है, उपभृत् **'विड्बल'** है, एवं पशुसम्पत्ति **'शूद्रभाग'** है। प्रत्येक राष्ट्र को राष्ट्राभ्युदय के लिए **ज्ञानस्थानीय-ब्रह्मबल, क्रियास्थानीय क्षत्रबल, अर्थ-स्थानीय विड्बल, एवं प्रवर्ग्यस्थानीय शूद्रबल,** ये चारों बल अपेक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जब कि चारों में परस्पर सहयोग बना रहे। सहयोग तभी सम्भव है, जबकि चारों मर्य्यादासूत्र से सञ्चालित रहें। इसी समृद्धिरक्षा के लिए उपभृत् से गृहीत आज्य की भी जुहू से ही आहुति दी जाती है।

इसप्रकार **राष्ट्रकर्म्मसमृद्धिपूर्वक स्वसमृद्धि** के लिए यह आज्यग्रहणकर्म्म क्रमशः **गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्,** छन्दों से सम्बन्ध रखता है। **'सुपर्णकाद्रवेयाख्यानविज्ञान'** के अनुसार मूलतः सभी छन्द चतुरक्षर ही माने गए हैं। सोमापहरण करने के लिए सर्वप्रथम चतुरक्षर जगतीछन्द का तृतीय द्युलोक में गमन होता है। वहाँ तीन चरण खोकर एक चरण से जगती भूतल पर लौट आती है। अनन्तर चतुरक्षरा त्रिष्टुप् सोमापहरण के लिए उत्प्लवन करती है। यह अपना एक चरण खोकर तीन

चरणों से वापस लौट आती है । सर्वान्त में सामिधेनीबल से युक्त चतुरक्षरा गायत्री सुपर्ण–रूप धारण कर के झपाटा मारती है । फलतः सोमापहरण के साथ साथ तत्रस्थ जगती के तीनों चरण, एवं त्रिष्टुप् का एक चरण लेती हुई गायत्री अपने आपके चारों चरणों से सुरक्षित लौट आती है । आरम्भ में **चतुरक्षरा रहने वाली यह गायत्री जगती, तथा त्रिष्टुप् के चरणों से अष्टाक्षरा बन जाती है । त्र्यक्षरा त्रिष्टुप् इस अष्टाक्षरा गायत्री में आत्मसमर्पण कर एकादशाक्षरा बन जाती है, एवं एकाक्षरा जगती त्रिष्टुप्-युक्ता गायत्री में आत्मसमर्पण कर द्वादशाक्षरा बन जाती है** । इसप्रकार यद्यपि आज गायत्र्यादि छन्द ८-११-१२, इत्यादि अक्षरों से युक्त प्रतीत होरहे हैं, परन्तु इनका मौलिक स्वरूप चतुरक्षर ही माना गया है, जैसाकि-'**सर्वाणि ह वा छन्दांसि चतुरक्षाणि**' इत्यादि निगम से प्रमाणित है ।

जुहू--स्थित चतुर्वारग्रहीत आज्य चतुरक्षर गायत्री छन्द से सम्बन्ध रखता है, उपभृत् स्थित अष्टवार गृहीत आज्य क्रमशः चतुरक्षर त्रिष्टुपछन्द, एवं चतुरक्षर जगतीछन्द से सम्बन्ध रखता है । एवं ध्रुवास्थित चतुर्गृहीत आज्य अनुष्टुपछन्द से सम्बन्ध रखता है । **भूपिण्ड, त्रिवृत्पृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एक--विंश द्युलोक**, चारों के क्रमशः **प्रजापति, अग्नि, मरुत्त्वानिन्द्रगर्भित वायु, आदित्य**, ये चार अतिष्ठावा देवता हैं। एवं चारों के क्रमशः **अनुष्टुप्, गायत्री, त्रिष्टुप् जगती**, ये चार छन्द है । चारों का मूल वही भौम वाङ्मय अनुष्टुपछन्द है । अनुष्टुप् भूपिण्ड का छन्द है, भूपिण्ड शुक्रलक्षण वाङ्मय है । इसी वाग्वितान से वषट्कारलक्षणा उस साहस्री का जन्म होता है, जिसके आधार पर भूमहिमात्मक सम्पूर्ण यज्ञ प्रतिष्ठित है । अतएव तत्स्थानीय ध्रुवा से ही सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म सम्पन्न होता है । ( ११,१२,१३,१४, १५,१६,) ।

आज्यग्रहणपद्धति के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है । जिस **चित्यपृष्ठ ( भूपिण्ड ) में आज्य ( प्राणशक्ति )** परिपूर्णमात्रा से प्रतिष्ठित रहता है, उस चित्यपृष्ठ में प्राणदेवता उसीप्रकार अभय बन कर अपने आध्यात्मिक यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता निरापद सम्पन्न करते हैं, जैसे कि वज्र की रक्षा से रक्षित मनुष्य अपने कर्म्म में निरापद बना रहता है । अतएव आज्य को वज्र कहा जासकता है । यही वास्तव में देवयजन-भूमि है । बाह्य-सामग्री-सम्भार उस समय पर्य्यन्त निरर्थक है, जबतक कि आज्य (प्राणशक्तिलक्षण कर्म्मसाधक वज्र ) का ग्रहण नहीं कर लिया जाता । अध्यात्म का आज्य, एवं अधिभूतयज्ञ का आज्यद्रव्य, दोनों हीं यज्ञ-स्वरूप की सिद्धि के मुख्य द्वार बने हुए हैं ।

'**त्रिः सत्या वै देवाः**' के अनुसार यह यज्ञ त्रि-मर्य्यादा से युक्त है । कितने एक याज्ञिकों का कहना था कि, इस यज्ञसम्पत्ति--संग्रह के लिए '**जुहू उपभृत् ध्रुवा**' तीनों में तीन तीन वार मन्त्रप्रयोग होना चाहिए । परन्तु परमवैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य ऐसा करना इसलिए अनुचित समझते हैं कि, तीनों ग्रहणकर्म्म एक ही यज्ञसिद्धि से सम्बन्ध रखते हैं । यदि तीन स्थान पर त्रिवृत् सम्पत्ति का संग्रह किया जायगा, तो यज्ञकृत्स्नता नष्ट होजायगी । इसलिए ( यज्ञकृत्स्नता सुरक्षित रखने के लिए) एक-एक बार ही मन्त्रप्रयोग होना चाहिए । ऐसा करने से यज्ञैकरूपता भी सुरक्षित रहेगी, एवं तीनों स्थानों की संख्या के समन्वय से त्रिवृत्–सम्पत्ति भी प्राप्त होजायगी (१७,१८, ) ।

# प्रथमकाण्डानुगत--तृतीय--अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण एवं द्वितीय प्रपाठक का पञ्चम ब्राह्मण

## 'आज्यब्राह्मण'

नामक

उपरत

———*———

श्रीः

# अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये–द्विब्राह्मणात्मकं
# *इध्म-परिधि-ब्राह्मणम्*

## अथ–प्रथमकाण्डे–तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्
## द्वितीयप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्
## (इध्म–परिधि–ब्राह्मणनुगतञ्च–"इध्मब्राह्मण" नामकं प्रथमं ब्राह्मणम्)

१

श्री:

# अथ प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्
# द्वितीयप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्

## द्विब्राह्मणानुगतं-"*इध्मब्राह्मणम्*"-प्रथमम्
## १

### १७—इध्मानुगत - कर्म्मसंग्रहः—

### १ इध्म-वेदि-वर्हिषां प्रोक्षणं, तथा प्रोक्षणीशेषेण बर्हिर्मूलोपसेचनम्

( मूल ) प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति—"कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" ( २ अ० १ मं० ) इति । तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति ॥ १ ॥

अथ वेदिं प्रोक्षति—"वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामी" [ २ अ० १-मं० ) इति । तन्मेध्यामेवैतद् बर्हिषे करोति ॥ २ ॥

अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति । तत्पुरस्ताद्ग्रन्थ्यासादयति । तत् प्रोक्षति—"बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" [ २ अ० १ मं० ] इति । तन्मेध्यमेवैतत् स्रुग्भ्यः करोति ॥ ३ ॥

अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते, ताभिरोषधीनां मूलान्युपनिनयति-"अदित्यै व्युन्दनमसि" [ २ अ० २ मं० ) इति । इयं वै पृथिवी-अदितिः, तदस्या एवैतदोषधीनां मूलान्युपोनत्ति । ता इमा आर्द्रमूला ओषधयः । तस्माद्यद्यपि शुष्काण्यग्राणि भवन्ति-आर्द्राण्येव मूलानि भवन्ति ॥ ४ ॥

## २—पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिषः पुरस्तात् प्रस्तरगृहणम्—

———*———

अथ विस्रंस्य ग्रन्थिं पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति-'विष्णोःस्तुपोऽसि'-( २ अ० २- मं० ) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्येयमेव शिखा स्तुपः । एतामेवास्मिन्नेतद्दधाति । पुरस्ताद् गृह्णाति । पुरस्ताद्ध्ययं स्तुपः, तस्मात् पुरस्ताद् गृह्णाति ॥ ५ ॥

अथ सन्नहनं विस्रंसयति । प्रक्लृप्तं हैवास्य स्त्री विजायत इति । तस्मात् सन्नहनं विस्रंसयति । तद्दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति । नीविर्हैवास्यैषा । दक्षिणत इव हीयं नीविः । तस्माद्दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति । तत्पुनरभिच्छादयति । अभिच्छन्नेव हीयं नीविः । तस्मात्पुनरभिच्छादयति ॥ ६ ॥

## ३—वेद्यां बर्हिषा त्रिवृत-स्तरणम्

———*———

अथ बर्हि स्तृणाति । अयं वै स्तुपः प्रस्तरः । अथ यान्यवाञ्चि लोमानि, तान्येवास्य; यदितरं बर्हिः, तान्येवास्मिन्नेतद्दधाति । तस्माद् बर्हि स्तृणाति ॥ ७ ॥

योषा वै वेदिः । तामेतद्देवाश्च पर्यासते, ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः । तेष्वेवैनामेतत् पर्यासीनेष्वनग्नां करोति- अनग्नताया एव । तस्माद्बर्हि स्तृणाति ॥ ८ ॥

यावती वै वेदिः, तावती पृथिवी, ओषधयो बर्हिः । तदस्यामेवैतत् पृथिव्यामोषधीर्दधाति । ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठिताः । तस्माद्बर्हिस्तृणाति ॥ ९ ॥

तद्धै बहुलं स्तृणीयादित्याहुः । यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओषधयः, तदस्या उपजीवनीयतमम् । तस्माद् बहुलं स्तृणीयादिति । तद्धै तदाहृत्तर्यैवाधि । त्रिवृत् स्तृणाति, त्रिवृद्धि यज्ञः । अथो अपि प्रवर्हं स्तृणीयात् । स्तृणन्ति बर्हिरानुषगिति ह्यृषिणाभ्यनूक्तम् । अधरमूलं स्तृणाति। अधरमूला इव हीमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठिताः । तस्मादधरमूलं स्तृणाति ॥ १० ॥

स स्तृणाति-'ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः' [ २ अ० २ मं० ] इति । साध्वीं देवेभ्य इत्येवैतदाह-यदाहोर्णम्रदसं त्वेति । स्वासस्थां देवेभ्य इति-स्वासदां देवेभ्य इत्येवैतदाह ॥ ११ ॥

## ४—आहवनीयाग्नेरिध्मकाष्ठेन प्रवलीकरणम्

अथाग्निं कल्पयति । शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः । पूर्वोऽर्द्धो वै शिरः-पूर्वार्द्धमेवैत-द्यज्ञस्य कल्पयति । उपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति । अयं वै स्तुपः प्रस्तरः । एतमेवा-स्मिन्नेतत् प्रतिदधाति । तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति ॥ १२ ॥

## ५—आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे च क्रमेण परिधिनिधानम्

अथ परिधीन् परिदधाति । तद् यत्परिधीन् परिदधाति-यत्र वै देवा अग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणत, तद्धोवाच-"न वा अहमिदमुत्सहे, यद्वो होता स्याम्, यद्वो हव्यं वहेयम् । त्रीन् पूर्वान् प्रावृढ्वम् । ते प्राधन्विषुः, तान्नु मेऽवकल्पयत । अथ वा अहमेतदुत्साच्ये-यद्वो होता स्याम्, यद्वो हव्यं वहेयमिति" । तथेति । तानस्मा एतानवाकल्पयन्-त एते परिधयः ॥ १३ ॥

स होवाच-वज्रो वै तान् वषट्कारः प्रावृणक् । वज्राद्धै वषट्काराद्बिभेमि, यन्मा वज्रो वषट्कारो न प्रवृञ्ज्यात् । एतैरेव मा परिधत्त, तथा मा वज्रो वषट्कारो न प्रव-र्त्स्यतीति । तथेति । तमेतैः पर्यदधुः । तन्न वज्रो वषट्कारः प्रावृणक् । तद्वमैवैतदग्नये नह्यति-यदेतैः परिदधाति ॥ १४ ॥

त उ हैत ऊचुः-इदमु चेदस्मान् यज्ञे युङ्क्थ, अस्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भाग इति ॥ १५ ॥

तथेति देवा अब्रुवन्-"यद्वहिष्परिधि स्कन्त्स्यति-तद्युष्मासु हुतम् । अथ यद्व उप-र्युपरि होष्यन्ति-तद्वोऽविष्यति । अथ यदग्नौ होष्यन्ति-तद्वोऽविष्यतीति" । स यदग्नौ जुह्वति-तदेनानवति, अथ यदेनानुपर्युपरि जुह्वति-तदेनानवति, अथ यद्बहिष्परिधि स्कन्दति-तदेतेषु हुतम् । तस्मादु ह नाग इव स्कन्नं यात् । इमां वैते पृथिवीं प्राविशन् । यद्वा इदं किञ्च स्कन्दति-अस्यामेव तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ॥ १६ ॥

स स्कन्नमभिमृशति-"भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानांपतये स्वाहा" [ २ अ० २ मं० ] इति । एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि-यद् भुवपतिः, भुवनपतिः, भूतानां पतिः, तद् यथा वषट्कृतं हुतम्-एवमस्यैतेवाग्निषु भवति ॥ १७ ॥

तद्धैके-इध्मस्यैवैतान् परिधीन् परिदधति । तदु तथा न कुर्यात् । अनवक्लृप्ता ह तस्यैते भवन्ति-यानिध्मस्य परिदधाति । अभ्याधानाय ह्येवेध्मः क्रियते । तस्यो हैवैतेऽवक्लृप्ता भवन्ति--यस्यैतानन्यानहरन्ति-परिधय इति । तस्मादन्यानेवाहरेयुः ॥ १८ ॥

ते वै पालाशाः स्युः । ब्रह्म वै पलाशः, ब्रह्माग्निः, अग्नयो हि । तस्मात्पालाशाः स्युः ॥ १९ ॥

यदि पालाशान् न विन्देत्-अथो अपि वैकङ्कताः स्युः । यदि वैकङ्कतान् न विन्देत्-अथो अपि कार्ष्मर्यमयाः स्युः । यदि कार्ष्मर्यमयान् न विन्देत्--अथो अपि बैल्वाः स्युः । अथो खादिराः, अथो औदुम्बराः । एते हि वृक्षा यज्ञियाः । तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति ॥ २० ॥

## प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय-अध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्
## एवं द्वितीय-प्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्
## उपरतम्

---

## अत्र-द्विब्राह्मणानुगतं-प्रथमं-इध्मब्राह्मणं समाप्तम्
## १
## समाप्तश्चायं—द्वितीयः प्रपाठकः
## २

श्रीः

# अथ–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं तृतीय प्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्

## द्विब्राह्मणानुगतश्च—परिधिब्राह्मणं—नामकं द्वितीयं ब्राह्मणम्

ते वा आर्द्राः स्युः । एतद्ध्येषां जीवम्, एतेन सतेजसः, एतेन वीर्यवन्तः । तस्मादार्द्राः स्युः ॥ १ ॥

स मध्यममेवाग्रे परिधिं परिदधाति–"गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः" [ २ अ० २ मं० ] इति ॥ २ ॥

अथ दक्षिणं परिदधाति–"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः" [ २ अ० ३ मं० ] इति ॥ ३ ॥

अथोत्तरं परिदधाति–"मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः" [ २ अ० ३ मं ] इति । अग्नयो हि । तस्मादाह–अग्निरिड ईडित इति ॥ ४ ॥

## ६—आहवनीये समिधाधानम्

अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्रे परिधिमुपस्पृशति, तेनैतानग्रे समिन्धे । अथाग्रावभ्यादधाति, तेनो अग्निं प्रत्यक्षं समिन्धे ॥ ५ ॥

सोऽभ्यादधाति–"वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे" ( २ अ० ४ मं० ) इत्येतया गायत्र्या । गायत्रीमेवैतत् समिन्धे । सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांसि समिन्धे । छन्दांसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ॥ ६ ॥

अथ यां द्वितीयां समिधमभ्यादधाति–वसन्तमेव तया समिन्धे । स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून् समिन्धे । ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । सोऽभ्यादधाति–'समिदसि' ( २ अ० ५ मं० ) इति । समिद्धि वसन्तः ॥ ७ ॥

अथाभ्याधाय जपति- 'सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै' ( २ अ०-५ मं० ) इति। गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्ति। अथैतत्सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति नेत् पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्यभ्यवचरानिति। सूर्यो हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता ॥ ८ ॥

अथ यामेवामुं तृतीयां समिधमभ्यादधाति-अनुयाजेषु, ब्राह्मणमेव तया समिन्धे। स ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति ॥ ९ ॥

## ७—उदगग्रयोर्विधृत्योर्वेद्यां निधानम्

अथ स्तीर्णां वेदिमुपावर्त्तते। स द्वे तृणे आदाय तिरश्ची निदधाति- 'सवितुर्बाहू स्थः' ( २ अ० ५ मं० ) इति। अयं वै स्तुपः प्रस्तरः। अथास्यैते भ्रुवावेव तिरश्ची निदधाति। तस्मादिमे तिरश्च्यौ भ्रुवौ। क्षत्रं वै प्रस्तरः, विश इतरं बर्हिः। क्षत्रस्य चैव विशश्च विधृत्यै। तस्मात्तिरश्ची निदधाति। तस्माद्वेव विधृती नाम ॥ १० ॥

## ८—विधृत्योरुपरि प्रस्तरस्तरणम्

तत् प्रस्तरं स्तृणाति- 'ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः' ( २अ०५-मं० ) इति। साधुं देवेभ्य इत्येवैतदाह-यदाहोर्णाम्रदसं त्वेति। स्वासस्थं देवेभ्य इति-स्वासदं देवेभ्य इत्येवैतदाह ॥ ११ ॥

## ९—पाणिद्वयेन प्रस्तराभिनिधानम्

तमभिनिदधाति-''आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु'' ( २ अ०५ मं० ) इति। एते वै त्रया देवाः-यद्वसवो रुद्रा आदित्याः। एते त्वासीदन्त्वित्येवैतदाह। अभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति ॥ १२ ॥

## १०-प्रस्तरस्पर्शपूर्वकं दक्षिणेन स्रुचां गृहणं, प्रस्तरे तत् स्थापनञ्च

अथ दक्षिणेन जुहूं प्रतिगृह्णाति-नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशानिति। ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता। तस्मादभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति ॥ १३ ॥

अथ जुहूं प्रतिगृह्णाति-"घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना" ( २ अ० ६ मं० ) इति। घृताची हि, जुहूर्हि नाम्ना। "सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद" ( २ अ०-६ मं० ) इति। 'घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना' ( २ अ० ६ मं० ) इत्युपभृतम् । घृताची हि, उपभृद्धि नाम्ना। "सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद" ( २ अ०६ मं० ) इति। "घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना" ( २ अ० ६ मं० ) इति ध्रुवाम्। घृताची हि, ध्रुवा हि, नाम्ना। "सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद" ( २ अ० ६ मं० ) इति-यदन्यद्धविः॥ १४॥

स वा उपरि जुहूं सादयति, अथ इतराः स्रुचः। क्षत्रं वै जुहूः, विश इतराः स्रुचः। क्षत्रमेवैतत्-विश उत्तरं करोति। तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते। तस्मादुपरि जुहूं सादयति, अथ इतराः स्रुचः॥ १५॥

## ११-अभिमर्शनम्

सोऽभिमृशति-"ध्रुवा असदन्" (३ अ०६मं०) इति। ध्रुवा ह्यसदन्। "ऋतस्य योनौ" ( ३ अ० ६ मं० ) इति। यज्ञो वा ऋतस्य योनिः, यज्ञे ह्यसदन्। "ता विष्णो पाहि, पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्" (३ अ० ६ मं०) इति। तद्यजमानमाह। "पाहि मां यज्ञन्यम्" ( ३ अ० ६ मं० ) इति। दध्यात्मानं यज्ञान्नान्तरेति। यज्ञो वै विष्णुः, तद्यज्ञायैवैतत्सर्वं परिददाति गुप्त्यै। तस्मादाह-ता विष्णो पाहीति॥ १६॥

## प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय-अध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं एवं-तृतीय-प्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणं उपरतम्

## द्विब्राह्मणानुगतञ्च-द्वितीयं-परिधिब्राह्मणं समाप्तम्
२

## इति-ब्राह्मणद्वयात्मकं-इध्म-परिधि-ब्राह्मणमुपरतम्

# तृतीयाध्याय में तृतीय ब्राह्मण. एवं द्वितीयप्रपाठक में षष्ठ ब्राह्मण "इध्मब्राह्मण"

## मूलानुवाद—

१--इध्य, वेदि तथा बर्हि का प्रोक्षणीशेष से बर्हिर्मूलोपसिञ्चन—

अध्वर्य्यु (नामक ऋत्विक् क्रमशः इध्म वेदि-बर्हि के प्रोक्षण के लिए) प्रोक्षणी (प्रोक्षण कर्म्म-के लिए नियत, अतएव 'प्रोक्षणी' नाम से प्रसिद्ध जलों) का ग्रहण करता है। (इसे इन प्रोक्षणी--जलों से इध्म-वेदि-बर्हि, तीनों का प्रोक्षण करना है। इन में से) यह अध्वर्य्यु सब से पहिले 'कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' (यजुः सं० २।१ हे अग्ने! आप कृष्णमृग--हैं, आहवनीय नामक खर में प्रतिष्ठित रहने के कारण आप 'आखरेष्ठ' हैं। ऐसे आप का यथानुरूप-अभिलषित प्रोक्षण करता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ इध्म (यज्ञाग्नि-प्रज्ज्वलन के लिए आए हुए लकड़ी के बँधे हुए भारों) का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म्म में इन इध्म-सम्भारों को अध्वर्य्यु अग्निदेवता के लिए सङ्गमनीय ही करता है ॥१॥

इध्मप्रोक्षणानन्तर-"वेदिरसि बर्हिषे जुष्टं प्रोक्षामि" (यजुः सं० २।१-आप सर्वयज्ञसमृद्धि-प्राप्ति के कारण 'वेदि' नामसे प्रसिद्ध हैं। बर्हिस्तरण के लिए आपका मैं अभिलषित प्रोक्षण करता हूँ) यह बोलता हुआ वेदि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म्म से यह अध्वर्य्यु इस वेदि को बर्हिस्तरणकर्म्म के लिए ही सङ्गमनीय करता है ॥२॥

वेदिप्रोक्षणानन्तर (बर्हि के प्रोक्षण के लिए) आग्नीध्र नामक ऋत्विक् अध्वर्य्यु के हाथ में बर्हि (कुशमुष्टि) सौंपता है। (आग्नीध्र से समर्पित बर्हि को हाथ में लेकर) अध्वर्य्यु उस बर्हि को वेदि पर उत्तराग्र इसप्रकार से रखता है, जिस से कि बर्हि की गाँठ पूर्व की ओर रहे। (इसप्रकार वेदि पर पुरस्ताद्-ग्रन्थिरूप से बर्हि प्रतिष्ठित कर) वह अध्वर्य्यु-"बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" (यजुः सं० २।१-आप वेदिबृंहणकर्म्म में समर्थ बनते हुए 'बर्हि' नाम से प्रसिद्ध हैं, ऐसे आप का मैं स्रुचों के लिए अभिलषित प्रोक्षण करता हूँ) यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि पर प्रतिष्ठित बर्हि का प्रोक्षण करता है। इस प्रोक्षणकर्म्म से यह अध्वर्य्यु स्रुचों के लिए ही इस बर्हि को सङ्गमनीय करता है * ॥३॥

---

* इध्म (काष्ठसम्भार) का उपयोग आहवनीयाग्नि में होता है, वेदि का उपयोग बर्हिस्तरणकर्म्म में होता है, एवं बर्हि का उपयोग स्रुक्स्थापनकर्म्म में होता है। दूसरे शब्दों में-इध्म आहवनीय अग्नि में डाले जाते हैं, बर्हि वेदि पर बिछाई जाती है, एवं स्रुक्पात्र बर्हि पर रक्खे जाते हैं। इध्म का यज्ञाग्नि से, वेदि का बर्हि से, एवं बर्हि का स्रुक्पात्रों से संगमनीय-यज्ञानुरूप सम्बन्ध होजाय, एकमात्र इसी प्रयोजन के लिए इध्म, वेदि, बर्हि, का क्रमिक प्रोक्षण होता है। यज्ञमण्डल में गृहीत तीनों हीं पवित्र अवश्य हैं, परन्तु अभी इन में मेध्यधर्म्म का अभाव हैं। पानी में मेध्यगुण भी है। इसी मेध्यभाव की निष्पत्ति के लिए प्रकृत प्रोक्षण-कर्म्म विहित है। मेध्यता, एवं पवित्रता भिन्न भिन्न वस्तुतत्त्व हैं। ऐसी दशा में मेध्य का 'शुद्ध' (पवित्र) अर्थ मानना नितान्त असङ्गत है, जैसा कि व्याख्याताओं नें 'वेदिं शुद्धां करोति' रूपसे कर दिया है। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ-प्रथमखण्ड में विस्तार से किया जाचुका है।

तीनों प्रोक्षण-कर्म्मों के अनन्तर ( प्रोक्षणपात्र में ) जो प्रोक्षणी-जल बच जाते हैं, उन से "अदित्यै व्युन्दनमसि" ( यजुः सं० २।२-हे प्रोक्षणजल ! आप पृथिवी के सिञ्चक हैं ) यह मन्त्र बोलता हुआ ओषधियों (बर्हि) के मूलों का सिञ्चन करता है। बचे पानी को ओषधियों की जड़ों में डाल देता है। निश्चयेन पृथिवी अदिति है। इस सिञ्चनकर्म्म से अध्वर्य्यु इस पृथिवी के ओषधिमूलों को ही आर्द्र करता है। ( इसी सिञ्चनकर्म्म से ) ये ओषधियाँ मूलभाग से आर्द्र ( उपलब्ध होतीं ) हैं। इसी सिञ्चनकर्म्म का यह प्रभाव है कि, यद्यपि ओषधियों के अग्र-भाग शुष्क रहते हैं, परन्तु मूलभाग आर्द्र ही रहते हैं ॥४॥

**२--प्रणीता में पवित्र स्थापित कर बर्हि के पूर्वभाग से प्रस्तर का ग्रहण—**

प्रोक्षणकर्म्मानन्तर यह अध्वर्य्यु ( अपने हाथ से प्रणीतापात्र में दो कुशा रखकर ) वेदि पर पुरस्तात् गाँठ लगे हुए रक्खे बर्हि ( कुशमुष्टि ) की गाँठ खोल कर-"विष्णो स्तुपोऽसि" ( यजुः सं० २।२ हे प्रस्तर ! आप विष्णु-यज्ञ-के स्तुपस्थानीय-केशसङ्घातरूप शिखा--स्थानीय हैं। ) यह मन्त्र बोलता हुआ उस बर्हि में से पूर्व का ओर से ( कुशसमूह-लक्षण ) 'प्रस्तर' का ग्रहण करता है। विष्णु निश्चयेन यज्ञ है, इस यज्ञपुरुष की शिखा यह स्तुप ( कुशसङ्घात लक्षण प्रस्तर ) ही है। ( प्रस्तर-ग्रहण करता हुआ अध्वर्य्यु ) इस यज्ञपुरुष में इस शिखा को ही प्रतिष्ठित करता है। यह स्तुप ( शिखा-आध्यात्मिक यज्ञरूप पुरुष के ) पूर्वभाग ( शिरोभाग ) में हीं है, अतएव ( तत्प्रतिरूप इस वैव आधिभौतिक यज्ञपुरुष के शिखा-स्थानीय स्तुप का भी ) पुरस्तात् ही ग्रहण करता है ॥५॥

(बतलाया गया है कि, वेदि पर रक्खे हुए बर्हिः-संघात की रज्जु की गाँठ खोल कर अध्वर्य्यु उस में से प्रस्तर का ग्रहण करता है। इस ग्रहणकर्म्म के अनन्तर प्रस्तर तो ब्रह्मा को सौंप देता है, एवं जो ) सन्नहन ( बर्हि के चारों ओर लिपटी हुई बन्धन-रज्जु ) है, उसे ( बर्हि से सर्वथा ) पृथक कर देता है। ( सन्नहन को पृथक् क्यों किया जाता है ?, इस की उपपत्ति बतलाते हैं )- यह निश्चित है कि, बन्धन के खुल जाने पर ही इस यजमान की स्त्री दशममास में सम्पूर्णावयव-सन्तान उत्पन्न करती है। ( तात्पर्य्य यही है कि, नीवीबन्धन खोल देने से हीं गर्भिणी सुखपूर्वक प्रसवकर्म्म करने में समर्थ होती है। इधर वेदि 'योषात्मिका' बनती हुए निदानेन स्त्री है, एवं यह 'बर्हि-रज्जु इस का नीवीबन्धन है। यही दैवात्मारूप सन्तान उत्पन्न करने वाली है। उत्पत्ति-कर्म्म में बन्धन का विस्रसन आवश्यक है ) इसीलिए सन्नहन खोलता है। उस सन्नहनरज्जु को वेदि के दहिने श्रोणिभाग पर रख देता है। कारण यही है कि, यह रज्जु ( निदानेन ) इस यजमानपत्नी का नीवीबन्धन ही है। एवं लोकव्यवहार में निवीबन्धन स्त्रियों के दक्षिण-श्रोणि-भाग पर ही रहता है। अतएव ( तत्प्रतिरूपा वेदि के ) दक्षिण श्रोणिभाग में ही नीवी-बन्धन-स्थानीया रज्जु प्रतिष्ठित करता है। दक्षिणश्रोणिभाग पर रक्खी हुई नीवी को बर्हि से आच्छादित कर देता है। कारण इस का यही है कि, लोकव्यवहार में स्त्रियों का नीवीबन्धन वस्त्र से ही आच्छादित रहता है। अतएव (तत्प्रतिरूपा वेदि की) इस नीवीबन्धन-स्थानीया रज्जु को आच्छादित कर देता है ॥६॥

——*——

## ३-वेदि पर बर्हिस्तृणों से त्रिवृत्--रूप से आच्छादन—

( प्रस्तरग्रहण-कर्म्म के सम्बन्ध में यह बतलाया गया है कि, निदानविधि से प्रस्तर 'शिखा'-स्थानीय है। जब कि इस वैधयज्ञ में पुरुष की प्रतिरूपता के अनुरूप प्रस्तररूप शिखा का ग्रहण आवश्यक माना गया है, तो शिखातिरिक्त शिखा से नीचे के केश-लोमों का भी उसी निदानविधि से संग्रह होना चाहिए। इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति कहती है )—सन्नहन-विस्रंसन-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्य्यु ( वेदि पर वनभाव से, त्रिवृत्-मर्य्यादा से ) कुशा बिछाता है ( वेदि पर प्रतिष्ठित ) यह प्रस्तर ( कुशमुष्टि ) निश्चयेन ( निदानविधि से ) स्तुप ( केशसंघातलक्षणा शिखा) है। ( स्तुप के अतिरिक्त जो सम्पूर्ण वेदि पर कुशा बिछाई जाती हैं ) वह यह इतर बर्हि ( प्रस्तर से भिन्न बिछाई जाने वाली कुशा ) ( निदानविधि से ) शिखा के अधः प्रदेशों में ( सर्वाङ्गशरीर में ) प्रतिष्ठित लोम ( केश-लोम का प्रतिरूप ) है। ( वेदि पर कुशा बिछाता हुआ अध्वर्य्यु प्रतिरूप मर्य्यादा से ) उन अधः स्थित केश-लोमों को ही यज्ञ-पुरुष पर लगाता है। इसीलिए कुशा बिछाता है ॥७॥

(कुशास्तरण की पूर्व उपपत्ति यज्ञपुरुष के केश-लोमों से सम्बन्ध रखती है। अब स्वयं वेदि की दृष्टि से दूसरी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है )—यह वेदि ( प्रतिरूप-मर्य्यादा से ) योषा ( स्त्री ) है। इस स्त्री ( रूपा वेदि ) के ऊपर ( हविर्ग्रहण के लिए आए हुए प्राणात्मक ) देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं जो ये प्रयोगरहस्यज्ञ, तथा अनुष्ठान करने वाले विद्वान् ब्राह्मण वेदि के समीप प्रतिष्ठित रहते हैं। ( लोकमर्य्यादा में एक स्त्री नग्न शरीर से पुरुषमण्डली में नहीं बैठ सकती, अपितु अपना सर्वाङ्गशरीर वस्त्र से वेष्टित कर लज्जाभाव से ही आसीन रहती है। इधर वेदि भी योषा-स्थानीया है, इसे भी यहाँ उक्त अलौकिक-प्राणदेवताओं, एवं लौकिक ऋत्विजों के समीप रहना पड़ता है। इस अनग्नता के लिए अवश्य ही इस पर कुशा बिछानी चाहिए। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)—इन बैठे हुए देवताओं, तथा ऋत्विजों की मण्डली में ( प्रतिष्ठित वेदि पर कुशा बिछाता हुआ) अध्वर्य्यु इस वेदि को अनग्न ही बनाता है। अनग्नता के लिए ही ( कुशास्तरण आवश्यक है ) इसलिए ( भी ) कुशा बिछाता है ॥८॥

( अब वेदि को प्रतिरूप-मर्य्यादा से पृथिवी मानते हुए इसी दृष्टि से कुशास्तरण की तीसरी उपपत्ति बतलाई जाती है )—

जितनी बड़ी वेदि है, उतनी ही बड़ी पृथिवी है। ( अर्थात् यह वेदि प्राकृतिक-यज्ञप्रतिष्ठात्मिका-पृथिवी का प्रतिरूप है ) ओषधियाँ (प्रतिरूपविधि से यहाँ ) बर्हि हैं। ( जब कि-वेदि-रूपा पृथिवी का यहाँ सम्बन्ध है, तो ओषधियों का भी प्रतिरूप इस पर अवश्य ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। वही कार्य्य बर्हिस्तरण से पूर्ण होजाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है )-(बर्हि-स्तरण करता हुआ ) अध्वर्य्यु इस पृथिवी पर (पृथिवी-स्थानीया वेदि पर) ओषधियाँ ही प्रतिष्ठित करता है। ये ओषधियाँ इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य्य इस वाक्य का यही है कि,

पृथिवी का अपना पूर्ण स्वरूप वही कहलाता है, जिस पर ओषधियाँ रहतीं हैं। ओषधियुक्ता पृथिवी ही समृद्धा मानी गई है। इधर वेदि का निर्म्माण शुद्ध मिट्टी से हुआ है। ओषधियों को उखाड़ कर केवल मृद्भाग से ही वेदि बनाई गई है। ओषधियों की प्रतिष्ठा का उखड़ जाना पृथिवी का निर्वीर्य्य ( ऊसर ) बन जाना है। इस निर्वीर्य्यता को दूर करने के लिए ही, ओषधि-प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित करने के लिए ही यहाँ कुशास्तरण आवश्यक है )। इसीलिए अध्वर्य्यु कुशास्तरण करता है ॥६॥

( कुशास्तरण अतिशय घन होना चाहिए, जिससे वेदिप्रदेश अणुमात्र भी न दीख सके-इसी विशेषता को उपन्यस्त करती हुई श्रुति कहती है)-यज्ञरहस्यवेत्ता बिद्वानों का आस्तरण के सम्बन्ध में यह कहना है कि, वह अध्वर्य्यु घनरूप से ही बर्हि बिछावे। अभिप्राय उन अभिज्ञों का ( इस कथन में ) यही है कि, पृथिवी के जिस भाग में ओषधियाँ प्रचुर मात्रा में होतीं हैं, पृथिवी का वह भाग ही अतिशय जीवनप्रद माना गया है। इस बर्हि का आहर्त्ता जो यजमान है, वही इस बहुलस्तरणानुबन्धी जीवनप्रदभाग का भोक्ता बनता है, जैसाकि—"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि, तल्लक्षणत्वात्" इत्यादि जैमिनिसूत्र से प्रमाणित है। ( यदि यजमान यहाँ अपने यज्ञ में भूमि-स्थानीया वेदि का ओषधि-स्थानीय बर्हि से बहुल-आच्छादन कर देगा, तो इसके भागधेय का भूप्रदेश प्रचुर ओषधियों से युक्त बनता हुआ इसके लिए उपजीवनीयतम भोग्यतम-बन जायगा, यही तात्पर्य्य है)।

बर्हिस्तरण त्रिवृद्रूप से करता है ( तीन दर्भमुष्टियों से तीन बार बिछाता है)। कारण यही है कि, (त्रिसत्यप्राणदेवताओं के सम्बन्ध से) यज्ञ त्रिवृत् है। ( इस त्रिवृत्-लक्षणा यज्ञसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए तीन वार कुशास्तरण होगा उचित है। (त्रिवृत्स्तरण का अभिप्राय यही है कि) तीन दर्भमुष्टियों से इसप्रकार स्तरण करना चाहिए, जिससे तीनों दर्भमुष्टियों के तीनों स्तर एक स्तर-रूप से प्रतीत हों। पहिले एक दर्भमुष्टि लेकर उसे वेदि के पूर्व भाग में दक्षिण अंस से आरम्भ कर उत्तरांस पर्य्यन्त इसप्रकार वेदि पर बिछाना चाहिए, जिससे कि कुशाओं का अग्रभाग तो पूर्व की ओर रहे, तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहे। अनन्तर दूसरी दर्भमुष्टि लेकर (पहिले की दर्भमुष्टि से संलग्न ) वेदिमध्य भाग में प्रथममुष्टि से पश्चिम प्रदेश में इसप्रकार बिछावे, जिससे कि पूर्वमुष्टि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस द्वितीयमुष्टि के पूर्वस्थित अग्रभागों के नीचे दब जायँ। इसीप्रकार तीसरी कुशमुष्टि लेकर ( दूसरी दर्भमुष्टि से संलग्न ) वेदि के पश्चिमान्त भाग में इसप्रकार बिछावे, जिससे कि मध्यमुष्टि के पश्चिमस्थ मूलभाग इस तृतीयमुष्टि के पूर्वस्थित अग्रभागों से आच्छादित होजायँ। इसप्रकार वेदि के पूर्व भाग से स्तरण आरम्भ होगा। एवं तीनों स्तरणों में कुश के अग्रभाग पूर्व की ओर रहेंगे, तथा मूलभाग पश्चिम की ओर रहेगा। साथ ही प्रथममुष्टि के मूलभाग मध्यमुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित रहेंगे, एवं मध्यमुष्टि के मूलभाग तृतीयमुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित रहेंगे। इसी को त्रिवृत्स्तरण कहा जायगा। इस स्तरणकर्म्म का आरम्भ पूर्व से होगा, एवं अवसान पश्चिम में होगा। इसी को पश्चादपवर्गपक्ष माना जायगा।

(दूसरा है-'प्रागपवर्ग' पक्ष। पहिले प्रथम दर्भमुष्टि को वेदि के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर अग्रभाग रखते हुए, तथा पश्चिम की ओर मूलभाग रखते हुए बिछाया जाता है। अनन्तर दूसरी दर्भमुष्टि बिछाते हुए प्रथममुष्टि के अग्रभागों को ऊपर उठा कर इनके नीचे दूसरी मुष्टि के मूलभाग दबा दिए जाते हैं। तृतीय मुष्टि पूर्व में बिछाई जाती है। इसके मूलभाग भी मध्यमुष्टि के अग्रभागों के नीचे दबा दिए जाते हैं। इसप्रकार यह आस्तरण पश्चिम से आरम्भ होकर पूर्व में समाप्त होता है। इस पक्ष में कुशाओं का परस्पर ओतप्रोतभावसा होजाता है। जिसप्रकार लोकव्यवहार में तृणादि के छप्पर बनाते हुए तृण-पूलकों को परस्पर दाब कर फैलाया जाता है, वैसे ही यह आस्तरणकर्म्म है। स्वयं ऋषि ने (वेदमन्त्र ने) भी इसी पक्ष का समर्थन किया है। इसी द्वितीय पक्ष को उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है)

अथवा 'प्रवर्ह' मर्य्यादा से ( एक मुष्टि के अग्रभागों के नीचे दूसरी के मूल दबाते हुए ) आस्तरण करना चाहिए। ( क्योंकि )-"स्तृणीत बर्हिरानुषक्" (ऋक् सं० १ मं० सू० १५ मं०-) "परस्पर सम्बद्ध बर्हि अध्वर्य्यु लोग बिछाते हैं" यह मन्त्र इसी पक्ष को बतला रहा है। ( दोनों पक्षों में मूलभाग अधः प्रदेश से युक्त रहैं, इसीप्रकार से फैलाता है। ( अर्थात् बर्हि के मूलभाग अग्रभागों के नीचे दबना उभयपक्ष में ग्राह्य है )। इस पृथिवी पर ओषधियाँ अधरमूलरूप से ही प्रतिष्ठित हैं। इसलिए ( ओषधि-स्थानीय ) बर्हि को (पृथिवी-स्थानीय वेदि पर) अधरमूलरूप से ही फैलाता है ॥१०॥

(७, ८, ९, १०, इन चार कण्डिकाओं से बर्हि-स्तरण की उपपत्ति बतलाई गई। अब आगे की ११ वीं कण्डिका से आवृत (पद्धति) बतलाते हैं) वह अध्वर्य्यु "ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः" (यजुः सं० २।२-ऊर्णसूत्र-ऊन-से बने हुए कोमलस्पर्श कम्बल के समान स्पर्शवाली बनाने के लिए हे वेदिदेवते ! आप पर बर्हि बिछाता हूं। आप देवताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने के साधन हों) यह मन्त्र बोलता हुआ बर्हिस्तरण करता है। 'देवताओं के लिए आप शोभना बनाई जाती हैं' यही कहा गया है, जोकि 'ऊर्णम्रदसं त्वा' यह कहा गया है। स्वासस्थां देवेभ्यः' इस मन्त्रभाग से आप देवताओं के लिए सुखात्मिका प्रतिष्ठाभूमि बनाई जारहीं हैं यही कहा गया है ॥ ११ ॥

## ४ आहवनीयाग्नि का इध्म-काष्ठ से प्रबलीकरण—

वेद्यास्तरणानन्तर वह अध्वर्य्यु आहवनीयाग्नि को [१] क्लृप्त (हविर्दहन-समर्थ ) करता है (अग्नि को काष्ठ से चिताता है)। यह आहवनीयाग्नि इस (पुरुषप्रजापतिरूप) यज्ञ का मस्तक (स्था-

---

१. इस सम्बन्ध में दो विकल्प हैं। कितने हीं के मतानुसार तो आहवनीयाग्निकुण्ड में प्रतिष्ठित अङ्गारों की भस्म झाड़ कर अग्नि को प्रबल बना देना ग्राह्य है, एवं कितने एक याज्ञिक और काष्ठ डाल कर अग्नि प्रज्ज्वलित करते हैं। दोनों में इष्टापत्ति है। अग्निका प्रज्ज्वलन ही फलांश में अभिप्रेत है। वस्तुतस्तु अगले ब्राह्मण में इस कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता समाप्त होती है। अतः यहाँ काष्ठादि से भस्मापकरण ही अभिप्रेत समझना चाहिए।

नीय) है। सर्वाङ्गशरीर में शिरोभाग पूर्व (में) है। इस कर्म्म से अध्वर्य्यु पूर्वभाग (आहवनीयाग्निरूप शिरोभाग) को ही प्रबल बनाता है। (शिरोभाग से उपलक्षित मुखाग्नि ही आहुति का ग्राहक है। इसे ही इस कर्म्म से प्रदीप्त किया जाता है, यही निष्कर्ष है)। आहवनीयाग्नि के ऊपर ऊपर प्रस्तर हाथ में रखता हुआ ही अग्नि को क्लृप्त (प्रबल) बनाता है। यह प्रस्तरस्तुप केशसङ्घातलक्षणा शिखा ही) है। इसी को इस कर्म्म से इस प्रबली-करण में समाविष्ट करता है। (शिखा भी(शिखास्थित ऊर्ध्वाग्नि भी) इस कर्म्म से प्रबल बन जाय)-इसलिए प्रस्तर को ऊपर ऊपर धारण करता हुआ अग्नि को प्रबल बनाता है। * ॥ १२ ॥

—:*:—

## ५—आहवनीयकुण्ड के पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-प्रान्त भागों में परिधियों का स्थापन—

अग्निप्रबलीकरणानन्तर वह अध्वर्य्यु (आहवनीयकुण्ड के पश्चिम, उत्तर, तथा दक्षिण के प्रान्त भागों में क्रमशः तीन) "परिधियाँ" स्थापित करता है। सो जिसलिए कि, परिधियाँ स्थापित करता है-(उस की उपपत्ति वतलाई जाती है)। (जिस समय) देवताओं नें (प्राणविध पार्थिव आग्नेय-देवताओं नें) जिस (अपने प्राकृतिक भूपिण्ड-सम्बन्धी यज्ञ) में इस अग्नि का हौत्रकर्म्म के लिए वरण किया-(वरण करने की इच्छा अग्नि से प्रकट की), उस समय अग्नि (प्रत्युत्तर में यह) बोले कि, मैं इस कर्म्म के लिए अपना उत्साह नहीं दिखला सकता, जो कि (मैं) आप का होता बनूँ, एवं जो कि आप के लिए (पृथिवी में द्युलोक पर्य्यन्त लेजाने के लिए) हविर्द्रव्य का (भार) वहन करूँ। (अग्नि ने हौत्रकर्म्म में क्यों अनुत्साह प्रकट किया ?, इस का कारण बतलाती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि)-(अग्नि ने अनुत्साह का कारण बतलाते हुए देवताओं से यही कहा कि)-हे देवताओ ! आपने मेरे ही तीन पूर्वपुरुषों (मत्सजातीय तीन अग्नियों) को (हौत्रकर्म्म के लिए) वरण किया था (वरण करना चाहा था), और इसी बिभीषिका से वे तीनों अग्नि पलायित होगए थे (अपना स्वरूप खो बैठे थे ÷)।

(प्रवरणकर्म्म की बिभीषिका से पलायित, तथा स्वरूपतः विकृत उन) तीनों अग्नियों को यदि आप (पुनः) वापस (इस यज्ञ में मेरी सहायता के रूप में अविकृत बना कर) लौटा सकते हैं,

---

* इसी सिद्धान्त के आधार पर लोक में भोजन-व्यवहार के समय कहा जाता है कि, 'अमुक भूदेव चोटी पर हाथ फेरते गए, और भोजन करते गए'। अवश्य ही भोजनवेला में शिखा पर हाथ फेरते रहने से शिरोऽग्नि प्रदीप्त होता रहता है, एवं अन्नद्रव्य का आकर्षण स्थिर बना रहता है।

÷ ये ही पलायित अग्नि व्यष्टिरूप से 'एकता, द्विता, त्रिता' नामों से, तथा समष्टिरूप से 'आप्त्या' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व के 'आप्त्याब्राह्मण' में-'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास०' (शत० १२।१।१) इत्यादि रूप से किया जाचुका है। अग्नि के मौलिक स्वरूप ज्ञान की दृष्टि से 'आप्त्या-विज्ञान' अपना एक विशेष ही स्थान रखता है।

तो मैं ( फिर भी यथाकथञ्चित्-आप के ) इस हौत्रकर्म्म के लिए उत्साह दिखला सकता हूँ, जोकि (मैं) आप का होता बन जाऊँ, तथा आप के हव्य का वहन करने लगजाऊँ। ( अग्नि की इस सन्धा (शर्त) को स्वीकार करते हुए देवताओं नें कह दिया कि) ऐसा ही होगा। ( तत्काल देवताओं नें) उन (पलायित अग्नियों) को इस अग्नि के लिए (यज्ञ में पुनः अविकृत बनाकर) लौटा लिया। वे ही ये तीन परिधियाँ हैं। (अर्थात् पलायित तीनों अग्नियों के द्वारा यज्ञाग्नि को समृद्ध बनाने के लिए ही विधानविधि से परिधियाँ स्थापित कीं जातीं हैं) ॥१३॥

(तीनों पूर्वपुरुषों के यज्ञ में लौट आनेपर हौत्रकर्म्म में नियुक्त) अग्नि यह बोले कि, वषट्काररूप वज्र ने हीं उन तीनों को पलायित किया था। मैं ( स्वयं भी ) इस वषट्कार (रूप) वज्र से डर रहा हूँ कि, कहीं यह वषट्कार-वज्र मुझे भी (उन तीनों की भाँति इस यज्ञ से) पृथक् न करदे। (मेरी दृष्टि में इस वज्र के भय में बचने का यही सरल उपाय है कि, आप लोग) इन तीनों (पुनः लौटे हुए अग्नियों) से ही (तीनों ओर से) घेर दीजिए। (इन के अङ्गरक्षक बन जाने पर) वषट्कारवज्र मुझे (यज्ञ से ) पृथक् न छाँट सकेगा। देवताओं ने कहा—ऐसा ही होगा ( तत्काल ) देवताओंनें इन तीनों से इसे सीमित कर दिया। परिणामस्वरूप वषट्कारवज्र ( इस सीमित, सुरक्षित ) अग्नि को ( यज्ञ से ) पृथक् न छाँट सका। ( यहाँ इस वैधयज्ञ में जो अध्वर्यु, हौत्रकर्म्म में नियुक्त आहवनीयाग्नि के तीनों ओर पलायित अग्नियों के प्रतिरूप में तीन परिधियाँ स्थापित करता है ) इस कर्म्म से यह इस अग्नि के लिए (रक्षार्थ) वर्म्म ( कवच ) ही बाँधता है, जोकि इन तोनों से परिधान करता है। ( हौत्रकर्म्म में नियुक्त आहवनीयाग्नि की स्वरूप-रक्षा के लिए ही परिधियाँ स्थापित की जातीं हैं, यही तात्पर्य्य है ॥१४॥

( हौत्रकर्म्म में नियुक्त अग्नि के कहने से पलायित उन तीनों अग्नियों को अङ्गरक्षक बनाने के लिए देवता जब यज्ञमण्डल में ले आए, तो ) वे तीनों कहने लगे कि, यदि आप हमें इस यज्ञकर्म्म में नियुक्त करना चाहते हैं, तो इस यज्ञ में ( प्रयाजादि अन्य गौण देवताओं की भाँति हमारा भाग ( भागधेय भी नियत ) होना चाहिए ॥१५॥

देवताओं नें कहा )-ऐसा ही होगा। ( प्रतिज्ञानुसार तीनों के लिए भागधेय की व्यवस्था करते हुए ) देवता कहने लगे कि, ( आहवनीय में आहुति देते समय ) जो आहुतिद्रव्य परिधियों के बाहिर जा गिरेगा, वह तुम में हुत होगा अर्थात् परिधि से बाहिर स्कन्न द्रव्य तुम्हारा प्रातिस्विक-असाधारण भागधेय समझा जायगा ) इसके अतिरिक्त जो आहुतिद्रव्य ऋत्विग्गण तुम्हारे ( परिधियों के ) ऊपर ऊपर डाल देंगे, वह तुम्हारी ( स्वरूपरक्षा ) रक्षा का कारण बनेगा। साथ ही ऋत्विक्-गण जो द्रव्य ( साक्षात् ) अग्नि में हुत करेंगे, वह [भी]-[ देवताओं के साथ साथ] तुम्हारी रक्षा करेगा।

( परिधि-स्थानीय पलायित अग्नियों के भागधेय के सम्बन्ध में आरम्भ में उक्त व्यवस्था हुई थी। एवं 'यद्वै देवा अकुर्वस्तत् करवाणि' यह आदेश है। इसलिए आज भी यज्ञों में इन अग्नियों के लिए वही व्यवस्था चली आरही है। इसी व्यवस्था को उद्धृत करती हुई श्रुति कहती

है कि )। ( सो जो कि ) यह अध्वर्यु आह्वनीयाग्नि में आहुति देता है, यह ( द्रव्य ) इन परिधि-स्थानीय अग्नियों की रक्षा करता है। जो द्रव्य इन परिधियों के ऊपर ऊपर डालता है, वह (भी) इन की रक्षा करता है, जो द्रव्य परिधियों से बहिःप्रदेश में जागिरता है, वह [ इन का प्रातिस्विक भाग बनता हुआ ] इनमें हुत होता है।

स्कन्न-च्युत-आहुतिद्रव्य पलायित अग्नियों के लिए प्रातिस्विक आहुति है, इस सम्बन्ध में एक यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि, यज्ञविज्ञानानुसार जो यज्ञिय द्रव्य उपयोगक्षेत्र से बाहिर होजाता है, वह यज्ञकर्त्ता यजमान के शत्रु का भाग बनता हुआ यजमान के लिए अनिष्ट का ही कारण बनता है। इधर अग्नितृप्ति के लिए थोड़ा बहुत आहुतिद्रव्य बहिःप्रदेश में अवश्य गिराया जायगा। इस स्कन्न-दोष का क्या उत्तर ?। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि ]—[ क्योंकि देवताओंनें स्कन्न-द्रव्य को अग्नियों का भागधेय नियत कर दिया है, अतः स्कन्नदोष नहीं माना जासकता ]—इसीलिए यदि आहुतिद्रव्य बाहिर गिर जाय, तो इसमें कोई अपराध [ आग ] नहीं [ माना जायगा। [ पलायित तीनों ] अग्नि इसी पृथिवी में प्रविष्ट हुए हैं। [ फलतः स्कन्न द्रव्य पृथिवी-प्रदेश पर गिरता हुआ इनकी तृप्ति का कारण बनेगा, न कि यह द्रव्य शत्रु का भागधेय बनेगा ]। जो कुछ यज्ञिय द्रव्य गिरता है, वह सब कुछ इसी पृथिवी में हीं [ तो ] प्रतिष्ठित होता है। [ अतः स्कन्नदोष का प्रकृत में कोई अवसर नहीं है ]॥ १६॥

वह अध्वर्यु-"भूपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहा" यजु० सं०२।२] 'भूपति के लिए स्वाहा, भुवनपति के लिए स्वाहा, भूतपति के लिए स्वाहा है' ] यह मन्त्र बोलता हुआ [ उस ] स्कन्न [ हविर्ग्रहण करते समय परिधि के बहिःप्रदेश में गिरे हुए आहुति-द्रव्य ] का स्पर्श करता है। 'भूपति' आदि ही उन [ पलायित 'अग्निभ्रातरः' नाम से प्रसिद्ध ] तीनों अग्नियों के नाम हैं। सो जैसे प्रधान देवताओं के लिए वषट्कार से युक्त हविर्द्रव्य हुत होता है, इसीप्रकार [ उक्त मन्त्रप्रयोगपूर्वक स्कन्नद्रव्य के स्पर्श से ] इन अग्नियों में हुत बन जाता है। [ तात्पर्य्य यही है कि-स्वाहाकारं च वषट्कारं च देवा उपजीवन्ति' इस श्रुति के अनुसार 'स्वाहा' 'वौषट्' पूर्विका आहुति का सम्बन्ध देवताओं के साथ माना गया है। तीनों अग्नियों के लिए स्वाहा प्रयोग पूर्वक स्कन्न-द्रव्य का स्पर्श करना इन्हें देवताओं की भाँति ही आहुति देते हुए देवकोटि में स्थापित करता है।॥ १७॥

[ परिधियाँ किस लकड़ी की बनाई जायँ ?, इस प्रश्न की मीमांसा की जाती है] कितने एक याज्ञिक [ अग्निसमिन्धन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत ] इध्म की [ लकड़ियों से ही ] इन परिधियों का परिधान करते हैं। [ अर्थात् जो काष्ठसंभार आह्वनीयाग्नि के समिन्धन के लिए आया है, इनके मतानुसार इसी में से परिधियों के लिए लकड़ी ले लेनी चाहिए ]।

[ इस पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ] सो ऐसा कभी न करे। [ अर्थात् इध्मसंभारकाष्ठ से परिधियाँ न बनाई जायँ ] उस यजमान के लिए ये परिधियाँ [ परि-

धानलक्षण कर्म्म के लिए ] असमर्थ होतीं हैं, जिन्हें इध्मकाष्ठ की बनाया जाता है। केवल अभ्याधान [ अग्निसमिन्धनार्थ, आहवनीय में स्थापनार्थ ] ही इध्म का ग्रहण किया जाता है। [ जब इध्मकाष्ठ केवल अग्निसमिन्धनोद्देश्य से ही यज्ञसंस्था में संगृहीत है, तो इससे दूसरा काम नहीं लिया जासकता। यदि इध्मकाष्ठ की परिधियाँ बनाई जायँगी, तो इन से कभी परिधान-लक्षण कर्म्म सिद्ध न होगा ]। उसी यजमान के लिए ये परिधियाँ स्वपरिधानकर्म्म में समर्थ होतीं हैं, जिस यजमान के लिए ऋत्विक्गण अन्य काष्ठ की 'ये परिधियाँ हैं' इस रूप से [ स्व-तन्त्ररूप से ] ग्रहण करते हैं। इसलिए [ परिधियों के लिए ] दूसरी ही परिधियाँ लेनी चाहिए।

वे परिधियाँ + 'पलाश' की लकड़ियों की होनी चाहिएँ। पलाश निश्चयेन ब्रह्म [ ब्रह्म-वीर्य्यप्रधान ] है। [ इधर ] अग्नि [ भी ] ब्रह्म [ ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ] है। ये परिधियाँ [ प्रति-रूपमर्य्यादा से ] अग्नियाँ हीं हैं। इस सजातीय-सम्बन्ध से ये पलाश की ही होनी चाहिएँ॥१६॥

यदि पलाश की न मिले, तो विकङ्कत काष्ठ की होनी चाहिएँ। यदि वैकङ्कत सम्भव न हो, तो 'कार्ष्मर्य्यमयी' होनी चाहिएँ। यदि कार्ष्मर्य्य न मिलें, तो 'बिल्वकाष्ठ' की होनी चाहिएँ। [ ये भी न मिले तो ] 'खदिरकाष्ठ' की [ होनी चाहिए ]। [ यदि खादिर भी उपलब्ध न हो, तो ] 'उदुम्बरकाष्ठ' की परिधियाँ [ होनीं चाहिएँ ]। ये [परिगणित] वृक्ष यज्ञिय हैं। इसलिए इन वृक्षों [ में से किसी एक ] की ही परिधियाँ होतीं हैं * ॥२०॥

## तृतीय-आध्याय में तृतीय, ब्राह्मण एवं द्वितीय-प्रपाठक में ६ठा ब्राह्मण समाप्त

## द्विब्राह्मणानुगत--इध्मब्राह्मण यहाँ उपरत

*

## द्वितीय-प्रपाठक-समाप्त

?

\+ इन यज्ञिय वृक्षों का विशेष विवरण विवेचना में किया जायगा।

* यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थ की मर्य्यादा के अनुसार यहीं ब्राह्मण समाप्त हो जाता है। तथापि प्रकरणसाम्य की दृष्टि से हमने इस से अगले ब्राह्मण का भी इसी ब्राह्मण के साथ समावेश कर लिया है। प्रकृत ब्राह्मण की १३ वीं कण्डिका से जिस 'परिधि-परिधान' प्रकरण का आरम्भ हुआ है, वह तृतीय प्रपाठकके प्रथम ब्राह्मण की ४ थी कण्डिका पर समाप्त हुआ है। इस के आगे जो कर्म्म हैं, वे भी परिशिष्ट--स्थानीय बनने हुए हुए इसी से सम्बद्ध है। अतः दोनों ब्राह्मणों की एक साथ ही व्याख्या करना उचित मान लिया गया है।

# तृतीय—अध्याय में चतुर्थ ब्राह्मण एवं तृतीय प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त द्विब्राह्मणानुगत—'परिधिब्राह्मण'

वे परिधियाँ आर्द्र [गीले काष्ठ की] होनीं चाहिएँ । आर्द्र भाव ही इन [काष्ठों का] जीवन [जीवनलिङ्ग-जीवितरूप] है । इसी आर्द्र भाव से ये काष्ठ [स्वाययवों से] कान्तियुक्त बने रहते हैं । इसी आर्द्र भाव से ये काष्ठ [शुष्ककाष्ठ की अपेक्षा] वीर्य्य [विशेष प्राणशक्ति से युक्त] बने रहते हैं । इसलिए परिधियाँ आर्द्र होनीं चाहिएँ ॥१॥

[परिधिग्रहण के सम्बन्ध में उत्पत्ति, जाति, स्वरूप, पक्षान्तर आदि जो कुछ विशेष बतलाना था, बतला दिया गया । अब पद्धति बतलाते हैं]–वह अध्वर्य्यु सब से पहिले—"गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु, विश्वस्यारिष्टयै, यजमानस्य परिधिरसि, अग्निरिड ईडितः" [यजुः सं० २।३–विश्वरक्षा के लिए विश्वावसु नाम का गन्धर्व आप को स्थापित करे । आप यजमान की परिधि हैं, अग्नि हैं, अतएव स्तुत्य हैं, होत्रादि के द्वारा ईडित-स्तुत हैं] यह मन्त्र बोलता हुआ मध्य को * परिधि को प्रतिष्ठित करता है । [आहवनीय का पश्चिम भाग ही इस परिधि से युक्त होता है] ॥२॥

पश्चिम-परिधि-स्थापनानन्तर—'इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्टयै, यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः" [यजुः सं० २।३–विश्वरक्षा के लिए आप इन्द्र की दाहिनी बाहु हैं] यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय की दक्षिण लेखा पर दूसरी परिधि स्थापित करता है ॥३॥

दक्षिण–परिधि-स्थापनानन्तर—"मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्म्मणा विश्वस्यारिष्टयै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः" [यजुः सं० २।३–हे उत्तरपरिधे! विश्व की रक्षा के लिये अपने स्थिरधर्म्म से मित्रावरुण–देवताओंनें आपको उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित किया है] यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय की उत्तर लेखा पर तीसरी परिधि स्थापित करता है ॥४॥

———*———

* यजमान के स्कन्ध प्रदेश से आरम्भ कर बाहुपर्य्यन्त इनका लम्बाई में परिमाण होता है । आकार में मोटी होतीं हैं, एवं स्वरूपतः गीलीं होतीं हैं ।

## ६–आह्वनीयाग्नि में समिध-स्थापन—

[ पूर्वब्राह्मण की–"अथाग्निं कल्पयति" इत्यादि १२ वीं कण्डिका में यह स्पष्ट किया गया है कि, आह्वनीयाग्नि को हविर्दहन में समर्थ बनाने के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत इध्म–सम्भार में से काष्ठ लेकर उससे आह्वनीयाङ्गारों का भस्म पृथक् कर इसे प्रबल बना दिया जाता है । इस-प्रकार इध्मभार से गृहीत जिस समिध ( एतन्नामक काष्ठ ) से परिधिस्थापन से पूर्व 'अग्निप्रबली-करणकर्म्म' किया जाता है, उसी समिध का अब–परिधिस्थापनानन्तर–आह्वनीय में प्रक्षेप करना हीं–समिधाधानकर्म्म कहलाया है । प्रकृत प्रकरण इसी विषय का स्पष्टीकरण कर रहा है ]।

[ इस समिध का पूर्वाघार से सम्बन्ध है, अतएव इसे–"पूर्वाघारसमिधोऽऽधानकर्म्म" भी कहा जासकता है । आह्वनीयकुण्ड की वायव्य दिशा से आरम्भ कर आग्नेय दिशा पर्य्यन्त अविच्छिन्न धारा से जो होम होता है, वही 'पूर्वाघार' कहलाया है । यह पूर्वाघारकर्म्म जिस आग्नेयीदिक्–समाप्ति पर समाप्त होता है, वहीं इस समिध का आधान होता है । इस परिस्थिति को सामने रखते हुए ही प्रकृत प्रकरण का समन्वय करना चाहिए ] ।

परिधिस्थापनानन्तर वह अध्वर्य्यु [ आह्वनीयाग्नि के पूर्वाघार-समाप्ति-प्रदेश में समिध डालता है । [ आह्वनीयाग्नि में समिध डालने से पहिले ] वह अध्वर्य्यु पश्चिमभागस्थित मध्य की परिधि का [हस्तगृहीत समिध से ] स्पर्श करता है । इस स्पर्शकर्म्म से अध्वर्य्यु 'अग्निभ्रातरः' स्थानीय परिधिरूप अग्नियों का ही पहिले समिन्धन करता है । अनन्तर उस समिध को आह्व-नीय अग्नि में डालता है । इस उत्तरकर्म्म से यह अध्वर्य्यु अग्नि को साक्षात् रूप से समिद्ध करता है ॥५॥

( अब पद्धति बतलाते हैं )–वह अध्वर्य्यु ( परिधिस्पर्शकर्म्मानन्तर ) "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे" ( यजुः सं० २।४--यज्ञसमृद्धिप्रवर्तक, तथा सर्वज्ञ तेजोराशियुक्त, तथा महान् ऐसे हे अग्ने ! इस यज्ञकर्म्म में मैं आपको-इस समिधाधान से प्रदीप्त कर रहा हूं ) इस गायत्रीमन्त्र से आह्वनीयाग्नि में समिध डालता है । इस समिन्धनकर्म्म से अध्वर्य्यु गायत्री-छन्द को ही प्रदीप्त कर रहा है । वह गायत्री ( इस कर्म्म से ) प्रदीप्त बन कर दूसरे ( सहयोगी त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप् ) छन्दों को प्रदीप्त करता है । ( परम्परया ) प्रदीप्त छन्द देवताओं के लिए यज्ञ ( आहुतिद्रव्य ) का ( द्युलोक में ) वहन करते हैं ॥६॥

प्रथमसमिधाधानान्तर जिस दूसरी समिध को अध्वर्य्यु ( आह्वनीयाग्नि में ) डालता है, उससे वसन्त-ऋतु को ही प्रदीप्त करता है । ( समिन्धनकर्म्म से ) वह वसन्त प्रदीप्त होकर अन्य ग्रीष्मादि ऋतुओं को प्रदीप्त करता है । ( परम्परया ) प्रदीप्त ऋतुएँ प्रजा उत्पन्न करतीं हैं, और ओषधियों का परिपाक करतीं हैं । ( द्वितीय समिधाधान की यही उपपत्ति है । अब पद्धति बतलाते हैं )–वह अध्वर्य्यु 'समिदसि' ( यजुः सं० २।५ हे वसन्त ! आप-अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के कारण-समित् हैं ) यह मन्त्र बोलता हुआ समिधाधान करता है । ( वसन्त से क्योंकि अग्नि का समिन्धन आरम्भ होता है ) अतः निश्चयेन वसन्त समित् है ॥७॥

इसप्रकार आघारसमिदभ्याधान करके अध्वर्य्यु ( आहवनीय की ओर देखता हुआ— "सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै" ( यजुः सं० २।५-हे आहवनीयाग्ने ! सूर्य्यदेवता पूर्वदिशा की ओर से ( होने वाले ) किसी भी ( आसुर ) हिंसा कर्म्म से आप की रक्षा करें ) इस मन्त्र का जप ( स्वरसंधानपूर्वक उच्चारण ) करता है। आहवनीयाग्नि की रक्षा के लिए ही ( क्रमशः इस के पश्चिम-दक्षिण-उत्तर प्रान्तों में ) परिधियाँ प्रतिष्ठित रहतीं हैं। ( इन तीन परिधियों से तीनों दिशाएँ तो इस अग्नि के लिए सुरक्षित होजातीं हैं। पूर्वदिशा शेष रहती है )। पूर्व की ओर से ( समृद्धिनाशक ) नाष्ट्रालोग, तथा समृद्धि के अवरोधक राक्षसलोग इस अग्नि को हानि न पहुँचा सकें, इसलिये ( इस मन्त्रजपकर्म्म से ) पूर्व की ओर से ही सूर्य्य को ( इस अग्नि का ) रक्षक बनाता है। सूर्य्य निश्चयेन नाष्ट्रा, तथा राक्षसों का नाशक है ॥८॥

( अनुयाजकर्म्म से पहिले अग्नि-समिन्धन के लिए एक समिध आहवनीय में और डाली जाती है। क्योंकि समिधाधानप्रकरण चल रहा है, अतः समान-प्रसङ्ग से उस अभ्याधान का भी यहाँ विधान बतलाती हुई श्रुति उसकी उपपत्ति बतला देती है )—

जिस तीसरी समिध का अध्वर्य्यु अनुयाजकर्म्म में आधान करता है, इस तीसरी समिध से ( यज्ञकर्म्मेतिकर्त्तव्यतासञ्चालक ) ऋत्विग् ब्राह्मण को ही प्रदीप्त करता है। वह ब्राह्मण इस कर्म्म से प्रदीप्त होकर देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करता है ( समर्थ बनता है ) ॥९॥

———*———

## ७-उत्तराग्र दो पवित्रों का वेदि पर स्थापन—

इसप्रकार परिधिपरिधान-समिधाधानादि आहवनीयानुगत कर्म्म करने के अनन्तर वह अध्वर्य्यु ( आहवनीय की ओर से ) कुशास्तरणयुक्त वेदि की ओर लौट आता है। ( वहाँ आकर बर्हि में से ) दो पवित्र [ दर्भतृण ] लेकर इन्हें [ वेदि के ऊपर बिछे हुए पश्चिम भागस्थ कुशासमूह पर उत्तर की ओर अग्रभाग करते हुए]-"सवितुर्बाहूस्थः" (यजुः सं० २।५-हे * तृण ! आप सविता के बाहू हैं ) यह मन्त्र बोलता हुआ तिर्य्यग्रूप से रखता है। [ इन्हें रखने का प्रयोजन बतलाती हुई श्रुति कहती है )-( वेदि पर रक्खा हुआ कुशमुष्टिलक्षण ) प्रस्तर स्तुप ( शिखा-स्थानीय ) है, एवं अन्य बर्हि केश-लोम-स्थानीय हैं। अब केवल दोनों भ्रुवों(-भोहों)-का प्रतिरूप बच रहता है। इस विधृती-स्थापनकर्म्म से अध्वर्य्यु इसके दोनों भ्रुव ही तिर्य्यग्रूप से प्रतिष्ठित करता है। ( अर्थात् ये दोनों दर्भतृण भ्रुवों के ही प्रतिरूप हैं। क्योंकि ये तिर्य्यग्रूप से प्रतिष्ठित किए जाते हैं ) अतएव ये दोनों भ्रुव ( आध्यात्मिकी पुरुषसंस्था में ) तिर्य्यक् ही हैं। क्योंकि ये तृण भ्रुव के प्रतिरूप हैं, इधर आध्यात्मिक यज्ञ में भ्रुव तिर्य्यग्रूप से ही प्रतिष्ठित रहते हैं, इसलिये भी इन्हें इस वैधयज्ञ में तिर्य्यग् रूप से ही प्रतिष्ठित किया जाता है। इसके अतिरिक्त

---

* ये दर्भतृण '**विधृती**' नाम से प्रसिद्ध हैं।

तिर्य्यग्रूप से प्रतिष्ठित करने का एक दूसरा यह भी कारण है कि ) वेदि पर प्रतिष्ठित प्रस्तर ( निदानेन ) क्षत्र ( शास्ता राजा ) है, एवं बिछी हुई इतर बर्हि ( निदानेन ) विट् ( शासित-प्रजा ) है । इस प्रस्तररूप क्षत्र, तथा बर्हि-रूप विट्, दोनों की प्रतिष्ठा के लिए ही ( दोनों की स्वरूपरक्षा के लिए, पारस्परिक सम्बन्ध के लिये ही तिर्य्यक् स्थापन उचित है ) । इसलिये इन्हें तिर्य्यग्रूप से ही प्रतिष्ठित करता है । इस ( विधरणकर्म्म के सम्बन्ध ) से ही इन तृणों को ( यज्ञविज्ञान-परिभाषा में ) 'विधृती' नाम से व्यवहृत किया गया है ॥१०॥

## ८—विधृती के ऊपर प्रस्तर को फैलाना—

( वेदिस्थित बर्हिस्तरण के ऊपर पश्चिम भाग में प्रतिष्ठित किये गए उन दोनों 'विधृती' नामक दर्भतृणों पर ) वह अध्वर्य्यु—"ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः" ( यजुः सं० २।५–देवताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने योग्य ऊर्णसूत्र से निर्म्मित कम्बलवत् मृदुस्पर्श, ऐसे आपको–प्रस्तर को–बिछाता हूँ ) यह मन्त्र बोलता हुआ ( उस दर्भमुष्टिलक्षण ) प्रस्तर को फैलाता है । 'आप देवताओं के लिये साधु-मृदुस्पर्श-हैं' यही कहा गया है, जोकि 'ऊर्णम्रदसं-त्वा' यह कहा गया है । 'स्वासस्थं देवेभ्यः' इस मन्त्रभाग से 'आप देवताओं के लिये अच्छी बैठक हैं' यही कहा गया है ॥११॥

## ९-दोनों हाथों से प्रस्तर का स्पर्श करना—

मन्त्रपूर्वक प्रस्तर-स्तरणानन्तर वह अध्वर्य्यु—"आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु" (यजुः सं०२।५ सवनत्रयाधिष्ठाता वसु-रुद्र-आदित्य-देवता आपको प्रस्तर को-देवप्रतिष्ठा के लिए सब ओर फैलावें ) यह मन्त्र बोलता हुआ स्तीर्ण प्रस्तर पर अपने दोनों हाथ रखता है ॥ १२ ॥

## १०—प्रस्तर का बाएँ हाथ से स्पर्श किए हुए स्रुचों का दहिने हाथ से ग्रहण, तथा प्रस्तर पर स्थापन—

वह अध्वर्य्यु प्रस्तर के साथ अपने वामहस्त का सम्बन्ध बनाए हुए ही रखता है ( हुआ ) ॥१२॥ दहिने हाथ से जुहू का ग्रहण करता है । नाष्ट्रा-राक्षसगण ( दोनों के मध्य में ) पहिले ( ब्राह्मणशरीर के नाष्ट्रा-राक्षस नाशक दिव्यप्राण के सम्बन्ध होने से पहिले ) प्रविष्ट न होजाँय, ( इस उद्देश्य से ही प्रस्तर के साथ हस्त-सम्बन्ध बनाए रखते हुए ही जुहू ग्रहण करता है ) । ब्राह्मण निश्चयेन राक्षसों का नाशक है । इसीलिए (करस्पर्श के द्वारा अविच्छिन्नरूप से दिव्य-शक्ति का प्रवेश सुरक्षित रखने के लिए ) सव्य हाथ से स्पर्श बनाए रखता है ॥१३॥

अनन्तर ही–"घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना" (यजुः स० २।६।-हे जुहू ! आप (स्वरूप से तो] घृत से परिपूर्ण हैं, (एवं नाम से जुहू ( आहुति देने वाली ) हैं,' यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिण

हाथ से आग्नीध्र के द्वारा समर्पित) जुहू का ग्रहण करता है। निश्चयेन जुहू (घृत प्राप्ति के कारण) 'घृताची' है, साथ ही यह नाम से निश्चयेन 'जुहू' (आहुति देने वाली) है। (ग्रहणानन्तर वह अध्वर्य्यु) –"सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद" –[यजुः सं० ।६।-ऐसी आप अपने प्रिय धामरूप आज्य के साथ इस प्रस्तर पर विराजिए,' यह मन्त्र बोलता हुआ इस जुहू को वेदि-स्थित प्रस्तर पर रख देता है। इसके अनन्तर वह अध्वर्य्यु 'घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना' [यजुः सं० २।६।-हे उपभृत् आप घृताची हैं, नाम से-जुहू के उप-समीप-रह कर आज्य लेने से-उपभृत हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ उपभृत का ग्रहण करता है। यह सचमुच 'घृताची' है, एवं सचमुच नाम से 'उपभृत्' है। अनन्तर "सेद प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद" (यजुः सं० २।६) यह मन्त्र बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रख देता है। उपभृद्ग्रहण-स्थापनानन्तर वह अध्वर्य्यु-- 'घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना" (यजु सं० २।६-हे ध्रुवा! आप घृताची हैं, एवं आत्मरूप से एक स्थान पर प्रतिष्ठित रहने के कारण लोक में यथार्थतः 'ध्रुवा' नाम से प्रसिद्ध हैं) यह मन्त्र बोलता हुआ ध्रुवा का ग्रहण करता है। अनन्तर–"सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद' (यजुः सं० २।६) यह बोलता हुआ इसे प्रस्तर पर रखता है। (इसप्रकार वाम-हाथ से प्रस्तर से सम्बन्ध बनाए रखता हुआ अध्वर्य्यु क्रमशः आग्नीध्र से अपने दाहिने हाथ में जुहू-उपभृत-ध्रुवा लेता जाता है, और वेदि के पश्चिम भाग में बिछे हुए प्रस्तरासन पर इन्हें रखता जाता है)। इन तीनों से अतिरिक्त जो पुरोडाशादि हविर्द्रव्य हैं, उन्हें भी "सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद" यही मन्त्र बोलता हुआ प्रस्तर पर रखता है-(यदन्यद्धविः) ॥१४॥

[स्रुचों के सादनकर्म्म में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है]-वह अध्वर्य्यु प्रस्तर के ऊपर तो जुहू रखता है, एवं अन्य [उपभृत्-ध्रुवा] स्रुचों को प्रस्तर से नीचे बर्हि पर रखता है। कारण यहीं है कि [निदानेन] जुहू क्षत्र है, एवं अन्य स्रुक् विट् हैं। [जुहूरूप] क्षत्र को ऊपर, तथा उपभृत्-ध्रुवारूप विट् को नीचे रखता हुआ] अध्वर्य्यु क्षत्र को ही विट् से श्रेष्ठ-ऊँचा बैठने वाला बनाता है। अतएव ऊँचे आसन पर विराजमान क्षत्रिय राजा की नीचे से खड़े-खड़े प्रजा उपासना किया करती है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार जुहू को प्रस्तर के ऊपर रखता है, एवं अन्य स्रुचों को नीचे [रखता है] ॥१५॥

## ११–स्पर्शकर्म्म—

[अनन्तर वह अध्वर्य्यु–"ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि, पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपतिम्" [यजुः सं० २।६-यज्ञ को योनिरूप, कर्म्मसमाप्ति- पर्य्यन्त निश्चल रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले जो हविर्द्रव्यादि यहाँ प्रतिष्ठित हुए हैं, हे विष्णो! आप उनकी रक्षा करें, एवं यज्ञपति यजमान की रक्षा करें"] यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यस्थालीस्थ आज्य का जुह्वादिस्थित का एवं पुरोडाश आदि का उपयोगक्रम से स्पर्श करता है। इसी कर्म्म का मन्त्र-खण्डरूप से प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है]—

वह अध्वर्य्यु "ध्रुवा असदन्" यह मन्त्र बोलता हुआ आज्यादिका स्पर्श करता है। ये द्रव्य कर्म्मसमाप्ति-पर्य्यन्त निश्चलरूप से ही प्रतिष्ठित हैं। ( मन्त्र का अगला भाग है )-"ऋतस्य योनौ" यह। यज्ञ ही ऋत को योनि है। यज्ञ पर ही ये जुह्वादि प्रतिष्ठित हैं। ( मन्त्र का अगला भाग है )-"विष्णो पाहि, पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपतिम्" यह। इस से (यज्ञरक्षा के साथ ही) यजमानरक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।

अनन्तर-"पाहि मां यज्ञन्यम्" ( यजुः सं० २।६। यज्ञकर्म्म को अग्रगामी बनाने वाले मुझ-ऋत्विक् की भी रक्षा करें ) यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्य्यु स्वयं अपने शरीर का स्पर्श करता है। इस कर्म्म से यह अपने आप को भी यज्ञ से बाहिर नहीं करता है। विष्णु को ही यज्ञ कहते हैं। यज्ञ की रक्षा में हीं रक्षार्थ (इस स्पर्शकर्म्म से) सब को प्रतिष्ठित करता है। इसी अभिप्राय से-'हे विष्णो ! आप रक्षा करें !' यह कहा गया है ॥१६॥

## प्रथमकाण्डानुगत-तीसरे अध्याय का चौथा ब्राह्मण
## एवं तीसरे प्रपाठक का पहिला ब्राह्मण उपरत
## "परिधि-ब्राह्मण" समाप्त
## द्विब्राह्मणात्मक-इध्म-परिधि ब्राह्मण-उपरत

## इति-मूलानुवादः

## सूत्रप्रदर्शित-पद्धतिसंग्रहः—

### १-इध्म--वेदि--बर्हिषां प्रोक्षणम्

आज्यग्रहण के अनन्तर वेदिमध्य से आज्यस्थाली लेकर उसे किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता है। अनन्तर अग्निसमिन्धन के लिए यज्ञसंस्था में गृहीत रज्जु से बँधे हुए इध्मभार ( काष्ठभार ) की ग्रन्थि खोलता है। ग्रन्थि खोलने के अनन्तर प्रोक्षणकर्म्म के लिए ब्रह्मा से-"ब्रह्मन् ! इध्मं प्रोक्षिष्यामि" इन शब्दों में आज्ञा माँगता है। ब्रह्मा-"ओं प्रोक्ष यज्ञं, देवता वर्धय त्वं, नाकस्य पृष्ठे यजमानोऽस्तु। सप्त ऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि" ( का० श्रौ० २।२।८ ) यह चुपचाप बोलता हुआ-"ओं प्रोक्ष" इन शब्दों में प्रोक्षणकर्म्म की आज्ञा देता है। इसी अध्वर्य्युकृत प्रोक्षणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"इध्मं प्रोक्षति विस्रंस्य, वेदिं च, बर्हिः प्रतिगृह्य वेद्यां कृत्वा पुरस्तादग्रन्थि— "कृष्णोऽसि" इति प्रतिमन्त्रम्" ( का० श्रौ० सु० २।७।१६ )।

स्वस्थान पर प्रतिष्ठित इध्म की ग्रन्थि खोलकर—"ओं कृष्णोस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्ट प्रोक्षामि" यह मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु इध्म का (प्रणीता-पात्रस्थ प्रणीताजल से कुशा के द्वारा) प्रोक्षण करता है। इध्मप्रोक्षणानन्तर-"ओं वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि का प्रोक्षण करता है। वेदि-प्रोक्षणानन्तर आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से सोंपे गए 'बर्हि' नामक कुशों को लेकर इन्हें वेदि के ऊपर (बर्हिग्रन्थि को पूर्व की ओर रखता हुआ) रखकर प्रोक्षणकर्म्म के लिए ब्रह्मा से-"ब्रह्मन्! बर्हिः प्रोक्षिष्यामि" इन शब्दों में आज्ञा माँगता है। ब्रह्मा-"ओं प्रोक्ष यज्ञ देवता वर्धय त्वं" इत्यादि मन्त्रपाठानन्तर "ओं प्रोक्ष" इन शब्दों में आज्ञा देता है। इस मन्त्र से अनुज्ञात अध्वर्यु "ओं बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" यह बोलता हुआ वेदिस्थ बर्हि का प्रोक्षण करता है। अग्नि के अभाव में अवभृथेष्टि में, तथा परिश्रितकर्म्म में इध्म का प्रोक्षण नहीं होता। एवं गृहमेधीयकर्म्म में (का० श्रौसु० ५।६।६।२५) क्योंकि बर्हिस्तरण नहीं होता, अतः वहाँ वेदि का प्रोक्षण नहीं होता। प्रोक्षणकर्म्म के सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिकी विशेषता समझनी चाहिए।

—:*:—

## २-प्रोक्षणी-शेषेण बर्हिर्मूलोपसेचनम

प्रोक्षणकर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु प्रोक्षणीपात्र में बाकी बचे हुए जल को "ओं अदित्यै व्युन्दनमसि" यह मन्त्र बोलता हुआ कुशा के मूल भाग में डाल देता है। यही बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**"शेषं मूलेषूपसिञ्चति-"अदित्यैव्युन्दन" मिति" (का० श्रौ० सु० २।७।१७)**

## ३-पवित्रे प्रणीतासु निधाय बर्हिषः पुरस्तात् प्रस्तरग्रहणम्

मूलोपसिञ्चनकर्म्म के अनन्तर अपने हाथ से प्रणीता-पात्रस्थ जलों में दो दर्भतृण रखता है। अनन्तर वेदि पर स्थित बर्हि की गाँठ पृथक् करता है। अनन्तर बर्हि के पूर्वभाग से कुशमुष्टि का ग्रहण करता है, जो कि कुशमुष्टि 'प्रस्तर' नाम से व्यवहृत हुई है। बर्हिपूलक से प्रस्तर नामक कुशमुष्टि के ग्रहण के लिए ही क्योंकि "ओं विष्णोः स्तुपोऽसि" यह मन्त्र विहित है, अतएव जहाँ पितृयज्ञ में प्रस्तर का बर्हि से पृथक्-करण नहीं होता, वहाँ-"प्रस्तर उपसन्नद्धः" (का० श्रौ० ५।२।२७) इस सिद्धान्त के अनुसार पहिले से बद्ध प्रस्तर का ही ग्रहण होजाता है। फलतः पितृयज्ञ में प्रस्तरग्रहणकाल में मन्त्र-प्रयोग नहीं होता। प्रस्तरग्रहण की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**"पवित्रे निधाय प्रणीतासु, बर्हिर्विस्रंस्य, पुरस्तात्-प्रस्तरग्रहणं-"विष्णो" रिति" (का० श्रौ० सू० २।७।१८)।**

——*——

## ४-वेद्यां बर्हिषा त्रिवृत-स्तरणम्

प्रस्तरग्रहण के अनन्तर वह अध्वर्यु स्वहस्त में गृहीत प्रस्तर ब्रह्मा को सौंप देता है। वेदिस्थित बर्हिपूलक की बन्धनरज्जु को वेदि की दाहिनी श्रोणि पर उसे रखकर अन्य बर्हि-तृणों से ढाँक देता है। अनन्तर-" ओं ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः" यह मन्त्र बोलता हुआ वेदि पर तीन बार करके प्रागग्र कुश बिछाता है। यही त्रिवृत्-स्तरणकर्म्म कहलाता है, जैसा कि सूत्रकार कहते हैं—

"ब्रह्मणे प्रदाय, सन्नहनं विस्रंस्य, दक्षिणस्यां वेदिश्रोण्यां निदाय, अन्यैरवच्छाद्य वेदिं स्तृणाति—"ऊर्णम्रदस" मिति त्रिवृत्" का० श्रौ० सू० २।७।१६ )।

अथवा त्रिवृत्-स्तरण न कर जितने तृणों से वेदि इसप्रकार ढँक जाय, जिससे वेदि का मृण्मय प्रदेश न दिखाई पड़े, ऐसे घनरूप से स्तरणकर्म्म करना चाहिये। इसी पक्षान्तर को उद्धृत करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

"उपपत्या वा बहुलम्" का० श्रौ० सू० २।७।२०

स्तरण के सम्बन्ध में यह विशेषता है कि, बर्हि के मूलभाग अधः रहने चाहिएँ। कहा गया है कि, तीन कुशमुष्टियाँ बिछाई जातीं हैं। पहिले जो मुष्टि बिछाई जाती है, उसके मूलभागों को दूसरी मुष्टि के अग्रभागों से, तथा दूसरी के मूलभागों को तीसरी मुष्टि के अग्रभागों से आच्छादित करदेना चाहिए। इसप्रकार अधरमूलपद्धति से स्तरणकर्म्म करना चाहिए। इस विशेषताके अतिरिक्त 'पश्चादपवर्ग' रूप से दूसरी विशेषता और होती है। वेदि के पूर्वभाग से तो स्तरणकर्म्म का आरम्भ होना चाहिए, एवं पश्चिम भाग में अवसान करना चाहिए। यही पश्चादपवर्गस्तरणात्मक एक पक्ष है। अथवा प्रागपवर्ग--रूप से भी आच्छादन किया जासकता है। इस पक्ष में पूर्व-पूर्व स्तृत बर्हि के अग्रभागों से पश्चात् स्तीर्य्यमाण बर्हि के मूलभागों का आच्छादन करना चाहिए। स्तरणकर्म्मानुगत इन्हीं तीनों विशेषभावों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अधरमूलम्"-"पश्चादपवर्गम्"-"प्रवृहं वा" (का० श्रौ० सू०२।७।२१,२२,२३)

------*------

## ५-आहवनीयकल्पनात् पूर्वं हविषामुद्वासनम्

हविःपरिपाक के सम्बन्ध में दो पक्ष माने गए हैं। गार्हपत्याग्नि में हविःपरिपाक करना-एक पक्ष है। एवं आहवनीयाग्नि में परिपाक करना-एक पक्ष है। जो आहवनीय-परिपाक का अनुगामी है, उस यजमान के यज्ञ में इस स्तरणकर्म्म के अनन्तर 'हविरुद्वासन' कर्म्म होना चाहिए। स्तरणकर्म्म के अनन्तर ही इध्मादि से अग्नि को प्रबल बनाया जाने वाला है। यदि इस कर्म्म के

पीछे उद्वासनकर्म्म किया जायगा, तो हविर्द्रव्य के जलने का भय रहेगा। अतः अग्नि-प्रक्लृप्ति ( ज्वलन ) से पूर्व ही उद्वासन कर लेना उचित है। जो गार्हपत्यपक्ष का अनुगामी है, वह उद्वासन कब करे ?, इसका निर्णय आगे ( का० २।८।१४ ) होने वाला है। आहवनीयश्रापी यजमान के यज्ञ में इसी उद्वासनकर्म्म का सम्बन्ध बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अत्रोद्वासनमाहवनीयश्रापिणः" ( का० श्रौ० सू० २।७।२४ )

—-*—-

## ६–समित्–प्रक्षेपेणाहवनीयस्य समर्थीकरणम्

हविरुद्वासन–कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्य्यु इध्मभार में से एक समिध लेकर, तथा ब्रह्मा से प्रस्तर लेकर आहवनीयाग्निकुण्ड के ऊपर समीप से प्रस्तर अपने हाथ में रखता हुआ उस समिध के आघात से आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित काष्ठादि का भस्म अलग कर अग्नि को प्रबल बनाता है। इध्म से होने वाला यह समर्थनकर्म्म क्योंकि अग्नि से ही सम्बन्ध रखता है, न कि अप् से, तथा परिश्रित् से। अतएव अप् में, और परिश्रितों में यह कर्म्म नहीं होता है। इसी समर्थन–कर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"इध्मान् समिधमादायाहवनीयं कल्पयति,
उपर्य्युपरि प्रस्तरं धारयन्" ( का० श्रौ० सू० २।७।२५। )।

—-*—-

## ७–अनुयाजार्थमुल्मुकयोराहवनीयान्निष्काशनम्

अग्निसमर्थीकरण के अनन्तर प्रज्ज्वलित अग्नि में से दो उल्मुक लिए जाते हैं। छन्दो–देवता से सम्बन्ध रखने वाला अनुयाजकर्म्म वैकल्पिक माना गया है। यदि अनुयाजकर्म्म संगृहीत है, तो उसी दशा में अनुयाज के लिए दो उल्मुक आहवनीय से पृथक् निकाल लिए जाते हैं। जब अनुयाजकर्म्म का समय आता है, तब पुनः उन ( अन्यत्र स्थापित ) उल्मुकों को आहवनीय में डालकर अनुयाजकर्म्म किया जाता है। क्योंकि आतिथ्येष्टि में ( का० श्रो० ८।१।१ के अनुसार ), तथा गृहमेधीयादि में (का० श्रौ० ५।६।६।२५ के अनुसार) अनुयाजकर्म्म का अभाव है, अतएव वहाँ उल्मुक-निष्काशन भी नहीं होता।

इति–कातीयश्रौतसूत्रे–द्वितीयाध्याये सप्तमी कण्डिका समाप्ता

२।८।

—-*—-

### ८—आहवनीयस्य पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे, क्रमेण परिधिपरिधानम्

उल्मुकनिष्काशन-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु क्रमशः "ओं-गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः०" "ओं-इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो०"-"ओं-मित्रावरुणौ त्वा०"- इन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ, (ब्राह्मणग्रन्थों में परिगणित पलाशादि किसी) एक यज्ञिय वृक्ष से निर्म्मित, परिमाण में बाहुमात्र, स्वरूप में गीली, जातितः पालाशः-वैकङ्कत-कार्ष्मर्य्य-बैल्व में से पूर्व पूर्व की न मिलने मिलने पर उत्तर की, अथवा खादिर-औदुम्बर की तीन परिधियाँ आहवनीयकुण्ड के मध्यम (पश्चिम), दक्षिण, उत्तर प्रान्तभागों में क्रमशः प्रतिष्ठित करता है। इसी क्रमिक परिधानकर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**"परिधीन् परिदधाति-आर्द्रान् एकवृद्धीयान् बाहुमात्रान्, पालाशवैकङ्कत-कार्ष्मर्य्य-वैल्वान्, पूर्वालाभे उत्तरान्, खादिरौदुम्बरान्वा, मध्यम-दक्षिणोत्तरान्-'गन्धर्व०' इति प्रतिमन्त्रम्" ( का० श्रौ० सू० २।१।१ )।**

——*——

### ९—आहवनीयाग्नौ समिधाधानम्

परिधि-परिधानकर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु अग्निकल्पार्थ पहिले से गृहीत समिधा का पहिले रक्खी हुई मध्यम परिधि के साथ स्पर्श कराके, खड़ा होकर—"वीतिहोत्रम्०" यह मन्त्र बोलता हुआ उस समिधा को आहवनीयाग्नि में डालता है। दूसरी समिधा को परिधि से बिना स्पर्श कराए ही "समिदसि" यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीय में डालता है। उन्हीं दोनों प्रक्षेप-कर्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**"प्रथमं परिधिं समिधोपस्पृश्य "वीतिहोत्र" मित्यादधाति"।**
**अनुपस्पृश्य द्वितीयां "समिदसी" ति' ( का० श्रौ० सू० २।१।२,३ )।**

——*——

### १० आहवनीयेक्षणपूर्वकं मन्त्रस्मरणम्

समिधाधान-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु आहवनीय अग्नि की ओर देखता हुआ "ओं सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै" इस मन्त्र का संहितापठित स्वरसंधानपूर्वक उच्चारण करता है। इसी कर्म्म का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**"सूर्यस्त्वे" ति जपति, आहवनीयमीक्षमाणस्तद्वचनात्"।**
( का० श्रौ० सू० २।८।४ )।

——*——

## ११—उदगग्रयोर्विधृत्योर्वेद्यां निधानम्

मन्त्रस्मरण-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्य्यु पुनः वेदि की ओर लौट आता है। वहाँ आकार वेदि पर बिछे हुए बर्हि के ऊपर दो पवित्र ( दर्भतृण ) उत्तराग्र तिर्य्यग्रूप से—"ओं-सवितुर्बाहूस्थः" यह मन्त्र बोलता हुआ रखता है। ये दर्भतृण ही "विधृति" नाम से प्रसिद्ध हैं। निम्न लिखित सूत्र से इसी कर्म्म का स्पष्टीकरण होरहा है—

"आवृत्य वेदिं तिरश्ची निदधाति–"सवितु" रिति"
( का० श्रौ० सू० २।८।५। )।

इन दर्भतृणों के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा शेष रह जाती है। वह यही कि, जिन दो तृणों का निधान हुआ है, वे इस वेदि पर बिछे वर्हि में से ही लिए जायँ, अथवा अन्य दर्भतृण लिए जाँय ?। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अन्ये वाऽयुक्तत्वात्" ( का० श्रौ० सू० २।८।६ )।

इस निधानकर्म्म के लिए दूसरे ही तृण लेने चाहिएँ। क्योंकि वेदि-सम्बन्धी-वर्हितृणों में से इन दोनों का ग्रहण विहित नहीं है। वेदि-तृणों का केवल स्तरणकर्म्म में हीं विनियोग विहित है। अतः अन्य तृण ही रखने चाहिएँ। अन्यत्र भी पवित्र-पशूपाकरण-ग्रहोपस्पर्श-अग्निमन्थनादि में जहाँ तृण-निधान विहित है, सर्वत्र अन्य तृण ही लेने चाहिएँ। यही प्रासङ्गिक व्यवस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अन्यत्रापि तृणार्थे" ( का० श्रौ० सू० २।८।७ )।

क्योंकि तृणनिधान-प्रसङ्ग से अन्य स्थलों की चर्चा चल पड़ी। अतएव इस प्रसङ्गदृष्टि से आज्य के सम्बन्ध में भी विनियोग-मर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। आज्य में एक "यूपाञ्जन" कर्म्म होता है। यज्ञिय यूप के चारों ओर घृत का सम्बन्ध कराना हीं यूपाञ्जनकर्म्म है। प्रश्न होता है कि, जिस आज्यस्थाली में प्रयाजनुयाजादि के लिए आज्य लिया जाता है, इस यूपाञ्जन-कर्म्म के लिए भी इसी में से लिया जाता है, अथवा इसकेलिए अन्य आज्य का ग्रहण होता है ?, सूत्रकार उत्तर देते हैं—

"यूपाञ्जने च सर्पिः" ( का० श्रौ० सू० २।८।८ )।

यूपाञ्जन-साधक घृत अन्य (लौकिक) ही लेना चाहिए। आज्यस्थाली का आज्य इस कर्म्म में विनियुक्त नहीं है।

ज्योतिष्टोमयज्ञ में पुरोडाश का इन्द्र-वायु के लिए, पयस्या का मित्रा-वरुण के लिए, तथा धान का अश्विनीकुमारों के लिए प्रक्षेप होता है। इसप्रकार प्रक्षेप-कर्म्म के लिए अपेक्षित

पुरोडाशादि प्राकृत लिए जाएँ ?, अथवा लौकिक ? इस सम्बन्ध में ऐच्छिक व्यवस्था बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं –

"पुरोडाश-पयस्या-धानासु चेच्छन्" (का० श्रौ० सू० २।८।९)।

— ※ —

## १२–विधृत्योरुपरि प्रस्तरस्तरणं, पाणिद्वयेन तदभिमर्शनञ्च

वेदि के ऊपर विधृति-स्थापन-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु उन तिर्यग्रूप से उदगग्र प्रतिष्ठित दर्भ-तृणों के ऊपर—"ओं-ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यः" यह मन्त्र बोलता हुआ प्रस्तर (एतन्नामक दर्भमुष्टि) बिछाता है। प्रस्तर बिछाने के अनन्तर वह अध्वर्यु—"ओं-आत्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु" यह मन्त्र बोलता हुआ अपने दोनों हाथों से वेदि पर फैलाए गए उस प्रस्तर को दबाता है। इहीं स्तरण-अभिमर्शन-कर्म्मों का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"तयोः प्रस्तरं स्तृणा-"ऊर्णम्रदस" मिति (का श्रौ० सू० २।८।१०)।

"अभिनिदधा-"त्वा त्वा वसव" इति (का० श्रौ० सू० २।८।११)।

——※——

## १३ प्रस्तरस्पर्शद्वारा दक्षिणेन स्रुचां ग्रहणं, प्रस्तरे स्थापनञ्च।

प्रस्तरस्तरण-स्पर्श-कर्म्मानन्तर वह अध्वर्यु अपने दोनों हाथों में से वाम हाथ तो प्रस्तर पर रक्खे रहता है, एवं दहिने हाथ में अग्नीध्र नामक ऋत्विक् से क्रमशः सौंपे गए जुहू-उपभृत्-ध्रुवा नामक स्रुक्पात्रों को-"घृताची०" इत्यादि संहितोक्त तीनों मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ प्रस्तर पर पूर्वाग्र स्थापित करता है। इस स्थापनकर्म्म में विशेषता यह है कि, जुहू को तो प्रस्तर के ऊपर रक्खा जाता है, एवं उपभृत्, तथा ध्रुवा को प्रस्तर से नीचे बर्हि पर रक्खा जाता है। ग्रहण, स्थापन-वैशिष्टय की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

"सव्याशून्ये जुहूं प्रतिगृह्य निदधाति "घृताची" इति।

—का श्रौ० सू० २।८।१३।

"एवमितरे उत्तराभ्यां प्रतिमन्त्रं बर्हिष्युपभृतं, ध्रुवा चावकृष्टेऽनुपूर्वम"

—का० श्रौ० सू० २।८।१३।

—※—

## १४–पुरोडाशस्य घृतेनाञ्जनं, कपालानाञ्च घृतेनैपदञ्जनम

स्रुक्स्थापन-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदिस्थान से गार्हपत्य के समीप आता है। वहाँ आकर पुरोडाशद्रव्य पर घृत डालकर उसे ठँढा कर पहिले से सम्पन्न पुरोडाशपात्री में उन्हें

रख कर—"यस्ते प्राणः पशुषु प्रविष्टो देवानां विष्टामनु यो वितस्ते । आत्मन्वान् सोम घृतवान् हि भूत्वाऽग्निगच्छ स्वर्यजमानाय विन्द" यह मन्त्र बोलता हुआ पुरोडाशपात्री में प्रतिष्ठित पुरोडाशद्वयी को आज्य से चुपड़ता है ।

जहाँ अग्निदेवता का सम्बन्ध है, वहाँ 'अग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय०' इत्यादि रूप से मन्त्र प्रयोग होगा । एवं जहाँ अन्य देवताओं का सम्बन्ध है, वहाँ "अग्नीषोमौ गच्छ स्वं"–"इन्द्राग्नी गच्छ स्वर्यजमानाय०" इत्यादि रूप से ऊह किया जायगा ।

पुरोडाशाञ्जन के अनन्तर जिस क्रम से कपाल रक्खे गए थे, उसी क्रम से उन उन कपालों का वह अध्वर्य्यु—"यानि घर्म्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधसः । पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चताम्" यह मन्त्र बोलता हुआ घृत से थोड़ा थोड़ा चुपड़ता है । किन्हीं याज्ञिकों के मत में कपालाञ्जनकर्म्म तूष्णीं (बिना मन्त्र–प्रयोग के) होता है। दोनों वैकल्पिक पक्ष ऐच्छिक हैं ।

जितने कपाल इस कर्म्म में गृहीत हैं, उनका निधानक्रम से संख्यापूर्वक–प्रथममुद्वासयामि, द्वितीयं०, तृतीयं०, इत्यापिरूप से ही उद्वासन करना चाहिए । इन्हीं कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**"पुरोडाशौ-अभिघार्य, उद्वास्यऽउपस्तीर्णे निधायाऽनक्ति "यस्ते प्राणः पशुषु प्रविष्टो देवानां विष्टामनु यो वितस्थे । आत्मन्वान् सोम घृतवान् हि भूत्वाग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय विन्दे" ति"** (का० श्रौ० सू० २।८।१४) ।

**"यथा देवतमन्यत्"** (का० श्रौ० सू० २।८।१)।

**"प्रत्यनक्ति कपालानि-"यानि घर्म्मे कपालान्युप चिन्वन्ति वेधसः । पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चता" मिति"** (का श्रौ० सू० २।८।१६) ।

**"तूष्णीं वा"** (का० श्रौ० सू० २।८।१७।

**"संख्ययोद्वासयति"** (क० श्रौ० सू० २।८।१८)

——*——

## १५--सर्वालम्भनम्

उक्त कर्म्मानन्तर वह अध्वर्य्यु–"ओं–प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद" यह मन्त्र बोलता हुआ आज्य-पुरोडाशादि हविर्द्रव्यों को वेदिस्थित ध्रुवापात्र के उत्तर प्रदेश में वेदि पर रखकर–"ओं-ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि, पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपतिम्" इस मन्त्र की आवृत्ति-पूर्वक आज्यस्थाली-स्थित आज्य का, जुहू-उपभृत्-ध्रुवा-स्थित आज्य का, पुरोडाशपात्री में स्थित पुरोडाशद्वयी का उपयोगक्रम से स्पर्श करता है । अनन्तर—"ओं-पाहि मां यज्ञन्यम्" यह

मन्त्र बोलता हुआ वह अध्वर्य्यु अपने हृदय का स्पर्श करता है। यही 'सर्वालम्भनकर्म' बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"प्रियेण धाम्ने" ति हवींषि गेयां कृत्वा "ध्रुवा असद" भ्रिति-सर्वाण्यालभते (का० श्रौ० सू० २।८।१६।

"पाहि मा" मित्यात्मानम्' (का० श्रौ० सू० २।८।२०)।

---*---

व्रतोपायनकर्म्म के सम्बन्ध में दो विकल्प-पक्ष माने गए हैं। द्वितीयपक्ष का अवसर कब है ?, इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"अत्र वा व्रतोपायनमत्र वा व्रतोपायनम्" (का० श्रौ० सू० २।८।२१)।

---*---

# इति-कात्यायनश्रौतसूत्रे द्वितीयोऽध्यायः

---*---

# इति-सूत्रप्रदर्शितपद्धतिसंगृहः

---*---

## वैज्ञानिकविवेचना—

### अथ-प्रोक्षणकर्म्मोपपत्तिः-

(भाष्य)-"पवित्रं वा आपः'-'मेध्या वा आपः' ( शत० ब्रा० १।१। ) इन ब्राह्मण-श्रुतियों के अनुसार पानी में मेध्य, और पवित्र नामक दो धर्म्म प्रतिष्ठित रहते हैं, जिन की विशद वैज्ञानिक-व्याख्या उसी ब्राह्मण में की जाचुकी है। इस यज्ञकर्म्म में उपयुक्त बर्हि, वेदि, तथा इध्म, तीनों यज्ञसंस्था में गृहीत होने से पवित्र तो बन चुके हैं। परन्तु अभी इन में उस मेध्य गुण का अभाव है, जिस के सम्बन्ध से ही ये यज्ञ के साथ अन्तर्य्यामसम्बन्ध करने में समर्थ होसकती हैं। उस संगमनीय गुण का (स्नेहगुण का) इनमें आधान करने के लिए ही इनका प्रोक्षण किया जाता है, एवं प्रकृत प्रोक्षणकर्म्म की यही एकमात्र उपपत्ति है, जिसका "तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति" इन शब्दों में अभिनय हुआ है।

यज्ञाग्नि ( आहवनीयग्नि ) के समिन्धन के लिए जो काष्ठभार यज्ञसंस्था में संग्रहीत होता है, उसे 'इन्धे ह वा अध्वर्य्यु रग्निम्' इस निर्वचन से 'इध्म' कहा जाता है। वह इध्मकाष्ठ कृष्णाग्नि का प्रतिरूप है। मृग्याग्नि ही कृष्णाग्नि कहलाया है, अतएव काष्ठप्रसुप्त इस अग्नि को 'मृग' भी कहा जाता है। सौराग्निमण्डल प्राकृतिक नित्य यज्ञमण्डल का आहवनीयाग्निमण्डल है। इस में प्रतिष्ठित सौर सावित्राग्नि

(प्राणाग्नि) अग्नीषोमात्मक सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ यज्ञात्मक है। इस सौर यज्ञाग्नि के **ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य**, भेद से दो विभाग होजाते हैं। जो सौर अग्नि सूर्य्यसंस्था की स्वरूपरक्षा के लिए सदा सौरमण्डल में हीं अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है, उसे-**ब्रह्मौदन अग्नि**' कहा जाता है, एवं यह सूर्य्य का अपना प्रातिस्विक अग्निभाग है। जो सौर अग्नि प्रजापति की कामना से सौरसंस्था से पृथक् होकर भूगर्भ में प्रविष्ट होता हुआ पृथिवी की ओषधि-वनस्पतियों में (इन के स्वरूप-निर्म्माण के लिए) प्रविष्ट रहता है, वह **'प्रवर्ग्याग्नि'** कहलाता है। इसी सौर-प्रवर्ग्य-यज्ञाग्नि से ही पार्थिवसंस्था की स्वरूप निष्पत्ति हुई है। यही पार्थिव अग्नि का प्रवर्ग्यांश **'गायत्र'** नाम से व्यवहृत होने लगता है।

स्व-सौरसंस्था में प्रतिष्ठित वही **'सावित्राग्नि'** पारमेष्ठ्य, दाह्य, **'ब्रह्मणस्पति'** नामक सोमाहुति से शुक्ल (ज्योतिर्म्मय) बना रहता है, जिसे कि हम इस का जाग्रतरूप कह सकते हैं। यही शुक्ल, तथा प्रत्यक्षदृष्ट सौर यज्ञाग्नि प्रवर्ग्य-सम्बन्ध से जब पार्थिसंस्था में प्रविष्ट होजाता है, तो इसका शुक्लरूप उत्क्रान्त होजाता है। पारमेष्ठ्य सोम के सम्बन्ध के उत्क्रान्त होजाने से अपना शुक्लरूप छोड़ता हुआ यह कृष्णरूप में (अप्रत्यक्षरूप में) परिणत होजाता है। यही इसका सुप्तरूप है। पार्थिव पदार्थों में, विशेषतः काष्ठादि में अग्नि का यही सुप्त स्वरूप प्रतिष्ठत है। जब अन्याग्नि के-सम्बन्ध से इसे जगाया जाता है, तो यह जग पड़ता है, काष्ठ प्रज्ज्वलित होजाता है। तत्काल यह अपने शुक्लरूप में आता हुआ स्वा-स्थानभूत द्युलोकोपलक्षित सौर-देवमण्डल में चला जाता है। पार्थिव अग्नि की इसी सुप्त-जाग्रत-अवस्थाद्वयी का स्पष्टीकरण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है-

**"शेषे वनेषु मात्रोः सं त्वा मर्तास इन्धते।**
**अतन्द्रो हव्या वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि"॥**

ऋक् सं० ८।६०।१५।

सौर यज्ञाग्निवत् क्योंकि यह अग्नि प्रत्यक्ष नहीं है, अपितु मृग्यमाण ( खोजने योग्य ) है, अतएव इसे **'कृष्णमृग'** कहना अन्वर्थ बनता है। **'यज्ञभूमि'** नाम से प्रसिद्ध **'भारतवर्ष'** में स्वच्छन्दरूप से विचरण करने वाले ***'कृष्णमृग' ( काले हरिण )** में भी इस कृष्णमृगाग्नि की ही प्रधानता है। अतएव यज्ञकर्म्म में यज्ञाग्नि की समृद्धि के लिए **कृष्णमृगचर्म्म** पर ही हविःपेषणादि कर्म्म होता है, जैसाकि पूर्वके— **"अथ कृष्णाजिनमादत्ते"** ( शत० १।१।४।१ ) इत्यादि रूप से **'कृष्णाजिनब्राह्मण'** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। सौर यज्ञाग्नि हीं 'प्रवर्ग्य' के सम्बन्ध से ÷ पार्थिव पदार्थों में प्रविष्ट होता हुआ 'कृष्णमृग' नाम से व्यवहृत होने लगता है, इसी रहस्य का निम्नलिखित ब्राह्मण-श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

**"यज्ञो ह देवेभ्योऽप चक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार।**
**तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्नुः"** ( शत० १।१।४।१ )।
**"मृगधर्म्मा वै यज्ञः" (पलायनशीलः)** ( तां० ब्रा० ६।७।१० )

* तस्य (अग्नेः) एष स्वोलोकः, यत्-'कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।२।६)।
÷ 'इयं वै पृथिवी कृष्णाजिनम्' (शत० ६।४।१।६)। 'यज्ञो वै कृष्णाजिनम्' ( शत० ६।४।१।६ )।

वही मृग्याग्नि प्रतिरूपमर्य्यादा से यहाँ तो आहवनीयखर में प्रतिष्ठित है, एवं उस प्राकृतिक यज्ञ में आ वनीयखर-स्थानीय सौर मण्डल में प्रतिष्ठित है। अतएव **'आहवनीये खरे तिष्ठति'** इस निर्वचन से इसे 'आखरेष्ठः' नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त काष्ठदृष्टि से भी इस नाम का समन्वय किया जासकता है। **'आ--समन्तात् खरे--कठिने वृत्ते--काष्ठे--तिष्ठति'** इस निर्वचन से भी ( महीधरभाष्य ) इध्मकाष्टस्थ कृष्णाग्नि को **'आखरेष्ठः'** कहना अन्वर्थ बनता है। इध्म में भूत--देव भेद से दो भाग प्रतिष्ठित हैं। भूतभाग काष्ठरूप से प्रत्यक्ष दृष्ट है, साथ ही इसका दिव्यातिशययुक्त यज्ञ से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। सम्बन्ध अपेक्षित है उस दिव्याग्नि ( प्राणाग्नि ) का, जो इसमें कृष्णरूप से ( अप्रत्यक्षरूप से ) प्रतिष्ठित रहता हुआ **'आखरेष्ठः'** बन रहा है। वही सङ्गमनीय है। भूतभाग प्राण--सम्बन्ध का निरोधक माना गया है। इसके सम्बन्ध से देवप्राण में अमेध्य ( असंगमनीय ) धर्म्म का समावेश होजाता है। काष्ठ-स्थित कृष्णाग्नि के भूतसंसर्गजनित इसी अमेध्यभाव को हटाने के लिए **'कृष्णोऽस्या--खरेष्ठः'** यह मन्त्र बोलते हुए इध्म का प्रोक्षण किया जाता है। जबतक यह प्रोक्षणकर्म्म नहीं कर लिया जाता, तबतक इस इध्मस्थित कृष्णाग्नि का उस दिव्याग्नि-प्रतिरूप आहवनीयज्ञाग्नि के साथ अन्तर्य्याम--सम्बन्ध नहीं होसकता। एवं जबतक पार्थिव अग्नि का दिव्याग्नि के साथ सम्बन्ध नहीं होजाता, तबतक **'यज्ञेन--पार्थिवयज्ञेन--यज्ञमयजन्त-दिव्याग्निमयजन्त'** परिभाषा से सम्बन्ध रखने वाला **पार्थिव आधिभौतिक), दिव्य (आधिदैविक) यजमानाग्नि (आध्यात्मिकाग्नि)** के समन्वय पर अपनी स्वरूप--सम्पत्ति निर्भर रखने वाला यज्ञातिशयलक्षण दैवात्मा उत्पन्न नहीं होसकता। इसके लिए प्रथम पार्थिव-इध्मकाष्ठस्थ कृष्णाग्नि का दिव्य आहवनीयाग्नि के साथ सम्बन्ध कराना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है, जब कि इध्मकाष्ठाग्नि को मेध्य बना लिया जाय। जब इसे प्रोक्षण के द्वारा भूतानुगत अमेध्यधर्म्म से पृथक् कर दिया जाता है, तो आहवनीयस्थित देवताओं के लिए यह जुष्ट ( सम्बन्धयोग्य ) बन जाता है। इसी मेध्य फल का **'अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि'** इस मन्त्रोत्तरभाग से स्पष्टीकरण होरहा है ॥ १ ॥

वेदि पर बर्हि का आस्तरण होता हैं। बर्हि ( दर्भ ) **'वेन'** नामक उस पानी से उत्पन्न हुआ है, जो सौरमण्डल की अन्तिम सीमा में ज्योतिर्म्मयरूप से प्रतिष्ठित है*। पारमेष्ठ्य पानी का जो भाग सौर-रश्मियों में प्रविष्ट होकर अपने स्वभाविक आसुरभाव को छोड़ता हुआ ज्योतिर्म्मय बनता हुआ यज्ञिय बन जाता है, उसी वेन नामक यज्ञिय अप्तत्त्व से दर्भ की उत्पत्ति हुई है, जैसाकि पूर्व के **'पवित्रे करोति'** (शत० ११।२।१) इत्यादि **'पवित्रब्राह्मण'** में **दर्भोत्पत्तिविज्ञान'** बतलाते हुए विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है×। दिव्य

---

*-अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां सङ्गमे सूर्य्यस्य शिशुन्न विप्रा मतिभीरिहन्ति ॥
—यजुःसंहिता ७।१६।

×-"सर्वत इव ह्ययं समुद्रः । तस्मादु है का आपो बीभत्साश्चक्रिरे । ता उपर्य्युपर्य्योति पप्रुविरे । त इमे दर्भाः । ता हैता अनापूयिता आपः" ।
—शत० ब्रा० १।१।२।५।

प्राणात्मक दर्भ के इस दिव्यातिशय का वेदिके साथ तभी सम्बन्ध होसकता है, जब कि इध्मकाष्ठवत् पृथिवी की प्रतिकृतिरूपा वेदि के पार्थिव अग्नि को भूतसंसर्गजनित अमेध्यधर्म्म से पृथक् कर लिया जाय। इस प्रयोजनके लिए ( बर्हिस्थित दिव्य प्राणके साथ वेदिस्थित कृष्णाग्नि के सम्बन्ध के लिए ) ही इध्मप्रोक्षणानन्तर वेदिका प्रोक्षण किया जाता है। प्रोक्षणमन्त्र है **'वेदिरसि, बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि'** यह। **'यह वेदि है'** इस वाक्य से श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, यही यज्ञप्राप्ति का साधन है÷। इसी में तो प्रवर्ग्य-यज्ञाग्नि प्रतिष्ठित है। इसे मेध्य बनाना हीं प्रोक्षणकर्म्मोद्देश्य है ॥२॥

वेदिप्रोक्षणानन्तर बर्हि का प्रोक्षण किया जाता है। बर्हि में भी भूत--प्राण भेद से दो विभाग हैं। फलतः इध्म-वेदिवत्--इसका दिव्य आप्य अग्नि भी भूतसंसर्गजनित अमेध्यधर्म्म से युक्त है। पवित्र--मेध्य सुक्पात्र इस पर तभी रक्खे जासकते है, जब कि इसका अमेध्यधर्म्म हटा दिया जाय। तदर्थ ही-- **बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि'** मन्त्र से बर्हि का प्रोक्षण भी आवश्यक बन जाता है। यह दर्भ उस वेन पानी का प्रतिरूप है, जिस वेन पानी के वेष्टन से सम्पूर्ण पार्थिव त्रैलोक्य चारों ओर से वेष्टित होरहा है। पृथिवीरूपा वेदि का बृंहणकर्म्म ( वेष्टनकर्म्म ) वेनरूप दर्भ पर ही अवलम्बित है। इसी बृंहणधर्म्म के कारण वेनप्रति--रूप-स्थानीय दर्भ को अवश्य ही--**'बर्हि'** कहा जासकता है।

यज्ञ में गृहीत भौतिक पदार्थों में **'भूत-प्राण'** भेद से दो दो वस्तुएँ हैं। दोनों में भूतभाग अग्राह्य है, प्राणभाग ग्राह्य है। भूत अमेध्य है, तत्संसर्ग से प्राण भी अमेध्य बना रहता है। इस अमेध्यभावनिवृत्ति के लिए ही प्रोक्षणकर्म्म किया जाता है, और यही एकमात्र सब प्रोक्षणकर्म्मों की उपपत्ति है। प्रोक्षणकर्म्म होता है--दर्भतृणों के द्वारा-प्रोक्षणीपात्र में रक्खे हुए मन्त्रभूत मेध्य पानियों से। दर्भतृण पूर्वकथनानुसार स्वयं पवित्र हैं। अतएव इन से प्रोक्षण करना अन्वर्थ बनता है ॥३॥

पर्जन्यदेवता वृष्टि के अधिष्ठाता है। पर्जन्य के द्वारा आकाश से मरुत्--गर्भ से भूतल की ओर आता हुआ पानी थोड़ी देरतक तो भूतल पर दिखाई देता है। परन्तु कुछ ही समय में वह विलीन होजाता है। इसका विलयन भूतलस्थित ओषधि--वनस्पति के मूलों में हीं होता है। इसीलिए तो ओषधि--वनस्पतियाँ जहाँ अपने तूलभागों से शुष्क--इव प्रतीत होतीं है, वहाँ इनके मूलभाग गीले रहते हैं। यह मूलार्द्रता ही इनके जीवन का कारण है। यही कारण है कि, एक वृक्ष की जड़ों को उखाड़ कर यदि अन्यत्र लगाने की कामना होती है, तो उस वृक्ष की जड़ों को उत्पाटक लोग ( **राईं-बागबान** ) मिट्टी सहित उस भाँति उखाड़ते हैं, जिससे उनका मूलार्द्रभाग शुष्क न होजाय। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ में सिञ्चक पर्जन्यदेवता के द्वारा सींचा हुआ पानी ओषधियों के मूलों में हीं प्रतिष्ठित रहता हैं। यह वैधयज्ञ उसी का प्रतिरूप है। **"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि"** इस निगम से यहाँ भी प्रोक्षणीपात्र में बचे जल को बर्हि के मूलों में हीं डालना न्यायप्राप्त है। यह विश्वास करने योग्य बात है कि, यज्ञकर्म्म में जो जो अतिशय उत्पन्न होते हैं, उन सबका फलभोक्ता यजमान ही बनता है, जैसा कि **"तद्वै तदाहर्त्तयेवाधि"** इत्यादि रूप से अनुपद में हीं

---

÷ **"तं-यज्ञं-वेद्यामन्वविन्दन्। यत्--वेद्यां--अन्वविन्दन्, तत्--वेदेर्वेदित्वम्"**।

—ऐतरेयब्राह्मण ३।६।

स्पष्ट होने वाला है। यहाँ जलसेक से जो सिञ्चनकर्म्म होता है, उसका फल यह होता है कि, यज्ञकर्त्ता यजमान के उपभोग में आने वाली ओषधि-वनस्पतियाँ सदा उपजीवनीया ही बनी रहतीं हैं। इसीलिए कभी यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए इन ओषधि-वनस्पतियों (पार्थिव-अन्नादि भोग्यसम्पत्ति) की कमी नही रहती।

ओषधिमूलों को आर्द्र बनाना हीं इस सिञ्चनकर्म्म का मुख्य उद्देश्य है। हम देखते हैं कि, यदि केवल ओषधियों पर पानी डाला जाता है, तो इससे वे आर्द्रमूल तबतक नहीं बनतीं, जबतक कि उनकी मिट्टी में पानी न डाला जाय। भूप्रदेश की आर्द्रता ही ओषधि-मूलार्द्रता का कारण है। फलतः सिञ्चन-कर्म्म का प्रधान लक्ष्य भूप्रदेश ही बनता है। एतद्द्वारा परम्परया ही आर्द्रमूला-सम्पत्ति प्राप्त होती है। अतएव यहाँ भी पानी डाला तो जाता है-बर्हिमलों में। परन्तु भावना की जाती है - **'अदित्यै व्युन्द-नमसि'** यह। **'हे शेष जल ! आप इस पृथिवी के लिए क्लेदनद्रव्य हैं'**। मन्त्रभाग यही बतला रहा है कि, गीली मिट्टी ही आर्द्रमूला सम्पत्ति-प्राप्ति का कारण है। यही कारण है कि, जबतक पर्य्याप्त वृष्टि नहीं होती, तबतक भूगर्भ आर्द्र नहीं होता। एवं जबतक भूगर्भ आर्द्र नहीं होता, तबतक ओषधि-प्ररोहण नहीं होता। भूगर्भ की आर्द्रता ही जीवनरसप्रदात्री है, अतएव कृषकवर्ग भूगर्भ में हीं बीजवपन करते हैं ॥४॥

## इति-प्रोक्षणकर्म्मोपपत्तिः

——*——

## अथ-प्रस्तरगृहणोपपत्तिः-

प्रोक्षणकर्म्म के अनन्तर कुशमुष्टिलक्षण **'प्रस्तर'** का ग्रहण किया जाता है। प्राकृतिक यज्ञपुरुष का जैसा स्वरूप आधिदैविकसंस्था में है, वैसा ही यहाँ होना चाहिए। यह यज्ञपुरुष अध्यात्म—अधिदैवत-भेद से दो श्रेणियों में विभक्त है। दोनों में से पहिले आधिदैविक यज्ञपुरुष के स्वरूप का ही विचार कीजिए। ऋताग्नि—ऋतसोमात्मक सम्वत्सरमण्डल का ही नाम **'आधिदैविक यज्ञपुरुष'** है। इस सम्वत्सरयज्ञ के **उत्तरायण, दक्षिणायन, विष्वद्वृत्त,** भेद से तीन प्रधान पर्व हैं। उत्तरायण पर्व इसके शरीर का उत्तर पार्श्व है, दक्षिणायन पर्व दक्षिण पार्श्व है, एवं मध्यस्थ विष्वद्वृत्त आत्मस्थानीय मध्याङ्ग(धड़)है। स्तोमविज्ञान के अनुसार त्रिवृत्स्तोम से आरम्भ कर एकविंशस्तोम पर्य्यन्त ( सूर्य्यपर्य्यन्त ) अपनी व्याप्ति रखने वाले इस सम्वत्सर-पुरुष का त्रिवृत्स्थान **'पाद'** है,पञ्चदशस्थान**'मध्याङ्ग'** है, एवं एकविंशस्थान **'मस्तक'** है। तीनों के क्रमशः **अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीन प्राण** अतिष्ठावा हैं। आदित्यप्राणात्मक २१ एकविंश स्थानस्थित मस्तक स्थान के ऊर्ध्वभाग पर सूर्य्य स्थित हैं, जिसे कि यज्ञपरिभाषा में हम 'यूप' कहा करते हैं। यह सूर्य्यात्मक यूप सोमाहुति से ही स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यूप का यूपत्त्व सोमाहुति पर ही निर्भर है। आधिदैविक संवत्सरयज्ञ के इसी त्रैलोक्यव्यापक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान् कहते हैं—

**१—"अथ ह वाऽएष महासुपर्णो एव-यत् सम्वत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति, सोऽन्यतरः पक्षः, अथ यान् षडुपरिस्तात्-सोऽन्यतरः, आत्मा विषुवान्"।**

—शत० १२।२।३।७

२—"आत्मा वै सम्वत्सरस्य विषुवान, अङ्गानि मासाः" ।

—शत० १२।२।३।६

३—"आत्मा वै सम्वत्सरस्य विषुवान्, अङ्गानि पर्वौ" ।

गो० ब्रा० पू० ५।१८

४—"सम्वत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः । तस्यैतद् द्वारं यदमावास्या, चन्द्रमा एव द्वार-पिधानः" । ( शत० ११ १।१।१ )

५—"पुरुषो वाव सम्वत्सरः" ( शत० १२।२।४।१ ) ।

६—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" ॥

—यजु० सं० ३१।१*

उक्त सम्वत्सरयज्ञपुरुष के मस्तकोर्ध्वस्थान में प्रतिष्ठित यूपात्मक सूर्य्य ही इस की—'शिखा' है । शिखा केशात्मिका–केशगुच्छात्मिका–ही होती है । केश–लोमकी उत्पत्ति ओषधि–वनस्पतियों से मानी गई है, जैसाकि—"ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः" (बृ० आ० उप० ३।२।१३) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । पारमेष्ठ्य सोम ही ओषधि [१]–वनस्पति के स्वरूप का जनक है । अन्तर यही है कि, वही सोम चन्द्ररूप से (अग्निगर्भित सोमरूप से)ओषधियों का जनक बनता है, एवं वही सोम सूर्यरूप से (सोमगर्भित[२]अग्निरूपसे) वनस्पतियों का उत्पादक बनता है। जब सूर्यात्मक [३] यूप सोमात्मक है, सोम ही परम्परयाज केशलोमात्मक है, तो हम अवश्य ही सूर्य को इस यज्ञपुरुष की शिखा कह सकते हैं । इसी शिखात्मक सोमभाव के आगमन

* सहस्र शब्द पूर्णभावात्मक वर्त्तुल वृत्त का ही सूचक है। क्योंकि जो वर्त्तुल होता है उसके केन्द्र से चारों ओर वषट्कारसम्पादिका वेद–लोक–वाक्–साहस्रियों का वितान होता है । सम्वत्सरपुरुष त्रिकेन्द्र है, अतएव क्रान्तिवृत्तात्मक सम्वत्सरचक्र त्रिकेन्द्र बनता हुआ दीर्घवृत्त ( अण्डवृत्त ) माना गया है । 'अक्षः' से विज्ञानचक्षु ही अभिप्रेत है । विज्ञानचक्षु का हृदय से सम्बन्ध है । हृदयस्थ मन पर ही विज्ञान प्रतिष्ठित रहता है । हृदयस्थ विज्ञान से मध्याङ्ग अभिप्रेत है । त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश, तीनों क्रमशः पाद–मध्य–मस्तक-पर्व हैं । त्रिपर्वा यह पुरुष सप्तवितस्तिकाय से तो भूपिण्ड पर खड़ा है । एवं यही अध्यात्मसंस्था में १०॥ अङ्गु-लात्मक प्रादेशमित प्रदेश में प्रतिष्ठित है । इसी आध्यात्मिक दृष्टि से—'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' कहा गया है ।

(१)–"त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥"

ऋक्सं० १।९१।२२

(२)-"अग्निर्वै वनस्पतिः" (कौ० ब्रा० १०।६)

(३)-"असौ वा अस्य आदित्यो यूपः" ( ऐ० ब्रा० ५।२८ ) । "आदित्यो यूपः" ( तै० ब्रा० ( २। ।५।२ ) ।

से तद्रूप सौर दिव्येन्द्रप्राण स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यदि शिखात्मक सोम का ( सोमाहुति का ) सम्बन्ध न रहे, तो तत्काल सौरसंस्था उच्छिन्न होजाय।

इसी उक्त-स्वरूपलक्षण आधिदैविक यज्ञपुरुष के अनुरूप आध्यात्मिक यज्ञपुरुष का स्वरूप—-निर्म्माण हुआ है। सम्वत्सरयज्ञ के दक्षिण पार्श्व से इस के मेरुदण्ड से आरम्भ कर हृदय-रेखापर्य्यन्त दक्षिण पार्श्व का, वामपार्श्व से मेरुमण्डल से आरम्भ कर हृदयरेखापर्य्यन्त वाम पार्श्व का, तथा मध्याङ्गस्थानीय विषुवप्राण से मेरुदण्ड का निर्म्माण हुआ है। स्तोमविज्ञानानुसार त्रिवृत्-सम्वत्सरभाग से पाद भाग का, पञ्चदशभाग से मध्याङ्ग का, एवं एकविंशभाग से शिरोभाग का निर्म्माण हुआ है। इसी में सौर-इन्द्रप्राण प्रतिष्ठित है, जो शिखान्तस्थान से निकल कर शिरोबिन्दु से आरम्भ कर सूर्य्यकेन्द्र पर्य्यन्त वितत (४) महापथ के मार्गसे सूर्य्य-केन्द्रपर्य्यन्त एक निमेषमात्र में तीन बार आता जाता है (५)। यही प्राणगमनागमन शतायुः का प्रवर्त्तक माना गया है। सूर्य्यस्थित मनःप्राणवाङ्मय (६) ३६००० संख्यात्मक 'आयुः' नामक मनोता का आगमन ही

---

४-अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं वियुक्ताः॥
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्- पुण्यकृत्-तैजसश्च॥

—बृ० आ० ३।४।४।८।६

५--आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत्-प्राणत्-निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥

—मुण्डकोपनिषत् २।२।१।

तस्यैष आदेशो यदेतत्--विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीति, न्यमीमिषदा ३--इत्यधिदैवतम्। ( केनोपनिषत् २६ )।

त्रिर्यन्निमेषः परिदिदिवे।

६-"तदात्मानमन्वैच्छत्, तत्तपोऽतप्यत, तत् प्रामूर्च्छत्, तत् षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् मनोमयान्, प्राणमयान्, वाङ्मयान्०"।

—शत० १०।४ प्र० १ ब्रा०

आयु(७) रक्षाका कारण है। 'बृहतीप्राण'नाम से प्रसिद्ध इस वैश्वामित्र,आयुःप्राण का आगमन इसी प्राणसञ्चालन-क्रिया पर निर्भर है। जिस क्षण आध्यात्मिक प्राण, तथा उस सूर्य्य केन्द्रस्थ आधिदैविक प्राण, इन दोनों के मध्य में अवसानधर्म्मा याम्यप्राण का आगमन होजाता है, तत्काल आयुःसूत्र विच्छिन्न होजाता है, प्राण को उत्पादक दिव्यप्राण का जीवनस्रोत मिलना बन्द होजाता है, फलतः निधन होजाता है। इस निधन का अवरोधक प्राणगमनागमनलक्षण वही दैनंदिनयज्ञ है, जिसे यज्ञपरिभाषा में 'अहरहर्यज्ञ' (८ कहा गया है।

बतलाया गया है कि 'बृहती' नामक, आयुःस्वरूपसमर्पक वह दिव्य सौरप्राण शिखान्तस्थानस्थित मार्ग से निकलकर महापथ के द्वारा स्वप्रभव सूर्य्य से सम्बन्ध करता है। वही शिखान्तस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में इसे ही *'विद्दतिद्वा' (द्वारा) 'नान्दनद्वा' (द्वार) इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। मस्तकस्थ केशों का ऊर्ध्व प्रदेश में भ्रमररूप से एक स्थान पर अवसान होता है। जहाँ यह अवसानबिन्दु है, वहीं एक सुसूक्ष्म द्वार होता है। यही द्वार उस वैश्वामित्र आयुःप्राण के सञ्चार का मार्ग है।

उक्त दिव्य प्राण सौर--दिव्यप्राण का प्रवर्ग्यांश है। अतएव सूर्य्यविरोधी तमोमय आसुरप्राण का इस दिव्य सौरप्राण के साथ स्वाभाविक विरोध है। लौहधातु में

---

७--"तमिन्द्र उवाच--ऋषे! प्रियं वै मे धामोपागाः। वरं ते ददामि-इति। स होवाच त्वामेव जानीयां, इति। तमिन्द्र उवाच--प्राणो वा अहमस्मि--ऋषे!, प्राणस्त्वं, प्राणः सर्वाणि भूतानि, प्राणो ह्येष य एष तपति। स एतेन रूपेण सर्वा दिशो विष्टोऽस्मि। तस्य मेऽन्नं मित्रं दक्षिणम्। 'तद्वैश्वामित्रेण तपन्नेवास्मि' इति होवाच। तद्वा इदं बृहती--सहस्रं सम्पन्नम्। तस्य वा एतस्य बृहती सहस्रस्य--सम्पन्नस्य षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणि (३६०००) भवन्ति। तावन्ति शतसम्वत्सराह्नां--सहस्राणि भवन्ति। परस्तात् प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्मयोऽमृतमयः सम्भूय देवता अप्येति। तद्योऽहं --सोऽसौ, योऽसौ -सोऽहम्"।

—ऐ० आ० २।२।४

८--"अरहर्वाऽएष यज्ञस्तायते, अहरहः सन्तिष्ठते, अहरहरेनेन स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते, अहरहनेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति"।

—शत० ६।४ प्र० १ ब्रा० १५ कं०।

* "स एतमेव सीमानं विदार्य्य, एतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वाः। तदेतन्नान्दनम्" [ऐ० आ० २।४।३]।

**आसुरप्राण की प्रधानता रहती है। इधर चौरकर्म्म में लौह-छुरिका का उपयोग होता है। इस में रहने वाले आसुरप्राण के स्पर्श से उस दिव्यप्राण को बचाने के लिए ही परम वैज्ञानिक महर्षियोंनें केशान्त स्थान पर शिखाधारण आवश्यक माना है, जोकि शिखाधारण आर्षधर्म्म के अनुगामी भारतीयों की महत्ता, तथा विज्ञानानुगामिता ही प्रकट कर रहा है।**

यह तो शिखाधारण का एक प्रासङ्गिक प्रयोजन बतलाया गया। दूसरा प्रयोजन है–प्रतिरूपमर्य्यादा से देवमर्य्यादा का अनुगमन। प्राकृतिक यज्ञपुरुष जब यूपरूप शिखा से युक्त है, तो यज्ञमार्ग का अनुगमन करने वाली, तथा यज्ञपुरुष से तदाकारेण उत्पन्न होने वाली आर्षप्रजा को भी अपनी अध्यात्मसंस्था ( शरीर ) का वैसा ही बाह्य आकार रखना चाहिए। **'देवो भूत्वा देवं भावयेत्'** का भी यही रहस्य है। आधिदैविक यज्ञपुरुष के ओर ओर पर्व तो आध्यात्मिक यज्ञपुरुष में स्पष्ट हैं। परन्तु यूपस्थानीया शिखा अस्पष्ट है है। अतः यूपाकृतिवत् केशान्तभाग में इस का भी प्रतिरूप–मर्य्यादा से अवश्य ही समावेश होना चाहिए।

शिखा–धारण से जहाँ आर्षधर्म्मानुबन्धिनी यज्ञमर्य्यादा की रक्षा होती है, वहाँ दिव्यप्राण–रक्षापूर्वक विज्ञान भी सुरक्षित, तथा पुष्पित–पल्लवित होता है। 'विज्ञान' शब्द ऋषि की परिभाषा में आत्मानुगत उस नित्यविज्ञान का ही सूचक है, जिसके परिज्ञान, एवं अनुष्ठान से इहत्र–अमुत्र अभ्युदय–निःश्रेयस् सम्पत्तियाँ प्राप्त होतीं हैं। अतएव जो जातियाँ शिखा नहीं रखतीं, अथवा तो जो भारतीय सन्ताने इस **'स्वस्त्ययनकर्म्म'** का महत्त्व न समझती हुई कल्पित, विभीषिकामय नग्न सौन्दर्य्य का मोहकर शिखाधारण को व्यर्थ का आडम्बर समझतीं हैं, उनका विज्ञान (बुद्धि) भले ही भौतिक, नाशलीलाप्रवर्त्तक आसुरभावात्मक विज्ञान में निपुणता प्राप्त करले। परन्तु **"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"** की परिभाषा से तो वे सर्वथा वञ्चित ही रह जातीं हैं। जिन्हें यह वञ्चना स्वीकृत है, वे भले ही शिखा को **'शर्म्म'** (लज्जा) का कारण समझें। परन्तु जो वास्तव में **'शर्म्म (सुख)'**का मर्म्म समझने वाले हैं, वे भारतीय तो अपनी शिखा-रक्षा को **जातीयता, धर्म्म, विज्ञानवृद्धि,** आदि का ही उपोद्बलक मानेंगे।

वेदशास्त्र पर अनन्य निष्ठा रखने वालों के लिए तो उस दशा में उपपत्ति-जिज्ञासा का कोई भी महत्त्व नहीं रह जाता, जबकि—**"तस्येयमेव शिखा स्तुपः"** इत्यादि-रूप से स्वयं श्रुति भगवती शिखाधारण को आवश्यक कर्म्म मानने का आदेश दे रही है। प्रस्तुत प्रासङ्गिक चर्चा को हम इसलिए विशेष महत्त्व दे रहे हैं कि, आज नवशिक्षितों की परिष्कृतबुद्धि ? के क्षेत्र में **शिखा-सूत्रादि** चिह्नों को लेकर बड़ा कोलाहल मचा हुआ है। विशेषतः शिखा के निष्काशन का तो बहुसंख्या में हीं अनुगमन होरहा है। हम समझते हैं, ऐसी दुष्प्रवृत्ति आर्षसंस्कृति के **अधःपतन** की ही सूचना देने वाली है। इसलिए हम उन सम्भ्रान्त पुरुषों से निवेदन करेंगे कि वे अपने इस लाभप्रद, तथा गौरवपूर्ण चिह्न की रक्षा करने में हीं अपना लाभ, तथा गौरव समझने का अनुग्रह करेंगे।

आधिदैविक-यज्ञपुरुष से आध्यात्मिक-यज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है, एवं आध्यात्मिक-यज्ञ से इस आधिभौतिक-यज्ञपुरुष (पुरुषप्रयत्नसाध्य वैधयज्ञ) का वितान होरहा है। जब दोनों यज्ञपुरुष शिखा से युक्त हैं, तो प्रतिपद उन्हीं की अनुरूपता से सम्बन्ध रखने वाले इस वैध यज्ञमें भी शिखा-स्थापन होना हीं चाहिए। इस यज्ञ से जो यज्ञातिशयरूप दैवपुरुष (दैवात्मा) उत्पन्न होने वाला है, वह शिखा से शून्य रहता हुआ दिव्यप्राण के विकास से वञ्चित न रह जाय, अतएव यहाँ प्रस्तरग्रहण किया जाता है। प्रस्तर दर्भमुष्टि है। दर्भ वेनलक्षण सौम्य आपोमय तत्त्व है। सोम ही शिखा है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है। इसी सादृश्य से दर्भमुष्टिरूप प्रस्तर को अवश्य ही शिखा का निदान माना जासकता है। 'विष्णो स्तुपोऽसि' यह प्रस्तर--ग्रहण का मन्त्र है। विष्णु यज्ञपुरुष है। इसके पूर्वभाग में (शिरोभाग) में हीं प्रकृतियज्ञ में स्तुप (शिखा) प्रतिष्ठित है। अतः प्रस्तर का ग्रहण भी पुरस्तात् ही होता है ॥५॥

## इति-प्रस्तरग्रहणोपपत्तिः

——*——

## अथ–सन्नहनविस्रंसन-स्थापनोपपत्तिः—

जो बर्हि वेदि पर बिछाने के लिए संगृहीत हैं, वे **'सन्नहन'** नामक रज्जु से बँधी रहतीं हैं। गाँठ खोल कर पहिले तो इस बर्हिः-संघात से प्रस्तर (स्तुप) ले लिया जाता है। अनन्तर इस सन्नहन (बन्धनरज्जु) को बर्हिःसंघात से पृथक् कर लिया जाता है। यह स्मरण रखने की बात है कि, जिस वेदि पर बर्हि का आस्तरण होने वाला है, वह वृषा-स्थानीय देवताओं की (यज्ञपुरुष की) योषा (पत्नी) है। इसी के दाम्पत्यभाव से दैवात्मलक्षण अपत्य उत्पन्न होने वाला है। प्रजननक्रिया में नीवीबन्धन प्रतिबन्धक है। इधर सन्नहनरज्जु इस योषा (वेदि) की नीवीस्थानीया है। क्योंकि अब प्रजननकर्म्म होने वाला है, अतः इस बन्धन को पृथक करना हीं प्रकृत्या सुसङ्गत है।

बन्धन को पृथक् कर इसे वेदि के दक्षिण श्रोणिप्रदेश पर रक्खा जाता है। क्योंकि यह बन्धन प्रतिरूपमर्य्यादा से नीवी है। उधर नीवीबन्धन लोकव्यवहार में दक्षिण श्रोणि पर ही रहता है, साथ ही वह वेष्टन वस्त्र से ढँका भी रहता है। कन्यासन्तान की अपेक्षा पुत्रसन्तान का (पितृऋण-मोचन की दृष्टि से) विशेष महत्त्व माना गया है। दक्षिण भाग अग्निप्रधान बनता हुआ पुरुषप्रधान है, वामभाग सोमप्रधान बनता हुआ स्त्रीप्रधान है। अतएव महर्षि चरकादि ने गर्भाधान-संस्कारकाल में पति के दक्षिण पैर से ही शय्यारूढ होना आवश्यक माना है। इधर इस यज्ञ से भी दैवात्मलक्षण पुरुषविध सन्तान का ही प्रजनन अपेक्षित है। अतः अग्निप्रधान दक्षिणा श्रोणि पर ही सन्नहन रखना उचित है। नीवीबन्धन शिष्टमर्य्यादा के अनुसार ढँका रहता है। अतः यहाँ भी उसी मर्य्यादा का अनुगमन किया जाता है ॥६॥

—— ——*—— ——

## अथ—बर्हिस्तरणोपपत्ति—

कहा गया है कि, इस यज्ञकर्म्म में गृहीत प्रस्तर शिखा-स्थानीय है। सब शरीरावयवों का प्रतिरूपमर्य्यादा से संग्रह होगया, शिखाधारण प्रस्तर से गतार्थ बन गया। अब वे केश-लोम बच रहते हैं, जो शिखा

के अग्रभाग में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी केश-लोमसम्पत्ति के संग्रह के लिए यहाँ प्रतिरूप-मर्य्यादा से बर्हि बिछाई जाती है, यही '**बर्हिस्तरण**' की एक उपपत्ति है ॥७॥

वेदि को योषा-[स्त्री]-स्थानीय बतलाया गया है। शिष्टाचार का यह आग्रह है कि, कुलीन स्त्री यदि किसी आवश्यक धर्म्मकार्य्य से भद्रपुरुष-मण्डली में बैठे, तो अपने सर्वाङ्गशरीर को ढाँक कर बड़े विनय, तथा लज्जा-भाव से ही युक्त रहे। यहाँ वेदिरूपा स्त्री प्राकृतिक प्राणदेवताओं, तथा यज्ञसञ्चालक ऋत्विजों की मण्डली में प्रतिष्ठित है। अतः आवश्यक है कि, इसे नग्न [निर्लज्ज] न रहने दिया जाय। इसलिए भी वेदि पर बर्हि बिछाना आवश्यक है। बर्हिस्तरण की यही दूसरी उपपत्ति है ॥८॥

वेदि जैसे निदानेन योषा (स्त्री) है, वैसे निदानेन यह पृथिवी भी योषा ही है। पृथिवी के **उर्वर, ऊसर**, भेद से दो विभाग रहते हैं। '**निर्ऋति**' नामक दरिद्रदेवता ( **अलक्ष्मी, धूमावती, अवरोहिणी, ज्येष्ठा**, ) के निग्रह से सस्यादि-प्रजनन के अयोग्य, क्षत-विक्षत भूप्रदेश ऊसर है। एवं '**रोहिणी**' नामक भाग्यदेवता ( **लक्ष्मी, कमला** ) के अनुग्रह से सस्यादि-बहुल सम भूप्रदेश उर्वर है। बहुल-ओषधियुक्त भूप्रदेश ही भोग्यतम माना गया है। जो पृथिवी का प्रदेश यहाँ वेदिरूप से गृहीत है, वह इस यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए बहुल ओषधि-वनस्पतियों से युक्त बनता हुआ जीवनीयतम बने, इसी लक्ष्य से इस पर ओषधि-वनस्पति के प्रतिरूप बर्हि बिछाए जाते हैं। यज्ञकर्म में यजमान के निमित्त निदानविधि से ऋत्विक् लोग जिस सम्पत्ति का संग्रह करते हैं, अवश्यमेव '**यावद्वित्तं तावदात्मा**' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वह यजमान की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाती है। यही बर्हिस्तरण की तीसरी उपपत्ति है ॥९॥

पृथिवी के जिस भाग में जितनी अधिक ओषधियाँ प्रतिष्ठित रहतीं हैं, वह भाग उतना हीं अधिक उपजाऊ कहलाता है। वही उपजीवनीयतम ( भोग्यतम ) प्रदेश माना गया है। इस सम्पत्ति के लिए बर्हि उस मात्रा से बिछाई जाती है, जिससे वेदि का प्रदेश अप्रत्यक्ष होजाय। ओषधिमूल भूगर्भ में हीं प्रविष्ट रहते हैं। इसी प्राकृतिक स्थिति के समतुलन के लिए बर्हि के अग्रभागों से द्वितीय-तृतीय दर्भमुष्टि के मूलभागों को दबा दिया जाता है त्रिसत्य देवताओं के त्रिवृद्यज्ञ की स्वरूप-निष्पत्ति के लिए ही स्तरणकर्म्म विहित है। उसी त्रित्वानुगता यज्ञसम्पत्ति के लिए तीन बार स्तरण होता है ॥१०॥

'**ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यः**' यह स्तरण-कर्मसाधक मन्त्र है। मन्त्र का भाव यही है कि, यद्यपि दर्भतृण का आस्तरण होता है, तथापि भावना ऐसी रखनी चाहिए कि, मानो हम वेदि पर बैठने वाले प्राणदेवताओं के लिए कोमलस्पर्श से युक्त आसन ही बिछा रहे हैं। '**अन्य को अन्य भावना से देखना**' यही तो निदान है। एवं भावनात्मक निदान ही तो हमारे कर्म्मों की श्रेष्ठता का मूलाधार है ॥११॥

## इति-बर्हिस्तरणोपपत्तिः

———*———

## अथ-अग्निकल्पोपपत्तिः—

कहा गया है कि, सम्वत्सरात्मक यज्ञपुरुष का एकविंशस्तोमात्मक द्युप्रदेश शिरोभाग है। यहाँ आहवनीयकुण्ड निदानेन इस वैधयज्ञ का शिरोभाग है। शिरोभागस्थ मुखभाग में आहुति-ग्राहक अन्नादाग्नि

प्रतिष्ठित रहता है। तत्स्थान में यहाँ आहवनीयकुण्ड में प्रतिष्ठित आहवनीयाग्नि है। यदि अग्नि प्रबल रहता है, तो आहुत अन्न की आकर्षण, दहन, पचनादि क्रिया ठीक ठीक होती है। अग्निमान्द्य में ये क्रियाएँ निर्बल रहतीं हैं। परिणामतः पुष्टि, तुष्टि, तृप्ति, बल, वीर्य्यादि का अभाव रहता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि, शिरोभागोपलक्षित, मुखस्थित, आहुतिग्राहक, आहवनीयाग्नि को आहुतिद्रव्य के आकर्षणादि के लिए इध्मकाष्ठ से भस्मादि हटा कर प्रबल बना दिया जाय। यज्ञपुरुष का पूर्णस्वरूप शिखा पर्य्यन्त माना गया है। इधर कुशमुष्टिलक्षण प्रस्तर इस वैधयज्ञपुरुष की शिखा है। अतः प्रस्तररूप शिखा का आहवनीय के ऊपर सम्बन्ध बनाते हुए पूर्णरूपेण यह प्रबलीकरण किया जाता है ॥१२॥

## इति–अग्निकल्पोपपत्तिः

———*———

## अथ–परिधिपरिधानोपपत्तिः—

जिन तीन परिधियों का आहवनीयकुण्ड के पश्चिम–दक्षिण–उत्तरप्रान्त भागों में क्रमशः स्थापन होता है, उन का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व के **'आप्त्याविज्ञान'** में ( शतपथभाष्य–प्रथमखण्ड में ) किया जाचुका है। अग्निरहस्यवेत्ता विद्वानोंनें अनेकधा विभक्त अग्नि के चार रूपों का प्रत्यक्ष किया। एवं इसी आधार पर **'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास'** यह अनुगम–वचन प्रतिष्ठित हुआ। उन सब अग्निविवर्त्तों का उक्त **'आप्त्याब्राह्मण'** में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रकृत प्रकरण के समन्वय के लिए यह आश्यक होगा कि, पाठक एक बार वह प्रकरण अपने लक्ष्य में ले आवें। यहाँ प्रकरण–सङ्गति के लिए दो शब्दों में उस का सिंहावलोकनमात्र कर दिया जाता है।

**'पुरुषाग्नि, प्राकृताग्नि, विराडग्नि, सम्वत्सराग्नि'** इन चार अग्नियों में से चौथा सम्वत्सराग्नि ही इस कथानक का मूलाधार है। इस सम्वत्सराग्नि को ही **'भूतानांपतिः'** कहा गया है *। इस **'भूतानां–पतिः'** सम्वत्सराग्नि की ही आगे जाकर चार अवस्थाएँ होजातीं हैं, जिन के लिए—**'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास'** यह कहा गया है। सम्वत्सरचक्र **सौर, पार्थिव,** भेद से दो भागों में विभक्त है। **पार्थिव सम्वत्सरचक्र गायत्राग्निप्रधान है, एवं सौर सम्वत्सरचक्र सावित्राग्निप्रधान है।** प्रकृत में केवल पार्थिवाग्निसम्बन्धी पार्थिवसम्वत्सरचक्र के साथ ही अग्नि की अवस्थाचतुष्टयी का सम्बन्ध समझना चाहिए।

भूपिण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठित प्राणाग्नि **'अन्नादाग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है। इसी अन्नादाग्नि को **'रुद्र'** कहा जाता है। इसी रुद्राग्नि की अहर्गणवितान से आगे जाकर चार अवस्थाएँ होजातीं हैं। इन चार पार्थिव सम्वत्सराग्नियों में एक तो पार्थिव यज्ञ के **'होता'** बनते हैं, शेष तीन अग्नि **'आप्त्या'** रूप में परिणत होकर

---

* **"अस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च भूतानां पतिः सम्वत्सरायादीक्षन्त। भूतानां पतिर्गृहपतिरासीद्, उषाः पत्नी। तद्यानि तानि भूतानि–ऋतवस्ते। अथ यः स भूतानां पतिः, सम्वत्सरः सः"** ( शत० ६।१ अ० १।३ ब्रा० ६,७ कं० )।

इस अग्नि की परिधियाँ बने रहते हैं। पार्थिव प्रजापति-अग्नि की **गृहपति, सम्वत्सर,** भेद से दो अवस्थाएँ होजातीं हैं। गृहपति अग्नि भूपिण्ड में अन्नादरूप से प्रतिष्ठित रहता है, एवं सम्वत्सराग्नि पार्थिव सम्वत्सर में प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्डस्थ पार्थिव अग्नि की **उक्थ-अर्क** भेद से दो अवस्थाएँ रहतीं हैं। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित **'अनिरुक्तप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध हृद्य अग्नि सर्वप्रभव बनता हुआ **'उक्थ'** नाम से प्रसिद्ध है। यही इस यज्ञ का **प्रजापति ( यजमान )** है। पार्थिव उषा इस की पत्नी है। इन्हीं दोनों के दाम्पत्यभाव से पार्थिव-प्रजा की उत्पत्ति हुई है। उक्थ से अर्क-( रश्मियाँ ) निकला करते हैं। भूकेन्द्रस्थ उक्थाग्नि की प्राणात्मिका रश्मियाँ उक्थ से निकल कर बड़ी दूर पर्य्यन्त व्याप्त रहतीं हैं। जहाँतक यह अर्कात्मक प्राणाग्नि व्याप्त रहता है, वहाँतक पार्थिवमण्डल की सीमा मानी जाती है, जोकि सीमा सामपरिभाषा में **'रथन्तरसाम'** नाम से प्रसिद्ध है।

केन्द्रस्थ उक्थ नामक हृद्य, गृहपति, प्रजापति-अग्नि से अर्करूप में परिणत होने वाले इस प्राणाग्नि की आगे जाकर **पार्थिव अग्नि, सम्वत्सराग्नि** भेद से दो अवस्थाएँ होजातीं हैं। भूपिण्डावच्छिन्न वही प्राणाग्नि ( अर्काग्नि ) पार्थिव अग्नि है, एवं इसे ही **'भूपति'** कहा जाता है। भूमहिमावच्छिन्न वही अर्काग्नि सम्वत्सराग्नि है, एवं-उसे ही पूर्व कथनानुसार **'भूतानांपतिः'** कहा जाता है। भूमहिमा का वषट्-कारमण्डल से सम्बन्ध है, एवं अग्नि के सम्बन्ध से इस वषट्कार के ३३ अहर्गणों में से २१ अहर्गण संग्रहीत हैं। भूपिण्ड से आरम्भकर २१ वें अहर्गणपर्य्यन्त जो भूमहिमा-प्रदेश है, वही सम्वत्सरचक्र है। इस पार्थिव सम्वत्सरचक्र में हीं वह पार्थिव प्राणाग्निविध सम्वत्सराग्नि प्रतिष्ठित है।

**'भूतानांपतिः'** नामक, सम्पूर्ण सम्वत्सरचक्र में एकरूप से प्रतिष्ठित, अतएव **'सम्वत्सरप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध इस महिमाग्नि के आगे जाकर क्रमशः पार्थिव—**त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), एकविंश** (२१) स्तोम भेद से तीन भेद होजाते हैं। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युप्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपतिः **'भूतानांपतिः'** नाम से प्रसिद्ध हैं। यही देवविज्ञानानुसार **'आदित्य'** कहलाया है। पञ्चदश—स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपतिः **'भुवनपतिः'** नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में—**'वायु'** कहलाया है। एवं त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी—प्रदेश में प्रतिष्ठित वही भूतानांपतिः **'भुवपतिः'** नाम से प्रसिद्ध है। यही देवपरिभाषा में **'अग्नि'** कहलाया है। इसप्रकार स्तोमभेद से पार्थिव सम्वत्सरचक्र में तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ एक ही सम्वत्सराग्नि तीन रूप धारण कर लेता है। निष्कर्ष यही निकला कि, भूपिण्डकेन्द्रस्थ गृहपति अग्नि के उक्थरूप के आधार पर **'भूपिण्ड, त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंशस्तोम'**, इन चार प्रदेशों में विभक्त अर्काग्नि के **'भूपति, भुवपति, भुवनपति, भूतानांपतिः'** ये चार रूप होजाते हैं। इन्हीं चारों को लक्ष्य में रखकर **'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास'** यह कहा गया है।

भौमाग्निः——[१ भूपतिः—भूपिण्डावच्छिन्नः- अर्कविधः—अग्निः]

सम्वत्सराग्निः—{
२–भुवपतिः—पृथिव्यवच्छिन्नः– ,, —अग्निः
३–भुवनपतिः—अन्तरिक्षावच्छिन्नः–,, —वायुः
४–भूतानांप्रतिः—द्युलोकावच्छिन्नः–,, –आदित्यः
}

अग्निभ्रातरः ज्येष्ठभ्राता

पिता—प्रजापतिर्ह वः

गृहपतिः—उक्थः

प्रश्न यह है कि, अर्कविध उक्त चारों अग्नियों में से पार्थिव गृहपति यजमान के पार्थिव हर्वियज्ञ— में होता कौन सा अग्नि बनता है ? । आप्यविज्ञान में एकमात्र इसी प्रश्न का समाधान हुआ है । पार्थिव स्तौम्यत्रैलोक्य में व्याप्त त्रिविधा सम्वत्सराग्नित्रयी इसकर्म्म में असमर्थ है । क्योंकि, इसका भूपिण्ड से-अन्तर्य्याम-सम्बन्ध सुरक्षित नहीं रहने पाता । कारण इस का यही है कि—'**समुद्रमभितः पिन्वमानम्**' इस मन्त्रवर्णन के अनुसार भूपिण्ड चारों ओर से अर्णवसमुद्र से वेष्टित है । इस अप्तत्त्व के सम्बन्ध से तत्रस्थ सम्वत्सराग्नित्रयी का भौमयज्ञवहन में अन्तर्य्याम–सम्बन्ध नहीं होने पाता । आरम्भ में एकरूप से प्रतिष्ठित तीनों साम्वत्सरिक प्राणाग्नि इस अप्समुद्र के गर्भ में चले जाते हैं । अतएव इन का भूपिण्ड से अन्तर्य्याम–सम्बन्ध नहीं रहता । सम्बन्ध रहता है–उस भौम प्राणाग्नि का ही, जिसे '**गायत्र–अग्नि**' भी कहा जाता है । यही अपने '**एति-च प्रेति चान्वाह**' बल से तृतीय द्यु से सोमापहरण में भी समर्थ होता है, एवं पार्थिव देवताओं के यज्ञ के '**हौत्र-कर्म्म**' का भी सञ्चालन करता है ।

साम्वत्सरिक—अग्नित्रयी ने क्यों नहीं इस कर्म्म को अपनाया ?, इस का उत्तर है—वषट्कार । भूपिण्ड की अपनी एक वाङ्मयी सीमा है । वही वाक्सीमा '**वषट्कार**' नाम से प्रसिद्ध है । इस भौम–वषट्कारसीमा में वही अग्नि अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रह सकता है, जो भूमि की प्रातिस्विक वस्तु बना रहता है । सम्वत्सराग्नि का इस वषट्कार-सीमा से सम्बन्ध अवश्य रहता है, परन्तु यह उस में प्रतिष्ठित नहीं होसकता । इसी प्राकृतिक स्थिति का आख्यानरूप से निरूपण करते हुए श्रुति ने कहा है कि, तीन अग्नि पलायित होकर ( भाग कर ) पानी ( अर्णवसमुद्र ) में जा छुपे, एवं एक अग्नि ( गायत्र ) ने '**हौत्र-कर्म्म**' करना स्वीकार किया ।

हौत्रकर्म्म में नियुक्त गायत्राग्नि इस सम्वत्सराग्नि के सहयोग से सर्वथा वञ्चित रहता है, तथा: सम्वत्सराग्नित्रयीयों को पार्थिवयज्ञ का कोई फल भी नहीं मिलता, यह बात नहीं है । जब गायत्राग्नि द्युलोकस्थ देवताओं के समीप हवि लेकर पहुँचते हैं—+—, तो अर्णव समुद्र में व्याप्त आप्य आसुरप्राण के आक्रमण से यही सम्वत्सराग्नित्रयी इस की रक्षा करती है । पश्चिम–दक्षिण–उत्तर–प्रान्तस्थ साम्वत्सरिक—अग्नित्रयी सीमारूप से इन तीनों ओर से गायत्राग्नि की रक्षा करती है, यही इस अग्नित्रयी का पार्थिवयज्ञ में उपभोग है । साथ ही जो हविर्द्रव्यांश प्रवर्ग्यरूप से सम्वत्सराग्नित्रयी के गर्भ में रह जाता है, वह इन के लिए आहुतिद्रव्य बन जाता है । सीमारूप से होता अग्नि की स्वरूपरक्षा, तथा प्रतिफल में उच्छिष्टद्रव्य का ग्रहण करना हीं इन का यज्ञसंस्था में उपयुक्त होना है ।

इस सम्बन्ध मे एक यह विशेषता ध्याम में रखनी चाहिए कि, इस पलायित आप्याग्नि की **शुद्ध–मलिन** भेद से दो अवस्था होजातीं हैं, जैसाकि 'आप्या-विज्ञान' में विस्तार से बतलाया जाचुका है । सम्वत्सराग्नित्रयी का अर्णवसमुद्र से सम्बन्ध बतलाया गया है । इस अर्णवसमुद्र के आप्यभाग में सम्वत्सराग्नित्रयी का जो प्रवर्ग्यभाग प्रविष्ट रहता है, वही मलिन आप्या है, एवं ब्रह्मौदनात्मक सम्वत्सराग्नित्रयी ही शुद्ध आप्या हैं । ये ही अग्निरक्षक बनते हुए सीमा है । मलिन आप्यायुक्त अप्तत्त्व ही भूपिण्ड का

---

+—"**अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृदादिद्देवेषु राजसि**" । (यजुः संहितायाम्)

उत्पादक है। इस परम्परा से प्रवर्ग्यभूत आप्त्याग्नित्रयी भूपिण्ड में प्रतिष्ठित रहती है। जो हर्विद्रव्य भूपिण्ड पर प्रवर्ग्य—सम्बन्ध से रह जाता है, वह इस मलिन-प्रवर्ग्य-आप्त्याग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। एवं द्युलोक में होता-अग्नि के द्वारा ले जाया जाता हुआ जो हर्विद्रव्य प्रवर्ग्यरूप से सम्वत्सरमण्डल में रह जाता है, वह तत्रस्थ, सीमारूप, शुद्ध आप्त्याग्नित्रयी की तृप्ति का कारण बनता है।

यह वैध हविर्यज्ञ उक्त प्राकृतिक-पार्थिव-हर्वियज्ञ का ही प्रतिरूप है। अतः जैसे वहाँ सीमारूप से पलयित अग्नित्रयी का सम्बन्ध होरहा है, तथैव यहाँ भी प्रतिरूपविधि से उनका संग्रह होता है। वहाँ की भाँति यहाँ भी प्रवर्ग्य द्रव्य का सम्बन्ध होना हीं चाहिए। वहाँ की भाँति भूगर्भस्थ मलिन आप्त्याग्नित्रयी की तृप्ति का यहाँ भी समावेश होना हीं चाहिए। इसी उद्देश्य से **"देवाननुविधा वै मनुष्याः"—"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"** इस आदेश के अनुगमन के लिए, प्राकृतिक अग्निसम्पत्ति के संग्रह के लिए पलायित अग्नित्रयी के प्रतिरूप में तीन परिधियों का परिधान किया जाता है। इनकी तृप्ति के लिए इन पर प्रवर्ग्यरूप से आज्यादि डाला जाता है। जो आहुतिद्रव्य भूपृष्ठ पर गिर जाता है, वह मलिन आप्त्याग्नि की तृप्ति का कारण बनता है। परिधिपरिधानकर्म की यही संक्षिप्त उपपत्ति है॥ १३, १४, १५, १६, १७, १८॥

ये परिधियाँ किस काष्ठ की बनाईं जायँ?, इसका उत्तर **'यज्ञिय-वृक्ष'** हैं। साम्वत्सरिक आप्त्याग्नित्रयी सम्वत्सरयज्ञसीमा के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतः इन का प्रतिरूप काष्ठ वही बन सकता है, जिन में यज्ञातिशय विकसित हो। **पलाश, विकङ्कत, काष्मर्य्य, बिल्व, खदिर, उदुम्बर,** इन वृक्षों में यज्ञातिशय प्रकृत्या ही विकसित रहता है, अतएव ये यज्ञिय वृक्ष माने गए हैं। इन में से प्रधान पक्ष तो **'पलाश'** ग्रहण का ही है। क्योंकि पलाशवृक्ष में ब्रह्मवीर्य्यसम्पादक अग्नितत्त्व प्रधानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। एवं अग्निसम्पत्तिसंग्रह के लिए ही इन परिधियों का ग्रहण होता है। पलाश के समय पर न मिलने से ही विकङ्कतादि अन्य काष्ठों का ग्रहण करना चाहिए। पाठकों की सुविधा के लिए इन यज्ञिय-वृक्षों के नामान्तर अत्र उद्धृत कर दिए जाते हैं॥ १९ २०॥

## १-पलाशः—

**पलाश, किंशुक, करक, सुपर्णी, वातपोत,** ये सभी शब्द अंशतः समानार्थक माने गए हैं। गुणदृष्टि से इसी पलाश के ये नाम प्रसिद्ध हैं—**याज्ञिक, ब्रह्मवृक्ष, ब्रह्मपादप, ब्रह्मोपनेता, पूतद्रु, समिद्वर, काष्ठद्रु, पर्ण, त्रिपर्ण, त्रिपत्रक, वक्रपुष्प, रक्तपुष्प, बीजस्नेह, कृमिघ्न, क्षारश्रेष्ठ,** इत्यादि। निम्नलिखित संग्रहश्लोक पलाश के इन्हीं गुणों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

> **कषायतिक्तकटुकः स्निग्धोष्णो दीपनः सरः॥**
> **भग्नसन्धानकृद् वृष्यः पलाशो गुणतो मतः॥१॥**
>
> **त्रिदोषहृत् कृमिघ्नोऽयं पलाशो यज्ञपादपः॥**
> **ग्रहण्यर्शो गुल्मगुदरोगप्लीहाव्रणे हितः॥२॥**

रक्तैः पीतैः सितैर्नीलैः पुष्पैरेव चतुर्विधः ॥
सर्वे समगुणा उक्ताः सितस्तु ज्ञानवर्द्धनः ॥३॥
पुष्पं विपाकमधुरं ग्राहिशीतलमूषणम् ॥
कषायतिक्तकटुकं वातलं चोष्णमिष्यते ॥४॥
एतत् पुष्पं कफं पित्तं कुष्ठं दाहं तृषामपि ॥
वातरक्तं रक्तदोषं मूत्रकृच्छ्रं च नाशयेत् ॥५॥
फलं विपाककटुकं लघूष्णं रूक्षमिष्यते ॥
शूलकुष्ठप्रमेहार्शः कृमिगुल्मोदरं हरेत् ॥६॥
पामकण्डूतिदद्रूत्वग्दोषघ्नं वृक्षबीजकम् ॥
फलबीजं कटुस्निग्धोष्णं कृमिघ्नं कफापहम् ॥७॥
तन्मूलस्वरसो हन्ति नेत्रच्छायान्ध्यपुष्पकम् ॥
नूतनः पल्लवश्चास्य कृमिं वातं च नाशयेत् ॥८॥
ग्राही तस्य तु निर्य्यासो हरेत् स्वेदार्तिनिर्गमम् ॥
मुखरोगांश्च कासांश्च ग्रहणीं च विनाशयेत् ॥९॥ इत्यादि ॥

| संस्कृत | राष्ट्रभाषा | बंगला | महाराष्ट्री | गुजराती | कर्णाटकी | तैलङ्गी | तामिली | उत्कल |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पलाशः | पलाश<br>ढाकटेसू<br>केसू धरा<br>कांकरिया | पलास | पलस | खांखिरो | मुत्तुलु | मातुका-चट्टू | परशन् | पराशु |

## २-विकङ्कतः—

विकङ्कत, वैकङ्कत, रावण, मधुपर्णी, गोपघोण्टा, पिण्डार, किकरी, पूतकिंकिणी, हिमक, इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणदृष्टि से यही इन नामों से प्रसिद्ध है—यज्ञिय, यज्ञवृक्ष, ब्रह्मपादप, स्रुगदारु, स्रुवद्रुम, स्रुवावृक्ष, सुधावृक्ष, पृथुबीज, बहुफल, मृदुफल, ग्रन्थिल, दन्तकाष्ठ, पादरोहिण, व्याघ्रपात्, घृतिकर, कण्टकी, कण्टकारी, कण्टपाद, कण्टपत्र, स्वादुकण्टक, इत्यादि। निम्नलिखित संग्रह-श्लोक विकङ्कत के इन्हीं गुणों का दिग्दर्शन करा रहे हैं—

कषायोऽम्लश्च मधुरः पाकेऽतिमधुरो लघुः ॥
विकङ्कतोऽयं नात्युष्णशीतो दीपनपाचनः ॥१॥
कफं पित्तं रक्तदोषान् नेत्रपुष्पं च कामलाम् ॥
शोषं शोकं व्रणं दाहं लूतामर्शश्च हन्ति सः ॥
विकङ्कतफलं पक्वं मधुरं सर्वदोषहृत् ॥२॥

| सं० | रा० | बँ० | म० | गु० | क० | तै० | उ० |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शमी | छोंकर<br>छिकुर<br>सफेद<br>कीकर | शाई<br>छुई<br>वाब्ला | थोरशमी<br>लघुशमी | खिजड़ो<br>नानीखिजड़ी | वती कावन्नि | शमीचेट्ट | शुमी |

३—काष्मर्य्यः—

काष्मर्य्य, काष्मेरी, गम्भारी, श्रीपर्णी, भद्रपर्णी, स्निग्धपर्णी, मधुपर्णी, कुमुदा, मोदिनी, गृष्टि, भद्रा, सुभद्रा, सर्वतोभद्रा, गोपभद्रा, मधुभद्रा, महाभद्रा, सदाभद्रा, रोहिणी, पीतरोहिणी, हीरा, इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। इन में 'काष्मर्य्य' शब्द का विशुद्ध 'छन्दोभ्यस्ता' नामक वैदिकी भाषा से ही सम्बन्ध है। गुणदृष्टि से यही इन नामों से व्यवहृत हुआ है—क्षीरिणी, विदारिणी, मधुरसा, मधुमन्ती, सुकला, पीतकला, कटुकला, कृष्णकला, कृष्णवृन्ता कृष्णप, अश्वेता, वातहा, स्थूलत्वचा, दृढत्वचा, इत्यादि। निम्न लिखित संग्रह-श्लोकों से काष्मर्य्य के इन्हीं गुणों का समर्थन होरहा है—

गम्भारी मधुरा रिक्ता कषाया कटुका गुरुः ॥
दीपनी पाचनी मेध्योष्णवीर्य्या मेदनी तथा ॥१॥
हृद्या हन्ति ज्वरं दाहं शोषं शोकं तृषां विषम् ॥
आमशूलं प्रमेहार्शस्त्रिदोषं च भ्रमं कृमिम् ॥
शीतलं मधुरं तिक्तं गुरुस्निग्धं च तत्फलम् ॥
बृंहणं ग्राहि मेध्यं च वृष्यं रसायनम् ॥३॥
हन्ति मूत्रविबन्धश्च वातं पित्तं तृषां क्षयम् ॥
दाहं च रक्तदोषं च सतिक्तमधुरं फलम् ॥४॥

फलमम्लकषायं तु गुरुस्निग्धं विशुद्धिकृत् ॥
मूत्रदं बुद्धिदं हन्ति वातपित्तं चयं तृषाम् ॥५॥
रक्तक्षतं रक्तपित्तं रक्तदोषं च हन्ति तत् ॥
आमवातं मूत्रकृच्छ्रं दाहं च प्रदरं हरेत् ॥६॥
कषायतिक्तमधुरा फलमज्जाऽसृजोरुजम् ॥
ग्राहिणी वातला बल्या वृष्या पित्तं कफं हरेत् ॥७॥
कषायतिक्तमधुरं पुष्पं तस्यास्तु शीतलम् ॥
विपाकमधुरं ग्राहि वातलं रक्तदोषहृत् ॥८॥
गम्भारीमूलमत्युष्णं मानुषेषु हितं न तत् ॥९॥

| सं० | रा० | बँ० | म० | गु० | क० | तै० |
|---|---|---|---|---|---|---|
| गम्भारी | कुम्भरे<br>खम्भारी | गांभारी<br>गांभार | शींवण<br>गभारो | शवन्य | सींवनी | साह्मागुवुंटी<br>चेट्टु |

४--विल्वः--

बिल्व, श्रीफल, शलूष, मालूर, शाण्डिल्य, शल्य, सोमहरीतकि, गोहरीतकि, कपीतन, शलाटु, महाकपित्थ, नीलमल्लिक, ककट, सुनीतक, इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणदृष्टि से यही इन नामों से व्यवहृत हुआ है—शिवेष्ट, शिवद्रुम, मङ्गल्य, अतिमङ्गल, समीरसार, पूतिवात, पीतफल, महाफल, लक्ष्मीफल, सदाफल, गन्धफल, सत्यफल, सत्यधर्म्म, हृद्यगन्ध, गन्धपत्र, शैलपत्र, त्रिशाखापत्र, त्रिशिख, त्रिदल, पत्रश्रेष्ठ, कण्टकाढ्य, सितानन, अधरोरुह, इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक बिल्व के इन्हीं गुणों का समर्थन कर रहे हैं—

कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं संग्राहि दीपनम् ॥
कटुतिक्तकषायोष्णं बालं बिल्वमुदाहृतम् ॥१॥
तदेव विद्यात् संपक्वं मधुरानुरसं गुरु ॥
विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम् ॥२॥

| सं० | रा० | बँ० | म० | गु० | क० | तै० | ता० |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बिल्वः | बेल | बेल | बेलवृक्ष | बिलोविलु | बेललु | मारेडीपन्दू बिल्व | विलबपा भाम |

## ५—खदिरः—

खदिर, खद्मपत्री, प्रमख, कर्कटी, गायत्री, इत्यादि शब्द समानार्थक हैं। गुणदृष्टि से यही इन नामों से प्रसिद्ध हैं—याज्ञिक, यज्ञाङ्ग, मेध्य, यूपद्रुम, दन्तधावन, पथिद्रुम, रक्तसार, तिक्तसार, बहुसार, क्षितिक्षम, बालपत्र, बालपुत्र, बालतनय, वक्रकण्टक, कण्टकी, बहुशल्य, सुशल्य, जिह्मशल्य, जिह्वाशल्य, कुष्ठारि, कुष्ठहृत्, इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक खदिर-गुणों का ही यशोगान कर रहे हैं—

शीतोष्णः खदिरो दन्त्यः कषायकटुतिक्तकः ॥
अरिमेदो विट्खदिरे कदरः खदिरे सिते ॥१॥
कदरो हन्ति कण्डूतिं कुष्ठं भूतग्रहं ज्वरम् ॥
मुखरोगं पाण्डुरोगं रक्तदोषं कृमिं वृणम् ॥२॥
श्वित्रं शोथं चामपित्तं प्रमेहं च विषं तथा ॥
मेदोरोगं वातकफं नाशयेत् खदिरः सितः ॥३॥
सारो व्रण्यो रक्तदोषं मुखरोगं कफं हरेत् ॥
निर्य्यासो मधुरो बल्यः खादिरः शुक्रवर्द्धनः ॥४॥

| सं० | रा० | म० | गु० | क० | टै० |
|---|---|---|---|---|---|
| खदिरः | खैर कत्था पपड़िया खयर | खएरगाछ | खयर पांडराखयर | कोपिन खैर पिलीयतत्रि | चण्डचेट्टूखासु तेल्लचण्ड |

६–उदुम्बरः—

उदुम्बर, उदम्बर, प्रतिष्ठित, सुचक्षु, जन्तुफल, इत्यदि शब्द समानार्थक माने गए हैं। गुणदृष्टि से यही इन नामों से व्यवहृत हुआ है—यज्ञिय, यज्ञयोग्य, यज्ञाङ्ग, यज्ञसार, यज्ञफल, पवित्रक, ब्रह्मवृत्त, सौम्य, कालस्कन्ध, श्वेतवल्कल, शीतवल्कल, शीतफल, जनफल, सदाफल, जन्तुफल, अपुष्पफल, पुष्पशून्य, पुष्पहीन, पाणिमुख, क्षीरवृत्त, हेमदुग्ध, हेमदुग्धी, कृमिकण्टक, इत्यादि। निम्न लिखित श्लोक उदुम्बर के गुण हीं व्यक्त कर रहे हैं—

कषायमधुरः शीतो रूक्षो वर्ण उदुम्बरः ॥
व्रणापहोऽस्थिसंधानगर्भसन्धानकृद्गुरुः ॥१॥
कफपित्तमतीसारं योनियोगं च हन्ति सः ॥
कषायशीतलं वल्कं गर्भ्यं दुग्धं व्रणापहम् ॥२॥
आमं फलं कषायाम्लं मांसवृद्धिकरं जड़म् ॥
दोषलं रक्तरुकारि दीपनं रुचमिष्यते ॥३॥
अतिशीतं फलं पक्वं कषायमधुरं जड़म् ॥
कृमिकृत् कफकृद् रुच्यं हन्ति पित्तं प्रमेहकम् ॥४॥
रक्तरोगं क्षुधां मूर्च्छां दाहं शोषं श्रमं तृषाम् ॥
कोमलं तत्तृषां रक्तदोषं पित्तं कफं हरेत् ॥५॥
किञ्चित्तु कोमलं स्वादु कषायं शीतलं फलम् ॥
हन्ति प्रहारजं क्लेशं वान्ति पित्तमसृक्स्रुतिम् ॥६॥

| सं० | रा० | बँ० | म० | गु० | क० | ०० |
|---|---|---|---|---|---|---|
| उदुम्बरः | गूलर | यज्ञडुमुर | उम्बर | उम्बरो | अत्ति | वाडुचेट्ट |

## प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीय अध्याय का तृतीय ब्राह्मण एवं–द्वितीय ब्राह्मण का षष्ठब्राह्मण उपरत

—*—

## अत्र–इध्मब्राह्मण समाप्त

—*—

## द्वितीय प्रपाठक समाप्त

२

—*—

# प्रथमकाण्डान्तर्गत–तृतीय–अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण एवं–तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपक्रान्त परिधिब्राह्मण अत्र उपक्रान्त तृतीय—प्रपाठक—उपक्रान्त

## ३

——*——

उक्त यज्ञिय वृक्षों में से समयप्राप्त किसी एक यज्ञिय वृक्ष की जो परिधियाँ लीं जातीं हैं, वे गीलीं होनीं हैं। आर्द्रभाव ही इन का जीवनीय रस है, यही इनको प्रातिस्विक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति–संग्रह की दृष्टि से जहाँ आर्द्रभाव अभिप्रेत है, वहाँ आप्त्याग्नि के अब्गर्भित–स्वरूप की दृष्टि से भी आर्द्रभाव अपेक्षित है। तीनों परिधियाँ उस आप्त्याग्नित्रयी की ही प्रतिरूप हैं, जो आपोमय अर्णवसमुद्र में प्रविष्ट है। अतः तत्–सादृश्येन परिधियाँ आर्द्र हीं लीं जातीं हैं। जिसप्रकार आक्रमण–कर्त्ता के आक्रमण को वीर पुरुष अपने हाथों की परिधि से रोक देता है, एवमेव ये परिधियाँ आक्रमणरक्षक हीं बनीं हुई हैं। अतएव लम्बाई में ये बाहुपरिमाण हीं बनाई जाती हैं ॥१॥

'**गन्धर्वस्त्वा०**' इत्यादि मन्त्र से पश्चिम भाग में परिधि रक्खी जाती है। प्राकृतिक–यज्ञ में तृतीय द्युस्थानीय सोम की (पारमेष्ठ्य आप्य आसुराक्रमण से) रक्षा **विश्वावसुप्रमुख**, एतन्नामक **गन्धर्वप्राण** से ही होरही है। यहाँ भी परिधि के द्वारा वही रक्षाकर्म्म अभिप्रेत है। अतएव इस परिधिस्थापनलक्षण रक्षाकर्म्म में उसी प्राकृतिक रक्षक की भावना की जाती है। '**अन्तर्जगद् विज्ञान**' के अनुसार सम्पूर्ण विश्व, जिसमे कि यह जीवनयात्रा का सञ्चालन कर रहा है, अपना विश्व है। इस की शान्ति स्वास्ति में हीं यज्ञकर्त्ता यजमान की शान्ति-–स्वस्ति है। इस रक्षाकर्म्म से इसी के लिए इसी के भोग्य विश्व को सुरक्षित रहने की भावना व्यक्त करने के अभिप्राय से–'**विश्वस्यारिष्ट्यै**' इत्यादि कहा गया है ॥२॥

दक्षिणदिशा की ओर से प्राकृतिक हविर्यज्ञ पर जो आसुर आक्रमण होते रहते हैं, वे अग्निसयुक् इन्द्रप्राण से रोके जाते हैं *। एवं भौमदेवव्यवस्था के अनुसार दक्षिणदिशा की ओर से होने वाले मनुष्यविध इन्द्र के द्वारा रोके जाते थे ÷। अतएव यहाँ भी दक्षिण परिधिस्थापन से इन्द्र के बाहु की भावना से उसी इन्द्ररक्षक की प्राप्ति की जाती है। '**इन्द्रस्य बाहुरसि०**' इत्यादि मन्त्र का यही तात्पर्य्यार्थ है ॥३॥

उत्तरादिक् की ओर से होने वाले आक्रमण तत्रस्थ मित्रावरुण देवताओं से रोके जाते हैं, जैसा कि– "**उदीची दिक्, मित्रावरुणौ देवता**" ( तै० ब्रा० ३।११।५।२। ) इत्यादि कृष्ण श्रुति से प्रमाणित है।

———

* "दक्षिणा दिक्, इन्द्रो देवता" ( शै० ब्रा ३।११।५।१ )

÷ "अतो हीन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षांस्यपाहन्" ( श० १।४।५।३। )।

उहीं रक्षकों की भावना के लिए-'**मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः०**' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए उत्तर की ओर तीसरी परिधि का स्थापन होता है ॥४॥

## अथ-समिधाभ्याधानोपपत्तिः

अग्निकल्पार्थ पूर्व में गृहीत समिध आहवनीय में डालना हीं **समिधाभ्याधानकर्म्म** है। समिधाभ्याधान छन्द, तथा **ऋतुदेवता** के समिन्धन से सम्बन्ध रखता है। अर्थात्-यह समिन्धन छन्द, तथा ऋतुओं का ही किया जाता है। बात यह है कि, आहवनीय अग्नि में आहुतिद्रव्य का इसी अग्नि से द्युलोकस्थ देवताओं में गमन होने वाला है। अग्नि आहुति ले जाने वाले हैं। इधर अग्नि की प्रतिष्ठा छन्द, एवं ऋतुएँ हैं। यदि छन्द-ऋतु समिद्ध हैं, तो हव्यवाट् अग्नि भी समिद्ध है। एवं समिद्ध अग्नि हीं हव्यवहनकर्म्म में समर्थ है। अतः आहुतिकर्म्म से पहिले छन्द-ऋतु का भी समिन्धन **आवश्यक** होजाता है। समिन्धन होता है—अग्नि के उद्देश्य से, परन्तु लक्ष्य हैं-ऋतु और छन्द। अग्नितत्त्व **सम्वत्सराग्नित्रयी, पार्थिव गायत्राग्नि,** भेद से चार भागों में विभक्त बतलाया गया है। तीनों परिधि निदानेन सम्वत्सराग्नित्रयी के प्रतिरूप हैं, एवं आहवनीयाग्नि गायत्राग्नि का प्रतिरूप है। दोनों के समिन्धन के लिए पहिले समिध का परिधि से स्पर्श कराया जाता है, इस से तो परिधिलक्षणा अग्नित्रयी परोक्षरूप से समिद्ध होजाती है, अनन्तर समिध आहवनीय में डाली जाती है, इस से इस का प्रत्यक्षरूप से समिन्धन होजाता है ॥५॥

'**वीतिहोत्रं त्वा०**' इत्यादि गायत्रीमन्त्र से ही प्रथम समिध डाली जाती है। इस प्रथम समिध से छन्दों का समिन्धन करता है। उधर छन्द गायत्री-प्रमुख हैं। गायत्रीछन्द ही सब छन्दों का मूल माना गया है। इस एक के समिन्धन से इतर सब छन्दों का समिन्धन होजाता है। अतः सर्वच्छन्द-समिन्धनोद्देश्य से गायत्री मन्त्र के द्वारा गायत्रीछन्द का समिन्धन किया जाता है। समद्धिगायत्री इतर ६ ओं छन्दों का समिन्धन कर देती है। एवं ये समिद्ध छन्द देवताओं के लिए हव्यवहन करने में समर्थ होजाते हैं।

तात्पर्य्य इस समिन्धन का एकमात्र है-पार्थिव अग्नि मे दिव्य तेजोयुक्त अग्नि का समावेश। जबतक पार्थिव अग्नि में दिव्य तेज का आधान नहीं होजाता, तबतक यह अग्नि न तो हविर्वहनकर्म्म में हीं पूर्ण समर्थ बनता, एवं न ऐसे विशुद्ध पार्थिव-अग्निगृहीत हवि का दिव्यप्राणाग्निप्रधान प्राणदेवताओं के साथ ही सम्बन्ध होता, जैसाकि आगे के '**सामिधेनी-ब्राह्मणों**' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्राकृतिक यज्ञ से सौर सावित्राग्नि के द्वारा पार्थिव अग्नि का समिन्धन गायत्रीछन्द से ही होती है। खगोलीय उत्तरस्थ कर्कवृत्त से आरम्भ कर दक्षिणस्थ मकरवृत्तान्त क्रमशः **जगती, त्रिष्टुप्, पङ्क्ति, बृहती, अनुष्टुप्, उष्णिक्, गायत्री,** ये सात देवच्छन्द प्रतिष्ठित हैं। जगती उत्तर भाग की अन्तिम सीमा पर है, एवं गायत्री दक्षिण भाग की अन्तिम सीमा पर है। उत्तरादिक् सूर्य्यानुगता मानी गई है। अतएव तत्प्रतिरूप उतद्गाता की उदीची ही दिक् मानी जाती है, जैसाकि-'**उदीच्युद्गातुः** ( शत० १३।५।४।२४ ) से स्पष्ट है। कर्कवृत्तात्मिका उत्तर-प्रदेशोपलक्षिता उत्तरदिशा में प्रतिष्ठित सौर तेज दक्षिणस्थ गायत्रीछन्द से सम्बन्ध करता हुआ सम्पूर्ण छन्दों को समिद्ध कर देता है।

अपिच गायत्री अग्नि का छन्द है। इधर '**अग्निः सर्वा देवताः**' के अनुसार सम्पूर्ण देवता अग्नि की ही अवस्थाविशेष हैं। फलतः अग्नि के गायत्रीछन्द का सर्वछन्दोमयत्त्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है। गायत्री

के समिन्धन से तच्छन्दस्क पार्थिव अग्नि दिव्यभाव के समावेश से दिव्यदेवताओं के लिए हवि--र्वहन में समर्थ होजाता है । गायत्रीछन्द ही पार्थिवाग्नि को दिव्याग्नि के द्वारा समिद्ध करने वाला माध्यम है । अतएव यह छन्दः-समिन्धनकर्म्म आवश्यक होजता है । 'वीतिहोत्रं त्वा०' इत्यादि मन्त्रपूर्वक ही यह समिन्धनकर्म्म होता है । गायत्री के द्वारा होने वाले इस-'समिन्धनकर्म्म' से ही अग्निदेवता हौत्रकर्म्म में सफल होते है । इस दिव्यतेज के समावेश से 'द्यु तिमान्' बन जाते है, एवं पृथिवीस्थान ( भूस्थान ) से हविर्ग्रहण करते हुए ये अग्निदेव द्युलोक की ओर गमन करते हुए इस द्यु महिमा में वितत-व्याप्त होकर 'बृहत्' बन जाते हैं । इसप्रकार मन्त्र ने—समिन्धनकर्म्म-जनित सभी अतिशयों का स्पष्टीकरण कर दिया है ॥६॥

दूसरी समिध से वसन्त का समिन्धन किया जाता है । हौत्रकर्म्म में दीक्षित पार्थिव अग्नि जिस हवि का द्यु देवताओं के साथ सम्बन्ध कराने वाले हैं, वही हविर्द्रव्य दैवात्मा को उत्पन्न करने वाला है । परन्तु जबतक ऋतुप्राण का अग्नि में समावेश नहीं होजाता, तबतक प्रजनन असम्भव है । **'सम्वत्सराद् ऋतव रेतो आभृतम्'** इस कौषीतकि-वचन के अनुसार ऋतुएँ हीं प्रजननकर्म्म की अधिष्ठात्रीं हैं । आध्यात्मिक-यज्ञ में भी ऋतुमती-स्त्री ही गर्भाधान-योग्या मानी गई है । फलतः हव्यवहन के लिए जहाँ छन्दःसमिन्धन आवश्यक है, वहाँ प्रजनन के लिए ऋतुः-समिन्धन भी आवश्क बन जाता है । इस द्वितीय-समिधाभ्याधान से वसन्त-ऋतु का ही समिन्धन होता है । गायत्री-छन्दोवत् वसन्तऋतु इतर ग्रीष्मादि पाँचों ऋतुओं का मूलाधार है । फलतः वसन्तके समिन्धन से इतर ऋतुओं का भी समिन्धन होजाता है । समिद्ध ऋतुओं से अग्नि में ऋतुधर्म्म का का समावेश होजाता है । एतद्धर्म्मावच्छिन्न अग्नि दैवात्मप्रजनन में समर्थ होजाता है । इसी समिन्धनोपपत्ति को लक्ष्य में रखकर-**"ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति०"** इत्यादि कहा गया है, एवं समिधाभ्याधानकर्म्म की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥७॥

## अथ-मन्त्रजपोपपत्तिः

परिधिस्थापन के द्वारा तीनों ओर से तो नाष्ट्रा-राक्षसों का आक्रमण रोक दिया गया । अब पूर्व दिशा बच रहती है । पूर्व दिशा में भगवान् सूर्य्य का साम्राज्य है ! सौरतेज से बढ़कर नाष्ट्रा-राक्षसों का नाशक और कोई दूसरा नहीं है । आहवनीय के पूर्व भाग में इस रक्षक-दिव्य-प्राण के स्थापन की भावना से इस ओर मुख करके-**"सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै०"** इत्यादि मन्त्र का जप किया जाता है ॥ ८, ६ ॥

—— * ——

## अथ विधृती-स्थापनोपपतिः

**'विधृती'** शब्द 'विधृति' का द्विवचनान्त रूप है, जिसका अर्थ है--**'दो विधृतियों की समष्टि'** । आधिदैविक—विश्व में, एवं तद्रूप 'विश्वयज्ञ' में इन दो विधृतियों का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न के समाधान पर ही इस वैधयज्ञ की कुशामयी दो विधृतियों की उपपत्ति समन्वित होसकती है । धारण करने वाली 'शक्ति' ही **'विधृति'** है । अतएव जिस शक्ति ने इस विश्व को धारण कर रक्खा है, उसी विशेष-शक्ति को हम—'विधृति' कहेंगे ।

'अग्नीषोमात्मकं जगत्' के अनुसार 'प्राणाग्नि', एवं तत्र-तदाधारेण प्रतिष्ठित 'भूताग्नि', तथा 'प्राणसोम', और तदाधारेण प्रतिष्ठित 'भूत-सोम', ये दो ही तत्त्व पाञ्चभौतिक विश्व के प्रमुख उपादान-कारण माने गए हैं। शुष्कगुणक अग्नि, तथा आर्द्र गुणक सोम, ÷इन दोनों का अन्तर्य्यामात्मक-यजन ही विश्वयज्ञ का स्वरूप-निर्म्माता बना हुआ है। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं-मृत्तिकेत्येव--सत्यम्" इत्यादि छान्दोग्य-सिद्धान्तानुसार उपादानकारण ही ( जिसे कि वैदिक--परिभाषा में—'आरम्भण' कहा गया✽ है ) स्वकार्य्य की आधारात्मिका धृतिलक्षणा 'विधृति' [प्रतिष्ठाभूमि] माना गया है। कार्य्य का उपादानकारण ही कार्य्य के लिए प्रभव, प्रतिष्ठा, तथा परायण है। प्रभव--प्रतिष्ठा--परायणात्मक उपादानकारणात्मक अग्नि--सोम--युग्म इसी दृष्टि से 'विधृति' मान लिया गया है अग्नीसोमात्मक कार्य्यरूप विश्व का। अग्नि, और सोम के समन्वय--सम्बन्ध से प्रतिष्ठात्मिका यह 'विधृति' क्योंकि द्विपर्वात्मिका है। अतएव एकवचनान्त 'विधृति' शब्द--द्विवचनान्त- 'विधृती' शब्द में परिणत होगया है।

क्या तात्पर्य्य ?। इस तात्पर्य्य के स्पष्टीकरण के लिए हमें उस 'सम्वत्सरचक्र' को ही लक्ष्य बना लेना पड़ेगा, जिसमें अग्नि, और सोम के ऋतात्मक, तथा सत्यात्मक, दो दो स्वरूप अभिव्याप्त हैं। वायव्य-धरातल में आसमन्तात् अभिव्याप्त वायव्य-अग्नि, तथा वायव्य--सोम ही 'अहृदयमशरीरं-ऋतम्' इस लक्षण के अनुसार 'ऋताग्निसोमयुग्म' है, जिस ऋताग्नि--ऋतसोम के वृषा--पोषात्मक-दाम्पत्य से ही 'ऋतु' भाव अभिव्यक्त हुआ है, एवं जिस ऋतुभाव के अभिप्लवानुगत--परिप्लव--स्तोमों से ही पञ्चर्त्तु, किंवा षड्त्तु-समष्टि रूप-'सम्वत्सर' की अभिव्यक्ति हुई है। अग्निप्रधान सूर्य्य, एवं सोमप्रधान--चन्द्रमा, हीं 'सहृदयं-सशरीरं-सत्यम्' इस लक्षण के अनुसार 'सत्याग्निसोमयुग्म' है, जिस सत्याग्नि [सूर्य्य], एवं सत्यसोम [चन्द्रमा]। के वृषा--पोषात्मक--प्राण--रयि--लक्षण दाम्पत्य से ही यथापूर्व सृष्टिधाराएँ प्रक्रान्त हैं।×

तदित्थं वायव्य-ऋताग्निसोमद्वयी, एवं सूर्य्य-चन्द्रात्मिका सत्याग्निसोम-द्वयी, से ही 'सम्वत्सर-चक्र' का स्वरूप सम्पन्न हुआ है, जिसके कालात्मक, तथा यज्ञात्मक, दो विवर्त्त माने गए हैं। अग्नि--सोम--मय वही सम्वत्सर 'यज्ञात्मक सम्वत्सर' है। एवं इन दोनों का भोगकालात्मक 'समयतत्त्व' ही—'कालात्मक-सम्वत्सर' है। 'कालो यज्ञं समैरयत्' [ अथर्वसं० कालसूक्त—१९ अध्याय ] के

---

÷ –द्वयं वा इदं न तृतीयं-अस्ति-शुष्कं चैव, आर्द्रञ्च। यच्छुष्कं—तदाग्नेयम्। यदार्द्रं-तत् —सौम्यम्।

✽ –किं स्विदासीदधिष्ठानं—आरम्भणं कतमित्-स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा विद्यामौर्णोन् महिमना विश्वचक्षाः॥
—ऋक्सं० १०।८१।२

×—सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥
—ऋक्सं० १०।१९०।३।

अनुसार कालात्मक सम्वत्सर ही वसोरूप यज्ञात्मक सम्वत्सर का छन्दोरूप--वयोनाधात्मक—'**आवपन**' है। कालरूप इसी '**खंब्रह्म**' ( **आकाशायतन** ) में यज्ञरूप सम्वत्सर सुप्रतिष्ठित है। अग्निरूप--सूर्य्य **अह:काल शुक्लपक्ष–षण्मासा-उत्तरायण**, इन अर्चिम्मार्गात्मक ज्योतिर्भावों के साक्षी हैं, तो चन्द्रमा **रात्रिकाल–कृष्णपक्ष–षण्मासा--दक्षिणायन**, इन धूममार्गात्मक तमोभावों के साक्षी हैं। काल--यज्ञात्मक–सम्वत्सर--चक्ररूप ब्रह्माण्ड के सुप्रसिद्ध--को अण्डकटाह ही वैदिक--परिभाषा में **सूर्य्यानुगत–ऐन्द्र–मित्रकपाल**, तथा **चन्द्रमानुगत–वारुण**–वरुणकपाल नाम से प्रसिद्ध हैं। **अर्द्ध-ज्योतिश्चक्रात्मक अर्द्ध खगोल ही सौर–ऐन्द्र–मित्रकपाल है, जिसे—'पूर्वकपाल' कहा जाता है। एवं अर्द्ध खगोल ही–अर्द्ध वारुण–वरुणकपाल है**, जिसे '**पश्चिमकपाल**' कहा जाता है।

कपालद्वयात्मक–अण्डकटाहद्वयात्मक–अग्नीषोमात्मक–सूर्य्य–चन्द्रमासमन्वित–यज्ञात्मक विश्वमण्डल ही सम्वत्सरप्रजापति के **कालात्मक**, तथा **यज्ञात्मक** स्वरूपेतिवृत्त का संक्षिप्ततम स्वरूप–दिग्दर्शन है। इस सम्वत्सरमण्डल का मण्डलत्व–सौर–चन्द्र–रश्मियों के तिरश्चीन–भाव से ही अनुप्राणित है, जैसाकि—'**तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्**' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है÷। वर्तुलवृत्त का स्वरूप वृत्त की प्रतिबिन्दु की वक्रता–कुटिलता से ही सम्पन्न होता है। इस बिन्दु-बिन्दु-प्रतिबिन्दु वक्रता–से ही यज्ञात्मक–सम्वत्सरकाल–'**कुटिलकाल**' कहलाया है, जिस की यह प्रकृतिसिद्धा कुटिलता, किंवा वक्रता सौर–चान्द्र–भेदभिन्न–अग्नि–सोमा-नुबन्धी दो अण्डकटाहों के अनुबन्ध से स्थूलरूपेण दो भागों में विभक्त होरही है। अर्द्ध–कुटिल–अण्डकटाह का साक्षी अग्न्यात्मक सूर्य्य है, तो अर्द्ध-कुटिल–अडकटाह का साक्षी सोमात्मक चन्द्रमा है।

ये ही आधिदैविक विश्व–प्रजापति के दो सुप्रसिद्ध चक्षु हैं—'**चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ**'। सूर्य्यात्मक अर्द्ध अण्डकटाह ही उस प्रजापति का दक्षिण–चक्षुनु गत–दक्षिण-कुटिल-भ्रू है, एवं चन्द्रात्मक अर्द्ध–अण्डकटाह ही उसका वाम–चक्षुरनुगत–वाम–कुटिल-भ्रू है। सौर–चान्द्र–भावानुबन्धी–अग्नीषोमात्मक–अण्डकटाहद्वय--समष्टिरूप–सर्वथैव–वक्रित-कुटिल–दोनों भ्रूव ही अग्नीषोमात्मक विश्व के दो 'भ्रू' हैं, जिन के प्रतिरूप ही मानवीय आध्यात्मिक-यज्ञ ( शरीर ) के दोनों भ्रूव–अभिव्यक्त हुए हैं। दक्षिणभ्रूव सौर हैं, तो वामभ्रूव चान्द्र है। इनके स्वरूप–निर्म्माण में पावनतम सौर अग्नि, तथा पावनतम–'**पवित्र**' नामक ब्राह्मणस्पत्य–सोम ही प्रधान–रहते हैं। अतएव जनन–मरणादि आशौच–प्रसङ्गों में भ्रुवों का निराकरण नहीं किया जाता। अत्र इस प्रसङ्ग से यही निवेदनीय है कि, तिरश्चीन भ्रुव ही मानव की स्वरूप–प्रतिष्ठा के आधार हैं। इन के शिथिल होते हीं ( आँखे बन्द होते ही ) सबकुछ समाप्त है, वैसे ही, जैसे कि सौर–चान्द्र–अण्डकटाहों के प्रलयकाल में पारमेष्ठ्य–समुद्रमें विलीन होते ही पार्थिव विश्व परिसमाप्त होजायगा।

---

÷ **तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदासीदुपरि स्विदासीत्।**
**रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः पुरस्तात्॥**
—ऋक्सं० १०।१२९।५।

अग्निमय सूर्य्य, तथा सोममय चन्द्रमा, दोनों क्रमशः द्यौः, तथा प्रथिवी के भी संग्राहक-बने हुए हैं। द्यावापृथिवीरूप-सौर-चान्द्र-अग्नि-सोमात्मक-कालचक्र ही, कालचक्र के अण्डकटाहात्मक दोनों भ्रूहीं अग्नीषोमात्मक विश्व की मूलप्रतिष्ठा हैं। अतएव अवश्य ही इन्हें 'विधृती' कहा जासकता है, जिस इस—'विधृती' तत्त्व का 'दिग्देशकालस्वरूप-मीमांसा'-नामक स्वतन्त्र निबन्ध में-'विधृतीश्च पुण्याः' * इत्यादि मन्त्रव्याख्यान में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। भ्रुवात्मिका इसी 'विधृती' की प्रतिरूप-सम्पत्ति-प्राप्ति के लिए-यहाँ-कुशात्मिका-'विधृती' स्थापित की जाती है, इत्यलमतिविस्तरेण-विधृतितत्त्वस्वरूपपेतिवृत्तेन।

'विधृती' उन दो दर्भतृणों की याज्ञिक संज्ञा है, जिन्हें वेदि पर स्थापित किया जाता है। यह वैधयज्ञ पुरुषविध बतलाया गया है। प्रस्तररूप शिखा का स्थापन होगया, आहवनीयादिरूप से शिरोभागादि इतर शरीरावयवों का स्थापन होगया। अब भौंहें शेष हैं। इनका स्थापन और अपेक्षित है। इसी उद्देश्य से 'विधृती-स्थापन' होता है। पुरुषयज्ञसंस्था में भौंहें वक्र रहती है, अतः निदानेन तद्रुप विधृती भी तिर्य्यक् ही रक्खीं जातीं हैं। यही तिर्य्यगाधान की एक उपपत्ति है। उसी निदानमर्य्यादा के अनुसार प्रस्तर क्षत्र का प्रतिरूप है, तो इतर बर्हि विट् का प्रतिरूप है। स्वरूपरक्षा के लिए दोनों का नियन्त्रण अपेक्षित है। नियन्त्रण करना मर्य्यादासूत्र का काम है। मर्य्यादासूत्र स्वभावतः वक्र है, टेढा है, उस में सरलता नहीं है। वह क्षमा करना नहीं जानता। निदानेन विधृती मर्य्यादासूत्र का ही प्रतिरूप है। अतएव इसे तिर्य्यक् रूप से ही स्थापित किया जाता है। इसी क्षत्र-विट् विधरणकर्म्म से इसे 'विधृती' कहना अन्वर्थ बनता है। विधृती-स्थापन कर्म्म के अनन्तर जो प्रस्तर बिछाया जाता है, उस की उपपत्ति स्पष्ट है ॥१०, ११॥

# अथ-स्रुक्स्थापनकर्म्मोपपत्तिः

विधृती के ऊपर प्रस्तर-स्थापन के अनन्तर वह अध्वर्य्यु प्रस्तर के साथ अपने वामहस्त का सम्बन्ध बनाए हुए आग्नीध्र नामक ऋत्विक् के हाथ से क्रमशः जुहू, उपभृत्, ध्रुवा नाम के स्रुक्पात्रों को 'घृताच्यसि०' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ ले लेकर "सेदं प्रियेण धाम्ना०" इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ इन्हें वेदि-पर रखता जाता है। यही स्रुक्ग्रहण-स्थापन कर्म्म है। अनन्तर 'ध्रुवा असदन्' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ

* कालेयमङ्गिरादेवोऽथर्वा चाधितिष्ठतः
इमं च लोकं परमं च लोकं, पुण्यांश्च लोकान्
"विधृतीश्च पुण्याः"
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स इयते परमो नु देवः ॥
—अथर्वसंहिता १९।५४।५।

स्थापन-क्रमानुसार इन सब का स्पर्श करता है। इस ग्रहण-स्थापन-स्पर्श-कर्म्म की कोई विशेष उत्पत्ति नहीं है। मन्त्रशब्दार्थ के सम्बन्ध में जो कुछ विशेष वक्तव्य था, वह मूलनुवाद से ही गतार्थ है॥ १२, १३, १४, १५, १६॥

## प्रथमकाण्डान्तर्गत-तृतीय-अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण एवं तृतीय प्रपाठक का प्रथम ब्राह्मण उपरत परिधिब्राह्मण-अत्र समाप्त

## द्विब्राह्मणात्मक-"इध्म-परिधि-ब्राह्मण" समाप्त

------*------

श्रीः

# अथ–शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्ये

## सामिधेन्यनुवचनब्राह्मणम्

### ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

श्रीः

# अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये--सामिधेनी-ब्राह्मणम् ब्राह्मणचतुष्टयात्मकम्

## अथ–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् तृतीयप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणम् (सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतञ्च–प्रथमं ब्राह्मणम्)

## १

———*———

### १८—सामिधेन्यनुवचनकर्म्म

(मूल) इन्धे ह वा एतदध्वर्यु रिध्मेनाग्निम्–तस्मादिध्मो नाम । समिन्धे सामिधेनीभिर्होता-तस्मात् सामिधेन्यो नाम ॥ १ ॥

स आह–"अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" इति । अग्नये ह्येतत् समिध्यमानायान्वाह ॥ २ ॥

तदु हैक आहुः–अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहीति । तदु तथा न ब्रूयात् । अहोता वा एष पुरा भवति । यदैवैनं प्रवृणीते–अथ होता । तस्मादु ब्रूयात्-अग्नये समिध्यमानायानुब्रूही,-त्येव ॥ ३ ॥

आग्नेयीरन्वाह । स्वयैवैनमेतद् देवतया समिन्धे । गायत्रीरन्वाह । गायत्रं वा-अग्नेश्छन्दः । स्वेनैवैनमेतच्छन्दसा समिन्धे । वीर्यं गायत्री, ब्रह्म गायत्री; वीर्य्येणै-वैनमेतत्समिन्धे ॥ ४ ॥

एकादशान्वाह । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् । ब्रह्म गायत्री, क्षत्रं त्रिष्टुप् । एताभ्यामेवै-नमेतदुभाभ्यां वीर्याभ्यां समिन्धे–तस्मादेकादशान्वाह ॥ ५ ॥

स वै त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम् । त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञाः, त्रिवृदुदयनाः । तस्मात्-त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम् ॥ ६ ॥

ताः पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते । पञ्चदशो वै वज्रः, वीर्यं वज्रः, वीर्यमेवैत-त्सामिधेनीरभिसंपादयति । तस्मादेतास्वनूच्यमानासु यं द्विष्यात् तमङ्गुष्ठाभ्यावबाधेत-"इदमहममुमवबाधे" इति । तदेनमेतेन वज्रेणावबाधते ॥ ७ ॥

पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयः । अर्द्धमासशो वै संवत्सरो भवन्नेति, तद्रात्री-राप्नोति ॥ ८ ॥

पञ्चदशानामु वै गायत्रीणां त्रीणि च शतानि षष्टिश्चाक्षराणि । त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संवत्सरस्याहानि । तदहान्याप्नोति, तद्वेव संवत्सरमाप्नोति ॥ ९ ॥

सप्तदश सामिधेनीरिष्ट्या अनुब्रूयात् । उपांशु तस्यै देवतायै यजति यस्या इष्टिं निर्वपति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य, पञ्चर्त्तवः । एष एव प्रजापतिः सप्तदशः । सर्वं वै प्रजापतिः । तत्सर्वेणैव तं काममनपराधं राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निवपति । उपांशु देवतां यजति । अनिरुक्तं वा उपांशु । सर्वं वा अनिरुक्तम् । तत्सर्वेणैव तं काममनपराधं राध्नोति-यस्मै कामायेष्टिं निर्वपति । एष इष्टेरुपचारः ॥ १० ॥

एकविंशतिं सामिधेनीरपि दर्शपूर्णमासयोरनुब्रूयादित्याहुः । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य, पञ्चर्त्तवः, त्रयो लोकाः-तद्विंशतिः । एष एवैकविंशो य एष तपति । सैषा गतिः, एषा प्रतिष्ठा । तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति । तस्मादेकविंशतिमनु-ब्रूयात् ॥ ११ ॥

ता हैता गतश्रेरेवानुब्रूयात् । य इच्छेन्न श्रेयान् स्यान्न पापीयानिति । यादृशाय हैव स तेऽन्वाहः-तादृङ् वा हैव भवति, पापीयान्वा--यस्यैवं विदुष एता अन्वाहुः । सो एषा मीमांसैव, नत्वेवैता अनूच्यन्ते ॥ १२ ॥

त्रिरेव प्रथमां त्रिरुत्तमामनवानन्ननुब्रूयात् । त्रयो वा इमे लोकाः, तदिमानेवैत-ल्लोकान् सन्तनोति, इमान् लोकान् स्पृणुते । त्रय इमे पुरुषे प्राणाः । एतमेवास्मिन्ने-तत्संततमव्यवच्छिन्नं दधाति । एतदनुवचनम् ॥ १३ ॥

स यावदस्य वशः स्यात्–एवमेवानुविवक्षेत् । तस्यैतस्य परिचक्षा, उत साम्यवान्याद्, अनवानन्ननुविवक्षँस्तत्कर्म विब्रुह्येत । सा परिचक्षा ॥ १४ ॥

स यद्येतन्नोदाशंसेत–अप्येकैकामेवानावानन्ननुब्रूयात् । तदेकैकयैवेमाँल्लोकान् सन्तनोति । एकैकयेमाँल्लोकान् स्पृणुते । अथ यत्प्राणं दधाति--गायत्री वै प्राणः, स यत् कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह--तत् कृत्स्नं प्राणं दधाति । तस्मादेकैकामेवानवानन्न--नुब्रूयात् ॥ १५ ॥

ता वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह । संवत्सरस्यैवैतदहोरात्राणि सन्तनोति । तानीमानि सम्वत्सररस्याहोरात्राणि सन्ततान्यव्यवच्छिन्नानि परिप्लवन्ते । द्विषत उ चैवैतद् भ्रातृव्याय नोपस्थानं करोति । उपस्थानं ह कुर्याद्--यदसन्तता अनुब्रूयात् । तस्माद्वै सन्ततः अव्यवच्छिन्ना अन्वाह ॥ १६ ॥

## इति–प्रथमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्
## तृतीयप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणम्
## [ सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतञ्च–प्रथमं ब्राह्मणम् ]

१

—-*—-

## तृतीयोऽध्यायश्चात्र समाप्तः

३

श्री:

# अथ-शतपथब्राह्मण-हिन्दी-विज्ञानभाष्ये
# चतुर्थोऽध्याय:
# ४

-----*-----

## –प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्
## तृतीयप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणम्
## [ सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीयं ब्राह्मणम् ]
## २

———*———

हिङ् कृत्यान्वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वा आहुः । न वा अहिङ् कृत्य साम गीयते । स यद्धिङ्करोति, तद्धिङ्कारस्य रूपं क्रियते । प्रणवेनैव साम्नो रूपमुपगच्छति - ओ ३ म् ओ ३ म् इति । एतेनो हास्यैष सर्व एव ससामा यज्ञो भवति ॥ १ ॥

यद्वेव हिङ्करोति । प्राणो वै हिङ्कारः । प्राणो हि वै हिङ्कारः, तस्माद्–अपिगृह्य नासिके न हिङ्कर्त्तुं शक्नोति । वाचा वा ऋचमन्वाह । वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम् । तदेतत्पुरस्तान्मिथुनं प्रजननं क्रियते सामिधेनीनाम् । तस्माद्वै हिङ् कृत्यान्वाह ॥ २ ॥

स वा उपांशु हिङ्करोति । अथ यदुच्चैर्हिङ् कुर्यात्, अन्यतरदेव कुर्यात्, वाचमेव । तस्मादुपांशु हिङ्करोति ॥ ३ ॥

स वा एति च प्रेति चान्वाह । गायत्रीमेवैतदर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति । पराच्यह देवेभ्यो यज्ञं वहति, अर्वाची मनुष्यानवति । तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह ॥ ४ ॥

यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह ; प्रेति वै प्राणः एत्युदानः, प्राणोदानावेवैतद्दधाति। तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह ॥ ५ ॥

यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै रेतः सिच्यते, एति प्रजायते । प्रेति पशवो वितिष्ठन्ते, एति समावर्त्तन्ते । सर्वं वा इदमेति च प्रेति च । तस्माद्वा एति च प्रेति चान्वाह ॥ ६ ॥

सोऽन्वाह–'प्र वो वाजा अभिद्यव' इति । तन्नु प्रेति भवति । 'अग्न आयाहि वीतय' इति । तद्वेति भवति ॥ ७ ॥

तदु हैक आहुः–उभयं वा एतत् प्रेति संपद्यत इति । तदु तदातिविज्ञान्यमिव । 'प्र वो वाजा अभिद्यव' इति–तन्नु प्रेति । 'अग्न आयाहि वीतय' इति तद्वेति ॥ ८ ॥

सोऽन्वाह–'प्र वो वाजा अभिद्यव' इति–तन्नु प्रेति भवति । वाजा इति । अन्नं वै वाजाः, अन्नमेवैतदभ्यनूक्तम् । हविष्मन्त इति । पशवो वै हविष्मन्तः, पशूनेवैतदभ्यनूक्तम् ॥ ९ ॥

घृताच्या इति । विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार । तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस । तस्मै ह स्मामन्त्र्यमाणो न प्रतिशृणोति–नेन्मेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्निष्पद्याता इति ॥ १० ॥

तमृग्भिर्ह्वयितुं दध्रे–'वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे–विदेघ' इति ॥ ११ ॥

स न प्रतिशुश्राव । 'उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते । तव ज्योतींष्यर्चयो–'विदेघा ३ इति ॥ १२ ॥

स ह नैव प्रतिशुश्राव । 'तन्त्वा घृतस्नवीमहे' इत्येवाभिव्याहरत्–अथास्य घृतकीर्त्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल । तं न शशाक धारयितुम् । सोऽस्य मुखान्निष्पेदे । स इमां पृथिवीं प्रापादः ॥ १३ ॥

तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम् । स तत एव प्राङ् दहन्नभीयायेमां पृथिवीम् । तं गौतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः । स इमाः सर्वा

नदीरतिददाह । सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्द्धावति, तां हैव नातिददाह । तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्ति, अनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १४ ॥

तत एतर्हि प्राचीनं बहवो ब्राह्मणाः । तद्धाक्षेत्रतरमिवास, स्रावितरमिवास्वदित-मग्निना वैश्वानरेणेति ॥ १५ ॥

तदु हैतर्हि क्षेत्रतरमिव । ब्राह्मणा उ हि नूनमेनद्यज्ञैरसिष्वदन् । सापि जघन्ये नैदाघे समिवैव कोपयति तावत्, शीताऽनतिदग्धा ह्यग्निना वैश्वानरेण ॥ १६ ॥

स होवाच विदेघो माथवः—क्वाहं भवानीति । अत एव ते प्राचीनं भुवनमिति होवाच । सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा । ते हि माथवाः ॥ १७ ॥

अथ होवाच । गोतमो राहूगणः—कथन्नु न आमन्त्र्यमाणो न प्रत्यश्रौषीरिति । स होवाचअग्निर्मे वैश्वानरो मुखेऽभूत्, स नेन्मे मुखान्निष्पद्यातै, तस्मात्ते न प्रत्य-श्रौषमिति ॥ १८ ॥

तदु कथमभूदिति । यत्रैव त्वं 'घृतस्नवीमहे' इत्यभिव्याहार्षीः, तदेव मे घृतकी-र्त्तावग्निर्वैश्वानरो मुखादुदज्वालीत्, तन्नाशकं धारयितुम, स मे मुखान्निरपा-दीति ॥ १९ ॥

स यत्सामिधेनीषु घृतवत्—सामिधेनमेव तत् । समेवैनं तेनेन्धे, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ २० ॥

तदु घृताच्येति । 'देवाञ्जिगाती सुम्नयु'-इति । यजमानो वै सुम्नयुः, स हि देवाञ् जिगीषति, स हि देवाञ् जिघांसति । तस्मादाह--देवाञ् जिगाति सुम्नयुरिति । सैषाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । सर्वं वा अनिरुक्तम , सर्वेणैवैतत्प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

'अग्न आयाहि वीतये'-इति । तद्वेति भवति । वीतय इति-समन्तिकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका आसुः, इत्युन्मृश्या हैव द्यौरास ॥ २२ ॥

ते देवा अकामयन्त--कथन्नु न इमे लोका वितरां स्युः, कथन्नु इदं वरीय इव स्यादिति । तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन्--वीतय इति । त इमे विदूरं लोकाः, ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवत् । वरीयो ह वा अस्मै भवति--यस्यैवं विदुष एतामन्वा-हुर्वीतय इति ॥ २३ ॥

'गृणानो हव्यदातये' इति । यजमानो वै हव्यदातिः । गृणानो यजमानायेत्ये-वैतदाह । 'नि होता सत्सि बर्हिषि' इति। अग्निर्वै होता, अयं लोको बर्हिः । अस्मि-न्नेवैतल्लोकेऽग्निं दधाति । सोऽयमस्मिंल्लोकेऽग्निर्हितः । सैषेममेव लोकमभ्यनूक्ता, इममेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ २४ ॥

'तंत्वा समिद्भिरङ्गिर' इति । समिद्भिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धत । अङ्गिर इति । अङ्गिरा उ ह्यग्निः । 'घृतेन वर्द्धयामसीति' । तत्सामिधेनं पदम् । समेवैनं तेनेन्धे, वीर्यमेवास्मिन्दधाति ॥ २५ ॥

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' इति । बृहदु ह्येष शोचति समिद्धः । यविष्ठ्येति-यविष्ठो ह्यग्निः । तस्मादाह-यविष्ठ्येति । सैषा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-अन्तरिक्षलोकमेव । तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता । अनिरुक्तो ह्येष लोकः । एतमेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥२६॥

''स नः पृथु श्रवाय्यम्'' इति । अदो वै पृथु-यस्मिन् देवाः । एतत् श्रवाय्यम्--यस्मिन् देवाः । 'अच्छा देव विवाससि' इति । अच्छ देव विवाससि-एतन्नो गमय--इत्येवैतदाह ॥ २७ ॥

'बृहदग्ने सुवीर्यम्' इति । अदो वै बृहद्-यस्मिन् देवाः, एतत् सुवीर्यम्--यस्मिन् देवाः । सैषा एतमेव लोकमभ्यनूक्ता-दिवमेव । एतमेवैतया लोकं जयति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ २८ ॥

सोऽन्वाह-'ईडेन्यो नमस्यः'-इति । ईडेन्यो ह्येषः, नमस्यो ह्येषः । 'तिरस्तमांसि दर्शतः'-इति । तिर इव ह्येष तमांसि समिद्धो ददृशे । 'समग्निरिध्यते वृषा' इति । सं हीध्यते वृषा । 'वृषो अग्निः समिध्यते'—इति सं हीध्यते ॥ २९ ॥

'अश्वो न देववाहनः'—इति अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति । यद्वै नेति ऋचि—ओमिति तत् । तस्मादाह--'अश्वो न देववाहन' इति ॥ ३० ॥

'तं हविष्मन्त ईडते'—इति । हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते । तस्मादाह--'तं हविष्मन्त ईडते' इति ॥ ३१ ॥

'वृषणं त्वा वयं वृषन् वृष ( षा ) णः समिधीमहि' इति । सं ह्येनमिन्धते । 'अग्ने दीद्यतं बृहद्' इति । दीदयेव ह्येष बृहत् समिद्धः ॥ ३२ ॥

तं वा एतं वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाह--आग्नेय्यो वा एताः सर्वाः सामिधेन्यो भवन्ति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, इन्द्रो वृषा । एतेन उ ह अस्यैताः सेन्द्राः सामिधेन्यो भवन्ति । तस्माद् वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाह ॥ ३३ ॥

सोऽन्वाह-'अग्निं दूतं वृणीमहे' इति । देवाश्च वा असुराश्च-उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । तान् स्पर्द्धमानान् गायत्र्यन्तरा तस्थौ । या वै सा गायत्र्यासीद्-इयं वै सा पृथिवी । इयं हैव तदन्तरा तस्थौ । त उभय एव विदाञ्चक्रुः-'यतरान् वै न इयमुपावर्त्स्यति, ते भविष्यन्ति. परेतरे भवष्यिन्ति' इति । तामुभय एवोपमन्त्रयाञ्चक्रिरे । अग्निरेव देवानां दूत आस, सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणाम् । साग्निमेवानुप्रेयाय । तस्मादन्वाह-'अग्निं दूतं वृणीमहे' इति । स हि देवानां दूत आसीत् । 'होतारं विश्ववेदसम्' इति ॥ ३४ ॥

तदु हैकेऽन्वाहुः-'होता यो विश्ववेदसः' इति । नेद्-अरमित्यात्मानं ब्रवाणीति । तदु तथा न ब्रूयाद् । मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति, व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य--यन्मानुषम्, नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति । तस्माद्यथैवर्चाऽनूक्तमेवमेवानुब्रूयाद्--'होतारं विश्ववेदसम्' इत्येव । 'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्' इति । एष हि यज्ञस्य सुक्रतुः--यदग्निः । तस्मादाह-अस्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति । सेयं देवानुपाववर्त, ततो देवा अभवन्, पराऽसुराः । भवति ह वा आत्मना, परा अस्य सपत्ना भवन्ति-यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥ ३५ ॥

तां वा अष्टमीमनुब्रूयात् । गायत्री वा एषा निदानेन । अष्टाक्षरा वै गायत्री । तस्माद्-अष्टमीमनुब्रूयात् ॥ ३६ ॥

तद्धैके पुरस्ताद् धाय्ये दधति-'अन्नं धाय्ये, मुखत इदमन्नाद्यं दध्म' इति वदन्तः । तदु तथा न कुर्यात् । अनवक्लृप्ता ह तस्यैषा भवति-- यः पुरस्ताद्धाय्ये दधाति । दशमी वा हि तर्हि एकादशी वा संपद्यते । तस्यो ह एवैषा अवक्लृप्ता भवति--यस्यैतामष्टमीमन्वाहुः । तस्मादुपरिष्टादेव धाय्ये दध्यात् ॥ ३७ ॥

'समिध्यमानो अध्वरे' इति । अध्वरो वै यज्ञः । समिध्यमानो यज्ञ-इत्येवैतदाह । 'अग्निः पावक ईड्यः'-इति । पावको ह्येषः, ईड्यो ह्येषः । 'शोचिष्केशस्तमीमहे' इति ।

शोचन्तीव हि एतस्य केशाः समिद्धस्य । 'समिद्धो अग्न आहुत' इति । अतः प्राचीनं सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्--यदन्यत्समिधः । अपवृक्त इव ह्येतद् होता । यद्वा अन्यत्समिध इध्मस्यातिरिच्यते--अतिरिक्तं तद् । यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं-द्विषन्तं हास्य तत् भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते । तस्माद् अतः प्राचीनं सर्वमिध्ममभ्यादध्याद्--यदन्यत्समिधः ॥ ३८ ॥

'देवान् यक्षि स्वध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञः । देवान् यक्षि सुयज्ञिय इत्येवैतदाह । 'त्वं हि हव्यवाडसि' इति । एष हि हव्यवाड् यदग्निः । तस्मादाह-त्वं हि हव्यवाड्सीति । 'आजुहोता दुवस्यत । अग्निं प्रयत्यध्वरे । वृणीध्वं हव्यवाहनम्' इति । सम्प्रेष्यत्येवैतया आजुहुत च, यजत च, यस्मै कामाय समैन्धिढ्वं तत्कुरुतेत्येवैतदाह । 'अग्निं प्रयत्यध्वर' इति । अध्वरो वै यज्ञः । अग्निं प्रयति यज्ञ इत्येवैतदाह । 'वृणीध्वं हव्यवाहनमिति' । एष हि हव्यवाहनो--यदग्निः । तस्मादाह-वृणीध्वं हव्यवाहनमिति ॥ ३९ ॥

तं वा एतं अध्वरवन्तं त्रिचमन्वाह । देवान् ह वै यज्ञेन यजमानान् सपत्ना असुरा दुधूर्षाञ्चक्रुः । ते दुधूर्षन्त एव न शेकुधूर्वितुम्, ते पराबभूवुः । तस्माद्यज्ञो ऽध्वरो नाम । दुधूर्षन् ह वा एनं सपत्नः पराभवति-यस्यैवं विदुषोऽध्वरवन्तं त्रिचमन्वाहुः । यावद्वेव सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति, तावज्जयति ॥ ४० ॥

इति--प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं
तृतीयप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणं
( सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीयं ब्राह्मणं )
उपरतम्
२

श्री:

# अथ-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्
# तृतीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्
# ( सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतश्च-तृतीयं ब्राह्मणम् )
# ३

## अथ-निगदानुवचनम् —

एतद्ध वै देवा अग्निं गरिष्ठे युञ्जन्-यद्धोतृत्वे-'इदं नो हव्यं वह' इति । तमेतद् गरिष्ठे युक्त्वोपामदन् 'वीर्यवान् वै त्वमसि, अलं वै त्वमेतस्मा असि' इति-वीर्ये समादधतः । यथेदमप्येतर्हि ज्ञातीनां यं गरिष्ठे युञ्जन्ति, तमुपमदन्ति-वीर्यवान्वै त्वमसि, अलं वै त्वमेतस्मा असीति वीर्ये समादधतः । स यदत ऊर्ध्वमन्वाह-उपस्तौत्येवैनमेतत्, वीर्यमेवास्मिन् दधाति ॥ १ ॥

'अग्ने महाँ२॥ असि ब्राह्मण भारत'- इति । ब्रह्म ह्यग्निः । तस्मादाह-ब्राह्मणेति । भारतेति । एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहुः । एष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति, तस्माद्वेवाह-भारतेति ॥ २ ॥

## अथ-आर्षेयानुवचनम् —

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयति-'अयं महावीर्यो-यो यज्ञं प्रापदिति' । तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ३ ॥

परस्तादर्वाक् प्रवृणीते । परस्ताद्ध्यर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते, ज्यायसस्पतय उ चैवैतं निह्नुत, इदं हि-पितैवाग्रे, अथ पुत्रः, अथ पौत्रः; तस्मात्परस्तादर्वाक् प्रवृणीते ॥ ४ ॥

## अथ-निवित्पाठः—

स आर्षेयमुक्त्वाह-'देवेद्धो मन्विद्धः' ( तै. ब्रा. ३. ५. ३. १ ) इति । देवा ह्येतमग्र ऐन्ध । तस्मादाह-देवेद्ध इति । मनुर्ह्येतमग्र ऐन्ध । तस्मादाह-मन्विद्ध इति ॥५॥

'ऋषिष्टुतः' ( ३. ५. ३. २ ) इति ऋषयो ह्येतमग्रे स्तुवन् । तस्मादाह–ऋषिष्टुत इति ॥ ६ ॥

'विप्रानुमदितः' ( ३. ५. ३. ३ ) इति । एते वै विप्राः–यदृषयः । एते ह्येतमन्वमदन् । तस्मादाह विप्रानुमदित इति ॥ ७ ॥

'कविशस्तः' ( ३. ५. ३. ४ ) इति । एते वै कवयो यदृषयः । एते ह्येतमशंसन् । तस्मादाह–कविशस्त इति ॥ ८ ॥

ब्रह्मसंशितः ( ३. ५. ३. ५ ) इति । ब्रह्मसंशितो ह्येषः । 'घृताहवनः' ( ३. ५. ३. ६ ) इति । घृताहवनो ह्येषः ॥ ९ ॥

'प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्' ( ३. ५. ३. ७ ) इति । एतेन वै सर्वान् यज्ञान् प्रणयन्ति, ये च पाकयज्ञाः, ये चेतरे । तस्मादाह–प्रणीर्यज्ञानामिति ॥ १० ॥

रथीरध्वराणामिति । रथो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति । तस्मादाह–रथीरध्वराणामिति ॥ ११ ॥

'अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्' ( ३. ५. ३. ८ ) इति । न ह्येतं रक्षांसि तरन्ति । तस्मादाह–अतूर्तो होतेति । तूर्णिर्हव्यवाडिति । सर्वं ह्येष पाप्मानं तरति । तस्मादाह–तूर्णिर्हव्यवाडिति ॥ १२ ॥

'आस्पात्रं जुहूर्देवानाम्' ( तै० ब्रा० ३. ५. ३. ९ ) इति । देवपात्रं वा एष यदग्निः । तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति । देवपात्रं ह्येषः । प्राप्नोति ह वै तस्य पात्रम्–यस्य पात्रं प्रेप्सति, य एवमेतद्वेद ॥ १३ ॥

'चमसो देवपानः' ( ३. ५. ५. १० ) इति । चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति । तस्मादाह–चमसो देवपान इति ॥ १४ ॥

'अरां २॥ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि' ( ३. ५. ३. ११ ) इति । यथारान्नेमिः सर्वतः परिभूः, एवं त्वं देवान् सर्वतः परिभूरसि–इत्येवैतदाह ॥ १५ ॥

## अथ--देवतावाहनम्—

'आवह देवान्यजमानाय' ( तै० ब्रा० ३. ५. ३ ) इति । तदस्मै यज्ञाय देवानावोढवा आह ॥१॥ 'अग्निमग्न आवह' ( ३।५।३ ) इति । तदाग्नेयायाज्य-भागायाग्निमावोढवा आह ॥२॥ 'सोममावह' ( ३. ५. ३ ) इति । तत्सौम्यायाज्य-भागाय सोममावोढवा आह । 'अग्निमावह' (३. ५. ३) इति । तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति, ॥३॥ तस्मा अग्निमावोढवा आह ॥४॥ ॥ १६ ॥

अथ यथादेवतम् ॥५॥ 'देवाँ२॥ आज्यपाँ आवह' (३. ५. ३) इति । तत्प्रयाजा-नुयाजानावोढवा आह । प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपाः ॥६॥ अग्निंहोत्रायावह ( ३. ५. ३ ) इति । तदग्निं होत्रायावोढवा आह ॥७॥ स्वं महिमानमावह (३.५.३) इति । तत्स्वं महिमानमावोढवा आह । वाग् वा अस्य स्वो महिमा । तद्वाचमावोढवा आह ॥८॥ 'आ च वह जातवेदः सुयजा च यज' ( ३. ५. ३ ) इति । तद्या एवैतद्देवता आवोढवा आह, ता एवैतदाह । आ चैना वहानुष्ठ्या च यजेति, यदाह-सुयजा च यजेति ॥९॥ १७ ॥

स वै तिष्ठन्नन्वाह । अन्वाह ह्येतद्, असौ ह्यनुवाक्या, तदसावेवैतद् भूत्वाऽन्वाह । तस्मात्तिष्ठन्नन्वाह ॥ १८ ॥

आसीनो याज्यां यजति । इयं हि याज्या, तस्मान्न कश्चन तिष्ठन् याज्यां यजति । इयं हि याज्या, तदियमेवैतद् भूत्वा यजति । तस्मादासीनो याज्यां यजति ॥ १९ ॥

### इति–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणं
### तृतीयप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणं
### ( सामिधेनी ब्राह्मणानुगतञ्च तृतीयं ब्राह्मणं )
### उपरतम्

३

—–*––

श्री

# अथ–प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्
# तृतीयप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्
# [ सामिधेनी–ब्राह्मणानुगतञ्च चतुर्थं ब्राह्मणम् ]
# ४

## अथ–शान्तिकर्म—

यो ह वा अग्निः सामिधेनीभिः समिद्धः, अतितरां ह वै स इतरस्मादग्नेस्तपति, अनवधृष्यो हि भवति, अनवमृश्यः ॥ १ ॥

स यथा हैवाग्निः सामिधेनीभिः समिद्धस्तपति, एवं हैव ब्राह्मणः सामिधेनीर्विद्वाननुब्रुवंस्तपति। अनवधृष्यो हि भवति, अनवमृश्यः ॥ २ ॥

सोऽन्वाह–'प्रवः' इति। प्राणो वै प्रवान्, प्राणमेवैतया समिन्धे। 'अग्न आयाहि वीतये' इति। अपानो वा एतवान्, अपानमेवैतया समिन्धे। 'बृहच्छोचा यविष्ठय'–इति। उदानो वै बृहच्छोचा, उदानमेवैतया समिन्धे ॥ ३॥

'स नः पृथु श्रवाय्यम्' इति। श्रोत्रं वै पृथु श्रवाय्यम्, श्रोत्रेण हीदमुरु पृथु शृणोति, श्रोत्रमेवैतया समिन्धे ॥ ४ ॥

'ईडेन्यो नमस्यः' इति। वाग् वा ईडेन्या, वाग्घीदं सर्वमीट्टे। वाचेदं सर्वमीडितम्। वाचमेवैतया समिन्धे ॥ ५ ॥

'अश्वो न देववाहनः' इति। मनो वै देववाहनम्। मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते। मन एवैतया समिन्धे ॥ ६ ॥

'अग्ने दीद्यतं बृहत्' इति। चक्षुर्वै दीदयेव। चक्षुरेवैतया समिन्धे ॥ ७ ॥

'अग्निं दूतं वृणीमहे' इति । य एवायं मध्यमः प्राणः, एतमेवैतया समिन्धे । सा हैषान्तस्था प्राणानाम्, अतो ह्यन्य ऊर्द्ध्वाः प्राणाः, अतोऽन्येऽवाञ्चः । अन्तस्था ह भवति । अन्तस्थामेनं मन्यन्ते, य एवमेतामन्तस्थां प्राणानां वेद ॥ ८ ॥

'शोचिष्केशस्तमीमहे' इति । शिश्नं वै शोचिष्केशम् । शिश्नं हीदं शिश्निनं भूयिष्ठं शोचयति । शिश्नमेवैतया समिन्धे ॥ ९ ॥

'समिद्धो अग्न आ हुत'-इति । य एवायमवाङ् प्राणः, एतमेवैतया समिन्धे । 'आजुह्वोता दुवस्यन'-इति । सर्वमात्मानं समिन्धे-आ नखेभ्योऽथो लोमभ्यः ॥ १० ॥

स यद्येनं प्रथमायां सामिधेन्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात् 'प्राणं वा एत-दात्मनोऽग्नावाधाः, प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ ११ ॥

यदि द्वितीयस्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-'अपानं वा एतदात्मनोऽग्ना-वाधाः, अपानेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १२ ॥

यदि तृतीयस्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-'उदानं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, उदानेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १३ ॥

यदि चतुर्थ्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-'श्रोत्रं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, श्रोत्रेणात्मन आर्त्तिमारिष्यसि बधिरो भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १४ ॥

यदि पञ्चम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-'वाचं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, वाचात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मूको भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १५ ॥

यदि षष्ठ्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-'मनो वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, मनसात्मन आर्त्तिमारिष्यसि मनोमुषिगृहीतो मोमुघश्चरिष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १६ ॥

यदि सप्तम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्-'चक्षुर्वा एतदात्मनोऽग्नावाधाश्चक्षु-षात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यन्धो भविष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् ॥ १७ ॥

यद्यष्टम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्–'मध्यं वा एतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधाः, मध्येन प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्युध्माय मरिष्यसि' इति। तथा हैव स्यात् ॥१८॥

यदि नवम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्–'शिश्नं वा एतदात्मनोऽग्नावाधाः, शिश्नेनात्मन आर्त्तिमारिष्यसि क्लीबो भविष्यसि इति। तथा हैव स्यात् ॥ १९ ॥

यदि दशम्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्– अवाञ्च वा एतत्प्राणमात्मनोऽग्नावाधाः, अवाचा प्राणेनात्मन आर्त्तिमारिष्यस्यपिनद्धो मरिष्यसि इति। तथा हैव स्यात ॥ २० ॥

यद्येकादश्यामनुव्याहरेत्, तं प्रति ब्रूयात्–'सर्वं वा एतदात्मानमग्नावाधाः, सर्वेणात्मनार्त्तिमारिष्यसि क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यसि' इति। तथा हैव स्यात् ॥ २१ ॥

स यथा हैवाग्निं सामिधेनीभिः समिद्धमापद्यार्त्तिं न्येति, एवं हैव ब्राह्मणं सामिधेनीर्विद्वांसमनुब्रुवन्तमनुव्याहृत्यार्त्तिं न्येति ॥ २२ ॥

## इति-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणं
## तृतीयप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणं
## [सामिधेनी-ब्राह्मणानुगतञ्च-चतुर्थं ब्राह्मणं]
## उपरतम्

## ४

## इति-ब्राह्मणचतुष्टयात्मकं-सामिधेनीब्राह्मणं
## उपरतम्

——**——

श्री:

# ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनी-ब्राह्मण

## शतपथब्राह्मण-प्रथमकाण्डानुगत तीसरे अध्याय में पाँचवाँ ब्राह्मण, एवं तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण

## सामिधेनी--ब्राह्मणानुगत-प्रथम-ब्राह्मण

१

---

## मूलानुवाद

### अथ-समिधेन्यनुवचनम्

वह अध्वर्य्यु ( पन्द्रह समित्-काष्ठ के समूहरूप ) इध्म से ( इस आहवनीय ) अग्नि को ही प्रज्वलित करता है। इसीलिए ( इन्धन-साधन होने से प्रज्वलन-कर्म्मसाधक ) इन काष्ठों को [ 'इन्धे-तस्मादिध्मः'--इस निर्वचन से ) 'इध्म' कहा जाता है। होता ( एतन्नामक ऋत्त्विक्-- 'प्र वो वाजा०' इत्यादि ) सामिधेनी-ऋचाओं से ( आहवनीय अग्नि को ) समिद्ध करता है, ( अतएव 'समिन्धे-तस्मात् सामिधेनी' इस निर्वचन से इन ऋचाओं को ) 'सामिधेनी' नाम से व्यवहृत किया जाता है ॥ १ ॥

वह अध्वर्य्यु ( सामिधेनी-ऋचाओं के अनुवचन के लिए होता नामक ऋत्त्विक् के प्रति प्रैष-अनुज्ञा-करता हुआ ) कहता है—"अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि" ( हे होतः ! इध्मकाष्ट से प्रज्वलित हुए अग्नि के लिए, इसे समिद्ध बनाने के लिए जो सामिधेनी-ऋचाएँ हैं, उनक यथाक्रम अनुवचन करो ) । ( उक्त प्रैषमन्त्र से वह अध्वर्य्यु ) अग्नि के लिए ही इसे समि बनाने के लिए कहता है ॥ २ ॥

( उक्त प्रैष के सम्बन्ध में ) कितने एक याज्ञिकोंनें यह कहा है कि—"अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि" ( इत्यादिरूप से होतृपद का उच्चारण करते हुए ) इस रूप से प्रैष करना चाहिए। ( अध्वर्य्यु को चाहिये कि वह ) वैसा कभी न करे ( प्रैष मन्त्र में 'होतरनुब्रूहि' इत्यादि रूप से होतृपद का सन्निवेश न करे )। कारण यही है कि, ( होतृप्रवरणकर्म्म से ) पहिले ( इस सामिधेनी-अनुवचन के समय अनुवचन करने वाला ) यह ऋत्त्विक् अहोता ही

रहता है। जब ( आगे जाकर ) इसका वरण होता है, तभी यह 'होता' नाम का अधिकारी बनता है। इसलिए ( बिना होतृपद का सन्निवेश किए )–"**अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि**" इसी रूप से प्रैष करना चाहिए ॥ ३ ॥

( अध्वर्य्यु के प्रैष के अनुसार अनुवचनकर्म्म में नियुक्त ) वह ऋत्विक् आग्नेयी ( अग्निदेवता-सम्बन्धिनी ) सामिधेनी–ऋचाओं का अनुवचन करता है ( अर्थात् इसे आग्नेयी-ऋचाओं का ही अनुवचन करना चाहिए। ऐसा करता हुआ यह ऋत्विक् ) इस अग्नि को अपने देवता के स्वरूप से युक्त सामिधेनी-ऋचा से ही समिद्ध करता है। ( अर्थात् आग्नेयी सामिधेनी–ऋचा से अनुवचन करना सजातीयभाव से ही अग्नि को समिद्ध बनाना है )। ( वह ऋत्विक् ) गायत्री ( गायत्रीछन्दोयुक्त सामिधेनी-ऋचा ) का अनुवचन करता है। गायत्री अग्नि का छन्द है। ( इसका अनुवचन करता हुआ ) अग्नि के अपने हीं छन्द से इसे समिद्ध बनाता है। गायत्री वीर्य्यात्मिका है, गायत्री ब्रह्म ( ब्राह्मणवर्ण ) है, ऐसी अवस्था में गायत्री से अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् ब्रह्मवीर्य्य से ही इस अग्नि का समिन्धन करता है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, **छन्द, वीर्य्य, वर्ण,-सम्पत्तियों** के आधान के लिए गायत्रीछन्दस्का ऋचाओं से ही अनुवचन करना चाहिए ॥ ४ ॥

( जिन सामिधेनी–ऋचाओं से यह **'सामिधेनी-अनुवचनकर्म्म'** होता के द्वारा होने वाला है, उनके सम्बन्ध में **'अग्नि'** देवता, तथा **'गायत्रीछंद'** की व्यवस्था बतलाई गई। अब संख्या की व्यवस्था करती हुई श्रुति कहती है )–वह ऋत्विक् ( आगे जाकर **'होतृप्रवरणकर्म्म'** से **'होता'** कहलाने वाला ऋत्विक् ) ग्यारह सामिधेनी-ऋचाओं का अनुवचन करता है। त्रिष्टुप् ( छन्द ) ग्यारह अक्षर की है। गायत्री ब्रह्म ( ब्राह्मणवर्णात्मिका ) है, त्रिष्टुप् क्षत्र ( क्षत्रिय-वर्णात्मिका ) है। ( ब्रह्मात्मिका गायत्री-स्वरूप वाली, तथा क्षत्रात्मिका त्रिष्टुप् संख्या वाली सामिधेनी-ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ ) यह होता इन दोनों ब्रह्म-क्षत्र-वीर्य्यों से युक्त करने के लिए गायत्रीछन्दस्क, एवं एकादश संख्याक ऋचाओं का अनुवचन करता है। इसलिए ग्यारह सामिधेनी-ऋचाओं का अनुवचन करता है ॥ ५ ॥

( संख्या–व्यवस्था के अनन्तर उच्चारण के सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है )–वह ऋत्विक् पहिली ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है, एवं अन्तिम ( ग्यारहवीं ) ऋचा का तीन बार अनुवचन करता है। कारण इसका यही है कि, **'त्रिःसऽत्या हि देवाः'** (तै०–३२।३।८ ) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक त्रिसत्य प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण प्राकृतिक-आधिदैविक-नित्य यज्ञ त्रिवृद् रूप से ही आरम्भ होने वाले हैं, तथा त्रिवृद्-रूप से ही समाप्त होने वाले हैं। इस प्राकृतिक त्रिवृत-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही होता तीन बार पहिली ऋचा का, तथा तीन बार अन्तिम ऋचा का अनुवचन करता है ॥ ६ ॥

(गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से अग्नि में ब्रह्मवीर्य्य का आधान होता है, एकादश संख्या से त्रिष्टुबनुगत क्षत्रवीर्य्य का आधान होता है, एवं त्रिःप्रथमा त्रिरुत्तमा संख्या से त्रिवृद्यज्ञ की त्रिवृत्सम्पत्ति का आधान होता है। इन उपक्रम-उपसंहार की संख्याओं से पन्द्रह सामिधेनी-ऋचाएँ होजातीं हैं। इस पञ्चदश-संख्या का क्या फल?, इसी प्रश्न का संख्यानुवदन-पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) वे सामिधेनी-ऋचाएँ (त्रिःप्रथमा, त्रिरुत्तमारूप से अनुवचन करने से) पन्द्रह होजातीं हैं। वज्र (असुरनाशक प्राणशक्त्यात्मक शस्त्र) पञ्चदश-सम्पत्ति से युक्त है। वज्र साक्षात् वीर्य्य (अन्तःशक्ति) है। (पन्द्रह संख्या के द्वारा वह ऋत्विक्) इस अग्नि में इसी पञ्चदश वीर्य्य का सम्पादन करता है। (पन्द्रह संख्या के प्रभाव से प्रत्येक सामिधेनी-ऋचा वज्रपर्व बन जाती है)। अतएव इन सामिधेनी-ऋचाओं का अनुवचन करते हुए जिस किसी के साथ (यजमान) द्वेष करे (जो यजमान से शत्रुता रखता हो) उसका **"इदमहममुं-अविद्याशत्रुं-अमुकं वा-अवबाधे"** यह बोलता हुआ अपने हाथ के दोनों अँगूठों को जोर से मसल डाले। सचमुच इस अभिचारकर्म्म से यह यजमान शत्रु को पीडा पहुँचाने में समर्थ होजाता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि-सामिधेनी का उच्चारण करना वज्र ही फेंकना है। जिससमय ऋत्विक् इनका अनुवचन करता हो, उस समय शत्रु का नाम लेकर **'मैं उसे नष्ट करता हूँ'** यह भावना करता हुआ यजमान यदि दोनो अंगुष्ठ मीढ डालता है, तो अवश्यमेव शत्रु का अनिष्ट होजाता है। यह अभिचार-शक्ति पञ्चदश--संख्या से ही इन सामिधेनी ऋचाओं में प्रविष्ट होती है) ॥ ७ ॥

(पन्द्रहसंख्या से वज्रात्मिका अभिचारसाधिका शक्ति से सामधेनी ऋचाओं को युक्त करना, यह पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है। दूसरी उपपत्ति यह है कि)-अर्द्धमास की (एक पक्ष की) पन्द्रह रात्रियाँ होतीं हैं। (पञ्चदश-रात्रि--समष्टिरूप) ऐसे अर्द्धमास से (अर्द्धमास के आवर्त्तन से) ही सम्वत्सर अपना स्वरूप सम्पन्न करता है। (अर्थात् अर्द्धमास के २४ आवर्त्तन से ही सम्वत्सर बन जाता है। फलतः अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रियाँ सम्पूर्ण सम्वत्सर-रात्रियों की सम्पत्ति का कारण बन जातीं हैं)। इन पन्द्रह संख्याओं से (अर्द्धमास की पन्द्रह रात्रिसम्पत्ति के द्वारा आवर्त्तन सम्बन्ध से) यह ऋत्विक् उन सम्वत्सर-रात्रियों की सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। (इस रात्रि-सम्पत्ति के लिए भी पञ्चदश-सामिधेनियों का अनुवचन होता है, यही इस पञ्चदश संख्या की दूसरी उपपत्ति है) ॥ ८ ॥

(अपिच सामिधेनी-ऋचा गायत्री है, पञ्चदशसंख्या के सम्बन्ध से पन्द्रह गायत्री होजातीं हैं। प्रत्येक गायत्रीमन्त्र में २४ अक्षर होते हैं। फलतः) पन्द्रह गायत्रीमन्त्रों के (२४-२४ के अनुपात से) तीन, और सौ, तथा साठ (३६०) अक्षर होजाते हैं। तीन, और सौ, एवं साठ (३६०) ही एक सम्वत्सर के दिन होते हैं। (पञ्चदश गायत्री-ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् इन ३६० अहों को (अहःसम्पत्ति को) प्राप्त कर लेता है। इसी के द्वारा (अहः समुदाय-द्वारा अहःसमुदायात्मक) सम्वत्सर (सम्वत्सरयज्ञसम्पत्ति) प्राप्त करलेता है ॥ ९ ॥

(क्योंकि-सामिधेनी-संख्या का प्रकरण चल रहा है, अतः प्रसङ्गोपात्त काम्येष्टि से सम्बन्ध रखने वाली सामिधेनी-ऋचाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी श्रुति व्यवस्था कर देती है। श्रुति जिस 'इष्टि' के सम्बन्ध में संख्या की व्यवस्था करने वाली है, उसे दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता 'काम्येष्टि' समझना चाहिए, जैसा कि 'तं काममनपराधं राध्नोति' इत्यादि से स्पष्ट है। दर्श-पूर्णमास में जहाँ पन्द्रह सामिधेनीमन्त्र होते हैं, वहाँ तद् विकृतिभूता काम्येष्टि में, तथा पशुबन्ध में सत्रह सामिधेनीमन्त्र होते हैं जैसा कि–"**पञ्चदश सामिधेन्यो दर्शपूर्णमासयोः, सप्तदशेष्टि-पशुबन्धनाम्**" (आपस्तम्ब श्रौ० सू०) इत्यादि सूत्रसिद्धान्त से प्रमाणित है। काम्येष्टि के सम्बन्ध में यह विशेषता और समझ लेनी चाहिए कि, जहाँ दर्शपूर्णमास में आवापदेवता का उच्चैः यजन होता है, वहाँ काम्येष्टि के आवापदेवता का उपांशु यजन होता है। इसी प्रासङ्गिक काम्येष्टि-सम्बन्धी उपचार-संख्या-व्यवस्था का स्पष्टीकरण-करती हुई श्रुति कहती है)----

वह ऋत्विक् इष्टि के सम्बन्ध में ( दर्शपूर्णमास की विकृतिभूता काम्येष्टि के लिए ) सत्रह सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन ( उच्चारण ) करे। जिस देवता के लिए (अध्वर्य्यु) इष्टि (का-म्येष्टि) का निर्वाप करता है, उस [इष्टि] देवता के लिए वह उपांशु [तूष्णीं] यजन करता है। [इस प्रकार उपांशु यजन होने वाले इस काम्येष्टिकर्म्म में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् सत्रह संख्या से कामसम्पत्ति--अभिलषित फल-प्राप्त करने में इसलिए समर्थ होजाता है कि] एक सम्वत्सर के चैत्रादि बारह [तो] महीनें होते हैं, एवं वसन्तादि पाँच ऋतुएँ ÷ होती हैं। [इन सत्रह पर्वों से] यही [सम्वत्सरयज्ञात्मक] प्रजापति सप्तदश [बन रहा] है। प्रजापति ही सर्व [सर्वात्मक-अतएव सर्वकामपूरक] है। [ इसप्रकार काम्येष्टि में सत्रह सामिधेनियों का अनुवचन करता हुआ ऋत्विक् समसंख्या-समतुलिता सर्वात्मिका]-प्रजापत्य-सम्पत्ति का संग्रह करता हुआ सम्पूर्ण [अभिलषित] ही उस काम [ अभिलषित ] को निरापद समृद्ध करने में [ प्राप्त करने में ] समर्थ होजाता है, जिस [संकल्पित] काम कि प्राप्ति के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है।

[काम्येष्टि में आवापदेवता का उपांशु यजन क्यों होता है ?, इस प्रश्न की उपपत्ति बत-लाती हुई श्रुति कहती है कि]-वह ऋत्विक् उपांशुरूप से देवता का यजन करता है--[इसका कारण यही है कि] अनिरुक्त [शब्द के द्वारा अप्रकट होने योग्य] ही उपांशु है। [उधर] सर्वभाव भी [समष्टि की अपेक्षा से ] अनिरुक्त ही है। [ऐसी परिस्थिति में अनिरुक्त-भावात्मक उपांशुभाव से यजन करता हुआ अध्वर्य्यु] अनिरुक्तात्मक सर्वभावेन उस कामसमृद्धि को प्राप्त करने में समर्थ होजाता है, जिस काम के लिए कि यह इष्टि का निर्वाप करता है। यही [सप्तदशसामिधेनियों का अनुवचन, तथा प्रधानदेवता का उपांशुयजन ही] इस काम्येष्टिका उपचार [ इतिकर्त्तव्यतात्मक विशेषधर्म्म] है ॥ १० ॥

------

÷ "हेमन्तशिशिरयोः समासेन"

[दर्शपूर्णमासेष्टि में पूर्व में **'ताः पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते'** इत्यादि रूप से पन्द्रह सामिधेनियों का विधान बतला गया है। अब इसी सम्बन्ध में पक्षान्तर उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है ]--कितने एक याज्ञिक कहते हैं कि, अथवा दर्शपूर्णमासेष्टि में २१ सामिधेनी--ऋचाओं का अनुवचन करना चाहिए। [२१ सामिधेनियों के अनुवचन की उपपत्ति वे याज्ञिक यह बतलाते हैं कि]--एक सम्वत्सर के बारह [तो] महीनें होते हैं, पाँच ऋतुएँ होतीं हैं, [ त्रिवृत्--पञ्चदश एकविंश-स्तोम भेदभिन्न] पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, ये तीन [स्तौम्य -पार्थिव] लोक होते हैं। इन सब के संकलन से सम्वत्सर के २० पर्व हो जाते हैं। यही २१ वाँ हैं, जोकि यह [खगोलस्थ बृहती--छन्द--विष्वद्वृत्त -के मध्य में स्थिररूप से] तप रहा है। यही [ एकविंशसूर्य्य यज्ञफलात्मिका ] स्वर्लोकात्मिका गति है, यही ( सर्वयज्ञ ) प्रतिष्ठा है। ( जो यजमान अपनी दर्शपूर्णमासेष्टि में २१ सामिधेनियों का अनुवचन करवाता है,) वह (२१ के द्वारा तत्समतुलित विंशतिपर्वात्मक सम्वत्सर-यज्ञ का संग्रह करता हुआ इक्कीसवीं सामिधेनी के द्वारा तत्समतुलिता सूर्य्यात्मिका) इसी गति को, इसी प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इस गति–प्रतिष्ठा–प्राप्ति के लिए २१ सामिधेनियों का ही अनुवचन करना चाहिए ॥११॥

(उक्त पक्ष का खण्डन करती हुई श्रुति कहती है कि)-इन २१ सामिधेनियोंका (उस) भाग्य-हीन यजमान के लिए ही उच्चारण करना चाहिए, जो यजमान यह चाहता है कि, न तो मेरा अभ्युदय हो, न पतन हो। (यजमान अपनी जैसी स्थिति में रहता हुआ यज्ञ करेगा, वैसी ही स्थिति में प्रतिष्ठित) यजमान के लिए ही वैसी ही सामिधेनियों का अनुवचन करते हैं, एवं वह यजमान वैसा ही (उसी पूर्वस्थिति में) रहता है। अथवा तो उस से भी निम्नश्रेणि में चला जाता है, जिस यजमान के लिए कि ऋत्विक् ( २१ सामिधेनी का उपर्युक्त गति–प्रतिष्ठात्मिका उपपत्ति बतलाते हुए ) इन २१ सामिधेनियों का अनुवचन करते हैं। और वास्तव में ( यज्ञपद्धतियों के आधार पर बात तो यह है कि ) २१ सामिधेनियों के अनुवचन का पक्ष केवल पक्ष ही पक्ष है, निष्प्रयोजन–मीमांसा ही है, वस्तुतः २१ का (ऋत्विक्लोग) कदापि अनुवचन नहीं करते।

तात्पर्य्य श्रुति (याज्ञवल्क्य) का यही है कि, यज्ञकर्म्म किसी अतिशय की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। श्री (सम्पत्ति) की प्राप्ति के लिए, अभ्युदय के लिए, एवं पूर्व की सामान्य परिस्थिति से उच्च स्थिति में पहुँचने के लिए ही यज्ञ किया जाता है। यह फल तभी सम्भव है, जब कि, पद्धति–प्रदर्शित पञ्चदश-सामिधेनियों का ही अनुवचन किया जाय। केवल संख्या के आधार पर सम्पत्ति का समतुलन करते हुए २१ सामिधेनी करना अनुचित है। जो यजमान यह चाहे कि, मैं श्रीशून्य बना रहूँ, यज्ञ से मेरा कोई विशेष लाभ न हो, अथवा जो यह चाहे कि, न तो मेरा कोई लाभ ही हो, न हानि ही हो, वह अवश्य ही २१ का अनुवचन करवा सकता है। अवश्य ही ऐसे अनुवचन से यजमान जैसे का तैसा ही बना रहेगा। और बहुत सम्भव है, इस सामान्य स्थिति से भी गिर जायगा। इसलिए २१ का पक्षान्तर केवल मीमांसा ही समझनी चाहिए।

श्रुति के अक्षर-स्वारस्य से १२ की कण्डिका का उक्त अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है। कारण यही है कि-**'सा उ एषा मीमांसैव, न त्वेवैता अनूच्यन्ते'** बारहवीं कण्डिका के इस उप-

संहारवाक्य से यही सिद्धान्त निकलता है कि, २१ का पक्ष याज्ञिकों के केवल काल्पनिक विचार ही विचार हैं। न कभी ऐसा हुआ, न होना चाहिए। अवकाश के समय याज्ञिकों में सामिधेनी-संख्या की उपपत्ति के सम्बन्ध में कभी चर्चा चली होगी। वहाँ किसी ने यह कह दिया होगा कि, "२१ सामिधेनी क्यों न की जाय ?। इस से २१ मर्य्य की गति-प्रतिष्ठा प्राप्त होजायगी"। तत्काल ही कसी वैज्ञानिक याज्ञिक ने उपेक्षापूर्वक इस पक्ष का उपहास करते हुए कह दिया होगा कि,-"हाँ ठीक है, जिस यजमान को श्री की अपेक्षा न हो, प्रथम तो उस के यज्ञ में, अथवा जो यजमान यह चाहे कि, न मेरा अभ्युदय हो, न पतन हो, मैं जैसे का तैसा ही बना रहूँ, उस यजमान के लिए अवश्य ही २१ का अनुवचन कर सकते हैं। परन्तु यह भी ध्यान रहे कि, यजमान का अभ्युदय तो नहीं हीं होगा, परन्तु बहुत सम्भव है, उस का अनिष्ट भी होजाय"। उसी सामयिक चर्चा में उपस्थित होने वाले काल्पनिक २१ विंश पक्ष का श्रुति ने उसी आक्षेपात्मक-उपहासास्पद-शब्दों में इतिवृत्त बतलाते हुए सिद्धान्त में १५ सामिधेनी -पक्ष का ही समर्थन किया है। **'ता हैता गतश्रेरेव अनब्रुयात्-य इच्छेत्-न श्रेयान् स्यात्, न पापीयान्'** इति। इस से उपेक्षापूर्वक २१ का अफलात्मक फल बतलाते हुए इस पक्ष का उपहास किया। सर्वान्त में—**'सा उ एषा मीमांसा एव, न त्वेवैता अनुच्यन्ते'** इस वाक्य से इस २१ पक्ष का निरसन कर दिया गया। इसी आधार पर हमनें १२ वीं कण्डिका को पूर्वपक्ष-खण्डन परक-माना है। परन्तु व्याख्यातात्रों नें १२ वीं कण्डिका को **'अधिकारभेद'** मर्य्यादा परक लगाते हुए इस का यह अर्थ किया है कि—

"जिस यजमान की सम्पत्ति नष्ट होगई हो, वैसे यजमान के यज्ञ में हीं २१ सामिधेनियों का अनुवचन करना चाहिए। जो यजमान अच्छी स्थिति में है, उस के यज्ञ में २१ के अनुवचन की कोई आवश्यकता नहीं है।" यह अर्थ **'ता हैता गतश्रेरेवानुब्रुयात्'** इस वाक्य का किया है। एवं इसके आगे के **'य इच्छेन्न श्रेयान्स्स्यात्, न पापीयान्, यादृशाय है व स तेऽन्वाहुस्तादृङ हैव भवति'** वाक्य को **'पापीयान् वा'** से पृथक् कर उस का यह अर्थ किया है कि—"जो यजमान श्रैष्ठ्य, नैकृष्ट्य दोनों नहीं चाहता है, उस के लिए यथोपलब्ध प्रकार से ( १५ अथवा १७ ) सामिधेनी का अनुवचन करते हैं। आगे जाकर **'पापीयान्वा'** के **'वा'** उपलक्षण विधि से **श्रेयान्** का ग्रहण करते हुए यह अर्थ किया गया है कि, २१ सामिधेनी-पक्ष में यजमान अच्छी कामना रखता है, तो श्रेयान् होता है, अन्यथा पापीयान् होता है"। पाठक देखेंगे कि, इस व्याख्या में किस--प्रकार शब्द-मर्य्यादा की, प्रकरणसङ्गति की उपेक्षा हुई है ?। अस्तु, जो कुछ हो, प्रकृत में कण्डिका का निष्कर्ष यही निकलता है कि, २१ का पक्ष केवल मीमांसा ही है। ऐसा अनुवचन होता नहीं, और यही सिद्धान्त यह सिद्ध कर रहा है कि, २१ का पक्ष पक्षान्तर नहीं है, अपितु उपेक्षाभाषा के द्वारा खण्डनात्मक ही बन रहा है।

कितने एक व्याख्याता अन्य प्रकार से भी उक्त कण्डिका का समन्वय कर रहे हैं। और-पूर्वोक्त द्वितीय व्याख्या की अपेक्षा प्रस्तुत व्याख्या फिर भी यथा कथंचित् ठीक मानी जासकती है। व्याख्या का

स्वरूप यही है कि-"अधिकारी के भेद से सामिधेनियों की संख्या की व्यवस्था है। यह जो २१ का अनुवचन है, वह जिस यजमान की सम्पत्ति नष्ट होगई है, उसी यजमान के लिए नियत है। क्यों कि प्रतिष्ठारूप २१ से यजमान की उखड़ी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्रतिष्ठित होजाती है-**'ता हैता गतश्रे रेवानुब्रूयात्'**

जो यजमान न अपना अभ्युदय चाहता है, न पतन, उस यजमान के लिए उसे उसकी सामान्य स्थिति पर रहने के लिए ऋत्विक् लोग पूर्वोक्त पञ्चदश, किंवा सप्तदश का ही अनुवचन करते हैं-**'य इच्छेन्न श्रेयान्त्स्यान्न पापीयान् यादृशाय हैव स तेऽन्वाहुः तादृङ्ङ्वा हैव भवति'**।

दोनों पक्षों में से दूसरे २१ वें पक्ष में दोष बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, २१ के पक्ष में **'श्रेयान्'** के स्थान में **'पतन'** होसकता है। अर्थात् फलप्राप्ति संदिग्ध है—**'पापीयान्वा'**। ऐसी स्थिति में २१ के पक्ष को केवल मीमांसा [विचार] ही समझना चाहिए, इसका अनुवचन नहीं करना चाहिए--**'सा उ एषा मीमांसैव, न त्वेवैता अनुच्यन्ते'** ॥१२॥

[ संख्या के सम्बन्ध में व्यवस्था कर अब उच्चारण-क्रिया में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है ] उस ऋत्विक् [ भावी होता ] को पहिली सामिधेनी-ऋच का, तथा अन्त की सामिधेनी--ऋचा का तीन तीन बार अनवानन् [ अनुच्छ्वास ] रूप से ही अनुवचन करना चाहिए। [ कहा गया है कि, ११ में से १-११ वीं ऋचा को तीन तीन बार बोला जाता है। इन के उच्चारण में एकसन्तानभाव ही रहना चाहिए। अर्थात् एक ही श्वास में-बिना मध्य में विश्राम किए-आरम्भ की ऋचा का त्रि-बार, एवमेव अन्त की ऋचा का त्रि-बार उच्चारण करना चाहिए। इस एकश्वासात्मक सन्तानभाव का कारण यही है कि ] प्राकृतिक नित्य आधिदैविक यज्ञ में [ पृथिवी-अन्तरिक्ष--द्यौः नामक ] तीन लोक हैं। [ तीन लोक महिमापृथिवीरूप एक ही लोक के तीन सन्तत पर्व हैं ]। [ यहाँ तीनों ऋचाओं का सन्तत उच्चारण करता हुआ ऋत्विक् ] इन्हीं तीनों लोकों को [ यज्ञफलभोक्ता यजमान के लिए प्रातिस्विकरूप से ] एकरूप से [ अविच्छिन्नरूप से ] फैलाता है, किंवा तीनों का परस्पर ग्रन्थिबन्धन करता है, एवं तीनों को प्रीणित, तथा [ परस्पर के बन्धन से ] बलयुक्त बनाता है। अपिच [ आध्यात्मिक यज्ञमूर्त्ति ] पुरुष में प्राण-व्यान-अपान-भेद से तीन प्राण [ अव्यवच्छिन्नरूप से ] प्रतिष्ठित हैं। [ इस अनवानन्-क्रिया से वह होता ] इन्हीं तीनों को परस्पर सम्बद्ध [ सन्तत ], तथा विच्छेदरहित [अव्यच्छिन्न] करता है। यही अनुवचन का [ वैज्ञानिक ] प्रकार है, अर्थात् अनवानन्-रूप से ही अनुवचन करना चाहिए ॥१३॥

(प्रथम, तथा अन्त की तीन तीन ऋचाएँ यथास्वर-सुस्पष्ट-मर्य्यादा से एक साथ, एक श्वास से बोल देना साधारण काम नहीं है। मान लीजिए, होता में स्वरसन्धान का उतना बल नहीं है। ऐसी दशा में अनुवचन की क्या मर्य्यादा होगी ?, इसी विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में व्यवस्था करती हुई श्रुति कहती है कि)—(उत्तम पक्ष तो यही है कि) इस होता का जहाँतक वश

चले, शक्तिभर इसीप्रकार (पूर्वोक्त अनवाननरूप से एक ही श्वास में) अनुवचन करने का प्रयास करे—(**स यावदेव वशः स्यात् एयमेवानुविवचेत्**)। (यदि ऐसा सम्भव न होसके, तो उस स्थिति में, शक्ति के अभाव में एक ऋचा के मध्य में विश्राम न लेकर पूरी ऋचा समाप्त होजाने पर ही विश्राम कर सकता है। परन्तु) इस (मध्य-विश्रामात्मक) पक्ष की निन्दा ही मानी जाती है। (निन्दा का मूल यही है कि)-अनवानन् (एकश्वास में) बोलने की इच्छा से ऋङ्मन्त्र का उच्चारण करता हुआ होता जब कि मध्य में श्वास का परित्याग कर देता है, तो उस दशा में (त्रैलोक्य-संधानात्मक) यह अनवानन्-अनुवचनकर्म्म (मध्म के विराम से व्यवच्छिन्न होता हुआ) निर्बल ही होजाता है। यही इस पक्ष में **'परिचक्षा (निर्बलता)'** है। तात्पर्य इस परिचक्षाभावप्रदर्शन का यही है कि, जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होजाय कि, अब विश्राम लिए बिना आगे उच्चारण असम्भव है, तभी मध्य-विराम अपेक्षित है)॥

अथवा उक्त कण्डका का इस रूप से भी समन्वय किया जासकता है कि-अनुवचन करने वाले होता को चाहिए कि, उसके श्वास में (जितनी देर ठहरने का) वल है, उतनी देर तक ही बोले। श्वास पर बल प्रयोग न करे। वाक्-शक्त्यभाव में यदि होता तीन ऋचाएँ एक साथ न बोलकर मध्य में विश्राम ले लेता है, तो कोई दोष नहीं है-**"स यावदस्य वशः स्यात्, एवमेवानुविवचेत्"**।

उक्त पक्ष को अदोषभाक् मानने वालों का प्रतिवाद करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, नहीं, ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस पक्ष की (ऋङ्मध्य-विश्राम की) परिचक्षा (निन्दा) ही है। यदि होता एक श्वास में (अनवानन्) बोलने का संकल्प कर **(अनुविवचन्)**मध्य में **(सामि)** हीं विश्रामकर लेगा [अपान्यात्], तो त्रैलोक्य-सन्तानार्थ होने वाला लोकसन्तानाव्यवच्छेदसाधक] यह कर्म्म शिथिल होजायगा-**"उत सामि अवान्यात्-अनवानन्ननुविवचन्, तत् कर्म्म विव्रह्येत्"**। यही इस विश्रामपक्ष में दोष है। (अतः कभी ऋङ्मध्य में अवसान नहीं होना चाहिए]। उक्त दोनों अर्थों में आगे के प्रकरण की सङ्गति की दृष्टि से दूसरा अर्थ ही अन्वर्थ समझना चाहिए॥१४॥

[प्रश्न उपस्थित होता है कि, जब विश्राम लेना दोष है, एवं कोई होता अपनी शक्ति से एक श्वास में तीनों का अव्यवच्छिन्न उच्चारण कर नहीं कर सकता, तो ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय?। इसी प्रश्न के सम्बन्ध में पक्षान्तर बतलाती हुई श्रुति कहती है कि]-वह होता यदि ऐसा करना (अनवानन् रूप से एक श्वास में) अपनी शक्ति के वाहिर समझता है, (तो उस दशा में ऋङ्मन्त्र के मध्य में विश्राम न कर (एक एक ऋचा का अनवानन् (एक श्वास में) अनुवचन करे। (अर्थात् ऋङ्मध्य में विश्राम करना दोष है, ऋक् के अवसान में दोष नहीं है)। (यदि ऋक् के अन्त में विश्राम किया जायगा, तो पूर्वोक्त आधिदैविकी लोकसम्पत्ति, तथा आध्यात्मिकी प्राणसम्पत्ति कैसे प्राप्त होगी?, प्रश्न का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)-इस एक एक ऋचा से ही वह (क्रमपरम्परया) तीनों लोकों को सन्तत, तथा इन्हें बलवान् बनाने में समर्थ होजाता है। (तीनों लोक सन्तत होते हुए पृथक् पृथक्, हैं। ऐसी स्थिति में तीनों के पृथक् पृथक्

किन्तु निरन्तर अनुवचन से लोकसम्पत्ति प्राप्त होजाती है, यही तात्पर्य्य है। अब जोकि प्राणाधान करता है-(उसका समन्वय इसप्रकार होजाता है कि, प्राण-अपान-व्यान, तीनों आध्यात्मिक प्राण आलोमभ्यः, आनखाग्रेभ्य, व्याप्त एक ही गायत्रीप्राण के तीन पर्व हैं। फलत प्राणत्रयात्मिका) गायत्री ही प्राण है। सो जो कि होता एक बार में ऋङ्मन्त्ररूप अशेष गायत्री का अनुवचन करता है, इससे (प्राणत्रयगर्भित) अशेष प्राण का भी आधान करने में समर्थ होजाता है। इसलिए (जब कि एक एक के अनवानन् अनुवचन से लोक-प्राण-सम्पत्तियाँ प्राप्त होजातीं हैं, तो) एक एक का अनवानन् रूप से अनुवचन कर (लेना) चाहिए ॥१५॥

(प्रथम प्रथम की तीन सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारण की व्यवस्था बतलाई गई। अब समष्टिरूप से १५ हों के उच्चारण-सम्बन्ध में विशेष नियम बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) वह होता इन १५ सामिधेनी-ऋचाओं का अव्यवच्छिन्नरूप से (नैरन्तर्य्यविधि से) अनुवचन करता है। (तात्पर्य्य यही है कि, पन्द्रहों का उच्चारण क्रमशः परम्परया बिना अन्य कर्म्म के समावेश के निरन्तर-मर्य्यादा से ही होना चाहिए। कारण इसका यही है कि, ये १५ ऋङ्मन्त्र पूर्वकथनानुसार सम्वत्सर के अहोरात्र-स्थानीय हैं। सन्तत अव्यवच्छिन्न उच्चारण करता हुआ होता) सम्वत्सर के अहोरात्र-पर्वो को ही सन्तत, तथा अव्यवच्छिन्न करता है। ये वे सम्वत्सर के अहोरात्रपर्व परस्पर मिलकर-सन्तानपरम्परारूप से ही चक्रवत् परिवर्त्तित होते रहते हैं। प्रकृति में अहोरात्रपर्व सन्तत अव्यवच्छिन्नरूप से ही परिप्लवमान हैं। अतः तत्स्थानीया सामिधेनी का भी उसी मर्य्यादा से अनुवचन होना चाहिए। (अब इस सन्तत-अविच्छिन्नभाव का दूसरा कारण बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, सन्तत-अविच्छिन्नरूप से अनुवचन करता हुआ होता) द्वेष रखने वाले (कृत्रिमशत्रु) के लिए, तथा भ्रातृव्य के लिए (सहजशत्रु के लिए) इस (अपने भोग्यस्थानीय सम्वत्सरचक्र में) **'उपस्थान'** (प्रवेशद्वार) नहीं करता है। वह होता (यजमान के इस भोग्य सम्वत्सरचक्र में उभयविध शत्रुओं के लिए) प्रवेशद्वार ही बनाता है, जो कि असन्ततरूप से सामिधेनियों का अनुवचन करता है। अत सन्तत-अव्यवच्छिन्नरूप से ही अनुवचन करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

## तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, तथा तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण समाप्त

## सामिधेनीब्राह्मणानुगत प्रथमब्राह्मण अत्र-उपरत

---*---

## (तीसरा अध्याय समाप्त)

## ३

# शतपथब्राह्मण–हिन्दी–विज्ञानभाष्यान्तर्गत
# चौथा अध्याय आरम्भ
# ४

—*—

## चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण
## सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत-दूसरा ब्राह्मण

गायत्री–छन्दस्क १५ सामिधेनीमन्त्र, १५ संख्या, प्रथमोत्तम के तीन तीन मन्त्रों का अनवानन् उच्चारण, १५ हों का सन्ततरूप से अनुवचन, इन से क्रमशः **ब्रह्म, क्षत्र–सम्वत्सर के अहोरात्रपर्व, प्रवेशद्वाररहित चक्राधिपत्य,** इन चार सम्पत्तियों की प्राप्ति बतलाई गई। अब उन्हीं सामिधेनियों के सम्बन्ध में उच्चारणानुगत विशेषधर्म्म का विधान करता हुआ निम्न लिखित प्रकरण उपक्रान्त होता है—

वह होता (सामिधेनी-ऋक् का उच्चारण करने से पहले) **'हिंकार'** करके ( 'हिं' शब्द का उच्चारण करके) अनुवचन ( ऋक् का उच्चारण ) करता है। वैज्ञानिक लोगोंनें कहा है कि, ( कोई भी ) यज्ञ असामा ( साम रहित ) नहीं है। ( साथ ही ) हिंकार किए बिना साम नहीं गाया जासकता। सो जोकि होता 'हिङ्' करता है, इस से हिङ्कार का रूप सम्पन्न करता है, एवं 'ओ३म्-ओ३म्' इस प्रणव से ही साम के रूप (रूपसम्पत्ति) को प्राप्त करता है। इस (प्रणवपूर्वक हिंकारानुगत अनुवचन) से सम्पूर्ण यज्ञ समासा ( सामसम्पत्ति से युक्त ) होजाता है। प्रत्येक मन्त्र प्रणवपूर्वक बोला जाता है, प्रणव से पहले यहाँ 'हिं' और लगाया जाता है। इस हिंकारात्मक–प्रणवोच्चारण से सामसम्पत्ति गतार्थ बन जाती है। हमारा यज्ञ ससाम बनजाय, यही हिंकार की एक उपपत्ति है, यही तात्पर्य्य है ) ॥१॥

जिस (दूसरे) प्रयोजन के लिए कि हिङ्कार करता है–(वह बतलाते हैं)-नासिकास्थित-श्वास-प्रश्वासाधिष्ठाता मुख्य) प्राण निश्चयेन 'हिंङ्कार' है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, (कोई भी व्यक्ति) नासाच्छिद्रों को अवरुद्ध कर हिंकार नहीं करसकता। (जहाँ हिंकार नासाप्राणात्मक होने से प्राण है, वहाँ) ऋङ्मन्त्र वाग्रूप उच्चारणापेक्षया वागात्मक है। इसप्रकार हिंकार **'प्राण'** बना हुआ हैं, एवं ऋक् **'वाक्'** बनी हुई है। इसी वाक्-प्राण के मिथुनभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है कि–वाक् से ऋक् का अनुवचन करता है, एवं वाक्-प्राण, दोनों का ( योषा–वृषात्मक )

मिथुन (दाम्पत्यभाव) है। (इसप्रकार हिंकारपूर्वक–प्राणपूर्वक–ऋक् का–( वाक् का ) प्रयोग करता हुआ ) होता ( इस हिंकार–ऋक्रूप प्राण-वाक् के मिथुन से ) सामिधेनियों के पहले ही मिथुन- प्रजनन करता है। इस ( प्रजनन-सम्पत्ति के ) लिए भी हिंकार करके अनुवचन करता है ॥२॥

वह होता उपांशुरूप से मन्दरूप से, किन्तु गम्भीरध्वनि से) हिंकार करता है। यदि होता (मन्त्रवत्) उच्चस्वर से हिङ्कार करेगा, तो इस हिंकार को भी दूसरी वाक् ही बना डालेगा, ( फलतः मिथुनसम्पत्ति प्राप्त न होगी), इसलिए उपांशु हिंकार करता है ॥३॥

वह होता **'आ'** तथा **'प्र'** से युक्त सामिधेनी-ऋक् का अनुवचन करता है। [इस **'आ'** से उपलक्षित **'एति'**, तथा **'प्र'** से उपलक्षित **'प्रेति'** के समावेश से सामिधेनी-ऋग्रूपा ] गायत्री को ही यह होता [एति से] अर्वाची [भूलोकानुगामिनी] बनाता है, एवं [प्रेति से] पराची [द्युलोकानुगामिनी] बनाता है। पराची गायत्री तो देवताओं के लिए यज्ञ [आहुतिद्रव्य] का वहन करती है, एवं अर्वाची गायत्री मनुष्यों का पालन करती है। [इस उभयविध-फलप्राप्ति के लिए ही] **'एति-प्रेति'** रूप से सामिधेनी का अनुवचन करता है ॥४॥

[एति-प्रेति की एक उपपत्ति बतलाई गई। अब दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं]-जिस प्रयोजन के लिए कि एति--प्रेति--पूर्वक अनुवचन करता है–[ उसका दूसरा कारण बतलाते हैं ]–पराग्गति सूचक] **'प्र'** [प्रतिरूप मर्य्यादा से] प्राण है, एवं [अर्वाग् गतिसूचक] **'आ'** उदान है। [**'प्र'** **'आ'** का सम्बन्ध करता हुआ] होता [यज्ञातिशयलक्षण भावी यज्ञपुरुष में] **'प्राणोदान'** हीं स्थापित करता है। इसलिए भी **'एति-प्रेति'** पूर्वक अनुवचन करता है ॥५॥

जिसलिए कि **'आ-प्र'**-पूर्वक अनुवचन करता है--[उसकी तीसरी उपपत्ति बतलाते हैं]। [सिच्यमान रेत क्योंकि सिञ्चन करने वाले से पराग्गति रखता है,इस सादृश्य से] **'प्र'** यह रेत का आधान है, [सिक्तरेत गर्भाशय से हमारे अभिमुख आता हुआ सिञ्चन करने वाले से अर्वाग्गति रखता है; इस सादृश्य से] **'आ'** यह उत्पत्ति है ; [इस रेतःसेक, तथा प्रजोत्पत्ति-सम्पत्ति के आधान के लिए भी एति-प्रेति-पूर्वक अनुवचन किया जाता है]। अपिच–[तृणादिभक्षणार्थ पशुओं का जङ्गल में जाना क्योंकि पराग्गति से सम्बन्ध रखता है, इस सादृश्य से] **'प्र'** यह पशुगमन–स्थानीय है। एवं [ जोकि सांयकाल पशुओं का लौट आना अर्वाग्गति से सम्बन्ध रखता है, इस सादृश्य से] **'आ'** यह पशुओं का लौटना है। [इस पशुसमृद्धि के आधान के लिए भी एति-प्रेति–पूर्वक अनुवचन किया जाता है। इसप्रकार **'एति-प्रेति'** के सम्बन्ध में चार उप–पत्तियाँ बतलाकर अन्त में एति-प्रेतिरूपा गायत्री से उत्पन्न सम्पूर्ण विश्व में–एति–प्रेति-भाव

[आदान-विसर्गभाव] की व्याप्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]-सभी पदार्थ-समष्टि, व्यष्टिरूप से उभयथा आ-[आदान]-प्र-[विसर्ग] भावों से ही युक्त हैं। [इस सर्वसामान्य-सम्पत्ति-आदानविसर्गात्मिका कर्म्मसम्पत्ति-के लिए ही] एति-प्रेति पूर्वक अनुवचन करता है ॥६॥

[अनुवचन के सम्बन्ध में जो कुछ विशेषताएँ बतलानीं थीं, बतलादीं गईं। दूसरे शब्दों में अनुवचनानुगत उपपत्ति-प्रकरण समाप्त हुआ। अब पद्धति-प्रकरण आरम्भ होता है। पद्धति-प्रकरण आरम्भ करें, इस से पहिले सामिधेनी-मन्त्रपाठ के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें [ग्रन्था-नुगत] लक्ष्य में ले आनीं चाहिएँ —

प्रकृत ब्राह्मण की सातवीं कण्डिका से आरम्भ कर ४० वीं कण्डिकापर्य्यन्त [ब्राह्मणसमाप्ति पर्य्यन्त] जिन सामिधेनी-मन्त्रों की व्याख्या हुई है, वे सामिधेनीमन्त्र तैत्तिरीयब्राह्मण में निम्नलिखित रूप से पठित है—

**१-प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या।**
**देवाञ्जिगातु सुम्नयुः ॥**

-ऋक्सं० ३।२७।१।

**२-अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।**
**नि होता सत्सि बर्हिषि ॥**

-ऋक्सं० ६।१६।१०।

**३-तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि।**
**बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥**

-ऋक्सं० ६।१६।११।

**४-स नः पृथुः श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि।**
**बृहदग्ने सुवीर्य्यम् ॥**

-ऋक्सं० ६।१६।१२।

**५-ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः।**
**समग्निरिध्यते वृषा**

-ऋक्सं० ३।२७।१३।

**६--वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः।**
**तं हविष्मन्त ईडते ॥**

-ऋक्सं० ३।२७।१४।

७--वृषणं त्वा वयं वृषन्÷वृषाणः समिधीमहि ।
अग्ने दीद्यन्तं बृहत् ।'
-ऋक्सं० ३।२७।१५ ।

८--अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥
-ऋक्सं० १।१२।१ ।

९--समिध्यमानो अध्वरे अग्निः पावक ईड्यः ।
शोचिष्केशस्तमीमहे ॥
-ऋक्सं० ३।२७।४ ।

१०-समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षिस्वध्वर ।
त्वं हि हव्यवाडसि ॥
-ऋक्सं० ५।२८।५ ।

११-आजुहोत--*दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे ।
वृणीध्वं हव्यवाहनम् ॥
-ऋक्सं० ५।२८।६ ।
(-तै० ब्रा० ३।५।२ ।)

उक्त ११ सामिधेनी-मन्त्रों से ही अग्निसमिन्धनकर्म्म किया जाता है। प्रस्तुत शतपथ-ब्राह्मण यद्यपि प्रचलित शुक्लयजुः-संहिता की क्रमिक व्याख्या करता हुआ इसी का ब्राह्मण माना जाता है, परन्तु आश्चर्य्य है कि, उक्त ग्यारह मन्त्रों में से यजुःसंहिता में केवल **"तं त्वा समिद्भिः"** (यजुःसं०३।३ ) यह एक ही मन्त्र उपलब्ध होता है। शेष १० मन्त्र यजुःसंहिता में नहीं हैं। इसीप्रकार आगे जाकर जिन मन्त्रों का **निगदानुवचन, आर्षेयानुवचन**, तथा **निवित्पाठ-कर्म्मों** में उपयोग हुआ हैं, वे निम्न लिखित मन्त्र भी यजुःसंहिता में अनुपलब्ध हैं। प्रत्येक शाखा का एक ब्राह्मण, एक आरण्यक, तथा एक उपनिषत् होता है। बहुत सम्भव है--प्रथम तो प्रस्तुत शतपथ ब्राह्मण माध्यन्दिनीशाखा का न हो, अथवा प्रचलित यजुःसंहिता माध्यन्दिनीशाखा की न हो। अवश्य ही दोनों में से एक पक्ष मीमांस्य है। अन्यथा जो मन्त्र स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ में पठित हैं, उन का यजुःसंहिता में उपलब्ध न होना कोई अर्थ नहीं रखता। अनुपलब्ध शेष मन्त्र ये हैं-

÷—"वृषणः" इति ऋक्संहितायाम्।
*— "आजुहोता" इति ऋक्संहितायाम्।

"अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत, (असावसौ,) देवेद्धो मन्विद्ध ऋषिष्टुतो विप्रानुमदितः कविशस्तो ब्रह्मशंसितो घृताहन., प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम् । अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट् । आस्पात्रं जुहूर्देवाना चमसो देवपानः । अराँ इवाग्ने नेमिर्देवास्त्वं परिभूरसि ॥ आवह देवान् यजमानाय, अग्निमग्न आवह, सोममावह, अग्निमावह, प्रजापतिमावह, अग्नीषोमावावह, इन्द्राग्नी आवह, इन्द्रमावह महेन्द्रमावह, देवाँ आज्यपां आवह, अग्निं होत्रायावह, स्वं महिमानमावह, आचाग्ने देवान् वह, सुयजा च यज जातवेदः" ।

(तै० ब्रा० ३ का० ५ प्र०)

उक्त ११ सामिधेनी-मन्त्रों में से शतपथ में तो सातवें मन्त्र का 'वृषणं त्वा वयं वृषन्-वृषणः–समिधीमहि'' इसप्रकार ह्रस्वान्त पाठ है, एवं तै० ब्रा० में "वृषणः' के स्थान में [ऋक् संहितावत्] 'वृषाणः' पाठ हैं। एवमेव आगे की निगदादि मन्त्रसमष्टि के अन्त के– "आचाग्ने देवान् वह, सुयजा च यज जातवेदः" इस तैत्तिरीय पाठ के स्थान में शथपथ में- "आच वह जातवेदः सुयजा च यज" यही पाठ है। इसके अतिक्ति ११ वें मन्त्र में तै० ब्रा० के 'आजुहोत' के स्थान में [ऋक् संहितावत्] 'आजुहोता' यह पाठ है। इन सब मन्त्रों का विशद वैज्ञानिक विवेचन आगे के विवेचना-प्रकरण में किया जायगा। प्रकृत मूलानुवाद–प्रकरण में केवल पद्धति ही बतला दी जाती है।]

वह होता [सर्वप्रथम] [२]"प्र वो वाजा अभिद्यवः' [इत्यादि] इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचनकर्म्म (मन्त्रोपात्त 'प्र' के सम्बन्ध से परागगतिरूप 'प्र' इस भाव का संग्राहक हैं। (अनन्तर) 'अग्नऽआयाहि वीतये' (इत्यादि) इस सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता है। यह अनुवचनकर्म्म [मन्त्रोपात्त 'आयाहि' के सम्बन्ध से अर्वाग्गतिरूप] 'आ' इस भाव का संग्राहक है। [दोनों मन्त्रों के प्र–आयाहि पदों से यह यज्ञ यज्ञकर्म्मानुगता आदान-विसर्गात्मिका स्वाभाविकी सम्पत्ति से युक्त होजाता है, यही तात्पर्य्य है] ॥७॥

क्योंकि 'आयाहि' 'वीतये' यह वाक्य स्वर्गस्थ देवताओं की अपेक्षा से परागगति का सूचक बन रहा है, अतएव यह भी 'प्र' भाव का ही समर्थक माना जायगा, इस हेतु को लक्ष्य में रखते हुए) कितने एक वैज्ञानिकों का कहना है कि, उक्त दोनों सामिधेनीमन्त्र 'प्र' भाव को ही सम्पन्न करने वाले हैं। (इनके उक्त हेतु को अवैज्ञानिक बतलाये हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि)–उन वैज्ञानिकों का (दोनों को 'प्र' भाव-परक बतलाना) यह कथन विज्ञान–के

अतिभाव (विज्ञान के अजीर्णभाव) का ही सूचक है। वस्तुतः 'प्र वो वाजा अभिद्यवः' यह 'प्र' भाव का ही, तथा 'अग्नऽआयाहि वीतये' यह 'आ' भाव का ही सूचक है। (याज्ञवल्क्य का अभिप्राय यही है कि, यज्ञ यजमान कर रहा है। सामिधेनी का अनुवचन यजमान के लिए होरहा है। इस यजमान की अपेक्षा से तो 'आयाहि' अर्वाग्गति का ही ग्राहक बन रहा है। ऐसी स्थिति में 'आयाहि' को प्राकृतिक नित्य यज्ञपरक मानना सर्वथा अवैज्ञानिक है।))॥८॥

(१)-(सातवीं कण्डिका में जिन मन्त्रों के अनुवचन का विधान हुआ है, उनके पदों की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)-वह होता-'प्र वो वाजा अभिद्यवः' इस मन्त्र का अनुवचन करता है। (होता का) यह अनुवचनकर्म्म 'प्र' का सम्पादक बनता है। '१वाजा' इस (वाक्य का तात्पर्य्य यही है कि) निश्चयेन अन्न का ही नाम 'वाजा' है। इससे अन्न के सम्बन्ध में ही कहा गया है। '२ अभिद्यवः' इस (का अर्थ यही है कि) अर्द्धमास (पक्ष) ही का नाम है। इन्हीं के प्रति अनुवचन हुआ है। '३ हविष्मन्तः' इस (का अर्थ यही है कि) पशु ही हविष्मन्त हैं। इन्हीं के प्रति अनुवचन हुआ है ॥९॥

('४ घृताच्या' इस (का अर्थ है)—

"पुराने समय में (ह) 'माथव' नाम से प्रसिद्ध विदेघ (विदेह) राजा ने अपने मुख में वैश्वानर अग्नि को धारण कर लिया। इस राजा का रहूगण का पुत्र, अतएव ' इस उपनाम से प्रसिद्ध गोतम ऋषि पुरोहित था। उस राजा ने गोतम ऋषि के बुलाने पर इसलिए उत्तर नहीं दिया कि, मेरे मुख से वैश्वानर अग्नि (बाहिर) न गिरजाय ॥१०॥

(जब सामान्य-लौकिक वाक्य से गोतम ऋषि विदेघ [विदेह] के वाङ्मय अग्नि का संयम तोड़ने में समर्थ न होसके, तो उन्होंनें अग्नि की स्तुति करते हुए अलौकिक] ऋङ्मन्त्रों से [मुख-

---

१—'वाजयति-बलयति' इस निर्वचन से अन्न को वाज कहा गया है।

२—'वस्तोः-द्यौर्भानु वासरम्' इत्यादि रूप से 'द्यु' शब्द दिन वाचक है। 'द्यून्-दिवसान्-अभिगताः' इस निर्वचन से दिनो के अनुगत रहने वाले शुक्ल—कृष्ण पक्षों को अवश्य ही 'अभिद्यवः' कहा जासकता है।

३—-क्षीर-दधि-आज्यादि हवि के उत्पादक होने से ही पशुओं को 'हविष्मन्तः' कहा गया है।

४—-'घृताच्या' पद का मन्त्र में विशेष महत्त्व है। क्योंकि घृत 'तेजो वै आज्यम्' के अनुसार तेजोलक्षण अग्नि का सजातीय है। अतएव यही अग्निसमिन्धन का मुख्य कारण माना गया है। इस पद का एक ऐतिहासिक-आख्यान के द्वारा महत्त्व प्रतिपादित हुआ है।

स्थित अग्नि की स्तुति करते हुए] विदेव को बुलवाने का निश्चय किया। [गोतम कहने लगे कि] "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे" (हे कवे! हे अग्ने! यज्ञसमृद्धि-स्वरूप-समर्पक, अभिलषित-फलपूरक, कान्तियुत ऐसे आपका इस यज्ञ में मैं-इध्मकाष्ठ से-समिन्धन कर रहा हूँ–यजुः सं० २।४।] [ऋक् सं० ५।२६।३।] इस मन्त्र से अग्नि की स्तुति कर अन्त में गोतम ने कहा-'हे विदेव!' ॥११॥

विदेघ ने कोई उत्तर नहीं दिया, [मानो कुछ सुना ही नहीं। पुनः अग्नि को स्तुति के द्वारा प्रबल बनाते हुए गोतम ने यह मन्त्र बोला] "उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः" [ऋक् सं० ८।४४।१७- हे अग्ने! आपकी पवित्र-निर्मल-शुक्लवर्ण की चमकती हुईं रश्मियाँ आपकी ज्योतियों (तेजः पर्वों) को प्रेरित (समृद्ध) कर रहे हैं) [इस प्रकार मन्त्रवाक् से अग्नि की स्तुति कर प्लुतस्वर से, उच्चस्वर से गोतम ने पुनः विदेव का आह्वान करते हुए] यह कहा–हे विदेघ ३! ॥१२॥

राजा विदेघ ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। (अन्त में राहूगण गोतम के मुख से "* तन्त्वा घृतस्नवीमहे" केवल यह मन्त्रभाग ही निकला था कि, घृत शब्द के उच्चारण से (विदेघ के मुख में प्रतिष्ठित) वैश्वानर अग्नि प्रबल वेग से प्रज्ज्वलित होपड़ा। (उस प्रज्ज्वलित अग्नि को) अब विदेघ मुख में न रख सके। (उन का संयम टूट गया, फलतः) वैश्वानर अग्नि उनके मुख से बाहिर निकला पड़ा, और इस पृथिवी पर प्राप्त होगया (गिर पड़ा) ॥ १३ ॥

(जिस समय गोतम के मुख से निकले हुए 'घृत' पद के श्रवण से विदेघ का मुखस्थित वैश्वानर अग्नि प्रज्ज्वलित होकर बाहिर गिर पड़ा था) उस घटना के समय विदेघ माथव सरस्वती (एतन्नामक नदी) के ही समीप थे। (यहाँ प्रज्ज्वलित अग्नि भूमि पर गिरा) यहीं से क्रमशः पूर्व की ओर वह अग्नि इस पृथिवी (के आर्द्र भाग को) जलाता (सुखाता) हुआ आगे बढ़ने लगा। आगे आगे जलभाग को जलाते हुए इस अग्नि के पीछे विदेघ माथव, और राहूगण गोतम क्रमशः आगे बढ़ने लगे। (पूर्व की ओर वेग से बढ़ते हुए। उस वैश्वानर अग्नि ने (मार्ग में पड़ने वालीं इतर सब क्षुद्र) नदियों को सुखा डाला। उत्तगिरि से जो 'सदानीरा' नाम की नदी निकलती है, केवल इसी को (उस अग्नि ने) नहीं सुखाया। क्योंकि इस नदी का

*–तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवाँ आ वीतये वह' (ऋक् सं० ५।२६।२।)। हे घृतोत्पन्न! हे विविध रश्मियुक्त अग्ने! स्वर्ग को पहिचानने वाले आप से हम प्रार्थना करते हैं कि, आप हविर्भक्षण के लिए (हमारे यज्ञ में स्वर्गलोक से) देवताओं को बुलाएँ।

वैश्वानर अग्नि के द्वारा शोषण नहीं हुआ, अतएव यह सदानीरा **'अनतिदग्धा'** मानी गई। (इसीलिए) उस युग से ब्राह्मण लोग इस नदी को पार नहीं करते हैं। हेतु यही है कि, यह वैश्वानर अग्नि से अनदितग्धा है। (इसे पार करना पतित होना समझा गया, यही तात्पर्य्य है) ॥ १४ ॥

इस समय उस (सदानीरानदी) के पूर्व देशों में बहुत से ब्राह्मण रहते हैं। वह (भूभाग इस अग्निदहनकर्म्म से) पहिले कृषि के (खेती के) सर्वथा अयोग्य था, और यज्ञादि फल-प्रदान के अयोग्य था। क्योंकि इस से पहिले क्षेत्रस्वरूपसमर्पक, तथा यज्ञादिफलयोग्यता-धायक) वैश्वानर अग्नि से यह भूभाग अनास्वादित (अनुपभुक्त-असंस्पृष्ट) ही था ॥ १५ ॥

(परन्तु वैश्वानर अग्नि के अनुग्रह से) आज वही भूप्रदेश एक उर्वर (उपजाऊ) भूप्रदेश बन रहा है। (एक तो स्वयं विदेघ के मुखस्थित वैश्वानर अग्नि से यहाँ का भूभाग विशुद्ध--परिष्कृत--निवास-योग्य होगया, दूसरे) वहाँ के निवासी याज्ञिक ब्राह्मणोंनें यज्ञानुष्ठानों से अग्नि के द्वारा इसे युक्त कर परिष्कृत कर दिया। (अर्थात् यज्ञाग्नियों के द्वारा याज्ञिकोंनें इस स्थान को अग्नि का स्वाद दिला दिया) वह सदानीरानदी प्रचण्ड ग्रीष्मकाल में भी एकरूप से प्रवाहित रहती है (उसका जल कभी नहीं सूखता, अपितु सदा समानरूप से प्रवाहित रहता है)। साथ ही यह ठँढी (भी) रहती है। कारण यही है कि, यह नदी (पूर्वकथनानुसार जलशोषक, तथा तापप्रवर्त्तक) वैश्वानर अग्नि से अनतिदग्धा है ॥ १६ ॥

(वैश्वानर अग्नि से भूप्रदेश के आर्द्र भाग को उत्तरोत्तर सुखाते हुए दोनों जब सदानीरा के समीप पहुँचे, तो) माथव विदेघ ने राहूगण गोतम से परामर्श किया कि, (बतलाओ) मैं कहाँ रहूँ (कहाँ अपना राज्यतन्त्र स्थापित करूँ)?। गोतमने उत्तर दिया कि, इस सदानीरा से पूर्व पूर्व का जो भूप्रदेश है, (वही आप के योग्य है)। यही कारण है कि, आज भी यही सदानीरानदी **कोसलविदेह-राजाओं** की सीमा मानी जाती है। ये कोसलविदेह (माथव विदेघ के द्वारा राज्यतन्त्र स्थापित किए जाने से) **'माथव'** नाम से ही प्रसिद्ध हैं ॥ १७ ॥

(प्रासङ्गिक चर्चा बतला कर आख्यान का प्रकृत ब्राह्मणप्रकरण से सम्बन्ध बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, **'तं त्वा घृतस्नवीमहे'** इस मन्त्रभाग के बोलने से जब विदेघ का वाक् संयम टूट गया, तो) राहूगण गोतम ने प्रश्न किया कि, आप का अनेक बार आह्वान करने पर भी आपने क्यों नहीं प्रत्युत्तर दिया?। विदेघ ने उत्तर दिया कि, उस समय मेरे मुख में वैश्वानर अग्नि प्रतिष्ठित था। (बोलने से) वैश्वानर अग्नि मुख से निकल न जाय, इस लिए मैंनें (आपके आमन्त्रण का प्रत्युत्तर नहीं दिया) ॥ १८ ॥

विदेघ के उक्त उत्तर पर पुनः गोतम ने प्रश्न किया कि-फिर आप के मुख से वैश्वानर अग्नि कैसे निकल पड़ा ? (जिसके निकलने से आप प्रत्युत्तर देने में समर्थ होसके)। (विदेघने उत्तर दिया कि) जिस समय आपने ('तन्त्वा' के अनन्तर) 'घृतस्नवीमहे' इस वाक्य का उच्चारण किया, उसी समय 'घृत' नाम के सम्बन्ध से मुखस्थित वैश्वानर अग्नि मुख में प्रज्वलित होपड़ा। उस प्रबल अग्नि को मैं फिर मुख में धारण करने में समर्थ न होसका। फलतः वह बाहिर आठहरा ॥१६॥

(जिस प्रयोजन के लिए उक्त आख्यान बतलाया गया है, उस प्रयोजन का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)—सो जो कि सामिधेनी मन्त्रों में घृत शब्द युक्त पद है, वह अग्नि-समिन्धन का ही कारण समझना चाहिए। इस 'घृताच्या' पदोच्चारण से होता अग्नि का समिन्धन ही करता है, इसमें वीर्य्य का ही आधान करता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि—'प्र वो वाजा०' इत्यादि सामिधेनीमन्त्र का 'घृताच्या' पद अग्निसमिन्धन का ही प्रवर्त्तक है) ॥२०॥—

यही 'घृताच्या' पद की उपपत्ति है। (तदु घृताच्येति) ॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है-'देवाञ्जिगाति सुम्नुयुः"। यह यजमान ही (स्वर्गादि लक्षण सुख की कामना रखने से-'सुम्नं-सुखं-इच्छति' इस निर्वचन से) 'सुम्नुयु' है। यह सुम्नुयु यजमान (यज्ञ के द्वारा) इन देवताओं को वश में करने की इच्छा करता है। यह यजमान ही देवताओं को प्राप्त करना चाहता है। (यजमान उन्हें प्राप्त करने में समर्थ बने) यही व्यक्त करने के लिए 'देवाञ्जिगाति सुम्नुयुः' यह कहा है ॥

यह प्रथमा सामिधेनी-ऋचा अग्निदेवतायुक्ता बनती हुई अनिरुक्ता (नाम विशेष-ग्रहण-विरहिता) है। सर्व ही अनिरुक्त है। (इसप्रकार सर्वात्मक अनिरुक्तभाव से युक्ता) अग्निदेवता-मयी इस प्रथमा सामिधेनी ऋचा का अनुवचन करता हुआ होता सर्वसम्पत्ति को मूल में प्रतिष्ठित करता हुआ ही अनुवचनकर्म्म आरम्भ करता है ॥२१॥*॥

## इति-प्रथमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—१—

*—१—प्रथमा सामिधेनी—

"प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मतो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नुयुः" (१)।

हे ऋतुदेवताओ ! अन्न, अर्द्धमास, पशु, स्रुक्, आदि सब मिलकर आप यजमान की सुखैषणापूर्त्ति के कारण बन रहे है। (इस मन्त्र को अग्निपक्ष में भी लगाया जासकता है, जैसाकि पाठक विवेचना मे देखेंगे)।

(२)-(प्रथम-सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त) **'अग्न आयाहि वीतये०'** (इत्यादि दूसरी) इसका अनुवचन करता है। यह मन्त्र **'आ'** भाव का स्वरूप-संग्राहक है। (मन्त्रगत) **'वीतये'** पद का तात्पर्य्य यही है कि-) पहिले (त्रैलोक्य सृष्टि से पहिले) पृथिवी, अन्तिरिक्ष, द्यौ, तीनों लोक परस्पर एक साथ मिले हुए से, एकरूप से ही थे (अर्थात् **'इदमन्तरिक्षं, इयं द्यौः'** इत्यादि रूप से विभक्त न थे)। (उस समय) द्युलोक हाथ से छूने योग्य जैसा ही था। [समन्तिक होने से सभी समीपतम थे, यही वक्तव्य है] ॥२२॥

उन देवदेवताओंनें यह कामना की कि, हमारे लोक, [किंवा हमारी वसु-रुद्र-आदित्यात्मिका गण-समष्टि के क्रमिक प्रतिष्ठान के लिए ये लोक] किस उपाय से एक दूसरे से पर्य्याप्त दूर हों, एवं कैसे ये विस्तीर्ण बनें। [अर्थात् कैसे तो एक के तीन विभक्त लोक हों, एवं कैसे प्रत्येक लोक बृहत् बने] [अपनी इस कामना को सफल बनाने के लिए] देवताओंनें **'वी-त-ये'** इन तीन अक्षरों से ही पृथक्-पृथक्, एवं वरीयान् कर दिया, [तभी से] ये तीनों लोक [परस्पर एक-दूसरे से, साथ ही हम से भी हैं, विदूर भी हैं, एवं वरीय भी हैं। इस प्रक्रिया से यह लोक विस्तीर्ण बन गया। उस यजमान के लिए विस्तीर्णा लोकसम्पत्ति प्रतिष्ठित होजाती है, (जिस यजमान के यज्ञ में] **'वीतये'** का उक्त रहस्य जानने वाला होता 'वीतये' पद से युक्त **'अग्न आयाहि वीतये०'** इत्यादि सामिधेनी-ऋक् का अनुवचन करता है। ['वीतये' पद लोकप्रतिष्ठा का संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है] ॥२३॥

**"गृणानो हव्यदातये"** मन्त्र के इस उत्तर भाग का तात्पर्य्य यही है कि, यजमान ही [देवताओं के निमित्त हविर्दान देने से] 'हव्यदाति' है। **'यजमान के लिए प्रियमाण आप'**, यही (इस मन्त्र भाग से) कहा गया है। **"नि होता सत्सि बर्हिषि"** इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, अग्नि ही होता (हव्यवहनकर्त्ता, तथा देवताओं का **'आह्वानकर्त्ता'**) है, यही (पृथिवी) लोक बर्हि (अग्निगर्भित अब्रूप) है। (**'नि होता०'** इत्यादि के द्वारा यह होता) इसी लोक में अग्नि प्रतिष्ठित करता है। वह यह अग्नि इस लोक में प्रतिष्ठित है। यह ऋक् (ऋग्भाग) इसी [पृथिवी] लोक को लक्ष्य बनाकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का एवंवित् होता इसका अनुवचन करता है, वह यजमान [होता के इस रहस्य-

ज्ञानानुगत अनुवचन से] इसी [पृथिवी] लोक को जीत लेता है। प्रस्तुत मन्त्रभाग पृथिवी-लोक-सम्पत्ति का ही संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है ॥२४॥÷॥

## इति–द्वितीयसामिधेनी–मन्त्रव्याख्यानम्

--२—

[३]-[द्वितीय-सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त-"तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरः०" इत्यादि तिसरी सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी के वाक्यों की क्रमश व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है]-'तन्वा समिद्भिरङ्गिरः' इस मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, [आधिदैविक यज्ञ में] अङ्गिरा नामक प्राणात्मक ऋषियोंनें [तथा वैधयज्ञ में-अङ्गिरा नामक प्राणीविध ऋषियों नें] समिधाओं से इस अग्नि का समिन्धन किया है। 'अङ्गिराः' का अर्थ यही है कि, अङ्गिरा ही अग्नि है। अर्थात यहाँ अङ्गिरा पद से अग्नि ही-अभिप्रेत है)। "घृतेन वर्द्धयामसि" इस मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, यह सामिधेनी पद (अग्निसमिन्धक घृतयुक्त पद) है। इस से अग्नि का समिन्धन ही करता है, इस में वीर्य्य का ही आधान करता है। (तात्पर्य्य यही है कि, यह मन्त्रभाग अग्नि के समिन्धन का ही अनुग्राहक है) ॥२५॥

'बृहच्छोचा यविष्ठ्य" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, यह अग्नि प्रज्ज्वलित होता हुआ स्वरूप से बड़ा बन कर तपता है। 'यविष्ठ्य' का तात्पर्य्य यही है कि, (नित्य युवा बनता हुआ) यह अग्नि ही यविष्ठ्य है, इसी लिए 'यविष्ठ्य' यह कहा गया है। ऋक् (ऋग्भाग) इसी अन्तरिक्ष लोक को लक्ष्य-बनाकर उच्चरित हुई है। इसीलिए यह ऋचा आग्नेयी होने के साथ साथ अनिरुक्ता है। यह अन्तरिक्षलोक अग्निरुक्त ही है। जिस यजमान का एवं-वित् होता इस ऋचा का अनुवचन करता है, वह यजमान (होता के इस रहस्यज्ञानानुगत अनु-

---

+—२—द्वितीया सामिधेनी—

"अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि" [२]

"हे अग्ने! देवताओं को हविः प्रदान करने के लिए, स्वयमपि हविर्भक्षण के लिए स्तूयमान आप इस यज्ञ में पधारिए। एवं होता बनकर इस दर्भासन पर विराजिए"।

वचन से ) इसी अन्तरिक्ष लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। (प्रस्तुत सामिधेनी-मन्त्र अन्तरिक्षलोक-सम्पत्ति का ही संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है ) ॥२६॥*॥

## इति-तृतीयसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—३—

(४)-(तृतीय-सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर क्रमप्राप्त-"**स नः पृथुः श्रवाय्यं०**" इत्यादि चौथी सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)- "**स नः पृथु श्रवाय्यम्**" इस मन्त्रभाग का यही अर्थ है कि, 'वह द्युलोक' ( इतर लोकों की अपेक्षा ) विस्तीर्ण है, फैला हुआ है, जिस द्युलोक में कि देवता प्रतिष्ठित हैं। (देवताओं के तत्र निवास करने से ही) वह द्युलोक इतर लोकों की अपेक्षा '**श्रवाय्य**' ( श्रवण परम्परा में प्रशस्त, लोक-वेद में प्रशंसनीय) है। '**अच्छा देव विवाससि**' इस मन्त्रभाग से यही कहा गया है कि, यह द्युलोक हमें प्राप्त हो ॥२७॥

"**बृहदग्ने सुवीर्य्यम्**" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, वह द्युलोक निश्चयेन विस्तीर्ण है, जिसमें कि ये (प्राण) देवता प्रतिष्ठित हैं। यह द्युलोक (इन वीर्य्यशाली-ब्रह्म-क्षत्र-विड्-वीर्य्य-प्रवर्त्तक देवताओं के निवास करने से ) सुवीर्य्य (शोभनवीर्य्य) बन रहा है। यह चौथी ऋचा इसी द्युलोक को लक्ष्य में रखकर उच्चरित हुई है। जिस यजमान का एवंवित् होता इस ऋचा का अनुवचन करता है, वह यजमान (होता के इस रहस्यज्ञानानुगत अनुवचन से ) इसी द्युलोक पर विजय प्राप्त कर लेता है। (प्रस्तुत सामिधेनी मन्त्र द्युलोकसम्पत्ति का ही संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है ) ॥२८॥ ×॥

## इति-चतुर्थसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—४—

---

*—तृतीया सामिधेनी-"तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य" इति। हे अङ्गिरावंशज अग्ने ! यज्ञसम्बन्धी काष्ठ से, तथा संस्कृत यज्ञिय आज्य से हम आपको प्रवृद्ध कर रहे हैं। हे तरुणतम ! आप बृहत्-रूप से प्रदीप्त बनिए !

×—चतुर्थी सामिधेनी-"स नः पृथुश्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्य्यम्"। "हे प्रदीप्त अग्ने ! आप विपुल, श्रवणीय, मात्रावृद्ध, शोभनवीर्य्ययुक्त धन हमारे लिए प्रदान करें"।

(५)–(चतुर्थ–सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर ) वह होता ( क्रमप्राप्त )–"**ईडेन्यो नमस्यः**" इत्यादि पाँचवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। (इसी के वाक्यों की क्रमशः व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है )–यह अग्नि निश्चयेन स्तुति करने योग्य है, एवं नमस्कार करने योग्य है। "**तिरस्तमांसि दर्शतः**" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि प्रज्ज्वलित होकर अन्धकारपुञ्ज का तिरस्कार करता हुआ ही दिखलाई देता है। "**समग्निरिध्यते वृषा**" इस अन्तिम भाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन प्रदीप्त रहता है, जो कि वृषा (यज्ञफलवर्षक) है ॥*॥

## इति-पञ्चमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

**—५—**

(६)–(पञ्चम–सामिधेनी–ऋङ्मन्त्र के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त–"**वृषो अग्निः समिध्यते**" इत्यादि षष्ठ सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी के वाक्यों की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है )–"**वृषो अग्निः समिध्यते**" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन (सामिधेनी से ) प्रदीप्त होता है ॥२६॥

"**अश्वो न देव वाहनः**" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि अश्व बन कर ही (द्युलोकस्थ) देवताओं के लिए ( अग्नि में आहुत, यज्ञातिशयोत्पादक, अतएव ( यज्ञ ) ( नाम से प्रसिद्ध हविर्द्रव्य ) का वहन करता है। (लोकभाषा में जहाँ '**न**' कार निषेधार्थक माना गया है, वहाँ ) ऋक् में (मन्त्रात्मिका वैदिकी भाषा में पठित ) '**न**' कार '**ओम्**' (स्वीकृति) का वाचक है। इसीलिए '**अश्वो न देववाहनः**' यह कहा गया है ॥३०॥

"**तं हविष्मन्त ईडते**" इस अन्तिम मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, (चरुपुरोडाशादि हविर्द्रव्यों का सम्पादन करने से ) हविष्मन्त ( नाम से प्रसिद्ध ऋत्विग् यजमानादि ही इस

*–पञ्चमी सामिधेनी–"**ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा**"। "हे अग्ने ! आप स्तोतव्य हैं, नमस्व हैं, प्रदीप्त होकर तमोराशि का तिरस्कार कर दिखलाई देने वाले हैं। आप प्रदीप्त हैं, यज्ञफलवर्षक हैं"।

अग्नि की (उन हवियों को देवता ओं में पहुचाने के लिए ) स्तुति करते हैं। इसीलिए— 'तं हविष्मन्त ईडते' यह कहा गया है ॥३१॥*॥

## इति षष्ठसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

—६—

(७)-(षष्ठ-सामिधेनी-ऋङ् मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त-"वृषणं त्वा वयं वृषणः समिधीमहि०" इत्यादि सातवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है )–'वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि' इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, ऋत्विग्गण अवश्यमेव इस अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। 'अग्ने दीद्यन्तं बृहत्' इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, (पूर्व सामिधेनियों से) प्रदीप्त यह अग्नि (अब अधिक मात्रा से ) बड़ा, तथा अतिशयरूप से प्रदीप्त बन गया है ॥३२॥+॥

## इति-सप्तमसामिधेनी–मन्त्रव्याख्यानम्

--७--

'ईडेन्यो नमस्यः०'–'वृषो अग्नि समिध्यते०'–'वृषणं त्वा वयं वृषन्०' इन तीन मन्त्रों में 'वृषन्' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीनों की समष्टिरूप त्रिच को 'वृषण्वन्तत्रिच' कहा गया है। इस वृषण्यवन्त चित्रका एक विशेष फल बतलाती हुई श्रुति कहती है)-वह होता(वृषन् शब्द से युक्त तीनमन्त्रों का क्रमिक अनुवचन करता हुआ) वृषण्वन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है ये सब सामिधेनियाँ आग्नेयीं होतीं हैं ( यज्ञाग्नि के समिन्धन के लिए ही आग्नेयी सामिधेनियों से अनुवचन किया है। परन्तु अग्नि जबतक इन्द्र को साथ नहीं लेलेते, तबतक इनका समिन्धन

---

*-षष्ठी-सामिधेनी-

"वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईडते"।

"अश्व की भांति देवताओं के लिए हविर्वहन करने वाला यज्ञफलवर्षक अग्नि प्रदीप्त होरहा है। हविष्मन्त ऋत्विक् ऐसे अग्नि की स्तुति कर रहे हैं"।

÷ सप्तमी सामिधेनी—

"वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यन्तं बृहत्"।

"हे यज्ञफलवर्षक अग्ने ! आहुतिवर्षक हम ऋत्विग्गण यज्ञाहुतिवर्षक आपको प्रदीप्त कर रहे हैं। हम ऐसे बृहद्रूप से प्रदीप्त अग्नि का बृहद्रूप से समन्वित कर रहें हैं"।

अपूर्ण रहता है। क्योंकि ) निश्चयेन इन्द्र ही यज्ञ के देवता ( पति ) हैं। साथ ही इन्द्र ही वृषा है। ( इसप्रकार वृषण्वन्त त्रिच के अनुवचन से ) सब आग्नेयी सामिधेनियाँ इन्द्रयुक्त भी बन जातीं हैं। इसी प्रयोजन के लिए वृषण्वन्त त्रिच का अनुवचन करता है। ( अन्य आग्नेयी त्रिच से अनुवचन न कर वृषन् पद से युक्त त्रिच से अनुवचन करने का यही प्रयोजन है कि, अग्नि-समिन्धन के साथ साथ यज्ञ में यज्ञपति इन्द्र का भी सम्बन्ध होजाय, यही तात्पर्य्य है ) ॥३३॥

( सप्तम सामिधेनी ऋङ्मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता **"अग्निं दूतं वृणीमहे०"** इत्यादि आठवीं सामिधेनी का अनुवचन करता है। इसी मन्त्र की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि ) **"अग्नि दूतं वृणीमहे०"** का वह होता अनुवचन करता है, इस का तात्पर्य्य यही है कि—

"एक बार ( प्रजापति की सन्तान होने से ) प्राजापत्य ( नाम से प्रसिद्ध ) देवता, और असुर दोनों परस्पर स्पर्द्धा करने लगे। स्पर्द्धा करते हुए इन दोनों के बीच में ( समझौता कराने के लिए ) गायत्री आखड़ी हुई। ( उस समय ) मध्य में खड़ी होने वाली जो गायत्री थी, यही वह ( पृथिवी ही ) तो दोनों के बीच में खड़ी हुई ( थी )। उन दोनोंनें परस्पर यह सन्धा (शर्त्त) निश्चित की कि, अपन दोनों में से जिन की ओर यह पृथिवी लौट आएगी, वे जीते हुए माने जायँगे, एवं ( इसके सम्बन्ध से वञ्चित ) दूसरे पराजित समझे जायँगे। ( यह सन्धा निश्चित कर ) उस पृथिवी को देवता, तथा असुर दोनों हीं अपनी अपनी ओर बुलाने का प्रयास करने लगे। दोनों नें उसके समीप अपने अपने दूत भेजे। ( इन में ) **'अग्नि'** ही देवाताओं के दूत थे, एवं **'सहरक्षा'** नामक असुरों के दूत थे। दोनों में से पृथिवी देवदूत अग्नि की ओर ही लौट आई।" इसीलिए- **'अग्निं दूतं वृणीमहे'** यह कहा गया है। वास्तव में ( उक्त पुरावृत्त के अनुसार ) अग्नि निश्चयेन देवताओं के दूत थे। मन्त्र का दूसरा भाग है—**"होतारं विश्ववेदसम्"** यह ॥ ३४ ॥

कितने एक याज्ञिक कहते हैं कि, ( **'होतारं विश्ववेदसम्'** के स्थान में ) **'होता यो विश्ववेदसः'** ऐसा मन्त्र बोलना चाहिए। ( कारण इस परिवर्त्तन का ये याज्ञिक यह बतलाते हैं कि ) 'हम आत्मा को **'अरम्'** न कहें'। ( तात्पर्य्य यही है कि-**'होतारं विश्ववेदसं' के 'होतारं'** पद में 'होता-अरं' यह व्यवच्छेद भी बन रहा है। यह **'अरं'** शब्द निवारणार्थक माना गया है। इस **'अरं भावना'** से फल यह निकलेगा कि, होता का इस यज्ञसंस्था से पृथक्करण होजायगा। इस आशङ्का से बचने का यही उपाय है कि, **'होतारं'** के स्थान में **'होता यो विश्ववेदसः'** इस मन्त्ररूप का ऊह कर लिया जाय )"।

( इस मानुषकल्पानुगत मन्त्र-ऊह-पक्ष का आमूलचूड खण्डन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि )-होता को चाहिए कि-वह वैसा ( **होता यो विश्ववेदसः'**, ऐसा ) कभी न बोले। ( अपनी कल्पना से शब्दों की यथेच्छ मनमानी ) उपपत्ति लगाते हुए जो याज्ञिक स्वतः-सिद्ध मन्त्रों के स्वरूप में परिवर्त्तन करते हुए यज्ञेतिकर्त्तव्यता में यथेच्छ परिवर्त्तन करते रहते हैं ) वे यज्ञ में मानुषभाव का ही समावेश करते हैं। वह यज्ञ की 'व्यृद्धि' **(समृद्धि का विनाश)** है, जो कि काल्पनिक मानुषभाव है। हम अपने यज्ञ में देवसमृद्धि के घातक मानुषभाव का समावेश न कर बैठें, इसलिए प्रत्येक दशा में यह आवश्यक है कि, जैसा ऋचा से ( सिद्धमन्त्र से ) कहा गया है, वैसा ही **'होतारं विश्ववेदसम्'** इसी रूप से होता को अनुवचन करना चाहिए।

**"अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्"** इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यही इस यज्ञ का सुक्रतु ( उत्तमरूप से यज्ञकर्म्म का सम्पादन करने वाला ) है, जो कि अग्नि है। इसीलिए **'अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्'** कहा गया है। ( मन्त्रव्याख्यान बतला कर पूर्वोक्त आख्यान का उपसंहार करती हुई श्रुति कहती है कि, देवदूत अग्नि के गमन से ) वह पृथिवी देवताओं की ओर ही लौट आई। परिणामतः ( निश्चित सन्धा के अनुसार ) देवता जीत गए, एवं असुर पराजित होगए। वह यजमान अपने आत्मा से ( शत्रुपक्ष की प्रतिस्पर्द्धा में ) विजय-लाभ करता है, एवं उसके शत्रु पराजित होजाते हैं, जिस यजमान का एवंवित् होता **'अग्निं दूतं०'** इत्यादि सामिधेनी का अनुवचन करता है। ( **शत्रुपराजय, एवं यजमान का विजय** भी इस सामिधेनी-अनुवचन का फल है, यही तात्पर्य्य है ) ॥ ३५ ॥ +

## इति-अष्टमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

## — ८ —

( मूलतः सामिधेनी मन्त्र ११ बतलाए गए हैं। इनमें से-**'प्र वो वाजा अभिद्यवः'** इस प्रथम मन्त्र का, तथा **"आजुहोता दुवस्यत०"** इत्यादि ग्यारहवें मन्त्र का तीन तीन बार अनु-

---

+अष्टमी सामिधेनी—

"अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्"।

+"मैं उस देवदूत अग्नि का वरण कर रहा हूँ, जो देवताओं का आह्वान करने से **'होता'** नाम से, विश्वसम्पत्ति के परिज्ञान से **'विश्ववेदसः'** नाम से, एवं इस यज्ञकर्म्म का श्रेष्ठ सञ्चालक होने से **'सुक्रतु'** नाम से प्रसिद्ध" है।

वचनों की वृद्धि से ११ के स्थान में १५ अनुवचन होजाते हैं। यही अनुवचन के सम्बन्ध में एक पक्ष है। क्रमप्राप्त संख्या के अनुसार '**अग्निं दूतं वृणीमहे०**' इत्यादि मन्त्र आठवाँ पड़ता है। प्रथम-मन्त्र के त्रिरावृत्त उच्चारण से यद्यपि '**अग्निं दूतं वृणीमहे०**' मन्त्र १० वीं संख्या पर आकर ठहरता है, थापि क्योंकि उस एक ही मन्त्र का त्रिरावर्त्तन है, अतः '**अग्निं दूतं०**' की अष्टमी संख्या की मौलिकता सुरक्षित रहजाती है, जिसका कि सुरक्षित रहना आवश्यक है।

दूसरा पक्ष सप्तदश-संख्या से सम्बन्ध रखता है। **दर्शपूर्णमास में १७ सामिधेनियों का अनुवचन करना चाहिए**' इस पक्षान्तर में २ संख्याओं की पूर्त्ति के लिए ११ मौलिक मन्त्रों से अतिरिक्त जिन दो मन्त्रों का इन ग्यारहों में समावेश किया जाता है, उन्हें-"**उपरिष्टात्-दधाति**" इस निर्वचन से-"**धाय्या**" कहा जाता है। इन '**धाय्या**' नामक ऋचाओं का आधान (समावेश) ११ में से कहाँ करना ?, यह विचार प्रस्तुत है। सिद्धान्ततः '**अग्निं दूतं वृणीमहे०**' इस मन्त्र के अनुन्तर ही इन का अनुवचन होता है। तभी इस मन्त्र का अष्टमत्त्व सुरक्षित रह सकता है। इसी सिद्धान्त पक्ष को दृष्टि में रखती हुई, '**धाय्या-ऋचाओं**' के उत्तर में आधान को लक्ष्य बनाती हुई श्रुति कहती है कि)—

'**अग्निं दूतं वृणीमहे०**' इत्यादि ऋचा का अष्टमीरूप से (आठवीं मान कर '**वृषणं त्वा वयं वृषन्०**' इत्यादि सातवीं सामिधेनी के अनन्तर ही) अनुवचन करना चाहिए। क्योंकि यह सामिधेनी ऋचा (११ संख्या में से आठवीं संख्या पर पड़ती हुई) निदानविधि से गायत्री है। गायत्री अष्टाक्षरा है, (गायत्र अग्नि का छन्द है, यहाँ इस सामिधेनी-कर्म्म से होता को अग्नि का समिन्धन करना है। ऐसी स्थिति में जब निदानमर्य्यादा से यह ऋचा क्रमद्वारा आठवीं बनती हुई गायत्रसम्पत्ति से स्वतः युक्त होरही है, तो अवश्य ही इसे) आठवीं बनाकर ही इस का अनु-वचना करना चाहिए। तात्पर्य्य यही है कि, गायत्राग्नि-सम्पत्ति-प्राप्त्यर्थ-'**अग्निं दूतं०**' इत्यादि सामिधेनी का सातवीं सामिधेनी के अनन्तर ही अनुवचन होना चाहिए॥ ३१॥

('**अग्निं दूतं०**' की अष्टसंख्यानुवचनगत गायत्रसम्पत्ति में जो आपत्तिजनक पक्ष है, उसको बतलाकर, अन्त में उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करती हुई श्रुति कहती है कि)-कितने एक याज्ञिक '**अग्निं दूतं मृणीमहे०**' इस आठवीं ऋचा के पहिले (तथा '**वृषणं त्वा वृषन्०**' इस सातवीं ऋचा के आगे '***पृथु पाजाः०**'-'**तं संबाधः०**" इन) दोनों धाय्या-ऋचाओं का

---

*-"पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक् स्वाहुतः। अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट्" (ऋक्सं० ३।२७।५)। "तं संबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः। आचक्रुरग्निमूतये" (ऋक्सं० ३।२७।६)।

का स्थापन करते हैं। साथ ही "अन्न का ही नाम 'धाय्या' है" [ अर्थात् "धाय्या ऋचाएँ" अन्नस्थानीया हैं, क्योंकि अन्न का भी मुख में बाहिर से आधान होता है, एवं इन दोनों ऋचाओं का भी अन्नवत् बाहिर से इन ११ ऋचाओं में आधान होता है। इसी सादृश्य से दोनों धाय्या-ऋचाओं को अन्नस्थानीय कहा जसकता है। उधर आठवीं ऋचा गायत्रसम्पत्ति से युक्त रहतीं हुई गायत्रीछन्दस्क गायत्र-अन्नादग्नि-स्थानीया है, अन्नादाग्नि की मुखस्थानीया है। ऐसी स्थिति में इस मुखस्थानीया आठवीं ऋचा से पहिले धाय्या का स्थापन करते हुए हम ] मुख भाग से ही [ अन्नादिग्नि में ] अन्न का आधान करते हैं," यह कहते हैं। अर्थात् अष्टमी से पहिले धाय्या-अनुवचन की वे याज्ञिक उक्त उपपत्ति बतलाते हैं ]।

परन्तु होता को चाहिए कि, वह ऐसा कभी न करे। उस होता के लिए वह गायत्री गायत्र-सम्पत्तिसंग्रह में असमर्थ रह जाती है, जो होता इससे पहिले धाय्या-ऋचाओं का स्थापन करता है। उस दशा में **'अग्निं दूतं वृणीमहे०'** इत्यादि ऋचा दशमी, तथा एकादशी बन जाती है। अर्थात् आठवीं से पहिले दोनों के आधान से आठवीं तो दशमी बन जाती है, एवं १० वीं (**'समिध्यमानोऽध्वरे०'** यह) एकादशमी बन जाती है)।

(तात्पर्य्य यही है कि, जिस अष्टम-संख्यानुगता गायत्रसम्पत्ति के सम्बन्ध से वे याज्ञिक इसे अन्नाद मानते हुए अन्नरूप से इससे पहिले धाय्या-ऋचाओं का आधान करना चाहते हैं, उनके मत से तो आठवीं आठवीं न रहकर जब दशमी ही बन जाती है, तो उनकी अन्नानानुगता उपपत्ति भी व्यर्थ होजाती है, साथ ही आठवीं को आठवीं रखने से यज्ञ में जो गायत्रसम्पत्ति मिलती है, उससे भी वे वञ्चित रह जाते हैं )।

उसी यजमान के लिए यह आठवीं ऋचा अनवक्लृप्ता ( गायत्रसम्पत्तिप्रदात्री ) बनती है, जिस यजमान के ( यज्ञ में ) होता इसे अष्टमी बनाकर अनुबचन करता है। इसलिए (**'अग्निं दूतं०'** के गायत्र भाव को सुरक्षित रखने के लिए ) इससे आगे-**'समिध्यमानो अध्वरे०'**-**"समिद्धो अग्न आहुत०"** इन ९ वीं, १० वीं ऋचाओं के मध्य में ही दोनों धाय्या-ऋचाओं का स्थापन करना चाहिए ॥३७॥

(अष्टम-सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त-**"समिध्यमानो अध्वरे०"** इत्यादि नवम-सामिधेनी-मन्त्र का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है)-**समिध्यमानो अध्वरे"** इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यज्ञ ही निश्चयेन अध्वर है। (प्रकृत मन्त्रभाग के द्वारा ) **'हे अग्ने ! आप यज्ञ में प्रदीप्त हैं'**, यही कहा

गया है। "अग्निः पावक ईड्यः" इस मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, 'यह अग्नि निश्चयेन (अपने दाहक तेजोधर्म्म से दूषित परमाणुओं का नाशक बनता हुआ) पावक है, एवं (प्राणीमात्र के उपयोग में आता हुआ) यह अग्नि निश्चयेन (प्राणीमात्र से) स्तुत्य है। "शोचिष्केषस्तमीमहे" इस अन्तिम मन्त्रभाग का यही तात्पर्य है कि, (सामिधेनी से) प्रदीप्त इस अग्नि के केश (स्थानीय रश्मियाँ) प्रज्ज्वलित से रहते हैं ॥×॥

## इति-नवमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्नम्

## —९—

(१०)—(नवम-सामिधेनीमन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त "समिद्धो अग्न आहुत०" इत्यादि दशम-सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। श्रुति क्रमप्राप्त उसी की व्याख्या करती है)–'समिद्धो अग्न आहुत' इति। (इस अनुवचनकर्म्म से पहिले होने वाले एक विशेषकर्म्म की प्रासङ्गिक इति-कर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि)–इस दशमी-सामिधेनी के अनुवचन से पहिले पहिले अग्निसमिन्धनार्थ गृहीत सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ, अनुयाजार्थ केवल एक समिधा के अतिरिक्त अग्नि में डाल देना चाहिए। (इस अनुवचन से पहिले पहिले ही क्यों सर्वेध्मकाष्ठ का अभ्याधान आवश्यक माना गया ?, इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) इस 'समिद्धो अग्न आहुतः' रूप अनुवचन कर्म्म से होता अग्निसमिन्धन कर्म्म समाप्त कर लेता है (तभी तो 'समिद्धो अग्न आहुतः' कहना अन्वर्थ बनता है। अर्थात् जिस अग्निसमिन्धनकर्म्म के लिए इध्मकाष्ठ का ग्रहण होता है, वह कर्म्म इससे पहिले पहिले समाप्त है। फलतः अब इध्म बचाना निरर्थक बन जाता है)। अनुयाजार्थ एक इध्म के अतिरिक्त यदि इध्म बच रहता है, तो वह अतिरिक्त (यज्ञकर्म्म से अतिरिक्त-बचा हुआ-अधिक) कहलाता है। जो यज्ञ का अतिरिक्त (उपयोग से बचा हुआ-उबरा हुआ) भाग है, वह यज्ञकर्त्ता यजमान के कृत्रिम, तथा सहजशत्रु की समृद्धि का ही कारण बनता है। इसलिए इससे पूर्व पूर्व अनुयाजार्थ एक समिध को छोड़कर शेष बचे सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ को अग्नि में हीं डाल देना चाहिए ॥३८॥

---

×—नवमीसामिधेनी—"समिध्यमानो अध्वरे अग्निः पावक ईड्यः। शोचिष्केशस्तमीमहे"।

"इस यज्ञ में सामिधेनियों से समिद्ध बनता हुआ अग्नि पावक है, स्तुत्य है। प्रज्ज्वलित केश (रश्मि) वाले ऐसे अग्नि की हम स्तुति कर रहे हैं।

"देवान् यज्ञिस्वध्वर" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, अध्वर यज्ञ का ही नाम है, (प्रकृतमन्त्र भाग से) "हे सुयज्ञिय आप देवताओं का यजन कीजिए" यही कहा गया है। "त्वं हि हव्यवाडसि" इस अन्तिम मन्त्र भाग का यही तात्पर्य्य है कि, 'यही अग्नि (देवताओं के लिए द्युलोक में पृथिवी से हविर्वहन करने के कारण ) हव्यवाट् कहलाए हैं। इसीलिए त्वं हि हव्यवाडसि' यह कहा गया है ॥*॥

## इति-दशमसामिधेनी-मन्त्रव्याख्यानम्

-१०-

(११)-(दशम-सामिधेनी-मन्त्र के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त "आजुहोता दुवस्यत०" इत्यादि एकादश सामिधेनीमन्त्र का अनुवचन करता है। इसी की व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है -"आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्' इस सामिधेनी-ऋचा से अग्नि को (स्वकर्म्मप्रवृत्ति के लिए) प्रेरित ही (नियुक्त ही) करता है। 'अजुहोता दुवस्यत' इस मन्त्रभाग से ) हे ऋत्विजो ! हवन कीजिए, देवताओं का यजन कीजिए, जिस कर्म्म के लिए, जिस कामना के लिए अग्नि को होता ने समिद्ध किया है, वह कीजिए" यही कहा है। "अग्निं प्रयत्यध्वरे" इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, अध्वर यह यज्ञ का नामान्तर है। (प्रकृत मन्त्र भाग से) "यज्ञकर्म्म के आरम्भ होने पर अग्नि को" यही कहा गया है। "वृणीध्वं हव्यवाहनम्" इस अन्तिम मन्त्रभाग का तात्पर्य्य यही है कि, यह जो अग्नि है, वही हव्यवाहन है। इसलिए 'वृणीध्वं हव्यवाहनम्' यह कहा गया है ॥३६॥×॥

## इति एकादशसामिधेनी मन्त्रव्याख्यानम्

-११-

*-दशमी सामिधेनी-

"समिद्धो अग्न आहुत देवान् यज्ञिस्वध्वर। त्वं हि हव्यवाडसि"

'समिधकाष्ठ से युक्त अग्नि समिद्ध होगया है। हे सुयज्ञिय यज्ञाग्ने। आप देवताओं का यजन कीजिए। आप निश्चयेन देवताओं के लिए हवि लेजाने वाले हैं'।

×-एकादशमी सामिधेनी-

"आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे। वृणीध्वं हव्यवाहनम्"।

हे ऋत्विजो ? जिसकर्म्म के लिए अग्नि का समिन्धन किया था, वह आहुतियजनकर्म्म आरम्भ करो। यज्ञ प्रक्रान्त होगया। हव्यवाहन अग्नि का वरण करो।

("समिध्यमानोऽध्वरे०"—"समिद्धो अग्न आहुत" आजुहोता दुवस्यत०" इन तीन मन्त्रों में 'अध्वर' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव तीनों मन्त्रों की समष्टिरूप इस त्रिच को 'अध्वरवन्त' त्रिच कहा जाता है। जैसे पूर्व 'वृषण्वन्त' त्रिच का एक विशेषफल बतलाया गया था वैसे ही इस अध्वरवन्त त्रिच का अग्निसमिन्धन के अतिरिक्त एक विशेष फल बतलाती हुई श्रुति कहती है)—वह होता ('अध्वर' शब्द से युक्त तीन मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ) अध्वरवन्त त्रिच का ही अनुवचन करता है। [इसका फल यही है कि]-यज्ञ से यजन करते हुए देवताओं के ऊपर सहजशत्रु असुरोंनें हिंसात्मक आक्रमण किया। [परन्तु इस अध्वरन्त त्रिच के प्रभाव से] हिसात्मक आक्रमण करते हुए भी असुर इनकी हिंसा करने में समर्थ न होसके। [यही नहीं, अध्वरवन्त त्रिच के प्रभाव से] ये उलटे परास्त होगए। (क्योंकि इस यज्ञाग्निरूप यज्ञ ने देवताओं को हिंसा से बचा लिया) अतएव यज्ञका नाम 'अध्वर' होगया। उस यजमान के वे हिंसक शत्रु यजमान पर हिंसात्मक आक्रमण करते हुए स्वयमेव परास्त होजाते हैं, जिस यजमान के (यज्ञ में) एवंवित् होता अध्वरवन्त त्रिच का अनुवचन करते हैं। (शत्रु-आक्रमण निरोधपूर्वक शत्रु-पराभव ही इस अध्वरवन्त त्रिचानुवचन का एक विशेष फल है, यही तात्पर्य्य है)॥

अपि च-[अध्वर शब्द सोमयाग में रूढ है, जैसाकि-"सौम्ये अध्वरे" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस दर्शपूर्णमास में सामिधेन्यनुवचनकर्म्म में जब अध्वरवन्त त्रिच का सम्बन्ध करा दिया जाता है, तो] सौम्य अध्वर से यजन कर यजमान जितना-जो फल प्राप्त करता है, वही फल इसे इस अध्वरशब्दयुक्त दर्शपूर्णमास से मिल जाता है। [यही अध्वरवन्त त्रिच का एक दूसरा महत्त्वपूर्णफल है] ॥४०॥

## इति सामधेन्यनुवचनम्
## चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण समाप्त
## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण अत्र उपरत

२

—*—

# शतपथब्राह्मण प्रथमकाण्डानुगत चौथे अध्याय में दूसरा ब्राह्मण एवं तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण सामिधेनी-ब्राह्मणनुगत-तृताय ब्राह्मण

३

---

## अथ-निगदानुवचनम्

देवताओंनें [इस सामिधेनी अनुवचन के द्वारा] अग्नि को *गुरुतम कार्य्य में नियुक्त किया जोकि होतृत्त्व में नियुक्त किया, [जिस गुरुतमकार्य्य का स्वरूप] 'हमारा यह हव्य [पृथिवीसे द्युलोक में तत्रास्थ देवताओं के लिए] लेजाओ' यह है। इसप्रकार उस अग्नि को ऐसे गुरुतम कार्य्य में नियुक्त कर देवताओंनें इस [अग्नि की प्रशंसा करना आरम्भ किया] आप वीर्य्यवान् हैं। आप (वास्तव में, इस हविर्वहनकर्म्म में समर्थ हैं, इत्यादिरूप से इसमें वीर्य्य-धान करते हुए ही। जैसेकि [लोकव्यवहार में] मनुष्य अपनी जाति में से जिसे किसी गुरुतम कार्य्य में नियुक्त करते हैं, उसको बढ़ावा देते हैं कि, आप वीर्य्यवान् हैं, आप अमुक काम करने में समर्थ हैं, इसप्रकार उसमें वीर्य्याधान करते हुए ही। [तात्पर्य्य यही है कि, लोक में गुरुतम कार्य्य में नियुक्त व्यक्ति का उत्साह बढ़ाने के लिए नियोक्ता लोग जैसे उसकी स्तुति किया करते हैं, उसे बढ़ावा देते हैं, ठीक वैसा ही यह '**निगदानुवचनकर्म्म**' है]। वह ऋत्विक् सामिधेनी-अनुवचन के अनन्तर जिन मन्त्रों का उच्चारण करता है, उन से वह इस अग्नि को बढ़ावा ही देता है, [और इस बढ़ावेसे अग्नि में वीर्य्य का ही आधान करता है। [यही **निगदानुवचनकर्म्म** की उपपत्ति है] ॥१॥

[उपत्ति बतलाकर अब पद्धति बतलाती हुई श्रुति कहती है-]-'**अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत**" इति। अग्नि ही ब्रह्म (ब्राह्मणजाति) है, इसी अभिप्राय से '**ब्राह्मण**' यह कहा गया है। '**भारत**' सम्बोधन का यही तात्पर्य्य है कि, यही अग्नि [पृथिवीलोक से द्युलोक में तत्रस्थ] देवाताओं के लिए हवि का भरण करता है, इसलिए '**यह अग्नि भरत है**' यह प्रसिद्ध है। अपि च प्राणरूप [वैश्वानराग्निप्राणरूप] में परिणत होकर यही सम्पूर्ण पार्थिव प्रजा का

---

* गुरुतम उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य्य (जिम्मेवरी का कार्य्य)

भरण पोषण करता है, इसलिए भी 'भारत' यह कहा है। [आधिदैविक--देवप्रजा का हवि के द्वारा, एवं आध्यात्मिक पार्थिव प्रजा का अन्न के द्वारा भरणपोषण करने के कारण अग्नि 'भारत' कहलाया है, यही तात्पर्य्य है]। आप महान् हैं, वर्णों में ब्राह्मणवर्ण बनते हुए सर्वमूर्द्धन्य हैं, एवं त्रैलोक्यप्रजा के पालन में समर्थ बनते हुए भारत हैं, आप अवश्य ही इस हौत्रकर्म्म को पूरा करेंगे, यही इस निगदानुवचन का तात्पर्य्य है ) ॥२॥

## इति—निगदानुवचनम्

## अथ--आर्षेयानुवचनम्

( उपमदात्मक स्तुतिकर्म्म में अनन्तर होतृकर्तृक 'आर्षेयकर्म्म' की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है) वह होता उक्त स्तुतिकर्म्म के अनन्तर **आर्षेय प्रवरण** करता है। ( इस कर्म्म से यह ) होता ( इस यजमान को ) ऋषियों, तथा देवताओं के लिए ही निवेदित करता है, यह यजमान ( सचमुच ) बड़ा पुरुषार्थी है, जो इस यज्ञ ( जैसे महत्कर्म्म ) को प्राप्त कर सका, इसी भावना के लिए। ( अर्थात् यजमान को यशस्वी बनाने के लिए ही यह कर्म्म होता है ) इसलिए होता आर्षेय-प्रवरण करता है ॥३॥

पूर्व से इधर की ओर प्रवरण करता है। (कारण यही है कि) पूर्व की ओर से ही अर्वाक्--प्रजाएँ उत्पन्न होतीं हैं। अपिच इस क्रम से होता पूर्व के ज्येष्ठ पुरुषों के महत्त्व को सुरक्षित रखता है। यह पिता पहिले है, अनन्तर पुत्र, है, अनन्तर पौत्र है, (यही क्रम है)। इसलिए (भी) पहिले से इस ओर के क्रम से ही प्रवरण करता है ॥४॥

( जब कोई व्यक्ति किसी महत्कार्य्य में प्रवृत्त होता है, तो इस से उस के पूर्व वंशजों का कीर्त्तिविस्तार माना जाता है। इसी यशोविस्तार के लिए यजमान के पितामह, पिता, स्वयं का, इसी क्रम से--'असावसौ' रूप से आर्षेय-प्रवरण होता है। इस प्रवरण का ऋषि से सम्बन्ध है। उस ऋषिपरम्परा से ही प्रवरण होता है, जैसा कि आगे आगे वाले 'उत्तराधारब्राह्मण' में स्पष्ट होने वाला है। )

## इति—आर्षेयानुवचनम्

# अथ--निवित्पाठः

आर्षेय कह कर वह होता 'देवेभ्यो मन्विद्ध०' इत्यादि रूप से निवित्पाठ करता है। सब से पहिले देवताओंनें हीं इस अग्नि को प्रज्ज्वलित किया था, इसीलिए–'देवेद्धः' यह कहा गया है। ( देवताओं के अनन्तर मनुष्यसम्प्रदाय में ) सब से पहिले इस अग्नि को मनु ने प्रज्ज्वलित किया था, इसीलिए 'मन्विद्धः' यह कहा है ॥५॥

'ऋषिष्टुतः' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, सब से पहिले ऋषियोंनें ही इस अग्नि की स्तुति की थी, इसीलिए 'ऋषिष्टुतः' यह कहा है ॥६॥

'विप्रानुमदितः' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, ये ही निश्चयेन विप्र कहलाए हैं, जो कि ऋषि हैं। इन ऋषियोंनें इस अग्नि को प्रसन्न किया था, अतएव 'विप्रानुमदितः' यह कहा है ॥७॥

'कविशस्तः' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, ये ही निश्चयेन कवि नाम से प्रसिद्ध हैं, जो कि ऋषि हैं। उन्हीं ऋषियों नें इस अग्नि का (सुप्रसिद्ध यजुरनुगता शस्त्रप्रक्रिया से) शंसन किया था, अतएव 'कविशस्तः' यह कहा है ॥८॥

'ब्रह्मसंशितः' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि निश्चयेन ब्रह्म से सुतीक्ष्ण किया गया है। 'घृतहवनः' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, [ यह अग्नि स्वरूपरक्षा के लिए ] घृत का आह्वान करने वाला [घृतप्रिय] है ॥९॥

'प्रणीर्यज्ञानां रथीरध्वराणाम्' [ इस निवित् के 'प्रणीर्यज्ञानाम्' भाग का यही तात्पर्य्य है कि ] ऋत्विग् गण इसी अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों को पूर्ण करने में समर्थ होते हैं, जो कि पाकयज्ञ हैं, एवं जो अन्य यज्ञ हैं। इसीलिए–'प्रणीर्यज्ञानाम्' यह कहा है ॥१०॥

[ उक्त निवित् के ] 'रथीरध्वराणाम्' इस निवित् का यही तात्पर्य्य कि, यह अग्नि रथ बन कर देवताओं के लिए यज्ञ [ हवि ] का वहन करता है। इसीलिए–'रथीरध्वराणाम्' यह कहा है ॥११॥

'अतूर्त्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, इस अग्नि को राक्षस पार नहीं कर सकते। इसीलिए 'अतूर्त्तो होता' यह कहा गया है। 'तूर्णिर्हव्यवाट्' का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि स्वयं सब पाप्माओं को पार करने में समर्थ है। इसीलिए-तूर्णिर्हव्यवाट् यह कहा है ॥१२॥

'आस्पात्रं जुहूर्देवानाम्' नामक निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, यह अग्नि (सर्वदेवताहुति-मुख-स्थानीय बनता हुआ 'देवपात्र' है। इसीलिए अग्नि में सम्पूर्ण देवताओं के लिए आहुति देते हैं। क्योंकि यह वास्तव में देवपात्र है। जो अग्नि की इस पात्रता को जानता है, वह जिस पात्र [ भोग्यवस्तु ] को प्राप्त करना चाहता है, अभीष्ट पात्र को प्राप्त कर लेता है ।।१३।।

'चमसो देवपानः' इस निवित का यही तात्पर्य्य है कि, चमसरूप में परिणत हुए ही इस अग्नि से देवता आहुतिद्रव्य खाते हैं। इसीलिए 'चमसो देवपानः' यह कहा है ।।१४।।

'अराँ २।। इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसि' इस निवित् का यही तात्पर्य्य है कि, जिस प्रकार [शकटस्थ] अरों को नेमि चारों ओर से व्याप्त करतीं हैं, इसीप्रकार [अग्नि] देवताओं के चारों ओर से व्याप्त (घेरे रहते) हैं, प्रकृत निवित् से यही कहा है ।।१५।।

## इति—निवित्पाठः

## अथ--देवतावाहनम्

(उक्तरूप से निवित्पाठ करने के अनन्तर देवतावाहनकर्म्म होता है। उसी की इति कर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है)–

'आवह देवान् यमानाय' इस आवाहन मन्त्र से इस यज्ञ के प्रति अग्नि को देवताओं के आह्वान के लिए ही कहा गया है। 'अग्निमग्न आवह' इस मन्त्र से अग्नि को आग्नेय आज्यभाग के प्रति अग्नि को लाने के लिए कहा गया है। 'सोममावह' इस मन्त्र से अग्नि को सौम्य आज्यभाग के प्रति सोम को लाने के लिए कहा गया है। 'अग्निमावह' इस मन्त्र से अग्नि को, जो कि दर्श–ओर–पूर्णमास, दोनों यज्ञों में अपरिहार्य्य आग्नेय–पुरोडाश है, उस के प्रति अग्नि को लाने के लिए ही कहा गया है ।।१६।।

(दर्शपूर्णमास–दोनों में जो अग्नि पुरोडाशका- देवता है, उसके आवाहन के) अनन्तर (निर्वापकाल में जिस जिस देवता के लिए जिस क्रम से देवता के लिए हविर्निर्वाप हुआ था, उसी क्रम से ) उस उस देवता का 'अग्नीषोमावावह' इत्यादि रूप से आवाहन करना चाहिए।

"देवाँ २।। आज्यपाँ" इस मन्त्र से (आज्यपान करने वाले ) प्रयाज–अनुयाज देवताओं के आह्वान के लिए अग्नि से प्रार्थना करता है। प्रयाज (ऋतु), अनुयाज (छन्द) देवता ही

आज्यपा देवता हैं। "अग्निं होत्रायावह" इस मन्त्र से हौत्रकर्म्म के लिए अग्नि के आह्वान के लिए अग्नि से प्रार्थना करता है। "स्वं महिमानमावह" इस मन्त्र से अग्नि की अपनी महिमा (साह्स्रीरूप) के आह्वान के लिए ही अग्नि से प्रार्थना करता है। वाक् ही इस अग्नि की अपनी महिमा (वाङ्मयी वषट्काररूपा महिमा) है। इससे इस वाक् के आह्वान के लिए ही प्रार्थना करता है। "आ च वह जातवेदः सुयजा च यज" इस मन्त्र से जिन देवताओं के आह्वान की यह प्रार्थना अभीष्ट है, उन्हीं के आह्वान के लिए प्रार्थना करता है। 'हे अग्ने ! आप उन (यज्ञिय अभीष्ट) देवताओं को इस यज्ञ में लाइए, एवं यथाविधि उन आगत देवताओं का यजन कीजिए' यही कहा है, जोकि-'सुयजा च यज' यह कहा है ॥१७॥

वह होता खड़ा होकर देवतावाहनकर्म्म करता है। आवाहनकर्म्म अनुवचनकर्म्म है (देवताह्वानकर्म्म है)। एवं यह (विदूरस्थ) द्युलोक निश्चयेन अनुवाक्या है। अर्थात द्युलोक पृथिवी पर खड़ा हुआ सा है। ऐसी अवस्था में खड़ा खड़ा द्युलोकस्थ देवताओं का आह्वान करता हुआ होता) इस द्युलोकसम्पत्ति-सदृश बनकर ही आह्वान करता है। इसलिए खड़ा खड़ा ही देवतावाहन-मन्त्रों का उच्चारण करता है ॥१८॥

( खड़े खड़े आवाहनकर्म्म करने में दोषोद्घाटन करती हुई श्रुति कहती है )-वह ऋत्विक् ( अध्वर्य्यु ) बैठकर याज्या ( एतन्नामक ऋचा ) का उच्चारण करता है। यही ( पृथिवी ) याज्या है। ( यह बैठी हुई सी है )। इसीलिए कोई भी याज्ञिक खड़ा खड़ा याज्या का उच्चारण नहीं करता। निश्चयेन पृथिवी याज्या है। ( बैठकर याज्या का उच्चारण करता हुआ ) अध्वर्य्यु याज्यारूपा पृथिवी के स्वरूप में परिणत होकर ही याज्या का उच्चारण करता है। इसलिए बैठकर याज्या-यजन करता है। (तात्पर्य्य यही हुआ कि, अनुवाक्या द्युलोक है, एवं याज्या भूलोक है। आह्वानकर्म्म का द्युलोक से सम्बन्ध है, एवं यजनकर्म्म का भूलोक से सम्बन्ध है। द्युलोक तिष्ठत् है, एवं भूलोक आसीन है। अतः इसी रूप से अनुवाक्या, एवं याज्याकर्म्म होना चाहिए। विरुद्ध करना प्राकृतिक-यज्ञसम्पत्ति से वञ्चित रहना है ) ॥१९॥

## इति-देवतावाहनम्

## चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत

—३—

# शतपथब्राह्मणप्रथमकाण्डनुगत चौथे अध्याय में तृतीय ब्राह्मण एवं तीसरे प्रपाठ में चतुर्थ ब्राह्मण सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत-चतुर्थ ब्राह्मण

## —४—

—*—

## अथ—शान्तिकर्म्म [ अभिचारात्मकम् ]

जो अग्नि सामधेनी ऋचाओं से समिद्ध होजाता है, वह इतर सामान्य प्रज्वलित अग्नियों की अपेक्षा अतिशयरूप से प्रज्वलित रहता है। ऐसा समिद्ध अग्नि धर्षण के, तथा स्पर्श के अयोग्य होजाता है। (न इसका कोई कुछ बिगाड़ ही सकता, न कोई स्पर्श ही कर सकता, क्योंकि इसमें मन्त्रविद्युत् का समावेश रहता है, यही तात्पर्य्य है) ॥१॥

सो जिसप्रकार सामिधेनीं–मन्त्रों से यह अग्नि समिद्ध होजाता है, वैसे ही वह सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ ब्राह्मण (होता) भी (प्रखररूप से) तपने लगता है। (साथ ही मन्त्रपूत समिद्ध अग्नि की भाँति मन्त्रप्रयोक्ता यह ब्राह्मण भी धर्षण, तथा स्पर्श के अयोग्य बन जाता है ॥२॥

(जिसप्रकार सामिधेनी-मन्त्रों से आहवनीय अग्नि के अङ्ग प्रत्यङ्ग समिद्ध होजाते हैं, एवमेव इनके अनुवचन से अनुवचनकर्त्ता होता के अङ्ग प्रत्यङ्ग भी समिद्ध होजाते हैं। किस सामिधेना-ऋग्भाग से कौन सा अङ्ग समिद्ध होता है ?, इसी प्रश्न का क्रमिक समाधान करता हुआ निम्नलिखित प्रकरण आरम्भ होता है)—

वह होता 'प्र वो वाजा०' इत्यादि प्रथमा सामिधेनी–ऋक् का (जिस समय) उच्चारण करता है, (उस समय अपने प्राणसमिन्धन की भावना करता है)। प्राण निश्चयेन ('प्र' शब्द से युक्त होता हुआ, साथ ही गतिधर्म्मा बनता हुआ) 'प्रवान्' है। इस प्रथम ऋचा से यह होता अपने 'प्राण' को ही प्रज्वलित करता है।

'अग्न आयाहि वीतये' (इसका अनुवचन करता है)। अपान निश्चयेन 'एतवान्' (आगमनधर्म्मा) है। इस दूसरी ऋचा से होता अपने 'अपान' को ही समिद्ध करता है।

'तं त्वा समिद्भिः० इत्यादि तृतीय सामिधेनी-ऋचा के) 'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' (इसके अनुवचन से उदान का ही समन्धिन करता है)। उदान निश्चियेन बृहच्छोचा (तेजो–

नाड़ी से सम्बन्ध रखता हुआ अधिक तेजोयुक्त ) है। इस ऋग्भाग से होता अपने **'उदान'** को ही समिद्ध करता है ॥३॥

**"स नः पृथुश्रवाय्यम्"** ( इसके अनुवचन से श्रोत्र का ही समिन्धन करता है )। श्रोत्र निश्चयेन पृथुश्रवाय्य ( विस्तीर्ण श्रवण साधन ) है। श्रोत्र से ही विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त शब्द सुनता है। इस ऋक् से होता अपने **'श्रोत्र'** को ही समिद्ध करता है ॥४॥

**"ईडेन्यो नमस्यः"** ( इसके अनुवचन से वाक् का ही समिन्धन करता है )। वाक् निश्चयेन ईडेन्या ( स्तुति करने वाली, किंवा स्तुति का साधन, किंवा स्तुति करने योग्य ) है। वाक् ही इस सम्पूर्ण जगत् की स्तुति ( उपादानत्त्वेन वितान-विस्तार ) करती है, एवं वाक् से ही सम्पूर्ण विश्व ईडित ( स्तुत-वितत ) है। इस ऋचा से होता अपनी वाक् को ही समिद्ध करता है ॥५॥

**'वृषो अग्निः समिध्यते०'** इत्यादि ६ ठी ऋचा से ) **'अश्वो न देववाहनः'** ( इस ऋग्भाग से मन का ही समिन्धन करता है ) । मन ही **'देववाहन'** ( देवनिर्मित इन्द्रियों की आधारभूमि, तथा यज्ञिय देवताओं की संकल्प के द्वारा आधारभूमि ) है। मन हीं मनस्वी पुरुष को ( सामान्य पुरुष की अपेक्षा ) अतिशयरूप से समृद्ध बनाए रखता है, उठाए रखता है, उन्नत रखता है। इस ऋग् भाग से होता **'मन'** को ही समिद्ध करता है ॥ ६ ॥

( **'वृषणं त्वा वयं वृषन्०** इत्यादि ७ वीं ऋचा के ) **'अग्ने दीद्यन्तं बृहत्'** ( इस ऋग्भाग से चक्षु का ही समिन्धन करता है )। चक्षु निश्चयेन प्रज्वलित अङ्गार से हैं, इस ऋग्भाग से होता अपने **'चक्षु'** को ही समिद्ध करता है ॥ ७ ॥

**'अग्निं दूतं वृणीमहे'** इस आर्षेयी ऋचा से, जो कि इसका मध्यप्राण (**व्यान**) है, उसी को समिद्ध करता है। **'अग्निं दूतं वृणीमहे'** यह सामिधेनी ऋक् प्राणादि पञ्च प्राणों के मध्य में प्रतिष्ठित **व्यानप्राण**-स्थानीया है। इस से अन्य ( दिव्य ) प्राण ( इस के ) ऊर्ध्व भाग में प्रतिष्ठित हैं, एवं इस से अन्य ( पार्थिव ) प्राण ( इसके ) अधो भाग में प्रतिष्ठित हैं। जो इस प्रकार प्राणों के मध्य में से इस मध्यस्था प्राणदेवता का स्वरूप पहिचान लेता है, वह लोक में मध्यस्थ ( श्रेष्ठ-मुखिया-निर्णायक ) बन जाता है ॥ ८ ॥

(**'समिध्यमानो अध्वरे०'** इत्यादि नवमी सामिधेनी के ) **'शोचिष्केशस्तमीमहे'** (इस ऋग्भाग से शिश्नेन्द्रिय का ही समिन्धन करता है) शिश्न निश्चयेन शोचिष्केश ( अभिल-

थित कामपूर्ति के अभाव में अतिशयरूप से सन्तापजनक, स्वयमपि सन्तप्त, है। शिश्नी (कामी) को शिश्न अतिशयरूप से सन्तप्त करता है। इस ऋग्भाव से होता शिश्न को ही समिद्ध करता है ॥ ९ ॥

'समिद्धो अग्न आहुतः' इस ऋचा से, जो कि यह अवाङ्प्राण है, उसी को समिद्ध करता है। 'आजुहोता दुवस्यत' इस ऋचा से ( समष्टिरूप से ) सम्पूर्ण शरीर को–नख–लोम भागों को छोड़कर–समिद्ध करता है ॥ १० ॥

( उक्त प्रकार से होता के अवयवों का समिन्धन बतलाया गया। अब उसी समिन्धनक्रम से अभिचारकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है )—प्रथम सामिधेनी के अनुवचन करते समय यदि होता के प्रति इस का शत्रु द्वेष–भाव प्रकट करे, तो उस समय होता को सामिधेनी अनुवचन के साथ ही–'**तूने अपना प्राण इस समिद्ध प्राणाग्नि में डाला है, तू आत्मा के ( शरीर के ) प्राणाङ्ग से पीडित होगा**' यह बोल दे *। अवश्यमेव वैसा ही होगा। ( अर्थात् शत्रु के प्राण छटपटाने लगेंगे ) ॥ ११ ॥

**द्वितीय सामिधेनी** के अनुवचन करते समय यदि०। **'तूने अपने अपान को इस समिद्ध अपानाग्नि में डाला है। तू आत्मा ( शरीर ) के अपान भाग से दुःखी होगा' ॥ १२ ॥**

**तृतीय सा०। तू ने उदान को मेरे उदानाग्नि में आहुत किया है। तू शरीर के उदान भाग से दुःखी होगा०' ॥ १३ ॥**

**चतुर्थ सा०। 'तूने अपने श्रोत्र को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे श्रोत्रपीड़ा होगी, तू बहिरा होजायगा०' ॥ १४ ॥**

**पञ्चमी सा०। 'तूने अपनी वाक् को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तुझे वाक्–पीड़ा होगी। तू मूक (गूँगा) होजायगा०' ॥ १५ ॥**

**षष्ठी सा०। 'तूने अपने मन को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है। तू खोया हुआ सा, पागल सा फिरता फिरेगा०' ॥ १६ ॥**

---

*-इन अभिचार मन्त्रों का स्वरूप मूलपाठ से गतार्थ है। प्रयोगकाल में उन्हीं का उच्चारण होना चाहिए। यहाँ केवल अर्थ ही बतलाया गया है।

सप्तमी सा० । 'तूने चक्षु को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है । तुझे चक्षुः-पीड़ा होगी, तू अन्धा होजायगा०' ॥ १७ ॥

अष्टमी सा० । 'तूने अपने मध्य प्राण को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है । तुझे अपानप्राणपीड़ा ( मलावरोध ) होगी, तू पेट फूल कर मरेगा' ॥ १८ ॥

नवमी सा० । 'तूने अपने शिश्न को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है । तुझे शिश्नपीड़ा ( उपादंशादि ) होगी, तू नपुंसक बन जायगा०' ॥ १९ ॥

दशमी सा० । 'तूने अपने अवाङ्प्राण को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है । तू इस प्राण से कष्ट पाएगा । वद्धकोष्ठ होकर तू मरेगा०' ॥ २० ॥

एकादशी सा० । 'तूने अपने सर्वाङ्ग शरीर को मेरे आत्माग्नि में आहुत किया है । तुझे सर्वाङ्ग शरीर से दुःख होगा । तू तत्क्षण मर जयगा०' ॥ २१ ॥

जिसप्रकार सामिधेनियों से प्रसिद्ध अग्नि को प्राप्त होकर मनुष्य दुःख उठाते हैं, एवमेव सामिधेनी के मौलिक रहस्य को जानने वाले विद्वान् होता के अनुवचन करते समय उसका उपहास करने वाले भी ( उक्त आर्त्तियाँ ) प्राप्त करते हैं । ( इसलिए ऐसे विद्वान् का तिरस्कार-उपहासादि नहीं करना चाहिए ) ॥ २२ ॥

## इति-शान्तिकर्म्म

## चौथे अध्याय में तीसरा तथा तीसरे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण उपरतम्

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत चतुर्थ ब्राह्मण उपरत

## ४

## इति-ब्राह्मणचतुष्टयात्मक-सामिधेनी-ब्राह्मण समाप्त

# सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

## सन्दर्भसंगति—

स्रुक्स्थापन-कर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदिस्थान से गार्हपत्य के समीप आता है। वहाँ आकर पुरोडाशद्रव्य को आज्य से अक्त करता है। अनन्तर कपालों को घृत से अक्त करता है। अनन्तर उद्वासन करता है। इस कर्म्म के अनन्तर आज्यपुरोडाशादि हविर्द्रव्यों को वेदिस्थित ध्रुवापात्र के उत्तर भाग में इन्हें रखकर जुहू-उपभृत्-ध्रुवा-आज्य-पुरोडाशादि का निधानक्रम से स्पर्श करता है। सर्वान्त में अपने आपका स्पर्श करता है। यही **'सर्वालम्भनकर्म्म'** है। इस सर्वालम्भनकर्म्म के अनन्तर **'सामिधेन्यनुवचनकर्म्म'** आरम्भ होता है। इसी की इति-कर्त्तव्यता यहाँ से आरम्भ होती है—

**१—वेद्या उत्तरश्रोणिरुत्तरतो होतृषदनं कुशास्तीर्णं संस्थाप्य समिधमादाय सामि-धेन्यनुवचनार्थं होतारं प्रेषयत्यध्वर्युः।**

सर्वालम्भनकर्म्म के अनन्तर वह अध्वर्यु वेदि के पश्चिम भाग में, अथवा वेदि-श्रोणि के उत्तर भाग में होता के बैठने के लिए दर्भासन बिछाता है। आसन बिछाकर **'एहि होतः'** इन शब्दों में होता का आमन्त्रण करता है। इस आमन्त्रण से होता आचमन कर * संचरमार्ग से होता हुआ उस दर्भासन पर बैठ जाता है। अनन्तर वह अध्वर्यु इध्मकाष्ठ-सम्भार में से एक समिध (एतन्नामक काष्ठ) ले कर होता के प्रति—

"अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि"।

यह प्रेष करता है। अध्वर्युकृत प्रैष के अनन्तर होता ब्रह्मा से अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए ब्रह्मा के प्रति निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करता है—

**'ब्रह्मन्! सामिधेनीरनुवक्ष्यामि'**

ब्रह्मा उक्त वाक्य सुनने के अनन्तर पहिले उपांशु रूप से निम्न लिखित मन्त्र का जप करता है--

**'ओम्-प्रजापतेऽनुब्रूहि यज्ञं देवता वर्द्धय त्वं च नाकस्य पृष्ठे यजमानो अस्तु सप्त ऋषीणां सुकृतां यत्र लोकस्तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि'।**

*—यज्ञमण्डप में ऋत्विजो के आहवनीय-वेदि-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-कुण्ड आदि के समीप कर्म्मार्थ आने जाने के लिए जो नियत मार्ग बना रहता है, वही 'सञ्चरमार्ग' कहलाता है।

उक्त मन्त्र का उपांशु ÷ उच्चारण कर ब्रह्मा निम्नलिखित वाक्य उच्चस्वर से पढ़ता हुआ होता को अनुवचनकर्म्म के लिए अनुज्ञा प्रदान करता है—

'ओ३मनुब्रू३हि'।

इसप्रकार सामिधेन्यनुवचनकर्म्म के लिए ब्रह्मा से अनुज्ञा मिल जाने पर स्वासन पर प्रतिष्ठित होता अङ्गुलिपर्व के अग्रभागों को मिलाकर अञ्जलि को अपने हृदय से स्पृष्ट करता हुआ, अपने दहिने पैर को वेदि की उत्तरश्रोणि के समीप रखता हुआ अन्तरिक्ष की ओर देखता हुआ निम्नलिखित 'नमःक्रन्द' नामक निगद का जप करता है—

**ओ३म्–नमः-प्रवक्त्रे, नम उपवक्त्रे, नमो द्रष्टे, नमोऽनुख्यात्रे 'क' इदमनुवक्ष्यति, 'स' इदमनुवक्ष्यति, 'क' आर्त्विज्यं करिष्यति. 'स' आर्त्विज्यं करिष्यति, ऋचः प्रपद्ये, यजुः प्रपद्ये, साम प्रपद्ये, ब्रह्म प्रपद्ये, नार्त्तीं छन्दसां मातरं प्रपद्ये, भूः प्रपद्ये, भुवः प्रपद्ये, स्वः प्रपद्ये, भूर्भुवः स्वः सर्वं प्रपद्ये' इति।**

उक्त निगदपाठ के अनन्तर यज्ञकर्त्ता यजमान 'स्फ्य' हाथ में लेकर निम्नलिखित वाक्य से (अनुवचनकर्म्म के लिए) होता को प्ररणा करता है—

'ओं सन्तन्वन्निव मेऽनुब्रूहि'।

इस सम्बन्ध में सूत्रकार एक विशेष नियम बतलाते हुए कहते हैं कि, **'स्विष्टकृद्याग'** नामक कर्म्म के अनुष्ठान से पहिले पहिले इतिकर्त्तव्यता में पठित ऋङ्मन्त्र, एवं निगदमन्त्रों का कुछ उच्चस्वर से उच्चारण करना चाहिए, जिसे कि **'सामान्यस्वर'** भी कहा जाता है। स्विष्टकृत से आरम्भ कर इडाप्राशनकर्म्म पर्य्यन्त सम्पूर्ण मन्त्रों का मध्यम स्वर से उच्चारण करना चाहिए। एवं इडा-कर्म्म से आरम्भ कर कर्म्म-समाप्ति पर्य्यन्त उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिए।

दूसरी विशेषता है होता के प्रति प्रैष करने के सम्बन्ध में। कितनें ही याज्ञिक पूर्व प्रैष-वाक्य के स्थान में 'अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि' यह प्रैष करते हैं। परन्तु वस्तुतः ऐसा होना नहीं चाहिए। क्योंकि-'तदु तथा न ब्रूयात्। अहोता वा एष पुरा भवति' (शत० १।३।४ ३।) के अनुसार अभी यह ऋत्विक् होतृत्त्वेन वृत नहीं हुआ है। इन्हीं सब विशेषताओं के साथ उक्त इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए आगे के सूत्र हमारे सम्मुख आते हैं—

---

÷–'जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चिद्देवततागतमानसः।
निजश्रवणायोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः'।

१—"होतृषदनं कृत्वाऽपरेण वेदिं श्रोणिं वोत्तरेण-इध्मात् समिधमादाय 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इत्याह" ( का० श्रौ० ३।१।१। )।
२—'होतरिति चैके' ( का० श्रौ० सू० ३।२।१। )।
३—'प्रथमस्थानेन प्राक् स्विष्टकृतः' ( का० श्रौ० सू० ३।१।३। )।
४—'मध्यमेनेडायाः' ( का० श्रौ० सू० ३।१।४। )।
—'शेषमुत्तमेन' ( का० श्रौ० सू० ३।१।५। )।
६—'सन्तन्वन्निव मेऽनुब्रूहि'-इत्याह यजमानः' (का० श्रौ० सू० ३।१।६।)।

——*——

उक्त यजमान-प्रैषानन्तर जब होता तीन बार हिङ्कार करके 'प्र वो वाजा०' इत्यादि सामिधेनी-ऋचाओं का उच्चारण करने लगता है, उस समय यजमान अपने पाँच के अँगूठों से भूमि को दबाता हुआ (शत्रु के नाम का समावेश कर) निम्नलिखित अभिचार-वचन का उच्चारण करता है--

'इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेणामुमवबाधे'।

यदि शत्रु के नाम का पता न हो, साथ ही शत्रुता का परिज्ञान अवश्य हो, तो उस दशा में--'इदमहं पञ्चदशेन वागवज्रेण द्विषन्तमवबाधे' यह बोलना चाहिए। यदि कोई शत्रु (कृत्रिम) ही न हो, तो (सहजशत्रु-नाश के लिए)'इदमहं पञ्चदशेन वाग्वज्रेण भ्रातृव्यमवबाधे' यह बोलना चाहिए। यदि काम्येष्टि का अभाव है, तो १५ सामिधेनियों का, यदि काम्येष्टि है, तो १७ सामिधेनियों का होता के द्वारा अनुवचन होगा। फलतः प्रत्येक के साथ यजमान को 'इदमहं'० इत्यादि बोलते हुए पादाङ्गुष्ठों से भूमि को दबाना पड़ेगा। तात्पर्य्य यही है कि, तत्तत् कर्म्मविशेषों में १५, १७, २१, २४, ३, ६, इत्यादि सामिधेनी-ऋचाओं का विशेष विधान है। दर्शपूर्णमास में १५, तद्विकृति-भूता काम्येष्टि में, तथा पश्वादि में १८, प्राजापत्यपशुबन्ध में २१, इष्टकापशुबन्ध में २४, पित्र्येष्टि में ३, उपसद्धोम में ६, सामिधेनियों का विधान है। इन सामिधेनी-संख्याओं के अनुसार ही उक्त अभिचारमन्त्र में-क्रमशः 'इदमहं पञ्चदशेन०, सप्तदशेन०, एकविंशेन०, चतुर्विंशेन०, तृतीयेन०, नवमेन०, इस रूप से तत्तद्विशेष संख्याओं का समावेश करते हुए, शत्रु का नाम विदिति हो तो नाम का समावेश करते हुए, नाम अविदित हो, तो 'द्विषन्तं' पद का, और यदि कृत्रिम शत्रु न हो तो 'भ्रातृव्यं' पद का सन्निवेश करते हुए सामिधेनी-संख्या-समान उतने हीं अभिचार-वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए।

हिङ्कारपूर्वक प्रणव सहित सामिधेनी का उच्चारण होता है। इस प्रणव का सम्बन्ध मन्त्र के दोनों ओर होता है। जब जब होता सप्रणव सामिधेनी ऋक् का उच्चारण कर ऋगन्त में प्रणव का उच्चारण करता है, तब तब ही (प्रतिप्रणव) अध्वर्यु अग्नि में इध्म डालता जाता है। दोनों के सामिधेनी-ऋङ्मन्त्रोच्चारण के साथ साथ अध्वर्यु का इध्म डालना इध्मकर्म्म है। जितने सामिधेनी मन्त्र होते हैं, उतने हीं इध्म होते हैं। दर्श-पूर्णमास में क्योंकि १५ सामिधेनी-ऋङ्-मन्त्र हैं, फलतः वहाँ १५ ही का आधान होता है।

"समिद्धो अग्न आहुतः०" इस ऋङ्मन्त्र के उच्चारण से पहिले पहिले वह अध्वर्य्यु इससे पहिले मन्त्र के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ साथ सम्पूर्ण इध्मकाष्ठ अग्नि में डाल देता है। यदि अनुयाजकर्म्म अभीष्ट है, तो इन में से एक इध्मकाष्ठ बचा लिया जाता है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, (काम्येष्टि के अभाव में) जबकि दर्श--पूर्णमास में पञ्चदश सामिधेनी--अनुवचन विहित हो, तो उस दशा में 'प्र वो वाजा०' इत्यादि ११ तो सामिधेनी मन्त्र हैं। एवं आद्यन्त के मन्त्र तीन तीन बार पढ़े जाते हैं। इस त्रिरावर्तन से ११ के १५ सामिधेनी मन्त्र होजाते हैं।

इस इष्टि में इस इध्मकर्म्म के लिए कुल (अनुयाजपक्ष में) १८ इध्मकाष्ठों का संग्रह होता है। इन अठारह इध्मों में से पूर्वोक्त परिधि-परिधानकर्म्म के अनन्तर एक समिध का "वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि अग्ने बृहन्तमध्वरे" [प्रथमं परिधिं समिधों-परस्पृश्य 'वीतिहोत्र' मित्यादधाति" का० श्रौ० सू० २।८।२) इस मन्त्र से परिधि का स्पर्श करते करते हुए अग्नि में आधान होजाता है। एवं एक समिध का बिना परिधि का स्पर्श किए "समिदसि" ("अनुपस्पृश्य द्वितीयां-'समिदसी' ति" का०श्रौ०सू०२ ८।३) यह मन्त्र बोलते हुए अग्नि में आधान होजाता है। इसप्रकार १८ में से २ का प्रयोग तो परिधिकर्म्म समाप्ति पर होने वाले समिधाधानकर्म्म में हीं होजाता है। अब इस समय कुल १६ इध्म बच रहतीं हैं।

१६ की व्यवस्था यह है कि, "प्र वो वाजा०" से आरम्भ कर "अग्निं दूतं वृणीमहे०" इस आठवें सामिधेनी मन्त्र पर्य्यन्त "प्र वो वाजा०" की त्रिरावृत्ति से १० मन्त्र होजाते हैं। इन दसों का प्रणवोच्चारण के साथ अध्वर्यु के द्वारा आधान होजाता है। आगे तीन मन्त्र शेष हैं, अन्तिम मन्त्र की त्रिरावृत्ति से ५ मन्त्र शेष हैं। सामिधेनी ६ शेष हैं। इन छओं के सम्बन्ध में यह व्यवस्था हुई है कि, पञ्चमन्त्रसम्बन्धिनी पाँचों सामिधेनियों का "समिद्ध अग्न आहुतः" इस १२ वीं सामिधेनी के उच्चारण से पूर्व, एवं "समिध्यमानो अध्वरे०"

इस ११ वीं सामिधेनी के अन्त में होने वाले प्रणवोच्चारण के साथ ही अग्नि में आधान कर देना चाहिए। जो एक सामिधेनी शेष रहेगी, उसका अनुयाजकर्म्म में उपयोग होगा। इसप्रकार पञ्चदश--सामिधेनीपक्ष में १५ इध्म सामिधेनी मन्त्रों के सम्बन्ध से, १ अनुयाज सम्बन्ध से, दो परिधिकर्म्मानन्तर होनेवाले अभ्याधानकर्म्म के सम्बन्ध से, १८ इध्मों का ग्रहण होगा, एवं इनका विनियोग उक्त प्रकार से होगा।

काम्येष्टि का भी यदि दर्शपूर्णमास में संग्रह है, तो सत्रह सामिधेनी मन्त्र होंगे। और उस दशा में १८ के स्थान में २० इध्म--काष्ठ लिए जायँगे। जिन दो मन्त्रों का उपरिष्टात् संग्रह होता है, वे "धाय्या" कहलाए हैं। साथ ही-"समिध्यमानवतीं समिध्यवतीं चान्तरेण पृथुपाजावत्यौ धाय्ये दधाति" (आपस्तम्बश्रौ० सू०) "तृतीयस्यां सामिधेन्यावावपते प्रागुपोत्तमायाः पृथुपाजा अमर्त्य इति द्वे धाय्ये इत्युक्त प्रतीयात्" (आश्वलायन श्रौ० सू०)"समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्या स्युः" (तै० सं० ५।३।४।५।--३।३) इत्यादि के अनुसार इन दोनों धाय्या ऋचाओं का सन्निवेश समिध्यमानपदघटित "समिध्यमानो अध्वरे०" इस मन्त्र के, तथा समिद्धपदघटित "समिद्धो अग्न आहुत०" इस मन्त्र के, दोनों के मध्य में निधान होता है। क्योंकि ये दोनों धाय्या ऋचाएँ दोनों के मध्य में सन्निविष्ट रहतीं हैं, अतएव इनकी-"समिध्यमान-समिद्धवती" यह संज्ञा (नाम) मानी गई है।

पूर्वोक्त क्रमानुसार परिधिकर्म्मोत्तरभावी अभ्याधानकर्म्मोपयुक्त २ इध्मकाष्ठों, तथा १० मन्त्रों के प्रणव के साथ होने वाले १० इध्मकाष्ठों के अभ्याधान के अनन्तर ८ इध्मकाष्ठ बच रहते हैं। इनमें से १ तो अनुयाज के लिए रखली जाती है, शेष सातों का १० वीं के अन्तिम प्रणवोच्चारण के साथ अभ्याधान होजाता है। एवं यही इस सप्तदश सामिधेनीपक्ष में २० इध्म--काष्ठों का विनियोग है।

अब इस सम्बन्ध में एक जिज्ञासा बच रहती है। कहा गया है कि, ऋगुच्चारणकाल में यजमान दोनों पैरों के अँगूठों से भूमि दबाता हुआ—"इदमहम्" इत्यादि रूप से अभिचार कर्म्म करता है। उधर श्रुति में—"यं द्विष्यात् तं अङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत-इदमहममुमवबाधे" (शत० १।३।५।७।) इत्यादि रूप से सामान्यतः "अङ्गुष्ठ" पद उद्धृत हुआ है। इससे पैर के अङ्गुष्ठ का ही ग्रहण किस आधार पर किया गया ?, इस प्रश्न का समाधान—"पाद्भ्या-मङ्गुष्ठाभ्यामवबाधेत" (का० ब्रा० २।३।३।५) इस काण्वब्राह्मणवचन के अनुसार प्रकृत

सामान्यवचन का विशेष ( पाद ) विधि में सङ्कोच करना न्यायसङ्गत होजाता है। इसी पूर्वोक्त इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कात्यायन कहते हैं —

(७)-"अङ्गुष्ठाभ्यां चावबाधते पाद्याभ्यां वेदमहममुमवबाध इति द्वेष्यम्"
( का० श्रौ० सू० ३।१।७ )।

(८)-"अभावे द्विषन्तं, भ्रातृव्यमिति वा" ( का० श्रौ० सू० ३।१।८ )।

(९)-"यावत् सामिधेनि वेदेदमहं तावतिथेन वज्रेणेति"
( का० श्रौ० सू० ३।१।९ )।

(१०)-"प्रतिप्रणवमाधानम्" ( का० श्रौ० सू० ३।१।१० )।

(११)-" 'समिद्ध' इति प्रागतः सर्वमिध्यमेकवर्जमनुयाजाश्चेत्"
( का० श्रौ० सू० ३।१।११ )।

## इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

—*—

# तीसरे अध्याय में पाचवाँ, तीसरे प्रपाठकमें

## दूसरा ब्राह्मण

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण

## १

### वैज्ञानिक-विवेचना—

(भाष्य)—यज्ञेतिकर्त्तव्यताओं में '**ग्निसमिन्धन**' कर्म्म अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। '**अग्निरु वै यज्ञ**': इस निगम के अनुसार अग्नितत्त्व ही यज्ञ कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है। आधिदैविक, आधिभौतिक, तथा आध्यात्मिक, इन त्रेताग्नियों के समन्वय से जो एक अपूर्व अतिशय उत्पन्न होता है, उसे ही '**दैवात्मा**' कहा जाता है। यह दैवात्मा खगोलीय पार्थिव सम्वत्सर के त्रिणाचिकेत नामक सप्तदशस्तोम स्थान में प्रतिष्ठित होजाता है। इस दैवात्मा के प्राण का रश्मिरूप से यज्ञकर्त्ता यजमान के साथ हृद्ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध रहता है। उधर वह दैवात्मा दिव्यलोकस्थ स्वर्गीय प्राणदेवताओं के साथ बद्ध रहता है। यावदायुर्भोगपर्य्यन्त इस भूपृष्ठ पर जीवनयात्रा का निर्वाह करता हुआ यजमान जब अपने भौतिक शरीर का परित्याग करता है, तो इसका कर्म्मभोक्ता—**वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ**—त्रितयमूर्त्ति **भूतात्मा (मानुषात्मा)** उस **दैवात्मा** के आकर्षण से आकर्षित होता हुआ उस सप्तदशस्तोमात्मक स्वर्गलोक में चला जाता है। जबतक यज्ञातिशयरूप दैवात्मा स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है, तबतक मानुषात्मा वहाँ प्रतिष्ठित रहता है। समय पाकर यज्ञातिशयलक्षण पुण्यसंस्कार के क्षीण होजाने से तद्रूप दैवात्मा विलीन होजाता है, पुनः उस मानुषात्मा को '**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति**' के अनुसार उसी जन्म-मरण-प्रवाह में आजाना पड़ता है। और यही यज्ञकर्म्म का एक महत्त्वपूर्ण फल है।

इस यज्ञफलसिद्धि के लिए तीनों अग्नियों का पहिले परस्पर ग्रन्थिबन्धन अपेक्षित है। **आधिभौतिक अग्नि पार्थिव अग्नि है, आध्यात्मिक अग्नि शरीराग्नि है, एवं आधिदैविक अग्नि सौर सावित्राग्नि है।** पार्थिव अग्नि सौर सावित्राग्नि का ही प्रवर्ग्य रूप है। वही सावित्राग्नि प्रवर्ग्य-सम्बन्ध से दिव्यसंस्था से पृथक् होकर अपने दिव्यरूप से वञ्चित होता हुआ भूगर्भ में आकर कृष्ण (अप्रत्यक्ष) रूप में परिणत होजाता है। इसी को विज्ञानभाषा में—'**कृष्णमृग**' कहा गया है। काष्ठादि में यही मृग्य अग्नि सुप्त है, जिसका '**शेषे वनेषु मात्रोः**' मन्त्र से स्वरूपोल्लेख होरहा है। काष्ठादि में प्रसुप्त यही आधिभौतिक अग्नि मनुष्य के प्रयास से प्रज्ज्वलित होकर मनुष्यों के लौकिककर्म्म ( पाकादिकर्म्म ) सम्पादन करता है, जैसाकि—'**सन्त्वा मर्त्तास इन्धते**' इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है। प्रज्ज्वलित होने के अनन्तर यह भूताग्नि अपने भूतभाग को छोड़ता हुआ कालान्तर में अपने उसी दिव्यप्राणरूप में परिणत होकर द्युलोक में चला

जाता है। 'अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृदादिद्देवेषु राजसि' इस मन्त्रोत्तरार्द्ध से इसी स्थिति का प्रतिपादन हुआ है।

भूताग्नि प्रज्वलित होकर कालान्तर में द्युलोक में इसीप्रकार जाता रहता है। परन्तु इस स्वाभाविकगति से यज्ञकर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। यज्ञकर्म्म में तो वह भूताग्नि ही उपयुक्त माना जायगा, जिसमें यहीं, इसी लोक में प्रतिष्ठित रहते हुए दिव्याग्नि का समावेश करा दिया जायगा। भूताग्नि को प्रज्वलित किया जायगा, इसमें दिव्यप्राणाग्नि का समावेश कराया जायगा। अनन्तर आहुति के द्वारा यजमान अपने शरीराग्नि का इन दोनों से सम्बन्ध करा देगा। परिणाम इसका यह होगा कि, अब जो भूताग्नि द्युलोक में जायगा, उसके गर्भ में दिव्याग्नि रहेगा, यजमान का शरीराग्नि रहेगा, आहुतिद्रव्यानुशय रहेगा। इन सब के समन्वितरूप का नाम होगा पूर्वोक्त 'दैवात्मा'। यह वहाँ जायगा, इसका यजमान के मानुषात्मा से सम्बन्ध रहेगा, और यही आकर्षण स्वर्गफलप्राप्ति का कारण होगा।

भूताग्नि को प्रज्वलित सभी करते हैं। तद्वत् यहाँ भी अध्वर्य्यु "इध्म" नामक सामान्य काष्ठप्रक्षेप से इसे प्रज्वलित कर लेता है। इस सामान्य प्रज्वलनकर्म्म को विज्ञानपरिभाषा में "इन्धन" कहा गया है। आहवनीयाग्नि प्रतिरूपमर्य्यादा से यद्यपि दिव्याग्नि की प्रतिकृति है। परन्तु यह तभी दिव्य कहला सकेगा, जबकि इसमें किसी विशेष वैज्ञानिक प्रक्रिया से द्युलोकस्थ देवतामय दिव्य प्राणाग्नि का सम्बन्ध करा दिया जायगा। जबतक पार्थिव भूतरूप प्रज्वलित अग्नि का इस दिव्य-प्राणरूप अग्नि के साथ एकीभावात्मक सम्बन्ध नहीं होजाता, तबतक इस आहवनीय इध्म अग्नि का एक चूल्हे की सामान्य अग्नि से अधिक कोई विशेष महत्त्व नहीं है। दिव्याग्निशून्य ऐसे प्रज्वलित अग्नि में प्राणदेवाकर्षण की अयोग्यता है। फलतः इसमें चाहे लाखों मन घी डाल दीजिए, अपरिमित आहुति-द्रव्य डाल दीजिए, अहर्निश स्वाहा स्वाहा करते रहिए, साथ ही यज्ञविद्या को जगत् की दृष्टि में महत्त्व शून्य सिद्ध करने का कलङ्क उठाते रहिए, कभी ऐसे लौकिक अग्नि से फलसिद्धि नहीं होसकती। फल तब मिलेगा, जब प्राकृतिक प्राणदेवताओं के गर्भ में आहुतिद्रव्य का समावेश होगा। आहुतिद्रव्य का देवताओं के गर्भ में समावेश तब होगा, जब इस प्रज्वलित भूताग्नि में देवप्राणाकर्षक दिव्याग्नि का एकीभाव होगा। और यह एकीभाव तब सम्भव होगा, जबकि, ऋषिप्रदिष्ट सुप्रसिद्ध—"सामिधेन्यनुवचन" कर्म्म का आश्रय लिया जायगा।

प्रश्न हमारे सामने यही है कि, द्युलोक में प्रतिष्ठित दिव्यप्राणदेवता प्राणात्मक हैं। उधर प्राण की—"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दशून्यत्वे-सति अधामच्छदत्त्वमेव प्राणत्त्वम्" यह परिभाषा मानी गई है। एतल्लक्षण दिव्यप्राण अस्मदादि के लिए सर्वथा अतीन्द्रिय बनता हुआ अग्राह्य है। जब वह अग्राह्य है, तो उसका इस अग्नि में सम्बन्ध कैसे कराया जाय ?, यही एक महती विप्रतिपत्ति है।

उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण "स्वरसमन्वय" से होरहा है। पृथिवी, और सूर्य्य, दोनों वस्तुतः एक थे, जैसाकि पाठक आगे देखेंगे। पृथिवी सूर्य्य का ही उपग्रह माना गया है। दोनों में परस्पर आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। सूर्य्य की प्रवर्ग्यभागात्मिका पृथिवी सौर आकर्षण-प्रतिष्ठा को आधार बनाकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। गौरूप सूर्य्य ने हीं रश्मिरूप शृङ्ग ( सींग ) के आधार पर भूभार वहन कर रक्खा है। इस सौर प्राण का ही नाम 'स्वर' है, एवं पार्थिव भूत का ही नाम 'व्यञ्जन' है। स्वरप्राण के सम्बन्ध से

ही सौरलोक "स्वर्लोक" कहलाया है, जैसाकि 'स्वरर्हदेवाः सूर्य्यः' (श० १।१।२।२।१) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। व्यञ्जनवाक् पार्थिवी है, यही 'अनुष्टुप्' कहलाई है। स्वरवाक् सौरी (ऐन्द्री) है, यही 'बृहती' कहलाई है। जिसप्रकार सूर्य्योपग्रहभूता पृथिवी सौरतत्त्व के बिना स्वरूपरक्षा में असमर्थ है, एवमेव सौर स्वर को आधार बनाए बिना पार्थिव व्यञ्जनों का भी उच्चारण असम्भव है। *।

वैज्ञानिक महर्षियोंनें व्यञ्जनवाक् में अनुस्यूत सौर-स्वरतत्त्व की परीक्षा आरम्भ की। परीक्षा से यह सिद्धान्त निकला कि, "इस अनुष्टुप्-लक्षणा पार्थिवी-वाक् ( व्यञ्जनवाक् ) में आधार बना हुआ जो स्वर है, वह दिव्यतत्त्व (इन्द्र) है। यदि इस दिव्यतत्त्व का (स्वर का) इस व्यञ्जनवाक् के साथ नियमपूर्वक सम्बन्ध जोड़ दिया जाय, तो उस नियमित वाक् से वागनुगत नियमित स्वर के आकर्षण से दिव्यलोकस्थ दिव्यप्राणदेवताओं का आकर्षण सम्भव होजाय"। एकमात्र इसी स्वरविज्ञान को मूल बना कर ऋषियोंनें दिव्यप्राणों के तत्तद्विशेष-स्वरूपों की परीक्षा आरम्भ की। उन्होंनें देखा कि, दिव्यलोकस्थ अग्नि, इन्द्र, वरुण, आदित्यादि देवप्राण गायत्री, त्रिष्टुप् आदि विशेष छन्दों ( वाक्परिमाणात्मक सीमाभावों ) से छन्दित (सीमित) रहते हुए उदात्त-अनुदात्त-स्वरितादि तत्तद्विशेष स्वरवीचियों (लहरों) से युक्त हैं। इसी आधार पर उन्होंनें व्यञ्जनवाक् में उसी नियम से छन्द-स्वर-सम्पत्ति का समादेश करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि, "यदि अमुक छन्द वाले अमुक स्वर युक्त, अमुक मन्त्र का अमुक कर्म्म में, अमुक नियम से प्रयोग किया जायगा, तो इन छन्दः-स्वरों से समतुलित छन्दः-स्वर-युक्त उन प्राणदेवताओं का यहाँ भी सम्बन्ध होसकेगा"। साथ ही इस सम्बन्ध में उन्होंनें यह भी आदेश दिया कि, "यहाँ मन्त्रवाक् के उच्चारण करते समय यदि मन्त्रप्रयोक्ता छन्द-स्वर-वर्ण आदि में यथाव्यस्थित नियम के विपरीत अणुमात्र भी स्खलन (असावधानी) कर देगा, तो इनकी स्वरूपानुगता-स्वरलहरी-विकृत होजायगी, फलतः इन विकृत स्वर-वर्णयुक्त मन्त्रों से उन अविकृत देवताओं का आकर्षण न होसकेगा। साथ ही इष्ट के स्थान में महान् अनिष्ट भी होजायगा ×।

तो अब हमारी उस पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति का समाधान होगया। हम ऋषि के द्वारा दृष्ट उन मन्त्रों के यथाविधि उच्चारण से उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं का अपनी यज्ञसंस्था में अवश्यमेव सम्बन्ध करा सकते हैं। यही तो वेदमन्त्र का मन्त्रत्त्व है, यही तो इसका अपौरुषयत्त्व है। विज्ञानवाक् का निर्म्माण कौन कर

---

*-"वीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा ॥"
—ऋ० १०।१२४।९।

×-"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" ॥

सकता है ? । वह तो ऋषियों के अन्तःकरण में स्वतः प्रादुर्भूत होने वाला मङ्गलमय विधि का महतो-महीयान् मङ्गलविधान है * । इसी मङ्गलमूर्त्ति विधि के स्मरणपूर्वक हमारा यह सामिधेन्यनुवचनकर्म्म आरम्भ होता है ।

यह सिद्ध होचुका है कि, आहवनीयाग्नि में दिव्यप्राणाग्नि का सम्बन्ध आवश्यक है । दोनों का एकीभाव ही यज्ञसिद्धि का द्वार है । इस एकीभाव के लिए ही "समिन्धन" ( समित्येकीभावे ) शब्द प्रयुक्त हुआ है । जिस कर्म्मविशेष से अध्वर्यु के द्वारा इद्ध अग्नि समिद्ध बनाया जाता है, वही कर्म्मविशेष **"सामिधेन्यनुवचनकर्म्म"** नाम से व्यवहृत हुआ है । होता नाम का ऋत्विक् उन मन्त्रों का उच्चारण करता है, जिन का **छन्द गायत्री है, स्वरलहरी अग्निदेवतानुगता है** । उन मन्त्रों के प्रयोग से अन्तरिक्षस्थ सत्यसंहित प्राणाग्निदेवता आकर्षित होकर अवश्यमेव इस इद्ध अग्नि में प्रविष्ट होकर इसे **समिद्ध ( इस के साथ एकीभूत )** कर देते हैं । क्योंकि निर्दिष्ट ऋचाओं से इस इद्ध का समिन्धन होता है, अतएव इन ऋचाओं को—**"समिन्धे एताभिर्ऋग्भिः"** इस निर्वचन से **'सामिधेनी'** कहा गया है । अध्वर्यु पहिले इध्म से ( सामान्य काष्ठ से ) अग्नि को इद्ध ÷ करता है । अनन्तर होता सामिधेनी ऋगुच्चारण से दिव्यप्राणाग्नि के स्थापन द्वारा इस अग्नि को समिद्ध करता है । इसी सम्बन्ध में एक बात का और ध्यान रखना चाहिए । प्राणाग्नि का सम्बन्ध अपेक्षित है । **प्राणाग्नि का स्थिरसम्बन्ध बिना भूत के नहीं हुआ करता । भूत के आधार पर ही प्राण प्रतिष्ठित होता है, भूतद्वार से ही प्राण का आकर्षण होता है ।**

यहाँ भी अवश्य ही आगत प्राणाग्नि की स्थिरता के लिए भूतसम्बन्ध अपेक्षित है । इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए जितने सामिधेनी-मन्त्र हैं, उतने हीं (१५ अथवा १७)-इध्मकाष्ठ लिए जाते हैं । होता मन्त्रोच्चारण कर अन्त में प्रणवोच्चारण करता है, इस से प्राणाग्नि अग्नि में प्रतिष्ठित होता है, अव्यवहितोत्तरकाल में ही अध्वर्यु नियत इध्म अग्नि में डालता रहता है । इसप्रकार यावत् सामिधेनी-समतुलित इध्मकाष्ठों का प्रतिप्रणव आधान होता है । कैसा अद्भुत कर्म्मकलाप है । उस ओर से मन्त्रशक्ति के द्वारा होता दिव्यप्राणाग्नि को इस यज्ञसंस्था में लाता जाता है, इस ओर से अध्वर्यु प्रतिप्रणव इध्माधान से भूताग्नि को प्रज्वलित करता जाता है । दोनों का एकीभावात्मक समिन्धन होता जाता है । कर्म्मसमाप्ति में दोनों अग्नि मिलकर एक-अपूर्व-समृद्ध यज्ञानुगत रूप धारण कर लेते हैं । **ऐसे समिद्ध अग्नि के प्रति कौन अग्न्युपासक भूसुर नतमस्तक होकर नमन न करेगा ?** ।

अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, **'इन्धनकर्म्म अध्वर्यु ही क्यों करता है ?, एवं समिन्धनकर्म्म होता ही क्यों करता है ?** । इन प्रश्नों की संक्षिप्त उपपत्ति यही है कि, प्राकृतिक—

---

***—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।**
**लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥**

÷ लौकिक-भौतिक-काष्ठ से भूताग्नि का ही इन्धन ( प्रज्वलन ) होता है । अतएव इन्धन-( प्रज्वलन )-साधक काष्ठ भी लोकव्यवहार में "इन्धन" नाम से प्रसिद्ध होगया है, जिसका प्राकृतरूप ही राजस्थान में-"ईंधन" कहलाने लग पड़ा है ।

सृष्टि में पार्थिव-अग्नि वायु से ही ( पङ्खे आदि के झलकने से ही प्रज्ज्वलित होता है । वायु ही प्राकृतिक यज्ञ के वाय्वनुगत यजुर्वेदी अध्वर्यु माने गए हैं । अतएव यहाँ भी तत्प्रतिकृतिरूप यजुर्वेदी अध्वर्यु ही इध्मकर्म्म करता है । पार्थिव मूलाग्नि ही "**इत एत उदारुहन्-दिवस्पृष्ठान्यारुहन् । प्रभूर्जयो यथा पथि द्यामङ्गिरसो ययु:**" इस मन्त्रवर्णन के अनुसार द्युलोकस्थ दिव्याग्नि से मेल कर समिद्ध होते हैं । दूसरे शब्दों में पार्थिव अग्नि हीं समिन्धनकर्म्म के सञ्चालक हैं । ये ही प्राकृतिक यज्ञ के अग्न्यनुगत ऋग्वेदी होता माने गए हैं । अतएव यहाँ भी तत्प्रतिकृतिरूप ऋग्वेदी होता ही समिन्धनकर्म्म करता है । "**यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि**" ही इस उपपत्ति का मूल है । और यही '**सामिधेन्यनुवचनकर्म्म**' की संक्षिप्त उपपत्ति है, जिसका कि प्रकृत ब्राह्मण की प्रथम-कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १ ॥

क्योंकि प्रतिरूपानुगता-सजातीयमर्य्यादा से होता ही समिन्धनकर्म्म का अधिकारी है, अत: "**अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि**" इत्यादि रूप से अध्वर्यु इस कर्म्म के लिए होता को ही प्रेरित करता है । यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, सामिधेनी अनुवचन के अनन्तर इस ऋत्विक् का होतृत्वेन वरण होनेवाला है । उस से पहिले होता के उद्देश्य से इस कर्म्म में नियुक्त होता हुआ भी यह विधिपूर्वक '**होतृ**' संज्ञा में परिणत नहीं हुआ है । अत: '**होतरनुब्रूहि**' इसप्रकार नामनिर्देश पूर्वक प्रैष न कर उक्त सामान्यरूप ( बिना नाम-निर्देश ) से ही प्रैष करना चाहिए ॥ २, ३, ॥

इस कर्म्म से अग्नि का समिन्धनलक्षण एकीभाव सम्बन्ध ही अपेक्षित है । प्राकृतिक जिस देवता का ऋचा के द्वारा आकर्षण करना है, वह आत्मा **अग्नि** है, छन्द उस का **गायत्री** है, साथ ही अग्नित्वेन वह **ब्रह्मवीर्य्य** का प्रवर्त्तक है । देववर्ग में इन्द्र जहाँ **क्षत्रवीर्य्य** के प्रवर्त्तक हैं, विश्वेदेव जहाँ **विड्वीर्य्य** के प्रवर्त्तक हैं, एवं पूषाप्राण जहाँ **शूद्रभाव** का स्वरूपसमर्पक है, वहाँ अग्नि ब्रह्मवीर्य्य के अधिष्ठाता माने गए हैं । एतद्धर्म्मोपेत अग्नि का उसी ऋचा से आकर्षण सम्भव है, जिस का स्वरूप ( अर्थापेक्षया ) अग्निमय होगा । अर्थात् जिस में अग्निस्वरूप का वर्णन होगा, छन्द जिस का गायत्री होगा । इसीलिए सामिधेन्यनु-वचनकर्म्म में **उपयुक्त** सामिधेनी सभी ऋचाएँ स्वरूपत: ( अर्थत: ) आग्नेयीं होतीं हैं, एवं छन्दोमर्य्यादा से इन सब का गायत्री छन्द होता है । इस अपने ही छन्द, अपने ही स्वरूप से समतुलित सामिधेनी-ऋचा से अग्नि का समिन्धन तो हो ही जाता है, इसके अतिरिक्त इस में समतुलित **ब्रह्मात्मिका** गायत्री से विशेष **शक्ति** ( ब्रह्मबल ) का भी आधान होजाता है ।

गायत्री को ब्रह्म, तथा वीर्य्यरूप बतलाना भी एक विशेष महत्त्व रखता है । पार्थिव हृदयस्थ* प्रजा-पति से ( प्रजापति के मुखरूप उक्थ-नभ्यबिन्दु से ) अर्कात्मक पार्थिव अग्नि का, तथा अग्निसोमलक्षण गायत्रीछन्द का आविर्भाव हुआ है । अग्नि ब्रह्म है, इसका छन्द गायत्री है । इस अग्निब्रह्म के सम्बन्ध से

---

* "**प्रजापतिर्वाव ज्येष्ठः । स ह्येतेनाग्रेऽयजत । प्रजापतिरकामयत-प्रजायेयेति । स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत । तमग्निर्देवतान्वसृज्यत, गायत्रीछन्दः, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणां, अजः पशूनां । तस्मात्ते मुख्याः ; मुखतो ह्यसृज्यन्त**"

—तै० सं० ७।१।१।४ ।

गायत्रीछन्द ब्रह्मवीर्य्यात्मक बना हुआ है। इस के अतिरिक्त इसी गायत्री के द्वारा 'एति-प्रेति' रूप अन्वर्थ वीर्य्य के प्रभाव से तृतीय द्यु लोकस्थ सोम का अपहरण होता रहता है। यह गायत्री का अपना प्रातिस्विक वीर्य्य है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के तीनों धातुओं से क्रमशः कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरों का आविर्भाव हुआ है। इन तीन पर्वों के सम्बन्ध से तीनों में क्रमशः 'पराक्रम, वीर्य्य, बल' नाम के धर्म्म उत्पन्न हो-जाते हैं। **मनोऽनुग कारणशरीर पराक्रम का अधिष्ठाता है, एवं मनुष्य इस का उदाहरण है। प्राणानुगत सूक्ष्मशरीर वीर्य्य का अधिष्ठाता है, एवं सिंह इस का उदाहरण है। वागनुगत स्थूल-शरीर बल का अधिष्ठाता है, एवं हाथी इसका उदाहरण है।**

तीनों शब्द पृथक् पृथक् तीन अर्थों के वाचक है। साथ ही तीनों पूर्व-पूर्व एक दूसरे से गौरवान्वित हैं। यही कारण है कि, अपने शरीरबल से दो चार सिंहों को कुचलने की शक्ति रखता हुआ भी हाथी वीर्य्यशाली सिंह का आक्रमण नहीं सह सकता। इधर सिंह के दर्शनमात्र से कम्पित होपड़ने वाला मनुष्य पराक्रम के बल पर सिंह को पञ्जर ( पिंजरे ) में बन्द कर देता है। प्राणाग्नियुता गायत्री प्राणशक्ति से ही द्यु लोकस्थ सोमापहरण में समर्थ होती है। प्राणशक्ति वीर्य्यात्मिका है। अतएव यहाँ **"वीर्य्यं गायत्री"** यह कहा गया है ॥ ४ ॥

सामिधेनी ऋचाएँ आग्नेयीं हैं, गायत्रछन्दा हैं। इस से ब्रह्मवीर्य्य का आधान होगया। परन्तु अभी उसमें क्षत्रवीर्य्य के आधान की कमी है, जिस के बिना ब्रह्म का कोई कर्म्म समृद्ध नहीं होसकता। **ब्रह्म अभि-गन्तामात्र है, कर्त्ता तो क्षत्र ही है।** ब्रह्म-क्षत्र का युग्म ही कर्म्म की समृद्धि का द्वार है ( देखिए शत० ४।१।२ )। आवश्यक है कि, **ब्रह्मसम्पत्ति**-संग्रह के साथ साथ **क्षत्रसम्पत्ति** का भी यज्ञ में सम्बन्ध कराया जाय। इस के लिए क्षत्रानुगता छन्दःसम्पत्ति का सम्बन्ध अपेक्षित है। **जिसप्रकार अग्नि ब्रह्मवीर्य्यात्मक है, तथैव इन्द्र क्षत्रवीर्य्यात्मक है। एवमेव अग्नि का गायत्रीछन्द जैसे ब्रह्मवीर्य्यात्मक है, वैसे× इन्द्र का त्रिष्टुप्छन्द क्षत्रवीर्य्यात्मक है।** इस सम्पत्ति का समष्टिरूप से स्वतः संग्रह होजाता है। सामिधेनी ऋचाएँ ११ हैं, एवं त्रिष्टुप्छन्द भी एकादशाक्षर ही है। एक एक अक्षर एक एक मन्त्र से समतुलित है। ११ से त्रिष्टुप् के द्वारा प्रकृत्या क्षत्रसम्पत्ति प्राप्त होजाती है। परिणामतः हमारा भूताग्नि ब्रह्म, क्षत्र, दोनों वीर्य्यों से समिद्ध बन जाता है। ११ ही सामिधेनी क्यों होती है ?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ५ ॥

जिस यज्ञकर्म्म का यजमान सम्पादन करने वाला है, उस यज्ञ की स्वानुरूपा सम्पत्ति वही मानी गई है कि, इस में जो भी कर्म्म हों, प्राकृतिक यज्ञ के अनुरूप ही हों। इसी को यज्ञपरिभाषा में-**"रूपसमृद्धि"** कहा गया है। प्राकृतिक यज्ञ में सर्वत्र त्रिवृद्भाव की प्रधानता देखी जाती है। पहिले पञ्चपर्वा उस 'सर्वहुत' नामक विश्वयज्ञ के स्वरूप पर ही दृष्टि डालिए। महाविश्वयज्ञ की आरम्भभूमि प्राणात्मक स्वयम्भू है।

---

× **"उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत। तमिन्द्रो देवतान्वसृज्यत, त्रिष्टुप्छन्दः, बृहत् साम, राजन्यो मनुष्याणां, अविः पशूनां, तस्मात्ते वीर्य्यवन्तः। वीर्य्या-द्ध्यसृजन्त"** तै० सं० ७।१।१।४-५ )।

इस का उपक्रम--"वेदाः सत्यं, सूत्रं सत्यं, नियतिः सत्यं" इस त्रिवृद्भाव से ही हुआ है। दूसरा परमेष्ठीपर्व भी "इट्-ऊक्-भोग" सम्बन्ध से त्रिवृत् ही बन रहा है। सूर्य्यपर्व भी ज्योतिः-गौ-रायुः भेद से त्रिपर्वा ही है। चन्द्रमा भी 'रेतः-श्रद्धा-यशो' रूप से इस सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। पृथिवी भी 'वाक्-गौ-द्यौः' से नित्य युक्त है। इसप्रकार पाँच पर्वों से पाङ्क्त कहलाने वाले इस विश्वयज्ञ का उपक्रम [स्वयम्भू], पार्श्व [ परमेष्ठी ], मध्य [ सूर्य्य ], अवरपार्श्व [ चन्द्रमा ] उपसंहार, सब कुछ त्रिवृत् ही बना हुआ है।

शुक्रविज्ञान की दृष्टि से भी वाक्-आपः-अग्निः यह अमृता शुक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपक्रम बन रही है, एवं 'अग्निः-आपः-वाक्' यह मर्त्या शुक्रत्रयी विश्वयज्ञ का उपसंहार बन रही है। यज्ञप्रवर्त्तक यज्ञिय-देवता 'अग्नि-वायु-आदित्य' सम्पत्ति से युक्त रहते हुए त्रिवृत् बन रहे हैं। त्रिःसत्यदेवताओं का यजनरूप प्रत्येक यज्ञकर्म्म इसी त्रिःसम्पत्ति से युक्त है, जिस का ईशादि विज्ञानभाष्यों में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है।

वैधयज्ञ में होने वाले 'दीक्षा-सुत्या--उपसत्' के त्रिवृद्भाव से भी त्रिवृत् का यज्ञाङ्गत्व सिद्ध होरहा है। 'तीन पर आरम्भ, तीन पर समाप्त' यह यज्ञ की आवश्यक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति का भी हमारे इस सामिधेनीकर्म्म में संग्रह होना चाहिए। इसी सम्पत्तिसंग्रह के लिए ११ मन्त्रों में से प्रथम, तथा अन्तके मन्त्रों का तीन बार अनुवचन होता है। आरम्भ का त्रिः-अनुवचन प्रायणीय-यज्ञसम्पत्ति का, तथा अन्त का त्रिः-अनुवचन उदयनीय-यज्ञसम्पत्ति का संग्राहक बन रहा है। त्रिः-त्रिः-अनुवचन की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ६ ॥

यज्ञानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति अपेक्षित थी। इस सम्पत्ति के साथ साथ उसी संख्यानुगता प्रतिरूपता से एक सम्पत्ति और मिल जाती है। आद्यन्त के त्रिः-त्रिः अनुवचन से ११ के स्थान में १५ सामिधेनी ऋचाएँ होजातीं हैं। "इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार०" [ शत० १।६।४।१ ] इत्यादि पूर्वोक्त दर्भविज्ञान में यह बतलाया गया है-कि, शस्त्रबल से आक्रमण करना क्षत्र इन्द्र का काम है। इन्द्र की प्रहारशक्ति [ विद्युच्छक्ति ] ही वज्र है। इस वज्रसम्पत्ति का ग्राहक पञ्चदशसंख्याभाव [ १५ संख्या ] है। कारण यही है कि, जैसे प्रजापति के मुख से त्रिवृत्स्तोम, एवं तदनु गायत्रीछन्द, तथा अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ है, एवमेव प्रजापति के उर, तथा बाहुओं से *पञ्चदशस्तोम, एवं तदनु त्रिष्टुप्छन्द, तथा इन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ है। अग्निब्रह्म ब्राह्मण है, शस्त्र प्रहार करना अभिचार करना इस का धर्म्म नहीं, क्योंकि श्रुति का इसके लिए-"सर्वस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्रं, न वा अयं कञ्चन हिनस्ति" [ शत० २।३।२।१६ ] यही आदेश है। इधर शत्रुनाश, तथा यज्ञकर्म्म पर होने वाले स्वाभाविक असुराक्रमण का निरोध भी अपेक्षित है। यद्यपि एकादशसम्पत्ति से त्रिष्टप् के द्वारा इन्द्रक्षत्र का संग्रह होजाता है। तथापि प्रजापति के साक्षात् बाहुवीर्य्य से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चदशात्मक आयुध का संग्रह नहीं होता। वह काम इस पन्द्रह संख्या से

---

*-"अथैतानीन्द्रभक्तीन्यन्तरीक्षलोको, माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्म, स्त्रिष्टुप्, पञ्चदशस्तोमो, बृहत्साम, ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने, याश्च स्त्रियः।"
—या० नि० ७।१०।१

पूरा होजाता है। यज्ञाग्नि क्षात्रधर्म्मानुगत आयुध-सम्पत्ति से युक्त होजाता है। फल यह होता कि, इन -:- वज्ररूप सामिधेनियों के अनुवचन-कर्म्मरूप वज्रप्रहार करते समय यजमान जिस शत्रु को नष्ट करने की भावना प्रकट करता है, अवश्यमेव वह शत्रु नष्ट होजाता है। यही पञ्चदश संख्या की एक उपपत्ति है ॥ ७ ॥

एक पक्ष की १५ रात्रियाँ होतीं हैं। इसी अर्द्धमास के 'परिप्लव' से आगे जाकर सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। जिसने एक पक्ष की रात्रियों का संग्रह कर लिया, उसने इस अवयव के द्वारा पूरे सम्वत्सर की रात्रियों का संग्रह करते हुए सम्वत्सरसम्पत्ति ही प्राप्त करली। यह सम्वत्सरयज्ञसम्पत की प्राप्ति ही पञ्चदशसंख्या का दूसरा फल है।

अवयव अवयवी के बिना अपूर्ण है। असमृद्ध है। साथ ही **दर्शपूर्णमास** का प्राकृतिक **पक्षाग्नि-सोम** से सम्बद्ध है, अतएव इसे सम्वत्सर का अवयव माना जायगा। इस की पूर्णता के लिए, समृद्धि के लिए अवयवी का सम्बन्ध अपेक्षित है। वह काम भी इस पञ्चदशसंख्या से गतार्थ होजाता है। यही पञ्चदश-संख्या की तीसरी उपपत्ति है।

"**अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, ज्योतिष्टोम**" ये पाँचों वैध यज्ञ क्रमशः प्राकृतिक-आधिदैविक-नित्य **अहोरात्रयज्ञ, पक्षयज्ञ, ऋतुयज्ञ, अयनयज्ञ, सम्वत्सरयज्ञ**, इन पाँच यज्ञों के प्रतिरूप हैं। दर्शपूर्णमास क्योंकि प्राकृतिक पक्षयज्ञ का प्रतिरूप है, पक्ष में १५ संख्या का समावेश है। अतएव यहाँ १५ संख्या के समावेश से उस पक्षयज्ञ की अनुरूपता भी प्राप्त होजाती है। यही पञ्चदशसंख्या की चौथी उपपत्ति है ॥ ८ ॥

प्रत्येक गायत्रीछन्द के [ त्रिपदागायत्री के ] तीन तीन पाद होते हैं, प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं, सम्भूय एक गायत्री के २४ अक्षर होजाते हैं। १५ के सम्बन्ध से १५ गायत्रीछन्दस्क सामिधेनी ऋचाओं के प्रत्येक के २४ के अनुपात से कुल ३६० अक्षर होजाते हैं। उधर एक सम्वत्सरयज्ञ में ३६० ही अहः होते हैं। इस पन्द्रह संख्या से सम्पन्न गायत्री के ३६० अक्षरों से सम्वत्सर के ३६० अहोरात्र समतुलित हैं। इस रूप से साक्षात् ही सम्वत्सरयज्ञसम्पत्ति का संग्रह होजाता है। यही पञ्चदश संख्या की पाँचवीं उपपत्ति है ॥ ६ ॥

यदि दर्शपूर्णमास में काम्येष्टि अपेक्षित है, तो उस समय १५ के स्थान में १७ सामिधेनियाँ होतीं हैं। **'धाय्या'** नामक दो ऋङ्मन्त्रों का ( जोकि **'समिध्यमानो अध्वरे०'-समिद्ध अग्न आहुत०'** इन दोनों मन्त्रों के मध्य में पठित होने से **'समिध्यमान-समिद्धवती'** नाम से व्यहृत हुए हैं ) समावेश और कर लिया जाता है। इस सत्रह संख्या की यही उपपत्ति है कि, इस से सर्वकाम ( अभीष्टकाम, जिसके लिए कि **'काम्येष्टि'** की जाती है ) पूर्ण होजाता है। सर्वकामपूर्त्ति का मूलाधार **'सर्व-प्रजापति'**

---

-:- 'अथास्य कर्म्मरसानुप्रदानं, वृत्रवधो, या च का च बलकृति, रिन्द्रकर्म्मैव तत्'' ( या० नि० ७।१०।२ )।

है। **भूगर्भस्थ हृदय प्रजापति अनिरुक्त है**। इसे ही 'कः' नाम से व्यवहृत किया गया है। इस केन्द्रस्थ उक्थ अनिरुक्त प्रजापति का वाङ्महिमालक्षण वषट्कार के आधार पर आगे जाकर पार्थिव–सम्वत्सररूप में अर्करूप से वितान होता है। वही इस का सर्वरूप है, उसे ही **'सर्वप्रजापति'** कहा गया है, जो कि **'सः'** नाम से व्यवहृत हुआ है। सर्वात्मक इस सम्वत्सरप्रजापति के व्यष्टि–समष्टि–रूप से दो विवर्त्त हैं। व्यष्टिरूप इस के अवयव हैं, समष्टिरूप अवयवी हैं। १२ मास ५ ऋतुएँ, इस के अवयव हैं। इन की समष्टि ही सम्वत्सर है। इन १७ अवयवों से यह प्रजापति **'सप्तदश'** बना हुआ है। काम्येष्टि से कामपूर्ति अपेक्षित है। कामपूरक सप्तदशप्रजापति है, इसप्रकार सप्तदश सामिधेनी के अनुवचन से उस सप्तदश, कामपूरक प्रजापति का संग्रह होजाता है, कामपूर्ति होजाती है। यही सप्तदश संख्या की उपपत्ति है।

काम्येष्टि के देवता का उपांशुरूप से यजन होता है। उपांशुभाव अनिरुक्तभाव का ग्राहक है। उधर अनिरुक्तभाव सर्वरूप का संग्राहक माना गया है। प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में हीं शक्ति मानी गई है। इसीलिए प्रत्येक शब्द नियत अर्थ का ही वाचक है। व्यष्टिरूप से ही वस्तुओं का शब्द के द्वारा निर्वचन सम्भव है। परन्तु समष्टि के लिए **'सर्व'** सब्द के अतिरिक्त और किसी शब्द का व्यवहार नहीं होता। उपांशु अनिरुक्त है, अनिरुक्त सर्वभाव है, वही सर्वकाम यहाँ अपेक्षित हैं। इसीलिए ( सर्वकामसमृद्धि के लिए ही ) यहाँ उपांशु यजन होता है। उपांशुभाव सर्वात्मक अनिरुक्तभाव का ही संग्राहक है, यही तात्पर्य्य है। इसके साथ ही श्रुति लोकदृष्टि से यह भी शिक्षा दे रही है कि, यदि तुम्हें अपने काम्यकर्म्म की सिद्धि अपेक्षित है, तो तत्साधक कर्म्म का उपांशुरूप से ( चुपचाप–बिना किसी से कहे सुने ) ही अनुगमन करना चाहिए। लौकिक काम्य कर्म्म हो, अथवा शास्त्रीय, उस का घण्टाघोष करने से कर्म्म निरुक्त बनता हुआ अनिरुक्त आत्मप्रजापति की शक्ति से वञ्चित होजाता है। वागिन्द्रिय का प्रजापति से सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि—**"स प्रजापतिर्मनस एवानुवाच। तस्माद्यत् किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, उपांश्वेव तत् क्रियते। अहृव्यवाड्ढि वाक् प्रजापतये आसीत्"** ( शत० १।४।५।१२। ) इत्यादि रूप से आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यह विश्वास करने योग्य है कि, जो व्यक्ति अपने कर्म्म का वागिन्द्रिय से बखान करने लग जाते हैं, वे आत्मसहयोग खोते हुए कर्म्मसमृद्धि से सर्वथा वञ्चित ही होजाते हैं। **सचमुच प्रदर्शन ही कार्य्यसिद्धि का अन्यतम शत्रु है** ॥१०॥

दर्शपूर्णमास के सम्बन्ध में कितनें हीं याज्ञिक २१ सामिधेनियों का अनुवचन आवश्यक मानते हैं। इस की उपपत्ति वे यह बतलाते हैं कि, **१२ मास, ५ ऋतुएँ, ३ लोक,** इसप्रकार सम्वत्सरयज्ञ के २० वर्ष हैं। २१ वाँ स्वयं सूर्य्य है। यही इस सम्वत्सरयज्ञ की अन्तिम गति, तथा प्रतिष्ठा है। यदि यहाँ भी २१ सामिधेनियों का अनुवचन होगा, तो २० संख्या से तो तत्समतुलित उक्त मासादि २० सम्वत्सरपर्वों का संग्रह होजायगा, एवं २१ वीं के अनुवचन से सूर्य्यप्रतिष्ठा प्राप्त होजायगी ॥११॥

परमवैज्ञानिक याज्ञवल्क्य उक्त उपपत्ति का उपहास करते हुए कहते हैं कि, जो यजमान सर्वथा श्रीशून्य है, अप्रतिष्ठत है, उसीके लिए २१ का अनुवचन करना चहिए। अर्थात् जो ऐसा होगा, वही सूर्य्यपत्नी श्री की कामना से २१ का समर्थन करेगा। भला ऐसा श्रीशून्य यजमान दर्शपूर्णमास का आरम्भ

ही क्यों करेगा ? । इसके लिए तो काम्येष्टि ही पर्य्याप्त होजायगी । काम्येष्टि से जब गत–श्रीभाव का अर्ज्जन होसकता है, तो फिर उस प्रतिष्ठा के लिए यह महाप्रयास निरर्थक है । साथ ही सामान्यस्थिति में रहने वाला यजमान यदि २१ का अनुगमन करेगा, तो इस से इस में कोई विशेषता नहीं आएगी । सूर्य्यप्रतिष्ठा का आकर्षण तो ज्योतिष्टोमयज्ञ पर ही अवलम्बित है । हाँ, यह बहुत सम्भव है कि, गतिलक्षणा सूर्य्यसम्पत्ति की भावना से यजमान अपनी रही सही श्री भी और खोबैठे । इसलिए ऐसी उपपत्ति बतलाकर २१ का पक्ष स्थापन करना केवल विचार ही विचार समझना चाहिए । वस्तुतः इनका अनुवचन पद्धति–विरुद्ध है ॥१२॥

मूलनुवाद में बतलाया गया है कि, **'प्र वो वाजा०'** इत्यादि प्रथम ऋचा का, तथा–**'आजुहोता दुवस्यत०'** इत्यादि अन्तिम ऋचा का त्रिरावृत्ति से ( तीन तीन बार ) उच्चारण होता है । इस त्रिरावृत्ति से जहाँ त्रिवृत्–प्रायणीय, त्रिवृत्–उदयनीय–यज्ञ की स्वाभाविक त्रिवृत्- सम्पत्ति का संग्रह होजाता है,'वहाँ इसी त्रिवृद्भाव से लोकत्रयसन्तान–सम्पत्ति, तथा प्राणत्रयसन्तान–सम्पत्ति भी प्राप्त होजाती है । निदानेन यह त्रिरावृत्त त्रिच लोकत्रयी, तथा आध्यात्मिक–प्राणत्रयी का प्रतिरूप है । प्रकृति में तीनों लोक एक ही पृथिवी–लोक के तीन वितान हैं । वही पार्थिव अग्नि वषट्कारमर्य्यादा से **त्रिवृत्--पञ्चदश--एकविंश–स्तोमरूप** से तीन लोकों के वितान का कारण बना हुआ है । एक के ही तीन परस्पर बद्ध वितान हैं । इसीप्रकार **अपान--व्यान–प्राण,** तीनों आध्यात्मिक प्राण क्रमशः स्तौम्यत्रिलोकी के **पृथिवी अन्तरिक्ष–द्यौ**–लोकों के **अग्नि--वायु--आदित्य** से सम्बन्ध रखते हुए एक ही के तीन सन्तत--परस्परबद्ध--अविच्छिन्नरूप हैं । जब कि आधिदैविक लोकत्रय, तथा आध्यात्मिक प्राणत्रय एक ही के तीन वितान हैं, साथ ही तीनों वैतानिकरूप एक दूसरे से बद्ध, तथा विच्छेदरहित हैं, तो तत्प्रतिरूपभूता इन दोनों आद्यन्त की त्रिचों में भी उसी सन्तत–अविच्छिन्न सम्पत्ति का समावेश करना ही चाहिए । तभी इस से उसका समतुलन होगा, एवं तभी उस से समतुलित इन के द्वारा लोक–प्राण–सम्पत्तियाँ प्राप्त होसकेंगीं । एकमात्र इसी प्रयोजन के लिए आद्यन्त की दोनों त्रिचों का एक ही श्वास में, बिना ऋङ्मध्य में, अथवा ऋगन्त में विश्राम लिए उच्चारण होता है ॥१३॥

जो याज्ञिक यह कहते हैं कि, "जब एक श्वास में तीनों का उच्चारण नहीं होसके, तो क्या किया जाय ? । अपनी शक्ति से ही तो उच्चारण होगा । इसलिए जहाँ श्वास टूटता हो, वहीं विश्राम लेते हुए स्वशक्त्यनुसार ही अनुवचन करलेना चाहिए । इस में कोई दोष नहीं है" । उन याज्ञिकों से हमारा ( याज्ञवल्क्य का ) यही कहना है कि, अभी वे प्राकृतिक यज्ञस्वरूप के परिज्ञान से वञ्चित हैं । उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, यज्ञ एक प्राकृतिक कर्म्म है । इस में अपने बुद्धिवाद, एवं तदनुगता अपनी कल्पना का कोई महत्त्व नहीं है । यदि ऋङ्मध्य में विश्राम कर लिया जायगा, तो न लोकसम्पत्ति प्राप्त होगी, न प्राणसम्पत्ति । क्योंकि मध्यविश्राम में इन त्रिचों का उन त्रयीभावों से समतुलन ही नहीं होगा । अतः ऋङ्मध्य–विश्रामपक्ष को सर्वथा अवैज्ञानिक ही समझना चाहिए ॥१४॥

यदि होता तीनों का एकसाथ, एकश्वास मे उच्चारण न करसके, तो कर्म्मेतिकर्त्तव्यता कैसे पूरी की जाय ?, यह विप्रतिपत्ति उठाई जाती है । ऋङ्मध्य में विश्राम करना सर्वथा दोषावह है । ऐसी परिस्थिति में एक एक ऋचा पर विश्रास कर लेने से यथाकथंचित् निर्वाह किया जासकता है । तीनों लोक, तीनों प्राण एक ही के तीन विवर्त्त बनते हुए भी स्वतन्त्र लोक, तथा स्वतन्त्र प्राण हैं । व्यष्टि–दृष्टि से तीनों पृथक्

पृथक् भी हैं। इसलिए एक एक पर विश्राम करने से भी काम चल सकता है। परन्तु–ऋङ्मध्य में विश्राम करना तो सर्वथा ही अनपेक्षित है।

अथवा एकैकानुवचनपक्ष में एक एक ऋचा से भी तीनों लोक-सम्पत्तियों का संग्रह किया जासकता है। प्रत्येक सामिधेनी–मन्त्र गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से त्रिपदान्वित है। एक एक पद को एक एक लोक का संग्राहक माना जासकता है। तीनों पदों के **'अनत्रान्'** (एकश्वास से) उच्चारण से तीनों लोकसम्पत्तियाँ प्राप्त होसकतीं हैं। अब प्रश्न बच जाता है–प्राणसन्धान का। इसका समाधान गायत्री कर रही है। तीन पदों की समष्टि एक गायत्री है। आग्नेय–प्राणानुगता गायत्री प्राणात्मिका मानी गई है। एक गायत्री पूर्ण एक प्राण है, जिस के गर्भ में तीन पदों के सम्बन्ध से तीनों प्राण विद्यमान हैं। इस से प्राणत्रयी–सम्पत्ति का भी आधान होजाता है। इसप्रकार तीन पदों से लोकत्रयी का, त्रिपदा कृत्स्ना गायत्री से प्राणत्रयी का संग्रह होजाता है। इसदृष्टि से एक-एक पक्ष में लोक–प्राण युग्मों की सन्तति-सम्पत्ति का संग्रह होजाता है। अतः इस **'एकैकामेवाननवानन्'** पक्ष को तो फिर भी माना जासकता है। परन्तु ऋङ्मध्य में विश्राम करना तो सर्वथा ही दोषावह है ॥१५॥

कहा गया है कि, गायत्रीछन्दस्का १५ सामिधेनियाँ अक्षर–सम्बन्ध से सम्वत्सर के अहोरात्रों की संग्राहिका बन रहीं हैं। सम्वत्सर के अहोरात्र परस्पर बद्ध से-विच्छेदरहित–बन कर ही **'रात–दिन–दिन–रात'** इस क्रम से चक्रवत् घूमते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि, १५ हों सामधेनी–मन्त्रों को एक साथ परस्पर सम्बद्ध बना कर ही उच्चारण किया जाय। ऐसा न हो कि एक मन्त्र बोल लिया, इतस्ततः देखने लगे, थोड़ा समय निकल गया, इसप्रकार विच्छेदपूर्वक १५ हों का अनुवचन पूरा किया। जब प्रकृति मे अहोरात्र विच्छेदरहित हैं, तो तत्स्थानीय इन १५ हों का भी विना इधर उधर देखे क्रमबद्ध एक के बाद दूसरी, तीसरी, इस क्रम से सन्ततरूप से ही उच्चारण करना चाहिए। यदि ऐसा न कर विच्छेद डाला जायगा, तो अहोरात्र की सन्तत–सम्पत्ति तो प्राप्त नहीं हीं होगी, साथ ही शत्रुप्रवेश को अवसर और मिल जायगा। अहोरात्रसम्पत्ति यजमान की अपनी भोग्या सम्पत्ति है। इसमें विच्छेद डालना शत्रु को दायादभोक्ता (हिस्सेदार) बनाने का अवसर (उपस्थान) देना है। ऐसी छिद्रानुगता भोग्य–सम्पत्ति शत्रु की दृष्टि में आजाती है। अतः सामिधेनियों का सन्तत ही अनुवचन होना चाहिए ॥१६॥

## तीसरे अध्याय में पाँचवाँ, एवं तीसरे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण समाप्त

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण अत्र उपरत

—१—

—*—

## *तीसरा अध्याय समाप्त*

## ३

—*—

# चतुर्थ अध्याय उपक्रान्त
# ४

——*——

## चौथे अध्याय में पहिला, एवं तीसरे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण सामिधेनी–ब्राह्मणानुगत दूसरा ब्राह्मण
## —२—

——*——

[१]आग्नेयी सामिधेनी, [२]गायत्रीछन्द, [३]११ मूलसंख्या, [४]आद्यन्त के मन्त्रों की त्रिरावृत्ति, [५]पञ्चदश संख्या, [६]काग्येष्ट्यनुगता सप्तदश संख्या, [७]आद्यन्त के दोनों त्रिचों का एकश्वास में उच्चारण, [८]१५ हों सामिधेनी मन्त्रों का सन्तत--अविच्छिन्न उच्चारण, इन विशेषधर्म्मों से क्रमशः [१]अग्निःस्वरूप--प्राप्तिपूर्वक ब्रह्मवीर्य्याधान, [२]प्रातिस्विक गायत्रवीर्य्याधान, [३]क्षत्रवीर्य्याधान, [४]प्रायणीयोदयनीयानुगता यज्ञियत्रिवृत्‌सम्पत्तिसंग्रह, [५]वज्रसम्पत्ति--रात्रिसम्पत्ति-अहःसम्पत्ति, [६]अनिरुक्तानुगता सर्वसम्पत्तिसंग्रह, [७]लोक--प्राणसम्पत्तिसंग्रह, [८]अहोरात्र की अनन्यभोग्यता, इन फलों का सोपपत्तिक निरूपण ही पूर्वब्राह्मण के परिगणित विषय हैं। अब सामिधेनियों के सम्बन्ध में हीं 'सामात्मिका' एक विशेषता बतलाते हुए इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण किया जाता है।

जिस प्राकृतिक यज्ञ से सम्पूर्ण प्रजा की उपपत्ति हुई है, वह प्राकृतिक यज्ञ सत्य पर ही प्रतिष्ठित है। इसी सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आया है--

"प्रजापति की सन्तान होने से 'प्राजापत्य'' इस उपनाम से प्रसिद्ध देवता और असुर, दोनो पिताप्रजापति के दाय ( सम्पत्ति ) का विभाग कराने की इच्छा से प्रजापति के समीप प्रणतभाव से (देवता), एवं अधिकार--भावना से ( असुर ) उपस्थिति हुए । प्रजापति के दायादकोश ( निजी सञ्चित सम्पत्ति) अपनी 'सत्य-और अनृत' नाम की वाङ्मयी सम्पत्ति ही प्रधान थी। प्रजापति ने 'आधा सत्य, आधा अनृत' तो देवताओं में बाँट दिया, एवं आधा सत्य, तथा आधा अनृत असुरों में बाँट दिया। देवताओंनें चाहा कि, अपने भाग का आधा अनृत यदि असुर लेलें, तत्स्थान में अपना आधा सत्य अपने को देदें, तो बड़ा अच्छा हो। इसीप्रकार असुरोंनें भी यही चाहा कि, अपने को जो आधा सत्य मिला है, वह देवता लेलें, और बदले में आधा अनृत हमें देदें, तो बड़ा अच्छा हो"। आगे जाकर ऐसा ही हुआ। फलतः देवताओं के दायाद में सम्पूर्ण सत्य आगया, एवं असुरों के दायाद में सम्पूर्ण अनृत आगया।

अपने इस कृत्स्न सत्य को प्राप्त कर देवताओंनें यह निश्चय किया कि, अपन यज्ञ कर के इस सत्य को त्रैलोक्य में फैलादें। देवताओंनें ऐसा ही किया। जिस यज्ञ के आधार पर देवाताओंनें वाक्सत्य का वितान किया था, वह वाक् सत्य यही त्रयीविद्या है" (शत०६।५।१ ब्रा०)।

उक्त आख्यान की वैज्ञानिक-व्याख्या की ओर न जाते हुए प्रकृत में इस से यही बतलाना है कि, सत्य और यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यज्ञ से हो सत्य का वितान होता है, एवं सत्य के आधार पर ही यज्ञकर्म्म सम्पादित होता है। यह सत्यतत्त्व श्रुति के शब्दों में हीं—"ऋक्-यजुः-सामात्मिका त्रयीविद्या'' ही है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि, त्रयीवेद ही यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है, जिस तत्त्वात्मिका त्रयीविद्या का शब्दात्मक वेदग्रन्थों में निरूपण हुआ है।

'ऋक्-यजुः-साम' तीनों तत्त्वों के आधार पर हृद्य प्रजापति यज्ञ करने में समथ हुए हैं। ऋक्-वेद से अग्नितत्त्व का, यजुः से वायु का, तथा साम से आदित्य का आविर्भाव हुआ हैं। त्रयीवेदोत्पन्न अग्निवाय्वादि देवताओं का परस्पर सङ्गम ही 'यज्ञ' है *।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड एक एक स्वतन्त्र यज्ञसंस्था है। इस प्रत्येक यज्ञसंस्था में 'पदं-पुनःपदम्' भेद से दो दो पर्व हैं। स्वयं वस्तुपिण्ड 'पदम्' है, एवं वस्तुपिण्ड के केन्द्र से प्राणरूप से निकल कर वस्तुपिण्ड के चारों ओर बड़ी दूर पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाला बहिर्मण्डल उस वस्तुपिण्ड का 'पुनःपदम्' है। इसी पुनःपदं को 'महिमामण्डल'-'साहस्रीमण्डल'-'वषट्कारमण्डल'-'विश्वरूप' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है।

प्रत्येक वस्तुपिण्ड को वस्तुपिण्ड, वस्तुमहिमामण्डल, एवं पिण्ड-मण्डलान्तर्गत वस्तुतत्त्व, भेद से तीन भागों में विभक्त देखा जासकता है। पिण्ड भी कोई सत्तासिद्ध वस्तु नहीं है, अपितु आकारमात्र है। मण्डल भी कोई सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है, अपितु आकारमात्र है। जिस का यह पिण्ड है, जिस का यह मण्डल है, पिण्ड, तथा मण्डल से पिण्डायित-मण्डलायित वही तत्त्व सत्तासिद्ध पदार्थ है। पिण्डात्मिका सीमा अन्तःसीमा है, एवं मण्डलात्मिका सीमा बहिःसीमा है। इन दोनों सीमाओं से पिण्ड-मण्डल-गत वस्तुतत्त्व सीमित बना हुआ है। पिण्डसीमा ही, जिसे कि हम 'मूर्त्ति' कहेंगे, 'ऋग्वेद' है। मण्डलसीमा को ही 'सामवेद' कहा जायगा, एवं उस तीसरे सीमित-सत्तासिद्ध वस्तुतत्त्व को 'यजुर्वेद' कहा जायगा। इसप्रकार इस त्रयीदृष्टि से प्रत्येक वस्तु में त्रयीवेद की उपलब्धि होरही है। दूसरे शब्दों में-त्रयीविद्या के गर्भ में हीं सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों की उपलब्धि होरही है, जैसा कि-"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि' (शत० १०।४।२।२२) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित हैं।

ऋग्वेद छन्दोवेद है. सामवेद वितानवेद है, एवं यजुर्वेद रसवेद है, जैसा कि 'उपनिष-द्विज्ञानभाष्यभूमिकादि में विस्तार से प्रतिपादित है। छन्दो-लक्षण ऋग्वेद मूर्त्ति का निर्म्मापक है। वितानलक्षण सामवेद मूर्त्तिमण्डल-लक्षण बाह्य तेजोमण्डल का स्वरूपसमर्पक है, एवं रसलक्षण

———

*—'अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्' (मनुः)।

यजुर्वेद मूर्त्तिमण्डलान्तर्वर्त्ती रसात्मक गतिभाव का प्रवर्त्तक है *। इस तात्त्विक वेदस्वरूप-विवेचन से निष्कर्ष यही निकला कि, वेदत्रयी के आधार पर जिस यज्ञ की स्वरूप-निष्पत्ति बतलाई गई है, उस का प्रधान स्थान बहिर्मण्डलात्मक वितानलक्षण सामवेद ही बन रहा है।

पूर्व में साम का आदित्य से सम्बन्ध बतलाया गया है। पाठकों को सम्भवत: यह भी स्मरण होगा कि, हमने पूर्वब्राह्मण के विवेचना-प्रकरण में **'स्वरविज्ञान'** का स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया था कि, **स्वर का आदित्य से सम्बन्ध है, एवं स्वर्लोकस्थ दिव्यप्राणदेवता भी स्वरात्मक ही हैं। इन स्वरात्मक प्राणदेवताओं का परस्पर यजन ही यज्ञ है।** स्वरतत्त्व आदित्यात्मक है, आदित्य सामात्मक है। फलत: **'स्वर'**-और **'साम'** की एकरूपता सिद्ध होजाती है। **पिण्डात्मिका ऋक् यदि पद्यस्थानीया है, मध्यस्थित यजु: यदि गतिधर्म्म से गद्यस्थानीय है, तो मण्डलात्मक साम इसी वितानात्मक स्वरभाव से गेयात्मक है। वितान ही गान है, गान ही साम है, साम ही तत्तद्वस्तु-महिमा-मण्डल की अवसान-भूमि है।**

केन्द्र से बाह्य परिधि-पर्य्यन्त वर्त्तुलवृत्ताकारात्मक सहस्र मण्डल होते हैं। अतएव सामतत्त्व सहस्र-वर्त्मा कहलाया है। इस सहस्रवर्त्मा साम के उस स्वरूप का हमें विचार करना है, जिस की सीमा के गर्भ में पार्थिव सम्वत्सरयज्ञ प्रतिष्ठित हैं। इस सम्वत्सरयज्ञ का वितान भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ एकविंशस्तोम पर्य्यन्त होता है। २१ स्तोमपर्य्यन्त पार्थिव मण्डल ही **'रथन्तरसाम'** कहलाया है। **त्रिवृदग्नि, पञ्चदशवायु, एकविंश आदित्य,** ये मुख्य देवता, **अग्निप्रमुख आठ वसुगण, वायुप्रमुख ११ रुद्रगण, आदित्यप्रमुख १२ आदित्यगण,** १ प्रजापति, **१ वषट्कार,** ३३ प्राणदेवता यज्ञियदेवता कहलाए हैं ÷। इन यज्ञिय देवताओं से ही यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। यह यज्ञमण्डलात्मक महिमामण्डल उभयतः-परितः-उसी वितानात्मक साम से परिगृहीत है।

दूसरी दृष्टि से सामव्याप्ति का विचार कीजिए। पार्थिव सामपृष्ठों को **हृद्यपृष्ठ, स्पृश्यपृष्ठ (भूपिण्ड), त्रिवृत्पृष्ठ, पञ्चदशपृष्ठ, सप्तदशपृष्ठ एकविंशपृष्ठ, पारावतपृष्ठ,** भेद से सात भागों में विभक्त किया जासकता है। ये सातों पृष्ठ सामपरिभाषा में क्रमश: **हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतीहार, उपद्रव, निधन,** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यदि त्रिवृत् का स्पृश्यपृष्ठ में अन्तर्भाव करलिया जाता है, तो त्रय-स्त्रिंशपृष्ठ एक स्वतन्त्र पृष्ठ बन जाता है। उस समय **हृद्यपृष्ठ, त्रिवृदन्त:स्पृश्य-दृश्यपृष्ठ, सप्त-दशपृष्ठ, एकविंशपृष्ठ, त्रयस्त्रिंशपृष्ठ, पारावतपृष्ठ ( अष्टाचत्त्वारिंशत्पृष्ठ )** इस क्रम से सात पृष्ठ

---

* **"ऋभ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहु:, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।**
**सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्" ॥**
—तै ब्रा० ३।१२।९,१,२।

÷ **"इति स्तुतासो असथा रिशादसो येस्थ त्रयश्च त्रिंशच्च।**
**मनोर्देवा यज्ञियासः" ॥ [ ८।३०।२। ]।**

होजाते हैं । यदि हृद्यपृष्ठ का भूपृष्ठ में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो त्रिणव के समावेश से सात पृष्ठ होजाते है । इसप्रकार 'लोकेषु सप्तविधं सामोपासीत' इस अनुगमवचन का तीन प्रकार से समन्वय किया जासकता है ।

१—हृद्यपृष्ठ (केन्द्र)—हिङ्कार—
२—स्पृश्यपृष्ठ (भूपिण्ड) प्रस्ताव—
३—त्रिवृत्पृष्ठ (९)—आदि
४—पञ्चदशपृष्ठ (१५)-उद्गीथ—
५—सप्तदशपृष्ठ (१७)-प्रतीहार
६—एकविंशपृष्ठ (२१)-उपद्रव—
७—पारावतपृष्ठ (४८)-निधन——

—*— "इत्थं सप्तविधं सामोपासीत"

—*—

१—हृद्यपृष्ठ—(केन्द्र)—हिङ्कार
२—त्रिवृदन्तर्भू पृष्ठ (९)—प्रस्ताव
३—पञ्चदशपृष्ठ (१५)—-आदि
४—सप्तदशपृष्ठ (१७)—उद्गीथ
५—एकविंशपृष्ठ (२१)—प्रतीहार
६—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ (३३)—उपद्रव
७—अष्टाचत्त्वारिंशत्पृष्ठ (४८)—निधन

—*"इत्थं वा सप्तविधं सामोपासीत"

—*—

१—हृत्-त्रिवृदन्तर्भू पृष्ठ-हिङ्कार—
२—पञ्चदशपृष्ठ—-प्रस्ताव
३—सप्तदशपृष्ठ—-आदि
४—एकविंशपृष्ठ—-उद्गीथ—
५—त्रिणवपृष्ठ—-प्रतीहार
६—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ—-उपद्रव
७—अष्टाचत्वारिंशतपृष्ठ-निधन

—*"इत्थं वा सप्तविधं सामोपासीत"

—*—

१—भूपृष्ठ—हिङ्कार—
२—त्रिवृत्पृष्ठ प्रस्ताव
३—पञ्चदशपृष्ठ-आदि
४- सप्तदशपृष्ठ-उद्गीथ—
५—एकविंशपृष्ठ-प्रतीहार
६—त्रिणवपृष्ठ--उपद्रव
७—त्रयस्त्रिंशपृष्ठ--निधन—

—*"इत्थं वा सप्तविधं सामोपासीत"

—*—

उक्त साम विवर्तों की विवेचना की ओर न जाते हुए प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि, सामतत्त्व ही प्रकृति-यज्ञ की प्रतिष्ठा है। इस साममण्डल की उस उक्थ--हृद्य बिन्दु को, जहाँ से प्राणात्मक साम का प्राथमिक उदय होता है, ऋषियोंनें 'हिङ्कार' नाम से व्यवहृत किया है। एवं तदव्यवहित प्रदेश में प्रतिष्ठित उपक्रम बिन्दु को-'प्रणव' नाम से व्यवहृत किया है। हिङ्कारात्मक यही प्रणवसाम सप्तदश स्थान में 'उद्गीथोङ्कार' रूप में परिणत होता है। एवं सर्वान्त में यही सर्वरूप में परिणत होता हुआ-'सर्वोङ्कार' कहलाया है। इसप्रकार हिङ्कारात्मक प्रणवसाम के ग्रहण से सम्पूर्ण साम गृहीत होजाता है।

अब संक्षेप से सङ्गीतदृष्टि से भी हिङ्कारात्मक साम की मीमांसा कर लीजिए। **नाद, स्वर, श्रुति,** शब्दादि भेद से सङ्गीत के अनेक पर्व माने गए हैं। **इन में नाद ही सङ्गीत की सर्वमूलभित्ति है। नादब्रह्म के आधार पर ही श्रुति का उत्थान होता है। श्रुति के द्वारा ही स्वर का आविर्भाव होता है, एवं स्वर ही आगे जाकर शब्दाभिव्यक्ति का जनक बनता है।**

# सङ्गीतानुगतं--नाद--श्रुति--स्वर--स्वरूप--दिग्दर्शनम्

——*——

सामानुगत **'हिंकार'** के समन्वय--प्रसङ्ग में **'नाद--श्रुति--स्वर'** भावों से समन्वित उस **'सङ्गीत'** की स्वरूप--मीमांसा का भी हमें दो शब्दों में यशोगान कर लेना चाहिए, जिस इत्थंभूत **'सङ्गीत'** को **आत्मबुद्धि** से समन्विता **संविन्मूला निष्ठा** से असंस्पृष्ट ही मानते हुए ऋषिप्रज्ञा ने आत्मबुद्धिनिष्ठा-प्रधान एतद्देशीय **'ब्राह्मण'** के लिए तो सर्वात्मना नियन्त्रित ही कर दिया है, जैसाकि-**'तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत' न गायेत'** इत्यादि **श्रौत**--सन्दर्भ से स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है। इस प्रमाणन का कारण भी स्पष्टतम है। प्रकृति के तात्विक स्वरूप के परीक्षक वैज्ञानिक महर्षियोंनें मानवीय मन का एक प्रधान दोष माना है--**'आग्ला'**, एवं मानवीय शरीर का एक प्रधान दोष माना है-**'माल्व्य'**। एवं **गायन-नर्त्तन-वाद्यात्मक सङ्गीत** में येन केन रूपेण ये दोनों दोष न्यूनाधिकमात्रा से सन्निविष्ट रहते हीं हैं। इन दोनों से-क्रमशः मनोऽनुगत-**'आग्ला'** दोष से तो मानवीय **आत्मा** की चिन्तन-निदिध्यासन-मूला**'-संवित्'** शक्ति अभिभूत होजाती है, एवं शरीरानुगत **'माल्व्य'** दोषसे मानवीया बुद्धि का निष्ठानुगत-व्यवसायात्मक-**'धृतिगुण'** अभिभूत होजाता है। **'माल्व्यदोष'** को सङ्गीत के **'नृत्यविभाग'** में समाविष्ट माना गया है, जिस **'नृत्याङ्ग'** का प्रधानरूप के शरीर से ही सम्बन्ध है। एवं **'आग्लादोष'** को सङ्गीत के **'गायनविभाग'** में समाविष्ट माना गया है, जिस **'गायनाङ्ग'** का प्रधानरूप से मन से ही सम्बन्ध माना गया है।

दोनों दोषों के स्वरूप के सम्बन्ध में बात कुछ समझने जैसी है। प्रकृतिसिद्ध पञ्चपर्वा प्राकृत-विश्व के सुप्रसिद्ध **'चन्द्रमा'** से तो मानवीय **'मन'** का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, एवं **भूपर्व (पाञ्चभौतिक-भूपिण्ड )** से मानवीय **'शरीर'** की स्वरूप-निष्पत्ति हुई है। चान्द्र मण्डल **सौम्य--गन्धर्व--प्राण** की आवासभूमि माना गया है, एवं पार्थिव मण्डल **''अद्भ्यः पृथिवी'** रूप से आप्यप्राणात्मक-**'अप्सराप्राण'** की आवासभूमि माना गया है। मनोऽनुगत चान्द्र गन्धर्वप्राण ही गायन का प्रवर्त्तक है, एवं शरीरानुगत पार्थिव अप्सराप्राण ही नर्त्तन का प्रवर्त्तक है। **हास, परिहास, आमोद, प्रमोद, क्रीड़ा, रति, आदि** आदि मनः--शरीर--निबन्धन यच्चयावत् कामभोग चान्द्र--पार्थिव--गन्धर्व, तथा अप्सरा-प्राणों से हीं अनुप्राणित माने गए हैं, जैसाकि निम्न लिखित कतिपय श्रुतिवचनों से स्पष्ट प्रमाणित है—

## (१)-मनोविभूतयः—

१—**असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः** (कौ० ब्रा०उप०४।७।१०)।

२—**चन्द्रमा गन्धर्वः** (यजुः सं० १८।४०।)--( शत० ६।४।४।६। )।

३—**रूपमिति गन्धर्वाः-उपासते** ( शत० १०।५।२।२०। )।

४—योषित्कामा वै गन्धर्वाः ( शत० ३।२।४।३। )।
५—स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः ( ऐ० ब्रा० १।२७। )।
६—मनो मे, रेतो मे, पुनः सम्भूतिर्म्मे, तन्मे त्वयि चन्द्रमसि
(जै० उ० ब्रा० ३।२७।१४ )।
७—गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे, तन्मे युष्मासु गन्धर्वेषु
(जै० उ० ब्रा० ३।२५।४।)

## (२)–शरीरविभूतयः—

१—इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा (यजुःसं० ३४।४।)-शत० १४।१।२।१०
२—अद्भ्यः पृथिवी ( तै० उप० २।१। )।
३—गन्ध इत्यप्सरसः-उपासते ( शत० १०।५।२।२०। )।
४—किन्तु मेऽस्मासु--अप्सरस्सु- इति ?–हासो मे, क्रीड़ा मे,
मिथुनम्मे ( जै० उ० ३।२५।८। )।
५—गन्धेनैव च रूपेण गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति (शत० ६।४।१।४। )।

चान्द्रमनोऽनुगत गन्धर्वप्राण, एवं पार्थिवशरीरानुगत अप्सराप्राण, इन दोनों प्राकृतिक--प्राणों के आधार पर सुप्रसिद्ध--'तुम्बुरु', तथा--गन्धर्वजात्यनुगत--'नारद' (पारमेष्ठ्य--आपोमय- नार--प्रवर्त्तक प्राण ) नामक ऋषिप्राणों के समन्वय से ही नृत्य--गीत-- वाद्यात्मक--मनःशरीरनिबन्धन 'सङ्गीत' का अविर्भाव हुआ है। तुम्बुरु-ऋषिप्राण का आद्यक्षर 'त' कार, नारद-ऋषिप्राण का आद्यक्षर-'न' कार, एवं 'ऋषि' का आद्यक्षर--' कार', इन तीनों 'त--न--र' अक्षरों की समष्टि इसी तथ्य के आधार पर सङ्गीतविशारदों के सङ्गीतोपक्रममें माङ्गलिक--संस्मरण बन रही है, जैसाकि--"त--न--न--रीम्"--त--न--न--रीम्"– ( 'त'--तुम्बुरु, 'न' नारद, र--ऋषि — अर्थात्--तुम्बुरु--नारद--नामक--सङ्गीतस्वरप्रवर्त्तक ऋषियों का संस्मरण करके ही हम सङ्गीत आरम्भ कर रहे हैं )—इत्यादि से प्रसिद्ध है।

गन्धर्वप्राणात्मक मन के साथ प्रधानरूप से 'तुम्बुरुप्राण' का सम्बन्ध है, एवं अप्सराप्राणात्मक शरीर के साथ प्रधानरूप से–'नारदप्राण' का सम्बन्ध है। पाञ्चभौतिक–पार्थिव–शरीर के केन्द्र में चित्य-( मर्त्य-मूत )- चितेनिधेय ( अमृत--प्राण )--समन्वयात्मक -- अमृत -- मृत्युमय * आग्नेय प्रजापति

---

* 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्"
—शतपथब्राह्मणे
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !" (गीतायाम्)।

प्रतिष्ठित माने गए है, जैसाकि—"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानः" इत्यादि यजुःश्रुति से प्रमाणित है। इस केन्द्रस्थ आग्नेय--पार्थिव--प्रजापति का प्राणमहिमात्मक मण्डल ही वह 'नादमण्डल' है, जिस के गर्भ में श्रुति, तथा स्वरात्मक--सङ्गीत अभिव्याप्त रहता है, जिस इस नाद-श्रुति--समन्वयात्मक सङ्गीत में हृद्य प्राजापत्य अग्नि ( कायाग्नि ), मन, वायव्यप्राण, तदनुप्राणित उदात्त--अनुदात्त--स्वरित--नामक स्वर ( मन्द--मध्य--तार--नाम की स्वरत्रयी ), एवं व्यञ्जनात्मिका ध्वनिर्भावोपेता वैखरीवाक्, ये भाव समन्वित रहते हैं, जिनके स्वरूप-समन्वय के लिए सङ्गीतशास्त्र के सुप्रसिद्ध इन पद्यों की ओर ही सङ्गीत-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है—

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना ॥
'नादब्रह्म' तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ॥१॥
नादोपासनया देवा ब्रह्म-विष्णु--महेश्वराः ॥
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः ॥२॥
आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते, मनः-॥
देहस्थं वह्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥३॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन् ॥
नाभि[१]-हृत्[२]-कण्ठ[३] मूर्द्धा[४]-स्ये[५]-ष्वाभिर्भावयते ध्वनिम् ॥४॥
नादोऽति सूक्ष्मः[१] सूक्ष्मश्च[२], पुष्टो[३], ऽपुष्टश्च[४], कृत्रिमः[५] ॥
इति पञ्चाभिधां धत्ते पञ्चस्थानस्थितः क्रमात् ॥
"न'--कारं 'प्राण' नामानं,' द'-कारं'-'अनलं' विदुः ॥
जातः प्राणाग्निसंयोगात्, तेन-'नादो'ऽभिधीयते ॥६॥
व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते ॥
कण्ठे मध्यो, मूर्ध्नि तारो, द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ॥७॥
--शार्ङ्गदेवविरचिते--सङ्गीतरत्नाकरे--स्वराध्याये--

ज्ञानजनित-भावना-संस्कारपुञ्जों से, तथा कर्म्मजनित-वासना-संस्कारपुटों से पुञ्जीभूत, एवं सम्पुटित कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा देही ('जीव' नामक 'आत्मा') अपनी सौरी बुद्धि के साथ समन्वित होकर ही मानव की प्रारब्ध-कर्म्मजनिता ऐहलौकिकी जीवनयात्रा का अभिगन्ता बना रहता है। इत्थंभूत भोक्तात्मा से समन्विता प्रेरणात्मिका बुद्धि के प्रेरणाबल को अपना आधार बना कर चान्द्र सौम्य प्राणात्मक मानवीय मन इन्द्रियों के माध्यम से भोक्तात्मा के जन्मान्तरीय शुभ-अशुभ-संस्कारों के अनुपात से ऐन्द्रियक-भौतिक अर्थों-विषयों की कामना करता रहता है, जिस इस अर्थकामना ( विषयकामना ) को हम आत्मा की इच्छा कह सकते हैं,

एवं मन की इच्छा कह सकते हैं। वस्तुगत्या **आत्मा**, (आत्मानुगत संस्कार), बुद्धि ( संस्कारप्रेरिका बुद्धि ), एवं **मन** ( इन्द्रियमाध्यम से आत्मसंस्कारानुगता बौद्धिकी प्रेरणा को अभिव्यक्त करने वाला विषयानुगत मनोव्यापार ), इन तीनों की समन्वितावस्था को ही हम-**'मानव की इच्छा'** कह सकते हैं। अथवा यों कह लीजिए कि, आत्मेच्छा पहिले बुद्धि में सङ्क्रान्त होती है, बुद्धि के द्वारा वही सांस्कारिकी इच्छा मन पर आती है, एवं मनोद्वार से इस का अनुधावन इन्द्रियों के प्रति होता है।

अपनी तथोक्ता मानसेच्छा का ही परिणाम **'शब्दोत्पत्ति'** माना गया है, जिस का निष्कर्ष यही है कि, आत्मबुद्धि से समन्विता अर्थानुगता मानसेच्छा का प्रथम प्रथम उस शारीरिक-अग्नि पर ही आघात होता है, जो प्राणाग्नि पाञ्चभौतिक शरीर में आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः ( केशलोमों को, तथा नख के अग्रभागों को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में ) परिव्याप्त रहता है, एवं जिस का-**'वैश्वानराग्नि'** रूप से उपनिषदों में स्वरूप-निरूपण हुआ है। **'आ यो द्यां भात्या-पृथिवीम्'**-**'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण'** के अनुसार जैसे आधिदैविक वैश्वानराग्नि भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य्य-पर्य्यन्त अभिव्याप्त है, तथैव तदंशभूत यह आध्यात्मिक-वैश्वानर-अग्नि भी भूकेन्द्रात्मिका ब्रह्मग्रन्थि से आरम्भ कर सूर्य्यकेन्द्रात्मक ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त परिव्याप्त है। पार्थिव-पञ्चभूतों को अपना अधिष्ठान ( व्याप्तिस्थान ) बनाए रखने वाला, अतएव अपने त्र्यात्मक रूपों से **भूपति-भुवस्पति-भुवनपति**-नामों से प्रसिद्ध रहने वाला यह वैश्वानराग्नि प्रचण्डवेग से शरीर में धक्-धक् ही कर रहा है, जिस के अनुबन्ध से ही मानव की भौतिकी स्वरूप-सत्ता सुप्रतिष्ठिता रहा करती है।

हम अपने भौतिक शरीर का जहाँ से भी स्पर्श करते हैं, उसे वहीं से उष्ण ( तापधर्म्मा-गरम ) उपलब्ध करते हैं। प्रत्यक्षानुभूता यह ऊष्मा ( ताप-गर्म्मी ) भूतानुगता उसी वैश्वानर अग्नि की साक्षात् दृष्टि ( दर्शन-साक्षात्कार ) है। एवमेव यदि हम अपने दोनों हाथों की दोनों अनामिका-अङ्गुलियों से दोनों नासाच्छिद्र, एवं दोनों अङ्गुष्ठों से दोनों कर्णाच्छिद्र अवरुद्ध कर लेते हैं, तो हमें अपने हीं शरीर में उसी प्रकार का एक धक्-धक्-शब्द सुनाई पड़ता है, जैसे कि-प्रज्ज्वलित भूताग्नि का शब्द हम सुना करते हैं। यही नादात्मक शब्द-श्रवण वैश्वानर अग्नि की श्रुति ( श्रवणात्मक-साक्षात्कार ) है। यही **'अनाहतनाद'** ( बिना-किसी अन्य--आघात--प्रत्याघातों के अजस्ररूप से प्रक्रान्त रहने वाली निनाद-ध्वनि ) है। शरीरात्मक अध्यात्मवत् इस पार्थिव ब्रह्माण्ड में भी आधिदैविक--वैश्वानराग्नि का यह--**'अनाहतनाद'** प्रचण्डरूप से धोधूयामान है, जो आध्यात्मिकी योगमाया के आवरणानुग्रह से ही हमें सुनाई नहीं पडता। यदि यह मायादुर्ग न होता, तो उस प्रचण्ड गर्ज्जनात्मक महानाद से निमेषमात्र में हीं मानव की जीवनलीला समाप्त होजाती। अमुक विशेष योगप्रक्रिया के द्वारा यहाँ के अर्वाचीन--दार्शनिकोंनें अपने आध्यात्मिक--अनाहतनाद को उस महान् आधिदैविक अनाहतनाद के साथ समन्वित करने का तत्त्वात्मक प्रयास किया है, जिसका श्रुतिसिद्धा आचारनिष्ठा के आचारात्मक प्राङ्गण में यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं माना जासकता। अनाहतनादात्मक वैश्वानर अग्नि के शब्दायमान इसी--**'नाद'** भाव को, तथा स्पर्शानुभव को लक्ष्य बनाते हुए श्रुति ने कहा है—

(१)--यत्रैतत्--अस्मिन्--शरीरे संस्पर्शेन--उष्णिमानं विजानाति, तस्यैषा श्रुतिः। यत्रैतत्--कर्णौ--अपिगृह्य निनदमिव नदथुरिव--अग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति, तदेतत्--दृष्टं च, श्रुतञ्च--इत्युपासीत्।

—छान्दोग्योपनिषत् ३।१३।८।

(२)--अयमग्निर्वैश्वानरः--योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते *, यदिदमद्यते। तस्यैष घोषो भवति--यमेतत्--कर्णौ--अपिधाय शृणोति।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ५।६।१।

आत्मबुद्धि-समन्विता मानसेच्छा का प्रथमाघात इसी तथाकथित वैश्वानर--अग्नि पर होता है। इस आघात से प्रत्याहित वैश्वानर अग्नि का आघात तत्रैव व्याप्त--वायव्यप्राण पर होता है। आहित वैश्वानर अग्नि से प्रत्याहत वायव्यप्राण ही आग्नेयप्राण से समन्वित होता हुआ--शरीराकाशरूप प्रदेश में ऊर्ध्व उत्क्रान्त होता हुआ-शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाता है, जैसाकि-'वायुः खात्--शब्दस्तत्' इत्यादि प्रातिशाख्य--सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। अग्नि ही मरुत् के सहयोग से क्योंकि यों ध्वन्यात्मिका--वाग्रूप में परिणत होता रहता है, अतएव सिद्ध है कि, मानव का शारीरिक--वैश्वानराग्नि ही मरुत् के द्वारा अभिव्यक्ति में आकर कण्ठ से बहिर्विनिःसृत होता हुआ **'शब्दमयी वैखरीवाक्' ( मर्त्या वाक् )** रूप में परिणत होता रहता है। **'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'** इत्यादि औपनिषद--सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। यही कारण है कि, अधिक शब्दोच्चारण से, उच्च स्वर से उच्चारण करने से शरीर विकम्पित होपड़ता है, मुखं च परिशुष्यति। अशक्ति का अनुभव होने लगता है। यों प्रत्यक्ष में ही हमारा अग्नि हीं शब्दोत्पत्ति का मूलप्रवर्त्तक प्रमाणित होरहा है।

ब्रह्मग्रन्थि ( मूलद्वार ) में **अपानप्राण** प्रतिष्ठित है, ब्रह्महृदय ( केन्द्र ) में **व्यानप्राण** प्रतिष्ठित है, कण्ठ में **उदानप्राण** प्रतिष्ठित है, एवं मूर्द्धोपलक्षित ब्रह्मरन्ध्र में (जो कि **'नान्दनद्वार'** नाम से प्रसिद्ध है) **'ऐन्द्र--विज्ञानप्राण'** प्रतिष्ठित है। यों-**ग्रन्थि**[१]-**हृदय**[२]-**कण्ठ**[३]-**रन्ध्र**[४]-भेद से वैश्वानराग्नि के चार प्रतिष्ठान-बिन्दु होजाते हैं, जिन के अनन्तर ही यह अग्नि शब्दरूप में परिणत होकर पाँचवें--**'आस्य'** ( **मुख** ) स्थान को अपना अन्तिम अधिष्ठान बनाता है। वैश्वानराग्नि का पूर्वोक्त **'नाद'** ही इन पाँच स्थानों के भेद से पञ्चधा विभक्त होता हुआ [१]**ब्रह्मग्रन्थ्यनुगत अतिसूक्ष्मनाद**, [२]**ब्रह्महृदयानुगत सूक्ष्मनाद**, [३]**कण्ठानुगत--पुष्टनाद**, [४]**ब्रह्मरन्ध्रानुगत अपुष्टनाद**, एवं [५]**आस्यानुगत कृत्रिमनाद ( भौतिकनाद--जिसे--'गूँज'**

---

*--अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
( गीतायाम् )

**कहा गया है** ), इन पाँच अवस्थाओं में परिणत होजाता है। पूर्वोद्धृत श्लोकों में से आरम्भ के पाँच श्लोकों में इसी सम्पूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है। ( १ से ५ पर्य्यन्त व्याख्यात- )।

छठे श्लोक के द्वारा-**'नाद'** शब्द का निर्वचनात्मक अर्थसमन्वय हुआ है, जिसका तात्पर्य्य स्पष्ट है। यद्यपि शब्दोत्पत्ति में **अनल (अग्नि)** के साथ **अनिल (वायु)** का भी सहयोग है | यही नहीं, अपितु अनिलात्मक वायु ही अनलात्मक शब्द को बाह्याभिव्यक्ति के, तथा बाह्यानुगति के अनुरूप बनाता है। यदि वायु का सहयोग अग्नि को न मिले, तो शब्दोत्पत्ति की कथा तो विदूर रही, स्वयं अग्नि की स्वरूप-स्थिति भी सम्भव नहीं है। श्वास-प्रश्वासात्मक-वायु का सञ्चार ही शारीरिक-अग्नि का स्वरूप-रक्षक माना गया है। सम्भवतः इसीलिए **महर्षि शाकायनि** ने **'वायु'** को ही **'अग्नि'** संज्ञा प्रदान कर दी है- **"वायुरग्निरिति शाकायनिन उपासते"** (शत० १०।४।५।१। )। यह सब कुछ मान लेने पर भी तत्त्वतः शब्द का मौलिक-उपादानत्व तो अग्नि को ही समर्पित किया जायगा, जबकि वायु को तो शब्द के प्रति निमित्तकारण ही माना जायगा।

शब्दात्मक कार्य्य का उपादानकारणभूत यह अनल (अग्नि) **भूत**, और **प्राण** भेद से द्विधा विभक्त रहता है। भूताग्नि ही **मर्त्य-चित्याग्नि है**, जिसका प्रचण्ड ज्वालारूप से हम साक्षात्कार करते रहते हैं, एवं जिससे भोजनपाकादि कर्म्म सम्पन्न होता है। इस भूताग्नि की मूलप्रतिष्ठारूप सुसूक्ष्माग्नि ही- **अमृत-चितेनिधेयाग्नि है**। भूत बिना प्राण को आधार बनाए अनुपपन्न है, तो प्राण भूत को अग्रणी बनाए बिना अनभिव्यक्त है। इस अमृताग्नि को ही कहा जाता है-**'प्राण'**, एवं मर्त्याग्नि को ही कहा जाता है-**'अनल'**। इन दोनों अग्नियों के लिए ही क्रमशः **नकार-दकार**-सङ्केतित हैं। नकारात्मक, अर्थात्-निषेधात्मक-अर्थात्-प्राणात्मक-अर्थात्-असद्-रूपात्मक-( सद्घनात्मक )-मौलिक-तत्त्वाग्नि ही अपने 'अव्यक्तप्राण' रूप से असद्भावापन्न-**'न'** से संगृहीत है। दूसरा भूताग्निरूप अनल प्रत्यक्ष में विशकलन-धर्म्मा है। पिण्ड की घनता को विशकलित कर देना, रुद्ध को द्रुत कर देना हीं इस **'रुद्र'** मूर्त्ति-भूतानल का स्वरूपधर्म्म है। एक पिण्ड को खण्ड खण्डरूप में परिणत कर देना हीं इसका सहज-स्वभाव है। अतएव खण्डनार्थक—**'दो धातु' (दो-अवखण्डने)** से इसके लिए-**'द्'** का सङ्केत होगया है। नकारा-त्मक प्राणाग्नि, तथा दकारात्मक भूताग्नि, दोनों की समन्वितावस्था ही—**'वैश्वानर'** है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। इसीलिए नकार-दकारात्मक-शब्दप्रवर्त्तक-इस वैश्वानराग्नि का साङ्केतिक नाम होगया है-**'नाद'**, जिस इस तथ्य का ही ६ ठे श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है।

आत्म-बुद्धि-सहकृता मानसेच्छा से प्रत्याहत, वायुसंयोग से ब्रह्मग्रन्थि से ऊर्ध्वप्रेरित-ब्रह्मग्रन्थ्यनुगता **[1]नाभि, [2]हृदय, [3]कण्ठ, [4]मूर्द्धा, [5]आस्य,** इन पाँच प्रक्रमों में क्रमशः आता हुआ इसी क्रमानुपात से क्रमशः **[1]अतिसूक्ष्म-[2]सूक्ष्म-[3]पुष्ट-[4]अपुष्ट-[5]कृत्रिम** इक पाँच भावों में परिणत भूत-प्राण-समष्टि-रूप-**'नादात्मक'** इत्थंभूत वैश्वानर अग्नि के, किंवा तद्रूप **'नाद'** के सामान्य-स्थूल-व्यवहार-की अपेक्षा से क्रमशः **[1]हृत्प्रक्रम, [2]कण्ठप्रक्रम, [3]शिरःप्रक्रम,** ये तीन प्रमुख प्रक्रम मानलिए गए हैं, जिन इन तीनों नादप्रक्रमों में उत्तरोत्तर द्विगुणित तार (उच्च)-स्वर-क्रम व्यवस्थित माना गया है। सप्तम श्लोक में इसी व्यावहारिक तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ है।

नाद-श्रुति-स्वरात्मकं सङ्गीत के मर्म्मज्ञ सर्वश्री महाभाग **शार्ङ्गदेव**-विरचित-सुप्रसिद्ध-**'सङ्गीतरत्नाकर'** * नामक ग्रन्थ में उक्त सप्तश्लोकी से जिस **वैश्वानरात्मक-नादब्रह्म** का यशोगान हुआ है, प्रायः वही तथ्य थोड़े शब्दभेद से सुप्रसिद्धा **पाणिनीयशिक्षा** के निम्न लिखित पद्यों से स्पष्ट हुआ है, जिस इस सह-समतुलन की दृष्टि से ही 'शिक्षाशास्त्र' के वे वचनमात्र अत्र उद्धृत कर दिए जाते है, जिनका अर्थसमन्वय पूर्वोक्त सन्दर्भ से ही गतार्थ बन रहा है।

**१-आत्मा-बुद्धया समेत्यर्थान्-मनो युङ्क्ते विवक्षया।**
**मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्॥**
**२-मारुतस्तूरसि चरन्-मन्द्रं जनयते स्वरम्।**
**प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥**
**३-कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।**
**तारं तार्त्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥**
**४-सोदीर्णो मूर्द्धन्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।**
**वर्णान् जनयते, तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥**
**—पाणिनीयशिक्षा**

उक्त शिक्षासूत्रों के द्वारा यह भी स्पष्ट होरहा है कि, नादात्मक वैश्वानर अग्नि ही त्रिविध स्वरों का अभिव्यञ्जक बनता है—वायु के संयोग से। इसी प्रसङ्ग में शिक्षा ने सवनत्रयात्मक तीन छन्दों की ओर भी सङ्केत किया है, जो वैदिक-सृष्टिविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। भकेन्द्र से निकल कर अपने २१ एकविंशस्थ महिमात्मक रथन्तरसाम पर्य्यन्त अभिव्याप्त रहने वाले पार्थिव वैश्वानर-प्राणाग्नि के ही **अग्नि-वायु-आदित्य** नामक तीन महिमाविवर्त्त होजाते हैं, जो वे तीनों महिमाभाव ही पृथिवी के महिमामण्डल में हीं भुक्त क्रमशः **पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः**- नामक तीन पार्थिव स्तौम्य लोकों के प्रतिष्ठावा बने हुए हैं। आधिदैविकी इस पार्थिवी स्तौम्या त्रिलोकी का **त्रिवृत्स्तोमात्मक**—पृथिवी लोक ही पार्थिवयज्ञ का **'प्रातःसवन'** है, अष्टाक्षर गायत्री छन्द इसका स्व-छन्द है, अग्नि यहाँ के शवसोनपात् हैं। इसी प्रातः-

———————

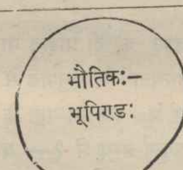
*—मनःशरीरनिबन्धन प्राकृत इतिहास को ही प्राकृत मानव के भौतिक जीवन का सर्वस्व मानते रहने वाले ऐतिहासिकों की युगधर्म्मानुगता मान्यता के अनुपात से नृपतिवर श्रीशार्ङ्गदेव महाभाग इसवीय सन् १२००—१३००-के मध्य में उत्पन्न हुए थे। इस मान्यता के अनुसार आज से अनुमानतः सातसौ वर्ष पूर्व उपनिबद्ध-**'सङ्गीतरत्नाकर'** नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में **१— वराध्याय, २—रागाध्याय, ३—प्रकीर्णाध्याय, ४—प्रबन्धाध्याय, ५—तालाध्याय, ६—वाद्याध्याय, ७—नृत्याध्याय,** ये सात अध्याय समाविष्ट हुए हैं। इस महत्त्वपूर्ण 'सङ्गीतग्रन्थ' का एक तो विस्तृत भाष्य हुआ है तत्कालीन सङ्गीत मर्म्मज्ञ विद्वान् के द्वारा। एवं इसके अतिरिक्त—श्रीकुम्भकरणनरेन्द्र, कालिनाथ, सिंहभूपाल, नृपतिवर रीमाधिपति, तथा विद्वत्प्रवर श्रीविश्वनाथ, आदि रूपेण ६ टीकाएँ हुई हैं, जिनमें से कतिपय टीकाएँ ही आज उपलब्ध हैं।

सवनीय-पार्थिव-गायत्राग्नि से **'मन्दस्वर'** की अभिव्यक्ति हुई है। पञ्चदशस्तोमात्मक अन्तरिक्षलोक ही पार्थिव-यज्ञ का **'माध्यन्दिनसवन'** है, एकादशाक्षर त्रिष्टुप् छन्द ही इसका स्व-छन्द है, वायु यहाँ के शवसोनपात् हैं। इसी माध्यन्दिनसवनीय-आन्तरिक्ष्य-त्रैष्टुभ-वायु से-**'मध्यस्वर'** की अभिव्यक्ति हुई है। एकविंशस्तोमात्मक द्युलोक की पार्थिवयज्ञ का—**'सायंसवन'** है, द्वादशाक्षर जगतीछन्द ही इसका अपना छन्द है, आदित्य यहाँ के शनसोनपात् हैं। इसी सायंसवनीय- दिव्य--जागत--आदित्य से---**'तारस्वर'** की अभिव्यक्ति हुई है।

जैसा संस्थानक्रम आधिदैविक-पार्थिव-विश्व में है, ठीक वैसा ही संस्थानक्रम मानव की अध्याम-संस्था में समन्वित है। मानव का सर्वाङ्गशरीर ही उस प्राकृतिक-पार्थिवमण्डल का प्रतिरूप है। ब्रह्मग्रन्थि से आरम्भ कर नाभिपर्य्यन्त प्रदेश पृथिवीलोक है, इसका पार्थिव—**आग्नेयप्राण** ही **'अपानप्राण'** है, जो कि गायत्रछन्दस्क बनता हुआ प्रातःसवनस्थानीय है। नाभि से हृदयपर्य्यन्त अन्तरिक्षलोक है, इसका आन्तरिक्ष्य **वायव्यप्राण** ही **'व्यानप्राण'** है, जो कि त्रैष्टुभछन्दस्क बनता हुआ माध्यन्दिनसवनस्थानीय है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र-पर्य्यन्त प्रदेश ही द्युलोक है, इसका दिव्य **ऐन्द्रप्राण** ( **आदित्यप्राण** ) हीं **'प्राण'** है, जो कि जागतछन्दस्क बनता हुआ सायंसवनस्थानीय है। इन तीनों स्थानों–लोकों–में व्याप्त वैश्वानर ही, नादात्मक यह शारीरिक अग्नि हीं इन तीन सवनों से क्रमशः **मन्द्र–मध्य–तार**–स्वरों का अभिव्यञ्जक बनता है। यों **अधिदैवत**, तथा **अध्यात्म**, किंवा **अण्ड**, तथा **पिण्ड**, दोनों में सर्वात्मना तथाकथित संस्थानक्रम समतुलित है, जैसाकि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट है–

## इति नु–अधिदैवतम्—

| | | |
|---|---|---|
| भूमहिमा | एकविंशास्तोमवच्छिन्नः –-द्युलोकः | (२१)–आदित्यः–जगती–सायंसवनम्——तारस्वरः |
| | पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नः—-अन्तरिक्षलोकः | (१५)–वायुः—-त्रिष्टुप्–माध्यन्दिनंसवनम्–मध्यस्वरः |
| | त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः-——पृथिवीलोकः | (९)–अग्निः—गायत्री--प्रातःसवनम्——-मन्द्रस्वरः |




——*——

## इति नु-अध्यात्मम्—

| | |
|---|---|
| शरीरमहिमा | हृदयत:—ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्तमनु-द्युलोक——--प्राणाग्निरादित्योजागत:–( सायंसवनम् )–तारस्वर: |
| | नाभे:—-हृदयपर्य्यन्तमनु--अन्तरिक्षलोक:-व्यानाग्निर्वायुस्त्रैष्टुभ:–( माध्यन्दिनसं० )–मध्यस्वर: |
| | ब्रह्मग्रन्थे:—नाभिपर्य्यन्तमनु- पृथिवीलोक:---अपानाग्निरग्निर्गायत्र:–( प्रात:सवनम् )-मन्द्रस्वर: |

भौतिकं–
शरीरम्

——*——

एक ही नाद इसप्रकार छन्दोभेदानुगता सवनत्रयी के भेद से **हृदय-कण्ठ-शिरो-भेदेन** त्रिधा-विभक्त होजाता है, जिस इस तथ्य का ही शार्ङ्गदेव ने पूर्व के सप्तम श्लोक के द्वारा, एवं पाणिनीय--शिक्षा ने २--३--४--श्लोकों के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। वैश्वानराग्निमूर्त्ति--त्रि:प्रक्रमात्मक यही 'नाद' आगे चलकर नाड़ीभेद से अवान्तर २२ ( बाईस ) भागों में विभक्त होजाता है। नाद के ये अवान्तर विभाग श्रुति के द्वारा क्योंकि सुने जाते हैं। अतएव इन अवान्तर अवस्थाओं का नाम-सङ्गीतशास्त्र में--'श्रुति:* होगया है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त ऋजुभाव से व्याप्ता सुप्रसिद्धा नाड़ी **'सुषुम्णा'** है। इस सुषुम्णा नाड़ी से संलग्ना तिरश्चीनभावानुगता २२ नाड़ियाँ प्रमुख हैं। इन नाड़ियों के भेद से ही नादानुगता श्रुति के २२ विभाग होजाते हैं। हृयय--कण्ठ--शिरोभेद से इन २२ श्रुतियों का त्रिधा वितान होजाता है। **हृदयानुगत मन्द्र-नाद से अनुप्राणिता २२ मन्द्रश्रुतियाँ, कण्ठानुगत मध्यनाद से अनुप्राणिता २२ मध्यश्रुतियाँ, एवं**

———————

*–'श्र' श्रवणे चास्य धातोः 'क्ति' प्रत्ययसुसङ्गतः ।
'श्रुति' शब्दः प्रसाध्योऽयं शब्दज्ञैर्भावसाधनैः ॥
—मतङ्गः

अन्यदपि—श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वात्–ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् ।
सा चैका द्विविधा ज्ञेया स्वरान्तरविभागतः ॥
नियतः श्रुतिसंस्थानो गीयन्ते सप्त गीतिषु ।
तस्मात् स्वरगता ज्ञेयाः श्रुतयः श्रुतिवेदिभिः ॥

शिरोऽनुगत तारनाद से अनुप्राणिता २२ तारश्रुतियाँ, इस भेद से २२ श्रुतियों के भी तीन त्रिक बन जाते हैं, जैसाकि अग्रिमपृष्ठानुगत 'सङ्गीतसमयसार' नामक ग्रन्थवचन से स्पष्ट है—

---

ये श्रुतियाँ निम्नलिखित नामों से सङ्गीत--शास्त्र में प्रसिद्ध हैं—

| मन्द्रनादानुगताः--श्रुतयः-- द्वाविंशतिः (२२) १ | मध्यनादानुगताः श्रुतयः द्वाविंशतिः (२२) २ | तारनादानुगताः श्र द्वाविंशतिः (२२) ३ |
|---|---|---|
| १–मन्द्रा | १–नादान्ता | १--ईश्वरी |
| २–अतिमन्द्रा | २–निष्कला | २--कौमारी |
| ३–घोरा | ३–गूढ़ा | ३--स्वरावली |
| ४–घोरतरा | ४–सकला | ४--भोगवीर्य्या |
| ५–मण्डना | ५–मधुरा | ५--मनोरमा |
| ६–सौम्या | ६–गली | ६--सुस्निग्धा |
| ७–सुमना | ७–एकाक्षरा | ७--दिव्याङ्गा |
| ८–पुष्करा | ८–भृङ्गजाती | ८--सुललिता |
| ९–शङ्खिनी | ९–रसगीती | ९--रसगीती |
| १०–नीला | १०--सुरञ्जिका | १०--महार्का |
| ११–उत्पला | ११--पूर्णा | ११--मेदिनी |
| १२–अनुनासिका | १२--अलंकारिणी | १२--राका |
| १३–घोषावती | १३--वंशिका | १३--लज्जा |
| १४–नीलनादा | १४--वैणिका | १४--काली |
| १५–आवर्त्तनि | १५–त्रिस्थाना | १५--सूक्ष्मा |
| १६–रणदा | १६–सुस्वरा | १६--अतिसूक्ष्मा |
| १७–एकगम्भीरा | १७--मार्गवी ( सौम्या ) | १७--पुष्टा |
| १८–दीर्घतारा | १८--भाषाङ्गी | १८--सुपुष्टिका |
| १९–नादिनी | १९--वार्त्तिका | १९--विस्पष्टा |
| २०–मन्द्रजा | २०--सम्पूर्णा | २०--रोकरी |
| २१–सुप्रसन्ना | २१--प्रसन्ना | २१--कराली |
| २२–निनदा | २२--सर्वव्यापिनिका | २२--विस्फोटान्ता |

त्रीणि स्थानानि हृत्-कण्ठ-शिरांसी-ति समासतः ॥
एकैकमपि तेषु स्यात्-द्वाविंशति-त्रिधायुतम् ॥ १ ॥
द्वाविंशतिविधो मन्द्रो ध्वनिः सञ्जायते हृदि ।
यथोत्तरमसौ तारो वीणायामधरोत्तरम् ॥ २ ॥
स एव द्विगुणो मध्यः कण्ठस्थाने यथाक्रमम् ।
स एव मस्तके तारः स्यान्मध्याद्‌द्विगुणः क्रमात् ॥ ३ ॥

—सङ्गीतसमयसारे

अबतक के सन्दर्भ से हमें इस निष्कर्ष* पर पहुँचना पड़ा कि, सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त वैश्वानराग्नि का धोधूयमान ध्वन्यात्मक शब्द ही–सङ्गीत में–'नाद' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सूक्ष्मदृष्ट्या नाभि–हृदय–कण्ठ--शिर:--मुख--भेद से जहाँ इस नाद के क्रमशः अतिसूक्ष्म[1]--सूक्ष्म[2]--पुष्ट (व्यक्त)[3]--अपुष्ट[4] (अव्यक्त)[5]--कृत्रिम—ये पाँच प्रक्रम होजाते हैं, वहाँ लोकव्यवहारानुगता स्थूलदृष्टि से इस नाद के—हृदयानुगत–मन्द्रनाद, कण्ठानुगत मध्यनाद, शिरोऽनुगत तारनाद, रूपेण तीन प्रक्रम भी प्रसिद्ध हैं। हृदयादनुगता प्रमुखा सुषुम्णा नाड़ी से संलग्ना तिर्य्यग्वर्त्तिनी २२ नाड़ियों के भेद से इन तीनों नादों–ध्वनियों की अभिव्यक्तियाँ भी २२--२२--२२--भेद से त्रिधा विभक्त होजातीं हैं, और यों ६६ श्रुतियाँ होजातीं है, जिन का पर्य्यवसान २२ पर ही माना गया है। नादध्वनि की श्रवणगोचरा अभिव्यक्तियाँ हीं 'श्रुति' नाम का प्रमुख कारण है। इसी निष्कर्षात्मक तथ्य को लक्ष्य बना कर कहा गया है कि—

तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः–श्रवणात् श्रुतयो मताः ।
हृद्यूर्ध्वनाड़ीसंलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्म्मताः ॥ १ ॥
तिरश्च्यस्तासु तावत्यः श्रुतयो मारुताहते ÷ ।
उच्चोच्चतरतायुक्ता प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ २ ॥

---

* वक्तुमिच्छन् विवक्षमाण आत्मा मनः–अन्तःकरणं प्रेरयति। तदन्तःकरणं--आत्म--बुद्धिप्रेरितं सद् देहस्थितमोदर्य्यं वृह्निं आहन्ति, ताडयन्ति। स वह्निः-मारुतं-वायुं-प्रेरयति। स पूर्वं ब्रह्मग्रन्थिस्थित इदानीं तेन वह्निना प्रेरितः-ऊर्ध्वमार्गेण गच्छन्-आघातेन--नाभि--हृदय--कण्ठ--मूर्द्ध--मुखेषु--ध्वनिं प्रकटयति-इति निष्कर्षः ।

÷ ऊर्ध्वनाड़ी सुषुम्णा। तत्संलग्ना तिरश्च्यः–तिर्य्यक्–स्थिता द्वाविंशतयो नाड्यः। तासु मरुत्सम्बन्धात् तावन्त एव–'नादाः' समुत्पद्यन्ते–उत्तरोत्तरं–उच्चोच्चतरता–युक्ताः। प्रथमो नादः–हीनतमः–मन्द्रतमः। ततोऽनन्तरं–उच्चतरः। ततोऽनन्तरं–उच्चतमः--इत्येवंरूपेण नादानुगताः श्रुतयः प्रवर्तन्ते--मौखिक--सङ्गीते- सङ्गीत--प्रवरैर्गायकैः ।

**एवं कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतिर्द्वाविंशतिर्म्मता ।**
**व्यक्तये कुर्म्महे तासां वीणाद्वन्द्वे निदर्शनम् ॥ ३ ॥**

अत्र क्रमप्राप्त उस तीसरे–'**स्वरभाव**' की ओर सङ्गीत--प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिसे हम मौलिक सङ्गीत का '**प्राण**' ही कहेंगे। सङ्गीत में जो एकप्रकार का सहज–"**माधुर्य्य**' है, वह इसी '**स्वर**' की महिमा है। स्वर कैसे, और क्यों माधुर्य्य का अभिव्यञ्जक बन जाता है?, प्रश्न का समाधान '**स्वरहर्देवाः सूर्य्यः**' ( शतब्राह्मणे ) इस श्रौत निगम पर ही अवलम्बित है। सृष्टिविद्या–वित् विद्वानों को यह विदित ही है कि, पृथिवी को **दधिलोक** माना गया है, अन्तरिक्ष को **घृतलोक** कहा गया है, एवं द्युलोक को **मधुलोक** माना गया है। **दही–घी-शहद–ही दधि–घृत–मधु**–तत्त्व हैं, जिन का क्रमशः **पार्थिवाग्नि, आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य आदित्य**, इन तीन प्राणदेवताओं से सम्बन्ध माना गया है। **दधिरसात्मक पार्थिव घनाग्नि, घृतरसात्मक आन्तरिक्ष्य तरल वायु, एवं मधुरसात्मक दिव्य विरलादित्य**, इन तीनों पार्थिव–तत्त्वों का हम क्रमशः सङ्गीत के **नाद–श्रुति–स्वर**--इन तीनों भावों से सम्बन्ध मान सकते हैं। घनात्मिका मूलप्रतिष्ठा का नाम हीं '**नाद**' है, और यही---'**दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्**' के अनुसार सङ्गीत का अग्निप्रधान--पार्थिवलोकांश है। **घन--नाद--पर**---प्रतिष्ठित-वायव्या–अभिव्यक्तियाँ हीं–'**श्रुति**' है, और यही----'**घृतमन्तरिक्षस्य रूपम्**' के अनुसार सङ्गीत का वायुप्रधान आन्तरिक्ष्यांश है। घननादा–नुगता तरलश्रुतियों के द्वारा अभिव्यक्ता–सन्तननभावात्मिका–परम्परानुप्राणिता वीचियाँ ( तरङ्गें–ऊर्म्मियाँ ) हीं---'**स्वर**' है, और यही--'**मध्वमुष्य रूपम्**' के अनुसार सङ्गीत का आदित्यप्रधान-दिव्यांश है। और यों तीनों लोकों के **१आग्नेय-२वायव्य-३आदित्य–रसात्मक–१दधि–२घृत–३मधु**–नामक रसों से ही सङ्गीत के **१नाद–२श्रुति-३स्वर– भाव**–समन्वित होरहे है। इसी सम्बन्ध में पुनश्च हमें कुछ और भी समझ लेना है।

शब्दब्रह्मरहस्यवेत्ता महर्षियोंने **परब्रह्म** से अभिन्न **शब्दब्रह्म** के तीन प्रमुख महिमा–विवर्त्त माने हैं, जो क्रमशः **स्फोट–स्वर–व्यञ्जन**–इन नामों से **शब्दशास्त्र ( व्याकरण )** में प्रसिद्ध हैं। परब्रह्म के '**अव्यय**' के साथ शब्दब्रह्म का--'**स्फोट**' समतुलित है। परब्रह्म के–'**अक्षर**' के साथ शब्दब्रह्म का '**स्वर**, तथा उस के '**क्षर**' के साथ इस का '**व्यञ्जन**' समतुलित है। '**पर**', तथा '**शब्द**'–भेदेन सृष्टि के दो ही प्रमुख विवर्त्त माने गए हैं, जिस में खण्ड–खण्डात्मक इतर यच्चावत् अवान्तर सृष्टिविवर्त्त अन्तर्भूत हैं। वस्तुगत्या **पर**, और **शब्द**, ये दो स्वतन्त्र विवर्त्त नहीं हैं। अपितु एक ही षोडशीप्रजापति का पूर्वरूप जहाँ–'**परब्रह्म**' कहलाया है, वहाँ उसी का उत्तररूप '**शब्दब्रह्म**' कहलाया है। पूर्वरूपता का अर्थ है--'**विश्वातीत--विवर्त्त**'। एवं उत्तररूपता का अर्थ है-'**विश्वविवर्त्त**'। विश्वातीतदशा में वही ब्रह्म '**परब्रह्म**' कहलाया है, एवं विश्वदशा में वही-'**शब्दब्रह्म**' कहलाया है।

क्या तात्पर्य्य?। तात्पर्य्य स्पष्ट है। '**विश्व**' का ही नाम '**संसृष्टिलक्षणा--सृष्टि**' है। यह सृष्टि **आकाश--वायु--तेज-जल--मृत्**–रूपेण पञ्चमहाभूतात्मिका है। इन पाँचों महाभूतों का मूल सर्वादिभूत वह आकाशभूत ही है, जिस का सुसूक्ष्म मात्राभाव ही–'**शब्दतन्मात्रा**' नाम से प्रसिद्ध है। शब्दतन्मात्रात्मक-सर्वादिभूत-आकाशभूत से बलग्रन्थि के द्वारा स्पर्शतन्मात्रात्मक वायु की अभिव्यक्ति होती है। वायु से रूपतन्मात्रा-

त्मक जल की, एवं जल से गन्धतन्मात्रात्मिका मृत् की अभिव्यक्ति होती है, हुई है, होती रहती है *। तन्मात्रात्मात्मक शब्दादि गन्धान्त इन्हीं सूक्ष्मतम अतएव–'तत्त्व' नाम से प्रसिद्ध पाँचों गुणभूतों से पञ्ची--करणप्रक्रिया के द्वारा आगे चलकर पञ्चात्मक पाँच **अणुभूत** अभिव्यक्त होते हैं। इन के पञ्चीकरण से पञ्च--पञ्चात्मक--**रेणुभूत** अभिव्यक्त होते हैं। इन के पञ्चीकरण से समष्ट्यात्मक–'महाभूतात्मक' जो पञ्च विश्वपुर अभिव्यक्त होते हैं, वे ही क्रमशः **आकाशात्मा--स्वयम्भूपुर, वाय्वात्मा परमेष्ठीपुर, तेजोमयात्मा--सूर्य्यपुर, जलात्मक चन्द्रपुर, तथा मृदात्मा भूपुर**, इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, जिन इन पाँचों विश्वपुरों की, किंवा यौगिक--महाभूतों की समन्वितावस्था का नाम ही पञ्चपर्वा विश्व है, जिसका महर्षि श्वेताश्वतरने—**'पञ्चपर्वामिमां--विश्वप्रकृतिम्'** ( श्वे० उपनिषत् ) इत्यादि रूप से यशोगान किया है।

पञ्चपर्वात्मक उक्त विश्वस्वरूप--दिग्दर्शन से स्वतः ही हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, विश्व का मूलकारण विश्वातीत परब्रह्म--आत्मब्रह्म से सर्वप्रथम अभिव्यक्त होने वाली, **'आकाशात्मिका--शब्दत--न्मात्रा'** ही है। यही प्रथमा शब्दतन्मात्रा उत्तरोत्तरभाविनी--रसानुगता--बलग्रन्थियों के तारतम्य से पञ्चपर्वात्मक विश्व--स्वरूप में परिणत होरही हैं। और यों आत्मब्रह्म से अभिव्यक्त 'शब्दब्रह्म' ही विश्व का स्वरूप--परिचायक बना हुआ है। इसी आधार पर--**'न ह्यशब्दमिवास्ति'** ( उपनिषत् ) यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। अतएव **शब्द**, और **अर्थ** का औत्पत्तिक सम्बन्ध ही माना है, भगवान् जैमिनिने ÷। इसी आधार पर--**'जपात्सिद्धिः'** यह उपासनातत्त्व व्यवस्थित हुआ है। इसी आधार पर शब्दब्रह्मात्मक नित्य मन्त्र, एवं तद्वाच्य प्राणदेवतात्मक अर्थ, दोनों अभिन्न बने हुए हैं। यही मन्त्र का मन्त्रत्त्व है, यही शब्दब्रह्मात्मक वेदशास्त्र की कूटस्थनित्यतालक्षणा अपौरुषेयता है। इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि—**'स प्रजापतिः--भूरिति व्याहरत्, पृथिव्यभवत्'**। अर्थात् आत्मप्रजापति ने अपने मुख से सर्वप्रथम 'भूः' इश शब्द का ही उच्चारण किया। वही **'भू'** शब्द ( पृथिव्यनुगता शब्दतन्मात्रा ) भूपिण्डरूप में परिणत होगया। इन्हीं कुछ एक निर्दिष्ट तथ्यों के आधार पर हमें यह मान लेना पड़ता है कि, ससृष्टिलक्षणा-विश्वात्मिका-सृष्टि में तो--**'शब्दब्रह्म'** ही प्रमुख है, यही ईश्वर का व्यक्तरूप है, जो परब्रह्मात्मक--विवर्त्त के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। जैसा स्वरूप--संस्थानक्रम उस **परब्रह्म** का है, ठीक वैसा ही, किंवा वही संस्थानक्रम विश्वात्मक विश्वरूप--शब्दब्रह्म का है। इस षोडशीपरब्रह्म में यदि **परात्पर--अव्यय--अक्षर--क्षर**–नामक चार पर्व हैं, तो इस शब्दब्रह्म में ही **अर्द्धमात्रा--स्फोट--स्वर--व्यञ्जन** नामक चार ही प्रमुख विवर्त्त है। इसी अभेद के आधार पर ऋषि ने कहा है कि—

---

***–तस्माद्वा एतस्मादात्मन (परब्रह्मणः) आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी (मृत्)।**

—तै० उपनिषत्

**"÷–औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"।**

— पूर्वमीमांसासूत्र

**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत् ।**
**शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।**

—उपनिषत्

'**दृष्टिभूला-सृष्टिविद्या**' के अनुसार पञ्चपर्वात्मक-विश्व की स्वरूपमीमांसा करते हुए पार्थिवशरीरी-मानव को भूपिण्ड के केन्द्र से ही चलना पड़ेगा । और इस केन्द्र को आधार बना कर ही इसे शब्दब्रह्म के **व्यञ्जन-स्वर-स्फोट-अर्द्धमात्रा**-नामक-चारों विवर्त्तों का समन्वय देखना होगा । स्वय **भूपिण्ड व्यञ्जनात्मक-शब्दब्रह्म है** । सौम्य चन्द्रमा का पार्थिव-विवर्त्त में हीं अन्तर्भाव है । अतएव चन्द्रमा को पार्थिव-उपग्रह माना गया है । अतएव च भूपिण्ड के अनन्तर दूसरा स्थान आता है-'**सूर्य्य**' का । यह सूर्य्य ही **स्वरात्मक शब्दब्रह्म है** । तदुत्तर प्रतिष्ठित-'**परमेष्ठी**' ही महद्ब्रह्म में गर्भीभूत-चिदात्माव्यय से अभिन्न-**स्फोटात्मक-शब्दब्रह्म है** । एवं सर्वान्त का अव्यक्त **स्वयम्भू** ही **अर्द्धमात्रात्मक-शब्दब्रह्म है** । यों भूकेन्द्र से आरम्भ कर स्वयम्भू-पर्य्यन्त शब्दब्रह्म के चारों विवर्त्त समन्वित होरहे हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

**१-अव्यक्तात्मा--स्वयम्भूः----अर्द्धमात्रात्मकं शब्दब्रह्म**
**२-महानात्मा--परमेष्ठी-----स्फोटात्मकं शब्दब्रह्म**
**३-विज्ञानात्मा--सूर्य्यः------स्वरात्मकं शब्दब्रह्म**
**४-भूतात्मात्मा--सचन्द्रो भूपिण्डः-व्यञ्जनात्मकं शब्दब्रह्म**

**शब्दब्रह्मात्मकं-विश्वम्**

नादादि के अनुबन्ध से शब्दब्रह्म की स्वरूपदिशा की उपासना की गई । पुनः प्रकृतमनुसरामः । निवेदन किया गया है कि, श्रुति से अभिव्यक्त-'**स्वर**' ही सङ्गीत का मौलिक माधुर्य्य है । तत्प्रसङ्ग से ही यह स्वरोपपत्तिप्रसङ्ग उपक्रान्त होपड़ा है । अब हमें-**भूपिण्ड**, चन्द्रोपलक्षित-**अन्तरिक्ष**, एवं आदित्योपलक्षित सूर्य्य, इन तीन विश्वपर्वों को आधार बनाकर ही नादादि के स्वरूप का समन्वय करते हुए स्वर के माधुर्य्य को लक्ष्य बनाना है । भूपिण्ड का केन्द्रस्थ-प्राजापत्य-वैश्वानराग्नि ही '**नादब्रह्म**' हैं, जैसाकि-पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है । भूकेन्द्रावच्छिन्न इस आग्नेय नादब्रह्म की अन्तरिक्षानुगता-**वायव्या-अवस्था** ही-'**श्रुति**' है । यही आन्तरिक्ष्या श्रुति जब विरलावस्था में आकर सौर मण्डल से समाप्लुत होजाती है, तो यही-'**स्वर**' कहलाने लगती है । और यों श्रुति का उत्तरभाव ही '**स्वररूप**' में परिणत होजाता है । तदित्थं **भूपिण्ड**[१], **अन्तरिक्ष**[२], सूर्य्य[३], इन तीनों के दधि[१] (घन)--घृत[२] (तरल)--मधु[३] (विरल)--इन तीन रसों के क्रमिक समन्वय से ही सङ्गीतात्मक शब्दब्रह्म '**नाद**[१]--श्रुति[२]--**स्वर**[३]' इन तीन विवर्त्तभावों में परिणत होजाता है । पुनरपि इस सम्बन्ध में प्रक्रान्ता--स्वराभिव्यक्ति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव समन्वय अपेक्षित है ।

प्रसिद्ध 'अ--आ--इ--ई--उ--ऊ' स्वरों से भी सभी परिचित हैं, एवं सुप्रसिद्ध--'क--ख--ग--घ'--आदि व्यञ्जनों से भी सभी सुपरिचित हैं। सृष्टिविद्या के अनुसार **अकारादि सम्पूर्ण स्वर सूर्य्य से ही अभिव्यक्त हुए हैं, तो ककारादि सम्पूर्ण व्यञ्जन भूपिण्ड से ही व्यक्त हुए हैं। व्यञ्जन पार्थिव हैं, एवं स्वर सौर हैं, यही वक्तव्य--निष्कर्ष है।** पार्थिवी--ककाराद्यात्मिका **व्यञ्जनवाक्** का वैज्ञानिक नाम है--**'अनुष्टुप्'**, एवं सौरी अकाराकारात्मिका **स्वरवाक्** का नाम है--**'बृहती'**। सौरी--ऐन्द्री--बृहतीवाक् के अधिपति **'सौर--इन्द्र'** कहलाए हैं, अतएव यह बृहतीवाक्--**'इन्द्रपत्नी'** नाम से ही वेद में सुप्रसिद्ध हुई है *। एवमेव पार्थिवी--आग्नेयी--अनुष्टुप्वाक् के अधिपति--**'पार्थिव अग्नि' ( नादात्मक--वैश्वानराग्नि )** माने गए हैं, जिसे लक्ष्य बनाकर ही--**'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' ( अग्निर्वैश्वानर एव--अनुष्टुप्--वागात्मक--व्यञ्जनरूपेण परिणतः सन्--मुखं प्राविशत् )** यह कहा गया है।

**अग्निगर्भा भूपिण्डात्मिका पृथिवी, एवं इन्द्रगर्भिणी--सूर्य्यात्मिका द्यौः** ÷ इन दोनों का परस्पर ग्रहोपग्रहभाव माना गया है। भूपिण्ड परम्परया सूर्य्य का ही उपग्रह है। सूर्य्यरूप महाग्रह का प्रवर्ग्यरूप--उपग्रहात्मक भूपिण्ड सौर--ऐन्द्र आकर्षण के आधार पर ही साम्वत्सरिक--क्रान्तिवृत्त पर परिभ्रममाण बनता हुआ **'वार्षिकगति'** का प्रवर्त्तक बना हुआ है। सौरी--ऐन्द्री--प्रतिष्ठा को आधार बनाए बिना तदुपग्रहभूत भूपिण्ड क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रहसकता। और ठीक यही स्थिति सौरी--बृहती--स्वरवाक्, तथा पार्थिवी--आनुष्टुभी--व्यञ्जनवाक् के सम्बन्ध में विघटित है। सौरी बृहती--वाक् से अभिन्न स्वरों को आधार बनाए बिना पार्थिव--अनुष्टुप्--वाङ्मय--ककारादि व्यञ्जन भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रहसकते। अर्थात् अकारादि स्वरों को आधार बनाए बिना ककारादि व्यञ्जनों का उच्चारण भी कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि सौरमण्डल को आधार बनाए बिना भूपिण्ड भी तो स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित--अभिव्यक्त--नहीं होसकता।

**'छन्दोविद्या'** के अनुसार **'गायत्री--उष्णिक्--अनुष्टुप्--बृहती--पङ्क्ति--त्रिष्टुप्--जगती'**, इन सात देवच्छन्दों में से ( जोकि सप्त--**अहोरात्रवृत्त--पूर्वापरवृत्त**--आदि नामों से भी व्यवहृत हुए हैं ) मध्यका सर्वतोऽधिक **बृहत् (बड़ा)** छन्द ही **'बृहतीछन्द'** है। प्रत्येक वर्तुलवृत्त का मध्यका वृत्तरूप छन्द स्वतः ही पार्श्ववर्त्ती इतर वृत्तों के समतुलन में बड़ा ही तो होगा। इसी बृहद्भाव के कारण ज्योतिष्चक्रात्मक ( खगोलात्मक महान् वृत्त का मध्यस्थ छन्दोवृत्त--**'बृहती'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यही बृहती छन्द **'विष्वद्वृत्त'--'विषुव'** आदि नामों से लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है, जिसेकि प्रतीच्यभाषा में **'इक्वेटर'** कहा गया है।

---

* **वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।**
**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतां--'इन्द्रपत्नी'॥**
—तै०ब्रा० २।२।८।४।

÷ **यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।** ( मन्त्रसंहितायाम् )

खगोलीय तथाकथित बृहतीछन्द के केन्द्र में हीं क्योंकि भगवान् सूर्य्यनारायण स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित हैं *, अतएव तत्र प्रतिष्ठित सूर्य्यदेव भी **'बृहत्'** नामसे प्रसिद्ध होगए हैं, जैसाकि--**बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी बृहद्भावानुबन्ध से तत्र प्रतिष्ठित सूर्य्य--**'बृहद्भानु'** नाम से भी प्रसिद्ध है।

**'सप्त वै देवच्छन्दांसि'** के अनुसार गायत्र्यादि--जगत्यन्त अहोरात्रवृत्तात्पक (पूर्वापरवृत्तात्मक) खगोलीय सातों छन्द क्रमशः **षडक्षर--सप्ताक्षर--अष्टाक्षर--नवाक्षर--दशाक्षर--एकादशाक्षर--द्वादशाक्षर** (६-७-८-९-१०-११-१२-अक्षरात्मक) माने गए हैं, जिन के चतुष्पाद्भाव से क्रमशः २४-२८-३२-३६-४०-४४-४८--ये अक्षर होजाते हैं। इन सातों छन्दों में से पूर्वोक्त मध्य के उस **'बृहतीछन्द'** की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते है प्रक्रान्त--स्वरप्रकरण में, जिसके **नव (९) मूलाक्षर** हैं, तथा **षट्त्रिंशत् (३६) तूलाक्षर** हैं। नवाक्षर इस बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य का दिव्य--मधुरसमय ऐन्द्रप्राण ही वह **'बार्हत-स्वर तत्त्व'** है, जिस का अत्र यशोगान किया जारहा है।

नवाक्षर का अर्थ है--नवबिन्दु--**अनुगत** प्रस्तार, जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि--सौर--बार्हत--नवाक्षर--(नवबिन्द्वात्मक स्वर के आधार पर ही पार्थिव--आनुष्टुभ व्यञ्जन प्रतिष्ठित रहा करते हैं। बार्हत--स्वर की तनन-मर्य्यादा (वितानमर्य्यादा--फैलाव) क्योंकि नव--बिन्द्वात्मक है। अतएव उचित था कि, नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की महिमा में ९ ही व्यञ्जन प्रतिष्ठित होजायँ। किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यही है कि--नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक स्वर की उक्थ, **अर्क**--भेद से दो अवस्थाएँ रहतीं है। **'मूलस्वरबिम्ब'** का नाम ही **'उक्थस्वर'** है, एवं **'तूलस्वररश्मि'** ही **'अर्कस्वर'** हैं। ९ बिन्दुओं में से ५ वीं ६ठी, इन दो विन्दुओं को स्वयं उक्थस्वर अपना **ब्रह्मौदन (मूलप्रतिष्ठा)** बना लेता है। अतएव इस प्रातिस्विकी बिन्दुद्वयात्मिका ब्रह्मौदन की सीमा में (स्व--भोग्या सीमा में) तो **प्रवर्ग्यभावापन्न (मर्त्यभावापन्न)** भोग्य--व्यञ्जनों का प्रवेश निषिद्ध ही बन जाता है। और अब शेष रह जाती हैं--अर्करूपा (रश्मिरूपा) सात-बिन्दुएँ। अवश्य ही इन सात स्वरबिन्दुओं में सात-प्रवर्ग्य-व्यञ्जन प्रतिष्ठित होसकते हैं। इस का निष्कर्ष यही हुआ कि, नवबिन्द्वात्मक प्रत्येक बार्हत स्वर में सात सात व्यञ्जनों को स्वप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता है। **तभी तो सप्त-व्यञ्जनात्मक-सप्त-लोक (सातों लोक) उस एकाक्षरमूर्त्ति स्वरात्मा पर प्रतिष्ठित होरहे हैं।** शब्दब्रह्ममर्य्यादा में भी अकार--उकारादि प्रत्येक स्वरात्मक अक्षर सात--सात व्यञ्जनों को निर्भार-रूपेण उठा सकता है, उठा लेता है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर एक साथ सात व्यञ्जनों का अवस्थान सम्भव है। अर्थात् एक स्वर के आधार पर सात व्यञ्जनों का उच्चारण सम्भव है, जैसाकि प्रातिशाख्य के

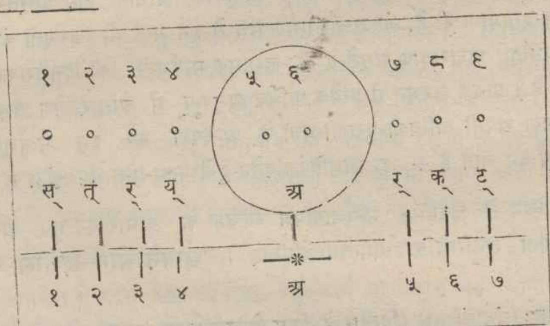
* **नैवोदेता--नास्तमेता। मध्ये--एकल--एव स्थाता। सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति।**
—छा० उप०

सुप्रसिद्ध — 'स्त्र्यक्ट्' इस उदाहरण से स्पष्ट है *। इस शब्द में आप देखेंगे कि, स्वर तो 'अ' नामक केवल एक है—जो दो बिन्दुओं में उक्थरूप से प्रतिष्ठित है, जिसके आरम्भ में १—२—३—४—ये चार अर्कात्मिका बिन्दुएँ हैं, एवं आगे ७—८—९—ये तीन बिन्दुएँ है, जिन इन पूर्वापर सात बिन्दुओं में क्रमशः स्—त्—र्—य्—र्—क्—ट्—ये सात मर्त्य व्यञ्जन प्रतिष्ठित होरहे हैं। अब यदि एक भी व्यञ्जन आप इस शब्द में और समाविष्ट करना चाहेंगे, तो आपको अन्य स्वर का ही आश्रय लेना पड़ेगा। क्योंकि सात बिन्दुओं के परिपूर्ण बन जाने पर एकस्वर में स्थानाभाव है अन्य आठवें व्यञ्जन को स्वमहिमा में प्रतिष्ठित करने के लिए। **सैषा-स्वरस्य-सन्तनानुगता-सहजस्थितिः।**

उक्त स्वरस्वरूप-परिचय के माध्यम से अब हमें यह मान लेना पड़ा कि, **स्वर,** और **व्यञ्जन,** इन दोनों में से **'वितानात्मक-सन्तनन'-( फैलाव-पसार )** की शक्ति नवबिन्द्वात्मक-केवल स्वर में ही है। व्यञ्जन केवल एक बिन्द्वात्मक है। अतएव व्यञ्जनों में-**'सम्प्रसारणधर्म्म'** (व्याप्तिधर्म्म) का सर्वथा अभाव है। व्यञ्जन तो उच्चारण के साथ ही एक संस्कारहीन-यथाजात-पार्थिवशरीरीमात्र-कामभोगपरायण-प्राकृत-मानव की भाँति परिसमाप्त है—**'जायस्व-म्रियस्व'** इस प्रकृतिसिद्ध आविर्भाव-तिरोभाव-धर्म्मानुबन्ध से। पूर्वक्षण में अव्यक्त, केवल मध्यक्षण में व्यक्त, पुनः तदुत्तरक्षण में अव्यक्त, इन तीन क्षणों में ही मर्त्य-पार्थिव-व्यञ्जन का सम्पूर्ण इतिवृत्त परिसमाप्त है, जो कि इतिवृत्त व्यञ्जन से अभिन्न **'क्षरात्मक भूत'** का, किंवा **'भूतात्मक क्षर'** का माना गया है ×। **'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** के अनुसार जो स्वरूप, जो धर्म्म-भौतिक-मर्त्य-क्षर का है, ठीक वही स्वरूप, वही धर्म्म तदभिन्न मर्त्य-पार्थिव-आनुष्टुभ व्यञ्जन का है।

और-**'स्वर'** ?। **स्वर** तो उस **'अक्षर'** से समतुलित, किंवा अभिन्न है ÷, जो अक्षरतत्त्व-**'न क्षीयते'**-निर्वचनानुसार अपने **अमृत-मधु-धर्म्म** से सर्वथा **'अक्षर'** **(अक्षयभावापन्न)** ही प्रमाणित

---



—'स्त्र्यक्ट्'

× **अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत !।**
**अव्यक्तनिधानान्येव तत्र का परिदेवना ( गीता )।**

÷ **स्वरोऽक्षरम्। सहाद्यैर्व्यञ्जनैः पूर्वैश्चावसितैः।**
—प्रातिशाख्य

होरहा है । अपने मधुमय-सौर-इन्द्रप्राणात्मक-इसी अक्षरात्मक-धर्म्म से यह स्वर क्षरात्मक व्यञ्जनों का आधार बनता हुआ कुछ समय के लिए इन व्यञ्जनों को भी मधुमयी-स्वरूपता-अमृतसम्पत्ति-प्रदान कर दिया करता है । अक्षराभिन्न-इस अमृत-स्वर में ही सन्तनन की शक्ति है । यह सन्तनन ही स्थायी-संस्कार को अभिव्यक्त-प्रक्रान्त रखता है, जिस प्रक्रान्ति को—'चर्व्वणा' कहा गया है । जिसप्रकार मधुरसात्मिका जिह्वा से समन्वित सुप्रसिद्ध **कुक्कुटप्राणी (मुर्गा) × कात्वालीकृत (कादाकीचयुक्त)** चञ्चु के द्वारा उपलब्ध कृमि-कीटादि प्राणियों को उत्कटचर्व्वणा के साथ (फफेड़-फफेड़ कर) अपना भोग्य बनाए रहता है, ठीक इसीप्रकार कुक्कुटस्थानीय * मधुरसात्मक-सौर-बार्हत-इन्द्रप्राणात्मक-स्वर-अपनी सन्तनन-रूपा चञ्चु से पार्थिव मर्त्य-व्यञ्जनों को प्रचण्ड चर्व्वणा से ही सन्तत-वितत-करता हुआ इन्हें अपना भोग्य बनाता रहता है । अर्थात् स्वरसन्तनन के द्वारा ही मर्त्यव्यञ्जन भी कुछ दूर पर्य्यन्त-नादध्वनि के अनुगामी बनते रहते हैं, और यों एकमात्र मधुरसात्मक स्वर के सन्तननानुग्रह से ही व्यञ्जन भी सङ्गीत में कुछ समय के लिए मधुरसात्मक बन जाया करते हैं । इसी प्रकृतिसिद्धा-ऐन्द्री-स्वर-चर्व्वणा के लिए महर्षिने—**'चर्चूर्य्यमाण'** जैसा महत्त्वपूर्ण शब्द अभिव्यक्त किया है अपनी पुराणीप्रज्ञा से, जिस इस तथ्य का ही निम्न लिखित, अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

**बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम् ।**
**अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा ॥**

ऋक्सं० १०।१२४।६।

विस्तारभिया उक्त रहस्यमन्त्र के तात्त्विक-विस्तार में न जाते हुए अभी प्रसङ्गोपात्त मन्त्र के सम्बन्ध में यही जान लेना अलं होगा कि,—प्रत्येक-मर्त्य-पार्थिव क्षरात्मक भूत पार्थिवी अनुष्टुप् वाक् के सम्बन्ध से अनुष्टुप्-वाङ्मय ही है । अनुष्टुभात्मक पार्थिव-क्षरभूतों का प्रतिष्ठात्मक आधार वह अमृत-प्राणात्मक सौर-मधु-रसमय-बार्हत-अक्षरात्मक-इन्द्रप्राण ही है, जो चर्चूर्य्यमाणवृत्ति से इन मर्त्य भी क्षरभूतों को जीवन--सत्ता प्रदान करता रहता है । अर्थात् अक्षरात्मक-अमृतेन्द्र ही क्षरात्मक मर्त्यभूतों की दिग्देशकालानुगता जीवनसत्ता का कारण बना हुआ है । प्रत्येक क्षरभूत में प्रत्येक पार्थिव अनुष्टुप् में आधाररूपेण अमृतेन्द्राक्षर भी विद्यमान है, जिसका मनीषिगण अपनी सात्त्विकी-पुराणी-प्रज्ञा से अन्वेषण कर इन मर्त्यभूतों से भी अमृतसम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ बन जाते है ÷, इत्यलमतिपलवितेन-दुर्बोध्यतम-मन्त्रार्थप्रसङ्गेन ।

लौकिक--उदाहरण के माध्यम से क्षरात्मक मर्त्यभावापन्न व्यञ्जन के आधार बने हुए अक्षरात्मक अमृतभावापन्न स्वर की मधुरसानुगता मधुरिमा का समन्वय कीजिए । **'छप्पन भोग--छत्तीस--व्यञ्जन'**

---

× कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः (यजुःसंहिता) (विस्तार के लिए देखिए-शतपथप्रथमखण्ड) ।

*—यह अवधेय है कि 'अहल्या-गोतम-संवाद' में इन्द्र के कुक्कुटरूप का भी संग्रह हुआ है ।

÷--इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्य-अस्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

—केनोपनिषत् २।

नाम के आभाणक से सभी ऐश्वर्य्यशाली सुपरिचित होंगे। **भोज्य-चर्व्य-चोष्य-लेह्य**:भेद से चार श्रेणियों में विभक्त भोज्य पदार्थ पाककर्त्ता के कौशल से, तथा परिग्रहात्मक-पदार्थों के वैशिष्ट्य से जहाँ **'सुस्वादु'** बन जाते हैं, वहाँ पाककर्त्ता के शैथिल्य से, साथ ही साधन-परिग्रहों के दोष से **'अस्वादु'** भी बन जाया करते हैं। छप्पन भोगों से समन्वित ३६ सों व्यञ्जन यों मानवीय मन के लिए स्वादु-( मनभावन रुचिकर-प्रिय ) भी बन जाते हैं, एवं अस्वादु-( अप्रिय ) भी बन जाते है । प्रियभावानुगता रुचि से अनुप्राणित यह **'स्वाद'** ही सौर **'मधु'** रस है, जो प्रत्येक भोज्यादि व्यञ्जन को **'सुस्वादु'** ( ज़ायकेदार ) बना दिया करता है। दधि-घृत-दुग्ध-गोधूम-यव-शर्करा-गुड़-क्षीर-लप्सिका-अपूप-आदि आदि सभी भोज्य सौर मधु भाग के समीकरण से जहाँ सुस्वादु बन जाते हैं, वहाँ पाकादि की असावधानी से मधुरस के अभिभव से वे ही व्यञ्जन अस्वादु भी बन जाया करते हैं। व्यञ्जनों का वह स्वादुरस ही अमृतात्मक स्वर भाग है, जिसके अभिभूत होजाने पर, किंवा निकल जाने पर सभी व्यञ्जन-**'गतरस'** बन जाया करते हैं, जिन एवंविध नीरस-अस्वादु-मधुशून्य-व्यञ्जनों को ही **'यातयाम'** कहा गया है ÷। पेय पानी में अन्तर्य्यामरूप से प्रतिष्ठित वही मधुरस-**'शिवतमरस'** कहलाया है-**'यो वः शिवतमो रसः'**। यही जीवनीय रस माना गया है । यही आयुःसूत्र-संरक्षक रस माना गया है। क्यों ?।

इसलिए कि, सौर-बार्हत-इन्द्रप्राणात्मक-मधु ही **'षट्त्रिंशत्-बृहती'** ( ३६००० ) संख्याओं में परिणत होता हुआ अहोरात्र-परिप्लवन से मानव के शतायुर्जीवन का आधार बना हुआ है। सौर-बृहती-छन्द के ३६ अक्षर बतलाए गए है। प्रत्येक अक्षर **'सहस्र भावापन्न'** है। फलतः सौर रश्मिगत बार्हत-अक्षरात्मक-जीवनप्रद-स्वरात्मक-मधुप्राण ३६ सहस्र संख्या में परिणत होजाता है। ये ही मानव के जीवनीय-आयुःसूत्र कहलाए हैं। यही आयुःप्राण विश्वप्रजा का अत्यतम मित्र बनता हुआ-**'विश्वामित्र'** नाम से भी प्रसिद्ध है। इसप्रकार दैनंदिनीय **अन्नयज्ञ ( भोजनकर्म्म )** से अनुप्राणित भौतिक-व्यञ्जनों में, पेय पानियों में, श्रवण-दर्शन-गमन-हसन-शयन-आदि आदि यत्त्वयावत् कर्म्मकलापों में हम सौर-मधु-रसात्मक-**'स्वर'** को परिव्याप्त देखते हैं । मधु-प्राणात्मक 'स्वर' की अभिव्यक्ति से, समीकरण से, समावेश से जहाँ ये भौतिक-विवर्त्त मधुर-श्रेय-प्रिय-रुचिकर-मनभावन-बने रहते हैं, वहाँ मधुरसात्मक सौर-स्वर की अभिभूति से, विषमता से, निर्गमन से वे ही भौतिक-विवर्त्त कटु-अप्रिय-अरुचिकर-मनोविद्विष्ट-उद्वेगकर ही बन जाया करते हैं । जब भोग्यजगत् मानवीय मन को सभी दृष्टियों से अस्वादु-नीरस-यातयाम-प्रतीत होने लगता है, तो निश्चयेन उस अवस्था में जीवनसत्ता संदिग्धा बन जाया करती है, एवं उसी अवस्था के लिए महर्षि ऐतरेय ने-**'स यत् करणीयं मन्येत-त कुर्य्यात्'** यह उद्बोधन प्रदान किया है।

**'रुदन'** एक अप्रतीतिकर-ग्लानिकर-उद्वेगकर-भाव माना गया है। किन्तु-मधु-अमृत-**'सौर-स्वर-साम'** के समावेश से रुदन जैसा उद्वेगकर-कटु-कर्म्म भी मधुर बन जाया करता है । अतएव लोक में प्रसिद्ध है कि-**'कलावन्त का तो रोना भी गाना ही है'**। सचमुच स्वरसन्धान से समन्वित तो रोना भी

---

÷-**यातयामं गतरसं पूति-पर्य्युषितं च यत् ।**
**उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥**
—गीता १७।१०।

'सम्' भावात्मक–समीकरण से–'सङ्गीत' बनता हुआ–शान्तिप्रद–सुखप्रद ही बन जाया करता है। इस मधु–स्वर–रसात्मक–रोदन से अपने बालभावापन्न–सौम्य–रस से शिशु का रोदन भी सुखावह बन जाया करता है। लोक में हीं क्यों, शास्त्रीय–दृष्टि से भी स्वरानुगत रुदन का भी उपासनाजगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। 'रुरुदुः–सुस्वरम्' ÷ रूपेण प्रसिद्ध गोपीगीत के स्वरात्मक रुदन से कौन उपासक परिचित न होगा ?।

यों–सम्पूर्ण–त्रैलोक्य के भूत–भौतिक–पदार्थों में, कर्म्म-कलापों में, शारीरिक–ऐन्द्रियक–चेष्टाकर्म्मों में–सर्वत्र–स्वरसामात्मक सौर–मधुरस प्रतिष्ठारूपेण परिव्याप्त है, और यही इन सब भौतिक–विवर्त्तों की जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। जबतक **'स्वर'** का अनुग्रह है, तभी तक **'व्यञ्जनों'** की स्वरूपसत्ता सुरक्षित है। इसप्रकार सभी दृष्टियों से हम व्यापक–स्वरसामात्मक महान्–विश्वसङ्गीत का साक्षात्कार कर सकते हैं, करते रहते हैं। **और स्वरात्मक–यही सौर–सङ्गीत व्यञ्जनात्मक–विश्व की जीवनसत्ता का प्रमुख आधार बना हुआ है,** जिस इस प्रकृतिसिद्ध महासङ्गीत के आधार पर ही सङ्गीत प्रवर्त्तक–तुम्बुरु–नारदादि ऋषिप्राणों के द्रष्टा, अतएव तुम्बुरु–नारदात्मक–ऋषिप्राणों के नाम से ही लोक में प्रसिद्ध होजाने वाले मानवमहर्षियों की ओर से स्वरसामात्मक–नृत्यगीतवादात्मक–उस सङ्गीत का सङ्कलन हुआ है, जिसके **नाद–श्रुति–स्वर**–ये तीन प्रमुख प्रक्रम बने हुए हैं। जिन तीनों के अन्त के **'स्वर'** नामक मधुरिमा–प्रवर्त्तक–आनन्दप्रद–**आलापात्मक**–तथ्य का ही अबतक विभिन्न दृष्टिकोणों से यशोगान प्रक्रान्त है।

**षड्ज–ऋषभ–गान्धार–मध्यम–पञ्चम–धैवत–निषाद ( सा–रे–ग–म–प–ध–नी– )** नाम से प्रसिद्ध–लोकसङ्गीत के प्राणप्रतिष्ठारूप ये सुप्रसिद्ध **'सात–स्वर'** परम्परया सौर–मधु–रसात्मक–अमृत–अक्षरात्मक–**'स्वरसाम'** से ही क्योंकि अभिव्यक्त हुए हैं, अतएव इन्हें भी **'स्वर'** कह दिया जाता है। सहज–सुखानुभूति–ही–'स्वर' का स्वरूप परिचय है। सुखप्रवर्त्तक इस **'स्वर'** के सम्बन्ध से ही सौर बृहन्मण्डल–'स्वः'–'स्वर्ग'–आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। स्वर्गलोकात्मक ( सुखलोकात्मक ) सौर स्वरसाम ही लोक-सङ्गीत के सप्तविध–स्वरों का अभिव्यञ्जक है। अतएव षड्जादि भाव भी–**'स्वर'** नाम से ही प्रसिद्ध होगए हैं। अपने नवबिन्द्वात्मक–वितान–आतान–प्रस्तार–धर्म्म से–तत्प्रतिरूप–सप्तस्वरों में हीं वह **'आलापधर्म्म'** अभिव्यक्त है, जिस आलाप की पारिभाषिक–संज्ञा है–**'अनुरणन'**। सङ्गीताचार्य्य की सङ्गीतात्मिका–शब्द-ध्वनि वातावरण में तरङ्ग–न्यायेन जो एकप्रकार का सुसूक्ष्म शब्दात्मक–कम्पन उत्पन्न कर देती है, जिस-कम्पन–समुद्र में श्रोताओं का मन निमज्जित होजाया करता है, उसी का नाम–**'अनुरणन'** है। इसी की लोक अभिधा है-**'समा बँध जाना'**। मन का साम्य ही यह **'समा'** है। साम्यभावात्मक–एकीभावात्मक–इस-**'सम्'** से ही तो यह गीत ( गायन ) **'सङ्गीत'** कहलाया है। गीत ( गायन ) वही गीत है, जिसके मूल में

---

÷–इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
"रुरुदुः सुस्वरं" राजन् ! कृष्णदर्शनलालसाः ॥
—श्रीमद्भागवत १० पू०। ३२ अ०। १ श्लोक।

स्वरात्मक–'सम्' भाव प्रतिष्ठित है। सङ्गीत वही सङ्गीत है, जो 'स्वर' से अभिन्न है। एवं स्वर वही स्वर है, जो परब्रह्म के अक्षर से अभिन्न है *।

सङ्गीतज्ञ के सङ्गीत के हृदयानुगत 'नाद' से उत्थित,–द्वाविंशति–नाड़ियों से विनिःसृत, २२ श्रुतियों के द्वारा ही कण्ठद्वार से सप्तधा विभक्त होकर विनिर्गत--उसी भाव का नाम 'स्वर' है, जो मधुरस का वर्षण ही कर देता है। सङ्गीताचार्य्य के व्यञ्जनात्मक वर्ण-(बोल) आनन्द के प्रवर्त्तक नहीं है। अपितु इन व्यञ्जनों का मूलाधार बना हुआ–आलाप–संलाप–मूर्च्छना–आदि से समन्वित–स्वरसन्धान ही स्वयं सङ्गीतज्ञ के लिए, एवं श्रोता के लिए श्रुतिमधुरसत्त्वेन आनन्द का ( मनस्तुष्टि का ) कारण बना करता है। यही कारण है कि, उच्चश्रेणि के शास्त्रीय–सङ्गीत में व्यञ्जन न्यूनतम ही रहा करते हैं। अथ से इति पर्य्यन्त स्वर का ही सन्तनन रहता है अवश्य ही आज के भूतप्रधान–व्यञ्जनप्रधान--जड़जीवन के जड़ीभूत मन के लिए इत्थंभूत स्वरप्रधान शास्त्रीय--सङ्गीत अञ्जसा सुखावह नहीं बन रहा। आजतो जड़ताप्रवर्त्तक--भौतिक--अनुबन्धों को, तदनुप्राणित--काव्वालीकृत–नर्त्तन–गायन को (नहीं--अपितु–उद्दामवासनात्मक--हीनतम--उद्वेग--कर--विजृम्भणों को ) ही 'सङ्गीत' की उपाधि दी जारही है, जिसका वस्तुगत्या–'सङ्गीत' शब्द के स्पर्श से भी सम्बन्ध नहीं है। प्रकृतमें इस प्रक्रान्त स्वर--प्रसङ्ग से हमें यही बतलाना है कि, नादानुगता श्रुति के द्वारा अभिव्यक्त--अनुरणनात्मक--सप्तधा विभक्त--तत्त्व ही 'स्वर' का संक्षिप्ततम स्वरूप–परिचय है। 'स्वत एव रञ्जयति–श्रोतृचित्तम्' हीं इस 'स्वर' शब्द का निर्वचनात्मक ( सङ्गीतानुगत ) समन्वय है। स्वर के इसी स्वरूप--परिचय को लक्ष्य बनाकर सङ्गीताचार्य्योंनें कहा है—

श्रुतिभ्यस्तु स्वरः–षड्ज–र्षभ–गान्धार–मध्यमाः ॥
पञ्चमो-धैवत–श्चाथ निषाद–इति सप्त ते ॥ १ ॥
( तेषां संज्ञाः–स–रि–ग–म–प–ध–नी–त्यपरा मताः )
श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ॥
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स 'स्वर' उच्यते ॥ २ ॥
राजृदीप्तावस्य धातोः 'स्व' शब्दपूर्वकस्य च ॥
'स्वयं हि राजते' यस्मात्–तस्मात्–'स्वर' इति स्मृतः ॥ ३ ॥

---

* प्रथम मान 'ओङ्कार',–देवन मान 'महादेव', ज्ञान मान 'गोरख', 'वेद' मान 'ब्रह्मा'। (प्र०)
गीत को 'सङ्गीत' मान, सङ्गीत को 'स्वर' मान
स्वर को 'अक्षर' मान, ताल लगन्ता
कहत बैजू बावरे सुनहू गोपाललाल !
दिन मान 'सूरज', रैन मान 'चन्दा'।
—प्रथम मान ओङ्कार—

नासा-कण्ठ-उर-स्तालु-जिह्वा-दन्ता-स्तथैव च ॥
षड्भिः सञ्जायते यस्मात्-तस्मात्-'षड्ज' इति स्मृतः ॥ ४ ॥
नाभेः समुदितो वायुः कण्ठ-शीर्ष-समाहतः ॥
गन्धर्वसुखहेतुः स्यात्-'गान्धार' स्तेन उच्यते ॥ ५ ॥
वायुः समुत्थितो नाभेर्हृदयेषु समाहतः ॥
मध्यस्थानोद्भवत्त्वाच्च 'मध्यम' स्तेन कीर्त्तितः ॥ ६ ॥
वायुः समुत्थितो नाभेरोष्ठ-कण्ठ-शिरो-हृदः ॥
पञ्चस्थानसमुद्भूतः 'पञ्चम' स्तेन उच्यते ॥ ७ ॥
नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठ-तालु-शिरो-हतः ॥
निषीदन्ति स्वराः सर्वे 'निषाद' स्तेन कथ्यते ॥ ८ ॥
नराणांतु मुखं यद्वद्दर्पणेषु विवर्त्तितम् ॥
प्रतिभान्ति स्वरास्तद्वत् श्रुतिष्वेव विवर्त्तिनः ॥ ९ ॥
श्रुतयः स्वररूपेण परिणामं व्रजन्ति हि ॥
परिणामे यथा क्षीरं दधिरूपेण सर्वथा ॥ १० ॥
षड्जादयः स्वराः सप्त व्यज्यन्ते श्रुतिभिः सदा ॥
अन्धकारस्थिता यद्वत् प्रदीपेन घटादयः ॥ ११ ॥

जैसाकि नाद-प्रसङ्ग में निवेदन किया गया है--हृदयोपलक्षित-**उरःस्थान-कण्ठस्थान-शिरःस्थान**, नामक तीन भेदों से **मन्द्रनाद-मध्यनाद-तारनाद**--इन त्रिविध नादों से अनुप्राणिता **मन्द्रश्रुति--मध्यश्रुति--तारश्रुति**--इन तीन श्रुतियों की अभिव्यक्तिरूप सप्तस्वर भी ( प्रत्येक स्वर भी ) **मन्द्रस्वर--मध्यस्वर--तारस्वर**--भेदने तीन महिमा भावों में परिणत रहते हैं, जिस इस त्रित्त्व का मूलाधार--सवनत्रयात्मक--वह सम्वत्सरमण्डल ही माना गया है, जिसका मन्द्रस्वरात्मक--गायत्रीछन्दस्क--अग्निप्रधान--पृथिवीलोक ही प्रातःसवन है। मध्यस्वरात्मक--त्रिष्टुपछन्दस्क--वायुप्रधान--अन्तरिक्षलोक ही माध्यन्दिनसवन है। एवं तारस्वरात्मक--जगतीछन्दस्क--आदित्यप्रधान--द्युलोक ही सायंसवन है, जिस इस त्रैलोक्यमयी--सच्छन्दस्का--सवनत्रयी का प्रत्येक अहःकाल में ( प्रत्येक दिनमें ) भी **प्रातः-मध्याह्न-सायं**-रूप से क्रमिक-भोग होरहा है जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

| | | | |
|---|---|---|---|
| सर्वानुगता त्रयी | मन्द्रनादः | मध्यनादः | तारनादः |
| | मन्द्रश्रुतिः | मध्यश्रुतिः | तारश्रुतिः |
| | मन्द्रस्वरः | मध्यस्वरः | तारस्वरः |
| आधिदैवतम् | त्रिवृत्स्तोमः (९) | पञ्चदशस्तोमः (१५) | एकविंशस्तोमः |
| | पृथिवी | अन्तरिक्षम् | द्यौः |
| | अग्निः | वायुः | आदित्यः |
| | गायत्री | त्रिष्टुप् | जगती |
| | प्रातःसवनम् | माध्यन्दिनंसवनम् | सायंसवनम् |
| आधिभूतम् | प्रातकालः | मध्याह्नकालः | सायंकालः |
| आध्यात्मम् | उरःस्थानम् | कण्ठस्थानम् | शिरःस्थानम् |

त्रिस्थान-भेद से तीन प्रमुख भागों में विभक्त सप्त स्वर ही सङ्गीतसास्त्र में **'शुद्धस्वर'** कहलाए हैं, सप्त-शुद्धस्वर ही श्रुतियों के तारतम्य से **'बारह-प्रकार'** की अवान्तर-सांयौगिकी-अवस्थाओं में परिणित होजाते हैं। वे ही यौगिक स्वर-**'विकृतस्वर'** कहलाए हैं, जिन का भी प्रसङ्गोपत्त तालिकामात्र से नामस्मरण कर लिया जाता है—

# विकृतस्वर-तालिका

| संख्या | नाम | व्यस्थिति: | अवस्था |
|---|---|---|---|
| १ | च्युतषड्ज: | मन्दासंस्थित: | द्विश्रुतिक: |
| २ | अच्युत-षड्ज: | छन्दोवतीस्थ: | द्विश्रुतिक: |
| ३ | विकृतर्षभ: | रतिकास्थित: | चतु:श्रुतिक: |
| ४ | साधारणगान्धार: | वज्रिकास्थित: | त्रिश्रुतिक: |
| ५ | अन्तरगान्धार: | प्रसारिणीस्थ: | चतु:श्रुतिक: |
| ६ | च्युत--मध्यम: | प्रीतिसंस्थित: | द्विश्रुतिक: |
| ७ | अच्युत-मध्यम: | मार्ज्जनीस्थ: | द्विश्रुतिक: |
| ८ | त्रिश्रुति-पञ्चम: | सन्दीपनीस्थ: | त्रिश्रुतिक: |
| ९ | कौशिक-पञ्चम: | सन्दीपनीस्थ: | चतु:श्रुतिक: |
| १० | विकृत-धैवत: | रम्यासंस्थित: | चतु:श्रुतिक: |
| ११ | कौशिक-निषाद: | तीव्रासंस्थित: | त्रिश्रुतिक: |
| १२ | काकली-निषाद: | कुमुद्वतीस्थ: | चतु:श्रुतिक: |

ते-मन्द्र-मध्य-तारा-ख्य-स्थानभेदात्-त्रिधा मताः ।
ते एवं विकृतावस्था द्वादशा प्रतिपादिताः ।
तैः शुद्धैः सप्तभिः सार्द्धं भवन्त्येकोनविंशतिः ॥ (१६) ॥

**अन्यदपि किञ्चित्-प्रासङ्गिकं-स्वर-सम्बन्धे-एव—**

परब्रह्मानुगत-अर्थों के-'आम्भृणीकुल' में जैसे वर्ण-जाति-छन्द-ऋषि-देवता-आदि-व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हैं, ठीक उसीप्रकार शब्दब्रह्मानुगत 'सरस्वतीकुल' में सम्भूत इन स्वरों में वर्ण-छन्द-ऋषि-देवता-आदि सभी व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हैं, जिन के वैज्ञानिक-स्वरूप-विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है। पाठको के चिन्तन-मनन-सौकर्य्य-मात्र के लिए-उन अवस्थाओं में से कतिपय अवस्थाओं का यहाँ नामस्मरण-मात्र ही कर लिया जाता है।

षड्ज स्वर (सा) के 'ऋषि 'वह्नि' हैं, ऋषभ (रि) के ब्रह्मा हैं, गान्धार (ग) के चन्द्रमा हैं, मध्यम (म) के विष्णु हैं। पञ्चम (प) के नारद हैं, धैवत, और निषाद के (ध-नी-के) तुम्बुरु हैं। सातों स्वरों के क्रमशः वह्नि, ब्रह्मा, सरस्वती, शर्व, (महादेव) विष्णु, गणपति, सूर्य्य, ये सात—'देवता' हैं। सातों के क्रमशः—अनुष्टुप्-गायत्री-त्रिष्टुप्-बृहती-पङ्क्ति-उष्णिक्-जगती-ये सात छन्द हैं।

षड्ज--गान्धार--मध्यम (सा--ग--म), ये तीन स्वर देवकुल से समुत्पन्न हैं। पञ्चम--स्वर (प) पितृकुल से उत्पन्न है। ऋषभ और धैवत (रि--ध), ये दो स्वर ऋषिकुल से अभिव्यक्त हैं। एवं निषाद (नि) स्वर असुरकुल से उत्पन्न है। षड्ज, मध्यम, पञ्चम (सा--म--प) ये तीन स्वर वर्णतः 'ब्राह्मण' हैं। ऋषभ, और धैवत (रि-ध) ये दो स्वर 'क्षत्रिय' हैं। निषाद, और गान्धार, (नि-ग) ये दो स्वर 'वैश्य' हैं। एवं 'अन्तर काकली' * रूप में परिणत ये ही निषाद-गान्धार-'शूद्र' हैं।

षड्ज (सा) पद्मवर्ण (रक्तवर्ण) है, ऋषभ (रि) पिञ्जरवर्ण (ईषत्-पीतवर्ण) है। गान्धार (ग) स्वर्णवर्ण (अतिपीतवर्ण) है, मध्यम (म) कुन्दवर्ण (श्वेतवर्ण) है, पञ्चम (स) असितवर्ण श्वेतवर्ण) है। धैवत (ध) पीतवर्ण (सामान्य पीतवर्ण) है। एवं निषाद (नि) कर्बुरवर्ण (विचित्रवर्ण) है।

षड्जस्वर (सा) वीर, एवं अद्भुत-रसात्मक है, ऋषभस्वर रौद्ररसानुगत है, धैवत (ध) स्वर बीभत्स, तथा भयानक-रसात्मक है। गान्धार, और निषाद (ग-नि) ये दोनों स्वर करुणारसानुगत है। मध्यमस्वर (म) हास्यरसात्मक है, एवं पञ्चमस्वर (प) शृङ्गाररसात्मक है।

---

*—निषादः षड्जस्य यदि श्रुतिद्वयं संश्रयेत्, षड्जस्य द्वितीयश्रुतौ तिष्ठन्-चतुः-श्रुतिर्भवति-तदा-'काकली' त्युच्यते। गान्धारस्य मध्यमस्य श्रुतिद्वयं गृह्णन्-चतुःश्रुतिः सन् 'अन्तर' इत्युच्यते। तदित्थं-निषाद-गान्धारावेव-अनेन प्रकारेण-'काकल्यन्तरस्वरौ' इत्यवधेयम्।

षड्जस्वर ( सा ) की अभिव्यक्ति जम्बुद्वीप में हुई है। ऋषभस्वर ( रि ) की शाकद्वीप में, गान्धारस्वर (ग) की कुशद्वीप में, मध्यमस्वर ( म ) की क्रौञ्चद्वीप में पञ्चमस्वर (प) की शाल्मलीद्वीप में, धैवतस्वर ( ध ) की श्वेतद्वीप में, एवं निषादस्वर ( नि ) की अभिव्यक्ति पुष्करद्वीप में हुई है।

## अयमत्र संग्रहः—

वह्नि–र्वेधाः–शशाङ्कश्च लक्ष्मीकान्तश्च नारदः ॥
ऋषयो ददृशुः पञ्च षड्जादीस्तुम्बुरुर्धनी ॥ १ ॥
वह्नि–र्ब्रह्म–सरस्वत्यः–शर्व्व–श्री–गणेश्वराः ॥
सहस्रांशु–रिति प्रोक्ताः क्रमात् षड्जादिदेवताः ॥२॥
क्रमादनुष्टुप्–गायत्री–त्रिष्टुप्–च बृहती–ततः ॥
पंक्ति-रुष्णिक च--जगती--त्याहुश्छन्दांसि सादिषु ॥३॥
गीर्वाणकुलसम्भूताः षड्ज--गान्धार–मध्यमाः ॥
पञ्चमः पितृवंशोत्थो, रि--धः--ऋषिकुलोद्भवौ ॥४॥
निषादोऽसुरवंशोत्थो ............................ ॥
............ ...................ब्राह्मणाः स-म--पञ्चमाः ॥५॥
रि--धौ--तु क्षत्रियौ ज्ञेयौ वैश्यजातौ नि--गौ--मतौ ॥
शूद्रावन्तरकाकल्यौ ............ ............ ॥
............................स्वरवर्णास्त्विमे क्रमात् ॥६॥
पद्माभः, पिञ्जरः, स्वर्णवर्णः कुन्दप्रभोऽ,सितः ॥
पीतः, कर्व्बूर इत्ये .......................।
.......................षां जन्मभूमिमथ ब्रुवे ॥७॥
जम्बु-शाक-कुश-क्रौञ्च-शाल्मली-श्वेत-नामसु ॥
द्वीपेषु पुष्करे चैते जाताः षड्जादयः क्रमात् ॥८॥
स--री--वीरेऽद्भुते रौद्रे, धो बीभत्से भयानके ॥
कार्य्यौ ग--नी--तु-- करुणे, हास्य--शृङ्गारयो--र्म--पौ ॥९॥

| स्वराः-- | १ ऋषयः | २ देवाः | ३ छन्दांसि | ४ कुलनि | ५ वर्णजातयः | ६ वर्णभावाः | ७ रसभावाः | ८ अभिव्यक्तिभूमिः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प्रथमः-१-षडजस्वरः ( सा ) | वह्निः | अग्निः | अनुष्टुप् | देवकुलम् | ब्राह्मणः | पद्माभ; ( रक्तवर्ण ) | वीर, एवं अद्भुतरस | जम्बुद्वीपे |
| द्वितीयः-२-ऋषभस्वरः ( रे ) | ब्रह्मा | विधाता | गायत्री | ऋषिकुलम् | क्षत्रियः | पिञ्जराभः ( ईषत्पीतवर्ण ) | रौद्ररस | शाकद्वीपे |
| तृतीयः-३-गान्धारस्वरः ( ग ) | चन्द्रमाः | सरस्वती | त्रिष्टुप् | देवकुलम् | वैश्यः * | स्वर्णाभः ( अतिपीतवर्ण ) | वीरस | कुशद्वीपे |
| चतुर्थः-४-मध्यमस्वरः ( म ) | विष्णुः | महादेवः | बृहती | देवकुलम् | ब्राह्मणः | कुन्दाभः ( श्वेतवर्ण ) | हास्यरस | क्रौञ्चद्वीपे |
| पञ्चमः-५-पञ्चमस्वरः ( प ) | नारदः | नारायणः | पाङ्क्तिः | पितृकुलम् | ब्राह्मणः | असिताभः ( कृष्णवर्ण ) | शृङ्गाररस | शाल्मलीद्वीपे |
| षष्ठः-६-धैवतस्वरः ( ध ) | तुम्बुरुः | गणपतिः | उष्णिक् | ऋषिकुलम् | क्षत्रियः | पीताभः ( सामान्यपीतवर्ण ) | बीभत्स,एवं भयानकरस | श्वेतद्वीपे |
| सप्तमः-७-निषादस्वरः ( नी ) | तुम्बुरुः | सूर्यः | जगती | असुरकुलम् | वैश्यः * | कर्बूराभः ( विचित्रवर्ण ) | करुणरस | पुष्करद्वीपे |

*—ननु काकल्यन्तरयोरपि स्वरान्तरयोर्द्वयोः सद्भावात् -सप्तैव—स्वराः इति कथं नियम्यते ? । 'नवस्वरा' इति वक्तव्यम् ? इति मैवम् । अनाश्रयत्वात्-तयोः स्वरान्तरत्वं नास्ति—विकृतनिषादस्यैव काकलीत्वं, विकृतगान्धारस्यैव 'अन्तरत्वम्' -इति सप्तैव स्वराः । तथाचोक्तमभियुक्तैः :—

निषादः 'काकली' संज्ञो द्विश्रुत्युत्कर्षणाद् भवेत् ।।
गन्धार--स्तद्वदेव स्या--'दन्तर' स्वरसंज्ञकः ।।१।।
अनाश्रयत्वाद् भेदेन स्वरता नोच्यते तयोः ।।
अतो निषाद--गान्धारावेतावासै रुदाहृतौ ।।२।।

—दन्तिलः

व्यञ्जन का आधारभूत स्वरतत्त्व सात महिमाभावों में क्यों, और कैसे परिणत होगया ?, इस प्रासङ्गिक महत्त्व पूर्ण प्रश्न के सम्बन्ध में भी प्रसङ्गात् किञ्चिदिव निवेदन करना आवश्यक है। यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, स्वर 'अक्षरतत्त्व' का ही नाम है। जैसे अव्यय का साङ्केतिक नाम 'मन' है, क्षर का साङ्केतिक नाम वाक् है, एवमेव अक्षर का साङ्केतिक नाम 'प्राण' है। मनः–प्राण–वाग्–घन, अव्यय–अक्षर–क्षरात्मक–परात्पर–समन्वित–षोडशी-पुरुषात्मक 'पुरुष' ही तो 'परब्रह्म' का कृत्स्न--स्वरूप--परिचय है। इत्थंभूत पुरुषात्मा के परात्पराव्ययादि चारों महिमाविवर्त्तों को ही तो पूर्व में क्रमशः अर्द्धमात्रा--स्फोट--स्वर--व्यञ्जन इन नामों से समन्वित माना गया है। सर्वात्मक-सर्वनिरपेक्ष-अर्द्धमात्रात्मक--परात्पररूप अखण्डधरातल पर प्रतिष्ठित स्फोटात्मक--ज्ञानशक्तिघन आव्यपुरुष ही अर्थसृष्टि--का आलम्बनात्मक अधिष्ठानकारण है, स्वरात्मक--क्रियाशक्तिमय--अक्षरपुरुष ही अर्थसृष्टि का निमित्त--कारणात्मक असमवायिकारण है, एवं व्यञ्जनात्मक--अर्थशक्तिमय क्षरपुरुष ही अर्थसृष्टि का उपादान-कारणात्मक समवायिकारण है। इस कारणत्रयीरूप त्रिपुरुषपुरुषात्मा से ही शब्दात्मक पाञ्चभौतिक पञ्चपर्वा विश्व की, एवं पञ्चात्मिका विश्वप्रजा की अभिव्यक्ति हुई है। सैषा स्थितिः।

उक्त मूलस्थिति में सृष्टिकर्तृत्व प्रमुखरूप से उस स्वरात्मक अक्षर को ही प्राप्त है, जो क्रियाशक्तियुत प्राण से गतिशील बना हुआ है। संसरणधर्म्मा--गतिशील--परिवर्त्तनशील--विश्व का प्रमुख कर्त्ता गति--प्राणात्मक अक्षरतत्त्व, किंवा तदभिन्न स्वरतत्त्व, किंवा तद्रूप 'प्राण' तत्त्व ही बना हुआ है, जैसा कि— 'तथा--अक्षराद्विविधाः--सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। स्वरा--भिन्न--अक्षररूप इस 'प्राण' का ही साङ्केतिक नाम है--'असत्' तत्त्व। सद्रूपता ही सद्घन इस प्राणाक्षर की 'असद्' अभिधा का कारण है। यही मौलिक असत् (सद्रूप) प्राणतत्त्व अपने सहज प्राणनरूप गतिधर्म्म से 'रिषति-गच्छति-आरिषन् वा' इत्यादि निर्वचनानुसार 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है *।

सृष्टि के मूलप्रवर्त्तक 'असत्'–नामक ऋषिप्राण की एकर्षि, द्व्यर्षि, त्र्यर्षि, सप्तर्षि, दशर्षि, आदि विविध जातियाँ है। विरूपासः ÷, विविधरूपासः–इन ऋषिप्राणों में भूतभौतिकी सृष्टि का प्रमुख आधार वह 'सप्तर्षि' नामक प्राणविशेष ही बना करता है, जिस के इन सात अवयवों के '४–२–१' इस क्रम से तीन संस्थान माने गए हैं। ये ही तीनों संस्थान क्रमशः चत्त्वार आत्मा, द्वौ–पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा रूप से उपवर्णित हैं। चार प्राणों की समष्टि ही 'चत्त्वार आत्मा' है। दो प्राणों की समष्टि दो पक्ष हैं, एवं

---

*-असद्वा इदमग्रे-आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः–के ते ऋषय इति ?. प्राणा वा ऋषयः। ते यत्–अस्मात्--सर्वस्यात्--इद-मिच्छन्तः--श्रमेण तपसा--अरिषन्--तस्मात्--ऋषयः।

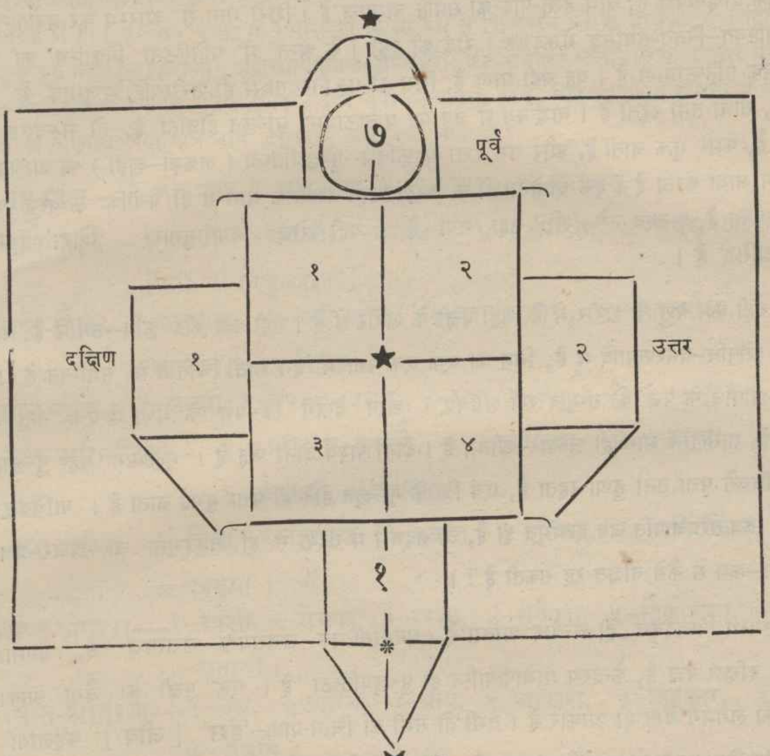
--शत० ६।१।१।१।

÷ विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
तोऽङ्गिरसः सूनवः, तेऽग्नेः परिजज्ञिरे ॥

—ऋक्सं०

एक प्राण प्रतिष्ठात्मक पुच्छंभाव है । प्रत्येक भूतसृष्टि का प्राणात्मक-रेखाचित्र बनाइए, और उसके इन सात-प्राणों को निम्नलिखित रूप से व्यवस्थित कीजिए । और हाँ, यह ध्यान रखिए कि, इन सातों प्राणों का ही नाम 'चित्यपुरुष' है, जिस के मन्थन से जो ऊर्ध्वविनिर्गत-चितेनिधेय विशुद्ध अमृतभाग है, जो कि-'सप्तानां पुरुषाणां श्रीः' कहलाया है, वही आठवाँ ( सातों के रसात्मक अमृतभाग से अभिव्यक्त-सप्तमूर्त्ति-ऊर्ध्वभाग ) विभाग है ।

**"चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा", इति सप्तपुरुषात्मकश्चित्यप्रजापतिः —**




उक्त परिलेख के मध्य के चार चित्यप्राण, दक्षिणोत्तर पार्श्वों के दो चित्यप्राण, पश्चिमानुगत एक चित्यप्राण, इन सातों चित्यप्राणों की समष्टि का नाम तो चित्यपुरुष है, एवं पूर्वानुगत उस अष्टम का नाम-'चितेनिधेय पुरुष' है, जिसे-'अमृत' कहा गया है । यों अमृत--मर्त्य-के समन्वय से सम्पन्न यह सप्तपुरुषा--त्मक प्राणात्मा--प्रजाप्रति ही वह 'छन्द' है, जिसमें इसी अनुपात से क्षरात्मक भूत प्रतिष्ठित होते हैं, और क्षरभूतों के यथास्थान प्रतिष्ठित होते ही वह अव्यक्त-प्राणपुरुष-व्यक्तभूतरूप में परिणत होता हुआ-'विश्व'

नाम धारण कर लेता है। लोकप्रसिद्ध–सञ्चा [ साँचा–रेखाचित्र–मॉडल ] ही **'छन्दःपुरुष'** है । एव प्रत्येक भूतभौतिकी सृष्टि में यही सप्तप्राणामूर्त्ति अक्षरात्मक स्वरात्मा मूलाधार बना हुआ है।

मनुष्य को लीजिए। जिसे–'धड़' कहा जाता है, वही 'मध्वाङ्ग' है, और हृदय से ऊपर कण्ठ पर्य्यन्त, तथा नीचे ब्रह्मग्रन्थि–पर्य्यन्त सम्पूर्ण मध्याङ्ग में चार प्राण प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि प्राणचतुष्टयात्मक इसी मध्याङ्ग के आधार पर मस्तक–हाथ--पैर आदि इतर सभी शारीरिकपर्व प्रतिष्ठित रहते हैं। एतावता ही इस विभागचतुष्टयी को–**'चत्त्वार आत्मा'** कह दिया जाता है। दक्षिण हाथ–दक्षिण पाद, दोनों की समष्टि एक-प्राणात्मक दक्षिणपक्ष है, वाम हस्त-पाद की समष्टि वामपक्ष है। शिरो भाग से आरम्भ कर ब्रह्मग्रन्थि पर्य्यन्त लम्ब--यष्टिवत्--वितत-सुप्रसिद्ध मेरुदण्ड [ रीड की हड्डी ] के अन्त में प्रतिष्ठिता त्रिकास्थि का प्राण ही पुच्छात्मक प्रतिष्ठाप्राण है। यह वही प्राण है, जिस की प्रकृतिस्थता में हीं शरीरयष्टि ऋजुभाव से प्रतिष्ठित रहती है, सीधी तनी रहती है। वार्द्धक्य में जब यह प्रतिष्ठाप्राण मूर्च्छित होजाता है, तो मेरुदण्ड अवनत होजाता है, कमर झुक जाती है, और उस दशा में कृत्रिम--पुच्छप्रतिष्ठा ( लकड़ी--छड़ी ) का आश्रय अनि-वार्य्य बन जाया करता है। इन सातों प्राणों के अमृतप्रधान रसात्मक भाग से ही क्योंकि ऊर्ध्वस्थ भाग का निर्म्माण होता है, अतएव उसे--'श्रीः' कहा गया है। यही परोक्ष नियमानुसार **'शिरः' [ मस्तक ]** नाम से प्रसिद्ध है।

यही क्रम पशु के शरीर में है, यही पक्षी के शरीर में है। यही क्रम कीट--कृमि--सर्ग में है, और यही क्रम उन ओषधि--वनस्पत्यादि में है, जिन का एक एक पत्ता भी इन सातों चितियों से समन्वित है। किसी भी वृक्ष--ओषधि के पत्ते को सम्मुख रख लीजिए। आप देखेंगे कि--पत्ते के मध्य में एक तन्तु है--वही मेरुदण्ड है, तत्संलग्न भाग ही चत्त्वार--आत्मा है। दोनों पार्श्व दोनों पक्ष है। मूलभाग वह पुच्छप्रतिष्ठा-प्राण है, जिससे पत्ता तना हुआ रहता है, एवं जिसके मूर्च्छित होते ही पत्ता मुर्भा जाता है। पार्थिवसृष्टि का सर्वस्वभूत सम्वत्सरप्रजापति जब इत्थंभूत ही है, तो तद्गर्भ में तदंश से ही समुद्भूता चर--अचर--प्रजा इस सप्तसंस्थान–क्रम से कैसे वञ्चित रह सकती है ?।

मध्यस्थ विष्वद्वृत्त ही चत्त्वार आत्मा है, षण्मासात्मक उत्तरायण उत्तरपक्ष है, षण्मासात्मक दक्षिणायन दक्षिण पक्ष है, केन्द्रस्थ प्राजापत्याग्नि ही पुच्छप्रतिष्ठा है। एक पक्षी का जैसा आकार है, सप्तचिति का लगभग वैसा ही आकार है। तभी तो सभी का चित्य-प्राण--**'हंस'** [ जीव ] कहलाया है। इसीलिए इस चित्यपुरुष का साङ्केतिक नाम होगया है-**'सुपर्ण'**। सम्वत्सरात्मक महासुपर्ण* ही **साक्षी सुपर्ण** है, एवं तदंशभूत प्राणी ही **भोक्ता सुपर्ण** है।

---

***--अथ ह वा एष महासुपर्ण एव सम्वत्सरः। तस्य यान्पुरस्तात् विषुवतः--षण्मासानु-पयन्ति, सोऽन्यतरः पक्षः। अथ यान् षडपरिष्टात्–सोऽन्यतरः। आत्मा विषुवान्।**
---शत० १२।२।३।७

जिसप्रकार त्रिपुरुष-पुरुषात्मक षोडशी—पुरुषात्मा के मनः-प्राण-वाङ्मय-त्रिवृद्भाव से आत्मसर्गात्मक विश्व को समष्टि, और व्यष्टिरूप से त्रिपर्वात्मक माना गया है *, एवमेव अक्षरप्राणात्मक सप्तप्राणात्मक-सप्तपुरुषात्मक प्रजापति की तथोक्ता आत्मा-पक्ष-पुच्छ-रूपा सात चितियों के अनुबन्ध से विश्व को समष्ट्या व्यष्ट्या, उभयथा सप्तपर्वा भी कहा जासकता है, कहा गया है। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम मानवशरीर को ही लक्ष्य बनाइए। मानवशरीर में **शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, बस्तिगुहा,** नामक चार गुहाविवर्त्त हैं, जिन इनमें ( प्रत्येक में ) सात-सात-प्राणों का समन्वय हो रहा है, जैसाकि— **'गुहाशाया निहिताः सप्त सप्त'**÷ इत्यादि वचन से स्पष्ट है। गुहानिहित इन चारों सप्तकों का भी शतपथ-प्रथमखण्ड में हीं ( पृ० सं० ३३६ में ) परिलेख के माध्यम से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। विश्व में स्वरों का ही सप्तक नहीं है। अपितु अक्षरप्राणात्मक-सप्तस्वरों की तथोक्ता सप्तचिति के आधार पर अवस्थित समष्टि-व्यष्टिरूप यच्चयावत् भूत--भौतिक--पदार्थ सप्त--भावापन्न हीं हैं, जिन अगणित सप्तकों में से कुछ एक सप्तकों का तालिकारूपेण अत्र नाम दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

**१–सप्त-प्राण**—२ श्रोत्रप्राण, २ चक्षुःप्राण, २ नासाप्राण, १–मुखप्राण।

**२–सप्त-अर्चि**—१–काली, २–कराली, ३–मनोजवा, ४–सुलोहिता, ५–सुधूम्रवर्णा, ६–स्फुलिंगिनी–७–विश्वरूपा।

**३--सप्त-होम**—१–पाकयज्ञ, २–अग्निहोत्र, ३–दर्शपूर्णमास, ४–चातुर्म्मास्य, ५–सोमयज्ञ, ६–महायज्ञ, ७–अनियज्ञ।

**४–सप्त-लोक**—१–सत्यम्, २–तपः ३–जनत्, ४–महः, ५–स्वः, ६–भुवः, ७–भूः।

**५--सप्त-अग्निजिह्वा**— १–काली, २–कराली, ३–रक्तवर्णिका, ४–धूम्रपुष्पा, ५--धूम्रशीर्षा, ६--उज्वलनी, ७–जयवती।

**६--सप्त-अग्नि**—१–जिह्वा, २–हिरण्या, ३--कृष्णा, ४--रक्तिका, ५--अतिरक्तिका, ६–गगना, ७--बहुरूपा।

**७--सप्त-अप्सरा**—१--उर्वशी, २--मेनका, ३--रम्भा, ४--सुकेशी, ५--तिलोत्तमा, ६--मञ्जुघोषा, ७--घृताची।

**८--सप्त-आवरण**—१--जल, २--अग्नि, ३--वायु, ४--आकाश, ५--अहङ्कार, ६--महत्तत्त्व, ७-- प्रकृति।

---

* शतपथभाष्य--प्रथमखण्ड में इन त्रिपर्वों का संकलन किया जाचुका है ( देखिए ! प्रथमखण्ड--पृ० सं० ५११ से ५२० पर्य्यन्त।

÷ सप्त प्राणः प्रभवन्ति तस्मात्, सप्तार्चिषः, समिधः, सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशाया निहिताः सप्त सप्त॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।८।

९–सप्त-ऊर्ध्वलोक—१--ब्रह्मलोक, २-.वैकुण्ठ, ३-शिवलोक, ४--सुरलोक, ५--सूर्य्यलोक, ६--पितृलोक, ७--सिद्धलोक।

१०–सप्त-अधोलोक—१-मायालोक, २--यमलोक, ३-गन्धर्वलोक, ४--यक्षलोक, ५--किन्नरलोक, ६–नागलोक, ७–दैत्यलोक।

११–सप्त-ऋषि—१–महर्षि, २--ब्रह्मर्षि, ३–देवर्षि, ४--राजर्षि, ५--परमर्षि, ६--काण्डर्षि, ७--श्रुतर्षि।

१२–सप्त-कल्प—१--पार्थिवकल्प, २--कूर्म्मकल्प, ३--अनन्तकल्प, ४--ब्रह्मकल्प, ५--रुद्रकल्प, ६--श्वेतवाराहकल्प, ७--प्रलयकल्प।

१३–सप्त-पितर—१--आज्यपा, २–सोमपा, ३–हविर्भुक्, ४--अग्निष्वात्ता, ५--सोमसत्, ६--बर्हिषत्, ७–सुकाली।

१४–सप्त-देवपुरी—१--विष्णुपुरी, २--शिवपुरी, ३--ब्रह्मपुरी, ४--यमपुरी, ५--वरुणपुरी, ६--अलकापुरी, ७--अमरपुरी।

१५–सप्त-द्वीप—१--जम्बु, २--प्लक्ष, ३--शाल्मली, ४--कुश, ५--क्रौञ्च, ६--शाक, ७--पुष्कर।

१६–सप्तसमुद्र—१-लवणोद, २-इक्षुरोद, ३--सुरोद, ४-घृतोद, ५-दधिमण्डोद, ६-क्षीरोद, ७-स्वादूदक्।

१७–सप्त-वायु—१-आवह, २-प्रवह, ३-संवह, ४-अनुवह, ५-विवह, ६-परावह, ७-परिवाह।

१८–सप्त-पाताल—१-अतल, २-वितल, ३-सुतल, ४-तलातल, ५-महातल, ६-रसातल, ७-पाताल।

१९–सप्तनरक—१-रौरव, २-तान, ३-विमोहन, ४-कृमीश, ५-लालाभक्ष, ६-अधःशिरा, ७-अवीचि।

२०–सप्त-स्वर्ग—१-अपोदक, २-ऋतधामा, ३-अपराजित, ४-ब्रध्नस्यविष्टप्, ५-अधिद्यौः, ६-प्रद्यौः ७-रोचना।

२१–सप्त-पर्वत—१-कुलगिरि, २-शाखागिरि, ३-पादगिरि, ४-स्तूपगिरि, ५-वर्षपर्वत, ६-विष्कम्भपर्वत, ७-केसरपर्वत।

२२–सप्त-नदी—१-चतुर्गङ्गम्, २-सप्तगङ्गम्, ३-नदी, ४-महानदी, ५-शाखानदी, ६-क्षुद्रनदी, ७-कुल्या।

२३–सप्त-देश—१-पुरी, २-पत्तन, ३-महानगर, ४-नगर, ५-ग्राम, ६-खरवट, ७-उपनिवेश।

२४–सप्त-प्रसिद्ध-पर्वत—१-हिमालय, २-विन्ध्याचल, ३-हेमकूट, ४-निषध, ५-मल्लिमान्, ६-पारियात्र, ७-गन्धमादन।

२५–सप्त-धान्य—१-गोधूम ( गैहूँ ), २-यव ( जौ ), ३-तिल, ४-माष ( उर्द ), ५-मुग्द (मूंग), ६-अक्षत ( चाँवल ), ७-वज्र ( बाजरा )।

२६–सप्त-राज्याङ्ग—१-सेना, २-दुर्ग, ३-मन्त्री, ४-कोश, ५-देश, ६-मित्र, ७-स्वामी।

२७–सप्त-वार—१-रवि, २-सोम, ३-मङ्गल, ४-बुध, ५-बृहस्पति, ६-शुक्र, ७-शनैश्चर।

२८–सप्त-सर-(सरोवर)—१–मानसर, २–मणिसर, ३–बिन्दुसर ( विष्णुसर ), ४-पम्पा-सर, ५–गरुडसर, ६-रामसर, ७–अच्छोदसर।

२९–सप्त-देवच्छन्द–१–गायत्री, २-उष्णिक्, ३-अनुष्टुप, ४-बृहती, ५–पंक्ति, ६–त्रिष्टुप्, ७–जगती।

३०–सप्त-ज्योतिष्टोम–१–अग्निष्टोम, २–अत्यग्निष्टोम, ३–उक्थ्यस्तोम, ४–षोडशीस्तोम, ५–अतिरात्रस्तोम, ६–वाजपेयस्तोम, ७–अप्तोर्य्यामस्तोम।

३१–सप्त-ऊर्ध्व प्रजातन्तु–१–पुत्र, २-पिता, ३-पितामह, ४–प्रतितामह, ५-वृद्ध-प्रपितामह, ६–अतिवृद्धप्रपितामाह, ७-वृद्धातिवृद्ध-प्रपितामह (सापिण्डय साप्तपौरुषम)

३२–सप्त-अधः-प्रजातन्तु–१–पिता, २-पुत्र, ३–पौत्र, ४–प्रपौत्र, ५–वृद्धप्रपौत्र, ६–अतिवृद्धप्रपौत्र, –वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र।

३३–सप्त–सङ्गीतस्वर–१–षड्ज, २-ऋषभ, ३-गान्धार, ४-मध्यम, ५-पञ्चम ६-धैवत, ७–निषाद।

३४–सप्त–स्वरोच्चारण—१-सा, २-रे। ३-ग, ४-म, ५-प, ६-ध, ७-नी।

तदित्थं–"चत्वार आत्मा (४), द्वौ पक्षौ (२), पुच्छं प्रतिष्ठा (१)" रूपेण सप्तात्मक बने हुए-सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अक्षराभिन्न स्वरात्मक ऋषिप्राण) से क्षरात्मक व्यञ्जन के द्वारा अभिव्यक्त, समुद्भूत, उत्पन्न इस विश्व में इस सप्तचितिक प्रजापति के अनुबन्ध से सर्वत्रैव समष्टि, व्यष्टि-रूप से सप्त-महिमा–भावों का विस्तार होरहा है। सप्त-पुरुष,सप्त-ऋषि, सप्त-अहोरात्रवृत्त,सप्त-कपाल,सप्त-कर्ण, सप्त-चक्र, सप्त-होता, सप्त-तन्तु, सप्त-अदितिपुत्र, सप्त-मरुद्गण, सप्त-ऋतु सप्तप्राणानुगत जिन सप्तकों का पूर्व में संस्मरण हुआ है, उनके अतिरिक्त अगणित असंख्य-सप्तकों का वेदशास्त्र में यत्र-यत्र यज्ञप्रक्रियाओं के भेद से स्वरूप-निरूपण हुआ है, जिनके विस्तार का अत्र अवसर नहीं है। उनमें से कतिपय सप्तक-नामों का संस्मरण ही पर्य्याप्त होगा वेदस्वाध्याय-प्रक्रान्ति के अनुबन्ध से। सप्तपुरुष ( शत० ६।१।१।१ )।, सप्त-ऋषि (शत० ८।४।३।६।), सप्तकपाल (शत० २।५।१।१२), सप्तकर्ण (तै० आ० १।७।२।), सप्तकृत्वस् (तै० ब्रा० २।३।६।३।), सप्तगण(तै० (ब्रा० १।६।२।३।), सप्तचक्र (तै० ब्रा० २।२।१।५।) सप्तचितिक (शत० ६।६।१।१४।), सप्ततन्तु (गो० ब्रा० १।१।१२।), सप्ततय्यः (शत० ६।५।३।११।), सप्तनामा (तै० आ० ३।११।६।), सप्तनिधन (जै० आ० २।११।५।) सप्तपदम् (ऐ० ब्रा० ५।१२।१३।) सप्तपुत्र (जै० उ० ब्रा०

२।२।३।८।), सप्तमुख्य (सा० ३।६।१०), सप्तरश्मि (तै० ब्रा० २।८।२।७।), सप्तरात्र (गो० १।२।६।), सप्तर्च (शत० ६।५।२।१।), सप्तवर्षा (गौ० १।३।७।)। सप्त-स्वसा (तै० ब्रा० २।४,६।१।) सप्तहूत (तै० ब्रा० २।३।११।२। , सप्तहोता तै० ब्रा० ३।७।३।), सप्ताह (शत०-१३।१।७।२।), इत्यादि रूप से सर्वत्रैव सप्त सप्त-मौलिक स्वरप्राणमूर्त्ति अक्षरप्रजापति की व्याप्ति देखी जासकती है, जिस के अनुबन्ध से ही सङ्गीतानुगत--नादात्मक-श्रुत्यनुगत-स्वरों को भी सात ही विवर्त्तभावों में परिणत हो जाना पड़ता है। नाद-वैश्वानर अग्नि ही तो है। नाद ही तो श्रुति के द्वारा 'स्वर' रूप से अभिव्यक्त हुआ है। वैश्वानर चित्य अग्नि उसी सप्तमूर्त्ति पुरुषप्रजापति के छन्दोरूप आयतन से सप्तचिरूप में परिणित होकर ही प्राणियों की शारीरिक--संस्था का अधिनायक बना हुआ है, जैसाकि—'सप्तचितिकोऽग्निः' इत्यादि से स्पष्ट है। सप्तचितिक नादात्मक इस वैश्वानरप्राणाग्नि के अनुबन्ध से ही तो तत्र प्रतिष्ठत भूत भी १-रस, २-असृक्, ३-मांस, ४-मेद, ५-अस्थि, ६-मज्जा, ७-शुक्र (सप्तधातवः), इन सात ही अवयवों में विभक्त होकर चित है। इस सप्त अग्नि-चिति (प्राणाग्निचिति), सप्तभूतचिति (धातुचिति) के अतिरिक्त सप्त-उपधातु, सप्त रस, सप्त उपरस, सप्त विष, सप्त उपविष, आदिरूपेण शरीर में अन्यान्य भी अनेकविध सप्तचितियाँ हैं। और यों मूलस्वरात्मक प्राणात्मक-सप्तपुरुषप्रजापति की सप्तावयवता ही इन यच्चयावत् आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक-सप्तमहिमाभावों का मूलप्रवर्त्तक बना हुआ है। नादानुगत-श्रुत्यात्मक स्वर क्यों और कैसे सप्तभावों में परिणत होगया ? इस प्रासङ्गिक प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है, जिस के आधार निम्नलिखित श्रुतिवचन ही बने हुए हैं—

१—"सप्त ते अग्ने ! समिधः। प्राणा वै समिधः। प्राणा ह्येतं-अग्निं (भूताग्निं) समिन्धते। सप्त जिह्वा इति। यान्-अमून-सप्त-पुरुषान् एकं पुरुषमकुर्वन्, तेषामेतदाह। सप्तऽऋषय इति। सप्त हि तऽऋषय आसन्। सप्त धाम प्रियाणि-इति। छन्दांस्येतदाह। छन्दांसि वा अस्य (अग्नेः) सप्त प्रियाणि धामानि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति, इति। सप्त ह्येते होत्रा सप्तधा यजन्ति। सप्त योनिरिति। चितिरेतदाह। सप्त-सप्त-इति सप्तचितिकोऽग्निः। सप्तर्त्तवः सम्वत्सरः। सम्वत्सरोऽग्निः। यावानग्निः, यावत्यस्य मात्रा, तावता-एवैनमेतत्-प्रीणाति"।

—शतपथब्राह्मण ६।२।३। ४४, ४५,

२—"सप्तर्चं भवति। सप्तचितिकोऽग्निः। सप्तर्त्तवः। सप्त दिशः। सप्त देवलोकाः। सप्त स्तोमाः। सप्त पृष्ठानि। सप्त छन्दांसि। सप्त ग्राम्याः पशवः। सप्त-आरण्याः पशवः। सप्त शीर्षन् प्राणाः। यत्किञ्च सप्तविधं-अधिदेवतं, अध्यात्मं (अधिभूतंच), तदेनेन सर्वमाप्नोति"।

—शत० ६।४।२।८।

उक्त सप्तक-विवेचन से स्पष्ट है कि, सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त सप्तावयव--सप्तचितिक- नादमूर्त्ति वैश्वानराग्निप्राण हीं श्रुति के द्वारा सप्त-स्वररूप में परिणित होरहा है, जिस का सहज निष्कर्ष यही है कि, मानव

का सप्तचितिक प्राणाग्नि ही (नाद ही) मरुत्नामक वायुके द्वारा (श्रुति के द्वारा) उरः-कण्ठ-शिरः-इन तीन स्थानों से प्रत्याहत होता हुआ स्वरात्मिका ध्वनि के रूप में परिणत होता हुआ बहिर्मण्डल के माध्यम से तत्र व्याप्त सुसूक्ष्म वाक्समुद्र में वीचिरूप से तरङ्गायित बनकर श्रोताओं की कर्णशष्कुलियों में प्रतिष्ठित प्रज्ञानपन पर आघात करता हुआ 'कर्णमधु' बनता रहता है। और यों हृदयोपलक्षित उरः स्थान में उक्थरूप से पुञ्जीभूत नादाग्नि ही श्रुति के द्वारा 'स्वर' रूप में परिणत होता हुआ बाहिर निकला करता है। क्योंकि-नाद-श्रुति-स्वर-इन प्रक्रमों के माध्यम से प्राणाग्नि ही भूताग्नि से समन्वित होता हुआ उक्त क्रम से बाहिर निकलता है, अतएव अधिक-शब्द विनिर्गमन से मानव की शरीरसंस्था और प्राणसंस्था, दोनों ही शिथिल होजाती हैं।

नादात्मक-श्रुतिसमन्वित-स्वरभावापन्न चितेनिधेयाग्नि से समन्वित इस चित्याग्नि की सुप्त, जाग्रत, भेद से शास्त्र ने दो अवस्था मानी हैं। रात्रि में सुषुप्तिदशा में (सो जाने पर) चित्याग्नि अन्तर्मुख बन जाता है। यही चित्याग्नि की सुप्तावस्था है। सूर्य्योदय के साथ ही (आधिदैविक अग्नि की अभिव्यक्तिरूप जागरण के साथ ही) मानव का शारीरिक-अग्नि भी-'अग्निर्जागार' रूप से उद्बुद्ध होपड़ता है। सौर अहः-कालपर्य्यन्त (शयन से पूर्व पूर्व) यों अग्नि जागरूक ही बना रहता है। यही इसकी 'जाग्रदवस्था' है।

सौरसत्तात्मक अहःकाल सूर्य्योदय से सूर्यास्त पर्य्यन्त गायत्री-त्रिष्टुप् जगती-नामक तीन छन्दों के अनुपात से-प्रातः-मध्याह्न-सायं-भेद से तीन सवनों में विभक्त है, जिन प्रातःसवनादि तीनों सवनों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रातः ६ से सायं ६ पर्य्यन्त ४-४-४-होरा (घन्टा) के अनुपात से (सामान्य-मानानुसार) तीन विभाग कर लीजिए। इन तीनों में सौर-पार्थिव-सावित्र-गायत्र-अग्नियों की समन्वितावस्थारूप अग्नि अपनी अहःकालीना जाग्रदवस्था से क्रमशः मन्द्र-मध्य-तार-नाम की तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। ६ से १० पर्य्यन्त का प्रातःकालीन-गायत्र-छन्दस्क--जाग्रदग्नि ही—'प्रातःसवनीय'-'मन्द्राग्नि' है। ११ से २ पर्य्यन्त का मध्याह्नकालीन-त्रिष्टुप्-छन्दस्क जाग्रदग्नि ही 'माध्यन्दिनसवनीय'-'मध्याग्नि' है। एवं ३ से ६ पर्य्यन्त का सायंकालीन-जगती-छन्दस्क-जाग्रदग्नि ही—'सायंसवनीय'-'ताराग्नि' है। 'सामान्य-उच्च-अत्युच्च' ही मन्द्र-मध्य-तार-भाव हैं। और इसी प्राकृतिक स्थिति के तारतम्यानुपात से मानव का अहःकालीन-जाग्रदग्नि भी प्रातः-मध्याह्न-सायं-रूपेण मन्द्र-मध्य-तार-रूपेण तीन ही अवस्थाओं में परिणत रहता है।

मानवशरीर में प्रकृति के प्रातः-मध्याह्न-सायं-नामक तीन सवनों के प्रतिरूपात्मक स्थान क्रमशः उरः-कण्ठ-शिरः हैं। अतएव शब्दानुगत-स्वररहस्यवेत्ताओंनें स्वरात्मक-शब्दोच्चारण के सम्बन्ध में यही व्यवस्था की है कि, प्रातःसवनीय-गायत्र-प्रातःकाल में मानव को उरःस्थान से मन्द्र-स्वर से ही शब्दोच्चारण करना चाहिए, जैसेकि शार्दूल (सिंहजातिविशेष) उरःस्थान से ही बोला करता है। माध्यन्दिनसवनीय-त्रैष्टुभ-मध्याह्नकाल में मानव को कण्ठस्थान से ही बोलना चाहिए, जैसेकि चक्रवाकादि कण्ठस्थान से ही बोला करते हैं। एवं सायंसवनीय-जागत-सायंकाल में मानव को शिरःस्थान से ही तारस्वर से बोलना चाहिए, जैसे कि मयूर-हंसादि शिरःस्थान से ही बोला करते हैं। ऐसा क्यों ?, का उत्तर है-'प्रकृतिवद्-विकृतिः कर्त्तव्या'—'देवाननुविधा वै मनुष्याः' इत्यादि निगम। प्रकृति में नादस्वरात्मक-प्राकृतिक-ध्वनि का यही क्रम है। वैसा ही यहाँ होना चाहिए।

रात्रि में सुप्त अग्नि को यदि प्रातःकाल में जागरण के साथ ही बलपूर्वक तारात्मक-उच्च-संघर्ष का अनुगामी बना दिया जाता है, तो इस अप्राकृतिक-साहस से विविध रोग, विशेषतः 'उरःक्षत' होजाता है। रक्त निकलने लग सकता है इस अप्राकृतिक संघर्ष से। अतः आरम्भ में मन्द्र-पुनः थोड़ा उच्च, पुनः उच्च, इस क्रमिक अनुपात से ही शब्दोच्चारण प्रक्रान्त होना चाहिए। त्रिसवनों के अतिरिक्त भी मानव जब भी कुछ बोलना चाहे, उसे इसी स्थानत्रयी के अनुपात से मन्दस्वर से ही शब्दोप्रक्रम करना चाहिए। तभी अग्नि नादस्थिरता के कारण उत्तरोत्तर-सशक्त-प्रभावपूर्ण श्रुतिमधुर, एवं स्वरमधुर बन सकता है। आरम्भ में हीं तारस्वरात्मक-चीत्कार पद्धति से बोलने लग पड़ने वाला आविष्ट-मानव न तो अधिक समय पर्य्यन्त इस शब्दोच्चारणधारा को ही व्यवस्थापूर्वक प्रक्रान्त रख सकता, न ऐसे उत्तेजक उच्चारण में श्रुति-स्वर-माधुर्य्य ही अभिव्यक्त होपाता।

न केवल शब्दोच्चारण में हीं, अपितु कर्म्मप्रवृत्ति में भी इसी नियम का अनुगमन श्रेयःपन्था माना गया है। क्योंकि शब्द और अर्थ, दोनों अभिन्न हैं। अतएव दोनों समान हीं नियमधाराओं से समन्वित रहते हैं। इसी आधार पर—**'अल्पारम्भाः क्षेमकराः'** कहा गया है। आवेशपूर्वक आरम्भ में हीं प्रचण्ड-वेग से किसी कर्म्म में संलग्न होपड़ने वाले उत्तेजित मानवों के लक्ष्य निष्फल ही प्रमाणित होजाते हैं। **'शनैः कन्था, शनैः पन्थाः शनैः पर्वतलङ्घनम्'** प्रसिद्ध ही है। इसी आधार पर तो यह लोकसूत्र व्यवस्थित हुआ है कि—**"एक भावुक कार्य्य का आरम्भ करना जहाँ भलीभाँति जानता है, वहाँ वह भावुक कार्य्य समाप्त करना नहीं जानता। एवं-नैष्ठिक मानव जहाँ आरम्भ करना नहीं जानता, वहाँ कार्य्य को समाप्त करना वह अवश्य ही जानता है"**।

उपक्रम में **नादात्मक स्वर**, मध्य में **श्रुत्यात्मक स्वर**, एवं अन्त में **स्वरात्मक स्वर**, यही क्रम शब्दोच्चारण में प्रशस्त माना गया है, जिन इन तीनों का ही वैदिक नाम है—**'हिंकार-प्रस्ताव-उद्गीथ'**। उरःस्थानानुगत-नादात्मक ( गुञ्जायमान ) मन्द्रस्वरात्मक शब्द, किंवा ध्वनि ही-**'हिङ्कार'** है। उदाहरण सिंह का ध्वन्यात्मक शब्द है। सिंह, और शार्दूल सदा उरःस्थान से ही बोलते हैं, अतएव इनका उर, और तत्संलग्न उदर प्रदेश शब्दध्वनिकाल में संकुचित होजाता है, सिकुड़ जाता है। कण्ठस्थानानुगत-श्रुत्यात्मक [बिना गूँज का-सामान्य]—मध्यस्वरात्मक शब्द, किंवा ध्वनि ही **'प्रस्ताव'** है। उदाहरण चक्रवाक की कण्ठानुगता ध्वनि है। एवं शिरःस्थानानुगत-स्वरात्मक [बिना गूँज का उच्च]—तार स्वरात्मक शब्द, किंवा ध्वनि ही-उद्गीथ है, जिसे सङ्गीत की लोकभाषा में-**'टीप'** कहा गया है। उदाहरण मयूर की शिरोऽनुगता ध्वनि है, जिसकी प्रक्रान्ति में मयूर का शिरोभाग ही ऊर्ध्व बन कर अवनत होता रहता है। त्रिःप्रक्रमात्मक नाद-श्रुति-स्वर-भावात्मक-गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-भावानुबन्धी इसी स्वरत्रयी का नियमन करते हुए शब्द-शास्त्र के आचार्य्योंनें कहा है—

**प्रातः पठेन्नित्यमुरस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन ॥**
**मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन ॥१॥**
**तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ॥**
**मयूर हंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥२॥**

—पाणिनीयशिक्षा ३६,३७, ।

यह तो हुआ **नाद-श्रुति-स्वर**-भावों का सङ्गीतानुगत, तथा उच्चारणानुगत-स्वरूप-समन्वय का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन । अब दो शब्दों में परब्रह्मानुगता-अर्थसृष्टि [भूतभौतिकी पदार्थसृष्टि] के अनुबन्ध से भी '**स्वर**' की आराधना कर लीजिए । सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति [1]**शब्दतन्मात्रा** से, एवं तत्प्रसूता [2]**स्पर्श**-[3]**रूप**-[4]**रस**-[5]गन्ध-मात्राओं से ही हुई है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है । इन पाँचों हीं तन्मात्राओं का मूलाधारभूत मौलिक **शब्दतन्मात्रात्मक** वह तत्त्व है क्या ?, इस प्रश्न का उत्तर है—"**तत्त्वात्मक, ऋक्-यजुः-साम-नामक-अपौरुषेय-वेद**" * ।

तत्त्वात्मक वेद के '**ऋग्**' भाग से तो वस्तु का '**पिण्ड**' ( **मूर्त्ति** ) बनता है, '**यजुर्भाग**' से वस्तु का क्रियात्मक '**गतिभाव**' अभिव्यक्त होता है, एव '**सामभाग**' से वस्तु का '**मण्डल**' अभिव्यक्त होता है । प्रत्येक भौतिक--पदार्थ में **पिण्ड**, **गति**, **मण्डल**, ये तीन तीन पर्वविभाग विज्ञानसिद्ध हैं । पिण्ड वह भाग है, जो अमुक--स्थान--प्रदेश--घेरता है, एवं जिसका हम स्पर्श तो कर सकते हैं, किन्तु देख नहीं सकते । अतएव इस पिण्ड को '**धामच्छद**' ( **स्थानावरोधक--जगँह रोकने वाला** ) कहा जाता है, एवं यही--'**स्पृश्यपिण्ड**' भी कहलाता है । इस पिण्ड में **जायते--अस्ति--विपरिणमते--वर्द्धते--क्षीयते--विनश्यति**--नाम के सुप्रसिद्ध--**षड्भावविकारात्मक** परिवर्त्तन प्रक्रान्त रहते हैं ।

परिवर्त्तनात्मक इन विकारभावों का ही नाम '**गति**' है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित उक्थरूप प्राणाग्नि की अर्करूपा रश्मियाँ केन्द्र से बाहिर वस्तुवृत्त के आकार से समतुलित मण्डल बनातीं हुई निकलतीं हैं । ये रश्मिमण्डल हीं पिण्डात्मक वस्तु के '**मण्डल**' हैं । एवं हमें वस्तु का जो प्रत्यक्ष होता है, वह वस्तुतः पिण्ड का प्रत्यक्ष न होकर इन मण्डलों में से ही किसी एक मण्डल का ही प्रत्यक्ष होता है । अतएव इसे '**दृश्यमण्डल**' कहा गया है, जिस का न तो स्पर्श ही सम्भव है, एवं जो मण्डल प्राण की प्रधानता से न धामच्छद ही बनता । **पिण्ड ही स्पृश्य बनता है, एवं मण्डल ही दृश्य बनता है** । स्पृश्यपिण्ड, तथा दृश्यमण्डल, इन दोनों के माध्यम से अपारपारीणरूप से परिव्याप्त क्षणे--क्षणे परिवर्त्तमान गतिभाव ही, पिण्ड, गति, एवं **मण्डल**--रूप--त्र्यात्मक--त्रिमूर्त्ति ही वस्तु का सम्पूर्ण इतिवृत्त है । और इन तीनों वस्तुभावों के मूलप्रवर्त्तक तत्त्व ही क्रमशः--**ऋक्--यजुः--साम**--नामक मौलिक तत्त्व हैं, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्टतमरूपेण उद्घोषित है—

**ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।**
**सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्, सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥**
—तै० ब्रा०....।

---

***—शब्दः, स्पर्शश्च, रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।**
**वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूति-गुण-कर्म्मतः ॥**
—मनुः १२।९८।

इस तत्त्वात्मक-वेद का स्वरूप-दिग्दर्शन शतपथ-प्रथम खण्ड में कराया जाचुका है ।

केन्द्रावच्छिन्न--ऋङ्मय--स्पृश्य--धामच्छद--'वस्तुपिण्ड' ही 'नाद तत्त्व' है, पिण्ड--मण्डलान्तवर्त्ती-यजुर्मय--'गतिभाव' ही 'श्रुतितत्त्व' है, एवं-पिण्डकेन्द्र से प्राणरश्मिमण्डलरूपेण सहस्रभाव–समन्वित-साममय-'मण्डल' ही 'स्वरतत्त्व' है । यों नाद ऋक्पिण्ड से, श्रुति यजुर्गति से, तथा स्वर साम-मण्डल से सर्वात्मना समतुलित हैं । अतएव 'साम' का एक साङ्केतिक पारिभाषिक नाम रख लिया गया है--'स्वरसाम' । स्वर, और साम, अभिन्न तत्त्व हैं। प्रातिस्विकरूप से वही मण्डल-'स्वर' है, एवं पिण्ड, तथा गति से समन्वित होता हुआ वही स्वर-'साम' कहलाने लगता है, और यही त्रिमूर्त्ति स्वरसाम-'गायनात्मक' सङ्गीत की प्राणप्रतिष्ठा माना गया है, जैसाकि-'गीतिषु सामाख्या' इस आर्षवचन से प्रमाणित है । बिना स्वर का शब्द केवल ऋक् है, अथवा तो यजुः है । स्वरसाम के प्रवेश से ही अपने पिण्डात्मक ( गद्य-पद्यात्मक ) स्वरूप से-प्राणरूपेण-वितत होता हुआ-मण्डलरूप में परिणत होता हुआ ( फैलता हुआ ) 'साम' रूप गान ( गायन-गीति ) रूप मे परिणत होता है । अतएव सर्वात्मना सभी दृष्टियों से सामात्मक स्वर, किंवा स्वरात्मक साम ही सङ्गीत की प्राणप्रतिष्ठा बन रहा है, जिस स्वरसाम के-'त्रयः स्वरसामानः' रूप से तीन महिमा-विवर्त्त माने गए हैं, जिनका अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है ।

तदित्थं--ग्राम *, मूर्च्छना, जाति, क्रम, तान, आरोह, अवरोह, वादी, संवादी, नाद, श्रुति, स्वर, आदि आदि अनेक विभूतियों से सुसमन्वित, नृत्य-गीत-वाद्य-भेद से तीन प्रक्रमों में विभक्त शास्त्रीय सङ्गीत के नाद-श्रुति-स्वर-नामक प्रतिष्ठात्मक तीनों स्तम्भों का मूलाधार प्रथम-स्थानीय वैश्वानराग्निप्राण मूर्त्ति, गुञ्जनभावनिबन्धन जो उपक्रम-स्थानीय तत्त्व है, वही वैदिक-सामविज्ञान-की परिभाषा मे-'हिङ्कार' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । स्वरात्मक साम ही क्योंकि हृदयोत्थित नादात्मक इस हिङ्कार को वितानभाव में परिणत करता है, दूसरे शब्दों में सौर-मधु-रस से समाप्लुत नवत्रिन्द्रात्मक-बार्हत-स्वररूप साम के मण्डलों के वैतानिक-रूपों के आधार पर ही ( स्वरसंधान के आधार पर ही ) क्योंकि नादात्मिका 'हिं--हिं--हिं--हुं--हुं--हुं' इत्यादि-अनुकरणात्मिका-सन्तननभावात्मिका-सङ्गीतोपक्रमस्थानीया-ध्वनि का आधार बनता है, अतएव कहा, और माना, जायगा कि, स्वरात्मक साम ही हिङ्कार का प्रवर्त्तक है, इसी आधार पर श्रुति ने कहा है कि—

"नासामा हिङ्-क्रियते"

सामस्वरमण्डलात्मक सामस्वरमण्डलानुगत 'हिङ्कार' ही नाद है, नाद ही श्रुति का प्रवर्त्तक है, एवं श्रुति के द्वारा ही स्वरों की अभिव्यक्ति होती है । एकमात्र इसी समसम्बन्धानुबन्ध से प्रकृत-ब्राह्मण के-'हिङ्कार' शब्द के पारिभाषिक समन्वय के लिए ही हमें सङ्गीतानुगत–'नाद-श्रुति-स्वर' नामक तीनों प्रक्रमों का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा । क्योंकि नाद–श्रुति--स्वर भावों के स्वरूप–परिचय के बिना श्रुति का–'हिङ्कार' शब्द कदापि समन्वित नहीं होसकता । अतएव श्रुति के 'हिंङ्कार' शब्द–समन्वयानुबन्ध से हमें इस त्रित्व का संस्मरण कर लेना पड़ा है ।

---

*-ग्रामः स्वरसमूहः स्यात्, मूर्च्छनादेः समाश्रयः ।
तौ द्वौ, धरातले तत्र स्यात्--षड्ज ग्राम आदिमः ।
द्वितीयो मध्यमग्रामस्तयोर्लक्षणमुच्यते ॥
—इत्यादि

सङ्गीतप्रमियों के मनोऽनुरञ्जन के लिए स्वरग्रामानुगता तालिका अत्र समुद्धृता है---

## श्रुति—स्वर—ग्राम—चक्रम्--

| श्रुतिसंख्या | श्रुतिनामानि | श्रुतिजातयः | षड्जग्रामस्वराः | मध्यमग्रामस्वराः | गान्धारग्रामस्वराः |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | तीव्रा | दीप्ता | * | * | नी |
| २ | कुमुद्वती | आयता | * | * | * |
| ३ | मन्दा | मृदु | | * | |
| ४ | छन्दोवती | मध्या | * | * | सा |
| ५ | दयावती | करुणा | * | * | * |
| ६ | रञ्जनी | मध्या | * | * | रे |
| ७ | रतिका | मृदुः | * | रे | * |
| ८ | रौद्री | दीप्ता | * | * | * |
| ९ | क्रोधा | आप्ता | * | ग | * |
| १० | वज्रिका | दीप्ता | * | * | ग |
| ११ | प्रसारिणी | आप्ता | * | * | * |
| १२ | प्रीति | मृदुः | * | * | * |
| १३ | मार्ज्जनी | मध्या | * | म | म |
| १४ | क्षितिः | मृदुः | * | * | * |
| १५ | रक्ता | मध्या | * | * | * |
| १६ | सन्दीपनी | आप्ता | * | प | प |
| १७ | आलापिनी | करुणा | * | * | * |
| १८ | मदन्ती | करुणा | * | * | * |
| १९ | रोहिणी | आप्ता | * | * | ध |
| २० | रम्या | मध्या | * | ध | * |
| २१ | उग्रा | दीप्ता | * | * | * |
| २२ | शोभिनी | मध्या | * | नी | * |

## जाति–तालिकेयम्––

| १<br>संख्या | २<br>जातयः | ३<br>मूर्च्छनाः | ४<br>अंशाः | ५<br>न्यासाः | ६<br>उपन्यासाः | ७<br>षाडवदेशिस्वराः | ८<br>औडवेद्दशिस्वराः |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | षाड्जी | उत्तरायता | सा रे ग म प ध | सा | ग प | नि | * |
| २ | आर्षभी | शुद्धषड्जा | रे ध नी | रे | रे ध नी | सा | सा प |
| ३ | गान्धारी | पौरवी | सा ग म प ती | ग | सा प | रे | रे ध |
| ४ | मध्यमा | कलोपनता | से रि म प ध | म | सा रे ग प ध | ग | ग नी |
| ५ | पञ्चमी | कलोपनता | रे प | प | रे प नी | ग | ग नी |
| ६ | धैवती | अभिरुद्गता | रे ध | ध | रे म ध | प | सा प |
| ७ | नैषादी | अभिरुद्गता | सा ग नी | नी | सा ग नी | प | सा प |
| ८ | षड्जकैशिकी | कलोपनता | सा ग प | ग | सा प नी | * | * |
| ९ | षड्जोदीच्या | अश्वक्रान्ता | सा ध नी | म | सा ध | रे | रे ध |
| १० | षड्जमध्यमा | मत्सरीकृता | सा रे ग म प ध नी सा | सा म | सा रे ग म प ध नी | नी | * ग नी |
| ११ | गान्धारोदीच्या | पौरवी | सा म | ग | सा ध | रे | * |
| १२ | रक्तगान्धारी | कलोपनता | सा ग म प नी | ग | म | रे | रे ध |
| १३ | कैशिकी | हारिणाश्वा | सा ग म प ध नी | ग प नी | सा ग म प ध नी | रे | रे ध |
| १४ | मध्यमोदीच्या | सौवीरी | प | म | सा ध | * | * |
| १५ | कार्म्मा वी | शुद्धमध्या | रे प ध नी | प | रे प ध नी | * | * |
| १६ | गान्धारपञ्चमी | हारिणाश्वा | प | ग | रे प | * | * |
| १७ | आन्ध्री | सौवीरी | रे ग प नी | ग | रे ग प नी | सा | * |
| १८ | नन्दयन्ती | हारिणाश्वा | प | ग | म प | सा | * |

# इति-सङ्गीतानुगतं-नाद-श्रुति-स्वर-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

— — — * — — —

प्रकृतमनुसरामः। नाद-श्रुति-स्वरूपात्मक-पूर्वोक्त प्रासङ्गिक-प्रकरण का उपक्रम करते हुए हमने निवेदन किया था कि, नृत्य-गीत-वाद्यात्मक, **नाद-श्रुति-स्वर**-त्रयी के आधार पर सुप्रतिष्ठित भी **नृत्य-गीत-वाद्यात्मक** सङ्गीत मानव की अध्यात्मसंस्था में आत्मसंविद्-विरोधी **'आग्लादोष'**, एवं बुद्धिनिष्ठा-विरोधी-**'माल्व्यदोष'** उत्पन्न कर दिया करता है। तत्रैव इन दोनों दोषों के सम्बन्ध में समझने जैसी बात की ओर भी सङ्केत हुआ था ( देखिए पृ० सं १२१३ )। उस **'समझने जैसी कुछ बात'** के इतिवृत्त के समन्वय के लिए ही हमें सङ्गीत के **नाद-श्रुति-स्वर**-भावों का दिग्दर्शन उपक्रान्त करना पड़ा। अब प्रतिज्ञात **'दोष'** स्वरूपों की ओर ही सङ्गीतप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

**आग्ला**, तथा **माल्व्य** नामक सुप्रसिद्ध मानसिक, तथा शारीरिक दोषों के स्वरूप समन्वय के लिए हमें-**'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** इस सुप्रसिद्ध श्रुतिवचन में पठित **'तम'**, और **'ज्योति'** इन दो तत्त्वों की ओर ही नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा। सृष्टि के मूल-भूत **आभू**[1], और **अभ्व**[2] नामक दो तत्त्वों की प्रथमा मौलिक अभिव्यक्ति का नाम हीं क्रमशः **रस**[1], और **बल**[2] है। इस **रसतत्त्व** की प्रथमा अभिव्यक्ति, एवं **आभूतत्त्व** की द्वितीया अभिव्यक्ति का नाम जहाँ **'जूः'** है, वहाँ बलतत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति, एवं **'अभ्वतत्त्व'** की द्वितीया अभिव्यक्ति का नाम हीं **'यत्'** है। इस **'जूः'** तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति, रसतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति, एवं आभूतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति का नाम जहाँ 'तेजः' है, वहाँ **'यत्'** तत्त्व की प्रथमा अभिव्यक्ति, बलतत्त्व की द्वितीया अभिव्यक्ति, एवं अभ्वतत्त्व की तृतीया अभिव्यक्ति का नाम हीं **'स्नेह'** है। इस **'तेजस्तत्त्व'** की प्रथमा अभिव्यक्ति, **जूतत्त्व** की द्वितीया अभिव्यक्ति, **रसतत्त्व** की तृतीया अभिव्यक्ति, तथा **आभूतत्त्व** की चतुर्थी अभिव्यक्ति का ही नाम जहाँ लोकप्रसिद्ध 'ज्योतिः' है, वहाँ **'स्नेहतत्त्व'** की प्रथमा अभिव्यक्ति, **'यत्तत्त्व'** की द्वितीया अभिव्यक्ति, **बलतत्त्व** की तृतीया अभिव्यक्ति, एवं **अभ्वतत्त्व** की चतुर्थी अभिव्यक्ति का ही नाम लोकप्रसिद्ध **'तमः'** है।

क्या तात्पर्य्य ?। इस तात्पर्य्य के समन्वय के लिए हम आपका ध्यान उस एकमेवाद्वितीयंलक्षण **'विश्वातीत-परात्परब्रह्म'** की ओर ही आकर्षित करना चाहेंगे, जिसका साङ्केतिक नाम है-**'अनेजदेकम्'**। विकम्पनात्मक-प्रतिक्षणविलक्षणभावापन्न-आत्यन्तिकरूप से परिवर्त्तनात्मक भाव का है-**'एजत्'**, एवं अविकम्पनात्मक-सदैकरस-आत्यन्तिकरूप से अपरिवर्त्तशीलभाव का नाम है-**'अनेजत्'**। **स्थितिभाव ही अनेजन है, एवं गतिभाव ही एजत्** है। स्थितिप्रकृतिक-**अनेजत्**, तथा गतिप्रकृतिक-**एजत्**, परस्परात्यन्तविरुद्ध इन दोनों भावों की सत्तासिद्धा एकरूपता का ही नाम है वह विश्वातीत-परात्परब्रह्म, जिसका समष्ट्यात्मक नाम माना गया है-**'अत्यनपिनद्धम्'**। अत्यनपिनद्धात्मक-स्थितिगतिप्रकृतिक-अनेजत्-एजत्-मूर्त्ति इसी परात्परब्रह्म का प्रथम मौलिक स्वरूप **आभू**, और **अभ्वात्मक**, है। आभू अनेजत् है, अभ्व एजत् है। ईशोपनिषत् ने इसी स्वरूप का इन शब्दों में माङ्गलिक सस्मरण किया है—

**अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।**
**तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥**
—ईशोपनिषत्

अनेजदेजन्मूर्त्ति–आभू–अभ्वात्मक–इसी ब्रह्म का दूसरा विवर्त्त रसबलात्मक है, तीसरा विवर्त्त 'यत्–जू'–रात्मक है, चौथा विवर्त्त 'तेजः स्नेहात्मक' है, एवं पाँचवाँ विवर्त्त ज्योति स्तमोरूप है । प्रत्येक रूप द्विपर्वा है, जिन में प्रथम–प्रथम पर्व सर्वत्र सदात्मक है, एवं द्वितीय–द्वितीय पर्व असदात्मक है । और यही ज्योति, तथा तम के मौलिक–चिरन्तन–इतिवृत्त का अथ से इतिपर्य्यन्त का महामङ्गलप्रद माङ्गलिक-पावन संस्मरण है ।

| विश्वातीतभावाः | | विश्वभावाः | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ |
| १-अनेजत् | आभूः— | रसः— | जूः— | तेजः— | ज्योतिः- | (स्थितिप्रकृतिकः-सद्भावः-अमृतम् |
| २—एजत् | अभ्वम्— | बलम्— | यत्— | स्नेहम्- | तमः— | (गतिप्रकृतिकः-असद्भावः-मृत्युः) |

**—"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !"**

तेजोलक्षण ज्योतिर्भाव का ही नाम है–'इन्द्र', एवं स्नेहलक्षण तमोभाव का ही नाम है-'वरुण' । इन्द्र ही 'मित्र' नाम से प्रसिद्ध है । अतएव ज्योतिःस्वरूप इन्द्र, तथा तमःस्वरूप वरुण, इन दोनों की समन्वितावस्था का एक साङ्केतिक नाम होगया है–मित्रावरुणौ', जो कि अध्यात्मभाषा में 'क्रतू–दक्षौ' नाम से प्रसिद्ध है, जैसाकि-'क्रतूदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ' ( शत० ४।काण्डे ) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है । उपरि निर्दिष्टा तालिका के विश्वभावों में क्रमप्राप्त चतुर्थ-'जूः, और यत' इन दोनों की समष्टि ही-'यज्जूः' नामक वयोरूप वह 'यजुः' तत्त्व है; जो ऋक्-साम-नामक वयोनाधात्मक छन्द से छन्दित रहता हुआ त्रयीमय बना हुआ है । ऋक्साम से छन्दित-नद्ध-सीमित-परिवेष्टित-'जूरूप स्थितिभाव', एवं 'यद्रूप गतिभाव', इन दोनों की समष्टिरूप त्रयीमयतत्त्व का ही नाम 'स्वयम्भूब्रह्म' है, जो 'स्वयमेव-उद्बभौ' के अनुसार ही-'स्वयम्भूः' कहलाया है । इसी स्वायम्भुव-यजुः के जू भाग से तेज के द्वारा ज्योति के माध्यम से तो इन्द्रमित्र की अभिव्यक्ति हुई है, एवं इसी स्वायम्भुव-यजुः के यद्भाग से स्नेह के द्वारा तम के माध्यम से वृत्रवरुण की अभिव्यक्ति हुई है । ज्योतिर्म्मय इन्द्रमित्र, एवं तमोमय वृत्रवरुण, दोनों क्रमशः स्वयम्भू

के जू, और यत् के ही परिणाम हैं। वही स्वायम्भुवी यजुर्वाक्-'**सोऽपोऽसृजत-वाच-एव लोकात्-वागेव-साऽसृज्यत**' के अनुसार आपोमण्डलरूप में परिणत होती हुई-'**परमेष्ठी**' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि स्वयम्भू का ही प्रथमावतार माना गया है। इस आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में तेजोमयी अग्निचिति से पुञ्जीभूत-प्रदीप्त-प्रचण्ड तेजोमय-**सौरसंस्थान** ही **इन्द्रमित्र है**, एवं स्वयं पारमेष्ठ्य-स्नेहमयी-आप:-**वृत्रवरुण** है। और यों परमेष्ठी के ही गर्भ में अप्प्रधान-स्नेहप्रधान-**वृत्रवरुण**, तथा तेज:प्रधान-**इन्द्रमित्र** ( **सूर्य्य** ), दो स्वतन्त्र संस्थान अभिव्यक्त होजाते हैं।

सावित्राग्निचितिरूप-तेजोमय इन्द्रमित्ररूप सूर्य्य को थोड़ी देर के लिए तटस्थ मानते हुए वृत्रापोमय-स्नेहमय-वरुणरूप परमेष्ठी को ही लक्ष्य बनाइए।

आपोमय-अप्प्रधान-ऋतप्रधान ( अतएव अमृतभावापन्न ) पारमेष्ठ्य वरुण की वैज्ञानिकोंनें **अपरिपक्वावस्था, परिपक्वावस्था**–भेद से दो अवस्था मानीं हैं। अपरिपक्व-वरुण जहाँ विशुद्ध आसुरभाव है, वहाँ परिपक्व वरुण अंशतः आसुरभावात्मक बनता हुआ भी अधिकांश से गन्धर्व, तथा पितृभाव-प्रधान ही बन जाता है। ब्रह्माग्नि ( स्वायम्भुव तेजोलक्षण-प्राणाग्नि ) के सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य वरुण-आप:-तत्त्व: का जो भाग परिपक्व होजाता है, वही वरुण की उत्तरावस्थारूपा–'**परिपक्वावस्था**' कहलाई है।

भूतमूला–लोकदृष्टि से उस अलौकिकी–प्राणात्मिका अवस्थाद्वयी का उदाहरण–माध्यम–मात्रेण यों समन्वय किया जासकता है कि,-"चारों ओर से सीमाबद्ध, अतएव वायव्यप्राण के सञ्चारधर्म्म से वञ्चित, अतएव च पूति–पङ्कादि–मलीमस–भावों से काल्वालीकृत सीमित जल का नाम ही '**वृत्रात्मक वरुण**' है, यही वरुण की अपरिपक्वावस्थात्मिका पूर्वावस्था है, जिस इत्थंभूत मलीमस–अवरुद्ध-अपरिपक्व-निष्कैवल्य-वारुण-पानी को ही **आसुर पानी** कहा जायगा, एवं इसे ही विविध रोगों का, विभिन्न दोषों का प्रवर्त्तक माना जायगा। इसके अतिरिक्त प्रचण्ड-प्रवाह से समन्वित, अतएव वायव्यप्राण से आलोडित-विलोडित, अतएव-मलीमस-भावों से असंस्पृष्ट विशुद्ध-निर्म्मल-पानी ही '**दिव्यपानी**' है, जिसमें आग्नेयप्राण*, वायव्यप्राण÷, इन्द्रप्राण, आदि अनेक दिव्यप्राणों का समावेश रहता है। अतएव ऐसा गतिधर्म्मा-विशुद्ध पानी सर्वथैव स्वास्थ्यकर माना गया है। यही वरुण की परिपक्वावस्थारूपा उत्तरावस्था है। यों लौकिक उदाहरणविधि से उस पारमेष्ठ्य-अलौकिक-**प्राणात्मक-वारुणपानी** की भी अपरिपक्व, परिपक्व, इन दोनों अवस्थाओं का अनुमान लगाया जासकता है।

वरुण की अपरिपक्वा पूर्वावस्था का ही नाम है—'**वरुण**', एवं इसी वरुण की **अग्नि-वायु-इन्द्र-**प्राण-समन्विता-'**परिपक्वा**' उत्तरावस्था का ही नाम है–'**भृगु**'। परिपाकधर्म्म का ही नाम '**भर्जन**' है। एवं परिपाकात्मक इस भर्जन-सम्बन्ध से ही वरुणपिता की पूर्वावस्था से समुद्भूत उत्तरावस्थारूप-पुत्रात्मक-परिपक्व भाव का नाम होगया **है-'भृगु'**, जैसाकि निम्न लिखित श्रुतिवचनों से विस्पष्टरूपेण प्रमाणित है—

———————

*—**अपां संघातो, विलयनञ्च तेजः संयोगात्** ( वैशेषिक दर्शन—कणादसूत्र )।

÷—-'**इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते**' के अनुसार गतिधर्म्मा वायु में एक चतुर्थांश इन्द्रप्राण भी समाविष्ट रहा करता है।

"ता आपः सृष्ट्वाऽन्वैक्षत-प्रजापतिः । तासु छायामपश्यत ( तमोभावमपश्यत् ) । ता आपः-श्रान्ताः, तप्ताः, सन्तप्ताः-सार्द्धमेव रेतसा द्वैधमभवन् । तासामन्या अन्यतरा अतिलवणा ( क्षारधर्म्मान्विता ) ( अतएव ) अपेया अस्वाद्याः ( मधुप्राणशून्याः ), ता अशान्ता आपः समुद्रं वृत्वा-अतिष्ठन् ( ता इमा एव-आपः-अपरिपक्वाः--वरुणा--त्मिकाः ) । अथ-इतराः पेयाः स्वाद्व्यः शान्तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत् । ताभ्यः श्रान्ताभ्यः-तप्ताभ्यः-सन्तप्ताभ्यः-यद्रेत आसीत्, तत-अभृज्यत (परिपक्वमभूत् । यदभृज्यतः-तस्माद् 'भृगुः' समभवत् । तद् भृगोर्भृगुत्वम्" ।

—गोपथब्राह्मण-पूर्वभाग १ प्र० ।३ ब्रा० ।

(२)-"वरुणस्य वै सुषुवाणस्य भर्गोऽपचक्राम । स त्रेधापतत् । तद्भृगुरभवत्" ।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण १८।६।१।

(३) "-तस्य प्रजापतेः-यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत-तदसावादित्योऽभवत् । अथ-यत्-द्वितीयमासीत्, तद्-भृगुरभवत् । तं वरुणो न्यगृह्णीत । तस्मात्-स भृगुर्वारुणिः" ।

—ऐतरेयब्राह्मण ३।३४।

"आग्नेय-वायव्य-ऐन्द्रप्राण-से समन्वित, अतएव परिक्व-भर्जनशील-पारमेष्ठ्य-वारुण-आप्यतत्त्व का ही नाम-'भृगु' है" उक्त तीनों श्रुतिवचनों का यही निष्कर्षार्थ है। द्वितीया श्रुति में 'वरुणस्य भर्गः-त्रेधा-अपतत्' यह कहा गया है, जिस का तात्पर्य्य यही है कि, 'ध्रुव-( घन )-धर्त्र-( तरल )-धरुण ( विरल ) नाम की सुप्रसिद्धा तीन अवस्थाओं के कारण यह भृगुतत्त्व तीन अवस्थाओं में परिणत होजाता है, जोकि तीनों भार्गवी अवस्थाएँ हीं क्रमशः-आपः-वायुः-सोमः--इन नामों से प्रसिद्ध हुई हैं, जैसाकि "वायु-रापः-चन्द्रमाः ( सोमः ) इत्येते भृगवः" ( गो० ब्रा० पू० २।८,६,१ ) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। ये तीनों हीं भार्गवतत्त्व वारुण-अप्तत्त्व के प्रकृतिसिद्ध त्रिवृत्करण से * त्र्यात्मक-त्र्यात्मक बने हुए हैं मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के त्रिवृद्भाव की भाँति। जिस का तात्पर्य्य यही निकलता है कि, घनावस्थापन्न-भार्गव-अप्तत्त्व भी आपः-वायुः-सोमात्मक है। तरलावस्थापन्न भार्गव-वायुतत्त्व भी त्र्यात्मक है। एवं विरलावस्थापन्न भार्गव सोम भी त्र्यात्मक है। इस त्र्यात्मकता के अनुबन्ध से ही तीनों सहचारी माने गए हैं। त्र्यात्मक भार्गव आप्यप्राण का ही नाम 'असुर' है, त्र्यात्मक भार्गव-वायव्यप्राण का ही नाम 'गन्धर्व' है, एवं त्र्यात्मक-भार्गव-सौम्यप्राण का ही नाम 'पितर' है। आसुर प्राणात्मक वारुण-भार्गव-आप्यप्राण ही अप्सुसरणशील दिग्भावप्रवर्त्तक-'अप्सराप्राण' की अभिव्यक्ति का कारण बना हुआ है। वारुणभार्गव-वायव्यप्राण का गन्धर्वप्राणत्त्व तो प्रातिस्विकरूपेणैव स्फुट है। आप्य-अप्सराप्राण

---

* इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति ( छां० उप० ५।६।१। ) ।
"त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" ( वेदान्तसूत्र ३।१।२। ) ।

का ही साङ्केतिक नाम है—'**सुरा**', एवं वायव्य गन्धर्वप्राण से सुरक्षित ( अपरिपक्व-विशुद्ध-आसुर-वारुण-आक्रमण से सुरक्षित ) पितृप्राणात्मक भार्गवप्राण का ही नाम है—'**सोम**'। और यही **सुरा**, तथा **सोम** नामक उन **वारुणतत्त्वों** का संक्षिप्ततम स्वरूप-दिग्दर्शन है, जिन इन दोनों तत्त्वों के स्वरूप-समन्वय के लिए ही हमें अनेजदेजद्-मूला-भृगुत्रयी-समन्विता-सृष्टिधारा का अत्र संस्मरण करना पड़ा है। पारमेष्ठ्य-भार्गव-वारुण-**सुरा**, और **सोम**, नामक तत्त्वों के आधार पर ही हमें उन **आग्ला**, तथा **माल्व्य**, नामक दोनों सुप्रसिद्ध दोषों की स्वरूपमीमांसा करनी है, जिन दोनों भयानक दोषों नें हीं सर्वथैव-तत्त्वसम्मत भी, प्रकृतिसिद्ध भी, **नाद-श्रुति-स्वर**-जैसे दिव्यतत्त्वों से समन्वित भी **नृत्य-गीत-वाद्यात्मक-सङ्गीत** को आत्यन्तिकरूपेण काल्वालीकृत ही प्रमाणित कर रक्खा है।

इदमत्र-अवधेयम्। **तम**, और **ज्योति** नामक जिन दो तत्त्वों का पूर्व में संस्मरण हुआ था ( देखिए पृ० सं० १२५३ ), तत्रैव यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि, **वरुण का नाम ही तम है, एवं इन्द्र का नाम ही ज्योति है**। यहीं, इसी दृष्टि बिन्दु पर सुरा, और सोमके सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव अवधेय है। **तमोमय वरुण से जहाँ सुरा का सम्बन्ध माना जायगा, वहाँ ज्योतिर्म्मय इन्द्र से सोम का सम्बन्ध माना जायगा**। अतएव सुरा जहाँ '**वारुणी**' कहलाई है, वहाँ सोम **इन्द्रप्रिय तत्त्व** माना गया है। दैनंदिनीय भोजनकर्म्म से अनुप्राणित अन्न के उदाहरण से ही प्रथम भौतिकी दृष्टि से ही हमें **सुरा**, और **सोम**, इन दोनों तत्त्वों का स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

**यव-गोधूम-चणक-वज्र-माष-मुद्ग-तन्दुल**-( **जौ-गेहूँ-चना-बाजरा-उर्द-मूँग-चाँवल** ) आदि अन्नों की उत्पत्ति '**पञ्चाग्निविद्या**' के अनुसार पानी से ही हुई है। दिव्य—सौर लोक के दिव्य तेजोमय—सावित्राग्नि में सर्वप्रथम सोमात्मिका '**श्रद्धा**' की आहुति होती है। तेजोमय यह सावित्राग्नि '**अग्नि**' है, स्नेहमयी श्रद्धा '**सोम**' है। इन दोनों के यजन से ही '**अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः**' के अनुसार यज्ञस्वरूपात्मक '**सोम**' नामक अपूर्वभाव अभिव्यक्त होता है इन दोनों आरम्भणों ( उपादनों ) के परस्परोपमर्द्दन से। दिव्याग्नि, और श्रद्धा के यजनात्मक उपमर्द्दन का ही परिणाम '**सोम**' है, और यही प्रथमाहुति से अनुप्राणित अन्नका प्रथम मौलिक स्वरूप है।

दिव्यलोक के अनन्तर दूसरा **आन्तरिक्ष्य-वायुलोक** है। इस अन्तरिक्ष लोक में ( 'नमुचि' नामक—वर्षाविरोधी-जलावरोधक-आसुरप्राण के प्रचण्डशत्रु ) **मरुत्वान्** नामक '**वायव्यइन्द्र**' से समन्वित '**पर्ज्जन्य**' * नामक वायव्याग्नि परिव्याप्त है। इस आन्तरिक्ष्य **पर्ज्जन्याग्नि** में **सोम** की आहुति होती है। इस दूसरे अग्नि—सोम-यजन से जो अग्रिम अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, उसे ही '**वर्षा**' ( **वृष्टिजल** ) कहा गया है।

वायव्य-अन्तरिक्षलोक के अनन्तर **आग्नेय पृथिवीलोक** का स्थान आता होता है। इस पार्थिव **गायत्राग्नि** में '**वर्षा**' रूप सोमान्न की आहुति होती हैं। इसी आहुति से **गायत्राग्नि**, एवं **वर्षाजल**, दोनों

* पर्ज्जन्य का ही उत्तररूप 'पुरोवात' है, जिसे हमारे प्रान्त में 'पुरवाईहवा' कहा जाता है। इसके प्रवाह से ही वृष्टि हुआ करती है। इसे ही प्रतीच्यभाषा में सम्भवतः 'मान्सून' कहा गया होगा।

के यजनात्मक सम्मिश्रण से पार्थिव धरातल पर जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही सुप्रसिद्ध–यवगोधूमादि–**'अन्न'** नाम से प्रसिद्ध है ।

आगे चल कर पार्थिव अग्नि के प्रवर्ग्यभूत पुरुष के शारीरिक **वैश्वानर अग्नि** में **अन्नात्मक सोम** की आहुति होती है । पुरुषाग्नि में आहुत अन्न सोम का ग्रह अग्नि उसीप्रकार विशकलन कर देता है, जैसेकि प्रज्वलित काष्ठाग्नि में हुत–समाहित–काष्ठादि द्रव्य तेजोमय, अतएव विकासधर्म्मा अग्नि से विशकलित होजाया करते हैं । संकुचितभाव को, घनता को विदीर्ण करदेना हीं अग्नि का प्रमुख कर्म्म है । इसी विशकलन से पुरुषाग्नि ( वैश्वानराग्नि ) में हुत अन्न विशकलित होजाता है ।

अन्न में पूर्व आहुतिक्रम–तारतम्य से–परम्परया **सौर- अग्नि**, **श्रद्धा**, **आन्तरिद्य पर्ज्जन्याग्नि**, **सोम**, **पार्थिव अग्नि**, **वर्षाजल**, **पार्थिव मलीमस भूतभाग**, आदि आदि **रसात्मक**, एवं **मलात्मक**, अनेक तत्त्व समन्वित रहते हैं । शारीरिक अग्नि का पहिला काम **है**–अपने में आहुत-गृहीत **रस–मलात्मक**–इस अन्न के रसभागों, तथा मलभागों को विशकलित कर देना । अग्नि के द्वारा विशकलित होने वाले इन्हीं रस-मल-भागों के क्रमिक विशकलन से भुक्त-अन्न की **रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र**, ये सात अवस्थाएँ होजातीं हैं, जिन में उत्तर उत्तर की अवस्थाएँ पूर्व-पूर्व अवस्थाओं की अपेक्षा जहाँ **'मल'** है, वहाँ पूर्वावस्थाएँ उत्तरावस्थाओं की अपेक्षा–**'रस'** है । इन सप्तविध–रस–मलात्मक–शारीरिक धातुओं में इसी अन्न का सातवाँ अन्तिम धातु शुक्रात्मक **'रेत'** है । अतएव श्रुति ने पुरुषाग्नि में आहुत अन्नात्मक सोम के परिणाम का नाम **'रेतः'** ( शुक्र ) ही मान लिया है ।

और आगे चलिए । योषाप्राणात्मिका 'स्त्री' के प्रजनन–शक्तिमय **आर्त्तव ( शोणित–रुधिर )** में धामच्छदा भूतसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक वह **अत्रिप्राण** प्रतिष्ठित है, जिस के मलात्मक–धामच्छद–भूतानुशय की अभिव्यक्ति प्रतिमास अमुक दिवसों में होती रहती है । वही स्त्री की **'ऋतुकालावस्था'** कहलाई है, इसी कालावधि में यह ऋतुमती स्त्री **'आत्रेयीयोषित्'** कहलाई है । सर्वथैव काल्वालीकृत, अतएव निरतिशय मलीमस, किन्तु अपने धामच्छद-भौतिक धर्म्म से प्रजननशक्ति से समन्वित रक्तमिश्रित यह अत्रिप्राण सर्वथैव दिव्यप्राण का विरोधी बना रहता है, जो भूतस्पर्श ( शरीरस्पर्श ) माध्यममात्र से स्पर्शकर्त्ता के दिव्यप्राण को मूर्च्छित करने की क्षमता रखता है । इसी अत्रितत्त्व के आधार पर आत्रेयी-ऋतुमती स्त्री अस्पृश्य-पूषाप्राणात्मक अन्त्यजादिवत्-अमुक अवधि पर्य्यन्त **'अस्पृश्या'** ही मान ली गई है* ।

---

*—काक-श्वानादि प्राणी, अन्त्यज–अन्त्यावसायी-मानव, ऋतुमती स्त्री, आदि से सम्बन्ध रखने वाली 'अस्पृश्यता' का एकमात्र आधार साङ्क्रमिक वे मलीमस–प्राण ही हैं, जिन के आधार पर ही अमुक परिगणित जड़--चेतन पदार्थ शास्त्र में--**'अस्पृश्य'** मान लिए गए हैं । तत्त्वमूला इस अस्पृश्यता को भले ही प्राणदृष्ट्या **आज** का भूतविज्ञानवादी समन्वित न कर सके । किन्तु भूतमूला–कीटाणु–संक्रमणजनिता प्रचण्ड अस्पृश्यता तो उसकी दृष्टि में भी पदे पदे न केवल मान्या हीं, अपितु आराध्या ही बनी हुई है । यत्किञ्चित् से भौतिक-मल से आज के भूतबादी की भृकुटी तन जाती है, और **'गन्दगी–गन्दगी'** के चीत्कार से वह इस **'अस्पृश्यता'** का घन्टाघोष करने लग पड़ता है, जबकि आत्यन्तिकरूपेण भूतास्पृश्यवादी यही भूतवैज्ञानिक आज भारतीय शास्त्र की प्राणमूला, अतएव रूप–रस–गन्ध–स्पर्श-शून्या, अतएव इन्द्रियातीता सुसूक्ष्मा

आत्रेयी योषित् ( स्त्री ) के आर्त्तव में **अग्नितत्त्व** ही प्रधान माना गया है, जैसे कि पुरुष के शुक्र में–'**सोम**' प्रधान माना गया है। पुरुष का वह सोमात्मक रेतोरूप शुक्र ऋतुस्नाता स्त्री के शोणिताग्नि में आहुत होता है। इसी आहुति से-**शुक्रस्थित पुम्भ्रूण**, तथा **शोणितस्थित-स्त्रीभ्रूण** के अन्न-अन्नादात्मक पारस्परिक संघर्ष से ही प्रजोत्पत्ति हुआ करती है। इसप्रकार '**श्रद्धा वै आपः सन्नमन्ते**'-'**श्रद्धा वा आपः**' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आपोमयी श्रद्धा, किंवा श्रद्धात्मिका आपः ही पूर्वक्रमानुसार आत्रेयी-योषित् के शोणित मे गर्भीभूत होकर–'प्रजा'–स्वरूप में परिणत होता है। स्वलोकानुगत **सौरसावित्राग्नि**[१], अन्तरिक्षलोकानुगत वायव्य–**पर्ज्जन्याग्नि**[२], पृथिवीलोकानुगत पार्थिव-**गायत्राग्नि**[३], अध्यात्मलोकानुगत-पुरुषशरीरस्थ **वैश्वानराग्नि**[४], एवं स्त्री–शोणितस्थ--**आर्त्तवाग्नि**[५] इन पाँच अग्नियों में क्रमशः **श्रद्धात्मक सोम**[१], **सोमात्मक सोम**[२], **वर्षात्मक सोम**[३], **अन्नात्मक सोम**[४], एवं **शुक्रात्मक सोम**[५] इन पाँच सोमद्रव्यों की आहुति से ही पाँचवीं आहुती में '**पुरुष**' नाम का प्रजावर्ग अभिव्यक्त हुआ है, जिस इस पञ्चात्मिका अभिव्यक्ति का ही–'**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**' इत्यादि–छान्दोग्योपनिषत् की सुप्रसिद्धा–'**पञ्चाग्निविद्या**' से स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।

१—द्युलोकः——— सावित्राग्निः—श्रद्धा—सोमः ( **प्रथमाहुतिः** )।

२—अन्तरिक्षलोकः —— –पर्ज्जन्याग्निः–-सोमः—सोमः ( द्वितीयाहुतिः )।

३—भूलोकः —— —— –गायत्राग्निः—वृष्टिः—सोमः ( तृतीयाहुतिः )।

४—अध्यात्मलोकः (पुरुषः)-वैश्वानराग्निः--अन्नं—सोमः ( चतुर्थी आहुतिः )।

५—योषिल्लोकः ( स्त्री )—-आर्त्तवाग्निः—शुक्रं–-सोमः ( पञ्चमी आहुतिः )*।

---

तत्त्वात्मिका–प्रकृतिसिद्धा–'अस्पृश्यता' के नामश्रवणमात्र से भी अपने काल्पनिक मानवतावाद का सर्वनाश उद्घोषित करने लग पड़ता है। तत्त्वमूला अस्पृश्यता रही है, रहेगी, जिस का काल्पनिक मानवतावाद से त्रिकाल में भी उच्छेद, सम्भव नही है। हाँ, जो इस तत्त्वमूला 'अस्पृश्यता' के उच्छेद में प्रवृत्त हैं, उन का प्राणनिबन्धन–सत्त्वानुबन्धी–स्वरूप अवश्य ही कालान्तर में उसी प्रकार उच्छिन्न होजाया करता है, जैसे कि भौतिकी कीटाणुजनिता–सांक्रामिकी अस्पृश्यता की उपेक्षा करने वाला स्वयमेव कालान्तर में रोगाक्रान्त बनता हुआ सम्मानपूर्वक '**कीनाशनिकेतन**' का अतिथि बन जाया करता है। इसी सम्बन्ध में यह भी अविस्मरणीय है कि, शास्त्र की **तत्त्वमूला अस्पृश्यता** जब रूढिवाद–ग्रहग्रस्त बन कर '**घृणामूला**' बन जाती है, किंवा धर्म्म का दम्भ करने वाले धर्म्मध्वजियों के द्वारा स्वार्थ साधन के लिए बलपूर्वक घृणामूला बनादी जाती है, तो उस अवस्था में यही अस्पृश्यता सामाजिक प्रचण्ड-द्वेष का ही कारण बन जाया करती है, जिस इत्थंभूता अशास्त्रीया–काल्पनिकी–घोरघोरतमा–घृणामूला अस्पृश्यता ने हीं आज भारतीय समाज को विद्वेष की प्रचण्डाग्नि में हीं आहुत कर दिया है।

*–विशेष विस्तार के लिए देखिए ! **छान्दोग्योपनिषत्-हिन्दी–विज्ञानभाष्य** का तत्प्रकरण [ ५ अध्याय के ४, ५, ६, ७, ८, ९–खण्ड• ]।

उक्त पञ्चाग्निविद्या–सन्दर्भ से प्रकृत में हमें तीसरे **पार्थिव अग्नि**, और **वृष्टिजल** नामक द्वन्द्व की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। पार्थिव अग्नि, और वृष्टिजल, दोनों के रासायनिक-सम्मिश्रण से ही सुप्रसिद्ध **'अन्न'** उत्पन्न हुआ है, जिस में पार्थिव अग्नि के साथ साथ पृथिवी के मूलभूत–काल्वालीकृत–धामच्छद-मलीमस-अत्रिप्राण का, एवं तदनुबन्धी पङ्कादि विविध-मलभागों का भी समावेश रहता है, जिन इन सब मलीमस भागों की आश्रयभूमि वह पार्थिव **'अप्'** तत्त्व ही है, जिसे **'वरुण'** के सम्बन्ध में **'आसुर-भाव'** भी कहा जासकता है। एक ओर यदि अन्न में परम्परागत सौर–दिव्य–सावित्राग्निप्राण, इन्द्रप्राण, सौम्यप्राण, आदि आदि दिव्यभाव समाविष्ट हैं, तो दूसरी ओर इसी अन्न में तथाकथित-आसुर-वारुण–मलीमसभाव भी अनिवार्य्यरूपेण समन्वित हैं। और यों यह अन्न दिव्यभावानुबन्ध से रसात्मक, एवं आसुरभावानुबन्ध से मलात्मक, उभयात्मक ही प्रमाणित होरहा है, जैसा कि पूर्व में भी स्पष्ट किया जाचुका है।

अन्न में रहने वाले यच्चयावत् आसुर-भावों को हम जहाँ **वरुणानुगत--'सुराभाव'** कहेंगे, वहाँ यच्चयावत् दिव्य–भावों को **इन्द्रानुगत--'सोमभाव'** कहेंगे। इसप्रकार प्रत्येक अन्न में—**वरुणानुबन्धी–मलात्मक–आसुर-दोषभाव, तथा इन्द्रानुबन्धी–रसात्मक–दिव्य–गुण-भाव**, दोनों की स्वरूपसत्ता सिद्ध होजायगी। ये ही दोनों प्रतिद्वन्द्वी भाव **दैवीसम्पत्ति, एवं आसुरीसम्पत्ति** नाम से प्रसिद्ध होंगे। दैवीसम्पत्ति को—**'गुण'** कहा जायगा, एवं आसुरीसम्पत्ति को **'दोष'** कहा जायगा। अतएव **गुणात्मक रस**भाव से अनुप्राणित—**ऐन्द्र–सोमभाव** को अन्न का **'गुण'** माना जायगा, एवं दोषात्मक–मलभाव से अनुप्राणित—**वारुण–सुराभाव** को **'दोष'** कहा जायगा, और इसी प्रकृतिसिद्ध तथ्य के आधार पर--**'गुणदोषमयं सर्वं सृष्टा सृजति कौतुकी'** इस सूक्ति का समन्वय सम्भव बन सकेगा। सर्वान्ते च वारुण-आसुर-मलात्मक–सुराभाव को ही **आवरणप्रवृत्ति** के कारण **'तम'** कहा जायगा, एवं ऐन्द्र–दिव्य–रसात्मक–सोमभाव को ही आवरणनिवृत्ति के कारण–**'ज्योतिः'** कहा जायगा, और पूर्वप्रतिज्ञात---**'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** इस श्रौत उद्घोष का यही प्राणविज्ञानसम्मत संक्षिप्त समन्वय होगा, जिसे आधार बना कर ही अब हमें प्रक्रान्त **आग्ला**, तथा **माल्व्य** नामक दोनों सुप्रसिद्ध उन भयानक दोषों का संस्मरणमात्र ही कर लेना है, जिन उन सुप्रसिद्ध भयानक दोषों नें हीं नाद--श्रुति–स्वरात्मक–अत्यन्त कर्णप्रिय–मनोविनोदात्मक--'सङ्गीत' जैसे अलौकिक तथ्य को भी काल्वालीकृत प्रमाणित कर दिया है। तदेव श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

**वरुणपुत्र भृगु का आसुर–तमःप्रधान–वारुणभाग ही 'सुरा' है, एवं वारुणि भृगु का दिव्य-ज्योतिःप्रधान ऐन्द्रभाग ही 'सोम' है। वारुण-सुराभाग, एवं ऐन्द्र सोम भाग, दोनों क्रमशः मलात्मक, एवं रसात्मक है**, यह निष्कर्ष उक्त सन्दर्भ से भलीभाँति समन्वित होजाता है। वारुणि होने से (भार्गव होने से) सुरा भी मादकता से समन्वित है, तो सोम भी मादकता से अनुप्राणित है। एक मलात्मिका मादकता है, तो दूसरी रसात्मिका मादकता है। प्रत्येक अन्न में मलात्मक सुराप्राण भी रहता है, एवं रसात्मक सोमप्राण भी। अतएव प्रत्येक अन्न शारीरिक–अग्नि में आहुत होकर प्राथमिक–परिणामरूप से मादकता ही अभिव्यक्त करता है, जिस के सम्बन्ध में वर्त्तमान–भूतविज्ञान की ऐसी मान्यता सुनी गई है कि, भोजनद्रव्य के आमाशय में पहुँचते ही सम्पूर्ण रक्तप्रवाह आमाशय की ओर ही अनुगत

होजाता है, फलतः ( शारीरिक-रक्त-प्रवाह के एकतोऽनुगामी बन जाने से ही ) भोजनानन्तर **'तन्द्रा'** आने लगती है, जो विश्रामात्मिका शय्या की अनुगति से आगे जाकर **'निद्रा'** के रूप में परिणत होजाया करती है। इस **भूतदृष्टि** से हमारा कोई विरोध नहीं हैं। हम तो उस **प्राणदृष्टि** की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जो स्वयं सुरा, और सोम नामक दो मादक भावों से समन्वित होकर अन्न की मूलप्रतिष्ठा बनी हुई है। **तन्द्रा**, किंवा **निद्रा**, इसी अन्न की मादकता का परिणाम है। अतएव लोकव्यवहार में **'अन्न को मादक'** ही माना गया है।

आप्यवारुण-सुराभाग अपने सहज-मलभाव से एकप्रकार का वैसा **'विष'** है, जिससे जीवनीय-शक्ति का ह्रास, किंवा अभिभव ही सम्भावित है। जबकि सौम्य-ऐन्द्र-सोमभाग अपने सहज शिवतम रसात्मक-रसभाग से एकप्रकार का वैसा **'अमृत'** ही है, जिस से जीवनीय-शक्ति का संवर्द्धन, किंवा अभिव्यक्ति निश्चित है। अध्यात्मरचना के रचयिता शिल्पी प्रजापतिने मानव के प्रतिरूपात्मक-शरीरशिल्प में कण्ठप्रदेश में एक वैसा यन्त्रं लगा दिया है, जिस के द्वारा भुक्तान्न का सुरात्मक-विषभाग नियन्त्रित होकर, रस-मल के प्राथमिक विशकलनात्मक-विश्लेषण से अन्नगत अमृतभाग ( सोमभाग ) से पृथक् होकर परावर्त्तित ही होजाता है। यों इस गलयन्त्र के अनुग्रह से मानव का जीवनीय प्राण अन्न के विषभाग से, सुराभाग से अधिकांश में अपना परित्राण ही कर लेता है, जबकि अनुशयरूप से तो विष का अंश भी गलाधःकरणानुकूलव्यापार का अनुगामी बन ही जाता है, और यही शरीरप्रविष्ट विषात्मक सुराभाग जृम्भा ( जँभाई-अँगडाई )—तन्द्रा-आलस्य-) आदि रूप से अभिव्यक्त होता है। एक व्यक्ति के जँभाई लेने का अर्थ है-विषप्राण का भुक्त होकर पुनः बाहिर निकलना। इस सांक्रामिक विषप्राण-से समीपस्थ अन्य व्यक्तियों का भी विषप्राण सङ्काकर्षण से जागरूक होपड़ता है, जिस जागृति के निरोध के लिए ही जँभाई करने वाले के लिए शास्त्र ने 'अङ्गुलिध्वनि' का आदेश दिया है, जिस ध्वनि के तात्त्विक स्वरूप के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है *। **मलात्मक-सुरारूप विष, रसात्मक सोमरूप अमृत, जीवनविघातक-तथा जीवनसंरक्षक**, इन दोनों का विभाजक कण्ठमद्ध्यस्थ वही माङ्गलिक यन्त्र-"प्राशित्रविष' नाम से ही वेद के ब्राह्मणभाग में प्रसिद्ध हुआ है। अन्नस्थित इन्हीं-विष-अमृत-मय, सुरा-सोमात्मक-तपो-ज्योतिर्म्मय-दोष-गुणान्वित-द्विविरुद्धभावों को लक्ष्य बनाकर ही ऋषिने अन्न को **'सुरा'** भी कहा है, एवं **'सोम'** नाम से भी यह अन्न व्यवहृत हुआ है। देखिए!

१—"अनृतं, पाप्मा, तमः, सुरा" (शत० ५।१।२।१०)।

२—"अभिमाद्यन्निव हि सुरां पीत्वा वदति" (शत० १।६।३।४।)

३—"तस्मात् सुरां पीत्वा रौद्रमनाः" (शत० १२।७।३।२०)।

---

* छिक्का—पतन- जृम्भासु—जीवो—त्तिष्ठा—ङ्गुलिध्वनिः ।
गुरुणापि प्रकर्त्तव्या, अकुर्वा ब्रह्महा भवेत् ॥
—स्मृतिः

४—"यदन्नस्य-शमलमासीत्÷सा सुरा-अभवत्" (तै० ब्रा० १।३।२।६।)।

५—"स्फिगीभ्यामेवास्य भामोऽस्रवत्। सा सुराभवत्- अन्नस्य रसः" (शत० १२।६।१।७।)।

६—"अपां च वाऽएष ओषधीनांच रसः, यत्सुरा" (शत० १२।८।१।४।)।

७—"अन्नं सुरा" (तै० ब्रा० १।३।३।५।)।

८—"प्रजापतेर्वा एते-अन्धसी, यत्सोमश्च, सुरा च" (शत० ५।१।१।१०।)

९—"सत्यं वै श्रीर्ज्योतिः सोमः" (शत० ५।१।२।१०।)।

१०-"एष वै सोमो राजा, अन्नाद्यम्" (कौ० ब्रा० ९।६।)।

११-"एतद्वै देवानां परमं-अन्नं यत्सोमः" (तै० ब्रा० १।३।३।२।)।

१२-"एतद्वै परममन्नाद्यं, यत्सोमः" (कौ० ब्रा० २।३।७।)।

१३ "अन्नं वै सोमः" (शत० ३।९।१।८।)।

१४-"प्राणः सोमः" (शत० ७।१।१।२२।)।

१५-"आपः सोमः सुतः" (शत० ७।१।१।२२।)।

१६- "सौम्या ओषधयः" (शत० १२।१।१।२।)।

सुरा, और सोम, इनदोनों विरुद्ध प्राणों से कृतमूर्त्ति अन्न की आहुति ही मानव के उस वैश्वानराग्नि को प्रदीप्त-उद्दीप्त-प्रज्वलित रखती है, जिस वैश्वानराग्नि को ही हमनें पूर्व में-नाद-श्रुति स्वर-नामक तीन सङ्गीत-

---

÷ सुरा वै मलमन्नानां, पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्मात् ब्राह्मण-राजन्यौ, वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥
—मनुः

जातिभ्रंशकर, मलिनीकरण, संकरीकरण, भेद से मादकद्रव्यों का शास्त्र ने त्रिधा वर्गीकरण किया है। वे ही तीनों विभाग क्रमशः 'सुरा-सीधु-आसव' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। 'ब्राह्मणो मदिरां पीत्त्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते' के अनुसार सुरा वर्ण की ही उच्छेदिका है। भँग-चरस-गाँजा-अमल-सुलफा-कोकीन--पोसत-अर्कपर्ण-आदि मादकद्रव्य मलिनीकरण हैं। एवं जर्दा-तम्बाकू-सिगरेट-बीड़ी-आदि मादकद्रव्य सङ्करीकरण हैं। तीनों हीं मादकवर्गो में न्यूनाधिकरूपेण जीवनीय रस को नष्ट-अभिभूत-करनेवाला विष रहता है। तीनों में सर्वतोऽधिक भयावहा सुरा की पैष्टी-गौडी-माध्वी ये तीन प्रमुख जातियाँ मानीं गई हैं, जिनके प्रत्येक के अवान्तर भेदोपभेद-सुराप्रकरणों में उपबृंहित हैं।

प्रतिष्ठाओं का प्रवर्त्तक बतलाया है। यहीं, इसी दृष्टिबिन्दु पर यह भी समन्वय करलेना चाहिए कि, सङ्गीत का शब्दात्मक-व्यञ्जनात्मक-पार्थिव-अनुष्टुप्-मर्त्यभावापन्न-क--च-ट-त-पादि-रूप जितना-भूतभाग है ( सङ्गीत के शब्दात्मक बोल हैं ), वह भूतभाग तो वैश्वानराग्नि में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित अन्नके मलात्मक-तमोमय-मर्त्य-सुराभाग से अनुप्राणित है, एवं श्रुत्यनुगत-रूप जोस्वरभाग (मधुमय-वितानभाग) है, वह वैश्वानराग्नि में प्रतिष्ठित अन्न के रसात्मक-ज्योतिर्म्मय-अमृत-रसात्मक-सोमभाग से अनुप्राणित है। सौम्यप्राण ही स्वररूप में परिणित हुआ है, एवं अन्न का भूतभाग ही स्वरानुगत व्यञ्जनों के रूप मे परिणत हुआ है। यों **सुरा सङ्गीत के शब्दात्मक व्यञ्जनों को, तथा सोम सङ्गीत के तानात्मक स्वरों की प्रतिष्ठा बने हुए हैं–अन्नपरम्परया,** यही वक्तव्यनिष्कर्ष है। "सोमरसात्मक-'स्वर' तत्त्व" के इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

**"स यदाह स्वरोऽसीति,–सोमं वा एतदाह। एष ह वै सोमः-सूर्य्यो भूत्वा-अमु-ष्मिंल्लोके स्वरति। तत्-यत्-स्वरति, तस्मात्-'स्वरः'। तत्-स्वरस्व-स्वरत्वम्।**

—गोपथब्राह्मण पू० ५।१४।

गोपथश्रुति ने कहा है कि,—**"सो जो कि जिसे 'स्वर' कहा है, वह इस–'सोम' को ही कहा है। अर्थात् सोम के अभिप्राय से ही (इस प्रकरण में) 'स्वर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। निश्चयेन यह सोम ही सूर्य्यरूप में परिणत होकर स्वरमाण है। क्योंकि सोम ही सूर्य्यरूप में परिणत होकर स्वरभाव से समन्वित होरहा है। अतएव सोम को 'स्वर' कहा गया है"।**

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य स्पष्ट है। बतलाया गया है कि, सोम उस परमेष्ठीलोक की ही वस्तु है, जिस पारमेष्ठ्य–वारुण–भृग्वङ्गिरोमय–आपोलोक के गर्भ में विभ्राट् भी सूर्य्य एक बुद्बुद् से अधिक अपनी कोई क्षमता नहीं रखता। पारमेष्ठ्य वह सोम जहाँ **'दाह्य'** है, वहाँ सौर सावित्राग्नि **'दाहक'** है। स्वस्वरूपेण सोम भी **कृष्ण (नीरूप** है, एवं **'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः'** के अनुसार स्वयं सूर्य्य, किंवा तद्रूप सावित्राग्नि भी **कृष्ण (ज्योतिर्विहीन)** ही है। इस दाहक कृष्णाग्नि में उस दाह्य–कृष्ण सोम की निरन्तर आहुति होरही है, इसीसे सूर्य्य– **'अग्निहोत्र'** रूप में परिणत होरहा है—**(सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्)।** दाह्य सोम दाहक सौर अग्नि में आहुत होकर प्रज्ज्वलित होपड़ा है, और यही **सौर प्रकाशात्मक-रश्मिमय वह साममण्डल** है, जिसे हमने पूर्व में **'स्वरसाम'** कहा है। पिण्ड की मण्डलरूप में परिणति ही पिण्ड की स्वररूपता है। क्योंकि सोम ही प्रकाशमण्डलात्मक स्वररूपता में परिणत हुआ है। अतएव सोम के लिए ही यह कहा जाता है कि–**'हे सोम ! आपने हीं ज्योतिरूप से विश्वान्धकार को फाड़ दिया है',** जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्ण से स्पष्ट प्रमाणित है—

**त्वमिमा ओषधीः सोम ! विश्वास्त्वमपोऽजनयस्त्वं गाः।**
**त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं–त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥**

—ऋक्सं० १।९१।२२।

ऐसी है यह **सुरा**, और ऐसा है यह **सोम**, जो यों—**मलात्मिका दोषपूर्णा मादकता**, तथा **रसात्मिका गुणपूर्णा मादकता** से समन्वित होरहे हैं। सुरा के मलात्मक दोष की, तथा सोम के रसात्मक गुण की भूतदृष्ट्या–मृत प्राणी, एवं जीवित प्राणी के भौतिक–शरीरों से तुलना की जासकती है। कथमिति चेत् ?, श्रूयताम् ! । जब मानव का भूतात्मा शतायुर्भोग–कालानन्तर इस भौतिक–शरीर का परित्याग कर देता है, तो मानवशरीर–'**शव**' रूप में परिणत होजाता है। भूतात्मोत्क्रान्ति के साथ ही शारीरिक-भूतों के मलभागों का निरन्तर विशोधन करते रहने वाला, अतएव '**पवमान**' नाम से प्रसिद्ध जीवनीय-रसात्मक–पारमेष्ठ्य–अमृत–सोमप्राण भी उत्क्रान्त होजाता है। इस पवमान सोम के उत्क्रान्त होते ही भौतिक शरीर का मलात्मक-वारुण–आप्य सुराभाग असपत्नरूप से पूर्णमात्रा से अभिव्यक्त होपड़ता है। यही प्रचण्ड गन्ध '**शव–गन्ध**' (**दुर्गन्ध**) नाम से प्रसिद्ध है, जो दुर्गन्ध एक जीवित प्राणी के लिए क्षणमात्र के लिए भी सह्य नहीं हुआ करती। एकमात्र **क्रव्यादाग्निदेव** ही इस शवदोष को विलीन करने की क्षमता रखते हैं। वैश्वानराग्निमूर्त्ति भूतात्मा से जबतक भौतिक शरीर तप्त रहता है, तभीतक यह पवित्र सोम शरीर में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है। वैश्वानराग्नि की उत्क्रान्ति के साथ ही यह सोम भी उत्क्रान्त होजाता है। और यों उस अवस्था में तापशून्य, अतएव अतप्त–इस शवशरीर से अग्निसहधर्म्मा पवित्र सोम का भी कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। यह वही पवित्र सोम तत्त्व है, जिसका गाङ्गेयतोय में समावेश हुआ है। अतएव पारमेष्ठ–पवित्र सोम, और पार्थिव गाङ्गेयतोय, दोनों अभिन्न मान लिए गए हैं। जबतक यह पावन सोम मानवशरीर में प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक सुराजनित–मलीमस–भौतिक-दुर्गन्धि–किट्ट-मलादि–दोष मानवशरीर को अभिभूत नहीं कर सकते। सोम के इसी पवित्रधर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि ने कहा है—

**पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।**
**अतप्ततनूर्नतदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥**

—ऋक्सं० ९।८३।१ ।

ईश्वरीय–आधिदैविक-प्राणात्मक–सुसूक्ष्म-विश्व में सुरात्मक तमोमय-आप्य-आसुर–वारुणप्राण, तथा सोमात्मक–ज्योतिर्म्मय–सौम्य–दिव्य–ऐन्द्रप्राण, इन दोनों प्राणों का कैसा, और क्या स्वरूप है ?, इनका किस लोकपुर (परमेष्ठीपुर) से सम्बन्ध है ?, इत्यादि मौलिक-प्रश्नों के समाधान-समन्वय के लिए ही **सुरा**, और **सोम**, शब्दों का आधिदैविक चिरन्तन-इतिवृत्त पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अब इन दोनों के आध्यात्मिक (मानवीय) संस्थान की ओर ही सङ्गीतप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिसे थोड़े अवधानपूर्वक ही लक्ष्य बनाने का अनुग्रह होना चाहिए।

अध्यात्मसंस्था में **आत्मा**, **बुद्धि**, **मन**, **शरीर**, नामक चार सुप्रसिद्ध पर्व हैं, जिन इन चारों पर्वों में से [1]**बुद्धि**–[2]**मन**-[3]**शरीर**–इन तीन पर्वों के प्रभव-(उत्पादक)-प्रतिष्ठा (आधार)-परायण-(लयस्थान) प्रकृति-जगत् के क्रमशः [1]सूर्य्य-[2]चन्द्रमा-[3]भूपिण्ड ये तीन पर्व ही बने हुए हैं। **सौरी बुद्धि**, **चान्द्र मन**, **पार्थिव शरीर**, मानव के इन तीनों तन्त्रों में यदि बुद्धि का सर्वोपरि स्थित दिग्देशकालातीत-'**आत्मा**' नाम के तुरीयपद के साथ सम्बन्ध मान लिया जाता है, तो उस दशा में मानव के चारों पर्व **आत्मा-बुद्धि**, एवं

**मनः-शरीर,** इन दो पृथक्-संस्थानों में विभक्त होजाते हैं। **सोम,** और **सुरा** नामक प्राणों के समन्वय के लिए हमें अध्यात्म के **मन,** और **शरीर**-नामक दोनों चान्द्र-पार्थिव पर्वों को ही लक्ष्य बना लेना है। मन चान्द्र है-**'चन्द्रमा मनसो जातः'-'मनश्चन्द्रे ण लीयते'** के अनुसार। पाञ्चभौतिक शरीर का पृथिवीत्त्व तो सर्वबोधगम्य है ही।

**'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः'** के अनुसार मन का प्रभव **चन्द्रमा सोमात्मक है।** **'अद्भ्यः पृथिवी'** के अनुसार शरीर का प्रभव **भूपिण्ड**-अपने मौलिक-उपादान से-आपः प्रधान बनता हुआ **वारुण-सुराप्राणात्मक** है। यों चान्द्रसोममय-मन, एवं पार्थिव-सुरामय शरीर, ये दोनों आध्यात्मिक-पर्व ही आध्यात्मिक सोम, और सुरातत्त्व हैं, जिन्हें आधिदैविक सोम, और सुरा-प्राणों के प्रतीक नहीं, अपितु साक्षात्-**'प्रतिरूप'** ही माना जायगा।

सोमात्मक मन की शास्त्रने दो विभक्त अवस्थाएँ मानी हैं। यदि ऐन्द्रियक विषयों में आसक्त मन इन्द्रियवशवर्त्ती बनता हुआ फलकामुक ही प्रमाणित होजाता है, तो इस अवस्था, किंवा दुरवस्था में यह सौम्य मन सौरीबुद्धि के सत्त्वगुणात्मक-इन्द्र के अनुग्रह से ( ज्योति के अनुग्रह से ) वञ्चित होता हुआ स्व-ज्योतिः स्वरूप से उसीप्रकार अभिभूत होजाता है, जैसेकि कृष्णपक्षीय चन्द्रमा सौर इन्द्रज्योति से वञ्चित होता हुआ कृष्णरूप में परिणत होजाता है। * तमोमय-वारुण-सुरात्मक-भौतिक-ऐन्द्रियक विषयों में आसक्त ऐसा ही मन-**भूतात्मा के बन्धन** का कारण माना गया है।

ठीक इसके विपरीत यदि यही सौम्य मन सौरी बुद्धि के इन्द्रप्राण से समन्वित रहता हुआ ( बुद्धियोग-निष्ठ बनता हुआ ), बुद्धि के तेजोमय असङ्गधर्म्म से अनुप्राणित होकर विषयों का अनुगमन करता हुआ भी असङ्ग बना रहता है, तो ऐसा मन उसी प्रकार ज्योतिर्म्मय है, जैसे कि शुक्लपक्षीय चन्द्रमा सौरज्योतिरिन्द्र के प्रतिफलन से ज्योतिर्म्मय बना रहता है। ऐसा असङ्ग, ज्योतिर्म्मय-बुद्धियोगान्वित-सत्त्वमन हीं **भूतात्मा के बन्धनविमोक** का प्रवर्त्तक माना गया है÷। यों-सौरीबुद्धि से **युक्त सत्त्वमन,** एवं सौरीबुद्धि से वियुक्त

---

* चन्द्रमा का चन्द्रिकारूप प्रकाश ( ज्योत्स्ना ) सौर--इन्द्र--ज्योतिर्म्मय-रश्मियों का प्रतिफलन-मात्र ही है। बिना सौर-इन्द्रप्रकाश के चन्द्रमा अपने प्रातिस्विकरूप ने घोर कृष्ण ही है, जैसाकि-**'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः'** ( शत० ब्रा० ) इत्यादि से स्पष्ट है। प्रतिफलनात्मक--इसी सौरज्योतिर्भाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा कि —

**अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।**
**इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥**
—ऋक्सं० १।८५।१५।

÷--**न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप !।**
**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः ॥**
—प्राचीनसूक्तिः

**तमोमन**, भेद से एक ही मन की दो विभिन्न अवस्थाएँ होजाती हैं, जिन इन दोनों में से सत्त्वमन का तो बुद्धि के क्षेत्र में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है । फलतः मनस्त्वेन मन तमोरूपेणैव शेष रह जाता है, जोकि इन्द्रियों के माध्यम से शरीरासक्त बनता हुआ तम से ही अभिमूल रहता है । ऐसा सौम्य मन ही विषयासक्तिरूप प्रचण्डतमोरूप–'**आवरण**' से सदा ही आवृत रहता है । और सौम्य मन के इसी आवरणदोष का नाम है पूर्वप्रतिज्ञात–'**माल्व्य**' नामक भयानक दोष ।

बुद्धि का सहज गुण माना गया है—'**धृति,**'' जिस गुण के कारण ही बुद्धिरूप उक्थ की रश्मिरूपा वृत्तियाँ--'**धियः**' नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसाकि—**धियो यो नः प्रचोदयात्**' से स्पष्ट है । '**स्थिरता**' ही धृति का स्वरूप–परिचय है, जिस इस बौद्धिकी निरतिशया स्थिरता के अनुबन्ध से ही वह बौद्धिक–धृतिधर्म्म–'**नितरां स्थितिः**' रूप से—' '**निष्ठा**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । व्यवसायात्मिका--धृतिगुणसमन्विता, अतएव निश्चित–निर्णयात्मिका ऐसी '**निष्ठाबुद्धि**' से समन्वित विवेकशील सात्त्विक मानव ही '**नैष्ठिक**' कहलाया है । '**निष्ठया हि प्रतिष्ठा स्यात्**' के अनुसार बौद्धिक निष्ठा ही मानव की प्रतिष्ठा का प्रमुख आधार है । बुद्धिका प्रभव सूर्य्य– '**मध्ये एकल एव स्थाता**'–**बृहद्ध–तस्थौ**--**भुवनेष्वन्तः**--**सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति**' इत्यादि के अनुसार सौरसम्वत्सर–मण्डल के मध्यवर्ती '**बृहतीछन्द**' नामक विष्वद्–वृत्त के केन्द्र में सर्वथा स्थिररूप से ही प्रतिष्ठित है, जिस इस स्थिर–सूर्य्य के चारों ओर '**क्रान्तिवृत्त**' के आधार पर तो भूपिण्ड परिक्रमा लगा रहा है, एवं अपने **दक्षवृत्त** के आधार चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर परिभ्रममाण है । सूर्य्य क्योंकि स्थितिभावापन्न है, अतएव तत्प्रसूता बुद्धि भी अपने प्रातिस्विक धर्म्म से स्थिरधर्म्म की ही प्रयोजिका बनी हुई है । बुद्धि का यह स्थिरधर्म्म ही–**निष्ठा** कहलाया है ।

इधर चान्द्र मन नक्षत्राधिपति चन्द्रमा के प्रतिक्षण–विलक्षण--विचक्षण-- परिवर्त्तित होने से उक्त निष्ठारूप--स्थिरधर्म्म से प्रकृत्यैव वञ्चित है । अतएव निष्ठाशून्य, अतएव च नितान्त भावुक इस चञ्चल * मन को धृतिशून्य ही कहा गया है । इस चाञ्चल्य का ही नाम है—'**माल्व्य**', जिसके अनुग्रह से मानव सभी क्षेत्रों में 'क्षणे तुष्टाः क्षणे रुष्टाः' को ही चरितार्थ करता रहता है ।

जिस व्यक्ति का मन दुर्भाग्यवश स्थिरधर्म्म–प्रयोजिका–व्यवसायात्मिका--निष्ठाबुद्धि के नियन्त्रण से पृथक् होजाता है, मनोवशवर्त्ती वह मानव अपने मानस–भावों को उसी प्रकार अस्तव्यस्तरूप से, अनर्गल–रूप से विभिन्न शारीरिक–हस्त–पाद–मुख–नेत्रादि–मुद्राओं से अभिव्यक्त करता रहता है, जो भावभङ्गिमाएँ शिष्टजन-सम्प्रदाय में ग्लानिकर ही मानीं गई हैं । बात बात पर प्रचण्ड अट्टाट्टहास-[ फूहड़पने से मुख–विविर को विदीर्ण कर हा–हा–ही–ही–ओ–हो–हो—इत्यादिरूप से प्रचण्डहास ] करते रहना, कराघा. करते रहना [ताली बजाते रहना, चुटुकी बजाते रहना], **पादाघात** [पैर पटक पटक कर धमाधम करते–फट–फट–करते चलना, अथवा तो पैर रगड़-रगड़ कर-घिसते हुए चलना], मुखवाद्य [ सीटी बजाना, मुख से चप्–चप्-

---

*–**चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथिबलवद्दृढम् ।**
**तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरपि सुदुष्करम् ॥**
—गीता ।

टप्--टप्--बम्--बम्--भौं--भौं--आदि अनेक प्रकार की ध्वनियाँ करते रहना ], चक्षु से विभिन्न प्रकार की भावभङ्गियाँ अभिव्यक्त करते रहना, मनःप्रधान नारीवर्ग की भाँति विविध प्रकार के --शृङ्गार--हाव-भाव-वेश-भूषा--विन्यास--चटक-मटक आदि स्त्रैणभावों का अनुगमन करते रहना, आदि आदि भावुकतापूर्ण सभी व्यासङ्ग धृतिगुणविरोधी--निष्ठाविरोधी- गाम्भीर्य्यविरोधी जिस भयानक **मानसदोष** से अभिव्यक्त होते रहते हैं, उसी मानसदोष का नाम है--**'माल्व्य'**, जिसका अबोध बालकों में, सौम्य नारीवर्ग में, एवं अशिक्षित--यथा-जात--प्राकृत--मानवों में साक्षात्कार किया जासकता है ।

**मन सोमात्मक है, अतएव इस मानस-माल्व्य-दोष को हम सोमानुबन्धी दोष ही कहेंगे ।** एवं अत्रैव एक प्रासङ्गिक--विशेष तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करदेना चाहेंगे । पूर्व में **तम,** और **ज्योति** का स्वरूप--समन्वय करते हुए हमने सोम को **ज्योतिस्तत्त्व** कहा है, एवं सुरा को **तमोभाव** बतलाया है । एवं तत्रैव ज्योतिर्म्मय सोम को ऐन्द्रतत्त्व प्रमाणित करते हुए इसे प्रजापति की **गुण**--विभूति, तथा तमोमयी सुरा को वारुणतत्त्व बतलाते हुए इसे प्रजापति की **दोषविभूति** कहा गया है । इन्हीं सोम--सुरात्मक गुण--दोषों को ज्योतिर्म्मयी **दैवीसम्पत्ति**, तया तमोमयी **आसुरी--सम्पत्ति** नामों से व्यवहृत करते हुए--**'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी'** का उद्घोष किया है [ देखिए पृ० सं० १२६०-- ] । अत्र प्रकृत में--**'माल्व्य'** दोष की स्वरूपमीमांसा करते हुए हम सोमात्मक मनस्तन्त्र को **भयानकदोष** से समन्वित प्रमाणित करने की चेष्टा कर रहे हैं, जबकि पूर्व में इसी सोम को ऐन्द्री--ज्योति--विभूति बतलाते हुए मन के स्वरूप--प्रतिष्ठात्मक--इसी सोम को हमने **महान् गुण** हीं प्रमाणित किया था । पूर्वापरविरोधात्मक यह कैसा वदतोव्याघात ?, इसी प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए हमें यहाँ इस प्रसङ्ग का पुनः स्मरण करना पड़ रहा है ।

जैसा कि स्पष्ट किया जाचुका है, **रसात्मक निवृत्तिप्रधान मन**[1], तथा **बलात्मक प्रवृत्तिप्रधान मन**[2], के भेद से एक ही मनके **सात्त्विक मन**[1], **तमोमन**[2], भेद से **शुक्लचन्द्रमा**[1], **कृष्णचन्द्रमा**[2] की भाँति दो स्वरूप होजाते हैं, जो द्विविध मन **अन्तर्म्मन**[1], **बहिर्म्मन**[2], नामों से भी प्रसिद्ध हैं, एवं जिन इन दोनों मनस्तन्त्रों के लिए ही गीता में क्रमशः **मन्मना**[1], **उन्मना**[2], भाव अभिव्यक्त हुए हैं । चन्द्रमा के उपरि धरातल पर प्रतिष्ठिता सौरी बुद्धि ही इन्द्रप्राणात्मिका बनती हुई ज्योतिर्म्मयी है । जब चान्द्रमन का इस ज्योतिर्म्मयी सौरी बुद्धि से अन्तर्य्यामात्मक ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध होजाता है, तो वही मन सौर--इन्द्र से समन्वित होता हुआ ज्योतिर्म्मय बन जाता है । एवं जब ज्योतिर्म्मयी--ऐन्द्री--बुद्धि के आभ्यन्तर-अनुग्रहात्मक-योग से वञ्चित होता हुआ मन ऐन्द्रियक--विषयों में आसक्त होता हुआ भौतिक--पार्थिव तमः प्रधान--आप्य--वारुण--आवरणात्मक--संस्कारों से आवृत होजाता है, तो वही मन ऐन्द्र--ज्योतिर्भावानुग्रह से वञ्चित होता हुआ तमोभाव में हीं परिणत होजाता है । ऐसा विषयासक्त-तयोमय मन ही तथाकथित माल्व्यदोष की प्रसारभूमि मान लिया गया है । इस स्थिति--विश्लेषण के अनन्तर पूर्व में मनोमय सोम को ज्योतिर्म्मय--गुणभाव बतलाना, एवं यहाँ उसी सोमात्मक मन को तमोमय--माल्व्य--दोष--मय बतलाना निर्विरोध ही समन्वित होजाता है, इतिनु सर्वं सुस्थं प्रकृतिस्थमेव ।

बुद्धिनिबन्धना स्थिरतालक्षणा निष्ठा से अनुप्राणित--**'धैर्य्य'** ही मानव के पुरुषार्थ--कर्म्म--निबन्धन--**'पौरुष'** की मूलप्रतिष्ठा माना गया है । गन्धर्व--अप्सरा--प्राण--निबन्धन--सौम्य--मन से अनुप्राणित नृत्यगीत-

वाद्यात्मक सङ्गीत निश्चयेन मानव के पौरुष--प्रवर्त्तक 'धैर्य्य' को विकम्पित ही कर देता है। इस धृतिविच्युति का ही नाम है—'माल्व्यदोष', जो भूतजगत् में–'सुरा' [ मद्य--शराब ] से समतुलित है। ताताथैय्या करते रहने वाले पौरुषविहीन षण्ढवर्ग (हिंजड़े-गतराड़े-भाँड-आदि) सुरात्मक इसी 'माल्व्यदोष' से आपाद-मस्तक समाप्लुत रहते हैं। अतएव आचारनिष्ठात्मक--कर्त्तव्यपथानुगमन, तत्त्वचिन्तन, मनन, आदि आदि धैर्य्यभावनिबन्धन निष्ठापथ तद्वर्ग के लिए दूरत: ही प्रणम्य बने रहते हैं, जो कि धृतिमूलक निष्ठापथ ही ब्राह्मण का वर्णानुबन्धी प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है। एकमात्र इसी अनुबन्ध से श्रुति ने–'तस्माद्ब्राह्मणो न गायेत, न नृत्येत' यह आदेश प्रदान किया है। सुप्रसिद्धा मैत्रायणी श्रुतिने धृतिगुणविरोधी, तथाकथित माल्व्यदोष का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो धैर्य्यमासीत्, अर्द्धं माल्व्यम्। यद्धैर्य्यं, तत्-पुरस्तात् कुरुत। यन्माल्व्यं, तत् पश्चात् पर्य्यौहत। यद्धैर्य्यं–सोमः सः। ततो ब्राह्मण-मसृजत। तस्माद् ब्राह्मणः सर्व एव ब्रह्माभिधीरः। यन्माल्व्यं, सुरा वै सा। ततो राजन्यमसृजत। तस्माज्ज्यायाँश्च, कनीयाँश्च स्नुषा च श्वसुरश्च सुरां पीत्त्वा विलालपत आसते। माल्व्यं हि तत्। पाप्मा वै माल्व्यम्। तस्मात् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्। पाप्मना–आत्मानं नेत् संसृजा–इति"।

—मैत्रायणीश्रुतिः

यह तो हुआ सोममय–मानसिक–'माल्व्यदोष' का स्वरूपेतिवृत्ति–समन्वय। अब क्रमप्राप्त उस–'आग्ला' नामक दूसरे भयानक दोष की स्वरूप-मीमांसा भी कर लीजिए, जिसका वैज्ञानिक-महर्षियोंनें मानव के भौतिक-शरीर के साथ प्रधान सम्बन्ध माना है। जिसप्रकार मन का स्वरूप--निर्म्माण-भार्गव सोम से हुआ है, एवमेव शरीर के निर्म्माण में प्रधान द्रव्य भार्गव-वारुण–अप् तत्त्व ही बना हुआ है। मन–सौम्य है, तो शरीर आप्य है। क्योंकि मन का प्रभव चन्द्रमा सौम्य है, तो शरीर का प्रभव भूपिण्ड आप्य है। 'समुद्रमभितः पिन्वमानम्' * के अनुसार भूपिण्ड रोदसीत्रैलोक्य के सुप्रसिद्ध क्षारभावापन्न, अतएव वारुण, अतएव च अपेय ÷ 'अर्णव समुद्र' के ही गर्भ में प्रतिष्ठित है, जिस अर्णवसमुद्र में परमाणुरूप से व्याप्त पार्थिवपरमाणुओं का सुप्रसिद्ध–'एमूषवराह' नामक 'भूवायु' से ही संवरण होता रहता है। इसी संवरण, एवं आप्ति-व्याप्तिधर्म्म से पुञ्जीभूत होजाने वाले वे ही पार्थिव परमाणु आगे चलकर 'भूपिण्ड' रूप में परिणत होजाते हैं। यही वराहभगवान् के द्वारा समुद्र में

* अपां पृष्ठमसि योनिरग्ने समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्द्धमानो महाँ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥
—यजुःसं० १३।२।

÷ तासामन्या अन्यतरा अतिलवणा–क्षारधर्म्मान्विताः-अपेयाः--ताः-अशान्तराः–आपः--समुद्रं वृत्त्वा- अतिष्ठन्। ( गो० ब्रा० १।३। )–

डूबती हुई पृथिवी का समुद्धार है, जिस इस तथ्य का ही सुप्रसिद्ध **'वराहपुराण'** में विस्तार से यशोगान हुआ है।

सामुद्र-आप: में वायु के प्रवेश से, तथा अग्निरूप तेज:संयोग से होने वाली क्रमिक घनता से ही **आप:--फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अय:-हिरण्य**-इन आठ पर्वों के तारतम्य से, इन आठों की चिति, सञ्चिति से भूपिण्ड का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। एवं इत्थंभूत आप्य-वारुण-भूपिण्ड से ही पाञ्चभौतिक-शरीर का निर्म्माण हुआ है। अतएव मन जहाँ चान्द्र कहलाता है, वहाँ शरीर पार्थिव कहलता है। पूर्वप्रतिपादित सोमतत्त्व का जहाँ प्रधानरूप से सौम्य मन से सम्बन्ध है, वहाँ सुरातत्त्व का इस पार्थिव-आप्य-शरीर से ही प्रधान सम्बन्ध माना जायगा। मन को यदि सोम का प्रतिरूप माना जायगा, तो शरीर को सुरा का ही प्रतिरूप माना जायगा। आधिदैविक जगत् में यदि चन्द्रमा सोम, एवं पृथिवी सुरा ( वारुणी-आप्या ) है, तो अध्यात्मजगत् में मन सोम है, और शरीर सुरा है। सौम्यमन इन्द्रियों के द्वारा शारीरिक भोगों का भोक्ता बना हुआ एकप्रकार से शरीर का भी भोक्ता बना हुआ है। भोक्ता की परिभाषा पुरुष है, एवं भोग्य की परिभाषा स्त्री है। इसी सामान्य-अनुबन्ध के अनुपात से सौम्य-भोक्ता मन को यदि-'पुरुष' कहा जासकता है, तो आद्य-भोग्य--शरीर को स्त्री कहा जासकता है। मन क्योंकि सोम का प्रतिरूप है, अतएव सोम को पुरुष कहा जासकता है। एवमेव शरीर सुरा का प्रतिरूप है, अतएव सुरा को स्त्री कहा जासकता है। इसीलिए तो 'सुरा' शब्द के साथ ही लोक में 'सुन्दरी' ( स्त्री ) शब्द भी समन्वित होपड़ा है। सुरा का, और सुन्दरी ( स्त्री ) का साजात्य सम्बन्ध है, इस समन्वय का यही निष्कर्ष है-**"पुमान् वै सोम:, स्त्री सुरा"**(तैत्तिरीय ब्राह्मण-१।३।३।४।)

अहृदय-अशरीर, अतएव स्वप्रतिष्ठा से वञ्चित, अतएव च परप्रतिष्ठा-सापेक्ष, और इसीलिए भोग्यकोटि में समाविष्ट तत्त्व का ही पारिभाषिक नाम है— **ऋतम्**'। ठीक इसके विपरीत सहृदय-सशरीरी, अतएव स्वप्रतिष्ठात्मक, अतएव च भोक्तृकोटि में समाविष्ट तत्त्व का ही नाम है-**'सत्यम्'**। **'सत्यं ऋतेऽधायि, ऋतं सत्येऽधायि'** इस अनुगमश्रुति के अनुसार दोनों दोनों में ओतप्रोत है, यही ऋतसत्यात्मक-सृष्टिमूलभूत-प्रकृतिसिद्ध-दाम्पत्य है। मानव वा आत्मा, और बुद्धि नामक दोनों पर्व उक्त परिभाषानुसार 'सत्यम्' है, एवं अहृदय-अशरीर-'ऋतसोम', तथा **ऋत अप्**तत्त्व से समुद्भूत मन, और शरीर, दोनों **'ऋतम्'** है। **'ऋतम्' ही अपनी ऋतघनता से 'अनृतम्' है**, जैसाकि सद्घनप्राण **'असत'** कहला रहा है। ऋतात्मक सोम यदि पूर्वकथनानुसार सत्य-सौर-बौद्धिक इन्द्र से समन्वित रहता है, तो उस अवस्था में तो इस ऋत भी--सोम की--सत्यस्वरूप में परिणति होजाती है-**'सत्यं वै श्रीर्ज्योति: सोम:'** ( शत० ५।१।२।१०। )। यदि इस ऋत मन का सौर-बौद्धिक-सत्य के साथ योग न होकर शारीरिक-आप्य-भौतिक--वारुण--भोगों में हीं विलयन है, तो उस अवस्था में इस का सहज--सौम्य--ऋतात्मक अनृतभाव ही प्रधान बन जाता है। उस अवस्था में तो शारीरिक--आप्य--सुरातत्त्ववत् य: मानस-ऋतसोम भी अनृतभावापन्ना सुरा के रूप में हीं परिणत होजाता है—**"अनृतं पाप्मा-तम:-सुरा:** ( शत०--५।१।२।१० )।

ऋतसोमात्मक चन्द्रमा यदि * गन्धर्व है, तो ऋत-आपोमयी-पृथिवी--अप्सुसरणशील--त्वात्--अप्सरा है--'मनो गन्धर्वः' ( शत० ६।४।१।१०। )। [1] चन्द्रमा--[2] पृथिवी, [1]मन--[2] शरीर, [1] सोम--[2] सुरा, [1] गन्धर्व--[2]अप्सरा, इत्यादि विविध द्वन्द्वभावों से समन्वित इन मानसिक--शारीरिक ऋतप्रधान, अतएव अनृतभावापन्न -भावों के परिणाम हैं -मानसिक--शारीरिक--**कामभोग-हास-परिहास-आमोद-प्रमोद-गन्ध सुगन्ध-मिथुन-क्रीड़ा** आदि **निष्ठाविरोधी**--भाव, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है—

**१—गन्धेनैव च रूपेण च-गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति** ( शत० ६।८।१।४। )।

**२—योषित्कामा वै गन्धर्वाः** ( शत० ३।२।४।३। )।

**३—स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः** ( ऐ० ब्रा० १।२७। )।

**४—सोमो गन्धाय** ( ता० ब्रा० १।३।६। )।

**५—गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे, तन्मे युष्मासु** (जै० उ० ३।२५।४।)

**६—उपद्रवं गन्धर्वाप्सरोभ्यः प्रायच्छत्** ( जै० उ० ३।१२।१। )।

**७—गन्धर्वाप्सरसो वै मनुष्यस्य प्रजाया वा प्रजस्तावावेशते** । (ता०१६।३।२।)।

**८—गन्ध--इत्यप्सरस उपासते** ( शत० १०।५।२।२०। )।

**९—किंनु तेऽस्मासु- अप्सरस्सु-इति ?--हासो मे, क्रीड़ा मे, मिथुनम्मे ।**
( जै० उ० ३।२५।६। )।

**आपोमय-वारुणप्राण ही सुरातत्त्व है, आपोमयी ही पृथिवी है,** एवं पूर्वप्रदर्शिता-पञ्चाग्नि-विद्या के अनुसार **आपोमय ही शरीर है**। अतएव चान्द्रमन को यदि **'सोम'** कहा जासकता है, तो अवश्य ही पार्थिव शरीर को **'सुरा'** माना जासकता है, माना गया है आगमशास्त्र में। पाञ्चभौतिक शरीर ही योगमायात्मक-वह आवरण है, जिस के आवरण से आवृत मन, बुद्धि, आत्मा, सभी कुछ मोहाविष्ट बनते हुए स्वस्वरूप से उसीप्रकार अभिभूत होजाते हैं, जैसेकि सुरापी मानव अपना सबकुछ विवेक-विस्मृत कर देता है। **'किमर्थ-कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्'** मूला निष्ठादृष्टि पलायित होजाती है, एवं शेष रहजाता है शारीरिक-मदिरात्मक-भौतिक-व्यामोहन । पार्थिव रस का एक पारिभाषिक नाम है—**'इरा'**। इस **'इरा'** रस के सम्बन्ध से ही-पार्थित प्राण-**'इरामय'** कहलाया है-( ऐ० ब्रा० २।१।३। )। अपने वारुण-विमोहक-आसुर-धर्म्म से सचमुच ही तो यह इरारस-'मादकगुण' से समन्वित होरहा है। तभी तो पार्थिव अन्न को सुरा-सोमात्मक माना गया है। इस मदभाव के कारण ही इस मादक-पार्थिव-सुरातत्त्व का एक नाम-**'मदिरा'** ( **मदभावप्रवर्त्तिका-इरा-रसो-यस्याः-** ) भी होगया है। आवरणात्मिका

* चन्द्रमा गन्धर्वः ( शत० ६।४।१।६। )। आपो अप्सरसः ( यजुःसं० १८।४१—-शत० ६।४।१।-१० )। "सोमो-राजा-इत्याह-तस्या-अप्सरसो विशः—इति युवतयः शोभमाना उपसमेता भवन्ति-ता उपदिशति-अङ्गिरसो वेदः सोऽयमिति"। ( शत० १३।४।३।८। )।

तमोमयी–निद्रा–तन्द्रा–आलस्य–दीर्घसूत्रता–भय–क्रोध आदि आसुरभावों की प्रवर्त्तिका महामोहमयी इस सुरात्मिका-योगमाया से ही तो मानव मोहाविष्ट बने रहते हैं *। **'पीत्त्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मुत्तभूतं जगत्'** से स्पष्ट ही तथाकथित वारुणभावों का मदिरात्त्व-समन्वित है।

वारुण-पार्थिव-क्षारभावापन्न-मलीमस-पूति-भावान्वित-अर्णवसमुद्र में अपनी मूलप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित रखने वाले तथोपवर्णित सुराभाव से सम्बन्ध रखने वाले शारीरिक-उन्मादों का ही नाम है—**'आग्ला'** नामक वह महादोष, जिस के अभिव्यक्त होजाने पर मानव का शरीर सर्वथा ही स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा से विकम्पित होजाता है। हर्षक्षयात्मक **'ग्लै'** धातु (**ग्लै–म्लै–हर्षक्षये–भ्वादि प० ७।२।७३ सू०**) ही **'आङ्'** उपसर्ग से समन्वित होकर-**'आग्ला'** रूप में परिणत हुआ है।

लोकव्यवहार में-**स्वस्थता**, और **प्रकृतिस्थता**, नामक दो शब्द प्रचलित हैं। यद्यपि सर्वसामान्य की दृष्टि में दोनों शब्द अभिन्नार्थक ही बने हुए हैं। किन्तु तत्त्वदृष्ट्या ये दोनों शब्द सर्वथा विभिन्नार्थों के ही संग्राहक बने हुए हैं। मानव की अध्यात्मसंस्था **पुरुष**, और **प्रकृति**, इन दो विभिन्न तत्त्वों का समन्वय है। आत्मा, और सौर-इन्द्रानुगत-बुद्धितत्त्व, इन दो पर्वों की समष्टि का नाम तो है **'मानवीय–पुरुष'**, तथा मन, और शरीर, इन दो पर्वों की समष्टि का नाम है—**'मानवीय-प्रकृति'**। **आत्मबुद्धि–समन्वित पुरुषभाव** ही मानव का **'स्व'** भाव है, एवं मनः–शरीर-समन्वित प्रकृतिभाव ही मानव का **'पर'** भाव है। **पुरुषरूप–'स्व'–भाव की स्वस्वरूप में स्वरूपानुगति, स्थिति ही मानव की 'स्वस्थता' है, एवं प्रकृतिरूप 'पर' भाव की स्वस्वरूप में स्थिति ही मानव की 'प्रकृतिस्थता' है**। जो मानव आत्मबुद्धिलक्षण समदर्शी–नात्मक आत्मसाम्य से समदर्शी बना रहता है, रागद्वेषवियुक्त ऐसा ही मानव **'स्वस्थ'** मानव कहलाया है, जिस का परिणाम है **आत्मप्रसाद**, एवं **बौद्धिकी निष्ठा**।

एवमेव जो मानव मनः–शरीरलक्षण–प्रकृतिसिद्ध–विषम–विभक्त–वर्त्तनात्मक–स्वधर्म्मात्मक आचारधर्म्म का अनुगामी बना रहता है, असङ्गरूपेण प्राकृत-विश्व-कर्म्मों के अनुयायी ऐसे मानव की प्रकृति ही इसे लोकस्थिति का अनुगामी बनाए रहती है, जिस लोकस्थिति का ही नाम है—**तुष्टि से समन्विता पुष्टि**। **आत्मानुगता शान्ति**, एवं **बुद्ध्यनुगता तृप्ति**, ये दोनों स्वस्थता के, किंवा स्वस्थ **पुरुषमानव** के लक्षण हैं। एवं **मनोऽनुगता तुष्टि**, एवं **शरीरानुगता पुष्टि**, ये दोनों प्रकृतिस्थता के, किंवा पररूप **'प्रकृतिमानव'** के लक्षण हैं। **पुरुषनिबन्धना–शान्ति–तृप्ति–रूपा स्वस्थता, एवं प्राकृतिनिबन्धन तुष्टि–पुष्टि–रूपा–प्रकृतिस्थता**, इन दोनों धर्म्मों से समन्वित पुरुषश्रेष्ठ ही उस **'प्रसादगुण'** का अनुगामी बना रहता है, जिस प्रसादगुण की अभिव्यक्ति से मानव का आत्मा सदैव शान्तिरूप **संविद्भाव** से, बुद्धि निष्ठाधर्म्म से, मन **श्रद्धा-वात्सल्य–स्नेह–काम–रति–भेद भिन्न** पञ्चविध–प्रकृतिसिद्ध प्रेमाकर्षण से, एवं शरीर अनुरूपा भुक्ति से समन्वित रहता है। यही इस की मानवीया अध्यात्मसंस्था का प्रसादगुणात्मक वह सहज **'आनन्द'** भाव है, जिसकी अभिव्यक्ति लोकजीवन में हर्ष–उल्लास–मङ्गलोत्सव–पर्वादि–मङ्गलाचारों के रूप में होती रहती है।

---

* **नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।** (गीता)
**योगमाया हरेश्चैतेत तया सम्मोह्यते जगत्॥** (सप्तशती)

आप्य–वारुण–सुरात्मक–शरीरनिबन्धन जो भयानक–आसुर दोष मानव के पुरुष–प्रकृत्यनुगत-तथाविध स्वस्थता-प्रकृतिस्थता-प्रवर्त्तक सहज प्रसादगुण को अभिभूत कर देता है, प्रसादगुण की जिस इस अभिभूति से मानव की आत्मानुगता अशान्ति **क्षोभरूप** में, बुद्ध्यनुगता निष्ठा **संशयरूप** में, मनोऽनुगत प्राकृतप्रेम **भोगासक्तिरूप** में, एवं शरीरानुगता पुष्टि **क्षयरूप** में परिणत होजाती है, लोकजीवनानुगत–सम्पूर्ण-हर्ष–उल्लास-सर्वथैव-क्षीण होजाते हैं, उसी सामुद्र-वारुण-भयानक दोष का नाम है—**'आग्ला'**, जिस की तद्दोषयुक्त मानवों में सर्वात्मना-अभिव्यक्ति देखी जाती है। जिस अभिव्यक्ति का प्रचण्ड उदाहरण वह **'सुरापी आग्ला-मानव'** ही बना हुआ है, जिसका **सुरानुगत आग्लादोष** से सर्वप्रथम-समानानुबन्ध से शरीर ही विकम्पित होने लगता है। शरीर-विकम्पन के साथ ही मन विकम्पित होपड़ता है। मन के विकम्पित होते ही तत्प्राणरूपा इन्द्रियाँ विकम्पित होपड़तीं हैं। सभी इन्द्रियाँ इस विकम्पनावस्था में प्रकृतिस्थता से पराङ्मुख होतीं हुई अनर्गल-भावों की ही अनुगमामिनीं बन जातीं हैं। शरीर-मन-इन्द्रिय–वर्गों के विकम्पित होते ही मानस प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित रहने वाली बुद्धि खण्ड--खण्डरूप में परिणत होजाती है। बुद्धिनाश से अन्ततोगत्वा **आत्मप्रसाद** सर्वथैव अभिभूत होजाता है। और यों इस सुराजनित-शरीरनिबन्धन आग्लादोष से मानव की लोकजीवनानुगता सभी हर्षपरम्पराएँ क्रम क्रमशः सर्वथैव क्षीण होजातीं हैं। इसीलिए तो हर्षक्षयात्मक-**'ग्लै'** धातु से इस दोष का **'आग्ला'** नाम रखना अन्वर्थ बन रहा है। क्षय की दृष्टि से इस सुरादोष से कुछ भी तो नहीं बचता। आत्मा-बुद्धि-मनः–शरीरात्मक–पुरुष–प्रकृत्यात्मक–स्वस्थता–प्रकृतिस्थतानुबन्धी सभी कुछ तो ग्लान–म्लान होजाते हैं। **'आङ्'** उपसर्ग इसी **'सर्वविनाश'** का सूचक है। और **'आसमन्तात्–ग्लान-रूप'**-**'आग्ला'**-दोष का यही संक्षिप्त स्वरूपेतिवृत्त है।

उक्त **सोम-सुरा**-सन्दर्भ से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि मानव का सौम्य मन सोमात्मक **माल्व्यदोष** से, एवं वारुण-अतएव वारुणीरूप शरीर-सुरात्मक- **'आग्लादोष'** से समन्वित है। इन दोनों दोषों को हटाने के लिए ही **शास्त्रात्मिका-आचारनिष्ठा** अभिव्यक्त हुई है महर्षियों के द्वारा, जिस आचारात्मिका निष्ठा के **कर्म्म**[1]–**भक्ति**[2]–**ज्ञान**[3]–नामक तीन प्रसिद्ध तन्त्र माने गए हैं, जिनका कि वेदशास्त्र के **विध्यात्मक–ब्राह्मणभाग, आरण्यकभाग,** उपनिषद्भाग–इन तीन प्रक्रमों के द्वारा क्रमशः स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। इस आचारनिष्ठा में मानव का **आत्मानुगत बुद्धितन्त्र** ही प्रमुख सहयोगी बना रहता है। मन, और शरीर उसी सीमापर्य्यन्त इस आचारनिष्ठा के अनुयायी बने रहते हैं, बने रह सकते हैं, जबतक कि बुद्धि के द्वारा मनः–शरीर का नियन्त्रण रहता है। बुद्धि के नियन्त्रण से पृथक् होते ही मनः–शरीर–दोनों स्वैराचारपरायण बन जाते हैं। इस स्वैराचारिता से निश्चयेन–मनस्तन्त्र में कालान्तर में माल्व्यदोष अभिव्यक्त होजाता है, एवं शरीर में आग्लादोष अभिव्यक्त होजाता है, जोकि इनके स्वरूप में प्रकृत्या ही बीजरूप से प्रतिष्ठित हैं। इन दोषों के अभिव्यक्त होते ही पुरुषानुगता निष्ठा अभिभूत होजाती है, निष्ठा के अभिभूत होते ही आचारधर्म्म शिथिल होजाता है। शेष रह जाते हैं—**'अनाचार'**।

'सङ्गीत' के प्रति सर्वात्मना **आदरभाव** रखते हुए भी, सङ्गीत के मूलप्रतिष्ठारूप **नाद–श्रुति–स्वर**–जैसे महतोमहीयान्–उदात्तभावों के प्रति सर्वात्मना आस्था–श्रद्धा–रखते हुए भी हमें प्रकृतिविवर्त्त के तथाकथित **मानस सोम,** तथा **शारीरिक सुरा**–भावों से अनुप्राणित–आत्मबुद्धिनिष्ठा के महान् प्रतिद्वन्द्वी **माल्व्य** और **आग्ला**–दोषों के सम्बन्ध से शरीरानुगत मानसभावानुबन्धी–गायन, एवं मनोऽनुगत–शरीरभावानु-

बन्धी–नर्त्तन–वादन–समष्ट्यात्मक–सङ्गीत के प्रति कम से कम आत्मबुद्धिनिष्ठ–भारतीय–ब्राह्मण को तो सर्वात्मना तटस्थ ही मान लेना पड़ रहा है । हमारी मान्यता का इस दिशा में कोई महत्त्व नहीं है । यह तो उन महामहर्षियों की स्पष्टतमा मान्यता है, जिस की जागरूकता में कोई भी नैष्ठिक ब्राह्मण नर्त्तन-गायन-वादनात्मक,-अतएव-माल्व्य-आग्ला-दोषाभिव्यञ्जक-सङ्गीत को अपनी स्वाध्यायनिष्ठा में, आचारनिष्ठा में कोई प्रश्रय नहीं दे सकता, नहीं हीं देना चाहिए–यदि इसे–'**ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**' पर अणुमात्र भी आस्था है, तो ।

मनोऽनुगत–सोमात्मक–ऋतभावानुबन्धी–अतएव–अनृत–पाप्मा–भावानुबन्धी मानसिक–माल्व्यदोष से नित्य समन्वित शरीरानुगत–सुरात्मक–ऋतभावानुबन्धी–अतएव अनृत–पाप्मा–भावानुबन्धी–शारीरिक पूर्वोपवर्णित हर्षक्षयकर, आत्मप्रसाद के विघातक इसी आग्लादोष की प्रकृतिसिद्धा स्वरूप–स्थिति को लक्ष्य बना कर **गोपथ—श्रुति** ने कहा है—

**'तस्यात्मन्नधत्त । तेन प्राज्ज्वलयत् । यदात्मन्नाधत्त (तदात्मपरित्यक्तमेव) 'आग्ला'-अभवत् । तत्–आग्ला भूत्वा सा समुद्रं ( वारुणसमुद्रं–अर्णवसमुद्रं–क्षारसमुद्रं ) प्राविशत् । सा आग्ला–समुद्रमदहत् । तस्मात्–समुद्रो दुर्गिरपि वैश्वानरेण हि दग्धः । सा–आग्ला-पृथिवीमुदैत् । सा पृथिवीं व्यदहत् । सा–आग्ला-देवान् ( पार्थिव-देवान् ) आगच्छत् । सा देवानहिडत् ( तिरस्कृतवती ) । ते देवा ब्राह्मणमुपाधावन् । "स–ब्राह्मणः–नैव–अगायत्, न अनृत्यत्" । सैषा–आग्ला–कारुविदा नाम । तं वा एतं ( आग्लया–समन्वितं ) आग्लाहतं सन्तं–'आग्लागृध' इत्याचक्षते–परोक्षेण" ।**

**—गोपथब्राह्मण पू० २ प्र० । २१ ब्रा० ।**

आत्मबुद्धिसम्मत सांस्कृतिक–कोश का अन्यतम चिन्तक नैष्ठिक ब्राह्मण मनः–शरीर–निबन्धन, गन्धर्वाप्सराप्राण–समाक्रान्त, अतएव-सोम-सुरात्मक, अतएव च माल्व्य, एवं 'आग्ला' दोष से काल्वालीकृत-इत्थंभूत नर्त्तन-गायन-वाद्यात्मक-सङ्गीत का यदि अनुगमन करता है, तो निश्चयेन '**त-न-न-री-म्-त-न-न-री-म्-रीम्-ताक्–धिना–धिन्–छूम्- छूम्-छ-न-न-न-ता-ता-थे-ई**-आदि-आदि-विभिन्न-विभिन्न-विचित्र-विचित्र-भावभङ्गिमाओं से आलोडित—विलोड़ित, हा-हा-हू-हू-ही-ही-आ-आ-आ-ई-ई-ई-आदि विविध मुद्राओं से आपूरित, डिड-डा-डिड-डाड़ा-डा-डा-आदि तन्तुध्वनियों से मुखरित–इत्थंभूत भाव-विभावादि से कृतरूप-सङ्गीत से नैष्ठिक के भी मनः-शरीर पिच्दमान ही बन जाया करते हैं, जिस पिच्दमानता से ही कालान्तर में '**स्वरूप-विस्मृति**' होजाया करती है । अतएव आत्मबुद्धिसम्मत निष्टा के क्षेत्र में तो कदापि नर्त्तन-गायन-वादनात्मक-सङ्गीत जैसे भावुकतापूर्ण-मनः-शरीर-व्यासङ्ग को प्रश्रय नहीं हीं मिल सकता, नहीं हीं मिलना चाहिए ।

**ज्ञान-कर्म्म-भक्ति**-नाम की त्रिविध आचारनिष्ठाओं का क्रमशः **आत्मा-बुद्धि-मन**–इन तीन मानवीय–पर्वों के साथ क्रमिक सम्बन्ध माना गया है । आत्मानुगत चिन्तन–मननात्मक आचार, (अनुशीलन), बुद्ध्यनुगत–आचारात्मक–आचार ( कर्त्तव्यकर्म्माचरण ), इन दो क्षेत्रों में तो मनोव्यासङ्ग का प्रवेश सर्वथा

निषिद्ध ही माना गया है । शेष रह जाता है-मनोनिबन्धन-भक्तिमार्ग । केवल इस मानसिक-भक्तिकाण्ड के अनुबन्ध से ही प्रचण्ड-मर्य्यादासूत्र के नियन्त्रण-माध्यम से ही ईशभक्ति से समन्वित-शास्त्रीय सङ्गीत का ही अमुक-विशेष-पर्वोत्सव, एवं-यज्ञादि-कर्म्मों के लिए ही अनुमोदन हुआ है । यही कारण है कि, भारतीय-प्राच्य-शास्त्रीय-सङ्गीत की प्रमुख आधारभित्ति-ईशसंस्मरण ही बना हुआ है । और इसी दृष्टि से भारतीय-शास्त्रप्राङ्गण में इत्थंभूत शास्त्रीय—सङ्गीत का भी समादर होगया है । वीणावादनतत्परा भगवती शारदा, डमरू-वादक भगवान् शङ्कर, विश्वसंहारक-ताण्डवनृत्य के प्रवर्त्तक महाकालेश्वर, वेणुवादक भगवान् नन्दनन्दन, तुम्बुरु-तान-निमग्न-गन्धर्वर्षि तुम्बुरु, ब्रह्मनाद—समाप्लुत—गन्धर्वर्षि नारद, आदि आदि प्राणदेवताओं के अनुबन्ध से जिस शास्त्रीय-सङ्गीत का ( ईशसंस्मरणमात्रानुबन्धेन ) जो समादर हुआ है, तदतिरिक्त-युगधर्म्मानुगत-सोम-सुरात्मक-माल्व्य-आग्ला-दोष-परिपूर्ण-आचारपथविरोधी, आज की भाषा के अनुसार 'धर्म्मनिरपेक्ष'—अकाण्डताण्डवात्मक-गायन-वादन-नर्त्तनादि का तो भारतीय-संस्कृति के नैष्ठिक-प्राङ्गण में प्रवेश भी निषिद्ध ही है * । इत्थंभूत-नर्त्तन-गायन-व्यासङ्ग को आत्यन्तिकरूपेणैव ब्राह्मण के लिए निषिद्ध बतलाते हुए उसी गोपथश्रुति ने आगे जाकर यह उद्बोधनसूत्र प्रदान करते हुए संस्कृति के उपासक नैष्ठिक ब्राह्मण का आग्लादोष से परित्राण ही किया है कि—

**"स य एष ब्राह्मणः-गायनो वा नर्त्तनो वा भवति,-तमाग्लागृध इत्याचक्षते । तस्मात्—'ब्राह्मणो नैव गायेत् , न नृत्येत्' । मा—आग्लागृधः-स्यात् ।**

—गोपथ पू० २।२१

स्वरभावानुबन्धी-मण्डलात्मक-साम के प्रसङ्ग से नाद-श्रुति-स्वरात्मक-सङ्गीत की प्रासङ्गिक चर्चा करते हुए लोकसङ्गीतानुगत-**माल्व्य,** तथा **आग्ला**—नामक उन दो दोषों का भी प्रासङ्गिक-दिग्दर्शन कराना पड़ा—जिस अशास्त्रीय-आज के रेड़ियो-चित्रपट-एवं विविध-समारोहादि से अनुप्राणित-उत्तालतरङ्गायित-गायन-नर्त्तनादि के अनुग्रह से इन दोनों दोषों से आज भारतीय-मानव के मनः-शरीर-तन्त्र सर्वथैव उस सीमापर्य्यन्त आसमन्तात्—परिव्याप्त होगए हैं कि, आज उभयदोषात्मक—आचारनिष्ठाविरोधी—अतएव संस्कृति के प्रचण्डतम शत्रु—इत्थंभूत-**'अलग्ल-'नाच-गान'** को ही दुर्भाग्यवश-**'सांस्कृतिक—आयोजन'** कहा, और माना जाने लगा है । सचमुच ऐसा-सांस्कृतिक-अधःपतन तो विगत तीन सहस्र-वर्षों के सांस्कृतिक-पतन-युगों में भी नहीं हुआ था । इस पतन के मर्म्मस्पर्शी मौलिक-दोषों के स्वरूप-प्रदर्शन के लिए ही हमें स्वर—साम—मण्डलानुबन्धी—प्रस्तुत--हिङ्कार--प्रकरण में तथाकथित सन्दर्भ का आश्रय ले लेना पड़ा है--आपद्धर्म्मधियैव । अब पुनः उस **'सामात्मक-हिङ्कार'** की ओर ही सामप्रेमी विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिस हिंकार के बिना यज्ञ में **'मण्डलात्मिका--सामसम्पत्ति'** का संग्रह नहीं हो-पाता, अतएव सामशून्य जो यज्ञ अपूर्ण ही बना रह जाता है ।

---

*—देखिए—**'भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूप रेखा'** नामक सहस्र पृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध ।

उक्त सन्दर्भ से पूर्व में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, नादात्मक स्वर ही शब्दाभिव्यक्ति का जनक बनता है (देखिए ! पृष्ठ सं० १२१३)। अब इसी तथ्य के आधार पर हमें इस रूप से श्रुति के **'हिङ्कार'** शब्द का समन्वय करना है कि, सङ्गीतज्ञ सङ्गीतकर्मारम्भ से पहिले नादब्रह्म के आधार पर ही सर्वप्रथम **"हिं–हिं–हिं०"** इसप्रकार **'स्वरसन्धान'** करता है। अनन्तर **'आ–आ–आ'** इत्यादिरूप से **'श्रुति'** का सञ्चालन होता है। यह प्राथमिक **हिं-हिं,**–किंवा * हूँ–हूँ-,इत्याद्याकारक भाव ही **'साम'** है। इसी उच्चारण-समतुलन से इस हृद्यसाम को **'हिङ्कार'** नाम से व्यवहृत कर दिया गया है।

उक्त सामविवेचन से यह सिद्ध होजाता है कि, **'साम'** उस प्राकृतिक यज्ञ की एक आवश्यक सम्पत्ति है। न केवल सम्पत्ति ही, अपितु विना साममण्डल को आधार बनाए यज्ञ का वितान ही असम्भव है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि, उस सप्तसामा प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर वितायमान इन वैध यज्ञों में भी अवश्य ही **'साम'** का सम्बन्ध कराया जाय। इसीलिए उद्गाता के द्वारा तत्तद्यज्ञों में सामगान होता है। इस दर्शपूर्णमास में सामगान अविहित है। परन्तु सम्बन्ध अवश्य अपेक्षित है। इसी सामसम्बन्ध के लिए यहाँ **'सप्रणव-हिंकार'** का सबन्ध कराया जाता है। सामिधेनी-ऋङ्मन्त्र के आरम्भ में **'हिं–हिं-हिं–ओम्'** इसप्रकार सप्रणव–हिङ्कार का समावेश करते हुए अनुवचन से यह यज्ञ भी सौम्य-अध्वर की भाँति सामसम्पत्ति से युक्त होजाता है। क्योंकि, सप्रणव हिंकारशब्द उस प्राकृतिक सामतत्त्व का ही संग्राहक बन रहा है।

हिंकारमात्र से साम की स्वरूप--निष्पत्ति नहीं होती। हिङ्कार तो हृद्यभाव का स्वरूप-समर्पकमात्र है, जोकि हृद्यभाव अनिरुक्तभाव का ही संग्राहक माना गया हैं। साम की मूलप्रतिष्ठा जहाँ **'हिंकार'** है, वहाँ साम का प्रारम्भिकरूप 'प्रणव' है। अतः मानना पड़ेगा कि, हृद्यभाव का संग्राहक 'हिंकार' है, एवं साम का संग्राहक **'ओम्'** इत्याकारण 'प्रणव' है। प्रणवोच्चारण से वाक्समुद्र में वर्त्तुलमण्डल का उदय होजाता है। यही वर्त्तुमण्डल साम का प्रातिस्विक रूप है। अतएव **'ओम्'** को साम का रूप माना जायगा, एवं हिङ्कार को साम का मूल माना जायगा। इसीलिए सप्रणव हिङ्कार को ही यहाँ सामसम्पत्ति का संग्राहक माना जायगा। यह हिंकारोच्चारण केवल प्रथम सामिधेनी में हीं होगा। आगे के चौदह मन्त्रों के उपक्रम–उपसंहार में केवल **'ओम्'** का ही उच्चारण किया जायगा। सप्रणव हिंकार क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है, जिस का कि ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥१॥

सप्रणव हिङ्कार की एक उपपत्ति बतलाई गई। अब केवल हिङ्कार की दूसरी उपपत्ति बतलाई जाती है। हिङ्कार का नादात्मक प्राण से सम्बन्ध है। नादप्राण की उत्तरावस्था का ही नाम हिङ्कारात्मक प्राण है। यही हिङ्कारप्राण नासास्थान में प्रतिष्ठित होता हुआ जीवनलक्षण श्वास-प्रश्वास का हेतु बनता है। दूसरे शब्दों में–आध्यात्मिक हिङ्कार का स्वरूप नासाप्राण ही है | यही कारण है कि, नासाच्छिद्र बन्द कर लेने पर सानुनासिक हिंङ्कार का उच्चारण असम्भव है। उधर ऋङ्मन्त्र का प्रधान सम्बन्ध वाक् ( अनुष्टुब्वाक् ) से है। वाग्रूपेण ऋक् का उच्चारण होता है, एवं प्राणात्मकेन हिङ्कार का उच्चारण होता है। सामिधेनियों के अनुवचन से दिव्यलोकस्थ प्राणाग्नि का इस यज्ञ में प्रजननरूप आधान करना है। प्रजननकर्म्म योषा-वृषा के दाम्पत्यभाव

* इसीलिए सा० छा० ब्राह्मण में **'हू३म्'** इस शब्द को भी हिङ्कार माना है। (देखिए सा० छा० ब्रा० ४।८।१)।

पर ही निर्भर है । इधर प्राण वृषा है, तथा वाक् योषा है । हिंङ्कारपूर्वक मन्त्रोच्चारण करना वाक्-प्राण का दाम्पत्य-भाव ही सम्पादन करना है, जो कि दिव्याग्नि का प्रजनयिता है । इसी प्रजननसम्पत्ति के लिए हिङ्कारपूर्वक अनुवचन किया जाता है । यही हिङ्कार की दूसरी उपपत्ति है ॥ २ ॥

क्योंकि हिङ्काररूप वृषाप्राण का ऋग्रूपा योषा वाक् के साथ दाम्पत्यभाव भी अभीष्ट है, इसीलिए तो हिङ्कार का उच्चस्वर से उच्चारण न कर उपांशुरूप से ही उच्चारण किया जाता है । **प्राण स्वयं अनिरुक्त है, वाक् निरुक्ता है** । यदि उच्चस्वर से हिङ्कार का उच्चारण किया जायगा, तो निरुक्तभाव में आता हुआ यह भी निरुक्तवाक्-रूप में हीं परिणत होजायगा । परिणामतः अभीप्सित दाम्पत्यभाव का संग्रह न होसकेगा । उधर उपांशु अनिरुक्तभाव से सम्बन्ध रखता है । अनिरुक्तता प्राण का प्रातिस्विकरूप है । फलतः उपांशुरूप से हिङ्कार करना प्राणरूप को सुरक्षित रखते हुए दाम्पत्यभाव का ही संग्रह करना है । यह भी स्पष्ट ही है कि, गानकाल में 'हिं–हूँ' इत्याद्याकारयुक्त हिङ्कार भीतर ही भीतर गुन-गुनाया जाता है । क्योंकि इस का नाद से सम्बन्ध है । और नादब्रह्म स्वयं हृदयस्थ अनिरुक्ततत्त्व है । हिङ्कार का उपांशु उच्चारण क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न की यही तीसरी उपपत्ति है ॥३॥

मन्त्रों में पठित **'प्र' 'आ' 'सम्' 'अनु'** इत्यादि उपसर्ग किसी विशेष प्रयोजन को गर्भ में रखते हैं। जब ऋषि को आगमनभाव का संग्रह करना होता है, तो मन्त्र में 'आङ्' उपसर्ग का समावेश कर दिया जाता है । जिस से पृथिवी से प्रयाण (गमन) बतलाना होता है, उस में 'प्र' उपसर्ग लगा दिया जाता है । जिस में दोनों लोकों की (पृ० द्यु० की) वस्तुओं का सङ्गम प्रतिपाद्य होता है, उस मन्त्र में **'सम्'** उपसर्ग रहता है । जहाँ वस्तुपृष्ठ का सम्बन्ध बतलाना अभीष्ट होता है, वहाँ **'अनु'** उपसर्ग प्रयुक्त होता है । इसप्रकार महारम्भ महर्षि उपसर्गों के द्वारा तत्तद्विशेषभावों का संग्रह कर लिया करते हैं । इन उपसर्गों के सम्बन्ध से उन ऋचाओं के भी **'प्रवती-आवती-समवती-अनुवती'** इत्यादि नाम होजाते हैं ।

प्रकृत दर्शपूर्णमास में हमें इस पार्थिव भौतिक आङ्गिरस अग्नि में सामिधेनी-अनुवचन से दिव्य-प्राणात्मक सावित्राग्नि का आधान करना है । साथ ही यह भी सिद्ध विषय है कि, आगत दिव्याग्नि को यहीं प्रतिष्ठित नहीं रखना है । अपितु पार्थिवाग्नियुक्त इस दिव्याग्नि में हविर्द्वारा यजमान के शरीराग्नि का सम्बन्ध करा, इसे दैवात्मारूप में परिणत कर पुनः उसी द्युलोक में भेजना है । इसप्रकार यहाँ **'आदान-विसर्ग'** नामक दोनों कर्म्म अपेक्षित हैं । इस उभयकर्म्मसिद्धि के लिए यहाँ आरम्भ में उन दो ऋचाओं का अनुवचन होता है, जिन में आगमन-सूचक **'आङ्'**, तथा प्रयाण-सूचक **'प्र'** उपसर्ग का समावेश है । आरम्भ में–**'प्र' 'आ'** उपसर्ग वालीं ऋचाओं का अनुवचन क्यों होता है ?, इस प्रश्न की उक्त उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर ही प्रस्तुत प्रकरण का समन्वय करना चाहिए ।

सामिधेनी-अनुवचनकर्म्म से सावित्राग्नि इस पार्थिव आङ्गिरस अग्नि में प्रतिष्ठित होजाता है, यह कहा जाचुका है । क्या हविर्ग्रहण करने के अनन्तर इस सावित्राग्नि का इस सावित्ररूप से ही पुनः द्युलोक में में गमन होता है ?, नहीं । जब सावित्राग्नि पुनरावर्त्तित होगा ( वापस लौटेगा ), तो उस समय यह 'सावित्र' न रह कर **'गायत्र'** बन जायगा । गायत्री का स्वरूप पृथिवी, और द्युरस के संयोग से ही निष्पन्न हुआ है ।

सूर्य्यकेन्द्र से निकल कर चारों ओर व्याप्त होने वाला प्राणात्मक सौरतेज **'सावित्र'** कहलाता है। दूसरे शब्दों में-ब्रह्मौदनभूत सूर्य्य का साक्षात् तेज ही 'सावित्री' है। यह सौर सावित्र तेज भूगर्भ में प्रवर्ग्य-सम्बन्ध से प्रविष्ट होजाता है। भूपिण्ड **'गो'** नाम से प्रसिद्ध है। इस गोगर्भ में प्रतिष्ठित होने से भी यह सौर तेज **'गायत्री'** कहलाया है। इस के अतिरिक्त यही प्रवृक्त सौर तेज पार्थिव विवर्त्त का स्वरूप-सम्पादक है, अतः **'अगायत् सम्पादयत्'** इस निर्वचन से भी इसे 'गायत्री' कहा जाता है। जो व्यक्ति इस तेज को (गायत्रीछन्दस्क सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के द्वारा) अपने अध्यात्म में प्रतिष्ठित कर लेता है, उस की कोई क्षति नहीं होती। अतः **'गायन्तमुपासकं त्रायते'** इस निर्वचन से भी इसे 'गायत्री' कहना अन्वर्थ बन रहा है, जैसाकि 'सन्ध्याविज्ञान' में विस्तार से प्रतिपादित है।

उक्त गायत्री के दो विवर्त्त हैं। सौर तेज प्रवृक्त हुआ। प्रवृक्त होकर भूगर्भ में प्रविष्ट हुआ। अन्तर्य्याम-सम्बन्ध के प्रभाव से भूलोक की प्रातिस्विक सम्पत्ति बन कर उर्ध्वलोकानुगत बना। यही पार्थिवगायत्री कहलाई है। इसे हम **'भूतगायत्री'** भी कहसकते हैं। लौकिक अग्नि इसी भूतगायत्री का प्रत्यक्ष निदर्शन है, एवं यही अध्वर्य्यु के द्वारा इध्मकाष्ठ से इद्ध किया जाता है। हमारे प्रकृत सामिधेन्यनुवचनकर्म्म का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सौर–सावित्र तेज द्युलोक से आकर गोरूप भूलोक से टकराया। यहाँ से इस का प्रतिफलन हुआ। इस का भी भू से सम्बन्ध होने के कारण **'गायत्री'** नाम अवश्य हुआ, परन्तु यह गायत्रतेज भूलोक की प्रातिस्विक वस्तु नहीं है। उस प्रवृक्तभाग का जहाँ भूलोक से अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, वहाँ इस प्रतिफलित गायत्रतेज का भूलोक से बहिर्य्याम-सम्बन्ध है। **त्रैलोक्य में जो प्रकाश होरहा है, यह प्रतिफलित सौर-तेजोमयी गायत्री का ही प्रभाव है। एवं यही गायत्रतेज के प्रत्यक्ष दर्शन हैं।**

इस द्वितीय गायत्रतेज के, किंवा गायत्री के आगे जाकर दो विवर्त्त होजाते हैं। प्रतिफलनप्रक्रिया का द्वैविध्य ही इस विवर्त्तद्वयी का मूल है। सौर तेज आकर प्रतिफलित हुआ, आतप ( धूप ) का स्वरूप प्रकट होगया। यहाँ से पुनः इस का प्रतिफलन होता है। इस द्वितीय प्रतिफलन से छायामय प्रकाश का आविर्भाव होता है। छाया में जो प्रकाश ( आतपशून्य उजेला ) है, वही उस का द्वितीय रूप है। प्रथमरूप **'ज्योतिर्म्मयी गायत्री'** कहलाती है, एवं द्वितीय रूप **'छायामयी गयात्री'** है। ज्योतिर्म्मयी गायत्री में आग्नेय तेजोमय **देवप्राण** प्रतिष्ठित रहता है, एवं छायामयी गायत्री में सौम्य तेजोमय **पितरप्राण** प्रतिष्ठित है। इस छायामयी गायत्री की स्वरूपसम्पत्ति के लिए ही **पितृकर्म्म** ( श्राद्ध ) में दोने औंधे कर दिए जाते हैं।

इसप्रकार एक ही सौर सावित्र तेज के आधार पर पार्थिव **भूतगायत्री, दिव्यदेवगायत्री, दिव्यपितृगायत्री**, भेद से तीन गायत्रविवर्त्त होजाते हैं। तीनों में से प्रकृत में मध्यस्था देवगायत्री का ही यहाँ समिन्धन अपेक्षित है। यह दिव्यगायत्री दो प्रकार से 'एति-प्रेति' युग्म से युक्त है। सौरमण्डल से सौरतेज आया, यही **'आ ( एति ) भाव'** है। प्रतिफलन-प्रक्रिया से पुनः द्युलोक की ओर गया, यही **'प्र ( प्रेति ) भाव'** है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। बतलाया गया है कि, द्युलोक से आगमनदशा में इसे **'सावित्री'** कहा जाता है, न कि गायत्री। फिर **'आगमनात्मक'–'आ' भाव** का तो सावित्री से सम्बन्ध

सिद्ध हुआ, एवं गमनात्मक 'प्र'--प्रभाव का गायत्री से सम्बन्ध सिद्ध हुआ। आता हुआ वही तेज सावित्र है, एवं जाता हुआ वही तेज गायत्री है। 'सावित्री एति' (आगच्छति) है, 'गायत्री प्रेति' है, एवं यही प्राकृतिक नियम है। फिर केवल गायत्री के साथ ही 'एति, प्रति' दोनों भावों का सम्बन्ध कैसे बत-लाया गया ?।

विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अवश्य ही स्थिति के अनुसार आता हुआ सौर तेज सावित्री ही है, एवं जाता हुआ सौर तेज गायत्री ही है। सावित्री सूर्य्यगत सविता से ही सम्बद्ध है, एव गायत्री पृथिवी के सम्बन्ध से ही गायत्री कहलाई है। परन्तु दृष्टि की अपेक्षा से, साथ ही उपयोगमर्य्यादा की अपेक्षा से हम उस सावित्री को भी गायत्री कहते हैं। सौरतेज हमारे लिए वही 'आता हुआ' माना जायगा, जो गायत्री के रूप में परिणत रहेगा। उस का आगमन गायत्रीरूप में परिणति के लिए ही होता है। अतः 'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यं' न्याय से भी उस गायत्र्यर्थ आगत सावित्र तेज को 'गायत्री' कह दिया जाता है। और एकमात्र इसी दृष्टि से यहाँ दोनों के लिए 'गायत्री' शब्द प्रयुक्त होगया है।

वहाँ से आता हुआ वह सावित्रात्मक गायत्रतेज पार्थिव मानवप्रजा में बलाधान करता है, एवं जाता हुआ गायत्रतेज पार्थिव द्रव्यगत रसों का आदान करता हुआ द्युलोकस्था देवप्रजा में बलाधान करता है। वहाँ से आना, और यहाँ से यज्ञद्रव्य के साथ गमन करना, यह इस का एकप्रकार का एति-प्रेतिभाव है। इस एति-प्रेति-भावात्मक गायत्रतेज का मन्त्र के द्वारा यज्ञ में सम्बन्ध किया गया। वहाँ से आते हुए का तदनुरूपा छन्द--देवता--स्वरयुक्ता--मन्त्रवाक् से आकर्षण कर उस का यहाँ योग करा दिया, यही 'एति' भाव हुआ। अनन्तर प्रकृत्या द्युलोक की ओर जाने वाली गायत्री से इस यज्ञानुगता--यज्ञभक्तिभूता, हविर्युक्ता गायत्री का सम्बन्ध होगया। इस परम्परा से उस के साथ इस का द्युलोक में गमन होगया, यही इस का 'प्र' भाव कह-लाया। इसी को हम यज्ञानुगत एति-प्रेति-भाव कहेंगे।

सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि, प्राकृतिक गायत्रीतत्त्व 'एति--प्रेति' भाव से युक्त है। उसी के आधान के लिए यहाँ सामिधेन्यनुवचनकर्म्म होता है। अतः तदाकर्षक इन मन्त्रों में भी गायत्री-स्वरूपा-नुगता एति--प्रेति का सम्बन्ध आवश्यक है। 'प्र' ( प्रयती )--आ ( आवती ) ऋचाओं का अनुगमन क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ४ ॥

'एति--प्रेति' के अनुवचन से आधिदैविक--गायत्रभाव का समावेश हुआ। इसी के द्वारा आध्यात्मिक 'एति--प्रेति' भाव का भी संग्रह होजाता है। हमारी आध्यात्मिक--संस्था में श्वास- प्रश्वासात्मक उदान-प्राण 'ऐति-प्रेति' भावात्मक ही बन रहे हैं। आता हुआ वायव्यप्राण ही 'उदान' है, एवं जाता हुआ वायव्य प्राण ही 'प्राण'' है। हमें इस यज्ञकर्म्म से हमारे ( यजमान के ) आध्यात्मिक मानुषात्मा के स्वर्गमन के लिए दैवात्मा उत्पन्न करना है। यह दैवात्मा हमारा आध्यात्मिक स्वरूप है। उक्त 'एति--प्रेति' भाव से इस पें 'एति--प्रेति' भावात्मक उदान, तथा प्राण का आधान होजाता है। इसलिए भी 'एति--प्रेति' भावयुक्ता मन्त्रद्वयी का उच्चारण किया जाता है। और यही 'एति--प्रेति' भावात्मक अनुवचन की दूसरी उपपत्ति है ॥ ५ ॥

रेत:--सेक करने वाले का रेत योषाप्राण ( गर्भाशयगत योनिरूप आग्नेय प्राण--आर्त्तव ) में आहुत होता हुआ रेत:सेक करने वाले की अपेक्षा से 'प्रेति' भाव का अनुग्राहक बन रहा है। एवं--वही सिक्त रेत १० मास के अनन्तर पूर्णावयव बनकर अपत्यरूप में परिणत होकर एवयामरुत् के प्रत्याघात से भूमिष्ठ बनता हुआ 'ऐति' भाव का अनुग्राहक बन रहा है। रेतोद्रव्य सिञ्चक की दृष्टि से 'प्रेति' है, एवं रेतोरूप अपत्य सिञ्चक की दृष्टि से 'एति' है। हमें इस यज्ञकर्म्म में प्रजननकर्म्म अपेक्षित है। एवं प्राकृतिक प्रजननकर्म्म 'एति-प्रेति' भावात्मक है। उस का भी यहाँ सम्बन्ध होजाता है। यही 'एति--प्रेति' भावात्मक अनुवचन की तीसरी उपपत्ति है।

जिस यज्ञ से हमें यजमान के आध्यात्मिक शारीराग्नि के आधार पर दैवात्मा उत्पन्न करना है, उस में आध्यात्मिक यज्ञपुरुषवत् **'आत्मा-शरीर'** दोनों भाग अपेक्षित हैं। आत्मा भोक्ता है, शरीर भोग्य है। यही भोग्य शरीर **'भोगायतन'** भी कहलाया है, भोग्य भी कहलाया है। आत्मवित्त **अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त**--भेद से दो भागों में विभक्त है। शरीर इसका अन्तर्वित्त है, एवं बाह्य भौतिक परिग्रह बहिर्वित्त है। दोनों हीं **'पशु'** नामसे व्यवहृत हुए हैं। इस पशुसम्पत्ति के संग्रह के लिए भी 'एति-प्रेति' भाव उपयुक्त होरहा है। पशु प्रातः जङ्गल में चरने जाते हैं, यही इन का 'प्रेति' [ गच्छन्ति ] भाव है। सायङ्काल वापस लौट आते हैं, यही इन का 'प्रेति' [ आगच्छन्ति ] भाव है। इसप्रकार पशुसम्पत्ति भी 'एति--प्रति' भावात्मिका बन रही है। आने--जाने वाले पशु चेतन हैं। जिस प्राकृतिक पशुप्राण से इन पशुओं का स्वरूप--निर्म्माण हुआ है, वही पशुप्राण अन्तर्वित्तलक्षण शरीरात्मक पशुभाव का स्वरूप समर्पक माना गया है। इस सादृश्य से दैवात्मा में पशु--सम्पत्ति का भी आधान होजाता है, एवं अन्तर्वित्तलक्षण शरीरसम्पत्ति का भी संग्रह होजाता है। यही 'एति-एति'-भावात्मक अनुवचन की चौथी उपपत्ति है।

अब बहिर्वित्त--लक्षण बाह्य पशुसम्पत्ति का, जिसे कि हम आधिभौतिक--सम्पत्ति कहेंगे, संग्रह करना शेष रह जाता है। यह काम भी इसी 'एति-प्रेति' भाव से गतार्थ बन रहा है। सम्पूर्ण भूत--भौतिक पदार्थ इसी 'ऐति--प्रेति' भाव से नित्य सम्बद्ध हैं। कुछ एक उदाहरण हीं इस दिशा में उपोद्बलक मान लिए जाएँगे। त्रैलोक्य के गर्भ में प्रतिष्ठित यच्चयावत् भूत--भौतिक पदार्थ इसी भावद्वयी से नित्य आक्रान्त हैं, जिसका **"सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह"** ( ईश० उ० ) इत्यादि रूप से सर्वत्र प्रत्यक्ष किया जासकता है। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचा करते हैं कि, **विश्व,** तथा विश्व-गर्भ में **प्रतिष्ठित पदार्थ** गतिशील हैं, संसरणशील हैं। अतएव इस प्रपञ्च को **'संसार'** कहा जाता है। इसी स्वाभाविकी गति से पदार्थों में अवस्था--परिवर्त्तन हुआ करता है। इसी क्षणिक परिवर्त्तन के आधार पर दर्शनविशेषने **'क्षणिकं क्षणिकम्'** सिद्धान्त स्थापित करने का साहस कर लिया है।

परन्तु जब हम अन्तर्दृष्टि से विचार करते हैं, तो हमें यह मान लेना पड़ता है कि, इस गतिभाव के गर्भ में **'आगति'** भी प्रतीत होरही है: **गतिभाव विनाश है, तो आगतिभाव सम्भूति है।** दोनों का एक ही बिन्दु में समावेश होरहा है। **प्रत्येक पदार्थ पूर्वरूप से नष्ट होता हुआ ही उत्तररूप से सम्भूत है। बिगडता हुआ ही बन रहा है। इस--चलाचल--( चल--अचल )**--भावद्वयी से ही **"सर्वमिदं चलाचलम्"**। इन दोनों में चलभाव (गतिभाव) प्रेति का स्वरूप-समर्पक बन रहा है, एवं अचलभाव--स्थिति-भाव एति भाव का अनुग्राहक बन रहा है।

आदान-विसर्ग की दृष्टि से भी इस 'एति-प्रेति' की व्याप्ति के दर्शन किए जासकते हैं। प्रत्येक पदार्थ से उसके क्षरपरमाणु विंस्रसनधर्म्मा हृद्यप्रजापति के विंस्रसनात्मक क्षरणधर्म्म से विस्रस्त होरहे हैं। साथ ही **'भैषज्ययज्ञ'** नामक प्राकृतिक कर्म्म के आदान के द्वारा इस निर्गत भाग की क्षतिपूर्त्ति भी होरही है। प्रतिवस्तु प्रत्येक क्षण में आदान-विसर्ग, दोनों भावों से नित्य आक्रान्त है। विश्व क्रियात्मक है। क्रिया गतितत्त्व है। प्रत्येक गति के गर्भ में **'आगति'** है, एवं प्रत्येक आगति के गर्भ में **'गति'** है। सूर्य्य की रश्मियों को देखिए। रश्मियाँ चलतीं हैं, परन्तु पीछे हटतीं हुई। **'अर्चंश्चरति'** के अनुसार **अपानन** करते हुए ही रश्मियों का **प्राणन** होरहा है, जैसा कि **'अस्य प्राणद्पानती'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। हमारी मार्गगति में एक पैर आगे बढ़ता हुआ ही चल रहा है, तो दूसरा पीछे हटता हुआ ही आगति का भी प्रवर्त्तक बन रहा है। प्रत्येक गति में आगति अनुस्यूत है। चक्षुः-पटल भी इस प्राणन-अपानन से वञ्चित नहीं है। मार्ग में चलते हुए दोनों हाथों की गति पर दृष्टि डालिए। यहाँ भी आप को आगति, गति ये दोनों भाव उपलब्ध होंगे। शरीर का रुधिर भी सर्वत्र सञ्चार करता हुए दोनों का अनुग्राहक बन रहा है। कर्म्ममय विश्व में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं हैं, जिसमें **'एति-प्रेति'** दोनों भावों का सम्बन्ध न हो। यही भौतिक जगत् का प्रातिस्विक धर्म्म है, जो कि इसे गायत्रब्रह्म के अनुग्रह से ही प्राप्त है। इसी आधार पर—**'गायत्री वा इदं सर्वम्'** ( छा० उपनिषत् ) यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। यही आधिभौतिक-सम्पत्ति है। एति-प्रेति-पूर्वक अनुवचन से सर्वसाधारण में सामान्यरूप से व्याप्त इस सम्पत्ति का भी संग्रह होजाता है। यही एति-प्रेति भावात्मक अनुवचन की पाँचवी उपपत्ति है ॥६॥

तात्पर्य्य यही हुआ कि, **आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक,** तीनों के समन्वय से **इस अग्नियज्ञ ( वैधयज्ञ--दर्शपूर्णमास )** से दैवात्मा उत्पन्न करना है। इस की स्वरूप-सिद्धि के लिए हमें पाँच सम्पत्तियाँ अपेक्षित हैं। आधिदैविक-सम्पत्ति पहिली सम्पत्ति है, यजमानाग्निलक्षणा आध्यात्मिक-सम्पत्ति दूसरी सम्पत्ति है, बहिर्वित्तलक्षणा बाह्यभौतिक-सम्पत्ति तीसरी सम्पत्ति है, अन्तर्वित्तलक्षणा शरीरसम्पत्ति चौथी सम्पत्ति है, एवं स्वयं यज्ञकर्म्म पाँचवीं सम्पत्ति है। **'एति-प्रेति'** पूर्वक अनुवचन से पाँचों का संग्रह होजाता है। इसीलिए श्रुति ने पाँच उपपत्तियाँ बतलाईं हैं। यही गायत्रानुगत एति-प्रेति भाव की सर्वव्याप्ति का संक्षिप्त निदर्शन है, जिसके उपासक सतत **'एति-प्रेति'** भाव से युक्त रहते हुए पूर्ण समृद्ध बने रहते हैं।

सामिधेनी-कर्म्म क्यों किया जाता है ?, सप्रणव हिङ्कारपूर्वक ही क्यों किया जाता है ?, ११, १५, १७ संख्या का क्या रहस्य है ?, अनवानन का क्या रहस्य है ?, आद्यन्त के त्रिः-त्रिः-आवर्त्तन से क्या प्रयोजन अभिप्रेत है ?, गायत्रीछन्द का, एवं अग्निदेवता का सम्बन्ध क्यों अभीष्ट है ?, 'एति-प्रेति' पूर्वक अनुवचन क्यों किया जाता है ?, इत्यादि उन प्रश्नों की, जिनका कि बहिरङ्गभाव से सम्बन्ध है-क्रमिक उपपत्ति बतलादी गई। अब यहाँ से आगे ( सप्तती-कण्डिका से ) पद्धतिप्रदर्शनपूर्वक सामिधेनी-मन्त्रों की व्याख्या ही आरम्भ होती है। वही क्रमशः पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरही है।

वेदि के पश्चिम भाग में, अथवा वेदिश्रोणि के उत्तर भाग में अध्वर्य्यु के द्वारा बिछाए हुए दर्भासन पर खड़ा होकर **'होता'** नाम का ऋत्विक् सर्वप्रथम निम्नलिखित सामिधेनी मन्त्र का तीन बार उच्चारण करता है—

(१) 'हिं-हिं-हि-ओम्' प्रवो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या ।
देवाञ्जिगाति सुम्नयुः-ओम् ॥ (१, २, ३,) ।

"हिं-हिं-हिं-ओम्" इस सप्रणव हिङ्कार का उच्चारण केवल एकबार प्रथम मन्त्र के साथ ही किया जाता है। आगे के सम्पूर्ण मन्त्र केवल 'ओम्' पूर्वक ही बोले जाते हैं। इस मन्त्र को ऋतुपरक भी लगाया जासकता है, एवं अग्निपरक भी लगाया जासकता है। उभयथा अग्नितत्त्व ही अभिप्रेत है। कारण इसका यही है कि, अग्नि की सत्य, ऋत-भेद से दो अवस्था मानीं गई हैं। सत्याग्नि स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहता हुआ सम्वत्सरयज्ञ का साक्षी है, जिसके लिए--'तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः' ( शत० ब्राह्मण ) यह कहा जाता है। इस सूर्य्यात्मक सत्य ( सहृदय-सशरीरी ) अग्नि ( जिसे गायत्रीमात्रिक वेदाग्नि भी कहा जाता है ) का जो प्रवर्ग्य भाग है, वही केन्द्र-सम्पत्ति से वञ्चित होता हुआ 'ऋत' कहलाया है। इस ऋत ( वायव्य ) अग्नि में ऋतसोम की आहुति होती है। ऋताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करता है, एवं ऋतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर आता हुआ इसमें आहुत होता रहता है। इस ऋताग्नि, तथा ऋतसोम के अन्तर्य्याम नामक चिति (ग्रन्थिबन्ध) सम्बन्ध से दोनों के पूर्वस्वरूपोपमर्दन से जो एक तीसरा उभयात्मक स्वरूप उत्पन्न होता है, उसे ही 'ऋतु' कहा जाता है। इस ऋतुसमष्टि का ही नाम 'सम्वत्सरयज्ञ' है। इस प्रकार वही अग्नि ऋतावस्था में आकर सोम के सम्बन्ध से 'ऋतु' बनता हुआ यज्ञ की प्रतिष्ठा बन रहा है। अतएव ऋतुपक्ष, तथा अग्निपक्ष, दोनों का अन्ततोगत्वा अग्निपक्ष में हीं पर्य्यवसान सिद्ध होजाता है।

'वाज, अभिद्यव, हविष्मन्त, घृताची' ये चारों भाव इस यज्ञाग्नि के स्वरूप-रक्षक हैं। इन्हीं चारों के सम्बन्ध से साम्वत्सरिक यज्ञाग्नि स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है। वाज सामान्यतः '१ अन्न' का वाचक माना गया है। वस्तुतः 'वाज' उस तत्त्व का नाम है, जो अन्नरूप से सूर्य्य से भी ऊपर आपोमय परमेष्ठी ( जनल्लोक ) में प्रतिष्ठित रहता है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व 'आपः-वायुः-सोम' भेद से तीन भागों में विभक्त है। इनमें जो अप् की सोमावस्था है, वही 'वाज' है। गायत्री जिस सोम का अपहरण करती है, वह भी सोम है, चान्द्रमण्डल में भी सोम है। परन्तु यह 'वाज' नामक परमेष्ठ्य सोम अपनी तत्रत्या अवस्था से दोनों से भिन्नधर्म्मा है। इसे ब्रह्मवीर्य्य का संग्राहक माना गया है, जैसाकि-'वीर्य्यं वै वाजाः' ( शत० ३।३।४।७ )। इत्यादि से स्पष्ट है। प्राकृतिक नित्य हविर्यज्ञ में चान्द्र सोम का सम्बन्ध है, साम्वत्सरिक ज्योतिष्टोम में सौररश्मिभुक्त ज्योतिर्म्मय सोम का सम्बन्ध है। एवं प्राकृतिक वाजपेययज्ञ में इस ब्रह्मवीर्य्य-प्रवर्त्तक, अतएव '२ ब्रह्मणस्पति' नाम से प्रसिद्ध पवित्र 'वाज' नामक पारमेष्ठ्य सोम का

---

१—'अन्नं वै वाजः' ( तां० म० ब्रा० ( १३।६।१३ )।
२—'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत'
—ऋक्० सं० ६।८३।१।

सम्बन्ध है। अतएव 'वाजपेय' यज्ञ का एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण ही माना गया है ÷। अतएव इसे 'बृहस्पतिसव' भी कहा गया है।

"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः" के अनुसार परमेष्ठी नामक पूर्वग्रहों के अन्त में (परमेष्ठी की सीमा पर) वाजपेययज्ञ के प्रवर्त्तक बृहस्पति प्रतिष्ठित हैं, जो कि सुप्रसिद्ध 'बृहस्पतिग्रह'-तथा 'लुब्धकबन्धु' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति से सर्वथा विभिन्न तीसरा पारमेष्ठ्यग्रह माना गया है। सौर इन्द्र सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी नामक उत्तरग्रहों से पहिला है। उस ओर की अन्तिम सीमा में बृहस्पति है, एवं इस ओर के उपक्रम में इन्द्र है, यही तात्पर्य्य है। बृहस्पति ब्रह्मात्मक ब्राह्मण की प्रतिष्ठा है, एवं सौर इन्द्र क्षत्रात्मक क्षत्रिय की प्रतिष्ठा है। बृहस्पतिवत् इन्द्र के साथ भी वाज का सम्बन्ध होरहा है। क्योंकि दोनों सीमापेक्षया समीप हैं। अतएव आगे चलकर श्रुतिने वाजपेय का राजन्य को भी अधिकारी मान लिया है *। इसप्रकार वाजपेय का इन्द्र से भी सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु वस्तुतः वाजपेय ब्रह्मात्मक ही माना जायगा। इसी आधार पर श्रुति का "ब्रह्म वै वाजपेयः" (तै० ब्रा० १।३।२४।) यह निगम प्रतिष्ठित है। इस वाज के सम्बन्ध से ही पारमेष्ठ्य आप्यपशु 'वाजी' कहलाया है। इस 'वाजी-प्राण' का जिस अश्वजातिविशेष में प्राधान्य रहता है, उस अश्वजाति को भी 'वाजी' कहा जाता है।

प्रकृत में उक्त वाज-स्वरूप दिग्दर्शन से यही बतलाना है कि, इसी पारमेष्ठ्य वाजरस की दूसरी अवस्था का नाम ज्योतिर्म्मय सोम है, जिसकी आहुति से ही सौर कृष्णाग्नि ज्योतिर्म्मय बना हुआ है। तृतीयावस्था चान्द्रसोम है। चौथी अवस्था ओषधियाँ (गोधूमादि अन्न) हैं। चान्द्रसोम ही प्रवर्ग्य सम्बन्ध से ओषधियों का स्वरूप-सम्पर्क बनता है। पशुओं में भी परम्परया वही वाजरस प्रतिष्ठित है। ऋतुएँ (ऋताग्नि) भी इसी वाजरस से परिपुष्ट हैं। वाजरस की इसी व्याप्ति के आधार पर निम्न लिखित निगम प्रतिष्ठित हैं—

१—"वाजो वै पशवः" (ऐ० ब्रा० ५।८।)।

२—"ओषधयः खलु वै वाजाः" (तै० ब्रा० १।३।७।१)।

३—"ऋतवो वै वाजिनः" (शत० ब्रा० २।४।४।२२)।

यह वाजरस सर्वथा अग्नि को समिद्ध करने वाला है। पारमेष्ठ्य वाज ब्रह्माग्नि की, ज्योतिर्म्मय वाज सम्वत्सराग्नि की, चान्द्रवाज ओषध्यग्नि की, एवं ओषधिवाज शारीराग्नि की प्रदीप्ति

---

÷—'स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः यदेनेन बृहस्पतिरयजत। ब्रह्म हि बृहस्पतिः। ब्रह्म हि ब्राह्मणः।' (शत० ५।१।१।११)।

*—'अथो राजन्यस्य (वाजपेयः)—यदेनेन—इन्द्रोऽयजत। क्षत्रं हीन्द्रः, क्षत्रं राजन्यः" (शत० ५।१।१।११)।

का कारण बन रहा है। क्योंकि वाजरस से अग्नि समिद्ध रहता है, अतएव इसे हम अवश्य ही अग्नि का स्वरूप–रक्षक कह सकते हैं।

दूसरा रक्षक है–"अभिद्यव"। पक्षाग्नि का ही नाम अभिद्यव है। अवयवी की रक्षा, पुष्टि, तुष्टि, तृप्ति अवयवों की रक्षादि पर ही निर्भर है। सम्वत्सराग्नि अवयवी है, पक्षाग्नि अवयव हैं। इन अवयवों से ही उस अवयवी की स्वरूप-रक्षा होरही है। अतः इन " भिद्यु" नामक पर्वाग्नियों को भी हम अग्निस्वरूप-रक्षक मान सकते हैं।

'हवि' से ओषधिरूप **अन्न, भौतिक शरीर,** दोनों अभिप्रेत हैं। भौतिक शरीर आयतनरूप से अग्नि का रक्षक है, एवं अन्न आहुतिरूप से अग्नि की रक्षा कर रहा है। **अन्न,** एवं भूत, दोनों हीं मर्त्य होने से पशु हैं। अतएव श्रुति ने '**हविष्मन्तः**' का पशु अर्थ किया है।

आन्तरिक्ष्य वायु में आज्य की मात्रा प्रतिष्ठित रहती है, जैसा कि '**घृतमन्तरिक्षस्य**' (शत० ७। ३।२।३।) इत्यादि से प्रमाणित है। इसी आज्याहुति से अग्नि अतिशयरूप से समिद्ध रहता है। आज्याहुति देने वाले वायु हैं, यही प्राकृतिक यज्ञ के जुहू-स्थानीय 'घृताची' हैं। इसप्रकार मन्त्र में पठित वाजादि चारों शब्द अग्नि–समिन्धन का भाव ही स्पष्ट कर रहे हैं। इन चारों रक्षकों से युक्त उस दिव्याग्नि का यहाँ आधान ही प्रकृत अनुवचनकर्म्म से अभिप्रेत है। उसके आधान से स्वर्गसुखार्थी (**सुम्नुयु**) यजमान यज्ञ के द्वारा दिव्यदेवताओं की सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होजाता है। इसी सामयिक अर्थ को लक्ष्य में रखकर मन्त्र ने कहा है कि—

**'हे अग्ने ! घृताची के द्वारा वाज, पक्ष, पशु आदि सम्पत्तियाँ ( आपको समिद्ध बनाने के लिए ) प्रादुर्भूत होतीं हैं। इनके प्रादुर्भाव से ( आपके समिद्ध बन जाने पर) यज्ञकर्त्ता यजमान देवभाव को प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।'**

उक्त ऋचा में क्योंकि '**प्र**' उपसर्ग आया है, अतएव इसे हम '**प्रवती**' ऋचा कहेंगे, एवं इसे गायत्री के '**प्रेति**' (**गच्छति**) **भाव** का संग्राहक मानेंगे। इस प्रथम मन्त्र के त्रिरावृत्तिपूर्वक अनुवचन करने के अनन्तर होता निम्न लिखित (मौलिकरूप से दूसरी, तथा संख्या क्रम से चौथी) सामिधेनी का अनुवचन करता है—

**(२)- "ओं-अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।**
**नि होता सत्सि बर्हिषि-ओम्" (४) इति।**

प्राकृतिक दिव्याग्नि स्वमण्डल से भूलोक की ओर आता है। यहाँ भूलोक ही उसकी प्रतिष्ठा बनता है। इस भूलोक को याज्ञिक परिभाषा में '**बर्हि**' कहा जाता है। पितृपरिभाषा में '**आग्नेय-सौम्य-समशीतोष्ण**' भेद से तीन प्रकार के '**अन्नपितर**' माने गए हैं। सूर्योपलक्षित द्युलोक आग्नेय बनता हुआ '**उष्ण**' है। चन्द्रपोलक्षित अन्तरिक्ष सौम्य होने से '**शीत**' है। एवं भूलोक अग्नि-सोम के समसमन्वय से **अनुष्णाशीत** ( न उष्ण न शीत ) है। इस अनुष्णाशीत भूलोक का निदान '**बर्हि**' (**दर्भ** ) माना गया है। कारण

इसका यही है कि, पारमेष्ठ्य शीत अपतत्त्व का जो भाग सौरमण्डल के अग्नि से मिलकर 'वेन' कहलाता है, वही 'अप्-अग्नि' के समसमन्वय से अनुष्णाशीत है। अग्नि के सम्बन्ध से पानी का शैत्य हट जाता है, एवं अप्सम्बन्ध से अग्नि की उष्णता शान्त होजाती है। ऐसे अनुष्णाशीत वेनतत्त्व से ही 'बर्हि' (दर्भ-डाभ) की उत्पत्ति हुई है, जैसाकि पूर्व में भाष्य के प्रथमखण्डान्तर्गत **दर्भोत्पत्ति-विज्ञान**-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इसी सादृश्य से बर्हि को तत्समानधर्म्मा भूलोक का प्रतिरूप मान लिया गया है। इसी आधार पर दिव्याग्निगत पितरों को 'अग्निष्वात्ता', आन्तरिक्ष्य सोमगत पितरों को 'सोमसत्', एवं अनुष्णाशीत भूलोकस्थ पितरों को 'बर्हिषत्' कहा गया है। यहाँ इससे यही बतलाना है कि, द्युलोक से आने वाले दिव्याग्नि की प्रतिष्ठाभूमि वह भूलोक ही बनता है, जिसे निदान-विधि से 'बर्हि' कहा गया है।

प्रसङ्गतः यह और ध्यान रखना चाहिए कि, **पार्थिव अप्तत्त्व**, तथा **दिव्य अग्नितत्त्व**, दोनों के समन्वय से ही पार्थिव-प्रजा की उत्पत्ति हुई है। सौम्य-शुक्रभाव अग्नि-गर्भित अप्तत्त्व है, एवं आग्नेय शोणित सोमगर्भित अग्नित्त्व है। दोनों का दाम्पत्यभाव ही प्रजास्वरूप का कारण है। इस दृष्टि से प्रजा को भी 'बर्हि' कहा जासकता है। ओषधियों में भी पार्थिव अग्नि, **वृष्टिजल**-रूप से दोनों का समन्वय है, अतः इन्हें भी 'बर्हि' कहा जासकता है। चतुष्पाद पशुओं में भी **पार्थिव अन्नरस**, तथा **दिव्य अग्निरस** का समसमन्वय है। अतः इन्हें भी 'बर्हि' कहा जासकता है। इसप्रकार अन्नाग्नि-समन्वित अनुष्णाशीत तत्त्व की दृष्टि से 'बर्हि शब्द निदानेन अनेक स्थानों में अभिव्याप्त होरहा है *।

द्युलोक से चलकर इस 'बर्हि (भूपृष्ठ) पर आने वाला वह अग्नि अपने साथ प्राणदेवताओं को भी लाता है। "अग्निः सर्वा देवताः" के अनुसार प्राणाग्नि के गर्भ में हीं सम्पूर्ण दिव्यदेवता प्रतिष्ठित है। इस आह्वानलक्षण सहप्राप्तिधर्म्म से भी इस भूलोकस्थ दिव्य अग्नि को 'होता' कहा जासकता है। साथ ही यह पार्थिव रसों का आदान करता हुआ इससे देवतृप्ति का कारण बनता हुआ 'हवन' साधक बनने से भी यह 'होता' कहा जासकता है। आगत अग्नि का पहिले स्वयं का पार्थिव अन्नरस से सम्बन्ध होता है। अनन्तर इस हवि का प्राणदेवताओं से सम्बन्ध होता है। यही उस अग्नि का मुख्य कर्म्म है। प्रकृत मन्त्र ने इसी अग्निकर्म्म का वैधयज्ञ की दृष्टि से स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—

**हे दिव्याग्ने! आप पार्थिव रसरूप हविर्भक्षण के लिए, तथा प्राणदेवताओं में इस हवि को पहुँचाने के लिए [द्युलोक से भूलोक पर्य्यन्त] व्याप्त होते हुए भूलोक में पधारिए।**

---

* १-"अयं वै लोको (भूलोको) बर्हिः" (श० १।८ २।११।)।
-"प्रजा वै बर्हिः" (तै० ब्रा० १।६।३।१०।)।
-"ओषधयो वै बर्हिः" (शत०।१।३।३।६।।
-"पशवो वै बर्हिः" (ऐ० ब्रा० ५।२।७।)।
-"शरद्वै बर्हिः" (शत० १।३।४।१०)।

यहाँ होता के रूप से इस बर्हि [ भूलोक ] पर विराजिए, [ द्युलोक से भूलोक पर्य्यन्त अग्नि का व्याप्त होना हीं इस आधिदैविक-पक्ष में अग्नि का स्तवन-कर्म्म है )।

"हे दिव्याग्ने ! ( होता के सामिधेनी-कर्म्म से बुलाए जाते हुए ) आप यज्ञिय-हवि-ग्रहण के लिए, तथा इस हवि को देवताओं में पहुँचाने के लिए इस यज्ञसंस्था में पधारिए, एवं इस कुशासन पर होता बन कर विराजिए"।

उक्त ऋचा में क्योंकि 'आङ्' उपसर्ग आया है, अतएव इसे 'आवती-ऋचा' कहा जायगा। एवं इसे गायत्री के 'एति ( आगच्छति ) भाव' का ही संग्राहक माना जायगा। इसप्रकार इन दोनों के अनुवचन से होता 'एति-प्रेति' भाव का ही संग्रह करने में समर्थ होजाता है, जैसाकि ब्राह्मण की सातवी कण्डिका से स्पष्ट है ॥ ७ ॥

यज्ञेतिकर्त्तव्यता से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्मों का वैज्ञानिक रहस्य अवश्य होता है। परन्तु उसका समन्वय श्रौत-पद्धतियों, निगमानुगमवचन-प्रमाणों के आधार पर ही करना चाहिए। अपनी कल्पना से चाहे जो उपपत्ति मानते हुए पद्धति के विरुद्ध जाना विज्ञानसम्मत नहीं, किन्तु अज्ञानसम्मत है। वर्त्तमान युग में तो ऐसे वेदवैज्ञानिकों की कमी है ही नहीं *। किन्तु पुरायुग में भी किसी किसी को विज्ञान का अजीर्ण होजाता था। पद्धति के अनुसार उक्त दोनों मन्त्र 'प्र-आ' के सम्बन्ध से क्रमशः स्पष्ट ही यद्यपि 'पराक्—अर्वाक्' दोनों भावों के संग्राहक बन रहे हैं। परन्तु वैज्ञानिक--बन्धुओंनें पद्धति-विरुद्ध अपने व्यक्तित्वविमोहन से यह कल्पना कर डाली कि, 'प्रवो वाजा०' और 'अग्न आयाहि' दोनों ऋचाएँ गायत्री के 'प्रेति' भाव का ही संग्रह कर रहीं हैं। उपपत्ति आप इसकी यह बतला रहे हैं कि, 'प्र०' इत्यादि तो 'प्रेतिभाव' से सम्बद्ध है ही। एवं 'अग्न आ०' से आगमन बतलाया है, वह जहाँ से ( द्युलोक से ) इसका आगमन होता है, वहाँ के देवताओं की अपेक्षा तो इसका परागति रूप प्रयाण ही सिद्ध होता है। सम्भवतः इन वैज्ञानिकों को यह न सूझा कि, इस समय उस यजमान के यज्ञ में इन मन्त्रों का प्रयोग होरहा है, जिसकी अपेक्षा 'अग्न आयाहि०' का अर्थ अर्वाग्गतिलक्षण आगमन ही होसकता है। फलतः उक्त मत का भलीभाँति अवैज्ञानिकत्व सिद्ध हो-जाता है ॥ ८ ॥

पूर्व में दोनों मन्त्रों का जो वैज्ञानिक अर्थ हुआ है, उसे श्रुति अपने शब्दों में स्पष्ट करती हुई कहती है कि, 'प्रेति' भावात्मिका प्रथमा ऋचा के 'प्र वो वाजा०' इस पद का 'वाज' शब्द 'अन्न' का, 'अभिद्यव' शब्द 'पक्षों' का, एवं 'हविष्मन्त' शब्द 'पशुसम्पत्ति' का अनुग्राहक है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया

*—व्यक्तित्वविमोहनात्मिका इत्थंभूता वेदभक्ति का ही यह दुष्परिणाम है कि, आज अपनी मान्यताओं के अनुसार युगधर्म्मानुगता वर्त्तमाना-राजनीति, समाजनीति, साम्यवाद, आदि आदि के अनुबन्ध से वेद के अनेक कल्पित अर्थ किए जारहे हैं, जिनका वेद के पारिभाषिक समन्वय से संस्पर्श भी नहीं है।

है । "वाज, अभिद्यव, हविष्मन्त, घृताची" इन चारों की एक दूसरी वैज्ञानिक व्याख्या का भी समन्वय कर लीजिए । यज्ञकर्म्म से दैवात्मा उत्पन्न करना है, यह अनेक बार कहा जाचुका है । उत्पन्न प्रजा की समृद्धि जिन भावों से सम्बद्ध है, इन चारों शब्दों से उन्हीं समृद्धियों की प्राप्ति हुई है । **अन्नसम्पत्ति, पशुसम्पत्ति, वीर्य्यसम्पत्ति, और भोग्यशक्ति,** ये ही वे चार समृद्धियाँ हैं, जिन से प्रजा सुसमृद्ध मानी जाती है । **अन्नसम्पत्ति का 'वाज' से, पशुसम्पत्ति का 'हविष्मन्तः' से ग्रहण हुआ है** । जिसप्रकार त्रिवृत् (९) संख्या अग्नितत्त्व से समतुलित है, वैसे ही पञ्चदशसंख्या इन्द्रतत्त्व से समतुलित है । यही इन्द्रतत्त्व प्राणरूप से भोक्ता बनकर अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रहता है । **'अभिद्यव'** शब्द **'पक्ष'** का वाचक है । पक्ष १५ संख्या का अनुग्राहक है । यह संख्या भोक्ता इन्द्रप्राण की अनुग्राहिका है । इसप्रकार परम्परया **'अभिद्यव'** शब्द भोग्यशक्ति का ही संग्राहक बन रहा है । भोक्ता को भोग्य अन्न-पशु से सम्बद्ध बनाए रखना वीर्य्य का काम है । 'घृताची' पद उसी **'अग्निवीर्य्य ( अन्नादवीर्य्य )'** का संग्राहक बन रहा है ॥ ६ ॥

मन्त्र में **'घृताच्या'** पद है । अग्निसमिन्धनकर्म्म में प्रयुक्त होने वाली ऋचा के **'घृताच्या'** पद का अन्य सब पदों की अपेक्षा विशेष महत्त्व है । श्रुति ने एक 'पु**रातन मानुष इतिवृत्त के द्वारा** * इस पद के इसी महत्त्व का समर्थन किया है । बहुत सम्भव है कि, कतिपय पाठक अभिनिवेशवश इस आख्यान को **'मानुषेतिवृत्त'** न समझें । परन्तु जिन स्पष्ट शब्दों में श्रुति ने **स्थान-नाम-घटना-नदी-पर्वत-राजा-पुरोहित-ग्राम-कृषियोग्य भूमि-ब्राह्मणनिवास-राज्यसीमा,** आदि भावविशेषों का आख्यान में उल्लेख किया है, उन्हें सामने रखते हुए प्रस्तुत इतिवृत्त की **'मानवेतिवृत्तता'** में यत्किञ्चित् भी तो सन्देह नहीं रह जाता । जिस अपौरुषेयता की रक्षा के लिए हमारे कतिपय पाठक मानवेतिवृत्त से पराङ्मुख होते हैं, उनका वह भय उस समय दूर होजाता है, जबकि वे वेदापौरुषेयत्व का वास्तविक तात्पर्य्य समझ लेते हैं, जिसका कि उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–खण्डत्रयात्मिका में महारम्भ से प्रतिपादन हुआ है । अस्तु, प्रकृत में इस श्रौत आख्यान को विशुद्ध मानवेतिवृत्तपरक मानते हुए ही हमें कथानक का समन्वय करना है ।

"सुप्रसिद्ध स्वयम्भू ब्रह्मा के मानसपुत्र, अतएव 'स्वायम्भुव' नाम से प्रसिद्ध **'विवस्वान्'** नामक आदित्य सूर्य्यवंश के आदिप्रवर्त्तक माने गए हैं । इनके **'श्रद्धादेव'**, तथा **'यम'** नामक दो औरसपुत्र उत्पन्न हुए । यही श्रद्धादेव भारतवर्ष के प्रथम सम्राट् कहलाए, साथ ही ये विवस्वान् के पुत्र होने से **'वैवस्वत मनु'** नाम से भी प्रसिद्ध हुए, जैसाकि–"**मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह । तस्य मनुष्या विशः** (प्रजाः) । **तऽइमऽआसत-ऽइत्यश्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति** ' ( शत० ब्रा० १३।३।३।६। ) इत्यादि वाजिश्रुति से पमाणित है ।

भारतवर्ष के प्रथम सम्राट् श्रद्धादेवमनु अवश्य थे, परन्तु इनका यहाँ स्थायी निवास नहीं हुआ । अपितु ये जीवनपर्य्यन्त अपनी जन्मभूमि उत्तर * कुरुक्षेत्र में ही रहे । इनके **इक्ष्वाकु–प्रमुख १० पुत्र थे, एवं 'इला'**

---

***–मानवचरित्रानुगता ऐतिहासिक घटना के द्वारा**

*-यह कुरुक्षेत्र उस **'प्राचीसरस्वती'** के सन्निकट था, जिसे आज **'बालकशभील'** कहा जाता है, जो कि आज भी उत्तररूस में प्रवाहित है । भौम–मनुष्यदेवता इसी में **'अवभृथस्नान'** ( **यज्ञान्तस्नान** ) करते थे । इसी कुरुक्षेत्र की प्रतिकृति पर भारतवर्ष में भी **'कुरुक्षेत्र'** व्यवस्थित हुआ था ।

नाम की एक कन्या थी। इक्ष्वाकु ही अयोध्यापति सूर्य्यवंशी प्रथम भारतीय सम्राट् यहाँ के निवासी बने। ये ही अगली पीढ़ियों के मूलपुरुष मान गए। एवं इला से आगे जाकर **चन्द्रवंश** का विकास हुआ, जैसाकि **"बहिरङ्गपरीक्षात्मक–गीताभूमिका प्रथमखण्ड"** के **'सन्दर्भसङ्गति'** नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है।

इसी सूर्य्यवंश में उत्पन्न महाराज **'निमि'** के साथ ही हमारे प्रकृत इतिवृत्त का सम्बन्ध है। आज जो जनकादि विदेहों का स्वतन्त्र राज्य इतिवृत्तों में सुना जाता है, किसी समय वे अयोध्या–राज्य में ही अन्तर्भूत थे। विदेहों के पूर्वपुरुष अयोध्या–सम्राट् के सामन्त राजाओं ( छुटभय्यों ) में से थे। दोनों के कुलपुरोहित **महर्षि वसिष्ठ** थे। एकबार विदेहों के पूर्वपुरुष महाराज **'निमि'** ने यज्ञ करने की इच्छा से कुलपुरोहित वसिष्ठ का आमन्त्रण किया। उस समय वसिष्ठ देवताओं के द्वारा वितत यज्ञ में ऋत्विक्त्वेन वृत होकर **स्वर्ग ( प्राग्--मेरु--प्रदेशस्थ भौमस्वर्ग )** जाने वाले थे। वहाँ के अनुरोध को महत्त्व देते हुए वसिष्ठ स्वर्ग चले गए। महाराज निमि को कुलपुरोहित की यह उपेक्षा असह्य हुई। फलतः इन्होंनें मर्य्यादा–विरुद्ध, उस समय के प्रसिद्ध याज्ञिक, रहूगण के पुत्र, अतएव **'राहूगण'** इस उपनाम से प्रसिद्ध **महर्षि गोतम** के सहयोग से अपना यज्ञकर्म्म सम्पन्न करा लिया। थोड़े समय पीछे स्वर्ग से परावर्त्तित होने पर जब वसिष्ठ ने यह सुना कि, निमि ने गोतम के पौरोहित्य में यज्ञ–सम्पादन कर लिया है, तो उन्होंनें मर्य्यादाभङ्गनिमित्त निमि को यह शाप दे डाला कि, **"तुम इसी क्षण इस यज्ञाग्नि से नष्ट होजाओ"**। राजा भी पहिले से तो क्रुद्ध थे ही, वसिष्ठ के इस शाप से और भी उत्तेजित राजा के मुख से भी यह निकल पड़ा कि, **'आप का भी नाश हो'**। परिणामतः दोनों हीं भस्मीभूत होगए।

महर्षि गोतम के सम्मुख हीं यह घटना घटित हुई। उस ब्रह्मवेत्ता सर्वसमर्थ-ऋषि ने दोनों के भस्म का सञ्चय कर अरणि से अग्निमन्थन आरम्भ किया। मन्थन-प्रक्रिया से उत्पन्न यज्ञाग्नि में आहुति देकर दोनों को पुनर्जीवित कर दिया। क्योंकि महाराज निमि का पुनः प्रादुर्भाव **'मन्थन'** से हुआ, अतएव यहाँ से ये **'मथु'** नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं को यत्र तत्र **'मिथि'** नाम से भी व्यवहृत किया गया। इन मथु के पुत्र ही आगे जाकर **'विदेह माथव'** नाम से प्रसिद्ध हुए।

उक्त घटना की ग्लानि का **विदेह माथव** के ऊपर यह प्रभाव पड़ा कि, उन्होंनें भविष्य के लिए अन्यत्र चला जाना हीं श्रेयस्कर समझा। इस संकल्प को पूरा करने के लिए उन्होंनें अपने आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि का वागिन्द्रिय से संयम करते हुए यह प्रतिज्ञा की कि, **"जहाँ, जिस प्रदेश में हमारा वैश्वानराग्नि वागिन्द्रिय के द्वारा बाहिर निकल जायगा, उसी स्थान में हम अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करेंगे"**। यह संकल्प कर महाराज माथव वैश्वानर का संयम कर राहूगण गोतम को साथ लेकर चल पड़े। आगे आगे माथव चले जारहे थे, पीछे पीछे गोतम अनुगमन कर रहे थे। गोतम ने अनेक बार लौकिक भाषा में विदेघ का सम्बोधन किया! उनके इसप्रकार अकस्मात् राज्य छोड़कर आगे बढ़ने के कारण की जिज्ञासा व्यक्त की। परन्तु विदेघ ने अनेक बार प्रश्न करने पर भी उत्तर नहीं दिया। गोतम उनका वाक्-संयम न तोड़ सके। विवश होकर गोतम को उस मन्त्रशक्ति का आश्रय लेना पड़ा, जिसका फल अव्यर्थ माना गया है। उन्होंनें निश्चय किया कि, विदेघ ने किसी विशेष लक्ष्यसिद्धि के लिए ही अपने आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि

का संयम किया है। अतएव इनके इस वैश्वानराग्नि को प्रदीप्त किए बिना ये कोई उत्तर नहीं देंगे। अतः मन्त्रवाक् से इस संयम को तोड़ना हीं चाहिए। यह निश्चय कर गोतम कहने लगे—

**"वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे"।**

उक्त मन्त्र से अग्निसमिन्धन कर, इस अभिप्राय से कि, अब माथव का संयम अवश्य टूट जायगा, गोतम ने उच्चस्वर से सम्बोधन करते हुए कहा–'हे विदेघ ३!। परन्तु कोई परिणाम न निकला। पुनः गोतम ने निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया—

**"उदग्ने शुचयस्तव भ्राजन्त ईरते। तव ज्योतींष्यर्चयः"।**

गोतम का यह प्रयास भी व्यर्थ गया। अन्त में उनके मुख से तीसरे मन्त्र के **"तन्त्वा घृतस्नवीमहे"** इस भाग का निकलना था कि, माथव का संयम टूट गया। चिरकाल से संयत भी वह अग्नि 'घृतपद' के सम्बन्ध मात्र से प्रज्वलित होपड़ा। अब गोतम इस अग्निको अपनी आध्यात्मिक-संस्था में न रख सके। फलतः प्रज्वलित अग्नि बाहिर आपड़ा-( माथव बोल पड़े )। जिस समय यह घटना घटित हुई, उस समय माथव विदेघ सरस्वती नदी के समीप विद्यमान थे। यहाँ से आरम्भ कर आगे का **'सदानीरा'**—पर्य्यन्त का सम्पूर्ण भूप्रदेश पिब्दमान था, काल्वालीकृत था, जल से अक्षेत्रवत् था, एकप्रकार से जलपूरित बञ्जड़ ही भूप्रदेश था।

यहाँ वाक्संयम टूट जाना माथव ने एक दैवी-सङ्केत समझा, और इसीलिए यहीं से अपने संकल्पित स्वतन्त्र राज्य की आरम्भसीमा मानली। अग्निस्थापन हुआ, यज्ञारम्भ हुआ। ओर ओर ब्राह्मणों से भी स्वतन्त्र यज्ञानुष्ठान करवाए गए। इन यज्ञाग्नियों से उस अक्षेत्र भूप्रदेश की आर्द्रता हटाते हुए इस भूप्रदेश को निवास-योग्य बनाते हुए माथव आगे बढ़ते गए। यहाँतक कि, सम्पूर्ण **'सरस्वतीक्षेत्र'** को अग्नियज्ञों से सुखाते हुए वे **'सदानीरा'** नाम की नदी के तट पर जा पहुँचे, जोकि सदानीरा उत्तरगिरि से निकली है। यही नदी **"करतोया, सदानीरा, बाहुदा"** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इसमें एक हाथ जल सदा बना रहता है, इसलिए इसे **'करतोया'** कहा गया है। इसका पानी घोर गर्म्मी में भी अनुष्ण बना रहता है, अतएव इसे **'सदानीरा'** कहा गया है। सुप्रसिद्ध स्मृतिकार न्यायमन्त्री **'लिखित'** के ज्येष्ठ भ्राता **शङ्ख** की **आज्ञा** के बिना फलग्रहण—जनित अपराध के दण्ड के लिए लिखित का बाहु कटवा दिया गया था। अन्त में इसी नदी में वरुणाराधनः के द्वारा शङ्ख ने कनिष्ठ भ्राता के बाहु की पुनः प्राप्ति की थी। इसीलिए इसे **'बाहुदा'** कहा गया है। यही नदी लोकभाषा में **'कुरही'** नाम से पुकारी जाती है। यही विदेहराज्य की पूर्वसीमा का निर्म्माण करने वाली हुई। बहुत सम्भव है, यह **'गण्डकी'** नदी हो, जिसका भागीरथी में सङ्गम होता है।

इस नदी से इस ओर ही क्योंकि यज्ञाग्नि का सम्बन्ध हुआ, अतएव उसी समय से यह नियम बन गया कि, यह नदी यज्ञाग्निसम्बन्धविरह से अशुद्ध है। अतः जो इसका तरण करेगा, वह—प्रायश्चित्ती माना जायगा, जैसा कि–**'करतोया-विलंघनात्'** इत्यादि से स्पष्ट है। यही नदी **कोसलविदेहों की मध्यसीमा**

मानी गई। यही दोनों वंशों के वैवाहिक-सम्बन्ध का कारण बना। **क्षत्रियों का वैवाहिक सम्बन्ध पुरोहितगोत्रों से ही होता है**। इस घटना से पहिले दोनों के कुलपुरोहित वसिष्ठ थे। एवं तबतक कोसल-विदेहों का वैवाहिक सम्बन्ध अमर्य्यादित था। परन्तु उक्त यज्ञघटना को लेकर जब गोतम ऋषि विदेहों के पुरोहित बन गए, तो वैवाहिक सम्बन्ध मर्य्यादित बन गया।

वही विदेह-देश आज '**तिरहुत**' नाम में परिणित होगया है। उस देश के निवासी यद्यपि आज '**मैथिल**' कहलाते हैं। परन्तु वस्तुतः इन्हें '**मथु**' राजा के सम्बन्ध से '**माथव**' ही कहना चाहिए, जैसा कि–'**ते हि माथवाः**' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। यदि '**मथु**' के स्थान में '**मथि**' पाठ है, तो '**मैथिल**' शब्द भी सुसङ्गत माना जासकता है।"

यह है–आख्यान का संक्षिप्त स्वरूप। प्रकृत सामिधेनी-प्रकरण से इसका यही सम्बन्ध है कि, '**घृत**' पद से माथव के मुखाग्नि का समिन्धन हुआ था। इस से स्पष्ट है कि 'घृत' पद समिन्धन का अन्यतम कारण है। क्योंकि यहाँ वही समिन्धन-कर्म्म अभिप्रेत है, अतएव '**घृताच्या**' कहना अन्वर्थ बनता है। कहा गया है कि, 'घृताच्या' पद वीर्य्यभाव का संग्राहक है। इसी अभिप्राय से कहा गया है–"**वीर्य्यमेवास्मिन् दधाति**"–(२० वी कण्डिका) १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०-इन ग्यारह कण्डिकाओं में इतिवृत्तपूर्वक उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण हुआ है॥ (२०)॥

प्रथम मन्त्र का शेष भाग है–"**देवान् जिगाति सुम्नयुः**" यह। इसकी व्याख्या करती हुई श्रुति कहती है कि, "**आज यह यजमान ( मनुष्य होकर ) इस यज्ञाग्नि के समिन्धन के प्रभाव से उन दिव्यलोकस्थ प्राणदेवताओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है। भला उस दिव्याग्नि-प्रभाव का क्या कहना, जो एक भूलोक-निवासी मनुष्य को देवसम्पति से युक्त करदे**"। श्रुति इस कथन से अग्नि का हीं महत्त्व सूचित कर रही है।

प्रकृत मन्त्र से यद्यपि स्वरूपतः अग्नितत्त्व का ही प्रतिपादन हुआ है, जैसा कि पूर्वव्याख्या से स्पष्ट है। परन्तु मन्त्र में कहीं '**अग्नि**' का नाम नहीं है। अतएव अग्निरूपात्मिका बनती हुई भी यह ऋचा अनिरुक्ता है। सर्वसम्पत्-सिद्धि का अन्यतम द्वार अनिरुक्तभाव ही है। क्योंकि अनिरुक्तभाव अनिरुक्त-सर्वकामपूरक प्रजापति का संग्राहक बना हुआ है। अनिरुक्ता सामिधेनी का अनुवचन क्यों किया जाता है?, **इस प्रश्न की यही संक्षिप्त** उपपत्ति है॥२१॥

प्रथम–मन्त्र पदों की व्याख्या समाप्त कर अब श्रुति–'**अग्न आयाहि॰**' इत्यादि द्वितीय मन्त्र–पदों की व्याख्या करती है। यह ऋचा '**आङ्**' उपसर्ग के सम्बन्ध से गायत्री के अर्वाचीरूप का संग्रह कर रही है, यह तो उक्तप्राय ही है। अब उस '**वीतये**' पद के रहस्यार्थ पर दृष्टि डालिए, जिसके लिए श्रुति ने एक महत्त्वपूर्ण '**लोकोत्पत्तिविज्ञान**' उद्धृत किया है।

सुप्रसिद्ध आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल ही लोकसम्पति का मूलाधिष्ठान माना गया है। चतुर्मुख ब्रह्मा के आपोमुख से ही लोकसृष्टि हुई है, जैसा कि–पूर्व में '**अपांप्रणयनकर्म्मोपपत्ति**' में विस्तार से बतलाया जाचुका है। यद्यपि परमेष्ठी से ऊपर का स्वयम्भू लोक प्राणमय माना गया है, तथापि–'**प्राणा वा आपः**'

( तां० ब्रा० ६.६।४। )-'आपो वै प्राणः'-( शत० ३।८।२।४। ) 'प्राणो ह्यापः' ( जै० उ० ३।१०।६। )-'आपोमयः प्राणः' ( छां० उ० ६।४।४। ) इत्यादि निगमों के अनुसार स्वयम्भू का वह प्राणतत्त्व भी अप्-सम्पत्ति से वञ्चित नहीं है। स्वायम्भुवी आपः प्राणात्मिका हैं, यही वागात्मक प्राण पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व की प्रथमावस्था है, जैसाकि-'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्-वागेव साऽसृज्यत' ( शत० ६।१।१।१०। ) इत्यादि से प्रमाणित है। जिसप्रकार स्वयम्भू का अप्तत्त्व 'प्राण' माना गया है, एवमेव परमेष्ठी का 'अम्भः', सूर्य्य का 'मरीची', चन्द्रमा का 'श्रद्धा', एवं पृथिवी का अप्तत्त्व 'मर', कहलाया है-( ऐ० उ० १।४। )। इस दृष्टि से इस अप्तत्त्व की सर्वव्याप्ति, तथा सर्वरूपता भली-भाँति सिद्ध होजाती है। अप्तत्त्व की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"सर्वाणि ह त्वेव भूतानि, सर्वे देवा एषोऽग्निश्चितः। आपो वै सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि। ता हैता आप एवैषोऽग्निश्चितः। तस्य नाव्या एव परिश्रितः"

—शत० १०।५।४।१४।+

पारमेष्ठ्य आपोमय मण्डल मे अब्रूप भृगु-अङ्गिरा की प्रतिष्ठा मानी गई है। 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' इस गोपथश्रुति के अनुसार पारमेष्ठ्य 'आपः' भृगु ( स्नेहलक्षण आपः ) से युक्त हैं। किंवा यह अप्तत्त्व ही भृग्वङ्गिरोमय है। भृगुरूप आपः के गर्भ में अङ्गिरारूप आपः ऋतरूप से सर्वत्र प्रतिष्ठित माना गया है। पारमेष्ठ्य समुद्र इन अग्न्यात्मक अङ्गिरापुञ्जों से आपूर्य्यमाण है। सर्वथा गतिशील इन अग्निपुञ्जों को ही 'धूमकेतु' कहा गया है। साहस्री-विज्ञानवेत्ता महर्षियोंनें उस अप्समुद्र में अग्निपुञ्जलक्षण ऐसे एक सहस्र धूमकेतु मानें हैं *। ये धूमकेतु अपनी अपनी विशेष अवस्थाओं के सम्बन्ध में किरण, वक्रशिख, विशिख, ब्रह्मदण्ड, द्विशिख, विकच, तस्कर, कौङ्कुम, तामसकीलक, विश्वरूप, अरुण, गणक, इत्यादि विशेष नामों से व्यवहृत हुए हैं। इही धूमकेतुओं में से कोई एक केतु हमारी रोदसीत्रिलोकी का जन्मदाता बना है।

पारमेष्ठ्य मण्डल में ऋतरूप से व्याप्त अग्निज्वाला-पुञ्जात्मक-प्रवलवेग से परिभ्रममाण धूमकेतु-लक्षण अङ्गिरा ही काल पाकर एक स्थान पर सञ्चित होने लगता है। ज्यों ज्यों अग्निकण एक नियत बिन्दु पर सञ्चित होने लगते हैं, त्यों त्यों पिण्डात्मक सत्यभाव का उदय होने लगता है। इसप्रकार कालान्तर मे उस धूमकेतुरूप अग्निपुञ्ज के सञ्चित प्रवर्ग्यरूप से 'सूर्य्य' नामक 'सत्य-अग्निपिण्ड' स्वतन्त्ररूप से प्रकट

---

+ "अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत्॥
—महाभारत

* शतमेकाधिकमेके, सहस्रमपरे वदन्ति केतूनाम्।
वहुरूपमेकमेव प्राह मुनिर्नारदः केतुम्॥
—बृहत्संहिता-केतुचाराध्याय ११।५।

होजाता है। धूमकेतु ही सूर्य्य का जनक बनता है। क्योंकि स्वयं धूमकेतु गतिशील है, अतएव तदुत्पन्न सूर्य्यपिण्ड भी स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहता हुआ प्रबल वेग से अद्यावधि परिभ्रममाण रहता हुआ परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है।

कल्पना कर लीजिए, अभी सूर्य्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, सर्वत्र पारमेष्ठ्य समुद्र का ही साम्राज्य है, सब ओर पानी हीं पानी है, और इस पानी में करोड़ों कोस पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखते हुए अग्निपुञ्जरूप धूमकेतु ऋतरूप से इतस्ततः चक्कर काट रहे हैं। इनमें से किसी एक धूमकेतु को लक्ष्य बनाकर लोकसृष्टि का समन्वय अपेक्षित है। स्वयं यह धूमकेतु भी ऋताग्निरूप ही है, एवं जिस अप्समुद्र में यह व्याप्त है, वह भी ऋत ही है। इस ऋत समुद्र में प्रतिष्ठित ऋत अग्निपुञ्ज के अलातचक्रवत् घूमने से कालान्तर में अग्निपुञ्ज का सर्वाग्रभाग इस से प्रवृक्त होगया, और इस पार्थक्य का कारण बना 'गतिविभेद', एवं गतिविभेद का कारण बना अग्निपुञ्ज का ऋतभाव। यदि यह अग्निपुञ्ज सत्य होता, तो इस का सम्पूर्णरूप अवारपारीणरूप से समानगति से ही युक्त रहता। परन्तु ऋतभाव के कारण इसकी प्रतिबिन्दु-गति में वैषम्य बना रहता है, एवं यही गतिवैषम्य ग्रहोपग्रहभाव का जनक बनता है।

यद्यपि जिस केन्द्रभाव के आधार पर हमनें गतिसाम्य बतलाया है, वहाँ भी एकदृष्टि से घटिकायन्त्रवत् गतिवैषम्य बना हुआ है। तथापि यह गतिवैषम्य केन्द्र का परित्याग नहीं करता। केवल इसी लक्ष्य से इस गति को **'समानगति'** मान लिया गया है। सूर्य्यकेन्द्र से सम्पूर्ण सौररश्मियाँ बद्ध हैं। स्वस्थान में परिभ्रममाण सूर्य्य की सभी रश्मियाँ परिभ्रममाणा हैं। साममण्डल उत्तरोत्तर बृहत्प्रदेश से युक्त है। फलतः रश्मियों की प्रतिबिन्दुगति साममण्डलों के उच्चावच संस्थानों से विषम बन रहीं हैं। फिर भी क्योंकि प्रत्येक रश्मि सूर्य्य-केन्द्र से बद्ध है, अतएव रश्मिगति रश्मि के किसी पर्व को सूर्य्य से पृथक् नहीं होने देती। यही अवस्था घटिकायन्त्र की है। घटिकायन्त्र ( घड़ी ) की उस बड़ी सूची ( सुई ) पर दृष्टि डालिए, जो १ घन्टे के ६० मिनिटों का परिज्ञान करवा रही है। घटिका-केन्द्र से बद्ध सूची चारों ओर की घटिका-परिधि से संलग्न रहती हुई चारों ओर घूम रही है। केन्द्र से परिधि पर्य्यन्त का घटिका-प्रदेश उत्तरोत्तर बड़ा है। अतः केन्द्र से आरम्भ कर घटिका-परिधि-पर्य्यन्त व्याप्त सूची की प्रतिबिन्दु की गति उत्तरोत्तर बृहत्-प्रदेशपरिभ्रमण से सम्बन्ध रखरही है। अन्तिम बिन्दु को सब से बड़ा मण्डल पूरा करना पड़ता है, पूर्व पूर्व बिन्दुओं को क्रमशः छोटे मण्डल। यहाँतक कि केन्द्रबिन्दु को कुछ भी समय नहीं लगत, क्योंकि वहाँ मण्डल का अभाव है। यदि घटिकायन्त्र में सूची को बद्ध रखने वाला सत्यभाव ( केन्द्र ) न होता, तो परिणाम इस बिन्दुगति-वैषम्य का यह होता कि, सूची खण्ड खण्ड रूप में परिणत होकर घटिकायन्त्र से पृथक् ही होजाती। क्योंकि उस समय इन विषमगतियों को समभाव में परिणत करने वाला कोई नियन्तासूत्र नहीं रहता।

ठीक यही अवस्था हमारे इस सत्यभावशून्य ( केन्द्ररहित ) ऋताग्निपुञ्ज ( धूमकेतु ) की समझिए। ऋताग्निपुञ्ज प्रबल वेग से घूम रहा है, यह बतलाया जा चुका है। इसकी गति के सम्बन्ध में यह ध्यान और रखना चाहिए कि, जहाँ बुधादि अन्य ग्रह सूर्य्य के चारों ओर सममण्डल बना रक घूम रहे हैं, वहाँ ये धूमकेतु विषम मण्डल बनाकर ही सूर्य्य के चारों ओर घूम रहे हैं। इनकी सब से बड़ी परिक्रमा ३० सहस्र

वर्षों तक में पूरी होती मानी गई है । इस परिक्रमा के अनुसार ही भूलोकस्था प्रजा को इसका प्रत्यक्ष हुआ करता है । केन्द्रविरहित धूमकेतु घूमने लगा । इस समय इसमें दो भावों का समवेश हुआ ।

उधर तो पारमेष्ठ्य **'वराहवायु'** के व्यापार से केन्द्र का निर्म्माण आरम्भ हुआ, इधर परिधि-स्थानीय अग्निपुञ्जखण्ड प्रवर्ग्यभाव से युक्त होने लगे । कालान्तर में गतिवैषम्य से अग्निपुञ्ज का सर्वान्त का भाग इससे पृथक् होकर अपना नियत स्थान बनाकर घूमने लगा । वही अग्निपुञ्ज–खण्ड आगे जाकर **'शनैश्चर'** नाम से प्रसिद्ध हुआ । किसी समय अवश्य ही शनैश्चरकक्षा–पर्य्यन्त इस अग्निपुञ्ज की व्याप्ति रही होगी । परन्तु आज तो अग्निपुञ्जविशेष सूर्य्य, और शनैश्चर में पर्य्याप्त अन्तर होगया है । शनैश्चर के अनन्तर जो अग्नि–खण्ड प्रवृक्त हुआ, वह **'बृहस्पति'** कहलाया । तीसरा खण्ड प्रवृक्त हुआ । यह आगे जाकर १०८ अवान्तर खण्डों में परिणत हुआ, जिन्हें १०८ **'देवसेनाग्रह'** कहा जाता है । अनन्तर चौथा खण्ड प्रवृक्त हुआ, वही **'मङ्गल'** कहा जाता है । मङ्गल के अनन्तर प्रवृक्त होने वाला खण्ड ही सुप्रसिद्ध **'भूपिण्ड'** है । इस भूपिण्ड का सोममय प्रवृक्त अत्रिभाग ही **'चन्द्रमा'** है । आगे का खण्ड **शुक्र** कहलाया । एवं सर्वान्त का खण्ड **'बुध'** नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

इसप्रकार केन्द्रस्थ अग्निपुञ्ज ( जो कि आज सूर्य्य नाम से प्रसिद्ध है ) से ही ये सम्पूर्ण ग्रहोपग्रह उसी गतिवैषम्य से उत्पन्न हुए हैं । सूर्य्यात्मक अग्निपुञ्ज के प्रथम प्रवर्ग्य भाग **'सूर्य्यपुत्र'** नाम से प्रसिद्ध शनिदेव ही माने गए हैं, जिनकी एक माण्डलिक परिक्रमा ३० वर्षों में समाप्त होती है । सूर्य्य के प्रवर्ग्यांशभूत ये उपग्रह अद्यावधि सूर्य्य के चारों ओर उसी प्रवृक्त स्थान में परिक्रमा लगा रहेहैं । सूर्य्य के चारों ओर सर्वप्रथम **बुध**, अनन्तर **शुक्र**, अनन्तर **पृथिवी**, पृथिवी के चारों ओर **चन्द्रमा**, अनन्तर **मङ्गल**, अनन्तर **देवसेना नामक १०८ ग्रह**, अनन्तर **बृहस्पति**, अनन्तर **शनि**, सर्वान्त **में नक्षत्रकक्षा**, यही इनका अवस्थानक्रम है । आज भी विधि के इस अलातचक्र की यह परिभ्रमणलीला यथावत् परिक्रान्त है । अवश्य ही कालान्तर में सूर्य्य से और ग्रह उत्पन्न होंगे, जिनका सङ्केत हमें **माठर, कपिल, दण्ड, चण्डांशु**, आदि पारिपार्श्वकों से मिल रहा है । इस क्रमसे एक दिन सम्पूर्ण सूर्य्यमात्रा ग्रहनिर्म्माण में समाप्त होजायगी । स्रष्टा प्रजापति के विध्वस्त होते ही यज्ञप्रक्रिया का अवसान होजायगा । अव्यक्तात्मक रात्र्यागम सबकुछ सुप्त बना देगा । पुनः नवीन धूमकेतु से नवीन सृष्टिक्रम आरम्भ होगा । इसप्रकार **'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-शाश्वतीभ्यः समाभ्यः--धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** इत्यादि रूप से उपगीयमान विधि का यह विचित्र लीलाचक्र इसीप्रकार चंक्रमण करता रहेगा, जिसके लिए **'इदमित्थमेव'** कहने के लिए मानवीय बुद्धि सर्वथा ही असमर्थ है । **'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः** ( महाकवि कालिदास )

"**शनि, बृहस्पति, देवसेनाग्रह, मङ्गल, बुध**, ये उपग्रह ज्योतिर्म्मय दिखलाई देते हैं । अतः इन्हें सूर्य्योपग्रह मानना सुसङ्गत बन रहा है । परन्तु अनुष्णाशीत भूपिण्ड क्योंकि ज्योतिर्भाव से वञ्चित है, अतएव इसे सूर्य्योपग्रह मानना असङ्गत सा प्रतीत होता है" इस असङ्गति का उस समय भलिभाँति निराकरण होजाता है, जब हम उक्त ग्रहों के स्वरूप का परिचय प्राप्त करते हुए वैदिक–ज्योतिर्विज्ञान के स्वरूप से अवगत होजाते हैं ।

**'स्वज्योतिः, परज्योतिः, रूपज्योतिः अज्योतिः'**, भेद से ज्योतिर्विवर्त्त चार भागों में विभक्त माना गया है । चारों ओर से स्वतः प्रकाशित ज्योतिर्मण्डल ही **'स्वज्योति'** कहलाए हैं । इन्हें हीं परिभाषानुसार

सूर्य्य कहा गया है। खगोलीय ज्योतिःपुञ्ज क्योंकि स्वतः प्रकाशित बनता हुआ स्वज्योति है, अतएव इसे 'सूर्य्य' कहना अन्वर्थ बनता है। खगोलसंस्था में इसीप्रकार स्वतः प्रकाशित स्वाती, चित्रा, लुब्धक, अभिजित्, आदि असंख्य नक्षत्र स्वज्योतिर्म्मय बनते हुए 'सूर्य्य' हैं। तभी तो स्वाती को 'सविता' कहा जाता है ÷। जो पिण्ड अन्य प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं, उन्हें परिभाषानुसार 'चन्द्रमा' कहा जाता है। पार्थिवोपग्रहभूत सोमपिण्ड क्योंकि अन्यज्योति से ( * सूर्य्यज्योति से ) प्रकाशित है, अतएव इसे 'चन्द्रमा' कहा गया है। इसे ही 'परज्योति' माना गया है। शनि के आठ उपग्रह, बृहस्पति के चार उपग्रह, एवं मङ्गल के दो उपग्रह भी इसी परज्योतिर्भाव से 'चन्द्रमा' कहलाए हैं।

तीसरी रूपज्योति है। इसे हम परज्योति का ही दूसरा रूप कह सकते हैं। वीभ्रतत्त्व की घनता से जहाँ सौरज्योति को चाकचिक्यभाव में परिणत होने का अवसर मिल जाता है, वहाँ प्रकाशरश्मियों का उदय होजाता है। परन्तु मृद्भाव की अधिकता से रश्मिसम्बन्ध होने पर भी जिस से अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करने योग्य रश्मियों का प्रसार नहीं होता, अपितु जो अपने स्वरूपमात्र का परिचायक बनती है, ऐसी परज्योति को ही रूपज्योति कहा जाता है। यही परिभाषानुसार 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत हुई है। अथवा यों कह–लीजिए कि, ज्योतिर्भाव ही स्वयं 'रूप-प्रकाश' भेद से दो भागों में विभक्त है। जिन पिण्डों के साथ सूर्य्य की इन दोनों ज्योतियों का सम्बन्ध होता है, वे परज्योति कहलाते हैं। एवं जिनके साथ केवल रूप का सम्बन्ध होता है, उन्हें रूपज्योति कहा जाता है।

चौथा विभाग 'अज्योति' का है। वायु, चन्द्रलोकस्थ गन्धर्वप्राण, अष्टविध सौम्यजीव, ये सब अज्योति हैं। पारदर्शकताप्रतिबन्धक 'अत्रिप्राण' के अभाव से इनमें रूप–प्रकाशानुगता रश्मियों का प्रतिफलन नहीं होता। अतएव न तो इनका रूपप्रत्यक्ष ही होता, न चन्द्रमा की भाँति इनसे रश्मि--प्रसारजनित प्रकाश ही। शनि आदि ज्योतिर्म्मय ग्रह सूर्य्य से ही उत्पन्न हैं, परन्तु ये स्वज्योति नहीं हैं, अपितु चन्द्रमावत् परज्योति हैं। इस ज्योतिरभाव का एकमात्र कारण सूर्य्यसम्बन्ध–विच्युति ही है। सूर्य्य में अजस्ररूप से सोमधारा आहुत होती रहती है। अतएव सूर्य्य स्वज्योतिर्म्मय बन रहा है। इससे वियुक्त शनि आदि उस सम्बन्ध-विच्छेद से ही स्वज्योतिः–सम्पत्ति से वञ्चित होरहे हैं। जो महत्त्व सूर्य्य की दृष्टि से शनि आदि का है, वही महत्त्व पृथिवी का है। पृथिवी भी एकदृष्टि से परज्योति ही है, और इसका मुख्य कारण मृद्भाग की प्रधानता ही है। ऐसी दशा में केवल ज्योति के अभाव से ही इसे ग्रहमर्य्यादा से पृथक् करते हुए उक्त असङ्गति की आशङ्का नहीं की जासकती।

---

÷ "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्' [ यजुःसं० ] इत्यादि मन्त्र में स्वाती के अभिप्राय से ही 'सवितुः' पद उद्धृत हुआ है।

* "अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे।" [ ऋक्सं० ] तरणिकिरणसङ्गादेष पानीयपिण्डो दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते" [ ज्यो० ]

उक्त ग्रहोपग्रहभाव में से प्रकृत में हमें पाठकों का ध्यान केवल **सूर्य्य**, तथा **पृथिवी ( भूपिण्ड )** की ओर ही आकर्षित करना है । जबतक अग्निपञ्चात्मक सूर्य्य से पृथिवी का उदय नहीं हुआ था, तबतक सूर्य्य एक विशाल अलातचक्ररूप में परिणत रहता हुआ उस स्थान पर्य्यन्त व्याप्त था, जहाँ कि आज पृथिवी की अन्तिम परिधि है । सूर्य्य-जिसे कि द्युलोक कहा जाता है, उस समय उसी की व्याप्ति थी । उस समय **पृथिवी-अन्तरिक्ष ( सूर्य्य, तथा पृथिवी के मध्य का प्रदेश )-द्यौ ( सूर्य्य )** इसप्रकार का त्रैलोक्य विभाग न था । आज जो द्युलोक ( तदुपलक्षित सूर्य्य ) हमारे भूलोक से ५ कोटि क्रोश विदूरस्थान पर स्थित है, जिस द्युलोक को आज छूना तो दूर रहा, प्रत्यक्ष भी साक्षाद् रूप से ( सावित्ररूप से ) नहीं किया जासकता, वह द्युलोक भूनिर्म्माण से पहिले ( जिस स्थान पर आज भूलोक की अन्तिम परिधि है ) इस भूलोकपर्य्यन्त व्याप्त था । उस समय यदि हम होते, तो द्युलोक हाथ से छूआ जासकता था । इसी पूर्वस्थिति का श्रुति ने—**'उन्मृश्या हैव द्युरास'** इन शब्दों में अभिनय किया है ॥२७॥

जिस अर्थ का पूर्व में हमने अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया है कि, काल पाकर सूर्य्य से भूभाग प्रवृक्त हुआ, फलतः त्रैलोक्य का विभाजन हुआ, और उस समय अन्य ग्रहों के प्रवर्ग्यभाव से द्युलोक इस भूलोक से विदूर होगया, श्रुति अपने शब्दों में उसी भाव का स्पष्टीकरण कर रही है । प्रश्न यह है कि, किसने इस अग्निपुञ्ज को प्रवृक्त किया ? । इस प्रश्न का उत्तर इसके अतिरिक्त और क्या होसकता है, कि-सूर्य्य-केन्द्रस्थ काममय प्रजापति की कामना से यज्ञकामुक बने हुए सौर प्राणदेवताओंने ही यह लोकवितान किया । तत्त्वतः भी यही उत्तर समीचीन प्रतीत होता है । सौर-अग्निपुञ्ज अपने गतिवैषम्य से ही तो ग्रहों का जनक बना है । यह गतितत्त्व प्राणकला से सम्बन्ध रखता है । **प्राजापत्य मन जहाँ ज्ञानप्रधान है, प्राजापत्या वाक् जहाँ अर्थप्रधाना है, वहाँ मध्यस्थ प्राजापत्य प्राण क्रियाप्रधान माना गया है । क्रिया ही गतिभाग है** । इस हृद्या-प्राजापत्यगति का अर्करूप से ब्राह्म-वितान होता है, एव इस गति का आगे जाकर अग्निपुञ्जस्थ आग्नेय-प्राणदेवताओं से योग होता है । इसी देवगति ( प्राणगति ) से लोक-विभाजन होता है ।

इस लोक-विभाजन--प्रकिया-में हृद्य प्रजापति का मौलिक सहयोग बतलाया गया है । यहाँ प्रजापति **'आलम्बन, निमित्त, उपादान** भेद से त्रिसंस्थ माना गया है । **अव्ययदृष्ट्या वही आलम्बन है, अक्षरदृष्ट्या वही निमित्त है, एवं क्षरदृष्ट्या वही उपादान है** । अक्षर ही क्योंकि सृष्टि का निमित्त है, अतएव कह सकते हैं कि, यहाँ हृद्य अक्षरप्रजापति ही इस लोकसृष्टि का प्रधान प्रवर्त्तक है । यह हृद्याक्षर **ब्रह्मालक्षणा स्थिति, इन्द्रलक्षणा गति, तथा विष्णुलक्षणा आगति**, इन तीन गतियों से युक्त है । **सर्वतोदिग्गति स्थिति है, अर्वाग्गति आगति है, पराग्गति गति है** । इसप्रकार अक्षरात्मिका **स्थिति-आगति-गति**-तीनों तत्त्वतः 'गति' ही बन रही हैं । त्र्यक्षरमूर्त्ति प्रजापति अपने इसी त्र्यक्षरानुगत-गतित्रयरूप गतिभाव से सोमगर्भित अग्न्यक्षर के आधार पर लोकवितान में समर्थ हुए हैं । जिस गतिविच्छेद से भूलोक प्रवृक्त हुआ है, उस देवगति में ( अग्न्यात्मिका प्राणगति में ) स्थितिरूपा गति भी है । अपानद्रूपा गति भी है, एवं प्राणद्रूपा गति भी है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है कि —**"तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयम्"** । देवताओं नें स्वप्रसिष्ठारूप हृद्य-प्रजापति के **ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्राक्षर** से सम्बन्ध रखने वाली **स्थिति--गति--आगति**--रूपा गतियों से ही लोकनिर्म्माण किया ।

प्रायः श्रुति के सभी पदों का समन्वय होगया। अब 'वीतये' पद अवशिष्ट है। श्रुति ने 'वीतये' इन तीन अक्षरों से लोकवितान करना बतलाते हुए एक दूसरे **'अन्न-अन्नादविज्ञान'** का भी स्पष्टीकरण किया है। लोकवितान हुआ, सौर-देवताओंनें तीन अक्षरों से ( त्र्यक्षरानुगता गतित्रयरूपा गति से ) त्रैलोक्य का निर्म्माण किया। परन्तु प्रश्न यह है कि, देवताओंनें यह महारम्भ प्रयास किया क्यों ?, किस प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर देवताओंनें लोकनिर्म्माण किया ?। श्रुति का 'वीतये' पद इसी प्रश्न की उपपत्ति बतला रहा है। 'वीतये' का शब्दार्थ है—**'खाने के लिए'**। **'इतः प्रदाना ह्येते' देवा उपजीवन्ति' )** के अनुसार पार्थिव रस ही सौर-देवप्राणों की जीवनयात्रा का कारण माने गए हैं। सौरप्रजापति ग्रहनिर्म्माण में जहाँ अपने शरीरपर्वों को विस्रस्त ( खर्च ) करते रहते हैं, वहाँ वे इनके रसों का आदान करते हुए उस विस्रस्त भाग की क्षतिपूर्त्ति भी किया करते हैं। यही पारस्परिक अन्न-अन्नादभाव है, जिसका अन्यत्र विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है *। यदि भूलोक न बनता, तो यहाँ से द्युलोक में गायत्र-अग्नि के द्वारा पार्थिव रसों का गमन न होता। फलतः द्युलोकस्थ प्राणदेवताओं का विंस्रसन तो होजाता। किन्तु विस्रस्त भाग की क्षतिपूर्त्ति नहीं होती। हम देख रहे हैं कि, विस्रंसन के साथ साथ क्षतिपूर्त्ति भी होरही है। इस पारस्परिक आदान-विसर्गात्मक अन्नयज्ञ से ही दोनों का स्वरूप सुरक्षित है। देवताओं की यह अन्नादान-प्रक्रिया **'वी-त-ये'** इन तीन अक्षरों से उपलक्षित **'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ'** इन तीनों लोकों के रसों से समानरूप से सम्बद्ध है। इसप्रकार 'वीतये' यह त्र्यक्षर पद जहाँ प्रजापति की गतित्रयी के द्वारा लोकत्रयी-निर्म्माण का रहस्य स्पष्ट कर रहा है, वहाँ यही पद लोकत्रय-निर्म्माण की आवश्यकता का भी रहस्योद्घाटन कर रहा है।

अवश्य ही इस रहस्यार्थ को गर्भ में रखने वाले-**'अग्न आयाहि वीतये'** इस मन्त्रभाग के अनुवचन से यज्ञकर्त्ता यजमान के निवास के लिए लोकसम्पत्ति भी **'वरीय'** होजाती है, एवं अन्नसम्पत्ति भी **'विपुल'** होजाती है। हम भी इस मन्त्रपद के रहस्यार्थ के उपसंहार से लोकाध्यक्ष, तथा अन्नाध्यक्ष उस दिव्याग्नि-देवता से यही प्रार्थना करते हैं कि, **हमारे इस भारतलोक के, तथा भारतीय-भोगसम्पत्ति के भारतीयों को अनतन्य भोक्ता बनाने का अनुग्रह करते हुए अपने भारत' नाम को चरितार्थ कर हमें-'अग्ने ! महाँ असि ब्राह्मण भारत' यह कहने का अवसर प्रदान करें ॥२३॥**

मन्त्र का मध्यभाग है **'गृणानो हव्यदातये'** यह। देवताओंनें लोकान्न-सम्पत्तियाँ प्राप्त कर त्रैलोक्योपलक्षित सम्वत्सरमण्डल में अपना स्वतन्त्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। क्यों ?, जानते हैं आप ?, देवताओंनें पहिले आत्म-समर्पण किया, सर्वस्व बलिदान किया, तब कहीं उन्हें यह वैभव मिला। देवता हमारी भाँति अकर्मण्य नहीं, अपितु **'यजमान'** हैं, यज्ञकर्म्म के अनन्य अनुगामी हैं। हम भी इस सम्पत्ति के तभी भोक्ता बन सकते हैं, **जब यजमान बनें अग्निवितान करें, हव्यदाता बनें, कर्म्मठ बनें, ऋषिप्रदिष्ट सर्वसाधक यज्ञकर्म्म का अनुगमन करें।** जो यजमान ऐसे यजमान हैं, वे ही उक्त सम्पत्ति के भोक्ता बन सकते हैं। अन्यथा तो सब अन्यथा ही है।

---

×—**'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य, पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।**
**यो मा ददाति स इ देव मावत्, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि' ॥**

मन्त्र का अन्तिम भाग है-'नि होता सत्सि बर्हिषि' यह । अग्नि 'होता' है, वह 'बर्हि' पर प्रतिष्ठित है, एवं बर्हि से निदानेन वहाँ 'भूलोक' ही अभिप्रेत है, जैसा कि पूर्व में समष्टिरूप से मन्त्रार्थ करते हुए सोपपत्तिक बतलाया जाचुका है । इस सामिधेनी का 'बर्हि' पद इस भूलोक का ही अनुगामी है । अतः इसके अनुवचन से यज्ञकर्त्ता यजमान पार्थिव भागधेय का ही अनन्य भोक्ता बन जाता है, और यही द्वितीय मन्त्रपदों की संक्षिप्त उपपत्ति है, जिसका ब्राह्मण की २२, २३, २४, इन तीन कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है ॥२४॥

'अग्न आयाहि०' के अनन्तर वह होता क्रमप्राप्त तीसरी (आवृत्यानुसार पाँचवीं) निम्नलिखित सामिधेनी-ऋचा का अनुवचन करता है—

**(३)-'ओम्--तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।**
**बृहच्छोचा यविष्ठ्य-ओम्'इति (५) ।**

'प्र वो वाजा अभिद्यव०' इत्यादि प्रथम मन्त्र त्रैलोक्य-व्यापक सम्वत्सराग्नि का समष्टिरूप से संग्राहक है । मन्त्रगत 'वाजा' पद त्रिवृत्स्तोमोपलक्षित भूलोक का, मन्त्रोपात्त 'घृताच्या' पद पञ्चदशस्तोमो-पलक्षित 'अन्तरिक्ष' का, एवं मन्त्रगत 'अभिद्यवः' पद एकविंशस्तोमात्मक द्युलोक का संग्राहक बन रहा है । इसप्रकार प्रथम मन्त्र से समष्ट्यात्मक सम्वत्सर अग्नि का ही समिन्धन हुआ है । इस से आगे के— 'अग्न आयाहि वीतये०'-'तं त्वा समिद्भिरङ्गिरः०'–'स नः प्रथुश्रवाय्यम्०' इन तीन मन्त्रों से क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित तीनों अग्निपर्वों का समिन्धन हुआ है । 'अग्न आयाहि०' का 'बर्हि' पद पार्थिवाग्निपर्व का, 'तं त्वा समिद्भि०' का 'घृतेन' पद आन्तरिक्ष्याग्नि का, एवं 'स नः प्रथुश्रवाय्यं' का 'प्रथु' पद दिव्याग्निपर्व का संग्राहक बन रहा है । इसप्रकार इस मन्त्रचतुष्टयी से समष्टि, व्यष्टिरूप से उभयथा अग्निदेव का समिन्धन होजाता है, इस सङ्गति को लक्ष्य में रखकर ही इस मन्त्रचष्टयी के अर्थ का समन्वय करना चाहिए ।

'अग्न आयाहि०' से दिव्यलोकस्थ सावित्राग्निरूप दिव्य अग्नि का इस भूलोकोपलक्षित यज्ञाग्नि में आह्वान किया गया । यहाँ आते ही यह पृथिवी की वस्तु बनता हुआ 'आङ्गिरा' पद का अधिकारी बन गया । 'इत एत उदारुहन्' इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार पार्थिव अग्नि ही अङ्गिरा कहलाया है । इसीलिए श्रुति ने इसे ( आगमन के अनन्तर ) 'अङ्गिरा' नाम से व्यवहृत किया है । अग्नि की ही भृगु, तथा अङ्गिरारूप से दो अवस्था मानीं गई है । आगमनदशा में वही भृगु कहलाया है, एवं गमनदशा में वही आङ्गिरा कहलाया है । प्रज्ज्वलित अग्नि में जो अग्निज्ज्वाला है, वह साक्षात भृगु है । अग्नि की अवस्थान्तर भार्गव सोम के जलने का ही नाम ज्वाला है । एवं जिस अङ्गिरा-पिण्ड से यह ज्वाला निकल रही है, वह अङ्गिरोऽग्निमय है, जैसा कि—'अर्चिषि भृगुः सम्बभूव, अङ्गारेभ्यो अङ्गिराः सम्बभूव । अथ यदङ्गारा अवशान्ताः पुनरुद्दीप्यन्त, अथ बृहस्परिभवत' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है ।

तात्पर्य्य यही है कि, तेजः-स्नेह-तत्त्वों के सम्मिश्रण का ही नाम वस्तुस्वरूप है । तेज अङ्गिरा है, स्नेह भृगु, है । अग्नि-यम-आदित्य-भेद से 'अङ्गिरा' भी तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है ।

एवं आपः-वायुः-सोम-रूप से भृगु भी तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। स्नेहलक्षणा भृगुत्रयी परिधि से हृदय की ओर क्रमशः ( संकुचित होती हुई ) आती रहती है, एवं तेजोलक्षणा अङ्गिरात्रयी हृदय से परिधि की ओर क्रमशः ( विकसित होती हुई ) जाती रहती है। अङ्गिरात्रयी का अन्तिम विकास परिधि-सीमा पर पहुँचते ही अर्वाङ्मुख बनकर भृगुत्रयीरूप में परिणत होजाता है। एवमेव भृगुत्रयी का अन्तिम संकोच हृदयसीमा पर पहुँचते ही सहावस्थानाभावप्रवत्तक संघर्ष में परिणत होकर पराङ्मुख बनता हुआ अङ्गिरात्रयीरूप में परिणत होजाता है। यहाँ से इस अङ्गिरात्रयी के अङ्गों का * ऊर्ध्व की ओर रसन होने लगता है, अतएव इसे **'अङ्गिरा'** कहा जाता है। अथवा **अङ्गरस** के सम्बन्ध से भी इस पार्थिव अग्नि को **'अङ्गिरा'** कहना कन्वर्थ बनता हैं ÷। अग्नि ही अङ्गों का स्वरूपरक्षक रस है।

इस अङ्गिरोऽग्नि के **'भूत-प्राण'** भेद से दो विवर्त्त हैं। प्रत्यक्षदृष्ट अङ्गाराग्नि भूतलक्षण अङ्गिरोऽग्नि है। एवं इस भूताङ्गिरोऽग्नि में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित अङ्गिराप्राण प्राणलक्ष अङ्गिरोऽग्नि है। प्राण को ही विज्ञानभाषा में **'ऋषि'** कहा गया है। जबतक भूत में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक भूत की स्वरूप-रक्षा होती रहती है। साथ ही जबतक इस प्राण के साथ बाह्य अन्नसम्पत्ति का सम्बन्ध बना रहता है, तभीतक यह प्राण **भूतरक्षा-कर्म्म** में सफल रहता है। **अङ्गिराप्राण के परीक्षक, अतएव तत्समय की मर्य्यादा के अनुसार 'अङ्गिरा' इस यशोनाम से प्रसिद्ध महर्षियोंनें अपने वैध यज्ञो में समिधाधान ( काष्ठाधान ) से इसी का समिन्धन किया है।** इसप्रकार दोनों दृष्टियों से—**"समिद्भिर्हितमङ्गिरस-ऐन्धत"** यह वाक्य चरितार्थ होरहा है। **"घृतेन वर्द्धयामसि"** का घृतपद **'घृताच्या'** की भाँति समिन्धनकर्म्म का अनन्य उपोद्बलक बनता हुआ **'सामिधेनी'** पद बन रहा है। घृत ही अग्नि का अपना वीर्य्य है। इस पद से समिद्ध अग्नि में इसी वीर्य्य का आधान होरहा है ॥२५॥

त्रैलोक्यात्मक सम्वत्सर में व्याप्त होने से यही **'बृहन्'** है, सर्वत्र अपने ताप से विद्यमान है। साथ ही हमारा यह आहवनीयाग्नि भी सामिधेनियों से समिद्ध होकर महान् बनता हुआ अतिशयरूप से प्रज्ज्वलित होरहा है। अवश्य ही आज यह अग्नि यजमान के शत्रुओं के भी शोक का कारण बन गया है, जैसाकि आगे के **अभिचार-कर्म्म** में स्पष्ट किया गया है। **'यविष्ठ्य'** यह इस अग्नि का प्रातिस्विक नाम है। सम्वत्सराग्नि का पारमेष्ठ्य अमृतसोम से नित्य सम्बन्ध है! इसी अजस्रसोमाहुति के प्रभाव से यह दिव्याग्नि सदा समानरूप से प्रज्ज्वलित रहता हुआ **अजर-अमर**, तथा **नित्ययुवा** बना रहता है। **'यविष्ठ्य'** से अग्नि के इसी स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है। क्योंकि प्रकृत ऋचा में **'घृतेन'** पद है, अतएव **"घृतमन्तरिक्षस्य"** के अनुसार यह ऋचा अन्तरिक्ष-लोकसम्पत्ति की ही संग्राहिका बन रही है। इसप्रकार प्रकृत ऋचा निम्नलिखित रूप से समिद्ध अग्नि की समिद्ध-प्रक्रिया का इतिहास बतलाती हुई इसके स्वरूप का ही स्पष्टीकरण कर रही है—

---

*-'तस्मादङ्गिरसोऽधीयान ऊर्ध्वस्तिष्ठति' (गो० ब्रा० पू० १।९।)।
÷-( देखिये-सा० छा० ब्रा० ३।२।१० )।

"हे पार्थिव अङ्गिरोऽग्ने ! अङ्गिराप्राण के द्वारा पार्थिवद्रव्यरूप समित् से-तथा आन्तरिक्ष्य घृत से आप समिद्ध हैं । इसी समिन्धनकर्म्म से आप त्रैलोक्य में बृहद्रूप से तपते हुए नित्यतरुण बन रहे हैं"

"हे आहवनीयस्थ समिद्ध अग्ने ! अध्वर्य्यु नामक ऋत्विक् काष्ठ, तथा घृताधान से आपके स्वरूप को प्रवृद्ध कर रहा है। हे नित्यतरुण अग्ने ! आप इस समिन्धन-कर्म्म से महान् बनते हुए प्रदीप्त बनिए" ।

क्योंकि इस ऋचा से अन्तरिक्ष-लोकसम्पत्ति का संग्रह हुआ है, अतएव यह स्वरूपतः अग्निमयी बनती हुई भी अनिरुक्ता है । अन्तरिक्षलोक का आकाशत्वेन निर्वचन नहीं किया जासकता । यही अन्तरिक्ष की अनिरुक्तता है । इसप्रकार ऋचा के * 'घृतेन' पद की भाँति 'अनिरुक्त' भाव भी अनिरुक्त अन्तरिक्ष का संग्राहक बन रहा है । एवं यही तृतीय मन्त्रपदों की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥२६॥

"तं त्वा समिद्भिः०" के अनन्तर होता क्रमप्राप्त चौथी (आवृत्ति के अनुसार ६ ठी) निम्नलिखित सामिधेनी-ऋचा का अनुवचन करता है—

(४)-"ओम्-स नः पृथुश्रवाय्यमच्छा दव विवासिसि।
बृहदग्ने सुवीर्य्यम्-ओम्" इति (६)

वैदिक-परिभाषानुसार 'इयं-अयं-इदं' शब्द पृथिवीलोक के, 'एषः' शब्द अन्तरिक्षलोक का, तथा 'असौ-अदः' इत्यादि शब्द द्युलोक से सम्बद्ध हैं । ब्राह्मणश्रुति में पठित 'अदः' शब्द उसी पारिभाषिक 'द्युलोक' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है । द्युलोक, एवं तत्रस्थ दिव्याग्नि, दोनों पृथिव्य-न्तरिक्ष की अपेक्षा 'पृथु (विस्तीर्ण)' है, साथ ही स्तुत्य प्राणदेवताओं के निवास से 'श्रवणीय' भी है। कौन इस सर्वसुखैकसाधक द्युलोक, तथा दिव्याग्नि की गाथाएँ सुनना नहीं चाहता ? । अग्नि के इस पृथुश्रवा-रूप से कहा यही जाता है कि, यह हमारे यज्ञ में समिद्ध होकर यजमान को भी उस श्रवाय्य दिव्यलोक का पात्र बनावे ।

द्युलोक जहाँ श्रवाय्य है, वहाँ वीर्य्यशाली-वीर्य्यप्रवर्त्तक देवताओं के निवास से सुवीर्य्य भी बन है । साथ ही अपने लोक (द्युलोक) के बृहत्साम से 'बृहत्' भी । प्रस्तुत ऋचा द्युलोक की ही अनुग्राहि-का बन रही है, जिसके संग्राहक 'पृथु' 'देवाः' 'बृहत्' इत्यादि पद बन रहे हैं । 'अग्न आयाहि०' इत्यादि ऋचा 'बर्हिष्मती' है, 'तं त्वा समिद्भि ऋचा 'वृद्धिमती' है, एवं प्रकृत-'स नः पृथु श्रवाय्यम्'

---

*—'घृतेन' पद, तथा अनिरुक्तभाव के अतिरिक्त 'वर्द्धयामसि', तथा 'बृहत्' पद भी इसी अन्त-रिक्षलोक के संग्राहक बन रहे हैं । कारण यही है कि, यह अन्तरिक्ष पृथिवी की अपेक्षा उत्तरोत्तर वरीयान्, तथा बृहत् है ।

ऋचा 'पृथुमती' है। तीनों की समष्टि लोकत्रयसम्पत्ति की संग्राहिका बनती हुई 'लोकत्रिच' नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृत सामिधेनी-प्रकरण में 'लोकत्रिच'-अध्वरवन्तत्रिच-वृषण्वन्तत्रिच' भेद से तीन त्रिच हैं। इनमें पहिला लोकत्रिच व्यष्टिरूप से ही त्रैलोक्य में व्याप्त दिव्याग्नि का समिन्धन कर रहा है। मन्त्रार्थ स्पष्ट है ॥२७,२८, ॥

उक्त लोकत्रिच के अनन्तर **वृषण्वन्तत्रिच** का अनुवचन आरम्भ होता है। **'स नः पृथु श्रवाय्यम्०'** इत्यादि चौथी ऋचा के अनन्तर यह होता क्रमप्राप्त पाँचवीं ( आवृत्यानुसार सातवीं ) वृषण्वन्तत्रिच की पहिली निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

**(५)-"ओम्-ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः ।**
**समग्निरिध्यते वृषा-ओम् ॥ (७)-(१)**

**'ताप' जहाँ अग्नि का प्रातिस्विक धर्म्म माना गया है, वहाँ 'प्रकाश' इन्द्र का प्रातिस्विक धर्म्म माना गया है।** चन्द्रमा में केवल इन्द्र का सम्बन्ध है, अतएव चन्द्रिका में प्रकाश है, ताप नहीं। उष्ण जल में केवल अग्नि का सम्बन्ध है, अतएव इसमें ताप है, प्रकाश नहीं। अग्नि-वरुण का एकत्र समन्वय सम्भव है, परन्तु वरुण-इन्द्र का एकत्र सहवास असम्भव है। इसप्रकार ताप-प्रकाश का भलीभाँति पार्थक्य सिद्ध होजाता है। हम जिस सौर दिव्याग्नि का समिन्धन कर रहे हैं, उसमें ताप भी है, प्रकाश भी है। इसमें ताप अग्नि का धर्म्म है, प्रकाश इन्द्र का धर्म्म है। इन्द्र ही 'वृषा' नाम से प्रसिद्ध है। वृषेन्द्र के समन्वय से ही यह यविष्ठ्य अग्नि 'वृषा' (प्रकाशयुक्त) बन रहा है। इसी वृषेन्द्र के सहयोग से यह अग्नि अन्धकार दूर करने में समर्थ होरहा है। वृषेन्द्र यज्ञ का अधिपति माना गया है। जबतक यज्ञ में इन्द्र-सम्पत्ति का संग्रह नहीं होता, तबतक यज्ञ अपूर्ण रहता है। उसी वृषेन्द्र के संग्रह के लिए इन्द्रयुक्त होने से वृषा नाम से प्रसिद्ध अग्नि का प्रकृत ऋचा से समिन्धन हुआ है, जो कि अग्नि अलौकिकी मन्त्रभाषा से भी स्तुत ( वितत होने वाला) है, एवं लौकिक भाषा से भी नमस्कार करने योग्य है। शास्त्रीय कर्म्म में भी यह (प्राणरूप से) उपयुक्त है, तथा लौकिक मानवकर्म्म में भी यह (भूतरूप से) उपयुक्त है।

**'ईडेन्यो नमस्यः०'** के अनुवचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त ६ ठी (आवृत्यानुसार आठवीं) वृषण्वन्तत्रिच की दूसरी निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

**(६)—"ओम्-वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः ।**
**तं हविष्मन्त ईडते-ओम् ॥ (८)-(२)**

वृषेन्द्र के सम्बन्ध से वृषा बनता हुआ ही यह अग्नि **अश्व-रूप** में परिणत होकर देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करने में समर्थ होता है। सौरलोक से भूलोक की ओर आनेवाला इन्द्रयुक्त दिव्याग्नि ही अश्वरूप में परिणत होकर वापस लौटता हुआ पार्थिव हवि का द्युलोकस्थ देवताओं के लिए-इनके विस्रस्तभाग की क्षतिपूर्त्ति के लिए-वहन करता है। सौरज्योति [ इन्द्रगर्भित दिव्याग्नि ] अपने सावित्ररूप से भूमि [भूपृष्ठ] की ओर आरहा है। जिसप्रकार तरणिकिरण-सङ्ग से पानीय-पिण्डात्मक चन्द्रमा अर्द्धभाग में हीं प्रकाशित रहता है, एवमेव यह आगत सौर तेज भी भूपृष्ठ के सूर्य्यदिगनुगत दृश्य अर्द्ध भूभाग को ही प्रकाशित

करता है, शेष अर्द्ध भाग अप्रकाशित ही रहता है। इसी दृष्टिकोण से एक ही पृथिवी के दिति-अदिति, ये दो विवर्त्त होजाते हैं, जैसा कि **अध्वरवन्त--त्रिचोपपत्ति** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

भूपिण्ड की दक्षिणोत्तर-परिधियों को काटता हुआ आगत सौर प्रकाश वक्रगति में परिणत होता हुआ, साथ ही भूच्छाया का स्वरूप-समर्पक बनता हुआ आगे निकल जाता है। यदि हम प्रकाश में चलते हैं, तो हमारी छाया विरुद्ध भाग में पड़ती है। कारण यही है कि, हमारे शरीर से टकरा कर प्रकाशरश्मियाँ प्रतिफलित होजाती हैं। जैसा आकार छाया का होता है, ठीक वैसे ही आकार में यद्यपि--प्रकाशरश्मियों का भी प्रतिफलन होता है, किन्तु प्रकाशपुञ्ज के द्वारा होने वाले अभिभव से उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। ठीक यही परिस्थिति आगत सौर तेज की समझिए।

सौरप्रकाश भूपृष्ठ पर आया, गायत्ररूप में परिणत होकर पार्थिवरसरूप हवि को लेता हुआ भूच्छाया के समतुलन से प्रतिफलित होगया। इस भूच्छाया--समतुलिता प्रतिफलिता प्रकाशाकृति का साम्वत्सरिक तेज से अभिभव होजाने से हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। यही प्रतिफलिता प्रकाशाकृति **"अश्व"** नाम से व्यवहृत हुई है। पार्थिव अग्नि इसी नियत-स्थिर-अश्वाग्निधरातल-मार्ग से यज्ञवहन करता है, इसी अभिप्राय से— **'अश्वो-न देववाहनः'** कहा गया है।

लोक में जहाँ जिस ( निषेध ) अर्थ में **'न'** कार प्रयुक्त होता है, वहाँ मन्त्रमध्य में पठित **'नकार'** निषेधार्थक न होकर **'ओम्'** इत्याकारक इवार्थक भाव से ही सम्बन्ध रखता है *। तभी तो **'अश्वो न०'** का **'अश्वो ह वाऽएष भूत्वा०'** यह अर्थ हुआ है। तात्पर्य्य यही है कि, 'न'कार अभाव का सूचक बनता हुआ अनिरुक्तकोटि में प्रविष्ट है, अतएव यह अनिरुक्त प्रजापति का सूचक बन रहा है। प्रजापति ( आत्मा ) ही तथालक्षण स्वीकृति के आधार हैं। अतएव मध्यस्थ नकार को तथावाचक मान लिया गया है। प्रजापति स्वयं मध्यस्थ हैं, अतः मध्यस्थ नकार तथावाचक माना जायगा। यदि ऋगाद्यन्त में नकार पठित है, तो उसका निषेध ही अर्थ होगा, जैसाकि—**"न विजानामि यदि वेदमस्मि०"** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है॥ २६,३०,॥

**"तं हविष्मन्त ईडते"** इस मन्त्रान्तभाग का अर्थ स्पष्ट है। अग्नि की दो प्रकार से उपासना होती है। **एक वाचिक उपासना है, दूसरी कर्म्मोपासना है।** अग्नि को नमस्कारमात्र कर लेना **"नम उक्तिं विधेम"** लक्षणा वाचिक उपासना है। भावशुद्धि के अतिरिक्त इस उपासना का अन्य फल नहीं है। यदि अग्नि को आत्मसात् कर यज्ञकर्म्म के द्वारा विशेष अतिशय प्राप्त करना है, तो उस समय केवल वाचिक उपासना से काम नहीं चल सकता। अपितु उस समय कर्म्मोपासना ही करनी पड़ेगी, अग्निसमिन्धन ही करना होगा, इसे तृप्त करने के लिए हविःप्रदान ही करना पड़ेगा। इस हवि से यह अग्नि द्युलोकपर्य्यन्त वितत होगा, जिस इस वितान को ही **स्तुतिकर्म्म** कहा जाता है। वाचिकोपासना की अपेक्षा जहाँ अग्नि

---

*—**'ओमित्यचः प्रतिगरः, तथेति गाथायाः। ओमिति वै देवं, तथेति मानुषम्"**
—ऐ० ब्रा० ७।३।६।

'नमस्य' कहलाया है, वहाँ इस कर्म्मोपासना की दृष्टि से इसे 'ईडेन्य' कहा गया है। वही प्रकृत में प्रधानरूप से अपेक्षित है। 'हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते' यह मन्त्रभाग अग्निदेव की इस कर्म्मोपासना का ही स्पष्टीकरण कर रहा है, और यही प्रकृत मन्त्रभागों की संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ३१ ॥

"वृषो अग्निः समिध्यते०" इत्यादि ६ ठी सामिधेनी के अन्वचनान्तर वह होता क्रमप्राप्त ७ वीं [ आवृत्यानुसार ९ वीं ] वृषण्वन्तत्रिच की तीसरी निम्नलिखित ऋचा का अनुवचन करता है—

(७)—"ओम् वृषणं त्वा वयं वृषणः समिधीमहि।
अग्ने दीद्यन्तं बृहत्-ओम्" इति ॥ (९)-(३)

"यज्ञसम्पत्तिवर्षक यज्ञाधिपति वृषा इन्द्र से यज्ञसम्पत्तिवर्षक बनते हुए ये वृषा (वृषात्मक) अग्निदेव आज ( उक्त सामिधेनियों से ) पूर्णरूप से समृद्ध होगए हैं। द्युलोकस्थ इन्द्र के बृहत्-साम-सम्बन्ध से बृहत् बन गए हैं" यह भाव प्रकट करता हुआ प्रकृत मन्त्र अग्नि के वृषात्मकरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥ ३२ ॥

उक्तरूप से तीनों मन्त्रों की समष्टि वृषण्वन्त-त्रिच बन रही है। इसका एकमात्र फल है—दिव्याग्नि को यज्ञपति वृषा इन्द्र की सम्पत्ति से युक्त करना। ३३ वीं कण्डिका से इसी फल का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ३३ ॥

वृषण्वन्त-त्रिच के अनुवचनानन्तर वह होता क्रमप्राप्त आठवीं [ आवृत्यानुसार १० वीं ] निम्न-लिखित ऋचा का अनुवचन करता है

(८)—"ओम्-अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्-ओम्" ॥ (१०)

मन्त्र का "अग्निं दूतं वृणीमहे" वाक्य एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहा है। पार्थिव दिव्याग्नि होता कैसे कहलाया ?, इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ ब्राह्मणश्रुति ने पृथिवी की दैनन्दिनगति का स्पष्टीकरण करते हुए साम्वत्सरिकगति का भी विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त वैज्ञानिक-स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जारहा है।

भौतिक पदार्थों को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाली, इनके जीवन-साधक आदान-विसर्गात्मक यज्ञ-कर्म्म का नियतकाल पर्य्यन्त सञ्चालन करने वाली अन्तःशक्ति ही विज्ञानभाषा में 'प्राण' नाम से व्यवहृत हुई है। 'विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः' [ ऋक्सं० ] इस ऋग्वर्णन के अनुसार ये शक्ति-रूप प्राण अनन्त हैं। प्राणों का आनन्त्य ही भूतपदार्थों के आनन्त्य का कारण हैं। अधामच्छदधर्म्मा इन अनन्त प्राणों में से प्रकृत में हमें सौर–पार्थिव, इन दो प्राणों की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। सूर्य्य स्वज्योतिर्घन है, अतएव इसका प्राण ज्योतिष्मान् माना गया है। एवं रूपज्योतिर्घना

पृथिवी का प्रातिस्विक प्राण कृष्ण माना गया है । ज्योतिर्म्मय प्रकाशित प्राण ही 'देव' नामक देवता हैं, एवं तमोमय अप्रकाशित पार्थिव प्राण ही **'असुर'** है । **तम असुर है, एवं ज्योति देवता है ।**

यह ठीक है कि, आरम्भ में सम्पूर्ण भूपिण्ड इसके प्रातिस्विक तमोमय आसुर प्राण से ही युक्त था । जब पृथिवी बनी ही होगी, उस समय अवश्य ही असुरों के मुख से **"अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्"** ये वाक्य निकले होंगे । परन्तु आज तो ऐसा नहीं है । आज भूपिण्ड पर असुरों की भाँति दिव्य सौरप्राणात्मक देवताओं का भी साम्राज्य है । देवताओंनें यज्ञ.विष्णु को आगे कर यज्ञव्याज से आधा भूप्रदेश अपने अधिकार में करलिया है, जिसकाकि पूर्व के **वेदनिर्म्माणब्राह्मण** में विशदरूप से विवेचन किया जाचुका है * । यही क्यों, आज तो सम्वत्सरचक्र की दृष्टि से सम्पूर्ण भूपिण्ड देवताओं के ही अधिकार में आगया है । तभी तो दायविभागप्रतिपादिका श्रुति का—**"तेनेमां सर्वां पृथिवीमविदन्त"** यह कथन अन्वर्थ बन रहा है।

भूपिण्ड के साथ सौरप्राण का भी सम्बन्ध होरहा है, साथ ही उसका अपना प्राण भी इस पर बल-प्रयोग कर रहा है । पार्थिवप्राण इसे [ भूपिण्ड को ] अपनी ओर [ सूर्य्यविरुद्धदिक् में ] ले जाना चाहता है, तो सौरप्राण अपने आकर्षण से इसे अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है । दोनों प्राणों का समानाकर्षण है । इस समानाकर्षण से भूपिण्ड आजतक उसी स्थान पर घूम रहा है । इसी स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनन्दिनगति का उदय हुआ है । इसी दैनन्दिनगति से अहोरात्र का जन्म हुआ है । घूमते हुए भूपिण्ड का सूर्य्य-प्रकाश की ओर आजाना अहःकाल का जन्म होना है, एवं सूर्य्यविरुद्धदिक् में आजाना रात्रिकाल का जन्म होना है । अहःकाल में देवता उस आधे भूपिण्ड पर अपना अधिकार कर लेते हैं, तो रात्रि में उसी अर्द्ध-भाग पर असुर अपना अधिकार जमा लेते हैं । इसप्रकार अहोरात्ररूप से देवता-असुर, दोनों में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है । इसप्रकार इस स्वाक्षपरिभ्रमणमूला, दैनन्दिनगति की दृष्टि से भूपिण्ड दोनों का भोग्य बना रहा है ।

आगे जाकर साम्वत्सरिकगति के प्रभाव से भूपिण्ड असुरों के अधिकार से निकलकर केवल देवताओं की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति बन जाता है । **"अश्वो न देववाहनः"** इत्यादि मन्त्रोपपत्ति में यह स्पष्ट किया गया है, भूपिण्ड में दिति-अदिति, नामक दो भाव उत्पन्न होते हैं । भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य्यदिग्-विरुद्धदिक् की ओर व्याप्त, तेजोमण्डलाकार से समतुलित भूच्छाया-मण्डल ही दिति है । एवं

---

*"देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ततो देवा अनुव्यामिवासुः । अथ हासुरा मेनिरे, 'अस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति' । तद्वै देवाः शुश्रुवुः-विभजन्ते ह वा इमामसुराः पृथिवीं, प्रेत-तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते । के वयं ततः स्याम, यदस्यै न भजेमहि- इति । ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः । तेनेमां सर्वां पृथिवीमविन्दन्त । तस्माद्वेदिर्नाम । तस्मादाहुः-यावती वेदिस्तावती पृथिवी" ( शत० १।२।२।१-१२ ) ।

सौरमण्डलानुगत--सौर-प्रतिफलित पार्थिव ज्योतिर्भाग ही अदिति है। भूच्छाया भी भूपिण्ड से संलग्न है, तो भूप्रकाश भी भूपिण्ड से संलग्न है। भूप्रकाशमण्डललक्षणा अदिति में ज्योतिर्म्मय दिव्य प्राण का साम्राज्य है। एवं भूच्छायालक्षणा दिति में तपोमय आसुर प्राण प्रतिष्ठित हैं। दोनों हीं प्राण भौम-हृद्यप्रजापति से सम्बन्ध रखते हुए प्राजापत्य हैं। यह स्थिति है, और इसी को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

**"देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे"।**

**"देवता और असुर, दोनों इसी पृथिवी पर खड़े होकर स्पर्द्धा करने लगे। दोनों के इस स्पर्द्धालक्षण क्लेश को शान्त करने के लिए दोनों के बीच में गायत्री खड़ी हो गई। यह गायत्री पृथिवी ही है"** यह कथन अदिति-दिति का स्वरूप न जानने वालों के लिए कुशङ्का का प्रवर्त्तक बन रहा है। आख्यानों की रहस्यभाषा से अपरिचित वर्त्तमान युग के कतिपय जिज्ञासु सम्भवतः यह कुतर्क उठावेंगे कि—**"जब देवता और असुर, दोनों इसी पृथिवी पर खड़े थे, तो दोनों के बीच में कौनसी पृथिवी खड़ी हुई? । यदि यही पृथिवी खड़ी हुई, तो ये दोनों वर्ग किस पर खड़े हुए?"**। परन्तु जब इन्हें दिति—अदिति का स्वरूप-ज्ञान हो जाता है, तो कुशङ्का का कोई अवसर नहीं रहता। जिस पृथिवी पर देवता-असुर खड़े होकर स्पर्द्धा करते हैं—वह भिन्न है, एवं जो पृथिवी दोनों के मध्य में खड़ी होती है—वह पृथिवी भिन्न है।

भूपिण्ड के चित्य--चितेनिधेय--भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। मर्त्याग्निमय भूपिण्ड मर्त्या पृथिवी है, यही अस्मदादि की प्रतिष्ठाभूमि है। इसे ही 'भूमि' कहा जाता है। इस भूमिलक्षण भूपिण्ड का निर्म्माण-स्वरूपस्थिति-जिन द्रव्यों से हुई है, वे द्रव्य **'आपः—फेन--मृत्--सिकता--शर्करा--अश्मा--अयः--हिरण्य'** इन आठ भागों में विभक्त हैं (देखिए शत० ६।१।२।६।)। इन आठ द्रव्यों की क्रमिक चिति से ही भूपिण्ड का स्वरूप--निर्म्माण हुआ है। छन्दोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक द्रव्य एक एक अक्षर से समतुलित है। फलतः आठ द्रव्यों के सम्बन्ध से वाक्परिमाणात्मक छन्द के आठ अक्षरों का संग्रह होजाता है। अष्टाक्षरछन्द का ही नाम गायत्री है। इसी छन्दः सम्पत्ति के कारण इस अष्टव्याहृत्यात्मक भूपिण्ड को श्रुति ने 'गायत्री' कहा है। अतएव **'या वै सा गायत्री-आसीत्, इयं वै सा पृथिवी'** यह कहा गया है। यहाँ 'पृथिवी' शब्द चित्य-पृथिवी--लक्षण **'भूपिण्ड'** के अभिप्राय से ही प्रयुक्त हुआ है।

दूसरी चितेनिधेया पृथिवी है। भौम आग्नेय प्राण उक्थरूप से भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से भूपिण्ड से निकल कर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है। जहाँतक इस पार्थिव प्राण की व्याप्ति है, वहाँतक **'अप्रथयत्'** लक्षणा **अमृता पृथिवी** की सत्ता मानी गई है। अमृतापृथिवी के सौरप्राण के सम्बन्ध से आगे जाकर **दिति--अदिति**--रूप से दो विवर्त्त होजाते हैं। आगत सौरप्राण भूपिण्ड से टकराकर प्रतिफलित होता हुआ भूच्छाया से समतुलित अपना जो ज्योतिर्मय मण्डल बनाता है, वह अमृता पृथिवी का भाग सौरप्रकाश से अविच्छिन्नरूप से सम्बन्ध रखता हुआ **'अदिति'** भाग है। एवं इस प्रकाशमण्डल से समतुलित भूच्छाया-मण्डल अमृतापृथिवी का सौरप्रकाश से वञ्चित भाग दिति है। अदिति-

भाग में आदित्य ( ज्योतिर्म्मय देवता ) प्रतिष्ठित हैं, एवं दिति भाग में दैत्य ( तमोमय असुर ) प्रतिष्ठित हैं। इसप्रकार अमृता पृथिवी के दिति-अदिति भागों में प्रतिष्ठित असुर, एवं देवताओं के बीच में मर्त्य-'गायत्री' नामक भूपिण्ड प्रतिष्ठित है।

भूपिण्ड के उस ओर ( सूर्य्य की ओर ) भूपिण्ड से संलग्न देवमय ज्योतिर्म्मण्डल है, इस ओर ( सूर्य्यविरुद्धदिक् की ओर ) भूपिण्ड से संलग्न असुरमय तमोमण्डल है, एवं दोनों के मध्य में चित्य भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इसी स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

**"देवाश्च वा असुराश्च,–उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। तान् स्पर्द्धमानान् गायत्री-अन्तरा तस्थौ। या वै सा गायत्री–आसीत्, इयं वै सा पृथिवी। इयं हैव तदन्तरा तस्थौ"।**

उक्त स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही आगे की श्रुति का समन्वय कीजिये। दोनों की स्पर्द्धा होरही है। दोनों के मध्य में गायत्री ( भूपिण्ड ) खड़ी है। दोनों यही चाहते हैं कि, यह गायत्री हमारी ओर आजाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए गायत्री के समीप दोनों अपने अपने दूत भेजते हैं। देवताओं के दूत **'अग्नि'** हैं, एवं असुरों के दूत **'सहरक्षा'** हैं। अदितिलक्षण ज्योतिर्म्मय मण्डल में प्रतिष्ठित ज्योतिर्म्मय अग्नि **'अग्नि'** नामक देवदूत है। **'रक्ष'** का ही नाम **'भस्म'** है। यह भस्म निदानेन भूच्छाया का प्रतिरूप है। दितिलक्षण तमोमय मण्डल में प्रतिष्ठित तमोमय अग्नि ही **'सहरक्षा'** नामक असुरदूत है। लोक में भी प्रज्ज्वलित अग्निज्ज्वाला को हम अग्नि कहेंगे, एवं भस्मनिगूढ अग्नि को सहरक्षा कहेंगे। दिव्यप्राण की अपेक्षा आसुरप्राण बलवान् होता है। यही कारण है कि, ज्वालाग्नि की अपेक्षा भस्माग्नि अधिक बलवान् होता है।

भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमणलक्षणा दैनंदिनगति का अधिष्ठाता बन रहा है। दोनों प्राणों का समानाकर्षण होरहा है। परिणाम इस प्राथमिक स्थिति का यह होरहा है कि, भूपिण्ड अभी किसी ओर नहीं जारहा। इस का एकतः गमन तभी सम्भव होसकता है, जब कि दोनों प्राणगतियों में से एक प्राणगति बलवती बन जाय। समानप्राणसंघर्ष से तो उसी प्रकार स्थिति का उदय होजाता है, जैसे कि समानबल वाले दो मल्लों के आकर्षण से आकर्षित रस्सा पूर्व–पश्चिम, किसी ओर न जाकर मध्य में हीं स्थिर होजाता है। यह बलाधान सुप्रसिद्ध गतिधर्म्मा सौर–इन्द्र के अनुग्रह पर निर्भर है। सौर-इन्द्रप्राण उसी अदितिमण्डल के द्वारा आता हुआ तत्रस्थ देवदूत अग्नि में अपनी आकर्षणशक्ति का आधान करता है। इस गति से बलवान् बनता हुआ आग्नेयप्राण आसुर–प्राणगति का आकर्षण शिथिल कर देता है। परिणामतः भूपिण्ड असुरों की ओर ( पश्चिम की ओर ) न जाकर देवताओं की ओर ( पूर्व की ओर ) आता हुआ सम्वत्सरगतिरूप में परिणत होजाता है। इन्द्र ही भूपिण्ड की साम्वत्सरिक-गति का मुख्य कारण है। इधर प्राकृतिक दिव्याग्नि इस वृषेन्द्र से नित्ययुक्त रहता है। **'या च-का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्'** के अनुसार बलकृतिलक्षण वृषेन्द्र के सहयोग से ही भूपिण्ड का देवमण्डल की ओर आकर्षण होजाता है। भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ पूर्व की ओर चल पड़ता है। इसी गतिविज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने कहा है—

**"यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि" ॥ ( ऋक्सं० ८।१४।५। )**

साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, पश्चिमदिगनुगता यह आसुरप्राणगति ही भूपिण्ड को सूर्य्य-गोलगर्भ में जाने से रोक रही है। यदि पश्चिमाकर्षण न होता, तो पूर्वाकर्षण से आकर्षित भूपिण्ड स्वस्थान से च्युत होता हुआ अवश्य ही सूर्य्यगोलकगर्भ में विलीन होजाता। पश्चिमाकर्षण है, इसलिए तो भूपिण्ड स्वस्थान (**क्रान्तिवृत्त**) को नहीं छोड़ता। पूर्वाकर्षण प्रबल है, इसलिए पश्चिम की ओर सीधा नहीं चला जाता। क्या पूर्व की ओर सीधा जाता है ?, नहीं। इसी आसुरप्राणाकर्षण से भूपिण्ड सीधा न जाकर तिर्य्यक् जाता है। क्या भूपिण्ड सर्वथा तिर्य्यक् जाता है, ? नहीं। इसी इन्द्रप्राणाकर्षण से तिर्य्यक् जाते हुए भूपिण्ड की परिभ्रमण-बिन्दु-बिन्दु पूर्व की ओर आकर्षित होती रही है, जिसका '**सम्वत्सर**' शब्द से स्पष्टीकरण होरहा है।

शब्द है वास्तव में '**सर्वत्सर**'। परन्तु परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यह '**सर्वत्सर**' ही '**सम्वत्सर**' नाम से व्यवहृत हुआ है। भूपिण्ड जिस वृत्त (क्रान्तिवृत्त) पर परिक्रमा (साम्वत्सरिकगति) लगा रहा है, उसकी बिन्दु बिन्दु कुटिल है। गोलवृत्त का निर्म्माण इसी '**त्सर**' भाव से होता है। सर्वतः त्सरभाव ( कुटिल भाव ) ही सवत्सर है ( '**त्सर**' छद्मगतौ )। यही सर्वत्सर है। सम्वत्सर नाम के सम्बन्ध से यह व्युत्पत्ति होगी कि, भूपिण्ड एकत्र ( सम् ) बसता हुआ वसन् ) कुटिलरूप से पूर्व की ओर बढ रहा है।

देवदूत अग्नि के इस इन्द्राकर्षण-सहयोग का फल यह निकला कि, सम्पूर्ण भूपिण्ड देवमण्डलोप-लक्षित दिव्य आग्नेय सम्वत्सर का अनुगामी बन गया। यही दिव्य आग्नेय देवताओं का विजय कहलाया, एवं तमोमय आसुरप्राणों का पराजय कहलाया। जिधर अग्नि का रुख था, उसी ओर भूपिण्ड गत्युन्मुख बना, यही निष्कर्ष है। यही इस अग्नि का दौत्यकर्म्म है। **इसीलिए यह अग्नि देवताओं का 'दूत' कहलाया है**। जो यजमान देवदूत अग्नि का उक्त गति-रहस्य जानता है, साथ ही जिस यजमान का होता अग्नि के इस दूतस्वरूप को जानता है, वह अपने यजमान के लिए लोकसम्पत्ति असपत्न बना देता है। मन्त्र का दूसरा भाग है-"**होतारं विश्व वेदसम्**" यह ॥

इसके सम्बन्ध में काल्पनिकोंनें एक नई उपपत्ति की कल्पना करते हुए मौलिक उक्त मन्त्र भाग में— "**होता यो विश्ववेदसम्**" इस परिवर्त्तन की कामना प्रकट की है। कल्पना का उपहासास्पदरूप यही है कि— "**होतारं**" का "**होता-अरम्**" यह भी छेद सम्भव है। **अरं** शब्द **अलं** अर्थ का भी बोधक है। सम्पत्ति का आगमन होता है अग्नि के द्वारा। उस के सम्बन्ध में-'**अलम्**' बोलना सम्पत्ति का ही निरोध करना है। इस '**अलं-भावात्मक**' '**अरं**' से सम्पत्ति निरोध न होजाय, अथवा स्वयं होता अग्नि का अलंभाव (आगमन-निरोध) न होजाय, इसके साथ ही अनुवचन करने वाला होता अपने आप को समाप्त न कर बैठे, इसलिए '**होतारं**' के स्थान में '**होता यो**' इत्यादि रूप से परिवर्त्तन कर डालना चाहिए"।

उक्त मानुष-कल्पना का श्रुति ने आमूलचूड़ खण्डन करते हुए कहा है कि, यज्ञमन्त्रों में, यज्ञेति-कर्त्तव्यताओं में अपनी मानुष-कल्पना के द्वारा काल्पनिक उपपत्तियाँ मानते हुए परिवर्त्तन कर डालना यज्ञ-स्वरूप का नाश ही कर लेना है। आज भी तो ऐसे कल्पनारसिकों की कमी नहीं है। भारतवर्ष के गौरवभूत

नित्ययज्ञाधार पर प्रतिष्ठित, वैध्यज्ञों को **'वायुशोधक'** मानने की कल्पना करते हुए जो **'महाशय'** चिरन्तन पद्धतियों से विरुद्ध केसर-कर्पूर-गोला आदि को आहुतिद्रव्य मानने की धृष्टता कर रहे हैं, क्या वे यज्ञकर्म्म के शत्रु नहीं है ? । ऐसे ही काल्पनिकों का प्रबोधन करवाती हुई श्रुति कहती है कि, कर्म्मठ को चाहिए कि, वह जैसा विहित है, वैसा ही करे । अपनी कल्पना से उसमें अणुमात्र भी परिवर्त्तन न करे । तभी यज्ञ के द्वारा अभीष्टसिद्धि सम्भव है । इसी आदेश के साथ फलोपसहार करती हुई ३४-३५ कण्डिकाएँ उपरत हुई हैं ॥ ३४, ३५, ॥

मूलानुवाद में स्पष्ट किया गया है कि, **'अग्निं दूतं०'** इत्यादि को आठवीं मान कर ही अनुवचन करना चाहिए । ऐसा करने से साक्षात् रूप से अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से छन्दित गायत्राग्नि-सम्पत्ति का यज्ञ में संग्रह होजाता है । जो महानुभाव काम्येष्टि से सम्बन्ध रखने वाली दो **'धाय्या'** ऋचाओं का समावेश इस से पहले करते हैं, साथ ही काल्पनिक उपपत्ति बतलाते हैं, वे गायत्र-सम्पत्ति से विमुख होते हैं । अतः धाय्या-ऋचाओं का समावेश इस आठवें मन्त्र से आगे ही होना चाहिए ॥ ३७ ॥

यदि दर्शपूर्णमास के साथ काम्येष्टि भी अपेक्षित है, तो उस दशा में १५ के स्थान में १७ सामिधे-नियाँ होतीं हैं । इसके लिए २ मन्त्रों का ऊपर से सम्बन्ध किया जाता है, एवं उनके अनुवचन का समय यही माना गया है । ( काम्येष्टि-संग्रह पक्ष में ) **'अग्निं दूतं०'** के अनन्तर पहिले **'समिध्यमानो अध्वरे०'** इस ऋचा का अनुवचन होता है, अनन्तर धाय्या नामक दोनों ऋचाओं का अनुवचन होता है । अनन्तर **'समिद्धो अग्न आहुत०'** इत्यादि का, सर्वान्त में **'आजुहोता-दुवस्यत०'** का त्रिरावृत्तिपूर्वक अनुवचन होता है, जैसाकि मूलानुवाद में स्पष्ट कर दिया है ।

( केवल दर्शपूर्णमासपक्ष में १५ सामिधेनी ही विहित हैं । इस पक्ष में ) **'अग्निं दूतं०'** के अनन्तर जिन तीन ऋचाओं का क्रमशः अनुवचन होता है, उनकी समष्टि **'अध्वरवन्तत्रिच'** नाम से प्रसिद्ध है । **'समिध्यमानो अध्वरे०'—'समिद्धो अग्न आहुत०' 'आजुहोता दुवस्यत०'** तीनों मन्त्रों की समष्टि ही **'अध्वरवन्तत्रिच'** है । तीनों मन्त्रों के सम्बन्ध में कोई विशेष वक्तव्य नहीं है । अध्वरसम्पत्तिप्राप्ति ही अध्वरवन्त-त्रिचानुवचन का मुख्य फल है । इसप्रकार उक्तरूप से इन १५ सामिधेनियों का अनुवचन होता है । **इस अनुवचन से अध्वर्य्यु के द्वारा इद्ध अग्नि समिद्ध ( दिव्य तेजोयुक्त ) बन जाता है । यही समिद्ध अग्नि देवयजन की मूलप्रतिष्ठा है ॥ ३८, ३९, ४० ॥**

## चौथे अध्याय में पहिला, तथा तीसरे प्रपाठक में
## तीसरा ब्राह्मण समाप्त
## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-द्वितीय ब्राह्मण
## अत्र-उपरत
## २

— —*— —

# चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण
# सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत- तृतीय-ब्राह्मण
# ३

———*———

## अथ-निगदानुवचनकर्म्मोपपत्तिः

मन्त्रशक्ति के द्वारा आहवनीय में प्रतिष्ठित इस दिव्याग्नि का यही मुख्य कर्म्म है कि, इसमें जिस देवता के लिए आहुति डाली जाय, उसका विशकलन कर अग्निदेवता द्युलोक की ओर जाते हुए उस देवता तक पहुँचाते हुए इस अन्न के सम्बन्ध से यजमान के मानुषात्मा के साथ उस दिव्यप्राण का सम्बन्ध करादे। कैसा महत्त्वपूर्ण, तथा शक्तिसापेक्ष कार्य्य है। समिद्ध अग्नि आज थोड़े ही समय में इस दुरूह कर्म्म में प्रवृत्त होने वाले हैं। इससे पहिले गुण-वीर्य्य-परिचायक निगदपाठ से इस अग्नि को उत्साहबल से युक्त करना हीं प्रकृत कर्म्म की मुख्य उपपत्ति है।

लोक में इस वाग्वीर्य्य का हम अद्भुत चमत्कार देखते हैं। कर्णार्जुन का युद्धप्रसङ्ग इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण है। शल्य के अनुत्साहपूर्ण वाक्यों से महावीर भी कर्ण मन्दोत्साह होते देखे गए हैं। कारण यही है कि, **'अग्निर्वाग्भूत्त्वा मुखं प्राविशत्'** इस सिद्धान्त के अनुसार वागिन्द्रिय अग्निप्रधान है। इसके प्रयोग का फल अवश्य ही शारीराग्नि पर पड़ता है। यदि हमें कोई निरन्तर **'कायर'** कहता रहेगा, तब भी कालान्तर में हमारा अग्निबल मन्द होजायगा। साथ ही यदि हम स्वयं भी अपने आपको धिक्कृत करते रहेंगे, तब भी हमारी वही दशा होगी। इसी आधार पर-**'नात्मानमवसादयेत्'** आदेश विहित है। ठीक इसके विपरीत-यदि हम किसी के प्रति उत्साहवर्द्धक शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे, साथ ही हम स्वयं भी अपने लिए यदि पौरुषसमर्पक शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे, तो इस वाक् प्रयोग से तत्समतुलित हमारा शारीरग्नि अवश्य ही वीर्य्यशाली बन जायगा। इसीलिए धर्म्मशास्त्र ने यह आदेश दिया है कि, **न तो हमें दूसरों के लिए ही अशुभ वाणी का प्रयोग करना चाहिए, न अपने लिए ही अशुभ शब्द बोलने चाहिए।**

कभी कभी यह भी देखा गया है कि, मनुष्य को अपनी शक्ति का स्वयं बोध न होने से वह असमर्थ-सा बना रहता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति वाग्द्वारा इसे प्रबुद्ध कर देता है, तो उसकी सुप्त शक्ति प्रबुद्ध हो-जाती है। भगवान् मारुति इसी सम्बन्ध में प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वाग्द्वारा यशोकीर्त्तन से वीर्य्य का आधान होता है, और अवश्य होता है, यही वक्तव्य है। जब लौकिक वाक् में यह शक्ति है, तो उस दिव्यवाक् (मन्त्रवाक्) का क्या कहना, जिसका स्वरूप-निर्म्माण तत्त्वों के अनुरूप हो हुआ है। होतृलक्षण गुरुतम कार्य्य में नियुक्त करने से पहिले अग्नि में उसी स्ववीर्य्यजागृति के लिए, साथ ही मन्त्र के द्वारा और भी शक्ति-समावेश के लिए यह **निगदानुवचनकर्म्म** होता है ॥ १ ॥

प्राकृतिक प्राणदेवता नित्य वर्णव्यवस्था के अनुसार "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र" भेद से चार भागों में विभक्त हैं। अग्नि ब्राह्मण हैं, इन्द्र क्षत्रिय है, विश्वेदेव वैश्य हैं, एवं पार्थिव पूषाप्राण शूद्र है। ये ही चारों आधिदैविक देवता क्रमशः ब्रह्म–क्षत्र–विड्वीर्य्यों के, एवं शूद्रलक्षण पशुभाव के प्रवर्त्तक माने गए हैं। पार्थिव प्रजा में जिसमें जिस वर्ण के देवता का प्राधान्य रहता है, वह उसी वर्ण की प्रजा कहलाती है। यही भारतीय वर्णव्यवस्था की प्राकृतता, नित्यता, तथा जन्मानुरूपता है, जिसका कि विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्ड–कर्म्मयोगपरीक्षात्मक 'ख' विभाग के 'वर्ण-व्यवस्थाविज्ञान' प्रकरण में हुआ है।

उक्त चारों वर्णों में ब्रह्मवीर्य्यप्रवर्त्तक ब्राह्मणवर्ण सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इसी वर्ण के आधार पर इतर तीनों वर्ण प्रतिष्ठित हैं, यही ब्राह्मणवर्णात्मक होता अग्निदेव का महान् उत्कर्ष है। इसी ब्रह्मवीर्य्य के प्रभाव से ब्राह्मण अग्नि होतृकर्म्म में समर्थ हुए हैं। वीर्य्यापेक्षया जहाँ अग्नि वर्णतः ब्राह्मण हैं, वहाँ कर्म्मा–पेक्षया ये ही अग्नि 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हैं। पार्थिव हव्य का वहन कर इसके द्वारा द्युलोकस्थ देवप्रजा का भरण पोषण करना भी इन्हीं का काम है। एवं वैश्वानराग्निप्राणरूप से पार्थिव प्रजा की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होकर अपने स्वाभाविक अन्नादधर्म्म से अन्नाकर्षण के द्वारा पार्थिव प्रजा का भरण पोषण करना भी इन्हीं का काम है। इसी भरणकर्म्म से इन्हें 'भारत' कहना अन्वर्थ बन रहा है। जो त्रैलोक्य–प्रजा के भरण–पोषण करने में समर्थ हैं, उनके उत्कर्ष का क्या बखान करें। तभी तो ये होतृत्व जैसा गुरुतम कार्य्य करने में समर्थ हैं।

अष्टविध देवव्यवस्था के अनुसार ( जिसका–विज्ञानभाष्य–प्रथम–खण्ड में विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जाचुका है ) किसी समय इसी भूपृष्ठ पर त्रैलोक्य--व्यवस्था थी। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ, तीनों लोक प्रकृतिवत् यहाँ भी व्यवस्थित थे, जिसे 'भौमत्रिलोकी' कहा जाता है। दक्षिणसमुद्र से आरम्भ कर हिमालय पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश उस समय का पृथिवीलोक था, अलतायीगिरि से आरम्भ कर उत्तर समुद्र पर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रदेश द्युलोक था, एवं हिमालय से आरम्भ कर अलतायी पर्वतान्त मध्य प्रदेश अन्तरिक्षलोक था। तीनों के क्रमशः अग्नि, इन्द्र, वायु-'शवसोनपात्' देवता थे। इसीलिए तीनों को अग्निलोक, इन्द्रलोक, वायुलोक, नामों से भी यत्र–तत्र व्यवहृत किया गया है।

पृथिवीलोक ही इस अग्निदेवता के सम्बन्ध से 'भारतवर्ष' कहलाया है। पार्थिव प्रजा से कर ग्रहण कर भौम देवलोक में पहुँचाना भी इन्हीं भौम अग्नि का कार्य्य था, साथ ही वामदेव, ओङ्कार आदि अन्ना-ध्यक्षों के द्वारा यहाँ की प्रजा की अन्नव्यवस्था करना भी इन्हीं का कार्य्य था। इन्हीं कर्म्मों से ये 'भारत' इस 'उपाधि--नाम' से विभूषित किए गए। इन्हीं के इस 'भारत' नाम से यह पृथिवीलोक 'भारतवर्ष' कहलाया। दौष्यन्ति भरतादि के सम्बन्ध से जो इस देश का नाम–करण बतलाया जाता है, वह केवल भरत का यशोगानमात्र है। वस्तुतः 'भारतवर्ष' संज्ञा की मूलप्रतिष्ठा भौम 'भारत' नामक अग्निदेव ही हैं। इसप्रकार अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, तीनों पक्षों में उक्त निगदमन्त्र का समन्वय होरहा है, जो कि निगदमन्त्र उपस्तुतिपरक माना गया है। क्यों निगदा–नुवचन किया जाता है ?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ २ ॥

## अथ-आर्षेयानुवचनोपपत्तिः

निगदानुवचनानन्तर वह होता 'अमुकस्य पौत्रः०' इत्यादि रूप से आर्षेयमन्त्र का ऊह कर आर्षेयानुवचन करता है। इस का एकमात्र यही प्रयोजन है कि, इस से इस का महत्त्व ही बतलाया जाता है। ऋषिवंशपरम्परा ही इस महत्त्व-ख्यापन का मूल है। इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन पूर्वाधारब्राह्मण में किया जायगा ॥ ३,४ ॥

## अथ-निवित्पाठः

आर्षेयानुवचनानन्तर वह होता 'निवित्पाठ' करता है। सामिधेनी के द्वारा समिद्ध अग्नि जिन जिन गुण-कर्म्मादि विशिष्ट धर्म्मों से युक्त हैं, उनका यशःख्यापन ( बखान ) करते हुए अग्निदेव का अनुग्रह प्राप्त करना ही प्रकृत 'निवित्पाठ' का मुख्य उद्देश्य है।

प्रकृति में नित्ययज्ञ होरहा है, इसी नित्ययज्ञ से सृष्टि का स्वरूप सुरक्षित है। भौम मनुष्यविध देवताओंनें हीं सर्वप्रथम इस यज्ञरहस्य का स्वरूप पहिचाना। पहिचान कर उन्होंनें हीं सर्वप्रथम **'अरणिमन्थन'** नामक प्रक्रिया--विशेष से वैध अग्नि उत्पन्न कर उसका समिन्धन किया। इस समिद्ध वैध अग्नि से प्रकृतिवत् यज्ञवितान किया। इसप्रकार इस वैधयज्ञकर्म्म के प्रथमाविष्कार का श्रेय भौम देवताओं को ही मिला। तभी से यह समिद्ध अग्नि-'देवेद्धः' नाम से व्यवहृत हुआ।

भारतवर्ष में सर्वप्रथम यज्ञकर्म्म--वितान का श्रेय मिला अयोध्याधिपति महाराज वैवस्वत मनु को, जिनका प्रातिस्विक नाम था 'श्रद्धादेवमनु', जो कि भारतवर्ष की **मानव-प्रजा** के प्रथम सम्राट् थे। तब से 'देवेद्धः' के साथ साथ समिद्ध अग्नि 'मन्विद्धः' नाम से भी व्यहृत होने लगे ॥ ५ ॥

ब्राह्मण--सम्प्रदाय ने अपने पूर्वज महर्षियों की परम्परा से अग्निवितानलक्षणा अग्निस्तुति का अनुगमन किया। इस ब्राह्मणसम्प्रदाय की अपेक्षा से साक्षात्कृतधर्म्मा भारतीय महर्षि ही इस अग्नि ( अग्नियज्ञ ) के प्रथम स्तोता ( वितानकर्त्ता ) माने गए। अतएव ये अग्नि आगे जाकर 'ऋषिष्टुतः' नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ६ ॥

ऋषिप्राणरहस्यवेत्ता ये महर्षि ही 'विप्र' नाम से प्रसिद्ध हैं। भौमदेवताओंनें जिस अग्नि का सर्वप्रथम समिन्धन किया, तदनुरूप वैवस्वत मनु ने भारतवर्ष में जिस अग्नि का समिन्धन किया, उस अग्नि का वितान करते हुए भारतीय महर्षियोंनें हृदय से इनका अनुमोदन किया। उन्होंनें भी इसे (अग्निमय यज्ञ को) सर्वाभीष्ट-फलप्रदाता मानते हुए इस यज्ञकर्म्म का अनुगमन किया। अतएव अग्निदेव-'विप्रानुमदितः' नाम से भी प्रसिद्ध हुए ॥ ७ ॥

साक्षात्कृतधर्म्मा, क्रान्तिदर्शी महर्षि ही तो 'कवि' हैं। उन्होंनें सुप्रसिद्ध शस्त्रकर्म्म के द्वारा इस अग्नि का **'शंसन'** किया, इसलिए ये अग्निदेव 'कविशस्तः' नाम से भी प्रसिद्ध हुए। जिस यज्ञकर्म्म से जिस 'दैवात्मा' का स्वरूप उत्पन्न किया जाता है, उस यज्ञकर्म्म में-'शस्त्र, स्तोत्र, ग्रह', नामक तीन कर्म्म किए जाते हैं।

ऋक् से शस्त्रकर्म्म होता है, साम से स्तोत्र होता है, एवं यजु से ग्रह होता है। प्रजास्वरूप-निर्म्माण में उपादान द्रव्य, उसका अवयव-निर्म्माण, एवं स्वरूप-सम्पत्ति, ये तीन कर्म अपेक्षित हैं। गर्भाशयगत शोणिताग्नि में शुक्राहुति देना हीं ग्रहकर्म्म है। शुक्रात्मक ग्रह ही प्रजा का उपादान है। सिक्त रेत का अवयवविशेषरूप से काटछाँट रूप में परिणत होना हीं शस्त्रकर्म्म है। १० मासानन्तर स्वरूप-निर्म्माण का अवसान होजाना हीं स्तोत्रकर्म्म है। वे ही तीनों प्रजननकर्म्म इस यज्ञ में किए जाते हैं, जिनका स्वरूप-परिचय भाष्यारम्भ के उपोद्घात-प्रकरण में हीं कराया जाचुका है। यजुर्वेदी अध्वर्यु यजु से जो आहुति देता है, वही ग्रहकर्म्म है। आहुतिरूप यह ग्रह ही 'उपादान' है। ऋग्वेदी होता ऋक् से शंसन करता हुआ 'शस्त्रकर्म्म' का प्रवर्त्तक बनता है। सिक्त रेतःस्थानीय ग्रह की शस्त्रवत् काटछाँट करना, इस से उसमें अवयव--विशेष स्थापित करना होता का ही काम है। सामवेदी उद्गाता सामगानलक्षण स्तोत्रकर्म्म से इसे दैवात्मस्वरूपमें वितत करता है। प्रकृत का निवित्पाठ क्योंकि होता कर रहा है, एवं शंसनकर्म्म क्योंकि होता का प्रातिस्विक कर्म्म है, अतएव यहाँ अग्नि के लिए-'कविशस्तः' कहा गया है ॥ ८ ॥

पार्थिव महिमामण्डल में व्याप्त इस होतृकर्म्माध्यक्ष प्राणाग्नि का उत्तरोत्तर सुतीक्ष्णभाव में परिणत होना भूकेन्द्रस्थ उक्थात्मक ब्रह्माग्नि की ही कृपा का फल है। अग्नितत्त्व विकास-धर्म्मा है। इसी स्वधर्म्म से यह उत्तरोत्तर सुतीक्ष्ण (सुसूक्ष्म) बनता जाता है। यही सुतीक्ष्णभाव इसकी द्युगति का कारण है। यही इसका सशितावस्था में परिणत रहना है। इस तीक्ष्णभाव का मूलप्रवर्त्तक केन्द्रस्थ प्रजापति-नामक ब्रह्म (एतन्नापक अग्नि) ही है। उक्थ से ही तो अर्करूप तीक्ष्णभाव का उदय होता है। इसी धर्म्म की अपेक्षा से ये अग्नि-देव 'ब्रह्मसंशितः' नाम से भी प्रसिद्ध हैं ॥

'घृतमित्युदकनाम' के अनुसार घृत शब्द आज्य के साथ साथ इस उदक का भी नाम है! भूगर्भ से वाष्परूप में परिणित होकर आन्तरिक्ष्य वायुधरातल पर प्रतिष्ठित होने वाला अप्तत्त्व इस अग्निगर्भ में हीं प्रतिष्ठित रहता है। द्युलोक की ओर जाते हुए अग्निदेव ही इस अप् की प्रतिष्ठा बनते हैं, जैसा कि "अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टान्नयन्ति" इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट हैं। इसके अतिरिक्त आन्तरिक्ष्य घृत भी इसी के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है, जैसाकि पूर्व के आज्यब्राह्मण के--'नीरक्षीरविवेक-प्रकरण' में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। इसप्रकार आधिदैविक-संस्था में उदक, तथा घृत का आधार बनता हुआ अग्नि 'घृतवाहन' बन रहा है। इस आधिभौतिक वैधयज्ञ में आहुत आज्य का वाहन तत्प्रतिरूप समिद्ध आहवनीयाग्नि बन रहा है। एवमेव आध्यात्मिक अग्नि भुक्त घृत का वाहन बन रहा है। जिसका शारीराग्नि प्रदीप्त रहता है, वही घृत को पचा सकता है। इसप्रकार तीनों संस्थाओं की दृष्टि से अग्निदेव 'घृत-वाहनः' बन रहे हैं ॥९॥

पाकयज्ञ, अतियज्ञ, महायज्ञ, शिरोयाग, आदि आदि जितनें भी यज्ञ हैं, उन सबका सञ्चालन अग्नि के द्वारा ही होता है। 'अग्निरु वै यज्ञः' इस परिभाषा के अनुसार अग्नि हीं सर्वयज्ञ-प्रतिष्ठा हैं। आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ आधिभौतिक अग्नि के माध्यम-द्वारा आध्यात्मिक प्राणदेवताओं का मेल करा देना हीं तो यज्ञ है। उधर 'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्'--'अग्निः सर्वा देवताः' के अनुसार अग्नि सर्वदेवमूर्ति हैं। फलतः अग्नि के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञों का प्रणयन भलीभाँति सिध्द हो जाता है। ॥१०॥

यह अग्नि रसरूप में परिणत होकर ही द्युलोकस्थ देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करते हैं। अग्नि के भूत-प्राण भेद से दो विवर्त्त बतलाए गए हैं। भूताग्नि (चित्याग्नि) भूपिण्ड में प्रतिष्ठित है, यही मर्त्याग्नि है। प्राणाग्नि (चितेनिधेयाग्नि) भूमहिमा में प्रतिष्ठित है, यही अमृताग्नि है। यही अमृताग्नि **'रसाग्नि'** है। इस रसाग्नि का ही महिमारूप से ऊर्ध्व वितान होता है। इस वितान की अन्तिम सीमा २२ वाँ अहर्गण है। यही अन्तिम साम रसाग्नि की अवसानभूमि है। अतएव इस अन्तिम रसाग्नि-साम को **'रथन्तर'** साम कहा जाता है। वस्तुतः शब्द है-**'रसतमसाम'**। परन्तु देवताओं की परोक्षभाषा में **'रसतम'** ही **'रथन्तर'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है—

**'रसतमं ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्** (शत० ६। १। २। ३६)।

हमारे ये अग्निदेव रसावस्था से ही द्युलोक की ओर गमन करते हैं। अतएव इन्हें (यज्ञवहन-दशा में) **'रस'** कहा जाता है। रस को ही परोक्ष भाषा में-**"तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते"** (गो० ब्रा पू०२। २ १।) के अनुसार **'रथ'** कहा गया है। सम्पूर्ण यज्ञों के ये अग्निदेव रथी (रसावस्था से युक्त होकर यज्ञ वहन करने वाले) हैं ॥११॥

**आन्तरिक्ष्य-वारुण-वायव्य धरातल में उभयतः अमूल विचरण करने वाले यज्ञविनाशक आसुरप्राण-विशेषों का ही नाम 'राक्षस' है**। परन्तु द्युलोक में जाते हुए इस अग्नि का ये आन्तरिक्ष्य आसुरप्राण संतरण नहीं कर सकते। यही इस होता अग्नि का **अतूर्त्तभाव** है। इस अतूर्त्तधर्म्म का एकमात्र कारण है-समिद्ध प्राणाग्नि का पूर्वोक्त गतिविज्ञानानुसार सम्वत्सरमण्डल में एकाधिपत्य। इनका असुर क्या सन्तरण करेंगे, ये स्वयं अपने 'ऐति-प्रैति' बल से असुरों का तरण कर जाते हैं। ऐसे अग्नि का यज्ञ में जब समिन्धन होगया हो, तो फिर यहाँ भी असुराक्रमण की कहाँ सम्भावना है ॥१२॥

देवताँ जिस पात्र में आहुतिद्रव्य का अशन करते हैं, वह **'वषट्कार'**, तथा **'अग्नि'** भेद से दो प्रकार का माना गया है। **आधारपात्र वाङ्मय वषट्कार है, इसी पर सब देवता प्रतिष्ठित हैं**। इस वाङ्मय, महिमारूप वषट्कार के २१ वे अहर्गण पर्य्यन्त प्राणाग्नि की व्याप्ति रहती है। यही प्राणाग्नि यज्ञिय ३३ देवताओं का आहुतिलक्षण पात्ररूप मुखस्थानीय अग्निपात्र है। आधारपात्र जहाँ 'वषट्कार' कहलाया है, वहाँ यह अग्निपात्र **'आसपात्र' (आस्यपात्र मुखरूपपात्र)** नाम से व्यवहृत हुआ है। जो ऐसे अग्नि का समिन्धन करता है, वह **आसपात्रता** प्राप्त करता सुआ अभीप्सित भोग्य का संग्राहक बन जाता है ॥१३॥

पार्थिव रसों का सौररश्मिगत प्राणदेवता उसीप्रकार पान किया करते हैं, जैसे कि भौमदेवता इन्द्र की **सग्धि (सहभोज) में+चमस से सोमपान किया करते थे**। आहुतिरस (जिसका कि प्राणदेवता पान करते हैं) इसी प्राणाग्निगर्भ में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इस अग्नि को देवताओं का **पानपात्र** कहना अन्वर्थ है ॥१४॥

पूर्व के गतिविज्ञान में बतलाया गया है कि, यह प्राणाग्नि सम्पूर्ण सम्वत्सरचक्र का अधिष्ठाता बन रहा है। रथ के पहिए में **नेमि, आरा,** भेद से दो विभाग रहते हैं। नेमि में सब आरे ओतप्रोत रहते हैं। यहाँ भी नेमिस्थानीय अग्नि में सवत्सरमण्डलान्तर्वर्त्ती अरास्थानीय सम्पूर्ण देवता ओतप्रोत हैं। प्रकृत निविन्मन्त्र अग्नि की इसी सम्वत्सरव्याप्ति का बखान कर रहा है ॥१५॥

—*—

+—मद्यपानपात्र **'चषक'** कहलाता है, एवं सोमपानपात्र **'चमस'** कहलाता है। सम्भवतः **'चमस'** शब्द ही निरुक्तक्रमानुसार कालान्तर में 'चमश'-बनता हुआ **'चम्मच'** रूप में परिणत होगया है। एवमेव मद्यपानानुगत 'चषक' पात्र के आधार पर ही मद्य के साथ-**'चुस्की'** शब्द समन्वित होगया है।

## अथ–देवतावाहनोपपत्तिः

सामिधेनियों से प्राणाग्नि का समिन्धन किया गया, निगदानुवचन से वीर्य्याधान किया गया, एवं पूर्वोक्त निवित्पाठ से अग्नि के व्यष्टि–समष्ट्यात्मक गुण कर्म्मों–का बखान करते हुए इसमें यशोवीर्य्य का आधान किया गया। अब ये अग्नि देवयजनकर्म्म लिए सर्वथा उपयुक्त बन गए हैं। अतएव आवश्यक है कि, अब इन अग्निदेव से प्रार्थना की जाय क, प्रकृत इष्टि में जिन जिन देवताओं का यजन अभीष्ट है, उन्हें भी आप इस यज्ञसंस्था में (द्युलोक से) प्रतिष्ठित कीजिए। यही **आह्वानकर्म्म** की संक्षिप्त उपपत्ति है, जिसकी इतिकर्त्तव्यता का १६,१७, इन दो कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। इस देवता–आवाहन कर्म्म में–स्व–**'महिमानमावह'** पद की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। श्रुतिने कहा है कि, वाक् ही इस अग्नि की अपनी महिमा है। यह वाक् ही **'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत'** के अनुसार अग्नि की मूलप्रतिष्ठा है। वाग्वितान ही वषट्कारमण्डलरूप महिमामण्डल है। यही आध्यात्मिक अग्निमहिमा है। आधिभौतिक भूतपिण्ड वाङ्मय हैं। वाङ्मय भूतपिण्डों के गर्भ में अग्नि प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ भूतमयी वाक् भूताग्नि की महिमा बन रही है। आध्यात्मिक अग्नि की महिमा वागिन्द्रिय-लक्षणा वाक् ही बन रही है। वाक्तत्त्व ही शरीराग्नि का परिचायक है। शब्दविन्यास के आधार पर शरीराग्नि का बलाबल अनुमेय है। इसप्रकार तीनों संस्थाओं में वाक् ही अग्नि की महिमा बन रही है।

निवित्–मन्त्र ने अग्नि को **'जातवेदः'** कहा है। यह विशेषण भी महत्त्वपूर्ण है। परिचय रखने वाला ही **'जातवेदः'** है। अधिदैवत में अग्नि ही तद्रूप देवताओं के यथार्थ स्वरूप से परिचित हैं। अधिभूत में भूताग्नि ही भूतपिण्ड के स्वरूप–संघटन–लक्षण परिचय से अवगत हैं। एवं अध्यात्म में शरीराग्नि ही **'वाक्–प्राण–चक्षु'** रूप से जातवेदा बन रहा है। चक्षु से हम वस्तु पहिचानते हैं, वाङ्मय नाम से वस्तुओं का परिचय प्राप्त करते हैं, एवं प्राणमय कर्म्म से वस्तुस्वरूप का परिचय मिलता है। वागिन्द्रिय अग्नि से सम्बद्ध है, प्राणेन्द्रिय वायु से सम्बद्ध है, एवं चक्षुरिन्द्रिय आदित्य से सम्बद्ध है। अग्नि–वायु–आदित्य, तीनों एक ही अग्नि के तीन विवर्त्त हैं। फलतः आध्यात्मिक अग्नि का भी जातवेदस्त्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है ॥१६,१७,॥

अनुवचनकर्म्म खड़े खड़े होता है, याज्याकर्म्म बैठे बैठे होता है। अध्वर्यु यजुर्मन्त्र से याज्या करता है, एवं होता ऋङ्मन्त्र से अनुवाक्या करता है। आह्वान होता है द्युलोकस्थ देवताओं का। वे हम से विदूर हैं। अतएव अनुवचनकर्म्म खड़े खड़े ही होना चाहिए। क्योंकि निदानविधि से द्युलोक अनुवाक्या है। यजन होता है–उन प्राणदेवताओं का, जो होता के अनुवचन से इस पृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं। अतएव यजनकर्म्म बैठे बैठे ही होना चाहिए। क्योंकि याज्या निदानेन पृथिवी का ही प्रतिरूप है ।१८,१९,॥

## चौथे अध्याय में दूसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

## सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत तृतीय ब्राह्मण अत्र उपरत

——*——

# चौथे अध्याय में तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण
# सामिधेनी-ब्राह्मणानुगत-चतुर्थ ब्राह्मण

—४—

—*—

## अथ-शान्तिकर्म्मोपपत्तिः

वेदरहस्यवित् विद्वान् होता के यथाविधि **सामिधेन्यनुवचन** से, **आर्षेय-प्रवरण से**, **निगदानुवचन से**, **निवित्पाठ से**, तथा आवाहन के द्वारा **देवप्राणाधान** से आज हमारा यह वैध आहवीयाग्नि साधारण लौकिक इद्ध अग्नियों की अपेक्षा अतिशयरूप से **समिद्ध**, **अलौकिक**, **अनाक्रमणीय**, तथा **अनवमृश्य** बन जाता है। न केवल अग्नि हीं, अपितु अपने अनुवचनादि कर्म्म से भूताग्नि में प्राणाग्नि का समावेश कर उसे यह स्वरूप देने वाला स्वयं होता भी अपने शरीराग्नि से तत्समानधर्म्मा बनता हुआ **अनवधृष्य**, तथा **अनवमृश्य** ही बन जाता है। जो सामान्यबुद्धि मन्त्रशक्ति के उक्त प्रभाव को न जानता हुआ इस अग्नि को सामान्य अग्नि, एवं अनुवचनकर्त्ता इस ब्राह्मण को सामान्य मनुष्य समझने की भ्रान्ति करता हुआ इसका तिरस्कार-अपमान-करने की भूलकर बैठेगा, वह निश्चयेन अपना उसीप्रकार सर्वनाश करा बैठेगा, जैसे अज्ञ मनुष्य विद्युत्-स्पर्श से अपना नाश करा बैठते हैं। अतः ऐसे अग्नि, तथा ऐसे यज्ञिय ब्राह्मण सर्वथैव प्रणम्य हैं, स्तुत्य हैं ॥१,२॥

अग्निसमिन्धन के लिए होता जिन सामिधेनियों का अनुवचन करता है, उस अनुवचनकर्म्म से ही यद्यपि इसके शारीराग्नि में अतिशय उत्पन्न होजाता है। तथापि साक्षात्रूप से सावयव शरीराग्नि-समिन्धन के लिए अनुवचनकाल में तत्तद्विशेष मन्त्र-भागों के द्वारा तत्तद्विशेष आध्यात्मिक पर्वों के समिन्धन के लिए भावना कर लेता है। किस मन्त्र से कौनसा आध्यात्मिक पर्व समिद्ध होता है?, प्रस्तुत ब्राह्मण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है।

**'प्र वो वाजा अभिद्यवः०'** इत्यादि प्रथम मन्त्र होता के **'प्राण'** का ही समिन्धन करता है। **'अग्न आयाहि वीतये०'** से **'अपान'** का ही समिन्धन होता है। एवं तृतीयमन्त्र के—**'बृहच्छोचा यविष्ठ्य'** मन्त्रभाग से **'उदान'** ही समिद्ध होता है। **'स्वथप्राण'** नाम से प्रसिद्ध प्रश्वासात्मक प्राण की (इन्द्रियप्राण की) **'प्राण-अपान'** भेद से दो अवस्था हैं। निर्गच्छत् अवस्था में वही **गमनधर्म्म से** **'प्राण'** है, आगच्छत् अवस्था में वही **आगमन धर्म्म से 'अपान' है**। **प्राण प्रवान्** (गतिधर्म्मा) है, **अपान एतवान् (आगतिधर्म्मा) है**। **'प्र'** उपसर्गयुक्ता **'प्र वो०'** इत्यादि ऋचा से तत्सम निःश्वासावस्थापन्न **'प्राण'** का, एवं **'आङ्'** उपसर्गयुक्ता **'अग्न आयाहि०'** ऋचा से तत्सम प्रश्वासात्मक **'अपान'** का समिन्धन हुआ है। तेजोनाड़ी के द्वारा कण्ठदेश में प्रतिष्ठित आयुःस्वरूपरक्षक प्राण ही **'उदान'** है। इस का बृहत्साममण्डलस्थ आयुःप्रदाता सौर **विश्वामित्रप्राण** से समतुलन है। अतएव इसे **'बृहच्छोचा'** कहना अन्वर्थ बन रहा है। **'बृहच्छोचा यविष्ठ्य'** से इसीका समिन्धन हुआ है ॥३॥

'स नः पृथुश्रवाय्यम्०' मन्त्रभाग से श्रोत्रेन्द्रिय का समिन्धन हुआ है। त्रैलोक्यव्यापक, अतएव महा पृथु (विस्तीर्ण) वाक्-समुद्र में अन्य शब्दाघात से उत्पन्न वीचि ही कर्णशष्कुली पर प्रतिष्ठित प्रज्ञान मन से सम्बद्ध (आहत-प्रत्याहित) होती हुई शब्दश्रवण का कारण मानी गई है। इस व्यापक वाक्-लहरी के आधार पर शब्दश्रवण करने के कारण ही श्रोत्र पृथुश्रवाय्य है ॥४॥

"ईडेन्यो नमस्यः०" इस मन्त्रभाग से वागिन्द्रिय का ही समिन्धन हुआ है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व वाक् का ही वितान है। मनःप्राणगर्भिता वाक् ही आकाश है। आकाशात्मिका वाक् ही बलग्रन्थि के तारतम्य से पञ्चमहाभूतरूप में परिणत हुई है, जैसाकि-'वाचीमा विश्वा भूवनान्यर्पिता'-'अथो वागेवेद सर्वम्' इत्यादि निगमों से स्पष्ट है। जिसप्रकार अधिदैवत में तत्त्वात्मिका वाक् से सब वितत हैं, एवमेव अध्यात्म में इन्द्रियात्मिका-शब्दात्मिका-वाक् से ही सब स्तुत्य हैं। वाक् ही सर्वकर्म्म-वितान की प्रतिष्ठा है, जैसाकि निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

*** सा यत्रेयं वागासीत्-सर्वमेव तत्राक्रियत, सर्वं प्राज्ञायत। अथ यत्र मन आसीत्-नैव तत्र किञ्चनाक्रियत, न प्राज्ञायत। नो हि मनसा ध्यायतः कश्चन-आजानाति' (शत० ४।६।७।५।) ॥५॥**

'अश्वो न देववाहनः०' इत्यादि मन्त्रभाग से 'प्रज्ञान' नामक सर्वेन्द्रिय मन का ही समिन्धन होता है। प्राणात्मक देवता सोममय मनोधरातल पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इसीलिए तो उपवास में मनः परितोषक अन्नाशन निषिद्ध माना गया है। प्राणवाहन के अतिरिक्त मनस्वी मनुष्य का मन इसे काम-सफलता के लिए उठाए फिरता है। मनस्वी का संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। देवप्राण-प्रतिष्ठारूप होने से ही मन अश्वस्थानीय देववाहन है ॥६॥

'अग्ने दीद्यन्तं बृहत्०' इत्यादि मन्त्रभाग से चक्षुरिन्द्रिय का ही समिन्धन होता है। सर्वाङ्गशरीर में अङ्गारखण्डवत् चक्षु ही प्रदीप्त हैं, साथ ही बृहत्सामात्मक आदित्य से उत्पन्न होने के कारण बृहत्साम-सम्पत्ति से युक्त हैं। चक्षुः साम के गर्भ में अवस्थित वस्तु ही दृष्टि का विषय बनती है। एक विशाल प्रतिमा का स्वरूप तबतक शवसमान ही दिखाई देता है, जबतक कि उसमें दो चक्षुकनीनिकाओं का सम्बन्ध नहीं कर दिया जाता। चक्षु के सम्बन्ध कराते ही पाषाणप्रतिमा प्रज्ज्वलित सी होजाती है, उभरसी जाती है। तभी प्रतिमा की बृहत्ता बृहत्तारूप से प्रतीत होती है ॥७॥

'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इत्यादि मन्त्रभाग से 'व्यान' नामक मध्यप्राण का समिन्धन होता है। आन्तरिक्ष्य प्रादेशमित, उक्थरूप से हृदयस्थ, सर्वप्रतिष्ठात्मक, अर्करूप से सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त, जीवना-धारभूत, श्वास-प्रश्वासात्मक, प्राणोदान के उपांशु-अन्तर्याम नामक व्यापारों का सञ्चालक प्राणविशेष ही

---

*-केवल मानस संकल्पों से, इच्छामात्र की चर्व्वणा से तबतक किसी कर्म्म में सफलता नहीं मिल सकती, जबतक कि-वाङ्मय शारिरीक-श्रम, तथा वाङ्मय शब्द का आश्रय न लिया जाय। कर्म्म, तथा शब्दा-भिनय से ही संकल्प कार्य्यरूप में परिणत होते देखे गए हैं।

**'व्यान'** है । इस से ऊपर सौरदिव्यप्राण, तथा नीचे पार्थिव प्राण है, इसी के लिए निम्नलिखित उपनिषद्वचन विहित हैं--

**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।।**
**इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।१।।**
**ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति ।।**
**मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ।।२।।**

व्यान से ऊर्ध्व स्थित प्राण **प्राण-उदान** भेद से दो स्वरूपों में विभक्त है, व्यान से नीचे स्थित अपान **समान-अपान** भेद से दो भागों में विभक्त है । इसप्रकार आध्यात्मिक प्राण के पाँच विवर्त्त होजाते हैं । इन में व्यानप्राण मध्यस्थ है, अन्तःस्थ है । इस अन्तःस्थ प्राण के समिन्धन से आठवीं ऋचा भी मध्यस्था है । इस समिन्धन से समिन्धनकर्त्ता अपनी मण्डली में मध्यस्थ बन जाता है ।।८।।

**'शोचिष्केशस्तमीमहे०'** इत्यादि मन्त्रभाग से शिश्नेन्द्रिय का ही समिन्धन करता है । कामाग्निमय-ताप लौकिक इतर तापों से कहीं प्रबल है । इस का बीज शिश्न ही माना गया है । शिश्नोदर-परायण, कामभोगासक्त मनुष्य कामप्रतिबन्ध-दशा में अतिशयरूप से सन्तप्त रहते हैं । इसी सादृश्य से शिश्न के लिए **'शोचिष्केश'** पद प्रयुक्त हुआ है ।।९।।

**'समिद्धो अग्न आहुतः०'** इत्यादि मन्त्रभाग से अवाङ्प्रा० (गुदप्राण) का ही समिन्धन होता है । एवं —**'आजुह्वोता दुवस्यत०'** इत्यादि से समष्टिरूप से सर्वाङ्गशरीर का ही समिन्धन होता है ।।१०।।

इसप्रकार उक्त समिन्धन-भावना से होता का सर्वाङ्गशरीर व्यष्टि-समष्टिरूप से समिद्ध अग्निवत् प्रज्ज्वलित होजाता है । यदि होता चाहे, तो अपमान करने वाले पर उक्त भावना के साथ **'प्राणं वा एतदा-त्मनोऽग्नावाधाः०'** इत्यादि रूप से कृत्याप्रयोग कर सकता है, जिनका ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, इन ११ कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है ।

उक्त **समिन्धनकर्म्म**, तथा **अभिचारकर्म्म** से बतलाना प्रकृत में यही है कि, सामिधेनी से समिद्ध अग्नि, तथा समिन्धनकर्त्ता होता, दोनों समानधर्म्मा हैं, अनवधृष्य हैं, अनवमृश्य हैं । उनका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिए । ऐसे **इस महान्-स्तुत्य-नमस्य अग्निदेवता के लिए, एवं अग्निरहस्यवित् ऐसे ब्राह्मणश्रेष्ठ होता** के लिए निरतिशय प्रणतभाव से आस्था-श्रद्धा-पूर्वक ही **हमारी अनेक नमः उक्तियाँ समर्पित हैं** ।।२२।।

## चौथे अध्याय में तीसरा, तथा तीसरे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त

## समाप्तं चेदं ब्राह्मणचतुष्टयात्मकं सामिधेनी-ब्राह्मणम्

—— * ——

श्रीः

इति–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
ब्राह्मणचतुष्टयात्मकं–"सामिधेनीब्राह्मणम्"
उपरतम्

श्रीः

# अथ--शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
# द्विब्राह्मणात्मकं–"आघारब्राह्मणम्"

श्रीः

# अथ-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये
# द्विब्राह्मणात्मकं-"आघारब्राह्मणम्"

## अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्
## तृतीय-प्रपाठकके च षष्ठं ब्राह्मणम्
## ( आघारब्राह्मणानुगतञ्च प्रथमं ब्राह्मणम् )
## १

### १६-पूर्वोत्तराघारकर्म्म
### आघारयोर्निदानम्

(मूल)—तं वा एतमग्निं समैन्धिषत-'समिद्धे देवेभ्यो जुहवाम'-इति । तस्मिन्नेते-एव प्रथमे आहुती जुहोति-मनसे चैव वाचे च। मनश्च ह वै वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः ॥१॥

स यदुपांशु क्रियते-तन्मनो देवेभ्यो यज्ञं वहति । अथ यद्वाचा निरुक्तं क्रियते-तद् वाग् देवेभ्यो यज्ञं वहति । एतद्वा इदं द्वयं क्रियते; तदेते-एवैतत् सन्तर्पयति । तृप्ते प्रीते देवेभ्यो यज्ञं वहात इति ॥२॥

स्रुवेण तमाघारयति-यं मनस आघारयति । वृषा हि मनः, वृषा हि स्रुवः ॥३॥

स्रुचा तमाघारयति-यं वाच आघारयति । योषा हि वाक्, योषा हि स्रुक् ॥४॥

तूष्णीं तमाघारयति-यं मनस आघारयति, न स्वाहेति चन । अनिरुक्तं हि मनः, अनिरुक्तं ह्येतत्-यत्तूष्णीम् ॥५॥

मन्त्रेण तमाघारयति-यं वाच आघारयति । निरुक्ता हि वाक्, निरुक्तो हि मन्त्रः ॥६॥

आसीनस्तमाघारयति-यं मनस आघारयति, तिष्ठंस्तम्-यं वाचे । मनश्च ह वै वाक् च, युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः । यतरो वै युजोर्ह्सीयान् भवति-उपवहं वै तस्मै कुर्वन्ति । वाग् वै मनसो ह्सीयसी । अपरिमिततरमिव हि मनः, परिमिततरेव हि वाक् । तद्वाच एवैतदुपवहं करोति । ते सयुजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः । तस्मात् तिष्ठन् वाच आघारयति ॥७॥

देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः । तेऽसुररात्तसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः । त एत-द्दक्षिणतः प्रत्युदश्रयन् । उच्छ्रितमिव हि वीर्यम् । तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाघारयति । स यदुभयत आघारयति-तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव । शिरो ह वै यज्ञस्यै-तयोरन्यतर आघारयोः, मूलमन्यतरः ॥८॥

स्रुवेण तमाघारयति-यो मूलं यज्ञस्य । स्रुचा तमाघारयति-यः शिरो यज्ञस्य ॥९॥

तूष्णीं तमाघारयति-यो मूलं यज्ञस्य । तूष्णीमिव हीदं मूलम्, नो ह्यत्र वाग् वदति ॥१०॥

मन्त्रेण तमाघारयति-यः शिरो यज्ञस्य । वाग्घि मन्त्रः । शीर्ष्णो हीयमधि वाग् वदति ॥११॥

आसीनस्तमाघारयति-यो मूलं यज्ञस्य । निषण्णमिव हीदं मूलम् । तिष्ठंस्त-माघारयति-यः शिरो यज्ञस्य । तिष्ठतीव हीदं शिरः ॥१२॥

## अग्निसम्मार्जनम्

स स्रुवेण पूर्वमाघारमाघार्याह-'अग्निमग्नीत्सम्मृड्ढि' इति । यथा धुरमध्यूहेदेवं तत्-यत्पूर्वमाघारयति । अध्युह्य हि धुरं युञ्जन्ति ॥१३॥

अथ सम्मार्ष्टि-युनक्त्येवैनमेतद्, युक्तो देवेभ्यो यज्ञं वहादिति । तस्मात् सम्मार्ष्टि । परिक्रामं सम्मार्ष्टि । परिक्रामं हि योग्यं युञ्जन्ति । त्रिस्त्रिः सम्मार्ष्टि । त्रिवृद्धि यज्ञः ॥१४॥

स सम्मार्ष्टि–'अग्ने वाजजिद्वाज त्वा सरिष्यन्तं वाजजितꣳसम्मार्ज्मि' (२ अ. ७ मं. ) इति । यज्ञं त्वा वक्ष्यन्तं सम्मार्ज्मि, इत्येवैतदाह । अथोपरिष्टात् तूष्णीं त्रिः । तद्यथा युक्त्वा प्राजेत्–प्रेहि वहेति, एवमेवैतत्कशयोपक्षिपति–प्रेहि, देवेभ्यो यज्ञं वहेति । तस्मादुपरिष्टात्तूष्णीं त्रिः । तद्यदेतन्तरेण कर्म क्रियते–तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव ॥१५॥

## इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणं–समाप्तम्
## तृतीय-प्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणं–समाप्तम्
## आघारब्राह्मणानुगतञ्च प्रथमं ब्राह्मणमुपरतम्

## १

## तृतीयप्रपाठकश्चात्र–समाप्तः

## ३

श्रीः

# अथ–चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्
# चतुर्थप्रपाठके च प्रथमं ब्राह्मणम्
# आघारब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीयं ब्राह्मणम्

२

## २०—उत्तराघारकर्म्म

(मूल)—स स्रु चोत्तरमाघारयिष्यन् पूर्वेण स्रु चावञ्जलिं निदधाति–'नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः ( २ अ० ७ मं० ) इति । तद्देवेभ्यश्चैवैतत् पितृभ्यश्चार्त्विज्यं करिष्यन् निह्नु ते । 'सुयमे मे भूयास्तम्' ( २ अ० ७ मं० ) इति । स्रु चावादत्ते–सुभरे मे भूयास्तम् । भर्त्तुं वां शकेयमित्येवैतदाह । 'अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं सम्भ्रियासम्' ( २ अ० ८ मं० ) इति । अविक्षुब्धमद्य देवेभ्यो यज्ञं तनवा–इत्येवैतदाह ॥१॥

'अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्ववाक्रमिषम्' ( २ अ० ८ मं० ) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्मा एवैतन्निह्नु ते–मा त्वावक्रमिषमिति । 'वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषम्' ( २ अ० ८ मं० ) इति । साध्वीमग्ने ते छायामुपस्थेषमित्येवैतदाह ॥२॥

'विष्णोस्थानमसि' ( २ अ० ८ मं० ) इति । यज्ञो वै विष्णुः, तस्यैव ह्येतदन्तिकं तिष्ठति, तस्मादाह–विष्णो स्थानमसीति । 'इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्' (२ अ० ८ मं० ) इति । अतो हीन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षांस्यपाहन्, तस्मादाह–इत इन्द्रो वीर्यमकृणोदिति । 'ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्' ( २ अ० ८ मं० ) इति । अध्वरो वै यज्ञः, ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्येवैतदाह ॥३॥

'अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यम्' ( २ अ० ६ मं० ) इति । उभयं वा एतदग्निर्देवानाम्-होता च दूतश्च । तदुभयं विद्धि–यद्देवानामसीत्येवैतदाह । 'अवतां त्वां द्यावापृथिवी

**अव त्व द्यावापृथिवी'** ( २ अ० ६ मं० ) इति । नात्र तिरोहितमिवास्ति । **'स्विष्टकृद्-देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा'** ( २ अ० ६ मं०) इति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता, तस्मादाह-इन्द्र आज्येनेति । वाचे वा एतमाघारमाघारयति । इन्द्रो वागित्यु-वा आहुः । तस्माद्वेवाह-इन्द्र आज्येनेति ॥४॥

अथासंस्पर्शयन्स्रुचौ पर्येत्य ध्रुवया समनक्ति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघारः । आत्मा वै ध्रुवा । तदात्मन्येवैतच्छिरः प्रतिदधाति । शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघारः । श्रीर्वै शिरः । श्रीर्हि वै शिरस्तस्मात्-योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवति असावमुष्यार्द्धस्य शिर इत्याहुः ॥५॥

यजमान एव ध्रुवामनु । योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु । स यद्धोपभृता समञ्ज्याद्-यो यजमानायारातीयति-तस्मिंच्छ्रियं दध्यात्, तद्यजमान एवैतच्छ्रियं दधाति, तस्माद् ध्रुवया समनक्ति ॥६॥

स समनक्ति-'संज्योतिषा ज्योतिः' ( २ अ० ६ मं० ) इति । ज्योतिर्वा इतरस्यामाज्यं भवति, ज्योतिरितरस्याम् । ते ह्येतदुभे ज्योतिषी सङ्गच्छेते । तस्मादेवं समनक्ति ॥७॥

अथातो मनसश्चैव वाचश्चाहंभद्र उदितम् । मनश्च ह वै वाक चाहंभद्र ऊदाते ॥८॥

तद्ध मन उवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि, न वै मया त्वं किञ्चनानभिगतं वदसि । सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि, अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ॥९॥

अथ ह वागुवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि, यद्वै त्वं वेत्थ-अहं तद्विज्ञपयामि, अहं संज्ञपयामीति ॥१०॥

ते प्रजापतिं प्रति प्रश्नमेयतुः । स प्रजापतिर्मनस एवानूवाच- मन एव त्वच्छ्रेयः, मनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि, श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति ॥११॥

सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये । तस्यै गर्भः पपात । सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच-अहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासम्, यां मा परावोच इति । तस्माद् यत्किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, उपांश्वेव तत् क्रियते । अहव्यवाड्धि वाक् प्रजापतय आसीत् ॥१२॥

तद्धैतद्देवा रेतश्चर्मन् वा यस्मिन् वा बभ्रुः। तद्ध स्म पृच्छन्ति-अत्रैव त्या ३ दिति। ततोऽत्रिः सम्बभूव। तस्माद्प्यात्रेय्या योषितैनस्वी। एतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः ॥१३॥

## इति-प्रथमकाण्डे चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणं चतुर्थप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम्

## आघारब्राह्मणानुगतञ्च द्वितीयं ब्राह्मणं उपरतम्

## २

★

## द्विब्राह्मणात्मकमाघाराब्राह्मणञ्चात्रोपरतम्

:*:

## शतथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये-प्रथमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायश्चात्र समाप्तः

## ४

:*:

# चौथे अध्याय में चौथा, तथा तथा तीसरे प्रपाठक में ६ठा ब्राह्मण
# आघारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण
# १

—— * ——

## १—पूर्वोत्तराघारों की उपपत्ति—

( अनुवाद )—उस ( प्रसिद्ध ) इस ( आहवनीय ) अग्नि को ( अग्निसमिन्धनोपयुक्त पूर्वोक्त कर्म्म से उन्होंनें * इस उद्देश्य से कि ) "समिद्ध ( सामिधेनी मन्त्रशक्तियुत होने से देव-प्राणयुक्त ) अग्नि में देवताओं के लिए हम आहुति देते हैं" समिद्ध कर लिया। ( अर्थात् देवाहुति के योग्य बनाने के लिए ही पूर्वोक्त सामिधेन्यनुवचनकर्म्म के द्वारा आहवनीय अग्नि का समिन्धन हुआ है। इस कर्म्म से यह अग्नि देवाहुति-ग्रहण-योग्य बन गया है ) । ( यजमानादि के द्वारा समिद्ध ) इस आहवनीय अग्नि में अध्वर्य्यु नामक ऋत्विक् मन के लिए, और वाक् के लिए इन्हीं दो आहुतियों का हवन करता है। मन तथा वाक्, दोनों से संयुक्त होकर ( मिथुनभाव में परिणत होकर द्युलोकस्थ प्राणात्मक ) देवताओं के लिए (पृथिवीलोक से यज्ञ-यज्ञातिशयोत्पादक-आहुतिप्राण ) का वहन करते हैं ( लेजाते हैं ) । ( अर्थात् आहवनीय में हुत आहुतिद्रव्य का प्राणरूप से द्युलोक में मनोवाक् के द्वारा ही गमनलक्षण ऊर्ध्व वितान होता है। अतः देवाहुति से पहिले आहुतिप्रापक मनोवाक् के लिए दो आहुतियाँ देना आवश्यक है ) ॥ १ ॥

अध्वर्य्यु के द्वारा जो तूष्णीं ( आहुतिकर्म्म ) किया जाता है, इस उपांशुकर्म्म से मन देवताओं के लिए यज्ञ ( आहुति ) का वहन करता है। जो कि वाक्-पूर्वक ( उच्चारण-पूर्वक ) निरुक्त ( प्रकट ) भाव से ( आहुतिकर्म्म ) किया जाता है, इस निरुक्तकर्म्म से वाक्तत्त्व देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करता है। ( अर्थात् मन अनिरुक्त होने से उपांशु है, अतएव मन के लिए तूष्णीं आहुति दी जाती है, क्योंकि तूष्णींभाव अनिरुक्तभाव है। वाक् निरुक्त है, अतएव वाक् के लिए उच्चारणपूर्वक आहुति दी जाती है, क्योंकि उच्चारणभाव निरुक्तभाव है )। इसप्रकार

---

*—समिन्धनकर्म्म में यज्ञफलभोक्ता यजमान के आत्मा ( हृदय ) का योग होता है, अध्वर्य्यु नामक ऋत्विक् इध्माधान करता है, ब्रह्मा नामक ऋत्विक् होता को सामिधेन्यनुवचन की अनुज्ञा प्रदान करता है, एवं होता नामक ऋत्विक् सामिधेनी—ऋचाओं के अनुवचन से अग्नि-समिन्धन करता है। इसप्रकार यजमान, अध्वर्य्यु, ब्रह्मा, होता, चारों के व्यापार से अग्निसमिन्धन-कर्म्मेतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होती है । इसी अभिप्राय से 'समैन्धिषत' यह बहुवचन प्रयुक्त हुआ है।

उपांशु, तथा उच्चारणभाव के द्वारा अध्वर्य्यु इन्हीं दोनों मनोवाक्-भावों की सम्पत्ति सम्पन्न करता है, इन दोनों आहुतियों से यह मनोवाग्भावों को ही तृप्त करता है । ( प्रयोजन इस तृप्तिकर्म्म का यही है कि, आहुतिद्वय से ) तृप्त मन, और वाक्, देवताओं के लिए यज्ञ का वहन करें ॥२॥

( वे दोनों आहुतियाँ क्रमशः **'पूर्वाघार, उत्तराघार'** नाम से प्रसिद्ध हैं । पूर्वाघाराहुति मनस्तृप्ति से सम्बन्ध रखती है, एवं उत्तराघाराहुति वाक्तृप्ति से सम्बन्ध रखती है । स्रुवपात्र पुरुष की प्रतिकृति है, उधर मन भी पुरुष है । अतएव पूर्वाघाराहुति स्रुवपात्र से होती है । स्रुक्पात्र स्त्री की प्रकृति है, उधर वाक् भी स्त्री है । अतएव उत्तराघाराहुति स्रुक्पात्र से होती है । वृषा-योषात्मक इसी मिथुनभाव का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है )—'स्रुव' मामक पात्र के द्वारा उस आघाराहुति ( पूर्वाघाराहुति ) का सम्पादन करता है, जिसे कि मनस्तृप्ति के लिए करता है । क्योंकि मन वृषा ( पुरुषप्रकृति ) है, उधर स्रुवपात्र भी वृषास्थानीय ही है ॥ ३ ॥

स्रुक्पात्र के द्वारा उस आघाराहुति ( उत्तराघाराहुति ) का सम्पादन करता है, जिसे कि वाक्तृप्ति के लिए करता है । क्योंकि वाक् योषा ( स्त्रीप्रतिकृति ) है, उधर स्रुक्पात्र भी योषा-स्थानीय है ॥ ४ ॥

तूष्णीं उस आघाराहुति ( पूर्वाघाराहुति ) का सम्पादन करता है, जिसे कि मनस्तृप्ति के लिए करता है, ( साथ ही इस कर्म्म में ) **'स्वाहा'** इसका भी उच्चारण नहीं करता है । ( तात्पर्य्य कहने का यही है कि, मन्त्राहुतिकाल में मन्त्र की समाप्ति पर आहुति देते समय **'स्वाहा'** शब्द का उच्चारण स्वभावसिद्ध-अभ्याससिद्ध है । कहीं ऐसा न हो कि, मनस्तृप्ति के लिए विहित पूर्वाघार में अभ्यासवश 'स्वाहा' का उच्चारण होजाय । इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के निरोध के लिए ही श्रुति को **'न स्वाहेति चन'** इत्यादि रूप से आदेश देना पड़ा है )। मन अनिरुक्त ( हृद-यावच्छिन्न होने से अप्रत्यक्ष-अप्रकट ) है । वह भी अनिरुक्त ही भाव है, जो कि तूष्णीं ( चुपचाप ) है । इसलिए मानसाघार तूष्णीं ही होना चाहिए ) ॥ ५ ॥

मन्त्रोच्चारणपूर्वक उस आघाराहुति ( उत्तराघाराहुति ) का सम्पादन करता है, जिसे कि वाक्तृप्ति के लिए करता है । वाक् निश्चयेन निरुक्ता ( प्रकटभावापन्ना है । वह भी निरुक्त ही भाव है, जो कि मन्त्र ( मन्त्रोच्चारण ) है । ( इसलिए वागाघार मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही होना चाहिए ॥ ६ ॥

बैठा बैठा उस आघाराहुति ( पूर्वाघाराहुति ) का सम्पादन करता है, जिसे कि मनस्तृप्ति के लिए करता है । खड़ा खड़ा उस आघाराहुति ( उत्तराघाराहुति ) का सम्पादन करता है, जिसे

कि वाक्तृप्ति के लिए करता है । ( मनोऽनुगत पूर्वाघार बैठे बैठे, एवं वागनुगत उत्तराघार खड़े खड़े क्यों होता है ?, इस प्रश्न की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है )—( पूर्वकथनानुसार ) मन, और वाक्, दोनों ( अश्वयुग्मवत् ) मिलकर देवताओं के लिए [ रथरूप ] यज्ञ का वहन करते हैं। [ रथ में जुड़े हुए दो अश्वों में से ] जो अश्व नाटा होता है, लोक में रथवाहक सारथि उसके लिए 'उपवह' * करते हैं। ( वाक्, और मन, दोनों इस यज्ञरथ के वहन करने वाले दो अश्व हैं, परन्तु ) मनोरूप अश्व की अपेक्षा वाग्रूप अश्व नाटा है । क्योंकि मन अपरिमित [ विशाल ] सा है, और वाक् परिमित [ संकुचित ] सी है। [ खड़ा खड़ा वागनुगत उत्तराघार करता हुआ ] अध्वर्य्यु वाक् से ही उपवह का सम्बन्ध कराता है। [ इस उपवह से वाक् मन से समतुलित होजाती है, फलतः ] दोनों समानरूप से यज्ञरथ में जुड़कर सरलतया यज्ञरथ का वहन करने में समर्थ होजाते हैं। एकमात्र इस [ समतुलनभावावाप्ति के ] लिए ही वागनुगत उत्तराघार का खड़े खड़े सम्पादन करता है। समान-वहनप्रदेश सम्पत्ति-प्राप्ति के लिए ही वागनुगत आघार तिष्ठन् विहित है, यही निष्कर्ष है ॥ ७ ॥

[ आहवनीयकुण्ड के दक्षिणभाग में खड़े होकर वागनुगत उत्तराघारकर्म्म किया जाता है। खड़े होकर, साथ ही दक्षिणदिशा में उत्तराघार करने का एक कारणान्तर बतलाती हुई श्रुति कहती है ]—देवदेवताओंनें यज्ञ का वितान किया। [ यज्ञवितान करते हुए ] वे देवदेवता [ दक्षिण-दिक्स्थ ] असुर-राक्षसों की आक्रमणाशङ्का से भयत्रस्त होगए। [ इस भय से त्राण पाने के लिए देवदेवता लोग आहवनीय के दक्षिण भाग में [ सावधान होकर असुरों की प्रतिस्पर्द्धा में ] खड़े हो गए। [ शत्रुभय तभीतक भयोत्पादक बना रहता है, जबतक हम प्रत्युत्तर देने में असमर्थ रहते हैं। जब हम आततायी के सम्मुख सज्जीभूत होकर प्रत्याक्रमण के लिए खड़े होजाते हैं, तो शत्रु शान्त हो जाता है । भौमदेवताओं नें स्ववितान-यज्ञमण्डल की दक्षिण दिशा में अग्नि देव को खड़ा कर भौम असुराक्रमण से त्राण पाया था। एवं प्राकृतिक प्राणदेवताओं के नित्य-प्राकृतिक यज्ञ में अग्नियुत इन्द्रप्राण के द्वारा आसुरप्राण का निरोध होता रहता है। प्रकृति के अनुसार भौम देवताओं नें किया, तदनुसार ही हमें अपने इस वैधयज्ञ में करना चाहिए, जैसाकि-**'देवाननुविधा वै मनुष्याः'** इत्यादि निगम से स्पष्ट है। दक्षिणदिक्स्थ आसुरप्राणनिरोध के लिए

---

* यदि रथवहन करने वाले दो घोड़ों में से एक अश्व दूसरे से नाटा होता है, तो इसे उस दीर्घकाय अश्व की ऊचाई से समतुलित करने के लिए इसके स्कन्ध प्रदेश में अपेक्षित परिमाणयुक्त एक काष्ठ--वस्त्रादियुक्त स्थूलपीठ बाँध दिया जाता है। इससे दोनों की ऊँचाई समतुलित होजाती है । यही स्थूलपीठ वैदिकपरिभाषा में 'उपवह' कहलाया है।

ही दक्षिण की ओर खड़े होकर वागनुगत उत्तराघारकर्म्म किया जाता है ]। वीर्य्य खड़ा हुआ-सा है। [ बैठने में शरीरबल मन्द-सा रहता है। खड़े होजाने पर बल उद्बुद्ध हो जाता है ]। इसलिए दक्षिण की ओर खड़े होकर ही उत्तराघार का सम्पादन करता है। असुराक्रमणनिरोधक वीर्य्यमात्र की प्राप्ति के लिए ही खड़े होकर आघारकर्म्म किया जाता है, यही उपपत्ति-निष्कर्ष है।

( मन के लिए विहित पूर्वाघार आहवनीय से उत्तर बैठ कर सम्पादित होता है, वाक् के लिए उत्तराघार आहवनीय से दक्षिण खड़े होकर सम्पादित होता है। आहुति-प्राप्ति-स्थान-लक्षण आहवनीयाग्नि समान है, आहुतिप्रदानस्थान उत्तर-दक्षिण-भेद से नाना भिन्न-हैं। उधर मन और वाक्, दोनों आहुति-प्रापकत्त्वेन समान हैं, एवं स्वस्वरूप से भिन्न भिन्न हैं। इसी साम्यसिद्धि के लिए समानाग्नि में उभयाघाराहुति होती है। प्रदेशत्त्वेन दोनों नाना हैं, अतएव दक्षिणोत्तर प्रदेश में आसीन, तथा तिष्ठद् रूप से आहुति दी जाती है। मनोवाक् के इसी समानत्त्व, एवं नानात्त्व धर्म्म के साथ समतुलन बतलाती हुई श्रुति कहती है )—वह अध्वर्यु जोकि ( आहवनीय अग्नि में आहवनीय अग्नि से ) दक्षिणोत्तर ( तिष्ठन्-आसीन रूप से ) आघार करता है, इसीलिए यह मन, तथा वाक् का युग्म समान रहता हुआ भी नाना—वत् है ॥

( वागनुगत ) उत्तराघार, तथा ( मनोऽनुगत ) पूर्वाघार, दोनोंमें से एक ( वागनुगत उत्तर ) आघार ( इस दैवात्मलक्षण ) यज्ञ ( पुरुष ) का मस्तक (शिर की प्रतिकृति) है, एवं एक ( मनोऽनुगत पूर्व ) आघार (इस) यज्ञ का मूल ( मूलस्थान की प्रतिकृति है ) ॥८॥

स्रुवपात्र के द्वारा उस ( मनोऽनुगत पूर्व) ( आघार का सम्पादन करता है, जोकि यज्ञ का मूल है। स्रुक्पात्र के द्वारा उस ( वागनुगत उत्तर ) आघार का सम्पादन करता है, जो कि यज्ञ का मस्तक है ॥९॥

तूष्णीं उस ( मनोनुऽगत पूर्व ) आघार का सम्पादन करता है, जोकि यज्ञ का मूल है। मूलतत्त्व ( हृदयस्थान ) तूष्णीं ( अनिरुक्त ) वत् है। यहाँ वाग्व्यापार अवरुद्ध है ॥१०॥

मन्त्रोच्चारण के द्वारा उस ( वागनुगत उत्तर ) आघार का सम्पादन करता है, जोकि यज्ञ का मस्तक है। मन्त्रोच्चारण व्यापार वाग्व्यापारयुक्त है, ( वाङ्मय है )। मस्तक ( तत्रस्थ मुखानुगता वागिन्द्रिय ) के द्वारा ही वागुच्चारण होता है ॥११॥

बैठा बैठा उस ( मनोऽनुगत पूर्व ) आघार का सम्पादन करता है, जो कि यज्ञ का मूल है। मूलतत्त्व बैठा हुआ-सा ही है। खड़े खड़े उस ( वागनुगत उत्तर ) आघार का सम्पादन

करता है, जोकि यज्ञ का मस्तक है। ( शरीर प्रदेश में ) मस्तक खड़ा हुआ-सा ही है। ( तात्पर्य्य यही है कि, पूर्वाघार मूलस्थानीय है, एवं इसका मन से सम्बन्ध है। तथा उत्तराघार मस्तक-स्थानीय है, एवं इसका वाक् से सम्बन्ध है। मूलतत्त्व अनिरुक्त, आसीनवत् है, अतएव तत्-सम्पादक पूर्वाघार अनिरुक्त-आसीन भाव के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। शिरोभाग निरुक्त, तिष्ठद्वत् है, अतएव तत्सम्पादक उत्तराघार समन्त्रक-तिष्ठद्भाव के द्वारा सम्पन्न किया जाता है ॥१२॥

## २-अग्निसम्मार्जन—

वह अध्वर्य्यु ( आहवनीय अग्नि में तूष्णीं ) पूर्वाघार का सम्पादन करके ( आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को ) प्रैष करता है कि—'**हे अग्नीत् ! ( आग्नीध ! ) ( अब तुम आहवनीय ) अग्नि का सम्मार्जन करो**'। जिसप्रकार ( रथवाहक बैल के स्कन्धप्रदेश में ) जूड़ा डालते हैं, उसीप्रकार का यह कर्म्म है, जोकि पूर्वाघार का सम्पादन करना है। स्कन्ध प्रदेश में पहिले जूड़ा डालकर ही पीछे चर्म्मपाश से बाँधते हैं। ( तात्पर्य्य यही हुआ कि, रथवहन करने वाले वृषभों को पहिले रथ धुर के नीचे लाकर उनके स्कन्ध प्रदेश में धुर ( जूड़ा ) डाला जाता है। अनन्तर नियत चर्म्मपाश से उनके ग्रीवास्थानों को बाँध दिया जाता है। यहाँ आहवनीय अग्नि ही यज्ञरथ वहन करने वाला वृषभ है। पूर्वाघार करना इसके स्कन्ध-प्रदेश पर जूड़ा डालना है, एवं सम्मार्ज्जन करना पाशबन्धन से युक्त करना है। क्योंकि पूर्वाघार धुर स्थापन स्थानीय है, एवं धुरस्थापन सम्मार्जनरूप पाशबन्धन से पहिले होता है, अतएव यहाँ भी पूर्वाघारकर्म्म सम्मार्जनकर्म्म से पहिले किया जाता है, अनन्तर अग्निसम्मार्जन के लिए आग्नीध्र को आदेश दिया जाता है। पूर्वाघार स्कन्ध प्रदेश में धुरस्थापन स्थानीय है, यह बतला कर अब सम्मार्जन कर्म्म को पाशबन्धन स्थानीय बतलाती हुई श्रुति कहती है ) ॥१३॥

वह आग्नीध्र ( नामक ऋत्विक् अध्वर्य्यु के प्रैषानुसार ) आहवनीय अग्नि का * सम्मार्जन करता है। इस सम्मार्जनकर्म्म से यह आग्नीध्र ( वृषभ-स्थानीय धुर युक्त इस आहवनीय ) अग्नि को ( पाशबन्धन से ) ही ( यज्ञरथ में ) युक्त करता है। ( यज्ञरथ में पाशबन्धन से )

*—आहवनीय अग्निकुण्ड के पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, इन तीन प्रान्तभागों में प्रतिष्ठित तीन इध्मकाष्ठ ही परिधियाँ हैं। पहिले परिधि-स्थापनानुसार इन तीनों परिधियों से संलग्न अग्नि का त्रिरावृत्त सम्मार्जन किया जाता है, अनन्तर आहवनीय अग्नि का ऊपर से तीन बार तूष्णीं सम्मार्जन किया जाता है। यही आग्नीध्रकृत संमार्जन हैं, जैसाकि सूत्रप्रदर्शित पद्धतिसंग्रह में स्पष्ट किया जाने वाला है।

युक्त होकर यह ( आहवनीय ) अग्नि देवताओं के लिए यज्ञरथ का वहन करे, ( सम्मार्जनकर्म्म की यही उपपत्ति है )। इसीलिए सम्मार्जन करता है। यज्ञ त्रिवृत् ( त्रिवृद्भावोपेत ) है, ( इस यज्ञानुगता त्रिवृत्सम्पत्ति प्राप्ति के लिए ही ) त्रिस्त्रिः सम्मार्जन किया जाता है ॥१४॥

[सम्माजन कर्म्म क्यों कया जाता है ?, इस प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान किया गया। अब पद्धतिक्रम बतलाती हुई श्रुति कहती है ]–वह आग्नीध्र – '**हे अग्ने ! यज्ञसाधनभूत हविर्लक्षण अन्न पर अपना अधिकार रखने से 'वाजजित्' नाम से प्रसिद्ध, हविर्लक्षण यज्ञसाधन ऐसे वाजा अन्न का देवताओं के लिए द्युलोक में वहन करने वाले आपका मैं सम्मार्जन करता हूँ' इस अनुरूप अर्थ से युक्त ] 'अग्ने वाजजिद्वाजं०'** [ यजुःसं० २।७। ] यह मन्त्र बोलता हुआ [ तीनों परिधियों का त्रिरावृत्तरूप से ) सम्माजन करता है। [तात्पर्य्य यही है कि, तीनों परिधियों का प्रत्येक का उक्त मन्त्रोच्चारण के द्वारा तीन तीन बार सम्मार्जन करता है। फलतः परिधिसम्मार्जन ६ बार होजाता है। यही इसका त्रिवृद्भाव--तीन का त्रिगुणितभाव--है]। ( मन्त्र का तात्पर्य्यार्थ बतलाती हुई श्रुति कहती है—'**अग्ने वाजजिद्वाजं०**' इत्यादि से ]''**यज्ञ वहन करने वाले यज्ञिय आपका सम्मार्जन करता हूँ**'' यही कहा गया है। ( हविरन्न यज्ञसाधक होने से यज्ञ हैं, अतएव **वाजं सरिष्यन्तं**' का तात्पर्य्य '**यज्ञं सरिष्यन्तम्**' ही होता है। वह अग्नि इस यज्ञात्मक हवि का वहन करता है, अतएव इसके लिए '**यज्ञियं त्वा सम्मार्ज्मि**' यह कहा जासकता है ]।

[ समन्त्रक त्रिरावृत्तरूप से परिधि--सम्माजन करने के अनन्तर वह आग्नीध्र ] ऊपर से आहवनीय अग्नि का तूष्णीं ( अमन्त्रक ] तीन बार सम्मार्जन करता है। उपरिष्टात् आहवनीय अग्नि का तूष्णीं सम्मार्जन क्यों किया जाता है ?, इसकी उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है ]—सो जिसप्रकार [ रथ में बैलों को ] जोत कर ( कशाताड़नादि से उन्हें ) चल चल ! भार वहन कर ! इसप्रकार गमन के लिए प्रेरित करते हैं, एवमेव [ उपरिष्टात् सम्मार्जन-रूप ] कशाघात से इस अग्नि को,--चलिए ! चलिए !! देवताओं के लिए यज्ञवहन कीजिए !!! इसप्रकार प्रेरित ही करता है। तात्पर्य्य यही है कि—पूर्वाघार तो स्कन्ध प्रदेश में जूड़ा डालने के स्थान में हैं, एवं त्रिस्त्रिः सम्मार्जन पाशबन्धन स्थानीय है। पाशबन्धन के अनन्तर सारथि बृषभयुग्म को गत्यारूढ बनाने के लिए चलो, चलो, इत्यादि शब्द प्रयोग के द्वारा कशाघात करता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपरिष्टात् आहवनीय अग्नि में त्रिः सम्मार्जन होता है।

( अब एक प्रश्न शेष रहजाता है। स्रुवाघारलक्षण पूर्वाघार, तथा स्रुगाघारलक्षण उत्तराघार, दोनों कर्म्मों के मध्य में उक्त सम्माजनकर्म्म क्यों किया जाता है ?, इसी प्रश्न की

उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है )—सो जो कि आग्नीध्र पूर्वोत्तराघार के मध्य में यह सम्मार्जन करता है, इसीलिए मन, तथा वाक् दोनों समान रहते हुए नाना हैं। [ दोनों आघार साथ करना दोनों को समान बनाना है, एवं दोनों के मध्य में सम्मार्जनकर्म्म करना दोनों समानों को नानावत् बनाना है, यही तात्पर्य्य है ॥१५॥

## चौथे अध्याय में चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण समाप्त
## आघारब्राह्मणानुगत प्रथम ब्राह्मण समाप्त

—१—

——*——

## चौथे अध्याय में पञ्चम तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण
## आघारब्राह्मणानुगत द्वितीय ब्राह्मण

—२—

——*——

## उत्तराघारेतिकर्त्तव्यता

(पूर्व ब्राह्मण में स्रुवपात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले मनोऽनुगत पूर्वाघार-कर्म्म की इतिकर्त्तता, एवं पूर्वोत्तराघार के मध्य में होने वाले अग्निसम्मार्जनकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई। अब क्रमप्राप्त स्रुक्पात्र के द्वारा सम्पन्न होने वाले वागनुगत उत्तराघार-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है )—स्रुक्पात्र (जुहू, तथा उपभृत ) से उत्तराघार-कर्म्म सम्पादन करने वाला अध्वर्य्यु (उत्तराघारकर्म्म से पहिले ) जुहू, तथा उपभृत्, इन दोनों स्रुक्पात्रों के पूर्वभाग में (जिस मुख्य भाग से आहुति दी जाने वाली है, उस मुख्य भाग की ओर) ("देवताओं के लिए नमस्कार है, पितरों के लिए स्वधा है' इस अर्थ से युक्त "नमो देवेभ्यः, स्वधा पितृभ्यः" (२।७) यह मन्त्र बोलता हुआ अञ्जलिस्थापन करता है (दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करता है)। इस अञ्जलिनिधान-कर्म्म से वह अध्वर्य्यु ( देवताओं, तथा पितरों के लिए क्रमशः नमः, तथा स्वधा करता हुआ ) आर्त्विज्यकर्म्म करना चाहता हुआ देवताओं, तथा पितरों से अपने आप को छिपाता है। (तात्पर्य्य यही है कि, देव-पितृ-कर्म्म आर्त्विज्यकर्म्म है। यह एक महान् कर्म्म है, दिव्यकर्म्म है। इधर अध्वर्य्यु असत्यसंहित एक मनुष्य है, सामान्य व्यक्ति है। सामान्य

व्यक्ति दिव्यदेवसर्ग का यजन करावे, यह असङ्गत-सा है। परन्तु करना पड़ता है। अपने इसी अमर्य्यादित अपराध के लिए पहिले से ही क्षमा माँग लेना आवश्यक है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उत्तराघाररूप आर्त्विज्य से पहिले ही अध्वर्य्यु स्रुक्पात्रों के पूर्वभाग में खड़ा होकर प्रणाम कर लेता है)।

(अञ्जलिनिधानानन्तर वह) अध्वर्य्यु -- **"सुयमे मे भूयास्तम्"** **'हे जुहू, तथा उप-भृत् नामक स्रुक्पात्रो ! आप दोनों मेरे इस यज्ञार्थ गृहीत आज्य के लिए आज्य के-अच्छी प्रकार से धारण करने वाले बनें"** २।७) यह मन्त्र बोलता हुआ (दक्षिण हस्त में जुहू, उपभृत् नामक दोनों) स्रुक्पात्रों का ग्रहण करता है। **"आप दोनों मेरे लिए-आज्य का-उत्तम प्रकार से धारण करने वाले बनिए, साथ ही आप दोनों पात्रों को मैं अपने हाथ में भलीभाँति धारण करने योग्य बनूँ"** मन्त्र भाग से यही कहा है।

(आगे का मन्त्र है)—**"अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं सम्भ्रियासम्"** ( **"आज इस यज्ञा-नुष्ठान काल में देवताओं को लिए आप दोनों पात्रों में स्थित इस आज्य को मैं उस प्रकार से रख रहा हूँ, जिससे यह भूमि पर न गिरता हुआ अस्कन्न-प्रतिष्ठित-बना रहे"** २।८)। **"अक्षुब्ध रूप से आज मैं देवताओं के लिए यज्ञ का वितान करने में समर्थ बनूँ"** मन्त्र भाग से यही कहा गया है। (जुहूपभृत्-पात्रों में गृहीत आज्य सर्वथा स्थिर रहना चाहिए। तभी यज्ञवितानसिद्धि है। यदि हस्तकम्पनादिरूपा असावधानी से पात्रस्थित घृत कम्पित होजा-यगा, तो वह उछट कर भूमि पर गिर पड़ेगा। परिणाम में यज्ञसन्तान उच्छिन्न होजायगी, आज्याहुति से उत्पन्न होने वाले दैवात्मा का स्वरूप विकृत होजायगा। इस स्कन्नभय से त्राण पाने के लिए ही उक्त मन्त्रशक्ति का आश्रय लिया गया है) ॥१॥

( आगे का मन्त्रभाग है )—**"अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्"** ( **हे यज्ञमूर्त्ति विष्णो ! मैं अपने पैरों से आपका अतिक्रमण न करूँ"** २।८)। यज्ञ निश्चयेन विष्णु है। (इस मन्त्र भाग से ) उसी यज्ञात्मक विष्णु के लिए अपना अपराध शमन करवाता है, जो-कि-**"मैं आपका अतिक्रमण न करूँ"** यह कहता है। (तात्पर्य्य यही है कि, आज्यपूर्ण दोनों स्रुक्पात्रों को लेकर इस अध्वर्य्यु को वागनुगत उत्तर आघार के लिए आहवनीय कुण्ड से दक्षिण दिशा की ओर आना पड़ता है। यह दक्षिणागमन आहवनीयरूप यज्ञमूर्त्ति विष्णु का अतिक्रमण रूप निरादर है। मन्त्रप्रार्थना के द्वारा इस दोष के लिए ही विष्णु से क्षमा प्रार्थना करता है)।

(आगे का मन्त्रभाग है)—"वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थषेम्" (हे आहवनीयाग्ने ! आप की छाया से युक्त सम्पत्तियुक्ता भूमि के समीप मैं प्रतिष्ठित होरहा हूँ' २।८) "हे अग्ने ! आप की श्रेष्ठ (छत्र) छाया में मैं प्रतिष्ठित होने जारहा हूँ" मन्त्रभाग से यही कहा है कि। दक्षिणादिक् याम्यादिक् है, प्राणनाशिनी दिक् है। यहाँ आकर ही अध्वर्य्यु को उत्तराधारकर्म्म करना है। दक्षिणदिगनुगत इस याम्यभाव की निवृत्ति के लिए ही मन्त्रशक्ति के द्वारा यह भावना की जाती है—कि, मैं याम्यादिक् में नहीं जारहा, अपितु अग्नि की छायारूप यज्ञसम्पत्तियुक्ता भूमि का आश्रय ले रहा हूँ) ।।२।।

(आगे का मन्त्र भाग है)—"विष्णोः स्थानमसि" (हे दक्षिण भूप्रदेश ! आप यज्ञ-मूर्त्ति विष्णु की आवासभूमि हैं" २।८)। यज्ञ ( यज्ञसाधक आहवनीय अग्नि ) विष्णुमूर्त्ति है। (दक्षिण प्रदेश में उत्तराधार के लिए खड़ा होता हुआ ) अध्वर्य्यु यज्ञात्मक विष्णु के समीप ही खड़ा होता है, इसी अभिप्राय से 'आप विष्णु के स्थान हैं' यह कहा गया है। (तात्पर्य्य यही है कि, आहवनीय अग्निरूप यज्ञप्रदेश से दक्षिण का प्रदेश वस्तुतः असुर-राक्षसों का प्रदेश है। यहीं खड़े होकर अध्वर्य्यु को उत्तराधारकर्म्म करना है। मन्त्रशक्ति के द्वारा इस प्रदेश की आसुरभावना हटाने के लिए, साथ ही आहवनीय यज्ञसामीप्य से इस प्रदेश में देवभावना स्थापित करने के लिए ही ऐसा कहना आवश्यक माना गया है)।

(मन्त्र का अगला भाग है )—"इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्" ("आहवनीयाग्नि से दक्षिणस्थ प्रदेश से ही इन्द्र ने दक्षिणस्थ असुर-राक्षसों का निरोधात्मक पुरुषार्थ किया है" २।८)। दक्षिण दिशा में खड़े होकर ही इन्द्र ने दक्षिण की की ओर से आक्रमण करने वाले असुर-राक्षसों का संहार किया था, इसी अभिप्राय से 'यहाँ से इन्द्र ने वीर्य्य (पुरुषार्थ) किया' यह कहा गया है। (तात्पर्य्य यही है कि, जिस दक्षिण प्रदेश में खड़े होकर अध्वर्य्यु-उत्तराधार-कर्म्म करने वाला है, वह प्रदेश यज्ञमूर्त्ति विष्णु के सम्बन्ध से तो यज्ञियप्रदेश बन ही रहा है, साथ ही यज्ञपति-इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से साक्षाद्रूप से भी यह यज्ञभूमि बन रहा है। मन्त्रशक्ति के द्वारा उसी ऐन्द्रसम्पत्ति की भावना की गई है।

( मन्त्र का अगला भाग है)—"ऊर्ध्वोऽध्वर आस्थात्" ( "दक्षिणस्थ इन्द्र के द्वारा सुरक्षित यह यज्ञ द्युलोकपर्य्यन्त प्रतिष्ठित-वितत-होगया" २।८)। 'यज्ञ ऊर्ध्वस्थान में प्रतिष्ठित होगया' मन्त्रभाग से यही कहा गया है। (तात्पर्य यही है कि, जिस दक्षिण प्रदेश को भयावह समझा जाता है, वह तो यज्ञाग्निलक्षण विष्णु के सम्बन्ध से, तथा यज्ञाधिपति इन्द्र के

सम्बन्ध से यज्ञस्वरूपसंसाधक बन रहा है। इन्द्ररक्षा से रक्षित होकर ही देवताओं का प्राकृतिक यज्ञ भूलोक से चलकर द्युलोक में प्रतिष्ठित हुआ है। मन्त्र के द्वारा उसी ऊर्ध्व प्रतिष्ठा की भावना की गई है ) ॥३॥

(आगे का मन्त्रभाग है ।)— **"अग्ने वेहोंत्रं वेदूत्यम्" [हे आहवनीयाग्ने ! आप अपने हौत्रकर्म्म से परिचय प्राप्त कीजिए, एवं अपने देवदूतत्त्व से परिचय प्राप्त किजिए"** २।६) ये अग्नि देवताओं के होता भी हैं, दूत भी हैं, दोनों हैं। **"जो कि आप देवताओं के होता, तथा दूत, दोनों हैं, अपने इस उत्तरदायित्त्व को अपने ध्यान में लाइए"** मन्त्रभाग से यही कहा गया है। (हुत आज्याहुति) को द्युलोकस्थ प्राणदेवताओं में पहुँचाने से ये अग्नि देवताओं के होता हैं। साथ ही दिव्य देवताओं को आहवनीय में प्रतिष्ठित कर उनका पार्थिव देवताओं से सम्बन्ध कराने के कारण ये ही अग्नि देवताओं के दूत भी हैं। प्रकृत आज्याहुति से दोनों सम्पत्तियाँ अभीष्ट हैं। मन्त्र के द्वारा उन्हीं की भावना की गई है) ।

(मन्त्र का अगला भाग है)—**"अव त्वां द्यावापृथिवी, अव त्वं द्यावापृथिवी" [आज्याहुति लेकर भूलोक से द्युलोक जाते हुए आप की द्यावापृथिवी रक्षा करें, एवं आप स्वयं भी द्यावापृथिवी की रक्षा करें"** २।६।] । इस मन्त्र भाग में कुछ भी अस्पष्ट नहीं है, [अर्थात् मन्त्रार्थ स्पष्ट है] ॥

( मन्त्र का अगला भाग है ) **'स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत स्वाहा' ( 'आज्यरूप हविर्द्रव्य से युक्त इन्द्र देवताओं के लिए स्विष्टकृत्–भलीभाँति इष्टसाधक– बन गए** २।६। ) । इन्द्र यज्ञ के देवता हैं। इसी अभिप्राय से **' इन्द्र आज्य से ( युक्त होकर स्विष्टकृत बन गए )"** यह कहा गया है। इस उत्तराघार का सम्पादन अध्वर्य्यु वाक् के लिए ही करता है। वैज्ञानिकोंनें इन्द्र को वाक् कहा है। इसलिए भी **'इन्द्र आज्य से'** यह कहा है। (तात्पर्य्य यही है कि, प्रकृत मन्त्र भाग से स्रुक्पात्र के द्वारा आहवनीय में में उत्तराघार डाला जाता है। यह आघार वाक् के लिए है। परन्तु मन्त्र के द्वारा नामनिर्देश इन्द्र का हुआ है। कारण यही है कि, इन्द्र यज्ञ के देवता हैं। इस यज्ञाधिपतित्त्वेन भी वागर्थविहिता आज्याहुति के लिए—**'इन्द्र आज्येन'** यह कह दिया गया है। साथ ही इन्द्र ही वाक् है, एवं वाक् के लिए ही उत्तराघार है, अतएव **'इन्द्र आज्येन'** कहना अन्वर्थ बन जाता है ) ॥४॥

( **'अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि'** ( २।७ यह ) मन्त्र बोलता हुआ आग्नीध्र ऋत्विक् अध्वर्य्यु के द्वारा पूर्वाघाराहुति होने के अनन्तर अग्निसम्मार्जन करता है।

अनन्तर आहवनीय से उत्तर प्रतिष्ठित अध्वर्य्यु जुहू एवं उपभृत् को अपने आगे रखकर इनके मुख-स्थानीय पूर्व भाग की ओर **'नमो देवेभ्यः, स्वधा पितृभ्यः'** ( २।७। ) यह मन्त्र बोलता हुआ प्रणाम करता है। प्रणामानन्तर--**'सुयमे मे भूयास्तं अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं सम्भ्रियासम्'** ( ३।८। ) यह मन्त्र बोलता हुआ स्रुक्पात्रों का ग्रहण करता है। ग्रहणानन्तर उत्तराघारकर्म्म के लिए दक्षिणप्रदेश में आता हुआ—**'अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषम्'** यह मन्त्रोच्चारण कर अतिक्रमण-जनित अपराध का निह्नव करता है। अपराध के निह्नवानन्तर—**'वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं, विष्णो स्थानमसि'** यह मन्त्र बोलता हुआ आहुति देने के लिए नियत स्थान पर खड़ा होजाता है।

सर्वान्त में—**'इत इन्द्रो वीर्य्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात। अग्ने वेर्होत्रं वेदूत्यमव-त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी। स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा'** यह मन्त्र बोलता हुआ आहवनीयाग्नि में उत्तराघाराहुति हुत कर देता है। इसप्रकार यहाँ आकर उत्तराघारकर्म्म समाप्त होता है। १,२,३,४, इन चार कण्डिकाओं में इसी कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का प्रतिपादन हुआ है, जिस का सुविधा के लिए एकत्र संकलन कर दिया गया है। उत्तराघारा हुतिकर्म्मानन्तर क्या होता है ?, आगे का ब्राह्मणप्रकरण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है )—

( उपभृत् नामक स्रुक्पात्र पर जुहू नामक स्रुक्पात्र रक्खा रहता है। आहुति देते समय उपभृत् से जुहू को पृथक् कर लिया जाता है। इसी सम्बन्ध में विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है ) उत्तराघार-होमानन्तर वह अध्वर्य्यु उपभृत, तथा जुहू नामक दोनों स्रुक्पात्रों का परस्पर स्पर्श न कराता हुआ दोनों को पृथक् पृथक् रखता ( हुआ ही आहवनीय अग्नि के दक्षिण भाग से ) वापस ( आहवनीय अग्नि के पूर्वभाग में ) लौट कर ( यहाँ रक्खे हुए ध्रुवपात्र से उस जुहू को मिलाता है। ( क्यों मिलाता है ?, इस की उपपत्ति बतलाते हैं )—वागनुगत यह उत्तराघारहोम ( पूर्वकथनानुसार ) यज्ञ का मस्तक है, एवं ध्रुवापात्र आत्मा है। ( जुहू को ध्रुवा से मिलाता हुआ अध्वर्य्यु ) आत्मा में हीं ( धड़ में हीं ) शिरोभाग प्रतिष्ठित करता है। उत्तराघारहोम इस यज्ञ का शिर है, ( आत्मा का अमृताग्निलक्षण ) श्रीभाग ( 'सार'--भाग ) ही 'श्री' है। शिरोभाग निश्चयेन श्री है, अतएव जो ( जिस ) भाग का श्रेष्ठ होता है, ( उसके लिए लोक में ) **'वह अमुक भाग का शिर है'** यह कहा जाता है। इसीलिए शिर वास्तव में श्री का रूप है। जुहू को आत्मा से मिलाना आत्मा को इस शिरोरूप श्रीभाग से ही युक्त करना है, यही तात्पर्य्य है ) ॥५॥

यज्ञकर्त्ता यजमान ध्रुवापात्र को लक्ष्य बना रहा है ( यजमान ध्रुवास्थानीय है )। एवं जो इस यजमान के लिए शत्रुता करता है, वह उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है, ( अर्थात उपभृत्

यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है )। ( ऐसी स्थिति में ) यदि वह अध्वर्य्यु उपभृत्पात्र से ध्रुवा का सम्बन्ध करा देगा, तो जो यजमान के लिए शत्रुता करता है, उस यजमानशत्रु में श्री का स्थापन कर देगा। ( ऐसा न कर ) अध्वर्य्यु ( जुहू के सम्बन्ध से ) यजमान में हीं श्री का स्थापन करता है। इसीलिए ( जुहू को ही ध्रुवा से मिलाता है ॥६॥

( जुहू को ध्रुवा से मिलाने की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं )-यह अध्वर्य्यु **'सञ्ज्योतिषा ज्योतिः'** ( ध्रुवास्थित आज्यरूप ज्योति के साथ जुहूस्थित आज्यरूप ज्योति मिल जाय-२-९)यह मन्त्र बोलता हुआ जुहू को ध्रुवा से मिलाता है। (ध्रुवा, तथा जुहू, दोनों यज्ञ-पात्रों में से) एक ( ध्रुवा) पात्र में स्थित आज्य (भी) निश्चयेन ज्योति है, एवं एक (जुहू) में स्थित आज्य (भी) ज्योति है। (जूहू का ध्रुवा से सम्बन्ध कराने पर) ये दोनों आज्यज्योतियाँ परस्पर मिल जातीं हैं। इसीलिए पूर्वोक्तरूप से समञ्जन करता है ॥७॥

(उत्तराघार ऐन्द्र बनता हुआ वागनुगत है, एवं पूर्वाघार मनोऽनुगत बनता हुआ प्राजा-पत्य है। वागनुगत उत्तराघार समन्त्रक होता है, एवं मनोऽनुगत पूर्वाघार उपांशु होता है। प्राजा-पत्य पूर्वाघार क्यों होता है ?, इसकी वैज्ञानिक आख्यानके द्वारा उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि) अब यहाँ से मन, तथा वाक्, इन दोनों के (अहमहमिका-लक्षण) अहंभद्र (पारस्परिक उत्कर्ष ख्यापन ) के सम्बन्ध में कहा जाता है। मन, और वाक् दोनों अपने अपने उत्कर्ष के सम्बन्ध में विवाद करने लगते हैं ॥८॥

(इस पारस्परिक ) विवाद-प्रसङ्ग में मन कहने लगा कि, (हे वाक् !) मैं हीं तुझ से श्रेष्ठ-उत्कृष्ट-हूँ। ( इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) तू ऐसा कुछ भी नहीं बोलती (बोलसकती), जो मुझसे अधिगत न हुआ हो। (अर्थात् मेरे संकल्पितभाव का तू अनुवादमात्र ही कर सकती है)। जो कि तू (वाक्) मेरी कृतानुकरा (मानसिक संकल्प का अनुवाद मात्र करने वाली), है अतएव मेरे पीछे पीछे चलने वाली (अनुवर्त्मा) है। अतः मैं हीं तुझसे श्रेष्ठ हूँ ॥९॥

(मन के इस तर्क को सुनकर) वाक् कहने लगी, (हे मन !) मैं हीं तुझसे श्रेष्ठ हूँ। (इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) जो कुछ तू (अपनी भावना के साम्राज्य में ) जानता है (संकल्प करता है), उसे मैं हीं (दूसरों को) जनाती हूँ, सम्यगरूप से बोध कराती हूँ। (इसलिए मैं हीं तुझ से श्रेष्ठ हूँ) ॥१०॥

(मन, और वाक् का यह पारस्परिक विवाद दोनों से जब किसी निर्णय पर न पहुँचा तो) दोनों अपने अपने प्रश्न के निश्चयात्मक निर्णय के लिए प्रजापति के समीप पहुँचे। प्रजापति

ने (दोनों की युक्ति, तर्क सुनकर ) मन की श्रेष्ठता के पक्ष में हीं अपनी सम्मति प्रकट की। (और निर्णय किया कि, हे वाक् ! ) मन हीं तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ, (अतएव उत्कृष्ट ) है। तू मन के द्वारा कृत(संकल्पित मनोभाव) का अनुकरण करने वाली है, मन के पीछे पीछे ही अनुधावन करने वाली है। (लौकिक दृष्टि से भी यह सिद्ध विषय है कि) निम्न श्रेणि का व्यक्ति ही अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के किए का अनुकरण करता है, एवं उसके निर्दिष्ट पथ पर चलता है ॥११॥

(इसप्रकार प्रजापति के मुख से) पराजित कही जाती हुई वह वाक् विस्मिता बनकर दर्पशून्या (मदगलिता) बन गई, उसका अभिमान चूर-चूर होगया। [ प्रजापति से निर्णय का प्रतिशोध लेती हुई ] वह वाक् प्रजापति से कहने लगी कि, [आज से] मैं तुह्मारे लिए हव्यवहन करने वाली न बनूँ [नहीं बनूँगी], जिस मुझको कि आपने [आज मन की प्रतिस्पर्द्धा में] पराजित कहा है। [क्योंकि वाक् ने प्रजापति के लिए अहव्यवाट् बनने का निश्चय कर लिया था ] अतएव यज्ञकर्म्म में [प्रजापति-सम्बन्धी] जो भी प्राजापत्य कर्म्म किया जाता है, वह उपांशु ही होता है। क्योंकि वाक् प्रजापति के लिए अहव्यवाहना थी। [ तात्पर्य्य आख्यान का यही हुआ कि, मनोऽनुगत पूर्वाघार प्राजापत्य कर्म्म है, यहाँ वाक्-व्यापार अवरुद्ध है। अतएव पूर्वाघार उपांशु ही किया जाता है ॥१२।

[प्रजापति के निर्णय से वाक् का गर्भपात होगया, रेतस्खलन होगया। वह स्खलित वाग्रेत कहाँ गया ?, इस सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक तत्त्व का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है कि]— देवताओंनें [वाक् के उस रेतोभाग [स्खलित-वाग्रेत ] को चर्म्म में [गर्भाशयरूप चर्म्मपात्र में], अथवा जिस किसी भी (अनुरूप) पात्र में रख दिया। ( इसप्रकार चर्म्म, किंवा अन्य किसी इस अनुरूप पात्र में स्खलित वाग्रेत को प्रतिष्ठित कर ) देवता परस्पर पूँछते हैं कि, **"चर्म्म, तथा अनुरूप अन्य पात्र में रक्खा गया वाग्रेत किस अवस्था में परिणत होगया"** ?, (देवताओं के **'अत्रैव स्यात्'** इस विचार से ही कालान्तर में) चर्म्म, तथा पात्रस्थ उस वाग्रेत से 'अत्रि' उत्पन्न होगया। क्योंकि गर्भाशय में स्थित वाग्रेत से ही अत्रि का प्रादुर्भाव हुआ, अतएव सृतगर्भा रजस्वला स्त्री **'आत्रेयी'** नाम से व्यवहृत की जाती है। ऐसी (आत्रेयी) स्त्री से (काम-स्पर्शादि-लक्षण) सम्पर्क रखने वाला पुरुष पातकी बन जाता है। स्त्रीरूपात्मिका इस वाग् देवता से ही सम्पूर्ण गर्भों की स्वरूप-निष्पत्ति हुई है (होती है) ॥१३॥

चौथे अध्याय में पाँचवाँ, तथा चौथे प्रपाठक में पहिला ब्राह्मण समाप्त

आघारब्राह्मणानुगत- द्वितीय ब्राह्मण उपरत

—२—

—*—

द्विब्राह्मणात्मक-'आघारब्राह्मण' समाप्त

—*—

इति-मूलानुवादः

शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यान्तर्गत-प्रथम काण्डानुगत चतुर्थ-अध्याय-अत्र उपरत

—४—

—*—

## सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः—

सामिधेनी-कर्म्मसमाप्ति के अनन्तर 'पूर्वोत्तराघार-कर्म्म' विहित है। "**समिद्ध इति प्रागतः सर्वामिध्ममेकवर्जमनुयाजाश्चेत्**" [ का० श्रौ० सू० ३।१।११ ] इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सामिधेन्यनुवचन-कर्म्मानन्तर अनुयाजकरण-पक्ष में एक इध्मकाष्ठ बचा कर शेष सम्पूर्ण इध्म-काष्ठ आहवनीयाग्नि में डाल दिए जाते हैं, एवं यही सामिधेनी-कर्म्म की अन्तिम समाप्ति है। इस सामिधेन्यनुनवचनकर्म्म के अनन्तर कुशनिर्म्मित, अग्निप्रदीपक, व्यजनस्थानापन्न वेद (कुशा) से आहवनीयाग्नि का तीन बार प्रज्ज्वलन कर आज्यस्थाली से ध्रुवापात्र में घृत लेकर इस स्रुव से तूष्णीं आहवनीयाग्नि के उत्तर प्रदेश में दक्षिणजानु को नमाकर बैठना हुआ आहवनीयाग्नि के [illegible] प्रदेश में पूर्व की ओर झुकती हुई पूर्वाघाराहुति देता है। आहुति देते समय अपने मन ही मन में—"**ओं प्रजापतये स्वाहा, इदं प्रजापतये, न मम**" यह ध्यान करना आवश्यक है। क्योंकि यह पूर्व घाराहुति मनोऽनुगता बनती हुई प्राजापत्या है। तूष्णीं पूर्वाघाराहुति के अनन्तर वह अध्वर्यु '**स्फ्य**', तथा '**इध्मसन्नहन**' इन दोनों को आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को सौंपता हुआ उसके प्रति—"**अग्निमग्नीत् सम्मृड्ढि**" यह प्रैष करता है। [हे आग्नीध्र! क्योंकि व इस अग्नि में ज्योतिर्लक्षण उत्तराघार की समन्त्रक आहुति होने वाली है, अतएव आहवनीय अग्नि को भस्मरहित कर प्रज्ज्वलित करो, यही तात्पर्य है। अग्नि को प्रज्वलित करना हीं अग्निसम्मार्जन कर्म्म है। अध्वर्युकृत पूर्वाघार के अनन्तर क्योंकि यही कर्म्म होता है, अतः अध्वर्यु इसी के लिए पूर्वाघारमाघार्य्य प्रैष करता है। पूर्वाघारकर्म्म की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"**अनुवचनान्ते वेदेनाहवनीयं त्रिरुपवाज्य, स्रुवेण पूर्वाघारमाघार्य–आह "अग्निमग्नीत् सम्मृड्ढी"ति**" ( का० श्रौ० सू० ३।१।१२ )।

बतलाया गया है कि, पूर्वाघारकर्म्मानन्तर स्फ्य, तथा इध्मसन्नहनतृण, दोनों को आग्नीध्र के हाथ में सौंपता हुआ अध्वर्यु उसे अग्नि-सम्मार्जनकर्म्म के लिए प्रेरित करता है। अध्वर्यु के द्वारा प्रेरित आग्नीध्र अध्वर्यु के द्वारा प्रदत्त इध्मसन्नहनतृणसमूह से पूर्व की ओर से घूमकर--'**अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्ज्मि**' यह मन्त्र बोलता हुआ दक्षिण-परिधि का सम्मार्ज्जन करता है। एक बार उक्त मन्त्र से, तथा दो बार तूष्णीं, इसप्रकार दक्षिण परिधि का तीन बार सम्मार्ज्जन करता है। अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार पश्चिम परिधि का, दो बार तूष्णीं, इस प्रकार तीन बार सम्मार्जन करता है। अनन्तर उसी मन्त्र से एक बार उत्तर

परिधि का, तथा दो बार तूष्णीं, इसप्रकार तीन बार सम्मार्जन करता है। इसप्रकार पश्चिम, दक्षिण, उत्तरस्थ तीन परिधियों का एक एक बार मन्त्र से, दो-दो बार तूष्णीं, सम्भूय ६ बार सम्मार्जन करता है। इसी इध्मसम्मार्ज्जनकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**"इध्मसन्नहनैरनुपरिधि सम्मार्ष्टि—"अग्नेवाजजि" दिति त्रिस्त्रिः परिक्रामम्"** ( का० श्रौ० सू० ३।१।१३। ]

समन्त्रक परिधिसम्मार्ज्जनान्तर उत्तरस्थान में खड़ा होकर वह आग्नीध्र बिना मन्त्र-प्रयोग के आहवनीय अग्नि का तीन बार सम्मार्ज्जन करता है, जैसा कि **"तूष्णीमुपरि"** ( का० श्रौ० सू० ३।१।१४ ) सूत्र से प्रमाणित है।

इसप्रकार जब आग्नीध्र त्रिस्त्रिवार समन्त्रक परिधित्रयसम्मार्जनकर्म्म, तथा त्रिवार तूष्णीं आहवनीयाग्निसम्मार्जन कर लेता है, तो अनन्तर वह अध्वर्य्यु **"ओं नमो देवेभ्यः, ओं स्वधा पितृभ्यः"** यह बोलता हुआ जुहू, तथा उपभृत् नामक स्रुकपात्रों के पूर्वभाग में अञ्जलि-पुट रखता है ( प्रणाम करता है )। देवता, तथा पितृ-भेद से दो बार अञ्जलिपुटस्थापन होता है। इन में प्रथम देवानुगत अञ्जलिपुट स्थापन पूर्व में होता है, क्योंकि पूर्वादिक् देवताओं की है। एवं दूसरी अञ्जलि दक्षिण में होती है, क्योंकि दक्षिणादिक् पितरों की है। **"स स्रुचोत्तरमाघारमाघारयिष्यन् पूर्वेण स्रुचावञ्जलिं निदधाति"** ( शत० १।४।४।१ ) के अनुसार अञ्जलिस्थापनकर्म्म उत्तराघारकर्म्म से सम्बद्ध है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि, जिस यज्ञ-कर्म्म में उत्तराघारकर्म्म अभीष्ट है, वहीं अञ्जलिस्थापन कर्म्म होता है। एवं जहाँ उत्तराघारकर्म्म अविविक्षित है, वहाँ अञ्जलिस्थापन भी अविविक्षित है। इसी अञ्जलिनिधानकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—

**"अपरमाहवनीयादञ्जलिं करोति 'नमो देवेभ्यः',–'स्वधा पितृभ्यः'–इति दक्षिणत उत्तानम्"** [ का० श्रौ० सू० ३।१।१५। ]।

देवताओं के लिए पुटाञ्जलि की जाती है, उस समय अध्वर्य्यु यज्ञोपवती रहता है, एवं पितरों के लिए सव्यभाव में परिणत होकर पुटाञ्जलि करता है। इस के अनन्तर ही देवकर्म्मात्मक उत्तराधार के लिए जुहूपभृत् का ग्रहण होने वाला है। इस से पूर्वकृत पितृ-सम्बन्धी पुटाञ्जलि के व्यवच्छेद के लिए अध्वर्य्यु आचमन करता है। पुनः यज्ञोपवीतीभाव में आकर पहिले आचमन करता है। अनन्तर—**"सुयमे मे भूयास्तमस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं संभ्रियासम्"** यह मन्त्र बोलता हुआ अपने दहिने हाथ में आज्यपूर्ण जुहूपभृत् को लेकर—

"अङ्ग्रिणा विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम्" यह मन्त्र बोलता हुआ आघारदान-प्रदेशरूप आहवनीय के दक्षिण भाग में आजाता है। सभी होमकर्म्मों के लिए अध्वर्य्यु परिधि के पश्चिम भाग से नियत 'सञ्चर' मार्ग के द्वारा गमन करता है। साथ ही यागप्रदेश में सञ्चरमार्ग से पहिले वामपाद से गमन आरम्भ करता है, एवं यागानन्तर वापस लौटता हुआ पहिले दक्षिणपाद से आगमन आरम्भ करता है। इसप्रकार आहवनीय के दक्षिण भाग में पहुँच कर यह अध्वर्य्यु—"वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसि" यह मन्त्र बोलता हुआ आहुति देने के लिए सावधानी से खड़ा होजाता है। निम्न लिखित सूत्र उत्तराघारसम्बन्धिनी इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

"अप उपस्पृश्य "सुयमे म" इति जुहूपभृतावादायोत्तरां जुहूं कृत्वा दक्षिणाऽतिक्राम "त्यङ्घ्रिणा विष्ण" विति" ( का० ३।१।१६ )।

"परिधीनपरेण सञ्चरो होष्यतः" ( का० ३।१।१७। )।

"सव्येनेतो, दक्षिणेनामुतः" ( का० ३।१।१८। )।

"वसुमती" मिन्यवस्थाय" ( का० ३।१।१६। ]।

## इति कात्यायनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्याये प्रथमा कण्डिका (३।१)

नियत सञ्चारमार्ग से आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग में आकर खड़ा होकर वह अध्वर्य्यु—'इत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात्। अग्ने वेर्होत्रं वेदूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवीऽअव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्रऽआज्येन हविषाभूत् स्वाहा" यह मन्त्र बोलता हुआ स्वाहान्त में जुहूस्थित आज्य की जुहू से आहवनीयाग्नि में आहुति देता है। यही उत्तराघाराहुति है, जिसका निम्न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"इत इन्द्र" इति जुहोत्युत्तराघारम्" [ का० श्रौ० सू० ३।२।१। ]

उत्तराघार--सम्पादनानन्तर वह अध्वर्य्यु आहुतिसाधक जुहू को उपभृत् से न मिलाता हुआ ही वापस उस स्थान से पश्चिम की ओर लौट आता है। वहाँ आकर नियत स्थान पर रक्खे हुए आज्यपूर्ण ध्रुवापात्र में जुहूस्थित शेष आज्य को "सञ्ज्योतिषा ज्योतिर्गच्छताम्" यह मन्त्र बोलता हुआ डाल देता है। यही उत्तराघारकर्म्म की अन्तिम इतिकर्त्तव्यता है, जिस का निम्न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"आघारार्यसंस्पर्शयन् स्रुचावेत्य जुह्वा ध्रुवां समनक्ति—"सञ्ज्योतिषे" ति" [ का० श्रौ० सू० ३।२।२। ]।

## इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

——— * ———

# वैज्ञानिविवेचना—

## १ – आघारकर्म्मोपपत्तिः

(भाष्य) पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित सामिधेन्यनुवचनकर्म्म से आहवनीय इद्ध अग्नि का होता के द्वारा समिन्धन होगया है। इस समिन्धनकर्म्म से यह आहवनीय लौकिक इद्ध अग्नि समिद्ध बनता हुआ अलौकिक दिव्याग्नि बन गया है। आहुतिलक्षण यज्ञकर्म्म से यजमान के आध्यात्मिक देवताओं का आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ ग्रन्थ–बन्धन–सम्बन्ध अभीष्ट है। आहुतिद्रव्य में **'यावद्वित्तं तावदात्मा'** सिद्धान्त के अनुसार यजमान का मनःप्राणवाङ्मय आत्मा प्रविष्ट है। आहुतिप्रविष्ट यजमानात्मा दिव्य-देवप्राणयुक्त आहवनीय अग्नि के द्वारा दिव्यदेवताओं के साथ अवश्य ही युक्त होजाता है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए आहवनीयाग्नि का सामिधेन्यनुवचन से समिन्धन किया जाता है। बिना दिव्य प्राणाग्नि-प्रवेश के आहवनीय अग्नि लौकिकाग्निवत् सामान्य अग्नि है। इसमें आहुति देना लौकिक भूताग्नि में हीं आहुति देना है। एवं ऐसे आहुतिकर्म्म से दिव्यलोकावाप्तिफलरूप यज्ञातिशय की प्राप्ति असम्भव है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होजाता है कि, आहुति–कर्म्म से पहिले इस लौकिक अग्नि को किसी वैज्ञानिक प्रक्रियाविशेष से दिव्यप्राणाग्नि से युक्त कर दिव्याग्नि बना लिया जाय। वही वैज्ञानिक–प्रक्रिया सुप्रसिद्ध **'सामिधेन्यनुवचनकर्म्म'** है, जिसका पूर्वविवेचना–प्रकरण में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है। उस कर्म्म से आहवनीय अग्नि दिव्यदेवप्राणयुक्त बन जाता है। अब इसमें जो आहुति दी जायगी, वह अवश्य ही द्युलोकस्थ देवताओं की भोग्या बनेगी। एवं आहुति के द्वारा आहुतिद्रव्य में प्रविष्ट यजमान का आत्मा भी अवश्य ही दिव्यभाव–प्राप्ति का अधिकारी बन जायगा। पूर्वब्राह्मणोक्त सामिधेन्यनुवचन-कर्म्म की इसी उक्त उपपत्ति का सिंहावलोकन–न्यायेन स्मरण कराती हुई श्रुति कहती है—

**"तं वा एतमग्निं समैन्धिषत ( सामिधेन्यनुचनकर्मणा समैन्धिषत ) 'समिद्धे देवेभ्यो जुहवाम' इति"**

सामिधेन्यनुवचनकर्म्म से आज यह आहवनीय अग्नि दिव्यप्राणयुक्त बनता हुआ देवाहुति-ग्रहण-योग्य बन गया है। अब इस में अध्वर्यु नामक ऋत्विक् नियत **इष्टिदेवता [ आवापदेवता, प्रधानदेवता ]** के लिए आहुति प्रदान करेगा। परन्तु इस प्रधानाहुतिरूप प्रधानदेवतायाग से पहिले इस समिद्ध अग्नि में **पूर्वाघार, उत्तराघार,** नाम की दो मुख्य आहुतियाँ और दी जाती हैं। इनमें **पूर्वाघाराहुति से मन की स्वरूप–निष्पत्ति होती है, एवं उत्तराघाराहुति से वाक् की स्वरूप–निष्पत्ति होती है।** मनो–वाक् के स्वरूप–निष्पादन की प्रकृत यज्ञ–कर्म्म में आवश्यकता क्यों हुई ?, अगला प्रकरण इसी प्रश्न की वैज्ञानिक उपपत्ति बतलाने के लिए प्रवृत्त होरहा है।

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री–सम्पत् से युक्त–चतुर्विंशत [ २४ ] स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप–सम्पत् से युक्त चतुश्चत्वारिंशत् ( ४४ ) स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष-लोक, एवं अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगतीसम्पत् से युक्त–अष्टाचत्वारिंशत् ( ४८ ) स्तोमावच्छिन्न

द्यु लोक, इन तीनों लोकों की समष्टिरूपा, भूकेन्द्र से आरम्भ कर पारावतपृष्ठान्ता, ४८ व अङ्गर्ण पर्य्यन्त व्याप्ता, शाक्करसामानुगता, त्रैलोक्यरूपा, अमृतलक्षण-वाक्शुक्रानुगता, द्यु लोकात्मिका, वाङ्मयी महा-पृथिवी ही पार्थिध जगत् का तीसरा विवर्त्त है ।

त्रयस्त्रिंशत् ( ३३ ] अहर्गणात्मक द्यु लोक, द्वाविंश [२२] अहर्गणात्मक अन्तरिक्षलोक, एवं एकादश [ ११ ] अर्गणात्मक पृथिवीलोक, इन तीनों लोकों की समष्टिरूपा, भूकेन्द्र से आरम्भ कर आप्यपृष्ठान्ता, ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्ता, वैरूपसामानुगता, त्रैलोक्यरूपा, अमृत-लक्षण-आप:-शुक्रानुगता, अन्तरिक्षलोकात्मिका, आपोमयी पृथिवी ही पार्थिव-जगत् का दूसरा विवर्त्त है ।

एकविंश [ २१ ] अहर्गणात्मक द्यु लोक, पञ्चदश [ १५ ) अहर्गणात्मक अन्तरिक्षलोक, एवं त्रिवृत् [ ९ ] अहर्गणात्मक पृथिवीलोक, इन तीनों लोकों की समष्टिरूपा, भूकेन्द्र से आरम्भ कर आग्नेयपृष्ठान्ता, २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्ता, रथन्तरसामानुगता, त्रैलोक्यरूपा, अमृतलक्षण-अग्नि: शुक्रानुगता, पृथिवीलोकात्मिका, अग्निमयी ( अग्निसोममयी ) पृथिवी ही पार्थिवजगत् का पहिला विवर्त्त है ।

अष्टाचत्त्वारिंशत्(४८) स्तोमावच्छिन्ना वाङ्मयी पृथिवी 'विश्वम्भरा' कहलाई है, त्रयस्त्रिंशत् [३३] स्तोमावच्छिन्ना आपोमयी पृथिवी 'सागराम्बरा' कहलाई है, एवं एकविंश (२१) स्तोमावाच्छिन्ना अग्निमया पृथिवी 'अदिति' कहलाई है। त्रैलोक्यात्मिका अदिति पृथिवी 'पृथिवीलोक' है, त्रैलोक्यात्मिका सागराम्बरा पृथिवी 'अन्तरिक्षलोक' है, एवं त्रैलोक्यात्मिका विश्वम्भरा पृथिवी 'द्यु लोक' है । इस त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूपा नवलोकात्मिका' महिमा पृथिवी का वितान भूपिण्ड के केन्द्र से हुआ है । भूकेन्द्रावच्छिन्न भूपिण्ड 'भू:' है, एवं त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप महिमामण्डल 'पृथिवी' है । इस महिमा-पृथिवी के पृथिवी-लोकस्थानीय, एकविंशस्तोमावच्छिन्न, अदिति नामक, त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-भेद से त्रैलोकक्यात्मक पार्थिव विवर्त्त का ही प्रकृतयज्ञ कर्म्म से सम्बन्ध है, जैसा कि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है ।

## पार्थिवविवर्त्तपरिलेखः—

| | | | |
|---|---|---|---|
| | (६)—३–जागतस्तोमः (४८)–द्यौः (३) | | |
| (३) | (८)—२–त्रैष्टुभस्तोमः (४४)–अन्तरिक्षम् (३) | -३ वाङ्मयी पृथिवी [शाक्करसाम] | विश्वम्भरा पृथिवी-'द्यौः' |
| | (७)—१–गायत्रस्तोमः (२४)-पृथिवी | | |
| | (६)—३–त्रयस्त्रिंशत्स्तोमः (३३) द्यौः (२) | | |
| (२) | (५)—२–द्वाविंशस्तोमः २२) अन्तरिक्षम् (२) | –२आपोमयी पृथिवी [वैरूपंसाम] | –सागराम्बरा पृथिवी 'अन्तरिक्षम्' |
| | (४) १–एकादशस्तोमः (११) पृथिवी (२) | | |
| | (३)—३-एकविंशस्तोमः (२१) द्यौः (१) | | |
| (१) | (२)—२–पञ्चदशस्तोमः (१५) अन्तरिक्षम् (१) | –१अग्निमयी पृथिवी [रथन्तरंसाम | अदितिः पृथिवी 'पृथिवी' |
| | (१)—१-त्रिवृत्स्तोमः (९) पृथिवी (१) | | |

उक्त तीनों–पार्थिव विवर्त्तों में से रथन्तरसामामानुगत, अदितिलक्षण प्रथम पार्थिव विवर्त्त की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त अग्निःशुक्र के आधार पर क्रमशः **त्रिवृत्** [९], **पञ्चदश** [१५], **एकविंश** [२१], ये तीन अयुग्मस्तोम प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों अयुग्मस्तोमों में क्रमशः **अग्नि, वायु, इन्द्र,** ये तीन प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। तीनों के विभूतिभाव आगे जाकर ८,११,१२, क्रम से ३१ संख्या में परिणत होजाते हैं, २ सान्ध्य प्राणों के संकलन से अदिति के गर्भ में ३३ प्राणदेवदेवताओं की सत्ता सिद्ध होजाती है। ये ही यज्ञिय देवदेवता कहलाए हैं। आहवनीयाग्निसमिन्धनकर्म्म से इन्हीं यज्ञिय प्राणदेवताओं का संग्रह हुआ है।

ये ३३ सों यज्ञिय देवता स्वयं प्राणात्मक हैं। **मन,** तथा वाक्, ये दोनों तत्त्व इन प्राणात्मक दोनों की मूलप्रतिष्ठा हैं। जिसप्रकार एक पात्र में जल भरा रहता है, एवमेत्र मनोमय वाग्रूप पात्र में प्राणरूप देवता प्रतिष्ठित हैं। **मनोवाग्रूपपात्र वयोनाध है, छन्द है। प्राणरूप देवता वय है। एवं वय–वयोनाध की समष्टि ही 'वयुनम्' है।** यही–मनः-प्राण-वाङ्मयी देवसम्पत् है, जिनका प्रकृत इष्टिकर्म्म के द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान अपने **मनः--प्राण--वाङ्मय आत्मा** के साथ योग करना चाहता है।

भूकेन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित है, यही **हृद्य अन्तर्य्यामी अनिरुक्त प्रजापति** कहलाया है। यही प्रजापति **भूपिण्ड, पृथिवी** भेद–भिन्न **पार्थिवजगत्** की मूलप्रतिष्ठा है। इस हृद्य प्रजापति की **प्राण--वाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्त** प्रजापति, **मनो--वाग्गर्भित** प्राणमय उद्गीथप्रजापति, एवं **मनः प्राणगर्भित वाङ्मय सर्वप्रजापति,** इस रूप से तीन अवस्था होजातीं हैं। भूकेन्द्र में आत्मप्रजापति की

प्राण, तथा वाक्, ये दोनों कलाएँ उन्मुग्ध रहतीं हैं, मनःकला उद्बुद्ध रहती है। अतएव **"हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"** ( यजुःसं० ३४।६ ) इत्यादि रूप से मन को भी हृत्प्रतिष्ठ मान लिया जाता है।

हृत्पृष्ठ से आरम्भ कर १७ वें अहर्गण पर्य्यन्त आग्नेय प्राण का प्राधान्य रहता है। इसमें भी १७ वाँ अहर्गण मुख्य माना गया है। कारण यही है कि, ३३ अहर्गणात्मक सागराम्बरा-लक्षण पार्थिव-विवर्त्त के १६-१६ भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। हृत्पृष्ठ से आरम्भ कर १६ पर्य्यन्त अग्नितत्त्व का, तथा १८ से आरम्भ कर ३३ पर्य्यन्त [ १८ से २७ पर्य्यन्त भास्वरसोम का, तथा २८ से ३३ पर्य्यन्त दिक्सोम का, इसप्रकार द्विविध] सोम का साम्राज्य रहता है। इन अग्नि-सोम-मण्डलों का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण पड़ता है। १७ से नीचे-नीचे अग्नि है, १७ से ऊपर-ऊपर सोम है। १७ वें स्थान में दोनों का समन्वय होता है, अतएव सप्तदशस्थान **'आह्वनीय'** कहलाया है। सोमाहुति के सम्बन्ध से प्रज्ज्वलित अग्नि २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त होजाता है। अतएव भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त अग्नीषोमात्मक यज्ञ की व्याप्ति मानली गई है। वक्तव्य यही है कि, हृत्पृष्ठ से १७ पर्य्यन्त आत्मप्रजापति की **'प्राणकला'** का प्राधान्य है, जिस की विकासभूमि स्वयं १७ वाँ अहर्गण है। मन, तथा वाक, दोनों यहाँ उन्मुग्ध हैं, प्राण उद्बुद्ध है। यही दूसरा **'प्राणप्रधान उद्गीथप्रजापति'**-विवर्त्त है।

हृत्पृष्ठ से आरम्भ कर २१ पर्य्यन्त व्याप्त रथन्तरसामसीमावच्छिन्न मण्डल में **'वागग्नि'** का प्राधान्य है। यहाँ मन, तथा प्राण, दोनों उन्मुग्ध हैं, एवं आत्मप्रजापति की वाक्कला उद्बुद्ध है। यही मनःप्राण-वाग्गर्भित **वाङ्मय सर्व्वप्रजापति** है। यही यज्ञमण्डल की अन्तिम सीमा है। इसी के गर्भ में अग्नीषो-मात्मक यज्ञ, तथा यज्ञिय ३३ देवता प्रतिष्ठित हैं। रथन्तसीमा यज्ञ की परिधि है, उपसंहारस्थान है, उद्दचस्थान है। भूकेन्द्र यज्ञ का उपक्रम स्थान है। भूकेन्द्रावच्छिन्न प्राणवाग्गर्भित मनोमय **'अनिरुक्तप्रजापति'**, तथा रथन्तरलक्षण परिध्यवच्छिन्न मनःप्राणगर्भित वाङ्मय **'सर्व्वप्रजापति'**, दोनों के मध्य में आग्नेय-सौम्य-प्राणोभयमूर्त्ति, मनोवाग्गर्भित यज्ञात्मक **'उद्गीथ-प्रजापति'** प्रतिष्ठित है। इसी स्थिति का यों भी अभिनय किया जासकता है कि, यज्ञमण्डल का इस ओर का आधार मन है, उस ओर का आधार वाक् है, एवं मध्य में प्राणमय यज्ञ, किंवा प्राणात्मक यज्ञिय देवता प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिव द्रव्याहुति मनोवाक् के द्वारा ही प्राणात्मक यज्ञिय देववर्ग की तृप्ति का कारण बनती है। इसप्रकार नित्य प्राकृतिक यज्ञ में **भूकेन्द्र, यज्ञमण्डलकेन्द्र, यज्ञपरिधि**, भेद से **मन, प्राण, वाक्**, तीनों ह्या प्राजापत्या-आत्मकलाओं का उपभोग होरहा है, जैसा कि परिलेख से गतार्थ है—

३—एकविंशस्तोमावच्छिन्नं रथन्तरंसाम—[ २१ ] मनःप्राणगर्भितवाङ्मयः **'सर्वप्रजापतिः'**

२—सप्तदशस्तोमावच्छिन्नं मण्डलं-हृदयम्-[ १७ ] मनोवाग्गर्भितः प्राणमयः **'उद्गीथप्रजापतिः'**

१—भूकेन्द्रः —[ * ] प्राणवाग्गर्भितो मनोमयः **'अनिरुक्तप्रजापतिः'**

---

३—सर्वप्रजापतिर्वाङ्मयः —वाक्
२—उद्गीथप्रजापतिः प्राणमयः—प्राणः } मनःप्राणवाङ्मया यज्ञिया देवाः
१—अनिरुक्तप्रजापतिर्मनोमयः——मनः

——*——

हृदयावच्छिन्नं मनः—अनिरुक्तम्
मध्यावच्छिन्नः प्राणः—निरुक्तानिरुक्तः } पार्थिवयज्ञः प्राकृतिको नित्यः
परिध्यवच्छिन्ना वाक्—निरुक्ता

——*——

मनःप्राणवाङ्मय, उक्त लक्षण, प्राकृतिक, 'नित्य, देवयज्ञ' के आधार पर ही ब्राह्मणग्रन्थोक्त पुरुषप्रयत्नसाध्य **'मानुष वैध यज्ञ'** का वितान हुआ है। प्राकृतिक यज्ञ में मन, तथा वाक् के आधार पर ही प्राणात्मक यज्ञिय देवताओं में पार्थिव रसाहुति भुक्त होती है। अतएव—**'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि'** निगमानुसार इस वैध-मानुषयज्ञ में भी ( यज्ञात्मक-आहवनीयाग्नि में भी ) मनः-प्राण-वाक, तीनों कलाओं का समन्वय आवश्यकरूप से अपेक्षित होजाता है। बिना तीनों के समन्वय के आहवनीय समिद्धाग्नि प्राजापत्यसम्पत् से सर्वथा वञ्चित है। एवं बिना प्राजापत्यसम्पत् के यज्ञसम्पत्सिद्धि असम्भव है।

मनःप्राणवाङ्मय प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही वितत इस यज्ञ में देवयजन से पहिले मनःप्राणवाक् सम्पत्ति अपेक्षित है, यही निष्कर्ष है। इसी सम्बन्ध में एक रहस्य का विश्लेषण और। अधिदैवत का अधिभूत के द्वारा यजमान के आध्यात्मिक यज्ञात्मा का प्राकृतिक उक्त लक्षण आधिदैविक यज्ञात्मा से सम्बन्ध कर देना हीं यज्ञनिष्कर्ष है। अधिदैवतयज्ञ पूर्वकथनानुसार स्वस्वरूप से मनःप्राणवाङ्मय है, एवमेव अध्यात्मयज्ञ भी स्वस्वरूप से मनःप्राणवाङ्मय है। शेष रह जाता है वितायमान, आहवनीयाग्निलक्षण अधिभूतयज्ञ। इसे जबतक मनःप्राणवाङ्मय नहीं बना दिया जाता, तबतक इस का माध्यम निष्फल है। अधिभूतयज्ञ उसी अवस्था में मनःप्राणवाङ्मय अध्यात्मयज्ञ [ यजमानात्पा ] का मनःप्राणवाङ्मय अधिदैवत यज्ञ से सम्बन्ध करा सकता है, दूसरे शब्दों में अधिभूतयज्ञलक्षण आहवनीय अग्नि पें प्रदत्त आहुति का तभी अधिदैवत यज्ञात्मक दिव्य देवताओं के साथ सम्बन्ध होसकता है, जब कि इस आहवनीयाग्निरूप अधिभूतयज्ञ को भी किसी वैज्ञानिक-प्रक्रिया-विशेष से मनःप्राणवाङ्मय बना दिया जाय। इस के मनःप्राणवाङ्मय बनाने से आहुतिद्रव्य के द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ के मनः-प्राणः-वाक्-पर्व इस अधिभूतयज्ञ में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रविष्ट होजायँगे। आहुति का अधिदैत से सम्बन्ध होना अनिवार्य्य होगा। इसप्रकार अधिभूतयज्ञ के द्वारा परम्परया यजमानात्मा का दिव्यातिशय से अन्तर्य्याम सम्बन्ध होजायगा।

अब इस सम्बन्ध में दो कर्त्तव्य हमारे सामने उपस्थित होते हैं। आधिभौतिक लक्षण इस आहवनीयाग्नि में मनःप्राणवाक् का सम्बन्ध करा देना, एक कर्त्तव्य है। एव इस मनःप्राणवाङ्मय आधिभौतिक यज्ञ

के साथ आध्यात्मिक यज्ञ [ यजमानात्मा ] के मनः–प्राण–वाक्–पर्वों का सम्बन्ध करा देना, दूसरा कर्त्तव्य है। पहिले कर्त्तव्य की पूर्त्ति **होता**, तथा **अध्वर्य्यु** पर निर्भर है, तथा इस दूसरे कर्त्तव्य की पूर्त्ति **'अध्वर्य्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा'** इन चारों ऋत्विजों पर निर्भर है। भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त वितत वाक्तत्त्व क्रमशः त्रिवृद्-वच्छिन्न [ ९ ] अग्निमय पार्थिव ऋग्वेद, पञ्चदशावच्छिन्न [ १५ ] वायुमय यजुर्वेद, एकविंशावच्छिन्न [२१] आदित्यमय सामवेद, इन तीन अग्निवेदों के सम्बन्ध से पद्यात्मिका वाक्, गद्यात्मिका वाक्, गेयात्मिका वाक् के भेद से तीन स्वरूपों में परिणत होरहा है। पद्यात्मिका वाक् ऋक् है, गद्यात्मिका वाक् यजुः है, एवं गेयात्मिका वाक् साम है।

पद्यात्मिका **ऋग्वाक्** का सम्पादन **'होता'** नामक ऋत्विक् करता है, यही इस का **'शस्त्रकर्म्म'** नामक **'हौत्रकर्म्म'** कहलाया है। **गद्यात्मिका यजुर्वाक्** का सम्पादन **अध्वर्य्यु** नामक ऋत्विक् करता है। यही इस का **'ग्रहकर्म्म'** नामक **'आध्वर्य्यव'** कर्म्म कहलाया है। **'गेयात्मिका सामवाक्'** का सम्पादन **उद्गाता** नामक ऋत्विक् करता है, यही इस का **'स्तोत्रकर्म्म'** नामक **'औद्गात्रकर्म्म'** कहलाया है। इस–प्रकार शस्त्रकर्म्माधिष्ठाता ऋग्वेदी होता के **शस्त्रकर्म्म** से, ग्रहकर्म्माधिष्ठाता यजुर्वेदी अध्वर्य्यु के **ग्रहकर्म्म** से, तथा स्तोत्रकर्म्माधिष्ठाता सामवेदी उद्गाता के **स्तोत्रकर्म्म** से यजमानात्मा के त्रिविध वाक्पर्वों का इस आधिभौतिक यज्ञ के वाक्पर्वों के साथ सम्बन्ध होजाता है। त्रैविद्य **'ब्रह्मा'** नामक ऋत्विक् अपने **ब्राह्मव्यापार से** यजमानात्मा के **मनःपर्व** का सम्पादन करता है। शेष रहता है **'प्राण'** पर्व। अध्वर्य्युकृत **याज्याकर्म्म से** [ आहुतिकर्म से ] इस प्राणपर्व का आधान होजाता है। **इसप्रकार** अध्वर्य्युकृत प्राणव्यापार, होता—अध्वर्य्यु–उद्गाता–कृत वाग्व्यापार, तथा ब्रह्माकृत **मनोव्यापार,** तीनों व्यापारों से आधिभौतिक यज्ञ के साथ यजमानात्मा के तीनों आत्मपर्वों का सम्बन्ध होजाता है। और यों प्रथम कर्त्तव्य की पूर्त्ति होजाती है।

१ – ब्रह्मा—मनस्तत्त्वसम्पादकः—ब्राह्मकर्म्मणा [ मनः ] ३
२—अध्वर्य्युः–प्राणतत्त्वसम्पादकः—याज्याकर्म्मणा [ प्राणः ] २
३—उद्गाता—सामवाक्सम्पादकः- स्तोत्रकर्म्मणा [ वाक् ]
४—अध्वर्य्युः—यजुर्वाक्सम्पादकः—ग्रहकर्म्मणा [ वाक् ] -[वाक्] १
५—होता—ऋग्वाक्सम्पादकः – शस्त्रकर्म्मणा [ वाक् ]

तदित्थं यजमानात्मकलाभावानां मनःप्राणवाङ्मयानां–आधि-भौतिकयज्ञाग्नौ सम्बन्धः ।

आधिभौतिक यज्ञाग्नि में मनः-प्राण-वाक्-सम्पत्ति का समावेश आवश्यक है। पूर्वोत्तराघारकर्म्म से पहले 'होता' नामक ऋत्विक् के द्वारा सामिधेन्यनुवचन–कर्म्म होता है, जैसा कि प्रकरणारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है। लौकिक भूताग्नि में मन्त्रशक्ति से युक्त इध्माभ्याधान के द्वारा दिव्य प्राणतत्त्व का आधान करना हीं इस सामिधेन्यनुवचनकर्म्म का एकमात्र फल है। इसप्रकार होतृकर्त्तृक सामिधेनी–कर्म्म से यह अधिभूत-यज्ञ प्राणसम्पत्ति से युक्त होजाता है। इस प्राणसम्पत्ति का मनोवाक् से सम्बन्ध सूचित करने के लिए ही प्रकृत आघारब्राह्मण के आरम्भ में प्रथम प्रथम—"तं **वा एतमग्नि समैन्धिषत । समिद्धे देवेभ्यो जुहवाम'** ( शत० १।४।४।१। ) यह कहा गया है। इस सिंहावलोकन से श्रुति सङ्केत कर रही है कि, आधिभौतिक

यज्ञाग्नि में पूर्व के सामिधेनी-कर्म्म से प्राणपर्व का तो आधान होगया। अब पूर्वोत्तराघारकर्म्मद्वयी से इस प्राणात्मक आहवनीयाग्नियज्ञ में मनो--वाक् पर्वों का आधान बतलाया जाता है। होतृकृत प्राणाधानलक्षण सामिधेन्यनु-वचन--कर्म्मानन्तर अध्वर्य्यु नामक ऋत्विक् स्रुवपात्र से पूर्वाघारकर्म्म का, तथा स्रुकपात्रद्वयी से उत्तराघार-कर्म्म का सम्पादन करता है। **पूर्वाघार मनःपर्व का संग्राहक है एवं उत्तराघार वाक् पर्व का संग्राहक है।** इसप्रकार समिन्धन--कर्म्म से प्राणयुक्त, पूर्वाघारकर्म्म से मनोयुक्त, एवं उत्तराघार से वागयुक्त, सम्भूय तीनों कर्म्मों से मनः-प्राण--वाङ्मय बनता हुआ आहवनीयाग्निलक्षण आधिभौतिक यज्ञ आध्यात्मिक--यज्ञलक्षण यजमानात्मा के मनः- प्राण--वाक्-पर्वों से ( आहुति के द्वारा ) युक्त होता हुआ आधिभौतिक-यज्ञाग्निपर्वों से सम्बद्ध आधिदैविक यज्ञ के मनः--प्राण-वाक्-पर्वों से अन्तर्य्यामात्मक समन्वय-सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है।

केन्द्रावच्छिन्न मनःपर्व ( प्राणवागगर्भित मनोमय अनिरुक्त प्रजापति ) हृदयावच्छेदेन पूर्वभावी है, एवं रथन्तरसामावच्छिन्न वाक्--पर्व ( मनःप्राणगर्भित वाङ्मय निरुक्त प्रजापति ) परिध्यवच्छेदेन उत्तरभावी है। मनःसम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाला आघार पर्वभावी है, एवं वाक्सम्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाला आघार-उत्तरभावी है। इस पूर्व, तथा उत्तरभाव से ही यज्ञाग्नि में पूर्वभावी मनःपर्व का, तथा उत्तरभावी वाक्पर्व का आधान होरहा है। मनोऽनुगत आघार पूर्वाघार क्यों कहलाया ?, वागनुगत आघार उत्तराघार क्यों कहलाया ?, पूर्वाघार पहिले, एवं उत्तराघार पीछे क्यों किया जाता है ?, समिन्धनानन्तर पूर्वोत्तराघारकर्म्मद्वयी क्यों आवश्यक है ?, इसके द्वारा मनोवाक्-सम्पत्तिसंग्रह क्यों अपेक्षित है ?, इत्यादि आघारकर्म्म--सम्बन्धी प्रश्नों की इसी उक्त उपपत्ति का प्रथम कण्डिकाशेष में स्पष्टीकरण हुआ है।

**१—"अग्निं समैन्धिषत"—प्राणसंग्रहः—सामिधेन्यनुवचनकर्म्मणा।**

**२—"मनसे चैव" —मनःसंग्रहः—पूर्वाघारकर्म्मणा।**

**३—"वाचे च" —वाक्संग्रहः—उत्तराघारकर्म्मणा।**

१

--★--

पूर्वाघारकर्म्म उपांशुरूप से किया जाता है, एवं उत्तराघारकर्म्म वागुच्चारण [मन्त्रोच्चारण] पूर्वक किया जाता है। हृदयस्थ पूर्वभावी मन उपांशु है। मन का स्वरूप हृदयावच्छेदेन सर्वथा अव्यक्त है। अतएव न तो हृदयावच्छिन्न मन का ही पराङ्मुख इन्द्रियों से साक्षात्कार किया जासकता, एवं न मानस--व्यापार [भावना--वासनात्मक मानस संकल्प] का ही अन्य व्यक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष किया जासकता। यही मन का उपांशुधर्म्मत्त्व है। क्योंकि मन उपांशु है, अतएव तत्--सम्पत्तिसंग्राहक पूर्वाघारकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का भी उपांशु ही सम्पादन होना चाहिए। इस समानधर्म्म के सम्बन्ध से उपांशुरूपेण कृत पूर्वाघारकर्म्म से आहवनीयाग्नि में अवश्यमेव मनःपर्व का आधान होजाता है, एवं यह आहित मन उपांशुरूप से ही द्युलोकस्थ प्राणदेवों के लिए आहुति--द्रव्यप्रापक बन जाता है। रथन्तरसामात्मिका परिधिस्था उत्तरभाविनी वाक् निरुक्ता है। वाक्

का स्वरूप सर्वथा व्यक्त है। अतएव वागव्यापार का अन्य इन्द्रिय [श्रोत्रेन्द्रिय] से भी प्रत्यक्ष होजाता है, एवं अन्य व्यक्ति भी इसका साक्षात्कार कर लेते हैं। इन्द्रियत्वातिरिक्त पञ्चभूतरूप से भी वाग्विवर्त्त प्रत्यक्ष का विषय बनता हुआ व्यक्त बन रहा है।

क्योंकि वाक् निरुक्ता है, अतएव तत्सम्पत्तिसंग्राहक कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता भी वागुच्चारणपूर्वक ही सम्पादित होती है। इस समानधर्म्म के सम्बन्ध से वाग्रूपेण कृत उत्तराघारकर्म्म से आहवनीयाग्नि में अवश्यमेव वाक्पर्व का आधान होजाता है, एवं यह आहित वाक् वाग्रूप से [वषट्काररूप से] ही द्युलोकस्थ प्राणदेवताओं के लिए आहुतिद्रव्य--प्रापिका बन जाती है। इसप्रकार उपांशुरूप से पूर्वाघार, तथा वाग्रूप से उत्तराघार करता हुआ भी अध्वर्यु आहवनीयाग्नि में मनोवाक् पर्वों का ही आधान कर रहा है। इन दोनों क्रमिक आघारों से आधिभौतिक यज्ञ के मनोवाक्पर्व तृप्त होजाते हैं [ सर्वाङ्गीण बन जाते हैं। ] सर्वाङ्गीण बनकर ये दोनों पर्व प्राणात्मक यज्ञाग्नि के आधारपात्र [ वर्त्तनी ] बनते हुए निश्चयेन द्युलोकस्थ प्राणदेवों के लिए आहुतिप्रापक बन जाते हैं। तात्पर्य्य उपपत्ति का यही है कि, देवतृप्ति का साधन आहुतिप्राप्ति है, एवं आहुतिप्राप्ति का साधन मनोवाक्पर्वों की सर्वाङ्गीणलक्षणा तृप्ति है। इस तृप्तिभावप्राप्ति के लिए भी आघारद्वयानुष्ठान आवश्यक है। मनोवाक् पर्व कैसे, किस रूप से प्राणदेवों के लिए यज्ञवहन करते हैं ?, प्रकृत द्वितीय कण्डिका से इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान हुआ है ॥ २ ॥

काममय विश्व में **पुरुष**, तथा **स्त्री**, इन दोनों का सहयोग अपेक्षित है। यद्यपि पुरुष भी काममय है, स्त्री भी काममयी ही है, तथापि प्रधानता पुरुष की ही मानी गई है। पुरुष '**स्व**' तन्त्र में प्रतिष्ठित है, एव स्त्री '**पुरुषतन्त्र**' की अनुगामिनी है। पुरुषकाम ही स्त्रीकाम है। दूसरे शब्दों में स्त्री कृतानुकरा है, अनुगामिनी है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार कामनामय मन को हम पुरुष कह सकते हैं, एवं कामनामय मन के संकल्पानुसार स्वव्यापार के सञ्चालन में समर्थ होने वाली वाक् को '**स्त्री**' कहा जासकता है। पुरुषानुगत प्राण '**वृषा**' कहलाया है, स्त्र्यनुगत प्राण '**योषा**' कहलाया है। अनुधावन करने वाला पुरुषप्राण ही वृषा है, एवं जिस के प्रति वृषाप्राण का अनुधावन होता है, वही योषा है। इस दृष्टि से भी मन वृषा है, एवं वाक् योषा है। वाक् का मन की ओर अनुधावन नहीं है, अपितु संकल्परूप से मन ही वाक् की ओर अनुधावन करता है।

इसप्रकार कामनामयत्वेन, वाक्तन्त्रसञ्चालकत्वेन, अनुधावकत्वेन हृकयावच्छिन्न मन का वृषाप्राणात्मक पुरुषत्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है। एवं कामनानुगतत्वेन परिध्यवच्छिन्ना वाक् का योषाप्राणात्मक स्त्रीत्व सर्वात्मना सिद्ध होजाता है। उधर आहुतिपात्रों में स्रुवपात्र पुल्लिंगत्वेन वृषःप्राणात्मक काममय मन से समतुलित है, जुहू-उपभृत् नामक स्रुक्पात्रद्वयी स्त्रीलिङ्गत्वेन योषाप्राणात्मिका कामनुगता वाक् से समतुलित है। मनोऽनुगत पूर्वाघार मनःसम्बन्ध से वृषा है, अतएव पूर्वाघाराहुति वृषात्मक स्रुव से ही होती है। वागनुगत उत्तराघार वाक् के सम्बन्ध से योषा है, अतएव उत्तराघाराहुति योषात्मिका स्रुक्पात्रद्वयी से ही होती है। पूर्वोत्तराघारकर्म्म का क्रमशः स्रुव, एवं स्रुक् से क्यों सम्पादन होता है ?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है, जिसका कि तृतीय-चतुर्थ-कण्डिकाओं से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ३, ४, ॥

पूर्वाघार मनोऽनुगत है, उत्तराघार वानुगत है, यह कहा जाचुका है। प्राणवाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्तप्रजापति हृद्य है। यहाँ से यद्यपि —"**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः**" ( कठोपनिषत ४।१। ) इत्यादि

श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाक्तत्त्व का ऊर्ध्व वितान अवश्य होता है, तथापि यह स्वयं मनोमय हृद्य अनिरुक्तभाव तो वाक्पथातीत ही है। इसी मनोऽनुरूपता की सिद्धि के लिए मनोऽनुगत पूर्वाघार तूष्णीं हीं किया जाता है। उपांशु ही अनिरुक्त है। अनिरुक्तता ही मन का स्वाभाविक धर्म्म है। 'स्वाहा' यह वाग्विवर्त्त का प्रत्यक्ष अभिनय है, जैसाकि आगे के आख्यान से स्पष्ट होने वाला है। हृद्य मनोमय प्रजापति के लिए पराङमुखा वाक् अहव्यवाहना है। अतएव मनःसम्पत्तिसंग्राहक पूर्वाघारकर्म्म में वागनुगत स्वाहा का उच्चारण निषिद्ध है। वाक्तत्त्व का मनःप्राणगर्भित वाङ्मय सर्वलक्षण निरुक्त प्रजापति से सम्बन्ध है। यह तत्त्व स्वस्वरूप से ( आकाशरूप से ) भी प्रकट है, स्ववितानात्मक पञ्चमहाभूतात्मक अर्थप्रपञ्च की दृष्टि से भी प्रकट है, एवं वागिन्द्रियरूप से भी व्यक्त है। प्रत्यक्षदृष्ट पाञ्चभौतिक पदार्थ वाङ्मय हैं, इनके गर्भ में 'हित' नामक, क्रियाप्रवर्त्तक 'प्राणतत्त्व' प्रतिष्ठित है, सर्वालम्बन सुसूक्ष्म **काममय मन** है। क्योंकि वाक्तत्त्व व्यक्तलक्षण है, इधर उत्तराघार वाक्सम्पत्तिसंग्रह के लिए विहित है। अतएव वागनुगत उत्तराघारकर्म्म मन्त्रोच्चारण,—लक्षण व्यक्तभाव से ही सम्पन्न होता है। मनोऽनुगत पूर्वाघार का तूष्णीं रूपेण, तथा वागनुगत उत्तराघार का मन्त्ररूपेण सम्पादन करना भी मनोवाक्पर्वों का ही संग्रह करना है, यही उपपत्ति–निष्कर्ष है, जिस का कि पाँचवीं, तथा छठी कण्डिकाओं से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ५, ६, ॥

भूकेन्द्रावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्त प्रजापति **'अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्'** ( यजुःसं० ३१।१ ) सिद्धान्तानुसार प्रादेशमित ( १०॥ अंगुलमित ) प्राणरूप से हृदय में प्रतिष्ठित है। इस बैठे हुए मनोमय प्रजापति के आधार पर ही इन्द्रा-विष्णू की अननुगता प्रतिस्पर्द्धा से वाक्साहस्री का उर्ध्व वितान होता है। उर्ध्ववितता यह वाक्साहस्री केन्द्र में प्रतिष्ठित ( आसीन ) मनोमय प्रजापति की अपेक्षा खड़ी हुई सी है। मनस्तत्त्व हृदय में आसीनवत् है, वाक्तत्त्व हृदय से परिधि-पर्य्यन्त तिष्ठन्वत् है। मनोवाक् पर्वों की इस स्वाभाविकी स्थिति को लक्ष्य में रख कर ही मनोऽनुगत पूर्वाघार आसीन बनकर ( बैठ कर ) किया जाता है, एवं वागनुगत उत्तराघार तिष्ठन्रूप से ( खड़े होकर ) किया जाता है। इसप्रकार आसीन, तिष्ठन्रूप से कृत पूर्व-उत्तराघार के द्वारा भी आसीन मनस्तत्त्व, एवं तिष्ठन् वाक्तत्त्व का आहवनीय यज्ञाग्नि में आधान होजाता है। पूर्वाघार आसीन रूप से, तथा उत्तराघार तिष्ठन्रूप से क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है।

वागनुगत उत्तराघार तिष्ठन् क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न की एक दूसरी भी उपपत्ति है। जहाँतक यज्ञात्मिका वाक्साहस्री व्याप्त रहती है, वहाँतक रथन्तरसाम की व्याप्ति मानी गई है, जैसा कि प्रकरणारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित वाङ्मय अग्नितत्त्व **'रसाग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है। इस वाङ्मय रसाग्नि का त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश स्तोमरूप से क्रमशः **अग्नि-वायु-आदित्यरूप** से ऊर्ध्व वितान हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

**तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत--आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणस्त्रेधा विहितः"।**

—शत० १०।४।७।२,३, ।

रसात्मक वाङ्मय अग्नि के ऊर्ध्व वितान–सम्बन्ध से ही एकविंस्तोमावच्छिन्न यज्ञाग्निलक्षण पार्थिव साम ( अग्निसाम ) **'रसतमसाम'** कहलाया है। वह रसतमसाम ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में

'**रथन्तरसाम**' कहलाया है, जैसा कि—"**रसतमं ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्**" (शत० ६।१।२-।३६।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। भूकेन्द्र से २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त मनोवाग्गर्भित प्राणमय यज्ञ भी इसी रसतम अग्नि के सम्बन्ध से 'रथ (देवरथ) कहलाया है। प्रदत्त आहुतिद्रव्य के द्वारा यजमान इस। रसतमात्मक यज्ञरथ में प्रतिष्ठित होकर द्युलोक की ओर गमन करता है। इस रथ के वहन करने वाले (प्राणात्मक यज्ञ का भूकेन्द्र से रथन्तरसाम की परिधिपर्य्यन्त वितान करने वाले) 'मन, वाक्' नाम के दो अश्व माने गए हैं। इन्हीं दोनों के द्वारा यज्ञात्मक अग्निरसरूप 'रथ' का वहन होता है।

यज्ञरथ में नियुक्त इन दोनों (मनो–वाक्) अश्वों में मनो-लक्षण अश्व अपरिमित है, एवं वाग्लक्षण अश्व परिमित है। दिग्देशकालानवच्छिन्न, काममय मन इसी अपरिमित भाव के सम्बन्ध से '**कामसमुद्र**' कहलाया है। "**मनो वै बृहत्**" (ता० ब्रा० ७।६।१७), "**मनो वै समुद्रः**" (७।५।२।५२।) "**अनन्तं वै मनः**" (शत० १४।६।१।११।) इत्यादि श्रुतियाँ मन के इसी असीमभाव का समर्थन कर रहीं हैं। मनः–प्रतिष्ठारूप हृदय स्वयं अनन्त है, तदनुगत मन भी अनन्त है। इसकी अपेक्षा वाक्तत्त्व दिग्देशकालावच्छिन्न बनता हुआ परिमिततर है, सीमित है। अर्थात्मिका वाक् (भौतिक पदार्थ) भी परिमित हैं, क-च-ट-त-प-आदि लक्षणा शब्दात्मिका वाक् भी सीमित है। इसप्रकार यज्ञरथवाहक दोनों अश्वों में एक (मन) आकार, प्रकार में बड़ा है, तो दूसरा (वाक्) अपेक्षाकृत ह्रसीयान् है।

यदि ऐसे विषमाकार अश्व रथ का वहन करते हैं, तो वहनकर्म्म भयाक्रान्त बना रहता है। आवश्यक है कि, मनोरूप अश्वपरिमाण को समतुलित करने के लिए वाग्रूप अश्वपरिमाण में आकारवृद्धि की जाय। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही वागनुगत उत्तराघार खड़े खड़े किया जाता है। जिसप्रकार लोक में नाटे अश्व को दीर्घकाय अश्व से समतुलित करने के लिए नाटे अश्व के स्कन्ध-प्रदेश में स्थूल काष्ठपीठ लगा दिया जाता है, ठीक उसी लौकिक कर्म्म के अनुरूप यहाँ तिष्ठन्भाव का आश्रय लिया जाता है। खड़े होकर उत्तराघार करना वागश्व को मनोरूप अश्व के समानाकार से ही समतुलित करना है। तिष्ठन्नुत्तराघार की यही दूसरी उपपत्ति है। इन दोनों उपपत्तियों का ही सातवीं कण्डिका से स्पष्टीकरण हुआ है ॥७॥

पूर्वाघार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के उत्तर भू प्रदेश में बैठ कर प्रज्वलित समिद्ध आहवनीयाग्नि के उत्तराग्निभाग में होता है, एवं उत्तराघार का सम्पादन आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश में खड़े होकर प्रज्वलित समिद्ध आहवनीयाग्नि के दक्षिणाग्नि में होता है, जैसा कि 'सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रह' में स्पष्ट किया जाचुका है। इन दोनों आघारों के सम्बन्ध में एक अनुक्त उपपत्ति का प्रासङ्गिक समन्वय और कर लेना चाहिए। पूर्वाघार का मन से, तथा उत्तराघार का वाक् से सम्बन्ध है। **भावनामय मन देवप्राण की प्रतिष्ठा है, एवं वासनात्मिका वाक् पितृप्राण की प्रतिष्ठा है**। इसी आधार पर "**पितरो वाक्यमिच्छन्ति, भावमिच्छन्ति देवताः**" यह सूक्ति प्रतिष्ठित है। **मनोऽनुगत देवप्राण आग्नेय है, एवं वागनुगत पितृप्राण सौम्य है। रथन्तरसामात्मक यज्ञमण्डल के पूर्वार्द्ध भाग में अग्नितत्त्व का प्राधान्य है, एवं उत्तरार्द्ध में सोमतत्त्व का साम्राज्य है**। मण्डलकेन्द्रभूत मध्यस्थ सप्तदश स्थान में दोनों का समन्वय होता है, जैसा कि प्रथमकण्डिका-विवेचन में स्पष्ट किया जाचुका है। क्योंकि मनोऽनुगत आग्नेय देवताओं का पूर्वार्द्ध से सम्बन्ध है, अतएव मनोऽनुगत आघार पहिले किया जाता है, अतएव च यह आघार '**पूर्वाघार**' कहलाया है। एवमेव वागनुगत सौम्य पितरों का उत्तरार्द्ध से सम्बन्ध है, अतएव वागनुगत आघार पीछे किया जाता है, अत-

एवञ्च यह आघार **'उत्तराघार'** कहलाया है। उत्तरादिक् देवताओं की है, अतएव देवानुगत पूर्वाघार आहवनीय के उत्तर भूप्रदेश में बैठ कर आहवनीयाग्नि के उत्तर भाग में सम्पन्न होता है। एवं दक्षिणादिक् पितरों की है, अतएव पित्र्यनुगत उत्तराघार आहवनीय के दक्षिण भूप्रदेश में खड़े होकर आहवनीयाग्नि के दक्षिण भाग में सम्पन्न होता है। दोनों आघारों से अग्नीषोमात्मक पूर्ण यज्ञमण्डल का संग्रह हो जाता है।

उत्तराघार का सम्पादन दक्षिण में खड़े खड़े होता है, इस सम्बन्ध में एक उपपत्ति और बतलाई जाती है। भौमस्वर्गव्यवस्थात्मक देवयुग में जब जब भी भौमदेवता वैध-यज्ञकर्म्म का वितान करते थे, तब तब ही दक्षिण अफ्रिका में निवास करने वाले भौम-मनुष्यविध-असुर दक्षिणभूप्रदेश * से आकर यज्ञ पर आक्रमण किया करते थे। दक्षिणदिगनुगत इस असुराक्रमण से त्राण पाने के लिए देवताओंनें दक्षिण-सीमा पर खड़ा पहिरा नियुक्त कर दिया था। इन्ही भौम-देवताओंसे भारतीय द्विजातिवर्गने यज्ञविद्या प्राप्त की। फलतः **'देवाननुविधा वै मनुष्याः'** इस नियम के अनुसार इन्होंनें भी अपने यज्ञ में दक्षिणदिगनुगत कर्म्म को खड़े खड़े ही करना अन्वर्थ माना।

ऐतिह्य कारणातिरिक्त तिष्ठन्-रूपेण उत्तराघार करने की वैज्ञानिक उपपत्ति भी है, एवं वही प्रधान है। भूपिण्ड का उत्तर प्रदेश **ज्योतिर्म्मय स्कम्भ** के वितान से देवप्राणप्रधान है। उत्तरानुगत स्कम्भप्रदेशोपलक्षित सम्वत्सरचक्र ही देवताओं की देवयजनभूमि है, यज्ञवितान-प्रदेश है। **अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमादि** प्राणात्मक दिव्य ऋत्विजों के हौत्रादि कर्म्मों से इस देवयजनभूमि में सम्वत्सरयज्ञ का वितान होता रहता है। भूपिण्ड का दक्षिणप्रदेश तमोमयी शनैश्चरकक्षा के सम्बन्ध से असुरप्राण--प्रधान है। इस दक्षिणदिगनुगत असुरप्राण का उत्तरानुगत प्राणदेवयज्ञभूमि पर सतत आक्रमण होता रहता है। साथ ही दक्षिणस्थ अग्नि-सहयोगी ज्योतिर्म्मय इन्द्र के सम्बन्ध से यह आक्रमण व्यर्थ भी होता रहता है। सम्वत्सरयज्ञोपलक्षित देवमण्डल इसप्रकार तिष्ठन्रूपेण उपस्थित इन्द्र के द्वारा असुराक्रमण से बचा रहता है।

प्राकृतिक यज्ञ में दक्षिण-दिशा में यज्ञरक्षक इन्द्र खड़े रहते हैं, इस स्थिति का उत्तरायणकालसे ही सम्बन्ध है। दक्षिणगोल में उत्तरायण होता है, एवं उत्तरगोल में दक्षिणायन होता है। उत्तरायणकालोपक्रम में सूर्य्य दक्षिण-परमक्रान्ति से उत्तर की ओर अपना रुख कर लेता है। सूर्य्य इन्द्रप्राणात्मक है। इसका उत्तर की ओर अपना रुख करना हीं खड़ा होना है। यही देवयजनकालोपक्रम है। सौर इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से दक्षिणगोलस्थ असुरप्राण का आक्रमण व्यर्थ चला जाता है, फलतः उत्तरायणानुगत दिव्ययज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न होजाता है।

वैधयज्ञ प्रकृत में इस दक्षिणस्थ असुरप्राण के समावेश से त्राण पाने के लिए ही यज्ञवेदि प्रथम तो प्राक्प्रवणा बनाई जाती है, अथवा तो उदक्प्रवणा बनाई जाती है, जैसा कि पूर्व के 'वेदिब्राह्मण' में विस्तार से बतलाया जाचुका है। क्योंकि प्रकृतिवत् इस मानुष यज्ञाग्नि में भी दक्षिणस्थ असुरप्राणाक्रमण स्वाभाविक है, अतएव इस ओर खड़े होकर ही उत्तराघार किया जाता है। खड़ा होना वीर्योत्कर्ष का ही सूचक है।

---

* जहाँ आज **'स्वेज'** नहर है, पुरायुग में यहाँ भूप्रदेश था। इसी मार्ग से असुरत्रिलकी में रहने वाले भौम-असुर भौम देवताओं के यज्ञ पर आक्रमण किया करते थे।

'उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्' श्रुति का यह वाक्य बड़ा महत्त्व रखता है। लोकदृष्टि से भी इस सिद्धान्त का अपूर्व महत्त्व है। आलस्यनिमग्न, शयालु मनुष्यों का स्वाभाविक वीर्य्य कालान्तर में मूर्च्छित होजाता है, उत्साह मन्द होजाता है, एवं निरालस, उत्तिष्ठन्, पुरुषार्थी ही वीर्य्यसम्पत्ति से युक्त रहता है। 'सेना' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। प्रत्येक सैनिक को यह आदेश मिलता है कि, वह अपने रक्षाकर्म्म में तन कर ही खड़ा रहे। तन कर खड़े रहने से मेरुदण्ड का स्वस्वस्तिक की ओर लम्बन होजाता है, हृदयावच्छिन्न ऊर्ध्व-अधः वितत नाड़ियाँ ऋजुभाव में परिणत होती हुई रक्तादि के सञ्चार से वीर्य्यवती बन जातीं हैं। इस-प्रकार उच्छ्रितभाव प्रत्येक दशा में वीर्य्याधायक बना रहता है। सैनिक तन कर चलते हैं, तन कर रक्षास्थानों में पहिरा देते हैं। सचमुच शरीरयष्टि का यह तनाव उक्त श्रौतसिद्धान्त * के अनुसार वीर्य्य का ही प्रवर्त्तक है, जिसे हमने भुला दिया है। यहाँ वही सैनिकानुगत रक्षाकर्म्म अभीष्ट है। रक्षाकर्म्म वीर्य्यसापेक्ष है, वीर्य्यसञ्चार उच्छ्रितभावानुगति पर ही निर्भर है। अतएव वागनुगत उत्तराघार तिष्ठन्रूपेणैव किया जाता है। तिष्ठन्रूप से, तथा आज्याहुति से अतिशयरूपेण प्रज्वलित आहवनीयाग्नि से उभयथा दक्षिणस्थ असुरा-क्रमण का भय निवृत्त होजाता है- "तस्माद्दक्षिणतस्तिष्ठन्नाघारयति"।

आहवनीयाग्नि एक है, इसी में दोनों आघाराहुतियाँ हुत होतीं हैं। इसप्रकार आहवनीयाग्नित्वेन दोनों आघाराहुतियों का प्रदेश समान है। साथ ही काल, स्थिति, एवं अग्निप्रदेश, की अपेक्षा से दोनों आहुतियों का परस्पर पार्थक्य है। पूर्वाघाराहुति पहले दी जाती है, उत्तरप्रदेश में बैठ कर दी जाती है, आहवनीयाग्नि के उत्तरभाग में दी जाती है। उत्तराघाराहुति पीछे दी जाती है, दक्षिणप्रदेश में खड़े होकर दी जाती है, आह-वनीयाग्नि के दक्षिण भाग में दी जाती है। इसप्रकार आहवनीयाग्नित्वेन जहाँ दोनों समान हैं, वहाँ दक्षिणो-त्तरप्रदेशत्वादिरूपेण दोनों भिन्न भिन्न हैं। इन समान, तथा नाना, दोनों भावों के संग्रह के लिए ही ऐसा किया जाता है। कारण यही है कि, पूर्वाघारानुगत मनःपर्व का, तथा उत्तराघारानुगत वाक्पर्व का, दोनों का स्वरूपावस्थान समान रहता हुआ पृथक् पृथक् ही है।

मन, तथा वाक् का समानत्व इसी से सिद्ध है कि, बलग्रन्थितारतम्य से रसबलसममात्रावच्छिन्न उसी मन में जब बलमात्रा का यतकिञ्चित् उद्रेक होता है, तो वही मन 'प्राण' रूप में परिणत होजाता है। बल-मात्रा के पूर्णोद्रेक से वही मन वाग्रूप में परिणत होजाता है। इसी आधार पर तो हृदयावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्त प्रजापति को पूर्व में प्राण-वाग्गर्भित बतलाया गया है। मानस प्रत्यय में भी परावागनुगता उपांशुवाक् का अवश्यमेव समावेश रहता है, जैसा कि "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" इत्यादि हरि-

---

* 'उच्छ्रितमिव हि वीर्य्यम्' के अनुसार रक्षादि, तथा पुरुषार्थसाधनादि कर्म्मों के अनुगामी को तनकर ही खड़ा रहना चाहिए, तन कर ही चलते-फिरते रहना चाहिए। इस ऋषिसम्मता जीवनीया-आचार-पद्धति को भावुकतापूर्णा पिब्दमाना-मृद्वी-शिथिलता से जहाँ हमने विस्मृत कर दिया हैं, वहाँ आज की प्रतीच्य-रक्षा-पद्धति में सैनिक सिपाही इसी तनन-पद्धति के अनुगामी बने हुए है, जो पद्धति प्रतीच्यभाषा में सम्भवतः 'अटेन्शन्' नाम से प्रसिद्ध है।

सिद्धान्त ÷ से प्रमाणित है। प्रत्येक मानस व्यापार (संकल्प) में उपांशुवाक् निहित है। एवमेव प्रत्येक वाग्व्यापार (शब्दप्रयोग) में मानसज्ञान आधार बन रहा है। इसी ज्ञानीय प्रज्ञेन्द्र से वर्णविभागानुगता अर्थनिष्पत्ति होती है। मन से वञ्चिता वाग् अलग्लवाग् है, स्खलितवाक् है, निरर्थकवाक् है, अवाक्-रूपा वाक् है। विशुद्ध मानस व्यापार में उपांशुवाक् के समन्वय से, तथा विशुद्ध वाग्व्यापर में आलम्बनत्वेन मन के समन्वय से दोनों का समानत्त्व [समानक्षेत्राश्रयत्व] भलीभाँति सिद्ध होजाता है। इसी समानता-संपत्तिसंग्रह के लिए समानक्षेत्ररूप एक ही आहवनीयाग्नि में मनोऽनुगत पूर्वाघार की, तथा वागनुगत उत्तराघार की, दोनों की आहुति जाती है। यदि मनोवाक् समान हैं, तो दोनों के लिए दो आघार क्यों किए जाते हैं ?, इस प्रश्न का निराकरण दोनों का स्वरूपभेद [जातिभेद] है। मन हृदयावच्छिन्न अनिरुक्त तत्त्व है, तो वाक् परिध्यवच्छिन्न निरुक्त तत्त्व है। एक [मन] अनद्धा है, देवप्राणानुगत है। एक [वाक्] अद्धा है, पितृप्राणानुगत है। इस जातिभेद से दोनों समानक्षेत्रानुगामी रहते हुए भी विभिन्न स्थानानुगत हैं, पूर्वापरभावानुगत हैं। इसी नाना-सम्पत्तिसंग्रह के लिए विभिन्न स्थानानुगतिरूप उत्तर-दक्षिण प्रदेश में दो आघाराहुतियाँ दी जाती हैं-**"तस्मादिदं मनश्च वाक् च समाममेव, सन्नानेव"**।

आघारद्वय से सम्बन्ध रखने वाली सभी उपपत्तियों का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया गया। अब पूर्वोक्त स्रुव-स्रुगादि-युक्त उपपत्तियों का एक दूसरे दृष्टिकोण से समन्वय किया जाता है। प्रत्येक वस्तु के **'मूल-तूल'** भेद से दो विवर्त्त होते हैं। अनिरुक्त हृद्यभाव ही मूलस्थान है, निरुक्त दृश्य पिण्ड ही तूलस्थान है। मूलस्थान मनःप्रधान होने से **'हृदय'** है, तूलस्थान वाक्प्रधान होने से **'शिर'** नाम से व्यवहृत हुआ है। यहाँ हृदयावच्छिन्न मनोऽनुगत पूर्वाघार हृद्य मन के सम्बन्ध से इस यज्ञाग्निलक्षण पुरुष का मूल है, एवं परिध्यवच्छिन्न वागनुगत उत्तराघार परिधि-अवच्छिन्ना वाक् के सम्बन्ध से यज्ञ का शिर है। पूर्वाघार मूलस्थान की प्रतिकृति है, तो उत्तराघार तूलस्थानलक्षण शिर की प्रतिकृति है ॥८॥

स्रुवपात्र से पूर्वाघार के द्वारा यज्ञपुरुष के मूल का सम्पादन होता है, एवं स्रुक्पात्रद्वयी से उत्तराघार के द्वारा शिरोभाग का सम्पादन होता है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाघार तूष्णीं इसलिए होता है कि, हृदयावच्छिन्न अनिरुक्त मनोलक्षण मूलभाग के साथ पराङ्मुखा वाक् का सम्बन्ध नहीं है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराघार मन्त्रोच्चारणपूर्वक इसलिए होता है कि, परिध्यवच्छिन्न निरुक्त वाग्लक्षण शिरोभाग ही वाक्प्रयोग [शब्दप्रयोग] का आधार है। यज्ञमूलानुगत पूर्वाघार बैठे बैठे इसलिए किया जाता है कि, हृद्य मनोमय मूल भाग स्व अनिरुक्त भाव से बैठा हुआ सा ही है। यज्ञशिरोऽनुगत उत्तराघार खड़े खड़े इसलिए किया जाता है कि, वाङ्मय शिरोभाग स्व निरुक्तभाव से शरीरसंस्था में खड़ा हुआ सा ही है। इसप्रकार तूष्णीं, मन्त्रेण, आसीन, तिष्ठन्, इन व्यापारों से मनोवाक् पर्वों की अनुरूपता ही प्राप्त की जाती है ॥९,१०,११,१२,॥

---

÷ न सोऽस्ति प्रत्ययो यो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
—भर्तृहरिः-वाक्यपदी-

# २—अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्मोपपत्तिः

आहवनीयाग्नि के उत्तरभूप्रदेश में बैठकर स्रुवपात्र से तूष्णीं आहवनीयाग्नि के उत्तराग्नि–प्रदेश में मनोऽनुगत पूर्वाघार का सम्पादान किया जाता है। इस कर्म्म के अनन्तर अग्निसम्मार्जन–कर्म्म होता है, जो आग्नीध्र नामक ऋत्विक से सम्बन्ध रखता है। **'समानमेव सन्नानेव'** इस उक्त सिद्धान्त के अनुसार मनः सम्पत्ति भी वाग्गर्भिता बनती हुई उभयात्मिका है, एवं वाक् सम्पत्ति भी मनोगर्भिता बनती हुई उभयात्मिका है। मनोवाक् का आहवनीयाग्नि में योग करना यज्ञरथ में मनोवाग् रूप अश्वों का ही योग करना है। लोक में रथ को सज्जीभूत करने के लिए पहिले रथ के धुर [जूड़े] को ऊँचा कर उसे अश्व, किंवा वृषभयुग्म के कन्धों पर डाला जाता है, अनन्तर चर्म्मबन्धन से उन दोनों अश्वों की ग्रीवा को रथ के धुर से दृढ़ता से बाँध दिया जाता है, जिस से कि अश्वयुग्म रथधुर से पृथक् न होजाय। इसप्रकार अश्वयोग में स्कन्धप्रदेशों के साथ रथधुर का योग, तथा चर्म्मपाश से ग्रीवाबन्धन, ये दो कर्म्म अपेक्षित हैं। इन्हीं दोनों कर्म्मों की सिद्धि के लिए यहाँ पूर्वाघार, तथा तदनन्तर अग्निसम्मार्जनकर्म्म होता है। मनोऽनुगत पूर्वाघार वाग्गर्भित बनता हुआ पूर्वकथनानुसार मनोवागरूप दोनों अश्वों का संग्राहक बन रहा है। पूर्वाघार करना दोनों अश्वों के साथ रथ-धुर का ही योग करना है ॥ १३ ॥

अनन्तर होने वाला अग्निसम्मार्जनकर्म्म चर्म्मपाश-बन्धन स्थानीय है। सम्मार्जनकर्म्म घूम–घूम कर होता है, यह पद्धति में स्पष्ट किया जाचुका है। आहवनीयाग्नि की तीनों-परिधियों से सम्बन्ध रखने वाले परिधित्रय से संलग्न अग्नियों का **'इध्मसन्नहन'** नामक तृणसमुद्री से भस्मादि अपाकरण के द्वारा प्रज्वलन करना हीं अग्निसम्मार्जनकर्म्म है। स्कन्धप्रदेश के साथ रथधुर का योग तो एक स्थान से ही होजाता है। परन्तु ग्रीवा–नुगत चर्म्मपाश-बन्धन के लिए सारथी को अश्वों के इतस्ततः घूमना पड़ता है। इस परिक्रमा से ही चर्म्म–पाश का ठीक ठीक योग होता है। क्योंकि यह सम्मार्जनकर्म्म पाशबन्धन-स्थानीय है, अतएव इस की इतिकर्त्त-व्यता बन्धनानुगता अनुरूपसम्पत्ति प्राप्ति के लिए परिक्रमणरूप से ही पूरी की जाती है। कहा गया है कि, तीन-परिधियों का प्रत्येक का तीन-तीन बार सम्मार्ज्जन होता है। इस त्रिस्त्रिवार विहित-सम्मार्जनकर्म्म में एक–एक बार तो मन्त्रप्रयोग होता है, एवं दो-दो बार तूष्णीं परिधिसम्मार्जन होता है। सम्भूय ९ बार परिधि-सम्मा-र्ज्जन होजाता है। ९ संख्या त्रिवृत्स्तोम की संग्राहिका है। यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा अग्नितत्त्व ही माना गया है, जैसा कि–**"अग्निरु वै यज्ञः"** [शत० ५।२।३।६।] इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। अग्नि-वायु–आदित्यात्मक यज्ञमण्डल तत्त्वतः अग्न्यात्मक ही है। अग्नि ही पञ्चदशस्तोमप्रदेश में जाकर तरलरूप में आता हुआ **'वायु'** कहलाने लगता है, एवं अग्नि ही एकविंशस्तोमप्रदेश में भुक्त होकर विरलावस्था में परिणत होता हुआ **'आदित्य'** कहलाने लगता है। इसी आधार पर **"अग्निः सर्वा देवताः"** [ ताण्ड्यम० ब्रा० ९।४।५। ] यह निगम प्रतिष्ठित है। इस अग्नि का अपना प्रदेश भूकेन्द्र से आरम्भ कर ९ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त नव अहर्गणात्मक त्रिवृत्स्तोमप्रदेश ही है। इसी अग्निभुक्ति से, तथा तत्प्रतिष्ठारूप त्रिवृत्स्तोम के सम्बन्ध से अग्नियज्ञ **'त्रिवृत्'** **[नवपर्वात्मक]** मान लिया गया है। वही अग्नियज्ञसम्पत् इस अग्निसम्मार्ज्जन–कर्म्म से अपेक्षित है। अतएव त्रिवृद्रूप से ही परिधित्रयानुगत अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म होता है ॥ १४ ॥

परिध्यनुगत अग्निसम्मार्ज्जन के अनन्तर स्वयं आहवनीय अग्नि का ऊपर से तीन बार तूष्णीं सम्मार्ज्जन और किया है। रथयुग का अश्वयुग्म के स्कन्ध प्रदेश के साथ योग कराने के अनन्तर चर्म्मपाश से ग्रीवा–

बन्धन किया जाता है। इन दोनों कर्म्मों से जब रथ सज्जीभूत होजाता है, तो अनन्तर सारथी स्वस्थान में बैठ कर कशाघात करता हुआ 'प्रेहि' [ चल चल ], 'वह' [ रथ का वहन कर ] इत्यादि प्रेरणात्मक वाक्यों का प्रयोग करता है, रथ चल पड़ता है। उपरिष्टात् होने वाला तूष्णीं भावात्मक यह त्रिवारात्मक आहवनीयाग्नि-सम्मार्ज्जन कशाघातानुगत प्रेरणाकर्म्म के संग्रह के लिए ही विहित है।

पहिले पूर्वाघार, अनन्तर उत्तराधार, दोनों आघारकर्म्मों के मध्य में अग्निसमार्ज्जनकर्म्म। पूर्वाघारकर्म्म धुरयोगस्थानीय, परिधिसम्मार्ज्जनकर्म्म चर्म्मपाशबन्धनस्थानी, एवं आहवनीयाग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म कशाघातानुगत प्रेरणाकर्म्म-स्थानीय। अब इस सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न बच जाता है कि, दोनों आघारों के मध्य में अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म क्यों किया जाता है ?। इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, पूर्वाघार मनःस्थानीय है, एवं उत्तराघार वाक्स्थानीय है। दोनों यद्यपि गर्भीभाव से समान हैं, तथापि स्वरूप से दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इस पार्थक्य-सम्पत्ति-संग्रह के लिए ही मनोऽगत पूर्वाघार, तथा वागनुगत उत्तराघार, दोनों के मध्य में अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म किया जाता है। यही अग्निसम्मार्ज्जन--कर्म्म की संक्षिप्ता उपपत्ति है, जिसका ब्राह्मण की १३, १४, १५, इन तीन कण्डिकाओं से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १५ ॥

## पूर्वाघारकर्म्मसमाप्त

## चौथे अध्याय में चौथा, तथा तीसरे प्रपाठक में ६ ठा ब्राह्मण समाप्त

## तीसरा प्रपाठक समाप्त

—३—

—*—

# चौथे अध्याय में पाँचवाँ एवं चौथे प्रपाठक में पहिला ब्राह्मण उपक्रान्त द्विब्राह्मणानुगत-द्वितीय ब्राह्मण

## —२—

— —*— —

## ३—उत्तराघारकर्म्मेतिकर्त्तव्यतोपपत्तिः

दक्षिणदिशा से उत्तरदिशा की ओर अपनी गति रखने वाला **ऋताग्नि**, तथा उत्तरदिशा से दक्षिणदिशा की ओर अपनी गति रखने वाला **ऋतसोम**, दोनों का परस्पर अन्तर्य्याम-सम्बन्ध होता है। **ऋताग्नि, ऋतसोम**, के सम्बन्ध से अग्निसोममयी वसन्तादि षड्ऋतुओं का प्रादुर्भाव होता है। षड् ऋतु से ही प्राकृतिक नित्य सम्वत्सरयज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप-निर्म्माण ऋतुसमन्वय पर ही निर्भर है, ऋतुस्वरूपाविर्भाव ऋताग्नि-सोम-समन्वय पर ही निर्भर है। एवं यह समन्वय गतिधर्म्मा वायु पर ही निर्भर है। न स्वयं अग्नि में गति है, न सोम में गति है। गतिधर्म्मा है-एकमात्र वायु। इस वायु के व्यापार से ही सूर्य्य से प्रवृक्त दक्षिणस्थ अग्नि उत्तर की ओर जाता है, एवं चन्द्रमा से प्रवृक्त उत्तरस्थ सोम दक्षिण की ओर आता है। इसप्रकार वायु के व्यापार से ही दोनों ऋतभावों का समन्वय होता है, एवं इसी सपन्वय से अग्निसोममय ऋतुभाव का जन्म होता है। यही वायु-तत्त्व इस प्राकृति ऋतुयज्ञ ( ऋतुसमष्टिलक्षण सम्वत्सरयज्ञ ) का स्वरूप--सम्पादक हैं, जिसका गतिधर्म्मा तत्त्वात्मक यजुर्वेद से ही सम्बन्ध है। यजुर्म्मूर्त्ति वायु ही क्योंकि ऋतुस्वरूप का सम्पादन करते हुए अग्निषोमा--त्मक सम्वत्सरयज्ञ के ( परम्परया ) स्वरूपाधाता हैं, अतएव इनका यह कर्म्म ऋतुसम्बन्ध से, किंवा ऋताग्नि-सोम-सम्बन्ध से "आर्त्विज्य" कहलाया है। ऋत का समन्वय कर देना हीं **'आर्त्विज्य' कर्म्म है**। इसी ऋतात्मक ऋतुसम्बन्ध से वायु ऋत्विक् कहलाए हैं। आग्नेय, सौम्य देवताओं का संगमनलक्षण यजन कराने से ही इस **'वायु'** नामक **प्राकृतिक अध्वर्य्यु** का यह कर्म्म **'याज्या'** कहलाया है। इसप्रकार प्राकृतिक ऋताग्निसोममय आग्नेय सौम्य देवताओं का आर्त्विज्यकर्म्म तत्सम देवमूर्त्ति यजुरात्मक वायुदेवता के द्वारा ही सञ्चालित है।

उत्तराघारकर्म्म एकप्रकार का आर्त्विज्यकर्म्म हो है। इसी से अग्नीषोमात्मक वैध यज्ञ की स्वरूप--निष्पत्ति होने वाली है। इस देवसम्मिश्रण ( अग्नि-सोम-सम्मिश्रण ) लक्षण आर्त्विज्यकर्म्म का सम्पादन यजुर्वेदी अध्वर्य्यु करता है। देववर्ग की अपेक्षा मनुष्यवर्ग निम्नश्रेणि में प्रतिष्ठित है। उच्चश्रेणिस्थ दो महापुरुषों का सम्बन्ध एक निम्नश्रेणि का व्यक्ति नहीं करा सकता। यदि कराता है, तो यह उसकी धृष्टता है। आज मनुष्य अध्वर्य्यु को अगत्या इसी धृष्टता का अनुगमन करना पड़ रहा है। उत्तराघार के द्वारा यह आज दोनों देवताओं का आर्त्विज्य करने वाला है। अपने अगतिकगतिक इस धृष्टतादोष से बचने के लिए ही उत्तराघारलक्षण आर्त्विज्यकर्म्म से पहिले ही **देवता**, तथा **पितरों** को **नमः**, एवं **स्वधारूप** से यह प्रार्थना कर लेता है कि, "यद्यपि मैं एक मनुष्य हूँ, निम्नश्रेणि में प्रतिष्ठित हूं, आप देवता हैं, द्युलोक में प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में आपके संगमनरूप यजन की मुझमें योग्यता नहीं है। तथापि

आपके ही अनुग्रह से मैं आर्त्विज्यकर्म्म करने जारहा हूं"। धृष्टता-निवृत्त्यनुगत इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही उत्तराघार से पहिले जुहू--उपभृत् को रख कर इनके पूर्वभाग में **'अञ्जलिनिधान'** किया जाता है। **आग्नेयप्राण देवता हैं, एवं सौम्यप्राण पितर हैं।** यज्ञ में इन्हीं दोनों का सङ्गमन अपेक्षित है। इसी अभिप्राय से-**'नमो देवेभ्यः-[ऋताग्नये], स्वधा पितृभ्यः [ऋतसोमाय]'** यह कहा गया है। अञ्जलि--पुटनिधान की इसी उपपत्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है-**"तद्देवेभ्यश्चैवैतत्पितृभ्यश्चार्त्विज्यं करिष्यन् निह्नुते"**।

अपराधनिवृत्त्यनन्तर आज्यपूर्ण जुहूपभृत् को अपने दक्षिण हाथ में उठाता है, साथ ही मन्त्रशक्ति के द्वारा इस आज्य को अस्कन्न बनाने की भावना करता है। तात्पर्य्य इस अस्कन्नभावना का यही है कि, यदि आहवनीय के दक्षिण भाग की ओर आज पूर्ण स्रुक्पात्रद्वयी को उत्तराघार के लिए ले जाते हुए जुहू से आज्यमात्रा भूमि पर गिर जायगी, तो यज्ञ की अविच्छिन्ना धारा टूट जायगी। जुहू-स्थित आज्य देवयज्ञ--वितान के लिए ही नियत है। इस आज्य का कम्पित होजाना यज्ञपुरुष का ही कम्पित होजाना है, एवं नीचे गिर जाना यज्ञसन्तान का ही विच्छिन्न होजाना है। साथ ही यह भूमिष्ठ आज्यभाग शत्रुसमृद्धि का भी कारण बन जाता है। क्योंकि **"यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं तद्भ्रातृव्यम्"** इस निगम के अनुसार यज्ञोपयोग से बहिर्भूत यज्ञिय द्रव्य यज्ञकर्त्ता यजमान के शत्रु का ही पोषक माना गया है। इन सब यज्ञस्वरूपविघातक कम्पन, विच्युति, आदि दोषों से बचने के लिए अध्वर्य्यु को बड़ी सावधानी से ही आज्यपूर्ण स्रुक् को दक्षिण की ओर ले जाना चाहिए। जिससे न तो आज्य में कम्पन ही हो, एवं न आज्यमात्रा भूमि पर ही गिरे। दक्षिणभाग असुरप्राणाक्रान्त है। अतएव इस आज्यरक्षा के लिए ही यह विशेष विधान हुआ है॥ १॥

उत्तराघार के लिए नियत सञ्चरमार्ग से अध्वर्य्यु को यज्ञात्मक आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश की ओर आना पड़ता है। आहवनीयाग्नि साक्षात् यज्ञपुरुष है, विष्णु है। इसका अतिक्रमण करना भी एकप्रकार की धृष्टता ही है। साथ ही यज्ञ से अपने आपको पृथक् करना भी है। दक्षिणभाग अयज्ञिय है, यहाँ आना यज्ञसम्बन्ध को तोड़ना है, पूर्व से दक्षिण की ओर आना इसका अतिक्रमण करना है। इन दोनों दोषों से बचने के लिए--**"अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वाऽवक्रमिषम्"** मन्त्र बोलता हुआ ही दक्षिण की ओर गमन करता है। मन्त्र का भाव यही है कि, मैं अवज्ञा से यज्ञ का अतिक्रमण नहीं कर रहा, अपितु यज्ञस्वरूपनिर्म्माण के लिए ही मुझे अगत्या दक्षिण की ओर जाना पड़ता है"।

उत्तरभाग सौरज्योति के सम्बन्ध से ज्योतिर्म्मय है, एवं दक्षिणभाग असुरप्राण के सम्बन्ध से छायामय है। छायामय आसुर भूप्रदेश यज्ञस्वरूप का विघातक है। आज उत्तराघार के लिए अध्वर्य्यु को अगत्या इस प्रदेश में आना पड़ रहा है। इस छायामय आसुरभाव की निवृत्ति के लिए ही **"वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषम्"** इस मन्त्रबल का आश्रय लिया जाता है। प्रदेश छायामय अवश्य है, परन्तु यही छायामय प्रदेश उत्तराघार के द्वारा अग्नि-सम्बन्धी वसु ( सम्पत् ) का प्रापक है, यज्ञसाधक है। हम आसुरप्रदेशात्मक छायामय भाग में नहीं जारहे, अपितु आहवनीयाग्नि-लक्षण यज्ञमण्डल की ही छत्रच्छाया में ( आश्रय में ) जारहे हैं। अत्रगमन से ही यज्ञसिद्धिलक्षणा सम्पत् की प्राप्ति होगी। इस कथन से असुरभाव का निराकरण करता है, एवं वसुभाव का स्थापन करता है॥ २॥

छायामय असुरभाव की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही आगे जाकर—"विष्णोः स्थानमसि" इस मन्त्रभाग का उच्चारण विहित है। कौन कहता है कि, यह भूप्रदेश आसुर है ? । यह तो यज्ञमूर्त्ति विष्णु का आवास-स्थान है। वहाँ खड़े होना तो यज्ञसान्निध्य में हीं खड़ा होना है। यह वही स्थान है, जहाँ पर खड़े हो-कर सौर इन्द्र दक्षिणस्थ आसुरप्राण का विनाश किया करते हैं। यह वही सुरक्षित स्थान है, जहाँ पर खड़े हुए इन्द्र की रक्षा में देवताओं का सम्वत्सरयज्ञ सम्वत्सर-त्रिलोकी में वितत हुआ है ! इसप्रकार यज्ञात्मक, अतएव विष्णुरूप आहवनीयाग्निज्ज्वाला की सीमा के सान्निध्य से, एवं दक्षिणस्थ इन्द्रप्राण के समावेश से यह नियत दक्षिण भूप्रदेश सर्वथा निरुपद्रव, यज्ञिय, एवं यज्ञस्वरूपसम्पादक ही बन रहा है। **'इत इन्द्रो वीर्य्यमकृणोत्०'** इत्यादि मन्त्रभाग दक्षिणभूप्रदेश की इस महत्ता का ही संग्राहक बन रहा है ॥३॥

आहुतिकाल उपस्थित होगया है। अतएव आहुतिग्राहक आहवनीयाग्नि में आहुति का उत्तरदायित्व डालने के अभिप्राय से कहा जाता है कि, **हे आहवनीयाग्ने ! आप ही इस यज्ञ के होता हैं, एवं आप ही इस यज्ञ के दूत हैं**। हुत आज्यद्रव्य का स्वसीमा में प्रतिष्ठित प्राणदेवताओं में आधान करना भी आप ही का काम है, आहुतिद्रव्य-ग्रहण के लिए द्युलोकस्थ देवताओं का यहाँ आह्वान करना भी आप ही का काम है, एवं गृहीताज्याहुति-देवताओं के द्वारा यजमानात्मा को द्युलोकस्थ देवप्राणाकर्षण से युक्त करना भी आप का ही काम है। आहुति देना मात्र मेरा काम, शेष सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आप पर निर्भर, यही निष्कर्ष है। आहुतिग्रहण करने के अनन्तर समिद्ध आहवनीयाग्नि–**'अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत्-आदिद्देवेषु राजसि'** [ ऋक् सं० ८।६०।१५। ] इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार प्राणरूप से इस आहुतिद्रव्य को गर्भीभूत बना कर अग्नि हीं इस पृथिवीलोक से द्युलोक में ले जाते हैं। द्यावापृथिवीरूप वाङ्मय वषट्कार-सीमा से सुरक्षित हो-कर ही यह आग्नेयप्राण ऊर्ध्वगमन करता है। साथ ही यही अग्नितत्त्व इसी यज्ञ के द्वारा द्यावापृथिवी का भी स्वरूपरक्षक बन रहा है। आत्मा शरीर का रक्षक है, तो शरीर आत्मा का रक्षक है। अग्नि आत्मा है, द्यावापृथिवी शरीर है। दोनों परस्पर एक दूसरे के स्वरूपरक्षक बन रहे हैं। प्रदत्त-आहुति अग्नि के द्वारा निर्विघ्न पृथिवी से द्युलोक की ओर चली जाय,–**'अवतां त्वां द्यावा०'** इत्यादि मन्त्रभाग का यही निष्कर्ष है।

सर्वान्त में–**'स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत् स्वाहा'** इस मन्त्रशेष का उच्चारण कर स्वाहा के साथ जुहू से उत्तराघार–आहुति दे दी जाती है। आहुति दी जाती है–यद्यपि आहवनीयाग्नि में हीं, तथापि लक्ष्य है इस आहुति का द्युलोक की अवाप्ति। एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक में इन्द्र का साम्राज्य है। भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त वितत यज्ञ के अन्त में इन्द्र प्रतिष्ठित हैं, अतएव इन्हें यज्ञपति कहा जाता है। यज्ञपति की तुष्टि ही यज्ञस्वरूप की निष्पत्ति का अन्तमम द्वार है। अतएव वागुद्देश्येन कृत उत्तराघार का इन्द्र से सम्बन्ध मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त यही इन्द्र एक दूसरे दृष्टिकोण से वाक्तत्त्व का भी संग्राहक बन रहा है। वागिन्द्रियलक्षण वाक्तत्त्व ( शब्दप्रपञ्च) की मूल-प्रतिष्ठा कायाग्नियुक्त आध्यात्मिक वायु है। **"वायुः खात्, शब्दस्तत्"** इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्त के अनुसार वायु ही शब्दात्मिका वाक् का प्रवर्त्तक है।

यदि वाक् में केवल वायु का ही समावेश होता, तब तो पशुवाग्वत् मानुषीवाक् में केवल अविच्छिन्ना ध्वनि ही उपलब्ध होती। मानुषीवाक् में **वर्ण-शब्द-पद-वाक्यादि** की भी व्यवस्थित विभक्तियाँ हैं। **यह**

**विभक्तिभाव ही वाक् का विभक्तिकरणलक्षण व्याकरण है, एवं ज्ञानमूर्त्ति प्राज्ञ इन्द्र ही इस व्याकरण के प्रवर्त्तक हैं** । इसप्रकार वायुवत् इन्द्र का भी वाक्तत्त्व में समावेश सिद्ध होजाता है । अतएव **'वाक्' को 'इन्द्र'** माना जासकता है । **अधिदैवत में वाक् आकाश है, यही इन्द्र है** । इन्द्रात्मक आकाश ( वाक् ) ही बलग्रन्थितारतम्य से पञ्चमहाभूतरूप में परिणित हुआ है । इन्द्र ज्योति का अधिष्ठाता है, एवं ज्योति ही इन्द्र है । वाक् ( शब्द ) व्यापार इसी इन्द्र के द्वारा ज्योति ( ज्ञान ) का उद्बोधक बनता है । पञ्चप्रकृति के अनुसार सौरमण्डल वाङ्मय है, यहीं इन्द्र प्रतिष्ठित है । इसप्रकार अनेक दृष्टियों से **वाक्**, तथा इन्द्र का अविनाभाव सिद्ध होरहा है । इसी आधार पर—**"इन्द्रो वागित्याहुः"** यह निगम प्रतिष्ठित हैं । अतएव वागनुगत उत्तराघाराहुति-साधक मन्त्र में इन्द्र को उद्देश्य मान लिया गया है ॥ ४ ॥

पूर्वब्राह्मण में यह स्पष्ट किया गया है कि, पूर्वाघार इस यज्ञपुरुष का मूलस्थानीय **हृदय** है, एवं उत्तराघार तूलस्थानीय **शिरोभाग** है । अब शेष **आत्मभाग ( 'चत्वारः आत्मा' से सङ्केतित मध्याङ्ग-शरीर )** रह जाता है । जिसप्रकार आत्मभाग-( धड़ )-स्थ [ उदरस्थ ] रस से सम्पूर्ण आध्यात्मिक यज्ञ का पोषण होता है, एवमेव रसात्मक आज्य से परिपूर्ण ध्रुवापात्र के रस [ आज्य ] से सम्पूर्ण वैध यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता पूरी होती है । इसी समानता से ध्रुवापात्र को इस यज्ञ-पुरुष का **'आत्मा'** कहा गया है । बिना शिर के आत्मा [ धड़ ] अपूर्ण है, मर्त्य है । इसकी इस अपूर्णता को दूर करने के लिए ही उत्तराघारानन्तर जुहू में शेष बचे आज्य का [ जुहू को उपभृत् से पृथक् रखते हुए ] ध्रुवा के साथ योग कराया जाता है । उत्तराघारशेषांश शिरःस्थानीय है, ध्रुवा आत्मस्थानीय है । शेषांश का ध्रुवा से योग कराना आत्मा [ धड़ ] में शिरोभाग स्थापित करते हुए यज्ञ-पुरुष को पूर्णाङ्ग ही बनाना है ।

"चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा" [ शत० ६।१।१।६। ] इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार चार मर्त्य प्राणों से धड़ [ मध्याङ्ग ] का, एक मर्त्यप्राण से दक्षिणहस्तपादरूप दक्षिणपक्ष का, एक मर्त्यप्राण से वामहस्तपादरूप वामपक्ष का, एवं एक मर्त्यप्राण से मेरुदण्डमूलानुगता प्रतिष्ठात्मिका त्रिकास्थि से सम्बद्ध प्रतिष्ठाभाव का निर्म्माण होता है । इसप्रकार सप्तपुरुष-पुरुषात्मक चित्याग्नि से शिरो-विरहित शेष सम्पूर्ण शरीर की चिति होती है । इन सातों मर्त्य पुरुषों [ प्राणों ] का ऊर्ध्व विदूहन होता है । **सातों के मन्थन से समुद्भूत दधिमन्थनोत्थ आज्य-स्थानीय सारभाग ही 'श्री' भाग है । यही सप्त अमृतप्राणात्मक श्रीभाग मस्तक का स्वरूप-निर्म्मापक बनता है । इसी 'श्री' के सम्बन्ध से मस्तकप्रदेश 'शिरः' कहलाया है** । सम्पूर्ण शरीर में इसी श्री के सम्बन्ध से शिरोभाग श्रेष्ठ माना गया है । इसी आधार पर जिस लोकसंस्था में जो श्रेष्ट [ मुखिया ] होता है, वही उस संस्था का **'शिर'** कहलाया है । आत्मरूप मर्त्यभाग [ ध्रुवा ] में इसी **'शिरोरूप श्रीभाग'** (उत्तराघार-शेषांशरूप आज्यभाग) को प्रतिष्ठित किया जाता है । यही समञ्जन की दूसरी उपपत्ति है ॥ ५ ॥

समञ्जनकर्म्म के सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है । जुहू को उपभृत् से पृथक् रखते हुए ही क्यों जुहूस्थित आज्य का ध्रुवा से सम्बन्ध कराया जाय ?, इस प्रश्न का उत्तर उपभृत् के नैदानिक स्वरूप से सम्बन्ध रखता है । ध्रुवापात्र निदानेन यज्ञकर्त्ता यजमान की प्रतिकृति है, एवं उपभृत्पात्र निदानेन यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है । इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन पूर्व में किया जाचुका है । उपभृत् यजमान के शत्रु का नैदानिकरूप है । ऐसी अवस्था में यदि जुहू के साथ उपभृत् का सम्बन्ध रखते हुए यजमानस्थानीय

ध्रुवा से आज्य-समञ्जन कराया जायगा, तो यजमान के शत्रु में भी श्री का स्थापन हो जागया। केवल यजमान ही श्री से युक्त रहे, इस उद्देश्य से केवल जुहू से ही ( उपभृत् को जुहू से सर्वथा पृथक् रखते हुए ही ) समञ्जनकर्म्म किया जाता है ॥ ६ ॥

ध्रुवापात्र आत्मस्थानीय है, एवं जुहूस्थित आज्यशेषांश शिर: स्थानीय है, इस कथन से समञ्जनकर्म्म की आध्यात्मिक-यज्ञानुगता उपपत्ति का स्पष्टीकरण हुआ। अब समञ्जन-मन्त्रार्थ के द्वारा आधिदैवकयज्ञानुगता उपपत्ति का स्पष्टीकरण किया जाता है। "**तस्यासावेव द्यौर्जुहूः, अथेदमन्तरिक्षमुपभृत्, इयमेव ध्रुवा। तद्वाऽअस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति। तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति**" (शत० १।२।५।४।) इत्यादि श्रुति के अनुसार आधिदैविक ( त्रैलोक्यात्मक ) प्राकृतिक यज्ञ की दृष्टि से निदानेन जुहूपात्र द्युलोकस्थानीय है, एवं ध्रुवापात्र पृथिवीस्थानीय है। यज्ञ के द्वारा पार्थिव आङ्गिरस प्राणदेवताओं का, तथा द्युलोकस्थ सौर सावित्र प्राणदेवताओं का ही परस्पर सम्बन्ध अपेक्षित है। इस सम्बन्ध का अधिष्ठाता मध्यस्थ वह अन्तरिक्ष ही है, जिस में घृतात्मक तेजोरस व्याप्त रहता है।

"**घृतमन्तरिक्षस्य**" ( शत० ७।५।१।३। ) के अनुसार अन्तरिक्ष आज्यरस से परिपूर्ण है। इसी आज्यरस से ध्रुवारूप पृथिवीलोक में प्रतिष्ठित अङ्गिराज्योति-( रूपज्योति )-र्म्मय पार्थिवदेवताओं का, तथा जुहूरूप द्युलोक में प्रतिष्ठित सावित्रज्योति-( स्वर्ज्योति )-र्म्मय दिव्य देवताओं का परस्पर सम्बन्ध होरहा है। जुहूस्थित आज्य का ध्रुवास्थित आज्य से सम्बन्ध कराना द्युलोकस्थ ज्योतिर्म्मय देवताओं का पार्थिव ज्योतिर्म्मय देवताओं के साथ सम्बन्ध कराते हुए देवसङ्गमनलक्षण यज्ञस्वरूप का ही सम्पादन करना है। इसी आधिदैविक-उपपत्ति को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है-"**ते ह्येतदुभे ज्योतिषी सङ्गच्छेते। तस्मादेवं समनक्ति**" ॥ ७ ॥

पूर्वाधार मनःसम्पत्ति का संग्राहक है, एवं उत्तराघार वाक्सम्पत्ति का संग्राहक है। मनोऽनुगत पूर्वाधार तूष्णीं ( उपांशुरूपेण ) किया जाता है, एवं वागनुगत उत्तराधार मन्त्रपूर्वक ( निरुक्तरूपेण ) किया जाता है। तूष्णीं, मन्त्रेण, की उपपत्तियाँ पूर्व में बतलाईं जाचुकीं हैं। अब मनोऽनुगत पूर्वाधार से सम्बन्ध रखने वाले तूष्णींभाव की एक अन्य उपपत्ति बतलाने के लिए, साथ ही प्रसङ्गोपात्त वाङ्मय अत्रिप्राण के स्वरूप-विश्लेषण के लिए एक वैज्ञानिक आख्यान उपस्थित होरहा है।

**"मन, और वाक्, दोनों में 'अहंभद्र' को लेकर विवाद चल पड़ा। वाक् कहने लगी-मैं बड़ी हूँ, मन कहने लगा-मैं बड़ा हूँ। वागपेक्षया अपना श्रेष्ठत्त्व स्थापित करता हुआ मन कहने लगा कि, मेरे संकल्पित-भावित-अर्थों के अनुरूप ही तुझे चलना पड़ता है। मनोऽपेक्षया अपना श्रेष्ठत्त्व स्थापित करती हुई वाक् कहने लगी कि, तेरे संकल्प को मैं हीं बाह्यरूप प्रदान करती हूँ। दोनों अपने इस विवाद को लेकर प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुए। प्रजापति ने मन का पक्ष ग्रहण करते हुए यही निर्णय किया कि, 'तुम दोनों में मन ही श्रेष्ठ है'। प्रजापति के इस निर्णय से वाक् का दर्पदलन होगया, उसका अभिमान विदीर्ण होगया। परिणामतः इस अपमान से खिन्न होने वाली वाक् ने यह कह डाला कि, 'हे प्रजापते! आपने मुझे मन से छोटा बतलाया है, अतएव आज से मैं आपके लिए हविर्द्रव्य का वहन नहीं करूँगी।"**

उक्त आख्यान से मन, तथा वाक् के स्वाभाविक स्वरूपों का ही विश्लेषण हुआ है। प्राणवाग्गर्भित मनोमय प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित है। यहाँ से–"**आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।**" इत्यादि शिक्षा–सिद्धान्त के अनुसार वायु के सहयोग से वर्णात्मिका ( शब्दात्मिका ) वैखरीवाक् का उद्गम होता है, जैसाकि पूर्व के सामिधेनी–ब्राह्मण में हिङ्कारानुगत–**नाद–श्रुति–स्वरूप–विश्लेषणात्मक सन्दर्भ** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। मानस ज्ञान ही इस वर्णवाक् का आधार बनता है। मानस ज्ञान के अनुरूप ही वर्णस्वरूप की निष्पत्ति होती है। फलतः मन इसका जनक है, वाक् इसकी पुत्री है। यही कारण है कि, सुषुप्त्यवस्था में जब मन विज्ञानात्मा ( बुद्धि ) के साथ मिल कर पुरीतति नाड़ी में चला जाता है, तो वाग्व्यापार अवरुद्ध होजाता है। मन को आलम्बन बनाए बिना वाग्व्यापार असम्भव है। उधर मन बिना वाक् के ( अनुष्टुप्–वाग्लक्षणा वैखरीवाक् के ) सहयोग के बिना भी ( परावाक् के सहयोग से ) स्वव्यापार ( संकल्प ) सञ्चालन में समर्थन होजाता है।

इन्हीं कतिपय कारणों से निश्चित है कि, मन–वाक् इन दोनों में वागपेक्षया मन ही ज्येष्ठ, तथा श्रेष्ठ है। "**प्रजापति ने यह निर्णय किया**" इस कथन का यही तात्पर्य्य है कि, मन की श्रेष्ठता का कारण उसका हृदयावच्छिन्न प्राजापत्य-धर्म्म ही है। **परिधि, हृदय**, दोनों में हृदय ही परिधि का मूलाधार, एवं प्रथम प्रवर्त्तक है। "**तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा**" * के अनुसार हृदयावच्छिन्न मनोमय अनिरुक्तप्रजापति ही वाङ्मय बहिर्म्मण्डल का प्रवर्त्तक, तथा आधार है। अनुष्टुप् वाक् का हृदय से बाहिर की ओर ही विकास होता है। वाक् की बहिर्गति है। फलतः हृदयावच्छिन्न मनोमय प्रजापति को वाग्व्यापार से कभी हव्य नहीं मिल सकता। कैसा महत्त्वपूर्ण समन्वय है। हमारा जितना भी वाग्व्यापार है, वह सब केवल बाह्य प्रपञ्च का ही उपोद्बलक है। कभी शब्दजाल से आत्मतुष्टि सम्भव नहीं है। क्योंकि पराङ्मुख शब्द की अन्तर्मुख हृद्य प्रजापति की ओर गति ही नहीं है।

**'नेति नेति' ही उसकी वास्तविक उपनिषत् है।** लोकदृष्टि से भी जो व्यक्ति अपने कर्म्म का वाग् के द्वारा बखान करते रहते हैं, निश्चयेन उनका कर्म्म आत्मसम्पत्ति से सर्वथा ही वञ्चित होजाता है। ऐसा कर्म्म निर्बल है। **सबल–सार्थक–वही कर्म्म माना जायगा, जो आत्मशक्ति से युक्त रहेगा। एवं आत्मशक्ति से वही कर्म्म युक्त रहेगा, जिसमें वाग्व्यापार का अधिकाधिक अभाव रहेगा। वाग्व्यापारसंकोच से मनोबल अधिकाधिक जितना हीं प्रवृद्ध बनेगा, कर्म्म में उतनी हीं अधिक बलवृद्धि होगी। अतएव कर्म्मसिद्धि के लिए, अपने कर्म्म को सुदृढ़–सफल–सत्य बनाने के लिए बिना उसका बखान किए चुपचाप ही कर्म्म का अनुगमन करना चाहिए। यही कर्म्मसिद्धि का अन्यतम द्वार है।**

---

* प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थौ भुवनानि विश्वा।
—यजुःसंहिता

पूर्वाघार मनोऽनुगत है, यहाँ वाग्व्यापार प्रकृत्या अवरुद्ध है । अतवए मनोऽनुतग पूर्वाघार उपांशु ही किया जाता है । न केवल मनोनुगत पूर्वाघार ही, अपितु यज्ञ में जितने भी प्राजापत्य कर्म्म विहित हैं, सब इसी सिद्धान्त के आधार पर उपांशु ही किए जाते हैं ॥८,९,१०,११,१२॥

हृदयावच्छिन्न मनोमय प्रजापति के लिए वाक् क्यों **'अहव्यावाट्'** बनी ?, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । श्रुति ने इसका समाधान यह किया है कि, **प्रजापति के निर्णय से वाक् का गर्भपात हो गया । अपमानिता वाक् ने आवेश में आकर यह निश्चय कर डाला कि, मैं प्रजापति के लिए हव्यवहन नहीं करूँगी** । वाक् के गर्भ का क्या स्वरूप ?, अपमान का क्या स्वरूप ?, इन प्रश्नों के समाधान के लिए सुप्रसिद्ध **धामच्छद अत्रिप्राण** की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । ऋक्–साम–तत्त्वों से नित्ययुक्त, **'यत्'** लक्षण ·तिमान् प्राण से अनुगृहीता **'जू'** लक्षणा सत्या–वाक् ही यच्चयावत् वाग्विवर्त्तों की जननी है । इसी वाक् से–**'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत'** ( शत० ६।१।१।१० ) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी का प्रादुर्भाव होता है । इस परमेष्ठी में **उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत**–भेद से **अङ्गिरा ( उष्ण ), भृगु ( शीत ), एवं अत्रि ( अनुष्णाशीत )**, इन तीन **'मनोता'** नामक तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है । **इनमें उष्ण अङ्गिरा देवसृष्टि का, शीत भृगु पितृसृष्टि का, एवं अनुष्णाशीत अत्रि भूतसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है । भूतसृष्टि धामच्छदा है, स्थाना–वरोधिनी है ( जगँह रोकती है ) । यह धामच्छदधर्म्म उसी अत्रि का धर्म्म है । यही वाक् का गर्भ है** । इसी गर्भ से यह वाक् हृदय की ओर न जाकर बहिर्म्मण्डल की ओर अनुगत होती है ।

मनः–प्राण–वाङ्मय आत्मा में मन ज्ञानात्मक बनता हुआ अधामच्छद है, प्राण क्रियात्मक बनता हुआ अधामच्छद है । परन्तु वाक् अर्थात्मिका बनती हुई धामच्छदा है । अपने अर्थधर्म्म से वाक् में तमोगुण का प्राधान्य होजाता है । **यह तमोभाग ही अत्रिभाग है**, जो कि वाक् का प्रातिस्विक वीर्य्य माना गया है । **इसी अत्रिलक्षण तमोभाग के समावेश से भूतसर्ग प्रवृत्त हुआ है** । ऋतुमती स्त्री में वाग्रेतोलक्षण इसी धामच्छद अत्रिप्राण का समावेश रहता है । अतएव ऋतुमती स्त्री **'आत्रेयी'** कहलाई है । अत्रिभाग तमोगुण प्रधान है, मलीमस है, अतएव रजस्वला **स्त्री असच्छूद्रवत् अस्पृश्या मानी गई है । श्रुति कहती है कि, जो आत्रेयी स्त्री का स्पर्श करता है, वह पापाभिभूत होजाता है** । **'चर्म्मन्'** शब्द प्राणीलक्षण चेतन भूतसर्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है, एवं **'यस्मिन् वा'** वाक्य प्राणलक्षण अचेतन भूतसर्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है । **चेतन भूत**, एवं **अचेतन भूत**, भूतात्मक उभयविध धामच्छदसर्ग वाग्–गर्भरूप अत्रि से ही समुद्भूत है । प्रकृत में इस अत्रि–मीमांसा से यही निष्कर्ष निकलता है कि, धामच्छद अत्रि के सम्बन्ध से वाक्तत्त्व अर्थप्रधान बनता हुआ बहिर्मुख ही बन जाता है । अर्थातीत हृद्यभाव की ओर इसका अनुगमन अवरुद्ध होजाता है । इसी अर्थमात्रा से इसका आत्मधर्म्मानुगत स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होरहा है । यही

इसका अपमानित होना है। अपमानलक्षणा अर्थगरिमा ही इसे प्राजापत्यानुगति से वञ्चित किए हुए है। 'वाक् का प्रजापति की ओर अनुगमन क्यों नहीं होता' इस प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥१३॥

## ( उत्तराघारकर्म्मसमाप्त )

## चौथे अध्याय में पाँचवाँ, तथा चौथे प्रपाठक में प्रथम ब्राह्मण समाप्त

## द्विब्राह्मणात्मक-'आघारब्राह्मण' समाप्त

## *चौथा अध्याय समाप्त*

## ४

श्रीः

इति–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—

प्रथमकाण्डे

चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः

४

श्रीः

# अथ--शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

## प्रथमकाण्डे

# पंचमोऽध्यायः

# ५

श्रीः

# शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यान्तर्गत--प्रथमकाण्डे

# पञ्चमोऽध्यायः

## —५—

### अथ–प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं चतुर्थप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणं उपक्रान्तम्

### "प्रवरब्राह्मणम्"

## २१—प्रवरणकर्म्म

### १--प्रवरायाश्रावणम्

( मूल )—स वै प्रवरायाश्रावयति । तद् यत् प्रवरायाश्रावयति–यज्ञो वा आश्रावणम् , यज्ञमभिव्याहृत्याथ होतारं प्रवृणै–इति । तस्मात्प्रवरायाश्रावयति ॥ १ ॥

स इध्मसन्नहनान्येवाभिपद्य–आश्रावयति । स यद् ह अनारभ्य यज्ञमध्वर्यु राश्रावयेद्–वेपनो वा ह स्याद्, अन्यां वाऽऽर्त्तिमार्च्छेत् ॥ २ ॥

तद्धैके वेदेः स्तीर्णायै बर्हिरभिपद्याश्रावयन्ति, इध्मस्य वा शकलमपच्छिद्याभिपद्याश्रावयन्ति–'इदं वै किञ्चिद् यज्ञस्य; इदं यज्ञमभिपद्याश्रावयामः' इति वदन्तः । तदु तथा न कुर्यात् । एतद् वै किञ्चिद् यज्ञस्य–यैरिध्मः सन्नद्धो भवति, अग्निं संमृजन्ति । तद्धे व खलु यज्ञमभिपद्याश्रावयति, तस्मादिध्मसन्नहनान्येवाभिपद्याश्रावयेत ॥ ३ ॥

## २—होतृप्रवरणम्

स आश्राव्य-य एव देवानां होता, समेवाग्रे प्रवृणीते-अग्निमेव । तद् अग्नये चैवेतद् देवेभ्यश्च निह्नुते । यद्हाऽग्निं प्रवृणीते-तद् अग्नये निह्नुते, अथ यो देवानां होता, तमग्रे प्रवृणीते, तद् देवेभ्यो निह्नुते ॥ ४ ॥

स आह-'अग्निर्देवो दैव्यो होता' इति । अग्निर्हि देवानां होता, तस्मादाह-'अग्निर्देवो दैव्यो होते' ति । तद् अग्नये चैवैतद् देवेभ्यश्च निह्नुते । यद्हाग्रेऽग्निमाह-तदग्नये निह्नुते । अथ यो देवानां होता-,तमग्रे आह-तद् देवेभ्यो निह्नुते ॥ ५ ॥

'देवान्यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान्' इति । एष वै देवाननु विद्वान्-यदग्निः । स एनाननु विद्वान्-यदग्निः । स एनाननु विद्वान् अनुष्ठ्या यक्षद्-इत्येवैतदाह ॥ ६ ॥

'मनुष्वद् भरतवद्' इति । मनुर्ह वा अग्रे यज्ञेनेजे, तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते, तस्मादाह-मनुष्वदिति । मनोर्यज्ञः-इत्यु वा आहुः, तस्माद्वेवाह-मनुष्वदिति ॥ ७ ॥

भरतवदिति-एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति, तस्याद्भरतोऽग्निरित्याहुः । एष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति, तस्माद्वेवाह-भरतवदिति ॥ ८ ॥

## ३--आर्षेयप्रवरणम् —

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनम्-एतद् देवेभ्यश्च निवेदयति-'अयं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापद्' इति, तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ९ ॥

परस्तादर्वाक् प्रवृणीते । परस्ताद्धि अर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते, ज्यायसस्पतय उ चैवैतन्निह्नुते । इदं हि-पितैवाग्रे, अथ पुत्रः, अथ पौत्रः । तस्मात्परस्तादर्वाक् प्रवृणीते ॥ १० ॥

## ४-अग्नि-ब्राह्मणा-नुग्रह-कर्म्म—

स आर्षेयमुक्त्वा आह-'ब्रह्मण्वद्' इति । ब्रह्म ह्यग्निः, तस्मादाह-ब्रह्मण्वदिति । 'आ च वक्षद्' इति । तद्या एवैतद् देवता आवोढवा आह, ता एवैतदाह-आ च वक्षदिति ॥ ११ ॥

'ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः' इति। एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारो येऽनूचानाः। एते ह्येनं तन्वते, एत एनं जनयन्ति। तदु तेभ्यो निह्नुते। तस्मादाह-ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार इति ॥ १२ ॥

५-मानुषहोतृवरणकर्म्म—

'असौ मानुषः'-इति तदिमं मानुषं होतारं प्रवृणीते। अहोता हैष पुरा, अथैतर्हि होता ॥ १३ ॥

६-स्वस्त्ययनजपः

स प्रवृतो होता जपति, देवता उपधावति। यथानुष्ठ्या देवेभ्यो हव्यं वहेद्, यथा न ह्वलेद्--एवं देवता उपधावति ॥ १४ ॥

तत्र जपति-'एतत्त्वा देव सवितर्वृणते' इति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति। स हि देवानां प्रसविता। 'अग्निं होत्राय' इति। तदग्नये चैवैतद् देवेभ्यश्च निह्नुते। यद-ह्याग्रेऽग्निमाह—तद् अग्नये निह्नुते। अथ यो देवानां होता-तमग्रे आह-तदु देवेभ्यो निह्नुते ॥ १५ ॥

'सह पित्रा वैश्वानरेण' इति। संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिः। तत्सम्वत्सरायैव एतत्प्रजापतये निह्नुते ॥ 'अग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद, प्र च यज' इति। अनुवक्ष्यन् वा एतद् यक्ष्यन् भवति; तदेताभ्य एवैतद् देवताभ्यो निह्नुते-'यूयमनुब्रूत, यूयं यजत' इति ॥१६॥

'वसूनां रातौ स्याम, रुद्राणाम् उर्व्याम्, स्वादित्या अदितये स्यामानेहसः' इति। एते वै त्रया देवाः-यद् वसवो रुद्रा आदित्याः। एतेषामभिगुप्तौ स्याम-इत्येवैतदाह ॥१७॥

'जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्' इति। जुष्टमद्य देवेभ्योऽनूच्यासमित्येवैतदाह। तद्धि समृद्धं-यो जुष्टं देवेभ्योऽनुब्रवत् ॥१८॥

'जुष्टां ब्रह्मभ्यः' इति। जुष्टामद्य ब्राह्मणेभ्योऽनूच्यासमित्येवतदाह। तद्धि समृद्धं-यो जुष्टं ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत् ॥१९॥

'जुष्टां नराशंसाय' इति। प्रजा वै नरः। तत्सर्वाभ्यः प्रजाभ्यः आह। तद्धि समृद्धम्। यश्च वेद, यश्च न, साध्वन्ववोचत्-साध्वन्ववोचद्-इत्येव विसृज्यन्ते 'यदद्य। होतृवर्ये जिह्मं चक्षुः परापतत्, अग्निष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिः' इति। यथा यानग्रेऽग्नीन् होत्राय प्रावृणत-ते प्राधन्वन्, एवं यन्मेऽत्र प्रवरेणामायि, तन्मे पुनराप्यायय-इत्येवैतदाह। तथो हास्यैतत्पुनराप्यायते ॥२०॥

## ७–सम्मर्शनकर्म्म—

अथाध्वर्युं चाग्नीध्रं च संमृशति । मनो वा अध्वर्युः वाग् होता । तन्मनश्चैवैतद् वाचं च सन्दधाति ॥२१॥

तत्र जपति–'**षण् मोर्वीरंहसस्पान्तु—अग्निश्च पृथिवी च आपश्च वाजश्च अहश्च रात्रिश्च**' इति । एता मा देवता आर्त्तेर्गोपायन्तु-इत्येवैतदाह । तस्यो हि न ह्वलास्ति–यमेता देवता आर्त्तेर्गोपायेयुः ॥२२॥

## ८–उपावर्त्तनकर्म्म—

अथ होतृषदनमुपावर्त्तते । स होतृषदनादेकं तृणं निरस्यति–'**निरस्तः परावसुः**' इति । परावसुर्ह वै नामासुराणां होता, स तमेवैतद् होतृषदनाद् निरस्यति ॥२३॥

अथ होतृषदने उपविशति '**इदमहमर्वावसोः सदने सीदामि**' इति । अर्वावसुर्वै नाम देवानां होता, तस्यैवैतत् सदने सीदति ॥२४॥

तत्र जपति–'**विश्वकर्म्मंस्तनूपा असि । मा मोदोषिष्टम्, मा मा हिंसिष्टम्, एष वां लोकः**' इति । उदङ् एजति । अन्तरा वा एतद्–आहवनीयं च गार्हपत्यं चास्ते । तदु ताभ्यां निह्नुते-मा–मोदोषिष्टम्-मा मा हिंसिष्टम्--इति । तथा हैनमेतौ न हिंस्तः ॥२५॥

## ९–अग्नीक्षणकर्म्म—

अथाग्निमीक्षमाणो जपति– '**विश्वेदेवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य । प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि**' ( ऋ० सं० १०. ५२. १ ) इति । यथा येभ्यः पक्वं स्यात् , तान् ब्रूयात् ,–'**अनु मा शास्त--यथा वऽ आहरिष्यामि, यथा व परिवेक्ष्यामि**' इति । एवमेवैतद् देवेषु प्रशासनमिच्छते– '**अनु मा शास्त,--यथा वोनुष्ठया वषट् कुर्याम् , अनुष्ठया हव्यं वहेयम्**' इति । तस्मादेवं जपति ॥२६॥

## इति–प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं
## चतुर्थप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणं
## उपरतम्
## प्रवरब्राह्मणात्मकम्

# मूलानुवाद—

## पाँचवें अध्याय में पहिला, तथा चौथे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण उपक्रान्त

## "प्रवरब्राह्मण"

## २१—प्रवरणकर्म्म

### १—आश्रावणकर्म्म—

(अनुवाद)-(आहवनीयाग्नि में ब्राह्मणानुगत सूत्रप्रदर्शित पद्धति-क्रमानुसार पूर्वोत्तराघारद्वय-सम्पादन के अनन्तर)वह (अध्वर्य्यु नामकऋत्विक् प्रवरकर्म्म के लिए ('होता' नामक ऋत्विक के वरण के लिए, "ओ श्रावय" इत्यादिरूप से) आश्रावण करता है। सो जो कि वह अध्वर्य्यु होता के वरण के लिए आश्रावण करता है (उस आश्रावणकर्म्म की उपपत्ति यही है कि), यह आश्रावण (यज्ञस्वरूपसम्पादक होने से) यज्ञ ही है। यज्ञ का आश्रय लेकर (ही) मैं होता का वरण करूँ, इसीलिए प्रवरकर्म्म के लिए आश्रावण करता है ॥ (१) ॥

वह अध्वर्य्यु इध्मसन्नहनों (यज्ञियकाष्ठसम्भार के बाँधने के तृणसमूहों) को ही लेकर आश्रावण करता है। वह अध्वर्य्यु यदि यज्ञ (यज्ञ की वस्तु) को न लेकर आश्रावण करेगा, तो वह निश्चयेन प्रथम तो कम्पित होजायगा, अथवा तो (पतनादिलक्षण) अन्य किसी पीड़ा का भागी बनेगा, (इसलिए इध्मसन्नहनरूप यज्ञ से सम्बन्ध करके ही आश्रावण करना चाहिए) ॥(२)॥

कितने एक याज्ञिक वेदि पर बिछे बर्हि को लेकर, अथवा इध्मकाष्ठ की वल्कल को इध्म से पृथक् कर उसे हाथ में लेकर आश्रावण करते हैं, और ऐसा करते हुए (वे अपने इस बर्हि, अथवा इध्मवल्कल-ग्रहण की उपपत्ति यह बतलाते हैं कि) यह बर्हि, अथवा इध्मवल्कल यज्ञ का ही कुछ भाग (यज्ञावयव होने से यज्ञरूप ही) है। हम इस यज्ञ को आश्रय बना कर ही आश्रावण करें। (भगवान् याज्ञवल्क्य इस सम्बन्ध में अपना निर्णय प्रकट करते हुए कहते हैं कि)-आश्रावणकर्म्म ऐसे (बर्हि, अथवा इध्मवल्कल लेकर) न करे। ये ही यज्ञ के निश्चयेन कुछ (भाग) हैं, जिन (तृणसमूहों) से काष्ठभार बाँधा जाता है, जिन से अग्निसम्मार्ज्जनकर्म्म करते हैं। (ऐसी दशा में इन इध्मसन्नहनों का ग्रहण करने से ही) निश्चयेन यज्ञ को आश्रय बनाकर आश्रावण करता है (आश्रावण करने में समर्थ होजाता है), अतः इध्मसन्नहनों को आश्रय बना-

कर ही आश्रावण करना चाहिए। (तात्पर्य्य यही है कि, जो प्रयोजन बर्हि, अथवा इध्मवल्कल-ग्रहण का है, वह प्रयोजन जब इध्मसन्नहन से गतार्थ होजाता है, साथ ही इध्मसन्नहनग्रहण जब पद्धति से अनुगृहीत है, तो ऐसी दशा में इध्मसन्नहनों को आश्रय न बनाकर बर्हि, अथवा इध्मवल्कल को आश्रय बना कर आश्रावण करना व्यर्थ, तथा पद्धतिविरुद्ध है) ॥(३)॥

**२—दिव्य होता (प्राणाग्नि) का वरण—**

(इसप्रकार इध्मसन्नहनों का ग्रहण कर **'ओ श्रावय'** इस रूप से ) वह अध्वर्य्यु आश्रावण कर ( अनन्तर ) जो कि देवताओं (प्राणदेवताओं) का होता है, सबसे पहिले उसी अग्नि का वरण करता है। ( सर्वप्रथम **'अग्नि'** नामक दिव्य होता का वरण करता हुआ यह अध्वर्य्यु ) अपने इस अग्निवरणकर्म्म से अग्नि के लिए, एवं देवताओं के लिए ही (अपने आपका) निह्नव (अपराध के लिए क्षमायाचना) करता है। जो कि सर्वप्रथम अग्नि को अपना लक्ष्य बनाता है (अग्नि का वरण करता है), इससे (तो) अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है, एवं जो देवताओं का होता है, उसे सर्वप्रथम अपना लक्ष्य बनाता है, इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। ( तात्पर्य्य यही है कि, जिस दिव्य अग्नि का अध्वर्य्यु सर्वप्रथम वरण करता है, वह स्वस्वरूप से अग्नि है, एवं दिव्य देवताओं का होता बनता हुआ सर्वदेवमूर्त्ति भी है। इसके वरण से अग्नि का प्रातिस्विक अग्निस्वरूप से भी निह्नव होजाता है, एवं होतृरूप से सर्वदेवस्वरूप से भी निह्नव होजाता है। इसप्रकार एक ही अग्नि के वरण से अग्नि, तथा देवता, दोनों से निह्नव होजाता है) ॥(४)॥

(उपपत्ति बतलाकर अब पद्धति बतलाते हैं)-वह अध्वर्य्यु-* **"अग्निर्देवो दैव्यो होता"** ( हे अग्ने ! आप देवता-द्युलोकस्थ दिव्य तत्त्व-हैं, साथ ही आप दिव्य देवताओं के दिव्य सम्वत्सरयज्ञ के होता हैं ) यह मन्त्र बोलता है। अग्निदेवता निश्चयेन 'होता' हैं, इसीलिए **'अग्निर्देवो दैव्यो होता'** यह कहा गया है। इस (मन्त्रभाग) से अग्नि के प्रति, तथा देवता के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सर्वप्रथम अग्नि का वरण करता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है, एवं जो देवताओं का होता है, उसके सर्वप्रथम वरण से देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥(५)॥

---

* **"अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान् मनुष्वद्भरतवत्"**
—इति निगदमन्त्रः।

(आगे का मन्त्रभाग है )-"**देवान् यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान्**" ( हे अग्ने ! अपने हौत्रकर्म्म के प्रभाव से-आप दिव्य प्राणदेवताओं को भलीभाँति पहिचानते हैं, इसी स्वरूपज्ञान के आधार पर आप देवताओं का यजन करने में समर्थ हुए हैं । ) ये निश्चयेन दिव्यप्राण देवताओं के ज्ञाता हैं, जो कि अग्नि हैं । वे अग्नि इन दिव्य-देवताओं को जानते हुए इनका यथाविधि यजन करें, (मन्त्रभाग से) यही कहा गया है ॥६॥

(आगे का मन्त्रभाग है)–"**मनुष्वद्भरतवत्**" ( हे अग्ने ! मनु की भाँति, तथा भरत की भाँति अपने हौत्रकर्म्म से हमारे इस यज्ञ को सुसम्पन्न बनाइए) । मनु ने हीं सर्वप्रथम यज्ञ के द्वारा (दिव्यप्राणों का पार्थिवप्राणों के साथ) यजन किया था । उस मानवयज्ञ को आधार बनाकर (अनुकरण कर के) ही ये (वर्त्तमान) प्रजाएँ यज्ञानुष्ठान करतीं हैं । इसी अभिप्राय से '**मनुष्वत्**' कहा है । अपिच (यज्ञसम्प्रदाय में यज्ञ के लिए यज्ञवेत्ता) '**यह मनु का यज्ञ है**' यह कहा करते हैं । इस अभिप्राय से भी '**मनुष्वत्**' यह कहा गया है । (तात्पर्य्य यही हुआ कि, यह यज्ञ मनुकृत यज्ञ की प्रतिकृति है, इस अभिप्राय से, तथा यह यज्ञ उस प्रसिद्ध मनुयज्ञ की भाँति महत्त्वपूर्ण है, इस अभिप्राय से '**मनुष्वत्**' कहना सुसङ्गत बन जाता है ) ॥(७)॥

(उक्त मन्त्रभाग में) '**भरतवत्**' यह पठित है । (इसका तात्पर्य्य यही है कि) यह (अग्नि) ही (दिव्यलोकस्थ प्राणात्मक) देवताओं के लिए (भूलोक से) हव्य लेजाते हैं । इसी हव्य-धारण-धर्म्म से ( अग्नि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग ) '**यह अग्नि भरत है**' यह कहा करते हैं। अपिच यही (प्राणविध अग्नि) प्राणरूप में परिणत होकर इन पार्थिव प्रजाओं का भरण-पोषण करता है, इसलिए भी '**भरतवत्**' यह कहा गया है । (तात्पर्य्य यही है कि, देवताओं के लिए **हविर्वहन** करने से भी ये अग्नि '**भरत**' हैं, एवं मानवप्रजावर्ग का प्राणरूप से भरण-पोषण करने से ' कहना अन्वर्थ बनता है) ॥८॥

## ३—आर्षेयप्रवरण (यजमानवरण)

[ दिव्यहोतृप्रवरणात्मक होतृप्रवरणकर्म्म के ] अनन्तर वह अध्वर्य्यु [ऋषिवंशपरम्परा से सम्बन्ध रखने वाले ऋषिवंशज अतएव] '**आर्षेय**' [ ऋषिवंशसम्बन्धी उस यजमान ] का वरण करता है । [अर्थात् दैवहोतृवरणानन्तर ऋषिवंशज मनुष्य यजमान का वरण करता है ] । मनुष्य-यजमानप्रवरणरूप आर्षेयप्रवरणकर्म्म से] वह अध्वर्य्यु ऋषियों, तथा देवताओं के प्रति ही इस [यजमान] को निवेदित करता है कि, [वास्तव में] यह [ यजमान ] बड़ा पुरुषार्थी है, जो कि यज्ञ को [यज्ञसम्पादन के लिए] प्राप्त [प्रवृत्त] हुआ है । इसी प्रयोजन के लिए आर्षेयवरण [यजमान-वरण] करता है ॥[९]॥

पर (पूर्वपीढ़ी) से अवर (उत्तरपीढ़ी) की ओर आर्षेय का वरण करता है। (अर्थात् पूर्व-पीढ़ी से आरम्भकर उत्तर पीढ़ी पर्य्यन्त व्याप्त यजमान के वंशजों का यशोगान करता है। (पर से अवर की ओर प्रवरण करने का कारण यही है कि)—पर से अवर की ओर ही सन्तानक्रम चलता है। (इसप्रकार परपुरुषों से अवरपुरुष पर्य्यन्त नामग्रहण) द्वारा (वह अध्वर्य्यु) उन वंशजों के प्रति किए गए (यजमान के) अपराध का ही शमन करता है। यह लोकप्रसिद्ध है-कि, (वंश-म्परा में) पहिले पिता (का स्थान) है, अनन्तर पुत्र (का स्थान) है, अनन्तर पौत्र (का स्थान) है। इसीलिए (स्वाभाविक प्राकृतिक सन्तानक्रम के आधार पर ही) पर से अवर की ओर वरण करता है ॥* (१०) ॥

## ४—अग्नि, तथा ब्राह्मणों की अनुग्रहप्राप्ति—

(इसप्रकार यजमान-सम्बन्धी वंशजों के नामोल्लेखात्मक) आर्षेय का उच्चारण करने के अन-न्तर वह अध्वर्य्यु **"ब्रह्मण्वत्"** (हे अग्ने! आप प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म से समतुलित हैं) यह मन्त्रभाग बोलता है। (यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा होने से) यह अग्नि **'ब्रह्म'** है। [किंवा इस यज्ञकर्म्म में प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म निश्चयेन अग्नि है।] इसी अभिप्राय से **'ब्रह्मण्वत्'** कहा है। [आगे का मन्त्रभाग है]— **"आ च वक्षत्"** [ऐसे ब्रह्मलक्षण हे अग्ने! आप यज्ञिय देवताओं का आह्वान करने वाले हैं]। जिन देवताओं को इस अग्नि के द्वारा इस यज्ञ में बुलाने के लिए कहा गया है प्रकृत— **'आ च वक्षत्'** इस मन्त्रभाग से उन्हीं की ओर सङ्केत हुआ है ॥ [११] ॥

[आगे का मन्त्रभाग है]—**"ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः"** [ये ब्राह्मण-ऋत्विक् इस यज्ञ के स्वरूप-सम्पादक हैं]। ये ब्राह्मण निश्चयेन यज्ञ के सञ्चालक, तथा रक्षक हैं, जो-कि त्रयीविद्या का **ग्रह, शस्त्र, एवं स्तोत्र रूप** से अनुवचन करने वाले हैं, ये ही ऋत्विग् ब्राह्मण इस यज्ञ को [त्रेताग्निरूप से] वितत करते हैं, ये ही अनूचान ब्राह्मण (आहुति के द्वारा) इस यज्ञ (यज्ञा-तिशयरूप दैवात्मा) को उत्पन्न करते हैं, (ये **ब्राह्मणा॰** इत्यादि मन्त्रोच्चारण के द्वारा) इन्हीं अनू-चान ऋत्विग् ब्राह्मणों के प्रति [अज्ञानतावश] किए गए अपराध का शमन करता है। इसी अभि-प्राय से **'ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः'** यह कहा गया है ॥ [१२] ॥

[इसप्रकार **'अमुवदमुवत्'** रूप से पहले अध्वर्य्यु आर्षेय वरण करता है, अनन्तर **'ब्रह्म-ण्वदा च वक्षत्'** रूप से अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है, अनन्तर--**'ब्राह्मणा**

* "अमुवदमुवत्" इति।

अस्य यज्ञस्य प्राविताऽ' इस मन्त्र से ऋत्विग्ब्राह्मणों के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है]।

५—मानुष होता का वरण—

[अनन्तर]—"असौ मानुषः" इस मन्त्रपाठ के द्वारा मनुष्य होता का वरण करता है। इस वरणकर्म्म से पहिले पहिले अबतक] यह [आज होतृत्त्वेन वृत यह मनुष्य] अहोता ही था, आज उक्त मन्त्रपाठरूप वरण से ही यह होता बना है ॥ [१३] ॥

६—स्वस्त्ययनजप--

[अध्वर्य्यु के द्वारा होने वाले 'असौ मानुषः' इस मन्त्रपाठात्मक वरणकर्म्म से होतृत्त्वेन] प्रवृत यह होता [वरणकर्म्मानन्तर स्वस्त्ययनलक्षण मन्त्रों का] जप [उच्चारणलक्षण पारायण] करता है। [इस जपकर्म्म से यह होता] प्राणदेवताओं का ही आश्रय ग्रहण करता है। जिसप्रकार याज्याकर्म्मकाल में वषट्कर्त्तव्यप्राणदेवता को लक्ष्य बना कर यथाविधि उनके लिए वषट्कार करने में समर्थ होसके, देवताओं के लिए यथाविधि हव्य-वहन करने में समर्थ होसके, कोई काम पद्धति के विरुद्ध न होजाय, इसी प्रयोजन के लिए जप के द्वारा यह होता देवता का आश्रय लेता है। [तात्पर्य्य यही है कि अपने हौत्रकर्म्म को निर्विघ्न-स्वतिभावपूर्वक-पूरा करने के लिए जप के द्वारा देव-बल प्राप्त करना हीं स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति है] ॥ [१४] ॥

स्वस्त्ययनजप की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं]--वह होता वहाँ [उस प्रक्रान्त वरणकर्म्मकाल में निम्न लिखित मन्त्र का] जप करता है--"एतत्त्वा देव सवितवृर्णते" [हे सविता देवते! मुझ मानुष होता के वरणव्याज से अध्वर्य्यु लोग आप ही का वरण कर रहे हैं]। इस मन्त्रजप से होता सविता की ओर ही उनकी अनुज्ञा के लिए अनुधावन करता है—अभिमुख होता है। वही [सविता ही] देवताओं का [देवताओं के यज्ञात्मक कर्म्म का] प्रेरयिता है। [तात्प--र्य्य यही है कि, अध्वर्य्यु ने जो मेरा वरण किया है, उसका उत्तरदायित्त्व उस प्राणात्मक सविता देवता पर ही है, जिसके अनुग्रह से मैं अपने हौत्रकर्म्म में सफल बन सकूँगा]। [आगे का मन्त्र भाग है]—"अग्निं होत्राय" [अध्वर्यु लोग हौत्रकर्म्म के लिए अग्नि का ही वरण करते हैं]। इस मन्त्रजप से यह मानुष होता अग्नि के प्रति, तथा अग्निमय प्राणदेवों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। जो कि सर्व्वप्रथम यह अग्नि को हौत्रकर्म्म का लक्ष्य बनाता है, इससे तो अग्नि के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है। एवं साथ ही जो अग्नि देवताओं का होता है, उसे प्रथम लक्ष्य बनाता है, इससे देवताओं के प्रति किए गए अपराध का शमन करता है ॥ [१५] ॥

आगे का मन्त्रभाग है )—"**सह पित्रा वैश्वानरेण**" (वे ऋत्विक् पिता वैश्वानर से युक्त अग्नि का वरण करते हैं) पिता वैश्वानर निश्चयेन ( सवनयत्रयात्मक यज्ञमूर्त्ति ) सम्वत्सर है, जो कि (सम्वत्सर) प्रजापति है। अतः ('**सह पित्रा वैश्वानरेण**' इस मन्त्रजप के द्वारा) यह होता सम्वत्सरप्रजापति के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। ( आगे का मन्त्रभाग है )—"**अग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद, प्र च यज**" (हे अग्ने ! हे पूषन् ! हे बृहस्पते ! आप ही प्रवचन कीजिए, आप ही यजन कीजिए)। वह होता '**अनुवाक्या**' नामक ऋचाओं का उच्चारण करेगा एवं इस अनुवचनकर्म्मपूर्वक '**याज्या**' नामक ऋचाओं से देवताओं का यजन करेगा। जिन देवताओं के लिए यह **अनुवचन,** तथा **यजन** करने वाला है, उक्त मन्त्रजप के द्वारा) वह होता इन देवताओं के प्रति गिए गए अपराध का ही शमन करता है। ( मन्त्रद्वारा अपना उत्तरदायित्त्व हटाता हुआ यही भाव व्यक्त कर रहा है कि) हे देवताओ ! आप ही अनुवचन कीजिए, एवं आप- ही याज्या कीजिए। (अर्थात् मैं अनुवचन, यजन नहीं कर रहा, अपितु देवता ही यह कर्म्म मुझ से करवा रहे हैं) ॥ (१६) ॥

( आगे का मन्त्रभाग है )–"**वसूनां रातौ स्याम, रुद्राणामुर्वायां, स्वादित्या अदितये स्यामनेहसः**" (हम इस स्वस्त्ययनजपलक्षण कर्म्म से वसुदेवताओं की सम्पत्ति में प्रतिष्ठित हों, आदित्यदेवता हमारे लिए सुप्रतिष्ठात्मक बनें, त्रिदेवाधारभूता अदिति के लिए हम निर्दोष बनें रहें)। निश्चयेन (सम्वत्सर-त्रिलोकी में) ये तीन ही (मुख्य-अतिष्ठावा) देव हैं, जो कि वसु-रुद्र आदित्य (नाम से प्रसिद्ध) हैं। "हम (यज्ञद्वारा सम्वत्सर-सम्पत्ति को प्राप्त करते हुए) इन्हीं तीनों की रक्षा में प्रतिष्ठित रहें" मन्त्र से यही कया गया है ॥(१७)॥

(आगे का मन्त्रभाग है)—"**जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्**" (हम इस यज्ञकर्म्म में देवताओं के लिए उनके लिए सेवनीय-अनुकूल-वाक् का प्रयोग करें) 'आज हम देवताओं के लिए शोभनवाणी बोलने में असमर्थ हों, मन्त्र से यही कहा गया है। वही [यज्ञ के लिए] समृद्ध [समृद्धिप्राप्ति का कारण] है, जो कि देवताओं के लिए [ होता ] शोभन-प्रिय-वाणी का उच्चारण करता है ॥ [१८] ॥

[आगे का मन्त्रभाग है]—"**जुष्टां ब्रह्मभ्यः**" [यज्ञ में उपस्थित ऋत्विजादि ब्राह्मणवर्ग के लिए मैं प्रियवाणी का प्रयोग करूँ]। "मै ब्राह्मणों के लिए शान्ता-अनुद्वेगकरी प्रियभाषा का प्रयोग करूँ, मन्त्र से यही कहा गया है। वहीं समृद्ध है, जो कि ब्राह्मणों के लिए प्रियवाणी बोलता है ॥ [१९] ॥

[आगे का मन्त्रभाग है]—"जुष्टां नराशंसाय" [यज्ञ में दर्शकरूपेण उपस्थित इतर द्विजाति प्रजावर्ग के लिए मैं प्रिय वाणी बोलूँ]। नर निश्चयेन प्रजा है। मन्त्रभाग से सर्वसाधारण सम्पूर्ण प्रजा के लिए [प्रिय भाषण करने के लिए ही] कहा गया है। वही समृद्ध है, [जिस कर्म्म को लक्ष्य बनाकर] जो इस कर्म्म को जानता [देखता] है, जो नहीं जानता [देखता] है, सभी बड़ा साधुकर्म्म है, बड़ा साधु कर्म्म है, इस प्रियभाषा का प्रयोग किया करते हैं। [सभी जिस कर्म्म की प्रशंसा करें, वही कर्म्म वास्तव में समृद्ध माना जाता है, यही तात्पर्य्य है]। [सर्वान्त में निम्न लिखित ऋङ्मन्त्र का जप करता है]—

"यदद्य होतृवर्ये जिह्मं चक्षुः परापतत्।
अग्निष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिः॥"

"आज इस होतृवरणकर्म्म में जिस किसी की भी कुटिल दृष्टि पड़ गई है-[जिस कुटिल दृष्टि से हौत्रकर्म्म का स्वरूप विकृत हो गया है]-जातवेदा, विचर्षणि अग्निदेवता उस का पुनः सन्धान कर दें"। [मन्त्रतात्पर्य्य का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है] जिसप्रकार जिन [तीन आप्त्या नामक] अग्नियों का पहिले वरण किया था, वे [भय से] पलायित होगए थे, इसीप्रकार इस होतृवरणकर्म्म में मेरा जो कुछ [यज्ञसम्पद्भाग कुटिलदृष्टि-निक्षेप से] पलायित होगया है, हे अग्ने! आप उस की पुनः क्षतिपूर्त्ति कर दिजिए, मन्त्र के द्वारा यही कहा गया है। इसप्रकार सत्यभावनात्मक उक्त मन्त्रप्रयोग के द्वारा अवश्यमेव इस का वह क्षतभाग पुनः आप्यायित होजाता है॥ [२०]॥

### ७-सम्मर्शन (स्पर्श) कर्म्म-

[उक्त मन्त्र-परम्पराजप के] अनन्तर वह होता अध्वर्य्यु, तथा आग्नीध्र का स्पर्श करता है। अध्वर्य्यु [निदानेन] मन है, एवं होता [निदानेन] वाक् है। [आग्नीध्र निदानेन प्राणात्मक है]। ऐसी स्थिति में वाग्रूप अध्वर्यु, तथा प्राणरूप आग्नीध्र का स्पर्श करता हुआ] मन, तथा वाक् [प्राण-का भी] का परस्पर सन्धान [मेल] करता है॥ [२१]॥

[मनः प्राण-वाक्-संधानात्मक स्पर्शकर्म्मानन्तर वह होता पुनः अन्वारब्ध] जपकर्म्म का अनुगमन करता है। [जपमन्त्र है] 'पण्मोर्वीरंहसस्पान्तु-अग्निश्च, पृथिवी च, आपश्च, वाजश्च, अहश्च, रात्रिश्च' [अग्नि, पृथिवी, जल, अन्न, दिन, रात, महत्त्वशाली ये ६ ओं देवता मेरी दुरिष्टभाव से रक्षा करें]। ये ६ ओं देवता आपत्तियों से मेरी रक्षा करें, मन्त्रभाग से यही कहा गया है। उस व्यक्ति के लिए आपत्ति की अणुमात्र भी आशङ्का नहीं है, जिस की ये अग्न्यादि ६ ओं देवता आपत्तियों से रक्षा करते रहते हैं॥[२२]॥

ट–उपावर्त्तनकर्म्म—

[उक्त मन्त्रजपानन्तर जपस्थान से] वह होता होतृषदन [स्वस्थान] की ओर लौट आता है। वहाँ आकार होतृषदन से एक दर्भतृण लेकर–"निरस्तः परावसुः" (परावसु नामक असुर यज्ञ से निकल गया) यह मन्त्र बोलता हुआ [उस तृण को दक्षिण की ओर] फेंक देता है। परावसु नामक [असुरवंशज व्यक्ति] असुरों का 'होता' था। [तृणनिरसनव्याज से] वह होता इसे ही होतृ-षदन से बाहिर निकालता है ॥[२३]॥

तृणनिरसनानन्तर वह होता होतृषदनस्थान में–"इदमहमर्वावसोः सदने सीदामि" [मैं अर्वावसु के स्थान में बैठता हूँ] यह मन्त्र बोलता हुआ बैठता है। अर्वावसु नामक [देववंशज व्यक्ति] देवताओं का 'होता' था। [आज] होता उसी के स्थान में बैठता है ॥ [२४] ॥

(होतृषदन–स्थान पर बैठ कर वह होता निम्न लिखित) मन्त्र का जप करता है—'विश्वकर्म्मस्तनूपा असि' (हे विश्वकर्म्मन्! आप शरीर की रक्षा करने वाले हैं)। अनन्तर 'मा मोदोषिष्टं, मा मा हिंसिष्टं एष वां लोकः' (हे गार्हपत्याग्ने!, आहवनीयाग्ने! आप मेरे शरीर को अतिशयरूप से ताप न पहुँचाइए, आप मेरी हिंसा न कीजिए, क्योंकि यह आपका लोक है। मैंने जब इसीका आश्रय लिया है, तो भला उस दशा में आप क्यों मुझे त्रास देंगे) इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ स्वस्थानरूप होतृषसदनस्थान से उत्तर की ओर मुख करता हुआ थोड़ा सा चलता है। इसप्रकार यह होता आहवनीय, तथा गर्हपत्य, दोनों के मध्यस्थान में प्रति-ष्ठित है। अतः मन्त्रजप के द्वारा इन दोनों के प्रति किए गए अपराध का ही शमन करता है। इससे ये दोनों इसे पीड़ा नहीं पहुँचाते ॥ (२५) ॥

६—अग्निदर्शनकर्म्म—

(ईषदुत्तरतश्चलना) नन्तर वह होता आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ निम्न-लिखित मन्त्र का जप करता है—

"विश्वेदेवाः ऽस्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य।
प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्य मा वो वहानि ॥
—ऋक्सं० १०।५२।१।

"हे विश्वेदेवो! आप मुझे आज्ञा दीजिए कि, जिसप्रकार इस यज्ञ में होता बनता हुआ–होतृत्त्वेन वृत होता हुआ–यहाँ प्रतिष्ठित होकर आपका यजन करूँ। साथ ही मुझे उन देवभागों

को बतलाइए, जिन्हें मैं यथानियत मार्ग से आपके लिए पहुँचा सकूँ। (लोकदृष्टान्त से मन्त्र-तात्पर्य्य का समन्वय करती हुई श्रुति कहती है कि,) लोक में जिन अतिथियों के लिए पाचक के द्वारा पक (अन्न) होता है, सम्पन्न होजाने पर पाचक उन भोजन करने वालों से पूँछता है कि, भोजन सम्पन्न है, आज्ञा दीजिए, आपके लिए ले आऊँ, परोस दूँ। ठीक इसी लोकमर्य्यादा के अनुसार यह होता (स्वप्रदत्त हव्य के सम्बन्ध में हव्यग्राहक) देवताओं की (इस रूप से) आज्ञा (ही) चाहता है कि–आज्ञा दीजिए, मैं आपके लिए यथाविधि वषट्कार करूँ, विधिपूर्वक हवि का वहन करू। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उक्तरूप से मन्त्रजप करता है ॥२६॥

## इति–स्वस्त्ययनजपः

## पाँचवें अध्याय में पहिला, तथा चौथे प्रपाठक में दूसरा ब्राह्मण समाप्त

## "प्रवरणब्राह्मण" अत्र उपरत

## मूलानुवाद समाप्त

—–*—–

## सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः—

"आहवनीयाग्नि के दक्षिण भूप्रदेश में खड़े होकर आहवनीयाग्निज्वाला में समन्त्रक वागनुगत उत्तराघार करने के अनन्तर (जुहूस्थित आज्य की अविच्छिन्न धारारूप से आहुति देने के अनन्तर ) वह अध्वर्य्यु आहवनीय से पश्चिम भाग में लौट आता है । वहाँ आकर उपभृत् से असंस्पृष्ट जुहू के आज्यशेष का ध्रुवापात्रस्थ आज्य से सम्बन्ध करा देता है" यह इतिकर्त्तव्यता पूर्वसूत्र से (३।२।२) प्रतिपादित हुई है । अब क्रमप्राप्त सूत्रानुगत आगे की इतिकर्त्तव्यता बतलाई जाती है । जुहूस्थित आज्यशेष का ध्रुवास्थित आज्य के साथ समञ्जन कराने के अनन्तर, दूसरे शब्दों में पूर्वोत्तराघारद्वय की इतिकर्त्तव्यता समाप्त करने के अनन्तर वह अध्वर्य्यु उपभृत, जुहू, नाम के दोनों स्रुक्पात्रों को स्वस्थान में (उनके लिए पहिले से नियत स्थान में ) रख देता है । इसप्रकार स्रुक्पात्रद्वयी के यथास्थान रखने के अनन्तर वह अध्वर्य्यु होता से उत्तरमार्ग के द्वारा निकल कर उत्करकुण्ड के पश्चिम भाग की ओर पूर्वाभिमुख खड़ा होकर इध्मसन्नहनों ( काष्ठ बाँधने के दर्भतृणों ) को अपने हाथ में लेता हुआ--"**ओ श्रावय**" इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है ।

ऋषिवंशसम्बन्धी, अतएव '**आर्षेय**' कहलाने वाले यज्ञकर्त्ता यजमान के वंश का कीर्त्तन करने के उद्देश्य से ही '**ओ श्रावय**' मन्त्र का उच्चारण होता है । इसका तात्पर्य्य यही निकलता है कि, हे आग्नीध्र ! अब तुम यजमान की दिव्य देवताओं के प्रति सुनवाई करो । अध्वर्य्यु के मुख से निकलते हुए '**ओ श्रावय**' लक्षण '**आश्रावण**' की सफलता सूचित करता हुआ आग्नीध्र नामक ऋत्विक् अध्वर्य्यु से उत्तर दक्षिणाभिमुख खड़ा हुआ स्फ्य, तथा इध्मसन्नहनतृण हाथ में लेकर बोलता है—"**अस्तु श्रौषट्**" । अध्वर्य्युकृत 'ओ श्रावय' कर्म्म '**आश्रावण**' कर्म्म है, एवं आग्नीध्रकृत 'अस्तु श्रौषट्' कर्म्म '**प्रत्याश्रावण**' कर्म्म है । यह आश्रावण, तथा प्रत्याश्रावण कर्म्म यज्ञसम्बन्ध को प्रक्रान्त रखने के लिए इध्मसन्नहनों को हाथ में लिए ही करना चाहिए । कितने एक याज्ञिक यज्ञसम्बन्ध की प्रक्रान्ति के लिए वेदि पर बिछे दर्भतृण को, अथवा इध्म की वल्कल को उखाड़ उसे हाथ में लेकर आश्रावण-प्रत्याश्रावण करते हैं, जिस पक्ष का कि, शातपथीश्रुति ने खण्डन किया है । इसप्रकार प्रवरणकर्म्म में सर्वत्र अध्वर्य्यु आश्रावण करता है, आग्नीध्र प्रत्याश्रावण करता है । कर्काचार्य्य का इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण और है कि, इध्मसन्नहनग्रहण केवल होतृवरण-सम्बन्धी आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म में हीं होता है । आश्रावण प्रत्याश्रावण की इसी इतिकर्त्तव्यता का निम्न लिखित सूत्रचतुष्टयी से स्पष्टीकरण हुआ है—

(१)—"निधायेध्मसन्नहनान्यादा-'यो श्रावये' त्याह" (क० श्रौ० सू० ३।२।३।)।

(२)—'अस्तु श्रौषडित्यग्नीत्" का० ३।२।४।)।

(३)—"वेदिर्बर्हिरिध्मशकलमपिच्छिद्यैके" (का० ३।२।५।)।

(४)—"एवं सर्वत्राऽऽश्रुत-प्रत्याश्रुतेषु" (का० ३।२।६।)।

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्मानन्तर वह अध्वर्य्यु इध्मसन्नहनतृणों को अपने हाथ में रखता हुआ ही दिव्याग्निलक्षण होता का अपने इस यज्ञ में-"अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान्मनुष्वद्भरतवत्" इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता हुआ वरण करता है। इस-प्रकार सर्वप्रथम दिव्याग्नि का ही वरण किया जाता है, जिस वरणकर्म्म का निम्न लिखित सूत्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"अथ प्रवृणीते-ऽग्निर्देवो दैव्यो होता देवान्यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान्-मनुष्वद्भरतवत्" (का० ३।२।७।) इति।

दिव्याग्नि का इसप्रकार होतृत्त्वेन वरण करने के अनन्तर आर्षेय-यजमान का नामग्रहण पूर्वक वरण करता है। यजमान के सम्बन्ध से ही त्रिसंस्थ ये आर्षेय **'यजमानार्षेय'** कहलाए हैं। पर से इस ओर **'गोतमवत्-भरवत्-अङ्गिरोवत्'** इत्यादि रूप से-**'कश्यपवत्-अवत्सारवत्--नैध्रुववत्'** इत्यादि रूप से,-**'भृगुवत्--च्यवनवत, अप्नवानवत्'** इत्यादि रूप से **गौतम, कश्यप, भृगु, भरद्वाजादि,** यजमान-गोत्रानुसार यजमान के तीनों वंशजों का निगदमन्त्रात्मकत्त्वेन उच्चारण करता है। अथवा यजमानकुल में जितने भी मन्त्रद्रष्टा प्रवराध्याय में उपवर्णित हैं, उन सब का नाम लिया जासकता है। किसी का मन्त्रकृत एक ऋषि है, वही एक प्रवर कहलाया है। किसी के दो मन्त्रकृत हैं, किसी के तीन हैं, किसी के चार, किसी के पाँच हैं। वे क्रमशः **एकप्रवर, द्विप्रवर, त्रिःप्रवर, चतुष्प्रवर, पञ्चप्रवर,** कहलाए हैं। जिसके जितने प्रवर हैं, उन सब का भी वरण करना पक्षान्तर है, यही तात्पर्य्य है। दोनों पक्षों के सम्बन्ध में निष्कर्ष यही है कि, आर्षेय प्रवरण में-**'आर्षेयं वृणीते'** यह कह कर भगवान आपस्तम्ब ने कहा है---**एकं वृणीते, द्वौ वृणीते, त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते, न पञ्चातिवृणीते'** ( आप० श्रौ० २।१६।८। )। यदि सूत्रगत त्रिःपक्ष को विधिपरक मान लिया जाता है, तो तीन का ही वरण न्यायप्राप्त होता है, एवं यही कात्यायन का प्रथम पक्ष है। यदि **'आर्षेयं वृणीते'** इसे विधि-परक माना जाता है, तो सभी मन्त्र-द्रष्टाओं का वरण प्राप्त होजाता है, एवं यही कात्यायन का उत्तरपक्ष है।

अभिषिक्त क्षत्रिय [ राजा ], अनभिषिक्त क्षत्रिय, तथा वैश्य, इन तीनों में वरणकर्म्मानुगता इति-कर्त्तव्यता कुछ विशेषता रखती है। यदि अभिषिक्त क्षत्रिय यज्ञ कर रहा है, तो अध्वर्य्यु उस क्षत्रिय राजा के कुलपुरोहित के आर्षेयों का भी वरण कर सकता है, अथवा स्वयं राजा के आर्षेयों का भी वरण कर सकता है। यदि अनभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय का, तथा वैश्य का यज्ञ है, तो उस अवस्था में प्रत्येक दशा में इन के कुल-पुरोहितों के आर्षेयों का ही वरण होता है। एक पक्ष यह भी है कि – ब्राह्मण, अभिषिक्त क्षत्रिय राजा, अनिभिषिक्त सामान्य क्षत्रिय-वैश्य, सबका 'मनुवत्' इस निगद मन्त्र के द्वारा भी आर्षेयवरण किया जासकता है। निम्न लिखित सूत्रपञ्चक से इसी आर्षेय-वरणकर्म्म का स्पष्टीकरण हुआ है--

( १ )—'अमुवदमुव' दिति यजमानार्षेयाण्याह परस्तादर्वाञ्चि त्रीणि' ( का० ३।२।८। ) ।

( २ )—'यावन्तो वा मन्त्रकृतः' ( का० ३।२।८। ) ।

( ३ )—'पुरोहितार्षेयेण वा' ( का० ३।२।६। ) ।

( ४ )—'क्षत्रिय-वैश्ययोश्च नित्यम्' ( का० ३।२।१०। ) ।

( ५ )—'मनुव' दिति वा सर्वेषाम्' ( का० ३।२।१२। ) ।

उक्त प्रकार से आर्षेयोच्चारणानन्तर यह अध्वर्य्यु 'ब्रह्मण्वदा च वक्षद् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः' इस निगदशेषमन्त्र का उच्चारण करता है। अनन्तर—'मुक्तरक्त—शर्म्मा होता मानुषः' (असौ मानुषः') यह बोलता है। यह उच्चारण मानुष होता का ही वरण साधक है। मानुष होता का उच्चस्वर से नाम बोलना एक पक्ष है, धीरे से (उपांशुरूप से) नामोच्चारण करना पक्षान्तर है। इसप्रकार मानुष-होतृवरणानन्तर वह होता (मानुष होता) 'एतत्त्वा देव सवितर्वृणीते०' इत्यादि [ शतपथब्राह्मणोक्त स्वस्त्ययनजप करने के अनन्तर ] अध्वर्य्यु, तथा आग्नीध्र दोनों के स्कन्ध * प्रदेश का स्पर्श करता है। स्पर्शानन्तर अध्वर्य्यु, तथा आग्नीध्र, दोनों यथा-स्थान बैठ जाते हैं। इसी इतिकर्त्तव्यता का उल्लेख करतेहुए सूत्रकार कहते हैं—

( १ )—'ब्रह्मण्वदा च वक्षद् ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारोऽसौ मानुषः' इति होतृनामग्रहणम् ( का० ३।२।१३। ) ।

( २ )—'उपांशु वा' ( का० ३।२।१४। ) ।

( ३ )—'सम्मृश्य उपविशतः' ( का० ३।२।१५। ) ।

## इति सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

---

* "अंसेऽध्वर्य्युमन्वारभेत-पार्श्वस्थेन पाणिना, आग्नीध्रमङ्कदेशेन"
—आ० श्रौ० सू० १।३।२।५।२६।

# वैज्ञानिक-विवेचना —

## १—आश्रावणकर्म्मोपपत्तिः—

(भाष्य)–उत्तराघार–कर्म्मानन्तर जुहूस्थित आज्यशेष का ध्रुवास्थित आज्य से समञ्जन कराया जाता है, अनन्तर जुहू-उपभृत् नामक दोनों स्रुक्पात्रों को यथास्थान रख दिया जाता है। इस कर्म्म के अनन्तर वरणकर्म्म आरम्भ होने वाला है। जिन दर्भतृणसमूहों से यज्ञिय इध्म ( काष्ठ ) बाँधे जाते हैं, वह तृणसमष्टि **'इध्म–सन्नहन'** नाम से व्यहृत हुई है। इसे अपने हाथ में लेकर ही अध्वर्यु, तथा आग्नीध्र नामक ऋत्विक, आश्रावण–कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी करते हैं। पहले अध्वर्यु **'ओ श्रावय'** इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है, अनन्तर आग्नीध्र **'अस्तु श्रौषट्'** इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता है, यही प्रत्याश्रावणानुगत आश्रावणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता है, जैसा कि सूत्रानुगत-पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। ब्राह्मण की १, २, ३, इन तीन कण्डिकाओं में उपपत्ति-प्रदर्शनपूर्वक इस आश्रावणकर्म्म का ही प्रतिपादन हुआ है।

वरणकर्म्म से पहिले आश्रावण क्यों किया जाता है ?, इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है-**'यह आश्रावण कर्म निश्चयेन यज्ञ है'**। वरणकर्म्म से वृत ऋत्विजों के द्वारा यज्ञेतिकर्त्तव्यता का ही सम्पादन अभीष्ट है। दूसरे शब्दों में वरणकर्म्म एकप्रकार का यज्ञाधिकार ( यज्ञेतिकर्त्तव्यता–निर्वाहा–धिकार )–प्रदान है। इस यज्ञाधिकार-प्रदानलक्षण वरणकर्म्म के उपक्रम में प्राकृतिक यज्ञ का सम्बन्ध अपेक्षित है। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए आश्रावणात्मक यज्ञ का वरणकर्म्म से पहिले अनुगमन किया जाता है। **'ओ श्रावय'** इस निगदमन्त्र का तात्पर्य्य यही है कि, जिसका आज हम इस यज्ञ में वरण करना चाहते हैं, उसे प्राकृतिक देवता स्वीकार करलें। **इसे हम आपके यजनरूप यज्ञकर्म्म के लिए आज होता बना रहे हैं"** यही आश्रावण का निष्कर्ष है। आङ्गिरस पार्थिव प्राण–देवताओं का आहुति–द्रव्य के द्वारा सावित्र-द्युलोकस्थ प्राण–देवताओं के साथ अन्तर्य्याम–सम्बन्धात्मक यजन करना हीं 'यज्ञ' है। आश्रावणकर्म्म से दिव्य प्राणदेवताओं की दृष्टि क्योंकि इस यज्ञकर्म्म की ओर होजाती है, एतावता ही देवप्राणाकर्षकरूप आश्रा-वण को यज्ञ कहा जासकता है। इसप्रकार आश्रावणकर्म्म करना दिव्यप्राणात्मक यज्ञ का ही अनुगमन करना है। जिसकी स्वरूप–निष्पत्ति के लिए वरणकर्म्म अभीष्ट है, आश्रावणकर्म्म से वह लक्ष्यीभूत वन जाता है। अतएव वरण से पहिले आश्रावणकर्म्म आवश्यक बन जाता है॥ १॥

जिन दर्भतृणसमूहों से ( दर्भरज्जु से ) यज्ञिय इध्म-काष्ठ बाँधे जाते है, वे **'इध्मसन्नहन'** ( लकड़ी बाँधने की दर्भरज्जु ) नाम से व्यवहृत हुए हैं। वेदि पर जो तृण आदि गिर पड़ते हैं, उन्हें इसी दर्भरज्जु से हटाया जाता है। इस दरर्भज्जु को हाथ में लेकर ही अध्वर्यु आश्रावणकर्म्म करता है। यह आश्रावणकर्म्म इध्मसन्नहन हाथ में लेकर क्यों किया जाता है ?, इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, "यदि वह अध्वर्यु यज्ञात्मक इस इध्मसन्नहन को आलम्बन बनाए विना आश्रावण करेगा, तो इसकी अध्यात्मसंस्था कम्पित होजायगी, अथवा और किसी विपत्ति का इसे सामना करना पड़ेगा"।

द्युलोस्थ प्राण–देवताओं का आकर्षणात्मक आश्रावण–कर्म्म 'यज्ञ' है, जैसा कि पूर्व कण्डिका में स्पष्ट किया जाचुका है। **'यज्ञात्मक आश्रावणकर्म्म यज्ञ को आलम्बन बना कर ही करना चाहिए'**

इस कथन से श्रुति इध्मसन्नहन को भी यज्ञात्मक बतला रही है। तात्पर्य्य इस कथन का यही है कि, यज्ञतत्त्व अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत-भेद से तीन भागों में विभक्त है। **सौरसम्वत्सरावच्छिन्न, सावित्राग्न-पारमेष्ठ्यसोमात्मक, द्युलोकोपलक्षित यज्ञ 'आधिदैविक यज्ञ' है। पार्थिवसम्वत्सरावच्छिन्न, आङ्गिरसाग्नि-चान्द्रसोमात्मक, भूलोकोपलक्षित यज्ञ 'आधिभौतिक यज्ञ' है। एवं वैश्वानराग्नि, तथा अन्नसोमात्मक-शरीर यज्ञ ही-आध्यात्मिक-यज्ञ है। आश्रावणकर्म्म द्युदेवताकर्षक बनता हुआ आधिदैविकयज्ञ है, आश्रावणकर्त्ता अध्वर्य्यु आध्यात्मिक यज्ञ है। एवं इध्म-सन्नहन निदानेन आधिभौतिक यज्ञ है।** साथ ही विष्णुयज्ञात्मक पारमेष्ठ्य अपतत्त्व के ज्योतिर्म्मय भाग से उत्पन्न होने के कारण दर्भ साक्षाद्‌रूप से भी पार्थिव यज्ञ है। इधर **'अद्भ्यः पृथिवी'** सिद्धान्तानुसार अप्‌तत्त्व से उत्पन्न पार्थिवयज्ञ अन्नात्मक [ वेनात्मक ] दर्भ का सजातीय भी है।

जबतक अध्यात्मयज्ञ इस ओर के पार्थिव [ आधिभौतिक ], एवं उस ओर के दिव्य [ आधिदैविक ] यज्ञ, दोनों से अनुगृहीत रहता है, तभीतक इसका स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। दोनों में भी पार्थिवशरीर-प्रधाना अध्यात्मसंस्था की प्रधान प्रतिष्ठा आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ ही है। इस प्रतिष्ठा के निकल जाने से ही निधनावस्था का आगमन होता है, प्रतिष्ठाविच्युति से ही इस पर अन्यान्य विपत्तियाँ आक्रमण करतीं हैं। जब पार्थिवी यज्ञप्रतिष्ठा उच्छिन्न होजाती है, तो केवल द्युलोकाकर्षण का प्राधान्य रह जाता है। द्युलोकाकर्षण का प्राधान्य ही पार्थिवप्रतिष्ठोच्छेद का कारण है। यावदायुर्भोगपर्य्यन्त उभयानुग्रहप्राप्ति के लिए ही **द्युलोक-स्थानीय आहवनीय,** तथा **भूलोकस्थानीय गार्हपत्य,** दोनों के मध्य में खड़े होकर **'अप उपस्पर्श [ आचमन ]** कर्म्म किया जाता है, जैसा कि,—**"व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाहवनीयञ्च गार्हपत्यञ्च प्राङ्-तिष्ठन्नप उपस्पृशति"** [ शत० १।१।१।१। ] इत्यादि रूप से विस्तार से बतलाया जाचुका है। ठीक वही प्रयोजन यहाँ अपेक्षित है। यदि अध्वर्य्यु पार्थिव यज्ञ को आलम्बन बनाए बिना द्युलोकानुगत आधिदैविक यज्ञ-संग्राहक आश्रावणकर्म्म करेगा, तो विशुद्ध दिव्ययज्ञ के प्राधान्य से इसकी पार्थिवी यज्ञप्रतिष्ठा पर आघात होगा। फलतः प्रतिष्ठाविच्युति होजायगी, अथवा तो अन्य किसी विपत्ति का अनुगमन करना पड़ेगा। इस आपत्ति से बचने के लिए आश्रावणकर्म्म करते समय [आधिदैविक यज्ञसम्पत्ति-संग्रह करते समय] पार्थिवी प्रतिष्ठा को आलम्बन बनाना आवश्यक होजाता है। इसी उद्देश्य से इध्मसन्नहन को [पार्थिव-यज्ञिय-द्रव्य को] हाथ में में लेकर ही आश्रावणकर्म्म किया जाता है ॥ २ ॥

**"इयं [ पृथिवी ] वै वेदिः"** [ शत० ७।३।१।१५। ] इस श्रुति के अनुसार आधिभौतिक यज्ञ की प्रतिष्ठा [वितानस्थान] पृथिवी ही है, एवं यही इस यज्ञ की वेदि है। प्रकृत यज्ञ में जो वेदि बनाई गई हैं, वह निदानेन पृथिवी-स्थानीया है, और यही इस यज्ञ की प्रतिष्टा है। वेदि पर बिछे हुए दर्भतृण ओषधि-वनस्पति-स्थानीय हैं, जिन्हें यज्ञ-समतुलन की दृष्टि से वेदिरूप शरीर के लोम [ ओषधि ] केश [ वनस्पति ] भी कहा गया है। अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए, तथा सामिधेनीककर्म्म-सम्पादन के लिए जो इध्मभार ( काष्ठभार ) लाया जाता है, वह निदानेन अग्नि है। **'शेषे वनेषु मात्रोः सन्त्वा मर्त्तास इन्वते'** ( ऋक्सं० ८।६०।१५। ) इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार काष्ठ में अग्नि सुप्त है। यही मृग्यमाण अग्नि है, जिसे अप्रत्यक्ष सम्बन्ध से **'कृष्ण-मृग'** कहा जाता है। वेदि, और इध्मकाष्ठ, दोनों पार्थिव ( आधिभौतिक ) यज्ञात्मक हैं। आश्रावणकर्म्म में पार्थिवी प्रतिष्ठा ही अभिप्रेत है। अतएव प्रथम तो वेदि पर बिछे दर्भतृण

को लेकर ही आश्रावण करना चाहिए, अथवा इध्मखण्ड को लेकर आश्रावणकर्म्म करना चाहिए। वेदतृण से आन्नात् रूप से, एवं इध्मखण्ड से परम्परया पार्थिवी प्रतिष्ठा प्राप्त होजाती है'' इस उपपत्ति को आगे करते हुए कितने एक साम्प्रदायिक आश्रावणकर्म्म में वेदिस्थित दर्भतृण, अथवा इध्मखण्डग्रहण का समर्थन कर रहे हैं।

भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में वेदितृण, अथवा इध्मखण्ड, दोनों में से किसी को भी लेकर आश्रावणकर्म्म करना विज्ञान-विरुद्ध है। कारण स्पष्ट है। यह ठीक है कि, वेदितृण, तथा इध्मखण्ड, दोनों हीं पार्थिव-प्रतिष्ठात्मक हैं। परन्तु ये दोनों अन्य कर्म्म में विनियुक्त हैं। वेदितृण को लेना एक दृष्टि से पृथिवी की ओषधि-वनस्पति को पृथिवी ( वेदि ) से पृथक् कर उसे ऊसर बनाना है। इस के अतिरिक्त वेदिस्थित दर्भतृण **'सुषदा भव'** के अनुसार देवताओं का प्रतिष्ठात्मक आसन है। इसे उठाना आगत देवताओं को प्रतिष्ठा से विच्युत करना है। ऐसी दशा में वेदितृण-ग्रहण करना सर्वथा ही अनुचित ठहरता है। इध्मकाष्ठ इन्धन-समिन्धन-कर्म्म के लिए नियत है। इसका खण्ड लेना समिन्धनकर्म्म को अपूर्ण बनाना है। फलतः इध्मखण्ड-ग्रहण भी अवैध बन जाता है। याज्ञवल्क्य उन साम्प्रदायिकों से प्रश्न करते हैं कि, जिन दर्भतृणों से इध्मकाष्ठ बाँधा जाता है, क्या वे इध्मसन्नहन याज्ञय नहीं हैं ?। क्या इनमें पार्थिव-प्रतिष्ठा नहीं है ?। जब कि इन दर्भतृणों से यज्ञात्मक इध्म बाँधा जाता है, इन से अग्निसम्मार्जनकर्म्म होता है, आगत तृणादिनिरसनात्मक अन्यान्य भी अनेक परिशिष्ट कर्म्म होते हैं, तो इन की यज्ञरूपता में क्या सन्देह रह जाता है ?। अतः जो इध्मसन्नहनतृण ऐसे ऐसे परिशिष्ट कर्म्मों के लिए ही नियत हैं, साथ ही वेदितृण, तथा इध्मशकल का ग्रहण अनुचित है, तो प्रत्येक दशा में इध्मसन्नहन-ग्रहणपूर्वक ही आश्रावणकर्म्म करना चाहिए ॥३॥

## इत्याश्रावणकर्म्मोपपत्तिः

१

——— * ———

## २-दिव्याग्निप्रवरणकर्म्मोपपत्तिः—

चतुर्थी (४) से आरम्भ कर ८ वीं कण्डिका-पर्यन्त पाँच कण्डिकाओं में प्राकृतिक, दिव्य, प्राणाग्नि के वरण की सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का ही स्पष्टीकरण हुआ है। दिव्ययज्ञ में होतृत्वेन वृत प्राणाग्नि के क्या क्या धर्म्म हैं ?, प्रतिपाद्य उपपत्ति-प्रकरण में इसी प्रश्न का समाधान हुआ है। जिन इध्मसन्नहनलक्षण दर्भतृण-समूहों से यज्ञिय काष्ठ-सम्भार बाँधा जाता है, पूर्वकथनानुसार उन्हें हाथ में लेकर वह अध्वर्य्यु-**'ओ श्रावय'** इस निगदमन्त्र का उच्चारण करता हुआ **'आश्रावण'** कर्म्म करता है। अध्वर्य्यु के इस आश्रावण-कर्म्म के अनन्तर आग्नीध्र नामक ऋत्विक् **'अस्तु श्रौषट्'** इस निगदमन्त्रोच्चारण से **'प्रत्याश्रावण'** कर्म्म करता है। अध्वर्य्युकर्त्तृक इस आश्रावण, तथा आग्नीध्रकर्त्तृक प्रत्याश्रावण-कर्म्म के अनन्तर अध्वर्य्यु उन इध्मसन्नहनतृणों को अपने हाथ में रखता हुआ ही—**''अग्निर्देवो दैव्यो होता देवान् यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान् मनुष्वद्भरतवत्''** इस निदगमन्त्र का उच्चारण करता हुआ दिव्याग्नि का ही अपने इस वैध यज्ञ में होतृत्वेन वरण करता है, जो कि अध्वर्य्युकर्तृक कर्म्म **'होतृप्रवरणकर्म्म'** कहलाया है।

यज्ञकर्म्म में होनेवाले हौत्र-कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता जिस ऋग्वेदी ऋत्विक के द्वारा सम्पन्न होती है, वही **'होता'** कहलाया है। हौत्रकर्म्मेतिकर्त्तव्यता-लक्षण अधिकारप्रदान के लिए होने वाला अध्वर्य्युकर्त्तृक कर्म्म हीं **'होतृप्रवरणकर्म्म'** है। इस मानुष होतृप्रवरण-कर्म्म से पहिले दिव्याग्नि का सम्बन्ध कराना क्यों आवश्यक समझा गया ?, दूसरे शब्दों में दिव्याग्निवरण क्यों अपेक्षित है ?, इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, इस वरणकर्म्म से देवताओं के होता अग्नि से, तथा प्राणदेवताओं से अपनी धृष्टता का ही निराकरण किया जाता है। तात्पर्य्य यही है कि, प्राकृतिक, साम्वत्सरिक, अग्नीषोमात्मक यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ है। इस यज्ञ का होतृत्व पार्थिव-प्राणाग्नि पर ही अवलम्बित है। पार्थिव प्राणाग्नि के **'एति-प्रेति'** लक्षण गमनागमन व्यापार से ही पारमेष्ठ्यसोम का अपहरण होता है। सुपर्णात्मक इस गायत्राग्नि से अपहृत सोम ही पार्थिव आग्नेय ३३ प्राणदेवताओं के यज्ञ का स्वरूप-सम्पादक बनता है। इस यज्ञस्वरूप-निष्पत्ति के अतिरिक्त द्युलोकस्थ सौर-सावित्र-देवप्राण का पार्थिव प्राणाग्नि के साथ सम्बन्ध कराना भी उक्त-लक्षण गायत्राग्नि का ही कर्म्म है। इस देवाह्वान-लक्षण देवयजन ( **देवानां सङ्गमनं** ) कर्म्म से भी ये अग्नि **'होता'** कहलाए हैं।

यजमान का यह वैधयज्ञ प्राकृतिक यज्ञ नहीं है, अपितु उसकी प्रतिकृति है। ठीक उसी के अनुरूप इसका वितान हुआ है। अतएव आवश्यक है कि, जैसा, जो कुछ वहाँ होरहा है, यहाँ भी ठीक वैसा ही किया जाय। प्राकृतिक होता-अग्नि का इस वैध यज्ञ में नियुक्त करना अशक्य है। अगत्या मानुष होता का ही वरण किया जाता है। जो महत्त्वपूर्ण कर्म्म ( हौत्रकर्म्म ) प्राणाग्नि का है, आज वैसा दिव्य कर्म्म एक मनुष्य करना चाहता है। जो देवयज्ञलक्षण आह्वानकर्म्म प्राणाग्नि का है, वह आज एक मनुष्य करना चाहता है। क्या **अनृतसंहित, पाप्माओं से युक्त, मरणधर्म्मा मनुष्य ( ऋत्विक् ) सत्यसंहित, विधूतपाप्मा, अजर-अमृत-धर्म्मा प्राणाग्नि** के द्वारा होने योग्य हौत्रकर्म्म में सफलता प्राप्त करसकता है ?। नहीं भी, और हाँ भी। 'नहीं' इसलिए कि, वह अमृतलक्षण है, यह मरणधर्मा है। वह प्राणप्रधान है, यह भूतप्रधान है। 'हाँ' इसलिए कि, मन्त्रशक्ति के द्वारा अध्वर्यु इस मरणधर्म्मा मनुष्य में भी प्राणाग्नि के अनुग्रह की भावना कर लेता है। फलतः यह मनुष्य रहता हुआ भी प्राणाग्न्यनुग्रह से तत्सम कर्म्म में समर्थ होजाता है। उसी अनुग्रह की प्राप्ति के लिए, दूसरे शब्दों में—"**हम जो इस यज्ञ में होतृत्त्वेन आप ही का वरण कर रहे हैं, आप ही के शक्ति-समावेश से यह मानुष होता आप के द्वारा होने योग्य इस हौत्रकर्म्म में प्रवृत्त होरहा है**" इस भावना के द्वारा वैध यज्ञ में होतृत्त्वेन गृहीत मनुष्य-होता में प्राणाग्नि-धर्म्म के समावेश के लिए ही सर्वप्रथम मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राणाग्नि का वरण करना आवश्यक समझा गया है।

यदि ऐसा न किया जाता, तो क्या अनिष्ट होता ?, उत्तर स्पष्ट है। बिना प्राणाग्निसम्बन्ध के देवता, तथा अग्नि, दोनों के प्रति इस मनुष्य होता की धृष्टता ही नहीं होती, अपितु प्राणाग्नि-सम्बन्धाभाव में प्राणाग्निकर्त्तृक हौत्रकर्म्म में भी अनेक विघ्न उपस्थित होजाते। विघ्नों की ही क्या कथा, उस दशा में तो यह इस कर्म्म में सफल होना तो दूर रहा, अपितु यह अपना अनिष्ट ही करा बैठता, और फलस्वरूप यज्ञ सर्वथा विकृत होता हुआ, प्रकृतिविरुद्ध बनता हुआ अभ्युदय-लक्षणा इष्टप्रवृत्ति के स्थान में प्रत्यवाय-लक्षणा अनिष्टप्रवृत्ति का ही कारण बन जाता। "**जैसा प्रकृति में हो रहा है, वैसा ही यहाँ होना चाहिए, तभी यज्ञ की रूपसमृद्धि है**" यही यज्ञानुगता मूल-प्रतिष्ठा है।

अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और बच रहता है । यज्ञ में **प्राणाग्नि,** तथा अन्य **यज्ञिय देववर्ग,** दोनों का सम्बन्ध होता है । फलतः इस प्राकृतिक वरणकर्म्म में दोनों का अनुग्रह अपेक्षित है । यहाँ केवल प्राणाग्नि का तो वरण होजाता है, परन्तु देवानुग्रह के लिए कुछ नहीं किया जाता । ऐसी दशा में प्राणाग्नि से अपराध-क्षमापन होजाने पर भी देववर्ग से अपराध क्षमापन नहीं होता । इस विप्रतिपत्ति के निराकरण का क्या उपाय ? । श्रुति उत्तर देती है कि, केवल प्राणाग्नि के वरण से ही प्राणाग्नि, तथा देववर्ग, दोनों का अनुग्रह प्राप्त होजाता है । **'अग्निर्देवो दैव्यो होत०'** इत्यादि मन्त्र से होने वाले वरणकर्म्म में पहिले **'अग्निर्देवः'** इत्यादि रूप से अग्नि का ग्रहण हैं । इस से तो प्राणाग्नि का अनुग्रह प्राप्त होजाता है । एवं— **'दैव्यो होता'** इस अग्निधर्म्म से देववर्ग का ग्रहण होजाता है । देवदूत प्राणाग्नि देववर्ग से अविनाभूत है । केवल **'अग्नि'** कहने से अवश्य ही देववर्ग का ग्रहण नहीं होता । परन्तु **'देवताओं का जो होता है, ऐसे अग्नि का मैं वरण करता हूँ'** इस कथन से **होता-प्राणाग्नि** के सम्बन्धी **देववर्ग** का ग्रहण भी परम्परया स्वतः सिद्ध है ।

यद्यपि मन्त्रभाग स्पष्टार्थ है । तथापि इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक होगा कि, **'अग्निः सर्वा देवताः'** सिद्धान्त के अनुसार प्राणाग्नि हीं अपनी घन-तरल विरलावस्थाओं से त्रयस्त्रिंशद्विध ( ३३ ) बनता हुआ सर्वदेवमूर्त्ति बन रहा है । अतएव इसे अवश्यमेव **'देवः'** **(सर्वदेवमयः,** कहा जासकता है । **'अग्निर्देवः'** मन्त्रभाग से अग्नि के इसी देवधर्म्म का स्पष्टीकरण होरहा है । यह अग्नि अपने अवस्था-भेदों से जहाँ सर्वदेवमूर्ति है, वहाँ अपने पार्थिव गायत्ररूप से यही द्युलोकस्थ देवताओं के यजन का भी निमित्त बना हुआ है, जो कि यजनकर्म्म है । देवह्वान ही इस प्राणाग्नि का दूसरा धर्म्म है, जिसका **'दैव्यो होता'** उस मन्त्रभाग से स्पष्टीकरण हुआ है । ३,५, कण्डिका--द्वयी की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ४, , ॥

**'देवान् यक्षद्विद्वांश्चिकित्वान्'** यह मन्त्र का अगला भाग है । यह अग्नि देवताओं के स्वरूप को जानने वाले हैं, इनके सूदनस्वरूप को पहिचानने वाले हैं, एवं प्राण-देवताओं का परस्पर यजन करने वाले हैं । भले बुरे ( सत्--असत् ) का परिज्ञान करने वाला सदसद्विवेकी **'विद्वान्'** कहलाया है, एवं मौलिक स्वरूपपरिज्ञाता **'चिकित्वान्'** कहलाया है । **अध्यात्मपरिभाषानुसार भौतिकतत्त्व का परिज्ञाता विद्वान् है, एवं प्राणतत्त्वों का परिज्ञाता चिकित्वान् है । लोकपरिभाषानुसार शाब्दिक ज्ञानाधिष्ठाता विद्वान् है, एवं व्यवहारनिष्ठ चिकित्वान् है । सामान्यरूपेण परिज्ञाता विद्वान् है, एवं विशेषरूपेण परिज्ञाता चिकित्वान् है,** [ देखिए ऋक् सं० १ मं० । १६४ सू० । ६ मं० सायणभाष्य ] । प्राणाग्नि पार्थिव-विवर्त्त का विद्वान् भी है, और चिकित्वान् भी । अपने भौतिकरूप से ये उभयलोक के विद्वान् हैं-- **'वयुनानि विद्वान्'** । एवं अपने प्राणरूप से ये पर्थिव-दिव्यदेवताओं के प्राणस्वरूप के विशेष परिज्ञाता बनते हुए **चिकित्वान्** भी हैं । यज्ञकर्म्म में उभयविध देवताओं का भूतों के आधार पर यजन होता है । फलतः अपने वैधयज्ञ में भी वही सफलता प्राप्त कर सकता है, वही ठीक ठीक [ अनुष्ठ्या ] यजन कर सकता है, जो भूतों का विद्वान्, तथा प्राणों का चिकित्वान् है । यजमान के इस यज्ञ में प्राणाग्नि के इन्हीं दोनों धर्मों का समावेश कर प्राणाग्नि के अनुग्रह से यज्ञसफलतासिद्धि के लिए **'देवान्यक्षत्०'** इत्यादि कहा गया है ॥ ६ ।

**'मनुष्वद्भरतवत्'** यह मन्त्र का अगला भाग है । सूर्य्यकेन्द्रावच्छिन्न, इन्द्रप्राणात्मक, बृहती-सम्पत्ति से युक्त, अव्यय के श्वोवसीयस् नामक शाश्वत मन से अनुगृहीत, सृष्टि-लय-कालप्रवर्त्तक प्राणतत्त्व ही आधि-

देविक मनु है । यही साम्वत्सरिक प्राणाग्नि के सहयोग से आधिदेविक सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूप समर्पक बन रहे
हैं । हृदयावच्छिन्न, प्रज्ञाप्राणमूर्ति आयुःस्वरूपाधिष्ठाता इन्द्रप्राणात्मक, मनोऽनुगृहीत प्राणतत्त्व
ही आध्यात्मिक मनु है । ये ही शारीर प्राणाग्नि के सहयोग से आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूप--समर्पक हैं ।
वेद, धर्म, लोक, प्रजा, नाम की सृष्टि-चतुष्टयी के व्यवस्थाक, आदिब्रह्मा भगवान् स्वयम्भू आधि-
भौतिक (ऐतिहासिक) मनु हैं [ थे ] । इन्होंने हीं प्राकृतिक यज्ञ-स्थिति के अनुसार सर्वप्रथम वैधयज्ञ का
का अनुष्ठान किया है [ था ] । इसप्रकार अधिदैवत--अध्यात्म-अधिभूत, तीनों दृष्टियों से त्रिविध
मनु हीं यज्ञ के प्रवर्त्तक हैं । अतएव याज्ञिक--सम्प्रदाय में 'यह यज्ञ मनु का है' [मनोर्यज्ञऽइत्यु
वाऽआहुः ] यह प्रसिद्ध है ।

जिसप्रकार 'धनुः' शब्द उभयलिङ्गात्मक [ नपुंसलिङ्ग तथा पुलिङ्गात्मक ] है, एवमेव उकारान्त
'मनुः' शब्द पुलिङ्ग है, एवं सकारान्त 'मनुः' शब्द नपुंसकलिङ्ग है । 'मनुष्या' दि रूप सान्त मनुः-
शब्द से सम्बन्ध रखते हैं, एवं 'मानवा' दि शब्द उकारान्त सम्बन्धी हैं । प्रकृत में सान्त मनुःशब्द का ही
ग्रहण हुआ है । फलतः 'मनुष्वत्' का तात्पर्य्य निकलता है--'मनुरिव' । जिसप्रकार मनु ने यजन किया था,
एवमेव यह प्राणाग्नि भी होता बन कर इस यज्ञ में देवताओं का यजन करे, 'मनुष्वत्' मन्त्र भाग का यही एक
तात्पर्य्य है । यदि 'मनुष्वत्' का 'मनुरिव' विग्रह न कर 'मनोरिव' यह विग्रह किया जाता है, तो इसका
तात्पर्य्य यह निकलता है कि, जैसे मनु के यज्ञ में होता बनकर अग्निने देवताओं का यजन किया
था, तथैव इस यज्ञ में भी वे अग्नि होता बनकर देवताओं का यजन करैं । 'मनुर्ह वाऽअग्रे
यज्ञेनेजे०' इससे 'मनुरिव' विग्रहानुसार प्रथमार्थ अपेक्षित है । एवं 'मनोर्यज्ञ ऽइत्यु वा आहुः' इससे
'मनोरिव' विग्रहानुसार द्वितीयार्थ अभिप्रेत है । प्रथमार्थ से आधिभौतिक मनु का स्पष्टीकरण हुआ
है । एवं द्वितीयार्थ से आध्यात्मिक मनुर्युक्त आधिदैविक मनु का स्पष्टीकरण हुआ है ।
हृदयभावावच्छिन्न उक्थभाव मनु है, परिध्यवच्छिन्न अर्कभाव (रश्मिभाव) प्राणाग्नि है । उक्थार्क
का क्योंकि स्थानभेद से पार्थक्य है, अतएव मनु को पृथक्, तथा अग्नि को पृथक् तत्त्व मान लिया गया
है । एवं इसी दृष्टि से 'मनोरिव' का समन्वय होजाता है । तत्त्वतः उक्थार्क अभिन्न हैं । इस दृष्टि से
उक्थ मनु, और अर्क अग्नि, दोनों अभिन्न हैं । इसी आधार पर—'एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये' *
( मनुः १२।१२३ ) यह कहा जाता है । हृदयावच्छिन्न उक्थलक्षण मनु से युक्त, तदर्करूप, अतएव
तदभिन्न, अतएव तद्रूप प्राणाग्नि हीं यज्ञ के स्वरूप-सम्पादक है, मनुष्वत् का यही तात्पर्यार्थ
है ॥ ७ ॥

मन्त्र का अन्तिम भाग 'भरतवत्' है । 'इतः प्रदाना ह्येते ( देवा उपजीवन्ति ) ( ऐ० ब्रा०
२।१।८ ) इत्यादि ऐतरेयश्रुति के अनुसार द्युलोकात्मक सम्वत्सरमण्डल में प्रतिष्ठित सौर दिव्य देवताओं
का जो प्रवर्ग्य भाग पार्थिव सर्ग में विस्रस्त [खर्च ] होता रहता है; पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि नामक प्राणाग्नि के

---

* एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥
—मनुः

द्वारा वह विस्रस्त भाग यहाँ से जाकर उस विस्रस्त भाग की पूर्त्ति किया करता है। 'इत एत उदारुहन्, दिवस्पृष्ठान्यारुहन्, द्यामङ्गिरसो ययुः' इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार भूलोक से निकलकर द्युलोक की ओर जाता हुआ अङ्गिरोऽग्नि ही देवक्षतिपूर्त्ति का कारण बनता है। 'अमुतः प्रदानाद्धीदं सर्वमुत्तिष्ठति' [ ऐ० ब्रा० २।१।२। ] के अनुसार वहाँ से [द्युलोक से] देवप्राण का प्रवर्ग्यरूप से निरन्तर आगमन भी होता रहता है, इसीसे प्रजा का स्वरूप--निर्म्माण होता है। एवं पूर्वकथनानुसार अङ्गिरा के द्वारा पार्थिव प्रवर्ग्य भाग जाता भी रहता है। इसी पारस्परिक अन्न-अन्नाद-लक्षण आदान-प्रदान प्रक्रिया का नाम 'यज्ञ' है। इस प्राकृतिक यज्ञ में द्युलोकस्थ देवताओं के लिए पार्थिव हविर्द्रव्य का लेजाना एकमात्र पार्थिव प्राणाग्नि पर ही अवलम्बित है। इसीलिए उन्हें —'एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति' निर्वचन से 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता हैं। भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले हविर्यज्ञ [ प्राकृतिकयज्ञ ] से पार्थिव प्रजा का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। इस पार्थिव--प्रजा में भौम प्रवर्ग्य अग्नि प्रतिष्ठित रहता है, जिसे 'पिप्पलादोपनिषत्' की परिभाषा में 'प्राणाग्नि' भी कहा जाता है। 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे [ शरीरे ] जाग्रति' [ प्रश्नोपनिषत् ४।३। ] के अनुसार अपान, समान, व्यान, उदान, प्राण, भेद-भिन्न पञ्चधा विभक्त प्राणाग्नि हीं इस शरीरसंस्था [ अध्यात्मसंस्था ] में सदा जागते रहते है। इस प्राणाग्नि के द्वारा ही प्रजा का भरण-पोषण होता है। जिस दिन प्राणाग्नि शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है, अन्नादानलक्षण अहरहर्यज्ञ [भैषज्ययज्ञ] बन्द हो जाता है, तत्क्षण भूतात्मा उत्क्रान्त हो जाता है।

उक्त अध्यात्मसंस्था की दृष्टि से भी 'वैश्वानर' लक्षण इस अग्नि को 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। जिस युग [ देवयुग ] में इसी पृथिवी पर भौम-देवव्यवस्था थी, उस युग में जैसे भौम-स्वर्ग के शवनसोपान [ अतिष्ठाता, अधिष्ठाता ] देवता इन्द्र थे, अन्तरिक्ष के शवनसोपात् वायु थे, एवमेव स्वयम्भू मनु सम्राट् से शासित इस पृथिवी के शवनसोपात् अग्निदेवता थे। पार्थिव प्रजा से 'कर' ग्रहण कर देवताओं के प्रति उसे पहुँचाना, पार्थिव प्रजा की वामदेवादि के सहयोग से भरण—पोषण व्यवस्था करना इन्हीं भौम अग्निदेवता ( मनुष्यदेवता ) का कार्य्य था। इस आधिभौतिक ( ऐतिहासिक ) दृष्टि से भी अग्नि को 'भरत' कहना अन्वर्थ बनता है। इसी भरण—पोषण धर्म्म से ये अग्नि भरत, किंवा 'भारत' कहलाए हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से यह पवित्र देश 'भारतवर्ष' कहलाया है। जिसप्रकार उक्त तीनों यज्ञ-संस्थाओं का सञ्चालन भरताग्नि से हुआ है, एवमेव हमारे इस वैधयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता भी उसी भरताग्नि से सम्पन्न हो, इसी भावना को लिए 'भरतवत्' कहा गया है ॥ ८ ॥

## इति—दिव्याग्निवरणकर्म्मोपपत्तिः

?

—:※※:—

## ३—आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्तिः—

'अग्निर्देवो दैव्यो होता०' इत्यादि मन्त्रपाठ के द्वारा अपने इस वैध यज्ञ में प्राकृतिक दिव्य प्राणाग्नि की भावना करना हीं अग्नि का होतृत्वेन वरण करना है, जिस का ४ थी से ८ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ५ कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। अत्र क्रमप्राप्त **आर्षेयप्रवरणकर्म्म** की उपपत्ति का दिग्दर्शन कराया जाता है। **यज्ञकर्त्ता यजमान के वंशगौरव का कीर्त्तन ही 'आर्षेयवरणकर्म्म' है**। इस वरण से यज्ञाधिकार-योग्यता का ही समर्थन हुआ है। यज्ञकर्म्म लौकिक कर्म्म नहीं है, अपितु वैदिक दिव्य-कर्म्म है। **लौकिक कर्म्म का अधिकार जहाँ मनुष्यमात्र को है, वहाँ वैदिक यज्ञ-तपः-दान-कर्म्मत्रयी का अधिकार एकमात्र द्विजाति-प्रजा को ही है, जिसके वीर्य्य में जन्मतः ऋषिप्राण, तथा देवप्राण प्रतिष्ठित रहता है**। यह वैध वैदिक-यज्ञकर्म्म प्राकृतिक नित्य दिव्य यज्ञ की विधि पर ही वितत होता है, जैसा कि अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है। प्राकृतिक यज्ञ ही सम्वत्सरयज्ञ है, जैसा कि इसी ब्राह्मण की १६ वीं कण्डिका में स्पष्ट होने वाला है। सम्वत्सरयज्ञ का **'अदितिमण्डल'** से सम्बन्ध है।

इस अदितिमण्डल के गर्भ में **त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना अग्निप्रधाना पृथिवी, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न वायुप्रधान अन्तरिक्ष, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न इन्द्रप्रधान द्युलोक**, ये तीनों त्रैलोक्य प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि–**"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्म्माता स पिता स पुत्रः"** (ऋक् सं० १।८९।१०।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। **अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित अग्निप्रमुख पार्थिव ८ वसुदेवता, वायुप्रमुख आन्तरिक्ष्य ११ रुद्रदेवता, इन्द्रप्रमुख दिव्य १२ आदित्य देवता, नासत्य-दस्र नामक २ सान्ध्य देवता, सम्भूय ३३ प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं**। ये ही ३३ देवता अदित्यवच्छिन्न सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूप-सम्पादक हैं। अतएव—**'येस्थ त्रयश्च त्रिंशश्च, मनोर्देवा यज्ञियासः'** (ऋक् सं० ८।३०।२।) इत्यादि श्रुति के अनुसार ये ही देवता **'यज्ञिय देवता'** कहलाए हैं। इस सम्वत्सरयज्ञ में **प्रातःकाल, मध्याह्न, सायङ्काल,** भेद से तीन सवन हैं। **वसुदेवतानुगत प्रातःकाल प्रातःसवन है, रुद्रदेवतानुगत मध्याह्न माध्यन्दिनसवन है, एवं आदित्यदेवतानुगत सांयकाल सायंसवन है। रात्रिगत पूषाप्राण इस सवनत्रयात्मक सम्वत्सर यज्ञमण्डल की सीमा से बहिर्भूत है।**

**मानवप्रजा में से जिसके वीर्य्य में जन्मतः प्रातः-सवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, वह वर्णतः ब्राह्मण है। जिसके वीर्य्य में माध्यन्दिनसवनीय देवता प्रतिष्ठित रहते हैं, वह वर्णतः क्षत्रिय है। एवं सायंसवनीयदेवयुक्त प्रजा वर्णतः वैश्य है। रात्रिगत पूषाप्राणप्रधान प्रजावर्ग शूद्र है। स्त्रीप्रजा का भी इसी पूषाप्राण से सम्बन्ध है। इसप्रकार प्रकृत्या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, यह द्विजातिप्रजा तो यज्ञसीमा के अन्तर्गत है। एवं स्त्री, तथा शूद्र, दोनों प्रजावर्ग यज्ञसीमा से बहिर्भूत है।** इसी आधार पर भगवान् व्यास का—**'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा'** यह वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्राकृतिक, नित्य, अपौरुषेय-तत्त्वात्मक वेद की प्रतिकृतिरूप वेदशास्त्र, एवं तत्त्वात्मक वेद पर प्रतिष्ठित नित्ययज्ञ की प्रतिकृतिरूप वैदिक यज्ञकर्म्म, दोनों का एकमात्र द्विजाति-मनुष्यप्रजा को ही अधिकार क्यों है ?, इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

यदि कोई व्यक्ति कर्म्मणा वर्णाभिमान रखता हुआ यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहता है, जैसी कि उच्छृङ्खलता आजकल देखी सुनी जारही है, तो यह उस का व्यामोह है, अनधिकारचेष्टा ही नहीं है, अपितु अभ्युदय

के स्थान में सर्वनाश का आमन्त्रण है । यज्ञकर्म्म में वही दीक्षित होसकता है, जो जन्मना द्विजाति है, जिस के पिता-पितामह-प्रपितामहादि जन्मना द्विजाति हैं, जिस के वीर्य्य में उक्त लक्षण वर्णानुगत देवप्राण के साथ साथ गोत्रसृष्टिप्रवर्त्तक ऋषिप्राण का परम्परया समावेश है । ऐसा ऋषिवंशज, अतएव 'आर्षेय' कहलाने योग्य, **देवप्राणयुक्त, वर्णतः द्विजाति** ही यज्ञ में अधिकृत है । एवं हमारा प्रस्तुत **'आर्षेयप्रवरणकर्म्म'** इसी अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण कर रहा है । यजमान वर्णतः द्विजाति है, इस का ऋषिवंश से सम्बन्ध है, यज्ञप्रवृत्ति से पहले यह स्पष्ट होजाना अनिवार्य्य है । बिना ऋषि, तथा देवप्राणसम्बन्ध-ख्यापन के यजमान यज्ञ में अनधिकृत है । अतएव दिव्य होतृवरणकर्म्म के अनन्तर, तथा मानुष होतृवरणकर्म्म से पूर्व यजमान के इन दोनों वर्ण-धर्मों का स्पष्टीकरण आवश्यक है । एकमात्र इसी उद्देश्य से **'आर्षेयप्रवरण'** कर्म्म विहित है । जो महानुभाव शास्त्ररहस्यानभिज्ञता से कर्म्मणा वर्णों की व्यवस्था करते हुए एकहेलया मनुष्यमात्र को यज्ञ का अधिकारी बनाते हुए उनका अनिष्ट कर रहे है, हम उनसे पूँछते हैं कि, वे **'आर्षेयकर्म्म'** में किन गोत्रऋषियों का उच्चारण करावेंगे ? जब कि जन्मना शूद्र ऋषिगोत्र से सर्वथा बहिर्भूत है । उस समय वे—**"ऋषिभ्य-श्चैनमेतद्देवेभ्यश्च निह्नुते'** इस श्रुति का कैसे समन्वय करेंगे ?, यह उन्हीं वेदभक्तों से पूँछना चाहिए ।

ऋषि, तथा **देवप्राण**, दोनों का वीर्य्य से सम्बन्ध है, न कि कर्म्म से । जन्मतः ऋषि, एवं देवप्राण का सम्बन्ध वीर्य्य में हीं रहना चाहिए । वही द्विजाति है, वही यज्ञाधिकारी है । इस जन्मानुगत वीर्य्यभाव (वर्णभाव) का स्पष्टीकरण करने के लिए ही कहा गया है—**'अयं महावीर्य्यो, यो यज्ञं प्रापत्'** । इसी वीर्य्य-ख्यापनद्वारा यजमान का यज्ञाधिकारत्त्व स्पष्ट करने के लिए आर्षेयवरण होता है । एवं यही इस कर्म्म की संक्षिप्त उपपत्ति है—**'तस्मादार्षेयं प्रवृणीते'** ॥ ९ ॥

उपपत्त्यनन्तर वरण-विशेषता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, सृष्टिक्रम के अनुरोध से **पितामह, पिता पुत्र**, इन क्रम से ही ऋषिवंश-परम्परा का उल्लेख होना चाहिए । इस सृष्टिमर्य्यादा के संरक्षण के अतिरिक्त स्वयं यज्ञकर्म्म की दृष्टि से भी **'परस्तात् अर्वाक्'** ही वरण होना चाहिए । दैवात्मलक्षणा दिव्यप्रजोत्पत्ति ही यज्ञकर्म्म का प्रधान लक्ष्य है । एवं उत्पत्तिक्रमानुगत प्रकृतिसिद्ध सापिण्ड्य * सम्बन्धानुबन्ध से **'पितामह-पिता-पुत्र-पौत्र,** यही क्रम है । अतः इस प्रजोत्पादक यज्ञकर्म्म में भी आर्षेयवरण करते समय पहिले यजमान के पितामह का, अनन्तर पिता का, एवं सर्वान्त में पुत्रस्थानीय यजमान का ही नाम-उल्लेख करना आवश्यक, तथा क्रमसङ्गत है—**'तस्मात् परस्तादर्वाक् प्रवृणीते'** ॥ १० ॥

# इति—आर्षेयप्रवरणकर्म्मोपपत्तिः

# ३

——*——

*—पितामहाद्यनुगत इस सापिण्ड्य-सम्बन्ध के सुविशद वैज्ञानिक-विवेचन के लिए देखिए **'खण्डचतुष्टयात्मक-श्राद्धविज्ञान'** ग्रन्थ का–**'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्'** नामक तृतीय खण्ड ।

## ४--अग्नि-ब्राह्मणानुगृहप्राप्तिकर्म्मोपपत्तिः--

ऋषिवंशप्रसूत, तथा जन्मना ( वर्णतः ) द्विजाति यह यजमान यज्ञ का अधिकारी अवश्य है, परन्तु इस का यह अधिकार तबतक कार्य्यरूप में परिणत नहीं होसकता, जबतक कि इस के इस यज्ञमण्डल मे, आहवनीयाग्निकुण्ड में दिव्य प्राणदेवताओं का सम्बन्ध नहीं होजाता । यह देवाह्वानकर्म्म एकमात्र ब्रह्मवीर्य्य-प्रवर्त्तक प्राणाग्नि, तथा तद्वीर्य्यप्रधान ऋत्विग् ब्राह्मणों के अनुग्रह, सहयोग पर ही निर्भर है । दिव्याग्निवरण से अग्नि देवता यज्ञमण्डल में पधार अवश्य आते हैं, परन्तु प्रकृति के नियत सूत्र के आधार पर इन का देवाह्वान-कर्म्म तो वैज्ञानिक, अनूचान उन ब्राह्मणों के सहयोग पर ही अवलम्बित है, जो उस परोक्ष प्राकृतिक सूत्रलक्षण आधार का मन्त्रात्मक **स्तोत्र-शस्त्र-ग्रह**, आदि कर्म्मों के द्वारा संग्रह करने की शक्ति रखते हैं । '**अग्निर्देवो दैव्यो होता०**' इत्यादि पूर्वोक्त निगदमन्त्र से आगत अग्नि का होतृत्वेन वरण कर लिया, यज्ञफलभोक्ता यजमान के वंशख्यापन-लक्षण आर्षेयवरण से इसे यज्ञाधिकारी भी सिद्ध कर दिया गया । अब आगत, तथा वृत अग्नि के देवाह्वानलक्षण अनुग्रह की, तथा यज्ञस्वरूपसमर्पक ब्राह्मणों के अनुग्रह की अपेक्षा है । इसी उभयोद्देश्य की सिद्धि के लिए आर्षेयप्रवरणानन्तर, तथा मानुषहोत्रवरण से पहिले-'ब्रह्मण्वदा च वक्षत्, ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः' इस निगदमन्त्र का पाठ किया जाता है, जिस का शब्दार्थ मूलानुवाद से ही गतार्थ है ॥११,१२॥

## इति—अग्नि-ब्राह्मणानुगृहप्राप्तिकर्म्मोपपत्तिः--
## ४

---*---

## ५-मानुषहोतृवरणोपपत्तिः—

प्राणविध सम्वत्सरयज्ञ में **होता**, **अध्वर्य्यु**, **उद्गाता**, **ब्रह्मा**, **यजमान**, आदि भी '**प्राणविध**' ही हैं । इस प्राणविध प्राकृतिक यज्ञ की विधा पर ही वितायमान इस प्राणीविध मानुष-यज्ञ में ऋत्विक्, यजमानादि यज्ञस्वरूपसंग्राहक '**प्राणीविध**' ही हैं । द्यावापृथिव्य प्राणात्मक सम्वत्सर-प्रजापति ( यजमान ) के अनुरूप अपनी पत्नी के यज्ञसंयोग से पृथिवीरूप बना हुआ, एवं स्वस्वरूप से द्युस्थानीय बना हुआ यजमान प्राणीविध यजमान है । **प्राणविध अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, इन होता, अध्वर्य्यु, उद्गाता, ब्रह्मा,** नामक ऋत्विजों के अनुरूप **प्राणीविध, अग्न्यनुगृहीत, ऋग्वेद का ज्ञाता ब्राह्मण** '**होता**' **है** । **प्राणीविध, वाय्वनुगृहीत, यजुर्वेद का अनूचान ब्राह्मण अध्वर्य्यु है** । **प्राणीविध, आदित्यानुगृहीत, सामवेद का अनूचान ब्राह्मण उद्गाता है** । **एवं प्राणीविध, चन्द्रमानुगृहीत, अथर्ववेद का, तथा अथर्वगर्भिता त्रयीविद्या का परिज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा है** । जो ऋग्वेदी ब्राह्मण यहाँ **हौत्र-कर्म्म** के लिए नियत हुआ है, प्राणाग्नि के वरणानन्तर उसका वरण होना भी आवश्यक है । इस वरणकर्म्म से पहिले यह ब्राह्मण '**अहोता**' है, अतएव अभी यह देवाह्वान-कर्म्म में अनधिकृत है । इस अधिकार-प्रदान के लिए ही अधिकारप्रदानस्थानीय वरणकर्म्म किया जाता है । इसप्रकार ब्राह्मणोक्त **आश्रावण**, **दिव्याग्निवरण**, **आर्षेयवरण**, **अग्नि-ब्राह्मणानुग्रह-सम्पादन**, इन कर्म्मों के क्रमानुष्ठान के अनन्तर वह अध्वर्य्यु-'**असौ मानुषः**'-इस

निगदमन्त्र का पाठ करता हुआ हौत्रकर्म्म के लिए आगत मानुष होता का वरण करता है । यही प्राकृतिक होता ( अग्नि ) का प्रतिनिधि है ॥ १३ ॥

## इति–मानुषहोतृवरणोपपत्तिः—

५

—*—

## ६–स्वस्त्ययनजपोपपत्तिः—

अध्वर्य्युप्रयुक्त **'असौ मानुषः'** इस निगदमन्त्र से हौत्रकर्म्म के लिए वृत होता आज वास्तव में **'होता'** बन गया है । इसी क्षण से इस पर उस सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का भार आगया है, जो **हौत्रकर्म्म** से सम्बन्ध रखता है । अपने इसी उत्तरदायित्व को सफल बनाने की कामना से होता **'स्वस्त्ययनजप'** करता है, जिस का एकमात्र तात्पर्य्य यही है कि, प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के सञ्चालक जिन प्राणदेवताओं के अनुग्रह से मनुष्य अपने शास्त्रीय कर्म्मों में सफलता प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, उन प्राणदेवताओं का मन्त्रशक्ति के द्वारा अनुग्रह प्राप्त करना । जिसप्रकार लोकाधिकारारूढ अधिकारी अधिकारप्राप्त होते ही अधिकारसिद्ध कर्म्मों को अपने लक्ष्य में ले आता है, ठीक उसीप्रकार वरणकर्म्म से होत्राधिकार प्राप्त करते ही होता उन प्राणदेवताओं की ओर अनुगत होजाता है, जिन का कि इसे भविष्य में आह्वान करना है । प्रत्येक कार्य्य में नियुक्त होने से पहिले यह आवश्यक है कि, उस कार्य्य की सम्पूर्ण रूपरेखा का चित्रण अपने अन्तर्जगत् में खचित कर लिया जाय । ऐसा करने से भविष्य में त्रुटि होने की सम्भावना नहीं रहती । जो व्यक्ति बिना अधिकारमर्य्यादा, कर्म्ममर्य्यादा का नियमन किए हठात् कर्म्म में प्रवृत्त होजाते हैं, अवश्य ही अपने स्वाभाविक अनृतभाव से वे प्रमाद कर बैठते हैं । जिन देवताओं का आह्वान करना है, जिनके लिए वषट्कार करना है, जिन के लिए हविःप्रदान करना है, उन सब प्राणदेवताओं के उन सब कर्म्मकलापों को वरणानन्तर ही लक्ष्य में ले आने के लिए स्वस्त्ययनजप-कर्म्म विहित है । यही इस कर्म्म की लोकनीति–सम्मता संक्षिप्ता उपपत्ति है, जिस का १४ वीं कण्डिका में स्पष्टीकरण हुआ है ॥ १४ ॥

१५ वीं कण्डिका से आरम्भ कर २६ वी कण्डिका पर्य्यन्त ( ब्राह्मणसमाप्ति-पर्य्यन्त ) स्वस्त्ययन–कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रों की सोपपत्तिक व्याख्या हुई है । उसी का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है । सर्वप्रथम वृत होता–**'एतत्त्वा देवसवितर्वृणते'** यह मन्त्र बोलता है । इस के द्वारा होता सविता की ही अनुज्ञा प्राप्त करता है । यह ठीक है कि, मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक **'होता–अग्नि'** का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ यह **'मनुष्य–होता'** तत्तत्प्राणदेवताओं के आह्वान में समर्थ होजाता है । परन्तु इस आह्वानकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा सविता देवता ही है । सौरमण्डल को अपने गर्भ में रखने वाले आपोमय परमेष्ठी के चारों ओर **बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, वरुण, सविता**, आदि कतिपय उपग्रह उसी प्रकार परिक्रमा लगा रहे हैं, जैसे कि पृथिव्यादि उपग्रह सूर्य्यग्रह के चारों ओर । उन पारमेष्ठ्य उपग्रहों में से **'सविता'** नामक उपग्रह का मुख्य कर्म्म है–**प्रेरणाबल प्रदान करना** । सौर–त्रिलोकी में जिन प्राणदेवताओं के जो भी कर्म्म हैं, उन सब का प्रेरक यही सविता प्राण है । अतएव इसे **देवताओं का प्रसविता ( प्रेरयिता )** कहा गया है । इस पारमे-

ष्ठ्य सविता की प्रेरणा का सर्वप्रथम सूर्य्य में ही आगमन होता है, अतएव सूर्य्य को भी यत्र तत्र **'सविता'** नाम से व्यवहृत कर दिया गया है । सूर्य के द्वारा ही सौरत्रिलोकी में प्रतिष्ठित प्रजा में सविताप्राण के प्रेरणा-बल का आगमन होता है, जिस का आधार है-**'बुद्धिक्षेत्र'** ।

सविता का बृहस्पति से सम्बन्ध है । क्योंकि-**'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः'** इस निगम के अनुसार सूर्य्य से पूर्व लोकों में सर्वान्त में बृहस्पति प्रतिष्ठित हैं, एवं उत्तरलोकों में सर्वारम्भ में इन्द्र ( सौर मघवा ) प्रतिष्ठित है । **इन्द्र से ऊपर बृहस्पति * है, तदुपरि ब्रह्मणस्पति है, एवं इसके ऊपर सविता है** । सविताप्राण का ( अर्करूप से ) आगमन **पवित्रधर्म्मा ब्रह्मणस्पति**, तथा **वर्चस्व प्रवर्त्तक बृहस्पति**, इन दोनों पारमेष्ठ्य उपग्रहों से संश्लिष्ट होकर ही ( सौर इन्द्रमण्डल में ) होता है । वागधिपति बृहस्पति ही अपने **'वाजपेय'** नामक **'सव'** कर्म्म से बुद्धि में उस ब्रह्मवीर्य्य का आधान करते है, जो ब्रह्मवीर्य्य सविताप्राणात्मिका प्रेरणा से आत्मज्ञानविकास का प्रवर्त्तक बनता है । इसी समसम्बन्ध से सविता को **'धी'** का प्रवर्त्तक मान लिया गया है, जैसा कि-**'तत्सवितुर्वरेण्यं, धियो यो नः प्रचोदयात'** इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है ।

तात्पर्य्य यही है कि, तत्तत्-प्राणदेवताओं का यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होना सविताप्राण के प्रेरणा-बल पर ही अवलम्बित है । जबतक यह होता अपने आध्यात्मिक सविताप्राण में आधिदैविक सविताप्राण का बल प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक अध्यात्मदेवानुगत आधिदैविक प्राणबन्धनलक्षण इस यज्ञकर्म्म में वह आधिदैविक प्राणदेवताओं का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर सकता । इसी सविताप्राणानुग्रह-प्राप्ति के लिए सब से पहिले इसे मन्त्र के द्वारा यही भावना करनी पड़ती है कि,-**"हे सविता देवता ! देवाह्वान-लक्षण हौत्रकर्म्म के लिए मेरे व्याज से अध्वर्य्यु वस्तुतः आप का ही वरण कर रहे हैं"** ।

इसप्रकार सर्वप्रथम सविता का अनुग्रह प्राप्त कर अनन्तर-**'अग्नि होत्राय'** इस मन्त्र से अग्नि, तथा अग्निमय ३३ यज्ञिय देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करता है । हौत्रकर्म्म का उत्तरदायित्त्व अग्नि पर ही है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है । साथ ही-**'तदग्नये चैवैतद्देवेभ्यश्च'** इत्यादि कण्डिकाशेष का स्पष्टीकरण भी पूर्व से गतार्थ है-( देखिए प्रकृत ब्रा० की ४ कण्डिका ) ॥ १५ ॥

आधिभौतिक साधनों के द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ का जिस आधिदैविक यज्ञ से सम्बन्ध अपेक्षित है, वह **'सम्वत्सर'** नाम से प्रसिद्ध है । सम्वत्सरयज्ञ ही **'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा'** इत्यादि के अनुसार चतुर्द्दश-भूतसर्गात्मिका प्रजा का प्रजनयिता ( उत्पादक ) है । सम्वत्सर का प्रवर्ग्य रेतोभाग पार्थिव योनि में आहुत होता है । इसी द्यावापृथिव्यरस के दाम्पत्य से प्रजोत्पत्ति हुई है । अतः अवश्य ही सम्वत्सर को **'पिता'** कहा जासकता है । **दक्षिणस्थ ऋत अग्नि**, तथा **उत्तरस्थ ऋत सोम**, दोनों के उद्ग्राभ-निग्राभ से **'ऋतु'** का स्वरूप निष्पन्न होता है । ऋतुसमष्टि ही सम्वत्सर है । प्रत्येक वस्तु स्वानुरूप ऋतुप्राण को लेकर ही प्रादुर्भूत होती है । इस दृष्टि से भी ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सर को **'पिता'** कहा जासकता है, जो कि सम्वत्सर अपने तीन सवनों से **'वैश्वानर'** बन रहा है ।

---

* यह **'बृहस्पति'** सुप्रसिद्ध **सौर 'उपग्रह भूत बृहस्पति'** से सर्वथा भिन्न है ।

भूपिण्ड के अदितिपृष्ठ से संलग्न त्रिवृत्स्तोम प्रातःसवन है, यही स्तोमत्रिलोकीरूप सम्वत्सर का पृथिवीलोक है, यही पहिला विश्व है, इसी में घनावस्थापन्न अग्नि ( अग्नि ) नामक 'नर' ( नायक ) प्रतिष्ठित है। त्रिवृत पृष्ठ से संलग्न पञ्चदशस्तोम माध्यन्दिनसवन है, यही सम्वत्सर का अन्तरिक्षलोक है, यही दूसरा विश्व है, इसी में तरलावस्थापन्न अग्नि ( वायु ) नामक 'नर' प्रतिष्ठित है। पञ्चदशपृष्ठ से संलग्न एकविंशस्तोम सायंसवन है, यही सम्वत्सर का द्युलोक है, यही तीसरा विश्व है, इसी में विरलावस्थापन्न अग्नि (आदित्य, नामक 'नर' प्रतिष्ठित है। सम्वत्सर के त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्थानीय-पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक तीन विश्वों के अग्नि-वायु-आदित्य नामक तीनों नरों के पारस्परिक यज्ञ सम्बन्ध से सम्वत्सर त्रिलोकी में व्याप्त 'विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ' नामक तीन अपूर्व भावों का उदय होता है।

त्रिवृदग्नि में पञ्चदश वायु, एकविंश आदित्य, दोनों की आहुति से अग्निप्रधान त्रिमूर्त्ति जिस भाव का जन्म होता है, वही 'विराट्' है। पञ्चदश वायु में त्रिवृदग्नि, एकविंश आदित्य, दोनों की आहुति से उत्पन्न वायुप्रधान त्रिमूर्त्ति तत्त्व ही 'हिरण्यगर्भ' है। एकविंश आदित्य में त्रिवृदग्नि, पञ्चदश वायु, दोनों की आहुति से उत्पन्न आदित्यप्रधान त्रिमूर्त्तितत्त्व ही 'सर्वज्ञ' है। तीनों के अग्नि-वायु-आदित्य-प्राधान्य सूचित करने के लिए जहाँ विराट्-हिरण्य-गर्भ-सर्वज्ञ, ये तीन पृथक् पृथक् नाम हैं, वहाँ तीनों का समष्ट्यात्मक एक नाम 'वैश्वानर' है। 'विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातो वैश्वानरः' इस निर्वचन से तीनों त्रिमूर्त्तियों का वैश्वानरत्त्व गतार्थ है। अतएव विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति सम्वत्सर को श्रुति ने-'सम्वत्सरो वै पिता वैश्वानरः' कह दिया है। यज्ञ के द्वारा यह वैश्वानरसम्पत्ति प्राप्तव्य है। केवल अग्नि के अनुग्रह से ऐसा सम्भव नहीं है। अपितु वहाँ अग्नि का वह व्यापक स्वरूप अपेक्षित है, जो सम्वत्सररूप से, किंवा वैश्वानररूप से त्रैलोक्य में व्याप्त है। इसी भावना के लिए-'अग्नि होत्राय सह पिता 'वैश्वानरेण' इस मन्त्र का जप किया जाता है।

| | | |
|---|---|---|
| पृथिवी<br>त्रिवृत्<br>( ९ )<br>प्रातःसवनम्<br>घनाग्निः<br>( अग्निः ) | अन्तरिक्षम्<br>पञ्चदशः<br>( १५ )<br>माध्यन्दिनसवनम्<br>तरलाग्निः<br>( वायुः ) | द्यौः<br>एकविंशः<br>( २१ )<br>सायंसवनम्<br>विरलाग्निः<br>( आदित्यः ) |

| | | |
|---|---|---|
| 'अग्निः' <br> १–वायुः <br> अदित्ययः | अग्निप्रधानस्त्रिमूर्त्तिर्विराट्—वैश्वानरः | सम्वत्सरो वैश्वानरः |
| 'वायुः' <br> २–अग्निः <br> आदित्यः | वायुप्रधानस्त्रिमूर्त्तिर्हिरण्यगर्भः-वैश्वानरः | |
| 'आदित्यः' <br> ३–अग्निः <br> वायुः | आदित्यप्रधानस्त्रिमूर्त्तिर्हिरण्यगर्भःवैश्वानरः | |

स्वस्त्ययनजप–मन्त्र का अगला भाग—**'अग्ने ! पूषन् ! बृहस्पते ! प्र च वद प्र च यज'**। **अनुवचन, और यजनकर्म्म में पाथिव अग्नि, पार्थिव भूत, एवं वाक्,** ये तीनों साधन अपेक्षित हैं। पार्थिव भूतभाग यजनकर्म्म का अनुगामी है, वाग्भाग अनुवचनकर्म्म का अनुगामी है। जिस अग्नि का वरण किया जाता है, वह द्यावापृथिवी में व्याप्त वैश्वानरलक्षण प्राणाग्नि था, एवं प्रस्तुत मन्त्र में पठित अग्नि भूपिण्डलक्षणा पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला भूताग्नि है। इस भूताग्नि का पोषण जिस पार्थिव प्राण से होता है, वह 'पूषा' नाम से प्रसिद्ध है। **शूद्रसृष्टिप्रवर्त्तक अदन्तक पूषाप्राण, रेवती–नक्षत्रात्मक पूषाप्राण, आदित्यलक्षण पूषाप्राण,** तीनों में से प्रकृतमन्त्र के **'पूषा'** शब्य से अदन्त पार्थिव पूषाप्राण ही अभिप्रेत है। **वाक्–गौ–द्यौः,** ये तीन पृथिवी के **'मनोता'** माने गए हैं। इन तीनों में पार्थिवी-वाक् का बृहस्पति से सम्बन्ध है, जिस बार्हस्पत्या वाक् से पार्थिव वषट्कार का स्वरूप–निर्म्माण होता है। पार्थिवी--गौ का अग्नि से सम्बन्ध है, जिस से—**'गौर्वा अग्निहोत्रम्'** के अनुसार पार्थिव अग्निहोत्रयज्ञ सम्पन्न होता है। एवं पार्थिव द्यौ मनोता का पूषा से सम्बन्ध है। इन तीनों पार्थिव तत्त्वों के समन्वय से ही पार्थिव यज्ञ के **याज्या, तथा अनुवाक्या**–कर्म्म सम्पन्न होते हैं। मन्त्र, के द्वारा उन्हीं तीनों का संग्रह किया जाता है॥१६॥

स्वस्त्ययनजपमन्त्र का अगला भाग है–**'वसूनां रातौ स्याम, रुद्राणामुर्व्यायां, स्वदित्या अदितये स्यामनेहसः'**। पार्थिवयज्ञ के **पाकयज्ञ, वितानयज्ञ,** भेद से दो विवर्त्त हैं। **स्मार्त्त गृह्ययज्ञ पाकयज्ञ है। एवं श्रौत त्रेताग्नियज्ञ वितानयज्ञ है**। पार्थिव गार्हपत्याग्नि का वसुदेवता से, आन्तरिक्ष्य धिष्ण्याग्नि

का रुद्रदेवता से, तथा दिव्य आहवनीयाग्नि का आदित्यदेवता से सम्बन्ध है । देवत्रयी से अनुग्रहीता अग्नित्रयी का वितान (पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त फैलाव) ही वितानयज्ञ है । इन तीनों गणदेवताओं के संग्रह से प्राकृतिक वितानयज्ञ की सम्पत्ति का संग्रह होजाता है । प्रकृत मन्त्र से उसी वितानसम्पत्ति का संग्रह किया जाता है । पार्थिव **अन्नसम्पत्ति, पशुसम्पत्ति** तथा **द्रव्यसम्पत्ति**, तीनों की समष्टि **'राति'** है । जिसे **'दौलत'** कहा जाता है, उसी के लिए वेद में **'राति'** शब्द प्रयुक्त हुआ है । यह 'राति' **अन्न-पशु-द्रव्य** भेद से त्रिधा विभक्त है । एवं तीनों पार्थिव वसुदेवता से सम्बद्ध हैं । अतएव सम्पत्ति को **'वसु'** भी कहा जाता है । **भूतात्मक पार्थिव अग्नि ही वसु है, यही पार्थिवी सम्पत्ति है** । इसी अभिप्राय से **'वसूनां रातौ स्याम'** कहा गया है । निम्न लिखित मन्त्र इसी **'वसु–अग्नि'** के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहा है—

**अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।**
**अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥**

—ऋक् सं० ५।३।१।

रुद्रदेवता अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता हैं । अन्तरिक्ष उरु है, विशाल है, जैसा कि, **'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि'** इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है । रुद्रदेवताओं की आवासभूमि यह अन्तरिक्ष भी उरु है, एवं— **'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः'** इत्यादि यजुर्मन्त्रवर्णनानुसार इस उरु-अन्तरिक्ष में रहने वाले अधिदेवता ( रुद्र ) भी आनन्त्यलक्षण उरु भाव से युक्त हैं । अन्न–पशु–द्रव्यादि पार्थिव सम्पत्तियाँ सङ्कोचधर्म्मा हैं जबतक इस पार्थिवसम्पत्ति के भोक्ता में आन्तरिक्ष्य उरुभाव (विशालता–उदाराशयता) नहीं आजाती, तबतक पार्थिवसम्पत्ति मोह का ही कारण बनी रहती है । अतएव **'पार्थिव–वसु–राति'** के साथ साथ ही आन्तरिक्ष्य रुद्र का **'उरुभाव'** भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है । **'रुद्राणामुर्व्याम्'** से उसी भूमाभाव की प्राप्ति अभी–प्सित है ।

रुद्रनिवासात्मक अन्तरिक्ष के इस ओर वसुनिवासात्मक त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी है, एवं उस ओर आदित्यनिवासात्मक द्युलोक है । मध्यस्थ अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा पृथिवी, तथा द्युलोक ही है । अतएव अन्त–रिक्ष को उभयतः [ द्यावापृथिवी से ] परिच्छिन्न माना गया है, जैसा कि—**"अमूलमुभयतः परिच्छिन्नम्'** इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित हैं । यज्ञकर्त्ता यजमान अपनी स्वाभाविक [ प्रकृतिदत्त ] प्रतिष्ठा में याव-दायुर्भोगपर्य्यन्त प्रतिष्ठित रहता हुआ यज्ञ के द्वारा अन्तरिक्ष में जाता हुआ स्वर्गोपलक्षिता द्युप्रतिष्ठा में प्रति-ष्ठित होना चाहता है, जो कि द्युप्रतिष्ठा तदधिदेवता–सम्बन्ध से **'आदित्यप्रतिष्ठा'** कहलाई है । शेष मन्त्रभाग से इसी **'आदित्यप्रतिष्ठा'** का संग्रह हुआ है । **राति-प्रवर्त्तक वसु, भूमाप्रवर्त्तक रुद्र, एवं प्रतिष्ठाप्रवर्त्तक आदित्य**, तीनों देवता त्रैलोक्यव्यापिनी अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित है * । **'अदितये स्यामनेहसः'** इस मन्त्र भाग से सर्वान्त में उसी देवमाता अदिति का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है ॥१७॥

---

* **अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ! ।**
**आदित्या, वसवो, रुद्रा, अश्विनौ च परन्तप ! ॥**

—वाल्मीकिरामायणे

स्वस्त्ययनजपमन्त्र का अगला भाग है—"**जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासम्**"। होत्रकर्म्म की सफलता के लिए जिन जिन देवताओं का अनुग्रह अपेक्षित था, पूर्वमन्त्रभागों के जप से होताने वह प्राप्त कर लिया। अब यह स्वयं अपने उस आध्यात्मिक वाङ्मय देवता के अनुग्रह की कामना कर रहा है, जिस की प्राप्ति से सबकुछ सफल है, एवं जिस के अभाव में सबकुछ व्यर्थ है। अनुवचनकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले जिन देवताओं के लिए होता अनुवाक्या करता है, यदि उन मन्त्रों के उच्चारण में अक्षर-पद--वाक्य आदि का उच्चारण-सौष्ठव-माधुर्य्य है, तो यथानुरूप उच्चरित मन्त्र अपनी **उदात्त--अनुदात्त-स्व--रित** आदि **स्वरमर्य्यादा** से, तथा गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, आदि '**छन्दोमर्य्यादा**' से तत्तत्स्वर-छन्दोमय प्राकृतिक प्राणदेवताओं से समतुलित होते हुए तत्तद्देवतावाहन में समर्थ होजाते हैं। ऐसी देवाकर्षिणी शोभना-व्यवस्थिता-अनुद्वेगकरी मन्त्रावाक् ही प्राणदेवताओं के लिए आकर्षण की वस्तु बनती हुई "जुष्टावाक्" कहलाई है। यदि मन्त्रोचारण में **खर--स्वरता है, स्वरदोष है, उच्चारणदोष है, स्खलनदोष** हैं, तो इस की सन्तानधारा विच्छिन्न है। ऐसी विच्छिन्ना मन्त्रवाक् कभी देवाकर्षणकर्म्म में सफल नहीं होसकती। लोक में भी सब कुछ साधन--सामग्रियों के विद्यमान रहने पर भी केवल अपनी उद्वेगभावापन्ना अव्यवस्थिता वाक् से सबकुछ व्यर्थ होजाता है। अतएव इतर सब साधनों की अपेक्षा उस अपने वाक्--साधन का सौष्ठव प्रत्येक दशा में अपेक्षित है, जिस के अनुग्रह से सभी साधन प्राप्त होजाते हैं, एवं कार्य्य भी समृद्ध बन जाता है। अतएव—'**तद्धि समृद्धम्, यो जुष्टं देवेभ्योऽनुब्रवत्**' इत्यादि रूप से जुष्टा-वाक् को ही यज्ञ की प्रधान समृद्धि माना गया है ॥१८॥

**मन्त्राधीन देवता** हैं, अतएव मन्त्रवाक् का सौष्ठव सर्वप्रथम अपेक्षित है। **मन्त्र ब्राह्मणों के आधीन** हैं, अतएव ब्राह्मणों का अनुग्रह भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। **तत्त्वात्मिका वैज्ञानिकी वाक् का रहस्य जानने वाले मन्त्रवित् ब्राह्मण भूदेव** हैं। इन के प्रति भी सदा अनुद्वेगकरी--जुष्टावाक् का ही प्रयोग करना चाहिए। विशेषत: उस वैदिक यज्ञकर्म्म [ यज्ञकर्म्म से उपलक्षित तप, तथा दानकर्म्म में भी ] में तो यह सावधानी रखनी हीं चाहिए कि, कहीं किसी भी ब्राह्मण के लिए उद्वेगकरी वाक् का प्रयोग तो नहीं होगया। ब्राह्मण की अप्रसन्नता यज्ञस्वरूप के विघात के लिए पर्य्याप्त है, एवं ब्राह्मण की प्रसन्नता यज्ञस्वरूपसमृद्धिके लिए पर्य्याप्त है। उन यज्ञकर्म्मों की मीमांसा कीजिए, जिन में यजमानलोग ब्राह्मणों का अपमान कर दिया करते हैं। उन दानकर्म्मों के कुफलों का अन्वेषण कीजिए, जिन में मदान्ध दानदाता अपमान--पुरस्सर दान करते हुए अपना सर्वनाश करा रहे हैं। उन अविवेकियों की उस जघन्यवृत्ति का भी अन्वेषण करना न भूलिए, जो केवल धन को ही बुद्धिमत्ता का जनक समझते हुए ब्राह्मणवर्ण का अपमान कर अपने भविष्य को अप्रतर्क्यतम से ही अभिभूत करते जारहे हैं। हमारा अपना तो ऐसा आत्म--विश्वास है कि, भारतवर्ष की वर्त्तमान दीनदशा के अन्यान्य कारणों में से **ब्राह्मणबल की सुषुप्ति**, तथा **ब्राह्मणवर्ण का अपमान** भी एक मुख्य कारण है। '**तद्धि समृद्धं, यो जुष्टं ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत्**' इत्यादि श्रौतादेश भी इसी कारण का स्पष्टीकरण कर रहा है। '**जुष्टां ब्रह्मभ्य:**' यह मन्त्रभाग इसी ब्राह्मणानुग्रह--प्राप्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है ॥१९॥

अगला मन्त्रभाग है--'**जुष्टं नाराशंसाय**'। **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चारों वर्णों** में ब्राह्मणवर्ण इतर तीनों वर्णों का मूलप्रभव है, ब्रह्मस्थानीय हैं। ब्रह्म एकाकी सृष्टि करने में असमर्थ

होता हुआ अपने तप से इतर वर्णों को उत्पन्न करता है—[ देखिए शत० ब्रा० १४ कां० । ४ अ० । २ ब्रा० । २३ कं० । ] । ब्रह्म सर्वादितत्त्व है, अतएव वह सृष्टिमर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले प्रजासर्ग से बहिर्भूत है । ब्रह्ममूलक ब्राह्मणवर्ण प्रजा का ( धर्म्मसूत्र से ) सञ्चालक है, क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रवर्ण प्रजावर्ग है । इस सर्वसामान्य प्रजावर्ग के लिए ही वेदभाषा में 'नर' शब्द प्रयुक्त हुआ है । **ब्राह्मण नर ( मनुष्य ) नहीं है, अपितु देवता ( भूदेव ) है** । सामान्य प्रजावर्ग से इस का पार्थक्य बतलाने के लिए, साथ ही इसे ब्रह्मात्मक बतलाने के लिए पूर्व ( १६ ] कण्डिका में—'**जुष्टां ब्रह्मभ्यः**' कहा गया है । अब प्रस्तुत कण्डिका में ब्राह्मणातिरिक्त सम्पूर्ण प्रजावर्ग के लिए जुष्टा वाक् के प्रयोग का विधान हुआ है । प्रत्येक कर्म्म में सभी के शुभसंकल्प अपेक्षित हैं । वही कर्म्म समृद्ध माना गया है, जिस को देखने वाले, न देखने वाले, सभी एकस्वर से साधुवाद दिया करते हैं । तात्पर्य्य, लोकसंग्रहदृष्टि से भी सभी की शुभ कामनाएँ अपेक्षित हैं । इस के लिए सभी के प्रति जुष्टावाक् का प्रयोग होना चाहिए ।

अगला मन्त्रभाग है--"**यदद्य होतृवर्य्ये जिह्मं चक्षुः परापतत, अग्निष्टत् पुनराभ्रियाज्जातवेदा विचर्षणिः**" । होता यद्यपि यथाशक्ति प्राणदेवताओं का, तत्सम ब्राह्मणों का, एवं प्रजावर्ग का, सभी का अनुग्रह भी प्राप्त कर लेता है । मन्त्रप्रयोग भी यथाविधि ही करता है । इसप्रकार अपनी ज्ञातदशा में यह अपने हौत्रकर्म्म में कोई त्रुटि नहीं करता । तथापि संसार में समालोचकों की कमी नहीं है । सर्वश्रेष्ठ निर्दोष कर्म्मों की भी आलोचना करने वाले मिल ही जाते हैं । होसकता है--लौकिक कर्म्मों का इस दृष्टिदोष से कुछ न बिगड़ता हो । परन्तु वैदिक--कर्म्म अवश्य ही इस दृष्टिदोष से भी विकृत होसकते हैं । दृष्टिसूत्र के द्वारा वह कुत्सित--भावना यज्ञवातावरण में यदि प्रवेश कर जाती है, तो उसीप्रकार यज्ञस्वरूप विकृत हो जाता है, जैसे कि आगन्तुक तृणादि से स्वच्छ भी घर मलिन होजाता है । होता का यह भी एक कर्त्तव्य होजाता है कि, ऐसे दुष्ट समालोचकों की दुष्टदृष्टि से दोष से दोषयुक्त बने हुए यज्ञकर्म्म को निर्दुष्ट बनाने के लिए अग्नि से प्रार्थना कर ले । हम नहीं जानते कि, किस के दृष्टिदोष से कर्म्मस्वरूप विकृत हुआ । परन्तु सब कुछ जानने वाले, अतएव '**जातवेदा**' नाम से प्रसिद्ध अग्नि अवश्य ही उसे जानते हैं । वे अवश्य ही हमारी भावना से प्रेरित होकर उस दृष्टिदोष को हटा कर पुनः यज्ञत्रुटि का सन्धान करने की क्षमता रखते हैं ॥ २० ॥

'**जातवेदा विचर्षणिः**' यहाँतक स्वस्त्ययनजप करने के अनन्तर वह होता अध्वर्य्यु, तथा आग्नीध्र नामक ऋत्विजों का स्पर्श करता है । **वस्तुतः अध्वर्य्यु प्राणव्यापार का, उद्गाता, तथा होता, दोनों वाग्व्यापार के, एवं ब्रह्मा मनोव्यापार के प्रवर्त्तक माने गए हैं** । परन्तु यहाँ स्थितिभाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने अध्वर्य्यु को '**मन**' मान लिया है । मन उक्थरूप से हृदय में प्रतिष्ठित रहता है । '**दूरङ्गमञ्ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**' इत्यादि मन्त्र के द्वारा मन का जो विदूर गमन बतलाया गया है, वस्तुतः वह वाङ्मय संस्कारों का ही गमन समझना चाहिए । कारण स्पष्ट है । मन पर बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है । बुद्धिस्थ प्रज्ञात्मक प्राण ही चित् का अनुग्राहक है । जबतक मन है, तभीतक बुद्धि है । जबतक बुद्धि है, तभीतक चित् है । जबतक चित् है, तभीतक जीवनसत्ता है । फलतः मन के विदूरगमन का संस्कारात्मक परिभ्रमण पर ही विश्राम मानना पड़ता है । जिसप्रकार मन स्वस्थान में स्थित रहता है, एवमेव अध्वर्य्यु का व्यापार स्वस्थान ( पृथिवी ) से ही सम्बन्ध रखता है । उधर होता का अनुवचनकर्म्म द्युलोकानुगत रहता है । **इसी सादृश्य से निदानेन अध्वर्य्यु को मन, तथा होता को वाक् मान लिया जाता है** । बिना मन के

वागव्यापार प्रतिष्ठाशून्य है। उसी मनःप्रतिष्ठाप्राप्ति के लिए यह होता मनःस्थानीय अध्वर्यु का स्पर्श करता है। मनोवाक् का परस्पर ग्रन्थिबन्धन ही इस स्पर्श का अनन्य फल है ॥ २१ ॥

स्पर्शकर्म्मानन्तर वह होता "षएमोर्वीरंहसस्पान्तु–अग्निश्च, पृथिवी च, आपश्च, वाजश्च, अहश्च, रात्रिश्च" इस मन्त्र का जप करता है। 'अहोरात्रवाद' सिद्धान्त के अनुसार अहः से सम्बन्ध रखने वाला सौर आग्नेय तत्त्व, तथा रात्रि से सम्बन्ध रखने वाला चान्द्र सौम्य तत्त्व, ये दो ही सर्वसृष्टि के उपादान हैं। इन दो के तीन विवर्त्तों का ही यहाँ स्पष्टीकरण हुआ है। अहः का अग्नि से सम्बन्ध है, रात्रि का पृथिवी से सम्बन्ध है। अहः का वाज से सम्बन्ध है, रात्रि का आपः से सम्बन्ध है। अग्नि, पृथिवी, जल, तीनों प्रसिद्ध हैं। 'वाज' प्रकृत में 'प्राण' का वाचक है। 'एष उ एव बिभ्रद्वाजः' (ऐ० आ० २।२।१।) इस श्रुति के अनुसार भूतशरीर को धारण करने वाला विधर्त्ता प्राण ही 'वाज' है। अन्नदान के द्वारा ही इस की शरीर में प्रतिष्ठा रहती है। अतएव ( वाजप्रवर्त्तकत्वेन ) अन्न को भी 'वाज' कह दिया जाता है। 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' सिद्धान्तानुसार जहाँतक पृथिवी है, वहाँतक अग्नि है। पार्थिव प्रजा के लिए सर्वत्र पृथिवी, एवं तदभिन्न अग्नि की व्याप्ति है। पानी का भी कहीं अभाव नहीं है–'सर्वमापोमयं जगत्'। वाजात्मक प्राण भी—'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' के अनुसार सर्वव्यापक है। अहोरात्र की सर्वव्याप्ति तो स्पष्ट ही है। इन ६ ओं की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने इन्हें 'उर्वी' कहा है। जिस के लिए ये ६ ओं पर्व अनुकूल रहते हैं, वह कभी किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पासकता। होता इसी देवषट्कानुग्रहप्राप्ति की कामना करता है ॥ २२ ॥

स्वस्त्ययनजपकर्म्म--समाप्ति के अनन्तर होता अपने लिए नियत 'होतृपदन' नामक अपने बैठने के स्थान की ओर लौट आता है। यहाँ आकर अपने दर्भासन से एक तृण निकाल कर फैंकता हुआ होता—'निरस्तः परावसुः' मन्त्र बोलता है। जिस की उपपत्ति श्रुति ने यह बतलाई है कि, 'परावसु' नामक असुर असुरों का 'होता' था। तृणनिष्कासन–व्याज से उसी को इस देवयज्ञमण्डल से बाहिर फैंका जाता है। ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से बहुत सम्भव हो, भौम देवताओं की भाँति असुरों नें भी यज्ञ किया हो, एवं उनके किसी यज्ञ में 'परावसु' नामक 'असुरब्राह्मण' होता बना हो। परन्तु तत्त्वदृष्ट्या वह तमोमयप्राण, जोकि अपने स्वाभाविक आसुरभाव से देवयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले वसु ( सम्पत्ति ) को यज्ञमण्डल से पराग् करने वाला है, 'परावसु' है। इसी के लिए 'सहरक्षा' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि–'सहरक्षा इत्यसुररक्षसां दूत आस' इत्यादि रूप से पूर्व के 'हिङ्कारब्राह्मण' में विस्तार से बतलाया जाचुका है। दिव्यप्राणाग्नि देवदेवताओं के होता हैं। इन्हीं के लिए 'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्' इत्यादि कहा गया है। 'अग्निं तं मन्ये वसु०' इत्यादि के अनुसार वसु ( सम्पत्त ) के प्रवर्त्तक ये अग्नि ही 'अर्वावसु' नामक देवदेवताओं के होता हैं। दोनों हीं प्राणात्मक दूत आन्तरिक्ष्य वायु में व्याप्त रहते हैं। फलतः यज्ञमण्डल में दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य्य है। दोनों में 'परावसु' का सम्बन्ध यज्ञविघातक है। मन्त्रशक्ति के द्वारा तृणनिदानेन उसे तो निकाल बाहिर कर दिया जाता है, एवं–'इदमहमर्वावसोः सदने सीदामि' यह मन्त्र बोलता हुआ स्वयज्ञ में केवल 'अर्वावसु' नामक दिव्याग्नि--होता के सम्बन्ध को दृढमूल बनाता है। २३-२४ कण्डिकाओं में इसी उपपत्ति का स्पष्टीकरण हुआ है ॥ २३, २४ ॥

इसप्रकार होतृषदनस्थान में बैठने के अनन्तर होता बोलता है–"**विश्वकर्म्मंस्तनूपा असि मा मोदोषिष्टं मा मा हिंसिष्टमेष वां लोकः**" । इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ होता उत्तर की ओर थोड़ा सा चलता सा है । होतृषदनस्थान गार्हपत्य, तथा आहवनीय, दोनों द्यावापृथिव्य अग्नियों के मध्यम में पड़ता है । दोनों अग्नि दिव्याग्नि हैं, विशेषतः आहवनीय तो समिन्धन से आज समिद्ध बन कर अतिशयरूप से ही शक्तिमान् बन गया है । अवश्य ही विना इनकी अनुग्रहप्राप्ति के तन्मध्यस्थ होता का अनिष्ट होसकता है । अतएव होता स्तुति के द्वारा इन का अनुग्रह प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

अनन्तर आहवनीयाग्नि की ओर देखता हुआ—'**विश्वेदेवाः शास्तन०**' इत्यादि मन्त्र बोलता है, जिस का स्पष्टीकरण मूलानुवाद से ही गतार्थ है ॥ २६ ॥

**इति-विवेचनाप्रकरणम्**

## इति–होतृप्रवरब्राह्मणं समाप्तम् ।

## इति प्रथमकाण्डे–पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं चतुर्थप्रपाठके च द्वितीयं ब्राह्मणं "प्रवरब्राह्मणं" नामकमुपरतम्

———**———

श्रीः

# इति–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये—
# प्रथमकाण्डे
# पंचमाध्याये--प्रवरब्राह्मणम्

श्रीः

# अथ--शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये
# प्रथमकाण्डे
# पंचमाध्याये--"स्रुग्ब्राह्मणम्"
## ( वृष्टिविज्ञानात्मकम् )

———— * ————

॥ श्री ॥

# अथ-प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणं चतुर्थप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणं उपक्रान्तम्

## "स्रुग्ब्राह्मणम्"

## २२—स्रुगादापनं-आश्रावणं-प्रत्याश्रावणञ्च

★

### १—स्रुगादापननिगदः—

( मूल )—'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' इति । अग्निरिदं होता वेत्तु-इत्येवैतदाह । अग्नेर्होत्रमिति । तस्यो हि होत्रम् । 'वेत्तु प्रवित्रम्' इति । यज्ञो वै पावित्रम् । वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह । 'साधु ते यजमान ! देवता' इति । साधु ते यजमान देवता—यस्य ते अग्निर्होता इत्येवैतदाह । 'घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व' इति । तदध्वर्युं प्रसौति । स यदेकामिवाह ॥ १ ॥

यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा अरातीयति—स उपभृतमनु । सयद् द्वे इव ब्रूयाद्-यजमानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्यात् । अत्तैव जुहूमनु, आद्य उपभृतमनु । स यद् द्वे इव ब्रूयाद—अत्र आद्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्यात् । तस्मादेकामिवैवाह ॥ २ ॥

'देवयुवं विश्ववाराम्' इति । उपस्तौत्येवैनामेतद्, महयत्येव-यदाह, देवयुवं विश्ववारामिति । ईडामहै देवाँ ३ ॥ 'ईडेन्यान्, नमस्यामनमस्यान्, यजाम यज्ञियान्' इति । ईडामहै तान् देवान्—य ईडेन्याः, नमस्याम तान्—ये नमस्याः, यजाम यज्ञियान्—इति । मनुष्या वा ईडेन्याः, पितरो नमस्याः, देवा यज्ञियाः ॥ ३ ॥

या वै प्रजा यज्ञे अनन्वाभक्ताः–पराभूता वै ताः । एवमेवैतद्–या इमाः प्रजा अपराभूताः–ता यज्ञ आभजति । मनुष्यान् अनु पशवः, देवान् अनु वयांस्यौषधयो वनस्पतयो यदिदं किञ्च–एवमु तत्सर्वं यज्ञे आभक्तम् ॥ ४ ॥

ता वा एताऽनव व्याहृतयो भवन्ति । नवेमे पुरुषे प्राणाः- एतानेवाऽस्मिन् एतद् दधाति । तस्मान्नव व्याहृतयो भवन्ति ॥ ५ ॥

## २–आश्रावण–प्रत्याश्रावण–निगदः—

यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । तं देवा अन्वमन्त्रयन्त-'आ नः शृणु, उप न आवर्तस्व' इति । सः 'अस्तु तथा' इत्येव देवानुपाववर्त्त। तेनोपावृत्तेन देवा अयजन्त । तेनेष्ट्वा एतद् अभवन्-यदिदं देवाः ॥ ६ ॥

स यदाश्रावयति-यज्ञमेवैतदनुमन्त्रयते-'आ नः शृणु, उप न आवर्तस्व इति । अथ यत्प्रत्याश्रावयति-यज्ञ एवैतदुपावर्तते-'अस्तु तथा' इति । तेनोपावृत्तेन रेतसा भूतेन ऋत्विजः संप्रदायं चरन्ति, यजमानेन परोक्षम् । यथा पूर्णपात्रेण सम्प्रदायं चरेयुः-एवमनेन ऋत्विजः संप्रदायं चरन्ति । तद्वाचैवेतत् संप्रदायं चरन्ति, वाग् हि यज्ञः, वाग् उ हि रेतः, तदेतेनैवैतत् संप्रदायं चरन्ति ॥ ७ ॥

सः 'अनुब्रूहि' इत्येवोक्त्वा अध्वर्युर्नापव्याहरेत्, नो एव होतापव्याहरेत् । आश्रावयति अध्वर्युः-तदग्नीधं यज्ञ उपावर्तते ॥ ८ ॥

सोऽग्नीन्नापव्याहरेत्-आ प्रत्याश्रावणात् । प्रत्याश्रावयत्यग्नीत्-तत् पुनरध्वर्युं यज्ञ उपावर्तते ॥ ९ ॥

सोऽध्वर्युर्नापव्याहरेत्--आ 'यज' इति वक्तोः । यजेत्येवाध्वर्युर्होत्रे यज्ञं सम्प्रयच्छति ॥ १० ॥

स होता नापव्याहरेत्–आ वषट्कारात् । तं वषट्कारेणाग्नावेव योनौ रेतोभूतं सिञ्चति। अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य-स ततः प्रजायते–इति नु हविर्यज्ञे। अथ सौम्येऽध्वरे ॥ ११ ॥

स वै ग्रहं गृहीत्वाध्वर्युर्नापव्याहरेद्-आ उपाकरणाद् । 'उपावर्त्तध्वम्' इत्येवाध्वर्युरुद्गातृभ्यो यज्ञं संप्रयच्छति ॥ १२ ॥

त उद्गातारो नापव्याहरेयुः-आ उत्तमायाः । 'एषोत्तमा' इत्येवोद्गातारो होत्रे यज्ञं संप्रयच्छन्ति ॥ १३ ॥

स होता नापव्याहरेत्-आ वषट्कारात् । तं वषट्कारेणाग्नावेव योनौ रेतोभूतं सिञ्चति । अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य-स ततः प्रजायते ॥१४॥

स यद् न सोऽव्याहरेत्-यं यज्ञ उपावर्तते, यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेद्-एवं ह स यजमानं परासिञ्चेत् । स यत्र हैवमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति-सर्वमेव तत्र कल्पते, न मुह्यति । तस्मादेवमेव यज्ञो भर्तव्यः ॥ १५ ॥

ता वा एताः पञ्च व्याहृतयो भवन्ति-'ओ श्रावय,' 'अस्तु श्रौषड्', 'यज', 'ये यजामहे,' 'वौषट्' इति । पाङ्क्तो यज्ञः, पाङ्क्तः पशुः, पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरस्य । एषैका यज्ञस्य मात्रा, एषा सम्पत् ॥१६॥

तासां सप्तदशाक्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापतिः । प्रजापतिर्यज्ञः । एषैका यज्ञस्य मात्रा, एषा सम्पत् ॥१७॥

'ओ श्रावय' इति वै देवाः पुरोवातं ससृजिरे । 'अस्तु श्रौषट्' इति अभ्राणि समप्लावयन् । 'यज' इति विद्युतम् । 'ये यजामहे' इति स्तनयित्नुम् । वषट्कारेणैव प्रावर्षन् ॥१८॥

स यदि वृष्टिकामः स्यात् , यदीष्ट्या वा यजेत,-दर्शपूर्णमासयोर्वैव ब्रूयाद्-'वृष्टिकामो वा अस्मि' इति । तत्रो अध्वर्युं ब्रूयात्-'पुरोवातं च विद्युतं च मनसा ध्याय' इति । 'अभ्राणि मनसा ध्याय' इति अग्नीधम् । 'स्तनयित्नुं च वर्षं च मनसा ध्याय' इति होतारम् । 'सर्वाण्येतानि मनसा ध्याय' इति ब्रह्माणम् । वर्षति हैव तत्र-यत्रैवं ऋत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति ॥१९॥

'ओ श्रावय' इति वै देवा विराजमभ्याजुहुवुः । 'अस्तु श्रौषड्' इति वत्समुपावासृजन् । 'यज' इति उदनयन् । 'ये यजमाहे' इति उपासीदन् । वषट्कारेणैव विराजमदुहत । इयं वै विराट्, अस्यै वा एष दोहः । एवं ह वा अस्मै इयं विराट् सर्वान् कामान् दुहे-य एवमेतं विराजो दोहं वेद ॥२०॥

## इति-प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणं
## चतुर्थप्रपाठके च तृतीयं ब्राह्मणं
## उपरतं-"सुग्ब्राह्मण" नामकम्

# मूलानुवादः—

## पाँचवें अध्याय में दूसरा, एवं चौथे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण "स्रुग्ब्राह्मण"

१—स्रुगादापननिगद—

( पूर्व के 'प्रवरब्राह्मण' में अध्वर्य्यु के द्वारा होने वाले यजमान, दिव्य अग्नि, एवं मानुष होता के वरणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाई गई है। अब प्रकृत 'स्रुग्ब्राह्मण' में 'स्रुगादापन-कर्म्म' का स्पष्टीकरण किया जाता है। कहा गया है कि, अध्वर्य्यु के द्वारा होतृत्त्वेन वृत 'होता' नामक ऋत्विक् अपने हौत्रकर्म्म की निर्विघ्न-परिसमाप्ति के लिए स्वस्थान-होतृषदन में प्रतिष्ठित होकर—**'एतत् त्वा देव सवितर्वृणते'** इत्यादि मन्त्रजप-लक्षण 'स्वस्त्ययनजप' कर्म्म करता है। इस कर्म्म के अनन्तर ही स्रुगादापनकर्म्म विहित है, जिसकी इतिकर्त्तव्यता क्रमप्राप्त आरम्भ करती हुई श्रुति कहती है)—

( स्वस्त्ययनमन्त्रजप के अनन्तर होता नामक ऋत्विक्)— **'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्'** ( प्राणाग्निलक्षण दिव्य होता इस अनुष्ठेय अपने हौत्रकर्म्म को जाने ) यह मन्त्र बोलता है। 'इस ( अनुष्ठेय कर्म्म ) को दिव्याग्निरूप यह होता जाने' मन्त्रभाग से यही कहा है। **'अग्नि-र्होत्रम्'** इस मन्त्रभाग का यही तात्पर्य्य है कि, यह हौत्रकर्म्म निश्चयेन अग्नि का ही है। (अनन्तर) **'वेत्तु प्रावित्रम्'** ( वह दिव्याग्निरूप होता यज्ञ को जाने ) यह मन्त्रभाग बोलता है। प्रावित्र निश्चयेन—( **'प्रकर्षेण अवति'**, इस व्युत्पत्ति से ) यह यज्ञ है। ( इस मन्त्रभाग से ) 'होता रक्षक यज्ञ को जाने', यही कहा है। ( अनन्तर ) **'साधु ते यजमान ! देवता'** ( हे यजमान ! जिस तुह्मारा होता दिव्य अग्नि है, वह तुह्मारा देवता तुह्मारा लिए-कर्म्मसिद्धि के लिए साधु-योग्य है ) यह मन्त्रोच्चारण करता है। मन्त्र से यही कहा गया है। (अनन्तर)-**'घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व'** ( हे अध्वर्य्यु ! आप घृतपूर्णा स्रुच का ग्रहण कीजिए ) यह मन्त्रोच्चारण करता है। ( इस मन्त्र के द्वारा होता ) अध्वर्य्यु को ( स्रुगादापनकर्म्म के लिए प्रेरित करता है। सो जो कि होता (अध्वर्य्यु को जुहू-उपभृत, इन दोनों में से) केवल जुहू के लिए प्रेरित करता है, ( उस की उपपत्ति बतलाते हैं) ॥१॥

यजमान ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, ( एवं ) जो इस ( यजमान के लिए ) शत्रुता करता है, वह (यजमान का शत्रु) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है (अर्थात् जुहू निदानेन यजमान की, तथा

उप त् इसके शत्रु की प्रतिकृति है)। (ऐसी स्थिति में) यदि वह होता (अध्वर्यु को) दो (जुहू-उपभृ : दोनों) स्रुचों के लिए प्रेरित करेगा, तो यजमान के लिए द्वेष करने वाले शत्रु को यजमान की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा कर देगा ( अर्थात् द्वेषी शत्रु को बलप्रदान करने वाला सिद्ध होगा, अतः एक ही जुहू के लिए प्रेरित करना उचित है )।

( अब इसी की एक दूसरी उपपत्ति और बतलाते हैं )—अत्ता ( भोक्ता ) ही जुहू को लक्ष्य बनाता है, एवं आद्य ( भोग्य ) उपभृत् को लक्ष्य बनाता है। ( अर्थात् जुहू निदानेन 'अत्ता' की, तथा उपभृत् 'आद्य' की प्रतिकृति है ) [ ऐसी स्थिति में ] यदि वह होता दो स्रुचों के लिए प्रेरित करेगा, तो अत्ता के लिए आद्य को प्रतिस्पर्द्धालु बनावेगा। [अर्थात् भोक्ता, भोग्य की तुलना में भोग्य को सबल बनावेगा। ऐसा न हो, इसलिए ] एक ही रूप से [ एक स्रुच के लिए ] मन्त्र बोलता है ॥२॥

[ अनन्तर ] 'देवयुवं विश्ववाराम्' [ देवताओं के सहयोग की इच्छा रखने वाली, तथा सम्पूर्ण देवताओं से वरणीय, ऐसी जुहू के लिए मैं अध्वर्यु को प्रेरित करता हूँ ] यह मन्त्रोच्चारण करता है। वह होता इस जुहू की प्रशंसा ही करता है, बढ़ावा ही देता है, जो कि—"देवयुवं विश्ववाराम्" यह कहता है। [अनन्तर] "ईड़ामहै देवाँ ३॥ ईडेन्यान्, नमस्याम नमस्यान्, यजाम यज्ञियान्" [ स्तुति करने योग्य मनुष्यों को मैं स्तुति करता हूँ, नमस्कार करने योग्य पितरों को मैं नमस्कार करता हूँ, एवं यजन में भाग लेने वाले-आहुति ग्रहण करने वाले अतएव 'यज्ञिय' कहलाने वाले देवताओं का मैं यजन करता हूँ ] यह मन्त्रोच्चारण करता है। मनुष्य निश्चयेन स्तुति करने योग्य है, पितर नमस्य हैं, एवं देवता यज्ञिय हैं ॥३॥

जो प्रजाएँ यज्ञ में भागरहित हैं [ जिनका यज्ञ में भाग नहीं है ], वे प्रजाएँ निश्चयेन पराजित हुईं हैं। इसीप्रकार [ ठीक इसके विपरीत ] जो प्रजाएँ अपराजित हैं, उन्हीं को यज्ञ में समाविष्ट करता है [ अर्थात् प्राकृतिक यज्ञ में जिन प्रजाओंनें भाग नहीं लिया, वे परास्त हुईं, एवं जिन्होंने यज्ञ में भाग लिया, वे विजयिनीं हुईं। प्रकृत यज्ञ में उन विजयिनी प्रजाओं का ही समावेश किया जाता है ]। मनुष्य को लक्षित कर पशुप्रजा, देवताओं को लक्षित कर पक्षी, ओषधियाँ, वस्पतियाँ, तथा [ जिन का सृष्टिकर्म में उपयोग है वह ] वह सबकुछ यज्ञ में समाविष्ट है ॥ [४] ॥

इसप्रकार [ पूर्व-कथनानुसार स्रु गादापनकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले 'स्रु गादापननिगद' ] मन्त्र की ६ व्याहृतियाँ [ वाक्य ] होजातीं हैं *। पुरुष [ आध्यात्मिकयज्ञ ] में नौ [सात शीर्षण्य, दो अवाञ्चप्राण सम्भूय ६ ] प्राण हैं। [नवव्याहृत्यात्मक इस स्रु गादापनमन्त्र से] वह होता अपने इस वैध आधिभौतिक यज्ञ में इहीं ६ प्राणों को स्थापित करता है। इसी [नवप्राणाधानसम्पत्ति के लिए] स्रु गादानमन्त्र की ६ व्याहृतियाँ होतीं हैं ॥ [५] ॥

## स्रु गादापननिगदसमाप्त

—१—

## २—आश्रावण--प्रत्याश्रावणनिगद-

'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्०' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक होत्रकर्तृक 'स्रु गादापन कर्म्म के अनन्तर-अध्वर्य्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा, इन चारों ऋत्त्विजों के सहयोग से आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्मेतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होती है। एक दूसरे ऋत्त्विक् का एक दूसरे ऋत्त्विक् के प्रति यज्ञस्वरूप की महिमा का वर्णन-बखान-हीं आश्रावण-प्रत्याश्रवण-कर्म्म कहलाया है। यह कर्म्म किया क्यों जाता है ?, इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम एक वैज्ञानिक आख्यान उद्धृत होरहा है, जिसका तात्त्विक विश्लेषण विवेचना-प्रकरण में होगा। मौलिक उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले उसी वैज्ञानिक आख्यान का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है]—[किसी युग में] यज्ञ देवताओं को छोड़कर चला गया। [लोकान्तर में पलायित उस] यज्ञ को देवताओंनें बड़े अनुनय विनय के साथ बुलाना आरम्भ किया कि [ हे यज्ञदेव ! ] तुम हमारी सुनो [मानो], हमारी ओर लौट आओ। [देवदेवताओं की अनुनय विनय युक्त वाणी से प्रभावित होकर लोकान्तर में गया हुआ] वह यज्ञ 'वैसा ही हो' [यह स्वीकृति-वचन] कहता हुआ देवों की ओर लौट आया। समीप लौटे हुए उस यज्ञ से देवोनें अपना यागकर्म्म सम्पन्न किया [यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूरी की]। इस यज्ञ से यजन कर

---

* १—"अग्निर्होता"।
२—"वेत्त्वग्नेर्होत्रम्"।
३—"वेत्तु प्रावित्रम्"।
४—"साधु ते यजान ! देवता"।
५—"घृतवतीमध्वर्यो ! स्रु चमाच्यस्य"।
६—"देवयुवं विश्ववाराम्"।
७—"ईडामहै देवाँ ३॥ ईडेन्यान्"।
८—"नमस्याम नमस्यान्"।
६—"यजाम यज्ञियान्"।

इति–स्रु गादापननिगदव्याहृतयः [६]

के [देवदेवता] वे बन गए, जो कि [आज उन का] यह देवस्वरूप [त्रैलोक्यात्मक सम्वत्सरमण्डल में प्रतिष्ठित] है। [अर्थात् देवदेवताओंनें अनुनय विनय के द्वारा वापस लौटे हुए यज्ञकर्म्म से ही अपना देवत्त्व सुरक्षित रक्खा, यज्ञ ही देवों का देवत्त्व बना ॥[६]॥

सो जो कि अध्वर्य्यु [नामक ऋत्विक् **'ओश्रावय'** इत्यादि रूप से] आश्रावण-कर्म्म करता है, [अपने इस आश्रावणकर्म्म से प्राकृतिक देवदेवताओं की भाँति] यज्ञ को ही अनुनय विनय से बुलाता है कि, आप हमारी सुनो, हमारी ओर लौट आओ। [तात्पर्य्य, अध्वर्य्युकृत आश्रावण-कर्म्म लोकान्तर में गत यागस्वरूप-सम्पादक यज्ञ को स्व वैधयज्ञ में वापस बुलाने के लिए ही विहित है]। [अध्वर्य्युकृत आश्रावण के अनन्तर आग्नीध्र नामक ऋत्विक्-**'अस्तु श्रौषट'** इत्या-कारक जो प्रत्याश्रावणकर्म्म करता है--उस प्रत्याश्रावणकर्म्म से वह पलायित यज्ञ 'वैसा ही हो' इस स्वीकृति के साथ लौट आता है। [तात्पर्य्य, आग्नीध्रकृत प्रत्याश्रावणकर्म्म यज्ञ के स्वीकृति--पूर्वक वापस लौट आने के स्थान में हीं विहित है]। [इसप्रकार अध्वर्य्युकृत आश्रावण, एवं आग्नी-ध्रकृत प्रत्याश्रावण से समीप आए हुए यज्ञ के बल से-यजमान को [इस यज्ञस्वरूपसम्पादानकर्म्म में] परोक्ष रखते हुए ऋत्विक् लोग सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं—[परस्पर एक दूसरे के प्रति योग्य इतिकर्त्तव्यता का विभाजन करते हुए यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूर्ण करते हैं]। [तात्पर्य--आश्रावण, प्रत्याश्रावणरूप--वाङ्मय निगदकर्म्म से यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। इस में चारों ऋत्विजों का क्रमशः सहयोग रहता है। केवल यजमान इस निगदकर्म्म में भाग नहीं लेता] जिसप्रकार [लोक में किसी बृहत्पात्र को पूर्ण करने के लिए समवेत अनेक] व्यक्ति अपने आगे आगे की व्यक्तियों को जलपूर्ण घट पात्र सोंपते हुए बृहत्पात्र पूर्ण कर देते हैं, तथैव इस पारस्परिक प्रदान--कर्म्म से इस यज्ञ के द्वा। वे ऋत्विक् सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं। (यहाँ पारस्परिक सम्प्र-दान किसी भौतिक द्रव्य का नहीं होता, अपितु केवल वाक्प्रयोग-लक्षण निगदमन्त्र-प्रयोग से ही सम्प्रदायानुगमन होता है। इसी अभिप्राय को अव्यक्त करती हुई श्रुति कहती है कि) इस वाक् (वाङ्मय निगदमन्त्रप्रयोग) के द्वारा ही सम्प्रदान-पूर्वक ऋत्विक् लोग अनुष्ठान करते हैं। वाक् ही यज्ञ है, और वाक् ही निश्चयेन यज्ञका रेत है। अतः वाक् के द्वारा ही सम्प्रदानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करते हैं॥ (७)॥

(आश्रावण, प्रत्याश्रावण-कर्म्म के पारिस्परिक सम्प्रदान सें सभी ऋत्विजों का व्यवस्थितरूप से शान्त-अनुद्विग्न-वृत्ति मैं रहना आवश्यक है। इस निगदकर्म्म में उन्हें उतना हीं कुछ बोलना है, जितने का निगदकर्म्म से सम्बन्ध है। प्रस्तुतानुपयोगिनी लौकिकवार्त्ता अत्र सर्वथा निषिद्ध है। इसी विशेषादेश का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है कि) वह अध्वर्य्यु (अपने मुख से होता

नामक ऋत्विक् से प्रति अनुवाक्या के लिए प्रैष करता हुआ) केवल 'अनुब्रूहि' [अनुवचन करो] इतना भर कह कर अप्रासङ्गिक और कुछ न बोले। नाहीं होता ही और कुछ अप्रासङ्गिक उच्चारण करे। [क्योंकि अध्वर्यु कृत प्रैष से अनुवचन-द्वारा होता में भी वाग्रूप यज्ञ का समावेश होजाता है]। [अनन्तर] अध्वर्यु [आग्नीध्र को लक्ष्य बनाकर 'ओश्रावय' इत्यादिरू से] आश्रावण करता है। इस आश्रावण से यज्ञ आग्नीध्र के समीप लौट आता है [आग्नीध्र यज्ञसन्तान से युक्त हो-जाता है] ॥[८]॥

क्योंकि अध्वर्यु कृत आश्रावण से आग्नीध्र में यज्ञसम्पत् का समावेश होगया है, अतएव जबतक आग्नीध्र ['अस्तु श्रौषट्' इत्यादिरूप से] प्रत्याश्रावण न करले, तबतक यह निष्प्रयोजन कुछ न बोले। [अध्वर्यु कृत आश्रावण के अनन्तर ही अन्य निष्प्रयोजन वाक् का संयम करता हुआ] आग्नीध्र ['अस्तु श्रौषट्' रूप से अध्वर्यु के प्रति] प्रत्याश्रावण करता है। [आग्नीध्रकृत] इस प्रत्याश्रावणकर्म्म अध्वर्यु कृत आश्रावणकर्म्म का ही समाधान है ॥ [९] ॥

[आग्नीध्रकृत प्रत्याश्रावण से यज्ञसम्पत् से युक्त हुआ] वह अध्वर्यु जबतक [होता के प्रति] 'यज' [यजन करो] इस निगद का प्रैष न करले, तबतक अन्य कुछ निष्प्रयोजन न बोले। अपने 'यज' इस प्रैष से ही अध्वर्यु होता के लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर देता है [फलस्वरूप यहाँ आकर होता भी यज्ञ सम्पत् से युक्त होजाता है] ॥[१०]॥

[अध्वर्यु कृत 'यज' निगद के द्वारा यज्ञसम्पत् से युक्त होता हुआ] वह 'होता' जबतक 'वौषट्' निगद का उच्चारण न करले, तबतक अन्य कुछ अप्रस्तुत न बोले। [होता के मुख से वौषट् सुनने के साथ ही] वषट्कार के द्वारा आहवनीयाग्निलक्षणा योनि में उस [नियत यज्ञिय] हविर्द्र-व्यरूप रेत की आहुति दे देता है। अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है। इसी में [रेतोभूत हविः प्रदान से] यज्ञ [दैवात्मलक्षण स्वर्गप्रापक यज्ञातिशय] उत्पन्न होता है। हविर्यज्ञ के सम्बन्ध में वाक्संयम की [ऋत्विजानुगता] यही [उक्त] व्यवस्था है। अब [प्रसङ्गोपात्त] सोमयाग में [होने वाली वाक्संयमव्यवस्था के सम्बन्ध में भी कह देते हैं] ॥[११]॥

(सोमयाग में) वह अध्वर्यु (सोमरस से परिपूर्ण काष्ठमय) ग्रह (सोमपात्र) का ग्रहण कर जबतक उद्गातालोग स्तोत्रपात्रलक्षण उपाकरणकर्म्म न करलें, तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोलें। (ग्रहपात्र-ग्रहणानन्तर उद्गाताओं के प्रति अध्वर्यु 'उपावर्त्तध्वम्' (समीप लौट आइए) इस वा-क्योच्चारणमात्र से यज्ञसम्पत् उद्गाताओं के लिए समर्पित कर देता है। [फलस्वरूप उद्गातालोग यज्ञसम्पत् से युक्त होजाते हैं) ॥ [१२] ॥

(अध्वर्युकृत 'उपावर्त्तध्वम' निगद से यज्ञसम्पत् से युक्त होजानेवाले) ये उद्गाता लोग जबतक (अपनी स्तोत्रियाओं में से) अन्तिम स्तोत्रिया का उद्गान न करलें, तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोलें। (स्तोत्रिया की समाप्त्यनन्तर उद्गातालोग अन्त में होता को लक्ष्य बनाकर--'एषोत्तमा' यह अन्तिम स्तोत्रिया है—इस निगद का उच्चारण करते हैं। श्रुति कहती है कि) उद्गातालोग) 'एषोत्तमा' इस उच्चारण से ही होता के लिए यज्ञसम्पत् समर्पित कर देते हैं—(फलस्वरूप होता भी यज्ञसम्त् से युक्त होजाता है) ॥ (१३) ॥

(उद्गातृकर्तृक स्तोत्रियोद्गानकर्म्म की अन्तिम स्तोत्रिया से सम्बन्ध रखने वाले 'एषोत्तमा' इस निगद से यज्ञसंपत् से युक्त होजाने वाला) वह होता जबतक यह वौषट रूप से वषट्कार न करले, तबतक अप्रस्तुत कुछ न बोले। (होतृकर्तृक वषट्कारानन्तर वषट्कार के साथ ही) अध्वर्यु वषट्कार के द्वारा आहवनीयाग्निलक्षण योनि में उस (नियत 'ग्रह' नामक सोमरूप) रेत की आहुति दे देता है। अग्नि निश्चयेन यज्ञ की योनि है। इसी में (रेतोभूता सोमाहुति से) यज्ञ (यज्ञातिशय, जिस के आकर्षण से यजमान मानुषात्मक ऐहलौकिक आयुर्भोगानन्तर त्रिणाचिकेतस्वर्ग में प्रतिष्ठित होगा) उत्पन्न होता है। (सोमयाग के सम्बन्ध में वाक्संयमकर्म्म की यही प्रासङ्गिकी मीमांसा है) ॥(१४)॥

(आश्रावण, प्रत्याश्रावण--निगदकर्म्म में यदि ऋत्विक् लोग अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण करदें, तो क्या अनिष्ट हो ?, इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) यदि वह ऋत्विक् अप्रस्तुतवाक् का उच्चारण कर देगा, तो (वह परम्परया) जिस यज्ञसम्पत को प्राप्त करता है, (अप्रस्तुत वागुच्चारण से उस यज्ञसन्तान का विच्छेदक बनता हुआ वह होता) उसीप्रकार यजमान को यज्ञसम्पत् से पृथक् कर देगा, जैसे कि (स्वल्पपात्रों से बृहत्‌पात्र को परिपूर्ण करने वाले व्यक्ति असावधानी से) उस पूर्णपात्र को रिक्त कर देते हैं (रख देते हैं)। (तात्पर्य्य--लौकिक कर्म्म जैसे अन्यवृत्ति से अपूर्ण रह जाता है, एवमेव अप्रस्तुत वागुच्चारण से यज्ञकर्म्म स्वसन्तानधारा खोता हुआ अपूर्ण रह जायगा, एवं यही अप्रस्तुत वागुच्चारण से महान् अनिष्ट होगा।)। (ठीक इसके विपरीत) जिस यजमान के यज्ञ के [आश्रावण–प्रत्याश्रावण--निगदर्म्म में] ऋत्विक् लोग [अप्रस्तुतवाक् का संयम करते हुए] परस्पर एक दूसरे के प्रति यज्ञसम्पत् समर्पित करते हुए निगदकर्म्म का अनुगमन करते हैं, उस कर्म्म में सभी कुछ [यज्ञसम्पत्तियाँ] सम्पन्न होजातीं हैं, इस सावधानी से कोई भी ऋत्विक् अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। इसलिए [ऋत्विजों को चाहिए कि] वे इसप्रकार [विहित नियमानुसार] ही [यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूरी करते हुए] यज्ञ को पुष्ट [परिपूर्ण] करें ॥ [१५] ॥

[प्रस्तुत निगद कर्म्म में पाँच व्याहृतियाँ होतीं है। इस पञ्चसंख्या की मौलिक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है]—[इस आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म में] निश्चयेन ये [निम्न लिखित] पाँच व्याहृतियाँ होतीं हैं—'**ओ श्रावय**'—**अ तु श्रौषट्**—'**यज**'—'**ये यजामहे**'--'**वौषट्**'।

[प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ, सम्वत्सरयज्ञाधारेण वितायमान प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ, ये दोनों] यज्ञ पञ्चावयव हैं, [यज्ञ से उत्पन्न] पशु [भी] पञ्चावयव हैं, [प्राकृतिक] सम्वत्सर [यज्ञ] की [भी] पाँच [हीं] ऋतुएँ हैं। यही [पञ्चावयवयता ही] इस यज्ञ की एक सीमित [प्राकृतिक] सम्पत् है। [इसी प्राकृतिक सम्पत्-संग्रह के लिए यहाँ पाँच व्याहृतियाँ विहित हैं]॥[१६]॥

उन पाँचों व्याहृतियों के अक्षर १७ होते हैं। इस सप्तदश-संख्या की उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, उन पाँच व्याहृतियों के (**ओ-श्रा-व-य-अ-स्तु-श्रौ-षट्-य-ज-ये-य-जा-म-हे-वौ-षट्-इस क्रम से**) सत्रह अक्षर हैं। प्रजापति निश्चयेन सत्रह [संख्या से समतुलित सप्तदशावयव] है। प्रजापति [ही] यज्ञ है। यह [भी] इस यज्ञ की एक [प्राकृतिक] सीमा है, यह [भी इस यज्ञ की] सम्पत् है। [इसप्रकार पञ्चव्याहृतियों के सप्तदश अक्षरों से सप्तदश--लक्षणा प्राजापत्य-सम्पत् भी प्राप्त होजाती है]॥[१७]॥

(उक्त पाँच प्राकृतिक व्याहृतियों से प्राकृतिक साम्वत्सरिक-प्राणदेवताओं के द्वारा वृष्टिकर्म्म भी सञ्चालित है। फलतः इस वैध मानुष यज्ञ में भी यदि यजमान वृष्टिकामना रखता है, तो उस की एक विशेष-पद्धति के अनुगमन से यह कामना भी पूरी होसकती है। उसी प्राकृतिक विशेष-पद्धति का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)-( प्राणलक्षण ) देवदेवताओंने '**ओश्रावय**' इस व्याहृति से ( वृष्टिप्रवर्त्तक ) '**पुरोवात ( पुरवाई हवा-मान्सून )**' उत्पन्न की। '**अस्तु श्रौषट्**' से (**आकाश**) **बद्लों से व्याप्त कर दिया**। 'यज' इस व्याहृति से **बिजली उत्पन्न की**। '**ये यजामहे**' इस व्याहृति से '**कड़क**' उत्पन्न की। एवं-'**वौषट्**' इस व्याहृति से **पानी बरसा दिया**। ( इसप्रकार पाँच व्याहृतियों के समन्वय से वृष्टिकर्म्म पूरा कर दिया, एवं करते रहते हैं॥[१८]॥

यह यजमान यदि वृष्टि की कामना रखता हो, वही यजमान फलान्तरसाधनभूता सौरी आदि इष्टि से यजन करने वाला हो, तो उसे [ इष्टिप्रकृतिभूता इस ] दर्शपूर्णमासेष्टि से ही [ ऋत्विजों से ] यह कह देना चाहिए कि, मैं वृष्टि की इच्छा रखता हूँ। इस वृष्टिकर्म्म में उस यजमान को '**अध्वर्यु**' से तो यह कहना चाहिए कि, तुम अपने मानस संकल्प से **पुरोवात**, और **विद्युत्**, का ध्यान करो। '**आग्नीध्र**' नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि, तुम मन

से बद्लों का ध्यान करो। 'होता' नामक ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि, तुम स्तनयित्नु, और पानी का ध्यान करो। 'ब्रह्मा' नामक [ त्रैविद्य ] ऋत्विक् से यह कहना चाहिए कि, आप पुरोवातादि सब का मन से ध्यान कीजिए। अवश्य ही [ यजमान के ] उस यज्ञ में पानी बरसता है, जिस यज्ञ में (उक्त) ऋत्विक् अपने (उक्त संकल्पों के समन्वय से-पञ्चव्याहृतिलक्षण-यज्ञ में) ऐकमत्य होकर अनुष्ठान करते हैं ॥ [१६] ॥

अपने प्राकृतिक पार्थिव यज्ञ में प्राणदेवता पञ्चव्याहृत्यात्मक इसी प्रत्याश्रावण-कर्म्म से अपनी सम्पूर्ण यज्ञकामनाएँ विराड्गौरूपा इसी पृथिवी से दोहा करते हैं। इसी एक ओर प्रासङ्गिक फल का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है कि) 'ओश्रावय' इस व्याहृति से देव-देवताओंनें विराट् (गौरूपधरा पृथिवी) का आह्वान किया। 'अस्तु श्रौषट्' इस व्याहृति से [ स्तनपानार्थ ] वत्स को पाश से मुक्त किया। 'यज' इस व्याहृति से वत्स को पृथक् किया। 'ये यजामहे' इस व्याहृति से [ दोहनार्थ ऊध-थन ] के समीप बैठ गए। एवं-'वौषट्' इस वषट्कारात्मिका व्याहृति से ही उस विराट् का दोहन कर लिया। यह पृथिवी ही निश्चयेन विराट् है। इसी का यह [ उक्त लक्षण ] दोह है। [जिसप्रकार प्राकृतिक प्राणदेवता इस विराट्-रूपधरा-गोरूपधरा-पृथिवी के दोहन से अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूरी किया करते हैं ] उसीप्रकार यह विराड्गौ इस यजमान के लिए वे सम्पूर्ण कामनाएँ प्रदान कर देतीं हैं, जो विराड्गौ के उक्तलक्षण प्राकृतिक दोह का रहस्य जानता है ॥ [२०] ॥

## आश्रावण-प्रत्याश्रावण-निगद-समाप्त

—२—

## पाँचवें अध्याय में दूसरा, तथा चौथे प्रपाठक में तीसरा "स्रुग्ब्राह्मण" समाप्त

## मूलानुवाद-समाप्त

—-*—-

## सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः—

### १, २ – स्रुगापादन, तथा आश्रावणकर्म्म

वरणकर्म्म की समाप्ति के अनन्तर 'होता' नामक ऋत्विक् अध्वर्य्यु, और अग्नीध्र के अंसदेश में स्पर्श करता है। इस होतृकर्तृक सम्मर्शन [ स्पर्श ] कर्म्मानन्तर अध्वर्य्यु, और आग्नीध्र, दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं-जैसा कि—'संम्मृष्टा उपविशतः' (का० श्रौ० सू० ३।२।१४) इत्यादि सूत्र व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। सूत्रानुगता इस पद्धति के अनन्तर क्रमप्राप्त 'स्रुगादापनकर्म्म' की इतिकर्त्तव्यता आरम्भ होती है। अन्यत्र जहाँ तूष्णीं बिना मन्त्रप्रयोग के स्रुगादापनकर्म्म होता है, वहाँ प्रकृत इष्टि में मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रुगादापन विहित है। वरणकर्म्म से वृत होता **'अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रम्'** इत्यादि मन्त्रलक्षण स्रुगादापननिगद का पाठ करता है। इधर होता मन्त्रपाठ आरम्भ करता है, उधर अध्वर्य्यु जुहू-उपभृत् नामक स्रुक् का ग्रहण करता है। यही समन्त्रक 'स्रुगादापनकर्म्म' है। होतृकर्तृक निगदमन्त्र के–**'अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रं वेत्तु पावित्रं साधु देवता–योऽग्निं होतारमवृथा घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व देवयुवं विश्ववारामीडामहै देवाँ ३॥ ईडेन्यान्नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्'** इस स्वरूप के उच्चारण में भी थोड़ी विशेषता है। आरम्भ से 'यजमानदेवता' पर्य्यन्त तो होता उपांशु-मन्दस्वरपूर्वक-उच्चारण करता है। **'योऽग्निं०'** से आरम्भ कर **'यजाम यज्ञियान्'** पर्य्यन्त उच्चस्वर से उच्चारण करता है। जिस समय होता के मुख से-**'घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व'** उच्चरित होता है, उसी समय [ एतन्मन्त्रभागोच्चारणकाल में हीं ] अध्वर्य्यु स्रुक् का ग्रहण करता है। होतृकर्तृक निगदपाठकाल में अध्वर्य्यु के द्वारा स्रुक्–ग्रहण ही 'स्रुगादापनकर्म्म' है, यही निष्कर्ष है।

भगवान् कात्यायन कहते हैं कि, स्रुगादापनकर्म्म प्रयाजकर्म्म के समीप ही विहित है। अतएव मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही स्रुगादापनकर्म्म करना चाहिए। होता के द्वारा प्रयुक्त निगदमन्त्र के-**'घृतवतीम्'** भाग के उच्चरित होने पर अध्वर्य्यु जुहू–उपभृत् नामक स्रुचों का ग्रहण कर हविर्यों से पूर्व, परिधियों से पश्चिममार्ग से वामपाद से वेदि के दक्षिण पार्श्व में जोकि–**'यजति'** ।।देश माना गया है, जाकर ईशानाभिमुख खड़ा होजाता है। यहाँ खड़ा होकर वह—**'ओ श्रावय'** यह व्याहृति [ अग्नीध्र के प्रति ] बोलता है। प्रत्युत्तर में आग्नीध्र–**'अस्तु श्रौषट्'** इस व्याहृति का प्रयोग करता है। अनन्तर पुनः अध्वर्य्यु - होता को लक्ष्य बना कर–**'समिधो यज'** इस व्याहृति का उच्चारण करता है। प्रत्युत्तर में होता—**'ये यजामहे'** इस व्याहृति का उच्चारण करता है। सर्वान्त में अध्वर्य्यु जुहू को प्राङ्मुख बनाता हुआ **'वौषट्'** इस वषट्कारात्मिका व्याहृति के

उच्चारण के साथ साथ जुहूस्थित आज्य में तृतीयांश की आहुति दे देता है। स्रु गादापन, तथा आश्रावण-प्रत्याश्रवण--कर्म्म की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते है---

(१)—अग्निर्होतेति स्रु गादापनं प्रयाजेषु, सन्निधेः। (का० श्रौ० सु० ६।२।१३।)

(२)—घृतवतीमित्युक्ते स्रचावादाय, अतिक्रम्य, आश्राव्य आह— 'समिधो यजे' ति। (का० श्रौ० सू० ३।२।१७।)

## इति-सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

— —*— —

## वैज्ञानिक--विवेचना—

### १—स्रु गादापनकर्म्मोपपत्तिः

**(भाष्य)** अध्वर्यु कृत वरणकर्म्म से वृत होता स्वस्त्ययनजप-कर्म्मानन्तर-'**अग्निर्होता-वेत्त्वग्नेर्होत्रम्**'--इत्यादि ब्राह्मणपठित 'स्रु गादापननिगद' का पाठ करता है। वरणकर्म्म से वृत यह मनुष्यहोता अपने स्वाभाविक औत्पत्तिक-सहजसिद्ध-अनृतभाव से प्रज्ञापराध का सहज पात्र है। असावधानी कर बैठना मनुष्यत्वेन इसका स्वभाव है। यज्ञकर्म्म जैसा प्राकृतिक कर्म्म है, जिसमें होजानेवाली थोड़ी भी असावधानी यज्ञस्वरूप को विकृत कर देती है, फलस्वरूप इष्टजनक भी यह यज्ञ अनिष्टजनक बन सकता है। इस अनिष्टजनकताप्रवर्त्तक मानुषदोष के निराकरण के लिए यह मनुष्यहोता अपने हौत्रकर्म का उत्तरदायित्व मन्त्रशक्ति के द्वारा प्राकृतिक प्राणात्मक दिव्याग्निलक्षण दिव्यहोता को समर्पित करता हुआ, उसे ही लक्ष्य बनाता हुआ कहता है कि—**"मैं इस यज्ञ का होता नहीं हूँ। होता तो दिव्याग्नि हैं। जो वास्तविक होता हैं, वे ही अपने इस होत्रकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का ध्यान रक्खें। मुझसे जो असावधानी होगी, वह उन्हीं की असावधानी मानी जायगी"**।

लौकिक कर्म्म हों, अथवा वैदिक ( शास्त्रीय ) कर्म्म, दोनों के लिए प्रेरणाबल हमें प्राकृतिक प्राण-देवताओं से ही मिलता है। होता है सबकुछ प्राणदेवताओं की प्रेरणा से ही, हम करते सब कुछ है—प्राकृतिक बल--प्रेरणा से ही। परन्तु योगमाया के बन्धन से अहन्ताभिमान हमें होता रहता है। हम यह मान बैठते हैं कि, हम हीं सबकुछ कर रहे हैं, जबकि तत्त्वतः—"तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्ताः" सिद्धान्तानुमार उन प्राकृतिक शक्तियों के आगे हमारी स्वतन्त्र-सत्ता का कुछ भी तो मूल्य नहीं है। **"केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथानियुक्तोऽस्मि, तथा करोमि"** के अनुसार हृदयावच्छिन्न दिव्यप्राणशक्तिघन अन्तर्य्यामी की प्रेरणा से ही हमारा सम्पूर्ण कर्मकलाप सञ्चालित है। जो व्यक्ति अपने कर्म्मों में हृदयस्थ देवप्राणमूर्त्ति इस अन्तर्य्यामी को साक्षी बनाए रहता है, निश्चयेन इस आध्यात्मिक भावनामात्र से उसका कर्म्म मानुषभाव से पृथक् रहता हुआ सफल होजाता है। यही भारतीय भक्तिकाण्ड का सुप्रसिद्ध **'आत्मसमर्पण'** लक्षण **'भक्तियोग'** है, जिसके अनुगामी भक्त सदा निर्द्वन्द्व ही बने रहते हैं।

ठीक इसके विपरीत अन्तर्यामी की, दूसरे शब्दों में दिव्यप्राणशक्तियों की उपेक्षा कर जो मनुष्य अपने बल का अभिमान करते हुए कर्म्मों में प्रवृत्त होते हैं, अवश्यमेव उनसे प्रज्ञापराध होपड़ता है। फलस्वरूप उनका कर्म्म अपूर्ण रहता हुआ अनिष्टजनक ही बन जाता है। सम्भव है, लौकिक कर्म्मों में मनुष्य अपनी शक्ति के भरोसे पर भी यथाकथञ्चित् सफलता प्राप्त करले। परन्तु उन वैदिक-कर्म्मों की सफलता तो-जिनका विधान एकमात्र प्राकृतिक फलों को लक्ष्य लेकर ही हुआ है-उन प्राकृतिक प्राणदेवताओं के प्रति आत्मसमर्पण से ही सम्भव है। लौकिक कर्म्मों में जहाँ बाह्य इन्द्रियवर्ग काम देदेता है, वहाँ अलौकिक वैदिक परोक्ष कर्म्मों में हमारी बाह्यदृष्टि अवरुद्ध है। अतएव इनके सम्बन्ध में हमारा शक्त्यभिमान सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध होजाता है। अतएव आवश्यक है, कि हम अपने यज्ञात्मक वैदिक कर्म्मों का भार प्राकृतिक प्राणदेवताओं पर ही डालदें। अवश्य ही इस आत्मसमर्पण से हमारा दिव्य कर्म्म बिना किसी विघ्न-बाधा के साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होजायगा। एकमात्र इस भावना को व्यक्त करने के लिए ही, भावना के द्वारा स्वाभिमान-निराकरण-पूर्वक देवानुग्रह की प्राप्ति के लिये ही होता कहता है कि-**'होता अग्नि हीं अपने हौत्रकर्म्म को जानें'**। इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है-**'अग्निरिदं होता वेत्तु' इत्येवैतदाह'**।

मन्त्र का अगला भाग है—**'वेत्तु प्रावित्रम्'**। अनुष्ठेय हौत्रकर्म्म की सफलता से ही यज्ञस्वरूपसिद्धि सम्भव है। अतः प्रथम अनुष्ठेयकर्म्म की सफलता अभीष्ट है। उसीके लिए **'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्'** यह कहा गया है। अनुष्ठेय हौत्रकर्म्मानन्तर दूसरा लक्ष्य यज्ञ है। इसके लिए भी उसी प्राणाग्निदेव को साक्षी बनाना आवश्यक है। अवश्य ही यज्ञ जैसे पवित्र कर्म्म का उत्तरदायित्व भी अग्नि अवश्य ही ग्रहण कर लेंगे। निन्द्य-पातकजनक-असत्कर्म्म जहाँ दिव्यप्राण-मर्य्यादा से बहिष्कृत हैं, वहाँ **पुण्यातिशयजनक-श्रेष्ठ-सत्कर्म्म [यज्ञ-तपो-दानादि शास्त्रीयकर्म्म, एवं इष्ट-आपूर्त्त-दत्तादि लौकिक कर्म्म]** दिव्यप्राणमर्य्यादा के अन्तर्भूत माने गये हैं। पवित्रतम प्राणदेवता सजातीय पवित्रतम कर्म्मों के ही साक्षी बना करते हैं। आसुर अपवित्र कर्म्मों के लिए जहाँ असुर-मलिन प्राणों से प्रेरणाबल मिलता है, वहाँ दिव्य-पवित्र-कर्म्मों के लिए दिव्य-पवित्र-प्राणों से प्रेरणा उपलब्ध होती है। उस यज्ञ से अन्य और कौन-सा कर्म्म अतिशयरूपेण दिव्य, एवं पवित्र कर्म्म होगा, जिसके आधार पर प्रजापति का पवित्रतम सृष्टिकर्म्म प्रतिष्ठित है, प्रजापति की प्रजा का जीवन सुरक्षित है। इष्टकामधुक् यज्ञ अपने प्रधान दो अवयवों से अन्य पवित्र कर्म्मोंकी तुलना में विशेषरूप से पवित्र बना हुआ है।

**'अग्नि और सोम,** दोनों तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से उत्पन्न उभयात्मक अपूर्वभाव ही **'यज्ञ'** हैं। अग्नि की पवित्रता लोक में भी प्रत्यक्ष है। दूषित मलिन-अशुचि-भावों को नष्ट कर देना अग्नि का मुख्य काम है। इसी आधार परतो पात्रादि की अशुचि अग्नितापसे लोक में दूर की जाती है। जबतक शरीर में अग्निदेवता **'परमया जूत्या बल्वलीति'** (प्रज्वलित रहते हैं), तभीतक अध्यात्मसंस्था (आत्मयुक्त शरीर) पवित्र रहता है। अग्निदेव के उत्क्रान्त होते ही आसुर जलीय वारुणप्राण का प्रभुत्त्व होजाता है, फलस्वरूप शवशरीर सर्वथा अशुचि-पूतिगन्ध से ही युक्त होजाता है। अग्नि का यह पावकधर्म्म दाह्यसोमाहुति पर ही निर्भर है। जबतक दाह्यसोम दाहक अग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अन्नादाग्नि-प्रज्वलित रहता है। अतएव पवित्रधर्म्म का मूलप्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य **'अम्भः'** नामक सोमतत्त्व ही माना गया है, जिसका कि **"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते०'** इत्यादि ऋङ्मन्त्र से विश्लेषण हुआ है।

**पवित्र अग्नि,** एवं अग्निस्वरूपरक्षक **पवित्र ब्रह्मणस्पति-अम्भ-नामक पारमेष्ठ्य सोम,** इन दोनों पवित्र तत्त्वों के समन्वितरूप का ही नाम पूर्वकथनानुसार यज्ञ है। जिसका स्वरूप विश्व के सर्वश्रेष्ठ दो पवित्र तत्त्वों के सम्मिश्रण से निष्पन्न हुआ हो, उसे ( यज्ञ को ) हम अन्य पवित्र तत्त्वों की अपेक्षा अवश्य ही अतिशयरूप से पवित्र कह सकते हैं। इसीलिये तो श्रेष्ठकर्म्मों की परिगणना में इसे—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म'** इत्यादि रूपसे श्रेष्ठतम बतलाया जाता है। यज्ञ की यही अग्नि-सोममयी-उभयधर्म्मात्मिका अतिशय-पवित्रता सूचित करने के लिए श्रुति ने इसे **'प्रावित्र' [ प्रकर्षेण अवति ]** कहा है। प्रावित्र शब्द से यद्यपि प्रकृत में रक्षाकर्म्म ही अभिप्रेत है। तथापि रक्षात्मक यह यज्ञकर्म्म क्योंकि पवित्रतम है, अतएव प्रसङ्गोपात्त परम्परया **'प्रावित्र'** से यज्ञ के पवित्रतम धर्म्म का भी विश्लेषण कर दिया गया है।

अग्नीषोमात्मक यज्ञ की अग्निसोमात्मिका पवित्रता ही रक्षाकर्म्म का प्रधान निमित्त बनती है। एक-मात्र इसी आधार पर **'प्रावित्र' से 'पवित्रतम'** रूप फलितार्थ भी निकाला जासकता है। प्रकृष्ट रक्षात्मक धर्म्म तो यज्ञ का स्पष्ट ही है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, तीनों हीं संस्थाओं की रक्षा अग्नी-षोमात्मक यज्ञ पर ही निर्भर है। **अन्नादानात्मक यज्ञ आध्यात्मिक संस्था का रक्षक है, आदानविसर्ग-क्रियात्मक यज्ञ आधिभौतिक संस्था का रक्षक है, एवं पारमेष्ठ्य सोमाहुत्यात्मक यज्ञ आधिदैविक सौरसंस्था का स्वरूपरक्षक है।** सर्वरक्षता ही यज्ञ का अन्यरक्षकापेक्षया प्रकृष्ट रक्षाधर्म्म है-अतएव यह **'प्रावित्र'** है। प्रावित्रयज्ञ का यथानुरूप स्वरूप-ज्ञान ही हौत्रकर्म्म की सफलता का मूल है। अतएव अनुष्ठेय अग्निकर्म्मात्मक हौत्रकर्म्म के परिज्ञान के साथ-साथ- **'वेत्तु प्रावित्रम्'** से यज्ञकर्म्म की ओर भी दिव्याग्नि का ध्यान आकर्षित किया गया है। यज्ञकर्म्मानुगता इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है--**'यज्ञो वै प्रावित्रम्। वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह''**। उभय-वाक्य निष्कर्ष यही है कि-**''मेरा ( मानुष होता का ) हौत्रकर्म्म, तथा तद्द्वारा सम्पन्न होने वाला यज्ञकर्म्म, दोनों के प्राणाग्निदेव साक्षी बने रहें। उन्हीं से इन दोनों की सफलता के लिए प्रेरणाबल मिलता रहे।''**

मन्त्र का अगला भाग है-**'साधु ते यजमान देवता' ( योऽग्निं होतारमवृथाः )**। देवबलानुग्रह-प्राप्त्यनन्तर होता को यह दृढ़ आत्मविश्वास होजाता है कि, अब निश्चयेन यजमान का यज्ञकर्म्म निर्विघ्न सुसम्पन्न होजायगा। अपने इसी आत्मभाव को वह यजमान के प्रति इन शब्दों में प्रकट कर रहा है कि-हे यजमान ! तुमने किसी सामान्य व्यक्ति का हौत्रकर्म्म के लिए वरण नहीं किया है। अपितु मेरे व्याज से तुमने उस दिव्यप्राणाग्नि का ही हौत्रकर्म्म के लिए वरण किया है, जिसके अनुग्रह प्राप्त होजाने पर अवश्यमेव यज्ञकर्म्म सफल होजाया करता है। तुमने जिस अग्निदेवता का आश्रय लिया है, तुह्मारे वे अग्निदेवता इस हौत्रकर्म्म के लिए साधु हैं, पूर्ण समर्थ हैं। यह तुह्मारा सौभाग्य है कि, अग्नि जैसे श्रेष्ठ देवता का तुह्में सहयोग मिल रहा है। स्वाभाविकी यज्ञपद्धति के साथ-साथ ही इस विश्लेषण से श्रुति संकेतरूपेण हमें यह **'लोकशिक्षा'** भी दे रही है कि, हमें अपने लौकिक-कर्म्मों में उन्हीं सहयोगियों का सहयोग लेना चाहिये, जो स्वयं भी उस कर्म्म में रुचि रखते हों, साथ ही उनमें उसे सफल बनाने की योग्यता भी हो। वैसे योग्य-प्रामाणिक-समर्थ-सहयोगियों के लिए लोक में भी यही सूक्ति व्यवहृत हुई है कि-**'अब उनका कार्य्य अवश्य सफल होजायग, क्योंकि अमुक योग्य प्रामाणिक व्यक्ति ने उसका भार उठा लिया है'**।

प्रकृत में होता–'**साधु ते०**' इत्यादि मन्त्र के द्वारा यजमान की कर्म्मनिष्ठा को ही प्रेरणाबल प्रदान कर रहा है। यजमान का आत्मविश्वास भी तो यज्ञ की सफलता के अन्यान्य कारणों में से एक अन्यतम कारण है। इसी भावना का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है— '**साधु ते यजमान देवता, यस्य तेऽग्निर्होता' इत्येवैतदाह**''।

मन्त्र का अगला भाग है–'**घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व**'। यह वाक्य अध्वर्यु को लक्ष्य बना कर कहा जाता है। अग्नि के अनुग्रह–प्राप्ति का अर्थ है–अग्निदेवता का यज्ञसीमा में प्रविष्ट होजाना। **हौत्र-कर्म्म को आप लक्ष्य बनावें, यज्ञ को लक्ष्य बनावें, यजमान! अब तुह्मारा यह कार्य सफल हुआ समझो, जहाँ अग्नि जैसे होता ने अनुग्रह कर दिया**'' इस भावना को व्यक्त करने वाले निगदमन्त्रभाग से अवश्यमेव प्राणाग्नि यज्ञमण्डल में प्रविष्ट होजाते हैं। आगत अग्निदेव की परिचर्य्या उसी व्यवहारमर्य्यादा की भाँति आवश्यक है, जैसेकि आगत सम्मान्य अतिथि का अर्घ्यदानादि से सम्मान किया करते हैं। अग्निदेव की परितृप्ति से सम्बन्ध रखने वाली आज्याहुति है। यह आहुतिकर्म्म अध्वर्यु से सम्बन्ध रखता है। अतएव अनुग्रह--प्राप्त्यनन्तर होता का यह भी आवश्यक कर्तव्य होजाता है कि, वह आगत सम्मान्य अतिथि के स्वागत से सम्बन्ध रखने वाले आज्याहुतिकर्म्म की ओर आहुतिप्रदाता अध्वर्यु का ध्यान आकर्षित कर दे। एकमात्र इसी अभिप्राय से '**अध्वर्यो! आप घृतवती स्रुक् का ग्रहण करें**' (**क्योंकि आहुतिग्राहक अग्निदेव पधार आए हैं**) यह प्रेरणात्मक मन्त्र भाग प्रयुक्त हुआ है, जिसका तात्पर्य्य--'**तदध्वर्य्युं प्रसौति**' इस ब्राह्मणवचन से स्पष्ट हुआ है।

पद्धतिप्रकरण में यह कहा जाचुका है कि, होता के मुख से '**घृतवतीम्**' व्याहृति के उच्चरित होते ही अध्वर्यु जुहू, उपभृत् नामक दोनों स्रुचों को आहुति के लिए हाथ में ले लेता है। ग्रहण होता है जुहू, उपभृत्, दोनों का। परन्तु होता के द्वारा ग्रहण की प्रेरणा होती है---केवल एक (जुहू) स्रुक् की ही। ऐसा क्यों?। जब पद्धति में दोनों का ग्रहण विहित है, तो मन्त्रभाग में भी '**घृतवत्यौ स्रुचौ**' इत्यादि रूप से द्विवचन का ही प्रयोग होना चाहिए था। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि–(१)--निदानविद्या के अनुसार जुहू नामक स्रुक् यजमानस्थानीया है, एवं उपभृत् नामक स्रुक् यजमान के शत्रु की प्रतिकृति है। इसके अतिरिक्त जुहू अत्ता की प्रतिकृति है, तो उपभृत् आद्य (भोग्य) की। ऐसी स्थिति में यदि होता '**जुहूपभृतावास्यस्व**' इत्यादि रूप से द्विवचन का प्रयोग करेगा, तो यजमान का शत्रु यजमान के लिए प्रतिस्पर्द्धा करनेवाला बन जायगा। इसके अतिरिक्त भोग्य--सम्पत्ति भी भोक्ता यजमान के लिए प्रतिकूल बन जायगी।

भावनात्मिका यज्ञप्रक्रियाओं का फलाफल एकमात्र भावना पर ही अवलम्बित है। एवं इन भावनाओं के मूलाधार उसीप्रकार आधिभौतिक यज्ञिय द्रव्य हैं, जैसे कि उपासनाकाण्ड में उपास्य की प्राप्ति के लिए उपास्य के यत्किंचित् समधर्म्मों से समतुलित आधिभौतिक पदार्थों में आहार्य्यारोपविधा से उपास्य की कल्पना कर ली जाती है। इसी आहार्य्यारोपविधा के आधार पर उपभृत् को शत्रुभावना से, एवं भोग्यभावना से युक्त समझा जाता है। जुहू को यजमान की भावना से, तथा भोक्ता की भावना से युक्त मानलिया जाता है। उपभृत् को जुहू की तुलना में रखना शत्रु को समान बलशाली ही बनाना है, भोग्य को प्रतिकूल ही बनाना है। यह भावना यजमान के लिए अनिष्टकर ही बनती है। अतः एकवचन का ही प्रयोग किया जाता

है । ग्रहण होता है दोनों का, प्रेरणा मिलती है एक के ग्रहण की । यही–'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'* लक्षणा आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता है, जिसका गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत तृतीय खण्ड के 'ख' विभागात्मक 'उपासनोत्तरखण्ड' के–'उपासनाभेदनिर्वचन' नामक प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है । इसी भावना को व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है–'तस्मादेकामिवैन्त्राह' ॥ २ ॥

मन्त्र का अगला भाग है—'देवयुवां विश्ववाराम्' । अध्यात्मस्थित प्राणदेवताओं का आधि–भौतिक तत्सम पदार्थों के माध्यम से आधिदैविक प्राणदेवताओं के साथ चितिलक्षण अन्तर्य्याम-सम्बन्ध करा देना हीं यज्ञ का फलितार्थ है' । होतृकर्तृक निगदपाठ से प्राणाग्नि का यज्ञमण्डल में समावेश तो होगया है । परन्तु अभीतक इनका यजमान के आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के साथ ग्रन्थि-बन्धन-सम्बन्ध नहीं हुआ है । यह काम मध्यस्था आधिभौतिकी आज्याहुति पूरा करती है । जुहू नामक स्रुक्पात्री भी आधिभौतिक पदार्थ है, एवं आहुति के लिए जुहू में प्रतिष्ठित आज्यमात्रा भी आधिभौतिक ही है । इन दोनों पर यजमान की भूतात्मसत्ता आक्रान्त है, जिस वित्तानुगता आत्मसत्ता के लिए ही-'यावद्वित्तं तावदात्मा' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । निष्कर्षतः आज्यपूर्णा जुहू में यजमान के प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं । उधर आहवनीय--कुण्डस्थ समिद्ध अग्नि में द्युलोक से आगत आधिदैविक प्राणाग्नि प्रतिष्ठित हैं । इनमें आज्या--हुति होती है । परिणाम यह होता है कि, आज्यानुगत यजमान के प्राणदेवताओं का आज्याहुति के द्वारा आहव-नीयस्थ प्राणाग्नि के साथ ग्रन्थिबन्धन होजाता है । इसप्रकार आज्यपूर्णा जुहू यजमान के आध्यात्मिक प्राणों का प्राकृतिक प्राणदेवताओं के साथ योग कराने वाली बन रही है । यही 'देवयुग' रूप पहिला धर्म्म है । यच्चयावत् ( ३३ ) प्राणदेवताओं के द्वारा यह जुहू ( आज्य के सम्बन्ध से ) वरणीया है । सभी प्राणदेव इसकी इच्छा रखते हैं । देवप्रिया, देवयुवा, जुहू वास्तव में यज्ञकर्त्ताओं के लिए स्तुत्या है, प्रशंसनीया है । मन्त्रभाग के द्वारा जुहू के उक्त दोनों धर्म्मों का ही विश्लेषण हुआ है, साथ ही उस की स्तुति, एवं प्रशंसा हुई है । सर्वत्र चैतन्य का साक्षात्कार करने वाली ऋषिदृष्टि के लिए जुहू की स्तुति--प्रशंसा अवश्यमेव तत्त्व--विज्ञान--सम्मत है ।

मन्त्र का अगला भाग है--"ईडामहै देवाँ ३॥ ईडेन्यान्, नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञि-यान्" । ज्योतिर्म्मय तत्त्व ही 'देवता' है । यह ज्योतिर्भाग पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, इन तीन लोकों के भेद से तीन स्थानों में विभक्त होता हुआ विभिन्न तीन नाम रूप--गुण--कर्म्मों में परिणत होरहा है । तीनों में मूलतत्त्व द्युलोकस्थ सौरप्राणमूर्त्ति देवतत्त्व ही है । सौरज्योतिर्भाग ( प्रकाश ) सर्वप्रथम अन्तरिक्ष--लोकोपलक्षित सौम्य चान्द्रपिण्ड मे भुक्त होता है । चान्द्रमसी ज्योति वस्तुगत्या प्रवृक्त सौरी ज्योति ही है । तृतीय स्थान पृथिवीलोक है । यहाँ आकर भूतभाग के आत्यन्तिक आवरण से सौरज्योति का स्वज्योतिर्भाग, तथा चान्द्र--ज्योति का परज्योतिर्भाग, दोनों अभिभूत होजाते हैं । अतएव पार्थिव ज्योति केवल 'रूपज्योति' कहलाई है । रूपज्योति में [ पार्थिवी ज्योति में ] उस पार्थिव प्राणाग्नि का समावेश है, जोकि–'वैश्वानर' नाम से

---

* उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥
—भर्तृहरिः

प्रसिद्ध है, जिसे कि यजुः--संहिताने **'विराट्पुरुष'** कहा है। एवं जिस से कि **'पुरुष-अश्व-गौ--अवि-अज**-इन पाँच यज्ञिय पशुओं का स्वरूप निर्म्माण हुआ है, जो कि पुरुष (मनुष्य) पशु में अपनी पूर्ण मात्रा से विकसित है। यही वैश्वानराग्नि भूताभिभव से अप्रत्यक्ष है, मृग्यमाण है। अतएव-**'कृष्णोऽस्याखरेष्ठः'** इत्यादि रूप से इस पार्थिव अग्नि को **कृष्णमृग'** नाम से व्यवहृत किया जाता है।

उक्त कृष्णमृगाग्नि की सहयोगिनी रूपज्योति, दूसरे शब्दों में पार्थिवप्राणाग्नियुक्त दिव्यप्रवृक्त ज्योतिर्भाग ही पार्थिवदेवता हैं। आन्तरिक्ष्य चान्द्रसोमावच्छिन्न विशुद्ध ज्योतिर्म्मय भाग आन्तरिक्ष्य देवता हैं। एवं सौर-मण्डलस्थ (सम्वत्सरमण्डलस्थ) सावित्राग्नियुक्त ज्योतिर्भाग दिव्य देवता हैं। **दिव्यदेवताओं से यज्ञ-तपो-दान-लक्षण विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। आन्तरिक्ष्य चान्द्रदेवताओं से इष्ट-आपूर्त-दत्त-लक्षण विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। एवं पार्थिव देवताओं से लौकिक-व्यवहारिक-यथाजात कर्म्मों की प्रवृत्ति होती है। पार्थिव ज्योतिर्भाग मानवसर्ग की, आन्तरिक्ष्य चान्द्रज्योतिर्भाग पितृसर्ग की, एवं दिव्य ज्योतिर्भाग देवसर्ग की मूलप्रतिष्ठा है। मनुष्य, पितर, देव, तीन प्रजा हैं, रूप-पर-स्व-तीन ज्योतियाँ हैं,** एवं पृथिवी-अन्तरिक्ष्य-द्यौ-तीन **लोक हैं।**

इसप्रकार एक ही दिव्यज्योति **त्रिःप्रजासर्ग, त्रिज्योतिःसर्ग, त्रिलोकसर्गरूप** में परिणत हो रही है। **द्युलोकावच्छिन्न देवता यज्ञिय हैं, अन्तरिक्षलोकावच्छिन्न पितर नमस्य हैं, एवं पार्थिवलोकावच्छिन्न मनुष्य ईडेन्य हैं।** द्युलोकस्थ देवता न तो केवल स्तुति प्रशंसा से ही अनुग्रह करते, न केवल नमस्कार से ही उन्हें ( साम्प्रदायिक भक्तिमार्ग की भाँति ) तुष्ट किया जासकता। अपितु तत्त्वाधार पर प्रतिष्ठित वैध-यज्ञ-पक्रिया से आहुति के द्वारा ही उन्हें प्रसन्न किया जासकता है। दिव्यप्राणदेवताओं का आध्यात्मिक प्राणदेव-ताओं से सम्बन्ध होजाने से दिव्यप्राणशक्तियों की प्राप्ति होजाती है। यही उनका अनुग्रह है। यह अनुग्रह केवल स्तुति-नमस्कार से नहीं मिल सकता। अपितु इसके लिए तो यज्ञकर्म्म का ही अनुगमन करना अनिवार्य्य होगा। अतएव इन दिव्य देवताओं को हम **'यज्ञिय'** कह सकते हैं।

वाङ्मय आन्तरिक्ष्य पितर--**'पितरो वाक्यमिच्छन्ति'** के अनुसार केवल नमस्कार से भी तुष्ट किए जासकते हैं। अतएव इन्हें **'नमस्य'** कहा जासकता है। वाग्विकृतिरूप भूतमय मनुष्य केवल नमस्कार से ही प्रसन्न नही होते। अपितु इन्हें प्रसन्न करने का अन्यतम साधन है-**'स्तुति'**। **तत्प्रशंसा से, यशःख्यापन से, लोकैषणा के कीर्त्तन से धीर से धीर मनुष्य के अन्तर्जगत् को भी स्खलित किया जासकता है।** अतएव इन्हें **'ईडेन्य'** कहा जासकता है। प्रकृत यज्ञकर्म्म में हमें यजनीय यज्ञिय देवताओं के अतिरिक्त पितरों की भी सहानुभूति अपेक्षित है, उन ऋत्विक् दर्शक मनुष्यों का सहयोग भी अपेक्षित है, जिनके अन्तः-बाह्य-सहयोग से यज्ञियदेवताओं का यजनकर्म्म साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होगा। इसी त्रिविध प्राकृतिक प्रजासर्ग के अनुग्रह--प्राप्त करने के लिये--**'ईडामहै ईडेन्यान्'** इत्यादि मन्त्रप्रयोग विहित है।

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | पृथिवी | अग्निः | रूपज्योतिः | मनुष्याः | ईडेन्याः | तान्--ईडामहे |
| २ | अन्तरिक्ष | सोमः | परज्योतिः | पितरः | नमस्याः | तान्--नमस्यामः |
| ३ | द्यौः | इन्द्रः | स्वज्योतिः | देवाः | यज्ञियाः | तान्--यजामः |

दूसरी दृष्टि से देवत्रयी का समन्वय कीजिए। उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले आधिदैविक सगुण इष्टदेवता [ अग्नि, विष्णु, इन्द्र आदि अतिष्ठावा देवता ], एवं माता, पिता, आचार्य्य, ये तीन आधिभौतिक सगुण पूज्य मनुष्य देवता, ईडेन्यवर्ग से सम्बन्ध रखते हैं । उपास्यदेवता स्तुतिभावात्मक आत्मसमर्पण से तुष्ट होजाते हैं, इसी लक्ष्य से इन्हें 'ईडेन्य' कहा जासकता है। माता--पिता--आचार्य्य, इन तीन से भिन्न ज्येष्ठ भ्राता, समाज के शिष्ट पुरुष, सम्मान्य विद्वान्, इत्यादि पूज्य वर्ग नमस्कारमात्र से तुष्ट किए जासकते हैं । अतएव इन्हें **'नमस्य'** कहा जासकता है। आधिदैविक विवर्त्त में स्वेष्टदेवता से भिन्न देववर्ग नमस्य माना जासकता है। तीसरा विभाग यज्ञिय देवताओं का है, जो कि अधिभूत--अधिदैवत, उभयत्र समान हैं। ऋतु, छन्द आदि वयोनाधात्मक देवपशु [ देववाहन ] लक्षण देवताओं का भी यज्ञिय--विभाग में ही अन्तर्भाव है। तीनों श्रेणियों का ही प्रकृत में येन-केन-रूपेण अनुग्रह अपेक्षित है। अतः तीनों का संस्मरण आवश्यक मान लिया गया है ॥ ॥

यजनीय देवताओं से सम्बन्ध रखने वाला यज्ञ एक वैसा महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसके अनुगमन से त्रैलोक्य की चर--अचर--सम्पत्ति प्राप्त की जासकती है। त्रैलोक्य में जो कुछ यज्ञिय पदार्थ हैं, उन सब का यज्ञकर्त्ता के साथ भोग्यत्वेन सम्बन्ध होजाता है। जो पदार्थ, किंवा जो प्राणी यज्ञ के दिव्यभाग में भाग नहीं लेते, अथवा तो प्रकृत्या जिनके स्वरूप--निर्म्माण में दिव्ययज्ञमात्रा का सहयोग नहीं होता, वे पदार्थ, और वे प्राणी अपने स्वरूप से भी मुकुलित [ बुद्धिशून्य ] रह जाते हैं, साथ ही यज्ञ में अन्वाभक्त प्रजा के व्यवहारों में भी उनका विशेष उपयोग नहीं होता। **मनुष्य यदि यज्ञिय है, तो किंपुरुष अयज्ञिय है।** एवमेव **अश्व, गौ, अवि, अज,** चारों यज्ञियप्रजाओं के अनुकूल क्रमशः **गौर, गवय, उष्ट्र, शरभ,** ये चार अयज्ञिय-प्रजा हैं। एवमेव **बङ्गा, बगधा, चेरपादा,** यह प्रजात्रयी भी--**'प्रजा ह तिस्रो अत्यायमियुः'** के अनुसार पराभूता है, यज्ञेऽनन्वाभक्ता है। **माषादि ओषधियाँ अयज्ञिय हैं।** इन अयज्ञिय, अतएव पराभूत पदार्थों के अतिरिक्त जितने भी स्थिर--चर यज्ञिय पदार्थ हैं, उक्त सर्गत्रयी से उन सब का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार ईडेन्य मानवसर्ग से अश्वादि यज्ञिय पशुओं का, यज्ञिय देवसर्ग से कपिञ्जलादि पक्षियों का, व्रीहि, यवादि ओषधियों का, पलाश, कार्ष्मर्य्यादि वनस्पतियों का, और और भी जितनें यज्ञिय पदार्थ बच रहते हैं, उन सब का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार--**'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः'** निगमानुसार यच्च-यावत् यज्ञिय पदार्थों का यज्ञ से ग्रहण होजाता है। फलतः यज्ञ का इष्टकामधुक्त्व सर्वात्मना चरितार्थ होजाता

है । यही यज्ञ का वह महतोमहीयान् श्रेष्ठतम कर्म्मत्त्व है, जिसे लक्ष्य बनाते हुए याज्ञिक लोग इस में प्रवृत्त हुआ करते हैं । जिह्नोंनें यज्ञ का अनुगमन किया, उन्हें सब कुछ मिल भी गया, साथ ही उन का पराभव भी नहीं हुआ । जिह्नोंनें यज्ञ का तिरस्कार किया, उनकी सत्ता ही उच्छिन्न होगई ॥ ४ ॥

यज्ञपद्धति में विहित प्रत्येक आधिभौतिक कर्म्म से यजमान के मानुषात्मा में कोई न कोई यज्ञातिशय उत्पन्न किया जाता है । यज्ञकर्म्मसमष्टि से वह यज्ञातिशय सर्वाङ्गीण बनता हुआ यजमान के मानुषात्मा के साथ अन्तर्य्याम--सम्बन्ध करता हुआ उसे आधिदैविक फलानुगामी बनाता है । यही यज्ञातिशय 'दैवात्मा' कहलाया है, जिस का स्वरूप--विश्लेषण पूर्वब्राह्मणों में अनेकधा होचुका है । तत्तत् -कर्म्मविशेषों से इस यज्ञातिशय-लक्षण दैवात्मा में तत्तत्--शरीर हस्तपादादि अवयव ही स्थापित किए जाते हैं । प्रश्न होता है कि, नवव्याहृत्या-त्मक इस स्रुगादापनकर्म्म से [ जिन नौ व्याहृतियों का मूलानुवाद में भी उल्लेख किया जाचुका है ] दैवात्मा में कौन से शरीरावयव स्थापित किए जाते हैं ? । ५ वीं कण्डिका इसी प्रश्न का समाधान कर रही है । हमारी अध्यात्मसंस्था के पाञ्चभौतिक शरीरभाग में ऊर्ध्व, अवाञ्च, भेद से **सौर--पार्थिव**, दो जाति के प्राण प्रतिष्ठित हैं । सौर प्राण का केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र है, एवं पार्थिव अपान प्राण का केन्द्र ब्रह्मग्रन्थि है । ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित सौर प्राण उक्थात्रस्थापन्न है । इससे अर्करूप जो सात अवान्तर प्राण निकलते हैं, वे ही **'साकञ्ज'** [ साथ रहने वाले ] **'सप्तशीर्षण्य प्राण'** कहलाए हैं । **दो श्रोत्रप्राण, दो चक्षुप्राण, दो नासाप्राण, एक मुखप्राण,** इसप्रकार सातों में ६ प्राण तो **यमजप्राण** हैं, जोड़ले हैं, एवं सातवाँ मुखप्राण एकाकी है * । इसीप्रकार ब्रह्मग्रन्थि में प्रतिष्ठित पार्थिव अपानप्राण उक्थ है । इस से निकलने वाले अर्कात्मक प्राण दो भागों में विभक्त हैं । ये ही क्रमशः **उपस्थप्राण, गुदप्राण,** नामक अवाञ्चप्राण हैं ÷ । सम्भूय दो के अवान्तर नौ प्राण होजाते हैं । स्रुगादापन--निगद में पठित नौ व्याहृतियों से निगदमन्त्रभागानुगता संख्या--सम्पत् के समतुलन से दैवात्मा में **सप्तशीर्षण्य सौर प्राण,** एवं **दो अवाञ्च पार्थिवप्राण,** इन नौ प्राणों का ही आधान होता है । क्यों नौ व्याहृतियाँ होतीं हैं ?, प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है ॥ ५ ॥

## इति–स्रुगादापनकर्म्मोपपत्तिः—

:**:

---

* साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥
—ऋक् सं० १।१६४।१५।

÷ सप्तशीर्षण्याः ( प्राणाः ), द्वाववाञ्चौ' [ ऐ० ब्रा० १।३।६। ]

# २— आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्मोपपत्तिः

होतृकर्तृक स्रुगादापनकर्म्म के अनन्तर अध्वर्यु, आग्नीध्र, होता, ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के सहयोग से आश्रावण, प्रत्याश्रावण—कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होती है। एक वैज्ञानिकी आख्यायिका के द्वारा इसी कर्म्म की उपपत्ति का (६ ठी कण्डिका से) स्पष्टीकरण हुआ है। **वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्तशिशिर-(हेमन्तशिशिरयोः समासेन)** इन पाँच ऋतुओं का स्वरूप अग्नीषोमात्मक माना गया है। अग्नि, और सोम के उद्ग्राभ-निग्राभ (चढ़ाव-उतार) से ही पञ्चर्तु का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अग्नीषोममयी पाँचों ऋतुओं की समष्टि ही 'सम्वत्सर' है, यही वह यज्ञ है, जिसके द्वारा सूर्य्यकेन्द्रस्थ हिरण्यगर्भ-प्रजापति रोदसी-त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित चर-अचर-प्रजा का स्वरूप-निर्म्माण किया करते हैं। इस प्राजापत्या-अग्नीषोममयी यज्ञमात्रा का प्रजासर्ग में प्रतिक्षण विस्रंसन हुआ करता है। प्रजा के स्वरूप-निर्म्माण में साम्वत्सरिक अग्नि-सोम-मात्राओं का उपादान-कारणता के सम्बन्ध से खर्च होना अनिवार्य्य है। यही व्ययभाव 'विस्रंसन' कहलाया है। इसी विस्रंसन को लक्ष्य में बनाकर यह कहा जासकता है कि, **"सौरमण्डलस्थ दिव्यदेवताओं का अग्नीषोममय यज्ञ सौरमण्डल से अपक्रान्त होगया"**। तात्पर्य्य पार्थिव प्रजासर्ग के निर्म्माण के लिए सौर देवयज्ञ की अपक्रान्ति स्वाभाविक है।

यह यज्ञापक्रान्ति **नियतापक्रान्ति, अनियतापक्रान्ति**, भेद से दो भागों में विभक्त मानी जासकती है। सौरसम्वत्सरमण्डलावच्छिन्न ज्योतिर्भाग ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ है। प्रत्यक्षदृष्ट सौर प्रकाश ही इस यज्ञ का बाह्य शरीर है। दाहक अग्नि में दाह्य पारमेष्ठ्य सोम आहुत होरहा है। इसी सोमाहुति-प्रक्रिया से इस उभयात्मक यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इसी यज्ञ से (सोमाहुति से) **'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ'** इत्यादि ऋग्वर्णनानुसार प्रकाश का जन्म हुआ है। प्रकाश में अग्नि, सोम, दोनों का समन्वय है, अतएव अवश्य ही सौर-प्रकाश-मण्डल को 'यज्ञ' कहा जासकता है। यह सौर ज्योतिर्भाग सर्वत्र (लोकालोक-पर्य्यन्त) व्याप्त रहता हुआ हमारे भूपिण्ड की ओर भी आरहा है। भूपिण्ड के विष्कम्भ (व्यास) की उभय परिधियों से सम्बन्ध रखने वाला सौर ज्योतिर्भाग ही प्रकृत में 'यज्ञ' शब्द से व्यवहृत हुआ है। भूपिण्ड की परिधि को काटकर यह यज्ञ (प्रकाश) भूपिण्ड से आगे निकल जाता है।

इसी सौर प्रकाश के विच्छेद से **'सैंहिकेय'** नामक छायामय-तमोमय **'राहू'** का जन्म हुआ है। **भूपिण्ड की ओर सौरमण्डल से नियतरूप से आकर अपना नियताकार बनाने वाले यज्ञ की अपक्रान्ति ही नियतापक्रान्ति मानी जायगी**। यज्ञ के इस नियतापक्रान्तरूप का ही नाम **'ब्रह्मौदन'** है, जिससे किसी भी पार्थिव पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसी नियतापक्रान्त यज्ञ से सम्वत्सर का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, जिसकी कि छान्दोग्यादि उपनिषदों में **'अश्व'** रूप से स्तुति हुई है। सौर प्रकाश आता है, भूपिण्ड से टकराकर पुनरावर्त्तित होजाता है, [वापस लौट जाता है]। दूसरे शब्दों में—यज्ञ आता है, भूपिण्ड से संस्पृष्ट होकर वापस लौट जाता है। वापस लौटे हुए प्रकाशलक्षण इस यज्ञ का आकार भूच्छाया [राहू] से ही समतुलित है। सूचीमुख राहू के आकार से समतुलित भूपृष्ठ से सूर्य्य पर्य्यन्त व्याप्त [वापस लौटकर व्याप्त होने वाला] सौर प्रकाश ही वह **'अश्व'** है, जिसका **'उषा'** मस्तक माना गया है। इस नियतापक्रान्ति से सम्बद्ध पुनर्गमन से सम्बन्ध रखने वाला यज्ञात्मक अश्व, किंवा अश्वात्मक यज्ञ, प्रकृत आख्यान में अभिप्रेत नहीं है। अपितु यहाँ अनियतापक्रान्ति से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञ का ही ग्रहण हुआ है।

नियतापक्रान्त–पुनर्गत–स्थिर–ब्रह्मौदनलक्षण [सूर्य्य के स्वभोग्य–लक्षण ] सम्वत्सरयज्ञ से यज्ञमात्रा का विस्रंसन होता रहता है, जिसका तापोत्सर्ग से प्रत्यक्ष किया जासकता है। सूर्य्य–अस्त होजाता है। फिर भी हवा में गर्म्मी बनी रहती है। यह गर्म्मी [ अग्नि, जिसके गर्भ में अग्नि–स्वरूपरक्षक सोम भी प्रतिष्ठित है ] विस्रस्ता वह यज्ञमात्रा है, जिसे 'प्रवर्ग्य ( उच्छिष्ट )' कहा गया है। **'उच्छिष्टात्-जज्ञिरे-सर्वम्'** इस आथर्वण–सिद्धान्तानुसार इस विस्रस्त प्रवर्ग्य भाग से ही पार्थिव–प्रजा की स्वरूप–निष्पत्ति होती है। पार्थिव-चान्द्र परिभ्रमण के अनुसार तत्तत्-ऋतु-विशेषों में प्रवृक्त तत्तद्यज्ञमात्राओं के प्रवर्ग्यभाग से ही तत्तद्विशेष पार्थिव पदार्थ उत्पन्न हुआ करते हैं। **जो प्रवर्ग्यभाग तत्तद्विशेषभावोत्पत्ति में तत्तत्समयविशेषों से सम्बन्ध रखता है, वही उस सौरयज्ञ की अनियतापप्रक्रान्ति है। एवं प्रकृत आख्यायिका में अनियतापक्रान्तिलक्षण इसी प्रवर्ग्ययज्ञ का ग्रहण हुआ है।**

कल्पना कीजिए, यदि प्राकृतिक सौर सम्वत्सरयज्ञ की सम्पूर्ण मात्रा पार्थिवप्रजासर्ग में हीं उपयुक्त होजाय, तो सम्वत्सरमण्डल, एवं उसमें रहने वाले ज्योतिर्म्मय–दिव्य देवताओं की क्या दशा हो ?। कल्पना यही उत्तर देगी कि, केवल विस्रंसन से तो एक दिन वह समय भी आसकता है कि, सम्वत्सर का ही उच्छेद होजाय। मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही विस्रस्तभाग की क्षतिपूर्त्ति भी उसी अनुपात से होती रहती है। यदि सौर पदार्थ पार्थिवसर्ग के निर्म्माण में खर्च होते रहते हैं, तो—**'इतः प्रदाना ह्येते—(देवा उपजीवन्ति)'** इत्यादि श्रौत सिद्धान्तानुसार पार्थिव पदार्थों के विस्रस्त भाग के गमन से वह कमी पूरी भी होती रहती है। यदि पृथिवी उसे खाती है, तो वह भी पृथिवी को खाता रहता है। परस्परानुगत यह आदान–प्रदान, अन्नान्नादभाव ही तो उभयलोक, किंवा सर्वलोक-प्रतिष्ठा बन रहा है।

सौरदेवताओं के स्वरूपरक्षक यज्ञ की प्रवर्ग्य के द्वारा अपक्रान्ति अवश्य होती रहती है। परन्तु सृष्टि-नियमानुसार अपक्रान्त यज्ञ वापस भी लौट जाया करता है। **'यो मा ददाति, स इ देवमावत्'** सिद्धान्तानुसार जो हमें देता है, वही अन्त में हमें खा भी जाता है। **प्राणाग्निरूप होता, प्राणवायुलक्षण अध्वर्य्यु, आदित्यप्राणात्मक उद्गाता, चान्द्रसोमात्मक ब्रह्मा,** इत्यादि प्राकृतिक देवात्मक ऋत्विजों के व्यापार से अपक्रान्त यज्ञ पुनः स्वप्रभव देवमण्डल की ओर लौट आता है। इसीसे देवस्वरूप-रक्षा होरही है। यज्ञपुनर्गमन ही देवताओं का देवत्व है। इसप्रकार स्वस्वरूपस्थिति के लिए ऋत्विजों के सहयोग से सम्वत्सर-भुक्त प्राणदेवता पृथिवी की ओर अपक्रान्त यज्ञ को वापस बुला लिया करते हैं। पुनरागत उस यज्ञ से यजन कर वे अपना देवत्व सुरक्षित रखने में समर्थ होजाते हैं। प्रकृत आख्यान प्राकृतिक यज्ञ के इस प्राकृतिक गमनागमनभाव का ही स्पष्टीकरण कर रहा है ॥६॥

प्रकृत वैध यज्ञ का वितान उस प्राकृतिक नित्य यज्ञ की विधा पर ही हुआ है। जैसा, जो कुछ, वहाँ होरहा है, वैसा, वही सबकुछ, यहाँ कल्पित है, जैसाकि—**'देवाननु विधा वै मनुष्याः'-'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत करवाणि'** इत्यादि निगम-वचनों से प्रमाणित है। जिसप्रकार सौरमण्डलस्थ देवसर्ग की अपेक्षा से यज्ञमात्रा पृथिवी की ओर अपक्रान्त होरही है, एवमेव हम पार्थिव प्रजाओं की अपेक्षा से यज्ञमात्रा सौर-मण्डल की ओर अपक्रान्त होरही है। जैसे उन्हें अपने स्वरूप-निर्म्माण–रक्षा के लिए इस अपक्रान्त पार्थिव यज्ञ की अपेक्षा है, एवमेव हमें यजमान के देवप्राणमय दैवात्मा के स्वरूप-निर्म्माण-रक्षा के लिए अपक्रान्त

सौरयज्ञ की अपेक्षा है। 'ओश्रावय' इत्यादि मन्त्रवाक् के द्वारा मनुष्यविध ऋत्विक् उस अपक्रान्त दिव्य यज्ञसम्पत् का स्व-वैध-भौतिक यज्ञ में समावेश करने के लिए ही आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्म्म करते हैं। अवश्य ही इस मन्त्रवाक् से अपक्रान्त दिव्ययज्ञमात्रा का इस वैध यज्ञ में समावेश होजाता है।

क्योंकि, **'ओश्रावय'** इत्यादि लक्षण जिन व्याहृतियों का यहाँ प्रयोग होता है, उन से प्राकृतिक दिव्य यज्ञ ही लक्ष्य बन रहा है। आग्नीध्र को लक्ष्य बनाकर अध्वर्य्यु के मुख से निकलते हुए **'ओश्रावय'** का तात्पर्य्य है--**'देवताओं के लिए यज्ञ सुनाओ'**। अर्थात् देवता इस यज्ञ की ओर लक्ष्य दें, ऐसी भावना करो। आग्नीध्र-' **स्तुश्रौषट्**' से यही व्यक्त कर रहा है कि, **'हाँ देवताओंने सुन लिया'**। जिसका तात्पर्य्य यही है कि, देवताओं का [देवात्मक अपक्रान्त यज्ञ का] यहाँ पुनरागमन होगया। इसप्रकार **'ओश्रावय'** इत्याकारक **'आश्रावण'** दिव्यदेवात्मक यज्ञ का आह्वान कर रहा है, एवं **'अस्तु श्रौषट्'** इत्याकारक **'प्रत्याश्रावणकर्म्म'** उसका आगमन सूचित कर रहा है।

फलितार्थ यही निकलता है कि, 'आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्म' अपक्रान्त दिव्ययज्ञ की प्राप्ति के लिए ही विहित है। मन्त्रभावना के द्वारा आगत भावात्मक देवप्राणमय यज्ञ ही इस वैधयज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। उसी प्राकृतिक दिव्ययज्ञबल के आधार पर यजमान का यह वैध यज्ञ यज्ञातिशयरूप दैवात्सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है। ऋत्विक् सहायक बनते हैं। ऋत्विग् भी तभी इस प्रातिकर्म्म में सहायक बन सकते हैं, जब कि वे इस उपावृत्त यज्ञरेत को अपनी भावना में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। ऋत्विजों की भावना ही तो मुख्य है। यजमान तो सम्पूर्ण उत्तरादायित्त्व इन्हीं पर डाल देता है। अतएव यज्ञसम्पत्–संग्रहमूलक आश्रावण–प्रत्याश्रावणकर्म्म में यजमान का समावेश करना अनावश्यक है। ऋत्विजों की भावना के द्वारा प्राप्त यज्ञ की स्वरूप दृढ़ता के लिए बड़े संयम से सम्प्रदायपूर्वक आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्म का अनुगमन करते हैं। सम्वत्सरप्रजापति स्वयं इस आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्म में परोक्ष रहते हैं। तदवयवभूत तद्रस से परिपुष्ट अग्न्यादि देवता ही इस कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी करते हैं। अतः प्रजापतिस्थानीय यजमान भी यहाँ ( इस कर्म्म में) परोक्ष ही रहता है। अग्न्यादि के प्रतिनिधि ऋत्विक् ही इस कर्म्म का अनुगमन करते हैं। जैसा वहाँ होरहा है, वैसा ही यहाँ होता है। इसी समीक्रिया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए श्रुति ने कहा है—**'तेनोपावृत्तेन रेतसाभूतेनऽर्त्विजः सम्प्रदायं चरन्ति, यजमानेम परोक्षम्'**।

ऋत्विजों के भावनात्मक मानस–जगत् में अप्रक्रान्त दिव्य यज्ञसम्पत् का समावेश होगया। द्युलोकस्थ महामहनीय देवप्राणमूर्त्ति यज्ञभगवान् का आगमन होगया। अब यह आवश्यक है कि, अपने इस भावनात्मक दिव्ययज्ञ के वितान के लिए ऋत्विग्गण पारस्परिक सहयोग के वाक्-सम्प्रदान के द्वारा वाक्तत्त्व का आश्रय लें। भावनात्मक मनोगर्भित प्राणतत्त्व ही यज्ञ का प्रातिम्बिक स्वरूप है। यह **मनोगर्भित प्राणयज्ञ भतात्मिका वाक् के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इस ओर मन है, उस ओर वाक् है, मध्य में दोनों से परिगृहीत प्राण है। प्राण यज्ञ है, मनोवाक् यज्ञाधार हैं। अतएव मनोवाक् को यज्ञ की वर्त्तनी कहा जाता है।**

इस ओर ऋत्विजों की भावना ( मन ) है, उस ओर मन्त्रप्रयोग ( वाक् ) है। दोनों से मध्यस्थ प्राणात्मक यज्ञ भलीभाँति परिगृहीत होजाता है। यद्यपि यज्ञ का मौलिक स्वरूप प्राण ही है, तथापि एक विशेष

हेतु से वाक् को भी यज्ञ का मौलिक स्वरूप मान लिया जाता है। वह विशेष हेतु यही है कि, प्राण बिना मनो–वाक् के नहीं रहता। उधर 'वाक्' से मनः–प्राण–वाक्, तीनों का ग्रहण होजाता है, जैसाकि वाक्–शब्दनिर्वचन से सुप्रमाणित है। 'उ अ-अच् से ही तो **'वाक्' शब्द निष्पन्न हुआ है**। **'उकार' प्राण का,** एवं **'अकार' मन का वाचक है**। उकार अकार ( **प्राण–मन** ) की स्वस्वरूपरक्षा के लिए कामना करने वाला तत्त्वविशेष ही **'अच्'** सूचित हुआ है। इसप्रकार **वाच् ( वाक् )** से तीनों का संग्रह हो–जाता है।

मनोगर्भित प्राणात्मक यज्ञ अपने केवल मनोमय प्राणरूप से तबतक व्यापार करने में असमर्थ बना रहता है, तबतक कि वह भूतमयी वाक् को भी अपनी वर्त्तनी नहीं बना लेता है। **भूत ही प्राणव्यापार का आलम्बन बनता है। भूताधारेणैव प्राण स्वबल के प्रयोग में समर्थ होता है**। अतएव श्रुति ने मनो–गर्भित प्राणात्मक यज्ञ का रेत ( बलप्रयोगसाधन ) भी वाक् को ही माना है, एवं यज्ञस्वरूप भी वाङ्मय ही माना है। यज्ञस्वरूपसम्पादिका वाक् में आधिभौतिक मर्त्यभाग, आधिदैविक अमृतभाग, दोनों का समावेश है। मर्त्यावाक् का आधार अमृतावाक् है। अमृतवाक् का ही वितान होता है। इसी वितान से भूतयज्ञ भूलोक से द्युलोकपर्य्यन्त, पृष्ठ से रथन्तरसाम पर्य्यन्त वितत होता है।

लौकिकी वाक् अमृतवागगर्भिता मर्त्या वाक् है। लौकिक–व्यवहार-सञ्चालन इसी वाक् से होता है। अलौकिकी वाक् मर्त्यवागगर्भिता अमृतावाक् है। वैदिककर्म्मसञ्चालन इसी वाक् से होता है। **मर्त्या वाक् से व्यञ्जनात्मिका अनुष्टुब्वाक समतुलित है। अमृतवाक् से उदात्त–अनुदात्तादि स्वरात्मिका बृहती-वाक् समतुलित है**। अतएव वैदिकी मन्त्रवाक् में तत्त्वानुगत स्वरों के अनुसार ही उदात्तादि स्वरों का सन्निवेश हुआ है। यह स्वरवाक् ही क्योंकि सामात्मिका बनती हुई यज्ञवितान का कारण बनती है, इसलिए भी वाक् को ही यज्ञ कहना अन्वर्थ बनता है। वाक्तत्त्व के इसी यज्ञस्वरूपप्रतिष्ठात्मक भाव को लक्ष्य बनाकर श्रुतिने कहा **है—'वाक्-हि यज्ञः, वागु रेतः'**।

देवाह्वानलक्षणा ओश्रावयेत्यादिस्वरूपा मन्त्रवाक् के द्वारा आज ऋत्विजों को अपक्रान्त यज्ञसम्पत् का सम्पादन करना है। प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के सत्रह अवयव माने गए हैं। **'अग्निरु वै यज्ञः'** इस निगम–वचन के अनुसार सोमगर्भित अग्नि ही यज्ञ है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। भूकेन्द्र से आरम्भकर भूमहिमा के १७ वें अहर्गणपर्य्यन्त यह यज्ञाग्नि व्याप्त है। सत्रहवाँ स्थान ही आहवनीयकुण्ड माना गया है। इसमें प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में १७ से ३३ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले सोम की आहुति होती है। यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित होपड़ता है! प्रज्ज्वलित होकर यज्ञ यज्ञाग्नि २१ वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त होजाता है। २१ पर्य्यन्त व्याप्त यज्ञाग्नि के ९-१५-२१-ये तीन विक्रम मान लिये जाते हैं।

त्रिवृत् (९) स्तोमात्मक प्रथम विक्रम पार्थिव है, पञ्चदश (१५) स्तोमात्मक द्वितीय विक्रम आन्त–रिक्ष्य है, एवं एकविंश (२१) स्तोमात्मक तृतीय विक्रम दिव्य है। यज्ञ ही विष्णु है। यही त्रिविक्रम विष्णु है। वक्तव्य यही है कि, यज्ञाग्नि यद्यपि आहुति के सम्बन्ध से २१ पर्य्यन्त ( सूर्य्य पर्य्यन्त, क्योंकि—**'एक–विंशो वा इत आदित्यः'** इत्यादि श्रुति के अनुसार सूर्य्यसत्ता भूपिण्ड से २१ वें अहर्गण पर ही मानी गई है ) व्याप्त होजाता है, तथापि इसका मौलिक स्वरूप १७ वें अहर्गण पर्य्यन्त ही व्याप्त माना गया है।

सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यज्ञाग्नि के १७ अहर्गण ही १७ अवयव हैं। ये १७ हीं वाङ्मय अवयव विना किसी विच्छेद के परस्पर एकरूपवत् सन्तत हैं।

सप्तदशावयवों के अविच्छिन्न सन्तानभाव से सम्बद्ध यज्ञाग्नि का ही यहाँ संग्रह अपेक्षित है। अतएव आवश्यक है कि, इतस्ततः दृष्टिपात न करते हुए, अन्य अप्रस्तुत वाक् का प्रयोग न करते हुए केवल मन्त्र वाक्–लक्षण आश्रावण, प्रत्याश्रावण–कर्म्म का ही अवधानपूर्वक एक दूसरे के प्रति यज्ञमात्रा समर्पित करते हुए यज्ञ के १७ अवयवों का अविच्छिन्न रूप से सम्पादन किया जाय। अविच्छिन्न-सन्तान परम्परा से सम्बन्ध रखने वाला सप्तदशावयव दिव्ययज्ञ अविच्छिन्न भावात्मक सम्पादन----परम्परा से उसी---- प्रकार परिपूर्ण—समृद्ध—सफल—बन जाता है, जैसे कि अविच्छिन्न सम्प्रदान से पूर्णपात्र जलपरिपूर्ण होजाता है।

भगवान् शङ्कर के लिए सतत् जलधारा अपेक्षित है। इस कर्म्म को सतत अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए शिवप्रतिमा के सान्निध्य में पार्श्व, अथवा उर्ध्वप्रदेश में एक पाषाणमय जलकोश (हौज) बना दिया जाता है। साम्मलित १०–५ व्यक्ति श्रद्धाभाव से उसे भर दिया करते हैं। दसों व्यक्ति कूप प्रदेश से जलकोश पर्य्यन्त नियमितरूप से खड़े होजाते हैं। एवं केवल मृद्घटों को लक्ष्य में रखते हुए तन्मयता से जल भरना आरम्भ कर देते हैं। एक दूसरे को क्रमवार अविच्छिन्नरूप से घट सोंपता जाता है। जलकोश परिपूर्ण होजाता है। पारस्परिक अविछिन्न सम्प्रदान का यह एक लौकिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। अथवा तो–'**यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चेत्**' का यह तात्पर्य्य भी लगाया जासकता है कि, जलपूर्ण पात्र का निरर्थक प्रदेश में जैसे डालना है, वैसे ही अप्रस्तुत वाक् से यज्ञ की परिपूर्णता नष्ट करनी है। सिद्ध कार्य्य को बिगाड़ देना, और आश्रावण-प्रत्याश्रावण–कर्म्म में अप्रस्तुत वाणी का प्रयोग करना समतुलित है। तद्वत् ही यहाँ भी यज्ञकोश–परिपूरिका सप्तदशमात्राओं का अविच्छिन्नरूप से ही अनुगमन करना चाहिए, यही फलितार्थ है ॥ ७ ॥

८,९,१०,११, इन चार कण्डिकाओं में उसी अविच्छिन्न–वाकसंयमानुगत–पारस्परिक सम्प्रदान–कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण हुआ है। १२,१३,१४, इन तीन कण्डिकाओं में सोमयाग से सम्बन्ध रखने वाले वाक्संयम का प्रासङ्गिक निरूपण हुआ है। १५ हवीं कण्डिका में उस दोष का विश्लेषण हुआ है, जो सम्प्रदानधाराविच्छेद से, एवं अप्रस्तुत वाक्प्रयोग से हुआ करता है। असावधानी करने से जैसे घट–विनष्टि, पादभ्रष्टता, आदि दोषों के कारण जलकोश अपूर्ण रह जाता है, एवमेव यदि पारस्परिक सम्प्रदान में ऋत्विक् लोग अन्यमनस्कता, अन्य सामयिक वाक् का प्रयोग कर डालेंगे, तो यज्ञ–सन्तान विच्छिन्न होजायगी। फलतः यज्ञस्वरूप न केवल साङ्गोपाङ्ग ही न बनेगा, अपितु यजमान का महान् अनिष्ट भी होजायगा। अतएव इस अव्यवच्छिन्ना—सम्प्रदानपरम्परा का सावधानी से ही अनुगमन करना चाहिए।

यह अवधानता केवल आश्रावण–प्रत्याश्रावण-कर्म्म के लिए ही आवश्यक हो, यह बात नहीं है। अपितु पुरुषार्थलक्षण यज्ञकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले और और भी जो क्रत्वर्थकर्म्म हैं, उन सबका भी यथाविधि अनन्यमनस्कता से ही अनुगमन करना चाहिए। संकेतविधि से हमें हमारे लौकिक कर्म्मों के सम्बन्ध में भी श्रुति यही आदेश दे रही है कि, यदि हमें कोई काम करना है, उसे सर्वात्मना सफल बना देना है, तो अनन्यभाव से उसी को लक्ष्य में रखना चाहिए। हम अपने प्रज्ञापराध से, मनोराज्य की चञ्चलता के

अनुग्रह से संकल्पित कर्म्म के साथ साथ ही अन्यान्य संकल्प भी किया करते हैं । यही वह व्यवधानदोष है, जिसके कारण प्रथमसंकल्पित अनुगमनीय कर्म्म में अपेक्षित वाग्रेत ( बल ) नहीं रहने पाता । फलत: अधिकांश में हमें निराश ही होना पड़ता है । जो काम एकबार लक्ष्य पर चढ़ा लिया, पहिले अनन्यमनस्कता के साथ, यच्चयावत् अप्रस्तुत भावों का परित्याग करते हुए–उसी में जुट जाना चाहिए। **अव्यवच्छेदमूला-साथ ही पारस्परिक--सम्प्रदानात्मक--सहयोगमूला ऐकमत्यभावात्मिका** ( संविदानाः ) ऐसी **अनन्यमनस्कता ही कर्म्मसिद्धि का अन्यतमद्वार है, जिसका**—'एवमेव यज्ञो भर्त्तव्यः' इत्यादि आदेश से विश्लेषण हुआ है ॥ १५ ॥ ( ८,६,१०,११,१२,१३,१४,१ )

आश्रावण–प्रत्याश्रावण–कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले निगदमन्त्र की पाँच व्याहृतियाँ हैं । **वर्ण, स्वर, पद, वाक्य,** भेद से शब्दात्मिका वाक् के चार विवर्त्त मान गए हैं, जैसाकि–'**चत्त्वारि वाक् परिमिता पदानि*** इत्यादि ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है । इहीं चारों वाग्विवर्त्तों के लिए वेद में क्रमश: **क्षर** (वर्ण), **अक्षर** [ स्वर ] **व्याहृति** [ पद ], **पुरुष** [ वाक्य ] ये शब्द व्यहृत हुए हैं । वैय्याकरण–सम्प्रदाय में जिसके लिए '**अखण्डवाक्यस्फोट**' वाक्य व्यवहृत हुआ है, वही '**वैदिक अव्यय पुरुष**' है । प्रत्येक वाक्य में **वर्ण, स्वर, पद,** तीनों विवर्त्तों का समावेश रहता है । ऐसा कोई भी उच्चारण नहीं, जिसे वाक्य न माना जासकता हो । ऐसा कोई भी वाक्य नहीं, जिसमें वर्ण–स्वर–पद का समन्वय न हो । यदि किसी व्यक्ति के "**क्या देवदत्त यहाँ है ?**" "**नहीं हैं**"- इस प्रश्नोत्तर में हम केवल '**न**' इस एक अक्षर का प्रयोग करते हैं, तो यहाँ भी एकाक्षरवाक्य विद्यमान है । '**न**' कार में भी वर्ण स्वर-पद अन्तर्निगूढ़ हैं, अतएव उनकी प्रतीति नहीं होती । प्रतीति हो रही है–उस चौथी वैखरी वाक् की ही, जिसका हम प्रयोग किया करते है—'**तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति**' । चारों विवर्त्तों में '**पद**' विवर्त्त ही व्याहृति है । प्रकृत निगदमन्त्र के क्योंकि पाँच पद हैं, अतएव इन्हें '**व्याहृति**' नाम से व्यहृत करना अन्वर्थ बनता है, यही वक्तव्य है ।

दिव्य यज्ञ अग्निमय है, एवं—'**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्**' ( शत० १०।५।१।१) इत्यादि श्रौत–सिद्धान्तानुसार यह अग्नितत्त्व वाङ्मय है । वाङ्मय अग्निलक्षण यज्ञ के स्वरूप–निर्म्माण के लिए पञ्चव्याहृत्यात्मक निगदमन्त्र का प्रयोग हुआ है । प्रश्न स्वभाविक है कि, उस प्राकृतिक वाङ्मय यज्ञ के स्वरूप–संग्रह के लिए पञ्चव्याहृत्यात्मक ही वाङ्मय मन्त्र क्यों विहित हुआ ? । प्रश्न का अनेक दृष्टिकोणों से समन्वय किया जासकता है ।

(१) पहिले **आध्यात्मिकयज्ञ** की दृष्टि से ही समन्वय कीजिए । अध्यात्मसंस्था की उत्पत्ति अधिदैवतगर्भित अधिभूत से हुई है । अधिदैवत–लक्षण '**सर्वहुतयज्ञ**' ही सम्पूर्ण विश्व की मूलप्रतिष्ठा है । विश्वजनक यह यज्ञ **प्राणः, आपः, वाक्, अन्नं, अन्नादः,** भेद से पञ्चपर्वा है । पञ्चपर्वा इस आधिदैविक–यज्ञ से उत्पन्न आधिभौतिक विश्वयज्ञ के **स्वयम्भू** ( अवकाश ), **परमेष्ठी** ( वायु ), **सूर्य्य** [तेज], **चन्द्रमा** ( जल ), **पृथिवी** ये पाँच महापर्व हैं । इसप्रकार जनक सर्वहुत यज्ञवत् तज्जन्य विश्वयज्ञ की भी पञ्चावयता

---

*—**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥**
—ऐतरेयारण्यके

कुस्टतमा है । इस पञ्चावयव विश्वयज्ञ ( आधिभौतिकयज्ञ ) से समुत्पन्न अध्यात्मसंस्था के **आत्मा, शरीर, इन्द्रियवर्ग,** ये तीन विवर्त्त हैं । **आत्मा मूलाधार है, यही 'ब्रह्मसत्य' है।** इसके **अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूतात्मा,** ये पाँच ही विवर्त्त हैं । **शरीर भूतसत्य है।** इसके पृथिव्यादि पाँचों पर्व प्रसिद्ध ही हैं । **इन्द्रियवर्ग देसत्य है।** इसके भी **वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन,** ये पाँच ही विवर्त्तक हैं । इस प्रकार अधिदैवतयज्ञ, अधिभूतयज्ञ, एवं उभययज्ञ से सम्पन्न अध्यात्मयज्ञ के आत्मा-शरीर-इन्द्रिय, तीनों विवर्त्त, सभी प्रकृत्या पाङ्क्त (पञ्चावय) बने हुए हैं । **'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'** न्याय से इस वैध यज्ञ में भी वही प्राकृतिक-यज्ञपाङ्क्तता अभिप्रेत है । इस आध्यात्मिक दृष्टि से भी आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म में पाँच व्याहृतियों का प्रयोग करना अन्वर्थं बन रहा है ।

(२) दूसरी दृष्टि से पाङ्क्तता का समन्वय कीजिए । प्रस्तुत यज्ञ सोमयाग का अङ्ग है । सोमयाग का स्तौम्य-त्रिलोकी से सम्बन्ध है । पार्थिव स्तौम्य-त्रिलोकी के **त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश** [ ९--१५--२१--२७--३३ ] ये पाँच स्तोम माने गए हैं । पांचों में क्रमशः **अग्नि, वायु, आदित्य, भास्वरसोम, दिक्सोम,** ये पाँच देवता प्रतिष्ठित हैं । इन्हीं से क्रमशः **वाक् (अग्नि), प्राण (वायु), चक्षु [ आदित्य ], मन [ भास्वरसोम ], श्रोत्र [ दिक्सोम ],** इन पाँच आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है । पाँचों स्तौम्य-देवताओं में आरम्भ के तीन देवता **[अग्नि-वायु-आदित्य] अग्निप्रधान हैं ।** एक ही अग्नि की **ध्रुव-धर्त्र-धरुण [ घन-तरल-विरल ] अवस्थाएँ** क्रमशः **अग्नि, वायु, आदित्य हैं।** अन्त के **दो देवताओं की [ दिक्सोम, भास्वरसोम की ] सोमता स्पष्ट ही है।** फलतः पाँचों का अग्नि, एवं सोम में पर्य्यवसान सिद्ध होजाता है । अग्निसोम का समन्वितरूप ही यज्ञ है । इसके एवंविध पाँच अवान्तर विवर्त्त हैं । इस पाङ्क्त सोमयाग के अङ्गभूत ( अतएव **'प्राक्सौमिक'** नाम से प्रसिद्ध ) प्रकृत के इस **'इष्टियज्ञ'** में भी अङ्गी सोमयाग के पाङ्क्तधर्म्म का सम्बन्ध अपेक्षित होजाता है । एवं पञ्चव्याहृति के सम्बन्ध से वह अपेक्षा भी सफल होरही है ।

( ३ ) तीसरे दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए । यज्ञ को पूर्व में वाङ्मय बतलाया गया है । वाङ्मय यज्ञ का रेत वाक्तत्त्व ही है । भूकेन्द्र से आरम्भ कर महिमा पर्य्यन्त इस वाग्रेत के अवान्तर ३३ विवर्त्त हो-जाते हैं, जो कि-**'त्रयस्त्रिंशत्तन्तवो यं वितत्निरे'** इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार **'तन्तुदेवता'** कहलाए हैं। इन ३३ **अहर्गणात्मक तन्तुदेवताओं** में ३ अहर्गणात्मक तीन देवता ( **ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र** ) हृद्य हैं । शेष ३० रह जाते हैं । इन के ६-६ के स्तूप से पाँच विभाग होजाते हैं । ३३ सों का केन्द्र-अग्नीषोम का विभाजक १७ वाँ अहर्गण है । ये ही ६ विभाग हैं । इसप्रकार एक ही वाक् के गौरूप १००० विवर्त्तों के पहिले ३०-३० गौ के संकलन से ३३ सूक्ष्म विभाग होते हैं, अन्त में ६ स्थूल विभाग मान लिए जाते हैं । **यह उसी वाक्तत्त्व का षट्कारण-लक्षण वषट्कार है ।**

**वाक् का षट्कार ही वषट्कार है ।** वषट्कारमण्डल ही वाक् का प्रातिस्विक स्वरूप है । इसका ३३ वाँ अहर्गण ही अग्नीषोमात्मक पार्थिव यज्ञ की अन्तिम सीमा है । इस **'वौषट्'** रूप वषट्कारयज्ञ (वाग्यज्ञ) की अन्तिम सीमा के ( ३३ के ) गर्भ में क्रमशः २७--२१--१७--१५-९--ये पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं । छठा स्वयं ३३ वाँ हैं । यज्ञसम्पत् का इस ६ ठे वषट्कारपर्व से ही सम्बन्ध है, जिस के गर्भ में पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं । यज्ञ के इन पांचों पर्वों के संग्रह के लिए भी पाँच व्याहृतियों का ग्रहण अन्वर्थ बन रहा है ।

'ओ श्रावय' से त्रिवृत् ( ६ ) का, 'अस्तु श्रोषट्' से पञ्चदश ( १५ ) का, 'यज' से सप्तदश ( १७ ) का, 'ये यजामहे' से एकविंश का, वौषट् से सप्तविंश ( २७ ) का, एवं समष्टिरूप ६ ठे वषट्कार लक्षण त्रयस्त्रिंश ( ३३ ) का ग्रहण होजाता है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से यज्ञ की पाङ्क्तता का समर्थन किया जासकता है। पाङ्क्त यज्ञ से उत्पन्न पशुसर्ग भी पुरुष, अश्व, गो, अवि, अज, भेद से पाँच विवर्त्तों में ही विभक्त है। पाङ्क्तसोमयाग से सम्बन्ध रखने वाले सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप भी वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, भेद से पञ्चपर्वा ही बना हुआ है। अहोरात्र, पक्ष, ऋतु, अयन, सम्वत्सर, भेद से भी सम्वत्सरयज्ञ की पाङ्क्तता स्फुट है। इसी पाङ्क्तता के आधार पर अग्निहोत्र ( अहोरात्र ) दर्शपूर्णमास ( पक्ष ), चातुर्म्मास्य ( ऋतु ), पशुबन्ध ( अयन ), ग्रहयाग ( सम्वत्सर ), इसप्रकार वैध मानुष यज्ञ के भी पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं। प्राकृतिक यज्ञ की इसी पाङ्क्त–सम्पत् की प्राप्ति के लिए प्रकृत कर्म्म-सम्पादक निगदमन्त्र में पाँच व्याहृतियों का समावेश हुआ है ॥ १६ ॥

सर्वसाधक यज्ञ ही प्रजापति है। 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' इस निगम के अनुसार यज्ञात्मक प्रजापति ही अपने विस्रस्त भाग से सब कुछ बना हुआ है। इस प्रजापति के स्थिति भेद से अनिरुक्त, उद्गीथ, सर्व, ये तीन विवर्त्त होजाते हैं। पिण्ड, और पिण्डमहिमा, प्रत्येक वस्तु में ये दो मुख्य पर्व माने हैं। पिण्ड स्पृश्य है, एवं पिण्डमहिमा दृश्य है। पिण्ड–केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व अनिरुक्त प्रजापति है, महिमा–केन्द्रावच्छिन्न तत्त्व उद्गीथ प्रजापति है। एवं महिमामण्डल की रथन्तरसामात्मिका उद्दच नाम्नी अन्तिम परिधि से सम्बन्ध रखने वाला तत्त्व सर्वप्रजापति है। पिण्डाधारेण प्रतिष्ठित महिमामण्डल वही पूर्वपरिचित वषट्कारमण्डल है, जिस के ३३ अहर्गण बतलाए गए हैं। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, ३०--३० गौ का एक एक अहर्गण होता है। फलतः १००० गौ के ३०--३० के बिभाग से ( ९०-९० में ही ) ३३ अहर्गण पूर्ण होजाते हैं, १० गौ शेष रह जातीं हैं। यही अन्तिम चौतीसवाँ सर्वप्राजापत्यस्थान माना गया है। इसी के लिए 'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः' कहा जाता है।

जिस कर्म्म में येन केन रूपेण ३४ संख्या का समावेश होजायगा, वह कर्म्म संख्या–समतुलनमात्र से सर्वप्राजापत्य–सम्पत्ति से युक्त होजायगा। जिस कर्म्म में सर्वथा उपांशुभाव का समावेश होगा, वहाँ तत्–सम अनिरुक्त हृद्य ( पिण्डकेन्द्रावच्छिन्न ) प्रजापति का अनुग्रह प्राप्त होजायगा। एवं जिस कर्म्म में सप्तदश ( १७ ) संख्या का समन्वय होगा, वहाँ स्वतः एव तत्–समतुलित 'उद्गीथप्रजापति' की अग्नियज्ञसम्पत् का ग्रहण होजायगा।

३३ अहर्गणात्मक महिमामण्डल का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण है। यही सत्रहवाँ अहर्गण उस 'नवाहयज्ञ' की उपक्रमभूमि है, जिसे पुराणपरिभाषानुसार 'श्वेतद्वीप निवासी सत्यनारायण विष्णु' कहा जाता है। १७ से आरम्भ कर २५ वें अहर्गण पर्य्यन्त ९ अहर्गणों की व्याप्ति से जो ज्योतिर्म्मय अपूर्व यज्ञ प्रतिष्ठित है, वही 'नवाहयज्ञ' कहलाया है। इस नवाहयज्ञ का केन्द्र २१ वाँ अहर्गण है। यहीं भगवान् सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से ये यज्ञात्मक विष्णु 'सत्यनारायण' कहलाए हैं, जो पूर्वप्रतिपादित त्रिविक्रम विष्णु से पृथक् तत्त्व हैं। 'तद्यत तत् सत्यमसौ स आदित्यः' के अनुसार सूर्य्य सत्य की प्रतिमा है। आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने के कारण येही 'नारायण' हैं। प्रतिमास की पूर्णिमा--तिथि में तत्त्वज्ञ उपासक व्रतप्रक्रिया के द्वारा इसी तत्त्व को आत्मसात् किया करते हैं।

१७-२१-२५, ये तीन अहर्गण क्रमशः ब्रह्मविष्टप्, विष्णुविष्टप्, इन्द्रविष्टप्, कहलाए हैं। यही त्रिविष्टप्स्वर्ग है, जिसका अन्यत्र विशदीकरण हुआ है। तीनों में से १७ वें का पार्थिव उस यज्ञविष्णु [ त्रिविक्रम वामनविष्णु ] से सम्बन्ध है, जिसकी सम्पत् प्रकृत यज्ञ में अपेक्षित है। इसकी अन्तिम सीमा क्योंकि १७ वाँ अहर्गण है, अतएव इसे--'**सप्तदशो वै प्रजापतिः**' इत्यादि रूप से '**सप्तदश**' नाम से व्यवहृत किया जाता है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर सत्रहवें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त १७ अवयवों से ही इस यज्ञप्रजापति का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। पाँच व्याहृतियों से जहाँ यह '**उद्गीथ**' नामक सप्तदशप्रजापति पञ्चावयव है, वहाँ अहर्गणात्मक १७ अवयवों से यह सप्तदशावयव भी बन रहा है। पञ्चावयव, सप्तदशराशिरूप इसी यज्ञात्मा का व्याहृति के सप्तदश अक्षरों से संग्रह होजाता है। यही पञ्चव्याहृतिसमष्टि के १७ अक्षरों की मौलिक उपपत्ति है, जिसका निम्न लिखित स्मार्त्तवचन भी स्पष्टीकरण कर रहा है—

**चतुर्भिश्च———चतुर्भिश्च———द्वाभ्यां—पञ्चभिरेव च।**

१ २ ३ ४———१ २ ३ ४———१ २—१ २ ३ ४ ५

[ ओ-श्रा-व-य ]——[ अ-स्तु-श्रौ-षट् ]———[-य-ज]--[ये--य-जा-म--हे-]

[१--२--३--४]——[५--६--७--८]———[९--१०]--[११-१२-१३-१४-१५]

१———२———३———४

**हूयते च पुनर्द्वाभ्यां--** **तस्मै यज्ञात्मने नमः॥**

[१६--१७]

[ वौ--षट् ]

१६--१७

उद्गीथप्रजापतये

## अत्र १७ कण्डिका—उपरता

—*—

# अथ—वृष्टिविज्ञानम्—

सप्तदशस्तोमात्मक आहवनीय--प्रदेश ही--जिसे हमने 'ब्रह्मविष्टप्' कहा है--नाचिकेत आग्नेय स्वर्ग कहलाया है। सुप्रसिद्ध स्वर्ग्याग्नि का--जिसका नचिकेता के द्वारा प्रश्न हुआ है, एवं यम के द्वारा इष्टकाचिति-रूप से समाधान हुआ है--इसी सप्तदशस्थान से सम्बन्ध है। प्राक्सौमिक पर्वयज्ञ--समष्टिलक्षण सोमयाग से उत्पन्न स्वर्गप्रापक दैवात्मा इसी सप्तदश स्थान में प्रतिष्ठित होता है। दूसरे शब्दों में दर्शपूर्णमासेष्ट्यनुगत, सोमयागापरपर्य्यायक, ज्योतिष्टोम से प्राप्तव्य स्वर्ग सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यही नाचिकेत स्वर्ग है, जिसके लिए कहा गया है--"**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**"। पञ्चावयवा, सप्तदशकलात्मिका, स्वर्ग्याग्निलक्षणा प्राजापत्यसम्पत्ति इस दृष्टिकोण से आधिदैविक--सम्पत्ति मानी जासकती है, जिस की आधिभौतिक शरीर के निधनानन्तर प्राप्ति होती है।

मानवीय मन परोक्षफलाकर्षण की अपेक्षा प्रत्यक्ष भौतिक फलाकर्षण की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है। उस की बाह्यदृष्टि पहिले ऐहलौकिक--फलकामना की ही अपेक्षा रखती है। जब उसे किसी कर्म्म के प्रति यह विश्वास होजाता है कि, मुझे अमुक कर्म्म से प्रत्यक्ष में भी, इसी जीवन में भी कोई भौतिक फल मिल सकता है, तो वह उस कर्म्म में अपेक्षाबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होजाता है। यही क्यों, आधिभौतिक साधन-साध्यों से सम्पन्न कर्म्मकाण्ड का तो अधिकारी भी वही माना गया है, जिसकी प्राथमिक लक्ष्यभूमि आधिभौतिक ही बनती है। उच्चपीठिका में प्रतिष्ठित जो उच्चाधिकारी केवल परोक्ष--आधिदैविक-लक्ष्य प्राप्ति के लिए कर्म्म में प्रवृत्त रहते हैं, उनका वह कर्म्म तो **उपासना,** किंवा **ज्ञानयोग** ही बन जाता है। प्रवृत्तिलक्षण कर्म्मकाण्ड (यज्ञकाण्ड) का सामान्य अधिकारी तो प्रत्येक दशा में भौतिक ऐहलौकिक फल की अवश्यमेव कामना करेगा। प्रकृत आश्रावण--प्रत्याश्रावण-कर्म्म के उस प्रत्यक्ष भौतिकफल का ही १८,१९,२० इन तीन कण्डिकाओं में स्पष्टीकरण हुआ है। तात्पर्य्य, वैदिक यज्ञकर्म्म केवल पारलौकिक आधिदैविक स्वर्गादि फलों के ही जनक नहीं हैं, अपितु परोक्षफल के साथ साथ इनसे प्रत्यक्ष भौतिक योग-क्षेम-संवाहक वर्षादिफल भी प्राप्त होजाते हैं।

इन प्रत्यक्ष फलों को हम **ज्योतिश्चक्र** [ **खगोल–आकाश** ], एवं **भुवनकोश** [ **भूगोल-पृथिवी** ] भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। **हमारी यच्चयावत् भौगोलिक पार्थिव कामनाओं की प्रतिष्ठा ऋतु-अनुकूला वर्षा ही है।** **'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु'** इत्यादि यजुर्म्मन्त्रवर्णनानुसार समय समय पर पर्जन्य देवता के अनुग्रह [ व्यापार ] से होने वाली वर्षा ही ओषधि-वनस्पति के उत्पादन के द्वारा पार्थिव योग-क्षेम का संचालन कर रही है। **हमारी समस्त ऐहलौकिक कामनाओं का, एवं पार्थिव भौगोलिक कामनाओं का केन्द्रीकरण अन्न-बल पर ही अवलम्बित है।** एवं इस की मूलप्रतिष्ठा खगोलीया वर्षा ही है।

**वर्षा प्रकृति का प्रथम प्रत्यक्ष अनुग्रह है, एवं पार्थिव ओषधि--वनस्पति जल-पशु–वित्तादि द्वितीयानुग्रह है।** प्रथमानुग्रह [ वर्षा ] के आधार पर ही द्वितीयानुग्रह प्रतिष्ठित है। १७, १८, इन दो कण्डिकाओं में पहिले खगोलीय प्रथमानुग्रह का, एवं २० वीं कण्डिका में द्वितीय भौगोलिक पार्थिव अनुग्रह का ही विश्वलेषण करती हुई श्रुति भ्रान्त जनों की उस भ्रान्ति का आमूलचूड़ खण्डन कर रही है, जिस भ्रान्ति में पड़ कर वे भ्रान्त मनुष्य यह कहते सुने गए हैं कि, **"शास्त्रीय कर्म्मकाण्ड, यज्ञकर्म्म, तो मरने के पश्चात् ही फल देते हैं। हमारा पहिला लक्ष्य अन्न--वस्त्र है। यह चिन्ता शास्त्रीय कर्म्मकाण्ड से निवृत्त नहीं होसकती।"** अवश्य ही भारतीय यज्ञकाण्ड न केवल पारलौकिक परोक्ष फलों का ही प्रवर्त्तक है, अपितु परोक्षातिशय के साथ साथ प्राकृतिक रस्यपूर्ण वैज्ञानिक–शिक्षणापूर्वक आधिभौतिकी **समस्त प्रत्यक्ष कामनाएँ भी इसी यज्ञकाण्ड से सम्पन्न की जासकतीं हैं।** यही तो यज्ञ के–**'इष्टकामधुक्'** विशेषण का फलितार्थ है, जिसे न समझकर अर्द्धदग्ध भ्रान्त जन शास्त्रानुगत भारतीय वैदिक कर्म्मकाण्ड की उपेक्षा से अपना सर्वनाश ही करा रहे हैं।

**पुरोवात, अभ्र, विद्युत, स्तनयित्नु,** इन चारों सहयोगियों के एकत्र समन्वय से ही **'वर्षाकर्म्म'** की प्रवृत्ति मानी गई है। सुप्रसिद्ध **'पुरवाई हवा'** ही **'पुरोवात'** है। प्रत्यक्ष दृष्ट **धूम–ज्योति–सलिल–**

मरुत् ( बाष्प-अग्नि-पानी-व्रातवायु ) की समष्टिरूप 'बद्दल' 'अभ्र' है। प्रत्यक्षदृष्ट चाकचिक्य 'विद्युत्' है, एवं प्रत्यक्ष श्रुत 'गर्ज्जन तर्जन' ही 'स्तनयित्नु' है। सर्वप्रथम पुरोवात का सञ्चार होता हैं। पुरोवात के सञ्चार से इतस्ततः ऋतभाव [ खण्डभाव ] से बिखरे हुए अभ्रखण्डों का नियताकाशप्रदेश में एकत्र समन्वय होजाता है। अभ्रघनता से समुत्पन्न वायु-अग्नि-जलीय-घर्षण से विद्युत्-उत्पन्न होजाती है, साथ ही गर्ज्जन तर्ज्जनलक्षण स्तनयित्नु भी। इस सम्पूर्ण सामग्री-सम्भार के समवेत होते ही--'तड़ तड़' प्रतिध्वनि के साथ वर्षा होने लगती है। प्राकृतिक प्राणदेवताओं के प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले आश्रावण प्रत्याश्रावणकर्म्म की--'ओ श्रावय' रूपा प्रथमा व्याहृति का फल 'पुरोवात' है। 'अस्तु श्रौषट्' व्याहृति से अभ्र का सम्बन्ध है। 'यज' से विद्युत् का, 'ये यजामहे' से स्तनयित्नु का, एवं तड़ तड़ प्रतिध्वनिपूर्विका वर्षा का 'वौषट्' इस पाँचवीं व्याहृति से सम्बन्ध है। इसप्रकार प्राकृतिक प्राणदेवता पञ्चव्याहृत्यात्मक इसी आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्म्म से वर्षा के प्रवर्त्तक बन रहे हैं, जिस वर्षा के तात्त्विक स्वरूप का निम्न लिखित शब्दों में दिग्दर्शन करा देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

भारतीय वैदिक-विज्ञान के सम्बन्धमें सबसे बड़ी विप्रतिपत्ति यही है कि, उसका अनेक रहस्यपूर्ण परिभाषाओं से ही विशेष सम्बन्ध है। बिना उन्हें अवगत किए केवल अक्षरार्थ के आधार पर तत्तद्वैज्ञा--निकप्रकरण शून्य से, निरर्थक से, कल्पित से, एवं कहानी से ही प्रतीत होने लगते हैं। साथ ही दूसरी जटिलता यह भी है कि, परोक्षप्रिय ऋषियों की परोक्षभाषा [ वेदभाषा ] के अनुग्रह से किसी भी विज्ञान का किसी एक ही प्रकरण में क्रमबद्ध निरूपण नहीं मिलता। जबतक समस्त वेदराशि का मन्थन नहीं कर लिया जाता, तबतक किसी भी विज्ञानसिद्धान्त का यथानुरूप समन्वय सम्भव नहीं बन सकता। जिस 'वृष्टिविद्या' के सम्बन्ध में प्रकृत में कुछ निवेदन करना है, उसके लिए भी ये ही जटिलताएँ विद्यमान हैं। प्रकृत ब्राह्मण की 'ओ श्रावयेति देवाः पुरोवातं ससृजिरे' इत्यादिरूपा १८ वीं कण्डिका में वृष्टिविज्ञान का निरूपण तो हुआ है। परन्तु यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि, केवल इस कण्डिकामात्र से अंशतः भी तो वृष्टिविज्ञान का विश्लेषण नहीं होरहा। देवता पुरोवात, अभ्र, विद्युत्, स्तनयित्नु, वौषट् आदि किसी भी तत्व का तो यहाँ विश्लेषण नहीं हुआ। अवश्य ही इन तत्वों के स्वरूप-परिज्ञान के लिए एक-बार हमें उन सम्पूर्ण वैदिक स्थल--विशेषों की ओर अपना ध्यान आकर्षित कर ही लेना पड़ेगा, जिनमें तत्तत्प्रकरणसन्दर्भ की अपेक्षा से तत्तत्--विशेष भावों का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रसङ्गोपात्त वृष्टिविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला प्रस्तुत प्रकरण पाठकों के लिए विशेषरूप से अनुरञ्जन का साधन बनेगा, इसी आशा के साथ संक्षेप से तत्सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर देने का साहस, किंवा दुस्साहस कर लिया जाता है।

वृष्टिविद्या के सम्बन्ध में एक ही तत्त्ववाद का अनेक दृष्टियों से समन्वय हुआ है। उन विभिन्न दृष्टिकोणों में से प्रकृत में 'छान्दोग्य-उपनिषत्' से सम्बन्ध रखने वाले 'पञ्चाग्निविद्यानुगत दृष्टिकोण' का ही विशेष सम्बन्ध मानना पड़ेगा। छान्दोग्य-उपनिषत् में यह स्पष्ट किया गया है कि, वृष्टि का मूल--तत्त्व 'श्रद्धातत्त्व' है। यही श्रद्धातत्त्व आगे जाकर 'सोमरूप' में परिणत होता हुआ 'वृष्टिरूप' में परिणत होता है, यही एक औपनिषद--दृष्टिकोण है।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि, विद्यानिरपेक्ष इष्ट--आपूर्त्त--दत्त--नामक सत्कर्म्मों के अनुयायी जीवात्मा निधनानन्तर कृष्णमार्ग के अनुगामी बनते हैं। पहिले वे शरीरच्छायात्मक

धूमार्द्धमण्डल में जाते हैं। यहाँ से रात्रि में, रात्रि से कृष्णपक्ष में, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन-मासषट्कमण्डल में, मासों के द्वारा पितृलोक में, पितृलोक से आकाश [ पितृयाण ] में, आकाश से चन्द्रलण्डल में पहुँचते हैं। वहाँ यावत्सत्कर्म्मातिशयपर्य्यन्त पितृस्वर्गसुख-भोगानन्तर पुन: उसी मार्ग से लौट आते हैं। चन्द्रमण्डल से आकाश में, आकाश से वायुमण्डल में आकर वायुरूप में परिणत होजाते हैं। वायु से धूम ( वाष्प ) रूप में, धूम से अभ्ररूप में परिणत होते हैं। अभ्रावस्था से मेघावस्था में परिणत होते हैं। मेघ से वृष्टिजलरूप में परिणत होकर जीवात्मा व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल, माष, आदि किसी एक भौतिक पार्थिव द्रव्यरूप में परिणत होजाते हैं। पार्थिव अन्न ही जल के द्वारा जीवत्मात्रों का बाह्य शरीर बनता है। इस अन्न की पुरुषाग्नि में आहुति होती है। इस यज्ञ के द्वारा अन्नगत प्राणात्मा ( औपपातिक जीवात्मा ) शुक्र के द्वारा स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित शोणिताग्नि में आहुत होकर यथाकर्म्म यथाविद्य भौतिक शरीर धारण कर लेता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जीवात्मा हीं वृष्टि का धूमावस्था के द्वारा प्रधान निमित्त बन रहा है, जिस इस दृष्टिकोण का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

"अथ य इमे ग्रामे-इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते, ते धूममभिसम्भवन्ति। धूमाद्रात्रिं। रात्रेरपरपक्षं. अपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासांस्तान्। एते सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं, पितृलोकादाकाशं, आकाशाचन्द्रमसम्। एष सोमो राजा। तद्देवानामन्नम्। तं देवा भक्षयन्ति। ( इति-जीवात्मनः-आरोहणम् )"। ( अथातः-अवरोहणम् ) —"तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं--पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतम्। आकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमोभूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहि-यवा-ओषधि-वनस्पतयः--तिल--माषा इति जायन्ते। अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति, यो रेतः सिञ्चन्ति, तद्भूय एव भवति"।

+—छान्दोग्योपनिषत् ५ प्रा०।१० खं०। ३,४,५,६ कं०।

द्युलोकस्थ श्रद्धातत्त्व सोम के द्वारा वृष्टिरूप में परिणत होता है, इस प्रथम दृष्टिकोण से, एवं अवरोहणक्रम में जीवात्मा वृष्टिरूप में परिणत होता है, इस द्वितीय दृष्टिकोण से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ रहा है कि, द्युलोकस्थ खगोलीय तत्त्वविशेष ही वृष्टि का जनक है। अब उक्त दोनों दृष्टिकोणों से सर्वथा विभिन्न एक तीसरे दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाइए। जिसप्रकार द्युलोकाधिष्ठाता सूर्य्य से रश्मियों के द्वारा सौर सावित्राग्नि ( आदित्याग्नि ) अजस्ररूप से भूलोक की ओर आता रहता है, एवमेव भूलोका-

---

× इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन चतुःखण्डात्मक श्राद्धविज्ञान के-'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' नामक चतुर्थ खण्ड में देखना चाहिए।

धिष्ठाता पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि अपने प्राणरूप से भूपिण्ड से निकल कर अजस्ररूप से द्युलोक की ओर जाया करता है। द्युलोक से आते हुए आदित्याग्नि से जहाँ सुप्रसिद्ध–"**आदित्यानामयनम्**" नामक यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होरहा है, वहाँ भू से जाते हुए अङ्गिरोऽग्नि से सुप्रसिद्ध "**अङ्गिरसामयनम्**" यज्ञ सम्पन्न हो-रहा है। भूलोक से निकला हुआ प्राणलक्षण अङ्गिरोऽग्नि तो द्युलोक की ओर जा ही रहा है। साथ ही द्युलोक से भूपृष्ठ पर आकर आदित्याग्नि भी प्रतिफलित होकर '**अश्व**' रूप में परिणत होता हुआ द्युलोक की ओर ही जारहा है। दोनों के इसी सहगमन से उक्त दोनों अयनसत्रों का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। सुप्रसिद्ध अङ्गिरा, तथा आदित्य की स्पर्द्धा का स्पष्टीकरण करने वाले आख्यान ने इसी सत्रविज्ञान का प्रतिपादन किया है *।

वक्तव्य यही है कि, पार्थिव अग्नि ( प्राणात्मक अङ्गिरोऽग्नि ) भूपिण्ड से निकल कर वाङ्मय स्तोमों के आधार पर अभिप्लवरूप से, एवं पृष्ठरूप से निरन्तर द्युलोक की ओर जाया करता है। स्तोमसम्बन्धेन अङ्गिरोऽग्नि का यह द्यु–गमनमार्ग सर्वथा नियत है। अङ्गिरोऽग्नि के इसी द्युलोकगमन का स्पष्टीकरण करती हुए मन्त्र श्रुति कहती है:—

**इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठ्यान्यारुहन् ।**
**प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥**

**—अथर्वसं० १८।१।६।१**

भूपृष्ठ पर व्याप्ता जलमात्रा बाष्परूप में परिणत होकर द्युलोक की ओर जाते हुए अङ्गिरोऽग्निगर्भ में प्रतिष्ठित होजाती है। अग्निगमन के साथ-साथ बाष्परूप से परिणता पार्थिवी जलमात्रा भी अन्तरिक्ष में चली जाती है। अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित मरुत् नामक वायुविशेष के धरातल पर वह जलमात्रा गर्भीभूत बन जाती है। **यही पार्थिवजल का गर्भधारण है**। जबतक सौररश्मियाँ तीव्र नहीं बन जातीं, तबतक वह पार्थिव जलमात्रा उसी वायुगर्भ में प्रतिष्ठित रहती है। जब ( आत्यन्तिक ग्रीष्मकालोपलक्षित निदाघकालावसान में ) सौररश्मियाँ अपने निम्नभाव में परिणत होजातीं हैं, तत्काल वायुधरातलस्थ पानी भूपिण्ड पर गिर पड़ता है।

**इसप्रकार पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा मरुद्धरातल में अवस्थित पानी हीं कालान्तर में पृथिवी पर बरस पड़ता है**। इस दृष्टिकोण के अनुसार **पार्थिव जल ही द्युलोक में जाकर वृष्टि का कारण बन रहा है**। हम समझते हैं, वृष्टि केवल भूपिण्ड में हीं होती है। परन्तु यथार्थ में परिस्थिति तो यह है कि, भू–द्यु, **दोनों ही लोकों में समानरूप से वृष्टि होरही है**। अन्तर केवल यही है कि, **द्युलोक में पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि वृष्टि के प्रवर्त्तक हैं, एवं भूलोक में आन्तरिक्ष्य पर्जन्य-देवता वृष्टि**

---

*–"आदित्याश्च ह वाऽअङ्गिरसश्च उभये प्राजापत्या अस्पर्द्धन्त–वयं पूर्वे स्वर्गं लोकमेष्यामो, वयं पूर्वऽइति। ( शत० १२।२।१।६ )–"एतदादित्यानामयनम्, एतदङ्गिरसमयनम्" ( शत० ४।५।१।१६,२० )।

के प्रवर्त्तक हैं। यहाँ से वहाँ गया हुआ पानी यहाँ बरसता है-पर्जन्य के द्वारा। एवं यहाँ से वहाँ पानी बरसता है---पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा। पार्थिववृष्टि में पार्थिव अहर्गण निमित्त बनते हैं, एवं दिव्यवृष्टि में सौर अहर्गण निमित्त बनते हैं। निम्नलिखित मन्त्रश्रुतियाँ इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर रहीं हैं

(१) 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति।
यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति'।
---तै० सं० कां०। ४ प्र०। १० अ०। २ कं०।

(२) 'समानमेतदुदकमुच्चेत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥'
—ऋक्सं० १।१६४।५१

एक अन्य दृष्टिकोण का भी समन्वय कीजिए। भगवान् मनु कहते हैं कि, द्विजातियों का यज्ञकर्म ही वृष्टि का मूल है। आहवनीयाग्नि में यथाविधि जो आहुति दी जाती है, वह द्युलोकस्थ आदित्य में पहुँच जाती है। पार्थिव आहुतिग्राहक आदित्यदेवता प्रतिदान [ बदले ] में वृष्टि करते हैं, वृष्टि से अन्न-उत्पन्न होता है, अन्न से प्रजोत्पत्ति होती है। इसप्रकार यज्ञाहुति ही परम्परया वृष्टिप्रवर्तिका बन रही है। देखिए !

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक्–आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टि—र्वृष्टेरन्नं, ततः प्रजाः॥
—मनुः ३।७६

एक पाँचवाँ दृष्टिकोण और लीजिए। अक्षर से ब्रह्म [ क्षर ] का विकास होता है, ब्रह्म से कर्म्म उत्पन्न होता है, कर्म्म से यज्ञ उत्पन्न होता है, यज्ञ से पर्जन्य उत्पन्न होता है। पर्जन्य से वृष्टि के द्वारा अन्न उत्पन्न होता है, एवं अन्न से भूतसृष्टि होती है। यहाँ अक्षर को ही वृष्टि का मूलाधार माना जा रहा है। देखिए !

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्ज्जन्यो, यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
—गीता ३ १४, १५।

यद्यपि उक्त दृष्टिकोणों की विवेचना-शैली में, [ साथ ही द्यावा--पृथिवी--रूप से ] अंशतः सिद्धान्त में भी भेद प्रतीत होरहा है, तथापि वस्तुगत्या सभी दृष्टिकोणों का निर्विरोध समन्वय किया जासकता है। जैसा कि, आरम्भ में निवेदन किया गया है, प्रथम दृष्टिकोण का प्रस्तुत ब्राह्मणप्रकरण के साथ विशेष सम्बन्ध है।

अतएव उसी को आधार बनाकर यहाँ वृष्टिविद्या का दिग्दर्शन कराना समीचीन माना जायगा। छान्दोग्यश्रुति ने जिस पञ्चाग्निविद्या के आधार पर अप्सर्ग के द्वारा पुरुषसर्ग का प्रतिपादन किया है, उस का वैज्ञानिक तत्त्व उसी की भाषा में स्पष्ट है। अरुणपुत्र, अतएव **'आरुणेय'** इस उपनाम से प्रसिद्ध **श्वेतकेतु** अपनी तात्त्विक जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए तत्समय की सुप्रसिद्धा कुरुपञ्चालों की **विद्वत्पर्षत्** [ **परिषत्** ] में उपस्थित होते हैं। प्रारम्भिक-योग्यता की परीक्षा के लिए पर्षत् के मान्य विद्वान् **जैबिलि** श्वेतकेतु से प्रश्न करते हैं कि, कुमार ! क्या तुम्हें तुम्हारे पिता [ अरुण ] ने तत्त्वज्ञान के शिक्षण से युक्त कर दिया है ?। कुमार श्वेतकेतु उत्तर में ज्यों ही **हाँ भगवन् !** कहते हैं, त्योंही जैबिलि उन के सम्मुख प्रश्नपरम्परा रख बैठते हैं। जैबिलि के द्वारा श्वेतकेतु से होने वाली प्रश्नपरम्परा का पाँचवाँ प्रश्न है—**'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति'**—जानते हो तो बताओ ! **पाँचवी आहुति में अप्तत्त्व कैसे पुरुषस्वरूप में परिणत होजाता है ?**। श्वेतकेतु समाधान करने में असमर्थ रह जाते हैं। फलतः स्वयं जैबिलि की ओर से ही पाँचों प्रश्नों का तात्त्विक विश्लेषण होता है।

सुप्रसिद्ध **वेदान्तसूत्र** [ **व्याससूत्र**] के तृतीयाध्याय के आरम्भ से आत्मगति विषयक सिद्धान्तों का कतिपय सूत्रों से प्रतिपादन हुआ है। वहाँ का प्रारम्भिक सूत्र है—**"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति, सम्परिष्वक्तः, प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"** (व्या० सू० ३।१।१)। जीवात्मा पाञ्चभौतिक मर्त्य अनित्य शरीर से पृथक् अमृत-नित्य तत्त्व है, जब पूर्वसन्दर्भ से (प्रतिपादिता अध्यायद्वयी से) यह सिद्ध होजाता है—[**तदन्तरप्रतिपत्तौ**] तो, यह भी स्वतः एवं सिद्ध होजाता है कि, मर्त्य स्थूलशरीर के छूट जाने पर जीवात्मा लोकान्तर में गमन करता है—(**रहंति**)। **क्या विशुद्ध आत्मा का लोकान्तर में गमन होता है ?**, प्रश्न का **'नेति'** रूप से समाधान करते हुए भगवान बादरायण कहते हैं कि, **विशुद्ध आत्मतत्त्व का गमन असम्भव है**। अतएव मानना पड़ता है कि, **जीवात्मा सूक्ष्म भूतों से वेष्टित होकर ही [ आतिवाहिक सूक्ष्मशरीर धारण करके ही ] लोकान्तर में गमन करता है [सम्परिष्वक्तो भूतसूक्ष्मैः—गच्छति ]**।

प्रमाण के लिए जैबिलि, और श्वेतकेतु में होने वाली प्रश्नोत्तर-परम्परा ही पर्य्याप्त है। वहाँ पुरुषसर्ग के सम्बन्ध में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि, **जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से सम्परिष्वक्त होकर ही लोकान्तरों में** गमन करता है—( **प्रश्ननिरूपणाभ्याम्** )। *—प्रश्न निरूपण का तात्पर्य्य यही है कि, **अवरोह** ( उत्पत्ति ) क्रम में अप्तत्त्व से ही पुरुष की उत्पत्ति हुई है। यदि **आरोहक्रम** में अप्तत्त्व का पुनर्गमन न माना जायगा, तो एक न एक दिन वह निःशेष ही होजायगी। फलतः निर्म्माणक्रम अवरुद्ध होजायगा। उधर **'स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'—धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यानुसार सृष्टिक्रम शाश्वत माना गया है। इसकी यह शाश्वतता तभी अक्षुण्ण बनी रह सकती है, जब कि **जीवावरोहणवत् जीवारोहण में भी अप्तत्त्व का गमन माना जाय**। इसी

---

*** तदन्तरेत्यादिकसूत्रमेतद्-ब्रूह्येतदर्थं यदि वेत्थ किञ्चित् ।**
**स प्राह जीवः करणावसासे संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः ॥**

**—प्राचीनसूक्तिः**

आधार पर–'ता एव ह्युपपत्तेः' इत्यादि के अनुसार मानना पड़ता है कि–'जीवात्मा भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव लोकान्तरे गच्छति'।

जीवात्मगतिप्रतिपादक इस सूत्रसन्दर्भ का विशद वैज्ञानिक विवेचन श्राद्धविज्ञानान्तर्गत आत्मविज्ञानोपनिषत् नामक प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

अग्निहोत्रयज्ञ से समतुलित इस पञ्चाग्निविद्यात्मक अग्निकर्म्म से ही पुरुषसृष्टि का आविर्भाव हुआ है। हमारे वैध ( मनुष्ययजमानकृत ) अग्निहोत्र में अग्नि, समिध, अङ्गार, विस्फुल्लिङ्ग, हविर्द्रव्य, इत्यादि भौतिक साधनों का समन्वय रहता है। इन सब भौतिक साधनों का अन्नादलक्षण अग्नि, अन्नलक्षण सोम, इन दो साधनों में अन्तर्भाव माना जायगा। क्योंकि प्राकृतिक नित्याग्निहोत्र में ये दो साधन हीं मुख्य माने गए हैं। रोदसीत्रैलोक्यविधाता,–'नैवोदेता, नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता'-बृहद्ध तस्थौ-भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश'—'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति' इत्यादि वचनों के अनुसार रोदसी–ब्रह्माण्ड के केन्द्र विष्वद्वृत्त नामक बृहतीछन्द में प्रतिष्ठित सूर्य्यदेवता सावित्राग्निमय हैं। अग्नित्वेन ये निरन्तर उसीप्रकार अन्नादान की इच्छा किया करते हैं, जैसे कि हमारा शरीराग्नि स्वाकरूपा बुभुक्षा के उपशम के लिए सायं प्रातः अन्न (भोजन) की इच्छा किया करता है। इस स्वाभाविकी अन्नादानेच्छा से ही यह 'अन्नमत्तीति' निर्वचन से 'अन्नाद' कहलाया है।

कल्पना कीजिए उस ब्रह्माण्ड–व्यापक सौर अग्नि के महामहनीय प्रवृद्धतम अन्नादभाव की, जिसकी महिमा के गर्भ में असंख्य अस्मदादि प्राणियों के अन्नाद प्रतिष्ठित हैं, जिन्हें अपने स्वल्प आयतन की पूर्त्ति के लिए प्रतिदिन सायं प्रातः अन्नादान की बुभुक्षा बनी रहती है। अवश्य ही यह मानना पड़ेगा कि, जिसने ब्रह्माण्ड के प्रति अपने आप को अन्नात्मकत्वेन समर्पित कर दिया है, हमारे रोदसी–ब्रह्माण्ड में भी बृहदायतन कोई न कोई अन्न निरन्तर इस विभ्राट् की बृहती बुभुक्षा शान्त करता रहता है। उस महदन्नाहुति का ही यह प्रभाव है कि, आरम्भ से आज पर्य्यन्त सृष्टिनिर्म्माण-प्रक्रिया में अपनी मात्राओं का समर्पण करता हुआ भी सूर्य्य स्वशरीर से अक्षुण्णवत् बना हुआ है। जिस उस महदन्न की इस सौर सावित्राग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है, जिस अन्नाहुति से 'आ कृष्णेन रजसावर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार जो सौरसावित्राग्नि स्वस्वरूप से कृष्ण रहता हुआ भी ज्योतिर्म्मय बना हुआ है, वही सौराग्नि का अन्न उस महामहिम पारमेष्ठ्य मण्डल में रहने वाला भार्गव स्नेहतत्त्व है, जिस परमेष्ठी मण्डल के सामने सूर्य्य एक बुद्बुद् के सदृश अपना महत्त्व रखता है।

यही पारमेष्ठ्य अन्नसोम 'ब्रह्मणस्पति' कहलाया है, जिसका मौलिक स्वरूप अब्लक्षण श्रद्धातत्त्व ही माना गया है। इसी श्रद्धात्मिका सोमाहुति से सूर्य्य प्रज्ज्वलित है। सौरप्राणाग्नि अग्नि है, सूर्य्यात्मक भूतपिण्ड अङ्गार है। सूर्य्य से प्रवर्ग्यसम्बन्ध के द्वारा इतस्ततः विनिःसृत धूम्र, लौहित हरित, आग्नेयपुञ्ज विस्फुलिङ्ग हैं, अस्मदादि समस्त प्राणीवर्ग समित् है, पारमेष्ठ्य सोम हविर्द्रव्य है। इन सब के समन्वय से ही प्राकृतिक नित्य अग्निहोत्र सञ्चालित है, जिसके आधार पर ही रोदसी–ब्रह्माण्ड की जीवनसत्ता अवलम्बित है। इसी प्राकृतिक–सूर्य्याग्निहोत्रविधा के आधार पर मानुष उस 'अग्निहोत्रविधा' का आविष्कार हुआ है, जिस का याज्ञिक ब्राह्मण सायं प्रातः अनुगमन किया करते हैं। अग्निहोत्र के इसी रहस्यात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

**'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम् । तद्यदेतस्या अग्रऽआहुतेरुदैत्, तस्मात् सूर्य्योऽग्निहोत्रम् । स यत सायमस्तमिते जुहोति, य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानि-इति । अथ यत् प्रात-रनुदिते जुहोति, य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानि-इति । तस्माद्ध सूर्य्योऽग्निहोत्रम् ।'**

—शत० ब्रा० २।३।१।१,२।

उक्त सूर्य्याग्निहोत्र में अग्निहोत्रसाधक **अग्नि, अङ्गारादि**, जिन साधनों का उल्लेख किया गयाहै, वे सब अग्नि, सोम, इन दो तत्त्वों पर ही विश्रान्त हैं । **अग्नि, धूम, समित्, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग**, इन का तो अग्नि में अन्तर्भाव है, शेष सोममात्र रह जाता है । अतएव अवश्य ही इस अनेकसाधनानुगत भी यज्ञ का **'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः'** यह लक्षण किया जासकता है । पञ्चाग्निविद्या का तात्पर्य्य यही है कि, एक ही यज्ञ स्थानभेद से पाँच संस्थाओं में विभक्त होरहा है । **सौरसंस्था आधिदैविकी है, पार्थिवसंस्था आधिभौतिकी हैं, पुरुषसंस्था आध्यात्मिकी है । आधिदैविकसंस्था का २ विधाओं से, आधिभौतिकसंस्था का १ विधा से, एवं आध्यात्मिकसंस्था का २ विधाओं से सम्बन्ध है ।** । कारण इस संख्या-विपर्य्य का यही है कि, आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक यज्ञों के दाम्पत्यभाव से जहाँ अन्य दाम्पत्ययज्ञ ( प्रजा ) उत्पन्न होता है, वहाँ आधिभौतिक पाषाण-लोष्टादि यज्ञों से अन्य यज्ञ उत्पन्न नहीं होता । संकेतविधा से यही रहस्य सूचित करने के लिए आधिदैविक-आध्यात्मिक--यज्ञों के लिए २-२ विधाओं का, एवं मध्यस्थ आधिभौतिक यज्ञ के लिए एक ही विधा का स्पष्टीकरण हुआ है । **तीनों के पाँच अवयवयज्ञों का ही पञ्चाग्निविद्या के द्वारा विश्लेषण हुआ है ।**

उक्त पञ्चावयव यज्ञ द्यावापृथिव्य है । द्यावापृथिव्य यज्ञ के **प्राणलक्षण--यज्ञ, प्राणीलक्षण-यज्ञ**, भेद से दो विवर्त्त माने जासकते हैं । प्राकृतिक प्राणों के समन्वय से सम्बन्ध रखने वाला द्यावापृथिव्य यज्ञ **'प्राणलक्षणयज्ञ'** कहलाएगा, एवं प्राकृतिक अस्मदादि प्राणियों के समन्वय से सम्बन्ध रखने वाला द्यावा-पृथिव्य यज्ञ **'प्राणीलक्षणयज्ञ'** माना जायगा । **प्राणलक्षण यज्ञ के पृथिवी, अन्तरिक्षम्, द्यौः, ये तीन पर्व हैं । प्राणीलक्षण यज्ञ के पुरुष, योषा [स्त्री] ये दो पर्व हैं । द्युलोकाधिष्ठाता अहःकालीन दृश्य अर्द्धाकाशानुगत सौर आग्नेय प्राण से पुरुषसृष्टि का आविर्भाव हुआ है । एवं भूलोकाधिष्ठाता [जिसमें आन्तरिक्ष्य प्राणवायु का भी समन्वय है] रात्रिकालीन अदृश्य अर्द्धाकाशानुगत चान्द्र सौम्यप्राण से योषा सृष्टि का आविर्भाव हुआ है । द्यु-लक्षण पिता, एवं पृथिवी-रूपिणी माता से जैसे प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न हुआ है, एवमेव द्युरसानुगत पुरुष (पिता), एवं पृथिवी-रसानुगता योषा (माता) के दाम्पत्य से प्राणीविध यज्ञ सम्पन्न होता है ।** योषा पृथिवी की प्रतिकृति है, एवं पुरुष द्युलोक की प्रतिकृति है । अतएव इस प्राणीविध यज्ञ को भी द्यावापृथिव्य ही माना जायगा । प्राणविध द्यावापृथिव्य यज्ञ में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः तीनों का सर्वथा पार्थक्य है । इधर प्राणीविध द्यावापृथिव्य यज्ञ में अन्तरिक्ष का पृथिवी—प्रतिकृतिरूपा योषा के गर्भाशयरूप आन्तरिक्ष्य आकाश में ही अन्तर्भाव होरहा है । अतएव जहाँ प्राणविध द्यावापृथिव्य यज्ञ की तीन संस्था होतीं हैं, वहाँ प्राणीविध द्यावापृथिव्य यज्ञ की **पुरुष, योषारूप** से दो ही संस्थाएँ रह जातीं हैं । सम्भूय ३—२ क्रम से द्यावापृथिव्य यज्ञ की पाँच संस्था होजातीं हैं, जिनका कि पञ्चा-ग्निविद्या के द्वारा क्रमिक विश्लेषण हुआ है । एवं जिस विश्लेषण की **द्यु, अन्तरिक्ष, पृथिवी, पुरुष, योषा**, ये पाँच पृथक् पृथक् विधा हैं ।

(१) सर्वप्रथम क्रमप्राप्त 'द्यु-विधा' का ही समन्वय कीजिए। द्यु लोक अग्नि है, आदित्य समित् है, रश्मियाँ धूम है, अहःकाल अर्चि है, चन्द्रमा अङ्गार है, नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं इन्द्रज्येष्ठ देवदेवता स्वव्यापार से द्यु लोकाग्नि में 'श्रद्धा' रूप हविद्रव्य की आहुति देते हैं। आहुत श्रद्धातत्त्व, और आहुतिग्राहक अग्नितत्त्व, दोनों के अन्तर्याम (चिति) सम्बन्धात्मक रासायनिक उस सम्मिश्रण से—जिसमें दो के याग से दोनों के पूर्वस्यरूपोपमर्द्दन के द्वारा तीसरा अपूर्वभाव उत्पन्न होजाता है,—'सोम' नामक तत्त्वान्तर उत्पन्न होता है। श्रद्धातत्त्व का रूपान्तर यही सोम आन्तरिद्य यज्ञ में आहुतिद्रव्य बनने वाला है। सोमोत्पत्ति ही इस द्यु-यज्ञ का प्रधान फल है।

द्यु लोक लोक है, तत्र प्रतिष्ठित सौरप्राणाग्नि (सावित्राग्नि) लोकी है। सूर्य्यपिण्ड भूताग्नि है, पिण्ड केन्द्र को आलम्बन बनाकर सौर द्यु लोक की अन्तिम सीमा में व्याप्त रहने वाला प्राणाग्नि हीं देवाग्नि है। लोक–लोकी का अभेद मान कर ही यहाँ—"असौ वाव लोको गोतम ! अग्निः' यह कह दिया गया है।

भूताग्नि-पिण्डरूप आदित्य (सूर्य्यपिण्ड) प्रज्वलित सा दिखाई देता है। इसीसे आग्नेय बाष्पलक्षण 'धूम' का उदय होता है। इसी समिन्धन से सूर्य्यपिण्ड 'समित्' माना गया है।

जिसप्रकार प्रज्वलित समित् (काष्ठ) से धूम निकला करता है, एवमेव प्रज्वलित सूर्य्यपिण्डात्मक समित् को गर्भ बनाकर इससे चारों ओर रश्मियों का वितान होता है। रश्मियाँ आग्नेय बाष्प की प्रतिकृतियाँ हैं। अतएव इन्हें अवश्य ही 'धूम' कहा जासकता है।

जिसप्रकार धूम से युक्त समित् से निकलने वाली अग्निज्ज्वाला से चतुर्दिक् में ( चहुँ ओर ) प्रकाश होजाता है, एवमेव रश्मियुक्त सूर्य्य से निकलने वाली रश्मियों के सहस्रधा–वितान से सम्पूर्ण त्रैलोक्य प्रकाशित होपड़ता है। प्रकाश ही अर्चि [ज्वाला] है। यहाँ प्रकाशात्मक अहः ही 'अर्चि' है।

जबतक ज्वाला [अर्चि] बनी रहती है, तबतक समित् अङ्गाररूप में परिणत नहीं होता। ज्वाला के शान्त होजाने पर ही अङ्गार की अभिव्यक्ति होती है। तापलक्षणा वह ज्वाला यहाँ अहर्लक्षणा अर्चि [प्रकाश] है। जबतक यह रहती है, तबतक चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता [ अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु अभिभव रहता है ]। अहः के अन्तर्लीन होजाने पर चन्द्रमा उसी प्रकार अभिव्यक्त होजाता है, जैसेकि ज्वालोपशम पर अङ्गार अभिव्यक्त होजाता है। इसी सादृश्य से चन्द्रमा अङ्गार माना जासकता है। चन्द्रमा सोममय है। सोपमय चन्द्रमा की उत्पत्ति इसी दिव्य आदित्ययज्ञ से हुई है। इसलिए भी चन्द्रमा को आदित्ययज्ञ का अवयव माना जासकता है। चन्द्रमा का प्रकाशधर्म्म भी सौरप्रकाश का ही प्रवर्ग्यरूप है। प्रतिफलित सौर प्रकाश ही चान्द्रज्योति का जनक बनता है, जैसा कि—'इत्था चन्द्रमसो गृहे'–'तरणिकिरणसङ्गादेष पानीयपिण्डः–दिनकर-दिशिचञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इसलिए भी चन्द्रमा को अवश्यमेव आदित्ययज्ञावयव माना जासकता है।

'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार चन्द्रमा अप्पिण्ड है। नक्षत्र अप्तत्त्व के ही प्रवर्ग्यरूप हैं, अतएव इन्हें—'उडु' [ पानीयपिण्ड ] नाम से व्यवहृत किया जाता है। नाक्षत्रिक आप्यप्राण जहाँ गणात्मक है, वहाँ चान्द्रमस आप्यप्राण अतिष्ठावा है। अवयव, एवं अवयवी का

जो सम्बन्ध है, वही चन्द्रमा, और नक्षत्रों का सम्बन्ध है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, इन चारों प्रतिष्ठावा देवताओं के क्रमशः वसु-रुद्र-आदित्य-नक्षत्र, ये चार गणदेवता कहलाए हैं। जिसप्रकार अङ्गी अङ्गार से अङ्गात्मक विस्फुलिङ्ग विनिर्गत हैं, एवमेव अङ्गी आप्य चन्द्रमा से अङ्गात्मक आप्य नाक्षत्रिक तेज का विकास हुआ है। अतएव नक्षत्रों को अवश्य ही अङ्गार–चन्द्रमापेक्षया 'विस्फुलिङ्ग' कहा जासकता है।

पार्थिव, आन्तरिक्ष्य, दिव्य, इन तीनों में क्रमशः अग्नि, वायु, इन्द्र, इन तीन प्रतिष्ठावा देवताओं का प्रभुत्व है। अतएव पार्थिव देवताओं को आग्नेय, आन्तरिक्ष्य देवताओं को वायव्य, एवं दिव्य देवदेवताओं को ऐन्द्र कहा जासकता है। उक्त दिव्ययज्ञसंस्था में ये ऐन्द्रदेवता ही ऋत्विक् हैं, सूर्य्यकेन्द्रस्थ हिरण्यगर्भ–प्रजापति ही इस यज्ञ के यजमान हैं। दिव्य–ऐन्द्रदेवताओं के द्वारा श्रद्धातत्त्व की सावित्राग्नि में आहुति होरही है। इसप्रकार 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः' से यहाँ ऐन्द्र दिव्य देवता ही गृहीत हैं।

अत्र शेष रह जाता है केवल 'श्रद्धा' तत्त्व। पूर्वब्राह्मण–भाष्यों में अनेकधा श्रद्धा के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण किया जाचुका है। अतएव पिष्टपेषण अनावश्यक है। प्रकरणसङ्गति के लिए यह जान लेनामात्र ही पर्य्याप्त होगा कि, पारमेष्ठ्य अप्तत्त्वानुगत चान्द्रसोम से सम्बन्ध रखने वाला, 'ऋत् [सत्य]' को धारण करने वाला, मनोऽनुगत स्नेहतत्त्व ही 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा, रेतो, यशः' इन तीन चान्द्र-मनोताओं का क्रमशः वाङ्मय शरीर *, शुक्र, मन, इन तीन आध्यात्मिक पर्वों से सम्बन्ध है। तीनों हीं प्राकृतिक अनुग्रह हैं। जिन के मन, शुक्र, तथा शरीर में चान्द्र–श्रद्धा-रेत-यश का प्रकृत्या समावेश रहता है, वे ही श्रद्धालु, रेतोधा, एवं यशस्वी होते हैं।

मनोमयी श्रद्धा पितृप्राण की, शुक्रमय रेत मानव–प्राण की, एवं वाङ्मय यश वषट्कार के सम्बन्ध से देवप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। श्रद्धातत्त्वानुगत पितृकर्म्म इस श्रद्धातत्त्व के सम्बन्ध से ही 'श्राद्ध' कहलाया है। 'श्रद्धा वा आपः' [तै० ब्रा० ३।२।४।१]–के अनुसार श्रद्धा वास्तव में आपोमय तत्त्वविशेष ही है, जिसका उपलब्ध भाष्यों में तत्त्वदृष्ट्या समन्वय नहीं हुआ है। अप्तत्त्व श्रद्धा का प्रथम रूप है एवं सोमतत्त्व श्रद्धा का उत्तररूप है। 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' [ईशोपनिषत्]--'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' [गोपथ-ब्राह्मण] इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भृगुलक्षण स्नेहतत्त्व, एवं अङ्गिरालक्षण तेज, दोनों हीं 'आपः' हैं। अतएव आपोमयी श्रद्धा के लिए–'तेज एव श्रद्धा' [शत० ११।३।१।१।] यह भी कह दिया जाता है।

जबतक आपोमयी श्रद्धा परमेष्ठी में भुक्त है, तबतक यह श्रद्धा है। आदित्याग्नि में हुत होते ही आदित्याग्नि, तथा श्रद्धारस, दोनों के समन्वय से पूर्वस्वरूपोपमर्द द्वारा श्रद्धा 'सोम' रूप में परिणत होजाती है। आपोमयी श्रद्धा में आप्यप्राण की प्रधानता रहती है। परन्तु तद्रूपान्तरभूत सोम आप्यप्राण से सर्वथा

---

* 'यशः शरीरे भव मे दयालुः'—कविकुलगुरुः।

बहिष्कृत है । यह विशुद्ध देवान्न बन जाता है । यही द्यु लोकोपलक्षित-आधिदैविक यज्ञसंस्था के द्यु-पर्वात्मक प्रथमपर्व का संक्षिप्त निदर्शन है, जिसका निम्न लिखित श्रुति से स्पष्टीकरण होरहा है--

**द्यौः (१) "असौ वाव लोको गोतम ! अग्निः । तस्य आदित्य एव समित्, रश्मयो धूमः, अहरर्चिः, चन्द्रमा अङ्गाराः, नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति । तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति" । (दिव्ययज्ञः)**

* * * * *

[२]—दूसरा आधिदैविक यज्ञपर्व अन्तरिक्ष से सम्बन्ध रखता है । जिसप्रकार पृथिवी का अतिष्ठावा 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' के अनुसार 'अग्नि' है, द्यु लोकातिष्ठावा आदित्य [इन्द्र] है, एवमेव अन्तरिक्ष के अतिष्ठावा वायुदेवता माने गए हैं । इस वायुतत्त्व के अनेक विवर्त्त हैं । उनमें से **सोमतत्त्व का अनुयोगी, एवं वृत्रतत्त्वका प्रतियोगी**, आप्यप्राणानुगत वायुविशेष ही प्रकृत की अप्सृष्टि में अभिप्रेत है । वही आन्तरिक्ष्य वायुविशेष 'पर्जन्य' कहलाया है । यही उस द्यु लोकानुगत सोम को अपने गर्भ में रखने के कारण 'अग्नि' [आप्याग्नि] कहलाया है । आप्य अग्नि के सम्बन्ध से ही इसे-'पर्जन्यो वा अग्निः' [शत० १४।६।१।१३] इत्यादि रूप से अग्नि कहा गया है । वर्षा से पहिले जो सनसनाता हुआ **पूर्ववायु [पुरवाई हवा]** प्रवाहित होता है, वही 'पर्जन्य' कहलाया है । इसी अभिप्राय से पर्जन्य का 'क्रन्दतीव हि पर्जन्यः' [शत० ६।७।३।२] यह लक्षण किया गया है ।

अष्टमूर्त्ति शिवतत्त्व-परिभाषा में यही पर्जन्य 'भव' नाम से व्यवहृत हुआ है । पर्जन्य ही वृष्टि के द्वारा सर्वप्रपञ्च का प्रभव बनता है । अतएव 'पर्जन्याद्धीदं सर्वं भवति' के अनुसार अवश्य ही इसे 'भवः' कहा जासकता है [देखिए शत० ६।१।३।१५] । आप्य-अग्निलक्षण वायव्य तत्त्वात्मक पर्जन्य के उक्त वस्तुस्वरूपात्मक श्रौत निरूपण के विद्यमान रहते भी यदि इस का **'पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवताविशेषः' [शाङ्करभाष्य]** यह अर्थ किया जाता है, तो आश्चर्य इसलिए नहीं होता कि, देश का तत्त्वविज्ञान गत तीन सहस्राब्दियों से सर्वथा स्मृतिगर्भ में हीं विलीन रहा है । आप्यप्राणात्मक वायु [पर्जन्य] वृष्टि का उपकरण भी है, प्राणधर्म्मत्वेन इसे देवता भी कहा जासकता है । परन्तु यह **'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्'** वाला अभिमानी देवता तो नहीं है, जैसा कि-शतपथभाष्य-प्रथमवर्ष के **'अष्टविधदेवताविज्ञान'** प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है । अभिमानी देवता का सम्बन्ध एकमात्र उपासनाकाण्ड से ही माना गया है । कर्म्मकाण्डानुगत देवता का तो विशुद्ध तत्त्ववाद से ही सम्बन्ध है ।

जिसप्रकार द्यु लोकोपलक्षित आदित्याग्नि प्राणाविध था, एवमेव यह आन्तरिक्ष्य आप्यप्राणाग्नि [पर्जन्य] भी प्राणविध होने से देवाग्नि ही माना जयगा । **क्रन्दनधर्म्मा प्रत्यक्षानुभूत पुरोवात इसी पर्जन्य का भौतिकरूप माना जायगा** । यही भूतवायु प्राणात्मक पर्जन्यवायु का उत्तेजक बनता है, अतएव इसे पर्जन्याग्नि की समित् माना जासकता है ।

**पर्जन्याग्नि, भूतवायु आन्तरिक्ष्य अप्तत्त्व**, अग्निसम्बन्धेन उत्पन्न **बाष्प** [धूम], इन के समन्वय से ही **'अभ्र'** का स्वरूप सम्पन्न होता है । इन उपकरणों में **'बाष्प'** ही प्रधान है । अतएव तद्वादन्याय से

अभ्र को 'धूमात्मक' कह देना अन्वर्थ बन जाता है। यह बाष्प ऋतरूप से अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त है। पर्जन्यानुगत समिध-स्थानीय भौतिक वायु [मान्सून] के व्यापार से ही इतस्ततः ऋतरूप से बिखरे हुए बाष्प एकत्र पूञ्जीभूत होते हैं। वही वाष्पपुञ्ज 'अभ्र' कहलाया है, जिस की उत्तरावस्था मेघ कहलाई है। क्योंकि समित् से धूम का निर्गम होता है, इधर समिल्लक्षण भूतवायु ही वाष्पपुञ्ज का जनक [संग्राहक] है। इसलिए भी अभ्र को धूम कहा जासकता है।

आन्तरिक्ष्य-ज्योति विद्युत् है। यही पर्जन्याग्नि की अर्चि [प्रकाश] है। अतएव अवश्य ही विद्युत् को आन्तरिक्ष्याग्नि-ज्वालारूप अर्चि कहा जासकता है। वज्र अङ्गार हैं, गर्ज्जन तर्ज्जन विस्फुलिङ्ग हैं, जैसाकि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

एवंविध पर्जन्याग्नि में आन्तरिक्ष्य वायव्य-देवताओं के द्वारा सोम की आहुति होती है। पर्जन्याग्नि, सोम, दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से ही 'वृष्टि' का प्रादुर्भाव हुआ है। यही आधिदैविक यज्ञ की दूसरी विधा है, जिस का कि निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है।

अन्तरिक्षम् (२) "पर्जन्यो वाव गौतम! अग्निः। तस्य वायुरेव समित्, अभ्रं धूमः, विद्युदर्चिः, अशनिरङ्गाराः, ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवति" (आन्तरिक्ष्ययज्ञः)।

* * * *

[३]—पिण्डात्मिका [भूतात्मिका] पृथिवी 'भूमि' कहलाई है, एवं महिमात्मिका [प्राणात्मिका] पृथिवी 'पृथिवी' कहलाई है। भूपिण्ड के आधार पर वितत प्राणाग्नि ही प्रकृत में 'पृथिवी' शब्द से गृहीत है। यही प्राणाग्नि पार्थिव भौतिक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा बनता है। यही भौतिक यज्ञ की योनि है, जिस के लिए—'अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य' यह कहा जाता है।

भूपिण्डानुगत प्राणाग्नि भूकेन्द्र से निकल कर १७ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहता है, जैसा कि पूर्व के-'सप्तदशो वै प्रजापतिः' इत्यादि निगदव्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। सदप्तश अहर्गणात्मक आग्नेय मण्डल ही वह पार्थिव सम्वत्सर है, जिस का सौर सावित्रप्राणाग्निमण्डलरूप दिव्य सम्वत्सर के साथ १७ वें अहर्गण में अतिमान होरहा है। सप्तदशबिन्दु ही उभयसम्वत्सर की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। यह सम्वत्सरमण्डल वाङ्मय है। वाक्तत्त्व ही भूतविवर्त्त का जनक क्षर तत्त्व है। अतएव प्राणाग्नि जहाँ देवाग्नि कहा जा सकता है, वहाँ वागग्निरूप सम्वत्सर को भूताग्नि कहा जासकता है। इसी पूर्वसमतुलन से सम्वत्सर-मण्डल इस पार्थिव प्राणाग्नियज्ञ की समित् माना जासकता है।

परमाकाश, पुराणाकाश, शरीराकाश, दहराकाश, [दभ्राकाश], इत्यादि भेद से आकाश के अनेक विवर्त्त माने गए हैं। स्वायम्भुव परमेव्योमन् ही परमाकाश है। सौरमण्डल [सौररोदसीत्रैलोक्य] से सम्बन्ध रखने वाला अर्णवसमुद्रावच्छिन्न आकाश ही पुराणाकाश है। शरीर एवं दहराकाश आध्यात्मिक आकाश है। पुराणाकाशलक्षणा सौरी त्रिलोकी में पार्थिवाकाशलक्षण सम्वत्सरमण्डल प्रतिष्ठित

है। सम्वत्सर के **अग्न्यात्मक, कालात्मक, वयोनाधात्मक,** भेद से तीन विवर्त्त हैं। अग्न्यात्मक सम्वत्सर तो समित् है। कालात्मक सम्वत्सर भातिसिद्ध बनता हुआ व्यवहार की प्रतिष्ठा बन रहा है। वयोनाधात्मक सम्वत्सर ही पार्थिव आकाश है। वाक्परिमाणात्मिका सम्वत्सरमण्डलसीमा ही वयोनाधात्मक सम्वत्सर है। यही व्योमात्मक सम्वत्सर कहलाया है, जैसा कि—'**व्योमा हि सम्वत्सरः** [शत० ८।४।१।११] इत्यादि वचन से प्रमाणित है। भूपृष्ठपर प्रतिष्ठित अस्मदादि पार्थिव प्रजावर्ग जिस आकाश का साक्षात्कार किया करते हैं, वह यही **पार्थिवाकाश है,** जिस का वाह्य स्वरूप पार्थिवाग्नि से उत्थित बाष्प से ही निष्पन्न हुआ है। इसी बाष्प के सम्बन्ध से आकाश को प्रकृत भूतयज्ञ का '**धूम**' माना जासकता है।

सौर दिव्याग्नि ज्योतिर्म्मय है। वही '**यज्ञो ह देवेभ्यो अपचक्राम। स कृष्णो भूत्त्वा चचार**' इत्यादि सिद्धान्तानुसार प्रवर्ग्य के सम्बन्ध से पार्थिवजगत् में भुक्त होता हुआ कृष्णरूप में परिणत होरहा है। अहःकाल में पार्थिवसंस्था जहाँ सौर ज्योतिष्मान् सावित्राग्नि से अनुगृहीत रहता है, वहाँ रात्रि में पार्थिव कृष्णाग्नि का स्वाभाविक विकास रहता है। अतएव कृष्णभावात्मिका तमोमयी रात्रि ही इस पार्थिव यज्ञाग्नि की '**अर्च्चि**' मानी गई है। अग्नि के अनुरूप ही तो अर्च्चि होती है। पार्थिव अग्नि यदि कृष्ण है, तो तद्विकासात्मिका कृष्णा रात्रि भी अवश्य ही **कृष्णाग्नि की कृष्णार्चि है।**

रात्रिरूपीणि अर्च्चि जबतक रहती है, तबतक दिशाओं का बोध नहीं होता। रात्रि के अवसान पर ही दिशाएँ परिज्ञात होतीं हैं। अर्च्चि के अवशान्त होने से ही तो अङ्गार का जन्म होता है। इसी समतुलन से दिशाओं को अङ्गार माना जा सकता है। अङ्गार अवयवी है, तो विस्फुलिङ्ग अवयव हैं, अनेक हैं, सर्वतो व्याप्त हैं। "**सर्वत इव हीमा अवान्तरदिशः**" ( शत० २।६।१।११ ) के अनुसार सभी प्रान्त अवान्तर दिशाएँ हैं। इसी समतुलन से अवयवात्मिका अवान्तर दिशाओं को '**विस्फुलिङ्ग**' माना जासकता है।

उक्त परिग्रहों से युक्त पार्थिव अग्नि में पार्थिय आग्नेय देवताओं के द्वारा वृष्टि की आहुति होती है। पार्थिव मृण्मय भूताग्नियुक्त **प्राणाग्नि,** तथा **आन्तरिक्ष्य वृष्टि ( जल ),** दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से **व्रीहि–यवादि लक्षण 'अन्न'** उत्पन्न होता है। यही मध्यस्थ आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ की मात्र एक विधा है, जिसका यों विश्लेषण हुआ है—

**पृथिवी-(३)–"पृथिवी वाव गौतम ! अग्निः। तस्याः सम्वत्सर एव समित्, आकाशो धूमः, रात्रिरर्चिः, दिशोऽङ्गाराः, अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति। तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति"।**

( पार्थिवयज्ञः )।

* * * *

(४)—द्विविध आधिदैविक यज्ञ, तथा एकक आधिभौतिक पार्थिव यज्ञ के उक्त स्वरूप–विश्लेषण के अनन्तर आधिदैविक आधिभौतिक यज्ञ से कृतरूप आध्यात्मिक यज्ञ के **वृषालक्षण पुरुषयज्ञ–विवर्त्त** का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि, हे गौतम ! पुरुष निश्चयेन ( इस आध्यात्मिक यज्ञ का ) अग्नि है।

यहाँ 'पुरुष' शब्द से वह आध्यात्मिक षडङ्ग वैश्वानर अग्नि ही अभिप्रेत है, जो सम्पूर्ण प्राणीवर्ग की प्रतिष्ठा बना हुआ है। एवं जिसका 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः' ( गीता १५।१४। ) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। पञ्चाग्निविद्योपक्रम में यह स्पष्ट किया गया है कि, यह यज्ञ प्राणयज्ञ, प्राणीयज्ञ, भेद से दो भागों में विभक्त है। पार्थिव प्राण अपान है, आन्तरिक्ष्य प्राण व्यान है, दिव्यप्राण प्राण है। दिव्यप्राणलक्षण प्राण, पार्थिव अपानलक्षण प्राण, इन दोनों प्राणापानों से मध्यस्थ व्यानलक्षण आन्तरिक्ष्य प्राण का उसीप्रकार ग्रहण होजाता है, जैसे कि 'द्यावापृथिवी' शब्द से द्यु-पृथिवी के मध्यस्थ आन्तरिक्ष का 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' न्याय से ग्रहण होजाता है।

पार्थिव अपानाग्नि पार्थिव नर ( नायक-अध्यक्ष ) है, आन्तरिक्ष्य वायव्याग्नि आन्तरिक्ष्य नर है, दिव्य प्राणाग्नि दिव्य नर है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, तीनों लोकों के अपानात्मक अग्नि, व्यानात्मक वायु, प्राणात्मक आदित्य, तीनों नरों के पारस्परिक अन्तर्य्याम सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला, केश-लोम-नखाग्र-भागों को छोड़कर ( आ लोमभ्यः, आ नखाग्रेभ्यः ) सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहने वाला तापधर्म्मा आध्यात्मिक अग्नि ही 'वैश्वानर' कहलाया है। इस की आध्यात्मिक-षडङ्गता को लक्ष्य में रखकर ही श्रुति ने कहा है-'षड्विधो वै पुरुषः (वैश्वानरः) षडङ्गः' (ऐत० ब्रा० २।२६।)।

वैश्वानरलक्षण आध्यात्मिक षडङ्ग अग्नि में क्योंकि त्रैलोक्याग्नि का समावेश है, अतएव इसके लिये-'वैश्वानरो वै सर्वे अग्नयः' ( शत० ६।२।१।३५ ) यह कहा जाता है। शरीर में मस्तक भाग द्युलोक है, नाभि-पर्य्यन्त भाग अन्तरिक्ष है, गुद—नाभ्यन्तर भाग पृथवी-लोक है, और यही आध्यात्मिक-त्रैलोक्य है। इन तीन लोकात्मक तीन पुरों की समष्टिरूप शरीरपुर में सीमित रहने से ही—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो--यत् पुरुषः' ( शत० १०।६।१।११ ) यह लक्षण किया जाता है। महद्योनि के भेद से प्रत्येक अध्यात्मसंस्था [ प्राणिशरीर ] का वैश्वानर पृथक्-पृथक् शरीराकारों में विभक्त होता हुआ पृथग्वर्त्मा बना हुआ है, जैसा कि—'एष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानरः' [ शत० ब्रा० १०।६।१।७ ] इत्यादि वचन से प्रमाणित है। एवंविध सर्वाग्नि [ लोकत्रयाग्नि ] लक्षण इस आध्यात्मिक अग्नि के उक्त 'वैश्वानर'-'पुरुष'-भावों का ही निम्न लिखित वचनों से स्पष्टीकरण होरहा है—

(१)—"स यः स वैश्वानरः-इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वं, अग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्वं, वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वं, आदित्यो नरः। ( विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातोऽग्निर्वैश्वानरः )" ( शत० ६।३।१।३ )।

(२)—"इमे वै लोका पूः। अयमेव पुरुषः, योऽयं पवते। सोऽस्यां पुरि शेते, तस्मात् पुरुषः" ( शत० १३।६।२।१ )।

(३)—"प्राण एष स पुरि शेते। तं पुरि शेते-इति पुरिशयं सन्तं प्राणं 'पुरुष' इत्याचक्षते ( परोक्षम्। परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः" )—गो०ब्रा०पू० १।३९।

पाञ्चभौतिक शरीर चित्याग्निमय है, भूताग्निमय है। यही वाङ्मय अग्नि है। यही शरीरपरिच्छिन्न वैश्वानर नामक पुरुषाग्नि की समित् है। इसी शरीरपुरुषरूप वागग्नि [ शरीर ] से यह समिद्ध रहता है। श्वासप्रश्वासात्मक प्राण ही इस समिद्ध शारीराग्नि से अजस्ररूप से निकलने वाला धूम है। जिह्वोपलक्षित ध्वन्यात्मक शब्द ही [ वैखरीवाक् ही ] इस की अर्चि है। आदित्यप्राणात्मक चक्षु ही अन्धकार में अङ्गारवत् प्रतीयमान [ जिस स्थिति का पशुओं की आखों में रात्रि में प्रत्यक्ष किया जासकता है ] चक्षु ही अङ्गार है। वागग्निविकारभूत शब्दश्रुति का अधिष्ठाता श्रोत्र ही विस्फुलिङ्ग है। ऐसे इस आध्यात्मिक पुरुषाग्नि में आध्यात्मिक इन्द्रियदेवताओं के द्वारा वर्षाविकारभूत अन्नलक्षण हविर्द्रव्य की आहुति होती है। भुक्तान्न रस-मल के क्रमिक विशकलन से क्रमशः रस, असृक्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, इन धातुरूपों में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्त्वा रेतोरूप में परिणत होजाता है। यही आध्यात्मिक यज्ञ की प्रथमा विधा है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है।

**पुरुषः ( वृषा )-४--"पुरुषो वाव गौतम ! अग्निः। तस्य वागेव समित्, प्राणो धूमः, जिह्वा अर्चिः, चक्षुरङ्गाराः, श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति। तस्या आहुते रेतः सम्भवति" ( वृषायज्ञः )।**

* * * *

(५)—आध्यात्मिकयज्ञ का दूसरा पर्व है—योषा-यज्ञ। वृषाप्राण जहाँ पुरुषसर्ग की प्रतिष्ठा है, वहाँ योषाप्राण 'स्त्रीसर्ग' की प्रतिष्ठा बनता है। वृषाप्राण आग्नेय है, योषाप्राण सौम्य है। आग्नेय वृषा का दृश्य सौर अर्द्धाकाश से सम्बन्ध है। एवं सौम्या योषा का अदृश्य चान्द्र अर्द्धाकाश से सम्बन्ध है। योषाप्राणात्मिका स्त्री के शोणित मे प्रतिष्ठित अग्नितत्त्व ही योषा-यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा है। गर्भाशयगत शोणित में प्रतिष्ठित माङ्गलिक [ मङ्गलग्रहप्राणात्मक ] आग्नेयप्राण ही इस यज्ञ का आहुतिग्राहक अग्नि है। इस योषाग्नि का उत्तेजक उपस्थ ही समित् है, उपस्थ-समित् के संयोग से उत्पन्न योषाग्नि-क्षोभ ही धूम है। अन्तस्थ रक्तवर्ण-कन्दल योनि है, यही अर्चि है। इत्यादि लक्षण इस योषाग्नि में पुरुषशरीरस्थ प्राणदेवताओं के द्वारा रेत की आहुति होती है। यही हुत रेत कालान्तर में गर्भरूप में परिणत होजाता है। पञ्चपर्वात्मक यज्ञ के इसी अन्तिम आध्यात्मिक यज्ञपर्व का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है--

स्त्री-( योषा )-५—**"योषा वाव गौतम ! अग्निः। तस्या उपस्थ एव समित्। यदुपमन्त्रयते, स धूमः। योनिरर्चिः। तदन्तः करोति, तेऽङ्गाराः। अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति। तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति"। छान्दोग्योपनिषत्-५ प्र० ।४,५,६,७,८ खण्डाः।**

* * * *

उक्त **'पञ्चाग्निविद्या'**-त्मक पञ्चपर्वात्मक यज्ञ का निष्कर्ष यही हुआ कि, द्युलोकोपलक्षित आदित्याग्नि, अन्तरिक्षलोकोपलक्षित वायव्य पर्जन्याग्नि, भूलोकोपलक्षित पार्थिव अग्नि, पुरुषात्मक वृक्षालक्षण वैश्वानराग्नि [ शरीराग्नि ], योषाप्राणात्मक रक्ताग्नि, इन पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, रेत, इन पाँच हविर्द्रव्यों की आहुति होती है । वही श्रद्धालक्षण आपः ( अप्तत्त्व ) उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित अग्निसम्बन्ध में सोम-वृष्टि-अन्न-रेतोरूप में परिणित होता हुआ अन्तिम पाँचवीं रेतो आहुति से पुरुषस्वरूप ( गर्भस्वरूप ) का आरम्भक [उपादान] बन रहा है । इसीलिए यह निश्चयेन कहा जासकता है कि--

"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"

१-१-(१) द्यौः ----आदित्यः (असौलोकः)—श्रद्धा } —आधिदैविकयज्ञः } —प्राणयज्ञः
२-२-(२) अन्तरिक्षम्—वायुः (पर्जन्यः)——सोमः

३-३-(१) पृथिवी----अग्निः (पृथिवी)---वृष्टिः ]--आधिभौतिकयज्ञः

४-१-(१) वृषा---वैश्वानरः (पुरुषः)——अन्नम् } —आध्यात्मिकयज्ञः ]—प्राणियज्ञः
५-२-(२) योषा—-माङ्गलिकः (योषा)——रेतः

} पञ्चाग्नियज्ञः

पञ्चाग्निविद्यात्मक पञ्चयज्ञ के द्वितीय यज्ञपर्व को [ पर्जन्ययज्ञ को ] सोमाहुति के द्वारा वृष्टि का प्रवर्त्तक बतलाया गया है, जो कि--**'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति'** इत्यादि पूर्वोक्त तृतीय-दृष्टिकोण से सर्वथा विरूद्ध पड़ता है । पार्थिव अग्नि पार्थिवपानी को बाष्परूप में परिणत कर आन्तरिक्ष्य वायुधरातल में सञ्चित कर देता है । अग्नि के द्वारा वायु के गर्भ में सञ्चित वही पार्थिव पानी कालान्तर में बरस पड़ता है । यह कथन अवश्यमेव उक्त पर्जन्ययज्ञमीमांसा का प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होरहा है ।

'श्रद्धा सोमरूप में, सोम पर्जन्याग्नि में आहुत होकर वृष्टिरूप में परिणित होता है ।' अवश्यमेव यह सिद्धान्त तृतीय-दृष्टिकोण में व्याघात उत्पन्न कर रहा है । कौनसा सिद्धान्त प्रामाणिक माना जाय ?, जबकि दोनों हीं श्रुति-सम्मत सिद्धान्त हैं ? आर्षसम्प्रदाय उत्तर देती है—**जहाँ श्रौत-सिद्धान्तों में हीं परस्पर विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ दोनों हीं प्रमाण हैं"** । इसलिए कि, यह विरोध केवल स्थूलदृष्टि से ही सम्बन्ध रखता है । तत्त्वदृष्टि के आधार पर जब समन्वय किया जाता है, तो विरोध का सर्वथा उन्मूलन होजाता है । केवल निरूपणीया शैली के भेद से विरोध की प्रतीतिमात्र ही होती है । वस्तुतः विरोध है नहीं । सृष्टिक्रमारम्भविज्ञानदृष्टि से जहाँ पर्जन्ययज्ञानुगत वृष्टिसिद्धान्त प्रामाणिक है, वहाँ स्थितिक्रमानुगता विज्ञानदृष्टि से 'अग्निर्वा०' इत्यादि तृतीय दृष्टिकोण सुसमन्वित है ।

सृष्टिक्रम से सम्बन्ध रखने वाली पञ्चाग्निविद्या में अधिदैवत--अधिभूत--अध्यात्मरूप से जिस पञ्चपर्वात्मक यज्ञ का विश्लेषण हुआ है, उसीका एतरेय आरण्यक में उक्थविद्या के रूप से उपबृंहण हुआ है। वहाँ योषात्मक पाँचवें पर्व को छोड़ दिया गया है। केवल आरम्भ के प्राणयज्ञात्मक पृथ्वी--अन्तरिक्ष-द्यौः-- इन तीन पर्वों का, एवं चौथे पुरुष पर्व का संग्रह करते हुए पुरुषयज्ञ[प्राणीयज्ञ] में तीनों प्राणयज्ञों का समन्वय बतलाया गया है–[देखिये–ऐत० आ० २ आ०। १ आ० २ खं०]। इसी उक्तविद्या का आगे जाकर तृतीय खण्ड में रेतसः सृष्टिरूप से जो विश्लेषण हुआ है, वह अपना एक स्वतन्त्र ही दृष्टिकोण रख रहा है। वहाँ दूसरे ही क्रम से सृष्टियज्ञ का विश्लेषण हुआ है। देखिए !

"अथातो रेतसः सृष्टि—प्रजापते रेतो देवाः, देवानां रेतो वर्षं वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतोऽन्नं, अन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः, प्रजानां रेतो हृदयं, हृदयस्य रेतो मनः, मनसो रेतो वाक्, वाचो रेतः कर्म्म। तदिदं कर्म्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः"—( ऐत० आ०। १ अ०। ३ खं० )।

उक्त सम्पूर्ण दृष्टिकोणों के वैज्ञानिक–समन्वय के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि,–पार्थिव सत्याग्नि, आन्तरिक्ष्य सत्य वायु, दिव्य सत्येन्द्र, पर्जन्य ऋत वायु, सोम, सूर्य्यरश्मियाँ, पुरोवात, अभ्र, विद्युत, स्तयिनत्नु, आदि आदि उत्पादन-निमित्त-कारणों के समन्वय से ही वृष्टि होती है। निम्न लिखित श्रौत--स्मार्त्त वचन वृष्टि के उक्त कारणों का हीं समर्थन कर रहे हैं—

१—'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति'—अग्निः–सत्यम्—पार्थिवाग्निः
२—'वायुर्वै वृष्टया ईशे'———वायुः--सत्यम्—वायव्याग्निः
३—'आदित्याज्जायते वृष्टिः'——आदित्यः–सत्यम्––सावित्राग्निः
४––'पार्जन्यं वर्षासु यजते'––––––पर्जन्यः–ऋतम्––आप्याग्निः
५—'सोमाहुतेर्वर्षं सम्भवति'–––सोमः--ऋतम्–––चन्द्रसोमः
६––'रश्मिभिर्वर्षं समदधात्----------रश्मयः--सत्यम्---प्राणाग्निः
७---'पुरोवातं ससृजिरे'------------पुरोवातः--ऋतम्---वातवायुः
८---'अभ्राद् वृष्टिः'-------अभ्रम्--ऋतसत्यम् अग्निः-वाय्वादित्यपर्जन्यादिसंघातः
९---'वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव'----------विद्युत्--ऋतसत्यम्--ज्योतिरग्निः
१०---'स्तनयित्नुर्घोषोन्वसृज्यत'--------स्तनयित्नुः–सत्यम्-शब्दाग्निः

ऋक्संहितान्तर्गत 'अस्य वामीयसूक्त' के तीन मन्त्रों का वृष्टिविद्या के साथ विशेष सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त कृष्णयजुःसंहिता का 'कारीरिष्टि' प्रकरण भी अंशतः वृष्टिविद्या पर प्रकाश डाल रहा है। एवमेव शतपथ–गोपथ–ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के छान्दोग्य–बृहदारण्यकादि उपनिषदों के तत्तद्विशेष

स्थलों में भी प्रकीर्णकरूप से इस विद्या का स्पष्टीकरण हुआ है। वेदशास्त्रप्रतिपादित सभी विद्याओं के, तत्त्व-विज्ञानों के सम्बन्ध में यही एक ऐसी विप्रतिपत्ति है, जिसके कारण उन विद्याओं का हम भलीभाँति तबतक समन्वय नहीं करपाते, जबतक कि उन प्रकीर्णक-प्रकरणों का एकत्र समन्वय नहीं कर लिया जाता। यह समन्वय निश्चयेन महासमारम्भ-सापेक्ष है। अनन्यनिष्ठा से सम्पूर्ण वेदशास्त्र को जबतक लक्ष्य नहीं बना लिया जाता, तबतक उन प्रकीर्णक विषयों का संग्रह असम्भव है। एवं जबतक उनका संग्रह नहीं होजाता, तबतक तद्विद्याओं का आनुपूर्वी से परिज्ञान असम्भव है।

अवश्य ही उक्त जटिलता के निराकरण के सम्बन्ध में पुरायुग में **'रहस्य, निगद, गाथा, कुम्ब्या'** आदि जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ रहे होंगे, जिनमें उन प्रकीर्णक भावों का, विद्याओं का एकत्र संग्रह रहा होगा। परन्तु दुर्भाग्य से आज तो वे रहस्यात्मक परिभाषाग्रन्थ हमारे दृष्टिपथ से सर्वथा विस्मृत होचुके हैं। यही वेदार्थ की एक वैसी महती जटिलता है, जिसका निराकरण दो--चार व्यक्तियों के स्वल्पज्ञान से कथमपि सम्भव नहीं। होना यह चाहिए कि, बहुसंख्या में योग्य विद्वान् उपलब्ध मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र-ग्रन्थों के तत्तत्--विद्या-प्रतिपादक तत्तन्निगदों का पृथक पृथक रूप से संग्रह करें। सबका एकत्र संग्रह करते हुए उनका समन्वय करें। इत्थंभूत महाआरम्भ प्रयास से अवश्य ही इस दिशा में उक्त जटिलता दूर की जासकती है।

उदाहरण के लिए वृष्टिविद्या को ही लीजिए। अस्यवामीयसूक्त के ५२ मन्त्रों में से केवल ३ मन्त्र ऐसे है, जिनसे वृष्टिविद्या के कुछ एक सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है। वे तीनों मन्त्र भी एक साथ पठित नहीं है। अपितु तीनों का क्रमशः ३६-४७-६१ यह संख्या क्रम है। यही स्थिति अन्य स्थलों की है। यही वह जटिलता है, जिसके निग्रह से प्रकृत ब्राह्मण के प्रत्येक प्रकरण में हमें अनावश्यक विस्तारदोष, पुनरुक्तिदोष का का विवश होकर अनुगमन करना पड़ रहा है। परिणाम--स्वरूप पाठकों के लिए हमारा यह अव्यवस्थित प्रयास सुविधा के स्थान में जटिलता का ही जनक बनता जारहा है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से इससे अधिक क्या निवेदन कर सकते हैं कि, जबतक देश के विद्वान् सम्मिलितरूप से उक्त पद्धति के अनुसार वेदार्थ का समन्वय नहीं कर लेंगे, तबतक एक दो व्यक्तियों की स्वल्प-शक्ति मात्र के आधार पर इस दिशा में सफलता प्राप्त कर लेना तो असम्भव ही होगा।

हमारे ये अव्यवस्थित प्रकरण तो केवल यही पुरुषार्थ करसकते हैं कि, जिनकी दृष्टि में भारतीय शास्त्र केवल शब्दजाल है, वे यह अनुभव करने लगें कि, **वेदशास्त्र एक विज्ञानशास्त्र है, एवं उसमें प्रतिपादित विद्याएँ प्राकृतिक नित्यविज्ञानों का ही विश्लेषण कर रही हैं**। जिन कतिपय प्रतीच्य विद्वानों की बाह्यदृष्टि में भारतीय शास्त्र अधिक से अधिक **'आत्मवाद'** का समर्थक है, तदनुयायी उच्छिष्टभोगी अर्वाचीन जो प्राच्य विद्वान् अपनी निधि के वास्तविक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहते हुए इसके प्रति न केवल उदासीन ही हैं, अपितु इसका उपहास करना भी जिनके जीवन का एक प्रधान पुरुषार्थ बना हुआ हैं, अवश्य ही उनकी भ्रान्ति का ये अव्यवस्थित प्रकरण भी सर्वात्मा नहीं, तो अंशतः तो निराकरण कर हीं सकेंगे। एकमात्र इसी लक्ष्य से जानबूझ कर ही इस पद्धति का अनुगमन करना हमने श्रेयःपन्था समझा है। **जिन्हें वस्तुगत्या वेदेदविद्या का रहस्यज्ञान प्राप्त करना है, उनसे तो हम यही निवेदन करेंगे कि, वे त्वक्षिण-कण्डु मिटाने वाले हमारे इन प्रस्तुत प्रयासों को एक ओर रखते हुए आनुपूर्वी से स्वयं मूलग्रन्थों को ही अपने स्वाध्याय का विषय बनावें**। इस प्रासङ्गिक निवेदन के साथ ही वृष्टिविद्या के प्रकीर्णक अंशों का दिग्दर्शन कराने वाले निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरहे हैं---

१—सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोतिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्म्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः ॥
—ऋक्सं० १।१।६४।३६।

२—कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ।
—ऋक्सं० १।१।६४।४७

३—समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥
—ऋक्सं० १।१।६४।५१

थोड़ी देर के लिए यह मान लीजिए कि, आकाशस्थ मेघों से भूपिण्ड पर जो पानी बरसता है, वह वस्तुतः पृथिवी की ही देन है। अग्निगर्भ--भूपिण्ड के केन्द्र से अङ्गिरोऽग्नि ( प्राणाग्नि ) द्युलोक (आकाश) की ओर निरन्तर जाया करता है, यह प्रकरण के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जाचुका है। **'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति'** सिद्धान्त इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। इसप्रकार पार्थिव **जलमात्रा ( समुद्र, नद, नदियाँ, कूप, वापी, तड़ाग, ओषधि--वनस्पित, पार्थिव प्राणीशरीर आदि आदि में रहने वाली जलमात्रा )** ऊपर की ओर जाते हुए अङ्गिरोऽग्नि के सम्बन्ध से वाष्परूप में परिणत होकर ऊपर की ओर जाया करती है। इसप्रकार पार्थिव अग्नि पार्थिव जलमात्रा को द्युलोक की ओर लेजाने में एक निमित्त बना हुआ है।

दूसरा निमित्त है—**'वायु'**। पार्थिव मृण्मय परमाणुओं का गुरुत्वाकर्षण भूपिण्ड के जिस नियमित ऊर्ध्वप्रदेश पर्य्यन्त व्याप्त रहता है, वहाँतक तो पार्थिव अग्नि हीं पार्थिव जलमात्रा को ऊपर खेंच लेजाता है। ज्यों ज्यों जलमात्रा ऊपर चढ़ने लगती है, त्यों त्यों वह पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होती जाती है। पार्थिवाकर्षण से विमुक्ता यही जलमात्रा **'बाष्प'** है। उधर आन्तरिक्ष्य वायु भी एक प्रकार का बाष्प ही है। आगे जाकर जलमात्रा के ऊर्ध्वगमन का प्रेरक यही **'बाष्प—वायु'** बनता है। पृथिवी से द्युलोक पर्य्यन्त सप्तविध सूर्य्यनाडियाँ वितत हैं। यही **'महापथ'** कहलाया है। नाड़ीरूप इसी महापथ से सौर पदार्थों का प्रवर्ग्यभाग पृथिवी में, एवं पार्थिव पदार्थों का प्रवर्ग्यभाग सूर्य्य में मुक्त होता रहता है। यह नाड़ीमार्ग उभय प्रजापतियों के विस्रस्त भाग की पारस्परिक आदान–प्रादान के द्वारा पूर्त्ति किया करता है। **सौरपदार्थ, पार्थिवपदार्थ,** दोनों हीं गतिशून्य हैं। इन का गमनागमन होता है नाड़ीमार्ग से ही, परन्तु निमित्त बनता है—**'वायु'**। **'सदागति मातरिश्वा'** नामक वायु ही अपने गतिधर्म्म से दोनों का संवाहक बनता है। दूसरे शब्दों में—वायु—धरातल पर प्रतिष्ठित होकर ही जलमात्रा नाड़ीमार्ग से द्युलोक की ओर जाती है।

तीसरा निमित्त है—**'सूर्य्यरश्मियाँ'**। सूर्य्यरश्मियाँ पार्थिव तत्त्वों का निरन्तर आदान किया करतीं हैं। इस आदानधर्म्म से ही सूर्य्यसंस्था में भुक्त **इन्द्र--धाता--भग--पूषा--**आदि १२ सौर प्राण **'आदत्ते-आददानाः'**

÷ इत्यादि निर्वचनों से 'आदित्य' कहलाए हैं । सर्वरसादानत्त्व ही आदित्य का आदित्यत्त्व * है। आदित्यरश्मियाँ हीं नाड़ी हैं। नाड़ी-रूप रश्मियाँ भूपृष्ठ पर संलग्न होतीं हैं । अपने स्वाभाविक सत्यधर्म्म के कारण ऋतधर्म्मात्मक जलादि की भाँति इतस्ततः न जाकर ये रश्मियाँ उसी नियत मार्ग से वापस द्युलोक की ओर लौट जातीं हैं। आता हुआ रश्म्यवच्छिन्न सौरतेज जहाँ 'सावित्री' कहलाया है, वहाँ प्रतिफलित, साथ ही पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि से समवेत वही सौरतेज 'गायत्री' कहलाया है । प्रतिफलित इस गायत्रतेज में पार्थिव अग्नि, आन्तरिक्ष्य, वायु, पार्थिवरसमात्रा, तीनों प्रतिष्ठित होजाते हैं। अतएव कहा जासकता है कि, पार्थिवाग्नियुक्त वायु के संयोग से रश्मिरूप नाड़ीमार्ग के द्वारा पार्थिव जलमात्रा द्युलोक की ओर जारही है। इसी दृष्टि से रश्मि की अपेक्षया 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' कहा जासकता है। पार्थिवाग्न्यपेक्षया 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' कहा जासकता है। एवं आन्तरिक्ष्य वाय्वपेक्षया-'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे' यह कहा जासकता है। तीनों हीं वचन तत्तदपेक्षया सुसमन्वित हैं। नाड़ी (रश्मि) एवं अग्निप्राणयुक्त वायु से सम्बद्ध इसी वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए हमारा + भौतिक विज्ञानशास्त्र कहता है—"नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् (अपाम्)। नोदनापीड़नात्, संयुक्तसयोगाच्च" (वैशेषिक दर्शन-५।२।५,६ सू०)।

'नाड्यो वायुसंयोगात्' आरोहित पार्थिव जल से सम्बन्ध रखने वाली वृष्टिविद्या के गमन, स्थिति, वर्षण, ये तीन अधिकरण माने जासकते हैं । यहाँ से पानी जाकर वहाँ पहुँचा, यही पहिला गमन-अधिकरण है, जिसे 'गर्भाधानकाल' भी कहा जासकता है। वहाँ पहुँच कर पानी नियत समय पर्य्यन्त द्युलोकस्थ वायुधरातल पर ठहर गया, यही दूसरा स्थित्यधिकरण है, जिसे 'दोहदकाल' भी कहा जासकता है। नियत समयानन्तर पानी पुनः बरस पड़ता है, यही तीसरा वर्षणाधिकरण है, जिसे 'प्रसवकाल' भी कहा जासकता है । इसप्रकार गर्भ, दोहद, प्रसव, भेद से यह वृष्टिकर्म्म त्रिपर्वा बन रहा है। पूर्वोद्धृता ऋङ्मन्त्रत्रयी से वृष्टिकर्म्म के इन्हीं तीनों पर्वों का स्पष्टीकरण हुआ है, जिसके तात्त्विक समन्वय के लिए खगोल से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक ब्राह्मपरिभाषाओं का ही स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा।

सदा सर्वदा ही पार्थिवाग्नि-रश्मियाँ ऊपर की ओर जातीं रहतीं हैं। वायु भी सदा ही प्रवाहित है। फलस्वरूप पार्थिवरस-मात्राओं का भी सदा ही ऊर्ध्वगमन सिद्ध है। और इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता

---

÷-इन्द्रो-धाता-भगः-पूषा-मित्रोऽथ-वरुणोऽर्य्यमा।
अंशु-र्विवस्वान्-त्वष्टा च-सविता-विष्णुरेव च ॥

* "स प्राणमेवाग्नेरादत्त, रूपमेव वायोरादत्त, चित्तमेव पुरुषस्यादत्त, चक्षुरेव पशूनामादत्त, भामेव चन्द्रमस आदत्त। तद्यदादत्त-तस्मादादित्यः"।

—शत० ब्रा० ११।८।४।७,८,६,१०,११।

+ भारतीय विज्ञान अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है । वेदान्तदर्शन, सांख्यदर्शन, वैशेषिकदर्शन, तीनों से क्रमशः तीनों विभागों का स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीय खण्ड के 'आत्मपरीक्षा' नामक 'क' भाग में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है।

है कि, जैसे जलमात्रा का गमन निरन्तर होता रहता है, एवमेव द्युलोक से उसका आगमन भी निरन्तर ही होता रहता है। इस नित्य गमनागमन–लक्षण वृष्टियज्ञ से ही **'अहरहर्यज्ञ'** नामक **'भैषज्ययज्ञ'** का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। प्रकृत में हमें विचार उस **'वृष्टिकर्म्म'** का करना है, जिस का षड् ऋतुमूर्त्ति सम्वत्सर (वर्ष) के एक ऋतुविशेष ( वर्षाऋतु ) में हीं भोग हुआ करता है। वर्षाऋतु में द्युलोकस्थ मेघों से जो जल बरसता है, उसी के सम्बन्ध में यह जानना है कि, कब तो यह पानी भूपिण्ड से ऊपर गया ?, कहाँ प्रतिष्ठित हुआ ?, कबतक प्रतिष्ठित रहा ?, एवं कब बरस पड़ा ? । तात्पर्य्य यही है कि, **"हमें सुप्रसिद्ध वर्षाऋतु से सम्बन्ध रखने वाले वर्षाजल के ही गर्भ–दोहद–प्रसव भावों की मीमांसा अपेक्षित है।**

**चतुर्मासात्मक शीतकाल 'गर्भकाल', चतुर्मासात्मक ग्रीष्मकाल 'दोहदकाल', एवं चतुर्म्मासात्मक वर्षाकाल 'प्रसवकाल' माना गया है। मार्गशीर्ष से आरम्भ कर फाल्गुन पर्य्यन्त पार्थिव-जलमात्रा का द्युलोक में गर्भाधान होता है। चैत्र से आरम्भ कर आषाढ पर्य्यन्त गर्भ का पोषण होता है। एवं श्रावण से आरम्भ कर कार्त्तिक पर्य्यन्त वर्षा की प्रसूति होती है।** खगोलीय अव-**रोहिणी, अलक्ष्मी, निर्ऋति,** आदि नामों से प्रसिद्ध, वृश्चिकराशि में भुक्त **'ज्येष्ठा'** नक्षत्र का मार्गशीर्ष की अमावस्या से सम्बन्ध है। ज्येष्ठानक्षत्रानुगता मार्गशीर्ष–कृष्णामावस्या ही गर्भाकाल का उपक्रम माना गया है। एवमेव ज्येष्ठमास की पूर्णिमा के साथ भी **ज्येष्ठा–नक्षत्र** का सम्बन्ध है। यही पूर्णिमा प्रसवकाल का उपक्रम माना गया है।

इस सम्बन्ध में वृष्टिविद्याचार्य्यों के जो परीक्षण हुए हैं, नाक्षत्रिक स्थिति के तारतम्य से वे सभी प्रामाणिक है। **मूलनक्षत्र** के उत्तरार्द्ध में जब सूर्य्य का भोग रहता है, तो गर्भकाल आरम्भ होता है। एवं **आर्द्रानक्षत्रभुक्त सूर्य्य** प्रसवकाल का उपक्रम बनता है। सूर्य्य की मूलनक्षत्रभुक्ति पौष मास में एवं आर्द्रा-नक्षत्रभुक्ति आषाढ मास में होती है। इस दृष्टिकोण से **पौष गर्भ** का, **और आषाढ प्रसव** का उपक्रम बन जाता है।

एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार **सूर्य्यदक्षिणायनानुगत पात गर्भ** का, **एवं सूर्य्योत्तरायणानुगत पात प्रसव का उपक्रम है। मूल, पूर्वाषाढ, उत्तराषाढ, अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी,** ये १२ नक्षत्र **चान्द्रसोम** के सहयोगी बनते हुए गर्भ के उत्तेजक बनते हैं। **आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफल्गुनी, उत्तरफल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा,** ये ११ नक्षत्र **सौर अग्नि** के सहयोगी बनते हुए प्रसव के प्रवर्त्तक बनते हैं। **चन्द्रचार** जहाँ गर्भ की मूलप्रतिष्ठा है, वहाँ **सूर्य्याचार** प्रसव की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। स्नेहगुणक संकोचधर्म्मा चान्द्रसोम पार्थिव जलमात्रा का जहाँ संवरण कर उसे स्थितिभाव प्रदान करता है, वहाँ तेजोगुणक विकासधर्म्मा सौर अग्नि जलमात्रा को द्रुत बनाता है। निम्न लिखित आप्तवचन इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहा है—

**पौषे मूलभरण्यन्तं चन्द्रचारेण गर्भति ।**
**आर्द्रादितो विशाखान्ते सूर्य्यचारेण वर्षति ॥**

—श्रीगुरुप्रणीत–कादम्बिनी (वृष्टिविद्या)

नियत नाक्षत्रिक काल में भूप्रदेश से जिस दिन जलमात्रा **सूर्य्यरश्मि, वायु, एवं अग्नि,** के संयोग से उत्क्रान्त होती है, उस दिन से आरम्भ कर ठीक ६ महीना १५ दिन [कुल १९५ दिन] पर्य्यन्त वह जल-मात्र द्युलोक में प्रतिष्ठित रहती है। ठीक १९६ वें दिन उस का प्रसव होजाता है, पानी बरस पड़ता है। अत-एव इस १९५ दिनात्मक गर्भस्थितिकाल के लिए **'सप्तार्द्धगर्भा'** कहा जासकता है। **सातवें महीने का आधा, अर्थात् १५ दिन, और पूरे ६ मास, कुल १९६ दिन,** सप्तार्द्ध गर्भा का यही निष्कर्ष है। इस सम्बन्ध में कुछ विशेषधर्म्म और जान लेने चाहिएँ। जिस दिन गर्भाधान होता है, उस दिन यदि पूर्वदिशा में गर्भाधान है, तो १९६ वें दिन पश्चिमदिशा से मेघ वृष्टि करते हैं। यदि पश्चिम में गर्भाधान होगा, तो पूर्व की ओर से वृष्टि होगी। एवमेव दक्षिणदिशामें गर्भ है, तो उत्तर से, उत्तरमें गर्भ में है, तो दक्षिणसे वृष्टि होगी। यदि दिन में गर्भाधान है, तो रात्रि में, यदि रात्रि में गर्भाधान है, तो दिन में वृष्टि होगी।

इसप्रकार गर्भाधानानुगता दिक्-काल से सर्वथा विपरीत दिक्-काल में गर्भ का प्रसव होगा। इस वैधर्म्य का कारण स्पष्ट है। ६।। मास के अनन्तर दृश्यस्थिति के अनुसार आकाशप्रदेश में विपर्य्यय होजाता है। निष्कर्ष यही है कि, जिस दिन, जिस पक्ष दिशा में गर्भाधान होता है, ६।। मास के अनन्तर भी आकाश के उसी प्रदेश-कालमें गर्भस्थिति रहती है। तथापि पार्थिवपरिभ्रमणानुगत उत्तर दक्षिणायन भेद से विभिन्न बनी हुई हमारी दृष्टि विपर्य्यय का कारण बन जाती है। यों समझिए कि, शुक्लपक्ष में गर्भाधान हुआ। ठीक ६।। मासानन्तर पानी तो उसी आकाशप्रदेश में रहेगा, जिस प्रदेश में ६।। मास पूर्व पृथिवी से गया था। परन्तु अयन-भेद से आकाश का वही प्रदेश, जो ६।। मास पूर्व शुक्लपक्ष का अनुगामी था, ६।। मासानन्तर कृष्णपक्षानुगामी बन जायगा। यही व्यवस्था अहोरात्र, पूर्व-पश्चिमादि दिशाओं के सम्बन्ध में समझिए। प्रदेश विधर्मी [विभिन्न] नहीं है, किन्तु परिभ्रमणानुगता दृष्टि का विभेद ही दिक्काल के भेद का कारण है।

जिस दिन गर्भाधान होता है, उस दिन द्युलोक में विशेष परिस्थिति उत्पन्न होजाती है। वही निमित्त गर्भाधान का परिचायक बनता है। **शीतवायु, श्वेतअभ्र, विद्युत्, गर्जन,** आदि ही गर्भाधान के परिचायक हैं। इन परिचय-चिह्नों का परिज्ञान प्राप्त कीजिए, दिक्-देश-काल-आदि को ठीक ठीक लक्ष्य बना लीजिए। अमुक दिन से ठीक १९६ वें दिन अमुक पक्ष, अमुक दिन, अमुक रात्रि, अमुक दिशा मे अमुक मात्रा से अवश्यमेव पानी बरसेगा। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखिए कि, यदि **गर्भपातक, निरोधक, शनि-मंगल-याम्यादि-प्रतिबन्धक** सूर्य्य और चन्द्रमाके मध्यमें आजायँगे, तो परिस्थिति के अनुसार कालान्तर में [जोकि काल गणितानुसार सर्वथा व्यवस्थित है] प्रथम तो गर्भपात होजायगा। अथवा तो वह जल घनीभूत होकर पाषाण बन जायगा। फलतः १९६ वें दिन वृष्टि नहीं होगी। यदि गर्भपात होगया, तबतो कोई बात शेष रह ही नहीं जाती। यदि गर्भपात नहीं, गर्भनिरोध है, तो कालान्तर में **करकापात** होगा। वही जमा हुआ पानी करका [ओले] पात है।

इसप्रकार **गर्भाधानभाव, गर्भपात, गर्भनिरोध,** आदि निमित्तों का सम्यक् परिज्ञान प्राप्त करके वृष्टि का जो समय बतलाया जायगा, वह प्रकृति का अटल विधान माना जायगा, जिस की उपेक्षा कर ब्राह्मणों नें अपना सर्वस्व ही खोदिया है। बाह्यचर्चा समाप्त हुई, अब मन्त्रार्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। 'सप्तार्द्धगर्भा०' इत्यादि मन्त्र का अक्षरार्थ है-**"लोकसर्ग के रेतोभूत गर्भ सप्तार्द्धगर्भा रूप से विष्णु (आकाश) के विभिन्न दिक् प्रदेश से प्रतिष्ठित होते हैं। वे अब्गर्भ धीभावों, तथा मान सभावों से विपश्चिद्भाव से सर्वत्र व्याप्त होजाते हैं।"**

**वेद, लोक, देव, धर्म्म**, इन चार प्राकृतिक सर्गों की प्रवृत्ति क्रमशः **प्राणमुख, आपोमुख, वाङ्मुख अन्नगर्भित अन्नादमुख**, इन चार मुखों से मानी गई है। प्राणादि प्रकृतियाँ ब्रह्म के चार मुख हैं। इन्हीं से सृष्टिचतुष्टयी का विकास हुआ है। **'लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः'-'सर्वमापोमयं जगत्'**-इत्यादि के अनुसार अप्तत्त्व ही लोकसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। यही लोकसर्ग का आरम्भक है। अतएव **'जीवनं भुवनं वनम्'** रूपसे **'आपः'** को **'भुवन (लोक)'** नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। अप्तत्त्व भुवन का आरम्भक हैं, अतएव इसे अवश्य ही **'भुवनस्य रेतः'** कहा जासकता है। पार्थिव भुवन की रेतोभूता जलमात्रा अग्नि-वायुसहयोगिनी सूर्य्यरश्मियों के द्वारा आरोहित होती है। आरोहिता उर्ध्वगता जलमात्रा सौररश्मियों में ६॥ महीना गर्भीभूता रहती हैं। गर्भीभूता जलमात्रा उत्तराकाश में प्रतिष्ठित रहती है। **आकाश परमेष्ठी है, परमेष्ठी विष्णु है**! इस आकाश की अन्तिम सीमा **'व्योमा'** कहलाई है, यही **'विष्णुपद'** नाम से व्यवहृत हुआ है। अन्तिम सीमा **ध्रुवप्रदेश है**, यही **नाकस्थ विष्णुमण्डल है**। उत्तरध्रुवानुगत नाकस्थ विष्णुपद ही आकाश का उच्चतम स्थान माना गया है। इसी विष्णुपद के लिए कहा जाता है—

**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।**
**दिवीव चक्षुराततम् ॥**
—ऋक्सं० १।२२।२०।

जिसप्रकार चन्द्रमा **'अक्षवृत्त'** के आधार पर भूपिण्ड के चारों ओर घूमता है, भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त के आधार पर, सूर्य्यपिण्ड के चारों ओर, सूर्य्यपिण्ड 'अयनवृत्त' के आधार पर परमेष्ठी के चारों ओर, परमेष्ठी प्राणवृत्त के आधार पर स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है, एवमेव उत्तरध्रुव नाकस्थ विष्णुपद के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। ध्रुव की यह परिक्रमा २५००० [पच्चीसहजार] वर्षों में समाप्त होती है। जिसप्रकार **विष्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र ध्रुव है, एवमेव क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र यही कदम्ब [विष्णुपद] है। ध्रुव विश्वद्वृत्त का केन्द्र है, तो कदम्ब क्रान्तिवृत्त का केन्द्र है। विश्वद्वृत्त, और क्रान्तिवृत्त में** २४ अंश का अन्तर है। वही अन्तर ध्रुव, और कदम्बमूर्ति नाकस्थ विष्णु का है। **२४ अंश के व्यासार्द्ध से ४८ अंश के परिसर का जो उत्तराकाशानुगत प्रदेश है, वही विष्णुपद है।** इसके केन्द्र में प्रतिष्ठित पारमेष्ठ्य प्राण ही,—जो अपने प्राणधर्म्म से सर्वथा अमूर्त्त है—विष्णु हैं। **इस विष्णु का प्रदेश ही उत्तराकाश प्रदेश है।** यहीं उत्क्रान्त जलमात्रा गर्भीभूत रहती है। जैसा कि बतलाया गया है, भूपरिभ्रमण के कारण सप्तार्द्ध गर्भा रश्मियाँ, किंवा तद्रूपा आपः—गर्भाधान-स्थिति के ठीक विपर्य्यय से बरसतीं हैं। इसी विपर्य्यय-भाव का—**'प्रदिशा विधर्म्मणि'** वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

**गर्भाधान होता है चन्द्रमा के सहयोग से, प्रसव होता है सूर्य्य के सहयोग से, जैसा कि— 'चन्द्रचारेण गर्भति, सूर्य्यचारेण वर्षति'** रूप से पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, **चन्द्रमा के द्वारा गर्भाधान होता है** एक ही दिन में, **परन्तु सूर्य्यानुगत प्रसव-काल १३ दिवसों में विभक्त है**। मन्त्रोपात्त **'मनसा'** शब्द चन्द्रचारानुगत गर्भाधान का सूचक है, एवं **'धीतिभिः'** सूर्य्यचारानुगत प्रसवकर्म्म का सूचक है। कारण स्पष्ट है। चान्द्रसोम मनोमय है, एवं सौर अग्नि धीलक्षण है। मन का चन्द्रमा से, एवं बुद्धिका सूर्य्य से सम्बन्ध है। **मनसा [चान्द्रसोमेन] धार्य्यमाण गर्भ**

धीतियों [सौररश्मियों] के चार से ही तो प्रसूत होता है। श्रुति का 'विपश्चितः' शब्द अतिशयरूपेण रहस्यपूर्ण है। विपरीता, किंवा विदिक् चिति ही इस शब्द से सूचित होरही है। 'विपरीते'–विदिग्भागे चयनम्-चित्-येषां ते गर्भाः' ही 'विपश्चितः' का रहस्यार्थ है।

'वि' पूर्वक 'पश्' ही 'विपश्चितः' का मौलिक आधार है। संख्या–संकेत–विज्ञानानुसार 'प' कार १ संख्या का सूचक है, 'श' कार ५ संख्या का सूचक है। 'पश्' का अर्थ होता है–१५ संख्या। 'अङ्कानां वामतो गतिः' के अनुसार १–५ (१५) की वामस्थिति के क्रमसे ५–१ (५१) निष्कर्ष निकलता है। वह यहां अभिप्रेत है नहीं। अभिप्रेत है १५ ही। यही भाव 'वि' से सूचित होरहा है। 'पश्–भावं–(१५ संख्यां) विरुद्धं (१५) कुर्यात्, ५१ स्थाने १५ विद्यात्' यही रहस्यार्थ 'विपश्' से सूचित हुआ है। तात्पर्य्य यही निकलता है कि, जिस नक्षत्र में आकाश–प्रदेश में गर्भाधान होता है, जलमात्रा की चिति (सञ्चय) होती है, उस नक्षत्र के १५ वें नक्षत्र में उस गर्भीभूत जल की वृष्टि होती है। इसप्रकार १५ नक्षत्रभाव से ही जल की चिति होती है। अतएव गर्भीभूता आपोमयी रश्मियों को अवश्य ही 'विपश्चितः' कहा जासकता है। यदि मूलनक्षत्र में मनसा (चन्द्रचारेण) गर्भाधान है, तो आर्द्रानक्षत्र में (जो कि मूल से १५ वाँ नक्षत्र है)–धीतिभिः [सूर्य्यचारेण] उस गर्भ की प्रसूति होजायगी, जैसा कि 'पौषे मूलभरण्यन्तम्०' इत्यादिरूप से पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। इसप्रकार 'सप्तार्द्धगर्भा०' इत्यादि मन्त्र गर्भस्थिति का स्वरूप बतलाता हुआ चन्द्रचारानुगत गर्भाधान, सूर्य्यचारानुगत प्रसवकर्म्म, दोनों का भी स्पष्टीकरण कर रहा है। अब क्रमप्राप्त- 'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा०' इत्यादि मन्त्र की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। पार्थिव जल किस के द्वारा किस मार्ग से कहाँ जाता है?, कहाँ से कब, किस के द्वारा बरसता है?, इत्यादि प्रश्नों के पूर्वोक्त समाधानों का ही–'कृष्णं नियानम्०' इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। शुक्लमार्ग उत्तरायण कहलाया है, कृष्णमार्ग दक्षिणायन कहलाया है। कृष्णमार्ग का पार्थिव कृष्णवर्ण मृग्याग्नि से सम्बन्ध है, शुक्लमार्ग का सौर शुक्लवर्ण सावित्राग्नि से सम्बन्ध है। 'ऊपर' का अर्थ है 'उत्तर', एवं 'नीचे' का अर्थ है–दक्षिण'। दक्षिणदिशा भूपिण्ड की आवासभूमि है, उत्तरदिशा सूर्य्य की आवासभूमि है। अतएव सौर इन्द्र का उत्तर से सम्बन्ध माना गया है। दक्षिणभाग पृथिवी का अपना स्थान है, यह पार्थिव कृष्णाग्नि के सम्बन्ध से कृष्ण है। यही अधः प्रदेश है। यही–'कृष्ण--यानम्' है। इसके निम्नभाव का ही 'नि' से सङ्केत हुआ है। फलतः कृष्णं नि--यानम्' का अर्थ होता है—दक्षिणस्था--अधोऽवस्थिता पृथिवी। इसी को लक्ष्य बनाकर उत्तरमार्गस्थ, किंवा शुक्लपथानुगामिनी सूर्य्य की रश्मियाँ अपने स्वाभाविक हरण लक्षण आदानधर्म्म से जहाँ–'हरयः' (हरन्ति, आहरन्ति) कहलाई हैं, वहाँ अग्निलक्षणा सुवर्णचिति के सम्बन्ध से इन्हें 'सुपर्णाः' कहा गया है। पूर्व में बतलाया गया है कि, सूर्य्य से आगत साक्षात् सौरतेज सावित्री है, पिण्ड से टकरा कर प्रतिफलित होने वाला सौर तेज गायत्री है। यह गायत्रतेज ही सुपर्ण है, जिसके गर्भ में—'नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्' सिद्धान्तानुसार पार्थिवी जलमात्रा प्रतिष्ठित रहती है। 'एति च प्रेति चान्वाह' ही इस गायत्र सुपर्ण का तात्त्विक इतिवृत्त है, जिसका पूर्व के 'सामिधेनी--ब्राह्मण' में विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जाचुका है। आगमनावस्था में सूर्य्यरश्मियाँ केवल रश्मियाँ है, गमनदशा (गायत्री–

दशा) में ही ये जल का आहरण करती हैं, तभी इनकी 'सुपर्णता' अन्वर्थ बनती है। अतएव गमनावस्थापन्ना, गायत्रतेजोमयी सूर्य्यरश्मियों को ही 'हरयः सुपर्णाः' कहा जायगा। ये रश्मियाँ निम्न--( दक्षिण ) भागस्थ कृष्णायान ( भूपिण्ड ) को लक्ष्य बनाकर ( भूपिण्ड से संश्लिष्ट होकर ] तत्रस्था जलमात्रा को अपने गर्भ में धारण करती हुईं द्युलोक की ओर प्रतिफलित होजातीं हैं। 'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति' यह मन्त्रपूर्वार्द्ध पार्थिव जलमात्रा की इस गर्भाधानावस्था का ही विश्लषेण कर रहा है।

आपः, वायु, सोम, तीनों भागवतत्त्व 'ऋत' कहलाए हैं। 'ऋतमेव परमेष्ठी' इस आथर्वण--सिद्धान्त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी ही ऋत है, इसी को पूर्वमन्त्रप्रकरण में 'विष्णुपद' कहा गया है। यह पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व घन--तरल--विरल-भेद से आपः-वायुः--सोमः, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। घनावस्थापन्न अप्तत्त्व का आसुर वारुणप्राण से, तरलावस्थापन्न वायुतत्त्व का सोमरक्षक गन्धर्वप्राण से, एवं विरलावस्थापन्न सोमतत्त्व का सौम्य पितृप्राण से सम्बन्ध माना गया है। यही सोमतत्त्व विष्णुका स्वरूप-समर्पक माना गया है। अतएव इनका यत्र तत्र 'सोमवंशी' रूप से उपवर्णन उपलब्ध होता है। सोमसम्बन्ध से उत्तर स्थान विष्णुपद है, अप्सम्बन्ध से यही उत्तरस्थान वारुण भी है। ऋत अब्रूपतालक्षणा ऋत-सोमात्मकता ही उत्तरस्थान की ऋतसदनता है, जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है —

**वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनीस्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि।**
**वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद॥**

---यजुःसं० ४।३६।

दक्षिणस्थ भूपिण्ड से सूर्य्यरश्मियों के द्वारा द्युलोक में गर्भीभूत जलमात्रा कब वापस भूलोक में बरसती है ?, इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, वे अब्गर्भमय सुपर्ण [ रश्मियाँ ] जब ऋतसदन से [ उत्तरदिशा से ] परावर्त्तित होतीं हैं [ दक्षिणायन का अनुगमन करती हैं ), आदित्-अव्यवहितोत्तरकाल में हीं घृत [ जल ] से पृथिवी काल्वालीकृत होजाती है, जलमयी बन जाती है। यही गर्भ की प्रसूति है। क्रमप्राप्त-'समानमेतदुदकम्०' इत्यादि तृतीय मन्त्र का विश्लेषण पूर्व में किया ही जाचुका है। इसप्रकार यह ऋङ्मन्त्रत्रयी वृष्टिविद्या का अंशतः स्पष्टीकरण करने में सफल होरही है।

यह तो हुई श्रुतिचर्चा। अब दो शब्दों में पुराणचर्चा का भी समन्वय इसलिए कर लेना चाहिए कि, तथाकथित भ्रान्तों की दृष्टि में 'पुराण' आज एक निरर्थक--शास्त्र बन रहा है। जिन तत्त्वविज्ञानों का वेद-शास्त्र में प्रकीर्णकरूप से विश्लेषण हुआ है, पुराणने बड़ी ही प्रसादभाषा में एकत्र उनका समन्वय कर दिया है। तभी तो--'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' कथन चरितार्थ होरहा है। अधिक विस्तार में न जाकर वृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक वचनमात्र ही यहाँ उद्धृत कर दिये जाते हैं—

**१-अष्टमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।**
**रसं सर्वसमुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्॥**

—वाल्मीकिरामायणे

२-विवस्वानष्टभिर्म्मासैरादायापो रसात्मिकाः ।
वर्षत्यम्बु ततश्चान्न-मन्नादमखिलं जगत् * ॥
३-आदत्ते रश्मिभिर्यत्तु क्षितिसंस्थो रसो रविः ।
तमुत्सृजति भूतानां पुष्ट्यर्थं सस्यवृद्धये ॥
४-सरित्--समुद्र--स्तथापः प्राणिसम्भवाः ।
चतुः प्रकारा भगवानादत्ते सवितांशुभिः ॥
५-विवस्वानंशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतीजलम् ।
सोमं पुष्णाति सोमस्तु वायुनाडीमयैर्दिवम् ॥
६-जलैर्विक्षिप्यते ऽभ्रेषु धूमाग्न्यनिलमूर्त्तिषु ।
अभ्रस्थाः प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिताः ॥ इत्यादि
--ब्रह्मपुराणे

बुद्धिगम्या भाषा से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिपादित वृष्टिविज्ञान का तैत्तिरीयसंहिता में भी [ कारीरि-इष्टिप्रकरण में ] दिग्दर्शन कराया गया है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, अग्नि--सोम--सूर्य्य--मित्र--वरुण-अर्य्यमा-पर्जन्यादि प्राकृतिक देवताओं के समन्वय से ही वृष्टिकर्म्म सञ्चालित है । यदि राष्ट्र में अनावृष्टि-जनित दुष्काल की सम्भावना हो, तो वैज्ञानिक ब्राह्मणों को उस 'कारीरी' इष्टि का ही अनुष्ठान करना चाहिए, जिस में वृष्ट्यधिष्ठाता उक्त प्राणदेवताओं के आधिभौतिक द्रव्यों के माध्यम से अनुग्रहप्राप्ति का विश्लेषण हुआ है । प्रकरण आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जारहा है । अतएव तै० सं० का वह स्थल यहाँ उद्धृतमात्र कर दिया जाता है । अवश्य ही उद्धृत प्रकरण वैज्ञानिकों का ध्यान वृष्टिविद्या के महत्त्वपूर्ण विश्लेषण की ओर आकर्षित करेगा ।

प्राच्यङ्गम्- (१)-"मारुतमसि मरुतामोजोऽपां धारां भिन्धि (१)॥ रमयत मरुतः श्येनमायिनं मनोजवसं वृषणं सुवृक्ति । येन शर्ध उग्रमवसृष्टमेति तदश्विना परिधत्त स्वस्ति (२)॥ पुरोवातो वर्षन् जिन्वरावृत् स्वाहा (३)॥ वातावद्वर्षन्नुग्ररावृत् स्वाहा (४)॥ स्तनयन् वर्षन् भीमरावृत् स्वाहा (५)॥ अनशन्यवस्फूर्जन् दिद्युद्वर्षन् त्वेषरावृत् स्वाहा (६)॥ अतिरात्रं वर्षन् पर्तिरावृत् स्वाहा (७)॥ बहु हायमवृषादिति श्रुतरावृत् स्वाहा (८)॥ आतपति वर्षन् विराडावृत् स्वाहा (९) अवस्फूर्जन् दिद्युद्वर्षन् भूतरावत् स्वाहा

* "सर्वमिदमन्नम्, सर्वमिदमन्नादः । द्वयं वा इदं न तृतीयं-अस्ति--अत्ता (अन्नादः), चैव-आद्यं ( अन्न ) च" । ( श्रुतिः ) ।

(१०) ॥ मान्दा वाशाः शुन्ध्यूरजिरा ज्योतिष्मतीस्तमस्वरीरुदन्तीः सुफेनाः । मित्रभृतः सुराष्ट्रा इह मावत (११) ॥ वृष्णो अश्वस्य सन्दानमसि, वृष्ट्यै त्वोपनह्यामि (१२)" ॥
—तै० सं० २।४।७।—

प्राच्यङ्गमन्त्रव्याख्यानम्–(१)–"मारुतमसि मरुतामोज इति,–कृष्णं वासः कृष्णतूषं परिधत्ते । एतद्वै वृष्ट्यै रूपम् । सरूप एव भूत्वा पर्जन्यं वर्षयति (१) ॥ रमयत मरुतः श्येनमायिनम्–इति,–पश्चाद्वातं प्रतिमीवति । पुरोवातमेव जनयति वर्षस्यावरुद्ध्यै (२) ॥ वातनामानि जुहोति । "वायुर्वै वृष्ट्या ईशे" । वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति । स बावास्मै पर्जन्यं वर्षयति (३) ॥ अष्टौ जुहोति । चतस्रो वै दिशः, चतस्रोऽवान्तरदिशः । दिग्भ्य एव वृष्टिं सम्प्रच्यावयति (४) ॥ कृष्णाजिने संयौति हविरेवाकः । अन्तर्वेदि संयौति, अवरुद्ध्यै (५) ॥ यतीनामद्यमानानां शीर्षाणि परापतन् । ते खर्जूरा अभवन् । तेषां रस ऊर्ध्वोऽपतत्, तानि करीराण्यभवन् । सौम्यानि वै करीराणि । सौम्या खलु वा आहुतिर्दिवो वृष्टिं च्यावयति (६) ॥ यत् करीराणि भवन्ति–सौम्यमेवाहुत्या दिवो वृष्टिमवरुन्धे । मधुषा संयौति । अपां वा एष ओषधीनां रसः–यन्मधु । अद्भ्य एवौषधीभ्यो वर्षति । अथो अद्भ्य एवौषधीभ्यो वृष्टिं निनयति । मान्दा वाशाः–इति संयौति । नामधेयैरेवैना अच्छैति । अथो यथा ब्रूयात्–असावेहीति, एवमेवैना नामधेयैराच्यावयति (७) ॥ वृष्णो अश्वस्य सन्दानमसि । वृष्ट्यै त्वोपनह्यामि, इत्याह वृषा वा अश्वः, वृषा पर्जन्यः । कृष्ण इव खलु वै भूत्वा वर्षति । रूपेणैवैनं समर्धयति–वर्षस्यावरुद्ध्यै (८) ॥– तै० सं० २।४।९।

उत्तराङ्गम्–(२) देवा वसव्या अग्ने सोम सूर्य्य (१) ॥ देवाः शर्म्मण्या मित्रावरुणार्यमन् (२) ॥ देवाः–सपीतयोऽपांनपादाशुहेमन् (३) ॥ उद्नो दत्तोदधिं भिन्त, दिवः पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्यावत (४) ॥ दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन, पृथिवीं यद् व्युन्दन्ति (५) ॥ आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्युवुः, विपर्जन्याः सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः (६) ॥ उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथाः पुरीषिणः, न वो दस्रो उपदस्यन्ति धेनवः, शुभं यातामनु अवृत्सत (७) ॥ सृजा वृष्टिं दिव, आद्भिः समुद्रं पृण, अब्जा असि प्रथमजा, बलमसि समुद्रियम् (८) ॥ उन्नम्भय पृथिवीं, भिन्द्धीदं दिव्यं नमः, उद्नो दिव्यस्य नो देहीशानो

विसृजाद्दतिम् (९) ॥ ये देवा दिविभागा ये ऽन्तरिक्षभागा ये पृथिवीभागाः, त इमं यज्ञमवन्तु त इदं क्षेत्रमाविशन्तु, त इदं क्षेत्रमनुविशन्तु (१०) ॥

-तै० सं० २।४।८।

उत्तराङ्गमन्त्रव्याख्यानम्-(३)-"देवा वसव्या, देवाः शर्म्मण्या, देवाः सपीतय, इत्याबध्नाति । देवताभिरेवान्वहं वृष्टिमिच्छति । यदि वर्षेत्तावत्येव होतव्यम् । यदि न वर्षेत् श्वोभूते हविर्निर्वपेत् । अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ । अहोरात्राभ्यां खलु वै पर्जन्यो वर्षति । नक्तं वा हि दिवा वा वर्षति । मित्रवरुणावेव स्वेन भागधेयेनोपधावति । तावेवास्मै अहोरात्राभ्यां पर्जन्यं वर्षयतः । अग्नये धामच्छदे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, मारुतं सप्तकपालं, सौर्यमेककपालम् । अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति, यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति । धामच्छदिव खलु वै भूत्वा वर्षति । एता वै देवता वृष्ट्या ईशते । ता एव स्वेन भागधेयेनोपधावति । ता एवास्मै पर्जन्यं वर्षयन्ति ।

उतावर्षिष्यन् वर्षत्येव । सृजा वृष्टिं दिवः, आद्भिः समुद्रं पृण, इत्याह । इमाश्चैवामूश्चाप समर्द्धयति । अथो आभिरेवामूरच्छैति । अब्जा असि प्रथमजा, बलमसि समुद्रियं, इत्याह । यथा यजुरेवैतत् । उन्नम्भय पृथिवीं, इति वर्षाह्वां जुहोति । एषा वा ओषधीनां वृष्टिवनिः । तयैव वृष्टिमाच्यावयति । ये देवा दिवि भागा-इति कृष्णाजिनमवधूनोति । इम एवास्मै लोकाः प्रीता अभीष्टा भवन्ति" ।

-तै० सं० २।४।१०।

तैत्तिरीय-संहिता के चार अनुवाकों से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रभाग से सुप्रसिद्ध 'कारीरीष्टि' की इतिकर्त्तव्यता का ही स्पष्टीकरण हुआ है । कर्म्मेतिकर्तव्यता के साथ साथ उक्त इष्टिप्रकरण में वृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले आधिदैविक विज्ञान का भी अंशतः विश्लेषण हुआ है । 'मारुतमसि०' यहाँ से इसका उपक्रम है । एवं 'अभीष्टा भवन्ति' पर अवसान है । उपक्रमवाक्य यह सूचित कर रहा है कि, आन्तरिक्ष्य मरुद्देवता [ वायुदेवता ] ही वृष्टिकर्म्म के प्रधान निमित्त हैं । यद्यपि अग्नि, सूर्य्य, विद्युत्, स्तनयित्नु, सोम, मेघ, आदि सभी निमित्त बनते हैं । परन्तु इन सब प्राणों का समन्वय एकमात्र गतिधर्म्मा वायु के सञ्चार पर ही निर्भर है । अतएव वायु को ही प्रधान निमित्त माना जासकता है । अतएव प्राच्यङ्गमन्त्रव्याख्यानश्रुति में 'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे' इत्यादिरूप से वायु को ही वृष्टि का प्रधान प्रवर्त्तक बतलाया गया है । इसी श्रौत सिद्धान्त के आ [illegible] निम्नलिखित वचन प्रतिष्ठित हुए हैं—

सूर्ये दक्षिणगोलस्थे तप्तादब्धेरबुत्थितिः ॥
तत्तोयं वायुना क्षिप्तं देशे देशे प्रवर्षति ॥१॥
न सूर्यो न च नक्षत्रं न चन्द्रस्तत्र कारणम् ॥
वायुनैवोद्धृतं तोयं वायुरेव प्रवर्षति ॥२॥
—श्रीगुरुप्रणीता कादम्बिनी

दृष्टि है भौतिक द्रव्यों पर, एवं मनोयोग है--आधिदैविक प्राण--देवताओं के साथ, यही सम्पूर्ण मन्त्रभाग का तात्त्विक निष्कर्ष है। कारीरी इष्टि में काला वस्त्र पहिना जाता है, जिसके चारों कोने गहरे काले होते हैं। यही वस्त्र 'कृष्णतूष–कृष्ण-वास' कहलाया है। यह कृष्णवस्त्र धामच्छद मेघ, कृष्ण-जल, एवं कृष्णमरुत्, इत्यादि का प्रतिनिधि माना गया है। यही वृष्टि का स्वरूप है। मेघ इसीं रूप में परिणत होकर बरसता है। इसीप्रकार कारीर सौम्यप्राण का संग्राहक है। वातहोम अष्टविध नाक्षत्रिक सर्प--वायु का संग्राहक है। पार्थिव अग्नि धामच्छद है। वसु--सम्बन्धेन वह अमृष्टावयव है। आन्त-रिक्ष्य मरुत् सप्तावयव है, सूर्य्य 'एकल एव स्थाता'। वृष्टिकर्म्म में तीनों का सहयोग अपेक्षित है।

अतएव कारीरी इष्टि में धामच्छद अग्नि, मरुत्वान् वायु, सौर इन्द्र, तीनों के लिए क्रमशः अष्टाकपाल--सप्तकपाल-'एककपाल--पुरोडाश का निर्वाप होता है। तीनों देवताओं का उपयोग स्पष्ट है। पार्थिव अग्नि जलमात्रा ऊपर फैंकता है, आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् उसे अपने गर्भ में रखता हैं, एवं सूर्य्य रश्मियों से बरसा देते हैं। अग्निर्वा इतो वृष्टिमूदीरयति०' इत्यादि से इसी उपयोग का स्पष्टीकरण हुआ है।

'ये देवा दिवि भागाः (ऐन्द्राः), येऽन्तरिक्षभागा (वायव्याः), ये पृथिवीभागाः (आग्नेयाः) के अनुसार तीनों हीं इस वृष्टियज्ञ [कारीरीष्टिं] के स्वरूप-सम्पादक हैं। अवश्य ही तत्तत् प्राणदेवतानुरूप कृष्णवास, करीर, पुरोडाशादि तत्त भौतिक द्रव्यों के माध्यमसे तत्तत्प्राणदेवताओं के द्वारा अभीष्टसिद्धि [वर्षा] होताती है। 'इम एवास्मै लोकाः प्रीता अभीष्टा भवन्ति' इस उपसंहार--वाक्य से इसी कर्म्मसिद्धि का समर्थन हुआ है।

यज्ञप्रक्रियाओं से क्या सम्भव नहीं?, आवश्यकता है--रहस्यज्ञानपूर्वक उनके अनुगमन की। प्राकृतिक प्राण--देवताओं के प्रकृतिविरुद्ध होजाने से ही अनावृष्टि, अतिवृष्टि--जनित दुष्काल, जनपद--विद्-ध्वंसिनी, करकापात, उल्कापात आग्नेय–वारुण--ऐन्द्र–वायव्यादि भूकम्प, आदि विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। मानवसमाज प्राकृतिक विश्व का अवयव है। इसके प्रकृतिविरुद्ध–गमन से ही अवयवीरूप प्राकृतिक विश्व के प्राकृतिक विधानों में अव्यवस्था का समावेश स्वतःसिद्ध है। इसप्रकार प्रकृतिविरुद्ध आचरण करते हुए हम स्वयं ही उक्त विघ्नों के प्रवर्त्तक बनते हैं। वर्त्तमान-युग के मानवसमाज की इसी विकृति से आज पदे पदे हमें इन विघ्नों का आक्रमण सहना पड़ रहा है। ऋषिप्रदिष्ट चिकित्सामार्ग (यज्ञ) आज के शिक्षित समाज के लिए जहाँ उपहास की वस्तु बन रहा है, वहाँ प्रकृति को अधिकाधिक संक्षुब्ध करने

वाले अभक्ष्य भक्षण, अगम्यागमन, अस्पृश्य-स्पर्शन, देव-द्विज-गुरु-शुश्रुषापरित्याग, सच्छास्त्रनिन्दा, मलिनीकरण-संकरीकरण-जातिभ्रंशकर, आदि पातक-अतिपातक-महापातक निन्द्य असत्कर्म्मों में प्रवृत्ति, मर्य्यादोल्लंघन, कल्पित साम्यवाद की घोषणा, सर्वोपरि दुराग्रह, आदि आदि अधर्म्मपथ ग्राह्य बने हुए हैं। स्मरण रखिए, जबतक प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर लिया जायगा, तबतक एक दो-चार-दस नहीं, सहस्रों आन्दोलनों से भी; जिनके मूल में घातक व्यक्ति-प्रतिष्ठा का मोह प्रतिष्ठित है—मानव समाज सुस्थिर नहीं बन सकेगा। इस के लिए तो प्राकृतिक विश्व की सुस्थिरता ही प्रधान साधन होगा। एवं इस साधन के लिए प्राकृतिक नियम-संघातलक्षण शाश्वत सनातनधर्म्म-पथ ही एकमात्र श्रेयःपन्था माना जायगा। भ्रान्त-मानवसमाज के अभ्युदय के लिए उसी प्रशस्त पथ की भावना करते हुए बुद्धिगम्याभाषा से सम्बन्ध रखने वाला वृष्टिविज्ञान-प्रकरण उपरत होता है, एवं सहजभाषानुगामी प्रकरण का संक्षिप्त निरूपण उपक्रान्त होता है।

एक वर्ष में यों तो वसन्तादि ६ ऋतुएँ [ मौसम ] मानीं गई हैं, परन्तु 'ग्रीष्म-वर्षा-शीत' इन तीन स्थूल ऋतुओं का तो सर्वसाधारण को भी बोध है ही। इन्हीं तीनों को लक्ष्य बनाकर कहा जाता है-- 'त्रयो वाऽ ऋतवः सम्वत्सरस्य' [ शत० ३।४।४।१७ ]। सहजभाषा में ये ही तीनों क्रमशः गर्मी, बरसात, सर्दी, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों मौसमों के प्रत्येक के ४-४ महीनें होजाते हैं। इस ओर चतुर्मासात्मिका गर्मी है, उस ओर चतुर्मासात्मिका सर्दी है, मध्यमें चतुर्मासात्मिका बरसात है। बरसात दोनों के मध्य में हैं। और ऐसा एक लौकिकन्याय [ व्यवहार ] है कि, मध्यस्थ पदार्थ का इधर-उधर रहने वाले दोनों पार्श्ववर्त्ती पदार्थों से ग्रहण होजाता * है। अतएव कहा जासकता है कि, एक वर्ष में केवल गर्मी, एवं सर्दी, ये दो ही मौसम हैं। बरसात का ग्रहण इन दोनों के ग्रहण से ही चरितार्थ है।

इसी व्यवहार के आधार पर पूरे वर्ष में ग्रीष्मकाल, शीतकाल, ये दो ही मौसम मान लिए जाते हैं। ग्रीष्मकाल उष्णकाल है, इसी का अपभ्रंश 'उह्वालू' है। एवं शीतकाल का अपभ्रंश 'स्यालू' है। वर्ष में ये दो ही 'कृषि' [फसल होतीं हैं। यदि और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुतः गर्मी ही सम्पूर्ण वर्ष की मूलप्रतिष्ठा है। कारण स्पष्ट है। पृथिवी पर रहने वालों के लिए पार्थिवी ऋतुओं को ही प्रधानता दी जायगी। एवं-'अग्निर्भूस्थानः'-'यथाग्निगर्भा पृथिवी'-इत्यादि वचनों के अनुसार पृथिवी में अग्नितत्त्व की ही प्रधानता है। अतएव मानना पड़ेगा कि, पार्थिव प्रजा से सम्बन्ध रखने वाली ऋतुओं में पार्थिव अग्नि की ही प्रधानता है। अग्नि की ह्रास-वृद्धि से ही पार्थिव २, ३, ५, ६, ७, आदि विभिन्न ऋतुओं की अभिव्यक्ति होती है।

जिसे हम 'शीत' कहते हैं 'वही विज्ञानभाषा में 'सोम' तत्त्व है। इस सोमतत्त्व के भास्वरसोम, दिक्-सोम, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। प्रत्यक्षदृष्ट आन्तरिक्ष्य चन्द्रमा ही भास्वरसोम है। यही 'सहृदयं सशरीरं-सत्यम्' परिभाषानुसार केन्द्रानुगत पिण्डावच्छिन्न चान्द्रभास्वर [ ज्योतिर्म्मय चमकीला ] सोम

---

* तन्मध्यपतितस्तदग्रहणेन गृह्यते। ( लौकिकन्याय )

अवश्य ही **'सत्यसोम'** माना जासकता है । विशाल अन्तरिक्ष में वायुसमुद्र व्याप्त है । इस बाष्पावस्थापन्न वायुसमुद्र में व्याप्त नीरूप प्राणात्मक सोमतत्त्व ही दूसरा **'दिक्सोम'** है । **'अहृययमशरीरं--ऋतम्'** इस परिभाषा के अनुसार केन्द्र--पिण्डभाव से वञ्चित प्राणात्मक इस आन्तरिक्ष्य दिक्सोम को अवश्यमेव **'ऋत सोम'** कहा जासकता है । भास्वरसोम [चन्द्रमा] जहाँ अपने **सकेन्द्रपिण्ड--भाव** से **प्रत्यक्षदृष्ट है, वहाँ** दिक्सोम अपने **अकेन्द्र--अशरीर--भाव** से अप्रत्यक्ष है । सम्पूर्ण खगोल में एकरूप से यह **'ऋतसोम'** व्याप्त है, जिसका **'ओस के पानी'** से भलीभाँति अनुमान लगाया जासकता है ।

सूर्य्यसत्तात्मक दिन में एवं सूर्य्याभावात्मिका रात्रि में, सदासर्वदा यद्यपि आन्तरिक्ष्य ऋतसोम अजस्ररूप से भूपिण्ड की ओर प्रच्यावित होता रहता है । तथापि पृथिवी में इस की भुक्ति रात्रि में ही होती है । दिन में सौररश्मिगत सोमप्रिय इन्द्रप्राण इसे अपना अन्न बना लेता है । रात्रि में जो ओस का पानी यत्र तत्र सर्वत्र उपलब्ध होता है, वह सूर्योदय से पूर्व पूर्व ही अपनी सत्ता पृथिवी पर रखता है । उदित सूर्य्य इसे रश्मियों से अपना गर्भ बना लेता है । प्रत्यक्षदृष्ट यह ओस का पानी आन्तरिक्ष्य प्राणात्मक दिक्सोम का ही पार्थिव भौतिक जलमिश्रित भौतिकरूप है ।

तात्पर्य्य--कहने का यही है कि, आन्तरिक्ष्य वायु में ऋतसोममात्रा प्रतिष्ठित रहती है । **भूपिण्ड** एवं **सूर्य्यपिण्ड,** दोनों से ही अग्निमात्रा प्रवर्ग्यरूप से निकल कर आन्तरिक्ष्य वायुधरातल में उसी ऋतभाव से परिव्याप्त रहती है । आकाश में यदि **चन्द्रमा सत्यसोमपिण्ड** है, तो पूर्वलक्षणानुसार **सूर्य्य सत्याग्निपिण्ड है** । सत्याग्निमय सूर्य्यपिण्ड के केन्द्र से **'सहस्रधा-महिमानः सहस्रम्'** रूप से चारों ओर, सब ओर विनिःसृत रश्मियों में से प्रतिक्षण अग्निमात्रा प्रवर्ग्यरूप से निकलती रहती है । वही गर्मी तो सूर्य्यास्त होजाने पर भी वायु में प्रवाहित होती हुई हमें उपलब्ध होती है । यह वायव्याग्नि भी पूर्वलक्षणानुसार **'ऋताग्नि'** ही कह--लाया है ।

क्या आन्तरिक्ष्य सत्यसोमात्मक चन्द्रपिण्ड से उसी प्रवर्ग्य के द्वारा सोममात्रा निकलकर वायु में व्याप्त नहीं होती ?, होती है, और अवश्य होती है । चन्द्रमा से निकल कर अन्तरिक्ष में व्याप्त होने वाली सोममात्रा ही तो पार्थिव--भुक्ति के द्वारा **ओषधियों का पोषण करती है** । एवमेव सूर्य्य से निकलकर अन्तरिक्ष में व्याप्त रहने वाली अग्निमात्रा ही तो पार्थिवभुक्ति के द्वारा **वनस्पतियों का पोषण करती है** । क्या ओष--धियों में अग्निमात्रा, एवं क्या वनस्पतियों में सोममात्रा नहीं रहती ?, रहती है, और अवश्य रहती है । दोनों में दोनों की भुक्ति है । केवल स्थिति में तारतम्य है । **अग्निमात्रागर्भिता सोमामात्रा जहाँ ओषधियों का निर्म्माण करती है, वहाँ सोममात्रागर्भिता अग्निमात्रा से वनस्पतियों का स्वरूप--निर्म्माण होता है** । दूसरे शब्दों में--**ओषधियों में चान्द्र-सौम्य-प्राण** की, एवं **वनस्पतियों में सौर--आग्नेयप्राण** की **प्रधानता है** । **चन्द्रमा, सूर्य्य,** दोनों क्रमशः **सत्यसोम--सत्याग्निपिण्ड हैं** ।

सत्यसोमपिण्डात्मक चन्द्रमा से विनिर्गत **वायव्य ऋतसोम** की सजातीयभावानुबन्ध से सौम्य उत्तराकाश में प्रधानता रहती है एवं सत्याग्निपिण्डात्मक सूर्य्य से विनिर्गत **वायव्य ऋताग्नि** की आग्नेय दक्षिणाकाश में प्रधानता रहती है । **ऋताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर निरन्तर जाया करता है, तो ऋतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर निरन्तर आया करता है** । दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाले

ऋताग्नि में उत्तर से दक्षिण की ओर ओर आने वाले ऋतसोम की आहुति होना अनिवार्य्य है। इसी आहुति से ऋताग्नि-ऋतसोम के रासायनिक सम्मिश्रणात्मक याग-सम्बन्ध से, अन्तर्य्याम सम्बन्ध से ही उस उभयात्मक अपूर्वभाव का जन्म होता है, जिसे ऋताग्निसोम के सम्बन्ध से ही 'ऋतु' कहा जाता है।

इसप्रकार यद्यपि **ऋतु में अग्नि-सोम, दोनों का ही समन्वय है**। तथापि एक विशेष दृष्टिकोण के अनुरोध से हम इसे अग्निप्रधान हीं कहेंगे। सौर-प्रवर्ग्याग्नि से युक्त पार्थिव अग्नि की ही ह्रासवृद्धि होती है। ऋतसोम की ह्रास-वृद्धि अस्वाभाविक है। प्रतिसञ्चर ( लय ) अवस्था में अग्नि अवश्य ऋत ( सोम ) रूप में परिणत होजायगा, परन्तु-**'यथाकाशगतो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'** सिद्धान्तानुसार नित्याकाशानुगत नित्यवायव्य ऋतसोम अपने प्राणरूप से सदा अक्षुण्ण ही बना रहेगा। सोम के इसी नित्यधर्म्म को लक्ष्य में रखते हुए वैज्ञानिकोंनें इस की ह्रास-वृद्धि नहीं मानी है। **'ऋतं नात्येति किञ्चन'** - **'ऋते भूमिरियं श्रिता'** इत्यादि आथर्वणसिद्धान्तानुसार व्यापक, सत्यपिण्डाधारभूत ऋतसोम की प्रतीयमाना ह्रास-वृद्धि वस्तुतः पार्थिव ऋताग्नि की ही ह्रास-वृद्धि है। सोम स्वस्वरूप से एकरस ही है। अतएव वसन्तादि षड्ऋतुओं के निर्वचन में-**'अग्निकणा वसन्तो भवन्ति, अतिशयेन पदार्थान् गृह्णाति, अतिशयेन उरू, अग्निकणाः शीर्णा भवन्ति, हीनतां गता भवन्ति, पुनः-पुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति'**, इत्यादिरूप से अग्निकणों का ही **उद्ग्राम-निग्राभ** ( चढ़ाव-उत्तार ) बतलाया जाता है। तत्त्वतः ऋताग्नि ही स्वोद्ग्राभ से षड्-ऋतुरूप में परिणत होता है। इसी आधार हर श्रुति का सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है कि—**'अग्नयो वा ऋतवः'-'ऋतवो ह्येते, यदेताश्चितयः-अग्निचितयः'**-( शत० ६।२।१।३६ )।

प्रकृतमनुसरामः। पार्थिव अग्नि भी सौर अग्निवत् सत्य, ऋत, भेद से दो भागों में विभक्त है। भूकेन्द्र से बद्ध पार्थिव वह अङ्गिरोऽग्नि, जो नियतपथ से सर्वथा ऋजुभाव से **'अश्वो न देववाहनः'** इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार अश्वस्वरूप में परिणत होता हुआ द्युलोक की ओर जाया करता है, सत्याग्नि है। इस सत्याग्नि से पार्थिवविवर्षा का कोई उपकार नहीं होता, प्रत्युत अपकार ही होता है। जाता हुआ यह सत्याग्नि तो हव्यवाहन है, पार्थिव रसमात्राओं को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित कर द्युलोकस्थ सावित्रप्राणाग्निमय सौर देवताओं में आहुति देने वाला है, पृथिवी के पानी को द्युलोक में बरसाने वाला है। इसी सत्याग्नि के लिए—**'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति'** इत्यादि कहा गया है। दूसरा है—**ऋतलक्षण पार्थिव अग्नि**। भूप्रदेश से सर्वत्र उष्मा ( गर्मी ) निकलती रहती है। कूपादि गर्त्तों ( गड्ढों ) में इस ऊष्मा का प्रत्यक्ष किया जासकता है। इसका कोई नियत पथ नहीं है। अपितु अनियमितरूप से ( ऋतरूप से ) यह सब ओर से निकला करती है। ऋतधर्म्मा उष्मात्मक यह पार्थिव ऋताग्नि ही आन्तरिक्ष्य पानी के आकर्षण का कारण बनता है। **जबतक यह ऊष्मा चरमसीमा पर नहीं पहुँच जाती, तबतक पानी नहीं बरस सकता।**

भूपिण्ड से सत्याग्नि के द्वारा द्युलोक में पहुँचने वाली जलमात्रा सूर्य्यरश्म्यवच्छिन्न वायुधरातल पर प्रतिष्ठित रहती है। इस आन्तरिक्ष्य जलमात्रा में आन्तरिक्ष्य ऋत-दिक्सोम का समावेश होता है। श्रद्धा का रूपान्तर यह सोम ही उस जलमात्रा का पोषण करता है। आन्तरिक्ष्य पर्जन्य वायु, पार्थिव ऋताग्नि-लक्षणा ऊष्मा से उत्पन्न धूमात्मक बाष्प, सौर तेजोमय प्रवृक्त ज्योतिर्भाव, अन्तरिक्षभुक्त पार्थिव जलमात्रा, इन सब ( **वायु, धूम, ज्योति, सलिल** ) तत्त्वों के समन्वय से अन्तरिक्ष में जो अपूर्व भौतिक पदार्थ

उत्पन्न होता है, वही 'अभ्र' कहलाया है। * 'अप्-( जल ) को अपने गर्भ में रखने के कारण ही 'धूम-ज्योतिः-सलिल-मरुतां'-समन्वय लक्षण वह अपूर्णभाव-'अभ्र' कहलाया है। 'अभ्र' केवल अभ्र है, जलधारण करने वाला मात्र है। इस से वृष्टि नहीं होती। वृष्टि होती है-'मेघ' से।

जलकोशात्मक बद्दल अभ्र है, एवं जलवर्षक बद्दल अपने मेहन धर्म्म से मेघ है। जबतक बद्दल में अश्मासोमात्मक वृत्रप्राण के सहयोगी वृष्ट्यवरोधक 'नमुचि' ( न मुञ्चति जलम् ) प्राण का प्राधान्य रहता है, तबतक वह बद्दल 'अभ्र' कहलाता है। न्यङ् परावर्तित सूर्य्यरश्मियाँ सौर इन्द्रतत्त्व के वज्र हैं। इस दिव्य इन्द्र के वज्रप्रहार से [ रश्मिगत आग्नेयप्राण के समावेश से ], तथा पार्थिव ऊष्मा-नुगत वासव इन्द्र के व्यापार से [ पार्थिवी ऊष्मा के समावेश से ] जब अवरोधक 'नमुचिप्राण' का ग्रन्थिबन्धन टूट जाता है, तभी वह अभ्र 'मेघ' रूप में परिणत होकर वृष्टि करता है। इसप्रकार द्युलोकस्थ मघवेन्द्र, भूलोकस्थ वासवेन्द्र के वज्रप्रहार से नमुचि असुर का जब शिर-च्छेद हो-जाता है, तभी वृष्टि होती है। निम्न लिखित मन्त्र इसी रहस्य का विश्लेषण कर रहा है—

(१)—"अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्त्तयः।

विश्वा यदजयः स्पृधः॥"

—ऋक्सं० ८।१४।१३।

(१)—"इन्द्रश्च वा नमुचिश्चासुर समदधातन्न नौ नक्तान्न दिवाहनन्नार्द्रेण न शुष्केणेति। तस्य व्युष्टायामनुदित आदित्यं ऽपां फेनेन शिरोऽच्छिनत्"॥

—ताण्ड्यमहाब्रा० १२।६।८।

पार्थिवी ऊष्मा नीचे से ऊपर जारही है। ऊपर अन्तरिक्ष में वायुधरातल में अभ्रात्मक वारिदलों ( बद्दलों ) में जल भरा हुआ है। जब पार्थिव-ऊष्मा वहाँ पहुँच रही है, तो इसके रुद्रात्मक-रुद्धद्रवण-धर्म्म से अभ्रस्थ जल बरस क्यों नहीं पड़ता ?, यह एक प्रश्न है। वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, यह ठीक है कि पार्थिव अग्नि ( ऊष्मा ) ऊपर जारहा है। परन्तु साथ साथ ही आन्तरिक्ष्य दिक्सोम पृथिवी की ओर आ भी तो रहा है। जितनी मात्रा में ऊष्मा [ गर्मी ] ऊपर जाती है, उतनी हीं मात्रा से सोम भी [ सर्दी ] नीचे आ रहा है। सममात्रा से आने वाले सोम के सम्बन्ध से तन्मात्रासमतुलित पार्थिव अग्नि का द्रवण-धर्म्म शान्त होजाता है। फलस्वरूप आन्तरिक्ष्य अभ्र मेघस्वरूप में परिणत नहीं होने पाते, अतएव वृष्टि नहीं होती।

आवश्यक यह है कि, आते हुए शीतगुणक आन्तरिक्ष्य ऋतसोम के, तथा जाते हुए पार्थिव अग्नि में मध्यावरण का समावेश होना चाहिए, जो आन्तरिक्ष्य सोमबल को अपने ऊपर अवरुद्ध करदे। उस अवस्था में पार्थिव-ऊष्माबल एक तो सोमावरोध से प्रबल होजायगा, दूसरे मध्यावरणजनित संकोच से भी उसे बल मिलेगा। परिणाम-स्वरूप उभयबल के समावेश से अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती हुई यह ऊष्मा अवश्य ही सौर इन्द्र के सहयोग से अभ्र को मेघरूप में परिणत कर देगी, 'अग्नेरापः' सिद्धान्त चरितार्थ हो-जायगा, फलतः पानी भूतल पर बरस पड़ेगा।

---

* धूम-ज्योतिः-सलिल-मरुतां-सन्निपातः क्व मेघः (अभ्रः)।

—कालिदासो मेघदूते

समाधान सामयिक है । परन्तु उस मध्यावरण का जन्मदाता कौन बने ?, प्रश्न का उत्तर एकमात्र पाठकों का सुपरिचित 'पर्जन्य वायु' ही है । पालन-पूरणार्थक 'पृ' धातु (पालनपूरणयोः-जु० प० से०) से, अथवा तो सेचनार्थक 'पृषु' धातु ( 'पृषु' सेचने-भ्वा० प० से० ) से 'पर्जन्य' शब्द निष्पन्न हुआ है । पर्जन्य उस वर्षक वायुविशेष का नाम है, जिस का स्वरूप आप्यप्राणात्मक सौररश्मिगर्भित इन्द्र से सम्पन्न हुआ है । अतएव इन्द्र को भी पर्जन्य कहा जासकता है । 'पर्षति-सिञ्चति मेघसञ्चयद्वारा वृष्टिं ददाति' से मेघसञ्चय के द्वारा जल बरसाने वाला इन्द्रप्राणगर्भित पुरोवात-आप्य-वायुविशेष ही 'पर्जन्य' है । 'पर्जन्यो मेघशब्देऽपि, ध्वनदम्बुद-शब्दयोः ( विश्वकोश )-'पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ' ( अमरः ) इत्यादि कोशवचन भी इसी निर्वचन का समर्थन कर रहे हैं । ऋक्संहिता के ५ मण्डलान्तर्गत, दशमन्त्रात्मक 'अच्छावद' सूक्त में पर्जन्य के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण हुआ है । वहाँ बतलाया गया है कि, पुरवाई हवा का चलना, वर्षणानुकूल गर्जन-तर्जन, वृष्टिपात आदि सभी 'वृष्टिकर्म्म' इसी पर्जन्य पर अवलम्बित हैं । जिस समय अपने गर्ज्जन-तर्ज्जन के साथ पर्ज्जन्यदेवता नभोमण्डल में मेघरूप से व्याप्त होते हुए वृष्ट्युन्मुख बनते हैं, उस समय सम्पूर्ण पार्थिव चर-अचर-प्रजावर्ग में एक प्रकार का उल्लास छाजाता है । देखिए—

यत् पर्जन्यः कनिक्रदत् स्तनयन् हंसि दुष्कृतः ।
प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किञ्च पृथिव्यामधि ॥

—ऋक्सं० ५।८३।९।

यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति ।
यस्य व्रत ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म्म यच्छ ॥

—ऋक्सं० ५।८३।५।

सुप्रसिद्ध 'इन्द्रधनुष' की उत्पत्ति का प्रधाननिमित्त भी यही पर्जन्यवायु है । वृष्टि से पहिले, अथवा तो पीछे आकाश में सप्तवर्णात्मक 'धनुष' का प्रत्यक्ष किया जाता है । सप्तवर्ण ( रङ्ग ) का कारण एकमात्र वे * सूर्यरश्मियाँ ही हैं, जिन के प्रतिफलन से वायुगर्भित आपोमय धनुर्धरातल सप्तवर्णात्मक बन जाता है । वीध्र धरातल से संस्पृष्ट रश्मियों का उसीप्रकार वक्रीभाव होजाता है, जैसे कि-पानी में सीधी भी प्रविष्ट लकड़ी अब्गर्भ में वक्रित प्रतीत होने लगती है, जिसका त्रिभुजाकर-दर्पणखण्ड में भी प्रत्यक्ष किया जासकता है । यही

* जिस सूर्य्यरश्म्यनुगत सप्तवर्णविज्ञान-परिज्ञान का प्रथम श्रेय भारतीय महर्षियों को मिलना चाहिए था, शास्त्रानुशीलन-परित्यागलक्षण हमारे आलस्य ने यह श्रेय आज सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक-"न्यूटन" को मिल रहा है । कहा जाता है-न्यूटन ने ही परीक्षा के द्वारा पहिले पहिल यह प्रमाणित किया कि, सौरप्रकाश में अनेक रङ्गों का समन्वय है, जब कि सप्तवर्णविज्ञान-ऋग्वेदीय-'अहोरात्र विज्ञान' में न्यूटन से लाखों वर्ष पहिले पूर्णरूप से परीक्षित, एवं प्रमाणित बन चुका था-'कालाय तस्मै नमः' ।

वक्रप्रक्रिया 'लम्बन' नाम से व्यवहृत हुई है। लम्बन से रश्मिभुक्त सप्तवर्णैकत्रसमष्टिरूप श्वेतवर्ण का विशकलन होजाता है, एक के–सात पर्व होजाते हैं। और यही सप्तवर्णप्रतीति का मूलकारण है। पर्जन्य–आप्य–वायुधरातल इसी रश्मि–लम्बन से सप्तवर्णात्मक इन्द्रधनुष का जनक बनता है। रश्मिभुक्त प्राण ही इन्द्र है। इसी सम्बन्ध से यह धनुष तन्नाम से व्यवहृत हुआ है। पर्जन्यात्मक इन्द्रधनुष त्रुटित–रश्मिभावात्मक बनता हुआ आत्मविरोधी है। अतएव उद्यन्त–अस्तंयान्त–आदि सूर्यों की भाँति ÷ इन्द्रधनुप्रदर्शन का भी निषेध हुआ है। इन्द्रधनुत्र के पर्जन्यात्मक इसी तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

**माया वा मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम् ।**
**तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते ॥**

—ऋक्सं० ५।६३।४।

वृष्टि से पहिले जो आप्य वायु प्रवाहित होता है, वही 'पुरोवात' वायु पर्जन्य है। यही प्रतीच्यभाषा में 'मान्सून' कहलाया है। यही पर्जन्यवायु–'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे' के अनुसार जलवर्षक माना गया है। पर्जन्यवायु करता क्या है?, इस प्रश्न का उत्तर है–मेघत्रयी की प्रवृत्ति। वायुप्रेरणा से विनिर्गत धूम [बाष्प] आन्तरिक्ष्य सलिलमात्रा, एवं रश्मिगत तेजोमात्रा–लेकर घनभाव में परिणत होजाता है। ऐसे घन–धूम जबतक त्रिस्तरात्मक नहीं बन जाते, तबतक वृष्टि नहीं होसकती। सब से ऊपर का मेघावरण आन्तरिक्ष्य शीतधर्म्मा सोमागमन का निरोधक बनता है। मध्य का स्तर उपरिस्थित स्तर की स्कम्भनी बनता है। सर्वाधः स्तर [ अभ्र ], जिस में जलमात्रा भरी हुई है–पार्थिव उष्मा से च्युत- होता हुआ पर्जन्य की नोदना से बरस पड़ता है। पर्जन्य का सञ्चार होता है—यज्ञाग्नि के द्वारा–'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः'। पार्थिव–अग्निजनित धूम ही तो पर्जन्यात्मक मेघ का जनक बनता है। इसीलिए तो पर्जन्य विष्णुरूप से भी उपस्तुत है। ( देखिए-महाभारत–१।६५।४४ )। यज्ञाग्नि के द्वारा उत्पन्न इसी पर्जन्यविज्ञान को लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है—

**'तपोजा' इति। अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रं, अभ्राद्वृष्टिः।**
**अग्नेर्वा एता जायन्ते। तस्मादाह 'तपोजा' इति' ॥**

—शत० ब्रा० ५।३।५।१७।

उक्त पर्जन्य–विज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ही ब्राह्मण की १८ वीं कण्डिका का समन्वय कीजिए। पर्जन्य के द्वारा उत्पन्न मेघस्तरों से सोम का निरोध होजाता है। फलस्वरूप पार्थिवी ऊष्मा को प्रवृद्ध होने का

---

÷ **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं, नास्तं यान्तं कदाचन।**
**नोपसृष्टं, न वारिस्थं, न मध्यनभसो गतम् ॥**

अवसर मिल जाता है। ग्रीष्म-ऋतु निदाघात्मक प्रवृद्धकालानुग्रह से भी पार्थिवाग्नि अपेक्षाकृत प्रबल रहता है। अतिशयेन उरुभावापन्ना यह उष्मा ( उमस ) ही तो वर्षा की जननी बनती है, जिसका श्रेय परम्परया पर्जन्य को ही प्राप्त है। **'ओश्रावय'** इत्याकारक देवप्राण ( आग्नेय प्राण ) के सम्बन्धरूप आह्वान से पुरोवात ( पर्जन्य ) का प्रादुर्भाव होगया। **'अस्तुश्रौषट्'** लक्षण देवप्राणसम्बन्ध से पर्जन्य-व्यापार के द्वारा-धूम-जनित अभ्रस्तरों से आकाश छागया। अब आगे चलकर वर्षा से पहिले **विद्युत** एवं **स्तनयित्नु**, ये दो धर्म्म और उत्पन्न होते हैं।

पुरोवात के द्वारा आकाश में समाप्लावित अभ्रों के पारस्परिक संघर्ष से ही **विद्युत् ( ज्योति ) और स्तनयित्नु (शब्दध्वनि)** उत्पन्न होती है। श्रुतिने प्रथम स्थान विद्युत् का रक्खा है, एवं द्वितीय स्थान स्तनयित्नु का माना है। इस का एकमात्र कारण दृश्यस्थिति ही है। हमें पहिले-विद्युत् की ही प्रतीति होती हैं, अनन्तर शब्दध्वनि सुनाई पड़ती है। तत्त्वतः स्थिति यह है कि, पहिला स्थान स्तनयित्नु ( ध्वनि ) का है, एवं दूसरा विद्युत् का है। प्रत्यक्ष में देखिए। एक रजक सरोवर के इस छोर पर खड़ा हुआ शिला पर वस्त्र फटकारता है। हम इस क्रिया का सरोवर के उस छोर पर खड़े हुए साक्षात्कार कर रहे हैं। फटकार के साथ ही ध्वनि का आविर्भाव होता है। यह ध्वनि संघर्षसहजजन्मा है। परन्तु प्रतीति ध्वनि की होती है संघर्ष [फटकार] के कुछ काल पीछे। वायु के सहयोग से संघर्षजनित अग्निव्यापार के द्वारा उत्पन्न शब्द-सरोवर प्रदेश में व्याप्त आप्यवायु-वीचियों [ लहरों ] के आधार पर प्रतिष्ठित होकर ही श्रोत्रेन्द्रिय पर आता है। यही इसके 'आगमन-विलम्ब' का कारण है। जलकणमिश्रित वायु से अग्निमयी शब्दध्वनि अवरुद्धवीर्य्या बन जाती है। एवमेव भुशुण्डी [ तोप ] छूटने पर पहिले चमक दिखलाई पड़ती है, अनन्तर शब्द सुना जाता है। विद्युत् में तीव्रगति है। शब्द वायुस्तराकर्षण से मन्दगति है। अतएव पहिले भी उत्पन्न, किंवा साथ भी उत्पन्न विद्युत् तत्काल प्रतीत होजाती है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। दृश्यस्थिति कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यही है कि, पहिले संघर्ष से शब्द, [स्तनयित्नु], एवं अनन्तर ज्योति [विद्युत्] उत्पन्न होती है।

पूर्व में मेघ के तीन स्तर बतलाए गए हैं। यह त्रित्व स्थूल मान है। वस्तुतः आकाशस्थ सप्तमरुत्-स्तरों के कारण मेघ के भी सात ही स्तर होते हैं। मध्य-मध्यस्थ वायुस्तरों के-निर्गमन से ही मेघस्तरों का परस्पर संघर्ष होता है, इसी संघर्ष से विद्युत् उत्पन्न होती है, इसी संघर्ष से-**'वायुः खात, शब्दस्तत्'** इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्तानुसार स्तनयित्नु ( शब्द-गर्ज्जन ) उत्पन्न होती है। मेघस्तरों का उच्चावच जैसा आकार होता है, तत्संघर्ष से उत्पन्न विद्युत्-स्तनयित्नु की भी तत्सदृश ही उच्चावच आकृतियाँ रहतीं हैं। ऊर्ध्वस्तरसंघर्ष से उत्पन्न विद्युत्-स्तनयित्नु अधोऽवस्थित मेघस्तरावरण से दृष्टि-श्रुति का विषय नहीं बनती। उन का अधः स्तर-प्रदेशों में ही विलयन होजाता है। अधोऽवस्थित तीन स्तरों के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न विद्युत्, और स्तनयित्नु का ही प्रत्यक्ष, एवं श्रवण हुआ करता है। सर्वोपरिस्थ स्तर मध्यस्थ स्तर पर पड़ता है, संघर्ष होपड़ता है। इस मध्यम संघर्ष से उत्पन्न विद्युत्, और स्तनयित्नु की प्रायः एकसाथ ही प्रतीति होती है। साथ ही सर्वाधः स्थित तृतीय मेघस्तरावरण के कारण इस विद्युत् का भूपृष्ठ पर पात भी नहीं होता। यदि संघर्ष आत्यन्तिक होता है, तो यह भी गिर पड़ती है। परन्तु सर्वाधः स्थित मेघस्तर के संघर्ष से जो विद्युत् उत्पन्न होती है, वह अवश्यमेव भूगर्भ में आठहरती है।

संघर्ष से उत्पन्न ज्योतिर्भाग सघर्ष के तारतम्य से उसी प्रकार कभी कभी **वज्र**, **उल्का**, आदि की भी उत्पत्ति होजाया करती है, जैसे कि आन्तरिद्य एकोन–पञ्चाशत् ( ४६ ) मरुतों के पारस्परिक संघर्ष से 'वज्र, उल्का, धिष्ण्या, तारा' ये चार प्रकार के ज्योतिःपुञ्ज उत्पन्न होते रहते हैं। **दृगार्गलविज्ञान** के अनुसार जैसे भूगर्भ में पूर्व--पश्चिम--उत्तर--दक्षिण--ईशान--नैर्ऋत--आग्नेय-वायव्यादि दिक्--प्रतिदिक् से क्षार--मधुर--तिक्तादि जलस्रोत प्रवाहित रहते हैं, एवमेव आकाश में दिक्--प्रतिदिक् भेद से तीव्रवेग के साथ वायुस्तर प्रवाहित हैं। कल्पना कीजिए, एक वायुस्तर तीव्र वेग से पूर्व से पश्चिम की ओर जारहा है, तो दूसरा उसी वेग से पश्चिम से पूर्व की ओर। यदि दोनों का गमनागमन मार्ग विभिन्न है, तो शान्ति है। यदि दोनों के प्रान्तभागों का भी स्पर्श होजायगा, तो संघर्ष से ज्योति उत्पन्न होजायगी। यत्किञ्चित्--सम्पर्कमात्र से उत्पन्न यही क्षुद्रज्योति **'तारा'** है। यदि संघर्ष में बलाधिक्य है, तो ज्योति प्रवृद्ध है। यही सामान्य ज्योति **'धिष्ण्या'** है। यदि दोनों के प्रान्तभाग एक दूसरे से आक्रान्त [दव] होजाते है, तो अतिशयरूपेण प्रवृद्धा ज्वाला उत्पन्न होजाती है। साथ ही प्रान्तभागाक्रान्ति के अनुपात से बड़ी दूर पर्य्यन्त वह प्रकाशपुञ्ज जाता हुआ प्रतीत होता है, जिस का आकार पुच्छसम माना गया है। यही **'उल्का'** है। यदि दुर्भाग्य से दोनों वायुस्तरों के मार्ग अभिन्न होजाते हैं, तो दोनों का सर्वात्मना संघर्ष होपड़ता है। इस से भयानक प्रतिध्वनि के साथ जो ज्योतिःपुञ्ज पृथक् होकर अपने आत्यन्तिक वेग से भूपृष्ठ पर आकार ठहरता है, वही **'वज्र'** कहलाया है। यही अधः-प्रदेशस्थ वायुस्तर मार्गावरोध होने से भूपिण्ड की ओर अनुगत होता हुआ कन्दरा, भूगर्त्तादि में प्रविष्ट होकर तदवच्छिन्न भूप्रदेश को कम्पित कर देता है। यही सुप्रसिद्ध **आग्नेय, वारुण [ आप्य ], ऐन्द्र, [ ग्रह ], वायव्य**, चतुर्विध भूकम्पों में से चौथा **वायव्य भूकम्प** कहलाया है। **पुरोवात, अभ्र, विद्युत, स्तनयित्नु, वर्षा**, इस क्रम से वृष्टिकर्म्म में [ जलवर्षक मेघों में ] इन पाँचों का रहना अनिवार्य्य है। त्रिःस्तर ही इस **पञ्चावयवात्मिका मेघ--सत्ता** का कारण है। ऐसा मेघ निश्चयेन **कृष्णवर्ण** होता है। क्यों कि, ऊर्ध्व–स्तरों के आवरण से सौर--प्रकाश आत्यन्तिकरूप से अवरुद्ध होजाता है। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है–'**धामच्छदिव खलु वै भूत्वा वर्षति**' ( तै० सं० २।४।१० )–'**कृष्णो भवति। एतद्वै वृष्ट्यै रूपम्**'–( तै० सं० २।१।८)। **पारमेष्ठ्य आप्यप्राण अप्सरामय है, आप्य वायव्य प्राण गन्धर्व है।** अतएव वर्षाऋतु कामभाव की प्रतिष्ठा मानी गई हैं। गन्धर्वप्राण के सम्बन्ध से सङ्गीत की भी मूलप्रतिष्ठा यही है। **'वर्षा हि–सर्व ऋतवः'** के आनुसार यही सम्वत्सर की भी प्रतिष्ठा है। भारतीय लोकसंगीतों * में भी वर्षा का यही स्वरूप उपवर्णित है, जिसका कृष्णपर्जन्य, विद्युत्, स्तनयित्नु, आदि रूप से अबतक विश्लेषण हुआ है। यही प्रासङ्गिक **वृष्टिविज्ञान** है, जिसका प्रकृत आश्रावण–प्रत्याश्रावण कर्म्म के साथ निम्नलिखित रूप से समन्वय किया जारहा है।

---

***–आयो अब वरषा रुत। ( ध्रुव० )।**
**ओ ( उ ) त्कट कान्ति नरेस ( श )।**
**अम्भोधर नग प्रमत्त कामी जन सब हरषत।**
**चमकत दामिनी पताक डंका भयो अशनी ख।**
**कृष्ण बरण मधुर मेघ गगन भरयो समन्तात ( आयो० )।**

बतलाया गया है कि, अभ्रसमाप्लावन के अनन्तर **'यज'– ये 'यजामहे'** इत्याकाराकारिता यजनानुगति, एवं यजनप्रवृत्तियों से क्रमशः विद्युत्—स्तनयित्नु उत्पन्न होजाती हैं। सर्वान्त में **'वौषट्'** इत्याकारक यजनकर्म्मारम्भ के साथ साथ ही पानी बरसने लगता है। इसप्रकार प्राकृतिक यज्ञ के प्राणविध ऋत्विजों ( प्राणदेवताओं ) के पञ्चव्याहृत्यात्मक पञ्च कर्म्मों से वृष्टिकर्म्म सञ्चालित है। जिस यजमान को वृष्टि अपेक्षित हो, वह संख्या-सम्पत् से समतुलित **'ओश्रावय' 'अस्तु श्रौषट्'–'यज'–'ये यजामहे'–'वौषट्'** इन पाँच व्याहृतियों के प्रयोगकाल में ऋत्विजों को क्रमशः **'पुरोवात'–'अभ्र'–'विद्युत्'–'स्तनयित्नु'–'वर्षाकर्म्म'** इन पाँच आधिदैविक वृष्टिकर्म्मावयवों के मानस संकल्प के लिए प्रेरित करें। निश्चयेन इस भावनामात्र से वृष्टि होगी–**'वर्षति हैव तत्र—यत्रैवमृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति'**। और—**'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः'** वचन चरितार्थ होगा। ब्राह्मण की १८,१९, इन दो कण्डिकाओं में काम्यकर्म्मलक्षणा वृष्टि के द्वारा संक्षिप्त-भाषा में इसी वृष्टिविद्या का दिगदर्शन कराया गया है ॥ १८, १९, ॥

## इति-वृष्टिविज्ञानम्

आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म वह महत्त्वपूर्ण कर्म्म है, जिससे आधिदैविक–आधिभौतिक–अध्यात्मिक, तीनों कामनाओं को परिपूर्ण किया जासकता है। सम्वत्सरयज्ञसम्पत्ति आधिदैविकफल है। इसके समष्टि, व्यष्टयात्मक दो विवर्त्त हैं। **अहोरात्र-पक्ष--ऋतु--अयन--सम्वत्सर,** ये पाँच एक सम्वत्सर की पाँच व्यष्टियाँ है। स्वयं **सम्वत्सर,** और उसकी मूलप्रतिष्ठारूप **सप्तदशप्रजापति,** दोनों समष्टयात्मक सम्वत्सर है। पञ्चव्याहृतियों से व्यष्टयात्मिका सम्वत्सरसम्पत्ति का, पञ्चव्याहृतियों के सत्रह अक्षरों से समष्टयात्मिका सम्वत्सर-सम्पत्ति का संग्रह करते हुए ऋत्विग्गण पञ्चव्याहृत्यात्मक **'आश्रावण–प्रत्याश्रावण'** कर्म्म से यजमान के मानुषयज्ञ को आधिदैविक सम्पत्ति से युक्त कर देते हैं, जिसका १६,१७, इन दो कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है। अङ्गभूत नवव्याहृत्यात्मक **'स्रुगदापनकर्म्म'** से दैवात्मा में नव आध्यात्मिक प्राणाधान के द्वारा आध्यात्मिक-सम्पत्ति का संग्रह कर लिया जाता है, जिसका ५ वीं कण्डिका में उल्लेख हुआ है। शेष रह जाता है–आधिभौतिक इष्ट फल।

आधिभौतिक इष्ट फल की प्राप्ति **द्यौः ( आकाश )** और **पृथिवी,** इन दो विवर्त्तों से होती है। आकाशोपलक्षित पर्जन्यदेवता समय पर वृष्टि करते रहें–( **निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु** ) यही आकाशात्मक आधिभौतिक ऊर्ध्व पर्व का अनुग्रह है। ब्राह्मण की १८, १९, इन दो कण्डिकाओं में इसी अनुग्रह का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रस्तुत २० वीं कण्डिका में पृथिव्यनुगत आधिभौतिक अधः पर्व के इष्टफल का दिग्दर्शन कराती हुई ही श्रुति कहती है कि, जिसप्रकार **'ओश्रावय'** आदि पाँच व्याहृतियों से प्राणदेवता पुरोवातादि के द्वारा वृष्टिकर्म्म का सञ्चालन कर रहे हैं, एवमेव इन्हीं व्याहृतियों से ( व्याहृत्यात्मक देवाह्वान—प्रदान – आदान लक्षण यज्ञ से ) वे विराड्गौरूपधरा पृथिवी का दोहन किया करते हैं।

दोहनकर्म्म में गौ का सामीप्य बंधे वत्स को ( पावसने के लिए ) खोलना, वत्समुख का स्तन के साथ-सम्बन्ध कराना, बच्चे को हटाते हुए दोहनपात्र लेकर दोहने के लिए सन्नद्ध होजाना, एवं दोहना, ये प॰त पर्व है। पाँचों व्याहृतियों का क्रमशः इन पाँचों दोहनकर्म्म-पर्वों से क्रमिक सम्बन्ध है। **पार्थिव अग्नि ही विराट् गौ है**। इसीसे पार्थिव अग्निहोत्र सञ्चालित है, जैसा कि द्वितीयकाण्डान्तर्गत **'अग्निहोत्र-ब्राह्मणविज्ञान'** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। पार्थिव प्राणाग्नि के ६-१५-२१ भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाचुका है। त्रिवृत्-स्तोमानुगत पार्थिव अग्नि गार्हपत्य है, यह एककल है। पञ्चदशस्तोमानुगत आन्तरिक्ष्य ( पार्थिव ही ) अग्नि धिष्ण्य है। अष्टविध नाक्षत्रिक सर्पप्राण के सम्बन्ध से यह अष्टकल है। एकविंशस्तोमानुगत दिव्य [ पार्थिव ही ) अग्नि आहवनीय है, यह एककल है। इसप्रकार स्तोमात्मिका महापृथिवी के पृथिवी—अन्तरिक्ष--द्यौरूप तीनों स्तेमलोकों के भेद से पार्थिव गौरूप अग्नि के १--८--१ भेद से १० पर्व हो जाते हैं। यही दशकल 'विराड् अग्नि' है।

दशाक्षर विराट् छन्द से समतुलित होने से ही गौरूप पार्थिव अग्नि 'विराट्' कहलाया है। इसीके सम्बन्ध से चित्य [ भूत ] अग्निमय भूपिण्ड **'विराड् गौ'** कहलाया है। विराड् गौ का वत्स है--मातरिश्वा नामक वह भूवायु, जो अपने व्याप्ति, एवं संवरणधर्म से **'एमूषवराह'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है। इसी वत्स [ वायु ] के सम्बन्ध से द्युलोकस्थ प्राणदेवता विराड्गौ का दोहन करने में समर्थ हुए है। वायु के द्वारा ही पार्थिव रसमात्राओं का दोहन होता है। यही विराड्गौ का दोह है, जिसे जानकर तद्भावनापूर्वक आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म करने वालों के लिए पार्थिव कामनाएँ पूरीं होजातीं हैं ॥२०॥

## पाँचवें अध्याय में दूसरा, एवं चौथे प्रपाठक में तीसरा ब्राह्मण उपरतम्

श्रीः

# अथ–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये
# प्रथमकाण्डे
# त्रिब्राह्मणात्मकं–"प्रयाजब्राह्मणम्"

—————

[ क्रमानुगता पृष्ठसंख्या १४७५ ]

श्रीः

## विशेष–सूचना—

हमारी शारीरिक–अस्वस्थता के कारण कम्पोजीटरों की असावधानी से आगे पृष्ठसंख्या के समावेश में भूल होगई है। फलस्वरूप क्रमप्राप्त १४७४ इस पृष्ठ संख्या से आगे १४७५ यह क्रम न रहकर ११७ से उपक्रान्त होकर आगे अवसान पर १७६ संख्या लग गई है। पाठकों को इस क्रमव्यत्यास का संशोधन करते हुए इस प्रक्रान्त पञ्चमाध्यायानुगत तृतीय ब्राह्मण, तथा चतुर्थप्रपाठकानुगत चतुर्थब्राह्मण की ११७ से १७६ की संख्या का "१४७५ से १५४२ पर्य्यन्त" इस क्रम से संशोधन कर लेना चाहिए। केवल संख्या में हीं त्रुटि हुई है। विषय आनुपूर्वी से क्रमबद्ध ही है।

विनीत—

सम्पादक

(१)—प्रतृरणपाठः ( अर्थावबोधानुगतः )

अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

## १—प्रयाजबन्धुः

ऋतवो ह वै प्रयाजाः । तस्मात् पञ्च भवन्ति, पञ्च हि ऋतवः ॥ (१) ॥ देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे—एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि सम्वत्सरे—'अस्माकमयं भविष्यति, अस्माकमयं भविष्यति' इति ॥ (२) ॥ ततो देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः, त एतान् प्रयाजान् ददृशुः, तैरयजन्त । तैर्ऋतून् सम्वत्सरं प्राजयन्, ऋतुभ्यः सम्वत्सरात् सपत्नानन्तरायन्; तस्मात् प्रजयाः । 'प्रजयाः' ह वै नामैतत्—यत् 'प्रयाजाः' इति । तथो एवैष एतैर्ऋतून् सम्वत्सरं प्रजयति, ऋतुभ्यः सम्वत्सरात् सपत्नानन्तरेति; तस्मात् प्रयाजैर्यजते ॥ (३) ॥

ते वा आज्यहविषोभवन्ति । वज्रो वा आज्यम् । एतेन वै देवा वज्रेणाज्येन ऋतून् सम्वत्सरं प्रजयति, ऋतुभ्यः, सम्वत्सरात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादाज्य—हविषो भवन्ति ॥ (४) ॥ एतद्वै सम्वत्सरस्य स्वं पयः—यत् 'आज्यम्' । तत् स्वेनैवैन-मेतत् पयसा देवाः स्व्यकुर्वत । तथो एवैनमेष एतत् स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते । तस्मादाज्य-हविषो भवन्ति ॥ (५) ॥

स यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्, तत एव नापक्रामेत् । सङ्ग्रामो वा एष सन्निधीयते-यः प्रयाजैर्यजते । यतरो वै संयत्तयोः पराजयेत, अप वै स क्रामति, अभित-रामु वै जयन् क्रामति । तस्मादभितरामभितरामेव क्रामेत्, अभितरामभितरामाहुतीर्जुहु-यात् ॥ (६) ॥ तदु तथा न कुर्यात् । यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्-तत एव

नापक्रामेत् । यत्रो एव समिद्धतमं मन्येत-तदाहुतीर्जुहूयात् । समिद्धहोमेन ह्येव समिद्धा आहुतयः ॥ (७) ॥

## २–उत्तरः प्रैषः

स आश्राव्य आह–"समिधो यज" इति । तद् वसन्तं समिद्धे । स वसन्तः समिद्धो अन्यान् ऋतून् समिन्धे । ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । तद्वेव खलु सर्वानृतून् निराह । अथ "यज, यज" इत्येव उत्तरानाह–अजामितायै । जामि ह कुर्यात्–यत् "तनूनपातं यज, इडो यज" इति ब्रूयात् । तस्मात्–'यज, यज' इत्येवोत्तरानाह ॥ (८) ॥

## ३–प्रयाजब्राह्मणम्

स वै 'समिधो' (१) यजति । वसन्तो वै समित् । वसन्तमेव तद्देवा अवृञ्जत, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । वसन्तमु–एवैष एतद् वृङ्क्ते, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् समिधो यजति । ॥ (९) ॥ अथ 'तनूनपातं' (२) यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपात्–ग्रीष्मो हि आसां प्रजानां तनूस्तपति । ग्रीष्ममेव तद्देवा अवृञ्जत, ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरेति । दस्मात्तनूनपातं यजति ॥ (१०) ॥ अथ 'इडो (३) यजति । वर्षा वा इडः । इति हि वर्षा इडः–यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्तं भवति–तद् वर्षा ईडितमिवान्नमिच्छमानं चरति, तस्माद् वर्षा इडः । वर्षा एव तद् देवा अवृञ्जत, वर्षाभ्यः सपत्नान् अन्तरायन् । वर्षा उ एवैष एतद् वृङ्क्ते, वर्षाभ्यः सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादिडो यजति ।। (११) ॥ अथ 'बर्हिः' (४) यजति । शरद्वै बर्हिः । इति हि शरद् बर्हिः–या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति, ता वर्षा वर्द्धन्ते; ताः शरदि बर्हिषो रूपं प्रस्तीर्णाः शेरे-तस्मात् शरत् बर्हिः । शरदमेव तद्देवा अवृञ्जत, शरदः सपत्नान् अन्तरेति । तस्माद् बर्हिर्यजति ॥ (१२) ॥ अथ 'स्वाहा–स्वाहा' (५) इति यजति । अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारः । अन्त ऋतूनां हेमन्तः–वसन्ताद्धि पराद्ध्यः ।

अन्तेनैव तदन्तं देवा अवृञ्जत, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । अन्तेनो एवैष एतद् अन्तं वृङ्क्ते, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् स्वाहा स्वाहेति यजति ॥ (१३) ॥ तद्वा एतद् वसन्त एव हेमन्तात् पुनरसुः, एतस्माद्धचेषु पुनर्भवति । पुनर्ह वा अस्मिन् लोके भवति, य एवमेतद् वेदः ॥ (१४) ॥

स वै 'व्यन्तु, वेतु' इति यजति–अजामितायै । जामि ह कुर्यात्–यद् 'व्यन्तु, व्यन्तु' इति वैव यजेत्; 'वेतु, वेतु' इति वा । 'व्यन्तु'–इति वै योषा, 'वेतु'–इति वृषा; मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते । तस्माद्–'व्यन्तु, वेतु' इति यजति ॥ (१५) ॥

अथ चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि । प्रजा वै बर्हिः, रेत आज्यम् । तत् प्रजास्वैवैतद् रेतः सिच्यते । तेन रेतसा सिक्तेन इमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्त्तं प्रजायते । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ (१६) सङ्ग्रामो वा एष सन्निधीयते–यः प्रयाजैर्यजते । यतरं वै संयत्तयोर्मित्रमागच्छति, स जयति । तदेतत्–उपभृतोऽधि जुहूं मित्रमागच्छति, तेन प्रजयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति बर्हिषि ॥ (१७) ॥ यजमान एव जुहूमनु; योऽस्मा अरातीयति–स उपभृतमनु । यजमानायैवैतद् द्विषन्तं भ्रातृव्यं बलिं हारयति । अत्तैव जुहूमनु, आद्य उपभृतमनु । अत्र एवैतद् आद्यं बलिं हारयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥ (१८) ॥ स वा अनवमृशन् समानयति । स यद्ध अवमृशेत्–यजमानं द्विषता भ्रातृव्येन अवमृशेत्; अत्तारमाद्येन अवमृशेत् । तस्मादनवमृशन् समानयति ॥ (१६) ॥ अथ उत्तरा जुहूमध्यूहति । यजमानमेवैतद् द्विषति भ्रातृव्येऽध्यूहति; अत्तारमाद्येऽध्यूहति । तस्मादुत्तरां जुहूमध्यूहति ॥ (२०) ॥

देवा ह वा ऊचुः–हन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञं संस्थापयामः, यदि नोऽसुररक्ष–सन्यासजेयुः–'संस्थिते एव नो यज्ञः स्यात्' इति ॥ (२१) ॥ त उत्तमे प्रयाजे स्वाहा–कारेणैव सर्वं यज्ञं समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति तदाग्नेयमाज्यभागं समस्थापयन् । 'स्वाहा सोमम्' इति तत् सौम्यमाज्यभागं समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति–तद्य एष उभयत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति–तं समस्थापयन् ॥ (२२) ॥ अथ यथादेवतम् । 'स्वाहा देवा आज्यपाः' इति–तत् प्रयाजानुयाजान् समस्थापयन् । प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपाः । "जुषाणो अग्निराज्यस्य वेतु" ( तै० ब्रा० ३।५।६।२ ) इति तदग्निं

स्विष्टकृतं समस्थापयन् । अग्निर्हि स्विष्टकृत् । स एषोऽप्येतर्हि तथैव यज्ञः संतिष्ठते-यथैनं देवाः समस्थापयन् । तस्मादुत्तमे प्रयाजे स्वाहा स्वाहेति यजति-यावन्ति हवींषि भवन्ति । विजितमेवैतत्-अनु सर्वं यज्ञं संस्थापयति । तस्माद् यदत ऊर्ध्वं विलोम यज्ञे क्रियेत-न तदाद्रियेत; 'संस्थितो मे यज्ञः' इति ह विद्यात् । स ह एष यज्ञो यातयामे-वास-यथा वषट्कृतम्, हुतम् , स्वाहाकृतम् ॥ (२३) ॥ ते देवा अकामयन्त-'कथं न्विमं यज्ञं पुनराप्याययेम, अयातयामानं कुर्याम, तेन अयातयाम्ना प्रचरेम' इति ॥ (२४) ॥ स यत् जुह्वामाज्यं परिशिष्टमासीत्-तेन् यज्ञं समस्थापयन्;-तेनैव यथापूर्वं हवींष्यभ्य-घारयन् , पुनरेवैतानि तदाप्याययन् , अयातयामान्यकुर्वन् । अयातयामं ह्याज्यम् । तस्मादुत्तमं प्रयाजं इष्ट्वा यथापूर्वं हवींष्यभिघारयति, पुनरेवैनानि तदाप्याययति, अया-तयामानि करोति । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्माद् यस्य कस्य च हविषोऽवद्यति-पुनरेव तदभिघारयति, स्विष्टकृत एव तत् पुनराप्याययति, अयातयाम करोति । अथ यदा स्विष्टकृतेऽवद्यति--न ततः पुनरभिघारयति । नो हि ततः कांचन हविषोऽग्नावाहुतिं होष्यन् भवति ॥ (२५) ॥

इति पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थब्राह्मणम्

( १।५।३ )—( १।४।४ )

इति—त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

१

अथ प्रमथकाण्डे पञ्चमाध्याये चतुर्थं चतुर्थप्राठके च पञ्चमं ब्रह्मणम्

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्

## ४—प्रयाजावृत ( पद्धतिः )

स व 'समिधो' (१) वजति । प्राणा वै समिधः, प्राणानेवैतत् समिन्धे । प्राणैर्ह्यं यं पुरुषः समिद्धः । तस्मादभिमृशेति ब्रूयात्-यद्यु पतापी स्यात् । स यद्युष्णः स्यात्-एव तावत् शंसेत, समिद्धो हि तावद् भवति । यद्यु शीतः स्यात्-नाशंसेत । तत् प्राणानेव अस्मिन् एतद् दधाति । तस्मात् समिधो जयति ॥ (१) ॥ अथ 'तनूनपातं' (२) यजति । रेतो वै तनूनपात् । रेत एवैतत् सिञ्चति । तस्मात् तनूनपातं यजति ॥ (२) ॥ अथ 'इडो' (३) यजति । प्रजा वा इडः । यदा वै रेतः सिक्तं प्रजायते—अथ तत्

ईडितमिव अन्नं इच्छमानं चरति; तत् प्रैव एतत् जनयति—तस्मादिडो यजति ॥ (३) ॥ अथ 'बर्हिः' (५) यजति । भूमा वै बर्हिः । भूमानमेतैत् प्रजनयति । तस्माद् बर्हिर्यजति ॥ (४) ॥ अथ 'स्वाहा, स्वाहा' (५) इति यजति । हेमन्तो वा ऋतूनां स्वाहाकारः । हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते । तस्माद्धेमन् म्लायन्त्योषधयः, प्र वनस्पतीनां पलाशानि मुच्यते, प्रतितरामिव वयांसि भवन्ति, अधस्तरामिव वयांसि पतन्ति । विपतितलोमेव पापः पुरुषो भवति–हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते । स्वी ह वै तमर्द्धं कुरुते श्रियेऽन्नाद्याय–यस्मिन्नर्द्धे भवति–य एवमेतद्वेद ॥ (५) ॥

## ५–प्रयाजानुमन्त्रणम्

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ते दण्डैर्धनुर्भिर्न व्यजयन्त । ते ह अविजयमाना ऊचुः–'हन्त वाच्येव ब्रह्मन् विजिगीषामहै, स यो नो वाचं व्याहृतां मिथुनेन न अनुनिक्रामात्–स सर्वं पराजयातै, अथ सर्वमितरे जयान्' इति । 'तथा' इति देवा अब्रुवन् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन् 'व्याहर' इति ॥ (६) ॥ स इन्द्रोऽब्रवीत्–'एको मम' इति । अथ 'अस्माकमेका' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनेन अविन्दन् । मिथुनं हि–एकश्च, एका च ॥ (७) ॥ 'द्वौ मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माकं द्वे' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेव अविन्दन् । मिथुनं हि–द्वौ च, द्वे च ॥ (८) ॥ 'त्रयो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माकं तिस्रः' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुनं हि–त्रयश्च, तिस्रश्च ॥ (९) ॥ 'चत्वारो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माकं चतस्रः' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुनं हि–चत्वारश्च, चतस्रश्च ॥ (१०) ॥ 'पञ्च मम' इतीन्द्रोऽब्रवीत् । तत इतरे मिथुनं नाविन्दन् । नो ह्यत ऊर्ध्वं मिथुनमस्ति । पञ्च-पञ्च–इति ह्येवैतदुभयं भवति । ततोऽसुराः सर्वं पराजयन्त, सर्वस्माद् देवा असुरानजयन् , सर्वस्मात् समत्नानसुरान् निरभजन् ॥ (११) ॥

तस्मात् प्रथमे प्रयाजे इष्टे ब्रूयात्–'एको मम' इति । 'एका तस्य, यमहं द्वेष्मि' इति । यद्यु न द्विष्यात्–'योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः–इति ब्रूयात् ॥(१२)॥ 'द्वौ मम' इति द्वितीये प्रयाजे —'द्वे तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इति ॥(१३)॥

'त्रयो मम' इति तृतीये प्रयाजे—'तिस्रस्तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इति ॥(१४)॥'चत्वारो मम' इति चतुर्थे प्रयाजे-'चतस्रस्तस्य-योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इति ॥(१५)॥ 'पञ्च मम' इति पञ्चमे प्रयाजे-'न तस्य किञ्चन-योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इति । स पञ्च पञ्चेत्येव भवन् पराभवति । तथास्य सर्वं संवृङ्क्ते—सर्वस्मात् सपत्नान् निर्भजति—य एवमेतद्वेद ॥(१६)॥

इति पञ्चमाध्याये चतुर्थं, चतुर्थप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

—( १।५।४ )—( १।५।४ )—

( पञ्चमाध्यायश्च समाप्तः )

इति—त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्

—?—

अथ प्रथमकाण्डे षष्ठाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे तृतीयं ब्राह्मणम्

( षष्ठाध्यायः प्रारम्भः )

## ६—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे—आ नो यज्ञे भजत, मा नो यज्ञादन्तर्गत, अस्त्वेव नोऽपि यज्ञे भागः—इति ॥(१)॥ तद्वै देवा न जज्ञुः । त ऋतवो देवेष्वजानत्सु असुरानुपावर्तन्त—अप्रियान् देवानां द्विषतो भ्रातृव्यान् ॥(२)॥ ते हैतामेधतुमेधाश्चक्रिरे-यामेषामेतामनुशृण्वन्ति । कृषन्ती ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति, लुनन्तोऽपरे मृणन्तः, शश्वद्धैभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे ॥ (३) ॥ तद्धै देवानामाग आस । 'कनीय इन्वतो द्विषन् , द्विषतेऽरातीयति; किमु एतावन्मात्रमुपजानीत—यथेदमितोऽन्यथाऽसदिति ॥ (४) ॥ ते होचुः—'ऋतूनेवानुमन्त्रयामहै'—इति । 'केन' इति । 'प्रथमानेवैनान् यज्ञे यजाम' इति ॥ (५) ॥ स हाग्निरुवाच—'अथ यन्मां पुरा प्रथमं यजथ, काहं भवानि' इति । 'न त्वमायतनात् च्यावयाम' इति । ते यदृतूनभिह्वयमाना अथाग्निमायतनात्—नाच्यावयन्, तस्मादग्निरच्युतः । न ह वा आयतनाच्च्यवते यस्मिन्नायतने भवति-य एवमेतमग्निमच्युतं वेद ॥ (६) ॥ ते देवा अग्निमब्रुवन्—'परेहि, एनांस्त्वमेवानुमन्त्रयस्व' इति । स हेत्याग्निरुवाच—'ऋतवः ! अविदं वै वो देवेषु यज्ञे भाग' मिति । 'कथं नोऽविदः' इति । 'प्रथमानेव वो यज्ञे यक्ष्यन्ति' इति ॥ (७) ॥ त ऋतवोऽग्निमब्रुवन्—'आ वयं त्वामस्मासु भजामः—यो नो देवेषु यज्ञे भागमविद'

इति । स एषोऽग्निर्ऋतुष्वाभक्तः–"समिधोऽग्ने"—"तनूनपादग्ने"–"इडोऽग्ने"–"बर्हिरग्ने"–'स्वाहाग्निम्' ( तै० ब्रा० ३।५।५। ) इति । आभक्तो ह वै तस्यां पुण्य-कृत्यायां भवति, यामस्य समानो ब्रुवाणः करोति, अग्निमते ह वा अस्मा अग्निमन्त ऋतव ओषधीः पचन्तीदं सर्वम्–य एव मेतमग्निमृतुष्वाभक्तं वेद ॥ (८) ॥

तदाहुः- 'यद् उत्तमान् प्रयाजा नावाहयन्ति–अथ कस्मादेनान् प्रथमान् यजन्ति' इति । उत्तमान् ह्येनान् यज्ञेऽवाकल्पयन्–प्रथमान् वो यजाम–इत्यब्रुवन् । तस्मादुत्त-मानावाहयन्ति, प्रथमान् यजन्ति' ॥ (६) ॥

चतुर्थेन वै प्रयाजेन देवा यज्ञमाप्नुवन्, तं पञ्चमेन समस्थापयन् । अथ यदूर्ध्वमसंस्थितं यज्ञस्य–स्वर्गमेव तेन लोकं समाश्नुवत ॥ (१३) ॥ ते स्वर्गं लोकं यन्तोऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः । ते ऽग्निं पुरस्तादकुर्वत–रक्षोहणं रक्षसा-मपहन्तारम् । अग्निं मध्यतोऽकुर्वत रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् । अग्निं पश्चादकुर्वत-रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् ॥ (११) ॥ स यद्येनान् पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङ्क्षन्–अग्निरेव तान्यपाहन–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङ्क्षन्–अग्निरेव तान्यपाहन्–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । अत एवं सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमानाः स्वर्गं लोकं समाश्नुवत ॥ (१२) ॥ तथो एवैष एतच्चतुर्थेन प्रयाजेन यज्ञमाप्नोति, तं पञ्चमेन संस्थापयति । अथ यदत ऊर्ध्वमसंस्थितं यज्ञस्य–स्वर्गमेव तेन लोकं समश्नुते ॥ (१३ ॥ स यदाग्नेयमाज्यभागं यजति–अग्निमेवैतत् पुरस्तात् कुरुते रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् । अथ यदाग्नेयः पुराडाशो भवति–अग्निमेवैतन्मध्यतः कुरुते–रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् । अथ यदग्निं स्विष्टकृतं यजति–अग्निमेवैतत् पश्चात् कुरुते–रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् । ॥ (१४) ॥ स यद्येनं पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङ्क्षन्ति–अग्निरेव तान्यपहन्ति–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि मध्यत आसिसङ्क्षन्ति-अग्निरेव तान्यपहन्ति–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङ्क्षन्ति–अग्निरेव तान्यपहन्ति–रक्षोहा रक्षसाम-पहन्ता । स एवं सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमानः स्वर्गं लोकं समश्नुते ॥ (१५) ॥

## ७–अभिचारः

स यद्येनं पुरस्ताद् यज्ञस्य अनुव्याहरेत्–तं प्रति ब्रूयात्–'मुख्यामार्त्तिमारिष्यति–अन्धो वा, बधिरो वा भविष्यसि' इति । एता वै मुख्या आर्त्तयः । तथा हैव स्यात् ॥ (१६) ॥ यदि मध्यतो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्–तं प्रति ब्रूयात्–'अप्रजा, अपशुर्भ-

विष्यसि' इति । प्रजा वै पशवो मध्यम् । तथा हैव स्यात् ॥ (१७) ॥ यद्यन्ततो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्–तं प्रति ब्रूयात्–'अप्रतिष्ठितो दरिद्रः क्षिप्रे ऽमुं लोकमेष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् । तस्मादु ह नानुव्याहारीव स्यात् । उत ह्येवंवित्परो भवति ॥ (१८) ॥

८–फलश्रुतिः

सम्वत्सरं ह वै प्रयाजैर्जयन् जयति । स ह न्वेवैनं जयति–योऽस्य द्वाराणि वेद । किं हि स तैर्गृहैः कुर्यात्–यानन्तरतो न व्यवविद्यात्–यथा यथास्य ते भवन्ति । तस्य वसन्त एव द्वारं, हेमन्तो द्वारम् । तं वा एतं सम्वत्सरं स्वर्गं लोकं प्रपद्यते । सर्वं वै सम्वत्सरः, सर्वं वा अक्षय्यम् । एतेनो हास्याक्षय्यं सुकृतं भवति, अक्षय्यो लोकः ॥ (१६) ॥

६–परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्शः

तदाहुः—'किंदेवत्यान्याज्यानि' इति। 'प्राजापत्यानि' इति ह ब्रूयात । अनिरुक्तो वै प्रजापतिः, अनिरुक्तान्याज्यानि । तानि हैतानि यजमानदेवत्यान्येव । यजमानो ह्येव स्वे यज्ञे प्रजापतिः–एतेन ह्युक्ता ऋत्विजस्तन्वते, तं जनयन्ति ॥ (२०) ॥ स आज्यस्य उपस्तीर्य, द्विर्हविषोऽवदाय, अथोपरिष्टात्–आज्यस्य अभिघारयति । सैषा आज्येन मिश्राहुतिर्हूयते । यजमानेन हैवैतन्मिश्रा हूयते । यदि ह वा अपि दूरे सन् यजते, यद्यन्तिके–यथा हैवान्ते सत इष्टं स्यात्, एवं हैवैनं विदुष इष्टं भवति । यद्यु हापि वह्विव पापं करोति—नो हैव बहिर्द्धा यज्ञाद्भवति–य एवमेतद्वेद ॥ (२१) ॥

इति षष्ठाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्

—( १।६।१। )—( १।४।६। )—

( चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः )

इति–त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे तृतीयं ब्राह्मणम्

—३—

समाप्तञ्चेदं त्रिब्राह्मणात्मकं **प्रयाजब्राह्मणम्**

इति–प्रतृणपाठः

——:❀:——

–(२)अयमत्र–मूलानुवादे प्रासङ्गिकसंग्रहः—

प्रस्तुत 'प्रयाज' कर्म्म का ब्राह्मणग्रन्थ के तीन ब्राह्मणों में सोपपत्तिक निरूपण हुआ है। अतएव समानप्रकरणानुबन्ध से हमने तीन ब्राह्मणों का एकत्र समन्वित रूप से समावेश करना

आवश्यक माना है। तीनों ब्राह्मणों में प्रयाज-कर्म्म का ही विश्लेषण हुआ है, अतएव तीनों की समष्टि को एक ब्राह्मण मानते हुए हमने इसे—**'प्रयाजब्राह्मण'** इस एक नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ मान लिया है।

त्रिब्राह्मणात्मक 'प्रयाजब्राह्मण' के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, ब्राह्मणों में क्रमशः ३, २, ४, इतने अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है। तीनों ब्राह्मणों की कण्डिका संख्या क्रमशः (१)—२५, (·)—१६, (३)—२१, हैं। सम्भूय त्रिब्राह्मणात्मक इस प्रयाज ब्राह्मण में ९ अवान्तर प्रकरण, तथा ६२ कण्डिका हो जातीं हैं। इस प्रासङ्गिक संग्रह को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रस्तुत मूलानुवाद का समन्वय करना चाहिये।

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १ | (१)-१-प्रयाजबन्धुः | १ कं०, ५ कं० | ( ५ कं०) | –त्रिप्रकरणात्मकं २५ कण्डिकात्मकं प्रथमं प्रयाजब्राह्मणम् १ |
| | (२)-२-उत्तरप्रैषः | ६ कं०, ८ कं० | ( ३ कं०) | |
| | (३)-३-प्रयाजब्राह्मणम् | ९ कं०, २५ कं० | (१७ कं०) | |
| | ❀ | | | |
| २ | (१)-४-प्रयाजावृत् | १ कं०, ५ कं० | ( ५ कं०) | –द्विप्रकरणात्मकं १६ कण्डिकात्मकं द्वितीयं प्रयाजब्राह्मणम् २ |
| | (२)-५-प्रयानुमन्त्रणम् | ६ कं०, १६ कं० | (११ कं०) | |
| | ❀ | | | |
| ३ | (१ –६–प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम् | १कं०, १५कं० | (१५कं०) | –चतुःप्रकरणात्मकं २१ कण्डिकात्मकं तृतीयं प्रयाजब्राह्मणम् ३ |
| | (२)-७-अभिचारः | १६ कं०, १८ कं० | (३ कं०) | |
| | (३)-८-फलश्रुतिः | १९ कं०, | (१ कं०) | |
| | (४)-९-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्शः | २०कं०, २१कं० | (२कं०) | |

त्रिब्राह्मणात्मकं, ९ अवान्तरप्रकरणात्मकं, ६२-कण्डिकात्मकं- "प्रयाजब्राह्मणम्"

## (३)-मूलानुवादः—

(१)—पाँचवें अध्याय में तीसरा (३), चौथे प्रपाठक में चौथा (४)-(१।५।३)-(१।४।४)—
(२)—पाँचवें अध्याय में चौथा (४), चौथे प्रपाठक में पाँचवां(५)-(१।५।४)-(१।४।५)—
(३)—छठे अध्याय में पहिला (१), चौथे प्रपाठक में छठा (६)-(१।६।१)-(१।४।६)—

तीन ब्राह्मणों की समष्टिरूप—"प्रयाजब्राह्मण"

( प्रथमकाण्डानुगत क्रम से २२, २३, २४ वें ब्राह्मण )

—: ❀ :—

प्रथमकाण्ड में पाँचवें अध्याय में तीसरा, चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण

( १-५-३ )—( १-४-४ )

( १—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त प्रथम ब्राह्मण )

### १—प्रयाजबन्धु ( प्रयाजों की मौलिक उपपत्ति )

पूर्व के स्रुगादापनब्राह्मण में स्रुगादापन-निगदमन्त्र के पाठानन्तर जिस आश्रावण, प्रत्याश्रावणकर्म्म की उपपत्ति बतलाई गई है, उसका 'पञ्चप्रयाज' याग से सम्बन्ध है। आवाप-कर्म्म से पहिले 'पञ्चप्रयाज' नामक कर्म्मविशेष विहित है, जैसाकि, सूत्रानुगत-पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है। 'ओ श्रावय' इत्यादि व्याहृतियों के पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक विहित-पञ्चधा विभक्त आज्याहुतिकर्म्म ही 'पञ्चप्रयाज' कर्म्म है। आ० प्र० कर्म्मेतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए पूर्वब्राह्मणान्तर्गत सूत्रानुगत-पद्धतिसंग्रह-परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया था कि, होतृकर्तृक 'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक स्रुगादापननिगदपाठ के अवसर पर होता के मुख से जिस समय-'घृतवती'-मध्वर्यो स्रुचमास्यस्व' इस चौथी व्याहृति का उच्चारण होता है, उसके 'घृतवतीम्' पदोच्चारण के साथ साथ ही अध्वर्यु जुहू-उपभृत् का ग्रहण कर लेता है। स्रुगादापन-कर्म्म समाप्त्यनन्तर अध्वर्यु 'आग्नीध्र' के प्रति 'ओ श्रावय' व्याहृति का, आग्नीध्र अध्वर्यु के प्रति 'अस्तुश्रौषट्' व्याहृति का, अध्वर्यु होता के प्रति 'यज' व्याहृति का, एवं होता अध्वर्यु के प्रति 'ये यजामहे' व्याहृति का उच्चारण करता है। सर्वान्त में होता के मुख से 'वौषट्' इस पाँचवीं व्याहृति का उच्चारण होते ही अध्वर्यु जुहू-स्थित आज्यभाग की समिद्ध आहवनी-याग्नि में आहुति दे देता है, यही आ० प्र० कर्म्म है"-(देखिये पृ० सं० १२८ स्रुगादापन ब्राह्मण-) वस्तुतः आ० प्र० कर्म्म का तात्पर्य्य है-पञ्चव्याहृतियों का पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक उच्चारण करना। आहुति देना तो प्रयाजकर्म्म है, जो इन्हीं पाँच व्याहृतियों के पञ्चावर्त्तन से पाँच बार होता है, जिसकी सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता प्रकृत के त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रतिपादित हुई है। पूर्वब्राह्मण में वस्तुतः स्रुगादापनकर्म्म की ही सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का निरूपण हुआ है। अतएव वह ब्राह्मणभाष्य इसी नाम से ( 'स्रुगादापनब्राह्मण' नाम से ) ही व्यवहृत किया गया है।

क्योंकि इस कर्म्म का 'घृतवतीम्०' इत्यादि चोथी व्याहृति के साथ ही 'ओ श्रावय०' इत्यादि लक्षण व्याहृतिरूप ( पञ्चप्रयाज कर्म्म का ) उपक्रम हो जाता है, अतएव वहीं श्रुति ने इस पञ्च-व्याहृति से सम्बन्ध रखने वाला उपपत्ति का स्पष्टीकरण कर दिया है। तत्त्वतः आ० प्र० कर्म्मो-पपत्ति से सम्बन्ध रखने वाले स्रुगादापनब्राह्मण में प्रतिपादित वह प्रकरण प्रकृत के प्रयाजब्राह्मण से ही सम्बन्ध रखता है। और इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि,-पूर्वब्राह्मण की-'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्०'-१-५-२-१' इस प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर-'ता वा एता नव व्याहृतयो भवन्ति०' १-५-२-५' इस पाँचवीं कण्डिका पर्य्यन्त पञ्चकण्डिकात्मक ब्राह्मणभाग ही वस्तुतः 'स्रुगादापनब्राह्मण' है। आगे की 'यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम०'-१-५-२-६'' इस ६ ठी कण्डिका से ही प्रयाजब्राह्मण आरम्भ हो जाता है। यहाँ से ६ ठी कण्डिका से आरम्भ कर त्रिब्राह्मणात्मक प्रकृत प्रयाजब्राह्मण के तृतीय ब्राह्मण की 'स आज्यस्योपस्तीर्य०'-१-६-१-२१' इस इक्कीसवीं कण्डिका पर्य्यन्त सम्पूर्ण ब्राह्मण भाग 'प्रयाजब्राह्मण' है। प्रयाजकर्म्म जिन 'ओश्रावय' इत्यादि आश्रावण-प्रत्याश्रावणात्मिका व्याहृतियों से सम्पन्न होता है, उन व्याहृतियों से सम्बन्ध रखने वाले पारस्परिक सम्प्रदान की, व्याहृतियों की पञ्च सख्या की, सप्तदश अक्षरों की, काम्य फलों की उपपत्तिमात्र पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित हुई है। अब प्रकृत प्रकरण में 'ओश्रावय' आदि से सम्पन्न होने वाले प्रयाजकर्म्म की ही उपपत्ति बतलाई जाती है। अतएव प्रस्तुत प्रकरण-'प्रयाजबन्धु' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकरणसङ्गति को लक्ष्य में रखते हुए अक्षरार्थ का समन्वय करना चाहिए।

( स्रुगादापन कर्म्मानन्तर-'ओ श्रावय०' इत्यादि व्याहृतियों के द्वारा आवापकर्म्म से पहिले पाँच प्रयाज होते हैं। प्रयाज पाँच क्यों होते हैं ?, इसी प्रश्न का सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है )—( ये पाँच ) प्रयाज निश्चय से ( पाँच ) ऋतुएँ हैं ( अर्थात् पञ्चप्रयाज पाँच ऋतुओं के प्रतीक हैं )। इसीलिये ( यहाँ ) पाँच प्रयाज होते हैं ( किये जाते हैं )। निश्चयेन ऋतुएँ पाँच हैं। तात्पर्य्य यही हुआ कि, प्रयाजकर्म्म ऋतुकर्म्म है। ऋतुएँ क्योंकि पाँच हैं, अतएव तद्रूप प्रयाजों का पाँच होना स्वाभाविक ही है ) ॥१॥ ( दूसरा प्रश्न प्रयाज कर्म्म के सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, प्रकृत इष्टिकर्म्म में ऋतुलक्षण प्रयाजों का यजन किया ही क्यों जाता है ?, इसी प्रश्न का एक वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(एक ही प्रजापति की सन्तान होने से) 'प्राजापत्य' (नाम से प्रसिद्ध) देव (देवदेवता) और असुर (असुरदेवता), दोनों (ही) पिता प्रजापतिरूप यज्ञात्मक सम्वत्सर को लक्ष्य बना कर (निमित्त बना कर)—'यह हमारा ही होगा, यह हमारा ही होगा' इस प्रकार स्पर्द्धा करने लगे। (तात्पर्य्य, सम्वत्सरप्रजापतिरूप यज्ञसम्पत् के लिए दोनों में प्रतिस्पर्द्धा चलने लगी, दोनों इस पर अपना स्वत्त्व प्रतिष्ठित करने के लिए परस्पर झगड़ने लगे) ॥ (२) ॥ (अतिमानी असुरों ने स्पर्द्धा तो अवश्य की, प्राजापत्य यज्ञसम्पत्ति के भोग की तो कामना अवश्य की, परन्तु जिस प्राण-वाग् व्यापारलक्षण अर्चन-तप-श्रम से वह कामना सफल हुआ करती है, उसका अनुगमन उन्होंनें नहीं किया। उधर) देवों नें (अपनी स्वाभाविक कर्म्म-प्रवणता से) अर्चन (लक्षण तपोरूप

प्राणव्यापार, अन्तर्व्यापार एवं) श्रम (लक्षण वागव्यापार-बहिर्व्यापार, तत्त्वतः आत्मबल, एवं शरीरबल) का अनुगमन करते हुए (यज्ञसम्पत् प्राप्ति के उपाय का अन्वेषण करते हुए) विचरने लगे। (कालान्तर में इस अर्चन, श्रम के फलस्वरूप) उन्होंनें (देयदेवताओं नें) (यज्ञसम्पत-जयसाधनभूत) इन (आगे बतलाए जाने वाले) प्रयाजों को देख लिया ( प्राप्त कर लिया)। इन (प्राप्त प्रयाजों ) से (देवदेवताओं नें सम्वत्सरयज्ञप्रजापति का ) यजन किया (यज्ञ के साथ प्रयाज कर्म्म का सम्बन्ध करा दिया), इन (पाँच प्रयाजों) से (देवदेवताओं नें सम्वत्सरावयवभूत पाँच ऋतुओं को, ( एवं पाँच ऋतुओं के द्वारा ही पञ्चर्त्तुसमष्टिरूप) सम्वत्सर को जीत लिया। (इस प्रयाजकर्म्मबल से ही) देवदेवताओं नें (सम्वत्सर के अवयवभूत पाँचों) ऋतु पर्वों से, (एवं समष्ट्यात्मक) सम्वत्सर (रूप यज्ञमण्डल) से (क्योंकि अपने सहज) शत्रुओं (असुरों) को निकाल बाहिर किया, अतएव (असुरपराजयपूर्वक स्वजयलाभ के कारण हीं) ये (पाँच कर्म्म) 'प्रजय' (जयप्राप्ति के साधन) कहलाए। यह 'प्रजयाः' ही नाम (परोक्षप्रियदेवताओं की परोक्षभाषा में-यज्ञसम्प्रदाय में) 'प्रयाजाः' नाम से प्रसिद्ध हुआ। (तात्पर्य्य आख्यान का यही हुआ कि, देवता और असुर, दोनों सम्वत्सरयज्ञ-सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते थे। देवताओं ने देखा कि, बिना अवयवसम्पत्ति की प्राप्ति के अवयवी-सम्पत्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। फलस्वरूप उन्होंनें पहिले अवयव-स्वरूपा ऋतुसम्पत्ति प्राप्त की। इसी के बल से आगे जाकर सम्पूर्ण सम्वत्सर पर उनका अधिकार होगया। इस प्रकार ऋतुयजन ही देवताओं के जय का कारण बना। अतएव ऋतुकर्म्म अवश्य ही 'प्रजय' कहा जासकता है। प्रजयरूप ऋतुकर्म्म हीं परोक्षभाषा में 'प्रयाज' कहलाया)। (वैधयज्ञ में प्रवृत्त यजमान के लिए भी यह आवश्यक है कि, वह भी उसी प्राकृतिक नियमानुसार पहिले अवयवसम्पत्ति ही प्राप्त करे। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है) उसी प्रकार (जैसे प्राकृतिक प्राणलक्षण देवदेवताओं नें किया था) यह यजमान (भी अपने इन) पाँच प्रयाजों से (यज्ञातिशयलक्षण दैवात्मा के लिए) ऋतुओं को, एवं (ऋतुद्वारा ऋतुसमष्टिरूप) सम्वत्सर को अपने अधिकार में करता है, (इस प्राप्ताधिकार बल पर) ऋतुओं, और सम्वत्सर से अपने शत्रुओं को बाहिर निकाल देता है। इसीलिए (ऋतुसम्पत्तिपूर्वक सम्वत्सरसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए ही) यह प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है (प्रयाज कर्म्म करता है )। प्रयाज कर्म्म क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न का यही 'बन्धु'-(तात्पर्य्य-उपपत्ति-समाधान) है ॥३॥

(आवाप-प्रधान-देवता के लिए जहाँ पुरोडाशाहुति विहित है, वहाँ ऋतुरूप प्रयाज देवताओं के लिए आज्यहवि-घृताहुति-विहित है। प्रयाजों के लिए आज्यहवि क्यों होती है ?, इसी प्रासङ्गिक प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से श्रुति कहती है)-वे (पांचों प्रयाज) निश्चयेन आज्यहवि वाले होते हैं (पाँचों के लिए घृताहुति का विधान हुआ है। कारण इसका यही है कि) (यह) आज्य निश्चयेन वज्र ( शत्रुनाशक अमोघ शास्त्र ) है। आज्यरूप इसी वज्र से निश्चयेन देवदेवताओं नें ( असुरों का संहार करते हुए ) पाँचों ऋतुओं, (एवं तद्द्वारा) सम्वत्सर को जीत लिया (था), (इसी जयलाभ के बल पर उन्होंनें) ऋतुओं, और सम्वत्सर से शत्रुओं को निकाल बाहिर किया (था)। उसी प्रकार (प्राकृतिक

यज्ञवत्) यह यजमान (भी) आज्यरूप इसी व्रज से ऋतु, और सम्वत्सर जीत लेता है (लेगा), ऋतु और सम्वत्सर से शत्रुओं को निकाल देता है (देगा)। (क्योंकि आज्य शत्रुविनाशक वज्र है, वही कर्म्म-शत्रुनाशपूर्वक जयलाभ-ही यहाँ अभीप्सित है।) अतएव (ये प्रयाज) आज्यहविवाले होते हैं। (प्रयाजों के लिए क्यों आज्याहुति होती है ?, प्रश्न की यही उपपत्ति है) ॥ ४ ॥ (आज्यहवि का एक कारण तो शत्रुपराभव है। अब एक दूसरा कारण और बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह जो आज्य है, वह निश्चयेन सम्वत्सरयज्ञ का अपना रस-सार-भाग है (प्रातिस्विक रेत-बल-है)। (प्रयाजों के लिए आन्तरिक्ष्य आज्यतत्त्व की आहुति देते हुए) देव-देवताओंनें उस सम्वत्सर प्रजापति को अपने आपके सारभाग से ही युक्त बनाया। तथैव (आज्यहविः करता हुआ) यह यजमान (भी) सम्वत्सर के अपने सारभाग से ही उसे अपनाता है। इसलिए (भी ये) प्रयाज आज्यहवि वाले होते हैं। तात्पर्य्य, शत्रुविनाश पहिला फल है, सम्वत्सर को अपने ही सार भाग से युक्त कर उसे समृद्ध करना, तद्द्वारा स्वयज्ञ को समृद्ध करना आज्यहविष्करण का द्वितीय फल है। यही प्रयाजानुगता आज्यहवि का बन्धु-उपपत्ति-है) ॥५॥

(प्रयाजकर्म्म आश्रावणपूर्वक आरम्भ होता है, यह कहा जा चुका है। इस सम्बन्ध में यह नियम है कि, जिस यज्ञभूमिप्रदेश पर खड़ा हुआ अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति-प्रयाजकर्म्म के लिए 'ओ श्रावय' इस व्याहृति का उच्चारण करता है, वहाँ से पीछे नहीं हटना चाहिए। ऐसा आदेश क्यों दिया गया ?, इसी प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से आदेश-विश्लेषण पूर्वक श्रुति कहती है)—वह अध्वर्यु जिस (नियत) प्रदेश में ही खड़ा होकर प्रयाजों के लिए आश्रावण करे, उस प्रदेश से पीछे न हटे। (कारण यही है कि) जो अध्वर्यु प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करना है, वह (यजमान के शत्रुओं के साथ) युद्ध ही ठानता है। दो योद्धाओं में से जो योद्धा पराजित हो जाता है, वह निश्चयेन मैदान छोड़ भागता है। दूसरा जीतने वाला योद्धा आगे बढ़ता जाता है। (प्रयाजकर्म्म संग्रामकर्म्म है, अध्वर्यु योद्धा को जयलाभ करना है। आगे बढ़ना हीं जय का सूचक है) अतएव (अध्वर्यु को चाहिए कि) वह आगे आगे ही बढ़े, आगे आगे ही आहुति प्रदान करे। (प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले अपक्रमणनिषेध, अभिक्रमण विधान का यही बन्धु है। एवं यही प्रयाजकर्म्म का बन्धु—उपपत्ति—है, जिसका ६ कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है) ॥ ६ ॥ (परम वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पीछे न हटना तो ठीक है। परन्तु आहुति के साथ साथ आगे आगे बढ़ना अनुचित है। अतएव-'तस्मादभितरामभितरामेव क्रामेत्' पक्ष उनकी दृष्टि में विज्ञानविरुद्ध है। इसी पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि) वह अध्वर्यु वैसा न करे (आगे आगे बढ़ बढ़ कर आहुति न दे)। 'जिस प्रदेश में खड़ा होकर अध्वर्यु प्रयाजों के लिए आश्रावण करे, वहाँ से पीछे न हटे (इतना अंश तो विज्ञानसम्मत है, परन्तु—थोड़ा थोड़ा आगे बढ़ता हुआ आहुति दे, यह अंश अवैज्ञानिक है। शत्रुनाश ही तो अभिप्रेत है। वह यहाँ उस आहुति पर निर्भर है, जो आहुति समिद्ध अग्नि में हुत होकर समिद्ध बनती है। यदि आगे-आगे बढ़ना अनिवार्य मान लिया जायगा, और उन अग्रप्रदेशों में अग्नि समिद्ध न मिलेगा, तो उस असमिद्ध (अप्रज्ज्वलित) अग्नि

में हुत आहुति भी असमिद्ध रहती हुई निरर्थक बन जायगी । अतएव उत्तराक्रमण का आग्रह निरर्थक, साथ ही अभीष्टफल का विघातक भी होगा । अतएव होना यह चाहिए कि) वह अध्वर्यु (आहवनीयाग्नि के) जिस प्रदेश में अग्नि को समिद्ध देखे, वहीं आहुति दे (चाहे उस समिद्धाग्निप्रदेश के लिए भले ही आगे आक्रमण न करना पड़े । क्योंकि ) समिद्धहोम (समिद्धाग्नि में आहुतिद्रव्य डालने से) ही आहुतियाँ समिद्ध मानीं गईं हैं ॥ ७ ॥

इति—प्रयाजबन्धुः (१)

———

## २—उत्तरप्रैष

(सर्वप्रथम अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति-'ओ श्रावय' यह प्रैष (अनुज्ञा) करता है । इस प्रैष से आग्नीध्र अध्वर्यु के प्रति 'अस्तु श्रौषट्, यह कहता है । अनन्तर पुनः अध्वर्यु होता के प्रति 'यज'-याज्यामन्त्र का अनुवचन करो; यह प्रैष करता है । जिस जिस प्रयाज का यजन होता है, उस उस प्रयाज के लिए अध्वर्यु को ओ श्रावय ओ श्रावय, इत्यादि रूप से आग्नीध्र के प्रति, एवं—'यज'—'यज' इत्यादि रूप से होता के प्रति प्रैष करना पड़ता है । इस दृष्टि से आग्नीध्र के प्रति होने वाले 'ओ श्रावय' रूप प्रैषों को 'पूर्वप्रैष' कहा जायगा, एवं उत्तरभावी होता के प्रति होने वाले-'यज' रूप प्रैषों को 'उत्तरप्रैष' कहा जायगा । प्रस्तुत सातवीं कण्डिका में 'यज' लक्षण उन उत्तरप्रैषों का ही विश्लेषण हुआ है । श्रुति कहती है)—

वह ( अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति 'ओ श्रावय' इस रूप से ) आश्रावण कर ( आग्नीध्र से-'अस्तु श्रौषट्' इत्याकारक प्रत्युत्तर प्राप्त करने के अनन्तर होता नामक ऋत्विक् के प्रति उत्तरप्रैष करता हुआ ) कहता है—'समिधो यज' ( हे होतः ! समिद्वती देवता के याग के लिए याज्या पाठ करो ) । ( 'समिधो यज' इस ) उत्तरप्रैष से अध्वर्यु वसन्त ऋतु को ही समिद्ध-प्रज्वलित-करता है ( उत्तरप्रैष कर्म्म से ऋतुएँ प्रदीप्त हो पड़ती हैं, यही तात्पर्य्य है । अध्वर्युकृत उत्तरप्रैषात्मक 'समिधो यज' इस समिन्धनकर्म्म से न केवल वसन्त को ही, अपितु तद्द्वारा सम्पूर्ण-पाँचों-ऋतुओं को समिद्ध कर देता है । क्योंकि वसन्त ही शेष ऋतुओं की मूलजननी है, जैसा कि, विवेचना प्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है । इसी तात्पर्य्यार्थ का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है )-( अध्वर्युकृत उत्तरप्रैष से ) समिद्ध वह वसन्त अन्य ( चारों ) ऋतुओं को समिद्ध कर देता है । ( वसन्तसमिन्धन के द्वारा परम्परया क्रमशः । समिद्ध पाँचों ऋतुएँ प्रजा उत्पन्न करतीं हैं, ओषधि ( वनस्पतियों को भी ) परिपक्व करतीं हैं । ( वसन्तसमिन्धनरूप ) जिस कारण से वसन्त स्वयं समिद्ध होता हुआ परम्परया अन्य ऋतुसमिन्धन का भी कारण बन जाता है ) एतावता ही ( केवल वसन्त समिन्धन हीं ) अन्य सब ऋतुओं ( के समिन्धन का स्पष्टीकरण कर ) रहा है । तात्पर्य्य, केवल वसन्त समिन्धन हीं शेष ऋतुसमिन्धन के लिए पर्य्याप्त है ) । ( जिस प्रकार वसन्तयागात्मक समिद्याग में-'समिधो यज' इत्यादि रूप से ऋतु नाम का उल्लेख होता है,

तद्वत् इतर ग्रीष्मादि यागात्मक तनूनपात् यागादि में—'तनूनपातं यज'—इत्यादि रूप से नामनिर्देश स्वतः प्राप्त है। उसी का एक विशेष हेतु से निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—वह अध्वर्यु (बसन्त के आगे की—ग्रीष्मादि) ऋतुओं को (तनूनपातं यज-इडो-यज-इत्यादि रूप से नाम निर्देश न कर केवल) 'यज-यज'-इस प्रकार नाम निर्देश के बिना ही कहता है। (जब क्रमप्राप्त नामनिर्देश होना न्यायप्राप्त है, तो नामग्रहण पूर्वक उत्तर ऋतुओं के लिए उत्तरप्रैष क्यों नहीं किया जाता ?, प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) अजामिता के लिए (ही यज रूप से ही) उत्तर ऋतुओं को कहता है (ऋतुओं के लिए उत्तरप्रैष करता है)। जामि (पुनरुक्त-दोष) करेगा, यदि वह अध्वर्यु–'तनूनपातं यज'–'इडो यज' यह कहेगा तो। तात्पर्य्य, जब समिद् नाम निर्देश से ही इतर ऋतुओं का समिन्धन हो जाता है, तो दुबारा ऋतुओं का नाम निर्देश करना पुनरुक्ति होगी, जो वेदभाषा में 'जामि' दोष कहलाया है)इसलिए वह (नाम निर्देश किए—बिना केवल) 'यज-यज' इसी रूप से उत्तर ऋतुओं को कहता है ॥ ८ ॥

## इति–उत्तरप्रैषः (२)

—:o:—

## ३ -प्रयाजब्राह्मण—

ऋतुयागात्मक पञ्च प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाली उपपत्तिका १ कण्डिका से ८ कण्डिका-पर्य्यन्त ८ कण्डिकाओं के द्वारा स्पष्टीकरण कर ९ कण्डिका से २५ वीं कण्डिकापर्य्यन्त ब्राह्मण-समाप्ति पर्य्यन्त-१७ कण्डिकाओं के द्वारा प्रयाजयागेतिकर्त्तव्यता लक्षणा पद्धति का प्रयाजयागानुष्ठान क्रम से निरूपण करती हुई श्रुति कहती है)—

(१) वह (अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के–'समिधो अग्न आजस्य व्यन्तु, वौषट्' इस समिद्देवताक याज्यामन्त्र के बोलने पर उसके–'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में जुहूस्थित आज्य की आहुति के द्वारा) समिद्याग (वसन्तयजन) करता है। समित् निश्चयेन वसन्त है। (प्राकृतिक समिद्याग से) देवदेवताओं नें वसन्त को ही (असुराधिकार से) पृथक् किया (था), एवं वसन्त से (अपने शत्रु असुर) सपत्नों को निकाल बाहिर किया (था)। इसी प्रकार (प्राकृतिक समिद्याग की विधा पर प्रतिष्ठित याज्यामन्त्रशक्तियुक्त इस अपने वैध समिद्याग के बल पर) यह अध्वर्यु (यजमान के लिए) वसन्त को ही (यजमान के शत्रुओं के अधिकार से) पृथक् करता है, एवं (यजमान के) शत्रुओं को निकाल बाहिर करता है। वैधयज्ञ से उत्पन्न यज्ञातिशय लक्षण यजमान के दैवात्मा के स्वर्गात्मक सम्वत्सरयज्ञफल के प्रथम वसन्त पर्व पर यजमान के शत्रु का अधिकार न रहे, केवल दैवात्मा ही उसका अन्यतम भोक्ता बने) इसीलिए (अध्वर्यु) समिद्याग करता है ॥ ९ ॥

(२) समिद्याग करने के अनन्तर वह (अध्वर्यु होता के–'तनूनपादग्न आजस्य वेतु वौषट्' इस तानूनपाद्देवताक याज्यामन्त्र के बोलने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के

समिद्ध प्रदेश में जुहूस्थित आज्याहुति के द्वारा ) तनूनपाद्याग ( ग्रीष्मयजन ) करता है । तनूनपात निश्चयेन ग्रीष्म है । ग्रीष्म ही इन ( पार्थिव ) प्रजाओं के शरीरों को तपाता है ( अतएव तनूनपात अवश्य ही ग्रीष्म है ) । ( प्राकृतिक तनूनपाद्याग से ) देवदेवताओं नें ग्रीष्म को ही ( असुराधिकार से ) पृथक् किया ( था ), एवं ग्रीष्म से (असुर ) सपत्नों को निकाल बाहिर किया था—( शेष ६ कण्डिकावत् ) ॥ १० ॥

(३) तनूनपाद्यागानन्तर वह ( अध्वर्यु होता के—'इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु, वौषट्' इस इट्-देवताका याज्या-मन्त्रोच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुति के द्वारा ) इड्-याग ( वर्षायजन ) करता है । इडः निश्चयेन वर्षा है । इडः इसलिए वर्षा है कि, पृथिवी पर रेंगते हुए जो ये छोटे छोटे कृकलास-गोधा-लटें-आदि जन्तु गर्मी, और सर्दी के आक्रमण से अतिशयरूप से क्षीणकाय हो जाते हैं, वे सब क्षुद्र सरीसृप वर्षा के आते ही जीवन धारण करते हुए से-पुष्ट से होते हुए अन्नादान की इच्छा करते हुए (बड़े उल्लास के साथ) इतस्ततः विचरने लगते हैं । ( इस प्रत्यक्ष-दृष्ट इडन्न भाव से अवश्य ही वर्षा को इट्-अन्नात्मक-कहा जा सकता है ।-( शेष ६ कण्डिकावत् ) ॥ ११ ॥

(४)-इड्-यागानन्तर वह (अध्वर्यु होता के-'बर्हिरग्न आजस्य वेतु वौषट्' इस बर्हि देवताक याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुति के द्वारा ) बर्हिर्याग ( शरद्यजन ) करता है । बर्हि निश्चयेन शरत् है । बर्हि इसलिए शरत् है कि, जो ये ओषधियाँ गर्मी-सर्दी से मुर्झा जातीं हैं, वे ओषधियाँ वर्षा-के आगमन पर (पुनः) प्रवृद्ध हो जातीं हैं । ( वर्षा में प्रवृद्ध ) वे ( ही ) ओषधियाँ शरद्ऋतु में फैले हुए-बिखरे हुए दर्भतृणों की भाँति शीर्ण हो जातीं हैं । इस स्तरण-शीर्ण-भाव के साधर्म्य से शरत् ( अवश्यमेव ) बर्हि है । ( शेष कण्डिकावत् ) ॥ १२ ॥

(५)-बर्हिर्य्यागानन्तर वह ( अध्वर्यु होता के-"स्वाहाऽग्निं स्वाहा सोमं. स्वाहाग्निं, स्वाहा देवाँ आज्यपान , स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणाः, अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्" इस स्वाहा-हेमन्त-देवताक याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुति के द्वारा ) स्वाहा-स्वाहायाग-( हेमन्त यजन ) करता है । 'स्वाहा' कार यज्ञ का अन्त ( अन्तिम पर्व ) है । ( उधर पाँच ) ऋतुओं का हेमन्त ही अन्त ( अन्तिम पर्व ) है । हेमन्त वसन्त से पराद्धर्य-परले भाग-अन्तिम भाग-पर है । इसीलिए इसे ऋतुओं का अन्त कहा जा सकता है । ( अपने प्राकृतिक स्वाहायाग से ) देवदेवताओं नें ( यज्ञ के ) अन्त ( अन्तिम पर्व रूप हेमन्त ) को ( असुराधिकार से ) पृथक् कर लिया ( था ), अन्तद्वारा ( स्वाहायाग के द्वारा ) अन्त से ( हेमन्त से ) सपत्नों को निकाल बाहिर किया ( था ) । ( तथैव शेषं स्पष्टम् ) ॥ १३ ॥

( हेमन्त ऋतुओं का अन्तिम पर्व है, उधर स्वाहा भी यज्ञ का अन्तिम पर्व ही है । इस स्वाहान्त से ऋतु-अन्त हेमन्त-पर अधिकार तो हो जाता है, परन्तु अन्तभावना यजमान के ऐहलौकिक जीवन के लिए प्रशस्त नहीं मानीं जा सकती । इस अन्तयाग-स्वाहायाग-लक्षण हेमन्त-

यजन से यज्ञान्तलक्षण-स्वर्गावाप्ति ही सम्भव है। अपेक्षित यह है कि, यज्ञ-कर्त्ता यजमान यावदायुर्भोगपर्य्यन्त ऐहलौकिक सुख का भोग करता हुआ अनन्तर दैवात्माकर्षण से स्वर्ग प्राप्त करे। अनन्तर पुनः पुण्ययोनि में जन्मधारण करे। क्या स्वाहायाग से ऐसा भी सम्भव है ?। प्रत्यक्ष में तो अपने अन्तभाव से हेमन्तयाग केवल तात्क्षणिक स्वर्गावाप्ति का समर्थक बना हुआ है। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि, यद्यपि यह ठीक है कि हेमन्त अन्तभाव का प्रवर्त्तक है। तथापि यह भी सिद्ध विषय है कि ) हेमन्त से ही वसन्त पुनः प्राण धारण करता है, हेमन्त से ही वसन्त पुनः उत्पन्न होता है। जो याज्ञिक हेमन्त के इस पुनः प्राणाधान के रहस्य को जानता है, वह अवश्यमेव ( यावदायुर्भोगपर्य्यन्त जीवित रहता हुआ ऐहलौकिक सुख का भी भोग कर लेता है, एवं स्वर्गफल के भोगानन्तर ) इस लोक में भी ( पुण्ययोनि में ) जन्म लेता है ( जैसे कि, हेमन्त के अनन्तर वसन्त जन्म लिया करता है )। (तात्पर्य्य-यही है कि, हेमन्त अवसानात्मक बनता हुआ भी जीवनोपायिक वसन्तोपक्रम का निमित्त है। इस भावना से अन्तभावनात्मक हेमन्तयाग-जनित अनिष्ट भावना की निवृत्ति हो जाती है )॥ १४॥

अयमत्र संग्रहः—

| | | | |
|---|---|---|---|
| १—समिद्यागः——समित् | ( वसन्तः ) | | |
| २—तनूनपाद्यागः——तनूनपात् | ( ग्रीष्मः ) | | |
| ३—इड्यागः——इट् | ( वर्षा ) | | —पञ्चप्रयाजाः, पञ्चर्त्तवः |
| ४—बर्हिर्यागः——बर्हिः | ( शरत् ) | | |
| ५—स्वाहायागः——स्वाहा | ( हेमन्तः ) | | |

("स वै समिधो यजति०" इत्यादि ६ कण्डिका से आरम्भ कर "अथ स्वाहा स्वाहा यजति" इत्यादि १४ वीं कण्डिकापर्य्यन्त ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण किया गया। आगे के शेष ब्राह्मणभाग से पञ्च प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण किया गया। अब आगे के शेष ब्राह्मणभाग में प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक उन विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया जाता है, जिनके सम्बन्ध से प्रयाजयाग परोक्ष-अदृष्ट-फलों का जनक बनता है। होता के द्वारा प्रयुक्त याज्या मन्त्रों के अन्त में-१-२-३-४-५-इन पाँचों मन्त्रों के अन्त में-क्रमशः १-व्यन्तु, २-वेतु, ३-व्यन्तु, ४-वेतु, ५-व्यन्तु' इस प्रकार व्यन्तु-वेतु पदों का सन्निवेश रहता है। यह विपर्य्यय क्यों, जबकि पञ्चर्तुयागात्मक पञ्चप्रयाजयाग ऋतुसमानत्वेन-एवं प्रयाजसमानत्वेन-समान है। या तो पाँचों याज्यामन्त्रों में 'वेतु-वेतु' का ही समावेश होना चाहिए, अथवा तो पाँचों में 'व्यन्तु-व्यन्तु' का ही समावेश रहना चाहिए। स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है )—वह ( अध्वर्यु होता के द्वारा याज्या मन्त्रों के क्रमिक ) 'व्यन्तु, वेतु' इस ( क्रम से उच्चरित होने पर ही ) समिद्यागादि करता है ( यजन करता है )

अजामिता के लिए ही । सिद्ध-को पुनः सिद्ध करना, उक्त को पुनः कहना हीं जामि दोष है । इस पुनरुक्त दोष की निवृत्ति के लिए व्यन्तु-व्यन्तु, अथवा वेतु-वेतु रूप से यजन न कर व्यन्तु-वेतु, इस रूप से यजन किया जाता है, यही तात्पर्य्य है । इसी तात्पर्य्य को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है कि ) वह अध्वर्यु ( अपने इस यज्ञ में ) जामि ( पुनरुक्तदोष का समावेश ) करेगा, यदि वह व्यन्तु-व्यन्तु-रूप से यजन करेगा, अथवा तो वेतु-वेतु-रूप से यजन करेगा । ( जामि दोषनिवृत्ति के साथ साथ इस व्यन्तु-वेतु विपर्य्यय का एक प्रासांङ्गक फल और भी है । यज्ञ से दैवात्मा का प्रजनन अपेक्षित है ! प्रजनन कर्म्म योषात्मक-स्त्री-भ्रूण, एवं वृषात्मक-पुंभ्रूण, दोनों के दाम्पत्य-भाव पर निर्भर है । व्यन्तु इस बहुवचनान्त पद से, वेतु इस एकवचनान्त पद से प्रजननसाधक-योषावृषात्मक वह मिथुनभाव भी प्राप्त हो जाता है । 'तस्मादेकस्य पुरुषस्य बह्वयो जाया भवन्ति' इत्यादि श्रुति के अनुसार योषात्मिका स्त्री बहुत्त्वधर्म्म से, एवं वृषात्मक पुरुष एकत्त्व से युक्त है । फलतः व्यन्तु से संख्यानिदान-सम्पत्द्वारा योषा का, तथा वेतु से वृषा का संग्रह हो जाता है । इसी प्रासङ्गिक फल का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है )—'व्यन्तु, यह ( बहुवचनान्तपद अपने बहुत्त्वधर्म्म से ) निश्चयेन योषा ( की प्रतिकृति बनता हुआ योषाप्राण का संग्राहक ) है, 'वेतु' यह ( एकवचनान्त पद अपने एकत्त्वधर्म्म से ) निश्चयेन वृषा ( की प्रतिकृति बनता हुआ वृषाप्राण का संग्राहक ) है । ( व्यन्तु-वेतु रूप से किए जाने वाले प्रयाजयाग से योषा-वृषा के ) मिथुनभाव से ही प्रजनन किया जाता है ( प्रजननसम्पत्ति प्राप्त की जाती है) । इसलिए ( अजामिता के लिए, एवं मिथुनभाव प्राप्ति के लिए, दूसरे शब्दों में पुनरुक्तदोष-निवृत्ति के लिए, एवं प्रजनन-सम्पत्ति के संग्रह के लिए वह अध्वर्यु ) 'व्यन्तु-वेतु' इस ( विपर्य्यय क्रम ) से ( ही ) यजन करता है ( करना चाहिए ) ।। १५ ।।

( पञ्चर्त्तु के भेद से पाँच प्रयाज बतलाए गए हैं । इन में से शरद्यागात्मक बर्हिर्नामक चौथे प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता में एक विशेष धर्म्म का अनुगमन किया जाता है । 'यदुपभृति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्' तै० ब्रा० ३।३।६ इत्यादि कृष्णश्रुति के अनुसार जुहू की आधारभूता उपभृत् नाम की स्रुक् में जो आज्य लिया जाता है, उस से ऋतुरूप प्रयाजकर्म्म, तथा छन्दोरूप अनुयाजकर्म्म, दोनों की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है । पूर्व के २ प्रपाठकके ४ ब्राह्मण में भी यह स्पष्ट किया गया है कि, आज्यग्रहण ऋतु, और छन्दोरूप प्रयाजानुयाजों के लिए ही होता है-"अथ यान्याज्यानि गृहन्ते, ऋतुभ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते"— शत० १।२ प्र० ।४ ब्रा० ।७ कं० । वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, 'ध्रुवा' पात्र में आठ बार करके उपभृत् में चार बार कर के जुहू में आज्यग्रहण होता है । चतुर्वार गृहीत जुहूस्थित आज्य प्रयाजकर्म्म का, एवं अष्टवार गृहीत उपभृतस्थ आज्य अनुयाजकर्म्म का सम्पादक बनता है । जुहूस्थित आज्य से क्रमशः समित्-तनूनपात्-इट्-लक्षण-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-इन तीन ऋतुदेवताओं का यजन तो बिना उपभृदाज्य से सम्बन्ध कराए केवल जुहूस्थित आज्य से ही कर लिया जाता है । चौथे बर्हिर्लक्षण शरद्याग के समय जुहू का उपभृत से सम्बन्ध कराना आवश्यक माना गया है । तीसरे प्रयाज के समाप्त होने पर जुहू में उपभृदाज्य लेकर ही चौथा प्रयाज होता है । ऐसा क्यों किया जाता है ?, इसी प्रश्न का स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है )—

"तृतीय प्रयाजयाग के समाप्त्यनन्तर वह अध्वर्यु चौथे 'बर्हि' नामक प्रयाज कर्म्म में (जुहू में उपभृत् से ) आज्य ग्रहण करता है। बर्हि निश्चयेन ( उत्तरोत्तर बृंहणधर्म्म से ) प्रजा है, आज्य रेत ( वीर्य्य ) है। ( बर्हिर्याग मे जुहू में उपभृत् से आज्य लेता हुआ ) अध्वर्यु बर्हिरूप प्रजाओं में हीं आज्यरूप रेत का सिञ्चन करता है ( वीर्य्याधान करता है )। इस सिक्त रेत से ( ही ) प्रजाएँ पुनः पुनः जन्म लिया करतीं हैं। इसीलिए चौथे बर्हि नामक प्रयाज में (जुहू में उपभृत से) आज्य लेता है। ( तात्पर्य्य वस्तुतः यह है कि, प्रयाजकर्म्म के लिए जुहू से पाँच आहुतियाँ दी जातीं हैं। अवश्य ही पाँच आहुतियों के लिए जुहूस्थित आज्यमात्रा अपर्य्याप्त है। अतएव प्रयाज-कर्म्म के मध्य में एक बार उपभृत् से आज्य लेना आवश्यक हो जाता है। कब लेना ?, यह प्रश्न है। 'वसन्तो ग्रीष्मो, वर्षाः, ते देवा ऋतवः'–'शरत्–हेमन्तः–शिशिरः, ते पितरः'–शत० २।१।१।३।१ इत्यादि श्रुति के अनुसार अग्निप्राणप्रधाना, अतएव देवदेवतात्मिका वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा, इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र आग्नेय विभाग है। एवं सोमप्राणप्रधाना, अतएव पितृदेवतात्मिका-शरत-हेमन्त-शिशिर,-इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र सौम्य विभाग है। ऐसी स्थिति में वसन्त-ग्रीष्म-वर्षानुगत समित्-तनूनपात-इट्-इन तीन प्रयाजों का तो अविच्छिन्नरूप से बिना उपभृत से दुबारा आज्य लिए ही यजन करना प्रकृतिसम्मत हो जाता है। चौथे प्रयाज से विजातीय बर्हि नाम की सौम्य ऋतु का उपक्रम होता है। अतएव इसी में आज्यग्रहण करना सुसङ्गत बनता है। इसके साथ ही निदान भाव से प्रजाओं मे रेतःसेक भी हो जाता है, जो कि देवात्मप्रजनन में अपनी प्रधानता रख रहा है। इसीलिए चतुर्थप्रयाज में हीं आज्यसमानयन किया गया है, जैसाकि विवेचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है )॥ १६ ॥

( चतुर्थप्रयाज में आज्यग्रहण करना ऋतुस्वरूपानुगत बनता हुआ प्रकृत्यनुगत है, प्रजाओं में रेत का आधान करता है, इन दो अतिशियों के अतिरि. इसके यहाँ ग्रहण का एक फल और भी स्वतः सिद्ध है। उसीका विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है )—जो अध्वर्यु इन पाँच प्रयाजों से ( ऋतुओं का ) यजन करता है, वह ( पूर्वाख्यानानुसार सम्वत्सरमण्डल में प्रविष्ट शत्रुओं को पराजित करने के लिये ) संग्राम ही ठान रहा है। दो दलों के संग्रामाभिमुख होने पर जिस एक दल को मित्रसेना का सहयोग प्राप्त हो जाता है, वह जीत जाता है। ( ठीक इसी के अनुरूप यह आज्य-ग्रहणकर्म्म है )। इस आज्यग्रहणकर्म्म से जुहू को उपभृदाज्यरूप मित्र मिल जाता है। ( जुहूस्थित आज्य वह सेनादल है, जिसे असुरपराभव करना है। उपभृत स्थित आज्य वह मित्रसेना है, जिसके सहयोग मिलने पर असुरपराभव निश्चित है ) इसी मित्रसेना-सहयोग प्राप्ति के लिये ( भी ) चौथे 'बर्हि' नामक प्रयाज में ही आज्यसमानयन करता है ।।१७॥

( प्रयाजकर्म्म वह संग्राम कर्म्म है, जिसके द्वारा यजमान के स्वर्गफलभोक्ता देवात्मा के भोग्य सम्वत्सर में से असुरों को पराजित करना है। शत्रु को निर्बल बनाना हीं शत्रुपराभव का मूल-कारण है। मित्रसेना की सहयोगप्राप्ति, स्वस्थानस्थिति, आदि अन्यान्य कारणों में से शत्रुपराभव का एक यह भी अन्यतम कारण माना गया है कि, शत्रुसेना में भेदनीति डालते हुये उसे अपनी सेना में मिला लेना। इसके बल को अपना भोग्य बना लेने से अवश्य ही वह निर्बल हो जायगा।

इसी एक और प्रयोजन का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है )—यजमान जुहू को लक्ष्य बना रहा है। यजमान के लिये जो शत्रुता करता है, वह ( यजमान के शत्रुदल ) उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है। ( अर्थात् जुहूस्थित आज्य निदानेन यजमान का सैन्यदल है, ( उपभृत से जुहू में आज्य लेता हुआ ( अध्वयु द्वेष करने वाले शत्रु ( सेनादल ) को यजमान के लिये ही बलिरूप से आकर्षित करता है ( शत्रुबल का यजमान बल में समावेश कराता हुआ यजमान को सशक्त बना रहा है )। अपिच ( एक प्रयोजन यह भी है कि )—जुहू अत्ताभाव का, एवं उपभृत् आद्यभाव को लक्ष्य बना रही है। ( उपभृत से जुहू में आज्यग्रहण करता हुआ ) अध्वर्यु भोक्ता यजमान के लिये भोग्य सामग्री पहुँचा रहा है । ( इसप्रकार प्रकृत्यनुगत ऋतुभाव, प्रजावर्ग में वीर्य्याधान, मित्रसेनाप्राप्ति, शत्रुदल की मित्ररूप में परिणति, भोग्यसम्पत्प्राप्ति, इत्यादि अनेक दृष्टियों से चौथे प्रयाज में ही आज्यग्रहण करना अन्वर्थ बनता है )-'तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति' ॥१८॥

( उपभृत्, और तत्रस्थ आज्य निदानेन शत्रुसैन्यदल है, यह कहा गया है। साथ ही इस आज्य के समानयन का यह भी फल बतलाया गया है कि, शत्रुसैन्यदल को भेदनीति के द्वारा यह अपना बलि बना लेता है । भेदनीति से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रकार तभी सफल होता है, जबकि सैन्यदल के सम्पर्क में न जाकर तटस्थ रहते हुये, अपने स्थान में रहते हुए, पृथक् रहते हुये ही परोक्षरूप से उसे अपने दल में मिलाया जाय । निकटसम्पर्क में जाना शत्रुदल में फँसना है। और सम्भवतः ऐसा करना कभी कभी पराजय का कारण भी बन जाता है। इसलिये ) वह अध्वर्यु ( जुहू में उपभृत से आज्यग्रहण करने की कामना रखता हुआ ) जुहू को उपभृत् से पृथक् रखता हुआ ही आज्यसमानयन करता है । यदि वह अध्वर्यु जुहू को उपभृत् से मिला देगा, ( स्पर्श कराता हुआ आज्यग्रहण करेगा ) तो ( अपने इस अवमर्शन से ) वह शत्रु के साथ यजमान को मिला देगा ( शत्रुसेना में अपनी सेना का बल डाल देने वाला बनता हुआ इष्टसाधन के स्थान में अनिष्ट करा बैठेगा )। ( इसके अतिरिक्त इसी अवमर्शन से ) यह अध्वर्यु अत्ता (भोक्ता) को आद्य से मिला देगा ( भोक्ता को भोग्य के आधीन कर देगा, जबकि भोग्य का भोक्ता के आधीन रहना समृद्धि का कारण माना गया है । ऐसा न हो ) इसलिये अनवमृशन् ( जुहू का उपभृत् से स्पर्श न करता हुआ ) ही आज्यग्रहण करता है ( करना चाहिये ) ॥१६॥

( उपभृत् के साथ स्पर्श न कराते हुये जुहू में जब उपभृत् से आज्य ले लिया जाता है, तो जुहू को किस स्थिति में रक्खा जाय ?, यह जिज्ञासा इसलिये होती है कि, जुहू-उपभृत्, दोनों स्रुक्-सामान्यत्त्वेन सहयोगिनी मानीं गईं हैं। क्या जुहू को उपभृत् से अधःप्रदेश में अध्वर्यु हाथ में लिये रहे ? । श्रुति कहती है-नहीं। अपितु ) आज्यग्रहणानन्तर ( अथ ) वह अध्वर्यु गृहीताज्या उस जुहू को उपभृत् के ऊपर ( उपभृत् से न मिलता हुआ ) थामे रहता है ( उपभृत् से ऊर्ध्व-प्रदेश में हीं जुहू को हाथ में लिए रहना चाहिये )। ( जुहू को उत्तरा रूप से रखता हुआ ) अध्वर्यु यजमानशत्रु की समुपस्थिति में यजमान को ऊँचा ही रखता है। अत्ता को आद्य की समुपस्थिति में ऊँचा ही रखता है। तात्पर्य्य, जुहू निदानेन यजमान है, भोक्ता है। उपभृत् यजमानशत्रु है, आद्य है। ऐसी स्थिति में जुहू को उपभृत से नीचे रखना-यजमान को, भोक्ता को यजमानशत्रु

के, भोग्य के नीचे रखना होगा, जो महा अनिष्टकर है । ऐसा न हो, अपितु यजमान अपने शत्रु से ऊँचा रहे, भोक्ता भोग्य के ऊपर रहे )—'तस्मादुत्तरां जुहूमध्यूहति' ॥२०॥

(१५ वीं कण्डिका से आरम्भकर २० वीं कण्डिका पर्य्यन्त ६ कण्डिकात्मक ब्राह्मण भाग में प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली व्यन्तु-वेतु, चतुर्थप्रयाज में आज्यसमानयन, अनवमर्श-पूर्वक समानयन, आज्यग्रहणान्तर जुहू का उत्तर अध्यूहन, आदि विशेषताओं का सोपपत्तिक निरूपण किया गया। अब स्वाहायागात्मक हेमन्तयाग नामक पाँचवें प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली विशेषता का एक ऐतिहासिक आख्यान के द्वारा विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)— '(भौम स्वर्गनिवासी मनुष्यविध भौमदेवताओं नें प्रयाजों से सम्वत्सरमण्डल-प्रतिकृतिरूपा भौम-त्रिलोकी पर अपना अधिकार कर लिया। देवता जीत गए, असुर पराजित होगए। इस विजय प्राप्ति के अव्यवहितोत्तर काल में ही) उन देवदेवताओंनें परस्पर की मन्त्रणा से निश्चय कर अपना यह मन्तव्य प्रकट किया कि, क्या ही अच्छा हो (हन्त), यदि अपनें (प्रयाजयागद्वारा) विजित (अपने अधिकार में आए हुए यज्ञ) को लक्ष्य बनाकर (इस प्रयाजयाग के साथ ही) सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म पूरा कर डालें। (ऐसा करने से, यहीं यज्ञ को सर्वात्मना पूर्ण करने से फल यह होगा कि) यदि इसके अनन्तर (यज्ञपूर्णतासिद्ध्यनन्तर) असुर-राक्षस अपने (यज्ञ) पर आक्रमण करेंगे (विघ्न डालेंगे), तब भी अपना यह यज्ञ पूर्ण ही बना रह जायगा । इसी निश्चय के अनुसार ॥ २१ ॥—

उन देवदेवताओंनें पाँचवें प्रयाजानुष्ठान में 'स्वाहा', कार से ही सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लिया। 'स्वाहा अग्निम्' इससे आग्नेय आज्यभाग को पूरा कर लिया। 'स्वाहा अग्निम्' इससे, सो जो कि उभयत्र अच्युत आग्नेय पुरोडाश होता है—(विहित है), उसे पूरा कर लिया ॥२२॥—

(पौर्णमासेष्टि, किंवा दर्शेष्टि, के अनुरूप जो यजनीय देवता विहित हैं, उनका उसी) देवता-क्रमानुसार यजन कर लिया। 'स्वाहा देवा आज्यपाः' इससे प्रयाजानुयाज-देवताओं को पूरा कर लिया। प्रयाजानुयाज देवता ही (ऋतुछन्द ही) तो (आज्याहुति के कारण) आज्यपा (घृतपान करने वाले) हैं। 'जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु' इससे स्विष्टकृत् अग्नि को पूरा कर लिया। अग्नि ही स्विष्टकृत् है—"अग्निर्हि स्विष्टकृत्" ॥ (आख्यान का विशदीकरण तो विवेचना प्रकरण से ही सम्बन्ध रखता है। प्रकरणसङ्गति के लिए प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, प्राकृतिक नित्य यज्ञ के आधार पर वितायमान वैधयज्ञ का अनुगमन सर्वप्रथम भौमस्वर्ग निवासी भौम-मनुष्यविध-देवताओंनें किया था। उनके यज्ञ कर्म्म पर मनुष्यविध असुर समय समय पर आक्रमण किया करते थे। कभी कभी इन असुराक्रमणों से भौमदेवताओं का यह यज्ञ कर्म्म अधूरा ही रह जाता था। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए देवताओंनें जिस तात्-कालिक प्रणाली का आविष्कार किया, उसी का आख्यानद्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। प्रयाजयागान्त में उस प्रणाली के अनुगमन से उनका यज्ञ एक प्रकार से इसलिए पूर्ण-हो गया कि कृत्स्न यज्ञ में जिन जिन देवताओं का यजन अपेक्षित है, उन सबका स्वाहाकारात्मक पञ्चम प्रयाज कर्म्म में अनुकल्प है। अतएव स्वाहान्त पञ्चम प्रयाज पूर्णयज्ञ का प्रतिनिधि बन रहा है। मान लीजिए,

कोई ऐसा अप्रत्याशित विघ्न उपस्थित होगया, जिससे प्रयाजानन्तर यजमान अन्य यज्ञेतिकर्त्त-व्यता पूरी न कर सका। क्या ऐसी स्थिति में उसका प्रयाजान्त कर्म्म व्यर्थ चला जायगा ?, पूर्णयज्ञ के द्वारा जो अतिशय इसे मिलने वाला था, क्या उससे यह सर्वथा वञ्चित रह जायगा ?। श्रुति कहती है—नहीं। पञ्चम प्रयाज में जिस इतिकर्त्तव्यता का अनुगमन किया जाता है, उसी से अंशतः इसे वह यज्ञातिशय प्राप्त होजाता है, जिसके लिए इसे प्रयाजानन्तर अन्यान्य शेष कर्म्म और करने पड़ते हैं। आसुर-विघ्नों से संत्रस्त भौमदेवता भी तो इसी प्रणाली से प्रयाजान्त कर्म्म से ही यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूर्ण बना लेते थे)—

ठीक उसी प्रकार (प्रयाजान्त में विहित, भौमस्वर्गीय मनुष्यविध देवताओं के द्वारा आवि-ष्कृत उसी प्रणाली-पद्धति-से (अपने प्रयाजान्त में अनुगमन से) आज भी (यजमान का) यह (इष्टिलक्षण वैध) यज्ञ उसी प्रकार (तथैव) पूर्ण हो जाता है, जैसे कि (जिस पद्धति के अनुगमन से) इस यज्ञ को (अपूर्ण भी यज्ञ को) भौमदेवताओं नें पूर्ण कर लिया था। (यही स्वाहाकारान्त अन्तिम पाँचवें-प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली पूर्व प्रतिज्ञाता विशेषता है। स्वाहात्मिका पद्धति से सम्बन्ध रखने वाली उस उक्त विशेषता के अनुगमन से प्रयाजान्त में ही यजमान का यह अकृत्स्न भी यज्ञ कृत्स्न बन जाता है) इसीलिए (अकृत्स्न भी यज्ञ की मध्य में ही-प्रयाजान्त में हीं-कृत्स्नता सम्पादन के लिए) वह अध्वर्यु पाँचवें प्रयाज में 'स्वाहा-स्वाहा' पूर्वक जितनी भी हवि होतीं हैं, उन सब का यजन करता है। (यज्ञपूर्णताप्रवर्त्तक अन्यान्य सभी संग्राह्य देवताओं के लिए आहुति देता हुआ, तद्द्वारा सर्वसंग्रह करता हुआ हेमन्तयाग का यजन करता है। इस (स्वाहा-स्वाहात्मिका सर्वदेवयजनात्मिका पञ्चम प्रायाजाहुति के प्रभाव) से वह अध्वर्यु (पञ्च-प्रयाजयाग से) विजित यज्ञसम्पत्ति को लक्ष्य बनाता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लेता है—'तदनु सर्वं यज्ञं संस्थापयति'॥

(यह नियम है कि, जबतक यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूर्ण नहीं हो जाती, तबतक गमनागमन-भाषण-स्पर्श-आदि के सम्बन्ध में विशेष नियमों का अनुगमन करना पड़ता है, जैसा कि—'अनवमृशन्त्समानयति'—'न वै सर्वेण संवेदत' इत्यादि आदेशों से स्पष्ट है। यज्ञ के पूर्ण होजाने पर इन नियम-बन्धनों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। स्वाहाकारात्मक अन्तिम प्रयाज यागानन्तर यज्ञ पूर्ण होजाता है। अतएव इससे आगे जो भी शेष कर्म्म बच रहते हैं, उन के सम्बन्ध में नियम-बन्धन का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। उस अवस्था में यदि किसी किसी नियम का उल्लंघन हो जायगा, तब भी कोई अनिष्ट न होगा, यही तात्पर्य्य है। इसी का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)-(प्रयाजान्त कर्म्म यज्ञपूर्णताप्रवर्त्तक है, नियमानुगमन तत्पूर्णता-पर्य्यन्त ही अपेक्षित है) इसलिए इससे आगे (प्रयाजकर्म्मानन्तर होने वाले कर्म्मों में) ऋत्विक (किंवा यजमान) यदि (अपने स्वाभाविक अनृतभाव से) कुछ विलोम (असावधानी) कर बैठे, तो उसे विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए। उसे तो (प्रयाजानन्तर) यह समझ लेना चाहिए कि, मेरा यह यज्ञ कर्म्म (तो प्रयाजयाग से ही) पूरा हो गया—"संस्थितो यज्ञ, इति ह विद्यात"।

( स्वाहाकृत, एवं वषट्कृत यज्ञ जैसे यातयाम–गतरस–बन जाता है, तद्वत् प्रयाजलक्षण यह इष्टिकर्म्म, किंवा इष्टियज्ञान्तर्भुक्त प्रयाजकर्म्म भी वौषट्–स्वाहा–सम्बन्ध से यातयाम बन जाता है। वौषट्कार वाङ्मण्डल के अवसान का सूचक है। एवमेव स्वाहाकार भी 'स्वं वाचमाह' निर्वचनानुसार वाङ्मय यज्ञ के अवसान का ही सूचक बन रहा है, जैसाकि विवेचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। वाग्रस का वाङ्मय वषट्कार से, वाङ्मय स्वाहाकार से निर्गमन हो जाता है। यही वाङ्मय यज्ञ का रसशून्य बन जाना है। ऐसा नीरस यज्ञ ह गतरस बनता हुआ यातयाम कहलाया है। वषट्–स्वाहा–से अपक्रान्त–द्युलोक की ओर गत–वाङ्मय–वागग्निमय–यज्ञरस यज्ञपूर्णता–समाप्ति के अनन्तर पुनः यजमानात्मा में प्रविष्ट हो जाय, इस पुनः रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुनः यजमानात्मा–में प्रविस्ट होजाय, इस पुनः रसप्रवेश से यातयाम यज्ञ पुनः अयातयाम—वाग्रसपरिपूर्ण–बन जाय, इस प्रयोजन के लिए एक 'स्विष्टकृद्याग' नाम का कर्म्मविशेष विहित है। वागग्नि ही शेषाहुति से तृप्त होकर यज्ञ को 'स्विष्ट'–रसयुक्त–बनाते हैं। अतएव इन्हें–'स्विष्टकृत्' कहा जाता है। अतएव तदाहुतिकर्म्म 'स्विष्टकृद्याग' कहलाया है। पञ्च-प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली वौषट्–स्वाहा व्याहृतियों से आज प्रस्तुत यज्ञ भी यातयाम बन रहा है। स्विष्टकृद्याग होता है—यज्ञान्त में। ऐसी दशा में इस की वर्त्तमान यातयामता के निराकरण का क्या उपाय ?, इसी प्रश्न का ऐतिह्य कारणानुगत स्थिति–प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है )—

जिस प्रकार वषट्कृत हुत, स्वाहाकृत हुत ( वौषट, स्वाहा पूर्वक दी जाने वाली आहुति से युक्त कर्म्म यातायाम बन जाता है, इसी प्रकार वौषट्,–स्वाहापूर्वक आहुति होने से प्रयाजान्त से संस्थित होने वाला ) यह यज्ञ यातयाम ही रह गया ( यज्ञ का वाग्रस द्युलोक की ओर चला गया ) ।।२३।।

( इस प्रकार प्रयाजान्त में संस्थित–पूर्ण–होने वाले यज्ञ को वौषट्–स्वाहाकार के सम्बन्ध से यातयाम बना देख कर ) उन भौम देवताओं नें यह कामना प्रकट की ( विचार विमर्श किया ) कि, अपन कैसे इस ( नीरस ) यज्ञ को पुनः आप्यायित ( रस से परिपूर्ण ) करें ?, ( रस समावेश के द्वारा कैसे-किस पद्धति से इसे अयातयाम बनावें ?, एवं अयातयाम बने हुए यज्ञ से कैसे जीवन–यात्रा का निर्वाह करें ? ।।२४।।

अपनी उक्त कामनाओं को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिये, यातयाम यज्ञ को अयातयाम बनाने के लिये उन देवताओं ने यह किया कि ) सो प्रयाजाहुति के अनन्तर जो आज्यमात्रा-जुहू में बची रह गई थी, जिस जुहूस्थित आज्य ( आज्याहुति ) से देवताओं नें ( प्रयाजयाग के द्वारा ) यज्ञ पूर्ण किया था, उसी ( आहुत्यनन्तर बाकी बचे हुये तच्छेष ) आज्य से ही यथापूर्व-( अन्तिम प्रयाज विहित आहुतियों की भाँति तत्तद्देवताओं के लिए ) आज्य हवियों का आघार करते हुए ( यातयाम बने हुए उन वाङ्मय देवों को ) पुन: आप्यायित कर दिया, अयातयाम बना दिया। आज्य ( वागग्नि रसात्मक होने से ) अवश्य ही अयातयाम रसपूर्ण होने से स्वयमपि अयातयाम

( अन्य यातयामों में भी रसप्रदान करता हुआ उन्हें भी अयातयाम बनाने वाला ) है । ( इसप्रकार भौम देवताओं नें परिशिष्ट-अयातयाम-आज्याहुति से यातयाम यज्ञ को पुनः अयातयाम बना लिया । देवयज्ञवत् यजमान का प्रस्तुत प्रयाजान्त यज्ञ भी वौषट्-स्वाहा-द्वारा हुत होने से आज यातयाम बन गया ) इसीलिये ( इसे पुनः अयातयाम बनाने के लिये ही ) उत्तम ( पाँचवां ) प्रयाजयाग करके ( करने के अनन्तर हुतशेष आज्य से ) यथापूर्व हवियों का आघार करता है । इस आघार कर्म्म से यह देवताओं को पुनः आप्यायित, अयातयाम करता है । आज्य ( पूर्व कथनानुसार ) अवश्य ही अयातयाम है-'अयातयाम ह्याज्यम्' ।। ( शेष आज्याघार से यातयाम यज्ञ आप्यायित होता हुआ अयातयाम बन जाता है ) अतएव ( यज्ञपद्धति में यह नियम बन गया है कि ) जिस किसी भी देवता के लिये ( देवात्मक यज्ञकर्म्म के लिए ) ऋत्विक् हवि का विभाजन करता है ( प्रदान करता है ), उसके सम्बन्ध से तच्छेष के पुनः स्विष्टकृत ( एतन्नामक अग्नि-विशेष ) के लिये अभिघार करता है । ( इस अभिघार से ) वह उस यज्ञ को पुनः आप्यायित, अयातयाम बनाता है । यदि स्विष्टकृदग्नि के लिए ( अयातयामसम्पत् प्राप्त्यर्थ ) हवि का विभाजन पहिले से ही कर देता है, ( तो उस अवस्था में ) पुनरभिघार अनावश्यक है । ( तात्पर्य्य इस कथन का यही है कि-कृत्स्न इष्टिकर्म्म में तो पहिले से ही स्विष्टकृदग्नि के लिए भाग नियत रहता है । अतः उसकी समाप्ति पर पुनरभिघार नहीं होता । अभिघार तो वहाँ आवश्यक है, जहाँ पहिले से स्विष्टकृदग्नि के लिए अवदान विहित नहीं है । प्रकृत स्थल ऐसा ही है । अतः यहाँ अवश्य ही अभिघार अपेक्षित है । जहाँ पहिले से अवदान नियत है, वहाँ आहुतिकर्म्म समाप्त्यनन्तर ) अग्नि में और किसी हवि की आहुति की अपेक्षा नहीं रखता है । ( अपेक्षा नहीं रह जाती )- "नो हि ततः काञ्चन हविषोऽग्नावाहुतिं होष्यन् भवति" ।।२५।।

## इति-प्रयाजब्राह्मणम् (३)

—————— : ❀ : ——————

पाँचवें अध्याय में तीसरा, चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

( १।५।३। )—( १।४।४ )

( १—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रथम ब्राह्मण समाप्त )

—१—

प्रथमकाण्ड में पाँचवें अध्याय में चौथा, चौथे प्रपाठक में पाँचवाँ ब्राह्मण

( १।५।४ )—( १।४।५ )

( २—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त द्वितीय ब्राह्मण )

## ४—प्रयाजावृत् ( पद्धति )

प्रकृत ब्राह्मण में प्रयाजावृत् ( पद्धति ), और प्रयाजानुमन्त्रण, इन दो प्रकरणों का समावेश हुआ है, जिन्हें पूर्वब्राह्मणोक्त तीन प्रकरणों ( १-प्रयाजबन्धु, २-उत्तरप्रैष, ३-प्रयाजब्राह्मण, इन तीन प्रकरणों ) की दृष्टि से-४-५ वें प्रकरण माना जा सकता है । इनमें चौथे प्रस्तुत प्रयाजावृत

प्रकरण में प्रकारान्तर से उस क्रमिक पद्धति का ही निरूपण हुआ है, जिसका पूर्वब्राह्मण के 'प्रयाज-ब्राह्मण' नामक तृतीय प्रकरण की ८ वीं कण्डिका से १४ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ७ कण्डिकाओं में विभिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन हुआ है। उस पूर्वपद्धतिप्रकरण में बतलाई गई उपपत्ति का प्रधान लक्ष्य आधिदैविक सम्वत्सरमण्डल था। एवं प्रकृत प्रकरण में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का प्रधानतः आध्यात्मिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है। पद्धत्यंश उभयत्र समान है, केवल उपपत्तिप्रदर्शन में विभिन्नता है। इस विभिन्नता को लक्ष्य बनाकर ही निम्न लिखित श्रुति-प्रकरण का समन्वय करना चाहिये—( सैषा प्रकरणसङ्गतिः )।

( १ )—वह ( अध्वर्यु नामक ऋत्विक् होताके-'समिद्धो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस समिद्देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के * समिद्ध-प्रज्वलित-भाग में जुहूस्थित आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पहिले ( समिधा-समित् नामक प्रथम प्रयाज ) का यजन करता है ( समिद्याग सम्पादन करता है )। ( समिद्याग क्यों किया जाता है ?, प्रश्न की आध्यात्मिक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, स्रुगादापनकर्म्म से दैवात्मा में जिन ६ आध्यात्मिक प्राणों का आधान हुआ है ÷, दैवात्मप्रतिष्ठित उन प्राणों के समिन्धन के लिए ही,-आध्यात्मिक-प्राणसमिन्धन के लिए ही-यह समिद्याग विहित है। इसी प्राणसमिन्धन कर्म्म का अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है)—समिधाएँ निश्चयेन प्राण हैं। ( इस समिद्यागकर्म्म से-प्रथमप्रयाज से ) वह अध्वर्यु ( दैवात्मा के आध्यात्मिक नौ ) प्राणों को ही प्रज्वलित-जीवनीयरस से युक्त-करता है। ( समिद्ध ) प्राणों से ही यह पुरुष ( शरीरपुराधिष्ठाता आलोमभ्यः, आनखाग्रेभ्यः, सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त शरीराभिमानी चितेनिधेयाग्निमूर्त्ति प्राणात्मा-कर्म्मात्मा ) समिद्ध है। ( क्योंकि समिद्याग से यजमानात्मा के प्राणों का समिन्धन होता है, अतएव इस समिद्याग से आग्नेय ताप भी एक विशेष प्रक्रिया से हटाया जा सकता है, यही इस समिद्याग का काम्यफल माना गया है। प्राणसमिन्धन की कमी से ही प्राणाग्नि केन्द्र से विच्युत हो जाता है। प्राणाग्नि के केन्द्र से विच्युत होकर शरीराभिमुख बन जाने का ही नाम उपताप है, उपताप की चरमावस्था ही उष्णता-लक्षण सन्ताप-ज्वर-दाह-है। यदि इस समय यजमान उपतापी है; यजमान को ज्वर है, तो समिद्याग के द्वारा वह हटाया जा सकता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है)-( क्योंकि पुरुषाग्नि प्राणों से समिद्ध रहता है, इधर समिद्याग प्राणसमिन्धक है ) इसलिए वह अध्वर्यु ( होता के द्वारा प्रयुक्त समिद्देवताक याज्यामन्त्र के साथ होने वाले अपने समिद्याग कर्म्मानुष्ठान काल में यजमान से यह प्रैष करे ( कहे ) कि, हे यजमान ! तुम ( समिद्द्वारा अपने प्राण-समिन्धन का ध्यान करते हुए ) अपने शरीर को स्पर्श करो, यदि यजमान उपतापी हो तब। ( अर्थात् उतपातदशा में ही यजमान को

---

* 'समिद्धहोमेन ह्येव समिद्धाः ( समृद्धा वा ) आहुतयः'—शत० ७।५।३।७।

÷ "ता वाऽएता नव व्याहृतयो ( स्रुगादापननिगदमन्त्रस्य ) भवन्ति नवेमे पुरुषे प्राणाः। एतानेवास्मिन् ( यज्ञातिशयलक्षणे दैवात्मनि ) एतत ( स्रुगादापनकर्म्मणा ) दधाति"—शत० १।५।२।५।

स्पर्श करना चाहिए )। ( साथ ही स्वयं अध्वर्यु भी यही भावना करे, इसी अध्वर्युकृत भावना को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है )—यदि वह यजमान ज्वरार्त्त हो, तो अध्वर्यु भी यही आशंसन ध्यान करे )। ( क्योंकि, इस मेरे सामद्याग से प्राणसमिन्धन द्वारा यजमान का ताप शान्त हो )। ( अध्वर्यु के इस आशंसन से, साथ ही अपनी भी भावना से ) वह यजमान ( अवश्यमेव ) समिद्ध हो जाता है। प्राण समिद्ध होते हुए केन्द्राभिमुख बनते हुए बाह्यतापशान्ति के कारण बन जाते हैं )। यदि यजमान शीत ( तापरहित, स्वस्थ ) है, तो ( उस दशा में न तो यजमान अपना स्पर्श ही करे, एवं न अध्वर्यु आशंसन ही करे। ( इस प्रत्यक्ष इष्ट फल से भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, समिध अवश्यमेव आध्यात्मिक प्राणों को समिद्ध करतीं हैं ) अतएव ( कहा जा सकता है कि ) अपने इस समिद्याग से ( अध्वर्यु यजमानात्मा में ( स्थित ) प्राणों का ही समिन्धन करता है। ( पूर्व ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के प्रथम बसन्त पर्वसमिन्धन के साथ साथ ) आध्यात्मिक प्राणसमिन्धन-फलप्राप्ति के लिए ( भी ) यह समिद्याग करता है ॥१॥

( २ )—वह ( अध्वर्यु समिद्याग के ) अनन्तर ( होता के-'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु वौषट्' इस तनूनपाद्देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त दूसरे ) तनूनपात् ( नामक प्रयाज ) का यजन करता है। तनूनपात् निश्चय से रेत ( वीर्य्य-शुक्र ) है ( क्योंकि सप्तम धातुभूत रेत ही शरीर को न गिरने देता हुआ तनूनपात् है )। ( इस तनूनपाद्याग से ) वह अध्वर्यु ( दैवात्मा में प्रजननधर्म्म के समावेश के लिए ) रेतःसेक ही करता है। ( पूर्व ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के द्वितीय ग्रीष्म पर्वसमिन्धन के-साथ साथ ) आध्यात्मिक रेतःसेक प्राप्ति के लिए ( भी ) यह तनूनपाद्याग का अनुष्ठान करता है ॥२॥

( ३ )—वह ( अध्वर्यु तनूनपाद्याग के ) अनन्तर ( होता के-'इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस इड्देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने के अनन्तर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त तीसरे ) इट् ( नामक प्रयाज ) का यजन करता है। इट् निश्चयेन प्रजा है। जिस समय-( नवमसानन्तर 'एवयावरुत्' नामक प्रसववायु की नोदना से, नवमास पूर्व योषाग्नि में वृषा द्वारा ) सिक्त रेत ( प्रजारूप से ) उत्पन्न होता है ( भूमिष्ठ बनता है ), उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण से ही वह ( उत्पन्न प्रजा ) ( अन्नकामना से ) इड्मयी-( अन्नमयी ) सी बन कर अन्न की इच्छा करती हुई विचरने लगती है ( उत्पत्यनन्तर ही अन्न की ओर प्रवृत्त हो जाती है )—( तनूपाद्याग के द्वारा सिक्त रेत का प्रजारूप से प्रजनन अपेक्षित है, प्रजनन उत्तरभावी, साथ ही इट्-अन्न-अभिमुख है। अतएव अन्नेच्छात्मक इस उत्तरभावी प्रजननकर्म्म के लिए ही तनूपाद्यागानन्तर इड्-याग आवश्यक है। पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के तृतीय वर्षापर्व समिन्धन के साथ उत्तरभावी आध्यात्मिक इस प्रजनन फल को ही लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है कि ) इस ( इड्याग से) यह

अध्वर्य्यु ( दिव्य प्रजा को ) ही उत्पन्न करना है। इसीलिए ( प्रजोत्पत्ति के लिए ) इड्याग करता है ॥४॥

(४)—वह (अध्वर्य्यु इड्याग के) अनन्तर (होता के—'बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट्' इस बर्हिर्देवताक याज्या मन्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट् उच्चारण के साथ आह्वनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रम प्राप्त चौथे) बर्हि (नामक प्रयाज) का यजन करता है। बर्हि निश्चयेन भूमा ( बहुत्त्वसम्पत्ति से युक्त ) है। (बर्हि-दर्भ-का भूमाभाव इसके संख्या-बहुत्त्व पर, एवं बृंहणधर्म्म पर ही अवलम्बित है)। उत्पन्न प्रजा की भूमा प्रजावृद्धिरूप से भी अभीष्ट है, एवं प्रत्येक प्रजा के बहुयशोभाव से भी अपेक्षित है। इड्याग से प्रजा उत्पन्न की गई है। अब अपेक्षित उभयविध भूमा-भाव का भी उत्पन्न प्रजा में आधान होना चाहिए। बर्हि भूमाधर्म्म से युक्त है। ( पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के चतुर्थ शरत्-पर्व समिन्धन के साथ साथ ) आध्यात्मिक इस भूमाभाव-फल प्राप्ति के लिए ( भी ) यह अध्वर्य्यु बर्हि का यजन करता है ॥४॥

( ५ )-वह ( अध्वर्य्यु बर्हियाग के ) अनन्तर ( होता के-"स्वाहाग्निम्, स्वाहा सोमम्, स्वाहाग्निम्, स्वाहा देवाँ आज्यपान्, स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्" इस स्वाहा देवताक याज्यमान्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आह्वनीयाग्नि के समृद्ध-प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पाँचवें ) स्वाहा-स्वाहा ( नामक प्रयाज ) का यजन करता है। ( वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत-हेमन्त, इन ) पाँच ऋतुओं का निश्चयेन हेमन्त स्वाहाकार ( अन्तिम पर्व ) है। ( अपने स्वाभाविक कटुस्पर्श से ) हेमन्त ही इस ( पार्थिव प्रजावर्ग को अपने वश में कर लेता है। इसीलिए ( हेमन्ताक्रमण से स्वविकास-लक्षण स्वातन्त्र्य से ही ) हेमन्त ऋतु में ओषधियाँ म्लान ( मुकुलित ) होजातीं हैं, वनस्पतियों के पत्ते झड़ जाते हैं, पक्षिगण अतिशयरूपेण क्षीणकाय बन जाते हैं, क्षीणकाय बनते हुए निर्जीव से बनकर आकाश से, तथा अपने घोंसलों से ये ( पक्षी ) पट-पट नीचे गिरने लगते हैं, पुरुष-समुदाय मुण्डित केशपुरुष की भाँति हतश्री बन जाता है-( प्रतीत होने लगता है )। इसप्रकार ( इन प्रत्यक्षदृष्ट स्थितियों के आधार पर यह कहा जासकता है कि ) हेमन्त सम्पूर्ण पार्थिव प्रजावर्ग को अपने अधिकार में कर लेता है ( किए हुए है )। जिसप्रकार एक समर्थ-बलवान्-योग्य व्यक्ति अपने वर्ग पर अधिकार करता हुआ वर्ग के द्वारा श्री-वित्तसम्पत्ति, एवं अन्नाद्य-अन्नसम्पत्ति का अन्यतम भोक्ता बन जाता है, एवमेव हेमन्तयागकर्त्ता भी अपने समाज का नेता बनता हुआ श्री-और अन्नाद्य का अन्यतम भोक्ता बन जाता है। हेमन्तयाग के इसी फल का अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है )—वह यजमान जिस अर्द्ध ( समाज ) में रहता है, उस अर्द्ध को श्री, और अन्नाद्य के लिए स्वीकृत कर लेता है ( उस समाज को अपने वश में कर तद्द्वारा अभीष्ट श्री-अन्नाद्य प्राप्त करने में समर्थ होजाता है ), जो कि यजमान ( साथ ही यजमानदत्त दक्षिणा से परिगृहीत प्रयाजकर्त्ता अध्वर्य्यु भी )

हेमन्त के ( उक्त लक्षण ) सर्वाधिपत्य को जान लेता है। ( हेमन्तयाग का आध्यात्मिक फल सर्वाधिकारभावप्राप्ति ही है, यही तात्पर्य्य है ) ॥५॥

इति-प्रयाजावृत ( पद्धति )-(४)

---

## प्रयाजानुमन्त्रण

प्रस्तुत प्रयाजकर्म्म में एक 'प्रयाजानुमन्त्रण' नामक कर्म्म-विशेष यजमान को करना पड़ता है। पाँच प्रयाजों के लिए होतृकर्तृक पाँच आज्या मन्त्र हैं, जिनका पूर्व के प्रयाजावृत् प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। पाँच याज्यामन्त्र 'प्रयाजमन्त्र' हैं। जिस समय १-२-३-४-५-क्रम से होता पाँच याज्यामन्त्रों का उच्चारण करता है, उस समय प्रत्येक याज्यामन्त्र की समाप्ति पर यजमान भी एक एक निगदमन्त्र का उच्चारण करता है। यजमान इस मन्त्रपाठ से प्रयाज का अपने दैवात्मा के साथ सम्बन्ध कराता है। अतएव यजमानकर्तृक ये मन्त्र 'प्रयाजानुमन्त्रण' कहलाए हैं। उन पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों का स्वरूप निम्नलिखित है—

(१)-होता-"समिद्धो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्"-यजमानः-"इदं समिद्भ्यो न मम। एको मम, एका तस्य यमहं द्वेष्मि, योऽस्मान् द्वेष्टि, यंच वयं द्विष्मः। त्विषिमान् भूयासम्" (समिदनुमन्त्रणम्—१)।

(२)-होता-'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु वौषट्'-यजमानः-'इदं तनूनपाते न मम। द्वौ मम, द्वे तस्य यं च वयं०। अपचितिमान् भूयासम्' (तनूनपादनुमन्त्रणम्—२)।

(३)-होता-'इडोअग्न आज्यस्य वेतु वौषट्'-यजमानः-'इदमिड्भ्यो, न मम। त्रयो मम, तिस्रस्तस्य-यं च वयं०। यशस्वी भूयासम्' (इडनुमन्त्रणम—३)।

(४)-होता-'बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट्'-यजमानः-'इदं बर्हिषे, न मम। चत्वारो मम, चतस्रस्तस्य-यं च वयं०। ब्रह्मवर्चसी भूयासम्' (बर्हिरनुमन्त्रणम्—४)।

(५)-होता-'स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमं, स्वा० व्यन्तु वौषट्'-यजमानः-'इदमग्नये सोमाय, अग्नये० न मम। पञ्च मम, न तस्य किञ्चन-यं च वयं०। अन्नादो भूयासम्' ( स्वाहानुमन्त्रणम्—५)।

अबतक के ब्राह्मणभाग में होतृकर्तृक प्रयाजमन्त्रों का, एवं अध्वर्य्युकर्तृक आहुति-कर्म्म से सम्बन्ध रखने वालीं अन्यान्य विशेषताओं का पद्धति-प्रदर्शन-पुरस्सर निरूपण होचुका है। परन्तु अबतक यजमानकर्तृक-'प्रयाजानुमन्त्रण' मन्त्रों की उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। प्रकृत शेष ब्राह्मणभाग में उस प्रयाजानुमन्त्रण की ही पद्धतिप्रदर्शन-पूर्वक उपपत्ति बतलाई जारही है। इस उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाला एक आख्यान सर्वप्रथम उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है—

देवदेवता, और असुर, दोनों प्राजापत्य ( प्रजापति की सन्तानें ) परस्पर स्पर्द्धा ( युद्ध ) करने लगे । ( दोनों हीं ) दण्ड, तथा धनुषों से ( एक दूसरे पर ) विजय प्राप्त न कर सके ( भौतिक शस्त्रबल से युद्ध का निश्चित परिणाम न निकल सका )। ( अपने आयुधयुक्त युद्धकर्म से ) विजय लाभ न करते हुए दोनों नें यह निश्चय किया कि, अरे भाई ( हन्त भला, अच्छा तो ) अपन वाग्रूप ब्रह्म के माध्यम से ही जीतने की इच्छा करें ( शास्त्रार्थ के द्वारा युद्ध का निर्णय करें )। ( इस मन्त्रात्मिका वाक् के युद्ध में, वाचिक युद्ध में ) अपन दोनों में से जो भी-( एक दूसरे द्वारा ) प्रयुक्त वाक् का मिथुनभाव से अनुक्रमण द्वारा ( युग्म द्वारा ) अनुगत न करेगा, वह हार जायगा, दूसरा ( मिथुनभावानुगत दल ) विजेता माना जायगा । दोनों ने संधा ( शर्त ) मान ली (तथेति)। ( प्रस्तुत वाग्युद्ध में इन्द्र को ही योग्य अधिकारी मान कर ) देवदेवताओं नें इन्द्र से कहा कि, ( हमारी ओर से, देवमण्डली की ओर से ) आप ही वाक्-शस्त्र का प्रयोग करें ! ॥६॥

( देवप्रेरणानुगत ) इन्द्र ( ही वाग् युद्ध का प्रारम्भ करते हुए असुरों को लक्ष्य बनाकर ) बोले-**'एको मम'** ( हमारा एक है )। **'अस्माकमेका'** ( हमारी एक है ) यह ( प्रत्युत्तर में ) असुर बोले। इस प्रथम ( वाङ्मय ) स्पर्द्धा कर्म्म से ( प्रतिज्ञात सन्धानुसार ) देवदेवता, असुर, दोनों नें मिथुनसम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो 'एकः' और 'एका' है। ( योषा-वृषात्मक स्त्री-पुम्भाव का समन्वित रूप ही मिथुनभाव है। पुम्वाचक 'एकः' से वृषात्मक पुम्भाव का, एवं स्त्रीवाचक 'एका' से योषात्मक स्त्रीभाव का संग्रह हो रहा है। दोनों के संग्रह से मिथुन-भाव गतार्थ बन रहा है, यही तात्पर्य्य है )॥७॥

( प्रथम मिथुनावाप्त्यनन्तर ) **'द्वौ मम'** यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में **'अस्माकं द्वे'** यह असुर बोले। इस कर्म्म से ( भी दोनों नें ) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो 'द्वौ' ( पुम्वाचक शब्द ), एवं 'द्वे' ( स्त्रीवाचक शब्द ) है ॥८॥

( द्वितीय मिथुनावाप्त्यनन्तर ) **'त्रयो मम'** यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में **'अस्माकं तिस्रः'** यह असुर बोले। इस कर्म्म से ( भी दोनों नें ) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो कि 'त्रयः, और तिस्रः' है ॥९॥

( तृतीय मिथुनावाप्त्यनन्तर ) **'चत्वारो मम'** यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में **'अस्माकं चतस्रः'** यह असुर बोले। इस कर्म्म से ( भी दोनों नें ) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो कि-'चत्वारः, और चतस्रः' है ॥१०॥

( चतुर्थ मिथुनावाप्त्यनन्तर ) **'पञ्च मम'** यह इन्द्र बोले। ( इन्द्र के इस वाङ्मय 'पञ्च' पर्व के प्रत्युत्तर के लिए ) असुर कोई साधन प्राप्त न कर सके। ( क्योंकि 'चत्वारः-चतस्रः' से आगे-स्त्री-पुल्लिङ्ग भेदक लिङ्ग का ही अभाव है। अतएव ) इससे आगे मिथुन का अभाव है। आगे तो-स्त्री-पुम्भाव दोनों के लिए ) 'पञ्च-पञ्च' इस समान शब्द का ही प्रयोग होता है। ( बस

यहाँ आकर पूर्व प्रतिज्ञात संधा के अनुसार इन्द्रप्रयुक्त 'पञ्च' के मिथुन की पूर्त्ति करने में असमर्थ रहते हुए ) असुर अपना सर्वस्व ( पहिले के चार मिथुन भाव भी ) हार गए। उधर देवदेवताओं नें ( मिथुन मर्यादानुगमन से ) असुरों का भी सर्वस्व जीत लिया। सम्पूर्ण मिथुनों से ( तद्रूप प्रयाजकर्म्मों से ) सपत्न असुरों को भागरहित बना दिया ॥११॥

( क्योंकि प्राकृतिक प्राणयज्ञ में देवासुर-स्पर्द्धा में मिथुनभाव के द्वारा देवदेवता असुरों के पराभव में समर्थ हुए हैं। अतएव इस पञ्चप्रयाज कर्म्म में भी प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में क्रमशः 'एकः-एका' इत्यादि मिथुन-भावात्मक पदों का समावेश कराता हुआ मिथुनसम्पत्ति-ऋतुपञ्चात्मिका पाङ्क यज्ञ सम्पत्ति-पर अपना अनन्य अधिकार जमा लेता है। यही अनुमन्त्रण-मन्त्रों की, एवं तत् पठित-'एकः-एका' आदि मिथुनभावों की मौलिक उपपत्ति है, जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण तत्प्रकरणानुगत विवेचना-प्रकरण में किया जायगा। प्राकृतिक मिथुनभाव के आधार पर प्रतिष्ठित इसी प्रयाजानुमन्त्रणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है )—

इसलिए (पूर्वोक्त मिथुनभावावाप्ति के लिए) उस यजमान को प्रथम प्रयाज समाप्त होने पर यह (प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्र) बोलना चाहिए कि-'एको ममेत्येका तस्य, यमहं द्वेष्मि' (एक मेरा है, एक उनकी है, जिससे मैं द्वेष करता हूँ *। यदि यजमान किसी को अपना व्यक्तिगत शत्रु नहीं मानता है, व्यक्तिगत द्वेष नहीं करता है, तो उस अवस्था में ('यमहं द्वेष्मि' न बोल कर)—'योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' (जो हम से द्वेष रखता है, जिसके प्रति हम सहज वैर रखते हैं) यह बोलना चाहिए (इस १२ वीं कण्डिका के अनुवाद से ही १३, १४, १५, कण्डिकाओं का, एवं सोलहवीं कण्डिका के पूर्वसमतुलित भाग का अनुवाद गतार्थ बन रहा है ॥ १३, १४, १५, ॥

वह यजमानशत्रु (पाँचवें प्रयाज में यजमान के द्वारा प्रयुक्त—'पञ्च मम-न तस्य-किञ्चन, योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इस प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्र के द्वारा) केवल पञ्च-पञ्च करता हुआ ही रह जाता है। उसे मिथुनसम्पत्ति उपलब्ध ही नहीं होती)। परिणाम स्वरूप वह यजमान अपने शत्रुवर्ग का सब कुछ छीन लेता है, सर्वसम्पत्ति से सपत्नों को भागरहित (वञ्चित) कर देता है, जो यजमान प्रयाजानुमन्त्रण से सम्बन्ध रखने वाले मिथुन विज्ञान को जानता हुआ तत्प्रयोग करता है ॥१६॥

## इति-प्रयाजानुमन्त्रणम् (५)

पाँचवें अध्याय में चौथा, चौथे प्रपाठक में पाँचवा ब्राह्मण समाप्त
२—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त द्वितीय ब्राह्मण समाप्त
( पाँचवाँ अध्याय समाप्त )

—२—

* जिसके साथ द्वेष हो, उस का—'कामशत्रुं'-क्रोधशत्रुं'-लोभशत्रुं'-लोकैषणात्मकं शत्रुं', इत्यादिरूप से उस शत्रु के नाम का सन्निवेश कर देना चाहिए।

( छठा अध्याय प्रारम्भ )

प्रथमकाण्ड में छठे अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक में छठा ब्राह्मण

( १।६।१ )—( १।४।६ )

( ३—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण )

## ६–प्रयाजों का इष्टि में प्राथम्य

त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण के पूर्वोपात्त प्रथम ब्राह्मण में (१।५।३) आरम्भ के 'ऋतवो ह वै प्रयाजाः' इत्यादिरूप पञ्च-पञ्चकण्डिकात्मक भाग के द्वारा 'प्रयाजबन्धु' (प्रयाजकर्म्मोपपत्ति) का प्रतिपादन हुआ है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, यह पञ्च-प्रयाजयाग सम्वत्सर में भुक्त वसन्तादि पाँच ऋतुओं पर यजमानात्मा का अधिकार प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, देवता और असुरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा में देवताओं नें अपने विजय का साधन पाँच प्रयाजों को ही बनाया। इन पाँच प्रयाजों से (पञ्चप्रयाजयाग से) वे पञ्चर्त्तु की समष्टिरूप सम्वत्सर सम्पत् पर अपना अधिकार करने में समर्थ होगए। इस उक्त उपपत्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रयाजकर्म्म वस्तुतः ऋतुकर्म्म है। ऋतुओं का यजन ही प्रयाजयजन है। अब इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होती है कि, सम्वत्सरयज्ञ में,—जिसमें साम्वत्सरिक प्राणविध देवदेवताओं के भाग नियत हैं—ऋतुओं का (ऋतुदेवताओं का) क्या भाग है ?। दूसरी जिज्ञासा का अग्नि से सम्बन्ध है। समिद्ध आहवनीयाग्नि में इन ऋतुरूप प्रयाज-देवताओं के लिए आज्याहुति विहित है। यह समिद्ध अग्नि साम्वत्सरिक दिव्याग्नि का प्रतिरूप है। अतएव सिद्ध होजाता है कि, प्राकृतिक पञ्चर्त्तुओं का भी (अन्य देवदेवताओं की भाँति) अग्निदेव के साथ अवश्य ही कोई न कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह अग्निसम्बन्ध भी प्रकृत में विजिज्ञास्य बन रहा है। इस अग्निसम्बन्ध-जिज्ञासा का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, ऋतुरूप पञ्च प्रयाजों के लिए होता की ओर से जो पाँच याज्यामन्त्र प्रयुक्त होते हैं, उन पाँचों ही मन्त्रों में 'समिद्धो अग्न आज्यस्य व्यन्तु०'—'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु०' इत्यादिरूप से 'अग्नि' का समावेश है। जबकि पाँचों मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वालीं पाँचों प्रयाजाहुतियाँ क्रमशः समित्, तनूनपात्, इट्, बर्हि, स्वाहा, इन पाँच प्रयाज-ऋतु-देवताओं के लिए ही विहित हैं, तो तद्देवताक याज्यामन्त्रों में 'अग्नि' पद का समावेश क्यों हुआ ?, क्यों-प्रयाजयागात्मक आज्य में अग्नि को भी भागहर माना गया ?। तीसरी जिज्ञासा का प्रयाज-प्राथम्य से सम्बन्ध है। प्रधानदेवतायाग ही 'इष्टिकर्म्म' है। इस इष्टिकर्म्म में ऋतुओं की तृप्ति के लिए तो प्रयाज कर्म्म विहित है, एवं छन्दों की तृप्ति के लिए अनुयाज कर्म्म विहित है। इन दोनों में प्रयाज कर्म्म प्रधानदेवता-यागलक्षण इष्टिकर्म्म से पहिले होता है, अनुयाजकर्म्म इष्टिकर्म्म से पीछे। यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि, प्रयाजकर्म्म का इष्टिकर्म्म में प्राथम्य क्यों है ?। इन तीनों जिज्ञासाओं का प्राकृतिक आधिदैविक ऋतुयज्ञ से ही सम्बन्ध है, तद्विज्ञान ही इस जिज्ञासात्रयी का तात्त्विक समाधान है। प्रस्तुत-ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर १५ वीं

कण्डिका पर्य्यन्त इसी जिज्ञासा-त्रयी का सोपपात्तिक विश्लेषण हुआ है। अतएव पञ्चदशकण्डिकात्मक इस ब्राह्मण भाग का एक स्वतन्त्र प्रकरण माना जासकता है, जिसे हमनें—'प्रयाजों का इष्टि में प्राथम्य' नामकरण अन्वर्थ माना है। १६ वीं कण्डिका से आरम्भ कर १८ वीं कण्डिका पर्य्यन्त तीन कण्डिकाओं में 'अभिचार' कर्म्म का निरूपण हुआ है, यही प्रकृत ब्राह्मण का कण्डिकात्रयात्मक द्वितीय करण है। १६ वी कण्डिका में फलश्रुति का विश्लेषण हुआ है, यही एक कण्डिकात्मक तृतीय प्रकरण माना गया है। १६, २०, इन दो कण्डिकाओं में प्रयाज कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले परिशिष्ट आज्य-देवतादि प्रश्नों का विमर्श हुआ है, यही प्रस्तुत ब्राह्मण का-'परिशिष्ट प्रश्नोत्तरविमर्श' नामक अन्तिम प्रकरण है। सम्भूय २१ कण्डिात्मक प्रकृत तृतीय प्रयाजब्राह्मण में ४ अवान्तर प्रकरण होजाते हैं, जिन्हें पूर्वब्राह्मण-द्वयी में प्रतिपादित ५ प्रकरणों की क्रमिक संख्या के अनुरोध से क्रमशः ६, ७, ८, ९, वें प्रकरण माना जासकता है। इस प्रकरणसङ्गति को लक्ष्य बना कर ही प्रकृत ब्राह्मणानुवाद का समन्वय करना चाहिए— (सैषा प्रकरणसङ्गतिः)

( प्रयाजयाग ऋतुयाग है, इसका प्राकृतिक सम्वत्सराग्नियज्ञ में एक विशेष-प्रथम-स्थान है, इसी आधिदैविक तत्त्व का एक वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है )—( वसन्तादि पाँचों याज्ञिक ) ऋतुओं नें ( प्राणविध ) देवताओं के साथ यज्ञ ( सम्वत्सराग्निलक्षण सोमगर्भित ज्योतिष्टोमयज्ञ ) में ( अपना भी ) भाग चाहा ( अर्थात जिस प्रकार देवदेवताओं का यज्ञाग्नि में भाग है, एवमेव ऋतुओं नें भी उसके भागीदार बनने की देवदेवताओं से कामना प्रकट की। अपनी इसी कामना को प्रकट करते हुए ऋतुओं नें देवदेवताओं से अनुरोध किया कि ) आप लोग इस यज्ञ में हमें भी भागी ( हिस्सेदार ) बनाइये !, हमें इस यज्ञ ( भाग ) से वञ्चित न कीजिए !, ( हम चाहते हैं कि, आप लोगों की भाँति ) इस यज्ञ में हमारा भी भाग रहे ॥ १ ॥

( जिसप्रकार किसी आगन्तुक सम्पत्ति-भोक्ता, सम्पद्विभाग-कामुक के आ जाने से, उसके विभाग माँगने पर स्वाभाविक वित्तलोभ के आकर्षण से लोक में सम्पत्ति का प्रथमभोक्ता आगन्तुक की उस न्यायप्राप्त माँग की उपेक्षा कर देता है, सुनी अनसुनी कर देता है, ठीक इसी लौकिक वित्त-स्थिति के अनुसार ऋतुओं के द्वारा यज्ञभाग माँगने पर ) देवताओं नें ऋतुओं की उस ( न्यायप्राप्त माँग-कामना को ) न पहिचाना—सुन कर भी ऐसी उपेक्षावृत्ति दिखलाई, जैसे उन्होंनें कुछ सुना-जाना हीं न हो )। देवताओं की उपेक्षावृत्ति का, ऋतुओं की न्यायप्राप्त माँग ठुकरा देने का वही परिणाम हुआ, जो आज भी प्रत्यक्ष में देखा सुना जाता है। यदि किसी को अपना न्यायप्राप्त अधिकार माँगने से भी नहीं मिलता, जो वस्तुतः बिना माँगे भी मिल जाना चाहिए, तो उस अवस्था में माँगने वाले का आत्मा विद्रोही बन कर उस वित्तभोगी-भोगरोगी के प्रतिद्वन्द्वी-शत्रुदल में जा मिलता है। यही ऋतुओं नें किया। इसी प्राकृतिक धर्म्म का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है ) प्राणविध देवदेवताओं के इसप्रकार ( अपनी माँग के ) न जानने पर ( उपेक्षा करने पर ) वे ऋतुएँ ( उत्पन्न स्वाभाविक आत्मविद्रोह के कारण ) देवदेवताओं के सहज शत्रु, भ्रातृव्य असुरों की ओर लौट आईं असुरदल में समाविष्ट हो गईं ) ॥२॥

( अपने शत्रु की समृद्धि सुन सुन कर विपक्षीदल को अन्तर्वेदना का स्वाभाविक अनुभव हुआ करता है। यदि किसी से बदला लेना हो, तो उसे चाहिए कि, वह उसके शत्रुदल में मिल जाय। और उससे मिल कर उसके उस समृद्धिकर्म्म में अपना सहयोग देकर उस समृद्धि को और भी अधिक समृद्ध बनावे, जिस समृद्धि को सुनने मात्र से विपक्षी दल की वेदना वृद्धिंगत हो जाती है। ऋतुओं नें इसी पथ का आश्रय लिया। असुरमण्डल की ओर आगत ) ऋतुओं नें ( असुरों के लिए ) उस समृद्धि को ( और भी अधिक ) समृद्ध करना आरम्भ किया, जिस ( असुरसमृद्धि ) को देवता सुना करते हैं ( सुन कर व्यथित हुआ करते हैं )। ( ऋतुओं के द्वारा असुरों की पूर्वसमृद्धि में क्या विशे ता उत्पन्न हो गई ?, प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि )—जिस परायुग में इन असुरों के पूर्वज ( ऋतुओं के अनुकूल सहयोग न मिलने से ) जिस समय ( मोसम में ) हल जोत थे, ( हल जोत कर ) बीज डालते थे ( इस प्रकार हल जोत कर बीज डाल कर बड़े परिश्रम से थोड़ा बहुत अन्न उत्पन्न कर येनकेनरूपेण बड़े कष्ट से अपना निर्वाह करते थे, उन्हीं असुरों के ) वंशज ( अपरे )—इन ऋतुओं के अनुग्रह से आज उसी मोसम में ) कुछ तो धान काट रहे हैं, कुछ कटे हुए धानों को बैल आदि से खुदवा रहे हैं। इस प्रकार ( ऋतुओं के अनुग्रह से आज ) उन-आसुर प्रदेशों में बिना ही हल जोते पुनः पुनः ओषधि ाँ पक रहीं हैं। ( तात्पर्य्य, ऋतु-अनुग्रह से पहिले जिन इन असुरों के पूर्वजों को जिस मौसम में हल जोत कर बड़े कष्ट से अन्न उत्पन्न करना पड़ता था, आज उनके वंशज असुर ऋतुओं के अनुग्रह से उस मौसम में तो धान का संग्रह कर लेते हैं। साथ ही इन्हें हल जोतने का भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। ऋतु-अनुग्रह से बिना हल जोते ही इनके देश में पर्य्याप्त अन्नसम्पत्ति उत्पन्न होती रहती है। यही वह प्रभूत समृद्धि है, जिसे सुन सुन कर देवता व्यथित हो सकते हैं ॥ ३ ॥

(देवदेवताओं के समीप भी कर्णाकर्णिद्वारा ये समाचार पहुँचे। वही हुआ, जो होना चाहिए था )। असुरसमृद्धि सुन कर देवदेवताओं को बड़ा पश्चात्ताप ( आग ) हुआ। ( इन्होंनें प्रज्ञा-पराध-जनित इस पश्चात्ताप को इन शब्दों में प्रकट किया कि )—हमारे इस ( ऋतुओं को उनके न्यायप्राप्त भाग न देने के ) कारण ( हीं ) आज शत्रुदल-( असुरलोग ) अपने शत्रुदल (देवदल) के प्रति ( स्पर्द्धापूर्वक ) शत्रुता करना चाहता है ( अर्थात् हम से उपेक्षित ऋतुओं के बल से ही समृद्ध बन कर आज वे असुर यहाँ तक समर्थ हो गए कि, वे-खुल्लमखुल्ला हम से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हैं। आज असुरों का यह साहस हो गया है कि, वे प्रत्यक्ष में हम से शत्रुता रखते हुए भी नहीं डर रहे। वास्तव में ) ऐसा हो जाना बहुत ही कमी है—( कनीय इन्नु-लज्जा की बात है )। ऋतुओं के अनुग्रह से आज असुर बलवान् बन गए हैं। अतएव प्रत्यक्ष में इनसे मुटभेड करना तो और भी पश्चात्ताप का कारण होगा। अतएव अब तो ) आप सब ( मिलकर ) वैसा कोई ( अप्रत्यक्ष सहज ) उपाय निकालिए, जिससे असुर लोग अपनी इस ( वर्त्तमान समृद्ध स्थिति से विपरीत ( असमृद्ध-निर्बल ) अवस्था में ( स्वतः एव ) पहुँच जाँय ॥ ४ ॥

( सभी यह जानते थे कि, ऋतुओं को उनका न्यायप्राप्त भाग न मिलने से वे असुरों में जा मिलीं, परिणामस्वरूप असुर समृद्ध होगए। अब उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से निर्बल बनाने का भी यही उपाय हो सकता है कि, जैसे बने तैसे ऋतुओं को वापस लौटा लिया जाय । परामर्श के द्वारा यह निश्चय कर ) देवदेवता ( अपना मन्तव्य प्रगट करते हुए ) कहने लगे कि, अपन ( इस संकट से बचने के लिए असुरदल में पहुँच जाने वालीं ) ऋतुओं को ही निमन्त्रित करें ( आदर-पूर्वक ऋतुओं को ही वापस बुलाना चाहिए। उपाय निकल आया। परन्तु किस साधन से ( किस प्रलोभन से ) उन्हें बुलाया जाय ?, यह समस्या आपड़ी। समस्या का कारण यही था कि, ऋतुएँ देवताओं से तिरस्कृत होकर ही गई थीं। उन्हें अपने प्रिय यज्ञ में भाग नहीं मिला था । आज भी वे लौट सकतीं हैं। परन्तु प्रलोभन ऐसा होना चाहिए, जो पूर्वप्रलोभन से भी विशिष्ट हो । वह यही हो सकता है कि, जिस यज्ञभाग की उन्हें कामना थी, स्वाभाविक प्रलोभन था, उसका प्रथम भागहर ऋतुओं को ही बनाया जाय। अवश्यमेव इस विशिष्ट प्रलोभनाकर्षण से वे वापस लौट आएँगी। इसी तात्पर्य्यार्थ का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है कि )—अपन इन ऋतुओं का इस यज्ञ में सर्वप्रथम ही यजन करें ( अर्थात् पहिला भाग इन्हें ही दिया जाय—आपको प्रथमभाग मिलेगा, यही सन्देश ऋतुओं के पास भेजा जाय। विश्वास है, इस साधन से अवश्य वे हमारी ओर आजायँगीं ) ॥५॥

( देवमण्डल में वे अग्निदेव भी समुपस्थित थे, जिन्हें यज्ञ में देवतालोग सब से पहिला भागहर मानते आरहे हैं। ऋतुयाग से भी पहिले अग्नि का ही प्रथम यजन होता आया है । जब अग्नि ने यह निर्णय सुना कि, ऋतुलक्षण प्रयाजों का ये लोग प्रथम यजन करने वाले हैं, तो उन्हें अपने प्रथमाधिकार की चिन्ता हुई। इसी चिन्ता को व्यक्त करते हुए ) अग्निदेव बोल पड़े कि—( हे देवदेवताओं ! ) आपने जो कि पहिले ( प्रयाजयाग से भी पहिले ) मेरा यजन किया है, ( पहिला भागहर बनाया है ) वह मैं ( यज्ञ में ) कहाँ प्रतिष्ठित रहूँगा ( अग्नि को भय यह हुआ कि, मुझे इन्होंनें यज्ञ का प्रथमभाग पहिले से दे दिया है। आज ये ऋतुओं को भी प्रथम भाग देना चाहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि, मेरा भाग छीन कर ऋतुओं को दे दिया जाय। यदि कहीं ऐसा हो गया, तो मेरी प्रतिष्ठा ही उच्छिन्न हो जायगी। देवताओं नें अग्निदेव की इस चिन्ता को हटाते हुए आश्वासन दिया कि ) अग्निदेव ! ( आप चिन्ता न करें ) हम आपको अपने आयतन ( प्रथमभागलक्षण प्रतिष्ठास्थान ) से कभी न गिरावेंगे । ( देवताओं का यह आश्वासन अवश्य ही सुरक्षित रहता है। अग्निदेव का प्रथमभाग अक्षुण्ण ही बना रहता है । इसी स्थिति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है कि ) उन देवदेवताओं नें ( प्रथमभाग प्रलोभन-साधन से ) ऋतुओं को बुलाते हुए ( भी उन्हें प्रथमभाग देते हुए भी ) क्योंकि अग्निदेव को अपने उनके आयतन से ( प्रथमभाग से ) च्युत नहीं किया, अतएव ( तब से, इसी अच्युत-भाव से ) वे अग्निदेव 'अच्युत' नाम से ही प्रसिद्ध होगए। ( जिनके लिए उभयत्राच्युत आग्नेय पुरोडाश विहित है )। वह याज्ञिक भी अपने उस आयतन से कभी च्युत नहीं होता है, जिस आयतन में वह प्रतिष्ठित रहता है, जोकि इस अच्युत अग्नि को ( अग्नि के इस अच्युत धर्म्म का ) जानता है ॥६॥

( देवताओंनें अग्नि का-'न त्वामायतनाच्च्यावयामः' इत्यादिरूप से वाचिक सन्तोष तो करा दिया, परन्तु इस से समस्या अधिक क्लिष्ट बन गई। 'प्रथमयजन' कर्म्म एकबार ही सम्भव है। ऋतुओं का प्रथमयजन कर लिया जाय, अथवा तो अग्नि का प्रथम यजन कर लिया जाय। अग्नियजन हो चुका है। यदि इन्हें इसी स्थान पर प्रतिष्ठित रखना है, तब तो ऋतुओं का प्रथमयजन असम्भव हो जाता है। यदि ऋतुओं का प्रथमयजन किया जाता है, तो अग्नि के प्रथम भाग के अपहरण के अतिरिक्त अन्य उपाय का अभाव है। फलस्वरूप अग्निदेव के साथ की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह असम्भव हो जाता है। इस जटिल अवस्था के निराकरण के लिए देवदेवताओं के ध्यान में एक उपाय आया। उन्होंनें यह निश्चय किया कि, प्रथमयजन का प्रलोभन प्रथम भागहर अग्नि के द्वारा ही ऋतुओं के समीप पहुँचाना चाहिए। परिणाम यह होगा कि, ऋतुदेवता अग्निदेवता को प्रथम यजनरूप प्रिय भाग का लाने वाला समझ कर इनसे अवश्य ही यह कहेंगे कि, जब आप अपना प्रथम यजन उपेक्ष्य मान कर हमें प्रथम भागहर बनाने का त्याग कर रहे हैं, तो हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, हम अपने इस प्रथम यजन से आपको पृथक् न करें, अपितु आपका भी अपने प्रथम यजन कर्म्म में हीं समावेश करलें। इस प्रकार ऋतुदेवताओं का भी प्रथम यजन हो जायगा, साथ ही ऋतुयाग में समाविष्ट होने से अग्निदेव का प्रथम यजन भी सुरक्षित रह जायगा। इसी भाव का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—)

( उक्त मन्त्रणा के द्वारा उक्त निश्चय कर ) देवदेवताओंनें अग्निदेव से कहा कि, ( हे अग्निदेव ! ) जाइए, ( और ) आप ही उन ( असुरप्रविष्ट ) ऋतुओं को निमन्त्रित कीजिए। ( प्रेरणानुसार अपने स्वाभाविक आह्वानलक्षण हौत्र-धर्म्म की अपेक्षा से ) अग्निदेव ( वहाँ पहुँचे, वहाँ ) पहुँच कर ( उन ऋतुओं से ) अग्नि कहने लगे, कि, हे ऋतुदेवताओ ! मैंनें देवताओं के यज्ञ के प्रति आपका भाग जान लिया है ( अर्थात् देवताओं के इस निश्चय की मैं आपको सूचना देने आया हूँ कि, वे अपने यज्ञ में आपको प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं )। ( ऋतुदेवताओं का पहिले अपमान हो चुका था। अतएव वे तबतक संतुष्ट नहीं होने वाले थे, जब तक कि, उनके सामने पहिले यज्ञभाग से बढ़ कर कोई प्रिय साधन देवताओं की ओर से देने का निश्चय नहीं हो जाय। उन्होंने सोचा कि, यदि वे केवल यज्ञभाग ही देना चाहते हैं, तब तो अपन लौटेंगे नहीं। हाँ, यदि वे प्रथम भागहर बनाना निश्चित कर चुके हैं, तो अपना मान सुरक्षित रह सकता है, फलतः मानपूर्वक ही वहाँ लौटना भी श्रेयस्कर बन सकता है। साथ ही भागविभक्ति के समय वे यह भी देख चुके थे कि, प्रथमभाग अग्निदेव को मिल चुका है। वे ही अग्निदेव अपना भाग छोड़कर उसे हमें देने आए होंगे, इसकी कोई सम्भावना है नहीं। और बिना प्रथमभाग के अपन लौटेंगे नहीं। इसी आशङ्का के स्पष्टीकरण के लिए अग्निदेव के द्वारा निमन्त्रित ऋतुदेवता अग्निदेव से पूँछने लगे कि, हे अग्निदेव ! देवताओं के यज्ञ के प्रति ) आपने कैसे ( हमारा भाग ) जान लिया ( अर्थात् देवताओंनें हमें पहिले के समान केवल भागहर बनाना ही निश्चित किया है, अथवा वे हमें प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं ? )। ऋतुदेवताओं की इच्छानुसार देवसंकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए अग्निदेव कहने

लगे कि, हे ऋतुदेवताओ ! देवदेवता अपने ) यज्ञ में आपका सर्वप्रथम ही यजन करेंगे ( आपको प्रथमभागहर बनाने का ही देवताओं नें निश्चय किया है ) ॥७॥

( जब अग्निदेव के द्वारा ऋतुदेवताओं को यह विदित हो गया कि, अपने को देवदेवता उस प्रथमभाग का अधिकारी बनाना चाहते हैं, जो यज्ञ कर्म्म में केवल उभयत्राच्युत प्रधानभूत अग्निदेव के लिए ही विहित है, और वही प्रथमभागहर अग्निदेव यह जानते हुए भी कि-जो प्रथम भाग मेरा प्रातिस्विक धन है, उसे देवमण्डलोपकार के लिए मुझे ऋतुदेवताओं को बिना किसी सकोच के सौंप देना चाहिए, तो उन ऋतुदेवताओं का हृदय अग्निदेव के इस अपूर्वत्याग के प्रति कृतज्ञता से आप्लावित हो गया। प्रत्युपकार की भावना से इन्होंनें भी यह निश्चय कर लिया कि, जिसने अपने लिए अपना स्वत्त्व छोड़ दिया, उसे कभी अपन पृथक् न करेंगे। फलतः अपने नियम, पूर्वप्राप्त प्रथम भाग से युक्त रहते हुए अग्निदेव प्रसन्न हो जायँगे, प्रत्युपकार भी हो जायगा, साथ ही जिन देवताओंनें संकटापन्न स्थिति जानते हुए भी प्रथमभाग अपने लिए नियत कर दिया, उनकी अग्निदेव के प्रति की गई-'न त्वामायतनाच्चावयामः' इस प्रतिज्ञा की भी रक्षा हो जायगी। यह निश्चय कर ऋतुओंनें अपने प्रथम भाग में अग्निदेव का भी समावेश कर लिया। इसी स्थिति का, ऋतुओं के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस स्थिति का उपपादन करती हुई श्रुति कहती है )—

( निमन्त्रण देने वाले, प्रथम भागहर, अग्निदेव के उक्त त्याग से प्रभावित होकर, प्रत्युपकार में अग्निदेव के प्रातिस्विक प्रथम-भागाधिकार को सुरक्षित रखने की कामना से ) उन ऋतुओंनें अग्निदेव से कहा कि, ( हे अग्निदेव ! आपके इस उपकार के बदले ) हम आपको हमारे में ( हमारे प्रथमभाग में ) भागहर बनाते हैं, जो कि आपने देवताओं के यज्ञ के प्रति हमारे लिए ( अपना अधिकार छोड़ते हुए ) भाग ( प्रथमभाग ) जाना ( अपने प्रथम भाग को हमारे लिए स्वीकार कर अपनी उदारता का, त्याग का परिचय दिया ) । ( क्योंकि देवदेवताओं के सम्वत्सरयज्ञ में प्रथमभाग लेने वाले ऋतुदेवताओं की ओर से अग्निदेव भी समाविष्ट हुए थे, अतएव तभी से ) ये अग्निदेव ( दिव्यप्राणाग्नि ) ऋतुओं में समाविष्ट है ( ऋतुओं से अग्निप्राण का समन्वय प्राकृतिक है, इसी सहज सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर प्रयाजदेवताक आहुति कर्म्म में प्रत्येक प्रयाजयाग के साथ अग्नि का भी यजन होता है । अतएव च प्रयाजदेवताक याज्या मन्त्रों में )—'समिधोऽग्ने, तनूनपादग्ने, इडोऽग्ने, बर्हिरग्ने, स्वाहाग्निम्' ( इत्यादिरूप से अग्निपद का समावेश हुआ है ) । वह ( यज्ञातिशयरूप फलभोक्ता यजमान, प्रयाजकर्म्मेतिकर्त्तव्यतापूरक ऋत्विक् ) उस पुण्यकर्म्म में निश्चयेन भागहर बन जाता है, जिस पुण्यकर्म्म में वह ( पुण्यकर्म्म सूचक के प्रति, प्रवर्त्तक के प्रति, संयोजक के प्रति ) समान करता हुआ ( उसे भी संयुक्त करता हुआ ) तत् पुण्यकर्म्मानुष्ठान करता है । ( प्रयाजकर्म्मानुगत अग्निसमावेश से ) अग्निप्राणयुक्त बने हुए उस ( पुण्यकर्म्मा ) के लिए अग्निप्राणयुक्ता ( ही, अतएव समृद्ध हीं ) ऋतुएँ उन सम्पूर्ण ओषधियों का परिपाक करतीं हैं, जो कि ( उक्त विज्ञान परिचय के आधार पर ) ऋतुओं में अग्नि को समाविष्ट जानता है ॥८॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

( पूर्वप्रकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रयाजदेवताओं का यजन पहिले होता है। इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में-एक पूर्वपक्ष उपस्थित किया जा सकता है। पूर्व के 'होतृप्रकरण ब्राह्मण' में ( १।४।२ ) वरणार्थक मन्त्रों की व्याख्या करते हुये श्रुति ने देवाह्वानकर्म्म का क्रमिक विश्लेषण किया है। वहाँ आह्वान का जो क्रम बतलाया गया है, उसमें प्रयाजदेवताओं का अन्तिम स्थान पड़ता है, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

"आवह देवान् यजमानायेति, तदस्मै यज्ञाय देवानावोढवाऽआह। अग्निमग्नऽआवहेति, तदाग्नेयाज्यभागायाग्निमावोढवाऽआह। सोममावहेति, तत् सौम्यायाज्यभागाय सोममावोढवाऽआह। अग्निमावहेति, तद्यऽएषऽउभयत्राच्युतऽआग्नेयः पुराडाशो भवति, तस्माऽअग्निमावोढवाऽआह। अथ यथादेवतम्। देवाँ २॥ ऽआज्यपां २॥ आवहेति, तत् प्रयाजानुयाजानावोढवाऽआह। प्रयाजुनायाजा वै देवाऽआज्यपाः"—

—शत० १।४।२।१६,१७,।

( उक्त देवता-आवाहनश्रुति से स्पष्ट है कि, आज्यपा-प्रयाज देवताओं का आवाहन सब के अन्त में विहित है। श्रौत पद्धति में यह भी नियम विहित है कि, जिस देवता का जिस क्रम से आवाहन विहित है, उसी क्रम से तद्देवता का यजन विहित है। सर्वत्र देवावाहन क्रम से ही देवयाग विहित है। देखते हैं, प्रकृत प्रयाज कर्म्म में इस समान पद्धति-नियम-का इसलिए उल्लंघन हुआ है कि, प्रयाजों का आवाहन तो विहित है सब के अन्त में. किन्तु यजन हुआ है सब से पहिले। प्रयाजयाग के सम्बन्ध में यह व्यतिक्रम क्यों ?, क्यों नहीं इनका भी यजन नियमानुसार आवाहन क्रम से अन्त में ही किया जाता ?, इसी पूर्वपक्ष का अपने शब्दों में निरूपण करती हुई, आगे जाकर उत्थित पूर्वपक्ष का समाधान करती हुई श्रुति कहती है )—

प्रयाजयाग के विहित आवाहनक्रम से विपरीत होने वाले प्रथम यजन कर्म्म के सम्बन्ध में ( वैज्ञानिक ) कहते हैं-( यह पूर्वपक्ष उठाते हैं, विप्रतिपत्ति उपस्थित करते हैं-'तदाहुः' कि ) जब कि प्रयाजों को-( हविविभागानुसार विहित नियम के आधार पर ) उत्तम रूप से ( अन्त में देव-देवता ) आहूत करते हैं, ( आवाहन जब कि इनका सर्वान्त में होता है ) तो ऐसी स्थिति में ( आवाहन क्रम से विपरीत ) किस कारण ( क्यों ) इनका प्रथम रूप से ( देवदेवता ) यजन करते हैं ( यजन सर्वप्रथम क्यों किया जाता है ? ) । ( उत्तर स्पष्ट है-अपने प्राकृतिक सम्वत्सर ) यज्ञ में ( प्राणविध ) देवदेवताओं नें इन ( प्रयाजों ) को उत्तमरूप से ही ( अन्तिमरूप से ही यद्यपि ) स्थापित किया ( था ), ( तथापि उसी समय उन ) देवदेवताओं नें ( अग्निदेव के द्वारा इनके लिए यह भी निश्चय कर दिया था कि ) हम तुम्हारा यजन तुम्हें प्रथम मान कर ही करेंगे। (इस विशेष विधान के आधार पर ही सामान्य विधान की उपेक्षा करते हुये देवदेवताओं नें आवाहन किया इनका यद्यपि अन्त में ही, परन्तु यजन किया सर्वप्रथम। प्राकृतिक यज्ञ में प्रयाज-कल्पना अन्तिम

है, यजन प्रथम है। उसी प्राकृतिक यज्ञविद्या पर प्रस्तुत वैध मानुष यज्ञ का वितान हुआ है। अतः यहाँ भी उसी प्राकृतिक नियम का अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है ) अतएव ( प्राकृतिक नियमानुरोधेनैव ) ऋत्त्विक् लोग ( अपने इस इष्टिकर्म्म में भी इन प्रयाजों का उत्तमरूप से तो आवाहन करते हैं, एवं प्रथमरूप से यजन करते हैं ॥६॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

( प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक विषय और विजिज्ञास्य रह जाता है। समित्, तनूनपात्, इट्, बर्हि, स्वाहा, ये पाँच व्याहृतियाँ नाम-क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, इन पाँच ऋतुओं से सम्बन्ध रखतीं हैं। सम्वत्सरयज्ञ की पर्वरूपा वसन्तादि पाँचों ऋतुओं का सम्वत्सराग्नि से सम्बन्ध है, जैसाकि ब्राह्मणारम्भ की ८ कण्डिकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है। इसी आधार पर यह मान लेना अविप्रतिपन्न बन जाता है कि, ऋतुओं का यजन अग्निपूर्वक ही होता है। परन्तु-स्वाहालक्षण पञ्चम प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक नवीन विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। आरम्भ के चार प्रयाजों में जहाँ ऋतुलक्षण प्रयाजों के साथ 'समिद्धा अग्न आज्यस्य व्यन्तु'-'तनूनपादग्न आजस्य वेतु'-'इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु'-'बर्हिरग्न आजस्य वेतु'-इस रूप से केवल अग्नि का सम्बन्ध विहित है, वैसे पाँचवें हेमन्तऋतुलक्षण स्वाहायाग में केवल अग्नि का ही सम्बन्ध विहित नहीं है। अपितु पूर्वप्रयाजचतुष्टयी की भाँति अग्नि के सम्बन्ध के अतिरिक्त-इस प्रयाजयाग में-आज्यभाग, प्रधान, स्विष्टकृत्, इन तीन अग्नियागों का सम्बन्ध और किया जाता है। दूसरे शब्दों में आज्यभाग ग्राहक अग्नि, प्रधानभाग ग्राहक अग्नि, स्विष्टकृद्भागग्राहक अग्नि, इन तीन अग्नियों का आदि-मध्य-अवसान में यजन और किया जाता है। यदि-सामान्य सम्वत्सराग्निवत् इस विशेषाग्नित्रयी का भी ऋतुओं के साथ सम्बन्ध है, तब तो ऋतुलक्षण पाँचों हीं प्रयाजों में-प्रत्येक में-इन तीनों विशेषाग्नियागों का अनुष्ठान होना चाहिये। यदि ऋतुओं के साथ सम्बन्ध नहीं है, तो किसी भी प्रयाजकर्म्म में इनका यजन नहीं होना चाहिये। स्थिति यह है कि, आरम्भ के चार प्रयाजों में तो केवल सामान्य अग्नि का ही यजन किया जाता है। किन्तु पञ्चम प्रयाज में सामान्य अग्नियजन के अतिरिक्त विशेषाग्नित्रयी का यजन और किया जाता है, जबकि ऋतुसामान्यत्त्वेन पञ्चम प्रयाज में इनका यजन विप्रतिपन्न बना हुआ है। स्वाहालक्षण हेमन्त प्रयाजयाग से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र में प्रयाज, तथा सामान्य अग्नि, दोनों के यजन के अतिरिक्त तीन विशेषाग्नियों के यजन का भी समावेश हुआ है। मन्त्रभाग निम्न लिखित है—

"स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमं, स्वाहाग्निं, स्वाहा देवाँ आज्यपान्,
स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणाः, अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्"
—शत० १।५।४।२२,२३।

उक्त याज्यामन्त्र के पाँच विभाग स्पष्ट हैं। (१) 'स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमम्'-यह एक विभाग है। इससे आग्नेय आज्यभाग, तथासौम्य आज्यभाग, इन दो आज्यभागों का सम्बन्ध है। सोम-

गर्भित अग्नि हीं आज्यभागदेवता है । इसी का प्रथम यजन होता है। ( २ ) 'स्वाहाग्निम्–यह द्वितीय विभाग है। उभयत्राच्युत आग्नेय पुरोडाशानुगत प्रधान देवता ही इस विभाग से गृहीत है, यही दूसरा प्रधानयाग है। ( ३ ) 'स्वाहा देवाँ आज्यपान्' यह तीसरा विभाग है। आज्यपा स्वाहा-लक्षण प्रयाज ( हेमन्त ) देवता के लिए ही यह तृतीय विभाग नियत है। ( ४ ) 'स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणः' यह चौथा विभाग है। स्विष्टकृदग्नि का ही इससे यजन होता है। ( ५ ) 'अग्न आजस्य व्यन्तु वौषट्' यह पाँचवाँ विभाग है । पूर्व ऋतु सामान्य सम्वत्सराग्नि का ही इससे यजन होता है। आज्यभागयागानुगत विशेष अग्नि आदि में विहित है, प्रधानभागयागानुगत विशेष अग्नि ( उभयत्राच्युत अग्नि ) मध्य में विहित है, स्विष्टकृद्यागानुगत विशेष अग्नि अन्त में विहित है। इस प्रकार स्वाहात्मक पञ्चम प्रयाजयाग के आदि-मध्य-अवसान में क्रमशः आज्यभागयाग, प्रधानयाग, स्विष्टकृद्याग, ये तीन विशेषग्नियाग पूर्व के चार प्रयाजापेक्षया विशेषरूपेण विहित हैं। इनकी उसी पूर्वोपात्त वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है )—

( अपने प्राकृतिक इष्टिकर्म्म में होने वाले पञ्च प्रयाजयाग के ) चौथे ( शरदृऋतुरूप बर्हि-र्नामक ) प्रयाज से देवदेवताओं नें निश्चय से यज्ञ ( यज्ञातिशयरूपा यज्ञसम्पत् ) प्राप्त कर लिया—( एवं चौथे प्रयाज से प्राप्त ) उस ( यज्ञ ) को पाँचवें ( हेमन्त ऋतुरूप स्वाहात्मक ) प्रयाज से प्रतिष्ठित–पूर्ण–कर लिया। ( इस प्रयाजकर्म्म के ) अनन्तर होने वाला आज्यभागादिरूप जो यज्ञ का शेष ( इतिकर्त्तव्यता ) बच रहा, उस ( के अनुष्ठान ) से देवदेवता स्वर्गलोक को प्राप्त हो गये ॥१०॥

प्रयाजकर्म्मातिरिक्त आज्यभागादि लक्षण शेष यज्ञानुष्ठान के बल से स्वर्गलोक (की ओर) जाते हुए देवदेवतालोग (अन्तरिक्ष में अमूल-उभयतः परिच्छिन्न रूप से विचरने वाले आप्य-प्राणात्मक, यज्ञविरोधी) असुर राक्षसों के निरोध (संकल्प) से डर गए (उन्हें भय हुआ कि, ये दुष्ट कहीं हमारे स्वर्गगमन में बाधा न खड़ी करदें। इस भय से त्राण पाने के लिए) उन देव-देवताओं नें असुर राक्षसों को मारने वाले, एवं मार भगाने वाले अग्नि को (ही स्वर्गप्राप्तिसाधक आज्यभागातिशय के) पूर्व में (पहिले) प्रतिष्ठित किया, उसी को मध्य में, उसीको अन्त में प्रतिष्ठित कर दिया। (अर्थात् आन्तरिक्ष्य असुराक्रमण से अपने स्वर्गसाधक यज्ञातिशय को निर्विघ्न स्वर्गप्राप्ति का हेतु बनाने के लिए उन्होंने यज्ञातिशय के आदि-मध्य-अवसान, तीनों स्थानों में आप्यप्राणोच्छेदक आग्नेयप्राण प्रतिष्ठित कर दिया ) ॥११॥

( देवदेवताओं के द्वारा त्रिः स्थानों में नियुक्त अग्नि के प्रभाव से इन का स्वर्गगमन निर्विघ्न पूर्ण होगया। क्यों कि ) यदि इन देवदेवताओं का उन असुर राक्षसों नें पूर्व की ओर से निरोध करना चाहा, विघ्न डालना चाहा, तो तत्रस्थ अग्नि नें तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। यदि मध्य की ओर से निरोध करना चाहा, तो तत्रस्थ अग्निने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। यदि पीछे की ओर से निरोध करना चाहा, तो तत्रस्थ अग्नि ने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। ( इस प्रकार तीन स्थानों में रक्षक रूप से नियुक्त तीनों ) अग्नियों से सर्वात्मना सुरक्षित रहते हुए देवदेवताओं नें निर्विघ्न स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया ॥१२॥

( प्राकृतिक यज्ञ में पृथिवी से द्युलोक की ओर जाते हुए पार्थिव प्राणदेवताओं के प्रयाजातिशय पर आन्तरिक्ष्य असुरों का आक्रमण होता रहता है । परन्तु त्रिः स्थान स्थित अग्नेयप्राण के सम्बन्ध से उन का वह आक्रमण व्यर्थ सिद्ध होजाता है । इसी प्राकृतिक यज्ञविधा के आधार पर भौमदेवताओंनें अपने वैधयज्ञ के पञ्चप्रयाजकर्म्म में-पांचवें प्रयाज में-उसी प्राकृतिक आग्नित्रयी सम्पत्-की प्राप्ति के लिए तीन विशेषाग्निकर्मों का समावेश किया था, तद्द्वारा अपने दैवात्मरूप से वे निरापद स्वर्ग पहुँचने में समर्थ हुए थे । उसी भौमदेवानुगता यज्ञविधा के आधारपर इस यजमान का यह वैध इष्टिकर्म्म विहित हुआ है । इसे भी अपने दैवात्माकर्षणद्वारा स्वर्ग में जाना है । जाते समय आन्तरिक्ष्य असुरराक्षसों का आक्रमण जहाँ अनिवार्य्य है, वहीं इस आक्रमण को रोकना भी आवश्यक है । उसी आक्रमण-निरोध के लिए, निरापद स्वर्गावाप्ति के लिए भौमदेवानुगत यज्ञवत् अपने इस यज्ञ में भी पाँचवें प्रयाज कर्म्म के-आदि-मध्य-अवसान में विशेषाग्नित्रयी का यजन करता है । इस यजन से रक्षक-अग्नित्रयी का अनुग्रह प्राप्त होजाता है । फलस्वरूप यह भी देववत् निरापदरूप से स्वर्गफलभोक्ता बन जाता है । पाँचवें प्रयाज के आदि-मध्य-अवसान-में अग्नित्रयी का यजन क्यों किया जाता है ?, विप्रतिपत्ति का यही समाधान है, जिस का श्रुति के अक्षरों में यों विश्लेषण हुआ है )—

( जिसप्रकार प्राकृतिक नित्य यज्ञ में अग्नित्रयी का सहयोग होरहा है, तदनु जिसप्रकार भौम मनुष्य देवताओं नें अपने चतुर्थ प्रयाज समाप्त्यनन्तर पाँचवें प्रयाज के आदि-मध्य-अवसान में अग्नित्रयी का यजन किया था, तत्द्वारा निरापद रूप से स्वर्ग प्राप्त किया था, ) ठीक इसी प्रकार ( तथोऽएव ) यह यजमान भी अपने इस चौथे प्रयाज से ( तो स्वर्गसाधक ) यज्ञ प्राप्त करता है, उसे पाँचवें प्रयाज से प्रतिष्ठित करता है, इस के अनन्तर जो आज्यभागादिरूप यज्ञ का शेष बच रहता है उस से स्वर्गलोक ही प्राप्त करता है ॥१३॥

सो जो कि ( पञ्चम प्रयाज के आदि में-'स्वाहाग्नि'-रूप से यजमान केप्रतिनिधिरूप ) अध्वर्यु आग्नेय-आज्यभाग का यजन करता है, (इस से अपने स्वर्ग जाते हुए यज्ञातिशय के) पूर्वभाग की ओर से राक्षसों के मारने वाले, मार भगाने वाले अग्नि को ही ( नियुक्त ) करता है । ( अग्नेय-आज्यभाग के ) अनन्तर ( इसी पञ्चम प्रयाज कर्म्म के मध्य में ) जो ( उभयत्राच्युत प्रधान अग्नि के लिए ) जो आग्नेय पुरोडाश ( का भागहर ) बन जाता है ( उस का 'स्वाहाग्निम् रूप से यजन करता है ) । इस कर्म्म से ( इस यज्ञातिशय के ) मध्यभाग की ओर से ही अग्नि को नियत करता है । ( मध्यम अग्नि यजन के ) अनन्तर जो कि अध्वर्यु ( प्रयाजान्त में— 'स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणः' इत्यादि रूप से ) स्विष्टकृत्-अग्नि का यजन ( स्वष्टकृद्याग ) करता है, इस कर्म्म से ( इस यज्ञातिशय के ) पश्चिम भाग की ओर से ही अग्नि को नियुक्त करता है, (जो कि ) अग्नि 'रक्षोहण'—( राक्षसों को निर्जीव बनाने वाला, मारने वाला ) एवं 'रक्षसामपहन्ता' ( राक्षसों को मार भगाने वाला, यज्ञमण्डलसीमा से बहिष्कृत करने वाला ) है ॥१४॥

( प्रयाजकर्म्म से स्वर्गलोक की ओर जाते हुए ) इस यजमान के ( स्वर्गसाधक ) यज्ञातिशय के पूर्वभाग से यदि असुर राक्षसों को मार भगाते हैं । यदि मध्य भाग से आक्रमण करते है,

तत्रस्थ अग्नि तत्रस्थों को मार भगाते है। यदि पश्चिमभाग से आक्रमण करते हैं, तो तत्रस्थ अग्नि तत्रस्थों को मार भगाते हैं। इस प्रकार वह ( यज्ञातिशयरूप-स्वर्गसाधक ) दैवात्मा तीनों अग्नियों से सुरक्षित-निरापद-बनता हुआ स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ( प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ) ॥१५॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

## इति—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यन्

——— ६ ———

## ७–अभिचार ( कृत्याप्रयोग )

( प्रयाज कर्म्म के द्वारा यज्ञातिशय उत्पन्न भी आज ही हो जायगा, वह सप्तदश स्वर्गस्थान में भी आज ही प्रतिष्ठित हो जायगा। परन्तु यज्ञकर्त्ता यजमान का वह मानुपात्मा-भूतात्मा, जो स्वर्गगत यज्ञातिशयरूप दैवात्माकर्षण से आकर्षित है,-अपने ऐहलौकिक प्रारब्धकर्म्मक्षयानन्तर ( जिस प्रारब्ध कर्म्म से इसे वर्त्तमान शरीर मिला है ) ही (मृत्यु के अनन्तर ही) दैवात्माकर्षण के द्वारा स्वर्गफल का भोक्ता बनेगा, स्वर्ग पहुँचेगा। इसीलिए तो स्वर्गफल आमुष्मिक ( पारलौकिक ) माना गया है, अतएव तो यह 'अदृष्टफल' ( परोक्षफल ) कहलाया है। त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण से पहिले प्रतिपादित 'स्रुग्ब्राह्मण' के आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्म्म-विज्ञान में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, मानवीय मन परोक्षफलापेक्षया ऐहिक प्रत्यक्ष फलों की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है-( देखिए-पृ० सं० १२८, वृष्टिविज्ञान प्रकरण )। अवश्य ही प्रकृत अग्नित्रय-यजन का भी परोक्ष-स्वर्गफलातिरिक्त कोई प्रत्यक्ष भी फल होना चाहिए। उस प्रत्यक्ष फल को तात्कालिक, कालान्तरभावी, भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। भोजन किया, और तृप्ति हो गई, यह ऐहलौकिक तात्कालिक फल माना जायगा। भोजन किया, भुक्त द्रव्य क्रमशः रस असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-मनोरूप में परिणत हुआ। यही ऐहलौकिक कालान्तरभावी फल माना जायगा। ब्राह्मण की प्रकृत १६, १७, १८. इन तीन कण्डिकाओं में तो तात्कालिक फल का विश्लेषण हुआ है, जिसे कृत्यासम्बन्ध से अभिचारात्मक फल मानते हुए तात्त्विक कालान्तर-भावी फल से हमने पृथक् कर दिया है, वही 'अभिचार' नामक ७ वाँ प्रकरण है। एवं १६ वीं कण्डिका में कालान्तरभावी, अतएव स्थिर धर्म्मात्मक ऐहलौकिक फल का विश्लेषण हुआ है। अतएव तत्कण्डिकात्मक प्रकरण 'फलश्रुति' नामक ८ वाँ प्रकरण मान लिया है। इन दोनों ऐहलौकिक फलों में से सूचीकटाहन्यायेन पहिले अभिचारात्मक-तात्कालिक-प्रथम ऐहलौकिक फल का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

( जिस समय आज्यभागानुगत प्रथम अग्नि का यजन हो रहा हो, और उस समय यदि कोई यजमान का शत्रु यजमान के प्रति निन्दाभाव प्रकट करे, अथवा तो कुछ निन्द्य वचन बोल पड़े, इसके अतिरिक्त यजमान को अपने किसी शत्रु के द्वारा पहिले से कहे गये निन्दावचनों

का प्रतिशोध लेना हो, तो उसे चाहिए कि वह उस शत्रु को लक्ष्य बना कर उसके नामग्रहण पूर्वक—'मुख्यामार्त्तिमारिष्यसि,—अन्धो वा बधिरो वा भविष्यसि'—हे शत्रु तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, या तो अन्धा हो जायगा, या बहिरा हो जायगा, यह वचन बोलदे। इसी प्रकार दूसरे तीसरे अग्नियजन में भी यह अभिचारवाक्य द्वारा अपने शत्रु का अनिष्ट कर सकता है। इन्हीं तीनों अभिचारों का अपने शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)

(इस प्रयाजकर्म्म में ) यदि इस ( यजमान ) के प्रति वह (यजमानशत्रु, अथवा और कोई-ईर्ष्यालु-निन्दक) यज्ञारम्भ में (आज्यभागानुगत प्रथमाग्नियाग काल में निन्दावचन का प्रयोग करे, तो (यजमान) उस (निन्दक) के प्रति (यह) बोले कि, तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, अन्धा हो जायगा, अथवा तो बहिरा बन जायगा। वास्तव में (शारीरिक कष्टों में) ये ही (दोनों) मुख्य पीड़ा हैं। (यजमान के उक्त कथन मात्र से) वैसा ही अवश्य हो जायगा, शत्रु अन्धा हो जायगा, अथवा बहिरा हो जायगा, यही प्रथम अभिचारात्मक तात्कालिक फल है ) ॥१६॥

यदि इसके प्रति वह यज्ञमध्य में (उभयत्राच्युत द्वितीयाग्नियागकाल में ) अनुचित कहे, तो (यजमान) उसके प्रति (यह) बोले कि, तू प्रजाशून्य, पशुशून्य हो जायगा। प्रजाएँ, और पशु निश्चयरूप से मध्य (रूप) हैं। (यजमान के उक्त कथन से) वैसा ही निश्चयेन हो जायगा (निन्दक की प्रजा, पशुसम्पत्ति नष्ट हो जायगी। यही द्वितीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१७॥

यदि इसके प्रति वह यज्ञान्त में (स्विष्टकृत अग्निरूप तृतीयाग्नियाग काल में) अनुचित कहै, तो (यजमान) उसके प्रति (यह) बोले कि, तू प्रतिष्ठा रहित, एवं निर्धन बनता हुआ शीघ्र ही उस (यम) लोक को प्राप्त होगा (मर जायगा)। (यजमान के ऐसा कहने से) वह (निन्दक) वैसा ही अवश्य हो जायगा (अपयशपूर्वक दरिद्री बनता हुआ शीघ्र मर जायगा। यही तृतीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल माना जायगा। इस प्रकार आज्यभागयाग, प्रधानयाग, स्विष्टकृद्याग, तीनों से सम्बन्ध रखने वाले प्रथम-मध्यम-अन्तिम-अग्नियों के यजन से शत्रुविनाशक दृष्ट-प्रत्यक्ष-तात्कालिक-ऐहलौकिक फल भी प्राप्त किया जा सकता है। श्रुति ने तातकालिक फल तो बतला दिया। परन्तु वह यह नहीं चाहती कि, यज्ञरहस्य को न जानकर ऐसी भूलें करने वाले अज्ञ जन भी यों अपना नाश करालें। उनके अभ्युदय को लक्ष्य में रखते हुए उनको सावधान करती हुई श्रुति कहती है कि, उन यज्ञरहस्यानभिज्ञों को यह जान लेना चाहिए कि, यज्ञ कोई सामान्य लौकिक कर्म्म नहीं है। अपितु यह प्राकृतिक समिद्ध उस प्राणाग्नि को अपनी प्रतिष्ठा बनाता है, जिसके प्रति साथ ही इस यज्ञाग्नियुक्त यजमान के प्रति जान-अनजान में थोड़ी भी उपेक्षा, निन्दा, उपहास करने से सर्वनाश निश्चित है।) अतएव उन निन्दकों को चाहिए कि, वे भूल कर भी (हास परिहास में भी यज्ञ, तथा यज्ञानुष्ठानकर्त्ता) यजमान के प्रति अनुव्याहारी (अनुचित बोलने वाले) न बनें—'नानुव्याहारीव स्यात्'।

(अभिचार कर्म्म-कोई उत्तम कर्म्म नहीं है। लोकसंग्रहात्मक, सर्व-अभ्युदयकारक, अतएव श्रेष्ठतम यज्ञ जैसे सात्त्विक कर्म्म में अपने व्यक्तिगत द्वेष के बदले की भावना रखना भी यज्ञ-स्वरूप में तमोगुण का आधान करना है। अतएव उत्तम पक्ष तो यही है कि, यज्ञकर्त्ता भी ऐसे अभिचार का अनुगमन न करे। रही बात-इष्टफल की। इस सम्बन्ध में यही उत्तर पर्याप्त होगा कि, यज्ञकर्त्ता सामान्य मनुष्य मनुष्य नहीं है, अपितु प्रकृति की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार प्रकृति से विरुद्ध जाने वाला अपने ही दोष से दण्डित हो जाता है, तथैव यजमान से शत्रुता रखने वाले भी स्वतः एव प्रकृतिद्वारा ही दण्डित हो जाते हैं। समयातिक्रम अवश्य हो सकता है। परन्तु दण्ड अवश्य मिल जाता है। दण्डव्यवस्था की अनिवार्य्यता तो ऐसी है कि, जो यजमान नहीं है, अपितु केवल इस रहस्य को जानता भर है, यदि उस केवल एवंवित् के प्रति भी कोई शत्रुता रखता है, तो वे भी नष्ट हो जाते हैं। एवंवित् भी उस फल को प्राप्त कर लेता है। फिर यजमान का तो कोई आशङ्का रहनी ही नहीं चाहिए। फलतः उसे यह भार प्रकृति पर ही छोड़ देना चाहिए। यज्ञनिन्दकों के-'तस्मादु ह नानुव्याहारीव स्यात्' इस सामयिक आदेश-चेतावनी-के साथ साथ यज्ञकर्त्ताओं के प्रति भी उन्हें सात्त्विक-भावारूढ़ बने रहने के लिए, अभिचारकर्म्मप्रवृत्ति से बचते रहने के लिए सङ्केत करता हुई श्रुति कहती है कि)—(यज्ञकर्त्ता ही क्या) इस रहस्य को जानने वाला भी पर (उत्कृष्ट, शत्रुपराभवकर्त्ता) बन जाता है (अतः जबकि केवल जानने वाले के शत्रु भी नष्ट हो जाते हैं, तो यजमान के साथ कौन शत्रुता कर सकता है। यदि कोई करेगा भी, तो प्रकृति स्वयं उसे दण्ड दे देगी)-'उत ह्येवंवित् परो भवति'।

अथवा उक्त वाक्य का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि, जिस प्रकार यज्ञकर्त्ता के शत्रु यज्ञकर्त्ता के अभिचार प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं, एवमेव इस अग्निरहस्यात्मक प्रयाजकर्म्म को जानने वाले विद्वानों के भी शत्रु नष्ट हो जाते हैं। दोनों में पूर्वार्थ ही समीचीन प्रतीत होता है ॥१८॥

## इति—अभिचारः

## ८—फलश्रुति

( बतलाया गया है कि, तात्कालिक इष्ट फल के अतिरिक्त कालान्तरभावी इष्ट फल भी यज्ञ से सम्भव है। दोनों ऐहिक फलों के सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि, तात्कालिक फल जहाँ यजमानप्रयत्न-सापेक्ष है, वहाँ कालान्तरभावी फल आमुष्मिक स्वर्गफल की भाँति स्वतः एव प्राप्त हो जाता है। अतएव इस फल का तात्कालिक फलापेक्षया विशेष महत्त्व माना जायगा। अतएवच ऐसा ही फल 'फलश्रुति' रूप से संग्राह्य माना जा सकेगा। इसी स्वाभाविक, प्राकृतिक स्वतः प्राप्त इष्ट फल का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है )—

( वसन्त-ग्रीष्मर्त्तु-संग्राहक समित्-तनूनपात्-आदि पाँच ) प्रयाजयागों से ( ऋतुमण्डल में प्रविष्ट असुरों को ) जीतता हुआ यजमान ( परम्परया-ऋतुसम्बन्ध से ) निश्चयेन ( ऋतुसमष्टि-रूप ) सम्वत्सर को ही जीतता ( अधिकार प्रतिष्ठित करता ) है। ( यह भी निश्चित है कि ) वही ( विजेता ) इस सम्वत्सर का जय करता है ( जीतता है ), जो सम्वत्सर ( रूप दुर्ग ) के द्वारों को जानता है। ( अर्थात द्वार परिज्ञान पूर्वक ही दुर्गप्रवेश द्वारा जयलाभ सम्भव है )। वह (जयेच्छु) उन घरों से-दुर्गों-से क्या लाभ उठा सकेगा, ( जिसके अन्तर्द्वारों को वह उस रूप से भलीभाँति न जान लेगा, जैसे कि वे इसके उपयोग में आते हैं। ( ठीक इसी प्रकार जिन प्रयाजों के द्वारभूत प्रथम-अन्तिम प्रयाजों के तात्त्विकरूप को जो नहीं जानता, वे प्रयाज जिस प्रकार के वे इस यजमान के उपकारक होते हैं, उनके तात्त्विक प्रकारों को, प्रधान-द्वारभूत प्रयाजों को नहीं जानता, वह क्या फल प्राप्त कर सकता है-कुछ नहीं। ( अतएव सम्वत्सर दुर्ग द्वारका परिज्ञान आवश्यक है )। ( सम्वत्सर दुर्ग का ) वसन्त ही ( प्रवेश द्वार है, हेमन्त ही ( निर्गमन ) द्वार है। ( दोनों के स्वरूपज्ञान पूर्वक प्रयाजयजन करने वाला ) यजमान इस द्वारयुक्त सम्वत्सररूप स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाता है। सम्वत्सर सर्वरूप है। सर्वभाव ही अक्षय्यभाव है। प्रयाज-यजन कर्त्ता का सुकृत ( कर्म्म ) अक्षय्य होता है, लोक भी अक्षय्य होता है। ( तात्पर्य्य कहने का यही है कि, सम्वत्सर सम्पत्तिसंग्राहक प्रयाजकर्म्म से स्थायी सम्पत् प्राप्त होती है, वह लोकप्रतिष्ठा से युक्त हो जाता है, और यही प्रयाजकर्म्म का कालान्तरभावी प्राकृतिक स्थायी फल है )॥ १६ ॥

## इति-फलश्रुतिः

—— ८ ——

## ९-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

( प्रयाजकर्म्म को यज्ञपूर्णताप्रवर्त्तक, एवं तद्द्वारा यजमानात्मा का स्वर्गप्रापक बतलाया गया है। प्रश्न स्वाभाविक है कि, प्रयाजकर्म्म में ऐसी क्या विशेषता है, जिससे क्रत्वर्थस्थानीय भी प्रयाज जैसा अङ्गकर्म्म पुरुषार्थकर्म्मवत् स्वर्गप्राप्ति का कारण बन जाता है ?। प्रयाजकर्म्म में जो आज्याहुति विहित है प्रत्यक्ष में उस आज्य में भी हम ऐसा कोई अतिशय उपलब्ध नहीं कर रहे, जो स्वर्गप्रापक बन जाय। इसी प्रश्न का यों भी उत्थान किया जा सकता है कि, सर्वत्र सभी कर्म्मों में आहुतिद्रव्य ही स्व स्व देवप्राणानुसार तत्तत् विशेष-यज्ञातिशयों का जनक बनता है। जिस देवप्राण से आहुतिद्रव्य युक्त रहता है, आहवनीयाग्नि में हुत तद्देवप्राणमयी आहुति तद्देवप्राणातिशय यज्ञ में प्रतिष्ठित करने का कारण बनती है। क्या प्रयाजकर्म्म के लिए नियत आज्याहुति का कोई वह विशिष्ट देवता है, जो स्वर्गप्राप्ति का निमित्त बन सकता है ?। प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया जायगा। वास्तव में केवल आज्यदेवता ही प्रयाज जैसे अङ्ग कर्म्म को भी स्वर्गप्रापक बनाने में समर्थ हो रहा है। उस आज्यदेवता का स्वरूप क्या है ?, जिसके द्वारा-प्रयाजकर्म्म स्वर्गप्रापक बन रहा है ?, यही प्रश्न की अन्य उत्थानिका है, जिसका निम्नलिखित रूप से विश्लेषण हुआ है )।

( प्रयाजकर्म्म में संगृहीत ) आज्याहुति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक लोग प्रश्न उपस्थित करते हैं—( तदाहुः ) कि—ये ( प्रयाजार्थ जूहू-उपभृत् में गृहीत ) आज्य किंदेवत्य हैं ? ( इनका कौनसा देवता है ? )—( प्रश्न हुआ ही क्यों, जबकि ऋतुदेवता पहिले से ही स्पष्ट किए जा चुके हैं, यह-प्रासङ्गिक प्रतिप्रश्न-प्रश्न पर प्रश्न और उपस्थित होता है । इस प्रतिप्रश्न का उत्तर वही होता है, जो श्रुति को अभीष्ट है । यह ठीक है कि, आज्याहुति होती है ऋतुदेवताओं के लिए ही । अतएव यह समझना भी अनुचित नहीं है कि, आज्य के देवता ऋतुदेवता हैं । परन्तु यह समझना केवल समझना ही है । आज्यग्रहणपद्धति में किसी भी देवता के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है । नामोल्लेख सम्भव भी कैसे हो, जबकि प्रयाजकर्म्म का उद्देश्य ऋतुद्वारा सम्वत्सर प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाली सम्वत्सरात्मिका स्वर्गसम्पत् है । यदि ऋतुओं का नाम लिया जाता है, तो समष्ट्यात्मक सम्वत्सर का ग्रहण नहीं होता । यदि सम्वत्सर का नाम ले दिया जाता है, तो ऋतुओं का व्यष्टिरूप से यजन नहीं होता । अपेक्षित यह है कि—आज्यद्वारा ऋतुओं का भी यजन हो जाय, साथ ही इसी कर्म्म से ऋतुसमष्टिरूपा सम्वत्सरसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय । इसका उपाय है-आज्य का ग्रहण हो-उपांशुरूप से, बिना किसी देवता का नाम लिए, एवं आज्याहुति हो ऋतुनामपूर्वक । उपांशुग्रहण से आज्यद्वारा प्राजापत्यसम्पत्ति इसीलिए मिल जायगी कि, सम्वत्सरमण्डलकेन्द्र में प्रतिष्ठित प्रजापति अनिरुक्त है । अनिरुक्तभाव ही उपांशुभाव है । इस उपांशुभावद्वारा तत्समतुलित अनिरुक्ता प्राजापत्यसम्पत् प्राप्त हो जाती है. यजनकर्म्मानुगत याज्यामन्त्रों में-'समिद्धो अग्न आज्यस्य व्यन्तु०' इत्यादि रूप से ऋतुनामोच्चारणपूर्वक आहुति देने से उद्देश्यभूत ऋतुओं का यजन सफल हो जाता है । इसीलिए आज्यग्रहण उपांशु रूप से *, एवं आज्याहुति नामग्रहपूर्विका ही विहित हुई है । बिना नाम ग्रहण के चुपचाप जुहूपभृत् में आज्यग्रहण करना ही इस प्रश्न का भी समर्थक वन रहा है कि, आज्य का देवता कौन है ? किस देवता के उद्देश्य से आज्यग्रहण हुआ है ?—साथ ही यही नामग्रहणाभावात्मक तूष्णींभाव-अनिरुक्तभाव-इस प्रश्न का उत्तर भी दे रहा है कि, यह आज्य प्रजापतिदेवताक है । इसी स्थिति का संकेतविधा से स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कह रही है)—(ये आज्य) प्राजापत्य हैं, यही कहना चाहिए । अर्थात् आज्य किंदेवत्य हैं ?, प्रश्न का 'प्राजापत्य हैं', यही उत्तर हो सकता है) । क्योंकि प्रजापति निश्चयेन अनिरुक्त है । उधर आज्य भी (तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति रूप से) अनिरुक्त ही हैं—"अनिरुक्तो हि प्रजापतिः, अनिरुक्तान्याज्यानि" ।

( आज्य प्राजापत्य है, एतावता ही ये-इनकी आहुति-यजमान के स्वर्गप्राप्ति के साधक कैसे वन गए ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है । इसी का समाधान करती हुई श्रुति कहती है )—( अपने अनिरुक्तभाव से प्राजापत्य बने हुए ) वे ये आज्य यजमानदेवत्य ही हैं । ( अर्थात् यज्ञकर्ता यजमान भी 'प्रजापति' सम्बन्ध से इन आज्यों का देवता बन जाता है । क्योंकि, जैसे सम्वत्सरयज्ञमण्डल का अधिष्ठता नभ्यभाव ( हृद्यतत्त्व-सम्वत्ससरमण्डलापेक्षया प्रजापति है । एवमेव ) यह यजमान

*—'अथ यान्याज्यानि गृह्यन्ते-ऋतुभ्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते, तत्तदनादिश्याज्यस्यैव रूपेण गृह्णाति" (शत० २ प्र० । ५ ब्रा० । ७ कण्डिका) ।

भी निश्चयेन अपने इस यज्ञ में ( स्वयज्ञापेक्षया उसका प्रवर्त्तक बनने से ) प्रजापति है । ( जिस प्रकार सम्वत्सर प्रजापति की हृद्यकामना से अग्नि-वाय्वादित्यादि ऋत्विक् प्राकृतिक नित्य यज्ञ का वितान करते हैं, एवमेव इस यज्ञ में भी इस यजमान से उक्त ( प्रेरित ) होकर ही होता-अध्वर्यु आदि ऋत्विक्-( ग्रह-शस्त्र-स्तोत्रादि स्वकर्म्मों के द्वारा ) यज्ञ वितत करते हैं, ( इस वितान से यजमान के ) उस (दैवात्मा ) को उत्पन्न करते हैं । ( इसप्रकार जिन प्रेरणाओं, धर्म्मों से वह अपने यज्ञ में प्रजाति बन रहा है, सब प्रेरणा-धर्म्मों का प्रवर्तक बनता हुआ यजमान भी अपने यज्ञ में अवश्य ही प्रजापति माना जा सकता है । एवं इसीलिए प्राजापत्य आज्यों को यजमानदेवत्य माना जा सकता है ) ॥२०॥

( प्रजापत्व अज्य क्यों यजमान के स्वर्गगमन का कारण बन जाता है ?, प्रश्न का परोक्षरूप से यद्यपि पूर्वकण्डिका से समाधान हो जाता है । तथापि, जैसा चाहिए, वैसा स्पष्टीकरण अभी नहीं हुआ । इसी यत् किञ्चित्-अस्वारस्य का स्पष्टीकरण करती हुई पद्धत्यंश-प्रदर्शन पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है )—वह अध्वर्यु आज्य का *उपस्तरण कर ( पुरोडाशस्थापनप्रदेश को आज्य से पहिले आज्य से युक्त कर, अनन्तर नियत ) हवि के दो अवदान कर ( आस्तृत आज्य पर हविरवदान रख, अनन्तर पुनः ऊपर से उस द्विरवत्त ) हवि पर आज्याभिघार करता है ( ऊपर से घृत ढारता है ) । ( इस प्रकार उभयतः आज्यसम्बन्ध से युक्त ) यह आहुति आज्य से ( सर्वात्मना-नीचे-ऊपर दोनों ओर से ) संश्लिष्ट होकर ( मिलकर ही ) अध्वर्य्यु के द्वारा ( आहवनीयाग्निके समिद्ध-प्रज्वलित-प्रदेश-में ) आहुत होती है ( यह है आज्याहुति का स्वरूप, जिसमें दोनों ओर से आज्य का सम्बन्ध हो रहा है ) ।

अध्वर्यु के द्वारा आज्यमिता आहुति यजमानमिश्रिता बन कर ही ( अग्नि में ) आहुत होती है । ( तात्पर्य्य यही हुआ कि, आज्याहुति प्राजापत्या बनती हुई स्वर्गाधिष्ठाता प्रजापति से युक्त होती है । आज्य यजमानात्मक है, यजमान का प्राण आज्य में समाविष्ट है, साथ ही यजमान अपने यज्ञ की अपेक्षा से प्रजापति भी है । आज्य एक प्रकार से यजमानात्मा है । इस प्रकार आज्य परम्परया यजमानात्मा-लक्षण प्रजापति से युक्त होता हुआ स्वर्गावाप्ति का अनुगामी बन जाता है । और अज्याहुति के द्वारा कैसे यजमान स्वग पहुँच जाता है ?, किंवा आज्याहुति कैसे स्वर्ग प्रापिका बन जाती है ?, किंवा प्रयाज जैसे क्रत्त्वर्थ-अङ्ग कर्म्म से स्वर्गप्राप्ति कैसे सम्भव है ?, इत्यादि परिशिष्ट प्रश्नों का सम्यग्रूपेण विमर्श हो जाता है ) ।

( अब इसी आज्याहुति के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक फल बतलाकर श्रुति इस प्रयाजप्रकरण को समाप्त कर रही है । आज्य साक्षात् यजमान है । आज्य का हवि के साथ युक्त हो जाना यजमान का हवि के साथ, किंवा यज्ञ के साथ युक्त हो जाना है । अतएव इस अपने आज्य स्वरूपानुगत प्राजापत्यस्वरूप को जानने वाले यजमान के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि, वह आहुतिकाल में ऋत्विजों के पास रहे ही रहे । क्यों कि, आज्यसान्निध्य से ही यजमानसान्निध्य

*उपस्तरण-शय्या-बिछायत-बिस्तर

गतार्थ बन रहा है। इसके अतिरिक्त यदि एवंवित् यजमान से स्वाभाविक मानुषभाव के द्वारा कोई असत्कर्म्म भी हो जाता है, तो भी वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं होता। क्योंकि अपने आज्यरूप से उसकी यजसीमानुगति अक्षुण्ण है। इसी भाव का-प्रासङ्गिक फल का-अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है )—

यदि उस यजमान के दूर चले जाने पर ऋत्विक् यजन करता है, अथवा समीप रहने पर यजन करता है, करे, कोई अन्तर नहीं होता कोई हानि नहीं होती। अपितु जिस प्रकार यजमान के समीप रहने पर ( सान्निध्य से-ऋत्विक् के द्वारा यजमान के लिए यज्ञ कर्म्म ) इष्ट-इष्टजनक-सफल-बनता है, एवमेव एवंवित्-( आज्यरहस्यवित् ) उस यजमान के विदूर रहने पर भी ऋत्विक् -द्वारा कृत वह यज्ञ इष्ट ही बन जाता है। साथ ही भले ही वह ) स्वाभाविक मानुषदोषवश ) अनेक त्रुटियाँ करता है ( करै ), परन्तु निश्चयेन ( त्रुटि करता हुआ भी ) वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं जाता, जो कि आज्य के इस प्राजापत्यानुगत स्वस्वरूप को जानता है ॥२१॥

इति–परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्शः

——६——

छठे अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक पे छठा ब्राह्मण

( १।६।१ )—( १।४।६। )

चतुर्थ प्रपाठक समाप्त

३ त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण समाप्त

३

( मूलानुवाद समाप्त )

त्रिब्राह्मणात्मक **'प्रयाजब्राह्मण'** समाप्त,

क्रमप्राप्त—२२-२३-२४ ब्राह्मण समाप्त

ओंतत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्रीः

# (४)–सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः—

## सन्दर्भसङ्गतिः—

त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण से पहिले 'स्रुग्ब्राह्मण' का स्थान है। उसमें १–स्रुगादापनकर्म्म, २–आश्रावण–प्रत्याश्रावणकर्म्म, इन दो कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता का निरूपण हुआ है। तदनन्तर प्रकृत के त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रयाजकर्म्म की सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण हुआ है। इस दृष्टि से १–स्रुगादापन, २–आ० प्र०, ३–प्रयाज, इन तीनों को हम पृथक् पृथक् तीन कर्म्म मान सकते हैं। वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी है कि, स्रुगादापन, और आ० प्र०, इन दोनों कर्म्मों का भी प्रयाजकर्म्म में हीं अन्तर्भाव मानना चाहिए। क्योंकि 'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक निगदमन्त्रपाठात्मक होतृकृत स्रुगादापन-कर्म्म के घृतवतीमध्वर्यो ! स्रुचमास्यस्व' इन पाँचवी व्याहृति के 'घृतवतीम्' इस पदोच्चारण के साथ ही अध्वर्यु जुहू–उपभृत् का ग्रहण कर लेता है। होता के 'घृतवतीम्' पदोच्चारण के साथ अध्वर्यु का जुहूपभृत्–ग्रहण करना हीं वस्तुतः 'स्रुगादापन' कर्म्म है। 'जुहूपभृत्' स्रुक् हैं। इनका समन्त्रक ग्रहण ही 'स्रुगादापन' है।

'स्रुगादापन ( जुहूपभृत्ग्रहण ) होता है समिद्धाग्नि में आज्याहुति देने के लिए, जिस आज्याहुति कर्म्म को प्रयाजकर्म्म कहा गया है। आज्याहुति के प्रदान में अध्वर्यु, आग्नीध्र, होता, इन ऋत्विजों की पारस्परिक मन्त्रप्रयोग से संवित् होती है। यज्ञस्वरूप को अव्ययच्छेदरूप से वितत करने वाला, अव्यवच्छिन्न, अप्रस्तुत वाग्व्यापाररहित मन्त्रव्याहृति का प्रयोग ही संवित् है। इस संवित्कर्म्म के साधक 'ओ श्रावय'–अस्तु श्रौषट्, 'यज'–ये यजामहे'–'वौषट्' ये पाँच निगदमन्त्र, किंवा एक ही निगदमन्त्र की पाँच व्याहृतियाँ हैं। इन पाँचों व्याहृतियों के द्वारा यज्ञकर्म्म में ऐकमत्य ( संविदानाः ) बन कर ही आज्याहुतिरूप प्रयाजकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। ऐकमत्यभावात्मिका संवित् की प्राप्ति का साधक मन्त्र का उच्चारण ही 'आश्रावण–प्रत्याश्रावण' कर्म्म है, जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि, निकट भविष्य में ही जिस आज्याहुति से प्रयाजकर्म्म होने वाला है, उसके लिए द्युलोकस्थ प्राणदेवता यहाँ आ जायँ, एवं आज्याहुति का ग्रहण कर प्रयाजकर्म्म को सफल बनावें।

इस प्रकार स्रुगादापनवत् यह आश्रावण–प्रत्याश्रावण कर्म्म भी कोई स्वतन्त्र कर्म्म नहीं है, अपितु यह भी प्रयाजकर्म्म का ही परम्परया पूरक बना हुआ है। क्योंकि आ० प्र० कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले निगदमन्त्र की 'यज' व्याहृति का 'समिधो यज' इस रूप से प्रयाज के लिए, एवं 'यजामहे–समिद्धो अग्न आज्यस्य व्यन्तु' इस रूप से प्रयाज के लिए, 'वौषट्' का आज्याहुति के लिए ही विनियोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि, आ० प्र० कर्म्म प्रयाज का ही साधक है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, पूर्वब्राह्मण में विहित स्रुगादापन, आ० प्र०, दोनों कोई स्वतन्त्र कर्म्म नहीं हैं, अपितु दोनों प्रयाजकर्म्म के स्वरूपसम्पादक बनते हुए प्रयाजाङ्ग बन कर प्रयाजकर्म्म में ही अन्तर्भूत हैं। अतएव यह स्वीकार करने में भी अब कोई

आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि, पूर्वपठित स्रुगादापन ब्राह्मण का भी त्रिब्राह्मणात्मक प्रकृत प्रयाजब्राह्मण में ही अन्तर्भाव है। फलत: यह कहना भी सुसङ्गत माना जा सकता है कि, प्रयाजब्राह्मण त्रिब्राह्मणात्मक की नही है, अपितु स्वकर्म्माङ्गभूत स्रुगादापन-समन्वय से यह चतुर्ब्राह्मणात्मक ही है।

उक्त स्थिति को सामने रखते हुए यह भी निःसंकोच कहा जा सकता है कि, कात्यायनश्रौतसूत्र के–'अग्निर्होतेति स्रुगादापनम्'*—३।२।१६ इत्यादि सूत्र से आरम्भ कर 'सर्वान्वोत्तमेनोपायित्वात्'०–३।३।६। इत्यादि सूत्रपर्य्यन्त १८ सूत्रों में प्रयाजकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का ही विश्लेषण हुआ है। यही कारण है कि, पूर्व के स्रुगादापन-ब्राह्मणभाष्य में हमने सूत्रानुगत जिस पद्धति-संग्रह का दिग्दर्शन कराया है, उसे जान बूझ कर अपूर्ण छोड़ दिया है— (देखिए सू॰ प० स०-पृ० सं० १२७--१२८)। वहाँ जिन दो सूत्रों से इति–कर्त्तव्यता का दिग्दर्शन कराया गया है, उसका वस्तुत: प्रयाजकर्म्म से ही सम्बन्ध है। अतएव उचित है कि, प्रयाजब्राह्मण के मूलानुवाद के अनन्तर क्रमप्राप्त सूत्रानुगत पद्धतिसंग्रह नामक प्रकृत परिच्छेद में उस उक्त सूत्रद्वयात्मक पद्धतिसंग्रह का संग्रह करते हुए ही यहाँ सूत्रानुगत इतिकर्त्तव्यता का सामूहिकरूप से विश्लेषण किया जाय। इस सन्दर्भसङ्गति को लक्ष्य बना कर ही पाठक निम्नलिखित प्रयाजावृत् ( सूत्रानुगता प्रयाजकर्म्म-पद्धति ) का समन्वय करेंगे, यही आरम्भिक निवेदन है।

'स वै प्रवरायाश्रावयति०' ( शत० १।५।१ ) से आरम्भ कर–'अथाग्निमीक्षमाणो जपति०' ( शत० १।५।२६। ) यहाँ तक २६ कण्डिकाओं में ( २६ कण्डिकात्मक 'होतृप्रवरब्राह्मण' नामक ब्राह्मण में ) 'होतृ-वरण' कर्म्म का सोपपत्तिक-निरूपण हुआ है, जिसका प्रस्तुत शतपथभाष्य के पञ्चम वर्ष के–६१ वें पृष्ठ से आरम्भ कर ११० वें पृष्ठ पर्य्यन्त ५० पृष्ठों में सोपपत्तित प्रतिपादन हुआ है। सूत्रक्रमानुसार–'निधायेध्मसन्न-हनान्०'–का० श्रौ० ३।२।३।–इस सूत्र से आरम्भ कर–'सम्मृष्टा उपविशतः' ३।२।१५। इस सूत्रपर्य्यन्त १३ सूत्रों में होतृवरणकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण हुआ है–( देखिए पृ० सं० ८१ से ८४ पर्य्यन्त )। होतृवरणकर्म्मेतिकर्त्तव्यता–विश्लेषक उक्त त्रयोदशसूत्र-सन्दर्भात्मक सूत्रप्रकरण के अन्तिम 'सम्मृष्टा उपविशतः' इस सूत्र को प्रकरणसङ्गतिसंग्राहक मान कर ही हमें प्रयाजकर्म्मेतिकर्त्तव्यता–प्रतिपादक १६ सूत्रसन्दर्भात्मक सूत्रप्रकरण का समन्वय करना है।

स्रुगादापन–आश्रावण, नामक दो कर्म्मों को अपना अङ्गकर्म्म बनाने वाले प्रयाजकर्म्म से पहिले अध्वर्य्यु आदि ऋत्विजोंनें विहित पद्धति के अनुसार यथानुसार वरणकर्म्म का अनुगमन कर लिया है। वरणकर्म्मानन्तर वृत होता अपनी प्राणाग्नि–सम्पत् को मनो–वाक् से युक्त करने के लिए मनोरूप अध्वर्यु के, तथा वाग्रूप आग्नीध्र के अंशप्रदेश का स्पर्श करता है *। स्पर्शकर्म्मानन्तर-× 'षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु०'

*–"अथाध्वर्युं चाग्नीध्रं च सम्मृशति (होता)। मनो वाऽअध्वर्युः, वाग्घोता। तन्मनश्चैवैतद्वाचं च सन्दधाति"–शत० १ ५ १।२१।

×–इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, स्पर्शकर्म्मानन्तर होताके द्वारा प्रयुक्त स्वस्त्ययनजप की इतिकर्त्तव्यता का कात्यायन श्रौतसूत्र में उल्लेख नहीं हुआ है, जब कि स्वयं शतपथ में वह विहित है। 'षण्मोर्वी-रंहसस्पान्तु०' से आरम्भ कर–'येन पथा हव्यमावो वहानि' यहां तक की होतृकर्तृक इतिकर्त्तव्यता सूत्र में क्यों उद्धृत नहीं हुई ?, इस प्रश्न का उत्तर अज्ञात है। श्रुतिविहित होने से अनुगमन इसका अवश्य ही किया जाता है।

इत्यादि लक्षण 'स्वस्त्ययनजप' कर्म्म करता है ( १०८ पृ० )। स्वस्त्ययनजपकर्म्मसमाप्त्यनन्तर 'होतृषदन' नामक स्वस्थान की ओर लौट कर समन्त्रक तृणनिरसन करता हुआ यथास्थान बैठ जाता है—(१०९ पृ० ) । बैठने के अनन्तर देवस्तुति करता है ( ११० पृ० ) । इधर होता तो अपनी यह इतिकर्त्तव्यता पूरी करता है, उधर होता के द्वारा स्वांस-प्रदेश से स्पृष्ट अध्वर्यु आग्नीध्र, दोनों स्पर्शानन्तर-अपने अपने स्थानों में बैठ जाते हैं । इसप्रकार अवान्तरकर्म्मसंग्रहात्मक वरणकर्म्म समाप्त किया जाता है, जिस का—'सम्मृष्य उपविशतः' इस ( ३।२।१५ ) इस सूत्र से उपसंहार हुआ है । अनन्तर क्या होता है ?, दूसरे शब्दों में वरणकर्म्मानन्तर ऋत्विक् लोग प्रकृत पूर्णमासेष्टिकर्म्म के किस अवान्तर क्रत्वर्थ कर्म्म का अनुगम करते हैं ?, इसी प्रश्न का समाधान करता हुआ—प्रयाजकर्म्मेतिकर्त्तव्यात्मक निम्न लिखित सूत्रानुगत पद्धतिसंग्रहप्रकरण पद्धतिप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित होरहा है ।

वरणकर्म्मानन्तर ऋतुदेवताओं का यजन होता है । यही ऋतुयजन 'प्रयाजकर्म्म' कहलाया है । प्रयाजकर्म्म में विहित आज्याहुति के ग्रहण के लिए प्राणदेवताओं का अग्नि के द्वारा इस यज्ञ में सम्बन्ध अपेक्षित है । तदर्थ ही होता के द्वारा वरणकर्म्मानन्तर स्रुगादापनकर्म्म, एवं अन्य ऋत्विक् सहयोग से आश्रावण-प्रत्याश्रावण-कर्म्म विहित है । इतिकर्त्तव्यता का प्रकार यह है कि,—

'होतृषदन' नामक स्वस्थान पर बैठकर आहवनीयाग्नि की ओर दृष्टिपात करता हुआ होता—'विश्वेदेवा शास्त न मा यथेह०' इत्यादि वरणकर्म्माङ्गभूत मन्त्रजप करने के अनन्तर उपांशु-उच्चस्वर की नियत मर्य्यादा से निम्न लिखित स्रुगादापननिगद का पाठ करता है—

**"ओम् अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रं वेत्तु पावित्रं साधु ते यजमानदेवता (इत्युच्चैः), योऽग्निं होतारमवृथाः (इत्युपांशु), घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्व देवयुवं विश्ववारामीडामहै देवाँ २॥ ईडेन्यान्-नमस्याम नमस्यान् यजाम यज्ञियान्" (इत्युच्चैः)** । शत० १।५।३।१-३।-।

जिस समय होता उक्त मन्त्र का पाठ करता है, और उस के मुख से-मन्त्र का 'घृतवतीम्' पद निकलता है, उसी समय पदोच्चारण के अव्यवहितोत्तरकाल में ही स्वस्थान में स्थित अध्वर्यु जुहू-उपभृत नामक स्रुचों का ग्रहण करता है । यही इस का समन्त्रक 'स्रुगादापन' ( स्रुगादान ) कर्म्म है । प्रयाजकर्म्म समन्त्रक है, स्रुगादापन तदङ्ग है, तत्सन्निहित में विहित है, अतएव प्रयाजों में विहित स्रुगादापन 'अग्निर्होता० इत्यादि मन्त्रोच्चारण पूर्वक ही होना न्यायप्राप्त है । हाँ, जहाँ प्रयाजाभाव है, वहाँ तूष्णीं ही स्रुक् का आदान होता है। इसी विशेषता का, साथ ही समन्त्रक स्रुगादापन का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

**( १ )—"अग्निर्होतेति स्रुगादापनं प्रयाजेषु, सन्निधेः"** । (३।२।१६। ) ।

* * * * *

इसप्रकार होता के 'घृतवतीम्' पदोच्चारण करने के अव्यवहितोत्तरकाल में अध्वर्यु-जुहू-उपभृत्-लेकर हविष्यों से पूर्व, एवं अग्निपरिधियों से पश्चिम की ओर नियत 'सञ्चर' नामक मार्ग से अपने वामपाद को आगे करता हुआ वेदि के दक्षिण पार्श्व में आहवनीय के समीप बने हुए 'यजति' स्थान में पहुँचता है । वहाँ

पहुँच कर ईशानाभिमुख खड़ा होकर आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को लक्ष्य बना कर कहता है—'ओ श्रावय'। उत्तर में स्वस्थान में स्थित आग्नीध्र अध्वर्यु को लक्ष्य बनाकर कहता है–'अस्तु श्रौषट्'। अनन्तर तत्रैव ईशानाभिमुख खड़ा हुआ अध्वर्यु–होता को लक्ष्य बनाकर कहता है–'समिधो यज'। 'समिधो यज' रूप से होता के प्रति प्रैष कर इधर अध्वर्यु तो जुहू को उपभृत् पर से पूर्व की ओर–आहवनीयाग्नि की ओर उतार कर आहुति के लिए सन्नद्ध होता है, उधर होता अध्वर्यु से प्रेषित होकर समिद्देवताक निम्न लिखित याज्या-मन्त्र का स्वस्थान से उच्चारण करता है—

'ओं–ये ३ यजामहे (१) समिधः, समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु ३ वौ ३ षट्' इति।

होता के उक्त याज्यामन्त्रोच्चारण की अन्तिम 'वौ ३ षट्' इस व्याहृति के साथ वह अध्वर्यु–जुहूस्थित आज्य के तृतीयांश की आहवनीयाग्नि के अतिशय रूप से प्रज्वलित भाग में ( समिद्धतमे ) जुहू से आहुति दे देता है। यही प्रथम प्रयाजकर्म्म है। इसी क्रम से शेष चारों प्रयाजों की आहुति होती है। इसप्रकार यथा-क्रम पञ्च प्रयाजों का समिद्धतम अग्नि में अनुष्ठान होता है। अन्तर केवल यही है कि, प्रथम प्रयाज में होता के प्रति वसन्तऋतुरूप समिद्देवता का जैसे 'समिधो यज' इत्यादि--रूप से नाम ग्रहण होता है, वैसे ग्रीष्म–वर्षा-शरत्–हेमन्त ऋतुरूप तनूनपात्, इट,–वर्हि--स्वाहा,–नामक शेष चार प्रयाजों में होने वाले प्रैष में नामोच्चारण कर केवल 'यज' 'यज' रूप से ही होता के प्रति प्रैष होता है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, जिस समय होता 'ये यजामहे समिधः•' इत्यादि बोल चुकता है, अव्यवहित क्षण में हीं यजमान निम्न लिखित त्यागमन्त्र बोलता है—

"इति समिद्भ्यो न मम। एको मम, एका तस्य–यमहं द्वेष्मि। (यदि न द्विष्यात् तदा तु ) योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः ( इत्येव ब्रूयात् )। त्विषिमान् भूयासम्" इति।

तात्पर्य्य यह निकला कि, उधर होता याज्यामन्त्र बोल चुकता है, उसके मुख से 'वौ ३ षट्' निकलता है, इधर यजमान उक्त त्यागमन्त्र बोलना आरम्भ कर देता है। होता के वषट्कार के पश्चात्, यजमान के त्यागमन्त्र के बोलते समय ही अध्वर्यु आहुति देता है। इधर अध्वर्यु होता के 'वौषट्' उच्चारणानन्तर अग्नि में आहुति देता है, उधर होता याज्यामन्त्रोचारणाव्यवहितोत्तरकाल में स्वशान्त्यर्थ निम्न लिखित मन्त्रोच्चारण करता हुआ अपने हृदयस्थान का स्पर्श करता है, यही क्रम शेष चारों प्रयाजों में समझना चाहिए—

''वषट्कार ! मा म आयुः प्रमोषीर्वागोजः सहौजो मयि—
प्राणापानौ पातम्" ( इति होता पठति याज्यानन्तरम् ) इति॥

नामग्रहणानुगत–वसन्तरूप समित्–नामक प्रथम प्रयाजकर्म्म की इसी इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

( २ )–'घृतवतीमित्युक्त स्रुचावादाय, अतिक्रम्य, आश्राव्य, आह– 'समिधो यजे'ति । पञ्चप्रयाजान्त्समिद्वतमे (जुहुयात्)" ॥ ( ३।२।१७ )

( ३ )–"यज यजेति शेषम्" ( ३।२।१८ ) ।

अब पञ्च प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक उन विशेषताओं का सूत्रकार दिग्दर्शन करा रहे हैं, जिनका ब्राह्मण भाग में स्पष्टीकरण हुआ है । जिस पूर्वोक्त स्थान पर खड़ा होकर अध्वर्यु प्रयाजकर्म्म ( आहुतिकर्म्म ) करता है, उसे उसी स्थान पर खड़े रहना चाहिए । अविचाली भाव से ही प्रयाजाहुति देनी चाहिये । अथवा इसी सम्बन्ध में एक दूसरा पक्ष यह भी है कि, प्रतिप्रयाज याग में आहवनीय के सम्मुख पूर्व पूर्वस्थान से अतिक्रमण कर आगे आगे बढ़ते हुए आहुति देनी चाहिए । इसप्रकार यद्यपि सूत्रकार ने दोनों पक्ष उद्धृत कर दिये हैं । तथापि श्रुति के–'तदु यथा न कुर्यात् । यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्, तत एव नापक्रामेत्' ( शत० १।५।४।७ ) इस सिद्धान्त के अनुसार अनाक्रमणात्मक प्रथम पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिए ।

बसन्त--ग्रीष्म--वर्षारूप--समित्, तनुनपात्, बर्हि, इन तीन प्रयाजों के लिए तो जुहू में पहिले से ध्रुवा-द्वारा चतुर्वार गृहीत आज्य की ही आहुति देनी चाहिए । परन्तु शरत्–रूप चौथे 'बर्हि' नामक--प्रयाज का अनुष्ठान करने से पहिले जुहू में उपभृत् से आज्य ग्रहण और करना चाहिए । क्योंकि ध्रुवा से उपभृत् में अष्टौ कृत्वः ( आठ बार करके ) जो आज्य ग्रहण होता है, उस गृहीत आज्य की मात्रा में से अर्द्ध भाग तो अनुयाजों के लिए विहित माना गया है, एवं अर्द्ध मात्रा का प्रयाजकर्म्म के लिए आदेश हुआ है । अतएव जुहू में उपभृत् से प्रयाजकर्म्मार्थ आधे आज्य का ही ग्रहण करना चाहिए । इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, आज्यग्रहण करते समय कहीं जुहू का उपभृत् से स्पर्श न हो जाय । अनवमृशन् ( दोनों का स्पर्श न करते हुए, दोनों को पृथक् रखते हुए ) ही चतुर्थ प्रयाज में आज्यग्रहण विहित है, जिसकी उपपत्ति मलानुवाद में बतलाई जा चुकी है ।

अब इस आज्यसमानयन–कर्म्म के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता हैं । प्रकृत पूर्णमा-सेष्टि 'प्रकृतियाग' है । एवं इसके आधार पर वितत आग्रायणादि अन्य इष्टियाँ 'विकृतियाग' है । 'प्रकृतिवद्वि-कृतिः कर्त्तव्या' इस मीमांसा–सिद्धान्तानुसार कुछ प्रातिस्विक विशेष इतिकर्त्तव्यताओं को छोड़कर इन विकृति-भूता इष्टियों में प्रकृतिवत् ही अनुगमन किया गया है । उदाहरण के लिए प्रसङ्गोपात्त प्रयाजकर्म्म को ही लीजिए । जिसप्रकार प्रयाजकर्म्मप्रकृतिभूता प्रकृत की पूर्णमासेष्टि विहित है, एवमेव विकृतिभूता अन्य इष्टियों में भी प्रयाजकर्म्म संगृहीत माना गया है । हाँ दोनों प्रयाजों की संख्या में अवश्य ही विभेद है । प्रकृति-इष्टि ( पूर्णमासेष्टि ) में जहाँ पाँच प्रयाज विहित हैं, वहाँ अन्य विकृति–इष्टियों में ११ प्रयाज माने गए हैं । किसी विकृति में ६ प्रयाज हैं, तो किसी में ११ प्रयाज हैं । विकृति इष्टियों से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रयाज, साथ ही प्रयाजसंख्यानुरूप ही अनुयाग संख्यावृद्धि के आधार पर ही आज्यसमानयन कर्म्म के सम्बन्ध में यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है कि, जहाँ प्रयाजानुयाजवृद्धि है, वहाँ आज्यसमानयन की क्या व्यवस्था होगी ? ।

प्रश्न का तात्पर्य्य स्पष्ट है। आदेश यह है कि, चौथे प्रयाज में ही आज्य ग्रहण करना चाहिए। जहाँ ६, अथवा ११ प्रयाजानुयाज हैं, वहाँ, आरम्भ के तीन प्रयाज-कर्म्मानन्तर चौथे में ग्रहण कर लिया जयगा, और यहाँतक तो 'चतुर्थे समानयति' आदेश का यथावत् [ पञ्चप्रयाजयपक्षवत् ] पालन होजायगा। परन्तु ६ पक्ष में ५ प्रयाज ११ पक्ष में ७ प्रयाज, शेष रह जाते हैं। चतुर्थ प्रयाज में गृहीत आज्यमात्रा से ही शेष ५, अथवा ७ प्रयाजों की इतिकर्त्तव्या पूर्त्ति असम्भव है। तदर्थ पुनः आज्यग्रहण आवश्यक रूप से अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में यदि 'चतुर्थानन्तर अपेक्षावश आगे के प्रयाजों में आज्यग्रहण किया जाता है, तो–चतुर्थे समानयति' नियम का व्याघात होता है। यदि इस नियम की रक्षा के लिए आगे ग्रहण नहीं किया जाता, तो इतिकर्त्तव्यता पूरी नहीं होती। इसी प्रासङ्गिक विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

प्रयाजवृद्धि–पक्ष में भी चतुर्थ-चतुर्थ की आवृत्ति कर लेनी चाहिए। तात्पर्य सूत्रकार का यही है कि, मान लीजिए किसी विकृति–इष्टि में ९ प्रयाज हैं। वहाँ यह व्यवस्था होगी कि, आरम्भ के १, २, ३, प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता तो पूर्वगृहीत जुहूस्थित आज्य से पञ्चप्रयाज--पक्षवत् पूरी कर दी जायगी। ४ थे प्रयाज में भी पञ्चप्रयाजपक्षवत् आज्यग्रहण कर-'चतुर्थे समानयति' का पालन कर लिया जायगा। इस चतुर्थप्रयाजोपक्रम में गृहीत आज्य से ४, ५, ६, इन तीन प्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता पूरी हो जायगी। अब ७, ८, ९, इन तीन प्रयाजों के लिए आज्य की अपेक्षा होगी। इसके लिए सातवें प्रयाजोपक्रम में [ ६ ठे प्रयाज की समाप्ति के अनन्तर ] दुबारा आज्य ग्रहण होगा, जो कि--'चतुर्थाच्चतुर्थे' भाव से चौथा ही पड़ेगा। चौथे प्रयाज से सातवाँ प्रयाज चौथा पड़ेगा, अतएव सातवें में आज्य समानयन करते से-'चतुर्थे समानयति' नियम का भी पालन होजायगा, इतिकर्त्तव्यता भी पूरी ही जायगी। यही 'चतुर्थात्-चतुर्थे' नियम एकादश प्रयाज पक्ष में काम देगा। ११ प्रयाज पक्ष में आरम्भके १, २, ३, की इतिकर्त्तव्यता पूर्व गृहीत आज्य से गतार्थ है। ४ थे में पञ्चप्रयाज पक्षवत् आज्य ग्रहण है। इस चौथे से चौथा सातवाँ से चौथा १० वा हैं। अतः यहाँ सप्तम, और दशम में आज्यग्रहण से 'चतुर्थे समानयति' का पालन होजायगा। इसप्रकार नव प्रयाज पक्ष में 'चतुर्थाच्चतुर्थे' ( सप्तमे )' रूप से पञ्चप्रयाज--पक्षापेक्षया एक बार अधिक आज्य ग्रहण होगा। एवं एकादश प्रयाज पक्ष में--'चतुर्थाच्चतुर्थे'--(सप्तमे), पुनश्चतुर्थात् (सप्तमात्) चतुर्थे (दशमे), रूप से पञ्चप्रयाजापेक्षया दो बार अधिक आज्य ग्रहण होगा। यही व्यवस्था नवैकादशानुयाजों में मान्य होगी, जिस प्रासङ्गिक व्यवस्था का निम्न लिखित तालिका से स्पष्टीकरण होरहा है—

प्रकृति--इष्टिः —

पञ्चप्रयाजाः—{

| | | |
|---|---|---|
| १–वसन्तयागात्मकः—प्रथमप्रयाजः— | गृहीताज्येनाहुतिः |
| २–ग्रीष्मयागात्मकः—द्वितीयप्रयाजः— | ,, |
| ३–प्रावृड्यागात्मकः—तृतीयप्रयाजः— | ,, |
| ४–शरद्यागात्मकः—चतुर्थप्रयाजः— | ,, |
| ५–हेमन्तयागात्मकः—पञ्चमप्रयाजः— | ,, |

| विकृति-इष्टिः— (नवप्रयाजात्मिका) | विकृति-इष्टिः— (एकादशप्रयाजात्मिका) |
| --- | --- |
| १—गृहीताज्येनाहुतिः | १—गृहीताज्येनाहुतिः |
| २— ,, | २— ,, |
| ३— ,, | ३— ,, |
| (१)—४—चतुर्थे समानयति | (१)—४—चतुर्थे समानयति |
| (२)—५—गृहीताज्येनाहुतिः | (२)—५—गृहीताज्येनाहुतिः |
| (३)—६— ,, | (३)—६— ,, |
| (४)—७—चतुर्थाच्चतुर्थे समानयति | (१)-( )—७—चतुर्थाच्चतुर्थे समानयति |
| ८—गृहीताज्येनाहुतिः | (२)————८—गृहीताज्येनाहुतिः |
| ९— ,, | (३)————९— ,, |
| | (४)————१०—चतुर्थाच्चतुर्थे समानयति |
| | ११—गृहीताज्येनाहुतिः |

प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वालीं सभी विशेषताओं का स्पष्टीकरण करा दिया गया। अब इस सम्बन्ध में केवल आहुति-विशेषता और शेष रह जाती है। आहुति कैसे देनी चाहिए ?, आहुति देते समय जुहू-उपभृत् का सम्बन्ध कैसा रहना चाहिए ?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, अध्वर्यु को चाहिए कि, उपभृत् के ऊपर रक्खी हुई जुहू को उपभृत् को मुखभाग की ओर से सावधानी से उतार उसे जुहू को प्राचीमुख रहता हुआ प्रथमाहुति प्रदान करे। प्रथम आहुति के अनन्तर उसी पद्धति से उपभृत् के ऊपर जुहू रख दे। अनन्तर उसी पूर्वक्रम से उपभृत् से उतार कर द्वितीयाहुतिप्रदान करे। इस प्रकार पाँचों प्रयाजाहुतियों में ही जुहू को उपभृत् पर रख रख कर, उतार उतार कर आहुति-कर्म्मेतिकर्त्तव्यता पूरी करे। केवल प्रयाजकर्म्म में हीं यह-अध्यूहन, अपहरणकर्म्म आवश्यक हो, यह बात नही है। अपितु होममात्र में इसी नियम की व्याप्ति समझनी चाहिए, एवमेव सर्वहोम मे आहुति देनी चाहिए। निम्न लिखित सूत्र प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वालीं इन्हीं विशेषताओं का स्पष्टीकरण कर रहें हैं—

(४)—"ध्रुवस्तिष्ठन्" (२।२।१९)।
(५)—"पूर्वं पूर्वं वाऽभिक्रामन्" (२।२।२०)।
(६)—"उपभृतो जुह्वामानयति, अनवमृशन् चतुर्थम्" (३।२।२१)।
(७)—"एव प्रवृद्धौ" (३।२।२२)।
(८)—"अनुयाजेषु च" (३।२।२३)।
(९)—"उत्तरां जुहूमध्युह्य, प्राचीमवहृत्य जुहोति" (३।२।२४)
(१०)—"एवं सर्वत्र" (३।२।२५)।

इति—कात्ययनश्रौतसूत्रे तृतीयाध्यये द्वितीया कण्डिका समाप्ता

जिस प्रकार 'एवं सर्वत्र' (३।२।२५) सूत्रादेशानुसार जुहू--उपभृत् का * अध्यूहन होममात्र में समानरूप से विहित है, एवमेव जुहू--उपभृत् का नाभिदघ्न प्रदेश में धारण भी होममात्र के लिए ही विहित समझना चाहिए। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, आहुति के लिए गृहीत उपभृत् युक्त--आज्यपरिपूर्ण जुहू को नाभिसमानप्रदेश में हीं रखना चाहिए। एवं होममात्र में इसी नियम का अनुगमन करना चाहिए।

जिस समय होता 'ये यजामहे समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इत्यादि याज्या बोल चुकता है, अनन्तर ही होता त्यागमन्त्र का उच्चारण करता है, यह पूर्व में कहा जाचुका है। यजमानकृत यही कर्म्म 'प्रयाजानुमन्त्रण' कर्म्म कहलाया है। सूत्रकार कहते हैं कि, प्रथम प्रयाजानुमन्त्रण में 'एको मम, एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः' इस वाक्य का समावेश करना चाहिए। एवमेव आगे के शेष चार प्रयाजकर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाले तीन प्रयाजानुमन्त्रण--मन्त्रों में (२--३--४ में) क्रमशः यथासंख्य--'द्वौ मम--तस्य०, त्रयो मम--तिस्रस्तस्य०, चत्वारो मम--चतस्रस्तस्य०' इस रूप से मिथुन--युग्म--भावों का समावेश करना चाहिए। सर्वान्त के पाँचवें प्रयाजानुमन्त्रण में (युग्मोत्तर के स्थान में--'पञ्च मम--न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि०' इत्यादिरूप से ) 'न तस्य किञ्चन' इस वाक्य का सन्निवेश करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पाँचों प्रयाजो से सम्बन्ध रखने वाले यजमानकर्तृक पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण--मन्त्रों के अन्त में क्रमशः त्विषिमान्, अपचितिमान्, यशस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नादः, (भूयासम्) इन व्याहृतियों का सम्बन्ध और कर देना चाहिए। जुहूपभृत्--धारणानुगत नियमविशेष का, तथा प्रयाजानुमन्त्रण--मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली इसी विशेषता का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(११)—"नाभिदेशे धारणम्" (३।३।१)।

(१२)—"प्रयाजानुमन्त्रण---"मेको ममैका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः" इति"। (३।३।२)।

(१३)—"एवं मिथुनैर्यथासंख्यम्" (३।३।३)।

(१४)—"न तस्य किञ्चनेति पञ्चमे" (३।३।४)।

(१५)—"त्विषिमान्, अपचितिमान्, यशस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नादः" इति च (३।३।५)।

पञ्च प्रयाजकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता जिन याज्यामन्त्रों से सम्पन्न होती है, उनके उच्चारण के अनन्तर यजमान अपनी ओर से प्रयाजसंख्यानुसार मन्त्रोच्चारण करता है। यजमानकृत यही कर्म्म प्रयाजानुमन्त्रण कहलाया है। इस कर्म्म के सम्बन्ध में पूर्व के १३ वें सूत्र के द्वारा यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि, पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण--मन्त्रों में से आरम्भ के चार मन्त्रों में क्रमशः १)--'एकः-एकाः,'-(२)-'द्वौ-द्वे,'-(३)-'त्रयः-तिस्रः,'-(४)-'चत्वारः--चतस्रः'—इन चार मिथुनभावों का समावेश होता है। पाँचवें अनुमन्त्रण में केवल 'पञ्च मम--न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि' इत्यादि का समावेश होता है। तात्पर्य्य यही है कि, चार मन्त्र मिथुनसम्पत्ति से युक्त हैं, पांचवां मिथुनभाव से वञ्चित है। जिस प्रकार नवैकादश प्रयाजपक्ष में आज्यसमानयन की विप्रतिपति हुई थी, एवमेव नवैकादश-प्रयाजपक्ष में यजमानकर्तृक

*—अध्युह्य—अध्यूहनं—उपभृत उपरि निधानम्।
अवहृत्य—अवहरणं—उत्तारणम्।

प्रयाजानुमन्त्रण--मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले उक्त मिथुनभावों के सम्बन्ध में भी वही विप्रतिपति उपस्थित हो रही है । जिसप्रकार नवैकादश--प्रयाजानुयाजपक्ष में वृद्धिक्रमानुसार आज्यग्रहण द्वि--त्रिरावृत कर लिया जाता है, क्या तत्पक्षानुगत प्रयाजानुमन्त्रण--मन्त्रों में भी उक्त मिथुनभावों का पुनरावर्त्तन होगा ? इसी प्रासङ्गिक विप्रतिपति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

आगन्तुक प्रयाजों का चतुर्थ--पञ्चम प्रयाज से जो धर्म्म प्राप्त है, उसी धर्म्म के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए । क्योंकि आगन्तुक प्रयाजों का चतुर्थ--पञ्चम प्रयाज के धर्म्म से ही विधान हुआ है । सूत्र का तात्पर्य्यार्थ स्पष्ट है । मान लीजिए, विकृति में ९ प्रयाज हैं । इन ९ प्रयाजों में ४ था प्रयाज 'चतुर्थात् चतुर्थे' न्याय से प्रथम प्रयाज बन रहा है, ७वाँ प्रयाज उसी 'चतुर्थात् चतुर्थे' से चतुर्थ बन रहा है, शेष ८--९ प्रयाज 'चतुर्थात्--पञ्चम' न्याय से पञ्चम प्रयाज बन रहा है । ऐसी स्थिति में १, २, ३, आरम्भ के इन तीन प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में तो प्रकृतिवत् पञ्चप्रयाजपक्षवत् ) 'एकः--एका-,'--'द्वौ-द्वे-,'–'त्रयः–तिस्र-'–इन मिथुनों का समावेश होगा ही । आगे के ४,५,६, इन तीन प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में भी इन्हीं तीनों मिथुनभावों का समावेश होगा । क्योंकि सातवाँ प्रयाज चौथा है, तदपेक्षया, ४-५-६ ठे प्रयाज १,२,३, प्रयाज है, ७वाँ क्योंकि चौथा प्रयाज है । अतएव तत्प्रयाजानुमन्त्रण मन्त्र में 'चत्वारः–चतस्रः' का समावेश होगा । ८,९, इन दो प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों में–'पञ्च मम न तस्य किञ्चन०' इत्यादि का समावेश होगा यदि एकादशप्रयाजपक्ष है, तो आरम्भ के १,२,३, प्रयाजों में, मध्य के ४,५,६, प्रयाजों में, अन्त के ७,८,९, प्रयाजों में पञ्चप्रयाजानुगत आरम्भ के १,२,३, प्रयाजानुमन्त्रणवत् तीनों युग्मों का सम्बन्ध होगा । क्योंकि-४ था प्रयाज १ है, तदपेक्षया ५–६, दोनों २,३ रे प्रयाज हैं । सप्तम प्रयाज की १० अपेक्षा १ है, तदपेक्षया ८,९, दोनों २–३ रे हैं । १० वाँ प्रयाज सप्तमापेक्षया चौथा है, ११ वाँ प्रयाज पाँचवाँ है । इसप्रकार 'चतुर्थपञ्चमाभ्याम्' न्याय से नवैकादशप्रयाजानुगत प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में भी पञ्चप्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रवत् मिथुनसम्पत्ति की अनुरूपता का समावेश हो जाता है । निम्न लिखित तालिका से उक्त सम्बन्ध–क्रम का भलीभाँति स्पष्टकरण हो जाता है––

**पञ्चप्रयाजपक्षे–प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्राः-इत्थम्—**

(१)—'एको मम, एका तस्य-योऽस्मान्०' ।

(२)—'द्वौ मम, द्वे तस्य--योऽस्मान्०' ।

(३)—'त्रयो मम, तिस्रस्तस्य--योऽस्मान्०' ।

(४)—'चत्वारो मम, चतस्रस्तस्य--योऽस्मान्०' ।

(५)—'पञ्च मम, न तस्य किञ्चन--योऽस्मान्०' ।

नवप्रयाजपक्षे-इत्थम्

१—'एको मम०'
२—'द्वौ मम०'
३—'त्रयो मम०'

(१) ४—'एको मम०'
(२) ५—'द्वौ मम०'
(३) ६—त्रयो मम०'

(४) ७—'चत्वारो मम०'

(५)—— { ८—'पञ्च मम०'
९—पञ्च मम०' }

एकादशप्रयाजपक्षे-इत्थम्

१—'एको मम०'
२—'द्वौ मम०'
३—'त्रयो मम०'

(१) ४—'एको मम०'
(२) ५—'द्वौ मम०'
(३) ६—'त्रयो मम०'

(१) (४) ७—'एको मम०'
(२)——८—'द्वौ मम०'
(३)——९—'त्रयो मम०'
(४)——१०—'चत्वारो मम०'
(५)——११—'पञ्च मम०'

उक्त क्रमानुसार चतुर्थ-पञ्चम-प्राजधर्म्मों का आगन्तुक प्रयाजों से सम्बन्ध मानते हुए अनुमन्त्रणसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त करना एक पक्ष है। अब इसी सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रकार बतलाया जाता है। चतुर्थ, पञ्चम प्रयाज नहीं, अपितु प्रथम, चतुर्थ प्रयाज से आगन्तुक प्रयाजों में जो धर्म्म प्राप्त है, उस के द्वारा भी मिथुनसम्पत्ति की अनुरूपता प्राप्त की जासकती है। प्रथम प्रयाज बहुदेवत्य है, अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो बहुदेवत्य प्रयाज होगा, उस के साथ प्रथम प्रयाज के धर्म्म का सम्बन्ध होगा। चतुर्थ प्रयाज एकदेवत्य है, अतएव आगन्तुक प्रयाजों में जो प्रयाज एकदेवत्य होगा, उस के साथ चतुर्थ प्रयाज के धर्म्म का सम्बन्ध होगा।

अब इसी सम्बन्ध में एक तीसरा पक्ष बतलाया जाता है, जो कि सूत्रकार की दृष्टि में सिद्धान्तपक्ष है। 'चतुर्थे समानयति' इस श्रौत आदेशानुसार आज्यसमानयनकर्म्म में नवैकादशप्रयाजपक्ष में 'चतुर्थाचतुर्थे' न्याय का समाश्रय ठीक बन जाता है। किन्तु प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों के सम्बन्ध में वैसा कोई श्रौत विधान नहीं

है। अपितु यहाँ तो 'आगन्तूनामन्तेऽभिनिवेशः ( समावेशः )—पू० मी० ५।२।१९—इस मीमांसा-सिद्धान्तानुसार आगन्तुक ६-७-८-९, १०-११-प्रयाजों का सम्बन्ध अन्तिम ( पञ्चम ) प्रयाजधर्म्म से ही नाप्राप्त है। अतएव उचित यही है कि नवप्रयाजपक्ष हो, अथवा तो एकादशप्रयाजपक्ष। उभयत्र आरम्भ के ४ प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों में पञ्चप्रयाजपक्षवत् चारों युग्मों का समावेश कर आगे के शेष मन्त्रों में पञ्च-पञ्च का ही समावेश करना चाहिए। निम्न लिखित सूत्र अनुमन्त्रणसम्बन्धी उक्त तीनों पक्षों का दिग्दर्शन कराते हुए अन्तिम पक्ष को ही सिद्धान्त पक्ष मान रहे हैं—

प्रथमपक्षः ( १६ )—'आगन्तूनां चतुर्थ-पञ्चमाभ्यां, स्थानात्''। ( ३।३।६ )।

द्वितीयपक्षः ( १७ )—'प्रथम-चतुर्थाभ्यां वा यथालिङ्गम्''। ( ३।३।७ )

सिद्धान्तपक्षः ( १८ )—'सर्वान्वा-उत्तमेन ( पञ्चमेन ), उपायित्वात्' ( ३।३।८ )।

पञ्चप्रयाजों में से प्रथम प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता आरम्भ में बतलाई जा चुकी है। प्रकृत में इन पाँचों प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाले आश्रावण-प्रत्याश्रावणादि व्याहृतिमन्त्रों का होतृकर्तृक याज्यामन्त्रों का, तथा-यजमानकर्तृक प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रों का एकत्र संग्रह कर दिया जाता है, जिनका पूर्वप्रतिपादिता प्रथमप्रयाजेतिकर्तव्यता के साथ समान समन्वय कर लेना चाहिए—

२—द्वितीयः प्रयाजः—

अध्वर्युराह-आग्नीध्रं प्रति—[1]'ओ श्रावय' इति।

आग्नीध्र आह-अध्वर्युं प्रति—[2]'अस्तु श्रौषट्' इति।

अध्वर्युराह—होतारं प्रति—[3]'यज' इति।

ततश्च होता पठति—ये[4]यजामहे-तनूनपादग्न आज्यस्य वे ३ तु[5]वौ षट्'।

पाठानन्तरश्च होता—'वषट्कार मा म आयुः प्रमोषीर्वागोजः सहौजो
मयि प्राणापानौ पातम्' इति पठन्-आत्मानमालभ्य उपस्पृशति ॥

यजमानश्च———'इदं तनूनपाते न मम। द्वौ मम, द्वे तस्यं योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं
द्विष्मः, अपचितिमान् भूयासम्, इति पठति। ❀

अध्वर्युश्च———'यजमानोक्तमन्त्रपाठकाले, होतुर्याज्यामन्त्रपठितवौषडन्ते समिद्धाग्नौ जुहोति।
सैषा द्वितीयप्रयाजेतिकर्त्तव्यता *।

* शतपथब्राह्मण में द्वितीय प्रयाज के सम्बन्ध में यद्यपि-'अथ तनूनपातं यजति' ( शत० १।५।३।१० ) इत्यादि रूप से केवल 'तनूनपात्' का ही विधान हुआ है। तथापि शाखान्तर से सम्बन्ध रखने वालीं पद्धतियों के अनुसार इस सम्बन्ध में विशेषता रखने वाली विशेषता का भी तदनुसार ही अनुगमन करना आवश्यक माना गया है! राजन्यात्रिबध्र्यश्ववसिष्ठवैश्यशुनकानां कण्वकश्यपसङ्कृतीनां नाराशंसो द्वितीयः प्रयाजः, तनूपादन्ये-

३-तृतीयः प्रयजः—

अध्वर्यु राह-आग्नीध्रं प्रति—'ओ श्रावय' इति।

आग्नीध्र आह-अध्वर्युं प्रति—'अस्तु श्रौषट्' इति।

अध्वर्यु राह-होतारं प्रति—'यज' इति।

ततश्च-होता पठति—'ये यजामहे-इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्'

पाठानन्तरञ्च-होता—वषट्कार मा म आयुः प्रमोर्षीर्वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ पातम्' इति पठन्नात्मानमालभ्योपस्पृशति।

यजमानश्च———'इदमिड्भ्यो न मम। त्रयो मम, तिस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वय द्विष्मः-यशस्वी भूयासम्' इति पठति।

अध्वर्युश्च———यजमानोक्तमन्त्रपाठकाले, होतुर्याज्यामन्त्रपठितवौषडन्ते समिद्धाग्नौ जुहोति। सैषा तृतीयप्रयाजेतिकर्त्तव्यता।

४--चतुर्थः प्रयाज—

अध्वर्यु राज्यं समानयति। आज्यसमानयनानन्तरं—

अध्वर्यु राह-आग्नीध्रं प्रति—'ओ श्रावय' इति।

---

षान्' ( का०श्रौ० ३।३।८सू०वृ० )—'वसिष्ठशुनकानां नाराशंसः, अत्रीणां चैके' ( का० श्रौ० १६।६ ८६ ) इत्यादि कात्यायन के सिद्धान्तानुसार—"नराशंसो अग्न आज्यस्य वेत्विति द्वितीयो वसिष्ठशुनकानां-अत्रिबध्र्यश्व नां-कण्वसङ्कृतीकां-राजन्यानां प्रजाकामानाञ्च" ( साङ्खा० श्रौ० १ ७।२ ) इत्यादि साङ्खायन के सिद्धान्तानुसार,—"तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि। तेषां वासिष्ठं-आत्रेयं-बाध्र्यश्वं-गार्त्समद-मिति नाराशंसवन्ति, मैधातिथं-दैर्घतमसं-प्रैषिक-मित्युभयवन्ति, अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति" ( या० नि० ८।३७। ) इत्यादि निरुक्तसिद्धान्तानुसार,—'नराशंसो द्वितीयः प्रयाजो वसिष्ठशुनकानां, तनूनपादितरेषां गोत्राणाम्' ( आपस्तम्ब श्रौ० सू० १) इत्यादि आपस्तम्ब के सिद्धान्तानुसार, तनूनपात्-प्रयाज के सम्बन्ध में विकल्प पक्ष का अनुगमन आवश्यक होरहा है। भगवान् आश्वलायन ने तो इस सम्बन्ध में और भी बिशेषताओं का स्पष्टीकरण किया है ( देखिए, आ०श्रौ० ३ २।१ )। प्रकृत में वक्तव्य केवल यही है कि, यदि यजमान का उक्त वसिष्ठ-शुनक-अत्रि-आदि गोत्र है, तो उस के याज्यामन्त्र में—'नराशंसो अग्न आज्यस्य वेतु वौषट्' इसप्रकार तनूनपात् के स्थान में 'नरांशस' का समावेश होगा। साथ ही प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्र में भी—'इदं तनूनपाते न मम' के स्थान में—'इडं नराशंसाय, न मम' का सन्निवेश होगा।

आग्नीध्र आह-अध्वर्युं प्रति—'अस्तु श्रौषट्' इति।

अध्वर्युराह-होतारं प्रति—'यज' इति।

ततश्च-होता पठति———'ये यजामहे-बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट्'।

पाठानन्तरञ्च-होता——'वषट्कार मा म आयुः प्रमोषीर्वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ पातम्' इति पठन्नात्मानमालभ्योपस्पृशति।

यजमानश्च——————'इदं बर्हिषे न मम। चत्वारो मम, चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः। ब्रह्मवर्चसी भूयासम्' इति पठति।

अध्वर्युश्च—————यजमानोक्तमन्त्रपाठकाले, होतुर्याज्यामन्त्रपठितवौषडन्ते समिद्धाग्नौ जुहोति। सैषा चतुर्थप्रयाजेतिकर्त्तव्यता।

५—पञ्चमप्रयाजः

इस प्रयाज के सम्बन्ध में विशेष इतिकर्त्तव्यताओं का अनुगमन करना पड़ता है, जैसा कि मूलानुवाद में स्पष्ट किया जाचुका है। चतुर्थ प्रयाज कर्म्म के अनन्तर आग्नीध्र को लक्ष्य बनाकर अध्वर्यु कहता है—'ओ श्रावय'। प्रत्युत्तर में अध्वर्यु को लक्ष्य बनाता हुआ आग्नीध्र कहता है—'अस्तु श्रौषट्'। अनन्तर अध्वर्यु होता को लक्ष्य बनाता हुआ कहता है—'यज'। होता उत्तर में निम्न लिखित-याज्यामन्त्र का उच्चारण करता है—

"ये यजामहे-स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमं, स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमं, अग्नीषोमौ, स्वाहाग्नीषोमौ, स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्" इति।

होता के उक्त याज्यामन्त्र पाठोत्तर यजमान निम्न लिखित प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्र का पाठ करता है—

इदमग्नये, सोमाय, अग्नये, सोमाय, अग्नीषोमाभ्यां, अग्नीषोमाभ्यां, देवेभ्य आज्यपेभ्य, अग्नये स्विष्टकृते, न मम। पञ्च मम, न तस्य किञ्चन योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः। अन्नादो भूयासम्" इति।

जिस समय होता के मुख से उक्त याज्यामन्त्र की अन्तिम 'वौषट्' इस व्याहृति का उच्चारण होता है, और यजमान उक्त प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रपाठ आम्भ करता है, अध्वर्यु जुहूस्थित आज्य को समिद्ध अग्नि में आज्याहुति दे देता है। यही पाँचवें प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण है। "अग्निर्होतेति सु गादापनं प्रयाजेषु, सन्निधेः— १—(३।२।१६) इस सूत्र से आरम्भ कर-'सर्वान् वोत्तमेनोपायित्वात्" १८ (३।३।८) इस सूत्रपर्य्यन्त १८ सूत्रों से इसी प्रयाजकर्म्मेतिकर्त्तव्यता का स्पष्टीकरण हुआ है। इस कर्म्म के अनन्तर आज्याभिघारकर्म्म विहित है, जिस का सोपपत्तिक निरूपण अगले ब्राह्मण में होने वाला है।

इति—सूत्रानुगतपद्धतिसंग्रहः

——:*:——

श्रीः

# इति-शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्ये

## प्रथमकाण्डे

# द्वितीयः-खण्डः

## २

[ क्रमानुगता पृष्ठसंख्या १५४२ ]